

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या

५४६५

काल न०

०३०-८ स्त्री

वर्ण

प्रथम



सुन्दरकरकल्पवदिवृन्दकम्पितचरणकमल-सर्वतन्त्रवतन्त्र-कलिकाल-
सर्वककल्प-जन्ममयुगप्रधान-श्रीसोचमिहृत्सवाभन्नीव-जेनप्रवर-
श्वेताम्बराऽऽचार्य-श्री श्री १००- श्रीप्रहारक-
श्रीमद्बिजवराजेन्द्रसूरीश्वर-विरचितः

अभिधानराजेन्द्रः ।

कोषः

तत्र ह्रस्वाकारादिशब्दसङ्ख्येने त्रयमो जागः ।

—:०*४३*४३*०:—

स च-

श्रीसर्वकप्रकृतितगणधरनिर्वृतिताद्यऽश्रीनोपलज्यमानाऽज्ञेयसूत्र-
तद्वि-प्राप्य-निर्मुक्ति-वृष्यादिनिहितसकलदार्शनिक-
सिद्धान्तेतिहास-सिद्धय-वेदान्त-न्याय-वैशेषिक-
मीमांसादिप्रदर्शितपदार्थयुक्ताऽयुक्तवनिर्वाचकः ।

बृहद्भूमिको-पोद्धात-प्राकृतठयाकृति-प्राकृतशब्दरूपावस्थादिपरिशिष्टसहितः

मुनि-श्रीदीपविजय-श्रीयतीन्द्रविजयाचार्य संशोधितः,

छपाण्याय-श्री श्री १०८ श्रीमन्मोहनविजयोपदेशतः-

श्रीजेनश्वेताम्बरसमस्त-सङ्केन महापरिभ्रमत्तः-प्राकाश्यं नीतः ।

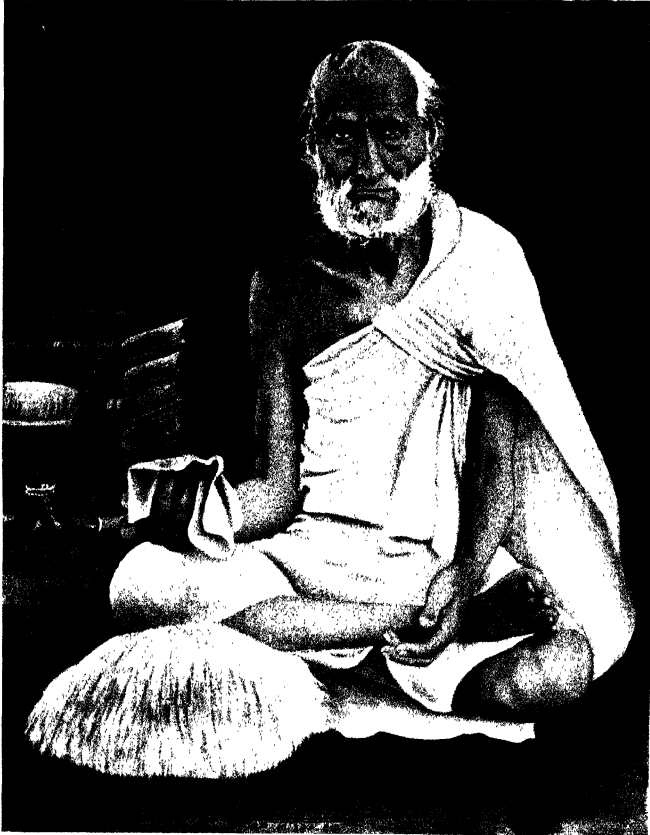
* श्रीजेनभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रत्नकाम - *

{ श्रीवीर संवत् २४४० }
{ श्रीराजेन्द्रवार संवत् ७ }

पम्बालये मुद्रितः
मूल्य रु० ५५)

{ श्रीविक्रमाब्दः १९७० }
{ क्रिस्ताब्दः १९९३ }

सुविहितसुगिशकचक्रचुडामणि-कलिकालसर्वज्ञकल्प-परमयोगिराज-
जगत्पूज्य-गुरुदेव-प्रभुश्रीमद्-विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।



दम्पत्यान्विपशदन्तिदमने पञ्चाननग्रामिणी-राजेन्द्रामिषकोशमंप्रणयनात्मन्दीपजैनश्रुतः ।
मङ्गल्योपकृतिप्रयोगाकरणे निर्यथं कृती तारदाः, कोऽन्यः सुगिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ॥ १ ॥

जन्म म. १८५० मन्तपुर (म.प्र.) पत्न्यासपद म. १९०० इदमपुर (म.प्र.) कियोडा (म.प्र.) ज्ञानराज म. १९००
दीक्षा म. १८७० उदयपुर (म.प्र.) श्रीपूज्यपदवी म. १९०० आहोम-मन्तपुर निवास म. १९०० राजमङ्गल मन्तपुर

आजार-प्रदर्शनम् ।

—:—

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारहृष-आवासब्रह्मचारी-जङ्गमयुगप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमधोगिराज-क्रियाशुद्धयुपकारक-श्रीसौभर्मबृहत्पोगच्छाय-सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-जहारक श्री १००८ प्रज्जु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का संकलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया । इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्ता के मुख्य पट्टपर शिष्य-श्रीमदधनचन्द्रसूरीजी महाराजने जी आपको बहुत सहायता दी । इस प्रकार करीब साठे चौदह वर्ष के अविभ्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र-शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्री सूर्यपुर (सूरत-गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ ।

गवासियर रियासत के राजगढ (माखवा) में गुरुनिर्वाणोरसत्र के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी-मुनि श्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनि महाराजाओं की अध्यक्षता में माखवदेशीय-छोटे बड़े ग्राम-नगरे के प्रतिष्ठित-सदगृहस्थों की सामाजिक मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-महंम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महाकोश का जैन जैनेतर समानरूप से छाज प्राप्त कर सकें, इस लिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतनाम (माखवा) में सेठ जसुजी चतुर्जुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरासाखजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-जागीरथजी, बीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंजीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सदगृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रजाकर'मिटिंग प्रेस स्वतन्त्र खोखाना चाहिये । कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त-जार मर्हम-गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीम-
द्विजयजूषेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतोंन्द्रविजयजी को सौंपा जाय । बस,
प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदि ५ के दिन उक्त कोश को
छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और
उक्त दोनों पूज्य-मुनिराजों की देख-रेख से कोश क्रमशः अपना गुरू हुआ,
जो सं० १९७१ चैत्र-वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण उप जाने की सफलता
को प्राप्त हुआ ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-
कलिकास्तिसिद्धान्तशिरोमणि-प्रातःस्मरणीय-आचार्य-श्रीमद्भनचन्द्रसूरि-
जी महाराज, उपाध्याय-श्रीमन्मेहनविजयजी महाराज, सखारित्र-
मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवादेवाक-मुनिश्रीहुकुमविज-
यजी महाराज, सत्कियावान्-महानपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज,
साहित्यविशारद-विद्याजृषण-श्रीमद्विजयजूषेन्द्रसूरिजी महाराज, व्या-
ख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतोंन्द्रविजयजी महाराज, हान्नी ध्यानी
मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी,
मुनिश्री-गुलाबविजयजी, मुनिश्री-हर्षविजयजी, मुनिश्री-हंसविजयजी,
मुनिश्री-अमृतविजयजी, आदि मुनिवरोंने अपने अपने विहार के
दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन मन
और धन से पूर्ण सहायता पहुँचाई, और स्वयं भी अनेक ज्ञानि
परिश्रम उगाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आज़ारी है ।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मवृद्धत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस
महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-
सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मवृद्धत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-माजवा—

श्रीसंघ-रतलाम ।

श्रीसंघ-वाँगेरोद ।

श्रीसंघ-राजगढ़ ।

„ जाबरा ।

„ वारांदा-बड़ा ।

„ भाबुबा ।

श्रीसंघ-बदनगर ।	श्रीसंघ-सरसी ।	श्रीसंघ-भकपावदा ।
” खाचरोद ।	” खुंजाखेड़ी ।	” कूकसी ।
” मन्दसोर ।	” खरसोद-बड़ी ।	” आलीराजपुर ।
” सीतामऊ ।	” बीरोला-बड़ा ।	” रिंगनोद ।
” निम्पाहेड़ा ।	” मकरावन ।	” राणापुर ।
” इन्दौर ।	” बरडिया ।	” पारां ।
” उज्जैन ।	” (भाट)पचलाना ।	” टांडा ।
” महेन्द्रपुर ।	” पटलाबदिया ।	” बाग ।
” नयागाम ।	” पिपलीदा ।	” खवासा ।
” नीमष-सिटी ।	” दयाई ।	” रंभापुर ।
” संजीत ।	” बड़ी-कड़ोब ।	” भमला ।
” नारायणगढ़ ।	” धामणदा ।	” बोरी ।
” बरड़ाबदा ।	” राजोद ।	” नानपुर ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद ।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद) ।	श्रीसंघ-डीमा ।
” बीरमगाम ।	” बाब ।	” दूधवा ।
” सूतल ।	” भोरोल ।	” वातयम ।
” साणंद ।	” धानेरा ।	” वासण ।
” बम्बई ।	” थोराजी ।	” जामनगर ।
” पालनपुर ।	” डुवा ।	” खंभात ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर ।	श्रीसंघ-भीनमाल ।	श्रीसंघ-खिबगंज ।
” आह्लोर ।	” साधोर ।	” कोरदा ।
” जाह्लोर ।	” बागरा ।	” फतापुरा ।
” भेंसवाड़ा ।	” धानपुर ।	” जोगापुरा ।
” रमणिया ।	” आकोली ।	” भारुंदा ।
” मांकलेसर ।	” साधू ।	” पोमाबा ।
” देवाबस ।	” सियाणा ।	” बीजापुर ।
” विशानगढ़ ।	” काणोदर ।	” बाली ।
” मांडवला ।	” देलंदर ।	” खिमेल ।

अहम् ।

ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त जीवन-परिचय ।



रागद्वेषप्रदाकुद्दयदलनकृते वैनतेयत्वमासः,

सूरीणामग्रगणयो गुणगणमहितो मोहनीयस्वरूपः ।

यः “श्रीराजेन्द्रसूरि”र्जगति गुरुवरः साधुवर्गे वरिष्ठः,

तस्य स्मर्तुं चरित्रं कियदपि यतते ‘श्रीघतीन्द्रो’ मुनीन्द्रः ॥ १ ॥



आज हम उन महापुरुषों का कर्णामूर्ति उपशम (शान्त) रसस्वरूप वर्तमान सकल जैना-गणपारदर्शी श्रीसौधर्मवृद्धचपागच्छीय प्रवर जैनाचार्य जटारक श्रीश्री १००० श्रीमद्-विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का अत्यन्त प्रभावशाली संक्षिप्त जीवन-परिचय देंगे, जो कि इस जगत जूमि में अनेक विद्वानों के पूज्य परोपकारपरायण महाप्रभावक आ-चार्य हो गये हैं ।

पूर्वोक्त महात्मा का जन्म श्री विक्रम संवत् १००३ पौषशुक्ल ७ गुरुवार सुताविक सन् १०१७ ईस्वीं दिसम्बर ३ तारीख के दिन ‘अठनेरा’ रेलवे स्टेशन से १७ मील दूर ‘आगरे’ के किले से ३३ मील पश्चिम राजपूताना में एक प्रसिद्ध देशी राज्य की राजधानी शहर ‘जरतपुर’ में पारखगोत्रावतंस ओश (वास) वंशीय श्रेष्ठवर्ष ‘श्रीऋषभदास जी’ की सुशोभा पत्नी ‘श्रीकेसरी बाई’ सौजाग्यवती की कुट्टि (कूँख) से हुआ था । आपका नाम रत्नों की तरह देदीप्यमान होने से जातीय जीमनवार पूर्वक ‘रत्नराज’ रक्खा गया था । आपके जन्मोत्सव में जगवद्भक्ति, पूजा, प्रभावना, दान आदि सत्कार्य विशेष रूप से कराये गये थे, यहाँ तक कि नगर की सजावट करने में जी कुछ कमी नहीं रक्खी गयी थी ।

आपकी बाढ्यावस्था जी इतनी प्रभावसंपन्न थी कि जिसने आपके माता पिता आदि परिवार के क्या ? अपरिचित सज्जनों के जी चित्तों में आनन्द-सागर का उद्भास करदिया, अर्थात् सद्गुरु सखि आनन्दोत्पादक और अतिमुखप्रद थी । आपने अपने बाढ्यावस्था ही में सुरभ्य वैनिक श्रुणों से माता पिता और कलाचार्यों को रज्जित कर करीब दस बारह वर्ष की अवस्था में ही सांसारिक सब शिक्षाएँ संपन्न करली थीं । आपके ज्येष्ठ ज्ञाता ‘मा-णिकचन्दजी’ और ठोटी बहन ‘प्रेमाबाई’ थी ।

पूज्य लोगों की आज्ञा पालन करना और माता पिता आदि पूज्यों को प्रणाम करना और प्रातःकाल उठकर उनके चरण कमलों को पूजकर उनसे शुभाशीर्वाद प्राप्त करना, यह तो आपका परमावश्यकिय नित्य कर्त्तव्य कर्म था ।

अहंम् ।

ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त जीवन-परिचय ।



रागद्वेषप्रदाकुद्वयदलनकृते वैगतेयत्वमासः,
सूरीणामग्रगण्यो गुणगगमहितो मोहनीयस्वरूपः ।

यः “श्रीराजेन्द्रसूरि”र्जगति गुरुवरः साधुवर्गे वरिष्ठः,

तस्य स्मर्तुं चरित्रं कियदपि यतते ‘श्रीयतीन्द्रो’ मुनीन्द्रः ॥ १ ॥



आज हम उन महानुजाब करुणामूर्ति उपशम (शान्त) रसस्वरूप वर्तमान सकलजेना-गमपारदर्शी श्रीसोभर्मबृहत्तपागच्छीय प्रवर जेनाचार्य जहारक श्रीश्री १००० श्रीमद्-विजय-राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का अत्यन्त प्रजावशाली संक्षिप्त जीवन-परिचय देंगे, जो कि इस जगत जूमि में अनेक विद्वज्जनों के पूज्य परोपकारपरायण महाप्रजाबक आ-चार्य हो गये हैं ।

पूर्वकें महात्मा का जन्म श्री विक्रम संवत् १८८३ पौषशुक्ल ७ गुरुवार सुताविक सन् १८३७ ईस्वीं दिसम्बर ३ तारीख के दिन ‘अठनेरा’ रेलवे स्टेशन से १७ मील और ‘आगरे’ के किले से ३५ मील पश्चिम राजपूताना में एक प्रसिद्ध देशी राज्य की राजधानी शहर ‘जरतपुर’ में पारखगोत्रावतंस श्रोश (वाख) वंशीय श्रेष्ठिवर्य ‘श्रीऋषजदास जी’ की सुशोभा पत्नी ‘श्रीकेसरी बाई’ सौजाग्यवती की कुक्कि (कुँख) से हुआ था । आपका नाम रत्नों की तरह देदीप्यमान होने से जातीय जीमनवार पूर्वक ‘रत्नराज’ रक्खा गया था । आपके जन्मोत्सव में जगवद्जक्ति, पूजा, प्रजावना, दान आदि सत्कार्य विशेष रूप से कराये गये थे, यहाँ तक कि नगर की सजावट करने में जी कुछ कमी नहीं रक्खी गयी थी ।

आपकी बाह्यावस्था जी इतनी प्रच्छन्नसंपन्न थी कि जिसने आपके माता पिता आदि परिवार के क्या ? अपरिचित सब्बों के जी चित्तों में आनन्द-सागर का उल्लास करदिया, अर्थात् सद्गुरु लिये आनन्दोत्पादक और अर्थात्सुखप्रद थी । आपने अपने बाह्यावस्था ही में सुरम्य वैनयिक श्रुतियों से माता पिता और कलाचार्यों को रज्जित कर करीब दस बारह वर्ष की अवस्था में ही सांसारिक सब शिक्षाएँ संपन्न करली थीं । आपके ज्येष्ठ ज्ञाता ‘मा-णिकचन्दजी’ और ठोटी बहन ‘प्रेमाबाई’ थी ।

पूज्य लोगों की आज्ञा पालन करना और माता पिता आदि पूज्यों को प्रणाम करना और आत्मकाख उठकर उनके चरख कमलों को पूजकर उनसे शुभाशीर्वाद प्राप्त करना, यह तो आपका परमावश्यक नियम कर्त्तव्य कर्म था ।

आपकी रमणीय चित्तवृत्ति निरन्तर स्वाभाविक त्रैराग्य की ओर ही आकर्षित रहा करती थी, इसीसे आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम शिक्षाओं को प्राप्त करने में उत्साही रहते थे।

सबके साथ मित्रजाव से वर्तना, पुज्यों पर पूज्य बुद्धि रखना, गुणवानों के गुणों को देख कर प्रसन्न होना, सत्समागम की अभिलाषा रखना, कलह से रुटना, हास्य कुतूहलों से उदासीन रहना, और दुर्व्यसनी लोगों की संगति से बचकर चलना, यह आपकी स्वाभाविक चित्तवृत्ति थी।

बारह वर्ष की अवस्था से कुछ ऊपर होने पर अपने पिता की आज्ञा लेकर बड़े भाई 'माणिकचंदजी' के साथ 'श्रीकेसरियाजी' महातीर्थ की यात्रा की, और रास्ते में 'अम्बर' शहर—निवासी सेठ 'सौभाग्यमलजी' की पुत्री के नाकिनी का दोष निवारण किया और जीलों के संकट से सारे कुटुम्ब को बचाया था। इसी सबब से इस उपकार के प्रत्युपकार में 'सौभाग्यमलजी' ने अपनी मुरूपा पुत्री 'रमादेवी' का सगपन (सगार्इ) आप (रत्नराज) के साथ संयोजन करने का मानसिक विचार किया था। परन्तु यहाँ संबन्धियों का संमेलन न होने के सबब से सेठजी अपने कुटुम्ब सहित घर की तरफ रवाना हो गये। इधर 'माणिकचंदजी' जी अपने छोटे चाई को यात्रा कराकर 'गोरुवाड' की पञ्चतीर्थी की यात्रा करते हुए अपने घर को चले आये।

कुठ दिन घर में रहकर फिर दोनों चाई व्यापारोन्नतिके निमित्त अपने पिता का शुजा-शीर्वाद ले बङ्गाल की ओर रवाना हुए। क्रमशः पन्थ प्रसार करते हुए दोनों चाई 'कलकत्ते' शहर में आए और सराफी बाजार में आदतिया के यहाँ उतरें। इस शहर में दस पन्द्रह दिन ठहर कर जहाजों में धान (गन्ना) जर, शुज मुहूर्त में 'सिंहलछोप' (सिलोन) की ओर रवाना हुए। मार्ग में अनेक उपद्रवों को सहन करते हुए 'सिंहलछोप' में पहुँचे। यहाँ से उद्योगपार्जन करके कुठ दिनों के बाद 'कलकत्ता' आदि शहरों को देखते हुए अपने घर को आये। तदनन्तर माता पिता की वृद्धावस्था समझ कर उनकी सेवा में तत्पर हो वहाँ ही रहना स्थिर किया।

काल की प्रबल गति अनिवार्य है, यह मनुष्यों को दुःखित किये बिना नहीं रहती। अकस्मात् ऐसा समय आया कि—माता और पिता के अन्तिम दिन आ पहुँचे और दोनों चाइयों को अत्यन्त शोक होनेका अवसर आगया, परन्तु किञ्चिन् धैर्य पकर कर माता पिता की अन्तिम जक्ति करने में काटवद्ध हो, उनकी सुन्दर शिक्षाएँ सावधानी से ग्रहण कीं, और रातदिन उनके निकट ही रहना शुरू किया, यों करते काल समय आने पर जब माता पिता का देहान्त हो गया, तब दोनों चाई संसारी कृत्य कर विशेष शोक के बशीभूत न हो धर्मध्यान में निमग्न हुए।

तब से आपकी सुरम्य चित्तवृत्ति विशेषरूप से निरन्तर वैराग्य की ओर ही आकर्षित रहने लगी, इसी से आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम मुनिराजों के दर्शन प्राप्त करने में प्रोत्साहित रहते थे ।

एक समय ' श्रीकल्याणसूरीजी ' महाराज के शिष्य-यतिवर्य ' श्री प्रमोदविजयजी ' महाराज विचरते विचरते शहर 'जरतपुर' में पधारे और आज्ञा लेकर उपाश्रय में उदरे । सब लोग आपके पास व्याख्यान सुनने आने लगे । इधर 'रत्नराज' जी देव दर्शन कर उपाश्रय में व्याख्यान सुनने के लिये आये । इस सुयोग्य सजा में 'श्रीप्रमोदविजयजी' महाराज ने संसार की कृष्णिक प्रीति के स्वरूप को बहुत विवेचन के साथ दिखाया कि— "अनित्यानि शरीराणि, विजत्रो नैव शाश्वतः" अर्थात् इस संसार में शरीरादि संयोग सब कृष्णिक हैं, याने देखने में तो सुन्दर लगते हैं परन्तु अन्त में अत्यन्त दुःखदायक होते हैं और धन दौलत जी विनाशवान् हैं इसके ऊपर मोह रखना केवल अज्ञान ही है, क्यों कि—

“ दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्जवासे नराणां,

बालस्थे चापि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् ॥

तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभायोऽप्यमारः,

संसारे रे मनुष्याः ! वदत यदि मुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ? ” ॥ १ ॥

अर्थात् इस संसार में पहिले तो गर्जवासे ही में मनुष्यों को जनना के कुक्षि (कूख) में दुःख प्राप्त होता है, तदनन्तर बाल्यावस्था में जो मलपरिपूर्ण शरीर स्त्रीस्तनपयः पान से मिश्रित दुःख होता है, और जवानी में भी विरह आदि से दुःख उत्पन्न होता है, तथा वृद्धावस्था तो बिल्कुल निःसार याने कफ वानादि के दोषों से परिपूर्ण है; इसलिये हे मनुष्यो ! जो संसार में थोड़ा नी सुख का लेश हो तो बनलाओ ? ॥ १ ॥

इसवास्ते अरे जवयो ! परमसुखदायक श्री जिनेन्द्रप्ररूपित अहिंसामय धर्म की आराधना करो जिससे आत्मकल्याण हो ।

इस प्रकार हृदयग्राहिणी और वैराग्योत्पादिका गुरुवर्य की धर्मदेशना सुनकर 'रत्नराज' के चित्त में अत्यन्त उदासीनता उत्पन्न हुई और विचार किया कि—वस्तुगत्या संयोग मोह ही प्राणीमात्र को दुःखित कर देता है, इससे मुझे उचित है कि—आत्मकल्याण करते के लिये इन्हीं गुरुवर्य का शरण ग्रहण करूँ, क्योंकि संसार के तापों से संतप्त प्राणियों की रक्षा करने वाले गुरु ही हैं ।

ऐसा विचार कर अपने संबन्धियों की अनुमति (आज्ञा) लेकर बड़े समागोह के साथ संवत् १९०३ वैशाख सुदी ५ शुक्रवार के दिन शुभयोग और शुभ नक्षत्र में महाराज 'श्री प्रमोदविजयजी' के कहने से उनके ज्येष्ठ गुरुप्राता 'श्रीहेमविजयजी' महाराज के पास यतिदीक्षा स्वीकार की, और संघ के समस्त आपका नाम 'श्रीरत्नविजयजी' रखवा गया ।

महानुभाव पाठकगण ! उस समय यतिप्रणाली की मर्यादा, प्रचलित प्रणाली से अ-

त्यन्त प्रशंसनीय थी अर्थात् रजोदण मुहपत्नी सर्वदा पास में रखना, दोनों काल (समय) प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन करना, श्वेत-मानोपेन वस्त्र धारण करना, स्त्रियों के परिचय से सर्वथा बहिर्जित रहना, पठन और पाठन क अतिरिक्त व्यर्थ समय न खोकर निद्रादेवी के वशीजत न होना, निन्तर अपनी उन्नति के उपाय खोजना, और धर्म-विचार या शास्त्रविचार में निमग्न रहना इत्यादि सदाचारसे अतीव प्रशंसनीय प्राचीन समय में यतिवर्ग था। जैसे आज कल यतियों की प्रथा विगड़ गयी है, वैसे वे लोग विगड़े हुए नहीं थे, किन्तु इनसे बहुत ज्यादा सुधरे हुए थे। हाँ इतना जरूर था कि उस समय (१९०३) में जी कोई श यति परिग्रह रखते थे, परन्तु महाराज 'श्रीप्रमोदविजयजी' की रहनी कदनी विलकुल निर्दोष थी, अर्थात् उस समय के और (दूसरे) यतियों की अपेक्षा प्रायः बहुत जागों में सुधरी हुई थी, इसी से पुरुषरत्न 'श्री रत्नराजजी' ने वैराग्यरागरजित हो यतिदीक्षा स्वीकार की थी।

फिर कुछ दिन के बाद 'श्रीप्रमोदविजयजी' गुरूकी आज्ञा से श्रीरत्नविजयजी ने 'मूंगी सरस्वती' विरुद्ध धारी यतिवर्ग श्रीमान् 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज के पास रहकर व्याकरण, न्याय, कोष, काव्य, और अलङ्कार आदि का विशेष रूप से अध्ययन किया। 'श्रीप्रमोदविजयजी' और 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज की परस्पर अत्यन्त मित्रता थी। जब दोनों का परस्पर मिलाप होता था, तब लोगों को अत्यन्त ही आनन्द होता था। यद्यपि दोनों का गच्छ जिन श था, तथापि गच्छों के ऊगड़ों में न पढ़कर केवल धार्मिक विचार करने में तत्पर रहते थे, इसलिये 'श्रीसागरचन्द्रजी' ने आपको अपने अन्तःवासि (शिष्य) की तरह पढ़ाकर हुशियार किया था।

'सागरचन्द्रजी' मरुधर (मारवाड़) देश के यतियों में एक जारी विद्वान् थे, इनकी विद्वत्ता की प्रख्याति काशी ऐसे पुन्यक्षेत्र में भी थी, आप ही की गुप्त कृपा से श्रीरत्न-विजयजी स्वल्पकाल ही में व्याकरण आदि शास्त्रों में निपुण और जैनागमों के विज्ञाता हो गये, परन्तु विशेषरूप से गुरुगम्य शैली के अनुसार अध्ययन करने के लिये तपागच्छा-धिराज श्रीपूज्य 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज के पास रहकर जैनसिद्धान्तों का अवलोकन किया और गुरुदत्त अनेक चमत्कारी विद्याओं का साधन किया।

आपके विनयादि गुणों को और वृद्धिचक्रणता को देखकर 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज ने आपको शहर 'उदयपुर' में 'श्रीहेमविजयजी' के पास बड़ी दीक्षा और 'पन्यास' पदवी प्रदान करवाई थी और अपने अन्त समय में 'पं० श्रीरत्नविजयजी' से कहा कि- "अब मेरा तो यह समय आलगा है, और मैंने अपने पाठ पर शिष्य 'श्रीधीरविजय' को धरणे-न्द्रसूरि' नामाङ्कित करके बैठाया तो है किन्तु अभी यह अज्ञ है, याने व्यवहार से परिचित नहीं है। इसलिये तुमको मैं आदेश करता हूँ कि-इसको पढ़ाकर साक्षर बनाना

और गच्छ की मर्यादा सिखाना ”। इस गुज्र आज्ञा को सुनकर ‘पं० रत्नविजयजी’ ने सा-
ञ्जलिवन्ध ढाँकर ‘तद्दत्ति’ कहा। फिर श्रीपृज्यजी महाराज ने विजयधरणेन्द्रसूरिजी से कहा
कि— ‘तुम रत्नविजय पन्यास के पास पढ़ना और यह जिस मर्यादा से चलने को कहें उसी
तरह चलना’। धरणेन्द्रसूरिजी ने जी इस आज्ञा को शिरोधार्य माना।

महाराज श्रीदेवेन्द्रसूरिजी ने तो चारों आहार का त्याग कर शहर ‘राधनपुर’ में अनशन
किया और समाधिपूर्वक कालमहीने में काल किया। पीछे से पट्टाधीश ‘श्री धरणेन्द्रसूरिजी’
ने ‘श्रीरत्नविजयजी’ पन्यास को बुलाने के लिये एक रुक्का लिखा कि पेस्तर ‘श्रीखन्तिविज-
यजी’ ने खवटकर उदयपुर राणाजी के पास से ‘श्रीदेवेन्द्रसूरिजी’ महाराज को पालखी
प्रमुख शिरोपाव बक्सया था। उमी प्रकार तुम को जी उचित है कि ‘सिद्धविजयजी’ से बन्द
हुआ जोधपुर और बीकानेर नरेशों की तरफ से छड़ी दुआला प्रमुख शिरोपाव का ख-
वटकर फिर गुरु कराओ, इस रुक्के को बाँचकर ‘श्री प्रमोदविजयजी’ महाराज ने कहा कि-
“मृचिप्रवेशे मुशलप्रवेशः” यह लोकोक्ति बहुत सत्य है, क्यों कि ‘श्री हीरविजय सूरिजी’
महाराज की उपदेशमय वचनों को सुनकर दिल्लीपति बादशाह अकबर अत्यन्त दर्पित
हुआ और कहने लगा कि—“ हे प्रजो! आप पुत्र, कलत्र, धन, स्वजनानि में तो ममत्व
रहित हैं इसलिये आपको सोना चाँदी देना तो ठीक नहीं?, परन्तु मेरे मकान में जैन
मजहब की प्राचीन २ बहुत पुस्तकें हैं सो आप लीजिये और मुझे कृतार्थ करिये ”। इस
प्रकार बादशाह का बहुत आग्रह देख ‘हीरविजय सूरिजी’ ने उन तमाम पुस्तकों को आगरा
नगर के ज्ञानजएकार में स्थापन किया। फिर आरम्भर सहित उपाश्रय में आकर बादशाह
के साथ अनेक धर्मगोष्ठी की; उसमें प्रसन्न हो उत्र, चामर, पालखी वगैरह बहु मानार्थ
‘श्री हीरविजय सूरिजी’ के अग्राहो नित्य चलाने की आज्ञा अपने नोकरों को दी। तब हीरवि-
जय सूरिजी ने कहा कि हम लोग जंजाल में रहित हैं इससे हमारे आंग यह तृष्णा उचित
नहीं है। बादशाह ने विनय पूर्वक कहा कि—‘हे प्रजो! आप तो निस्पृह हैं परन्तु मरी जक्ति है
सो आपके निस्पृहपन में कुछ दोष लगने का संभव नहीं है’। उम समय बादशाह का अत्य-
न्त आग्रह देख श्रीमंथ ने विनती की कि—स्वामी! यह तो जिनशासन की शोभा और
बादशाह की जक्ति है इसलिये आपके आगे चलने में कुछ अटकाव नहीं है। गुरुजी ने
जी इत्य, क्षेत्र-काल, जाव की अपेक्षा विचार मौन धारण कर लिया। वस उमी दिन से श्री-
पृज्यों के आगे शोचातरीके पालखी छोड़ी प्रमुख चलना शुरू हुआ। “ श्री विजयरत्न
सूरिजी ” महाराज तक तो कोई आचार्य पालखी में न बैठे, परन्तु ‘लघुदामसूरिजी’
वृद्धावस्था होने से अपने शिथिलाचारी साधुओं की प्रेरणा होने पर बैठने लगे। इतनी रीति
कायम रखी कि गौँम में आने समय पालखी से उतर जाने थे. तदनन्तर ‘दयासूरिजी’ तो
गौँव नगर में जी बैठने लगे। इस तरह क्रमशः धीरे-धीरे शिथिलाचार की प्रवृत्ति चलने चलने
अत्यन्त शिथिल होगये क्योंकि पेस्तर तो कोई रजा वगैरह प्रसन्न हो ग्राम नगर क्षेत्रादि

शिरोपाव देता तो उसको स्वीकार न कर उसके राज्य में जीववधादि हिंसा को लुफाकर आचार्य धर्म की प्रवृत्ति में वधारा करते थे, और अब तो 'श्रीपूज्य' नाम धराकर खुद खेवट कराके शिरोपाव लेने की इच्छा करते हैं, यह सब दुःपम काल में शिथिलाचारादि-प्रवृत्ति का प्रजाव जानना चाहिये। अत एव हे शिष्य! "श्रीपूज्यजी ने जो कुछ लिखा है उस प्रमाणे उद्यम करना चाहिये, क्योंकि बहुत दिन से अपना इनके साथ संबन्ध चला आता है उसको एक दम तोड़ना ठीक नहीं है"। तब अपने गुरुवर्य की आझानुसार पन्यास रत्नविजयजी जी नवीन श्रीपूज्यजी को दत्तचित्त होकर पढ़ाना प्रारम्भ किया और गच्छाधीश की मर्यादानुसार बर्ताव कराना शुरू किया। श्रीपूज्यजी ने अपने गुरुवर्य की आझानुसार पन्यास श्री रत्नविजयजी को विद्यागुरु समझकर आदर, सत्कार, विनय आदि करना शुरू किया। पन्यासजी ने भी श्रीपूज्य आदि सोलह व्यक्तियों को निःस्वार्थ वृत्ति से पढ़ाकर विद्वान् कर दिया। श्रीपूज्यजी महाराज ने अपने विद्यागुरु का महत्त्व बढ़ाने के लिये दफतरीपन का थोड़ा [अधिकार] सौपा अर्थात् जो पदवियाँ किसी को दी जायँ और यतियों को अलग चौमासा करने की आझा दी जाय तो उनको पढ़ा पन्यास 'श्री रत्नविजयजी' के सिवाय दूसरा कोई जी नहीं कर सके ऐसा अधिकार अर्पण किया। तब ज्योतिष, वैद्यक और मंत्रादि से जोधपुर और बीकानेर नगेशों को रञ्जितकर छठी दुशाखा प्रमुख शिरोपाव और परवाना श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को जेट कराया।

एक समय संवत् १९२३ का चौमासा 'श्री धरणेन्द्रसूरिजी' ने शहर 'घाणेरव' में किया उस समय पं० श्रीरत्नविजयजी आदि ५० यति साथ में थे परन्तु ज्वितव्यता अत्यन्त प्रबल होती है करोड़ों उपाय करने पर जी वह [हानहार] किसी प्रकार टल नहीं सकती, जिस मनुष्य के लिये जितना कर्त्तव्य करना है वह होही जाता है, याने पर्युषणा में ऐसा मौका आ पड़ा कि श्रीपूज्यजी के साथ श्रीरत्नविजयजी का अंतर के बाबत चित्त उद्विग्न हो गया, यहाँ तक कि उस विषय में अत्यन्त वाद विवाद बढ़ गया, इससे रत्नविजयजी जाड्रपद सुदी २ द्वितीया के दिन 'श्रीप्रमोदरुचि' और 'धनविजयजी' आदि कई सुयोग्य यतियों को साथ लेकर 'नाफोल' होते हुए शहर 'आहोर' में आये और अपने गुरु श्री प्रमोदविजयजी को सब हाल कह सुनाया। जब गुरुमहाराज ने श्रीपूज्य को हितशिक्षा देने के लिये श्रीसंघ की संमति से पूर्व परंपराऽऽगत सूरिमंत्र देकर रत्नविजयजी को अत्यन्त महोत्सव के साथ संवत् १९२३ वैशाख सुदी ५ बुधवार के दिन 'आचार्य' पदवी दी और उसी समय आहोर के ठाकुर साहब 'श्रीयशवन्तसिंह' जी ने श्रीपूज्य के योग्य ठकी, चामर, पालखी, सूरजमुखी आदि सामान जेट किया। और श्रीसंघ ने श्रीपूज्यजी को 'श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी' महाराज के नाम से प्रख्यात करना शुरू किया।

श्रीपूज्य श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी महाराज अपनी सुयोग्य यतिमण्डली सहित ग्राम

ग्राम विहार करते हुए भेवाड़देशस्थ 'श्रीशंजूगढ़' पधारे। यहाँ के चौमासी 'श्री फतेहसागरजी' ने फिर पाटोच्छव करा के राणाजी के 'कामेती' के पास जेट पूजा करायी। फिर गाँवो गाँव श्रावकों से 'खमासमणा' कराते हुए संवत् १९१४ का चौमासा 'श्रीसंघ' के अत्यन्त आग्रह से शहर 'जावरे' में किया और 'श्रीजगवतीजी' सूत्र को व्याख्यान में बाँचा। यहाँ पर जनाणी मीठाखालजी प्रमुख श्रावकों के मुख से श्रीपूज्यजी की प्रशंसा सुनकर 'नवाबसाहेब' ने एक प्रश्न पुछाया कि—“तुम्हारा धर्म हम अंगीकार करें तो हमारे साथ तुम खाना पीना करसकते हो, या नहीं”। इसका उत्तर श्रीपूज्यजी महाराज ने यह फरमाया कि—“दीन का और जैन का घर एक है इसलिये चाहे जैसी जानिवाला मनुष्य जैनधर्म पाखता हो उसके साथ हम बन्धु से जी अधिक प्रेम रख सकते हैं, किन्तु लोकव्यवहार अस्पृश्य जाति न हो तो हम जैन शास्त्र के मुताबिक खाने पीने में दोष नहीं समजते हैं” इत्यादि प्रश्न का उत्तर सुन और सन्तुष्ट हो अपने वजीर के जरिये मोहर परवाना सहित आपदागिरि, किरणीया, बगैरह खवाजमा जेट कराया। इस चौमासे में 'धरणेन्द्रसूरि' ने एक पत्र (रुक्का) लिखकर अपने नामी यति 'सिद्धकुशलजी' और 'मोतीविजयजी' को जावरे संघ के पास भेजा। उन दोनों ने आकर संघ से सब वृत्तान्त (हकीकत) कहा, तब संघ ने उत्तर दिया कि—‘हम ने तो इनको योग्य और उचित क्रियावान् देखकर श्रीपूज्य मान लिया है और जो तुम्हारे जी श्रीपूज्य गच्छमर्यादाजुसार चलेगें तो हम उन्हें जी मानने को तैयार हैं।

इस प्रकार बात चीत करके दोनों यति आपके पास आये और वन्दन विधि साँचवकर बोले कि—आप तो बड़े हैं, थोड़ीसी बात पर इतना जारी कार्य कर खालना ठीक नहीं है, इस गादी की बिगड़ने और सुधरने की चिन्ता तो आपही को है। तब आपने मधुर वचनों से कहा कि—मैं तो अब क्रियाउद्धार करने वाला हूँ मुझे तो यह पदवी बिलकुल उपाधिरूप मालूम पकती है परन्तु तुम्हारे श्रीपूज्यजी गच्छमर्यादा का उल्लंघन करके अपनी मनमानी रीति में प्रवृत्त होने लग गये हैं, इस वास्ते उनको नव कलमें मंजूर कराये बिना अजी क्रियाउद्धार नहीं हो सकता। ऐसा कह नव कलमों की नकल दोनों यतियों को दी, तब उस नकल को लेकर दोनों यति श्रीपूज्यजी के पास गये और सब वृत्तान्त कह सुनाया तब श्रीपूज्यजी ने जी उन कलमों को बाँच कर और हितकारक समजकर मंजूर की और उस पर अपनी सही जी कर दी और साथ में सूरिपद की अनुमति जी दी।

इस प्रकार श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को गच्छसामाचारी की नव कलमों को मनाकर और अपना पाँच वर्ष का लिया हुआ 'अजिग्रह' पूर्ण होने पर जावरे के श्रीसंघ की पूर्ण विनती होने से वैराग्यरङ्गरञ्जित हो श्रीपूज्याचार्य श्रीविजयराजेन्द्रसूरी—श्वरजी महाराज ने अपना श्रीपूज्यसंबन्धी ढनी, चामर, पाखली, पुस्तक आ-

दि सब सामान श्रीमुपार्थनाथजी के मंदिर में चढ़ाकर संवत् १९१५ आषाढ वदि १० बुधवार के दिन अपने सुयोग्य शिष्य मुनि श्री प्रमोदरुचिजी और श्री धनविजयजी के साथ बड़े समारोह से क्रिया-उद्धार किया, अर्थात् संसारवर्द्धक सब उपाधियों को ठोक कर सदाचारी, पञ्च महाव्रतधारी सर्वोत्कृष्ट पद को स्वीकार किया। उस समय प्रत्येक गामों के करीब चार हजार श्रावक हाजिर थे उन सबों ने आपकी जयध्वनि करते हुए सोर शहर को गुंजार कर दिया।

क्रियाउद्धार करने के अनन्तर खाचरोद संघ के अत्यन्त आग्रह से आपका प्रथम चौमासा (सम्वत् १९१५ का) खाचरोद में हुआ, इस चौमासे में श्रावक और श्राविकाओं को धार्मिक शिक्षण बहुत ही उत्तम प्रकार से मिला और सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हुई। चौमासे के उतार में श्रीसंघ की ओर से अटार्ई महोत्सव किया गया, जिसपर करीब तीन चार हजार श्रावक श्राविका एकत्रित हुए, जिसमें जैन धर्म की बड़ी तारी उन्नति हुई: इस चौमासे में पाँच सात हजार रुपये खर्च हुए थे और जीर्णोद्धारदि अनेक सत्कार्य हुए। फिर चतुर्मासे के उत्तरे बाद प्रामान्याम विहार करने हुए, 'नीवारु' देशान्तर्गत शहर 'कृकसी' की ओर आपका पधारना हुआ। 'कृकसी' में आम्बोजी देवीचन्दजी आदि अच्छे श्र विद्वान श्रावक रहते थे, जिनके व्याख्यान में पाँच पाँच सौ श्रावक लोग आते थे, इन दोनों श्रावकों ने आपके पास इत्याद्युयोगविषयक अनेक प्रश्न पूछे, जिनके उत्तर आपने बहुतही सन्तोषदायक दिये। उन्हें सुनकर और आपका साधुव्यवहार शुरु देखकर अतीव समारोह के साथ सब श्रावक और श्राविकाओं ने विधि पूर्वक सम्यक्त्व व्रत स्वीकार किया। यहाँ उन्तीस १९ दिन रहकर अनेक लोगों को जैनमार्गानुगामी बनाया। फिर क्रम से संवत् १९१६ गतलाम, १९१७ कृकसी, १९१८ राजगढ़ और फिर १९१९ का चौमासा गतलाम में हुआ। इस चौमासे में संवर्गी जवेग्मा-गरजी और यती बालचन्दजी उपाध्याय के साथ चर्चा हुई, जिसमें आपको ही विजय प्राप्त हुआ और 'मिळान्तप्रकाश' नामक बहुतही सुन्दर ग्रन्थ बनाया गया। संवत् १९३० का चौमासा जावरा में और १९३१ तथा १९३२ का चौमासा शहर 'आहोर' में हुआ। ये दोनों चौमासे एकही गाँव में एक जागे जातीय जगद के मिटाने के लिये हुए थे, नहीं तो जैन साधुओं की यह रीति नहीं है कि जिस गाँव में एक चौमासा कर लिया, उसी गाँव में फिर तदनन्तर दूसरे साल का चौमासा करना, परन्तु कोई लातालाज का व्यवसाय हो तो कारण सर चौमासा पर ही चौमासा हो सकता है।

संवत् १९३३ का चौमासा शहर जालोर में हुआ, यहाँ पर दृष्टियों के साथ चर्चा कर सात सौ ७०० घर मन्दिरमार्गी बनाये और गढ़ के ऊपर राजा कुमारपाल के बनाये हुए प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कगया, और कुम्भ सेठ का बनाया हुआ जो चौमुखजी का मन्दिर था, उनमें से सरकारी सामान निकलवा कर बड़े समारोह से शास्त्रीय विधि पूर्वक

प्रतिष्ठा करागो। सम्बन् १९३४ राजगढ़, १९३५ रतलाम, १९३६ चीनमाल, १९३७ शिवगंज, १९३८ आलीराजपुर, १९३९ कूगसी, १९४० राजगढ़, और १९४१ का चौमासा शहर अहमदाबाद में हुआ। इस चौमासे में आत्मरामजी के साथ पत्रद्वारा चर्चा वार्ता हुई और बहुत धार्मिक उन्नति जी हुई।

सम्बन् १९४२ धोराजी, १९४३ धानेरा, और १९४४ का चौमासा 'धराद' में हुआ। यहाँ श्रीजगवती जी सूत्र व्याख्यान में बाँचा गया, जिसपर सङ्घ ने जारी उत्सव किया और प्रति प्रश्न तथा उत्तर की पूजा की। सं० १९४५ वीरमगँम, और १९४६ का चौमासा सियाणा में हुआ, इस चौमासे में 'अग्निधानराजेन्द्र कोष' बनाने का आरम्भ किया गया। सं० १९४७ में गुफा, १९४८ आहोर, और १९४९ का चौमासा 'निबादेना' में हुआ। इसमें दूँढकपन्थियों के पुत्र नन्दरामजी के साथ चर्चा हुई, जिसमें दूँढियों को परास्त करके साठ ६० घर मन्दिरमार्गी बनाये। सं० १९५० खाचरोद, १९५१ और १९५२ का चौमासा 'अग्निधानराजेन्द्रकोष' के काम चलने से राजगढ़ही में हुए। सं० १९५३ में चौमासा शहर 'जावरे' में हुआ, यहाँ कालिक महीने में बड़े समारोह के साथ संघ की तरफ से अट्टाई महोत्सव किया गया, जिसमें बीस हजार रुपये खर्च हुए और विपक्षी लोगों को अच्छी रीति से शिक्षा दी गयी, जिससे जैन धर्म की बहुत जारी उन्नति हुई। सं० १९५४ का चौमासा शहर रतलाम में हुआ, यहाँ जी आछाई महोत्सव बड़े धूमधाम से हुआ, जिस पर करीब दश हजार श्रावक और श्राविकाएँ आपके दर्शन करने को आई, और संघ की ओर से उनकी जक्ति पूर्ण रूप से हुई, जिसमें सब खर्च करीब बीस हजार के हुआ, विशेष प्रशंसनीय बात यह हुई कि पाखण्डी लोगों को पूर्ण रूप से शिक्षा दी गयी, जिससे आपको बड़ा यश प्राप्त हुआ।

सम्बन् १९५५ का चौमासा मारवाड़ देश के शहर 'आहोर' में हुआ, इस चौमासे में श्री धार्मिक उन्नति विशेष प्रकार से हुई और इसी वर्ष में श्रीआहोरसंघ की तरफ से 'श्रीगोत्रीपार्श्वनाथजी' के बावन ५२ जिनालय (जिनमंदिर) की प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाका आपही के करकमलों से करायी गयी, जिसके उत्सव पर करीब पचास हजार श्रावक श्राविकाएँ आई और मन्दिर में एक लाख रुपयों की आमद हुई। इस अञ्जनशलाका में नौ सौ ९०० जिनेन्द्रबिम्बों की अञ्जनशलाका की गयी थी, इतना जारी उत्सव मारवाड़ में पहिले पहिले यही हुआ। इतने मनुष्यों के एकत्र होने पर जी कुछ जी किसीकी जो हानि नहीं हुई यह सब प्रजाव आपही का था। सं० १९५६ का चौमासा शहर शिवगञ्ज में हुआ। जिस में अपने गच्छ की मर्यादा विगढ़ने न पावे इस लिये इस चौमासे में अपने साधु और श्रावक संबन्धी पैंतीस सामाचारी (कलमें) जाहूर कीं, जिसके मुताबिक आजकल आपका साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ वर्ताव कर रहा है।

सम्बन् १९५७ का चौमासा शहर सियाणा में हुआ। यहाँ श्रीसंघ की तरफ से महाराज

कुमारपाल का बनवाया हुआ 'श्रीसुविधिनाथ जी' के जिनमन्दिर का उद्धार आपही के उपदेश से कराया गया था और आस पास चौबीस देवकुलिका बनायी गयी थी और उनकी प्रतिष्ठा आपके ही हाथ से करायी गयी, इस उत्सवपर मन्दिर में सत्तर ७० हजार रुपयों की आमद हुई और दिव्य एक पाठशाखा जी स्थापित हुई।

सं० १९५० का चौमासा आहौर, और १९५९ का शहर 'जाखोर' में हुआ। इस चौमासे में जैनधर्म की बहुत बड़ी उन्नति हुई और मोंदियों का कुसंप हटाकर सुसंप किया गया। फिर चौमासा उत्तरे बाद शहर आहौर में दिव्य ज्ञानजणकार की और एक घूमटदार जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा की। इस ज्ञानजणकार में बहुत प्राचीन ३ ग्रन्थ हैं। पैतालीस आगम और उनको पञ्चाङ्गी तिबरीती (तेहरी) मौजूद है और प्राचीन महर्षियों के बनाये ग्रन्थ जी अगणित मौजूद हैं, और छपी हुई पुस्तकें जी अपरिमित संग्रह की गयी हैं, इसकी सुरक्षा के लिये एक अत्यन्त सुन्दर मार्बुल (पाषाण) की आलमारी बनायी गयी है, जिसके चारों तरफ श्रीगौतमस्वामी जी, श्रीसरस्वती जी, श्रीचक्रेश्वरी जी, और श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर जी की मूर्तियां विराजमान हैं। यह जणकार आपही की कृपा से संग्रहीत हुआ है। फिर सूरीजी महाराज आहौर से विहार कर 'गुने' गाम में पधारे। यहाँ माघसुदी ५ के दिन 'अचला जी' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की। तदनन्तर शिवगञ्ज होकर 'वाली' शहर में पधारे। यहाँ तीन श्रावकों को दीक्षा देकर 'श्रीकेशरिया जी' और 'श्रीसिद्धाचल जी, तथा 'जोगणी जी' आदि सुतीर्थों की यात्रा करते हुए शहर 'सुरत' में पधारे। यहाँ पर सब श्रावकों ने बड़े ज़ारी समारोह से नगरप्रवेश कराया और संवत् १९६० का चौमासा इसी शहर में हुआ। इस चौमासे में बहुत से धर्मजोही लोगों ने आपको उपसर्ग किया, परन्तु सद्धर्म के प्रजाव से उन धर्मजोही धर्मनिन्दकों का कुछभी जोर नहीं चला किन्तु सूरीजी महाराज को ही विजय प्राप्त हुआ। इस चौमासे का विशेष दिग्दर्शन 'राजेन्द्रसूर्योदय' और 'कदाग्रह दुर्ग्रह नो शान्तिमन्त्र' आदि पुस्तकों में किया जा चुका है, इससे यहाँ फिर लिखना विष्टपेण होगा।

संवत् १९६१ का चौमासा शहर 'कूगसी' में हुआ। इसी चौमासे में सूरीजी महाराज ने हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण को उन्दोबद्ध संदर्भित किया, यह बात उसके प्रशस्तियों में लिखी है—

दीपविजयमुनिनाऽहं यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन । विज्ञप्तः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं विधातुमिाम् ॥

अत एव विक्रमाब्दे, जैरंगमैत्रवविधुमिते दशम्यां तु । विजयाख्यां चतुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥

हेमचन्द्रसंरचितप्राकृतमूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम् । पद्यमयीं मन्वन्दोवन्दै ग्यामकार्षिमिाम् ॥

अर्थात् मुनिदीपविजय और यतीन्द्रविजय नामक दोनो शिष्यों से उन्दोबद्ध प्राकृतव्याकरण बनाने के लिये मैं प्रार्थित हुआ, इसीलिये विक्रम सं० १९६१ के चौमासे में आ-

श्विनशुक्ल विजय दशमी को कृकसीनगर में श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित प्रकृतसूत्रों की वृत्तिरूप इस प्राकृतव्याकरण को अन्धे छन्दों में मैनें रचा ।

चौमासे के उतार पर गाँव ' बाग ' में ' विमलनाथ स्वामी जी ' की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी; फिर माह महीने में शहर ' राजगढ़ ' में ख-जानची ' चुझीलाल जी ' के बनवाये हुए ' अष्टापद जी ' के मन्दिर की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी। और शहर ' राणापुर ' में ' श्री धर्मनाथस्वामी ' की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी। तदनन्तर ' खाचरोद ' शहर में पधारे। यहाँ कुछ दिन ठहर कर शहर जावरे में ' लखवा जी ' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की, और सम्बत् १९६३ का चौमासा शहर ' खाचरोद ' में किया। इस चौमासे में आवने चीरोलावालों को बरु संकट (दुःख) से हड़ुया। ' चीरोला ' मालवे में एक ठोटासा गाँव है, यह गाँव दार्दसौ वर्षों से जातिबाहर था, कारण यह था कि शहर ' रतलाम ' और ' सीतामऊ ' की दो बारातें एकदम एकही लड़की पर आयीं, जिसमें सीतामऊ वाले व्याह (परण) गये और रतलाम वाले योहीं रहगये। इससे इन्होंने क्रोधित हो चीरोलावालों को जानिबाहर कर दिया। फिर वह ऊगड़ा चला तो बहुत वर्षों तक चलता ही रहा परन्तु जाति में वे लोग न आसके, यहाँ तक कि मालवे जर में सब जगह चीरोलावाले जातिबाहर हो गये। कई मरतवा चीरोलावालों ने रतलामवाले पंचों को एक २ लाख रुपया दफर देना चाहा लेकिन ऊगड़ा नहीं मिटसका, तब बासठ १९६३ के चौमासे में चीरोलावाले सब श्रावक लोग आकर विनती की और सब हास कह सुनाया, तब आपने दया कर खाचरोद आदि के श्रीसंघ को समजाया और सबके हस्ताक्षर कराकर विना दफर लिये ही जाति में शामिल करादिया। यह कार्य असाधारण था, क्यों कि इसके लिये पहिले बरु ३ साहूकार और साधुलोग परिश्रम कर चुके थे किन्तु कोई जी सफलता को नहीं प्राप्त हुआ था। आपके प्रजाव ने सहज ही में इस कार्य को पार लगा दिया। इसीसे आपकी उपदेश-प्रणाली किननी प्रबल थी यह निःसंशय मालूम परसकती है; यह एकही काम आपने नहीं किया किन्तु ऐसे सैकड़ों काम किये हैं।

सम्बत् १९६३ का चौमासा शहर ' बरुनगर ' में हुआ, यहाँ चारो महीना धर्मध्यान का बरुनगरी आनन्द रहा और अनेक प्रशंसनीय कार्य हुए। इस प्रकार कियाउद्धार करने के बाद आपके ३९ उनतालीस चौमासा हुए। इन सब चौमासाओं में अनेक कार्य प्रशंसनीय हुए और श्रावकों ने स्वामीजिकि अष्टादिकामहोत्सव आदि सत्कार्यों में खूब ड्रव्य लगाया। कम से कम प्रत्येक चौमासे में ५००० हजार से लेकर २०००० हजार तक खरचा श्रावकों की तरफ से किया गया है, इससे अतिरिक्त शेष काल में जी आपने उलटे मार्ग में जाते हुए अनेक भव्यवर्गों को रोक कर शुरू सम्यक्त्वधारी बनाया। आपके उपदेश का प्रजाव इतना तीव्र था कि जिसको सुनकर कष्टर छेपी जी शान्त स्वजाव वाले होगये।

रात्रिभोजन नहीं करना, जीवों को जानकर नहीं मारना, चोरी नहीं करना इत्यादि अनेक नियम जिन्होंने आपसे लिखे हुए हैं और जैनधर्मविषयक दृढ नियमों को परिपालन कर रहे हैं ऐसे आपके उपदेशी केवल जैन ही नहीं हैं किन्तु अन्यमतवाले जी हैं ।

यति अवस्था में जी आपने सम्बत् १९०४ का चौमासा मेवाड़ देशस्थ शहर 'आकोला' में किया था । फिर क्रमशः इन्दौर, उज्जैन, मन्दसौर, उदयपुर, नागौर, जेसलमेर, पाली, जोधपुर, किसनगढ़, चित्तौर, सोजत, शंजुगढ़, बीकानेर, सादरी, जिलाफे, रतलाम, अजमेर, जालोर, घाणेरारव, जावरा इत्यादि शहरों में चौमासा कर सैकड़ों जवजीरु महा-नुजावों को जैनधर्म के संमुख किया ।

आपकी विद्वत्ता सारे जारतवर्ष में प्रख्यात थी, कोई जी प्रायः ऐसा न होगा जो आपके नाम से परिचित न हो । ज्योतिषशास्त्र में जी आपका पूर्ष ज्ञान था, जहाँ जहाँ आपके दिये हुए मुहूर्त से प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाकाएँ हुई हैं वहाँ जहाँ हजारों जनसमूह के एकत्र होने पर जी किसी का शिर जी नहीं टुखा । आपके द्वाय से कम से कम बार्डस अञ्ज-नशलाकाएँ तो बड़ी बड़ी हुईं, जिनमें हजारों रुपये की आमद हुई और छोटी २ अञ्ज-नशलाका या प्रतिष्ठा तो करीब सौ १०० हुई होंगी । इसके अतिरिक्त ज्ञानजगद्गारों की स्थापना, अष्टोत्तरी शान्तिस्नात्रपूजा, उद्यापन, जीर्णोद्धार, जिनालय, उपाश्रय, तीर्थसंघ आदि सत्कार्यों में सूरि जी महाराज के उपदेश से जव्यवर्गों ने हजारों रुपये खर्च किये हैं और अब जी आपके प्रताप से हजारों रुपये सत्कार्यों में खर्च किये जा रहे हैं ।

आपकी साधुक्रिया अत्यन्त कठिन थी इस बात को तो आबालवृद्ध सर्जी जानते हैं, यहाँ तक कि वयोवृद्ध होने पर जी आप अपना उपकरणदिजार सुशिष्य साधु को जी नहीं देते थे तो गृहस्थों को देने की तो आशाही कैसे संजावित हो सकती है । क्रियाउ-च्चार करने के पीछे तो आपने शिष्यलमार्गों का जी सहारा नहीं लिया और न वैसा उ-पदेशही किसीको दिया, किन्तु ज्ञानसहित सत्क्रियापरिपालन करने में आप बनेही उ-त्कण्ठित रहा करते थे । और वैसी ही क्रिया करने में उद्यत जी रहते थे, इसीसे आप-की उत्तमता देशान्तरों में जी सर्वत्र जाहिर थी । प्रमाद शत्रु को तो आप दूरदम दबाया ही करते थे, इसीलिये साधुक्रिया से बचे हुए काल में शिष्यों को पढ़ाना और शास्त्रवि-चार करना, या धार्मिक चर्चा करना यही आपका मुख्य कार्य था । दिन को सोना नहीं, और रात्रि को जी एक प्रहर निद्रा लेकर ध्यानमग्न रहना, इसीमें आपका समय निर्ग-मन होता था; इसीलिये समाधियोग और अनुभवविचार आपसे बढ़कर इस समय और किसी में नहीं पाया जाता है ।

शहर 'बरुनगर' के चौमासे में मरुधरदेशस्थ गाँव 'बलदूट' के भावक अपने गाँव में प्रति-ष्ठा कराने के लिये आपसे विनती करने आये थे, उनसे आपने यह कह दिया था कि 'अब

मेरे हाथ से प्रतिष्ठा अञ्जनशलाका आदि कार्य न होंगे । इसी तरह 'सूरत' में एक श्रावक के प्रश्न करने पर कहा था कि—'अग्नी में तीन वर्ष पर्यन्त फिर विहारादि कहेगा । इन दोनों वाक्यों से आपने अपने आयुष्य का समय गर्जित रीति से श्रावक और साधुओं का बतला दिया था और हुआभी ऐसाही ।

आपकी पैदलविहारशक्ति के अगामी युवा साधु जी परिश्रान्त हो जाते थे, इस प्रकार आपने अन्तिम अवस्था पर्यन्त विहार किया, चाहे जितना कठिन से कठिन शीत पड़े परन्तु आप ध्यान और प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ उघाके शरीर से ही करते थे और अपने जीवन में फुलाटीन की साढ़े चार हाथ एक काँवली और उतनीही बग्गी दो चादर के सिवाय अधिक बख्त जी नहीं आढते थे । आपने करीब ढाई सौ मनुष्यों को दीक्षा दी होगी लेकिन कितनेही आपकी उत्कृष्ट क्रिया को पालन नहीं कर सके, इसलिये शिथिलाचारी संवर्गी और ढुंढकों में चले गये, परन्तु इस समय जी आपके हस्त से दीक्षित चालीस साधु और साध्वियाँ हैं जो कि ग्राम ग्राम विहार कर अनेक उपकार कर रहे हैं ।

सत्पुरुषों का मुख्य धर्म यह है कि जव्यजीवों के हितार्थ उपकार बुद्धि से नाना ग्रन्थ बनाना, जिससे लोगों का शुद्ध धार्मिक पथ (रास्ता) सृज पड़े । इसी लिये हमारे पूर्वकालीन आचार्यवर्यों ने अनेक ग्रन्थ बनाकर अपरिमित उपकार किया है तजी हम अपने धर्म को समझकर दृढ श्रद्धावान् बने हुए हैं, और जो कोई धर्म पर आक्षेप करता है तो उसको उन ग्रन्थों के द्वारा परास्त कर लेते हैं, यदि महर्षियों के निर्मित ग्रन्थरत्न न होते तो आज हम कुठ जी अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकते, इसीलिये जो जो विद्वान् आचार्य आदि होते हैं वे समयानुकूल लोगों के हित के लिये ग्रन्थ बनाते हैं । इसी शैली के अनुसार सूरिजी महाराज ने जी लोकोपयोगी अनेक ग्रन्थ बनाये हैं ।

सूरिजी महाराज के निर्मित संस्कृत—प्राकृत—जापामयग्रन्थ—

१ 'अग्निधानराजेन्द्र' प्राकृतमहाकोश—इस कोश की रचना बहुत सुन्दरता से की गई है अर्थात् जो बात देखना हो वह उसी शब्द पर मिल सकती है । संदर्भ इसका इस प्रकार रक्खा गया है—पहिले तो अकारादि वर्णानुक्रम से प्राकृतशब्द, उसके बाद उनका अनुवाद संस्कृत में, फिर व्युत्पत्ति, लिङ्गनिर्देश, और उनका अर्थ जैसा जैनागमों में मिल सकता है वैसाही जिन २ रूप से दिखला दिया गया है । बड़े बड़े शब्दों पर अधिकार सूची नम्बरवार दी गयी है, जिससे हर एक बात सुगमता से मिल सकती है । जैनागमों का ऐसा कोई जी विषय नहीं रहा जो इस महाकोश में न आया हो । केवल इस कोश के ही देखने से संपूर्ण जैनागमों का बोध हो सकता है । इसकी श्लोकसंख्या करीब साढ़े चार लाख है, और अकारादि वर्णानुक्रम से साठ हजार प्राकृत शब्दों का संग्रह है ।

२ 'शब्दाम्बुधि' कोश—इसमें केवल अकारादि अनुक्रम से प्राकृत शब्दों का संग्रह किया

गया है और साथ में संस्कृत अनुवाद और उसका अर्थ हिन्दी में दिया गया है किन्तु अभिधानराजेन्द्र कोश की तरह शब्दों पर व्याख्या नहीं की हुई है ।

३ सकलेश्वर्यस्तोत्र सटीक, ४ खापरियातस्करप्रबन्ध, ५ शब्दकोमुदी श्लोकबद्ध, ६ कव्याणस्तोत्र प्रक्रियाटीका, ७ धातुपाठ श्लोकबद्ध, ८ उपदेशरत्नसार गद्य ए टीपावली (दिवाली) कल्पसार गद्य, १० सर्वसंग्रह प्रकरण (प्राकृतगाथाबद्ध) ११ प्राकृतव्याकरणवृत्ति ।

सूरीजी के संकलित संगीत ग्रन्थ—

१३ मुनिपति चौपाई, १३ अघटकुँवरचौपाई, १४ घट्टरचौपाई, १५ सिद्धचक्रपूजा, १६ पञ्चकव्याणकपूजा, १७ चौबीसीस्तवन, १८ चैत्यवन्दनचौबीसी, १९ चौबीसजिनस्तुति ।

सूरीजी महाराज के रचित बालावबोध जाषाग्रन्थ—

१०—उपासकदशाङ्ग सूत्र बालावबोध, ११ गण्ठाचारपयज्ञा सविस्तर जाषान्तर, १२ कल्पसूत्र बालावबोध सविस्तर, १३ अष्टाहिकाव्याख्यान जाषान्तर, १४ चार कर्मग्रन्थ अक्षरार्थ, १५ सिद्धान्तसारसागर (बोलसंग्रह), १६ तत्त्वविवेक, १७ सिद्धान्तप्रकाश, १८ स्तुतिप्रभाकर, १९ प्रश्नोत्तरमालिका, २० राजेन्द्रसूर्योदय, २१ सेनप्रश्नवीजक, २२ पद्मव्यचर्चा, २३ स्वरोदयज्ञानयन्त्रावली, २४ त्रैलोक्यदीपिकायन्त्रावली, २५ वासष्ठमार्गणाचिचार, २६ षष्ठावश्यक अक्षरार्थ, २७ एकसौ आठ बोल का थोकफा, २८ पञ्चमीदेववन्दनविधि, २९ नवपद श्योली देववन्दनविधि, ३० सिद्धाचल नवाणुं यात्रादेववन्दनविधि, ३१ चौमासी देववन्दनविधि, ३२ कमलप्रज्ञाशुद्धस्य, ३३ कथासंग्रह पञ्चाख्यानसार ।

इस प्रकार उत्तमोत्तम ग्रन्थ बनाकर सूरीजी महाराज ने जैनधर्मानुरागियों पर तथा ह्तर जनों पर जी पूर्ण उपकार किया है ।

बननगर के चौमासा पूरे होनेपर अपनी साधुमण्डली सहित सूरीजी ने शहर 'राजगढ़' की ओर विहार किया था, इस समय आपके शरीर में साधारण श्वास रोग उठा था । यद्यपि यह प्रथम जोर शोर से नहीं था तथापि उसका प्रकोप धीरे २ बढ़ने लगा, यहाँ तक कि औषधोपचार होने पर जी वह रोग शान्त नहीं हुआ, किन्तु श्वास की बीमारी अधिक होने पर भी आप अपनी साधुक्रिया में शिथिल नहीं हुए, और सब साधुओं से कहा कि—“ हमारे इस विनाशी शरीर का भरोसा अब नहीं है, इसलिये तुमलोग साधुक्रियापरिपालन में टूट रहना, ऐसा न हो कि जो चारित्र रत्न तुम्हें मिला है वह निष्फल होजावे, सावधानी से इसकी सुरक्षा करना, हमने तो अपना कार्य यथाशक्ति सिद्ध कर लिया है अब तुम जी अपने आत्मा का सुधाग जिस प्रकार हो सके वैसा प्रयत्न करते रहना ”। इस प्रकार अपने शिष्यों को सुशिक्षा देकर सुसमाधिपूर्वक अनशन व्रत को धारण कर लिया और औषधोपचार को सर्वथा बन्द कर दिया । बस तदनन्तर थोड़े

परमयोगिराज-जगद्गुरु-जैनाचार्य श्रीमधुश्यालिविनिनि ग्रन्थसूची

ग्रन्थनामनि,	पत्रसंख्या	विक्रमांक	प्रथमप्रति	पुस्तकालय	प्रथमप्रति	पत्रसंख्या	विक्रमांक
१ कल्याणसुखसूत्रम्	१८	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२ मतिवृत्ताभरणम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
३ विचारसूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
४ भास्करसूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
५ मिथ्यासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
६ आत्मसूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
७ भास्करसूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
८ प्रक्रियासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
९ प्रक्रियासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
१० अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
११ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
१२ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
१३ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
१४ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
१५ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
१६ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
१७ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
१८ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
१९ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२० अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२१ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२२ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२३ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२४ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२५ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२६ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२७ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२८ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
२९ अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०
३० अष्टासूत्रम्	२०	१५	१०	१०००	१०	१०००	१०

ही दिन के बाद परमोपकारी धर्मप्रजावक आचार्यवर्य श्रीमान् श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वर महाराजजी ने अपने इस अनित्य शरीर का सम्बत् १९६३ पौष शुक्ल ७ शुक्रवार सुताविक २१ दिसम्बर सन् १९०६ ई० को समाधियुक्त परित्याग किया, अर्थात् इन नाशवान् संयोगों को छोड़ कर स्वर्ग में विराजमान हुए ।

उपसंहार

महानुजाव पाठकवर्ग ! इस समय जीवनचरित्र लिखने की प्रथा बहुतही बढ़ गयी है इसलिये प्रायः बहुत से सामान्य पुरुषों के जी जीवनचरित्र मिलते हैं किन्तु जीवनचरित्र के लिखने का क्या प्रयोजन है यह कोई जी नहीं विचार करता, वस्तुतः सत्पुरुषों की जीवनघटना देखने से सर्व साधारण को लाभ यह होता है कि जिस तरह सत्पुरुष क्रम क्रम से उच्चकोटीवाली अवस्था को प्राप्त हुआ है वैसी ही पाठक भी अपनी अवस्था को उच्चकोटीवाली बनावे और दुर्जन पुरुषों की जीवनघटना देखने से जी यह लाभ होता है कि जिसतरह अपने कुकर्मों से दुर्जन अन्त में दुरवस्था को प्राप्त होता है वैसा वाचक न हो, किन्तु दुर्जन की जीवनघटना की अपेक्षा से सत्पुरुष के ही जीवनचरित्र पढ़ने से शीघ्र लाभ हो सकता है, इसीलिये पाठकों को महानुजाव सूरीश्वरजी का यह जीवनपरिचय कराया गया है, जिससे आपजी ऐसी अवस्था को प्राप्त होकर सदा के सुखजागी बनें, क्योंकि सूरीजी का जीवन इस संसार में केवल परोपकार के वास्ते ही था, नकि किसी स्वार्थ के वास्ते । यदि रागद्वेषरहित बुद्धि से विचारा जाय तो हमारे उत्तमोत्तम जैन धर्म की उन्नति ऐसेही प्रजावशास्त्री क्रियापात्र सदगुरुओं के द्वारा हो सकती है । आपका जो जीवनपरिचय बहुत ही अद्भुत और आश्चर्यजनक है, उसका यह दिग्दर्शनमात्र कराया गया है, किन्तु बड़ा 'जीवनचरित्र' जो बना हुआ है उसमें प्रायः बहुत कुछ सूरीजी महाराज का जीवनपरिचय दिया गया है, इसलिये विशेष जिज्ञासुओं को बड़ा जीवनचरित्र देखना चाहिये, उसके द्वारा संपूर्ण आपका जीवनपरिचय हो जायगा और इन महानुजाव महापुरुष के जीवनचरित्र पढ़ने से क्या लाभ हुआ तो जी सहज में मालूम पड़ जायगा । इत्यलं विस्तरेण ।

नवरसनिधिविधुवर्षे, यतीन्द्रविजयेन वागरानगरे ।

आश्विनशुक्लदशम्यां, जीवनचरितं व्यद्वेक्षि गुरोः ॥ १ ॥



❧ श्री सौधर्म बृहत्तपागङ्गीय पट्टावली ❧

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

१ श्रीसुधर्मास्वामी

२ श्रीजम्बूस्वामी

३ श्रीप्रजवस्वामी

४ श्रीसख्यंभवस्वामी

५ श्रीयशोभद्रसूरि

६ { श्रीसंभूतविजयजी
श्रीजघ्नाहुस्वामी

७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी

८ { श्रीआर्यमुहूर्त्तीसूरि
श्रीआर्यमहागिरि

९ { श्रीसुरिथतसूरि
श्रीसुप्रतिबद्धसूरि

१० श्रीइन्द्रदिक्षसूरि

११ श्रीदिक्षसूरि

१२ श्रीसिद्धगिरिसूरि

१३ श्रीवज्रस्वामीजी

१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी

१५ श्रीचन्द्रसूरिजी

१६ श्रीसामन्तजसूरि

१७ श्रीवृद्धदेवसूरि

१८ श्रीप्रद्योतनसूरि

१९ श्रीमानदेवसूरि

२० श्रीमानतुङ्गसूरि

२१ श्रीवीरसूरि

२२ श्रीजयदेवसूरि

२३ श्रीदेवानन्दसूरि

२४ श्रीविक्रमसूरि

२५ श्रीनरसिंहसूरि

२६ श्रीसमुद्रसूरि

२७ श्रीमानदेवसूरि

२८ श्रीविवुधप्रभसूरि

२९ श्रीजयानन्दसूरि

३० श्रीरविप्रजसूरि

३१ श्रीयशोदेवसूरि

३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि

३३ श्रीमानदेवसूरि

३४ श्रीत्रिमलचन्द्रसूरि

३५ श्रीलघोतनसूरि

३६ श्रीसर्वदेवसूरि

३७ श्रीदेवसूरि

३८ श्रीसर्वदेवसूरि

३९ { श्रीयशोभद्रसूरि
श्रीनेमिचन्द्रसूरि

४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि

४१ श्रीअजितदेवसूरि

४२ श्रीविजयसिंहसूरि

४३ { श्रीसोमप्रजसूरि
श्रीमणिरत्नसूरि

४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि

४५ { श्रीदेवेन्द्रसूरि
श्रीविद्यानन्दसूरि

४६ श्रीधर्मघोषसूरि

४७ श्रीसोमप्रभसूरि

४८ श्रीसोमतिष्ठकसूरि

४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि

५० श्रीसोमसुन्दरसूरि

५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि

५२ श्रीरत्नशेखरसूरि

५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि

५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि

५५ श्रीहेमविमलसूरि

५६ श्रीआनन्दविमलसूरि

५७ श्रीविजयदानसूरि

५८ श्रीहीरविजयसूरि

५९ श्रीविजयमेनसूरि

६० { श्रीविजयदेवसूरि
श्रीविजयसिंहसूरि

६१ श्रीविजयप्रभसूरि

६२ श्रीविजयरत्नसूरि

६३ श्रीविजयक्षमासूरि

६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि

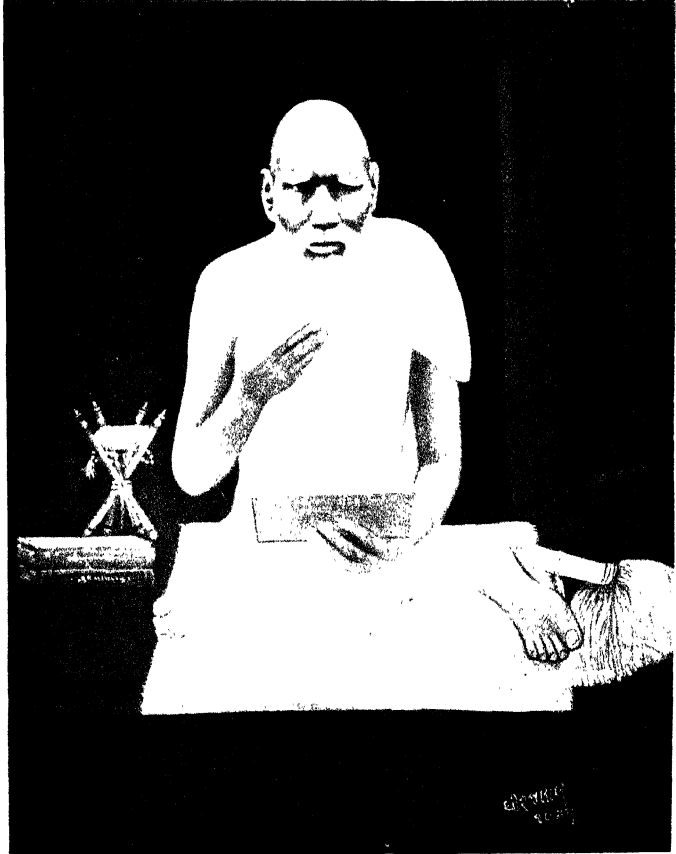
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि

६६ श्रीविजयप्रभोदसूरि

६७ श्रीविजयगजेन्द्रसूरि



श्रीमद्दिजयराजेन्द्रसुगंधश्रवणद्वयभाकर-चंचाचक्रवर्ति-श्रीमत्सहस्रपदेदी-श्रुतस्थविग्मान्य-
 श्रीमौधर्मवृहन्नयोगच्छाया-श्रीमद्दिजयधनचन्द्रसृग्मिजी महाराज ।



विद्वच्चकोरत्नमोदकरे प्रयत्ने शुभ्रवने मुकाविकेचमद्विलामम् ।
 हृदध्वान्ननाशकण्ठे प्रसन्नप्रतापे, वन्दे कलानिधिममे धनचन्द्रसृग्मि ॥ १ ॥

जन्म १९०५ कियत्तमद १९७५ ११ दशोपसंवेत् १९७५ ११ ज्ञानरा १९७५ ११ सृग्मिद् १९७५ ११ ज्ञानरा १९७५ ११
 यनिदीक्षा १९७५ धारिणा १९७५ ११ उपायायपद १९७५ ११ साचरोद १९७५ ११ स्वतोरोद १९७५ ११ यागरा १९७५ ११

॥ प्रस्तावना ॥

इस संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो दुःख से मुक्त होने की अजिलाया नहीं करता, किन्तु जबतक उन दुःखों से मुक्त होने के सत्य उपाय उसको मालूम न हों तबतक वह कैसे कृतकार्य (सफल) हो सकता है; इसलिये सच्ची को दुःख से मुक्त होने के सत्य उपाय जानने की बड़ी अभिलाषा रहती है, कि इस अपार संसार समुद्र में निरन्तर प्रपञ्च करने वाले प्राणियों को प्राप्त होने हुए अस्त्युक्त [जन्म-मरण-मरण] दुःखों से बूटने का कौनसा उपाय है?। यद्यपि विचारशाली और तीक्ष्णबुद्धि वाले मनुष्य इसका उत्तर अवश्य देंगे, कि धर्म के सिवाय और कोई ऐसा बूसा उपाय इन दुःखों से मुक्त होने का नहीं है; किन्तु धर्मार्थम का विवेक करना ही सर्व साधारण को असिद्धकर है अर्थात् कौन धर्म है और कौनसा अधर्म है इसका समझना जी कुछ सहज काम नहीं है, क्यों कि इस दुनिया में अनेक धर्मनामधारी मत प्रचलित हो रहे हैं, जिनकी गिनती करना भी बहुत कठिन है तो फिर उनमें किसको धर्म और किसको धर्मोन्नास कहा जाय?। हों महात्माओं के आदेशानुसार इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस पञ्चमहाकाय में-अर्थात् दुःखम आरा में, धर्मोन्नासों का प्रायः प्रचार विशेष होना चाहिये और धर्म की अवनति दशा विशेष होनी चाहिये। इस पर फिर यह जिज्ञासा होगी कि बैसा धर्म कौन है?। इसका उत्तर यह है कि जिस धर्म के प्रवर्तक पुरुष किसी के द्वेषी अथवा रागी न हों और जो धर्म किसी जीव के [अत्यन्त प्रिय] प्राण का विधातक न हो-अर्थात् जिससे सच्ची जीवों को सुख ही प्राप्त हो उसे ही धर्म कहना चाहिये। यदि ऐसा धर्म वस्तुतया देखा जाय तो जैन धर्म ही दिखाई देता है क्योंकि उसके प्रवर्तक जिन भगवान् भी रागद्वेष-विजिता हैं और उस धर्म का 'अहिंसा परमो धर्मः' यह सिद्धान्त भी है। यद्यपि अन्य धर्मोन्नासों में भी अहिंसा की महिमा है किन्तु प्रधानरूप से उसकी कारणता [जन्मादि] दुःखों से मुक्त होने में नहीं बानी हुई है, और उनमें यदि एकाध अंश में दया है तो अन्याय में हिंसा भी है। जैसे किसी मत का मन्वन्व है कि यदि कोई पशु पक्षी प्राणी इस भव में दुःख सहता हो तो उसको इस जन्म से मुक्त कर देना ही दया है। अथवा-जब कभी अवसर प्राप्त हो तो यज्ञ में प्राणियों को मारकर उनके उत्तमगति वाला बना देना। अस्तु-विशेष विस्तार इमका इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'अहङ्कृमा' और 'अहिंसा' शब्द पर जिज्ञासुओं को देखना चाहिये। इसीलिये कहा हुआ है कि 'पद्मपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद् बचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः" ॥ ? ॥ और 'प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयाति शासनम्' इत्यादि ॥

यह जैनधर्म-द्वयार्थम, आचारधर्म, क्रियाधर्म, और वस्तुधर्म से चार जागों में विभक्त है। और इस धर्म का मुख्य कारण शासन है, जो समवसरण में बैठे हुए देवाधिदेव सर्वज्ञ जगवान् श्रीतीर्थङ्कर के उपदेश से आविर्भूत होता है और पीछे उन्हीं उपदेशों को श्रीगौतमादि गणपर छादशास्त्री अथवा एकादशास्त्री-रूप में संदर्भित करते हैं, जिनका 'सूत्र' नाम से स्वन्याय किया जाता है। ये ग्रन्थों तीर्थङ्करों के शासन काल में विद्यमान दशा का प्राप्त होते हैं। यद्यपि पूर्वकाल में चौदह पूर्वपर, तथा दश पूर्वपर, श्रुतकवली आदि महात्माओं को तो किसी पुस्तकवादि की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि उनके अतिशय से उन्हें मुझ से ही अर्थज्ञान हो जाता था परन्तु आगे वाले जीवों के ज्ञान में उर्ध्वगता होने से और जैन धर्म के विषय अति गहन होने से उनको स्पष्ट करने के लिये निर्धुकि-भाष्य-चूर्णित-टीका-आदि रचने पड़े। परन्तु इस समय में जैन ग्रन्थों का इतना विस्तार हो गया है कि योङ्कीती आरुप्य में अब कोई मनुष्य सामारिक कार्य करता हुआ सुहृदयथा विरक्त नै इस जैनशासनसागर के पार को प्रायः नहीं जा सकता। कारण यह है कि पहिले तो सब ग्रन्थों की उपलब्धि सब कहीं नहीं होती और जो मिलते जी हैं उनमें कौन विषय कहीं पर है वह प्रायः टीका सू पता हर एक को नहीं समता और यदि किसी ग्रन्थ में पता भी लग जाय तो वह विषय दूसरी जगह या दूसरे ग्रन्थों में कहीं कहीं पर आया है यह पता नहीं लग सकता। यह कारण तो एक तरफ रहा, दूसरी बात यह भी है कि जिस जाया में जैनदर्शन बना है, वह जाया वही है कि जिसने प्राचीन समय में मातृभाषा से और राष्ट्र-जाया सं जारतृभि में स्थान पाया था, और जिसका सर्वज्ञों से और गणधरों से बन्दा आदर किया गया, उसी भाषा का प्रचार इस समय बिलकुल नहीं है और जो नाटकों में जहाँ कहीं दिखाई देता है उसको जी उसके नीचे दी हुई जाया से ही लोग समझ लेते हैं, और यदि किसीने उसका कुछ अभ्यास भी कर लिया तो उससे जैन धर्म के मूलसूत्रों का अथवा निर्धुकिगथाओं का

अर्थ समझ में नहीं आसकता, क्योंकि भगवान तीर्थङ्कर ने, तथा गणधरों ने अर्थमागधी भाषा में उन सूत्रों का प्रस्ताव किया है, जो कि सामान्य प्राकृत भाषा से कुछ विलक्षण है। पूर्व समय में तो झोंग परिश्रम करके आचार्यों के मुख से सूत्रपाठ और उसका अर्थ सुनकर कथस्थ करते थे तर्जी वे कृतकार्य जी होते थे (इसका संक्षिप्त विवरण पहिले भाग के 'अद्वाह्मिदिय' शब्द पर देखो) किन्तु आजकल ऐसी परिपाटी के प्रायः नष्ट होजाने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का अत्यन्त हास होगया है। इस दशा को देखकर हमारे गुरुवर्य श्रीसार्धमवृहत्तपागच्छीय कश्मिकालसर्वकृष्ण जट्टारक ?००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रमूर्तिश्वरजी महाराज को बड़ा चिन्ता उपस्थित हुई कि दिनों दिन जैन धर्म के शास्त्रों का हास होता जाता है, इसीलिए बहुत से झोंग उत्सूत्र काम भी करने लग गये हैं और अपने धर्मग्रन्थों से बिन्दुकुल बेखबर से होगये हैं। ऐसी दशा में क्या करना चाहिये ?। क्योंकि संसार में उसी मनुष्य का जीवन सफल है जिनमें अपने धर्म की यथाशक्य उन्नति की, अन्यथा—'असंपादयतः कश्चि-दर्थं जातिक्रियागुणैः। यत्कञ्चिदशब्दवत् पुंसः, संज्ञायै जन्म केवलम्' की तरह हो जाता है। ऐसी चिन्ता हृदय में बहुत दिन रही, किन्तु एक दिन रात्रि में ऐसा विचार हुआ कि—एक ऐसा ग्रन्थ नवीन रूढि से बनाना चाहिये जिसमें जैनगम की मागधी जाषा के शब्दों को अक्रागदि क्रम से रखकर संस्कृत में उनका अनुवाद, लिख्वा, व्युत्पत्ति, और अर्थ लिखकर फिर उस शब्द पर जो पाठ मूलसूत्र का आया है उसका लिखना और टीका यदि उसकी प्राचीन भिन्न तो उसको देकर स्पष्ट करना और यदि ग्रन्थान्तर में भी बड़ी विषय आया हो तो उसकी सूचना (भलावन) दे देना चाहिये। इससे प्रायः अपने मनोऽनुकूल संसल का उपकार होगा। तदनन्तर प्रातःकाल होते ही पूर्वोक्त सूत्री जी महाराज ने अपनी नित्य क्रिया का करके इस कार्य का भार उठाया, और द्वाचित्त होकर बार्दस वर्ष पर्यन्त धार परिश्रम करने पर इस कार्य में सफल हुए, अर्थात् 'अज्ञिधानरानेन्द्र' नाम का कोष मागधीभाषा में रचकर चार भागों में विभक्त कर दिया। इसके बाद कितने ही श्रावकों ने और शिष्यों ने प्रार्थना की कि यदि यह ग्रन्थ भी और ग्रन्थों की तरह भस्मर में ही पड़ा रह जायगा तो कितने मनुष्य इससे लाभ उठा सकेंगे ?। इसलिये अनेक देश देशान्तरों में जिस तरह इसका प्रचार हो वह काम होना चाहिये। इसपर सूत्रीजी महाराजने उत्तर दिया कि मेरा कर्तव्य तो पूर्ण होगया अब जिसमें समस्त संसार का उपकार हो वैसे तुम लोगों को करना चाहिये, मैं इस विषय में तटस्थ हूँ। तदनन्तर श्रीमद्व्यसने इस ग्रन्थ के विशेष प्रचार होने के लिये उपवाना ही निश्चय किया। तब इस ग्रन्थ के शोधन का भार सूत्रीजी महाराज के विनोत शिष्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने ग्रहण किया, जो इस कार्य के पूर्ण अभिज्ञ हैं।

जैनधर्म का ऐसा कोई भी साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-संबन्धी विषय नहीं है जो इस कोश में आया न हो, किन्तु साथही साथ विशेषता यह है कि मागधीजाषा के अनुक्रम से शब्दों पर सब विषय रक्खे गये हैं। जो मनुष्य जिस विषय को देखना चाहे वह उसी शब्दपर पुस्तक खोजकर देख ले। जो विषय जहाँ १ जिस १ जगह पर आया है उसकी जलावन (सूचना) भी उसी जगह पर दी है। और वरु १ शब्दों पर विषयसूची की दी हुई है जिसमें विषय जानने में सुगमता हो। तथा प्रमाण में मूल सूत्र १, और उनकी नियुक्ति १, भाष्य ३, चूर्ण ४, टीका ५ तथा और जी प्रामाणिक आचार्यों के बनाये हुए प्रकरण आदि अनेक ग्रन्थों का संग्रह है। जिसशब्द पर या उसके विषय पर किसी आचार्य या श्रावक की कथा मिली है उस भी उम शब्दपर संग्रह कर दी है। तथा प्रमिच्छ १ तीर्थों की और सजी तीर्थङ्करों की कई पूर्वभवों से लेकर निर्वाणपर्यन्त कथायें दी हुई हैं; इत्यादि विषय आगे दी हुई संक्षिप्त सूची से समझना चाहिये।

इस ग्रन्थ में जो संकेत (नियम) रक्खे गये हैं वे इस तरह हैं—

१-मागधीभाषा का मूलशब्द, और उसका संस्कृत अनुवाद, तथा मूल की गाथा, और मूलसूत्र, [जिसकी टीका है] मोटे (प्रंट) अक्षरों में रक्खा है।

२-यदि कोई गाथा टीका में भी आई है और उसकी जी टीका है तो उसे दो लाइन (पङ्क्ति) में रक्खा है। और मोटे अक्षरों में न रखकर गाथा के आदि अन्त में (" ") ये चिह्न दे दिये हैं। फिर उसके नीचे से उसकी टीका चलाई गयी है। अन्य स्थल में तो मूल मोटे अक्षरों में, और टीका मोटे (पाइका) अक्षरों में दी गई है।

३-जहाँ कहीं उदाहरण में प्राकृत वाक्य या संस्कृत श्लोक आया है उसके आग्रन्त में " यह चिह्न दिया गया है, किन्तु एक से ज्यादा गाथा या श्लोक नहीं कहीं विना टीका के हैं वहाँ पर भी दो १ क्षेप करके उनको रक्खा है। और यदि एकही है तो उसी जैन में रक्खा है। और जहाँ टीका अनुपयुक्त है वहाँ पर मूलभाष ही मोटे अक्षरों में रक्खा है।

४-जिस शब्द का जो अर्थ है उसको सप्तम्यन्त से दिया है और उसके नीचे [,] यह चिह्न दिया है और उसके बाद जिस ग्रन्थ से वह अर्थ लिया गया है उसका नाम भी दे दिया है । यदि उसके आगे उस ग्रन्थ का कुछ भी पाठ नहीं है तो उस ग्रन्थ के आगे अध्ययन उद्देशादि जो कुछ लिखा है वह भी दिया गया है और यदि उस ग्रन्थ का पाठ लिखा है तो पाठ की समाप्ति में अध्ययन उद्देश आदि रक्खे गये हैं, किन्तु अर्थ के पास केवल ग्रन्थ का ही नाम रक्खा है ।।

५-मागधीशब्द और संस्कृत अनुवाद शब्द के मध्य में तथा सिद्ध और अनुवाद के मध्य में भी (—) यह चिह्न दिया है । इसी तरह तदेव दर्शयति— तथा चाह— या अवतराणिका के अन्त में भी आगे से संबन्ध दिखाने के लिये यही चिह्न दिया गया है ।

६-जहाँ कहीं मागधी शब्द के अनुवाद संस्कृत में दो तीन चार हुए हैं तो दूसरे तीसरे अनुवाद को भी मोटे ही अक्षरों में रक्खा है किन्तु जैसे प्राकृत शब्द सामान्य पङ्क्ति (लाइन) से कुछ बाहर रहता है वैसे न रखकर सामान्य पङ्क्ति के बराबर ही रक्खा है और उसके आगे जो सिद्धप्रदर्शन कराया है; बाकी सभी बात पूर्ववत् मुलशब्द की तरह दी है ।

७-किसी किसी मागधीशब्द का अनुवाद संस्कृत में नहीं है किन्तु उसके आगे 'दशो' लिखा है वहाँ पर देशीय शब्द समझना चाहिये, उसकी व्युत्पत्ति न होने से अनुवाद नहीं है ।

८-किसी २ शब्द के बाद जो अनुवाद है उसके बाद लिङ्ग नहीं है किन्तु (धा०) लिखा है उससे धातुदेश समझना चाहिये ।

९-कहीं कहीं (व० व०) (क० स०) (ब० स०) (त० स०) (न० त०) (३ त०) (४ त०) (५ त०) (६ त०) (७ त०) (अ०) आदि दिया हुआ है उनको क्रम से बहुवचन; कर्मधारय समास; बहुव्रीहि; तत्पुरुष; नञ्प्रत्यय; तृतीयतत्पुरुष; चतुर्थतत्पुरुष; पञ्चमीतत्पुरुष; षष्ठीतत्पुरुष; सप्तमीतत्पुरुष; अन्वयार्थभाव समास सम्बन्धना चाहिये ।
१०-पुं० स्त्री० न० वि० अ०-का संकेत क्रम से पुंल्लिङ्ग; स्त्रील्लिङ्ग; नपुंसकल्लिङ्ग; त्रिल्लिङ्ग और अव्यय समझना ।

अध्ययनादि के संज्ञेय और वे किन किन ग्रन्थों में हैं—

- १?—? अ०- अध्ययन- आवश्यकवृत्ति, आवश्यकवृत्ति, आचाराङ्ग, उपासकदर्शाङ्ग, उचाराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा, दशाश्रुतस्कन्ध, दर्शवैकालिक, विपाकसूत्र और सूत्रकृताङ्ग में हैं ।
- २ अधि०- अधिकार- अनेकान्तजयपताकाहचिविबरण, गञ्जाचारपयश्ना, धर्मसंग्रह और जीवानुशासन में हैं ।
- ३ अध्या०- अध्याय- छ्वानुयोगतर्कणा में हैं ।
- ४ अष्ट०- अष्टक- हारिभञ्जाष्टक और यशाविजयाष्टक में हैं ।
- ५ उ०- उद्देश- सूत्रकृताङ्ग, जगवती, निशीथचूर्ण, बृहत्कल्प, व्यवहार, स्थानाङ्ग और आचाराङ्ग में हैं ।
- ६ उद्घा०- उद्घात- सेनप्रश्न में हैं ।
- ७ कर्म०- कर्मग्रन्थ- कर्मग्रन्थ में हैं ।
- ८ कल्प- कल्प- विविधतीर्थकल्प में हैं ।
- ९ उ०- उपास- स्थानाङ्गसूत्र में हैं ।
- १० स्वए०- स्वए०- उत्तराध्ययननिर्मुक्ति में हैं ।
- ११ कृण- कृण- कल्पमुपार्थिका में हैं ।
- १२ काय०- काय०- सम्मतितर्क में हैं ।
- १३ द्वा०- द्वाविंशिका- द्वाविंशद्द्वाविंशिका में हैं ।
- १४ द्वार- द्वार- पञ्चकस्तुक, पञ्चसंग्रह, प्रवचनसाराङ्ग और प्रथमपाकरण में हैं ।
(मदनव्याकरण में आश्रवद्वार और संवरद्वार के नाम से ही द्वार प्रसिद्ध है)
- १५ पद- पद- प्रकृापनासूत्र में हैं ।
- १६ परि०- परिच्छेद- रत्नाकरावतारिका में हैं ।
- १७ सू०- सूत्रिका- दर्शवैकालिक और आचाराङ्ग में हैं ।

- १८ प्रति०- प्रतिपत्ति- जीवाजिगम सूत्र में हैं।
 १९ पाद- पाद- प्राकृतव्याकरण और उसकी टीका वृण्दिता में हैं।
 २० पादु०- पादुदा- चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करणक में हैं।
 २१ वर्ग- वर्ग-निरयावलिता, अणुचरोवर्ग, अन्तकृत्तदशाङ्ग में हैं।
 २२ बिब०-बिबरण- पांशुशमकरण और पञ्चाशक में हैं।
 २३ मका०- प्रकाश- ह्रीमप्रश्न में हैं।
 २४ प्र०- प्रश्न- सेनप्रश्न में हैं।
 २५ श०- शतक- भगवती सूत्र में हैं।
 २६ ध्रु०- ध्रुतस्कन्ध- सूत्रकृताङ्ग, आचाराङ्ग, ज्ञाताधर्मकथा और विपाकसूत्र में हैं।
 २७ वक्ष०- वक्षस्कार- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हैं।
 २८ समय०- समय-समवायाङ्ग सूत्र में हैं।
 २९ सु०- सूत्र- पञ्चसूत्र में हैं।

१२-जिन जिन ग्रन्थों का प्रमाण दिया है उनके सङ्केत और नाम-

१ अङ्ग० - अङ्गचूर्णिका।	२७ जं० - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।
२ अणु० - अणुचरोवर्ग सूत्र सटीक।	२८ ज्ञा० - ज्ञाताधर्मकथा सूत्र सटीक।
३ अनु० - अनुयोगद्वार सूत्र सटीक।	२९ जी० - जीवाभिगम सूत्र सटीक।
४ अनि० - अनकान्तजयताकावृत्तिविवरण।	३० जीत० - जीतकल्पवृत्ति।
५ अन्त० - अन्तगदशाङ्ग सूत्र।	३१ जीवा - जीवानुशासन सटीक।
६ अष्ट० - अष्टक यशोविजयकृत सटीक।	३२ जै०६० - जैनइतिहास।
७ आचा० - आचारङ्गसूत्र सटीक।	३३ ज्यो० - ज्योतिष्करणक सटीक।
८ आ०चू० - आवश्यकचूर्ण।	३४ हुं० - हुण्दी (प्राकृतव्याकरण) टीका।
९ आ०म०प्र०- आवश्यकमलयगिरि (प्रथमखण्ड)	३५ तं० - तन्दुलवयात्री पयशा टीका।
१० आ०म०द्वि०- आवश्यकमलयगिरि (द्वितीयखण्ड)	३६ तित्थु० - तिन्युगाहो पयशामूल।
११ आनु० - आनुप्रत्याख्यान पयशा टीका।	३७ दशा० - दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रवृत्ति।
१२ आ०क० - आवश्यक कथा।	३८ दर्श० - दर्शनशुक्ति सटीक।
१३ आव० - आवश्यकवृद्धवृत्ति।	३९ दश० - दशवैकालिकसूत्र सटीक।
१४ उ०त्त० - उत्तराध्ययन सूत्र सटीक।	४० द० प० - दशपयशामूल।
१५ उपा० - उपामकदशाङ्ग सूत्र सटीक।	" १ उडसरण पयशा।
१६ उ०त्त०नि० - उत्तराध्ययननिर्युक्ति।	" २ आनुप्रत्याख्यान पयशा।
१७ एका० - एकाक्षरीकोश।	" ३ संधारगह पयशा।
१८ ओ०घ० - ओघनिर्युक्ति सटीक।	" ४ च्छर्वाज्जा पयशा।
१९ औ० - औपपातिकसूत्र वृत्ति।	" ५ गच्छाचार पयशा।
२० कर्म० - कर्मग्रन्थ सटीक।	" ६ तंजुलवयात्री पयशा।
२१ क०प्र० - कर्मप्रकृति सटीक।	" ७ देविदत्तयव पयशा।
२२ क०न्य० - कल्पसूत्रे धिका सटीक।	" ८ गणिज्जा पयशा।
२३ को० - पाइयलच्छीनाममाला कोश।	" ९ महापञ्चकषाण पयशा।
२४ ग० - गच्छाचारपयशा टीका।	" १० मरणविधि पयशा।
२५ चं०प्र० - चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।	४१ छया० - छयानुयोगतर्कणा सटीक।
२६ जै० गा० - जैनगायत्रीव्याख्या।	४२ द्वा० - द्वाविंशद्दार्शिनिका(बर्षीसचर्षीसी) सटीक।
	४३ द्वी० - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति।
	४४ दे० ना० - देशीनाममाला सटीक।

- ४५ ष० - धर्मसंग्रह सटीक ।
 ४६ ष० १०- धर्मरत्नमकरण सटीक ।
 ४७ नयो० - नयोपदेश सटीक ।
 ४८ नं० - नन्दीसूत्र सटीक ।
 ४९ नि० - निरयावक्षी सूत्र सटीक ।
 ५० नि०चू० - निशीथसूत्र सवृत्ति ।
 ५१ पं० चू० - पञ्चकल्पवृत्ति ।
 ५२ पं० भा० - पञ्चकल्प भाष्य ।
 ५३ पञ्चा० - पञ्चाशक सटीक ।
 ५४ पं० ब० - पञ्चवस्तुक सटीक ।
 ५५ पं० सं० - पञ्चसंग्रह सटीक ।
 ५६ पं० सू० - पञ्चसूत्र सटीक ।
 ५७ मव० - मवचनमारोद्धारटीका ।
 ५८ मव०मू० - मवचनमारोद्धार मूल ।
 ५९ मति० - प्रतिभाशतक सूत्र सटीक ।
 ६० मश्र० - मश्रनव्याकरण सूत्र सटीक ।
 ६१ मज्ञा० - मज्ञापना सूत्र सटीक ।
 ६२ ममा० - ममागानयतस्वालोकासङ्गतर सूत्र ।
 ६३ पि० - पिएरुनिर्युक्तिवृत्ति ।
 ६४ पिएरु०मु० - पिएरुनिर्युक्ति मूल ।
 ६५ पा० - पाक्षिक सूत्र सटीक ।
 ६६ प्रा० - प्राकृतव्याकरण ।
 ६७ ष० - भगवती सूत्र सटीक ।
 ६८ मदा० - महानिशीथ मूल मूल ।
 ६९ मार० - मारुतप्रकरण सवृत्ति ।
 ७० यो० वि० - योगविन्दु सटीक ।
 ७१ रत्ना० - रत्नाकरावतारिका वृत्ति ।

- ७२ रा० - राजप्ररनीय (रायपसेणी) सटीक ।
 ७३ ल० - लक्षितविस्तारा वृत्ति ।
 ७४ लघु० - लघुप्रवचनसार मूल ।
 ७५ ल० क्र० - लघुपञ्चसमास प्रकरण ।
 ७६ व्य०अ० - व्यवहार सूत्र अङ्गराय ।
 ७७ वाच० - वाचस्पत्याभिधान (कोष)
 ७८ व्य० - व्यवहारसूत्रवृत्ति ।
 ७९ ती० - विविधतीर्थकल्प ।
 ८० वृ० - वृहत्कल्पवृत्ति सभाष्य ।
 ८१ विशेष० - विशेषावरयक सजाप्य सबृहवृत्ति ।
 ८२ विपा० - विपाक मूल सटीक ।
 ८३ भा० - भावकधर्मप्रकाशि सटीक ।
 ८४ षो० - षोडशप्रकरण सटीक ।
 ८५ स० - समवायाङ्ग सूत्र सटीक ।
 ८६ संया० - संधारगपयज्ञा सटीक ।
 ८७ संस०नि० - संसक्तनिर्युक्ति मूल ।
 ८८ संया० - सङ्घाचार जाप्य ।
 ८९ सच० - सचरिसयथा वृत्ति ।
 ९० सम्म० - सम्मतिक सटीक ।
 ९१ स्था० - स्थानाङ्ग मूल सटीक ।
 ९२ स्था० - स्थापादप्रञ्जरी सटीक ।
 ९३ सूत्र० - सूर्यप्रकाशि सूत्र सटीक ।
 ९४ सूत्र० - सूत्रकुनाङ्ग सूत्र सटीक ।
 ९५ सन० - सनमश्र ।
 ९६ हा० - हारिचन्द्राष्टक सटीक ।
 ९७ ही० - हीरप्रश्न ।

१३-प्राकृतशब्दों में जो कहीं कहीं () ऐसे कोष्ठक के मध्य में अक्षर दिये गये हैं, उन-
के विषय में थोड़े से नियम—

१-कहीं कहीं एक शब्द के अनेक रूप होते हैं परन्तु सूत्रों में एकही रूप का पाठ विशेष आता है इसलिये उसीको मुख्य रखकर रूपान्तर को कोष्ठक में रक्खा है—जैसे 'अदत्तादाण' या 'आणुजाग' शब्द हैं और उसका रूपान्तर 'अदिष्ठादाण' या 'अणुजाव' होता है किन्तु सूत्र में पाठ पूर्व का ही प्रायः विशेष आता है तो उसीको मुख्य रखकर दूसरे को कोष्ठक में रक्खदिया है; अर्थात्—'अदत्ता (दिष्ठा) दाण, 'अणुजाग (व) ।'

२-कहीं कहीं वागवी शब्द के अन्त में (ण) इत्यादि व्यञ्जन बर्ण भी कोष्ठक में दिया गया है वह "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ॥ ८ । १ । ११ ॥ इस प्राकृतसूत्र से लुप्त हुए की सूचना है ।

३-कहीं कहीं "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायां लुक्" ॥ ८ । १ । १७ ॥ इस सूत्र में एक पद में व्यञ्जन के लोप होने पर वचे हुए (अ) (इ) आदि स्वरमात्र को रूपान्तर में दिया है ।

४-इसी तरह "अवर्णो यञ्जतिः" ॥ ८ । १ । ८० ॥ का भी विषय कोष्ठक में (य) आदि रक्खा है ।

५-तथा "स्व-घ-थ-ज-ञ्" ॥ ८ । १ । ८७ ॥ इस प्राकृत सूत्र में स्व घ थ ज ञ अक्षरों को प्रायः हकार हुआ करता

हे और कहीं १ हकार न होने का जी रूप आता है तो रूपान्तर की सूचना के लिये (घ) (ष) आदि अक्षर जी कोष्ठक में दिये हैं। यह नियम स्मरण रखने के योग्य है।

६-कहीं कहीं प्राकृतव्याकरण के प्रथमपादस्थ १२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-२३ सूत्रों के भी वैकल्पिक रूप, और दूसरे पाद के २-३-४-५-६-७-८-९ सूत्रों से भी किये हुए रूपान्तर को कोष्ठक में दिया है।

७-“को भौं” ॥ ८ । १ । २३६ ॥ इस सूत्र के लगने से फ को (ज) या (ह) होने पर, दो रूपों में किसी एक को कोष्ठक में दिया गया है। इसी तरह इसी पाद के २४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३-३४-३५-३६-३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३-४४-४५-४६-४७-४८-४९-५०-५१-५२-५३-५४-५५-५६-५७-५८-५९-६०-६१-६२-६३-६४-६५-६६-६७-६८-६९-७०-७१-७२-७३-७४-७५-७६-७७-७८-७९-८०-८१-८२-८३-८४-८५-८६-८७-८८-८९-९०-९१-९२-९३-९४-९५-९६-९७-९८-९९-१०० सूत्रों के विषय भी समझना चाहिये।

८-“स्वार्थकश्च वा” ॥ ८ । १ । १६४ ॥ इस सूत्र से आये हुए क प्रत्यय को कहीं कहीं कोष्ठक में (अ) इस तरह रक्खा है। इसी तरह “नो णः” ॥ ८ । १ । १२८ ॥ सूत्र का जी आर्ष प्रयोगों में विकल्प होता है, इत्यादि विषय प्रथमजाग में दिये हुए प्राकृतव्याकरण-परिशिष्ट से समझ लेना चाहिये।

१४-प्राकृत शब्दों में कहीं २ संस्कृत शब्दों के लिङ्गों से विलक्षण जी लिङ्ग आता है—

कहीं कहीं प्राकृत मान कर ही लिङ्ग का व्यत्यय हुआ करता है जैसे तृतीय भाग के ४३७ पृष्ठ में ‘पिडतो वराहं’ मूल में है, उसपर टीकाकार लिखते हैं कि ‘पृष्ठेशो वराहः, प्राकृतत्वान् नपुंसकलिङ्गता’। इसी तरह “मावु-शरत्-तरण्यः पुंनि” ॥ ८ । १ । ३१ ॥ इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग को पुंलिङ्ग होता है; और दामन-शरम्-नभस् शब्दों को गोमकर सजी सान्त और नान्त शब्द पुंलिङ्ग होने हैं, तथा ‘वाऽङ्ग्यर्थवचनाथाः’ । १ । ३३ । ‘गुणाथाः क्तिव वा’ । १ । ३४ । ‘विमान्महाथाः स्त्रियाम्’ । १ । ३५ । सूत्रों के जी विषय हैं। अन्यत्र स्थल में जी लोक प्रामाणिक की अपेक्षा से ही प्राकृत में लिङ्गों की व्यवस्था मानी हुई है। जैसे-तृतीय जाग के २०४ पृष्ठ में ‘कडवाइ (ण)—कृतवादिन’ इत्यादि को में पुंस्त्व ही होता है। यद्यपि सभा और कुल का विशेषण मानने में स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग भी हो सकता है किन्तु उन दोनों का ग्रहण नहीं किया है; इसी तरह द्वितीय भाग के २८ पृष्ठ में ‘आउक्त्वेम-आयुःक्षेम’ इत्यादि को में यद्यपि ‘कुशलं क्रममस्त्रियाम्’ इस कोश के प्रामाण्य से नपुंसकत्व और पुंस्त्व भी प्राप्त है तथापि केवल पुंस्त्व का ही स्वीकार है; क्यों कि काव्यादिप्रयोगों में जी लोक-प्रामाण्य से ही लिङ्ग माना हुआ है, जैसे अर्धर्चादि गण में पण शब्द का पाठ होने से पुंस्त्व जी है, तदनुसारह—‘जाति पणः सरोवरं’ यह किर्त्तने प्रयोग जी किया, किन्तु काव्यानुशासन-साहित्यदर्पण-काव्यप्रकाश-सरस्वतीकण्ठान्तरण-रसगङ्गाधरकारादिकों ने पुंलिङ्ग का आदर नहीं किया है।

इस ग्रन्थ के हर एक जागों में आये हुए शब्दों में से थोके शब्दों के उपयोगी विषय दिये जाते हैं—
प्रथम जाग के कनिषय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘अन्तर’ शब्द पर अन्तर के जेद, द्वीप पर्वतों में परस्पर अन्तर, जम्बूद्वारों में परस्पर अन्तर, जिनेश्वरों में परस्पर अन्तर, ऋषनस्वामी से वंश भगवान का अन्तर, उपातिष्को का और चन्द्रमाहल का अन्तर, चन्द्र सूर्यों का परस्पर अन्तर, ताराओं का परस्पर अन्तर, सूर्यों का परस्पर अन्तर, घातकीखण्ड के द्वारों का अन्तर, विमानकक्षों का अन्तर, आहार के आश्रय से जीवों का अन्तर, और सयोग भवस्थ केवल्यनाहारक का अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

२-‘आचित’ शब्द पर आचित पदार्थ का, तथा ‘अच्छेय’ शब्द पर दश १० आश्रयों का निरूपण देखना चाहिये।
३-‘अजीव’ शब्द पर उच्य-क्षेत्र-काश-जाव में अजीव की व्याख्या की हुई है।

४-‘अजा’ शब्द पर आर्या (माध्वी) को गृहस्थ के सामने दृष्टभाषण करने का निषेध, और विान्व (नाना रंग वाले) वस्त्र पहि-रने का निषेध, तथा गृहस्थ के कपड़े सीने का निषेध, और सविज्ञास गमन करने का निषेध, पर्यङ्क गार्दी तकिया आदि को काम में लाने का निषेध, स्नान अङ्गरागादि करने का निषेध, गृहस्थों के घर जाकर व्यावहारिक अथवा धार्मिक कथा करने का निषेध, तरुण पुरुषों के आने पर उनके स्वागत करने का, तथा पुनरागमन करने का निषेध, और उनके उचितचारादि विषय बखित हैं।

५-‘अणायार’ शब्द पर साधुओं के अनाचार; ‘अणारिय’ शब्द पर अनार्यों का निरूपण; ‘अणुभाग’ शब्द पर अनुयोग शब्द का अर्थ, अनुयोगविधि, अनुयोग का अधिकारी, तथा अनुयोगों की पार्थिव्य अपेक्षित से दुर्ग है, इत्यादि; और ‘अणुवय’ शब्द पर जन्मियों के विजाग देखने के सायक हैं।

६- 'अभेगतवाय' शब्द पर स्यादवाद का स्वरूप, एकान्तवादियों को दोष, अनैकान्तवादियों के मत का प्रदर्शन, अनैकान्तवाद के प्रत्यक्षरूप में दिखाई देते हुए भी उसको तिरस्कार करने वालों की उन्मत्तता, एकान्तरूप से उत्पन्न अथवा नाश मानने में दोष, दूर एक वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने में प्रमाण, वस्तु की एकान्तवत्ता माननेवाले सांख्यमत का स्वयम् इत्यादि विषय उक्तमोक्ष दिखाय गये हैं ।

७ 'अस्यउत्थिष' शब्द पर एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है कि नहीं ? इसपर अन्वययिषिकों के साथ विवाद, अदत्तादानादि किये के विषय में विवाद, एक समय में एक जीव के दो क्रिया करने में विवाद, कल्याणकारी शील है या श्रुत है ? इसपर अन्वययुषिकों के साथ विवाद, और अन्वययुषिकों के साथ गौचरी का निषेध, तथा अन्वययुषिकों को भोजन देने का निषेध, एवं उनके साथ विचारजूमि या विहारजूमि में जाने का निषेध आदि विषय भावयुक्तियुक्त हैं ?

८ 'अदत्तादाण' शब्द पर अदत्तादान के नाम, अदत्तादान का स्वरूप, अदत्तादान का कर्ता, और अदत्तादान का फल इत्यादि विषय उपकारी हैं ।

९ 'अद्गङ्गामार' शब्द पर अर्धककुमार की कथा, रागद्वेषराहित के भाषण करने में दोषाजाव, शीमादि के उपनामों का भयण (साधु) नहीं कहे जाते, ममवसरणादि के उपभोग करने पर भी अद्गङ्गामार के कर्मबन्ध न होने का प्रतिपादन, केवल नायशुक्ति ही को माननेवाले बौद्धों का स्वयम्, बिना हिंसा किये हुए जी पांस स्वाने का निषेध आदि विषय प्रदर्शित किये गये हैं ।

१० 'अधिगण' शब्द पर कलह करने का निषेध, उत्पन्न हुए कलह को शान्त करने की आह्वा, कलह उत्पन्न के कारण, कलह करके दूसरे गण में जाने का निषेध, शृङ्खल के साथ कलह उत्पन्न होजाने पर उसको बिना शान्त किये पिगमादि प्रद्वय करने का निषेध इत्यादि विषय स्मरण रखने के योग्य हैं ।

११ 'अप्यवदुत्' शब्द पर अप्यवदुत् के चार जेद, पृथ्वीकापायिदिकों के जपनाशयजगहना से अप्यवदुत्, आहारक और अनाहारक जीवों का अप्यवदुत्, सेन्द्रियों का परस्पर अप्यवदुत्, क्रोधादि कषायों का अप्यवदुत्, किम क्षेत्र में जीव योग्य है और किसमें बहुत है इसका निरूपण, जीव और पुद्गलों का अप्यवदुत्, तथा ज्ञानियों का अप्यवदुत् आदि अनेक विषय हैं ।

१२ 'अमावसा' शब्द पर एक वर्ष में द्वादश अमावास्याओं का निरूपण, तथा उनके नक्षत्रों का योग और उनके कुल, एवं कितने मुहूर्तों के जानपर अमावास्या के बाद पूर्णमासी और पूर्णमासी के बाद अमावास्या आती है इत्यादि विषय हैं; और 'अयण' शब्द पर अयन का परिमाण, करण का निरूपण, षण्मास के परिज्ञान में करण आदि विषय रमणीय हैं ।

१३ 'अहिंसा' शब्द पर अहिंसा का स्वरूपनिरूपण, अहिंसा व्रत का लक्षण, जिनको यह मिली है और जिन्होंने इसको ग्रहण की है उनका वर्णन, अहिंसा पावन में उद्यत पुरुषों का कर्तव्य, अहिंसा की पांच भावनाएँ, प्राणीमात्र की हिंसा करने का निषेध, वैदिक (याज्ञिक) हिंसा पर विचार, प्राणी के न मारने के कारण, जैनों के समान अन्वय मत में अहिंसा के अभाव का निरूपण, अन्वय मत में अहिंसा की माक की कारणता मुख्य न (गौण) होना, एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य आत्मा के मानने वालों के मत में अहिंसा का व्यर्थ हो जाना, आत्मा के परिणामी होने पर जी हिंसामें अवरोध का प्रतिपादन, आत्मा के नित्यानित्यत्व और देह से जिन्नाभिन्तत्व होने में प्रमाण, तथा आत्मा के शरीरावच्छिन्न होने में गुण आदि विषय ध्यान देने के योग्य हैं ।

प्रथम भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हैं उनकी नामावली—

'अइमुंनय' 'अउज्ज' 'अंगारमह' 'अंजू' 'अंम' 'अंब' 'अकर' [कीर्तिचन्द्र नरचन्द्र की] 'अक्खु' 'अक्खु' 'अगमदत्त' 'अगहिंसागराय' 'अपकारियभट्टा' 'अचल' 'अभिभेद' 'अज्जगंग' 'अज्जवेदणा' 'अज्जमंग' 'अज्जयण' 'अज्जकल' 'अज्जकविय' 'अज्ज' (अरुणिकथा) 'अज्जवड' 'अज्जुमण' 'अट्टण' 'अट्टावय' 'अट्टिअगाम' 'अदनि' 'अणिसिअवहाण' 'अणीयस' 'अणुवेदोपर' 'अणुवेदोवेस' 'अणायया' 'अणियाठत्त' 'अचदोसोवंधार' 'अत्थकुसुल' 'अद्गङ्गामार' 'अप्यमाय' 'अप्यु' 'अजग्गसेण' 'अज्जकुमार' 'अपयंद' 'अमरदत्त' 'अर' 'अरहस्य' 'अरिदुनेमि' 'असोभया' 'अपंतिसुक्काल' 'असट' 'असत्तवतोदित्थ' 'अरिच्छा' 'अदिपेदण' 'अदिच्छो पर कथाने उल्लेख हैं ।

द्वितीय भाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१- 'आल' शब्द पर आयु के जेद, आयु प्राणीमान को अतिमिय है इसका निरूपण, आयु की पुष्टि के कारण, और उनके उदाहरणादि देखने चाहिये ।

२- 'आलकाय' शब्द पर अप्कायिकों के जेद, अप्कायिक के शरीरादि का वर्णन, और उसके सचित्त-अचित्त-मिथ भेदों का निरूपण, लण जल की अचित्तसिक्कि, अप्काय शब्द का निरूपण, अप्काय की हिंसा का निषेध, अप्काय के स्पर्श का निषेध, और शीतोदक के सेवन का निषेध आदि विषय हैं ।

३- 'आलदृष्टि' शब्द में चन्द्र और सूर्य की आवृत्तियों किस ऋतु में और किस नक्षत्र के साथ कितनी होती हैं इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

४- 'आगम' शब्द पर लौकिक और लोकोत्तर भेद से आगम के जेद, आगम का परतः प्रामाण्य, आगम के अप्रौ-ख्यत्व का खएहन, आगमों के रचे हुए ही आगम का प्रामाण्य, जहाँ जहाँ प्रामाण्य का संभव है वह सभ। प्रमाणी-ज्व है इसका निरूपण, मूलागम से अतिरिक्त के प्रामाण्य न होने पर विचार, शब्द के नित्यत्व का विचार, जो आगम-प्रमाण का विषय होता है वह अन्य प्रमाण का भी विषय हो सकता है इसका विचार, धर्ममार्ग और मोक्षमार्ग में आ-गम ही प्रमाण है, जिनागम का सत्यत्वप्रतिपादन, सब व्यवहारों में आगम कहां। नियामक होने का विचार, बौद्धों के अपोहवाद का संक्षिप्त निरूपण इत्यादि पचास विषय बड़े रमणीय हैं ।

५- 'आज्ञा' शब्द पर आज्ञा के सदा आराधक होने का निरूपण, पण्लोक में आज्ञा ही प्रमाण है, आज्ञा की विराधना करने में दोष, तथा आज्ञाभङ्ग होने पर प्रायश्चित्त, आहाररहित पुरुष का चारित्र्य ठाक नहीं रह सकता, और आज्ञा के व्यवहार आदि का बहुतही अच्छा विचार है ।

६- 'आणुपुत्र' शब्द पर बहुत ही गम्भीर १२ विषय विद्वानों के देखने योग्य हैं ।

७- 'आत्ता' शब्द पर आत्मा के तीन जेद, आत्मा का लक्षण, आत्मा के कर्तृत्व पर विचार, आत्मा का विभुत्वखएहन, आत्मा का परिणाम, आत्मा के एकत्व मानने पर विचार, आत्मा का क्रियावत्त्व, और आत्मा के कृणिकत्व मानने पर विचार इत्यादि विषय हैं ।

८- 'आधाकम्म' शब्द पर आधाकर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, तीर्थकर के आधाकर्म-जोजित्व पर विचार, जोजनादिक में आधाकर्म के संज्ञक होने का विचार, आधाकर्म-भोजियों का दाखण परिणाम, और आधाकर्म-भोजियों का कर्मबन्ध हाना, इत्यादि अनेक विषय हैं ।

९- 'आजिण्णिबोद्धियणण' शब्द पर १३ विषय विचारणीय हैं; और 'आयंविज्जण्णकलाण' शब्द पर आचामाम्भ-प्रत्याख्यान के स्वरूप का निरूपण है ।

१०- 'आचारिय' शब्द पर आचार्यपद का विवेक, आचार्य के भेद; आचार्य का ऐहलौकिक और पारलौकिक स्वरूप, प्रमानानाचार्य, और उपस्थापनाचार्य का स्वरूप, आचार्य का विनय करना; आचार्य के लक्षण, जिनके अभाव में आचार्य नहीं हो सकता वे गुण, आचार्य के प्रष्टाचारत्व होने में दुर्गुण, दूसरे का अद्वित्य कराना ही दुर्गुण है इसका कथन, प्रमादी। आ-चार्य के शिष्य को शिक्षा करने का अधिकार; गुरु के विनय में वैद्यच्छान्त, आचार्य के शिष्य नमस्कार करने का निरूपण, गुरु की वैयानुत्व, जिस कर्म से गच्छ का अधिपति होता है उसका निरूपण, आचार्य के अतिशय, निर्ग्रन्थियों के आचार्य, एक आचार्य के काल कर जाने पर दूसरे आचार्य के स्थापन में विधि, आचार्य की परीक्षा, आचार्य पद पर गुरु के स्थापन करने में विधि, विना परिषद के आचार्य होने का खएहन, स्थापन करने में वृद्ध साधुओं की सम्मति लेने की आव-श्यकता, इत्यादि उत्तमोत्तम विषय हैं ।

११- 'आलोचणा' शब्द पर आलोचना की व्युत्पत्ति, अर्थ और स्वरूप, मूलागम और लच्छरगुण से आज्ञाचिना के भेद, विद्वारादि भेद से आज्ञाचिना के तीन भेद, और उसके भी जेद, शय्य के उच्चारार्थ आज्ञाचिना करने में विधि, आज्ञाचिनीय विषयों में यथाक्रम आलोचना के प्रकार, आलोचना में शिष्याचार्य की परीक्षा पर आवश्यकता, आज्ञा-चिना लेने के स्थान, गोष्ठी में आये हुए की आलोचना, उच्य-क्षेत्र-काल-भाव जेद से आज्ञाचिना के चार प्रकार,

आलोचना का समय, तथा किमके निकट आलोचना लेनी चाहिये इस पर विचार, आत्मपरण जीवक जी आलोचना लेने में ब्राह्मण का दृष्टान्त, अदत्तालोचन पर व्याघ्र का दृष्टान्त, आलोचना के आठ और दश स्थानक, कृत कर्मों की क्रम से आलोचना लेनी चाहिये, आलोचना न लेकर मृत होने पर दोष, और आलोचना का फल इत्यादि विषय आवश्यकीय हैं ।

१२- 'आसायणा' शब्द पर आशातना करने में दोष, और आशातना का फल इत्यादि विवेचन देखने के योग्य है ।

१३- 'आहार' शब्द पर 'सयामी' केवली, अनाहारक होते हैं' इस दिग्भ्रर के मत का खारुन, केवलियों के आहार और नीहार प्रच्छन्न होते हैं' इस पर विचार, पृथिवीकायिकाटिकों के आहार का निरूपण, तथा वनस्पतियों का, वृक्षापरिस्थ वृक्षा का, मनुष्यों का, तिर्येग्नस्रचरों का, स्थलचर सर्पादिकों का, ज्वरों का, विकलेन्द्रियों का, पञ्चेन्द्रियों के मूत्र पुरीषों से उत्पन्न जीवों का आहार; तजस्कायिक और वायुकायिक के आहार का निरूपण, और माचिन्ताहार का प्रतिपादन, यावज्जीव प्राणी कितना आहार करता है इसका परिमाण, आहार के कारण, आहारत्याग का कारण, और आहार करने का प्रमाण, भगवान् ऋषभ स्वामी के द्वारा कन्दाहारों युगलियों का अन्नाहारों होना इत्यादि विषय हैं ।

१४- 'इदिय' शब्द पर इन्द्रियों के पाँच जेद होने पर जी नामादि भेद में चार जेद, तथा उच्यदि भेद से दो जेद, और इन्द्रियों के संस्थान (रचना), इन्द्रियों के विषय, नेत्र और मन का अप्राप्यकारिन्, अवशिष्ट इन्द्रियों का प्राप्यकारि-त्वं, और इन्द्रियों के गुणगुण दोष का निरूपण आदि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१५- 'स्त्री' शब्द पर स्त्री के लक्षण, स्त्रियों के स्वभाव जानने की आवश्यकता, और उनके कृत्यों का वर्णन, स्त्रीसंबन्ध-में दोष, स्त्रियों के साथ विहार नहीं करना, स्त्री के साथ संबन्ध होने से इमी लोक में फल, स्त्री के संसर्ग में दोष, भांगियों का विरुम्बना, विश्राम देकर स्त्रियों के अकार्य करने का निरूपण, स्त्रियों के स्वरूप और शरीर की निम्टा, वैराग्य उत्पन्न होने के लिये स्त्रीचरित्र का निरीक्षण, स्त्रियों की अपवित्रता, प्राणों का सर्वस्व हरण करने वाहों और बन्धन में विशेष कारण स्त्रियों हैं, उनके स्नेह में फल हुए पुरुष का दुःखप्राप्त, स्त्री का संबन्ध सर्वथा त्याज्य है इसका निरूपण, और उनके त्याग के कारण, स्त्री के हस्तस्पर्श करने का निषेध, तथा स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय, आहार, उच्चार, प्रसन्न, परिष्ठापनिका, और धर्मकथादि करने का जी निषेध इत्यादि बहुत अरु २० विषय उच्यते हैं ।

१६- 'ईश्वर' शब्द पर ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का खारुन, तथा ईश्वर के एकत्व और विजुत्व का खरएडन, अन्य तीर्थि-कों के माने हुए ईश्वर का खारुन आदि विषय विचारने के योग्य हैं ।

१७- 'उर्दरणा' शब्द भी उच्यते हैं, और 'उववाय' शब्द पर ३० विषय ध्यान रखने के योग्य हैं, जैसे-देवता देवलोक में क्यों उत्पन्न होते हैं, अविचारित श्रामण होने पर देवलोक में उपगत होता है, और नैराधिक कर्म उत्पन्न होते हैं इत्यादि विषयों पर विचार है ।

१८- 'उवमंपया' शब्द पर अचार्यादि के काल कर जाने पर साधु के अन्यत्र गमन करने पर विचार, हाति और जु-कि की परीक्षा करके कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण, भिक्षु का एक गण से निकल कर दूसरे गण में प्राप्त हो के विहार, तथा इसीका दूसरा प्रकार, कुगुरु होने पर अन्यत्र गमन करना इत्यादि विचार है ।

१९- 'उवसग्ग' शब्द पर उपसर्ग की व्याख्या, उपसर्गकारी के भेद से उपसर्ग के जेद, और उपसर्ग का सहन, तथा संयमों का रूक्षत्व आदि विषय हैं ।

२०- 'उवहि' शब्द पर उपधि के भेद, जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिकों के उपधि, जिन कालपक और गच्छ-चारामयों के उपधि में उत्कृष्ट विभाग प्रमाण, उपधि के न्युनाधिक्य में प्रायश्चित्त, प्रथम प्रव्रज्या के ग्रहण करने पर उपधि, प्रव्रज्या का ग्रहण करती हुई निश्चिन्ती के उपधि, गात्र में अथवा विकाल में उपधि का ग्रहण, भिक्षा के लिये गंध हुए साधु के उपकरण गिरजाने पर विधि, स्थाविरों के ग्रहण योग्य उपधि, माधवियों का जो उपधि देता हो उसे उनके आन के मार्ग में रख देना चाहिये इत्यादि विषय उपयोगी हैं ।

२१- 'उसज' शब्द पर ऋषभस्वामी के पूर्व जव का चरित्र, ऋषभस्वामी के तीर्थङ्कर होने में कारण, ऋषभस्वामी का जन्म और जन्ममहोत्सव, ऋषभस्वामी के नाम, और उनकी हृष्टि, और उनका विवाह, पुत्र, नीतिव्यवस्था, राज्यातिषेक, राज्यग्रह, लोकास्थिति के लिये शिल्पादि का शिक्षण, वाम, तदनन्तर ऋषभस्वामी के पुत्र का

अभिषेक, ऋषजस्वामी का दीक्षाकल्याणक, और उनके पीरधारी होने का कालमगण, जिज्ञाकाल का ममाण, ऋषभस्वामी के आठ भवों का अयासकुमार के द्वारा कथन, ऋषजनाथ का श्रामभय के बाद प्रवर्तनप्रकार, श्रामस्थावस्थावर्णन, फवलोत्प-
स्वन्नर-सर्भकथन, श्रृषजस्वामी के वन्दनार्थ मरुदेवी के साथ जगत का गमन, और जगत का द्विजय, ब्राह्मणों की उत्पत्ता का प्रकार, श्रृषजस्वामी की सङ्घमदन्त्या, और उनके केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद कितने काज्ञानन्तर जन्मों का सिद्धिगमन प्रवृत्त हुआ, और कब तक रहा, ऋषजस्वामी के जन्मकल्याणकादि के नकृत्र, और उनके शरीर की संपत्ति, शरीर का प्रमाण, कुमारवस्था में तथा राज्य करने के समय म और गृहस्थावस्था में जितना काल है उनका मान, श्रृषभस्वामी का निर्वाण इत्यादि विषय स्थित हैं ।

इस से आतिरिक्त भी विषय इन भाग में स्थित हैं जिन्का विस्तार के भय से निरूपण नहीं हो सकता ।

द्वितीय जग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी नामावली—

‘आउ’ ‘आणंद’, ‘आधाकम्प’, ‘आर्षे’, ‘आभीरवेचक’, ‘आयरिय’, ‘आराहणा’, ‘आरुग्गदिय’, ‘आलंबण’, ‘आज्ञोय-
णा’, ‘आमाहच्छ’, ‘इंदवत्त’, ‘इंदेच्छ’, ‘इच्छकार’, ‘इत्थिपरिमह’, ‘इत्थी’, ‘इत्तापुत्त’, ‘इसिभट्टपुत्त’, ‘इसिभामिय’, ‘इस्सर’, ‘उत्तंवरदत्त’, ‘उत्तकम’, ‘उत्तपायमाण’, ‘उत्तज्यंत’, ‘उत्तुमातिववहार’, ‘उत्तुववहार’, ‘उत्तुक्कय्य’, ‘उत्तहपरि-
मह’, ‘उत्तयण’, ‘उत्तयपन्नसुरि’, ‘उत्तमिय’, ‘उत्तपत्तिय’, ‘उत्तपत्तिया’, ‘उत्तन्न’, ‘उत्तवृह’, ‘उत्तमेपया’, ‘उत्तहि’, ‘उत्तालं-
ज’, ‘उत्सारकण्य’ इत्यादि शब्दों पर कथायें द्रष्टव्य हैं ।

तृतीय जग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘एगद्धविहार’ शब्द पर एकाकी विहार करने में साधु को क्या दोष होता है इस पर विचार, एकाकीविहारियों के जेद, आशिर्वाद कारण से एकाकी होने में दोषाभाव, गण को टोका कर एकाकी विहार करने पर प्रायश्चित्तार्थ वर्णित हैं ।

२-‘एगावाड’ शब्द पर आत्मा का एकत्र मानने वालों का खण्डन, तथा एक मानने में दोष, अद्वैतवाद (पुरुषार्थ) का खण्डन विस्तार से हैं ।

३-‘एसणा’ शब्द पर १५ विषय दिये हैं वे जो साधु और गृहस्थों के देवने योग्य हैं, जन्म-नाश को किस प्रकार भिन्ना लेना, और गृहस्थ को किस प्रकार देना चाहिये इत्यादि ।

४-‘ओगाहणा’ शब्द पर अवगाहना के भेद, आदारीक शरीर की अवगाहना (केज) का मान, द्विजचतुर्गिण्डि-
यों की आदारीकावगाहना, तिर्यकपञ्चेन्द्रियों की आदारीकावगाहना, मनुष्यपञ्चेन्द्रियों की आदारीकशरीरावगाहना, वैक्रिय शरीर की अवगाहना का मान, पृथिव्यादिकों की वैक्रियशरीरावगाहना, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्यों की वैक्रियशरीरावगाहना, असुरकुमार्गों की वैक्रियशरीरावगाहना, आहारकशरीरों की अवगाहना का मान, तेजस शरीर की अवगाहना का मान, निर्गोद जीवों की अवगाहना का मान, धर्मास्तिकाय के अवगाहानवगाद क) चिन्ना, एक जगह एकही धर्मास्तिकायादि प्रवेशवागद हैं इत्यादि विवेचन हैं ।

५-‘ओसपिणी’ शब्द पर अवसर्पिणी शब्द की व्युत्पत्ति, और अवसर्पिणी किन्तने काल को कहते हैं, अवसर्पिणी काल में संपूर्ण शूभ भाव क्रम से अनन्त गुण से कृपाण होते हैं, और उसी तरह अशुभ जाव बढ़ते हैं, सुषमसुषमा से लेकर दुःषमदुःषमा पर्यन्त अवसर्पिणी, के जेद, सुषमादिकों का प्रमाण, भेरुनालादि वृक्ष का वर्णन, अष्टम कल्पवृक्ष का स्वरूप, उस काल में होने वाले मनुष्यादिकों के स्वरूप का वर्णन, और उनकी जवस्थिति, प्रथम में लेकर पद्य आगा तक का स्वरूपनिरूपण, जगत की व्यवस्था का वर्णन, भरतजृमिस्वरूप, अवसर्पिणी के तीन जेद इत्यादि विषय दिये हुए हैं ।

६-‘ओह’ शब्द पर अर्वाथ शब्द की व्युत्पत्ति और लक्षण, अर्वाथ के जेद, अर्वाथ के नामादि सात जेद, अर्वाथ-
संज्ञ मान, अर्वाथविषयक उच्य का मान, जेज और काल के विषय का मान इत्यादि अनेक विचार हैं ।

७-‘कज्जकारणभाव’ शब्द पर कापिन्नादि मतों का खण्डन आदि विषय विचारणीय हैं ।

८-‘कम्म’ शब्द पर कर्म के तीन जेद, और उनके स्वरूप का निरूपण, कर्म और शिल्प में जेद, नैयायिक और बौद्धाकर-
णों के कर्म पदार्थ का निरूपण, कर्म के स्वरूप का निरूपण, पुण्य और पापरूप कर्म की सिद्धि, अकर्मवादी नास्तिक के मत

का स्वप्न, कर्म के मूर्तत्व पर आक्षेप और परिहार, जगत के वैचित्र्य से भी कर्म की सिद्धि, जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध, कर्म का अनादित्व, जगत की विचित्रता में कर्मही कारण है ईश्वरादि नहीं हैं इसका निरूपण, स्वजाववादी के मत का स्वप्न, पुण्य और पाप कर्म रूप ही हैं, पुण्य और पाप के जिन लक्षण, कर्म के चार जेद, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और मोहनीयों का विचार, नामकर्म गोत्रकर्म और आयुष्यकर्म का निरूपण इत्यादि ३७ विषय विचारणीय हैं ।

ए—'कसाय' शब्द पर कथायों का निरूपण है ।

१०—'काउसम' शब्द पर कायोत्सर्ग का अर्थ, किन किन कार्यों में कितने उच्छ्वास मान व्युत्सर्ग है, किस रीति से कायोत्सर्ग में स्थित होना इत्यादि १५ विषय बने गंजौर हैं ।

११—'काम' शब्द पर काम की रूपित्वसिद्धि, अरूपित्व का स्वप्न; तथा 'कायद्विष्ट' शब्द पर जीवों की जायस्थिति, जीवों की नैरयिकादि पर्याय में स्थितिक्रिया, विर्यक तथा तिर्यकस्थियों की, और मनुष्य तथा मनुष्यस्थियों की, कार्यास्थिति, देव तथा देवियों की कार्यास्थिति, पर्यायपर्याय के विशेष से नैरयिकों की कार्यास्थिति, इन्द्रियों के द्वारा से जीवों की कार्यास्थिति, काण्डार से जीवों की कार्यास्थिति, इसी तरह योगद्वार, वेदद्वार, कथाद्वार, लयाद्वार, सम्पदद्वार, ज्ञानद्वार, दर्शनद्वार, संयमद्वार, उपयोगद्वार, आद्याद्वार, जापकाजापकद्वार, संक्रिद्वार, जवस्थितिकद्वार के जेद से जीवों की कार्यास्थिति, और उदकगर्जादिकों की कार्यास्थिति इत्यादि २० विषय हैं ।

१२—'काल' शब्द पर कालशब्द की व्युत्पत्ति, काल की सिद्धि, काल का लक्षण, काल के भेद, दिगम्बर की प्रक्रिया से काल का निरूपण, और उसका स्वप्न, काल का ज्ञान मनुष्य क्षेत्र ही में होता है इसका निरूपण, काल के संख्येय, असंख्येय और अनन्त भेद से तीन जेद तीर्थकर और गणधरों से कहे हुए हैं, स्निग्ध और रूज जेद से काल के दो जेद, स्निग्ध और रूज के तीन जेद इत्यादि विषय निर्दिष्ट हैं ।

१३—'किडकम्म' शब्द पर कृतिकर्म में साधुओं की अपेक्षा से साधियों का विशेष, यथोचित वन्दना न करने में दोष, कृतिकर्म में द्रव्य और भाव के जनने के लिये दृष्टान्त, कृतिकर्म करने के योग्य साधुओं का निरूपण, तथा वन्दन करने के योग्य साधुओं का निरूपण, छत्र-क्षेत्र-काल-जाव से जेद, आचरण का लक्षण, और पर्याय ज्येष्ठों से आचार्य की वन्दना का विचार, दैविक और रात्रिक प्रतिक्रमण के मध्य में स्तुति मङ्गल अवरय करना चाहिये, कृतिकर्म किसको करना चाहिये और किसको नहीं इसका विवेचन, पार्श्वस्थादि कों की वन्दना पर विचार, मुसायु के वन्दना पर गुण का विचार, कृतिकर्म करने में उचितानुचित का निरूपण, कृतिकर्म को कब करना और कब नहीं करना, और किन्तनी वार कृतिकर्म करना इसका निरूपण, नियत वन्दनस्थान की संख्या का कथन, कृतिकर्म के स्वरूप का निरूपण इत्यादि ११ विषयों का विवेचन है ।

१४—'किरिया' शब्द पर क्रिया का स्वरूप, क्रिया का निक्षेप, क्रिया के जेद, स्पृष्टास्पृष्टत्व से प्राणोत्पाताक्रिया का निरूपण, क्रिया का सक्रियत्व और अक्रियत्व, कृषावादादि का आश्रयण करके क्रियाकरने का प्रकार, अष्टादश स्थानों के अधिकार से पदत्व और पृथक्त्व के द्वारा कर्मबन्ध का निरूपण, ज्ञानावरणीयादि कर्म को बाँधता हुआ जीव किन्तनी क्रियाओं से समाप्त करता है, मृगयादि में उद्यत पुरुष की क्रिया का निरूपण, क्रिया से जन्म कर्म और उसकी वन्दना के अधिकार से क्रिया का निरूपण, श्रमणोपासक की क्रिया का कथन, अनायुक्त में जाते हुए अनगर की क्रिया का निरूपण इत्यादि १८ विषय भाये हुए हैं ।

१५—'कुसल' शब्द पर कुशील किसको कहना, और उनके जेद, कुशील के चरित्र, कुशीलों के निरूपणानन्तर कुशीलों का निरूपण, पार्श्वस्थादिकों का संसर्ग नहीं करना, और उनके संसर्ग में दोष इत्यादि विषय हैं ।

१६—'केवलयाण' शब्द पर केवलज्ञान शब्द का अर्थ, केवलज्ञान की सिद्धि, इसका साधपर्यवसितत्व, केवलज्ञान के भेद, सिद्ध का स्वरूप, किस प्रकार का केवलज्ञान होता है इसका निरूपण, लोक्या अक्षरक्या देशक्या और राजक्या करनेवाले के लिये केवल ज्ञान और केवल दर्शन का प्रतिबन्ध इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१७—'केवलपण' शब्द पर केवली से कहे हुए धर्म का निरूपण, केवली के जेद, पहिले केवली हो कर ही सिद्धि को प्राप्त होता है, केवली के आहार पर दिगम्बर की विप्रतिपत्ति अग्नि विषय निरूपित हैं ।

१८—'खओवसमिय' शब्द पर कृत्वोपशमिक के जेद तथा औपशमिक से इसका भेद, और उसके अठारह जेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१७—‘खरपर’ शब्द पर खरतर गच्छ का संक्षिप्त विवरण; तथा ‘खाणियवाड़’ शब्द पर बौद्धों के मत का संक्षिप्त निरूपण, और स्वयम्भुव आदि देखने के लायक है ।

२०—‘खेच’ शब्द पर क्षेत्र का निरूपण, क्षेत्र के तीन भेद, क्षेत्र के गुण, क्षेत्र का आभवनव्यवहार आदि कई विषय निरूपित हैं ।

२१—‘गड़’ शब्द पर स्पृशदगति और अस्पृशदगति से गति के दो जेद, प्रकारान्तर से जी दो भेद, गति शब्द की व्युत्पत्ति, नारक तियेग मनुष्य देव के जेद से गति के चार भेद, प्रकारान्तर से पाँच भेद, अथवा आठ जेद, नारकादिकों की शीमगति आदि विषय दिये हुए हैं ।

२२—‘गच्छ’ शब्द पर गच्छविधि, सदाचाररूपी गच्छ का लक्षण, गच्छ का अगच्छत्व, गच्छ में बसने से विशेष निर्जेरा होती है इसका निरूपण, शिष्य तथा गच्छ का स्वरूप, आर्थिकाओं के साथ संबन्ध का निषेध, क्रयविक्रयकारी गच्छ का निषेध, सुगच्छ में बसना चाहिये, बसति का रक्षण, अष्टछत्राण, गच्छमर्यादा, आचार्यादिकों के अभाव होने पर गच्छ में नहीं बसना, गच्छ और जिनकरूप दोनों की प्रशंसा इत्यादि विषय हैं ।

२३—‘गणह (घ) र’ शब्द पर गणधर का स्वरूप, किम तीर्थङ्कर के कितने गणधर हैं, गणधर शब्द का अर्थ, जिन-गुणों से गणधर होने की योग्यता होती है उनका निरूपण किया है ।

२४—‘गज्ज’ शब्द पर गर्ज में अहोरात्रियों का प्रमाण, सुहृत्तों का प्रमाण, गर्ज में निःश्वासोच्चास का प्रमाण, गर्ज का स्वरूप, ध्वस्तयोगिन के काल का मान, कितने वर्ष के बाद स्त्री गर्भ धारण नहीं करती और पुरुष निर्वर्षि हो जाता है इसका निरूपण, कितने जीव एक देहा से एक स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कुट्टि में पुरुषादि कहाँ बसते हैं, गर्भ में जीव उत्पन्न होकर क्या आहार करता है?, गर्भस्थ जीव के उच्चार और प्रसवण का विचार, गर्भ-से जी जीव नरक या देवलोक को जाता है या नहीं इस गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर, नवमास का अन्तर हो जाने पर पूर्व भव को जीव क्यों नहीं स्मरण करता?, और गर्जगत का शौचादि विचार, स्त्री के गर्भधारण करने के पाँच प्रकार, गर्ज-पतन का कारण, गर्भपापण में विधि इत्यादि विषय हैं ।

२५—‘गिलाण’ शब्द पर ग्लान के प्रति जागरण, सच्चित्ताचित्त से चिकित्सा, ग्लान का अनुवर्तन, वैद्यानुवर्तना, वैद्य का उपदेश, ग्लान के लिये एषणा इत्यादि विषय हैं ।

२६—‘गुण’ शब्द पर मूत्रगुण, उत्तरगुण, एकतीस सिद्धादिगुण, सत्ताईस अनगार गुण, महर्द्धि प्राप्त्यादि, भौतान्यादि, मृदुत्वौदाय्यादि, ज्ञान्यादि, वैशेषिकसंमतगुण, ऊच्यगुणों का परस्पर अभेद, गुणपर्याय के जेद, गुणपर्याय का एक्य, और जैनसंमत गुण इत्यादि छष्टव्य विषय हैं ।

२७—‘गुणद्वान’ शब्द पर चौदह गुणस्थान, कायस्थिति, गुणस्थान में बन्ध इत्यादि विषय हैं ।

२८—‘गोयचरिया’ शब्द पर जिनकल्पिक स्थविरकल्पिक, निर्गन्धियों की जिज्ञा में विधि, जिज्ञातन में विधि, आचार्य की आज्ञा, जाने के समय धार्याधार्य और कायाकार्य, मार्ग में जिस तरह जाना, वृष्टिकाय के गिने पर विधि, गृह प्रवेश, गृह के अवयवों को पकड़ करके नहीं खड़े होना, अंगुली दिखाने का निषेध, अगार (स्त्री) के साथ स्वने होना का निषेध, ब्राह्मणादि को प्रविष्ट देख कर के जिज्ञा के द्विये प्रवेश नहीं करना, तीर्थकर और उत्पन्नकेवलज्ञानदर्शन वाद्रे जिज्ञा के द्विये अग्रम नहीं करते, आचार्य जिज्ञा के लिये नहीं जाता, ब्राह्मवस्तु, गोचरानिचार में प्रार्थान्वय, प्रार्थान्वयों की जिज्ञा का प्रकार इत्यादि विषय बहुत उपयोगी हैं ।

२९—‘चक्रवटी’ शब्द पर चक्रवर्तियों की गति का प्रतिपादन, गोत्रप्रतिपादन, चक्रवर्त्तों के पुत्र का प्रतिपादन, चक्रवर्त्तों का ब्रह्म, मुक्ताहार, वर्णादि, स्त्रियाँ, स्त्रियों के सन्तान आदि का निरूपण, उत्सर्पिणी में १२ चक्रवर्त्तों होते हैं, कौल और कर्म चक्रवर्त्तों होता है इसका निरूपण इत्यादि विषय हैं ।

३०—‘चारित्र’ शब्द पर कुम्भ के दृष्टान्त से चारित्र के चार भेद, सामायिकादि रूप से चारित्र के पाँच जेद, किस तरह चारित्र की भाँति होती है इसका प्रतिपादन, चारित्र से हीन ज्ञान अथवा दर्शन मोक्ष का साधन नहीं होता है, किन कथा-यों के उदय से चारित्र का ज्ञाप ही नहीं होता और किन से हानि होती है इसका निरूपण, शीतराग का चारित्र न बहता है और न पड़ता है, चारित्र की विराधना नहीं करना, आहारशुद्धि ही मायः चारित्र का कारण है इत्यादि विषय हैं ।

३१-‘वेद्य’ शब्द पर चैत्य का अर्थ, प्रतिमा की सिद्धि, चारख्युनिकृत बन्दनाधिकार, चैत्य शब्द का अर्थ जो ज्ञान मानते हैं उनका खण्डन, चमरकृतवन्दन, देवकृत चैत्यवन्दन, सावध पदार्थ पर भगवान् की अनुमति नहीं होती, और मीन रहने से भगवान् की अनुमति सम्झी जाती है क्योंकि निषेध न करने से अनुमति ही होती है इसपर दृष्टान्त, हिंसा का विचार, साधु को स्वातन्त्र्य से चैत्य में अनधिकार, द्रव्यस्त्व में गुण, जिनपूजन से वैवाह्यत्व, तीन स्तुति, जिन भवन के बनाने में विधि, प्रतिमा बनाने में विधि, प्रतिष्ठाविधि, जिनपूजाविधि, जिनसन्निविधि, आभरण के विषय में दिग्दर्शन के मत का प्रदर्शन और खण्डन, चैत्यविषयक प्रश्नों पर हीरविजय छरिक्त उत्तर इत्यादि अनेक विषय हैं ।

३२-‘वेद्यवन्द्य’ शब्द पर नैषिकीत्रय, पूजात्रिक, भावनात्रिक, त्रिदिकृतिरीच्यप्रतिषेध, प्रस्थिधान, अभिमम, चैत्यवन्दनदिक, अवगाह, २ वन्दना, २ या ४ स्तुति, जघन्यवन्दना, अपुनवेन्धकाऽऽदिक अधिकारी हैं, नमस्कार, प्रस्थिपात-दण्डक, २४ स्तव, सिद्धस्तुति, मीरस्तुति, वैवाह्यत्व की चौथी स्तुति, १६ आकार, कायोत्सर्ग इत्यादि अनेक विषय आये हैं ।

तृतीय जग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथार्थे आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

‘एगत्तभावशा,’ ‘एलकत्त,’ ‘एससायसिह,’ ‘कषाणयसीय,’ ‘कमीरह,’ ‘कतिय,’ ‘कप्य,’ ‘कप्यअ,’ ‘कययत्त,’ ‘कवडि-जत्त,’ ‘कंडरिय,’ ‘कंबल,’ ‘करंड,’ ‘काकंदिय,’ ‘कायगुत्ति,’ ‘काल,’ ‘कालसांभरिय,’ ‘कासीराज,’ ‘किडकम्म,’ ‘कुवेरदत्त,’ ‘कुवेरदत्ता,’ ‘कुवेरसखा,’ ‘कांडिसिला,’ ‘गंगदत्त,’ ‘गयसुकुमाल,’ ‘गुलचंद,’ ‘गुलसागर,’ ‘गुलछरि,’ ‘गुरुकुलवास,’ ‘गुरुधिग्गह,’ ‘गोहामाहिल,’ ‘चंडरुद,’ ‘चंदगुत्त,’ ‘चंदप्पभरिय,’ ‘वेपा,’ ‘चकंदव,’ ‘वेद्यवन्द्य’ ।

चतुर्थजग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-‘जीव’ शब्द पर जीव की व्युत्पत्ति, जीव का लक्षण. जीव का कथञ्चित्त्व, और कथञ्चित् अनित्यत्व, हस्ति और कुच्यु का समान जीव है इसका प्रतिपादन. जीव और चैतन्य का भेदाभेद, संसारी और सिद्ध के भेद से जीव के दो भेद, संसारियों का सेन्द्रियत्व, त्रिदों का अनिन्द्रियत्व इत्यादि विषय बखित हैं ।

२-‘जाइसिय’ शब्द पर जम्बूद्वीपगत चन्द्र धर्य की संख्या, तथा लवण समुद्र के, पातकी खण्ड के, कालोद-समुद्र के, पुष्करव द्वीप के, और मनुष्येत्तगत समस्त चन्द्रादि की संख्या का मान, चन्द्र-धर्यों की कितनी पहलांक्रायों हैं और किम तरह स्थित हैं इसका निरूपण, चन्द्रादिकों के अग्रण का स्वरूप, और इनके मण्डल, तथा चन्द्र से चन्द्र का और धर्य से धर्य का परस्पर अन्तर इत्यादि अनेक विषय हैं जिनका पूरा २ निरूपण यहाँ नहीं किया जा सकता ।

३-‘जांग’ शब्द पर योग का स्वरूप, तथा योग के भेद, और योग का माहात्म्य आदि अनेक बृहत् विषय हैं ।

४-‘जोनि’ शब्द पर योनि का लक्षण, और उसकी संख्या, और भेद, तथा स्वरूप आदि अनेक विषय हैं ।

५-‘भाण’ शब्द पर ध्यान का अर्थ, ध्यान के चार भेद, शुद्धध्यान आदि का निरूपण, ध्यान का आसन, ध्या-तन्त्र और ध्यानकर्ताओं का निरूपण, ध्यान का मोक्षहेतुत्व इत्यादि विषय हैं ।

६-‘ठवणा’ शब्द पर स्थापनानिष्पेध, प्रतिक्रमण करते हुए गणधर स्थापना करते हैं, स्थापनाचार्य का चालन, स्था-पना कितने प्रदेश में होती है इसका निरूपण, स्थापना शब्द की व्युत्पत्ति, और स्थापना के भेद इत्यादि विषय हैं ।

७-‘ठाण’ शब्द पर साधु और साध्वी को एक स्थल पर कायोत्सर्ग करने का निषेध, स्थान के पंद्रह भेद, बादर पर्याप्त तेजस्कायिक स्थान, पर्याप्तपर्याप्त नैरयिक स्थान, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का स्थान, भवनपति का स्थान, और स्थान शब्द की व्युत्पत्ति इत्यादि विषय हैं ।

८-‘डिई’ शब्द पर नैरयिकों की स्थिति, पृथिवीविभाग से स्थितिचिन्ता, देवताओं की स्थिति, तथा देवियों की, भवनवासियों की, भवनवासिनियों की, असुरकुमारों की, असुरकुमारियों की, नागकुमारों की, नागकुमारियों की, सु-र्वखकुमारों की, सुवर्णकुमारियों की, पृथिवीकायिकों की, सूक्ष्म पृथिवीकायिकों की, आउकायिकों की, बादर आउ-कायिकों की, तेउकायिकों की, सूक्ष्म तेउकायिकों की, बादर तेउकायिकों की, वायुकायिक-सूक्ष्म वायुकायिक-बादर वायु-कायिकों की. वनस्पतिकायिक-सूक्ष्म वनस्पतिकायिक बादर वनस्पतिकायिकों की, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक. संमूर्द्धिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यङ्क, जलचरपञ्चेन्द्रिय, संमूर्द्धिम जलचर पञ्चेन्द्रिय, चतुष्पद स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय, संमूर्द्धिम चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, गर्भापक्रान्तिक चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, उरःपरिसर्प स्थलचर-पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, भ्रूजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, मंमूर्द्धिम भ्रूजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय-

तिर्यग्योनिक, गर्भापक्रान्तिकभ्रुज०, खचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, ममूर्च्छिम०, गर्भापक्रान्ति०, मनुष्यों की, स्त्रियों की, नपुंसकों की, निग्रेन्थों की, वाशव्यन्तरों की, वाशव्यन्तरियों की, ज्यातिष्कों की, ज्यातिष्कियों की स्थिति-चन्द्रविम न में, स्रष्ट विमान में, ब्रह्मविमान में, नक्षत्रविमान में ताराविमान में स्थिति, वैमानिकों की स्थिति औषध कल्प में, ईशान कल्प में, सनत्कु-माह कल्प में, मोहन्द्र कल्प में, ब्रह्मलोक-लान्तक कल्प में, महाशुक्र-सहस्रार कल्प में, आनत कल्प में प्राणत कल्प में, आरशुक्रअच्युत कल्प में स्थिति-अयोऽपत्र, श्रैवेयकों की, अधोमध्यमश्रैवेयकों की, अधउपरिश्रैवेयकों की, मध्यमाधोश्रैवेयकों की, मध्यममध्यमश्रैवेयकों की, मध्यमउपरिमश्रैवेयकों की, उपरिमाधोश्रैवेयकों की, उपरिममध्यमश्रैवेयकों की, उपरि-मउपरिम श्रैवेयकों की स्थिति-विजयवैजयन्नजयन्तापराजितमवोधमिद्धों में देवों की स्थिति, वेदनीय कर्मों की स्थिति, पुंनपुंसकों की स्थिति, अकामकायकृशतपस्वियों की, व्यन्तरों में उत्पन्न की स्थिति-बाल मरण से मरे हुए व्यन्तरों की, विषवाश्रों की अन्पारम्भप्रवृत्त व्यन्तरों में उत्पन्नों की स्थिति इत्यादि विषय बहुत भेद प्रभेद से निरूपित हैं ।

६-‘खक्खत्त’ शब्द पर नक्षत्रों की संख्या, इन नक्षत्रों में कब क्या कार्य(गमन प्रस्थानादि) करना, स्वाध्यायादि नक्ष-त्र-श्रिपि, श्रुत और ज्ञानवृद्धिकर नक्षत्र, चन्द्रनक्षत्रयोग, कितने भाग नक्षत्र चन्द्र के साथ युक्त होते हैं, प्रमदयोगी नक्षत्र, कौन नक्षत्र कितने तारायुक्त है, नक्षत्रों के देवता, नक्षत्रों के गौत्र, भोजन, द्वार, नक्षत्रविजय, सार्यकाल और प्रातःकाल में नक्षत्रचन्द्रयोग, अमावास्याओं में चन्द्रनक्षत्रयोग, संवत्सरान्तो में नक्षत्रचन्द्रयोग, और संस्थान(रचना)आदि विषय हैं ।

१०-‘शम्भोकार’ शब्द पर नमस्कार के भेद, सिद्धनमस्कार, वीतराग के अनुग्रह से रहित होने पर भी नमस्कार का फलद होना, मिद्ध गुण अर्पुन ही होते हैं, नमस्कार का क्रम इत्यादि अनेक विषय द्रष्टव्य हैं ।

११-‘खय’ शब्द पर नय का लक्षण, अपेक्षानय, सप्तभङ्गी, वस्तु का अनन्तधर्मान्मिकत्व, एक जगह अनेकाकार नयप्रमाणशुद्धि, नयज्ञान प्रमात्मक है या भ्रमात्मक है इसपर विचार, द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, और उन दोनों का मत, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के मध्य में नैगमादि नयों का अन्तर्भाव, नैगमादि ७ मूल नय हैं और उनके मत का संग्रह, ‘सिद्धयन दिवाकर’के मत में ६ नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, श्रुतुव्यव, शब्दनय, एवंभूत नय, ७०० नय, निच-पनयोजना, कौन दर्शन किस नय से उत्पन्न हुआ, शब्दब्रह्मवादियों का मत, अद्वैतवादियों का मत निश्चय और व्य-वहार में मभी नयों का अन्तर्भाव, व्यवहार नय से साङ्ख्यमत, वेदान्त और साङ्ख्य का शुद्धशुद्धत्व, नैगम और संग्रह का व्यवहार में अन्तर्भाव, कणाद और सौगत (बौद्ध) का मत, दिगम्बर मत में नय, शब्दनय, अर्थनय, नयों में सम्यक्त्व, नयफल, ज्ञानक्रियानय, नयपार्थक्य आदि विषय दिये हुए हैं ।

१२-‘शरमा’ शब्द पर नरकदुःखवर्णन, नरकवेदना, नरक के बहुत से स्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१३-‘शाग’ शब्द पर पाँच ज्ञान, मति श्रुत भेद से ज्ञान के भेद, ज्ञान का साकारानाकारत्व, ज्ञान का स्वप्रका-शकत्व, तत्त्वज्ञान इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं, और ‘शिग्मंथ’ शब्द पर निग्रन्थ शब्द की व्युत्पत्ति आदि देखना चाहिये ।

१४-‘तपस’ शब्द पर तप क्या वस्तु है, अनशन व्रत तप कैसा है, बाह्य और आभ्यन्तर तप का निरूपण, तप धैमा करना चाहिये बिम में शरीर की ग्लानि न हो, तप का फल, तप के चार भेद इत्यादि विषय हैं ।

१५-‘नित्यपर’ शब्द पर तीर्थंकर शब्द की व्युत्पत्ति और यह किमका प्रतिपादक है इस का निरूपण, तीर्थंकरों के अति-शय, तीर्थंकरों के अन्तर, और तीर्थंकरों में अष्टादश दोष का अभाव, तीर्थंकरों के अभिन्न और उनकी आदिशमङ्गल्या आव-श्यक, और उनके आहार, जन्मावसर में इन्द्रकृत्य, सभानिवेशन, शक्रक्रिया, देवलोक के उतरने के मार्ग मरुगमन, उपकरण-संख्या, उपमर्गे देहमान(उँचाई आदि)चतुर्विंशति जिनों के अवाधिज्ञानी मुनियों की संख्या, कल्पशोधि, कुमारवाम, केव-ल(ज्ञान)प्रचक्र, केवलनगरी, केवलतप, केवलमास तिथि, केवलराशि, केवलवृक्ष, केवलवृक्षमान, केवलवन, केवलवेला, क-लिकाल, केवलमेरुया, गणमेरुया, गणधर्मरुया, गर्भस्थिति, शुद्धिकाल, गृहस्थावस्था के तीन ज्ञान, गौत्र, चतुर्दशपूर्वी, च-क्रिन्वकाल, चरित्र, च्युतिनक्षत्र, च्युतिनाम, च्युतिराशि, च्युतिवेला, लक्षस्थत्व, लक्षस्थावस्था में वीरतपमान, यज्ञ, यज्ञिणी, जन्मनक्षत्र, जन्मनगरी, जन्मदश, जन्ममास, जन्मराशि, जन्मवेला, जन्मराक, जन्मराकराशकाल, तत्त्वसंख्या, तीर्थप्रवृत्ति-काल, तीर्थोच्छेदकाल, तीर्थकर्मनाम, ‘चक्रार्ति, बलदेव, वामुदेव, प्रतिवामुदेव, तीर्थोत्पत्ति, दीक्षाकाल, दर्शन, दीक्षानक्षत्र, दीक्षापर्याय, दीक्षातरु, दीक्षानप, दीक्षापरिवार, दीक्षापुर, दीक्षाज्ञान, दीक्षामास, दीक्षागण, दीक्षाशोचशुद्धि, दीक्षावन, दीक्षावय, दीक्षाशिक्षिका, दिक्कुमारिकृत्य, अष्टकुमारियों के नाम, और इनके आमनों का चलन, गमनावसर

में क्या करती हैं, तीर्थकरमाताओं को नमस्कार, इनका कर्तव्य, दक्षिणरुचकवासियों का कृत्य, पश्चिमरुचकवासियों का कृत्य, उदीची में रुचकवासियों का कृत्य इत्यादि, देवदृष्यवस्त्र, देवदृष्यवस्त्रस्थिति, धर्मप्रभेद, धर्मप्रदेशक, नाम तीर्थकरों के, पञ्चकल्पशास्त्रक, पर्यायान्तकृतभूमि, प्रतिक्रमणसंख्या, प्रथममण्यधरनाम, प्रथमप्रवर्तिनी, प्रथमश्रावक, प्रथम-श्राविका, प्रत्येकबुद्धसंख्या, प्रभाद, परिषद, पारशाद्रव्य, पारशादायक, पारशादायकगति, पारशादायकदिव्य-पञ्च, पारशादायकवसुधाराष्ट्रि, पारशापुर, प्रियगति, प्रियनाम, पूर्वप्रवृत्तिकाल, पूर्वप्रवृत्तिच्छेद, जिनों के पूर्व भव, (अष्ट-पभेद के पूर्वभव 'अष्टपभ, शब्द पर हैं) चन्द्रप्रभ के सात् भव, शान्तिनाथ के द्वादश पूर्वभ, मुनिसुव्रत के नवभ, नेमिनाथ के नवभ, पार्श्वनाथ के पूर्वभ, वीर के अष्टाईमभ, शेष जिनों के भव, पूर्वभवगुरु, पूर्वभवायु, पूर्वभवचेत्र, पूर्वभवदीक्षा, पूर्वभवजिनहंतु, पूर्वभद्दीप, पूर्वभवनाम, पूर्वभवपुरी, पूर्वभवराज्य, पूर्वभवविजय, पूर्वभववर्ग, पूर्वभववस्त्र, मुख्यआयन, मुख्यस्थान, मुख्यतप, मुख्यनक्षत्र, मुख्यपरिवार, मुख्यपथ, मुख्यमाम, मुख्यराशि, मुख्यविनय, मुख्यवे-ला, मुख्यारक, मुख्यारकशेषकाल, मुख्यवागहाना, मुनिस्वरूप, मुनिसंख्या, राज्य, रुद्रनाम, लाञ्छन, शरीरलक्षण, जिनवेश, वस्त्रवर्ण, जिनों के वर्ण, विवाह, विहार, संयम, सांख्यिक दान, समवसरण, सवायु, सामान्यमुनि, सामायिक, सामायिकसंख्या, श्रावकसंख्या, स्वप्न, स्वप्नविचार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१६— 'तेजकाश्य' शब्द पर तेज की जीवत्वमिद्धि, अग्नि की जीवत्वमिद्धि, तद्विषयसमारंभ कटुकफलपरिहारोप-न्यास, अग्निममारम्भ में नानाविधप्राणियों की हिंसा, तजस्कायपिण्डप्रतिपादन, तजस्कायहिंसानिषेध इत्यादि विषय हैं ।

१७— 'धोडल' शब्द पर स्थण्डिल का विवेचन देखना चाहिये । 'दंमण' शब्द पर दर्शन की व्युत्पत्ति, सम्यक् और मिथ्या भेद में दर्शन के दो भेद, सायिकादि भेद से तीन भेद, तथा दर्शन का पञ्चविधत्व और सप्तविधत्व. कारक शौचक दीपक भेद से तीन भेद, नवविधदर्शन इत्यादि विषय हैं ।

१८— 'दत्र' शब्द पर द्रव्य का निरूह, द्रव्य का लक्षण, पद्द्रव्यनिगमन, जीवाजीवद्रव्य असंख्य अनन्त, द्रव्य के दो भेद, वैशेषिकरीति में नव द्रव्य, और उनमें द्वाप इत्यादि विषय द्रव्य हैं ।

१९— 'दाग' शब्द पर दान का विशेष विचार देखना चाहिये ।

२०— 'देव' शब्द पर देवताओं के दो भेद, तीन भेद, चार भेद, पाँच भेद इत्यादि विषय हैं ।

२१— 'धम्म' शब्द पर धर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, धर्म के दो भेद, धर्म का लक्षण, धर्म के भेद और प्रभेद, धर्म के चिह्न, आर्दायलक्षण, दक्षिणलक्षण, निर्मलवांधलक्षण, भेदादिकों के लक्षण, धर्म के अधिकारी, धर्म के योग्य, अव-श्यही धर्म की रक्षाकरना चाहिये इसका निरूपण, अर्थ और काम का धर्म ही मूल है, धर्मोपदेश का विस्तार, धर्म का माहात्म्य, धर्म का मोक्षकारणत्वप्रतिपादन, धर्म का फल, और वह किमको दुर्लभ है और किमको सुलभ है इसका निरूपण, केवलिभाषित धर्म का अत्रण दुर्लभ है, धर्म की परीक्षा, धर्माधर्म का विचार सूत्रम बुद्धि से करना चाहिये इत्यादि विषय हैं ।

अनुर्थ ज्ञान में जिन जिन शब्दों पर कया या उपकथायें आई हई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'जत्तामिद्ध', 'गंदमिरी', 'गंदिमण', 'नरमुंदर', 'सागज्जुण', 'सागहत्थिण', 'ताराचंद', 'दमदंत', 'दसउर', 'दमसभद', 'धम्ममिच्च', 'धम्मवई', 'धम्मवाह', 'धम्मसिरी', 'धम्मघोम', 'धम्मजस' ।

पञ्चम भागमें आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१— 'पञ्चक्याण' शब्द पर अहिंसाप्रत्याख्यान, प्रतिषेधप्रत्याख्यान, भावप्रत्याख्यान, मूलगुणप्रत्याख्यान, सम्य-क्त्तप्रतिक्रमण, सर्वत्रोत्तमगुणप्रत्याख्यान अनागतादि दशविध प्रत्याख्यान, अद्धाप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानविधि, दान-विधि, प्रत्याख्यानशुद्धि, प्रत्याख्यान का पद्विधत्व, ज्ञानशुद्ध, अनुभाषणाशुद्ध, अनुपालनाशुद्ध, आकार, प्रत्या-ख्यान में सामायिक, प्रत्याख्याताकृत प्रत्याख्यान दान का निषेध, निविषयक प्रत्याख्यान नहीं होता, श्रावक का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान का फल आदि कई विषय हैं ।

२— 'पच्चिन्न' शब्द पर प्रायश्चित्त का अर्थ, भाव में प्रायश्चित्त किमको होता है, आलोचनादि दशविध प्रतिसेवना प्रायश्चित्त, तथाऽहं प्रायश्चित्त में मामिक प्रायश्चित्त, संयोजनाप्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त देने के योग्य पर्वण (सभा), दण्डानुरूप प्रायश्चित्त, द्वैमामिक, त्रैमामिक, चातुर्मामिक, पाञ्चमामिक, और बहुमामिक प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तदानविधि, आला-चना का सुनकर प्रायश्चित्त देना, प्रायश्चित्त का काल, प्रायश्चित्त का उपदेश इत्यादि विषय हैं ।

३- 'पञ्जसखाकल्प' शब्द पर पर्युषणा कच करना, पर्युषणास्थापना, भाद्रपदपञ्चमीविचार, क्षेत्रस्थापना, भि-
शाचेत्र, संखडि, एकनिर्घन्थी के साथ नहीं ठहरना, अगारी के साथ नहीं ठहरना, इच्छ से अधिक नहीं खाना,
शब्दासंस्कार, उच्चारप्रलवणभूमि, पर्युषणा में केशलोच, उपाश्रय, दिगवकाश इत्यादि देखने के योग्य हैं ।

४- 'पडिकमण' शब्द पर प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ, प्रतिक्रमक, नामस्थापनाप्रतिक्रमक, प्रतिक्रान्तम्य के पाँच भेद,
ईर्याप्रतिक्रमण, दैवशिकप्रतिक्रमणवेला, रात्रिकप्रतिक्रमण, पाक्षिकादिकों में प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी ही
में होता है, मज्जल, त्रैकालिक प्राणातिषातविरति, श्रावक के प्रतिक्रमण में विधि इत्यादि बहुत विषय हैं ।

५- 'फडिमा' और 'पडिलेहणा' शब्द देखने चाहिये । 'पडिसेवणा' शब्द पर प्रतिसेवना शब्द का अर्थ,
और भेद आदि का बहुत विस्तार है ।

६- 'बत्त' शब्द पर पात्र का लेपकरणादिक देखना चाहिये ।

७- 'पमाण' शब्द पर प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण का लक्षण, स्वतःप्राप्तविचार, प्रमाणरूपा, प्रमाणफल,
द्रव्यादिप्रमाण आदि विषय हैं ।

८- 'परिग्गह' शब्द पर परिग्रह के दो भेद, सूच्छापरिग्रह आदि अनेक भेद द्रष्टव्य हैं ।

९- 'परिह्वण' शब्द पर परिह्वानविधि, पृथ्वीकायपरिह्वान, अशुद्ध गृहीत आहार की परिह्वान, कालगत-
त्ताधु की परिह्वानिका इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१०- 'परिणाम' शब्द पर परिणाम की व्युत्पत्ति और अर्थ, जीवाजीव के परिणाम, नैरयिकादिकों का परिणाम
विशेष, स्कन्ध और पुद्गलों का परिणामित्व, देवताओं का वासपुद्गलों को ले करके परिणामी होने में सामर्थ्य, पुद्गल-
परिणाम, वर्ष गन्ध रस स्पर्श के संस्धान से पुद्गल परिष्कृत होते हैं, पुद्गलों का प्रयोग परिष्कृतहोना, दण्डक, जीव
का परिणाम, मूलप्रकृति का महदादिपरिणाम, स्वभावपरिणाम, परिणाम के अनुसार से कर्मबन्ध, आकारबाध और
क्रिया के भेद से परिणाम इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

११- 'पवज्जा' शब्द पर प्रव्रज्या का अर्थ और व्युत्पत्ति, प्रव्रज्या के पर्याय, दीक्षा का तत्त्व, किममे किमक्रे
प्रव्रज्या देना, किम नचत्र और किम तिथि में दीक्षा लेनी, दीक्षा में अपेक्ष्य वस्तु, दीक्षा में अनुराग आदि, लोकविरुद्ध-
त्याग, सुन्दरगुरुयोग, सववसरण में विधि, पुष्पपात में दीक्षा, वामक्षेपादिरूप दीक्षासामाचारी, दीक्षा किम प्रकार से
देना, चैत्यबन्दन, प्रव्रज्याग्रहण में ध्वज, और उमके पालन में ध्वज, प्रव्रज्या में विधि, गुरु से अपना निवेदन, दीक्षा
की प्रशंसा, जिसतरह साधुओं की प्रीति हो वैसे चिह्न धारण करना, दीक्षाफल, प्रव्रजित का आर्थिकाओं के द्वारा
बन्दन, प्रव्रजित को ऐसा उपदेश करना जिसमें अन्य भी दीक्षा लें, पगीक्षा करके प्रव्रजित, एकादशप्रतिपक्ष
श्रावक को दीक्षा देना, पण्डक (ऋषि) आदि को दीक्षा नहीं देना इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१२- 'पुढवीकाइय' शब्द पर पृथिवीकायिक की वक्रव्यपत्ता स्थित है ।

१३- 'पोग्गल' शब्द पर पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, पुद्गल का लक्षण, पुद्गल भिदुर्धर्मवाले हैं, परमाणु
का पुद्गल से अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

१४- 'बन्ध' शब्द पर बन्धमोक्षसिद्धि, बन्ध के भेद, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध, प्रेमद्वेषबन्ध, अनुमागबन्ध, बन्ध में
मोक्षक का दृष्टान्त, ज्ञानावरणियादि कर्मों का बन्ध इत्यादि अनेक बातें हैं ।

१५- 'भरह' शब्द पर भरत वर्ष का स्वरूपनिरूपण, दक्षिणाई भरत का निरूपण, और वर्षों के मनुष्यों का स्वरूप,
भरत के सीमाकारी वेताख्य गिरि का स्थाननिर्देश, और ह्यक गुहाद्वय का निरूपण, तथा श्रृंगि और कूटों
का निरूपण, उत्तराई भरत का निरूपण, भरत इस नाम पढ़ने का कारण, तदनन्तर राजा भरत की कथा है ।

१६- 'भावणा' शब्द पर भावना का निर्वचन, प्रशस्ताप्रशस्त भावना का निरूपण, मैथ्यादि भावनाओं के चार
भेद, सद्भावना से भावित पुरुष को जो होता है उसका निरूपण इत्यादि विषय आर्य हैं ।

पञ्चम जगाम में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'पामपरीसह,' 'पउममेह,' 'पउमावई,' 'पउममिरी,' 'पउमभह,' 'पउमहह,' 'पुढविचंद,' 'कांसिदिय,'
'चंयुमई,' 'भद,' 'भदधंदिन्,' 'भरह,' 'भीमकुमार' ।

षष्ठभागमे आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१- 'मग्न' शब्द पर द्रव्यस्त्व और भावस्त्व रूप से मार्ग के दो भेद, मार्ग का निषेध, मार्ग के स्वरूप का निरूपण इत्यादि अनेक विचार हैं ।

२- 'मरण' शब्द पर सपराक्रम और अपराक्रम मरण, पादपोषणमनादिकों का संक्षिप्त स्वरूप, भ्रूणपरिष्ठा, बालमरण, कालद्वार, अकाम मरण और सकाम मरण, विमोक्षाध्ययनोक्त मरणविधि, मरण के भेद इत्यादि विषय दिये गये हैं ।

३- 'मग्नि' शब्द पर मग्निनाथ भगवान् की कथा द्रष्टव्य है ।

४- 'मिच्छन्त' शब्द पर मिध्यात्व के छ स्थान, मिध्यात्वप्रतिक्रमण, मिध्यात्व की निन्दा, मिध्यात्व का स्वरूप, द्रव्य और भाव से मिध्यात्व के भेद आदि निरूपित हैं ।

५- 'मेहुण' शब्द पर मैथुन के निषेध का गंभीर विचार है ।

६- 'मोक्ष' शब्द पर मोक्ष की मिद्धि, निर्वास की मत्ता-है, या नहीं, इसका निरूपण, मोक्ष का कारण ज्ञान और क्रिया है, धर्म का फल मोक्ष है, मोक्ष पर सारूप्य और नैयायिकों का मत, मोक्ष पर विशेष विचार, मोक्ष पर वेदान्तियों के मत का निरूपण और खण्डन. स्त्री की मोक्षमिद्धि मोक्ष का उपाय इत्यादि विषय हैं ।

७- 'रजोहरण' शब्द पर रजोहरण शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति, रजोहरण का प्रमाण, मांसपच्य वाले मनुष्यों को दुष्कर्म जीव दिखाने नहीं दे सकते इसलिये उनको जीवदयार्थ रजोहरण धारण करना चाहिये, रजोहरण की दशा (किनारी या अग्रभाग) सूत्रम नहीं करना चाहिये, रजोहरण के धारण करने का क्रम और नियम, अनिमृष्ट रजोहरण ग्रहण नहीं करना चाहिये इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं ।

८- 'राष्ट्रभोजण' शब्द पर राष्ट्रभोजन का त्याग, राष्ट्रभोजन करने वाला अनुद्धातिक होता है, राष्ट्रभोजन के चार प्रकार, रास्ते में राष्ट्रको आहार लेने का विचार, कैसा आहार राष्ट्र में रखना जा सकता है इसका विवेक, राजा में द्रष्ट होने पर राष्ट्रको भी आहार लेने में दंष्टाभाव, राष्ट्र में उद्धार और पर उद्गिरण करने में दंष्ट, राष्ट्रभोजन प्रतिगृहीत हो तो परिग्रहण करना, राष्ट्रभोजन के प्रायश्चित्त, औषधि के राष्ट्र में लेने का विचार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

९- 'रुहज्ज्जाण' शब्द पर रौद्रध्याना का स्वरूप, और उमक चार भेद, रौद्रध्यानी के चिह्न आदि अनेक विषय हैं ।

१०- 'लेम्मा' शब्द पर लेण्या के भेद, लेण्याके अर्थ, आठ लेण्याओं का अल्पबहुत्व, देवविषयक अल्पबहुत्व, कौन लेण्या कितने ज्ञानों में मिलती है, कौन लेण्या किस वर्ण से साधित होती है, मनुष्यों की लेण्या, लेण्याओं में गुणस्थानक, धर्मध्यानियों की लेण्या आदि विषय हैं ।

११- 'लोग' शब्द पर लोक शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति. लोक का लक्षण, लोक का महत्त्व, लोक का संस्थान आदि विषय हैं ।

१२- 'वत्थ' शब्द पर लिखा है कि कितनी दूर तक वस्त्र के वास्ते जाना. कितनी प्रतिमा से वस्त्र का गवेषण करना, याचका वस्त्र और नियन्त्रण वस्त्र की याचका पर विचार. निर्धन्यियों के वस्त्र लेने का प्रकार, चातुर्मास्य में वस्त्र लेने पर विचार, आचार्य की अनुज्ञा म ही साधू अथवा साध्वी को वस्त्र लेना चाहिये, वस्त्र का प्रमाण, भिन्न (फट) वस्त्र लेने की अनुज्ञा, वस्त्रों के रंगने का निषेध, वस्त्र के सीने पर विचार, अन्ययुक्तिक और पाश्वस्थादि कों को वस्त्र देने का निषेध, वस्त्र को यन्त्र से रखना जिमसे विकलेन्द्रियों का घात न हो, वस्त्रों के धोने का निषेध आचार्य के मलिन वस्त्रों के धोने का अनुज्ञा इत्यादि विशेष विचार हैं ।

१३- 'वमहि' शब्द पर किय प्रकार के उपाश्रय में रहना चाहिये इसका निरूपण, उपाश्रय के उद्गमादि दोषों का निरूपण, भिन्न के वास्ते असंयत उपाश्रय बनावे, अविधि से उपाश्रय के प्रमाजने में दंष्ट, जहाँ गृहपति कन्दादिकों का आहार करता है वहाँ नहीं रहना, सखीक उपाश्रय में नहीं रहना, रुग्ण साधु की प्रतिभ्या, जहाँ गृहिणी मैथुन की वाञ्छा करे उस गृहपति के गृह में नहीं बसना. गृहपति के घर में बसने के दोष, प्रतिबद्ध श्रमा में बसने के दोष जिममें घरवाला भोजन बनावे वहाँ नहीं रहना, और जहाँ पर घर का मालिक काष्ठ फोड़े या अग्नि जलावे वहाँ नहीं रहना, जहाँ पर साधमिक निरन्तर आते हों वहाँ नहीं रहना, कार्यवश से चरक और कर्पटिकों के साथ बसने में विधि, बसति के याचन का प्रकार, जहाँ पर गृहपति के मनुष्य कलह करते हों या अम्भङ्ग (मर्दन) करत हों वहाँ नहीं रहना, कब कहाँ कितना वास करना इसका नियम, जहाँ राजा हो उस उपाश्रय में बसने का निषेध, साध्वियों की बसति में साधु के जाने का निषेध इत्यादि विषय हैं ।

१४- 'विजय' शब्द पर विजय की विशेषवक्रव्या देखना चाहिये ।

१५- 'विनय' शब्द पर विनय के पाँच भेद, और सात भेद, विनयमूलक धर्म की सिद्धि, गुरु के निकट विनय की आवश्यकता, आर्थिका के विनय इत्यादि विस्तृत विषय देखने के योग्य हैं ।

१६- 'विमान' शब्द पर विमानों की संख्या, और विमानों का मान, विमानों का संस्थान, विमानों के वर्ण, विमानों की प्रभा, गन्ध, स्पर्श, और महत्त्व आदि देखने के योग्य हैं ।

१७- 'विहार' शब्द पर आचार्य और उपाध्याय के एकाकी विहार करने का निषेध, किन्के साथ विहार करना और किन्के साथ नहीं करना इसका निरूपण, वर्षाकाल में या वर्षा में विहार करने का निषेध, अशिववादि कार्यों में वर्षा में भी विहार करना, वर्षा की समाप्ति में विहार करना, मार्ग में युगमात्र देखते हुए जाना चाहिये, नदी के पार जाने में विधि, आचार्य के साथ जाते हुए साधू को विधि, साधुओं का और साध्वियों का रात्रि में या विकाल में विहार करने का विचार इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१८- 'वीर' शब्द पर वीरशब्द की व्युत्पत्ति, और कथा देखना चाहिये ।

षष्ठ जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथार्ये आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'मन्त्रि' 'महापहरिकर्त' 'सृष्टिसुव्यय' 'मूलदत्ता' 'मूलमिरी' 'मेहघोस' 'मेहपुर' 'मेहसुह' 'मेहरिपुत्र' 'रहणेमि' 'रोहिणी' 'रोहिण्येयचोर' 'वद्धमाणधरि' 'वररुड' 'वराहमिहिर' 'वरुण' 'ववहारकुमल' 'वाणा-रसी' 'विजयइंद्रधरि' 'विजयकुमार' 'विजयघासे' 'विजयचंद' 'विजयतिलकधरि' 'विजयमेदि' 'विजयसेण' 'विणयंधर' 'वित्तसेणु' 'वीर' ।

सप्तम जाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१- 'संसार' शब्द पर संस्तर का विचार है । 'सेवर' शब्द पर सम्बर का निरूपण है । 'संसार' शब्द पर संसार की असार दशा दिखाई गई है ।

२- 'सक' शब्द पर शक्र की ऋद्धि और स्थान, विकुर्वणा, और पूर्वभव, शक्र का विमान, और शक्र किम भाषा को बोलते हैं इसका निरूपण और शक्र की सामर्थ्य आदि वर्णित है ।

३- 'सज्ज्माय' शब्द पर स्वाध्याय का स्वरूप, स्वाध्यायकाल, स्वाध्यायविधि, स्वाध्याय के गुण, स्वाध्याय के फल इत्यादि विषय हैं, तथा 'सत्तभंगी' शब्द पर सप्तभङ्गी का विचार है ।

४- 'सह' शब्द पर शब्द का निर्वचन, नामस्थापनादि भेद से चार भेद, बौद्धों के अप्रापवाद का खण्डन, नित्यानित्य विचार, और शब्द का पौष्टमालिकत्व, शब्द के दश भेद, मनोज्ञ शब्दों के सुनने का निषेध, शब्द के आकाश गुणत्व का खण्डन इत्यादि विषय हैं ।

५- 'सावय' शब्द पर श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, श्रावक के लक्षण श्रावक का सामान्य कर्मव्य, निवाम-विधि, श्रावक की दिनचर्या, श्रावक के २१ एकविंशति गुण इत्यादि विषय हैं ।

६- 'हिंसा' शब्द पर हिंसा का स्वरूप, वैदिक हिंसा का खण्डन, पशुजीवनिकायों की हिंसा का निषेध, जिन-मन्दिर बनवाने में आते हुए दान का परिहार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

७- 'हेउ' शब्द पर हेतु के प्रयोगप्रकार, कारक और ज्ञापक रूप से हेतु के दो भेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

सप्तम जाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथार्ये आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'संखपुर' 'मंजय' 'संतिदाम' 'संतिविजय' 'सकह' 'सत्त' 'ससुहपाल' 'सयंभूदत्त' 'सावत्थी' 'साव-यंगुण' 'सिंहगिरि' 'सीलंगाचारिय' 'मीह' 'सुकण्हा' 'सुक' 'सुगीव' 'सुजमिरी' 'सुजमिव' 'सुद्धिय' 'सुयंद' 'सुखकल्ल' 'सुदंसण' 'सुदक्खिण' 'सुपासा' 'सुपम' 'सुभद' 'सुभूम' 'सुमंगल' 'सुमंगला' 'सुव्वय' 'सर' 'संखिय' 'सोमचंद' 'सोमा' 'हरिण' 'हरिभद' इत्यादि शब्दों पर कथार्ये द्रष्टव्य हैं ।

इस तरह से सानों भागों की यह अत्यन्त संक्षिप्त सूची समझना चाहिये, विस्तार तो ग्रन्थ से ही मालूम होगा क्योंकि भूमिका में विशेष विस्तार करके पाठकों का समय व्यर्थ नष्ट करना है ।

श्रकार से ककार तक शब्दों के अन्तर्गत () कोष्ठक में श्राये हुए शब्दों की श्रकारादिक्रम से सूची-

अइइ-अदिइ-अइति-अदिति ।
अइतिअ-अइदिति ।
अइकत-अइतिकत ।
अइकत-अइतिकत ।
अइकतजोषण-अइतिकतजोषण ।
अइकतपचकक्षाण-अइतिकतपचकक्षाण ।
अइगत-अइगय ।
अइत-अइंत-अइतीत-अइद्य-अइय-अतीय ।
अइतका-अइंतका-अइतीतका-अइद्यका-अइयका-अतीयका ।
अइतपचकक्षाण-अइंतपचकक्षाण-अइतीतपचकक्षाण-अइद्यपचकक्षाण-अइयपचकक्षाण ।
अइताण-अइतनाण-अइद्याण-अइतियाण ।
अइताणकहा-अइतनाणकहा-अइद्याणकहा-अइतियाणकहा ।
अइताणगिह-अइतनाणगिह-अइद्याणगिह-अइतियाणगिह ।
अइयाणिह-अइतियाणिह-अइद्याणिह-अइतियाणिह ।
अइतानाणगयमाण-अइतानाणगयमाण-अइतानाणगयमाण-अइद्याणगयमाण-अइयानाणगयमाण ।
अइमुनय-अइमुचय ।
अइयात-अइयय ।
अइयार-अइयार-अइतियार-अइतीयार ।
अइरत्कबलभला-अइरत्कबलभिसला ।
अइरावण-अइरावण ।
अइरात्स-अइरित्स ।
अइरित्सआसर्णय-अइरित्ससिआसर्णय ।
अइरेग-अइतिरेग ।
अइरेगसंठय-अइतिरेगसंठय ।
अइरेण-अइतिरेण ।
अइरोवयणण-अइतिरोवयणण ।
अइलोडुय-अइतिलोडुय ।
अइवइसा-अइतिवइसा ।
अइवाइन्-अइतिवाइन्-अइवातिन्-अइतिवातिन् ।
अइवापमाण-अइतिवापमाण ।
अइवाय-अइतिवाय ।
अइवाहड-अइतिवाहड ।
अइविउज-अइतिवइज ।
अइविस्वय-अइतिविस्वय ।
अइविसाया-अइतिविसाया ।
अइविसाल-अइतिविसाल ।
अइवुधि-अइतिवुधि ।
अइसंकिलेस-अइतिसंकिलेस ।

अइसंधाण-अइतिसंधाण ।
अइसंधायपर-अइतिसंधायपर ।
अइसंपभोग-अइतिसंपभोग ।
अइसकण-अइतिसकणा ।
अइसय-अइतिसय ।
अइसयण-अइतिसयण ।
अइसयमईयकाल-अइतिसयमईयकाल ।
अइसाइ-अइतिसाइ ।
अइसंय-अइतिसंय ।
अइसुहुम-अइतिसुहुम ।
अइसस-अइतिसस ।
अइहि-अइतिहि ।
अइहिपुआ-अइतिहिपुआ ।
अइहिल-अइतिहिल ।
अइहिम-अइतिहिम ।
अइहिवणिमग-अइतिहिवणिमग ।
अइहिसंविभाग-अइतिहिसंविभाग ।
अइव-अइतिव ।
अइअ-अइय ।
अइल-अइतल ।
अइउर-अइहुर ।
अइक-अइकिय ।
अइदसि-अइरिसि ।
अइकण्ड-अइगण्डय ।
अइगण-अइकण ।
अइगुडफारिस-अइगुडफारिसय ।
अइगार-अइगार-अइगाल-अइगाल ।
अइगारकट्टिणी-अइगारकट्टिणी-अइगालकट्टिणी-अइगालकट्टिणी ।
अइगारकम्म-अइगारकम्म-अइगालकम्म-अइगालकम्म ।
अइगारकारिया-अइगारकारिया-अइगालकारिया-अइगालकारिया ।
अइगारकासि-अइगारकासि-अइगालकासि-अइगालकासि ।
अइगारकाह-अइगारकाह-अइगालकाह-अइगालकाह ।
अइगालकाह-अइगारकाह-अइगालकाह-अइगालकाह ।
अइगारपतावणा-अइगारपतावणा-अइगालपतावणा-अइगालपतावणा ।
अइगारमहण-अइगारमहण-अइगालमहण-अइगालमहण ।
अइगारसासि-अइगारसासि-अइगालसासि-अइगालसासि ।
अइगारसई-अइगारसई ।
अइगारसइस्स-अइगारसइस्स-अइगालसइस्स-अइगालसइस्स ।
अइगालसांडिय-अइगालसांडिय ।
अइगारायतण-अइगारायतण-अइगालायतण ।

अइगारिय-अइगारिय-अइगालिय-अइगालिय ।
अइगुअ-अइगुअ ।
अइगुलि-अइगुलि ।
अइगुलिउज-अइगुलिउजग ।
अइगुलिउज-अइगुलिउज ।
अइअ-अइचित ।
अइअरित्ति-अइवियरित्ति ।
अइजणारि-अइजणारि ।
अइजलि-अइजलि ।
अइतक-अइतग ।
अइतकर-अइतगार ।
अइतकरपुमि-अइतगइअभूमि ।
अइतगत-अइतगय ।
अइतदण-अइतकाणया ।
अइतकरकण-अइतराकण्य ।
अइतरणई-अइतरणई ।
अइतरदीवग-अइतरदीवय ।
अइतरादय-अइतरादय ।
अइतरिक्क-अइतरिक्क ।
अइतरिक्कजाय-अइतरिक्कजाय ।
अइतरिक्कपरिक्कण-अइतरिक्कपरिक्कण ।
अइतरिक्कपासणाह-अइतरिक्कपासणाह ।
अइतरिक्कादय-अइतरिक्कादय ।
अइतावेइ-अइतावेइ ।
अइतिअ-अइतिय ।
अइतेउर-अइतेपु ।
अइतल्ल-अइतल्लण ।
अइधकार-अइधयार ।
अइधकारपक्क-अइधयारपक्क ।
अइधल्ल-अइधल्लग ।
अइध-अइमड ।
अइधकास-अइधकासग ।
अइधरिसि-अइधरीसि ।
अइधरीसि-अइधरीसि ।
अइधिया-अइधिया ।
अइसगय-अइसागय ।
अइकइ-अइकति ।
अइकसंवि-अइकतिसंवि ।
अइकम्हा-अइकम्मा ।
अइकम्हाकारिया-अइकम्माकारिया ।
अइकम्हादं-अइकम्मादं ।
अइकम्हादंरुचिय-अइकम्मादंरुचिय ।
अइकम्माजय-अइकम्माजय ।
अइकालसज्जायकर-अइकालसज्जायका-रिन् ।
अइकित्तिवाह-अइकित्तिवाह ।
अइकुओमय-अइकुओमय ।

श्रातनिद्र-श्रायनिद्र ।
 श्रातनिष्कन्दय-श्रायनिष्कन्दय ।
 श्रातणीण-श्रायणीण ।
 श्रातण्य-श्रायण्य ।
 श्राततन-श्रायतन ।
 श्राततंतकर-श्रायतंतकर ।
 श्राततत्त-श्रायतत्त ।
 श्राततत्तप्यगास-श्रायतत्तप्यगास ।
 श्राततर-श्रायतरग ।
 श्राततुला-श्रायतुला ।
 श्रातत्त-श्रायत्त ।
 श्रातदंरु-श्रायदंरु ।
 श्रातदंरुसमायार-श्रायदंरुसमायार ।
 श्रातदृरिस-श्रायदृरिस ।
 श्रातद्दार्दि-श्रायद्दार्दि ।
 श्रातपपम-श्रायपपम ।
 श्रातपरिण-श्रायपरिण ।
 श्रातपमंसा-श्रायपमंसा ।
 श्रातपभोग-श्रायपभोग ।
 श्रातपभोगाणिस्य-श्रायपभोगाणिस्य ।
 श्रातप्य-श्रायप्य ।
 श्रातप्यम-श्रायप्यम ।
 श्रातप्यमाण-श्रायप्यमाण ।
 श्रातप्यवाय-श्रायप्यवाय ।
 श्रातपियसञ्चनसंयोग-श्रायपियसञ्चनसंयोग ।
 श्रातवतन-श्रायवतन ।
 श्रातवत्त-श्रायवत्त ।
 श्रातववत्-श्रायववत् ।
 श्रातयान-श्राययान ।
 श्रातवाध-श्रायवाध ।
 श्रातभाव-श्रायभाव ।
 श्रातभावकणया-श्रायभावकणया ।
 श्रातभाववत्त्वय-श्रायभाववत्त्वय ।
 श्रातनु-श्रायनु ।
 श्रातरक्ख-श्रायरक्ख ।
 श्रातरक्खा-श्रायरक्खा ।
 श्रातरक्ख-श्रायरक्ख ।
 श्रातरक्ख-श्रायरक्ख ।
 श्रातय-श्राययं ।
 श्रातयस-श्राययस ।
 श्रातयस्स-श्राययस्स ।
 श्रातवायपत्त-श्रायवायपत्त ।
 श्रातवि-श्रायवि ।
 श्रातविज्जा-श्रायविज्जा ।
 श्रातवीरिय-श्रायवीरिय ।
 श्रातविमोहि-श्रायविमोहि ।
 श्रातवेयायत्तकर-श्रायवेयायत्तकर ।
 श्रातसंजम-श्रायसंजम ।
 श्रातसंजमपर-श्रायसंजमपर ।

श्रातसंजमोवाय-श्रायसंजमोवाय ।
 श्रातसंवेयण-श्रायसंवेयण ।
 श्रातसंवेयणज्ज-श्रायसंवेयणज्ज ।
 श्रातसक्खि-श्रायसक्खि ।
 श्रातसप्यसत्तम-श्रायसप्यसत्तम ।
 श्रातसमुद-श्रायसमुद ।
 श्रातसमण्य-श्रायसमण्य ।
 श्रातसमया-श्रायसमया ।
 श्रातसमुदभव-श्रायसमुदभव ।
 श्रातसमोयार-श्रायसमोयार ।
 श्रातसरीरल्लोसागार्द-श्रायसरीरल्लोसागार्द ।
 श्रातसाय-श्रायसाय ।
 श्रातसायागुगामि-श्रायसायागुगामि ।
 श्रातसिद्ध-श्रायसिद्ध ।
 श्रातसुद्ध-श्रायसुद्ध ।
 श्रातसोहि-श्रायसोहि ।
 श्रातहित-श्रायहित ।
 श्रात-श्रप्पा ।
 श्रातणुकंपय-श्रायाणुकंपय ।
 श्राताणुस्सरण-श्रायाणुस्सरण ।
 श्राताणुसासन-श्रायाणुसासन ।
 श्रातपीण-श्रायापीण ।
 श्राताबभ-श्रायाबभ ।
 श्राताबण-श्रायाबण ।
 श्राताबणया-श्रायाबणया ।
 श्रातावणा-श्रायावणा ।
 श्राताबिसत्त-श्रायाबिसत्त ।
 श्राताविया-श्रायाविया ।
 श्रातवेमाण-श्रायावेमाण ।
 श्राताभिणियेस-श्रायाभिणियेस ।
 श्राताभिसिन्न-श्रायाभिसिन्न ।
 श्रातार-श्रायार ।
 श्राताराम-श्रायाराम ।
 श्रातारामि-श्रायारामि ।
 श्राताय-श्रायाय ।
 श्रातावाह-श्रायावाह ।
 श्रातासय-श्रायासय ।
 श्राताहम्म-श्रायाहम्म ।
 श्राताहिरणवसिय-श्रायाहिरणवसिय ।
 श्राताहिरण-श्रायाहिरण ।
 श्राताहिय-श्रायाहिय ।
 श्रातिण-श्रातीण ।
 श्रातीकय-श्रापीकय ।
 श्रात्त-श्राताय ।
 श्रात्त-श्रायत्त-श्रादृरिस-श्रादृस्म ।
 श्रात्तसधरग-श्रायसधरग-श्रादृरिसधरग-श्रादृस्म ।
 श्रात्तसत्त-श्रायत्तसत्त ।

श्रात्तसत्तलोचम-श्रायत्तलोचम-श्रादृरिस-
 सत्तलोचम-श्रादृस्मत्तलोचम ।
 श्रात्तसमंरुल-श्रायसमंरुल-श्रादृरिसमं-
 रुल-श्रादृस्मंरुल ।
 श्रात्तसमुद-श्रायसमुद-श्रादृरिसमुद-श्रा-
 दृस्मुद ।
 श्रादृस्सत्ति-श्रायसत्ति-श्रादृरिस-
 त्ति-श्रादृस्सत्ति ।
 श्रादृ-श्रायर ।
 श्रादृर-श्रायरण ।
 श्रादृरणया-श्रायरणया ।
 श्रादृरिज्जा-श्रायरिज्जा ।
 श्रादृरतर-श्रायरतर ।
 श्रादृरदुल्ल-श्रायरदुल्ल ।
 श्रादाण-श्रायाण ।
 श्रादाणमि-श्रायाणमि ।
 श्रादाणमुत्त-श्रायाणमुत्त ।
 श्रादाणाणकल्लवदुग्गुय-श्रायाणुणकल्ल-
 वदुग्गुय ।
 श्रादाणनिरुद्ध-श्रायाणुनिरुद्ध ।
 श्रादाणपय-श्रायाणपय ।
 श्रादाणुफलिद-श्रायाणुफलिद ।
 श्रादाणमंरुलसत्तिक्खेवणासमिद-श्राया-
 णमंरुलसत्तिक्खेवणासमिद ।
 श्रादाणमंरुलसत्तिक्खेवणासमिद-श्राया-
 णमंरुलसत्तिक्खेवणासमिद ।
 श्रादाणजय-श्रायाणजय ।
 श्रादाणजरिय-श्रायाणजरिय ।
 श्रादाणया-श्रायाणया ।
 श्रादाणवंत-श्रायाणवंत ।
 श्रादाणसोयगहिय-श्रायाणसोयगहिय ।
 श्रादाणज्ज-श्रायाणज्ज ।
 श्रादाणज्जउत्तयण-श्रायाणज्जउत्तयण ।
 श्रादाय-श्रायाय ।
 श्रादाहियणपयादिण-श्रायाहियणपयादिण ।
 श्रादाणुखयाहणा-श्रायाहियणपयादिण ।
 श्राधमण-श्राधमण ।
 श्राधरिसिय-श्रादाहिसिय ।
 श्राधा-श्राहा ।
 श्राधाकम्म-श्राहाकम्म ।
 श्राधाकम्मिय-श्राहाकम्मिय ।
 श्राधाण-श्राहाण ।
 श्राधाणिय-श्राहाणिय ।
 श्राधाय-श्राहाय ।
 श्राधायग-श्राहायग ।
 श्राधार-श्राहार ।
 श्राधारसत्त-श्राहारसत्त ।
 श्राधि-श्राहि ।
 श्राधिकक-श्राहिकक ।
 श्राधिमरणिय-श्राहियरणिय ।

श्राव्यक कतिपय सङ्केत—

१—प्राकृतशैली से अनुस्वार और मकार (गाथाओं में) समस्त दो शब्दों के मध्य में जी आया करता है, इसीलिये अनेक स्थल पर (टीका में) लिखा रहता है कि 'अनुस्वारोऽत्राज्ञाङ्गाणिकः' तथा 'मकारोऽत्राज्ञाङ्गाणिकः', जैसे पं० भा० ०१८ पृष्ठ में 'असञ्जाइय' शब्द पर बुं० की गाथा है—'पंसुयमंमयहरिं-केससिलावुडि तह रओयाए' ॥ यहाँ समस्त 'रुडि' शब्द में जी अनुस्वार है ॥ और ३७५ पृष्ठ में 'आणुजाण' शब्द पर 'संलिह मंखफलए, इयंर चोयंति तंतुपादीसु' ॥ यहाँ 'तन्त्वादिपु' का 'तंतुपादीसु' हुआ ॥ और तू० भा० ६०३ पृष्ठ में भी 'कुसमयोऽमोऽमइमोहिय'- 'कुसमयोऽमोहमतिमोहित' इस शब्द पर लिखा है कि—'मकारस्तु प्रकृतत्वात्' । इस पाठ से भी यह बात सिद्ध होती है ।

२—बहुत सी जगह गाथाओं में दीर्घ को इस्व, और इस्व को दीर्घ हुआ करता है, उसका कारण यह है कि ऐसा करने से गाथाओं के बनाने में बहुत सुगमता होती है, इसीलिये कहा हुआ है कि—'अपि मांषं वषं कुर्यात् उन्दोभङ्गं न कारयेत्' ॥ और व्याकरणकार भी "दीर्घस्वौ मिथो वृत्तौ" ॥ ८ । १ । ४ ॥ इस सूत्र से इस बात का अनुमोदन करते हैं । जैसे 'साहू' को 'सहू', और 'विरुभङ्ग (नि)' का 'विरुभङ्ग [तं]' होता है ।

३—कहीं कहीं प्राकृतशैली से अनुस्वार का लोप जी होता है, जैसे विशेषावयक जाण्य के १०६६ गाथा में "समवाह असमवाह, उव्विह क्त्ता य कम्मं च ॥" (उव्विहत्ति) 'अनुस्वारस्य लुप्तस्य दर्शानात्' । प्रायः करके नियुक्तकार अपनी गाथाओं में इस नियम को विशेष रूप से काम में लाये हैं, इसलिये उनको गाथा बनाने में अत्यन्त सुगमता हुई है । जैसे तू० भा० ५१७ पृष्ठ में 'किङ्कम्म' शब्द पर श्राव्यकनियुक्ति है कि—'गुरुण बंदावती, सुसमाण जहुत्तकारिं च' ॥ ३३ ॥ इसकी वृत्ति में लिखा है कि 'अनुस्वारलोपोऽत्र ङष्टव्यः' ।

४—प्राकृतशैली से कहीं कहीं बहुवचन के स्थान में जी एकवचन हुआ करता है, जैसे श्राव्यकवृत्ति के पाँचवें अध्याय में 'जरत्तैरवतविदेहेषु' के स्थान में 'जरहेरवयविदेहे' ऐसा एकवचन किया है ।

५—प्रायः सूत्रों में और नियुक्तिगाथाओं में जो निर्विभक्तिक पद आया करते हैं उन्में "स्यम्-जस-शमां लुक" ॥ ८ । ४ । ३४ ॥ तथा "षष्ठ्याः" ॥ ८ । ४ । ३४ ॥ इन सूत्रों से अथवा सौत्र सुप् का लोप समझना चाहिये । जैसे तृतीय भाग के ४४६ पृष्ठ में उक्त २४ अ० का मूलपाठ है कि—'उल्लयण पल्लयण' इत्यादि । और इसपर टीकाकार लिखते हैं कि 'उजयत्र सौत्रत्वात् सुपो लुक्' । इसी तरह अन्य स्थल में जी समझना चाहिये ।

६—सूत्रों में बाहुल्य से प्रथमा के एक वचन में "अतः भेर्नाः" । ८ । ३ । १ । इस सूत्र को न लगाकर "अत एत्तौ पुंनि मागध्याम्" । ८ । ४ । २७१ ॥ इस सूत्र से एकार ही किया गया है, जैसे तू० भा० ४६० पृष्ठ में है कि—'आहारए दुविहे पण्णे' । इस पर टीकाकार की टीका है कि 'आहारको द्विविधः प्रहसः' । इसी तरह नियुक्तिगाथाओं में जी समझना चाहिये—जैसे 'वाहे' का अनुवाद 'व्याधः' है ।

७—प्रायः करके सूत्रों में आया करता है कि—'तेणं कालेणं तेणं समणं' और इसपर टीकाकार लिखा करते हैं कि 'तस्मिन् काले तस्मिन् समये' इसको हमचन्द्राचार्य जी भिच्छुदेवव्याकरण के अष्टमाध्याय-तृतीयपाद में "मम्मया द्वि-तोया" । ८ । ३ । १३७ ॥ इस सूत्रपर अनुमोदन करने हैं कि 'आपै तृतीयार्जप दृश्यते । यथा— तेणं कालेणं तेणं समणं' अस्वार्थः—'तस्मिन् काले तस्मिन् समये' । किन्तु रायपमेणी के टीकाकार मलयगिरि लिखते हैं कि 'त इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मात्तत्रिं ङष्टव्यम्' ॥ मिति वाक्यालङ्कारि । दृष्टान्तश्राव्यत्रापि—'णं' शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । यथा—'इमाणं पुडवं' इत्यादि । यह पट्टान्नर जी उनके मत से स्थित है ।

८—व्यवहार, वृद्धकरूप, श्राव्यकचूर्ण और निशीथ सूत्र, पं० भा०, पं० चू० आदि में प्रायः करके विशेष रूप से सूत्र नियुक्ति और चूर्ण में 'तदोस्तः' । ८ । ३ । १०१ । इस से और अपेक्षाद् भी वर्णान्तर के स्थान में तकार हो जाता है, जैसे तू० भा० 'किङ्कम्म' शब्द के ५१४ और ५१५ पृष्ठ में वृद्धकल्प की नियुक्ति है कि—'आंमंके भे दहं, मंक्चेत्ते' उ वातगो कुविओ' । यहाँ पर शब्दाब्जः की दकार का तकार और वाचक की चकार को तकार किया है । इसी तरह "इय मंजमस विवोहा, तस्मेवडा ए होमा य" ॥ इस गाथा में भी व्यय शब्द की यकार को भी तकार किया है । इसी तरह तू० भा० ५०६ पृष्ठ के 'काहिय' शब्द पर निशीथ सूत्र की नियुक्ति और चूर्ण की व्यवस्था है, जैसे 'तक्कम्मो जां यम्मं, कथंति सो काथितो हं' ॥ ६३ ।

इस निर्युक्तिगाथा की चृष्टि है कि—‘एवंविधो काहितो जघति’। यहाँ पर जी कायिक के ककार को तकार किया हुआ है, इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये : थकार को धकार तो ‘ यो थः ’ ॥ ८। ४। ३६७ ॥ और ‘अनादी स्वरादस्युक्तानां कगतवपकां गयदधभाः’ ॥ ८। ४। ३७६ ॥ इत्यादि सूत्रों से होता है।

७—संस्कृत शब्दों की सिष्कि तो पचास अक्षरों से है, परन्तु प्राकृत शब्दों की सिष्कि चालीस ही अक्षरों से होती है, क्योंकि स्वरों में तो ष, लृ, ऐ, औ का अभाव है और व्यञ्जन में श, ष, तथा असंयुक्त ङ, ञ आदि कई व्यञ्जनों का अभाव है।

१०—व्यञ्जनान्त शब्दों के व्यञ्जन का ‘अन्यव्यञ्जनस्य लुक्’ ॥ ८। १। ११ ॥ इस सूत्र से लुक् होजाने पर किसी शब्द का जो व्यञ्जनान्तत्वही नष्ट हो जाता है और किसी किसी का अन्त में विपरिणाम हो जाता है, इसीलिये ह्रन्त शब्दों की सिष्कि के लिये कोई विशेष नियम नहीं है, केवल ‘आत्मन्’ शब्द और ‘राजन्’ शब्द की सिष्कि के लिये जो थोड़े से नियम हैं उन्हें अन्य नकारान्त शब्दों की जी व्यवस्था की जाती है।

११—यदि किसी ग्रन्थ का पाठ कुछ बीच में ठोककर फिर शिखा है तो जहाँ से पाठ बूटा है वहाँ पर उसी ग्रन्थ का नाम इस बात की सूचना के लिये चलते हुए पाठ के मध्य में जी दे दिया है कि पाठक ध्रम में न पड़े।

१२—प्राकृत जाया में हिन्दी जाया की तरह द्विवचन नहीं होता, किन्तु “द्विवचनस्य बहुवचनं नित्यम्” ॥ ८। ३। १३० ॥ इस सूत्र से द्विवचन के स्थान में बहुवचन हो जाता है, इसलिये द्विवचन की जहाँ कहीं विशेष आवश्यकता होती है वहाँ द्वि शब्द का प्रयोग किया जाता है; और चतुर्थी के स्थान में षष्ठी “चतुर्थ्याः षष्ठी” ॥ ८। ३। १३१ ॥ इस सूत्र से होती है।

१३—गाथाओं में पाद पूरे होने पर यदि सुबन्त अथवा निरुन्त रूप पद पूरा हो जाता है तो (,) यह चिह्न दिया जाता है और जहाँ पाद पूरा होने पर जी पद पूरा नहीं हुआ है वहाँ [-] ऐसा चिह्न दिया है।

१४—बहुतमी जगह गाथाओं में श्लोक या व्यञ्जनमिश्रित एकार स्वर आता है किन्तु उसकी दीर्घाङ्क में परिगणना होने से जो किसी जगह मात्रा बढ़ जाती है, उसको कम करने के लिये [°] पेसा चिह्न दिया गया है। यद्यपि ‘दीर्घ-इस्रौ मिथां तुर्वा’ ॥ ८। १। ४ ॥ इस सूत्र से इत्त्व करने पर एकार को इकार हो सकता है, किन्तु वैसा करने में सर्वसाधारण को उसकी मूल प्रकृति का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये इत्त्वबोधक संकेत किया गया है, इसी तरह व्याकरण-हाभाष्य में जी लिखा है कि—“अर्थ एकारः, अर्थ ओकारो वा इति राणावनीयाः पठन्ति”। और वाग्जटविरचित प्राकृत पिङ्गलसूत्र में भी लिखा है कि—

“दीर्घो मंजुत्तपरो, विन्दुजुओ पाकिओ अ चरगंते।

स गुरू वंक लुपत्तो, अषो लहु हाड सुष्क एककतो” ॥

इस तरह गुरु लघु की व्यवस्था करके शिखते हैं कि—

‘कथं वि मंजुत्तपरो, वषो लहु हाड ढंसणेण जहा।

परिहसड चिचपिञ्जं, तरुणिकहखल्मि णिवुचं” ॥

दूसरा अपवाद—‘इहिकारा विन्दुजुआ, एओ मुष्का अवषमिलिआ वि लहु।

रहंजणसंजोए, पर अमेसं पि सविहासे” ॥ ॥

उदाहरण—‘माणिणि ! माणहिं काई फल, एंओ जे चरण पनु कन्त।

सहजे जुअंगम जड णपड, कि करिण माणिमन्त ?” ॥

दूसरा विकल्प—‘जड दीहो वि अ वाणो, लहु जीई पड सो वि लहु।

वषो वि तुरियपडिओ, दो तिषि वि एक जायेहु” ॥

उदाहरण—‘अरे रे वाहहि कान्ह ! णव जोटि डगमग कुगति ण देहि।

तड ईवें णादिहें सैतार देई, जो चाहसि सो बोहि” ॥

* इकारहिकारो विन्दुजुओ एओ मुष्का अ यथैमिलितायां लघु। रेफहकारो, व्यञ्जनसंयोगे परेऽण्येवमपि स्वविभाषम् ॥

† वरि वीधेमपि वगै लघु जिह्वा पठति म्नाऽपि लघुः। यथा अपि त्वरितपठितो ह्ये वधा वा एकं ज्ञान्ति ॥

बन्द की परम आवश्यकता— 'जैयं न सहइ कणअतुला, तिअतुलिअं अइअइएण ।

तेअण सहइ सवणनुआ, अबळ्ळंदं छंदभंगेण ॥'

१५—कहाँ कहीं गाथाओं में शब्दों के आद्यन्त स्वर को 'लुक्'।।।१।।०। सूत्र से श्लोप कर दाखते हैं, और कहीं अपर्यन्तान् भी लोप करते हैं—जैसे एक उदाहरण तृ० जा० ५५६ पृष्ठ में 'किरियावाइ (ण)' शब्द पर सूत्रकृताङ्ग की गाथा है कि—'गदं च जो जाणइऽगामं च'। इसी तरह अतीत के स्थान में 'तंत' लिखा करते हैं, और म० जा० ७०ए पृष्ठ में 'अवब' शब्द पर 'वितियरे अअं तु' और ७७इ पृष्ठ में 'अलाजपरामह' शब्द पर 'अलाजए होउदाहरणं' इत्यादि समजना चाहिये।

१६—प्रायः बहुत से स्थान पर 'तेणुणं' इत्यादि मूलपाठों में 'से' शब्द आया करता है, उस पर ज० १-१-३ (स्था० ६६इ-२-५) में लिखा है कि—'से शब्दो मागर्थ.देशीमसिद्धोऽयशब्दार्थः, कचिदसावित्यर्थे, कचिचस्येत्यर्थे प्रयुज्यते।

प्रकीर्णक विषय—

१—उद्योतिष्करयत्न में लिखा है कि स्कन्दिशाचार्य की प्रवृत्ति समय में दुःख आरा के प्रभाव से दुर्निष्ठ पद जाने पर साधुओं का पढना गुणना सब नष्ट होगया, फिर दुर्निष्ठ शान्त होने पर जब दो संयोगों का मिश्रण हुआ (जो एक म-सुरा में और दूसरा बलभी में था) तब दोनों के पाठ में वाचना जेद हो गया, क्योंकि विस्मृत सूत्रार्थ के पुनः स्मरण करके संघटन में अवश्य वाचनाजेद हो जाते हैं।

२—विशेषावरयक ज्ञाप्य आदि कई श्रव्यों में लिखा हुआ है कि 'आर्यवैर' के समय तक अनुयोगों का पार्थक्य नहीं हुआ था, क्योंकि उस समय व्याख्याता और श्रोता दोनों तीक्ष्ण बुद्धिवाले थे, किन्तु 'आर्यरक्षित' के समय से अनुयोगों का पार्थक्य हुआ है, यह बात प्रथम भाग में 'अज्जरविलय' शब्द पर और 'अणुभोग' शब्द पर विस्तार से लिखी हुई है।

३—तृतीय जग के ५०० पृष्ठ में 'कान्तियसुय' शब्द पर कान्तिकथुत (एकादशाक्षरी) के व्यवच्छेद की चर्चा है कि सुविधि जिन के तीर्थ का सुविधि और शीतल जिन के मध्य काल में व्यवच्छेद हो गया, और व्यवच्छेद का काल पन्धोपमचतुर्थजग माना गया है। इसी तरह और भी पद (उः) जिनों में समझना, किन्तु व्यवच्छेद काइ तां सातां जिनों के मध्य में इस तरह समझना—'चउजगो १, तिष्ठिय चउजग २, पलियमेमं च ४। तिष्ठे-ब य चउजग ५, चउन्थजगो य ६ चउजगो ७" ॥ १ ॥ इति। परन्तु दृष्टिवाद अङ्ग का व्यवच्छेद तो सर्वां जिानान्तर्गो में था, और उसकी अवधि भी नहीं की हुई है।

४—यद्यपि मीमांसदर्शन के तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने इस प्राकृतज्ञापा (अर्थमागधी) पर बहुत कुछ अक्षेप किया है, किन्तु वह उनकी अदूरदर्शिता है और व्यर्थ का ही कटाक्ष है, क्योंकि इस कोश के 'पागट' शब्द पर विशेषावरयक ज्ञाप्य पर टीकाकार का लेख है कि—'ननु जैनं प्रवचनं सर्वं प्राकृतनिबन्धमितु दुःश्रुत्यम् । मैवं शब्दयम्—'बालस्त्रीमृदमूर्खाणां, नृणां चारित्रिकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहाय तत्रहैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः' ॥ १ ॥ और यह विचारसह जी है क्योंकि जो ज्ञापा 'राष्ट्रज्ञापा' या 'मातृभाषा' जिस समय होती है, उसीमें जो लोगों को उपदेश मिलता है उसीसे आबालवृक्ष पठितापठित स्त्रो रुरूप सर्वमाधारण जीवों का विशेष उपकार होता है।

५—'वागरण' शब्द पर आ० म० द्वि० कार लिखते हैं कि—जगवान् आप्तव देव ने शक्रेन्द्र से जो व्याकरण प्रथम कहा था वही ऐन्द्र व्याकरण के नाम से प्रत्यान हुआ। तथा कल्पसुबोधिका में लिखा है कि—२० व्याकरण हैं अर्थात्—१ ऐन्द्र, २ जनेन्द्र, ३ सिक्कहम, ४ चान्द्र, ५ पाणिनीय, ६ सारस्वत ७ शाकटायन, ८ वामन, ९ वि-भ्रान्त, १० बुद्धिसागर, ११ सरस्वतीकण्ठाचरण, १२ विद्याधर, १३ कलापक, १४ नीमसेन, १५ शैव, १६ गौड, १७ नन्दि, १८ ज्योत्स्न, १९ मृष्टि व्याकरण, और २० वीं जयदेव नाम से प्रसिद्ध है। इसीसिद्धे आवरय-कवृत्ति के दूसरे अध्ययन में लिखा है कि जब ऐन्द्रादि आठ व्याकरण हैं तब केवल पाणिनीय व्याकरण पर ही आग्रह नहीं करना चाहिये। यद्यपि प्राकृतकल्पलतिका, प्राकृतप्रकाश, हेमचन्द्र, प्राकृत पद्मज्ञा-षाचन्द्रिका, प्राकृतमञ्जरी आदि कई प्राकृत के व्याकरण हैं परन्तु जैसा सिक्कहम का अष्टमाध्याय उच्य प्राकृत व्याकरण बना है वैसा प्रायः सबलविषयमग्राहक दूसरा प्राकृत का व्याकरण नहीं है। तथापि उसके गद्यमय होने से लोगों को कंठस्थ करने में कठिनता पकती देखकर इस कोश के कर्ता ह्यार्य गुरुवर्य पूर्वोक्त सुरीजी महा-

राज ने अनुग्रह करके सिक्केम टुञ्जों पर श्लोकबद्ध विवरण रचकर सरला कर दिया, जो कि कोश के मध्य भाग के परिशिष्टों में संकलित कर दिया गया है। क्यों कि जिस भाषा का ज्ञान अपेक्षित होता है उसके व्याकरण की बड़ी आवश्यकता होती है, अर्थात् बिना व्याकरण के किसी भाषा का पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। इस विषये पंडित लसको षक बार खुब मनन करके पीछे कोश को देखने से विशेष आनन्द आयेगा।

६-यद्यपि महानिशीथ छा । में टीका या चूर्णित नहीं पायी जाती, तथापि हमारी पुस्तक में चतुर्थाध्ययन की समाप्ति में लिखा है कि—“अत्र चतुर्थाध्ययने बहवः सैखान्तिकाः, केचिदालापकाश्च सम्पद्यन् अहधत्येवं तैरश्रद्धानैरस्माकमपि न सम्यक् अश्रद्धानमित्याहुः हरिजद्रसूत्रिः, न पुनः सभेभवेदं चतुर्थाध्ययनमन्यानि वाऽध्ययनानि। अस्यैव कतिपयैः परिमितैराज्ञापकैरश्रद्धानमित्यर्थः । यतः स्थानसमवायनीवाभिगमप्रज्ञापनादिषु न कथञ्चिदिदमाचक्षे, यथा प्रतिसंतापस्थस्यमस्ति-बद्गृहावासिनस्तु मनुजास्तेषु च परमाधार्मिकाणां पुनः ३ सप्ताष्टवारान यावदुपपत्तेस्तेषां च तैर्दारुणैर्वैजशिक्षापरद्वसंपुटैर्गिलितानां परिपीठ्यमानानामपि संवत्सरे यावत् प्राणव्यापत्तिर्न जवतीति। दृष्ट्वाद्दस्तु पुनर्यथा-तावदिदमर्षसूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र प्रविष्टा, प्रचूताश्चात्र श्रुतस्कन्धे अर्थाः, श्लुक्कातिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चैह वचनानि, तदेवं स्थितं न किञ्चिदाशङ्कनीयम् ॥” इसके बाद फिर ‘ एवं कुशीलसंनर्गिं सर्वोपाएदृष्टि पयहियं’ इत्यादि पञ्चमाध्ययन का आरम्भ है । इसीतरङ्ग कहीं ३ चूर्णित जी भिन्नती है जैसे इसी कोश के प्र० भा० ‘ अरहतं’ शब्द पर ७५६ पृष्ठ में मूल और चूर्णित दोनों हैं । और ‘ एस समासत्तयो’ वित्यरत्थं तु इमं’ ऐसा हमारे पुस्तक के ६ पत्र ३ पृष्ठ ३६ पंक्ति में लिखा है ।

७-सूत्रकृताङ्ग की गाथाएँ कई अध्ययनों में ऐसी टूटीमी मालूम पवती हैं जैसे अन्दोभङ्गवाली हों, किन्तु प्रायः वे जी अन्दोलकराविहीन नहीं हैं, क्यों कि बहुत से ऐसे भी अन्द हैं जो पढ़ने में असज्जन मे मालूम होते हैं (किन्तु लक्षण से पूरा मझत हैं) क्योंकि प्राकृत पित्र नसुत्र में चन्द्रसंज्ञा-चित्र-नागाच-नील-चञ्चला-ऋषभगजविलसित-चकिता-मदन-सालिता-बाणिनी-भवग्गलजित-गरुक्लत-अचन्द्रपृति अन्द जं विलक्षण हैं । जैसे मदन सलित्ता का यह उदाहरण है—

“ विप्रलक्षणगिज्ञितचिकुरा यौताधुरता,

म्लायत्पत्त्रावलिङ्कुचतटोऽक्लासोमितरला ।

राधाऽस्यै मदनललिताऽऽन्दोलालसवपुः,

कंसाराते रतिरसमहो चक्रेऽतिचटुलम्” ॥ १ ॥

और यदि कहीं पर किसी भी अन्द का लक्षण सङ्गत न हो तो वहाँ आर्षे अन्द समजना चाहिये ।

पैतालीस आगमों के नाम, और उनकी मूलश्लोकसंख्या, और हर एक पर पृथक् पृथक् आचार्यों की निर्मित बृहद्वृत्ति, लघुवृत्ति, नियुक्ति और जाप्यादिक, और उनका श्लोकसंख्याप्रमाण इस रीति से है—

श्रीसुधर्मास्वामीकृत ग्यारह श्रवणो के नाम और व्याख्यासहित ग्रन्थप्रमाण—

१-आचार्यः सूत्र, अध्ययन २५, मूलश्लोकसंख्या ३५००, और उसपर शीलज्ञाचार्यकृत टीका २२०००, चूर्णित ८३००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत नियुक्तिगाथा ३६८, श्लोक ४५०, (जाप्य और लघुवृत्ति इस पर नहीं है) । संपूर्णसंख्या ३३२५० है ।

२-सूत्रकृताङ्ग सूत्र, श्रुतस्कन्ध ३, अध्ययन २३, मूलश्लोकसंख्या ३१००, और उसपर शीलज्ञाचार्यकृत टीका ३२५००, चूर्णित १००००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत नियुक्तिगाथा ३०८, श्लोक ३१८, (जाप्य नहीं है) संपूर्ण संख्या ३५३०० है । संवत् १५८३ में नवीन अंदिमविमलसूर ने दीपिका टीका बनायी है, किन्तु वह पूर्वाचार्यों की गिनती में नहीं है ।

३-स्थानाङ्ग सूत्र, अध्ययन (ठाणा) १०, मूलश्लोकसंख्या ३७७०, और उसपर संवत् ११३० में अभयदेवसूरि ने टीका बनायी है, उसका मान १५२५० है, संपूर्ण संख्या १५०३० है ।

४-समवायाङ्ग सूत्र, (१०० समवायक त समवाय विज्ञते हैं) मूलश्लोकसंख्या १६६७, और उसपर अजयदेवसूरि-कृत टीका ३७७६, चूर्णित पूर्वाचार्ये कृत ४००, संपूर्ण संख्या ४८४३ है ।

५-जगवती सूत्र (विवाहपञ्चि), शतक ४१, मूलश्लोकसंख्या १५७५२, और उसपर श्रीअजयदेवसूत्रिकृत टीका (षोणाचार्य से शोधो हुई) १८६१६, चूणि पूर्वाचार्यकृत ४०००, संपूर्ण संख्या ३८३६८ है । संवत् १५६८ में दानशेखर उपाध्याय ने १२००० श्लोक संख्या की लघुवृत्ति बनायी है ।

६-ज्ञाताभर्मकथाङ्ग सूत्र, अध्ययन १६, मूलश्लोकसंख्या ५५००, और उसपर अभयदेवसूत्रिकृत टीका ४२५२ है । इस समय में १९ कथाएँ दिखायी देती हैं, किन्तु पूर्व समय में साढ़े तीन करोड़ कथाएँ थी ऐसी प्रसिद्धि है ।

७-उपायकदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन १०, मूलश्लोकसंख्या ८१२, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ९००, संपूर्ण संख्या १७१२ है ।

८-अन्तगन्धशाङ्ग सूत्र, अध्ययन ९०, मूलश्लोकसंख्या ९००, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ३००, संपूर्ण संख्या १२०० है ।

९-आणुचरोत्रवाङ्मयदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन ३३, मूलश्लोकसंख्या २६२, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका १००, संपूर्ण संख्या ३९२ है ।

१०-प्रश्रव्याकरण सूत्र, ५ आश्रवद्वार और ५ सम्बन्धारूप १० अध्ययन, मूलश्लोकसंख्या १२५०, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ४६००, संपूर्ण संख्या ५८५० है ।

११-विषाक सूत्र, अध्ययन २०, मूलश्लोकसंख्या १२१६, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ९००, संपूर्ण संख्या २११६ है ।

संपूर्ण ग्यारह अङ्गों की मूलश्लोकसंख्या ३५६५९ है, और टीका ७३५४४ है, और चूणि २२७०० है, तथा नियुक्ति ७०० है, और सब मिलकर १३२६०३ है ।

आचारारङ्ग और सूत्रकृताङ्ग की टीका तो श्रीलाक्षाचार्यकृत है और बाकी नवअङ्गों की टीका अजयदेवसूत्रिकृत है, इसी लिये अजयदेवसूत्रि का नवाक्षीवृत्तिकार के नाम से उल्लेख किया जाता है; अजयदेवसूत्रि] का चरित्र म० भा० ७०६ पृष्ठ में और 'सौलगायरिय' शब्दपर श्रीज्ञानाचार्य की कथा देखना चाहिये ।

बारह उपाङ्गों के नाम, टीका, और संख्या इस तरह है—

१-उपवाङ्मय उपाङ्ग, (आचारारङ्गप्रतिबन्ध) मूलश्लोकसंख्या १२००, और उसपर अजयदेवसूत्रिकृत टीका ३१२५, संपूर्ण संख्या ४३२५ है ।

२-रायपसेणी उपाङ्ग, (सूत्रकृताङ्गप्रतिबन्ध) मूलश्लोकसंख्या २०७८, और उसपर मलयगिरिकृत टीका ३७००, संपूर्ण संख्या ५७७८ है ।

३-जोवाजिगम उपाङ्ग, (स्थानारङ्गप्रतिबन्ध) मूलश्लोकसंख्या ४७००, मलयगिरिकृत टीका १४०००, लघुवृत्ति ११००, और चूणि १५०० है, संपूर्ण संख्या २१३०० है ।

४-पञ्चवणा (महापाना) उपाङ्ग, (समवागारङ्गप्रतिबन्ध) मूलश्लोकसंख्या ७७८७, मलयगिरिकृत टीका १६०००, हरिजङ्गसूत्रिकृत लघुवृत्ति ३७२८ है, संपूर्ण संख्या २७५१५ है ।

५-जम्बूद्वीपञ्चलि उपाङ्ग, (जगवतीप्रतिबन्ध) मूलश्लोकसंख्या ४१४६, मलयगिरिकृत टीका १२०००, चूणि १८६० है, संपूर्ण संख्या १८००६ है ।

६-चन्द्रमङ्गलि सूत्र, (ज्ञानाप्रतिबन्ध) मूलश्लोकसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ९४११, लघुवृत्ति १००० है, संपूर्ण संख्या १२६११ है ।

७-सूरपञ्चलि सूत्र उपाङ्ग, (ज्ञानाप्रतिबन्ध) मूलसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ६०००, चूणि १०००, संपूर्ण संख्या १२२०० है । चन्द्रमङ्गलि और सूर्यमङ्गलि दोनों मिलकर ज्ञानाप्रतिबन्ध हैं ।

८-कल्पिका उपाङ्ग, [उपायकदशाङ्गप्रतिबन्ध] काङ्ग, मुकाल, महाकाल, कृष्ण, सुकृष्ण, महाकृष्ण, बीरकृष्ण, रामकृष्ण, पितृसेनकृष्ण, महासेनकृष्ण के नाम से १० अध्ययन हैं ।

ए-कल्पावर्तसिका उपाङ्ग, [अन्तर्गदशाङ्गप्रतिबन्ध] पथ, महापथ, भूच, सुभच, पञ्चजच, पञ्चसेन, पञ्चगुल्म, न-
हिनीगुल्म, आनन्द, नन्दन के नाम से १० अध्यायन हैं ।

१०-पुष्पिका उपाङ्ग, [अणुचरोवर्षाप्रतिबन्ध] चन्द्र, सूर, शुक्र, बहुपुष्पिका, पुष्पयभच, माणिक्यच, दत्त, शिव,
बलि, अनाहत नाम से दश १० अध्यायन हैं ।

११-पुष्पचूडिका उपाङ्ग, [प्रश्रव्याकरणप्रतिबन्ध] श्री, ह्री, वृति, कीर्ति, बुद्धि, सद्ग्री, इलादेवी, सुरादेवी,
रसदेवी, गन्धदेवी नाम से दश १० अध्यायन हैं ।

१२-बह्निदिशा उपाङ्ग, [विपाकसूत्रप्रतिबन्ध] निसह, अत्रि, दह, वह, पयती, जुति, दसरह, ददरह, महापनु,
सप्तधनु, दसधनु, नामेसय के नाम से १२ अध्यायन हैं ।

इन पाँचों उपाङ्गों का एक नाम 'निरयावही' है, और कल्पिका आदि पाँचों उपाङ्गों के ५२ अध्यायन हैं । इनकी
संपूर्ण मूलग्रन्थसंख्या ११०९ है, इनकी वृत्ति ७०० श्री चन्द्रसूरिकृत है । संपूर्ण ग्रन्थसंख्या १८०६ है ॥

इस तरह बारह उपाङ्गों की मूलसंख्या १५४२० है और टीका की संख्या ६७९३६, और संपुत्रुचि ६७१८, चूर्ण
३३६०, संपूर्णसंख्या १०३५४४ है ।

दश पद्मार्थों (प्रकीर्णक) की गाथा संख्या इस तरह है—

१-चउसरण पद्मा में ६३ गाथा हैं । २ आउरपचक्खण पद्मा में ८४ गाथा हैं । ३ भत्तपचक्खण पद्मा में
१७१ गाथा हैं । ४ संघारण पद्मा में १२१ गाथा हैं । ५ तंहुवेयाही पद्मा में ४०० गाथा हैं । ६ चन्दविज्जगप-
इमा में ३१० गाथा हैं । ७ देविन्द्यव पद्मा में १०० गाथा हैं । ८ गणिबिज्जा पद्मा में १०० गाथा हैं । ९
महापञ्चक्खण पद्मा में १३४ गाथा हैं * । १० समाधिपरण पद्मा में ७२० गाथा हैं ।

इन दश पद्मार्थों की संपूर्ण गाथासंख्या ३३०५ है और प्रत्येक में दश दश अध्यायन हैं, और ये दश पद्मा जो
पैताहीस आगम की गिनती में हैं ।

१ वीरस्तव पद्मना गाथा ४३ ।

२ अणिजाधित सूत्र संख्या ७५० ।

३ सिक्किपाञ्चतसूत्र संख्या १५०, और इसकी टीका ७५० है ।

४ दौवसागरपन्नत्ति संग्रहणी संख्या १५०, और इसकी टीका १५०० है ।

५ अङ्कविज्जापद्मना संख्या ८८०० (कहीं २ पाई जाती) है ।

६ ज्योतिष्कारणक पद्मना संख्या ५००, इसकी टीका मलयगिरिकृत ५४०० है, और ११ पाठुका [मानूतक] हैं ।

७ गच्छाचारपद्मना, टीका विजयविमलगाणिविरचित, मूसटीका संख्या ५४०० है, और ४ अधिकार हैं ।

८ अङ्कूलिया ग्रन्थसंख्या ८००, इसमें लिखा हुआ है कि "आर्यसुधर्मा स्वामी से उन के शिष्य जम्बूस्वामी ने पूजा कि-
ग्यारह अङ्गों की अङ्कूलिका किस वास्ते हैं ?" इस पर सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया कि-"जिस तरह आनूपणों से अङ्क शोजित
होते हैं उसी तरह अङ्कूलिका से एकादशाङ्गी शोजित रहते हैं, इस लिये निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को ये जानने के
लायक हैं और गुरुपरंपरागम से ग्रहण करने के योग्य हैं" । फिर जम्बू स्वामी ने पूजा कि-"गुरुपरंपरागम कैसा ?"
उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा कि-"आगम तीन प्रकार के हैं-अन्तागम, अन्तरागम, और परंपरागम । अर्थ से तो
अर्द्ध जगवान का अन्तागम है, और सूत्र से गणधरों का अन्तागम है । तदनन्तर गणधरशिष्यों का अन्तरागम है,
उसके बाद सभी का परंपरागम है" । और अङ्कूलिका के अन्त में उपाङ्कूलिका की चर्चा है कि-सुधर्मा-
स्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि-"सेस उवंगूलिया तो गहेयव्वं" अर्थात् अवशिष्ट जाग उपाङ्कूलिका
से देना चाहिये ।

* कहीं दिखी प्रतियों में महापञ्चक्खण पद्मा के स्थान में ४३ गाथावाला वीरस्तव पद्मा लिखा है, किन्तु ऊपर कहे हुए
पद्म पद्मार्थों से पृथक् गी है परन्तु इनकी यहाँ आवश्यकता न होने से केवल नामनिर्देश ही किया है ।

छः उद्देशग्रन्थों के नाम और उनकी ग्रन्थसंख्या—

१-निर्णय सूत्र, उद्देश १०, मूलश्लोकसंख्या ८१५, और इस पर लघुभाष्य ७५००, और जिनदासगणिमहत्तरविरचित चूर्णित १८०००, बृहदभाष्य १२००० है. यह टीका के नाम से ही प्रसिद्ध है। जज्ञाहृस्वामी की बनायी हुई निर्युक्ति गाथाएँ हैं। संपूर्ण ग्रन्थसंख्या ५८११५ है। शीघ्रभद्रसूत्रि के शाष्य चन्द्रसूत्रि ने वि० सं० ११७५ में व्याख्या की है। जिनदासगणिमहत्तर ने अनुयोगद्वारचूर्णित, निर्णयचूर्णित, बृहदकल्पजाप्य, आवश्यकचूर्णित आदि कई एक ग्रन्थ बनये हैं।

२-महानिर्णय सूत्र, अध्ययन ७, चूर्णित २, मूलश्लोकसंख्या ५५००, मतान्तर में इसकी तीन वाचनाएँ हैं—१ लघुवाचना; ५१००; २-मध्यवाचना ५५००; ३-बृहदवाचना ११८०० है। किन्तु हमारा पुस्तक के अन्त में लिखा है कि—

“ चत्वारि सयमहस्मा. पंचसयाओ तदेव पंचासं ॥

चत्वारि मिश्रोगा वी, महानिर्माहमि पापणं ” ॥ १ ॥ ४५५५ ॥

३-बृहदकल्पसूत्र, उद्देश ६, मूलसंख्या ४३२ है। इसपर सं० ३३२ में बृहदचार्याय श्रीकृष्णकिंशिरिने ५१००० संख्यापरिमित टीका बनायी है। जाप्य जिनदासगणिमहत्तरकृत १२०००, लघुभाष्य २००, चूर्णित १४३२५, संपूर्णग्रन्थसंख्या ७६७५८ हुई है। टीका में लिखा हुआ है कि— [कः सूत्रमकार्षीत्, को वा नियुक्ति, को वा जाप्यपरिमित ?। उच्यते—पूर्वेषु यन्नवमं प्रत्याख्यानानामकं पूर्वं तस्य यत्ततोऽप्यभाचारारण्यं वस्तु तस्मिन् विशतिनामप्राज्ञेन मूलगुणेषुत्तमगुणेषु वाऽपराधेषु दशाधिपालोचनादिकं प्रायश्चित्तमुपवर्णितं, कालक्रमेण च दण्डमानुभावतो भृतिवर्तनीयबुद्ध्यायुःप्रचूर्णितेषु परिधीयमानेषु पूर्वानि दुरवगाहानि जानानि ततो मा भूत् प्रायश्चित्तव्यवच्छेद इति साध्यामानुग्रहाय चतुर्दशपूर्वरेण जगवता भक्षवाहस्वामिना कल्पसूत्रं, व्यवहारसूत्रं चाकारि; उजयोरापि च सूत्रम्पशिकारिण्युक्ता]

४-व्यवहारदशाकल्पच्छेद सूत्र, उद्देश १०, दो खण्ड, मूलश्लोकसंख्या ६००, टीका मलयगिरिकृत ३३६७५, चूर्णित १०३६१, जाप्य ६००० है। नियुक्ति की संख्या अज्ञात है। संपूर्ण ग्रन्थ संख्या ५०५२६ है।

५-पञ्चकल्पच्छेद सूत्र, अध्ययन १६, मूलसंख्या ११३३, चूर्णित ७१३०. और दूसरी टीका की संख्या ३३००, जाप्य ३१२५, संपूर्ण संख्या ६३८८, और गाथासंख्या २०० है।

६-दशाधृतस्कन्धउद्देशसूत्र, मूलसंख्या १८२५, अध्ययन १०, चूर्णित २१५५, नियुक्तिसंख्या १६८, संपूर्णसंख्या ४७४८ है। टीका श्रीब्रह्मविरचित है, इसका आठवाँ अध्ययन कल्पसूत्र १७१६ है जिसकी टीका कल्पसुबोधिका है *।

७-जातकल्पच्छेदसूत्र, मूलसंख्या १०८, टीका १२०००, सेनकृत चूर्णित १०००, भाष्य ३१७४, संपूर्ण संख्या १६७३० है, और चूर्णित की व्याख्या ११२० है, और इसकी लघुचूर्णित श्रीसाधुल्लसकृत ५७००, और निलकाचार्यकृत वृत्ति १५०० है।

मायजितकल्पविस्मय ३७५, धर्मयोगसूत्रिकृत वृत्ति २६५० है, और उसपर पुष्पीचन्द्रकृत टिप्पण ६७०, और नियुक्तगाथा १६८ जज्ञाहृस्वामीकृत है, इसकी चूर्णित और टीकाएँ बहुत हैं, परन्तु प्रायः करके वि० सं० ११७०० के पीछे की बनी हुई हैं।

चार मूलसूत्रों की संख्या इस तरह है—

१-आवश्यक सूत्र, मूलगाथा १२५, टीका हरिजलसूत्रिकृत ७१०००, नियुक्ति भक्षवाहृस्वामिकृत ३१००, चूर्णित १८००० है। दूसरी आवश्यकवृत्ति [चतुर्विंशति] ७१००० है, उसकी लघुवृत्ति निलकाचार्य कृत १७३३१ है, और अञ्चलमञ्जारायकृत दीपिका ११००० है, इसका भाष्य ५००० है, आवश्यकटिप्पण मन्नाथारि हेमचन्द्रसूत्रिकृत ४६०० है। संपूर्णसंख्या ९८१५६ है, नियुक्ति की टीका हरिजलसूत्रिकृत ७२५०० है।

* अर्धतो जगवता वर्धमानस्वामिना अममार्थिध्यानपरिज्ञानपरमार्थे उक्तः, सूत्रतो षडशस्वङ्केषु गणधरः, ततोऽपि च मन्त्रप्रथमानुग्रहाय अनिशायिनिः प्रत्याख्यातपूर्वाद्बृहदृष्य पृथक् दशाध्ययनस्येन व्यवस्थापितः। दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चासीत् भूतस्कन्धः। दशाकल्प इति पर्यायनाम। अयं च ग्रन्थोऽममार्थिस्थानादिषु दार्थशासनाज्ञाश्रमः। अस्याध्यायन कल्पसूत्रमुच्यते, टीका चास्य कल्प-सुबोधिकेति।

१-विशेषावश्यकसूत्र, [आवश्यकसूत्र मूल (सामयिकाध्ययन) का विशेष परिकर है] मूलसंख्या ५००० है। श्री-जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण कृत है, और इसके बृहदवृत्ति १८००० मन्त्रधारिहमचन्द्रसूत्रिकृत है, लघुवृत्ति १४००० को-टाचार्यकृत, या ङोणाचार्यकृत है. बृहदवृत्ति की टीका तर्कानुविद्या जैनस्थापनाचार्य कृत है।

१-पार्वी (पादिक) मूल, मूल ३६०, सं० ११८० में यशोदेवसूत्रिकृत टीका २७००, चूर्ण ४०० है।

१-यतिप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति ६०० है।

२-दशवैकालिक सूत्र, सत्यंभवसूत्रिकृत, मूल ७००, वृत्ति तिलकाचार्यकृत ७०००, दूसरी वृत्ति हरिभद्रसूत्रिकृत ६८१०, और मलयगिरिकृत वृत्ति ७७००, चूर्ण ७५००, लघुवृत्ति ३७०० है। निर्युक्तिगाथा ४५० है। आधुनिक सोमसुन्दरसूत्रिकृत लघुटीका ४२००, तथा समयसुन्दरउपाध्यायकृत लघुटीका २६०० है।

२-पिण्डनिर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामिकृत, मूलसंख्या ७००, इसपर टीका मलयगिरिकृत ७०००, दूसरी प्रति में ६६०० है, वि० सं० ११६० में वीरगणिकृत टीका ७५०० है और महासूत्रिकृत लघुवृत्ति ४००० है, संपूर्णसंख्या १९२०० है।

३-ओघनिर्युक्ति, जद्रबाहुस्वामिकृत, मूलगाथा ११७० है, ङोणाचार्यकृत टीका ७०००, और इसका भाष्य ३००० है, चूर्ण ७००० है, संपूर्णसंख्या १८४५० है।

४-उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३६ है, मूलसंख्या २००० है, वादिवेताल ज्ञानिसूत्रिकृत बृहदवृत्ति [पाईटीका] १८००० है, दूसरी प्रति में १७६४५ [लक्ष्मीवल्लभजी टीका] है, सं० ११७६ में नमिचन्द्रसूत्र से कृत लघुवृत्ति १३६०० है, भद्रबाहुस्वामिकृत गायानिर्युक्ति ६०७ है, और चूर्ण ६००० है, संपूर्णसंख्या ४०३००।

अब दो चूलिकासूत्र की संख्या और नाम—

१-नन्दीसूत्र, देवार्किगणिसमाश्रमणकृत, मूलसंख्या ७०० है, इसपर मलयगिरिकृत वृत्ति ७७३५, चूर्ण सं० ७३३ में बनी हुई २००० है, हरिजद्रसूत्रिकृत लघुटीका २३१२ है, संपूर्णसंख्या १२७४७ है। चन्द्रसूत्रिकृत टिप्पण ३००० है।

२-अनुयोगद्वारसूत्र, गाथा १६०० है, उसपर मन्त्रधारिहमचन्द्रसूत्रिकृत वृत्ति ६००० है। जिनदासगणिमहत्तर कृत चूर्ण ३०००, और हरिभद्रसूत्रिकृत लघुवृत्ति ३५०० है, इसतरह संपूर्णसंख्या १४३०० है।

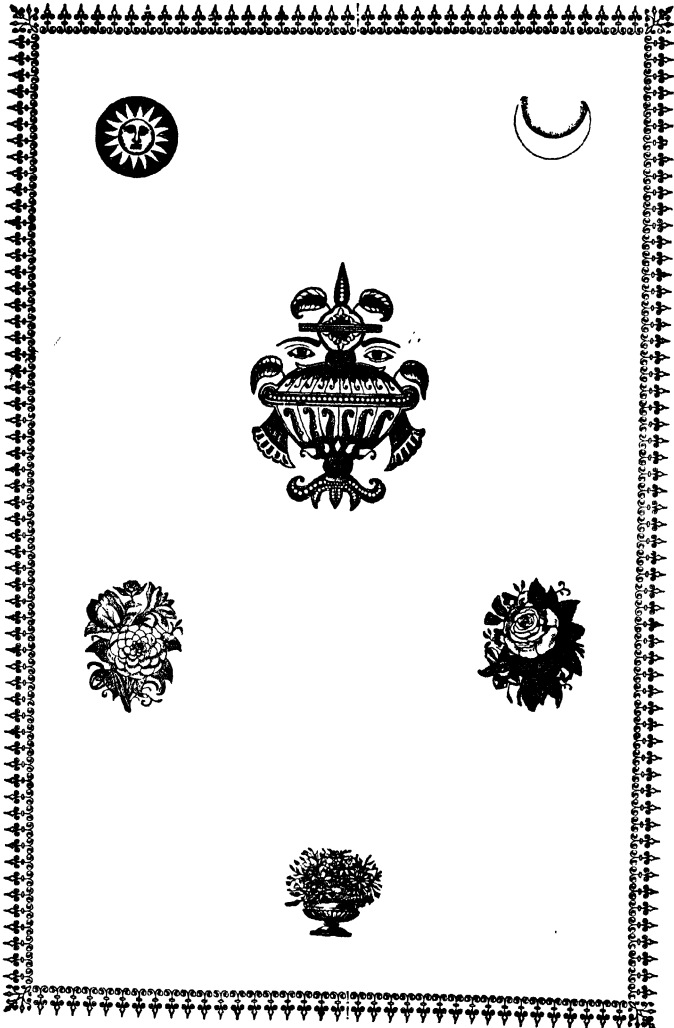
इस तरह ग्याह अङ्ग, बारह उपाङ्ग, दस पङ्खा, ङः उदसूत्र, चारमूलसूत्र, और दो चूलिकासूत्र मिलकर इस समय पैतालीस आगमों की संख्या हो जाती है। इत्यङ्ग विस्तरेण।

विशेष विज्ञापन—

इस पुस्तक के संशोधन में हमारे सतीर्थ्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने पूर्ण परिश्रम किया है किन्तु लेखकों की लिखी हुई पुस्तकों के अत्यन्त जीर्ण होने से और प्रायः एकही एक प्रति के मिलने से भी कहीं कहीं त्रुटि गाथाएँ टीका का अशुद्धमन्त्र लेकर प्रकरणा और विषय के अवि-रोध से पूरी की गयी हैं उनमें याद कहीं पर पाठ भेद हो गया हो तो सज्जनों को उसे ठीककर लेना चाहिये।

निवेदक

उपाध्याय मुनि श्री १०८ मोहनविजयजी



→ उपोद्घातः ←

अर्थम् ।

कः खतु स्वयेतनो जन्मो नाऽस्मात् संसृतिस्संस्पर्शकलेशादात्मानमपश्येदित्युं कामयते । तथा चास्मिन् भवेद्दम्भमयाशस्य कस्य वा प्रेक्षायतो दुःखमनागतमजिज्ञासिन्तं भवति ? । किन्तु इतोपायपरिज्ञानमन्तरा कथं कृतम् । काऽपि समापद्यत ? । ततो विश्वस्याऽपि विश्वव्यपेनभवेत्तनुपुयाजिज्ञासायां साऽभिलाषश्च-यदेतद्वारसस्वापरावाराम्निर्नन्तरानमभनकलेत्परधारिणामनवरतोःकटजमज्रामरणऽऽदिविदनाऽभिजुनानां कोऽभ्युपायां मौलां ह्यभिमद् ससुलसुसुलयति । ? यद्यपि अन्तरधिपखण्डासिमाभिनां विचारशालानां मरा वादमुत्तरयितुं प्रागन्त्यमालाभिष्यन्ते-यद् धर्ममन्त्रेण काऽभ्युपायां न प्रेक्षापधमारोहति नस्मात् पराक्षुण्डीकर्णम् । परं तु क्वीरौरधेरिव धर्माधर्मयोर्यिया कर्वाहिसमापस्य मिश्रणमिततयान्तरं दिवैकुमलाधारणजनाऽनिरिक्तस्याऽऽतुकर चर्वेति, यतोऽस्मिन् समये परःशतानि मतानि धर्मस्यज्ञाने तन इतः प्रचरन्ति, यानि संकथानुक्तपदाकथानि संख्यायतां मरामनोर्षिणामपि, किं पुनः पाथक्येन धर्मोऽवमयं धर्माभास इति प्रदर्शयितुम् । यन्पि मदाभुभायानामस्मद्महाभागानां धर्म्यतमानामाविशतुस्यारेणैव यद्यमानावितुं शक्यते-यदस्मिन् दुःखमारापरपयंये पञ्चमं कालं धर्मोऽनासनामव्य विशयतः प्रायशः प्रकारो भवितुमर्हति धर्मस्य चाऽयनांतदशा ज्ञातुं युज्यत इति ।

परस्परं पर्यंतुयोगेन स्मृतिस्मरणार्थाधरुह्यते-यत्तवामन्यतमस्तादृशं कां तु धर्माभिषयधुराऽपि र्हेति ? । तेषां प्रतापकयमुपदौकयस्याहंनमित्युक्तः-यस्मत्प्रयत्नैःपरुषा रागद्वेषकद्वेषद्विज्ञाद्विभक्तिना अर्थपुत्रंभक्त कञ्जराविर्षीणिलकार्यन्तस्य कस्यापि प्राणानः परमंपरःप्रागुपरिवर्त्तनेपदेष्टानं स्यात्, प्रत्यनु शाश्वततमसाख्यं च श्व अयमस्य प्रापयितुं प्रनवेत्, स पर धर्मपदापादेयपदवीम अङ्कतुंममम् । परमाधेतो यदीदृकः परमार्थः परासूयं तदा तदा तयतौ तीर्थकरावामथवा नगवतां वहेमानस्येवाऽऽसन्नपकारित्येनासनाजपयनाका प्राडुभूताव । यस्मत् एव विमद्वकथलांलांकन का तत्रयथासनाभ्यास्यविशेषाम्भनोऽन्यपदाधेत्नाधेत्वेत्तर, शकालामपि जन्मस्नाशदपर्यहदाऽनिहायादि-संपादनेनाचैनार्हाः, अविनयवस्तुनभ्यप्रकारः, शास्त्रससर्ववस्थात्पर्येन पराद्वैधवियजयकस्तारः ; राकात्तस्य तेषामिदंसा परमो धर्म इति ॥

यद्यपि पृथग्भूतेष्वितो धर्मोभासेषापि किंपाकाकोपसिस्वायस्यदेवया हिंसागर्भिता अहिंसा भगवती यत्र तत्र विशोक्यन्ते-तस्या जिज्ञुता मयुद्विधैधराकराप्रकत्वाऽप्रलोलासनानामि, य जनानां न सुखाकरोतीति कप्रमत्रे संयुक्तवियमयुक्तपंय न युक्त । यत्तन्नेपु जन्मादिदुःखमुक्त्यां प्रायान्येन कारणता तस्या नोपलज्यते, अपि तु यदंशतस्तत्र दयाऽभितिविष्टा, हिंसाऽपि तदुपशान्तौ जागर्ति, यथा संसारमांशकानामिदंनैर्धर्म-यदि नरपशुशकृन्वियत्यतः काऽपि जनेऽस्मिन् संसारवेदनामुपयति, तर्हि तस्येतां देवेनः पूषकृपकानं दयापरयशानां कस्यैवमिति । ससतनुप्रवणानां यजन्तां तु तादृकमवसरमासा-

य दयापाशासनामन्यगतिकानां छाग तदकानां विश्रसनमेघोर्ध्व गतिप्रापणमित्यादि प्रन्थेऽस्मिन्नेव प्रथमभाते " भगवत्कथम् " " अहिंसा " शश्रयोऽपरं विशयविस्तरः प्रकृणीया जिज्ञासुनामिति । अत यथाभियुक्तानामाभावः-

" पलापतो न मे घोरैः, न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमुद् घचनं यस्त, तस्य कार्यं परिग्रहः ॥ १ ॥

रामद्विषयानिमुक्ताहंरुक्ते च कृपापरम् ॥
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ॥२॥ इत्यादि ॥

इयाऽऽचारक्रियावस्तुभेदधर्मोऽवमार्हेतश्चतुर्धा प्रथिमकः । निदानमस्या देयमित्तसमयसरणसमवस्तुस्य देवाधर्दवस्य भगवतोऽखिलकस्य श्रीतीर्थकरस्योपदेशावाविर्भूतं शासनमेव । यद्यपि श्रीमदुजिगीतमादियिनेऽर्थैः समनन्तरं क्रियत्यप्यनेहासि समतीते द्वाद्वाद्विषयेकादशशुकीकेण वा संद-र्जितं सत् सुत्रनाम्ना व्यचक्षियते, तथा चेतन प्रत्येकतीर्थकरशासनमस्येऽस्तन्वैश्टामासाद्यति । यद्यपि काले पुर्वविमन चतुर्वैशुपेधर-दशपेधर-खनकेवालप्रभृतयो महातुभावा महामानो ये कंचनाऽऽसन् तेषामनिशयंनययशाद् मूलदेवाधर्दज्ञानं सुकरमतः स्पर्द्धाकरणप्रवणताकादिपुस्तकादीनामावयकनेव नासीत्, परन्तु तादृशलाभिकलानां जीवनामर्थाचामवधारणधुरां वादुससमर्थानां विस्मृतपदाधिसार्धरुग्निमलममानानां दुर्भावस्य गहनातिहतनियेषस्य स्यादाविकद्वयंनस्य विशदीकरणाय भगवद्वर्भः श्रीभद्रबाहुस्त्वामप्रमुक्त्येयमि नियुक्ता-मप्य-स्युपि-टीकाऽऽहंनानं रचना कृता, तथापि साम्प्रतं जैनप्रथस्य भूयाद् । अस्तरः समजनि, यद्यधुना स्वल्पीयसाऽऽप्या न काऽपि क्लमो मनुष्यः सासात्तिकं कृत्यं स-माखरन् गृहस्थविरक्तान्यतरऽऽमुष्मजैऽनासतसामारात् पारसुक्षरितुम् । हेतुरयमत्र विमत्तयेन-यत् प्रथमतः सर्वेषां प्रथानां समुपलाभ्यत्र न सर्वेष समुपजायते, ये चालपीयांसः क्वांचन क्वांचदपि समुपलभ्यन्ते, के विषयाः कुत्र तत्र विन्दन्ता इति सर्वेसाधारणस्य तावतो ज्ञानसमुत्कर्म् । यदि कस्यापि कसि-त्रापि प्रन्थे जायेतापि विषयाणां यथाकथाऽनुपलभ्यन्तेथापि च्चेऽजिधेया अन्त्यस्थस्य प्रन्थे च कुत्र कुत्र भविष्यन्तीति परामर्शोऽेदस्याविधुरपुरामिधदहालक्षययोगोऽपि ।

कारणाभ्ररस्येयन्तः-यदिदं जैनद्वयं न स्यात् (अर्द्धमागध्याम) भाषायामजिनियकव, एया सैव, यथा प्राकृतनसमेव भारतभूय्यां मातृभाषाभ्येन, राष्ट्रभाषाभ्येन च स्थानं प्रापि । यथाश्च तौ-ध-करणधरप्रभृतिनिर्मैहामादरः कृताऽमुष्या एव भाषायाः प्र-काः प्रचलितसमयं किंवापि क्वापि नोपलभ्यन्ते । यद्यपि दशकपादिषु यत्र तत्र पापप्रमेदप्रमुक्ता कतिपयप्रभेदांजना प्राकृतभाषा हाद्वैधधर्मविरोहात, तदापि तस्मिन्नातिच्छाया-त एव कार्यं निवेदन्ति यथाकथञ्चिद् सर्वेऽपि पाठकाः ।

यदि केनापि प्राकृतयकादादिव्याकथशशेन समस्यस्ताऽपि शुद्धा प्राकृतभाषा न तावत्या जैनागमसूत्रय्याणां निर्दुकिताया-

शुक्तिमभूनां तापयमयचारयितुं वाक्यम,यतसंधंकरगणध-
रादिभिर्दुःखमागाम्येभ्यो प्रस्तावः प्रस्तुतः, या व सामान्यप्रा-
कृतभाषातो नदीयसी कश्चिद् विलक्षणतर ।

गतवन्ति समये तु गुरुशुभपरायणाः भ्रममविगच्छवान्ने-
वालिजनाः स्वस्वाचार्यमुत्साम्भोजमकाशात् समुपलब्ध-
मपुत्रिभूतिकरसहज्ञानुत्पत्तयतीतथाद् संविद्यमानाः कष्ट-
स्थं कुर्वन्त एव कृतकार्या बभूवुः, किन्त्वधश्चीनायास्ताह-
म्याः परिपाल्याः प्रायशो वैकल्याद् ज्ञानदशोचचार्याणां भू-
यान् ह्रासः समज्जनि । संक्रांतिविवरणं चास्याऽत्रैव प्रथमतया
“ अहाहात्वं ” शब्दे तत्त्वबुत्सुभिर्ज्ञासुभिर्दृष्टव्यम् ।

निर्गन्ध वैताहरीं बुद्धशामम्माकं गुरुवर्याणां श्रीलोचधर्महृत्स-
पागकुटीरकलिकालसर्वहृत्कल्पभट्टारक १००० श्रीमद्विजय-
राजेन्द्रसूरीभ्रमहाराजानां चेतसि निम्नाऽतिमहती समुप-
स्थिता-यत् प्रत्यहमाहंतयार्थमिहकाशाकाशाकार्यां हानि-
रवोपजायते, कारणादस्माद्वहाहा बहवः सुक्तं मन्वानाः का-
येमुत्सृज्यमानि कर्तुमाच्छवन्तः, तथा स्वधर्मप्रत्येयान् विस्मृति-
सरणिमाश्रिता इव । ततः किमस्यामवस्थायां कर्णायमस्मा-
भिः । यतः संसारंऽस्मिन्सत्त्वरं तस्यैव मरत्येव जनिः साधिकां,
येन यथाशाक्यमात्मधर्मस्योऽतिः कृता । अन्वधा-

“ अमेपादनिकः कश्चि-दर्थे जातिरक्यागुणे ।
यदच्छाशुद्वन्तं पुंसं, संहाये जन्म केवलम् ॥ ”
अथवा-“ स लोहकारमस्मिन्, श्वसन्नापि न जायति ।”

इति लौकिकानि साधकयति । एताहलो धिमर्भेत-
सि प्रभूतकामसुखास, किन्तु कदाचिदकस्यां क्रणदायां
सहसा विचारः प्राडुपन्तु-काऽप्यकस्ताहरीा क्रम्यः प्रजे-
तत्प्रेत्या रबनीयो, यास्मद् अनामसत्क्रमागर्षोमावाश-
द्वामाकाराद्यनुक्रमतो विद्यासं विद्याय वाञ्छोणमायायां त-
दनुयासिहृत्सुप्रायां सेवाच्यार्थं निवाय समन्तरं यथामंभवे
तदनुयतिं मूलसुत्राणां पारानिर्देशपुरःसरं समुपलब्धपुगतनटीका-
च्युर्थादि विवरणं दत्त्वा स्पष्टयितव्यः । यद् स एव विषयो ब्र-
ह्मण्डान्तरेष्वप्युपलभ्येत तर्हि तदनुपपदेन संऽपि निर्देयः । प्रा-
यशोऽस्माद् निजमतोऽनुकुरोः शोकस्योपकारो भावष्यतीति ।
अधोर्वासं समुप्याय सूरीन्द्रः स्वनिर्णयैमित्तिकाः क्रियाः
सामान्यास्य प्रकृतकार्यस्य भारमुदाह । समाहितमानसेन
ह्याधिनिश्चयं यावद् महानमपि भ्रममविगणस्य नेन कार्यमेतद्
विज्ञानपेक्षां संपूर्णनां लभिमन्त । यद्-भविष्यत्ताराजेन्द्रः नामा
काशः प्राकृतनायाप्रवेदभूतमागम्यां विरचय्य वतुपु भागेपु
वित्तकः ।

अथैकदाऽनल्पकस्याः भ्रवकाः क्षिप्याश्च मुनयः श्रीमद्ग-
पाश्यागमोहानयिजवर्धपविजययतीन्द्रविजयवाभ्युत्तयः साधयो
त्रिभयाः स्याज्जिह्वन्धं प्राधनपुरःसरं तद्विज्ञानम-भागधो ।
यदयमपि प्रम्यो मथ्यान्तरत्तमः पुस्तकभाषाकारेणैव नि-
हितः स्याम्यति तदा किमनो जना अनर्थम्यास्य प्रवरज-
स्येव कोपरन्तस्य लाम्यभाजो प्रविष्ट्यतिः । तस्मादनेकेषु
देशदृष्टान्तरेषु यथा रीत्या ज्ञानं प्रचातः स्यात्, ननुपायः क-
रणाय इति गुरुचरणान्ने विज्ञापितुरस्तरं निवेदयामः ।

तदुत्तरं प्रशान्तमजीरया गिरा श्रीसूरीभ्रवाः मानिस्नोक-
हुंमं भोषु-अदमार्त्तयं करणीयं पृतिमनयमतः परं येनोपायं

निश्चिन्नेकोपकारः स्यात् तं तु युष्मानिः कष्टुमर्हैः किन्तु च-
यमात्रं ताटस्थ्ययुगताः ।

ततः श्रीसङ्केनास्यानिधानस्य विषेपप्रचाराय शीशकात्तरेः
पुष्टविकणपत्रेषु मुच्छापयितुमेव निश्चित्य प्रारब्धते स्म ।
पुनरस्य शोचनार्थिभारः सूरान्द्राणां विनातिदिप्याभ्यां मुनि-
धारायविजय-मुनिर्भीयतीन्द्रविजयाभ्यां जगृधे, यावत्स्मद्
कार्ये पूर्णोऽभिन्नो बनेति । अतः परं वचनान्तरं ज्ञाया (हिन्द्वं)
जुमिकानांऽवसेयम् ।
स्याद्वाङ्किरणेन समवाय-सत्ताऽपोह-वेदाऽपौषेयसव-
जगतसकटृकत्व-शब्दाकाशगुणत्वा-ऽद्वैतवादाविश्वकमेन ए-
कैन्द्रियाणां भावेभ्युदयज्ञानस्वापनेन च जैनदशोचस्यातिगा-
म्यादि व्यक्तोभयतीति दिक्मात्रमिह तद् दृश्यते-

अथ वस्तुनः स्याद्वादात्मकत्वं सप्तमङ्कः प्रकरणेन सुज्ञोभ्यं
स्यादिति प्रथमं तस्या निरूपणम्-

एकत्र वस्तुनैकैकप्रभेपर्ययुगोपगवशादविरोधेन स्वस्त्याः
समस्त्याश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः
सप्तथा वाक्प्रयोगः सप्तजङ्गा ॥

एकत्र जीवादी वस्तुनि एकैकमन्वादिप्रभेविषयप्रभवशाद्-
विरोधेन प्रत्यङ्गादिवाद्यापरिहारेण युगमजूनयोः समुदितया-
श्च विानिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छुभलाऽङ्कितो
वदयमारीः सप्तानिः प्रकरैश्चनविषयोः सप्तमङ्कः विहितः ।
सप्तमङ्कः पुनरिमे-

स्यादस्येव सर्वमिति विधिविकल्पनया प्रथमो भङ्गः ?
स्यान्नाऽस्येव सर्वमिति निषेयकल्पनया द्वितीयः २
स्यादस्येव स्यात्सास्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्प-
नया तृतीयः ३ स्यादवत्कल्पमेवेति युगपद् विधिनिषेध-
कल्पनया चतुर्थः ४ स्यादस्येव स्यादवत्कल्पमेवेति विधि-
कल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ५ स्या-
न्नास्येव स्यादवत्कल्पमेवेति निषेधकल्पनया युगपद् विधि-
निषेधकल्पनया च षष्ठः ६ स्यादस्येव स्यात्सास्येव स्या-
दवत्कल्पमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद् विधि-
निषेधकल्पनया च सप्तमः ७

स्यादस्येवमनेकान्तघोतकव । स्वात्-कथञ्चित्, स्वद्वय-
जिह्वकालमावकण्य अस्येव सर्वे कुम्भानि, न पुनः पर-
द्वयकोत्रकालमावकण्ये । तथाहि-कुम्भो द्रव्यतः पाथिर्बले-
नास्ति, न जलादिकल्पयेन । स्रेत्रतः पाठमिषुवकल्पेन, न का-
म्यकुञ्जदित्येन । कास्तः शैशिरत्वेन, न वास्तित्कादित्येन ।
भावतः इवामनेन, न रक्तमादिना । अन्वथा इतररूपापस्था-
स्वकल्पानिः स्यादिति । अत्र भङ्गे एवकारस्तु अनभिमतार्थ-
स्यादुपधेयुगास्य । अस्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादान्ते
कुम्भस्य स्वभ्रमाद्यस्तित्येनापि सर्वप्रकारेणास्तिस्वप्रातः प्र-
तिनियतस्यरूपानुपपत्तिः स्यात्, तत्रापिपत्तये स्यादिति प्र-
युज्यते, स्यात्कऽप्य-कथञ्चित्, स्वद्वयवादिनिर्णयामर्त्तन, न
परद्वयवादिभिरपरत्येः ॥ (२) स्वद्वयवादिभिरव परद्वय-
वादिभिरप वस्तुनोऽसत्त्वादिना हि प्रतिनियतस्वकाराभावाद् व-
स्तुप्रतिनियमविरोधः । न वास्तित्वाकाम्यवादिभिरत्र नास्त-

तदोत्पादइत्ययोरानेराधारसप्रसङ्गः, न च तयोयोगे नित्यस्य-
 हासिः । " इत्यं पर्यायविभुतौ, पर्याया कल्पवर्जिताः । क कदा
 कत किङ्कपाः, दद्या मानं कत वा ?" इति वचनात् । न चा-
 काशं न कल्प्यम्, लौकिकानामपि घटाऽऽकाशं पटाऽऽकाशमि-
 ति व्यवहारप्रसिद्धाकाशस्य नित्यानिव्ययम् । घटाकाशमपि
 हि यदा घटापगमं पटेनाकाशं, तदा पटाकाशमिति व्यवहारः ।
 न चायमप्यचारिकस्यादु प्रमाणमेव, उपचारस्यापि किञ्चित्सा-
 धर्म्यद्वारेण मुख्यपरिमाणं तत्सदाध्ययघटादिसम्बन्धिनियन-
 परिमाणवशात् कश्चित्तन्मेदं सत् प्रतिनियततदश्यापि तथा व्यव-
 हृत्यमानं घटाकाशपटाकाशात् तत्सत् व्यवप्रशुनिकषणं भवति
 तत्सदात्तादिसम्बन्धं च व्यापकत्वेनावस्थितस्य ध्वोऽभोऽवस्थान-
 राऽऽपत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थाचलनोऽपि भेदः, तासां ततोऽ-
 विषयमावात् । इति सिद्धं नित्यानिव्ययं व्ययम् । इति
 नैकान्तनित्यपङ्क्तौ युक्तितमः ।

स्यादुत्पादे तु-पूर्वोत्पत्तिकाकारेणहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरि-
 शासनं आधातानामर्थोक्तयोपसिद्धिविषयकः । न चैकत्र वस्तुनि प-
 रस्परविषयकत्वमभ्यासायोगादसत् स्याद्वाद् इति वाच्यम् ।
 नित्यानिव्ययपक्षविभक्त्यस्य पक्वान्तस्यपङ्क्तौऽप्यमाणात्वात्, त-
 धैव च सर्वैरनुज्ञायत् । तथा च पठन्ति—

" भागं सिद्धो नरो जाय, योऽप्यो भागवत्यातमः ।
 तमभागं विभागेन, नरसिद्धं प्रचलते" ॥१॥

एवं चापेक्षितभेदं नित्यानिव्ययमकं वस्तु, उपपादइत्ययमौपचारिक-
 क्तत्वात्साऽऽपक्षवर्तिना । तथाहि-रूपं वस्तु द्रव्यात्मना भोग्यते,
 विषयमेव वा, परिष्कृतमन्वयदर्शनात् वस्तुनजाननकारादिपु अन्य-
 यदर्शनेन श्विचारा इति न वाच्यम्, प्रमाणेन वाप्यपानस्यावध-
 स्यापरेष्कृत्वात् । न च वस्तुतोऽन्यः प्रमाणविषयकः सत्यप्र-
 म्याविक्रान्ताः कृत्यात्, ततोऽव्यात्मना । अस्तिरेव न्मन्वे वस्तुन-
 पर्यायात्मना तु सर्वे वस्तुपत्ये, विषयते च, अस्मिन्लक्षणप-
 र्यायात्तुप्रसङ्गात् । न चैव द्रुक् शक्ते रीतादिपर्यायात्तुभेदेन
 व्याभवात्, तस्य स्थलद्रुक्पर्यायात् । न कलुः कोऽस्मिन्द्रुक्परा,
 येन पर्यायविभागाजहदुक्पराकारात्प्रादिविभागाभी भवेत् ।
 न च जीवादी वस्तुनि हर्षामर्षादीत्यादापर्यायपरस्परपराऽनु-
 भवः स्थलद्रुक्पः कस्यचिद्वाद्यकस्याभावान् । ननुत्यादादयः
 परस्परं जिघांते, तथाऽि यदि जिघांते, कथमेकं वस्तु व्यात्मक-
 म् । न भिद्यन्ते चेन्, तथापि कृद्भेदकं व्यात्मकम् ? । तथाच
 " वद्योग्यत्वाद्यो भिन्नाः, कथमेकं प्रथामकम् ? ।
 आद्योत्पत्त्याद्योऽपि भिन्नाः, कथमेकं प्रथामकम् ? ॥ १ ॥ "

इति चेत् । तदनुक्तम् । कथञ्चिद्विभक्त्यस्येन तेषां कथञ्चि-
 द् नैदाऽनुगम्यात् । तथाहि-उत्पादवशात्तद्विभक्त्यापि स्वाङ्ग-
 क्षामि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिचत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसि-
 द्धम् । अस्तत् आत्मलाभः, सतः सत्ताऽयोर्यागः, इत्यकृत्पत्याऽ-
 नुत्पत्तेन च अस्तुत्पादादीनां परस्परमसक्तिषांन लक्षणं स-
 कललाकसात्क्रियावधेयं । न चामो भिन्नलक्षणं अपि परस्व-
 रानपक्ताः, अस्तुत्पत्तिसत्त्वपत्तः । तथाहि-उत्पादः केवलं
 नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मेरोमवत् । तथा विनाशः
 कृत्वा नास्ति, स्थिपुत्पत्तिसहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थिधातः
 कवला नास्ति, विनाशात्प्रादशुष्यत्वात्, तद्वद्वत् । इत्यन्योऽन्या-
 पक्ताण्युत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपक्षस्यम् । तथा च क-
 थं नैकं व्यात्मकम् ? । उक्तं च पञ्चाशत्तित-

" प्रवृत्ते कश्चो शुशुं च तनया मौलो समुपायिते,
 पुषः प्रतिमुवाह कामपि वि-शोधय मरुच्छताम ।
 पूर्वोकारपरिकृत्यमन्दपराकारोऽप्यवस्तुहृद्यपि-
 धारकैक इति स्थितं प्रथमं तस्यं तन्माप्रत्ययात् ॥ १ ॥ "

तथा च स्थितं नित्यानिव्ययानेकान्तः कान्त एवाति । एवं सत्सत्-
 नेकात्साऽऽपि । अन्वय विरोधः । कथमकमेव कुत्सादिषु सत्-
 त्वात्, अस्तत् प्रवृत्तिः । सत्त्वं क्षामसत्त्वविहारोऽप्यवस्थितम्, अ-
 सत्त्वमपि सत्त्वपरिहारोऽप्य, अन्वया तयोर्विरोधः स्यात् । तत-
 श्च तदपि सत्, कथमसत् ? । अथास्तत्, कथं सति । तद्वन्व-
 दात्म । यतो यद्-येनेव प्रकृतेः सत्त्वम्, तेषाऽस्तत्त्वम्, यन्मेव
 चास्तत्त्वम्, तमेव सत्त्वमन्युपेयेत, तदा अस्तिरोधः । यदा तु
 स्वरूपेण घटाद्वयेन, स्वद्रूपेण विरमवादिनेन, स्वकृतेण
 नगराद्वयेन, स्वकालस्येन चास्मिन्काद्वयेन सत्त्वम्, परक्या-
 दिना तु पटाऽऽन्युत्पत्तिसत्त्वविभक्त्यादिनाऽऽन्यत्त्वम्, तदा क-
 विरोधोऽप्योऽपि । ये तु सौगतः परासत्त्वं नाभ्युपगच्छन्, तेषां
 घटाः सत्त्वमकत्वप्रसङ्गः । तथाहि-यथा घटस्य स्वक्यादिना
 सत्त्वं तथा यदि परक्यादिनाऽपि स्यात्, तथा सति स्वक्यादित्यवयव
 परक्यादित्यप्रसक्तः कथं न सर्वोत्पत्तयं भवेत् ? परासत्त्वेन तु
 प्रतिनियतोऽप्यं स्थित्यति । अथ न ताम नास्ति परासत्त्वम्, किन्तु
 स्वनसत्त्वमेव तद्विदितं चेत्, अहो ! नूनं कऽपि तत्त्ववत्कक-
 र्क-समुत्पादः । न खलु यदेव सत्त्वम्, तदेवास्तत्त्वं भवति चेत्, भवति ? ।
 अथ युक्तं तत्राभ्युपगम्यते, न च नाभ्युपगम्यते एवाति कि-
 म्तरामिच्छजालम् ? । नतश्चास्यानङ्गत्वमसत्त्वमेवातं भवति ? ।
 एवं च यथा स्यात्सत्त्वसत्त्वसत्त्व-नच तस्य, तथा परासत्त्वाम-
 पर-परसत्त्वप्रसक्तिर्नित्यात्परप्रत्ययः विश्लेषाऽभावान् । अथ
 नाभावाविनृष्या पदार्थो जायकयः प्रतिनियतेषां च भवति,
 अपि तु स्वसत्त्वमिदं स्वव्यवधानस्य परसत्त्वमप्यति । इति कि-
 परासत्त्वमिति चेत् ? न किञ्चित् । केवलं स्वसत्त्वमिदं स्वव्यवधा-
 यनित्यत्वात्परिच परासत्त्वमकत्वपरिचकेण भोग्यते, पर-
 मार्थिकत्वमस्यात्मगतमकत्वपरिचकेण परासत्त्वमस्यात्मकप-
 रसत्त्वमप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । इति सूक्तः सत्त्वमदनकान्तः । एव-
 मपरेऽपि जिज्ञाहेतविकानादादयः स्यं चतुर्विधकर्मोपाः स्मृत-
 तर्कादिषु विस्तरभयाग्रह प्रत्ययः ।

अनाऽतकान्तवाद्य एव स्मर्माः । यदाह-
 " इच्छेयं गतिविदम्, निचकं दृष्ट्यादियं नायस्यं ।
 पञ्जापणं आणक्यं, निचवाऽनिचकं च निचवाद्यो ॥ १ ॥
 जो निचवायं भास्ति, पमाणनपसलं गुणाद्यो ॥ २ ॥
 प्रामेहे स गृण सय, सो हि पमाणं पसलं गुणसम् ॥ २ ॥
 जो स्थित्यायं निदति, पमाणनपसलं गुणाधार ।
 भावेण दुदुनयो, न सो पमाणं पववगुणो ॥ २ ॥ "

अथ समवायखण्डनम्-

अनुत्पत्तिनामाभावाधाराभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः
 समवायः । न च समवयवनात् समवाय इति, इत्यनुगतकर्म-
 नामाम्यविशेषोपु पञ्चलु पदार्थेषु वसन्तदु कृत्वांरति चाक्या-
 यः । तथा कुर्या समवायसम्बन्धेन तथाधर्मोर्माणादित्तर-
 विमित्तुं गतन्वेऽपि धर्मधर्मव्यपदेश इत्येन ।
 अत्र जैताचायो यद्विनि-
 अयं धर्मी, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं

समवाय इत्येवम् वस्तुमयं ज्ञानविययतया न प्रतिभासते । यथा शिलाशकलगुणलभ्य मिथोऽनुसन्धायकं रालादिद्वयं तस्मात् चिन्तयतया प्रतिभासते, नैयमज्ञ समवायस्यापि प्रतिभासम्; किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः इति ज्ञापयप्रत्यायनीयोऽयं समवायः । किञ्चाय वादिना एको नित्यः सर्वथापकाऽऽ-मूर्त्तश्च परिकल्प्यते, नतो यथा घटाश्रिताः पाकजकपाद्यो ध-मोः समवायसम्बन्धेन समभवाः, तथा किं न पठेऽपि, तस्यैक-त्वमित्यवस्थापकत्वेः सर्वत्र तुल्यत्वात् । यथाऽऽकाशा एको नित्यो व्यापकोऽमूर्त्तश्च सः सर्वैः सम्बन्धितानुपगमदविशेषेण संबध्यते, तथा किं नायमपीति ? विनश्यदेकवस्तुसमवायात्ता-वे च समस्तवस्तुसमवायाऽऽभावः प्रसज्यते । तत्तद्वच्छेदक-भेदाध्यायं दौष इति चेदयमभिव्यक्त्यापत्तिः, प्रतिवस्तुस्वभावभे-दादिति । अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिज्ञानम् ? यत्नस्व-स्वेदिप्रत्ययः सावधानं साधनम् । इदमप्रत्ययश्चातुनवसिद्ध-एव । इह तन्तुपु पटः, दहाममि ज्ञानमिह घटे कृपाद्य इति प्र-तीकरूपलभ्यात् । अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्मभेदनालव्य-नवादास्तं समवायाद्यं परार्थात्तं तद्वन्तुः इति परानुमान-मित्यत्राय वृत्तकल्पने-त्यन्तमे यथा पृथग्वाविसम्बन्धात्पृथ-गो, नात्र पृथगीय पृथिव्या एव स्वल्पमस्त्वित्यर्थं नात्र वस्त्वन्तरम् । तेन स्वकरोणीयं समं योऽसत्त्वामिसम्बन्धः पृ-थिव्याः स एव समवाय इत्युच्यते; “ प्राज्ञानमेव प्राज्ञ-समवायः ” इति वचनात् । एवं समवायव्यामित्यन्वयान्तर-माय इदापि किं न कल्प्ये ? इति तस्मैवापि स्वल्पमायव्यं स्व-स्वरूपं तेन सार्द्धं सम्बन्धोऽऽस्येव । अन्वया निःस्वभावत्वात् शशविविधानवदवस्तुवमेव भवेत् । ततश्च इह समवायं समवाय-मित्यनुल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटन एव । तथा-यथा पृथिव्यां पृथगीयं समवायेन समन्ते, सत्त्वार्थेऽपि समवा-यत्वमेवं समवायात्नरेण संभवन्मीयम्, तद्व्यपरेणेत्यं दुस्तर-राऽननुत्पन्नामहानरी । ननु पृथिव्यादीनां पृथगीव्यादिसम्बन्ध-निश्चयं समवायो मुखं नरुत्त स्वतन्त्रादिसत्त्वार्थात्प्रत्ययकस्य सं-युहीतसकत्वात्नरजानित्तकृष्णव्यक्तभेदस्य सामान्यस्याज्ञवा-त् । इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिकेदाज्ञाने ज्ञानेनुद्द्युत-त्वात्प्राप्तोऽयं युग्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवा-यत्वानिसम्बन्धः, तस्मात्पृथञ्च समवाय इति । तदेतन्न विप-क्षिन्नेनश्चमकारकारणम् । यतोऽप्रापि जातिरुद्भवतो केन नि-रुद्धेन । व्यक्तेरन्तर्द्वन्द्वे च । न । तत्तद्व्येदककज्ञासत्तद्वेदो-पपको व्यक्तभेदकज्ञानाया दुर्निवारत्वात् । अन्वयो हि घटमम-वायोऽऽप्यञ्च पटममवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्त-भेद इति; निसिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भवः । तस्माद्व्यप्रापि मुख्य एव समवायः, इहप्रत्ययस्योत्पत्त्यन्वयमिवासात् । यदाह-

“ अत्रनिचारां मुख्योऽधिकलोऽसाधारणोऽनरुद्धश्च । विपर्ययो गौणोऽर्थः, सति मुख्ये धाः कथं गीत् ? ” ॥

तस्माद्धर्मधर्मिणोः सम्बन्धेन मुख्यः समवायः, समवाये च समवायव्यामित्यन्वये गौण इत्ययं भेदो नास्तीत्यर्थः । किञ्च-योऽयमिह तन्तुपु पट इत्यादिप्रत्ययात्ममवायसाधनम-नारद्यः, स श्ववस्तुहरते नपुंसकत्वात्प्रसवमनोरथम् । इह तन्तुपु पट इत्यादर्थेवहारस्याऽलौकिकत्वात्प्राञ्जलपादानाम-पि इह पटे तन्व इत्येवं प्रतीतिद्वन्द्वान्त इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात् ।

अथ सत्तानिरसनम्—

अविशेषेण सत्त्वृत्तिवैध्याय संबन्धार्थेषु छव्यादिविषय विभु-सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादिप्रत्ये, इति महतीयं पथतोहरता । यतः परिज्ञान्यतां सत्तावाद्भव्य शब्दायः । अस्तीति सत्, सतो भावः सत्ता, अस्तिवत् तदस्त्वरूपं नि-विशेषमशेषव्यपि पदाद्येषु त्वयाऽऽनुकम् । ताकिमिदमज्ञेज-तीयम-यद्रूप्यादिप्रत्ये एव सत्तायोगो नेतरत् इति । अतुञ्ज-प्रत्ययाऽऽभावान सामान्यादिप्रत्ये सत्तायोग इति चेत् । न । त-चान्यनुसृष्टिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात् । पृथिवीयोगत्वघटत्यादि-सामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति । वृशेषेध्यापि बहुत्व्याद्यमपि विशेषोऽर्थमपि विशेष इति । समवाये च प्रत्युकुक्त्या तत्तद्व-च्छेदकभेदादिकाकारप्रतीतेरनुभवात् । स्वरूपसत्त्वसाधनं सत्ताऽऽप्यारोपायसाध्यादिव्यापि स्वसृष्टियुक्तम् इति चेत्तद्वि-भिध्याप्रत्ययोऽयमपद्यते । अयं निश्चयसाधनकानुगमो मिथ्ये-ति चेत्साध्यादिव्यापि सत्ताऽप्यारोपकृतं पदास्तु प्रत्ययानुगमः । अ-सति मुखेऽप्यारोपस्यासंनयात्, छव्यादिषु मुख्योऽयमनुगमः प्रत्ययः, सामान्यादिषु तु गौण इति चेत् । न । पृथिवीप्रत्ययापि शक्यकरनभवात् । सामान्यादिषु वाचकसंभवात् मुखेषुऽऽनुगतः प्रत्ययो, छव्यादिषु तु नृपदाभावान्मुख इति चेद्, ननु किमिदं बाध-कम् ? अथ सामान्येऽपि सत्ताऽऽनुपगमोऽनवस्था, विशेषेषु पुनः साम-न्यसङ्गापेक्षकपदातिःसमवय, येऽपि सत्ताकल्पने तद्वृत्त्यर्थे सत्त्व-यान्तराभावे इति बाधकर्माति चेत् । न । सामान्येऽपि सत्ताकरनेन यद्यनवस्था, तद्वि कथं न सा छव्यादिषु ? । तेषा-मपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुनः स-त्ताऽऽनुपगमोऽपि न स्वरूपहाभिः । स्वरूपस्य प्रस्तुतोत्तज्जाताः । निःसामान्यस्य विशेषस्य कालेऽनुपगुणलभ्यात् । समवायेऽपि समवायात्तल्लभ्यायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपत्तये पदा-विषयगतानामकः सम्बन्धः, अन्वया नश्य स्वकृपाऽऽवधसङ्गः इति बाधकानामेकमपि द्रव्यादिवन्मुख एव सत्तासम्बन्धः; इति व्यर्थं द्रव्यगुणधर्मस्त्वेव सत्ताकल्पनम् । किञ्च-नेवादि-ज्ञियां छव्यादिप्रत्ये मुख्यः सत्तासम्बन्धः कर्ताकृतः, साऽपि वि-चायेमागो विशीयेत । तर्थाह-यदं छव्यादिव्योऽप्यन्तवत्त-कृता सत्ता, तदं छव्यादीन्सत्ताप्रायेव स्युः । सत्तायोगात्स-त्त्वमस्येवेति चेत् । अस्ततो सत्तायोऽपि कुतः सत्त्वम् ?, सतां तु निष्कलः सत्तायोगः । स्वरूपसत्यं ज्ञानानामस्येवेति चेत्-तद्वि किं शिखरिताना सत्तायोगेन । सत्तायोगात्प्राग् भावो न स-त्, नःपसत्; सत्तायोगात् सतांति चेत्सात्त्वामेतत् । सदस-त्त्वल्लभ्यस्य प्रकाशान्तरस्यासंभवात् । तस्मात् सतामपि स्यात्कालेव ससेति तेषां वचनं विदुषां परिपादि कथमिव नो-पदासाय जायते ।

अपीहस्य स्वरूपनिवेचनपुरस्सरं निरसनम्—

अपीहस्यं च स्वाकारविपरीताकारान्मूलकत्वेनावसेयम् । अपो-हानं स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेयगोह इति व्युत्पत्तेः । तत्त्वन्तस्व न किञ्चिद्वाच्यं वाचक वा विचर, शब्दाधेयता कथि-ने बुद्धिमान्निष्कामान्ययोदे कार्यकारणतावस्यैव वाच्यवाच-कतया व्यवस्थापितत्वात् ।

ननु कांश्यम् अपोहो नाम ?, किमिदम् अयसा-दपोहानं, असत्ता अन्वयोऽप्योहानं, अस्तिव वा अन्यद्-पोहान इति व्युत्पत्त्या विज्ञातिव्यापुचं बाह्यमेव विवाङ्कितं, बु-

द्व्याकारो वा, यदि वा अघोऽनमपोह इति श्रव्यव्याजुक्तिसाम्रथ, इति त्रयः पक्षाः । न ताद्यद्विदमी पक्षा, अघोह्वासा विधेयं विधिङ्गित्वात् । अन्तिमोऽप्यसङ्गतः, प्रतीतिङ्गित्वात् । तथापि-पक्षतोद्देशे चिह्नरस्तीति शाब्दं । प्रतीतिङ्गित्वात्पक्षेऽपि चिह्नत्वन्ती लक्षणे, नामाङ्गमे प्रथतीति निबुद्धिसामान्यमुक्तवन्ती । यच्च प्रत्यक्षवाचितं न तत्र साधनान्तरावकाश इत्यतिप्रसिद्धम् ।

अथ यद्यपि निबुद्धिर्द्वै प्रथमीति न विकल्पः तथापि निबुद्धपदाप्यौल्लेख एव निबुद्ध्युल्लेखः । न ह्यनन्तरजावितविशेषणप्रतीतिविशिष्टप्रतीतिः । ततो यथा सामान्यमहं प्रथमीति विकल्पानामेवऽपि साधारणाकारपरिस्फुरणात् विकल्पबुद्धिः सामान्यबुद्धिः परेषाम्, तथा निबुद्धप्रत्ययादिना निबुद्धिबुद्धिरपोहप्रतीतिव्यवहारमातनोतीति चेत् । ननु साधारणाकारपरिस्फुरणे विधिरूपतया यदि सामान्यधोऽवस्थाः तत् किमायात्मस्फुटत्वाभावात् चेत् । न निबुद्धिसमीप्यवस्थाः । ततो निबुद्धिर्द्वै प्रथमस्थेवमाकारामेवऽपि निबुद्ध्याकारस्फुरणं यदि स्यात्, को नाम निबुद्धिसमीप्यवस्थामिदमप्येत् । अन्यथा सति प्रतिज्ञासं तत्प्रतीतिव्यवहारेतिरिति मयाकारेऽपि चेत् । स तुरगबोध इत्येत् ।

अथ विशेषणतया अनर्था निबुद्धिप्रतीतिरित्युक्तं, तथापि यद्यथापोह इतीदृशाकारो विकल्पस्फुटा विशेषणतया तदुत्प्रयसो भवतु, किन्तु गौरिति प्रतीतिः । तथा च सतोऽपि निबुद्धिसिद्धयस्य विद्यायस्य तत्रानुक्लान्तः, कथं तत्प्रतीतिव्यवस्था । अथैवं मतिः-पश्चिधिरूपं स्फुरितं तस्य परापोहोऽप्यस्तीति तत्प्रतीतिरुच्यते, तथापि सन्ततप्रथमापोहस्य विधिरैव साक्षात्प्रतीतिः । अपि चैवमप्यवस्थायापोहविषयत्वमनिवार्यम् । विशेषतो विकल्पादिकस्यावस्थापौल्लेखान्तोऽसिद्धा-यथावृत्तमीहमाणस्य तस्माद्विद्याकारावप्रद्वेषलक्ष्यविकल्परस्यापि विधिविषयत्वमेव नत्थापोहविषयत्वमिति कथमपोहः दग्धाधो बुध्यते ? ।

अत्रात्रिधीये-

मास्मान्निरपोहशब्देन विधिरैव केषलोऽभिप्रेतः, नाप्यन्यव्यापृत्तात्रम्, नित्यव्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः । तदप्यत्र न प्रथमरूपक्षोपनिवादिशेषावकाशः । यत्तु गोः प्रतीतिः न तद्वामा परामाति सामर्थ्यादपोहः पराकक्षोचोऽप्येव इति विधिवादिनां मतम् । अत्र्यापोहप्रतीतिः वा सामर्थ्यात् अत्र्यापोहोऽवधार्यते इति प्रतिषेधवादिनां मतम् । तदनुत्तरम् । प्राथमिकस्यापि प्रतिषेधकमादशनात् । न हि विधिं प्रतिषेध कश्चिद्धर्थापलितः पश्चाद्गोऽनमवगच्छेत्, अपोहं वा प्रतिषेधान्यापोहस्य, तस्माद् गोः प्रतिषेधिरिति श्रव्यापोहप्रतिषेधरुच्यते । यद्यपि आःयापोहशब्दाजुल्लेख उक्तः । तथापि नाप्रतिषेधिरैव विशेषणभूतस्याःयापोहस्य, अत्र्यापोह एव गोशब्दस्य निबन्धोऽस्ति । यथा नीलापलते निबन्धनादिन्द्विरशब्दान्नीलापलप्रतीतिं तस्मात् एव नीतिमस्फुरणमनिवार्यम्, तथा गोशब्दादपि अत्र्यापोहो विधेःशानात् गोऽप्रतीतिं तुल्यकारमेव विशेषणत्वात् अगोऽगोहस्फुरणमनिवार्यम् । यथा प्रत्यक्षस्य प्रसङ्गाकारमात्रमद्वेषणमात्रविकल्पादपोहानशक्तिरेव, तथा विधिरिक्तवानामपि तत्रतुल्यानुष्ठानानाशक्तिरेवानामवग्रहणमनिधीयते । पर्युदासकाराजयप्रदहं तु नियतस्वल्प-

संवेदनमुनयोरविशिष्टम्, अन्यथा यदि शब्दादर्थप्रतिपत्तिकामे कश्चितो न परापोहः कथमप्यविशिष्टाएण प्रवृत्तिः । ततो गां कश्चानिति चोद्देशाभ्याद्विधिं कर्त्तव्यता । यद्यथाचोद्देशाभ्याद्विधि-जातिमस्येव व्यक्तव्यः, विकल्पानां शब्दानां च गोचरः, तासां च तद्वतीनां रूपमसञ्जातीयपरतुल्याभिव्यक्तस्वद्वयानेन गां कश्चानेति चोदितोऽदृशादेशश्च ज्ञानाति । तदप्यन्येव निरस्तस्ययतो जातेरधिकार्याः प्रपूःपेऽपि व्यङ्ग्यानां रूपमसञ्जातान्यव्यापृत्तमेव चेत्, तदा तैवैव रूपेण शब्दावकत्वाद्योऽपि बोधोभवत्तानां कथमतद्वावृत्तिपरिहारः । अथ न विज्ञातोऽप्यव्यापृत्त व्यक्तिकेप, तथाप्रतीतिं वा तदा जातिप्रसाद एव इति कथमर्थतोऽपि तदवगतिरित्युक्तप्रथम् । अथ जातिव्यवहारभावतोऽप्यव्यापृत्तः भवतु जातिव्यवहार स्वैतुपरवरावलाद्वाऽप्यव्यापृत्तम् । उनयथाऽपि व्यापृत्तप्रतिषेधोऽप्यव्यापृत्तप्रतिपत्तिरस्येव । न चागोऽपोहो गोशब्दसंस्कृतवाच्यव्यापृत्तव्यवहारः । सामान्ये तद्वृत्ति वा सङ्गतेऽपि तद्व्यापृत्तव्यवहारः । न हि सामान्ये नाम सामान्यमाश्रयमिदमत्र, तत्रेऽपि गोशब्दसङ्गतेऽपि प्रसङ्गात् ; किन्तु गोत्वमत्र, तावत्वा च स एव द्वेषः, मयापरिहारो गोव्यवसायान्यापरिहानात् । गोत्वसामान्यापरिहारे गोशब्दावस्थापरिहानात् । तस्मात् एकपरिहारदेशेनपूर्वको यः सर्वव्यापृत्तसाधारण इव वहिरुच्यते न विकल्पबुद्ध्याकारः, तत्रायं गौरितिः सङ्गतेऽपि नन्तरैताराश्रयदोषः । अत्रिमते च गोशब्दप्रवृत्तावगोशब्देन दोषस्याप्यनुष्ठानमुचितमत्र । न चाःयापोहस्यापोहार्थोऽपि, विशेष्यविशेषणसतिथेः, परस्परव्यवच्छेदाभावात्, सामानाधिकरण्यासङ्गात्वात्, भूतलक्षणाभावत्वात् । स्वाज्ञात्वेन हि विरोधो, न पराभावेनेत्यालक्षप्रसिद्धम् । एष पर्याः अत्रमुपतृप्तं इत्यथाव्यापोहो गम्यत एव । अत्रानुष्ठानान्तरावस्था एव एव । शुभप्रत्यगीकारनिश्चयान्तरावस्था अत्रमेव । अत्रपर्यापोहश्चेदाभावा-नुपतिष्ठत एव, सांभृतादिव्यवच्छेदेन पर्या एवेति प्रतिषेधव्यवच्छेदस्य लोभमायात् । नस्माद्पोहार्थेऽपि विधिरूपस्य शब्दादवगतिः ; पुनरुक्ताशब्दादिव श्रैभानप्रतिविशिष्टस्य एषाम् यद्येवं विधिरैव शब्दाद्यो वक्तुम्विद्यः कथमपोहो गीयत इति चेत् ? , उक्तमत्रपोहशब्दान्यापोहविशिष्टो विधिरुच्यते ; तत्र विधोः प्रतीयमाने विशेषणतया तुल्यकारमत्यापोहप्रतीतिरिति । न चैव प्रत्यक्षव्याप्यपोहविषयव्यवस्था कर्तुमुचिता, तस्य शब्दप्रत्ययस्यैव वस्तुविषयत्वे विद्यात्वाभावात् । विधिङ्गते च यथाऽप्यवसायमत्रपुनरुत्पत्तात्तु बाह्योऽप्योऽभिमतः यथा प्रतिज्ञासं बुद्ध्याकारश्च तत्र बाह्योऽप्योऽप्यवसायार्थेव शब्दावस्थाव्यवस्थाप्यते, न स्वस्वकारपरिस्फुर्यां, प्रत्यक्षवदशकलावस्थाधिनियतप्रत्यक्षरत्नलक्षणस्फुरणात् । यच्चात्रम्-

" शब्देनाभ्यापृत्तकथय, बुद्धयप्रतिज्ञासनात् ।
अयं स्य दृष्टविद्यति ।

इत्थिवशब्दस्वभावापोहार्थेऽपि एकस्यैव प्रतिज्ञासम्बद्ध इति चेत् ? । अत्रायुक्तम्-

" जातो नामाश्रयोऽन्यायः, चेत्साऽन्तस्य घञ्जनुः ।
एकस्यैव कुतो रूपं, भिन्नाकाराव्यापत्तिं तत् ? " ॥ १ ॥

न हि स्पर्शास्पृष्टे द्वे द्वे परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुनः स्तः, यत एकैरेन्द्रियवृत्तौ प्रतिभास्यते । न विकल्पे, तथामपि वस्तुन एव नदप्राप्तः । न हि स्वरूपभेदादपोह वस्तुभेदः । न च प्रतिज्ञास-

भेदाद्परस्परकथनेः, प्रत्यया क्लेशैः कथमेकमेव वस्तु स्यात् । दुरा-
सन्नदेः शक्तिर्नोः पुरुषयोः एकस्य शक्तिनि स्वरूपस्वप्नप्रतिभासमे-
दोऽपि न शास्त्रिभूत इति चेत्, न भूयः प्रतिभासभेदो निश्चयस्तुनि-
यतः, किन्तु एकविषयत्वाभावादेव इति । ततो यथायोः कथा-
भेदाद्विषयैः प्रतिभासनेः तत्र वस्तुभेदः घटयत । अन्वय-
पुनर्विषयैरेकविषयतां परिहरतोत्येकप्रतिभासः स्यात् ।

एतेन यथाह वाचस्पतिः-न च शब्दप्रत्यययोरेकानुगोचरत्वे
प्रत्ययाभेदः, कारणजनेन पारोक्ष्यापारोक्ष्यभेदापपत्तेरिति । तयो-
पयोगि । परोक्ष्यप्रत्यय वस्तुगोचरत्वास्मर्थेनात् । परोक्तोऽपि
अयस्तु कारणभेद इन्द्रियगोचरग्रहणविरहेणैव कृतार्थः । तत्र
शब्दे प्रत्यये स्वस्वरूपं परिरक्षति । किञ्च-स्वस्वरूपतामिव घटन्ति
वाच्ये सर्वोत्तमा प्रतिपत्तः विधिनिषधयोर्व्योमः । तस्य हि
सञ्ज्ञादेऽस्मैति व्यर्थं, नास्ति इत्यसमर्थं, असञ्ज्ञाये नास्तीति
व्यर्थं, अस्ति इत्यसमर्थं । अस्ति चास्त्यधिप्रत्ययानि । तस्मात्
शब्दप्रतिपास्यत्वाद्वाह्याभेदाभावासाधारण्यं न तद्विषयतां
कृतेन । यथा वाचस्पतिना जानिमिदं ज्ञानित्वाक्यतां स्वाभावैव
प्रस्तुत्याऽनन्तरमेव न च शब्दाभेदं ज्ञानिनोऽजायवत्साधारण्यं
नोपपद्यते, स हि स्वकृतो नित्योऽपि देशकालविषयिणीकव्य-
नन्वाध्यतया ज्ञायाभावसाधारण्यनिवृत्तिरिति चेत्-संभेदयो-
ः । वर्तमानव्यक्तिसम्बन्धिता हि ज्ञानव्यभिक्ता; अतीतानायाद-
व्यक्तिसम्बन्धिता च नास्तिनेति सदिभ्यव्यतिरेकित्यादौ नैकान्त-
कं भावाभावसाधारण्यमवधार्यासत् चेति विलिपितम्, तावन्न
प्रकृतकृतिः, जानी भवेत् न्यस्तया स्वलक्षणवाच्यत्वस्य स्वयं
व्येकारित् । किञ्च-सर्वत्र प्रत्ययस्य स्वलक्षणव्येकारित्वान्वा-
दिकं चिन्त्यते । ज्ञातेस्तु वर्तमानादौ व्यक्तिसम्बन्धेऽस्तित्यादि-
कमिति तु बालप्रतारणम् । एवं जातिमद्भाविष्यत्वेऽपि दौषः
व्येकैः शब्दं प्रतीतिसिद्धिः, जातिरेचिका प्रतीयताम्; मा वा, न तु
व्येकप्रतीतिदोषान्मुक्तिः ।

एतेन यदुच्यते कौमारिदि-समागत्यादेव वस्तुनो न सा-
धारण्यदोषः । वृत्तुषं ज्ञानिधारितनाजानां शब्दाद्व्यग-
मने । तयोऽनन्तरं तु शब्दात्प्राग्वचनेन संभध्यत इति ।
तदप्यसङ्गमम् । सामान्यस्य नित्यस्य प्रतिपत्ताविधिधारितजा-
याभावत्वयोर्मात् । यथेदं न च प्रत्ययस्यैव शब्दानाम् अर्थ-
प्रयायनप्रकारोऽयं न तद्वद् इवास्योदिशब्दविषयः न स्यात्, वि-
निश्चयशक्त्यात् प्रमाणानामिति । तदर्थमिन्द्रियकशास्त्रप्रतिपास-
योरेकस्वरूपप्राप्तये निश्चयमासदुष्येण कृतेतम्, विनिश्चयशक्ति-
रेव च प्रमाणानां साक्षात्कारोपपत्त्याऽप्याप्यं चरितार्थम् ।
ततो यदि प्रत्ययज्ञापनप्रादानं शाब्देन तद्वद्वयावभासः स्यात्,
अनन्तरं न तद्विषयवर्णनं कृतेन । ननु वृत्तुषाद्येन वृत्तुषादेशे
चोदिने सत्त्वाद्यंशतिश्रयनार्थमस्यादिव्यप्रयोग इति चेत् ?, नि-
रन्वयेन प्रत्ययसमन्वितगतस्य स्वलक्षणस्य चोऽवकाशः पदान्त-
रेण; धर्मनिर्दिष्टिर्वात्तयोर्धोः प्राण.न्तरं तु वा । प्रत्ययेऽपि प्रमा-
णान्तरापेक्षा ह्येति चेत् ?, भवतु तस्यानिश्चयतामन्वात् अनभ्य-
स्तस्वरूपविषय, विकारस्तु स्वयं निश्चयात्मको यत्र प्राहो तत्र
किमपरेण ?, अस्ति च शब्दसिद्धान्तरापेक्षा, ततो न वस्तुस्वरु-
पभेदः ननु भिन्ना ज्ञात्यायोर्धोः प्राणः परस्परं धर्मिणश्चेति ज्ञाति-
लक्षणैकधर्मद्वारेण प्रतीतेऽपि शास्त्रिणि धर्मान्तरवचनानां प्र-
तीतिरिति किञ्च निश्चयिध्यानाधो नो धर्मान्तरस्य नीलजलो-
च्चैस्तत्त्वादेरवधयोः तदंतदसङ्गतम् । अत्राद्यतामनः स्वस्वरूप-
स्य प्रत्ययज्ञे प्रतिभासता । इत्यस्यार्थं धर्मधर्मभेदस्य प्रायःकृप-

निश्चितत्वात्, अन्यथा सर्वं सर्वत्र स्यादिति प्रतिप्रसङ्गः । काव्य-
निकेन्द्राध्ययस्तु धर्मधर्मिण्येवहर इति प्रमाचितं शाब्दे; अथ-
तु वा पारमार्थिको धर्मधर्मभेदः, तथाऽप्यनयोः समवायादे-
द्वैतित्वाद्गुणकारणत्वं गुणव प्रत्यासत्तिरिति तथा । एवं च यथे-
न्द्रियप्रत्यासत्त्या प्रत्ययै धर्मिण्येव प्रतीतौ सकलतुष्टधर्मप्रतिप-
त्तेः । तथा शब्दात्तु ज्ञापयति; चावकाशवादि संभवप्रति-
रूपानां धर्मिण्येव प्रतीतौ निरवयवतद्वर्धप्रतिपासमेवैव, प्रत्यास-
त्तिमात्रस्याविशेषता । यच्च वाचस्पतिः-न चैकोपाधिना सत्ये
विशिष्टे तस्मिन् गृह्णते, उपाध्वन्तरविशिष्टतुष्टद्वयः । स्वभावे
हि प्रत्यस्य उपाधिविनिश्चयः; न तु उपाधयो वा, विभोध्यते वा,
तस्य स्वनाथ इति । तदपि पश्यत एव । न ह्यभेदादुपाध्वन्तर-
हणत्वमासिद्धं तत्र । भदं पुरस्कृत्यैवोपकारकग्रहणे उपपत्त्येव
प्रसङ्गनात् । न चानिधुमयोः कार्यकारणभाव एव, स्वभावात्
एवं धर्मधर्मिणोः प्रतिनियमकल्पनयोग्यत्वम् । तदपि प्रमाणसि-
द्धत्वात् । प्रमाणसिद्धे च स्वभावोपपत्तेरिति न्यायः । यथाच
न्यायप्रमाणेन सूर्यादिग्रहेण तदुपकार्यादिष्वस्तु साशुग्रहणस्य
सङ्गममुक्तम् । तर्जाम्नायानुगाहनफलम् । तथाहि-व्यवसते धर्म-
धर्मोर्धर्मः, उपकारलक्षणं च प्रत्यस्यैः तदोपकारकप्र-
हणं समानदेशस्यैव धर्मरूपस्यैव चोपकारस्य ग्रहणमासि-
द्धं, तत् कथं सूर्योपकारस्य निकेन्द्रेशस्य ह्यव्यान्तरस्य वा ह्य-
व्यान्तकारस्य ग्रहणप्रसङ्गः सङ्गः । तस्मादेकधर्मद्वारेणाऽपि व-
स्तुस्वरूपप्रतिपत्तौ सर्वान्तरप्रतीतेः, क शब्दान्तेण विधिनिष-
धवाकशाः प्राप्तं च, तस्मात् स्वस्वरूपस्य शब्दविकल्पसिद्धि-
निर्भासत्वमिति सिध्यतम् । नापि सामान्यं शाब्दप्रत्ययप्रतिभा-
सि । सतिः पारो गावधरन्तानि गोविधरन्तानि सास्त्र्युक्त-
त्वात्कृताद्योऽन्तराकारपरिकरिताः सजातीयभेदापपत्तौनात्
संविषेऽन्यथायाः प्रतिपासतां । न च तदेव सामान्यम् । घर्णाकृ-
त्येकारणशब्दं गारं हि करयते । तदेव च सास्त्रागृह्णा-
दिमात्रसिद्धेऽपि काव्यव्यत्यन्तविलक्षणमिति स्वस्वरूपेणैकः । कथमा-
णं सामान्यमित्युच्यते; नाहशस्य बाह्यत्वात्प्रतीतिरेवैवास्ती-
कशप्रतिपासयत् । तस्मात्सावनाशब्दोऽरेव तद्वामाना विषयो-
ऽयमस्तु, असदेव वा तद्वं क्यातु, इत्यथ एव वा सजातीयेन्द्र-
निरस्काराण्यथा भासन्तम्, अनुपाधव्यवधानात् । स्मृतिप्र-
मोषो वाऽनिधिं यताम्, सर्वथा निविषयः अक्षयं सामान्यप्रत्ययः,
कृतामन्यशर्तो ? । तदुच्यते । यतः पूर्वोपि इदं दर्शनस्मरण-
सिद्धिकारणान्तरिकप्रमाणानां विशेषप्रत्ययजनिका सामर्थं निविष-
यं सामान्यविकारमुपादयति; तदेवं न शाब्दप्रत्यये जातिः प्रति-
भाति, नापि प्रत्ययः, न वातुमाननेऽपि सिद्धिः; अद्वयत्येव प्रति-
बद्धसिद्धदर्शनात् । नापि इन्द्रियवृत्तस्यैः सिद्धिः, यतः कार्यतः कार-
कस्यैव निमित्तान्तरस्य सिद्धेः यदाऽपि पिपिज्ञान्तरेऽन्तराज्ञे
वा गोबुद्धेरनाथं दर्शयत; तदा शाब्देऽप्यादिसकशासोपिपिज्ञाना-
मेवाभावाद्भाषो गोबुद्धेरुपपत्तयानः कथमर्थान्तरमाक्षेपेत् ?;
गोभ्यादेव गोपिपिहः; अन्यथा तुरगोऽपि गोपिपिहः स्यात् । यथा-
वं गोपिपिहस्यैव गोत्वमर्थथा तुरगत्वमपि गोत्वं स्यात्, तस्मात्
कारणपरम्परान एव गोपिपिहो, गोत्वं तु भवतु मा वा । ननु
नामान्याय एतन्नसामर्थ्यं यथैकस्मात् पिपिहऽनिमित्तम्; तदा
विजातो यदाऽपि पिपिहान्तरमसमर्थं । अथ भिन्नं, नदां तद्वं
सामान्यं, नास्ति चं विवाद् इति चेत् ?, अस्मिन्नेव सा शक्तिः प्र-

नियस्तु; यथा त्येकः वाक्यव्यभाषो भावः तथा श्रव्याऽपि नवम् कविशयो वीरभावइति । यथा जयन्ती जतिरेकाऽपि समानध्व- निरसस्वरानुसृत्याऽपि स्वकण्ठेणैव जायन्स्वरनिर्घोषा, तथाऽ- स्माकं व्यक्तित्वापि जातिनिरेकेषा स्वकण्ठेणैव निष्ठा इत्युः ।

यत्तु जिलाब्जानः-अभ्यन्तरोत्पत्त्यादीनां सामान्यविशेषाणां स्वाध- ये समवायः सामान्यम्; सामान्यमित्यभिधानप्रत्यययोर्निमित्त- सिद्धिः । यद्येवं व्यक्तित्वप्रत्ययैव तथापि भाषान्तरनिर्घोषेण तस्मिन् किं सामान्यस्वीकारप्रमादेन ? । न च समवायः सम्भवः ॥

“ इहेति बुद्धेः समवायसिद्धि-रिहेति धीश्च द्वयदशो न स्यात् । न च क्वचित्साध्यैव त्वयज्ञा, स्वकल्पनाभावप्रतप्तोऽप्युपायः ॥ १ ॥ ”
 एतेन येन प्रत्ययानुवृत्तवृत्तवस्तुनुरावर्तिनां कथमभ्य- न्तर्भेदिनीषु व्यक्तित्वं व्यावृत्तव्यवप्रत्ययभावायानुपगतिनोषु भवि- तुमर्हति । न्यूनाद्यप्रत्ययसामान्यं प्रत्याख्यातम् । जातिध्वेषपरस्परव्या- वृत्ततया व्यक्तीयमानास्वनुवृत्तव्यवप्रत्ययेन व्यभिचारः । यत् पु- नरनेन विषयेयं वाक्यमुक्तम्, अन्यान्यप्रत्ययानुवृत्तिः कुनाब्धि- शिवृत्त्यं कथञ्चिदेव जयन्ती निर्मितयन्ती न चाप्यभिहितमभ्यापि- ति । तत्र सत्यम् । अनुवृत्तमन्तरेणपि अतिधानप्रत्ययानुवृत्त- रत्तुपर्याप्तसकृत्परिदोषात् अवश्यं स्वीकारस्य साधि- तत्वात् । तस्मात्

“ तुद्वेनेदे यथा जातिः, प्रत्यासत्या प्रसर्पति ।
 क्वचिन्नाम्यत्र संवास्त, शब्दज्ञाननिश्चयनम् ॥ १ ॥

यत् पुनरन्वयभूषणोक्तम्-नहोयं भवति यथा प्रत्यासत्या द- र्शयुष्मादिकं प्रसर्पति क्वचिन्नाम्यत्र नैव प्रत्यासतिः पुरुषस्फ- टिकाः । यद्युद्दिष्टत्वादिप्रत्ययवर्तमानिकल्पनमस्ति किं दृग्द- स्त्रादिर्भेदि । तद्वक्तव्यम् । दृग्प्रत्ययैर्हि पुरुषस्फटिकप्रत्या- सन्नयोर्दोषः । किन्तुसिद्धप्रत्ययत्वेनं नाप्युत्पत्तेः । सामान्य- तु स्वैरपि न दृष्टम् । नद्यदादिं परिकल्पनीयं नदा वरं प्रत्यास- त्तिरेव सामान्यप्रत्ययहेतुः परिकल्पनयत्, किं शुभ्यं परिक- ल्पनेत्येवमिवापदिज्ञानात् ।

अधेदं जातिप्रसाधकमनुमानमभिधीयते-यद्विशिष्टज्ञानं त- द्विनेषुगुणप्रदगणान्तरोपक्रमम् । यथा दमिकज्ञानम् । विशिष्ट- ज्ञानं चेदं-गौरयमित्यर्थतः कार्यहेतुः; विशेषणानुभवकार्यं हि दृष्टान्ते विशिष्टशुद्धिः सिद्धतिः । अत्रानुयोगः विशिष्टशुद्धिनिर्वा- शेषगुणप्रदगणान्तरोपक्रमत्वं वा साध्यम्; विशेषणमात्रानुभव- मानन्तरोपक्रमत्वं वा ? । प्रथमपक्षे पक्षेयं प्रत्यक्षधाराध्याप- यधामानन्तरोपकारयति वस्तुमाहितुः प्रत्यक्षपरोभयप्रतिमा- सनात्तथात् विशिष्टशुद्धित्वं च सामान्यम् । हेतुर्नैकमितिकम् । जिनिशेषगुणप्रदगणमन्तरेणैव दर्शनात्, यथा स्वकल्पानु घटः । गोचरं सामान्यमित्यति वा । द्वितीयपक्षे तु सिद्धत्वाधर्मः स्वरूपवा- यं च इत्यादिषु च गोचरजातिमाहू पिशक इति परिक्लृप्तये श्रे- यस्तुपाश्रय विशेषणविशेषज्ञानप्रत्ययैश्चाद्गोचरव्यावृत्तानुभवमा- विन्वाह गौरयमित्येवहारस्य । तदेव न सामान्यशुद्धिः । वाच्यं च सामान्यगुणकर्मोपाधिचक्रस्य, कथञ्चन्यक्तिमाहं- क्तुप्रत्यक्षम् । दृष्टयानुसक्तत्वा वा प्रसिद्धः । तदेवं विधिरव शब्दायैः । न च बाह्योऽर्थो बुद्ध्याकारश्च विवक्षितः तत्र, न कु- प्याकारस्य तत्त्वतः संभूताया वा विधिनियेषो, स्वयन्तद्वन- रस्यकृत्प्रत्ययात्, अनन्वयवसायात् । नापि तत्त्वतो बाह्य- स्यापि विधिनियेषो, तस्य शब्दं प्रत्ययेऽप्रतिज्ञास्मात् । अत एव सर्वधर्माणां तत्त्वतोऽप्रतिज्ञात्वात्वं प्रतिभासाध्यवसाया-

ज्ञानात् तस्मात् बाह्यस्यैव सांभूतो विधिनियेषो । अन्यथा संव्यवहारानिमप्रसङ्गात् । तदेवं-

“माकारस्य न बाह्यस्य, तत्त्वतो विधिसाधनम् ।
 बद्विरेव हि संख्या, संख्याऽपि तु नाकृतोः ॥ १ ॥ ”

एतेन यद्वर्तते-आरोपितस्य बाह्यस्यैव विधिनियेषावि- ल्लोकि-कर्मनायमपत्तिकार्यं कथयति । तदुपस्थितम् । नन्वध्वव्यवसाये यद्यध्वव्यवसं वस्तु न स्फुरति तदा तदध्वव्याप्त- मिति कोऽर्थः ? , अत्रानिभासेऽपि प्रवृत्तिविषयोक्तमित्योऽर्थः । अत्रानिभासाविशेषं विषयात्परिहराणं कार्यं नियतविषया प्र- वृत्तिरिति चेत् ? , उच्यते-यद्यपि विश्वम्भृतीति तथापि विकल्प- स्य नियतमात्रप्रसूतयेन नियताकारतया नियतशक्तिव्यावृ- नित्या एव जज्ञादी प्रवृत्तिः । धूमस्य परीक्षाग्निज्ञानजननवत् ।

नियतविषया हि ज्ञायाः प्रमावपरेर्द्विगुणित्वमभावा न शक्ति- साधुवर्धनुंयुगमाज्ञात् । तस्मात्तदध्वव्यवसायित्वमाकारविशेष- योगात् तदध्ववृत्तजनकत्वम् । न च साहज्यादादौप्यप्रवृत्त- म्म, येनाकारं बाह्यस्य बाह्यं वा आकारस्यारोप्यहारेण दु- पणावकाराः, किं तादि स्वभावनाधिपाकवशात्तुजयमानेव बुद्धिरप्य-त्यपि बाह्यं बाह्ये वृत्तमानतोनाति स्थित्युत् । तदे- वमन्यामायविशिष्टो विज्ञानित्यावृत्तौऽर्थां विधिः । न एव चा- पोहृशब्दाव्ययः शब्दानामर्थः प्रवृत्तिनिवृत्तव्यवसंभवेति स्थितम् । अत्र प्रयोगः-—अद्य वाचकं तन्वयमध्वव्यवसाितानुद्वरायुत्तव- स्तुमात्रोच्यते; यद्येकं तन्वयं क्वमिति वचनम् । वाचकं चेदं यत्रदिशब्दकृपासिद्धिः स्वभावहेतुः । नायमसिद्धः, एतेन- न न्यथेन परामार्थिकताव्यवसायकतास्वाभावोऽपि अत्य- वसायकृतस्य संव्यवहारान्तरवश्यं स्वीकृतव्यव्यात् । अन्य- था स्वन्वयवदोषोऽस्तिप्रसङ्गात् । भासिपि चिकित्सा, सपक्षे ज्ञा- वात् । न चानैकानिकम्, तथाहि-शब्दानामध्वव्यवसाितान्यजा- नित्यावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वमनिवृत्तद्विः परेः परामार्थाः—

“ वाच्यं स्वलक्षणगुणाधिकार्यायोगाः,
 सोपाधिरन्तु यदं वा कृतान्स्तु बुद्धेः ।
 मयन्तराभावात् । अधिव्ययं च वाचकत्वायोगात् । तत्र-

“ आच्छन्धाने समयः फलशक्तितो-
 मध्येऽनुपाधांविहराह विनयेन युक्तः ॥ ”

तदेवं वाच्यान्तरस्याभावात् । विषयवत्त्वञ्चकृत्स्य दृषापकस्य निवृत्तौ विषय इतो निवर्तमान वाचकत्वमभ्यवसायितेषु बाह्यावि- षयत्वेन व्याप्यते इति व्याप्तिमिच्छः ।

“ शब्दैस्त्वानुसृत्यमाख्यातेऽध्वे,
 तत्रापादस्फुटान्वयेन गम्यः ।
 अर्थधेकोऽप्यासतो भासतोऽन्य,
 द्वाप्यो वाक्यस्वतन्वता नैव कश्चित् ॥ ”

अथापोहसिद्धिर्नैवाचार्यैरिति पराक्रियते-

“ अथ श्रीमदनकान्त-समुद्रोपपिपासितः ।
 अपोहमापिबाभि डाक्, वीजन्तानं मित्तवः क्षणम् ॥ १ ॥ ”

इह तावद्विकल्पानां तथाप्रतीतिपरिहृत्तविकल्पधर्मोपस्थासकय- ज्ञित्वादात्म्यावप्रमामान्यविशेषसकृत्प्रसङ्गात् । ननुपदं । कादि- । क्तान्तं प्राक् प्राकटयन् । ततस्तत्त्वतः शब्दानामापि तस्यासिद्धमे-

वा । यतोऽजलिप युष्मदधिः—“स एव शब्दानां विषयो वा विकल्पानाम्” इति कथमयोऽः शब्दार्थः स्यात् ? अन्तु वा, तथाऽप्यनुमानयत् किं न शब्दः प्रमाणमुच्यते । अपोद्घातस्त्वेऽपि, परस्परया पदार्थं प्रतिबन्धात् प्रमाणानुमानमिति चेत्, तत एव शब्दोऽपि प्रमाणमस्तु । अतीतानामाश्वरसरोजादिवस्त्वत्वापि शब्दोपलम्भान्नापार्थविबन्ध इति चेत्, तद्यो ब्रूयुः श्रुतिः, गिरिनदीवगोपलम्भान्, मार्था भररयुद्धयः, रेखायुद्धयान्, नास्ति राशत्रयुद्धम्, समप्रमाणानुपलम्भान्, इत्यादिपदार्थाभावेऽपि प्रवृत्तेऽनुमानेऽपि नार्थप्रतिबन्धः स्यात् । यदि वचोवाक्यापोद्घाऽपि पारस्पर्येण पदार्थप्रतिष्ठः स्यात्, नदानीमलान्ति न मञ्जन्तीत्यादिवपारकवाक्यापोद्घाऽपि तथा भवेदिति चेत्, अनुमेवापोद्घेऽपि तुल्यमेतत्, प्रमेयवादिहेत्वनुमेवापोद्घेऽपि पदार्थप्रतिष्ठताप्रसक्तः । प्रमेयत्वं हेतुत्वं न ज्ञाति, विपत्कस्तत्त्वप्रतिष्ठताभावादिति कस्यचा तदपोहस्य तर्कप्रतिवेत्तु, तर्हि विप्रनाकवाक्यकर्मव्यंगम एव न अस्ति, आमीकस्तत्त्वज्ञकृताज्ञातयादित्यादि समस्तं समाप्तम् । यस्तु नामोक्तं वचनं विवेचयितुं प्रकल्पमिति शाक्यो वक्ति, स पर्यनुयाय्य-किमास्थेय कस्याप्यज्ञातदेवमभिधीयते, भावेऽप्यस्य निश्चयाभावात्, निश्चयेऽपि सिद्धमिति कथ्यात्, यकन्तुऽप्यनाप्तवचनात्, तत्र चनो विवेकावधारणाभावाद्वा । सर्वमप्येतच्छार्वाकादिवाचां प्रपञ्चान्, मानानि नुपुत्रान्तुगुरुसुगतादिवचसां विशेषमिति प्रामाणैरप्रकटनीयेमेव । न च नास्ति विशेषस्वीकारः, तत्प-ठिमानुपलघटनामिमेव प्रवृत्तेर्निर्बन्धनत्वापत्तेः । अथानुमानिकेवाऽऽतशब्दादर्थप्रतीतिः; कथम् ?-

“पादयोर्विवेकावात्, पुरुषोऽयं प्रतीयेते ।
ब्रह्मन्द्रप्रयोक्युत्वात्, पूर्वोत्सत्त्वं यथा ॥ १ ॥”

इति विवक्तानुमाय, सत्या विवक्तृकम्, आत्मीयवृत्तत्वात्, महिषवृत्तादिति वस्तुनो निर्णयोदिति चेत् । तदन्तु पुरुषम् । अमूहशब्दव्यवस्था अनन्तरीकनशेषोक्तकपसमतिवृत्त कृतिनिवचनत्वात् । किञ्च-शास्त्रादिमति पदार्थं वृत्तशब्दसङ्केत सत्येन द्विवक्ताऽनुमानमातयेत, अन्यथा वा । न तावदप्यथा, कर्नाजत् कर्त्तु वृत्तशब्द संकल्प न दुष्कारणात्, उभयतस्तुशुक्रशास्त्रिकादिना गोप्रसन्नलवना चाप्यथाऽपि तत्रानिपत्तावच्छेद हेतोर्व्यभिचारापत्तेः । संकेतपक्षे तु येष्य तपस्वी शब्दरूद्रशब्दस्त्वेव वदेत्, तदा किं नाम वृत्त स्यात् । न खल्वेत्येऽप्योदिति । विशेषलाभ-धेः सति यदेवावधानानुपुयमाप, म्यर्थपरिहारा इति । यत्कथि-परमार्थेन सर्वतोऽप्यावृत्तस्वरूपेण स्वसङ्कोपेकारित्वेनेत्यादि । तद्वचयम् । यतोऽर्थस्य बाह्येहाहारेकत्वम्, अत्रिकल्पत्वं, समानत्व वा विवक्तिमतः । न तावदाद्यः पक्षः, परममुपशब्दो कृष्णकण्ठमारुद्रादिबाह्येऽर्थस्य जिह-निष्प्रस्येव संदर्शनात् । द्वितीयपक्षेऽपि सदृशपरिणामास्पद-त्वम्, अन्यथावृत्तधिष्ठितत्वं वा समानत्वं स्यात् ? न प्राचयः प्राचयः, सदृशपरिणामस्य सौम्यैरस्वीकृतत्वात् । न द्वितीयः, अन्यथावृत्तेरतास्त्वकथेन वाग्यर्थस्यैव स्थलकृतेऽधिष्ठाना-सम्बन्धात् । किञ्च-अप्यतः सामान्येन, विज्ञातीयाद्या व्यावृ-त्तिसंवादावृत्तिसंभेदः ? प्रथमपक्षे, न किञ्चिदसमानं स्यात्, सर्वेऽस्यापि सर्वतोऽप्यावृत्तत्वात् । द्वितीये तु विज्ञातीयत्वं वा-जिकुञ्जरादिकार्याणां बाह्यविज्ञातीयत्वे सिद्धे सति स्यात्, तच्चान्यथावृत्तिसंभवेऽपि विज्ञातीयत्वे सिद्धे सति, इति स्पष्टं

परस्पराश्वयमिति । एवं च कारुण्येयं, प्रत्ययमर्थक्यं च विकल्पस्य दृषणीयम् । अपि च—यदि बुद्धिप्रतिव्यवहारा शब्दा-र्थः स्यात्, तदा कथमर्थो बाह्येऽर्थे प्रवृत्तिः स्यात् ? स्वप्रतिज्ञा-स्तेऽनर्थेऽर्थव्यवसायवच्छेदः । नन्तु कोऽयमर्थव्यवसायो नाम ? अर्थसमारोप इति चेत्, तर्हि सोऽयमर्थव्यवहारनिमाणवक-योर्वैक तद्विकल्पव्यवभावे सत्येव समुत्पत्तमर्हति । न च सामारोपविकल्पस्य स्थलक्षणं कदाचन गचरतामञ्जति । यदि चानर्थेऽर्थसमारोपः स्यात्, तदा बाह्येहाहारेऽधिक्यादिभिः सुनरां प्रवृत्तिर्न स्यात् । न हि दाहापाकादर्थी समारोपितयाव-कत्वं माणवकं कदाचित्प्रवृत्ते । रजतरुपाऽवभासमानद्युकि-कायाभिः रजतार्थिनोऽप्यक्रियार्थिनो विकल्पाच्च प्रवृत्तिर-िति चेत् । आतिप्रसङ्गार्थं समारोपः, तथा च कथं ततः प्रवृत्तोऽर्थक्रियार्थी कृतार्थः स्यात् । यथा श्रुतिकार्यां प्रवृत्तो रजतार्थाऽक्रियार्थी । यद्यपि प्रोक्तम्—कार्यकारुण्यस्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितयादिति । तदप्ययुक्तम् । यतो यदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा भोत्रहाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवत्येव कार-णमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात् । यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम्, एवं परम्परया स्वलक्षणमपि, अनस्तद्वपि वाचकं भवे-दिति प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थानं प्रलयपक्षतिसमु-धावत् । ततः शब्दः सामान्यविशेषात्मकार्यावधार्यानिबन्धनम-वेति स्थितम् ॥

अथापौरुषेयत्वव्यापारः-

आगमस्यापौरुषेयत्वं ह्याह्वदमञ्जयाम् । स हि पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयो वा ? पौरुषेयश्चेत्तद्वैकृतस्नदितरकृतो वा ? । आद्यपत्ते युष्मन्नतव्याहतिः । तथा च भवति सङ्कान्तः-
“अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् च्छा न विद्यते ।
नित्येभ्यः वेदार्थापेभ्यो, यथार्थान्वितिक्षयः” ॥१॥
द्वितीयपक्षे तु तत्र दोषवत्कर्तृकवेनाऽनभावसाप्रसङ्गः । अ-पौरुषेयश्चेन्न संनयस्य, स्वकृपनिराकरणात्, तुल्यशुक्रव-त् । तथाहि—उत्तिर्बन्धनमुच्यते इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रू-पमस्य एतत्क्रियानावे कथं भवितुमर्हति । न चैतत् कवले क्वचित् ध्वनदुपलभ्यते, उपलब्धावप्यदृश्यवक्त्राशुकासम्भ-वात् । तस्माद्यद्वचनं तर्पौरुषेयमेव, वर्णोत्पत्कत्वात्, कुमारस-म्भवादिवचनवत् । वचनात्मकञ्च वेदः । तथा चाहुः-
“तावदादिजन्मा ननु वर्णवर्णां,
वर्णात्मकां वेद इति स्फुटं च ।
दुःसम्भ तावदादि ततः कथं स्या-
दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः ॥ १ ॥” इति ।
अन्येऽपौरुषेयवस्तुरीकृत्यापि तावद्भवन्नपि तदर्थव्याख्यानां पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते । अन्यथा अग्निहोत्रे जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यस्य स्वर्गाभं मनुष्येदिति किं नार्थो, नित्यात्मकान्नापत्तोऽनर-सुत्रमपि पौरुषमभ्युपगमत् । अस्तु वा अपौरुषेयस्तथापि तस्य न प्रायश्चित्तम्, आसुरपुरुषार्थानां हि धार्वां प्रमाणतिति । यत्तु कर्मस्मरणं साधनं तद्विशेषणं सविशेषणं वा भवत्येतत्, प्रा-क्तं तावद्युपगमकूपप्रासादात्प्राप्तमिहादिव्यभिचारि, तेषां क-र्मेस्मरणेऽपि पौरुषेयत्वात् । द्वितीयं तु सम्प्रदायाव्यवच्छेदे सति कर्तृस्मरणादिति व्यधिकारालासः; कर्तृस्मरणस्य भूते-रन्यत्राभवे पुंसि वक्ष्यमानात् । अथापौरुषेयी भूतिः, सम्प्र-

दायाव्यवच्छेदे सत्यस्मर्येमाणकृत्यादाकाशशक्तिवस्तुमान-
 रचनापामनवकाश्या व्युत्पन्नकाणामितिकः प्रेषम्, एवमपि विशेषणे
 सविशेषासिद्धतापत्तेः । तथा ह्यादिमतमपि प्रासादादीनां स-
 म्यदायां व्यवच्छिद्यमानं शिलोकायने, अनादेयस्तु भूतेरव्यवच्छे-
 दी संसदायाऽपि विद्या इति सूत्रकमुष्टिकश्चमन्वकार्यात् ।
 तथा च कथं न सविशेषासिक्तं विशेषणं विशेष्यमप्यभ्या-
 सिद्धं वादितिवादिभ्यां तत्र कर्तुः स्मरणात् । न तु भो-
 त्रियाः कुतो कर्तारं स्मरन्तीति सुभोषं भ्रात्रियापसदाः अ-
 रथमी इति चेन्न तु यथामनायापसादिस एतत्ततो । या वै
 वेदाश्च प्रहृष्टोताति प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्तत्त-
 यो वेदाः अन्वसृजन्तीति च । स्वयमेव स्वस्य कर्तारं स्मा-
 रन्ती कृतिं विभ्रुतामिव गणयन्तीं यथैव भ्रात्रियापसदाः
 क्विन् स्प्यात् । किं च-क कभभयतोऽनुनिःसिदिप्रवृत्तिमुनिना-
 प्राकृतिः काश्चन शाखास्तकृतत्वादेव मन्वादिस्मृत्यादिवृ-
 त्स्त्वानां तासां कल्पादी वैदैएत्वात्, प्रकाशितत्वाद्वा तथा-
 मन्वादिऽनादेः कालेऽप्यनुनिनामनाङ्कितं तासां स्प्यात् ।
 जैनाश्च काश्रासुरमेतर्कर्तारं स्मरन्ति । कर्तुविशेषविप्रतिपत्त-
 र्मास्यमेवैतस्मरणमिति चेत्, वैषम्यं । यतो यथैव विप्रतिपत्तिः
 तदेषामनामस्तु, न पुनः कर्तुमात्रस्मरणमपि ।

- “ वेदस्याप्ययनं सर्वै, गुर्वययनपुर्व्वकम् ।
- वेदाप्ययनवाच्यत्वात्-पुनाऽप्ययनं यथा ॥ १ ॥
- अतीतानामतौ काश्रो, वेदकारविवर्जितौ ।
- कालत्याप्यथा कालो, वसामानः समोक्तौ ॥ २ ॥

इति कारिकाकेवेदाप्ययनवाच्यत्वकालत्वेऽपि हेतुः कुत्रह-
 युक्त्युक्तं फलवृत्त्यानां चेत् इति वाक्याप्ययनं गुर्वययन-
 पुर्व्वकमेतद्वाक्याप्ययनवाच्यत्वात्पुनातनाप्ययनवदतीतानामा-
 ती काश्रो प्रकालवाक्यकारवर्जितौ काश्राव्याप्तमानकाश्रव-
 दिति वेदप्रयोजकत्वादान्तकणीयो सकर्णानाम् । अप्रार्थो-
 पसर्पकार्यत्वनिर्णयो वेदस्य । तथाहि-संवाद्यविनिर्वादाद्दो-
 नादशोनायां तावदेव निःशेषकुर्येः प्रामाथ्येन निर्णयो, तत्रि-
 ण्यश्चास्य पौरुषेयत्वं द्वारापः । यतः-

- “ शब्दे दोषोऽत्रवस्ताव-इच्छर्धनी इति स्थितिः ।
- तदभावः क्वाचिस्तावद्, गुणवद्भवकृतकत्वात् ॥ १ ॥
- तद्वगुणपरकृष्टानं, शब्दे सकाल्यसंज्ञत्वात् ।
- चेदे तु गुणवान् वक्त, निर्णेत्तु नेव शक्यते ॥ २ ॥
- ततश्च दोषान्नायोऽपि, निर्णेत्तु शक्यतं कथम् ।
- वक्त्रभाषे तु सुज्ञानो, दोषाभाषा विनाश्यते ॥ ३ ॥
- यस्माद्ब्रह्मकुर्यायेन, न स्युदोषा निराश्रयाः” ।

ततः प्रामाथ्यनिर्णयस्याऽनुपसर्पकार्यत्वेऽप्ययमिति ।
 अस्य तावदत्र कुणपशुपरम्परप्रामाथ्यव्यपरोषप्रमुखप्रचुरो-
 पदेशापविप्रवाद्ब्रह्मप्रमाणमेव इत्यनुसरोत्तरप्रकारः प्रामाथ्य-
 निर्णयोऽस्तस्य न साध्यासिद्धिर्विच्छेदात्, गुणवद्ब्रह्मतायामेव
 वाक्येषु प्रामाथ्यनिर्णयोपपत्तेः । पुरुषो हि यथा रागादिमात्र
 सूत्रवादी तथा सत्यशौचादिमात्रं बितथवचनः समुपलब्धः,
 कुतो तु तदुपजायते नैरधक्यमेव ज्ञेयं । कथं वक्तुगुणित्वनि-
 क्षयश्चादस्येति चेद-कथं पितृपुत्राभ्यामप्यतमाहदित्यसौ-
 तस्माद्यन तच्छतस्यस्माकृत्तन्मैः पापकुर्याददशस्य चानुसारेण
 प्राकृष्टेयनिषादादौ निःशङ्कः प्रवेद्यात्, क्वाचित् संवाद्यैवेत
 एवान्यथापि प्रतीहि कारीयादौ संवाद्देशानाम् । क्वाचित्

क्वचित् संवादस्तु सामर्थ्यविगुणयात् त्वयाऽपि प्रतीयत
 एवं प्रतीतामन्त्रोपदिष्टमन्त्रवत् । प्रतिपादितश्च प्राक्
 रागदोषान्नान्यस्यैवपुत्रविशेषणित्येयः किं चास्य व्याख्यानां
 तावतीत्येववापीत्येवत्वं भावना नियां गादिभिरुक्त्या-
 स्थानं नेत्राभासस्तद्वात्, तथा च का नामात्र विश्वेभ्यो भवेत्,
 कथं चेत्तद् ध्वनीनामर्थनिर्णीतलौकिकव्यस्तुसारेणति चेत्
 किं न पौरुषेयत्वंनिर्णीतरपि तयोऽप्येवार्थाप विचारान्यथा-
 स्वैच्छरनीयम् । न च लौकिकाध्यानुसारोवा मदीयाऽप्यः स्था-
 पनीय इति श्रुतिरेव स्वयं वाचि । न च जैमिण्यादावपि तथा
 कथयति प्रत्यय त्वयोर्येववचनसामर्थ्याऽप्यन्य एव काऽपि
 सामर्थ्येत्, पौरुषेयत्वाभ्यां स्लेच्छाद्यांवाचामकार्यं नास्ति किं
 पुनरपौरुषेयत्वात्, ततः परमकृपापुण्यत्वाविनाशःकरण
 काऽपि पुमाद् निर्देशः प्रसिद्धाद्यं ध्वनिभिः स्वाध्यायं विधाय
 व्याख्यातीदान्तिप्रत्ययकारवदिति युक्तं परमाम् । अर्वावाच्य
 च-” जन्वः जन्वुकुरेव प्रमाणमथ सेत्तद्वाद्यानिष्ठावत् ।
 क्वाचित्शब्दविदे न स्यादपि ततो ज्ञातोऽस्य मूल्यकार्यम्” इति
 भागमोऽपि नापीत्येवत्वमर्थव्यति । पौरुषेयत्वाव्यतिरिण
 एवास्तोकवद् सद्गनात्वात् । अपि चेतमानुपूर्वीं पिपीलिकार्वा-
 मित्र देशकृताङ्गपत्रकदलकाकादीनामिव कालकृता चावसा-
 नीं वेदे न संभवति, नेपां नित्यव्यापकत्वात्, कर्माणोऽप्यः ना
 संनवतीति चेत्तर्हि कथामयमपीत्येयो ज्ञेवदभिस्यतिकः, पौरुषे-
 यत्वादिति सिद्धा पौरुषेयो कृतिः ।

अयं जन्मकर्तृत्वविवर्जितः-
 यथावदुच्यते परैः-तित्यादयो बुद्धिमकर्तृकाः कार्यत्वात्
 घटवदिति । तदुक्तम् । व्यतिरहणानि । सात्तं हि सर्वत्र
 व्यतीति प्रमाणं सिद्धायो सष्वर्थं नमयीति सर्वेवाद्संवादाः ।
 स चायं जगति सूत्रज्ञः सशरीरोऽशरीरश्चा वा स्यात्” । मशरीरो-
 ऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशेष उत पिशाचादिवद् दृ-
 श्यशरीरविशेषः ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षभाष्यः । तत्प्रमरणाऽपि च
 जायमाने नृणतदुपान्द्रश्चन्द्रादौ कार्यस्वस्य दर्शान् प्रमेय-
 त्वादिकत्वाधारणानेकान्तिका हेतुः द्वितीयविकल्पेऽप्युपद्रव्य-
 शरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणमाहोस्वदस्मदाद्यष्ट-
 वेगुमुक्तः । प्रथमप्रकारः काशापातप्रत्यायनीयः । तस्मात् प्रमा-
 त्याभावात् इतरेतराभ्यदोषापत्तेश्च । सिद्धे हि माहात्म्याव-
 शेषे तस्याद्दृश्यशरीरत्वे प्रमेयत्वम्, तस्मिन्नाहो मशरीर-
 विशोपासिकिरिति । द्वैतीयोक्तस्तु प्रकारो न संभवत्येव विचार-
 गोचरैः संशयानिवृत्तः । किं तस्याऽस्त्वत्त्वाद्दृश्यशरीरत्वे, वा-
 न्येयादित्वात्, किं वाऽस्मादाद्यष्टवेगुमुपापिशाचादिवदिति नि-
 रन्वयाभावात् । अशरीरवन्नतदा दृष्टान्त्राद्यन्तिककार्यावेवप्यम् ।
 घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः । अशरीरेस्य च
 सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमाकाशादित्वात् । तस्मात्सहो-
 रीराशरीरत्वकृपे कृपेयऽपि कार्यत्वंनोऽव्याप्त्यामादौः किञ्च-
 त्त्वमतेन कालात्स्यापिर्थाऽप्ययं हेतुः धर्म्येकदेशम्य तर्गावधु-
 द्भ्रदादिरेदानीमस्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन
 प्रायकृषाधितधर्म्यन्तरे हेतुनृणान् । तदेवं न कश्चिज्जगतः
 कर्ता । किञ्च-स ईश्वरः खतु नित्यब्रह्मेकत्वात् सन् । अत्यन्तसमो-
 खभावोऽतस्त्वज्ञावो वा ? प्रथमविधायार्त्वाजगत्कारणत्वविश-
 पिनोरमत्तं । तदुत्परमे तत्त्वज्ञानत्वात् । एवं च सर्वविधायया
 अपथ्येसाभावेकस्यापि कार्यस्य न स्पष्टिः घटो हि स्वारम्भक-
 शाशास्त्रप्य पितिसमात्तरुपत्यकृपां यथाश्चिन्मयनमाप्रियणं न



घटयत्प्रदेशमासात्प्रति । जलाहाराद्यर्थक्रियायामसाधकत्वम-
 वात् । अतस्त्वनाशयत्के तु न जातु जगन्ति सूत्रेणत्त्वज्ञानाद्यो-
 गात्प्रमनवत् । अथि च-नस्यैकान्तिनित्यस्वरूपत्वे सूत्रिवन्संहारो-
 ऽपि न घटते । नानाकपयार्थकरणादित्यन्वापत्तः । स हि यैवैव
 स्वानयेन जगन्ति सूत्रं तैवैव तानि संहरन्, स्वभावान्तरण वा ? ।
 तैवैव चसूत्रिदसंशयोर्गोप्यथाप्रसङ्गः, स्वानाभेदात् । एकस्य-
 भावात्कण्ठादेकत्वभावाद्यार्थात्पर्यायविरोधात् । स्वानाभेदान्तरण
 चेतिश्रयस्यहानिः । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतया । यथा
 पाथियशरीरस्याहारपनमाणुसदृकत्वस्य प्रत्यक्षपूर्वापूर्वाभादे-
 न स्वानुभेदादनित्यत्वम् । इदञ्च भवतां सूत्रदसंहारयोः शोभो
 स्वभावभेदः । रजोगुणामकतया सूष्टौ, तमोगुणामकतया सं-
 दरेण, साधिकतया च स्थितौ तस्य व्यापारस्वीकारात् । अथ
 चावस्थाभेदस्तद्भेदे चावस्थाभेदोऽपि चेन्नित्यत्वव्यक्तिः । अ-
 धास्तु नित्यः सस्वधापि कथं सततमेव सूष्टौ न चेष्टेन । इजा-
 दशशब्देषु तु न अपेक्ष्यः स्वस्वतामिन्नभिव्यक्त्यात्मलाभाः सद्दे-
 व किञ्च प्रवर्त्तयतीति स एवपालम्भः । तथा शम्भोरष्टगुणा-
 धिकरणत्वे कार्यभेदानुमेयानां तद्विज्ञानामपि विषयरूपत्वान्ना-
 त्यत्वहानिः केन वायते ? । किञ्च-प्रज्ञावर्तां प्रवृत्तिः स्वाधिकार-
 ग्वाभ्यां व्याप्ता । तन्नक्षत्रं जगत्सर्वं व्याप्रियते स्वाध्यात्काव्यप्ता-
 द्भे ? । नानास्वाध्यात्, तस्य कृतकत्वस्यात् । न च कारुण्यत्, परदु-
 खप्रहाणेरुक्ता हि कारुण्यम् । ततः प्राक्सर्गाज्जीवानामिन्द्रि-
 यशरीरवियथानुपपत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेरुक्ता कारुण्य-
 म् । सर्वेत्कारकत्वं तु दुःखनिःऽधलात्कारुण्यानुपपत्तौ क-
 रतरामिन्तराश्रयम् । कारुण्यसंक्षेपः सूष्टया च कारुण्येव
 इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्धयतीति संक्षेपः ।

अथ शब्दाकाशगुणत्वस्वरदनम्-

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः ।

पुञ्जलैर्भावावर्गणापरमाणुभिरारब्धः पौद्गलिकः । पौद्गलिकः
 शब्द इन्द्रियाथैवाद्वादिवात् । यथास्य पौद्गलिकत्वनिर्णयार्थ
 स्पशश्रव्याभ्रयत्वाद्दतिनिविष्टप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघाता-
 त्त्वं । नानात्वावयवानुपलभ्येः सूक्ष्ममूतैरुत्पान्ताप्रकरत्वात्प्र-
 नगुणत्वाच्चेति पञ्च हेतवो यैर्निरूपयस्तास्ते हेत्वाभासाः । तथा
 हि-शब्दप्रयोगस्याभ्रयो ज्ञावयवोऽपि, न पुनरकारोऽपि, तत्र च रूपमौ
 निर्णयितेन एव । यथा शब्दः श्रवणः रूश्रवणानुगतप्रतिघातोर्वि-
 प्रकृष्टनिकटशरीरिगोपलज्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियाथैवास्वधा-
 विषयान्वाधात्प्रत्यपरमाणुत्वं इत्योक्तः प्रथमः । द्विती-
 यस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादेर्नैकान्तिकः । वर्तमानजात्यकस्तु-
 र्गिकान्तिन्यद्रव्ये हि पितृहृद्गारापवरकस्यान्तर्विशिति बहिष्छ
 निर्याति, न चापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरश्मिस्रभवात्प्रति-
 निविष्टत्वमस्तत्र तत्प्रवेशनिकम् । कथमयथाऽहोदितद्वाराव-
 स्थावामिच न तदेकार्थवचमः, सर्वेषामनोरुपे तु प्रदेशे न तयोः
 संज्ञय इति चेत्तर्हि शब्देऽप्येतन्मानमित्यसिद्धोऽपि । तृती-
 यस्तु तद्विलुप्तोत्कृष्टादिभिर्नैकान्तिकः । अनुपपत्तौ तथैव, गन्धद्र-
 व्यविशोवसूक्ष्मरजोभूत्वादिनिर्णयनिश्चारात् । नाह गन्धद्रव्यादिक-
 मपि नासायां निविष्टमानं तद्विचरन्नादेशोऽङ्गिरश्मभ्रुपरकं दृश्य-
 ते । पञ्चमः पुनरसिद्धः, तथा हि-न गगनगुणः शब्देऽसिद्धादिप्र-
 त्यक्षत्वात्प्रादिवादिनि सिद्धः पौद्गलिकः शब्द इति । अथ नाथ
 शब्दः पौद्गलिकः संगच्छन् इति यौगाः सङ्गिरमाणाः सप्रणय-
 यविनानामेव गौरवाहाः । यतः कोऽत्र हेतुः, स्पशश्रव्याभ्रयव-

य, प्रतिनिविष्टप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातः, पूर्वं पश्चात्त्वाव-
 यवानुपलभ्येः, सूक्ष्ममूतैरुत्पान्ताप्रकरत्वं, गगनगुणत्वं वा ? ।
 नाथः पक्षः यतः शब्दप्रयोगस्याभ्रये भावावर्गणाकूपे स्पशांभा-
 यो न नाथदनुपपत्तिर्भावात् । प्रसिद्धानि, तस्य स्वभावसत्त्वात्पत्तः ।
 योयानुपपत्तिर्द्रव्यस्यसिद्धा तत्र स्पशस्यानुपपत्तयेनोपलभ्यल-
 क्षणात्प्रसव्यावत्तः उपलभ्यमानानुपपत्त्यर्थवत् । अथ यन्-
 सारगन्धसाराशरीरगन्धस्य स्पशांशयनिश्चारादिश्रव्यापि तदि-
 श्येऽप्यनुपलभ्यमानानुपपत्त्यर्थवत् युक्तम्, नेतरत्र, तन्निर्णयकारणात्-
 इति चेत्, मान्सावयवनिर्णयकं किञ्चित्, किन्तु पुञ्जला-
 नमुद्रतानुद्रतानुद्रतानुपलभ्येः शब्देऽपि पौद्गलिकत्वेन परैः
 प्रमाणद्यमाने, बाधकारभावे च स्तानि संहरन् एव स्यात्, न त्व-
 ज्ञानविश्रयः, तथा च सन्दिग्धासिद्धो हेतुः । न चनास्ति तन्नि-
 र्णयकम् । तथाहि-शब्दाभ्रयः स्पशांशय, अनुभावप्रतिघातयो-
 र्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणांपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियाथैवाव-
 त्, तथाविधप्रत्यक्षात्प्रत्ययत्, इति । द्वितीयकत्वेऽपि गन्ध-
 द्रव्येण व्यभिचारः, वर्तमानजात्यकस्तुर्गिकपुद्गलरजोभ्रु-
 शब्दस्य हि पितृहृत्कारात्संश्रुतापवरकस्यान्तर्विशिति, बहिष्छ
 निस्सरति, नचापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरश्मिस्रभेवनाति-
 निविष्टत्वाभावात् तत्प्रवेशनिकशरीरः अत एव तद्वर्णयस्ता,
 न त्वानुपपत्तिद्वारादिश्रव्यामिच तदेकार्थवत्त्वम्, सर्वथा नोरुपे तु
 प्रदेशे नैतौ संज्ञय इति चेत्, एवं तर्हि शब्देऽपि सर्वस्य
 तुल्ययोगत्वेमात्सिद्धात्ता हेतोस्तु । पूर्वं पश्चात्त्वावयवानुपल-
 भ्यः, सांदिग्धीनोत्कृष्टादिभिर्नैकान्तिकः । सूक्ष्ममूतैरुत्पान्ता-
 प्रकरत्वमपि गन्धद्रव्यविशेषत्वमनोरुपभ्रुविविधेनिश्चारी ।
 न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नसि निविष्टमानं तद्विचरन्नादेशोऽङ्गि-
 शरमभ्रुपरकं प्रेक्ष्यते । गगनगुणत्वं त्वसिद्धम् । तथाहि-न गग-
 नगुणः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् क्वापदिवादिनि । पौद्गलिक-
 त्वासिद्धिः पुनरस्य-शब्दः पौद्गलिकः, इन्द्रियाथैवात्, क्वापदि-
 देवेत्यतिरतो संक्षेपः ।

अहैतत्वदनम्-

चेद्गान्तिनस्त्वेवं प्रजल्पयन्ति-१ सर्वे कालिदं ब्रह्म नेह नानाऽ-
 स्ति किञ्चन । अत्रामं तस्य प्रख्यातं न तस्यप्रति कश्चन ।
 ॥ १ ॥ इति न्याय्यादयं प्रथमो मिथ्याकूपः, प्रतीयमान-
 त्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा शुकवाक्ये कलपौभयं, तथा
 चायं, तस्मात्तथा । तदेतद्ब्रह्मचं । तथाहि-मिथ्याकूपत्वं तैः
 कीदृग् विवक्षितम् । किमन्यथासत्यम् उदाहरत्यान्यकारत-
 या प्रतीतत्यम्, आहोस्त्विदनिर्वोक्त्यर्थम् । प्रथमपक्षेऽस्तत्त्वथा-
 त्तिप्रसङ्गः । द्वितीये विपरिन्तयतिस्वीकृतिः । तृतीये तु किमि-
 दम् अविर्भावस्यत्वम् ? निःस्वभावत्वं चेत् निःस्वः प्रतिघातार्थं
 स्वभावशब्दस्यापि भावाभावचोरन्यतरार्थत्वेऽस्तत्त्वानिस्वत्वा-
 त्त्वभ्युपगमप्रसङ्गः । भावप्रतिघटोऽस्तत्त्वानिस्वत्वात्प्रतिघा-
 त्त्वस्यातिरिति । प्रतीयते गोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेत्,
 अत्र विरोधः । न प्रपञ्चो, हि न प्रतीयते चेत्कथं चमित्तयोपा-
 त्तः ? । कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुनयोपात्तम् ? । तथोपादाने
 चा कथं न प्रतीयते । यथा प्रतीयते, न तथोति चेत्तर्हि विपरि-
 त्त्यातिरियमनुपपत्ता स्यात् । किञ्चेवमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य
 प्रत्यक्षापत्तिता, घटोऽप्यमित्यादाकारं हि प्रत्यक्षं प्रपञ्चस्य
 न्यतामेव व्यवस्थिति, घटादिप्रतिनिवृत्ततापदापरिच्छेद्व्युत्पन्न-
 स्तस्योपपत्तात् । हरेतरादिबिचकस्तन्नामेव च प्रपञ्चशब्द-

वाक्यत्वात् । अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात्कथं प्रतिषेधे सामर्थ्यम् । प्रत्यक्षं हि-इदमिति वस्तुस्वरूपं शुद्धाति, नात्यस्वरूपं प्रतिषेधति ।

“आहुर्विधात् प्रत्यक्षं, न निषेदुद् विपश्चितः । नैकस्य आगमस्तेन, प्रत्यक्षेण प्रवाधते” ॥ १ ॥

इति वचनात्, इति वक्षः । अन्वयविषयमन्तरेण तस्वरूपपरिच्छेदस्याव्यसंसेः । पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति, नान्यथा । केवलप्रत्युत्स्वरूपप्रतिषेधेऽन्वयप्रतिषेधप्रतिपक्षरूपत्वात् । सुतदभूतलप्रदशे घटाभावप्रदहनवत् । तस्माद्यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रतिषेधं तथा निषेधकमपि प्रतिपक्षव्यम् । अपि च-विधायकमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते यथा प्रत्यङ्गण विद्या विधीयते, तथा किं नाविद्याऽपि इति । तथा च द्वैतनापिः । ततश्च सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः । तस्मात् वादिनोऽपिवाच्यविकेन समाधेयं प्रत्यङ्गाप्रतीत्यस्मोऽपि न निषेधकं तदिति श्रुत्याः कथं नोभ्र्त्वाः इति सिद्धं प्रत्यङ्गाधिगतः एक इति । अनुमानाधिगत-प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत् । प्रतीयमानत्वं च हेतुब्रह्मत्वना व्यतिचारी । स हि प्रतीयते न च मिथ्या । अत्रनीयमानत्वे त्वस्य तद्विषयवचसामप्रवृत्तेमुक्तैव तेषां श्रेयसी । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः । शुक्तिशकलकलघोतेऽपि प्रपञ्चान्तरान्वयेन आनिवेचनीयतायाः साध्यमानत्वात् । किञ्चिदमनुमानं प्रपञ्चाभिन्नम्, आभिन्नं वा । यद् निश्चं तदिह सत्यमस्य वा । यद् सत्यं तदिह तद्वद्वत् प्रपञ्चस्यापि सत्यस्य स्यात् । अद्वैतवादप्राकारे खड्गवातात् । अध्यात्मवत्, तर्हि न किञ्चित्नेन साध्यतु शक्यम्, अन्वयव्याप्तौ । अनिश्चं तत् प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपत्वात्काः मिथ्यारूपं च तत्कथं स्वसाध्यसाधनायाश्च । एवं च प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वात्किः कथं परमब्रह्मण्यन्तारिकत्वं स्यात्, यतो बाह्यान्वितावां भवेदिति । अथ वा प्रकारान्तरेण सम्पन्नब्रह्मणस्य परमब्रह्मणः साधने दूषणं चोपपन्नम् । ननु परमब्रह्मण एवैवम् परमाद्यसतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात्प्रमाणविषयत्वम् । अत्ररूप्य द्वितीयस्य कस्यांचिद्व्यभावात् । तथाहि-प्रत्यक्षं तदायेदकस्मिन् । प्रत्यक्षं द्विधा ज्ञियते-निर्विकल्पकसविकल्पकमेदात् । ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सन्भावविषयात्सर्वकथैव सिद्धिः । तथा चोक्तम्-

“ अस्ति ह्यज्ञानाज्ञानं, प्रथमं निर्विकल्पकम् । बालमूर्कादिविज्ञान-सदसो बुद्धयश्नुक्तम्” ॥ १ ॥

न च विधिवत्परपरव्याप्तित्वव्यभक्तं एव प्रतीयत इति ऐतसिद्धिः, तस्य निषेधाऽविषयत्वात्, “आहुर्विधात् प्रत्यक्षं न निषेदु” इत्यादिवचनात् । यच्च सविकल्पकप्रत्यक्षं घटपटादिभेदाश्रयं तदपि सत्ताकषेणान्वितानामेव तेषां प्रकार्यकत्वात् सत्ताहितस्यैव साधकम्, सत्तायाश्च परमब्रह्मण्यत्वात् । तदुक्तम्- “यद्वैतं तद्ब्रह्मणो रूपम्” इति । अनुमानादपि तत् सद्भावो विज्ञायते एव । तथाहि-विधिरैव तत्त्वं प्रमेयत्वात् । यतः प्रमाणाविषयभूतेऽद्यः प्रमेयः, प्रमाणात् च प्रत्यङ्गानुमानागमाप्रमानार्थापत्संज्ञकानां भावविषयव्येवैव प्रवृत्तेः ।

तथा चोक्तम्-

“ प्रत्यङ्गाद्यवतारः स्या-ज्ञायांशो शुद्धेन यदा । व्यापारस्तदनुत्पत्ते-रजायोरो जिष्णुकंते” ॥ १ ॥

यच्चाभावात्त्वं प्रमाणं, तस्य प्रामाण्यभावात्त्वं तत्प्रमाणम् । तद्विषयस्य कस्यचिद्व्यवज्ञावात् । यस्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरः । तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तिनात् । सिद्धं प्रमेयत्वमविधिरैव तत्त्वम्, यत् न विधिरूपं, तत्र प्रमेयम् । यथा स्वरविषयाणाम् । प्रमेयं चेदं निश्चितं यस्तुतत्त्वम् । तस्माद् विधिरूपविषयः अतो वा तस्मिन्किः । प्रामाण्यमाद्यः पदार्थाः प्रतिभासान्प्र-प्रविष्टाः प्रतिज्ञासमानत्वात्, यस्यांभासते तस्यांभासान्प्र-प्रविष्टम् । यथा प्रतिज्ञासस्वरूपम् । प्रतिज्ञासन्ने च प्रामाऽऽरा-माद्यः पदार्थान्तस्मात्प्रतिभासान्प्र-प्रविष्टाः । आगमाऽपि परम-ब्रह्मण एव प्रतिपादकः समुपलक्ष्यते-“पुत्र एवैवं सर्वे यद् ज्ञेत यच्च भाव्यम्, उत्तममूनवस्थेशानो यद्भ्रान्तानिरोहति । यदजतिं यद्भ्रजति यदुदुः यद्विनिकं यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यम्” इत्यादि । “आतच्छा मन्तव्यो निदिध्यामितव्याऽनुमन्तव्यः” इत्यादिविधेयार्थैरपि तस्मिन्किः । कथंमेवापि आगमोऽन-स्यैव प्रतिपादानात् । उक्तं च-

“ सर्वे वै सन्निधेयं ब्रह्म, नेह नानास्मिन् किञ्चन । आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यन्ति कश्चन” ॥ १ ॥

इति प्रमाणतस्मिन्किः सिद्धेः परमपुत्र एव एक एव तत्त्वम्, सक्त्वंभेदानां तद्विषयत्वात् । तथाहि-सर्वे ज्ञाया प्रज्ञाविर्गतां, सर्वै-कषेणाऽन्वितत्वात् । यद्यदुपणाऽन्वितं तत्तदात्मकमेव । यथा घटघटांशराजोवच्चन्द्रान्यां सृष्टुषेणैकेनाऽन्येना सृष्टिवतोः । सर्वैकषेणान्वितं च सक्तं वस्तु । इति सिद्धं प्रज्ञाविर्गित्वे निश्चितभेदानामिति । तदेतत्सर्वे माद्वारासऽऽन्वयादुद्गडांश-द्वितीयावज्ञासन्ने, विचारासदत्वात् । सर्वे हि वचस्व प्रमाणाऽन्वितं ननु वाङ्मन्त्रेण । अद्वैतमस्य च प्रमाणस्य द्वितीयस्य सङ्गत्वात् । अतस्तत्साध्यकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सङ्गत्वात् । अथ तत् लोकप्रत्ययनाय तदुद्गया प्रमाणस्य पदपुत्रव्ययत् । तदसत् । तन्मते लोकस्थैवासम्भवात् । एकस्थैव नियन्त्रिरस्य परब्रह्मण एव सत्त्वात् । अधस्तु यथाकथञ्चिदप्रमाणमपि तार्किकप्रत्यक्षमनुमानागमां वा तत्साध्यकं प्रमाणमुरवै । क्रियते ? न तावत्प्रत्यक्षम् । तस्य समस्तवस्तुज्ञातगतभेदस्यैव प्रकाशकत्वात्, आबाह्नगोपालं तथैव प्रतिज्ञासनात् । ‘यच्च निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकम्’ इत्युक्तम् । तदपि न सम्भुक्तं । तस्य प्रामाण्यमप्युपगमात् । सर्वस्यापि प्रमाणात्तत्त्वस्य व्यवसाया-त्मकस्यैवाविनेयत्वात्कवेन प्रामाणाद्योपपत्तेः । सविकल्पकं नु प्र-त्यङ्गण प्रमाणत्वेनैकस्थैव विधिरूपस्य परब्रह्मणः स्वरूपेण श्र-प्रतिभासनात् । यद्युक्तम्-“आहुर्विधात् प्रत्यक्षम्” इत्यादि । तदपि न पश्यात् । अथतस्य श्रुतुत्त्वव्यावृत्तकारात्मकवस्तु-न एव प्रकाशनात् । एतच्च प्रागव कुतणस । न ह्यनुत्पत्तेभेकम-खरत् सत्ताभाव विधिरान्तरेके सामान्यं प्रतिभासते, येन यद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपमित्याद्युक्तं शोभते । विशेषान्तरपक्षसा-स्यच्च स्वविषयाण्यद्वैतप्रतिज्ञासनात् । तदुक्तम्-

“निर्विशेषं हि सामान्यं, जनेतुं शरविषयाणवत् । सामान्यरद्विद्वेत्तव, विशोऽशान्दवेदं हि” ॥ १ ॥

ततः सिद्धं सामान्यविशेषात्मन्येवं प्रमाणविषये कुत वैकैकस्य परमब्रह्मणः प्रमाणविषयत्वम् । यच्च प्रमेयत्वादित्युपमानुसू-य, तद्व्येतेनैवापातं संकल्पम् । पक्षस्य प्रत्यङ्गाधिगत्ये-देतोः काशात्तथापार्दिष्टत्वात् । यच्च तत्सद्वैतं प्रतिभासान्प्र-वसाधनमुक्तम् । तदपि साधनाभासत्वेन न ब्रह्मनसाध्यसाधना-याऽऽत् । प्रतिभासान्प्रान्वे हि निःश्लजज्ञानावां स्वभाव, परतो वा ?

न तावत्स्वतः। घटपटमुकुटशटकादीनां स्वतः प्रतिज्ञासमाप्तेः-
 भासिकेः । परतः प्रान्जलासमानर्थं च परं विना नोपपद्यते
 इति । यच्च परमशक्तिवर्धनैवित्प्रमक्षितशोभासामित्युक्तम्-
 नद्वयत्र कालेऽप्यीयमानद्वयविना भावित्वेन पुत्रवाहेन प्रतिब-
 ध्नात्वेव । न च घटादीनां वेतव्यात्प्रयोऽप्यस्ति, युद्धाद्यवयवेषु
 तत्र दशोदत्त, ततो न किञ्चिदत्रापि । अतोऽनुमानमाद्वि न त-
 त्सिद्धिः । किञ्च-पक्षेनेतदुद्घात्मा अनुमानोपायभूताः परस्परं
 सिद्धाः, अविद्या वा । नरे द्वैतसिद्धिरनेदेष्वेकताकृत्पतापत्तिः।
 तत्कथमेतेभ्योऽनुमानमाप्तमानसाद्यति। यदि च हेतुमत्तरेणा-
 पि स्वाधिसिद्धिःस्थासिद्धिर्हेतुव्यापि बाह्यातः कथं न सिद्धिः।

तदुक्तम्-

“ हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत्, द्वैतं स्वाहेतुसाध्ययोः ।
 हेतुना चेद्विना सिद्धि-द्वैतं बाह्यातः न किंचि ” ॥ १ ॥
 “पुत्रव्ययेदं सर्वम्” इत्यादेः, “ सर्वैवे कविविद् ब्रह्म ” इत्यादि-
 ब्यानामाद्वि न तसिद्धिः । तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैतं
 प्रति प्रामाण्यात्संभवत् वाच्यवाचकभावसंज्ञकस्य द्वैतस्यैव
 तत्रापि दशोभात् ।

तदुक्तम्-

“ कर्मद्वैतं फलद्वैतं, लोकद्वैतं विधेयते ।
 विद्यारविद्याद्वयं न म्याद्, घटमाकृष्टयं तथा ” ॥ १ ॥
 अथ कथमागाद्वि तासिद्धिः । ततो न पुत्रवाद्वैतलक्षणकर्म-
 मेव प्रमाणस्य विषयः । इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः ।

ईश्वरव्यापकत्वस्यत्वमसू-

ईश्वरस्य सर्वगतत्वं नोपपन्नम् । तच्च शरीररामाना ज्ञानात्मना वा
 स्वाधौ । अथपक्षे, तदीयमेव हेतुन जगत्प्रत्यक्षं स्वात्मना । अत्र-
 निर्मेषवद्वैतानामाश्रयानवकाशः । द्वितोयपक्षे तु सिद्धसाधयताः
 आत्माद्विनि निर्गन्तव्यत्वात्प्रमा परमपुत्रस्य जगत्प्रकटा-
 डीकरणाद्युपगमात् । यदि परमेव भवत्प्रमाणेकमेव वेदेन वि-
 रोधः । तत्र हि शरीररामना सर्वगतत्वमुक्तम्-“ विश्वमश्नुतुन
 (विश्वं तु मुञ्चा विश्वनः पाणिदत्त विश्वनः पाद् ” इत्यादौभूतेः ।
 यथां क तस्य प्रतिनियन्तेश्वर्यतिरे विश्वमगतपदार्थानाम-
 नियन्तेश्वरुत्थानां यथावत्प्रमाणानुपपत्तिरिति । तत्रेदं वृत्तयते ।
 स जगत्प्रयं निर्माणात्प्रकटाद्विद्यात्वाद्वादेहव्यपारेषु निर्मासा-
 न, यदि वा सङ्कल्पमात्रेण । आद्ये पक्षे एकस्यैव प्रत्युपरादेवि-
 धाने अत्रोद्दिष्टानः काश्चनेपस्य सम्भवाद्द्वैतयत्नाऽप्यनेदसा न
 परिसम्भवाः द्वितोयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कथं कथयानां निय-
 त्देशस्थापित्येऽपि न किञ्चिद् वृत्तमुपस्थापानं । नियन्तेश्वर्याधि-
 नः सामान्यदेशानामपि सङ्कल्पमात्रेणैव तत्कार्यसंज्ञावत्प्रति-
 पत्तोः किञ्चिद् तस्य सर्वगतत्वेऽप्युक्तम् । किंप्रमाणेऽप्युचितं नित्यरस्यस-
 मसेषु नरकादिव्यस्येवपि तस्य शक्तिः प्रसज्यते । तथा चानिष्टाप-
 त्तिः । अथ युक्तमत्र हेतुपि यथा ज्ञानात्मना सर्वगतत्वं व्यभिचोतासु
 कथते तद्वाऽप्युचितसा वादादीनामनुपपन्नमसम्भवात् । नरका-
 दिभ्यः कश्चिदपसंबन्धाऽऽप्तकथना दुःखाऽनुभवप्रसङ्गात् । नि-
 ष्टापितस्तुत्थेवैवेति चेत् । तत्रैतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्यस्य
 धूमिनिर्वाहावकरणम् । यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्वतत्त्वस्यैव
 विषयं परिच्छिद्यमानं, न पुनस्तत्र गान्ध, नकुतोऽपि प्रवृत्तवाहकः
 समीचीनः । न हि भयतोऽप्युचितज्ञानमात्रेण तत्कसास्वादासु-
 प्ततिः । तत्रैवे हि अज्ञानं तदज्ञानरसवत्त्वाद्यन्तनमात्रैवैव

शुलिसिद्धौ तस्यापिप्रत्यक्षैककृत्यप्रसक्तिरिति । यत्तु ज्ञानात्मना स्व-
 र्गतत्वे सिद्धसाधने प्रागुक्तम्, तच्चकिंभावमपेक्ष्य तत्प्रत्ययम् ।
 तथा च कारो भवन्ति-अथ सतिः स्वदेशक्षेत्रे प्रसरति
 इति । न च ज्ञानं प्राप्यकारि, तस्याऽप्यत्रयमेवेन वादनिर्माणात् ।
 वादिनिर्ममे वास्तवोऽद्वैतस्याप्यथा अज्ञाद्वयत्वमङ्गः । न हि धर्मो
 धर्ममेवनिरिच्छय क्वचन केषलां विलांकिताः । यथा परे दृष्टान्त-
 यन्ति-यथा सूर्यस्य किरणानां गुणकत्वा अपि सूर्यान्वित्वस्य भु-
 वनेन प्राप्तवन्त्येव ज्ञानमप्यात्मनः स्वकाशाद्वाहर्निगत्य प्रमेयं
 पारच्छिनसोति । तत्रैतदुक्तम् । किरणानां गुणत्वमपि यत्त्वम्,
 तेषां नैजसपुत्रत्वमप्येव छन्दस्यात् । यथा तेषां प्रकाशात्सा
 गुणः स तेष्यो न जानु पृथग्न जयतीति संक्षेपः ।

अथैकेन्द्रियपार्श्वभेदिकज्ञानसमर्थनेन भावभूत-
समर्थनम्-

एकेन्द्रियायां तावत्प्रतीवादिद्वयैन्द्रियाभावेऽपि भावैन्द्रियज्ञानं
 किञ्चिद् इत्यत्र एव, यत्सपत्यादिषु स्पष्टतन्निष्क्रोपमत्तात् । त-
 व्वादि-ककृष्टमेतद्गोर्माणमुत्पन्नमात्तारभ्रवणात् । सदाः कु-
 सुम-पञ्जवादिप्रत्ययो विरदकत्वज्ञापितु अथैकेन्द्रियज्ञानस्य ध्व-
 कं लिङ्गत्वमोक्तव्येन । तिलकादिदन्तु पुनः कर्मनीयकामि-
 नीकमत्तदन्तरीयपारादेशुऽप्यत्रलोकव्यवस्थाविशेषान् । कु-
 माद्याविर्भावभ्रुगुणिकप्रधानम्, चम्पक, चण्डिषेपु तु विश्व-
 तुगन्धिगन्धस्त्वनिक्तरसोमिध्रिभूमिलस्रीतलसलिलमेकात् । त-
 त्रप्रकटनं प्रायेणैन्द्रियज्ञानम् । यदुक्तानिन्देयुः तु रमभानिशा-
 यिप्रवरकवचरकजोमनीमुत्पन्नप्रदक्षस्वस्तुत्सवाऽतुसुविधा-
 र्थागपदुपास्वादिमान् । तत्रावचरकयो रमभेदिकप्रधानस्य, कुरव-
 कादिचित्पिप्पशोकाद्दृष्टमेव च घनयोऽज्ञकडिनकुक्कुडम्-
 विष्णुमापञ्चाज्ञितकुम्भोत्पन्नरमभेदिकमलकणतकूपाभ्रव-
 न्त्प्रयत्नभयमाप्तान्नुजलनाऽद्युत्तमसुखात् निर्दिष्टप्रधारण-
 च्छेषोऽज्ञानप्रवर्धकमप्यारिप्रधारात्तुकार्यात् प्रसन्नपल्लवादि-
 प्रत्ययः स्वशोभनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमनिरीक्ष्यते । ततश्च
 यद्येतेषु छन्दैरुत्पानयेत्येतेषु त्रायेन्द्रियजन्य ज्ञानं स्वक-
 जनप्रसिद्धमस्ति, तथा द्रव्यभूतात्वात् भावभाषापि भविष्यति ।
 इत्यत इ जलाशयोऽपजीवनाद् वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा,
 संकोचनसंख्यादीनि तु इत्यस्य शोभनोत्पत्त्याऽवयवकथं वाच्य-
 श्यो जयसंज्ञा, विरदक-निलक-चम्पक-केशराऽऽकादीनां
 तु मेलनसंज्ञा इतिरेव; विरदप्रकाशादीनां तु निधानोक्तवाच-
 योपरिपारयोऽनैसादिप्रयः परिशदसंज्ञा । नैतानः सन्धा ज्ञानवृ-
 त्तमत्तरेणोपपद्यन्त । नसां भावैन्द्रियपदकथावरणत्वाद्योपपत्ति-
 द् भावैन्द्रियपदकथावत्त्वं भावभूतावरणत्वाद्योपपत्तिमत्त्वात्वा-
 द् छन्दभूतानैवेति यच्च यावच्च भावभूतमस्यैवेकाद-
 यानामिदमलमात्तरेण पल्लवितेन । इत्यं सर्वमपि प्रसूतेषु ज्ञे-
 दाशोभनि-धियेषु कथमप्येवयस्याऽनुपपत्ताते पायमे दशो-
 भमितं विरम्यते कतिवच्यैवयत्पर्यन्तते-

निचेदयन्ति
संशोधकाः



॥ श्रीः ॥



दृप्तघ्नान्तविपद्दन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी-
राजेन्द्राजिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनश्रुतः ।
संघस्थोपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः,
कोऽन्यः सूरीपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ॥



॥ अजिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ॥

(सिन्धुप्रदेशानुशासनम्)

[अ० ८ पा० १]

नत्वा धीरं यन्प्रवच्यं, रागेषुधिविभक्तिम् ।
 प्राकृतव्याकुलितरियं, जन्मोत्पत्त्या विरच्यते ॥ १ ॥

अथ प्राकृतम् ॥ ? ॥
 अथशब्दोऽधिकाराय-भ्रान्तयोर्यां इत्यतः ।
 प्रकृतिः संस्कृते, सत्र-अयं, वा तत आगतम् ॥
 प्राकृते, संस्कृतयान्ते, तदर्थिकयते ततः ।
 सिद्धं च साध्यमानं च, द्विविधं संस्कृतं मतम् ॥
 तद्व्यतिरेकं तस्यैह, बहुलं, देशाजस्य न ।
 इति विज्ञापनार्थं हि, प्राकृतस्यानुशासनम् ॥
 संस्कृतानन्तरं कुम्हस्तद् धीरैर्यथायत्नाम् ॥
 विभक्तिः कारक लिङ्ग, प्रकृतिः कस्योऽभिधा ॥
 समानाभ्यापि संबन्धः, संस्कृतस्यैव प्राकृतेः ।
 अथ अ ल ल्, विसर्गश्च, ये शौ कप्रशयाः स्तुतः ॥
 पतङ्गस्यो वर्णगणो, लोकाद् बोधोऽनुबुद्धितः ।
 ऊर्ध्वो स्वयम्यसंयुक्तौ, वर्णौ च अयतां दि तौ ॥
 पदोर्ध्वो चापि केषांचित्, केनचं कैश्च यथा ।
 सौन्दर्यं च सौमरिञ्च, कौरवाः कौरवा इति ॥
 अस्वरं व्यञ्जनं सर्वं, स्तब्धं द्विवचनं तथा ।
 अतुल्यास्तु बहुत्वं च, न अव्ययं कुत्रचित् ॥
 बहुलम् ॥ ७ ॥

' बहुलम् ' इत्यधिकृत-माशास्त्रादिपूषणात् ।
 वैदित्यं, यथास्थानं, तत्कार्यं दर्शयिष्यते ॥
 आप्तम् ॥ ३ ॥

श्रुषीणामिदमर्थं च, प्राज्ञं बहुलं भवेत् ॥
 तन्वापि दर्शयिष्यामि, यथास्थानं यथाविधि ॥
 क्वचित् प्रकृतिः क्वचिदप्रकृतिः, क्वचिद् विनाया क्वचिद्व्यदेव ।
 विधेविधानं बहुधा समाह्वयं, अतुर्विधं बाहुलकं चरन्ति ॥

दीपि-इत्यौ पिथो वृत्तौ ॥ ४ ॥
 स्वराणां दीपिह्रस्वात्वं, समासे भवतां मिधा ॥
 तत्र दीपेस्य ह्रस्वात्वं, पूर्णं तावत्प्रमाणेन ॥
 ' अन्तर्बोधि ' -पदस्थानं, ' अन्तर्बोधि ' प्रयुज्यते ।
 सप्तयिशातिरिष्यन्, ' सप्तार्चिः ' अर्थाद्भवम् ॥
 क्वचित् ' जुवद्-जना, ' विकल्पस्तु क्वचिद् यथा-
 बार्त्-मई वार्त्-मई, भुजयत्रयथास्यते ॥
 भुञ्जा-यंतं लुञ्ज-यंतं, अधो पतिपुद्गं तिवद्भवम् ॥
 पद्-हर्-पद्-हर्, अथ वेणुयनं पद्म् ॥
 ' वेणु-वर्णं वेणु-वर्णं ' इत्येवमभिधीयते ।
 अथ दीपेस्य ह्रस्वात्वं, निम्नकामिल इत्यपि ॥
 क्वचिद् विकल्पो- जर्ज-यत्वं च जर्जणा यद् ॥
 नह-सोत्तं नई-सोत्तं, घेर्त् गोति-हर्त् तिवद्भवम् ॥
 गोर्त्-हर्त्, बहु-मुद्, बहु-मुद्मूदाहनम् ।
 पदयोः सन्धिर्वा ॥ ५ ॥

संस्कृतोक्तं सन्धिकार्यं, व्यवस्थितविभाषया ।
 प्राकृते निमित्तं घेर्त्, तद्गृहाद्विधेयं यथा-॥
 वासोसौ नास-दन्ती, विसमाऽऽयवो विसम-धायवो भवति ।
 बाह-ईसरो विकल्पाद्, वहीसरो, साउ-अअयं तु ॥
 क्वचि-अयमिति घेर्त्, ' पदयोः सन्धि ' किं महद् महप ।
 पाश्चा, पद्, अथाभो, मुञ्जाप चापि मुञ्जाह ॥

बहुलाधिकारजावात्, क्वचिदेकस्मिन् पदेऽपि यथा-
 काहिर काही, बिभ्रयो, बीभो, हत्यादि बोद्धव्यम् ॥
 न युवर्णस्यास्ते ॥ ६ ॥

इवर्णोवर्णयोस्ते, परे वर्णं न संहिता ।
 वेदाभि अञ्ज-पद्, न वेरि-धमो वि अयवासां ॥
 यगुर्द-गहिर-त्रिभो, सहर् बईदो, सहर् एसो ।
 संज्ञाबहु अवकटो, नव-वारिहरो एव विज्जुलाभिभो ॥
 नद-एभावादि अश्रयो, घेर्त् अत्याधुदाहरणम् ॥
 ' युवर्णस्येति ' किं ?, गृहो-अर-नामरस्यप्यम ।
 ' अस्वं ' इति च किं ?, सिधियेत्, पुह्योसो यथा पद्म् ॥
 पदोतोः स्वरे ॥ ७ ॥

एकारौकारयोः सन्ध-नै स्यात् अथि स्वरे परे ।
 बहुभ्राह नहुद्विहणे, भावेर्धतोर्षि कंचुषं अंते ।
 मयारक्यसरधोरणि-धारा-अत्रेअय द्वास्ति ॥
 उवमास्तु अपञ्जसे-न-कलम-द्वत्तावदासमूर्धसुषं ।
 तं चैत्र मिभिभ-विस-वृ-विरसमालकिष्मं एपिह ॥
 अदो अञ्जलिं चापि, ' पदोत्तरिति ' किं ?, यथा-
 अथालोअण-तरसा, इयरकटं जमति बुद्धीभो ।
 अथचैव निरा-अमंति दिमये कट्पानं ॥
 स्वरम्योदृते ॥ ८ ॥

व्यञ्जनसंपुक्तो यः, स्वरो व्यञ्जनोऽर्थास्यते लुप्ते ।
 उच्चलः स दह स्यात्, न स्वरसन्धिस्तु तत्परः ॥
 गयणं चिन्नं गंध-उर्मि, कुणानि, रयणी-अरो य मयुष्मत् ॥
 निशा-अरो य निमि अरो, बाहुलकात् कृपि वैकल्प्यम्-॥
 कुंभारो कुंजअरो च, सूर्यो च सुसुक्तिः ॥
 सन्धिरेव क्वचित् अञ्जा-आ च सालादगो यथा ॥
 अत एव प्रतिपेयात्, समासेऽपि स्वरस्य तु ।
 सन्धौ मिश्रपदत्वं च, वैदित्यं मनीषिभिः ॥
 त्यादेः ॥ ९ ॥

तिवादीनां स्वरस्य स्यात्, न तु सन्धिः स्वरं परे ।
 यथा ' प्रवति इह ' स्यात्, तथा ' इह इह ' स्मृतम् ॥
 लुक् ॥ १० ॥

स्वरस्य बहुषं लुक् स्यात्, संहितायां स्वरे परे ।
 निःश्वासांमूर्त्तौ नी-सासुसासा च संभवत्यथ ।
 चिदंशोः नववसोः, प्रयुज्यते कोविदेरेवम् ॥
 अन्त्यव्यञ्जनस्य ॥ ११ ॥

शब्दानामन्तिमस्य स्याद्, व्यञ्जनस्यैह लुक् यथा ।
 लमो जम्मो जम्मो जाय, ताव चत्यादि गतेन ॥
 समासे तु विभक्तौ, शाक्यगानामपेक्षया ।
 अन्त्यत्वं चत्यन्त्यत्वं, अवन्तीत्यवगम्यताम् ॥
 यथा-समिक्त्वं सद्भिः, सञ्जः सञ्जोऽपि च ॥
 एतद्गुणा पद्-गुणा, तग्गुणा तद्गुणा इति ॥
 न श्रुदोः ॥ १२ ॥

अतुदित्येतयोरन्त्यं, व्यञ्जनं नैव लुप्यते ।
 यथा-सहर्दियं सहर्, अमर्त्तं चोत्पद्यं पद्म् ॥
 निःशोर्वा ॥ १३ ॥

निःशोर्वाग्यलोपो वा, निरसदं नीसहं यथा ।
 दुस्सदो दुसदो चापि, दुक्लिष्मं दुहिभो तथा ॥

स्वरेऽन्तरथ ॥ १४ ॥

नाम्नरो निर्दुरोऽन्त्ये, व्यञ्जनं सुष्यते स्वरे ।
निरन्तरं अतरऽप्या, निरस्सेवं दुरुत्तरम् ॥
दुरवगाहमित्यादि, क्वचिद्भुक् चापि दृश्यते ।
यथा ब्रन्तोवरीत्यत्र, रकारो ह्येवमाप्तयाद् ॥

स्त्रियामाद्विद्युतः ॥ १५ ॥

स्त्रियां प्रयतेमानस्य, शब्दस्यान्त्ये यदस्वम् ।
तस्य स्थाने भवत्यासवं, त्रिपुच्छन्दे तु नेष्यते ॥
प्रतिपत् पाण्डिवन्ना स्यात्, सपत् सपन्ना च सरित् सरिन्ना च ।
बाहुलकात् 'सरिया'ऽऽद्यापि, 'अविद्युतः' किं?, यथा विज्ज् ॥

रो रा ॥ १६ ॥

स्त्रियां रेफान्तशब्दस्य, 'रा' इत्यादेश इष्यते ।
अयमात्वापवादोऽस्ति, यथा रूपं धुरा-पुरा ॥

सुधो हा ॥ १७ ॥

सुधो षस्यास्तु हादेश-स्तेन रूपं 'लुहा' भवेत् ।
शरदारित् ॥ १८ ॥

शरदादेशन्तिमस्य, व्यञ्जनस्याद् भवेद्विह ।
शरद् विषयं यथा स्यात्, सग्नो भिसन्नो क्रमात् ॥

दिवप्राश्रपाः मः ॥ १९ ॥

दिवप्राश्रपाः सो भवति, तेन स्यात् पाउसो दिसा ।
ककुभो इः ॥ २० ॥
ककुभो भस्य 'इः' स्यात्, ककुहा तेन सिद्धत्वात् ।
धनुषो वा ॥ २१ ॥

धनुषः पश्य हो वा स्यात्, धनुश्च न धनु यथा ।
मोऽनुस्वारः ॥ २३ ॥

अन्तिमस्य मकारस्या-नुस्वारोऽत्र विधीयते ।
जले कलं गिरिं वच्छे, पच्छेल्यादि निदर्शनम् ॥
काप्यनन्त्यस्यापि यथा, -वर्णमिम च वर्णमि च ।

वा स्वरे मश्च ॥ २४ ॥

अन्तस्त्वस्य मकारस्या-नुस्वारो वा स्वरे परे ।
प्लेगपवादी मो, मस्य स्थाने भवेद्विह ॥
उसभं अजिअं वदं, उसभम् अजिअं च वा ।
बाहुलत्यात् तथाऽन्यस्य, व्यञ्जनस्यापि मो भवेत् ॥
साहाय सक्त्वं, यत् जतन्ते, विषयक च वीशुमथ सम्यक् ।
सम्मं, पृथक् पिहम्, रह-मिहयं चाऽऽल्लटुषा वेद्यम् ॥

रु-ण-नो व्यञ्जने ॥ २५ ॥

स्थाने इन्नगणानां स्या-दनुस्वारोऽस्वरे यथा-।
पङ्क्तिः पंती च, पराङ्-मुखः परमुहो, कन्चुकः कंचुभो ।
अपि हाऽल्लन संकृण्ण, परमुस इति छुमहो, जयति ।
उकण्णना नृक्रेग, मन्थ्या सज्जा च, विषय इति विजो ।
एवं ऋदिचतुष्टय-निदर्शनं चाप्यदपि वेद्यम् ॥

वक्रादावन्तः ॥ २६ ॥

वक्रादीनां च शब्दानां, प्रथमादिषु यः स्वरेः ।

तस्यान्ते स्यादनुस्वारो-ऽऽगमो भवयानुस्वारम् ॥
वक्रं नेवं अंयं, मंसु पुंजं च कुंयत्तं पंसु ।
मुंजं मुंदा मुंघं, ककोडा विच्छिन्नो गिरी ॥
मंजारां दंयगामि-त्यादिष्यावस्य काव्यंमिह वेद्यम् ।
परंनुभ्रा च वयसो, मणसिण्णी चापि माणसो ॥
मणासिलाः चेत्यादि-ष्यागमकार्यं भवेद् द्वितीयस्य ।
अर्णितंतयमइमुतय-मवर्दि अययोस्तृतीयस्य ॥
कविच्छन्दःपुरणऽपि, 'देव-नाग-सुवश्रमं' ॥
कविष-सिद्धो मञ्जारां, मणसिला मणासिला ॥
आपे 'मणासिला' रूपं, 'अइमुतयम' इत्यपि ।
वक इयत्तं इमंशु पुच्छं, मुच्छं मुषां च कुरुमसः ॥
अभूयारं वयस्यां मा-जारां गृहितमस्विनी ।
पुंशुवृषभ ककोटां, दशानं शुधि-शुभिकी ॥
भानमुक्तकः प्रांतशुन्, भनस्वी च भनशिला ॥
इत्यादयो त्रिं शब्दाः, वक्रादौ परिकर्तिताः ॥

कत्वा-स्यादण-स्वोवा ॥ २७ ॥

कत्वाप्रत्ययस्य स्यादीनां, प्रत्ययानां च यौ ण-सु ।
तयोऽन्तस्त्वनुस्वारो, वा स्यादित्ययथायानाम् ॥
यथा-काऊण काऊण, काउभ्राण पद तु वा ।
स्यात् काउभ्राण, स्यादौ व-च्छेण वच्छुणामित्यपि ॥
तथा वच्छेस्तु वच्छेस्तु, 'णस्वोऽपि' किम्? अत्रिणो ॥
विशत्यादिभुक् ॥ २८ ॥

विशत्यादिपदानां थोऽ-नुस्वारस्तस्य सुभवेत् ।
तेन स्याद् विशादीनां, विद्यां तीमा च संस्कृतम् ॥
सकृतं स्याच्च सस्कारः, सकारो विनियद्यते ।

मासं मसं, मासलं मसलं वा,
कासं कसं, कसुश्रं कसुश्रं वा ।
सोढां सिहो, किं किं, या दाणिं दाणिं,
पासु पंसु वा, कद वा कद स्यात् ॥
एव एव नृणं नृणं, समुहं समुहं तथा ।
इशाणि वा इशाणि, स्याद् मानादीनां निदर्शनम् ॥
मानं कास्यं कथं पासु-मांसतः सिद्ध-किच्छुकी ।
एव तेनम् इशानांमिं कथं, दाणिंम समुक्त्वा इत्यपि ॥

वर्गेऽन्त्यो वा ॥ ३० ॥

अनुस्वारस्य वर्गान्त्यो, वा तद्वर्गे परं भवेत् ।
पडो पंको, कडुवृश्रां कडुवृश्रां वा,
सज्जा सज्जा, कण्डश्रां कण्डश्रां वा ।
कड कण्ड, अन्नर अन्नरं वा,
चन्द्रो चन्दो, कम्परं कंपर्दो वा ॥
इत्याद्यस्यद् वेदितव्यं च लक्षणं, वर्गे किंयत् संसन्नो संहरेति ।
कौवद् धोःशब्दविद्याप्रवर्तिना, एतत्कार्यं तैत्तिकं वर्णवर्तना

प्रावृट्-शरत्-तरणयः पुंसि ॥ ३१ ॥

प्रावृट्शब्दः शरच्छन्द-लटिष्येति ते त्रयः ।
पुंसि स्युत्तरणी वैम, पाउसो सपन्ना यथा ॥

अमऽशाम-शिरो-नजः ॥ ३२ ॥

दाम-शिरो-नमो वज्रं, यत् सान्ते नाम्नमस्ति वा ।
शब्दत्वरूपं तत्त्वदं, वैभिश्रमवाम्यनाम् ॥

' जसो पञ्चो तमो तेषो, उरो ' साम्ने निदर्शनम् ।
' जम्मां मम्मां तथा मम्मां ' नान्ते लस्यमिदं मतम् ॥
' अदमित्यादि' किं प्रोक्तम् ? , यथा-नामं लिरे नहं ।
संय चम्मं चयं चैता-दशं बाहुलकं परम् ॥

वाऽऽकृत्यर्थ-वचनाद्याः ॥ ३३ ॥

ये चाग्निवाचकाः शब्दा-स्तथा ये वचनादयः ।
ते पुंसि संप्रयोरुक्त्याः , सर्वेषोह विकल्पनात् ॥
तत्रादयथां यथा- ' अच्छीं, अच्छीहं ' चापि गद्यते ।
अच्छव्यादिगणे पाठान् , ' एसा अच्छी ' क्वचिद् भवेत् ॥
चक्लु चक्लूर् , नयणा, नयणाहं च , लोअणा ।
लोअणाह च , वचना-दियथा-वयणा तथा ।
वयणाह, विरनुणा तु, विरनुणं च , कुलो कुलं ।
छन्दं छन्दं च , माहण्यां , माहण्य , भायणाहं तु ॥
भायणा च , तथा दुक्सा, दुक्साहं चेत भययने ।
नेसा नेसामित्यादिः , सिद्धिः संस्कृतवद् भवेत् ॥

गुणाद्याः ऋषिरे वा ॥ ३४ ॥

ऋषिरे गुणादयः शब्दाः , प्रयोक्तव्या विकल्पतः ।
गुणा गुणाहं , देवाणि, देवा, विन्दूर् विन्दुयो ॥
कामा कामां , मण्डलमा, मण्डलमाऽपि भयते ।
करुहं करुहो , रुक्सा रुक्साहं चेत्यपि ॥

वेमाञ्जलयाद्याः स्त्रियाम् ॥ ३५ ॥

ये तु शब्दा इमानाः स्तु-स्तथाऽञ्जलयादयश्च ये ।
ते स्तं वा स्त्रियां वाच्य-स्तदुदादिद्वये यथा- ॥
गरिमा महिमा नित्त-किमा च युक्तिमाऽपिमा ।
पने स्वापुनयाशेषोऽपि, अथाञ्जलयादिरुचयेने ।
अञ्जलं चोरिआ पिपी , तथा पिपिं च चोरिआ ।
अञ्जो अञ्जि च वा पदा, पठो कुञ्जो बली निही ॥
गगना रस्मी विही चैता-दशोऽञ्जलयादिरिच्यते ।
' मद्वा मद्वा ' ऽनयोः सिद्धि-रत्र संस्कृतवन्मता ।
इमानं तन्वमाश्रित्य, कार्यग्रयमिहेष्यते ॥
त्यादेशस्य डिमेत्यस्य, पृथवादीशब्ध संग्रहः ।
त्यादेशस्य सदा स्त्रीत्व-मिच्छत्येकं विपश्चितः ॥

बाहोरात् ॥ ३६ ॥

आकारो बाहुशब्दस्य, स्त्रीवेऽनाशय इष्यते ।
' बाहाप जेण चरिओ, पकाप ' इति ष्यते ॥

अतो सो विसर्गस्य ॥ ३७ ॥

अतः परः संस्कृतोऽप्यो, यो विसर्गो भवेदिदं ।
तस्य स्थाने तु ' सो ' श्रुता-दशादेशो विधीयते ॥
सर्वतः सध्वंशो तेन, पुरतः पुरशो तथा ।
अप्रतस्वगशो वाच्यो , मागेनो मगयोऽपि च ।
सिद्धावस्थापेक्षयाऽपि , नवतो भवशो तथा ।
नव-तस्तु भवतो स्यात्, सन्तः संतो, कुतः कुदो ।

निष्पन्नी ओत्परी मार्य-स्थावो ॥ ३८ ॥

निष्पत्ती श्रोतपरी वा स्तः, परे मास्ये च तिष्ठती ।
अत्र योऽव्यभिर्देशः, स च सर्वेषु इष्यते ।
श्रोमात्तं वाऽपि विम्वङ्गं , पञ्च भिडा गथा ॥

आदेः ॥ ३६ ॥

आदेरित्यधिकारोऽयं , 'कगन्वा-००।१।७५। उपचिको मनः ।
इतः परस्तु यः स्थानो , तस्यादेः कार्यमिष्यते ॥

त्यदाद्यनयात् तत्परस्य लुक् ॥ ४० ॥

त्यदाद्यनयाद्यनयात्, यो त्यदाद्यनयो परौ ।
तयारादेः स्वरस्येह, बहुलं ह्युप विधीयते ।
अन्धे पद्य यथाऽन्धेय, अह इमा जमाऽपि वा ।
अध्वदं अहदं , चैव-माद्यं वेद्यं निदर्शनम् ॥

पदादपेवो ॥ ४१ ॥

पदात्परं योऽपि शब्दस्तस्यादेर्वोऽत्र ह्यमेषत् ।
यथा-केण वि केणावि, वा , तं पि तत्रवोष्यते ।

इतः स्वरात् तश्च द्विः ॥ ४२ ॥

इतिः पदात् परो यत्र, तस्येकारो विकृत्येन ।
स्वरात्परस्तरास्तु, तदीयो द्विव्यमान्युयात् ॥
स्यात् किं ति जं ति द्विदुति , ' न जुलपे ' स्वराद् यथा- ।
तह जं ति पीओ ति, पुरिसो ति निगद्यते ॥

लुप्त-य र-व-श-प-सां शपसां दीभिः ॥ ४३ ॥

येवामुपर्येषस्ताद् ना, शपसां यान्ति शोपताप ।
यथाः शपसा वाऽपि, नेयां स्यादादिदीक्षेता ॥
शस्य यलोपे ' पद्ययत्, पासहं ' ति निगद्यते ।
' कश्यपः कासवो ' ' श्राव-शयकामासास्यं ' तथा ।
रस्य शोपे तु ' विश्रामः, वीसामो ' संप्रयुज्यते ।
' विश्राम्यति वीसमह ' , मिश्रे मौसं च ज्ञयतेने ॥
चलोपे त्वश्व श्रसो स्यात्, शलोपे तु मनः शिला ।
मणामिज्ञा , च दुःशास-नोऽपि दुःसासणो प्रवेत् ॥
पकारस्य यलोपे तु, सिष्यः सीसोऽपिधीयते ।
तथा रलोपे वर्णोऽपि, वासा चायं धलोपेन- ॥
विष्वाणः स्याच्च वीसाणो , विष्वाक् वीसु च ज्ञाप्यते ।
परय शोपे तु निष्पको, नीसिचो, सस्य शोपमे ।
सस्यं सासं कस्यचित् तु , कास-रंति रलोपेने ॥
चक्र ऊवो च विश्रमः , वीसमोऽप्य चलोपने ।
ति स्यः नीसो , सलोपे तु, निस्सहः नीसदो भवेत् ॥

अतः समुच्चयादी वा ॥ ४४ ॥

समुच्चयादिषु दीर्घ- स्या-दकारस्याऽऽपिदमस्य वा ।
सामिधी च समिधी , नवति पसिधी च पसिधी ॥
परमं तु पायमं स्यात् , पाडिवश्रा पसिचआ वेद्या ॥
पासुलो च पसुलो , पसिचिधी पसिचिधी स्यात् ।
सारिस्त्रोऽपि सारिस्त्रो, तथा मणोसो च मणोसो ॥
मार्णसिणी मर्णसिणी , अदिआह आहिआह वा ।
पारोहो तु परोहो , नवति पवास्व च पवास्व ॥
पाडिचिधी पाडिचिधी , समुच्चयादिर्यं गणः- ॥
समुच्चिः प्रतिचिच्छि, प्रतिस्पर्षी मनसिनी ।
प्ररोहः प्रकटः प्रतिपत् , प्रसुतोऽप्यानिगाति च ।
सहकृञ्च मनस्वी च , प्रवासां चैवमादयः ।
तेन प्रवचनं पाच-यणं , अरुपशो आर्णसो ।
परकीयं पारकेरं , पारकं चापि पञ्चने ।
चतुरतं चाऽरतं , इत्यार्यापि च सिध्यति ।

दक्षिणे हे ॥ ४५ ॥

दक्षिणे दक्ष्य दक्षीं हे , परे स्वाद् , दाहिणो यथा ।
'ह' इति किं ? , स्वाद् दक्षिणो, यथा द्वािर्वाऽथ न भवेत् ।

ः स्वमादौ ॥ ४६ ॥

स्वप्नादिषु भवेद्विन्ध-मादेरस्येह तद्यथा-।
स्विणोऽस्विणो, श्राव्यं, उकारः-सुमिणो यथा ।
स्विणोऽस्वि, बेसिः, विस्मिन् विभ्रणं च उल्लिख्यो मिरिञ्चं ।
किष्णो तथा मुङ्गो, दिष्णं चत्यादि बोद्धव्यम् ।
पान्थाजाव न भवति , बहुलत्वाद्यर्थं विधिः ।
यथा ' दत्तं देवदत्तो, ' नात्रासौ सप्रयत्नेने ।
स्वप्नो मुद्गः कृपणो, दत्तो मरिच-यन्तर्वा ।
म्यलीक-म्यजनं ईषद् , उत्तमश्रेह पठ्यते ।

पकाङ्गार-लुङ्गादि वा ॥ ४७ ॥

पक्वाङ्गारलुङ्गादि-ध्यादेवैत्वं , यथा-पिकं ।
पकं , इङ्गातो भ-ङ्गारो , णिङात् णङात् च ।

मध्यम-कर्मो द्वितीयस्य ॥ ४८ ॥

मध्यमे चैव कतमे, द्वितीयस्य स्वरस्य तु ।
इत्वं स्थानां यथा रूपे , ' मज्जिमां ' कर्मो ' इमे ।

सप्तम्यो वा ॥ ४९ ॥

सप्तम्यो षिन्तीयस्या-कारस्येत्वं विकल्पनात् ।
उत्तिवधो ह्यत्तवधो , स्यातां रूपे इमे यथा ॥

मयट्यदर्वा ॥ ५० ॥

अइमैयदि प्रत्यये स्या-दादेरस्य तु वा यथा-।
विषमयः-विसमभ्रो , स्वाद् विसमश्रोऽपि च ॥
इहैरे वा ॥ ५१ ॥

हरशब्दे हकारस्या-कार इत्ये विकल्पनः ।
यत् स्वमापद्यते तेन , ' इरो हरो ' ऽऽनिर्धायते ॥

ध्वनि-विष्वचोरुः ॥ ५२ ॥

ध्वनिवाद्ये तथा विष्वक्-शब्देऽकारस्तु यः खलु ।
तस्यात्वं क्रियते तेन , ' कुणो धीस्तु ' च सिध्यते ॥

चार्द्र-सार्द्रते या वा ॥ ५३ ॥

चण्डस्य-शिटयोऽस्य, स्वणस्यात्वं विकल्पते ।
तेन चपमं सुद्र रूपं, चादिभ्यो चादिभ्यो नवेत् ॥

मत्रये वा ॥ ५४ ॥

मत्रये तु वकारस्या-कारस्योत्वं प्रमज्ज्यते ।
' मत्रा गत्रा ' चेतन, रूपं विक्रिमुपागतम् ॥

प्रथमे प-थोर्वा ॥ ५५ ॥

प्रथमस्य पथोरस्य, योत्वं स्यापुपागतं क्रमात् ।
पुद्गमं पुद्गमं तेन, पुद्गमं पद्गमं तथा ॥

ज्ञो णत्वेऽजिङ्गादौ ॥ ५६ ॥

अभिधादिषु शब्देषु, क्तस्य शब्दे कृते पुनः ।
इस्यैव यस्यकारः स्यादुत्वं तस्य विधीयते ॥
यथा-अहिरण्यं तत्रयण्यं, आगमण्यं कयण्युणा ।
' गुप्ते ' च किम् ? , यथा-'सन्व-जो' 'अहिज्ञो' भवेद्विद्यम् ॥
'अभिधादाविति' च किम् ? , प्राहः पथो भवेद् यथा ।
मथोत्वं क्तस्य शब्दे स्यात्, सांभ्रिकाविरण्यः स्मृतः ॥

एच्छय्यादौ ॥ ५७ ॥

शय्यादिषु भवेदेव-मकारस्यादिमस्य तु ।
सेज्जा पथ्य च सुन्दरं, गेन्दुञ्च चैवमादयः ॥
आप्ये पुराकर्म पदं, पुरेकर्म प्रयुज्यते ॥
वह्युत्कार-पर्यन्ताथ्ये वा ॥ ५८ ॥
वह्युत्कारपथ्येन्ता-अथेऽकारस्य चैवमादिभ्युः ।
तेन हि वेङ्गी वङ्गी, उङ्करो उङ्करो , भ-ति ॥
पेरन्तो पञ्जन्तो, अचङ्करं अचङ्करिञ्जं च ।
अचङ्करिञ्चं अचङ्करं, तथाऽचङ्करीञ्चं विनिर्दिष्टम् ।
म्राञ्चये चः ॥ ५९ ॥

म्राञ्चये चकारस्या-कार एवमभानुयात ।
अतो बुधा म्राञ्चये, बम्हचेरं प्रयुज्यते ॥

तोऽन्तरि ॥ ६० ॥

अन्तः शब्दे लकारस्या-कारस्येत्वं विधीयते ।
तस्मादन्त-पुनं ' अने-उरं ' विद्भिर्निरुच्यते ॥
अन्तश्चारी भवदन्त-आरो , नाथे क्वचित् विधिः ।
यथा-' अंतमयं ' ' अंतो, वीसम्भो ' विनिगद्यते ॥

ओत्पञ्चे ॥ ६१ ॥

ओत्पञ्चेरतः पञ्च-शब्दे, ' पोम्भ ' ततो भवेत् ।
पञ्च-लुङ्गात् (८ पा० १२) सुत्रेण, चिञ्छेपे ' पडमं ' स्मृतम् ॥

नमस्कारपरस्परं द्वितीयस्य ॥ ६२ ॥

द्वितीयस्याऽन्त आत्वं स्यात्, नमस्कारपरस्परं ।
अतो रूपं सुनिष्पन्न- ' नमोऽकारो ' परेत्परं ॥

वापौ ॥ ६३ ॥

आदेरस्य तु वीत्वं स्याद् , धानावर्षयतो यथा-।
रूपं ' श्रोत्पञ्चं श्रोत्पञ्चं, आदिपञ्चं अपिच भवेत् ॥

स्वपयुञ्च ॥ ६४ ॥

' स्वप ' धानो क्रमनः स्याता-मादेरस्योऽनुनी स्वरौ ।
तेन ' सोवइ स्वपञ्च ' इय रूपं विभाष्यते ॥

नात्पुनयादाऽ वा ॥ ६५ ॥

मत्राः परे ' पुनः ' शब्दे , यस्त्वकारोऽस्ति तस्य तु ।
' वा वाऽ ' इत्यादेशौ वा , स्यातामिष्यभिधीयते ॥
' न उषा न उषाऽ ' स्याद् , न उषा न उषा ' उष्यम् ।
केवलस्यापि यद् रूपं , ' पुषाऽ ' क्वापि हश्यते ॥

वाऽऽन्वयरेण्ये लुक् ॥ ६६ ॥

अन्वयरेण्ययोर्वाऽऽन्वय-कारस्येह लुग्नयेत् ।
सात्वं अलात्वं वा लात्, अलात्क च विकल्पनात् ॥
एषं रण्यं अरण्यं स्यात् , ' अन् इत्येत्वं नास्यथा ।
' आरण्य-कुञ्जरो ' नैव-त्यादाव्यालेप हश्यते ॥

वाऽऽव्ययोत्त्वात्तादावदात् ॥ ६७ ॥

अव्ययेषु तथोत्त्वाता-दिष्वाकारस्य बाह्यं भवेत् ।
तत्राऽव्ययं ' जह जहा, ' रूपं ' नह नहा ' तथा ॥
' य वा ' ' इ हा ' ' इहाऽइय ' प्रमुखा बहवा मता ।
उत्त्वातादौ तु-उक्त्वात्वं, उक्त्वात्वं, चमरो तथा ।
चामरो, कलभो काल-आ परिच्छाविभो पुनः ।
स्यात् परिच्छावित्वा, संतो-विभो संतविभो पद्मम् ॥

सहषण्डं तालवण्डं, त्रिषिभो त्रिषिभो भवेत् ।
 तल्लघोपेयं तालघोपेयं, पायसं पयसं, स्मृतम् ॥
 इतिभो ह्यसिभो, नारा-भो नराभो च, आरं ।
 अरं, कुमरो वाच्यः, कुमरो, बलधा पुनः ॥
 बल्लघाया, बाम्बणो बम्ब-णा, पुत्रघायेते मत्तल्लरे ।
 पुत्रघण्डो च, चक्रु जाड्यु, दावर्गो च दवर्गयि ॥
 उन्नात चायरं ताल-वुण्डं माक्रुतहासिकी ।
 स्यापितः कालको नारा-चो बल्लाक च आदिरः ॥
 कुमरो, ब्राह्मणः पूर्वा-द्वधेमी कल्पविम्बते ।
 उन्नातादिरयं धीरे-राकृन्धा परिगल्पते ॥
 पञ्चवृत्तेषु ॥ ६७ ॥
 प्ररुनिमित्तो हृदिक्रमे, य आकारोऽस्तु तस्य याऽव् ।
 'पवाहो पवहो' वा स्यात्, 'पयोरा पयरो' तथा ॥
 'पत्थायो पत्थयो' क्वापि, न 'राओ' शययाचकः ।
 महागण्डे ॥ ६८ ॥
 महागण्डे हकारस्या-ऽऽकारस्य स्वद्विविधानतः ।
 'मरददृ मरदघो', 'पंतपुंसकनो भवेत् ॥
 मांसादिपुनस्वारे ॥ ७० ॥
 कृतानुस्वांगमांसादा-वाकारो यात्कारताम् ।
 मंसं कंसं तथा पंसं, पंसणो कंसिधोऽपि च ॥
 संसिभो पंसयो संसि-किभो संजंसिभो यथा ।
 'अनुस्वारे' स्नि कथम् ? 'मांसं पात्' न चाऽतिह ॥
 मांसं पात्सं पंसं न कांसिकं वांशिकपात्सुवै ।
 पांशुः सांसिक्कः सांया-त्रिको मांसादिरिष्यते ॥
 उग्रामाके मः ॥ ७१ ॥
 उग्रामाके तु मकारस्य, य आकारोऽस्ति नस्य तु ।
 अदादेशेन उग्रामाकः, 'सामाओ' विनागधते ॥
 ६ः सदादौ वा ॥ ७२ ॥
 सदादिशब्देभ्यन्वं स्या-वाकारस्य विभाषया ।
 'सया सह' च वा रूपं, कुण्पासो कुण्पिसोऽपि च ।
 'निसामरो निसिभरं', तथैवान्वं सदाद्यः ॥
 आचार्ये चोऽच ॥ ७३ ॥
 आचार्येयान्दे कस्याऽऽन-इत्यमन्वं च वा भवेत् ।
 रूपं 'आयिभो' तेन, सिद्धम 'आदिभो' तथा ॥
 ईः स्यान्-खव्योऽ ॥ ७४ ॥
 स्यान्-खव्योऽयोरादे-रान इत्वं विधीयते ।
 वीणं धाणं तथा धिभं, खलीभो तेन सिद्धति ॥
 उः साक्षा-स्तावके ॥ ७५ ॥
 साक्षा-स्तावकयोरादे-रात उत्वं निगद्यते ।
 तेन सास्ना भवेत् 'सुगहा', स्तावकः 'धुवभो' भवेत् ॥
 ऊऽऽसमारे ॥ ७६ ॥
 आसारशब्दे स्यादादे-रात क्तव विभाषया ।
 तेन सिद्धति 'ऊसारो, आसारो' रूपयुग्मकम् ॥
 आयायां येः इवश्राम् ॥ ७७ ॥
 वस्यऽऽन ऊत्वं 'आयायाम्', 'अज्यु' श्वश्रवां ततो भवेत् ।
 'श्वश्रवामित' नु किम् ?, अजा, साध्वी श्रेष्ठऽपि मरयते ॥
 पद् श्राद्धे ॥ ७८ ॥

प्राहाराभ्ये भवेदेस्व-मातो गेज्जं ततो भवेत् ।
 द्वारं वा ॥ ७९ ॥
 द्वारशब्दे जवेदेस्व-माकारस्य विभाषया ।
 द्वरं पक्के दुध्मारे स्यात्, द्वारं वारं पदं तथा ॥
 'नेरदभो नारदभो', स्यातां नेरयिकनारकिकयोस्तु ।
 द्वार्येऽन्यत्रापि यथा, 'पच्येकमंसं' तथाऽन्यदपि ॥
 पारापते रो वा ॥ ८० ॥
 जवेद पारापते रस्या-ऽऽकारस्यैवं विकल्पनात् ।
 तेन 'पारेवधो पारा-वभो' रूपद्वयं मतम् ॥
 मात्रटि वा ॥ ८१ ॥
 स्यान्मात्रदप्यये वाऽऽन-एत्वं रूपद्वयं ततः ।
 एकं 'एत्थिभमेत्वं ए-त्थिभमेत्वं' तथाऽपरम् ॥
 बहुलाद् मात्रशब्दे 'भो-अणमेत्वं' ततो जवेत् ।
 उदात्ताऽऽर्द्धे ॥ ८२ ॥
 आकारस्याऽऽर्द्धशब्दे स्या-दुत्सभेत्वं विभाषया ।
 'उद्ध भ्रांद्ध' तथा पक्के, 'अद्ध अर्द्ध' च वा जवेत् ॥
 आदान्यां पङ्क्तौ ॥ ८३ ॥
 'शाली' शब्दे जवेदान-श्रावत्वं पङ्कथभेद्यते ।
 'शाली' पङ्क्तौ विज्ञानीयात्, 'शाली' नाम, सखी यदि ॥
 इत्स्वः संयोगे ॥ ८४ ॥
 दीर्घवर्णस्य इत्स्वत्वं, संयोगे परतो जवेत् ।
 तथादाशुन वधं, न सर्वत्र विधीयते ॥
 तान्न 'तन्वं' आन्नं 'अम्बं', 'आस्यम्' 'अस्सं' प्रयुज्यते ।
 मुनीन्द्रस्तु 'मुण्णन्दा' स्यात्, तीर्थं 'तिथ्यं' तथा पुनः ॥
 गुरुङ्गापाः 'गुरुङ्गाया', चूयोः 'चुयो' प्रयुज्यते ॥
 नरेन्द्रस्तु 'नरिन्द्यो' स्यात्, 'मिलिन्द्यो' मूळक उच्यते ॥
 अथरोष्ठो 'ऽहर्कृ' सं-वेद्यं, नीलापत्रं तथा ।
 'नीलुपत्रं' विज्ञानीया-देवमन्यद् निर्दशनम् ॥
 इत् एद्गा ॥ ८५ ॥
 संयोगे तु परे वाऽऽदे-रित् पत्वं विभाष्यते ।
 पिणमं पणमं च धम्मिद्धं, धम्मिद्धं विबुधा विदुः ।
 स्यात् सिन्दुर् नु सन्दुर्, विरदु वषट् निगद्यते ।
 'पिट् पेट्' अगित्यवात्, 'चित्ता' इत्यत्र नो जवेत् ॥
 किञ्चोके वा ॥ ८६ ॥
 एवं वाऽऽदेरितो घेवं, किञ्चोके वाचके यथा ।
 'कसुभं किसुभं' वित्, द्वयं रूपं वित्तुधुयाः ॥
 मिरायाम् ॥ ८७ ॥
 भवेदेस्वमिकारस्य मिरा मेरा ततो भवेत् ।
 पथि-पृथिवी-मतिश्रुन्मृषिक-द्विरिच्छा-विचिंतिकेत्स्व ॥ ८८ ॥
 पथि प्रतिश्रुत पृथिवी, द्विरिच्छा-मृषिकं तथा ।
 विभीतकं जवेदादे-रितोऽन्यमिति मरयते ।
 पदे च पुत्रवो पुत्रवो, पदसुभा मृसभो दलही तु ।
 वा स्यादत्र हलहा, 'वहेरुभो' क्वापि वैकल्प्यम् ।
 'पंधं किर देसित', 'न्यत्र नु पंधशब्दतुल्यवाच्यस्य ।
 पन्धशब्दस्य रूपं, हानव्यं शब्दविक्रितम् ।
 शिथिलोद्भूदं वा ॥ ८९ ॥
 शिथिलोद्भूदयोरादेरितोऽच् वा संप्रयुज्यते ।

सदिलं प्रवति पसदिलं, सदिलं पसदिलमिहा प्रवथेकस्यत्वात् ।
इह्नुअमद्भूममिह्नुद-शब्दे रूपस्यै बोधयुम् ॥

तिसिरो रः ॥ ९० ॥
रस्येतोऽस्य तिसिरो स्यात्, तेन रूपं हि 'तिसिरो' ।

इतो तो बाक्यादौ ॥ ९१ ॥
बाक्यादेरिति शब्द-स्याऽन्यस्येतोऽत्र संभवत्यस्यम् ॥
'इअ' शब्दप्रवासात्, 'इअ' विभक्तिसं-कुसुमस्येऽपीह ॥
ईमिहा-सिह-त्रिशद्विशतो त्या ॥ ९२ ॥

त्रिहाविषु इकारस्य, इकारः संप्रयुज्यते ।
'जोहा' सीहा 'तथा' 'तीसा', यत् निरुत्तरं न्या सद ॥
'बोसा' इति प्रवेद रूपं, किन्तु क्वापि न जायते ॥
'सिहदसो' 'सिहरासो' इति बाहुल्लकामतम् ॥
लुकि निरः ॥ ९३ ॥

निरो रलोपे क्षीप्तेः स्या-द्विकारस्येति शब्धेन ।
स्याद् 'नीसासं' 'नीसरह', एवमन्यजिदशंनम् ॥
'लुकाति' किम् ? , यथा-निरस-दाइं अगाई, निरणभो ।
द्वित्र्यारुत् ॥ ९४ ॥

त्रिशाब्दे न्युपसर्गे च, अवेदुत्वमितो यथा- ।
दु-मत्ता च दु-आई च, दु-रेदो दु-विहो तथा ॥
दुबयणं, वैकल्प्यं च, प्रवेदु बाहुल्लकादिह ।
दु-बणो बि-उणो वैव, दु-अभा बिभंयो यथा ॥
'काबिच' द्विरः शब्धो, 'दिरभो' स्याद् द्विजो 'दिभो' ॥
भास्यं क्वापि यथा रूपं, 'दो-बयणं' प्रपठ्यते ॥
स्याद् 'लुमभो' 'लुम-अर', न्युपसर्गे निर्वर्णनम् ।
अनित्यत्वाद् 'निवद', प्रवर्तनीत्यादि चुरित्शः ॥
प्रवासीकौ ॥ ९५ ॥

इकौ प्रवासिनि तथा, प्रवेदुत्वमितो, यथा- ।
'उच्च' 'पाषासुयो' 'वैतद, इयं व्यादिप्यते पदम् ॥
युधिष्ठिरे वा ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिरे भवेदावे-दित् अस्वं विकल्पनात् ।
अहृचिलो ततो रूपं, विकल्पेन जइचित्तो ॥

ओश्च द्विधा कुगः ॥ ९७ ॥

वचनोत्सवं द्विधाशाब्दे, वा कृपातावितः परे ।
'दोहा-किअह' तेन स्यात्, 'तुदा-किअह' इत्यपि ।
दोहा-इभं तुदा-इअ-मिति, 'कुग' इति किं ? , 'दिहाऽऽगभं' येन ।
क्वचित् केवलस्य स्यात्, 'तुहा वि सो सुर-बहु-सग्धो' ।
वा निजरे ना ॥ ९८ ॥

निजरे तु नकारेण, सहेतो वीस्वमित्यने ।
'भोत्तुदरा' 'नित्तुदरा' 'वेना-दरा' रूपं बुधा विदुः ॥
हृरितक्यामीतोऽनु ॥ ९९ ॥

हृरितक्योपदे रीक्षा-रस्येतोऽस्यं विधीयते ।
रूपं 'हरदई' तेन, बुधैरेवं प्रयुज्यते ।
आनु करर्मीरे ॥ १०० ॥
आस्वमीतोऽस्तु करमीरे, 'करदारा' तेन सिद्धति ।
पानायाद्विष्वत् ॥ १०१ ॥

पानीयादिवु शब्देषु, स्यादतीतोऽनेत्वमभूयम् ।
पानिषं आसिषं आसि-भेतं जिअह आसिषं ॥
विलिषं करितो वन्मि-भो तयाणि च जीअउ ।
दुरभं तरभं गदित, गदित् सिरिसो च पलिविषं पलिस्र ॥

वयिष्ममिति संघेधः, पानीयविर्गेषो विबुधा ।
बाहुल्लकत्वात् क्वचित्पे, स्याद् वैकल्प्यं ततः करीतोऽपि ॥
पारीअ च अलीअं, उवलीओ जीअह स्यात् ॥

पानीयं क्वाचित् वत्सी-कं नदानीं प्रदोपिनम् ।
अवसादलोको वा-ऽऽनीतं जावति जीवतु ॥
उपनीतं गृहीतं च, शिरीषं च प्रसीद च ।
गभीरतुनीयकरी-बन्दिनीयादयः स्मृत्याः ॥
उज्जाणौ ॥ १०२ ॥

जीर्णशब्दे भवेदीत-उत्सवं ज्युष-सुरा ततः ।
जिषे भोअणमत्ते च, नात्र बाहुल्लकत्वात् भवेत् ॥
ऊर्दानी-विहीने वा ॥ १०३ ॥
ऊत्सवं हीने विहीने स्या-दीकारस्य विभाषया ।
दृष्या हाणो विहीणो च, विदृषो सिद्धिमाययुः ॥
तीर्थं हे ॥ १०४ ॥

ऊत्समीतो भवेत् तीर्थ-शब्दे हे तु कृते सति ।
तूह, 'हे' इति किं प्रोक्तम् ? , 'तिर्थं' नात्र यथा-भवेत् ॥
एत् पीयूषापीद-विभीतक-कीटशेष्टो ॥ १०५ ॥

पीयूषापीद-विभीतक-कीटशेष्टो स्यादेत्वम् ।
पेकस आमेलो, बहेदभो केरिसो परिसो ॥
नीद-पीठे वा ॥ १०६ ॥

नीदपीठयोरीतो, वा स्यादेवं तत्तच्च सिद्ध्यन्ति ।
नेदं नीदं पेदं, पीदं क्वाप्यन्यथाऽपि स्यात् ॥
ततो मुकुलादिष्वत् ॥ १०७ ॥

मुकुलादीनामादे-कतो भवेदत्वम् तत्रेन स्युः ।
मउलं मउलां मउरं, मउदं अगदं गल्लरं च ॥
जइद्विलोऽय च गरई, जइद्विलो सोअभ्रममिति शब्धाः ।
कचिदाकारोऽपि स्याद्, यथा-विदुनस्यु 'विदाभा' ॥
मुकुलां मुकुरो गुर्वी, सौकुमार्यं-युधिष्ठिरे ।
अगुरुभं मुह्वी च, मुकुदं मुकुलादयः ॥

वांपरी ॥ १०८ ॥
उपरी स्यादुतो वाऽस्त्वम्, अघरि उवर्णि यथा ।

गुरी के वा ॥ १०९ ॥
गुरोः कृते स्वार्थिके के, वाऽस्त्वमादेकतो भवेत् ।
गदभो गुरुभो रूपे, कं विना तु 'गुरु' स्मृतम् ॥

इह्नुकुटौ ॥ ११० ॥
मुकुटौ स्यादुत्तभादे-तिष्वं हि 'निउडी' भवेत् ।
पुरुषे सोः ॥ १११ ॥

पुरुषे रोकतः स्यादः, पुरिसो वा पउरिसं ।
ईः कुते ॥ ११२ ॥

क्षुतं प्रयुज्यते छीभं, भवेदीत्वमुतो यदा ।
ऊत् सुजग-मुमले वा ॥ ११३ ॥
सुजगे मुसले च स्या-दुत् ऊत्सवं विज्ञापया ।
सुदया सुदयां तेन, मुसलं सुसलं भवेत् ॥

अनुत्साहात्सभे त्स्तेजे ॥ ११४ ॥
अःसाहात्सभंअभं यौ, शब्दे त्स्तेजे निरीकृतौ ।
तयाराइकारस्य, नित्यमृष्यं विधीयते ॥

कसुभ्रो ऊसवो ऊसि-सो ऊसरह, उरुकुः ।
ऊसुभो ऊससह च-स्यादि बेधं निदर्शनम् ॥
उत्साहोत्सन्नयोस्तुष्पा-हो उच्छन्नो निगद्यते ।
लुकि दुरो वा ॥ ११५ ॥

डगो रफस्य लोपि स्या-दुग ऊरवं विकल्पनात् ।
दुमहो डमहोऽपि स्यात्, दुहयो दुहयो तथा ।
स्ये लुकीति किं ? मोकं, दुस्महो विरहोऽत्र न ॥
आत् संयोगे ॥ ११६ ॥

घोत्रमादेकनो नित्यं, संयोगे परतो प्रवेत् ।
नोत्रमं मोत्रमं पोत्रमं कोऽत्रमं वा,
कोऽत्रो कोऽत्रो पोत्रमं होऽत्रो वा ।
पोत्रन्तं वा भांगरो पोत्रमं वा,
मोत्रया वैतान्त्वस्य त्रययामि सन्ति ॥
कुण्डले वा इत्यर्थः ॥ ११७ ॥

कुण्डले भवेदोत्सुतो इत्यर्थः वा ततः ।
कोऊदले कोऊदलं, कुऊदलमिति त्रयम् ॥
अदतः सुद्वभं वा ॥ ११८ ॥

सूदमशब्दे प्रवेदत्व-सूतो वा तेन सिद्धयति ।
सपद सुदहं तथाऽप्ये तु, 'सुदुमं' संप्रयुज्यते ॥
दुकूले वा इत्यर्थः ॥ ११९ ॥

दुकूलशब्दे वाशवं स्या-दुनो लक्ष द्विकथयते ॥
दुमद्वं च दुऊदं च, 'दुदुमं' त्वापि उच्यते ॥
द्वौ इत्येव ॥ १२० ॥

दुदुमदशब्दे स्यादीन-भूकारस्य विभाषया ।
'द्व्यादं' तेन 'उच्यते', द्वं विद्वद्भिरुच्यते ॥
उद्वुदुनूत्कारस्य-वागुत्से ॥ १२१ ॥

दुदुनूत्कारपदस्य-वागुत्सेपुत उभेवत् ।
द्वमया इनुमंतो वा-उत्से, कएदुमहं स्मृतम् ॥
मधूके वा ॥ १२२ ॥

ऊत इत्वं मधूके वा, मधुं मधुं यथा ।
इदं नूपुरे वा ॥ १२३ ॥

इदं नूपुरं स्याता-भूकारस्य विकल्पनात् ।
निउरं नवरं पके, नुवरं संसर्कीत्येव ॥

आत् कृष्णादो-त्शीर-कृर-स्थूत-ताम्बूल-
गुहूची-मूये ॥ १२४ ॥

कृष्णादो-स्थूल-ताम्बूल-गुहूची-मूये-कृरिरे ।
त्शीरे च भवत्योत्सुभूकारस्येति दर्शयते ।
काहदो काहदो धारं, तोणीरं कोत्परं तथा ।
मोहं गहोरे तंबोले, म्युक्तमेण प्रदीतम् ॥
स्थूणा-त्पूणं वा ॥ १२५ ॥

स्थूणा-त्पूणयोरेत्यभूकारस्य विभाषया ।
धोणा पूणा तथा ताणं, तूणं वैभवमुदाहृतम् ॥
अतोऽनु ॥ १२६ ॥

अकारस्याऽऽदि नूतस्य, प्रभावस्यमित्येते ।
वृषभो घसहो वाच्यो, वृषो अहोऽनिधीयते ॥
पूतं घयं, तूणं तणं, कृतं कयं, मूणो मूणो ॥
उदारं कृपादिवा-उतोऽप्येवमित्यपि ॥

आत् कृशा-मुद्रक-मुद्वेत् वा ॥ १२७ ॥

मुद्रक-मुद्रक-कृशाया-मारवमुतेः स्यात् यथा किंसा कासा ।
माद्रकं च मरुत्तण-मय माद्रकं च मरुतं वा ॥
इत् कृपादी ॥ १२८ ॥

कृपेत्यादिषु शब्देषु, भवेदित्येवमूणं यथा ।
किंसा मिठं रसे वाच्यं, मद्रुमन्मयत्र पठ्यते ॥
दिशयं दिद्रुं सिठं, दिठो सिठो निवो कियो किंसा ॥
मिठो पिच्छी इषी, मिष्ठी तिप्यं विहं किच्छं ॥
सिगारो त्रिगारो, मिगो किचिभं निजु विणा सुसिणं ।
किसरो किं सिमालो, भिसो विहरो जिहा किचिषो ।
विच-करी वाहिरं, कियो क्षमिषी च सह किसाणूषा ॥
हिभं विबुभो विभं, रसो निस्सो च उकिठं ।
विर्षा तथा विहिरं, किशाणयं वा कृशाणयंते ।
बाहुलकादपि कार्य्यं, वेचं सिच्छेदु यथा रिखी ॥
कृपा सृष्टं सृष्टं इत्य-भ्यु-सृष्टं कृपुणो,
पूणा इष्टिः सृष्टिः कृति-पुसृण-सृष्टिः कृशाहती ॥
वृषो पृष्वी कृत्या कृषित-कृपणो वृषिकृषती ॥
नृशासो भृक्षारः कृशर-सकृतो व्यात-श्रुपी ॥
उकृष्ट-संहित-शृगाल-कृशात-गृष्टि-
शृक्षार-वृक्षकवि-वृष-कृपाण-तृसाः
श्रुष्टि-सृष्टे अथ वितृण-समृष्टि-कृष्ण-
शृक्षारो वृष्टिरपि तः३३ कृपात्यः स्युः ॥

पृष्टे वा-ऽनुसरपदे ॥ १२९ ॥

स्यात् पृष्टे-ऽनुसरपदे, वेर-वसृष्टस्य, तद्यथा-
पिठो पठो पिठि, परि-दुविभं संप्रयुज्यते ॥
किमनुसरपदं इति ?, महिचवं यथा भवेत् ।

मसृणभृगाङ्ग-सृत्य-मृङ्ग-पृष्टे वा ॥ १३० ॥

मृष्टे पृष्टे मृगाङ्गे च, सृष्टी च मसृणं तथा ।
शृकारस्य भवेदित्येव, विकल्पेनेति दर्शयताम् ॥
स्यात् मिश्रङ्गो मयङ्गो वा, मिच्छं मच्छं च पठ्यते ।
सिगं संगं विजानीयाद्, पिठो अहोऽपि गद्यते ॥

उहत्वादी ॥ १३१ ॥

श्रुत्वादीनामृकारस्य, भवेदादेककारता ।
उक पुठो परापुठो, पउठो पुष्टं पुष्टं ।
पउषो पाउसा हुदा-वणो वुठो च नित्युत्तं ।
पाउभो पाउष्टं वुष्टी, उज्जु वुत्तन्त संभुभं ।
निवृषं निवृषं जामा-उभो माउभो भाउभो ।
मुणालं च परदुभो, हुवं पदुष्टि निवृष्टं ॥
विउभं उलहो पिउ-भो, पुहुवो च माउभो ।
अतः परामृष्टमुणालवृन्दा-वनमृष्टिप्रभुनिमृष्टः ।
वृन्तं भ्राम्रात्कामात्कामा-वृत्तं जामात्कृष्टिद्वयाः ॥
विवृत्तनिवृत्तवृत्ता-स्ताभ्युत्तिप्रभुत्तमा-
वृत्तपत्कृष्टिव्यः, संवृत्तमावृष्टी च ।
परभृत्तनिवृत्तस्य-द्वानि निवृत्तपृष्टी,
परिपठति च श्रुत्वा-दिं गणं निवृत्तिश्च ॥
निवृत्त-वृन्दारके वा ॥ १३२ ॥

अत उरवं वा वाच्यं, निवृत्तवृन्दारके परे तु यथा ।
वृन्दारया च वन्दार-त्या निवृत्तं निवृत्तं च ॥

[सिक्छेम् ०]

वृषभे वा वा ॥ १३३ ॥

वृषभे वेन साकं स्या-दकारस्योत्वमत्र वा ।

'उसहो वसहो' चैता-दृशं रूपं प्रयुज्यते ॥

गौणान्त्यस्य ॥ १३४ ॥

शुषीभूतस्य शब्दस्य, योऽन्त्यं श्च्युत् तस्य उद् भवेत् ।

स्याद् माउ-मपहलं, माउ-हर्त् पिउहर्त् तथा ।

माउ-सिआ पिउ-सिआ, तथा पिउ-वणं स्मृतम् ॥

मातुगिद्धा ॥ १३५ ॥

माउ-शब्दस्य गौणस्य, श्चुत् इत्वं विकल्पते ।

माउ-हर्त् माउ-हर्त्, कापि माउ-णमिष्यते ॥

उद्दोन्मुषि ॥ १३६ ॥

भौबुद्धच क्रमादेनद्, मृयाशब्दे भवेदहनः ।

मोसा मृसा 'मृसा मोसा-वाभो' चेदक प्रयुज्यते ॥

इदुतो वृष्ट-वृष्टि-पृथक्-मृदङ्ग-नमके ॥ १३७ ॥

वृष्टौ वृष्ट मृदङ्ग च, नल्पके पृथगव्ययं ।

श्रकारस्येदुतो स्यातां, तदुदाहिहयने यथा-॥

स्याद् मिहङ्गो मुहङ्गो वा, नांलभो नलभो तथा ।

विठो वुठो तथा विठो, वुठो रूपं पितृं पुहं ॥

वा वृहस्पतौ ॥ १३८ ॥

वृहस्पतो भवेद् श्चुतो, विकल्पनादिबुद्ध तथा ।

विहृफर्हं वुहृफर्हं, बहृफर्हं च पालिम् ॥ [नगस्यकपिणीं०]

इदेदोद्भूते ॥ १३९ ॥

श्रकारस्य भवेदित्त्वमेवभोश्च यथाक्रमम् ।

तेन दृप्तं भवेद् 'विदृष्टं, चवेष्टं वा'० ट' विधाऽऽत्मकम् ॥

रिः कवलस्य ॥ १४० ॥

केवलस्य श्चुतो रिः स्याद्, 'रिच्छो रिच्छो' ततो भवेत् ।

क्रुणञ्चैषनत्पौ वा ॥ १४१ ॥

श्रुणञ्चुत्प्रपनञ्चतुक्प्रिषु, श्चुतोऽस्तु वा रिः रिषो अणं रिञ्चुः ।

उञ्च् 'रिसहो रसहो', रिक् उञ्च् स्याद् 'रिसो' इस्मि रूपम् ॥

दृशः क्पि-टक्नमक ॥ १४२ ॥

क्पि टक्-सगन्तस्य दृशो-धातोः रिः स्याद् श्चुतो यथा ।

'सहृण्योः स्त्रियधो', सहृशः सरिसो भानः ॥

सहृणस्तु 'सरिच्छो' स्याद्, यादृशो आरिसो भवेत् ।

पयं पयारिसो अशा-रिसो अशारिसो तथा ॥

तारिसो केरिसो तुम्हा-रिसो सन्हाह चुरिशः ।

त्प्राधाण्यादि- (५१, १५२) सूत्रोक्तं, प्रत्ययः किबिहृष्यते ॥

आहते हिः ॥ १४३ ॥

आहते तु श्चुतो हिः स्याद्, 'आदिभ्यो' तेन सिद्धयति ।

अयिदृष्टे ॥ १४४ ॥

दृशशब्देऽरिरादेश-अकारस्य विधीयते ।

कससिहंन दृरिअ-लीदेणेति निगद्यते ॥

सुन इक्षिः कृप्त-कृषे ॥ १४५ ॥

कृप्त-कृषयोरमयो-सुन इक्षिरादेश इत्यते तेन ।

धागाकिल्लवच, कालिप्र-कृणुमोवायंगु ॥

एत् इद् वा वेदना-चंपया-देवर-केमरे ॥ १४६ ॥

वेदनायां चंपयायां, देवरे कसेरं तथा ।

एत इत्वं विकल्पेन, भवेदित्त्ववगम्यताम् ॥

विभ्रणा वेत्रणा वा स्यात्, चवेडा चविडा तथा ।

दिभ्रतो देवरो वेधाः, किमरं कसेरं मतम् ॥

ऊः स्तेने वा ॥ १४७ ॥

एत ऊत्तं तु वा स्तेने, पूषां धेयां इयं जनेव ।

एत एत् ॥ १४८ ॥

येकारस्यादिभूतस्य, भवत्यस्यं ततो भवेत् ।

वेदस्यं केदवो वेडो, सेला एरायणो तथा ॥

तेषुक्कं चैव कलासां, कृपाणयेनामि सन्ति च ।

इत् सैन्धव-शानैश्वरं ॥ १४९ ॥

एत इत्वं अयोक्षित्यं, सैन्धवं च शानैश्वरं ।

साण्यचरं सिधवं च, इयं रूपं प्रसिष्यति ।

सैन्धे वा ॥ १५० ॥

एत इत्वं तु वा सैन्धे, 'सिधं सैन्धं' ततो इयम् ।

अश्रद्धेयादौ च ॥ १५१ ॥

पेतोऽश्रः सैन्धशब्दे स्याद्, शैत्यादौ च तथा गणे ।

सैन्धं सश्रं सप्रोक्तं, शैत्यादिभिरुच्येऽणुना-॥

अश्रस्रिभ्रं वश्रजवणां, वश्रभ्राश्रं च कश्रभ्रवं सश्रं ।

वश्रएसो च दश्रं, चश्रं वश्रं च-वश्रं सश्रं ।

वश्रशो च वश्रं-गुरो वश्रं च-वश्रं सश्रं ।

अश्रव इति शैत्यादि-गणां कुषेयादृणः पूर्वैः ॥

'विनेष्टे तु न जवति'—चेदश्रमितं चैत्र इत्यने रूपम् ।

आयें-—चैत्रयन्त्रं च-वश्रण-—मुच्यते सश्रः ।

शैत्यां शैत्यं भैरवो शैवं च, यनाश्रं चैत्रं च-वश्रं च-वश्रं ।

शैत्यां शैत्यां-वश्रं-भ्राश्रं च-श्रं शैत्यां शैत्यां च-वश्रं च-वश्रं ।

आश्रया गणयेते यस्माद्, न सश्रयानियमस्ततः ॥

वैगदौ वा ॥ १५२ ॥

वैगदिषु भवेदौ-—ऽश्रादेशो विकल्पनात् ।

तेन रूपद्वयं वैदं, 'वदरं वदरं' मीदृशम् ॥

कश्रान्तो कलासां, वश्रयणो वश्रये च वेस्यणो ।

वश्रान्तिभ्यो च वेश्रा-लिभ्यो, चश्रो तथा चश्रो ।

कश्रवमितं कश्रवमिदं, वश्रमिदमितं वेसिभ्यं वा स्यात् ।

वश्रं-वायणं-वेसं-वायणकपद्वयं च मतम् ॥

वैदं वैश्रयणां वैश्रा-वायणकपद्वयं-कैरवः ।

कैलासां वैशिकां चैता-श्रिको वैरादिभ्युच्येते ।

एष देवे ॥ १५३ ॥

एत एत्त्वमश्रयं च, देवशब्दे पुधमवेत् ।

देवं दशवं दशवं, रूपययमुदाहृतम् ॥

उभेनीचैरिभ्यः ॥ १५४ ॥

अत्र पनादशादेशो, भवेदौऽविकल्पनात् ।

उभेनीचैरिभ्यः पदे, नीचश्च उरुचश्च तथा ॥

इद् धैर्यं ॥ १५५ ॥

धैर्य-शब्दे जेवनेत-ईशं 'धीरं' ततो भवेत् ।

ओतोऽश्राऽश्राऽश्रा-प्रकाशऽश्राऽश्रा-शिरोवेदना-

मनोऽश्रा-सरोऽश्रा क्तोऽश्रा वः ॥ १५६ ॥

शिरोवेदनाऽश्राऽश्रा-प्रकाशऽश्रा-मनोऽश्रा-सरोऽश्रातोऽश्रा ।

अतोऽश्रां च, क-तयो-योयासेनश्च च शयं स्यात् ॥

अक्षरं भन्तुश्च, मयादरं मणदरं, सिरांविभ्रणा ।
सिराविभ्रणा, भावञ्जं, भावञ्जं सरुहं सरुकरुहमिति ॥
रूपं भवति पवट्टे, तथा पवट्टो प्रकोष्ठशब्दस्य ।
बाहुलकाद्यपि काव्ये, कविदिदं वेद्यं यथास्थानम् ॥

उत्प्लोचवासि ॥ १५७ ॥

भ्रात ऊचं तु सोऽप्यासं, सुसासं सिद्धिमुच्यति ।

गव्यउ-आभः ॥ १५८ ॥

'अभ'-'आभ' इत्यादेशौ, स्या-तामोलस्तु गोपदे ।
गठभ्रा गडभ्रा गाभ्रा, 'गार्धे एसा हरस्स' च ॥

भ्रात भ्रातु ॥ १५९ ॥

भौकारभ्यादिजुनस्य, भवेदेवमिति (सिधतम्) ।
कौमुदी- 'कौमुदे' कौञ्ज- 'कौञ्जे' यौवनमेव च ।
'जौवण' कौस्तुजः 'कान्तु-हो' कौशाम्बा च कौशिकः ।
'कौसर्बा' 'कौसर्बा' रूपं, यथाक्रममुदीरयत् ।

उत् सौन्दर्यादा ॥ १६० ॥

उदादेशो जेवदौनः, सौन्दर्यादिषु, तथापि ।
सन्दरं सन्दरिञ्चं, सुगन्धवर्णं सुवारिञ्चो संमे ।
सुकोश्रणा पुलोमी, मुजायण सुवगिणश्रां प्रवति ।
सौन्दर्य-शांका-पौञ्जामी-दीवारिक-सौवर्गिकाः ।
सौञ्जायनः शौकोदरिनः, सौन्दर्यादिः प्रकीर्तितः ॥

कौञ्जिके वा ॥ १६१ ॥

कौञ्जिकशब्दे स्या-दीकास्त्रोयमत्र वैकल्यम् ।
कुच्छेभ्यं च कोच्छे-भ्यं द्विरुपं समुद्दिष्टम् ॥

अउः पौरादी च ॥ १६२ ॥

कौञ्जिकं च पौरादी, य श्रीकारः प्रपठ्यते ।
तस्य स्याद् अउरादेशः, कउच्छेभ्यमित्यपि ॥
पौरः-पउरा, मौमा-गउमा, सौंधो निघण्टे सवहं ।
कौशसिंह कउसलमिति, पौरुषसिंह पउरिसं वेद्यम् ॥
स्यात् कौरवः कउरवा, सौराः सउरा बुधेनिगण्यते ।
मौलिः-मउली, मौनं-मउवा, कौशालथा कउला ।
पौरा गौरः कौशसं पौरुषं च, सौराः कौशाः कौरवा मौन-सौधौ ।
मौलिः पौरादिगणो धीरवर्षे-राष्ट्राय संख्यायते नेह सख्या ॥

आच गौरवे ॥ १६३ ॥

श्रीन आचम्, अउश्च स्या-दादेशो गौरव पदे ।
स्याद् गारध गउरवं, कविभिः संप्रकीर्तितम् ॥

नाव्यावः ॥ १६४ ॥

भावाऽऽदेशोस्तु नौ-शब्दे, औनो 'नावा' ततो भवेत् ।
पत् त्रयोदाशादी स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन ॥ १६५ ॥

त्रयोदादिषु संख्या-शब्देषु सस्वरेण हि ।
परंण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
यथा-तरद तेवीसा, तेमीसा परिपठ्यते ।

स्थविर-विचकिन्नायस्कार ॥ १६६ ॥

स्थाविरं च विचकिन्नायस्कारं सस्वरेण हि ।
परंण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
थेगं वेह्लं पकारो, विभ्रह्लमपि कश्चित् ।

वा कदले ॥ १६७ ॥

वित्रायथा तु कदल-शब्दे स्वरयुतेन हि ।
परंण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
कयलं कयली कली, कलं रूपचतुष्टयम् ।

वेतः कणिकारे ॥ १६८ ॥

कणिकारे भवेदेवमिति वा सस्वरेण हि ।
परंण व्यञ्जनेनेह कणिकारं कणिकारञ्चो ॥

अथौ वैतु ॥ १६९ ॥

प्राकृते तु विकल्पेना-ऽपिवाशब्दे सस्वरेण हि ।
परंण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
'अद् इम्मलिये' 'पे बा-हेमि' चैवं प्रयुज्यते ।
पेकारस्य प्रयोगोऽपि, प्राकृते नेन हुष्यते ॥
भ्रौत-पूतर-वदर-नवभाभिका-नवफज्जिका-पुगफज्जे ॥ १७० ॥

पुतर-नयमालिकया-नेवफलिकवावदयोश्च पुगफज्जे ।
व्यञ्जनसहितेनाऽऽदेः, स्वरस्य औत्वं परस्वरेणापि ।
नोमालिञ्चा पांफ्फं, मोहलिञ्चा पांफ्फं तथा घोरौ ।
पोगं घोरं रूपं, निदर्शितं काविदेवमम् ॥
नवा मधुख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थे-चतुर्दश-
चतुर्वारं मुकुमार-कुतूहलादृक्कोदुत्सवे ॥ १७१ ॥

उत्सवे चतुर्वारं, सुकुमारं चतुर्दशे ।

उत्सवे मयुखं च, लवणं च चतुर्गुणं ।

कुतूहलं चतुर्थं च, वैकल्यं सस्वरेण हि ।

परंण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥

मोहो मऊहो लवणं, गोगं भवति चोगुणो ।

चउगुणो, चउरथो चा-थो, चउहइ चाहइ ।

चाउवारा च चउवारा, कोउहलं च कोइलं ।

सुकुमालो च सोमालो, भ्रौहल्लो स्यादुऊहल्लो ॥

उऊललं आंफ्फं स्या-देवं सर्वमुदाहृतम् ॥

अवापाते च ॥ १७२ ॥

उने ऽपेऽपेऽप्येयं शब्द-त्रये, वा सस्वरेण हि ।

परंण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ।

'श्रा सरदे' 'अव यरदे', तथाऽवयामां भवच्च 'श्राभासो' ।

'श्रा सरदे' 'अव सरदे' श्रा-सारिअमवसारिअं चैव ॥

श्रा घणं, श्रा घणो, अश-वणमुअ घणोऽप्य च बाहुलकात् ।

'अवगय-अवसहो, उअ, रवी' न चैतवं प्रवत्यम् ॥

उच्चोपे ॥ १७३ ॥

अपसर्गे तुपशब्दे, सार्कं वा सस्वरेण हि ।

परंण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं तथोद् भवेत् ॥

अवदसिअं श्राहसिअं, ऊहसिअं वा अउज्जाश्रां ।

श्राउज्जाश्रां ऊज्जाश्रां, त्रयं त्रयं चात्र रूपं स्यात् ॥

उमो निपण ॥ १७४ ॥

निपण-शब्दे वैकल्य आदेशः सस्वरेण हि ।

परंण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥

ह्यमपणो च गिणसणो च, बुधे रूपद्वयं स्मृतम् ।

प्रावरणे अह्येवाज्ज ॥ १७५ ॥

'अह्यु' 'आअ' इत्यादेशो, शब्दे प्रावरणे स्मृतौ ।

आदिः स्वरस्य स्तः सव्यःञ्जनस्वरपरस्व, वा ॥
पङ्कुरणं पाठरणं, वाकरणमुदाहृतम् ।

स्वरादसंयुक्तस्यानादेः ॥ १७६ ॥

स्यं 'स्वरादसंयुक्त-स्यानादेः' तिङ्बिम्बं त्विवम् ।
इतोऽविकल्पिते काव्ये-सिद्धे, तद् विचिन्त्यताम् ॥

क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायोः लुक् ॥ १७७ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये तेषाम् ।
क-ग-च ज-प-य-वार्ता, प्रायोः लुक् प्राकृते भवति ॥
के-तिर्ययोरो लोभो, गे-नयरे स्याद् नभो मयको च ।
वे-सर्द कथमर्दो स्याद्, जे-वा रययं पयावर्दं च गर्भो ।
ते-जर्द रसायलं, दे-मयणो, पे-रिक्त सुत्ररिंसो च ।
ये-नु विभ्राभो मरणं, वे-लायलो च विउदो च ।
प्रायोःप्रहणात् क्वचिदपि, न प्रयति यद्वत्-पयागजलमगक ।
विबुरो समवाधो हा-प्रायो लुक्सुसुमं तथा सुगर्भो ।
स्वरात् परः किं कथितः ? पुरंदरो संबुजे च संकरभ्रो ॥
किमसंयुक्ताः ?-अक्का, वग्गो कउजं तथैव विष्णो च ।
अच्यो भुत्तो सर्वं, वजं उद्दाम इति च यथा ॥
क्वचिदपि संयुक्तस्य च, नक्वचर इति प्रवेदं यथा रूपम् ।
उक्ता अनादिभूताः, जारो चारो तत्क वषणां ॥
समासे तु विभक्तौर्ना, वाक्यगामानपेक्षया ।
पदत्वं चापदत्वं च, तत्र लक्षयानुसारतः ॥
यथा-भागमिभो आय-मिभो, जलचरस्तथा ।
वाच्यो 'जलचरो' वेदक, सुदरं सुहोत्रोऽपि च ॥
क्वचिदादिरपि यथा 'सपुन-स बण' स्मृतम् ।
सच सोम, तथा चिदं इभं वैव प्रयुज्यते ॥
पिशाचो तु पिशाचो स्या-वस्य जयेन कुञ्चित् ।
स्यस्यो इत्यते क्वपि, तदुदाहियतेऽधुना ।
'एगसं' एकत्वम्, 'एगो' एकाऽमुको-ऽम्गो 'वापि ।
'लोगसुउजोयमरा', 'असुगो' असुकोऽपि 'आगारो' ॥
आकारस्तोथेकरः, 'तिर्यगरो' 'सावगो' विनिर्देहयः ।
भावक इति 'आगरिंसो', आकषेः कस्य गवेऽत्र ॥
व्यत्ययभे- (३।४४७) ति सुनात्, रूपनिष्पत्तिरिष्यते ।
इत्यते चान्यद्व्याप्यं, चस्य दर्शादिधानतः ॥
यथाऽऽकुञ्जनिमित्त्वा-ऽऽऽवेंगं रूपमुत्कृति ।

यमुना-चाभुप-पा-कामुकातिमुक्तके मांऽनुनासिकश्च ॥ १७८ ॥

यमुना चाभुप-पा-कामुकातिमुक्तकेपेपे लुक् मस्य ।
अनुनासिकश्च मस्य, स्यादितिःपुनःसाहचर्ये ॥
'जैऽणा' 'कौठभ्रो' 'जैऽन्-पा' तथा 'अंशुलस्य' ।
क्वचिन्न आयते 'अश-सुतयं' 'अश्मुत्तयं' ।

नावर्णो तु पः ॥ १७९ ॥

अवर्णाङ्गलरस्याना-देःलुक् मस्य न जायते ।
हायथः- 'सवहो' शापः, 'सावां' नादः कदाचन ॥
'परउधो' यतो नात्र, पश्य लोपो विधीयते ।

अवर्णां यश्नुतिः ॥ १८० ॥

कगचजे- (३।१७७) त्यादिसुवात्, लुकि जातेऽवशिष्यते ।
अवर्णाञ्च परीभूतो, योऽवर्णस्त्वस्य यश्नुतिः ।
स्यदं नयरे गया मयेको, रयथ कायमणी पयावर्दं ।

मयणो नयणं कथमर्दो, सयलं तिर्यगरो रसायलं ॥
'सायस्यं' वैव 'पयालं', 'दयात्' इति गृह्यते ।
अवर्णो इति किं प्रोक्तं, 'सवर्णो' 'पषणां' 'कई' ।
'वपदं' 'निहभ्रो' 'वाज', 'राईव' 'निनभ्रो' तथा ।
यभुतिनात्र कर्तव्या, नच 'लोभस्त्व' 'देवरो' ।
प्रवन्ववर्णादित्येव, क्वचित् 'पियइ' इत्यपि ॥

कुञ्ज-करि-कीले कः खोऽगुप्यं ॥ १८१ ॥

कुञ्जकरि-कीलेषु, कस्य वर्णस्य लो भवेत् ।
कुञ्जामिधेयं पुष्य चेत्, तदा वैव विधीयते ॥
'खुउजो' च 'कीलोभो' वैव, 'अप्यरं' च तथैव हि ।
अपुष्य इति किं प्रोक्तं, 'बंधं कुञ्ज-पुष्कयं' ॥
आपेऽन्यथापि 'असिभं' 'कसिनं' 'आसिभं' तथा ।
'कसितं' रूपमप्येवं, विकल्पमिह इत्यते ॥

मरकतमदकक्षेत्रे गः कन्दुके त्वादेः ॥ १८२ ॥

मरकतमदकक्षेत्री, कस्य च गतेन मिञ्जानः कितु ।
कन्दुकशब्दस्यादे-रेव च गत्य विनिर्देश्यम् ॥
रूपं 'मरगयं' मय-गला 'मैतुआमियां'प ।

किराते चः ॥ १८३ ॥

किरातशब्दे चत्वं हि, ककारस्य विधीयते ॥
विधिः पुञ्जित् एवायं, 'विज्ञाभो' इति इत्यते ।
न कामरूपिणि विधिः, 'नमो हराकराययं' ॥

श्रीकरे भ-द्वौ वा ॥ १८४ ॥

श्रीकरे तु ककारस्य, प्र-दौ स्थानां विकल्पनात् ॥
सीभरो हीहरो, पक्षे सांभरो विनिगद्यते ॥

चन्द्रिकायां मः ॥ १८५ ॥

चन्द्रिका चन्द्रिमा जाना, कस्य मे विहितं सति ।

निकप-स्फटिक-चित्रे इः ॥ १८६ ॥

निकपे स्फटिके चित्रे, कस्य हकारो विधीयते तस्मात् ॥
निहसो फलिहो चिहुरो, क्रमेण रूपणि सिध्यन्ति ॥

स-प-थ-प-जाम् ॥ १८७ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।
अ-प-थ-प-जो वर्णानां, प्रायो इः प्राकृते प्रयति ॥
से-मेहला च साहा, थे-मेहो जहणामति तथा माहो ।
ये-भावसहो, नाहो, थे-बाहो वादरं-न्द्रइ ॥
मे-यणहरो सदात्वां, सदा नहं सौवा इत्युदाहरणम् ।
स्वरात् परः किं कथितः ? संको संघो तथा बंधो ॥
किमसंयुक्ताः ? अक्खर, अग्रधर कथश्च च सिद्धो बंधश्च ।
गच्छते ख मेहा, 'अनादिभूताभिधानेन ।
प्रायोःप्रदयाञ्च अपिरो, पलय-यणो वा नत्रं च जिणधम्मो ।
सरिसवकलो पणट्टभ-भो, काव्ये खेदगिह वेधम् ॥

पृथकि भो वा ॥ १८८ ॥

पृथक्वाभे थकारस्य, स्थाने धो वा विधीयते ।
पिंधं पुंधं पिहं तद्वत्, पुंद् रूपचणुपयम् ॥

गुञ्जले लः कः ॥ १८९ ॥

गुञ्जले कस्य कौदराः, सल्ले तेन सिद्धयति ।

पुत्राग-भागिन्योर्गो मः ॥१६०॥

स्यात् पुत्रागं च प्रागिन्यां, गकारस्य मकारता ।
'पुत्रागमाहं वसन्ते च' भागिणी' संप्रयुज्यते ॥

छागं छः ॥१७१॥

जागं गस्य लकारः स्यात्, जाहो जाली च सिध्यतः ।

ऊत्वे बुर्भग-मुजगे वः ॥१७२॥

बुर्भगे सुभगं चोत्वे, कृते गस्य तु वा भवेत् ।
दृढयां सुहवांस्त्व-इदृश्रा सुहभ्रोः मतः ॥

खचित-पिशाचयोश्चः स-द्वौ वा ॥१७३॥

खचिते तथा पिशाचं, वस्य तु स-द्वौ विकल्पतो भवतः ।
खसिभ्रो खइभ्रो तस्माद्, भयति पिस्सहो पिशाभो च ॥

जाटिले जां भो वा ॥१७४॥

जटिले जस्य भो वा स्याद्, कर्मिलो जटिलो तथा ।

टो मः ॥१६५॥

स्वरात् परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य ङो भवेत् ।
मडो मडो घडो रूपे, घडइ प्रणिगद्यते ॥
अस्वरात् जंबूदं घटा, खट्टा-संयुक्तदेशानात् ।
आदेरेवेत्यतः 'टको' क्वचित् स्याद् यथा-ऽटइ ॥

सटा-शकट-केटने ङः ॥१६६॥

सटायौ शकटे केट-ने शब्दे ङस्य ङो भवेत् ।
केटवो सयटो तद्वत्, सटा रूपे पृथक् पृथक् ॥

स्फटिके ङः ॥१७७॥

स्फटिके ङस्य लादेशे, 'फटिहो' सिक्किसृजति ।

चपटा-पाटौ वा ॥१७८॥

चपेटाय च, वा सयन्ते, पटिधानौ च ङस्य जः ।
चविला चविडा फाले-इ फाइइ प्रसिध्यति ।

ढो ङः ॥१७९॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य ङो ज्ञेत् ।
मडो सडो च कमडो, कुडारो पडइत्यपि ॥
स्वरादित्येव चकुजे-ऽसंयुक्तस्यैव चिदृह ।
अनादेरेव 'ह्रिअप-गह' खेवं प्रयुज्यते ॥

अङ्गुठे ङः ॥२००॥

अङ्गुठे ङस्य लो द्वित्व-भूतो भवति तेज हि ।
अकाङ्क्षतल्ल-तुष्पं तु, परं लोकेः प्रयुज्यते ॥

पिउरे हो वा रश्च ङः ॥२०१॥

पिउरे ङस्य हो वा, हस्य योगे च रस्य ङः ।
पिहडो पिडरो रूप-इयं सिक्किसुगमम् ।

भो लः ॥२०२॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य लो भवेत् ।
प्रायो, 'गहभ्रो' बडवा-मुञ्चं च-चलवामुदं ।
असंयुक्तस्य कि-ल्लगो, स्वरात् किम-मोडमिष्यते ।
अनादासिते किम् ? डिभो, प्रायः किम् ? कापि वा भवेत् ॥

वत्सि वत्सिं जाली, जाहो वाऽन्ति लामं एमं ।
दाहिमं दाहिमं आमं-लो आमं डो, गुलो गुडो ॥
क्वचित्त्रिव, यथा-नीड निविडं गउडो तमी ।
बड पीडिअमित्यादि यथालक्ष्यं विनाशयताम् ॥

वेणी एो वा ॥ २०३ ॥

वेणी तु गस्य लो वा स्यात्, 'यत्त्वेणु' इय मतम् ।

तुच्छे तश्च-द्वौ वा ॥ २०४ ॥

तुच्छशब्दे तकारस्य, च-द्वौ वा स्तो यथाक्रमम् ।
तुच्छं तुच्छं तथा तुच्छं, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

तगर-चसर-तुवरे ङः ॥ २०५ ॥

तगर-तगर-तुवर-पदे, तस्य टकारो विधीयते तस्मात् ।
टसरो टगरो टुवरो, रूपत्रयमत्र जानीहि ॥

मत्यादौ ङः ॥ २०६ ॥

प्रत्यादिपु शब्देषु तु, नस्य मकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
पडिवचं पडिहासो, पडिहारो पडिनियसं च ॥
पाडिष्कडौ पडिमा, पडंसुभ्रा पडिवचा च पडिसारो ।
पडुडि पाहुं मरुयं, बहडंआ हरमई पडाय वा च ॥
डुष्कतं डुक्कडं श्वापि सुद्वेने सुकडं तथा ।

अभवत् च्चाऽयइडं, श्राहते त्वा ऽऽहडं स्मृतम् ॥
प्रायः किम् ? प्रतिसमयं परसमयं, प्रतीयमित्ति पर्यं च ।

संप्रति संपइ बोध्यं, तथा प्रतिपद्य पडुडु वा ॥

प्रति-प्रवृत्ति-सूतक-प्राज्ञताश्च हरीतको ।

विभीतक-पताका-स्या-पूता, प्रत्यादिस्थित्ये ॥

इत्वे वेतमे ॥ २०७ ॥

इत्वे सति तकारस्य, ङः स्यात् शब्दे तु वेतसे ।
वेडिसो, इत्वं इति किम् ? 'वेडिसो' नेत्यमत्र तु ॥

गमितानिमुक्तके एः ॥ २०८ ॥

गमितानिमुक्तकयो-स्तस्य ङकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
अणिडैतयं गग्भिणाऽपि, क्वचित्त्र-अइमुक्तयं जवति ॥

रुदिते दिना एणः ॥ २०९ ॥

रुदिते तु दिना साकं, तस्य षे-रक्षणमुच्यते । *

सप्तौ रः ॥ २१० ॥

सप्ततिः सप्तरी जाता, तस्य रे विहिते सति ।

अतसी-सातवाहने लः ॥ २११ ॥

* अत्र केचित् श्रुत्यादिषु इ इत्यारभ्ययन्तः, स तु शौ-
रसेनीमागर्थाविषय एव इहयते इति नोच्यते । प्राकृते हि
श्रुतः- 'रिक्त' 'उक्त' । रजतम्- 'रस्य' । एतद्- 'एअं' ।
गतः- 'गओ' । आगतः- 'आगओ' । सांप्रतम्- 'संपयं' ।
यतः- 'जओ' । ततः- 'तओ' । कृतम्- 'कयं' । इ (इ)
तम्- 'हयं' । इलाशः- 'इयासं' । भुनः- 'सुओ' । आकृतिः-
'आकृई' । निवृत्तः- 'निवृओ' । तातः- 'ताओ' । कतरः- 'क-
यरो' । द्वितीयाः- 'डुइ (ई) ओ' । इत्यादयः प्रयोगा भवन्ति ।
न पुनः 'उद्' 'रयदमित्यादि । क्विद् ज्ञावेऽपि ' 'व्यत्य-
यश्च' (४१७७) इत्येव सिद्धम् । 'दिह' इत्येतदर्थं तु
'धृतेर्दिहिः' (२१३१) इति धरयामः ।

अतस्ती-सातवाहने, तस्य लकारो भवेद्, यथा-अतस्ती ।

सालवाहणोः साक्षा-हणो च सालाहणी भासा ॥

पलिते वा ॥ १११ ॥

पलिते तस्य हो वा स्यात्, पलितं पलिङ्गं यथा ।

पतिे वो हो वा ॥ ११२ ॥

पतिे तस्य तु वः स्यात्, स्वार्थलकारे परे विकल्पेन ।

भवति पीवन्न पाञ्चमिति, लः किम् ? स्याद् यथा-‘पीञ्च’ ॥

वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे ङुः ॥ ११४ ॥

वितस्ती वसती मातु-लिङ्गं भरत-कातर ।

पञ्चस्यु लकारस्य, हकारादेश इष्यते ॥

विहर्त्या, वसही क्रापि-नाय स्याद् ‘वसहे’ यथा ।

भरदो काहलो माडु-लिंगे यैतदुदाहृतम् ॥

मेथि-शायिर-शायिल-प्रथमे धस्य ङः ॥ ११५ ॥

मेथि-शायिर-शायिल-प्रथ-मेपु थकारस्य ङो भवत्यत्र ।

मेढी सिद्धलो सिद्धिलो, पदमा कृपाण सिष्यति ॥

निशीथपृथिव्योर्वा ॥ ११६ ॥

निशीथे च पृथिव्यां च, वा थकारस्य ङो भवेत् ।

निसीढो च निसीढो च, पुढयो पुढयो तथा ॥

दशान-दष्ट-दश-दोला-दर-दर-दाह-दम्न-

दर्भ-कदन-दोदहे दो वा ङः ॥ ११७ ॥

दश-दष्ट-दोहदुपु, दोला-दर-दर-दाह-दम्नेपु ।

दशान-कदन-दोदहे च, दश्च डकारो विकल्पेन ॥

दसण दसण, डटो दटो, रुडो च दडो च ।

नीला दोला, र्भो दश, डोहा तथा दशो ॥

डंभो दर्भो, डम्नो, दम्नो, कडण च कडणं च ।

अपि रोहलो दोहलो, डरो दरो चेति उपाणि ॥

दश-दहोः ॥ ११८ ॥

स्याद् धातोर्दश-दहयो-दकारस्य डकारता ।

तेनैव रूपं ‘दसह, रुहह’ प्रतिपठ्यते ॥

संख्या-गदुदे रः ॥ ११९ ॥

संख्यावाचिनि गरुड-शब्दे ऽपि च रो दकारस्य ।

वारह तैरह एशा-रह रूप मग्नर च यथा ॥

अनादिरियेव यथा-‘ते दस’ प्रतिपठ्यते ।

असंयुक्तस्येति यावत्, ‘रुडह’ यथा ज्ञेयं ।

कदम्बगामधुम् ॥ १२० ॥

अट्टम कदलीशब्दे, दकारस्य रकारता ।

कर्ली, अट्टम इति, किम् ?-केलं कयली यथा ॥

प्रदीपि दोहदे लः ॥ १२१ ॥

प्रप्ये दीप्यतां धानी, तथा शब्दे च होहदे ।

दस्य लः स्यात् पत्नीवध, पलिक्त दोहलो यथा ॥

कदम्बे वा ॥ १२२ ॥

स्यात् कदम्बो कयम्बो वा, कदम्बे दस्य वे कृते ।

दीपौ धो वा ॥ १२३ ॥

दीप्यतां दम्ब धो वा स्यात्, यथा-धिष्यद् विष्यद् ।

कदधिते वः ॥ १२४ ॥

कदधिते दस्य वः स्याद्, येन सिष्यते ‘कयद्विभो’ ।

ककुदे ङः ॥ १२५ ॥

ककुदे हो इष्य तेन-‘कउह’ सिद्धिसुद्धति ।

निपथे धो ङः ॥ १२६ ॥

निपथे धस्य डस्तेन-‘निमदो’ कृपामानुषात् ।

वौषधे ॥ १२७ ॥

वौषधे धस्य हो वा स्याद्, यथा-क्रोसडभोसह ।

नो णः ॥ १२८ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेरेष्य णो भवेत् ।

कयणु वयण नयण, मयणो माणः, तथाऽऽरनालं तु ।

आप्ये-अनिहो अनहो, नानारूपाणि सन्तीह ॥

वाऽऽदी ॥ १२९ ॥

असंयुक्तस्य नस्य स्या-द्वादिचूतस्य वा तु णः ।

णरो नरो, णरु नेह, इष्यते च णुर् नर्ह ।

असंयुक्तस्य किम् ?-व्यायो-‘नाभो’ नैषात्र णो प्रवेत् ।

निम्ब-नापिते ज्ञ-एहं वा ॥ १३० ॥

निम्ब-नापितयोनेस्य, ज्ञ-एहादेशौ यथाभमम् ।

क्षिम्बो निम्बो, एटाविभो तु, नाविभो, सिक्कामानुषः ।

पो वः ॥ १३१ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेः पस्य वो भवेत् ।

प्रायः, सवहो सवो उवसम्मो कासवो पर्वहो च ।

उवमा कथिल पाव, कुणव गोवह च मरि-वालौ [?] ।

पाटि-परुष-परिय-परिखा-पनम-पारिभेदे ङः ॥ १३२ ॥

पाटिवातुर्वदा गयनः, परुषादिभ्यो यो गणः ।

तयोरिव पकारस्य, पकारादेश इष्यते ॥

यथा-फालिह फालिह, फरुसा फालिहो तथा ।

फलिहा फणसो फालि-हहो कृपाण्यमूनि हि ॥

प्रतूते वः ॥ १३३ ॥

प्रतूते पस्य वो वा स्याद्, वहुत् तेन सिष्यति ।

नीपाऽऽपिने मो वा ॥ १३४ ॥

स्यात्नीपाऽऽपीडयोः पस्य, मकारः पाटिका यथा ।

नीमो नीवो, तथा-ऽऽमेलो, आमहो सिद्धिसामानुषः ॥

पापदो रः ॥ १३५ ॥

पापदोवपादौ स्यात्, ‘पापदो’ पस्य रे कृते ।

फो भ-हो ॥ १३६ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेः फस्य वा भहो ।

कथिदु जकारः स्याद्भ्र-रेफो रेणो, शिफा सिमा ।

कथिदु हकारः स्याद् मुत्ता-हले, कथिदुजावापि ।

सभल सवहल, सजा-लिधो सवहलिधो तथा ।

वो वः ॥ १३७ ॥

स्वरात् परस्यासंयुक्त-स्यानादेरेष्य धो भवेत् ।

यथाऽलावु अलावु चाऽऽलावु वस्येह लोपनात् ॥

विमिन्यां भः ॥ १३८ ॥

विमिनी विमिनी जाता, वस्य भे विमिति सति [?] ।

[?] स्वरादित्येव-‘कपह’ । असंयुक्तस्येव-‘अप्यमत्ता’ । अनादांरथेव-‘सुदण पडह’ । प्राय इत्येव-‘करी रिङ्ग’ । एतेन पकाररय प्राप्तयोलोपकारयोः यस्मिन् कृते अतिमुखमुत्पद्यते स तत्र कार्यः [?] स्वांलङ्घनिर्देशादिह न ज्ञात-‘विसततुपेलावाण’ ।

कवन्धे म-यौ ॥ २३७ ॥
 क्यात् कमन्धो कवन्धो च, कवन्धे बन्धे वा म-यौ ।
 कैटजे जो वः ॥ ११४० ॥
 कैटजे मस्य वस्नेन, 'कैटवो' सिद्धिमाप्नुयात् ।
 विषमे मो दौ वा ॥ २४१ ॥
 विषमे मस्य दौ वा स्यात्, 'विसदो विसमो' यथा ।
 मन्धे वः ॥ २४२ ॥
 मन्धे मस्य वस्नेन, वस्महो सिद्धिसृजति ।
 वाडभिपन्थौ ॥ ११४३ ॥
 अमिम्यौ मकारस्य, वकारो वा विधीयते ।
 'अदिधन्तु अदिधन्तु', 'द्वयसिद्धि-प्रागमन् ॥
 झमरे भो वा ॥ ११४४ ॥
 झमरे मस्य सो वा स्याद्, भल्लो भमरो यथा ।
 आर्द्रयो जः ॥ ११४५ ॥
 पार्द्रियस्य जादेश्च, जसो जाइ जसो यथा ।
 बहुलान्त्सोपन्मस्या-नादेश्चि भवेत् क्वचित् ॥
 सजोमो संजमो वयापि न-पयोश्चो' ऽन्धीयते ।
 क्षोपोऽप्यापि-यथास्थानिच-अक्षकषायं प्रयुज्यते ॥
 गुप्तगर्धपरे तः ॥ ११४६ ॥
 गुप्तगर्धपरे यस्य, तकारदेश्च ऋषते ।
 तुम्हारिसो तुम्हकरो, किमर्थपर इत्यर्थः ? ।
 'तुम्हदम्हपरणो' नात्र, शब्दपरयो यतः ।
 यष्टया लः ॥ ११४७ ॥
 यष्टया यस्य लो 'लर्छो', वेणुल्लो च भाग्येन ।
 वात्तरीयानीय-नीय-कृष्ट-उजः ॥ ११४८ ॥
 उत्तरीयानीय-नीय-कृष्टेषु प्रत्ययेषु च ।
 द्विक्रमो यस्य वा उजः स्यात्, तदुदाहृत्येऽधुना ॥
 उत्तरिञ्चो उत्तरीञ्चो, करणिञ्चो विभाषया ।
 करणीञ्चो, विद्वजो तु वीञ्चो नीयस्य रह्यनाम् ।
 कृत्स्य पञ्जा पञ्चा च, ङञ्चो मर्वमुदाहृतम् ।
 वायायां होऽकान्तौ वा ॥ ११४९ ॥
 अकान्तिवाचक लाया-शब्दे हो यस्य वा भवेत् ।
 वञ्जुस्त ल्लाहो ज्ञया वा, अन्तयाभागे ऽच्यते ॥
 माह-वौ कतिपये ॥ २५० ॥
 यस्य स्यातां कतिपये, माहो वञ्जोऽनुमौ क्रमात् ।
 कञ्च्याह कञ्चञ्चः, द्वयं त्रिवेनेत पदम् ॥
 (कारि-भेर रो रुः ॥ ११५१ ॥
 कारि-भेरयोः रस्य डः, किमो भेडो च सिद्धयतः ।
 परीणि मा वा ॥ ११५२ ॥
 पड्याणं च पड्याणं, पर्याणि रस्य ङाऽस्तु वा ।
 कर्त्वीरे णः ॥ ११५३ ॥
 'कणवीरो' कर्त्वीरे, रस्याऽऽस्य तु णो ज्ञेयम् ।
 हरिद्यादौ ज्ञः ॥ ११५४ ॥
 असंयुक्तस्य रस्य स्याद्, हरिद्यादिगणे तु लः ।

हरिदो सिद्धिलो लुको दलिद्वार जदुदिलो ॥
 हरिदो मुहलो दालि-दं इक्षिदो च काहलो ।
 चलणो वलुणो ङङ्गा-लो लक्कालो च निष्णो ॥
 सोमालो कलुणो फालि-हदोऽवदाल फालिहा ।
 चिल्लाओ फालिहा चैव, मसलो बडलो तथा ॥
 जडलो चान् कपाणि, विह्येयानि मनोर्गिजः ।
 हरिदा दारिचं शिथिर-मुखगङ्गा-परिभा, ॥
 हरिदः सक्कारो जडर-वरणी रुण-कृष्णो ।
 किरातापत्रार-अमर-लुकुमाराश्च वरुणो, ॥
 हरिदातिथोतुः परिघ-वठरो निरुममि ॥
 युधिष्ठिरः पारभरुओ, द्रिदः कालरस्तया ।
 हरिदादिगणश्चाय-माहृत्या परिगपयते [?] ॥
 स्युले दो रः ॥ २५५ ॥
 स्युले लस्य रकारः स्यात्, धोरं व्युत्पद्यते तदा ।
 धूम्रमहो हारिद्रादित्वे च्युरस्य सिध्यति ॥
 लाटल-लाङ्गल-लाङ्गुले वाऽऽर्दये ॥ ११५६ ॥
 लाटले शङ्गले लाङ्गु-ले वाऽऽर्दस्य णो ज्ञेयम् ।
 पाटलो लाङ्गो, णङ्ग-ले लङ्गले च णङ्गले ।
 लङ्गले चानि कपाणि, ङङ्गु-मनानि चक्रेन ॥
 ललाटे च ॥ ११५७ ॥
 ललाटे चादित्तन्मय, लस्य णः संयधनेन ।
 णिगलं च णगलं च, चरुवादिरेति बोधकः ।
 श्वरे यो मः ॥ ११५८ ॥
 श्वरे यस्य मत्वेन, समरो सिद्धिसृजति ।
 स्वप्नन्धियो वा ॥ २५९ ॥
 स्वप्न-नीव्येकारस्य, मकारो वा विधीयते ।
 सिमिणो सिमिणो, नीमो नीयो व्युत्पत्तिमिति च ।
 शपो सः ॥ ११६० ॥
 शेषयोस्तु सकारः स्यात् स्वयंप्राय, निदर्यते ।
 संसो विससो निहसो, कसाओ दस सोहाइ ॥
 स्तुपायां गहो वा ॥ ११६१ ॥
 स्तुपायां यस्य गहो वा स्यात्, ततः 'सुगहा सुसा' द्वयम् ।
 दश-पापाणे ः ॥ २६२ ॥
 दश-पापाणयोर्हो वा, शययोलेचयदशानाम् ।
 दहसुदो दस-सुरो, दहसलो दस-बलो ।
 दह-रहो दस-रहो वारु-भारह ।
 पापाणस्य तु पादाणां, पासाणांऽपि च दहयते ॥
 दिवसे सः ॥ ११६३ ॥
 दिवसे सस्य हो वा स्याद्, दिवसो दिवहो तथा ।
 हो षोऽनुम्वारात् ॥ ११६४ ॥
 अनुम्वाराद् दकारस्य, धकारो वा विधीयते ।
 [१] बहुलाधिकाराकरणशब्दस्य पदाद्युत्पत्तयः । अथत्र
 'चरणकरणे' । अमरं ससन्धियोगे एव । अथत्र 'अमरो' ।
 तथा 'जडर' 'वठरो' 'निद्रुणो' इत्यादिपि ।

सिधो सीधो च संधारो, संहारो, क्वचिद्व्यथा [१] ॥

षट्-शमी-शाव-मुधा-सप्तपर्णेष्वादेशः ॥ २६५ ॥

सप्तपर्ण-सुधा-शाव-शमी-षट्स्वादिसम्बन्धः ।

जित्तवसो ब्रह्मा जवां, कुर्मो जनां यथाक्रमम् ॥

शिरार्यां वा ॥ २६६ ॥

शिराराध्वे भवेदाद-श्वकारो वा, छिरा सिरा ।

सुरभाजन-दनुज-रानकुलं जः सस्वरस्य नवा ॥ २६७ ॥

भाजने दनुजे राज-कुले सस्वरजस्य वा ।

लुगिष्यते, यथा ज्ञानं भाषणं, दशुषो दशु ॥

स्याद् रा-तलं, राय-उल, यथाक्रममुदाहृतम् ।

व्याकरण-प्राकाराऽऽगतेऽपि कर्माः ॥ २६८ ॥

व्याकरणप्राकाराऽऽगतेऽपि कर्माद्योस्तु सस्वरयोः ।

लुगु वा वायरणं वा-र्यणं च पारो च पायारो ॥

आभोः तथाऽऽगच्छो रूपे, आगतस्थितिं बुध्यताम् ।

किसलय-काज्ञायस-हृदये यः ॥ २६९ ॥

काज्ञायसे किसलये, हृदये यस्तु-सस्वरः ।

यकारस्तस्य लुम्बाः स्याद्, यथा-कालायसं त्विदम् ॥

काज्ञायस स्यात् किसलय, किसल, हिअयं हिअं ।

दुर्गाद्व्युत्सुम्बर-पादपतन-पादपिउत्तर्दः ॥ २७० ॥

दुर्गाद्व्यां तथा पाद्-पतने चाप्युत्सुम्बरे ।

पादपिउत्तर्दो यो, मभ्ये दो, वा स लुप्यते ॥

दुर्गापर्थो तु दुर्गावां, उम्बरो स्याद् उम्बरोः ।

पा-वदणं च वा पाय-वदणं सप्रकीर्तितम् ॥

पाय-वाडि तु पा-वाडि, 'अन्तर'-दुर्गा-दरलकम् । [२]

यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावट-प्रावारक-देवकुत्रै-

वमेव वः ॥ २७१ ॥

प्रावारके देवकुल पवमेव च जीविते ।

आवर्त्तमानावटयास्तथा षाञ्चति ताद्यति ।

योऽन्वर्त्तनी सस्वरो व-स्तस्य सुभ्या विधीयते ।

जा जाव, ताव ता, जीर्त्तं जीविञ्च, श्रवमां श्रडो ।

अन्तमाणा तथाऽऽवत्तमाणा, देवउलं पुनः ।

देवलं, पारभां पावारश्चो एमेव नृत्त्यते ।

एवमेव तथाऽन्तस्तु मेव वस्यास्ति रत्तकम् [३] ॥

या चापा जगद्वद्वचोन्निरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परं,

यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमृणं निविलान्पेकादशङ्खानि च ।

तस्याः संपति दुःखमारवशतो ज्ञातोऽपचारः पुनः,

संचाराय मया कृते विवरणे पादोऽप्यमाद्यो गतः ॥ ? ॥

इति श्रीमत्सौधर्मवृहत्तपगच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ

श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रमूर्तिविरचि-

तायां प्राकृतव्याकृतौ प्रथमः पादः ।

[१] क्वचिदनुस्वारादपि-दाहः- 'दाघो' । [२] अन्तर्नि-
किम् ?, दुर्गाद्व्यामादौ मा भूत् । [३] अन्तरित्येव । एवमेव-
त्यस्य न भवति ।

॥ * अहंम् * ॥

॥ अथ द्वितीयः पादः ॥

संयुक्तस्य ॥१॥

ज्यायामीत् [२।११] इत्यतो याषद्, अधिकारोऽयमीरितः ।
यदितोऽनुकमिष्यामस्तत् संयुक्तस्य बुध्यताम् ॥

शक्त-मुक्त-दृष्ट-रूप-धृदुत्वे को वा ॥२॥

शक्ते मुक्ते मृदुत्वे च, दृष्टे रूपे विभाषया ।

संयुक्तस्य ककारः स्याद्, यथाऽङ्गाङ्गियतेऽधुना ॥

सङ्गा सन्तो, मुक्तो मुक्तो, रक्तो तथा दृष्टो ।

लुक्लो गुग्गो, माउत्तण च माउत्कमिति वेश्यम् ।

क्षः खः कचित्तु छ-जो ॥३॥

कस्य खः स्याद्, उ-भौ क्वापि, 'खषो' लक्ष्मणमुच्यते ।

उ-भावापि, यथा-खीणं खीणं, भीरुं च जिह्वारं ।

ष्क-स्कयोर्नाञ्चि ॥४॥

संज्ञायां षकस्कयोः खः स्याद्, निष्कलं पोषकमिणी यथा ।

अवकस्मन्दा तथा ख-धा-वोरा ख-धो प्रकीर्त्यते ।

शुष्क-स्कन्दे वा ॥५॥

शुष्के स्कन्दे षक-स्कयोः खो, विकल्पेन प्रवर्त्तते ।

सुखलं सुखं तथा खन्दो, 'कन्दो' चैवमुदाहृतम् ॥

द्वेटकारौ ॥६॥

द्वेटकारिषु शब्देषु, संयुक्तस्यात्र खो भवेत् ।

द्वेटकः खडिओ, द्वेटाटकः खोडओ ।

स्फोटकः खोरुओ, स्फोटकः खडओ ।

स्फोटकः खोडिओ चायं, द्वेटकारिद्विरुदाहृतः ॥

द्वेटकः द्वेटाटकश्चैव, स्फोटकः स्फोटकस्तथा ।

स्फोटकश्चेति सख्यातः, द्वेटकारिद्वयं गणः ।

स्थाण्णावहरे ॥७॥

अहरार्थे स्थाण्णवहरे, खः स्यात् 'ख.ण्' ततो भवेत् ।

स्तम्भे स्तो वा ॥८॥

स्तम्भे स्तस्य खकारो वा, खम्भो धम्भो प्रमाप्यते ।

ध-डावस्पन्दे ॥९॥

अस्पन्दायं स्तम्भे, स्तस्य ड-धौ स्तो यथा पद्-धम्भो ।

उन्नां, स्तम्भ्यत इति ध-मिञ्जह उन्मिञ्जह स्याताम् ॥

रक्ते गो वा ॥१०॥

रक्ते कस्य गकारो वा, रम्भो रत्तो विभाष्यते ।

शुल्के ज्ञो वा ॥११॥

शुल्के षकस्य ज्ञो विभाषा, सुखं सुखं प्रकीर्तितम् ।

कृत्ति-चत्वरे च ॥१२॥

कृत्ति-चत्वरयोः संयु-कस्य च संप्रकृते ।

किष्ठां च चत्वरं रूप-रथं किञ्चि मुपागतम् ।

त्पोऽवैत्ये ॥१३॥

वैत्येयजो त्यस्य च स्यात्, पञ्चशो सञ्च-मुच्यते ।

प्रत्युषे पश्च हो वा ॥१४॥

प्रत्युषे त्यस्य चः स्यात् तसंनिधौ पस्य ह्यच् वा ।
विधीयते च पच्यूहो, पच्यूहो तेन सिध्यतः ॥

त्व-ध्व-द्र-ध्वां च-उ-ज जाः क्वचित् ॥१५॥

त्व-ध्व-द्र-ध्वां च-उ-ज जाः क्वचित्ते भवन्ति हि ।
पृक्त्वा भोष्ठा, हात्वा णच्चा,
धृत्वा सोष्ठा पृथ्वी पिच्छी ।
विट्टान् विजङ्ग, बुद्धा बुजङ्गा,
पच चाप्यद् रूपं वधाम् ।

‘भोच्चा’ सयलं पिच्छं, विजङ्गं बुजङ्गा अणणयम्यामि ।
चङ्कण तवं काठं, सन्तो पत्नी सिधं परमं ॥”

रुथिके श्वेच्युवा ॥१६॥

बुधिके श्वेः सस्वरस्य, च्युवादेशो विभाष्यते ।
विच्युभ्रां विच्युभ्रां, पङ्क-विच्छुभ्रां, जेऽत्र बाध्यते ।

जेऽङ्घ्यादी ॥१७॥

अङ्घ्यादिषु ङकारः स्यात् संयुक्तस्य, प्रवाच्य स्रम् ।
आर्चं उच्छ्रं हच्छी कच्छा, जीश्रं जीरं कुच्छी दच्छी ।
जेसं वच्छं सच्छा कच्छा, लुण्णो लुण्णां सारिच्छ च ।
सारिच्छा मच्छिन्ना कुच्छा, ‘अयं वच्छो’ जयं लुण्णो ।
लुहा, आप्ये तु-सारिक्खं, इक्खु खारं च हरयने ।
अर्वा-कू-अरुमा-शुत-कदा-कौक-यका-ल-यका-लान-यका-बुक्का-॥
कका-धुर-कार-नदक-कुकि-लीर-मुधः क्रमयाम् ॥ शुण्णश्चः
सारिच्छयं मच्छिन्ना कुच्छा, काथयोऽङ्घ्यादिगणयम् ॥
आहृतिप्रहणाः शब्दाः, न सस्यानिप्रहृतनः ।

समार्यां कौ ॥ १८ ॥

पृथिव्यर्थे त्तमाशब्दे, तस्य द्वादेश इष्यते ।
क्रमा द्माऽपि जमा भूमिः, ज्ञान्यर्थे तु क्रमा म्प्रा ॥

श्रुते वा ॥ १९ ॥

श्रुते क्रस्य ङकारो वा, रिच्छो रिक्खोऽस्त्रियां मते ।
वृक्-क्रिते (१ । १२७) तिमुचण, ‘कस्व-वृद्धौ’ च संस्वयतः॥

क्रुण उरस्ये ॥ २० ॥

सस्वयार्थे क्रुणे क्रस्य छुः, ‘छुणां’ स्यात् खणोऽन्यतः ।

हस्त्रात् थय-श्च-स्स-प्पामनिश्चये ॥ २१ ॥

हस्त्रात् थय-श्च-स्स-प्पाम्, स्थानं छो भवति, निश्चले न स्यात्, ।
मिच्छा, पच्छा, संव-च्छलो, लुगच्छ- च हिच्छल्ल च ॥
हस्यात् किम् ? ऊसारिभ्योऽनिश्चल इति किम् ? च ‘निश्चलो’ येन,
आर्थे-तथ्ये चोऽपि तु जयति ततः । तच्चामिति रूपम् ॥

सामर्थ्योत्सुकौत्सवे वा ॥ २२ ॥

उत्सुकौत्सव-सामर्थ्ये, वा संयुक्तस्य छो भवेत् ।
सामच्छं वा च सामर्थ्यं, उच्छुभ्रां ऊसुभ्रां तथा ।
उच्छयो ऊसयो वा स्यात्, पुष्पकं ह्ये ह्ययम् ।

स्पृहायाम् ॥ २३ ॥

संयुक्तस्य ङकारः स्यात्, स्पृहायां फस्य वाचकः ।
विहा, बाहुलकात् कापि निस्पृहो ‘निष्पृहो’ मतः ॥

घ-र्य-यीं जः ॥ २४ ॥

घ-र्य-यीनां तु युक्तानां, स्थाने जः संप्रवर्तते ।

(घ) मञ्जे अवज्जं, (घ्य) जज्जो च, सज्जा, (ये) अज्जा च भारिम्या ॥

अभिमानौ ज-ज्जो वा ॥ २५ ॥

अभिमान्युपदे न्याजो, अज्जाऽऽदेशो विकल्पनात् ।
अहिमञ्जू अहिमञ्जू, अहिमञ्जू तु पात्नकः ॥ [१]

माध्वस-ध्व-ष्ठां जः ॥ २६ ॥

साध्वसे ध्व-ह्ययोश्च स्याद्, युक्तयोर्ज्ञे हि, सज्जसं ।
सज्जाभ्यो वज्जप जाणं, मज्जे गुम्भं च उपज्जह ।

ध्वजे वा ॥ २७ ॥

ध्वजे ध्वस्य ऊकारो वा, ततः स्यातां ‘ऊजो’ ‘ध्वजो’ ।

इन्धौ भ्वा ॥ २८ ॥

इन्धौ धातौ तु युक्तस्य, ‘ज’ इत्यादेश इष्यते ।
समिज्जाश्च च विज्जाश्च, वेष्टश्च संप्रयुज्यते ॥

वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदाथितं टः ॥ २९ ॥

वृत्ते प्रवृत्तं पत्तनं, मृत्तिकायां कदाथितं ।

संयुक्तस्य टकारः स्याद्, यथा रूपं कदाथितो ॥

पयष्टो मट्टिन्ना वट्टो, पट्टणं समुदाहृतम् ।

त्तस्याधुर्त्तादी ॥ ३० ॥

धूर्त्तादीव वर्जयिष्या टो, ‘त्त’स्य स्थाने प्रवर्त्तने ।

कवट्टो नट्टश्च संव-ट्टिसं जट्टो पयट्टश्च ।

धूर्त्तादी तु विधिनोय, ततो धूर्त्तादिरुच्यते ।

धुतो कर्त्ता वजा, निवत्तभ्रां वत्तिभ्रां मुहत्तो च ॥

आवत्तणं च संव-त्तणं च आवत्तभ्रां मुत्तं ।

निवत्तणं च पवत्तणं-मुक्त्तिभ्रां वत्तभ्रां कर्त्ताभ्रां च ॥

स्ववत्तभ्रां पवत्तभ्रां, संवत्तभ्रां कत्तरां मुत्तां ।

तावने क्वावनेन कीर्त्तिमुत्तिवातो प्रवर्त्तनं कमुत्तने निवर्त्तनाच्च ।

संवर्त्तनं काकर्त्तित्तेन धूर्त्तप्रवर्त्तनेन वार्त्तिककार्त्तिको च ॥

वार्त्तिका कर्त्तेदी चापि, संवर्त्तननिवर्त्तने ॥

निवर्त्तकमसौ धूर्त्तादीर्गस्यः परिकर्त्तितः ॥

कृते एटः ॥ ३१ ॥

संयुक्तस्य भवेद् वृत्तं, एटाऽऽदेशो निर्विकल्पकः ।

तालवैद्यं च वैद्यं च यथा सिद्धिं समभ्युते ॥

जोऽस्थि-विंसंस्थुले ॥ ३२ ॥

विसंस्थुलेऽधिशब्दे च, संयुक्तस्य टकारना ।

अधौ विसंस्थुले तेन, पृथक् सिद्धिमुपागमत् ॥

स्थान-चतुर्थायां वा ॥ ३३ ॥

अर्थे-स्थान-चतुर्थेषु, वा संयुक्तस्य जे ज्ञवत् ।

ठाणं थीणं चरथोऽडो-ऽधन-जयो धनवाचकः ॥

ह्रस्वाऽनुपेष्टासंदष्टे ॥ ३४ ॥

संदष्टप्रिष्टामुष्टे च पृक्त्वा ह्रस्व तु जे भवेत् ।

हृष्टी मुष्टी सुरष्टा च, कट्ट हृष्टो अण्णच च ॥

उष्टो हृष्टा च संवट्टो रूपमुष्टादिसंज्ञवत् ।

गते ङः ॥ ३५ ॥

स्याद् गते ‘ने’स्य जे, ‘गड्डो गड्डु’-ऽयं टस्य वाचकः ।

सम्मदे-वितर्दि-विच्छदे-च्छर्दि-कपदे-मर्दिने दीस्य ॥ ३६ ॥

सम्मर्दे विच्छुद्धे उर्दि-वितर्दि-कपदे-मर्दिने च ।

दीस्य ङकारो भवति, सम्मट्टो मट्टिभ्रो लुट्ठी ।

[१] अनिप्रहणात् इह न भवति- ‘मन्त्’ ।

सम्मच्छिद्यो कथश्चो, विच्छद्दो लुहृह विच्छद्दो ।
 गर्दभे वा ॥ ३७ ॥
 गर्दभे दंस्य ढो वा स्याद्, गहृहो गहरो तथा ।
 कन्दारिका-जिन्दिपालो ममः ॥ ३८ ॥
 एतः संयुक्तस्य वै निन्दित-पाले कन्दारिकापदे ।
 निन्दितपालो कर्त्तव्यता, इयं संसिद्धिमुच्छ्रित्ति ।
 स्तब्धे ठ-ढौ ॥ ३९ ॥
 स्तब्धे संयुक्तयोः स्यातां, उढौ, ' उह्ये ' यथाक्रमम् ।
 दग्ध-विदग्ध-शुक्ल-वृक्षे ढः ॥ ४० ॥
 दग्धे विदग्धे वृक्षौ च, वृक्षे युक्तस्य ढो भवेत् ।
 दह्यो विशङ्को वृक्षो च वृक्षो, विदो कर्त्तव्यतः [१] ।
 श्रुद्धि-सूर्योऽन्ते वा ॥ ४१ ॥
 ङः स्याच्छ्रुद्धि-सूर्योऽन्ते संयुक्तस्य वा, यथा ।
 सद्वा सद्वा, दह्यो रिद्धो, मग्दो मुद्धा अह्य अह्य ॥
 ञ्ज्ञोऽणः ॥ ४२ ॥
 शासं निष्णं च विभाण, पञ्जुषो मन्त्रायणतः ।
 पञ्चाशात्पञ्चदश-दन्ते ॥ ४३ ॥
 स्यात् पञ्चाशत्-पञ्चदश-दन्ते युक्तस्य णो, यथा ।
 पशासा पशरह च, दिष्ण त्रयमुदाहृतम् ॥
 मन्थौ न्त्वा वा ॥ ४४ ॥
 मन्थौ युक्तस्य वा न्तः स्याद्, मन्थं मन्थं न पठ्यते ।
 स्तस्य थोऽममस्त-स्तस्ये ॥ ४५ ॥
 स्तस्ये ममस्त च न्यक्त्वा, 'स्त' स्य शब्देन इष्यते ।
 थोत्तं थोत्तं थुर् इत्यो, पमस्यो पमस्योऽपि च ।
 तस्यो स्तस्ये, ममस्यो तु-ममस्येऽपि प्रकीर्तितः ॥
 स्तवे वा ॥ ४६ ॥
 स्तवशब्दे स्तस्य थो वा, ततो रूप थवो तवो ।
 पर्यस्ते थ-ढौ ॥ ४७ ॥
 पर्यस्ते स्तस्य तु स्यातां, थ-ढौ पर्यायनायिनो ।
 पल्लथो वा तु पल्लहो, रूप व्युत्पद्यते इत्यम् ।
 वान्माह थो इक्ष रः ॥ ४८ ॥
 वान्माह-शब्दे शब्दशः संयुक्तस्य विरुदधान्तु ।
 हस्य रश्चापि, 'अन्धारे', 'उच्छ्रुहो' सिद्धिमाप्नुतः ।
 आश्रुष्टे ल-थौ ॥ ४९ ॥
 संयुक्तयोर्विधासम्बन्धमाश्रुष्टे तु ल-थौ स्मृतौ ।
 आलिको' ईदृश रूप लदाऽऽश्रुष्टस्य जायते ।
 चिद्धं स्यो वा ॥ ५० ॥
 चिद्धं हस्य तु या स्यः स्याद् गृह वापिथ्येव, तथाथा- ।
 चिन्थं दंस्य च, चिन्धं तु पक्षे गृहस्यापि संभवान्तु ।
 जस्मात्सतोः पो वा ॥ ५१ ॥
 भस्मात्सतो' प्रकारः संयुक्तस्य, विभाषया भवति ।
 भव्या जस्त्वा, अथवा अथवाणो, पात्तको 'उत्ता' ऽपि ।
 म-वमाः ॥ ५२ ॥
 ङस्य वमस्य च पादङ्कः, कुञ्जलं कुम्पल तथा ।

[१] कश्चित् भवति ' विह-दह-निकविधे' ।

किकमली-हपिणी, रुक्मी, रुष्यो चमः कापि दहयते ।
 थ-स्पयोः फः ॥ ५३ ॥
 फः थ-स्पयोर्भवेत्, पुष्पं पुष्पं स्यात्, स्पन्दने पुनः ।
 फलदणं च प्रतिस्पर्धो' पारिष्कली प्रयुज्यते ।
 बहूनां कापि वैकल्प्ये, यथा-रूपं दह्येत् ।
 दुराणं च, न कापि-निष्णहो च पर्याणर ।
 जाम्पे पमः ॥ ५४ ॥
 जीवमे पमस्य प्रकारः स्यात्, रूपं ' निष्णो' यथा भवेत् ।
 श्रुष्पाणि वा ॥ ५५ ॥
 श्रेष्पाणि पमस्य फः, सफो निलिष्टो च विकल्पनात् ।
 ताम्राज्ञे म्यः ॥ ५६ ॥
 मस्य इव स्यात् ताम्र शब्द, 'ताम्र' 'अम्य' च सिध्यतः ।
 ढो जो वा ॥ ५७ ॥
 हस्य भो वा, यथा-जिन्मा जोऽह सिद्धिमवाप्नुतः ।
 वा विहले वौ वक्ष ॥ ५८ ॥
 विहले हस्य भा वा स्याद्, विशद्व वा च वस्य भः ।
 जिम्भलो विम्भलो वा च विद्वो च त्रय मतम् ।
 बोधे ॥ ५९ ॥
 कथं युक्तस्य जो वा स्याद्, उढे उढं च सिध्यतः ।
 कर्म्मरि म्भो वा ॥ ६० ॥
 कर्म्मरि-शब्दे म्भो वा स्यात् संयुक्तस्य, ततो इत्यम् ।
 सिद्धिमुच्छ्रित्ति, ' कर्म्मारा ' ' कर्म्मारा ' वेति पारिष्कम् ॥
 न्भो मः ॥ ६१ ॥
 न्भस्य मो वा, यथा-जन्मो वन्महो मममण तथा ।
 म्भो वा ॥ ६२ ॥
 मस्य मो वा, यथा-युग्म जुग्म जुग्म च दहयते ।
 द्वाचर्थ-तृथ-सौन्दर्ये शोणकीयं थो रः ॥ ६३ ॥
 तृथ-सौन्दर्ये-शाणकीय-द्वाचर्थं थो' स्य रः ।
 वन्नेरं च सु-द्वं, मोगर्म्मरि तुर्गमित्थोप ॥
 पठ्यते वन्नेरिअ, क्वापि यो'पसम्यन्तः ।
 थ्ये वा ॥ ६४ ॥
 थ्ये येस्य रकारो वा, थोर् पिउज च सिद्धतः ।
 'स्यो तुजो' इति कथे ? रूपं स्त, सू-सुथ्योः [१] ॥
 पतः पर्यते ॥ ६५ ॥
 पर्यन्तशब्दे पतः स्याद् येस्य रस्तेन सिध्यति ।
 'पर-न्तो', पत इति किम् ? 'पउजन्तो' पारिपठ्यते ॥
 आश्र्ये ॥ ६६ ॥
 पतः परस्य रो 'ये'स्याऽऽद्ये, अच्छरगमित्ये ।
 अतो रिआर-रिउज रीअ ॥ ६७ ॥
 अतः परस्याश्र्ये, येस्य 'रिआर-रिउज-रीअ'-मादेशाः
 अच्छरिउज-मच्छरिअ, तथाऽच्छरिअं च अच्छरं ॥
 पर्यन्त-पर्याण-सौकुमार्यं ङ्गः ॥ ६८ ॥
 सौकुमार्यं च पर्याण पर्यन्ते येस्य इत्यम [२] ।
 पल्ल पल्लथ पल्लथं स्यात्प्रहसित्ति भवति ।
 पालश्रुद्वा पल्लहो पल्लहस्यैव रूपं हे ।

[१] सगं सुजो इति तु स-स्यप्रकृतिभेदान् । [२] 'ल' इति ।

बृहस्पति-वनस्पत्योः सा वा ॥ ६६ ॥

बृहस्पतिवनस्पत्योः, सा युक्तस्य विकल्पनात् ।
वहस्सई बहपफई भयस्सई भयफई ।
वणस्सई वणफई च सिद्धिभ्युत्तं पृथक् ॥

बाष्पं होऽश्रुणि ॥ ७० ॥

स्याद्बुधावचके बाष्पे, संयुक्तस्य दकारता ।
बाहो नैत्रजलं, 'बण्फो'- ऊष्मार्येऽयं प्रयुज्यते ॥

कापीपणे ॥ ७१ ॥

कार्पापणे हकारः स्यात्, संयुक्तस्येति कथ्यते ।
काहावणो, क्वचिद् इत्ये कृतं रूपं कदावणो [१] ॥

दुःख-दक्षिण-तीर्थे वा ॥ ७३ ॥

दुःखे च दक्षिणे तीर्थे वा संयुक्तस्य हो जनेव ।
दाहिणो दक्षिणो, तिथ्यं तुह, दुष्कं दुहं तथा ॥

कूप्याख्योऽप्यो लसृत् यदो वा ॥ ७३ ॥

'प्या' इत्येतस्य कूप्याख्याऽदः स्याद्, गडस्य तु वा च लः ।
काहाग्री कोहली चैतद् 'प्यं' ल्युपपद्यते ततः ॥

पश्च-इम-प्म-स्म-ष्मां सृः ॥ ७४ ॥

सृः पश्च-इम-प्म-स्म-ष्मानां संयुक्तानामादेशः स्यात् ।
पश्चमाणि स्यात् पश्चाद्, कुश्मानः कश्माणो पठ्यन्ते ।
प्रोष्मा गिम्हो भवेद् 'अम्हा-रिसो' अस्मादृशः स्मृतः ।
पश्चा वन्हा, तथा सुष्माः 'सुम्हा' जातास्तथा पुनः ।
बम्हणो बम्हचरं च, इत्येते स्मोऽपि कुश्चिन् ।
यम्हणो यम्हचरं च, सिम्हो रूपं यथा भवेत् ।
काचिन्न इत्येते चायं रसोम-रसो, स्मर-सरो ॥

सृचप-रन-ष्ण-स्न-ह-हृ-च्छां एहः ॥ ७५ ॥

सृचप-रन-ष्ण-स्न-ह-हृ-च्छां
संयुक्तानामादेशो एहः ।
सृचम सणहं (अ) परहो सिरहो
(ण) विरहू जिगहू उणहोसं स्यात् ।
(ञ) जराहा यहाओ पगहूओ च, (ह) वराहो जराहू तथैव च ।
(ह्र) पुवगहो अवराहो च, (ण) सणहं तिरहू प्रयुज्यते ।
विप्रकपे तु कसणो कसिणो कृष्ण-कृस्नयोः ॥

हो ण्दः ॥ ७६ ॥

वहः स्याद् हस्य तु कल्हारं, परहाओ रूपमीदृशम् ।

क-ग-ट-ड-ढ-त-द-प-श-प-स-क-पांमूर्ध्वं लुक् ॥ ७७ ॥

क-ग-ट-ड-ढ-त-द-प-श-वानां, स-क-प-पानांतथोऽभ्यूतानाम् ।
सयुक्तवर्णसम्बन्धिनां लुगैरिति शास्ति मुनिः ।
(क) ह्रस्व (ग) बुक् (ट) षट्पदः 'अप्यओ'
(ऋ) खड्गः खमो (त) उपलं उपलं च ।
(द) मद्गुः-मग्गु, सुद्गुः-मोगरो च,
(प) सुचो गुचो (श) निश्चो निश्चो च ।
(ष) गोटो गोटो निटुरो च, (स) नेहो च खड्गो तथा ।

[१] कथं 'कदावणो' । "ह्रस्वः संयोजनं" [१. ८४] इति पूर्वमेव
ह्रस्वत्वं पाश्चादादेशः कार्पापणशब्दस्य वा भविष्यति ।

(* क) दु * कं दुष्कं (* प) अन्त * पातः, अन्तप्याओ निगद्यते ।

अथो प-न-याम् ॥ ७८ ॥

युक्ताथो वसैमानानां, मनयानां तु लुगं भवेत् ।
(म) लुगं रस्सी सरो (न) नभो, (य) सामा कुहं यथा पद्म ।

सर्वत्र हा-व-गयऽवन्दे ॥ ७९ ॥

युक्तस्योऽर्धमथो वा य, संस्थिता ल-व-राः इतिवत् ।
वन्कशब्दं विना तेषां लुक् स्यादित्युपदिश्यते ॥
(ऊर्ध्वम्) (ल) उल्का उक्का, वल्कलं वल्कल च,
(व) शब्दः सहा, लुग्धकां लोक्मो च ।
(र) अक्को यमो अकं-वगौ भवेताम,
(अथः) (ल) लृङ्गस्य सपहं, विकलवो विकलो च ॥
(घ) पकं पकं च पिकं च, (र) चक्रं चक्रं प्रहो गहो ।
यानिः रत्तो, यथालक्ष्य, लोपः स्यात् कापि, तद्यथा ।
(ऊर्ध्वम्) उद्दिप्तः स्याद् उद्विगो, द्विगुणो विवृणो तथा ।
कदमपं कदमपं, सर्व-सम्भं, चरितं सहजशः ।
(अथः) काव्यं कव्यं प्रवक्तव्यं, माव्यं महं, द्विपो द्विपो ।
पर्यायेण कथञ्चित् चारं-वारं दारं प्रचक्रते ।
पचमुद्दिप्तं उद्विगो, उद्विगो विनिगद्यते ।
अन्तं पदं तु संवेद्यं, संस्कृते प्राकृते स्ममम ।

डे रो न वा ॥ ८० ॥

ड-राव्हे तु विकल्पेन, लुक् स्याद् रेफस्य तद्यथा ।
चन्दो चन्दो च, रहो रुद्रो, भहं भद्रमित्यपि ।
परिचुत्वा स्थिते रूपत्रयं वेद्यं हृद् यथा ।
इहो दहो, रलोपे तु केऽपि नेच्छन्ति सुरयः ।
ये योऽहतादयः शब्दान्तगणाराधवावकाः ।
ते नित्यं रेफसंयुक्ता देश्या पर्येति लुप्यताम् ॥

धात्र्याम् ॥ ८१ ॥

धात्र्यां वा श्रुग् रस्य, अर्चो धारी धारो रलोपनात् ।

तीव्रणे णः ॥ ८२ ॥

तीव्र-शब्दे शस्य लुप्या, तिक्कं तिपदं ततो द्वयम् ।

ज्ञो जः ॥ ८३ ॥

ह्रस्व सम्बन्धिनेो अस्य, लुक् स्याद्द्र विभाषया ।
जायं जायं, क्वचिन्न स्याद्, विधाणो संप्रयुज्यते ॥

मथ्याहं हृः ॥ ८४ ॥

स्याद् 'मज्जोचो च मज्जराहो' मथ्याहं लुकि हस्य वा ।

दशाहं ॥ ८५ ॥

दशाहं इत्य लुक् वेद्यो, दसरो (सिक्सिमुच्छ्रिति ।

आदेः श्मश्रु-श्मशाने ॥ ८६ ॥

श्मश्रु-श्मशानयोगादे-क्षुगादेशो विधीयते ।
मासु मंसु च मस्सु च, मसाणं चेह (सिध्यति ।
आपे सुसाणं सांघाणं, श्मशानस्य द्विक्रपता ।

श्रो हरिश्चन्दे ॥ ८७ ॥

अस्य लुक् स्याद् हरिश्चन्दे, 'हरिश्चन्द' ततो जयेत् ।

रात्रौ वा ॥ ८८ ॥

रात्रौ युक्तस्य वा शुक्ल स्याद्, रात्रे रक्ती च सिध्यतः ।

अनादाँ शेषाऽऽदेशयोर्द्विव्यम् ॥ ८९ ॥

अनादिभूतयोः शेषाऽऽदेशयोर्द्विव्यमिष्यते ।

तत्र शेषे यथा-कल्पतरु लुप्तं प्रयुज्यते ।

आदेशे तु यथा-रक्षां जकसां रग्मां निगद्यते ।

कश्चिन्न-कसिणो-ऽनादाविति किम् ? खलिनं यथा ।

द्विव्यं द्वयोरिव न स्याद्, भांगरुपालो च विञ्चुश्री ।

द्वितीय-तुर्ययोस्वरार्षेः पूर्वः ॥ ९० ॥

द्वितीय-तुर्ययोर्द्विव्य-प्रसङ्गे पूर्ववर्तिनौ ।

वर्गस्थौ भवतोः वर्णानुपरिष्ठादित्येते ॥

शेषे यथा तु वक्त्राणो, वर्धो मुच्छा च निज्जरो ।

कठं तिथं च गुफक च, निज्जरो तिथनरो तथा ।

आदेशे तु यथा-जकसां, घस्य नास्ति अचलौ मज्जे च निम्बशो ।

पट्टी बुद्धो च हृथा च ऽऽनिर्दो पुष्प प्रप्रस्थेन ।

तैनादाँ (२, ७८) ओकखलं, नक्खा नरा सेवादिपु (२, १६) स्मृतम् ।

कइरुश्री कइधश्री, समासे वा (२, ६९) प्रयुज्यते ।

दार्पि वा ॥ ९१ ॥

दोर्घशब्दे तु शेषस्य, घकास्स्य विभाषया ।

उपरि स्यात् पूर्ववर्णो, दिधो दाहो द्वयं यथा ।

न दर्पिनुस्वारात् ॥ ९२ ॥

दर्पिनुस्वाराभ्यां, लाङ्गणिकाराङ्गणिकरुपाज्याम् ।

शेषस्यादेशस्य च, परस्य द्विव्यं विज्ञानीयात् ॥

लूढा फासो नोसासो-ऽलाङ्गणिके यथा-ऽऽस्य-माऽऽसत् स्यात् ।

पाश्वे घामं, शीर्षे सीमं द्वेष्यां भवेत् वेसे ।

सास्यं सासं, प्रथयः पेसां, आङ्गमिराणसौ ।

अयमालयम्- 'ओमालं,' आशा-भाणा, हानुस्वारात्- ।

अयस्य-तेसं, चालात्तणिके सस्रा तु संघायाः ।

विज्ञो कसासो चत्यादि तु नानाविध लवणम् ।

र-होः ॥ ९३ ॥

रेफस्यापि हकारस्य न द्विव्यं स्यात् कदाचन ।

रेफो न शिष्यते क्वापि, तस्मादादेश इव्यताम् ॥

सुन्दरं बहचरं परस्ते शेषस्य इव्यं तु ।

विदसो स्यात्, तथाऽऽदेशस्य रूपं च कदावगो ।

भृष्टद्युम्ने णः ॥ ९४ ॥

भृष्टद्युम्ने तु न द्विव्यं णस्याऽऽदेशस्य कर्हिचित् ।

धट्टुत्तुणो ततो रूप, प्राकृते मिडिसुच्चरिते ।

कर्णिकारे वा ॥ ९५ ॥

कर्णिकारे न वा द्विव्यं णस्य शेषस्य, तद्यथा-

कर्णिकारो कर्णिकारो, त्रयं सिद्धिमुपागमत् ।

ह्मे ॥ ९६ ॥

हमे शेषस्य न द्विव्यं, दन्विशो ह्रम उच्यते ।

ममामे वा ॥ ९७ ॥

स्यात् शेषादेशयोर्द्विव्यं, समासे तु विभाषया ।

नह्यमो नह्यमामो, अशेषादेशयोः क्वचित् ॥

स-पिवास्तो स-पिवास्तो, अहसण-म-ऽऽसणं ।

तैनादाँ ॥ ९८ ॥

तैलादिषु यथालवणमनादेर्व्यञ्जनस्य तु ।

अन्यानन्यस्य वर्णस्य, द्विव्यं स्यादिति संमतम् ।

तेजं बहुलं मगकुक्रो, विशु शेषेक्षणमप्यपि ।

सांसं पेम्मं तुद्वयं स्यादनन्यस्य निदेशनम् ।

आपि तु विस्साश्रांसिआ, पाहिसिआ च भूरिशः ।

तैल-प्रभृत-मगकुक्रा ऋतु श्रोत्रा च यौवनम् ।

श्रोत्रो विचाकत्र प्रेम, तैलादिः समुदाहृतः ॥

सेवारी वा ॥ ९९ ॥

सेवादिषु यथाह्रद्यमनादेर्व्यञ्जनस्य वा ।

ह्रन्त्याऽनन्त्यस्य वर्णस्य द्विव्यं स्यादिति कथ्यते ।

सेवा सेवा, भेङ्गु नीर, नक्खा नरा, निहिसो तु ।

निहिसो, वाहिसो वाहिसो, दइव्यं च दइव्यं स्यात् ॥

म्माऊ माउअमे-को एयो कोउदह्ण कोउहलं ।

धुश्रो धोरो हुत्तं हुअं मुक्रो च मुश्रो च ॥

वाउहो च वाउहो, तुंगहयो तुंगहयो विकल्पयशात् ।

मुक्रो मुश्रो, खगणु खगणु, पिणय च यीण च ॥

द्विव्यमनन्यस्य यथा-अभ्रहंकेरं तथाऽऽहंकेरं च ।

भांचिचअ स्रांचिच या स्यात्, रूपं तच्छेषं तत्रच ।

सेवा नीदो निहित-मृदुक-व्याकुलं म्भुय-मुक्रा

एकस्नुष्णिक-चिअ-नख-चेआऽम्भदायाअ इव्यम् ।

स्यतां दूतो निगादति मुनिः क्थाणु-कोत्तुहलं च

सेवादि तत्र प्रहशाशमित्तं १६ स्याद्वत्तआपि शब्दः ।

शाङ्गे कानुपूर्वोऽनु ॥ १०० ॥

शाङ्गे कानु प्रागकारः स्यात्, 'साङ्गं' सिद्धिमश्रुते ।

हुमा-भुत्तापार-रनेऽन्त्यव्यञ्जनात् ॥ १०१ ॥

अभिममाद् व्यञ्जनानु प्रागनु वमा-शशाया-रन्त्य इष्यते ।

हुमा सज्ञाहा रयणं, मुहम सुदममाऽऽप्येत ॥

संज्ञान्योर्वा ॥ १०२ ॥

संज्ञेऽनौ यन्न भयोऽगस्तस्य मध्ये तु वाऽनु भवेत् ।

नेहो स्पणेहो, अगमो अगमां रूपं विद्वुर्बुधाः ।

पुङ्गे लात् ॥ १०३ ॥

अः स्यात् पुङ्गे लकारानु प्राक् 'पलकम्' सिद्धिमश्रुते ।

है-श्रीं ही-कृन्म-क्रिया-दिष्टुआसिन्त् ॥ १०४ ॥

श्री-ही-कृन्म-क्रिया-दिष्टुआ-ऽहोषु युकाऽन्यवर्णतः ।

प्रागिकारो भवेदेषु पदेषु, तल्लवणनेऽऽनुत् ।

सिरो हिरु, च काम्णो किरिआ दिष्टिआऽरिहा,

'हय नाणं क्रिया-हीणं' इत्यादि क्वचित्किप्यन्ते ।

शी-प-तप्त-वज्जे वा ॥ १०५ ॥

तप्त-वज्ज-शे-पेशदे संयुक्तान्यवर्णतः ।

प्रागिकारो विकल्पेन, संयुक्त्यादिशब्दम् ॥

(शे) आर्यासो आर्यास, सुदीसम्पा वा सुदसम्पा, (पे) वासा ।

वरिसा, वामं वरिसं, वरिस-सयं वाससयमित्तं च ॥

नित्यं क्वचित् व्यर्थमित्तं-विनापया दइयन्ते-ऽप्रागिसं ।

हरिसो च परामरिसो, तविभ्रो नत्तो, वहर वञ्ज ॥

लात् ॥ १०६ ॥

संयुक्तस्य तु लादन्त्य-ध्यञ्जनात् प्रागिकारना ।
कालिञ्च च कालिटां च, कालिञ्च स्थान-कमा पवो ॥

स्याद्-जन्व-चैत्य-चैरियसमेषु यात् ॥ १०७ ॥

स्यादादिषु चौर्यशब्द-तुष्टेषु निन्देषु च ।
संयुक्तस्य यकारान् प्रागिकदिशां विधीयते ॥
सिञ्चा यथा-सिञ्चावाञ्चो, अविञ्चो वेहञ्च तथा ।
(चौर्यसमाः) चोरिञ्चं घोरिञ्चं गम्भीरिञ्चं सोरिञ्चं वोरिञ्चं ॥

स्वमे नात् ॥ १०८ ॥

स्वप्रशब्दे लकारात् प्रागिकारः, सिञ्चिषो यथा ।

सिञ्चिषे वाऽद्विती ॥ १०९ ॥

स्विञ्चशब्दे लकारान् प्राग, अद्विती स्तो विकल्पनात् ।
सिञ्चिञ्च च सिञ्चिञ्चं च, पञ्च निञ्चं निगद्यते ॥

कृणे वणौ वा ॥ ११० ॥

वर्णो कृणेण लकारात् प्राग, अद्विती स्तो विकल्पनात् ।
कसणो कानिषो कणहो, विष्णौ कणहो प्रयुज्यते ॥

उच्चाद्विती ॥ १११ ॥

अर्हन्-शब्दे हकारान् प्राग, अद्विती स्तो भवन्ति च ।
अर्हो अर्हो रूप-प्रकटो चेति सिध्यति ॥
अरदन्तो अरिदन्तो, अरदन्तो च पश्यन्ते ।

पञ्च-द्वय-मूर्त्ते-द्वारे वा ॥ ११२ ॥

पञ्चो द्वयो च मूर्त्ते च द्वारे युक्तस्यवर्णौ च ।
प्रागुद् वा, पञ्चमे पञ्चम्, द्वयं च द्वयं तथा ॥
मूर्त्तौ मुक्तस्यो मुक्तस्यो वा, दुवारं द्वारमुच्यते ।
पञ्च वार च द्वारं च द्वारं चेति त्रयं स्मृतम् ॥

तन्वोत्तुल्येषु ॥ ११३ ॥

उदन्ता डीप्रययान्ताः, शब्दास्तन्वीसमाः स्मृताः ।
संयुक्तस्यान्वयणान् प्राग, उकारस्तेषु पश्यन्ते ॥
तत्तुल्यो लहर्वा गम्भी, कञ्चिदन्यत्रापि दृश्यन्ते च यथा ।
स्त्रुप जवति सुगम्भे, आर्षे-सुद्वम् न तु सुहृदं स्यात् ।

एकस्वरे इवः स्वे ॥ ११४ ॥

एकस्वरे पदे यौ भवन्-स्य श्रयैतो तयोर्दिह ।
यकारान् प्राग, उकारः स्यात्, अः क्वं तु-सुवे कयं ।
'सुवे जसा स्वे जनास्तु, कुत 'एकस्वरे' इति ? ।
स्वजनः-स्यथणा 'नात्र, यतोऽप्येकस्वरे सितः ॥

ज्यायामात् ॥ ११५ ॥

ज्या-शब्दे तु यकारान् प्राग, ईत् स्यात् 'जीञ्चा' ततो भवेत् ।

करेणू-बाराणस्याः र-णोर्व्यत्ययः ॥ ११६ ॥

बाराणस्यां करेणूनां च, र-णोर्व्यत्ययो प्रवेत् ।
बाणारसी, कणिक, स्त्री-निर्देशात् पुंसि न्येयं ।

आलाने लनोः ॥ ११७ ॥

अ-नयोर्व्यत्ययादाला-नमाऽऽज्ञाणो प्रयुज्यते ।

अचलपुरे चक्षोः ॥ ११८ ॥

अचलपुरे तु शब्दे, च-लयोः स्थानभेदः ।
प्रयुज्यतेऽसचपुरं बुधेः प्राकृतपदिनिः ।

महाराष्ट्रे हरोः ॥ ११९ ॥

'मरहट्टं' महाराष्ट्रे हरयोर्व्यत्ययाद् भवेत् ।

हरे हरोः ॥ १२० ॥

हृद्-शब्दे ह-नयोर्व्यत्ययेन रूपं बहो भवत्यत्र ।
'हरए मह पुणमारए' इत्यादि दृश्यन्ते तत्तु ।

हरिताले र-लोर्नवा ॥ १२१ ॥

र-लयोर्व्यत्ययः कारयो, हरिताले विकल्पनात् ।
सिक्क ततो 'हरिआत्रो, हारिआत्रो' इति द्वयम् ।

लघुकं स्रहोः ॥ १२२ ॥

लघुकं घस्य इत्ये वा लहयोर्व्यत्ययः स्मृतः ।
हलुं लहलुं, घस्य व्यत्यये न तु हो भवेत् [१] ॥

ललाटे ल-कोः ॥ १२३ ॥

ललाट-शब्दे लडयोर्व्यत्ययो वा विधीयते ।
णमाल च णलामं च, ललाटे चेति [१.२५७] लस्य णः [२] ।

से षोः ॥ १२४ ॥

षा-शब्दे ह-ययोर्वा स्थानव्यत्ययः सहा-गुणयोः ।
सर्हो सज्जो, तथा गुण्डं गुण्डं, रूपे इमे मते ।

स्तोकस्य धोक्-धोत्-धेवाः ॥ १२५ ॥

धाङ्-धोक्-धेवा वा स्युः, स्तोकाशब्दे त्रयः क्रमात् ।
धाक् धोक् च धेवे च, पञ्च धोक् विधीयते ।

दृष्टित्-चिग्न्यां धृञ्चा-वर्हाण्यो ॥ १२६ ॥

धा भवेद् दृष्टितुष्टेया, प्राग्न्या वधिणौ तथा ।
वर्दिणौ भर्षी, धृञ्चा दुर्दिआ च विभाष्यते ॥

दृक्-क्षिप्तयोः रक्त्व-दृद्धौ ॥ १२७ ॥

दृक्-क्षिप्तशब्दयोर्-येधाक्त्वं 'रक्त्व' दृद्धं इति वा स्तः ।
रक्त्वो वञ्जो, दृद्ध सित्तं, उच्छ्रद्धमुक्त्वत्त्वं ॥

वनिताया विलया ॥ १२८ ॥

वनिताया विलया वा, विलया वलिञ्चा ततः ।

गौणस्येपतः कुरः ॥ १२९ ॥

ईपरकृद्भ्यस्य गौणस्य, कुरादेशो विज्ञापया ।
विचव्व कुर-पिकेति, पत्त स्याद् 'ईसि' निर्वृत्तम् ॥

स्त्रिया इत्थी ॥ १३० ॥

स्त्री-शब्दस्य भवेद्विधीया, 'इत्थी' धी' प्रयुज्यते ।
धृतदिदिङ् ॥ १३१ ॥

धृनेर्वा दिहिरादेश-स्तनः स्यार्तां दिहो धिर्दे ।

माजोरस्य मञ्जर-वञ्जरी ॥ १३२ ॥

माजोरस्य विकल्पेन स्यार्तां मञ्जर-वञ्जरी ।
मञ्जरो घञ्जरो, पञ्च मञ्जरो वाऽभिधीयते ॥

वेङ्कटस्य वेकलिञ्चो ॥ १३३ ॥

वेकलिञ्च इत्यादेशो, वा वेङ्कटस्य स्यात् ततः ।
वेकलिञ्चं वेङ्कटं च, त्रयं सित्ति समश्नुते ॥

[१] घस्य व्यत्यये कृतं पदादिशब्दाद् हो न प्राप्नोतीति ह-
रणम् । [२] "ललाटे च" [१.२५७] इति आदेशस्य ण-
विधानादिह द्वितीयां ल-स्थानां ।

पारिह एसाहे इदानीमः ॥ १३४ ॥

इवामीमो भवेत् पण्हि, एसाहे च विकल्पनात् ।

इच्चाणि पारिहम एसाहे, त्रयं चेतत् इकपितम् ।

पूर्वस्य पुरिमः ॥ १३५ ॥

पूर्वस्य पुरिमो वा स्यात्, पुर्वं च पुरिमं तथा ।

व्रतस्य इत्ये-तद्वौ ॥ १३६ ॥

व्रत-शब्दस्य वा स्यात्, हिट्-तद्वौ विकल्पनात् ।

दित्यं तच् च तथ्यं च, त्रयं सिद्धिं समश्रुतं ॥

बृहस्पतौ बहो जयः ॥ १३७ ॥

बृहस्पतौ बहस्य वा भयो निगद्यते पदे ।

भयस्सर्हं जयस्सर्हं भयस्सर्हं ततो भवेत् ।

बहस्सर्हं बहस्सर्हं बहस्सर्हं च पाकिक्म् ।

इत्थं यत्र 'वा बृहस्पतौ' (१. १३८) इति प्रदर्शितौ ।

बिहस्सर्हं बिहस्सर्हं बिहस्सर्हं बृहस्सर्हं ।

बृहस्सर्हं बृहस्सर्हं च तत्र यान्ति सिद्धिनाम् ।

मस्त्रिनो जय-शुक्लि-नुस्माऽऽरब्ध-पदात्तमैद्भावाद्-

सिप्-शिक्का-इ च पाइक् ॥ १३८ ॥

मस्त्रिनादेमैल्लादिरादेशो वा विधीयते ।

मस्त्रिन-मस्त्रिणं मस्त्रं, यमय-अवहं च उच्यते इति केचित् ।

शुक्लि-सिप्पो सुक्लि, नुस्म-शिक्को च लुक्लो च ॥

आरब्धत्वादासो आरब्धो वा, पदात्तमित्ति तु पदम् ।

पाइक्का च पयाइ, 'अभयोक्तान्' ज्ञेयोदायं ।

दंश्या दादा ॥ १३९ ॥

दंश्या-शब्दस्य दादा स्यात्, संस्कृतेऽप्ययमित्थ्यते ।

बहिमो बाहि-बाहिर् ॥ १४० ॥

'बाहि बाहिरमित्थ्ये' स्थाने द्वौ बहिसे मती ।

अधसो हेहं ॥ १४१ ॥

हेह इत्ययमादेशोऽधसो, हेहमतो भवेत् ।

मानु-पितुः स्वसुः सिन्धा-तौ ॥ १४२ ॥

मानुः पितुः परः स्वसु-शब्दः, तस्य सिन्धा च ह्य ।

स्वाद् माउच्चा माउत्सिन्धा, पितृच्छा च पि (ब) ऊत्सिया ।

तिरिचस्तिरिचिः ॥ १४३ ॥

तिरिचिच्छस्तिरिचिः स्थाने आदेशो विनियते ।

'तिरिचिच्छे च्छेह' आर्थे-तिरिचिः अपि प्रयुज्यते ॥

गृहस्य घरोऽपतौ ॥ १४४ ॥

गृहस्य घर आदेशः, पतिगृहः परो न चेत् ।

घर-स्वामी, राय-घरं पयो-गहवर्हं पुनः ॥

शौलाद्यर्थेस्येरः ॥ १४५ ॥

शौल-धमे-स्वाधर्थे यो, विहितः प्रत्ययो भवेत् ।

इर इत्ययमादेशः, तस्य स्थाने विधीयते ॥

हासशौलस्तु-इस्तिरो, राधिरो लक्षितो तथा ।

जम्पिरो वेविरो ऊल-सिरो च जम्पिरोऽपि च ॥

तुन एव इरं केचिद्विच्छाते, नमिराऽऽप्येव ।

तेषां मने न सिध्यन्ति, तुनो बाधाऽत्र रादिना ॥

वत्सस्तुमच्छ-तुआणाः ॥ १४६ ॥

'तुम-अव-तु-तुआणा' स्युः, स्थाने क्त्वाप्रत्ययस्य तु ।

(तुम) मोत् (अत्) प्रमिष (तुण) काऊण,

कट्टा-ऽऽप्ये (तुआण) जेतुआण च ॥

इदमर्थस्य केरः ॥ १४७ ॥

प्रत्ययस्येदमर्थस्य, 'केर' आदेश इच्छते ।

तुम्हकेरं अम्हकेरं, युष्मदीयाऽऽस्मदीयायोः ।

न स्यात् 'मर्हम-पक्के' तु 'पाणिनीया' इहापि च ।

पर-राजन्पा क-दिक्कौ च ॥ १४८ ॥

प्रत्ययः पर-राजभ्या-मिदमर्थः परोऽस्तु यः ।

तस्य स्थाने भवेतां तु, क-दिक्कौ केर इत्यपि ॥

परकीय तु पारकं, परकं पारकेरञ्च ।

राजकीयं तु राजकं रायकेरं च पठ्यते ।

युष्मदस्मदोऽत्र एव्यः ॥ १४९ ॥

यः परो युष्मदस्मदोऽत्र प्रत्ययोऽभिदमर्थकः ।

एवचयनस्य, युष्माकमित्थं यौष्माकमित्थ्यः ।

तुम्हदचयं स्याद्, आस्माकं जेवदम्हदचयं तथा ।

वतेर्वः ॥ १५० ॥

प्रत्ययस्य वतेर्वः स्याद्, 'सुहृद्व' निवृहयते ।

सर्वाङ्गादीनस्येकः ॥ १५१ ॥

सर्वाङ्गाद् 'सर्वादेः पप्यक्' हेम० ७ ॥ १ ॥ त्यादिना य ईनऽस्ति ।

तस्येकः स्यात्, सर्वा-ङ्गिण-सर्वयङ्गिणो गदितः ।

पयो णस्येकः ॥ १५२ ॥

'नित्यं णः पयङ्ग' [ह० ६ ७] सुवेधेनेन यः पयो णः स्यात् ।

तस्येकः करण्यः, पयः पदिभो ततो भवति ।

इयस्यत्सिनो पायः ॥ १५३ ॥

आत्मनः पर ईयो यो, श्यावांशोऽस्तु तस्य तु ।

आत्माय पठ्यते तेन, सुंयःऽप्यस्यार्थं पथम् ।

त्वस्य शिपा-त्तौ वा ॥ १५४ ॥

त्व-प्रत्यस्य वा स्यातां 'शिमा' 'सण' इमौ क्रमात् ।

पाणिमा पुष्कमा, पीणत्तणं पुष्कत्तणं तथा ।

पक्कं पीणत्तं पुष्कत्तं, पयम-याश्चद्रीनम् ।

इहः पृच्छ्यादि-शब्देषु नियन्तव्याद्यं विधिः ।

तदन्वयप्रत्ययानेषु साधनेन तु विधीयते ।

पीनता 'पीणया' चेहाऽ-न्वयमायायां तु 'पीणय' ।

तेनेह 'दा' तल्लः स्थाने, मादेशो न विधीयते ।

अनङ्गातोत्तैलस्य रेणुः ॥ १५५ ॥

अङ्गोऽनयजितान् शब्दात्, 'रेणुः' तैलस्य कथ्यते ।

कतुपुहं, न चऽङ्गोऽनेणमत्र प्रवर्तते ।

यत्तदनेतोत्तैरिति अ एतल्लुक् च ॥ १५६ ॥

इतिअत्रो यत्तदनेतद्व्यः स्याद् माश्वरतेरिति ।

परिमाणार्थकस्याऽङ्गो, लुक् स्यादनेतोऽपि च ।

पतावत् ईत्तं, तावद् यावत् तित्तिअ जित्तं च ।

इदंकिमर्थं केसिअ-केसिल-केह्दाः ॥ १५७ ॥

शब्दं ज्यो यत्तदनेतद्व्यः किमिदंभ्यां च यः परः ।

अनुतो रुवतुवां स्यात् तस्य स्थाने मित्तल्यः ।

केह्दा केसिअ केसिलो, भवेदनेतद्व्यं ह्यक् ।

एत्तल्लं एत्तल्लं एदहं स्याद्व्यत्त

कत्तल्लं कत्तल्लं केह्दां स्यात् कियत् ।

जेत्तल्लं जेत्तल्लं जेह्दां स्यात्तः

तेषामं तेषामं तेहहं तावतः ।
पक्षिभं पक्षिणं पक्षमतावतः ।
पद्दहं, वेदशं सुरिनिर्वाणहतम् ॥
कृत्वसां हृत्तं ॥ १५८ ॥
“वाते कृत्वसं” [हम०७।२] हि सुत्रेण यः कृत्वस्यस्ययः कृतः ।
तस्य स्थाने भवेत् ‘हृत्तं’ ‘स्यहृत्तं’ निदर्शयम् ।
कथं प्रिवाजिमुचं तु ‘पियहृत्तं’ प्रयुज्यते ।
हृत्तनाभिमुखायेन रूपसिद्धिर्भविष्यति ।
आदिवद्वालाल-वन्त-मन्तेचेर-मणा मवोः ॥ १५९ ॥
आलुद, इहो, मणो, वन्त-आल-उल-इरः, तथा ।
इसा, मन्तो, यथालक्ष्यं, नवाऽऽदेशा मतोः स्मृताः ।
(आलु) नेहालू च द्यालू (इहो) सादिहो भवति जामहो च।
(उल) मसुहो दपुहो (आल) तथा जमालो च सहालो च ।
(वन्त) भणवन्त-भक्तिवन्तो (मन्ते) मणुमन्तो भवति पुणुमन्तो च ।
(इर) कज्वरतो भावइरतो (इर) गविरो रोहिरो भवेत् ।
(मण) स्याद् ‘भणमणो’, कर्वाचिद्, मादेशाद् हलुमा मतः ॥[१]

चो दो तसो ना ॥ १६० ॥
प्रत्ययस्य तसः स्थाने ‘सो’ ‘दो’ वा भवतो, यथा ।
सञ्चतो सञ्चदो, पक् भवेद् रूपं तु सञ्चसो ।
मपो द्वि-द्व-त्याः ॥ १६१ ॥
प्रत्ययस्य अपः स्थाने द्वि-द-त्याः स्युरिमे त्रयः ।
निदर्शनं यत्र-तत्र-कुत्राणामिह दृश्यताम् ।
जोड वा जह वा जथ, तथा वा तदि वा तह ।
कहि वा कड वा कत्या-ऽअथ वाऽअहि वाऽअह ।
वैकादः सि सित्रं इथा ॥ १६२ ॥
एक-शब्दान् परो यो वा-प्रत्ययस्तरय वा त्रयः ।
‘इथा सित्रं सि’ इत्येते, आदेशाः स्युधिपाकम् ॥
स्यादेकदा ‘एकसिभं’, तथा ‘एकसिमा’ऽपरम् ।
‘एकसि’ त्रिनयं चैतन्, पते स्याद् ‘एगया’ पदम् । [२]
मिह-डुहो जवे ॥ १६३ ॥
नामः परी डिह-डुहो, भवेऽथे प्रत्ययी कितौ ।
गामलिभा, उशान्यन्य, आत्वाभौ [२१५६] प्रत्ययावपि । [३]

स्वार्ये कथ वा ॥ १६४ ॥
स्वार्ये को डिह-डुहो च, कितौ वा प्रत्ययात्मयः ।
चन्दभो इहयं, क्वापि द्वि-व- बहुभयं यथा ।
ककारोच्चारणे पेशाच्चिकमापार्थमिष्यत् ।
यथा वतनकं, इह इतोमे लयते स्फुटयम् ।
पुरा पुरां वा ‘पुरिहो’ ‘पह्वविहोण’ इत्यपि ।
उहो-पिउहो इत्युक्ता मुहुहो अयं मतम् ।
पले-चन्ना इह बहु बहुभ्यं मुहमिन्त्यपि ।
स्यात् कुसादिशिधिं तु ‘कप्’ सस्कृतधेद्व च ।
यायादिब्रह्मणः कस्तु, नियतस्थान इष्यते ।
हो नवैकाद्वा ॥ १६५ ॥
नवादेकाच्च वा स्वार्ये संयुक्तो ‘हो’ प्रवर्तते ।
ततो नवको एकको, एको एको नवोऽपि वा ।
सेवादिस्वात् (३।६६) कस्य द्वि-व- पक्लो’ सिद्धिसृष्टति

[१] मतारिति किम् ?, धर्णा, आथिभो । [२] एकइभा ।
[३] पुरिहं, हेट्टिहं, उवदिहं, अपुहं ।

उपरेः संव्याने ॥ १६६ ॥
संव्यानेऽथे स्थितात् स्वार्ये हो भवेद् उपरिरेह ।
‘अवदिहो’ ‘ऽवरि’ रूपमसंव्याने प्रतिष्ठितम् ।
भ्रुवो मया कयया ॥ १६७ ॥
स्वार्यिकौ प्रत्ययौ स्थानां, भ्रुशब्दाद् डमया मया ।
भ्रुमया मयया चेमी, शब्दाः सिद्धिमवाप्नुतः ।
शानैमां मिभम् ॥ १६८ ॥
शनैस्शब्दाद् भवेत् स्वार्ये, डिभम् तु ‘सिभं’ यथा ।
मनाको नवा दर्यं च ॥ १६९ ॥
डयम् मिभम् च वा स्वार्ये, मनाकशब्दादिमौ यथा ।
मण्यं मणभं पक् मण’ इत्यपि सिध्यति ।
मिभाड्वादिभः ॥ १७० ॥
मिभ-शब्दात् तु वा स्वार्ये, ‘काऽऽभः’ प्रत्ययो भवेत् ।
मीसादिभं तथा पक्, ‘मांभं’ इत्यपि दृश्यते ।
रो दीपोत् ॥ १७१ ॥
स्वार्ये दीपोत् परो वा रः, दीहरे हीहमिष्यति ।
त्वादेः सः ॥ १७२ ॥
‘मावे त्वतह’ (हम०७।१) हि स्युषे, ‘वाऽऽदे’वहितस्ततः ।
स्वार्ये स एव त्वादिर्वा, भवेदित्युपदिश्यते ।
सुपुक्त्वंन ‘मउअसयाद्’ अनुवाच्यते ।
स्यात् कणित्ठयरो जित्ठयरो रूपं वृथामिष्यम् ।
विपुत्पत्र-पीतान्पाडोः ॥ १७३ ॥
वा विपुत्पत्रपीतान्पाडोऽभ्यः स्वार्यिकोऽस्तु लः ।
विज्जुला पत्तलं अन्धशो च पीतल पीतलं ।
पत्ते विज्जु च पत्तं च पीत्रं ‘अन्धो’ चतुष्टयम् ।
यमलस्य संस्कृतस्य ‘जमलं’ कर्पाविकम् ।
गोणादयः ॥ १७४ ॥
गोणादयो निपात्यन्ते, बहुलं इत्यदर्शनात् ।
गोणो गावी च गौवाच्या, गावीशो गाव उच्यते ।
बह्लो तु बहोवदेः, आक आप इतारिनः ।
‘पञ्जावका पणपञ्जा’ पञ्जपञ्जादिष्यते ।
तेवभा तु त्रिपञ्जाशतं, नेषालीसा त्रिवेदमित् ॥
विउसमां तु म्युसमां, घोसिरणं म्युसज्जमम् ।
‘बहिक्ता’ इत्यं शब्दो, बाहिवं म्युनार्थकः । [१]
‘गुणामिसिभम्’-इत्येतत् कार्यं, कथयतु क्वचित् ।
मुक्त्वह उहहति, अपस्मारस्तु वरहो ।
कन्दुहं उर्यभं, थिकथिकु गिहिकि च पठ्यते ।
‘धिगम्तु’ वाक्यमित्येतद् धिरस्तु प्रतिभयते ।
पमिसिद्धी पाडिसिद्धी, प्रतिस्पयोऽभिधीयते ।
थिक्कं स्वासकः, स्यादी सकिथणो, जम उमणं ।
निहभणं तु निलयः, मघोणो मघभानिति ।
महान् महतो, आसीसा आथीरिति, भवान् पुनः ।
मयतो कुञ्चित् स्यातां इकाग्यं बुभौ, यथा ।
सूहत्तरं वडुयर्, स्याद् हिमारां मिमारां ।
ह्यस्य ह्यो इश्यते क्वापि, सुह्यकः सुह्युहो यथा ।
‘घायणो’ गायणो, ङकाण्डम्- ‘कयपकं’ च, चनो ‘घदो’ ।
सञ्जावती च सञ्जासुइणी कङ्कदमित्यपि ।

* त्रिचत्वारिंशदित्यर्थः । [१] बाहिसत्पद्यथा मैथुनम् ।

ककुपे, ककुमिष्येत कुन्तुहलपदस्य तु ।
 चूतो भवति मायन्दे, 'आगमया'-असुराः तथा ।
 माकन्दः संस्कृतेऽपि स्यात्, अट्टिमो विष्णुस्त्वयते ।
 इमशाने करसी, खले खेटु, अष्टौ दिन तथा ।
 पौष्पं रजस्तु 'विष्कृच्छि', समर्थः एककरो, बली ।
 उज्जङ्घो, पयस्कं गेलच्छो, शाखा सावुली मता ।
 कपांसः पहली, ताम्बूलं मतं उत्तरु इह ।
 पुञ्जली विडई, चैवं सति इक्षयाणि भूरियाः ।
 याऽधिकारात् पक्कं उभ यथादर्शनमिष्यते ।
 तेन गौः- गउओ' इहप्रपे चापि प्रयुज्यते ।
 गोला गोआवरी चमी, गोला-गोदावरी-भवौ ।
 भाषाशब्दाश्च सन्नीह बहवस्तान् प्रवीर्यहम् ।
 आदित्यो लङ्घका, विङ्गिर-पञ्चाट्टिमो च उज्जङ्घा ।
 लपेहन्-विहम्फकन्-मम्फकरो अट्टमट्टो च ।
 पण्डित्ठर-इल्लफकन् इत्याद्या भूरिशाभिप्राशाब्दाः [१] ।
 अथवासइ कुम्फुल्लइ, उफ्फांइइ क्रियाशब्दाः ।
 अत एव कृष्ट-पृष्ट-बाक्य-विष्टमित्येतसाम् ।
 वाचस्पति-प्रोक्त-प्रान-विष्टरश्रवसां तथा ।
 अग्निचिद-सोमसुत्-सुगल-उम्प्रादाणां च न्युसाम् ।
 किञ्चादिप्रत्ययान्तानामनुक्तानां तु मूर्तिमः ।
 प्रतीतिवैषम्यपरः, प्रयोगां न विधीयते ।
 किन्तु शब्दान्तरैरेव, तदर्थेऽस्माऽभिधीयते ।
 वाचस्पतिमुक्तः, कृष्टः कुशरो, विष्टरश्रवाः ।
 हरिरित्यादिवद् वेष्ठाः भवेत् पर्यायसम्भवः ।
 सोपसंगस्य घृष्टस्य, प्रयोगः क्रियते बृष्टे ।
 परिघट्टे निहट्ट चेत्येवमादि निश्चयम् ।
 धार्ये यथादर्शनं तु, न विरुद्धं किमप्यतः ।
 'यथा मया विउसा, 'तथैव 'सुअ-लक्षणागुसारेण' ।
 'वक्कन्तरंउ अ पुणां, 'इत्याद्यापि विज्ञानायान् ।
 अवययम् ॥ ११५ ॥
 अवययमित्यधिकार आषादपिपुरगात् ।
 इतः परं ये बद्धयन्ते, ते सर्वेऽप्यवयवाभिध्नाः ।
 तं वाक्योपपन्नासे ॥ ११६ ॥
 तमिति वाक्योपपन्नासं, प्रयोक्तव्यं यथाविधि ।
 'त तिमस-वट्टिमोक्कं' एव सर्वत्र न्ययनाम् ।
 आम अन्त्युपगमे ॥ ११७ ॥
 आम-शब्दोऽन्त्युपगमे, वाच्यं सात्तु प्रयुज्यताम् ।
 तद्यथा- आम बहला वणोली 'इहगुच्यते ।
 पात्रि वैपरित्ये ॥ ११८ ॥
 णवीनि वैपरीत्ये स्यात्, तथाहि- णवि हा वणे' ।
 पुणरुक्तं कृतकरणे ॥ ११९ ॥
 'पुणरुक्तं' इतिशब्दः, कृतकरणेऽर्थे प्रयुज्यते हि, यथा- ।
 'अइ सुपइ पंतुलि' एासहेहि अइहि पुणरुक्तं ॥ [१]
 इन्द्रि विपाद्-विकल्प-पञ्चात्ताप-निश्चय-मत्स्ये ॥ १२० ॥
 विपाद् निश्चये सत्ये, पञ्चात्तापे विकल्पने ।
 [१] इत्याद्या महराष्ट्रविद्वान्निदेशमासिखा लोकान्तोऽव-
 गन्तव्याः । [२] हे पांतुले । त्यं निःसहैरङ्के पुनरुक्तं [वारं
 वारं] स्वपिपि ।

'हन्दि' शब्दः प्रयुज्यते, अवययमेतद् निराश्रयताम् ।
 "हन्दि च्लणेण णओ सो, ण माणिओ हन्दि कुल्ल पसाहे
 हन्दि ण होहो भणिरु", सा खिज्जइ हन्दि तुह कजे" । [१]
 हन्दि च गृह्णाणर्थे ॥ १२१ ॥
 'हन्दि' इन्द्रि' समी शब्धौ गृह्णाणार्थस्य वाचकौ ।
 यथा- 'हन्दि पलोयसु इमं' इन्द्रि गृहाण च ।
 मिव पिब विव व्व व विअ इवाथे वा ॥ १२२ ॥
 'मिव-पिब-विअ-विब-व-व्या' अमी इवाथे च वा प्रयुज्यन्ते।
 कुम्सुमं मिव, हंसो विव, कमलं विअ, चन्दणं पिब च ।
 ससस्स व निम्माओ, खोरोओ सायरो व्व, पके तु ।
 नांहुण्यलमाज्ञा इव, दिशाऽनया त्यन्दिपि बोध्यम् ।
 जेण तेण झणणे ॥ १२३ ॥
 जेण तेण इत्येती, सदा लक्षणं नृपेः प्रयोक्तव्यौ ।
 जेण नमररुद्धं कज्जल, 'अमररुद्धं तेण कमलणणं' ।
 एाद् चेअ चिअ च अवधारणे ॥ १२४ ॥
 'एाद् चेअ च चिअ' इम-उवधारणेऽर्थे यथा- 'गर्दं एाद्' ।
 जं चेअ मउलण ठो-अणण, तं च्च सणुरिसा ॥
 अणुवउ तं चिअ का-मिणाण, सेवादिदर्शनाद् द्विथे ।
 'तं च्चिअ भञ्जा' इत्यापि, स च्च व रुवेण, स च्च साझेन ।
 वडे निशरणा-निश्चययोः ॥ १२५ ॥
 निशरणं निश्चय, 'बल' इतीद्, यथा- 'बलं सोहो' । [१]
 अथिय वडे सणुरिसो, धणज्जओ खलिसाणं तु । [३]
 किरं हिइ किलार्थे वा ॥ १२६ ॥
 'किर इर हिर' इत्येते, त्रयः किंशये हि वा प्रयुज्यन्ते ।
 पत्ते सोदाहरणाः, कथयन्ते तेऽवयवस्यम् ।
 'कल्लं किर खर-इअओ' एव किल तेण सविणए त्रणिअत् ।
 'तरुस इर', 'पिअ-वयसो हिर' किल-वाऽऽपि वा वाच्यः ।
 एावरं केवले ॥ १२७ ॥
 णवरं तु केवधार्ये, 'णवरां' 'नवरां' च कुत्रचिद् एहम् ।
 'णवरं पिअइ विअ णि-वइडन्ति' चैवं प्रयोक्तव्यम् ।
 आनन्तर्ये एावरि ॥ १२८ ॥
 आनन्तर्ये 'णवरि' प्रयुज्यन्ते, तत्रिदर्शने चैतत् ।
 'णवरि अ से रडु-वइणा', 'णवरणवारी' सुत्रमेकेषाम् । [४]
 अज्ञाहि निवारणे ॥ १२९ ॥
 अर्थे निवारणे 'आहि', 'सुधीनिः समुदीरित्तम् ।
 अज्ञाहि किं वाइएण, अहेखेति निदर्शयते ।
 अण पाई नअर्थे ॥ १३० ॥
 'अण, पाई' इत्येती, बुधैनेओऽर्थे परं प्रयुज्यन्ते ॥
 अणचिन्तिअममुणन्ती, 'पाई रोसं करेमि' यथा ।
 माई माऽर्थे ॥ १३१ ॥
 'माई रोसं तु कादाव', अत्र माई तु माऽर्थकः ।
 [१] हन्दि [विपादि] चरणे नतः सः, न मानितो हन्दि [वि-
 कल्पे] भविष्यति इदानीम् (नवा) । हन्दि [पञ्चात्तापे] न ज-
 विष्यति भाणेरि [जगन्मार्शा] सा खिद्यते हन्दि [सत्यम्] तव
 कार्ये । [२] निश्चय-विह पयायम् । [३] निधारणे । [४]
 केचित्तु केवलानन्तर्यार्थयोः 'णवर-णवारी' इत्येकमेव सूत्रं कुव्य-
 ते, तन्मते उभावायुज्यार्थी ।

दुःखी त्स्त्रिदे ॥ ११७ ॥

'दुःखी' इति निवेदे, दाधिक-शब्दस्य भवति वाऽऽदेशः ।
तस्माद् 'दुःखी दुःखी' तथा च 'हा धाह धाह' इति ।

वेव्ये भय-वारण-विषादे ॥ ११८ ॥

भय-वारण-विषादेषु, 'वेव्ये' इतिनिधीयते ।
'वेव्ये' इति भयं वेव्ये, इति वारणं जुरणे च वेव्ये इति ।
उल्लाघिरीष तु हृत्, वेव्ये इति गय(प) । किं शयं ? ॥
किं उल्लाघिनीप उत्र जुरन्तीरे किं तु नीश्राप ।
उव्वादिरीरे वेव्ये इति तांरे भणितं न सिद्धरिभो' [१] ॥

वेव्ये च आमन्त्रणे ॥ ११९ ॥

वेव्ये वेव्ये च आमन्त्रणे, यथा-भवति 'वेव्येसोले' वा ।
'वेव्ये मुरग्ये चह-रिभ पाणिश्र' चदशे वाक्येप ।

मामि हला हल्ले सरुया वा ॥ ११९ ॥

'हला मामि, हल्ले' श्वेतं सरुया आमन्त्रणे तु वा ।
पथग्रह भागस्त्र हला, 'मामि हु स्वर्गसकलराणु'षि चकधितम् ।
'हल्ले हयासस्त्र' तथा, पक्-सहि एरिसि चिभ्र गरी तु ।

दे मंगुलीकरणे च ॥ ११९ ॥

'दे' तु मंगुलीकरणे, सरुया आमन्त्रणे च वक्तव्यम् ।
'दे' पतिश्र ताव सुन्दरि' । 'दे आ खु पतिश्र निअससु च ॥

हुं दान-पृच्छा-निवारणे ॥ ११९ ॥

स्याद् 'हुं' निवारणे दाने, पृच्छायां चापि, तद्यथा-
'अपयणां चिभ्र हु मेगह' । 'हुं निर्लेज्ज' इति सोमस ।
'हुं च स्याद्यु सञ्जाते, एवमादि निश्रोणम् ।

हुं खु निश्रय-वितर्क-संभावन-विस्मये ॥ ११९ ॥

'हुं' खु' निश्रय-संभावन-वितर्क-विस्मय-पक्षेषु वक्तव्यौ ।
(निश्रये) 'त पि हु अचिभ्रसिरी', 'त खु सिरीय रदस्सं च' ।
ऊहसंशयो द्वावपि, वितर्क-वाच्यौ (ऊह) हसह खु एत्तं सा ।
'न हु ग्वरं संगहस्रा' (संशये) खु जलहरो भूमवत्सो खु ॥
(संभावनं) 'एअं खु हसह' इत्यपि; णवर रमंण हु तरिं' च ।
(विस्मये) कां खु सहससिरी, हुनांऽनुस्वारात् परो वाच्यः ।

ऊ गद्दीऽऽ-क्षेप-विस्मय-सूचने ॥ ११९ ॥

'ऊ' गद्दी-विस्मयाऽऽक्षेप-सूचनेषु प्रयुज्यते ।
(गद्दी) ऊ एिल्लज्ज' (सूचने) ऊ कण, नविष्णयां गुणं तुह' ।
(आक्षेप) ऊ मप भाणअं किं खु' (विस्मये) 'ऊ मणिआऽहयं कद' ।
आक्षेपः संऽन, वाक्यस्य यद् विपर्यासवारणम् ।

धु कुत्सायाम् ॥ १२० ॥

कुत्सायां धु, यथा-'लोआं विभ्रज्जो धु' प्रयुज्यते ।

रे अरे संभाषण-रतिकल्लहे ॥ १२० ॥

संभाषणे तु 'रे' स्यात्, रतिकल्लहे संप्रयुज्यते च 'अरे' ।
रे हिअय । मडह-सरिआ, 'अरे मप मा कंसे उवहासं' ।

हरे क्षेपे च ॥ १२० ॥

[१] वेव्ये इति भयं वेव्ये इति वारणं जुरणे [खेदे] च वेव्ये इति । उल्लाघयन्त्या अपि (मया) तव वेव्ये इति मृगाक्षि । किं क्षेपम् । किं उल्लाघयन्त्या उत जुरन्त्या किमु यीत्या । उद्व-दन्त्या (निपथं कुर्वत्या), वेव्ये इति तथा जगितं न विस्मयः ।

क्षेपे रतिकल्लहे संभाषणविषये च कथ्यते तु 'हरे' ।
(क्षेपे) हरे गिरज्ज ! (रतिकल्लहे) हरे बहु-
बल्लह ! दुज्जण ! (संभाषणे) हरे पुरिसा ! ।

ओ सूचना पश्चात्तापे ॥ १२० ॥

सूचनायां तथा पश्चात्तापे 'ओ' इति पठ्यते ।
'ओ अविणय तत्तल्ले' (पश्चात्तापे) 'ओ छाया इत्तिआप न' ।
उतस्य तु विकल्पार्थवाचकस्यापि 'ओ' भवेत् ।
यथा 'तहयल्ले ओ विरपमीन' निगद्यते ।

अध्वो सूचना-तुःख-संभाषणपराप चिस्मयानन्दादरभय-
खेद-विषाद-पश्चात्तापे ॥ १२० ॥

अध्वो तुःखं सूचनयानपरापे च विस्मये ।

संज्ञापणे भये खेदे, पश्चात्तापविषादायोः ।

आनन्दादर्याध्याप प्रयोक्तव्यं हि, तद्यथा !

[१] अध्वो दुःखधार्याः । (२) अध्वो हिययं वृद्धन्ति वयणाणि ।

[३] अध्वो किमिणं किमिणं, अपराध विस्मये तु यथा- ।

[४] * अध्वो हरन्ति हिअयं, तह वि न वेसा हवन्ति सुवर्णं ।

[५] अध्वो किंए रदस्सं, मुण्णिनं पुत्ता जणम्महिआ ॥

[६] अध्वो तुपहायिणे (७) अध्वो अज्जमह सफ्फल जीअं ।

[८] अध्वो अइअग्नि तुमे, नवरं अइ सा न जूरिहइ ॥

[९] अध्वो न जाअं वेसे, पश्चात्तापेऽपिधीयते तु यथा ॥

[१०] "अध्वो तह तेण कया, अदधं जह कस्स साहेमि" ? ।

[११] * अध्वो नासेन्ति विहि, पुलयं वेवुन्नि देति रणरण्यं ।

यदिह तस्सेअ गुणा, ते चिअ अध्वो कहरुण पअं ? ।

अइ संभावनं ॥ २०० ॥

अइ संभावनं, अइ दिअर ! किं न पच्छसि ? ।

वाणे निश्रय-विकल्पानुकल्पे च ॥ १२० ॥

संभावनंऽनुकल्पे च विकल्पे निश्रये वणे ।

[निश्रये] वणे देमि 'वणे ढोइ, न ढोइ' स्याद् विकल्पने ।

दासां न मुष्यह वणे, अनुकल्पो न मुच्यते ।

[संभावनं] 'नाथ वणे जं न देइ' विहि विणामो' यथा ।

मणे विमर्शे ॥ १२० ॥

मणे विमर्शे, 'मन्ये' इत्यर्थेऽपि च्छन्ति केचन ।

किस्वित् सूर्यो-मणे सूर्यो' रूपमीदृश विदुर्मुद्याः ।

अस्मो आश्रये ॥ १२० ॥

आश्रयेऽर्थे भवेद् अस्मो, 'अस्मो कह तरिअह' ।

स्वयमोऽर्थे अप्पणो नवा ॥ १२० ॥

[१] सूचनयाम् (२) दुःखे [३] संभाषणे [४]

अपराधे [५] विस्मये [६] आनन्दे (७) आदरे

[८] जये [९] खेदे [१०] विषादे [११] पश्चात्तापे ।

* अध्वो इरन्ति हृदय तथाऽपि न ज्ञेया भवन्ति सुवर्तीनाम् ।

अध्वो किमापि रदस्सं जानन्ति धूर्ता जनभ्यःकाः ॥

× अध्वो नाशयन्ति धूर्तिं पुत्रकं वेदयन्ति हृदयं रणरण्यकम् ।

इदानीं तस्यैव गुणा त एव अध्वो कथं नु पतत ॥

[सिफ्हेम०]

‘ स्वयम् ’ इत्यस्य वाच्ये वा, ‘ अण्यणो ’ संयुज्यते ।

‘ अण्यणो विसर्ग्य कम-लसरा विशसंति च ’ ॥

‘ करल्लिञ्जं सत्यं वेध, मुणाल ’ स्याद्वि पाकिरुच्य ।

मत्येकमः पारिकं पारिकुक्कं ॥ २१० ॥

प्रत्येकमः पारिकं, पारिकं च पदं भवेत् ।

पाठिकं पाठिकं, च पक्षे-‘ पक्षेभ-’मिष्यते ॥

उअ पर्य ॥ १११ ॥

‘ उअ ’ इत्यव्ययं पक्षेत्यस्याथे याऽजिधीयते ।

‘ उअ निष्कलिप्यद्वा त्रिसिणी-पलस्मि रेहृद् बलाभा ।

निष्मल-मरण्य-मायण-परिद्विआ सङ्ग-सुचित व्य ’ ॥ [१]

इहरा इतरथा ॥ ११२ ॥

‘ इहरा ’ इतरथाऽथे, प्रयोक्तव्यं विभाष्यया ।

‘ नीलामखिह इहरा ’ पक्षे-‘ इकरहा ’ इति ॥

एकसरिञ्जं भ्रगिति संघति ॥ ११३ ॥

सम्प्रत्यथे भ्रगित्यथे स्यात्-‘ एकसरिञ्जं ’ पद्यम् ।

भोरउड्गा मुधा ॥ ११४ ॥

‘ भोरउड्गा ’ इति पदं, मुधाऽथे प्रतिपाद्यते ।

दराधोरये ॥ ११५ ॥

‘ दर ’ इत्यव्ययम् ईषदर्थेऽथोरये च पठ्यते ।

‘ दर-विक्रसिञ्जं ’ ईषदर्थे विकसितं तथा ॥

किणो मन्ने ॥ ११६ ॥

‘ किणो ’ इत्यव्ययं प्रथे, ‘ किणो ध्रुवसि ’ ईदृश्यते ।

६-जे-राः पादपूर्णे ॥ ११७ ॥

६-जे-रा इत्यौ दाम्ना उच्यन्ते पादपूर्णे ।

‘ न उगा ६ च अच्चाई ’-‘ अणुकूलं च वार्त्ते जे ’ ॥

स्यात्-‘ गेपदृ ६ र अक्षम-गेवी ’ वाक्ये र-परणम् ।

‘ अहा हर्दा च डा हर्दा, नाम हासि अहाह च ॥

अहहाऽपि अरिरीर्दा ’ इत्याद्याः संस्कृतोपमाः ।

प्यादयः ॥ ११८ ॥

प्राकृते प्यादयः स्वथे, नियताथेऽप्युच्यते ।

प्रयोक्तव्याः, यथा-‘ वि ’ ‘ वि ’ अप्यथे परिकीर्तिनौ ॥

या भाषा भगवदबोधभिरगमद-रुपाति प्रतिष्ठा परा,

यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्यकादशाङ्कानि च ।

तस्याः संप्रति दुःपयारवदातो जातोऽभचारः पुनः

संचाराय मया कृते विवरणे पादो दित्तोऽयो गतः ॥ १ ॥

इति श्रीमत्सौधर्मभूहृत्पापागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-

श्रीमद्दृष्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसुरिविरचि-

तायां प्राकृतव्याकृतौ द्वितीयः पादः ।

॥ अ० अर्थम् ॥

॥ अथ तृतीयः पादः ॥

—०००#०००—

धीः पात् स्यादेर्निस्ये स्वरं मो वा ॥ १ ॥

‘ वीप्साऽथजात् पदात् स्यादेः स्थाने मः स्यात् विकल्पनात्

पदे इचरादौ वीप्सायें पदं, इत्युपदिश्यते ।

एकक स्यादेकमेकं पक्षे एककामिष्यते ।

अङ्ग अङ्ग तथा ‘ अङ्गमङ्गमि ’ प्रतिपाद्यते ।

अतः सेतोः ॥ १ ॥

नाम्नोऽदन्त्यत् प्रवेत् स्यादेः सेतोः ‘ वच्छोः ’ यथा भवेत् ।

वैतदतः ॥ ३ ॥

पतन्तदेतः स्यादेः सेः स्थानि ‘ से ’ विकल्पनात् ।

‘ सेतो पदो ’ ‘ से गणो ’ ‘ पसेरो पल ’ वैवं तिदंशनेय ।

जरशामोलुक् ॥ ४ ॥

नम्नोऽदन्ताङ्गणसौ यौ स्यादिसम्प्रथिनौ, तयोः ।

लुग प्रवेत् तथा-‘ वच्छा एत् ’ ‘ वच्छे वि पच्छे ’ च ।

अमोऽस्य ॥ ५ ॥

अतोऽमोऽस्य भुगाथेयो ‘ वच्छे पच्छे ’ उदाहृतम् ।

टा-आमोः ॥ ६ ॥

अतः परस्य ‘ टा ’ इत्येतस्याऽऽभ्रभाषिणो प्रवेत् ।

यथा-‘ वच्छण वच्छान् ’ इयं सिद्धिसुपागमत् ।

जिसो डि दिं हिं ॥ ७ ॥

जिसो ‘ हि हिं ’ इत्येन आदेशः स्पृश्यतेः क्रमात् ।

रुपं ‘ वच्छेति वच्छेति ’ वच्छेदिं च बुधा जयुः ।

हमेस् सो-दो-दु-हि-दिन्तो-लुक् ॥ ८ ॥

अतोऽमोऽमी स्युः सो-दो-दु-हि-दिन्तो-सुकोऽय पठ ।

‘ वच्छाहितो च वच्छतो वच्छा वच्छा च काचित् ।

तथा वच्छादि वच्छाभो ’ दोऽप्यनायाथे उच्यते ।

जयस्य सो-दो-दु-हि-दिन्तो-सुन्तो ॥ ९ ॥

अतो जयसो भवेत् ‘ सो-दो-दिन्तो-सुन्तो-दु-दि ’ क्रमात् ।

यथा-वच्छा उ वच्छादि वच्छेदिं त्रयमाहृशम् ।

वच्छादिन्तो वच्छेदिन्तो, वच्छासुन्तो वच्छेसुन्तो ।

वच्छञ्च वच्छाभो वैवं, रुपं विद्वद्भरैकतम् ।

इसः ससः ॥ १० ॥

अतः परस्य तु क्लसः संयुक्तः ‘ ससो ’ भवेदिद ।

यथा-पिअस्स पम्मस्स, शैस्यमुपकुञ्जं त्यदं ।

उवकुञ्जस्स सोअनत्तणमित्यत्रिधीयते ।

रे मिं डे ॥ ११ ॥

अतः परस्य कौदित् के, मिञ्जोऽदेशौ यथाकृतम् ।

वच्छे वच्छमि, देवमि देथे, ते तमि इत्यर्थम् ।

द्वितीयेत्यादि [३] १२७] सुत्रेणाऽऽः स्थानि कृषिघातयते ।

जम्-शम्-कमि-सो-दो-दो-दु-हि-दि-दि-दि ॥ १२ ॥

जम्-शम्-कमि-सो-दो-दो-दु-हि-दि-दि-दि-दि ॥ १२ ॥

जम्-शम्-कमि-सो-दो-दो-दु-हि-दि-दि-दि-दि ॥ १२ ॥

[१-२] वच्छा [३] वच्छाञ्च वच्छाभो, वच्छा, वच्छादि वा पुनः

[१-२] जसि शासि च [३] क्लसि ।

[१] उअ इति पद्य इत्यर्थे, बलाका, विमिनीपत्र कमलि-
मोपत्रे राजति । किमुना बलाकाः, निष्वल्पनिष्वप्या, निष्वल्पा
बहिर्भाषयित्वा, निष्वदाऽऽनून्नास्यादौ, कच १, निर्मलमरक-
तभाजनप्रतिष्ठिता शक्यशुकरिव ।

वच्छाहितो च, वृक्रेण्यः वच्छसो हस्व [१४] सुव्रतः ।
वच्छाभो वच्छाड [४३।६], अग्रिम-रूपे 'वच्छाण' सिध्यति ।
ऊसिप्रहणैव सिद्धे, 'सा दो ड' - प्रहणन किम् ? ।
पवस्व्य काधनाधाय ज्यसि, तस्य प्रहो मतः ।

ज्यसि वा ॥ १२ ॥

ज्यसादेशे परे दीर्घो, वाऽकारस्य विधीयते ।
यथा- 'वच्छादि वच्छेदि', तथाऽभ्यर्थात् बुधताम् ।

टाण-शस्पेतु ॥ १४ ॥

टाऽऽदेशे-णै च, शसि च, भवत्येवमतो, यथा ।
[शस्] वच्छे पच्छ, [टा-ण] च वच्छेण, णेति किम् ? अ-
प्यणा यतः ।

भिसज्यसमुपि ॥ १५ ॥

भिस-ज्यस-सुपसु भयाथेस्वमतः, तद्दर्शयाम्यहम् ।
वच्छेहितो च वच्छेदि वच्छेसु व्रतमार्गितम् । [७]

इदुनो दीर्घः ॥ १६ ॥

इकारोकारयोर्दीर्घो भिस्-भ्यस-सुपसु परेषु च ।
गिराहि च गिराहिन्तो, गिरासु च तदसु च ।
तर्हि च तर्हिन्तो बुर्हिहि, तर्पि कुत्रचित् ।
'दिश्रभूमिसु दानजबोह्निभारं' तु यादृशम् । [८]

चतुरो वा ॥ १७ ॥

उकारान्तस्य चतुरगे भिस्-ज्यस-सुपसु परेषु वा ।
दीर्घो भवति, चतस्रो चतस्रो, चउर्हि च वा ।
चउर्हि, चउसु स्याद् वा चउसु, इति बुधताम् ।

सुमि शमि ॥ १८ ॥

इदुनोः शसि सुमे तु दीर्घो भवति, तद्यथा ।
गिरी बुर्हि तत्र येणु पच्छ, 'येयं निरशेसम् ।
'सुमि' इति किस ? 'गिरिणा, तस्यो पच्छ' यद् जनेत् ।
इदुनः किम् ? यथा- 'वच्छे पच्छ' नास्त्वत्र दीर्घता ।
जस-शस्- [३।१८] इत्यादिना योगः शसि दीर्घस्य वा कृतः ।
सांस्कृत लक्ष्यानुग्राह्यो न सर्वत्र प्रवर्तते ।
णवि [३।२१] प्रतिप्रसवाधे [३।२२] शङ्काया विनिवृत्तये ।
'सुमि' इति हि योगोऽस्ति, स ज्ञेयः सूत्रमदर्शिनः ।
अङ्गीवे सौ ॥ १९ ॥

इदुनोः सौ भवेद् दीर्घः, स चाङ्गीवे विधीयते ।
गिरी बुर्हि तत्र येणु, अङ्गीवे तु स्याद् दहि महुं ।
यिकल्प्य केऽपि दीर्घत्वे तदभावे वदन्ति च ।
समादेश, यथा सिध्यन्-अग्रिमं वाचं निर्दि विदुं ।

पुंसि जसो रुच रुचो वा ॥२०॥

इदुनः परस्य जसोऽत्र अत्रो पुंसि वा भिन्नी ।
अग्रमात्रा अग्रमत स्थानाम्, 'अग्रिमात्रो' इति पात्रिकम् ।
'वायसो वायत्र' प्राङ्गे 'घातणो'-ऽप्यनिवन्मतम् ।
शेषे स्वदन्तवद्भावाद् अग्रो वाच च सिध्यतः ।

वोतो रुचो ॥२१॥

उदन्तात् परस्य जसः, पुंसि वा 'सो' द्विदिध्यते ।
साहयो, साहयो पक्षे साह्यु साहय साह्युणा ।

[४] सो [४] दो [६] ड [७] भिम्-वच्छेदि, वच्छेदि,
वच्छेदि । पवस्व-वच्छेदि, वच्छेदिन्तो, वच्छेदुनो । सुप-वच्छे-
सु । [८] द्विजभूमिसु दानजबोह्निना ।

जस्-शसोर्णो वा ॥२२॥

इदुनः परयोः पुंसि जस्-शसोर्णोऽस्तु 'णो' इति ।
गिरिणा तरुणो, पक्षे स्वार्तां रूपे 'गिरी कृत्' [१] ।
ऊसि-ऊतोः पुं-ङ्गीवे वा ॥२३॥

इदुनो वा ऊसिऊसोः, पुंसि ङ्गीवे च वाऽस्तु 'णो' ।
गिरिणेः तरुणे रूपे दृहिणो महुणो तथा ।

पक्षे 'गिरीषो गिरीड गिरीहिन्तो', 'ऽनया दिशा ।
अन्येवामपि रुपाणि, हि-लुकौ न प्रविष्यतः ।

ऊसो 'गिरिस्स' इत्येकं पक्षे रूपं प्रयुज्यते ।

टो णा ॥२४॥

इदुदन्त्यां पुंसि ङ्गीवे च, 'टा' इत्यस्य तु 'णा' जनेत् ।
गिरिणा च गामगिणा, तरुणा दहिणा यथा ।

ङ्गीवे स्वरान्म मेः ॥२५॥

ङ्गीवे स्वरानाद् नाम्नः सः, स्थाने मां स्वञ्जने भवेत् ।
दहिं महुं यं येमं, केऽपीरुद्वन्नुनासिकम् ॥ [२]

जस्-शस् ई-ई-णयः समादीर्घाः ॥ २६ ॥

नाम्नः परयोर्जस-शसोः ङ्गीवे ई-ई-णयस त्रयः ।
पशुं सन्तु भवेत् पूर्वस्वराणां दीर्घता, यथा ॥
वयणोऽं पक्षे, वाऽं दहोऽं पङ्क्याणि च ।

स्त्रियामुदीनो वा ॥ २७ ॥

नाम्नः परयोर्जसशसोर् वदन्तो वा स्त्रियां मसौ ।
तणोस्तु परयोः पूर्वस्वरास्येष्टा च दीर्घता ॥
यथा बुकीत्र बुकीभो, सहीभो च सहीड च ।
पक्षे बुकीं सहीं चैवमन्येऽप्युष्वा विचारणात् ।

इतः सेत्रोऽऽवा ॥ २८ ॥

सेज्जो-शसोश्च वाऽऽकारः, स्त्रियामीतः परस्य तु ।
यथा एसा हसन्तीया, गोरीया सन्ति पच्छेड वा ।
पक्षे हसन्ती गोरीया, एवमन्यत्र बुधताम् ।

टा-ऊम्-डेरदादिद् वा तु ऊसो ॥ २९ ॥

नाम्नः परेषां स्त्रीभिर्ज्ञे, टा-ऊम्-ङ्गीनां क्रमात् वृषेः ।
अद् भाद् इद् पतञ्ज्यारः, समाप्दीर्घोः प्रकीर्तिताः ।
कवलस्य ऊसः स्थाने, समाप्दीर्घो अग्रो तु वा ।

यथा मुद्भा मुसाद् मुसाए च कथं त्रिअं ।

कप्रत्यय मुद्दिशाअ, मुक्शाश्च च कथ्यते ।

एवं सहीअ धेरुअ बहुशाऽऽदि प्रयुज्यताम् ।

मुक्शाहिन्तो च मुक्शाड मुक्शाभो चेति पात्रिकम् ।

शेषेऽदन्ता- [३।२४] तिदृशाश्च, वा दीर्घत्वं जसादिना [३।२९]

नात् आत् ॥ ३० ॥

स्त्रियामातः परेषां तु, ऊसिटाङ्-ऊसो न चाऽऽत् ।

भवद् 'मालाअ मालाह मालाए' चेति वै प्रथम् ।

मत्पये ऊर्निर्वा ॥ ३१ ॥

अणदि [हेम०२४] सुव्रतो यो ऊरुको, वा स स्त्रियामिह ।

आत् [हेम०२४] इत्याए च जनेत् पक्षे, साहणी साहणा यथा ।

अजातः पुंमः ॥ ३२ ॥

अजातियाचिपुंसिहात् स्त्रियां डीयो विधीयते ।

[१] जम्शमोरिति द्विवाभिदुत इत्यनेन यथासंख्यामा-
वाधेम् । [२] दहिं, महुं । स्वरादिन्त इदुनो निवृत्त्यर्थम् ।

मीला मीला, हसमाणा हसमाणा, हमीए तु ।
 स्याद् हमाए, हमाणं तु, हमाण, अजिधीयते ॥
 अजानिरिति किम् ? यद्गुरु करिणी एतया अया ॥
 अग्रान्तं तु विभाषयं, तेन संस्कृतवत् सदा ॥
 गौरी 'कुमारी' इत्यादी, बुधेर्ङीः प्रविधीयते ॥
 किं यत्तदोऽस्यमामि ॥ ३३ ॥
 किं-यत्-तद्वृत्तः स्त्रियां ऊजो, न सौ आमि तथाऽमि च ॥
 काञ्चो काञ्चो कासु कासु, काए काए यथा किमः ॥
 तथैव जीभो जाभो च, तीञ्चो ताभो ऽस्ति यत्तदोः ॥
 किमऽस्यमामि ? का जा सा कां जं तं, काण जाण च ॥

जाया-दुरिष्याः ॥ ३४ ॥
 दुषाहरिद्रयोत्पाप, प्रसङ्गे ऊर्विकल्पते ॥
 छाद्दी जाया हलदीं तु हलद्वयं तेन भ्रयते ॥
 स्त्रिसादेर्जा ॥ ३५ ॥
 डाप्रत्ययः स्त्रियां स्वस्त्रादिभ्यः स्यात् तथा ससा ॥
 दुहिष्ठा दुहिष्ठादि च, नणन्या गजभा तथा ॥
 हस्वोऽमि ॥ ३६ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽमि ह्रस्वः स्यात्, 'पेच्छ मालं नदं बहु' ।
 नामन्त्यात् सौ मः ॥ ३७ ॥
 आमन्त्यायात् परं सौ तु, नैव 'कलीब स्वराग्नसेः' [३।३२] ।
 इति सुवेण समो, हे तण ! हे हदि ! हे महु ! ।
 सो दीर्घो वा ॥ ३८ ॥

आमन्त्यायात् परं सौ तु 'अनः सेर्दो' [३।२] अयं विधिः ।
 'अकल्पो सौ' [३।१६] चिति दाषे, द्वयं जेन्द विकल्पयते ।
 यथा-हे देव ! हे देवा ! हे हरी ! हे हरि ! द्वयम् ।
 हे गुरु ! हे गुरु ! च, 'हे पदु हे पदु' इत्यादि ।
 एषु प्राप्ति विकल्पोऽस्ति, अप्राप्ति त्विह दृश्यताम् ।
 हे गोभमा ! हे गोभम !, हे हे कासव ! कासवा !

अनोऽन् वा ॥ ३९ ॥
 अकारान्तस्य वाऽध्वं तु, भवेदात्मत्रणे हि सौ ।
 हे पित ! हे पित्र तते, पके हे पित्र मत्तम् ।
 नाम्न्यरं वा ॥ ४० ॥
 आमन्त्रणे सौ अनः, संज्ञायां वा 'अरं' भवेत् ।
 स्याद् हे पितः ! हे पित्र !, पके हे पित्र 'अप्यपि ।
 नाम्नोति तु किम् ? हे कतेः, हे कत्तार ! इति स्मृतम् ।

वाऽऽप ए ॥ ४१ ॥
 आमन्त्रणे सौ परं स्याद्, आप एवं विभाषया ।
 हे माल ! महिले !, पके-हे माला महिला ! मत्त ।
 आपः किं तु ? हे पिउच्छा !, हे माउच्छा !, न चेह ' ए ' ।
 'अम्मो भयाभि भणिए' आत्वं बाहुलकादिह ।

ईदुत्तोर्ह्रस्वः ॥ ४२ ॥
 स्यादीदुदन्तयोर्ह्रस्वः, सवृद्धौ सौ परं यथा ।
 हे गामणि ! हे समाणि !, एवमन्योऽशुदेशनम् ।
 किपि ॥ ४३ ॥
 ईदुदन्तस्य ह्रस्वः स्यात्, किबन्तस्येति दृश्यताम् ।
 गामणिषा अशुषणा, गामणिषा अशुषणा ।

अताद्युदस्यमौ वा ॥ ४४ ॥

सि-अम्-औ-वर्जिते स्यादौ अदन्ताम उद् अस्तु वा ।
 जसि 'अन् अणुणां च जसत्रो भसत्' स्मृतम् ।
 भसारा पात्त्रिकं रूपं, शसि अन् च जणुणो ।
 भसारां चिति, दायां तु भसारेण च अणुणा ।
 भिसि अन्दि जसारेर्हि रूपं, जसि अणुणो ।
 मन्दिता च जन्दि अणुआ भणुत् स्मृतम्, ।
 भसाराहि च जसारादिन्तो पात्त्रिकरूपतः ।
 भसाराओ च भसारा भसाराउ प्रयुज्यते ।
 प्रणस्स अणुणां ङसि भसारास्सिति पात्त्रिकम् ।
 सुपि अणुसु पके तु, भसारेसु निघाते ।
 व्याप्त्यर्थेयाद् बहुवचस्य नाम्न्यपि काव्युदस्तु वा ।
 जस-शम्-ङ्त्-ङ्त्-ङ्त्सो जामाणो च पिउणो पुनः ।
 दायां तु पिउणा रूपं, भिसि रूपं पिउर्हि च ।
 पिउसु सुपि पके तु पिअरा कर्णमण्यते ।
 अस्समोऽस्विति किं प्राकं ? जम् पिआरा(अम्) पिअर(सि) पिआ

आराः स्यादौ ॥ ४५ ॥
 ऋतः स्थाने जेवद् आराऽऽदेशः स्यादौ परे, यथा- ।
 भसारा, चैव भसारा, भसार्, परिपठ्यते ।
 भसारे च जसारेर्हि, जसारेण जनेनया ।
 लुत्तस्याद्यापिक्रया तु 'भसार-विधिं' मतम् ।
 आ अरा मातुः ॥ ४६ ॥
 मातुस्तम्बिन्धन ऋतः, स्यादौ तु आ अरा, मत्तौ ।
 माआअ माआरा माआा, माआओ माआराअ च ।
 माआराओ च माओ माआरं इत्यादि साधयताम् ।
 जनन्यर्थस्य आ-ऽऽदेशो वैजुतार्थस्य स्यादन्तः ।
 यथा-माआए कुक्कूपि, आराण च ।
 'मातुरिदु वा' [१।३३] इति रूपं 'मार्डेण' सिध्यति ।
 अनाम्- [३।४४] उक्तेषु एव 'अह वन्दे समज्ञअ' ।
 स्यादौ किं तु ? माभवेवा, इति प्रमाणं इति ।

नाम्यरः ॥ ४७ ॥
 अदन्तस्याऽऽ इत्यन्तादेशो स्यादौ 'अमि' [१]
 पिअरा पिअरं पिअरे, पिअरणे पिअरोऽमिप्यते रूपम् ।
 'जामायरा, भायरा, ' रूपं पितुत्तुद्वयमन्यः स्यात् ।
 भा सौ न वा ॥ ४८ ॥
 अदन्तस्येह वाऽऽकारः, सौ परे तु विधीयते- ।
 पिआ जाया च जामाया, कसा, पके भवेद् 'अरः' ।
 पिअरो जायरो कत्तारो च जामायरो तथा- ।

राज्ञः ॥ ४९ ॥
 राज्ञो न-लोपऽप्यस्याऽऽध्वं, वा अंतव सौ परं यथा ।
 राया तथा च हे राआ ! 'रायाणो' चेति पात्त्रिकम् ।
 शौरसेन्यां तु हे राया हे रायमिति प्राण्यते ।
 एव हे अण्य ! हे अण्य ! इत्यादीनि विवृणुष्याः ।
 जम्-शम्-ङ्मि-ङ्मां वा ॥ ५० ॥
 राजनुशब्दात् परं वा, जम्-शम्-ङ्मां-ङ्मां हि 'णो' ।
 रायाणां जम्-शसोः, राया जमि, राय च वा शसि ॥
 [१] संज्ञायाम् ।

ऊर्मी रक्षो राक्षो च, पक्षे तावन्निरास्यताम् ।
रायाहिनो च रायाहिं, राया रायाड इत्यपि ॥
रायाभ्रा (ऊसि) रायां रक्षो, पक्षे रायस्त्व पठ्यते ।

दो णा ॥ ५१ ॥

राजदशम्यात् विकल्पेन, टा-स्थाने 'णा' विधीयते ।

रक्षा च राक्षणा, पक्षे, रायेणत्यपि सिद्धयति ॥

इजेस्य णो-णा-ऊँ ॥ ५२ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येत्ये वा णो-णा-ङिषु कथ्यते ।

राक्षणोः पञ्च विद्वन्नि आराभ्रो वा घर्णे यथा ॥

राक्षणा चैव, रायस्मि, पक्षे रूपे निशम्यताम् ।

रक्षो रायस्मि रायाणां, रायश्च रायणा तथा ॥

इणममाया ॥ ५३ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येणम्, अमाङ्ग्यां सह वेधयते ।

राइणं वा घर्णे पञ्च, रायं राईणं पात्तिकम् ॥

ईङ्गिस्त्रयसाम्नुपि ॥ ५४ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येत्ये भिस्-भ्यसा-सुप्त्वे वेधयते ।

राःहिन्तो च राईहि राईसुतो भवेद् इत्यसि ॥

निसि राईहि, राईणं आसि, राईसु सुत्यद् ।

पक्षे 'रायःणाहि' इत्या-दीनि कृपाणि चकृते ॥

आजस्य टा-डसि-ऊसु सणाणोऽप्यण् ॥ ५५ ॥

राजन्-शब्दस्य योऽस्यासोऽवयवस्तस्य भवेदण् ।

णा-णो-आदेशरूपेण, टा-ऊसि-ऊसु वा मतः ॥

टायं राया राइया, ऊसु-ऊस्यो रयो च राहणो ।

सणाणोऽप्यनि किम् ? रायांभो रायस्त्व च रायण ॥

पुरुषेण आणो राजवञ्च ॥ ५६ ॥

अन्नस्य भवेद् 'आण' इति पुंसि विकल्पनात् ।

पक्षे तु राजवन् कार्ये, यथादेशेनमिथ्यते ॥

आणादेशे अतः सेडोः [३ । २] एवमादि प्रवर्तते ।

पक्षे तु राहः 'जस्' [३ । ७०] 'टोणा', [३ । २४]

'इणम्' [३ । ५३] एतद् विधिप्रथम् ॥

अप्याणो अप्याणा, अप्याणो अप्याणे;

अप्याणो अप्याणानुतो पञ्चम्याम् ॥

अप्याणेषु अप्याणेहि, टायं निसि यथाक्रमम् ।

अप्याणस्साऽप्याणाण, ऊसि वाऽऽसि क्रमेण हि ॥

अप्याणस्मि तथा अप्या-णेषु ऊँ सुपि चोच्यते ।

अप्याण-कये, पक्षे तु, राजवन् कार्येमीदृशताम् ।

अप्या अप्यां च, हे अप्या ! हे अप्या ! इयमीदृशम् ।

अप्याणो जसि, अप्याणो शासि, अप्यां तु अप्याणा ।

अप्याहि निसि, अप्याणो अप्याभ्राऽप्याव वै पुनः ।

अप्याहि अप्याहितो अप्या अप्याणुतोऽप्याद् इत्यसि ।

अप्याणां घणम्, अप्याणं, अप्ये अप्येषु कीर्यते ।

रायाणां चैव रायाणा 'एवं सर्वे विभाव्यताम् ।

पक्षे तु राया इत्यादि, जुवाणो च जुवा तथा ।

बह्वाणो पात्तिको बह्वा, अक्राणोऽक्राऽपि वेधयते ।

उच्चाणो वा भवेत्-उच्चा, माथा माथाणो वा भवेत् ।

तथैव पूसा पुसाणां, तक्का तक्काणां इत्यपि ।

मुक्काणो वा च मुक्का स्यात्, 'साणां सा' इवा प्रकीर्तितः ।

सुकम्माणो पञ्च, शर्म शर्मं, द्वीबेऽप मेधयते ।

आत्यनष्टो णिआ एडआ ॥ ५७ ॥

आत्मशब्दाद् हि टा-स्थाने वा 'सिञ्जा' 'णश्चा' मतौ ।
अप्याणिआऽप्यणइया, पक्षेऽप्याणो' कथ्यते ।

अतः सर्वादिर्नेजसः ॥ ५८ ॥

भवेद्वन्तात् सर्वादिर्नेजसः स्थाने द्विदिदि ।

सव्ये अन्ने च जे ते के कथरे इयरे तथा ।

ऊः सिंस-स्मि-त्याः ॥ ५९ ॥

सर्वादीनामतो ऊः स्युः सिंस-स्मि-त्यास्तु यथाक्रमम् ।

सव्यस्य सव्यस्सिंस सव्यस्मि, अतः किम् ? अनुमि तु ।

न वाऽनिदमेतदो हि ॥ ६० ॥

इदमेतदौ विना सर्वादिद्वन्तात् परस्य ऊः ।

द्विमादेशा विकल्पेन, भवादित्युपाद्श्यते ।

सव्यहि अस्मिन्, कियत्तदुप्यः स्याद् हि स्त्रियामपि ।

काहि जाहि च ताहि च, कियत्तदुप्यो न ऊँ [३।३३]रिह ।

एतद् ब्रयं बाहुल्यकं कार्ये, पक्षे निशम्यताम् ।

सव्यस्य सव्यस्सिंस सव्यस्मि चैवं बुध्यतां परम् ।

स्त्रियां तु पक्षे काय च, कीए चैव विचार्यताम् ।

इदमेतदौस्मिस्सिंस, एस्मिस्सिंस कृपामिथ्यते ।

आमो देमि ॥ ६१ ॥

अदन्तात् सर्वनाम्नः स्याद्, आमो 'डेसि' विभाषया ।

सर्वसिंस अयरेचि च, जेसि तेसिमिमेसि च ।

पक्षेऽवराणु सव्याण जाण ताण इमाणे ॥

स्त्रियां बाहुल्यकात्-सर्वासो सर्वस्सिंस प्रयुज्यते ।

कित्दुप्यां कासः ॥ ६२ ॥

कित्दुप्यां तु परस्यामः, स्थाने डसो विकल्प्यते ।

तास कास जवेत्, पक्षे-नेसि कसि प्रयुज्यते ।

कियत्तदुप्यो ङसः ॥ ६३ ॥

कियत्तदुप्यो ङसः स्थाने, डसोऽऽदेशो विकल्प्यते ।

ङसः स्स (३।१०) स्यापवादाऽप्य, पक्षे सोऽपि प्रवर्तते ।

कास कस्स जास जस्स, तास तस्स प्रयुज्यते ।

आदन्ताच्यां च कित्दुप्या-मापि डसो विभाषया ।

कस्याः तस्याः कास तास, काय ताए च पात्तिकम् ।

इङ्ग्यः स्मां मे ॥ ६४ ॥

इदन्त्यः किमादिभ्यो, ङसः 'स्सा' 'से' विकल्पितौ ।

टाङ्गम्-[३।३६] इत्यादिसुबस्यापवातोऽपि निरूपितः ।

तेन पक्षेऽहाद्योऽपि प्रवर्तते, निदर्श्यते ।

'किस्सा कीसे कीञ्च कीञ्चा, कीए कीह' भवन्ति पद ।

जिस्सा जीसे जीञ्च जीञ्चा, जीए जीह यदो मताः ।

'तिस्सा तीसे तीञ्च तीञ्चा, तीए तीह' इमे ततः ।

उहाहि काला इञ्चा काले ॥ ६५ ॥

कियत्तदुप्युत्त ऊः स्थाने, 'राह' डारा इञ्चा 'त्रयः ।

द्विस्सिस्मन्त्यात् अप्याकृत्य, कासं वाच्ये भवन्ति वा ।

काह काला कइया, जाह जाला जइया ।

ताह तासा तइया, पक्षे ते चापि मताः * ।

'कहि कस्सि कस्मि कथ्य' कृपाणीमाने तत्र च ।

डसेट्ठी ॥ ६६ ॥

* ताला जाअन्ति गुणा, जाला ते सहिअपिह घणन्ति ।

कियत्तद्भ्यो ऊसेः स्थाने, म्हाऽऽदेशो वा विधीयते ।
कम्हा जम्हा च तम्हा च, काभो जाभो तु पाङ्किकम् ।

तदो होः ॥ ६७ ॥

तद्ः परस्य तु ऊसेसो' वा, 'तम्हा' च 'तो' यथा ।

किपो किणो-किसौ ॥ ६८ ॥

किमः परस्य तु ऊसे-ङ्किणो डीसो च वा स्मृतौ ।
किणो कीस, तथा कम्हा, श्रीणि सिङ्खमुपागमम् ।

इदमतत्-कि-यत्तद्भ्यश्चो णिण ॥ ६९ ॥

इद्-यव-तत्-किमेतद्भ्योऽन्तेन्यस्य टो-णिणोऽस्तु वा ।

इमेण इमिणा, जेण जिणा, एवेण एव्हणा ।

किणा केण, तिणा तेण, एवें टाया डिणाविधिः ।

नदो णः स्यादौ कचित् ॥ ७० ॥

तद्ः स्थाने ण आदेशः, स्यादौ लक्ष्मणुसारतः ।

'णं तिअद्दा' तां त्रिजटा, 'पेच्छणं' पश्य नं यथा ।

तेन पेण, तथा णाप, नैः तामिन् णाई' णई' च ।

किमः कख-तमोश्च ॥ ७१ ॥

किमः को भवति स्यादौ, तलसोः परयोस्तथा ।

का क क कण, [त्र] कत्थ, [तस] कत्रां कत्तो कदो यथा ।

इदम डमः ॥ ७२ ॥

पुत्तियोरिदमः स्यादौ, स्यादिमो, हि 'इमो' 'इमा' ।

पुं-स्त्रियोरनैवाऽप्यभिभवा सौ ॥ ७३ ॥

इदमः सौ परं पुंसि 'अर्थ' वा 'इमिअ' स्त्रियाम् ।

इमो इमा भवेत् पक्षे, एवें रूपचतुष्टयम् ।

सिंम-स्सयोरत् ॥ ७४ ॥

इदमाऽवेवं विकल्पेन, सिंसि-स्सयोः परयोरिदं ।

असिंसि अस्स, इमादेव इमसिंसि च इमस्स च ।

बहुलप्रहणादप्यशप्येवं संप्रवर्तते ।

पहिं पविमं, आहिं आभिन्, एस्सु एपु प्रयुज्येते ।

ऊर्मेन हः ॥ ७५ ॥

इदमः कृतेमादेवाद्, वा मेन सह होऽस्तु ऊः ।

इह, पक्कं-इमसिंसि च, इमसिंसि प्रतिपठ्यते ।

न त्यः ॥ ७६ ॥

न 'त्यः' [३।१६] स्याद्विदमो ऊस्तु, ष्हेमसिंसि इमसि च ।

णोऽमु-शास्-टा-जिभि ॥ ७७ ॥

इदमो णोऽस्तु वाऽम-शास्-टा-भिस्सु, ण जेण रोहिं णे ।

पत्ते इमे इमेणंगहि इमे सिङ्खिमाय्युः ।

अमेणम् ॥ ७८ ॥

अमा स्वेदमः स्थाने, 'इणम्' वा स्याद्, इणं, इम ।

क्रीवे स्वपदमिणम् ॥ ७९ ॥

'इदम्' 'इणम्' च 'इणम्', क्लीबे नियममौ त्रयः ।

स्वस्वर्यां सहदमः स्थाने, भवन्तीति विभाव्यताम् ।

इदं इण वा इणमो, धणं चिच्छद् पेच्छु वा ।

किमः किं ॥ ८० ॥

क्लीबे प्रवर्तमानस्य, स्वस्वर्यां सह किमोऽस्तु किं ।

किं कुलं तुह, 'किं किं ते पडिहाइ' यथा भवेत् ।

वेदं-वेदतदो ऊसाम्भ्यां से-सिमाँ ॥ ८१ ॥

इदम् तद् एतद् इत्येषां, चाऽमऊस्वर्यां सह से-सिमाँ ।

इस्य तस्य च वैतस्य शीलं-से सीलं मुच्यते ।

एयां तेषां तथैतेषां शीलं-सिं सीलं-मिच्यते ।

पत्ते 'इमस्स चेमसि इमाण, तस्स ताण च ।

तेसिं, एअस्स एपसि एअण' इति बुध्यताम् ।

कश्चिदामाऽपि से आदेशं यद्यद्विशदंरिह ।

से-सिमाँ त्रियु लिङ्गेषु, तुल्यं रूपमवाप्नुतः ।

वैतदो ऊर्मेस्स चो चाहि ॥ ८२ ॥

एतद्ः परस्य ऊर्मेस्स' 'सो, चाहि' स्तो विकल्पनात् ।

एसो एसाहे, पक्के तु, पञ्च रूपानि, तद्यथा —

एअाहिन्तो च एअाहि, एअा एअाठ एअाओ ॥

त्ये च तस्य लुक् ॥ ८३ ॥

एतद्ः त्ये परे 'सो चाहि'- उनयोः परयोर्णपि ।

तकारस्य लुक्, 'एसाहे, ण्ठ एसो' इति त्रयम् ॥

एरुदौतो र्मे वा ॥ ८४ ॥

एतद् आदिवर्णस्य, उपादेशो र्मे अर्दोष वा ।

यथा-अयमिं इयमिं, पत्ते एअमिं भग्यते ॥

वैमेणमिणमो मिना ॥ ८५ ॥

सिना स्वेतदो वा स्युः, एमेणम् इणमो तवः ।

इणं एमेणमो, एवं एसा एसां च पाङ्किकम् ॥

तदश्च तः सोऽङ्गीवे ॥ ८६ ॥

तदेतदोऽस्तस्य सेः स्या-दङ्गीवे सौ परं यथा —

सो पुरिसो, सा मर्हला, एसां एसा पिआ पिआ ॥

वाऽऽसो ढस्य होनोदाम् ॥ ८७ ॥

अदसां दस्य सौ हो वा. सो [३ । ३] आत् [४ । ४४८]

आप [२ । ४] मअ [३ । २३] नो नतः ।

अह पुरिसो, अह मर्हला, अह मोहो' अह वण च हस्स मअ ॥

पत्ते तु मुरांशो, [३ । ८८] अम् अम् त्रियु अम् रूपम् ।

मुः स्यादौ ॥ ८८ ॥

अदसो दस्य तु स्यादौ, मुरांशोऽभिधीयते ।

अम् पुरिसो, अमुणो पुरिसा, च अमुं वणं ।

ततो अम्पु वणाद्, तथाऽमुणं वणात् च ।

अम् माला, अमुत्रोऽम्पु मालाभो, उम्पाऽनथा ।

ऊसा अमुत्रोऽमुणोऽम्पु, ज्यमिं निशम्यताम् ।

अमुदिमो अमुसुत्तो, अमुस्स अमुणो ऊसिं ।

आमिं ऊं सुपि चाऽमुण स्याद् अमुमिं अमुसु च ।

म्भावेषो वा ॥ ८९ ॥

इकारान्तस्यादासो वा, उपादेशो र्मे अयाऽय च ।

ततोऽयमिं इयमिं डौ, स्यात् पक्के 'अमुमिं' इत्यपि ॥

युप्पदः नं तुं तुवं तुह तुमं सिना ॥ ९० ॥

युप्पदस्तु सिना साकं, ततु तुह तुवं तुमं ।

पञ्च रूपानि सौ विद्या-द्वन्द्वस्येवं विकल्पयेत् ॥

जे तुम्भे तुम्भं तुम्भं तुम्भं तुम्भं जसा ॥ ९१ ॥

तुम्भे तुम्भं तुम्भं तुम्भं, भे तुम्भे च जसा सह ।

भ्मां र्हज्जी वति [३।१०४] वचनानु तुम्भे तुम्भे ततोऽष्टकम् ।

तं तुं तुमं तुव तुमे तुप अमा ॥ ९२ ॥

तुप तुमे तुमं तं तुं, तुवं तुह अमा सह ।

वो तुज्जं तुज्जे तुय्हे उय्हे जे शमा ॥ ९३ ॥

वो तुज्जं तुय्हे जे, उय्हे यद्दं शमा सह ।

'धमो म्हाज्जी वेत्ति' [३१०४] वचनात्, तुय्हे तुज्जे ततोऽप्येकम् ।

भे दि दे ते तऽ तप तुमं तुमऽ तुमप तुमे तुमाइ टा ॥ ९४ ॥

भे दि दे ते तऽ तप, तुमाइ तुमप तुम् ।

तुमे तुमाइ सार्थे तु, टया क्कामिते [११] पद्यम् ।

भे तुज्जेहि उज्जाहि उम्हाहि तुय्हेहि उय्हेहि जिसा ॥ ९५ ॥

तुय्हेहि उय्हेहि, तुय्माहि उज्जाहि उम्हाहि ।

जे-धमो म्हा-ज्जी' [३१०४] सूत्रात्, तुय्हे तुज्जे ततोऽप्यैः स्युः ।

तऽ-तुव-तुम-तुह-तुम्मा ऊसो ॥ ९६ ॥

तऽ-तुव-तुम-तुह-तुम्मा ऊसो युष्मदो भवन्त्यमी नित्यम् ।

सो दो दुहि हिन्तो लुक् ऊसंयथाप्राप्तमेव स्यात् ।

स्यात् तद्वत्ता तुयसो, तुमसो च तुहसो च ।

तुयसो, ऽत्र तु तुमसो तुज्जसो, पूर्ववत् [३१०४] पुनः ।

एवं दो-दु-हि-हिन्तो-लुक्वप्युदाहिगतो पुनः ।

त्वसः इत्यस्य तसोऽदो रूपमस्ति यतोऽपानात् ।

तुय्हे तुज्जे तदिहो ऊमिना ॥ ९७ ॥

तुय्हे तुय्म तदिहो च, त्रयः स्युज्जसिना सह ।

तुय्हे तुय्म च वैकल्प्याद्, रूपपञ्चमिष्यते ।

तुज्जे-तुय्हे-तुय्हे-तुय्हे ज्यसि ॥ ९८ ॥

तुय्म, तुय्हे, उय्हे, उम्हा इत्यमी युष्मदो ज्यसि ।

अयमः स्थाने यथाप्राप्तमादेशाः [३१६] पूर्वदक्षिताः ।

तुय्मसो तुय्हेसो उय्हेसो उम्हासो ।

तुय्हेसो तुय्मसो वैकल्प्यात् पररूपो ।

सो आदेशो यथा तेषं पररूपो दक्षिता मया ।

एवं दो-दु-हि-हिन्तो-सुतोऽप्युदाहिगतो ष्यात् ।

तऽ-तु-ने-तुय्हे-तुह-तुहं-तुव-तुम-तुम-तुमो-तुमाइ-दि-

द-इ-ए-तुज्जे-तुज्जे-ऊमा ऊमा ॥ ९९ ॥

तऽ ते तु तुहं तुय्हे, तुमो तुमं तुम् तुह ।

तुमाइ तुव दे प इ तुय्मोऽप्युम्हाइ, या ऊसा ।

विकल्पनात् [३१०४] तुय्हे तुज्जे उय्हे उज्जे चतुष्टयम् ।

एवं भाषिणो रूपार्णह जस्यन्ति कथिदाः ।

तु वो भे तुज्जे तुज्जे तुज्जाण तुवाण तुमाण तुदाण

उम्हाण आमा ॥ १०० ॥

तुय्मं, तुवाण, उम्हाण, तुमाण, तु, तुहाण भे ।

तुज्जे, तुय्माण, वो, आमा सह स्युयुष्मदो द्य ।

क्त्वा स्यादे- [१२७] रिच्युस्वारि, सातुस्वारि णपञ्चकम् ।

यथा-तुवाणं तुय्माणं तुमाणं च तुहाणं च ।

उम्हाणं चेति वर्धते पञ्च रूपाणि णस्य च ।

'धमो म्हा-ज्जी वेत्ति' [३१०४] वचनात्, पुनरुच्ये भवन्ति च ।

तुज्जे तुय्माण तुय्माण, तुय्माणं तुय्हे तुय्मं च ।

तुय्माणं तुय्हे-मित्येवं, त्रयोविधित्वात्ति तु ।

तुमे तुमप तुमाइ तऽ तप हिना ॥ १०१ ॥

तुमे, तुमाइ, तुमप, तप, तऽ, हिना सह ।

०

तु-तुव-तुप-तुह-तुम्मा ऊ ॥ १०२ ॥

ऊ युष्मदस्य ' तु तुव तुम, तुह तुम्माः ' पञ्च तु स्युदादेशाः ।

ऊसु यथाप्राप्तं स्यादादेशो दक्षितः पूर्वम् ।

तुय्मि तुय्मि तुय्मि च, तुय्मास्मि तुय्मास्मि चात्र वैकल्प्यात् [३१०४]

तुय्मास्मि च तुय्मास्मि च, रूपाण्यस्यानि बोध्यानि ।

सुपि ॥ १०३ ॥

सुपि युष्मदस्य तु-तुव-तुम-तुह-तुम्माः पञ्च तु स्युदादेशाः ।

तुसु च तुवसु तुमसु च, तुहसु तुय्मसु रूपाणि ।

अस्य [३१०४] विकल्पाद् रूपद्वयं च तुय्मसु भवति तुय्मसु ।

सुयन्त्यस्य विकल्पं, कर्त्वात् कथयन्ति, तदपि यथा ।

तुय्मसु तुय्मसु तुय्मसु, तुवसु तुमसु तुहसु पदसंख्यम् ।

अस्यऽऽस्वर्माप परः तु-ज्जासु च तुय्मासु तुज्जासु ॥

धमो म्हा-ज्जी वा ॥ १०४ ॥

युष्मदादेशकपे, यो द्विकर्त्ताऽस्मि उच्यते ।

तस्याऽऽदेशो तु या ' म्हा-ज्जी, ' स्याताम्, सर्वमुदाहृतम् ।

अस्मदो स्मि अस्मि अस्मि इ अहं अहं अहं मिन ॥ १०५ ॥

अस्मि अस्मि स्मि अहं, अहं इ च सिना सह ।

अस्मदः पद तु रूपाणि, सो जवन्तीति बुध्यताम् ।

अम्हा अम्हे अम्हो मो वयं जे जमा ॥ १०६ ॥

अम्हो अम्हो अम्हो मो जे वयं, पद स्युज्जसो सह ।

ए ए ण मि अस्मि अम्ह मम्ह मं मयं मिमं अम्ह अमा ॥ १०७ ॥

अस्मि अम्ह मिमं ए ए ण मि मं मम्ह मं मयं अम्ह ।

अमा सह दशाऽऽदेशाः संभवन्त्यस्मदोऽत्र तु ।

अम्हे अम्हो अम्ह ए शसा ॥ १०८ ॥

अम्हे अम्हो अम्ह ए च, चत्वारि स्युः शसा सह ।

मि मे मयं मयप मयाइ मइ मप मयाइ णे टा ॥ १०९ ॥

मि मे मयं मं मयाइ, ममाइ मयप मप ।

मइ, चेति नवादेशाः, सार्थे टा-प्रत्ययेन हि ।

अम्हेहि अम्हाहि अम्ह अम्हे हे जिसा ॥ ११० ॥

अम्हाहि अम्ह अम्हे णे, अम्हेहि स्युमिसो सह ।

मइ-मप-मह-मज्जा ऊसो ॥ १११ ॥

ऊसो परे 'मइ-मप-मह-मज्जा' स्युरस्मदः ।

ऊसंयथाप्राप्तमादेशाः स्युः पूर्वदक्षिताः ।

यथा मइसो मज्जसो, मपसो च महसो च ।

एवं दो-दु-हि-हिन्तो-लुक्वप्युदाहिगतो पुनः ।

मयाम्हो ज्यसि ॥ ११२ ॥

ज्यसि स्यातां मयाम्हो द्वौ, यथाप्राप्तं ज्यसोऽपि च ।

अम्हाहिन्तो ममाहिन्तो, अम्हासुन्तो ममसो च ।

ममसुन्तो ममासुन्तो अम्हेसुन्तो च अम्हसो ।

मे मइ मप मइ मं मज्जा मज्जे अम्ह अम्हं ऊसा ॥ ११३ ॥

अम्हाम्हं मे मइ मप, मज्जा मज्जे मं मइ ।

ऊसा सह नवादेशाः, संभवन्त्यस्मदोऽत्र तु ।

ए एो मज्जे अम्ह अम्हं अम्हं अम्हो अम्हाण मपाण-

महाण मज्जाण आमा ॥ ११४ ॥

अग्ग्हे महाण मज्जाण अग्ग्हेअहाण ममाण णे ।

‘णो अग्ग्हे अग्ग्हे मज्जा सुदुर आमा सार्धं च पञ्च पद [११] ।

‘कवा स्यादेरिति’ [१:२७] वा णस्य सानुस्वारं चतुष्टयम् ।

यथा महाणं मज्जाणं अग्ग्हाणं च ममाणं च ।

पि मद् ममाद् मप पे ङिना ॥ ११५ ॥

मप ममाद् मप मे, मि, स्युः पञ्च ङिना स्रह ।

अग्ग्ह-मप-पह-मज्जा ङी ॥ ११६ ॥

अग्ग्ह-मज्जा मम-मदी, ङी स्वरेतेऽस्सत् परे ।

ङः स्थाने तु यथाप्राप्तमादेशः पूर्वदेशितः ।

यथा मममि मज्जमि, तथाअग्ग्मि मद्मि च ।

सुपि ॥ ११७ ॥

अन्वयोऽग्ग्हाद्योऽप्रापि, ज्ञप्तिति सुपि तथाया ।

यथा ममसु मग्ग्हेसु, अग्ग्हेसु च महेसु च ।

सुप्येत्वं कऽपि चेच्छुक्ति, तन्मतेऽहसु मग्ग्हेसु ।

ममसु स्यात् महसु च, ततो रूपचतुष्टयी ।

केचिद् अग्ग्हस्यात्वमपि, वाअग्ग्महासु तन्मते ।

त्रेस्ती तुतीयादी ॥ ११८ ॥

त्रेः स्थाने ती तुतीयादी, प्रत्ययं परतो भवेत् ।

तीहन्तो तीसु तिपहं च, तीहिं चोत् प्रकृतितम् ।

द्रौं वे ॥ ११९ ॥

द्विशब्दस्य तुतीयादी ‘दो’ ‘वे’ स्तः, वेहिं वेहिं च ।

दोपहं वेपहं च दोहिनो, वेहिनो दोसु वेसु च ॥

दुवे दोषि वेषि च जम्-शामा ॥ १२० ॥

जम्-शसभ्यां महितस्य द्वेः, स्थाने स्युः, दोषि, वेषि, च ।

दुषे, दो, वे, ‘दुषि विषि’ संयोगे [१:२७] ह्रस्वदर्शनात् ॥

वस्तिमिः ॥ १२१ ॥

जम्-शसभ्यां साहितस्य त्रैः, स्थाने तिषि प्रयुज्यते ।

चतुरश्रचतारो चतरो चचारि ॥ १२२ ॥

चतुर इत्यस्य जम्-शसभ्यां, सहाऽऽदेशकयोः मतः ।

यथा चचारि चचारो, चतरो आसि पच्छ वा ॥

मंस्पाया आमा एह एहं ॥ १२३ ॥

संख्याज्ञान्दाव परस्याऽऽमो, ‘एह एहं’ एतद् द्वयं ज्ञेयत् ।

दोपहं पञ्चएह सचएह, तिपहं छुएह चउपहं च ॥

दोपहं तिपहं चउपहं पञ्चएहं छुएहं च ससगहं ।

प्रजावाद् बहुलस्यमो, विद्यावादेनं चाऽनुतः ॥

शेषेऽन्तवत् ॥ १२४ ॥

इहोपयुक्ताद्यो यः, स शेष इति कथ्यते ।

तत्र स्याद्विधिः स्वोऽन्तवत्त्व सोऽप्रतिदृश्यते ॥

येष्वान्तादिशब्धेषु, पूर्वे कार्यं न दर्शितम् ।

तेष्वन्ताधिकारोको, लुगादि [३:४] विधिरिष्यते ॥

तत्र तावत् ‘जम्-शसोऽङ्क’ [३:४] विधिर्योऽप्रतिदृश्यते ।

‘मात्रा गिरी गुरु रेहमिं वा पच्छु’ यथोच्यते ॥

‘अमोऽस्व’ [३:५] इति कार्यस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

गिरिं गुरुं माहिं पच्छ, गाममिं खल्लुं बहु ॥

‘टा-ऽमोः’ [३:६] इति कार्यस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

कयं हाहाण, मालाण गिरीण धणमीहशम् ॥

टायासुत् टो णा [३:७] टाङ्कसे- [३:८] इत्ययं दर्शितो विधिः ।

‘मिसो हि हिं हिं’ [३:७] इत्येतत् कार्यं चाप्यतिदृश्यते ॥

यथा गिरीहा मालाहि गुरुहिं च सहोहिं च ।

विधादेवं चांतिदेशमनुस्वारंऽधुनासिंके ॥

‘ऊनेत्त्व सो-दो-डु’ [३:८] सूत्रस्य विधिर्योऽप्रतिदृश्यते ।

मालाहिनो च मालाओ बुसीको, हिडुकी नहि [३:२७] [२:६] ॥

‘भ्यसस सो दो दु’ [३:९] सूत्रस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

मालाहिनो तथा मालासुन्तो, हिन्सु निपेस्यते [३:२७] ॥

‘ऊसः स्सः’ [३:२०] इति सूत्रस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

गिरिस्सेति गुरुस्सेति दृहिस्सेति मद्भुस्स च ॥

‘टा-ऊस ऊः’ [३:२०] इति सूत्रं तु खियां सम्प्रमुदाहृतम् ।

‘केमि ऊः’ [३:२१] इति सूत्रस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

यथा ‘गिरमि’ इत्यादि, ङोवाधितुं निष्पस्यते [३:२२] ॥

‘जस-शस-ऊसि सो’ [३:२२] सूत्रस्यान्तिदेशो दृश्यतेऽधुना ।

गिरिं गुरु गिरीओ च, गुरुओ च गुरुण च ।

‘अयसि वा’ [३:२३] इति सूत्रस्यान्तिदेशो नोपदिश्यते ।

‘इडुने दीयी’ [३:२६] सूत्रण नित्यं दीपस्य शासनात् ॥

टाण-शस्यत् [३:२४] च ‘मिस-उसत्’ [३:२५] ॥

इत्यन्तिदेशो निपेस्यते [३:२६] ॥

न दीयीं णो ॥ १२५ ॥

इदन्तोऽन्तयोर्जस-शस-ऊस्योदेशो परे ऋषि [३:२२] ॥

न दीपेः पूर्ववणस्य, आगमो वाऽणो यथा ।

ऊसेल्लुक् ॥ १२६ ॥

आकारान्तादिशब्धेषु, लुक् नैवाऽन्तवत् ऊसैः ।

मालाहिनो च अग्ग्मीओ, वाऽओ-ऽसिन्ति निदर्शनात् ॥

ज्यसश्च हिः ॥ १२७ ॥

हिनाऽऽदन्तादिशब्धेषुऽदन्तवत् स्याद् ज्यमां ऊसैः ।

मालाहिनो च मालाओ, अग्ग्मीहिनो निदर्शनात् ॥

ऊसैः ॥ १२८ ॥

‘के’ नाऽऽदन्तादिशब्धेषुऽदन्तवत् ऊसैर्नैवादि ।

यथा-अग्ग्मिमि वाऽग्ग्मि, दृहिमि च मद्भुमि च ॥

एत् ॥ १२९ ॥

टा-शस-मिस-भ्यस-सुत्त्व नैवत्, आदन्तादेरदन्तवत् ।

कयं हाहाण, मालाओ पच्छ, मालाहि वा कय ।

मालाहिनो तथा मालासुन्तो मालासु अग्ग्मिणो ।

वाऽणो चटरो लदयं, विविधं प्रतिवृथ्यनात् ॥

द्विवचनस्य बहुवचनम् ॥ १३० ॥

सर्वोसां हि विनकीनां, स्यादित्यदिप्रवर्तिनाम् ।

स्थाने द्विवचनस्येह, बहुवचं संप्रयुज्यते ॥

चतुर्थ्याः पष्ठी ॥ १३१ ॥

स्थाने चतुर्थ्याः पष्ठी स्यात्, ‘नमो देवस्स’ ईदृशम् ।

तादर्थ्येऽङ्कवा ॥ १३२ ॥

तादर्थ्येऽङ्क चतुर्थ्येकवचनस्य विभाषया ।

पष्ठी, देवस्स देवाय, ‘देवायै’ तस्य बुध्यनात् ॥

बधाद् ऋशश्च वा ॥ १३३ ॥

बधवाश्चात् न तादर्थ्येऽङ्कः पष्ठी ऋश चाऽस्तु वा ।

बहाद् नहस्स वहायै बधायै त्रयं भवत् ॥

कचिद् द्वितीयादेः ॥ १३४ ॥

द्वितीयादिवचनीनां स्थाने पष्ठी कचिद् भवेत् ॥

स।माधरस्स वन्दे,तिस्सा भरिमांमुहस्स,अग्गो अ (द्विती०षष्ठी)
सको धणस्स,मुक्का चिरस्स (तृती०षष्ठी) चोरस्स षोडशस।
इअराद् जाण बहुअअकखराद् पायन्तिमिल्लसिहआण।(पञ्च०षष्ठी)
' विट्ठीर्दे केस-जारां ' (सत्० षष्ठी) विचिन्तनीयं बुधेवकस।

द्वितीया-तृतीययोः सम्प्रदा ॥ १३५ ॥

द्वितीयायास्तृतीयायाः स्थाने स्यात् सप्तमी क्वचित् ।
यामं वसामि,नयमे न जामि (द्वि० ष०) मइ वेविरीयैं मल्लिआर् ।
लोए तिसु तेसु अन्नंकिआ अ पुहसी जहा आरा (तृती०सप्त०)
पञ्चम्यास्तृतीया च ॥ १३६ ॥

स्थानां तृतीया-सप्तम्यौ पञ्चम्याः क्वचित् यथा ।
खाराद् विभेति ' वारंण बौइइ ' प्रतिपाद्यते ।

'अन्तेउरं महाराओ आगओ रमिते' यथा ।

सप्तम्या द्वितीयां ॥ १३७ ॥

क्वचिद् द्वितीया सप्तम्याः स्थाने सन्निः प्रयुज्यते ।
जंबदापे तुर्नयाऽपि, द्वितीया प्रथमास्थल ।
'विज्जुआयं रासि भरइ', तृतीया तु-तेण कालेणं ।
तेणं समएणं वा, अउवीस जिणवरा पि' यथा ।
कयहोयंलुक ॥ १३८ ॥

कयङ्कन्त्य कयङ्कन्त्यस्य, यस्य वा लुक भवेदिह ।
गउआइ च गरुआअइ, अगुगुंउभंगनि, गुउरियाचरति ।
दमइआइ दमइआअइ, लोहिआइ लोहिआअइ च ।
त्यादीनामाद्यप्रत्ययाद्यस्येवचौ ॥ १३९ ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम् ।
इवेचौ स्तः, तदाद्यस्य पदयोःकभयोरपि ।
यथा-इसइ हसए, तथा वेवइ वेवए ।
' इवेचः ' [५३१८] इति सुबस्य अकाराणुपकारकौ ।

द्वितीयस्य सि से ॥ १४० ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां यद् द्वितीयं त्रिकं भवेत् ।
सि, से, च स्तः, तदाद्यस्य पदयोःकभयोरपि ।
यथा-इससि हससे, तथा वेवसि वेवसे ॥

तृतीयस्य मि ॥ १४१ ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां यत् तृतीयं त्रिकं भवेत् ।
मिरादेइस्तदाद्यस्य पदयोःकभयोरपि ।
यथा-हसामि वेवामि, अवेइ बाहुलकादिइ ।
मिबेमेरिकाणलोपो, न मरे न म्निंय तथा ।
' बहुजाणय कसिसे ' सके ' शकनामि गयते ।

बहुपवाद्यस्य नित्ते इरे ॥ १४२ ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम् ।
तदन्त्यस्य त्रयो ' नित्ते इरे ' स्युः पदयोःत्रियोः ।
हसिअन्ति रमिअन्ति वेवन्ति च हसन्ति च ।
अप्यअन्ते विच्छुहिरे बौहन्ते च पडुत्तिरे ।
एकवैऽपि क्वचित्तिरे स्थाष् च्चसदरे इति । [१]

मध्यमस्येत्या-हचौ ॥ १४३ ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां, यदस्ति मध्यमं त्रिकम् ।
' इत्या-हचौ ' तदन्त्यस्य, भवेतां पदयोःत्रियोः ।
यथा-इसिस्था हसइ, वेविरया अपि वेवइ ।

[१] शुष्यतीत्यर्थः ।

' इत्या ' इत्यत्रापि बहुलम् - ' यथासे रावते ' इदम् ।
वाक्यं ' जं जं ते राहः,था, ' इदं संप्रयुज्यते ।
स्यात् चः ' इह-हचोहं स्य ' [५२९८] सूत्रस्यास्य विशेषकः ।

तृतीयस्य मो-मु-माः ॥ १४४ ॥

त्यादीनां तु विभक्त्यानां, यत् तृतीयं त्रिकं भवेत् ।
' मो-मु-मा ' स्युस्तदन्त्यस्य, पदयोःकभयोरपि ।
यथा हसामो इलामु हसाम, तुवराम च ।
तुवरामो तुवरामु, तथा इत्यत्रापि बुधेवताम् ।

अत एवैच् से ॥ १४५ ॥

त्यादेः स्थाने तु यौ ' एच्, से ' इत्येते परिकीर्तितौ ।
अदन्तादेव तौ स्यातां, नाऽप्यस्यादिनि हि स्थितिः ।
हसए हससे-ऽनः किम् ? , जाइ जासि न चेह ती ।
अदन्ताद् ' एच् से ' एवेत्यवधारणधारयः ।
एषकारस्ततोऽदन्तात् सि-इचावापि स्थित्यतः ।
अतो ' हसइ हससि ' तथा वेवइ वेवसि ?

सिनाऽस्तेः सिः ॥ १४६ ॥

सिना मध्यत्रिकस्थेः, सहऽस्तेः सिर्नेवेदिह ।
सिनिति किम् ? ' अन्ति तुमं ' से प्रादेशे कृते सति ।
यि-म्ये-मैरिह-म्यो-म्यो वा ॥ १४७ ॥

अस्तेः स्थाने यथासंख्यं, ' मि-मो-मै ' सह वा त्रयः ।
' रिह-म्यो-म्ये ' इत्याद्यास्तु भवन्ति, तत्रिदर्थेते ।
' एस रिह ' एषोऽस्मिन्त्यर्थः, गयम्यो च गयम्य च ।
तुकराप्रहणात् तस्याऽप्रयोग इति भ्यन्ताम् ।
पङ्के-अन्ति अहं, अन्ति अम्ये, अम्यो हि अन्ति च ।
ननु सिक्वावस्थायां, ' म्यो ' इति सिक्वि पञ्चम्युत् [२७५] बलात् ? ।
प्रायस्तु साध्यमानाऽस्याः प्रात्या विभक्त्यविवर्जा ।
नो चेत् ' सव्ये, जे, के, ' इत्याद्यर्थे बहुनि स्थाणि ।
न विधेयानि स्युरतोऽङ्गीकारार्थं साध्यमानाऽत्र ॥

अन्त्यस्थादिना ॥ १४८ ॥

अस्तेः स्थाने जवेद् अन्ति-रादेशस्यादिभिः सह ।
अन्ति सो, अन्ति ते, अन्ति तुमं, अन्ति अहं तथा ।
अन्ति तुम्हे, अन्ति अम्ये, रूपद्वन्द्वमुदाहृतम् ।

णेरदेदावापि ॥ १४९ ॥

णेः ' अत् एत् आव आवे ' सन्त्वमी च यथाकमम् ।
दिसइ कारइ करा-वइ च करावेइ, वा हसावेइ ।
हासेइ दसावेइ वा, नैसं कापीह बाहुलकात् ।
जावावेइ, न आवे इत्यादेशः प्रवर्तते कापि ।
तेन भवेदिह रूपं सिद्धं ' पाएइ ' आवेइ ' ।
गुर्वादेरिविवा ॥ १५० ॥

गुर्वादेणैर् अविद्यो स्यात्, शोषितम्-सांसिभं तथा ।
सांसिभं, तोषितम्-तांसिभं तोसिभं यथा ॥

भ्रमेराको वा ॥ १५१ ॥

भ्रमेः परस्य णेराड् आदेशो वा विधीयते ।
भमाइइ भमाइइ, पङ्के रूपं निशम्यताम् ।
जमावेइ भमावेइ, भामेइ त्रयभित्थते ।

लुगावी क्त-जाव-कर्मसु ॥ १५२ ॥

णेल्गु आदि जवेतां के, प्रत्यये भावकर्मणोः ।
कराविभं कारिभं हासिभं चैव हसविभं ।

[भावकर्मो] कारीअह च कराबी-अह कारिअह तथा कराविअह ।
हासीअह च हासावी-अह हासिअह हासाविअह ।

अद्रेहसुक्पादेरत आः ॥ १५३ ॥

अद्-पद्-लोपेषु जातेषु, णेरादेस्त्व ' आ ' भवेत् ।

एति-कारिह खासिह, अति-पादह मारह ।

शुकि-कारिअं खासिमं, कारीअह भवति वा च कारिअह ।

खामीअह खासिअह, किमदशुकि-रति ? कराविअह ॥

कराविअं च करावी-अह, आदेः किम ? यथा संगामेह ।

व्यवाहितान्ययोने स्यात्-कारिअं, किम ? अतश्च-दूसेह ॥

आये आवादेशेऽप्यादेरत आत्वमाद कोऽपि वृषः ।

कारावह च, ' हासाविभ्रौ जणां सामहोप च ' ।

मौ वा ॥ १५४ ॥

अन आत्वं वाऽनुस्ताद् धातोर्भवंतीह मौ परे हि यथा ।

हसामि हसामि, च जाणामि, जाणामि सिहामि, सिहामि यथा ।

इच्छ मो-मु-मे वा ॥ १५५ ॥

अन इत्वं वाऽऽत्वं वाऽऽन्ताद्धातोः परेषु सु-मे-मोषु ।

जणामु जणामु, भणामो, भणामो, च भणाम जणिम यथा ।

पक्के तु स्यात् भणमो, जणमु भणम, ' धसंमान ' [३११८] लुपेण ।

एत्वं हते, भणमो जणमु सिद्धं भणम तथा ।

के ॥ १५६ ॥

अन इत्वं के परे स्माद्, हसिअं हासिअं यथा ।

सिक्कावस्थापेक्यात् तु गवमित्याद् सिध्यति ॥

एष क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु ॥ १५७ ॥

क्त्वा-तुम्-तव्येषु परतो, भविष्यत्प्रत्यये तथा ।

पथम इत्वं अतः स्यातां, तन् क्रमेणह दृश्यताम् ।

(क्त्वा) हसिअण हसंअण (तुम्) हसंउ हसिंउ तथा ।

(तव्य) हसिअव्यं हसंअव्यं (भविष्यत्) हसिंहइ हसंहिह ।

वर्तमाना-पञ्चमी-शतषु वा ॥ १५८ ॥

पञ्चम्यां वर्तमानायां शतत्रि प्रत्यये तथा ।

परतोऽतो विकल्पेन स्थाने स्यादेस्त्वमत्र तु ।

हसह हसह, हसिम हसिम, हसिसु हसंसु इह च भवति । [१]

' हसउ हसंउ. मुणउ सुणउ. इति विवृषा हि परिणिगमदन्ति । [२]

वा हसन्तो हसन्तो च, कश्चिषो-जयद्व्यतः । [३]

आत्वं च दृश्यते क्त्वापि-सुधाप ' इतिरूपतः ।

जा-उज ॥ १५९ ॥

जा-उजयोः परयोरेस्य भवेद्व्यं ततो जयेत् ।

हसंज्ज च हसंज्जा च, ' हाज्जा होज्ज ' अतं विना ।

ईअ-इज्जा क्यस्य ॥ १६० ॥

चिज्यादीनां आषकर्मविधिरत्र प्रयस्यते ।

येषां न वच्यते तेषां क्यस्य ईअ च इज्ज च ।

एतौ भवेतामादेशौ, हासीअह इसिज्जह ।

हसीअमो हसिज्जमो, पदिज्जह पदीअह ।

हसीअमाणां च हसिज्जमाणां, क्योऽपि वा कश्चित् ।

मप, नवेज्ज तु मप नविज्जज्ज भवेदिह ।

हशि-वचमीस-दुबं ॥ १६१ ॥

दशोपेक्षेः परां यः क्यस्यस्तो ' डीस कुष ' च ।

[१] वर्तमाना । [२] क्यमो । [३] शू ।

ईअ-इज्जापवादाऽयम्, यथा ' दीसह ' बुधह ।

सी ही हीअ जूतार्थस्य ॥ १६२ ॥

प्रत्ययो योऽद्यतन्यादिर्नित्ये विहितो भवेत् ।

तस्य तूनार्थस्यैव ' सी ही हीअ ' नवन्त्यमी ।

व्यञ्जनादीअ [३] [१६३] करणात् स्वरान्तादर्थमिष्यते ।

' कासी काहो च काहीअ ' अकार्याद् अकारात् तथा ।

चकारेत्यर्थका, आर्थ- ' देविन्दो इणमस्यवी ' ।

इत्यत्र सिद्धावस्थातः, मयुक्तौ हासनी क्रिया ।

व्यञ्जनादीअः ॥ १६३ ॥

व्यञ्जनान्नाद् जनेद् धातोर्भूतार्थस्य तु ' ईअ ' हि ।

भूवाभूद् भवादित्यर्थे वाच्ये ' हवीअ ' तु ।

एवं ' अन्वीअ ' आसिष्ट आसाञ्ज्ज तथाऽऽस्त वा ।

अण्टाद् अणहीत् जग्राह वा ' नेतहीअ ' कथ्यते ।

तेनास्तेरास्यट्टेमी ॥ १६४ ॥

जूतार्थेः प्रत्ययो योऽत्र कथितः सह तेन हि ।

अस्तेषांनोः पदे स्थानाम् ' आस्यहेत्सी ' इमी यथा ।

' तुम अहं वा नो आसि ' ये आसिञ्जि ' आसि य '

एवम् ' अहसि ' इत्यस्य, सर्वे वाक्य विभाष्यताम् ॥

जानु समस्यार्थोऽवी ॥ १६५ ॥

समस्यार्थेऽभूताद् हि, उजात् परा वा इरिष्यते ।

' होज होजह ' इत्यन्त- ' भवेत् ' इत्यर्थे बोधकम् ।

जविष्यति हिरादिः ॥ १६६ ॥

जविष्यदर्थे विहिते प्रत्यये पर उच्यते ।

तस्यैवादिर्हंगदेशो, यथा ' हीहिह ' इत्ययम् ।

वा जविष्यति भविता, एवं हीहिमि हीहिमि ।

हीहिस्था वा हीहिह, तथा काहिह क्यताम् ।

मि-मो-मु-मे स्मा हा नवा ॥ १६७ ॥

अर्थे जविष्यति परेषु मु-मो-मि-मेषु

' स्मा हा ' इमी हि विक्थोत तदाभूते ।

वाऽयं विधिर्हिमस्यैवाद्य भवत्यतो हिः

पक्षे जनेदिनि वृथेः परिजायनीयम् ।

होस्सामो होहामो, तथैव होस्सामि भवति होहामि ।

होस्सामु च होहामु च, भवति च होस्साम होहाम ।

पक्षे होहिमि होहिम, होहिमु होहिमु च भवति रूपमिति ।

' हा ' न कापि जनेदिह, तथा-हसिंहो होस्सामो ।

मो-मु-मानां हिस्सा हित्या ॥ १६८ ॥

जविष्यति प्रवृत्तानां, मो-मु-मानां पुनर्मना ।

' हिस्सा ' हित्या, इमी धातोः परी वेत्युपदिश्यते ।

हिमिहिस्सा हसिहित्या, होहिहिस्सा पञ्चत च होहिहित्या ।

पक्षे होस्सामो होहामो होहिमो च रूपानि ॥

मः स्सं ॥ १६९ ॥

धातोः परां जविष्यति काले, मः स्सं विकल्पतो जवति ।

हारसं हसिस्सं, पक्षे होहिमि होस्सामि होहामि ।

कु-दो हं ॥ १७० ॥

कारोनेश्च ददानेश्च, परः काले भविष्यति ।

विहितस्य हि ' मः ' स्थाने ' हम् ' आदेशो विकल्पते ।

कादं दाहं करिष्यामि दास्यामीत्यर्थे बोधकौ ।

पत्ते रूपद्वयं वेद्यं, यथा-कादिमि दादिमि ।

शु-गामि-रुदि-विदि-दशि-मुचि-यचि-ग्निदि-भिदि-धुजां
सोच्छं गच्छं रोच्छं वेच्छं दच्छं मोच्छं वोच्छं उच्छं जेच्छं
भोच्छं ॥ १७१ ॥

इवादीनां दशधातूनां, म्यन्तामां हि प्रविच्यति ।
सोच्छंमित्याद्यस्तेषां निपात्यन्ते पदे, यथा ।
सोच्छं श्रोष्यामि तथा, वृच्छं प्रक्ष्यामि, मोच्छं मोक्ष्यामि ।
शोच्छं वक्ष्यामि पुनः, उच्छं क्षुस्यामि जानीहि ।
भेच्छं भेक्ष्यामि तथा, भोच्छं ज्ञेक्ष्ये च धीवरैरुक्तम् ।
संगच्छं संगक्ष्ये, रोदिष्यामीति रोच्छंमिति भवति ।
वेदिष्यामि च वेच्छं, तथैव गच्छं गमिष्यामि ।

सोच्छादय इजादिषु हिलुक् च वा ॥ १७२ ॥

इवादीनां धातूनां स्थानं सोच्छादयो यथासंख्यम् ।
भविष्यन्तांजादिष्वान्-देवोषु स्तुर, दिव्युक् वा च ।
सोच्छिह्र वा तु सोच्छिह्र, एवं सोच्छिमिति सोच्छिह्रमिति तथा ।
सोच्छिमिति सोच्छिदि स्याद्, सोच्छिन्था सोच्छिद्धिस्था च ॥
सोच्छिह्र सोच्छिह्रिह स्यात्, सोच्छिमि सोच्छिमि भवति रूपम् ।
सोच्छिह्रसामि सोच्छिह्रामि सोच्छिह्रसं सोच्छिमो सोच्छं ॥
सोच्छिमो सोच्छिह्रसामो सोच्छिह्रामो सोच्छिह्रस्ता च ।
रूपं च सोच्छिदिस्था, एवं मु-मयोरपि ज्ञेयम् ॥
गच्छिह्र वा तु गच्छिह्र, एवं गच्छिमिति गच्छिमिति तथा ।
गच्छिसि गच्छिमिति स्यात्, गच्छिन्था गच्छिह्रस्था च ॥
गच्छिह्र गच्छिह्रिह स्यात्, गच्छिमि गच्छिमि भवति रूपम् ।
गच्छिह्रसामि गच्छिह्रामि गच्छिह्रसं गच्छिमो गच्छं ॥
गच्छिमो गच्छिह्रसामो गच्छिह्रामो गच्छिह्रस्ता च ।
रूपं च गच्छिह्रस्था एवं मु-मयोरपि ज्ञेयम् ॥
रुदादीनां च धातूनामप्युदाहार्यमीदृशम् ।

दु सु मु विध्यादिष्वकस्मिन्नाणाम् ॥ १७३ ॥

विध्यादिष्वपञ्चानाम्, एकत्वेऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।
त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थानं स्युः ' दु सु मु ' कमात् ॥
हसउ सा, हससु तु, हसामु अहित्यः प ।
एवं भवति पञ्चामु तथा पेच्छुउ पंचसु ॥
दकारोच्चारणं भाषान्तरार्थे प्रतिपद्यताम् ।

सोर्दिर्वा ॥ १७४ ॥

कृतस्य पूर्वसूत्रेण सोः स्थाने द्विर्बिकल्प्यते ।
' देहि देसु ' ततो रूपद्वयं सिद्धिं समुत्तुत ।
अतः एज्जस्त्वं नहुँज्जि-सुको वा ॥ १७५ ॥
अतः परस्य सोः स्थाने ' इज्ज इज्जसु इज्जहि ' इत्येते लुक् च अत्वार आदेशाः परिधीयन्ते ।
हसेज्जसु हसेज्जं च हसेज्जदि च वा हस ।
पलं-हससु, किमतः ? यथा स्याद् होसु ग्राहि च ।

बहुषु न्नु ह मो ॥ १७६ ॥

विध्यादिष्वपञ्चानां बहुषुऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।
त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थानं स्तुर ' न्नु ह मो ' कमात् ।
यथा-[न्नु] हसन्तु इमन्तु हसेयुषा, [ह] हसह हसेत वा हसत ।
असति-[मो] हसामो हसामि च हसेम स्युरिति बोध्यम् ।
वर्तमाना--भविष्यन्त्योश्च उज्ज उजा वा ॥ १७७ ॥
वर्तमानाभविष्यन्त्योर्विध्याविषु च यः कृतः ।

ए

प्रत्ययस्तस्य तु स्थाने, ' उज्ज उजा ' -ऽऽदेशौ विकल्पितौ ।
[वर्तमाना] हसेज्जं च हसेज्जं वा, पक्षे ' हसह ' सिद्धयति ।
पदेज्जं च पदेज्जं वा, पक्षे- ' पडह ' इत्यपि ।
[भविष्यन्ती] पदेज्जं च पदेज्जा च, पक्षे पदिह्रिह स्मृतम् ।
[विध्याविषु] हसेव पक्षे, हसतु हसिज्जं च हसेज्जं च ।
एवं सर्वत्र बोध्यम्, तृतीयं तु ज्ञेयम् यथा ।
अइचापउजा अइचायावेउजा चेह पठ्यते ।
स्याद् न समगुञ्जाणामि, समगुञ्जाणउजा न वा ।
अन्ये तु सुर्याऽन्यासामपि धाञ्छुद्धिन्ति, तद्यथा ।
अकारदेशके ' इज्ज ' भवतीत्यादिवाचकम् ।

मध्ये च स्वरान्ताद् वा ॥ १७८ ॥

धातोः स्वरान्तात् प्रकृति-प्रत्ययाभ्यन्तरी तथा ।
वात् प्रत्ययानां च स्थाने, ' उज्ज उजा ' -ऽऽदेशौ विकल्पितौ ।
वर्तमाना--भविष्यन्त्योर्विध्याविषु च दृश्यते ।
[वर्तमाना] होज्जा होज्जह्र होज्जाह्र होज्ज, होह्र तु प्राक्किम् ।
होज्जा होज्जसि होज्जासि होज्ज, होसि तु प्राक्किम् ।
[भविष्यन्ती] होज्जाह्रिह होज्जहिह्र, होज्जाह्र होज्जं च पठ्यते ।
पक्षे ' होहिह्र ' इत्येत्त्वं रूपं सिद्धिं प्रयाति च ।
होज्जाह्रिह्र होज्जहिह्रसि, होज्ज होज्जा च होहिह्रि ।
होज्जाह्रिह्रिह्र होज्जहिह्रिह्र, होज्ज होज्जा च होहिह्रि ।
होज्जाह्रिह्रिह्र होज्जहिह्रिह्र, होज्ज होज्जा च होहिह्रि ।
होज्जाह्रिह्रिह्र होज्जहिह्रिह्र, होज्ज होज्जा च होहिह्रि ।

क्रियाऽतिपत्तेः ॥ १७९ ॥

क्रियाऽतिपत्तेः स्थानं तु, ' उज्ज उजा ' -ऽऽदेशौ प्रकृतिर्नौ ।
अतो-ऽभविष्यद् ' इत्यर्थे ' होज्ज होज्जा ' प्रयुज्यते ॥

न्त-माणौ ॥ १८० ॥

क्रियाप्रतिपत्तेः स्थानं तु, ' न्त-माणौ ' इति भाषिती ।
अतो ' हान्तो ' च ' हान्माणौ ' -ऽभविष्यद् ' इति बोधकौ ।
' हरिण-घ्राण इरिणकः ' उह्र सि इरिणाहिवं निवेसन्तो ।
न सहन्तो ष्वय तो राहुपरिदवं से जिअन्तस्स * ॥
शुत्रानशाः ॥ १८१ ॥

' शतु-भानम् ' इत्यनयोर् ' न्त-माणौ ' स्तः पृथक् पृथक् ।
[शतु] हसन्तो हसमाणौ च, [भानम्] वेचन्तो वेचमाणौ च ॥
ई च स्त्रियाम् ॥ १८२ ॥

स्त्रियां शान्ताशोः स्थाने, ' ई, न्त-माणौ ' भवन्ति च ।
हसन्तो हसमाणौ च, हसई च शतुस्त्रियम् ।
वेचन्तो वेचमाणौ च बचई च त्रयमाणाः ॥

या जाषा जगवद्बोचिरगमत् रुयाति प्रतिष्ठां परां,
यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यभूनि निस्त्वान्येकदाशाङ्गानि च ।
तस्याः संप्रति दुःप्रभारवशतो जातोऽप्रचारः पुनः
संचाराय मया कृते विवरणे पादस्तृतीयो गतः ॥
इति श्रीमत्सौधमेवृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञ-
श्रीमद्भट्टारक-श्रीविजयराजेन्द्रसूरीविराचि-
तायां प्राकृतव्याकृतौ तृतीयः पादः ॥

* हरिणस्थाने हरिणाङ्कः । यदि त्वं हरिणाधिपं न्यवेक्ष्यः ।
नासद्विषया एव ततो राहुपरिदवं तस्य ज्ञेयतः ॥

॥ * महर्षे * ॥

॥ अथ चतुर्थः पादः ॥

इदितो वा ॥ १ ॥

इदितो धातवः सूत्रे ये षडयन्तेऽथ पुरिशाः ।

तेषां विकल्पेनाऽऽदेशा भवन्तीत्यवगम्यताम् ॥

कथेर्षेज्ज-पज्जरोप्पाल-पिसुण-सङ्घ-बोद्ध-चव-जम्प-
सीस-साहाः ॥ १ ॥

'सङ्घ-बोद्ध-चवाः जम्प-पज्जरोप्पाल-वज्जराः ।

साहा सीसो च पिसुण' आदेशा वा कथेर्षा ॥

पिसुणस्य सङ्घस्य बोद्धस्य, कपालस्य वज्जरस्य च पज्जरस्य ।

साहास्य जम्पस्य सीसस्य, चवस्य कथयतीति संविधम् ॥

'सङ्घं जपण' इति धातोः कृत्यर्थस्यैव तस्य उच्यते ॥

पले 'कहह' इतीदं रूपं येषां हि कथधातोः ॥

अत्येते तु देशीषु पठिता अपि सुरिभिः ।

'विधिषु प्रत्येषु प्रयुक्ताः' इत्येतां मया ॥

धात्वादेशीकृता भूते, तस्मैर्षे धृतयामिह ।

वज्जरोषो कथितो, वज्जरोषस्य कथयितव्यमिति भवति ॥

वज्जरोषं कथनं, वज्जरोषकणं चापि कथयित्वा ।

कथयन् हि वज्जरोषतो, सङ्घस्यः सन्ति चास्य रूपाणि ॥

संस्कृतधातुवद्भव प्रत्ययसोपानामादिविधिः ।

दुःखे गिब्वरः ॥ ३ ॥

दुःखविषयस्य कथेः, 'गिब्वरो' वा विधीयते ।

दुःखं कथयतीत्यर्थे, क्रिया 'गिब्वर' स्मृता ।

जुगुप्सेकृण-जुगुच-जुगुञ्जाः ॥ ४ ॥

'जुण-जुगुच्छ-जुगुञ्जाः' जुगुप्सेषां प्रथो मताः ।

जुणस्य जुगुच्छस्य च जुगुच्छस्य, पक्के भवति वै जुगुच्छस्य च ।

लापे गस्य जुगुच्छस्य तथा जुगुच्छस्य जुगुच्छस्य च ।

बुद्धसि-बोड्पाणारिव-बोज्जो ॥ ५ ॥

बोद्ध-णीरवो स्वातां, क्विबन्त-बोज्जेस् तथा बुद्धकेषां ।

बोद्धस्य बीजस्य तस्माद्, भवति बुद्धकस्य च णीरस्य ।

ध्वा-गोर्भा-गौ ॥ ६ ॥

'ध्वा गा' अनयोर् 'जा गा' स्वामेशो हि, जस्य जस्यस्य च ।

गिज्जास्य गिज्जास्य च, काणं गाणं, च गाह गावस्य च ।

ज्ञो जाण-सुणो ॥ ७ ॥

जागतेः स्तो 'जाण-सुणो' स्वातां 'सुणस्य जाणस्य' ।

कविट् विकल्पो बहुधाव, यथा-गायं च जाणिञ्च ।

वा जाणिञ्च षाऊण, रूपं 'मणह' मन्यतेः ।

उदो ध्मो धुमा ॥ ८ ॥

उद्-परस्य ध्मा-धातोर् 'धुमा' स्वाद्, 'उधुमाह' हि ।

अदो धो दहः ॥ ९ ॥

अत्परस्य दधातेर्दह इति वै 'सहह' ।

पिबेः पिञ्ज-रुद्ध-पट्ट-पोद्दाः ॥ १० ॥

वा 'पिञ्ज-रुद्ध-पट्ट-पोद्दाः', पले स्पूरज वा पिबतेः ।

पिञ्जस्य रुद्धस्य पट्टस्य, पोद्दास्य, पक्के 'पिमस्य' रूपम् ।

उच्चातेरोस्मा बहुधा ॥ ११ ॥

'ओस्मा बहुधा' च स्वातामुत्पूर्वं-धातिधातोर्षां ।
'ओस्माह' च 'बहुआह' च पक्के भवति 'उच्चाह' ॥

निष्पातेरोद्दीरोस्स्यौ ॥ १२ ॥

'पोद्दीर उ [ओ] ह' इत्येतौ, वा नि-धातेः पदे मत्तौ ।
यथा-उ [ओ] ह्निह निहाह आहार' भवेत् प्रथम ।

आध्राराङ्ग्यः ॥ १३ ॥

वाऽऽजिततेः स्वाद् आरन्धः, आरन्धस्य अण्धाह च ।

स्नातेरञ्जुतः ॥ १४ ॥

स्नातेर् 'अञ्जुत' इति वा स्वाद् अञ्जुतस्य एहाह च ।

समः स्तयः स्ताः ॥ १५ ॥

संपूर्वस्य स्वायतेः 'साः' स्वात् 'संसाह' यथा भवेत् ।

स्थष्ठा-थक्-चिट्ठ-निरप्पाः ॥ १६ ॥

'थष्ठा क्विठो निरप्पा, ठा' स्था-धातोः स्तुक्तिं यथा ।

ठास्य थक्कस्य चिट्ठस्य चिट्ठिऊण निरप्पास्य ।

पठिञ्चो उठिञ्चो पठायिञ्चो उट्टायिञ्चो तथा ।

कविष्य बहुलात्-धाणं धिञ्च धाऊण उठियञ्चो ।

उदुधु-कुङ्कुरौ ॥ १७ ॥

उद्-परस्य स्था-धातोः, स्वातामत्र उ-कुङ्कुरौ ।

'उठह' स्वात् तथा 'उक्कुङ्कुर' इत्यमत्र तु ।

म्भेर्वा-पव्वायौ ॥ १८ ॥

'पव्वाय वा' इत्यादेशो, म्हायतेवोऽप्य समतौ ।

'वाह पव्वाय' तथा, पले रूपं 'मिताह' च ।

निर्मो निम्माण-निम्मवौ ॥ १९ ॥

'निम्माण-निम्मवौ' स्वातां, निर्मिञ्चोनिर्मौ यथा ।

'निम्माणस्य निम्मवह' यथैते सिद्धिमाप्नुतः ।

क्वेषिञ्जरो वा ॥ २० ॥

स्यतेर् गिञ्जरो वा गिञ्जस्य, पले भिञ्जस्य ।

उदेषेणुम-नुम-सन्नुम-दकौम्बाल-पव्वादाः ॥ २१ ॥

'स्युर् दकौम्बाल-पव्वादा सुमो नुमश्च सन्नुमः ।

स्युदेष्यन्तस्य वाऽऽदेशः पडन्ते, तन्निश्चयताम् ।

णुमस्य च नुमस्य, सान्वेणुमस्य दकस्य च सन्नुमस्य भवति ।

ओम्बालस्य पव्वालस्य, तथा च णयस्य निगद्यन्ते ।

नित्रिपत्तयोधिहोः ॥ २२ ॥

निवृणः पतेक धातोः, एयन्तस्य तु वा 'धिहोह' इति भवन्तु ।

यथा 'धिहोहस्य' पक्के तथा निवावर, पाडेह ।

दूहो दूमः ॥ २३ ॥

दूहो एयन्तस्य दूमः स्वात्, हित्रयं मज्ज दूमस्य ।

धवलैर्दुमः ॥ २४ ॥

धवलयतेर्एयन्तस्य दुमादेशो वा, दुमस्य च धवलस्य च ।

स्वर-[अर३८] सूत्रण तु दौषे द्वाभिमिति धवलानं भवति ।

तुलेरोहामः ॥ २५ ॥

तुलेर्एयन्तस्य 'ओमामो' वा, तुलस्य ओहामस्य ।

विरिचैरोद्धाएदोन्नुएह-पहहत्याः ॥ १६ ॥
विरिचैर्येयन्तस्य तु वा, स्युरोत्तुएडोल्सुएन-पहहत्याः ।
ओलुएडह उद्धाएडह पहहत्याश्च वा विरिचह च ।
तनेराहोन्-विहोदौ ॥ १७ ॥
तद्वेएयन्तस्य वाऽऽहोन्-विहोदौ भवतः कमाद्य ।
आहोन्ह विहोडह, पक्के 'तानेह' सिध्यति ।
मिभेर्वीसाल-मेलवौ ॥ १८ ॥
मिभयतेएयन्तस्य तु, वा स्तो बीसाल-मेलवौ ।
बीसालह मेलवह, पक्के 'मिस्सह' जायते ।
उच्छेगुणुः ॥ २६ ॥
एयन्तस्योच्छलि-धातोः स्याद्, गुणऽऽदेशो विभाषया ।
ततो गुणह पक्के स्याद्, 'उच्छेह' क्रियापवम् ।
अयेस्ताडिअएट-तमाडौ ॥ ३० ॥
तालिअएट-तमाडौ द्वौ, अयेएयन्तस्य वा मत्तौ ।
स्यात् तालिअएटह तमाडह चेति द्वयं, तथा ।
प्रमाडह भमावह, भमिह अयमीरितम् ।
नरोर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः ॥ ३१ ॥
पलावा विउमो विप्पगालो नासव-हारवौ ।
एते पञ्च विकल्पेन स्युएयन्तस्य नरोर्विह ।
विप्पगालह च पला-वह हारवह स्मृतम् ।
विउडह नासवह, पक्के 'नासह' सिध्यति ।
दरोदीव-दंसह-दकखवाः ॥ ३२ ॥
दावो दंसो दकखवह, दरोएयन्तस्य वा अयः ।
दावह दंसह दकखवह द्रिसह स्मृतम् ।
उव्पेट्स्मगः ॥ ३३ ॥
एयन्तस्य बोधघटेर उग्माः, उग्माडह च उग्माह ।
स्यूहः सिहः ॥ ३४ ॥
स्यूहो एयन्तस्य 'सिह' इत्यादेशः, सिहह स्मृतम् ।
संजावेरासङ्गः ॥ ३५ ॥
संभावयतेघातोरासङ्गो वा विधीयते ।
भवेद् अलहह तथा, संभावह च पाक्षिकम् ।
उभमेरुत्यङ्गोपला-गुसुगुणोपेलाः ॥ ३६ ॥
उभमेरुत्याङ्गोपला-गुसुगुणोपेला वा स्युः उभमः ।
उभमेरुह उलाहह, उभमेरुह तथा पुनः ।
गुसुगुणह, पक्के तु पदम् उभावह स्मृतम् ।
प्रस्थापेः पट्टव-पेयववौ ॥ ३७ ॥
प्रस्थापयतेरादेशो वा पट्टव-पेयववौ ।
पट्टवह पेयववह, पक्के पट्टवह स्मृतम् ।
विङ्गुपेर्वीकावुक्कौ ॥ ३८ ॥
लुकावुक्कौ विजानातेः, स्थाने स्यातां विनाषया ।
स्याद् अङ्गुकर बोक्कर, पक्के विणयवह स्मृतम् ।
अर्पेरास्तिव-वच्छुप-पणामाः ॥ ३९ ॥
अयो वाऽपयतेः स्थाने, पणामवच्छुपोऽस्तिवः ।
अस्तिवह वच्छुपह पणामह, अयेह वा ।

यापेजवः ॥ ४० ॥
अयो यापयतेर्वा जयह, जावेह वेयते ।
प्नावेरोम्बाल-पव्वाडौ ॥ ४१ ॥
स्याताम् 'ओम्बाल-पव्वाडौ' स्थाने प्नावयन्तस्य वा ।
ओम्बालह पव्वाडह, पक्के 'पावेह' सिध्यति ।
विकोशः पक्कोडः ॥ ४२ ॥
वा विकोशयतेर्नामयातोः 'पक्कोड' इष्यते ।
'पक्कोडह' ततः सिद्धं, पक्के रूपं 'विकोसह' ।
रोमन्धेरोग्माल-वग्मालौ ॥ ४३ ॥
स्याताम् 'ओग्माल-वग्मालौ' रोमन्धेस्तु विनाषया ।
ओग्मालह वग्मालह, रोमन्धह तु पाठिकम् ।
कम्पेण्डुवः ॥ ४४ ॥
स्यात् कमेः स्वायंघनन्त्य, गिह्वोऽत्र विकल्पनात् ।
प्रयुज्यते गिह्वुवह, तथा कामेऽह पाक्षिकम् ।
प्रकाशेणुवः ॥ ४५ ॥
णुवः प्रकाशेऽयन्तस्य, वा पयासेह गुणह ।
कम्पेविच्छालः ॥ ४६ ॥
कम्पेएयन्तस्य विच्छालो वा, विच्छालह कम्पेह ।
आरोपेवेडः ॥ ४७ ॥
एयन्तस्य वाऽऽहः स्थाने वलाऽऽदेशोऽभिधीयते ।
रूपं 'वलाह' संसिद्धम्, आरोपेह च पाक्षिकम् ।
दोले रूवोलः ॥ ४८ ॥
स्वायं एयन्तस्य तु दुलः, रूवोलो वा विधीयते ।
सिद्धं रूपं ततो रूवोलह 'दोलह' पाक्षिकम् ।
रुजः रावः ॥ ४९ ॥
रुज्जेएयन्तस्य वा रावो, यवा-रावेह र्जेजह ।
घटेः परिवारः ॥ ५० ॥
परिवारो विकल्पेन घटेऽयन्तस्य जायते ।
संसिद्ध परिवारह, पक्के रूपं घटेह च ।
वेष्टेः परिआलः ॥ ५१ ॥
वेष्टेऽयन्तस्य तु स्थाने 'परिआलो' विकल्पनात् ।
'परिआलेह' घटेह, द्वयं संसिद्धिमुच्छ्रितम् ।
क्रियः कियो वेस्तु के च ॥ ५२ ॥
गेरित्यत्र निवृत्तं च, क्रीणातः किण इष्यते ।
वेः परस्य द्विरुक्ः के चात् किणक्रेति बुध्यताम् ।
रूपं किणह विक्रेह, तथा निकिणह स्मृतम् ।
जियो भा-बीडौ ॥ ५३ ॥
भा-बीडौ च बिजनेतः स्तः, जाह बीडह भाहभं ।
बीहभं, बहुलाद् 'जीभो', इति रूपं च सिध्यति ।
आलीङ्गेऽङ्गी ॥ ५४ ॥
आहीयतेर् भवेद् अङ्गी, आङ्गीणं च अस्तिअह ।
निदीकेणिदीभ-णिलुक्-गिरिम्-लुक्-सिक्-दिह-
काः ॥ ५५ ॥
'लुक्-गिलीभ-णिलुका, लिको दिहको गिरिभ' इत्येते ।

[सिद्धहेम]

आदेशान् निलीजो धानोः बहू वा प्रवर्तन्ते ।
सुकरं लिङ्कारं निङ्कारं भवति गिर्लीङ्कारं तथा शिलुङ्कारं च ।
तथा खिरिगघं रूपं, पक्षे वेदां निलिङ्कारं तु ।

विह्वीकैर्विरा ॥ ५६ ॥

विरा विलीकैरादेशां वा, विराइ विशिङ्कार ।

रते रुज्ज-रुएटी ॥ ५७ ॥

रौतेः स्थाने विकल्पेन रुज्ज-रुएटी प्रकीर्तितौ ।

रुज्जइ रुएटइ ततः, पक्षे रवइ सिध्यति ।

श्रुदेर्हणः ॥ ५८ ॥

गृणोतेर्वा इणो, हण-इ सुणइ सिक्कित्तम् ।

धुगधुवः ॥ ५९ ॥

धुनातेर्वा धुवो धुवइ ह्याइ धुणइ पाक्किकम् ।

जुवेर्हो-हुव-हवाः ॥ ६० ॥

'हो हुव इव' इत्येते नुवः स्थाने विकल्पिताः ।

'होइ हुवइ इवइ' स्युइ, 'हो'नि हुवन्ति च हवन्ति' बहुवचने ।

पक्षे भवइ भवन्ति च, प्रविद्धं पभवइ च परिभवइ ।

कविन्द्यदपि यथा-जत्तं, उण्णुअइ स्मृतम् ।

अत्रिति हुः ॥ ६१ ॥

विह्वजं प्रत्यये 'हु' स्याइ, धुवः स्थाने विज्ञापया ।

यथा हुन्ति, भवइ हुन्ता, किम ? अत्रिति, 'होइ' च ।

पृथक् स्पष्टे णिव्वरुः ॥ ६२ ॥

पृथग्भूते तथा स्पष्टे, कत्तरि 'णिव्वरु' धुवः ।

पृथक् स्पष्टो वा जवती-त्यर्थे 'णिव्वरु' स्मृतम् ।

मनौ हुणो वा ॥ ६३ ॥

प्रनुकर्तृकस्य नुवः, स्थाने हुणो पिकल्पयते ।

प्रभुत्वं च प्रपूर्वस्यै-वाणो उत्रिति विभाव्यताम् ।

अङ्गं बिअ पवुणइ, न, पक्षे पमवेइ च ।

कं हुः ॥ ६४ ॥

के नुवो इर' अण्णुअं, पण्णुअं हुअमीउणम् ।

कृगः कुणः ॥ ६५ ॥

कृगः कुणो वा, कुणइ, करइ स्यात्तु पाक्किकम् ।

काणेकित्ते णिअरः ॥ ६६ ॥

काणेकित्तवियवस्य तु, कृगः पदे वा णिअर आदेशः ।

काणेकित्तं करणीतीत्यर्थे वाच्यं 'णिअरइ' हि ।

निष्टम्भावष्टम्भे शिट्ठइ-संदाणं ॥ ६७ ॥

अवष्टम्भे च निष्टम्भे, कृगः संदाण-निष्ठहो ।

इत्यादौ यथासंख्यं, विकल्पनेह बुध्यताम् ।

निष्ठइइ तु निष्टम्भं करणीतीत्यर्थोऽधिकम् ।

'संदाणइ' अवष्टम्भं करणीतीत्यर्थोऽवचकम् ।

अपे वावक्फः ॥ ६८ ॥

अमविषयस्य तु कृगो, वावक्फो वा विधीयते ।

अमं कराति इत्यर्थं, 'वावक्फइ' निगद्यते ।

मनुनोष्ठासिलिन्धे णिव्वोलः ॥ ६९ ॥

मनुनोष्ठासिलिन्धे, 'णिव्वोलइ' कृगोऽस्तु वा ।

मन्निनीकुस्से स्वीठं कुधा, 'णिव्वोलइ' स्मृतइ ।

शैथियेपसम्भने पयल्लः ॥ ७० ॥

शैथिये लम्भेऽर्थे च, 'पयल्लो' वा कृगो यथा ।

लम्भते वा च शिथिलीभवति स्यात् 'पयल्लइ' ।

निष्पाताच्चोडे णीलुङ्गः ॥ ७१ ॥

आच्चोडेऽर्थे च निष्पाते, 'शीलुङ्गो' वा कृगो भवत् ।

'शीलुङ्गइ' निष्पातति, वाऽऽच्चोडयति कथयति ।

कुरे कम्मः ॥ ७२ ॥

कुरायेस्य कृगः 'कम्म', इत्यादेशो विभाषया ।

'कुरं कराति' इत्यर्थं, पदं 'कम्मइ' जययते ।

चाटो गुललः ॥ ७३ ॥

चाटुविषयस्य कृगो, 'गुललो' वा विधीयते ।

प्रयुज्यते 'गुललइ', चाटुकारं करात्यतः ।

स्मरंजैर-भूर-जर-भल-लल-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः ॥ ७४ ॥

पम्हुहां विम्हरो भूरः पयरः, सुमरो भरः ।

भलो भडो उरो वैते, नवादेशाः स्मरंजैः ।

भूरइ भरइ विम्हरइ, सुमरइ पयरइ च पम्हुहाइ सरइ ।

प्रइइ भलइ ढलइ ततः, स्मरंजैवन्तीह कृपाणि ।

विष्णुः पम्हुस-विम्हर-वीरमा ॥ ७५ ॥

'पम्हुस विम्हर वीरस' इत्यादेशा भवन्ति विस्मरतेः ।

'पम्हुसइ विम्हरइ वीसरइ' च सिद्ध्यन्ति कृपाणि ।

व्याहोः कोक्क-पोक्को ॥ ७६ ॥

व्याहरेणो स्याता-मादशी द्वौ हि 'कोक्क-पोक्को' च ।

कोक्कइ, इस्वन्वे कुक्कइ पोक्कइ, 'वाडइ' पक्षे ।

मसरः पयल्लोविट्ठो ॥ ७७ ॥

संवल्लश्च पयल्लो वा, स्यातां प्रसरंजैर्मो ।

उवल्लइ पयल्लइ, पक्षे पसरइ स्मृतम् ।

महमहो गन्धे ॥ ७८ ॥

गन्धार्थस्य प्रसरतेः, स्थाने महमहोऽस्तु वा ।

'मालइ महमहइ', गन्धे किं ? पसरइ च ।

निस्सरंणीहर-नील-थारु-वरहाडो ॥ ७९ ॥

निस्सरतेर' वरहाडो, नीलो धाडो च हाडो' वा स्युः ।

वरहाडइ नीलं णीहरइ च धाडइ च, नीसरइ ।

जात्रेमेगः ॥ ८० ॥

जागतैर' जग्य' इति तु, स्याद्देशो विभाषया ।

रूपं 'जग्य' तेन स्यात्, पक्षे 'जागरइ' स्मृतम् ।

व्यापिराअः ॥ ८१ ॥

धातोर्व्यापियतेः स्थाने, 'आअङ्को' वा विधीयते ।

आअङ्कइ तथा 'वायंरइ' रूपं तु पाक्किकम् ।

संठगेः साहर-साहट्टो ॥ ८२ ॥

संठुणोत्सु साहर-साहट्टौ वा पदे मती ।

साहट्टइ साहरइ, पक्षे 'संवचइ' स्मृतम् ।

आडकः सभाः ॥ ८३ ॥

वाऽऽडकः स्यात् 'सभा'म्, 'आवरइ सभा'इ ।

प्रहृगेः सारः ॥ ८४ ॥

सारः प्रहरोतेः स्थानं, वा पहरह सारह ।

अवतरेरौह-प्रारसौ ॥ ८५ ॥

'ओह ओरस' इत्येतौ, वाऽप्रावतरतेमेतौ ।

ओहह वा श्रीरमह, पक्के 'ओश्ररह' स्मृतम् ।

शकेश्रय-तर-नीर-पाराः ॥ ८६ ॥

अयस्तरस्तीरपारौ, अयारो वा शकरिमि ।

तीरह पारह सकह, अयह तरह, अयह च न्यजतेः । [१]

तरनेरपि तु तरह वा, तीरयनेरपि भवेत् तीरह ।

पारयनेरपि भवेत्, रूपं 'पारह' गच्छते । [२]

फकस्यकः ॥ ८७ ॥

थकस्तु फकतेः स्थानं भवेत्, 'थकह' सिध्यति ।

श्रायः सन्नहः ॥ ८८ ॥

श्रायतेः सलहादेशो भवेत्, 'सन्नहह' स्मृतम् ।

खचेरैःश्रटः ॥ ८९ ॥

खचेनर 'यश्रडो' वा, 'वेअडह' 'खखह' स्मृतम् ।

पचेः संश्रि-पुनद्रौ ॥ ९० ॥

वा 'सोश्रि-पउज्जो' इत्यादेशो स्मः पचनेः स्थाने ।

'सोश्रि' वा 'पउज्जह', पक्के 'पयह' सिध्यति ।

मुचेउगुहावेदम-मंश्री।स्मिक्-रेअव-शिल्लुउज-थंसामाः। ९१।

मंश्रीऽवेदेदो थंसामो, शिल्लुउज्जोस्मिक्-रेअवः ।

उदुश्रैते मुचेः स्थानं, सनादेशो विकल्पिताः ।

शिल्लुउज्ज उस्मिक्कह, श्रवहेउह रेअवह च थंसामह ।

उदुह मेलह, पक्के 'मुअह' च रूप तु भवतीति ।

दुःखे गिन्वन्नः ॥ ९२ ॥

दुःखविपयस्य मुचेगिन्वन्नो वा विधीयते ।

'दुःखं मुञ्चति' इत्यर्थे 'गिन्वन्नह' क्रियापदम् ।

वउचेरैहव-वेन्नव-जूरवोमच्छाः ॥ ९३ ॥

वा वेहव-वेन्नव-जूरवा उमच्छोऽपि वउचतेः स्थाने ।

वेहवह वेन्नवह जूरवह उमच्छह च, वउह च ।

रचेरुगहावह-विमविड्डाः ॥ ९४ ॥

घातोः रचेर उगहावह-विड्डविश्रुस्थो भवस्यते ।

विमविड्डह उगहाह च अघह, पक्के रयह भवति ।

समारचेरुवट्टत्य-सारव-समार-केलायाः ॥ ९५ ॥

समारचेर उवहस्थाः, केलायः सारवः समारो वा ।

उवहस्थाह केलायह, समारयह सारवह समारह च ।

सिचः सिञ्च-मिम्पौ ॥ ९६ ॥

सिञ्च-सिम्पौ विकल्पेन, सिञ्चतेना पदे स्मृतौ ।

सिचं सिञ्चह सिम्पह, पक्के सञ्चह ज्ञायते ।

प्रच्छः पुच्छः ॥ ९७ ॥

प्रच्छेः स्थाने प्रवेत् पुच्छादेशो, पुच्छति सिद्धति ।

गर्जेवुकः ॥ ९८ ॥

गर्जेनेवुक इत्यादेशो वा, वुकह, गजह ।

[१] हाणि कपोति । [२] कर्म सनाप्राति ।

वृषे दिक्कः ॥ ९९ ॥

वृषे कर्तारि गर्जेर वा, दिक्काऽऽदेशो विधीयते ।

'दिक्कह' 'गर्जेति वृषे' इत्यर्थे परिपठ्यते ।

रानेरम-उज्ज-सह-रीर-रेहाः ॥ १०० ॥

अग्यो रीरो रेहः, उज्जह सहो भवतु वा राजेः ।

अग्यह उज्जह रीरह, रेहह रायह च सहह तथा ।

मस्नेराउहु-गिणहु-वुहु-मुप्याः ॥ १०१ ॥

आउहुध गिणहु, मुहुः खूपध मज्जतेयो स्युः ।

आउहुह च गिणहुह, मुहुह खूपध च मज्जह च ॥

पुञ्जरोराल-चमाद्रौ ॥ १०२ ॥

आरोलध चमालध, पुञ्जरेतो विकल्पितौ ।

आरोलह चमालह, पक्के-पुञ्जह सिध्यति ।

लस्नेर्नीटः ॥ १०३ ॥

जीहो वा लज्जतेः स्थानं, यथा-जीहह, लज्जह ।

तिजरोमुक्कः ॥ १०४ ॥

आमुक्को वा तिजेः स्थानं, आमुक्कह न तेअग्ये ।

मुजेरुमुस-वुउउ-पुउज्ज-पुंम-कुम-पुस-वुह-दुल-

रांसाणाः ॥ १०५ ॥

उरुमुसो रोसणो मुक्कः, पुउज्जः पुंमः कुमः पुसः ।

मुहो दुलो, नवादेशो विकल्पेन मुजेरुमताः ।

मुउज्ज पुउज्ज पुंसह, रोसाणह कुमह पुमह तथा मुहह ।

दुलह उरुमुसह, पक्के-मज्जह इति विकल्पिते पदस ।

जउजेवमय-मुमुमूर-मूर-मूर-मूर-विर-पविरउ-

करउ-नेरेज्जाः ॥ १०६ ॥

मुमुमूरो विरो मूरः, मूरः मुउध वेमयः ।

पविरउः करउजो नीरेज्जा वा अज्जेतेनेव ।

मूरह मूरह मूरह, मुमुमूरह वेमयह च पविरउज्जह ।

नीरेज्जह च करउज्जह, विरह च पक्के भवेद्-अज्जह ।

अनुम्रजेः पदिअग्यः ॥ १०७ ॥

अनुम्रजेः 'पदिअग्य' इत्यादेशो विकल्प्यते ।

'पदिअग्यह' पक्के तु-अपुवध्वच्च' सिध्यति ।

अजेर विहवः ॥ १०८ ॥

अजेथानोविकल्पेन, विहवाऽऽदेशो ऽप्यते ।

प्रयुज्यते विहवह, तथा 'अज्जह' पालिकम् ।

युंनो जुञ्ज-जुञ्ज-जुप्याः ॥ १०९ ॥

युञ्जः स्थानं 'जुञ्ज-जुञ्ज-जुप्या' एते त्रयो मताः ।

जुञ्जह जुञ्जह तथा, जुप्यह' सिद्धिमात्मह ।

युंनो जुञ्ज जिम-जेम-कम्माह-समाण-चपह-चड्डाः । ११० ।

समाणधमडधुक्कः, कम्मो भुञ्जो जिमस्तथा ।

अएहो जेमो, भुञ्जः स्थानेऽप्यादेशोः परिधीयताः ।

'जुञ्जह जिमह च जेमह, चमडह कम्मह चड्डह समाणह ।

'अएहह' इति भुञ्जधानोः, रूपं वेदो सुधीभिरतः ।

वापेन कम्मवः ॥ १११ ॥

उपेन युक्तस्य भुञ्जः, 'कम्मवा' वा विधीयते ।

तेन सिद्धं 'कम्मवह', उवहुञ्जह' इत्यपि ।

घटेर्गढः ॥ ११२ ॥

घटेर्गढो वा, गढश्च, घडश्च स्यात्तु पात्रिकम् ।

समो गमः ॥ ११३ ॥

संपूर्वस्य घटेः स्थाने, गमादेशो विकल्पनात् ।
ततः सिद्धं 'सगमश्च', पक्षे 'सघमश्च' स्मृतम् ।

हामिने स्फुटेषुरैः ॥ ११४ ॥

हासेन स्फुटतेऽप्ये तु, स्फुटः स्थाने सुरोऽस्तु वा ।
हासेन स्फुटतेत्यर्थे, रूपं 'सुरश्च' कथ्यते ।

पाणेश्चिञ्च-विञ्च-विञ्चिञ्च-रीच-टिचिचिकाः ॥ ११५ ॥

विञ्चिञ्चिञ्चिञ्चिञ्चिञ्चो, रीचिचिचिकस्तथा ।
एते मण्डरं विकल्पेन, पञ्चादेशाः प्रकीर्तिताः ।
विञ्चिञ्चश्च विञ्चश्च, टिचिचिकश्च विञ्चश्च ।
रीचश्च तथा, 'मण्डरश्च', इति रूपं तु पात्रिकम् ।

तुभेसोऽ-तुष्ट-तुष्ट-खुभोकमुढोऽलुक-शिशुक्त-लुकोऽलूराः ॥ ११६ ॥

लुकोऽलूरी तुष्ट-खुष्टो, शिशुक्तश्च खुडोऽस्तुष्टो ।
तोऽलूकुको, तुष्टः स्थाने, विज्ञाया स्वरुमी नय ।
तोऽलू तुष्ट-खुष्टश्च, उल्लुक्तश्च उक्खुडश्च शिशुक्तश्च च ।
खुडश्च तुष्टश्च उल्लुक्तश्च, लुक्तश्च रूपं तुभेरेनत् ।

धूर्णो धूम-धोत्र-धूम-पटुणः ॥ ११७ ॥

धूर्णो धालः पटलश्च, धूमो धूर्णरमी मनाः ।
'धुलश्च धोत्रश्च पटलश्च धुमश्च' सिद्धयति ।

विष्टतेर्दैनः ॥ ११८ ॥

दंसो वा विष्टनेः स्थाने, दंसश्च स्याद् विष्टश्च ।

क्वयण्टः ॥ ११९ ॥

क्वयेरुद्धो वा, अट्टश्च, पञ्च-कट्टश्च सिध्यति ।

प्रयो गात्रः ॥ १२० ॥

प्रयोर्गण्डोऽस्तु, गण्डश्च, गण्टी सार्द्धः प्रयुज्यते ।

मन्थेषुमस-विरोडाँ ॥ १२१ ॥

धुससश्च विरोलश्च, मन्थेरेणो विकल्पितौ ।
रूपं धुससश्च विरोलश्च, मन्थश्च इत्यपि ।

ह्यदरेवञ्चच्छः ॥ १२२ ॥

ह्यदरेवञ्चच्छः प्रायान्तव्यापि स्थले भवेत् ।
ह्यदरे ह्यदर्यति वा, 'अवञ्चच्छश्च' उच्यते ।

अत्रकारस्तु एयन्तव्यापि ब्रह्मथेः प्रयुज्यते ।

नः मद्रो भजः ॥ १२३ ॥

निपूर्वस्य सद्रो मज्जः, 'अवा एयन्तव्यापि' ।

क्रिदेर्दुहाव-णिचञ्च-णिचमोरु-णिवर-णिष्टूर-

खराः ॥ १२४ ॥

वा स्युर णिचञ्च-णिचमोरौ, गिचमोरु लर-णिचवरी ।
दुहावश्च पदादेशाः, द्विद-धातोः पदे यथा ।
णिचञ्चश्च णिचमोऽश्च, गिचमूरश्च गिचवरश्च दुहावश्च च ।
खरश्च इति द्विधातोः, पते 'द्विन्दश्च' मते रूपम् ।

आकु ओअन्द्रोशासौ ॥ १२५ ॥

'ओअन्द्रोहालो' वा, स्याताम् आकु सहाश्च द्विद-धातोः ।

'ओअन्द्रश्च, उदासश्च' 'अवचन्द्रश्च' इति विकल्पयथात् ।

मूढो मल-मद-परिहृष्ट-खडू-चङ्ग-मङ्ग-पञ्चाकाः ॥ १२६ ॥

खडू-चङ्गी च पञ्चाडः, परिहृष्टो मद्रो मलः ।
मङ्गश्चापि मृदः स्थाने, समादेशाः प्रकीर्तिताः ।
पञ्चारुश्च मङ्गश्च च, परिहृष्टश्च खडूश्च ।
मङ्गश्च चङ्गश्च तथा, मलश्च प्रतिपठ्यते ।

स्पन्देरचुलुचुलः ॥ १२७ ॥

स्पन्देरचुलुचुलुदाशो, विकल्पेन प्रयुज्यते ।
सिद्धं 'चुलुचुलश्च' तु, पक्षे 'फन्दश्च' इत्यपि ।

निरः पदेर्बलः ॥ १२८ ॥

निःपूर्वस्य पदेः स्थाने, बलादेशो विकल्पनेन ।
'निव्वलश्च' निप्यज्जश्च, 'उयं' निचिभगादिदम् ।

विमंवेदेविञ्चट-विलोह-फंसाः ॥ १२९ ॥

विमंवेदश्च विलोहश्च, फंसाश्चेति त्रयोऽपि वा ।
विसंपूर्वस्य तु वदः, स्थाने सन्तु यथाक्रमम् ।
विमंवेदश्च ततः सिद्धं, विलोहश्च च फंसाश्च ।
विसंयमश्च चेतन्तु, पात्रिकं रूपमिष्यते ।

शदो ऊढ-पक्खोर्को ॥ १३० ॥

शदः स्तो ऊढ-पक्खोर्को, ऊढश्च, वा पक्खोऽश्च ।

आक्रन्देर्पाहिरः ॥ १३१ ॥

आक्रन्देर्पाहिरो वा स्याद्, गीहश्च अक्रन्दश्च ।

सिदेर जूर-विमूर्गो ॥ १३२ ॥

सिदेर जूर-विमूर्गो शो, स्यातामत्र विकल्पनात् ।
'विमूर्गश्च' ततः सिद्धं, पक्षे जूरश्च, खिञ्जश्च ।

रुधेक्यङ्गुः ॥ १३३ ॥

रुधेक्यङ्गु इति वा, उन्महश्च च रूपश्च ।

निपेपेर्दकः ॥ १३४ ॥

दृषको निपेपतेर, दृषकश्च वा पक्षे निसेरश्च ।

कृषुमैरः ॥ १३५ ॥

कृषुमैरो विकल्पेन, 'जूरश्च' कुञ्जश्च इत्यपि ।

जानो जा-जर्मौ ॥ १३६ ॥

जा-जर्मौ जायतेः स्थाने, सिद्धं 'जात्रश्च जर्मश्च' ।

तनस्तक-तडू-तडूव-विगडो ॥ १३७ ॥

तक-तडू-तडूव-विगडोऽव्यारस्तनः स्थले वा स्युः ।
तडूश्च तकश्च तडूवश्च, तथा विगडश्च, 'तणश्च' पक्षे ।

तृपसिपः ॥ १३८ ॥

तृपसिपस्तु पदे क्लिपः, 'थिप्यश्च' प्रणगायते ।

उपसेपेरद्विञ्चः ॥ १३९ ॥

उपसेपेरद्विञ्चः स्थाने वा 'द्विञ्चो' मतः ।
ततः सिद्धम् 'द्विञ्चश्च', 'उवस्यपश्च' पात्रिकम् ।

मंतपर्मङ्गुः ॥ १४० ॥

मंतपर्मङ्गु इति वा, मंतप्यश्च च ऊढश्च ।

वयापेरोअग्नाः ॥ १४१ ॥

वयापेरोअग्नाः विकल्पेनाऽऽदेश 'ओअग्ना' इष्यते ।

‘आश्रमार्ह’ ततः पत्नः, रूपं ‘वायव्’ सिध्यति ।

समापेः समाणः ॥ १४२ ॥

समाप्नोतेः समाणो वा, समापवद् समाणद् ।

क्षिपेर्गलत्याङ्कव-सोऽङ्ग-पेक्ष-प्राङ्ग-छुद्-हुल-परी-
घ्याताः ॥ १४३ ॥

सोऽङ्गपक्षौ परी-घञौ, गलत्याङ्कं छुद्वा हुलः ।
आङ्कवक्ष्णां प्राङ्गं घञ्येन, नवादेशाः क्षिपेस्तु वा ।
आङ्कवक्ष्णश्च गलत्याङ्क, सोऽङ्गश्च पत्नलश्च छुद्वा हुलश्च घञश्च ।
पौलस्त्येन ह्रस्वत्वे युत्वाद् परीद्, पात्रिकं लिखद् ।

उत्तिष्ठपुंलुगुञ्जीन्यङ्गात्प्रत्ययानुत्तोस्मिक्-ट्वक्लुवाः ॥ १४४ ॥

गुणगुञ्जात्प्रत्ययानुत्तोस्मिक्-हक्लुवा वा स्युः ।
उत्प्लवस्य तु क्षिपेर्, धातोः स्थाने परादेशाः ।
गुलगुञ्जश्च उभ्यङ्गश्च, अङ्गत्याङ्क हक्लुवश्च च उस्मिक् ।
उत्प्लवश्च इति पङ्के, रूपं वेद्यं तु ‘उत्क्षिपवद्’ ।

आक्षिपेर्धीरिवः ॥ १४५ ॥

आक्षिपेर्वृषस्य क्षिपेर्धातोर्गोशिवो वा विधीयते ।
ततः सिद्धं ‘णारवद्’, पङ्के ‘आक्षिपवद्’ स्मृतम् ।

स्वपेः कमवस-क्षिम-सोऽट्टाः ॥ १४६ ॥

‘कमवस-लिस-लोहाः’ वा, स्वरुग्णो धातोः स्वपेः स्थले कमशाः ।
लोहाद् लिसश्च कमवसश्च, भवति तु पङ्के ‘सुअश्च’ रूपम् ।

वेपरायम्यायञ्जी ॥ १४७ ॥

वेपेर् ‘आयमश्च आयञ्जश्च’ इत्यादेशौ विकल्पनात् ।
आयमश्च तथा आयञ्जश्च, पङ्के तु ‘वेपश्च’ ।

विलपेर्ङ्क्-वदवर्ना ॥ १४८ ॥

विलपेस्तु विकल्पेन, ऊङ्गश्च वडवडश्च वा ।
ऊङ्गश्च वडवडश्च, पङ्के विलवद् स्मृतम् ।

क्षिपो क्षिम्पः ॥ १४९ ॥

लिम्पस्तु लिम्पतेः स्थाने, ततो क्षिम्पश्च सिध्यति ।

गुप्येर्विर-रुर्ना ॥ १५० ॥

स्थाने धातोर्गुप्यतेनां, भवेतां द्वौ ‘विर’, णञः ।
विरश्च णञश्च पङ्के, गुपञ्च सिद्धमनुते ।

कृपोऽवहो णिः ॥ १५१ ॥

अवहस्तु कृपेः स्थाने, तथेनां भवति, तन्म्याः ।
‘कृपां करोति’ इत्यर्थे, ‘अवहायश्च’ पठ्यते ।

भरीपेस्तंअव-सन्नुम-सन्पुकाण्डुनाः ॥ १५२ ॥

‘तेअव-सन्नुम-सन्पुकाण्डुना’ वा मर्दाप्येतेरेत ।
सन्पुकाश्च अण्डुलश्च, सन्नुमश्च पर्यायश्च तेअवश्च ।

सुजेः संजावः ॥ १५३ ॥

संजावो लुज्यतेर्था स्याव, संजावश्च च सुम्भश्च ।

सुजेः सञ्जर-पङ्कटौ ॥ १५४ ॥

सञ्जरः पङ्कटौ वा सजः, क्षुत्रेर्धातोः पदे यथा ।

सञ्जरश्च पङ्कटश्च, पङ्के ‘सुम्भश्च’ सिध्यति ।

आको रजः रम्भ-दवौ ॥ १५५ ॥

आको परस्य तु रजेः, स्थाने रज्ज्वां दवश्च वा ।
आरम्भश्च आशब्दश्च, पङ्के ‘आरम्भश्च’ स्मृतम् ।

उपासम्भेर्ङ्क्व-पञ्चार-पेक्षवाः ॥ १५६ ॥

उपासम्भेर्ङ्क्वो वा स्युर्ङ्क्व-पञ्चार-पेक्षवाः ।
पञ्चारश्च वेत्तवद्, उपासम्भश्च ऊङ्गश्च ।

अवर्जुमो जम्जा ॥ १५७ ॥

जुम्नेर् जम्जा, न तु यः परस्य, जम्माश्च भवति जम्भाश्च ।
किम् ? अपरिति हि निषेधः, ‘सुकालपसरां विश्रम्भश्च’ ।

भाराकान्ते नमेर्गिसुदः ॥ १५८ ॥

भाराकान्ते तु कतेर्, गिसुदो या नमेः स्मृतः ।
गिसुदश्च, वा ‘णवद्’, ‘आकान्तो नमतीत्यतः’ ।

विश्रमेर्गिन्वा ॥ १५९ ॥

‘गिन्वा’ विश्राम्यतेनां ‘गिन्वाश्च, वीसम्भश्च’ द्वयम् ।
आकामेरोहोवोत्प्यारचन्दुदः ॥ १६० ॥
आकामेः ‘वृन्द चत्पार ओहावो’ वा तयो मताः ।
ओहावश्च उपाहारश्च, वा अक्षकामश्च वृन्दश्च ।

भ्रमेर्गिरिटिञ्च-दुगदुञ्च-टादट्ट-चकम्म-भम्म-भम-
द-भमाक-तन्नअट-ऊएट-ऊम्प-सुम-गुम-कुम-कु-
स-दुम-दुस-परी-पराः ॥ १६१ ॥

चकम्मो भम्मो ऊम्पघिरिटिञ्चो सुमो गुमः ।
दुगदुल्लो जमलो दगदल्लो भमादः कुमः कुसः ।
तलअटदस्मथा ऊएटो, दुमो दुस-परी-पराः ।
इत्यमी भ्रमेतेच्छादेशाश्चा विकल्पनात् ।
टिरिटिलश्च दुगदुल्लश्च, दगदल्लश्च तलअटश्च च ऊएटश्च ।
भमदश्च चकम्मश्च भम्मश्च भमादश्च दुमश्च ऊम्पश्च ।
गुमश्च कुमश्च कुसश्च दुमश्च, दुसश्च परीश्च च परश्च जमश्च पङ्के ।
भ्रमधातोर्गिरिश्च रूपं, विर्यधेयं वेद्यं सुधीयन्ति ।

गमेर्दं-अदच्छाणुवजावजसोक्कुमाक्कुस-पसङ्क-पच्छ-
न्द-णिम्भ-णो-णो-णो-णो-णो-णो-णो-णो-णो-णो-णो-णो-
बाल-परिअन्न-गिरिणास-णिवहावसहावहराः ॥ १६२ ॥

अर्दं णी पदओऽच्छोऽणुवज्जोऽवज्जसोऽक्कुसः ।
पसङ्को णिवद्, पच्छन्दोऽवसेहश्च णिम्भश्च ।
परिअल्लः परिअल्लो, गिरिणासस्तथोक्कुसः ।
रज्जो णीणश्च णीलुक्कोऽवहरो बाल इत्यमी ।
पदविशतिरादेशा गमधातोस्तु वा मताः ।
अणुवज्जश्च पच्छन्दश्च, अवज्जश्च अक्कुसश्च च पच्छन्दश्च ।
णीणश्च अर्दं रम्भश्च, गिरिणासश्च णीणो णीलुक्कश्च ।
पदअद् णिम्भश्च अदच्छश्च परिअल्लश्च च उक्कुसश्च बालश्च ।
अवसेहश्च अददरश्च च, णिवदश्च परिअल्लश्च वा गच्छश्च ।
[णोहम्मश्च आहम्मश्च, पहम्मश्च गिहम्मश्च तु तथा हम्मश्च ।
‘हम्म गतौ’ इति धातोर्गमूनि रूपाणि वधानि ।]

आका अहिपचुअः ॥ १६३ ॥

आका सहितस्य गमेः, स्थाने वाऽन्वहपचुअश्च ।
‘अहिपचुअश्च’ स्याद् वा, तथा-ऽमाच्छश्च’ पाक्षिकम् ॥

समा अग्निदः ॥ १६४ ॥

समा युक्तस्य तु गमेर्, ‘अग्निदो’ वा विधीयते ।
सिद्धं ततो ‘अग्निदश्च’, पङ्के-संगच्छद् स्मृतम् ।

अचयाङ्गेऽस्मत्स्यः ॥ १६५ ॥

वस्मत्स्यस्तु गमेः स्थानेऽभ्याङ्ग्यां युक्तस्य वा प्रवेत्त ।
' वस्मत्स्यद् ' तथा-ऽभ्याङ्गच्छद् ' रूपद्वयं ततः ।

प्रत्याङ्ग पलोद्गः ॥ १६६ ॥

पल्लोद्गस्तु गमेः प्रत्यङ्गभ्यां युक्तस्य पदेऽस्तु वा ।
' पलोद्गद् ' तथा- ' पभाङ्गच्छद् ' स्थान्त्वात् प्राक्ककम् ।

शमेः पडिसा-परिसामौ ॥ १६७ ॥

शमेः पदे तु पडिसा-परिसामौ विकल्पितौ ।
' परिसामद् ' समद्, पडिसाद् ' अथ शमेः ।

रमेः संसुद्ध-लङ्काभ्वात्-किङ्किञ्च-कोट्टुम-
मोहाय-णौ।मर-वेद्वाः ॥ १६८ ॥

मोहायो णीसरो बेलः, किलिकिञ्चको कौटुमः।
बेलुम्भावौ च संसुद्धौ, रमेवौ स्युरमी पदे ।
संसुद्धद् ' उच्चावहः, किलिकिञ्चद् ' कौटुमद् च मोहायद् ।
बेलुद् ' तथा णीसरद्, बेललद् ' पक्के ' रमद् ' रूपम् ।

पूरम्या फाग्यवोऽभ्याङ्ग्यां चतुर्मासुद्धिरेमाः ॥ १६९ ॥

' अहिरेमोऽभ्याङ्ग्यां चतुर्मासुद्धिरेमाः ' इत्यम् ।
पञ्चादशा विकल्पेन, पूरः स्थाने प्रकीर्तितः ।
' अग्र्यारुद् ' अग्र्यवद्, अहिरेमद् ' पूरद् ।
उदुमारुद् ' अङ्गुमद्, ' स्त्रीकल्पमुदाहृतम् ।

त्वरस्तुवर-जश्रमौ ॥ १७० ॥

तुवरो जश्रकञ्चमौ, भवतो त्वरतेः पदे ।
सिद्धं रूपं तुवरद्, तथा जश्रकद् स्मृतम् ।

त्यादिशत्रोऽन्तुः ॥ १७१ ॥

त्वरः शतरि त्यादौ च, तूः- 'तूरन्तो तूरद्' ।
तुराऽत्यादौ ॥ १७२ ॥

त्वरोऽत्यादौ तुरादेशः, तुरन्तो तुरिश्चो यथा ।

क्षरः खिर-जर-पञ्जर-पञ्ज-णिबल-णिट्टुञ्जाः ॥ १७३ ॥

णिबलौ णिट्टुञ्जा पञ्जोऽः पञ्जरः खिरः ।
क्षरेरेते पञ्जदेशाः, भवन्तीति विभाव्यताम् ॥
पञ्जरद् ' पञ्जद्, खिरद् ' जरद् तथा ।
णिबलद् ' णिट्टुञ्जद्, एवं रूपाणि चन्ते ॥

उच्छल लत्थल्लः ॥ १७४ ॥

स्याद् ' उच्छल्लं ' उच्छल्लन्तेः, रूपम् ' उच्छल्लद् ' स्मृतम् ।
विगलेः थिय-थिदुद्धौ ॥ १७५ ॥

धानोर् ' विगलन्तेः स्थाने, वा स्थानां ' थिय-थिदुद्धौ ' ।
वा थियद् ' थिदुद्धद्, पले ' विगलद् ' स्मृतम् ॥

दलि-वलपोविमट्ट-वम्फौ ॥ १७६ ॥

स्थानां विमट्ट-वम्फौ, वा दलि-वलपोः पदे यथासंख्यम् ।
ततो ' विसट्टद् ' वम्फद्, ' पक्के ' रूपं दलद् वलद् ॥

ज्रसोः फिद-फिट्ट-फुद-फुद-चुक-जुञ्जाः ॥ १७७ ॥

वा स्युर ज्रसोः खुक्क-जुल्लो, फिट्ट-फुट्टौ, फिदः फुदः ।
फिट्टद् ' फुट्टद् खुक्क, फिदद् ' फुदद् खुक्क च भवति रूपम् ॥
पले ' भमद् ' रूपं, अथ ज्रसोः सुधीनरिदम् ।

नसिगिरियास-एणवहावसेह-पाडिसा-सेहावहराः ॥ १७८ ॥

गिरियासश्च एणवहोऽवसेहः पाडिसा तथा ।
सेहडावहराश्चैते, वकादेशा नशस्तु वा ॥

गिरियासद् ' एणवहद् ' अवसेहद् ' पडिसा ' अथहरद् ' सेहद् ।
पक्के ' नससद् ' इत्यव्यसृजि कृपाणि नशघातोः ॥

अवात् काशा वासः ॥ १७९ ॥

अवान् परस्य काशास्तु, ' वासः, ' ' श्रोवासद् ' स्मृतम् ।
सन्दिशेरप्पाटः ॥ १८० ॥

अप्पाटः सन्दिशेर वा स्यात्, अप्पाटद् ' सन्दिशेर ।
हसो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्ज-वज्ज-सम्बव-

देकसौ अवस्वावस्वावअवस्व-पुलोए-पुलए-

निअवअस-पासाः ॥ १८१ ॥

वज्जो निअच्छ ओअक्खोऽवयच्छ सव्यो निअः ।
अवयच्छोऽवयज्जः पेच्छो देक्ख पुत्तअसया ॥
अवअक्खः पुलोए पासाऽवयज्जः, हसो अमी ।
अवयच्छद् ' अवयज्जद्, वज्जद् ' पेच्छद् च सव्यवद् पासद् ॥
आअक्खद् च निअच्छद्, देक्खद् ' अवअक्खद् ' पुलोएद् ।
अवअसद् ' अवक्खद्, निअद् ' च पुलए ' अटो ' रूपम् ॥
' निज्जाअद् ' स्वरादयन्ते तिथ्यायतेः सिद्धम् ।

स्पृशः फान-फंम फासि-जिप-जिहाजुक्खालिहाः ॥ १८२ ॥

आल्लुक्कः फासिः फंसः, जिपः फामः जिहाजिदो ।
इयमी स्पृशन्तेः स्थाने, सप्तदेशाः प्रकीर्तिताः ।
फासद् ' फलद् ' फारिम्, जिपद् ' जिद् ' आल्लुक्कद् ' तथाऽल्लुक्कद् ।
इति धातोः स्पृशन्तेरिह, रूपाणां सप्तकं भवति ।

प्रविशोरिश्रः ॥ १८३ ॥

धातोः प्रविशन्तेः स्थाने, रिश्चाऽऽदेशो विकल्प्यते ।
सिद्धं ' रिश्चद् ' पले तु, रूपं ' पविशद् ' स्मृतम् ।

प्रान्मृश-मुषोऽम्हसः ॥ १८४ ॥

प्रात् परस्य तु मुष्णान्ते-स्युयान्तेश्च इहसो भवेत् ।
' पम्हसद् ' प्रमुष्णान्ति, वा प्रमुष्णान्ति कथ्यते ।

पिपिणिवह-गिरिणाम-गिरिणउज्ज-रोअ-चट्टाः ॥ १८५ ॥

गिरिणासां गिरिणञ्जा, रोअञ्जचट्टश्च वा पिपेद् ' गिवहः ।
रोअञ्ज चट्टद् ' गिरिणामद् ' गिरिणउज्जद् च पीसद् ' गिवहद् ।

अपेत्तेक्कः ॥ १८६ ॥

जयभुक्को विकल्पेन, सिद्धं असद् लुक्कद् ।
कूपेः कद्द-साअन्नाञ्चामाञ्जायञ्जाऽञ्जाः ॥ १८७ ॥

कद्दः साअद्दु आहञ्जोऽयञ्जोऽणञ्जोऽञ्ज इयमी ।
धातोः कूपेः पञ्जदेशाः, विकल्पेन प्रकीर्तिताः ।

आहञ्जद् ' नाअद्दु, कद्दद् ' अणञ्जद् ' अयञ्जद् ।
पक्के ' करिसद् ' रूपं, कूपधातोर्ग संवन्धम् ।

असावक्खोदः ॥ १८८ ॥

अक्खोदस्तु कूपेः स्थाने-ऽयं कोशात् खड्गकवणे ।
' अक्खोदद् ' अस्मि कोशात्, कवनेति प्रतीतिकृत् ।

गवेपहुएदुहण्ण ददोऽन्न-गमेस-धचाः ॥ १८९ ॥

धत्तां गमेसः दण्डोलो, दुएदुहण्णो वा गवेसने ।
दुएदुहण्णद् ' दण्डोलद्, गमेसद् ' च घसद् [१]

[१] गवेसद् ।

श्लिषः सामग्यावयास-परिभ्रान्ताः ॥ १६० ॥

अवयासः सामग्यः, परिभ्रान्तश्च त्रयः त्रिषेर्वाः स्युः ।
अवयासश्च सामग्यं, परिभ्रान्तश्च, अयः सिलसलश्च ।

असैश्वोपपदः ॥ १६१ ॥

असैस्तु चोपपदो वा स्याद्, वा मकलश्च चोपपदश्च ।

काङ्क्षाराहाहिलङ्गाहिलङ्क-वच-वम्फ-मह-सिह-
विश्रुम्पाः ॥ १६२ ॥

आहिलङ्कोऽहिलङ्को वम्फो विलुम्पो महः सिहः ।

आहो वचः काङ्क्षितयोऽशाचादिशा अमो मनाः ।

अहिलङ्कश्च अहिलङ्कश्च, आहश्च वचश्च महश्च विलुम्पश्च च ।
वम्फश्च सिहश्च च, पक्के-कङ्कश्च इति सिद्धिमेतत् पदम् ।

प्रतीक्षेः मापय-विहारी-विरमालाः ॥ १६३ ॥

पदे प्रतीक्षेर्वाः स्युः, विरमालः सामग्यो विहारीश्च ।
विरमालश्च च विहारीश्च, सामग्यश्च तथा पतिक्कश्च वा ।

तक्षस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः ॥ १६४ ॥

तच्छश्च चच्छश्च रम्पो, रम्फश्चैते तु तक्षतेर्वाः स्युः ।

तच्छश्च चच्छश्च रम्पश्च, रम्फश्च, तक्षश्च तु वैकल्यात् ।

विक्रमः कोआम-वोसहो ॥ १६५ ॥

कोआसो वोसहो, विक्रसेरेनो पदे तु वा भवतः ।

कोआसश्च वोसहो, तथा विकल्पेन विभ्रसश्च च ।

हमेर्गुञ्जः ॥ १६६ ॥

हसेर्गुञ्जो विभावा स्याद्, यथा हसश्च गुञ्जश्च ।

संमेदहस-दिम्भर्जा ॥ १६७ ॥

दहसो दिम्भश्च वा स्यातां, संमेदो धानोः पदे यथा ।

दहसश्च दिम्भश्च तथा, पक्के-संसह' सिध्यति ।

त्रमेर्देर-वोज्ज-वज्जाः ॥ १६८ ॥

वोज्जो वज्जो वरश्चैते, वा त्रमेर्गुञ्जं त्रसेः पदे ।

सिक्कं वोज्जश्च वरश्च, तथा तसश्च वज्जश्च ।

न्यमो णिम-णुमो ॥ १६९ ॥

न्यस्यतेः स्तो णिम-णुमो, 'णिग्मश्च णुमश्च' यथा ।

पर्यमः पलोह-पल्लह-पल्लह्याः ॥ १७० ॥

पर्यस्यतेः 'पलोहः, पल्लहः पल्लह्य इति सन्तु हि ।

पल्लहश्च पल्लह्यश्च, तथा पलोहश्च भवति रूपम् ।

निश्वसेर्कङ्क्षः ॥ १७१ ॥

कङ्क्षो वा निश्वसेर्, सोसलश्च कङ्क्षश्च च द्वयम् ।

उत्तुम्भेरुत्तुम्भोत्तुम्भ-णिद्धस-पुल्लआ-गुञ्जोद्धारोआः ॥ १७२ ॥

उत्तुम्भ उत्तलो गुञ्जोद्धारः पुल्लआ-णुल्लसो ।

आरोआ, वा पलोह्याः, उद्धसेस्तु पदे मलाः ।

पुल्लआश्च गुञ्जोद्धारः, 'गुञ्जुल्लश्च हसवस्तु, उत्तलश्च ।

उत्तुम्भश्च आरोआश्च, तथा णिद्धसश्च च उद्धसश्च ।

जासिर्निमः ॥ १७३ ॥

भासेर् घिसो वा, 'मिसश्च, पक्के-जासश्च' इत्यपि ।

अमोर्षिमः ॥ १७४ ॥

प्रसेर् घिसो वा, 'मिसश्च, पक्के-गसश्च' इत्यपि ।

११

अवाद् गादेर्वाद् ॥ १७५ ॥

अवाद् गाहेस्तु वाहो वा, आवाहश्च आगाहश्च ।

आरुहेश्चद-वल्लगो ॥ १७६ ॥

वलो वल्लगाम्नाम् द्वौ, भवेताम आरुहः पदे ।

वा वल्लगश्च चडश्च, तथाऽऽरुहश्च पात्रिकम् ।

मुहेर्गुम्भ-गुम्भर्जा ॥ १७७ ॥

वा गुम्भ-गुम्भर्जा स्यातां, मुहेर्घातोः पदे, यथा ।

वा गुम्भश्च गुम्भर्जश्च, पक्के 'मुञ्जश्च' सिध्यति ।

दहेर्दिङ्गाशुद्धौ ॥ १७८ ॥

आशुद्धौ वाऽहिकलश्च, दहः स्थाने सिध्यति ।

आहिकलश्च आशुद्धश्च, पक्के-दहश्च स्मृतम् ।

ग्रहो वल्ल-गोह-द्वार-पङ्क-निक्वारादिपच्युआः ॥ १७९ ॥

वल्ल-गोह-द्वार-पङ्क-निक्वारादिपच्युआः प्रदः स्युर्गमी ।

आदिपच्युआश्च वल्लश्च निक्वाराश्च गोहश्च द्वारश्च पङ्कश्च ।

क्या-तुम्-तव्येषु घेत् ॥ १८० ॥

क्या-तुम्-तव्येषु परतो, 'घेत्' आदेशो प्रहमेतः ।

[क्या] स्याद् घेत्तुमात्रं घेत्सु, क्वचिन्ना-गेहिअ' स्मृतम् ।

[तुस] घेत्सु [तव्य] घेत्तव्यम्' इत्यन्तत्, त्रिविधं तद्वयमोरितम् ।

वचो वोत् ॥ १८१ ॥

क्या-तुम्-तव्येषु घेत्के 'घान्', इत्यादेशो विधीयते ।

'वो'स्य घोत्सु 'वोसव्ये', त्रयं चेतद्गदाहृतम् ।

रुद-भुज-मुचां तोऽन्यस्य ॥ १८२ ॥

तः स्याद् रुद-भुज-मुचां, क्या-तुम्-तव्येषु, तद्यथा ।

भो'स्य भोत्सु भोसव्ये, क्वात्तव्यमनया दिशा ।

दृशस्तेन दृः ॥ १८३ ॥

दृशोऽन्यस्य नकारेण, सह षः प्रमेवद्, यथा ।

दृष्ण दृष्ट दृष्टव्ये, संप्रत्युक्ते लुपेरितम् ।

आः कृगो जूत-भविष्यतोश्च ॥ १८४ ॥

क्या-तुम्-तव्येषु च तथा, काले भूते त्रिविध्यम् ।

कृगोऽन्यस्य तु 'आ' इत्यादेशः स्यादिति कथ्यते ।

'चकाराकार्यदिकर्गत्, 'पयु' काहोश्च' भाष्यते ।

'कर्ना करिष्यता'त्यर्थे, पदे 'काहिश्च' पठ्यते ।

क्या-तुम्-तव्येषु काऊण, काठं कायव्यमित्ये ।

गमिष्यमाऽऽसो लः ॥ १८५ ॥

गमिष्यमाऽऽसामन्यस्य, ङकारादेश इत्थत् ।

गङ्गश्च इच्छश्च तथा, सिक्कं जञ्जश्च अशुद्धश्च ।

क्षिदि-भिदो न्दः ॥ १८६ ॥

न्दः स्यात् त्रिवि-भिवेर् अन्ते, यथा-गिन्दश्च भिन्दश्च ।

युध-वुध-युध-कुध-सिध-मुहां जजः ॥ १८७ ॥

स्यात् युध-वुध-युध-कुध-सिध-मुहां द्विको 'जज' इहशादेशः ।

कुज्जश्च जुज्जश्च उज्जश्च, गिज्जश्च सिज्जश्च च मुज्जश्च च ।

रुधो न्य-ज्जो च ॥ १८८ ॥

रुधो न्य-ज्जो तु वात् 'ज्जो', रूपश्च रुज्जश्च रुज्जश्च ।

सद्-पतोर्दोः ॥ १८९ ॥

अन्ते सद्-पतोर्दोः स्यात्, सडश्च पडश्च स्मृतम् ।

क्वथ-वर्षा ङः ॥ ११० ॥

क्वथेर वर्षेर अन्तिमस्य, ङः स्यात् कटह वहुव ।
क्वथेः कृतगुणस्येह, वर्षेभ्यः प्रहणं समम् ।

वेष्टः ॥ १११ ॥

' वेष्ट वेष्टने ' इत्यस्य, धातोः 'कण्ट'-[१ । ७५] वृत्तः ।
बलोपेऽन्त्यस्य ङो, 'वेष्टिञ्जह, वेष्टह' इत्यपि ।

सपो झः ॥ ११२ ॥

संवेष्टेतेऽन्तिमस्य, ' ङ्लः ' स्यात्, 'संवेष्टह' स्मृतम् ।

वांढः ॥ ११३ ॥

वा ' ङ्ल ' उद्भेदेनेर ' उब्भेदह, उब्भेदह' स्मृतम् ।

स्विदां ज्ञः ॥ ११४ ॥

स्विदिप्रकाराणां ' ज्ञः ' स्याद्, अन्तिमस्य द्विक्रपकः ।
सव्यङ्गि-सिञ्जिरीप संपज्जह (सिञ्जह स्मृतम् ।
बहुत्वं तु प्रयागानुसरथाधिभेदभ्यते ।

झज-नृत-मदां षः ॥ ११५ ॥

अन्तिमस्य झज-नृत-मदानां ' षो ' भवेदिह ।
बच्चह नच्चह तथा, मच्चह सिञ्जिमायपुः ।

रुद-नमांसेः ॥ ११६ ॥

रुद-नमांसे षो, रवह, रोचह नवह स्मृतम् ।

उद्विजः ॥ ११७ ॥

उद्विजतेऽन्त्यस्य वा, उब्भेयो च उब्भिवह ।

त्वाद-धावांलुक् ॥ ११८ ॥

त्वाद्-धावांलुक् अन्ते स्यात्, त्वाद् धावाद् त्वादिह ।
स्याद् धाद् धाव धादिह, क्विञ्चो- ' धावह ' स्मृतम् ।
वर्षेमाना-मविष्यत्-विष्याद्येकवचनेषु हि ।
तेनेह त्रैव ' आदन्ति, धावन्ति ' बहुलप्रहात् ।

सृजो रः ॥ ११९ ॥

सृजो धातोऽन्तिमस्य, रकारोऽत्र विधीयते ।
शोसिरामि शोसिरह, तथा निसिरह स्मृतम् ।

शकादीनां द्वित्वम् ॥ १२० ॥

अन्तिमस्य शकादीनां, द्वित्वं भवति, तथाच ।
[शक्] सक्कह [जिम] जिम्मह [रण] रग्गह,
[मग्] मग्गह [कुप] कुप्पह [सुद] पसेट्टह च [तुद] तुट्टह ।
[नय] नस्सह [अद] परिअट्टह [नट्] न-
ट्टह [सिक्] सिक्कह, अन्यदपि चैवम् ।

स्फुटि-चञ्जेः ॥ १२१ ॥

स्फुटि-चञ्जे वैकल्प्यं, द्वित्वमन्त्यस्य भाष्यते ।
कुम्ह कुम्ह तथा, रूपं चलह चलह ।

मादेमील्लः ॥ १२२ ॥

प्रादेः परस्य मीलेवो, द्वित्वमन्त्यस्य बुध्यताम् ।
संमिस्सह तथा संमीसह, मील्ल नं विना ।

उवर्णस्यावः ॥ १२३ ॥

अवादेशस्तु धातूनामन्त्यवर्णस्य बुध्यताम् ।
[हुक्] निपहवह [हु] निहवह, [क्] कवह प्रभृति स्मृतम् ।

श्रुवर्णस्यारः ॥ १२४ ॥

अवादेश श्रुवर्णस्य, प्रवेद् धात्वन्तवर्तिनः ।
यथा करह चरह, हरह प्रमुञ्चं मतम् ।

रुषादीनामारः ॥ १२५ ॥

अरिर्शुवादिधातूनाम्, श्रुवर्णस्य परे प्रवेह ।
श्रुवो 'वरिसह' रुषो, तथा 'करिसह' स्मृतम् ।
एवं श्रुवो 'मरिसह', रुषो 'हरिसह' स्मृतम् ।
अरिः सहजयते येषां, वेद्यास्ते हि बुधाद्यः ।
रुषादीनां दीर्घः ॥ २३६ ॥

रुषप्रभृतिधातूनां, खरस्य दीर्घो भवेद्, यथा रुषह ।
तुम्ह सुसह दुसह, पूसह स्तीसह, तथाऽन्यदपि ।

गुवर्णस्य गुणः ॥ १२६ ॥

इषणोवर्णयोधोतो-शुणः कित्वापि कित्वापि ।
यथा जेऊण नेऊण, नेह उडुह नेति च ।
कच्चिआय चिचिअर नीआ, उडुआं चिचिअयो यतः ।

स्वरगाणां स्वराः ॥ १२७ ॥

धातुषु स्वराणां स्थाने, प्रचलितं बहुलं स्वराः ।
सहहणं सहहाण, तथा धुवह धावह [१] ।
कच्चिआयं देह देह, आये 'बेमि' प्रयुज्यते ।

व्यञ्जनाददन्ते ॥ १२८ ॥

व्यञ्जनवर्णान्ताद् धातोर्भेऽकार आगमां भवति ।
भमह हसह खुम्बह उवसमह कुणह सिञ्जह च रुणह ।
शवादीनां प्रयागश्च, प्रायो नास्तीति बुध्यताम् ।

स्वरान्तो वा ॥ १२९ ॥

अनदन्त-स्वरवर्णान्ताद् धातोर्भेऽकार आगमां भवत्यन्ते ।
पाअह पाअ च, धाअह धाअ, मिलाअह मिलाह तथा ।
उववाअह उववा च, हाऊण च हाऊण इति भवति ।

'अनत' इति च किमुक्तम् ? यथा चिहच्छह तुमुच्छह च ।
चि-जि-शु-हु-स्तु-ल-पू-पूर्णा णा इत्यश्च । १२५ ।

चिञ्यादीनामन्ते भवति णागमः, स्वरस्य ह्रस्वश्च ।

[चि] चिणह [जि] जिणह [शु] शुणह [हु] हुणह,

[स्तु] स्तुणह [ल] लुणह [पू] पुणह [पू] पुणह तथा ।

बहुलात् क्वापि विकल्पेन, जयह जिणह उच्चिणह च उच्चह ।

जेऊण च जिणिऊण च, तथैव सोऊण सुणिऊण ।

नवा कर्पे-त्रात्रे च्चः कपस्य च लुक् ॥ २३४ ॥

भाष-कर्मप्रवृत्तानां, चिञ्यादीनां विभाषया ।

आंऽन्ते, तन्मन्त्रयोगे च, क्यस्य लुक् स्यादितिभेदे ।

चिञ्च चिणिञ्जह, जिञ्चह जिणिञ्जह,

सुञ्चह सुणिञ्जह, हुञ्चह हुणिञ्जह ।

धुञ्चह धुणिञ्जह, सुव्वह-सुणिञ्जह ।

एवं चिञ्चिहिरित्यादि, रूपं काले भविष्यति ।

म्भश्चः ॥ २३५ ॥

प्राव-कर्मप्रवृत्तस्य, चिञ्चो धातोर् विभाषया ।

आंऽन्ते, तन्मन्त्रयोगे च क्यस्य लुक् स्यादितिभेदे ।

वर्तमाने ' चिणिञ्जह, तथा चिम्मह चिञ्चह ' ।

' चिञ्चिहिरि चिणिहिरि, चिम्मिहिरि जचिष्यति ।

[१] हवह दिवह । चिणह चुणह । रुवह रोवह ।

हन-सनोऽन्यस्य ॥ २४४ ॥

धात्वोर हन-सनात्, भाव-कर्मप्रवृत्तयोः ।
 प्रत्यस्य वा स्याद् स्मः, तत्सन्धियोगे क्यस्य वास्तु लुक् ।
 [घर्तमाने] यथा हम्मह् कम्मह, हणिज्जह् क्णिज्जह् ।
 [भविष्यति] हम्मिहह् हणिहह्, कम्मिहह् क्णिहह् ।
 कर्मयोगे हनोऽयं स्यात्, हन्तीत्यर्थे तु ' हम्मह' ।
 क्विञ्च हश्यते-'इत्यब्धे' 'हन्त्या' 'हन्ते' यथा ।

बभौ हुङ्-लिङ्-बह-कषाण्वातः ॥ २४५ ॥

बुह-लिङ्-बह-कषधातानां बभौ वाऽन्यस्य भावकर्मलुपाम् ।
 लुक् च तत्सन्धियोगे क्यस्य, भवेद् उक् बहोरस्य ।
 स्याद् डङिज्जह् डुम्भह, वा लिङ्गह् सिङ्गिज्जह् ।
 बुम्भह् बङिज्जह् रुम्भह् संभङ्गज्जह् स्मृतम् ।
 बुम्भिहह् डङिहह् इत्यादि काले अभिष्यति ।

दहो जङ् ॥ २४६ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, दहो धातोर् विनाप्रया ।
 जङ् स्याद्, अन्यस्य तत्सन्धियोगे क्यस्यापि भ्रुग् जवेत् ।
 स्याद् घर्तमाने ङज्जह, तथा रूपं ङङिज्जह् ।
 ' ङङिहह् ङङिहह' इति काले अभिष्यति ।

बभौ न्यः ॥ २४७ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, बभूधातोर्विभावया ।
 न्यः स्याद् अन्ययोस्तु तत्सन्धियोगे क्यस्य वास्तु लुक् ।
 स्याद् घर्तमाने वज्जह, तथा बभिज्जह् स्मृतम् ।
 ' बङिहह् बङिहह' इति काले अभिष्यति ।

समन्पाद्भेः ॥ २४८ ॥

प्रायकर्मप्रवृत्तस्य, समन्पाद् कसेस्तु वा ।
 अन्यस्य वा जङ्, तत्सन्धियोगे क्यस्यापि भ्रुग् भवेत् ।
 संकम्भह् अण्कम्भह, उक्कम्भह् नवति, पाकिक् तु यथा ।
 संकम्भङ्गह् अणुक्भङ्गज्जह् उक्कम्भङ्गज्जह् प्रवति ।
 संकम्भङ्गिहह् संकम्भङ्गिहह्यादि अभिष्यति ।

गमादीनां द्वित्वम् ॥ २४९ ॥

भावकर्मप्रवृत्तानां, गमादीनां विनाप्रया ।
 स्याद् द्वित्वमन्यस्य तत्सन्धियोगे क्यस्य वास्तु लुक् ।
 [गम्] गम्मह् गम्मिज्जह् [ह्ल] हस्सह् ह्लिसिज्जह् ।
 [अण्] नणणह् नण्णिज्जह् [लुप्] लुप्पह् लुप्पिज्जह् ।
 [क्] कम्भह् कम्भिज्जह् [लृत्] लृम्भह् लृम्भिज्जह् ।
 [क्य] कम्भह् कङ्गिज्जह् [भ्रुक्] भ्रुक्कह् भ्रुङ्गिज्जह् ।
 गम्मिहह् गम्मिहह्यादि रूपं अभिष्यति ।
 रुह- [४] २२६] स्त्रेण कृतवाऽऽदेशोऽत्र क्विरिष्यते ।

हृ-कृ-वृ-जामीरः ॥ २५० ॥

धातूनां हृ-कृ-वृ-जां स्याद्, ईरादेशो विनाप्रया ।
 क्यलुक् तत्सन्धियोगे च, भवेद्वित्युपादिश्यते ।
 ह्रीरह् इरिज्जह, कीरह् करिज्जह ।
 लीरह् तरिज्जह, जीरह् जरिज्जह ।

आर्जेविदप्यः ॥ २५१ ॥

आर्जेविदप्यो वा तत्सन्धियोगे क्यस्य वास्तु लुक् ।
 निहप्पह, विहविज्जह, आर्जेज्जह पाकिक् ।

क्लो एव्य-एज्जी ॥ २५२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, जानातेभ्यतः परे ।
 एव्यो यज्जम्भ वा, तत्सन्धियोगे क्यस्य वास्तु लुक् ।
 एव्यह् यज्जम्भ, पक्के-आर्जेज्जह् मुण्णिज्जह् ।
 'म्न-क्लोव्ये' [२] ४२] इति धातोर्, आर्जेज्जह च सिष्यति ।
 मन्पूर्वकस्य जानातिर् 'अणार्जेज्जह' पठ्यते ।

व्याहृगेर्वादिप्यः ॥ २५३ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, प्रवेद् व्याहरेः परे ।
 वाहिप्यो वाऽत्र तत्सन्धियोगे क्यस्यापि भ्रुग् भवेत् ।
 वाहिप्पह तथा वादरिज्जह स्याद्विददेशम् ।

आरजेराहप्यः ॥ २५४ ॥

आरजेः कर्मभावे स्याद्, वाऽऽहप्यः क्यस्य वास्तु लुक् ।
 आहप्पह भवेत्, पक्के- आहर्षाह- ' सिष्यति ।

(स्नह-सिचोः सिप्यः ॥ २५५ ॥

स्निह-सिचोः कर्मभावे, सिप्यः स्यात् क्यस्य वास्तु लुक् ।
 'सिच्छते, सिचयते' इत्यन्तयोर्घोऽत्र 'सिप्यह' ।

श्रदेप्यः ॥ २५६ ॥

कर्मभावे श्रदेर् वेप्यो, वा भवेत्, क्यस्य वास्तु लुक् ।
 यथा ' वेप्यह' इत्यन्त, पक्के गियिहज्जह स्मृतम् ।

स्योशरिदप्यः ॥ २५७ ॥

स्युञ्जतेः कर्मभावे स्याद्, वा लिप्यः, क्यस्य वास्तु लुक् ।
 तत्र 'न्यिप्यह' संसिद्धं, तथा रूपं 'त्रिविज्जह' ।

केनाप्फुष्यादयः ॥ २५८ ॥

आकर्मिप्रवृत्तानां तु, धातूनाम् अणुकुष्यादयः ।
 मणुकुषो आक्रान्तः, अककोसं अककोः, लुगोः कणः ।
 बोलीणोऽतिक्रान्तः, परदहं पछोहं वा पर्यस्तम् ।
 फुहं सपधे, विकसितो बोसहो, निमिद्धं विदम् ।
 स्यापितं, क्विञ्चम् आस्वापितं, क्तिन् तु ज्जोसिम् ।
 निपातितो निमुहो स्याद्, हीसमार्णं तु ह्यपितम् ।
 वा प्रमुहः प्रमुषितः, पम्बुहो परिपठ्यते ।

रिहक्को नष्ट, जहं त्यक्, विहद्धं अर्जितं तथा ।
 क्षिप्तं स्पृष्टं, लुम् लूतं, भवेद् निच्छूदम् बद्धृष्टम् ।
 इत्यादयो वैरितभ्याः, शब्दा बहुधाऽसूताः ।

धातयोऽर्थात्तरेऽपि ॥ २५९ ॥

उकादयोः प्रबर्धन्तेऽर्थात्तरेऽपीह धातवः ।
 उको बर्धिः प्राणनेऽर्थे, आदनेऽपि स वर्तते ।
 यथा ' बलह' जादति, प्राणने च करोति वा ।
 एवं कश्चिद् संख्याने, सङ्गानेऽपि स दृश्यते ।
 यथा ' कलह' जानाति, संख्याने च करोति वा ।
 रिगिगतौ प्रवेधेऽपि, ' रिगह' विशय्यति च ।
 काङ्क्षतेः प्राकृते बर्ध्ना, ' बर्धक्' आदनीच्छति ।
 फक्कतेः स्थक्क आयेद्यस्ततः सिष्यति ' थक्कह' ।
 नीचां गतिं करोतीति वा, विलम्बयतीति वा ।
 धातोर्यिस्युपासम्भोर्य उक्कदेशो तु ' क्कह' ।
 तस्यार्थं उपासयते, वा विलपति भाषते ।
 एवं हि 'पडिवालह', वा रक्षति प्रतीकते ।
 केचित् कैश्चिदुपसर्गैर्नियमनार्थका मताः ।

'सहरह' संवृणोति, स्यात् 'परहर' युज्यते ।
 'अणुहरह' तु सहराभिभवतीति 'नीहरह' पुरीषमुत्सृजति ।
 क्रीडति 'विहरह', 'आहरह' च खादति, 'उरुषुपह' चटति ।
 पुनः पुरयति 'पमिहरह', स्यात् त्वजनीति 'परिहरह' रूपम् ।
 'अवहरह' पूजयति, 'वाहरह' तथा-ऽऽह्वयति इत्यर्थः ।
 याति विदेशं 'पवसह', निःसरतीत्यर्थे 'उल्लुहरह' भवति ।
 एवं बहुपसगात्, बहुधा धान्तां वेधाः ।
 इति प्राकृतभाषा समाप्ता ।

॥ अथ शौरसेनी जाषाऽऽरच्यते ॥

तो दोऽनादौ शौरसेन्याप्रयुक्तस्य ॥ १६० ॥
 शौरसेन्यां तु भाषायामपवादौ प्रयोक्तव्यः ।
 तकारस्य दकारः स्याद्, न स युक्तो भवेद् यदि ।
 तदां माकदिता पुरिद-पदिञ्जेन मणित्वा ।
 अनाहाविति किम् ? तस्स, तथा, नेह प्रवर्तताम् * ।
 अयुक्तस्येति किम् ? मसो, अज्जसो, सवन्तले । ।
 अथः क्वचित् ॥ १६१ ॥
 शौरसेन्यां तु वर्णाधोवनेमानस्य तस्य दः ।
 यथात्तदर्थं, महन्दां निभन्दां अन्दरे यथा ।
 वाऽऽस्तावति ॥ १६२ ॥
 तावच्छब्दे तकारस्य हो वा, दाव च ताव च ।
 आ आमन्थे मौ वेनो नः ॥ १६३ ॥
 इनो नकारस्याऽऽमन्थे, वाऽऽकारः सौ परं यथा ।
 ओ सुदिआः कञ्चुवमा । नो तवस्सि । मणस्सि । वा । [१]
 मां वा ॥ १६४ ॥
 आमन्थे सौ परं नस्य, मकारो वा विधीयते ।
 ओ राय । ओ सुकम्मं । नो भयवं कुसुमाउहः । ।
 पक्कं तु भयव । अन्नेआरि । वैधं प्रयुज्यते ।
 भवङ्गवतोः ॥ १६५ ॥
 भयद्-भगवतोऽस्य, मकारः सौ परं भवेत् ।
 भवं । विन्देदि किं पन्थ, भगव । च हुदास्सणे । [२]
 क्वचिदन्वयापि यथा-मघवं पागतास्सण ।
 कथय, संपादअर्थं सीसा, काहं करामि च ।
 नवा यो ययः ॥ १६६ ॥
 वा यो यैस्य भवेत् स्थाने, 'अय्यां नुय्या' प्रपठ्यते ।
 पक्कं कज्जपरवसां, अज्जा पज्जाउलो यथा ।
 यो थः ॥ १६७ ॥
 थस्य थो वा, यथा-गाथो गाहो वा स्यात् थं कथं ।
 अपदादांथव, 'थाम, थेआं' नेह थकारता ।
 इह-हवोहैस्य ॥ १६८ ॥
 इहशब्दे, हचादेशे [३, १४३] च हकारस्य थोऽस्तु वा ।
 इथ, हाथ, हयं पक्कं-इह, हाह निगन्ताते ।
 जुवो जः ॥ १६९ ॥
 भवतेहस्य सो वा स्याद्, भोदि हादि यथा ह्यस्य ।
 * तथा करेण यथा तस्स राहसिणा अणुपकपीया हासि ।
 [१] पक्कं । [२] समणं भगवं महावीरं ।

तथा भुवदि हुवदि, भवदि इयदि स्मृतम् ।
 पूर्वस्य पुरवः ॥ १७० ॥
 पूर्वशब्दस्य 'पुरव' इत्यादेशो विकल्प्यते ।
 यथा-ऽपुरवं नामर्थं, पक्केऽपुववं पदं मतम् ।
 क्व इय-दूणी ॥ १७१ ॥
 क्वाप्रत्ययस्य वा स्याताम्, 'इय-दूणी' यथाक्रमम् ।
 यथा 'भविय' 'भादुण', पक्के 'भात्ता' प्रयुज्यते ।
 कृ-गमो क्कुअः ॥ १७२ ॥
 कृ-गमिन्थो परस्य क्क्वः, स्थाने वा 'अकुआ'स्तु खिद् ।
 सिद्धं ककुअ गकुअ, पक्के रूपं निगम्यताम् ।
 कारदूण गच्छदूण, तथा करिथ गच्छिद्य ।
 दिरिचेचोः ॥ १७३ ॥
 दिर इचेचोः [३, १३६] भवेद्, नेदि हादि भोदि च होदि च ।
 अतो देश ॥ १७४ ॥
 अतः परयोद् इचेचोः, स्थाने 'दि दि' इमौ क्रमात् ।
 अचच्चे अचच्दि तथा, सिद्धं गचच्दि गचच्दे ।
 अतः किम् ? स्याद् 'वसुआदि' 'नेदि, भोदि' यथाऽथ न ।
 जतिप्यति स्मिः ॥ १७५ ॥
 भविष्यदर्थे विहितं, प्रत्यये स्मिः परं भवेत् ।
 हिस्साहामपवादोऽस्य, तथा रूप भविस्मिदि ।
 अतो इमेमादि-दाद् ॥ १७६ ॥
 अतः परस्य तु उक्तेः, 'दादो डादु' इमौ क्रिमां ।
 'दुगादो थ्येव' 'दुगडु' इयं सम्भिच्छुञ्जति ।
 इदानीमो दाणिं ॥ १७७ ॥
 इदानीमः पदे 'दाणि' इत्यादेशो अभिधीयते ।
 'अय्यां दाणि आणयेद्' इत्ययान् प्राकृतोऽपि च ।
 अतस्तेषां 'अथ च दाणि योहि' प्रयुज्यते ।
 तस्मात् ताः ॥ १७८ ॥
 तस्माच्छब्दस्य 'ता' इत्यादेशो भवति, तथापि ।
 'माणेण एदिणाऽत्र ता, 'ता जाव पयिमासि च' ।
 माऽऽन्याएणो वेदोः ॥ १७९ ॥
 इदोः परयोद् अन्त्याद्, मानं परं गातामाऽस्तु वा ।
 [६कारं] जुलं णिम जुलंमाण [६कारं] किं गुदं वा किमिद् च ।
 एवार्थं थ्येव ॥ १८० ॥
 एवार्थं 'थ्येव' इति तु, निपातोऽर्थाधोवनेन ।
 मम थ्येव वरुणस्स, 'एसां सो थ्येव' पठ्यते ।
 हज्जे चेत्तथाहाने ॥ १८१ ॥
 चेत्थाहानं भयेद्' हज्जे, 'हज्जे चङ्गिकं' । यथा ।
 हांमाणहे विस्मय-निवेदे ॥ १८२ ॥
 'हांमाणहे' निपातोऽर्थ, निवेदे विस्मय तथा ।
 [विस्मये] जीवन्-वञ्जा जणणी, मे च हांमाणहे, यथा ।
 [निवेदे] हांमाणहे पत्तिस्सन्ता, किं दुव्वेविस्मये वा ।
 एं नन्वर्थे ॥ १८३ ॥
 नन्वर्थे एमिति वृथैनिपातः संप्रयुज्यते ।
 'अय्यमिस्सोह' आणत्तं, पुढमं थ्येव च' यथा ।
 इदम् आये पदे वाक्यात्तरिऽपि च दृश्यते ।

नमोऽथु श, जया श च, तथा श, 'वैयमादयः ।

अम्महो द्वपे ॥ १२५ ॥

'अम्महो' इति निपातो, इहोऽर्थे संप्रयुज्यते ।

'अव सुपरिगादिर्वा, सुभिन्नाप च अम्महो' ।

हीहीं विदूषकस्य ॥ १२६ ॥

इहो विदूषकाणां तु, सोऽर्थे 'हीही' निपात्यते ।

'हीही। पियवयस्सस्स, भो संपका मणोरपा' ।

शेषं प्राकृतवत् ॥ १२६ ॥

दीघे-[१।४]तो द्वे-[४।२६०]जनयोर्भ्यः, सुत्रयोर यद्वयदीरितम् ।

तत्र सर्वे कार्यमन्त्रापि बोधय, अद्वस्तु दक्षितः [१] ।

इति शैरसेनी भाषा समाप्ता ।

॥ अथ मागधी जाषाऽऽरच्यते ॥

अत एतौ सौ पुंसि मागध्याम् ॥ १२७ ॥

मागध्यां सौ परऽकारस्थेकारे पुंसि जायते ।

एते मेशे पप मेषः, एते च पुलिने तथा ।

'भो अदत्त ! करोमीति भवेद् 'जने ! करोमि भो' ।

अतः किं तु ? 'कली' रूपं, किं पुलिनि ? 'जने' यथा । [१]

र-साले-शां ॥ १२८ ॥

ल-नालव्यगकारौ स्तो, रेफ-नन्यसकारयोः ।

[२] नले कले [स] शुद्धं हेतो (उभयोः) शालसे पुलिने तथा ।

'ग्रहण-वश-नामि-शुभ-शिर-विभक्ति-मन्दास-नायिर्दह-युगं ।

वीर-यिणे पम्बालडु. मम शयलमवश्य-यम्बाल" * ।

स-पांः संयोगे सोऽप्राप्ये ॥ १२९ ॥

संयोगे स-पयोः सः स्याद्, न तु प्रीप्ते कदाचन ।

ऊर्ध्वलोपादिसूत्राणामपवादऽप्यसिरीतः ।

[स] इस्ती बुहस्पदी मस्कलो पम्बलदि विस्मये ।

[व] कष्टं, विस्तुं, शुष्क-शालुं, धनुस्त्वणम् च निस्फलं ।

'अप्राप्ये' इति किम् ? 'गिह-वाशसे' नेह सो भवेत् ।

ट-प्रयोः मृः ॥ १३० ॥

टिक्त-टन्ध, पाऽऽकान्त-उन्ध 'मृः' भवति डयोः ।

[ह] पसं, जस्यटालिका, [ठ] कस्यटालिका, शुसटु कदंयया ।

स्थधयोस्तः ॥ १३१ ॥

'स्थ-र्थे' इत्येतयोः स्थाने, साकान्त-रः विधीयते ।

[१] शौरसेन्यामिह प्रकरणे यत्कार्यमुक्तं ततोऽन्यच्छौर-
सेन्यां प्राकृतशब्देव भवति । 'दीघे-हस्वौ मिथा वृत्तौ' [१।४]
इत्यारभ्य । 'तो दोऽनादी शौरसेन्यामप्युक्तस्य' [४।२६०] ए-
तस्मान् सुत्रात् प्राग् यानि सुत्राणि येषु यान्युदाहरणानि तेषु
मध्ये अस्मिन् तदवस्थान्धेव शौरसेन्यां भवन्ति, अस्मिन् पुनरेव-
विधानेन जवन्तीति विज्ञायाः प्रतिसूत्रं स्वयमन्यूक्तं दर्शनीयः ।
यथा अन्दावदी । सुवादि-जणोः । मणसिला इत्यादि ।

[२] यद्यपि " पांरायमद-मागह-भासा-निययं इवह
सुसुं " इत्यादिमाऽप्येव अत्रैवमागध्यानिनयत्वमास्त्रापि वृ-
द्धैस्तदपि प्रायोऽप्येव विधानात्तत्र बह्व्यमाणत्वस्य च । कथं
आगच्छद् । से तारिसे तुष्कलसह जिह्मिद् इत्यादि ।

* इमलवशनसुत्रशिरोविगलितमन्तारारजितोहिंयुगः ।

शीरजिनः प्रकालयतु, मम सकलमवधजस्यसलम् ॥

[स्थ] उच्यतिदे श्चिदिदे [थं] शस्तवादेऽस्तवदी यथा ।

ज-घ-यां यः ॥ १३२ ॥

पदाऽवयवभूतात्, ज-घ-यानां परेऽस्तु यः ।

[ज] अयुणे दुत्युण [घ] मयं, अथं वयस्याहेतु [य] यदि ।

आदयो ज- [१।२४५] स्व भाषार्थे, यस्य यत्वं विधीयते ।

न्य-एय-ङ्-ज्जो ज्ञः ॥ १३३ ॥

'न्य-एय-ङ्-ज्जो' अमीषां तु, टिक्तोऽन्तो विधीयते ।

[न्य] कच्चा [एय] पुष्प च [ङ्] शव्वज्जे,

[ज्जो] अज्जलं च धणज्जप ।

म्रजो जः ॥ १३४ ॥

म्रजे जस्य टिक्तोऽन्तो, यापवादाऽस्तु, 'वज्जदि' ।

छस्य श्रोऽनादी ॥ १३५ ॥

अनादी वनेमानस्य, छस्य अः संविधीयते ।

'गिअल्ले, उअल्लादं, पुअदि, गअं निदर्शनम् ।

अयं लार्त्तानकस्यापि, यथा आपन्नवत्सलः ।

'आवन्नवच्छेदं' चैतद्, भवेद् 'आवन्नवच्छेदे' ।

अनादाविति किम् ? 'जाने' नेह अत्वं भवेद् यथा ।

क्षस्य ऽ कः ॥ १३६ ॥

अनादी क्षस्य ऽकः जिह्मसूत्रियो, 'ल-ऽकरो' यथा ।

स्कः मेक्षा-चच्चां ॥ १३७ ॥

प्रलेट धातोस्तथाऽऽज्जकः, छस्य स्कः ऽकस्य वाधकः ।

आचस्कदि पस्कदि च, द्वयं भिक्ति समभ्युते ।

तिप्रश्चिप्रः ॥ १३८ ॥

स्थायातोस्त 'तिप्र' इत्यस्य, 'चिप्रो' भवति, चिप्रदि ।

अवएणां ऊसो डाहः ॥ १३९ ॥

अवणान् परस्य तु ऊसः, स्थाने डाहो विकल्प्यते ।

'पलिशाह इगे कालो न कम्माह' प्रयुज्यते ।

'भोमशेणस्त पक्खादो दिग्घीअदि' तु पाकिक्म् ।

आमो नाहं वा ॥ ३०० ॥

अवणान् उक्तस्यऽऽसो, विभागे 'नाहं' इष्यते ।

शयणादं सुहं, पले 'नाहं' इति स्मृतम् ।

इत्यस्यात् प्राकृतेऽपि स्यात्, ननुदाहरणं यथा ।

तर्हि तुम्हादं अम्हादं, कम्माहं सन्निहादं च ।

अहं-वयमोहो ॥ ३०१ ॥

'हो' इत्यमदेशः, पदेऽहं-पयमोर् भवेत् ।

'शक्कावदालिनिय-णिवाशां च धोषहे इगे ।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ३०२ ॥

मागध्यां यदुक्तं तच्छौरसेनीवदिष्यते [१] ।

[१] 'शेषं प्राकृतवत्' [४-२८६] मागध्यामपि 'दीघेहस्वौ मि-
था वृत्तौ' [१-४] इत्यारभ्य 'तो दोऽनादी शौरसेन्यामप्यु-
क्तस्य' [४-२६०] इत्यस्मात् प्राग् यानि सुत्राणि तेषु यान्यु-
दाहरणानि सन्ति तेषु मध्ये अस्मिन् तदवस्थान्धेव मागध्यामप्यु-
क्ते पुनरेवविधाने भवन्तीति विभागः स्वयमन्यूक्तं दर्शनीयः ।

यथा 'हृद्ये' [४१८१] चतुरिके, दृजे चतुलिके, इह ।
इति भाषाधी जाया समाप्ता ।

॥ अथ पेशाची जायाऽऽरच्यते ॥

ज्ञो ऽथः पेशाचयाम् ॥ ३०३ ॥

पेशाच्यां भाषायां, इत्ययं पदे ऽत्रो विधीयते, स यथा ।
पश्चात् सञ्ज्ञा सञ्चञ्ज्ञो विज्ञानं तथा ऽज्ञानं ।

राज्ञो वा चिञ् ॥ ३०४ ॥

'राज्ञो' इत्ययं शब्दे यो, हकारस्तस्य वाऽऽस्तु चिञ् ।
राचिञ्चा लपिते, षञ्चा ज्ञापिते, राचिञ्चो धन ।
दञ्चो धने, हृ ऽन्येय, 'राज्ञो' नेह प्रवर्तते ।

न्य-स्योऽञ्च ॥ ३०५ ॥

न्ययोः स्थाने 'ञ्च' 'आदेशः', 'पुष्पाहं, कञ्चक' यथा ।

सो नः ॥ ३०६ ॥

सस्य नः स्यात्, 'गुनगनयुषो' यद्दृ 'गुनेन' च ।

तदोस्तः ॥ ३०७ ॥

त-दयोस्तो, [नस्य] भगवती पञ्चतो च सने यथा ।

[दस्य] पतेसां सनन तामांतरं रमन्त हांतु च ।

तकारस्यापि तादेश आदेशात्तराधाधकः ।

'पताका, घेतिसो' इत्याद्यापि सिद्धं ततः पदम् ।

लो ङः ॥ ३०८ ॥

लस्य ङः स्यात्, कुळ स्यांळं कमळ स्यांळं जळं ।

शपोः सः ॥ ३०९ ॥

श-पयोः सः [शस्य] सस्यो सः [यस्य] कसलो विस्मो यथा ।

'न कगचति' [४३२४] सूत्रस्य, बाधकाऽयं विधिः स्मृतः ।

हृदये यस्य पः ॥ ३१० ॥

हृदये यस्य पलेन, सिकं 'हितपकं' पदम् ।

दोस्तुर्वा ॥ ३११ ॥

दोः स्थाने तु तुपादेशः, विभाषा संप्रवर्तते ।

कुतुम्बकं ततः सिद्धं, तथा रूपं कुतुम्बकम् ।

क्त्वस्तुनः ॥ ३१२ ॥

तूनः कत्याप्रत्ययस्यास्तु, गन्तुन हासितुन च ।

फून-स्थूनी ष्यः ॥ ३१३ ॥

'फू' इत्यस्य पदे 'फून-स्थूनी' तूनस्य बाधकौ ।

तदून नस्थुन तदून तस्थुन इति स्मृतम् ।

य-स्त-ष्टौ रिय-सिन-सटाः क्वचित् ॥ ३१४ ॥

स्त-य-शानां सिन-रिय-सटाः स्युः क्रमनः क्वचित् ।

आर्या तु भारिया वेष्टा, सिनानं स्नातमुच्यते ।

कथं तु कसदं बोध्यं, प्रथमेन दुदाहृतम् ।

क्वचिदिति किं ? सुतुसा, तुज्यां तिष्ठो यथा भवेत् ॥

कयस्येय्यः ॥ ३१५ ॥

कयप्रत्ययस्य तु स्थाने, इत्यादेशोऽभिधीयते ।

रचिच्यते गिच्यते दिच्यते चैव पाठ्यते ।

कृगो कोरः ॥ ३१६ ॥

कृगः परस्य 'कोरः' तु, कयस्य स्थाने, विधीयते ।

'सम्मानं कीरते सञ्चञ्च सञ्चय' तु निवर्तमानम् ॥

यादशादिदेः ॥ ३१७ ॥

यादशादिपदे यो 'दः', तस्य तिः कियत पदे ।

यानिसां तानिसां युष्मदतिसां अष्मदतिसां तथा ॥

कानिसां एतिसां अष्मदतिसां चैव प्रजातिसां ।

इचैव ॥ ३१८ ॥

'इचैवोः' [३१३६] तिः, नेति नेति, वस्तुभाति च मोति च ।

आतेश्च ॥ ३१९ ॥

अतः परयोर् इचैवोः, पदे 'ते ति' इमौ मते ।

गच्छते गच्छति यथा-ऽऽदिति किञ्च ? नेति हाति च ॥

भविष्यत्येय्य एव ॥ ३२० ॥

एय्य एव न तु निसः [४१७४] स्याद्, इचैवोस्तु, भविष्यति ।

तद् न चिन्तितं षञ्चा, का एसां तं हुव्येय्य च ॥

अनो ङमेर्मानो-डात् ॥ ३२१ ॥

अतः परस्य तु ङमेः, 'शानो दानु' इमौ मते ।

यथा-नृशतु नृशानो, तुमानो च तुमानु च ॥

तदिदमोहा नेन सिध्यां तु नाप ॥ ३२२ ॥

सार्धं टा-प्रत्ययेन स्याद्, 'नेनो' तदिदमोः पदे ।

स्त्रीलिङ्गे तु तयोरेव, 'नाप' इत्यादिभिधीयते ॥

'नेन कत-स्मिन्नेन तथ्य' पुंसि, सिध्यां पुनः ।

पातग-कुतुम्ब-प्वलानेन नाप च पुजिते ॥

देति किं ? चिन्तयन्तो नाप सार्धं य गतो च सो ।

शोपे शौरनेनीवन् ॥ ३२३ ॥

पेशाच्यां यदनुक्तं तच्छोरसेनोविध्यते ॥

विदेशो दाशितः मधेः, तथाप्योषादिशब्दनाम् ॥ [१]

न क-ग-च-जादि-पद-शस्यन्त-सत्रोक्तम् ॥ ३२४ ॥

क-ग-च [११७७] पद-शसो- [११२६४] इत्ये-

तयोर् मधेऽपि सूत्रयोः ।

यत् कार्यं दाशितं मधे, न तदत्र प्रवर्तते ।

मकरकत्, सगरपुत्र-वचन, ज्ञापिते ।

विजयमेनेन, पाप, आशुच चैव तयोरे ।

अन्येषामपि सूत्राणामेवमूषां मनोपया ।

इति पेशाची भाषा समाप्ता ।

॥ अथ चूलिकापेशाचिकजाया प्रारच्यते ॥

चूलिका-पेशाचिके तृतीय-तृपयोर्गोश-द्वितीयौ ॥ ३२५ ॥

जायायां चूलिका-पेशाचिकजायायां यथाक्रमम् ।

तृतीय-तृपयोर् प्राश-द्वितीयौ यथावस्योः ।

[१] अथ ससगरां जगव मकरधजां । एय्य पारच्यमस्तौ हु-

वेय्य । एवंधिषाए भगवतीए कथं तापस-धेस-गहन कते ।

एतिस अनिष्टपुत्र्य महाधन तदून । जगव यदि मं वरं पथञ्चि

राज च दाव लोक । ताव च तीए दृगानो येव तिष्ठो सो आग-

च्छमानो राजा ।

नगर नकरं तेन, मधो मेखः प्रयुज्यते ।
एव पञ्चसु धर्मेषु, लक्ष्यं बोधयं मनोपजितः ।
कविविद्याकृषिकस्यापि, पदे कार्यमिदं ज्ञेयम् ।
दादा तादा ततो बंधुषा, पतिमा पतिमा तथा ।

रस्य त्तो वा ॥ ३१६ ॥

रस्य स्थाने लकारः स्यात्, गौरी 'गौरी' हरो 'हलो' ।
'पममथ पनय-पकुपित-गौली-चलनमा-समा-पति-विष्यं' ।
तसस्तु नख-तल्पमेषु, एकतस्त-ननु-धलं लुहं ।
नखन्तस्तस्य ए लीला-पातुकक्षेत्रं कतिपया वसुधा ।
बद्धहस्तसि समुद्रा, सदा निपतन्ति तं इदं नमथ' ?]

नादि-युज्यान्नेपापम् ॥ ३१७ ॥

अन्येषां तु मने, धौली युजि वाऽऽदिमवर्णयोः ।
द्वितीय-तुष्योराद्यङित्तीयो वचनो न तौ ।
यथा 'नियोजितं' इत्येतद् अत्रापि 'नियोजितं' ।
गतिर 'गता' तथा यमो, 'यमो' विद्वङ्गिरुच्यते ।

शेषं मानम् ॥ ३१८ ॥

अपानुकं नु यत् कार्यं, ननु पेशाचोचदिप्यते ।
यथेदं नम्य गन्ध न, गन्धय नत्वं तु सर्वतः ।
इति चूलिका-पेशाच्चक्रमाया समाप्ता ।

अयापञ्चराभाषाऽऽरभ्यते ।

स्वराणां स्वराः प्रायोऽपञ्चशो ॥ ३१९ ॥

अपञ्चशो स्वराणां तु, स्थाने प्रायः स्वरा मताः ।
यथा-बाहा बाह बाहु, किश्रां च किलिअशो ।
'अत्रापञ्चरा-भाषायां, विशया यस्य वचनेन ।
नस्यापि शीरसेनावत्, कार्यं प्राक्तनवत् क्वचित् ।
इत्यर्थबोधकः 'प्राय इत्यर्थः' सूत्रं नियोजितः ।

स्यादी द्रोपि-ह्रस्वौ ॥ ३२० ॥

प्रायः स्यादौ द्रोपि-ह्रस्वौ, स्तो नाम्नोऽन्त्यस्वरस्य तु ।
[सौ] "दालला सामग्रा घण चम्पा-वधौ ।
पाठ सुवध-रेह कम-वद्वट दिधौ ॥
[आमन्त्रे] दोष्टा ! महे नुहुं वारिष्या, मा कुरु दीहा माणु ।
निहरे गामिहो रत्समी, दृष्टवम होत्र विहाणु ॥
[त्वियाम] विहोए ! मह भाणय तुहुं, मा कुरु बह्नी दिधि ।
पुलि ! सकधी जाणुं जिधे, माएद दिश्रठ परदिं ॥
[जसि] एद नि वाड्या एह याल ए त्ति निजिषा ख्म्या ।
पशु मुणु। निम जाणिएर, जो नांवि वाण्ट वम" [२] ॥

[१] प्रगणन प्रणयप्रकृतिगौरीचरणगलस्रप्रतिविषमथ ।
दशसु नखदपणेषु एकादशानुधरं रुडम् ।
नुत्यतश्च लालापारदोक्तपण कतिपया वसुधा ।
उच्चलानि समुद्रोः शशा निपतन्ति तं हरं नमत ।

[२] नायकः श्यामलः प्रिया वस्यापरां ।
ज्ञायते सुवर्णरेखा कृपयुक्तं दत्ता ॥
नायकः मया स्वं वारितो मा कुरु दीर्घमानथ ।
निदृष्या गामिधरानि रतिः शीघ्रं भवति विमानम् ॥
पुत्रकं ! मया स्वं भाणता मा कुरु वकां शोम्म् ।
पुत्र ! सकर्णो भल्लियंथा, मारयति हृदय प्रविष्टा ॥
एते ने घोटका एवा स्थली एते ने निशियाः खड्गाः ।
अत्र मनुष्यत्वं ज्ञायते यो नापि बालयति बलगा ॥

अन्यसां च विभक्तीनामेवमुक्तं निदर्शनम् ।

स्यमारस्योत् ॥ ३२१ ॥

अत उच्ये स्वयोः, 'अरमुहु छेमुहु' निवधतः ।
"ददमुह नुवण-अयंकठ नोनिय-सकठ पिग्माउ रहरवि बदिअउ
अरमुहु उमुहु जाधवि एकाहि सावि भावह द्रष्टे धांडअउ" [१] ॥

सौ पुंस्योदा ॥ ३२२ ॥

नाम्नोऽकारस्य स्त्री पुंस्योद् वा, 'जो' 'सो' यथा भवेत् ।
"अगलिअ-नेह-निवट्टां ओअगुअकखुवि जाठ ।
वरिस-सएण वि ओ मिलाइ सवि सोक्खहं सो ठाठ" [२] ॥

पुस्तीति किम्—

"अड्डाहि अड्डु न मिलाउ हलि ! अहरे अडठ न पणु ।
विय ओअन्तिह सुह-कमलु एम्हए सुउउ समणु" [३] ॥

एट्टि ॥ ३२३ ॥

दायाम् एतमकारस्य, वलन्तेन नरेण च ।
"जे महु दिखा दिअहडा, दएव पवसन्तेण ।
ताण गणतिंते अड्डुलिउ जज्जरिआउ नरेण" [४] ॥

इदंनिच ॥ ३२४ ॥

इदैनौ स्तोः किना साकम्, अकारस्य पदे यथा ।
"तलं धरहह' इन्ध्र, 'तलि धरलहह' वेधते ।
"सायठ उपाए नणु धरउ तदि धरहह रयणाहं ।
मामि सुभिल्लु वि परिदरउ, समाणहं कलाउ" [५] ॥

निस्स्यद्वा ॥ ३२५ ॥

अन एतवं वा भिसि स्याद्, 'गुणहि गुणाहि' यथा ।
"गुणहि न संपद किंति पर फल विहिआ नुज्जन्ति ।
केसरि न लहद बोड्डुअवि गय लक्खंदि घेणति" [६] ॥

कमरु हे-हृ ॥ ३२६ ॥

अतः परस्य 'हे हु' इत्यादेशो स्तोः ऊसः पदे ।
वच्छहे वच्छह यथा, रूपे वैनायिकं मतम् ।
"वच्छहे गिरहह फलं जणु कडुपल्लव पजेठ ।
तो वि महहणु सुअणु जिधं, ते वच्छङ्गि धरेह" [७] ॥

ज्यमो हुं ॥ ३२७ ॥

अतः परस्य तु पञ्चमी-बहुवचनस्य इमं एति ।

[१] दशमुखा भुवनेजयङ्करस्तेषितशङ्करो निर्गतो रव्यरे चरित्तः ।
चतुर्मुख परमुखं च ध्यायैकस्मिन्निगन्ता ज्ञायते देवेन घोटनः ॥

[२] अगलितस्नेदनिवृत्तानां योजनलक्ष्मिपि यातु ।
यथेदनेनापि यो मिलति सखि ! सांस्थानो स स्थाने ॥

[३] अक्खं न मिलति सखि ! अधरेऽधरो न प्रातः ।
प्रियस्य पश्यन्त्या मुखकमलमेवमव सुतं समाप्तम् ॥

[४] ये मम दक्षा दिवसा द्युधनेन प्रवसता ।
ताद गयान्त्या अणुद्वयो जजेरिता नमेन ॥

[५] सागर उपाए तूणे धरति तले ज्ञियति रत्ताणि ।
स्वामी सुभूत्यमपि परिहरति संमानयति खलाद् ॥

[६] गुणैः संपदः कीर्तिः परं, फलानि ज्ञैस्त्रिनाम नुज्जन्ति ।
केसरी न लनेन कपर्दीकामपि गजा लक्ष्मैः ॥

[७] बुक्कादु पञ्चानि फलानि जना कटुपल्लवव बसेयति ।
ततोऽपि महद्दुःखः सुजना यथा, तान् उरवङ्ग धरति ॥

“दृक्शालै पतिव अणु, अण्वणु जणु मारंइ ।
जिइ गिरि-सिङ्गहुं पतिअ सिख अणुवि च्यूक करेइ” [१] ।

कतः सु-हो-स्सवः ॥ २३८ ॥

अतः परस्य कसः पदे 'स्तु सु हो' इमे भवन्ति ।
“तसु लुअणस्तु परस्तु वा, युअइइदं” निगदन्ति ।
“जा गुण गोवइ अण्वणा, पयडा करइ परस्तु ।
तसु इउं कलिनुगि जुअइइदां वलि किअउं सुअणस्तु” [२] ॥

आमो हं ॥ २३९ ॥

अतः परस्य 'हं' आमः, पदे स्यात्, 'तणहं' यथा ।
“तणहं तइउगी भङ्गि नवि ते अणव-यस्मि वसन्ति ।
अह जणु लमिगि उअरइ अह सह सइ मउजन्ति” [३] ॥

हुं चेदुद्वय्याम् ॥ ३४० ॥

इउद्वय्यां तु परस्याऽऽना, भवेतां 'हुं इम' इत्यम् ।
सिक्के 'सउणिहं' तेन, 'तरहु' च पदत्रयम् ।
प्रायोऽधिकाराद् 'हुं' काऽपि, सुपोऽपि 'हुदुम्' इत्यपि ।
“दइव षडावइ वणि तरहुं सउणिह पक्क फलाइ ।
सा वरि सुक्खु पइउ णवि, कणहि खल-वयणाइ” [४] ॥

हमि-न्यस्-कीनां हे-हे-द्वयः ॥ ३४१ ॥

इदुद्वय्यां तु परेषां भ्यस-कस्मि-कीनां 'दि-हुं-हयः' ।
[कसेहं] तरहुं [भ्यसां हुं] तरहुं रूपं,
तथा [ऊहिं] कलिहि आस्थानि ॥
“गिरिह सिलायसु तरहुं फसु छेपइ नीसावणु ।
अरु मेअण्वणु माणुसइं तां वि न रुअइ रणु ॥
तरहुं वि वक्खु फसु सुण वि पारइणु असुणु अइंति ।
सांमिहुं पतिउ अमालउं आर्यइ भिच्छु गृहन्ति” [५] ॥

आदो णानुस्वारौ ॥ ३४२ ॥

अतः परस्वाद्यास्तु, णानुस्वारौ मतेः, पदे ।
'इइपं पवसन्तेण', 'आयिमे' सिक्किमुच्यतः ।

एं चेदुतः ॥ ३४३ ॥

इदुद्वय्यां टा-येदे 'ए' वात् णानुस्वारौ, मताख्यः ।
अतः सिधन्ति कपाणि, 'आमि आमिण आमिण' ।
“आमिपे उणइउ होइ जणु, वापं सांयल तेव्वं ।
ओ पुण आमि सीअला, तसु उरइअणु केव्वं” [६] ॥

[१] दृक्शालेन पतिवः खल आमाने जने मारयति ।

यथा गिरिशिखरे पतिता शिला (स्वम) अन्यमपि चूर्णीकराति ॥

[२] ओ गणानु गोपयति आभ्रमनः, प्रकटीकराति परस्य ।

तस्याहं कलियुगे दुर्लभत्रय वलि क्रिये सुजनस्य ॥

[३] गुणानां सुतीया अङ्गी नापि, तनां अणवटले वसन्ति ।

अथ जना लमिग्याऽपि उअरति अथ सह स्वय मउजन्ति ॥

[४] त्रैवा घटयति वने तदणा शुकुतानां पक्कफलाणि ।

तद् वरं सुखं प्रविष्टानि नापि कर्णयोः खलवचनानि ॥

[५] गिरिः शिलालतलं नदीः फलं गृह्णाति निःसामान्यः ।

गृहं मुक्कषा मनुष्येभ्यः ततोऽपि म रणेन उरणथम् ॥

तस्मिन्नाऽपि बटकलं फलं भुज्यतेऽपि परिधानमशानं लभन्ते ।

स्वामिजन्य इयद्वर्गमत्रायं शुकुतानि ॥

[६] आभ्रनोष्णं भवति जगतु वानेनं कीतलं तथा ।

यः पुनरङ्केनाऽपि शीतस्तस्वस्थाण्णत्वे कथम् ? ॥

“विपिअ-अरउ जइवि पिउ, तावि ते अणविअ अणु ।
अमिण दइा जइवि अर तो ते अमि कणु” [१] ॥

स्यम् जस्-शसां लुक् ॥ ३४४ ॥

स्यम्-जस्-शसां लुगत्रान्तु, स्यम्-जसां स्यम्-शसां यथा-
“एइ नि घोडा एइ अलि एइ ति निनिअ अण्णम्” ।
एइ सुणीसिम जाणिअउं ओ नवि वाअइ वण्णम्” ।

[अत्र स्यमजसां लुक्]

“जिउं जिउं वकिम लोअणह णिक सामालि सिक्कइ ।
तिउं तिउं थम्मदु निअय-सउ खर-परथरि निक्कइ” [२] ।

[अत्र स्यमशसां लुक्]

पठ्याः ॥ ३४५ ॥

पठ्याः प्रायो लुगत्रास्तु, तज्जहारणं यथा ।
“संगर-सअर्याइं तु वणिअइ देक्खु अमहा कणु ।
अमसहं वअकुसइं गय-कुम्मइं दारणु” [३] ।
पृथग्भ्यागः कृता अयानुराधायांऽत्र सूत्र्याः ।

आमन्त्ये जसां टोः ॥ ३४६ ॥

आमन्त्येऽथ जसः स्थाने 'हो' स्थाल्लोपस्य बाधकः ।
स्याद् अप्पदां तरुणदो, तथा तरुणदो यथा ।

जिस्सुपोहिं ॥ ३४७ ॥

भिस्सुपोरि 'दि' भवेत् [सुप] ममोहिं [जिस्सु] गुणेहिं प्रयुज्यते ।

स्त्रियां जस्-शसांस्टोत ॥ ३४८ ॥

स्त्रियां लोपापवादीं ङावुदानां जस्-शसां पृथक् ।
यथा-जज्जरयात्रा अगुलउ स्याद् ङय जस- ।
“विलसिणांओ सुन्दर-सण्णङ्गाउ” भासः स्मृतम् ।
यथासत्यनिवृत्त्यर्थो, भेदाऽत्र वचनस्य तु ।

ट ए ॥ ३४९ ॥

स्त्रियां टायाः पदे स्याद् 'ए' वान्दिमप च कन्विण ।
“नियमुटकरंदि विमुटकर अण्णारु पडिपक्कइ ॥
सांसिमण्णउ चांसिमण पुणु काइ न दुर देक्कइ” [४] ॥
इस्-कम्पयोर् ॥ ३५० ॥

स्त्रियां 'हे' ऊस्इस्थोः स्याद्, धरादे बालदे यथा ।

ज्यसाभोर्हुः ॥ ३५१ ॥

स्त्रियां ज्यसाभाः स्थाने हुः, 'वयसिअङ्गु' गण्यते ।
केहिं ॥ ३५२ ॥

स्त्रियां केहिं, यथा 'महाम्' इत्येतत् 'महिहि' स्मृतम् ।

क्रीये जस्-शसोर् ॥ ३५३ ॥

क्रीबे 'इ' जस्-शसा स्थाने, 'गण्णारु' कुलदे यथा ।

[१] विप्रियकरका यथापि प्रियस्तथाऽपि तसामनायक ।

अभ्रना इयं यथापि गृहं ततोऽपि ततोऽभ्राना मदस्कार्यम् ॥

[२] यथा यथा वक्त्व लोचनानां इयामला शिङ्गते ।

तथा तथा मन्मथो निजशरान् स्वरपदाने नोऽनुयान्ति ॥

[३] सगरोतपु यो वधैते वधयं वधयं कान्तेम् ।

अनिमत्तानां म्यत्काङ्क्षानां गजानां कुम्भान् मारयन्तम् ॥

[४] निजमुत्करैरापि मुग्धा कम्प्यकारे प्रत्येवङ्गते ।

शयिमणलं चान्दिकया पुनः कथं न दुरं पर्यायते ? ॥

कान्तस्यात उं स्यामोः ॥ ३५४ ॥

ऋषि ककारान्तात् ॥ ३५४ ॥
पसरिअउं तुच्छुवं, अगमउं चाऽभिधीयते ।

सर्वादेकसंज्ञी ॥ ३५५ ॥

सर्वादीनामकारान्ताद्, ऊंसोर्हो स्याद्, जहो तहां ।

किमां किं वा ॥ ३५६ ॥

किमांऽद्वन्ताद् ऊंसेर वा स्याद्, 'किहे, रूपं 'किह' यथा ।
ऊंहि ॥ ३५७ ॥

सर्वादीनामकारान्ताद्, ऊंसः स्थाने 'हि' यथा 'जहि' ।
यत्किंजन्यो ऊंसो मायुर्नवा ॥ ३५८ ॥

यत्तत्किभ्यो ऊंसो हासुर, अदन्तेभ्यो विकल्प्यते ।
जासु तासु तथा कासु, सऽन्तेरेव निगद्यते ।

स्त्रियां दहे ॥ ३५९ ॥

यत्किंभ्यो 'उहे' वाऽस्तु, ऊंसः स्थाने स्त्रियां यथा ।
जहं तहं कहे चैतत्, त्रयं सिद्धिं समभ्युते ।

यत्तद् स्त्रियां भुं ॥ ३६० ॥

यत्तदास्तु पदे 'भुं' 'भं' वा स्थानां परयोः स्यमोः ।
नाहु प्रदण्णि चिच्छाद्, भुं भं रणि करदि न ।

इदम इमुः क्लीबे ॥ ३६१ ॥

इमुः स्यादिदमः क्लीबे, स्यमोर्, 'इमु कुलु' स्मृतम् ।
एतद् स्त्री-पुं-क्रीबे एह एहो एहु ॥ ३६२ ॥

स्त्री-पुं क्रीबे 'एह एहो, एहु' स्यादेतद् स्यमोः ।
'कुमारी एह' वा, 'एहु नायु' 'एहो नरु' स्मृतम् ।

एउनेम-शसोः ॥ ३६३ ॥

एतदो जस-शसोर् 'एउः', 'एह' चिच्छन्ति पेषुक् वा ।
अदस ओऽ ॥ ३६४ ॥

अदसो जस-शसोर् 'ओः', 'ओह' चिच्छन्ति पेषुक् वा ।
इदम आयः ॥ ३६५ ॥

आयः ष्याद्, इदमः स्यादी, आयहो आयदं यथा ।
सर्वस्य माहो वा ॥ ३६६ ॥

सर्वशब्दस्य साहो वा, सिद्धं 'साहु वि सव्वु वि' ।
किमः काऽ-कवणो वा ॥ ३६७ ॥

या किमः 'कवयो काऽ, काऽ दूरं न देषज्जह' ।
'नण कउंजे कवणेण', 'पउं गउंजह कि खउं' ।

युष्मद् सौ तुहुं ॥ ३६८ ॥

युष्मद् सौ 'तुहुं' इत्यादेशः स्यात्, त्वं 'तुहुं' ततः ।
जस्-शमास्तुम्हे तुम्हं ॥ ३६९ ॥

युष्मदो जस-शसोर् 'तुम्हे, तुम्हं' च पृथक् पृथक् ।
जाणह तुम्हं तुम्हे, तुम्हे पेषुक् तुम्हं ।

यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो, जेदांअ वचनस्य तु ॥
दा-उथ्यमा पई तं ॥ ३७० ॥

'अम टा कि' इत्येतेः सार्धं, युष्मदस्तु 'तं' 'पई' ।
'त्वां त्वया त्वयि' इत्येतां, स्थाने वाच्यं 'तं' 'पई' ।

भिसा तुम्हेहि ॥ ३७१ ॥

युष्मदस्तु भिसा साकं, 'तुम्हेहि' इति पठ्यते ।
१३

कमिहन्त्यां तउ तुज्ज तुभ्र ॥ ३७२ ॥

कसि-कसन्त्यां सहु' तउ, तुज्ज, तुभ्र' च युष्मद् ।
'तव त्वत्' 'अनयोः स्थाने, 'तुम्हं' 'तुभ्रं' 'तउ' त्रयम् ।

ज्यसाभ्यां तुम्हं ॥ ३७३ ॥

युष्मदस्तु पदे, साकं भ्यसाम्भ्यां, तुम्हं मतम् ।
युष्मभ्यं तुम्हं वाच्यं, तथा युष्माकमित्यपि ।

तुम्हासु सुपा ॥ ३७४ ॥

युष्मदस्तु पदे, साकं सुपा 'तुम्हासु' पठ्यते ।
मावस्सदा हं ॥ ३७५ ॥

अस्मद् सौ परं रूप, 'हउ' इत्यभिधीयते ।
'तुहुह अहो कउजुण दउं तसु' निदर्शयम् ।

जस्-शसोर्म्हे अम्हं ॥ ३७६ ॥

अस्मदो जस्-शसोर् 'अम्हे अम्हं' च पृथक् पृथक् ।
दा-उथ्यमा पई ॥ ३७७ ॥

'अम टा कि' इत्येतेः सार्धं, अस्मदस्तु भवेद् 'महं' ।
'मां मया मयि' इत्येषां, स्थाने वाच्यं 'महं' सदा ।

अम्हेहि जिमा ॥ ३७८ ॥

अस्मदस्तु भिसा नाकम्, 'अम्हेहि' इति पठ्यते ।
महु मउकु कसि-हन्त्याम् ॥ ३७९ ॥

कमिहन्त्यां मह' महु मउकु' स्तोऽत्रास्मद् पदे ।
'मत् ममेत्यनयोः स्थाने, 'महु मउकु' यथाक्रमम् ।

अम्हं ज्यसाभ्याम् ॥ ३८० ॥

अस्मदस्तु पदे, साकं भ्यसाम्भ्याम्, 'अम्हं' मतम् ।
असभ्यम् 'अम्हं' वाच्यं, तथा चासाकमित्यपि ।

सुपा अम्हासु ॥ ३८१ ॥

अस्मदस्तु पदे, साकं सुपा 'अम्हासु' पठ्यते ।
त्यादोराद्यत्रयस्य बहुत्वे हि नवा ॥ ३८२ ॥

त्यादीनां तु विभक्तानां, यदाद्यं विकमुच्यते ।
तद्बहुत्वस्य 'हि' वा स्याद्, परन्ति-परहि' स्मृतम् ।

मध्यत्रयस्याद्यस्य हिः ॥ ३८३ ॥

त्यादीनां तु विभक्तानां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।
तदाद्यवचनस्येदं, हिःरादेशो विकल्प्यते ।

'बणीहा ! पिउ पिउ भणयि, किन्तिउ 'हअहि' हयास ! ।
'तु' जलहं महु वुणु वल्लदं, विणुं वि न पुरिअ आस ।

[आत्मनपदे] बणीहा ! कइं बोहिण्णय, निगिणण वारह वार ।
सायदि भरिअह विमलि-जलि, लहहि' न पकइ धार' * ।

एवं 'दिज्जहि' रूपं स्यात्, कससित्यादि पालिकम् ।
बहुत्वे दुः ॥ ३८४ ॥

त्यादीनां तु विभक्तानां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।
तद्बहुत्वस्य तुवां स्याद्, यथा-'इण्णु इण्णुह' ।

अन्यत्रयस्याद्यस्य उं ॥ ३८५ ॥

त्यादीनां तु विभक्तानां, यद्मध्यत्रिकमुच्यते ।
'उ' तदाद्यस्य वाऽऽदेशो, यथा-'कण्णमि कण्णुउं' ।

* बणीह ! मिय मिय भणिन्वाऽपि कियत्तु रादिधि हताश ! ।
तव जलधरेण मम पुनर्बल्लमेन ह्योरपि न पुरिता भाशा ।

बणीहक ! किं कथनन निष्पन्नं वारं वारम् ।
सागरे मृते विमलजलन लभसे वैकःमपि धाराम् ॥

बहुत्वे हुं ॥ ३०६ ॥

त्यादीनां तु विज्ञकीनां, यदस्यं त्रिकमुच्यते ।
तदहवस्य ' हुं ' वा स्याद्, ' लहुहुं लहिम् ' स्मृतम् ॥

हि-स्वयोरिच्छुदेत् ॥ ३०७ ॥

पञ्चम्या हि-स्वयोर् वा स्युर, ' इद्रेते ' ध्मे प्रयः ।
[एत ' कुञ्जर ' सुमरि म सङ्गह सरला सास म मेङ्गि ॥
कवल जि पाविय विहि-वनिण ते चरि माणु म मेङ्गि
[उत] अमरा ! एणु वि लिम्पयइ कवि दियइडा विलम्बु ॥
घण-पत्तलु ज्ञाया-पहुहु कुञ्जर आवै कयम्ब ।
[एत] प्रिय ! एम्बहि करि सङ्गु करि उरुहि तुदं करवालु ॥
जं कावासिथ बणुमा वेरि अभग्गु कवालु । [१]
पक्के सुमरहीत्यादि, रूप बोधयं मनीषिभिः ॥

वत्स्यति स्वस्य सः ॥ ३०८ ॥

अभिव्यद्यथे त्यादीनां, स्वस्य सो वा विधीयते ।
यथा ' हासइ ' इत्यन्त, पक्के हांसिइ पठ्यते ॥

क्रियेः कीमु ॥ ३०९ ॥

' क्रिये ' क्रियापदं त्येतत्, वाऽत्र ' कीमु ' निराद्यते ।
पक्के तु ' किञ्जत् बलि सुअणस्सु ' प्रयुज्यते ॥

भुवः पर्याप्तौ हुबः ॥ ३१० ॥

पर्याप्तयथे नुवा धातोः, परे ' हुबः ' ' पहुब्बइ ' ।
भ्रगो हुवो वा ॥ ३११ ? ॥

भ्रगो धातोर् हुवो वा स्याद्, ' वुवइ ब्राण्णियु ' स्मृतम् ।

द्रजेवुवः ॥ ३१२ ॥

व्रजतेस्तु वुव्रादेशो, वुव्राण्णियु वुव्राण्य च ।

दृशोः प्रस्सः ॥ ३१३ ॥

दृशेर्धातोः परे प्रस्साऽऽदेशः, ' प्रस्सादि ' पठ्यति ।

ग्रहेर्गृहः ॥ ३१४ ॥

गृहादेशो ग्रहः स्थाने, ' पठ गृहेण्णियु व्रत् ' ।

तद्व्यादीनां ज्ञोष्ठादयः ॥ ३१५ ॥

तद्व्यादीनां तु धातूनां, परे ङोष्ठादयो मनाः ।
ये क्रियावाचका इश्या आदिशब्दग्रहा हि ते ॥
"जिवे तिवे तिकवा लेवि वर जइ ससि ङोष्ठाउज्जत् ।
तां जइ गोर्गइ मुठ-कमसि मरिसिम कावि लहत्तु ॥
बुठुलुउ बुष्ठीहोइ सइ मुठि कवावि विहिच्छत् ।
सासानल-जाल-अलक्किअउ वाइ-मञ्जिल-मसिसउ" ॥ [२]

[१] कुञ्जर ! स्मर मा सङ्गकाइ सरलाउ इवासान् मा मुञ्ज ।

कवसा ये प्रासा विधिपशेन तान् चर मान मा मुञ्ज ॥

जुमर ! अत्रापि निम्बे किंयनिस्सि दिव्वास्सि विह्वम्बस्व ।

घनपत्रवाइ ज्ञायावहुरः फुल्लति यावत् करम्बः ॥

प्रिय ! इदानीं करे सङ्ग कुरु मुञ्ज त्वं करवालम् ।

यत् कापालिका वरका हामि अभस कपालम् ॥

[२] यथा तथा तीक्ष्णान् कान्वा शराद् यदि दाश। अतक्किप्यत् ।

ततो जगति सौथे मुखकमलेन मरुशतो कामाप अन्नप्यत् ॥

बुट्कचूर्णां विविप्यत् ममुषे । कपोलं निहितः ।

शवासानलज्वालादग्धः वायुसञ्चिसंसांसि क ॥

"अभ्रमरुवंचिउ ब पयइ पेम्मु निग्रहइ जाँय ।
सश्वसण-रिउ-सजवहो कर पन्निअसा नाँय ॥
हिअइ खुमुकइ गोरमं गयणि घुसुकइ मेहु ।
वासा-राण-पयासुअइ विमसा सकनु पेहु ॥
अग्गि ! पअओर वअ मा निच्छु जे समुह यन्ति ।
महु कनहो समरङ्गणइ गय-घम मञ्जउ जन्ति ॥
पुसे जापं कवणु गणु अवगणु कवणु मुणण ।
जा पणोकी भुंहेमो अग्गिअ अवरणेण ॥
ते तेलिउ जलु सायरहो म्हा तेवइ विव्याह ।
तिसइ निवारणु पलुवि नाव पर भुट्टुअइ असा" ॥ [१]

अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ग-न-थ-प-फां ग-य-

द-थ-ब-जाः ॥ ३१६ ॥

खगत परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।
' क-ग-न-थ-प-फ- ' वर्णानां स्थाने ' ग-व-ध-ध-भा- ' प्रायः ॥
[कस्य गः] " जं दिउउ सोम-माहणु अमइहि हांसउ निसङ्कु ।
पिय-माणस-विच्छोह-गउ गारि गारि राइ मयङ्कु ॥
[कस्य घ] अग्गोप सन्धावन्थाइ स्थिं चिन्तिअइ माणु ।
पिय दिउ हल्लोहारेण को अन्नइ अण्णणु ? ॥

तथपफानां दधवताः यथा-

सवयु करेण्णणु कधिदु मइ तसु पर समलउ जम्मु ।

जासु न चाउ न चारइहि न ये पम्हइउ धम्मु" ॥ [२]

भाऽनुनासिकां वा वा ॥ ३१७ ॥

अनादौ वनेमानस्यासंयुक्तस्य तु मस्य वा ।
स्याद् वाऽनुनासिकस्य, तेन कर्तुलु कमलु इयम् ॥
अयं लाक्षणिकस्यापि, जेथे तेथे इति स्मृतम् ।

वाऽयो रो लुक् ॥ ३१८ ॥

संयोगाऽधःस्थितस्येद, वा रकस्य लुगिष्यते ।

' जइ केयद पावासु णिउ ' पक्के ' प्रियण ' च ॥

अन्तोऽपि क्वचित् ॥ ३१९ ॥

रेफोऽत्राविद्यमानोऽपि क्वचिद् जवति, दृश्यते ।

[१] अनुज्जय (मुक्ताशय्य) द्वौ पार्श्वे प्रेम (प्रिया) नियन्ते यावत् ।

संयोगानुरूपं जवत्य कराः परिभ्रुत्वास्मान्वायत् ।

इदं शब्दयान्ते सौरी (सौरी) समन्ते गर्जाते मेघः ।

वपारिभ्रप्रयासिकानां विषम सकटं प्रतत् ।

अम्ब ! पर्याधरी वज्रय मा नित्यं यो संमुखी तिष्ठत् ।

मम कान्तरस्य समराङ्गेण गजघटा जङ्-कन्या यान्ति ॥

पुत्रेण जानेन को गुण-अपगुणः को मृतनः ।

या पणुकी भ्रिमराऽऽश्रयन्ते अत्रपेण ॥

तन्नायत् जले सागरस्य स तावात् विस्तारः ।

तुपाया निवारणं पलमाप नापि, परं शब्दायतेऽस्तारः ॥

[२] यद् इदं सोमग्रहणमनन्तीर्भोमिनां नि शङ्कम् ॥

प्रियमानसविज्ञोभकर गिल गिल राहो ! मुगाइम् ॥

अम्ब ! स्वस्थावस्थेः सुखेन चिन्त्यन्ते मानः ।

प्रिये श्रेष्ठे आत्मकथनेन क आत्मानं चेत्यते ॥

शपथं कृत्या कथितं मया तस्य परं स्वफलं जन्म ।

यस्य न त्यागो न चारजन्त्ये न च प्रशुद्धे धर्मः ॥

“यानु महारिणि एव भणइ जइ सुइ-स्युइ परमाणु ।
मायह चल्ण नयन्नाह दिचिदिचि गङ्गा-गहाणु” ॥ [१]
ह्विचिदिचि किम् ? ‘बह् वासोख वि जारह-खचिज्’ ख ॥

आपदिपरमंपदां द इः ॥ ४०० ॥

विपत्रापसंपदां स्याद्, वृक्षकार-कविद्, यथा- ।
रूपम् ‘आवह’ ‘संपद्’ तथा ‘विषह’ इत्यपि ॥
प्रायोऽपिकाराद् ‘गुणहिं न किल्पि पर संपह’ ॥

कथं-यथा-तथां यादरेमेहेया कितः ॥ ४०१ ॥

‘कथं यथा तथा’ एषां यादरेवयवस्य तु ।
‘इह इव एव इमं’ इत्यादेशा जितः एषक ।
अतः ‘कथं’ किह किथ किम कम्’ निगद्यते ।
‘यथा’ जिह जिथत्यादि, ‘तथा’ तिह तिथादि च ।

याहक्-ताहक-कीहमादिशां दादरेमहः ॥ ४०२ ॥

‘याहक्ताहक-कीहमादिशु’ इत्येतेषां तु योऽस्ति दः ।
तदायावयवस्यैव, देहादेशा विधीयते ।
‘महं मणिभ्रत बलिभ्राय । तुहं केहव मग्गण एह ।
जेहु तेहु नांवि होइ चट । सइ नरायण एहु” ॥ [२]

अनां मडसः ॥ ४०३ ॥

इंश-कींश-यांश-तांशशब्देषु दादिवर्णस्य ।
उरस्ताऽऽदेशा, उरश्मां तदश्मां कश्माऽश्मां च यथा ।

यत्र-तत्रयोस्त्वस्य किदन्त्यत्रचु ॥ ४०४ ॥

‘एत्थु अत्थु’ इति। अत्र, शब्दयोर्षत्र-तत्रयोः ।
‘जत्तु तत्तु जत्थु तेषु’ सिक्क रूपचतुष्टयम् ।

एत्थु कुत्रात्रि ॥ ४०५ ॥

कुत्राऽत्रयोस त्रयशब्दस्य, पदे वा ‘किदन्ति’ इति।
कत्थु वि हेण्णियु सिक्कणु, एत्थु जेत्थु वि तेषु वि ।

यावत्तावतोत्रोऽऽर्मे उं महिं ॥ ४०६ ॥

यावत्तावत्किम्यनयोः, वाऽऽदेशवयवस्य तु ।
म, उं, महिं चान्येन स्युः । शब्दादेशोत्र त्रयो यथा ।
जाउ ताउ, जाम ताम, जामहिं तामहिं तथा ।

वा यत्तदोऽतोर्मेवहः ॥ ४०७ ॥

अन्वन्तयत्तदोर् यावत्तावतौ यौ, तयोः पुनः ।
वाऽऽदेशवयवस्येह, पदे वा ‘मेवस्मां’ ऽन्तु कित् ।
‘जेवन्तु अन्तरु गवण-रामहं नेवन्तु अन्तरु पट्टण-गामहं’ ।
पक्षे रूपं भवति जेत्तुला, तावच्छब्दस्यह तेत्तुला ।

वेदं किमयोदिः ॥ ४०८ ॥

अव्यन्नेह-किमोर् ‘इयत्-किवतो’ यौ तयोः पुनः ।
याऽऽदेशवयवस्येह, पदे वा ‘नेवतो’ ऽन्तु कित् ।
एत्तुलां केत्तुलां रूपं, तथा एवन्तु केवन्तु ।

परस्परस्यादिरः ॥ ४०९ ॥

परस्परस्य शब्दस्य, भेदं आदायदं आगतम् ।

‘अवरोप्यह’ इत्येतत्, ततः सिक्कं परस्ये ।

कादि-स्थेदातोःस्वार-झापवम् ॥ ४१० ॥

एतोतेर् लघुनाऽनु, प्रायः स्थितयोः कादिवु हि ।
सुषे चिन्तित्तरह माणु, तसु इत्तं कलि-जुगि दुल्लहो ।

पदान्ते उं-हुं-हिं-हंकाराणाम् ॥ ४११ ॥

‘उं-हुं-हिं-हं’ इत्यमीनां, पदान्तानां तु भाषणे ।
कतस्य शब्धव प्रायो, यथा लहहुं किज्जलं ।

म्हो म्जो वा ॥ ४१२ ॥

प्राग्ने पञ्ज- [२।७५] सुषेण, यो म्हाऽऽदेशो विधीयते ।
तस्य ‘म्जो’ वाऽत्र जायेत, ‘गिम्भो सिम्भो’ यथा पदम् ।

अन्यादृशोऽनाइसावराइमो ॥ ४१३ ॥

स्थाने त्वऽन्यादृशस्याथाऽन्यादृशः स्तोऽन्यादृशः ।

प्रायसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्ब-पग्गिम्भाः ॥ ४१४ ॥

‘पग्गिम्ब-प्राइव-प्राउ-प्राइम्बाः’ प्रायसः पदे ।

वाऽन्ययोऽनुः ॥ ४१५ ॥

‘अनुः’ स्याद् वाऽन्यधेत्यस्य, पक्षे स्याद् रूपम् ‘अग्रह’ ।

कुतसः कउ कट्ठन्तिहु ॥ ४१६ ॥

‘कट्ठन्तिहु कउ’ स्यातामादेशौ कुतसः पदे ।

तत्तदोऽस्तोः ॥ ४१७ ॥

‘तत्तम् तथा’ इत्यनयोस्, ‘तो’ इत्यादेश इत्येते ।

‘अइ भग्गा पारकडा, तो सहि । मत्तु पिषेण ।
अइ भग्गा अमहं तथा, तो तं मादिअडेण” ॥ [१]

एवं-परं-समं-धुवं-मा-मनाक् एवम् पर एत्थाणु ध्रुवु मं

मणात्तं ॥ ४१८ ॥

एवं ‘एवम्’ तथा मा’ मं, ‘ध्रुवं ध्रुवु, परं पर ।
मनाक्’ मणात्तं’ वक्तव्य, समम् अत्र’ समाणु’ ख ।

किन्नाथवा-दिवा-सह-नेहः किगाहव दिवे सहुं नाहिं ॥ ४१९ ॥

किल किर, अथवा अहवह, दिवा दिवे, नाहिं नाहिं ।
सइ सहुम्, इत्यभिधीयते. प्रायो, नेव सदा हि ।
[सहस्य सहुं] ‘अह पवसन्ते सहुं न गयअ न मुअ विओए तस्सु ।
जाजिअ संदसमा, विन्तेहिं सुहय-जणस्सु” ॥ [२]

पश्चादेवमेवैदानीं-प्रत्युनेतसः पच्छइ एम्बइ जि एम्बहिं

पच्चासिउ एत्तहे ॥ ४२० ॥

पश्चान् पच्छइ, एव जि, इत एत्तहे. एवमेव एम्बह च ।
भवतीदानीम् एम्बहिं, तथा प्रत्युनेत पच्चासिउ ।

विषयोक्त-वर्तमानो बुष्ण-बुत्त-विष्णं ॥ ४२१ ॥

उक्तं बुष्णं, वर्तमानं विष्णं, विष्णवं बुष्णम् उच्यते ।

श्रीप्रादीनां बहिष्णादयः ॥ ४२२ ॥

श्रीप्रादेस्तु बहिष्णादिदेशोऽत्र निगद्यते ।

शब्धं ‘बहिष्णु’ इत्युक्तं, अकटां पङ्कलः स्मृतः ।

[१] इयासो महारिरेनङ्गणति यद् भृतिशास्त्रं प्रमाणम् ।

मातृणां चरणी नमनां दिवसं दिवसं गङ्गास्नानम् ॥

[२] मया जगितो बलिगजः । त्वं कीदृशं मार्गणं पयः ।

याहक् ताहम् वाऽपि भवति भूखं । स्वर्गं नारायण ईदृक् ॥

[१] यदि भग्गाः परकीयास्ततः साक्षि । मम प्रियेण ।

अथ भग्गा आस्माकीनास्नतस्तेन मारितेन ॥

[२] यत् प्रवसता सह न गता न मुना वियोगेन तस्य ।

सज्जयते सदेशान् वृत्तानिः सुमगजनस्य ॥

[सिद्धहेम०]

[बहलः] 'जिवं सुपुरित् तिव्यं बहलं जिवं नह तिव्यं बलणां ।
जिवं डोङ्कर तिव्यं कोङ्करं द्विआ विस्तरि कार्' । [१]
'बिहासो'ऽस्त्युपससंगो, 'ब्रवको' जयवाचकः ।
आत्मीयो'ऽप्यस्य, इत्युक्तो ' निबद्धो' गार्ह ईरितः ।
द्रेहिर दृष्टौ, रवणस्तु रम्ये, अङ्गस्तु कानने ।
स्यात् कोङ्कः कौतुकं सङ्कलस्वसाधारण्ये तथा ।
अङ्गते इकारः, दहिरः हेलाङ्ग, नवको नवः ।
अवस्कन्दे दृढबन्धः, पृथगर्थे तुभ्रजुभ्रजः ।
सम्बन्धर्थे केर-तलौ, मूढेऽर्थे बह-नालिवी ।
मा भिषीरिति सम्भीसा, यद्यथे हुङ्कर इत्यते ।
'यद्यत् दृष्टं तत्तद्' इत्यर्थे जादृचिआ स्मृता ।
हुङ्कर-पुग्मादयः शब्द-वेष्टानुकरणयोः ॥ ४१३ ॥
स्त्रु र हुङ्कर-प्रभृतयः, शब्दानुकरणे तथा ।
वेष्टानुकरणे पुग्मादयः शब्दा व्यवस्थिताः ।
'मई जाणउं बुद्धीस हउ पम्म-कहि हुङ्करु सित् ।
नवरि अन्नित्तिय संपन्निआ विण्णिय नाव ऋडडित् ।
अज्जवि नादु महुंजि धरि सिद्धथा वन्देइ ।
तावंजि विरहु गवक्काहि मक्कउ-पुग्मिच देइ' । [२]

धर्मादयोऽनर्थकाः ॥ ४१४ ॥

' धर्म' इत्यादयः शब्दाः, निपाताः परिकीर्तिताः ।
वेधा अनर्थकान्तेऽत्र, 'धर्मं काहं' निदर्शनम् ।
तादर्थ्ये केहि-तेहि-रेसि-रेसि-तणेणाः ॥ ४१५ ॥
'केहि-तेहि-रसि-रेसि-तणेणा' इति पञ्च तु ।
निपाताः संप्रयोगवास्तादर्थ्ये यत्र गम्यन्ते ।
'दोला पहा परिहासडी आइभ न कवणहि देसि ।
हउं सिद्धं तउ केहि पिअ' तुदं पुण्णु अआह रोसि' । [३]

पुनर्विनः स्वार्थे हुः ॥ ४१६ ॥

'पुनर् विना' इत्येताभ्यां, स्वार्थे हुः प्रत्ययो भवेत् ।
पुनरर्थे पुण्णु तना, विनास्ये 'विण्णु' सिध्यति ।

अवश्यमो नै-दौ ॥ ४१७ ॥

अवश्यमः परी 'नै-दौ', स्वार्थिकी प्रत्ययो स्मृतौ ।
तस्माद् अवश्यम् 'अवसे अवस' स्मर्यते बुधे ।

एकशानो निः ॥ ४१८ ॥

स्वार्थे द्विर् एकशान् शब्दात्, रूपम् 'एकलि' संस्मृतम् ।

अ-नद-कुञ्जाः स्वार्थिक-क-लुक् च ॥ ४१९ ॥

नाम्नः परे-ऽनद इङ्ग' इत्यमी स्वार्थिकाल्प्रयः ।
तस्वस्त्रियोगे स्वार्थे क-प्रत्ययश्लेह लुप्यन्ते ।

- [१] यथा सुपुरुषस्तथा ऋगटका यथा नघस्तथा वसनाति ।
यथा गिरयस्तथा कोटराणि हृदयं । सिधसे कथम् ? ।
[२] मया ज्ञातं भुङ्क्ष्यामि अहं मेमहद् हुङ्करिति ।
कवलमविनित्सा संपनिता (संज्ञासा) विण्णियनैः ऋडिति ॥
अथापि नाथो ममैव शुद्ध विज्ञाध्यात् वन्दते ।
नाचद्वय विरहो गवाक्षम् मर्कटवेष्टाः द्यानि ॥
[३] नायक ! एवा रीतिः अत्युद्धता न कुत्रापि दृष्टा ।
अहं क्षीय तव हृते प्रिय ! त्वं पुनरन्वस्थाये ॥

'विरहानल-जाल-करालिभ्रत पाहंघ पण्थि जं दिहुड ।
तं मेलेवि सव्वाहि पंधिआहिं सोजि किञ्चउ अम्मिहुड' । [१] ॥
रुनस्य ' दोसाडा' इङ्गस्य कुञ्जो निदर्शयते ।

योगजश्रीषाम् ॥ ४२० ॥

एषाम् अ-इङ-कुञ्जां, योगजदेन निर्मिताः ।
जायन्ते प्रत्यया येऽत्र, तेऽपि स्वार्थे कश्चित्प्रताः ।
[रुनस्य] 'फोमन्ति जे हिअरुनउं' किंसन्ति [१२९६] यल्लुकमतः ।
[कुञ्ज] ' बुद्धीहाइसद सुकुञ्जु' कुञ्जने कृणु-
[कुञ्ज] 'सामिपसाउ सलज्जुपिच सीमा-सांधी वसु ।
पाकस्ववि बाहु-बलुञ्जमा धण मण्णुइ नांसासु' [२] ॥
आमि 'स्यादी दोधे-दुस्वा' [४३३०] इति दीर्घोऽत्र बुध्यताम् ।
' बाहु बलुञ्ज इउ' तु, प्रत्ययत्रयसमयम् ।

स्त्रियां तदन्ताङ्गीः ॥ ४२१ ॥

पुंस्त्वय्योक्तप्रत्ययान्ताद् मीः स्त्रियां जवत् ।
'पहिआ दिट्ठी गोरडी मित्तु मन्त्रां निअ' ।
अंस्वासेहि कञ्जुआ तित्तुव्वाण करन्ते' [३] ॥

आन्नान्ताङ्गाः ॥ ४२२ ॥

स्त्रियास आप्रत्ययान्त-प्रत्ययान्ताद् 'मा'ऽस्तु नैव डीः ।
'पिउ आइउ सुअ वत्तडी गुण कइअइ पइउ ।
तदो विरहहो नासंतअदो धूलोत्ता' (वि न दिहुड) [४] ॥

अस्येदं ॥ ४२३ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽन इव स्याद् आकार प्रत्यये परे ।
'धूलिदिआ वि दिदु न' इति वाक्यं विभाष्यताम् ।
युष्मादोर्णियस्य डारः ॥ ४२४ ॥
युष्मादोर्णिय इय प्रत्ययस्य 'डार' इत्यन्ते ।
'संदेसं कांति तुहारण जे सङ्गाह' इत्यन्ते न सिद्धिः ।
सुइणन्तिरि पिय पाणपण पिअ ।पिआस कि तिउज्ज' [५] ॥
अदारा च महारा च, वेद्यं चैवं निदर्शनम् ।

अतोर्णेलुः ॥ ४२५ ॥

इदं कियलदेतद्रुधाऽनोः स्थाने 'डेलु' भवेत् ।
एन्तुलो केन्तुलो जेन्तुलो च तेन्तुलो एत्तुलो ।
अस्य केचोदं ॥ ४२६ ॥

सवार्थेऽन त-प्रत्ययस्य, पदे स्यात् 'डेलु' यथा- ।
'एलदे तेत्तेह वीरयो र लच्छि विस्मण्डुल टाड ।
पिअ-पग्मट्टय गोरडी निचल काहिंवि न जाड' [६] ॥

[१] विरहानलज्वालाकरालितः पार्थकः पार्थ यद् दृष्टः ।
तत् मिलितया सर्वैः पार्थिकैः स एव हृताऽग्रिष्ठः ॥

[२] स्वामिप्रसादः सलज्जमियः सीमासंधौ वासः ।
प्रहृय पाहवय नायिका मुञ्जानि निश्वासम् ॥

[३] पार्थक ! दृष्टा गौरा दृष्टया प्राग् पश्यन्ती ।

अधुञ्जुसाभ्यां कञ्जुक तामेताद्वानं कुप्यते ।

[४] प्रिय आगमः भूना वार्ता 'डेलु' कणप्रावेष्टः ।

तस्य विरहस्य महयनां धूलारण्ये न दृष्टा ॥

[५] संदर्शनं कियत् युष्माद्येन यत् सङ्गाय न सिद्धयेत् ।

स्थानान्ते पानेन पानो विन प्रिय ! पिपासा किं निघानं ।

[६] अत्र तत्र वीरशुद्ध लक्ष्मीं विस्मृत्या तिष्ठान् ।
प्रियप्रपञ्चा गौरौ निरचला क्वापि न तिष्ठति ॥

स्व-तलोः प्यणः ॥ ४३७ ॥
 प्रत्यययोस्व स्व-तलोः स्यात्, 'प्यणः', बहुष्यण्यु' स्तुत्तम् ।
 प्रायाऽपिकाराद् 'बहुष्यणोः' इत्यपि सिध्यति ॥
 त्वयस्य इण्व्यञ्जं एण्वञ्जं एवा ॥ ४३८ ॥
 इण्व्यञ्जं एण्वञ्जं एवा' तत्त्वस्य पदं त्रयः ।
 "एउ गृहोऽप्यणुं भ्रं मर्हं, जह प्रिउ रव्यारिज्जह ।
 महू कार्पण्यवञ्जं किं पि सुवि, मरिपण्यञ्जं पर देज्जह ।
 सेसुच्चाडणु सिहिकठणु, घणुकुहणु जं लोह ।
 मंजिउणु सररंसणु, सणु सवण्वउ हाह ।
 सोंपवा पर वारिआ, पुण्णवमंहि समाणु ।
 जग्गेवा पुणु को धरह, जह सों वेउ पमाणु ? " ॥ [१]
 क्त्वं ५-६उ-इवि-अवयः ॥ ४३९ ॥
 "अवि इवि इउ ५' इतीम, क्त्वायः क्त्वं एव भवति, यथा ।
 [६] जह [ङण्यु] सुविचि च [मयि] विच्छोडवि,
 [इउ] अजिउ रूपाणि सिध्यन्ति ।
 [७] अवि "बाह विच्छोडवि जाहि तुहु, हञ्जे नैथैह को दोसु ? ।
 हिअय-द्विउ जह नोसरह, जाणउ मुञ्ज ! सरांसु ॥ " [२]
 एण्येऽपिप्रायेण्येविणवः ॥ ४४० ॥
 क्त्वायः क्त्वं एव 'एण्य, एवि एण्यणुए विणु' ।
 सूत्रयोयः पृथग्यग उल्लराधेः स इत्येते ।
 "जोए अस्सु क्त्वाय-बलु, कोपाणु अमउ अयस्सु ।
 लोवि मइवय सिउ लइहि, कोपाविणु तत्तस्सु ॥ " [३]
 तुम एवमपाणुदहमाहि ॥ ४४१ ॥
 "अणहि अणह एव, अण एविणु एविणु ।
 'एवि एवि' अमी अमी, प्रत्ययस्य तुमः पदं ।
 "द्वेथं उक्कुर निअय-धणु, क्त्वाय न तउ पण्णहाह ।
 एवइ सुहु भुञ्जणहं मणु, पर उक्कुरणहि न जाह ।
 जोए चण्यणु सयव चर, लोविणु लु भु लोवि ।
 विणु सन्ते निअसरण, को सक्कह भुचण वि ? " [४]
 गमरेऽप्याग्रेण्योरलुग वा ॥ ४४२ ॥
 गम-धातोः परौ यौ स्तः, 'एण्य एण्यणु' इत्यम् ।
 तयोः एते लुग अत्रास्तु, विभाषेति विधीयते ।
 "गमिणु वाणारसिंहि नर, सह उज्जाणहि गमिणु ।
 सुअ परावहि परम-पउ, दिवन्तइ म जमि" ॥ [५]

[१] एतद् गृहीत्वा यमया यदि प्रिय! उद्धार्यते ।
 मम कतेत्यं किमपि नापि, मत्वेत्यं परं दीयते ॥
 देशोच्चाटने शिशिकथने घनकट्टने यत्सलाक ।
 मंजिउणया अतिरक्त्या सर्पं सोढव्यं प्रयति ॥
 स्वपितृव्यं परवारिता पुष्पवतीतिः समम् ।
 जागतव्यं पुनः को विजति यादं स वेदः प्रमाणम् ॥
 [२] बाहू विच्छोड्य यस्मि त्वं भवतु तथा को दोषः ? ।
 इदयसिधातो यादं निःसरसि जाने मुञ्ज ! सरावः ॥
 [३] जिस्वाऽशेष क्त्वावबल द्वचाऽभय उगत ।
 लात्वा महात्मानि शिषं लभने ध्यात्वा तत्त्वम् ॥
 [४] दातुं उक्कुरं निजकथनं कर्तुं न तपः प्रतिप्राति ।
 ५-वमव सुखं भोगुं मनः परं ज्ञाकुं न याति ॥
 जेतुं त्यक्तुं सक्तं धरं लातुं तपः पालयितुम् ।
 विना शान्तिना तीर्थेऽवरेण कः शक्नोति मुचनेऽपि ? ॥
 [५] गन्धा वाराणस्यां तदा अधोऽजयिष्यां गत्वा ।
 मृताः (अश्विनो) प्राणुवन्ति परमपदं दिव्यान्तराणि मा जल्प ॥

[एव] "गङ्गा गोमेष्यणु ओ सुभद, को सिव-तिथ गोमेषि ।
 क्रीडति तिस्रवावस-गह, सा जम-लोह जिण्यपि ॥ " [१]
 तृनाऽणुअः ॥ ४४३ ॥
 प्रत्ययस्य तुनः स्थानेऽणमाऽऽदेशो विधीयते ।
 बोल्लणउ वज्जणउ, तथा जसणउ स्मृतम् ।
 इवाथे नं-नउ-नाः-नायइ-जण-जणवः ॥ ४४४ ॥
 अणुअशे 'जाण जणु नाइ नावह ने मउ' ।
 इत्यमी पद प्रयुज्यन्ते, इवाथे कोविधेः सदा ।
 [नाइ] "वलयवावि-नियडणु-मण्य, घण उक्कुरणु आह ।
 वड्ढह-विरह-महादइहा, धाह गवेसइ नाइ ॥ " [२]
 लिरुगमतन्त्रम् ॥ ४४५ ॥
 अत्र सिद्धं व्यभिचारि, प्रायां भवति तेन हि ।
 स्त्रीपुनपुसकं लिङ्गं, यद्येधं संप्रत्ययेन ॥
 "अधमा लग्गा उक्कुरिदि, पडिउ रक्कन्त जाह ।
 जो एहा गिनि-गलण-मणु, सा कि घणह धणाह ॥ " [३]
 अत्र अन्तेति पुंस्ये दि, क्रीडस्य प्रतिपातितम् ।
 एवमन्यासु गाथासु, स्वयं बुद्ध्या विचार्यताम् ।
 शारसनीवत् ॥ ४४६ ॥
 अणुअशे शौरसेनीवत् कार्यः प्रायशः स्तुतम् ।
 व्यत्ययश्च ॥ ४४७ ॥
 भाषाणां प्राकृतादीनां, लक्षणानि तु यानि हि ।
 तेषां च व्यत्ययः प्रायेः, भवेदित्युपदिश्यते ।
 तिष्ठिअण्ति [४४८ए] मागध्यां, यथा कार्यं प्रदर्शितम् ।
 तत् पेशाची-शौरसेनी-प्राकृतेऽप्यपि आद्येन ।
 अणुअशे तु रेफस्याधा वा लुक् स्यादित्थान्तरितम् ।
 मागध्यामपि तत् कार्यं, जवनीति निदर्शनम् ।
 न केवलं हि भाषासङ्गणानां व्यत्ययः कृतः ।
 न्याधादिशानामपि तु, व्यत्ययो दृश्यते यतः ।
 वन्तेमाने प्रसिद्धा ये, त ज्ञेयेऽपि भवन्ति तु ।
 भूतकाले प्रासिद्धास्तु, वन्तेमानेऽपि वीक्षिताः ।
 यथा 'पच्छुइ' इत्येतत्, 'मैत्राञ्जके' कां चमन्तम् ।
 'आजासइ' आषभापे, 'इत्यं क्वापि इश्यते ।
 एवं 'सोहीअ' इति तु, शृणोतीत्यर्थकं क्वचित् ।
 शिष्टप्रयोगतः सर्वे, शोचन्त्यं सूत्रमदर्शितम् ॥
 शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ॥ ४४८ ॥
 प्राकृतादिषु भाषासु, यत् कार्यं नेह दर्शितम् ।
 सप्तधायांनिषेकने, संस्कृतेन समं हि तत् ।
 "हेह-द्विय-सू-निवारणाय, जन्तं आदो इय वहन्ती ।
 अयइ समेना वराह-सास-दूकण्युवा 'दुहवी' ॥ [४]
 यद्यप्य चतुर्थ्यास्तु, नादशो दर्शितः क्वचित् ।
 तथाऽपि सोऽतिदेशेन, सिद्धः संस्कृतवत् बलु ॥
 [१] गङ्गां गत्वा यो मृता यः शिवतीर्थं गत्वा ।
 क्रीडति त्रिदशवावसगतः स यमलोकां जिन्वा ॥
 [२] वलयवाविनिपनभयेन नापिका ऊर्ध्वेऽज्जा याति ।
 वल्लजविरहमहाहृदइ स्याद्यं गयेषयति यति ॥
 [३] अत्रापि लग्गाणि पर्वतसु पथिको रटन् याति ।
 य इच्छति गिरिगलनमनाः स कि नायिकायाः धनानि ? ॥
 [४] अत्र-स्थितसुरनिवारणाय क्लृप्तमथ इव वहन्ती ।
 अयति सशोभा वराहश्वाससुदूरिकशा पृथिवी ॥

उक्तं चापि भवत्यत्र, कार्यं संस्कृतवत् क्वचित् ।
 'उरं उरामि' इत्येतौ, प्रयोगौ प्राकृतं मते ।
 उरसोत्यापि तस्यार्थे, कापि संस्कृतवन्मतम् ।
 सिरं सिरामि सिरसि, सरामि सरसि सरं ।
 इत्याद्यपि बुधैरेवं, वेषं लक्ष्यानुसारतः ।
 लिखस्य प्रद्वण सुत्रे, मङ्गलार्थं प्रकीर्तितम् ।
 येन बाचकवृन्दस्य, नित्यमभ्युदयोऽस्तिवान् ।
 या भाषा भगवद्वचोच्चिरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां
 यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ॥
 तस्याः संप्रति दुःषमारवशतो जातोऽप्रचारः पुनः
 संचाराय मया कृते विवरणो पादश्चतुर्थो गतः ॥१॥
 इति श्रीबृहत्सौधर्मतपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञ-
 श्रीमङ्गट्टारक—श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-
 तायां प्राकृतव्याकृतौ चतुर्थः पादः ।
 तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं प्राकृतव्याकृतिः ।

अथ प्रशस्तिश्लोकाः—

श्रीसौधर्मबृहत्तपेतिविदिते गच्छे पुरा धर्मराट्
 संजातः खलु रत्नसूरिरपरः सूरिः क्षमाऽऽख्यस्ततः ।
 देवेन्द्रश्च ततो बभूव विबुधः, कट्याणसूरिर्महान्
 अचार्यः सकलोपकारनिरतः सूरिः प्रमोदस्ततः ॥१॥
 तच्छिष्यो निजगच्छकृत्यविशदीकर्ता स जट्टारको
 राजेन्द्रान्निधकोशसंप्रणयने संजातजूरिश्रमः ।
 ग्रन्थानां सुविचारचारुचतुरो धर्मप्रचारोद्यतो
 जैनाचार्यपदाङ्कितोऽहमधुना राजेन्द्रसूरिर्बुधः ॥२॥
 दीपविजयमुनिना वा यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन ।
 विज्ञप्तः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं विधातुमहम् ॥३॥
 मोहनविजयेन पुनः प्रधानशिष्येण जूरि विज्ञप्तः ।
 सकलजनोपकृतिश्चैदेवं करणे महान् लाभः ॥४॥
 अत एव विक्रमान्दे, भूमिंसेनवविधुमिते दशम्यां तु ।
 विजयाख्यायां चातुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥५॥
 हेमचन्द्रसंगृहितप्राकृतसूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम् ।
 पद्यमयीं सच्छन्दोवृन्दै रम्यामकार्षिमिमाम् ॥६॥
 श्रीवीरजिनप्रीत्यै, प्रायो विवृतिः कृताऽवधानेन ।
 स्वलनं कापि यदि स्यान्मिथ्या मे दुष्कृतं भूयान् ॥७॥

अथ सूत्रनिर्दिष्टानां गणानां नामानि ।

पादे सूत्रे	पादे सूत्रे
२ । १७ अद्र्यादिः	१ । ७० मांसादिः
१ । ३५ अद्रिष्वादिः	१ । १०७ मुकुलादिः
४ । २५८ अफुसादिः	४ । ३१७ यादशादिः
१ । ५६ अभिज्ञादिः	४ । ४३४ गुष्मदादिः
३ । १७५ इजादिः	४ । २३६ रुषादिः
१ । ६७ उत्त्वादिः	१ । २६ वक्रादिः
१ । १३१ श्रुत्वादिः	१ । ३३ वचनादिः
१ । १२७ कृपादिः	४ । ४२५ वहिष्णादिः
२ । ६ द्वेषटकादिः	४ । २३५ वृषादिः
४ । २४९ गमादिः	१ । १५५ वैरादिः
१ । १४ गुणादिः	१ । २७ विशत्यादिः
२ । १७४ गोणादिः	४ । २३० शकादिः
४ । ४२४ घट्टादिः	१ । ५७ शक्यादिः
४ । ४२९ घुग्गादिः	१ । १८ शरदादिः
४ । ३९९ क्वाद्यादिः	४ । ४२५ शीपादिः
४ । ३९९ तत्त्वादिः	२ । १४५ शीलादिः
२ । ९७ तैलादिः	१ । ७२ सदादिः
१ । ४० त्यदादिः	१ । ४४ सम्ख्यादिः
२ । १७५ त्वादिः	३ । ५७ सर्वादिः
१ । १५१ दैन्यादिः	२ । ९९ सेवादिः
२ । ३० धृत्तादिः	३ । १७५ सोच्छादिः
१ । १०१ पानीयादिः	१ । १६० सौन्दर्यादिः
१ । १६५ पौरादिः	१ । ४६ स्वप्नादिः
२ । २१७ प्यादिः	३ । ३५ स्वस्नादिः
१ । २०६ प्रत्यादिः	१ । २५४ हरिद्रादिः
१ । २९ मांसादिः	४ । ४२३ दुहुर्वादिः

अथ प्राकृतसूत्राणां सूत्रसङ्ख्या ।

पादे	सूत्रसङ्ख्या
१	२७१
२	२१७
३	१७५
४	४४७
४	१११६

॥ अजिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् २ ॥

॥ अथ प्राकृतसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका ॥



पृष्ठ.	अ	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र		
८	अक्षरैत्यादौ च	। ८। १। १५१।	१८	अमेणम्	। ७। ३। ७८।	६	आन्व गौरवे	। ८। १। १६३।
२३	अङ् संभावने	। ८। २। १०५।	१९	अमोऽस्य	। ८। ३। १५।	१७	आजस्य टाङ्	। ८। ३। १५५।
३	अञः पौरादौ च	। ८। १। १६२।	४५	अमर्ह हर्षे	। ८। ४। २८५।	४८	आद्यौ पानुत्स्यौ रौ	। ८। ४। ३४२।
२५	अङ्गोपसं	। ७। ३। १६६।	३३	अम्मो आक्षयै	। ८। २। १०८।	६	आत्कर्मरौ	। ८। १। १००।
११	अङ्गोत्तुः	। ८। १। २००।	३०	अमर्ह अमर्होः	। ७। ३। १०६।	७	आकुरा-भृदुकौ	। ७। १। १२७।
१६	अचचपुरः चलोः	। ७। २। ११८।	३०	अमर्ह मम मह म०	। ८। ३। ११६।	४६	आत्सव	। ७। ४। ३१६।
२५	अजातः पुनः	। ७। ३। १३१।	४६	अमर्हं न्यसां०	। ८। ४। ३००।	२७	आत्ममद्यो गि०	। ८। ३। १७७।
५२	अ-नङ्-ह्लोः	। ८। ४। ४२६।	२६	अमर्ह अमर्होः	। ८। ३। १०७।	३६	आहङ्कः सन्नामः	। ८। ४। ८३३।
२२	अण गाहं नअर्थे	। ८। २। १६०।	२६	अमर्होहि अमर्हाहि०	। ८। ३। ११०।	८	आहतं द्विः	। ८। १। १६३।
३३	अण इजास्विञ्च०	। ७। ३। १७७।	४६	अमर्होहि नित्सा	। ८। ४। ३०५।	३	आदेः	। ८। १। १८८।
४५	अण पत्सो पुंसि०	। ८। ४। १२७।	११	अयो वैत्	। ८। १। १६६।	१७	आदेः इमधुम०	। ८। २। ८६।
३१	अण एवच सं	। ८। ३। १५४।	७	अयि वैत्	। ८। १। १६५।	१३	आदेर्व्योः ञः	। ८। १। २४५।
११	अणमीसानवाह०	। ८। १। २२१।	७	अयि वैत्	। ८। १। १६५।	२२	आनतयोः णवरिः	। ७। ३। १८८।
५१	अणां न्नसः	। ८। ४। ४०३।	३७	अयि वैत्	। ७। ४। २५१।	५२	आन्मान्नाद्वा०	। ७। ४। ३३२।
४६	अणां ऋनङ्गांनोः	। ७। ४। ३३१।	३५	अयि वैत्	। ७। ४। १०८।	२१	आपाङ्गिणस्यपदां०	। ८। ४। ४००।
३४	अणां ऊंसङ्गादौ०	। ८। ४। २७६।	२२	अयि वैत्	। ८। ४। १०८।	२२	आम अम्युपगमं	। ८। २। १७७।
३४	अणां ङो विसर्गं०	। ८। १। ३७७।	४५	अयि वैत्	। ८। ४। १०८।	४८	आमन्त्र्य जसो०	। ८। ४। ३४६।
४४	अणां ङश्च	। ८। ४। २७४।	१०	अयि वैत्	। ८। १। १८०।	४५	आमो ङोर्वा वा	। ८। ४। ३००।
१६	अणा र्वा आगरिञ्च०	। ७। २। १६७।	५२	अयि वैत्	। ८। ४। १२७।	२७	आमो ङोर्वा वा	। ८। ३। १६१।
५२	अणां मेषुञ्च	। ८। ४। ४३५।	४०	अयि वैत्	। ८। ४। १२७।	४७	आमोर्ह	। ८। ४। ३३६।
३२	अणाः ससृज्यादौ०	। ८। १। ४४४।	४०	अयि वैत्	। ८। ४। १२७।	२	आयुत्परसरोर्वा	। ८। १। २०।
२७	अणाः सथादेर्जं०	। ८। ३। २४७।	४१	अयि वैत्	। ८। ४। १२७।	४३	आयुत्परादुर्णः	। ८। ४। ३४५।
२४	अणाः सङ्गाः	। ७। ३। १२।	३६	अयि वैत्	। ८। १। १७२।	४१	आकृद्द्वयम्-व०	। ७। ४। २०६।
३१	अणिव स्थ्यादिना	। ८। ३। १५४।	३६	अयि वैत्	। ८। ४। ६१।	३५	आरोपेवल्	। ८। ४। ४७।
११	अण्य प्राकृतम्	। ७। १। ११।	३६	अयि वैत्	। ८। ४। ६१।	२६	आरोः स्वादौ	। ८। ३। ७४।
४६	अदस आह	। ८। ४। ३६४।	२२	अयि वैत्	। ७। २। १७५।	५	आयोर्वा योः	। ८। १। १७७।
७	अदुतः सूचमे वा	। ८। १। ११८।	२३	अयि वैत्	। ८। १। १७५।	१	आयम्	। ८। १। ३।
३२	अदुल्लुक्याद्वेदत०	। ८। ३। १३३।	४०	अयि वैत्	। ८। ४। १२७।	१६	आप्ताने सनोः	। ८। ३। ११७।
२०	अद्यमो हद्दुं	। ८। ३। १४१।	३६	अयि वैत्	। ८। ३। १०६।	३५	आप्तोः ङोऽह्नीं	। ८। ४। ३५४।
१७	अद्यो मनयाम्	। ७। २। ७८।	५२	अयि वैत्	। ८। ४। ३३३।	२१	आप्त्वास्त्रोहाल०	। ८। ३। १५१।
४४	अद्यः कश्चिन्	। ८। ४। ३६१।	४५	अयि वैत्	। ७। ४। ३०१।	१६	आप्त्यर्थे	। ८। २। ६६।
२०	अणङ्गाणां वैलस्य०	। ८। २। १५५।				१६	आप्त्विणे लयौ	। ७। २। ४६।
१८	अणादौ शेषादे०	। ८। २। १८६।				२६	आप्तौ नवा	। ८। ३। ४८।
५०	अणादौ स्वराद०	। ८। ४। ३६६।						
६	अनुत्सार्हास्य०	। ८। १। ११४।						
३७	अनञ्जोः पदि अगामः	। ८। ४। १०७।						
४५	अन्यवषयस्या०	। ८। ४। ३७५।						
१	अन्यव्यञ्जनस्य	। ७। १। ११।						
५१	अन्याहरोऽप्राह०	। ८। ४। ४२३।						
१५	अभिमतयोः अङ्गौ वा	। ८। ३। २५।						
५०	अभितोऽपि काञ्च०	। ८। ४। ३६६।						
४०	अभ्याङ्गोम्मथाः	। ८। ४। १६५।						

अथा

२६	आ अरा मातुः	। ८। ३। ४६।
४४	आ आत्मन्त्र्य सौ०	। ८। ४। २६३।
४१	आः ऋगां भूत-भण०	। ८। ४। २१४।
३८	आकृन्दोर्पादः	। ८। ४। १३१।
३६	आकर्मरोहाच०	। ८। ४। १६०।
३६	आक्षिपेणवः	। ८। ४। १५५।
३४	आक्षिपेणवः	। ८। ४। १३३।
३६	आङ्गा आह्रिपः	। ८। ४। १६३।
३८	आङ्गा आह्रिपः	। ८। ४। १६३।
३६	आङ्गा आह्रिपः	। ८। ४। १६३।
३६	आङ्गा आह्रिपः	। ८। ४। १६३।
५	आचार्योः ङोऽच	। ८। १। ७३।

इ

५	इः सदादौ वा	। ८। १। ७२।
४	इः स्वप्रादौ	। ८। १। ४६।
४६	इवचः	। ८। ४। ३१७।
३५	इष्ट मो-मुमे वा	। ८। ३। १५५।
२५	इजरोः पादपुरणे	। ८। २। २१७।
२७	इयाममाभा	। ८। ३। ४३।
५	इत पदा	। ८। १। ७५।
३	इतेः स्वरान्तञ्च०	। ८। १। ४५।
६	इतो तो वाक्यां०	। ८। १। ६१।

पृष्ठ.	सूत्र
२७	किलद्रुषां नासः । ८ । ३ । ६२ ।
२६	कियसर्वास्त्वयं । ८ । ३ । ३३ ।
२७	कियसत्त्वयोऽङ् । ८ । ३ । ६३ ।
४	किञ्च वा । ८ । ३ । ८६ ।
२४	किष्णो प्रसे । ८ । ३ । २२६ ।
२८	किष्णो मिष्णोऽङ् । ८ । ३ । ६८ ।
४६	किष्णो मिहे वा । ८ । ४ । ३६६ ।
२८	किम् कस्मन्सोऽङ् । ८ । ३ । ७१ ।
४८	किम् काङ् कवोऽङ् । ८ । ३ । ३६७ ।
२७	किम् कि । ८ । ३ । ८० ।
१०	किमानं चः । ८ । १ । १८३ ।
१३	किरिभरे त्रुः । ८ । १ । २४१ ।
२१	किरिहिरिकिसां । ८ । १ । १८८ ।
५१	किष्णायवादि । ८ । ४ । ४१६ ।
१४	किसलयकाज्ञां । ८ । २ । २६६ ।
४१	कुनसः कडः । ८ । ४ । ४११ ।
७	कुन्हले वा ह्णु । ८ । १ । ११७ ।
१०	कृष्णकर्पकीसां । ८ । १ । १८१ ।
१७	कृष्णायक्वां प्रभां । ८ । २ । ७३ ।
४४	कुगमो रुद्रभः । ८ । ४ । २७२ ।
४६	कुगः कुणः । ८ । ४ । ६५ ।
४६	कुगो नीरः । ८ । ४ । ३१६ ।
१४	कुलिचत्वरं चः । ८ । २ । १२ ।
२१	कुन्वसो हुञ्चं । ८ । २ । १४७ ।
३१	कुदा ह । ८ । ३ । १७० ।
३६	कुणोऽवहो णिः । ८ । ४ । १५१ ।
४०	कुपः ककुसाञ्च । ८ । ४ । १८० ।
१६	कुष्णः यण्ये वा । ८ । २ । ११० ।
१३	कुटभे भां चः । ८ । १ । १४० ।
८	कुलियकं वा । ८ । १ । १६१ ।
३२	कुलं । ८ । ३ । १४६ ।
४३	कुलाणुगुणाद्यः । ८ । ४ । २४८ ।
३६	कुलं हः । ८ । ४ । ६४ ।
४४	कुन्व इञ्च-द्विणो । ८ । ४ । २७१ ।
५३	कुन्व इ इड द्विणो । ८ । ४ । ४३९ ।
५३	कुन्वस्त्वमृत्तुणं । ८ । २ । १४६ ।
४६	कुन्वस्त्नः । ८ । ४ । ३११ ।
४१	कुन्व तुय तत्त्वेषुं । ८ । ४ । ११० ।
२	कुन्वत्यपिणस्त्वां । ८ । १ । २७ ।
३१	कुण्ठायसुक् । ८ । ३ । १३८ ।
४६	कुण्ठ्येयः । ८ । ४ । ३३४ ।
३४	कुण्ठ्यः किष्णो वः । ८ । ४ । ५२ ।
३३	कुण्ठ्यातिपत्तः । ८ । ३ । १७६ ।
४०	कुण्ठ्यः कांस्तु । ८ । ४ । ३८६ ।
३८	कुण्ठ्यैः । ८ । ४ । १३४ ।
४८	कुण्ठ्यैः उग्रासोऽङ् । ८ । ४ । ३४३ ।
२७	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ३ । ७८ ।
२५	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ३ । २४ ।
३०	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ३ । १३४ ।
४३	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ३ । २२० ।

पृष्ठ.	सूत्र
३७	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ३ । ११६ ।
२६	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ३ । ४३ ।
१४	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । २ । ३ ।
१४	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । २ । १७ ।
४०	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । २ । १७ ।
४५	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ४ । २६६ ।
२	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । १ । १७ ।
३६	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ४ । ७२ ।
३६	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ४ । १५४ ।
२	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । १ । १७ ।
३६	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ४ । ७२ ।
३६	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । ४ । १५४ ।
१८	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । २ । १०१ ।
१४	कुण्ठ्यैः स्वमन्त्रिणो । ८ । २ । ६ ।

ख

१०	खद्ययधमाम् । ८ । १ । १८७ ।
११	खचितपिशाचं । ८ । १ । १६३ ।
३७	खद्ययधमाम् । ८ । ४ । १७५ ।
४२	खद्ययधमाम् । ८ । ४ । २२८ ।
३८	खद्ययधमाम् । ८ । ४ । ३३२ ।

ग

४३	गमादीनां द्वित्वम् । ८ । ४ । १२६ ।
४१	गमिष्यमासां ङः । ८ । ४ । २२५ ।
३६	गमरङ्गश्रद्धाणुवोऽङ् । ८ । ४ । १६३ ।
४३	गमरेण्येवोऽङ् । ८ । ४ । ४४२ ।
४३	गमरेण्येवोऽङ् । ८ । ४ । ४५८ ।
१४	गमरेण्येवोऽङ् । ८ । १ । ३४ ।
१६	गमरेण्येवोऽङ् । ८ । २ । ३७ ।
११	गमितानिमुक्तकेऽङ् । ८ । १ । २०७ ।
४	गमयं चः । ८ । १ । ४४ ।
४०	गमयं चः । ८ । ४ । १७९ ।
६	गमयं चः । ८ । १ । १४७ ।
३	गमयाः ऋषे वा । ८ । १ । ३४ ।
३६	गमयैः ऋषे वा । ८ । ४ । १४० ।
६	गम्यैः क वा । ८ । १ । १०६ ।
३१	गम्यादिवावा । ८ । ३ । १४० ।
२०	गम्यस्य घरोऽपतौ । ८ । २ । १४४ ।
२१	गम्याद्यः । ८ । २ । १७४ ।
१६	गम्यस्येयतः कुरः । ८ । २ । १२६ ।
७	गम्यास्यस्य । ८ । १ । १३४ ।
१६	गम्यो वा । ८ । २ । ६२ ।
३८	गम्यां गगः । ८ । ४ । १२० ।
४१	गम्याद्यः । ८ । ४ । २०४ ।
४३	गम्याद्यः । ८ । ४ । ३६४ ।
४१	गम्याद्यः । ८ । ४ । २४६ ।

घ

५२	घहमाद्योऽन्यकाः । ८ । ४ । ४२४ ।
----	---------------------------------

पृष्ठ.	सूत्र
५	घस्यैर्वा । ८ । १ । १६७ ।
३४	घटः परिवारः । ८ । ४ । ५० ।
३८	घटोदः । ८ । ४ । ११२ ।
३८	घूर्णो घुञ्च-घोत् । ८ । ४ । ११७ ।

ङ

२	ङणनो व्यञ्जे । ८ । १ । २५ ।
४८	ङणसः सुदोस्त्वः । ८ । ४ । ३३७ ।
२४	ङणसः स्वः । ८ । ३ । १० ।
२४	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ३ । २३ ।
४६	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ४ । ३७२ ।
४८	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ४ । ३७३ ।
२७	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ३ । ६६ ।
३०	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ३ । २२६ ।
४७	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ४ । ३३६ ।
२४	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ३ । ८ ।
४८	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ४ । ३३० ।
४७	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ४ । ३३४ ।
२७	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ३ । ६६ ।
३०	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ३ । २२६ ।
४७	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ४ । ३३६ ।
४६	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ४ । ३६७ ।
२७	ङणस्योः पुङ्क्योऽङ् । ८ । ३ । ४४ ।

च

४	चण्डकण्ठिणेणोऽङ् । ८ । १ । ५३ ।
३०	चण्डकण्ठिणेणोऽङ् । ८ । ३ । २२२ ।
२४	चण्डकण्ठिणेणोऽङ् । ८ । ३ । १७ ।
३०	चण्डकण्ठिणेणोऽङ् । ८ । ३ । ३३१ ।
१०	चण्डकण्ठिणेणोऽङ् । ८ । १ । १८८ ।
११	चण्डकण्ठिणेणोऽङ् । ८ । १ । १८९ ।
३६	चण्डकण्ठिणेणोऽङ् । ८ । ४ । ३३६ ।
३४	चण्डकण्ठिणेणोऽङ् । ८ । ४ । ३३७ ।

छ

४३	छन्दोऽङ् । ८ । ४ । २१ ।
४४	छन्दोऽङ् । ८ । ४ । २५५ ।
११	छन्दोऽङ् । ८ । १ । १६१ ।
१३	छन्दोऽङ् । ८ । ३ । २४ ।
४१	छन्दोऽङ् । ८ । ४ । २१६ ।
३८	छन्दोऽङ् । ८ । ४ । १३४ ।
१४	छन्दोऽङ् । ८ । २ । १७ ।

ज

११	जटिरे जो भोऽङ् । ८ । १ । १७४ ।
४४	जटिरे जो भोऽङ् । ८ । ४ । २७२ ।

पृष्ठ.	सूत्र
३७	जने जा जम्भौ । ७ । ४ । १३६ ।
२४	जशशम् ईहं० । ८ । ३ । १६ ।
४९	जशशसेरम्हं० । ८ । ४ । ३७६ ।
२४	जशशसोर्षा वा । ८ । ३ । २२ ।
२४	जशशसंलुक् । ८ । ३ । ४ ।
४६	जशशसोस्त्वु० । ७ । ४ । ३६६ ।
२४	जशशसकसि० । ७ । ३ । १४ ।
२६	जशशसकसि० । ७ । ३ । १० ।
३६	जाभिजमा । ७ । ४ । ८० ।
३४	जगुप्तेर्मुण० । ८ । ४ । ४ ।
२२	जेण नेणु ङ० । ७ । १ । १०३ ।
३२	जाजि । ८ । ३ । १७९ ।
३२	जान् सतस्या० । ८ । ३ । १६५ ।
३४	जा जाणमुणौ । ८ । ४ । ७ ।
१७	जा जः । ८ । २ । ७३ ।
४६	जा इजः वैशा० । ८ । ४ । ३०३ ।
४३	जा णोपेजिहा० । ८ । १ । ४६ ।
४३	जा णव्यसजौ । ७ । ४ । २४२ ।
१६	ज्यायामीस्व । ८ । २ । ११५ ।

ट

४८	ट ए । ७ । ४ । ३४९ ।
२४	टाश्रामोणं । ८ । ३ । ६ ।
२५	टाङ्कम्कुरदादि० । ८ । ३ । २९ ।
४९	टाङ्कमा पठतर्हं० । ८ । ४ । ३७० ।
४९	टाङ्कमा मर्हं । ७ । ४ । ३७७ ।
२५	टाणदास्येत् । ८ । ३ । १४ ।
११	टां डः । ८ । १ । १६५ ।
२५	टां ण । ७ । ३ । २४ ।
२७	टां णा । ७ । ३ । ७१ ।
४६	टोरुनुवां । ८ । ४ । ३११ ।
४५	ट्टघाः स्तः । ८ । ४ । २६० ।

ठ

११	ठो डः । ८ । १ । १६६ ।
१५	ठोअश्विस्संस्थुजे । ८ । २ । ३२ ।

ड

१३	डाहवौ कतिपये । ८ । १ । २५० ।
२१	डिह्लुङ्गो भवे । ८ । २ । १६३ ।
२४	डिम्म ऊः । ८ । ३ । ११ ।
२६	डो हीर्षो वा । ७ । ३ । ३८ ।
११	डो लः । ८ । १ । १०२ ।
१६	डकमाः । ७ । ३ । ५२ ।

ण

२२	णक्षेभञ्जिप्रथ० । ८ । २ । १८४ ।
२२	णवरं केवलं । ८ । २ । १८७ ।
२२	णवि वेपरित्ये । ८ । २ । १७८ ।

पृष्ठ.	सूत्र
२६	णे गुं मि अम्मि० । ८ । ३ । १०७ ।
२६	णे णां मज्ज अम्मं० । ८ । ३ । ११४ ।
३१	णेरंददावावे । ८ । ३ । १४६ ।
४६	णो नः । ८ । ४ । ३०६ ।
२८	णोऽमशसटानि० । ८ । ३ । ७७ ।
४४	णं नन्वर्थे । ८ । ४ । २८३ ।

त

२६	तइ तु ते तुम्हं तुहं० । ८ । ३ । ६६ ।
२६	तइ तुव तुम तुहं० । ८ । ३ । ७६ ।
४१	तकैल्लच्छच्चरस्य० । ८ । ४ । १६४ ।
५०	तद्यदीनां गंजा० । ८ । ४ । ३६५ ।
११	तगरत्रसत्तुव टः । ८ । १ । २७१ ।
३१	तमराहोमविहोमी । ८ । ४ । २७१ ।
४१	तनस्तदोस्तोः । ८ । ४ । ४१७ ।
२८	तदश्च तः सोऽङ्गीवा । ७ । ३ । ७६ ।
४६	तदिदमोष्टा नेन श्लि० । ४ । ३२२ ।
२८	तदो गोः । ८ । ३ । १७७ ।
२८	तदो णः स्यादौ कौ० । ८ । ३ । ७० ।
४६	तदोस्तः । ७ । ४ । ३०७ ।
३७	तनेस्तनतद्वतुव० । ८ । ४ । १३७ ।
१९	तन्वीतुन्येषु । ७ । २ । ११७ ।
४३	तवस्य इपव्व० । ८ । ४ । ४३८ ।
४४	तस्मात्ताः । ८ । ४ । २८८ ।
३०	तत्पथंङ्खो । ७ । ३ । १३५ ।
४२	तादर्थ्यं केहिनेहिं० । ८ । ४ । २७४ ।
३६	ताज्जास्यः । ८ । २ । ४६६ ।
३७	तिज्जास्युक्कः । ८ । ४ । १०४ ।
६	तिर्निर्गै रः । ८ । १ । १०० ।
२०	तिर्यचास्तिरिच्छिः । ७ । २ । १४३ ।
४५	तिष्ठधिष्ठः । ८ । ४ । २८७ ।
१७	तीकण० । ७ । २ । १०१ ।
६	तीर्थे हं । ८ । १ । १०४ ।
११	तुच्चे तश्चो वा । ८ । १ । २०४ ।
३७	तुर्नस्तनरुत्तुनु० । ८ । ४ । १६६ ।
२६	तु तुव तुम तुहं० । ८ । ३ । १०७ ।
२६	तुम्भ तुम्भोहा० । ८ । ३ । ६७ ।
४३	तुम पवमगा० । ७ । ४ । ४४१ ।
२६	तुम तुमप तु० । ८ । ३ । १०६ ।
४६	तुम्हासु सुया । ८ । ४ । ३७४ ।
२६	तुह तुम्भ तहिं० । ८ । ३ । १०७ ।
४०	तुराप्रत्यादा । ८ । ४ । १७२ ।
३४	तुलराहामः । ८ । ४ । १७१ ।
२६	तु यो त्र तुम्भ० । ८ । ३ । १०० ।
३१	तुनीयस्य मिः । ७ । ३ । १४१ ।
३१	तुनीयस्य मोसु० । ८ । ३ । १४४ ।
४३	तुनोऽण्णः । ८ । ४ । ४४३ ।
३२	तुपस्थिपः । ८ । ४ । १३७ ।
३२	तेनास्तेरास्येह० । ७ । ४ । १६४ ।
१७	तेलावौ । ८ । २ । ९८ ।

४४	तो दोऽनादौ शौ० । ७ । ४ । २६० ।
४	तोऽस्तरि । ८ । १ । ६० ।
२६	ते तु तुम्भं तुवं तु० । ८ । ३ । ९२ ।
२२	ते वाक्क्याप्यास । ८ । २ । १७६ ।
२१	तेो दो तसो वा । ८ । २ । १६० ।
२८	ते च तस्य सुक्का । ८ । ३ । ८३ ।
२८	ते व्यदाद्यव्यास० । ८ । १ । ४० ।
४०	तेयादिशोस्तुः । ७ । ४ । १७१ ।
३१	तेयादीनामाश्रय० । ८ । ३ । १३९ ।
१	तेयादिः । ८ । १ । ९५ ।
४६	तेयादिवाचप्रय० । ८ । ४ । ३८२ ।
१४	तेयोऽन्वये । ८ । २ । १३३ ।
२१	तेषां हिहतथाः । ८ । २ । १६७ ।
४१	तेषेरेवरोज्जय० । ७ । ४ । १६७ ।
४०	तेस्तस्य द्विस्थतो । ८ । २ । १३६ ।
४२	तेस्य केचहे । ८ । ४ । ४३६ ।
३०	तेस्तिभिः । ८ । ३ । ११६ ।
३०	तेस्तीं तुनीयादौ । ८ । ३ । ११८ ।
४३	तेवज्ञोः एणः । ७ । ४ । ४३७ ।
१५	तेव्यवर्थां चळ्ळो० । ८ । २ । १५ ।
४०	तेवस्तुवरज्जमौ । ८ । ४ । १७० ।
२०	तेवस्य डिमात्त० । ८ । २ । १४४ ।
२२	तेवादेः सः । ८ । २ । १७७ ।

थ

१४	थावास्पन्दे । ७ । २ । ६ ।
२३	थू कुन्त्यायाम् । ८ । ७ । २०० ।
४४	था थः । ८ । ४ । २६७ ।

द

४	दकिणे हे । ८ । १ । ४४ ।
१६	दग्धविदग्धवृद्धि० । ८ । २ । ४० ।
२४	दगापोप । ७ । २ । २१४ ।
४०	दगिणवयोधिंसट्ट० । ७ । ४ । १७६ ।
२२	दशानददृष्टयदो । ७ । १ । १७७ ।
१७	दशायोपयो हः । ८ । १ । २६२ ।
१७	दशाहं । ७ । १ । ८४ ।
४१	दशगणित्तानु० । ७ । ४ । १०७ ।
४३	दशो श्चः । ८ । ४ । ७४६ ।
२	दिक्रमाडयोः सः । ७ । १ । १९ ।
४४	दिर्निचवाः । ८ । ४ । २७३ ।
१३	दियसे सः । ७ । १ । २६३ ।
१२	दीपां पो वा । ७ । १ । २७३ ।
१	दीर्घह्रस्वौ मिशो० । ७ । १ । ४ ।
१७	दीधि वा । ८ । ३ । १११ ।
१७	दुःखदक्षिणनीर्थे० । ८ । २ । ७२ ।
४४	दुःखे णिवराः । ८ । ४ । ३३ ।
३७	दु खे णिवरलः । ८ । ४ । ६२ ।
७	दुक्कं वा अश्च द्विः । ८ । १ । ११६ ।
१४	दुग्गादेत्युक्कश्च० । ८ । १ । १७० ।

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
३०	बुधे दोषि बोधि० । ॥ ३ । १२० ।	४०	नशोरिणिसा० । ॥ ४ । १०८ ।	१६	पद्यप्रमूलद्वारे० । ॥ १ । ११२ ।
३३	ड्रु सु-विध्यादि० । ॥ ३ । १२३ ।	३५	नशांविडरुनास० । ॥ ४ । १११ ।	२०	परराजन्त्यां क्० । ॥ १ । ११८ ।
१६	ड्रुहिनुरागिन्यांशु० । ॥ ३ । १२६ ।	१	न अङ्गदाः । ॥ ४ । १११ ।	५१	परस्परस्यादिरः । ॥ ४ । ४०९ ।
३४	दूङ्गा द्रुमः । ॥ ३ । १२९ ।	२५	नात आत् । ॥ ४ । ११० ।	४१	पयसः पत्रोड-प० । ॥ ४ । २०० ।
१८	द्वत् । ॥ ३ । १३६ ।	४	नात्पुनर्यादाइ वा । ॥ ४ । ११६ ।	१६	पयस्तपय्या० । ॥ ३ । १६८ ।
४१	द्वयासेन द्रुः । ॥ ३ । १३९ ।	४७	नादिपुत्रोरग्न्ये० । ॥ ४ । ११० ।	१६	पयस्त घटी । ॥ ३ । १७७ ।
३२	द्विशि वचनेरसिद्धुं । ॥ ३ । १६१ ।	२६	नामन्यात्सां मः । ॥ ४ । १०१ ।	१३	पयांणे वा बा । ॥ ३ । १५२ ।
३६	द्विशोर्वावदाद् । ॥ ३ । १६२ ।	२६	नाम्यरं वा । ॥ ३ । १०१ ।	१२	पभिते वा । ॥ ३ । १११ ।
४०	द्विशो निम्नच्छुप० । ॥ ३ । १६२ ।	१०	नावर्णात्पः । ॥ ३ । १०७ ।	५१	पश्चाद्विभवेवे० । ॥ ३ । ४२० ।
५०	द्विशोः क्विपत्कस० । ॥ ३ । १६४ ।	१०	नाव्याषः । ॥ ३ । १०७ ।	११	पाटिपठपपरि० । ॥ ३ । २३२ ।
५०	द्विशोः प्रससः । ॥ ३ । १६५ ।	१०	नाव्याषः । ॥ ३ । १०७ ।	६	पार्त्त्यादिभ्यव० । ॥ ३ । १०१ ।
२३	द्विसमुखांकरयो च । ॥ ३ । १६६ ।	१०	नाव्याषः । ॥ ३ । १०७ ।	११	पाषाणै रः । ॥ ३ । २३५ ।
३५	द्विसालरङ्गावः । ॥ ३ । १६८ ।	३४	नाव्याषः । ॥ ३ । १०७ ।	५	पाशपते रो वा । ॥ ३ । १०० ।
१२	द्विसंग्रहोः । ॥ ३ । १२१० ।	१२	नाव्याषः । ॥ ३ । १०७ ।	११	पिठेरं हो वा क्त्वा० । ॥ ३ । २०१ ।
१०	द्विसंप्रया दाढा । ॥ ३ । १२३१ ।	३८	नाव्याषः । ॥ ३ । १०७ ।	३४	पिषेः पिञ्जमङ्ग० । ॥ ३ । १०० ।
४६	द्विसन्धुना द्रुः । ॥ ३ । १२३३ ।	१	निर्दुरोर्वा । ॥ ३ । १२३ ।	४०	पिषेणिवहृण्य० । ॥ ३ । १२५ ।
१५	द्विसरयो जः । ॥ ३ । १२४ ।	३४	निर्मा निम्मायु० । ॥ ३ । १२५ ।	१२	पिते बां ल वा । ॥ ३ । १२३ ।
५	द्विसरो न वा । ॥ ३ । १२४ ।	३५	निलीकेणिली० । ॥ ३ । १२५ ।	२५	पुलिजसां डड० । ॥ ३ । १२० ।
१४	द्विसरो वा । ॥ ३ । १२४ ।	७	निवृत्तवृन्दारके० । ॥ ३ । १२२ ।	२५	पुलिप्यांनिभ्यव० । ॥ ३ । ७३ ।
३१	द्विसनीयतुयोरुप० । ॥ ३ । १६० ।	३४	निवृत्तपत्यांनिहो० । ॥ ३ । १२२ ।	२७	पुन्येन आणो रा० । ॥ ३ । १६६ ।
३१	द्विसनीयस्य सि से । ॥ ३ । १६० ।	१२	निशांशुपृथिव्यांवा । ॥ ३ । १२६ ।	३७	पुत्रारोस्यमाशौ । ॥ ३ । १०२ ।
३१	द्विसनीयानुनीययो० । ॥ ३ । १६० ।	५१	निश्वसेभङ्गः । ॥ ३ । १२१ ।	६२	पुत्रकं कृतकरणो० । ॥ ३ । १५६ ।
६	द्विन्यांरुन् । ॥ ३ । १६४ ।	१५	निषेधे धो डः । ॥ ३ । १२६ ।	५२	पुनर्विनः स्वार्थे० । ॥ ३ । १५६ ।
३०	द्विवचनस्य बहुवच० । ॥ ३ । १६० ।	३७	निषेधेर्हकः । ॥ ३ । १२६ ।	११	पुत्राजान्निभ्यांवा । ॥ ३ । १६० ।
३०	द्विर्वा वे । ॥ ३ । १२९ ।	३६	निष्प्रमावष्टमे० । ॥ ३ । १२६ ।	६	पुत्र्ये रुरः । ॥ ३ । १११ ।
ध					
२	धनुषो वा । ॥ ३ । १२९ ।	३६	निष्प्रतां आरण्य० । ॥ ३ । १२६ ।	४४	पुत्र्ये पुरः । ॥ ३ । १०० ।
३४	धनुषद्रुमः । ॥ ३ । १२९ ।	३६	निस्सर्णाहर० । ॥ ३ । १२६ ।	२०	पुत्र्ये पुरिभः । ॥ ३ । ११५ ।
४३	धानयोऽध्यांनरेऽ० । ॥ ३ । १२९ ।	६	नारुपीत्रे वा । ॥ ३ । १२६ ।	४०	पुत्र्ये पाडाश्व० । ॥ ३ । १२६ ।
१७	धाव्याष । ॥ ३ । १२९ ।	१२	नारुपाडि मां वा । ॥ ३ । १२६ ।	१०	पुत्र्ये घो वा । ॥ ३ । १२६ ।
३६	धृगधुवः । ॥ ३ । १२९ ।	३८	नः सर्दा मज्जः । ॥ ३ । १२६ ।	३६	पुत्र्ये स्पष्टे निष्वा० । ॥ ३ । ६९ ।
१६	धृगधिहिः । ॥ ३ । १२९ ।	१२	नो ना । ॥ ३ । १२६ ।	७	पुत्र्ये वाऽनुत्तरपदे । ॥ ३ । १२९ ।
१८	धृगधुपुनः णः । ॥ ३ । १२९ ।	३३	नमाणी । ॥ ३ । १२६ ।	१५	पो वः । ॥ ३ । १२९ ।
१६	धृग्ये वा । ॥ ३ । १२९ ।	१६	नमां मः । ॥ ३ । १२६ ।	२४	प्याद्यः । ॥ ३ । १२९ ।
३४	धृग्यांमांवा । ॥ ३ । १२९ ।	४५	न्यायकजां ङ्गः । ॥ ३ । १२९ ।	३५	प्रकाशांशुव्यः । ॥ ३ । १२९ ।
१५	धृग्ये वा । ॥ ३ । १२९ ।	४६	न्याययोऽम् । ॥ ३ । १२९ ।	३०	प्रच्छः पुच्छः । ॥ ३ । १२९ ।
४	धृग्यांनिध्वचोरुः । ॥ ३ । १२९ ।	४१	न्यासां णम० । ॥ ३ । १२९ ।	४१	प्रक्तीः सामय० । ॥ ३ । १२९ ।
न					
४६	न कगचजादि० । ॥ ३ । १२९ ।	४१	न्यासां णम० । ॥ ३ । १२९ ।	४०	प्रत्यये ङीनेवा । ॥ ३ । १२९ ।
२८	न न्यः । ॥ ३ । ७६ ।	४१	न्यासां णम० । ॥ ३ । १२९ ।	११	प्रत्याङ्गा ङः । ॥ ३ । १२९ ।
१६	न दीर्घानुस्वारान् । ॥ ३ । १२९ ।	४	पकाङ्कारसंज्ञा० । ॥ ३ । १३७ ।	१५	प्रत्यये पञ्च हो वा । ॥ ३ । १३७ ।
३०	न दीर्घो षो । ॥ ३ । १२९ ।	१७	पकप्रमपस० । ॥ ३ । १३७ ।	२४	प्रत्येकमः पाणि० । ॥ ३ । १३७ ।
४	नमस्कारपरस्पर० । ॥ ३ । १३६ ।	३७	पचः सोऽनुपल्लो । ॥ ३ । १३७ ।	४	प्रथमे पद्योर्वा । ॥ ३ । १३७ ।
१	न युगैर्णस्यास्वे । ॥ ३ । १३६ ।	३१	पञ्चम्यास्तुनीया० । ॥ ३ । १३६ ।	१२	प्रदीपि दोहदे लः । ॥ ३ । १३७ ।
४२	न वाक्येभांश्चः । ॥ ३ । १३६ ।	१६	पञ्चाशत्पञ्चद० । ॥ ३ । १३६ ।	१६	प्रदीपस्तैश्चव० । ॥ ३ । १३७ ।
२७	न वाऽनिमित्त० । ॥ ३ । १३६ ।	५	पार्थपृथिव्यांप्रति० । ॥ ३ । १३७ ।	११	प्रभूते वे । ॥ ३ । १३७ ।
६	न वा मयुष्यलव० । ॥ ३ । १३६ ।	२०	पथो गत्येकद् । ॥ ३ । १३७ ।	३६	प्रभो हुपो वा । ॥ ३ । १३७ ।
४४	न वा यो यः । ॥ ३ । १३६ ।	१	पृथ्याः स्वधियां । ॥ ३ । १३७ ।	६	प्रधासीकी । ॥ ३ । १३७ ।
प					
४	पकाङ्कारसंज्ञा० । ॥ ३ । १३७ ।	३	पदादपवा । ॥ ३ । १३७ ।	४०	प्रधिशेरिकाः । ॥ ३ । १३७ ।
१७	पकप्रमपस० । ॥ ३ । १३७ ।	५१	पदान्ते उर्हुदि० । ॥ ३ । १३७ ।	३६	प्रसरेः पयलो० । ॥ ३ । ७७ ।

पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र	पृष्ठ.	सूत्र
३५	प्रस्थापेः पठुवषे० ।। ४ । ३७ ।	४८	मिस्सुपोर्हि ।। ४ । ३४७ ।	५	मात्रटि वा ।। १ । ८१ ।
३७	प्रहृगेः सारः ।। ४ । ३८ ।	१६	मीमेष् सः ।। २ । ५४ ।	२३	मार्गि हला० ।। २ । १६५ ।
४२	प्रार्थमलिः ।। ४ । २३२ ।	३७	हृजोः नुञ्जजिम् ।। ४ । ११० ।	१५	मार्जारस्य मञ्ज० ।। २ । ३२२ ।
४०	प्रार्थुयमुपांम्ह० ।। ४ । १८४ ।	३६	हृवहोऽह्वहवाः ।। ४ । ६० ।	१५	मार्सादिभ्यनुस्व० ।। १ । ७० ।
५१	प्रायसः प्राड प्रा० ।। ४ । ४१५ ।	४४	हृवां नः ।। ४ । २६६ ।	२	मार्सादेवा० ।। १ । ३५५ ।
६	प्रावरणे ऋक्त्वा० ।। १ । १७४ ।	५०	नुषः पर्यासी ह० ।। ४ । ३६० ।	३०	मि मयि ममाह० ।। ३ । ११५ ।
२	प्राकृष्टरत्तर० ।। १ । १११ ।	२८	मे तुभं नुञ्ज० ।। ३ । ११ ।	२६	मि मे मम मम० ।। ३ । १०९ ।
१७	प्लके लाव ।। २ । १०३ ।	२८	ने तुभं हि उञ्ज० ।। ३ । ६५ ।	३२	मि मो मु मे स्ता० ।। ३ । १६७ ।
३३	प्लाबेराम्बाल० ।। ४ । ४१ ।	२६	ने हि हे त तह् ।। ३ । ६४ ।	३१	मिमामिदिह् स्तो० ।। ३ । १७७ ।
	फ	३०	भ्यसञ्च द्विः ।। ३ । १२७ ।	३१	मिरायाम् ।। १ । ४७ ।
३७	फक्त्वात्फः ।। ४ । ८७ ।	२४	भ्यसस्तो दो० ।। ३ । ६ ।	२२	मिव पिव विव० ।। २ । १८२ ।
१२	फो मर्हो ।। १ । २३६ ।	४८	भ्यसामोर्दुः ।। ४ । ३५१ ।	२१	मिभ्रादु र्गतिभः ।। ३ । १७० ।
	ब	४६	भ्यसामभ्यां० ।। ४ । ३७३ ।	२४	मिभ्रेयांसालमे० ।। ४ । २८ ।
४३	बन्धो न्यः ।। ४ । २४७ ।	२५	भ्यसि वा ।। ३ । १३ ।	२४	मुः स्यादौ ।। ३ । ८८ ।
२२	बन्धे निधारेण० ।। १ । २१५ ।	४७	भ्यसां हुं ।। ४ । ३३७ ।	३७	मुचदकडुवह० ।। ४ । ७१ ।
२०	बादिवा बाहि० ।। ३ । १४० ।	४०	भ्रगोः फिर्नफिह् ।। ४ । १७७ ।	४१	मुहृष्टुममुष्टुमौ ।। ४ । २७७ ।
५०	बहुत्वे हुं ।। ४ । १७१ ।	१३	भ्रमरे सा वा ।। १ । २४४ ।	४१	मुजेनमुसलुञ्ज० ।। ४ । १७५ ।
४६	बहुत्वे हुः ।। ४ । ३८५ ।	१३	भ्रमराडे वा ।। ३ । १५१ ।	३८	मुनां मलमड० ।। ४ । १२६ ।
१	बहुलम् ।। १ । ११ ।	३९	भ्रमिर्धिरिह् ।। ४ । १६१ ।	३२	मः स्सं ।। ३ । १६६ ।
३३	बहुतुः तु ह मो ।। १ । १७६ ।	३५	भ्रमेस्तालि० ।। ४ । ३० ।	२२	मेधिर्शिधिरसि० ।। १ । २१५ ।
३१	बहुत्वात्बन्ध० ।। ३ । १४२ ।	३१	भ्रुवां भया डमया० ।। २ । १६७ ।	१६	मे मइ मम मह० ।। ३ । ११३ ।
१७	बापे होडुञ्ज० ।। १ । १७० ।		म	५०	मांऽनुनासिकां० ।। ४ । ३६७ ।
३	बाहोराव ।। १ । १३६ ।	२६	मइ मम मह० म० ।। ३ । १११ ।	२	मांऽनुस्वारः ।। १ । १२३ ।
३५	बिसिन्यां मः ।। १ । २३७ ।	२३	मणे विमशे० ।। १ । २०७ ।	४४	मांऽस्याद् पो वे० ।। ४ । २७५ ।
३३	बुभुक्षिवीज्याणी० ।। ४ । ५ ।	३७	मणमिभ्रञ्चि० ।। ४ । ११५ ।	३२	मांमुमानो हि० ।। ३ । १६८ ।
१७	बृहस्पतिवत० ।। २ । ६६ ।	७	मभुक् वा ।। १ । १२२ ।	२४	मारवञ्जा मुधा ।। २ । २१४ ।
२०	बृहस्पती बहो० ।। ३ । १३० ।	४६	मभ्यत्रयस्याध० ।। ४ । ३७३ ।	४४	मा वा ।। ४ । २६४ ।
१२	बो वः ।। १ । २३७ ।	४	मभ्यमकतमे० ।। १ । ४८ ।	३२	मा वा ।। ३ । १५४ ।
४३	भो बृहलिह् ।। ४ । २४५ ।	३१	मभ्यमस्येस्था० ।। १ । १४३ ।	४२	महाणैः ।। २ । ४२ ।
३६	भो बृहज्जी वा ।। ३ । १०४ ।	१७	मभ्यां डः ।। ३ । ८७ ।	२८	ममावेषौ वा ।। ३ । ८५ ।
१६	भ्रक्षवर्णनुसो० ।। २ । ६३ ।	३३	मभ्ये च स्वरा० ।। ३ । १७७ ।	४१	मन्त्रेशोपधः ।। ४ । १९१ ।
३६	भ्रक्षवर्ण चः ।। १ । १५७ ।	२१	मनाको न वा डो० ।। २ । १६६ ।	३४	म्लयां पव्यायो ।। ४ । १८ ।
५०	भ्रगो भ्रुवा वा ।। ४ । १३१ ।	३७	मन्धर्षुसर्वावि० ।। ४ । १२१ ।	५१	म्लो भो वा ।। ४ । ४२२ ।
	भ	३३	मन्मथे वः ।। १ । १२४ ।		य
३७	भञ्जयेमय-सु० ।। ४ । १०६ ।	३६	मन्मुनोष्टुमा० ।। ४ । ६६ ।	४६	यत्किंक्रयो० ।। ४ । ३४७ ।
४४	भ्रज्जगत्रतोः ।। ४ । २६५ ।	१६	मन्यो नो वा ।। १ । ४४ ।	२०	यत्तदेतो० ।। २ । १५६ ।
४४	भ्रविष्यति स्तिः ।। ४ । १७४ ।	२६	ममाश्नौ ज्यसि ।। ३ । ११२ ।	४६	यत्तदः स्वमांभ्रुं अ ।। ४ । ३६० ।
३२	भ्रविष्यति हिरा० ।। ३ । १६६ ।	४	ममयत्वां ।। १ । ५० ।	४१	यत्तत्रयोत्त्रय० ।। ४ । ४०४ ।
४६	भ्रविष्यत्येष एव ।। ४ । ३२० ।	२०	ममत्तमदकले० ।। १ । १८२ ।	१०	यमुनाचातुपदा० ।। १ । १७८ ।
४०	भ्रवोत्तुभः ।। ४ । १७६ ।	७	ममिनांभयभु० ।। २ । १३८ ।	३०	यद्यथां लः ।। १ । १४७ ।
१६	भ्रस्मांमनोः० ।। २ । ५१ ।	३७	ममजराडुण्डिण० ।। ४ । १०१ ।	४१	यादकृतादकृ० ।। ४ । ४०२ ।
३९	भ्रस्माकान्ते ममो० ।। ४ । १५७ ।	३६	ममहो मन्धे ।। ४ । ७८ ।	४६	यादद्याद्विद्विः ।। ४ । ३३७ ।
४१	भ्रस्मांसिः ।। ४ । २०३ ।	५	ममहागृ ।। १ । ६७ ।	३४	यापञ्जवः ।। ४ । ४० ।
३६	भ्रिन्या भाबीहो ।। ४ । ४४३ ।	१६	ममहागृ हरोः ।। २ । ११६ ।	३४	यायत्तावञ्चि० ।। १ । २७१ ।
४६	भ्रिन्सा तुभेहिं ।। ४ । ३७९ ।	४१	ममहु मज्जु डसि० ।। ४ । ३७६ ।	४१	यायत्तावतोर्वा० ।। ४ । ४०६ ।
३४	भ्रिसो हिं हिं हिं ।। ३ । १७ ।	२४	माइ माथे ।। १ । १३१ ।	३७	युजां नुञ्जुञ्ज० ।। ४ । १०९ ।
२५	भ्रिस्त्रयस्तुपि ।। ३ । ११० ।	७	मानुविदा ।। १ । १३४ ।	४१	युधयुधयुध० ।। ४ । २७७ ।
४७	भ्रिस्त्यहा ।। ४ । ३३५ ।	२०	मानुपितृ-स्व० ।। १ । १४४ ।	४१	युधिष्ठिर वा ।। १ । ७६ ।

पृष्ठ.	सूत्र
४७	युषणैस्व गुणः । १ । ४ । २३७ ।
४२	युष्मद्-सां तुङ् । १ । ४ । ३६० ।
२०	युष्मदस्तं तु तुषां । १ । ३ । ६० ।
२०	युष्मदस्मदाऽप्रा० । १ । ४ । १४९ ।
४२	युष्मदादि० । १ । ४ । ४३४ ।
१३	युष्मद्यपरं तः । १ । २ । ४४६ ।
५२	यागजाश्चैषाम् । १ । ४ । ४३० ।

र

१४	रक्ते गो वा । १ । ४ । १० ।
३७	रक्तेरुगहावह० । १ । ४ । ९४ ।
३७	रज्जः गवः । १ । ४ । ४९ ।
४०	रमः संखुबुखं० । १ । ४ । १६८ ।
४४	रसालंशो । १ । ४ । २०८ ।
४७	रस्य लां या । १ । ४ । ३२६ ।
३०	रदोः । १ । ४ । ४३ ।
२७	राज रभ्य सुञ्ज० । १ । ४ । १०० ।
४६	राज्ञो वा चिञ् । १ । ४ । ३०४ ।
४६	राज्ञः । १ । ३ । ४९ ।
१८	रात्रौ वा । १ । २ । १०७ ।
८	रिः क्वसस्य । १ । २ । १४० ।
३६	रते रुञ्जफटी । १ । ४ । ५७ ।
४३	रुदन्मार्गः । १ । ४ । २२६ ।
४१	रुदुमुजमुचो० । १ । ४ । २११ ।
११	रुदित दिना षः । १ । २ । २०९ ।
३८	रुधेकथङ्गः । १ । ४ । १३३ ।
४१	रुधो न्यम्भो च । १ । ४ । ११८ ।
४२	रुधादीनां दीधेः । १ । ४ । २३६ ।
४३	रुधेरे संभाषण० । १ । २ । २०२ ।
२१	रो दीयात् । १ । २ । १७१ ।
३३	रोमन्धे रोम्भा० । १ । ४ । ४३ ।
३	रो रा । १ । २ । १६ ।
४६	रोस्याधुसादी । १ । २ । ३० ।
४६	रोस्नष्टं रिय० । १ । ४ । ३१४ ।
७	लुङ्क रुता वा । १ । २ । ११५ ।
६	लुङ्क निरः । १ । २ । ६३ ।
१८	शुण्णमवज्ज वा । १ । २ । १०५ ।
१७	हृञ्चिन्हाकृत्स्न० । १ । २ । १०४ ।

ल

१६	लघुं क लहोः । १ । २ । १२२ ।
१३	लडाट च । १ । २ । १२७ ।
१६	ललाट लमोः । १ । २ । १२३ ।
३७	लरुजर्जिहः । १ । ४ । १०३ ।
१३	लाय । १ । २ । १०२ ।
१३	लाहलसाङ्गल० । १ । २ । २२६ ।
४३	लिङ्गमतन्त्रम् । १ । ४ । ४४४ ।
३६	लिपो लिम्पः । १ । ४ । १४६ ।
३	लुक । १ । ४ । १० ।
३१	लुपावी कमाच । १ । ३ । १५२ ।
४४	लुभाजानन्दुज । १ । २ । २६७ ।
३	लुप्तयवशष्य० । १ । २ । ४३ ।
२५	लुप्त शसि । १ । ३ । १७ ।

पृष्ठ.	सूत्र
३६	लुभेः संभावः । १ । ४ । १४३ ।
४६	लाऊः । १ । ४ । २०८ ।
२१	ल्लो नैकाम्ना । १ । २ । १६५ ।

व

२	वक्रादावन्तः । १ । १ । २६ ।
४१	वचो वाद् । १ । ४ । २११ ।
३७	वञ्जवहवसव० । १ । ४ । ६३ ।
२३	वणे निञ्जयिच० । १ । २ । २०६ ।
२०	वतव्यः । १ । २ । १४० ।
३०	वधाम् डाहञ्ज वा । १ । ३ । १३३ ।
१६	वनिताया विल० । १ । २ । १२० ।
२	वर्गेऽन्यो वा । १ । १ । २० ।
३२	वर्तमानापञ्च० । १ । ३ । १५८ ।
३३	वर्तमानाभिच० । १ । ३ । १७७ ।
५०	वर्त्यति स्वस्य० । १ । ४ । ३१० ।
४	वस्तुकारपय० । १ । १ । १७ ।
९	वा कदले । १ । १ । १६७ ।
३	वाङ्मर्थेष्यचना० । १ । २ । ३३ ।
२८	वाऽदसो दस्य० । १ । ३ । १७ ।
४४	वाऽदस्तावति । १ । ४ । २६१ ।
१२	वाऽऽदी । १ । १ । १२६ ।
४०	वाऽधो रो लुक । १ । ४ । ३२८ ।
६	वा निर्भरे ना । १ । १ । ६७ ।
४१	वाऽमथोऽनुः । १ । ४ । ४१५ ।
२६	वाऽऽप ए । १ । ३ । ४३ ।
८	वा बृहस्पती । १ । २ । ३३८ ।
१३	वाऽमिमन्दी । १ । १ । २४३ ।
४१	वा यस्तुऽजामे० । १ । ४ । ७७ ।
४	वाऽप्री । १ । १ । ६३ ।
४	वाऽलावरपय० । १ । १ । ६६ ।
१६	वा विह्वले वौ० । १ । २ । १७ ।
४	वाऽव्ययात्स्नाता० । १ । १ । ६७ ।
२	वा स्वरे मञ्च । १ । १ । १४ ।
२	विश्यादलुक । १ । १ । २८ ।
४१	विकसः काङ्गा० । १ । ४ । १६४ ।
३५	विकसिः पक्खो० । १ । ४ । १४१ ।
४०	विजलेः धिप्य० । १ । ४ । १७५ ।
३५	विक्रपवोक्ता० । १ । ४ । ३८ ।
१२	विनास्तिवस० । १ । १ । ११४ ।
२१	विपुत्र्युषपीता० । १ । २ । १७३ ।
३५	विचिरेःसुगो० । १ । ४ । २६ ।
३९	विणोपेन्मञ्जवद० । १ । ४ । ४५८ ।
३६	विलीङ्गविवा । १ । ४ । ५६ ।
३७	विबुद्धसः । १ । ४ । ११८ ।
३६	विभ्रमोपिञ्जा । १ । ४ । २४६ ।
४१	विषण्णोक्तवर्मे० । १ । ४ । ४११ ।
१३	विषमे मो दो वा । १ । १ । २४१ ।
३८	विस्ववर्दीक्षिञ्ज० । १ । ४ । १२६ ।
३६	विस्तुः पम्हुस० । १ । ४ । ७५ ।
२४	विन्सात्स्याद्वि० । १ । ३ । १ ।
१६	वृक्कितयाः स० । १ । २ । १२७ ।

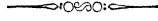
पृष्ठ.	सूत्र
१५	वृत्तप्रवृत्तमृत्ति० । १ । २ । २९ ।
१५	वृत्ते एः । १ । २ । ३१ ।
१५	वृञ्जकञ्जनुवा० । १ । २ । १६ ।
७	वृषमे वा वा । १ । १ । १३३ ।
४२	वृषार्थानामरिः । १ । ४ । २३५ ।
३७	वृषे दिङ् । १ । ४ । ६६ ।
११	वृषो णो वा । १ । १ । २०१ ।
९	वृषः कर्णिकारे । १ । १ । १८८ ।
४१	वृद्धिकमाऽयादिः । १ । ४ । ४०८ ।
२८	वृद्धनदंता ऊ० । १ । ३ । ८१ ।
३६	वृषरायम्बाय० । १ । ४ । १४७ ।
३	वृषामञ्जलाप्या० । १ । ४ । १५ ।
२३	वृषव्ये च ग्रामन्त्रणे । १ । २ । १६४ ।
२३	वृषेव नयथासु० । १ । २ । १६३ ।
५१	वृषः । १ । ४ । २२१ ।
३५	वृषेः परिश्रालः । १ । ४ । ४१ ।
२१	वृषकाः सि सि० । १ । २ । १६१ ।
१६	वृषैर्यस्य वेवसिय० । १ । १ । १३३ ।
२०	वृषैतत्तदः । १ । ३ । ३ ।
२८	वृषेता ऊसस् शो० । १ । ३ । ९१ ।
८	वृषरावो वा । १ । १ । १५२ ।
२७	वृषेणमिणमो० । १ । ३ । ८५ ।
२६	वृषोत्तुक्तुम्भे० । १ । ३ । ६३ ।
२५	वृषोता डवो । १ । ३ । २१ ।
१३	वृषोत्सारीनीय० । १ । १ । २४८ ।
१६	वृषोत्सादे थो डवो० । १ । २ । ४८ ।
५१	वृषोः । १ । ४ । २२३ ।
६	वृषोपौ । १ । १ । १०७ ।
३७	वृषोपि कम्मवः । १ । ४ । १११ ।
१६	वृषोषे । १ । २ । ५६ ।
१२	वृषोषे । १ । १ । २२७ ।
५२	वृषञ्जनाद्वृत्ते । १ । ४ । २३६ ।
३२	वृषञ्जनादीञ्जः । १ । ३ । १६३ ।
५३	वृषययञ्ज । १ । ४ । ४४७ ।
१४	वृषाकरणभाका० । १ । १ । २७७ ।
३८	वृषापरिक्रमः । १ । ४ । १४१ ।
३६	वृषाभ्रारभुः । १ । ४ । ७१ ।
३६	वृषाङ्गोः काङ्को० । १ । ४ । ७६ ।
४३	वृषाङ्गोर्वाहिय० । १ । ४ । २५३ ।
४२	वृषावृत्तमर्दा षः । १ । ४ । २२४ ।
४०	वृषावृत्तम् । १ । ४ । ३२२ ।
४५	वृषो जः । १ । ४ । २२४ ।

श

४२	शकादीनां । १ । ४ । २३० ।
३७	शकेभ्यतरती० । १ । ४ । ७६ ।
१४	शकमुकदुष्टस्यु० । १ । २ । ११ ।
३३	शमानशः । १ । ३ । १११ ।
३८	शयोऽऊपक्खो० । १ । ४ । १३० ।
२१	शमिसेऽदिञ्जम् । १ । २ । १६८ ।
१३	शमरे बो मः । १ । १ । २५८ ।
४०	शमेः पारिसय० । १ । ४ । १६७ ।
३	शम्वद्वैरत् । १ । १ । १८ ।

॥ श्रीअजिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ३ ॥

॥ संक्षिप्तप्राकृतशब्दरूपावलिः ॥



अकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'वृक्ष' शब्दः ।

विज्ञप्तिः,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	वृक्षो ।	वृक्षा ।
द्वितीया	वृक्षं ।	वृक्षे, वृक्षा ।
तृतीया	वृक्षेण, वृक्षेण ।	वृक्षेहि, वृक्षेहिँ, वृक्षेहि ।
चतुर्थी	वृक्षाय, * वृक्षस्स ।	वृक्षाणं, वृक्षाण ।
पञ्चमी	वृक्षतो, वृक्षाभ्यां, वृक्षाड ।	वृक्षतो, वृक्षाभ्यां, वृक्ष्वाड, वृक्षाहि, वृक्षेहि, (वृक्षाहिन्तो, वृक्षेहिन्तो, वृक्ष्वासुन्तो, वृक्षेसुन्तो ।
”	वृक्षाहि, वृक्षाहिन्तो, वृक्षा ।	
षष्ठी	वृक्षस्स ।	वृक्षाणं, वृक्षाण ।
सप्तमी	वृक्षस्मि, वृक्षे ।	वृक्षेभ्यं, वृक्षेभ्यु ।
संबोधनम्	हे वृक्ष, हे वृक्षो, हे वृक्षा ।	हे वृक्षा ।

आकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गोवा' शब्दः ।

विज्ञप्तिः,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गोवां ।	गोवा ।
द्वितीया	गोवां ।	गोवा ।
तृतीया	गोवाणं, गोवाण ।	गोवाहिँ गोवाहिँ, गोवाहि ।
चतुर्थी	गोव, गोवस्स ।	गोवाणं, गोवाण ।
पञ्चमी	गोवतो, गोवाभ्यां, गोवाड ।	गोवतो, गोवाभ्यां, गोवाड, गोवाहिन्तो, (गोवासुन्तो ।
”	गोवाहिन्तो ।	
षष्ठी	गोवस्स ।	गोवाणं, गोवाण ।
सप्तमी	गोवस्मि ।	गोवाभ्यं, गोवाभ्यु ।
संबोधनम्	हे गोवां, हे गोवा ।	हे गोवा ।

इकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गिरि' शब्दः ।

विज्ञप्तिः,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गिरी ।	गिरिणां, गिरी, गिरड, गिरभ्यो ।
द्वितीया	गिरिं ।	गिरिणां, गिरी ।
तृतीया	गिरिणा ।	गिरीहिँ, गिरीहिँ, गिरीहि ।
चतुर्थी	गिरिणां, गिरिस्स, गिरये ।	गिरीणां, गिरीण ।
पञ्चमी	गिरिणो, गिरित्तो, गिरिभ्यां, गिरीड ।	गिरित्तो, गिरीभ्यां, गिरीड, गिरीहिन्तो, (गिरीसुन्तो ।
”	गिरीहिन्तो ।	
षष्ठी	गिरिणां, गिरिस्स ।	गिरीणां, गिरीण ।
सप्तमी	गिरिस्मि ।	गिरीभ्यं, गिरीभ्यु ।
संबोधनम्	हे गिरि, हे गिरी ।	हे गिरिणां, हे गिरी, हे गिरड, हे गिरभ्यो ।

ईकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' गामणी ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गामणी ।	गामणिणो, गामणी, गामणउ, गामणओ ।
द्वितीया	गामणि ।	गामणिणो, गामणी ।
तृतीया	गामणिणा ।	गामणीहि, गामणीहिँ, गामणीहि ।
चतुर्थी	गामणये, गामणिणो, गामणिस्म ।	गामणीणं, गामणीण ।
पञ्चमी	गामणिणो, गामणिचो, गामणीओ)	गामणिचो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिन्तो,
”	गामणीउ, गामणीहिन्तो ।	(गामणीमुन्तो ।
षष्ठी	गामणिणो, गामणिस्स ।	गामणीणं, गामणीण ।
सप्तमी	गामणिम्मि ।	गामणीसुं, गामणीसु ।
संबोधनम्	हे गामणि, हे गामणी ।	हे गामणिणो, हे गामणी, हे गामणउ, हे गामणओ ।

ऊकारान्तः पुँल्लिङ्गो ' गुरु ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गुरु ।	गुरुणो, गुरु, गुरओ, गुरउ, गुरओ * ।
द्वितीया	गुरुं ।	गुरुणो, गुरु ।
तृतीया	गुरुणा ।	गुरुहि, गुरुहिँ, गुरुहि ।
चतुर्थी	गुरुवे, गुरुणो, गुरुस्स ।	गुरुणां, गुरुणा ।
पञ्चमी	गुरुणो, गुरुचो गुरुओ, गुरुउ)	गुरुचो, गुरुओ, गुरुउ, गुरुहिन्तो,
”	गुरुहिन्तो ।	(गुरुमुन्तो ।
षष्ठी	गुरुणो, गुरुस्म ।	गुरुणां, गुरुण ।
सप्तमी	गुरुम्मि ।	गुरुसुं, गुरुसु ।
संबोधनम्	हे गुरु, हे गुरु ।	हे गुरुणां, हे गुरु, हे गुरुउ, हे गुरओ, हे गुरुवो ।

ऊकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' खलपू ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	खलपू ।	खलपुणो, खलपू, खलपउ, खलपओ, खलपवो ।
द्वितीया	खलपुं ।	खलपुणो, खलपू ।
तृतीया	खलपुणा ।	खलपूहिँ, खलपूहिँ, खलपूहि ।
चतुर्थी	खलपवे, खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणां, खलपूणा ।
पञ्चमी	खलपुणो, खलपुचो, खलपुओ)	खलपुचो, खलपुओ, खलपुउ,
”	खलपुउ, खलपुहिन्तो ।	(खलपुहिन्तो, खलपुमुन्तो ।
षष्ठी	खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणां, खलपूणा ।
सप्तमी	खलपुम्मि ।	खलपुसुं, खलपुसु ।
संबोधनम्	हे खलपु, हे खलपू ।	हे खलपुणो, हे खलपू, हे खलपउ, हे खलपओ, हे खलपवो ।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गः ' पितु ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	पिअ, पिअरो ।	पिअरा, पिअरो, पिअउ, पिअओ, पिऊ ।
द्वितीया	पिअरं ।	पिअरा, पिअरो, पिअणो, पिऊ ।
तृतीया	पिअराण, पिअरणं, पिअरणेण ।	पिअराहिँ, पिअराहिँ, पिअराहिँ, पिअराहिँ ।

* ' वातो मवो ' ॥ ७ । ३ । २१ ॥ उदन्तात् परस्य जसः पुंसि मित् अयो इत्यादेशो वा भवति । सादृशं ।

विज्ञक्ति एकवचन ।

चतुर्थी पिअरस्त, पिउणो, पिउस्त ।

पञ्चमी पिउणो, पिउचो, पिऊओ, पिऊठ, पिऊहि—)

” न्तो, पिअरचो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि,)

” पिअराहित्तो, पिअरा ।

षष्ठी पिअरस्त, पिउणो, पिउस्त ।

सप्तमी पिअरम्मि, पिअरे, पिउम्मि ।

सम्बोधनम् हे पिअ, हे पिअरं ।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'जर्त्' शब्दः ।

विज्ञक्ति एकवचन ।

प्रथमा भचा, जचारो ।

द्वितीया जचारं ।

तृतीया जचुणा, भचारंणं, जचारेण ।

चतुर्थी भचुणो, जचुस्त, जचारस्त ।

पञ्चमी जचुणो, जचुचो, जचुओ, भचउ, भचुहित्तो,)

” भचारचो, भचाराओ, जचाराउ, जचाराहि, भ—)

” चाराहित्तो, जचारा ।

षष्ठी भचुणो, भचुस्त, भचारस्त ।

सप्तमी भचुम्मि, भचारम्मि, भचारं ।

सम्बोधनम् हे जच, हे जचार ।

नकारान्तस्यापि 'राजन्' शब्दस्य प्राकृतेऽकारान्तवद् रूपं ज्ञेयम् ।

विज्ञक्ति एकवचन ।

प्रथमा राया, रायाणो ।

द्वितीया रायाणं, रायं, राइणं ।

तृतीया रायाणेषं, रायाणेष, राइणा, रखा, राषणं,

” राएण, रायणा ।

चतुर्थी रायाणस्त, रायाणो, रखो, राइणो, रायस्त ।

” ”

पञ्चमी रायाणचो, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि,)

” रायाणाहित्तो, रायाण, राइणो, रायाणो, रखो,)

” रायचो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, रायाहित्तो,)

” राया ।

” ”

षष्ठी रायाणस्त, राइणो, रखो, रायाणो, रायस्त ।

” ”

सप्तमी रायाणम्मि, रायाणो, राइम्मि, रायम्मि, राए ।

सम्बोधनम् हे रायाण, हे रायाणो, हे रायाणो, हे राअ, हे राआ ।

नकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'आत्मन्' शब्दः ।

विज्ञक्ति एकवचन ।

प्रथमा अप्पाणो, अप्पो, अप्पा ।

बहुवचन ।

पिअराणं, पिअराण, पिऊणं, पिऊण ।

पिअरचो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि, पिअरेहि,

(पिअराहित्तो, पिअरेहित्तो, पिअरासुन्तो, पिअरेसु—

न्तो, पिउचो, पिऊओ, पिऊठ, पिऊहित्तो, पिऊसुन्तो ।

पिअराणं, पिअराण, पिऊणं, पिऊण ।

पिअरेसुं, पिअरेसु, पिऊसुं, पिऊसु ।

हे पिअरा, हे पिऊ, हे पिउणो ।

बहुवचन ।

भचुणो, भचुं, भचउ, जचओ, जचारा ।

जचुणो, भचुं, जचारं ।

भचारंहिं, भचारोहिं, जचारोहि, भचुहिं, भचुहिं, जचुहि ।

भचुणं, जचूण, भचाराणं, जचाराण ।

भचुचो, भचुओ, जचउ, जचुहित्तो, जचुसुन्तो, भ—

(चारचो, भचाराओ, जचाराउ, भचाराहि, भचारोहि, भ—

(चाराहित्तो, जचारोहित्तो, जचारासुन्तो, भचारोसुन्तो ।

भचुणं, जचूण, भचाराणं, जचाराण ।

जचुसुं, जचुसु, भचारोसुं, भचारोसु ।

हे भचु, हे जचुणो, हे जचउ, हे भचओ, हे जचारा ।

बहुवचन ।

रायाणो, राइणो, राया, रायाणा ।

रायाणो, राइणो, रायाणो, राए ।

रायाणोहिं, रायाणोहिं, रायाणोहिं, राइहिं, राइहिं, रा—

(इहिं, राएहिं, राएहिं, राएहिं ।

रायाणाणं, रायाणाण, राइणं, राइण, राइणं, राइणं,

रायाणं, रायाण ।

राइचो, राइओ, राइउ, राइहित्तो, राइसुन्तो, राबा—

(णचो, रायाणओ, रायाणाउ, रायाणाहि, रायाणोहिं,

(रायाणाहित्तो, रायाणोहित्तो, रायाणासुन्तो, रायाणोसु—

न्तो, रायचो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, राएहिं, राया—

(हित्तो, राएहित्तो, रायासुन्तो, राएसुन्तो ।

रायाणाणं, रायाणाण, राइणं, राइण, राइणं, राइण,

(रायाणं, रायाण ।

रायाणोसुं, रायाणोसु, राइसुं, राइसु, राएसुं, राएसु ।

हे रायाणा, हे राइणो, हे रायाणो ।

बहुवचन ।

अप्पाणा, अप्पाणो, अप्पा ।

विभक्ति एकवचन ।

द्वितीया अप्याद्यं, अप्ये ।

तृतीया अप्याद्येर्छं, अप्याद्येण, अप्याद्ये, अप्याद्ये, अप्ये-

" द्या, अप्याद्येऽन्ना, अप्याद्यिष्वा ।

चतुर्थी अप्याद्यस्त, अप्याद्यस्त, अप्याद्यो ।

पञ्चमी अप्याद्यात्तो, अप्याद्यात्तो, अप्याद्यात्त, अप्याद्यात्तहि,)

" अप्याद्याहितो, अप्याद्यात्त, अप्याद्यो, अप्याद्यो, अप्या-

" द्यो, अप्याद्य, अप्याद्यि, अप्याद्यिन्तो, अप्या ।

षष्ठी अप्याद्यस्त, अप्याद्यस्त, अप्याद्यो ।

सप्तमी अप्याद्याम्भि, अप्याद्याम्भि, अप्याद्ये ।

सम्बोधनम् हे अप्याद्यो, हे अप्यो, हे अप्ये ।

बहुवचन ।

अप्याद्ये, अप्याद्याते, अप्याद्ये ।

अप्याद्याहे, अप्याद्याहे, अप्याद्याहे, अप्याद्याहे, अप्याद्याहे, अप्याद्याहे, अप्याद्याहे ।

अप्याद्याद्यं, अप्याद्याद्यं, अप्याद्याद्यं, अप्याद्याद्यं ।

अप्याद्यात्तो, अप्याद्यात्तो, अप्याद्यात्त, अप्याद्यात्तहि, अप्या-

(द्याहे, अप्याद्याहे, अप्याद्याहितो, अप्याद्याहितो, अप्याद्याहितो,

(अप्याद्यासुन्तो, अप्याद्यात्तो, अप्याद्यात्तो, अप्याद्यात्त, अप्याद्यात्तहि,

(अप्याद्याहितो, अप्याद्याहितो, अप्याद्यासुन्तो, अप्याद्यासुन्तो,

अप्याद्यात्तं, अप्याद्यात्तं, अप्याद्यात्तं, अप्याद्यात्तं ।

अप्याद्यात्तुं, अप्याद्यात्तुं, अप्याद्यात्तुं, अप्याद्यात्तुं ।

हे अप्याद्या, हे अप्याद्या, हे अप्याद्या ।

॥ अथ सर्वादीनां पुंलिङ्गे रूपाणि तत्र सर्वशब्दः ॥

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा सव्वो ।

द्वितीया सव्वं ।

तृतीया सव्वेणं, सव्वेण ।

चतुर्थी सव्वस्त ।

पञ्चमी सव्वत्तो, सव्वत्तो, सव्वत्त, सव्वत्तहिन्तो, स-

" द्याहि, सव्वत्त ।

षष्ठी सव्वस्त ।

सप्तमी सव्वत्तिं, सव्वत्तिं, सव्वत्त, सव्वत्तहि ।

सम्बोधनम् हे सव्व, हे सव्वो, हे सव्वो ।

बहुवचन ।

सव्वे ।

सव्वे, सव्वो ।

सव्वेहिं, सव्वेहिं, सव्वेहिं ।

सव्वेत्तिं, सव्वत्तं, सव्वत्त ।

सव्वत्तो, सव्वत्तो, सव्वत्त, सव्वत्तहि, सव्वेहिं, सव्वत्-

(हितो, सव्वेहितो, सव्वत्तुन्तो, सव्वेत्तुन्तो ।

सव्वेत्तिं, सव्वत्तं, सव्वत्त ।

सव्वेत्तुं, सव्वेत्तुं ।

हे सव्वे ।

तथाऽकारान्तः पुंलिङ्गे 'विश्व' शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा विस्सो ।

द्वितीया विस्सं ।

तृतीया विस्सेणं, विस्सेण ।

चतुर्थी विस्सस्त ।

पञ्चमी विस्सत्तो, विस्सत्तो, विस्सत्त, विस्सत्तहि, वि-

" स्सत्तहिन्तो, विस्सत्त ।

षष्ठी विस्सस्त ।

सप्तमी विस्सत्तिं, विस्सत्तिं, विस्सत्त, विस्सत्तहि ।

सम्बोधनम् हे विस्स, हे विस्सो, हे विस्सो ।

बहुवचन ।

विस्से ।

विस्से, विस्सो ।

विस्सेहिं, विस्सेहिं, विस्सेहिं ।

विस्सेत्तिं, विस्सत्तं, विस्सत्त ।

विस्सत्तो, विस्सत्तो, विस्सत्त, विस्सत्तहि, विस्सेहिं, वि-

स्सत्तहिन्तो, विस्सेहितो, विस्सत्तुन्तो, विस्सेत्तुन्तो ।

विस्सेत्तिं, विस्सत्तं, विस्सत्त ।

विस्सेत्तुं, विस्सेत्तुं ।

हे विस्से ।

अकारान्तः पुंलिङ्गे 'उज्जय' शब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा उज्जयो ।

द्वितीया उज्जयं ।

बहुवचन ।

उज्जये ।

उज्जये, उज्जयो ।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
तृतीया	उभयेषं, उभयेण ।	उभयेहिं, उजयेहिं, उजयेहि ।
चतुर्थी	उजयस्स ।	उभयेसिं, उभयाणं, उजयाण ।
पञ्चमी	उजयत्तो, उजयाओ, उभयाउ, उजयाहि, उ-	उभयत्तो, उजयाओ, उजयाउ, उजयाहि, उजयेहि, उ-
”	भयाहिन्तो, उभया ।	(भयाहिन्तो, उजयेहिन्तो, उभयासुन्तो, उभयेसुन्तो ।
षष्ठी	उभयस्स ।	उभयेसिं, उजयाणं, उजयाण ।
सप्तमी	उभयस्सिं, उजयस्सिं, उजयत्थ, उजयहिं ।	उभयेसुं, उभयेसु ।
सम्बोधनम्	हे उजय, हे उभयो, हे उभया ।	हे उजय ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'अन्य' शब्दः।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अनो ।	अस्ये ।
द्वितीया	अस्यं ।	अस्ये, अस्या ।
तृतीया	अस्येणं, अस्येण ।	अस्येहिं, अस्येहिं, अस्येहि ।
चतुर्थी	अस्यस्स ।	अस्येसिं, अस्याणं, अस्याण ।
पञ्चमी	अस्यत्तो, अस्याओ, अस्याउ, अस्याहि, अ-	अस्यत्तो, अस्याओ, अस्याउ, अस्याहि, अस्येहि, अ-
”	हिन्तो, अस्या ।	(स्याहिन्तो, अस्येहिन्तो, अस्यासुन्तो, अस्येसुन्तो ।
षष्ठी	अस्यस्स ।	अस्येसिं, अस्याणं, अस्याण ।
सप्तमी	अस्यस्सिं, अस्यस्सिं, अस्यत्थ, अस्यहिं ।	अस्येसुं, अस्येसु ।
सम्बोधनम्	हे अस्य, हे अस्यो, हे अस्या ।	हे अस्ये ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'कतर' शब्दः।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	कयो ।	क्यरे ।
द्वितीया	कयं ।	क्यरे, कयरा ।
तृतीया	कयरेणं, कयरेण ।	क्यरेहिं, क्यरेहिं, क्यरेहि ।
चतुर्थी	कयरस्स ।	क्यरेसिं, कयराणं, कयराण ।
पञ्चमी	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि,)	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि, क्यरेहि, क-
”	कयराहिन्तो, कयरा ।	राहिन्तो, क्यरेहिन्तो, कयरासुन्तो, क्यरेसुन्तो ।
षष्ठी	कयरस्स ।	क्यरेसिं, कयराणं, कयराण ।
सप्तमी	कयरस्सिं, कयरस्सिं, कयरत्थ, कयरहिं ।	क्यरेसुं, क्यरेसु ।
सम्बोधनम्	हे कयर, हे कयो, हे कयरा ।	हे क्यरे ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'अवर' शब्दः ।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अवरो ।	अवरे ।
द्वितीया	अवरं ।	अवरे, अवरा ।
तृतीया	अवरेणं, अवरेण ।	अवरेहिं, अवरेहिं, अवरेहि ।
चतुर्थी	अवरस्स ।	अवरेसिं, अवराणं, अवराण ।
पञ्चमी	अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अ-	अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अवरेहि, अ-
”	वराहिन्तो, अवरा ।	वराहिन्तो, अवरेहिन्तो, अवरासुन्तो, अवरेसुन्तो ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
षष्ठी	अवरस्स ।	अवरोसिं, अवराणं, अवरारण ।
सप्तमी	अवरस्सिं, अवरस्मि, अवरत्थ, अवरसिं ।	अवरोसुं, अवरोसु ।
सम्बोधनम्	हे अवर, हे अवरा, हे अवरो ।	हे अवरो ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्ग 'इतर' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इयो ।	इयोरे ।
द्वितीया	इयं ।	इयोरे, इयरा ।
तृतीया	इयरेणं, इयरेण ।	इयरोहिं, इयरोहिं, इयरोहिं ।
चतुर्थी	इयरस्स ।	इयरोसिं, इयराणं, इयराण ।
पञ्चमी	इयरत्तो, इयरात्तो, इयराउ, इयराहि, इयरा-)	इयरत्तो, इयरात्तो, इयराउ, इयराहि, इयोरेहि, इयराहि-
"	हिन्तो, इयरा ।	(न्तो, इयोरेहिन्तो, इयरासुन्तो, इयरोसुन्तो ।
षष्ठी	इयरस्स ।	इयरोसिं, इयराणं, इयराण ।
सप्तमी	इयरस्सिं, इयरास्मि, इयरत्थ, इयराहिं ।	इयरोसुं, इयरोसु ।
सम्बोधनम्	हे इयर, हे इयरा, हे इयरो ।	हे इयोरे ।

पुँल्लिङ्गे यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	जो ।	जे ।
द्वितीया	जं ।	जे, जा ।
तृतीया	जेणं, जेण, जिणा ।	जेहिं, जेहिं, जेहि ।
चतुर्थी	जस्स ।	जेसिं, जाणं, जाण ।
पञ्चमी	जत्तो, जात्तो, जाउ, जादि, जादिन्तो, जा,)	जत्तो, जात्तो, जाउ, जादि, जेहि, जाहिन्तो, जेहिन्तो,
"	जम्हा ।	(जासुन्तो, जेसुन्तो ।
षष्ठी	जस्स ।	जेसिं, जायं, जाण ।
सप्तमी	जास्सिं, जस्मि, जत्थ, जदिं, जाहे, जाला,)	जेसुं, जेसु ।
"	जत्था ।	"

पुँल्लिङ्गे तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सो, खो ।	ते, खे ।
द्वितीया	तं, णं ।	तं, पे, ता, खा ।
तृतीया	तेणं, तेण, तिणा, पेणं, पेणः ।	तेहिं, तेहिं, तेहि, पेहिं, पेहिं, पेहि ।
चतुर्थी	तास, तस्स, से, एस्स ।	तेसिं, ताणं, ताण, सिं, पेसिं, पाणं, पाण ।
पञ्चमी	तत्था, तत्तो, तात्तो, ताउ, तादिन्तो, ता, एम्हा,)	तत्तो, तात्तो, ताउ, तादि, तेहि, ताहिन्तो, तेहिन्तो, त-
"	एत्तो, एत्तो, एत्ता, एत्ताहि, एत्ताहिन्तो, एत्ता ।	(सुन्तो, तेसुन्तो, एत्तो, एत्तो, एत्ता, एत्ताहि, पेहिं, ए-
"	"	(दिन्तो, पेहिन्तो, एत्तासुन्तो, पेसुन्तो ।
षष्ठी	ताम, तस्स, से, एस्स ।	तेसिं, ताणं, ताण, सिं, पेसिं, खाणं, खाण ।
सप्तमी	तास्सिं, तत्थ, तस्मि, तदिं, एस्सिं, एस्मि, एत्थ,)	तेसुं, तेसु, पेसुं, पेसु ।
"	एत्तिं, ताहे, ताला, तदत्ता, एत्तादे, एत्ताला, एत्तात्ता ।	"

एकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एका ।	एके ।
द्वितीया एकं ।	एके, एका ।
तृतीया एकेणं, एकेण ।	एकेहिं, एकेहिँ, एकेहि ।
चतुर्थी एकस्स ।	एकमिं, एकाणं, एकाण ।
पञ्चमी एकतो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकाहिन्तो,)	एकतो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकेहि, एकाहिन्तो,
एका ।	(एकेहिन्तो, एकामुन्तो, एकेमुन्तो ।
षष्ठी एकस्स ।	एकंसि, एकाणं, एकाण ।
सप्तमी एकसिंस, एकम्मि, एकत्थ, एकाहिं ।	एकेसुं, एकेसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एकशब्दस्यैवान्यानि रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एगो ।	एगे ।
द्वितीया एमं ।	एगे, एगा ।
तृतीया एगणं, एगण ।	एगेहिं, एगेहिँ, एगेहि, एगेमिं, एगाणं, एगाण ।
चतुर्थी एगस्स ।	एगतो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगाहिन्तो,)
पञ्चमी एगतां, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगाहिन्तो,)	एगतां, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगेहि, एगाहिन्तो,
” एगा ।	(एगेहिन्तो, एगामुन्तो, एगेमुन्तो ।
षष्ठी एगस्स ।	एगसिं, एगाणं, एगाण ।
सप्तमी एगसिंस, एगम्मि, एगत्थ, एगाहिं ।	एगेसुं, एगेसु ।

प्रकृत्यन्तरेणैव पुनरेकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एको ।	एके ।
द्वितीया एकं ।	एके, एका ।
तृतीया एकेणं, एकेण ।	एकेहिं, एकेहिँ, एकेहि ।
चतुर्थी एकस्स ।	एकेमिं, एकाणं, एकाण ।
पञ्चमी एकतो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकाहिन्तो,)	एकतो, एकाओ, एकाउ, एकाहि, एकेहि, एकाहिन्तो,
” एका ।	(एकेहिन्तो, एकामुन्तो, एकेमुन्तो ।
षष्ठी एकस्स ।	एकेसिं, एकाणं, एकाण ।
सप्तमी एकसिंस, एकम्मि, एकत्थ, एकाहिं ।	एकेसुं, एकेसु ।

किंशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा को ।	के ।
द्वितीया कं ।	के, का ।
तृतीया केणं, केण, किणा ।	केहिं, केहिँ, केहि ।
चतुर्थी कस्स, कास ।	केमिं, काणं, काण, कास ।
पञ्चमी कतो, काओ, काउ, काहि, काहिन्तो, कम्हा,)	कतो, काओ, काउ, काहि, केहि, काहिन्तो, केहिन्तो,
” किणो, कीस ।	कामुन्तो, केमुन्तो ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
पद्यी	कस्स, कास ।	केमि, काणं, काणं, कास ।
सप्तमी	कस्सि, कस्मि, कत्थ, कहिं, काहे, काला, कदभा ।	केसुं, केसु ।

इत्तञ्जब्दस्य रूपाणि ।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	एसो, एस, इयं, इयमो ।	एए ।
द्वितीया	एअं ।	एए, एआ ।
तृतीया	एएणं, एएण, एएणा ।	एएहिं, एएहिं, एएहि ।
चतुर्थी	एअस्म, से ।	एएसि, एआणं, एआण, सि ।
पञ्चमी	एअतो, एआओ, एआउ, एआहि, एआहिन्तो,)	एअतो, एआओ, एआउ, एआहि, एएहि, एआहिन्तो,
”	एआ, एओ, एआहे ।	(एएहिन्तो, एआसुन्तो, एएसुन्तो ।
षष्ठी	एअस्स, से ।	एएसि, एआणं, एआण, सि ।
सप्तमी	एअस्सि, एअस्मि, अयस्मि, ईयस्मि, एत्थ ।	एएसुं, एएसु ।

इदंशब्दस्य रूपाणि ।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अयं, इमो ।	इमे ।
द्वितीया	इमं, इयं, यं ।	इमे, इमा, यो, णा ।
तृतीया	इयेणं, इयेण, येणं, येण, इमिणा ।	इयेहिं, इयेहिं, इयेहि, येहिं, येहिं, येहिं, येहि, येहि, येहिं, येहि ।
चतुर्थी	इयस्स, अस्स, से ।	इयस्मि, इयाणं, इयाण, मि ।
पञ्चमी	इयतो, इयाओ, इयाउ, इयाहि, इयाहिन्तो, इमा ।	इयतो, इयाओ, इयाउ, इयाहि, इयेहि, इयाहिन्तो, इमे-
”	”	हिन्तो, इयासुन्तो, इमेसुन्तो ।
षष्ठी	इयस्स, अस्स, से ।	इयेसि, इयाणं, इयाण, सि ।
सप्तमी	अस्सि, इयस्सि, इयस्मि, इह ।	इयेसुं, इयेसु ।

अदःशब्दस्य रूपाणि ।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अद, अम् ।	अमुणो, अयओ, अयनो, अयउ, अम् ।
द्वितीया	अदं ।	अमुणो, अम् ।
तृतीया	अदुणा ।	अदुहिं, अदुहिं, अदुहि ।
चतुर्थी	अमुणो, अमुस्स ।	अमुणं, अमूण ।
पञ्चमी	अमुणो, अमुओ, अमुओ, अमुउ, अमुहिन्तो ।	अमुणो, अमुओ, अमुउ, अमुहिन्तो, अमुसुन्तो ।
षष्ठी	अमुणो, अमुस्स ।	अमुणं, अमूण ।
सप्तमी	अमुस्मि, अयस्मि, इअस्मि ।	अमुसुं, अमुसु ।

अथ स्त्रीलिङ्गशब्दाः ।

अथस्त्रीलिङ्गशब्दाः स्त्रीलिङ्गो रमाशब्दः ।

विजक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	रमा ।	रमाओ, रमाउ, रमा ।
द्वितीया	रमं ।	रमाओ, रमार, रमा ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
तृतीया रमाए, रमाअ, रमाइ * ।	रमाहिं, रमाहिँ, रमाहि ।
चतुर्थी रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमाणं, रमाण ।
पञ्चमी रमाए, रमाअ, रमाइ, रमचो, रमाओ, रमाउ,)	रमचो, रमाओ, रमाउ, रमाहिन्तो, रमाहुन्तो ।
” रमाहिन्तो ।	”
षष्ठी रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमाणं, रमाण ।
सप्तमी रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमासुं, रमासु ।
सम्बोधनम् हे रमे, हे रमा ।	हे रमाओ, हे रमाउ, हे रमा ।

इकान्तः स्त्रीसिद्धो रुचिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा रुई + ।	रुईओ, रुईउ, रुई ।
द्वितीया रुई ।	रुईओ, रुईउ, रुई ।
तृतीया रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईहिं, रुईहिँ, रुईहि ।
चतुर्थी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईणं, रुईण ।
पञ्चमी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए, रुईचो, रुईओ, रुईउ,)	रुईचो, रुईओ, रुईउ, रुईहिन्तो, रुईहुन्तो ।
” रुईहिन्तो ।	”
षष्ठी रुईआ, रुईअ, रुईइ, रुईए ।	रुईणं, रुईण ।
सप्तमी रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईसुं, रुईसु ।
सम्बोधनम् हे रुई, हे रुइ ।	हे रुईओ, हे रुईउ, हे रुई ।

ईकारान्तः स्त्रीसिद्धो नदीशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा नई, नईआ × ।	नई, नईआ, नईउ, नईओ ।
द्वितीया नई ।	नई, नईआ, नईउ, नईओ ।
तृतीया नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईहिं, नईहिँ, नईहि ।
चतुर्थी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईणं, नईण ।
पञ्चमी नईअ, नईआ, नईइ, नईए, नईचो, नईओ, नईउ,)	नईचो, नईओ, नईउ, नईहिन्तो, नईहुन्तो ।
” नईहिन्तो ।	”
षष्ठी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईणं, नईण ।
सप्तमी नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईसुं, नईसु ।
सम्बोधनम् हे नई, हे नई ।	हे नईओ, हे नईउ, हे नई, हे नईआ ।

स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इत्थी, इत्थीआ ।	इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।
द्वितीया इत्थि ।	इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।
तृतीया इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीहिं, इत्थीहिँ, इत्थीहि ।

* “ टाकस्केरदादिदेह् वा तु कसेः ” ॥ ७ । ३ । २९ ॥ स्त्रियां वतमानात्प्रथमः परेषां टाकस्कीनां प्रत्येकम् आत्, आत्, इत्, एत् एते क्त्वात् आदेशाः स्वप्नार्थार्थाः प्रथमि, कसेस्तु पुनरेते वा भवन्ति । गत् आत् ॥ ८ । ३ । ३० ॥ स्त्रियां वतमानादा-
दत्तात्प्रथमः परेषां टाकस्कीनाम्मादादेशो न भवति । + ‘ अङ्गिणे सौ ’ ॥ ७ । ३ । १९ ॥ इत्तुतोऽङ्गिणे नपुंसकादप्यत्र सौ
शेषो न भवति । कुसी । × “ ईतः सेत्रावा ” ॥ ८ । ३ । २७ ॥ स्त्रियां वतमानादात्कात्प्रात् सञ्ज्ञेत्सोश्च स्वप्न आकारो वा न भवति ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
चतुर्थी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीणं, इत्थीण ।
पञ्चमी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए, इत्थित्तो,)	इत्थित्तो, इत्थीआं, इत्थीठ, इत्थीहिन्तो इत्थीसुन्तो ।
” इत्थीओ, इत्थीठ, इत्थीहिन्तो ।	”
षष्ठी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीणं, इत्थीण ।
सप्तमी इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीणं, इत्थीसु ।
सम्बोधनम् हे इत्थी, हे इत्थि,	हे इत्थीआं, हे इत्थीठ, हे इत्थी, हे इत्थीआ ।

प्रकृत्यन्तरेण स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा थी, * थीआ ।	थी, थीओ, थीउ, थीआ ।
द्वितीया थि ।	थी, थीओ, थीउ, थीआ ।
तृतीया थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीहिं, थीहिं, थीहि ।
चतुर्थी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीणं, थीण ।
पञ्चमी थीआ, थीअ, थीइ, थीए, थित्तो, थीओ, थीठ,)	थित्तो, थीओ, थीठ, थीहिन्तो, थीसुन्तो ।
” थीहिन्तो ।	”
षष्ठी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीणं, थीण ।
सप्तमी थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीसुं, थीसु ।
सम्बोधनम् हे थी, हे थि ।	हे थीओ, हे थीउ, हे थी, हे थीआ ।

उकारान्तः स्त्रीलिङ्गो धेणुशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा धेणु ।	धेणुठ, धेणुओ, धेणु ।
द्वितीया धेणुं ।	धेणुउ, धेणुओ, धेणु ।
तृतीया धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।	धेणुहिं, धेणुहिं, धेणुहि ।
चतुर्थी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।	धेणुणं, धेणुण ।
पञ्चमी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए, धेणुत्तो, धेणुओ,)	धेणुत्तो, धेणुओ, धेणुउ, धेणुहिन्तो, धेणुसुन्तो ।
” धेणुउ, धेणुहिन्तो ।	”
षष्ठी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।	धेणुणं, धेणुण ।
सप्तमी धेणुअ, धेणुआ, धेणुइ, धेणुए ।	धेणुसुं, धेणुसु ।
सम्बोधनम् हे धेणु, हे धेणु ।	हे धेणुओ, हे धेणुउ, हे धेणु ।

उकारान्तः स्त्रीलिङ्गो वधूशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा वधू ।	वधूउ, वधूओ, वधू ।
द्वितीया वधूं ।	वधूउ, वधूओ, वधू ।
तृतीया वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए ।	वधूहिं, वधूहिं, वधूहि ।
चतुर्थी वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए ।	वधूणं, वधूण ।
पञ्चमी वधूआ, वधूअ, वधूइ, वधूए, वधूत्तो, वधूओ, वधूठ,)	वधूत्तो, वधूओ, वधूउ, वधूहिन्तो, वधूसुन्तो ।
” वधूहिन्तो ।	”

* “स्त्रियां इत्थी” ॥ ७।२।१३० ॥ स्त्रीशब्दस्य इत्थी इत्यादेशो वा भवति । पक्षे ‘सर्वत्र लवरामकन्दे’ ॥ ८।२।७९ ॥ इति रत्नोपे ‘स्तस्य धोऽस्रमस्तस्तम्बे’ ॥ ८।२।४५ ॥ ‘स्तम्बं क्षमस्तं च त्यक्त्या, स्तस्य धादेश इत्यते’ इति ‘थी’-कथं निष्पन्नम् ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

षष्ठी बहूआ, बहुअ, बहुइ, बहुए ।

बहुणं, बहुण ।

सप्तमी बहुआ, बहुअ, बहुइ, बहुए ।

बहुसुं, बहुसु ।

सम्बोधनम् हे बहु, हे बहु ।

हे बहुज, हे बहुओ, हे बहु ।

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो मातृशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा मात्रा, मात्राश्च * ।

माअरा, मात्राराज, मात्राओ, मात्रा, मात्राज, मात्रा-
(ओ, मात्र, मात्रज, मात्रओ) ।

द्वितीया मात्रं, मात्रं ।

मात्ररा, मात्राराज, मात्राओ, मात्रा, मात्राज, मात्रा-
(ओ, मात्र, मात्रज, मात्रओ) ।

तृतीया मात्राराइ, मात्राराए, मात्राराअ, मात्राए, मात्राइ,)

मात्राराहिं, मात्राराहिँ, मात्राराहि, मात्राहिं, मात्राहिँ,
(मात्राहि, मात्राहिँ, मात्राहिँ, मात्राहि) ।

, मात्राअ, मात्राअ, मात्राए, मात्राए, मात्राइ ।

मात्राराणं, मात्राराण, मात्राराणं, मात्राण, मात्राणं, मा-
(त्राण, मात्राणं, मात्राण + ।

चतुर्थी मात्राअ, मात्राअ, मात्राअ, मात्राए, मात्राइ,)

मात्रराचो, मात्रराओ, मात्राराज, मात्राराहिंतो, मात्ररा-
(सुन्तो, मात्राचो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो, मात्रा-
(सुन्तो, मात्राचो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो, मात्रा-
(सुन्तो) ।

, मात्राअ, मात्राअ, मात्राअ, मात्राए, मात्राइ ।

मात्रराचो, मात्रराओ, मात्राराज, मात्राराहिंतो, मात्ररा-
(सुन्तो, मात्राचो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो, मात्रा-
(सुन्तो) ।

, मात्राअ, मात्राअ, मात्राअ, मात्राए, मात्राइ,)

मात्रराचो, मात्रराओ, मात्राराज, मात्राराहिंतो, मात्ररा-
(सुन्तो, मात्राचो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो, मात्रा-
(सुन्तो) ।

, मात्राअ, मात्राअ, मात्राअ, मात्राए, मात्राइ,)

मात्रराचो, मात्रराओ, मात्राराज, मात्राराहिंतो, मात्ररा-
(सुन्तो, मात्राचो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो, मात्रा-
(सुन्तो) ।

, मात्राअ, मात्राअ, मात्राअ, मात्राए, मात्राइ,)

मात्रराचो, मात्रराओ, मात्राराज, मात्राराहिंतो, मात्ररा-
(सुन्तो, मात्राचो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो, मात्रा-
(सुन्तो) ।

, चो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो ।

हे मात्रा, हे मात्रा, हे मात्राओ, हे मात्रा, हे मात्रा, हे मात्रा-
(राज, हे मात्राओ, हे मात्राज, हे मात्राओ) ।

षष्ठी मात्राराइ, मात्राराए, मात्राराअ, मात्राए, मात्राइ,)

मात्राराचो, मात्रराओ, मात्राराज, मात्राराहिंतो, मात्ररा-
(सुन्तो, मात्राचो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो, मात्रा-
(सुन्तो) ।

, मात्राअ, मात्राअ, मात्राअ, मात्राए, मात्राइ ।

मात्राराचो, मात्रराओ, मात्राराज, मात्राराहिंतो, मात्ररा-
(सुन्तो, मात्राचो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो, मात्रा-
(सुन्तो) ।

सप्तमी मात्राराइ, मात्राराए, मात्राराअ, मात्राए, मात्राइ,)

मात्राराचो, मात्रराओ, मात्राराज, मात्राराहिंतो, मात्ररा-
(सुन्तो, मात्राचो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो, मात्रा-
(सुन्तो) ।

, मात्राअ, मात्राअ, मात्राअ, मात्राए, मात्राइ ।

मात्राराचो, मात्रराओ, मात्राराज, मात्राराहिंतो, मात्ररा-
(सुन्तो, मात्राचो, मात्राओ, मात्राज, मात्राहिंतो, मात्रा-
(सुन्तो) ।

सम्बोधनम् हे मात्रा, हे मात्रां ।

हे मात्रा, हे मात्रा, हे मात्राओ, हे मात्रा, हे मात्रा, हे मात्रा-
(राज, हे मात्राओ, हे मात्राज, हे मात्राओ) ।

, " "

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो दुहितृशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

बहुवचन ।

प्रथमा दुहिआ ।

दुहिआओ, दुहिआज, दुहिआ ।

द्वितीया दुहिआं ।

दुहिआओ, दुहिआज, दुहिआ ।

तृतीया दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

दुहिआहिं, दुहिआहिँ, दुहिआहि ।

चतुर्थी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

दुहिआणं, दुहिआण ।

पञ्चमी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ, दुहिआओ, दुहि-

दुहिआचो, दुहिआओ, दुहिआज, दुहिआहिंतो, दुहि-
(आसुन्तो) ।

, आओ, दुहिआज, दुहिआहिंतो ।

दुहिआणं, दुहिआण ।

षष्ठी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

दुहिआणं, दुहिआण ।

सप्तमी दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।

दुहिआणं, दुहिआण ।

सम्बोधनम् हे दुहिआ, हे दुहिआ ।

हे दुहिआओ, हे दुहिआज, हे दुहिआ ।

* बाहुल्यकात् अन्त्येषां आ, वेवताऽप्येव च भ्रा इत्यदिशः । मात्राए कुच्छोप, नमो मात्राराण । + 'मातुरिदृ च' । ८ । १ । १३६ ।
मातृशब्दस्य गौणस्य च्चत् इत् भवति च । कश्चिद्गौणस्यापि । माहोषं ।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा जा ।	जाओ, जाउ, जा ।
द्वितीया जं ।	जाओ, जाउ, जा ।
तृतीया जाए, जाअ, जाइ ।	जाहिं, जाहिँ, जाहि ।
चतुर्थी जाए, जाअ, जाइ ।	जाणं, जाण ।
पञ्चमी जाए, जाअ, जाइ, जचो, जाओ, जाउ, जा-	जचो, जाओ, जाउ, जाहिँन्तो, जायुन्तो ।
” हिन्तो, जम्हा ।	”
षष्ठी जाए, जाअ, जाइ ।	जाणं, जाण ।
सप्तमी जाए, जाअ, जाइ ।	जासुं, जासु ।

प्रकृत्यन्तरेण यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा जा * ।	जीओ, जीउ, जीआ, जी ।
द्वितीया जं ।	जीओ, जीउ, जीआ, जी ।
तृतीया जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।	जीहिं, जीहिँ, जीहि ।
चतुर्थी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।	जाणं, जाण ।
पञ्चमी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिचो, जीओ, जीउ,)	जिचो, जीओ, जीउ, जाहिँन्तो, जीयुन्तो ।
” जीहिन्तो ।	”
षष्ठी जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।	जाणं, जाण ।
सप्तमी जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।	जीसुं, जीसु ।

तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा सा, ता, एा × ।	ताओ, ताउ, ता ।
द्वितीया तं, णं ।	ताओ, ताउ, ता ।
तृतीया णाए, ताए, ताअ, ताइ ।	ताहिं, ताहिँ, ताहि, णाहिं, णाहिँ, णाहि ।
चतुर्थी ताए, ताअ, ताइ, तास + ।	ताणं, ताण, ताम ।
पञ्चमी ताए, ताअ, ताइ, तचो, ताओ, ताउ, ताहिँन्तो, तो, तम्हा ।	तचो, ताओ, ताउ, ताहिँन्तो, तायुन्तो ।
षष्ठी ताए, ताअ, ताइ, तास ।	ताणं, ताण, ताम ।
सप्तमी ताए, ताअ, ताइ ।	तासुं, तामु ।

प्रकृत्यन्तरेण तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा सा, ता, एा ।	तीओ, तीउ, तीआ, ती ।
द्वितीया तं, णं ।	तीओ, तीउ, तीआ, ती ।
तृतीया तीअ, तीआ, तीइ, तीए ।	तीहिं, तीहिँ, तीहि ।
चतुर्थी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।	ताणं, ताण ।

* 'कियसदोऽस्वमामि' ॥ ८ । ३ । ३३ ॥ त्वि अय अय वजिने स्यादो परे एभ्यः स्त्रियां ऊर्वा । जाओ । अस्यमामीनि किय । जा, ज, जाण । × 'तदो षाः स्यादो कश्चिन्' ॥ ८ । ३ । ७० । तदः स्थाने स्यादो परे ण आदेशो जघति ऋचिद् लङ्गानुसारेण । स्त्रियामपि । इत्युभयामिअमुदी णं नियटा । तां भिज्जेत्यर्थः । जणिअ च णाए, तयत्यर्थः । णाहिँ कय, ताभिः कृतमित्यर्थः । + बहुलाधिकारात् किन्द्भयामाकारान्ताभयामपि ड्आदेशो वा । तास णणं । पत्ते नाए ।

विभक्ति एकवचन ।

पञ्चमी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिचो, तीओ, तीउ, ती-)

” हिन्तो ।

षष्ठी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।

सप्तमी तीअ तीआ, तीइ, तीए ।

बहुवचन ।

तिओ, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीमुन्तो ।

”

ताणं, ताण ।

तीसुं, तीसु ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा का ।

द्वितीया कं ।

तृतीया काए, काअ, काइ ।

चतुर्थी काए, काअ, काइ, कास ।

पञ्चमी काए, काअ, काइ, कचो, काओ, काउ, काहिन्तो,

” कम्हा, कोस, किपो * ।

षष्ठी काए, काअ, काइ, कास ।

सप्तमी काए, काअ, काइ ।

बहुवचन ।

काओ, काउ, का ।

काओ, काउ, का ।

काहिं, काहिं, काहि ।

काणं, काण, कास, कोसि + ।

कचो, काओ, काउ, काहिन्तो, कासुन्तो ।

”

काणं, काण, कास, कोसि ।

कामुं, कामु ।

प्रकृत्यन्तरेण किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा का ।

द्वितीया कं ।

तृतीया कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।

चतुर्थी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।

पञ्चमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किचो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो ।

षष्ठी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।

सप्तमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।

बहुवचन ।

कीओ, कीउ, कीआ, की ।

कीओ, कीउ, कीआ, की ।

कीहिं, कीहिं, कीहि ।

काणं, काण, कास, कोसि ।

किचो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो, कीसुन्तो ।

काणं, काण, कास, कोसि ।

कीसुं, कीसु ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एसा, एस, इणं, इणमो × ।

द्वितीया एअं ।

तृतीया एआअ, एआउ, एआए ।

चतुर्थी एआअ, एआइ, एआए, से ।

पञ्चमी एआअ, एआइ, एआए, एचोः, एआओ,)

” एआउ, एताहिन्तो ।

षष्ठी एआअ, एआइ, एआए, से ।

सप्तमी एआअ, एआइ, एआए ।

बहुवचन ।

एआओ, एआउ, एआ ।

एआओ, एआउ, एआ ।

एआहिं, एआहिं, एआहि ।

एआणं, एआण, एएसि, सिं ।

एचो, एआओ, एआउ, एआहिन्तो, एआसुन्तो ।

”

एआणं, एआण, एएसि, सिं ।

एआसुं, एआसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एई, एस, इणं, इणमो ।

बहुवचन ।

एईओ, एईउ, एईआ, एई ।

+ “आमो केसि” । ॥ ३ । ६१ । बहुशब्धिकारात् श्रियामाप । स्वर्धोसि, केसि । * “किमो किपोकीसो” ॥ ७ । ३ । ६८ ॥ × “केलेणमिणमो सिना” ॥ ७ । ३ । ८५ ॥ एतद्: सिना सह एस इणमो इत्यादेशा वा जयन्ति । एस गर्ह । ÷ “एथे च तस्यसुक्” ॥ ८ । ३ । ८३ ॥ एतद्: एथे चो साहे परे तस्य सुक् । एथ, एचो, एचोहे ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
द्वितीया एइं ।	एइंओ, एइंउ, एइंआ, एइं ।
तृतीया एइंअ, एइंआ, एइंइ, एइंए ।	एइंहिं, एइंहिं, एइंदि ।
चतुर्थी एइंअ, एइंआ, एइंइ, एइंए ।	एइंणं, एइंण ।
पञ्चमी एइंअ, एइंआ, एइंइ, एइंए एइंओ, एइंओ, एइंउ,)	एइंओ, एइंओ, एइंउ, एइंदिन्तो, एइंमुन्तो ।
एइंदिन्तो ।	”
षष्ठी एइंअ, एइंआ, एइंइ, एइंए ।	एइंणं, एइंण ।
सप्तमी एइंअ, एइंआ, एइंइ, एइंए ।	एइंणं, एइंण ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इमिआ, इमा अ ।	इमाओ, इमाउ, इमा ।
द्वितीया इमं, इणं, यं × ।	इमाओ, इमाउ, इमा, णाओ, णाउ, णा ।
तृतीया इमाए, इमाइ, इमाअ, एाए, एाइ, एाअ ।	इमाहिं, इमाहिं, इमादि, एाहिं, एाहिं, एाहिं, आहिं, आहिं, आहिं = ।
”	इमाणं, इमाण, मिं ।
चतुर्थी इमाए, इमाइ, इमाअ, से + ।	इमओ, इमाओ, इमाउ, इमादिन्तो, इमामुन्तो ।
पञ्चमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इमओ, इमाउ, इमादिन्तो ।	इमाणं, इमाण, सिं ।
षष्ठी इमाए, इमाइ, इमाअ, से ।	इमासुं, इमासु ।
सप्तमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इह ÷ ।	

प्रकृत्यन्तरेण इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इमिआ, इमी ।	इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।
द्वितीया इमिं ।	इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।
तृतीया इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीहिं, इमीहिं, इमीदि ।
चतुर्थी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीणं, इमीण ।
पञ्चमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए, इमिओ, इमीओ,)	इमिओ, इमीओ, इमीउ, इमीदिन्तो, इमीमुन्तो ।
इमीउ, इमीदिन्तो ।	”
षष्ठी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीणं, इमीण ।
सप्तमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीसुं, इमीसु ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा अइ, अमू ।	अमूउ, अमूओ अमू ।
द्वितीया अमुं ।	अमूउ, अमूओ, अमू ।
तृतीया अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूहिं, अमूहिं, अमूदि ।
चतुर्थी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूणं, अमूण ।
पञ्चमी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए, अमुओ, अमुओ,)	अमूओ, अमूओ, अमूउ, अमूदिन्तो, अमूमुन्तो ।
अमूउ, अमूदिन्तो ।	”
षष्ठी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूणं, अमूण ।
सप्तमी अयमि, इअमि, अमूअ, अमुआ, अमूइ, अमूए ।	अमूसुं, अमूसु ।

* “ पुंस्त्वयाने वाऽयमिनिमा ली ” ॥ ८२ । ७३ ॥ एके इदम इमः ॥ ८३ । ७२ ॥ × अनेणव ॥ ८४ । ७३ ॥ ‘ णोऽमूशब्दादि-
सि’ ॥ ८३ । ७७ ॥ = ‘स्ति-स्त्वयोरत्’ ॥ ८३ । ७४ ॥ बहुलाधिकारात् छन्द्यापि जवति । आदि । + ‘धेदंतदेतदो ऋसाः म्न्वां
के-स्तिनी’ ॥ ८३ । ७१ ॥ ÷ ‘केमेन हः’ ॥ ८३ । ७५ ॥ इदमः कृतेमादेतात् परस्व केः स्थाने मेन स्वह ह आदेशो वा जवति । इह ।

॥ अथ नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

अकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मङ्गलशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा मंगलं ० ।

द्वितीया मंगलं ।

बहुवचन ।

मंगलाणि, मंगलाइं, मंगलाईं × ।

मंगलाणि, मंगलाइं, मंगलाईं ।

शेषं ' वञ्च ' शब्दवत् + ।

इकारान्तो नपुंसकलिङ्गो वारिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा दहिं, दहि, दहिं * ।

द्वितीया दहिं ।

बहुवचन ।

दहीइं, दहीइं, दहीणि ।

दहीइं, दहीइं दहीणि ।

शेषं पुम्बत् ।

उकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मधुशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा महुं, महु, महुं ।

द्वितीया महुं ।

बहुवचन ।

महुइं, महुइं, महुणि ।

महुइं, महुइं, महुणि ।

शेषं ' गुरु ' शब्दवत् ।

यच्चब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा जं ।

द्वितीया जं ।

बहुवचन ।

जाणि, जाइं, जाईं ।

जाणि, जाइं, जाईं ।

शेषे पुम्बत् ।

एवं तच्चब्दरूपाणि हेयानि ।

एतच्चब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा एस, इणं, इणमो, एअं ।

द्वितीया एअं ।

बहुवचन ।

एआणि, एआइं, एआईं ।

एआणि, एआइं, एआईं ।

शेषं पुम्बत् ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा इदं, इणं, इणमो = ।

द्वितीया इदं, इणं, इणमो ।

बहुवचन ।

इमाणि, इमाइं, इमाईं ।

इमाणि, इमाइं, इमाईं ।

शेषं पुम्बत् ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।

प्रथमा आह, अमुं ÷ ।

बहुवचन ।

आमुणि, आमुइं, आमुईं ।

० " ङीबे स्वरान्म स्वेः " । ८ । ३ । ३५ ॥ × " जस्शस् इ-इ-ण्यः सप्राग्वहीश्रीः " । ८ । ३ । ३६ ॥ + " नामन्यागस्ती मः " ॥ ८ । ३ । ३७ ॥ * इहिं इति सिद्धोपेक्षया । केचिदनुशासकमयोपेक्षिते इहिं । = " ङीबे स्वमेवामिणमो च " ॥ ८ । ३ । ३६ ॥ इति स्वमेवामिणमो संहितस्य इव इणमो इणम आदेशाः । ÷ " बाऽवलो वस्य हो नोवाम् " ॥ ८ । ३ । ३७ ॥ " मुः स्वाई " ॥ ८ । ३ । ३८ ॥

विभक्ति एकवचन ।
द्वितीया अमुं ।

बहुवचन ।
अमुणि, अमुहं, अमुहैं ।

शेषं पुम्बन्त् ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।
प्रथमा किं + ।
द्वितीया किं ।

बहुवचन ।
काणि, काई, काईं ।
काणि, काईं, काईं ।

शेषं पुम्बन्त् ।

॥ इति नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

॥ अथ संख्यावाचकशब्दाः ॥

पञ्चशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।
प्रथमा ०
द्वितीया ०
तृतीया ०
चतुर्थी ०
पञ्चमी ०
” ”
षष्ठी ०
सप्तमी ०

बहुवचन ।
पंच ।
पंच ।
पंचदिं, पंचादिं, पंचदि * ।
पंचाहं, पंचाहं × ।
पंचात्रो, पंचात्रो, पंचात्रो, पंचादि, पंचेहि, पंचादिन्त्रो,
(पंचेदिन्त्रो, पंचासुन्त्रो, पंचेसुन्त्रो) ।
पंचाहं, पंचाहं ।
पंचेसुं, पंचेसुं ।

एषं उ, सच, अच, नच, दहशब्दरूपाणि ज्ञेयानि ।

द्विशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।
प्रथमा ०
द्वितीया ०
तृतीया ०
चतुर्थी ०
पञ्चमी ०
षष्ठी ०
सप्तमी ०

बहुवचन ।
दुवे, दोषि, दुषि, वेभि, विषि, दो, वे ।
दुवे, दोषि, दुषि, वेषि, विषि, दो, वे ।
दोदिं, दोदिं, दोदि, वेदि, वेदिं, वेदि ।
दोहं, दुहं, वेहं, विहं ।
दोदिन्त्रो, वेदिन्त्रो ।
दोहं, दुहं, वेहं, विहं ।
दोसुं, दोसुं, वेसुं, वेसुं ।

त्रिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।
प्रथमा ०
द्वितीया ०
तृतीया ०
चतुर्थी ०

बहुवचन ।
तिषि ।
तिषि ।
तीदिं, तीदिं, तीदि ।
तिहं, तिहं ।

विभक्ति एकवचन ।	
पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।	
तिचो, तीओ, तीठ, तीहिन्तो, तीसुन्तो ।	
तिएइं, तिएह ।	
तीसुं, तीसु * ।	

कतिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	
प्रथमा	०
द्वितीया	०
तृतीया	०
चतुर्थी	०
पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।	
कइ ।	
कइ ।	
कईहिं, कइहिं, कईहि ।	
कइएहं, कइएह ।	
कइचो, कईओ, कईव, कईहिन्तो, कईसुन्तो ।	
कइएइं, कइएह ।	
कईसुं, कईसु ।	

चतुरशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	
प्रथमा	०
द्वितीया	०
तृतीया	०
चतुर्थी	०
पञ्चमी	०
षष्ठी	०
सप्तमी	०

बहुवचन ।	
चत्तारो, चउरो, चत्तारि ।	
चत्तारो, चउरो, चत्तारि ।	
चऊहिं, चऊहिं, चऊहि ।	
चउएहं, चउएह ।	
चउचो, चऊओ, चऊउ, चऊहिन्तो, चऊसुन्तो ।	
चउएइं, चउएह ।	
चऊसुं, चऊसु ।	

युष्मन्शब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	
-----------------	--

प्रथमा	तं, तुं, तुवं, तुइ, तुमं ।
द्वितीया	ते, तुं, तुमं, तुवं, तुह, तुमे, तुए ।
तृतीया	जे, दि, दे, ते, तइ, तए, तुमं, तुमइ, तुमए, तुमे,)
"	तुमाइ ।
चतुर्थी	तइ, तु, ते, तुमं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो,)
"	तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुमन, तुजऊ, तुमइ, उमन,)
"	उजऊ, उमइ, उमइ ।
"	"
पञ्चमी	तइचो, तईओ, तईउ, तईहिन्तो, तुवचो, तुवा-)
"	ओ, तुवाउ, तुवाहि, तुवाहिन्तो, तुवा, तुमचो,)
"	तुमाओ, तुमाउ, तुमाहि, तुमाहिन्तो, तुमा,)
"	तुहचो, तुहाओ, तुहाउ, तुहाहि, तुहाहिन्तो,)
"	तुहा, तुमचो, तुनाओ, तुनाउ, तुनाहि, तु-)
"	महाहिन्तो, तुना, तुमहचो, तुमाओ, तुमाउ,)

बहुवचन ।	
भे, तुमने, तुमडे, तुजऊ, तुजऊ, तुमइ, तुमडे, उमडे ।	
भो, तुजऊ, तुमने, तुमडे, तुजऊ, तुमडे, उमडे, जे ।	
भे, तुमनेहिं, तुजऊहिं, तुमडेहिं, उजऊहिं, उमडेहिं, तुमडे-	
(हिं, उमडेहिं ।	
तु, चो, जे, तुमं, तुजऊ, तुमइ, तुमं, तुजऊं, तुमइं,	
(तुमनाएणं, तुमभाण, तुमजाएणं, तुमजाए, तुमहाणं, तुमहा-	
(ण, तुवाएणं, तुवाण, तुमाणं, तुमाण, तुहाएणं, तुहाएण,	
(उमहाएणं, उमहाण ।	
तुमचो, तुनाओ, तुमाउ, तुनाहि, तुमभेदि, तुमना-	
(हिन्तो, तुमनेहिन्तो, तुमभासुन्तो, तुमभेसुन्तो, तुमहचो, तु-	
(माओ, तुमहाउ, तुमाहि, तुमडेहि, तुमहाहिन्तो, तुमडेहि-	
(न्तो, तुमहासुन्तो, तुमडेसुन्तो, तुजऊचो, तुजऊओ, तुजऊउ,	
(तुमभाहि, तुमजहि, तुमभाहिन्तो, तुमभेहिन्तो, तुमभासु-	
(न्तो, तुजऊसुन्तो, तुमहचो, तुमाओ, तुमाउ, तुमाहि-	

* "कुरास्यदेणुसोवो" (१२७) क-वायाः स्यादीनां च यो षसु तयोद्वयस्यारोऽन्तो वा भवति । वचनेण वचन्य, वचनेसुं वचनेसु ।

विभक्ति एकरचन ।

”	तुम्हाडि, तुम्हादिन्तो, तुम्हा, तुम्हासो, तुम्हा-
”	ओ, तुम्हाड, तुम्हादि, तुम्हादिन्तो, तुम्हा,
”	तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तद्दिन्तो ।
”	”
”	”
षष्ठी	तड, तु, ते, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा,
”	तुम्हा, दि, दे, इ, ए, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा,
”	तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा ।
”	”
सप्तमी	तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तड, तड, तुम्हा, तुम्हा,
”	तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा,
”	तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा,
”	तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा,
”	तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा, तुम्हा,

बहुवचन ।

(तुम्हादि, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो,
(तुम्हासो, तुम्हासो, तुम्हासो, तुम्हासो, तुम्हा-
(दिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हासो,
(तुम्हासो, तुम्हासो, तुम्हासो, तुम्हासो, तुम्हा-
(तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हा-
(तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हा-
(तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हा-
(तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हा-
(तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हा-
(तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हा-
(तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हा-
(तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हादिन्तो, तुम्हा-

अस्मच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकरचन ।

प्रथमा	अहं, हं, अहयं, म्मि, अम्हि, अम्मि ।
द्वितीया	ए, णं, वि, अम्मि, अम्ह, अम्ह, मं, ममं, मियं अहं ।
तृतीया	वि, मे, मयं, मयण, मयाइ, मइ, मए, मयाइ, णं ।
चतुर्थी	मे, मइ, मय, मइ, मइ, मज्जं, मज्जं, अम्ह, अम्हं ।
”	”
पञ्चमी	मइसो, मइओ, मइउ, मइदिन्तो, मयसो, मयाओ,
”	मयाओ, मयाओ, मयाओ, मयाओ, मयाओ, मया-
”	ओ, मयाओ, मयाओ, मयाओ, मयाओ, मया-
”	मयाओ, मयाओ, मयाओ, मयाओ, मयाओ, मया-
षष्ठी	मे, मइ, मय, मइ, मइ, मज्जं, मज्जं, अम्ह, अम्ह ।
”	”
सप्तमी	मि, मइ, मयाइ, मए, मे, अम्हम्मि, अम्हम्मि,
”	अम्हम्मि, अम्हम्मि, अम्हम्मि, अम्हम्मि, अम्हम्मि,
”	मि, मइ, मयाइ, मए, मे, अम्हम्मि, अम्हम्मि,
”	मि, मइ, मयाइ, मए, मे, अम्हम्मि, अम्हम्मि,

बहुवचन ।

अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं, मे ।
अम्हे, अम्हो, अम्ह, ए ।
अम्हेदि, अम्हादि, अम्हे, णं ।
ए, णो, मज्ज, अम्ह, अम्ह, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं, अ-
(म्हाण, मयाणं, मयाण, मयाणं, मयाण, मज्जाणं, मज्जाण्य ।
मयसो, मयाओ, मयाओ, मयाओ, मयाओ, मया-
(दिन्तो, मयसुन्तो, मयासुन्तो, अम्हसो, अम्हाओ, अम्हाओ,
(अम्हाओ, अम्हाओ, अम्हाओ, अम्हाओ, अम्हाओ,
(सुन्तो, अम्हेसुन्तो ।
ए, ए, मज्ज, अम्ह, अम्ह, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं,
(अम्हाण, मयाणं, मयाण, मयाणं, मयाण, मज्जाणं, मज्जाण्य ।
अम्हेसु, अम्हेसु, मयसु, मयसु, मयसु, मयसु, मज्जसु,
(मज्जेसु, अम्हसु, अम्हसु, मयसु, मयसु, मज्जसु, मज्जसु,
(महसु, महसु, अम्हासु, अम्हासु ।

॥ इति प्राकृतशब्दरूपावलिः समाप्ता ॥

पठन्तु बालकाः सर्वे जैनानामितरे तथा । तस्मान्मयेयं प्राकृत-शब्दरूपावलिः कृता ॥ १ ॥



अभिधानराजेन्द्रः ।

जयति सिरिखीरवाष्ठी, वुहविवुह्नमंसिया या सा ।
वत्तव्य से बंमि, समासञ्चो अक्खरक्कमसो ॥ १ ॥



अ-अ-पुं० स्वरसंज्ञके कण्ठस्थानीये स्वनामक्याते वर्णे, यका० ।
अहंति, आद्याकरेण तस्य प्रहणात् सिक्ते च । अशरीरंति सि-
क्त्वाचकस्याद्याकरेण तद्गोष्ठात् । गा० । अयति रक्तनि अतति
सातयेन तिष्ठतीति वा अय-अत-वा-र-विष्णोः, अकारो विष्णु-
रुद्दिष्टः वाच० । शिषे, अहसि, वायी, अन्दे, अश्री, ज्ञानी, कम-
ठे, अन्तःपुरे, जूषणे, वरपे, कारणे, रणे, अजिते, गौरवे, यका० ।
अ-अव्य० अय प्रीणनादौ, इ स्वरदिवाच्यवयवस्य अभावे,
वाच० । प्रतिषेधे, “अमानेताः प्रतिषेधे” भा० म० खि० । सू-
त्र० । अत्रोदाहरणम्, “नियारिस्सणं अधरो” अकारस्य तज्जाव-
प्रतिषेधे निवृत्तौ न यथा अघटोऽयमिति न घटो घटव्यतिरिक्तः पटा-
दिकः पशायै इत्यर्थः । वृ० १. उ० । “अजावे न ह्यनोनः” इत्यम-
रटीकार्यां नञादेशोऽयमित्युक्तम् । स च अविदाः नञनमुच्चा-
दिनिश्राब्दघटके उत्तरपदस्थे हलादौ शब्दे परे भवति । स
तु नञयै पक्ष स्थानितुव्याधेत्वादेशस्य । वाच० । स्वल्पेऽर्थे,
अनुकम्पयायं, सम्बोधने, अ अनन्त । अचिक्रेपे, अ पचासि त्वं जा-
न्म । “अपसर्गस्वरविज्ञकिप्रतिक्रमकाश्रिते” स्वरादिगणस्ये अ
इति सिक्त्वात् कौमुद्यामुदाहृतं अनंतरमायां च अ संबोधने, अचि-
क्रेपे, तिषेधे चैति व्याख्यातम् । वाच० । “अपच्यममारणति-
यसंलहृणाजोसजात्थे” अत्र अपच्यिमाः पञ्चात्कालाभाविन्यः ।
अकारस्वमङ्गुत्तरादरायं इति । स० ।

च-अव्य० कगचजतद्वपवां प्रयो लुक्, ङ । १ । ७७ । इति
सूत्रेण चक्षोपः । न चाऽनादेरेव सः कविदादेरपि विधानात् ।
सा अ-स च० प्रा० । अर्थस्तु चक्षोपः ।

अञ्ज-अञ्ज-पुं० न जायते जन-र-न० त० ईश्वरे, जीवे, अज्ञानि,
विष्णोः, इने, कृगो, मेघरुपे प्रथमे राज्ञी, माञ्जिकधाती च । जन-
नशायै गगनादौ, त्रि० । आत् विष्णोः जायते इति । अन्दे, कामे,
बशायपतिरि रघुनृपपुत्रे रामचन्द्रस्य पितामहे सूर्यैर्बन्धने नृप-
भेदे, वाच० । प्राकृते ‘अज्ञानेः पुंसः ङा । ३ । ३२ इति आत्पिप्यु-
दासात् ङीञ्चिकल्पः प्रा० । मेघशृङ्गपथ, गा० ।

अअगर-अजगर-पुं० अञ्जं जगं गिरति गिरति वृ-अच् । वृह-
स्सयै, । अजगरमगस्त्यथापात् वृहत्सपेजावापञ्च नदुषमधिकृत्य
कृती प्रथः अय-आजगरम् । अजगरकथायाय, न० । वाच० ।
अअवालग-अजापालक-पुं० ६ त० । अजरकके, अजारकण-
प्रवृत्ते प्रष्टवते, वाचकभेदे च । वृ० ३ उ० । (तदृचं किच-
कम्म शब्दे) ॥
अइ-अयि-अव्य० सञ्ज्ञावने, अइ संभावने = । १ । ४ । संज्ञा-
वने अइ इति प्रयोक्तव्यम् । “अइ दिअरः किं न पेञ्जसि, अयि
वेवर ! किञ्च प्रकृञ्चं प्रा० ॥
गम्-घा० सक० पर० च्चा० गती, गमेरर लि ङ । ४ । ६१ ।
इति सूत्रेण गमेः अइ आदेशः । अइ-गच्छति प्रा० ।
अति-अव्य० अत्-इ-पूजायाय, इत्यर्थे, अतिक्रमणे, वि-
क्रमे, अयुक्तौ, भूये, “विक्रमातिक्रमायुक्तिचुशायातिशयेभ्यती-
ति” गणरत्नम् । तत्र विक्रमे अतिरथः । अतिक्रमे अति-
मतिः । अयुक्तौ अतिगदन्म् । बुद्धेरथिपयः । वृथो अतिसप्तम् ।
अतिशये अतिवगः वाच० । “अति सर्वेषु वर्जयेत्” यतः “अइ-
रोसो अइ तोसो, अइदासो दुञ्जणेहि संवासो । अइवन्नरो य
वेसो, पंच वि शुभं पि अहुभं पि” घ० १ अथि० ॥
अ [दि] इ-[ति] इ-अदिति-ली० न दीयते अण्यत्ते वृह-
त्वाद्-शे-किच न० त० दातुं ज्ञेयुमयोर्ग्यायौ पृथिव्याय, दिति-
र्वनुजमाता । विरोधार्थे, न० त० । देवमातरि, सा च दक्षस्य
सुता वाच० । पुनर्वेसुनकृत्वस्याधिपतिदेवता ज्यो० ६ पाठु० ।
“पुणव्यस्य अइ देवयार पणसे” सू० प्र० १० पाठु० ॥ जं० ।
“ दौ अइइ ” पुनर्वेस्वेन्द्रित्वादिचिह्नम् । स्या० २ जा० ॥
अइउकस-अस्त्युत्कर्ष-त्रि० उत्कर्षमतिमान्तः । उत्कर्षरहिते,
“तवस्वी अइउकसो” तपस्वी सायुः अस्त्युत्कर्षः अइ तपस्वी-
त्युत्कर्षरहितः । दश० ५ अ० ॥
अइउउभज-अस्त्युत्कर्ष-त्रि० अतिशयितचतस्रमत्कृतिकृति, “अ-
इउउभजो अ वेसो” घ० २ अथि० ॥
अइंत-अतिपत्-त्रि० अतिशयति, त्रि० चू० १६ उ० । “ पदं
उसजं मुदं अइंत पासइ ” कल्प० ॥
अइदि [य] अ-अतीन्द्रिय-त्रि० अतिक्रान्तिमिन्द्रियं तदधि-
वयत्वात् अत्या० स० वाच० । इन्द्रियहान्नाश्रम्ये, अइ० ॥
अतीन्द्रिया अथी आगमेन उपपत्त्या च हान्यने न केवलया यु-
क्त्या तदुक्तम् । “आगमभ्रोपपत्तिश्च, संसृषे हृष्टिकारथम् । अ-
तीन्द्रियाणामर्थानां, सञ्ज्ञावप्रतिपत्तये” ॥ १ । विशेषे० दर्श० ॥
कर्म० । अनु० । कथ न युक्तयेति चेत् ॥

ज्ञापेरन् हेतुवादेन, पदार्था यथातीन्द्रियाः ।

कालेनतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥

यदि भावता कालेनार्तीन्द्रिया इन्द्रियाणोचराः पदार्था धर्मा-
स्तिकाग्रायः हेतुवादेन युक्तिप्रमाणसमुद्भूत ज्ञापेरत् यथावता
कालेन परमात्मभावभ्रमणविस्मयनिद्रिष्यास्तनादिना स्वात्म-
स्वरूप उपयोगोऽनुभवः कृतः स्यात् तथा तेषु धर्मस्तिकाग्राधि-
षु बुद्ध्यात्मनि च निश्चयः कृतः स्यात् प्राज्ञैः इत्यनेन परद्रव्यवि-
त्तनकाहमात्रेणान्तस्वरूपवित्तेन स्वपरावर्थायो भवति तेन सद्भिः
स्वस्वज्ञासभावने मतिः कार्या येन निष्पत्स्यतः स्वपरा "जे
पणं आणं से सव्वं जाणति" इति वचनात् तेषु परिपत्यागपरि-
णतिर्भवति ॥ ४ ॥ अ० ॥ (मनु अतीन्द्रिया अर्थानं स ननयेयति
केच । अनुकमणोपासकेनाऽन्ययुधिखान्प्रतिवासाव्रणसहगत-
रुद्रकण्ठपादेतीन्द्रियाथैस्व सत्यप्रसाध्यात् । मङ्गल मंडुग
शास्त्रे तद्गुणस्यम्) अतीन्द्रियाथैकानं स्वैवाच्येन्य ए-
येति कैमिनीयाः । साक्षाद्तीन्द्रियाथैदमिक्तस्तमन्त्रेभाषात् य-
क्षुक्त् "अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टा व विद्यते । मि-
त्येन्यो वेदवाच्येन्यो, यथाथैवविनिश्चयः ॥ १ ॥ वा० (सम्भ-
वाथैतीन्द्रियाथैकानं सर्वज्ञस्येति स्वस्वज्ञास्वै उपपादधिष्यते)
अइकंडुद्रय-अतिक्रमसूचित-न० अत्या० स० अतिशयिते नक्षे-
र्विलक्षणं, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अ [ति] इकृत-अतिक्रान्त-वि० अत्या० स० अतिक्रमनीये,
प्रक्रान्त १ अ० ७ १० ४ अ० । सहुद्रुद्रहा० ५ पैता व पुं० ३ ० ।

अक्रान्त-अतिक्राय-पुं० अतिक्रान्तः कायात् अत्या० स०

महोरगाविशेषे, प्रक्रान्त १ एव ॥ महोरगेन्द्रे च स्या० ३ ज्ञा० ।

(अमरतिष्ठायाः स्वस्वरूपानं बुद्ध्यात्, वि० "उमाविंश-
तं चोदविशेले सद्वाविशे अक्रान्तेयै वृद्धात्) (सर्ववर्णकः) का-

यात् शरीराणि शेषाहीनामतिक्रान्तोऽतिक्रायः अत एव महाका-

याः । ज्ञा० ६ अ० । अथवाऽतिक्रावानां मध्ये महाकायाऽतिक्राय-

महाकायः ज्ञ० १५ श० १ उ० । अत्युक्तः कायोऽत्यं । विक-

ट्टेवै, वि० रायणपुत्रे राजसन्नेद्रे, पुं० । वाच० ॥

अ (ति) इकृत-अतिक्रान्त-वि० अति-क्रम-क- । अतीते,
आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० "जेय बुद्धा अतिक्रान्ता" सूत्र० १

श्रु० १ १ अ० । तीर्णं, विहो० । आ० म० प्र० । पर्यन्तवर्तिनि,
जी० ३ प्रति० । औ० । त्यकवति, "सर्ववर्णनहाइकान्तं" औ० ।

अ (ति) इकृतजोवन्त-अतिक्रान्तोऽप्यौत-वि० अत्या० स०
अतीततारुण्यं, "अपसजोवणा अइकृतजोव्यानां" स्या० ७ ज्ञा० ।

अ (ति) इकृतपक्षखाण-अतिक्रान्तप्रत्याख्यात-न० अति-
क्रान्ते पर्येण यत् क्रियते तदतिक्रान्तं तच्च तत्रप्रत्याख्यातम् ।

प्रत्याख्यातनेद्रे, घ० ३ अ० ५ । अ० ५ । पर्येयातीने पर्यु-
णादीं करणदतिक्रान्तम् । अइह च 'पञ्जोस्यणाए तव, जो खलुन
करेइ कारणज्जाए । गुरुवेयाथवेणं, तवरेस्तेगोएणयाए च
॥ १ ॥ सो दाई तवोकम्मं, पमियज्जइ तं अइच्छिए काहे । एवं
एचकम्पणाणं, अइकानं होइ नायय्वति" ॥ २ ॥ स्या० १० ज्ञा० ।

"अतिक्रान्तं नाम पञ्जोस्यणाए तव तदिं कारवेहिं स कारति
शुक्लवस्त्रिसाक्षाकारणेहिं सो अतिक्रान्तं करोति तद्वे च विभा-
सा । ज्ञा० चू० । आच० ।

अइक्रम-अतिक्रम-पुं० अनि०क्रम-घञ् अतिचारे, "पाणाद्याय-
स्व वेरमणे एव वृत्ते अइक्रमे" घ० ३ अ० ५ । सूच० अतिलङ्घने,

आचा० १ श्रु० ७ उ० । उपा० । विनाशे, आचा० १ श्रु० २ अ० । सायुकि-
योद्धङ्गे, आच० ७ अ० ।

अतिक्रम्यतिक्रमाद्यः सायुकियोद्धङ्गनरूपास्तप्रतिक्रम-
स्याधाकर्मश्रित्य स्वरूपमित्यम् ।

आहाकर्म नियंतण, पहिदुणमाणो अतिक्रमो होई ।

पनेनेयाइश्चक्रम-गहिपे तइअं तरो गिखिपे ॥

कांउपि आरंते नाइप्रतिबद्धे ज्ञानिप्रतिबद्धो गुण्युरक्तो वा
आधाकर्म निष्पाद्य निम्नयति । यथा जगद्वस्तुष्मक्षिसिस्म-

स्मङ्गे सिद्धमन्नमास्ते इति समानाग प्रतिवृत्तामित्यादि ।
तत्रप्रतिशुण्वति अन्युपपद्यति अतिक्रमो नाम दोषो भवति । स

च तावचावपुयोगपरिस्मातिः । किमुक्तं जवति । यत्प्रतिश्रु-
णोति प्रतिश्रवणानन्तरं बोधिसिद्धिं पात्राययुक्ताति उऽहा च

गुरोः समीपमागणोपयोगं करोति । एव समस्तांउपि व्याघादाति-
क्रमः । उपयोगपरिस्मदायनन्तरं च यथाकर्मप्रदधाना एव

भेदं करोति अदिशाश्रय्यागे गच्छति युद्धं प्रविशति आधाक-
र्मप्रदधाना एव प्रसारयति न चाद्यापि प्रतिशुद्धति एव सर्वो-

ऽपि व्यापारो व्यतिक्रमः (गहिपे तइअंउपि) आधाकर्मणि यु-
द्धीने उक्तङ्गणमेतत् । यावद्दसतीस्वामीते गुरुसमक्षमातोऽवि-

ते भोजनार्थमुपस्थापिते मुखे प्रक्षिप्यमाणेऽपि च यावत्तथापि
विद्यते तावत्पूर्वांयोऽनिचाराङ्गणो दोषः । अङ्गिनेऽस्याधाकर्म-

णयन्सारः । एवं श्रेयस्पर्यवेदिशि कारिषु जावनीयम । पि० ।
अमे० । व्य० । स्या० । घ० २० । आणु० । एवं भावना सूत्रगुणेषु

उत्तरगुणेषु च कार्या । अत्रायं चियेकः । सूत्रगुणेषु अतिक्रमा-
दिनिष्क्रान्तिश्चारिष्वेव मालिंयं तस्य चासां चममतिक्रमणादिभिः

बुद्धिः अतुंयं तु जङ्ग एव तथा च मति पुनरुपस्थापयैव युज्यते ।
उत्तरगुणेषु चतुर्भिरेपि चरित्रस्व मालिंयं न पुनर्भेद इत्युक्ता

मूलात्तरगुणानिचाराः । घ० ३ अ० ५ (ज्ञानदशनचारिग्ननेदा-
दतिक्रमादीनां श्रेयस्यांमति सांक्रान्त शब्दे)

अइक्रमण-अतिक्रमण-न० अति-क्रम त्पुन-सङ्घने, विचारणे,
घ० २ अ० ५ । आण० ।

अइक्रमणिज्ञ-अतिक्रमण-वि० अनिलङ्घनीये, सूत्र० ७ उ० ७ अ०

अइक्रमित्-अतिक्रम्य-अव्य० अति क्रम-त्या-व्यपे-उद्धृष्टे-
त्यर्थे, "ते अइक्रमित् न पविसे" दश० ५ अ० ।

अइगनीर-अतिगमनीर-वि० अतीवतुच्छशय, पंचा० २ वि० ।

अइगममाण-अतिगच्छत्-वि० अति-गम+शतु प्रविशति,
नि० चू० ए उ० । ज्ञा० ।

अइग (य) तु अतिगत-वि० अति-गम्-क-प्रविष्टे, "जे भि-
क्षु गहायश्कुलं धानिगने" नि० चू० ३ उ० । प्रात व । तं० ।

अइगम-अनिगम-पुं० प्रवेशे, आ० म० प्र० ।

अइगमण-अनिगमन-न० प्रवेशागणे, ज्ञा० १ अ० ।

अइगुरु-अनिगुरु-पुं० अतिशयितो गुरुः पुन्यनमत्वात् प्रा० म०
"अयः पुन्यस्यातिगुरुवं भवति पिता मानाऽऽचार्यश्चेति" वाच० ।

अइचंद-अतिचन्द-पुं० एष्टे सांकाशरमुद्धं, कल्प० ।

अइचरा-अतिचरा-स्त्री० अतिक्रम्य-स्वच्छदानं सरोऽन्तरं चर-
ति गच्छति चर+अच् परिचयाम, तल्लुप्याकारश्चत्वा स्वरूप-

भिण्यां पदचारिण्यां सतांशङ् । अतिक्रमणकारिणि, पि० वाच० ।

अइचित्त-अतिचिन्त-वि० अतीव चिन्ता यस्मिन् अतिचिन्तम् । अतिचिन्तासहिते, हा० २ अ० ॥

अइच्च-अतीत्य-अण्य० अति-इ-त्वा-अण्य-त्यक्येत्थ्ये, "स-त्वा-इ-त्वा-इ-त्वा-अण्य-त्यक्येत्थ्ये" सूत्र० १ भु० ७ अ० ॥

अइच्छ-गमु-धा० ङ्वा० ष० सङ्ग० । गमेरच् अइच्छे । ऽ। ष। ६१ । इति सूत्रेण गमधातोर्इच्छदेशः । गमी, अइच्छइ, गच्छति, प्रा० अइच्छत-गच्छतु-वि० विचरति, अतिक्रामति, उच्य० १५ अ० ।

अइच्छत्त-अतिच्छत्त-पुं० अतिक्रान्तच्छत्तम् । तुट्याकारेण अन्त्या० षत् । (अतिया) इति प्रसिद्धे स्वतन्त्रविशेषे, (ताड-जन्माना) इति प्रसिद्धे जलतुणभेदे च । ह्रीरस्वामिभेदे जना इत्येव नाम । उच्चातिक्रमकारिणि, वि० अतिक्रमेऽप्ययी० उच्चा-तिक्रमे, अण्य० वाच्य० ॥

अइच्छपञ्चवर्षाण-अद्विस्ता (अतिगच्छ) प्रत्याख्यान-न०-प्रत्याख्यानभेदे, " भिषास्वर्षणस्यथा अइच्छं " भिक्षणं निष्ठा प्राभृतिका आदिशब्दाद्वास्वितिपरिग्रहस्येवामदाने अतिगच्छेति अद्विस्तंति वा वचनमतिगच्छप्रत्याख्यानमद्विस्ताप्रत्याख्या नं वा । मा० म० प्र० "अइ (च्छ) च्छा पञ्चवर्षाणं बंधनसमपाणं । अइच्छंति " अद्विस्ताप्रत्याख्यानं देवग्राहणं । देवभरणं । अद्वि-स्तंति नाम दानुमन्दिच्छ न तु नास्ति यद्भवती याचितं ततश्चादि-त्वं यस्तुनः प्रतिपद्यात्मिके कृत्वा प्रत्याख्यातमिति गाथायाः । आ० ६ अ० ॥

अइज्जाय-अतिजा (या) त-पुं० पितुः संपन्नमतिगच्छव जा-तः संवृत्तौ वाऽतिक्रम्य वा तं यातः प्राप्ते विशिष्टतरसंपन्नं स-मृच्छतर संपन्नं । इत्यतिजातोऽपि यातो वा अण्यनभेद । सुतभेदे, स्या० ६ अ० ॥

अइडिभ-अतिष्ठित-वि० अतिक्रान्ते, उडङ्कितवति, उच्य० ७ अ० । अतिगुण-अण्य० अतिक्रम्योडङ्क्येत्थ्ये, उच्य० ७ अ० ॥

अइण्यत्त-अतिनिश्चय-वि० अतीव निश्चयकमे, पंचा० १५ विव० अइण्यत्त-अतिस्निग्धभुरत्त-न० घृतगुणदिवत् सु-स्वकारित्वरूपे एकोनविंशे वचनातिशये, स० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) त-अतीत-वि० अति-इ-त० अतिक्रान्ते, सूत्र० १ भु० १ अ० । आचा० प्रा० म० प्र० इहा० । विवाङ्कितसमयमर्थोडङ्क्य सूतयति समयमर्थो, ज्यो० १ पाठो । प्राकृतं, अतिक्रान्तसमयमर्थमिति, विशेष० । आनु० (अतीतयस्तु-नः सूतयतिचाः सत्वयुगभेदे) ह्रीभूते च उच्य० १५ अ० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) तद्वा-अतीताद्वा-स्त्री० अती-तकाले, आचा० १ भु० १ अ० १ उ० । अतीतेषु अनन्तेषु पुत्र-परावर्तेषु, अनु० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) तपञ्चकलाण-अती-तपत्याख्यान-न० पञ्चकालकरणीयं प्रत्याख्यानभेदे, प्रथ० ४ हा० । स० । प्र० ॥

अ (ति) इ (या) त, हा-अतिपान-न० नगरादौ राजादेः प्रवेशे, स्या० ४ अ० ॥

अ (ति) इ (या) ताणकहा-अतिपानकथा-स्त्री० रा-जादेः नगरादौ प्रवेशकथायाश्च, यथा " सिय सिबुक्कंधमाभा, सियवमारो स्यपत्तअणहो । जणनयणाकरणसेमा, एसेतो यि-सइ धुरे शया " इति स्या० ४ अ० । राजकथाभेदे, (व्याख्या-रायकहा शब्दे) ॥

अ (ति) इ (या) ताणगिह-अतिपानगृह-न० नगरादि-प्रवेशे यानि गृहाणि तिष्ठ, स्या० २ अ० ॥

अ (ति) इ (ता) याणहिं-अतिपानकिं-स्त्री० राजा-देः नगरप्रवेशे समनयन्यां ताणगिहशांभोजनसमर्थाविलक-णायास्तु, स्या० ३ अ० ॥

अ (ई) इ (ती) [य] ताणगपयाण-अतीतानागतज्ञान-न० अतिक्रान्तानुत्पत्त्यर्थपरिच्छेदे, हा० २६ हा० ॥ अइतास-अतितास-न० उचाले गयेदेषे, अनु० ॥

अइतिस्वरोस-अतितीक्ष्णरोष-वि० ६ अ० । पुनः पुनः रोषण-शीले, हीरोषिणि, सू० २ उ० । अइतिव्व-अतितीक्ष्ण-वि० अत्युत्कटे, पंचा० १ विव० ।

अइतिव्वकम्मविगम-अतितीक्ष्णविगम-पुं० ६ अ० अत्युत्कट-स्य कर्मणे ज्ञानावर्षीयमिध्यात्वादेः विनाशे, पंचा० १ विव० । अइतुट्टण-अतिबुद्धण-न० अतिशयेनापनयने, सूत्र० १ भु० १ अ०

अइतेआ-अतिज्ञा-स्त्री० चतुर्दश्यां राज्ञे, ज० ७ वक्ष्ण० कल्प० । अइतेअ-एदंपर्ये-न० इदं परं प्रधानमस्मिन् वाक्ये इतीदं परं तद्वाप्येदंपर्ये । वाक्यस्य तात्पर्यशास्त्री, शो० १ विव० । पूर्वाक-तात्पर्यं, शो० १६ विव० । जाचांयगर्भे (प्रति०) तत्त्वे, पञ्चा० १४ विव० ॥

अइत्तराण-अतिद्वाराण-वि० महामयानके, अण्य० ।

अइत्तुक्ख-अतिदुःख-न० अतिदुःखे, आचा० १ भु० ६ अ० । अइत्तुक्खपम्म-अतिदुःखधर्म-वि० अतीव दुःखमसातयेदनी-यं धर्मः स्वभावे यस्य तत्तथा । अत्यन्तासातस्वभावे, " मा-दोवणीयं अइत्तुक्खधम्मं " सूत्र० १ भु० ५ अ० । अतिदुःखरूपं धर्मः स्वभावे यस्मिन्निति इत्थमुक्तं प्रवृत्ति । अक्रान्तिमयमा-न्धि कर्म न दुःखस्य विनाश इति । सूत्र० १ भु० ५ अ० ।

अइत्तुदिण-अतिदुःखिण-न० अतिशयेन भेषातिमिरे, पि० । अइत्तुह-अतिदुःखिण-वि० अतिशयेन दुःखात्त्वे, म० २ अधि० ।

अइत्तुह-अतिदुःखिण-वि० अत्यन्तदुःख्यासे, उच्य० १५ अ० ।

अइत्तुह-अतिदुःखिण-वि० अत्यन्तदुःख्यासे, उच्य० १५ अ० ।

अइत्तुह-अतिदुःखिण-वि० अत्यन्तदुःख्यासे, उच्य० १५ अ० ।

अइत्तुह-अतिदुःखिण-वि० अत्यन्तदुःख्यासे, उच्य० १५ अ० ।

अइत्तुह-अतिदुःखिण-वि० अत्यन्तदुःख्यासे, उच्य० १५ अ० ।

अइत्तुह-अतिदुःखिण-वि० अत्यन्तदुःख्यासे, उच्य० १५ अ० ।

अइत्तुह-अतिदुःखिण-वि० अत्यन्तदुःख्यासे, उच्य० १५ अ० ।

अङ्शुत्

सोऽतिवृत्तेः । बहुवकर्मणि, सूत्र० ३ भू० ३ अ० १ उ० । अङ्परिहय-अतिपरिहृत-त्रि० अतीव दुर्घटवन्धे, वृ० १ उ० ।

अङ्परिहृक्वञञसिला-अतिपाएकुक्मन्सलिला-क्री० मन्दरप-वैनस्य इतिनादिनात्पामभिषेकाशिलाय, तथा०२डा० "दो भ-इपुङ्क्वञञसिलाओ" स्या० ४ ग्रा० । पाएकुक्मन्सलिलेव्यस्या नामान्तरमिति तत्रैव वर्णको वचनवत् । अ० २, वक्त० ।

अङ्पटागा-अतिपताका-क्री० एकां पताकामतिक्रम्य वा प-ताका साऽतिपताका । ज्ञा० १ अ० पताकोपरिवर्तिन्यां पताका-याम्, । दशा० । औ० ।

अङ्परिणाम-अतिपरिणाम-पुं० अतिव्याप्यया परिणामो यदु-कार्यपरिणमनं यस्य स तथा ध्य०२र० । नि० चू० । अपवादैकम-तो, वृ० १ उ० । तल्लक्षणम् ॥

अतिपरिणामकमाट ॥

जो दक्खखेत्तकाल-जावकयं जे जहिं जया काले ।

तल्लमुस्सतुमदं, अङ्परिणामं विद्याणाहि ॥

छन्पक्षेत्रकालभावकृतं यद्वस्तु यस्मिन् भिद्गुणाध्यादौ यद्वा क्वादे आत्यन्तिकदुभिहादौ प्रणितम् [मल्लेसुत्] तस्मिन् इत्यादि कृते अपवादािकवस्तुनि श्रेया यस्य स तल्लयः पर्यायि । तावदत्र किमपि निश्चापदे तत्तस्मदेवावलम्ब्यपिप्यामीत्यपवादे-कमनिरित्यर्थः । तथा सुत्रापवाद्भुतादुत्पाद्यव्यने मतिरस्येत्यु-स्यमतिः । भूतोकापवादाद्भूतपिकापवाद्भूतदिरिति भावस्त-मेवविधं साप्यमतिपरिणामकं विज्ञानीरिति वृ० १ उ० ।

अथ प्रसङ्गादथैव परिणामकारिणाभातिपरिणामानां स्वदृष्टानं स्वकर्मण्य दृश्यते ।

परिणामद्व जद्वेत्यं, मई उ परिणामगसस कजेसु ।

विङ्ण न तु परिणामद्व, अङ्दिगमद्व परिणामे सद्गओ ॥

परिणामकस्य मतिः कार्येषु याथार्थ्येन यथाधेप्राहकतया परि-णमति । अत एवातो परिणामक उच्यते । द्वितीय द्वितीयस्याप-रिणामकस्य मतिषु तु नैव परिणमन । अत एवासावपरिणामकस्त्व-तीयः पुनरधिकं मतिमधिगच्छतीति परिणामकोऽनिधीयते यत-देव स्पष्टयति ॥

दोसु विपरिणामद्व मद्-सुसगववायओ उ पदमस ।

विट्स्म उ उस्सगं, अङ्अवर्षेण अ तदयसः । ॥

प्रथमस्य परिणामकस्य मतिरुसंगपर्यायदोरपि परिणमति । किमुक्तं ज्ञवति । यः परिणामको अर्थात् तस्योत्सर्गो प्राप्ते उ-त्सर्गो एव मतिः परिणमते । अपवादे प्राप्तेऽपवादे एव मतिः प-रिणमते । यथात्सर्गो बहोयान् तत्रोत्सर्गो समास्वरति । यत्रा-पवादे बहयान् तत्रापवादे शुक्लति । द्वितीयस्यापरिणामकस्य पु-नरकस्यो एव मतिः परिणमते । यः पुनरपवादे । तृतीयस्य तु क्वति अत्यर्थम् । अपवादे मतिः परिणमते । स च उपायदिकार-णे प्रतिसेवनामनुष्ठासां हात्या न किंचिपरिहरति । कारणमन्त-रेणापि प्रतिसेवते । अथ यदुक्त्वासीत् (अंवादे निर्दोषेति) नदिदानीं जाव्यते । एतेषां परिणामकादीनां वयाणामपि जिहासया केचिद्वाच्योः स्वशिष्यामिथमजिङ्घ्युः अयो । आक्षिप्तस्माकं प्रयोजनमस्तीत्युक्तं यः परिणामकः सिध्यः स भ्रूयात् ।

चयणमचेअणं वि य, केदहल्लिअ ओकिन्तिया वा वि ।

हाप्पा पुणो ष वोत्तं, बीणामत्थं च बुवोसि ॥

जनयत् । वैराक्षेः प्रयोजनं तमि कि चेननानि किः नतिगतानि ।

लक्षणादिनिर्वाहोसितानि क्वाप्रायतिथित (केदहत्) कि प्रमा-णानि कि मरुति कि वा ह्युपनि (विष्णुक्ति) कि पुर्णविष्णुक्ति कि वा इतानीं जिन्या आनीतानि । अथवा (जिष्णुक्ति) कि जिष्णानि अपदीकृतानि कि वा सकृतानि (किर्वात्) कि-यन्ति वा गणनायां द्विवादिंसंख्याकान्यानेकानि वा अतिशब्दा-त् कि क्वास्तिथिकानि अथवास्तिथिकानि वा तदणानि जटाजि-वेत्यत्रापि प्रप्रथमम् । इत्थं शिष्येणाजिहिते आचार्येण वक्तव्यं सौम्यम् । अथानि सन्त्येप्रमपि मम पुनः पुरा विस्मृतान्यासाक्षिदानीं स्मृतिपथमवतर्णोनीति । यद्वा पर्येतं तावदिदानीं भ्रोजनेन समा-पनिते पुननेचनं वक्ष्यामि भगिण्यामि । अथवा वसः । कि अना-ष्टैः कार्यं विमर्शार्थं किमयं विनीतो न वा परिणामको वा न वेति विज्ञानायमुक्तंऽस्तीति । यः पुनरपरिणामकः स भ्रूयात् ।

किं ते पित्तपञ्जावो, मा यं एरिसादं जेषाहि ।

मा एं परं वि सोह, कट्टं पि नेच्छाम एयसम् ॥

मो आचार्ये ! किं ते पित्तपञ्जाः समञ्जानि यदेवमुत्पन्नवदसं-वद्द प्रलपसि यद्येकवारं ममोपरं जलितं बहिर्जलितं नाम मा पुनार्दिनीयं वारमोदशानि सावद्यानि वचनानि जल्पेति । यतो- "मा गमि" त्येतस्वदीयं वचनं परंऽप्यन्योऽपि श्रोयति । वयं पुनः कथमपि नेच्छाम एतस्याधेरस्याज्ञानयत्नद्वन्द्वणस्य किपुनः कर्तव्यं तामित्यपिशब्दाधेः । यः पुनरतिपरिणामकः स एयमभिदध्यात् ।

कालोसि अङ्गवत्तदं, अल्ल वि इच्छा न भाएणं उं नरिपो ।

किं पश्चिरसस वृत्तं, अन्नाणि वि किं च आणोमि ॥

कामाधमणा ! यदि युष्माकमात्रैः प्रयोजनं तत् इदानीमप्यान-यामि यतः (सि हति) एवमात्राणां कालोऽतिवर्तते अनि-कामति । अथ तावत्पत्ति नरुणानि यतंते अन् कृत्वे जरतीन-विष्यन्तीत्यर्थः । यद्वा अस्माकस्याप्राणां ग्रहणे महेती इच्छा-परं कि कुमो न वयं यौष्माकीणभयनीतो अणुं किमपि (तिर-योक्ति) शक्नुमः । अथवा यथाज्ञापयति ब्रह्मोतु कल्पते ततः किमियतश्चिरकालात्कुक्तं वञ्जिताः स्मो वयमियत्तं कासमिति-भाषः । कि वा अन्यन्यपि मातुङ्गिन्द्रादीन्यान्वयार्मान । अन-येरपरिणामकानिपरिणामकयोरपि उदपतेराकाशेणदुक्तरं हा-तन्यम् ।

नाधिप्यायं गिहहमि, असमचे चैव भासमी बयणे ।

मुत्तंविद्दलोणकए, भिषे अट्टया वि देःशेगे ॥

मो मुग्ध ! त्वं न मदीयमजिप्रायं शुक्लसि किन्तुसुकनया म-दीयं वचनं असमाप्त एवेहदं समप्रवर्तकं निरुधं वचनं भाषसे । मया पुनरेतेनाभिप्रायेणजिहितम् (मुत्तंभिल इत्यादि) मुक्तं कश्चिक्तं नदीवात्यन्तं मुत्तंभिलं तेन लक्षणं वा कृतानि भाषि-तानि मुत्तंभिलश्रवणकृतानि जिज्ञानि च । किमुक्तं ज्ञवति । न म-या ज्ञवतः पाशोदपरिणताप्राणायानायातिनि कि तु यत्तुय-रत्सकभावितानि वा लयणनावितानि वा रुच्येना जावतश्च जि-ज्ञानि परिणतानीति भावः । अथ वा (दोषांगेति) साम्यिकी-संज्ञा आदनादिमुक्तापह्नया जोजनस्य चिन्तियाङ्गानि राक्ष्णा-करुपाणि तानि मया प्रानावितानीति प्रकृतम् । "इवादे" इत्य-न्निशब्दस्त्वितौ वृक्षबीजदृष्टान्तायामौ । आचार्यो भणति । अयो ! " कश्चेहि वा पक्षोअन्तंति " अन्नापि परिणामकादीज-त्यस्तथैवावसानस्य । नवरम् । अपरिणामकानिपरिणामको प्रति स्मरणा प्रतिषेकन्यम् ॥

निष्पावकोषवार्ध—एषि वैमि रक्खाणि न हरिषु रक्खे ।

अभिज्ञविष्कट्याणि अ, अभाभि न विरोहणसमस्ये ॥

निष्पावा बह्नाः कोऽवाः प्रतीतास्तदादीनि (वषष्पाव्यिच्छि) कृष्णाणि प्रष्पाणि तान्येवाहं अभाभि न इरिताषु तु स्त्रिचिष्वाद् वृ-
ह्नात् । तथा बीजाभ्यपि यानि अस्मद्भाविना निष्पस्त्वानि वा
व्यवच्छिन्नानि यानि काभि तान्यहं अभाभि न विरोहणसमर्थानि
पुनरुत्तुङ्गान्प्रवक्ष्यकिकानीत्येव आश्राद्धिदद्यात् । कृष्णाभ्यां-
पामाभिः स्थानैः "मुञ्चंश्चिन्न" इत्यादिभिः प्रकारैः कृत्वा प्वं परी-
ह्य यः परिणामकस्तस्य दातव्यम् । पुनस्तेन श्रोतव्यमित्याह ।

निदाविगहापरिव—जिष्णु गुरुं दिष्णु पंजलिष्णु ।

जनी बहुमाणेष्ण य, तुञ्चतुषेयां मुणेयवर्चं ॥

अनिकर्तव्येण सुभा—सिया—वयणाई अत्ययदुर्गाः ।

विन्मयमुद्देष्ण हरिसा—गण्य हरिसं जघातेष्ण ॥

तिष्ठत्यमायः सन् न किञ्चिद्व्यवधारयति । विक्रपायां क्रिय-
माणयां न्याघातो प्रयतीत्यंतं निष्क्रियकार्यविरहितेन भोत-
व्यम् । गुप्तानि स्वस्वविययप्रवृत्तानिरोधेन संवृत्तानीन्द्रियाण
वेनास्तौ गुप्तैरिन्द्रियस्तेन । तथा प्राञ्जलिनो योगितकरयुग्मिन् प्र-
क्या बहुमानेन च भोतव्यम् । जक्रिनोमि गुरुणामिति कतेष्यता-
या निष्प्रारब्धनादिकायां बाह्या प्रवृत्तिः । बहुमानस्तु गुरुणा-
पार आन्तरः प्रतिबन्धः । अत्र चतुर्भङ्गाः । जक्रिनोमिकस्य न ब-
हुमानः, बहुमानो नामैकस्य न जक्रिः, एकस्य अक्रिरपि बहु-
मानोऽपि, एकस्य न जक्रिनं वा बहुमानं हति । अत्र च मत्किञ्च-
हुमानोऽप्येवोक्त्यापकं शिवायव्यवामन्तरनययोर्मैरुपशुद्धि-
योदहाहरणं तत्र सुप्रसिद्धमिति कृत्वा न सिष्यते । यदि च
अक्रिं बहुमानं वा न करारति तदा चतुर्भङ्गः । तयोपयुक्तैराल-
स्या भातव्यम् । "अनिकर्तव्येण" इत्यादि वचनानि भुक्तस्या-
क्याया सुभ्रामितानि शोभनभ्रामितानि आश्रमभ्रामितानि प्राशय-
स्तुत्वादि अभिकाङ्क्षा नामिभ्युत्थेन बाधता । तथा विस्मि-
तमुञ्चनपूर्वापूर्वैर्भरणसमुद्भूतविस्मयस्मरणवद्नेन इर्ष्यतेन अदो
अदी प्रगल्भनः स्वमालताश्रुतोषमवगाण्यस्यास्मभिमिच्छे-
षिषं सुशर्येव्याक्यानं कुर्वन्ति नानुणी भवेयममीषां परमोप-
कारिणामहमित्येवेषिषं इर्ष्यागतः प्रातो इषांगतस्तेन । तथा
शुक्रणामपि स्ववदनप्रसन्नतया उत्फुल्लोत्थमनया च इर्ष्यं
अदो कथमपि स्वमेव इष्टतरुपिष्णानः परमागमव्याक्यानं शृणो-
तीतिष्ठकल्पं प्रमेधं जनयता भोतव्यमिति ।

अथ परिणामकद्वारमुपसंहरच्छाह ।

आधारिपमुत्पत्तो, सविसेसो दिङ्गए परिणयसस ।

मुपरिच्छिता य मुनिच्छि—यसम इच्छाङ्गए पच्छा य ॥

कदम्बवधहरारोः सूत्रार्थः साधयेष्णः सायपादः स्वगुरुस्तकाशा-
वधधारित आरुहीतः स सर्वोऽपि दीयते परिणतस्य परिणा-
मकस्य शिष्यस्य सुपरीह्य पूर्वाकाङ्क्षाविह्वलितः सुख्य अवि-
श्वंखदेन परीक्षां कृत्वा मुनिश्चितस्य प्रारभ्यसूत्रार्थं प्रहीतस्य
कृतनिष्पद्यस्य । यथा ह्यनदशोनचारित्राणां यावज्जीवमपि विरा-
धना न कर्तव्येत्येवं सन्तु निश्चितो निष्पद्यथा यस्तुनिश्चितस्तस्य
दीयते (इच्छाङ्गए पच्छादि) अपरिणामकतिपरिणामकयोः
पुनर्यदा सा आत्मीया यथाकर्म केशलोत्सर्गापवादकौल्लङ्घना
पच्छा गता गथा प्रवृत्ति तदा प्रवृत्तयतेः क्लृप्तमनसि दातव्या-
नीति । उक्तं परिणामकद्वारम् । वृ० १ उ० । (अत्रैव म-
कद्वयन्तः स च पश्चरथे कार्षिकतद्वृणावसरे वक्ष्यते)

अङ्घ्रपास—अतिपार्थ—पुं० भरतेक्षेत्रजराजिनसमकाशजाते परव-
तजे लीयंकरे, " अरजिणवसरे अरीते, अङ्घ्रासजिणे च
परवष्य " ति० ।

अङ्घ्रपासंन—अतिपरयत्—त्रि० अलीय असाधारणं पश्यति, ।
सूत्र० १ श्रु० १ श्रु० ३ अ० ।

अङ्घ्रप्पमान—अतिप्रमाद्य—न० चारत्रयाऽतीते भोजने, पि००
(अङ्घ्रबहुशब्देऽस्य स्वकम्) अतिक्रान्तः प्रमाणात् । अत्रा०
स० प्रमाणातिक्रान्तं, यस्य यत् प्रमाणापचितं ततोऽधिकप्रमा-
णवति, प्रा०स० । अत्यन्तप्रमाणे, वृहत्प्रमाणे, न० वाच० ।
अङ्घ्रप्पसंगं—अतिमसङ्ग—पुं० अतिपरिचये, पञ्चा० १० विष० ।
अतिव्याप्तिसङ्क्राणायामनिष्ठापत्तौ, पञ्चा० ६ विष० ॥

अङ्घ्रवले—अतिवध—(१) पुरुषान्तरकस्त्रान्व्यतिष्ठन्तोऽतिवधः ।
प्रश्न० अत्र० ६ अ० । अतिक्रान्ताशेषेषुपुरुषाभारतियंभले, ।
उपा० २ अ० । अतिशयवने, शी०० । राय०० । स० । अविष्यति
पक्वमे चासुदेवे च पुं० ती० । स० । ति० । कृपत्रैववधे
चतुर्थेभवे महाबलनाज्ञो राक्षः पितामहे शतबलस्य पितरि, "मं-
थसमिधे बिज्जाहरनगरे अद्बलरको णत्ता सयबलरायणो पुते
महाबल्लो नाम राया जातो" । आ० म० प्र० । चूएयां तु "गंध-
समिधं णारं राया रथ्यां च विबुद्धणयणो जसुवधरिंतां सत-
बलस्स रको ष्यारं ननुतो अतिबलसुतो महाबल्लो नाम । आ०
म० शि० । अ० म० । भरतकृष्णिणः प्रवीथे च । स्था० ८ ग्रा० । आ०
पुं० । अतिशयितं बलं यस्याः ५ ७० । अत्यन्तबधाधिकार्यां
पीतवर्णयां (बेनियाला) इति क्यतायां शतायाम्, विश्वामित्रे-
ण रामाय द्यो अत्रविद्यमाने च श्र्मि० । अतिशयितं बलम् आ०
स० अत्यन्ते बले, सामर्थ्ये, सैन्ये च न० । अतिरिक्तं बलमस्य
अत्यन्तबलमुक्ते, ति० "अन्यत्तिष्ठतो रामो जलमण्डपं मदायिष्णुः"
इति रामा० । अतिरथे च । वाच० ।

अङ्घ्रबहुय—अतिबहुक—न० अतिशयेन बहु—निजप्रमाणेऽत्य-
धिके भोजने, पि०० ।

तत्स्वरूपम् ।

बहुयातीयमद्वहं, अङ्घ्रबहुसो तिभि तिभि य परेषां ।
तं वि य अङ्घ्रपार्थां, श्रुंजद नं भा अतिप्यते ॥

बहुकृतीतमतिशयेन बहु अतिशयेन निजप्रमाणान्यधिकमि-
त्यर्थः । तथा दिवसमध्ये यस्मिन् वारान् अङ्के त्रिन्यो वा वारे-
न्यः परतस्त्रोजनमतिबहुहाः तदेव च वारत्रयातीतमतिप्रमा-
णमुच्यते " अङ्घ्रप्पमाणे " त्यवयोः व्याख्यातः । अस्वैव प्रका-
रात्परत्र न्याक्यानमाह । अङ्के यथा अत्युत्थं यप " अङ्घ्रप्पमा-
ण " इत्यस्य शब्दस्थायोः । " अङ्घ्रप्पमाण " इत्यत्र च शानअ-
त्ययस्ताच्छीत्यविशङ्कायां यथा प्राकृतसङ्क्राणवशादिति पि० ।
अङ्घ्रबहुसो—अतिबहुशब्द—अव्य० दिवसमध्ये त्रीन् वारान् त्रि-
न्यो वा परतो भोजनं, पि०० । (स्वरूपमन्तरमुच्यम्)
अङ्घ्रवेल—अतिवेले—अ० बेलामतिक्रम्याऽतिबलम् । यो यस्य कर्त-
व्यस्य कालोऽत्ययनं वा तां बेलामतिक्रम्यत्यर्थे, सुत्र० १ श्रु० १६
अ० । " नातिबेलेऽ उवाचरे " न मर्यादाङ्कनमित्यर्थः कुर्यादिति
आचा० १ श्रु० ८ अ० ।

अङ्घ्रवेलो अतिवेला—अ० अत्यसमयातिशयायिनां मर्यादायाम्,
सायुपर्यादायाम् उक्तं ३ अ० ।

अइजह—अतिजह—पुं० कस्यचिच्छ्रेष्ठिनः पुत्रे, येन स्त्रीकस्ये
स्वति भद्रनामप्रातः। पुण्यचय युदापदैर्युक्तं कृतम् ॥ ० ।

अइभदग—अतिभदक—प्र० जहद्वैरिणे, प्रति० ।

अइभदा—अतिभदा—स्त्री० प्रजासत्तामगणधरस्य मातरि, आ०
म० द्वि० । आ० चू० ।

अइजय—अतिजय—वि० वैदिकीकदादिषु ज्ञायद्यतिदाने, प्र-
अ० मध० १ द्वा० ।

अइजार—अतिभार—पुं० काल्यन्ते भारः । शुकुब्धे, पि० । बोदुम-
शक्ये भारे, प्रय० ७ द्वा० । अतीव जरणमतिभारः । प्रतुल्य पूग-
फलादेः स्फुटपुष्पादिध्वारोपणकृते, आ० ६ अ० । धर्म० । ध० ।
१० । प्र० ० । तथाविधशक्तिकार्या महाजानारांणस्यकृते, उ-
पा० ० १ अ० । प्रथममुद्यतस्य चतुर्थेऽतिभारे, पंचा० १ वि० ० ।
“अतिभारो न अरोविषयो पुत्रिषु चैव जा चरुणाय जीविना
सा मोक्षवा न होज अथा जीविना ताहे दुपलो जं सयं
उत्किल्लव भोयारोह वा भारं पवे वहाविज्जह वरुण्णाणं जहा सा-
भाविधो भि भारायां ठण्णां उ कीरद इत्तसयनेसु वि बहाप
मुयध अत्तहत्थोसु वि पसेक विहां” आ० ६ अ० चू० ।

अइभारम—अतिभारम—पुं० अतिभारेण वेगेन गच्छति, गम-रु-
दं ता अं, अन्धतरे, गर्दनाद् वरुणायां जाते अन्धनेदे, वाच० ।

अइजारावोवण—अतिभारावोवण—न० अतिशयिते जारोऽति-
जारो बोदुमशक्ये इति शक्यत् तस्यारोपणं गोकर्जनासभामनु-
ष्यादेः स्फुट्ये पृष्टे शिरसि वा स्थापनम् । प्रथमाप्युद्यतस्य चतु-
र्थेऽतिभारे, ध० १ वाचि० । प्र० ० ।

अइजूमि—अतिजूमि—स्त्री० पलुकापचरानाम्, अननुकृता गृह-
स्थेयैर्जानिहोचरा नायात्सीत्यर्थः दशा० ३ अ० । (तत्र गमनं
निषिध्यमिति गोपचरिया शक्ये) अनिशयित्त भूमिमर्यादा
प्रा० । स० । अतिक्रमोऽयथी० मर्यादातिक्रमे, अय० ० । जूमि
मर्यादां वाऽतिहाने, त्रि० वाच० ।

अइम्वच—अतिमञ्च—पुं० मञ्चोपरितने विशिष्टमञ्चे, ‘मञ्चाऽमञ्च-
कसिये’ श्लो० । दशा० । द्वा० ॥

अइमाट्टिया—अतिमुचिका— स्त्री० कर्मरूपायां युक्तिकायाय,
जी० ३ प्रति० ।

अइमहस—अतिमहत्— पुं० वयसाऽतिगारिष्टे, व्य० ३ उ० ॥

अइमाण—अतिमान— पुं० अतीव मानोऽतिमानः । सुभूमादी-
नार्णस्य महामाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । चारित्र्यमतिक्रम्य वर्तमाने
कषायनेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अइमाय—अतिमाय— वि० माशयतिहान्तः । मात्राऽधिके,
उत्त० १६ अ० । आ० चू० ।

अइमाया—अतिमाया— स्त्री० उचितमात्राया अधिकमात्रायाय,
“अप्रमायाय पाणभोयणं आहारिणा जह्वे” उत्त० १६ अ० । प्रथम० ।

अतिमाया—स्त्री० अतीव माया अतिमाया । चारित्र्यमतिक्रम्य
वर्तमाने कषायनेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ॥

अइमुत्त (मुत्त) य—अतिमुक्त-न० मुचो जाये कः । अनिश-
येन मुक्तं कथ्यतीतिता यस्य कए वाच० । वक्रादाधन्तः ०। १६ ।
इति तृतीयेस्य अनुस्वाराऽऽगमः आणं तु न प्रा० । लिनुककृ-
ते, वासवृके, वाच० । पुष्पधामने वनस्पती, जं० १ ब० ० । बहो-
नेदे, महा० १ पद । अतिमुक्तमरुपकाः जी० ३ प्रति० । वि० ० ।

प्रज्ञाः सतातेरे, आचा० १ श्रु० १ अ० । स्त्री० कंसञ्जातरि, पुं० येन
वात्ये देवकी स्वस्यसा मोका ‘स्वमष्ट पुत्रान् सहसात् जन-
पिथसि’ आ० म० द्वि० । आ० चू० । पोलासपुरवास्तवे
विजयराजस्य श्रीनाम्न्यां देव्यां जाते पुत्रे, स्था० १० जा० ।
तदकथ्यता अतकृदसाहे यथा ।

तेषां काञ्चेणं तेषां समपणं पोलासपुरे णथरे मिरिबोणे
उज्जाणे तस्स एं पोलासपुरे णथरे विजये नामं सखा
हात्था । तस्स णं विजयस्स रत्तो सिरि नामं देवीं हल्लेष
वपुआं तस्य णं विजयस्स ररणो पुत्ते सिरिए देवीए
अत्तत्त अइमुत्ते नामं कुमारे हात्था सुमात्त० तेषां कालेणं
तेषां समपणं समणं ३ जाव सिरिबोणे उज्जाणे विहर-
ति । तेषां कालेणं समपणस्स भणत्तओ म्हावरस्स जेट्ठे
इतेवामिं इन्दन्ती जहा पाणत्तिए जाव पोलासपुरे णथ-
रे उच्च जाव अत्तति इयं च णं अतिमुत्ते कुमारे हाहाए जाव
विजुसिते बहूदिं दारएहि य दिभएहि य कुमारेहि य
कुमारयाहे य सकिं संपरिबुद्धे माओ गिहातो पदिनिक्कम-
मइ पदिनिक्कमवइचा जेणेव इंदहाणे तेणेव उवागते तेहि
बहूदिं दारएहि य संपरिबुद्धे अग्निममाणे अभिरममाणे
विहरति । तेषां णं जगवं गोयमे पोलासपुरे णथरे उच्चनी-
य जाव अरुमाणे इंदहाणस्स अरुमारमणेण वीतिवयति !
तते णं से अइमुत्त कुमारे जगवं गोयमं अरुसरामेणे वंति
वयमाणं पासति पासतिता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवा-
गते भगवं गोयमं एवं वयासि । के णं भंते ! तुज्जे किं
वा अरुह तने णं भगवं गोयमं अतिमुत्तं कुमारे एवं वया-
सि अम्हे णं देवाणुपिया समणा निग्गया इरियापमिया
जाव वम्भचारिं उच्चनीय जाव अरुमाणे । तते णं अति-
मुत्ते कुमारे जगवं गोयमे एवं वयासि । अह णं भंते !
तुज्जे जेणेव अहं तुज्जे भिक्खं दलावेपि णि कट्टु भ-
गवं गोयमं अगुल्लंति गहात्ति गेहत्तिचा जेणेव सते गि-
हे तेषं उवागए तते णं सा मिरि देवी जगवं गोयमं पज्जाभा-
णं पामति पासतिता इहत्तुहा आत्ताया ओ अञ्जुट्टेति अञ्जु-
ट्टित्तिचा जेणेव जगवं गोयमे तेषेव उवागच्छति उवागच्छति-
चा जगवं गोयमं तिरुत्तुओ आयाहिणं पयाहिणं बंदति
नममति विठ्ठेणं अरुसं पाणं स्वाइमं साइमं पतिलात्तति
पटिसापत्तिचा पदिविसज्जेति । तते णं से अइमुत्ते कुमारे
एवं वयासि । कह णं भंते ! तुज्जे परिचसह । जगवं गो-
यमे अतिमुत्तं कुमारे एवं वयासि । एवं खल्लु देवाणुपि-
या ! मम धम्मारायियते धम्मोवएसए धम्मं नेत्तारिए सम-
णं ३ महावीरे आदिक्के जाव संपाविउकामे इहेव पोला-
सपुरस्स नगरस्स बहिया मिरिबोणे उज्जाणे य उग्गहं उ-
गाएहत्ता समणं जाव जावमाणे विहरति । तस्य णं अ-
म्हे परिचसामो । तते णं से अतिमुत्ते कुमारे जगवं गोयमं

एवं वयासी गच्छामि णं भंते ! अहं तुज्जेहिं सच्चिं सम-
 र्णं ३ पायं वंदति अद्भुतुं तते एं से अद्भुते कुमारे भ-
 गवं गोयमं सच्चिं शैषेव समणे ३ तेणेव उवागच्छ-
 तं उवागच्छतित्ता समणं ३ तिकखुत्तो ज्ञायाद्विणं
 पयाहिणं करंति जाव पञ्जुचामति । तते एं जगवं गोयमं
 जणेव समणे भगवं महावीरं तेणेव उवागतं जाव पदिदंसंति
 पदिदंसंति चित्ता संजमे तवसा आयाद्विणं पयाहिणं विहरति ।
 सेणं समणं ३ अतिमुत्तस्स कुमारस्स तीसे य धम्मकटा क-
 र्हे ३ सं अतिमुत्तं समयास्स जगवञ्चो अंतिए धम्मं मोच्चा नि-
 सम्मं दइतुहं ० नं नवरं देवाणुप्पिया अम्मापितरो आ-
 पु-
 च्छामि वनें एवं अहं देवानुप्पिया अतिते जाव पव्यामि अ-
 हासुहं देवाणुप्पिया ! मा पदिबंधं करेह । तते एं से अति-
 मुत्ते कुमारे जेषेव अम्मापियरो तेणेव उवागतं जाव पव्यति
 तते एं अतिमुत्तं कुमारे अम्मापियरो एवं वयासी । बालेसि
 ताव तुमं पुत्ता ! अमंबन्धे किएह तुमं जाणसि धम्मं ।
 तते एं से अद्भुते कुमारे अम्मापितरो एवं खनु अहं
 अम्मायाञ्चो जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि जं चेव ण
 जाणामि तं चेव जाणामि । तते एं अद्भुत्तं कुमारे अम्मा-
 पियरो एवं वयासी । कइ एं तुमं पुत्ता ! जं चेव जाणामि
 जाव तं चेव न जाणामि तेसि अतिमुत्ते कुमारे अम्मापियरो
 एवं वयासी । जाणामि अहं अम्म जाञ्चो जहा जातेण
 तहा अवस्सं पियव्वं न जाणामि अहं अम्म जाञ्चो कइ वा
 कइ वा कइ वा केव चिरेणैव वा कालेण न जाणामि एं
 अम्म यो म यातो केहिं कम्मायाणं हिं वा जीवा नेरइयति-
 रिकव ज्ञाणियमणुस्सदंसेमु उववज्जति । जाणामि एं अ-
 म्म यातो जहा सच्चो कम्मायाणं हिं जीवा नेरइय जाव
 उववज्जात । एवं खनु अहं अम्मं यातो जं चेव जाणामि
 तं चेव न जाणामि जं चेव न जाणामि तं चेव जाणामि
 तं इच्छामि एं अम्म यातो तुज्जेहिं अन्नणुएणाते समाणे
 जाव पव्वं तए । तते एं से अद्भुत्तं कुमारे अम्मापियरो जा-
 हं नो संचाएति बहुहिं आघवति ४ तं इच्छामो ते जाया
 पगदिवसमवि रायसिंरं पाभेति पासेतित्ता । तते एं से
 आतमुत्ते कुमारे अम्मापिउवपयणमणुयचमणे तुसिणीए
 संचिदति । अजिंसो जहा महाबलस्स निकलमणं जाव
 सामाइयाति एकारस अंगाइं अहिज्जति अहिज्जतित्ता बहुहिं
 बासति सामण्यपरियां पावणेति पावणत्ता गुणरपणेणं
 तवांकमणेणं जाव विपुले पव्वए सिन्धे अन्तो ५ वगो ।

अस्य सिद्धिविषयः स्थाविराणां प्रव्रजे यथा-

तेणं कालेणं तेणं समणं समणस्स भगवञ्चो महावीर-
 स्स अंतेवासी अद्भुत्ते णामं कुमारसमणे पगइएह जाव
 विणीए । तए एं से अद्भुते कुमारेसमणे अएणया कयाइं

मया वृद्धिकायांसि निवयमाणसि कसत्पदिग्गहरयहरणभा-
 याए बहिया संपट्टिए विहाराए । तए णं से अद्भुत्तं कु-
 मारसमणे वाहयं वाहयमाणं पासइ पासइत्ता मट्टियपासिं
 बंधं बंधइत्ता णावियामं नाविञ्चो विव णावयय पदि-
 म्माइयं उदगंसि पवाहमाणे अजिरमइ । तं व भेरा अइकखु
 जेणव मणए जगवं महावीरं तेणेव उवागच्छति उवागच्छं-
 तित्ता एवं वयासी । एवं खनु देवाणुप्पिया एं अंतेवासी
 अद्भुते णामं कुमारसमणे । स णं जंतं ! अद्भुत्ते कुमारेसमणे
 कइहिं भवगएणेहिं सिज्जिहिति जाव अंतं करेहिति ?
 अज्जाति समणे जयवं महावीरं ते थेरे एवं वयासी । एवं
 खनु अज्जा ! मयं अंतेवासी अद्भुत्ते एणामं कुमारसमणे
 पगइएह जाव विणीए से णं अद्भुत्ते कुमारेसमणे एणेणं
 चेव भवग्गइणेणं सिज्जिहइ जाव अंते करेहिइ । तं मा णं
 अज्जा ! तुज्जे अद्भुत्तं कुमारेसमणे हीलह निदह सिंसह
 गरिदह अवमणइ तुज्जेणं देवाणुप्पिया अद्भुत्तं कुमारे-
 समणं अगिलेए सांगेएह अगिलेए उवागएह अ-
 गि-
 स्सएणं जत्तेणं पाणेणं विणएणं वेयावदिनं करेह । अ-
 मुत्तेणं कुमारेसमणे अंतकरे चेव अंतिमसीरिए चेव ।
 तु एं ते थेरा जगवंतो समणेणं भावया महावीरेणं एवं
 वृत्ता समाणा मयणं भगवं महावीरं वंदंति वंदंति चित्ता अद्भुत्ते
 कुमारेसमणे अगिलेए सांगेएहिं जाव वेयावदिनं करंति

कुमारसमणेति । परुषैरेजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वाद्वाह क
 उव्वरिन्तो पवइओ गिगंथं रोहरुण पावयंति । एतदेव वाअ-
 र्थमिहाऽप्यथा वषोष्टकादारान् प्रव्रज्या स्यादिति (कसत्पदि-
 ग्गहरयहरणमायाएति) कक्षायां प्रतिग्रहक रजोहरणं चादाय-
 न्यर्थः । (नावियमिंत्त) नौका क्षौणिका मे ममेयमिति वि-
 कल्पयति गम्यते "नाविओ दिव नायंति " नाविक इव नौवाहक
 इव नावं क्षौणं (अवति) असायतिमुत्कमुनिः प्रतिग्रहकं
 प्रवाइयञ्जिरमते एवं च तस्य रमणकिया शास्त्रस्याव्यवहा-
 दिति (अइकखुत्ति) अद्यात्तः एवमन्तस्ते वेतदीपमयमन्ना-
 नुचित्तञ्चेणं इद्दु तमुपदसन्त इव जगवन्तं पप्रच्छुः । एतदेवाह
 " एवं खनु " इत्यादि (हीलहसि) जाणुएहइतन्त (तदइति)
 मनसा (सिंसइति) जनसमकम (गरिहइति) तत्समकम
 (अवमणइति) तदुचित्तमंत्रपस्यकरणेण (परिजवइति)
 कच्चिपाउस्तत्र परिभवः समस्तपुष्पानपदकरणेण (प्रागिज्ञा-
 यति) अज्ञान्या अज्ञेयेन (सांगेएहइति) संपुह्णीत स्वयंकुद-
 रं (उवागिहइति) उपुह्णीत उपपद्यंते कुदन्तं एतदेवाह
 (वेयावदिनंति) वेयावुस्यं कुकतास्येति शेषः (अंतकरे वेवसि)
 भववद्वेकरः स्व क दूरतभवेऽपि स्यादत आह (अंतिमसीर-
 ति वेवसि) चरमशरीर इत्यर्थः अ० ५ हा० ५ व० ।
 अनुत्तरोपपत्तिकेपु इशामाधयनतयोक्तं क इथा० १० ग्रा० ।
 (तदपर पयावं जिय्यतीति संभाव्यते)

अद्भुत्तुच्छिय-अतिमुत्तित्त-वि० विषयदेपदशैने प्रत्यभिसू-
 तामुपगते, प्र० अ० आ० ५ इ० ।

अभ्युदोह-अतिमोह-वि० अतीव मोहो यस्मिंस्तदतिमोहम् ।
 अतिकामाशक्तौ, अतिशयितमोहयुते, हा० १ अ० ॥
 अयं चिय-अत्युच्यते-अयं अतिकाम्येत्यर्थे, स्या० ५ डा० ।
 अभ्युद-अतिगत्य-अयं अतिकाम्येत्यर्थे, आवा० १ शु० ६ अ० ।
 अभ्युद-अत्यदन्-न० अतिमत्स्ये, "अयुकेषा साणाहयण-
 युयुक्ता" व्य० २ उ० ।
 अभ्या-अजिक्ता-खी० कुणालिकायाय, वृ० १ उ० ।
 अभ्या (य) त-अतियात-त्रि० गते, "अरयाप्रो णरादिषो" ।
 उच० २० अ०

अद्यापरकत्व-अत्यापरक- त्रि० अतीवाऽऽत्मनः परैः पापक-
 मन्त्रिः रक्षा यस्यास्तावत्यात्मरक्षः । अतीवाऽऽत्मानं पापे रक्षति,
 अस्यापरकत्वे शक्तिगणामिप नेरह्ये" सूत्र० २ शु० २ अ० ।
 अ (ई) (ति) (ता) इत्यार-अति (ती) चार-पुं०
 अतिचरणमतिचारः । अङ्गुलं, सूत्र० २ शु० ७ अ० । तृतीयं अपराधे,
 वी० ११ वि० ० आ० चू० । अतिक्रमे, अतिक्रम्य गमने, आव० ४
 अ० । प्रदणतो व्रतस्यातिक्रमेण, व्य० १ उ० । चारित्र्यज्ञानविशेषे,
 प्रा० म० ङि० । आ० चू० । देशज्ञज्ञानेनो आत्मानोऽयुजे परं-
 णामविशेषे, धर्म० २ अधि० । देशभङ्गेऽतिचारता यथा ननु
 हिंसैव आचरणे प्रत्याख्याता ततो वधाधिकरणेऽपि न दोषो
 हिंसाविरतेरन्वयितृत्वात् । अथ वधाद्ययोऽपि प्रत्याख्याता-
 स्त्वात् उक्तं चानभङ्ग एव विरतिव्यवहारात् । किञ्च यथादीनां
 प्रत्याख्येयत्वे प्रतेयत्वा विशीर्यते प्रतिव्रतमतिचाराणामाधिक्या-
 दिति एवं च न वधादीनामतिचारतेति । उच्यते-सत्यं हि संव
 प्रत्याख्याता न वधाद्यैः केवलं तत्प्रत्याख्यानेऽप्येतेऽपि,
 प्रत्याख्याता दृष्टया हिंसोपायत्वात् । तेनैव चेतुर्हि वधा-
 दिकरणे व्रतत्रङ्ग एव मतिचारे नियमस्यापासनाभियेयं यने ।
 दिविषे व्रतमन्वृष्या बहिर्वृष्या च तत्र मारयांमिति विकल्पा-
 प्राचने यदा कौपाद्यावेशाशिरपेक्षनया वधादीं प्रवर्ते न च
 हिंसा भवति तदा निर्दयनया विरत्यनपेक्षप्रवृत्त्येनान्वृष्या
 तस्य अङ्कः हिंसाया अनावाच्य बहिर्वृष्या पातनमिति देशस्यैव
 भङ्गनादेशस्यैव पातनादितिचारव्यपदेशः प्रवर्तते ननुक्तम्
 " न मारयामीति कृतव्रतस्य, विनैव सूर्यं क इहानिचारः ।
 निगद्यते यः कुपितो वधादीन्, करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्षः ।
 मारुणज्वाश्रियेभोऽस्ति तस्य, कौपाद्यादीननया तु ज्ञः ।
 सूर्यस्य भङ्गानुपासनाच्च, पृथया अतोः चारमुदाहरन्" ।
 यथाकं व्रतयत्वा विशीर्यते इति तदप्युक्तं विशुद्धाहिंसास्यद्वावे
 दि वधादीनामभाव एव तद विधत्तेनैव नचाद्योऽतिचारा एवे-
 ति । यदा अनामेगसहसाकारदिनाऽतिक्रमादिना वा स्वैभानि-
 चारता हेया ध० २ अधि० (आचारमूर्त्तिभिर, निचाराता
 अरुक्रम शब्दे दर्शिता) अयं चातिवारः संज्ञेय एकविधः
 सः ह्राविरस्तरस्तु दिविषोऽविषो वावदसंक्षेपयविः संज्ञेय-
 विस्तरतः पुनर्द्विविधः त्रिविधे प्रति विस्तर इत्येवमत्रापि
 योग्यं विस्तरतस्त्वनन्यविधः आव० ४ अ० ॥ आ० ॥ च० ।
 आतु० । एतेषु अतिक्रमादिषु उत्तरोत्तरं दोषाधिक्यं प्राय-
 श्चित्ताधिक्यात् आचारमूर्त्ता निमग्नैः सन् यः प्रतिश्रुणांति
 सोऽतिक्रमे वनेन तद्गुणनिमित्तं पदत्रये कुर्वन् अतिक्रमे
 शुद्धानोऽतीचारे शुद्धानोऽतीचारे । एवमप्यदि परिहारस्थान-
 मधिकृत्यातिक्रमाद्यो हान्पनीयाः एतेषु च प्रायश्चित्तमिदम् ।

अतिक्रमे मासगुरु व्यतिक्रमेऽपि मासगुरु काशगुण अतीचारे
 मासगुरु द्वान्यां विशेषितं तद्यथा नयागुरु काशगुरु च ।
 अनाचारं चतुर्गुणं यस्मात् गुरुकातीचाराः चत्वारोऽनुक्तसमु-
 ध्यायाः स चेत्तत् समुच्चिनोति अतिक्रमात् व्यतिक्रमो गुरुक-
 र्त्तस्यापि गुरुकोऽतीचार इति । ततोऽप्यतीचारात् गुरुतर-
 कोऽनाचारः ।
 तत इत्यं प्रायश्चित्तविशेषः
 तस्य त्रये न तु सुते, अतिक्रमादीं उ वसिया कर्दे ।
 चोग्य ! सुते सुते, अतिक्रमादीं उ जोएजा ॥
 तत्र पयमुक्तेन त्रयेभ्योऽतिक्रमस्य यथा न तु त्रये सुते निशी-
 धाभ्ययनत्रकणे केच्यतिक्रमाद्य उपवाणिताः सन्ति ततः कथं
 चत्वारोऽतिक्रमाद्यस्तत्रैवाभ्ययने सिकः इति । स्मृतिरह चोदक !
 सर्वोप्येयं प्रायश्चित्तगणोऽतिक्रमादिषु भवति ततः साक्षाद्गु-
 णानपि सूत्रं सूचितम् अतिक्रमादीन् योजयेत् अर्धतः सूचि-
 तत्वात् व्य० १ उ० ।
 अत्रियं प्रायश्चित्तविधिमाम् ।
 तिस्रिये य गुरुगा मासा,
 त्रिसोऽपि त्रियण चतुर्गु अत्रे ।
 एए चेव य लहुया,
 त्रिसोऽतिक्रमोऽपि पञ्चत्वा ॥
 प्रयाणामतिक्रमव्यतिक्रमातीचाराणां त्रयो गुरुका मासाः । क-
 थं चतुता इत्याह विदोऽपि तस्त्वप काशविशेषिताः । किमुक्तं भव-
 ति । अतिक्रमे मासगुरुव्यतिक्रमेऽपि मासगुरुकातीचारेऽपि मा-
 सगुरुतेन च त्रयोऽपि यथोत्तरं तपःकाशविशेषिताः । तथा अ-
 न्ते अनाचाररुक्तेषु दोषे चतुर्गु चतुर्मासगुरु प्रायश्चित्तम् ।
 एते च मासगुरुव्येयः प्रायश्चित्ता अतिक्रमादिव्यवधाधिकोऽप्यां
 दृष्टयाः विशोऽधिकोऽप्यां त्वेत एव मासाद्योऽनुक्तः प्रायश्चित्तानि-
 ति । तद्यथा अतिक्रमे माससगुरु व्यतिक्रमस्य माससगु अतीचारे
 ऽपि माससगु नवरमेतं यथोत्तरं तपःकाशविशेषिताः व्य० १ उ० ।
 हान्तिचाराद्यस्तेषु प्रायश्चित्तम् ।
 उहैसजभ्यगुसुय-संधंगसु कमसो एमाइस्स ।
 कालाईकमाणसु, नाणावरणाइसरेसु ॥ ११ ॥
 निन्वीए पुरियहे, गजचतमार्थिखं च णागादे ।
 पुरिमाई खमणं तं, आगादे एममये वि ॥ २३ ॥
 गुणमिह तपोऽईप्रायश्चित्ते हान्दोऽनचारितपोर्थाचार-
 पञ्चकानातीचाराचक्रमाहोच्यम् । तत्राथा हान्नाचारस्याति-
 चारे हानाचारातिचाराः सोऽष्टविधः तद्यथा अकालं स्वाभ्यास-
 करणं काश्यातिचारः ॥ १ ॥ सुतमधिश्चिन्तासंज्ञातिमद्वयक्षेपेन
 गुरुष्विबनयो वन्दनादिकृपाचारस्तस्य प्रयोजनं दीनं वा विनयानि-
 चारः ॥ २ ॥ भुने गुणै वा बहुमानो हाद्रेः प्रतिबन्धविशेषस्त-
 स्याकरणं बहुमानातिचारः ॥ ३ ॥ उपधानम् आचामभ्यासदि-
 तपसा योगविधानं तस्याऽकरणमुपधानाऽतिचारः ॥ ४ ॥ यथा-
 श्रुं नमुधमते तं निहन्तेऽप्यप्रति अर्थं वा युगप्रधानमासतोऽ
 ध्यापक निर्दिशति स्वयं वाऽऽधीनमित्याद्ये एवं निह्वनान्निघा-
 नातिचारः ॥ ५ ॥ व्यज्यते अर्थोऽनेनेति ध्यञ्जनमागमस्यं तस्मा-
 त्प्रक्रियन्नुक्तिरुक्तमतिरिक्तं वा करोति संस्कृतं वा विषये
 पर्यायैर्वा विदुधानि यथा " धम्मो मंगलमुक्किटं " भित्वादिहान्ते
 " पुणे कङ्कणमुक्तसदायं संवर तिञ्जरोति " व्यञ्जनातिचारः ६ ॥

आगमपदार्थस्यान्यथा प्रकल्पनमर्थातिचारः । यथा आचार-
 स्थेऽस्यव्यवसमर्थे अस्मिन् "आर्वती होमसि विष्णुसुरासं-
 स्तिति" यावत् केचित् होमकेसिम्बद् पायिरुल्लोके विषरामुश-
 स्तिति ऋतुतुडेयं अयोऽयोः परिकल्प्यते " आर्वति होह देसा,
 तस्यो च अरदइहूकवा केवा । घट्टी मासा धरिदिद्यादि, इडेउं
 लोथा विपरासुख ॥ ७ ॥ यत्र च स्वाध्यायं विनश्यते स
 तद्गुमयातिचारा यथा " धर्मो भंगन्नमुक्तेः, अहिंसा गिरि-
 मन्थर । देवा वि ते नमंसति, यस्म धर्मे सया मई " "अहागडे-
 सु रंधेति, कंचसु रहकारओ । रतो जसंसि णो ज्ञय, गहजे
 ज्ञय होसिह " ॥ ८ ॥ अयं च महायानिनियारो यतः स्वा-
 भौम्यनाशो भोक्ताभावस्तदजाव हीकाविषयमिति । एष वाद्य-
 विशेषोऽपि । ज्ञानाचारगतिचारा द्विधा श्रायने विभागतश्च ।
 तत्र विभागतः उद्देशकाध्ययनसम्पन्नान्शु विषये प्रमादिनः
 प्रमादपरस्य काज्ञातक्रमणादिष्वष्टसु ज्ञानाचारगतिचारेषु जातेषु
 क्रमदाः क्रमणु तपोनिर्वहतािकं पुरिमाईकनके आचारसं-
 च । आनागादे दशयैकाङ्किकादिके श्रुते उद्देशकानिचारे अका-
 ज्ञापादिके निर्वहतािकम् । अध्ययनानिचारे पुरिमाईकं श्रुतस्क-
 न्धातिचारे एकत्रकमङ्कानिचारे आचारमित्रत्यर्थः । आगादे
 तून्गध्ययनगवत्यादिके श्रुते एतेष्वेवानिचारेस्थानेषु पुरिमा-
 ईकदिक्कृपाणानमेव तपो जवति । एतद्विभागतः प्रायश्चित्तमुकम्
 ज्ञानं । १५० ।

अससमारम्भप्रत्याख्याता पुंघवीसमारम्भे
 वर्तमाना प्रनं नानिचरगति ॥

समणोवासगममं णं जेतं । पुब्बामेव तसपाणसमारंभे
 पञ्चकत्वाए जवइ पुदईसमारंभे अपञ्चकत्वाए जवइ, से
 यं दुद्विं खएमाणे अणयरं तनपाणं विहिसेज्जा से ण भंते !
 तं वय अइचरइ ? णो इण्णडे समं नो खतु से तस्म अ-
 इवायाए आउट्टइ । समणोवासयस्स णं जेतं ! पुब्बामेव
 वाणफइसमारंभे पञ्चकत्वाए स य पुदईं खएमाण अणय-
 रस्स रुक्खस्स मूलं विडेज्जा से णं जेतं ! वयं अतिचरति ?
 णो इण्णडे ममं नो खतु से त न अं याए आउट्टइ ॥

असवधः । (ने खज से तस्स अइवायाए आउट्टइत्ति) न
 कइत्थी तस्य असप्रमाणस्यातिनाशय प्रधायावतेतं प्रवर्तेत इति
 न सङ्कल्पयधोऽसौ, सङ्कल्पयधोऽव च निवृत्तोऽसौ । न चंचं
 तस्य संपन्न इति नासायतिचरति ग्रन्थं मं ७ श ० १ उ ० ।
 (दैवसिका अतिचाराः काउस्समाश्रयः) (मूत्रगुणातिचारा
 उचरगुणातिचाराश्च स्रवातिचारं प्रायश्चित्तमित्यवतरणमाश्रय
 पञ्चुत्तशाब्दे बह्यन्ते)

सर्वेऽप्यतीचाराः संजलनकथायोदये भवन्तीत्याह ।

सर्वे वि य अइयारा, संजलाणं तु उदयओ ह्येति ।

मूत्रच्छेजं पुण होइ, बारमएहं कसायां ॥ १५० ॥

सर्वेऽप्याशोचनाप्रतिकर्मणोऽज्ञयादिकञ्चेत्पर्यन्तं प्रायश्चित्तरो-
 ध्याः । अपिशश्र्मकियन्तोऽपि च अतिचरणान्यतिचाराश्चारित्र-
 विराधनाविशेषाः संजलनानामेयोऽदयो जवति । इदशानां
 पुनः कथायासामुद्रयो मूलच्छेजं भवति । मूत्रेनाष्टमन्थानवतिना
 प्रायश्चित्तेन क्षिप्तोऽपीत्यने यद्वैषज्जतं तत्पुलच्छेजम् । अश्रे-
 यचारित्रोच्छेदकारीत्यर्थस्तदेवं नृते वैषज्जतं इदशानामन-
 त्तानुष्णयप्रत्यास्थानप्रत्याख्याताचरणशकृत्तमां कथायाणामु-

दये संजायते । अथवा इदं मूलच्छेजं वैषज्जतं यथासंज्ञवतो यो-
 ज्यते तद्यथा प्रत्याख्याताचरणकथायासामुद्रयोऽप्येव सर्वविरतिक-
 पस्य चारित्रस्य मूलच्छेजं सर्वनाशरूपं भवति । अस्यास्यानक-
 थायचतुष्कोऽद्ये तु देशविरतिचारित्रस्य अनन्तानुष्णयकथा-
 यचतुष्कोऽद्ये पुनः सम्यक्त्वस्येति निर्मुक्तिमाधार्थः ॥ १५० ॥
 प्रायश्चम ।

अइयारा छेदता, सर्वे संजलाणदेवयो ह्येति ।

संसकसाभोदयओ मूलच्छेजं वयारुहणं ॥ १५१ ॥

ससमस्थानवर्ती प्रायश्चित्तविशेषच्छेदस्तत्तत्प्रत्यक्षानादिना ह्ये-
 दान्नेन ससविषयप्रायश्चित्तानन्तो येषान्ति एकस्यान्तशश्र्मस्य
 शोभाच्छेदान्ताः सर्वेऽप्यतिचाराः संजलनकथायासामुद्रयोऽप्यन्या प्र-
 यन्ति । शेषकथायाणां च्छेदानामुदये मूलच्छेजं समस्तचारि-
 त्रोच्छेदकारकं वैषज्जतं जवति । तादृशुक्त्यं च प्रायश्चित्तं न पु-
 नरापे वरांतराणमिति ।

अथवा यथासंज्ञं मूलच्छेजं योज्यते इत्येतद्वाह ।

अहवा मंजमूल-च्छेजं तदयकेलुनादये नियये ।

समस्ताः मूल-च्छेजं पुण वारमएहं पि ॥ १५१ ॥

तृतीयानां प्रत्याख्याताचरणकथायासामुद्रये संयमस्य सर्वेवि-
 रतिकरूपस्य मूलच्छेजं नियते निश्चितं जवति सम्यक्त्वादिमूल-
 छेजं तु इदशानाममुद्रये संपद्यते इति ।

अथ प्रथमाशकृत्परिहराह ।

मूलच्छेजं सिच्छे, पुब्बं मूलगुणघाऽगहणेणं ।

इह कीसु पुणो गहणं, अइयारविनसएत्थं ति ॥ १५२ ॥

पगयमहकत्वायं ति य, अइयारे तस्मि च व मा जोए ।

तो मूलाच्छेजमिणं, सेमचिंत्तं निओएइ ॥ १५३ ॥

आह तन्व्यन्तरनिर्दिष्टनिर्मुक्तिगाथायां " मूलगुणाणं संजं, न
 बहइ मूलगुणघातियो उदये " इत्येतरिस्मिन्पूर्वादे तं मूलगुणघा-
 तिमहनेन इददशकथायाणामुद्रये मूलच्छेजं सिच्छेमेवेति किमिदं
 पुनस्तद्ग्रहणमत्रोत्तरमाह । अतिचारविशेषणार्थमिति । अति-
 चारणां विशेषणव्यवस्थापनार्थमित्यर्थः । इदमेव व्यक्तं कुर्वन्माह ।
 (पगयमित्यादि) इदमुक्तं जवति "संजलणाणं उदये न बहइ
 चरणं अहकत्वायमि" त्यन्तरनिर्मुक्तिगाथायोरुत्तरादिह यथा-
 कथाचारित्रं अज्ञानमुद्रयत्तं तत्तच्च "सर्वे वि य अइयारा संजल-
 नाणं उदयओ ह्येति" इत्येतानिचरानन्तरानुष्णयसंज्ञानं यथा-
 कथाचारित्र एव शिष्या योजयन्तिचराना नृत्तसंज्ञेइ पुनर-
 पि मूच्छेजमनद्यथाकथायार्जितं शेषचारित्रं साम्याकारिकं
 नियाजयति । अस्यां हि सलगाधार्थं मूलच्छेजग्रहणात्पुनः-
 शश्र्मविशेषणाद्यायमर्थः संपद्यते संजलनानाममुद्रये शेषचारित्र-
 स्य सर्वेऽप्यतिचारा जवति इदशकथायाणामुद्रये पुनर्मूलच्छेजं
 जवति । यथैवास्यां गाथायां मूलच्छेजमुक्तं तस्यैवातिचारा अपि
 न तु यथास्थानचारित्रस्य कथायोदयरहितव्येन तस्य निरतिचा-
 रत्वादिनि गाथाचतुष्टयायः १५४ । विशो ३०० पल्लो ३०
 मं ० श्र ० १ दश ० ॥

सातिचारस्य चरणस्य विपाककटुकताविचारः ॥

मर्मं वि आरियेवं, अत्थपदजावपाणहणेणं ।

विसए अ उविअव्वं, वहु मुअुरुसयासाओ ॥ १६० ॥

रूपश्च सूत्रमेण न्यायेन विचारयित्प्रयमयेपदजावनाप्रधा-

अष्टयार

मेन सता तस्या पयेश प्रधानत्वात् । तथा विषये च स्थापयित्वं तदर्थपरं कुत इत्याह बहुश्रुतगुरुकशाशास्त्र स्वयन्निविकमेति गाथायैः ।

एतदेवाह ।

जह सुहृदभ्यश्चाराणं, वंजीपमुदासफलविद्याणाणं ।

ये गुरुभ्यः फलमुत्तं, एष कथं धनदं जुतीषु ॥६६ ॥
जया सूत्रमानिचाराणां ह्युच्चारित्वापराधानां किञ्चतानामित्याह । ऋषयमुष्णदिव्यविद्यानां प्रमुखशब्दास्तुन्दरीपरिचयः श्राद्धशब्दात्तपःस्तेनमभूतानां यद्गुरुफलमुक्तं सूत्रे स्वीयं किञ्चिद्विषयिकात्प्रतिपत्तकथं घटते युक्त्या काऽस्य विषय इति गाथायैः । तथा ।

सद एवमिदं अ एवं, कर्हं पमत्ताण धम्मचरणं तु ।
अष्टभ्यासायचूआ-ण हंदि मोक्खस्स हेउ चि ॥६७॥
सत्येर्निधिमञ्चैवं यथायं एव कथं प्रमत्तानामयतनसाधुनां धर्मचरणमेवं इन्दि मोक्षस्य हेतुरिति यागः नैवेत्यभिप्रायः । किञ्चतानामित्याह । अतिचारअधनुत्तानां प्रचूतातिचारवतामितति गाथायैः ॥

मार्गानुसारिणां विकल्पमाह ।

एवं च पडइ एवं, पवज्जिजं जो तिगिच्छुद्धमरुत्तारं ।
सुहृमपि कुणइ सो खलु,त्सम विवागम्मि अइरोधे ॥६८॥
एवं च घटते पतनदम्भरितं प्रपद्य यत्किञ्चित्सां कुण्ठारेदिचारं तद्विरोधिं किमित्याह सुद्धममपि करंति स अलु तस्यातिचारं विषयकोऽतिरैको भवति इष्टमेतदेवं दाष्टान्तिकेऽपि त्रिविध्यं नति गाथायैः ।

अतिचारकृपणहेतुमाह ।

पट्टवक्खउक्खवसाणं, पाएणं त म खवणहेऊ वि ।
पाडोअण्णाइमित्तं, तेसि ओहेण तज्जावा ॥६९॥
प्रतिपक्षाधवसानं किण्ठाच्छुद्धं तुल्यशुणमाधिकगुणक वा प्रायेण नस्यातिचारस्य कृपणहेतुरपि यदुच्यते किञ्चित्सां विद्यादिप्रायोऽग्रहणं नाल्लोचनमात्रम् । तथाविधभावशून्यं कुत इत्याह । तथापि ब्रह्मादीनां प्राणिनामोघेन सामान्येन तज्ज्ञादादोचनान्दिमात्रनात्वादिति गाथायैः ।

एवमपचाणं पि हु, पइअअरं विवक्खहेऊणं ।
आमेवणेण दोसं, चि धम्मचरणं जहापिद्विअं ॥७०॥
एवं प्रमत्तानामपि साधुनां प्रव्यतिचारमतिचारं प्रति विपक्वहेतुनां यथाकाधवसायानामासंवेन सति न दोषोऽतिचारकृत्यात् इत्येवं धर्मचरणं यथाऽजिदितं बुद्ध्यात्वामोक्षस्य हेतुमिति गाथायैः ।

अभिवेद्यं तावयमाह ।

सम्मकपपिअरं, बहुअं पि विसं न मारए जह उ ।
घावं पिअ विवरंअं, मारइ एसोवमा एत्य ॥७१॥
सम्यक्प्रतीकारमगदमन्नादिना बह्वर्ण विषं न मारयति । यथा भक्षितं सस्तोक्तमपि च विपरीतमहृतप्रतीकारं मारयति एवंपोपमाऽत्रातिचारविचार इति गाथायैः ।

विपक्वमाह ।

जे पक्खारिवरिद्विआ, पमाइणो तेमि पुण तयं विति ।
दुगह्दिअमरोहरणा, अण्णिकफत्तयं पिमं जणिअं ॥७२॥

ये प्रतीकारविरहिता प्रतिचारेषु प्रमादिनो ह्ययस्यधर्मस्तेषु पुनस्तत्कर्मचरणं यथोदितं किमर्थं न भवतीत्यर्थः । एतदेव स्पष्टयति कुण्ठेतिशरोदाहरणान्तरे यथा कुण्ठेतिशरोदहस्तमेवायद्वृत्तानि आरभयदुष्परामुष्टनकातुपकषैतीत्यस्मात्प्रतिपक्वमव्येतद्वर्त्मचरणं ह्यवरुणं ज्ञेयं प्रतीक्षितिति गाथायैः ।

एतदेव सामान्येन उच्यतेवाह ।

सुहृदश्चाराणं वि अ, माणुअइसु अमुह मा फदं नेअं ।
इअरेअु अनिरयासु, गुरुअं तं अजहा कचो ॥७३॥
कृडातिचाराणामेवैधनो धर्मसंबन्धिनां समुच्चारिष्यदुष्कण्डं हेयं स्तोत्रद्वारिद्र्याद्यै आदिशब्दात्तथाविधतिर्यपरिग्रहः इतरेषां पुनर्मेहातिचाराणां नरकविषु गुरुक तद्बुद्धिपक्षं काशाणुभापेक्षया आदिशब्दात् क्रियतिर्यपरिग्रहः । इत्यं चैतत्कृत्वाकतव्यं तदन्वया कुतकस्तस्य हेतुर्मेहातिचाराणमुक्त्वेति गाथायैः

उपसंहरत्वाह ।

एवं विचाराणाए, सइ भवेगाउ चरणपरिवुड्डी ।
इहरा मम्मूच्छिअप-ण्णुत्तया ददं होइ दोसा य ॥७४॥
एवमुक्तेन प्रकारेण विचारभाषायां सत्यां सदा संवेधाकेनोः किमित्याह (चरणपरिवुड्डीति) कर्णतया इतरथा श्लेषाणामन्तरेण सम्मुखेनजप्राणतुल्यता दृढतया करणेन असावयव्यं दोषाय प्रवति ह्यन्वया प्रमत्तयापमपीति गाथायैः प०य०३-८०० (अथकर्मणात्मनिचाराः सम्यक्क्यातिचाराश्च स्वस्वस्थाने) यस्यप्रायसीचाराया सायाति तेनाष्टौ नमस्कारा गायन्ते परं गाथाया उच्यन्ता इतिशब्दाद्यति नमस्कारानुष्कस्यापि संबध नमस्काराएकस्य त चतुःपष्टकच्यन्ता भवन्ति तत्काम्यमिति प्रश्ने ? उत्तरं यस्याष्टौ गाथा नायाति नस्याष्टनमस्कारायात्समंः कार्येने न तुच्यन्तासमान्याति श्ये० अष्टौ ६ प्र० । अतिशय स्वस्वभोगकाशमुल्लङ्घ्य चार राश्यन्तरगमनश्च अतिचारः । उपातियोः भौमादिपञ्चकस्य स्वस्यान्तराशाषु जोगकाह-मुल्लङ्घय राश्यन्तरगमने, अतिचारस्य- " शर्वमात्मं निदानाथः सपादिविषमस्ययम् " इत्यादिनोक्तोत्तराकाभेदोऽल्लङ्घनेन प्रदण-मतिव्रीमनया अत्यकाहेनेव आकाण्तराशाषुपुण्य राश्यन्तरगमनम् । वाच० ॥

अष्टरत्न-अतिरक्त-त्रि० अत्यन्तो रक्तः रक्तवर्णः अनुरागयुक्तो वा अतिशोहितवर्णो, अत्यन्तानुरक्तं च अत्यन्तरक्तवर्णं पुं० वाच० अतिरात्र-पु० अतिशयिता रात्रिस्ततोऽरुः यथे क्वञ्च अथिकदिने दिनवृद्धौ, ते च पद तद्यथा ॥

३ अष्टरत्नापसत्ता तं जहा चरत्ये पव्वे अट्टमं पव्वे दुवा-लसंमं पव्वे सोलसंमं पव्वे वीसंमं पव्वे चउवीसंमं पव्वे ।
(अष्टरत्नसि) अतिरात्रोऽधिकदिने दिनवृद्धिगतिं यावत् चतुर्थं पये श्रायादबुद्धकृप एवमिहेकान्तरिमासामां बुद्धपक्षाः सवधे पत्यांनि, स्था०६०० । संप्रत्यतिरात्रप्रतिपदात्तार्थमाह " तथय्यादि " तत्र एकस्मिन् संवत्सरे स्वयिद्ये मद अतिरात्रा प्रहामस्तद्यथा "चउथ्ये पव्वे" इत्यादि इह कम्मसासमपस्य सुयं-मासविन्नायामेकैकसूर्येणुपरिसमाप्तावेकैकोऽधिकोऽश्लेषः प्राथये तथाहि त्रिशता अहारात्रैरेकः कम्मसासः साकंश्रिताता अहारात्रैरेकः सुयंमासा मासइयामकश्च अतः ततः एकसूर्येणुपरिसमाप्तौ कम्मसासइयमपस्य एकोऽधिकोऽहारात्रः प्राथये सूर्येणु-अ आयादादिकस्तत आयादात्परश्च चतुर्थं पव्वेण एकोऽधिको

उद्देशो ज्ञेयार्थे पद्येण गते द्वितीयाः तृतीया द्वारदो पद्येण चतुर्थः पञ्चमो, षष्ठो विंशतितमः, सप्तमस्तुविंशतितमः इति । अवमरात्रा कर्ममासासत्रयमेव चन्द्रमासचिन्तायां चन्द्रमासा आश्रवणाष्टास्रतो वरांकालस्य श्रवणादिरित्युक्तं प्राक् । संप्रति वमपद्व्याजिराज्ञां च चापश्य अवमरात्रा प्रवर्तितं तदेतत् प्रतिपादयति ॥

उच्ये व य अङ्गत्ता, अङ्गत्ता हवति माणाहि ।

उच्येव श्रौमरात्ता, चंदाहि हवति माणाहि ॥ १ ॥

अत्रिरात्रा भवति आदित्यमेवैव किमुक्तं भवति आदित्यमासात्तपश्य कर्ममासाचिन्तायां प्रतिवर्षे वद अत्रिरात्रा जघनतीति (माणाहि) जानीहि । तथा वद अवमरात्रा जघनति चक्रात् चन्द्रमपश्य चन्द्रमासमधिकृत्य कर्ममासाचिन्तायां प्रति संवत्सरं वद अवमरात्रा भयन्तीत्यर्थे इति (माणाहि) जानीहि तदेवमुक्ता अवमरात्रा अत्रिरात्राच्च चं० प्र० ११ पाहु० ७० । उच्य० सू० प्र० ॥

अङ् (ति) रचकं वृत्तसिद्धा-अत्रिरक्तकम्बल (शिला-खी-मन्द-पयर्तैर्योत्तरस्यां) दिशि वतेमानायामधिपेकशिलायाश्च, " दो अङ्गत्तकं वलसिलाभ्रा " स्थानं २ टा० ।

अङ्गा-अ [चि]-खी० विष्णुसैनमाय्यायां शान्तिजिनेन्द्रस्य मा-तरि, नी० ए क० । अच० । स० । प्रच० ।

अङ् (ए) रावाण-पेरावाण-पुं० इन्द्रगजे, को० ।

अङ् (ति) रिच-अत्रिरिक्त-त्रि० अति-रिच-क-अतिशय-नि, श्रेष्ठ, भिन्न, शून्ये च । तत्र भेदे " अत्रिरिक्तमथापि यद् भवेदिति " भाषा० । यस्य वाचन्यमाणं युक्तं ततोऽधिकत्वे, वाच० । अच० । अधिकं, स्थानं २ टा० १ इ० । अतिप्रमाणे, स० । सूत्र० । अत्रिरेकं, प्रश्न० सं० ५ टा० । भाष०-क-अतिशये, अ० । अधिकं च न० वाच० । नि० चू० ।

अङ् (ति) रिचमिज्जामणिय-अत्रिरिक्तशय्याशानिक-पुं० अत्रिरिक्ता अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासानि च पीठका-दीनि यस्य सान्नि सोऽतिरिक्तशय्याशानिकः । चतुर्थेऽसमाधिस्थाने, स चाऽतिरिक्तार्या शय्यायां चङ्कशालाविक्रपायाम-न्येऽपि कीटिकादयः (कार्पटिकादयः) आखामन्यतीति तैः सहाधिकरणत्वाद्समाधिस्थानमेव सहाधिकरणसम्भवाद्वा-गमपरावसमाधौ योजयतीति स० । दशा० । अ० चू० प्रश्न० ।

अङ्गुगम-अ [चि]-रिक्त-त्रि० चण्डमामयुक्ते, रा० । प्रथमादिते, " अङ्गुगम वि स्तरे " उक्तं ३ अ० । " अङ्गुगमसममा-सुण्डिचं वृद्धसंतिपाण्डला " न० ।

अङ्क-अ [चि]-पुं० अतिक्रान्तो रूपम् । रूपवर्जिते परमेष्ठ्ये, वाच० (एतन्निराकरणमन्यथ) भूतेभ्ये च प्रज्ञा० १ पद ।

अङ् (ति) रेग-अत्रिरिक्त-पुं० अति-रिच-घञ्-भेदे, प्रा-धाये, वाच० । अतिशये, जी० ३ प्रति० ३ उ० । आधिक्ये, ज्ञा० १ अ० । " अङ्गुगमरेहत्सस्त्रिते " " अत्रिरेकेण राजमान-स्सत् सदशः " कल्प० । कर्मणि-घञ् । अधिकतरे, कल्प० ।

अङ् (ति) रेगसंघिय-अत्रिरिक्तसंस्थत-त्रि० अत्रिरेकेण सं-स्थितं यस्य सः । अतिशयित्वात् संस्थानवति, " कयलीखंभा-रेगसंघिय " जी० ३ प्रति० ।

अङ् [चि] रेण-अत्रिरेण-अच्य० चिरेणेत्यव्ययस्य न० त० स्तोत्रे काले, " अत्रिरेण सिद्धपासां " अच० ३ उ० । चि० ० ।

अङ्गोस-अत्रिरोष-पुं० अतिशयितकोषे, " अङ्गोसो अङ्गोसो, अङ्गोसो तु अङ्गेषु संवासे । अङ्गुगमो य वेसो, पंच वि गुरुयं पि लङ्गुयं पि " अ० २० ।

अङ् [चि] रोषवप्राग-अत्रिरोषपञ्चक-त्रि० न० त० अचि-रजाते, अच० ५ अ० ।

अङ्गोहय-अत्रिरोहित-त्रि० न० त० । प्रकाशिते, स्फुट० ५ अ०, अव्ययहिते च वाच० ।

अङ् [ति] लोद्युय-अतिलोद्युय-त्रि० अतीव रसलम्पटे, उक्तं ११ अ० ।

अङ् [ति] वङ्चा-अति(प्रय)पत्य-अच्य० अति-पत्य-वङ्चा-क्या ल्यप् । अतिप्रत्येत्यर्थे, ज्ञा० ५ अ० । प्रियेत्येत्यर्थे च प्रश्न० भाष० ३ टा० ।

अङ्गवृण-अतिवर्तन-न० उल्लङ्घने, अच० १ सु० ५ अ० ६ उ० ।

अङ् [ति] वाङ् [ति] न-अतिपातिन्-त्रि० अतीव पा-तयित्वा गीलमस्य । हिंसके, सूत्र० १ सु० ५ अ० ।

अङ्गवाङ्चा-अतिपातयित्-त्रि० अति-पत्य-रिच-शीलाऽर्थे त्व् । प्राणिनां विनाशनशीले, " खो पाण्य अङ्गवाङ्चा भवद् " स्थानं ३ टा० २ उ० ।

अतिपात्य-अच्य० अति-पत्य-क्या-ल्यप्-प्राणिनो विनाशये-त्यर्थे, स्थानं ३ टा० १ उ० ।

अङ्गवाङ्चा-अतिपातिक-त्रि० अतिपतनमतिपातस्स विघने यस्य सोऽतिपातिकः । प्राणयुग्मदर्शके, सूत्र० २ सु० १ अ० ।

अङ्गवाङ्चा-अतिपातिका-खी० अतिक्रान्ता पातकमतिपातिका निर्दोषायाम्, पापाद् दूरीभूतायाम्, अच० १ सु० ए अ० ।

अङ् [ति] वापमास-अतिपातयत्-त्रि० प्राणिन उपमर्दय-ति, सूत्र० १ सु० ८ अ० ।

अङ् [ति] वाय-अतिपात-पुं० अतिपतनमतिपातः । प्रा-णयुग्मदर्शने, सूत्र० २ सु० १ अ० । विघ्नोरे, स्थानं ५ टा० । वि-नाशे, सूत्र० १ सु० १० अ० पा० ।

अतिवाद्-पुं० अत्यन्तकथने, वाच० ।

अङ्गवास-अत्रिविषय-पुं० अतिशयवर्षे, वेगवर्षणेषु, ज्ञ० ३ श० ६ उ०

अङ् [चि] वाहृ-अतिव्याघ्रात-त्रि० अतीव घ्राते, दुर्गन्धा-दिविशिष्टे, सु० ४ अ० ।

अङ् [ति] विज्ञ-अतिविद्ध्य-त्रि० विदितगतमज्ञाप्ये, " त-महा इ (ति) विज्ञो णो पस्त्रिजज्ञिज्ञा " अच० १ सु० ४ अ० ।

अङ् [ति] विसय-अतिविषय-पुं० प्रवलयम्बन्धिरुद्योग-व्ये, तं० ।

अङ् [ति] विमाया-अति [विस्वादा] [विषयग] [वृषाका] [विषाचा] विषादा-खी० अतिविषादाः दारुणविषादहेतु-त्वात् १ यथा अतीत्यतिक्रान्तो गतोऽकार्येकरणे विषादः क्रो-धो यासां तास्तथा २ यथा अतीति भूयो विषमतिविषम आ-समन्ताद् ददति पुरुषाणां चिरकाः सत्यः सूक्ष्मास्तादिति अतिविषादाः ३ यथाऽतीति भूयो धीति नानाविधः स्वादो सा-म्पत्ये यासां ता अतिविषादास्तथा ४ अतिविषयगा अति-विषयात् प्रवलयम्बन्धिरुद्योगे पृथो नरकपृथिवी यद्गन्ति चक्रव

अइविसाय

तिरिञ्जरनवत्सुलदमानुयद्वा प्राकृतवत्सत्र यज्ञोपसम्भिः प यद्वा
अतिविषाद्य इष्टपुरुषाप्रती स्पष्टिच्यविषयाप्रती वाप्रतिवि-
षादोयासां ताः ६ अतिकोपादत्युष्ट विषमदन्ति प्रकृत्यान्ति इति
अतिविषादाः ७ अतिवृष महारवृषये येषां तस्यविषुषास्माध्वयः तेषां
कायन्ते यम इवाचरन्ति चारित्रप्रसादरणेनेति ८ यद्वा अतिवृ-
षाणां कायान्ति अन्नीयन्ति संयममष्टअलनेनेति अतिवृषाकाः ९
यद्वा अतिवृषे लोकानां पुण्यरूपमदहनं आनृशं चायन्ते चौर
इवाचरन्ति यास्मान्तयोकाः १० पता दश व्युत्पत्तयः । छुष्ट-
स्वभावासु स्त्रीषु, तं० ।

अइ [ति] विसाह-अतिविशाह-त्रि० अत्यन्तविशाहे, यम-
अनशेक्षस्य दक्षिणपार्श्वे वर्षमानायास राज्यान्त्याम, स्त्रो० द्वी० ।
अइ [ति] वृष्टि-अतिवृष्टि-स्त्री० अति-वृष्ट-क्तिन्-अधिकचयं,
स० । शर्यापत्रातकोपादविशेषे, दश० ।

अइस-ईदृश-त्रि० अयमिष पश्यति इदम् दृश-कर्मकर्त्तरि-
क्तिन् इशादिसो दीर्घः । अतान्दस्य = ४ । ३ इति सूत्रेणाप-
भ्रंशे ईदृशदशम्यस्य अइसाऽइशेः । पतन्तुद्ये, प्रा० ।

अइसइय-अतिशयित-त्रि० विशोभते, कं० ।

अइ (ति) संकिंशेश-अतिमंशेश-पुं० आत्यन्तिके चित्तमा-
लिन्ये, पत्ना० १५ विव० ।

अइ [ति] मंधास-अतिसंधान-त० प्रस्थापने, अत्र० ४अ० ।

अइ [ति] संधाणपर-अतिसंधानपर-त्रि० असद्वृत्तगुणं शु-
श्वन्तमात्मानं वयापयति, श्राव० ४ अ० ।

अइ [ति] मंपराग-अतिमंप्रयोग-पुं० गार्धे, “ अतिशयन
दुष्येण कस्त्रिकादिना परस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः । अतिशयक-
दुष्येण दुष्यन्तरस्य संप्रयोगः, सूत्र० २ श्र० २ अ० ।

अइ [ति] सकणा-अतिष्वकणा-स्त्री० अमिज्वरिचिन्ति
इध्नानां समरिणारायाः । नि० चू० २ उ० ।

अइ [ति] शय-अतिशय-पुं० अति-शील अच-आधिक्ये,
अतिरेके, वाच० । प्रकंपभावे, न० । अतिशयनः शयं द-
स्तम् अया० स० हस्मानिक्रमकारके, त्रि० अतिशय-अस्य-
यैऽच । अतिशययति, वाच० (आचार्योपाध्यायादीनां तीर्थेकृतां
आतिशयाः शरसंसशब्दं)

अइ [ति] मयाणा- [न्] अतिशयज्ञानिन-पुं० अय-
पिज्ञानादिकलिते, व्य० १ उ० ।

अइ [ति] मयमईयकाल-अतिशयातीतकाल-पुं० अतिश-
यन योऽतीतः कालः समयः स तथा (मकरोऽल्लाक्षणिकः)
अतिव्यवहिते काले, स० ।

अःसयसंदोह-अतिशयसंदोह-त्रि० अतिशयान संदुष्ये प्रपू-
रयति यच्चदतिशयसंरोहय । अतिशयसंदोहबद्धे, अतिशयस-
सूहसंपरे, यो० ६४ विव० ।

अइसारीअ-ऐश्वर्ये-न० ईश्वरस्य भावः । अइईश्यादौ च = १६
इति सूत्रेणतः अइ इत्यादेशः । अगिमाचष्टाविषयमिभे, प्रा० ।

अइ [ति] साइ [न्] -अतिशायिन-त्रि० अइकिमन्तु, क-
वसमनःपठ्यायाऽवधिमाचष्टदुशपुषेवित्तु, अमर्षोपध्यादिप्रास-
अइषिपु, आचा० २ श्र० २ चू० ।

अइ (सिरिभर-अतिश्रीभर-पुं० अतिशयिते श्रीभरे, (शोभामसूहे)
“ अइसिरिभरपिल्लणविसस्यंतकेतसो हेतचारुककुडुं ” कस्य० ।

अइ [ति] सीय-अतिशीत-त्रि० अतिशयिते शीते, स्त्रो०
५ टा० १ उ० । निशयितं शीतम् प्रा० स० । अत्यन्तशीतल-
स्पर्शे, तद्विशिष्टे, त्रि० वाच० ।

अइ [ति] मुहुम्-अतिमुहुम्-त्रि० अतिशयसूक्ष्मशुद्धिरस्ये,
यो० ११ वि० ।

अइ [ति] सम-अतिशेष-पुं० अतिशये, आचार्योपाध्या-
यगले पञ्च अतिशयाः ।

(सूत्रम्) आचारियउवज्जाए सस्यं र्गणसि पंच अइसेसा
पषत्ता तं जहा आचारियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्म
पाये निर्गिज्जय निर्गिज्जय पफ्फोमेमाणे वा पमज्जेमाणे
वा एाइकमइ । आचारियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्म
उच्चारपासवणं विंत्तिमाणे वा विमोहेमाणे वा एाऽकमइ ।
आचारियउवज्जाए पनूदंउवायवाविम्यं करंजा इच्छा
एां कंजा । आचारियउवज्जाए अंतो उवस्सयस्म एगराई
वा दुराई वा एगर्गां वममाणे एाइकमइ । आचारियउव-
ज्जाए वादि उवस्सगम्म एगराई वा एुराई वा वममाणे
एाइकमइ स्या० ए उा० उ उा० व्य० ६ उ० ॥

आचार्यश्चात्पुष्यायऽप्याचार्योपाध्यायः स हि केषांविदा-
चार्यैः केषांचिदुपाध्यायस्तन एवमुक्तं यावता पुनः स नियमा-
दाचार्ये एव नश्य गणे गणमध्ये पञ्च अविशेषा अतिशयाः प्र-
ह्लासकपथा आचार्योपाध्यायानामुपाध्यायस्त्वान्देषे पात्रतः
निशुद्ध निशुद्ध तथा पादा यथा यथा प्रस्फोटयिष्यां यथा धूम्रः
कस्यापि रूपकादंते पत्राणि एवं शिक्कयिष्या शिक्कयिष्या प्रस्फो-
टयन् प्रस्फोटकां नातिक्रामति एव प्रकोटितयाः । यथा आचा-
र्योपाध्यायान् उपाध्यायस्यान्तश्चार प्रस्थानं वा विधायिष्यते
व्युत्सृजते विशोषक उच्चार्यादिप्रिष्टापको नातिक्रामति एव
द्वितीयस्तथा आचार्योपाध्यायः प्रचुरतो वैद्यावृष्यमिच्छया
कारयेत न यत्राभियोगतः “ अष्टाया वत्राभियोगो निग्मद्यार्चं न
कण्ण काठमिति ” वचनात् एवमुक्त्याः । तथा आचार्योपाध्या-
य उपाध्यायस्यान्तर्भे एकरात्र वा द्विरात्रे वा वसेत् नातिक्रा-
मति नातीचारजानयति एव चतुर्थः । आचार्योपाध्याय उपाध्या-
याद्विहेकरात्र वा द्विरात्रे वा वसेत् नातिक्रामति इत्येव सूत्रसं-
क्षेपायः (व्य० ६ उ०) आचार्योपाध्यायस्य वसनेरनतः पादप्र-
स्फोटनप्रमाणेने इत्यर्थं प्रथमोऽतिशयस्तत्र भाष्यविस्तरः ।

वहिर्जतो विवज्जातो, परागं सागारिचष्टइ मुहुक्तं ।
विदयपये विद्विण्णे, निरुक्त्वमहणं यजगाए ॥

वहिर्जनतश्च यदि विपयोसां बहिरनारुकोऽप्यनतः प्रस्फोटनरूपस्त-
दा पञ्चक पञ्चरात्रिभिर्वे प्रायश्चित्तप्रथमं वहिः सागारिको व-
तेने ततस्मिन्नि मुहुर्से व्याख्यानतो विदोपप्रतिपत्ति-नमुहुर्से-
मित्यर्थः । अर्धतानवता कालेन सागारिको नापयानि तर्हि (तन्)
यपदमपवाचपदमाधीयते । वहि पादा अस्फोटनताऽप्यन्तंसेने,
प्रविश्यते तत्र विस्मार्थं उपाध्याये अपारोच्यते प्रद्रेश आचार्य-
पादाः प्रस्फोटयित्वाः निरुक्त्यां संकटार्थं वसन्तः यथाचार्य-
सम्कटवटकायकाल्युस्तत यतनया यथा न कस्यापि धूम्रिभ्रगती-
त्येवरूपया प्रस्फोटयित्वाः । एष आचार्यासंक्षेपायः ।

सांयनमेनामेव विवर्त्तपुरिदसाह ॥
वादि अपमज्जे, परिणं गणिणो उ ममप मामो ।

अप्यभितेह दुपेहा, पुवुत्तुत्ता सत्त जंगा ठ ॥

आचार्यः कुलादि कार्येण निगतः प्रत्यागत उत्सवेण तावद्भवत्
वसतेर्बहिरव पादान् प्रस्फोटयति प्रत्युपेकृते प्रमाजयति चेत्स्यः ।
यदि पुनर्निष्कारणं बहिः पादान् स्फोटयति तदा बहिरप्रमाजने
गणित आचार्यस्य प्रायश्चित्तं पञ्चकं दोषकं सावैर् बहिः पादान्
अप्रमाजयति ह्युक्तो मासः प्रायश्चित्तम् । तस्मात् बहिः पादान्
अस्फोटयान्तः प्रवेष्टव्यं तच्च प्रस्फोटनं विधिना कर्त्तव्यम् । स चा-
यं विधिः प्रत्युपेकृते ततः प्रमाजयति । अविधिः पुनरयं न प्रत्युपे-
कृते न प्रमाजयति ॥ १ ॥ न प्रत्युपेकृते प्रमाजयति ॥ २ ॥
अत्युपेकृते न प्रमाजयति ॥ ३ ॥ प्रत्युपेकृते प्रमाजयति च ॥ ४ ॥
अत्राप्यु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मासिकं चतुर्थे नङ्ग
भङ्गश्चाव्यवस्तथा दुष्प्रत्युपेकृते दुष्प्रमाजयति ॥ १ ॥ दुष्प्र-
त्युपेकृते सुप्रमाजयति ॥ २ ॥ सुप्रत्युपेकृते दुष्प्रमाजयति ॥ ३ ॥
सुप्रत्युपेकृते सुप्रमाजयति ॥ ४ ॥ अत्र चतुर्थो भङ्गः ह्यः
शंपेषु तु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं पञ्चरात्रिन्ध्वम एत-
देवाह ॥ अत्युपेकृते अपञ्चकंमतव अप्रमाजने च । तथा
दुष्प्रत्यायाम्बाल्युपेकृत्तं हेयमिति दुष्प्रमाजनेतयां व पूर्वो-
क्तः कल्याण्यनोक्तः सप्त भङ्गाः । तत्र चोक्तः प्रायश्चित्तविधिः ।
बहिः अंतां विदज्जामो, पणमं सागारिय असंतमि ।
मागारियमि उ च्चे, अत्यंति मुहुत्तं थरा ।

यदि सागारिकं अमति अविद्यमानं बहिरन्विषयां सो जवति
बहिरन्स्फोटयन्तः प्रस्फोटयतीत्यर्थः तदा गणितः प्रायश्चित्तं
पञ्चकम् । अथ सागारिकं बहिस्तिष्ठति सांप्रि च चक्रव्यसं
नाम मुहुत्तमात्रेण गन्ता तस्मिन्सागारिकं चङ्गे तिष्ठति मुहुत्तं क-
मन्पार्थं कप्रत्ययोऽल्पं मुहुत्तं किमुक्तं जवति सप्तनाशातिमात्रं
सप्तपदातिनक्रमणमात्रं वा कासं स्वविरातिस्तिष्ठति ।

थिरविकिस्वत्तं सागा-रिय अणुवउत्तं पमउजउं पविसे ।
निविरिस्वत्तुवउत्तं, अंतां अ पमजना तोह ॥

स्थिरो नाम यत्रावस्थायीं भ्रूवकर्मिको व्याक्तिः कर्मणि
कथंभ्ये व्याकुलस्तद्विपरितीतोऽभ्याक्षितः । तपयुक्त आचार्यान्
दृष्ट्वा निराङ्कमान्पनाद्विपरितीतोऽनुपयुक्तः । नत्र स्थिरं व्याक्तिः
अनुपयुक्तः सागारिकं विद्यमाने बहिः पादान् प्रमृज्य प्रवेशान्
स्थिरं निर्व्याक्तिसे उपयुक्तः बहिः सागारिकं सति वसतेऽन्तः
प्रमाजने पादानाम् । अथाचार्यस्य पादाः किं स्वयमेवाचार्ये-
ण प्रस्फोटयितव्याः उताग्येन साधुना तत आह ।

आनिमग्निहियसम् अमति, तत्संव रओहरेण अमपरे ।
पाउंउत्तुपिपणव, पुसंमति व अणमत्तुत्तं ॥

केनापि साधुना अनिग्रहो गृहीतो वर्तते यथा मया आचार्यस्य
बहिर्निगतस्य प्रत्यागतस्य पादाः प्रस्फोटयितव्या इति स यद्य-
स्ति तर्हि तेन प्रमाजनेनायोपस्थातव्यं तत्र आचार्यस्यान्तर्भवन्त्य-
दीर्घिकं पादोपेकृतकमन्वेन साधुना पादप्रमाजनेनापरिच्छेदं तेना-
चार्यस्य पादान् प्रस्फोटयति । अयाभिप्रदिक्तो न विद्यते तत
आभिप्रदिक्तस्यास्त्यज्याये अन्यतरण तस्यैवाचार्यस्य रजोहरणे-
न और्ध्विकेन वा पादोपेकृतकेनानन्यच्छेकेन पादान् प्रोच्छ्रयति ।
यदि पुनरप्यनुपेकृते निष्कारणमाचार्यस्य पादान् प्रमाजयति
तदा माससद्यु । अथात्मिणेन रजोहरणे पादोपेकृतकेनाप्य-
नुपेकृतं प्रमाजयति परित्यजेन प्रमाजयति तदपि माससद्यु । यदि
बहिर्बसन्तः सागारिकस्तिष्ठतीत्याचार्यस्य पादान् न प्रस्फोटिता-
स्तर्हि बसतेऽन्तः प्रविष्टस्य प्रस्फोटनीयास्तत्रायं विधिः ।

विपुलाए अपरिभोगे, अप्रपणओ वासए बवित्सस ।
एमेव त्रिकुलपयस्स वि, नवरिं बाहिं चिररयं तु ॥

यदि विपुला वसतिस्तर्हि तस्यां विपुलायां वसतावपरिभोगे
अवकाशे आचार्येण स्थित्वा पादाः प्रस्फोटयितव्याः । अथ संक-
टा वसतिस्तर्हि य आचार्यस्य आत्मीयो वाएकपाद्यकाशास्तत्र
पर्योपधिर्का प्रतिनक्रयोपविष्टस्य पादाः प्रमाजनेनीयास्तं व कुश-
लेन साधुना तथा प्रमाजनीया यथा अन्ये साधवो धृष्ट्या न
श्रियन्ते । यथा आचार्यस्योक्तमेवं जिज्ञासुरपि ह्यष्टयं नवरं यदि
बहिर्बसन्तः सागारिकस्तिष्ठति तदश्चिरतरन्मपि कासं प्रतीकृत
यावच्चत्सागारिकः व्यतिक्रामति । यदि पुनर्निष्ठुर्बसतेर्बहिः सा-
गारिकाभावेऽपि पादावप्रस्फोटव्य वसतेऽन्तः प्रविशति तदा तस्य
प्रायश्चित्तं माससद्यु ॥

निगिज्जिय पमज्जाहि, अमगतस्सेव मासियं गुरुणो ।

पायरयखमगादी, चोयग कज्जागे दोसा ॥

यदि बहिः सागारिक इति ह्यव्या वसतेऽन्तः पादाः प्रस्फोटयि-
तव्यास्ततः संकटायां वसती पादान् प्रमाजयितुमुपस्थितं सा-
धुमाचार्यो ब्रूते आर्ये ! निगृह्य पादाप्रमाजय । किमुक्तं भवति
तथा यतनया पादान् प्रमाजय यथा पादपृथ्व्या न कोऽपि साधु-
श्रियते ; अथेवं न ब्रूते तत एवमभणतो गुरोः प्रायश्चित्तं मास
सद्यु । तथा पादरजसा कृपकाद्यः खरएदन्ते तथा सति बह्य-
माणाः दोगाः । अत्र चोदक आह आचार्यः कस्माद्बहिर्गच्छति ।
सुरिराह कार्यगते कार्येषु समापितोऽप्यन्ते दोगास्तस्माद्गच्छति ।
अधुना " पायरयखमगादी " इत्येतत् व्याख्यानयति ।

तवसांसितो व खमगो, इट्टिमवुओ व कोवितो वा वि ।

भा मंरणखमगादी, इति सुच निगिज्जिए जयणा ॥

तपसा शोषितस्तपःशोषितः कृपकस्तस्य त्वद्वेऽनुपरोधे
कोपा जायते ततः स आचार्यपादप्रमाजनेषुध्या विकीर्णः कृषि-
ता जनेव कृषितद्वय सन् जरमं कृत्वा अन्यत्र गच्छेत् प्रविशेत्
प्रतिपद्येत वा । अथवा कोऽपि ऋद्धिमान् वृद्धो राजादिः प्रम-
जितः स पादपृथ्व्याऽवकीर्णो रुष्टः सन् प्रथमनादि कुर्वान् ।
कोपतो नाम शैकृकः कोऽपि रुष्टः प्रतिपद्येत तस्मात्कृपकादि-
मो भिररमं कार्षीदिति सूत्रं निगिज्जिय निगिज्जियुक्तमव्याख्य-
यमर्थं यतनयेति ।

संप्रति " चोयग कज्जागे दोसा " इति व्याख्यानयति ॥

थाए कुपति खमगो, किं चेव गुरुस्स निगमो भणितो ।

भमाइ कुलगणऊजे, वेइयनमणं व पन्वमु ॥

स्थाने कुपति कृपकस्तथा हि स पादपृथ्व्या अवकीर्यते ततो
मा कोपं कार्षीत् । किं चैवं गुरोराचार्यस्य निगमः केन कारणेन
अभितस्तत्कारणमेव नास्ति येन कारणेन बहिराचार्यस्य निग-
मनाम्बारायं आह भययते अशोहरणे । कुलकायं उपलक्ष-
णमेव सङ्घकार्ये व बहुविधे समापतिते तथा पर्वसु पाकि-
कादिषु वैयत्यानां सर्वेषामपि नमनमवश्यं कर्त्तव्यमिति हेतो-
श्चाचार्यस्य वसतेर्बहिर्निगमनम् ॥

पुनश्चोदक आह ॥

जति एवं निगमणे, जणति तो बाहिं चिट्टिए पुंके ।

वुच्चति बहि अत्यंते, चोयग गुरुणो एमे दोसा ॥

चोदको प्रणति यदि एषं कुलादि कार्ये निमित्तमाचार्यस्य निग-
मं ततो निगमेन सति प्रत्यागतो यदि वसतेर्बहिः सागारिक-

स्तनस्तावद्वाहित्तिष्ठतु यावच्चक्षसागारिको व्युत्क्रान्तो जयति ततो
बहिरेव पादान् प्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशतु एवं च सति कृप-
कविदोषाः परित्यक्ता भवन्ति । आचार्यं ब्राह्म चयन्ते उचरं
जगयते हेचोदक ! गुरोराचार्यस्य वसतर्बहिः तिष्ठत इमे
वक्ष्यमाणा बहवो द्रोषास्तानेवाह ॥

तद्गुणहाविअजाविय, बुद्धा वा अत्यमाणपुच्छादी ।

विणए गिलाणमादी, साहू सखी पच्चिन्तो ॥

कुशादिकायेण निगेत आचार्य उण्णेन भाविते तुष्णा जायते तत्-
तुष्णानिभूतो वसतिमागतो यदि बहिर्बसतेः प्रतीकृते यावत्सा-
गारिकोऽपगच्छति ततस्तुष्णया उण्णेनादिशब्दाद्गान्गादागच्छप-
रितापनापरिग्रहः पीनिते मूर्च्छा जायते । आदिशब्दात् वसतिप्र-
विष्टस्त्वत् प्रचुरं पानीयमापियेत् । ततो जक्राजोर्णतया ग्लानत्वं न-
वित्तिविपरिग्रहस्तथा बुद्धा उपपन्नत्वाच्चार्थं प्रतीकृतासाहाय-
व्यवसायार्थं तिष्ठति प्रतीकृते ते च प्रतीकृताणाः प्रथमद्वितीयप-
रिग्रहार्थं पीनिता मूर्च्छाद्याप्युच्यन्ति तथा ग्लान आदिशब्दात् कृ-
पकादिपरिग्रहस्ते विनयेन प्रतीकृताणां भोजनमकुर्वन्त औपधा-
दिकं च गुरुणा विना अन्नजनमाना गादन्तरं ग्लानत्वाद्याप्युच्यन्ति ।
तथा साधवः केचित्प्रायुषंका गन्तुमनस्तथा संहिनः
आयका अष्टम्यादिषु कृतजकाः पारणकं भिक्षायामदत्तायाम-
प्राच्यन्त आचार्यं प्रतीकृताणांस्तिष्ठन्ति तत्र माधुनां दिवम्भो
गरीयान् चदार्तं तत्र चोष्ण्यादिपरितापना दोगाः । संहिनां
आनन्दायमित्येव साध्यासंक्षार्याः ॥

सांप्रतनेनामेव विवरीषुः प्रथमतः " तद्गुणहाविअजाविय "

इत्येतद् व्याख्यानयति

तद्गुणहाविअयस्स, पच्चिच्छमाणस्य पुच्छमादी य ।

खच्छादिए गिलाणे, सुचत्तयविराहणा चेव ॥

आचार्यः स्वरूपत उण्णेन भायितः क्वचित्कदाचित्प्रयोगजन-
शतो बहिर्गमनात् ततः कुशादिकायेषु निगेतस्तुष्णानिभूतो
वसतिमागतोऽपि यदि सागारिकः प्रपगच्छन्तं यावत्प्रतीकृते
ततः प्रतीकृताणस्य तुष्णया उण्णेन च तापितस्य मूर्च्छादियो
भवन्ति आदिशब्दाद्गान्गादाविपरितापनापरिग्रहस्तथा वसति-
प्रविष्टोऽनीव तुष्णानिभूतः कुरुष्य प्रचुरस्य पानीयस्या-
दानं प्रदणं कुर्यात् प्रचुरं पानीयं विवेदित्यर्थः । ततो जक्रा-
जोर्णतया ग्लानं जेधेत् तस्मिन्नेव ग्लाने सूत्रायपरिग्रहाणि-
र्विराघना च तस्याचार्यस्य स्वात् ग्लानत्वेनाचार्यो विवेजे-
ति प्रावः । अथवा सूत्रायपरिग्रहाय अजावतां साधुनां हाना-
दिविराघना स्यात् । सूत्रार्थानावतोऽजानन्तः साधवो हाना-
दिविराघनां कुर्मुरिति प्रावः ।

अधुना " बुद्धावेत्तं " व्याख्यानार्थमाह ।

बुद्धासहसहार्ददी, खममो वा पारणे विजुमसुचो ।

विद्ध पच्चिच्छमाणां, न भूतेण लोहपदिट्ठे ॥

बुद्धा वयोवृद्धा असदाः प्रथमद्वितीयपरिग्रहान् सोदुमसम-
थाः श्रेयुकाः आदिशब्दात् ग्लानावसायार्थं प्रतीकृताणांस्तिष्ठन्ति
ते च तथा निष्ठनस्तुष्णावितिः पीनिता मूर्च्छाद्याप्युच्यन्ति ग्लानस्य
च गादन्तरं ग्लानत्वेमुपजायते । यदि पुनरागमोऽह एव वसतो
प्रविशति ततो यथायामं बुद्धाज्ञानमकृद्गहनं संपद्यते इति
न काश्चिदर्थः अधुना " विद्वेत्तंसाणनादि " इत्येतद् व्याख्यानय-
ति (जममं वा इत्यादि) कृपको वा कोऽपि विक्रियेन तपसा

कसान्तो विनयेन पारणके बुद्धकामैः प्रतीकृताणांस्तिष्ठति न
तु भुङ्क्ते अद्यापि नालोचितमाचार्येण च न हृद्यन्विते कृत्या ।

परितावन्नंतराया, दोसा होति अमुंजणे ।

जुंजणे अविणादीया, दोसा तस्य भवेति य ॥

परं कृपकस्य विक्रियतपसा ग्लानस्य प्रतीकृताणांभोजने महा-
न् परितापो भवति अन्तरायं चोपजायते । अथ बुद्धे तर्हि भो-
जने तत्राविनाद्ययो विनयः प्रतीत आदिशब्दाद्दृष्टाद्यना-
लोचितभोजने अदत्तादानदोषपरिग्रहो दोषा भवन्ति ।

ग्लानमाचिह्वत्याह ।

गिलाणस्सोसहादी उ, न देति गुरुणो विणा ।

ऊणाहिंय व देज्जादि, तम्म वेज्जा तिगच्छति ॥

ग्लानस्यौपधादिकं साधवो गुरुणा विना न ददति । आदिश-
ब्दात् भोजनपरिग्रहः । यदि वा ऊनमधिकं वा दद्युस्तस्य
च ग्लानस्यौपधादियं प्रतीकृताणस्य वेज्जातिगच्छति ।

संप्रति " मादूसखी " इति व्याख्यानयति ।

पाहुणगा गुंतुणगा, वेदिय जा तेसि उहहस्तापो ।

पारणयपच्चिन्ते, सप्के वा अंतरायं तु ॥

प्रायुषंकाः केचित्साधय आगतास्ते गन्तुमनस्तस्ते यथाचार्य-
मवदित्वा अनापुच्छ गच्छन्ति ततोऽविनयादयो दोषास्ततः
प्रतीकृताणांस्तिष्ठन्ति आचार्यभिरण वमन्ति प्रविष्टस्तावदिषस
आ स्मन्तास्ततोऽभवत् ततो गुरुं वेदित्वा प्रजतां व उण्णस-
तापनेसं स आचार्यनिमित्तकस्तथा आके अष्टम्यादिषु पय-
सु कृताभके पारणकेः आचार्यं प्रतीकृताणे अन्तरायं कृतं भवति ।

उपयंहारमाह ।

जम्हा एत्तं दोसा, तम्हा बाहिं चिरं तु वसदीए ।

गुरुणा न चिट्टियव्वं, तस्स न किं दोस होति य ।

यस्मादेते दोषास्तस्मात् गुरुणा न वसतेर्बहिर्बिरं ग्लानः
निष्णुणा पुनर्बिरापरं स्थालतयं यावच्चक्षसागारिको न प्रयाति
ततो बहिः पातनप्रमुञ्चान्त्वसतेः प्रवेष्टव्यम् । अत्र चोदक
आह तस्य निष्कोः किमेते अन्तरादिता दोगा न जयन्ति ।

आचार्यं ब्राह्म ।

अणेगवहुणिगमणे, अन्नुहणजाविया य हिंदंता ।

दसविट् वेयावच्चे, मग्गामे बादिं च वायामो ॥

सीउाहमद्वा निक्कवा, न य हाएणं वायणादिया तेसि ।

गुरुणो पुण्ण ते नत्थी, ताएपकिंजतो य खेयसे ॥

अनेकेः कारणैर्यदुनां निर्गमनमेवमुच्यते निर्गमनं नस्मिन् तथा गु-
र्वीदनामरुज्यामे आमनप्रदानादौ च तथा (विकार्ये हिणकमा-
ना प्रायिता व्यायामितशरीराः) यदुक्तमनेकेः कारणैर्बहुकारं
निर्गमनं तत्र कारणान्याह वशाविधेयावृत्त्यामीमित्तं स्वप्राये बहिः
परप्राये अनेककारमेकधा व्यायामोऽभवत् तथा शीतोष्णसहा
भिक्षयो न च तेषां निष्णुणां वाचनादिका वाचनादिविषया हा-
निर्गुरोः पुनरनेके बहुनिर्गमनादयो न सन्ति ततस्तुष्णाद्यथास्ति-
तुमसादिण्य आचार्यो यमनेर्बहिः सागारिकं निष्ठानं कृषु वस-
तेरन्तः प्रविशन्ति ततः श्वेदनेन कुशलेन पादान् प्रमाज्जयन्ति ।

इदानीं निष्कारिणि द्वितीयपदापवादात्माह ।

धुवकम्मिंपं व नाउं, कजोषोषो वा अण्णतिपाति ।

अव्वक्खिवाउत्तं, न उ दिक्खति बाहिं भिक्खुं वि ॥

वसतेवेहिः सागारिकं ध्रुवकर्मिकं वा लोहकारादिकम-
न्येन वा कार्येणान्यमपि सागारिकमननिपतिनिमिच्छन्तं तथा
अप्यन्विष्टसामुद्रकं च हात्वा मियुरपि बहिर्नोदीनेन न प्रतो-
क्तेन किन्तु वसति प्रविश्यामोयावकाशे यतनयाऽऽमनः पादौ
भ्रमाजैवेत् ॥ प्रथमोऽतिशयोक्तः ॥

आचार्योपाध्यायस्य अन्तर्गम्यस्य उच्चारप्रज्ञबन्धजन-
नामा द्वितीयोऽतिशयः । संप्रति द्वितीयं विभावयिषुरिदमहाह ।
बहिगमये च उगुरुगा, आणादी वाणिए य मिच्छ च ।
पांवरणमयाजोगे, खरंगमहप्रभ तिरिक्लादी ॥

आचार्यो यदि विचारभूमिं बहिर्गच्छति ततः प्रायश्चित्तं च-
त्वारो मुद्रकाः आह्लादयन्त्र दोषाः । तथा "वाणिए य मिच्छ-
त्तमिति" वणिए अभ्युत्थानं पूर्वं कृतं भवति पश्चात्कुर्वति
केवाङ्गिन्मिथ्यात्वमुपजायते । इयमं भावति । आचार्यं सं-
ह्लाभूमिं व्रजन्तं ततः प्रत्यागच्छन्तं च इह्वा वणिएजो निजनिजा-
णेषु स्थिता अभ्युत्थानं कृतवन्तस्तं च तथा वणिएजो बहुमाने-
नाभ्युत्थानं इह्वा केचिद्व्यन्ये मन्यन्ते गुणवानेष आचार्यो येन
वणिएज एवमेवमभ्युत्थानं तस्मादस्माकमपि पूज्य इति
तेऽपि पूजयन्ति । यदा त्वाचार्यः कदाचित् द्वौ द्वौ वारौ संह्लाभू-
मिं व्रजति तदा चतुरो चारान गमने प्रत्यागमने चोत्थातव्यं
ते चालस्यं मन्यमाना अभ्युत्थानव्यं अभिष्यन्तीति कृत्वा आ-
चार्यो इह्वाऽन्येनो मुखं कुर्वन्तीति तं तथा कुर्वतो इह्वा
अन्ये चिन्त्यन्ति नूनमेव प्रमादी जातो ज्ञानोऽपि गुणवानपि
यदीष्टाः पतन्ति तर्हि न किञ्चिदिति ते सिध्यात्वं गच्छन्ति ।
तथा आचार्यं लोकेन पूज्यमानं इह्वा मरुके ब्राह्मणस्य मार-
णस्युक्ता प्रतिचरन्तं भवति । ततः संह्लाभूमिं गतं विजने प्रदेशे
मारणस्य तथा मरुमुखीं नपुंसकीं दासीं वा प्रापयित्वाद्वाहं
कुर्यात् अनाभोगेन वा वनगहने प्रविष्टे तिर्यगादी च गर्दभ्या-
दौ कुलटादौ च प्रविष्टायामात्मपरभवसमुत्था दोषाः एष
गाथासंज्ञेयार्थः ।

संप्रति "वाणिए य मिच्छत्तमि" त्येतद्विभावयिषुराह ।

मुयवंतं पि परिवा-रवं च वाणियंतरन्नग्राह्याण ।

दुद्धाण निगममिम् य, हार्णी य परमुहावाच ॥

संह्लाभूमिं व्रजति ततः प्रत्यागच्छति वा तस्मिन्प्राचार्यं भुज-
वानेषु परिवारवाञ्छेति मन्यमाना अन्तर निजनिजाणेषु
स्थिता वणिएजोऽभ्युत्थानं कृतवन्तः तेषां चोत्थानेः लोकस्य च
भूयान् बहुमान आसीत् । कदाचिदाचार्यो द्वौ वारौ संह्लाभूमिं
व्रजेत् ततो द्विस्थाने निर्गमने चतुरो चारान गच्छन्ति प्रत्या-
गच्छति चोत्थातव्यं ततस्ते आलस्यं मन्यमाना अभ्युत्थानस्य
हार्नि कुर्वन्ति ते च हानिमभ्युत्थानस्य चिकीर्षवोऽभ्युत्थान-
न्यं अभिष्यन्तीति कृत्वा त्वाचार्यं इह्वा परमुहा भवन्ति अ-
न्यतो मुखं कुर्वन्तीति भावः । अथवा अर्थः स्यात्तथाहि द्वौ
वारौ संह्लाभूमिं व्रजन्तमाचार्यं इह्वा ते वदन्ति नूनमेव आ-
चार्यो द्वौ शीन्वात्समुद्दिशति तेन द्वौ वारौ संह्लाभूमिं याति ।

गुदवं तु जम्रो वाणिया, पूर्यन्तं वि सम्भुहा तमिम् ।

पुदवं ति अणह्याणो, सुविह निषत्त आंजिमुहारणं ॥

वणिएजो बहुमानेनाभ्युत्थानं इह्वा केचिद्व्यन्ये चिन्त्यन्ति । गु-
णवानाचार्यो यतो वणिएजः पूजयन्ति एवं चिन्त्यन्त्या वेऽन्य-
न्वे तस्मिन्प्राचार्यं सम्भुहा भवन्ति चारङ्गसंह्लाभूमिगमने व-
शिज्जामनुत्थाने ते चिन्त्यन्ति नूनमेव आचार्यः पतितः कथ-

मन्यथा वणिएजः पूर्वमभ्युत्थानं कृतवन्तो नेदानीम् । तथा च
सति तेषामभियुक्तानां द्विविधा विभुचित्तस्या वे आचकत्वं
प्रहीतुकामा ये च तस्य समीपे प्रव्रजितुकामास्ते चिन्त्यन्ति
यद्येषोऽपि प्रधानो ज्ञाया कुशीलवं प्रतिपद्यते तर्हि नूनं स-
ञ्जिनचचनससागरमिति मन्यमानाः आचकत्वात्प्रग्रहाज्ञा प्र-
तिनिवर्तन्ते सिध्यात्वं गच्छन्ति ।

संप्रति "पडियरखमशाभोगे" इत्यादि व्याख्यानयन्नाह ।

आउठो ति व लोगे, पडियरिओ उन्नमारए मरुगो ।

खरियमुहसंगहं वा, लोनेउ तिरिक्खमंगहणं ॥

गुणवानाचार्य इति कृत्वा सर्वो लोक आचार्यस्याधुनोऽभ-
वत् प्रथमोऽभ्युत्थानं विजयानायानां केवाचिन्त्यापयसां तथा पू-
जामाचार्यस्य इह्वा महामत्सरो भवेत् मात्स्येण संह्लाभूमिग-
नमाचार्यं तिरियरं लुके प्रदेशे मरुको ब्राह्मणः कोऽपि जायिता-
ह्लापरप्ये गुणादिषु प्रच्छेके प्रदेशे स्थगयेत् । तथा मरिका-
मुखीं दासीं नपुंसकं वा प्रलोभ्य तत्र प्रेष्य संग्रहं कुर्यात् यथा
भेधुनमेव सेवमानो गृहीतस्तत् उद्वाहः स्यात्तथा अनाभोगेना-
चार्यो वनादिगुणिलमवकाशं संहाभ्युत्सर्जनाय प्रविष्टः स्या-
त्तत्र च (तिरिक्खसि) तिर्यग्योनिका गर्दभ्यादिका पूर्वगता
पश्चाद्वा प्रविष्टा भयेत् तं च केचिद्व्यन्यनीका इह्वा उद्वाहं
कुर्यात् । मूलगाथायां यदुक्तं (तिरिक्खसि) तद्वादिदश्वन्या-
ख्यानार्थमाह ।

आदिगमहृणा उग्गा, -मिगा व तह अज्जतिथिगावावि ।

अहवा वि आसादोमा, इवंनिमे वादिमादी य ॥

आदिग्रहाणादुद्वाहिका कुलटा तथा अन्त्यतीर्थिका वा प-
रिगृह्यते सा तस्मिन् गहने पूर्वं संह्लाद्वा प्रविष्टाऽभवत् ।
तत्र चान्मपरभवसमुत्था दोषाः गतावकाश्चन प्रागृक्ताः ।
अथवा इमे वक्ष्यमाना अन्ये वायादयो दोषा भवन्ति ।

तानेव संजिघृक्षुर्द्वारंगायामाह ।

वादीर्दीक्षयमादी, मुत्तत्याणं च गच्छपरिहृणी ।

आवस्सगदिहंतो, कुमार अकरंतकरंते य ॥

वादिदण्डिकादयो वादिदण्डिकादिविषया बहवो दोषास्त-
था सूत्रार्थानां गच्छस्य परिहाणोः अथवा सूत्रार्थानां परिहा-
णिर्गच्छे च ज्ञानादीनां परिहाणित्तया आचक्षयकमुच्चारव-
श्यं कुर्वेजकुर्वे कुमारां दृष्टान्तः । एष दारानाथासंज्ञेयार्थः

संप्रतिमेवमेव विषयेषुः प्रथमतो वादिद्वारमाह ।

सन्नागतां चिपिठे, जयातितारो ति चंत परवादी ।

मा होही गिसिक्खभा, वषामि अदं विवाएण ॥

कोऽपि परप्रवादी बहुभुतमाचार्यं लोकपूजितं भुत्वा तेन
समं वार्दं किर्यामीत्यागतो भवेत् आचार्यश्च संह्लाभूमिं यदा
गतस्तेन चागतेन वसती पृष्ठं क आचार्यः साधुभिः कथित-
माचार्योः संह्लाभूमिं गता एवं भूत्वा स परप्रवादी भूयात् स
मम भयेन पलायितो यदिवा मम भयेनातीसरो जातः अथ,
वा मा भवत्येवं इत्येति प्रवृत्तिः अत्रलं पर्याप्तं विवादिन ।

अधुना "दण्डियमादीति" व्याख्यानयति ।

चंदगदेऽज्ञासरिपं, आगमणं पृष इह्मिंताणं ।

पवजजसावचणम-इह्वादिगुणोप परिहाणी ॥

यथा इन्द्रपुरे इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुतेन; कथमपि पुत्तलिका-
क्षिचन्द्रकस्य वेधः कृतस्तत्सद्यं "काकताडीयवत्" राज्ञः

अङ्घ्रिमतां चान्येषामाचार्यैस्समीपे आगमनं आचार्यं च संज्ञाभूमिं गते दृष्टिदकदिदरागते भवेत् ततः संज्ञाभूमिं गन्ध्याभयं इति श्रुत्वा प्रतिगिबतेत्येव यदि पुनः संज्ञाभूमिं न गता प्राचार्या भवेयुस्ततो धर्मं श्रुत्वा कदाचिच्च प्रव्रज्यां गृहीयुः श्रवजितेषु च राजादिषु महतीं प्रवचनमभावेन । तथा श्रावकत्वं कैवल्यकदाचित्प्रतिपद्येत् यथा अत्रका वा भवेयुस्तथा च हैत्यस्वापूर्वा महाउपग्रहः । संज्ञाभूमिगमने चैतेषां गुणानां हानिः । संप्रति " सुतन्त्याणं च गच्छ परिहाणी " इत्येतद्व्याख्यानार्थमाह ॥

सुतन्त्ये परिहाणी, वीर्यां गंतु जा पुणो एति ।

तयैव व वामरणे, सुतन्त्येमुं न सोत्यं ॥

विचारं विचारभूमिं गत्वा यावत् पुनरेति तावत्सुत्रार्थपरिहाणः इयमत्र भावना संज्ञाभूमिद्वारे भवेत्सुत्रार्थक्यामर्थरीरुष्यां चार्द्धकृतायामाचार्यैः संज्ञाचान् हानस्ततो गतः संज्ञाभूमिं तत उदात्त्यां रीरुष्यामर्थरीरुष्यां कालवेलायां समागतस्ततः सुत्रार्थपरिहाणः तद्वायावच शिष्याः प्रातीच्छिकाश्यायं गणं प्रजन्ति ततो गच्छन्त्यपि परिहाणित्स्त्रैव पुनरुपाश्रये संज्ञाया व्युत्सजने सुत्रार्थेषु साधयो न सीदन्ति । अत्र चावरयकं कुर्वन्नकुर्वन् कुमारो ह्यदान्नः ॥

एवमेव भावयति ।

तीरगए ववदार्, खीरगते हांति तादेह उदाणे ।

कोसस्स हाणि परचम्पु-पेणुए रज्जसए अपसत्ये ॥

कुमारस्याऽऽस्थाने समुपविष्टस्याधिनेः प्रत्यधिन्न व्यवहारैरेषोपस्थितान्तेषां चोत्सरोरुख व्यवहरतां व्यवहारस्तीरगतः परं नाद्यापि समाप्तिमुत्पायति तस्मात्समाप्ते व्यवहारैरिति राजकुमारः संज्ञाचान् जानन्तत उपायं संज्ञाभूमिं गतः न च यावत्सायति तावदधिनेः प्रत्यधिन्नक्ष क्षीनेद्रकसंयोगाद्विचदेकीभूतास्ततो राजकुमारस्य प्रत्यागतस्य तं व्रजते वयं परस्परं स्वस्थीभूताः एवं सदा मवेत्र समस्तादपि लक्षादिप्रमाणाद् दृग्दृश्यपदान् परिभ्रष्टस्ततः कौशस्य हानिजातानां च हान्त्वा परचम्पुः परवलमागच्छेत् तथा च गज्यस्य प्रेरणमेषोऽप्रशस्ते हृष्टान् । प्रशस्ते पुनर्दृष्टान् स्वयं भावनीयः । स चर्यं प्रथमत एवावरयकमुच्यते हः कृत्वा आश्रमते समुपविशति उपविष्टो यदि संज्ञाचान् भवति ततः प्रच्छुन्नं प्रदेशं व्युत्सजति एवं तस्य कुर्वन् प्रभूतं प्रभूतन्तं दृग्दृश्यपदान् जानं तथा च सति कौशस्य महतीं दृष्टिस्ततः परचलस्य प्रेरणं गज्यान्तरमंत्रहः । एष हृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः । य आचार्यो बहिस्संज्ञाभूमिं व्रजति तस्य प्रागुक्तमकारणं सुत्रार्थपरिहाणित्परिहाणया गच्छन्त्यापि परिहाणितः शिष्याणां प्रातीच्छिकानां चान्यत्र गशान्तरं गमनान् । यस्तु तत्रैवोपाश्रये व्युत्सजति तस्य न किञ्चिदपि परिहीयते इति सर्वं सुस्थम् ।

एतदेवाह ।

वेत्रं सुतन्त्याणं, न जेएए दंकिपाटिकहणं वा ।

पट्ठणअभयकोमे, पुच्छा पुए सोहरा विणए ॥

यथा बहिनंभन्तयमेवं प्रामादीनामन्तरपि सुत्रार्थानामपरिहाणित्परिहाणित् इकादीनामागतानां धर्ममकथाया अभिप्रतिनिधितं च संज्ञाभूमिमुत्सजनाय गमन्त्यं किन्तुप्राश्रयस्यान्वयमुत्सर्जनीयं वेत्तु यथेष्टा न ननाकि, नापि दृष्टिदकदीनामागतानां धर्मकथनं विवचयति । पुर्वमेव चोपयोगः कस्यचः किं मम संज्ञा त्रय-

ञ वा । तत्र यदि शङ्का तदा कृतावश्यमेव सूत्ररीरुष्यामर्थोपाश्रयं च सुत्रार्थप्रदानायोपवेष्टव्यं तथापि न तावदासित्त्वं यावत्प्रवच्यमुत्थं भवति किञ्चम । अत्रार्थे निदर्शनेनक आचार्यं प्राचक्ष्यकं शोधयित्वा तिष्ठति दृष्टिदकधर्मभ्रवणाययोगात् आचार्येण धर्मकथा प्रारब्धा स च धर्ममकथाक्रिमो राजकुमारो धर्मं गृह्यन्मनीक्षणमर्थादेषं कायिकीव्युत्सजनयोस्तिष्ठति आचार्येण प्रच्छुन्नो सूत्रकाशः समर्थते प्रच्छुन्नं कायिकीमात्रं साधवः समर्पयन्ति तत्र कायिकी व्युत्सजति । ततो विनये लोकोत्तरिके बलवति गणः पृच्छा आचार्यस्य कथनमेतदेव विभावयिषुर्द्विमाह ॥

निद्धाहारां वि अट्टं, अमदं उट्टेमि नेस कइयं ।

पासगतं तं (सप्त) मत्तं, नयन्तरियं परामेइ ॥

राजा चिन्तयति मम स्तिथ्य आहारस्तथाऽपि कायिकीव्युत्सगायं पुनःपुनरुत्सगामि । आचार्येणतु कथयन् कृताहारोऽपि कायिकीव्युत्सगायं नोस्तिष्ठति नृपं मुत्थं य एष आचार्यस्य पाथं स्थितः उल्लूकः स तत्कायिकीमात्रं प्रच्छुन्नं वस्त्वानरिनं प्रथमयति समर्पयति तत्र कायिकीमात्रायौ व्युत्सजति एतच्च यदि पृच्छयते तर्हाविनयः कृतो भवति तस्मादुपायेन पृच्छायानि विविनयते पृच्छति ॥

विणओ लोऽणलोउ-त्तरिओ । च य वट्ठं । ततो गंगा ।

कतोमुहं । अचलतो, जणिनि निवं आगिति जतो ॥

राजा सुत्तिमापृच्छति भगवन् । किं लौकिको विनयो वल्लोयान् अथवा लोकोत्तरिकः । आचार्यैरेणोक्तमयमर्थः परिल्लानां परमेवं ज्ञायते लोकोत्तरिको विनयो वल्लोयान् तत्र परीक्ष कर्तुमाश्रया आचार्यैरेणोक्तं यस्तव हृष्टिप्रत्ययो य वा कृत्वा त्वं जानासि न एष विनयस्सेसी तं प्रेषय । यथा कुनोमुत्ती गङ्गा वहतीति ज्ञात्वा निवेदय । ततो राजा य आकृतिमानय हृष्टप्रत्ययस्तं प्रेषयति व्रज कुनोमुत्ती गङ्गा वहति सोऽचलन् तत्रैव स्थितो नृपं भयति यथा पूर्वमुत्ती गङ्गा वहति लोकोऽप्यस्य एतन् जानाति । तत आचार्यो ब्रूते मम शिष्याणां मध्ये यं त्वं विषयमकरणशाश्रदिभिर्विषयं जानासि । उक्तञ्च " विषयमसर्वविषयमस्मा । विषयं विषयमाः समैः समाचाराः । करचरणवदननासा कर्णोष्ठनिरीक्षणेः पुण्याः " विषयमन्वाह विनययमं स करिष्यतीति तं प्रेषय । रामा पर्यं उत्तो एस, वयओ अविणयिदसणां समणां ।

पट्ठणाय एससोमे, काउं आलोएए गुरुणां ।

एवमाचार्यैरेणोक्तं राजा यं विषयमकरचरणानिना अविनानिदर्शनः अश्रमः प्रदर्शित एष व्रजतु कया दिशा गङ्गा वहतीति आचार्येण संप्रयितः स आचार्योनापृच्छय तत्र गत्वा ततः प्रत्यागत्यैर्यापथिकयाः कायोत्सवं कृत्वा गुरोः पुरत आलोचयति कथमिष्याह ।

आदिबदिता लोषण-तरंगतणमाइया य पुच्चमुहं ।

माहो य दिसाए मा होउ, पुट्टो च्चि जणो तहव अणो वि ॥

हेमगवन् । युष्मत्पदानापृच्छाहं गङ्गान्तं गतस्मत्र च गत्वा सूयं निष्पत्तवान् यत्तं आदिन्यादिगिबभागः सम्यक् ज्ञायते एवमादित्यदिगालोचनं कृतं तथा नरैस्तुष्टादीनि पूर्वोक्तिमुक्तान्युत्थमानानि हृष्टानि तत्र कदाचिद्विगमोहोऽपि प्रत्यासतो माभूद्विगमोह इत्यन्योऽपि जननिष्कसंभ्याकः पृष्टः सोऽपि तथैवाह यथा पूर्वोक्तिमुत्ती गङ्गा वहतीति । एतच्च राजा प्रत्यवि-

कम्पञ्चपुत्रैः परि (भावित) भावापितं तैरपि तथैव कथितम् तस्मै राजा प्राह ।

बह्वर्षं यथापराण—निन्विसयपणबहारलोगभिम् ।

भवदंडो उत्तरितो, उच्छृद्दभाणस्म तो बलितो ॥

लोकं योऽस्माकमाह्वानं भनक्ति तस्य वधं लकुटादिप्रहारेस्ता-
नभं वधं निगडादिभिश्चंद्रं कण्ठच्छेदादिकं केषाञ्चित्वा मा-
रणं विनाशनमपरेषां निर्बिषयकरखमन्थेषां घनापहारं कुर्म-
स्तथाऽपि केषिदस्माकमाह्वानं भजन्ति । लोकोत्तरेषु पुनरेषां
भज्जतामेतानि न भवति स्मन्ति तथाऽपि परेण प्रयत्नेन लो-
कोत्तरिका आह्वानं कुर्वन्ति तत्र किं कारणमाचार्य आह “अ-
वदंडो” इत्यादि पञ्चादि यस्तीर्थकरगणधरादीनामाह्वानं भनक्ति
तस्य परमं ब्रह्म हस्तच्छेदनादीनि भवन्ति एष लोकोत्तरे भव-
द्दण्डः अस्माद्गैरित्य साधोऽस्तसहमानस्य स्वराक्षयानिगुह-
नेनोद्यमं कुर्वतो विनयो बलीयान् । एवं लोकोत्तरिको वि-
नयो बलिकः ।

अथैवापवादमाह ।

वितियपर्यं असतीए, क्रुसाए उवस्सय व सागारो ।

न पवचति सप्पे वि, जे य समत्था समं तर्हि ॥

कुपद्दादंनिगमणे, नातिगमंरं अरपववायंमि ।

धोसरियंमि य गुरुणा, निंसिंरंति एतंत्तदंधरा ॥

द्वितीयपदमपवादपदमधिकृत्य संज्ञाभूमिमाचार्यो प्रजेत् ।
तद्वच द्वितीयपदमाह । उपाधये च पञ्चान्ते संज्ञाभूमिनिरित्त
नतन्तस्या असति बहिर्भजेत् । (अभाष्यति) यत्र न ज्ञायते
एव आचार्यस्तत्रापि बहिर्भजेत् । अथवा उपाधये सागारिको
विद्यते ततो बहिर्याति कस्यापि पुनरुपाधयस्य पञ्चान्ते वि-
ध्यानेऽपि संज्ञा न प्रचरते सोऽपि बहिर्याति एतैः का-शैवे-
हिंगमनम् तत्र ये समर्थान्तरुणाः साधवस्तेः समं याति । तत्र
याति कुपधादीनि कुख्यादीनि तैर्गन्तानि त्रैगच्छतोऽपि प्रायः
पूर्वोक्ता दोषा न भवन्ति । तत्रापि यत्रानिगमनीं नानिविषय-
मप्रत्यवायं प्रत्यवायविरहितं तत्राचार्यैः संज्ञां व्युत्पज्जति ।
येषां च महायानां हस्ते महान्तो दण्डकास्ते महादण्डधरा-
श्चतसृष्वपि दिक्षु संरक्षणपर्याणारित्तनि श्युत्वष्टे च गु-
रुणा पुरीषे ते महादण्डधरास्तन्तरन्ति कस्मादेवं रक्षा
कियते इति चेत् कुलस्य तदायत्तत्वात् उक्तञ्च “जन्मि कुले
जायन्ते, तं पुरिसे आर्यैरेण रक्खाहि” इत्यादि कथं पुनः स
रक्षितव्य इत्यत आह ।

जह राया तोसल्लिओ, मणिपदिमा रक्खए पयेत्तेण ।

तह हाइ रक्खियन्वां, सिरिपरसरिमो य आपरितो ॥

यथा राजा तोसल्लिको मणिप्रतिमे च प्रयत्नेन रक्षति तथा
भवत्याचार्यो रक्षितव्यो यतः श्रीगृहसखस एव आचार्यैः ।
अथ के ते प्रतिमे इत्यत आह ।

पदिमुप्पसी वाणिय, उद्विप्पानो उवायणं भीतो ।

रणणुत्तं जिणपदिहे, करेमि जइ उत्तरे विग्घं ॥

उत्पाउवममउत्तर—मनिग्यए एकपदिमं वा ।

देवयद्धेण ततो, जाया वितिए वि पदिमा तो ॥

प्रतिमयोऽस्तसिद्धिगुणा सा वैश्वमेकस्य बलिजः समुद्रं प्र-
हृष्टेनागाः इदंमत्वात् उरस्थितः । ततः स औपवाचितिकं क-

रोति यथा यदेतदौपवातिकमुपश्राम्यति अविज्ञेनोत्तरामि च
ततोऽनयोर्द्वयोर्मणिरत्नयोर्द्वे मणिमय्यौ जिनप्रतिमे कारयि-
ष्यामि एवमीपवाचितिकं कृते देवतानुभावेनैतत्पातिकमुप-
श्रान्तमविद्रं समुद्रोत्तरणमभूत् स चोत्तीर्थैः सन् लोभेन एक-
स्मिन्मणिरजे एकां जिनप्रतिमां कारयति ततो देवतया हि-
तोये मणिरजे द्वितीया जिनप्रतिमा कारिता तथा चाह । देव-
ताच्छेदनेन ततो जाता द्वितीयोऽपि मणिल्ले प्रतिमा ।

तो भत्तीए बणियो, सुस्समइ ता परेण जत्तेणं ।

ता दीवएण पदिमा, दीसंतिहरा उ रयाणइं ॥

ततः कारापणानन्तरं ते प्रतिमे बलिका भक्ष्या परेण यत्ने-
न शूष्यते ततः तयोक्त प्रतिमयोरिदं प्रतिहार्यं ते प्रतिमे या-
वदीपकः पार्श्वे धियते तावदीपकेन हेतुना प्रतिमे दृश्यते इ-
तरया दीपकामये सप्रक्राये अपि प्रकाशमणिरत्ने दृश्यते ॥
सोऽपि पादिहरे, राया येत्तुए सिंरिहरे तुहति ।

मंगलभत्तंए तो, वृप्ति परेण जत्तेण ॥

इवमन्तरोदितं प्रतिहार्यं राजा नौमलिकः श्रुत्वा ते प्रति-
मे स्वयमेवात्मीयश्रीगृहे क्त भारेडारे सिपति मुञ्चति ततो
मङ्गलबुद्ध्या भक्ष्या च परेण यत्नेन ते पूजयति । यस्मिन्
दिवसे ते प्रतिमे श्रीगृहमानीने ततः प्रवृत्ति राज्ञः कोशादि-
षु वृत्तिरुपजाता । ततः श्रीगृहसदृश आचार्य इत्युक्तं तत
एवं दृष्टान्तभावना कर्त्तव्या यथा राजा श्रीगृहं प्रयत्नेन रक्ष-
यति एवमाचार्योऽपि रक्षणीयतनः कथमत्र मणिमयप्रतिमा-
भ्यां दृष्टान्तभावना कृता उच्यते ॥

मंगलभत्तं आहिया, उपज्जइ तारिसमि दव्वमि ।

रयंमगहणं तोए, रयणज्जतो तहापरितो ॥

श्रीगृहे द्रव्यैरे रक्षणीयं मणिमयप्रतिमयोः पुनर्द्रविलस्य-
तिप्रभूनमस्ति मङ्गलबुद्धिश्च तत्रापि परमतीर्थकरभक्तिर्भवेति ।
प्रयत्नेन रक्षणे श्रेणि कारणाणि तथा चाह । मङ्गलं मङ्गल-
बुद्धिर्भक्तिश्चापिका टाडशो द्रव्यं समुत्पद्यते ततो रत्नग्रहणं
यथा ते रत्नप्रतिमे कारुण्ययवशाद्विशिष्टेन प्रयत्नेन रक्षते
शूष्यते च तथा शिष्यैराचार्यैः प्रयत्नेन रक्षणीयः गुरुष्वर्थाय-
श्च । अथैवमाचार्यं रक्षितं शूष्यते च को गुण इत्यत आह ।

पुयंति य रक्खयंति य. मीसा मत्थे गणि सया पयया ।

इइ परतोए य गुणा, हवंति तपुप्पणे जम्हा ।

गणितमाचार्यं शिष्याः सयं सदा प्रयत्नतः प्रयत्नतः पूजय-
न्ति शूष्यन्ते च यस्मात्पुजने आचार्यपुजने इह लोकं परलोकं
च गुणा भवन्ति इह लोकं सत्त्वार्थं तद्व्ययमुपयाति परलोकं
सत्त्वार्थाऽव्यामधीताऽन्यं ज्ञानादिमेकमाग्रेससाधनम् । अथवा
पारलोकिका गुणाः “आयत्तिप भेयावधं करंमाणं महानिज्जं म-
हापज्जबसाणे भवति” इत्येवमाद्यः । गतो द्वितीयोऽतिशयः ।
संप्रति तृतीयमाह “इच्छाप पट्टु वेयावधिं करंजा” इत्येव-
कमतिशयमभिहितसुराग ।

जेणाहारो उ गणो, सवाल्लुहुस्स होइ गच्छस्स ।

तो अतिसेसपुत्तुं, इमेहिं दारोहिं तस्स भवे ॥

येन कारणेन गणो आचार्यैः सवाल्लुहुस्स गच्छत्याधारस्त-
तस्य भवत्यतिशयप्रभुत्वमतिशयिप्रभुत्वं तथैवियेहयमा-
शुद्धीरयमाशुद्धयम् । तान्पेवाह ॥

वित्यथरपवयणे नि—जरा य सावेकलचित्तोऽप्येतो ।

एरुडि कारणेहि, अतिसेसा होति आयरिए ।।

आचार्यस्तीयेकरस्तीयेकरानुकारो तथा सूत्रनोऽपिस्वाधी-
ती प्रवचने तथा तस्य वैयवृच्यकरणे महती निर्जरा भवति ।
तथा शिष्याः प्रातीक्षिका आत्मानुभवदुःख्वा सुर्वैयवृच्यं कुर्वे-
भ्यः सापेक्षा भवति सापेक्षाणां च पूज्यं हानादिद्वाराजो मह-
ती निर्जरा इतरं त्वकुर्वन्तो निरपेक्षास्तेषां महांसंसारस्तथा
प्रकाशाचार्यस्य क्रियमाणायां सकलस्यपि गच्छस्थानुप्रहरक-
णाशीर्थस्वायव्यच्छेदः कृतो भवति । यतः कार्पौराचार्यस्य सू-
त्रांका अतिशेषा भवन्त्ययं च घट्यमाणा इति द्वारगाथासंज्ञे-
पाथैः । स्तंप्रतमेया व्याख्या । तत्र प्रथमं तार्थ्यकरकल्पद्वारं व्या-
ख्याभवति ॥

हेविंद चकवटी, मंडलिया ईसरा तखरा य ।

अभिगच्छति जिण्दि, ते गोयरिये न हिंदंति ॥

जिनेन्द्रा जगचल हत्यंज्ञे ज्ञाने देवेन्द्राः शक्रप्रभृतयश्चक्रवास्ति-
न उपलक्षणमेतत् यथायोगं च वरदेषाश्च तथा मारुदक्षिणाः
कतिपयमएकसमज च ईश्वरस्तक्षराराध्याभिगच्छति । ततोऽपि
ते गोचरचर्या न दिशन्ते ॥

संस्वादीया कोर्नी, सुराणो निबं जिणो उवासंति ।

संसयनागरणाणि य, एणसा बयसा व पुच्छंते ॥

संख्यातीताः सुराणां कोटयो अन्ये सर्वकाले जिनाम् तीर्थरुत
उपासन्ते तथा सततं मनसा वचसा च पूज्यन्ति सुरादिके
मनसा वचसा च संशयव्याकरणानि करोति । ततो भिक्षां न
दिशन्ते ॥

उपपराणाणा जह नो अर्धति,

चोर्नीमबुच्छातिसया जिण्दिदा ।

एवं गर्णी अचगुणोपेवतो,

सत्या व तो हिंदि इक्षिमं तु ॥

यथा उपपन्नं ज्ञाने जिनेन्द्रावचतुस्त्रिंशत् बुद्धातिशयाः सर्वज्ञा-
तिशया देहसौमन्धाद्यो येषां ते तथा भिक्षां न दिशन्ते । एवं
तीर्थकरदण्डनेन गर्णी आचार्योऽप्युणोपेतोऽपि विघ्नगणिसं-
पञ्चपतः शास्ता इव तीर्थकर इव अज्झिमाज् न दिशन्ते ॥

गुरुहिंदणभ्य गुरुगा, वसभे लहुया न निवारयंतस्स ।

गोतागंति गुरुलहु, आणादाया बहु दोसा ॥

आचार्ये भिक्षामष्टमीति व्यवसितं यदि वृषभो न निवारयति
तदा तस्यानिवारयनः प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः । अथ
वृषभेण निवारितोऽपि न तिष्ठति तर्हि वृषजः शुक्रः आचार्यस्य
प्रायश्चित्तं चत्वारो शुक्रकाः तथा गीतायां भिक्षुश्च निवारय-
ति तदा तस्य मासशुक्र अगीताथस्य भिक्षोरनिवारयतो
मासशुक्रु । आचार्यस्य गीताथगीताथार्चन्यां वारितस्यापि
गमने प्रत्येकं चतुस्रु । आश्रादय इमे वदयमाणा बहवो
दोषास्तानेवाह ।

बाते पिचे गणालोए, कायकिलेसे अचितया ।

मेदी अकारणे बाले, गणसिंता वादिइक्षिधो ॥

भिक्षामततो वानां वा प्रकृपितो भवति तथा अत्युष्णपरितापेन
पिचमुक्षिन्ती भवति । तथा गणस्य गच्छस्य भिक्षाटनपरि-
भ्रमत आलांकः कसंय्ये न भवति । तथा भिक्षाटने काय-
कलेसो भवति तस्माच्च सूत्रार्थपरिहाणस्तथा सूत्रार्थयोरनि-

न्ता भवति । तथा मेदीभूत आचार्यस्तस्मिन् भिक्षामतति
शिष्याणामाम्भाराभावात् प्रापूर्वकादीनां चासद्व्यकरणाना-
वः । तथा अकारकं चेत् इत्यं जनते तस्य नो जने भ्रान्त्यय-
नो जने परिष्ठापनिकादोषः । तथा भिक्षामततो व्यासः आदिश्य-
तिष्ठेत् तत्र चात्मविराधनादोषस्ततो गणचिन्ता । तथा वादी
कोऽपि समागतः स च भिक्षागतमाचार्ये बुध्वा हीलयेद
उद्गाहं वा कुयात् । तथा अक्रिमान् समुद्धः आचार्यो नब्रवीति
न स हि एकाप्यितव्य इत्येव द्वारागाथासंज्ञेपाथैः ॥

स्तंप्रतमेनामेव चिचरीषुः प्रथमतो वातद्वारमाह ॥

भारोण येयाण, हिंदंते उच्चनीयसासो वा ।

वाहुकादिवापगृहणं, विसमाकारेण सूलं वा ॥

भारोण भक्तभूतनाजजनरेखे वेदना भवति । कोऽपि
प्राप्तो निर्गो निषिधो अवेदं तत्र च कानिचित् तीक्ष्णस्थानानि
तानि भारेण वेदनायां सत्यां हि प्रमानस्य हवासो भवति तथा
कटुश्च वातप्रदं भवति । तथा प्राप्ते विषमाकारेण व्यवस्थिते
यत्र तत्र वा तिर्यकशरीरं कृत्वा गच्छतः शूलं वा नयेत् ।

अच्युएहताविषो उ, खच्छेदवादीय उडुण्णैर्ये ।

अपिययो असपाही, गेलसो मुत्तजंगादी ।

तथा अत्युष्णेन परितापितः सन् अर्द्धं प्रचुरं च्चं पानीयम-
तिर्युचित् आददीति । तथा परितापनाशनः पुनः पुनः पानीयमा-
पिबन् तदा चाहापानीयेन प्लावितः सन् न जीयेत् अज्जर-
णाश्च उदंनं वमनं नयेत् आदिशब्दात् आहाररुचिर्नोपजायते ।
अथवा पानीयं प्रभूतं न पिबानि ततोऽप्रमाथिः । आहाररुचौ
च पुनर्भोजने भ्रान्त्ये भ्रान्त्ये च सूत्रनङ्कः सूत्रपौरुषीभङ्कः
आदिशब्दादप्येपीरुषीभङ्कश्च । गते वातद्वारम् ।

अधुना पित्तद्वारमाह ॥

बहिया य पित्तमुच्छा, पदण्ये उरुहण्ण वा वि वसहीए ।

आदिययो लहुण्णारी, मो चैव य पोरसीजो गो ॥

अप्येन परिनापितस्य चित्तप्रहतेर्बेदिः पित्तमुच्छ्रावशतः तप-
नं भवेत् । तथा च स्नि भक्तभूतभाजनसाहितस्य उद्गाहः । च-
सनी वा पित्तमुच्छ्रावशतः पतने तत्र प्रभूतजलपानानन्तरमापि
प्रचुरजलादानं तथा च स्नि त एव उदनादयः प्रागुक्ता दोषाः
स एव सूत्रपौरुष्या अर्धपौरुष्याश्च भङ्कः । गते पित्तद्वारम् ॥

अधुना गणालांकद्वारमाह ॥

आलांगो तिपि वारे, गोणीण जहा तथेव गच्छे ॥

नडं न नाहिंति नियद-दीहसांही निमिजं च ॥

यथा गोपालस्तन्यपु वेदासु गवामाशोकं करोति । तद्यथा
प्राक् प्रसरन्तीनां मध्याह्ने गयासु स्थितानां बिकालवेद्यायां-
रुद्धं प्रत्यागच्छन्तीनां यदि न करोति तदा न जानाति काष्ण-
कषा का वा गणस्य पच माचार्येणापि तिष्ठन् वेदासु गच्छे-
ऽप्याशोकः कसंय्यः । तद्यथा प्रातमप्यहो विकालवेद्यायां च तत्र
यदि प्रातरावश्यके कृते गणालोकं न करोति तदा मासशुक्रु नि-
क्षापलायां द्वितीयं वारं गणालोकमुक्तेतो मासशुक्रु नृतीयं वारं
विकालवेद्यायामप्युक्तेतो मासशुक्रु । तत्राचार्यो यदि भिक्षां
नादरति तदा तत्पुत्रु वेदासु गणालोकं कर्तुं न शक्नोति भिक्षा-
मदत् कथं कुर्यात् गणालोकं चाक्रियमाणे इमे दोषाः । कोऽपि
सन्धुनेषु भवेत् स च नष्ट इति ज्ञात्वा प्रत्यानीयेत गणालोके
पुनरुक्ते नष्ट इत्येव न ज्ञायते । तथा भिक्षाचर्येयमेव कः स-

मिषुचः को वा नेति न ज्ञायते । तथा गणालोकः अक्रियमाणे को द्वाँधे काले भिक्कावर्धे करोति को वा नेति केन ज्ञायते । तथा भिक्कामट्याचार्यं भिक्काचर्यात् भागतानामालोकचर्यायां कः शोषि करोति । तथा भिक्कां हिरण्मणे सूरौ कोऽपि गृहनिषयां वाहरत्येतन्न ज्ञायते ॥

सो आचरस्यदाहार्णि, करेज्ज भिक्खात्तसा च अट्येज्जा ।
तेण तिसंजाहोमं, सिस्साण करेइ अट्यंतो ॥
भिक्कामट्याचार्यं च आचरस्यककसंख्या योगास्तेथांयः प्रमाइ-
सो हानि करोति स न ज्ञायते तथा आचार्यं एवास्माकं भिक्का-
भामिष्यतीति केचिन् भिक्कात्तसा वसतावधे तिष्ठेयुं भिक्काम-
ट्येयुंति एवं गणालोकऽक्रियमाणे धमे दोषास्तस्माच्चिसृष्यपि
सन्धात्तु शिष्याणामालोकं तिष्ठइ भिक्कामदिमएरमानः करो-
ति । गतं गणालोकद्वारमाह ॥

अधुना कायङ्केराद्वारमाह ।

हिंदंतो उब्वातो, मुचत्तयाणं च गच्छपरिहाणी ।
नासंश्रितं हिंदंतो, मुचं अत्यं च आणोणं ॥
दिएरमानः पुनर्भिक्कां महाइ कायङ्केरा इति (उब्वातापि)
परिभ्रान्तो भवति परिभ्रान्तत्वासुचमर्थे इति शिष्येषु प्रतीचि-
क्रेणु च सूत्रार्थानां परिदाणिस्ततो गच्छस्यापि परिदाणिः शि-
ष्याणां प्रतीचिक्कानां चान्यवान्यत्र गणात्तरे संगमात् ॥ तथा
दिएरमानः सूत्रमथे चारेकेणाङ्केपणाम्भो नाशयिष्यति । गतं
कायङ्केराद्वारमाह ।

इदानीं चिन्ताद्वारमाह ।

जा आससिउं भुंजइ, भुजो खेयं च जाव परिणोइ ।
ताव गतो सो दिवसो, नद्धसती दाहिती किं वा ॥
यायज्जिक्कामथेयित्वा कणमात्रमाश्रय्य जुद्धं लुकोऽपि च खेदं
भिक्कान्तरभ्रमं यावःप्रतिनयति क्कंटाटयति ताव्हिरसःसक-
सोऽपि गतस्ततो नास्ति सा वेला यत्र सूच्यार्थस्य वा चिन्तां
करोति अचिन्तनं च विस्वृत्तिमुपयाति ततो नष्टस्मृतिः किंदा-
र्यथानं क क्रमयोति भावः । वाशब्दो वृषणसमुच्चये । यतवेच
सुश्र्पकं प्रावधति ॥

एगा नत्थि दिवसतो, रंथि पि न जगते समुग्घातो ।
न य अगुणेउं दिज्जइ, जइ दिज्जइ संकितो कुइतो ॥
नास्ति एकां धिचिकोऽवसरो (दिवससमेथे यत्र सूत्रमथे वा चि-
न्तयति रात्रावपि समुद्भातः सत्यक्क परिभ्रान्तो न जागर्षि । न
च सूत्रमथे वा अगुणयित्वा द्वाँधे यदि पुनर्धीयते तर्हि द्विषा-
तः सूत्रतोऽथेतद्व च शक्तिं भवति । गतं चिन्ताद्वारमाह ।

अधुना मेदिद्वारमाह ।

येदीज्जे बाहिं, भुंजण अइदेसमाइ अगमणं ।
विणए गिन्नाणमादि, अत्थंते मेदिदेसंसा ।
आचार्यः सर्वस्यापि गच्छस्य मेदीज्जतः मेदिरिति वा आचार
इति वा चसुरिति वा यकार्यं स खेज्जिक्कां गच्छति ततः साधुनां
वसतेर्बहिरेवच्छया जोरुमं स्यादेतदन्तरमेव प्रावधिष्यते । तत
एवं ज्ञायते केचिदादेशः प्रापूर्णाका आनाञ्जेयुरादिशब्दा-
स्केचिद्विद्विज्जिका हग्घिपरिहाभास्तस्तेषामादेशाद्भावागमनं
ज्ञात्वा कः प्रापूर्णाकानां विभावणं संशयं वा कुर्वन् ॥ को
वा हग्घिपरिहीनानं वशास्ति तस्य दानं प्रापूर्णाकानामि-
त्तरेण च वास्तवस्याकारणे विनयो न कृतः स्वाचर्यादा भ्यात-

स्यादिशब्दात् वास्तवसाहाय्याय च कः संशयप्रदानेन चिन्तां
कुर्यात् तिष्ठतं भिक्कामनट्याचार्यं भेदः संदेशाद्देशात् सर्व-
मादेशादि सुस्थं भवति ।

संप्रति यद्बुद्धं " बाहिं भुंजणसि " तन्नवयति ॥
आलोपदाणं वा, कसस करेहामुं कं च इंदंमो ।
आपरिए य अटंते, को अत्थि उ मुच्छे अणो ॥

शिष्याः प्रतीचिक्काश्च भिक्कां प्रविष्टाक्षित्ययन्ति सूररपि
भिक्कायं निर्गतो भविष्यति ततो वयं संप्रति प्रतिश्रयं गत्वा
कस्य पुरतः आलोचयिष्यामः कस्य वा भक्तं पानं वा दशोयि-
ष्यामः के चान्यं साधुं तत्र गताशङ्क्यामो निमन्त्रयामो वतो
भिक्कामट्याचार्यं कोऽन्यः साधुः स्थानुमुत्सहेते सद्योऽपि भि-
क्कां यातीति भावस्तथाहि सर्वे साधवो भिक्कामट्याचार्यं चिन्त-
यन्ति यदि स्वयमाचार्यो भिक्कां हिरण्मते काऽस्माकं शक्तिः प-
श्चात् स्थानुं वयमपि यास्यामः । एवं सर्वस्यापि गमने निम-
न्त्रणाऽपि कस्य स्यादिति विविक्तव बहिरव समुद्दिश्य वस-
तावागच्छेयुरिति । गतं मेदिद्वारमाह ॥

इदानीमकारकद्वारमाह ॥

एणिकासिते अकारगम्मि, दत्त्वे पकिसेट्टया इवति दुक्खं ।
रायनिमंतणगइणे, खिसणवावाराया दुक्खं ॥

भिक्कामट्यत्त आचार्यस्य यदकारकं तस्य तत् भिक्कायै निष्का-
शितं तस्मिन् अकारके छ्येते भिक्कायै निष्काशिते प्रतिवेधनं
मैतत्कारकमयंइदं।ति वक्तुं लुकिंतो भवति दुःखं यदि पुन-
रंजोमं मुक्खा जगति तदाऽनन्तरं वदयमाणा गाथात्त्रयोका ही-
पास्तथा भिक्कामट्याचार्यं राहा भक्त्वावरणकाम्भेन दृष्टस्तत
आकारयित्वा प्रणिनो मत्र गृहे भिक्कां गृहीतः स प्राद न कस्यते
राजपियर इति एवं निमन्त्रणानन्तरमवहणे राहा जण्येते साधोः
किं तव पतद्भूते समस्ति ततो दृशीतेप्रप्रान्नायिके वासिका-
दी च राजा तत् दृष्ट्वा खिस्तनं कुर्यात् । तथा आचार्योऽग्घिको
जनेच स खेदं श्रानादिनिमित्तं शिष्यान् प्रतीचिक्काश्च व्यापार-
येत् तथा श्रानादीनां योग्यमानेयेति ते चार्थश्चिकं ताव्वा एवि-
भयमुत्पादयन्तीति तेषां व्यापारणं दुःखमेवेति दास्याथासमा-
साधः । सांभयनमेव विधरौपुवेज्जां मुक्खा अकारकद्वयप्र-
तिवेधनं शोषास्तानेवाह ॥

जेणेउं कारणेणं, सीसमिणं मुंडियं जदंतेण ।
वयणपरवाधिसो वि हु, न मुंडिया ते काहिं जीइ ॥
येनैव कारणेन देतुना भदन्तनं शुकणा तव शरीरंमिदं सुपिरुत्तं
तनैव कारणेन तव जिह्वाऽपि यदनगृहनिवासिनी प्रमत्तकार-
कदम्येइदं।ति कुवाणा कथं न मुपिरुत्ता येनैवं भवते यथा ।
गयमागमम्मि खोए, सीसा वि तथेव तस्स गच्छंति ।
सययेव दुइजाज्जभा, सीसं विणइसत्तीरे केण ॥

गतागतोऽयं स्वजावतो लोकः पितृस्ववर्मां पुत्रोऽनुकरोतीति
प्रायः ततो गतागमेऽस्मिन् लोके यथाऽऽचार्यं गच्छति वेहंतं
शिष्या अपि तस्य तथैव गच्छन्ति यस्मैतं त्वं च स्वयमेवेणं बु-
द्धिज्जस्ततः केन प्रकारेण शिष्याभिनयेत्सि शिष्याधिष्यसि नैव
कथञ्चनति । ततस्तेऽपि त्वत्सदृशा जविष्यन्तीति ।

पमिसेहंतमजोगं, अयास्स वि बुद्धइं इवइ जिक्खं ।
सद्धाभंगविधियं, जिन्भादीसां अत्रघां य ॥
अयोप्यमकारकं प्रतिधिष्यमानं महात्मपमणुं करोति कं

मन्त्रिणाश्च कोऽस्तावप्युण इत्याह अन्यस्यापि साधोर्दुर्लभं भवति त्रैके त्रैते यथा तथा शुद्धनीत्यवदानात् । तथा अकारक-
स्य प्रतिषेधने कस्या अपि मदस्या अक्षाया अङ्कः अपरस्या
(अक्षियसं) अग्नीनिस्ततस्तद्वादाववर्णयो जिह्वादाश्च उत्पद्यते ।
संप्रति यद्युक्तं राजनिमन्त्रणाप्रहणसिखनमिति तत्र तद्वच-
सिखनमाह ।

पुर्विच अदत्तदाणा, अर्काविषा इह उ संकलिसंसंति ।

काऊए अंतरायं, नेच्छंतिद्वि वि दिङ्जते ॥

आन्तप्रान्तादी च दक्षिणे राजा प्राह पूर्वमदत्तदाना यूयं तत्र
इहाकाविदा आदत्तहाः सन्तः क्लिश्यन्ते । तथाच राजापिण्ड
इत्यन्तरायं कृत्वा इष्टमपि दीयमानं जयन्ते नेच्छन्ति ।

गृहणपनिमहदुजण, अनुजणे च व मासियं लहुयं ।

सपण्णएण अङ्गंजे वा, सिमेज्ज व सट्ठमादी ॥

अकारकस्य ग्रहणे सति यद्यस्यैः साधुभिः प्रतिरिष्यमानोऽपि
शुक्ले तदा म्भानन्वमय न भुङ्क्ते तदा भ्रमोजने पारिष्ठापनिका-
दीपस्तत्र च प्रायश्चित्तं मासिकं कथ्ये । तथा यथाचार्योऽल-
म्बिकस्तदा भ्रमनोहलाभे वा शैलकादयः क्षिसेयुने किमपि
क्यापि गतो जनते रिक्तमेतस्याचार्यत्वम् ।

वावारिया गिलाणा-दियाए (गेएहड) जोगंति ते तत्रो वैति
तुजेने कीम न गेएहह, हिंकेतात्रो सये चैव ॥

आचार्यो अग्निर्हीनः सन् शिष्यान्प्राग्विदिकाश्च व्यापारयेते
यथा म्भानादीनां म्भानप्रापूर्वकप्रतुनानां जेत्यं शुद्धं त एव व्या-
पारिताः सन्ता भ्रुवत यूयं स्वयमेव इहैष्टमाना म्भानादिप्रायो-
स्यं कस्मान्न शुद्धं त ।

एवाणए परिभवो, वैति य दीसति य पानिस्सुवं जे ।

आणह जाणमाणा, सिमंती एवमादीहि ॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण आहात्याः परिजव उत्पाद्यते यथा य-
दि यूयं प्रायेणं न लभन्थे वयं कथं उपध्यामहे एवमुक्ते याद्या-
न्त्यां भ्रते आर्या उद्यमेन किं न लभ्येते तत्र एवमुक्ते रुष्टा भ्रुवत
इदयेते खमु जे भवतां प्राणिदार्थे स्तानिधायमाचार्यैः स्वयमेव-
जाततः कस्मान्नानयत एवमादिनिरुद्धावचैवैवैवैः खिस्यन्ति
दिलयति । गतमकारककारम् ।

व्याज्ञानरमाह ।

बाहो य माणमादी, दिदंते तथ होति उज्जेण ।

भोजे य आजिआंगो, विसे य इत्थीकए वा वि ॥

निकाभटितो व्याहः अभ्यष्टिकः कर्माहिलुगति तदा मदस्य-
पञ्चाजना तत्र दद्यान्तइज्जेण यथा उत्रमुपरि प्रियमाणं शोच-
नः अथः पतितं तु न किमपि एवमाचार्योऽपि बह्वभिः परिवारि-
नो गच्छन् शोभते तथा मि ज्ञानप्रवृत्तस्तु व्यादिपरिदृष्टीनो न
किमपि । तथा प्रतिक्रपवामाचार्यो भ्रमनीति लोनेन माध्यायं स्त-
मी वृत्तीयार्थेऽनियोगो वशीकरणं स्त्रीहते स्यात् । विषं वा केन-
चिप्रविष्टेन दीयेत । पत्तेशोचरायं व्याचिष्यासुराह ।

मोएवं असमस्या, वदं रुद्धं च नबाणं कुसिया ।

नुवीतिक्रम(भिज्जकूवो, सो पुण सव्वे षि ते सत्तां ॥

युर्वनिकमत्रयिकवतपत्राकर्त्तृपसंभानयया अन्यथा बद्धं
रुद्धं नचैकं नटार्त्ता नयकः कुसिता मोचयितुं न समर्थास्तेषां ता-

एकस्यजावात्स पुनयुतियिकम नीयरूपस्ताव कुसिताम्सोवोपि के
नापि दौषेण बद्धं कृत्वा मोचयितुं शक्यस्ततो यथा स प्र-
यत्नेन रक्ष्यते एवमाचार्योऽपि रक्षणीयोऽन्यथा दौषस्तथा चाह ।
एवमापरियस वि, दोसा पनिरुद्धं च सो होइ ।

दिज्जवि स भिच्छुवासो, अग्निजोगवसीकरणमादी ॥

एवमेव नसं कस्यवाचार्यस्यापरिक्रितस्य होषा जयन्ति ।
तथाहि सोऽपि प्रतिक्रपात्तु भवति ततः कोऽपि जिच्छुपासको
जिनप्रवचनप्रज्ञाननामसिद्धिपुर्विषं द्यात्स्वी वा काचिदुपसुध्या
अभियोगं कुर्यात् वशीकरणेति वा प्रयुञ्जीत एवमादेते दोषास्त-
स्मात्प्रयत्नेन रक्षणीयोऽन्यथा तदभावे गणस्याप्यन्वापा-
सितस्तथा चाह ।

नबण्णहीणा वनटा, नायगहीणा च रूपिणी वा वि ।

वक्कं व तुंरुहीणं, न हवति एवं गणां गणिणा ॥

यथा नसं नदीना नटा यथा नायकहीना रूपवती स्त्री यथा च
यक्कं तुएरुहीनं न भवति एवं गणिनाऽऽचार्येण विना गणोऽपि
न भवति तद्वैव व्याज्ञानं गतम् । इदानीं गणविज्ञानग्रमाह ।
लाभालान्धाणि, अकारके वास्तुवृत्तादेसे ।

मेह्वमए न नाहिति, चिट्ठतो नाहिति न सव्वो ॥

केन पर्याप्तं स्वयं केन वा न लभ्यमिति न ज्ञास्यति स्वयं भि-
क्षाटने परिश्रान्त्यात्तथा अग्निमि मांये परिश्रान्ताः समागन्त-
प्रापूर्वकाः तेषामिदं वाकारकं तथा बालान् कृत्वा पुत्रां गमां-
श्चादेशान् प्रापूर्वकान् तथा शैकान् कृपकांश्च कर्णोपसागर-
णतया न ज्ञास्यति । स्वयं भिक्षापरिश्रमणपरिश्रान्तत्वात् ति-
ष्ठन् पुनः सर्वान् यथीचिन्धेन ज्ञास्यति परिश्रमाजान् । गतं
गणविज्ञानाकारम् ।

अधुना वादिज्ञानमाह ।

सोऊए गतं खिसति, पदिचिद्धजथा य इदिपेठ्ठेइ ।

अत्यंति सन्धचित्ते, न होति दोसा तवादी ॥

भिक्षामटितुं प्रवृत्ते आचार्ये वादी कोऽपि समागन्तस्तेन साध-
व उच्यते क आचार्योः साधुत्रिकं भिक्षाटनया गतस्ततः स
निकाथं गते शुभ्या खिसति इति सति एतावन्तस्य पाणिक्तस्य स
स्वयं भिक्षामटति । ततः इणमात्रं प्रतीकृतः स आचार्य उद्घा-
न्तः समागन्त समागतं दृष्ट्वा वादी प्रेरयति । स च परिश्रान्त-
त्वात्तत्र द्वातुमसमर्थेतिष्ठति । पुनः स्वध्वंसिते दोषास्त्वापाद्य
प्रादिशजन्तुपेनादिपरिग्रहो जयति तथा च सति न वादि-
ना तस्य प्रेरणं किं तु जयति । वादी समागतो निकाथं गत
इति श्रुत्या यदि गच्छेत्तदुपदर्शयति ॥

पागहियं माहए, विसाणं चैव सुठु ते गुरुणां ।

जइ सों विजाणमाणे, न वि तुम्भमपाहितो हुँवो ॥

निकाथं गत इति श्रुवाणैरेवमितिः सुष्ठु अतिशयेन साहाय्यं ग-
न्मिन्नकृणं विक्रानं च प्रकटितम् । यदि सोऽपि ज्ञाना भवति
न चैव युष्माकमनाहते नयेत् । अधुना " पदिचिद्धजथा च वा-
दि पिठ्ठइ " इति व्याख्यानयति ।

न वि उत्तराणि पासइ, पासणियायां च हेतिति परिजृतो ।

मेहादिभत्ता वि य, दहं अमुदं परिणमंति ॥

स निकाटनेपरिश्रान्तः सन् न वि वैध उत्तराणि पश्यति
परिश्रमेण बुद्धेः सत्यापादान्तात्तथा च सति स प्राशिक्षानामाप

सभ्यानामपि परिभूतो भवति ततो ये दैङ्काद्योये च अरुका-
दयस्ते तन्मुञ्चं निरुचरं दह्णुः परिणमन्ति विपरिणामं जज्ञन्ते ।
जिज्ञार्थमनन्दे पुनरिमे गुणाः ।

सुत्तथाण गुणाणं, विज्जांमता निमित्तजोगाणं ।
वांसत्ये पद्विरक्षे, परिणियण्णं रहस्सुत्ते य ॥
सुत्थाणां तथा विद्यानां मन्नाणां निमित्तशास्त्राणां योगशा-
स्त्राणां च गुणानं परावर्णनं भवति । तथा विभ्वस्तः सद् प्रतिरि-
के विधिके प्रदेशे रद्वयसुत्राणि परिजयति अत्यन्तं स्वच्यस्तामि
करोति तस्मात् जिज्ञार्थमदित्ययमाचार्येण गते वादिचारय ।
इदानीमुक्तिमद्ब्रह्मराम ।

रमा वि दुवक्खरको, उवतो सव्वस्स उत्तमो होति ।
गच्छमि वि आयरितो, सव्वस्स वि उत्तमो होइ ॥

राज्ञो द्वयक्करको दासो यद्यपि जाल्या हीनस्तथाऽपि संस्था-
पितः सद् स्वदेव्याप्युत्तमो जवति । उत्तमत्वात् यथा न कश्च-
न प्रयत्नं हिण्णाय्यते सोऽप्येवं यथा तन्ना मन्वेऽप्याचार्यः स्व-
र्धस्याप्युत्तमो जवतीति स सुनरां भिक्षां न हिण्णायति तव्यः ।
रायामच्चपुरोहिय, सेट्ठी मण्णावतो तलवरा य ।

अभिगच्छेतायणि, बहियं च इमं उदाहरणं ॥

यथा तीर्थकरश्चस्यकाले हिण्णमानोऽप्युत्तमं ज्ञाने देवेन्द्रा-
द्यभिगमात्र हिण्णते । एवमाचार्यानापि आचार्यपदस्थापितान-
राजा अमात्यः पुरोहितः श्रेष्ठी स्मर्यापतिः तलवराश्चानिगच्छ-
न्ति तनस्तेऽपि भिक्षां न हिण्णन्ते । अन्यथा दोषस्तत्रेदमुदाहर-
णं तदेवाह ।

सोऊण य उवसंतो, मच्चो रमो तंगं निवेदेइ ।

राया वित्ति ए दिवसे, तइएऽपव्धी य देवी य ॥

राज्ञोऽमात्य आचार्यसमीपे धर्मं श्रुत्वा उपशान्तः स च राज्ञः
स्वकामाचार्यं निवेदयति । यथा गुणवानतीवाचार्योऽमुकप्रदेशे
निष्ठति ततो द्वितीयदिग्बसे राजा अमात्येन सह गतः धर्मं
श्रुत्वा पारितुष्ट आगतो निज्ञाप्रमदित्थाः परिकथयति अमायेना-
प्यगनीयजायायाः कथिनं ततोऽमात्यो देवो च नृनीयदिग्बसे ध-
र्मप्रवणाय समागते आचार्यो जिज्ञार्थं गनस्ततः ।

सोउं पमिच्छिऊण, वणया अहवा पमिच्छणे विंसा ।

हिंमति होति दोसा, कारण पमिच्चित्तकुसलोहिं ॥

जिज्ञार्थं गत इति श्रुत्वा ते हीलियत्वा गते । अथवा क्षणमात्रं
प्रतीत्य हीलयस्यी गते । यद्ये वा यावदाचार्यं आगच्छति
तावत्प्रतीक्षमाणे हीलयतः । अथवा प्रसिद्धशहरां परिगलत्प्र-
स्वेदमागतं दह्णु क्षिप्ततो यदि वा क्रुद्धं सुदुष्टं कृतं बन्धनं वा
सोमं कथयतो वा परिभ्रमणेन न सुदुष्टं बचनविनिगमस्तत उ-
त्थिते हीलयतो, यथा पिण्डोलक इषैश्च भिक्षामदति किमाचा-
र्यैव्यतस्तय । एते जिज्ञां हिण्णमाने दोषाः । यदि पुनः कारणे
बधयमाणे भिक्षार्थं गतो अर्धत् राजाद्वयश्च तत्र गतस्ते च पू-
च्छेयुः क गत आचार्यैस्तत्र ये प्रतिपत्ति कुशलास्तेनैवं प्रतिवक-
न्त्यं भिक्षार्थं गत इति किमु कैव्यबन्धननिमित्तं गत इति । यदि
राजाद्वय आचार्येमागच्छन्तं प्रतीक्षेत् तदा येऽतीव दक्षा गी-
तार्थोस्ते सुन्दरं पानकं प्रथमालिकां च सुन्दरं कर्पयं चोलपदं
च मुहीनाऽऽचार्यस्य कथयन्ति । तत आचार्यो मुखहस्ताप-
दादि प्रक्षाल्य प्रथमालिकां पानकं च कृत्वा अल्पं प्राबुध्य पात्रा-
शबन्धस्य समर्थं तादृशयेवो वसिताजानीयते यथाऽजावथा-

तोऽपि राजादिभिर्भाव्यते एव आचार्य इति । ततो वसति प्राप्तस्य
पादप्रोच्छनं पादप्रमाज्जनार्थमादाय साधय उपतिष्ठति । पादप्र-
माज्जनानन्तरं वसनेरतः प्रविश्य पूर्वरेचितार्थां निषद्यायमु-
विशति उपविष्टस्य चरणकल्पकरणाय कोऽपि साधुरूपदीकं तं
चरणप्रक्षालनानन्तरं च सयं साधवः पुरतः पाश्वतः पृष्ठतो वा
किंकरभूतास्तिष्ठन्ति यथा राजा चकितस्तिष्ठति । पतदेवाह ।

कारणजिकसस्स गंतं, वि कज्जमन्नं निवत्स साहिंथा ।

निजोगनयनपदमा, कमादिधुवणं मणुष्ठाइ ॥

कारणे वक्ष्यमाणलक्षणं समापतिते शैलस्य गतेऽप्याचार्यं नृ-
पस्यान्यकार्यं कथयित्वा प्रथमालिकादेर्निधोगस्य नयनं ततः
कमादिप्रक्षालनं ततो मनोब्रह्मप्रथमालिकावितरणम् ।
कयकुकुपु आसत्थो, पविसई पुव्वरइयनिसेजाए ।

पयया य होति सीसा, जह चकितो होइ राया वि ॥

कृतकुकुचनः कृतकूलकुल आसत्स्थः प्रविशति प्रविश्य पूर्व-
रेचितार्थां निषद्यायमुपविशति ततः पादप्रक्षालनसमं पोषवे-
शनप्रयत्नास्तथा भवन्ति यथा राजा चकितो जायते ।
अत्र परप्रब्रमाह ।

मीसा य परिचत्ता, चोगववपणं कुट्टिसामणिया ।

दिहंतो दंभिएण, सावेकलं वेव निरवेकलं ॥

बोद्धकश्चनमाचार्यं रक्षयित्वा शिष्या भिक्षार्थां प्रेषितास्तेर्हि
ते त्यक्ताः । आचार्य आह । अत्र कुट्टु(भृशुद्रप्रह)पनदृष्टान्त-
स्ताथा दूरिकेन दृष्टान्तः सांपन्नो निरपेक्षमाचार्यं एव द्वार-
गाथाशरार्थः ।

संमत्येनामिच्च विवरीपुः प्रथमतः " सीसा य परिचत्ता "

इति माधवति ।

वायादीया दोसा, गुरुस्स इतरंसि किं न ते होति ।

रक्खयसिस्सचाए, हिंमणुत्तु अस्समता य ॥

वातादयो दोषा गुरोर्भवेति इतरंषां साधूनां किं ते न जवन्ति
जवनयेवेति प्रायः । ततो हिण्णते हिण्णनदोषे तुल्ये आत्मने
दृक्ता क्रियते शिष्याणां च त्याग इत्यसमता नेवं समजसमित्य-
र्थः । अन्यथा ॥

दसविह्वयेपाव्भे, निच्चं अणुत्थिया असदभावा ।

ते दाणिं परिभुत्था-अणुज्जमंताण देवो य ॥

दशविधे आचार्योद्वेज्जतो दशप्रकारे वैद्यावृत्ते नित्यं स्वका-
समागतायाः सन्तोऽभ्युत्थितास्ते संगति वातविदोषाण्यव-
ञ्जिरपि जिज्ञाटने प्रथमाणाः परित्यक्तास्तथा दशविधे वैद्यावृ-
त्त्ये नोद्यच्छन्ति ततस्तेषामनुद्यच्छतामाचार्योद्वेद्यावृत्त्याकरणे
यथाऽहं प्रायश्चित्तं दण्डो दीयते तदेवं " सीसा य परिचत्ता "
इति भावितम् ॥

इदानीं कुट्टुम्बिसामणियेति दृष्टान्तं भावयति ॥

बुद्धीधम्मसुत्तरियं, कोट्टागारं रज्जति कुट्टुविस्स ।

किं अम्ह मुद्दा देइ, केइं तहियं न अस्सिणा ॥

एकः कौटुम्बिकः स कर्षकाणां कारणे उत्पन्ने बुद्ध्या काशान्तरक-
पया धान्यं ददाति तथा च बुद्ध्या कौटुम्बिकस्य कोट्टागाराणि
धान्यसुसूताणि जानानि । अन्वदा च तस्मै कोट्टागारं बुद्धि-
धान्यसुसूतं वह्निना प्रदीपेन दह्यते तत्र केचित्कर्षका शिष्यापननि-
मित्तं तत्र प्रदक्षमाणे कोट्टागारे समागतास्तत्र केचित्कर्षकानि

किमेष कौटुम्बिकोऽस्माकं मुधा ददाति येन वयं विप्रानपार्थ-
मन्नुद्यता भवामः ॥

एयस्स पजाविणं, जीवा अग्नेहि एव नाऊण ।
अपे उ समपट्ठीणा, विजाविणं तेसि सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुम्बिकस्य प्रभोगेण वयं जीवन्तः स्म
जीव अन्नुप्रमथ्यः जीविता इत्यर्थः । एवं ज्ञात्वा समाजीनास्तप्य
समागतो विआपनाय च प्रवृत्तास्ततो विआपिते कोट्टामारे स
कौटुम्बिकस्तेषां तुष्टः । ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥

जे उ हायागर्चं, करेसु तेसि अवहियं दिणं ।
दट्ठति न दिखिण्णरे, अकाममा दुक्खजीवीं य ॥

ये विआपने सहायकावसकावुंस्तेषामनुदिकं कालान्तरवृद्धिर-
हितं धान्यं दत्तमितरेषां तु सहायत्वमकृतवतां इवर्षामन्युत्तरं
स कौटुम्बिकस्तेषां तुष्टः । ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥
एव दृष्टान्तः ॥

सार्प्रभमुपनयमग्निधिसुरा ॥

आययिय कुटुवी वा, सामाणियथाणिया जंवे साहू ।

वावाहअगणितुत्ता, सुत्तन्वा जाण धण्णे तु ॥

माचार्यः कुटुम्बी इव कुटुम्बितुल्य इत्यर्थः । सामान्यकर्मक-
स्थानीयाः साधव आचार्यस्य जिज्ञासने वातादिश्रवणाया अग्नि-
तुल्या सुत्रार्थं जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान् ॥

एमेव विणीयायां, किरंते मुत्तप्यसंदिं पेरा ।

हविति उदासीण, वल्लोत्तियसंदिं समारे ॥

एवमेव कौटुम्बिकदृष्टान्तप्रकरणे ये विनीतास्तेषां स्थविरा
आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वन्ति सूत्रार्थप्रत्यञ्जति यस्तद्दार्ढ्या-
नस्तत्र हापयन्तीति न प्रत्यञ्जन्तीति ज्ञायः स चोदासीना वल्ल-
मानः केवलं सूत्रार्थेभ्योऽथवा भवति वल्लभाशामी च संसारे जायते
गतं भ्रान्तद्वारम् ।

संप्रति द्विपरकदृष्टान्तं विभावियिषुरिदमाह ॥

उत्पत्सकारणे पुण, जइ सयमेव सहसा गुरू हिंसे ।

अप्याण गच्छमुज्जयं, परिचयती तार्यमं नार्यं ॥

अप्यत्र कारणं वक्ष्यमाणलक्षणं यद्वि सहसा स्वयमेव गुरुरा-
त्मानं गच्छमुज्जयं च परित्यजति तत्र चेदं वक्ष्यमाणं ज्ञातमुदा-
हरणम् । तद्वयाह ।

सोअं परवलमार्यं, सहसा एक्कागिओ उ जो राया ।

निग्गच्छति सो चयती, अण्णाणं रज्जुमभयं च ॥

यो निरपेक्षो रात्रेऽथ परवलमार्यमर्त्त्या वधवाहनायमेवमिन्या
सहसा एकाकी परवलस्य संसुता निग्गच्छति स आत्मानं
रात्रयमुज्जयं च त्यजति वधवाहनत्यतिरेकेण युक्तारणे मरण-
भावारं । एयमाचार्योऽपि निरपेक्षः समुत्पन्नोऽपि कारणे सहसा
भिक्षामटआत्मानं गच्छमुज्जयं च परित्यजति । उक्ता निरपेक्ष-
द्विपरकदृष्टान्तप्रधाना ।

संप्रति सापेक्षदृष्टिदृष्टान्तप्रधानमाह ।

सावेक्खी पुण राया, कुमारमाटीहि परशले खवियं ।

अणिए मयं पि जुउत्तइ, उवमा एमेव गच्छे वि ॥

सापेक्षः पुनः राजा प्रथमं कुमारमादिह युक्त्य प्रेषयति ततः
कुमारदिहिः परशलं कर्षयित्वा यथा कुमारं परशलं क्षिपति तदा
तस्मिन्क्षिति स्वयमपि राजा मुष्यते एवंप्रथमा गच्छोऽपि उद्यथा ।

आचार्याऽपि पूर्वं यतनां करोति तथाऽपि असंस्तरणे स्वयमपि
द्विपदन्ते एवं आत्मानं गच्छमुज्जयं निस्तरन्तीति प्रायः ।
संप्रति यैः कारणेणाचार्येण जिज्ञार्थमदित्यं तानि कारणाण्यदाह ।

अच्छाणकक्खवदामति, गेल्लोदासिमाहिएसुं तु ।

संधारमाणे भइतो, हिंसेज्ज असंयंतरामि ॥

अध्याने प्रपन्नः सार्धेन सममाचार्यो गच्छुंस्तत्र आसंस्तरणे
यदि साधारणा आचार्यस्य गोत्रेण प्रत्यञ्जति ततः स्वयमेवा-
चार्यो द्विपदन्ते एव कर्करोऽपि क्लेशे आद्यनियं तथा अस्ति
सहायानामभावे को भिक्षामानीय ददातीति स्वयं द्विपदन्ते ।

तथा श्रान्ता बहवस्तन्स्तेषां स्वेषामपि गच्छसाधवः प्रयो-
ग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवा श्रान्तप्रयोग्यमन्यः कोऽपि न ज्ञाते
तत आचार्यो द्विपदन्ते एवमादिशाः प्राचुर्यका आदिशब्दान्
वाहकृत्वासाहपरिप्रदस्तेष्वपि ज्ञानवीर्यम् । एतेषु विषयेषु असंस्तर-
रति गच्छुं नियमाद्विचार्यो हिगदते अथवा प्रायश्चित्तसंभवा-
संस्तरति पुनर्मको विकल्पितः द्विपदन्ते कदाचिन्न अस्तुद्यत-
विहारपरिक्रमं कुर्वेन द्विपदन्ते शेषकाले नैवेद्यः । एव द्वारगा-
थासंक्षेपार्थः । अत्र यदुक्तं संस्तरणे न द्विपदन्ते इति तत्र सं-
स्तरणं त्रिविधं जघन्यं मध्यमकण्ठं च तत्र जघन्यमधिकृत्याह ।

पंच वि आयरियादीं, अत्यन्ते जह्णए वि संथारणे ॥

एमेव संयंतरं, सयमेव गणं आदति गांम ॥

जघन्योऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपं संस्तरणे पञ्चाप्याचार्योपाध्यप्र-
वर्त्तिस्त्विपरगणावच्छेदिनस्त्रिणीन जघन्योऽपि स्वर्षाशब्दः संभाव-
ने स चैतन्संज्ञायति । यदि तावत् जघन्योऽपि संस्तरणे प-
ञ्चाप्याचार्योद्वयसंस्तरति ततो मध्यमे उच्छुटुं संस्तरणे नियमा-
त्यच्छेदभरपि स्यात्तथ्यम् । एवमपि जघन्योऽपि संस्तरणनास-
स्तरति गच्छे स्वयमेव गणं आचार्यो भ्रामे भिक्षामदति स च
प्रतिलोमपरिपाठ्या एतेन तथाहि जघन्योऽपि असंस्तरति प्रथमं
गणावच्छेदको द्विपदन्ते तथाऽप्यसंस्तरणे स्त्विपरोऽपि द्विपदन्ते
एवमप्यसंस्तरणे प्रत्यर्थं यथायसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि त-
थापि चेन्न संस्तरति गच्छन्तत आचार्योऽपि ।

तत्र प्रथमत उच्छुटुसंस्तरणमाह ॥

मंडलगयामि सूरं, उचिंषा जाव पटदरादेल्ला ।

ता एति जुत्तमिसे-गया च उकांसंमथरणे ॥

ननोमग्नस्य भवगतो मूर्धे मथान्ते इत्यर्थः जिज्ञार्थमवतीक्षे-
स्ततः पर्याप्तं द्विगमन्या यावत् तृतीयपर्याया आदौ स्वाध्याय-
प्रथापनेनैवा तास्यस्य निवर्त्तने पतन्नुच्छुटुं संस्तरणम् । अथवा तृ-
तीयपर्याया आदौ स्वाध्यायप्रथापनेनैवायां स निवर्त्तते पत-
न्नुच्छुटुं संस्तरणम् ।

मध्यमं जघन्यं चाह ।

सध्यातो आगयाणं, चउपरिमि मडिक्कमं हवति एयं ।
विसुयाविय मत्तदिणे, समतिउत्थन्ते जह्णं तु ॥

मध्याह्नारारभ्य भिक्षार्थमवतीक्षणां पर्याप्तं द्विपर्याया वसना-
वागतानां लुक्तानां संज्ञातः सच्छुटुं प्रति आगतानां यदि क्षु-
र्षां वारुणीं अयमादन्ते एतत् मध्यमं संस्तरणं भवति । मध्या-
ह्नारभ्य भिक्षामदित्या लुक्त्या संज्ञात्प्रतिः प्रत्यागतमात्रेषु
सुयावियेषु, विशेषतः पत्यन्त्येव पुनरिति समाने जघन्यं संस्तर-
णमवसात्यं तदेवमुक्तं जघन्यादिति जह्णं संस्तरणम् ।

इदानीं मध्याह्नारभ्याख्यानांशमाह ॥

अच्छाणेऽमथरणे, उकावियायां विकराम पल्ले ।

एवैव ककस्वमि वि, असति चि सहायाग नत्थि ॥
अन्यानि साधेन स्वमं वज्रतामसंस्तरणे भिक्षार्थमाचार्यो हि-
एरुते । अथवा ते सहायाः अक्रोधिदाः सायं च प्रब्रह्मन्त्यकि-
रणीकृतान्यस्त्राणीकृतानि ह्यज्यते तत आचार्यः स्वयमेव हि-
रुमानस्तानि विकरणानि कृत्या सन्निरुद्धं अथवा द्दनामु-
पदेशं द्दानि विकरणानि कृत्या द्रव्यमिति । एवमक्रोधिदानां
सहायाणां जावे प्रलम्बिकरणाभिमताचार्या गच्छति । एव-
मेव कर्कशोऽपि क्षेत्रे भिक्षार्थं गजमनाचार्यस्य भवति तत्रान्यसं-
स्तरणे अक्रोधिदाः सहायजावे प्रब्रह्मविकरणय वा गच्छन्तीति
तथा असतीति नाम सहायका न सन्ति ततः स्वयमेव जि-
ह्वायति ।

बहुया तस्य तरंता, अह गिष्ठाणस सो परं लहति ।

एमेव य आद्रेनं, सेमसु विज्ञासवुच्छीए ॥

बहवस्तत्र गच्छे अतरन्तां भ्रान्तस्तनः सर्वेषां गच्छसाधयः प्रा-
योग्यमुत्पाद्यितुमशक्ता अथवा भ्रान्तस्य परं प्रायोग्यमन्या न
लभ्ये किन्तु स एवाचार्यस्तनः स हिण्डते । एवमेवादेशु प्र-
ज्ञानकेषु शेषेषु च बालबुद्धासहेषु विभाषा विज्ञापणं तत्र बु-
द्ध्या कस्यैव तथैव यथादेशाद्वाद्यः बहयः सर्वेषां साधयः कर्तुं
न शक्यन्ति यदि वा स एवादेशाद्वादिप्रायोग्यं भवेते मान्यः को-
ऽपि ततः स दिग्गमनं ।

संप्रति " संथरमाणे प्रश्नो इति " व्याख्यानयति ।

अभ्युज्जयपरिकम्मं, कुणमाणो जा गणं न वोसिरिति ।
ताव मयं सो हिंरुड, इति भयणे संथरत्तम्मि ॥

अन्यत्रानिहारपरिकम्मं कुर्वन् यावन् गणं न व्यस्तुजति ता-
वस्य स आचार्यो हिण्डते इत्येतां अत्रना भजना संस्तरति गच्छे ।

अच्छाणादिस्वेहं, मुहसीलत्तेभा जो करेज्जाहि ।

गुरुगाय जं च जत्य व, सव्वपयत्तेण कायज्वं ॥
अथादिषु अध्वकर्कादिध्वसंस्तरति गच्छेत् सुखशीलत्वेन
सुखमाकाङ्क्षमाण आचार्योऽहमित्यात्मनमाधाय य उपेक्षा-
माचार्यः करति जित्वा न हिण्डते इत्येतां अत्रना संस्तरति गच्छे-
त् । अत्राणादिस्वेहं, मुहसीलत्तेभा जो करेज्जाहि ।
गुरुगाय जं च जत्य व, सव्वपयत्तेण कायज्वं ॥
अथादिषु अध्वकर्कादिध्वसंस्तरति गच्छेत् सुखशीलत्वेन
सुखमाकाङ्क्षमाण आचार्योऽहमित्यात्मनमाधाय य उपेक्षा-
माचार्यः करति जित्वा न हिण्डते इत्येतां अत्रना संस्तरति गच्छे-
त् । अत्राणादिस्वेहं, मुहसीलत्तेभा जो करेज्जाहि ।

सोपमसंस्तरणयत्तनामाह ।
असती पत्तिलोमं तु, सग्गामे गमयादाणसहेसु ।

पसति विंत्तए दिवसे, आवज्जइ मामियं गुरुयं ॥

असति अत्रमीर्थ्यादिना गच्छसंस्तरणाभावे प्रतिलोमं गणा-
वच्छेदकादारभ्य प्रतिकूलगमनमवसातयं तथापि प्रतिबुधमादि-
नाऽसंस्तरणे गणावच्छेदकः प्रतिकूलमादिभिः सह हिण्डते तथा
प्यसंस्तरणे स्वविरोऽपि तथा प्यसंस्तरणे प्रवसंकोऽपि तथा-
प्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि तथाप्येव संस्तरति तर्हि स्वप्राप्त-
दानाच्छेषु कुलेष्वुपाध्यायगमनं भवति तथापि चेदसंस्तरणं
तत आचार्योऽन्यत्रापि गृह्णाति । तथापि साधुना कस्मिंश्चि-
त्कुले ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं यच्चितं परं न लब्धम् । अथया
तद्वयं तस्मिन्गृहे प्रभूतमस्ति अन्यत्र च न विद्यते तत्र यदि हि-
ंशये दिवसे तस्मिन्कुले येन न लब्धं तमेवाचार्यः प्रेषयति ततो
गुरुकं सामिकं प्रायश्चित्तम् । तस्मिन् कुले प्रतिलोमं प्रेषयति ।
तद्यथा प्रथमं गणावच्छेदकः प्रेष्येस्तेनालक्षणे स्थविरस्तेनाप्य-

लक्षणे प्रथमकस्तेनाप्यलक्षणे उपाध्यायस्तेनाप्यलक्षणे स्वयमा-
चार्यो भवति । यदि वा स गृहप्रभुयर्थं गौरवं करोति स
प्रेषयितव्यः ।

सोपमस्य एव गाधायाः पूर्वार्द्धं भावयति ।

गणावज्जेद्वो पुव्वं, उवणकुसेत्तुं व हिंरुड सग्गामे ।

एवं धेरपवित्तं, अभिसयं गुरुयपत्तिलोमं ॥

पूर्वं गणावच्छेदकः स्वप्राप्तं स्वपानाकुलपु हिण्डते एवं गणा-
वच्छेदकादारभ्य प्रतिलोमं लक्षय्यं तथापि असंस्तरणे स्वविरो-
ऽपि हिण्डते तथाऽप्यसंस्तरणे अभिषेक उपाध्यायस्तेनापि सं-
स्तरणाभावे गुरुरपि । अथुना "पसति वित्तप दिवसे" इत्यादि
भावयति ।

ओभासिय पट्टिमिहं, तं चेव न तत्थ पट्टेज्जा उ ।

पत्तिलोमं गाणामादीं, गारवं जत्थ वा क्खणि ॥

केनापि साधुना ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं कस्मिंश्चित्कुले
अवभाषितं याचितमित्यर्थः । तत्र गृहप्रभुणा प्रतिषिद्धमन्यत्र
तन् द्रव्यं नास्ति किं तु तस्मिन्नेव गृहे तन्नो चित्तीयदिवसे तत्र
कुले न तमेव प्रेषयति तु प्रतिलोमं गणावच्छेदकप्रभृतिकं
यथोक्तं प्राक् यत्र वा गृहप्रभुगौरवं करोति तं वा प्रेषयन् ।

नित्यकर चि समत्तं, अहुणा पावयाणनिज्जरा चेव ।

वच्चंति दो व समणं, दुवादासमं पवयाणं तु ॥

तीर्थंकर इति द्वारं समाप्तम् । अथुना प्रवचनं निज्जरा चिति हे
अपि द्वारं समकर्मकालात् व्रजतस्तत्र प्रवचनं नाम चादाशाङ्क-
गणपितृकम् ।

तं तु अहिज्जंताणं, वेयावत्ते ठ निज्जरा तेसं ।

कम्म भवे केरिसिया, सुत्तये जहात्तरं वलिया ॥

ननु द्वादशाहं गणपितृकमधीयानानां वैयवृत्त्यै क्रियमाणे
तेषां वैयवृत्त्यकराणां महतीं निज्जरा तदावरणीयस्य कर्मणः क्ष-
यकरणात् महापर्यवसानः पुनरन्यनयकर्मबन्धाभावात् । अत्र
दिश्यः प्राह । कस्य कीदृशं निज्जरा भवति । आचार्यः प्राह
सुत्र अर्थं च यथात्तरं बलिकाः पतदेहि विनाशयिषुराह ।

सुत्तावसमगरीदां, चौदणपुव्वाण तह जिण्णायं च ।

जावे मुद्धमसुत्तं, सुत्तये मंरुत्तीं चेव ॥

स्वभावशयकादि यावत्कुर्वदापूर्वाण पतद्वारा यथो-
त्तरं महतीं महत्तरा निज्जरा एवमर्थेऽपि प्रावर्तनीयम् । तथा
जिनानामप्येवविधाजिनप्रवृत्तीनां यथोक्तं बलिका निज्जरा ।
इयमत्र प्रावना । एक आश्रयकसूत्रधरस्य वैयवृत्त्यै करोति
अपते द्वात्रिंशत्कुरुत्र यद्वैयवृत्त्यकरस्तस्य आश्रयककरा-
महती । निज्जरा एवमर्थेऽपि प्रावर्तनीयम् । अत्राणादिस्वेहं, मुहसील-
त्तेभा जो करेज्जाहि । गुरुगाय जं च जत्य व, सव्वपयत्तेण कायज्वं ॥
अथादिषु अध्वकर्कादिध्वसंस्तरति गच्छेत् सुखशीलत्वेन
सुखमाकाङ्क्षमाण आचार्योऽहमित्यात्मनमाधाय य उपेक्षा-
माचार्यः करति जित्वा न हिण्डते इत्येतां अत्रना संस्तरति गच्छे-
त् । अत्राणादिस्वेहं, मुहसीलत्तेभा जो करेज्जाहि ।
गुरुगाय जं च जत्य व, सव्वपयत्तेण कायज्वं ॥
अथादिषु अध्वकर्कादिध्वसंस्तरति गच्छेत् सुखशीलत्वेन
सुखमाकाङ्क्षमाण आचार्योऽहमित्यात्मनमाधाय य उपेक्षा-
माचार्यः करति जित्वा न हिण्डते इत्येतां अत्रना संस्तरति गच्छे-
त् । अत्राणादिस्वेहं, मुहसीलत्तेभा जो करेज्जाहि ।

पावयणी खलु जम्हा, आयायितो तेण तस्स कुणयाणो महतीए निज्जराए, वदति साहू दसविहम्मि ॥
 पावयणी पावचलिकः खलु यस्मादाचार्यस्तेन तस्य वैद्यावृत्यं कु-
 धैर साधुमहत्यां निजैराया वसते पथं दशविधेषु वैद्यावृत्यं
 महाःनिजैराकथं भावनीयम् ॥ संप्रति यद्युक्तं जावे शुद्धं अशुक्तं
 च तदनुसारतो निजैरा जवतीति तत्र भाष्ये व्यवहारतः गृह-
 वस्तुप्रनायाद्भवतीति प्रतिपादाव्यवहारात् ॥

आरिसंमं जं वत्तु, सुयं च तिहं च ओहिमादीणं ।
 तारिसतो च्चिय भावो, उप्पज्जति वत्ततो जम्हा ॥
 याहं यद्भवस्तु प्रतिमादिकं यस्य यावच्च भुतं त्रयाणां जावु-
 ज्जादीनां स्वस्थाने ये विशेषास्तस्माद्वस्तुनः भुताद्विषेणासादाहा-
 न्त जावः परिणामो व्यवहारस्तादृश उदघटते तदनुसारणं च
 निजैरा ततः पूर्वं भुतचित्तायामर्थचित्तायां तथा जिनानां च य-
 थोत्तरं वलिका निजैराका । तथा चैवमेव व्यवहारनयं प्रति-
 पादाव्यवहारात् ॥

गुणजुद्धे दव्व-म्मि जेण मत्ताहियत्ताणं जावे ।
 इति कृत्यतो इच्छते, ववहारा निज्जरं विवत्ते ॥
 यत् यतो गुणजुद्धे इत्यं ततस्तस्मिन् येन कारणेन माना-
 धिक्यं परिणाम इति अस्मात्कारणात् वस्तुनः प्रतिमाश्रुतादे-
 र्बोधोत्तरं गुणद्विविधत्वं विपुलां निजैरामिच्छति व्यवहारो व्यव-
 हारनयः । परदेव स्थपतरं जावयती ॥

इत्यखणुत्ता पत्तिमा, पासादीया समत्तंकारा ।
 पट्टहायति जह व मणं, तत् निज्जरं मो वियाणाद्वि ॥
 या प्रतिमा लक्षणयुक्ता प्रमादी मन्ःप्रसादकारणं समस्तालं-
 कारा तां परहयतो यथैव मनः प्रहादते तथा निजैरां विजार्नाद्वि
 यथाचित्तं मनःप्रवृत्तिततो महती निजैरा मन्दमनःप्रवृत्ती तु
 मन्वेति भावः ॥

सुयवं अतिमयत्तुतो, सुहोचितो तह वि तवगुणुत्तुषो ।
 जो सो मणप्पसातो, जायइ मो निज्जरं क्कानि ॥

भुतवानेणः अत्राप्येतेकं प्रेदास्तथा अतिशययुक्तं उवध्याचनि-
 श्रायपेताऽप्राप्यवध्यादिविषये बहवस्तरनमविशेषाः सुखोचि-
 तोऽपि तपसि स बाह्याऽन्येते गुणे ज्ञानादी । उच्युक्तनपोगु-
 णोपादन इत्येवं योऽती यादृशो मनःप्रमादो मनःप्रसत्तापरिणा-
 मो जायते स तादृशी निजैरां करोति । तस्माद्वस्तुनां निजैरं
 व्यवहारनयः । तदेवमुक्तं, व्यवहारनयमनम ॥

अधुना निरक्षयनयमतमाह ।

निच्छयतो पुण अप्पे, जसम वत्तुम्मि जायते भावो ।
 तत्तो सो निज्जराओ, जिणगोयमं सीहआद्वहराणं ॥
 निरक्षयतः पुनरुत्थेषु महागुणाः शुभान्तरादीनिगुणेषुऽपि व-
 स्तुनि यस्य जायते तीक्ष्णः बुधो जावस्तस्मात्समाहृणन्परिविषय-
 भावयुक्ताव स इहनिगुणविषयतोऽभ्युन्नभाषो निजैरका महादि-
 ज्जरनरः सद्भावस्यातीव बुधमत्वात् । अत्र जिनगोयम-
 सिद्धे सदाहरणम् । तक्षैवम् " तिबिद्वत्तणे मयवया बद्धमाण-
 सामिणा सीहो निदतो, अयिति करेइत्तुऽग्गेण निदतो हमि-
 ति परिजवतो मांयेणं सारहित्तणं मणुसांसितो मा अधि-
 ति करेइ तुमं पसुसीहो । नरसीधेण मारियस्स तुज्ज को परि-
 धो एथं सो अणुसांसिज्जतो मतो । ततो संसारं भमिक्कण मय-

वतो बद्धमाणसामिस्स चरमित्थगरभावे रागदिदे नयेरे क-
 विद्वस्स धंभणस्स य वहुमां जातो सो अथया समोसरणे प्रा-
 गतो प्रयवंतं दृढण धमधम्मइ । ततो जयवया गोयमसामो प-
 सितो जहा उवसामेह ततो गतो अणुसांसितो य जहा एस
 महएवा तिरथेकरो एयम्मि जो परमिनिवसति सो इग्गइं जाति ।
 एयं सो उवसामितो तस्स दिक्खा गोयमसामीणा विखा ।

एतदेवाह ।

सीहो ति विह्वनिदतो, भांयवं रायगिहं कविलवत्तुग ति ।
 जिणवरकट्टणमणुवमप, गोयमांयम पे दिक्खा य ॥
 महिस्सिपुच्छेन निहतः संसारं प्रमित्या राजगृहे कपिलस्य ब्रा-
 ह्मणस्य वट्टुंऽऽतुत्तु जिनस्य वीरस्य कथने तथाऽपि तस्यानु-
 पनामं गौतमेन वातुशास्त्रेण कृतेऽज्ञेत् उपशमो दीक्षा च । अत्र
 भाग्यद्वेषक्या हीनगुणेषु गौतमे तस्य सुकुरपरिणामो जायते
 इति महती निजैराऽभवदिति ।

संप्रति 'सुत्तस्य' इत्यस्य व्याख्यानमाह ।

सुते अत्ये तदुजए, पुब्बि जणिया जहोत्तरं वत्तिया ।
 मंमत्तिए पुण भयणा, जइ जाणइ तत्थ ज्ञयत्थं ॥

सुत्रे अर्थं तदुजयस्मिन् स्वस्थाननिजैरा पूर्वं यथोत्तरं यत्किञ्च
 वत्तवती जगिति । संप्रति पुनः सुत्रार्थतदुजयेषु गुणप्रवृत्त्य-
 मानेषु यथोत्तरं निजैरा वलवती । संप्रति 'मंमदी' चर्चित्' व्या-
 ख्यानार्थमाह (मंमत्तिए पुण इत्यादि) मणुस्ययां पुनभंजना वि-
 कल्पना यदि जानाति तत्र मणुस्ययां चतुर्थी सद्गतमर्थं तदा
 स महानिजैरकः । इयमत्र भावना मणुस्ययां पठन्ति पाठय-
 न्ति च तत्रावश्यकादि पठनां यथोत्तरं पठन्तो वत्तिकाः । अथ
 जानाति वैद्यावृत्यकरो यथाऽप्यस्तनभ्रुतवाचको ज्ञानादिभिरिगु-
 णैरधिकतरस्ततोऽप्यस्तनभ्रुतपाठकस्य वैद्यावृत्यकरो महती
 निजैरा वदनां मर्थे य उपरितनभ्रुतवाचकः स ज्ञानादिभिरधिक-
 तर इति तद्वैद्यावृत्यकरो महती निजैरा । अथ जानाति वैद्या-
 वृत्यकरो यथाऽप्यस्तनभ्रुतवाचको ज्ञानादिभिरधिकतरस्ततोऽ-
 प्यस्तनभ्रुतवाचकस्य वैद्यावृत्यकरो वत्तवती निजैरा । वाचकमा-
 तीन्द्रिकानां मर्थे यो वाचकस्तद्वैद्यावृत्यकरो महती निजैरा
 अथ वैद्यावृत्यकरो जानत्येव प्रातीन्द्रिक आचार्यां वाचयते
 तन्प्रागुज्ञानमात्रं यावतां मर्थेमन्विच्छयाति सुव्रतोऽर्थतत्त्वा-
 धिकतर इति तदा तस्य प्रातीन्द्रिकस्य वैद्यावृत्यकस्य महती
 निजैरा । इह सुत्रेऽपि तदुजये च यथोत्तरं वत्तवती निजैरैर्युक्तम्
 तत्र यथोत्तरं निजैराया वलवत्यं जावयति ।

अर्था उ परद्विचो, करणेणं पररम देवित्ती ।

अच्छुद्धाणे गुरुमा, रसो थारो य देवी य ॥

इष्टान्तः सुत्राव केशवाव अर्थांश स सुत्रार्थो महाद्विकः किं
 कारणमिति चेत् उच्यते । अत्र कृतकरणेन सुहृदस्य निष्पत्तिः
 इत्यत्र सुत्रार्थः स सुत्रो महाद्विकः सुत्रमणुस्ययामाचार्योऽप्यः
 प्राशुर्षिकप्रभृतीनामप्युत्थाने कुर्वति अर्थमाहृदयां पुनरर्थस्य
 समापि अत्रयुगं भुतवान् तमेकं मुक्याया अर्थस्य दीक्षागुरो-
 रप्युत्थाने चत्वारो मुक्याः प्रायश्चित्तं ततः सुत्रार्थो बर्थायाद्
 अर्थाः राक्षः ज्ञानवाहनस्य याने निर्गमते देवा इष्टान्तः । एष
 गार्थाःऽर्थाः ॥

सांप्रतमेनामय विवरीयुः कृतकरणेन सुहृदस्य
 निष्पत्तिरिति इष्टान्तं भावयति ।

आराहितो नरवती, तिदि उ पुरिसोहं नसि संदिसति ।
 अद्रुषयपुरे सयसहस्र, परं व एणसि दायव्वं ॥
 पट्टग पेत्तूण गतो, उंभियं वितिया उ नःओ उभयं ।
 निष्कन्नगा दोगि तर्हि, सुहापट्टे उ सफसो उ ॥

एकं नरपतिभिः पुण्यैराराधितस्ततः परितुष्टः स नरपति-
 क्तेन प्रत्येन संदिशति । यथा अमुकदुः सुन्दरं मुं कानं सव-
 कं च दीनाराणामियेषां प्रत्येकं दातव्यमिति तत्रेकोऽमुं संदेहं
 पट्टके गृहीत्वा लेखयित्वा गतो द्वितीयः (उषिककां) मुद्रां
 गृहीत्वा गलस्त्वनीय उभयं पट्टके लेखयित्वा गतस्तत्र येन
 पट्टके नद्यातिरेकेण मुद्राप्रतिबिम्बमात्रं गृहीतं तौ ज्ञापयि निष्कस्ये
 जातौ । तथादि ने त्रयोऽपि तत्रगदं गतास्तत्र य आयुक्तस्तस्य
 समीपमुपागतः । पट्टके मुद्रामुनयं च दृशोयन्ति तत्रायुक्तं प्र-
 थमो जणितो मुक्तं न पश्यामि कथं द्यामि द्वितीयो जणितो
 जानामि राक्षो मुक्तं न पुनजानामि राक्षः संदेहं किं दातव्य-
 मिति । एवं तौ निष्कस्ये जातौ यस्य त्तोयस्य मुद्रा पट्टकञ्च
 स सफलस्तस्यायुक्तं यथाहस्तस्यैव एव धत्तान्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ।

एवं पट्टगसरिसं, सुचं अत्तो य उंभियद्वापे ।
 उस्सग्गवावात्थो, उभयसरिच्छेपे तेण वत्तो ॥

पयममुना प्रकारेण पट्टकसदृशं पट्टकस्थानीयं तुल्यं उषिकका
 मुद्रा तस्थानीयोऽयं उस्सग्गवावात्थ उभयसदृशस्तेन उंभिये
 तस्थानयस्य ज्ञावात् ।

संप्रति 'अद्रुषयपुरे गुरुगा' इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

मुत्तस मंकीए, नियमा उट्टति आर्यरियमादी ।
 मुत्तए पवापंतं, न उ अत्ते दिक्खाण गुरुं पि ॥
 नु अमरुत्तयां वाचयन् आचार्यादय आचार्याणामप्याप्रभृतय-
 प्र-पुणकादीनामागच्छन्तं सर्वेषामपि नियमावुत्तन्नि अज्युष्या
 नं कुर्वन्ति अथममरुत्तयां पुनरुपविष्टः सन् यस्य समीपेऽनुयोग-
 ग्ग श्रवस्तनकं प्रयाजयन्ते मुक्त्वा अन्यं दक्षिणगुह्यमपि नान्यु-
 त्तन्नि यद्यज्यात्तन्नि तदा तस्य प्रायश्चित्तं आचार्ये गुरुकाः ।
 आनारांऽपि यथाचार्यं अनज्युत्तष्ट्यन्यत्तन्नि तदा तेषाम-
 पि प्रायश्चित्तं अनुगुरुकं यदि पुनर्यस्य समीपेऽनुयोगे भुतवात्
 तस्य नान्युत्तष्टानं तर्हि तदाऽपि तस्य चतुगुरुकम् । न ह-
 धनो राक्षो देवां तं ज्ञाययति ।

पतिस्त्रीलं करमाणी, नोहिया सातवाहरणं ॥
 पुडवी नाम सा देवी, सो य रुद्धो साहं निरो ॥

राज्ञः शा (भि) तवाहनस्य पृथिवी नाम अथमादिषो अथवा सा
 कृष्ण निरीते राक्षि शेषामिरत्तःपुरिकाःनिर्देवीभिः संपरिष्ठा
 शातवाहनवेषमाधाय राक्ष आस्थानिकायामुपपतिस्त्रीलां विरम्भ-
 मानाऽवनिष्ठते । राजा प्रथमागतः प्रथिष्टस्तस्मिन्प्रदेशे सा च पति-
 स्त्रीलां कुर्वन्ती पृथिवी नाम देवी शातवाहनं राजानमायात्तमपि
 दृष्ट्वा तं नित्यं नस्था अनुष्ठाने शेषा अतिर्देवीनाः-पृथितव-
 न्यस्ततः स नृपो राजा तत्र रुद्ये मृते त्वं तावन्महादेवी ततो म-
 हादेवीत्वेन नान्युत्थिता एताः किं त्वया वारिता यथाऽनुष्ठानम-
 कावुस्त्वतो न सुन्दरमेतदिति ।

ततो एं आह सा देवी, अत्याणीए तवाणहा ।
 दासा वि सापियं एतं, नोहंति आवि पत्थियं ॥

ततो राजोत्पन्नतरं सा पृथिवी नाम देवी राजानमाह ।
 तवास्थानिकायामुपविष्टा दासा अपि नाथाः संपूर्णगुणाः पा-
 थिवमपि स्वामिनागच्छन्तं नान्युत्तिष्ठन्ति तवास्थानिकायाः
 प्रजः व एषैव । तथादि ।

तुंवावि गुरुणो मोरुं, न वि उट्टेमि कस्सड् ।
 न ते लोला कया हंतो, उट्टती हं म नोसितो ॥

त्वमप्यस्यामास्थानिकायामुपविष्टो गुरुज मुक्त्वा नाप्यस्य क-
 स्यापि महीयसोऽनुत्तुष्टसि अहमपि तवास्थानिकायां स्वर्धीयां
 लोलां धरतीं समुपविष्टा ततो न स्वपरिवाराऽप्यपि यथा यदि
 पुनस्ते तव हस्ति न कृता स्यात्ततोऽहमप्युत्तष्टेयमियेषे च राज-
 द्रव्या तापितः । एवमपि तीर्थकस्थानीय आचार्योऽथममरु-
 द्यामुपविष्टः सन् न कस्याप्यन्युत्तष्टे ॥

अमुमवार्थं गौतमवृत्तान्तं उच्यते ।

कहं ते गायमा अत्थ, मोसुं तियगरं सयं ।
 न वि उट्टे अन्नसम, तुगयं चैव गम्पति ॥

न क्लृ भगवत्तं गौतमोऽपि कथयत् स्वकाम्योर्ध्वं तीर्थकरं
 मुक्त्वा अन्यस्य कस्यापि उत्तित्ति अन्वयधानं कृतयान् नृपते
 चरानां सर्वैरपि गम्यते तदनुत्तिं सर्वेभित्थानामनुत्तिं ततोऽ
 यं कथयन् न कस्याप्युत्तष्टे ॥

संप्रति श्रवणविधिमाह ।

सोयन्वे उ विही पुण, अन्नकत्वेवादि होइ नायन्वो ।
 विक्खेवाम्म य दासा, आणादीया मुण्येयन्वा ॥
 आनन्वे पुन्यं विधिद्वयंकाण्दिनेयति ज्ञातव्य आदिशब्दा-
 चिकधादिपरिग्रहस्तद्वाङ्गेषु पुनराज्ञायः । आहानास्थानिका-
 स्थान्यावरात्राकारपत्राणां ज्ञातव्यः । अत्र एवान्युत्थानमपि न
 क्रियते तस्मिन्सति व्याकुषादिस्तथाप्यथा वैतदर्थमेव आणा-
 धाव्यन्ताह ।

काउस्सग्गे विक्खे-वया य चिकहा वि सोतिया पयते ।
 उवणय वाउल्लया य वि, अक्खेवो चैव आहरणं ॥

आरोवणा परवण, उगडं निज्जरा य वाउल्लया ।
 एणाहं कारयोहिं, अक्कुट्टायं तु पभित्तुंहां ॥

अनुयोगारम्भनिमित्तं कायोत्तमं कृते पदैः कारणैरज्युत्थानं
 प्रति कुष्ट निरुद्धतम् । कैः कारणैस्त आह । " विदकेवया च
 इति " व्याकुषादि स्व्याकुषान्धस्य जायः प्रवृत्तितस्य चिन्त्ये-
 व्या-
 कुषे इत्यर्थः । अज्युत्थाने किपमाणे व्याकुषो भवति व्याकुषाच्च
 विकथा चतुर्विधा प्रथमं तत्रवृत्तौ वैदिध्यमेतन्मा विभोत-
 सिका संयमस्थानप्रवृत्तमिति भावः । तस्माज्ज्युत्थानमकुर्दं
 प्रयत्नः शुपुष्यात् प्रयो नाम कृताज्जलिप्रदो दृष्टया खुरिमुखा-
 चिन्दमेवेकमाणं बुज्यपुष्युत्तथाऽज्युत्थाने प्रियमाणं उपन-
 यस्य विषयं व्याकुषना उपनयः कस्याप्यर्थं न क्रियते । उप-
 नयप्रदणमुपकुषणं तेन यद्गृहणं जातं तत् व्याकुषनात् भ्रश्यति
 पुच्छा वा कट्टेभारत्थो विस्मृतिमुपायति कासा वा व्यास्थानस्य
 षट्पथीति । तथा निरस्तमविच्छेदेन प्रायमाणेऽस्य गृहयतो
 महान्याङ्कपस्तीप्रवृत्तपरिणामरूपे जायते अज्युत्थाने च तद्द
 घातस्तथा च सति ह्युपरिणामभावतो योऽवस्थादिक्षामः स-
 प्राव्यते तस्य विनाशोऽप्यर्थं वाहरणं इतं दत्तम् । तथा
 आरोपणायाः प्रायश्चित्तप्रकरणं क्रियमाणं अज्युत्थाने व्याघा-
 तो भवति, व्याघाताच्च सम्यगवग्रहो ग्रहणं न भवति न क्लृ

व्याक्रियेऽवग्रहीतुं शक्येति किं त्वव्याक्रिय इति प्रतीतमेतत् । तथाऽप्युत्थाने क्रियमाणे व्याकुलना ततः सम्पृक्त भुनोपयोगो न भवति तद्वजावाच्यं ज्ञानावस्थीत्यस्य कर्मणो न निजैरा । एतैः कारणैरभ्युत्थानं प्रतिबुध्यते ।

साप्रतमेतदेव शाधद्वयं विचरीषुः प्रथमतः “ काष्ठस्त्वमेव विकल्पेव वा य ” इति प्राचयति ॥

उच्चारियार्ये नंदीए, विकल्पेव गुरुनो च्छे ।

अपसस्थ पसत्थं य, दिदुंतो इरियज्ञावका ॥

अनुयोगारम्भायै कार्यात्मनो कृते नर्थां कृ नपञ्चकृपाया-मुच्चारितायामभ्युत्थानान्वेन वा प्रकारेण यो व्याकृतेपं करोति तस्य प्रायश्चित्तं गुरुको सास्त्वस्त्माह व्याक्षेपो न कश्चन्यः । अत्राप्राशस्ते व्याकृतेपकरणे प्रशस्ते च व्याकृतेपकरणे दृष्टान्ता हस्तिस्रावकाः इस्ती च शालीनां हावकाश्च । तथाप्राशस्ते प्रातःपादयति ॥

जद्द साहिं लुणांतैतो, कोइ अत्यारिपहि उ ।

सेयं हस्तिं तु दावेइ, धाविया ते य भग्गओ ॥

न लूना अह साहंआ, वरखेवेखेव तएण उ ।

वरखेवावरयासं तु, पोरिमीए व जजइ ॥

यथा कौंऽपि कुटुम्बी निजे संघं “अत्यारिपदि तु” ये मूल्य-प्रदानेन शाश्वतवनाय कर्मकराः कृत्रे त्स्त्विप्यते तं आस्तिरकार-भ्यैलावयककथमपि ससाङ्गकप्रतिष्ठितं श्वेतमागव्यहस्तनमागतं व्याहृद्गोपति नद्विहितं च ते इस्तिनोः मर्गनः प्रुष्टो धावियाः । अगमतेरपि इस्तिनो रूपेण त्स्तिरहितरूपं वर्षयद्गुस्तेन व्याकृते-पेणा ते ज्ञानयो न लूना पर्यामहापि अभ्युत्थानेन व्याक्षेपरता-नां पीठवीम्नो जन्वति । व्याख्यानं पुनर्न किमपि याति तस्मात्-तु व्याक्षेपे न विधेयः । प्रशस्तेव्याक्षेपाकरणे दृष्टान्तः स्वयं ज्ञान-न्यः । स चैवं एकः कौटुम्बिकः शाश्विष्ठं ज्ञातयति तस्य सत्कथा दास्या शाश्वि लूनन्या ससाङ्गकप्रतिष्ठितः श्वेतो वनहस्ती वरन् दृष्टो दास्या ज्ञाते यदि शाश्विज्ञावकानां कथाविष्यामि ततो इस्तिनो दृष्ट्वा इस्तिनो रूपेणाक्षिमा इस्तिनो रूपं वर्षयन्त आस्ति-ष्यन्ते एव च इस्ती दिनेऽस्मिन्नथकारो इत्यते ततः शाश्विनें विषयने ददा तु शाश्विः परिपृक्तो लूनोऽनवत तदा सा दास्ती हाः । मर्गनः शाश्विज्ञावकानां चावकधत् तस्तेस्तेकं किं तदा न व शानं तदा दास्ती प्राइ शाश्विज्ञावितव्यव्याधानो जविष्यतीति हेतोस्तत् पश्मुके कौटुम्बिकः परिपृष्टतेन च परिपृष्टेन मस्त-कमहालनतोऽदास्ती कृताः । पर्यामहापि व्याक्षेपो न करणाय-हृत्था च सति जगपदाक्षापरिपावनतः कर्मक्षेपेण शिश्याम-स्तकरथो प्रवर्ति ।

संप्रति विकथादिपदव्याख्यानार्थमाह ।

विकथा चउज्ज्वहा बुत्ता, इंदियेहिं विमोतिपया ।

अंज्ञंतापमहो वेव, दिदं। तुमुत्तवुत्तवपं ॥

विकथा स्त्रीः कथादिनेऽक्षत्तुर्विधोऽपि विभोनासिका इति श्रु-रूपरङ्गमेतत् मनसा वाचा प्रयता अक्षतिप्रमहो गुरोर्मुंश्च इतिरूपपुपुन्ता च ।

उपनयव्याकुलनेति इत्यत्राचयति ।

नस्तते वाउज्जानां मां, अजहा वींनएण्जइ ।

नार्थं वा करणे वा वि, पुच्छाअट्टाव जस्मइ ॥

अभ्युत्थानेनाम्बेन वा व्याकुलनायां स शक्ति उपनयो न-

श्यति विस्मृतिं याति यदि वा व्याकुलनया अभ्युद्योपनीत्येते ज्ञानं वा व्याकरणं वा पुच्छा वा कर्तुमर्था अजहा वा पीरधी-लज्ञणा अग्रयति आक्षेपव्याख्यानार्थमाह ।

भासतो भावतो वावि, तिव्वं से जायमाणसां ।

लंभतो आहिंजंजादीं, जहा मुच्चिंवगो मुणी ॥

निरन्तरमविच्छेदेन भाषकः श्रावको एः एतदविशिष्टस्य ग्राह-नस्ती। असंज्ञातमानसो जानपरमाक्षेपो यद्यभ्युत्थाने व्या-क्षेपो नाभविष्यत ततोऽवधिलाभाद्विकमलक्ष्येन यथा मुच्चि-म्बको मुनिस्तथा मुच्चिम्बक आचार्यः परमकाहीभूते शुभ-ध्याने प्रवृत्तोऽवध्यादिलक्षिमलक्ष्यत यदि तस्य पुष्पमित्रेण ध्यानविघ्नो नाकरिष्यत परं सर्वसाधुसाध्वीप्रभृत्याकुलमभ-वदिति तेन ध्यानव्याधातः कृतः ।

अनुना “ आरोवणा पक्वणेति ” व्याख्यानार्थमाह ।

आरोत्रणमकल्पेवं, दाउं कामो तदिं तु आयरितो ।

वाउलणाए पिट्ठ, उत्थेजुज्जणे न ओगेएइ ।

आरोपणां प्रायश्चित्तं तथायंमपकल्पामाचार्यो वातुकामः प्रक-गयतुकाम इति तात्पर्यार्थः । यद्यभ्युत्थानं करोति ततो व्याकुल-नया शिफटानेन व्याकुलनेन प्रायश्चित्तप्रकृपणा न त्तिष्ठतीति भाव-स्तथा अत्रप्रदत्तुमना अभ्युत्थानेन व्याकुलनानो नावगृह्णाति । एकमो अंगिणएइ, (किंविषंत्तम विस्मृतिं जाइ । इंदपुरे इंदत्तो. अचनुणातेणो य दिदंते ॥

एकप्राः सन् अवगृह्णाति अभ्युत्थानेन पुनर्व्यासिष्यमागस्वा-वगृहीनमपि विस्मृतिं याति कुनोऽनवगृहीताधीवप्रदणधाक्षे-पाश्च विस्मृतिगमने इन्नुपपत्तने इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुता-इ-ष्टान्तस्था च तथा कला अयस्यतां प्रमादाविकथाविष्याक्षेपाश्च किमप्यवगृहीतमभूत् यद्यपि किञ्चिदवगृह्णानं तदपि विस्मृति-मुपगतमत एव ते राधावेषो न कर्षं शक्तिः । तथा अज्जे-स्तनञ्च इष्टान्तस्थाहिं सोऽज्ञेनकस्तेनोऽप्राइदत्तेन सह युष्म-मानो न कथमप्यइदत्तेन पराजंतुं शक्यते ततो निजजायांऽ-तीव रूपवती सतीलकार्यावभूयिता रथस्य तुगडे निवेशिता ततः स्त्रीरुपदर्शनव्याक्षेपात् युद्धकरणे विस्मृतिमुपगतमिति सोऽप्राइदत्तेन विनाशितः । पवमिहापि व्याक्षेपात् भुनोपयोगः प्राणविनाशमाप्नोति ।

एए वेव य दोमा, अचनुट्टाणे वि इतिं नायव्वा ।

नरं अचनुट्टाणं, इमंदिं विदिं कारणेहिं तु ॥

यस्मात् अत्रयं कर्तव्ये व्याक्षेपादिव क्रियमाणेष्वेतेऽनन्तरोका दोगान्तस्माद्व्याक्षेपादिहरितैः धोतयताः । एते एव च व्याक्षे-पादयो रोषा अभ्युत्थानेऽपि क्रियमाणे भवन्ति तस्मादाभ्यु-त्थानमपि न कश्चन्यं नवमभ्युत्थानमभिविधयमाविक्षिभिः कार-णेः कर्तव्यं ताम्येवाह ।

पगयमपणे काले, अजकपगुदेसे अंगमुयसंखे ।

एएहिं कारणेहिं, अचनुट्टाणे तु अजुयांगो ॥

प्रह्ने सदाते तथा काले समाप्ते अभ्ययनोदेशाङ्गुलनस्कन्धेषु वा समाप्तेषु यदि प्राचुर्यंकायागमनं भवति नद्वैतैः कारौरेरभ्यु-त्थानमनुयोगो भवति तत्र कालोऽभ्ययनादिकं च प्रतीते न प्रकृतमिति । कल्पे व्ययहारे च प्रह्नेनप्रतिपादनार्थमाह ।

कपमि दांषि पगया, पत्तंभसुत्तं च मासकृपे य ।

दो चैव य ववहारे, पदमे दक्षमे य जे जणिया ॥

कल्पे कल्पान्धयने द्वे प्रकृते तद्यथा प्रलम्बवृक्षं मासकल्पसूत्रं च ववहारे द्वे प्रकृते ये जणिते प्रथमे आरोग्यसूत्रं दशमे पञ्चविंशत्यवहारसूत्रम् । न कल्पमेतदेव प्रकृतं कित्यम्यदपि तथा चाह ।

पाँदियातो य सन्वातो, चूलियातो तहेव य ।

निपत्तनी कल्पनामस, ववहारस तहेव य ॥

सर्वाः प्रकल्पकल्पविद्यताः पीठिकास्तथा सर्वाञ्छलिकास्तथा कल्पनाम्नो व्यवहारस्य च तथा वैधेति चर्वाहारम्येषां च दश-
वैकालिकप्रभृतीनां च निरुक्तयः प्रकृताः ।

अधैवादेशान्तरमाह ।

आप्तो वि य आएसो, जो रायणितो य तत्य सोयञ्चे ।

अणुओगधम्मपय, किंअम्मं तस्स कायञ्चं ॥

अन्वोऽपि चादेशो प्रान्तरं तत्र श्रोतव्यं यो रत्निको रत्ना-
धिकोऽनुनायक इत्यर्थः तस्य नचामुच्चारितायामनुयोगधम्मं-
तथा कृतिकर्म घन्दनं कर्तव्यम् । तथा ।

केवलिपादो चोदस, दसनवपुक्की य उट्ठणिल्लो उ ।

जे तीहि उखत्तरगा, समाणे अणुक्कं न उट्ठति ॥

अथमपि कथयता समागच्छन् केवलं अभ्युत्थातव्यः । आ-
दिशब्दात् मनःपर्यवहारी अवधिवाची च परिशुद्धे तथा वे-
नेत्यो नवपुर्वधगादिभ्य ऊनरास्त्रीनेवपुर्वधगादिभ्युत्थानी-
बदनथादि कथकां यदि कालिकशुभधारी तर्हि तेनाथमपि क-
थयता नवपुर्वी दशपुर्वी चतुर्दशपुर्वी साऽभ्युत्थातव्यो नवपुर्विया
दशपुर्वी दशपूर्विणा चतुर्दशपुर्वीति । तथा यदि समागच्छन्
समानः समानशुनोऽनुष्णश्च तथा नेतेरेभ्युत्थिष्ठति । तद्वं प्र-
बचने निजरा चेति श्रद्धयै गमम् ।

इदानीं सापेक्षज्ञानमाह ।

सावेकवे निरेकस्ये, गच्छे दिट्ठतागामगमेण ।

राउल्लकज्जनिउत्तं, जह गामेणं कथं समदं ॥

अस्सामिबुच्चियार, पारिपं सदिह्यं व न वि य रक्खंति ।

रक्षाणेत्ते दिहो, मयं न दांसति कज्जेसु ॥

आचार्यस्य शिष्येः प्रातीच्छिकस्य सर्वे कस्येव ते च तथा कु-
र्वन्तः सापेक्षा इत्यन्ते ये तु न कुर्वन्ति ते निरवकासत्र सापे-
क्षे निरपेक्षे च गच्छे ह्यस्तौ प्रामशकटेन तद्यथा एकस्मिन्
ग्रामे आमयकेः पुर्यैः राजकुलकार्यानि युक्तं शकटमेकं कृतं ततो
वचनेन राजकुलनाहायते धान्यं घृतघटादि वा नेतव्यमानेतस्य
वाऽस्मिन् शकटे आरोग्य आनयति नयति वा । तथा मास्य क-
श्चिन्स्वामीत्यस्वामिबुद्ध्याऽऽत्मनोऽपि कार्याणि तेन कुर्वन्ति अ-
स्वामिबुद्धये पतिने शार्दटे तं तथा शकटस्य नापि रक्षन्ति
ततः कश्चिन् गच्छता ज्ञाप्ये । अन्यथा राजकुलेन ते आह्विता धा-
म्यमाययतैः शकटानावाग्मानोने तत आह्वानेऽकारोति तेषां
द्वयः कृतः कार्येषु वा समापतितेषु स्वयं ते न हृद्यन्ते । एव
ह्यस्तः ।

अथमधोपनयः ।

एवं न करेति सीसा, कादिहिति पकिच्छयति काण्ण ।

ते वि य सीसत्त तोतो, हिंरुणपेहादिशुं मिंगो ॥

ववं प्राम्येकदृष्टान्प्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाः करित्यन्ती-

ति मत्वा न कुर्वन्तीति तेषाम् च प्रातीच्छिकाः शिष्याः करित्य-
न्तीति बुद्ध्या न कुर्वते ततः सीदराचार्यैः स्वयं निज्ञामटति
स्वयं बोधकरणपेक्षादिकं विधेयं इति दिग्दन्ते प्रकाश्री च निर-
पेक्षाः शिष्याः प्रातीच्छिकाश्च शकटानियुक्तभूय इव दशदनी-
याः प्रवन्ति विनासां बोधयन्ति ।

अथ सापेक्षे दृष्टान्तमाह ।

साराविंयं जेहिं सगदं रथा ते उकरा य कया ।

इय जे करेति गुरुणो, निजरात्ताभो य किच्चि य ॥

अपरस्मिन् ग्रामे द्वितीयके ग्रामे प्रामेयकेः राजकुलकार्यानि युक्तं
शकटं कृतं तेन राजकीयं धान्यघृतघटाद्यानयन्ति नयन्ति च तत्र
शकटं तैः सम्यक् सारपितं ततो न कदाचिद्वाहजः कृत इति
परिच्छेदं राहता ते उत्कराः कचविहीनाः कृताः । एव दृष्टान्तोऽथम-
धोपनय इति एयमुक्तेन प्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाश्चात्मानु-
प्रहबुद्ध्या ये गुरोः कृत्यं कुर्वन्ति तेषां महान् भूयान् ज्ञानादि-
ज्ञानः काविसिंह गतं सापेक्षज्ञानम् ।

संमति प्रकल्पयच्छेदज्ञानमाह ।

द्वेवे जावे जत्ती, द्वेवे गणियाउ दूति जाराणं ।

जावन्मि सीसवगो, करेति जत्तिं मुयपरस्स ।

आचार्यस्य भक्तौ क्रियमाणार्थो तीर्थस्थावच्छेदो जन्तवाकि-
यमाणार्थो तु तीर्थस्थवच्छेदः सा च जक्रिद्विधा द्वेष्ये भावे च ।
तत्र यस्मान् गणिका भुजङ्गानां जक्रि कुर्वन्ति द्रुतयो वा
जाराणां सा ह्येव द्रव्यभक्तिर्भावे प्रावधिया भक्तिः पुनरिति
यन् शिष्यवतः श्रुतधरस्य भक्तिः करोति । यद्यपि चान्योऽपि
गुरोर्भक्तिं करोति तथापि ममापि निजरा स्वाधिव्यात्मानुप्रहबु-
द्ध्याऽप्येनापि जक्रिः कर्तव्येति बोधार्थे गौतमदृष्टान्तेन प्रावयति ।
जइवि य होइसमाणो, गेहइ सीवांतराणो उठं ।

तह वि य गोयमसामी, पारणए गेहए गुरुणो ॥

यद्यपि च बोधसमानो बोधार्थे कौण्ठान्तरायस्य जगत्तो वर्धमा-
नस्वामिनः स्वैद्योऽग्नेमणीयजन्तादिकं शृणाति । तस्य भग-
वद्वैद्यावृत्त्यकरत्वात् उक्तं च । " धर्मो सो लोहुज्जो कतिक्कमो
पवरतोहसरिवको सस्स जिणो पत्ता तो इण्हए पाण्हिं खुभुं
जे " तथापि गौतमः स्वामी स्वपारणके गुरोर्वर्धमानस्वामिनो
योम्यं शृण्वानि एयमन्वेनापि वैद्यावृत्त्यकरभावे यद्योम्यं गुरोः
कर्तव्यम् । तद्वैव भक्तिर्यावधानाऽधुना तस्यां क्रियमाणार्थां यथा
तीर्थस्थावच्छेदो भवति तथाह ।

गुरुअणुक्पाए पुण, गच्छो अणुक्पितो महाजागो ।

गच्छाणुक्पाए, अण्वोच्चिच्छि कया तित्थे ॥

गुरोरेतुकल्पया अनुभूद्रेण गच्छो महत्तव्यस्यक्तिरेतुकल्पितो
पृथीतो भवति गच्छाणुक्पया चाव्यवच्छिस्तस्तीर्थस्थ ह्यता ।

कह तेण नु होइ कयं, वेयावचचं दसविहं जेण ।

तस्स पत्ता अणुक्-पितो उ वेरो धिरसहावो ॥

कथं तेन दशविधं वैद्यावृत्त्यं कृतं तेन स्वधिर आचार्यैः स्वधिर-
स्वनामोऽनुसुक्तस्य दशविधस्य वैद्यावृत्त्यस्य प्रयोक्तव्यैक-
स्मिणोऽनुसुक्तेऽस्तत्कारणं कृतं तेन दशविधमपि दैद्यावृत्-
त्यप्रकृपणायास्तदधीनत्वादिति भावः । तदव्यवच्छेदोऽपि
प्रावितः अथुना ' भित्तिसेसापंच आयरिय' इति व्याकथयामिति ॥

अथे वि अतिथ जशिया, अतिसेमा पंच होति आयरिप ।
षो अइसस न कीरइ, नयातिचारो असतिसे ॥

अतिशेषाः पञ्च भवन्त्याचार्ये इत्यनेन वचनेनान्येऽप्यतिशयाः
पञ्चार्थतो प्रणिताः सन्ति यः पञ्चानामन्यतराऽप्यन्यस्यानाचार्य-
स्य न क्रियते न च शेषेऽनाचार्ये पञ्चानामिदं कतरस्मिन्नप्यक्रियमा-
णोऽतीचारः । तानिव पञ्चातिशयानाम् ॥

जते पाण्ये धुव्वण, पवंसला इत्थपायसोए प ।

आयरिप आतिसेसा, अण्णातिसेसा अण्णायरिप ॥

इत्थं प्रकमुकुटं पानं मलिनोपरिधावनं प्रोसनेन हस्तपा-
दशौचं च । एते पञ्चातिशेषा अतिशया आचार्ये अनाचार्ये त्व-
नतिशया अनाचार्ये एते न कर्तव्या इति ज्ञायः ।

संप्रति रकादिश्यास्यानार्थमाह ।

कालसहावाणुम्ये, जत्तं पाणं च अच्चिनं खेत्ते ।

मलिनमलिण्णा य जाया, चोलादी तस्म धोवति ॥

यत् कालानुमतं स्वभावाणुकुलं चैतथ्यैः भक्तमाचार्यस्य आदेय-
मिति प्रथमोऽतिशयः । तथा यत् यत्र कुत्रे अर्चितं पानीयं त-
त्संपाद्यमाचार्यस्येति द्वितीयोऽतिशयस्तथा चोलादीनि मलिनम-
लिनानि ज्ञातानि तस्याचार्यस्य प्रकाल्पन्ते किं कारणमिति चे-
दन आह ।

परवादीण्ण अगग्गे, नेव अइवां करिंति सुमेहा ।

जह् अकहिती वि नज्जइ, एस गणीं गुण्णपरिहोणो ॥

यथा परवादिनामगग्गे जयति यथा च गुर्विशैकज्ञाञ्चोक्रोशो-
प्याः अइवानं न कुर्वते यथा चाकथितोऽपि ज्ञानेन एव गणीं
आचार्यस्तथाऽनुग्रहमसौन्दर्यतयपरिहीनो मलिनमलिनवस्त्रप्रका-
शनं कर्तव्यं न च एवं विभूषणोपरमसंकर्यत आह ।

जह उवगरणं सुज्जइ, परिहरमाणो अमु च्चनो माह् ।

तह खमु विमुद्धभावो, विमुक्खासाग प रजोगो ॥

यथा सानुकरणं कर्मोपकरणममुच्छेत्तः सन् परिहरन् परि-
भोगयन् अज्जने न परिग्रहदोषेण शिष्यते अमुच्छिन्त्वात्तथाऽऽ
क्षावोऽपि विमुक्खावाससां परिभोगेन विमुक्खावासः सन् अमुक्ख-
सोति गतस्त्वतीयाऽतिशयः ।

संप्रति प्रशंसनमाह ।

गेषीरो महवितां, अरुनुवगयवच्छो सोवो सोमो ।

विन्धियाकाहुनुपुणो, दाथा य कयानुतो सुयव ॥

स्वतादिगुणोवेओ, पहाणणागतवसंनभावसतो ।

एमाइसत्तगुरुगुण, विकल्पणं संसणानिस्ये ॥

गेषीरोऽपि श्रावो मार्दविनो मार्दोपेतस्तथा अन्नुपगतस्य
शिष्यस्य प्रतीच्छिष्यस्य वत्सलो यथोपनिषत्वास्तस्यकारो तथा
शिषोऽनुपद्वत्तथा सोमः शान्ताकृतिः तथा विस्तीर्णमुकुलोपशो
दाता कृतकः भुवन्त तथा कान्यादिगुणोपेतः प्रथमज्ञानतपः
संयमानामवसथी शुह एवमार्दीनो सनां गुरुणां नाविकथनं
श्लाघनमेवं चतुर्थैः प्रशंसनतिशयः अथवा प्रशंसनस्य फलनात् ।

सगुणुकित्तणए, अइसमादीण्ण चैव पकियाते ।

अवि होज्ज ंसईणं, पुच्छानिगमो द्दिहइवाजो ॥

सद्गुणोक्तौतनार्यां मदती निज्जरा जयति तथा सद्गुणो-
क्तव्य अत्रवादिनां प्रतिपातः कृतो भवति । अवि भवद्वं

मदान गुणो गुणवन्तमाचार्यं भुत्वा बहुनां राजेश्वरत्तयवत्प्रभू-
तीनां पुच्छार्थमतिगमां प्रथति । पुच्छानिमित्तमाचार्यसमीप-
मगच्छन्त आगतान्च धर्मं भुत्वा अगारधर्ममनगरधर्मं वा
प्रतिपद्यन्ते इति द्विविधतामाह ।

पञ्चमातिशयप्रतिपादनार्थमाह ।

कररणनयणदसणा, ईषावयापंचमो ठ अतिसेसो ।

आयरियस्स उ सययं, कायओ होति निययेण ॥

करवरणनयनदशनादिप्रकालने पञ्चमोऽतिशयः सततमा-
चार्यस्य नियमेन ज्ञातं कर्तव्यः । अत्र पर आह ।

मुहनयणदंतपाया-दिधोवणो का गुणो चि ते बुक्को ।

अग्गिमतवाविणपहुया, हाइ अगोतेप्पया चैव ॥

मुक्कनयनपदादिधावनं का गुण इति एता ते बुक्किः स्यात् अ-
त्रोच्यते मुखदःतादिप्रकाशनेनान्नेपटुना जाउरान्निप्रणयत्वं मति-
पटुना वाकरपटुना च नयनवादादिप्रकाशने “ अणोत्तपया ”
अशब्दानुशरिगता भवति । एष गुणो मुख्यादिप्रकाशने एते वा-
दिशयाः पञ्च । उपलक्षणमन्यदपि यथायोगमाचार्यस्य कर्त-
व्यं तथा चाह ॥

अमदस्स जेण जोगाण-गं मंधाणं जह् उ हाइ येरस्स ।

ते तं करीति तस्म ठ, जह् संजोगा न हायति ॥

यथा स्थविश्याशास्त्रस्य सनां येन येन क्रियमाणेन योगानां
सन्धानं भवति तत्तस्याचार्यस्य साधवः कुर्वन्ति तथा (सं)
तस्याचार्यस्य योगं न हायन्ते न हानिसुगच्छन्ति ।

ए ए गुण अतिसेने, उवजीवे न यावि को वि दददेहो ।

निदमिणं एत्थ जवे, अज्जसमुहा य मंगु अ ॥

एतात् पुनरतिशयानु कोऽप्याचार्यां दददेहः सन् नोपजीवित-
यस्वदददेहः संऽज्ञातो ज्ञत्वा उपजर्ज्वति न तु नैरतिशयैर्नै-
कगेति इयं वा मनसि मन्यते । अत्र निदर्शनं प्रत्यक्षसमुद्रां
महन्वाचार्यश्च ।

पनदेष निदर्शनद्वयं भावयति ।

अज्जसमुहा पुव्वल, कतिक्कमा तिपि तस्स कीरंति ।

सुत्तयपारिमिसमु-द्वियाण तदेष तु चरमाए ॥

आर्यसमुद्राः सूर्या दुर्बला दुर्बलशरीरास्ततस्तेऽतिशयाजु-
पजीवितवन्तोऽनुपजीवने योगसंध्याकरमाशांस्तथा च त-
स्य प्रतिदिवसं त्रीणि कृतकर्मणि विश्रामणारूपाणि क्रियन्ते
तथा च सुभ्राथपौरुषीसमुपस्थितानां तृतीयं कृतकर्म चरमा-
यां पौरुष्यामियमत्र भायना सूत्रपौरुषीसमाप्यनन्तरं यावत्क-
थया क्रियते तावत्प्रथमा विश्रामणा द्वितीयाऽप्यपौरुषीसमाप्य-
नन्तरं तृतीया चरमपौरुषीं पर्यन्ते कालप्रतिक्रमणानन्तरम् ।

सद्गुणसमु य तेषिं, दो वेगोदी ठ वीसु धोपेति ।

मंरुस्स न किक्कम्मं, न य र्हीमुं पेप्प किं वि ॥

आडकुलेषु जनेषु नेवामार्यसमुद्राणामाचार्याणां योग्यानि
कुरादीनि द्वितीयाश्चादी माजकार्ही विष्णुकं गृह्यन्ते आर्यमङ्गलः
पुनराचार्यस्य न हानिकर्मं क्रियते मापि तद्योग्यं पौंड्रिककादि
किञ्चिद विष्णुकं मात्रकं गृह्यते किन्तु यदापि आडकुलेष्वपि
प्रकटकुण्डं लभ्यते तदापि गृहीत्वा ज्ञानोत्थयतदगुदे क्रियन्ते
शिष्यगोचरमेव न तुक्कं ती च दास्यन्त्याचार्यां विहरन्तावत्यहा
सौपारिकं गतीं च ह्यौ आधकावेकः शाकटिकोऽप्यरो वैकटिको

वैकटिको नाम सुरासम्भानकारी तौ द्वाविप आचकार्यायसमु-
द्राणां योग्यमनिशायिषैःश्रिक्रमकृत्तकं विष्वक् मात्रकं गृह्यमाण-
कार्यायङ्गानां पुनर्योग्येकस्मिन्नेव पतङ्गेद गृह्यमाणं परदयो दृष्ट्वा-
ऽऽचार्यमङ्गुसमीपमागच्छताम् ।

वैति ततो णं सहा, तुञ्ज वि वीमुं न चेपए कीस ।

तो वैति अज्जमंगु, तुञ्जं विय इत्थ दिट्ठेनां ।।

ततः समीपागमनानन्तरं तौ आचर्यौ ब्रूवाते किन्नायंसमुद्रा-
णांमिषु वृष्णामकमपि विष्वक् प्रायस्यं गृह्यते ततो वृष्व्यायधेम-
ङ्कवः आचार्या अत्रायं ययमेव दृष्टान्तः कथमित्याह ।।

जा जंभी दुव्वज्जा उ, तं तुञ्जे बंधइ प्पयेत्तेण ।

न वि बंधव बलिपाउ, दुव्वलवलिप व कुंभी वि ।।

यद्यौ शाकटिकः या तव भगदौ गन्त्री दुर्घ्नता तां युयं प्रयत्नेन
धनीथ । ततः सा पदंति यां दुं पुनरब्ध्वा वागने तद्वा निनश्य-
ति या पुनर्वेलिका तां लेव धनीथ । बन्धनस्थानंकेणापि तस्या
बहनात् । वैकटिकं प्रति ब्रुवते भो वैकटिक ! या तव कुगर्भी
दुर्घ्नता तां वंशदूर्ध्वैर्वा तत्र मयं संघन्थ या तु वज्रिका कुगर्भी
तस्या बन्धमहृष्याऽपि तत्र संघानं कुरुथ "दुव्वलवलिप व कुंभी
वि " एवं कुरूपपि दुव्वेला वज्रिका च नपदीवत् वकथ्या ।
उक्तो दृष्टान्तः ।

मां प्रतमुपनयमाह ।

एवं अज्जसमुद्रा, दुव्वज्जंभी व संठवयणाए ।

धारेति सरिंरं तु, दालिभंभी सरिसगवयं तु ।।

एवमुक्तेन प्रकारेण दुर्घ्नव्रजगर्भी दुर्घ्नता गन्त्री आसीत्यं शरीरं
संघातयन्त्या धारयति । नेनस्या तनस्तेनां योग्यं विष्वक् मा-
त्रकं गृह्यते ययं तु वज्रिकान्नासिदृशस्तनो न शरीरस्य सं-
स्थापनमाहोक्तमहै ।

निष्पटिकम्मां वि अइ, जोगाए तगमि संघणं काउं ।

नेच्छामि य वितिणंगे, वीमुं इति वैति ते मंगु ।।

निष्पटिकम्माऽपि योगानां संघानं कर्तुं शक्नोति ततो नेच्छामि
द्वितीयं अङ्गं गात्रकं विष्वक् गृह्यमाणमिति ते मरुग्याचार्या ब्रुवते ।

न तरंति येण विणा, अज्जसमुद्रा उ तेष वीसं तु ।

इय अतंससा यारण, सेना प्तेण द्वाइंति ।।

आयंसमुद्राः पुनराचार्यास्तेन विष्वक् प्रायस्यग्रहणेन विना
योगानां सम्भानं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तेन तत्रप्रायोच्यं विष्वक्
गृह्यते एवं शेषानामपि त्व्यस्मान् कारणं प्रतिशेषा प्रतिशया
आचार्ये भयान्न शेषाः पुनः साधयः प्राप्तेन वादयन्ते आत्मनं
यापयन्त गन्सुनीयाऽप्रतिशयः । आचार्याःप्राध्यायस्य वसनेरःत-
र्बदिवो एकाकिंत्वेन वास इति चतुर्थपञ्चमवारानिशयां ।
संप्रति चतुर्थपञ्चमवारानिशयावाह " अंतो उवस्सयस्स एगरायं
या दुव्वयं वा " इत्यदिशङ्कणं (पूर्वोक्तं) विज्ञाथिपुरिद्वि ।।

अंतो बडिं व वीमुं, वसमायं मासियं तु निजसुस्स ।

संजमआयविराहण, सुसे अमुनोदतो होइ ।।

यदि (सिद्धरुपाभयस्यान्तरपथकं विष्वक् वसन्ति यदि वा बहि-
रुपाभयात् शून्यमुहादिषु तदा तस्य प्रायश्चित्तं मालिकं न केव-
न्निमित्तं प्रायश्चित्तं किन्तु शोभात्मानेवाह । अन्तर्बद्धो ह्यन्य-
स्थाने वसतोऽप्युभयोऽप्युक्तकर्म्मद्वयो नवति तद्गवाध्यात्म-
विराधना संघमविराधना च । एतन्मेव ज्ञाधयति ।।

तत्राध्याययोगेण, रदिप कम्मादि मज्जेमे केदो ।

मेरावलंतिया मे, वेद्धानासमादिनेव्वेदा ।।

तस्य ज्ञावस्तज्ञायः पुंयद् इत्यर्थः । तस्मिन्पुण्ययोगस्तेन तद्ज्ञा-
ययोगेन विजित स्थाने च वसंमानः सहापरिहृतो इत्येकम्मा-
दि कुर्यात् एवं संयमे संघमस्य भेदां विगमना । तथा कोऽप्य-
निप्रथमपुंयदोद्यपीहित एवं चिन्त्येत यथा मया मयादां सक-
जजनसमङ्गे गुरुपादसमीपेऽवगम्यन्ना संप्रति चाहमपिपिकि
आसितुं न शक्नोमि तथा निर्घंदात् वैधानसमुत्कलत्रयनमादि-
शुश्रावदस्यद्वा आत्मघानादिकमाचरेत् एषा आत्मविराधना ।
तथा विहरना वा एकाकिन न भ्यातव्यमाह यदि संयमाशिमन-
त्रावस्तनस्तस्य सहाया अपि किं कारयन्ति तत्र ब्राह्म ।।

जइ वि य निगयतावो, तह वि य रक्खिज्जए य होतिं इदिं ।

वंसकदिष्टेो जिन्ने, वि वेणुतो पावए न मडिं ।।

यथापि च म संयमात् निर्गतभावस्थापि सांध्यैऽस्तकम्मादि
विधानसादि वा सनाचरद् रक्ष्यते अत्रयैवं प्रतिवस्तुपमाहाह ।
(वंसक,दिष्टेो) वेणुको यंशो महीं न प्राप्नोति अथैरन्ध्रैर्वै-
शेरपात्तराले स्थासितव्यात् एवं संयमभावानिगतोऽपि शेषमा-
धुनिः सर्वथा पतद् रक्षयते तत्रेति श्लोककम् ।

इदानीं गणवच्छेदकाचार्ययोराह ।।

वीमु वसंतं दत्था, गगिआयरि ए होतिं एमेव ।

सुच्चं पुण कार्गार्यं, निजसुस्स वि कारणे सुखा ।।

विष्वक् दृष्टान्त कारणमन्तरेण गगिनः गणवच्छेदकं आचा-
र्यं च एयमेव निहोतिव प्रायश्चित्तं संघमात्प्रविगमने च भव-
तः । यद्येव तर्हि सुप्रमनवकाशमन आह । सुचं पुनः कारण-
कं कारणमधिकृत्य प्रवृत्तं ततो नानवकाशं न केवलं अथैरन्ध्रैर्वै-
शेरपात्तरालेः कारणे वसनेरन्ध्रैर्विषो वसनमनुहात किं तु नि-
होति कारणं बहिरन्तयो वसन्त्यायुहा ।।

अथ किं तत्कारणं यदधिकृत्य सुचं प्रवृत्तमन आह ।

विजाणं परिबार्मी, पव्वं एए य दंति आयरिया ।।

मासकूपसियाणं, पव्वं पुण होइ मज्जे तु ।।

आचार्याः पर्येण विद्यानां परिपाठार्थं विद्याः परावसंने
इति भावः । अथ एवं किमुच्यते तत आह मासार्कं मासयोःम-
ध्यं पुनः पव्वं भवति । तदेवाह ।

पक्खस्स अचमीं खसु, मासस्स य पक्खियं मुणेएणवं ।

अमा पि होइ पव्वं, उव्वरागो वेदसूराणं ।।

अर्द्धमासस्य पक्षात्मकस्य मध्यमाऽचमी सा खतु पर्यं । मास-
स्य मध्यं पार्थिकं पक्षेण निवृत्तं हातव्यं तद्य कृष्णचतुर्दशीह-
पमवसातव्यं तत्र प्रायो विद्यामास्थोपचारजायान् बहला-
दिका मासा इति यचनाच्च न केवलमेतदेष पव्वं कित्तव्यदपि
पव्वं भवति यत्रोपगोभो प्रहणं चक्रमावृत्तं रेतुषु पव्वेषु विद्या-
साधनप्रवृत्तियेधेवं तत एकाराग्रहणं तत ब्राह्म ।।

चउहसंगोदो होइ, कोइ अइधा वि सोलनिग्गहणं ।

वत्ता तु अणुज्जतो, होइ दुरायं तिरायं वा ।।

कोऽपि विद्याया व्रह्मभूतदृश्यां भवति अथवा योऽवृत्तं
द्रष्टृपक्षमपिदि विद्याया प्रदणमा । किमुत्तं ज्ञानं कोऽपि
विद्याग्रहभूतदृश्यां कृतः कोऽपि प्रतिपदि क्रियत इत्येव
विग्राहवसनमथ च केन दिवसेन व्यकमनुवायामायां वि-

घाया प्रहृतं भवति । छिद्रात्रं विरात्रं वा विषकृ वसनमिति ।
यदुक्तं सूत्रेभिराद्यं तत्र वाशब्दव्याख्यानायैव ।

वासहेण चिरं वि, महपाणादिसु भो उ अत्येजा ।

श्रोत्रविण भरहम्मि, जह राया चकनद्वार्दी ॥

वाशब्देनेदं सूच्यते किंमपि कालं महा (पाना) प्राणा-
दिवु ध्यानेषु स तिष्ठेत् स हि यावत्त्रायापि विशिष्टलाभो भ-
वेति तावच्च निवसेत् ध्यानादेष्व दृष्टान्तमाह । यथा राजा
चक्रवर्त्यद्विरादिशब्दाद्वासुदेवपरिग्रहः (श्रोत्रविण) प्रसाधि-
ते अर्द्धभरते वा न निवसेत्ते यावद्वध्यादिलाभो न भवतीति ।
अथ महाप्राणध्याने कः कियन्ते कालमुत्कर्षतस्तिष्ठतीति
प्रतिपादनायैमाह ।

वारसवामा भरहा—द्विसप्त इत्येव वासुदेवाणं ।

तिष्ठि य मर्कलियस्म, उम्पामा प्रागयज्ञस्म ॥

महाप्राणध्यानमुत्कर्षते वरुताधिपस्य चक्रवर्त्तिनो ह्यदश
वर्षाणि यावत्पद वर्षाणि वासुदेवानां चलदेवानामित्यर्थः ।
श्रीणि वर्षाणि प्रागडलिकस्य धरमासान् यावत्प्राकृतजनस्य ।
जे जत्य अदिगया खदु, अस्तादृक्कवमाइया रम्हा ।
तेसि जरणम्मि ऊणे, भूजति भोए अर्द्धादी ॥
ये “अस्तादृक्कवमाइया” महाभूपत्याद्या यत्राभ्रभर-
णौदी राक्षा अचिहृता व्यापारितास्ते नैषामभ्यादीनां भरणे
ऊने सति भोगान् अदशवादीन् दशवादिरहितान् युञ्जे न तस्य
तथा भोगान् भुञ्जानस्य दशदोऽपराधो वा अघापाय्यभ्यादिभ-
रणभावात् एव दृष्टान्त उक्तः ।

संप्रति दाष्टान्तिकयोऽननामाह ।

इय पुत्रवगयाधीते, बाहुदनायेत्र तम्मि शे पञ्चा ।

पियइ [च व अत्येण, मिणइ [च न दो वि अविहृक्ता ॥
इत्येवममुना दृष्टान्तप्रकारेण पूर्वगतं ऋषीते “बाहुदनायेव”
भद्रबाहुनि च तत् पूर्वगतं पश्चात् महापानध्यानबलेन भिनोति
निःशेषतामेच्छया तावच्च निवर्तते ततश्चिरकालमपि वसति
तस्य न कोऽप्यपराधः प्रायश्चित्तं दशदो वा । संप्रति महापान-
शब्दस्य व्युत्पत्तिमाह पिबतीति वा भिनोतीति वेति ह्यपि
शब्दापेक्षावचिहृदौ तन्वत् एकार्पोवित्यर्थः । नत एव व्य-
त्यभिः पिबति अर्थपदानि यत्र स्थितस्तत् पानं महच्च तत्पानं
च महापानमिति ।

अंतो गणी वा गणो, विकसेवो मा हु होज अग्रमहणं ।

वमनेहं परिकिवत्तो, उ अत्येते कारणे तेहं ॥

अन्तर्गणी गणो वा वाशब्दादयो बहिरिति । इयमत्र भावना ।
यथाचार्यो वसतेरन्तस्तनो गणो बहिरिति अथ गणोऽन्त-
स्तत आचार्यो बहिः किं कारणमाचार्यो गणञ्च विषकृ व-
सति तत आह (विषकृयो) इत्यादि आचार्यस्य विधादिगुणा-
दिवु व्यासोपो मा भून् (अग्रमहणमिति) अयोगानां कर्षपत-
नतो विधादीनामग्रहणं भूयत् पतनाभ्यां कारणार्थ्यां वृषभैः
परिक्षितोऽन्तर्बहिर्बो विषणमाचार्यो वसति । व्य० उ १० ।

आचार्योऽप्याप्यस्य गणे तस अतिशयाः ।

आचार्येणवज्जायस्य एं गर्गमि सत् अइसेसा पम्पुसा
तं जडा आचार्येणवज्जायस्य अंतो उवस्मगस्य पाए निग-
ञ्जिभू २ पफ्फोडेमाणे वा पमजेमाणेवा नाइकमइ एवं

जहा पंचजाले जाव बादि उवस्मगस्य एगरायं वा दुरायं वा
वसमाणे नाइकमइ उवगरणाइसेसे जणपाणइसेसे ॥

एत द्वाभ्यान्तमेति इदमधिकमुपकारातिशयोक्त्येवसाधुभ्यः
सकारान् प्रधानोज्ज्वलवस्त्राद्युपकरणतः उक्तञ्च । “आयरि-
यगिलाकारणं, अस्ता इत्था पुणो वि धोचंति । मा हु गुरुञ्च
अवधो, लोमम्मि अजिरणं इयरेति” ॥ १ ॥ ग्लान्ते इत्यर्थः
भरूपानातिशयोः पुन्यतरभरूपानतेति उक्तञ्च “कसभयोसाय
उ पयसा, परिहाणी जाव कोद्वज्ज्ज्जा ॥ तन्व उ मिउप्यनदं,
जत्य य जं अशियं दोसु” ॥ १ ॥ (कोद्वज्ज्ज्जासि कोद्व-
जाउलये दोसुलि) क्षेत्रकालयोस्ति गुणाभ्येते “सुत्यपि-
रीकरणं, विणुओ गुरुपूय से य बढुमारणे । दाणवइसदुबुद्धी,
बुद्धीबलबद्धं चैव ति” ॥ १ ॥ १ ॥ १ ॥ १ ॥

गणावच्छेदकस्य गणे द्वौ अतिशयो ।

(सूत्रम्) गणावच्छेदस्य गर्गसि एं दो अइसेसा प-
म्पुसा तं जहा गणावच्छेदए अंतो उवस्मगस्य एगरायं वा
दुरायं वा वसमाणे णो अइकमइ ? गणावच्छेदए बादि उ-
वस्मगस्य एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णो अतिकमइ ॥

“ गणावच्छेदस्य गलेसि सं ” इत्यादि गणावच्छेदकस्य
गणे गणमध्ये ह्यतिशयो भवतस्तद्यथा गणावच्छेदक उपा-
श्रयस्यान्तः एकरात्रं वा छिद्रात्रं वा वसन नातिक्रामति ना-
नीचारमागभवति तथा गणावच्छेदको धृष्टिरुपाध्यादिकरा-
त्रं वा छिद्रात्रं वा वसन नातिक्रामति । एतौ च द्वावप्यतिश-
यां सूत्रोक्तौ गणावच्छेदकस्य द्रष्टव्यौ यां नियमादन्वयायौ भ-
वित्येति यः पुनर्गणावच्छेदकस्य वसनेना अन्वयैवपदस्यानर्ह-
स्येतीति ह्यतिशयतिशयं न करणेते । भाष्यम् ।

पंचेते अतिसेसा, आयरिष ह्येति दांमि उ गणिसस ।

भिसखुस्स कारणाम्मि उ, अतिसेसा पंच वा जणिया ॥
एत अनन्तरसूत्रेद्विताः पञ्जातिशया आचार्यं भवन्ति । द्वौ ग-
णितो गणावच्छेदकस्य त्रिकोः पुनः कारणेऽप्यतिशया भवि-
ताः । एतदेवाह ।

जे सत्ते अतिसेसा, आयरिष अत्यतो व जे जणिया ।

ते कजे जयसेवो, भिसक् वि न वाउरमी जवति ॥

येऽतिशयो आचार्यसूत्रे साक्षाद्विहितता ये चाप्ये पश्चाद्येते
भवितास्तान् दशप्यतिशयाश्च कार्ये कारणे समागते । “कञ्जात
ता कारणंति वा एगडमिनि” वचनात् (अयस्येतीति) यतनया
सेवमानो भिखुरपि न वकुशत्यदोषेण गृह्यते इति भावः किं त-
न्कार्यमत आह ।

बालासहमद्वतरंते, सुव्वादि पप इहिउहं वा ।

दस वि भइयाविमंसा, निखखुस्स जहकमं कजे ॥

बालसहमद्वतरंते स्नानं शुचिवादिनं क्रमद्विचूढं वा प्राप्य
दशप्यतिशयो त्रिकोः कार्ये समापतिते यथाक्रमे प्रजिता चिक-
ल्पिता भयन्तीति भावः तथा हि धात्वस्य हस्तपादाद्वाः प्रकृत्य-
न्ते अन्वये वातिशया यथासंज्ञवं क्रियन्ते तथा असदो नामास-
म्यंस्तस्यापि यथाप्रयोगमतिशयाः क्रियन्ते । तथाऽन्वये स्नानं
शुचिवादी शौचप्रधानः शिष्यः क्रमद्विचूढो राजादिः प्रजित इ-
त्येवमपि दशप्यतिशया यथायोगं विधेयाः । व्य० ६ उ० ।
(जिनकदिपकस्य दौ अतिशयो) “जुविहो तेसि” (जिनक-

विपकानाम्) "अससो भोगाससो सरीराससो य । ज्ञाना-
 ससो भोहि , मण्यज्जससुत्तय तज्जयं च । तिष्ठती भवि-
 षससो, सारीरा इति अससेसु" पं० वृ० ॥ (तीर्थकृतः व-
 त्सारः मुलातिशयोः) "अपायवर्णमातिशयोः कानातिशयः पूजा-
 तिशयोः वा गतिशयश्च" पं० वृ० । २०। स्या० । नं ।

बुद्धस्य (तीर्थकृतः) चतुष्क्रियतिशयोः ।

चोर्त्तमि बुद्धासेसा पण्यथा तं जहा अब्बद्विषेकेसमं-
 दुरोमनहे ? निरामया निरुब्लेधा गायलही १ गोकस्तीर
 पंदुरे मंससोषिण ३ पमुपुल्लगंधिण उस्तामनिस्सासे ४
 पच्छभे आहारनीहारे अदिस्से मंसचकुण्णा ५ आगा-
 सगयं चकं ६ आगासगयं उच्चं ७ आगासगयात्रो सेय-
 वरचामराभो ८ आगासफालियामयं सपायपीढं मीढा-
 सणं ९ आगासगओ कुम्भीसद्वस्सपरिमंभियाजिरामो
 इंदक्कओ पुरओ गच्छ १० जत्य जत्य वि य एं अर-
 हंता जगन्ता चिद्धंति वा निसीयंति वा तत्य तत्य वि
 य एं तवत्सणादेव सच्छभपपुष्पपुष्पवसमाउलो सच्छत्तो
 सच्छओ सघंठो सपदागो अमोगवरपायंवे आभिसंजाय ५
 ? ? ईसिं पिट्टओ मउरुड्डाणम्मि तेयपदलं आभिसंजाय ५
 अंधकारे वि य एं दस दिसाओ पजासेइ ? १ बहुसमर-
 णिज्जे भूमिजागे ? ? अहोसिरा कंठया जायंति १४ उज्ज
 विवरीया सुहफासा भवति १४ सयिल्लेणं सुहफासेणं सु-
 रजिणा मारुएणं जोयणपरिमंरुलं सव्वओ सयता संपम-
 जिज्ज १६ जुत्तकुमिणं मेहेण य निहययररेणु पकि-
 ज्जइ १७ जलथलयमाधुरपजतेणं विट्टावियदसक्कवन्नं
 कुमुभंणं जाणुसेहपणामिणे पुष्पावयारे किज्जइ १८
 अयाणुआणं सद्धफरिसरसुवंगंधाणं अब्बकरिसो भवइ
 यणुआणं सद्धफरिसरसुवंगंधाणं पाउव्वाओ जवइ १९
 उज्जओ पासिं च एं अरहंताणं जगन्ताणं दुवे जक्खा
 करुगनुदियथंभियज्जया चापरुक्खेवणं करंति २० पञ्चा-
 ह्दओ वि य एं द्विययामणंओ जोयणनीहारी सरो २ ?
 भगवं च एं अद्दभागहीए जासाए धम्ममाइवत्सइ २१ सा
 वि य एं अद्दभागही जासा जासिज्जभाणी तेसिं सव्वेसिं
 आरियमणारियाणं दुपयचउपयमियमपुपक्खिसरीसि-
 बाणं अण्ययोो हियसिचसुहदाए जासत्ताए परिणमइ २३
 पुव्ववुद्धावो वि य एं देवासुरनागमुव्वमजक्खरक्खससफि-
 नरकिपुरिसारुग्गंधंभवमहोरागा अरइओ पायभूले पसंत-
 चिचमाणसा धम्मं निसामंति २४ अन्नतिवियपावयणिया
 वि य समागया ईदंति २५ आगया समाणा अरइओ
 पायभूले निपण्ढिवषणा इवंति २६ जन्मो जन्मो वि य एं
 अरइंतां भगवंतो विरहंति तओ तओ वि य णं जोयण-
 पणवीसाएणं ईती न जवइ २७ मारी न जवइ २८ सच-
 कं न जवइ २९ परचकं न जवइ ३० अइनुड्डी न भवइ ३ ?

आणानुड्डी न भवइ ३२ दुग्धिक्खं न भवइ ३३ पुव्वुप्यथा
 वि य एं उप्पाइया वाही सिप्पामेव उवसमंति ३४ । स. ३। ३९
 अब चतुस्त्रिंशत्समस्थानकं किमपि शिष्यतः (बुद्धासेससि)
 बुधानां तीर्थकृततामत्यतिशयोः अतिशयोः बुद्धातिशयोः अ-
 स्थितमवृत्तिस्वभावं केशाश्च शिरोःकाः स्मभूमि च कूर्चरोमाणि
 च शेषशरीरसोमामि नकाश्च प्रतीता इति द्रष्टृकल्पमित्येकः १
 निरामया नीरोगा निरुपशेया निर्महा नाशयद्विस्तृतजुहतेति द्विती-
 यः २ गोहोरीपापदुरं मांसशोणितमिति तृतीयः ३ तथा पक्षं च
 कमर्षं गन्धद्रव्यविशेषो वा वायुचक्रमिति कदमुपयं च नीलो-
 त्रयमुपलक्षुटं वा गन्धद्रव्यविशेषस्तयोर्गो गन्धः स यत्रास्ति
 तत्तयोच्चासनिःश्वासमिति चतुर्थः ४ प्रच्छन्नमाहारनिर्हारश्च
 अन्वयहरणमूर्धपुरीतोस्तर्गौ प्रच्छन्नत्वमेव स्फुटतरभाह अहरयं
 मांसचक्षुषा न पुनरवध्यादिलोचनेन इति पञ्चमः ५ पण्यति-
 यादिचक्रमतिशयचतुर्षु जन्मप्रत्ययः । आकाशके चकं यष्टु तथा
 आकाशगतं ध्यामवातं आकाशके वा प्राकाशमित्येकः चकं धर्म-
 चक्रमिति षष्ठः ६ आकाशके उग्रमिति सप्तमः पयमाकाशयं उग्रं
 उग्रप्रवर्तित्येकः ७ आकाशके प्रकाशे श्वेतपरचामारे प्रकाशके
 इत्यष्टमः ८ (अजासफालियामयलि) आकाशमिच यदन्व-
 मन्त्वं स्फटिकं तन्मयं सिंहासनं सहपादपीठमिति नवमः ९
 (आगासगओसि) आकासगतोभयर्थं तुष्टिमित्यर्थः कुड्डि-
 तिज्ञपुपताकाः संभाव्यन्ते नस्तहस्रैः परिमण्डितश्चासावभि-
 रामश्चानिराण्णीय इति विग्रहः (इंदक्कओसि) दोषव्यथापि-
 कृयाप्रतिमहत्वादिन्द्रियासौ ध्वजश्च इन्द्रश्च इति (पुरओसि)
 जिनस्याप्रतो गच्छन्तीति दशमः १० " चिद्धंति वा निसीयांति
 वेत्ति " तिष्ठन्ति गतिनिवृत्त्या निषीदन्त्युपविश्याति (तक्खणा-
 देवांसि) तत्कण्ठमवाकाशदीर्घमिति पन्थः सविश्र इति चक-
 ष्यं प्राकृतत्वात् संकृष्यत इत्युक्तं स चासौ पुष्पपुष्पवसमाकुञ्ज-
 ओति विग्रहः पण्यथा बहुकृतः सत्पञ्चः सत्पञ्चः सघटतः सघटा-
 ऽशोकवरपादप इत्येकादशः ११ (ईसिंति) ईश्वरत्वं (पिट्टओसि)
 पुष्टतः पञ्चाङ्गागे (अउरुड्डाणमिति) मस्तकप्रदेशे तेजांसमयुक्तं
 प्रमापटसमिति द्वादशः १२ बहुसमरमणीयो नृमिभाग इति त्रयो-
 दशः १३ (अहोसिरसि) अयोमुखाः करटका भवन्तीति चतु-
 र्दशः १४ अतया विपरीताः कथमित्याह । सुखस्पर्शा यवन्तीति
 पञ्चदशः १५ योजनं यावत् श्लेषशुद्धिः संबतकवातेनेति षोडशः
 १६ (जुत्तकुमिणसि) उचितविदुषापतेति (निहययररे-
 षुयंति) वातोत्क्रातमाकाशवर्ति रजो भूवर्ती तु रेखुयति ग-
 न्धोदकवर्षीसिधानः सप्तदशः १७ जलव्यलं यद्वास्वरं प्र-
 भूतं च कुसुमं तेन वृन्तस्थापिता ऊर्ध्वमुत्केन दशाईवणं प-
 ष्ववर्णैर्न जातुनोदसिधस्य उच्चत्वस्य यत्तमाणं वयस्य स
 जानुसेधप्रमाणमात्रः पुष्पोपचाराः पुष्पप्रकर इत्यष्टादशः १८
 तथा (कालाणुववक्कुत्तुक्कतुक्कधूममघंतंणंपुज्यायामि-
 रामि भवइसि) कालाणुववक्क गन्धद्रव्यविशेषः प्रवरकुण्डलक-
 षी च्छीडामिधानं गन्धद्रव्यं तुक्कं च शिष्टकामिधानं गन्ध-
 द्रव्यमिति द्रष्टव्यस्त एतन्नक्षत्रो यो धूपस्तस्य प्रथमध्यायमा-
 नो बहुलसौरभ्यो यो गन्ध उदत्त उद्भूतस्तेनामिराममभि-
 रमणीयं यत्तत्तथा स्थानं निषीदन्स्थानमिति । प्रकरं हत्येको
 नविश्रयितमः १९ तथा उभयोः "पासिं च " अरहंताणं भग-
 वंताणं पुवे जक्खा कइयनुदियथंभियमुया चापरुक्खेवणं क-
 रंति " कटकानि प्रकोट्टामरुक्खिषेवास्फुटितानि बाहामर-
 ष्विशेषोत्सरीरवद्व्युत्केन स्तम्भिताथिव स्तम्भितौ भुजौ यथो-

स्त्री तथा यक्षी देवाविति विश्रितितमः २० बृहद्वाचनायामन-
न्परोहमतिशयद्वयं नाधोयते अनस्तस्यै पूर्वंऽप्यदशैव अम-
नोहानां शब्दादीनामपकर्मोऽभाव इत्येकोविश्रितितमः १६ म-
नोहानां प्रादुर्भाव इति विश्रितितमः २० (पव्याहरभोक्ति) प्रप्या-
हरतो व्याकुर्वतो भगवतः (हिययगमणीउक्ति) हृदयङ्गमः (जो-
यणनीहारीस्ति) शोचनान्तर्गतौ स्वर् इत्येकविश्रितः २१ (अद्यमा-
गदीयति) प्रादुर्भावानां यथा भाषाविशेषाणां भये या मागयी ना-
म भाषा 'रसोलसौ' भाषाध्यामिवादिक्षणवती सा असमा-
भितस्वकीयसमप्रलक्षणेऽर्थाधीन्युच्यते तथा धर्ममाख्याति
तस्या पयातिकोमलत्यादिति द्वाविश्रितः २२ (भासिज्जमाणीस्ति)
भगवताऽभिधीयमाना (आरियमणारियाणंति) आर्योनायेंद-
शोत्पन्नानां द्विपदा मनुष्याभ्यनुपदा गवाद्यः सुगा आदय्याः
पशवो प्राण्याः पक्षिणः प्रमीताः सर्पसृष्या उरःपरिसर्प्या भुजप-
रिसर्प्योऽपि तेषां किमानम आरामत्या शास्त्रीयव्यर्थेभ्यः भाषा
तथा भाषाभावेन परिणमतीति संबन्धः । कि भूताऽसौ भा-
वेण हितमभ्युद्यः शिवं मोक्षः सुखं धन्यकालोऽन्यमा-
नन्दं ददातीति हिनशिवसुखेदिति त्रयोविश्रितः २३ पूर्वं अया-
न्तरेऽनादिकाले वा जातिप्रत्ययबद्धं निकाचितं धैरममित्रभा-
को येषां ते तथा तऽपि च क्षान्तां मध्ये देवा वैमानिका अ-
सुरा नागाश्च भवनपतिविशेषाः सुधर्माः शोभनवर्गा एते
च ज्योतिष्का यस्त्राक्षसकिन्नराः किपुरगाः व्यन्तरभेदाः ग-
रुडागण्डलाच्छुक्तत्वात् सुपणैकुमाग भवनपतिविशेषाः ग-
न्धर्वा महोरगाश्च व्यन्तरविशेषा एव एतेषां ङङ्कः (पसंत-
चित्तमाणसति) प्रशान्तानि समङ्कानि चिन्ताणि रागद्वेषा-
धनैकविधाधिकारयुक्ततया विविधानि मानसान्यन्तःकरण-
नि येषां ते प्रशान्तचित्तमानसा धर्मं निशामयन्ति इति चतु-
विश्रितः २४ ब्रुचवाद्यतया इदमन्यदातिशयप्रथमधोयते यदुत अ-
न्यनीधिकप्रावचनिका अपि च शं वन्दन्तो भवन्त्वमिति ग-
म्यन्ते इति पञ्चविश्रितः २५ आगताः सन्तोऽदितः पादमूले नि-
ष्पतिवचना भवन्ति इति षड्विश्रितः २६ (जञ्जो जञ्जो वि य-
णंति) यत्र यथापि च देशे (तत्रो तत्रो स्ति) तत्र तथाऽ-
पि च पञ्चविश्रितयो जनेषु इतिव्योच्यायुपद्रवकारि प्रचुरमे-
षकादिप्राणिण एति सप्तविश्रितः २७ मारिजनेमकार इत्यष्टा-
विश्रितः २८ स्वचक्रं स्वकीयराजसैवं तदुपद्रवकारि न भव-
तीति एकोनविश्रितः २९ एवं परचक्रं परराजसैवमिति त्रिंशः
३० अतिवृष्टिप्राधिकरणं इत्येकविश्रितः ३१ अनावृष्टिवर्षणामाव
इति द्वाविश्रितः ३२ दुर्भिक्षं दुष्काल इति त्रयोविश्रितः ३३ (उष्णा-
श्वावाहति) उष्णता अतिप्रदुष्कता कथिरश्मिप्राद्यद्वस्तके-
नुका येऽनयोस्ते श्रीगणितिकास्तया व्यापयो ज्वरघटास्तु-
पशयोऽभाव इति चतुर्विंशतमः ३४ अन्वष्ट " पव्याहरभो " इ-
त आरभ्य येऽभिहितस्तस्ते प्रथममण्डलं च कर्मस्युहताः
शेषा भवप्रत्ययेभ्योऽप्ये देवकृता इति एते च यदन्यथाऽपि
हृदयन्ते तन्मानान्तरमेव मन्तव्यमिति सप्त० ३५ स० (हृदमश्च नि-
गमनं चत्वारो जन्मप्रवृत्तित एकोनविश्रितः देवकृताः एका-
दश घातिकर्मणां कृपाङ्गवन्तीति चतुर्विंशदतिश्रिताः उक्ताः
दशोऽ) । सत्यवचनस्य पञ्चसिद्धतिश्रिताः ।

पद्यांतीं स सचचययाइसेसापण्णवा ।

पञ्चत्रिंशत् क्षानक्तं सुगमं नवरं सत्यवचनतिशया आगमेन
दृष्टा एते तु प्रथान्तरे दृष्टाः संनाशितवचनं हि गुणयद्बद्धं
तद्यथा संस्कारवत् १ उदात्तं २ उपचारोपेतं ३ गम्भीरशब्दं ४
अनुनादि ५ दक्षिणम् ६ उपनीतरागं ७ महायं ८ अन्वाहतपौ-

र्षोपर्यं ९ शिष्टम् १० असंदिग्धम् ११ अपहृतान्योत्तरम् १२
हृदयप्राप्ति १३ देशकाशाव्ययोनम् १४ तत्पानुपकम् १५ क्षम-
कांक्षं प्रसूनम् १६ अन्योऽन्यप्रवृत्तीतम् १७ अभिजातम् १८
अतिस्निग्धमधुरम् १९ अपरमविद्यम् २० अर्थमार्थन्यासा-
नपेतम् २१ उदारम् २२ परनिन्दाभोक्तृवर्षप्रयुक्तम् २३ उपग-
तश्रायम् २४ अनपनीतम् २५ उपादिताच्छिकीतहृदयम् २६
अद्भुतम् २७ अनतिविश्रितम् २८ अन्वष्टविक्षेपकिलिकिञ्चि-
त्विमुक्तम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रम् ३० आदिश्रितिशे-
षम् ३१ साकारम् ३२ सत्यपरिग्रहम् ३३ अपरिखेदितम् ३४
अनुव्येष्टम् ३५ चेतिवचनम् महानुजाविषैकव्यमिति । तत्र
संस्कारवत्वं संस्कृतादिद्वकणयुक्तवत् । उदात्तत्वमुपवृत्तिना २
उपचारोपेतत्वमप्रम्यता ३ गम्भीरशब्दं मेघस्येव ४ अनुनादित्वं
प्रतिव्योपेतना ५ दक्षिणत्वं सरलत्वं ६ उपनीतरागत्वं मार-
कांशादिप्राभरगयुक्तता ७ पने सते शब्दोपेक्षा प्रतिश्रिताः ।
अये त्वयोश्चर्यास्त्रम महाधैत्यम् बृहदभियेधम् ८ अन्वष्टा-
पौर्षोपर्यन्तम् पुनर्वराव्याप्यविशेषः ९ शिष्टत्वम् अभिमत-
सिधात्ताकार्यता वक्तुः शिष्टतास्त्वकत्वं वा १० असंदिग्धत्वम्
असंशयकारिता ११ अपहृतान्योत्तरत्वम् परदूषणाविययता १२
हृदयप्राहित्वम् आंतुमनोहरता १३ देशकालाध्यतीतत्वम् प्रस्ता-
वाचिन्ता १४ तत्पानुपकत्वम् विवक्षितवस्तुस्वकपानुसारिता
१५ अप्रकीर्णप्रसूनत्वम् सुमेधमध्यस्थ सतः प्रसरणम् अधथाऽ
संबद्धाधिकारिणातिविस्तररातावः १६ अन्वष्टाप्रप्रवृत्तीतत्वम्
परस्परेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षता १७ अभिजातत्वं
वज्रःप्रतिपाद्यस्येव दुर्मिकानुसारिता १८ अतिस्निग्धमधुरत्वम्
पुननुगादिपुन सुखकारित्वम् १९ अपरममेवोपेधत्वम् परममा-
नुद्वेष्टनस्यकत्वम् २० अर्थमार्थन्यासानपेतत्वम् अर्थधर्मनि-
बद्धत्वम् २१ उदारत्वम् अभिधियायैस्यातुच्छत्वमुक्तं गुणवि-
शेषं वा २२ परनिन्दाभोक्तृवर्षप्रयुक्तत्वाति प्रतीकमेव २३
उपगतश्रायत्वम् उक्तगुणयोगात् प्राप्तश्रायता २४ अनपनीत-
त्वम् कारककालवचनविद्वारिद्व्यप्यरूपवचनदोषापेतता २५
वत्यादिनाच्छिकीतहृदयत्वम् स्वविषये भोक्तृणां जनितमार्वाच्छि-
कांतुं येन तत्पदा तद्भावस्तत्त्वम् २६ अद्भुतत्वमनानिवाशि-
तत्वं च प्रतीतम् २७—२८ विचित्रमार्वाच्छिकीतकिलिकिञ्चि-
त्विमुक्तत्वम् विचित्रं वक्तुमनसो ज्ञानता विकेपस्त्येवार्थभिधया
प्रत्यनासकता किञ्चिच्छिन्नं रायमर्यादिव्यापदिज्ञानानां युग-
पदा सह करणमार्दिशब्दन्मनोदोषान्तरपरिग्रहस्तीव्रमुक्तं यत्त-
त्पदा तद्भावस्तत्त्वम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रत्वम् इह
जातयो वर्जनीयवस्तुरुपवर्णनानि ३० आदिश्रितिशेषत्वम् च-
नान्तरावपेक्षया दीर्घकतिशयोपता ३१ साकारत्वम् विच्छिन्नव्य-
पदाव्याप्येनकाराव्ययत्वं ३२ सत्यपरिग्रहीतयांसा ३३ सोपेतता
३३ अपरिखेदितत्वम् अन्यायासंसनः ३४ अनुव्येष्टित्वं विच-
क्रितायैसम्बद्धासिद्धिः यावदवच्छिन्नवचनप्रमेयतेत ३५ सप्त० ।

सुत्रार्थावतिशयाः ।

सुत्तये अइसेसा, सामाथारी य विज्जजोगाइ ।

विज्जजोगाइ सुप, विमंति बुविह्वा अओ हॉति ॥

इहातिशयास्त्रियस्तद्यथा सुत्रार्थातिशयाः सामाचार्यति-
शयाः विद्या योगा आदिशब्दात्काम्येति प्रयोऽतिशयास्त्रि-
विद्या खोद्वनपठिता पुत्रैस्सेवादिप्रकीर्णतया च योगाः
पादत्रेपप्रवृत्तयो गगनगमनादिकक्षाः । मन्त्राः पुरुषदेवताः,

पंजितसिद्धा वा । यथा विद्या यागाद्यश्चान्नाश्रय इते एवं विश्रान्ति अन्तर्भवति अतो द्विविधा अतिशयाः भवन्ति तत्र स्वार्थातिशयाः सामान्यार्थतिशयाश्चेत्येवामतिशयानामुपलब्धिः प्रवाचनार्थपर्युपासनया भवति वृ० १ इ० । अत्र-
 प्यादौ, औ० । कर्मणि प्रत्ययः अतिक्रान्ते, आ० ४ द्रा० १ उ०
 अतिशोष्यते कर्मणि चञ् । स्वल्पाऽवशिष्टे; वाच० ।
 अइसेसइङ्गि-अतिशोषञि-पुं० अतिशेषा अत्रधिमानःपर्याय-
 ज्ञानामर्षीषध्यादयोऽतिशयास्ते तैर्वा अक्रियेयस्याऽसौ अतिशो-
 षञिः । प्रथमे प्रवचनप्रावकं, प्रथ० १४ द्रा० । नि० च० । द्वा०
 अइसेमपत्त-अतिशेषमाप्त-त्रि० आमर्षीषध्यादिलोः प्राप्ते,
 कल्प० ॥

अइसेसपट्टत्त-अतिशेषमजुत्त्वं-न० अतिशयप्रभुत्वे, व्य० ६ उ० ।
 अइसंसि (नृ) -अतिशोषिन्-त्रि० स्फातं, भ्रा० ४ ।
 अइसंसिध-अतिशोषित-त्रि० अतिशयिते, व्य० ६ उ० ।

अइ (ति) द्वि-अतिधि-पुं० न विद्यन्ते सततप्रवृत्त्या विश-
 द्वाकाकाराऽनुष्ठानतया तिथयो दिनविभागा यस्य सोऽतिधिः
 " तिथिपयोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना । अतिपि तं
 विज्ञानोयाच्छेषमभ्यागतं विदुरित्युक्लक्षणे (घ० २ अधि०)
 तिथिपर्वविलीकिकव्यवहारपरिचयके भोजनकालोपस्था-
 यिति मित्तुविशेषे, घ० २ अधि० । आच० । भा० । आनु० ।
 प्रति० । आवा० । आगन्तुके, अ० ११ शु० ६ उ० ।

अइ (ति) हिपुत्रा-अतिथिपुत्रा-स्त्री० ६ त० आहारादि-
 दानेनातिथेः सत्कारलक्षणेषु सोकोपचारविनयभेदे, दृ० ५
 अ० " बलिचरस्सदेवं करेद्वा अतिहिपुत्रं करेद् करेद्वा
 तन्नो पश्चाद्वा अन्पणा आहारात्प्रादरः" अ० १ शु० ६ उ० । नि०
 अइ (ति) द्विचन्न-अतिथिचन्न-न० अतिथेः शक्यपुत्रपत्नये,
 आचा० १ शु० २ अ० २ उ० । प्रति० ।

अइ (ति) द्विम-अतिद्विम-न० अतिशयितहिमे, पिं० ।
 अइ (ति) द्विवर्णीया-अतिधिवर्नीपक-पुं० अतिधिया-
 भित्य वनीपकः । अतिथिदानप्रशंसनेन तद्रक्षात् लिप्प्यमाने
 वाचकभेदे, स्या० ४ उ० ।

सांप्रतमतिधिमहानां पुरतोऽतिथिप्रशंसापक वनीपकत्वं
 यथा साधुर्विदधाति तथा इत्येव कृतिः ।
 पाएण देइ लोमो, उवगारिसु परिनिपट्ट कुसि व ।
 जो पुण अच्चासिबं, अतिधि पूइ तं दायां ॥

इह प्रायेण लोक उपकारिषु यद्वा परिचितेषु यदि वा अशु-
 चिते आहिते ददाति भ्रूह्नादि यः पुनरश्विभ्रममतिधिं पूज-
 यति तदेषं जगति दानं प्रधानमिति शेषः । पिं० । नि० चू० ।

अइ (ति) द्विसंविनाग-अतिधिसंविनाग-पुं० तिथिपर्व-
 विलीकिकव्यवहारत्यागाद् भोजनकालोपस्थायां भावक-
 स्यातिथिः साधुक्लृप्यते तस्य संगते निर्दोषो न्यायागतानां
 कल्पनीयाश्चानामर्षीनां देशकालभ्रष्टासत्कारकमप्युक्तः पश्चा-
 र्त्कर्माविशेषपरिहारेण विशिष्टो भाग आत्मानुग्रहवृक्षा दान-
 मतिधिसंविनागः । यथा संविनागपरत्नमकेः चतुर्थे शिष्टा-
 व्रते, च० ३ अधि० (तस्य च)
 अतिहिसंविनागो नाम नायागपार्ष्णं कृष्णगिउजाणं अन्नं

पाण्डिणं दृवाणं देसकाससद्भासकारकमनुत्तं पराए
 भर्त्तिए आयागुगइवृष्त्तिए संजयाणं दाणं ॥

नामशब्दः पूर्ववत् न्यायागतानामिति न्यायो द्विजसृष्टिविध-
 द्युद्राणां स्वल्पाऽनुष्ठानं स्ववृत्तिश्च प्रसिद्धे च प्रायो लोकव्यव-
 हार्या तेन तादृश न्यायेनागतानां प्रासानामनेनान्यायेनाग-
 तानां प्रतिषेधमाह । कल्पनीयानामित्युद्गमादिदोषवर्जिताना-
 मनेनाकल्पनीयानां निषेधमाह अन्नपानादीनां द्रव्याणांमादि-
 प्रहणाद्व्यवहारोपस्थाप्येवजादिपरिग्रहः अनेनापि हिरण्यादिव्य-
 वच्छेदमाह । देशकालभ्रष्टासत्कारकमप्युक्तं तत्र नामाग्निहि-
 काद्रथकङ्कगोभूमिदिनिष्पत्तिमादेशः, सुभिन्नदुर्मिषादिः का-
 लः, विशुद्धचित्तपरिणामः अन्ना, अशुश्रुत्यानासनदानवन्द-
 नानुव्रजनदिः सत्कारः, पाकस्य पेषादिपरिपायणा प्रधानं
 कर्म, एभिर्देशादिभिः युक्तं समन्वितमनेनापि विपक्षव्यव-
 च्छेदमाह । परया प्रचानया अन्त्योत्पन्नेन कर्मप्राप्तौ भक्ति-
 तमतिशयमाह । आत्मानुग्रहवृक्षेति न पुनर्यस्यनुग्रहवृक्षेति
 तथा ह्यात्मपरोनुग्रहपरा एव यतयः संघताः मूलशुशोस्तरगु-
 णसंपन्नाः सायवः तेभ्यो दानमिति सूत्रात्तराण्यः आच० ६
 अ० । अत्र वृक्षोक्ता सामाचार्य आभकेण पोषधं पारयता
 नियमात्साधुभ्यो दत्त्वा पारयितव्यमन्यदा पुनरनियमो दत्त्वा
 वा पारयति पारयित्वा वा ददाति तस्मात्पूर्वं साधुभ्यो दत्त्वा
 पश्चात्पारयितव्यम् । कथं यद्वा देशकालो भवति तदात्मनो
 विभूषां कृत्वा साधुस्तत्रअयं गत्वा निमग्नयते भिक्षां वृद्धी-
 तेति । साधूनां वा प्रतिपत्तिश्च्यते । तदा एकः एतलकमन्यो
 मुक्कान्तकमपरो भाजनं प्रत्युपेतो वा अन्तरायदोषाः स्वाप-
 नदोषा वा मयसु स च यदि प्रथमतो पीठन्या निमग्नयते
 अस्ति च नमस्कारसहितप्रत्याक्यानीयस्ततस्तद्भ्रूह्नाते । अथवा
 नास्त्यसौ तदा न वृष्टते यतस्तद्भ्रूह्दव्यं भवति । यदि पुनर्ध-
 नं लगेत्तदा वृष्टते संस्थाप्यते च यो बोद्धादपौरुष्यां पारयति
 पारण्यकवान्त्यो वा तस्यै तदोयते पश्चात्तेन भावकेण समं
 संघाटको व्रजत्येको न व्रजेत् प्रेषयितुं साधुपुरतः भावकस्तु
 मार्गतो गच्छति ततोऽसौ शुद्धं नीत्वा तावासनेनोपनिमग्नयते
 यदि निविशेते तदा त्रुद्यमथ न निविशेते तथाऽपि विनयः प्रयु-
 को भवति ततोऽसौ भक्तं पानं च स्वयमेव ददाति अथवा
 भाजनं धारयत्यथवा स्थितं पशान्ते यावदन्नं साधू अपि
 सावशेषं वृष्टीतः पश्चात्कर्मपरिहारेण्यथै ततो दत्त्वा वन्तित्या
 च विसर्जयत्यनुगच्छति च कतिचित्पुत्रानि ततः स्वयं भुङ्क्ते
 यच्च किल साधुभ्यो न दत्तं तत् भावकेण न भोक्तव्यम् ।
 यदि पुनस्तत्र प्रामादी साधवो न सन्ति तदा भोजनवैभवायां
 दिगवलोकनं करोति विशुद्धभावेन च चिन्तयति यदि सा-
 धवोऽभविष्यत्सदा निस्तारितोऽद्रमप्रविश्यामिति विभार्थति
 गाथायैः ३१ पंचा० १ विष० । घ० ० । घ० । आ० । " एसा
 विदो खणोणु सु बंधयारीसु भर्त्तापि गिदो उमगहं कुजा पाणि-
 उकामो व बरं इह परलोको व दाण कलं" आ० चू० ४ अ० ॥
 अत्रय एष्वचिन्ताकारः ।

तथाएतंरं व एण अइसंविनागसस पंच अइआराजः-
 णियव्वा न सभाःरियव्वा । तं नइहा सच्चिननसंसेवणथा
 १ सच्चिचपेहुणया २ कालाऽइकमदाएण ३ परवेदेस ४
 मच्छरया ५

यथा सिद्धस्य स्वार्थं निर्दिष्टिन्येत्तच्छेदोऽन्यादेः समिति सङ्गतत्वेन पञ्चाशत्कर्मदिशोपपत्तिहा-एव विभजनं साधयेद्दान-
 इत्येव विभागकरणं यथा सविभागस्तस्य (सखित्तनिकलव्ये-
 त्यादि) साक्षरपु श्रीश्राद्धिषु निक्षेपणमन्त्रादेदानवद्वया मा-
 तुत्वात्नतः सखित्तनिकलव्येन सखित्तन फलादिना रथगनम
 सखित्तनियानम् २ कालातिक्रमः कालस्य साधुमोजनकाल-
 स्व्यातिक्रम उल्लङ्घनं कालातिक्रमः । अयमभिप्रायः कालमून-
 मधिकं व प्राप्त्वा साधवो न प्रहोप्यन्ति शास्त्र्यन्ति च यथा-
 १५ व द्वादशैवं विकल्पतो दानार्थमभ्युत्थानमतीत्य इति ३ ।
 तथा परस्परपदेशः परकीयमेतत्तरेन साधुभ्यो न दीयते इति
 नानुसमन्तं भरणं जानन्तु साधवो यद्यस्यैतद्गृह्णादिकं ज-
 येतु तदा कथमस्मत्पुं न दद्यादिति साधुप्रत्ययार्थम् अथवा
 १५साहाय्यसामानादौः पुण्यमस्त्विथं भणवामि १ मन्तरिना
 अपरेरेणं दत्तं किमहं तस्मादपि कृपाणां ईनां वाऽनोऽहमपि
 ददातीत्येवंपदानप्रश्नकविचकषो मस्परित्याज पत्नं चानि-
 च्चार पय न भङ्गं दानार्थमन्युत्थानं दानपरित्यजेथ द्विपित्तयात् ।
 भङ्गस्तस्मात्पु चैहवमभिधानान् यथा " दाणंतराय दाम्ना, ण
 देहं दिङ्मंतयं च वारंश्च । किन्ने वा परित्यज्ये, इति किवणत्ता
 अथे भंगो " १ २ पाठो १ अ० । ४० ।

अई (ति) १-अती, व-अ० अनि-श्च-स्मासः । अनिशयार्थं,
 पंचा० १९, विष्णु० । "अईव णिंअं पश्चार्थविष्णुम् " पञ्च० शार्धो
 २ श्रु० । "अईव सोमस्वाकुरुवा" अतीव अतिशयतं सोमं हृष्टिमु-
 भगं वाह रूपं येषां तं इतीत्यं सोमस्वाकुरुवाः जो० ३ प्रिनोऽ उ० ॥

**अअउ [य]-अयुत-त० अतुरश्यात्या ह्यङ्गेमुणिते, अनु० । अ-
 युतङ्गे, स्थाने २ रा० । अनु० । जो० । जं० । द्यमहं ह्येयु, क-
 न० । अथत्थं, अयंयुक्ते च वा० ।**

**अअउअंग-अयुताङ्ग-त० अतुरश्यात्या ह्यङ्गेमुणिते अर्थानिपूरे, जो०
 ३ प्रिनो० । जं० । कल्प० । स्थाने० । अनु० ।**

**अअउअ त्स्त्र-अयुतासिक्त्-त्रि० कारणकपालादेर्युष्मद्गतया
 मित्ते कायस्त्वयं घटादीं, तथाभूते वैद्योपिकाने कृत्वाधितं गुण,
 कर्मणि च वाच० । श्रा० म० । सम०० । स्थाने० ।**

**अअउअ-अयोध्य-वि० परैयोध्यमशब्धे, जो० ३ प्रिनो० ।
 अतुरश्यात्परवल्लेः संप्रामयितुप्रत्ययश्च, स्थाने ४ रा० ।**

**अअउअ-अयोध्या-स्त्री० विनीताऽपरमात्मके पुरीजेने,
 तमाहात्म्यम् ।**

अउज्जाय पर्यायिणो जहा अउज्जा अउज्जा कोमहा विणीया
 सा कैवे इक्ष्मागुज्जरी रायपुरी कोमस्तत्तित पसा सिरिउसत्र
 अउज्जाश्रितिनं देनसुमरभ्रणं तं जणानं तदा नयमसस सिर्विरी-
 गणनदस्सु अवज्जनाउणा उत्तमदुमी गहुंमज्जजाणं दसरदगाम-
 भरहाद्विणं च उज्जजाणां विमज्जवादानेत्तत्त कलुगगा इथे उण्य-
 ष्ठं तस्यमसांमिणां रउजासिंसेप मिडुणगोदं निर्माणीपत्तयं उ-
 टयं विणुं वापसुत्तुं तत्रोसा ह्रुविणीया पुरिसखित्तं प्रणिअं स-
 ङ्केण तत्रो विणीयात्तं म्वा नयरी रुढा । जथं य महासंशेप सी-
 यात् अण्णाणां माहंतैत्तप निर्माणीवलेण अग्गी जजपुत्ता कस्सो मी-
 अउज्जपुरां नयरीं दाहेत्तं निअमाहप्पेण तीप, चेर गविक्खो ज्ञाय
 सल्लनहं हवसुतांगां तस्स मज्जेत्ता सया नवजोअणयिदिग्धा
 वात्सजोअणुदीहा ये जत्थ चकेसरी रण्यमयायत्तत्तादुअप-
 ङ्किमा संवविअं हरेरे । गोपुत्तज्जस्सो च जत्थ थम्परदधो उ-

सरऊ नईए समं मिलित्ता सम्मादुवारंति पसिद्धमावओ जीए
 उत्तरदिवाए वारस्सिंदि ज्योवपिदं अग्गुअणमवरो जत्थ भ-
 गवं आरगरो सिङ्गो जत्थ य भरदेसरेण सीहांनिसिज्जायययं
 ति कोसुअं कार्थं निवाणियवणपमाणसठाएजुत्ताणि अ व-
 उदीस्सिज्जाणं विबाहं ठाविबाहं तथ पुब्बवारं उत्समजियायं
 दाहिणवारं संबभाहं अचंयं, पथिअग्गुअणं सुपासाणं अ-
 णुहं उत्तरदुवारं धम्माराणं दसहं धूमसयं च भाउआणं
 तेषु च कारिअं । जीए नयरीए वत्थ्वा जष अग्गुअण्यउअव्व-
 यामु किल्लिउ जथो अस्सेरीसयपुरे नवंगविक्खित्तकारसाहास-
 मुअवाहं सिरिदेविदसुरीहि चत्तारं महाविबाहं विव्वसत्तीप
 गयलमग्गेण आराणीआहं जत्थ अज्जवि नाभिरायस्स मंविरे
 जत्थ पासनाहवाभिअसीयाकुंउं सहस्सपचारं च पायारदुिओ
 मसअयंउज्जस्स अलाविज्जस्स अग्गं करिओ न संचरानं
 संचरंति वा ना मरंति गोयधरंदिण य अग्गेगाण य लाहअनि-
 ढाणि वदंति " वत्सा पु" अउज्जा, सरउज्जाभिसिक्कमाण-
 गढमित्ति । जित्तसययस्संत्तित्थी, उत्तपयिअत्तज्जणा जयरं ॥
 कहं पुण देविदसुरीहि चत्तारि विक्काण अउज्जापुरओ आणि-
 यणीत्तं जज्जं सरीभंयभयरे विहरंता आराहिअपठमायइध-
 रसिद्धा उत्तायल्लीयसिरे देविदसुरीणो उ कुकिरं कल्पे उग्गे-
 काउसिग्गि किल्लिउ पव्व यहुवारं कारितं दट्ठेण सावपादं पुच्यियं
 भययं को विंसो सो इथं वाउसम्माकरणे सुविदं प्रणिअं इथ
 पढाणफल्ला । चउउ जोसे पासनाहपदिमा कोरह सा य सखिदि
 अपादिहरा हवहं तत्रो सायववण्येणं पठमावहं अराहणत्थं
 उववासत्तिग कयं दुग्गणा आग्गा दनवधं तीप फाइधुं उडा सो
 पारए अओ सुत्तहारं चिट्ठं सा जह इथ आगच्चइ अट्टमजंत्तं
 च करेहं सुवि अयंथिए फलदिअं अंवाउसमादव्वं अयुविए
 पडिपुअं संपावेइ तत्रो निण्णज्ज । अथो सावपादं तदाहयणत्थं
 सो पारए पुरिसा पडिअग्गो सो आग्गो तद्वेधं चरित्तमादत्ता
 धरणिदधारिआ निण्णया पदिमा चरित्तस्स सुत्तहारस्स पदि-
 मापहि अपमात्सा पाउडुओ । तमुविक्खिअणा उत्तरकाउं घ-
 रिओ पुणो समारिणं मत्तो दिट्ठो हांकि वाहािआ रुहरं निस्स-
 रिअमारकं तत्रो सुरीहि प्राणश्च किमयं तुमए कयं ययिअ
 मस्से अणत्तं म पदिमा अईव अज्जुअ अहं तस्समपपभा बुत्ता ।
 तत्रो अग्गुअं चंपितं थंथिउं समदिहं एत्थं तीसे पदिमाए नि-
 ण्णया च उर्वलं अस्स्राणि विक्काणि आणीहिता आग्गीत्ता उधि-
 आग्गीत्तो विव्वसत्तीप अउज्जापुरओ तिअ महाविक्काणं वत्तीए
 गयणमग्गेण आग्गियानं । चउवये वि आग्गिअमाणे विहाया
 रयणी चउवारांसंणयग्गामे विक्खमज्जे विव्वं ठाव्हं रामाभि-
 रिक्कमारपारेण वानुकुचक्खवणा चउवयं विव्वं कारित्ता ठाव्हं च
 यं सरीसे महत्तज्जायां पासनादो अज्जं पिसंघं पडिअग्गं मि-
 क्खयाय उववहं कारितं न पारंति कुसुअधरिणेण न तथा सत्ता-
 वध्वा अयववा हीसेति नमिअ गामे न विव्वं अज्ज वि चहरेरे पु-
 ड्जअस्सि । इतिअ श्रीअयोध्याः कल्याः समासः ती० १३ कल्प० । गवि-
 ह्यायतीविजये वतंमत्ते पुरीयुग्गे अ " हो अउज्जाओ " स्थाने २ रा

**अअउ (तु) १-अनुत्-त्रि० अनन्यस्यदेशे, भाव० ६ अ० ।
 उ० । निरुपमे, सत्त० २० अ० प्रघाणे, ध्रा० । नाक्ति तुहा सु-
 त्रताया यस्यामिति निरुक्त्वुक्ते, पुं० । याच० ।**

**अअओ-अतस्-अ० इदय तमित्तं यत्तकेतुकार्यं, वाच० " प्रमो सोस्वे
 अहिनिया " सूत्र० १ पुं० १ अ० १ उ० ।**

अभोधण

अभोधण-अभोधन-पुं० होहधने, अभोमये चने, " सीसंवि
निदति अभोधणेहि " सूत्र० ४ अ० २ उ० ।

अभोमय-अभोमय-त्रि० भोःअभय विकारे, "अभोमयणं संनत-
एण गहाय" सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अभोमुह-अभोमुह-त्रि० अय इव मुक्तं यस्य होहमुजे
पह्यादी, "पचकीर्दि सज्जति अभोमुहोदि" सूत्र० १ अ० ५ अ० २
उ० । अभोमुहद्वीपनिवासिने मनुष्ये, "०" स्था० ५ उ० ॥

अभोमुहद्वीप-अभोमुहद्वीप-पुं० गोकर्णनाम्नोऽनरखीपस्य
परतो दक्षिणपश्चिमायां विदिशि पञ्चयोजनशतव्यतिक्रमेण
स्थिते पञ्चयोजनशतयामिषकम्भे एकशाल्यधिकपञ्चदशयोज-
नशतपरिऋते पन्नपर्यदिक्वाचनक्षारमपिनवाद्यप्रदशऽत-
रोगविशेषे, न० । अङ्क० । स्था० ।

अंक-अङ्क-पुं० अङ्क-प्रज्ञा । शुल्कमणि विशेषे, सत्त० ३४ अ०
रत्नविशेषे, ज्ञा० १ अ० जं० । ज्ञा० । रा० । सूत्र० । सत्त० ।
जी० । अ० । आ० म० ३० । प्रज्ञा० । नि० चू० । " पदमानसोप-
विष्टभ्योऽस्त्ररूपे आसनबन्धे, चन्द्र० ४ पाठु० । चन्द्रबिम्बा-
न्तर्धानस्युगावयवे च । यज्ञोक्तं सृष्ट्यादिव्यपदेशं लभते जं० ३ वक्र० ।
सू० । चिह्ने, चन्द्र २० पाठु० । लाघुने, औ० । उन्मत्ते, व्य०
न उ० । जं० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० । इत्युक्त्याभ्येदे च पुं०
न वाच० । इत्युक्त्याभ्येदे, एकत्वाद्दिसंख्याधोषकरासा-
न्वयेशे नवसंख्यायाश्च पुं० वाच० ।

अंककंड-अङ्ककान्ठ-न० अङ्करत्नमये योजनशतयाहल्ये रत्न-
प्रभायाः खरकाण्डस्य चतुर्विंश भाने, स्था० १० उ० ।

अंककण्ड-अङ्ककण्ड-कण्ड-न० वनस्पतिविशेषे, आचा० १
उ० । अ० ५ उ० ।

अंककण्ड-अङ्कस्थिति-स्त्री० संस्थारेखाविचित्रस्थापनरूपायां
त्रयध्वत्वारिंशत्कलायाम्, कल्प० ।

अंककण-अङ्कान्त-न० अङ्क-न्युद् । तमायःशशाकदिना गवाभानां
चिह्नकरणे, प्रअ० अअ० १ ज्ञा० । ५० । अशुभान्तरणादिनि-
सोऽशुभकरणे च श्राय० ४ अ० । अङ्क-करणे ल्युद् । अङ्कसा-
पनद्रव्यं " गदागामिति " प्रसिद्धे, वाच० ।

अंकध (ह) र-अङ्कधर-पुं० ६ त० चन्द्रमसि, जी० ३
प्रति० । तं० । जं० ।

अंकधाह-अङ्कधात्री-स्त्री० उन्मत्तस्थापिकायां धात्र्या, ज्ञा०
१ अ० । नि० चू० । आचा० ।

अंकधगिय-अङ्कवापि (ज)-पुं० अङ्करत्नगणिति, रा० ।

अंकमुह-अंकमुख-न० ६ त० पद्यासोपविष्टस्य उन्मत्तक-
पासनबन्धाप्रज्ञाने, सू० ५ पाठु० चं० ।

अंकमुहसंतिप-अङ्कमुखसंस्थित-त्रि० पद्यासोपविष्टस्योत्स-
ङ्करूप आसनबन्धनस्य मुखमप्रमाणोऽर्द्धवृत्तयाकारस्तस्यैव सं-
स्थितं यस्य । अर्द्धवृत्तयाकारसंस्थानसंस्थिते, सू० ५ पाठु० ।
चन्द्र० ।

अंकसिन्धि-अङ्कसिन्धि-स्त्री० ब्राह्मण्या सिन्धोर्द्धवरे लेख्यविधाने,
प्रज्ञा० १ पत्र० । स० ।

अंकपय-अङ्कमय-त्रि० अङ्करत्नमये, अङ्करत्नविकारे, अङ्क-
रत्नप्रचुरं वा "अंकमया एकजापकसबाहा" ओ० रा० । प्रति० ।
अंकावर्ह-अङ्कवर्त-स्त्री० मद्रादिदहरस्यविजये वर्तमानायां

राजधात्यायाः । " रस्मे विजये अंकावर्हे रायहाशी अंजने
वष्कारपञ्चम" जं० ४ वक्र० । "दो अंकावर्हो" स्था० २ उ० ।
मन्दरस्य पूर्वे शीतोदाया महादाना दक्षिणे चत्सैतैभनस्तकार-
पर्यन्ते च स्था० ४ उ० ।

अंकिअ (य)-अङ्कित-त्रि० लाभिकृते, आच० ५ अ० । औ० ।
अंकिअ-देशी० नदे, ज्ञा० १ अ० ।

अंकुदग-अङ्कटक-पुं० नागदन्तकः जं० १ वक्र० ।

अंकुत्तरपास-अङ्कौत्तरपास-त्रि० अङ्का अङ्करत्नमया उत्तर-
पास्यां यस्य तत् अङ्कौत्तरपासवत् । अङ्करत्नमयात्तरपासव्यु-
क्ते द्वारे । रा० । जी० ।

अंकुर-अङ्कुर-पुं० न० अङ्क-उरच् । प्ररोहे, वृ० १ स० ।
शाल्यादिविजसत्तौ, जं० ७ उ० ७ श० । कासकृतावस्थावि-
शेषनाजि प्रवृत्तौ, जी० ३ प्रति० । स्था० । "अग्ने वीजे यथा-
ऽत्यन्तं प्राडुभवति नाङ्कुरः । कर्मवोजे तथा दग्धे न रोहति
भवाङ्कुरः" ध० २ अधि० । जले, शिवादिपासाध्यायात् । रधिरे,
भोऽग्ने, मुकुत्ते च वाच० ।

अंकुस-अङ्कुशा-पुं० न० अङ्क उशश्च शृणौ, प्रअ० अअ० ४ ज्ञा० ।
"अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपन्निवाभो" सत्त० २२ उ० ।
अङ्कुशाकारं मुक्ताहामावर्द्धमानाभयभूते चन्द्रोपके, जी० ३
प्रति० । स्था० । आ० म० चि० । विमानविशेषे, स० । देवावर्णार्थं
वृत्तपल्लवाकर्णार्थं परिभाजकोपकरणविशेषे, औ० । पठे चन्द्र-
कदम्बे, तत्स्वरूपे च ।

उवागरेण हृत्त्वमि व, धितं णिपेसेति अंकुसंस्विति ।
यथाङ्कुसेन गजमिषि शिष्यः सूरिं त्वर्थास्वितं शयितं प्रयोजना-
न्त्यन्तप्र-भोपकरणे चोऽपहृत्कदम्बो हस्ते चाऽवहृत्तया समाहृ-
ष्य चन्द्रकदानार्थमासने उपवेशयति तदङ्कुशावन्दनकमुच्यते
महि धीपूरुयाः कदाचनान्युपकरणायोपकरणमहंन्यविनयात्वात्
किं तु प्रणामं कृत्वा कृताञ्जितुर्द्विधनयपुत्रेकामिदमभिधीयते
उपविशतु भगवन्तो येन चन्द्रकं प्रपञ्चामोत्यतो दोषदुष्टमि-
दमिति । आवश्यकवृत्तौ । रजोदरणमङ्कुशावत् करण्येन
गृहीत्या यत्र वन्दते तदङ्कुशमिति व्याख्यातम् । अन्ये तु
अङ्कुशाकान्तस्य हस्तिन इव शिरोवनमनोन्मने कुर्वाणस्य
यद्वन्दं तदङ्कुशमित्याहुः एतच्च इयमपि सूत्रानुयायि न भव-
ति । तत्त्वं पुनश्चोद्भूतना जानन्ति प्रव० २ ज्ञा० । भाव० । ध० ।
" अंकुसां दृविहा मूत्रे गंक्षुस्स रयहर्षं गहाय भणति निवेश
जा ते वेदाभि भवथा वीहि वि ह्येहि अंकुसं जथा आ०
चू० ३ उ० । प्रतिबन्धे च वाच० ।

अंकुसा-अङ्कुशा-स्त्री० अमन्तजिनस्य शासनदेवतायाम्, सा
च देवी गौरवर्णा पद्यासना चतुर्भुजा अङ्कपाशायुक्तदक्षिणपा-
णिद्वया फलकाङ्कशयुक्तवामकण्ठया च प्रव० ५ उ० ॥ ४

अंकुष्णपहार-अंकेष्णपहार-पुं० अहवादीनां तर्जकविशे-
षाघाते, अंकेष्णपहारपरिचक्षिण्ये अंकेष्णपहारपरिचक्षिणाः
अहवधारमनोऽनुकृत्स्वावक्केष्णपहाररहितशरीरे अम्बादी, षि०
जं० ४ वक्र० ।

अंकोष्ठ-अंकोट [उ] [ल] पुं० अङ्कयते लक्ष्यते कीला-
कारकपटेः अङ्क-ओट-ओट-ओट-बा । अंकोटेल्ल । १ । १०० ।
इति सूत्रात् उच्ये द्विक्रमो लः प्रा० वीतवर्णसारे गन्धयुक्तयुत्पे
दीर्घकपटकयुक्ते रत्नवर्णकते वृक्षविशेषे, वाच० एकस्थिकवृ-
क्षभेदे, गुणजनेदे च प्रज्ञा० १ १६० । कल्प० ।

अंकोष्ठोत्पन्न-अंकोट [उ] तस्य- न० अङ्कोट-तैत्तिक् अगङ्को-
जाशेषस्य देहः ८ । ३ । ५५ । इत्यङ्कोटपयुद्धासान् तैत्तिक्प्रत्य-
बन्ध्य देहः । अङ्कोटस्थले. प्रा० ॥

अंग-अङ्ग-अ० प्रागन्त्ये, ज० ए श ३३ उ० दशा० । हा० ।
मौ० । अङ्गंकारे च । "विभिन्ना पुण अहं अङ्कोवगमिषो" स्या०
४ उ० अङ्गुल्यकिञ्च जगतिस्थितिप्रसङ्गं धातोऽज्यन्ते गर्भोत्पत्ते
शरत्पे अथ कीजप्रवृत्ति ऊमप्रसूतोर्ध्वमन्ते चेत्यङ्गानि । शिर-
स्रवरादिषु न० कर्म० । देहावयवेषु, प्रथ० ८ हा० । आ० चू०
प्रहा० निष्ठा० विद्यो० वस्त० अङ्गान्यथै शिरः प्रजुतीनि तदुक्तं
" स्त्रीसुतोरपरिचो, दो वाह ऊरुया य अट्टंगा " कर्म०रा० ।
" आहृदुदिसिस्तरउपरंगा " बाहू लज्जहयम ऊह ऊहयं
पृष्टिः प्रतीता शिरो मस्तकमुरो वक्त्रः उदरं पोष्टमिच्छयङ्गानु-
च्यन्ते इह विभक्तोपः प्राङ्गन्धाव कर्म० १ क० । आ०म० ।
गाथे. शौ० । स्या० । उ० । अङ्गमये, स्या० ७ डा० । " अट्टं-
गाथं " शौ० १ अ० । स० । स्या० शौकिकानि वेदस्य यद-
ज्ञानि तद्यथा सिद्धा १ कल्पे ३ व्याकरणं ३ उर्वा ४ नि-
क० ५ ज्यौतिषं ६ केति आ०चू० २ अ० । अतु० । अ० म० ।
आ० । लोकोत्तराणि प्रयत्नस्य श्रावश अङ्गान्याचा-
राङ्गादीनि (तानि अंगपविदुशब्दे व्याख्यास्यन्ते) कारणे,
प्रति० । स्या० ।

अस्य निष्पेमाहा ।

रामंगं ठवंगं, दवंगं चैव होइ भावंगं ।

एसो खलु अंगस्य, गिक्सेवे च उचिद्विहो होइ उ० नि०
नामाङ्कं स्थापनाङ्कं द्रव्याङ्कं चैव प्रवति भाषाङ्गमेव खलु
(अंगस्य इति) प्राकृतव्यादङ्कस्य निष्पेमाङ्कविधां भवतीति या-
द्यासमासायः । अत्र च नामस्थाने प्रसिद्धत्वाद्नाहस्य द्रव्या-
ङ्कमभिधिसुराह ।

गंधंगोत्तरंगं, मज्जाउज्जं मरीरजुक्तं ।

एषां एकैकं पि य, ऐगविहं होइ एणव्वं ॥

गन्धाङ्गमोधाङ्कं (मज्जा उज्जं सर) उज्जं विन्दोरलाज्जणिकथा
दङ्कशब्दस्य च प्रत्येकमभिसंबन्धात् मघाङ्कमानोधाङ्कं शरीराङ्कं
युक्तामिति पङ्क्तिप्रथम (एषोति) सुख्यव्यवादेषु मध्ये एकै-
कमपि चानेकविधं भवति ज्ञातव्यमिति याथाङ्कराषः । माघार्थे
तु विवक्षुराचावो " यद्योश्चं निर्देशमिति " न्यायमाश्रित्य गन्धाङ्कं
प्रतिपादयन्नाह ।

जमदग्निजडा हरेणु-या मवरगिबसणयं सपिसियं ।

रुक्खस्स बाहिरा तथा, मद्धियवासियकोडिअपयती ॥

उसारीहिरिवेराणं, पडं भद्दाकणो करिसो ।

सत्तपुप्फाण भागो य, भागो य तमालपत्तस्स ॥

एयं पण्णामयं, विदेवणं एस चैव पडवामो ।

वासवदत्ताकतो, उदयणमजिधारयंती ॥

तत्र जमदग्निजटा बालको हरेणुका मियङ्कः सबरविनसकं
तमालपत्रं (सपिसियं) गिष्णिका श्यामकाक्यं गन्धद्रव्यं तथा सह
सपिसिक्कं वृक्षस्य च बाणा त्वङ्कं चातुयोत्तकाङ्कं प्रतीतमेव
" मद्धियवासियसि " मल्लिका जातिस्तद्धानि ममन्तोरुद्रव्य-
जातं वृषीकृतमिति भवत्ये कोटिं (अश्व इति) अहंति कोटि-
मूल्याहं प्रवति । महावैतोपसकमं चैतत् तथा उशीरं प्रसिद्धं
होचैरो बालकः पल्लं पल्लममोस्तथा मज्जादावैचक्षण्योः कर्षः

" सवपुष्पाणि " वचनव्यत्यायात् शतपुष्पाया ज्ञानो प्रागङ्क
तमाङ्गप्रत्य भाग इह पल्लिका भाषा । अस्य माहात्म्यमाह । एत
त्क्षानमेतदिलेपनमेव चैव पडवासः बासवदत्तथा अण्डमघातो-
दुहिना कृतो विहित उच्यते चोपावत्तत्तजमनिधारयन्त्या चे-
तसि वहन्या अनेन परिचिच्छात्रेपकतयमस्य महात्म्यमुक्-
मिति सूत्रार्थः । श्रीब्रह्माङ्गमाह ।

दोषि य रयणी महिदं-फलं च तिषि य समुत्सर्गायार् ।
सरमंभ कणयमूलं, एसा उदगद्व्यागुक्षिया ॥
एसा उ हण्यं कंठुं, तिमिरं अत्रदेहंमं मिरोरोगं ।
तेज्जगचाउत्तयग-सूमसत्पावरकं च ॥

हे रजन्वो पिएदताहदरिद्रे माहेन्द्रकं चैन्द्रयथा श्रीषि च
समूयं निरुदकं तस्मात्तानि सुपेर्डीपिप्लीसीरित्रद्रव्याणि स-
रसं चार्द्रककमूलं विदमूलमेपोदकाधमेपुद्रकमधुमं यस्यां
सा च तथा गुटिका वटिका । अस्यैः फलमाह । एषा तु हनि
करुतुं निमिरं (अत्रदेहयति) अहंशिरोगं समस्तशिरा-
व्यथां (तेरज्जगचाउत्तयगसि) सुयो सोपे तारीयिकाचतुर्थीका
कथा उपर्यै सूयकसत्पेपरादुमुन्दराहदितं वः समुच्चय इति
गाथाङ्कार्थः । मघाङ्कमाह ।

सोत्स दक्खाजागा, चउरो जागा य धावतीपुप्फे ।

आहगमो उच्चुरसे, यागद्वयाणेण यज्जंमं ॥ दारं ॥

(सोत्ससगहा) योदरा द्वाकाजागाश्चवारो भागाश्च धात-
कीपुणे धानकीपुष्पवियथाः (आहगमोत्त) आर्धवाहादक-
इसुरसवियथाः आदक इह कथं मानेनेत्याह । भागधामने " द्रो-
भसह " इत्यादिकेपेण मघाङ्कं मदिराकारणं जवतीति गाथायर्थः ।
आतोषाङ्कमाह ।

एगं मयुंदातुर-मेगं अहिमारुदारुक्कं अग्गी ।

एगं साङ्गियोर्पं, बच्चो आमालतो हाइ ॥

(एगंगाहा) एकं मकुन्दान्यमिति । एकैव मकुन्दा धादिक्-
विशेषः गम्भीरस्वरत्वादिना तृथकार्यकारित्वात् तूर्यमनेनास्या
विशिष्टमातोषाङ्कमेवाह । किमेकैव मकुन्दान्यं सोपस्कार-
त्वाप्येकमभिमारस्य बुद्धिविशेषस्य दारुक्तं काष्ठमभिमारदरु-
कमनिर्विशेषतोऽग्निजनकत्वात्पथा वा एकं शास्त्रलीपांशु-
कं शास्त्रलीपुष्पं बद्धमामोदको जवति । आमोदकं पुष्पेन्मिधो
बालव-धविशेषः स्फारात्वाद्देवतयं दृष्टान्ताजिघासितयेदं व्या-
ख्यायते प्रसङ्गतो वाग्ध्यामोदकाङ्कयोरप्यभिधानमितं सू-
त्रार्थः । शरीराङ्कमाह ।

सीसं उरो य उदरं, पिड्ढी वाहु य दोषि ऊरु य ।

एए हौति अट्टंगा खलु, अंगोवंगाई ससाई ॥

हौति उवंगा कसा, एामच्छंहन्यपादंजया य ।

एहकेसमंसंगुक्षि, अट्टोहा खलु अंगुवंगाई [दारम्]

शिरश्च उरश्च प्राग्मुदरं " पिच्छिणि " प्राकृतत्वात्पुष्टं बाहु इौ
ऊक च एतान्यष्टाङ्गानि । प्रावद लिङ्गमन्थयः कलुषधधारये
एतान्येवाङ्गानि अङ्गोपाङ्गानि शेवाणि नखादीनि उपलक्षणत्वा-
द्दुपाङ्गानि च कर्णादीनि यत् उक्तम् । हौति उवंगा कसा नासच्छी
जंभहृत्थपाया य । नहकेसमंसंगुक्षि अट्टोहा खलु अंगुवंगाई
इति गाथायर्थः ।

अंग

साम्रं युक्ताङ्गमाह ।

जाणावरणपहरणे, शुक्र, कुसलसूत्रं च एतीं य ।

दस्वचं ववसातो, मरीरं आरोरागए चैव ॥

(शारम्) (जाणावरणपहरणेण) यानं च इत्यादि तत्र सत्यापि न शान्तिव्यभिचिंतुं शशुभत आवरणं च कश्चादि सत्याप्यावरणे प्रहरणं विना किं करोतीति प्रहरणं च अङ्गादि याभावरणप्रहरणानि यदि युञ्जं कुशलस्य नास्ति किं यानादिनेति युञ्जे संभ्रामं कुशलस्य च प्राचीनपक्षे सत्यप्यस्मिन्निति विना न शशुभयनमतां नीतिभ्यापकमादिलक्षणा सत्यामाप चास्यां दक्ष्णाधीना जयस्तनो दक्ष्णायाश्चकारिरेत्यस्मिन्नर्थे सत्याप्यस्य कुतो जय इति व्यवसायो व्यापारस्तत्रापि यदि न शरीरमहीनाङ्गं ततो न जय इति शरीरमयोत्पतिपूणाङ्गं तत्राप्यारोभ्येयं जयायेति (आरोरागयासि) आरोरागता चः समुच्चये पचापधारणे ततः समुद्रिनामनेषु युक्ताङ्ग्यमिति सुबाधः भावाङ्गमाह ।

जावंगं पि यं लुविहं, सुतमंगं चैव एोसुतं अंगं ।

सुतमंगं वारसहा, चउत्विहं एोसुयजंगं ॥

भावाङ्गमिति च द्विविधम् (सुयमंगं चैवापि) कुनाङ्गं चैव नो-अनाङ्गं च । अनाङ्गं द्वादशधा आचार्यादि भावाङ्गना चास्य क्षायापशमिकत्रायाननंतव्यात् । उक्तं च " भाये स्वभावसमिप उचालसंगं पि होति सुयणागुति " अतुर्विधं चतुष्पकारं नोभुनाङ्गं तु नोशुभस्य स्वर्थनिर्वाधार्थव्यादभुनाङ्गं पुनः मकारश्च सर्वे-अनाङ्गाणिक इति गाथायै । एतदेवाह ।

यागुस्यं धर्मसुचिं, सच्छा तवमंजभीमं विरयं च ।

एए जावंगा सल्लु, दुल्लभगा होति संसारं ॥

मानुष्यं मनुजन्मस्य चाहातुपत्यस्य एतद्व्यङ्गं शेषाङ्गभावात् धर्मसुचिरे हर्षणीतधर्ममंकार्शेन अक्षा भर्मकरणाभिहायः । तयोऽनशादिस्तत्रप्रधानः संयमः पञ्चाश्वविरमगादिसत्पः संयमो मध्यमपदशेषः समासः । तपश्च संयमश्च तपःसंयममिति समाहारो वा तस्मिन्चार्थे चार्थोत्तरायङ्गयोऽपशमसमुत्था शक्तिः । अस्य च द्विविधस्याप्येककथेन विवक्षितव्याभोक्तसंख्या-विरोधः । एतानि जावाङ्गानि सल्लु निश्चिनं दुल्लभकानि भवन्ति संसारं सिङ्गव्यययश्च प्राकृतव्यादेतच्चानुक्तमपि सर्वत्र जावनीयमिति गाथायैः । इह उच्यतेऽप्यु शरीराङ्गं भावाङ्गेषु च संयमः प्रधानमिति । तद्वैकार्थिकान्याह ।

अंगं दूतजागभेप, अवयव अमगल्लुसिष्यावमे ।

देसं पदेसपक्वे, साहापदरूपजवसिहं च ॥

दया यं सजमे लज्जा, दुगुंठा अचछलणादि य ।

तितिक्वा य अहंसा य, हिरीं कि एगुडि पदा ।

अङ्गदशाभागां मेहांस्यवयोऽलकलक्षणेनः अगमो देशः प्रदेशः पर्वशशां पाटसं पर्ययः क्लिष्टं चेति शरीराङ्गपूर्वया इति वृत्ताः व्याख्यानिकस्त्वविशेषतोऽस्मी अङ्गपूर्वयावस्तथा (दसभागलि) दशभाग इति च भिन्नावेष पर्यायावित्याह । चः समुच्चयं सुप्रत्याख्यं सुपुः क्वचिद्व्यभजनमिति । संयमप्रयायानाह द्या च संयमो सज्जा लुगुत्ता अचछलना । इतिशब्दः स्वकपो परामर्शकः पर्यसे योद्धयते तितिक्षा चादिसि च नहीभ्येकार्थक्याप्यभिधानि पर्यायानि पद्वि सुव-नशापद्वि रूपानि पर्यायानि धान च नानदिश अभिनेयानुपहाधेमिति गाथाद्वयायैः । चसं ३ अङ्गं स्यात् । अत्रयते श्वत्किक्रियते ऽस्मिन्निति अतुर्विधं नामस्थाप-

नाख्यमायभेदात् । तत्र नामस्थापने श्रुत्ये द्रव्याङ्गं इशरीरानव्यशरीरव्यतिरिक्तं शिशो वाङ्गादि । जावनेऽयमेवाचारः आचारङ्गम् आचां १ कुं १ अं १ उं । चित्तं, अङ्गजे कामे उपायं, प्रधानोपयोगिनि उपकरणे, फलवस्तुनिपाद्यफलं तद्वक्तृमिति मीमांसा जन्मादिलभने, यस्मान्प्रत्ययविधिस्तद्वदि प्रत्ययेऽङ्गमिति पाणिनिनाप्यनेन प्रत्ययार्थोपचूतो शब्दभूतं च वाचः । अयभरेवस्य द्वादश पुत्र, कल्प० । नौ० । जनपदविशेषे, यत्र अम्पा-नगरी इां ८ अ० । प्रयः । स्यात् । वृ० । कल्प० । सुत्र० ।

आङ्ग-पुं० अङ्गानां राजा आङ्गः अङ्गदेशाधिपे, बहुदेशाणां लुक् अङ्गा अङ्गदेशस्तत्राजिनो वा भक्तिरस्य अण आङ्गः अङ्गदेशभक्तं, अङ्गराजभक्तं वा ङि० । अङ्गनागमम् आङ्गदः अङ्गनिमित्ते कार्थ्यं, याणंवाङ्गं वलीः इति परिजाया वाच० अङ्गं शरीरावयववस्तुद्विकारः आङ्गम् । देहावयवकारे, स्यात् ८ जा० । अङ्गं प्रथमाङ्गम् । शरीरांतरेण, लृट् १० अ० कु० अङ्गविययमा-ङ्गम् । अत्र० ४ अ० । शिरःस्फुरणादौ, स्यात् ८ जा० । शरीराऽवयवप्रमाणस्पदिनाद्विकारकज्ञात्वात्कं महानिमित्त-प्रेदे, स० । अङ्गस्फुरणादिजिः शरीरावयववयवन्दनप्रमाणादि-भिदिदिद वतंमामनतं।तमनागत वा अुनं प्रशस्तनमगुनं वाऽऽश-स्तमस्यमे कथ्यते तज्जगयते अङ्गं निमित्तं यथा 'सूनि स्फुर-त्याद्यु पृथिव्यवामिः, स्थानपूर्विकश्च ललाटदेशः । शूद्राणामध्य प्रियसंगमः स्याःशासासिमध्यं च महार्थज्ञानं' इत्यादि प्रथ० ३५७ इां० "द्विगुणप्राप्यं स्पन्दनमगिजास्ये तत्फलं (विद्या वासे) पृथि-वीलासं शिग्लि, स्वानवित्पुकिंशते स्यात्" इत्यादि स्यात् ८ जा० (आङ्गनाम्नो महानिमित्तस्य सुत्रादिमानम्) "अंगस्य सय-सहस्रं, सुसुचित्तो यं काङ्क्षिष्यामि । वक्ष्माणं अप्रपिदये, श्व-मेव य वक्षिष्यती" श्रा० ४ अ० । अां चू० । स० ।

अंगअ-अङ्गज-पुं० अङ्गाजान्येन जन-र-पुत्रे, कौ० इां० आ० वृ० । दुहितरि, स्त्रा० देहजातमात्रे, ङि० उधिरं, न० रेरे, पुं० लामि, न० अङ्गं मनस्तस्याजान्ये कामे, पुं० वाच० । अङ्गद-न० अङ्गं दायति शोचयति दै-क-बाहुशीर्षाभरणे, प्रहा० २ पद० । उी० । ज० । हा० । स्यात् । र० । औ० वाहि-वानरराजपुत्रे, वाच० ॥

अंगद-अङ्गजित्-पुं० अत्रवस्तीवास्तव्ये पृष्टपतिभेदे, नि० स्या० (स च पार्थिवजान्तिके प्रह्वयं गृहीत्वाऽनशनेन मृत्या अन्-विमाने च-न्वयेनोपपन्न इति चंदशब्दे वक्ष्यते)

अंगह (रि) सि-अङ्गर्षि-अङ्गर्षि-पुं० अङ्गवावास्तव्ये कौ-शिकार्थेऽभिषे, तस्य प्रद्रव्यादङ्गर्षिरिति कौशिकार्येण नाम कृतम् । आ० म० इि० । आच० । आ० वृ० । आ० क० । तीये० । (तेनापशभं सति सामाधिकमवाय केषलमधिगतमिति अङ्ग-वशब्दे वक्ष्यते)

अंगचुलिया-अङ्गचूलिका-स्त्री० अङ्गस्याऽऽचारदेशचूलिका यथावाचारव्यतिक्रियाया इहातुत्तायं संप्रतिहा चूलिका । का-शिकशुननेदे, पा० । मं० स्थानाङ्गसुत्रे तु संकेपिकादेशायास्तु-तीयाध्ययनत्वेनेयसुक्ता स्या० १० । २० ।

सम्प्रत्युपलभ्यमानाङ्गचूलिकायाप्यस्येधमातरमादिः । नमो सुभ्रदेवयापु भगवद्भै नमो अरिहंतापानं नमो सिक् । एां नमो आयरियाणं नमो उवज्जायाएणं नमो कोए सवसा-ह्रां । तेषां कालेणं तेषां समएणं चंपाणामं एएरी होत्या

वसओ पुसभदे चेतए । तेणं काज्ञेणं तेणं समएणं
 समएस्स जगवओ महावीरस्स अनेवासि । अज्जमोहम्मं
 एणं अणगारं । जाइएणं जहा उववाए जाव चउणा-
 णंमंणे । पंचादिं अणगारसण्हिं मंपारवुमे पुव्वाएणुएवं
 चरमाणे जाव जेणव पुसभदे वेए अट्ठार्याइस्सुवं विहरइ
 परिमा णिग्गया । धम्मं सोबा एिस्सम्म जांमव दिस्सि पा-
 उव्वुआ तांमेव दिस्सिं परिगया । तेणं काज्ञेणं तणं मम-
 एण अज्जसुट्टम्मसस अनेवासि । अज्जजंजुणांम अणगारे ।
 जायपहुं जाव जेणव अज्जसोहम्मं सामी तेशेव उवागच्छइ
 उवागच्छत्ता तिस्तुओ आयाहिणं पयाहिणं करइ करिंसा
 वंदति एमंसति वंदित्ता एमंसित्ता जाव पज्जवास-
 ति एवं वयासी । जइ एं भंते समएणं भगवया महावी-
 रेणं जाव संपत्तेणं इकारस अंगाणं अयमट्टे पन्नत्ते इका-
 रसं अंगाणं अंगचूलियाए केअट्ट पन्नत्ते तनेणं अज्जसुह-
 म्मे अणगारं जंजअणगारं एवं वयासी । एवं खलु जंज-
 मणेणं जाव संपत्तेणं अंगचूलियाए अयमट्टे पन्नत्ते ।
 जंजुअंगचूलिया अंगचूलियायाण्यया । जहा कण-
 यमिरेचूलिया मिआ । चत्तालीसं जेअणुआ कण्यमि-
 रम्मि मणिसुज्जे दीसंति । जहा वुरिमिच्छीणमच्छी ।
 जहा य चूलियाए सिंरं सोज्जति मणिएरयणांमियमउकेणं
 मउत्तियं दिप्पति निलयरयणेणं जालं दिप्पति । विवि-
 ट्ठनाणाणिएणुचयकुंरुलुजुअलेणं क्कमे दिप्पति । तेहिं
 विट्ठिज्जमाणं गंटे दिप्पति । उअयनासाए विमजस-
 मुत्ताहलं दिप्पति । कज्जलेणं विसाउत्तोअणे दिप्पति ।
 पंचसुमं धएणं तंवेत्ते वयणकमलं दिप्पति । मंवाचर-
 णेणं गंवा दिप्पति । वरमुत्ताहलहारएणं वच्छत्तं दि-
 प्पति । वरकुण्णरयणखांचयकमिनुत्तएणं कइं दिप्पति ।
 नेउरेणं पाए दिप्पति । तथा अंगचूलियाए इकारसं अं-
 गाणिं दिप्पति । सा अंगचूलिया निग्गयाणं निग्गंथीणं
 सम्मं जाणुएव्वा फासियव्वा तीरियव्वा कियियव्वा भुज्जा
 जुज्जा अट्ठा महेउअत्ता सवागरणा गुरुपरंगमणेण गहि-
 यन्वा । तत एं अज्जसुट्टम्ममणिणा एवं वुत्ते ममाणेहट्ट-
 तुट्ट चित्तमाणंदिए जंज एवं वयासी । कह एं जंते ! गुरु-
 परंगमणे जणइ । जंजसमएणं भगवया महावीरेणं तओ
 आगमा पणत्ता । तं जहा अत्तागंमं अणोतरागंमं परंप-
 रागंमं अत्तओ अरहेताणं भगवंताणं अत्तागम । सुत्तओ
 गणहराणं अत्तागम । गणहरसंसाणं अणंतरागंमं । तओ
 परं मव्वेसिं परंपरागंमं ॥

(अय्य प्रथम्यथ त्थोकामानमथी श्वातीति तथैव प्रथम्यसमासौ
 प्रतिपादितम् ।

अंगचूलिय एव अंगचूलिय-दिं अङ्गुपु जियः । कृत्वाङ्ग, " इमं

नङ्गभट्टसीसमुहविश्लेष्यं करेह वेयगच्छादिषु अंगचूलियं इमं
 पुष्पाफादिषु करेह " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।
 अंगचूलि [य] द-अङ्गुपु-द-पुं० इतिनाययकसंज्ञे, " अं-
 गचूलिओ सअचिनां सेसरक्खट्ठा " पंचा० १६ विष० ।
 अंग [अङ्ग] रा-अङ्गण (न)-न० अणि-गती अङ्गघते शु-
 दा(सुव्य गम्कते सुट्ट) पूपेन्द्रादित्थाइ लुक्कम् । वगंस्त्वा
 वा २।३० इत्यनुस्वारव्यवा परस्वघणे । प्रा० अजिरे, प्रअ०
 सं० २ छा० ४ अ० । शूदाअभागे, कल्प० । "अणणं मंउवट्टाणं"
 नि०चू० ३ उ० ।

अंगगा-अङ्गना-खी० अङ्गे स्वशरीरे पयोधरानितम्बउच्चनस्म-
 रकूपिकादिषु अनुरागां येयां ते अङ्गानुरागास्ताइ अङ्गानुरा-
 गाइ कुञ्जतीति अङ्गनाः खीपु, । तं० आआ० । नि० चू० ।
 अंगदिया-अङ्गदिका-खी० तीर्थविशेषे, यथ श्रीमद्विजय-
 मिश्रातिवृत्ताइयं श्रीभ्रूहन्निदेवतावसरः ती० ४४ कल्प० ।
 अंगपजव-अङ्गप्रभव-वि० अङ्गादिः एतियादिः प्रभवउपत्ति-
 रस्थिति अङ्गप्रभवः इतिवादादिषुपत्रे, यद्योस्तरत्नयने पर। बहा-
 ध्ययन्म् " कम्मपवायपुब्बे सत्तरसे पाहुमिं सं सुत्तं । स-
 णय सादाहरणं, ते चेव इहं पि णायव्यं " उत्त० १ अ० ।

अंगप्यविट्ट-अङ्गप्रविट्ट-न० इह पुरुषश्च इदंश अङ्गानि भव-
 न्ति तद्यथा द्वौ पादौ च जङ्घं च कूर्णौ च गात्रौ च द्वौ बाहु
 प्रावा शिरश्च एते अङ्गप्यस्यापि परमपुरुषस्याचार्यादीनां द्वा-
 दशाङ्गानि क्रमेण चिदित्ययानि तथा चोक्तम् । " पायुत्तं जे-
 थोक गायदुग्धं तु द्वां य बाहु य । गीवा सिरं च पुरिसो, धार-
 स अंगसु य पविट्ठो " अङ्गपुरुषस्याङ्गेषु अविट्टमङ्गप्रविट्ट ॥
 अङ्गभावेन व्यवस्थिते सुतभेदे, नं० । स्थान० । अउ० । पा० ।
 अङ्गप्रविट्ट्याणमङ्गप्रविट्टे जेइ इह प्रदश्यते ॥ " अइ जगव तु-
 त्ते चेव मव्वुत्तम को विसेसो । जहा इमं अङ्गप्यविट्टं इमं अ-
 गवाहिरं ति । आउतरं ओ आह जे अरहंतेदिं अगंयेनेहिं अत्तांता-
 णागतवट्टमाणदव्वसिग्गेल्लकालाजयजहायथितत्तंसीदिं अथ-
 पकवितार ते गणहरंदिं परमशुक्तिमंशिवानुशुब्धसंपादिं सयं च-
 व नित्यगरमकासातो उववभित्कं मव्वसत्ताणं हिद्यत्ताय सु-
 त्तं तण उवविट्टं अं प्यविट्टं आयागदिं दुवासविट्टं ।
 जं पुण अथेदिं विमुत्तागमवुत्तुत्तेदिं धेरेहि अण्णावणं मणु-
 थाण अण्णुत्तिसत्ताणं बहुमाहकंति नाकणं तं चेव आयागदिं
 सुयणणं परंपरागंमं अत्यतो गंथेने य अतिबहुं नि काकण अ-
 ण्णुकावित्तिचं दसव्वयालियमावित्तिचं अणगंभेदं अणंग्याव
 इं " आ० चू० १ अ० ॥ तथा च ॥

गणधरधेरकयं वा, आपसा मुक्तागराणओ वा ।

धुरचलविमेसओ वा, अंगाणेमुत्तु राणाणं ॥

अङ्गानङ्ग्यावधुनयारिदं तातावमेतद् भेदकारणं किमि-
 त्याह गणधरा गौतमस्याख्यादयस्मन्कृतं सुतं इदंशङ्कपमङ्ग-
 प्रविट्टमुच्यते विशेषे ॥ गणधरदेवा हि धुनद्रुतमाभागादिकं
 धुनमुपरचयन्ति तेषामेव सर्वोत्पद्युतलक्षिपसंप्रत्यया तद्रचयि-
 तुमीक्षणान् शोभाणं तनस्तकृतं स्युं सूत्रयुतमित्यङ्गप्रविट्टमु-
 च्यते (नं) यपुनः शेषः धुनरथाविरैः तदेकदेशमुपजोष्य विर-
 चितं तद्वनङ्गप्रविट्टं (नं) स्थानविराजो अङ्गव्यावभावात्प-
 रस्तरुद्रे धुनमावयवकनित्युत्क्यादिकमनङ्गप्रविट्टमङ्गवाहामुच्यते
 अथवा धारप्रयं गणपुपुष्टय तीर्थकरस्य संस्कर्णाय आदशः

प्रतिबन्धनसुपाद्व्ययप्रौढ्यवाचकं पद्यप्रथमित्यर्थः तस्माच्छिष्य-
 यो तदङ्गप्रतिषेधं द्वाहशास्त्रमेष विधा० २ श्रु० १० अ० । आदेशा यथा
 "आर्यमङ्कुराचार्यस्त्रिविधं शास्त्रमिच्छति एकमधिकं बह्नायुष्क-
 मभिमनुषानामगोचरं । आर्यस्यसमुद्रो द्विविधं बह्नायुष्कमभिमनु-
 षामनाथं च । आर्यसुहृदस्ती एकमभियुक्तानामगोचरमिति । सु०
 १ उ० । मुक्तं मुक्तश्रमप्रशपूर्वकं यत् अन्वयः कर्मप्रतिपादनम्
 (वि० २ श्रु० १० अ०) यथा वर्षद्वयकुण्डलायामित्यादि ।
 तथा मरुदेवी जगवती अनादिपुनरुपतिकारिका तद्वयनं लिखा
 इति (सु० १ उ०) तस्माच्छिष्यमङ्कुराहात्मनिधीयते तन्नाव-
 श्यकमित्येकं वाशाब्दोऽङ्कुरमेषधत्वेन पूर्वोक्तमङ्कुराण्यव्यव-
 सृचकः । नृनीयभेदकारणमाह (धुवेति) भ्रवं सर्वेषु तीर्थकर-
 तोषेषु निश्चयमात्रि (विधा० २ श्रु० १० अ०) सर्वेषु केवेषु
 सर्वेषु चार्थकम् चाधिष्ठयत् एवमथ व्यवस्थितं तन्तत्तदङ्कुर-
 प्रविष्टमुच्यते अङ्कुरप्रविष्टमङ्कुरतं मूलवृत्तामित्यर्थः । न० ३ द्वा-
 दशाङ्गीर्णानि यस्तुनभलमनियनमिच्छयन्नात्रि तत्पटुसंभका-
 त्रिकप्रकीर्णकदिशुनमङ्कुराणां वाशाब्दोऽत्रापि भेदकारणान्तर-
 त्यसृचकः । इदमुक्तं भवति गणधरकृतं पदत्रयसङ्कणतीर्थकरा-
 देशनिषेधं भ्रवं च यत् भ्रतं नदङ्कुरप्रविष्टमुच्यते । तच्च द्वाद्शाङ्गी-
 र्णमेव यस्तुनः स्थिरकृतमुक्तगोर्षानिधानं चतं च तदाव-
 श्यकप्रकीर्णानि भुनमङ्कुराहात्मिति विशेषः ।

अङ्कुरप्रविष्टभुनजदा यथा ।

ने किं तं अंगपविट्टं अंगपविट्टं तुवालसविट्टं पञ्चतं तं
 जदा । आयारो १ सुयगमो २ उाणं ३ समजाओ ४
 विवाहपञ्चतं ५ नायाधम्मकदाओ ६ उवासगदसाओ ७
 अंतागदसाओ ८ अनुत्तरोववाउदसाओ ९ पाहवा-
 गरगाः १० विवागसुयं ११ दिट्टिवाओ य १२ ॥

अथ किं नदङ्कुरप्रविट्टं सूरिराह अङ्कुरप्रविट्टं द्वायविधं प्रकृतं त-
 दाया आचारं सुवहृतमित्यादि न० अग० प्र० ५० । (आचारा-
 र्थानामर्थः स्वस्वस्थाने) एतेषां मानं तथा हि "अस्तसर्पयसहस्ता
 आयाः १ उगुणदुगुणसेसेसु । सुयगड २ गण ३ समवाय ४
 भगवद ५ नायाधम्मकदा ६ । ११ अंग उवासगदसा, ७ अंतगमं ८
 अगुत्तरोववाउदसा ९ । परहवागमं तथा, १० विवागसुय ११
 अंतागदसा १२" इत्यादे सर्वेषुसङ्गाविधिषु शेषभुनचनेन हेतु-
 विशेषः । आह ननु प्रथमं पुराणेष्वेवापिभ्रवन्नाति गणधर इत्याग-
 मे भ्रवणं पूर्वकारणादेव चेन्नानि पुराणेषुऽभिधीयन्ते तेषु च नि-
 देशोपपत्ति वाङ्मयमवतरति अतःअनुत्तराश्रयकं द्वादशमेवाङ्कुरस्य
 किंनोपायामङ्कुरिचनेन अङ्कुराहाशुनचनेन वा अस्तसङ्गायाद ॥

जइ वि य जूतावाप, सव्वस्स वि उगयस्स ओयारो ।

निव्वृद्धणा तदा वि हु, दुम्मडे णप इत्थीया ॥

अशांभिशेषान्वयतस्य सप्रभवस्तुस्तीमस्य नूतस्य सङ्कृतस्य
 वादा भणनं यथाऽस्ती नूतवादः । अथवाऽनुगतन्यावृत्तापरिरो-
 पधमेकत्रापान्वयतानां सभेदप्रसङ्गात् सभेदप्रसङ्गात् प्राणिनां वादो य-
 थाऽस्ती भूतयादो इत्यादः । दीर्घत्वं च तकारस्यार्थत्वात्तत्र
 यद्यपि द्वाद्वादेषु सर्वस्यापि वाङ्मयस्यावतारोऽस्ति तथापि तु-
 म्भेधसां तदयथाभाष्योपपत्त्यानां भ्रमसांतीनां तथा स्त्रीणां चानु-
 प्रदायै मिथ्यैतदा विरचना शेषभुनस्थेति । विशेषः १२० पत्र० ।
 अंगवाहिर-अंगवाहा-न० द्वादशाहात्मकस्य भुनगुरुस्य बहि-
 र्व्यतिरेकं स्थितमङ्कुराहात् । अङ्कुराहात्वेन व्यवस्थिते भुतिवि-

शेषे, न० । एतद्देदा यथा " अंगवाहिरं कुडिडे पचलं तं उदा
 भावस्सय वेध भावस्सयवहरित्तं वेध" स्था० १ ग्रा० म० अनु०
 आ० च० । रा० । कर्म० । (अङ्कुरप्रविष्टादस्य नन्दाऽनन्तरमेव
 अङ्कुराविट्टं वाद्ये उक्तः)

अंगवाहिरि-अङ्कुराहा-स्त्री० अङ्कुरान्वाचारादीनि नेत्यां वा-
 हा अङ्कुराहाः । अन्वयविष्टायां, लघुत्वरजन्वृद्धीपदोपरसागर-
 प्रकृतयः ॥ अङ्कुराहाः । स्था० ७ उ० ॥

अंगभंजरा-अङ्कभंजजन-न० शरीराऽवयवप्रमोदने, प्रश्न०
 संव० ५ उ० ।

अंगभूय-अङ्कभूय-त्रि० कारणजने, प्रश्न० १ उ० ।

अंगभंग-अङ्कभङ्ग-न० (प्राकृतेऽशास्त्राणिको मकारः) अङ्कप्रत्य-
 ङ्गु, " रायसङ्कणविराहयंगमगा " रा० । स० । शरीराऽवयव-
 धेषु, ज्ञा० ७ उ० ।

अंगभंगिभावचार-अङ्कभंगिभावचार-पुं० परिणामपरिणामि-
 प्रावगमनं, ज्ञा० ।

अंगमंदिर-अङ्कमन्दिर-न० चम्पानगर्यां बहिर्विद्यमाने चैत्ये,
 " अंगमंदिरं चैत्यसि सङ्करामसस सरीरं विण्यजहामि " ।
 ज० १ श० १ उ० ।

अंगमदिया-अङ्कमदिका-स्त्री० शरीरमर्दनकारिण्यां दास्यायु-
 " अत्र अंगमदियायां अत्र उम्मदियायां " इहाङ्कमदिकानामु-
 न्मदिकानां चावयवभुनमर्दनकृतो विशेषः । अ० ११ शा० ११ उ० ।
 अंगरक्व-अङ्करक्व-न० अङ्कं रक्कयति । अङ्कं रक्-अच्य चर्मणि,
 ज्ञा० ३ अ० ।

अंगवृहण-अङ्कवृहण-न० अंशुकनाङ्कस्य स्नानजङ्कितताप-
 नयनं, ध० २ अ० ।

अंगविजजा-३-त्रिविधा-स्त्री० अङ्कुराया व्याकरणविशास्त्ररूपा
 विद्या ज्ञानसाधनम् । ज्ञानसंपादके व्याकरणविशास्त्रे, वाच० ।
 शिर-प्रभृत्यङ्कुरणतःशुभाशुजसृचकार्यां विद्यायाम्, अङ्क-
 स्फुरणफलशास्त्रं, यथा " शिरसः स्फुरणे राज्यं, हृदयस्फुरणं
 सुखम् । बाहोश्च मित्रसंलापो जह्युयान्नोऽसंगमः ॥१॥ उक्त० ७
 अ० । स्वनामभ्यानेऽङ्गादिनिमित्तफलदेशके प्रमथविशेषे च ।
 स च प्रमथः कुतो निर्वृद्धः कति तत्राध्यायाः कियन्तो वा तत्र
 विद्या इति तत्रैवादी प्रदासितं । यथा कृष्णनि च विद्याश्च अ-
 ङ्कविद्या । अङ्कविद्याध्यायविधिषु भौमनात्त्रिकादिषु हिंसि हिंसि
 मातङ्किते इत्यादा इत्यादिषु विद्यानुवादप्रसिक्तानु विद्यासु च ।
 " अंगविजजे च जे पञ्जंजित न हुते समणा " उक्त० ८ अ० ।
 अंगविचार-अङ्कविचार-पुं० ६ त० (शिरःस्फुरणार्थं, शरीर-
 स्फुरणार्थतः शुभाशुभसूचके शास्त्रे, उक्त० १५ अ० ।
 अङ्कविचार-पुं० ६ त० शरीरस्पर्शनस्य नेत्रादीनां स्फुरणस्य
 वा विचारः । तद्विचारेण फलादेशके शास्त्रे च उक्त० १५ अ० ।
 " अंगविचारं सरस्स विजयं जो विज्जाहिं न जीवई स निफक्कु "
 उक्त० १५ अ० ।

अंगसंचाल-अङ्कसंचार-पुं० रोमोच्चादिषु ग्राथविचक्षणप्रकार-
 ण, "सुहृमेदिं अंगसंचारिदिं" भाव० ७ अ० । ध० । व० ।

अंगसुहृफरिस (फासिय)-अङ्कप्रतीक-त्रि० अङ्कस्य मुखः
 मुखकारि स्वशो यस्य तत्तथा । क० । देहसुखेदेहनुस्पर्शयुक्तं,
 अ० ११ ज्ञा० १ उ० ।

अंगगादाय-आज्ञादान-न० अङ्गं शरीरं शिर आदीनि वा अङ्गा-
नि तेषामादानं प्रथमः प्रसूतिरङ्गादानम् । मेद्रे, अङ्गादानस्य सं-
वाहनादिनिषेधस्तत्र प्रायश्चित्तम् ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगगादाणं कट्टेण वा कस्सिचेण वा अंगु-
लिपाए वा सिद्धागाए वा संघासेइ संघासेतं वा साइज्जइ । १२ ।
अङ्गं शरीरं शिरमादीनि वा अगाणि तेषि आदानं अंगगादा-
नं प्रथमो प्रसूतिरित्यर्थः । तं पुण अंगगादाणं मेद्रे अरणति तं
जो अरणतरेण कट्टेण वा कस्सिचो वंसकपट्ठी अंगुली प्रसिद्धा
वेत्तमादि सहागाए तेदि जो संघालति साइज्जति वा तस्स मास-
गुरुं पच्छिजं ॥

इदाणीं णिज्जुत्तौप भसति ।

अंगगाए उवंगाणं, अंगोवंगान एयमादीनि ।

एतेणंगो ताणं, अंगान्तरेण वा जने वितियं ॥ ११ ॥

अंगानि अत्र शिरादीनि उवंगा कथादीनि अंगोवंगानकषपव्या-
दी पतंसि सयं आदानं कारणाग्निं तेण पुण अंगगादाणं भसति ।
अथवा अणायत्तणं वा जने वितियं णाम अंगगादाणं ति ॥
अस्य व्याख्या ।

सीसं उरो य उदरं, पिट्ठीं बाहू य दांसि ऊरुत्थो ।

एते अट्ठंगा खलु, अंगोवंगाणि सेसाणि ॥ ११ ॥

शिरः प्रसिद्धं उरः स्तनप्रदेशः उदरं पाण्डुं पिट्ठीं पसिद्धा
दोषि बाहू दोषि कूक आणि एताणि अट्ठंगाणि खलु अथधारणे
प्रणिनं अस्वस्ता जे ते उवंगा अंगोवंगान्ये ते इमे य ।

होति उवंगा कएणा, एासच्छीं जंघहत्थपासा य ।

णह केसु भंसु अंगुणि, तद्दोवरतत्तअंगुवेगाउ ॥ १२ ॥

कथा नासिगा अञ्जी जेधा हत्था पादा य एवमादी सव्वे
उवंगा अर्वाति वहा भासा स्मसु अङ्गुलि हस्ततलं हत्थतलाभा
समंता पासंसु अघाया उचत्तलं भसति । एते नखादि अंगोव-
गादीन्यर्थः तस्स संवालयसंभवो इमा ।

संवालाणं तु तस्स, माणमिच्छं अणिमिच्छं वा वि ।

आतपरत्तुअए वा, अणान्तरे परंपगा चेव ॥ ११ ॥

तस्येति मेद्रेस्य संवालाया सणिमित्तं उद्याहारे सरिरे य
इदमपि प्रथमसूत्र एव व्याख्यातम् (एतएवार्वांसि) सणिमि-
त्ताणिसत्त्वज्जा मामासेण सव्वा विवालाणा त्रिविधा अप्य-
सेण परेण वा उभएण वा । एकेका दुविया अणनंग परंपरा
वा अणनतरेण हत्थेण परंपरेण कटादिणा एत एवाविति ।
अस्य व्याख्या ।

उट्ठाणिवसुत्तंघण, उच्चत्तणमणमादिएसि तप ।

ए य घट्टणवोभिरिउं, चिदति ताणं पज्जलं जाव । १३ ।

चट्टेत्तस्स णिसीपंतस्स वा लंघणीयं वा उल्लेघतस्स सुत्तस्स
वा उच्चत्तणादि करंतस्स स गच्छंतस्स वा आदिस्सदानो पकि-
भेहसादिकरिया एवमादि इतरा संवालयणा सयं कारयं वा
वासिस्सिक्कण संघासेति काशयपरिसारणणमिच्छं ताव चिट्ठइ
जाव सयं चेव णिप्पगलं अणनतरे परंपरं संवालयणेमाणस्स
मासगुरुं आणारीणीं वा दोसा अर्वाति ॥

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगगादाणं संवाहज्ज वा पत्तिमद-
ज्ज वा संवाहनं वा पत्तिमदं वा सात्तज्जति ॥ १३ ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् संवाहति एकस्मिं परिमदति पुणो पुणो सा
संवाहणा सणिमित्ता वा अणिमित्ता वा पूर्ववत् । अणादिवि-
राहणा पूर्ववत् ॥

(सूत्रम्) जे निक्खू अंगगादाणं त्तेहेण वा घएण वा
पावणीएण वा वसाए वा अर्धमेज्ज वा मंसंज्ज वा अ-
र्धगतं वा मंसंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे निक्खू पूर्ववत् तेद्वघता पसिक्का । वसा अयगरमच्छम्-
कराणं अर्धमेज्जति एकस्मिं मंसंतं एणो पुणो अथवा घोषेण
अर्धमंगलं बहुणं मंसणं उच्चट्टणासुं सणिमित्तअणिमित्ता-
या पूर्ववत् साइज्जणा तद्वत् अणातिविराहणा पूर्ववत् ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगगादाणं ककेण वा होदेषेण वा
पठमसुराणेण वा एहाणेण वा सुएण्हि वा वसेण्हि वा
उच्चट्टेइ वा परिचट्टेइ वा उच्चट्टंतं वा परिचट्टंतं वा साइज्जइ ५
ककं उच्चलणय उच्चसंयोगन वा कक्कं भियंतं किंविद्धो
इट्टउच्चं तेण वा उच्चट्टंति पघसुणंन वा पहानं एहाणमेव ।
अथवा उचएणणयं जएणति तं पुण मासक्खणोदिसिणाणं संघि-
याधणे अंगघसखयं बुद्धति वएणथो जे सुगंधो चंदनादिसू-
णाति जहा घट्टमाणसुणो पदवासादिवासनिमित्तानिनिमित्त
तदेव उच्चट्टेसि एकस्मिं परिचट्टेति पुणो एयो ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगगादाणं संघोदगविषयेण वा
उसिणादगविषयेण उच्चोत्तेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्चो-
त्तं वा पधोपंतं वा सात्तज्जइ ॥ ६ ॥

शान्तमुदकं शतोदकं विद्यदं ववगयज्जियं उस्सिणमुदकं
उस्सिणादकं उच्चोत्तेज्जि सकृत् पधोवणा पुणा पुणो ।

[सूत्रम्] जे निक्खू अंगगादाणं णिच्छोद्धइ हत्तोलंतं
वा साइज्जति ॥ ७ ॥

णिच्छोत्तेसि त्वचं अघणेति महामाणि प्रकाशयनीत्यर्थः ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगगादाणं जिघाति जिघंतं वा साइज्जइ । ८ ।

जे भिक्खू पूर्ववत् जिघति नासिकया आघ्रातनीत्यर्थः । इत्ये-
ण वा मल्लकाणं जयलं जिघति । पतंसि संवालाणादीनां
जिघातावसाणो सत्तएव वि सुत्ताणं इमा सुत्तफासनिमासा-
सुत्तानि वक्तव्यानि ।

संवाइएणमन्गण, उच्चट्टएणोवणे य एस कपो ।

एायवो णियमो उ, णिच्छोद्धणजिघाणाय य ॥ १०० ॥

संवाइणसूत्रं अर्धमेगासूत्रं उच्चट्टणासूत्रं धोवणासूत्रं एव ममां
सि संवाइणसूत्रं जनिओ सो चेव य पगारा णायवो णियमां
अवस्सं णिच्छलणसूत्रं जिघाणासूत्रं च । एतेसु चेव सत्तसु वि
सुत्तसु इमो दिठ्ठो जहकमेण ।

सीहासीविसअगी, भिद्धी वग्गे य त्थायगरणरिदो ।

सत्तसु वि पदसु त्, अट्टारणा होति एायववा ॥ १०१ ॥

संवालाणसुत्ते दिठ्ठो । सीहो सुत्तो संघासित्तो जहा जीवन्-
गरो अर्वाति एव अंगगादाणं संघासिये मोहउभयं जणयति । त-
तो चारित्रविराधता इमा आयाविराहणा सुक्कफएण मारज्ज-
एण वा कटाइणा संघासेति तं सविंसं उच्चसिधज्जयं वा अयं
वा कट्टेण इवउज्जा । संवाट्टणासूत्रं इमो दिठ्ठो । ओ आसीविसं
सुत्तसुत्तं संवादेति सो विद्युत्तो तस्स जीवियंतकरो भवति ।

एवं अंगदाष्टं पि परिमहमाणस्स मोहुज्जयो ततो चारिचञ्जी-
वियविण्णसो ज्वयति । अङ्गेनगाणसु एमे विट्ठोतो इहरहं वि
ताव अग्नी उज्जानि किं पुण घटादिणा सिञ्चमाणो एवं अंग-
दाष्टं वि अरिउज्जमाणो सुदुक्खं मोहुज्जयो भवति । उज्जहणासुधे
इमो विट्ठोतो नद्धु । शास्त्रविशेषः सा सत्रावेण तिहाहा किमंग !
पुण पिणिया एवं अंगदाष्टसमुद्यो सत्रावेण मोहो विपत्ति कि-
मंग ! पुण उज्जहिते । उच्छोतणा सुधे इमो विट्ठोतो एगो वण्यो
सो अचिउरोगेण गह्मिओ संबद्धा य इच्छोतो तस्स य एगेण वेजे-
ण वदिवाए अक्खीणि अङ्कण पव्वणीकतायि तेण सो वेच य
वद्धो एवं अंगदाष्टे पि सो इतरं चारिचावनाशाय भवती-
त्यर्थः । पिच्छोलणासुधे इमो विट्ठोतो जहा अथरावस्स सुहृ-
सुधस्स मुहं विद्यतेति तं तस्स अप्यवहाय भवति एवं अंग-
दाष्टं पि पिच्छसिंघे चारिचावनाशाय भवति । जिणयासुधे इ-
मो विट्ठोतो अरिदेति एगो राया तस्स वेजपमिसिद्धे अंयए जि-
वणाणस्स धरिदेत्तो । उच्छाह सो गंधप्रियेण वा कुमारेण गंध-
मन्ध्यायमाणेण अप्या जीविया उज्जसिधो एवं अंगदाष्टं जिण-
याणां संजमजीवियाभो सुधो अणाइयं व संसारं जमिस्सति
ति सत्तसु वि पदेसु एते आहाराण भवतीत्यर्थः ॥ अग्निओ
उस्सम्भो । इदानीं अवयानो नञ्जाति ।

तिवियपदमणपभे, अपदंसे मुत्तसकरपभेडे ।

मत्तसु वि पदेसु वे, तिवियपदा हौति पायज्जा ॥१०२॥

तिवियपदं अथवायपदं मणप्यो अनासम्भयः प्राहसुहोति
इत्यर्थः । सो संचलणादी एके सव्ये करेज्जा । अपदंसेो पि-
पाठकं मुत्तसुहृए पाषाणकः पमेहो रोगो संसलं काइयं अ-
रं अचक्यति एतेसु पदेसु सत्तसु वि जहासंभवं भासियव्वा
मणियं संजयासं ।

इदानीं संजतीणं ।

एसंव गमो षियमा, संचासणवजिजो उ वज्जाणं ।

सवाइणमार्दीसुं, उवदिहेमं उसु पदेसु ॥१०३॥

एसंव पगारो सव्वो णियमा संचासणसुत्तविचजिओ सं-
वाइणादिसु उवदिहेसु उसु वि सुसेसु इत्यर्थः ।

[सूत्राणि] जे जन्कू अंगदाष्टं अथरांसि अचिचांसि
सांयगासं अणुपव्वेसिवा मुक्कोपंगले णिग्घाएण एण्णयायंतं
वा साइज्जति ॥ ए ॥

जे जिक्कू पुवंयत अथातरं णाम बहूणं पकविषयां अथातरं
अचिचं णाम जीवविचारियं भवतीति अंगं तत्र अंगदाष्टं प-
विसेकण मुक्कोपंगले णिग्घायति शास्त्रयतीत्यर्थः साइज्ज वा ।

इदानीं णिज्जुच्छी ।

अचिचं सोचं पुण, देहे पढिमा जुतेतरं चेव ।

नुविणं तिवियमणं, एक्के ते पुणं कम्मसो ॥१०४॥

अचिचं जीवरादिनं सोचं छिदं पुणसदां मेदप्यदरिस्सणे तं
अचिचसोचं तिविदं देहज्जुयं पडिमज्जुयं वेयरं व । एक्केस्स
पुणो इमो अग्ने कम्मसो बह्वो । देहज्जुयं कुविदं पडिमाज्जुयं
निविदं एगतरं अणेगहा । तत्थ वेदे जुयं देहज्जुयं कुविदं इमं ।

तिरियमणुस्सिवायं, जे खलु देहा भवती जीवज्जा ।

अपरिमाहेतरा वि य, तं देहज्जुतं तु एातव्वं ॥१०५॥

तिरियमणुस्सिवायं जे तहा जीवज्जा नचंनि मल्लु अथचारेण

तेपुण सरीया अपरिमाहा इतण सपरिमाहा । सधेतत्तं सप-
रिमाहं उपरिवक्कमात्तं मविस्सति । एवं देहज्जुयं जवतीत्यर्थः ।
इदानीं परिमाज्जुयं तिविदं पक्खिज्जति ।

तिरियमणुपदेवं, जा य पढिमा असिधिहितिओ ।

अपरिमाहेतरा वि य, तं पक्खिज्जुत्तं ति एाय वं ॥१०६॥

तिरियपढिमा मणुपपढिमा देवपढिमा वा असिंधियाओ
संनिहियाओ अ । असिंधिदिआओ पुविहा अपरिमाहा इतण
सपरिमाहा य । जे एयविहाण तियं तं पढिमाज्जुत्तं ति एायव्वं ।

इदानीं एतरं अणेगविदं पक्खिज्जति ।

जुगविहणालियाकर-मंविमाति सोततं जं तु ।

देहवा विवरीत, तु एतरं तं मुणियव्वं ॥१०७॥

जुगं वदिहाण अंधे अरोविज्जति लोणपसिद्धं तस्स छिदं
अथातरं व । णालिआ संणमल्लगदीणं जिदं कर्णायाणीयभंरं-
तस्स गीवा जिदं वा एवमावि सोततं वेहं सरीरं अथायति ना-
मित्ति, अथा प्रतिमा नेसि विवरीतं अथातयुत्तं जवति । इदं
पुण असिंधियअपरिमाहेसु अचिकारो जं परिसं तं एतरं मु-
णयव्वमित्यर्थः । एतस्सि सोआणं अथातरं जो सुक्कोपंगले णि-
ग्घातेति तस्स पच्छंत्तं भवति ।

मासगुरुणादि लद्धु, जहसुए मज्जिमे य उक्कोसे ।

अपरिमाहिचचितं, आदिट्टादिट्टे य देहज्जुते ॥१०८॥

देहज्जुए अपरिमाहिते अचिचं जहसुए अदिटे मासगुरुं विदे
चउल्लु अउक्कोसीए वारिअंत्तं मज्जिमे अदिटं चउल्लु विट्ठे
चउगुत्तं उक्कोसते अदिटे चउगुत्तं विट्ठे उज्जु । तिरियमणुसा-
मणेण देहज्जुयं अपरिमाहितं जणियं ।

इदानीं तिविदं परिमाहितं भवति ।

चउल्लुगुरुणादिं, मूलं, जहसुगादिभिहा इति अचिचं ।

तिविदेहिं परिजुत्ते, आदिट्टादिट्टे य देहज्जुते ॥१०९॥

इमा वि अउक्कोसी वारणीया देहज्जुते अचिचं यावक्क परि-
माहे जहसुए अदिटे चउल्लुयं विट्ठे चउगुरुयं काहोवियपरि-
माहे जहसुए अदिटे चउगुरु विदे अहं देवियपरिमाहे जहसुए
अदिटे लल्लुयं विट्ठे जग्गुरुयं एतेण वेच कम्मेण तिरिमाहे म-
ज्जिमेण चउगुरुणादिं । छेदे जति एतेण वेच कम्मेण तिरिमाहे
उक्कोसए उल्लुउआदीं मूलं जति जणियं देहज्जुयं ।

इदानीं परिमाज्जुयं नञ्जाति ।

पढिमाज्जुयं वि एव, अपरिमागहेतरं असंणिहित्ति ।

अचिचसोयसुत्ते, एसा भणित्ता अवे सोरपी ॥११०॥

परिमाज्जुयं वि एवं वेच जणियव्वं जहा देहज्जुयं अचिचं
अपरिमाहं तहा परिमाज्जुयं असंणिणहिअं अपरिमाहितं ॥
जहा देहज्जुयं अचिचं सपरिमाहं तहा परिमाज्जुयं असंणिणहिअं
सपरिमाहं भाणियव्वं । एतेसु पुण जुगविहणालियादिसु मास-
गुरुं एय सुत्तविषयातो एसा अचिचसोयसुत्तसोही जणिया ।
एते सामएएतरं, तु सोत्तए जे उरिदएणोमेहोओ ।

साणिपित्तमाशिमिचं वा, कुज्जा णिग्घचणार्दीणि ॥

एतस्सि अचिचसोआणादिविचाराहं पारेवइअसा संजमवगहा
रागगिंसंजमिषण, नाहो अहं संसेव विगहावगहा

सुक्कवए य मरयं, अक्किच्चकानि त्ति उन्धे ॥१११॥

राग एय प्रान्तिः रागानि. संयम एय इत्थं संयमं धमम

अतस्तेन रागाग्निना संयम्यन्तस्य दापो जयति विनाश इत्यर्थः
 अह इति एवा संयमविराधना इमा अयमविराधनापुणो पुणो
 विभागमागमस्य सुक्ककम्प मररं भवति न वा सुक्कपोमाले
 शिष्वाग्नात्ता अकिञ्चकारिति काउं अप्पाणं उव्वेथीन उक्ककं-
 वानांति वुत्तं जयति (अपवाहमागस्यु प्रथयत् अपवाहसंयः) नि०
 चू० १ उ० । जीतकदये नयमपत्रे स्नेहादिना प्रज्ञाणादिकं पञ्च-
 कल्याणकाणहिसुत्तमुत्तम । (मैथुनप्रतिज्ञया अङ्गादानसंचालन
 म भेदुण शब्दे प्रदर्शयिष्यते) (अङ्गादानाकारां कर्कटिकां
 वृद्धा जानकानुकायाः देव्या उवाहरणं पलेभ शब्धे दर्शयिष्यते)
 अं (ईं) गार (ल) -अङ्गार-पु० न० अङ्ग-आरत् । पका-
 ङ्कारप्रहादि वा । ५ । १ । ४७ । इति सूत्रणादेरत इत्यं वा प्रा० ।
 विगतभूमत्तद्वाह्मलेधनादिके वादरतेजस्कायनेदे । उत्त०
 ३६ उ० । आचा० । पि० । जीवा० । जी० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । औ० ।
 स्या० । ज्ञा० ॥ चारिरेभ्रन्तस्य रागाग्निनाङ्कारस्येव कर्णे, ग०
 ७ अ० । स्वाहृषं तद्वातात् वा प्रदासयतो भोजने आपतति
 आहारदोषविशेषे, घ० ३ अ० । पं० घ० । प्रव० । उत्त० ॥
 आचा० । तत्त्वे च ।

जेणं गिगंरस्ये वा गिगंरं वा फामुये एमण्डजे अ-
 मरं पाणं स्वाःमं नाडमं पकिगंहेत्ता सम्मुच्छिपु गिच्छे
 गदिपे अन्भोववणएण आहारपाहारोरे एमणं गोयमा ।
 संमाले पागभोवये भ० ७ श० १ उ० ।

"रोगो नरांगे" मडा० ३ ब्रा० एनेवेर संयत्थयानमाह ।
 तं होरे सङ्गाले, जे आहारोरे मुच्छिआ संतो ।
 तं पुण होरे भूमं, जे आहारोरे निर्दो० ।

नद्ववति नेजने सङ्कारं यत्तज्जाविशिष्टमन्त्रसंस्वावृत्तान्तो
 जाततन्त्रियसूच्यः सन् अहो मिष्टमहो सुसंभृतमहो सक्कियं
 सुक्कयं मरसांमत्येवं प्रसांमसाहारयति । तत्पुन भवति भोजने स-
 भ्रमं यत्तज्जाविकपरसंगत्सास्वाद्दो जाततन्त्रियस्यलीकचित्तः
 स्रष्टो रूपम क्वथितमपक्वमसंस्कृतमन्नवर्णं चेति निदृशा-
 हारयति । अयं तत्र भावार्थः । इह द्विविधा अङ्काराः तद्यथा
 ह्रस्वनाः भावतश्च । तत्र ह्रस्वनाः दृशागुदृश्याः खदिरादिवनस्प-
 तिविशेषाः भावतो रागाग्निना निर्दर्थं चरणेभ्यनम् । धूमेऽपि
 द्विधा तद्यथा ह्रस्वने जायतश्च । तत्र द्रव्यतो योऽर्कदृश्यानां
 काष्ठानां संवर्धं भावतो देवाग्निना दहमानस्य मानस्य सब-
 न्दी कलुषताया निदात्मकः ततः सहाङ्कारेण यद्वर्धते तत्सा-
 ङ्कार धूमन सह वर्तते यत्तत्सम्भूमम् ।

संस्थङ्कारधूमयोरङ्कारमाह ।

अंगारसत्त्वपत्तं, जलमाणं इण्यथं सभूमं तु ।
 अंगारं चित्तं पतुव्वइ, तं वि य द्दुंगए धूमं ॥
 अङ्कारसत्त्वमासं उच्यतेऽन्धेन सभूममुच्यते तदेवेऽन्धं दग्धे
 धूमं गते सति अङ्कार इति । एवमिहापि चरणेभ्यनं रागाग्निना
 निर्दर्थं सत्त्वं अङ्कार इत्युच्यते । देवाग्निना तु दहमानं चरणेभ्य-
 नं सभूमं निदात्मककलुषभावधूपकपुनर्मन्त्रित्वात् ।
 एतदेव ज्ञावयति ।

रागमिमसंपलितो, कुंजतो फामुये वि आहारं ।
 निदृच्छं गालनिभं, करेइ चरं गिधये सिप्यं ॥
 प्राद्युक्कमप्याहारं लुञ्जतो रागाग्निना संवर्धित्चरणेभ्यनं नि-
 दृग्वाङ्कारनिभं क्षिप्रं करंति ।

दोसगी वि जलतो, अप्पात्तयधूमधूवयं चरणं ।
 अंगारमित्तं नरं, जो न दवइ निदही ताव ॥

देवाग्निरेपि उच्यते अग्निरेव कलुषभाव एव धूमोऽग्नि-
 धूमस्तन धूमितं चरणेभ्यनं यावदङ्कारमासत्त्वदां न भवति
 तावत् निर्दहति

तत इदमगतम् ।

रागेण सर्दाहं, दोमेण सभूमं युगियव्वं ।
 छायादीमं दासा, वाधव्वा जोयणनिहीए ॥

रागेण ध्मानस्य यद्भोजनं तत्साङ्कारं चरणेभ्यनस्यङ्कारभूतत्वा-
 त् । हेपेण ध्मानस्य तु यद्भोजनं तत्सत्त्वमं निदात्मककलुषभा-
 वरूपमसंमिश्रत्वात् पि० १०ए प० । पं० चू० । मीमप्रह, पुं०
 रक्तवयं, न० तद्वति, त्रि० वाच० ।

आङ्कार-त्रि० अङ्काराणमयमाङ्कारः । अङ्कारसत्त्वनिधि, "इ-
 वालं ङारियरासि" दशा० ५ अ० ॥

अं (ईं) गार (ल) कटिरी-अङ्कारकर्षिणी-न्त्री० अङ्करो-
 न्धापिकायामीयद्वक्त्रात्प्रायं बोहमययथी, अ० १६ श० १ उ० ।

अं [इ] गार [ल] कृमा-अङ्कारकर्मन्-न० अङ्कारिचयं
 कर्माङ्कारकम् । अङ्काराणां करणविक्रयस्यस्य कर्मादानव्या-
 कनेभ्ये कर्मणि, एयमनिद्वयापाररूपं यद्व्यवर्तयेत्कापाकादिक
 कर्म तद्ङ्कारकर्मोच्यते अङ्कारशब्दस्य तद्व्यापकत्वान्वात्
 ज० ८ श० ५ उ० । समानस्यभावत्वात् उपा० १ अ० । यतो
 योगशास्त्रे "अङ्कारप्रादुर्करां, कुन्नायःस्वयंकरिता । उता-
 रयेत्कापाका-वति साङ्कार जीविका ॥ घ० २ अ० । प्रव० ।
 आचा० "अङ्कारे ददिकण विकिणति तस्य दृकायपागु क्वां तत्र
 कल्पति अदवा बोहकगदि" आ० चू० ६ अ० । आ० । घ० । पंचा० ।
 अं [ईं] गार [ल] कारिया-अङ्कारकारिका-न्त्री० अ-
 ङ्कारान् करंतीति अङ्कारकारिकाः । अग्निशक्तिराका-स्य ।
 इंगालकारिणं जंते । अगणिकाए केवदं कालं सं-
 चिह्दं गोयमा । जद्वेषेण अंतोमुहूत्तं उक्कोमेणं तिसि रा-
 ईदियाई अणवेत्य वाउकाए दक्कमइ ए विणा वाउकाःएणं
 अगणिकाए उज्जलइ ॥

अङ्कारान् करंतीति अङ्कारकारिका अग्निशक्तिरा । न के-
 वलं तस्यामिश्रकथो जयति (अश्वत्थस्य) अयोऽप्यत्र
 गायुकायोः द्युक्कामति यन्नाग्निस्तत्र वायुरिति ह्युत्था कस्मादश्व-
 मित्याह " न विण्यत्थादि " । ज० १६ श० १ उ० ।

अं (ईं) गार (ल) ग-अङ्कारक-पुं० अङ्कार-स्वाधे-कन-अ-
 ङ्कारे, वाच० । महलनामके तारप्रहोभे, स्या० ६ टा० । औ० ।
 प्रय० । आयं महाप्रदे व कल्प० । सू० प्र० । पं० प्र० । अ० ।
 " दो इंगालया " स्या० २ टा० । अङ्कारमिव इवायं कर्त्तव्य-
 कर्णत्वात् । कुण्डकवृत्तं, भृङ्गराजसूत्रे च पुं० अदशायं कर्त्त-
 वक्येभ्यान्वात् विष्णुलिङ्ग इति विख्याते अङ्कारमुच्छेदं, न० वाच० ।

अं (ईं) गार (ल) दा (दा) ह-अङ्कारदाह-पुं० अ-
 ङ्कारा दहन्ते यत्र । यत्रःकारणां दाहो भवति तादृशे स्थाने, नि०
 चू० ३ उ० । आचा० । अङ्कारान् दहतीति अङ्कारदाहः । अङ्कार-
 णां दाहके, वि० (अङ्कारदाहकेन नङ्कुणमजानता चन्द्वयवादी
 दग्धेति चन्दनखोटीदृष्टान्तः सच आधिरिय शब्धे) (मुचिसु-
 अमसदागमित्यङ्कारदाहदृष्टान्तः सिद्ध शब्धे)

अं (ईं) गार (झ) पतावणा—अङ्कारपतावणा—खीं अ-
ङ्कारेणु प्रनापनाऽङ्कारप्रनापना । शरीरस्य शीतकालादौ अङ्का-
रेणु प्रनापनायाम्, प्रथमं सं ५ द्वा० ।

अं (ईं) गार (ल) मद्ग-अङ्कारमर्दक-पुं० जीवाश्रयान-
नांऽङ्काराणां मदेनेनाङ्कारमर्दकेति प्रसाद्धे गते रुद्धेवाभिधे
अमव्याचार्ये, तत्संविधानकं चैवं धृतम् ।
“सूरियेजयसेनास्थो, मासकल्पविदारकः ।
समायातो महानागः, सुरे गर्जनकाभिधे ॥ १ ॥
अयाऽत्र तिष्ठनस्तस्य, कदाचिन्मुनिपुङ्गवैः ।
गदां विसर्गवेद्यायां, स्वप्नोऽयं किल वीक्षितः ॥ २ ॥
कन्ननां शोभेः शूरैः, शुकुरः परिवारितः ।
पञ्चनिर्जज्ञानोना-मस्मदाश्रयमागतः ॥ ३ ॥
तनस्ने कथयामासुः, सुरैः स्वयं तमद्रुणम् ।
सुरिस्तुवाच तस्यार्थं, साधूनां पृच्छामामुमु ॥ ४ ॥
सुप्तानुपरिवारोऽद्य, सुरिस्त्वयि कोऽपि वः ।
प्रापूर्णकः परं ज्ञयो, नासायिनि विनिहयवः ॥ ५ ॥
यायज्जगत्प्रत्यसी तेषां, साधूनां सुरिप्रतः ।
रुद्धेयानिधः सुरि-स्नावसत्र समागतः ॥ ६ ॥
गनेहचर एव स्फार-सौम्यप्रदगणाश्रितः ।
परएतनरुचकान्त-कल्पवृक्षगणाश्रितः ॥ ७ ॥
कृता च तस्य तेस्तुण-अनुपस्थानादिका क्रिया ।
अश्रित्यथी यथायोगे, स गच्छत्य यथागमय ॥ ८ ॥
तनो विक्रान्तेययायां, कोलाकारस्य नस्य तैः ।
पराङ्गणाय विनिताः, अङ्कारः कायिकीसुवि ॥ ९ ॥
स्वकीयाचार्यानिर्देशा-प्रच्छेदव सैकैः स्थितैः ।
वास्तवसाधुनिर्देशा-सुते प्रापूर्णकसाधवः ॥ १० ॥
गादसंचूर्णिताङ्कार-कृशाङ्कारयस्तुतौ ।
मिथ्याद्वृष्टमिथ्येन-दुःखायः प्राणिशङ्कया ॥ ११ ॥
कृशाङ्कारश्चम्याने, कृतचिह्न इतीकृतया ।
दिन निमात्रविष्यामः, कृशाङ्कारः किमुद्रवः ॥ १२ ॥
अ-चायौ कद्रदेवस्तु, प्रस्थितः कायिकीं वृषम ।
कृशाङ्कारव कुर्व-अङ्कारपरिमर्हनात् ॥ १३ ॥
जीवाश्रयानानो सद्वा, वदेभ्येताञ्जनेः किल ।
अन्तवोऽमां विमिर्दिष्टां, प्रमाण्यैकना अपि ॥ १४ ॥
वास्तव्यसाधुभिर्देश, यथादृष्टे च साधितम् ।
सूरियेजयसेनस्य, तेनापि गदितं ततः ॥ १५ ॥
स एव शुकरो भद्रा-स्त्र एते वरहस्तिनः ।
स्वमेन सूचता ये वा, न विषयोऽत्र संशयः ॥ १६ ॥
तैः प्रसादोऽद्य तच्छ्रुत्या, भाषितास्तूपसिभिः ।
यथैवं वेदिने नाय-प्रभय इति बुध्यताम् ॥ १७ ॥
न्याय्यां वीऽयं, यतो धार-संसाररुकारणम् ।
नतस्तेरप्युपायेन, क्रमेणाली विधार्जितः ॥ १८ ॥
त चाकङ्क्षसाधुव्यं, विद्यायाथ विवं पताः ।
नतोऽपि प्रकृत्याः सन्तः, ज्ञेयेऽसुवेव मारते ॥ १९ ॥
श्रीवसन्पुर जन्ता, जितशत्रोर्महीपतेः ।
पुराः सर्वेऽपि कालेन, ते प्राप्ता यौवनश्रियम् ॥ २० ॥
अन्यद् ताव सुकृत्यात्, कलाकौशलयोगतः ।
सर्वत्र स्यात्कान्तित्या-सर्वनाशु व्यसन्नवदम् ॥ २१ ॥
दितिनानुपुरे राज्ञः, कनकध्वजसंज्ञितः ।
हृदकन्याया वरायांयं, तान् स्वयंवरमगदपे ॥ २२ ॥

तथायतिः स्व तैर्दृष्टो, गुणकारमर्दकः ।
उद्धृत्येन समुपलभः, पृष्ठाकदमदाभरः ॥ २३ ॥
गभावस्मितस्वृक्ष-कुतुपोऽपिस्वर्गं रद्व ।
पामनः सर्वजोर्णाङ्को, गतत्राणोऽतिदुःखितः ॥ २४ ॥
तमुपुमीकृमाणायां, तेषां काशयतो भूद्यम् ।
जातिस्मरणमुत्पन्नं, सर्वेषां ह्यभभावतः ॥ २५ ॥
देवजन्मोद्भवज्ञान-हातस्वात्सैरसी रकुटम् ।
करमः प्रत्यभिज्ञातो, यथाऽयं बह्नो नो गुरुः ॥ २६ ॥
ततस्ते चित्तयामासु-धिक् संसारविच्छेदितम् ।
यथैव तादृशज्ञान-मवाप्यापि कुजावतः ॥ २७ ॥
अयस्थांमोहर्षी प्रातः, संसारं च त्रमिष्यति ।
ततोऽसी मौचितस्तेन्य-स्तस्वामिन्धः कृपापरैः ॥ २८ ॥
ततस्तदैव ते प्राप्य, भवनिबेदकारणम् ।
कामनोपरिस्थाना-सु प्रमथ्यां प्रादिरैः ॥ २९ ॥
ततः सुगतिर्लताना-शिवांस्यन्यचिरादमी ।
अन्यः पुनरभयवाद्, त्रवारण्ये त्रमिष्यतीति ॥ ३० ॥
(गाथायः १२) पंचां २ विवो ॥

अं [ईं] गार [झ] राति-अङ्काररासि-पुं० क्विराङ्कारपुञ्जे,
सुचं १ सु० ५ अ० १ उ० । आ० क० । आ० ३० । आ० ३० ।

अं [ईं] गारवई-अङ्कारवने-खीं० धुनुमारुपसुनायाम्,
(तद्वत्कथ्यता संवेगशब्दे वच्यते)

अं [ईं] गार [ल] सहस्र-अङ्कारसहस्र-न० ६ तं अणु-
तराणामभिकणानां सहस्रे, स्यात् ८ तं ० ।

अं (ईं) गालसाक्षिय-अङ्कारशु [झ] जिय-वि० अङ्कारि-
ष पके, न० १ १ शो ६ उ० ॥

अं (ईं) गारा [झ] यतण-अङ्कारायतन-न० यथाङ्कार-
परिकर्मं कियते तस्मिन् शो, आ० ३ सु० २ अ० २ उ० ।

अं [ईं] गारि [लि] य-अङ्कारित-वि० विवर्णाचुते, आ-
चा० २ सु० १ अ० ८ उ० ।

अंगिरस-अङ्गिरस-पुं० गीतमगोत्रविशेषचूताङ्गिरःपुरुषापत्ये,
स्यात् ७ तं ० ।

अंगीकद-अङ्गीकृत-वि० अङ्गीनित्यन्तत्पुर्व्वकार ह्यः कः
स्वीकृतं, स्यात् ४ उ० । अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिवाहयतीति चौर-
पञ्चाशिका चाच० ।

अं [ईं] गुञ्ज-इकृद्-पुं० गि-उः इङ्कः रोगः तं घति अहद-
यति शो क “शिघ्रैरेकृद् ना” ८ । १ । ८६ । इति सुषेण
प्राकृते आदिवां ह्यम् । तापसतरी, प्रा० ।

अंगुष्ठ-अङ्गुष्ठ-पुं० अङ्गी पाणी प्राथम्येति तिष्ठति स्या-क-प-
त्वम् । हस्ताऽयवयव, स्यात् १० तं ० ।

अंगुष्ठपासिण-अङ्गुष्ठप्रभ-न० विघाविशेषे, यथाऽङ्गुष्ठे देवता-
घतरः कियते तस्मिन्पादके प्रश्रव्याकरणानां नवमेऽय्यने च
परमिदानीतने प्रश्रव्याकरणपुस्तके ननुमुपलभ्यते स्यात् १० तं ० ।

अंगुम-पूरि-धा० पूर० निञ्च पूरेवाडोघघोद्दमाङ्गुमादिरेमाः
८ । ४ । ६८ । इति सूत्रेण पूरैरुम हयांदेशः । पूर्ति, अङ्गुमेद
पूरयति प्रा० ।

अंगुल-अङ्गुल-पुं० अङ्गु उल० । हस्तपादशाखायाम्, षाच०
अद्यथमथ्यात्मके परिमाणेदे, न० “अद्रुजवमज्जाभां से पते

अंगुले

अंगुले

अंगुले" म० ३ हा० ७ उ० । ३यो० । स्वा० । अतिरंगित्यादि-
धरके पठितः अतिरंगित्यर्थो धातुर्नग्यर्थो हानार्थो अथि भवत्य-
तोऽङ्घ्रणते प्रमाणतोः हायनेते परार्थो अनेनेत्यङ्घ्रणम् । मानवि-
शेषे, प्रथ० ३२५ ब्रा० । तत्रेहा यथा ।

से किं तं अंगुले ? अंगुले तिनित्ति पद्यते तंजहा ।

आयंगुले उस्सेदंगुले पयायंगुले ॥

अङ्घ्रं शिचिषे प्रहृते तद्यथा आत्माङ्घ्रमनुस्तेषाङ्घ्रं प्रमाणाङ्घ्र-
म् । तत्र ये यस्मिन् काले भरतसगरादयो मनुष्याः प्रमाणयुक्ता
भवन्ति तेषां च संबन्धो अत्रात्मा यद्युक्ते आत्मनामङ्घ्रमत्मा-
ङ्घ्रत एवाह आत्माङ्घ्रमम् ।

से किं तं आयंगुले आयंगुले जेषं जेष ए यया मणुस्सा
जवद तेसि एषं तथा अप्पणो अंगुलेणं उवाहस अंगुलाइं
मुहं नवमुहा पुरिसे पमाखजुचे भवइ । दोसिए पुरिसे माण-
जुचे भवइ । अद्दभारं तुहमाणे पुरिसे उम्माखजुचे भवइ
माणुम्माणपमाखजुचा लस्वत्सर्वाणगुणेषिं उववेअ
उचयकुलप्पम्मा उचयपुरिसा मुणेषेअथा ? हुंति पुण
अहियपुरिसा, अद्दसयं अंगुलाए उकिद्धा । अणुअ
अद्दम्पुरिसा, चउत्तरं मञ्जिमिद्धाओ । २ । हीणा वा
अद्दिया वा जे खळु सरसत्तसारपरिहीणा । ते उचयपु-
रिसाणं, अन्नसा पत्तचणुपुपेति । ३ । एणं अंगुलपया-
खेणं उ अंगुलाइं पादो, दो पाया विट्ठयी, दो विट्ठयी-
ओ रपणी, दो रपणीओ कुत्थी, दो कुत्थीओ देरं, पणु-
जुगेनाअिआ अन्नखमुसले, दो धनुत्तसाइं गाउअं ।
चत्तारि गाउअइं जोअणं । एणं आयंगुलपमाखेणं किं
पयोयणं ? एणं आयंगुलेणं जे अंजया मनुस्सा हवन्ति
वसि एषं तथा एं आयंगुलेणं आरुत्तज्ञाणदहनदी वा वि-
बुक्खरिखो दोदि य गुंजालिआओ सरासरपतिआओ
मरामरपतिआओ विलपतिआओ आराणुज्जाणकाणए-
वखणमंरवणराइओ देउअसभापवाय्भखाइअपरिहाओ
पागारअट्टायचरिअट्टारोणुपपासायधरसरणुअणआवण-
मिधादमतिगणउक्केउम्मुहमहापदपहासमरुदज्ञाणजुमा-
गिअिअिअिअिअेअन्दमारिआओ लोहीअोउक्काहाकिउ-
अयज्जमनोवगरमार्शणि अज्जकडिआइं च जोअणइं
भविअंजिसे से समासओ तिनित्ति पद्यते तंजहा सूइअंगुले
परंगुले से यणगुले अंगुलायया एणपत्तिया सी सूइअंगु-
ले सूइसुइगुणिया पयंगुले पयं सूइए गुणितं यणगुले
एएसि एं सूइअंगुलपयंगुलपयंगुलाणं कयरे कयरेदिनो
अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा सन्नयोवे
सुइअंगुले पयंगुलेः अस्सेत्तेज्जगुणं यणगुणे अस्सेत्तेज्जगु-
णे सेचं आयंगुले ॥

जे नरतादयः प्रमाणयुक्ता यदा जयन्ति तेषां तदा स्वकीयम-
ङ्घ्रप्रमाणाङ्घ्रमुच्यत इति शेषः । इदं च पुरुषाणां काश्चादिभे-
दाभावस्येयमनाम्बन्धनियमप्रमाणं ऊह्यम्य । अनेनैवात्माङ्घ्रमेन

पुरुषाणां प्रमाणयुक्तत्वादिनिर्णयं कुर्यात्तत्राह (अल्पो अंगुले अं
उवाहसत्तेत्यादि) यद्यस्यात्मन्यङ्घ्रं तनात्मनोऽङ्घ्रमेन हा-
याङ्घ्रानि युक्तं प्रमाणयुक्तं भवत्यनेन च युक्तप्रमाणेन नव मुखा-
नि सर्वाऽपि पुरुषः प्रमाणयुक्तो भवति प्रत्येकं हाहाङ्घ्रमेनै-
वनिर्मुक्षीरद्योत्तरं शतमङ्घ्रानां संपद्यते । ततश्चैतावद्युक्तयः पुरुषः
प्रमाणयुक्तो भवतीति परमार्थः । अथ तस्यैव मानयुक्तताप्रति-
पादनार्थमाह । दौषिकः पुरुषो मानयुक्तो भवति कोणो अन्न-
परिपूर्णा महती कुचिरुक्ता तस्यां प्रवेशितो यः पुरुषो अन्नस्य
कोणं पुष्पैकस्वर्षकं निष्काशयति कोणजलोनां वा तां पुरयति
स द्रौणिकः पुरुषो मानयुक्तो निगद्यते इति भावः । इदानीमेत-
स्यैवोमानयुक्ततामाह । सारपुङ्गुराचित्तया सुसारापितः सच-
केनारं तुल्यमनुरूप इमानयुक्तो भवति । तत्रोत्तमपुरुषाः यद्योक्तैः
प्रमाणमानोऽन्तैः अन्यैश्च सर्वैर्ययुतैः संपद्वा एव नवतीत्या-
तदस्यैवचाइं (माणुम्माणगाहा) अनेनतरोक्तस्वपैमानोमान-
प्रमायैयुक्ता उच्यतमपुरुषाङ्घ्रवत्यादयो ज्ञातव्या इति सद्यश्चस्त-
था सङ्घानारं शङ्खस्विककादीनि व्यञ्जनानि प्रणीतिसहायिनि
गुणाः ज्ञान्यादयस्तेरपेतास्वपौषकसङ्घान्याप्रादीनि तत्रप्रवृत्ता
इति गार्थायः । अथात्माङ्घ्रमेनैवोत्तममध्यमाधमपुरुषाणां प्रमा-
णमाह (हुंति पुण गाहा) भवन्ति पुनरधिकपुरुषा उच्यतमपुरुषा-
ङ्घ्रवत्यादयोऽप्यशतमकुला (उकिद्धाउ) उअमिता उचैस्त्वेन
वा पुनःशब्दस्त्वेवाभाविकपुरुषादीनामेनेकमेतदादर्शकं ।
आत्माङ्घ्रमेव पद्यत्वङ्घ्रान्यधमपुरुषा भवन्ति (चउत्तरमन्-
मिद्धाउचि) तेनैवाङ्घ्रमेन चतुरस्रसङ्घुलशतं मध्यमानः तुरश्रं
यथानुक्रमेणसङ्घानादिभावप्रतिपादनपर इति गार्थायः । अद्यो-
त्तरशताङ्घ्रानामादीना अधिकाः वा ते किं प्रवन्तीत्याइं (दीणा
वा गाहा) अद्योत्तरशताङ्घ्रानां वा अधिका वा ये खलु स्वयः
सकञ्जनादयस्प्रकृतिभेदोत्तमदिगुणादिकृतो भवतिःसत्यं दै-
व्यविनिर्मुक्तो मानसोऽप्यश्रमःसारः बुजपुङ्गवेपचयजःशारीरशक्ति-
विशेषैः परिहीना समन्तरे उत्तमपुरुषाणां उचित्तुपुण्यपान्ना-
राणां अथवा अतिच्छन्तोऽप्युज्जकमंयशतः प्रभवत्समुपयान्ति
स्वरादिशेषसङ्घानैकपयसाहाय्यात् यद्योक्तप्रमाणोऽनिधिष्य-
मनिष्पन्नप्रवृत्ति प्रतिपद्यत्यं तन्केवसिद्मद् सङ्घ्यतं । नरतच्चक-
र्यादीनां स्वाङ्घ्रतो विशयाधिककुलशतप्रमाणात्म्यं निर्णी-
तत्वात् । महावीर्यादीनां च केवाधिभ्यमेत नचतुरश्रव्याङ्घ्रकूल-
प्रमाणत्याङ्घ्रवन्ति विशिष्टाः स्वराद्ययः प्रधानकूलवापिनो यत
उक्तम् " अरिधृष्ययो सुक्तं मांसं स्वभि जोगाः स्त्रियाऽङ्घ्रिणु ।
मती यानं स्वरे चाक्षा, सर्वे सत्वे प्रविशुमिच्छि" गार्थायः ।
पतेनाङ्घ्रप्रमाणेन पद्यङ्घ्रानि पादः पादस्य मध्यतः प्रदेशः परः कु-
शयिस्तांशः पादिकेदशात्तायादाः द्वौ च युष्मदिकृतौ पादौ वित-
स्तिः द्वे च वितस्ती रन्निहैस्त इत्यर्थः । रन्निह्यं बुक्तिः प्रत्येकं
ङ्घ्रिक्रयनिष्पन्नास्तु पद्यप्रमाणविशेषा इत्यन्वयःतुयुगमादिकाऽस्युत्स
सङ्घाणा भवन्ति । अत्राङ्घ्रा पुरी शेषो गतायः । द्वे घनुत्सद-
के गम्यन्तं चत्वारि गर्भ्यतामि योजनम् । " पतेणं आयंगुल्यप्रमा-
णेणं किं पत्रोअणमिनि " गतार्थं नवरं ये यदा मनुष्या अकानि
तेषां तदा आत्मनामङ्घ्रमेन स्वकीयस्वकीयकाशमंजवाःव्यव-
दहदादिनि मीयन्त इति संटङ्कः । (अणुटादीनां व्याख्या स्वव-
त्त्वात्) अणु । तरेषामात्माङ्घ्रमेनात्मन्याकारसंबन्धीनि य-
स्युपयथाज्ञानिनि च योजनानि मीयन्तः । ये यत्र काले पुरुषा
भवन्ति तत्रपुरुषाऽथ शब्दो ऊह्यते । इदं चात्माङ्घ्रं सुच्यङ्घ्राना-
दिजेट्तिविधिं तत्र दीर्घाणासाप्या वादप्यस्येकदेशेऽधिकी नभः

प्रदेशोऽभिः सूच्यङ्गमुच्यते । एतच्च सञ्जायतेऽसंख्येयप्रदेश-
मयसंस्कृष्टपनया सूच्याकारण्यप्रदायिताप्रदेशशयनिष्पन्नं रूप-
म्यम् । तद्यथा सूची सूच्यैव गुणित्वा प्रनराङ्गम् । इदमपि पर-
मार्थेनाऽसंख्येयप्रदेशात्मकम् । असञ्जायतस्त्वैवानन्तरदाहि-
ता त्रिप्रदेशात्मिका सुखिसंख्येयः अतः प्रत्येकं प्रदेशनिष्पन्नं सूची-
त्रयात्मकं नवप्रदेशसंख्यं संपद्यते । स्यादपना प्रनराङ्गं सूच्या गु-
णितान् द्वैर्ष्यविष्कम्भतः पितृतन्त्रस्य समसंनराङ्गम् । इदमपि द्वै-
र्ष्यमपि त्रिष्वपि स्थानेषु समतासङ्गस्यैव समयस्येयया
घनस्येह रुद्रयात् प्रनराङ्गं तु द्वैर्ष्यविष्कम्भस्यामेव समं न
पिएऽनस्तस्येयप्रदेशात्मकत्वादिति ज्ञायः । इदमपि वस्तुवृत्त्या
ऽसंख्येयप्रदेशात्मकम् । असञ्जायतगुणितु सप्तविंशतिप्रदेशात्मकं
पूर्वाकसूच्या अनन्तराक्षयप्रदेशात्मकं प्रतेर गुणिते यत्तावता-
मेव प्रदेशानां भावात् । एषा च स्यादपना अनन्तरनिर्दिष्टा नवप्र-
देशात्मकप्रनरस्याथ उपरि च न्य नव प्रदेशान् इत्या भावनीया
। तथा द्वैर्ष्यविष्कम्भविषैरनुत्पत्तिमिवप्रपद्यते " एरसिणं
जितं " इत्यादिना सूच्यङ्गज्ञानिप्रदेशानामव्यपहतुव्यचित्वा यथा-
निर्दिष्टयायासुसारतः सुखावयंयति तदेतद्वामाङ्गुलमिति ॥

उत्सेषाङ्गुलिनियेयार्थमाह ।

से किं तं उत्सेहंगुले ? उत्सेहंगुले अगेभगविहे एणचे
तंजहा "परमाणु तसरेणूरुहरेणु अग्रयं च बाअरस । अिकखा
जुअय य जवो अद्रगुणानिवद्विआ कमासो " ॥

उत्सेषः "अर्णानां सुदुमपरमाणुपोमलणामित्यादि" कमेयो-
च्छुं वा वृक्षितनय तस्माज्जातमङ्गुलमुत्सेषाङ्गुलम अथ वा उत्सेषो
नारकादिशरीराणामुत्सेषः तस्यरूपनिर्णयेार्थं ङ्गुलमुत्सेषाङ्गु-
लम् । तच्च कारणस्य परमाणुससरेणुवद्विभक्तविधत्वादानेक-
विधे प्रहमम् ॥ (परमाणुवार्दानां स्वर्कस्य स्वस्वस्थाने)

एणं उत्सेहंगुलेणं किं पत्रोअणं ? एणं उत्सेहंगु-
लेणं शेरइअनिरिक्खजेणंअमणुस्सदेवार्थं सरिंरागाहणा
मविज्जति ॥

(तदेयमेव अंगगहणा शब्दे वक्ष्यमाणा अथवागना सर्वाऽण्य-
त्सेषाङ्गुलेन मीयते)

से समासभो त्रिविहे पमात्ते तंजहा सूअंगुले परयंगुले
पणंगुले एअंगुल्लयया एणपसिया सेदा सूअंगुलेसुं सुं
सूरप गुणिया परयंगुले पररं सुइए गुणितं घणंगुले । एए-
सिणं सुअंगुल्लपयंगुल्लयणंगुल्लानं कयरे कदरेहिंते अप्पे
ना बहुए वा तुल्ले वा विनेसाहिणं वा सव्यांवां व सूअंगुले
परयंगुले असंखेजगुणे घणंगुले असंखेजगुणे सेच
उत्सेहंगुले ॥

एतच्च सूचीप्रनरघनभेदाच्छिविधमामाङ्गुल्लयज्ञानवीयम् । उक्त-
मुत्सेषाङ्गुलम् ।

अथ प्रमाणाङ्गुलम् ।

से किं तं पमाणंगुले ? पमाणंगुले एगमेगसरन्तो वाउरंते-
क्कवद्विस्त अद्र सोवाणिणं कामणुरियणं इत्तसे दुवालस-
सिए अद्रकणिणं अहिगरखंनंठाससिणं पषत्त तस्स णं
परमेगा कोदी उत्सेहंगुले विक्खंवा तं समणस्स जगवअो

महावीरस्स अरुत्तं त सहस्सगुणं पमाणंगुलं भवइ । एए-
णं अंगुल्लपमाणेणं छु अंगुलाइ पादो दुवालसंगुलाइ विह-
त्थी दो विट्थीअो रयणीं दो रयणीअो कुक्की दा
कुक्कीअो षण्णं दो धणुसहस्समां गाउअं चचारि गाउअां
जोअणं । एएणं पमाणंगुलेणं किं पत्रोअणं एएणं पमा-
णंगुलेणं पुइशीणं केमाणं पतालाणं जवमाणं जवणपत्य-
काणं निरयाणं निरयावज्जिणं निरयपत्थकाणं कपाणं
विमाणाणं विमाणपत्थकाणं टंकाणं कुंदाणं सेआणं विह-
रीणं पञ्जाराणं विजयाणं वक्खाएणं बासहराणं पव्वयाणं
वेआणं वेइस्सणं वेइयाणं दाराणं तोःखाणं दीवाणं समु-
हाणं आयामविकखंनोच्चतोव्वेहपरिक्खेवो मविज्जति ॥

सहस्रगुणितान्त्सेषाङ्गुलप्रमाणः ज्ञातं प्रमाणाङ्गुलम् । अथवा
परमप्रकरूपं प्रमाणं प्राप्तमङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलं नातः परं सुदुत्तर-
मङ्गुलमस्तीति भावः । य इह समस्तसोऽकव्यद्वारादिराज्या-
दिस्थितिप्रथमप्रमाणनाथेन प्रमाणज्ञतोऽस्मिन्नवसिष्ठीकाशे
तावपुगादिदेवो जेतो वा तस्याङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलमन्तच्च काक-
णीरन्तस्वरूपपरिज्ञानेन तावपुगुणितान्त्सेषाङ्गुलं गुणाधिक्यमपश्यं
सुहृद्वारेण निकपयितुमाह । " परमगसस णं रय्मो इत्यादि " ।
एकेकस्य राङ्गुलान्तचक्रवर्तिनाऽष्टसौवर्षिकं काकणीरन्तं
षट्पलादिधर्मापेन प्रहस्तं तस्यैकेका काटिरसोऽङ्गुलं विष्कम्भता
तत्रप्रमाणस्य जगवतो महावीरस्याङ्गुलं तन्सहस्रगुणं प्रमाणा-
ङ्गुलं जवतीति समुदायार्थः तत्रान्यान्यकालोत्पन्नानामपि चक्रि-
णां काकणीरन्तगुणितान्प्रतिपादानार्थमेकैकप्रहणं नित्यचक्रितरा-
जःशब्दवियवज्ञापनार्थं राजप्रहणं दिक्कथयेद्विज्ञसमुज्जहि-
मकण्यप्येवन्तसोऽमाचतुष्टय वङ्गणाश्चत्वारोऽन्तारोऽन्तारोऽन्तारोऽपि
चक्रेण वसथेति पाठयतीति चतुरन्तचक्रवर्ती तस्य परिपूर्ण-
षट्पलाकजन्तभोऽकुरियार्थः । चत्वारि मधुरगुणपलान्येकसर्पेणः,
षोडश सर्पेण एकं धान्यमापकतं, द्वे धान्यमापकतः एका रुद्रजा,
पञ्च गुहकः एकः कर्ममापकः, शोडश कर्ममापकः एका रुद्रजा,
पतेरधमिः काकणीरन्तं नित्यघटते । पतानि च मधुरगुणपलानि-
द्वाि जरतचक्रवर्तिकेकाऽसंजघत्येव गृहन्ते अन्यथा काशभेदे-
न तद्वैषम्यसंज्ञेयं काकणीरन्तं सवैचक्रिणां तुष्टयं न स्यात्
तुष्टयं खेच्यते तदिति चत्वारि चतुष्टयपि दिक्षु द्वे ऊर्धा-
ध इत्येवं षट् पलानि यत् तत् षट्पलम् । अथ उपरि पा-
श्वन्तस्य प्रत्येकं चतुष्टयमभ्रिणं प्राचात् । हादश अथयः
कोटयो यत्र तद् हादशाधिकं क्रियाकाः कोणास्तेषां च अथ
उपरि च प्रत्येकं चतुर्णां सञ्जावादृष्टकणिकम् । अथः क-
रणिः सुचर्णकारोपरकरं तत्संस्थानेन संस्थितं तत्सदृशाकारं
समचतुरङ्गमिति यावत्प्रहस्तं प्रकृतं तस्य काकणीरन्तस्यैकेका
काटिरसोऽङ्गुलप्रमाणविष्कम्भता हादशाथय एकैकस्य उत्से-
षाङ्गुलप्रमाणा भवन्तीत्यर्थः । अस्य समचतुरङ्गवादायामो
विष्कम्भस्य प्रत्येकमुत्सेषाङ्गुलप्रमाण इत्युक्तं जवतीति । यैव च
काटिरकृतीकृता आयामे प्रतिपद्यते साऽप्यस्तिन्ययस्यथापिता
विष्कम्भजगवन्तीत्यायामदिक्कःअयोरकनरनिधयेऽण्यपरनिष्ठा-
यः स्यादवेति सूत्रे विष्कम्भस्यैव प्रहस्तं तद्ग्रहणं चायामाऽप
गृहीतं यथ समचतुरङ्गवाचस्येति तदेवं सर्वत्र कसेयाङ्गुलं

अंगुल

प्रमाणमिदं सिद्धं तदाऽप्यत्र चतुरङ्गुलप्रमाणसुषुष्यां वरकागणौ
 नेयेति ब्रूयते तन्मत्तान्तरं संभाष्यते निश्चयं तु सर्ववदिनां विद-
 न्तीति । अथैकैकोटिगणमुसंधाङ्गुलं भ्रमणस्य भगवतो महा-
 धीरस्यार्कोङ्गुलं कथमिदमुच्यते श्रीमहाधीरस्य सप्तहस्तरुप्रमा-
 नत्वादेकैकस्य हस्तस्य चतुर्षाशुसंधाङ्गुलमानत्वाद्दृष्टव्य-
 धिकशताङ्गुलमानो भगवानुसंधाङ्गुलन सिद्धो भवति स एव
 आत्माङ्गुलनं मत्तान्तरमाश्रित्य स्वहस्तेन सार्द्धहस्तत्रयमानत्या-
 च्छतुरशाण्यङ्गुलमानो गीयतेऽतः सामर्थ्योद्देकमुत्सेधाङ्गुलं श्रीम-
 त्वादीवारात्माङ्गुलापेक्षया अर्द्धङ्गुलमेव भवति । येषां च मतेन
 प्रगवानात्माङ्गुलनाद्ये शतराजाङ्गुलमानः स्वहस्तेन सार्द्धहस्तचतु-
 र्दशमानत्वात्सन्तेन भगवत् एकस्मिन्नात्माङ्गुले एकमुसंधाङ्गु-
 लं तस्य च पदं नव त्रया भवति अष्टपद्यधिकशतस्य अष्टांश-
 रशतेन भागपहारे पलाचत एव भावात् यन्मतेन तु प्रगवां-
 शास्त्राधिकशतशतेन स्वहस्तेन पञ्चहस्तरामानत्वात्सन्तेन प्रगवा-
 एकस्मिन्नात्माङ्गुले एकमुत्सेधाङ्गुलं तस्य च द्वौ पञ्चभागी भ-
 वति । अष्टपद्यधिकशतस्य विशाश्रित्यधिकशतेन भागे हते इत्य-
 एव शाभासदेवमिहाद्यमतमपदैकमुत्सेधाङ्गुलं भगवदात्माङ्गु-
 लस्यार्द्धरुपया प्रोक्तमित्यनेयमेति । तदुत्सेधाङ्गुलं सहस्रगु-
 णितं प्रमाणाङ्गुलं भवति । कथमिदमवसायते ? उच्यते जरत-
 ङ्कत्वतीं प्रमाणाङ्गुलेनात्माङ्गुलेन च किल विशाश्रित्यमङ्गुलं नां
 प्रवति अत्तन्माङ्गुलस्य प्रमाणाङ्गुलस्य वैकल्पत्वात् उत्सेधाङ्गु-
 लेन तु पञ्चचतुःशतमानत्वात्प्रतिचतुश्च पण्युसंधाङ्गुलस्यत्रया-
 दृष्टव्यादींशसंख्यायुक्तानां संप्रगुणेऽनः सामर्थ्योद्देकस्मिन्
 प्रमाणङ्गुले चत्वारि शतान्युत्सेधाङ्गुलानि भवन्ति । विशालधि-
 कशतेन अष्टचत्वारिंशसहस्राणां भागपहारे एतावतो ला-
 प्रात् । यद्येवमुत्सेधाङ्गुलात्प्रमाणाङ्गुलं चतुःशतगुणमेव स्यात्ततः
 कथं सहस्रगुणमुक्तं सत्यं किं तु प्रमाणाङ्गुलस्यार्द्धनीयोत्से-
 धाङ्गुलकूपे दृष्टव्यमस्ति ततो यदा स्वकीयवद्वयेन युक्तं य-
 दाव्यभिन्नमेवेदं चिरयते तदात्सेधाङ्गुलाच्चतुःशतगुणमेव भवति
 यदा स्वर्द्धनीयोत्सेधाङ्गुललक्षणं बाह्येन सतचतुष्टयल-
 क्षणं दृश्यं गम्यते तदा अङ्गुलविष्कम्भा सहस्राङ्गुलदं धी प्र-
 माणाङ्गुलविषया सूचितोयते । इदमुक्तं जयति अर्द्धतृतीयाङ्गु-
 लविष्कम्भं प्रमाणाङ्गुले तिष्ठः श्रेणयः कल्पयते एकऽङ्गुलविष्कम्भा
 सतचतुष्टयदीर्घा द्वितीयाऽपि तावन्मात्रेय तृतीयाऽपि दृष्टेयं
 चतुःशतमात्रेयं विष्कम्भतम्यदाङ्गुलं ततोऽस्यापि दृष्टेयं च गृ-
 हीत्वा विष्कम्भोऽङ्गुलप्रमाणः संप्रपद्ये तथा च सत्यङ्गुलान्त-
 यदीर्घा अङ्गुलविष्कम्भा इयमेति सिद्धा । तत्सत्यङ्गुलप्रप्येता-
 सापुनर्पुनरि व्यवस्थापने उत्सेधाङ्गुलतोऽङ्गुलसहस्रदीर्घा अङ्गु-
 लविष्कम्भा प्रमाणाङ्गुलस्य सूचिः सिद्धा भवति । ततस्तमधि-
 क्षयोत्सेधाङ्गुलात्सप्तहस्रगुणमुक्तं चतुःशतगुणमेव । अत-
 एव पुष्टीपर्वतविमानादयाना अत्रैव चतुःशतगुणमेव अ-
 र्द्धतृतीयाङ्गुललक्षणस्यविष्कम्भात्विनेन मीयने न तु सहस्रगु-
 ष्या अङ्गुलविष्कम्भया सूच्यति शेषं भाविनाये यावत् (पुढ-
 भाष्येति) रत्नप्रमादीनां (कंठापंति) रत्नकायदादीनां (पा-
 तासाख्येति) पातासकलशार्थं (भ्रमणपंति) भवनपत्थाया-
 सादीनां (जयणपथदापंति) भवनप्रस्तनकप्रस्तदान्तरं तेषां
 (निरयाख्येति) नरकावासार्थं (निरयावालिपापंति) नरका-
 वासपृष्ठीनां (निरवपथङ्गापंति) नैरेकप्रस्तनवसतपंचतिथियत-
 हेव एकादयादिना प्रतिपदितानां नरकप्रस्तदानां शेषं प्रतीतं

नधरम् (टंकापंति) शिखरद्वानां (कूडापंति) रत्नकूटादीनां
 (सेलाख्येति) मुण्डपर्वतानां (सिहरीपंति) पर्वतानामिष
 शिखरवतानां (पम्भाराख्येति) तेषामेवेषकतानां (बलाख्येति) अ-
 लधिबिलाविषयभूमिनासूदाधिभूमिमध्यऽपवाहाः तद्वधश्च “अं-
 गुलविदधिधरयणी” न्यादिगाधोपन्यस्ताङ्गुलादीनि योजनाव-
 सानानि पदानि व्याख्यातानि ।
 साम्प्रतं शेवाणि श्रेयवादीनि व्याचिख्यासुस्तुह ।
 से समासश्चो तिदिने पृषचे तं जट्टा सेदीअंगुले पर्यरं-
 गुले पर्यंगुले असंखेजाओ जोअणकोडाकोकोओ सेदी
 सेदीए गुणियाण पर्य पर्यं सेदीगुणियं लोगो संखेजाए-
 यं लोगो गुणिओ संखेज्जा लोगा ऋसंखेजाएयं गुणिओ
 लोगो संखेजा लोगा अयंतेणं लोगो गुणिओ अ (गंता)
 ल गा एएणिणं सेदिअंगुलपर्यंगुलपर्यंगुलाणं कपरं
 क रद्विंता अएयं वा बहुए वा तुह्य वा विंससादिह वा
 सव्वयापं सेदिअंगुले पर्यंगुले असंखेजाणुए पाणंगुले
 असंखेजाणुण सत्त पाएणंगुले ।
 अनन्तरनिर्णीतप्रमाणाङ्गुलेन यद्योजनं तेन योजनानासंख्येया यो-
 जनकोटीकोट्यः संधासितसमचतुरर्षीकृतशोकस्यैकाः श्रेणिप्र-
 यति (सप्तस्रजुप्रमाणस्य शोकस्य श्लोकशब्दे) अनु० तद्विदं
 सप्तस्रज्ज्यायामव्याप्रमाणाङ्गुलेनऽसंख्येययोजना कोटिकाट्या-
 यना एकप्रदेशिकी श्रेणि सा च तथैव गुणिता प्रतरः सोऽपि
 यथाकश्रेण्या गुणितां शोकः श्रयमपि संख्येयराशिनो गुणि-
 तः संख्येया लोकाः असंख्येयेन तु राशिनो समाहतांऽनख्ये-
 या लोकाः अनसंखे लोकैर्लोकैः ॥ अनु० ॥ प्रय० ॥ आ०
 म० प्र० । धिदो० । यास्वयानमनुवी, पुं० अर्द्धौ पाणी ज्ञयते वा
 न-अर्द्धं, न० वाच० ।
 अंगुलपट्टाचित्तय-अर्द्धाष्टपृथिवित्वक-त्रि० अर्द्धमृच्चयाङ्गुलं पृथ-
 क्वच द्विप्रभृतिरानवचय शंति परित्रया ऋद्धुद्धकथं शरीरा-
 वगाइनामानंमयाम्भस्तीति अङ्गुलपृथक्विषयाः अतोऽनेकस्यप्रा-
 दिनीक प्रत्ययः जी० १ प्रती० । अङ्गुलद्विकदिशरीरावगाहन-
 मानं, प्रज्ञ० १ पद ।
 अंगुलि (ली) अङ्गुलि- (ली) खी० अङ्गुलि या ङीए वा-
 च० करपादशाखायाम्, तं० । औ० । प्रव० । गजकीर्णकाशुले,
 गजगुणाम्रे च पुंस्यमपि संघृतापरीवृत्तङ्गुलनेति शकु० वाच.
 अंगुलिकोश-अङ्गुलिकोश-पुं० अङ्गुलीनां रक्षायं श्रियमाने
 तदवर्णयं चर्मादी, रा० । तकारणे “अंगुलिकोसे पणमं” । नि०
 सू० १ उ० ।
 अंगुलि [ले] जग-अङ्गुलीयक-न० अङ्गुलौ भवमङ्गुलशयं
 ततः कः । अङ्गुल्याजरणविशेषे, श्री० । उपा० । प्रव० । षाच० ।
 कल्प० । आ० । आ० म० प्र० ।
 अंगुलिफोडण-अङ्गुलिफोडन-न० अङ्गुलीनां परपर्यं तार-
 नं, कडिकाकरणे च तं० ।
 अंगुलिनमुद्गा-अङ्गुलित्रू-की० अङ्गुलीसुवी वा चावयतः
 कायोःसर्गास्थितिरूपे उसर्गयोरे, तथं च “ अंगुलिजमुद्गा-
 भो वि य, चात्रेनो तद य कुण्ड उरुसम्मां । अज्ञावगणगण-
 द्वा, संजवणं च जोगणं ” आद्य० १ अ० । प्रव० । आत्ताप-

कगणनार्थमङ्गुलीभ्यासयन् तथा यागो नाम स्थापनार्थं व्यापा-
रान्तरानिरूपणार्थं भ्रुवौ चालयन् भ्रुसंकां कुपेन् चकारादेवमेव
वा भ्रुत्वं कुर्वन्तुसमं तिष्ठतीति अङ्गुलीभ्रुदोषः प्रच० ५ श्रा० ।

अंगुलि [ली] विज्ञा-अङ्गुलि [ली] विद्या-आ० आ-
वस्थानं नगर्थे युक्तप्रकाशिते महाप्रजाये विद्यादेहे, " अंगुली-
विज्ञा य इत्येव बुद्धेय संप्रयासिषा महत्प्रजाया " ती० ३३५प्र० ।

अंगोर्वंग-अङ्गोपाङ्ग-अङ्गानि शिरःप्रभृतीन्पथो उपाङ्गानि अङ्गा-
वयवभूतान्यङ्गुल्यादीनि शेषाणि तत्प्रत्ययवयवभूतान्यङ्गुलीपर्व-
रेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि

अङ्गोपाङ्गस्यादावसंख्येय इत्येकशेषः । इतरन्तरयोगः शिरःप्रभृ-
तिषु, अङ्गुल्यादिषु, तत्पर्वरेखादिषु च प्रहा० ३३ पृ० । कम्म० ।
नङ्कैसमसु अंगुलिआङ्गा क्लृत् अंगुयुगाणि " उल० ३ अ० ।

अंगोर्वंगशाप-अङ्गोपाङ्गनाम-न० अङ्गोपाङ्गविषयधनं नाम अ-
ङ्गोपाङ्गनाम । नामकभेदे, यदुद्यत्चञ्चरीरतरयोपात्ता अपि पु-
ङ्गला अङ्गोपाङ्ग विभागेन परिणमन्ति तन्प्रहा० ३३ पृ० । कम्म० ।

क० १ क० अङ्गोपाङ्गनाम त्रिविधं मन्त्र्यं तथाहि आद्वारिकाङ्गोपा-
ङ्गनाम वाक्याङ्गोपाङ्गनाम, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम तैजसकामेण-
योस्तु ज्ञानप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वास्ति अङ्गोपाङ्गसंभव
इत्युक्तं त्रिविधमङ्गोपाङ्गनाम । कम्म० ६ क० । प्रहा० । पं०सं० ।

प्रच० । श्रा० । आ०चू० ।
अं चि-अ, ङ्चि-पु० गमने, भ० १५ श० १ उ० ।
आङ्चि-पुं० आगमने, १५ श० १ उ० ।

अं च प्र (त)-आङ्चि-त-वि० पूष्ये राजमान्ये पितृव्यादौ,
व्य० ४ उ० । सङ्कमने, भ० १५ श० १ उ० । पञ्चविंशतिने-
नात्प्यभेदे, रा० । आ०म०प्र० । जं० । दाबल०धो, नि०चू० २ उ० ।

अं चि अं चय-अङ्चिनाङ्चिक-पु० अङ्चिने सङ्कमने अङ्चिनेन
सङ्कमनेन वा देशेनाङ्चि पुनर्गमनमङ्चिताङ्चि । गतपूर्वदेशे तेन
वा पुनर्गमने अङ्चयाङ्चि अङ्चया गमनेन सह आङ्चिरागमन-
मङ्चयाङ्चि । गमामगे, " नां कमह नां पङ्कमह अं चिचय करेह
भ० १५ श० १ उ० । श्या० ।

अं चि अ [य] रिनिथ-अङ्चिचरिजित-न०नात्प्यभेदे, रा० ।
श्रा० म० प्र० ।

अं चि च्या-अं चयित्वा-अव्य० उत्पायित्वेत्यर्थे, आ० म० । हा० ।
अं उ-देशात् । धा० उ० ५० आकारणे, अंतिंति वासुदेवं अगदत-
स्मि आ० म० प्र० । विशेष० । भ० । कल्प० ।

अंजण-दशी० आकारणे, आ० । नि० चू० ।
अंजण-अञ्जन-न० अञ्ज ल्युट् । नयनयोः कञ्जसापदाने,
सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । तं० । तस्याःशशाक्या नैत्रयोः कु-
कोत्पादाने, ह्यारतैलादिना देहस्य अञ्जणे च स० । अज्यतेऽ
नेन अञ्ज-करणे ल्युट् बाच० । कञ्जते, हा० ६ अ० । सौवीरा-
दौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अं० । आ० म० प्र० । अं० । जी० ।

प्रहा० । आवा० । रसाञ्जने, दशा० ३ अ० । रनविशेषे, आ०
म० प्र० । रत्नप्रजायाः शरकाएदस्य दशमे भागे च । तद्वा-
योजनशक्तिं बाह्व्येन प्रकृतम्, श्या० १० उ० । वनस्यातविशेषे,
आ० । श्रा० म० प्र० । चन्द्रसूर्याणां लेहशुक्रोत्पञ्चवारिणां पुत्र-
ज्ञानां पञ्चमे पुत्रले, चं० २०१० पाठ० । सू० प्र० । मन्त्रस्य पूषेण
शीतोत्पाया महानद्या दक्षिणेन स्थितं यज्ञस्कारपर्वतभेदे, श्या०
५ उ० । जं० । " शो अत्रया " श्या० २ उ० । श्रीपुत्रमार्कण्ड्य

बेक्षन्वस्य तृतीये लोकापले, भ० ३ हा० ६ उ० । उदधिकुमारै-
न्द्रस्य प्रभञ्जनस्य चतुर्थे लोकपाले, श्या० ४ उ० मन्त्रस्य
पुरतो रुचकवरपर्वते, नसमे कृते च पुं० । श्या० ८ उ० ।

अंजण-अञ्जनिका-खी० बह्वीभवे, प्रहा० १ पृ० ।
अंजणकेशिया-अञ्जनकेशिका-खी० वनस्पतिशेषे, भा० ।
म०प्र० । जं० । रा० । प्रहा० ।

अंजणग-अञ्जनक-पुं० अञ्जनरत्नमयत्वाद्अञ्जनास्ततः स्यार्थ-
कप्रत्ययः । कृष्णवर्णत्वेन अञ्जनतुल्या अञ्जनकाः उपमाने क-
प्रत्ययः । जं० २ यङ्ग० । नन्दिश्वरद्वीपस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थितेषु
पर्वतभेदेषु, श्या० ४ उ० । प्रव० ।

अथ नन्दिश्वरस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थिता अञ्जनकपर्वताः उच्यन्ते
एतदीश्वरस्य एतं दीवस्य चक्रादाविवरम्भस्य बहुमज्ज-
दसभाए चञ्चिदि चतारि अंजणगपञ्चया पणुत्ता तेज-
हा पुरच्छिद्रे अंजणगपञ्चए पञ्च चञ्चिद्रे अंजणगप-
ञ्चए उचरिद्वे अंजणगपञ्चए दां द्विग्ले अंजणगपञ्चए

तणु अंजणगपञ्चयगा चतुरतीति जायणमहस्साइं उह
उचत्तेणं, ए. पंगे जायणमहस्सं उव्वेहेणं मूले दसगोयण-
महस्साइं धरणिण्यले दसगोयणमहस्साइं अयामविकरवंजेणं
ततो णतरं चणं माताए पदेसपरिहाये माणाभाणा उवरिं
एगमं जायणमहस्सं अयामविकरवंभेणं मूले एकतीसं
जायणमहस्साइं उच त्वीतजोयणसते किंचि विनेसादिए

परिकखेवेणं सिहरितले तिसि जायणमहस्साइं एगं च
ह्मावड्जायणसतं किंचिविनेसादिधं परिकखेवेणं पधसा
मूले विदियसा मज्जे संखित्ता उण्णि तणुया गोपुउसंजा-
णसंजिया अचछा जाव पत्तेयं पत्तेयं पञ्चमवरत्तेयिया परि-
कखेवेणं पत्तेयं पत्तेयं णणुदपरिकखेत्ता वसअो गोयया ।
तीसं ए अंजणगपञ्चयाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं बहुसमरमणि-
जा ज्मिजागा पधत्ता स जहानामए अण्णिमपुक्खरं चि
जा व सपत्ति ।

ते अञ्जनकपर्वताभ्युत्पत्तिरुत्पत्तौ अञ्जनसदस्याणि ऊर्ध्वमुखैस्त्वेन
एकं योजनसदस्यमूत्रेण मध्ये स्वातिरेकाणि दशयोजनसदस्या-
णि विष्कम्भेन धरणीतले दश योजनसदस्याणि । नन्तरं च
मात्रया परिहीयमानाः परिहीयमाना उपरिपैकं योजनसदस्यं
विश्रितियोजनानि किंचिद्विशेषाधिकानि (३१६२३) परिक्रमे-
ण धरणीतले एकत्रिंशत् योजनसदस्याणि बट्टशानि त्रयोविं-
शतियोजनानि देशानि [३१६२३] परिक्रमेण उपरि ऋषि
योजनसदस्याणि एकं च द्वयोष्टियोजनशतं किंचिद्विशेषाधिकं
[३१६२२] परिक्रमेण ततो मूले विस्तीर्णं मध्ये संक्षिप्तानि उप-
रि तुकाः अत एव गोपुत्रसंस्थानसंस्थिताः सर्वस्मिन्ना अञ्ज-
नमया अञ्जनरत्नामकाः 'अच्छा जाव परिकखा' इति प्राप्यत् प्र-
त्येकं पञ्चवरेणिकाः परिक्रिताः प्रत्येकं वनखपरिक्रिताः पञ्च-
वरेणिका वनखरकचयेन प्राप्यत् "तसिणमित्वादि" तेषामञ्ज-
नपर्वतानां प्रत्येकं प्रत्येकमुपरि बहुसमरमणीया ज्मिजागा प्र-
कृतः तस्य 'से जहानामए अण्णिमपुक्खरं च द्वा स्यादि' वषे-

नं जम्बूद्वीपजगत्या उपरितनजागस्येव तावद्भक्त्यं यावत् 'तस्य
 षं बहवे बाणमेतन्ना देवा देवाःओ य आस्यंति तं जाव विदरन्ति'
 तसिं षं बृहस्पतिर्जिज्ञासुं नृमिजागाणं बृहस्पतिर्दे-
 सजाए पत्तयं पत्तयं चचारि सिद्धायतणा एगमेकं ज्ञेय-
 षस्यं आयामेणं पन्नासं ज्ञेयणाईं विकल्पेणं छावत्तरी
 ज्ञेयणाईं उद्धं उच्चत्तेणं अणैगखजस्यपान्निविद्धा वष-
 आ गीयमा ! तसिं षं सिद्धायतणां पत्तयं पत्तयं चउ-
 हिसिं चचारि दारा पन्नात्ता तंजहा देवहारे असुरहारे नाग-
 हारे भुवस्सहारे तस्य षं चचारि देवा महिहृषिया जाव प-
 लिआवमहिहृषिया पविबसंति तं देवे असासुं नाग सुवष
 तेणं दारा सोलसजोयणाईं उद्धं उच्चत्तेणं अद्ध ज्ञेयणाईं
 विकल्पेणं तावत्तियं पवेसेणं सेताव कणगवषआ जाव
 वणमासाओ । तसिं षं दाराणं चउहिसिं चचारिमुद्धंमंरुवा
 पन्नात्ता ते षं मुद्धंमंरुवा एगमेगं ज्ञेयणासं आया—
 मेणं पन्नासं ज्ञेयणाईं विकल्पेणं सातिरंगाईं सोलसजो-
 यणाईं उद्धं उच्चत्तेणं वषआ तसिं षं मुद्धंमंरुवाणं चउ-
 हिसिं चचारि दारा पन्नात्ता ते षं दारा सोलस ज्ञेयणाईं
 उद्धं उच्चत्तेणं अद्धज्ञेयणाईं विकल्पेणं तावत्तियं चैव पवे-
 सेणं सेसं तं चैव जाव वणमासाओ । एवं पिच्छापरमह-
 वा वि तं चैव पमाणे जे मुद्धंमंरुवाण दारा वि तद्देव
 णवरं बहुमंरुवेसभाए पेच्छापरमंरुवाणं अरुवांरुगा म-
 षिपेदियाओ अद्धज्ञेयणापमाणानो मीहामणा सपरि-
 बारा जाव दामा धूमा वि चउदेमिं तद्देव णवरं सोलस
 ज्ञेयणापमाणे माडरेगाईं मोलम उवा सेसं तद्देव । जिण-
 पडमाओ चेइयरुक्खा तद्देव चउदेमिं तं चैव पमाणं
 जहा विजयाए रायदाणीए णवरं माणपेदियाओ सोलस
 ज्ञेयणापमाणेओ तसिं षं चैतियरुक्खाणं चउहिसिं च-
 चारि माणपेदियाओ अद्ध ज्ञेयणाविकल्पेणं चउज्ञेयणा-
 बाहद्विआओ महिहृष्याणं चउसहिं ज्ञेयणाविकल्पेणं ज्ञेयणाव-
 षंवा ज्ञेयणाविकल्पेणं सेसं तद्देव एवं चउहिसिं चचारि
 न्दापुक्खरिणीओ नवरं स्वायरमपदिउआओ ज्ञेयणासं
 आयामेणं पन्नासं ज्ञेयणाईं विकल्पेणं दम ज्ञेयणाईं उ-
 च्छेदं मेसं तद्देव । मणोणुलिया गोमाणसिया अरुया-
 लीमं अरुयालीसं महस्साओ पुरच्छिंमेण वि सोलसपव-
 च्छिंमेण वि सोलस सहस्सा दाहिणेण वि अद्ध सहस्सा उ-
 च्छरेण वि अद्ध सहस्साओ तद्देव सेसं उद्धाया नृमिनागा
 जाव बहुमंरुवेससंभामेणं मणपेदिया सोलस ज्ञेयणाईं
 आयामाविकल्पेणं अद्ध ज्ञेयणाईं बाहद्वेणं तसिं षं माण-
 पेदियाणं उणं देवच्छंरुगा मोलस ज्ञेयणाईं आयामाविकल्पे-
 षेण सातिरंगाईं सोलस ज्ञेयणाईं उद्धं उच्चत्तेणं सव्वरय-
 ण्यणंओ अद्ध मयं जिणपदिमाणं सव्वो सो चैव गोमो

ज्ञा वेमाणिया मिच्छाययस्स ॥
 तेषां बहुसमरमणंणानां नृमिभागानां बहुमध्येदेशभागे प्रत्येकं
 प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रकृतं तानि च सिद्धायतनानि प्रत्येकं प्रत्येकं
 योजनशतमायामेव पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेन द्विसप्तसित्तियो-
 जनानि ऊर्ध्वेभूस्त्वेन अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानीत्यादि तद्ग-
 णंनं विजयं देवधर्मसमावहकथमम् (तेषिणसित्त्वादि) तेषां
 सिद्धायतनानां प्रत्येकं चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु पदैकैकस्यां दि-
 शि पदैकैकजावेन चत्वारि द्वाराणि प्रकृतानि तद्यथा पूर्वेण पूर्वे-
 स्यामंवे दक्षिणस्यां पश्चिमायामुत्तरस्याम् । तत्र पूर्वस्यां दिशि
 द्वारं देवद्वारं देवनामकस्य तदधिपतेस्तत्र भावादेव दक्षिणस्या-
 मसुरद्वारं पश्चिमायां नागद्वारम् उत्तरस्यां सुवर्णद्वारम् (तथे-
 त्यादि) तत्र तेषु चतुर्षु द्वारेषु यथाक्रमं चत्वारो देवा महर्हि-
 का यावत्पञ्चमोमस्मिन्ध्याम । तत्र पूर्वस्यां दिशि
 पूर्वद्वारं देवा देवनामा दक्षिणद्वारे असुरनामा पश्चिमद्वारं नाग-
 नामा उत्तरद्वारे सुवर्णनामा (तेषं दारा इत्यादि) तानि द्वा-
 राणि योऽज्ञायतेजानति प्रत्येकसूक्ष्मस्त्वेन अष्टौ योजनानि वि-
 ष्कम्भतः (तावद्यं चैवति) तावत्पथे अष्टमेष योजनानी-
 ति प्रायः । प्रवेशेन (सिंयावरकणगमणिया इत्यादिवर्णकः विज-
 यत्तारस्येवेति विजयत्ताराशब्दे भावयिष्येन)
 तस्य षं जेसिं पुरच्छिंमिद्धेणं श्रंजणपव्वते तस्स णं चउ-
 हिसिं चचारि न्दापुक्खरिणीओ पन्नात्ताओ तंजहा णांटा-
 च्चरा य णांटा आणंटा णदिवडणा । ताओ णंदापुक्खरि-
 णीओ एगमेगं ज्ञेयणास्यसदस्सं आयाविवसेणं दम
 ज्ञेयणाईं उच्चेहेणं अच्चाओ सगहाओ पत्तयं पत्तयं पउ-
 मवरचेत्तिया पत्तयं पत्तयं वगसंरुपरिविखत्ता तस्य तस्य
 जाव तिसोपाणपरिखुवा तारणा तामि णं पुक्खरिणीं
 बहुमंरुवेसभाए पत्तयं पत्तयं दहिमुद्धपव्वए पन्नात्ते तेणं
 दहिमुद्धपव्वया चउसहिं ज्ञेयणासदस्समाईं उद्धं उच्चत्तेणं एगं
 ज्ञेयणासदस्सं उच्चेहेणं सव्वरय ममा पल्लगमंटाएसंउता
 दसज्ञेयणासदस्समाईं विकल्पेणं एकतीसं ज्ञेयणासदस्साईं
 ऊह्वे तेवीसजोयणासए परिकल्पेणं पन्नात्ता सव्वरयया-
 मता अच्चा जाव परिखुवा पत्तयं पत्तयं पउमवरचेत्तिया
 वगसंरुवेण उ बहुसमरमणीयं जाव आसयंति सिद्धाय-
 यणं तं चैव पमाणं तं श्रंजणपव्वते सव्वरयया निरवसेओ
 ज्ञायियव्वा जाव उणं अद्धद्वंमगलया ॥
 तत्र तेषु चतुर्षु अञ्जनपव्वेतेषु मध्ये योऽसौ पूर्वदिग्नाथी अ-
 ष्कम्भेनपर्वतस्य चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु पदैकैकस्यां दिशि प-
 कैकन्यापुष्करिणीभावेन कतका नवापुष्करिण्यः प्रहस्तास्त-
 यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दिपेणा दक्षिणस्याममोषा अपरस्यां
 गोस्त्या उत्तरस्यां सुवर्शना ताञ्च पुष्करिण्य एकं योजनशत-
 सहस्रमायामविष्कम्भान्मां षीणं योजनशतसहस्राणि योऽहा
 सहस्राणि द्वे शते सप्तशतस्यधिकत्राणि गच्छन्तानि अष्टादिशं
 षट्शतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्धङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकं
 परिकल्पेण प्रकृताः । दश योजनानि उद्धेयेन " अच्छाओ स-
 एहाओ न्ययमयकूलाओ इत्यादि " जगामुपरि पुष्करिणीव-
 ष्चिरवशेषं वक्तव्यं नवरं " वहाओ समतीराओ सोऽदोऽशपदि-

पुष्पाग्नौ " इति विशेषः । तावत्प्रत्येकं प्रत्येकं पञ्चबरोदिक्या परिहृिताः प्रत्येकं प्रत्येकं वनक्षरैश्च परिहृिताः । अत्रापीदमव्यदधिकं पुस्तकान्तरं दृश्यते " तासि यं पुष्करिणीयं पश्येत् पश्येत् चउद्विर्दिं चचारि वणसंज्ञा पञ्चत्वा तं जहा पुर-
च्छिद्येण्यं द्वादिनेयं अचरं उचरं पुच्छेयं असोमयं जाय
पुष्यस्य उचरं पश्येत् " एवं शेषाञ्जनपर्वतसंज्ञिनीनामपि
नन्दापुष्करिणीनां वाच्यम् (तासिवाप्तिस्यादि) तासां पुष्करि-
णीं बहुमध्यदेशाग्रे प्रत्येकं प्रत्येकं दक्षिणोत्तरीदक्षिणुक्तानामा
पर्वतः प्रकृतः (तेणमित्यादि) ते दक्षिणुक्तपर्वताभ्याः पृष्ट-
योजनसहस्राणि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्भेधेन स-
र्वत्र समाः पश्यसंख्यानसंस्थिता दशयोजनसहस्राणि विष्क-
भेन एकदशयोजनसहस्राणि पश्येयविशानि त्रयोविशत्य-
धिकानि योजनशतानि परिहरेण्यं प्रकृताः । सर्वात्मना स्फटिक-
कमया अथवा यावत्तिलकपाः प्रत्येकं प्रत्येकं पञ्चबरोदिक्या
परिहृिताः प्रत्येकं ३ वनक्षरैश्च परिहृिताः (तेषिणमित्यादि)
तेषां दक्षिणुक्तपर्वतानामुपरि प्रत्येकं बहुसमरमण्यो भूमिभागः
प्रकृतः तस्य च वर्णनं तावद्दृश्यं यावद्दृष्टो " वाणमन्तरा
देवा देवीश्रो य आसयन्ति स्यन्ति जाव विहरन्ति " (तेषि-
णमित्यादि) तेषां बहुसमरमण्योयानां त्रिमभागानां बहुमध्य-
देशाग्रे प्रत्येकं प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रकृतं सिद्धायतनयकव्यता
प्रमाणद्विका अञ्जनकपर्वतोपरि सिद्धायतनवद्दृश्यता यावद-
दृश्यं प्रत्येकं प्रत्येकं धूपकदन्तुकानामिति ।

तस्य णं जे म दक्षिणोत्तरीयं अंजयगपव्वए तसस णं
चउद्विर्दिं चचारि णंदापुष्करिणीश्रो पञ्चत्वाओ तंजहा
नहा य विनाहा य कुमुया पुंरुगीणीयं तं च तद्देव ददि-
मुद्रपव्वया तं च पमाणं जाव सिद्धायतने ।

[तस्य णं जे स दांहाण्येण्यं अंजयगपव्वए इत्यादि] दक्षि-
णञ्जनकपर्वतकस्यापि पूर्वदिग्भागेऽञ्जनकपर्वतस्येव निरचयं
वक्तव्यं नवरं नन्दापुष्करिणीनामिमानि नामानि तद्यथा पूर्वस्यां
नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा अपरस्यामानन्दा उत्तरस्यां नन्दि-
वर्द्धना शेषं तथैव ॥

तस्य णं जे से पञ्चचिदमं अंजयगपव्वए तसस णं चउ-
द्विर्दिं चचारिपुष्करिणीओ पञ्चत्वाओ तं जहा णंदेसागा
य अमोहा य गोत्थुणा य सुसंज्ञाया य तं चैव सव्वं भाणिय-
व्वं जाव सिद्धाययणं तस्य जे से उत्तरदिग्गे अंजयगपव्व-
ते तसस णं चउद्विर्दिं चचारि नन्दापुष्करिणीओ पञ्चत्वा-
ओ तंजहा विजया वंजयंत। जयंत। अत्रपराजिता ससं तद्देव
जाव सिद्धाययणा सव्वो चेति य वक्ष्याणा णयव्वा । तस्य
णं बह्वे भवणवर्णाखमंतरओवितसेवोणिया देवा चाउ-
म्मासियपकिवत्तु संबच्छरेसु य अखेसु बहुजियज्जपण-
निकस्यपणाणुप्पपातपरिण्णानुणमादिपसु य देवकजेसु य
देवसमुद्रपसु य देवसमतीसु य देवमभापसु य देवपओंयणसु
व एगंतओ सदिया ससुवगाणा सणाणा पसुदियपकां।सिया
अद्विद्याओ महापट्टिमाओ कारेणाणा पालेणाणा संह
सुद्वेण विहरन्ति । कयस्सासहरिवाइहा य तस्य दुबे देवा
वद्विद्या जाव पत्तिओमद्वितिया परिचसंति से वेण-

द्वेणं गोयमा ! जाव निषे षोतिंसं संसेजं ॥

पूर्वादिग्भागेऽञ्जनकपर्वतस्येव पश्चिमदिग्भागेऽञ्जनकपर्वतस्या-
पि वक्तव्यं यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमदृश्यं धूपकदन्तुकानां नवरं
नन्दापुष्करिणीनां नामनामात्वं तद्यथा पूर्वस्यां भद्रा दक्षिणस्य
विशाला अपरस्यां कुमुदा उत्तरस्यां धूपकदन्तुकानां शेषं तथैव ।
एवमुत्तरदिग्भागेऽञ्जनकपर्वतेऽपि वक्तव्यं नवरमत्रापि नन्दा-
पुष्करिणीनां नामनामात्वं तद्यथा पूर्वस्यां दिग्दि विजया
दक्षिणस्यां वेजयन्ती अपरस्यां जयन्ती उत्तरस्यामपराजिता
शेषं तथैव यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमदृश्यं धूपकदन्तुकानां शेषं तथैव
शानामपि आभूयं धापीनामपराजिता प्रत्येकं प्रत्येकं रतिकर-
पर्वतो जिनभवनमपिदन्तेश्वरी शास्त्रागरे अग्निहोताविति ।
सर्वसंख्यया नन्दीश्वरद्वीपे चापुञ्ज्यास्त्रिदायतनानि (तस्य
मित्यादि) तत्र तेषु सिद्धायतनेषु ऋषिभिः पूर्ववत् बहवो नव-
नपतिवाण्यन्तराज्योतिष्कवैमानिका देवाभ्यास्तुर्मासिकेषु पशु-
षायायामग्रेषु च बहुषु जिनजन्मनिष्कमहानांत्वाद्य परिनिर्वा-
ण्यदिषु देवकपयोः देवसमितेषु पतव्यं पशुयथैव व्याचष्टे
देवसमवायेषु देवसमुदायेष्वयागताः प्रमुद्रितप्रकीर्णिता अष्टा-
द्विकारुपा महामहिमाः कुर्वन्तः सुखं सुखेन विहरन्ति प्रासते ।
(अदुत्तरं च णं गोयमा ! इत्यादि) अथाप्यत् गौतम ! नन्दीश्व-
रद्वीपे अक्रथाश्विचक्रमेन बहुमध्यदेशाग्रे चतस्रषु दिक्षु
एकैकस्यां विदिशि एकैकजनेन चत्वारो रतिकरपर्वताः प्रकृ-
ताः तद्यथा एक उत्तरपूर्वस्यां द्वितीया दक्षिणपूर्वस्यां तृतीया
दक्षिणपारस्यां चतुर्थे उत्तरपारस्याम् । (तेणमित्यादि) ते र-
तिकरपर्वता दशयोजनसहस्राणि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकयोजनसह-
स्रसमुद्भेधेन सर्वत्र समा कर्णुरीरंस्थानसंस्थिता दशयोजन-
सहस्राणि विष्कभेन एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि पश्येयविशानि
योजनशतानि परिहरेण्यं स्योमनस रत्नमया कृष्णा चतस्रः प्र-
तिरुपाः । तत्र योऽसावुत्तरपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि
वत्ससु दिक्षु एकैकाराजधानीभावेन ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवरा-
जस्य चतसृणामप्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाः चतस्रो राजधान्यः
प्रकृतास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा
पश्चिमामामुत्तरकुरा उत्तरस्यां देवकुरा । तत्र कृष्णायाः कृष्ण-
नामिकाया अम्रमहिष्या नन्दोत्तरा कृष्णराज्या नन्दा रामाया
वचरकुरा रामरक्षिताया देवकुरा । तत्र योऽस्ती दक्षिणपूर्वो र-
तिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्यस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य च-
तसृणामप्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाभ्यक्तो राजधान्यः प्रकृ-
तास्तद्यथा पूर्वस्यां सुमनाः दक्षिणस्यां सौमनसा अपरस्यामभ-
विंमोऽती उत्तरस्यां मनोरमा । तत्र पश्चायाः पश्चामिकाया अम्र-
महिष्याः सुमनाः शिवायाः सौमनसा सोमाया अविंमोऽती अ-
द्विकुरा मनोरमा । तत्र योऽस्ती दक्षिणपश्चिमो रतिकरपर्वत-
स्तस्य चतुर्दिशि शक्यस्य देवराजस्य चतसृणामप्रमहिषीणां
जम्बूद्वीपप्रमाणाभ्यक्तको राजधान्यः प्रकृतास्तद्यथा पूर्व-
स्यां दिशि जूता दक्षिणस्यां जूतावतंसा अपरस्यां गोस्तुपा अ-
चरस्यां सुदर्शना । तत्र अमलाया अमलनामिकाया अम्रमहिषी-
ण्या जूता राजधान्यः अपरस्यां अमलनामिका नवभिक्षयोर्गो-
स्तुपा रोहिण्याः सुदर्शना । तत्र योऽसावुत्तरपश्चिमो रतिकरप-
र्वतस्तस्य चतुर्दिशि ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामप्र-
महिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाभ्यक्तो राजधान्यः प्रकृतास्तद्यथा
पूर्वस्यां दिशि रत्ना दक्षिणस्यां रत्नोऽका अपरस्यां सध्वरीना
उत्तरस्यां रत्नसंज्ञया । तत्र रत्नवसुणामिकाया अम्रमहिष्या

रत्ना वसुप्राप्तया रत्नोत्थया वसुमित्रायाः सर्वरत्ना वसुधरायाः सर्वसम्पत्तया । इयं रतिकर्षणतत्तुष्टयवत्कथ्यता । केषुचित् पु-
 स्तकेषु सर्वथा न दृश्यते कैशासहरिवाहननामनी च द्वौ द्वौ तेषां
 तत्र यथाक्रमं पूर्वार्कपराङ्घ्रिपती मर्हसि की यावत् पद्मोपम-
 स्थितिकी परिवसतस्तत एव नम्या सद्गुह्या दुर्गदिसम्पत्कामिति
 बचन्नाट ईश्वरः स्फातिमादत्त तु नाम्नि तन्मिष्यः । तथाचाह ।
 से परणट्टेणमित्यादि उपसंहारवाक्ये प्रतीतं चण्डादिसंख्यासुप्तं
 प्राप्यत् ० ३ प्रति० । स० । धनस्फातिविशेषे, रा० । द्वाअजना
 स्या० २रा० । वायुकुमाररेन्द्राणां नृतीये लोकपाले, म० ३श० ० ७० ।
 अंजण [एण] गिरि-अञ्जनगिरि-पुं० कृष्णवर्णपर्वतविशो-
 र्णे, हा० ० ८ अ० । मन्दरपर्वते मरुत्तान्तये व्यबस्थिते चतुर्थे
 दिग्वांसिस्तूटे, स्या० ० ८ ० ८ ० ८ ० ८ ० ८ ० ८ ० ८ ० ८ ० ८ ० ८ ० ८ ।
 (धर्षणं दिहाहनिधयुः)

अंजणजोग-अञ्जनयोग-पुं० सप्तविंशकभाभेदे, कल्प० ।

अंजणपुलग-अञ्जनपुलक-पुं० रत्नभेदे, रा० । आ० म० प्र० ।

रत्नप्रनायाः पृथिव्याः अरकाण्डस्य एकादशे जगणे, स्या०
 १० जा० । मन्दरस्य पुर्वे रुचकवर्ते पर्वते व्यवस्थितेऽष्टमे कूटे
 स्या० ० ८ जा० ८

अंजणमूल-अञ्जनमूल-पुं० रुचकपर्वतस्याष्टमे कूटे, द्वी० ।

अंजणरिच-अञ्जनरिष्ट-पुं० वायुकुमारगणां चतुर्थे इन्द्रे, न०
 ३ श० ० ३० ।

अंजणसमृग्ग-अञ्जनसमुद्रक-पुं० सुगन्धसज्जाधारं, जी०
 ३ प्रति० । रा० ।

अंजणसन्नगा-अञ्जनशलाका-स्त्री० अद्गणोरञ्जनार्थं शला-
 कायाम्, सूत्र० १ शू० ५ अ० ।

अंजणसिन्द-अञ्जनसिन्द-पुं० अद्गणोरञ्जनविशेषप्रज्ञेयनाह-
 इयतं गते, पि० । नि० सू० । (यथा सुस्थितामिधसुरिसुखाद्यो-
 निष्पत्तौत्समदृशः । कणमञ्जनं सुया कृष्णकल्पेनाहस्यं नृत्या
 बन्धुस्यऽऽहारी लुकः इत्यादि चक्षुशब्द)

अंजण-अञ्जना-स्त्री० नृतीयनरकपुत्रियाम्, जी० ३ प्रति० ।
 स्या० । प्रब० । जम्ब्याः सुदर्शनाया अपरदक्षिणस्यां व्यवस्थि-
 त्तार्यां पुष्करियाम्, जं० ५ वक्र० । जी० ।

अंजणिया अञ्जनिका-स्त्री० कज्जलाधारनृतायां नलिकायाम्,
 सूत्र० १ शू० ५ अ० ।

अंजलि (ली) - स्त्री० पुं० अञ्जलि-पुं०- अञ्ज-प्रलि-
 बन्धुज्जापाः स्त्रियाम् ० १ । ३२ । इति प्राकृतसूत्रेण वा स्त्री-
 त्वम् । प्रा० । मुकुलितमहाकारकरद्वयकणे (जं० ३ वक्र०) इ-
 स्तन्यासाविशेषे, रा० । म० । सं० प्र० । दो वि हत्या महाकम-
 लसंनिधा अंजली जगति नि० सू० १ ३० । मुकुलितहस्तयो-
 र्हासादसंभये, “ योगे वा द्वांहे वा मर्हसिर्हाइ हत्योर्हि गिन्नात्र-
 सर्वसिर्हाइ अंजली जगति ” नि० सू० ५ अ० । द्वयोर्हस्त-
 योरुच्योन्यामन्तरिताङ्गुलिकयोः संपुटकपतया एकत्र मिलने च,
 जी० ३ प्रति० । आ० म० म० । प्रवनादौ । क्रियमाणे कायेक-
 विनयभेदे, अञ्जलिप्रणामादौ यदि पुनः कथमन्यको दस्तः कृषि-
 को जवति तदैकनरं इस्तमुत्पाज्य नमः कृमाधमयोग्य इति व-
 कस्यम् इय० १ उ० । हा० । दृश्य० ।

अंजलिपरगद्-अञ्जलिपरगद्-पुं० इस्तजोदनं, हा० १ अ० ।

अञ्जलिकरणे विनयविशेषे, म० १४ श० ३ उ० । प्रब० ।
 सम्भोगभेदे च । स० (संज्ञोग शब्दे निरूपणम्)
 अंजलिवंध-अञ्जलिबन्ध-पुं० करकुण्डलस्य शिरसि विधाये,
 दश० ।

अंज [म्] - अञ्जम्-न० अन्तिक गच्छति मिश्रयति वाऽनेन
 अञ्जु गतौ । मिश्रणे च असुद्द येने, ब०, श्रीचिन्त्ये च ‘ अञ्जस्त
 उपसंस्थानमिति ’ धातिकात् नृतीयायाः अञ्जुत् । अञ्जस्तान्तुत्
 बाच० । प्रयुगे, न्याये, विशे० ।

अंजिप-अञ्जित-त्रि० अञ्जि-क० कञ्जलेम ऋजिते, तेर्वाञ्जि-
 यक्त्वा निलए च ते कए’ नि० सू० १ उ० ।

अंजु-अञ्जु-त्रि० प्रयुगे, अञ्जुटिते, “ अञ्जो य विवक्त्वादि भ-
 वसंजुर्हि छम्भं ” आचा० १ शू० ५ अ० । मायाप्रपञ्चरहितत्वा-
 द्बचक, “ अञ्जुधम्मं जहा तत्रं विणाणं तं सुण्हइ मे ” सूत्र० १
 शू० ६ अ० । संक्ये प्रयुगे अञ्जुविचारिणि सूत्र० १ शू० १ अ० ।
 आचा० । व्यकं, सूत्र० १ शू० १ अ० । निर्दोक्त्यात्पकट, सूत्र०
 २ शू० ७ अ० ।

अंजुआ-अञ्जुका-स्त्री० अरनापस्य प्रथमशिक्षायाम्, । स०

अंजु-अञ्जु-स्त्री० धनदेवसाधेयाहङ्घ्रितारि, तद्वत्कथ्यता वि-
 पाकभुते दुःखतिपाकानां द्वाभेऽप्यन्ये भूयते स्या० १० जा० ।

जद एं भेते । समणेणं जगवथा मद्वाधैरिणं दममस
 उक्त्वेवत्रो एवं खलु जं व ! तेषं कालेणं तेषं समपर्ण
 ब्रह्माणपुरे एामे एपरं होतया । विजयब्रह्माणे उज्जा-
 णे मणिजहे जकले विजयमिते गया । तस्य एं घणदेव-
 णामं नृत्यवाटो होतया । अहे पिण्णुभारिया अंजुदारिया
 जाव मरीरा समीसरणं परिसा णिग्गया जाव बहिंगया
 तेषं कालेणं तेषं समपर्णं जेट्ठे जाव अक्रयामे जाव विज-
 यमित्तसस रसो गिहसस अमंगवणियाए अदूरसामेते णं
 बीईवयमाह पासद पामइत्ता एणं इत्तियं सुक्क सुक्कं णिग्गं-
 सं किन्किन्दिज्जूयं अच्चिम्मवावणक्कं णीलसालग्गणि-
 यत्थं कट्ठां कलुण्णाई बिस्सराई कुवमाणं पासइ पासइत्ता
 चिंता तहेव जाव एवं वयासी एस एं भेते ! इत्थिया पु-
 व्वज्जेव का आसी वागरणं एवं खलु गोयमा ! !

अञ्ज्याः पूर्वजवः ।

तेषं कालेणं तेषं समपर्णं इहच जन्तुर्विदेवो भारो वासे
 इंदपुरे णामं गयरे तस्य एं इंददत्ते राया पुढविसिरिणामं
 गणिया बध्मओ तएणं मा पुढविसिरिणगिया इंदपुरे खयरे
 बहवे राईभर० जाव प्पिन्दिओ बहुहिं चुल्लपयोमेहिं य जाव
 अभिञ्जो गिता उराहाइं माणुस्समाइं जोगभोगाईं नुंजयाह
 विहरइ । तए एं सा पुढविसिरिणगिया एए कम्माए व
 सकम्मा ४ सुवहु पावं समज्जाणिया पणत्तीसं वाससपाइं
 परमाउसं पालित्ता कालमासे काइं किंवा उट्टीए एव्वंए
 उक्कोसं णेरइत्ताए उववथा । सा एं तओ उव्वट्टित्ता

अञ्ज्या वक्ष्यमानम्बः ।

इहेव वक्ष्यामो ण्यरे षण्देवस्स सत्यवाहस्स पियंगु-
 जारियाए कुञ्चिसि दारियत्ताए उप्पत्ता तएणं सा पियं-
 गुजारिया एवएहं मात्तणं दारियंथयाणं एामं अंजु सेसं
 जहा देवदत्ताए । तएणं मे विजये राया आसवाहणियाए
 णिज्जायमाणे जहा वेसमणदत्ते तद्दा अंजु पासइ एवरं अ-
 प्पणो अद्दावए बरंइ अहा तेतद्वी जाव अंजुए दारियाए
 सद्धिं उप्पि जाव विहरइ । तएणं तंमि अंजुदेवीए अस्सया
 ओणं।सूले पाउरुए या वि होत्था । तएणं से विजये राया
 कोइविद्युरित्ते सदावेइ सदावेइत्ता एवं वयासीगच्छइ णं
 देवा वक्ष्यामाणुरे ण्यरे भिञ्जादग जाव एवं वयह एवं
 खलु देवा विजए अंजुए देवीए जोणीसूले पाउरुए जौ
 एवं इच्छसि वा ६ जाव उप्पोसइ तएणं से बहवे वेज्जा वा
 ६ इम एयारूवं सोभा णिस्सम्म जेषेव विजए राया तेषेव
 उवागच्छइ उवागच्छत्ता अंजुए देवीए बहवे उप्पत्ति-
 याहं ४ बुद्धिं परिणामेयाणा इच्छंति । अंजुए देवीए
 जोणीसूले उवसामित्ते णो संचाएइ उवसामित्ते तएणं
 ते बहवे विज्जा य जाहे णो संचाएइ अंजुए देवीए जोणी-
 सूले उवसामित्ते ताहे इता तंता जामेव दिंसं पाउरुए
 तामेव दिंसं पदिग्गया तएणं सा अंजु देवी ताए वेयणाए
 अजिज्या समाणी सुक्का मुक्खा णिम्मंसा कट्टाईं कलुणाईं
 वीसर्राईं विलवइ । एवं खलु गोयमा । अंजु देवी पुरा
 जाव विहरइ अंजुं जंते । देवी कलमासे कालं किञ्चा
 काहं गच्छिइति काहं उववज्जिइति । गोयमा । जहा
 तेयस्सि त्ति ॥

ज्ञानाधर्मकथायां यथा नेतलिसुत्तनामा आमात्यः पोहिला-
 मिधार्थं कलादस्तपिकादारभेष्टिसुत्तामाग्मायै याचयित्वाऽऽत्त-
 नैव परिणेतुञ्चानेधमयमपति इक्षामाप्स्ययनविचरणम् ।

अञ्ज्या भविष्यद्भवः ।

अंजु णं देवी णट्ठवासाईं परमावयं पावइत्ता कालमासे
 काहं किञ्चा इमीसे रयखप्पजाए णेरुदत्ताए उववसेः
 एवं संसारां जहा पदमा तद्दा एथेव्वं जाव वणस्पइंसाणं ।
 तत्रो अणंतेरं उव्वट्ठिचा सव्वओ जहे ण्यरे मयूरत्ताए
 पच्चायाहंति से णं तस्य साउणिएहंइ बहिए समाणे
 तस्येव सव्वओ भरे ण्यरे सेट्ठिकुञ्चिसि पुत्तत्ताए पच्चा-
 याहंति से णं तस्य उम्मुत्तहारूवाणं थराणं अंतिए
 केवस्सि बोहिं बुज्जिइति बुज्जिइतिचा पवज्ज सोहम्मे
 सेणं ताओ देवस्सोगाओ आउक्खएणं ९ काहं गच्छिइ-
 ति काहं उववज्जिइति गोयमा । महाविदेहे वासे जहा
 पदमे जाव सिज्जिइति जाव अंतं काहंति । एवं खलु
 अंजुसमणेणं जाव संपचेणं दुइविवागाणं दसमस्स

अञ्जुयणस्स अयमहं पस्सते सेवं जंते विपा० १० अ० ।
 तच्छक्यताप्रतिषेधे कर्मविपाकानां दृग्मेऽप्ययने च स्था०
 १० ज० । शक्यस्य चतुर्थ्यामप्रमदित्थं च स्था० ८ ज० । सा च
 पूर्वमेव इत्थिनापुरं पहाइ विजयायामुत्पन्ना पाश्चात्ततोऽन्तिकं
 प्रव्रजिता शक्यस्याप्रमदित्थी जाता । स्थितिः सप्तपद्मेयमा
 महाविदेहेऽन्ते कांस्पति तत्प्रतिपादकं ज्ञानाधर्मकथायाः
 द्वितीयसुत्तस्य मध्यमार्गस्य चतुर्थेऽप्ययने च. ज्ञा० १ श्रु० ॥

अंजु-आएद-न० अमन्ति सम्भयोगं यात्ति अनेनेति अय-र
 टवर्गादित्येऽपि तस्य नेत्वम् । पुंसेऽप्ययमेव सुक्के, वाच० ।
 पिपीलिकाद्वानां दिम्बे, वृ०४ व० आचा० चतुरिन्धियकोटिवि-
 शेपनिर्वर्तिनकोशाकारे, विदे० । ज्ञानाधर्मकथायाः प्रथमसुत्तस्क-
 थस्य मयूरारूढकवचकथ्यताप्रतिषेधे तृतीयेऽप्ययने, ज्ञा० १ अ० ।
 भाव० । प्रश्न० । सं० । आ० चू० ।

तत्कथामकं शैश्वम् ।

जइ णं जंते । समणेणं जगयथा महावीरेणं जाव एवं खलु
 जंबू तेणं कासेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था
 वामओ तंसे णं चंपाए नयरीए बहिया उत्तरपुरेच्छमे
 दीसीजाए सुज्जुभिजागे एामं उज्जागे सव्वओ य सुरम्मे
 णंदणवणं इव भ्रुहसुरजिसीयलच्चयाए समणुबन्धे तस्स
 णं सुज्जुभिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरे एगदेसमि माख्वा
 कच्छए इत्था वणओ तस्य णं एगा वणमयूरी दो पुडे
 पारियागते पिड्डेउमी पंडूरे णिण्वणे निरुवट्टए भिन्नघुट्टि-
 प्पमाणं मयूरी अरुए पसवइ मएणं पक्खवाएणं संकलमा-
 णी संगोवेमाणी संचिटेमाणी विहरइ । तस्य णं चंपाए
 णयरीए उवे मत्तवाहदारगा परिवसंति तंज्जा जिणदत्त-
 पुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य सह जायया सहवट्ठियया सह
 पंथुकीलिया सह दारदत्तिं अन्नमकमण्णरत्तया उष्णस-
 माणुव्वयया अस्समइच्छंदाणुवचया उष्णमहाहिययइ-
 च्चियकारया अणुमसेसु गिहेसु किञ्चाईं करणिज्जाईं
 पक्खणुत्तवमाणा विहरंति । तए णं तेसिं सत्यवाहदारगाणं
 अस्सया कयाईं एगओ सदियाणं सपुण्यजाणं सखिसस्य्याणं
 सखिचिद्धाणं एमेयारूवं भिड्ढोकहासयुद्धाव सपुण्यजित्था
 जेणं देवाणुप्पया अस्सं सुइं वा दुइं वा पव्वज्जां वा नि-
 देसमणं वा समुप्पज्जति तेणं अस्सै एगओ समेक्खे णि-
 च्चरियव्वं तिकडु अएणमं एयारूवं संकेयं सुणंति सक-
 म्मसंपज्जा जाया वि होत्था । तस्य णं चंपाए नयरीए
 देवदत्ता नामं गणिया परिवसति अद्दा जाव भत्तपाणा
 चउसट्ठिकलापमिया चउमट्ठिगणियागुणोवेवैया अउणती-
 सं विसेसममाणो एक्कनीसरगुणुपट्ठाणा वचीसपुरिसोव-
 यारकुसला एणंमसुत्तपट्ठिवोहिया अद्दारस देस।भासा-
 विसारया सिंगारगारचारुमेसा संगयगयइसियजणियविहि-
 यविस्सासल्लियसंझावनिचखलुचोवयारकुसला ऊसिय-
 ऊज्या सहस्ससंज्ञा विदिएणउत्तचामरवाहावीयाणिया क-

एषोऽरहृष्ययायी वि होत्या । बद्धं गणियासहस्मां आ-
 ह्वेबच्चं जाव विहरति । तएणं तेसिं सत्यवाहदारयाणं
 आणया कयाइं पुन्वावरहकासमयंसि जिमियधुचु-
 रागयाणं समःणाणं आयचाणं चोक्वाणं परमसुहृन्त्याणं
 मुहासणवरगयाणं इमेयारुवे मिहो कहाममुद्रावे समुप-
 जित्या से णं खलु देवाणुपिया कद्धं जाव जलेते विपुलं
 असणं पाणं खाइं साइं उक्खवावेचा ते विपुलं अस-
 णं पाणं खाइं साइं धूवपुक्कंभवत्थं गहाय देवदत्ताए
 गणियाए सक्किं मन्नीभगस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिंरिं
 पच्च पुब्बवमाणा णं विहरत्तए तिकइ अठमएणम एय-
 म्हें पक्किसुणेइं पक्किसुणेइं कद्धं पाउंनुए कोहुंविपुसुरिंसे
 सदावेति सदावेइं चा एवं वयासी गच्छं णं तुम्भे देवाणुपिया
 विपुलं असणं पाणं खाइं साइं उक्खवावे च उक्खवावेचा
 नं विपुलं असणं पाणं खाइं साइं धूवपुक्कं गहाय जेणेव
 सुज्जमभागे जेणेव णं देवाणुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइं उ-
 वागच्छः चा एणंए पुक्खरिणीए अदूरसांते धूणा मंरुवं
 आहणइं आनिपसमजिओवलिचं सुगंधं जाव कलियं क-
 रेइ अग्ने पंरुवहेमाणा चिइइ । तए णं से सत्यवाहदा-
 रागा दोषं पि कोहुंविपुसुरिंसे सदावेति सदावेइं चा एवं व-
 यामीं निपुमेव इहुकरणुत्तजांयं समरुत्तवाइहाइ-
 णं समज्जितियित्तखपसंगदिपाइं रययामयधंयुच-
 रनुययवरकंखलच्चियखत्थवग्गेवगगहिंरिं नीलाप्य-
 लकयभेजएहिं पवरगोणजुवाणएहिं णाणामाणिरयणकंच-
 णंधेठियाजाइपरिकित्तं पवरलक्खणोवचिंयं जुत्तामेव
 पहाणं उवणंहे तं वि तहव उवणंति तएणं से सत्यवाह-
 दारगा पट्टया जाव सच्चररीरपवहणं उरुहंति जेणेव दे-
 वदत्ताए गणियाए गिहं तेणेव उवागच्छंति । पवहणाओ
 पबोकरुंति देवदत्ताए गणियाए गेहं अणुपविंसंति तएणं सा
 देवदत्ता गणिया ते सत्यवाहदारगा एज्जयाणं पासइ पा-
 सइचा इहुतुइ आमिणाओ अग्नेट्टेति अग्नेट्टिचा सच-
 इयाइं अणुगच्छंति अणुगच्छंत्ता ते सत्यवाहदारए एवं
 वयासी संदिसइं तुं देवाणुपिया किमागमणुप्यआय-
 णं तएणं ते सत्यवाहदारगा देवदत्तं गणियं एवं वयासी
 इज्जामां देवाणुपिया तुंनेहिं सक्किं सुज्जमिभागस्स उज्जा-
 णस्स उज्जाणसिंरिं पक्खणुज्जवमाणा विहरत्तए । तएणं
 सा देवदत्ता गणिया तेसिं सत्यवाहदारगाणं एयमहं पदि-
 सुणेति पक्किसुणेतिचा एहाया कयवलकम्मं किं ते पवरं
 जाव सेरिसमाणवेसा जेणेव सत्यवाहदारए तेणेव उवा-
 गच्छंति । तए णं से सत्यवाहदारगा देवदत्ताए गणियाए
 मदिं जाणं उरुहंति चंपाए नयरीए मंरुवं मंरुवं जेणेव
 सुज्जमिजागे उज्जाए जेणेव नंदापोक्खरिणी तेणेव उवाग-

च्छंति उवागच्छंतिचा पवहणतो पबोकरुंति णंदापोक्ख-
 रिणी ओग्गहंति जलमज्जयं करंति जहाक्कीं करंति एहाया
 देवदत्ताए सक्किं पबोकरुंति जेणेव धूणांमंरुवं तेणेव उवाग-
 च्छंति उवागच्छंतिचा अणुप्यविंसंति सुवालंकारविजसिया
 आसत्या वीसत्या मुहासणवरगया देवदत्ताए गणियाए
 सक्किं तं विपुलं असणं पाणं खाइं साइं साइं धूवपुक्कंभव-
 त्थं आसांमाणा विसाएमाणा परिज्जइ एवं च णं विहरं-
 ति जिमियधुचोत्तरागया देवदत्ताए गणियाए सदिं विपु-
 लाइं माणुस्सगाइं कामजोगाइं जुंजमाणा विहरंति तएणं मे
 मत्थवाहदारया पुन्वावरहकालसमयंसि देवदत्ताए गणि-
 याए सक्किं इणामंरुवाओ पदिनिकस्समंति इत्थंसंगलिए
 सुज्जमिजागे बहइ अणुप्यपरेसु य कयमंथरेसु य ज्ञयाधरे-
 सु य अच्छणधरेसु य पेच्छणधरेसु य पासणधरेसु य मोहन-
 धरेसु य साजधरेसु य जाजधरेसु य कुमुमधरेसु उज्जाणसिंरिं
 पक्खणुज्जवमाणा विहरंति तए णं ते सत्यवाहदारया जेणेव
 से माहुवया कच्छे तेणेव पहारेत्यगमणाए तए णं सा वयम-
 युरी ते सत्यवाहदारए एज्जमाणं पामति पामंतिचा णंया
 तत्थ महाया महाया सदहं केकारवं विणिम्ययमाणा मालुया
 कच्छाओ पदिनिकस्समः । एणंमि रुक्कमालियं ठिच्चा ते
 सत्यवाहदारए मालुयाकच्छे च पविममाणा आणमिसदि-
 ङ्गीए पेटमाणी चिइइ । तए णं ते मत्थवाहदारए अएणं ममं
 सदावेइं सदावेइं चा एवं वयासी जहा णं देवाणुपिया एसा
 वणमयूरी अग्ने एज्जमाणे पासिचा णंया तत्थ तंसिया उ-
 ज्जिग्गा पट्टया महुया महुया सदहं जाव अग्ने मालुया
 कच्छं च पेटमाणी पेटमाणी चिइइ तं भवियव्वमेत्थका-
 रणं । तिकइ मालुया कत्थं अंतो अणुप्यविंसंति । तत्थ
 णं दो पुइं परिवागए जाव पासंता असमयं सदावेइं
 सदावेइं चा एवं वयामीं तं से यं खलु देवाणुपिया अग्ने
 इमे वणमयूरी अंरुए सा णं जाइंमेताणं तुक्कडियाणं अंरुए
 सुपक्खिस्सवचेत्तए तएणं ताओ जाइंमेताओ कुक्कडियाओ
 एए अंरुए य सएणं पक्खवाएणं सा रक्खमाणीओ संतां-
 वेमाणीओ विहरिंस्संति । तए णं अग्ने पत्थ दो कीडावण-
 गा मयूरिंपाया जविंस्संति तिकइ अएणमव्वस्स एयमहं
 पक्किसुणइं पक्किसुणे चा सए सए दासचेटए सदावेइं सदा-
 वेइं चा एवं वयासी गच्छं णं तुम्भे देवाणुपिया । इमं अंरुए
 गहाय सयाणं जाइंमेताणं कुक्कडिं अंरुए सुपक्खिस्सव
 जाव ते वि पक्खिस्संति तए णं ते सत्यवाहदारगा देवदत्ताए
 गणियाए सक्किं सुज्जमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाण-
 सिंरिं पक्खणुज्जवमाणा विहरंता तमेव जाणं तुइचा समा-
 णा जेणेव चंपानयरी जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहं तेणेव
 उवागच्छइं उवागच्छइं चा । देवदत्ताए गिहं अणुप्यविंसंति

देवदत्ताय गणियाय विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दत्त्वाति सकारेति सम्माणेति देवदत्ताय गिदाउ पादनिस्सवमतिपामि णिकसमंतिचा जेयव सयाइं गिदाइं तेषुव उवागच्छंति सकम्संपदिचा जाया वि होत्था । तत्थ एं जे से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाइं से णं कट्ठं जाव जइते जेणेव से भवमपरीअंदए ते-
 खेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तंसे मयरीअंदयसि संकिए कंत्थिचं त्रितिगिच्छे समावएणे भेयसमावसे कसुसमावाएणे किंमं समं मयं एत्थ कीडावणमयरीपोयए ज्विस्सति उदाहु नो ज्विस्सति चिकट्टं तं मयरी अंदयं अजिकखणं अभिकखणं उव्वत्तइ परिपत्तेति असारेति संसारेति चाइते घट्टे खो-
 भेति अजिस्सणं अजिकखणं कयापुत्तंमि टिट्ठियावेति तएणं से मयरीअंदए अभिकखणं अजिकखणं उव्वत्तज्जमाणे जाव टिट्ठियावेज्जमाणे पोअंभ जाएया वि होत्था । तए णं से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाइदए अएणया कयाइं जेणेव से मयरीअंदए तेषेव उवागच्छति उवागच्छइत्ता तं मयरी-
 अंदयं पोअंभमेव पासति पासइत्ता अट्टा णं ममेसकडीडावणमपूरीपोयए जाए चिकट्ट अंदयएणं जाव कियायति एवायेव समणोउसो जो अमहं निग्गंथे वा निग्गंथी वा आयरियं उवज्जायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंचमहव्वए-
 सु जाव उक्कीवानिकाएसु निग्गंथे पावयणे संकिए जाव कसु-
 सममावएणे से णं इह भवे चेव बहुएणं समणानं बहुएणं समणानं बहुएणं सावयाएणं बहुएणं सावियाएणं हंल्लिएजे निंदणज्जे विससिजे गेरुण्णिजे परिभवण्णिजे परलोए वि य एं आगच्छइ बहुणि दंरुखाणि य जाव मणुपरियट्ठति । तए णं से जिणदत्तउत्ते जेणेव से मयरीअंदए तेषेव उवा-
 गच्छइ उवागच्छइत्ता तंसे मयरीअंदयसि निस्संकिए सुव-
 त्तणं मपत्थ कीडावणमयरीपोयए ज्विस्सति चि कट्टं तं मयरीअंदयं अजिकखणं नो उव्वट्टे जाव नो टिट्ठियावेइ तए णं से मयरीअंदए अणुवत्तिज्जमाणे जाव अटिट्ठिया-
 विज्जमाणे । तएणं काडेणं तएणं समणेणं उज्जिणे मयरीपोय-
 ए एत्थ जाए तए णं से जिणदत्तउत्ते तं मयरीपोयं पासइ पावइत्ता इडुत्तइयहियए मयरीपोसए सदावेइ सदावेइत्ता एवं वयासी तुजे णं देवापुण्णिया इमं मयरीपोयं बहुहिं मयरीपोसपाउउग्गेहिं दव्वेहिं आणुपुव्वेणं संरक्सेमाणे संगोवेमाणे संवेहेइ एट्टणं च सिक्खावेइ । तए णं से पर्ययोसमा जिणदत्तस्स एयमट्टं पकेसुण्णेति पकिसुण्णइत्ता तं मयरीपोयं गिआहेति जेणेव स गिहं तेषेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तं मयरीपोयं जाव एट्टणं मिक्खावेति । तएणं से मयरीपोयए उम्मुक्कावाजजावे विजाय जाव्वण-
 लसलएवज्जमापुग्गमाणेपमाए पकिपुरएपकनपवुणएकलावे विचिन्तापिच्छोसत्तचंदए नीलकंउए एअससंलए एगाए

चपुण्डियाए कयाए समाणीए अएणगाइं णट्टण्णसयाइं केगाइं सयाणिये य करेमाणे बिहरति । तएणं तं मयरीपोस-
 गा तं मयरीपोयं उम्मुक्कावालो जाव करेमाणे पामिचा तं मयरीपोयं गिआहेति गिआहेतिचा जिणदत्तउत्ते उव्वेति । तएणं स जिणदत्तउत्ते मयरीवाइदए मयरीपोयं उम्मु-
 क्कं जाव करेमाणं पासिचा इहत्तुइ तंमि चिउल्लं जीवि-
 यारिहपीयदानं दइइ पाडिवितज्जेइ । तए णं से मयरीपो-
 यए जिणदत्तपुत्तेणं एगाए चपुण्डियाए कयाए समाणीएणं गोत्ता भंगसिरोधरे सयावगे उत्तरायपइसपकले उक्खित्तचंद-
 गाइयकलावे ककाइयमइ य विमुत्तचमाए नचवइ तएणं से जि-
 णदत्तपुत्ते तं मयरीपोयं चंपाए णयरीए भिधाभय, जाव पहेसु सएहि य माहस्सिएहि य सयसःहस्सिमएहि य पणियएहिं जयं करेमाणं बिहरति एवामेव समणोउसो अमहं पि ण-
 ग्गंथो वा णिग्गंथी वा पव्वइए समाणे पंचसु मट्टवएसु उसु जीवनिक्काएसु निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंविए नि-
 व्वित्तिगिच्छे भएणं इह जेवे बहुएणं समणेणं बहुं समणानं जाव त्रित्तिव्वइस्संति एवं खसु जंबसमणेणं जगवया म-
 ट्टावीरेणं जाव संपत्तेणं तच्छस्स णायउक्कयएस्स अयमट्टे पआसे चि वेमि तच्चं णायउक्कयणं सम्मत्तं ॥

टीका सुगमस्वाङ्ग गृहीता मवयं एवमंभयादि उपनयनच-
 नमिति । प्रवृत्ति चात्र माथाः "जिणवरजासियमाभे, सुभास-
 व्वेसु भावभो मयम । नो कुत्ता संदहं, संदहं णत्थ हंभो (सि १
 निस्संदेहसं पुण, गुणहेज्ज उ तभो नय) कट्ठं । एत्थं दो सेटि-
 सुया, अरुयगाही उदाहरणं २ तथा) काथउ मरुत्तव्वेण, त-
 त्तिहायरियविरट्ठओ वाधि । नेयमाहएसत्तेणं, नागावरयोदए-
 णं च ३ हेरुदाहरणणं, भवे य सव्वसुत्तज्ज वृत्तिज्जा । सव्व-
 एणुमयमित्तहं, तह वि इति चित्तए मयमं ४ अणुवकयएराणु-
 माह-परायणा अं जिणा जुगण्ययरा । जियरागम्भोसमाहा, य नम-
 हा वाइयो तेणं ५ तूनीयमथययं विवरणतः समाप्तमिति ॥०
 ३ ॥० । पुरिमनालनगरवासदयस्व कुकुटाथनेकविधाभज्जया-
 एरुव्यथहरिणी वाणिजकस्व निम्नकथिमाभयस पावविपाकप्र-
 तिपादके कर्मविपाकानां (श्रित्तीयं च स च निम्नकथे नरक-
 कृतस्तत उक्त्वात्मभग्नसेननामा पट्टीपांतजोतः । स च पुरि-
 मनालनगरवास्तव्येन निरन्तरं देहावृषणानिकोपितेन दिग्भ्रष्ट्या-
 नीय प्रत्येकं नगरवास्तारूपे तदग्रतः पितृव्यपितृव्यामिभूतितिक-
 स्वजनवर्गं विनाशय तिस्रंशो मांसच्छेदनकरिभ्रमंभोजनदि-
 भिः कर्तव्यंविद्या निपातित इति (विपाकशुभे वा भग्नसेन-
 मितोद्भवमथयनमुच्यते स्थानं १० ज्ञा० ।

अंडरुद-आरकपुट-न० कर्मथा-स- स्वकीये अण्डके अण्ड-
 कस्य पुटम् । अण्डकस्य संबद्धशब्दयोः, दशा० ए अ० स० ।
 अरुदक-अरुदक-न० जन्तुयोनिविशेषे, प्रअ० आअ० २ इ० ।
 अरुदक-आरककृत-वि० आग्राज्जाते, सूच० १ सु० १ अ० ३
 उ० । अरुदकप्रभृत्यु उनवादिनां मनस्विण्याचकृते ते " संतुभो

अरंडकाव लोको" संभूतो जातोऽऽडकाऽनुभूयानिषेधाऽहोकाः
क्रिजिज्ञानमन्नानिज्ञवननराकरितिर्यप्रः प्रअ० अग्र० २ हा०

" पुत्रं आसि जगतिषि, पंचमहत्त्वय चक्षित्यगनीर ।
एगक्ष्वजलेण, महत्पमानं तंही अंरे ॥ १ ॥

बीई परप्रेण, घोशंतं प्रात्यउ सुरकराजं ।
पुंठं दुमागजायं, अग्नेहोमि य संकुलं ॥ २ ॥

तथ सुरासुराणन-समस्तबहुव्यय संशयं अगं सव्यं ।
उप्यसं जगिष्यमिषं, यंमपुराणलतथमि ॥ ४ ॥

माहृण सपया एगे, अहृद अंरुकेडे जगे ।
असौ तत्तमकारी य, अद्याणंता मुसंसेडे ॥ १ ॥

ब्राह्मणा द्विजातयः अमणस्त्रिदिविकप्रभुत्वयः एके केचन पौ-
राजिका न सर्वे एतमाहुकृतवन्तो भवन्ति च । यथा जम्भदंतच-

राचस्मरुनं कुनमगदकृतम् । अएकवजांतमित्यर्थः । तथाहि
नै वदन्ति यदा न किंचिदपि वसकास्तीनु पदार्थशून्येऽयं संसार-

स्तदाऽऽनमन्पन्वेचमत्तलच क्रमेण कृतात्पभादु डिधा-
भावमुपगतद्रव्याधोविनागोऽनुत् तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभू-

वत् । एवं गुणव्यपेते त्रिवत्याकाशासमुच्चरित्यर्थात्तमकारकरनि-
वेशादिस्तियतितरजदिदि । तथा चोक्तं " आसौदिदं नमोऽनु-

मद्भानमलङ्कारम् ॥ अप्रत्यक्षमविच्छेद, प्रसूतमित्थं सव्यं" ॥१॥
एवंभूते चास्मिन् जगत्यस्ती ब्रह्मा तस्य ज्ञापयस्तस्य पदार्थजातं

तत्पदार्थादि प्रक्रमणाकार्णीतं कृतवानिति । ते च ब्राह्मणादयः पर-
मार्थमज्ञानाः सन्तो मृषा वदन्ति अत्रथा च शिखं तत्वम-

न्यथा प्रतिपाद्यन्तीत्यर्थः (सूत्रं) एतन्समीक्षितम् यतो यास्व-
स्तु तदग्रं निस्सुंठं ता यथाऽऽनमन्तं ताऽभूवन् तक्ष लोकोऽपि

भूत इत्यभ्युपगमे न काचित्प्रभा इत्येते तथाऽस्मीं ब्रह्मा यावद्-
सुंठं सुंठति तावद्धोकेषु कस्मात्प्रोपाद्यति किमनया कृप्या

युक्त्वसंगतया आठरुपरिकल्पनया सूत्रं १ २ ३ अ० । नि०
बु० । अतस्तस्य तिमिसगृह्यादेशे सत्परां यं वयंति नागकुमा-

रं, जराहो बि वमरबशे खंधावारं उवेणउ उच्चरयणं उ-
वेह मीणयणं उच्चरयणं यन्थिनाप उवेह ततो पमिह लोणेण

अदसंसंयं जगं पणीयं ति ॥ आ० म० प्र० ।

अंडपञ्चन-अएदमजन्-वि० अएगः प्रजव तप्यसिष्य स
नया । अएदमुगन्धं, "जहा य अंमप्यमवा वजानो" उच० ३ अ० ।

अनुय-अएडज-पु० अएदकाज्यतेऽऽनजः । हंसादीं, खच-
पक्षिण्योभिसेंअहजेदे, ज० ७ हा० ७ उ० । आच्चा० ।

विशे० । " अंधया तिविहा परणसा तंजहा ह्यौ पुरिसा गुपुं-
सका" अएदकास्त्रिधा प्रहसास्तयथा स्त्रियः पुरुषा नपुंस-

काश्च जावा ३ प्रति० । शुकुनिपुंड्रकौकिलसरीसृपादि-
पु, सूत्र० १ हृ० ३ अ० असेमेदेपु, सूत्र० १ हृ० ७

अ० ७ । आच्चा० । दृश० । मस्त्वभेदेपु च । स्या० ३ हा० ।

न. यथा कश्चित्पट्टसूत्रम् उच० २ ३ अ० । "अंधयं हंसगर्भादि"
अएडा जानमएडं हंसपनन्नभूरिन्द्रियो जीवविशेषो गमै-

स्तु तक्षिर्जातः कोशकारो हंसस्य गर्भो हंसगर्भः तदुत्पन्नं
सूत्रमएडजमुच्यते । तर्हि सूत्रे अएडजं हंसगर्भादीति सामा-

नाधिकारस्थं विकल्पते हंसगर्भस्य प्रस्तुतसूत्रकारणव्यादिति
थेनन्त्यं कारणे कार्योपचारादविरोधः । कोशकारम्वं सूत्रे

पट्टकश्चमिति लोके प्रतीतमएडजमुच्यते इति हृदयम् ।
पक्षेगैद्वयंहंसगर्भसंभवम् । अनु० । विशे० । आ० म० प्र० ।

अणुकादिघोषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रतिबन्धभेदे च । अएडजो
हंसादिर्भेदावमित्युत्प्लेखेन वा प्रतिबन्धो भवति अथवा अ-

एडकं मयूरीनामिदं रमणकमयूरादि कारणाति प्रति-
बन्धः स्यादित्यथवा अएडजं पट्टसूत्रजमिति वा स्या० १

हा० । सूत्र० ।
अंडपुट्टुम-अएदमुद्धुम-न० अएडमेव सूत्रम् । मक्षिकाकीटि-
कारुहकोकिलाप्राक्षणीककलाप्राचरायककरूपे सूत्रमभेदे, सूत्र०

१ हृ० १ अ० । द्या० ।
मे किं तं अंडपुट्टुमे ? अंडपुट्टुमे पंचविडे पस्ये तेजहा
उदंसवे ? अकस्त्रिअंदे २ पिपिंदिअंदे ३ हास्त्रिअंदे ४

इहाडत्रिअंदे ५ जे निर्गपे णं वा आव परिलोहियन्वे
जवुं सेतं अंडपुट्टुमे ६ ।

" अएडपुट्टुम उदंसवे इत्यादि " उदंश मधुमक्षिका महु-
ष्यास्यासेवामगदं उदंशराएडम् । उक्तिकारायें लूनापुट्टाएडम् २

पीपिलिकारायें कीटिकारायडं ३ हलिकारा गृहकोशिका ब्रा-
ह्मणी वा तस्या अएडम् ४ इहास्त्रिअं प्रादिलोडीसरीडक-

क्लिरडी इत्येकधास्तस्या अएडम् एतानि सूत्रमाणि स्युः ।
कल्प० । स्या० ।

अंडु-अएकु (न)-न० काष्ठमयेषु लोहमयेषु वा हस्तयोः
पादयोर्वो बन्धनविशेषेषु, श्री० ।

अंत-अनंत-पुं० अम् गच्छाहस्यु तस्सेह अमणंमंतो वसाणम-

गन्धं अम् धातुगत्यादिभ्येषु षष्ठ्ये तस्येहान्त इति रूपं भ-

वति । अमनमन्तः । अवसानं, विशे० । स्या० । यस्मात्पुं०-
मस्ति न परं सोऽतः अनु० । पर्यन्ते, आ०म० प्र० । सूत्र० ।

निक्षेपोऽस्य चक्षुः । तथाया नामान्तः स्यापयन्तो द्र-

व्यान्तः क्षेत्रान्तः कालान्तो भायान्तश्च । नत्र नामस्थापने प्र-
तीते द्रव्यान्तो घटाद्यन्तः क्षेत्रान्त ऊदेलोकादि कालान्तः

समायाद्यन्तो भावान्त आदारादि स्या० म० प्र० । सूत्र०
बु० । परमकाष्ठायाम्, सूत्र० १ हृ० १ २ अ० । परिसमागो,

विशे० । पादे, हा० १ अ० । समीपे, व्यं० १ उ० । न० ।
स्या० । अमनमधिगमनमन्तः । परिच्छेदे, निर्णये, स्या० ३

हा० । प्रह्ला० । च त्रिचिधः ।

तिविडे अंतो पशुच तंजहा लिंगंते येयेते समयते स्या० ३ हा० ।
अमह व अंनेणेतो अमतीति वा यस्मात्सेनात इति कर्त्तरि

सप्तयेत । अशसानं गते, विशे० । देशे, " एतंसततं अशजमिति "
एकान्तं बिजजजजन्तं देहाभजजकामन्ति ज० ३ श० २ उ० । " अम

रोगे वा अंते रोगो अंगो विणासयज्जाभां" अम रोगं क्रम जङ्गे
अम-नन् रोगे, भेङ्, विनाशे । अन्तो रोगो जङ्गो विनाश इति

पर्यायशब्दा एतं विशे० । स्या० । धर्म० । अन्त० । स० । न० ।
अन्तेदेतुत्वादन्ते रागद्वेषयोश्च आच्चा० १ हृ० ३ अ० " दोर्हि

अंतोहि अदिस्समाणे " आच्चा० १ हृ० ३ अ० । जी० । अय्यय-
हरणीय, नि० नि०बु० १ उ० । ज्ञय, भेदे, व्ययच्छेदे, कल्प० ।

अन्य-न० दशाभिर्गुणिते जहापिसंख्याभेदे, कल्प० ।

अन्न-न० अन्नयेते देशो भवत्येतेऽनेनान्ति । अति-बन्धने कारेण पुंन्-
देहबन्धने, " उक्तः सार्द्धास्त्रयो ध्यामाः पुंसामन्त्राणि सुविजिः ।

अहृद्व्यामेन होतानि शांभोपाणानि निदिदोति यथाका-
परिमाणानि नादीभेदे, वाच० । सूत्र० । उदरमथाऽवयववि-

शेषे च तं० ।

दो अंता पंच वामापक्षत्वा तंजहा धूमंते य तलुवंते य
२ तस्य षं जे से धूमंते तेणं उच्चारि परिणमइ तस्य षं जे
से तधुयंते तेणं वामपक्षे परिणमइ ॥

हे अन्धे प्रत्येक पञ्च पञ्च व्य.यामप्रमाणे प्रकृते जिनेः तद्यथा
बहुलात् १ । तन्वन्त्रम् २ तत्र पन्वृष्णञ्च ततोकारः परिणमति ।
मत्र च वचन्वन्त्रं तेन प्रथमं सूत्रं परिणमति तं ० । प्रतिबोधा-
च्च भगवता धीरेण इष्टे चतुर्थे स्वप्ने च. आ० म० द्वि० ।

आन्त-न० अन्ते प्रथमात्प्रम । लुकाद्यशेषे, पंथा० १९ विष्० ।
आसतथा स्वधंघान्तातवर्तिनि बहुलघञ्चकारौ, प्र० ए श्च० ३३
उ० । स्था० " शिष्वावमाह अंतं " निष्पावा बह्वाहचणकाः
प्रतीताः आदिशब्दाकुसुमापादिकं च आन्तमित्युच्यते वृ०
१ उ० ॥ ३० ॥

अंत [र] अन्तर-अभ्य० अन्-अन्तं तुनागमश्च । वाच० ।
स्वरप्रवरश्च ८ । १ । १४ इति अन्तःशब्दस्यान्त्यव्यञ्जन-
स्य स्वयं परे न लुक् अन्त्यत्र लुक् प्रा० । मन्थे. । आ० म० द्वि० ।
रा० । आवा० । विश० । " अन्तरण्या " अत्र स्वरपरवरान्तं लुक् ।
कश्चिद्भवत्यपि " अंतोवर्ति " प्रा० ।

अंतक (ग)-अन्तक-पुं० अन्तयति अन्तं करोति अन्त-शिच्-
गवुर्घ वाच० । मृत्यौ, " समागमं कंखति अंतकस्स " सूत्र० १
श्रु० ७ अ० । पर्यन्ते, " जे एषं परिमांसति, अंतए ते
ममाहारि " सूत्र० १ श्रु० २ अ० । अन्तवर्तिनि च. सूत्र० १
श्रु० १४ अ० ।

अंतकम्प-अन्तकर्मन्-न० अञ्जलकर्मणि, श्रौ० ।

अंतक(ग)-अन्तकर-त्रि० अन्तस्य करः । संसारस्य तत्कार-
णस्य वा क्षयकारिणि, " अन्ताणि धीरा सेवन्ति तेणं अंतकरा
इह " सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । आ० म० द्वि० । अ० । स्था० ।

अंतकर (गद) जृमि-अन्तकर- (कुट्) जृमि-स्त्री० अन्तं
भवस्य कुर्वन्तीति अन्तकराः (अन्तकृतो वा) तेषां भूमिः
कालः कालस्य चाधारत्वेन कारणात्वाद् भूमित्वेन व्यपदेशः ।
मुक्तिगामिनो काले, सा द्विधा युगान्तकरभूमिः पर्यायान्तक-
रभूमिश्च जं० २ वच० (यस्य तीर्थकृतो यावती अन्तकरभूमिः
सा तच्छब्दे वषयते)

अंतकाल-अन्तकाल-पुं० मरणकाले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंतकिरिया-अन्तक्रिया-स्त्री० अन्तोऽवसानं तच्च प्रस्तावा-
दिह कर्मणामवसातव्यमन्यत्रागमे अन्तक्रियाशब्दस्य कृद-
न्तात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया । कर्मोन्तकरणे, मोक्षे, कृ-
त्नकर्मण्यवामोक्ष इति वचनात् प्रश्ना० १४ पद ।

अन्त्य(न्त)-क्रिया-स्त्री० अन्त्या च सा पर्यन्तवर्तिनी क्रिया आ-
न्त्यस्य वा कर्मोन्तस्य क्रियाऽन्त्यक्रिया । कृत्नकर्मण्यलक्ष-
णात् मोक्षप्राप्ते, म० १ श्रु० २ उ० । आ० म० प्र० । स० ।

चत्वारि अंतकिरियाओ पञ्चया तंजहा तस्य सलु इमा
पदया अंतकिरिया अप्पकम्पपचाएया वि भवइ से णं
धुंइ जविचा अगाराओ अणगारियं पन्वइ संजमबहुले
संवरबहुमे समादिबहुमे सुहे तीरइ उवहाणवं दुक्ख-
कल्ले तवस्सं । तस्स णं णो तहण्पगारे तवे भवइ णो
तहण्पगारा वेषणा भवइ तहण्पगारे पुरिमजाए दीहेणं प-

रियाएणं सिज्जाइ बुड्भइ मुच्चइ परिणज्जाइ सच्चउक्खा-
णमंतं करइ जहा से भारे राया चाउरंतचकइइ । पदया
अंतकिरिया ।

यस्य न तथाविधं तपो नापि परीषदादिजनिता तथाविधा
वेदना दीर्घेषु प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिर्मायति तस्यैका यस्य तु
तथाविधे तपोवेदने अल्पेनैव च प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिः स्या-
त्तस्य द्वितीया यस्य च प्रकृष्टे तपोवेदने दीर्घेषु च पर्यायेण
सिद्धिस्तस्य तृतीया यस्य पुनरविद्यमानतथाविधतपोवेद-
नस्य इत्यपर्यायेण सिद्धिस्तस्य चतुर्थीति । अन्तक्रियाया
एकस्यरूपत्वेऽपि सामग्रीभेदाच्चातुर्विधमिति समुदायार्थः ।
अथवाचार्यस्वयं चतस्रोऽन्तक्रियाः प्रश्नाः भगवतेति गम्यते
तत्रेति सप्तमी निदर्शने तासु चतस्रो मध्य इत्यर्थः । अलुक्-
क्यालङ्कारे इयमन्तरव्ययमाश्लेषेन प्रत्यक्षासत्ता प्रथमा इ-
तरापक्षया आधा अन्तक्रिया । इह कश्चित् पुत्रवः देवलोकादी
गत्वा ततोऽप्यैः स्तोत्रैः कर्मभिः करणभूतैः प्रत्यायातः प्रत्या-
गतो मानुषत्वमिति अल्पकर्मप्रत्यायातो य इति गम्यते । अ-
थवा एकत्र जन्तुत्वा ततोऽल्पकर्मो सन् यः प्रत्यायातः स
तथा लघुकर्मतोत्पन्न इत्यर्थः । चकारो बध्ममाणमहाक-
र्मपक्षया समुच्चयार्थः । अपिः सम्भावने सम्भाव्यतेऽय-
मपि पक्ष इत्यर्थः भवति स्यात् स इति । अस्ती कश्चित् वा-
क्यालङ्कारे मुण्डो भूत्वा द्रव्यतः शिरोलोचेन भावतो रागा-
द्यपनयनेनागारात् द्रव्यतो गेहात् भावतः संसारभिनन्दिनां
देहिनामाघासभूताद्विषेकगेहाभिष्क्रम्येति गम्यतेऽनगारि-
ताम् अगारी शूरी असंयतस्तत्र्यतिषाधानगारी संयतस्तद्गा-
वस्तसा तां साधुतामित्यर्थः । प्रव्रजितः प्रगतः प्राप्त इत्यर्थः ।
अथवा विभक्तिपरिणामानगारितया निरन्तरतया प्रव्रजितः
प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः किंभूत इत्याह (संजमबहुलेति) संयमेन
पृथिव्यादिसंज्ञाणलक्षणैर्न बहुलः प्रचुरो यः स तथा । सं-
यमो वा बहुलः प्रचुरो यस्य स तथा । एवं संवरबहुलोऽपि
नधरमाअचरिरोधः संवरः अथवा इन्द्रियकषायनिग्रहादि-
भेदः । एवं च संयमबहुलग्रहणं प्राणतिपातविरतेः प्राधान्य-
स्थापनार्थम् । यतः " एकं चिय पत्थ वयं, निहिद्धं जिण्णवेहि
सव्वेहिं । पाणाइवायविरमण-मवसेसा तस्स रक्खइत्थि " ॥ १ ॥ एतच्च द्विनयमपि रागादुपशमयुक्तचित्तसंभवाति । यत
आह सामाधिषड्बुलः समाधिस्तु प्रशमबाहिता ज्ञानाधिषो
समाधिः पुनरितिःस्नेहस्यैव भवतीत्याह (लुहेति) क्लृप्ते शरीरे
मनसि च द्रव्यभावस्येहवर्जितत्वेन क्वः लुपयति वा कर्मम-
लमपनयतीति लुपः कथमसावेषं संबृत्त इत्याह यतः (ती-
रइ) तीरं पारं भवार्णवस्थार्थयत इत्येवं शीलस्तीरार्थी
तीरस्थायो वा तीरस्थितिरिति वा प्राकृतत्वात् तीरद्वीपति अत
एवाह (उवहाणवंति) उपधीयते उपह्वयते भुतमनेनेति उपधानं
भुतविषयस्य उपचार इत्यर्थस्तद्वात् अत एव च (बुक्कफण-
वेत्ति) दुःखमशुभं तत्कारणत्वाद्वा कर्म तत् क्षयतीति दुःख-
क्षयः । कर्मक्षयणं च तपोहेतुकमित्यत आह । (तवस्संति) त-
पोऽभ्यन्तरकर्मधनवहनज्वलनकल्पमनधरतद्युभयानलक्षण-
मस्ति यस्य स तपस्वी (तस्स षं ति) यच्चैवंविधस्तस्य ए
षाक्यालङ्कारो नो तथाप्रकारमन्यतधोरं वदंमार्जिनस्य च त-
पोऽनगारादिर्भवति । तथा नो तथाप्रकारा ब्रतिचौर्येऽप्यसंभा-
दिसंभवाद्या वेदना दुःखास्तिका जन्तव अल्पकर्मप्रत्यायातात्वात् ।

इति । तत्र तत्र धामकारमध्यकर्मप्रत्यायातादिविशेषणकलापोंपेतं पुरुषजातं पुरुषप्रकारं द्वेषेण बहुकालेन पर्यायेण प्रप्रज्यालक्षणैः कर्मवृत्तेन सिध्यति । अणमादियोगेन निष्ठितायां वा विशेषतः सिद्धिगमनपर्यायां भवति सकलकर्मनायकमेवहीयघातात् ततो घातिचतुष्टयघातेन बुधेन केवलज्ञानप्रावाद् समस्तयस्त्रुभिः नतो मुखेन भवोपमाहिकर्मभिः परिनिर्घाति सकलकर्मकृत्कारव्यभिचारनकारणन शीतीभवतीति । किमुक्तं जयतस्त्वाह सर्वदुःखानामन्तं करोति शारीरमानसानामित्यर्थः । अतथाविधतपोबंधो द्वेषेणापि पर्यायेण किं कोऽपि सिद्ध इति शङ्कामोदाद्येमाह । " जहास्येत्यादि " यथाऽस्ती प्रथमजिनप्रथमनन्दो नन्दनशानप्रजन्मा जरतो राजा चत्वारोऽन्ताः परान्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रदिग्भ्यश्चक्राम यस्याः पृथिव्याः सा चतुरन्ता नस्या अथ केषामित्थेनेति चतुरन्तः स चास्ती चक्रवर्ती चेति स तथा । स हि प्रागन्तवेष लघुभक्तर्मा सर्वोपसिद्धिभिमानात् स्थुत्या चक्रवातितयाद्यराज्यावधय एव केवलमुत्पाद्य कृतपूर्वसत्प्रमज्यः अतथाविधतपोबंधन एव सिद्धिमुपगत इति प्रथमाऽन्तःकिरियेति ॥

अहावेरं दोषा अंतःकिरिया महाकर्मपञ्चाया वि जवद् से एं मुंद् भविता अगाराओ अणगारियं पव्वडए संजमवहुसे संवरहुसे जाव उवहाणवं दुक्कमवत्थे तवस्सी तस्स एं तहपगारं तवे भवद् तहपगारा वेयाणा जवद् तहपगारं पुरिमजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्जड जाव अंतं करेड जहा से सणकुमारो अणगारे दोषा अंतःकिरिया ॥

अथानन्तरमपरा पूर्वापेक्षया अन्या द्वितियस्थानेऽभिधानात् द्वितीया महाकर्मजिन्तुःकर्मजिः महाकर्मो वा सन् प्रत्यागतः प्रत्याजानो वा यः स तथा " तस्स धम्मियादि " तस्य महाकर्मप्रत्याजानन्वेन तरुणपणाय तथाप्रकारं घोरं तपो भवति । एवं यदनाप्रेष कर्माद्यसम्पाद्यत्वात्पुससर्गादीनामिति निरुद्धेनेति अल्पेन यथाऽस्ती गजलुटुमारो विष्णोर्लघुप्राणा स हि भगवतोऽपि चर्नमिजिननाथस्यान्तिके प्रज्ज्यां प्रतिपद्य स्मशानं कृतकायोः सम्यग्ज्ञानमहातयाः शिरोनिहितजज्वल्यमानाङ्गारजनितात्यन्तवन्दनेऽऽनेव पर्यायेण सिद्धिर्चानिति शेषं काण्ठ्यम् ।

अहावेरं तथा अंतःकिरिया महाकर्मपञ्चाया वि जवद् से एं मुंद् जविता अगाराओ जाव पव्वडए जहा दोषा एावेरं दोहेणं परियाएणं सिज्जड जाव संवरहुक्खणागमंतं करेड जहा मे सणकुमारं राया चाउरंतवक्कवट्ठीं । तथा अंतःकिरिया ३ ॥

" अहावेरंयादि " कण्ठ्ये यथाऽस्ती सनकुमार इति चतुर्थचक्रवर्ती स हि महातपोः महावन्दनश्च स्वरोत्थागतः द्वेषेनपर्यायेण च सिद्धस्तज्ज्वे किञ्चिन्मायेन भवान्तेरे सत्त्यमानयादिति ॥

अहावेरा चउन्था अंतःकिरिया अण्णकम्मपञ्चायाया वि जवद् से एं मुंद् भविता जाव पव्वडए संजमवहुसे जाव तस्स एं पो तहपगारं तवे भवद् नो तहपगारा वेयाणा भवद् तहपगारं पुरिमजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्जड जाव संवरहुक्खणागमंतं करेड जहा सा मग्गेशी जगवर्दी चउन्था अंतःकिरिया ॥

" अहावेरंयादि " कण्ठ्ये यथाऽस्ती मग्गेशी प्रथमजिनजन्मी सा हिक्खारत्तेऽपि क्रीणप्रायकर्मन्वेनाद्यकर्मो भविद्यमानतोवेदना च सिद्धा गजवरारुद्धाया पवायुसमास्ती सिद्धत्वादिति । एयाञ्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकानामर्थानां न सर्वथा साधर्म्यमन्वेषणीयं देशदृष्टान्तत्वादेवं यतो मग्गेश्याः " मुएरे भविसेत्यादि " विशिष्टपणाभिः कानिचित्त न घटते । अथवा कसितः सर्वसत्पण्येमापि मुगुरनादिकार्यस्य सिद्धत्वस्य सिद्धत्वादिति स्था० ध उा० १३० ।

मन्तक्रियायाः सकला वक्तव्यता प्रदर्श्यते तत्रेयमादावधिकारगाथा ।

नेरइय अंतःकिरिया, अणंतंर एगसमय उव्वट्टा ।

तित्थगर चकिव्वडदेव वासुदेवमंथलियरयाणा य ॥ १ ॥

प्रथमतो नैरयिकोपलक्षितेषु चतुर्विंशतित्थान्येष्वन्तक्रिया । चिन्तनीया ततोऽन्तरागताः किमन्तक्रियां कुर्वन्ति परम्परामाता वेल्लेवमन्तरं चिन्तनीयम् । ततो नैरयिकादिऽन्तःप्रमाणताः कियत् एकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्ति (ति चिन्सं ततं " उव्वट्टा इति " उट्टुत्ताः सन्तः कस्यां योनातुपपद्यते इति वक्तव्यं तथा यत् उट्टुत्तास्तीथेकारुधक्यानेनो यवद्वेया वासुदेवा मएत्तिकारुधक्यानेनो रत्नानि च सेनापतिप्रमुखाणि भवन्ति ततस्नानि क्रमेण वक्तव्यानीति द्वारगाथासंक्षेपायाः । विस्तारं तु सुप्रकृतेव वदयति तत्र प्रथमतोऽन्तक्रियामत्रिधिसुराह ।

जंविणं भंते ! अंतःकिरियं कोऽज्जा ? गोयमा । अत्ये गतिए करेज्जा कत्यगऽए नो करेज्जा एवं नेरइय जाव वेयाणिए जीये णमिनि वाक्याहकृतो भवन्तं । अन्तक्रियामिति अन्तोऽवसाने तत्र प्रस्तावादिह कर्मेणामवसातव्यम् । अत्यश्रामेऽन्तक्रियाश्रमस्य कदावात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया कर्मन्तरणं मोक्ष इति भावार्थः । कृतकर्मोक्त्यायाम्नाह इतियचनात् तां कुर्याद्गुणानाह । गौतमः अत्येकाः यः कुर्यात् अत्येकां यो न कुर्यात् । इयमत्र भावना यतस्तथाविधमध्यमपरिपाकवशतो मनुष्यत्वादिकार्माविक्रानां सामग्रीमाप्य तन्मागध्येऽसमुद्भूतानि प्रवृत्तवीर्योद्गामवशातः क्लृपकश्लेषेणसमारोहणेन केवलज्ञानमासाद्य घातोन्त्यपि कर्माणि क्षुण्यते स कुर्यात् अत्यन्तं न कुर्यात्पर्यायादिति । एवं नैरयिकादिचतुर्विंशतिवद्गकर्मस्य तावद्गवनीया यावद्दमनिकाः सुन्नतस्त्वेषथ " नेरइयाणं जंते । अंतक्रां किरियं करेज्जा गोयमा ! अत्येगइए करेज्जा अत्येगइए नो करेज्जा इत्यादि " ।

इदानीं नैरयिकेषु मध्ये वर्त्तमानेऽन्तक्रियां करोति किं वा न करोतीति पिपुच्छिचुरिदमाह ॥

नेरइएणं भंते ! असुरकुमारुसु अंतःकिरियं करेज्जा गोयमा ! नो एण्हे समट्टे एवं जाव वेयाणिएसु णवरं णाणुस्सेसु अंतःकिरियं करेज्जड पुच्छा ! गोयमा ! अत्येगतिए करेज्जा अत्येगतिए नो करेज्जा एवं असुरकुमारं जाव वेयाणिए । एवंमे चउवं मे चउवंसा देरुगा भवंति ॥

नेरइएणमित्यादि भगवानाह गौतमः । नाथमर्थः समर्थो युल्लुपपद इत्यर्थः कथामिति चतुश्चपते इह कृतकर्मकृत्यः प्रकर्षप्राप्तौ सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रसमुदायाङ्गचरि न च नैरयिकादयस्यायां चरित्रपरिणामस्तथा स्वाभाव्यादिति । एवमसुरकुमारादिषु

वैश्वानिकपर्यवसानेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः । अत्र मनुष्य मध्ये समागतः सद्यः कश्चिदन्तक्रियां कुर्वीत यस्य परिपूर्णा चारित्रादिसामग्री कश्चिन्न कुर्वीत यस्तद्विकृत इति एवमसुरकुमारद्वयोऽपि वैश्वानिकपर्यवसानाः प्रत्येकं नैरयिकादिचतुर्विंशतिव्ययकक्रमेण वक्तव्यास्तत एवमेतं चतुर्विंशतिव्ययकक्रमात्तुविश्रुतयोः प्रचलित । अथ तं नैरयिकादयः स्वहृद्यैरयिकादिजन्मेषुऽऽजन्तं मनुष्य-प्रभेदे समागताः सन्तोऽन्तक्रियां कुर्वन्ति किं वा तिर्यग्वासि-ध्वयधानेन परम्परागता इति निरूपयितुमात्मन्ना इति ।

नेरुदयाणं भंते । किं अणंतरागया अंतकिरियं करंति परंपरागया अंतकिरियं करंति । गोयया । अणंतरागया वि अंतकिरियं करंति परंपरागया वि अंतकिरियं करंति एवं रयणप्यजापुढविणेरुदया वि जाव पंकप्यभापुढविणेरुदया धूपप्यभापुढविणेरुदयाणं पुच्छा । गोयया । नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरंति परंपरागया अंतकिरियं पकरंति जाव अहससचमा पुढविणेरुदया असुरकुमारा जाव धणियकुमारा । पुढविआउवणस्सइकाइया य अणंतरागया वि अंतकिरियं पकरंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरंति । तेउवाउवेइंदियतेइंदियचउरिदिद्या नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरंति परंपरागया अंतकिरियं पकरंति सेता अनंतरागया वि अंतकिरियं पकरंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरंति ॥

प्रसस्यं भुगमं भगवानाह गौतम । अन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि तत्र रत्नशंकरावातुकापद्मप्रभा-पुत्रोऽन्तरागता अपि धूममभापुष्पिष्वादिभ्यः पुनः परंपरागता एव तथा स्वाभाव्यादेनेम धिशेषं प्रतिपादयिषुः सूत्रसक्तमाह । “ एवं रयणप्यजापुढविणेरुदया वि इत्यादि ” सुगमय असुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्यवसानाः पृथिव्यव्यनरूपतय-आनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति उभयथा आगता अपि । उभयथाऽप्यागतानां तेषामन्तक्रियाकणायिरोधात् तथा केवलसुखरूपसंभवेः । तेजोवा-युग्मिन्नचतुर्विंशत्याः परंपरागता एव न्यनन्तरागतास्तत्र तेजो-वायुनामानन्तर्येण मनुष्यव्यवस्थैवाप्राप्तेः ह्यिन्द्रियादीनां तु तथा-प्रवृत्त्याज्याविति । शेवास्तु तिर्यक्पुत्रेन्द्रियाद्यो वैश्वानिक-पर्यवसाना अनन्तरागता अपि परंपरागता अपि ।

नैरयिकादिभ्यज्ज्याऽऽजन्तरागताः कियन्त यकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्तीत्येवंकं तृतीयं चारमजिष्ठिसुराह । अणंतरागया णं भंते । नेरुदया एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं पकरंति । गोयया । जहणेणं एको वा दो वा तिषि वा उकोसेणं दस रयणप्यभा पुढविणेरुदया वि एवं चेव जाव बासुपप्यजापुढविणेरुदया । अणंतरागयाणं भंते । पंकप्यभापुढविणेरुदया एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं गोयया । जहन्नेणं एको वा दो वा तिषि वा उकोसेणं चचारि । अणंतरागयाणं भंते । असुरकुमारा एगसमएणं केवदया अंतकिरियं पकरंति जहणेणं एको वा दो वा तिषि वा उकोसेणं दस । अणंतरागयाओ णं भंते ।

असुरकुमारीओ एगसमएणं केवतियाओ अंतकिरियं पकरंति । गोयया । जहणेणं एको वा दो वा तिषि वा उकोसेणं पंच एव जहा असुरकुमारा सद्वीया तथा धणियकुमारा वि । अणंतरागया णं भंते । पुढविकाइया एगसमएणं केवदया अंतकिरियं पकरंति । गोयया । जहणेणं एगो वा दो वा तिषि वा उकोसेणं चचारि एवं आउकाइया वि चचारि बणस्सइकाइया उ पंचिदियतिरिक्खजेणया दस तिरिक्खजेणियाओ दस माणुस्सा दस माणुस्तीओ बीसं वाणयंतरा दस वाणयंतराओ पंच श्रोइसिया दम जोइसियाओ बीसं वेमाणिया अहसतं वेमाणियाओ बीसं ।

“ अणंतरागया णं भंते इत्यादि ” नैरयिकसमादन्तरमव्यवधानेन मनुष्यजन्ममागता अनन्तरागता नैरयिका इति आश्रयपर्यायेण व्यपदेशः सुखादिप्रामाण्यपर्यायसमप्रतिपत्तिव्युदासार्थः एवमुत्तरापि तस्यप्रामाण्यपर्यायेण व्यपदेशः प्रयोजनं चिन्तनीयं शेषं कथयाम ।

सम्प्रति तत उक्ताः कस्यां योनासुखयन्ते इति चतुर्थचारमजिष्ठिसुराह ।

शेरुदया णं भंते । शेरुदएहिंतो अणंतरं उव्वइत्ता नेरुदएसु उववज्जेजा । गोयया । एो इण्हे समइ । नेरुदएणं भंते । शेरुदएहिंतो अणंतरं उव्वइत्ता असुरकुमारेणु उववज्जेजा । गोयया । नो इण्हे समइ एवं निरंतरं जाव चउरिदिपेसु पुच्छा गोयया । नो इण्हे समइ । नेरुदए णं जंतं । नेरुदएहिंनो अणंतरं उव्वइत्ता पंचिदियतिरिक्खजेणिएसु उववज्जेजा । गोयया । अत्येगइए उववज्जेजा अत्येगइए नो उववज्जेजा जे णं जंतं । नेरुदएहिंता अणंतरपंचिदियतिरिक्खजेणिएसु उववज्जेजा से णं केवलपक्कं धम्मं लभेज्जा सबणयाए गोयया । अत्येगइए लभेज्जा अत्येगतिए नो लभेज्जा । जे णं जंतं । केवलपक्कं धम्मं लभेज्जा सबणयाए जे णं केवलवोहिं बुज्जेज्जा । गोयया । अत्येगइए बुज्जेज्जा अत्येगइए नो बुज्जेज्जा । जे णं जंतं । बुज्जेज्जा से णं सद्वेज्जा पचिएज्जा रोएज्जा । गोयया । सद्वेज्जा पचिएज्जा रोएज्जा । जे णं भंते । सद्वेज्जा पचिएज्जा रोएज्जा से णं आभिणियोहियनाणसुयनाराइं उप्पावेज्जा गोयया । उप्पावेज्जा । जे णं जंतं । आभिणियोहियनाणसुयनाराइं उप्पावेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा चयं वा गुणं वा वेरमणं वा पच्चवत्ताणं वा पोसहोववांसं वा पदिवज्जित्तए । गोयया । अत्येगतिए संचाएज्जा अत्येगइए नो संचाएज्जा । जे णं जंतं । संचाएज्जा सीलं वा जाव पोसहोववांसं वा पदिवज्जित्तए एते ओदिनाणं उप्पावेज्जा गोयया । अत्येगतिव उप्पावेज्जा अत्येगतिए एो उप्पावेज्जा । जे णं जंतं । ओदिनाणं उप्पावेज्जा से णं संचाएज्जा मुंके जचित्ता आगाराओ

आणमारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! गो इण्णट्ठे समट्ठे । खेरइए
 एं जंते ! भेरइएहिंत्तो अणंतंरं उव्वट्ठित्ता मणुस्सेसु
 उव्वज्जेज्जा गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अ-
 त्येगतिए नो उव्वज्जेज्जा । जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा
 से एं केवल्लिपन्नं धम्मं झभेज्जा सवणयाए गोयमा !
 जहा पंचिदियतिरिक्खजोणिएसु जाव जे एं भंते ! आहि-
 नाणं उप्पादेज्जा से एं संचाएज्जा मुंढे भवित्ता अगाराओ
 अणमारियं पव्वइत्तए ? गोयम ! अत्येगतिए संचाएज्जा
 अत्येगतिए नो संचाएज्जा से एं भंते ! मुंढे जवित्ता अगारा-
 ओ अणमारियं पव्वइत्तए से एं माणएज्जवनाणं उप्पादे-
 ज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उप्पादेज्जा अत्येगतिए नो
 उप्पादेज्जा । जे एं जंते ! मणएज्जवनाणं उप्पादेज्जा से एं
 केवल्लिपन्नं उप्पादेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उप्पादेज्जा
 अत्येगतिए नो उप्पादेज्जा । जे एं भंते ! केवल्लिपन्नं
 उप्पादेज्जा से एं सिज्भेज्जा बुज्जेज्जा मुनेज्जा सव्वट्ठ-
 क्खवाए अंतं करेज्जा ? गोयमा ! सिज्भेज्जा जाव सव्वट्ठ-
 क्खवाए अंतं करेज्जा । नेरइए एं जंते ! नेरइएहिंत्तो अण-
 तंरं उव्वट्ठित्ता वाणमंतरं जोइसियवेमाणिएसु उव्वज्जेज्जा ?
 गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे । असुरकुमारो एं भंते ! असुरकु-
 मारोहिंत्तो अणंतंरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा !
 सोइण्णट्ठे समट्ठे । असुरकुमारो एं जंते ! अणंतंरं उव्वट्ठित्ता
 असुरकुमारो उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे एवं
 जाव थणियकुमारोसु । असुरकुमारो एं भंते ! असुरकुमा-
 रोहिंत्तो अणंतंरं उव्वट्ठित्ता पुढविकाइएसु उव्वज्जेज्जा हेत्ता
 गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अत्येगतिए नो उव्वज्जे-
 ज्जा । जे एं जंते ! उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नं
 धम्मं झभेज्जा सवणयाए गोयमा । गो इण्णट्ठे समट्ठे एवं
 आउववाणस्सइएसु वि ! असुरकुमारो एं जंते ! असुरकुमारोहिंत्तो
 अणंतंरं उव्वट्ठित्ता तेउवाउव्वइदियतेइंदिद्यच्चउरिंदिएसु उव-
 वज्जेज्जा गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे अवसेसेसु पंचमु
 पंचिदियतिरिक्खजोणिएयादिसु असुरकुमारोसु जहा नेरइ-
 ओ एवं जाव थणियकुमारो । पुढविकाइए एं भंते ! पुढ-
 विकाइएहिंत्तो अणंतंरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ?
 गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारोसु वि जाव
 थणियकुमारोसु । पुढविकाइएहिंत्तो अणंतंरं उव्वट्ठित्ता
 पुढविकाइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जे-
 ज्जा अत्येगतिए नो उव्वज्जेज्जा । जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा
 से एं केवल्लिपन्नं धम्मं झभेज्जा सवणयाए ? गोयमा !
 नो इण्णट्ठे समट्ठे । एवं आउकाइयादिसु निरंतरं जाणिय-
 व्वं जाव चउरिंदिएसु पंचिदियतिरिक्खजोणियमाणुस्सेसु
 जहा खेरइयराणमंतरं जोइसियवेमाणिएसु पक्खित्तेइो एवं

जहा पुढविकाइओ जणिओ तहा आउकाइओ वि वाण-
 स्सइकाइओ जाणियव्वो । तेउकाइएणं जंते ! तेउकाइए-
 हिंत्तो अणंतंरं उव्वट्ठित्ता खेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! नो
 इण्णट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारोसु वि जाव थणियकुमारोसु
 वि । पुढविकाइए आउवाउव्वणस्सइव्वइदियतेइंदिद्यच्चउरिंदि-
 एसु अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नं धम्मं झभेज्जा
 सवणयाए गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे । तेउकाइए एं भंते !
 तेउकाइएहिंत्तो अणंतंरं उव्वट्ठित्ता पंचिदियतिरिक्खजोणि-
 एसु उव्वज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अत्ये-
 गतिए णो उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नं धम्मं लो-
 जि-
 ज्जा सवणयाए ? गोयमा ! अत्येगतिए लभेज्जा अत्येगतिए नो
 लभेज्जा जे एं जंते ! केवल्लिपन्नं धम्मं झभेज्जा सवणयाए
 से एं केवल्लिपन्नं बुज्जेज्जा गोयमा ! गो इण्णट्ठे समट्ठे माणुस्स-
 वाणमंतरं जोइसियवेमाणिएसु पुच्छा गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे
 एवं जइएव तेउकाइए निरंतरं एवं वाउकाइए वि । बेइदिएणं
 भंते ! बेइदिएहिंत्तो अणंतंरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जे-
 ज्जा गोयमा ! जहा पुढविकाइए खवरं मणुस्सेसु जाव मणए-
 ज्जवनाणं उप्पादेज्जा एवं तेइंदिद्यच्चउरिंदिद्या वि जाव म-
 णएज्जवनाणं उप्पादेज्जा जे एं माणएज्जवनाणं उप्पादेज्जा
 से एं केवल्लिपन्नं उप्पादेज्जा ? गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे
 पंचिदियतिरिक्खजोणिए एं भंते ! पंचिदियतिरिक्खजो-
 णिएहिंत्तो अणंतंरं उव्वट्ठित्ता नेरइएसु उव्वज्जेज्जा ? गो-
 यमा ! अत्येगतिए उव्वज्जेज्जा अत्येगतिए नो उव्वज्जे-
 ज्जा जे एं भंते ! उव्वज्जेज्जा से एं केवल्लिपन्नं धम्मं
 लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्येगतिए लभेज्जा अत्ये-
 गतिए नो लभेज्जा जे एं केवल्लिपन्नं धम्मं लभेज्जा सव-
 णयाए मे एं केवल्लिपन्नं बुज्जेज्जा गोयमा ! अत्येगति-
 ए बुज्भेज्जा अत्येगतिए नो बुज्जेज्जा । जे एं केवल्लिप-
 न्णं बुज्भेज्जा से एं सइहेज्जा पंचिएज्जा रोएज्जा हेत्ता गो-
 यमा ! जाव रोएज्जा । जे एं जंते ! सइहेज्जा जाव रोए-
 ज्जा से एं आजिणिकोहियनाणणुइनाणआहिंत्ताणाणं उ-
 प्पादेज्जा ? गोयमा ! जाव उप्पादेज्जा जे एं भंते ! जाव उ-
 प्पादेज्जा से एं मंचाएज्जा सीलं वा जाव पक्खित्तिचए
 गोयमा ! एो इण्णट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारोसु वि जाव थ-
 णियकुमारोसु एमिदियविगत्तिदिएसु जहा पुढविकाइए पं-
 चिदियतिरिक्खजोणिएसु माणुस्सेसु य जहा खेरइयवाणमं-
 तंरं जोइसियवेमाणिएसु जहा खेरइएसु उव्वज्जेज्जा पुच्छा ज-
 णिया एवं मणुस्सेसु वि वाणमंतरं जोइसियवेमाणियं ओ जहा
 असुरकुमारोसु ॥

(इतः पूर्वं टीका सुगमं न सुदीता) नवरं जे एं भंते ! इत्या-
 दि सुगमं नृत्या अनगारतां प्रव्रजितं वाच्युवाच्येति प्रश्ने जग-

वाताह नायमथैः समर्थैः तिरिद्धी प्रवस्वभावतः लघारूपपरिणामसंज्ञात् अनगारताया अभावे मनः पर्यवहनस्य क्वाभावः सिद्ध एव यथा च तिर्यकपञ्चिन्दियवित्तं सूत्रकदम्बकमुक्तं तथा मनुष्यावियममपि वक्तव्यं नवरं मनुष्येषु सर्वज्ञावसम्भवात् मनःपर्यवहानकेवलज्ञानसुखे अधिकं प्रतिपादयति " जेणं अंते । संभावज्जा मुंने अविधा इत्यादि " सुगमं तवचं सिक्केज्जा इत्यादि सिक्खेत्त सस्समाग्निष्वादिहिस्सिज्जाकं भवेत्त मुष्येत्त लोकांलोकस्वकपमरोपभवगच्छेत्त मुष्येत्त भवोपधाहककर्माभिरापि । किमुक्तं प्रवति सर्वज्ञःस्नानामन्तं कुर्यात् वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रतिवेधो वक्तव्यो वैरयिकस्य भवस्वजाज्याशैरयिकदेवभवयोग्यायुर्बन्धाऽसंभवात् तदेवं वैरयिकादिचतुर्विधानिद्रकक्रमेण चिन्तितं साप्रत्यमसुरकुमारान् वैरयिकादिचतुर्विधातिवृत्तकक्रमेण चिन्तयति " असुरकुमारानं नंतं " इत्यादि प्राग्वत् सवरंमेते पृथिव्यध्वनस्पतिव्यपुत्ररुमेते ईशानात्तदेवानां तेषुपादाभिरावात् तेषु चोपपन्ना न कल्पिप्रक्रमं धर्मं लभन्ते । अथगतया अथगेन्द्रियस्याजावात् शेषं सर्वं वैरयिकवत् । " एवं जाव धरियकुमारा इति " एवमसुरकुमारानेन प्रकारेण नायज्ञकस्यं यावन्तनितकुमाराः पृथिवीकायिका वैरयिकेषु च प्रतिपिच्यन्ते तेभ्यं विशिष्टमोहाऽऽस्वन्नवतस्तीमसंकेतशयिषुदाभ्यवसायाजावात् । शेषेषु तु सर्वेष्वपि इशानेषु उच्यते तेषामप्यध्ववसायस्थानसम्भवात् । तत्रापि च तिर्यकपञ्चिन्दियेषु च वैरयिकवृत्तकस्यमेवमप्याधिकवचनस्पतिकायिकाश्च वक्तव्यः तेजसकायिका वायुकायिकाश्च मनुष्येष्वपि प्रतिपथनीयास्त्रयामानतन्त्रेषु मनुष्येषूपपादसंज्ञात् असन्नववच चक्षिष्टपरिणामतया मनुष्यगतिमनुष्यायुर्वर्धिमनुष्यायुर्वेद्यासम्भवात् । तिर्यकपञ्चिन्दियेषुपन्नाः कवलिप्रक्रमं धर्मं अथगतया लभेयेन्न अथगेन्द्रियस्य भावात् । पुनरन्तं कलिर्निर्कं बोधिं नाथकृत्तवः स्वकिष्टपरिणामत्वात् क्षिन्तुरतिन्दियाः पृथिवीकायिकवत् देववैरयिकवजेषु शेषेषु सर्वेष्वपि स्थानेषूपघन्ते नवरं पृथिवीकायिका मनुष्येष्वानामा अन्तिक्रियामपि क्युन्ते पुनरन्तिक्रियां न कुर्वन्ति तथास्वजावत्वात् मनःपर्यवहानं पुनरुपादयेत्युस्तित्येकपञ्चिन्दियमनुष्याश्च सर्वेष्वपि स्थानेषूपघन्ते तद्वक्तव्यता पाठसिद्धा । वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिका असुरकुमाररज्जावर्णायां च चतुष्टयेन । (लेख्याविशेषोनास्तिक्रियाविचारो भाक्तविक्र शब्दे) ।

इदानीं पञ्चमं तीर्थकरवचकव्यतासङ्गणद्वयमभिधित्यसुराह ।
 रयणपपापुदविनेरइए णं जंतै । रयणपपापुदविनेरइए-
 हित्तो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा । गोयमा ।
 अत्येगतिए ङ्गमेजा अत्येगतिए नो ङ्गमेज्जा से केणइणं
 जंतै । एवं वुच्चइ अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो
 लजेज्जा । गोयमा । असन्नं रयणपपापुदविनेरइयस्स तित्थगरत्तममोयाई कम्माई बच्चाई पुट्टाई कणाई पट्टविद्याई
 णिपिट्टाई अभिनिपिट्टाई अभिसमन्नामयाई उदिन्नाई नो उवसंताई हवन्ति से णं रयणपपापुदविनेरइएहित्तो अणंत-
 रं उव्वट्टित्ता ए तित्थगरत्तं ङ्गमेजा असन्नं रयणपपापुदविनेरइयस्स तित्थगरत्तममोयाई णो बच्चाई भाव नो उदिन्नाई उवसंताई जवन्ति से णं रयणपपापुदविनेरइएहित्तो अणंत-
 रं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं नो लजेज्जा से तेणइणं

गोयमा । एवं वुच्चइ अत्येगतिए ङ्गमेजा अत्येगतिए नो ङ्गमेजा एवं जाव वायुपपापुदविनेरइएहित्तो तित्थगरत्तं ङ्गमेजा । पंकपपापुदविनेरइए णं भंते । पंकपपापानेरइएहित्तो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा । गोयमा । णो इ-
 एणइ समइ अंतकिरियं पुण करेज्जा धूमपपापुदविनेरइए णं पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ विरतिं पुण लजेज्जा तमाए पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ विरयाविरतिं पुण लजेज्जा अइसत्तमाए पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ सम्पत्तं पुण लजेज्जा असुरकुमारे णं पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ अंतकिरियं पुण करेज्जा एवं निरंतरं जाव आउकाइए । तेउकाइए णं भंते । तउकाइएहित्तो अणंतरं उव्वट्टित्ता उववज्जंजा । गोयमा । णो इणइ समइ केवलिपणत्तं धम्मं लजेज्जा वचययाए एवं वाउकाइए वि । वणस्सइकाइए णं पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समत्तं अंतकिरियं पुण करेज्जा वेइदियंतइदियचउरिदिय पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ मणपज्जवनाणं उप्पाकेज्जा पंचिदियवित्तिरिक्खणं शियमसुस्सवाणमंतरजोइसिएणं पुच्छा । गोयमा । णो इणइ समइ अंतकिरियाण करेज्जा । सो-
 हम्मदेवेणं जंतै । अणंतरं वच्चा तित्थगरत्तं लजेज्जा । गोयमा । अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो ङ्गमेज्जा एवं जहा रयणपपापुदविनेरइए एवं जाव स्ववड्डिक्क-
 गदेवे रयणपपापुदविनेरइए णं भंते । अणंतरं उव्वट्टित्ता चक्कवट्टित्तं लजेज्जा । गोयमा । अत्येगतिए लजेज्जा अत्येगतिए नो लजेज्जा से केणइणं भंते । एवं वुच्चइ गोयमा । जहा रयणपपापुदविनेरइयतित्थगरत्तं । सकरं पपापुदविनेरइए णं भंते । अणंतरं उव्वट्टित्ता चक्कवट्टित्तं ल-
 भेज्जा । गोयमा । णो इणइ समइ एवं जाव अइसत्तमाए पुदविनेरइए तिरियमाएहित्तो पुच्छा । गोयमा । नो इणइ समइ । जवणवच्चाणमंतरजोइसियेवमापिपुद्विहो
 पुच्छा । गोयमा । अत्येगइए लजेज्जा अत्येगइए नो ङ्गमेज्जा । एवं च बलदेवत्तं णापरं सकरापुदविनेरइए वि ङ्गमेज्जा एवं वायुदेवत्तं दोहित्तो पुदविहित्तो वेमालिणइहित्तो य अपुत्तरोववारियज्जेहित्तो सेसेसु णो इणइ समइ । ध-
 रुलियत्तं अइसत्तमाए तेउवाउवज्जेहित्तो सेणावइरयण-
 तं गाहावइरयणत्तं वइइरयणत्तं पुरां हियरयाणत्तं इत्यिर-
 णत्तं च एवं चेव नवरं अपुत्तरोववाइवज्जेहित्तो आस-
 र्वाणत्तं हइत्थरयणत्तं च रयणपपापुदविनेरइए नो लजेज्जा । च-
 क्करयणत्तं चमरयणत्तं दंढरयणत्तं इत्थरयणत्तं मणिरय-
 णत्तं असिरयणत्तं कागिणरयणत्तं पएसिं असुरकुमारं हि-
 त्तो आरइं निरंतरं जाव ईसाणाओ सेसेहित्तो नो इणइ समइ ।

एवं शक्यप्रजावाहकप्रजाविषयेऽपि सुत्रे षकस्ये पञ्चममापु-
 विर्वाभैरथिकस्ततोऽनन्तरमुद्रकः संस्तीर्थकरत्वं न लभते अ-
 न्तक्रियाः पुनः कुर्यात्, धूमप्रजापुत्रिर्वाभैरथिकोऽन्तक्रियास्यपि न
 करोति सर्वविरतिं पुनर्भजेते, तमःप्रजापुत्रिर्वाभैरथिकः सर्व-
 विरतिमपि न लभते विरत्यविरतिं देशविरतिं पुनर्लभेते । अथः
 सप्तमपुत्रिर्वाभैरथिकस्तामपि देशविरतिं न लभते परं सप्तम-
 कवभासं लभते । अमुद्राद्यो यादृशस्यविरतिः काद्योऽनन्तरमु-
 द्वास्तास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियाः पुनः कुर्यात् । षष्ठ्यदेवच-
 रिते पुनः नागकुमारेऽन्योऽप्युद्घृष्टा अनन्तरभैरवकेषप्रथाविवा-
 षसर्पित्वां चतुर्विंशतितमस्तीर्थकर उपदर्शितः तदर्थतत्वं के-
 षद्विनां विदन्ति । तेजोवायवोऽनन्तरमुद्घृष्टा अन्तक्रियास्यपि न
 कुर्वन्ति मनुष्येषु तेषामागन्तव्येषोत्पादाभावाद्यपि च ते तिर्यकूप-
 नः केवलिस्रस्तं धर्मं अथनतया अमेरत मनुष्योऽपि मित्युक्तं प्राग्
 वनस्पतिः कायिकायानन्तरमुद्घृष्टास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्त-
 क्रियाः पुनः कुर्यात् । द्विजिबुत्तुकिरिया अनन्तरमुद्घृष्टास्तामपि न
 कुर्वन्ति मनाःपर्यवहानं पुनरुपायैः यैः तिर्यकपद्वेत्किरियमनुष्यव-
 न्तरज्योतिष्का अनन्तरमुद्घृष्टास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्त-
 क्रियाः पुनः कुर्यात् । सौधमाद्यैः सर्वाथैःसिद्धपर्यवसाना भैरथि-
 कश्चकम्पाः । गते तीर्थकरद्वारम् । संप्रति चमत्तैःतीत्यादीनि द्वा-
 रापुत्रचमत्ते तत्र चकवर्तित्वं रत्नप्रजाभैरथिकभयनपतिव्यन्तर-
 ज्योतिष्कैःमानिकेन्द्रयो न शोभेभ्यः बलदेववासुदेवत्ये शकरा-
 नोऽपि नवाग्ं वासुदेवत्ये वैसा(निकेऽन्योऽनुरोरोपपातवर्जैःन्यो मा-
 हतिकायमधःसप्तमतेजोवायवर्जैःन्यः शोभेभ्यः सर्वैःन्योऽपि
 स्वान्येभ्यः सेनापतिरत्नत्वं वार्तिकिरत्नत्वं पुराहितरत्नत्वं स्त्री-
 रत्नत्वमधःसप्तमपुत्रिर्वाभैरथिकोऽनुरोरोपपातवर्जैःन्यः शोभे-
 भ्यः स्युःनेत्र्यः अथवत्नत्वं हस्तिरत्नत्वं रत्नप्रजायाः आरभ्य नि-
 रन्तरं यावदासहकाराश्चाकृतत्वं उच्यतेऽपि । वृषकरत्नत्वमसि
 रत्नत्वं मणिरत्नत्वं काकिणिरत्नत्वं चासुतकुमारान्द्रव्य नि-
 रन्तरं यावदाशानात् । सर्वत्र विधिषाक्यम् । " अथिगहए लभे-
 ज्ञा अथेयइए नो लभेज्जा " इति षकस्य प्रतिषेधे " ना इण्टं
 समष्टे " इति तद्वेषमुकानि द्वापणि प्रह्ण० १५ पद । (तीर्थ-
 कृतामन्तक्रिया तित्थयः शब्दे)

उप्राद्योऽस्मिन् धर्मेऽग्राहमाना अन्तक्रियाः कुर्वन्ति ।
 जे इमे भंतं । उग्गा जोगा राइसा इस्वाका धाया कोर-
 ब्वा एए पं अस्ति धम्मे अग्रागहइ अग्रागहइत्ता अट्टविहं
 कम्मरयत्तलं पवाइतिं पवाइतिंतिता त्तो पच्छा सिउक्क-
 ति जाव अंतं करंति इत्ता गोयया । जे इजे उग्गा भोगा तं
 वेव जाव अंतं करंति अत्थेगइया अय्यरेऽपु देवलांपसु दे-
 वचाए उचचत्तारो जवंति ।

(ब्रह्मिस् धम्मे ति) अस्मिन्-नैर्धर्म्ये धर्मे इति २०२ श०३०० ।
 [जीधः सइसइमित्तमेज्जादिवात् परिणामान्ताक्रियां
 करोतीति मंत्रगणुस शब्दे]

केवलिन एव अन्तक्रियाः कुर्वन्ति विष्णुराह ।
 उग्रपर्येणं जंते । मणसे तीतमणंत्वं सासयं समयं केवले-
 षं संभेणं केवलेणं संभेणं केवलेणं बंभचेरवासैणं केव-
 लीहिं पंचयणमायाहिं सिउज्जुपु बुडिक्कसु जाव सव्वदुक्खा-
 खमंत्वं करिसु । गोयया । सो इण्टं समष्टे सं कण्ट्ठेण जंते ।
 एवं बुक्कत्वं वेव जाव अंतं करिसु । गोयया । जे केइ अं-

तकरा वा अंतिसर्रीरिया वा सव्वदुक्खायमंत्वं करिसु वा
 करिति वा करिसंति वा सव्वे ते उपपन्ननाणदंसस्यपर
 अरहा जिणं केवली जजित्ता त्तमो पच्छा सिउज्जंति बुवंति
 परिनिव्वायंति जाव सव्वदुक्खायमंत्वं करिति करिसंति
 वा से तेणुट्ठेणं गोयया । जाव सव्वदुक्खायमंत्वं करिसु पदु-
 प्पुष्पे वि एवं वेव नवरं सिउज्जंति जाणियव्वा अणायण ए वि
 एवं वेव नवरं सिउज्जंति जाणियव्वा जहा छउमपयो
 तथा आहोइओ वि तथा परमाहिंओ वि तिन्नि तिन्नि आ-
 लावगा भाणियव्वा H

इह छपस्योऽवधिवागरहितोऽवसेयो न पुनरकेवसिमात्रमुत्त-
 रत्रावधिज्ञानिनो बहुयनाणस्यविति (केवलेशुति) असहाये-
 न शुद्धेन वा परिपुणेन वा असाधारणेन वा यदाह " केवलमेवं
 सुक्तं सनात्मसाधारणमनंत्वं च " (संज्ञावर्णित) पृथिव्यादिरक-
 शकूपेण (संवेरणेति) इन्द्रियकलायनिरोधेन "सिउज्जंत्तु " इ-
 त्यादी च बहुवचनं प्राकृतत्वाद्यति पतञ्ज गीतमेतानेतिप्रियायेषु
 पुंषु यदुत्त उपशागतमोहाद्यवस्थायां सर्वथिबुक्काः संयमा भयतोऽ
 पि भवन्ति विबुक्कसंयमादित्थाया च सिउरिति सा कृष्ण-
 स्थस्यापि स्यादिति (अंतकरेति) भवान्तकारिणस्तं ष की-
 षेतरकाज्ञापक्याऽपि भवन्तीत्यत आह (अंतिसर्रीरियावत्)
 अन्तिमं शरीरं येषामस्ति तेऽन्तिमशरीरकारिणमदेहा इत्यर्थः ।
 बागम्यो समुभयो " सव्वदुक्खायमंत्वं करिसु " इत्यादीः "सि-
 उज्जंत्तु सिउज्जंती " त्याद्यपि द्रष्टव्यम् । सिद्धावधिनाभूतत्वात्स-
 र्वैःत्वान्तरकरणस्येति (उपपन्ननाणदंसस्यधरोति) उपपत्ते इहान-
 दशेने धारयति ये ते तथा स्वनादिंसंतिःसिद्धज्ञाना भव एव (अ-
 र्हाइ) पुजार्हाः (जिणसि) रागादिजोयारस्ते उच्यन्ते अपि
 प्रवन्तीत्यत आह (केवलीति सर्वत्राः "सिउज्जंती" त्यादिषु चतुर्षु
 पदेषु षसेमाननिर्देशस्य शोयोपलक्षणत्वात् "सिउज्जंत्तु सिउज्जंति
 सिउज्जसंति " इत्येवमतीतादिनिर्देशो इत्यर्थः । अत एव "सव्व-
 दुक्खाय " मित्यादौ पञ्चमपदेऽसौ विहित इति । "जहा उचम-
 त्यो " इत्यादिरेण भावना "आहोइएणं जंते । मणुसे तीतमणंत्वं
 सासयमित्यादि " इहकवचनं तत्र अथः परमावधेरुपस्थाद्योऽव-
 धिः सोऽयोऽवधिस्तेनो यो व्यवहरत्यसाचाधोऽधिकाः परिमित-
 केवधिययावधिकः (परमाहो हिप्रोक्तः) परम भाषोवधिकः
 स परमाधोवधिकः प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः (परमोहिप्रो-
 क्ति) कविपद्योः व्यकल्प स च सप्तसत्कपिद्वय्यांसंख्यातज्ञो-
 कमात्रालोककरदासंख्यातावसर्पिणःविषयावधिज्ञानः (तिधि-
 भाषावगति) कालत्रयवर्तिनः केवलिनोऽप्येत एव त्रयोदश-
 काः विशेषस्तु सुत्रेक एवेति ।

केवली षं जंते । मणुसे तीतमणंत्वं सासयं समयं जाव
 अंतं करिसु । इत्ता गोयया । सिउज्जंत्तु जाव अंतं करिसु
 एते तांनि आलावगा जाणियव्वा । छउमप्यस्त जहा
 नवरं सिउज्जंत्तु सिउज्जंती सिउज्जसंति । से एणंत्वं जंते ।
 तीतमणंत्वं सासयं समयं पदुपुष्पं वा सासयं समयं अणाय-
 णमणंत्वं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिसर-
 रीरिया वा सव्वदुक्खायमंत्वं करिसु वा करिति वा करि-
 संति वा सव्वे ते उपपन्ननाणदंसस्यपर अरहा जिणं

केवलं जविता तत्रो पक्ष सिद्धंति जाव अंतःकरि-
स्मंति वा इता गोयमा । तीतमणं सासप जाव अंतं
करिस्संति वा से नूनं जंते । उषभनाणुदंसणधरे अरहा
जिणे केवली अलमत्तु चि वचन्वंसिया इता गोयमा ।
उषभनाणुदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्तु चि व-
चन्वंसिया सेवं जंते भंतेति ॥

“से नून” मित्यादिषु काष्ठत्रयनिर्देशो वाच्य पचेति (अलम-
त्तुचि) अलमस्तु पर्यायं भवतु नातः परं किञ्चिज्ज्ञानान्तरं प्रा-
ग्बल्यमस्तीति एतद्वचनं स्याद् अथेत्सव्यत्वात्पचेति ज ०
१ श ० भ ० । विनाशे, “उष्णानामंतं करिय काही अचिरेण
काशेण ” घ ० २ अचि ० । अन्ते प्रवास्तस्त्वस्य क्रियाऽन्तक्रिया
अन्वय इत्यर्थस्तकेतुयोऽन्वयान्ना शैलेद्वाराणां सा अन्तक्रिये-
त्युपचारात् केवल्याराधनाभेदं, एषा च क्वायिकहानिकेयनिना-
मंभवति स्था ० १ टा ० ।

रागद्वेषस्य पश्चात्क्रिया प्रविशुं शक्नोति ।

से नूनं जंते ! केवापदोसे खाणे समणे णिमंये अंत-
करे भवंइ अंतिमसरिंरिण वा बहुमोहे वि य णं पुब्बि विह-
रिन्ता अह पच्छा, संवुमे काशं करेइ तत्रो पच्छा सिज्जा-
इ वुज्जइ थुधइ जाव अंतं करेइ ? इता गोयमा ! केवापदो-
से खाणे जाव अंतं करेइ भ ० ? श ० ६ उ ० ।

(जीवो यावदजंते तावज्जो अन्तक्रियां कर्तुं शक्नोति । तिरियाव-
द्विया शब्दे) (आचार्य उपाध्यायों वाअज्ञानाया गणसंप्रदं कुचन
कनिनिभयैः सिद्धाति इति गणसंगहकर शब्दे)

अंतकुल-अन्यकुल-न ० शुद्धकुलं, कल्प ० । आ ० म ० जि ० ।

अंतकलरिया-अन्त्याङ्किका-स्त्री ० प्रादम्या लिपनयमं लेख्य-

विशयो, प्रज्ञा ० १ पद । विपष्टिमकलायाश्च. कल्प ० ।

अंतग-अन्तक-त्रि ० विनाशकारिणं, सूत्र ० १ शु ० ए अ ० ।

अन्तग-त्रि ० अन्तं गच्छन्त्यन्तगः दुष्परित्यजं, “विष्णो अंतगं
स्यो यं गिरवेकसो परित्यज्य ” सूत्र ० १ शु ० ए अ ० । अन्तयति
अन्तं करोति अन्तं गिष्य एवुव् मुन्यो, वाच ० ।

अंतगह-अन्तकृत् (त)-पुं ० अन्तो विनाशः स च कर्मणस्तत्क-
र्त्तव्य वा नंसारस्य कृतो धैस्तेऽन्तकृताः तीर्थकारिषु, स ० ।
स्था ० पा ० । अन्त ० । नं ० । सूत्र ० । अनु ० । कल्प ० ।

अंतगदसा-अन्तकृद् (त) दशा-स्त्री ० बहु ० अन्तो जवान्तः
कृतो विहितो धैस्तेऽन्तकृतास्तत्कर्मणा प्रतिबद्धा दशा दशा-
ध्वनयकवा प्रथमपदतय इति अन्तकृद् (त) दशा इह चाष्टै-
वर्गं भवन्ति तत्र प्रथमवर्गे दशाध्वनयनात् इति तानि शम्भुत्प-
पत्तैर्विभिन्नोक्त्यान्वहद् (त) दशाः । अष्टमंजं, अन्त ० स्था ० ।
स ० । पा ० । नं ० । अनु ० ।

आसां वर्गोऽध्वयनानि ।

तेषां कालेषां तेषां समणेषां चंपा नामं नयरी । हांत्था पुष्-
भेदे चेतिप वनसंके वसभो तेषां कालेषां तेषां समणेषां अज-
सुहम्मे समोसरिते परिसा णिमया जाव पडिगता । तेषां का-
लोषां तेषां समणेषां अज्जसुधुक्कम्मे अंतेवारी अज्जजंजू जाव
पज्जुवासति एवं वयासी जाति णं जंते । समणेषां ३ जाव

संपचेणं सत्तमस्स अंगस्स उवातमसाणं अयमइ पच्च ।
अट्टमस्स णं जंते । अंगस्स अंतगदसाणं समणेषां के
अट्टे पच्चते एवं खलु जंजू । समणेषां जाव संपत्तेणं अट्टमस्स
अंगस्स अंतगदसाणं अट्ट वग्गा पच्चता जातं णं जंते ।
समणेषां ३ जाव संपत्तेणं अट्टमस्स अंगस्स अंतगदसाणं
अट्ट वग्गा पच्चता पदमस्स णं भंते । अंगस्स अंतगदसाणं
समणेषां ३ जाव संपत्तेणं कति अज्जयणा पच्चता एवं
खलु जंजू । समणेषां जाव संपत्तेणं अट्टमस्स अंगस्स अंत-
गदसाणं पदमस्स वग्गस्स दस अज्जयणा पच्चता नं
जहा [अन्त ० ? वर्ग ०] नमी य मंग सोभिन्ने, रामपुत्ते
सुदंसणे । जमाली य जगाली य, किं कपे पण्णुएय ॥ १ ॥

फाले अ अट्टपुत्ते य, एमेते दस आट्टिया । स्था ० ० टा ० ।
अन्तगदेत्यादि इह चाष्टौ वर्गोस्तत्र प्रथमवर्गे दशाध्व-
नयानि तानि चामुनि (नमीत्यादि) साढे ऋकमंतानि
च नमीत्यादिकान्यन्तकृत्साधुनामानि अन्तकृत्साङ्गप्रथमवर्गे
अध्वयनसंप्रदे मोपलभ्यन्ते यतस्तत्राजिधीयते “ गायम ! स-
मुहसागर, गंधैरे चैव होह धिमिप य । अयले कपिष्णे खलु अ-
कञ्जात्र पसेणइ विण्णु ति ॥ १ ॥ ” ततो वाचान्तरापेक्षाणीमा-
नाति सप्रमाधयामो न च जन्मान्तरनामापेक्ष्येतानि भविष्यन्ती-
ति वाच्यं जन्मान्तराणां तत्रानभिधायमानत्वादिति ॥

द्वितीयं वर्गं इमानि ।

अकखोमि ? सागरे खलु, २ समुद ? द्विपवंत ३ अच-
लनामं य ए । धरणे य द् पुरणे य, ५ अजिचंदे चैव
अट्टमए ॥

तृतीयं वर्गं ।

जाति णं भंतं । तत्त्वस्व उक्त्वेवमो एवं खलु जंजू अह-
मस्स अगस्स तत्त्वस्स वग्गस्स तेरस अज्जयणा पच्चता
तंजहा अणियसेसे ? अणंतमणेअअजियतेणे ? अणिह-
यरोमिअो ४ देवमणे ५ मत्तुसेणे ६ सारणे ७ गए उ समुह
ए हुम्ममुह ? ० कुसए ? ? दारुए ? ? अण्णाट्टिया ? ॥

चतुर्थं वर्गं ।

जाति णं जंते ! समणेषां जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स
अंतगदसाणं जाव संपत्तेणं के अट्टे पच्चते ? एवं खलु
जंजू । समणेषां जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स दस अज्ज-
यणा पच्चता तंजहा जासो ? मयादी २ उवयासो, ३ पुरि-
ससेणे य ४ वारिसेणे य ए । पज्जुएण ६ संवे ७ अनिरुप्पे,
८ सचचोमी य ए ददनेमी य ० ॥

पञ्चमं वर्गं ।

जाति णं भंते ! समणेषां जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स
अंतगदसाणं समणेषां जाव संपत्तेणं के अट्टे पएणत्ते एवं
खलु जंजू समणेषां जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स दस अज्ज-
यणा पच्चता पडमावतीए गोरी गंधारी लक्खणा सुदीया
य । जंजुवती मत्तजामा य रुप्पिणी म्हासिरी म्हाददा वि ।

पञ्च वगे ।

जति एं जंतः उट्टस्स उक्खेवतो एणं सोल्लस अज्जयणा पप्पत्ता तंजहा " मकारी ? किंमहं च व २ मांगरपा-णी य ३ कासव ४ खेमती ५ द्वित्तवेरं च व ६ केलापे ७ हत्तिवंदेण उ वारत ए सुदंसे १० पुण्णनं ११ ? तह सुणयज्जे १२ सु सुपट्ठे १३ मोहति ? १४ मुचे १५ अन्नकं १६ अज्जयणेण तु मोल्लसयं ॥ १ ॥

सत्तमे वगे ।

जति णं जंते ! समणेणं मत्तमस्स वग्गस्स उक्खेवतो जाव तेरुअ अज्जयणा पप्पत्ता तंजहा "नेदा ? तह नेद्वती ? नेवुत्तर ३ नेदिसेणिया ४ चेवाभरुता ५ मुक्कता ६ महाभरुता ७ मरुदेवा ८ य ? अट्ठमी भदा ९ सुज्जाय ? १० सुजया ? ११ सुमण्णया ? १२ जूयदिस्सा ? ३ य वोत्तव्वा सेण्यज्जाण नामानि १ अट्ठमे वगे ।

समणेणं जगवया महावीरेणं जाव अट्ठमस्स वग्गस्स उक्खेवतो जाव नवरं दस अज्जयणा पप्पत्ता तंजहा "काली ? सुकाली २ महाकादी ३ कण्हा ४ सुक्कहा ६ य वीरकण्हा य ७ वोत्तव्वा रामकण्हा ८ त्तेव य । पउमसेणकण्हा नवमी दसमी महामेणकण्हा य ॥

सर्वेसंप्रहंसे ।

अंतगददसाणं अट्ठमस्स अंगस्स एगो सुयक्खेधो अट्ठ वग्गा अट्ठसु च व दिवसेसु उरुहिसिंति तस्य पट्टमविद्वेषवगे दस दम उदेसगा तद्वयवगे तेरस उदेसगा चउत्पंथं चमवगे दस दम उदेसगा उच्चवगे मोल्लम उदेसगा सत्तमवगे तेरस उदेसगा अट्टमवगे दस उदेसगा सेसं जहा नायाधम्मकण्हा ॥

विषयोऽनकूदशानाम् ।

से किं तं अंतगददसाओ अंतगददसामु एं अंतगददसां पगरादं उज्जाणचेद्वयवणराया अम्मा । पयरो ममांवरणधम्मा धम्मकण्हा इह होउअपरलोउअ उरुहिविसेसा भोगपरिवाया पव्वज्जाओ सुयपरिगाहा तवोवहाणाणं पांढमाओ बहुविहाओ स्वमा अज्जेवं मदेवं च सांभं च सवमहिंयं सत्तरसविदां य संजमो उत्तमं च वंभं आकिंविणया तवोकिरियाओ समिउत्तुलीओ चेव । तह अप्पमायसोमी मज्जायज्जाणेण य उत्तमायं दोरुं पं उक्खत्त पां पत्ता, ए य संजमुत्तमं जियपरिसहाणं चउत्तव्वहकम्मकवयामं जहा केवहास्स होभो पणिया उ जत्तिओ य जह पासिओ सुणींदिं पावोवगओ य जहिं अणियाए जताणि उअइत्ता अंतगदने सुणिवगे तपरयोपिमुक्को मोक्खमुहमणंतं च पत्ता एए अमे य एवमात्थयवित्थेरेणं परुवेइ । समं । अंतगददसाणं परिता वायसा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा भिसोगा, संखिज्जाओ निउत्तुली-

ओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पक्खिचीओ, से एं अंगअट्ठयाए अट्ठमे अगे एते सुयक्खेधो अट्ठ उदेसाणकाला अट्ठ समुदेसणकाला, संखिज्जा पयसहस्सा, पयगेण संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परिता तमा, अणंता यावरा, सासयकदिनिवक्खिकाया जिणपत्ता । भावा आयविज्जंति पक्खिज्जंति पक्खिज्जंति दिंसिज्जंति निर्देसिज्जंति उवदांसिज्जंति । से एवं आया एवं नाया एवं विखाया एवं चरणकरणपरुवणा आघविज्जं मेत्तं अंतगददसाओ ॥ ८ ॥

तथा प्रासानाञ्च सयमेत्तमं सर्वविरतिजिनपरीषहाणाञ्चतुर्षिधकम्मसूये सति यथा केवलस्य ह्यायदेलाभः पथयः प्रमदशयाः लक्षणो यावच्च श्रायद्वर्गादिप्रमाणो यथा येन तयोपविशयध्वजपादिना प्रकाशेण पात्रितो मुनिभिः पादपपगमञ्च पादयोपगमानिधानमनदानं प्रतिपन्नो यो मुनियत्र शकृज्जयपर्वतादौ यावन्ति च भक्तानि भोजनानि वेद्विथिना अनदानिनां हि प्रतिदिनं भक्तद्वयच्छेदां भवन्ति अन्तकृतो मुनिवरो जात इति शेषः । समोरञ्जोऽथविप्रमुक्त एव च सर्वेऽपि क्षेत्रकाशादिविशेषिता मुनयो मोक्षमुखमनुत्तरञ्च प्राप्ता आख्यायन्त इति क्रियायोगः । एते अन्त्ये "विद्यादि" प्राप्यत् नवरं (दस अज्जयणसि) अष्टमवर्गापेक्षयैव घटन्ते नन्द्यां तथैव व्यक्तान्त्वात् यच्छेह पठन्ते "सप्त वग्गासि" तत्रधमवर्गादन्त्यवर्गापेक्षया एतेऽत्र सप्तस्यैव्येवर्गाः नन्दापि तथा पठित्वात्सत्त्वृत्तेश्चैयम् (अट्ठमग्गासि) अत्र वर्गः समूहः स चान्तकृतानामध्ययनानां वा सर्वाणि चैकवर्गानानि युगपदुद्दिश्यन्ते ततो भगिनो " अट्ठ उदेसणकाला " इत्यादि इह च दश उदेसानकाला अर्थीयन्ते । अट्ठ उदेसणकाला मध्यवच्छामः । तथा संख्यानानि पददानसहस्राणि पदाश्रेणेति तानि च किञ्च त्रयोविंशतिश्लोकाणि चत्वारि च सहस्राणि । (अट्ठवग्गासि) वर्गः समूहः स चान्तकृतानामध्ययनानां वेदितव्यः सर्वाणि चार्थयनानि वर्मवर्गान्तरानि युगपदुद्दिश्यन्ते अत आह अथो उदेसानकालाः अथो समुद्दानकालाः संख्यानानि पदसहस्राणि पदाश्रेण च तानि च किञ्च त्रयोविंशतिश्लोकाः चत्वारः सहस्राः शेषं पात्रिभिर्द्वैथयिज्जानमत्तं ॥ " दस उदेसणकाला दस समुदेसणकाला " सं ।

अंतगत (य) -अन्तगत-नं अन्तदाब्दः यर्थ्यत्थाचो यथा यतान्ते इत्यत्र नतश्चान्ते पर्यन्ते गतं व्यवस्थितमन्तगतम् । अनुगामिकाऽवधिजंते, इहाध्वयव्याख्या अन्ते गतमात्मप्रदेशानां पर्यन्ते स्थितमन्तगतम् इत्यत्र भावना इहाध्वयिचरुपचलनाः कोऽपि स्पष्टकरूपयोरप्यन्ते स्पष्टं के नामाविज्ञानप्रमाया गवाहजालादिदार्ढ्यनिमित्तप्रदीपप्रज्ञाया इव प्रतियोगे विच्छेदविशेषः । तथा चाह जिमनदपणिक्रमश्रमणः स्थापकानुपट्टीकार्यां स्पष्टकोऽयमवधिच्छेदविशेष इति तानि चैकजीवस्य संख्येयान्यसंख्येयानि वा ज्ञवन्ति । यत् उक्तं मूलावधयकप्रथमपठिकायाम् " फट्ठ वि अस्संवेज्जं, संखेज्जायि पगजीवस्सेति " तानि च विच्छेदरूपाणि तथाह कानिचित्पत्तनवत्सिध्वात्मप्रदेशपृथक्त्वे तथापि कानिचित् पुरतः कानिचित्पृथक्त्वे कानिचिदुपरितनमागे कानिचिन्मध्ययतिव्यावर्तप्रदेशव्यभिज्ञाननुपज्ञायेते तदात्मनेऽन्ते

पयन्ते स्थितमिति कृत्वा अन्तगतमित्युच्यते तैरेव पर्यन्तवर्ति-
निरात्मप्रदेशैः साक्षाद्वचिरूपेण ज्ञानिन ज्ञानासाक्षेणैरिति । अथ-
वा श्रौतारिकशारीरयश्च अन्ते गते स्थितमन्तगतं कथाचिद्वचि-
रूपमन्तगतत् इदमपि स्पष्टं करुणप्रवचिज्ञानम् । अथवा सर्वेषाम्-
मप्यन्तप्रदेशानां क्षयापशामनायेऽपि श्रौतारिकशारीरान्ते क-
थाऽपि दिक्षा यद्गङ्गातुल्यमन्तं तद्व्यन्तगतम् । ब्राह्म यदि स्वर्गा-
त्मप्रदेशानां क्षयापशामस्तनः सर्वतः किं न पश्यति ? उच्यते एक-
दिशिऽव क्षयापशामस्य संभवात् त्रिविधो हि क्रयापशामस्तनः-
सर्वेषु शमप्यात्मप्रदेशानामित्यं नृप एव स्वसात्मप्रवेशात् क्षया-
पशामः संवृत्तां यदौदारिकशारीरमपेक्ष्य कथाचिद्विचिन्तयता एक-
दिशिऽव पश्यति उक्तं च चूर्णैः । "शारारिष्यसरीरंते हियं ग-
न्ते पशुं नै चाप्यपसकदुगावाहिरपदिशोवक्षोभश्चा य अंत-
गडं आंहिदानं जस्यइ । अहवा सव्यायप्यरासविसुकेसु वि श्रो-
तारिष्यसरीरगते पगदिसि पाससागवति अंतगयं मथइ " नृ-
तायाऽप्यैः एकदिग्भाविनाऽवचिज्ञानेन यदुच्यतेतितं केच तस्यंयं
वनेने तद्वचिज्ञानमवचिज्ञानचतस्रन्तरे ३ वर्षमन्वासात्तोऽन्ते
एकदिग्मप्यावचिज्ञानविषयस्य पशन्ते व्यवस्थितमन्तगतम् ।
तद्भेदा यथा ।

से किं तं अंतगयं अंतगयं त्रिविधं पाठं तं जडा पुरा अंतगयं
मगम्यो अंतगयं पासओ अंतगयं । से किं तं पुरम्यो अं-
तगयं ? पुरम्यो अंतगयं से जहानामपे केइ पुरिसे उक्तं वा
चतुस्त्रियं वा अदातं वा माणं वा पर्वं वा जोई वा पुरम्यो
काठं पणोक्षेमाण्णा पणोक्षेमाण्णा गच्छिज्जना सेचं पुरम्यो अ-
तगयं । से किं तं मगम्यो अंतगयं मगम्यो अंतगय से जहा-
नामपे केइ पुरिसे उक्तं वा चतुस्त्रियं वा अलातां वा माणं वा
पर्वं वा जोई वा मगम्यो काठं अणुकडेमाणे अणुकडेमाणे
गच्छिज्जना सेचं मगम्यो अंतगयं । से किं तं पासओ अं-
तगयं पासओ अंतगयं से जहानामपे केइ पुरिसे उक्तं वा च-
स्त्रियं वा अलायां वा माणं वा पर्वं वा जोई वा पासओ काठं
परिकडेमाणे परिकडेमाणे गच्छिज्जना सेच पासओ अंतगयं
सेचं अंतगयं ॥

अथ किं तन् अन्तगतम् अन्तगतं त्रिविधं त्रिप्रकारं प्रकृते तथ-
था पुरतोऽन्तगतमित्यादि । तत्र पुरतोऽवचिज्ञानिनः स्वयमेव-
वा अप्रमाणं अन्तगतं पुरतोऽन्तगतम् । तथा गर्गनाः पुष्टतोऽन्त-
गतं मागतोऽन्तगतम् । तथा पार्श्वतोऽन्तगतं पार्श्वेयैरेकतरपार्श्वतो
वाऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतम् । अथ किं तत्पुरतोऽन्तगतं (से ज
हेवादि) स विचिन्तितो यथा नाम कश्चिदुपुरुषः अत्र नरैष्वपि
पदेषु एकतरान्तगतमनः सौ पुंसि इमानि मागधिकजापलक्षण-
स्त्वमर्थी हि प्रयत्नमर्थमागधिकजापलक्षकम् । अर्थमागधिकजा-
पया तीर्थकृतौ देशनामपुत्रेषु । ततः प्रायः सर्वत्रापि मागधिक-
जापलक्षणमनुसर्णीयम् । (उक्तं वेत्ति) उक्ता वृत्तिका वा-
शब्दः सर्वोऽपि विकल्पयति । चतुर्था वा चतुर्ती पर्यन्तवर्ति-
तुल्यपुत्रिका अज्ञातं वा अज्ञातमुद्युक्तं च अप्रजानो ज्वल्लक्षामि-
त्यर्थः । मणि वा मणिः प्रतीतः ज्योतिर्वा ज्योतिः स एवाद्याधा-
रो ज्वल्लक्षमिः । आह च चूर्णैरुक्तं " जोहं सि मल्लगाइतिओ
अवणी जसंते इति " प्रदीपं वा प्रदीपः प्रतीतः पुरतोऽन्ततो
वा इत्ते दृशडारी वा कृत्वा (पणोक्षेमाणे पणोक्षेमाणे) प्र-

पुत्रं प्रमुत्रं हस्तस्थितं दक्षाम्राद्यवस्थितं वा क्रमेण स्व-
गत्यनुसारतः प्रेरयन् प्रेरयन् गच्छेत् यायात् एव दृष्टान्तः ।
उपनयस्तु स्वयमेव ज्ञाननीयः । तत उपसंहरति (केचं पुरम्यो
अंतगयं) से शब्दः प्रतिबन्धनोपसंहरदृश्येने तदन्तः पुरतोऽन्त-
गतम् । इयमपि भावना । यथा स पुत्रव्यः उल्लकादिभिः पुरत
एव पश्यति नाम्यत्र एव येनावचिज्ञानिन तथाविधकृत्यापशामप्रा-
प्तः पुरतः एव पश्यति नाम्यत्र तद्वचिज्ञानं पुरतोऽन्तगतम-
निधीयते । एवं मार्गतोऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतसुचं ज्ञाननीयं न-
यत्रम् (अणुकडेमाणे अणुकडेमाणे) इस्तगतं दक्षप्रादिस्थितं
वा अतु पश्चात् कर्षेत् अतु कर्षेत् पुष्टतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षेत्
समाकर्षेत् इत्यर्थः । तथा (पासओ काठं परिकडेमाणे परिकडेमा-
णे) पार्श्वतोऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतं यथा चामपार्श्वतो यथा द्वयो-
रपि पार्श्वयोः उल्लकादिं हस्तस्थितं वा दक्षप्रादिस्थितं वा प-
रिकर्षेत् परिकर्षेत् पार्श्वभागं कृत्वा समाकर्षेत् समाकर्षेत् इत्यर्थः
नं ० १९ पत्रो । (मथगतवत्स्य विशेषः आणुमापि शब्दः)
अन्तगत-३० । अन्तगतं त्रिविधं, २ ५० । १ ३० ।

अंतगम्य-अन्तर्गत-त्रि० तोऽन्तरि २१, ६० इति सूत्रस्य कवा-
चिकत्वाप्रान्तः शब्दं तस्यात् एवम् । मथगतं, प्रा० । अन्त-
गन्ते, अण० ।

अंतचरय-अन्तचरक-पुं० पार्श्वचारिणि, अनिप्रदविशेषोपधार-
के भिक्काके, स्था० ५ गा० । यो हि अनिप्रदविशेषोपधारके चरति
स्था० ५ गा० ।

अंतचारि (नृ) अन्तचारिन्-पुं० अन्तेन लुकावरोधेण बहुविप्र-
कृतेन चरन्तीति । अनिप्रदविशेषोपधारके भिक्काके, स्था० १०
गा० । सूत्र० ।

अंतनीवि (नृ)-अन्तनीविन्-पुं० अन्तेन जीविन् शीलमाज-
न्माऽपि यस्य स तथा । अनिप्रदविशेषोपधारके भिक्काके, स्था० ५
गा० । सूत्र० ।

अंतदृ-अन्तःस्थ-पुं० अन्तः स्वर्गोष्णोर्वणयोर्मध्ये तिष्ठतीति
स्था-विषय । यत्र तत्राव्येषु वर्णेषु, ते हि कादिमावसानस्थानां
शयसहकरोपग्रणं च मध्यस्थाः । वा विसर्गलोपऽन्तस्था अपि
मध्यस्थितमात्रं, त्रि० वाच० ।

अंतद्वारण-अन्तर्धान-न० अन्तर-घा०-स्युद । तिरोधाने,

शक्तिस्तम्भे तिरोधानं, कायरूपस्य संघमात् ।

कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्मात्रो गुणस्तस्य नास्त्वस्मिद् का-
ये रूपमिति संयमाद्यस्य चक्षुर्मात्रात्स्वकथायाः शक्तेः स्तम्भे,
ज्ञानावशात् प्रतिबन्धे सति तिरोधानं जयति चक्षुषः प्रकाश-
रूपस्य सात्विकस्य धर्मस्य तद्गहनव्यापाराजापथा संयम-
वान् योगी न केचिद् दृश्यत इत्यर्थः । एवं शब्दादितिरोधानम-
पि कृत्यम् । तदुक्तं कायरूपसंयमात् प्राशशक्तिस्तम्भे चक्षुषः
प्रकाशसंयोगेऽन्तर्धानम् । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तमिति ज्ञा०
२६ ज्ञा० । अज्ञानविधादिनाऽदृश्याभिव्यञ्जितं चक्षुः । २० । व्यवधानं
च-स्थ० २ उ० ।

अंतःक्षारपिंड-अन्तर्धानपिण्ड-पुं० अन्तर्धानमन्तर्हितं कृत्वा
गुणमात्रे पिण्डे, " अप्रमाणं अन्तर्हितं करेणा जो पिंडं गेएइ
सो अंतःक्षारपिंडो जस्यति जो अंतःक्षारपिंडं हुंजइ हुंजंते वा
साऽज्जइ " आकाशोऽत्र दोषाश्चतुर्षु प्रायश्चित्तम् । नि० चू०
२ उ० । अशिश्यादिकारणेऽन्तर्धानोपारम्भस्याप्येव (अन्तर्दृ-
रणं चक्षु शब्दं)

अंतःहाणी

- अंतःका (पिया) णी-अन्तर्धानिका-ञी० अन्तर्धानकारिणि
विद्याविशेषे, सूत्र० २ सू० २ प्र० ।
अन्तर्दि-अन्तर्दि-पु० व्यवधाने, ईम० ।
अन्तर्ज्ञान-अन्तर्धीनूत-त्रि० मष्टे, " नष्टोत्ति वा विगणयति वा
अन्तर्कभूतेति वा एगडा " आ० चू० १ प्र० ॥
अन्तर्पात्र-अन्तर्पात-पु० कणउत्तदपशषसःकःपासुधै लु-
क २ । २ । ७७ इति ककारादुप्यधस्य जीह्वामूलियस्य हुक् ।
मध्ये यतने, प्रा० ।
अन्तर्भाव-अन्तर्भाव-पु० प्रवेशे, विने० ।
अन्तर-अन्तर-न० मध्ये, आवा० १ भु० ६ क० विशेषे, घ० । अधि०
अधौ, परिधानाद्युक्ते, अन्तर्धाने, जेदे, परस्परवैलक्षण्यरूपे
विशेषे, तादृश्ये, त्रिडे, आन्तर्वि, विनाये, अन्तर्ये, सट्टे,
वाच० । सूरविशेषे, पानीधान्तमिते सूत्रधारैर्यद् व्यपदिश्यते
ज्ञा० १ प्र० व्यवधाने, जं १ वक्त्त० । ख० । अन्तं रातिं द-
दाति रा-क- । वि० । तं० । अचकाश, म० उ श० ८
उ० । प्रब० । सूत्र० । ति० ।
[१] अन्तरस्य भेदाः ।
[२] द्वीपपर्वतानां परस्परं व्यवधाने वलन्त्ये ईष्यप्रामात्रायाः
अशोकस्यान्तरमुक्तम् ।
[३] कृष्णहिमवत्कट्योपरितनाच्छरमात्ताद्वेषधरपर्वतस्य स
मधरगितलस्यान्तरम् ।
[४] गोस्तम्भस्य पौरस्त्याश्चरमात्ताद्वेषधरमुक्तस्य पाश्चात्यचर-
मात्तस्यान्तरम् ।
[५] जम्बूद्वाराणां परस्परमन्तरम् ।
[६] अम्बुद्वीपस्य पौरस्त्यचरमात्ताद्वेषधरमुक्तस्य पाश्चात्यचर-
मात्तस्यान्तरम् ।
[७] अम्बुद्वीपस्य पौरस्त्याद्वेदिक्कालाद् घातकीःसधरस्य पा-
श्चात्यचरमात्तस्यान्तरम् ।
[८] जिान्तराणि ।
[९] ऋषभाद्वीरस्यान्तरम् ।
[१०] ज्योतिष्काणां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरम् ।
[११] अम्बुस्योणां परस्परमन्तरम् ।
[१२] ताराणां परस्परमन्तरम् ।
[१३] स्योणां परस्परमन्तरम् ।
[१४] घातकीःसधरस्य द्वाराणामन्तरम् ।
[१५] नन्दनवनस्याचरमात्ताद्वेषधरमुक्तस्य काप-
स्याचरमात्तस्यान्तरम् ।
[१६] नरकपृथ्वीनां रत्नप्रजाकाराणामन्तरम् ।
[१७] रत्नप्रमाद्विभ्योः सन्धानाद्विन्तरम् ।
[१८] रत्नप्रजादीनां परस्परमन्तरम् ।
[१९] निषधकट्योपरितनाच्छरत्तास्यमधरगितलस्या-
न्तं निकृष्य निषधपर्वतस्य रत्नप्रभायाः बहुमध्यदेश-
भागे निकृष्यः ।
[२०] पुष्करचन्द्राराणामन्तरम् ।
[२१] मन्दराजम्बुद्वीपाच्च गोस्तम्भस्यान्तरम् ।
[२२] मन्दराजोत्तमस्यान्तरम् ।
[२३] मन्दराजकामस्य्यान्तरं निकृष्य महाहिमवनोऽन्तरं
प्रतिपादितम् महाहिमवदुक्मिकस्यापीति रईष महा-
हिमवत्स्ये प्रतिपादितम् ।

- [२४] लवणसमुद्रचरमात्तयोरन्तरम् ।
[२५] लवणसमुद्रद्वाराणामन्तरम् ।
[२६] बडवामुखादीनामचरमात्ताद्वेषधरप्रभाया अथ-
स्तनचरमात्तस्यान्तरम् ।
[२७] विमानकल्याणमन्तरम् ।
[२८] आहारमाभित्य जीधानामन्तरं प्रतिपाद्य तस्मिन्नेव सू-
त्रे सयोगिव्यस्यकेवल्यनाहारकस्य चान्तरम् ।
[२९] एकैन्द्रियाद्याभित्य कालतोऽन्तरम् ।
[३०] कषायमाभित्यान्तरं प्रतिपाद्य काषयमाभित्यान्तरं नि-
रूपितम् ।
[३१] गतिमाभित्यान्तरं प्रतिपाद्य ज्ञानमाभित्य जीधानाम-
न्तरमभिहितम् ।
[३२] ब्रह्मस्थावन्नाश्रयस्थावाराणामन्तरम् ।
[३३] सत्समष्टिकमाभित्यान्तरम् ।
[३४] पर्यागिमाभित्यान्तरमभिधाय काषादिपरितानामन्त-
रमभिहितम् ।
[३५] पुद्गलमाभित्यान्तरमुक्त्वा प्रथमसमयाऽप्रथमसमय-
विशेषणैकेन्द्रियाणां तैरयिकीदीनां चान्तरम् ।
[३६] बादरसूचनोत्सूचनोबादराणामन्तरम् ।
[३७] सूचनस्यान्तरं प्रतिपाद्य भाषामाभित्य जीधानामन्त-
रं निरूपितम् ।
[३८] योगमाभित्यान्तरमुक्त्वा लेश्यामाभित्य जीधानाम-
न्तरं निरूपितम् ।
[३९] वेदविशिष्टज्ञोयानामन्तरं प्रतिपाद्य मनुष्यादिभेदेन
वेदविशेषविशिष्टानां स्तोत्रपुस्तकानामन्तरं प्रति-
पादितम् ।
[४०] औदारिकदिशिदशविशिष्टानामन्तरमुक्त्वा संज्ञावि-
शेषणेन अन्तरं निरूपितम् ।
[४१] संयमविशेषणेनान्तरमभिधाय सिद्धस्यासिद्धस्य चान्-
न्तरं निरूपितम् ।
[१] अन्तरस्य भेदाः ।

वृत्तवित्ते अन्तरं पश्यते तं जहा कर्तुं तं पश्यते तं लोहं-
ते पश्यते पवाभेन इति ए वा पुरिमस वा वृत्तवित्ते अ-
न्तरं पश्यते तं जहा कर्तुं तसमापे पश्यते तसमापे लोहं तस-
पाणे पश्यते तसमापे ॥
काष्ठस्य च काष्ठस्य चैति काष्ठयोरन्तरं विशेषो रूपनिर्माणा-
दिभिः पयमेव काष्ठान्तरमिव पश्यकस्यासकृन्नादि पश्यमाण-
न्तरं विशदयति कुमार्यादिसंज्ञाद्वयमन्तराद्येद्काःवादि-
भिः प्रस्तरान्तरं पायाणान्तरं चिन्तितार्थप्रणोदितिर्यमेव का-
ष्ठान्तरवत् स्त्रिया वा ऊच्यन्तरापक्ष्या पुरुषस्य वा पुण्यान्तरा-
पक्ष्या वाग्वदौ स्त्रीपुंसयोश्चातुर्वैष्ये प्रति निर्दिशेत्-
ताभ्यापानार्थौ काष्ठान्तरं समां तुल्यमन्तरं विशेषो विधि-
ष्टपदिविद्ययाद्यादिना पश्यमान्तरसमानं यच्चनसुकृमारतवैष्य
लोहान्तरसमानं स्नेहच्छेदेन परंपदादौ निर्भेक्त्यादिभिश्च
प्रस्तरान्तरसमानं चिन्तितकालमनोरथपूरकत्वेन विशिष्टगु-
णवत् यन्पदवृत्तयोन्वय्यादिना चैति द्वा० ४ । जा० ।
(२) द्वीपपर्वतानां परस्परं व्यवधाने इदमेतं तत्र ईष्यप्रामा-
त्राया जज्ञोकस्य यथा
ईसिप्यजगाराण एं भेने । पुर्वीए अज्ञोमसस व केवए

अवाहाए पुच्छा, गोयमा ! देसुणं जोअणए अवाहाए अंतरे पणुत्ते ।

(देसुणं जोयणंति) इह सिक्खल्लोकयोद्देशोर्नं योजनमन्तरमुक्कम, आशयस्येकं तु योजनमेव । तत्र च किञ्चिन्पुनराया अवि-
यक्त्वाण विरोधो मन्तव्य इति भ० ध० अ० ८ उ० ।

[३] छुद्धिमवन्तकूटस्योपरितनाच्छामान्नाह्रपंचर-
पर्वतस्य समभरणितलेऽन्तरम् ।

छुद्धिमवन्तकूटस्स णं उवतिद्वाओ चरपंताओ छुद्धिमवन्-
तस्स वासहृत्परवपस्य समभरणितले एम णं जोगणसयाई
अवाहाए अंतरे पणुत्ते एवं सिद्धिरिक्कमस्स वि ।

इह प्राचाथीं हिमवान् योजनशतोत्किरुस्तकूटं पञ्चशतोत्कि-
रुतमिति सूत्रोक्तमन्तरप्रवृत्तीति. स० ।

(४) गोस्तूपस्य पौरस्त्याच्चरमान्नाह्र वरुवामुक्कस्य पाष्ठा-
त्यचरमान्तेऽन्तरम् ।

गोपूजस्स णं आवासपवन्वसस्स पुरच्छिमिद्वाओ चरपं-
ताओ च्लयामुहस्स महापायासस्स पवच्छिमिद्वाओ चरपंते
एम णं वावसुं जोगणसइस्साई अवाहाए अंतरे पणुत्ते ।

[गोपुंथेत्वादि] गोस्तूपस्य प्राचयां लवणसमुद्रमध्यवर्तिनो
वेलन्धरनागराजनिवासभूतपर्वतस्य पौरस्त्याच्चरमान्नाह्रपञ्च-
त्य वरुवामुक्कस्य महापातालकलशस्य पश्चात्पश्चरमान्तो येन
भवतीति गम्यते [एसणंति] एतदन्तरमध्येऽधाधया व्यवधान-
नलक्षणमित्यर्थः द्विपञ्चाशदयोजनसहस्राणि भयन्तीत्यस्यस्य-
टनम् । भावावस्थस्यैव इह हवणसमुद्रं पञ्चनवतियोजनसहस्रा-
ण्ययवगाह्यं प्रयच्छिपुं दिक्षु चत्वारः क्रमणं वरुवामुक्केतुकुत्तुप-
केऽभ्यराभिप्राता महापातालकलशा भवन्ति । तथा जम्बूपथेन्ताद्
त्विचत्वारिंशदयोजनसहस्राण्ययवगाह्यं सहस्राधिकमन्त्रात्त्वार
एव वेलन्धरनागराजपर्वतः गोस्तुभादयो भवन्ति । ततश्च
पञ्चनवत्याह्रपश्चत्वारिंशदपवत्परिधायानां द्विपञ्चाशत्सहस्राण्य-
न्तरं भवति स० ४१ सम० ।

[४] जम्बूचाराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबूदीवस्स णं भेते । दीवस्स दारस्स य दारस्स य केवइए
अवाहाए अंतरे पणुत्ते । गोयमा ! अउणासीं जोअणस-
हस्साई वावसुं च जोअणसाई देसुणं च अइजंअणं दारस्स
य दारस्स य अवाहाए अंतरे पणुत्ते जी० ।

जम्बूदीपस्य गमिति प्राग्बतुं जन्तु ! दीपस्य संबन्धिनो
द्वारस्य २ च कियत् किंप्रमाणम् (अवाहाए अंतरेत्ति) बाधा
परस्परं संश्लेषनः पीठनं च बाधा अवाधातया किंचदन्तरं व्य-
वधानमित्यर्थः प्रहसम् । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्वर्थेषु
वर्तमानो इष्टस्तत्तद्व्यवच्छेदेन व्यवधानार्थेपरिग्रहार्थमवाधा-
ग्रहणम् अत्र निषेधनं भगवान्नाह्र गौतम ! एकोनाशीतियोजन-
सहस्राणि द्विपञ्चाशदयोजनानि देशोर्नं चार्द्धयोजनं द्वारस्य
द्वारस्य चाधाधया अन्तरं प्रहसम् । तथाहि जम्बूदीपपरिधिः प्राग्-
निर्दिष्टयोजनानि तिको लक्षाः योऽयं सहस्राणि द्वे शते सप्त-
विंशत्यधिकं (३१६२२७) कोशचरम (३) अष्टविंशदशतुशतं
(१२८) त्रयोदशाङ्गुलानि (१३) एकमर्काङ्गुलमिति । अस्माद्-
द्वारचतुष्कविंशतारोऽष्टादशयोजनकोटोपर्यवस्ये तत एकैकस्य
द्वारस्य विंशतारो योजनानि चत्वारि चत्वारि (४) प्रतिद्वारम् ।
द्वारस्याह्रपश्चत्वारिंशत् कोशत्रयं कोशत्रयम् । अस्मिन् द्वारस्य

शास्त्रयोश्च परिमाणे चतुर्गुणे जातान्यष्टादश योजनानि (१८)
ततस्तदपनयने शेषपरिधिसहस्रास्य योजनरूपस्य (३१६२०९)
चतुर्गोणस्यानि योजनानि एकोनाशीतिः सहस्राणि द्वि-
पञ्चाशदधिकानि (७७०५२) कोशश्चैकः । तथा परिधि-
सहस्रं कोशत्रयस्य धनुस्करणं जातानि धनुषां पद सहस्राणि
(६०००) एव च परिधिसहस्रः अष्टाविंशत्यधिकधनुःशतस्य
कोपे जातानि धनुषामेकपरिदशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि (६१२८)
ततोऽस्य चतुर्भिर्गो ह्यध्वानि पञ्चदश शतानि द्वाविंशदधि-
कानि (१५३३) यानि च परिधिसहस्रयोद्देश अङ्गुलानि (१३)
तेषामपि चतुर्भिर्गो ह्यध्वानि त्रीण्यङ्गुलानि (३) शेषे चैक-
स्त्रिंशत्कोपे यथाः अष्टौ (८) एषु परिधिसहस्रयवपञ्चक (५) कोपे
जातास्तयोद्देश यथाः (१२३) एषां च चतुर्भिर्गो ह्यध्वान्ययो-
यवाः (३) शेषे चैकस्त्रिंशत् यो युक्ताः अष्टौ (८) भागु परिधि-
सहस्रैकयुक्ताकोपे जाता नव (७) आसां चतुर्भिर्गो ह्यध्वे द्वे युक्ते
(५) शेषस्यान्यत्रात्तत्र विवक्षा । एतच्च सर्वं देशोर्नमेकं गम्यत-
मिति जातं पूर्वं अथगम्यनेन सह देशोर्नमेकं योजनमिति (जं०
१५३०) “इममेवापि द्विषेकं सुबद्धमिति” अथकस्त्रतो बहसुश्च
साधयत्तिसत्त्वाग्राहकमिति वा गायत्र्याऽऽह । “कटुद्वार पमा-
णं, अचारस्य जोगणसाई परिहाए । सोहियचउदिं विजत्ते, इणमो
दारंत्तं होइ । अउणासीं सइहस्सा, बाधवणा अउ जोग्यं तुणं ।
दारस्स य दारस्स य, अंतरमयं विणिहिट्ठं” जी० ३ प्रति० स० ।

[६] जम्बूदीपस्य पौरस्त्याच्चरमान्नाह्र गोस्तुमस्य
पाष्ठात्यचरमान्तेऽन्तरमाह ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिद्वाओ चरपंताओ, गोपू-
भस्स णं आवासपवन्वसस्स पवच्छिमिद्वाओ चरपंते एमणं बाया-
हीसं जोगणसइस्साई अवाहाए अंतरे पणुत्ते । एवं चउर्हासिं
पि द्वाजासं संलोदपसंमि य ।

(पुरत्थिमिद्वाओ चरपंताओ यो) जगतीबाह्यपरिधेरपमस्य
गोस्तुमस्यावासपर्वतस्य वेलन्धरनागराजसंबन्धिनः पाष्ठात्य-
सीमान्तभरमविभागो वा यावत्तऽन्तरेण भवति [एसणंति]
एतदन्तरं त्विचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि प्रहसमन्तरशब्देन
विशेषोऽप्यभिधीयते इत्यत आह [अवाहाएत्ति] व्यवधानार्थक्या
यदन्तरं तदित्यर्थः ।

(७) जम्बूदीपस्य पौरस्त्याद् वेदिकान्ताद् घातकी-
श्वरुस्य पाष्ठात्यचरमान्तेऽन्तरम् ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिद्वाओ चरपंताओ धाय-
इस्संरुचकवात्सम पवच्छिमिद्वाओ चरपंते सप्तजोगणसयसह-
स्साई अवाहाए अंतरे पणुत्ते ।
तत्र लक्षं जम्बूदीपस्य द्वे सवणस्य चत्वारि घातकीश्वरुस्येति
सप्त लक्षाएत्यन्तं सूत्रोक्तमवर्तति [७०००००] ।

(८) जिनान्तरानि ।

जम्मा जम्मो जम्मा, सिवं सिवा जम्ममुक्कवओ मुक्खा ५ ।
इय चउर्जिणंतराई, इत्य चउत्थं तु नायव्वं ३६ । सस०
१६५ द्वा० ।

साम्रतं यश्चकवतीं बासुदेवो वा यस्मिन् जिने जिनान्तरे वाऽऽ-
सीत् तत् प्रतिपाद्यत इत्यनेन संबन्धेन जिनान्तरागमनं तत्रा-
पि तावत् प्रसंगत एव कालतो जिनान्तगणि निर्दिश्यते “ उ-

समाधौ कोटिलक्षकं, ५० अजियाभो कोटिलक्षकं ३०। संभव-
 कोटिलक्षकं १० अभिनन्दनभो कोटिलक्षकं ९ सुमतिकोटी-
 ए उ णडसहस्तेहि ६० पउमपयभो भोदीणंलय सदस्तेहि
 ए सुपासो कोदी नवसएहि ६०० बंदपयो कोदीभो जउती
 ६० पुण्दतो कोदीव णवदिओ ६ सियलो कोदीकणाऊणा १००
 सा [६६२६०००] बरिसाहं तेज्जोः सागरोपमाइ ४ वासुपु-
 ओ तीससागराइ ३० विमभो सागरोपमाइ ४ धम्मो सागरो-
 पमाइ ३ ऊणाइ १ पलियबउध्मायोहि ३ संतिपलिबउ कंउप-
 लियबउध्माभो ४ ऊणाभो वासकोटीसदस्सेण १ इरो वास-
 कोटीसदस्सं २ म्हाी वरिसहस्रकखउउपपन्ना ५४ मुणिसुव्वभो
 वरिसहस्रकं ६ नमो वरिसहस्रक ५ अरिइनेमि वरिसहस्रकं
 २३७५० पासो वाससयाइ २५० वड्ढमाणो जिणंतराइ ” इह
 वासम्मोहायं सयंयामेव जिनकववतिवासुद्वयं नो यो यस्मिन्
 कासेअन्तरे वा अकवती वासुद्वयो वा त्रियप्यति वचूष वा त-
 स्थानउत्थयावर्णितप्रमाणापुःसमन्वितस्य सुखपरिहानाधर्मयं
 प्रतिपादनेपायः ।

“ बसौसं घरयाहं, काठं तिरियाय ताहि रेहादिं ।
 उह्णययाहिं काठं, पंच घराइं तथो पदमो ॥
 पनरस जिणनिरंतर-सुन्नउम्मं तिजिण सुन्नतिगं च ।
 हो जिणसुन्निजिणियो, सुन्नजिणो सुन्न वीणि जिण्णा ॥
 [वित्तीयपंतिद्वयणा]

हो वकि सुन्ननेरस, पण वक्की सुन्नचकि हो सुन्ना ।
 वक्की सुन्नउक्की, सुन्नं वक्की उसुन्नं च ।
 (ततीयपंतिद्वयणा)

इस सुन्न पंच केसय, पण सुन्नं केसि सुन्नकेसी य ।
 हो सुन्नकेसयो वि य, सुन्नउम्मं केसय तिमुन्नं ॥
 स्थापना जेधम् ।

३७ (सा चेहेव सत पट्टितमे पत्रे विमिये)
 प्रसङ्गादपुः शरीरप्रमातं च ।
 (ए) अणमद वीरस्य ।

उमभस्स भगवओ म्हावीरसस य एगा सागरोवमकोडा-
 कोटी अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

प्राकृतयेन श्रीअप्यत्र इति वाच्ये व्यन्ययेन निर्देशः कृतः एक-
 सागरोपमकोटाकोटी द्विचत्वारिंशता उपसहस्रैः किञ्चित्साधि-
 कैरुणाऽप्यव्यन्याद्विशेषव्याविशेषितोकेति सः। कए०। वीर-
 महापद्मयोः “ बुलसौहस्रहस्साइ, वासा सणव पंच मासाः ।
 वीरमहापदमपं, अंतरेयं विणिदिहं ” ति० ।

[१०] ज्योतिष्कानां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरं यथा ।

चंद्रमण्डलस्य णं भंते । चंद्रमण्डलस्य चंद्रमण्डलस्य केवइआए
 अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा । पण्णत्तिसं पण्णत्तिसं
 जोअण्णाइ तीसं च एगसट्टिआए जोअण्णस एगस-
 ट्टिजामं च एगं सतहा ठेसा चत्वारि जुषिअण्णाए
 चंद्रमण्डलस्य २ अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

चन्द्रमण्डलस्य मदन्तं । चन्द्रमण्डलस्य किचत्था अवाधया
 अन्तरं प्रहसं गौतम । पञ्चविंशशोअनानि त्रिंशद्वैकवट्टिभागान्
 बोअनस्य पकं च एकवट्टिभागं सतथा इह्वा चतुरस्रचूर्णिका-
 अभावात् पतकव चन्द्रमण्डलस्य अवाधया अन्तरं प्रहसत्तं अत्र
 अन्तरावाधचूर्णिका यथा समायासितथाअन्तरं व्याख्यातम्
 अं० ७ वक्० ।

[११] चन्द्रसूर्ययोः परस्परमन्तराह ।
 चंद्रतो मूरसस य, मूरा चंद्रसस अंतरं होइ ।
 पध्यासहस्साइ, तु जोयणाणं अण्णयाइं ॥ २७ ॥
 सूरसस य सूरसस य, ससिणो ससिणो य अंतरं होइ ।

बही तु माणुसनगसस, जोयणाणं सतसहस्सं ॥ २८ ॥
 मानुपनगसस मातुपोअरपयंतस्य बहिः सूर्यस्य सूर्यस्य परस्पर-
 चन्द्रस्य चन्द्रस्य परस्परमन्तरं भवति योजनानां शतसहस्रं
 लक्षम् । तथाहि चन्द्रान्तरिताः सूर्याः सूर्यान्तरिताश्चान्द्रा व्यवह-
 ताश्चन्द्रसूर्याणां च परस्परमन्तरं पञ्चाशद् योजनसहस्राहं
 (५००००) ततश्चन्द्रस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरं योजनानां
 लक्षं भवतीति सु० प्र० १ए पाठु० । (६० प०)

वे जोयणाणि सूरसं, मंडलाणं तु इवइ अंतरिया ।
 चंद्रस वि पण्णत्तिसं, सारांया होइ नायन्ना ॥

सूर्यस्य सचितुः सक्तानां मण्डलानां परस्परमन्तरिका अन्त-
 रमेवांतरे अष्टादशतिव्यात् स्वयो यएप्रत्ययः ततस्कांतविषयज्ञायां
 ङीपत्यस्ये आन्तरं अन्तरमेव आन्तर्येव आन्तरिका जयति
 हे योजने पुनश्चन्द्रस्य आन्तरिका भवति इतदव्या पञ्चविंशशो-
 अनानि साधकानि पञ्चविंशत् योजनानि पञ्चविंशतिरेकवट्टि-
 भागा योजनस्य एकस्य च एकवट्टिभागस्य सतथा त्रिंशस्य
 सक्ताश्चत्वारो प्रागा इत्यर्थः ज्यो० १० पाठु० ।

[१२] ताराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबुद्वीपे णं जंते । द्वीवे ताराए अ ताराए अ केवइ अवाहाए
 अंतरे पण्णत्ते गोमा । द्विदं अंतरे पण्णत्ते तंजहा वायाए अ
 निन्वाभ्याए अ । निन्वायाए जहसेणं पंचपण्णसयाइं उक्को-
 सेणं दो गाअइ । वायाए जहसेणं दोसि जहसेणं जोअण्ण-
 स उक्कोसेणं बारस जोअण्णसहस्साइं । दोसि अ बायाले
 जोअण्णए ताराकवसं ताराकवस अवाहाए अंतरे पण्णत्ते

अमृद्वीपे भदन्त । द्वीपे तारायास्तारायाश्च किचद्वाधया अ-
 न्तरं प्रहसं जयवानाम् । गौतम । द्विविधं व्याघातिकं निर्व्याघा-
 तिकं च । तत्र व्याघातः पयंतादिसहस्रानं तत्र भवं व्याघातिकं
 निर्व्याघातिकं व्याघातिकारिगतं स्वानाधिकमित्येतंस्तत्र यक्षि-
 र्व्याघातिकं तल्लघन्यतः पञ्चधनुःशतानि उरुहृतो हे गम्यंते
 एतच्च जगत्समावाहैवायानुत्पन्नं यच्च व्याघातिकं तजजघन्यतो
 हे योजनशते वट्टपद्यधिके एतच्च निषण्णकृत्वादिक्रमयेष वट्टि-
 तस्यं तथाहि निषण्णवैतः स्वामयतोऽप्युच्चैश्चत्वारि योजनशाना-
 नि तस्य चोपरि पञ्चयोजनशतोऽनानि कूटानि तानि च मूलं
 पञ्चयोजनशतान्यायामविकल्पान्यां मयेष त्रीणि योजनशतानि
 पञ्चसप्तत्यधिकानि उपरि अकेरुतीये हे योजनशते तेषां चोप-
 रिततभागसमन्वितप्रदेशे तथा जगत्समावाहैवाद्यहृद्यो योजना-
 न्यवाधया कृत्वा ताराविमानानि परिभ्रमन्ति ततो जघन्ततो व्या-
 घातिकमन्तरं हे योजनशते वट्टपद्यधिके जयतः उक्कषेतो ह्यद्-
 शयोजनसहस्राणि हे योजनशते द्विचत्वारिंशदधिके । एतच्च
 मेकमयेष्य कृष्टस्य च । तथाहि मेरी इशुयोजनसहस्राणि मेरो-
 ओमयतोऽवाधया एकदशयोजनशतान्येकदशत्यधिकानि ततः
 सर्वसंख्यामीशेन भवन्ति ह्यद्शयोजनसहस्राणि हे च योजने
 शते द्विचत्वारिंशदधिके पतसाराकपस्य अन्तरं प्रहसन्ति अं०
 ७ वक्० । जी० अं० ७० ।

[१३] सूत्रयोगां परस्परमन्तरम् ।

ता केवातियं सं छुवे सूरिया अक्षयमस्य अंतरं कद्दु चारं चरति आहितेति वदेज्जा । तत्थ खलु इमातो उ पन्विचि-
ओ पय्त्ताओ तत्थ एगे एवमाहुंसु ता एगं जोयणसह-
स्सं एगं च तेतंसि च जोयणसत्तं अक्षयमस्य अंतरं कद्दु
सूरिया चारं चरति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहुंसु । ? ।
एगे पुण एवमाहुंसु ता एगं चउतीसं जोयणसयं अक्षय-
मस्य अंतरं कद्दु सूरिया चारं चरति आहितेति वदेज्जा
एगे एवमाहुंसु । एगे पुण एवमाहुंसु । ता एगे जोयणसहसं
एगं च पणतीसं जोयणसयं अक्षयमस्य अंतरं कद्दु सु-
रिया चारं चरति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहुंसु । ? । एगं
दीवं एगं समुहं अक्षयमस्य अंतरं कद्दु । १४ । दो दीवे दो
समुहे अक्षयमस्य अंतरं कद्दु सूरिया चारं चरति । १५ । ति
भि दीवे तिभि समुहे अक्षयमस्य अंतरं कद्दु सूरिया चारं
चरति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहुंसु । १६ । वयं पुण एवं
बयासी ता पंच पंच जोयणसं पणतीसं च एगड्डिभागे
जोयणस्य एगमेगे मंडले अक्षयमस्य अंतरं अजिवट्टेमा-
णे वा निवट्टेमाणे वा सूरिया चारं चरति आहितेति वदे-
ज्जा । तत्थ एं को हेओ चि वदेज्जा ता अयणं जंबूद्वीपे
दीवे जाव परिकखेवेणं पय्त्ते ता जदा एं एगे दुवे सूरि-
या सव्वज्जंतरं मंडलं उवसंकमिच्चा चारं चरति तदा एं
एवणउतिजोयणसहस्साइं उ च्चचाले जोयणसते अक्षयम-
स्य अंतरं कद्दु चारं चरति आहितेति वदेज्जा । तता एं
उत्तमकडपत्ते उकोसए अट्टारसमुहुत्ते दिवसे जवति ज-
हणिया उवात्तसमुहुत्ता राई भवति ते णिक्खममाण्णा
सूरिया एववं संवच्चरं अयमिणे पदमंसि अहोरत्तंसि अ-
रिजतराणंतं मंडलं उवसंकमिच्चा चारं चरति । ता ज-
ता एं एते छुवे सूरिया अभितराणंतं मंडलं उवसंकमि-
च्चा चारं चरति तदा एं जवनउति जोयणसहस्साइं उच्च
पणताले जोयणसते पणतीसं च एगड्डिभागे जोयणस्य
अक्षयमस्य अंतरं कद्दु चारं चरति आहितेति वदेज्जा ।
तता एं अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवति दोहिं एगड्डिभागमु-
हुत्तेहिं ऊणा दुवात्तसमुहुत्ता रातीं जवति । दोहिं ऊणा
ड्डिभागमुहुत्तेहिं अधिया ते णिक्खममाणे सूरिया दोहंसि
अहोरत्तंसि अरिजतरं तच्च मंडलं उवसंकमिच्चा चारं चर-
ति ता जता एं दुवे सूरिया अरिजतरं तच्च मंडलं उवसंक-
मिच्चा चारं चरति तया एं जवनउत्तं जोयणसहस्साइं उच्च
इकावरिणजोयणस्य एव च एगड्डिभागे जोयणस्य अण-
मयणस्य अंतरं कद्दु चारं चरति आहितेति वदेज्जा । तदा
एं अट्टारसमुहुत्ते दिवसे भवद चउहिं एगड्डिभागमुहुत्तेहिं
ऊणा दुवात्तसमुहुत्ता राई जवद चउहिं एगड्डिभागमुहुत्ते-

हिं अधिया । एवं खलु एते एवाएणं णिक्खममाण्णा एगे
दुवे सूरिया तता अंतरतो तदाएणंतं मंडलानां मंडलं संक-
ममाण्णा संकममाण्णा पंच पंच जोयणसं पणतीसं च एग-
ड्डिभागे जोयणस्य एगमेगे मंडले अक्षयमस्य अंतरं अधि-
वट्टेमाण्णा अधिवट्टेमाण्णा सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमिच्चा
चारं चरति । ता जया एं एते दुवे सूरिया सव्वबाहिरं मंडलं
उवसंकमिच्चा चारं चरति तदा एं एगं जोयणसतसहस्सं
उच्च सट्टिजोयणसते अणमणएणस्य अंतरं कद्दु चारं चर-
ति । तता एं उत्तमकडपत्ता उकोसिया अट्टारसमुहुत्ता राई
जवद जहणएण दुवात्तसमुहुत्ते दिवसे भवति । एस एं पद-
मे डम्मामे एस एं पदमस्य डम्मामस्य पज्जवसाणे ते य चि
समाणे दुवे सूरिया दोवे डम्मामे अयमीणे पदमंसि अहो-
रत्तंसि बाहिराणंतं मंडलं उवसंकमिच्चा चारं चरति । ता
जया एं एते दुवे सूरिया बाहिराणंतं मंडलं उवसंकमिच्चा
चारं चरति तदा एं एगं जोयणसयमहस्सं उच्च चउत्तम्ये
जोयणसते हत्तंसि च एगड्डिभागे जोयणस्य अक्षयमस्य-
स्य अंतरं कद्दु चारं चरति आहितेति वदेज्जा । तदा एं
अट्टारसमुहुत्ता राई भवद दोहिं एगड्डिभागमुहुत्तेहिं ऊणा
दुवात्तसमुहुत्ते दिवसे भवति । दोहिं एगड्डिभागमुहुत्तेहिं
आहिते तं पाविसमाण्णा सूरिया दोहंसि अहोरत्तंसि बाहिरं
तच्च मंडलं उवसंकमिच्चा चारं चरति ता जता एं एते
दुवे सूरिया बाहिरं तच्च मणदलं उवसंकमिच्चा चारं चरति ।
तता एं एगं जोयणसयमहस्सं उच्च अरुयाले जोयणसते
वावणं च एगड्डिभागे जोयणस्य अक्षयमस्य अंतरं कद्दु
चारं चरति । तता एं अट्टारसमुहुत्ता राई भवद । चउहिं
एगड्डिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवात्तसमुहुत्ते दिवसे जवति
चउहिं एगड्डिभागमुहुत्तेहिं अहिते । एवं खलु एते एवा-
एणं पन्विममाण्णा एते दुवे सूरिया तताअंतरतो तदाएणंतं
मंडलानां मंडलं संकममाण्णा पंच पंच जोयणसं पणतीसं
च एगड्डिभागे जोयणस्य एगमेगे मंडले अक्षयमस्य अंतरं
अधिवट्टेमाणे अधिवट्टेमाणे सव्वज्जंतरं मंडलं उवसंकमिच्चा
चारं चरति । ता जया एं एते दुवे सूरिया सव्वज्जंतरं मंडलं
उवसंकमिच्चा चारं चरति । तता एं एवणउतिजोयणसहस्सा-
इं उच्च चचाले जोयणसते अक्षयमस्य अंतरं कद्दु चारं
चरति । तता एं उत्तमकडपत्ते उकोसए अट्टारसमुहुत्ते
दिवसे भवति जहणिया उवात्तसमुहुत्ता राई जवति । एस-
एं दोवे डम्मामे एस एं दोहंसस्य डम्मामस्य पज्जवसाणे ।
एस एं आदच्चे संवच्चरे एस एं आदच्चेसंवच्चरस्य
पज्जवसाणे चउत्तये पाहुदपाहुदं समचं ।

(ता केवइवं एते दुवे सूरिया इत्यादि) ता इति प्राक्ख

पत्नी ह्रावपि सूर्यी जम्बूद्वीपगतीः कियत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाक्याताविति भगवाद् वेदेत् एवं नगवता मौढमन प्रकं कृते सति शेषकुमन्विषयतवबुद्धिभ्यासासौ परमतकथाः प्रतिपत्सिद्धयति । "तद्य खलु भ्रात्रो धन्यादि" तत्र परस्परमन्तरचिन्तायां खलु निश्चितमिमां बहुमाणस्वरूपाः बद् प्रनिपसयो यथास्वकविशस्यत्र्युपानमनङ्गणान्तैस्तेस्तीर्थान्तराधैराश्रयमाणाः प्रकृतास्ता एव दर्शयति "तथेभ्यो धन्यादि" तेषां षष्ठां तमतिपत्तिरूपकाणां तीर्थेकानां मध्ये एकं तीर्थान्तराद्याः प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्येकम् । "ता एगमित्यादि" ता इति पूर्ववद्भावनीयम् एकं योजनसदस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परस्थातारं कृत्वा जम्बूद्वीपे द्वौ सूर्यौ चारं चरतश्चरन्तावाक्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । अत्रैवोपसंहरमाह । "एके एवमाहुः इति" । एवं सर्वेशास्यङ्गयोजना कर्त्तव्या । एके पुनर्दिनीयास्ततीर्थान्तराद्या एवमाहुरेकं योजनसदस्रमेकं च त्रुत्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके तुतीयाः पुनरेवमाहुः एकं योजनसदस्रमेकं च पञ्चविंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके पुनश्चतुर्था एवमाहुः एकं द्वीपमेकं च समुद्रं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके पुनः पञ्चमा एवमाहुः द्वौ द्वीपौ द्वौ समुद्रे परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके षष्ठ्याः एकं षष्ठ्यः पुनरेवमाहुः त्रीन् त्रीन् समुद्रान् परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरत इति । एते च सर्वे तीर्थान्तराद्या (मिथशरादिनीयथायथैवस्तुद्वयव्यवधानात् । तथा चाह (वयं पुन इत्यादि) वयं पुनसादित् केवलज्ञानलाभाः परतीर्थैः कस्यापि नवस्तुत्यन्तथायथसांसं पदं केवलमनाप्रकारेण केवलज्ञानेन यथावस्थितं वस्तुतन्वमुपलभ्य वदामः । कथं वदथ यूयं ज्ञानवत् इत्याह (ता पंचेत्यादि) 'ना इति' ज्ञानामभ्यङ्कक्यमिदं तावत्कथ्यते पञ्चपि सूर्यी सर्वाभ्यन्तरामराज्याजिष्कामन्ती प्रतिमगदसं ह्राव पञ्च योजनानि पञ्चविंशतं श्लेकपट्टिभागान् योजनस्य पूर्वपूर्वमगदलगतान्तरपरिमाणे अतिवर्क्यन्तीं वाशब्द उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चये (निरुद्धमाणा वा इति) सर्वबाह्यामगदलसदस्रभ्यन्तरं प्रविशन्तीं प्रतिमगदसं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चविंशतं च एकपट्टिभागान् योजनस्य निर्येद्यन्तीं पूर्वपूर्वमगदलगतान्तरपरिमाणत्वात् हापयन्तीं वाशब्दः पूर्वविकल्पापेक्षया समुच्चये सूर्यौ चारं चरतः चरन्तावाक्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । एवमेकं भगवान् मौढमि निश्चिन्तयतिः शङ्कितव्यवस्थापनायै न्युयः प्रश्नयति । (तयमित्यादि) तत्र पंचविंशत्या वस्तुतन्वव्यवस्थाया अद्यमेकं कं हेतुः का उपपत्तिरिति प्रसादं कृत्वा वदेत् भगवाद्माह (ता अयन्नमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपस्वरूपप्रतिपादकं वाक्यं पूर्ववत्परिपूर्णे स्वयं परिभाषनीयम् । (ता जयाश्रमित्यादि) वयं यदा णमिति वाक्याङ्कारे पत्नी जम्बूद्वीपप्रसिद्धीं प्रातैरावती ह्रावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरं माडलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा नवनवतियोजनसदस्राणि पदं योजनशतानि चत्वारिंशदधिकानि परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाक्याताविति वदेत् । कथं सर्वाभ्यन्तरं मगदसे द्वयोः सूर्ययोः परस्परमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इह जम्बूद्वीपे योजनस्रक्रमणवृष्कणस्तैकैकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्य मध्ये अश्राप्त्यधिकं योजनशतमवगाह्य सर्वाभ्यन्तरं मगदसे चारं चरति । द्वितीयोऽप्यश्राप्त्यधिकं योजनशतमवगाह्य अश्राप्त्यधिकं च शतं ह्यभ्यां गुणितं त्रीणि शतानि षडधिकानि (३६०) नवति

एतानि जम्बूद्वीपवृष्कणपरिमाणान्नुहृत्कृत्वापत्नीयते ततो यथोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्तरं ह्योरपि सूर्ययोश्चरकाले उचसमाष्टां प्राप्तः परमप्रकर्षं प्राप्तः उत्कर्षक उच्छ्वासाद्भ्रादशमुहूर्त्तौ दिवसो भवति जघन्या सर्वजघन्या श्रादशमुहूर्त्तौ रात्रिः (ता निष्कलममाणा इत्यादि) ततस्तस्मात्सर्वाभ्यन्तरामगदलसत्तां ह्रावपि सूर्यौ निष्कामन्ती नवं सूर्यसंवासरमाह्वादात् नवस्य सूर्यसंवासरस्य प्रथमे अहोरात्रे (अभिपतराणंतमिति) सर्वाभ्यन्तरामगदलसदन्तरं द्वितीयं मगदलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) ततो यदा पत्नी ह्रावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमगदलमुपसंक्रम्य चारं चरतस्तदा नवनवतियोजनसदस्राणिपदं शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि योजनानां पञ्चविंशतं श्लेकपट्टिभागान् योजनस्येत्येतावत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतश्चरन्तावाक्याताविति वदेत्तदा कथमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इहैकोऽपि सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमगदलगतान्तराद्यत्वारिंशदेकपट्टिभागान् योजनस्य अद्यरे च द्वे योजने विक्रम्य सर्वाभ्यन्तरामन्तरं द्वितीयं मगदसे चरति । एवं द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदश्लेकपट्टिभागान् योजनस्येति ह्यभ्यां गुरण्यते गुरिति च सति पञ्च योजनानि पञ्चविंशदश्लेकपट्टिभागान् योजनस्येति भवति एतावत्तदधिकपूर्वमगदलगतान्तरपरिमाणान्नुहृत्कृत्वा प्राप्यते ततो यथोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमगदलसत्तारचरकाले अष्टादशमुहूर्त्तौ दिवसो भवति ह्यभ्यां (एगद्विभागमुहूर्त्तै इति) मुहूर्त्तैकपट्टिभागान्नुहृत्कृत्वा श्रादशमुहूर्त्तौ रात्रिः ह्यभ्यां मुहूर्त्तैकपट्टिभागान्नुहृत्कृत्वा (ता निष्कलममाणा इत्यादि) ततस्तस्मात्सूर्य द्वितीयमगदलसत्तारिष्कामन्ती सूर्यौ नवस्य सूर्यसंवासरस्य द्वितीये अहोरात्रे अश्रयन्तरस्य सर्वाभ्यन्तरस्य मगदलस्य तुतीयमगदलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) ततो यदा णमिति पूर्ववत् पत्नी द्वौ सूर्यौ अश्रयन्तरतृतीयं सर्वाभ्यन्तरस्य मगदलस्य तुतीयं मगदलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा तस्मिन्तृतीयमगदलसत्तारचरकाले नवनवतियोजनसदस्राणि पदं च शतानि एकपञ्चशदधिकानि योजनानां नव श्लेकपट्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाक्याताविति वदेत्, तदा कथमेतावत्प्रमाणमन्तरकरुणमिति चेदुच्यते इहाप्येकः सूर्यः सर्वाभ्यन्तरद्वितीयमगदलगतान्तराद्यत्वारिंशदेकपट्टिभागान् योजनस्येति ह्यभ्यां गुरण्यते द्विगुणमेव पञ्च योजनानि पञ्चविंशदश्लेकपट्टिभागान् योजनस्येति भवति । एतावत्पूर्वमगदलगतान्तरपरिमाणान्नुहृत्कृत्वा प्राप्यते इति भवति यथोक्तमन्तरपरिमाणम् (तया णमित्यादि) यदा सर्वाभ्यन्तरामगदलसत्तारमगदसे चरति चरतस्तदा अष्टादशमुहूर्त्तौ दिवसो भवति चतुर्भिः [एगद्विभागमुहूर्त्तै इति] प्राकृतव्यातद्व्यव्यासस्ततोऽयमर्थः मुहूर्त्तैकपट्टिभागैकानः, श्रादशमुहूर्त्तौ रात्रिश्चतुर्भिः मुहूर्त्तैकपट्टिभागीरथिका (एवमित्यादि) एवमुच्येन प्रकारेण खलु निश्चिन्तयेतेनोपायन प्रतिमगदसमेकताः ज्येकः सूर्यां द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशतं श्लेकपट्टिभागान् विक्रम्य चारं चरत्युपगतोऽप्यपरः सूर्योऽपीत्येवंकथेण निष्कामन्ती पत्नी जम्बूदी-

पगती द्वौ सूर्यौ पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्तदन्तरान्यपरमद्वैतान्तर-
मएकलं संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मएकले पूर्वपूर्वमएकलगतान्तर-
परिमाणेषु कृत्वा पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चविंशतः कैकषष्टिनागा-
न् योजनस्य परस्परमनियवर्द्धयतीत्यौ नवयुग्मसंस्कृत्येकैकश्री-
त्यधिकशतमेतद् अहोरात्रे प्रथमपश्चिमास्यवसानभूते सर्व-
बाह्यमएकलमुपसंस्कृत्य चारं चरतः । (ता जया णमित्यादि)
ततो यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यां मएकलमुपसंस्कृत्य चारं
चरतस्तदा तावैकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि षष्ट्यधिकानि (१००६५०) परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । कथमेतदव-
शेषमिति चेत् इत्येत इति प्रति मण्डलं पञ्च योजनानि पञ्चविं-
शकैकषष्टिनागा योजनस्येत्यन्तरपरिमाणचिन्तायामभिवर्द्धमा-
नं प्राप्यते सर्वान्यन्तराच्च मएकलसासर्वबाह्यां मएकलं त्र्यश्री-
त्यधिकशततमं ततः पञ्च योजनानि त्र्यश्रीत्यधिकेन शतेन गु-
पत्यन्ते जातानि नव शतानि पञ्चशश्राणाणि योजनानामेक-
षष्टिनागाश्च पञ्चविंशतसंख्याकयश्रीत्यधिकेन शतेन मएकले
जातानि तेषां चतुःषष्टिशतानि पञ्चोत्तराणि (६४०५) तेषामे-
कषष्ट्या भागो द्वेते लब्धं पञ्चोत्तरं योजनशतम् (१०५)
एतन्माकले योजनराशौ प्रकृत्यन्ते जातानि दश शतानि विश-
त्यधिकानि योजनानि (१०२०) एतस्यचोच्चन्तरमएकलगा-
त्परिमाणे नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि चत्वारिंश-
त्यधिकानि (६६६४०) इत्येवंप्रै प्रकृत्यन्ते ततो यथोक्तं सर्व-
बाह्ये मएकले अन्तरपरिमाणं भवति (तथा णमित्यादि) तदा
सर्वबाह्यमएकलचारवर्षणकाले उच्यतेकाष्ठां प्राप्ता परमप्रकर्षप्रा-
ता उत्कृष्टा अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिभवेति जघन्यश्च द्वादशमुहूर्त्तो
दिवसः "पस्यणं पदमे उन्मासे" इत्यादि प्राबल्यं (ते पविस्समाणा
इत्यादि) तौ ततः सर्वबाह्यान्मएकलादच्यन्तरं प्रविशन्ता हा
सूर्यौ द्वितीयपश्चिमासमाद्वातौ द्वितीयस्य पश्चिमासस्य प्रथमं
अहोरात्रे बाह्यान्तरं सर्वबाह्यान्मएकलादच्योमानन्तरं द्वितीयं
मएकलमुपसंस्कृत्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा
एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यान्तरमवोकनं द्वितीयं मएकलमुपसं-
स्कृत्य चारं चरतस्तदा एकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि चतुः-
षष्ट्यादशत्यधिकानि षट्विंशति कैकषष्टिनागान् योजनस्य परस्पर-
मन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरतावाक्याताविति वदेत् कथमंता-
वर्तस्मिन्सर्वबाह्यान्मएकलादच्योमानं द्वितीयं मएकले परस्परमन्-
तरकरणमिति चेत् उच्यते इदंकोऽपि सूर्यः सर्वबाह्यान्मएकलगताना-
ष्टावर्षणशुद्धिकषष्टिनागाद् योजनस्यपरं च ये योजने
अप्यन्तरं प्रविशामसर्वबाह्यान्मएकलादच्योमानं द्वितीयं मएकले
चारं चरति अपरतोऽपि ततः सर्वबाह्यान्तादन्तरपरिमाणाद्वा-
न्तान्तरपरिमाणं पञ्चविंशतैः पञ्चविंशतः कैकषष्टिनागीयोजन-
स्योनं प्राप्यते इति प्रवृत्ति यथोक्तमन्तरपरिमाणम् [तथा ण-
मित्यादि] तदा सर्वबाह्यान्तरादच्योमानं द्वितीयमएकलचारवर्षण-
काले अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिभवेति श्राभ्यां तु मुहूर्त्तकषष्टिनागा-
न्यासना, द्वादशमुहूर्त्तो दिवसो चाभ्यां मुहूर्त्तकषष्टिनागान्याम-
धिकः [तेषां पविस्समाणा इत्यादि] ततस्त्वस्मादि वि सर्वबाह्यान्मएक-
लादच्योमानं द्वितीयमएकलादच्यन्तरं प्रविशन्तौ तौ द्वौ सूर्यौ द्वितीय-
स्य पश्चिमासस्य द्वितीये अहोरात्रे (बाहिरतश्चति) सर्वबाह्यान्म-
एकलादच्योक्तं नृतीयं मएकलमुपसंस्कृत्य चारं चरतः (ता ज-
या णमित्यादि) तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यान्मएकलादच्यो-
क्तं नृतीयं मएकलमुपसंस्कृत्य चारं चरतः तदा एकं योजनश-
तसहस्रं षट् च योजनशतानि अष्टावर्षणशुद्धिकषष्टिनागानि द्विपञ्चा-

शतं कैकषष्टिनागाद् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः
प्रागुक्तमुक्त्या पूर्वमएकलगतान्तरपरिमाणाद्वान्तरपरिमाण-
स्य पञ्चविंशतैः पञ्चविंशतः कैकषष्टिनागीयोजनस्य हीन-
त्वात् [तथा णमित्यादि] तदा सर्वबाह्यान्मएकलादच्योक्तं नृती-
यमएकलचारवर्षणकाले अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिभवेति चतुर्दशमु-
हूर्त्तकषष्टिनागीकाले । द्वादशमुहूर्त्तं दिवसश्चाष्टमिकषष्टिनागी-
मुहूर्त्तैरधिकः [एवं बहु इत्यादि] एवमुक्तप्रकारेण बहु नि-
श्चितमेतेनोपायेन एकतोऽप्येकः सूर्याऽप्यन्तरं प्रविशत् पूर्वपूर्व-
मएकलगतान्तरपरिमाणादन्तरं विचक्षिते मएकले अन्तरपरि-
माणस्याष्टावर्षणशतमेकषष्टिनागाद् ये च योजने हापय-
त्यपरतोऽप्यपरः सूर्य इत्येवंप्रै पतौ जम्बूद्वीपगतौ सूर्यौ तत्र-
न्तरान्यपरमएकलगतान्तरमएकलं संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मएकले
पूर्वपूर्वमएकलगतान्तरपरिमाणाद्वान्तरं अन्तरं अन्तरं विच-
क्षिते मएकले पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चविंशतः कैकषष्टिनागा-
न् योजनस्य परस्परमन्तरपरिमाणं निर्वह्यतीत्यौ हापयतावित्य-
र्थः । द्वितीयस्य पश्चिमासस्य त्र्यश्रीत्यधिकशततमे अहोरात्रे सूर्य-
संस्कृत्यपर्यवसानतने सर्वोच्चन्तरं मएकलमुपसंस्कृत्य चारं
चरतः [ता जया णमित्यादि] तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वान्य-
न्तरं मएकलमुपसंस्कृत्य चारं चरतः तदा नवनवतियोजनस-
हस्राणि षट् योजनशतानि चत्वारिंशति चत्वारिंशत्यधिकानि
परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । अत्र चैक्यगान्तरपरिमाणं
भावना प्रागेव कृता शेषं सुगमम् । सू० प्र० १ पाठु० । च० प्र० ।
ज्यो० । मं० । जं० । [मन्द्राद् कियत्वाऽवाधया ज्योति-
ष्का इत्यादि अवाद्वा शब्दे]

(१४) धातकील्लएकस्य चारानामन्तरं यथा ।

धायसंस्कृत्य णं जंते ! दीवस्म दारस्म य दारस्म य एम
णं केवतिय अवाद्दए अंतरं पषुते । गोयमा । द्म जोषण-
सतसहस्ताई सचावीमं च जोयणसहस्ताई सच य पण-
तसै जोयणसते तिषु य कोसे दारस्म य दारस्म य आ-
वाद्दए अंतरं पषुते ।

धातकील्लएकस्य भदन्त ! द्वीपस्य द्वारस्य च द्वारस्य च परस्पर-
मेतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमभाधया अन्तरितत्वाद् (व्या-
घातेन) व्यवधानेन प्रकृतं भगवानाह गौतम ! दश योजनशतस-
हस्राणि सप्तविंशतिसहस्राणि सप्तशतानि पञ्चविंशतिसहस्रा-
स्य परस्परमन्तरमभाधया प्रकृतम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य
द्वारशास्त्राकस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव पृथुत्वं सादृशानं चत्वारि
योजनानि । ततश्चतुर्विंशतौ द्वारशास्त्रेक पृथुत्वपरिमाणमीलने
जातान्यष्टादश योजनानि तान्यन्तरात्परिमाणपरिमाणात्
(४११०६६) शोच्यन्ते शोधितेषु च तेषु जातं शेषमिदमेक-
चत्वारिंशत्सहस्रां दश सहस्राणिस न शतानि हित्वात्वारिंशत्यधि-
कानि (४११०६४३) एतेषां चतुर्विंशतौ द्वे लब्धं यथोक्तं
द्वाराणां परस्परमन्तरम् । उक्तञ्च "पणनीसा सच सया, स-
पावीसा सहस्र दस लक्ष्वा । धायदसैः दारं-तरं तु अचरं
च कोसतियं" जी ३ प्रथि० ।

(१५) नन्दनवस्याघरुनाचरमान्तासौगन्धिकस्य कार-
व्यापस्नचरमान्तस्यान्तरम् ।

नंदावषणसस णं हेद्विद्वाओ चरंमताओ सोमंघियसस क-
रुसस हेद्विद्वां चरिंमेते एस शां पंचासं । द्वौ जोयणसयाई अ-
वाद्दए अंतरं पषुते ॥

मन्दनवनस्य मेतौः पञ्चयोजनशतोल्लङ्घितायां प्रथममेकलायां
व्यवहितस्याधस्तात्स्वर्गमान्तात् सौगन्धिककाण्डस्य रत्न-
प्रमाणपुष्ट्याः अरकाण्डाभिधानाद्यमकारणस्यावान्तरका-
ण्डभूतस्याष्टमस्य सौगन्धिकामिधानरत्नप्रमस्य सौग-
न्धिककाण्डस्याधस्त्यधरमान्तः पञ्चाशीतियोजनशतान्य-
न्तर्गताभित्य भवति । कथं पञ्च शतानि मेतौः सम्बन्धीनि
प्रत्येकं सहस्रप्रमाणत्वाद्यावान्तरकाण्डानामष्टमकारणमशीति-
शतानीति । स० ।

(१६) नरकपृष्ठीनां रत्नप्रमाणाण्डानामन्तरम् ।

इमी से एवं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए उवरिद्धातो च-
रिमंताओ हेड्डिसे चरिमंते एस एवं केवतियं अवाधाए अंतरे
पण्णे ? गोयमा ! असी उत्तरं जोयणसतसहस्रं अवा-
धाए अंतरे पण्णे । इमी से एवं भंते ! रयणपञ्चाए पुद-
वीए उवरिद्धातो चरिमंताओ खरकंसस हेड्डिसे चरिमंते
एस एवं केवतियं अवाधाए अंतरे पण्णे ? गोयमा ! सो-
लस जोयणसहस्राई अवाधाए अंतरे पण्णे । इमी-
से एवं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए उवरिद्धातो चरिमंताओ
रयणस कंसस हेड्डिसे चरिमंते एस एवं केवतियं अवा-
धाए अंतरे पण्णे ? गोयमा ! एकं जोयणसहस्रं अवाधाए
अंतरे पण्णे ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्य प्रथ-
मस्य अरकाण्डविभागस्य (उवरिद्धाओ इति) उपरितना-
च्चरमान्तात् परतो योऽधस्तनअरमान्तअरमपर्यन्तः (एस
गमित्यादि) एतन्मूने पुंस्यनिर्देशः प्राकृतत्वात् अन्तरं किय-
धोजनप्रमाणम् अवाधाए अन्तर्गतावातकथाए प्रकृतं भग-
वानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमेकयोजनसहस्रप्रमाणा-
मन्तरं प्रकृतम् ।

इमी से एवं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए रयणकंसस
उवरिद्धातो चरिमंताओ वडरसस कंसस उवरिद्धो चरिमंते
एस एवं भंते ! केवतियं अवाधाए अंतरे पण्णे ? गोयमा !
एकं जोयणसहस्रं अवाधाए अंतरे पण्णे ।

(इमी से गमित्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्याः
रत्नकाण्डस्य उपरितनाच्चरमान्तात्परतो यो अरकाण्डस्योप-
रितनअरमान्त एतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमवाधाए प्रकृतं
प्रगवानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमवाधाया अन्तरं प्रकृतं रत्न-
काण्डाधस्तनअरमान्तस्य अरकाण्डोपरितनअरमान्तस्य च
परस्परसंबन्धतया अजयथापि तुल्यप्रमाणजावात् ।

इमी से एवं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए उवरिद्धातो च-
रिमंताओ वडरसस कंसस हेड्डिसे चरिमंते एस एवं भंते !
केवतियं अवाधाए अंतरे पण्णे गोयमा ! दो जोयणसह-
स्राई अवाधाए अंतरे पण्णे एवं जाव रिहसस उवरिद्धो
पअरस जोयणसहस्राई हेड्डिसे चरिमंते सोलस जोयणस-
हस्राई ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितना-
च्चरमान्तात् अरकाण्डस्य योऽधस्तनअरमान्त एतत् अन्तरं

कियत् अवाधाया प्रकृतं प्रगवानाह गौतम ! द्वे योजनसहस्रे
अवाधाया अन्तरं प्रकृतम् । एवं काएने काएने डी डी खासाप-
को वकस्यी काएकस्य वाधनस्तने अरमान्ते चिन्त्यमाने योज-
नसहस्रपरिवृत्तिः कर्त्तव्या यावत् रिहस्य काण्डस्याधस्तने
अरमान्ते चिन्त्यमाने वोडश योजनसहस्राणि अवाधाया प्रकृत-
मिति वकस्यम् जी० ३ मिति ।

इमी से एवं रयणपञ्जाए पुदवीए वडरकंसस उवरि-
द्धाओ चरिमंताओ दोडियकवलकंसस हेड्डिसे चरिमंते एस
एवं तिन्नि जोयणसहस्राई अवाधाए अंतरे पण्णे ।

(इमी से गमित्यादि) अयमिह जाधार्थः रत्नप्रमाणपुष्ट्याः
प्रथमस्य योडशाविभागस्य अरकाण्डाभिधानकाण्डस्य अरका-
ण्डं नाम रत्नकाण्डं द्वितीयं वैश्वर्यकाण्डं मृतीयं बोदिहाकका-
ण्डं ततुर्थं तानि च प्रत्येकं साहस्रिकाणीति धयाणं यथाकमन्तरं
प्रवतीति स० ।

इमी से एवं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए उवरिद्धाओ च-
रिमंताओ पंकवहुलसस कंसस उवरिद्धो चरिमंते एस एवं
अवाधाए केवतियं अंतरे पण्णे ? गोयमा ! सोलस जो-
यणसहस्राई अवाधाए अंतरे पाएणणे हेड्डिसे चरिमंते एकं
जोयणसयसहस्रं ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्याः रत्नकाण्डस्योपरितना-
च्चरमान्तात् परतो यः पङ्कवहुलसस्य काण्डस्योपरितनअरमान्तस्य
कियत् किंप्रमाणमवाधाया अन्तरं प्रकृतं भगवानाह गौतम ! योडश
योजनसहस्राणि अवाधाया अन्तरं प्रकृतम् । [इमी से
गमित्यादि] अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्ड-
स्योपरितनात् अरमान्तात् परतो यः पङ्कवहुलस्योपरितनअ-
रमान्त एतदन्तरं कियत् अवाधाया प्रकृतं प्रगवानाह गौतम !
एकं योजनशतसहस्रमवाधाया अन्तरं प्रकृतम् ।

पंकवहुलसस णं कंसस उवरिद्धाओ चरमंताओ हेड्डिसे
चरमंते एस एवं चोरासीडजोयणसयसहस्राई अवाधाए
अंतरे पण्णे ॥

अेषांसजिनं पङ्कवहुलं कण्ठं द्वितीयं तस्य च बाहस्यं अतुरयी-
तिः सदस्त्राणीति यथाकस्यार्थ इति स० ।

आयबहुलसस उवरि एकं जोयणसयसहस्रं हेड्डिसे चरि-
मंते असीउत्तरं जोयणसयसहस्रं । पाणोदपिसस उवरिद्धो
असी उत्तरं जोयणसयसहस्रं हेड्डिसे चरिमंते दो जोय-
णसयसहस्राई ।

अस्या भदन्त ! रत्नप्रमायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितना-
च्चरमान्तात् परतोऽयबहुलसस योऽधस्तनअरमान्त एतदन्त-
रं कियत् अवाधाया प्रकृतं प्रगवानाह गौतम ! अशीत्युत्तरं यो-
जनशतसहस्रं अतोदधेरपरितने अरमान्ते पृष्ठे एतदधे निर्वच-
नमशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रम् । अधस्तने पृष्ठे इदं निर्वचनं द्वे
योजनशतसहस्रे अवाधाया अन्तरं प्रकृतम् ।

(१७) रत्नप्रमादिव्योः धनवातातेः ॥

इमी से एवं भंते ! रयणपञ्जाए पुदवीए घणवातसस उव-
रिद्धो चरिमंते दो जोयणसयसहस्राई हेड्डिसे चरिमंते अरस-
सेजाई जोयणसयसहस्राई इमी से एवं भंते ! रयणपञ्जाए

अंतर

पुढवीए तणुवातसस उवरिद्धे चरिमेंते असंखेज्जाइं जायण-
सतसहस्साइं अवाधाए अंतरं हेडिद्धे वि संखेज्जाइं जायण-
सतसहस्साइं एवं उवासंतरे वि ।

घनवातस्थोपरितने चरमाने पुष्टे इदमेव निर्वचनं घनोद्ध्य-
धस्तनचरमान्तस्य घनवातोपरितनचरमान्तस्य च परस्परं सं-
लग्नत्वात् घनवातस्याधस्तने चरमाने पतत्रिवचनम् । असं-
ख्येयानि योजनशतसहस्राएयथाधया अन्तरं प्रकृतम् । एवं
तनुवातस्थोपरितने चरमान्ते अवकाशाभ्यन्तरस्यापुपरितने चरमा-
न्ते इत्यस्य निर्वचनं वक्तव्यम् । असंख्येयानि योजनशतसह-
स्राएयथाधया अन्तरं प्रकृतमिति । सुत्रपाठस्तु प्रत्येकं सर्वत्रा-
पि पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं परिज्ञावर्धयः सुगमत्वात् ।

सकरपप्पाए णं भंते । पुढवीए उवरिद्धातो चरिमेंतातो हेडिद्धे
चरिमेंते एस णं केवतियं अवाधाए अंतरं पप्पते गोयया ।

बर्वासुत्तरं जायणसतसहस्रं अवाधाए अन्तरे पप्पते । सकर-
पप्पाए णं भंते । पुढवीए उवरि घणोदधिस्स हेडिद्धे चरिमेंते
केवतियं अवाहाए अन्तरे पप्पते गोयया । शत्रुणुत्तरं जायणस-
तसहस्रं अवाधाए पणवानसस अमंखेज्जाइं जायणसहस्साइं प-

प्पाए एवं जाव उवासंतरेसस वि जाव अहेमत्तमाए । एवरं
जंमिं ने बाहृद्धं तेष घणोददीं संवंधेयो । बुच्छीए सकरप-

प्पाए अणुसारेण घणोदधिमहिताणं इमं पमाणं । वासुयप-
प्पाए अद्यत्वात्सुत्तरं जायणमतनहस्रं पंकपप्पाए पुढवीए
चत्तलीसुत्तरं जायणसतसहस्रं धूमपप्पाए पुढवीए अह-

तीसुत्तरं जायणसतसहस्रं तमाए पुढवए छत्तीसुत्तरं
जायणसतसहस्रं अत्रपसत्तमाए पुढवीए अद्राव्वांसुत्तरं जाय-

णमतसहस्रं जाव अहसत्तमाए । एस णं भंते । पुढवीए
उवारिद्धातो चरिमेंतातो उवासंतरेसस हेडिद्धे चरिमेंते कव-

नित्यं अवाधाए अंतरं पणुत्ते गोयया । असंखेज्जाइं जाय-
णनयसहस्साइं अवाधाए अंते पणुत्ते ॥

द्वितीयस्या जदन्त । अस्याः पृथिव्या उपरितनाचरमान्तात्
परतो योऽप्यस्तनचरमान्त पतत् किंप्रमाणमवाधया अन्तरं
प्रकृतं भगवानाह गौतम । द्वाविंशत्तुत्तरं द्वाविंशत्सहस्राधिकं
योजनशतसहस्रम् अवाधया अन्तरं प्रकृतं घनोदधेपरितने
चरमाने पुष्टे पतद्वेव निर्वचनं द्वाविंशत्तुत्तरं योजनशतसहस्रम्
अधस्तने चरमान्ते पुष्टे इदं निर्वचनं द्विपञ्चाशत्तुत्तरं योजन-
शतसहस्रम् । पतद्वेव घनवातस्थोपरितनचरमान्तपृच्छायामपि
घनवातस्थाधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवातावकाशाभ्यन्तरयोः
परितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा शम्भुप्रार्थयां तथा वक्त-
व्यमसंख्येयानि योजनशतसहस्राएयथाधया अन्तरं प्रकृतमिति
वक्तव्यमिति जावः । (तच्चाएणं जंम इत्यादि) लुनीयस्या जदन्त ।
पृथिव्या उपरितनाचरमान्तात् अधस्तनचरमान्त पतदन्तरे
कियत् अवाधया प्रकृतं त्रयवानाह । अष्टाविंशत्तुत्तरं अष्टा-
विंशत्सहस्राधिकं योजनशतसहस्रमवाधया अन्तरं प्रकृतम् ।
एतदेव घनोदधेपरितनचरमान्तपृच्छायामपि निर्वचनम् अष्टा-
स्तनचरमान्तपृच्छायामष्टावर्वादिशुत्तरं योजनशतसहस्रम्-
अवाधया अन्तरं प्रकृतमिति वक्तव्यम् । एतदेव घनवातस्थोपरित-

ने चरमान्तपृच्छायामपि अधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवाताव-
काशाभ्यन्तरयोपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्र-
ज्ञायां तथा वक्तव्यम् । एवं पुष्टपञ्चमपृच्छामपुष्टिर्वाविष-
यस्युष्णपि आयनीयानि जी० ३ प्रति०

छुड ए पुडव ए बहुम .जेदेसभायाओ छुडइस्स पणोदधि-
स्स हेडिद्धे चरयं . एस णं एणयासि ॥ततोयणसहस्साइं
अवाहाए अंतरं पणुत्ते ॥

अथ प्रावाधः षट्पृथिवी हि बाह्व्यतो योजनानां षड् षो-
ढा सहस्राण भवति । घनोद्ध्यस्तु षट्पि सप्तपि प्रत्येकं
विशतिसहस्राणि घनोद्ध्यस्तस्य प्रत्यस्य मतेन षट्प्राथमसावे-
कविंशतिः संभाव्यते तदेवं षट्पृथिवीबाह्व्यतोऽस्य षट्प्राथम
घनोद्ध्यप्रमाणं कैकविंशतिरित्येवमकोनाकीतिर्नैवति । प्रथा-
न्तमतेन तु सर्वघनोदधीनां विशतिसहस्राण्यथाह्यत्वा-
त्पञ्चमीमाश्रित्येदं सूत्रमचल्येवं यतस्तद्बाह्व्यमष्टादशोरत्न षड्-
मुक्तयत आह । "पदमा स्तीदसहस्सा, १ वर्वासा २ अर्वासा
३ तीसा य ४ । अहार ५ सोत्र ६ अहु य, ७ सहस्सहस्रकोवि-
कुजति" ॥ १ ॥ अथवा षट्प्राथः सहस्राधिकोऽपि मच्चभागो
विवर्कित एवमधुस्रकत्वाद्दुद्गुणव्यस्यति ॥ १० ॥

[१८] रत्नप्रमादीनां परस्परमन्तरम् ।

इमी मे णं जंते । रयणपप्पाए पुढवीए सकरपप्पाए य
पुढवीए केवइयं अवाहाए अंतरं पप्पते । गोयया । असंखे-

ज्जाइं जाअणसहस्साइं अवाहाए अन्तरे पप्पते । सकर-
पप्पाए णं भंते । पुढवीए बाअपपप्पाए य पुढवीए केव-

इय एवं चव एवं जाव तमाए अहेसत्तमाए य । अहेसत्त-
माए णं भंते । पुढवीए अलोगसस य केवइयं अवाहाए

अन्तरे पप्पते । गोयया । असंखेज्जाइं जाअणसहस्साइं
अवाहाः । अंतरं पप्पते । इमी मे णं जंते । रयणपप्पाए

पुढवीए जाइंनियसस केवइयं पुच्छा, गोयया । सत्तणउजो-
अणसए अवाहाए अन्तरे पप्पते ॥

" इमी से णमित्यादि " (अवाहे अन्तरेपि) बाधा परस्परं
संक्षेपनः पीडनं न बाधा अवाधा तथा अवाधया, अवाधया

यदन्तरे व्ययधानमित्यर्थः । इहान्तरशब्दो मध्यविंशतिबाधिव्-
धेयु वचमानो हस्तनसहस्रव्ययच्छेदेन व्ययधानार्थपरिग्रहार्थ-
मवाधाप्रहणम् । (असंखेज्जाइं जायणसहस्साइं ति) इह योजनं
प्रायः प्रमाणानुलनित्यर्थं प्राहं ॥ नगपुढवीयमाणां मियासु-
यमाणुश्लेणं तु ॥ इत्यत्र नगादिप्रहस्योपलक्षणत्वाद्-
न्यथा आदित्यप्रकाशादेरपि प्रमाणयोजनाप्रमेयता स्यात्तथा
बाधा लोकप्रामिषु तत्रकाशाप्रतिः प्रामोत्यामानुलनित्यादि-
तत्त्वेनाप्येवहारोक्तया रविप्रकाशाद्योऽप्युद्युतजनप्रमेयत्वा-
त्तस्य चातिलगुत्वेन प्रमाणयोजनाप्रमितलेखाणामप्राप्तिरिति ।
यच्चेपत्याम्भारायाः पुष्टिव्या लोकात्तस्य चान्तरं तदुच्छ्रया-
दुलनित्यप्यत्रयोजनाप्रमेयमित्यनुमीयते यतस्तस्य योजनस्थोप-
रितनकोशस्य चत्वारं सिद्धावाहना ननुत्किमागुक्तमथयत्कि-
शदधिकचतुःसप्तत्रयमानाऽभिहिता भायोच्छ्रययोजनाअथयत्
त एवं युज्यत इति उक्तं च " इतिपप्पामाराए, उवारं अलु जो-
अणस्स जोकोसो । कोससस य द्वुभाए, सिद्धायोनाहाया
अभियंस्स " म० १४ श० ७ उ० ।

[१६] निषचक्रुदस्य उपरितलापिच्छुबरतलास्वम-
चरस्थितस्यस्वात्परम् ।

निसदकूदस्य णं उवरीद्धाओ सिहरतलाओ णिसदसस
वासहरपव्ययसस समभरणिगसस एस णं नवजोयणसयाई
अबाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं नीलवंतकूदसस वि ॥

(निसदकूदसस क्षमित्यादि) इहायमभावः निषचक्रुदं पञ्च-
शतं पिच्छुत्तं निषचक्रुदं चतुःशतं पिच्छुत्तं इति यथोक्तमन्तरम्भव-
तीति । स० ।

निषचपर्वतस्य रत्नमभाया बहुमप्यदेशभागो यथा ।

निमदस्य णं वासहरपव्ययसस उवरीद्धाओ सिहरतलाओ
इमी से णं रषणप्यजाए पुहवीए पदमसस कंदसस बहुम-
जदसभाए एस णं नवजोयणसयाई अबाहाए अंतरे प-
ष्ठाचे एवं नीलवंतसस वि ।

(टीका नास्तीति न गृहीता) स० १६२ पत्र.

[२०] पुष्करचरद्वाराणामन्तरम् ।

पुष्करचरस्य णं जंतैः दीवस्य दारस्य य दारस्य य एस
ए णं केजतिथं अबाहाए अंतरे पष्ठाचे ? गोयमा । “अमया-
लसयसदससा, दार्वीसं सखु अवे सदससाई । अगुणुचाराई
चउरा, दारतरं पुष्करचरसस ” ॥

प्रश्नश्च सुगमं भगवानाह गौतम । अष्टव्यारिंशत् योजन-
शतसहस्राणि द्वाविंशतिसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि
एकोनसमतिद्वारस्य च परस्परमबाधयाऽन्तरपरिमाणम् ।
तथाहि चतुर्कोमपि द्वागणामेकत्र पुष्पवमीलने अष्टादश यो-
जनानि तानि पुष्करवग्नीपरीरयपरिमाणान्त् (१६२६६६६४)
इत्येवंप्रमाणं शोष्यन्ते शोषितेषु च तेषु जातमिवमेका योजन-
कोटी द्विनवतिशतसहस्राणि एकोनवतिसहस्राणि अष्टौ
शतानि पदसमयधिकानि (१६२६६६७६) तेषां चतुर्मिमांशे
हृते लघुं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणं (४८२२४६६)
मिति जौ० ३ प्रति ।

[२१] मन्दरराट् गोस्तुमावीनामन्तरम् ।

मंदरस्य णं पव्ययसस पुरत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-
पृजसस आवासपव्ययसस पुरत्थिमिद्धे चरमंते एस णं
अट्टासाई जोयणसदससाई अबाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं
चउमु वि दिसामु नेयव्वं स० १४६ पत्र ।

मेरोः पूर्वात्तात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चव्यारिंशद्योजनसहस्रमा-
नन्वात् जम्बूद्वीपान्ताच्च द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रेषु गोस्तु-
मस्य व्यवस्थितत्वात्तस्य च सहस्रविष्कम्भत्वाद्यथोक्तः सूत्रा-
र्थो भवतीति । अनेनैव क्रमेण दक्षिणादिदिव्यवर्षितान् दक्षा-
वभासशब्दकसीमाख्यात् बेक्ष्मन्धरनागराजनिवासपर्वताना-
चित्य भाव्यतत एवाह ‘पर्वं चउमु षि दिसामु नेयव्वमिति’ स० ।
जंबूद्वीपस्य णं दीवस्य पुरत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-
पृजसस णं आवासपव्ययसस पश्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं
बायालीसं जोयणसदससाई अबाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं
चउदिसि पि दग्भाते संखोदयसीमे य ।

(पुरत्थिमिद्धाओत्ति) जगतीबाह्यपरिधेरपश्चत्थ गोस्तुम-
स्यावासपर्वतस्य बेक्ष्मन्धरनागराजसंस्थितिः पश्चत्थसीमा-

स्तम्भरमधिभागो वा यावताऽन्तरेण भवति (एस्येति) एत-
दन्तरं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि मेक्षममन्तरपश्चत्थे विशे-
षोऽप्यभिधीयते इत्यत आह (अबाहाएत्ति) व्ययधामाणेष्या
यदन्तरं तदित्यर्थः स० १०६ पत्र. ।

मंदरस्य णं पव्ययसस पश्चत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-
पृजसस णं आवासपव्ययसस पश्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं
सचाणउई जोयणसदससाई अबाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं
चउदिसि पि ।

भावाथोऽयं मेरोः पश्चिमान्तात् जम्बूद्वीपस्यान्तः पञ्चपञ्चा-
शत् सहस्राणि ततो द्विचत्वारिंशतो गोस्तुम इति यथोक्तम-
वान्तरमिति स० १५२ पत्र. ।

मंदरस्य णं पव्ययसस बहुमप्यदेशभागो गोपृजसस
आवासपव्ययसस पश्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं बाह्यउई जो-
यणसदससाई अबाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं चउगह वि आ-
वासपव्ययणं ॥

भावाथो मेक्षमप्यभागान् जम्बूद्वीपस्य पञ्चारात् सहस्राणि
ततो द्विचत्वारिंशत् सहस्राण्यनिकन्य गोस्तुमपर्वत इति
सूचोक्तमन्तरम्भवतीति । एवं शेषाणामपि स० १४५ पत्र. ।

[२२] मन्दराज्ञैतमस्यान्तरं यथा ।

मंदरस्य णं पव्ययसस पुरत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गो-
यमद्वीवसस पुरत्थिमिद्धे चरमंते एस णं सचससिद्धिं जोयणस-
दससाई अबाहाए अंतरे पष्ठाचे ।

मेरोः पूर्वात्ताज्जम्बूद्वीपोऽपरस्यां दिशि जगतीबाह्यान्तपर्व-
तानः पञ्चपञ्चाशद्योजनसहस्राणि तावद्वत्ति सतः परं चादश-
योजनसहस्राण्यतिक्रम्य लवणसमूहमध्ये गौतमद्वीपानिधा-
नो दीपोऽस्ति तमपिच्छस्य सूत्रार्थः सत्यवति । पञ्चपञ्चाशतां
द्वादशानां च सप्तपष्टिसमावात् । यद्यपि सूत्रमुत्तकेषु गौतम-
शब्दो न दृश्यते तथाप्यसौ दृश्यः जीविनिगमादिषु लघुणस-
मुक्ते गौतमचन्द्ररिद्वीपान् विना द्विपान्तरस्यास्यमाणत्वादि-
ति । स० १२४ पत्र. ।

मंदरस्य पव्ययसस पश्चत्थिमिद्धाओ चरमंताओ गोयमदी-
वसस पश्चत्थिमिद्धे चरमंते एस णं एगुणसचरिं जोय-
णसदससाई अबाहाए अंतरे पष्ठाचे ॥

लवणसमुद्रपश्चिमार्थं दिशि द्वान्दशयोजनसहस्राण्यथगण्य
द्वादशसहस्रमानः सुस्थिताभियानस्य लवणसमुद्राधिपतेर्भवने-
नालंकृतो गौतमद्वीपः नाम द्वीपोऽस्ति तस्य च पश्चिमान्तो मेरोः
पश्चिमान्तादेकोनसप्ततिसहस्राणि भवन्ति पञ्चव्यारिंशतो
जम्बूद्वीपसम्बन्धिनां द्वान्दशानामन्तरसम्बन्धिनां द्वान्दशानामेवं
द्वीपविक्रान्तसम्बन्धिनां च मीलनादिति ।

(३३) मन्दरस्य दक्षिणस्यस्यान्तरम् ।

मंदरस्य णं पव्ययसस दक्षिणदिग्दिग्भाओ चरमंताओ दग्भा-
ससस आवासपव्ययसस उचरिद्धे चरमंते एस णं सत्तासाई
जोयणसदससाई अबाहाए अंतरे पष्ठाचे एवं मंदरस्य पश्च-
त्थिमिद्धाओ चरमंताओ संखसस वा पुरत्थिमिद्धे चरमंते एवं
चेव मंदरस्य उचरिद्धाओ चरमंताओ दग्भाससस आवा-

सपन्वयस्स दाहिण्णि चरमेते एस णं सत्तासाईं जोयण-
सट्टसाईं अवाहाए अंतरे पणत्ते म० १६० पत्र. ।

महाहिमवतोऽन्तरं यथा ॥

महाहिमवतस्स वासहरपन्वयस्स समपरणित्तो एस णं
सचजोयणसयाईं अवाहाए अंतरे पाणत्ते एवं रूपि-
कुरुस्स वि ॥

प्राचायोऽयं हिमवान् योजनशतद्वयोच्चित्रस्तकत्वं च पन्व-
वानोच्चित्रमिति सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति स० १५४ पत्र. ।

महाहिमवतकदस्स णं उवरिमेताओ सोमोपियस्स केर-
स्स हेडिड्ढे चरमेते एस णं सत्तासीइजोयणसयाईं अवा-
हाए अंतरे पणत्ते एवं रूपिकुरुस्स वि ।

महाहिमवति द्वितीयवधेरपवतस्य अष्टौ सिक्वायतनकट्टमहा-
हिमवत्कटादीनि कृतानि अर्थात् तानि पञ्चशततोच्चित्तानि तत्र
महाहिमवत्कट्टस्य पञ्च शतानि षे शते महाहिमवत्कट्टधरोच्चि-
रस्य ब्रह्मशित्तिस्य शतानि प्रत्येकं सदभ्रमानानामष्टानां सौगन्धि-
ककारणवासानानां रत्नप्रभाकरकारणवासान्तरकारणानामित्येवं
श्रुतिरेतस्य शोतिसरन्ध्रजन्मतीति । (एवं रूपिकुरुस्सवित्ति)
रुक्मिणि पञ्चमवधेरं यद् द्वितीयं रुक्मिकटाभिधानं कृतं तस्या-
प्यन्तरं महाहिमवत्कट्टस्यैव वाच्यं समानप्रमाणत्वाद् अयो-
रपीति स० १३७ पत्र. ।

महाहिमवतो वर्षधरपवतस्यान्तरं यथा ।

महाहिमवतस्स णं वाहरमपन्वयस्स ठवरिद्धाओ चरमेताओ
सोमोपियस्स केरस्स हेडिड्ढे चरमेते एस णं वासीईं
जोयणसयाईं अवाहाए अंतरे पाणत्ते ।

महाहिमवतो द्वितीयवधेरपवतस्य योजनशतद्वयोच्चित्रस्य
(वचरिद्धाओत्ति) उपरितनाम्बरमानात् सौगन्धिककारणस्या-
न्तरम्ब्रह्मशित्तिस्य अर्थात् योजनशतानि कथं रत्नप्रज्ञापुष्टिव्यां
हि त्रीणि कारणानि स्वरकारणपङ्ककारणान्महद्वलकारणानि स्वर-
कारणं पङ्ककारणमहद्वलकारणं चेति । तत्र प्रथमं कारणं
पद्मशशिषं तद्यथा रत्नकारणं १ शङ्काकारणम् २ एवं वदयं ३
सोहिताक ४ मसारगल्ल ५ हुंसगनं ६ पुसक ७ सौगन्धिक ८
ज्योतीरत्ता ए च्छना १० उज्जनपुसक ११ रजत १२ जातरूप १३
पङ्क १४ रुक्मिणी १५ रिच्छकाएडं चेति १६ एतानि च प्रत्येकं सहस्रं
प्रमाणानि ततश्च सौगन्धिककारणस्यष्टाष्टमवाश्रीतिशतानि द्वे
च शते महाहिमवदुच्यते इत्येवं अशांतिशतानीति एवं रुक्मि-
णोऽपि पञ्चमवधेरस्य वाच्यं महाहिमवत्समानोच्चयत्वा-
त्तस्येति स० १६९ पत्र. ।

(७४) लवणसमुच्चरत्तयोरन्तरं यथा ।

अवणस्स णं समुदस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमेताओ पव-
त्थिमिद्वे चरमेते एष णं पंचजोयणसयसहस्साईं अवा-
हाए अंतरे पणत्ते ॥

तत्र जम्बूद्वीपस्य लङ्कं अत्यारि च लवणस्येति पञ्च । स०
१६४ पत्र. ।

(७५) अणसमुच्चरत्तयोरन्तरं यथा ।

अवणस्स णं समुदस्स दारस्य य दारस्य य केवड्यं अवा-
हाए अंतरे पणत्ते गोयमा ! तिण्णि जोयणसयसहस्साईं

पंचाणउडसहस्साईं दुस्सि य असीए जोयणसए कोत्तं च
दारंतरे अणत्ते जाव अवाहाए अंतरे पणत्ते ॥

अवणस्य भद्रत्वं समुद्रस्य द्वारस्य द्वारस्य [एसणमिति] एत-
त् अन्तरं कियस्या अवाधया अन्तरासत्त्वाद् व्याघातरूपया प्रकृतं
प्रजावाहाह गौतम ! आणि योजनशतसहस्राणि पञ्चमवधि-
सहस्राणि अशीतो द्वे योजनशते कोशाश्वेको द्वारस्य द्वारस्यावा-
धया अन्तरं प्रकृतम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य पृथुत्वं अवा-
रि योजनानि एकैकस्मिन् द्वारे एकैव द्वारशाखा कोशावाहल्याद्
द्वारे च द्वे द्वे शाखे ततः एकैकस्मिन् द्वारे सामस्येन चिन्त्य-
माने सार्द्धे योजनचतुष्टयप्रमाणं प्राप्यते चतुर्धामपि च द्वारणा-
मेकत्र पृथुत्वमीक्षते जानान्यद्यद्दश योजनानि तानि लवणसमु-
च्चपरिरयपरिमाणत्वं पञ्चदशशतसहस्राणि पक्काशीति-
सहस्राणि एकाचत्वारिंशद्योजनशतमित्येवं परिमाणत्वं पत्नीय
च यच्छेयं तस्य चतुर्भिर्भोगे हते यथागच्छति सत् द्वारणां पर-
स्परमन्तरपरिमाणं तच्च यथोक्तमेव । उक्तं च "अस्यां वाणि-
कसया, पणनउडसहस्सतिणि लक्का य । कांसां य अन्तरं सा-
गरस्स दाराण विषेयं" जी० ३ प्रति ।

[१६] वरुचामुक्कादीनामश्चरन्तनाम्बरमानाद्गुल-
प्रज्ञाया अश्चरन्तनाम्बरमानः ।

वल्यामुदस्स णं पायालस्स हिडिड्ढाओ चरमेताओ
इमीसे रयणपुजाए पुदवीए हेडिड्ढे चरमेते एस णं
प्राणासि जोयणसहस्साईं अवाहाए अंतरे पणत्ते एवं
केउस्स वि ज्यस्स ति ईपरस्स वि ।

तत्र [बलयामुदस्समिति] वरुचामुक्कादिधानस्य पूर्वोद्भवव-
स्थितस्य [पायालस्समिति] महापातालकक्षस्थानश्चरन्तनवरमा-
न्ताद्गुलप्रज्ञापुष्पवृत्तमन्तरं एकांशशुभ्यां सवसेषु जवति । कथं
रत्नप्रज्ञा हि अशीतिसहस्राधिकं योजनानां लङ्कं बादलयते ज-
वति तस्याश्वेकं समुच्चवगाहसहस्रं परिहृत्याधो ब्रह्मप्रमाणा-
वगाहो बलयामुक्कापातालकलशो भवति ततस्तम्बरमानात्
पृथिवीचरमानो यथोक्तात्तरमेव जवति । एवमन्येऽपि ग्रथां
वाच्या इति स० १३६ पत्र. ।

[१७] विमानकट्टपातामन्तरम् ।

जोइमियस्स णं जंते ! सोऽम्पीमाणाणं य कप्पाणं
केवड्यं पुच्छा ! गोयमा ! असंखेज्जाईं जोअणसहस्साईं
जाव अंतरे पाणत्ते मोहम्मानीणाणं भंते ! सणकुमार-
माहिंदाए य केवड्यं एवं चेव सणकुमारमाहिंदाए भंते !
बंधोणस्स कप्पस्स केवड्यं एवं चेव बंधोणस्स णं जंते !
लंतगस्स य कप्पस्स केवड्यं एवं चेव लंतगस्स णं जंते !
महासुकस्स य कप्पस्स केवड्यं एवं चेव महासुकस्स य
कप्पस्स सहस्सारस्स य एवं सहस्मारस्स आणयपाणयक-
प्पाणं एवं आणयपाणयाणं आरएण्चुयाणं कप्पाणं एवं
आरएण्चुयाणं मेविज्जगविमाणाणं य एवं मेविज्जगविमा-
णाणं अणुत्तरविमाणाणं य एवं अणुत्तरविमाणाणं जंते !
ईसिण्णमारए पुदवीए केवड्यं पुच्छा ! गोयमा ! दुवालस
जोयणं अवाहाए अंतरे पणत्ते ज० १४ श० ८ व० ।

[टीका सुगमत्वात् सूदीता]

[विश्ववित्तस्य प्रायपरित्यागे स्तिति पुनस्तत्रायाप्राप्तितिरके ब्राह्मण-पूर्वद्विष्याणामन्तरम् आयुषुषी शब्दे]

[२८] आहारमाभित्य जीवानामन्तरम् ।

इत्तरमत्र आहारगसस एव जैते । केवतियं कालं अंतरं होइ गोयमा । जहएणें एकं समयं उकोसेणं दो समयया । केव-
त्तिआहारगसस णं अंतरं अजहएणमल्लुकांमेणं तिरिणं स-
मया उउमत्यअणाहारगसस अंतरं जहएणें सुहुगभव-
गदृणें दुममजाणें उकोसेणं अमंसेवजं काळं जाव अंगुल-
सन अमंसेवज्जतिभागं । मिच्छकेवलिअणाहारगसस सावि-
यसस अपपजजवतियसस एण्टिय अंतरं सजोगिजवचकेव-
लिअणाहारगसस जहसेणं अंतोमुहुचं उकोसेणं वि अंगो-
मुहुचं अ नोगी जवत्यकेवलिअणाहारगसस नरिय अंतरं ॥
प्रमसुचं सुगमं भगवानाह गौतम । जअभ्येनात्तमुहुचं मुकपेणप्यन्त-
रिच्छिमयोनमुकपंतोऽसंख्येयं कासं यावदङ्गलस्यसंख्येयो भा-
गः यावत्ये हि सुषथस्याहारकस्य कालस्तदेव छग्रस्थाना-
हारकस्यान्तरं छग्रस्थानाहारकस्य च जअन्यतः कालोऽन्तमुहुचं-
मुकपंतोऽसंख्येयाः उसाविषयवससिण्येयाः कालतः केवतमुहुच-
स्यासंख्येयो भागः एतावन्तं कासं सततमविमदेणेणार्यादसंजया-
त् । ततः छग्रस्थानाहारकस्य च जअन्यत उअकवेनभैतावदन्तरं
वेति जी० ३ प्रति० । [अत्रिके सुहुगमभवगदृणशब्दे नवरम्]
संयोगिमवस्थकेवल्यनाहारकस्यान्तरमभित्यसुराह । " स-
जोगिमवस्थकेवलिअणाहारगसस णं जंते " इत्यादि प्रमसुचं सु-
गमं जगवानाह । गौतम । जअभ्येनात्तमुहुचं मुकपेणप्यन्त-
रिच्छिमसुद्धातप्रतिपत्तेरन्तरन्तेमानमुहुचं नै शैलेशः। प्रतिपत्ति-
भावात् नवरं जअन्यपदात्तुक्कपदं विशेषाधिकमवसातन्म्य-
न्यधोयपदोपयासायांवात् अयोगिमवस्थकेवल्यनाहारकस्य
त्रे नास्त्यन्तरमयोग्यवस्थायां सर्वस्याप्यनाहारकत्वात् । एवं
सिच्छकस्यापि साध्यपवसितस्यानाहारकस्यान्तराज्ञायां भाव-
नीयः जी० ३ प्रति० ॥

[२६] इच्छिमयाभित्यान्तरम् ।

एगिदियसस एं भंते । एगिदियसस अंतरं कालतो केव चिरं
होति गोयमा । जहएणें अंतोमुहुचं एकोसेणं दो सागरो-
वमसहसाई संखेज्जावसमभहियाई । वेदियसस एं भंते ।
अंतरं कालतो केव चिरं होइ गोयमा । जहएणें अंतो-
मुहुचं उकोसेणं वणफतिकाळो एवं तंदिदियसस वि चउ-
रिदियसस वि योरइसस वि पंविदियतिरिक्कसजोगियसस
वि मणुसस वि देवसस वि सच्चेसि अंतरं भाणियच्चं ॥

अन्तरचित्तायामेकेन्द्रियस्य जअन्यमन्तमुहुचं मुकपंतोऽसंख्येय-
सागरोवमसहसे संखेयवर्षां ज्यधिके द्वित्रिचतुरिन्द्रियनैरधिकति-
रैकपञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां जअन्यतः प्रत्येकमन्तमुहुचं मुकपंतो
वनस्पतिकालः [सर्वे० जी० ८ प्रति०] " एगिदियसस णं जंते । अंतरं
कालतो केव चिरं होइ " इति प्रमसुचं सुगमं भगवानाह । गौतम ।
जअभ्येनात्तमुहुचं नखेकेन्द्रियात्तुपुस्य द्वीन्द्रियावावन्तमुहुचं
रिच्छिमा यो यकेन्द्रियसंवेगोपमानस्य वेदित्तम्यत् । उक्कपंतो द्वे

सागरोपमसहसे संखेयवर्षाभ्यधिके यावत्ये हि त्रसकायस्य
कायस्थितिकालस्तावदेवैकेन्द्रियस्यान्तरं त्रसकायस्थितिका-
लञ्च यथोक्तप्रमाण एव तथा वदयति । " तसकाय एं भंते ।
तसकायति कालतो केव चिरं होइ गोयमा । जहसेणं अंतोमुहु-
चं उकोसेणं दो सागरोवमसहसाई संखेज्जावसा इण्जदियाई "।
द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियस्येव जअन्यतोऽन्तमुहुचं तच्च पूर्वप्रकारेण
भावनोपयुक्तवतः स्वेप्रकारे वनस्पतिकालः द्वीन्द्रियादिज्यः
उच्छस्य वनस्पत्यपि यथोक्तप्रमाणमन्तरमपि काळमवस्थानात्
यथैवामृति पञ्चसुत्राद्यन्तरविवयापर्याधिकान्युक्तानि तथैव
पर्याप्तवियथापि अपर्याप्तवियथापि भावनीयानि तानि विचम ।
" एगिदियसस एं " इत्यादि एवं पञ्च पर्याप्तवियथापि वक्तव्या-
नि । जी० ५ प्रति० । [इत्यादमभित्यान्तरम् उवयाय शब्दे]

[३०] कषायमाभित्यान्तरम् ।

कोहकसाई-मायकसाई-भायकसाई एं भंते । अंतरं ?
गोयमा । जहसेणें एकं समयं उकोसेणं अंतोमुहुचं लोप-
कसायियसस अंतरं जहएणें अंतोमुहुचं उकोसेणं वि
अंतोमुहुचं कसाई तरेव जहा देह्हा ।
कोषकषायिलोऽन्तरं जअन्येनेकं समयं तज्जपुमसमयानन्तरं
मरणे दूयः कस्यापि तज्जुव्यात् उक्कपंतोऽन्तमुहुचं समं मानक-
षायिमायकषायिसूत्रं अपि वक्तव्ये " लोपकसायियसस अंतरं
जहसेणं अंतोमुहुचं उकोसेणं वि अंतोमुहुचं अकसाई तरेव
जहा देह्हा " । सर्वे० जी० ६ प्रति० ।

कायमाभित्यान्तरम् ।

पुडविकाइवसस एं जंते । केवतियं कालं अंतरं होति
गोयमा । जहसेणं अंतोमुहुचं उकोसेणं वणस्सतिकालो
एवं ब्राह्मतेउवाउकाइयतसकाइयाणं वि वणस्सकषायियसस
पुडविकालो एवं पजजराणं वि वणस्सतिकालो । वणस्स-
काइयाणं पुडविकालो पजजराणं वि एवं चेव वणस्सति-
काळो पजजराणं वणस्सतीणं पुडविकालो ।

प्रमसुचं सुगमं भगवानाह गौतम । जअभ्येनात्तमुहुचं पृथिषी-
कायात्तुपुस्यस्यान्तमुहुचं स्थित्वा भूयः पृथिवीकाविकल्पेन
कस्यात्तुपुस्यस्य उक्कपंतोऽन्तं कालं स खान्तकालः प्रागु-
क्तवक्त्रो वनस्पतिकालः प्रतियक्तव्यः पृथिवीकायात्तुपुस्यता-
वन्तं कासं वनस्पतिष्ववस्थानसमजावत् पथमनेजावापुत्रस-
स्यापयपि प्रायर्षीयानि वनस्पतिष्वे उक्कपंतोऽसंख्येयं कासं
" असंखेज्जाओ उस्सत्पिणीओ काळतो केसतो असंखेज्जा लोगा "।
इति वक्तव्यं वनस्पतिकालात्तुपुस्य पृथिव्यादिष्ववस्थानात् ते
च संखेयान्युक्कपंतोऽप्येतावत्कालमावात् जी० ६ प्रति० ।

[३१] गतिमाभित्यान्तरं यथा ।

नेरइपसस अंतरं जहसेणं अंतोमुहुचं उकोसेणं वणस्स-
तिकालो एवं सव्वाणं तिरिक्कजोगियवज्जाणं तिरिक्क-
जोगियाणं जहसेणं अंतोमुहुचं उकोसेणं सागरोवमस-
पुहुचं सातिरेगं ॥

नेरियकस्य अजयेनात्तरमन्तमुहुचं तच्च नरकात्तुपुस्यस्य तिये-
मनुष्यमनं एवात्तुभाष्यवसयान मरणतः परिभावनोयं साह-
स्यकर्मफलमेतदिति तात्पर्याधीः । उक्कपंतोऽसंख्येयं काळं स

मानस्यः कालो बलरूपतिकालो नरकाद्बुद्ध्यस्य परम्पर्येणा-
न्त्यं काशं बलरूपतिव्यवस्थानात् तिर्यग्यानि कल्पे जघन्यतोऽ-
न्तमुद्भूतं तच्च तिर्यग्यानिकभवाद्बुद्ध्यन्वयान्तमुद्भूतं स्थित्वा
युयः तिर्यग्यानिकत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यमुत्कर्षतः सागरो-
पमगनपृथक्त्वं सातिरेकं तिर्यग्यानि कल्पे मनुष्यस्य मानुषी-
स्यै देवस्यै च जघन्यतोऽन्तमुद्भूतमुत्कर्षेतो बलरूपतिकालः
जी० ७ प्रति० ।

त्रैयिकस्य ।

नेरदयमण्यसदेवाणं य अंतरं जहएणेणं अंतोमुद्भूतं उ-
क्तेमिणं सागरोवमसयपुद्भूतं सादरेणं ॥

त्रैयिकस्य अन्तः । अन्तरं त्रैयिकत्वात्परिच्छेदस्य भूय आ-
नैयिकत्वप्राप्तरेवात्तराशं काशतः कथिचिरं भवति कियन्तं काशं
यावत्प्रवृत्तीत्यर्थः । भगवानाह जघन्यतान्तमुद्भूतं कथामिति केव
उच्यते नरकाद्बुद्ध्यस्य मनुष्यभवे तिर्यगेत्येव वा अन्तमुद्भूतं स्थि-
त्वा भूयो नरकेषुपरात्वात् । तच्च मनुष्यभवे भावना इयं कश्चि-
न्नरकाद्बुद्ध्यस्य गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्य सर्वाभिः पर्याभिः पर्याप्तो
विशिष्टसंज्ञानोपेतो वैकल्पिप्रधिघान्मन् राज्याद्याकाङ्क्षः । परचक्रा-
नुपचक्रमकारणं स्वशाक्तित्वात्तद्व्युत्पत्त्यर्थं तस्यं विकृत्यात्वं सं-
प्रामयित्वा महारोऽन्वयानोपगतो गर्भस्य एव काशं करन्ति
कृत्वा च कालं ज्योषो नरकेषुपरात्वं तत एवमन्तमुद्भूतं तिर्यग्भवे
नरकाद्बुद्ध्यस्य गर्भजमुत्पत्तिकालः कल्पे च बलरूपतिव्यवस्थायाद्बुद्ध्यस्य
महारोऽन्वयानोपगतोऽन्तमुद्भूतं जीवित्वा भूयो नरके जायते इति
उक्तवतोऽन्तं काशः परम्परया च बलरूपतिव्यवस्थायाद्बुद्ध्यस्य
व्यवस्थायाद्बुद्ध्यस्य बलरूपतिकालः स च प्रायोक्तः तिर्यग्यानि कवि-
ये प्रश्नस्यं पृथेयत् तिर्यगेच जघन्यतान्तमुद्भूतं तच्च कस्यापि
तिर्यक्त्वेन मुक्त्वा मनुष्यभवेऽन्तमुद्भूतं स्थित्वा युयः तिर्यक्त्वे-
नोत्पद्यमानस्य प्रुष्टव्यस्य उक्तवतः सातिरेकं सागरोपमगनपृथ-
क्त्वं तच्च त्रैलोक्यं देवनारकःमनुष्यजन्ममणेनावसातव्यं मनु-
ष्यविपर्ययमपि प्रश्नस्यं तथैव तिर्यगेच जघन्यतान्तमुद्भूतं तच्च
मनुष्यभवाद्बुद्ध्यस्य तिर्यग्भवेऽन्तमुद्भूतं स्थित्वा युयो मनुष्यत्वेनो
त्पद्यमानस्यायसान्त्वय्य उक्तवतोऽन्तं काशं स चान्तकालः
प्रायुक्तो बलरूपतिकालः । देवविषयमपि प्रश्नस्यं सुगमं निवेचनं
जघन्यतान्तमुद्भूतं कश्चित् देवजगदाद्ध्युत्वा गर्भजमनुष्यव्य-
नोत्पद्य सर्वाभिः पर्याभिः पर्याप्तो विशिष्टसंज्ञानोपेतस्तथा-
विशेष्य अमणोपासकस्य वा धर्मव्यवधानोपगतो गर्भस्य एव
काशं करन्ति कालं च इत्या देवेषुपरात्वं ततः एवमन्तमुद्भूतं-
मुत्कर्षेतोऽन्तं कालं च चान्तः काशो यथोक्तस्वरूपां बलरूप-
तिकालः प्रतिपत्स्यते ॥ ७ ४ प्रति० । (गुणस्थानकाव्याभि-
न्यामन्तरं गुणज्ञाप्य अर्थे)

चरिमाणं भेते । चरिमण्णि कालतो केव चिरं होति
गोयमा ! चरिमं अणादिपं सवज्जवसिए अचरिये दुविहे
अणादिपं वा अपज्जवसिए सातीपं वा अपज्जवसिए
दोएहं पि नत्थि अंतरं ॥

प्रश्नस्यं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनादिकस्य सपर्यवसितस्य
नास्यन्तरं चरन्तानापरामे सति पुनश्चरन्तव्ययोगान् अक्षर-
स्यापि अनाद्यपर्यवसितस्य साद्यपर्यवसितस्य वा नास्यन्तरस्य
विद्यमानक्षरन्तव्यं जी० ४ प्रति० ।

ज्ञानमण्डिय जीवानामन्तरम् ।

आण्डियस अंतरं जहमेणं अंतोमुद्भूतं उक्तेमिणं पणं कांशं

अवद्भुं पोमग्नपरियेयं देसूणं अण्डाण्डियस दोएहं वि आदि-
ह्माणं एण्णिय अंतरं साण्डियस सपज्जवसियस जहसेणं
अंतोमुद्भूतं उक्तेमिणं गावडिं सागरोवमां सातिरेकां ।

ज्ञानिनो अन्तः । अन्तरं कालतः कियचिरं भवति भगवानाह
गौतम ! सादिकस्य सपर्यवसितस्य नास्यन्तरमपर्यवसितस्येव
सरा नज्जावापरित्यागत सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्य-
तान्तमुद्भूतंमेतावता मिथ्यादशमकाशेन व्यचचानेन ज्योषोऽपि
ज्ञाननावात् उत्कर्षेण अन्तं कालमनन्ता अस्त्येव्यव्यवसि-
ष्यः कालतः क्लेशतोऽपार्थे पुञ्जलपरावर्षं देसेनं सम्यग्भेः स-
म्यक्त्वात् प्रतिपतितस्य एतायन्तं कालं मिथ्यात्वमनुज्युय तद्-
न्तरमवश्यं सम्यक्त्वासादान्तात् "अण्डाण्डियस पं जने ! " इत्या-
दि प्रश्नस्यं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनाद्यपर्यवसितस्य
नास्यन्तरमपर्यवसितस्येव भवनादिपर्यवसितस्येव नास्यन्तर-
मवशयकेवलज्ञानस्य प्रतिपात्वाभावात् सादिपर्यवसितस्य जघ-
न्यतान्तमुद्भूतं जघन्यस्य सम्यक्त्वात्कालस्य एतायमाश्रयात्
उत्कर्षतः पश्यद्विसागरोपर्याण्य सातिरेकाणि यथावतोऽपि का-
लाद्भूयं सम्यग्भवेनमानिपातं सत्यान्वयानावात् जी.सर्वं जी. १ प्रति.

आनिनिमोधिकान्तरम् ।

आण्डियवोऽण्डियाण्डियस एं भेते । अंतरं कालतो केव
चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुद्भूतं उक्तेमिणं अ-
णंतं कालं आव अवद्भुं पोमग्नपरियेयं देसूणं एवं सुयणा-
ण्डियस वि अण्डियाण्डियस वि मण्णजवणाण्डियस वि के-
वलणाण्डियस एं भेते । अंतरं माण्डियस सपज्जवसिय-
स एण्णिय अंतरं । अंतं अण्डियाण्डियस एं भेते । अंतरं
अण्डियाण्डियस अपज्जवसियस एण्णिय अंतरं । अण्डा-
यस सपज्जवसियस एण्णिय अंतरं । सादियस सपज्ज-
वसियस जहएणेणं अंतोमुद्भूतं उक्तेमिणं क्वावडिं साग-
रोवमां सातिरेगां एवं सुयणाण्डियस वि विजंमणाण्डि-
यस एं भेते । अंतरं जहएणेणं अंतोमुद्भूतं उक्तेमिणं वण-
ससइकाशं ।

अन्तरिकतायामानिनिमोधिकान्तरिनोऽन्तरं जघन्यतान्तमुद्भू-
तमुत्कर्षेतोऽन्तं कालं यावत्प्रवृत्तपुञ्जलपरावर्षं देशोन्मं । एवं
भुगहानिना मनःपर्यवज्ञानिनश्चान्तं चकल्प्यम् । कवलङ्कानिनाः
साद्यपर्यवसितस्य नास्यन्तरं मत्सहानिनः सुतज्ञानिनश्चाद्य-
पर्यवसितस्यानादिसपर्यवसितस्य च नास्यन्तरं सादिपर्यव-
सितस्य जघन्यतान्तमुद्भूतमुत्कर्षतः पश्यदः सागरोपर्याण्य
विभङ्गज्ञानिनः जघन्यतोऽन्तमुद्भूतमुत्कर्षेतोऽन्तं कालं बलरूप-
तिकालः जी. सर्वं जी० ७ प्रति० । आ० ७० । ज० ।

(३२) अस्यसाद्यवर्त्नोवस्यवराणांमन्तरम् ।

तसस एं भेते । केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! ज-
हएणेणं अंतोमुद्भूतं उक्तेमिणं वणससइकालो धावरस एं
भेते । केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! जहसेणं अं-
गो-
मुद्भूतं उक्तेमिणं असससइकाशो अमण्णियण्डियसपिण्डो ।
सुगमं नवरससंकेया उस्त्येव्यवसित्येव्यः कालतः क्लेश-
तोऽपार्थेया लोका इत्येतायामाणमन्तरं तेजस्कायिकायु-

अंतर

अंतर

कायिकमये गमनेनावसातव्यमन्यत्र गतावेतावप्रमाणस्यान्तर-
द्वयार्थम्भावात् " तस्स ण अंतं अंतरमित्यादि " सुगमं नवरं
" उकोसेण वयस्सकालो " इति उत्कर्षतो वनस्पतिकालो
वकथ्यः स वैषयम् । " उकोसेण अणंतं कात्रमयतासो उस्सपि-
वीसो कालतो केततो प्रणता भोगा असंखेज्जा पोंगलपरिय-
द्ध तेण पोंगलपरियद्धा भावलिथा असंखेज्जभागे " इति
वताघटप्रमाणं चान्तरं वनस्पतिकायमध्यगमनेन प्रतिपत्तव्यम-
न्यत्र गतावेतावतोऽन्तरस्याज्ञपमानत्वात् जी० १ प्रति० ।

तस्स एणं अंतरं वयस्सतिकालो थावरस्स तसकालो नो
तस्स नो थावरस्स एत्थि अंतरं । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।
दृशेणमाश्रित्य जीवानाम् ।

वनसुदंसणस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं
वयस्सतिकालो अचरसुदंसणस्स वुविहस्स एत्थि अंतरं
आधिदंसणस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं वयस्सह-
कालो केवलदंसणस्स एत्थि अंतरं ।

आधुरंशंनिनोऽन्तरं जघम्येनान्तमुहुत्तं प्रमाणेन अचसुदंशंनज-
नेन व्ययधानात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च प्रागुक्तस्वरूपः
अचसुदंशंनिनोऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वा-
त् अनादिपर्यवसिनस्यापि नास्त्यन्तरम् अचसुदंशेनत्वापगमे
दृयोऽचसुदंशेनत्यायोगात् कृीणकार्तिकमेणः प्रतिपातासंभवात्
अवधिदंशेनिनो जघ-येनैकं समयमन्तरं प्रतिपातसमयानन्तर-
समय एव कस्यापि पुनस्तज्ज्ञानभावात् कश्चिदन्तमुहुत्तंमिति
पाठः स च सुगमः तावता व्ययधानेन पुनस्तज्ज्ञानभावात् । न
चायं निर्मूलः पाठो मूलटीकाकारंणापि मत्मान्तेषु समर्थितः।
त उत्कर्षतो वनस्पतिकालः तावतः काशादूर्द्धमवधयमवधिदं-
शंनसंभवाद्नादिमिथ्यादृष्टेरन्यथिरोधात् क्कान्ति इत्यकथं स
वैच न दृशेणमपीति ज्ञानवाक्येवदंशंनिनः साद्यपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् जी० सर्वजी० ३ प्रति० ।

(३३) दृष्टिमाश्रित्यान्तरम् ।

सम्मदिट्टिसणं अंतरं सातियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि
अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं
उकोसेणं अणंतं कालं जाव अब्वहं पोंगलपरियट्ठं देण्णं
मिच्छादिट्टिसणं अण्णादियस्स अपज्जवसियस्स एत्थि अं-
तरं अण्णादियस्स सपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं । साद्य-
स्स सपज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं हाव-
डिं सागरोवभाइं सातिरेगाइं । सम्माभिच्छादिट्टिसणं जह-
एणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं अणंतं कालं जाव अब्वहं पो-
गलपरियट्ठं देण्णं ।

" सम्मदिट्टिसणं जंते हयादि " प्रश्नसूत्रं सुगमं जगधाना-
द् गौतमः । साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् सा-
दिसपर्यवसितस्य जघ-येनान्तमुहुत्तं सम्यक्त्वात् प्रतिपस्यान्त-
मुहुत्तं नूयः कस्यापि सम्यक्त्वप्रतिपत्तेः । उत्कर्षतोऽन्तं कालं
यावद्वर्तते पुनश्चपरावर्षं मिथ्यादृष्टिमुनेनाद्यपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरप्रप्रतिपात्तात् अनादिसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्त-
रप्रनादिहत्वात् अन्यथाऽनादितायोगात् । सादिसपर्यवसितस्य
जघ-येनान्तमुहुत्तमुकर्षतः षड्वचिः सागरोवमाणि सातिरेका-
णि सम्यक्त्वेनकाल एव हि मिथ्यादृशेणस्य प्रायोऽन्तरं सत्य-

व्दशेनकाहञ्ज अच-न्यत उत्कर्षतमेतावागिति । सम्यक्मिथ्यादृ-
ष्टिमुने जघन्यतोऽन्तमुहुत्तं सम्यक्मिथ्यादृशंभावात् प्रतिपस्यान्त-
मुहुत्तं नूयः कस्यापि सम्यक्त्वेनभावात् । उत्कर्षतोऽन्तं कालं
यावद्वर्तते पुनश्चपरावर्षं देशोऽन्तं यदि सम्यक्मिथ्यादृशंभावात् प्र-
तिपतितस्य नूयः सम्यक्मिथ्यादृशंभावात्प्रसत एतावता कालेन
नियमेनान्यथा तु मुक्तिः जी० २ प्रति० (निर्घण्यनामन्तरं
निर्गन्धं शब्धे)

(३४) पथ्योसिमाश्रित्यान्तरम् ।

पज्जचगस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं वि अं-
तोमुहुत्तं अपज्जचगस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं
सागरोवमसपपुहुत्तं सातिरेणं तदपस्स एत्थि अंतरं
अन्तरकिन्तार्या पर्यासकस्य जघन्यत उत्कर्षतज्ज्ञान्तमुहुत्तंमन्त-
रम् अपर्यासकस्य एव हि पर्यासकस्यान्तरम् । अपर्यासककाह-
स्य जघन्यत उत्कर्षतज्ज्ञान्तमुहुत्तंम अपर्यासकस्य जघन्यतोऽन्त-
मुहुत्तंमुकर्षतः सागरोवमम्यतपुष्पकथं सातिरेकं पर्यासककाह-
स्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावतागमात्वात् शोपर्यासतोऽपर्यास-
स्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

परीतानामन्तरम् ।

कायपरितस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं वन-
स्पतिकालो संसारपरितस्स एत्थि अंतरं कायअपरितस्स
जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं असंखेज्जं कालं । पुववि-
कालो संसारअपरितस्स अण्णातियस्स अपज्जवसियस्स
एत्थि अंतरं । अण्णादियस्स सपज्जवसियस्स एत्थि अंतरं
नोपरित्तोऽपरित्तस्स वि एत्थि अंतरं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतमः । जघम्येनान्तमुहुत्तं साधार-
णेष्वन्तमुहुत्तं स्थित्वा नूयः प्रत्येकशरीरिष्वानामनात् उत्कर्षतो-
ऽन्तं कालं स चानन्तः कालः प्रागुक्तस्वरूपो वनस्पतिकाल-
स्तावन्तं कालं साधारणेष्ववस्थानात् । संसारपरीतविषयं प्रश्न-
सूत्रं सुगमं जगधानाह गौतमः । नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे
पुनः संसारपरीतत्वाज्जावात् मुक्तस्य प्रतिपातासंभवात् ।
कायापरीतसुत्रे जघन्यतोऽन्तमुहुत्तं प्रत्येकशरीरिष्वन्तमुहुत्तं
स्थित्वा नूयः कायापरीतेषु कस्याप्यागमनसंभवात् उत्कर्ष-
तोऽसंबन्धेयं कालं यावत् असंबन्धेया उत्सर्पियवस्यसोपिषयः
कालतः क्षेत्रतोऽसंबन्धेया लोकाः पुषिव्यादिप्रत्येकशरीरजघ-
न्नमणकालमुकर्षतोऽप्येतासम्भवात्वात् । तथा चाह । पुषि-
वीकाहः पुषिव्यादिप्रत्येकशरीरकाल इत्यर्थः । संसारपरी-
तसुत्रे अनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वाद्नादिप-
र्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे पुनः संसार-
परीतत्वस्यासंभवात् । नोपरीतनाप्रपरीतस्यापि साद्यपर्यव-
सितस्य नास्त्यन्तरं अपर्यवसितत्वात् जी० २ प्रति० ।

[३५] पुनश्चमाश्रित्यान्तरम् ।

परमाणुगोलस्स एणं जंते । मन्थेयस्स कालाअो केव
चिरं अंतरं होइ । गोयमा । सट्ठाएणतं पडुच्च जहएणेणं
एकं समयं उकोसेणं अस्सखेज्जं कालं । परट्ठाएणतं पडुच्च
जहएणेणं एकं समयं उकोसेणं एवं चैव । थिरेयस्स के-
वडु० सट्ठाएणतं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उकोसेणं अत्र-

श्रियाए असंखेज्जनागं, परद्वाणंतरं पदुच्च जहणेषणं
एकं समयं उक्कोतेणं असंखेज्जं कालं पुपदेसियस्स एं भंते !
खंभस्स देसेयस्स केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा !
सद्वाणंतरं पदुच्च जहणेषणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं
कासं परद्वाणंतरं पदुच्च जहणेषणं एकं समयं उक्कोसेणं
अणंतं कासं । सव्वेयस्स केवइयं कालं एवं वेव जहा
देसेयस्स । गिरेयस्स केवइयं कालं सद्वाणंतरं पदुच्च जहण-
ेषणं एकं समयं उक्कोसेणं आबलियाए असंखेज्जनागं,
परद्वाणंतरं पदुच्च जहणेषणं एकं समयं उक्कोसेणं अणंतं
कालं एवं जाव अणंतपदेसियस्स । परमाणुपोग्गहाण भते !
सव्वेयाणं केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा ! नत्थिय
अंतरं गिरेयाण केवइयं नत्थिय अंतरं पुपदेसियाणं जंते !
संधाणं देसेयाण केवतिकालं एत्थि अंतरं सव्वेयाणं केवइ
नत्थिय अंतरं गिरेयाणं केवइ एत्थिय अंतरं एवं जाव
अणंतपदेसियाणं जं ० २५ शं ४ उ ० ।

[टीका नास्तीति न ध्याव्याता]

परमाणुपोग्गलस्स एं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं
कालं पुपदेसियस्स एं जंते ! खंभस्स अंतरं कालओ केव
चिरं होइ गोयमा ! जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं
जंते एवं जाव अणंतपपत्तिओ । एगपत्तोगाहस्स एं
जंते ! पोग्गलस्स संयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ
गोयमा ! जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं
एवं जाव असंखेज्जपत्तोगाहदे । एगपत्तोगाहस्स एं
जंते ! निरेयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा !
जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं आबलियाए असंखेज्जना-
गं एवं जाव असंखेज्जपत्तोगाहदे वाएणंभेरसफासमुह-
मपरिणयाणं एत्थि जं वेव अंतरं पि भाणियव्वं । सहप-
रिणयस्स एं भंते ! पोग्गलस्स अंतरं कालओ केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं
कालं असहपरिणयस्स एं जंते ! पोग्गलस्स अंतरं काल-
ओ केव चिरं होइ गोयमा ! जहणेषेण एगं समयं उक्कोसेणं
आबलियाए असंखेज्जनागं जं ० ५ शं ७ उ ० ।

(टीका सुगमत्वात् नृदीता)

प्रथमसमयाप्रथमसमयपिरोपणैकेन्द्रियाणां
त्रैरधिकार्थानां आन्तरं यथा ।

पदमसमयपरिदियाणं जंते ! केवतियं कालं अंतरं हांति ?
गोयमा ! जहणेषेण दो खुहुइं भवग्गहाइं समयोणाइं
उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिदियस्स अंतरं
जहणेषेणं खुहुगभवग्गहणं समयोणं उक्कोसेणं दो-
सागरोचमसहस्साइं संखेजा वा समग्गहाइयाइं सेसाणं सव्वे-

सिं पदमसमयकाणं जहणेषेणं दो खुहुइं जवग्गहाइं सम-
योणाइं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिदियाणं
सेसाणं जहणेषेणं खुहुगभवग्गहणं समयोणं उक्कोसेणं
वणस्सतिकालो ॥

प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य जन्तः । अन्तरं कालतः कियच्चिरं भव-
ति जगयाणाह गौतम ! ज्ञापयते चेच्छुक्कजवप्रहणे समयो-
ने तं च शुक्कज्ज्ञान्दियादिभवप्रहणव्यवधानतः पुनरैकेन्द्रिय-
संवेद्योत्परामानस्यावसातव्यं तथा शोकं प्रथमसमयान्तके-
न्द्रियकूलकभवप्रहणमेव त्रितीयं सम्पूर्णमेव द्वीन्द्रियाद्यन्व-
तमकुक्कजवप्रहणमिति उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स आनन्ता
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः केवतोऽनन्ता लोका असंखेयाः पुत्रतपरावर्तो
आबलिकाया असंखेयो भाग इत्ये-
वं स्वकुरं तथाहि एतावन्तं हि कालं सौऽप्रथमसमयः न तु प्र-
थमसमयस्तन्तः । द्वीन्द्रियादिषु शुक्कजवप्रहणमेवाऽवस्था-
य पुनरैकेन्द्रियत्वेनोत्परामानः प्रथमं प्रथमसमय इति
भवत्युत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य
जघन्यमन्तरं शुक्कजवप्रहणं समयाधिकं तथैकेन्द्रियजगत-
चरमसमयस्याप्यधिकप्रथमसमयत्वात् तत्र मूलस्य द्वीन्द्रिया-
दिविशुक्कजवप्रहणेन व्यवधाने सति भूय एकैकेन्द्रियत्वेनोत्परा-
स्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यम् । एतावन्तं कालमप्यथमस-
मयान्तरजावात् उत्कर्षतो चे सागरोपसहस्रं संखेयवधा-
न्यधिकं द्वीन्द्रियादिभवप्रहणस्योत्कर्षतोऽपि सान्त्वयैताव-
न्तं कालं संभवात् । प्रथमसमयार्द्रियस्य जघन्यमन्तरं छे
शुक्कजवप्रहणं समयोने तथाय एकं चोन्द्रियकुक्कजवप्र-
हणमेव प्रथमसमयोने त्रितीयं सम्पूर्णमेकेन्द्रियत्रोन्द्रिया-
द्यन्तमं कुक्कजवप्रहणम् एषं प्रथमसमयं श्रीन्द्रियकुक्कजव-
प्रहणमेव प्रथमसमयोने त्रितीयं सम्पूर्णमेकेन्द्रियस्य जघन्यम-
न्तरं शुक्कजवप्रहणं समयाधिकं तथैकेन्द्रियजवात्पुत्र्यायत्र
शुक्कजवप्रहणं स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्परास्य प्रथमसमयाति-
क्रमं वेदितव्यम् । उत्कर्षतोऽनन्तं कालमन्तता उत्सर्पिण्यवस-
र्पिण्यः कालतः केवतोऽनन्ता लोका असंखेयाः पुत्रतपरावर्तो
आबलिकाया असंखेयो भागः एतावन्तं द्वीन्द्रियजवात्पुत्र्यै-
तावन्तं कालं वनस्पतिषु स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्परास्य
प्रथमसमयातिक्रमे भावनोयः एवं प्रथमसमयान्तरुत्प्रेक्षि-
याणामपि जन्त्यमुत्कर्षतो आन्तरं वक्तव्यं भावनाऽप्येतदनुवर्तते
स्वयं जावनीया जं ० १० प्रति ० ।

पदमसमयपरिदियस्स एं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं
होइ ? गोयमा ! जहणेषेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुटुत्तम-
च्चहियाइं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिद-
यस्स एं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ ? गोयमा !
जहणेषेणं अंतोमुटुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो । पदमसमय-
परिदियस्सजोणिएणं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं हो-
ति ? गोयमा ! जहणेषेणं दो खुहुइं जवग्गहाइं समयोणा-
इं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपदमसमयपरिदियस्स एं
यस्स एं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ?
गोयमा ! जहणेषेणं दो खुहुइं जवग्गहाइं समयो-
णं उक्कोसेणं सागरोचमसपपुटुत्तं सातिरेणं । पदमसमय-

अंतरं

अंतरं

मह्यस्त्वस्स एणं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहणेणं दो सुहृदयं जवगहणं समयुएणं उणकोसेणं बणफ्फतिकालो अप्रदमसमयमाएस्सस्स एणं जंते ! अंतरं जहणेणं सुहृदयं भगवानाहं सयपाहिंयं उकोसेणं बणफ्फतिकालो देवस्स एणं अंतरं अहा भेरिनिपस्स । उट्ठसमयसिक्खस्स एणं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? नत्थि अंतरं ! अप्रदमसमयसिक्खस्स एणं जंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! सादिपस्स अपज्जवसिपस्स खत्थि अंतरं ।

प्रथमसमयसिक्खस्य नास्व्यन्तरं न्युयः प्रथमसमयसिक्खत्वा-
नावाह अप्रथमसमयसिक्खस्यापि नास्व्यन्तरपर्यवसितत्वात् ।
जी० १० प्रति० ।

(३६) बादरसूहमनोसूहमनोवादरणामन्तरं यथा—

अंतरं वायरस्म वायरवन्सत्तिकातिस्स णिओयस्स वाय-
रणिओयस्स एतेसिं चउहइ वि पुदविकालो जाव असं-
खेजा जोया सेमाणं वणस्सतिकामो एवं पज्जचगाएणं
अपज्जचगाए वि अंतरं अहाइ ये वायरतरु उट्ठसिपिणो—
ओसत्पिणोओ एवं वायरनिओए कादमसंखेज्जतरं सेसा-
एणं वागस्सतिकालो ॥

प्रअभूतं सुगमं जगवानाह गौतम ! जघयेमान्तमुहूर्त्तमुकप-
तोऽसंख्येयं कासं समभेयं कासं केज्जराण्णां निरुपयति असंख्येया
उत्सत्पिणयवसत्पिणयः कासतः केज्जतोऽसंख्येया लोका यदेव हि
सूहमस्य सतः कायस्वित्तिपरिमाणं तदेव बादरस्यान्तरपरिमाणं
सूहमस्य च कायस्वित्तिपरिमाणमेतावति बादरपृथिवीकायिक-
सूहं जघन्यतोऽन्तमुहूर्त्तमुकपर्वतोऽन्तंते कासं स जानन्तः कालो
वनस्पतिकालः प्रागुक्तस्यकृपां वेदितव्यः एवं बादरपृथिवीकायिक-
दानेज्जकायिकबादरसमुकपृथिवीकायिकवत्त्वानि । सामा-
न्यतो बादरवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तमुहूर्त्तमुकपर्वतो-
ऽसंख्येयं कासं स चासंख्येयः कालः पृथिवीकालो वेदितव्यः
स वैयम असंख्येया उन्सत्पिणयवसत्पिणयः कासतः केज्जतोऽसं-
ख्येया लोकाः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकसूत्रं बादरपृथिवीका-
यिकसूत्रवत्सामान्यतो निगोदसूत्रं सामान्यतो बादरवनस्पति-
कायिकसूत्रवत् बादरजसकायिकसूत्रं बादरपृथिवीकायिकसूत्रवत्
पथमपर्याप्तविषया दशासूत्रां पर्याप्तविषया च दशासूत्री यथोक्त-
क्रमेण वक्तव्या नानात्वाज्जावात् । जी० ६ प्रति० ।

[३७] सूहमस्यान्तरम् ।

सुहृदस्य णं जंते ! केवतियं कासं अंतरं होति ? गोयमा !
जहणेणं अंतोसुहृदं उकोसेणं असंखेज्जं कासं कालओ
असंखेज्जतो उट्ठसिपिणीओसत्पिणीओ लेचओ अंगु-
लस्स असंखेज्जतिजागो एवं सुहृदावणस्पतिकइयस्स वि
सुहृदनिओयस्स वि जाव असंखेज्जतिजागो बुवविकाइया-
वं वणस्सतिकामो एवं अपज्जचगाएणं पज्जचगाएणं वि ।
प्रमसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघयेमान्तमुहूर्त्तं सुहमा-
नुष्युत्थं बादरपृथिवीदायवन्तमुहूर्त्तं स्थित्वा नृपः सूहमपृथि-
व्यादो कस्याप्युत्पादात् उकपर्वतोऽसंख्येयं कासं कासंकेज्जराण्णां
निरुपयति असंख्येया उत्सत्पिणयवसत्पिणयः कासत एवा भार्ग-
वा विचरतोऽन्तमुहृदस्येयोप्रागः किमुक्त्वं भवति अहमुहृदमाकसे-

वस्थासंख्येयतमे प्रागे व आकाशाप्रदेशास्ते प्रतिसमयेयैकैक-
देशाग्रहारे वावर्तान्निरुत्सत्पिणयवसत्पिणयमिदंमेया भवन्ति
तावन्थ इति "सूहमपुदविकइयस्स णं भंते" इत्यादि प्रथमसूत्रं
सुगमं जगवानाह गौतम ! जघयेमान्तमुहूर्त्तं तज्जावमा प्रथमत्
उकपर्वतोऽन्तं कासं "जाए आभयियाए असंखेज्जराणामा इति"
यावत्करणादेव परिपूर्णः पाठः "अयंताओ उत्सत्पिणीओस-
णाओ कासतो केरुतो भयंतो लोगा असंखेज्जआ पोण्णत्तरि-
पट्ठा तेणं पोण्णत्तरियट्ठा भावत्तिपया असंखेज्जराणो" इ-
स्य व्याख्या पूर्ववत् जावमा त्वेवं सूहमपृथिवीकायिको हि स्-
वमपृथिवीकायिकमवाहुत्त्वान्तत्वेण पारंपर्येण वा वनस्प-
तिष्वपि भवेयं गच्छति तत्र चोत्कर्षतोऽप्येतावन्तं कासं सिद्धती-
ति प्रवर्ति यथोक्तप्रमाणमन्तरमेवं सूहमपृथिवीकतज्जकायिक-
घातुकायिकसूत्राएथपि वक्तव्यानि । सूहमवनस्पतिकायिकसूत्रे
जघन्यतोऽन्तमुहूर्त्तमुकपर्वतोऽसंख्येयकालः पृथिवीकासो वक्त-
व्यः स वैयम "असंखेज्जओ उट्ठसत्पिणीओसत्पिणीओ का-
सतो केरुतो असंखेज्ज लोगा" इति । सूहमवनस्पतिकायिक-
वाहुत्त्वो हि बादरवनस्पतिषु सूहमनादरपृथिवीष्विषु लो-
प्यते तत्र च सर्वत्राप्युत्कर्षतोऽप्येतावन्तं कासमवस्थाभूमिति
यथोक्तप्रमाणमेवान्तरमेवं सूहमनिगोदस्याप्यन्तरं वक्तव्यं यथा
वेयमौचिकी सप्तसूत्री उक्ता तथा अप्यन्तविषयया च सप्तसूत्री
वक्तव्या नानात्वाज्जावात् जी० ६ प्रति० ।

सुहृदस्य अंतरं वायरकासो वायरस्स अंतरं सुहृदकासो
तवियस्स णत्थि अंतरं ।

सुहमस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तमुहूर्त्तमुकपर्वतोऽसंख्येयं कालमसं-
ख्येया उत्सत्पिणयवसत्पिणयः कासतः केज्जतोऽसूहृदस्य संख्येय-
भागे बादरसूत्रे जघन्यत उकपर्वत उकपर्वतप्राणप्रमाणत्वात् । बा-
दरस्यान्तरं जघन्यमान्तमुहूर्त्तमुकपर्वतोऽसंख्येयं कासमनन्ता उ-
त्सत्पिणयवसत्पिणयः कालतः केज्जतोऽसंख्येया लोका सूहम-
स्य जघन्यत उकपर्वतमेनावत्कारप्रमाणत्वात् गोसूहमनोवाह-
रस्य साधपर्यवसितस्य हेतौ यद्धी निमित्तकारणहेतुषु सधार्सां
विनकीनां प्रागे दशोमांति न्यायात् ततोऽयमर्थः साधपर्यव-
सितत्वाच्चास्यन्तरमन्यथा अपर्यवसितत्वायोगात् जी० ३ प्रति०
प्रवन्तिद्वयमवसिक्तिसिन्धोभवांसद्वयमवसिक्तिकानामन्तरम्
भवसिक्तियस्म एत्थि अंतरं एवं भवसिक्तियस्स वि
तवियस्स खत्थि अंतरं ।

अभवसिद्धिकोऽनादिसपर्यवसितोऽन्यथा प्रवत्तिकत्वाव्या-
गात् । अभवसिक्तिकान् अभवसिक्तिकस्यानादिसपर्यवसितस्य
नास्त्यन्तरं प्रवत्तिकत्वापगमे पुनर्नेषवत्तिकत्वायोगात्
जी० ३ प्रति ।

जायामाभिय जीवानामन्तरम् ।
चासगस्स एणं जंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा !
जहणेणं अंतोसुहृदं उकोसेणं अन्नतं कासं वणस्सतिकालो
अभासगस्स सातिगस्स अपज्जजवसिपस्स णत्थि अं-
तरं सातिपस्स मपज्जवसिपस्स जहएणोयं एक्कं सपयं उको-
सेणं अंतोसुहृदं ।

प्रमसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघयेमान्तमुहूर्त्तमुकप-
र्वो वनस्पतिकालः अजायककालस्य भावकान्तरत्वात् अभा-
वकसूत्रे साधपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् अपर्यवसितत्वात् सा-

विसर्पयवसितस्य जघ-यैनेकं समयमुकर्वतोऽन्तर्मुहुर्षु ज्ञाप-
ककालस्याभायकान्तररूपेण च अधन्यत उत्कर्षतश्चैता-
वन्मात्रत्वात् । जी० २ प्र ति० ।

[३८] योगमाधित्यान्तरम् ।

मणजोगिस्स अंतरं जहएणं अंतोमुहुत्तं ठकोसेणं वण-
स्ततिकालो तदेव वणजोगिस्स वि कायजोगिस्स जहएणं
एकं समय उक्कोसेण अंतोमुहुत्तं अजोगिस्स एत्थि अंतरं ।
अन्तरमन्तर्मुहुत्तं विप्रदसमयादारब्धं भौदारिकशरीरपर्याप्त-
कञ्च यावदेवमन्तर्मुहुत्तं रुद्धयमिति (अत्रत्या टीका उत्सु-
चपकवणा रुद्धे) ।

लेखयामाधित्य जीवानाम् ।

कइलेसस एणं भंते । अंतरं कालआकेव चिरं होति ।
गोयमा । जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेचीससागरोव-
माइं अंतोमुहुत्तमभहियाइं । एव नीलसस वि काजलेस-
सस वि । तेउलेसस एणं भंते । अंतरं कालआकेव चिरं होइं ।
गोयमा । जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फातकालो
एवं पइलेससम वि सकलेससस वि दोह्व वि एवपंतरं ।
अज्ञेससस एणं जते । अंतरं कालतो केव चिरं होइं । गोयमा ।
सादियस्स अपजजवात्पसस णत्थि अंतरं ।

कृष्णश्रेययाकस्यान्तरं जघन्यनोऽन्तर्मुहुर्षु तिर्यगनुप्याणामन्त-
र्मुहुर्षु चैव लेखयापराचरनात् उत्कर्षतश्चयत्किंशुत्सागरोपर्याप्त-
नन्तर्मुहुर्षु चैव न्यथिकानि शुक्ललेखयाकृष्णकालस्य कृष्णलेखयान्त-
रोक्ककालत्वात् । एवं नीललेखयाकपोतलेखयोरपि अधन्यत
उत्कर्षतश्चान्तरं चकत्यथ । तेजःपञ्चमुक्कलानामन्तरं जघतोऽन्त-
र्मुहुर्षु चैव कपोतं घनस्पतिकालः स च प्रतीत प्वेति । अज्ञेयस्य
साधपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

(३९) वेदविशिष्टजीवानामन्तरम् ।

सवेदं एव एणं भंते । केवतियं कालं अंतरं होति । गोयमा ।
अण्णदियस्स अपजजवसिपसस णत्थि अंतरं । अण्णदियस्स
सपजजवसिपसस वि एत्थि अंतरं । सादियस्स सपजजव-
सिपसस जहएणं एकं समय उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।
अवेदगसस एणं भंते । केवतियं कालं अंतरं होति । गोयमा ।
सादियस्स अपजजवसिपसस एत्थि अंतरं सादियस्स सपज-
जवसिपसस जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं । अण्णतं-
कालं जाव अइं पोग्लपरियइं देसुणं ।

प्रअइं सुगमं भगवानाह गीतम् । अनादिकस्यापर्यवसितस्य स-
वेदकस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितस्य सदा तद्भावापरित्यागात् ।
अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं अनादिसपर्यव-
सितो ष्वापन्तरात् उपसमभोगेण प्रप्रियथा प्राचीं क्षीणवेदो नच
क्षीणवेदस्य पुनः सवेदकत्वं प्रतिपातनात्वात् । सादिकस्य सपर्य-
वसितस्य सवेदकस्य जघन्येनैकं समयमन्तरं द्वितीयं चारमुपशा-
मभोगेण प्रतिपन्नस्य वेदोऽपशमसमयानन्तरं कस्यापि भरणसंजवा-
त् उत्कर्षेणान्तर्मुहुत्तं द्वितीयं चारमुपशमभोगेण प्रतिपन्नस्यान्त-
वेदकस्य भोगिसमाप्तिकेन्द्रं पुनः सवेदकत्वाभावात् । अवेदकत्वे
अनादिकस्यापर्यवसितस्यवेदकस्य नास्त्यन्तरं क्षीणवेदस्य पुनः

सवेदकत्वाभावात् वेदानां निमूलकावकवितत्वात् । सादिकस्य
सपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहुत्तमुपशमभोगिसमाप्तीं सवे-
दकत्वं सति पुनरन्तर्मुहुत्तं नोपशमभोगेणान्तोऽवेदकत्वापपत्तेः
उत्कर्षतोऽन्तं कालम् अनन्ता उत्सर्पितस्यवसर्पित्यः कालतः
क्षेत्रतोऽपार्कोऽप्युपप्राचर्षं वेदानमेकं चारमुपशमभोगेण प्रतिपद्य
तत्रावेदको नृत्वा भोगिसमाप्तीं सवेदकत्वं सति पुनरंतावना का-
लतः भोगिप्रतिपत्तावेदकत्वापपत्तेः । जी० सवेदी ० २ प्र ति० ।

वेदविशेषविशिष्टानां स्त्रीणां पुंसां नपुंसकानां चान्तरम् ।

इत्थिए एणं भंते । केवतियं कालं अंतरं होति । गोयमा ।
जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण अन्तं कालं वणससतिक-
को एवं सव्वासिं तिरिकसत्थीणं मण्णसत्थीणं मण्णसत्थी-
ए खेच पइइ जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणससति-
कालो । धम्मचरण पइइ जहएणं समयो उक्कोसेणं
अण्णतं कालं जाव अइं पोग्लपरियइं देसुणं एवं जाव
पुन्वविदइं अवराविदेहियाओ । अकम्मजुगमणुप्पत्तीणं
भंते । केवातयं कालं अंतरं होति । गोयमा । जम्म एणं पइइ
जहएणं दसवाससहरसाइं अंतोमुहुत्तं पवन्निहियाइं उक्कोसे-
णं वणससइकाओ मंहरणं पइइ जहएणं अंतोमुहुत्तं
उक्कोसेणं वणससइकाओ एवं जाव अंतदीवियाओ । देवि-
त्थियाणं सव्वासिं जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-
ससतिकालो ।

स्त्रिया भदन्त । अन्तरं कालतः कियच्चिरं जवति स्त्री भूत्वा स्त्रीवा-
त् भ्रष्टा सती पुनः कियता कालेन स्त्री भवतीत्यर्थः । एवं गीत-
मेन प्रश्ने कृते सति जगयानाह गीतम् । जघ-येनान्तर्मुहुत्तं
कथमिते चेत उच्यते इह काचित् स्त्रीः स्त्रीः धारमरणेन च्युत्वा
भवान्तरं नपुंसकत्वं पुरुषवेदं वाऽन्तर्मुहुत्तं चेतुमुहुत्तं स्त्रीः
पटयते तत एवं अधन्यतोऽन्तर्मुहुत्तं जवति उत्कर्षतो घनस्पति-
कालोः संख्येयपुङ्गलपरावर्षाभ्यां चकल्प्यसाधना कालेनामुकी
मन्यां नियोगतः स्त्रीः वियोगतः । स च घनस्पतिकाल एव चक-
ल्प्यः “ इणताओ ओसत्थिणिरसत्थिपयीओ । कालयो केचअओ
अणंता भोगा अस्सखेजा पोम्मलपरियट्टा तेणो पोम्मलपरियट्टा
आवहियाए अस्सखेजअभाओ इति ” एवमाधिकतियं कुक्षीणां
जहचरत्सखरत्सखरत्सखीणामैधिकमनुप्यत्सखीणां च अधन्यतो
उत्कर्षतश्चान्तरं चकल्प्यमिश्राणोऽपि सुममरत्वात् स्वयं परिभा-
षणीयः । कम्मं भूमिकमनुप्यत्सख्याः क्षेत्रं कम्मं भूमिक्षेत्रं प्रतति
जघन्यतोऽन्तर्मुहुत्तं मुकर्वतोऽन्तं कालं घनस्पतिकालप्रमाणं
यावत् धम्मचरणं प्रतीत्य जघन्येनैकं समयं कर्त्तव्यमस्य सम-
यत्वात् उत्कर्षेणानन्तं कालं वेदानमपार्कोऽप्युपप्राचर्षं यावत्
मातो ष्वाधिकतश्चान्तराभिप्रायतकालासंपुण्यत्वात्पुण्यत्वेऽप्युपप्रा-
चर्षस्य वेदानलक्षिप्रायतकालस्य तत्र प्रतिषेधात् । एवं भरते-
रप्यनमनुप्यत्सख्याः पुष्येधिदेहापरं विदेहिक्षियात्सखेजतो धम्म-
चरणं वा आश्रित्य चकल्प्यम् । अकम्मं भूमिकमनुप्यत्सख्या जन्म
प्रतीत्यान्तरं जघन्येन दृशवत्सहकाराणि अन्तर्मुहुत्तं चाप्यधिकानि
कथमिते वेदुच्यते इह काचित् कम्मं भूमिका स्त्री भूत्वा अधन्य-
त्सखीणु पुष्येधिदेहा तत्र दृशवत्सहकाराण्युः परिपान्त्य
तद्गुणं च्युत्वा कम्मं भूमिषु मनुष्यपुरुषवनेन मनुष्यस्त्रीवेषेन
दोर्बन्धितं देवेषुऽऽन्तरमकम्मं नूनी न जयति कम्मं भूमिपूया-

दित्वा ततोऽन्तमुद्दृष्टेन सूत्र्या ज्ञोऽप्यकर्मजूमिजस्वीत्येव जायते
एति भवन्ति जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि अन्तमुद्दृष्टां जघन्यधिकानि
उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं सहस्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्-
तमुद्दृष्टम् । अकर्मजूमिजस्वियाः (कर्मजूमिजस्वियाः) कर्मजूमिषु
संहृत्य तावता कालेन तथाविषुः (विपरान्त्या ज्ञ्यस्तैश्च भव-
न्नात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं तावता कालेन कर्मजूम्यु-
स्पत्तित्वं सहस्रवर्षमपि निरोगतो ज्ञयते । तथाहि काश्चिदकर्म-
जूमिका कर्मजूमौ संहृता सा च स्व्यायुःक्यानान्तरमनन्तं कालं
वनस्पत्यादिषु संसृज्य ज्ञ्योऽप्यकर्मजूमौ समुपस्था । ततः केना-
पि संहृत्येति यद्योक्तं सहस्रवर्षयोः कृत्वा कालमानम् । एवं हेमवत-
हेरपयवनहरिवर्षरज्यवकवर्षदेवकुत्तरकुत्तररुद्रमिकामपि ज-
न्मन्तः सहस्रवर्षतश्च प्रत्येकं जघन्यमुद्दृष्टं चान्तरं वक्तव्यं सूत्र्या-
जोऽपि सुगमत्वात् स्थयं परिज्ञानीयः । संप्रति देवस्त्रीणामन्त-
रप्रतिपादनार्थमाह (देवस्थियायां जते इत्यादि) देवस्थिया प्रदन्त !
अन्तरं काश्चतः कियच्चिरं जयति भगवानाह गौतम ! जघन्ये-
नान्तमुद्दृष्टं कस्याश्चित् देवस्थियात् देवस्थिवात् च्युत्या गन्त्ये-
नात्कान्तिकमनुष्येषूप्यथ पर्यातिपरिसमाप्तिमनन्तरं तथाप्य-
वसायमवेषेन पुनर्देवीत्येवोपासिसंज्ञयात् उत्कर्षतो वनस्पति-
काशः स च सुप्रतीत एवमसुरकुमारदेव्या श्रावय्य तावर्षांशान-
देवस्थिया उच्छृष्टमन्तरं वक्तव्यं पात्रोऽपि सुगमत्वात् स्वयं
परिज्ञानीयः जी० १२ प्रति० ।

पुरिसस्स णं भंते ! केवातिंयं काशं अंतरं होति ? गोयमा !
जहस्येणं एणं समयं उक्कोसेणं वासस्सद्काशो तिरिकवलजो-
णियपुरिसाणं जहएणेणं अंतोमुद्दुत्तं उक्कोसेणं वणस्सई-
कालो एणं जाव सहपरतिरिक्खजोहियपुरिसाणं ॥

पुराणामिति पुष्वेवद् भदन्त ! अन्तरं काश्चतः कियच्चिरं
भवति पुरुषः पुरुषत्वात् परिच्छ्रष्टः सन् पुनः कियता काश्चन
तद्वाध्नातीत्यर्थः । तत्र भगवानाह गौतम ! जघन्येनैकं समयं
समयादनन्तरं ज्ञ्योऽपि पुरुषव्यवधानोतीति ज्ञायः । इयमत्र
ज्ञायता यद्वा कश्चित् पुरुष उपशमभ्रेणि गतः उपशान्ते पुरुष-
वेदे समयमेकं जीवित्वा तदनन्तरं ज्ञियते तदाऽस्वीं निय-
माहिवपुरुषवृत्तयते इति समयमेकमन्तरं पुरुषत्वस्य ।
ननु स्त्रीलपुसकयोरपि भ्रेणिलामो भवति तत्कस्माद्—
न्यायव्यवमेकः समयोऽन्तरं न भवति उच्यते स्थिया नपुसक-
स्य च श्रेष्ठ्याकदाववेदकजावान्तरं अरण्यं तथाधिचिद्ब्रह्माभ्यव-
सायतो नियमेन देवपुरुषत्वोन्त्यादात् । उत्कर्षतो वनस्पति-
कालः स वैश्वमनिज्ञपनीयः “अणुता उस्स (प्यिणश्रासपिष्णो-
दो कालतो वेत्ततो अणुता शोणा अस्सेञ्जा पुगसपरियद्दा
त्तेणं पुगसपरियद्दा भावश्रियाय असंखेज्जइभयो इति ” तद्व-
त् सामान्यतः पुरुषत्वस्यान्तरमनिघायं संप्रति तिरिकुरुषविषय-
मतिर्देवसमाह ” (जं तिरिक्खजोणिण्णामंतरंमियादि)
यत्तिरिग्मोनिष्ठीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव तिरिग्मोनिष्ठीणपुरुषा-
णामन्त्यविशेषितं वक्तव्यं तस्मैकं सामान्यतस्तिरिक्पुरुषस्य जघ-
न्यतोऽन्तमुद्दृष्टं तावत्कालाश्चित्किना मनुष्यादिभवेन व्यवधाना-
त् उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽसंख्येषुपुद्गलपराधर्षात्तः तावता
काशेनामुक्तौ सत्यां निरोगतः पुरुषत्वयोगात् । एवं विशेष्य-
न्त्यायां जहस्यपुरुषस्य क्लमपरपुरुषस्य क्लमपरपुरुषस्यापि प्रत्ये-
कं जघन्यतः उच्छृष्टमन्तरं वक्तव्यम् ।

सम्यति मनुष्यपुरुषत्वविषयान्तरप्रतिपादनार्थमाह ।
मणुस्सपुरिसाणं भंते ! केवातिंयं कालं अंतरं होति ? गो-
यमा ! खेत्तं पद्दुष जहएणेणं अंतोमुद्दुत्तं उक्कोसेणं वणस्स-
तिकालो धम्मवरणं पद्दुष जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं
अणुत्तं कालं अणुत्ता उस्स (प्यिणो) जाव अणुवत्तं पांगस-
परियत्तं देसूणं कम्मजूमकाणं जाव विदेहो जाव धम्मवरणे
एक्को समओ सेसं जहट्थीणं जाव अंतरदीवकाणं ॥

यन्मनुष्यस्त्रीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव मनुष्यपुरुषाणामपि
वक्तव्यं तस्मैकं सामान्यतो मनुष्यपुरुषस्य जघन्यतः केचमधि-
कृत्यान्तरमन्तमुद्दृष्टं तच्च प्रागिव भावनीयम् । उत्कर्षतो वन-
स्पतिकालो धम्मवरणमधिकृत्य जघन्यत एकं समयं चरणपरिणा-
मात्परिच्छ्रष्टस्य समयात्नन्तरं ज्ञ्योऽपि कस्याश्चित् चरणप्रतिप-
त्तिसंभवात् उत्कर्षतो देशतोऽपार्कपुद्गलपराधर्षात् एवं भरते-
रावतकर्मजूमकमनुष्यपुरुषस्य पूर्वविदेहात्परिविदेहाकर्मजूमक-
मनुष्यपुरुषस्य जग्म प्रतीत्य चरणमधिकृत्य च प्रत्येकं जघ-
न्यत उत्कर्षतद्वाचान्तरं वक्तव्यं सामान्यतोऽकर्मजूमकमनुष्यपुरु-
षस्य जग्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तरं दश वर्षसहस्राणि अन्तमुद्दृ-
ष्टां जघन्यधिकानि । अकर्मजूमकमनुष्यपुरुषत्वेन सूत्रस्य जघन्य-
स्थितेषु देवेषूप्यथ ततोऽपि च्युत्या कर्मजूमिषु स्त्रीत्येन पु-
रुषत्वेन धोष्य कस्याप्यकर्मजूमकत्वेन ज्ञ्योऽप्युत्पादात् दे-
वभवान् च्युत्या अनन्तरजर्मजूमिषु मनुष्यत्वेन तिरिक्कस-
क्षिपुत्तित्वेन च तथाजावत्पराशरामे कर्मजूमिषुपादात्—
निधानमुत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं सहस्रं प्रतीत्य
जघन्यतोऽन्तमुद्दृष्टैककर्मजूमः कर्मजूमिषु संहृत्यान्तमुद्दृष्टां-
नन्तरं तथाविषुः (विपरान्त्या) दिनातो ज्ञ्यस्तैश्च नयनसंज्ञ-
यात् उत्कर्षतो वनस्पतिकाल एतावन्तः काश्चार्द्धकर्मकर्मजूमि-
षुपत्तित्वं सहस्रवर्षस्यापि निरोगतो ज्ञयते । एवं हेमवतहेर-
पयवतादिप्यप्यकर्मजूमिषु जन्मतः सहस्रवर्षतश्च जघन्यतः उत्-
कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं याददन्तरद्वीपकाकर्मजूमकमनुष्यपुरुषत्व-
वक्तव्यम् ।

संप्रति देवपुराणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह ।
देवपुरिसाणं जहस्येणं अंतोमुद्दुत्तं उक्कोसेणं वणस्सति-
कालो भवणवासिदेवपुरिसाणं ताव जाव सहस्सारां जह-
स्येणं अंतोमुद्दुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो । अणानदेव-
पुरिसाणं जंते ! केवातिंयं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहस्येणं
वासपुद्दुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एवं जाव गेवेजगददेव-
पुरिसाणं वि अनुत्तराववातिपदेवपुरिसाणं जहस्येणं वासपुद्दुत्तं
उक्कोसेणं संखेज्जइभो सागरोवाभो अनुत्तराणं अंतरं एक्को
आझावओ ।

देवपुरुषस्य जघनन्त ! काश्चतः कियच्चिरमन्तरं जयति भगवा-
नाह । गौतम ! जघन्येनान्तमुद्दृष्टं देवजवात् च्युत्या गन्त्ये-
नात्कान्तिकमनुष्येषूप्यथ पर्याप्तिमनन्तरं तथाविषाध्यवसायम-
वेषेन ज्ञ्योऽपि कस्यापि देवत्वेनोपाधसंज्ञयात् उत्कर्षतो वन-
स्पतिकालः एवमसुरकुमारदाहान्य निन्तरं तावत्कालं याव-
त्सहस्रवारकवर्षदेवपुरुषस्यान्तरम् आनतकल्पवर्षस्यान्तरं जघ-
न्यत वर्षेषूप्यथ कस्यादेवात् विद्वान्प्रतिमिति चेत् उच्यते इह
यो गन्स्यः सवाग्निः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः स शुभाप्यवसायोपेतो

सूतः सन् आनतकल्पादारतो ये देवास्तेषूपघाते माऽऽन-
 तादिषु तस्य तावन्मात्रकालस्य तत्रोपाध्ययसाद्यिषुद्वयभावा-
 त्ततो व आनतादिप्रश्नरूपतः सन् द्रव्याऽप्यानादिपुष्पघाते
 स निगमाचारिभ्रमघात्प चारित्र्ये चाप्रमे वर्षे तत उक्तं जघन्यतो
 वर्षेपुष्पकल्पमुक्तयो वनस्पतिकालः । एवं प्राणनारणाप्युत्प-
 न्ममैवैयकदेवपुष्पघातामपि प्रत्येकमन्तरं जघन्यतः अक्षयतश्च
 अक्षयम् । अत्रुत्तरोपपातिककल्पयतीतिवैषुष्पकल्पे जघन्यतोऽन्तरं
 वर्षेपुष्पकल्पे उक्तयतः संख्ययानि सागरोपमाणि सातिरे-
 काणि तत्र संख्येयानि सागरोपमाणि तद्व्यर्थमनिकेषु संख्ये-
 यवारोप्यस्या सातिरेकाणि मनुष्यमेव तत्र सामान्याभिधानेऽ-
 प्येतद् अपराजितान्तमवगन्तव्यं सर्वार्थेसिद्धे सरुद्धेवोपादत्त-
 स्तत्रान्तरसंभवात् । अथै त्वमिदं प्रति प्रबनवासिन आरभ्य
 आ ईशानादमरश्च जघन्यतोऽन्तरमन्तुहृत् सनकुमाराद्वार-
 ज्यसहकाशत् नव दिनानि आनतकल्पादात्प्र्यासकल्पं
 बावन्नव मासा नयसु प्रेयैयकेषु सर्वार्थेसिद्धमहामिमानवञ्च-
 नुत्तरविमानेषु च नव वर्षाणि प्रेयैयकात् यावत् सर्वत्रापि
 उत्कर्षतो वनस्पतिकालः सिञ्जयादिवु चतुर्षु महाविमानेषु द्वे
 सागरोपमे उक्तं च " आ ईसाखादमरश्च अंतरं हीणं मृदुहृत्-
 तो मा सहस्वारे अच्युयस्युत्तरदिगमासवासनवधावरकाहुको-
 लो सव्यद्वयोयस्रो नव उवयासो द्वौ अपरा विजयादिसु इति "

नैरधिकनपुंसकानामन्तरम् ।

अकम्भभूषकमणुस्रणपुंसणं जन्ते । गोयमा । जम्मं पं
 पद्भु जहृष्येणं अंतोमृदुत् उक्तोसिणं अंतोमृदुत् (अंतोमृ-
 दुत्पुद्गुत्) संद्वरणं पद्भु जहृष्येणं अंतोमृदुत् उक्तोसिणं
 दसुणा पुव्वकात् । सव्वेतिं जाव अंतरदीवगाणं । एणुमंग-
 रस्स एं भंतं । केवतियं कालं अंतरं होति । गोयमा । जहृ-
 ष्येणं अंतोमृदुत् उक्तोसिणं सागरोपमसतपुद्गुत् सातिरेगं
 नरइयणपुंसगसस एं जन्ते । केवतियं कालं अंतरं होति
 जहृष्येणं अंतोमृदुत् उक्तोसिणं तरुकासो । तरणप्यनापुद-
 विनरइयणपुंसगसस जहृष्येणं अंतोमृदुत् उक्तोसिणं तरु-
 कासो एवं सव्वेतिं जाव अहृसत्तमा तिरिकलनोणियणपुं-
 सकसस जहृष्येणं अंतोमृदुत् उक्तोसिणं सागरोपमसतपुद्गु-
 त् सातिरेगं ।

गमिति वाक्यालङ्कारे अदन्त । अन्तरकालतः कियच्चिरं भवति
 नपुंसको चूय्या नपुंसकत्वाद् स्रष्टः पुनः कियता कालेन नपुंस-
 को भवतीत्यर्थः भगवानाह । गौतम । जघन्यतोऽन्तमुहृत्तेमेता-
 वता पुष्पादिकालेन व्यवधानात् उत्कर्षतः सागरोपमशतपुष्प-
 कल्पे सातिरेकं पुष्पादिकालस्य पतावद्ये संभवात् तथा चात्र
 संमहर्षणाग्या " इत्यनपुंसा संचि-देषुषे पुरिसंतरे य सम-
 षो । पुरिसनपुंसा संचि-देषंतरे स्यात्पुद्गुत् ॥ १ ॥ " इत्या-
 क्तरामनिका " संचिदणना नाम " सात्पेनावस्थानं तत्र स्त्रिया
 नपुंसकस्य च सात्पेनावस्थाने पुष्पात्तरे च जघन्यत एकः स-
 मवस्तथा च प्रागभिहितम् " इत्थीणं भंते । इत्थीति कालतो
 केव चिरं होह गोयमा । एणेणं आदिसिणं जहृष्येणं परं समर्थ
 इत्यादि " तथा " नपुंसगणं नपुंसगणिक कालतो केव चिरं होह
 गोयमा । जहृष्येणं एकं समर्थमियादि " तथा " पुरिसस्स एं
 भंते । अंतरं कासतो केव चिरं होह गोयमा । जहृष्येणं एकं सम-
 र्थमियादि " तथा पुष्पस्य च नपुंसकस्य यथाकर्म (सचिदणं)

सातयेनावस्थानमन्तरं चोत्कर्षतः सागरोपयुष्पकल्पे पदैकदेशे
 पदसमुदायोपचारात् सागरोपमशतपुष्पकल्पं तथा च प्रागभिहि-
 तं " पुरिसेणं भंते । पुरिसात् कालतो कियच्चिरं (केव चिरं)
 होह गोयमा । जहृष्येणं (जहृष्येणं) अंतोमृदुत् उक्तोसिणं सा-
 गरोपमसवपुद्गुत् सातिरेगं " नपुंसकान्तोत्कर्षमपिपादकं वे-
 दमेवाधिकृतं सूत्रमिति । तथा सामान्यतो नैरधिकनपुंसकस्यान्तरं
 जघन्यतोऽन्तमुहृत् ससमन्तरकपुष्पिण्या उच्युत् तन्पुंसकस्या-
 दिप्रवेध्वन्तमुहृत् संख्येया पूयः ससमन्तरकपुष्पिणीगमनस्य च अ-
 वधानात् प्रतिपुष्पिण्यपि वक्तव्यम् श्री ० २ प्रति ० ।

तिरिक्तामन्तरम् ।

एगिदियतिरिक्लनोणियणपुंसकस्स जहृष्येणं अंतोमु-
 हुत् उक्तोसिणं दा सागरोपमसहसाई संख्येज्जवासमन्थियाई
 पुदविआउतेतजात्तणं जहृष्येणं अंतोमृदुत् उक्तोसिणं व-
 णस्सतिकासो वणस्सतिकाइयाणं जहृष्येणं अंतोमृदुत्
 उक्तोसिणं असरेवज्जं कादं जाव असरेवजा लोय्या सेसणं
 वेदियादीणं जाव सवहराणं जहृष्येणं अंतोमृदुत् उक्तो-
 सेणं वणस्सतिकासो ।

तथा सामान्यचिन्तायां तिर्येयोनिकनपुंसकस्यान्तरं जघन्यतो-
 ऽन्तमुहृत्समुत्कर्षतः सागरोपमशतपुष्पकल्पं सातिरेकम् । अत्र प्रा-
 वन्न प्रागिव विद्योचिन्तायां सामान्यत एकेन्द्रियतिर्येयोनिक-
 नपुंसकस्यान्तमुहृत् तावता इन्द्रियादिकालेन व्यवधानात्
 उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके प्रसक्तया एषि-
 तिकालस्य एकैन्द्रियस्यव्यवधानकस्यात्कर्षतोऽप्येतावत्
 संभवान् । पृथिवीकायैकेन्द्रियतिर्येयोनिकनपुंसकस्य जघ-
 न्यतोऽन्तमुहृत्समुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवमप्याधिकोत्सका-
 यिकवायुकायिकैकेन्द्रियतिर्येयोनिकनपुंसकानामपि वक्तव्यं व-
 नस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्येयोनिकनपुंसकस्या जघन्यतोऽन्त-
 मुहृत्समुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं यावत् स चासंख्येयः काशोऽसं-
 ख्येया उत्सर्पिण्यसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः ।
 किमुक्तं भवत्यसंख्येयज्ञोकाश्चाप्रदेशानां प्रतिस्मयमेकैकाप-
 हारे यावत्प उत्सर्पिण्यसर्पिण्यो ज्वान्ति तावत्प इत्यर्थः । वन-
 स्पतिभवात् प्रच्युतस्यान्यत्रोत्कर्षतः पतावन्तं कालमवस्थानं
 भवात् तदन्तन्तं संसारिणो नियमन भूयःऽपि वनस्पतिकार्य-
 कविनोपाद्भावात् । इन्द्रियार्थिन्त्यचतुरिन्द्रियव्यवस्थि-
 न्तिर्येयोनिकनपुंसकानां जलचरवल्गुचरलक्ष्मणपञ्चेन्द्रियतिर्येयो-
 निकनपुंसकानां सामान्यतो नपुंसकस्य च जघन्यतोऽन्तमुहृत्स-
 मुत्कर्षतोऽन्तं कालं स चान्तः काशो वनस्पतिकालो व्यधो-
 कस्वरूपः प्रतिपचयः ।

मनुष्यनपुंसकस्य ।

मणुस्रणपुंसकस्स सेवंच पद्भु जहृष्येणं अंतोमृदुत् उ-
 क्तोसिणं वणस्सतिकासो धम्मकरणं पद्भु जहृष्येणं एणं स-
 कोसिणं अण्णं कादं जाव अण्णं पांगलपरियई दे-
 व्णं । एवं कम्मनपगसस वि भरट्टेरवपस्स पुष्पचिदेहअ-
 वरविदेहकस्स वि अकम्मनपगमाणुस्रणपुंसकस्स पं भंते ।
 केवतियं कादं ० जम्मणं पद्भु जहृष्येणं अंतोमृदुत् उक्तो-
 सेणं वणस्सतिकासो संद्वरणं पद्भु जहृष्येणं अंतोमृदुत्
 उक्तोसिणं वणस्सतिकासो एवं जाव अंतरदीवधि ।

कर्म नूतकमनुष्यनपुंसकस्यान्तरं केचन प्रतीत्य जघम्यतोऽन्तमु-
हूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकान्तः । धर्मवरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं
समयं यावत् वरणमङ्घ्रिध्यासास्य सर्वजघन्यस्य एकसामयिक-
कस्यात् उत्कर्षतोऽन्ततः कांश्च तमेवात्मन्तं कालं निर्धारयति
“ मन्ताप्रो हस्तप्येषिभ्रासिप्यपीभो काशतो केचतो अश्याना
शंगा अश्रुं पोग्लपरियहं देष्णमिति” एवं जरतेरयत्पूर्वसि-
द्धान्परिवेष्टिकर्म नूतकमनुष्यनपुंसकानामपि केचन धर्मवरणं
एव प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षे चान्तरं प्रत्येकं बह्वन्वयम् । अकर्मभू-
मकमनुष्यनपुंसकस्य जघम्य प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तमुहूर्त्तस्यैवावता
ग्यन्मनादिकाशेन स्व्यवाननाशान्त् उत्कर्षतो वनस्पतिकान्तः
सहरणं प्रतीत्य जघम्यतोऽन्तमुहूर्त्तम् । तच्चैवं कोऽपि कर्म-
भूमकमनुष्यनपुंसकेनात्यकर्मभूमौ संहृतः स च मागधपुरो-
दष्टान्तबलात्कर्म नूतक इति व्यपदिश्यते ततः कियत्काशानन्तरं
तथाविधबुद्धिपरवाचननायतो भूतोऽपि कर्मभूमौ संहृतस्त-
च्चान्तमुहूर्त्तं धृत्या पुनरप्यकर्मनूतानान्तः उत्कर्षतो वनस्प-
तिकान्तः । एवं विशेषकितान्यां देववतहेरपयवतहरिवर्षेभ्यः
वर्षेदेयुक्तुत्कर्षकर्म नूतकमनुष्यनपुंसकानामन्तरं दीपकमनु-
ष्यनपुंसकस्य च जघम्य सहरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षत-
श्चान्तरं वक्तव्यं तदेवमुक्तमन्तरम् जी० २ प्रति० । ५० सं० ।

(५०) औदारिकारिणोऽन्तरविशिष्टानामन्तरम् ।

ओरोलियसरीरस्य अन्तरं जहस्येणं एकं समयं उको-
सेणं तेषां सागरोवसाई अंतोमुहुत्तमजह्दियाई वेञ्जि-
यसरीरस्य जह्रायेणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं अण्यंतं कांश्च
वणस्ततिकालो आहारगसरीरस्य जह्रायेणं अंतोमुहुत्तं
उकोसेणं अण्यंतं कांश्च जाव ब्रह्महं पोग्लपरियहं देस्युं
तेयगकम्मगसरीरस्य स तुविद्धा एतिय अन्तरं ॥

औदारिकशरीरिणोऽन्तरं जघन्यतः एकः समयः स च द्विसा-
मायिक्याभ्यान्तराजगतौ भावनीयः । प्रथमे समये कामंशुश-
रीरोपेतत्वाद् उत्कर्षतस्त्वयिभ्राहासागरापमायि अन्तमुहूर्त्तंभ्य-
धिकानि सङ्कष्टौ वैकियकाश इति भावः । वैकियशरीरिणोऽन्त-
रं जघन्यतोऽन्तमुहूर्त्तं सङ्कष्टैकियकरणे यावता कालेन पुनर्वैकि-
यकरणात् शानवद्वेषेण भावात् । उत्कर्षतो वनस्पतिकान्तः प्रक-
ट एव आहारकशरीरिणो जघन्येनान्तमुहूर्त्तं सङ्कष्टकरो यता-
वता कालेन पुनः करणाद् उत्कर्षतोऽन्ततः कालं यावत्परि-
पुत्रज्ञपरायणम् । जी० सर्वजी० ५ प्रति० । (संघातपरिघा-
टकरणयोरन्तरं कश्च शब्दे)

संघिशेषेषोनान्तरम् ।

संघिस्त अन्तरं जहस्येणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं वणस्त-
इकालो असंघिस्त अन्तरं जहस्येणं अंतोमुहुत्तं उकोसेणं
मागरोवससयपुत्रुत्तं सातिरेगं ततियस्त एतिय अन्तरं ।
अन्तरविच्छन्त्यां संघिनोऽन्तरं जघन्येनान्तमुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽन्त-
तः काशम् । स चान्तरः कालो वनस्पतिकान्तः । असंघिकल-
स्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाशुत्वात् । असंघिनोऽन्तरं जघ-
न्यतोऽन्तमुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोवससयपुत्रुत्तं संघिकालस्य ज-
घन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाशुत्वात् नांसंघिनोअसंघिनः साघस-
पर्यवसितस्य नास्त्यन्तरपर्यवसितत्वात् । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।

(५१) संयमविशेषशोनान्तरम् ।

संजघ्रस्त संजघ्रासंजघ्रस्त दोह्य इति अन्तरं जहस्येणं अं-

तोमुहुत्तं उकोसेणं अण्यंतं कालं जाव अवहं पोग्लपरि-
यहं देस्युं । असंजघ्रस्त आदिद्विभे एतिय अन्तरं सादयस्त
सपज्जवासियस्त जहस्येणं एकं समयं उकोसेणं देष्णा
पुव्यकोमो वणत्यास्य एतिय अन्तरं ।

संयतस्य जघन्येनान्तरमन्तमुहूर्त्तं तावता कालेन पुनः क-
स्यापि संयतस्यभावात् उत्कर्षतोऽन्ततः कालेनानन्ता उत्स-
प्यियस्यवसर्पियस्यः कालतः केचन्तोऽपि पुत्रलपरावत् देशो-
नय पतावतः कालाद्भूई पूर्वमघासतस्यमयस्य नियमतः संयम-
लाभात् । संयतस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । अनाविसप-
र्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं तस्य प्रतिपातानसभात् । सादिस-
पर्यवसितस्य जघन्यत एकं समयं स वैकसमयः प्राग्व्या-
वर्धितः संयतसमय एवमुत्कर्षतो देशानां पूर्वकोटी असंबतत्व-
स्व्यवधायकस्य संयतकालस्य संयतासंयतकालस्य वा उत्कर्-
षतोऽप्येतावत्प्रमाशुत्वात् संयतासंयतस्य जघन्यतोऽन्तमुहूर्त्तं
तद्भाष्यपाते पतावता कालेन तद्भाष्यसिद्धेः । उत्कर्षतः संय-
वत् त्रितयप्रतिषेधवर्तिनः सिद्धस्य साघपर्यवसितस्य नास्त्य-
न्तरमपर्यवसिततया सदा तद्भाष्यपरित्यागात् । जी० स-
र्वजी० ३ प्रति० । (सामायािकारिसंयतानामन्तरं संजघ्र शब्दे)
सिद्धासिद्धयोः ।

सिद्धस्त णं भंते ! केवतियं कालं अन्तरं होति ? गोयमा !
सातोयस्त अपज्जवसियस्त एतिय अन्तरं । असिद्धस्त णं
भंते ! केवतियं कालं अन्तरं होति ? गोयमा ! अथातीयस्त
अपज्जवासियस्त अथातीयस्त सपज्जवासियस्त एतिय
अन्तरं ।

अससुत्तं सुगमं भगवानाह वीतम ! सिद्धस्य सासिद्धस्याप-
र्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । अत्र “ निमित्तकारणहेतुषु स-
वोसां वि भिक्कानं प्रायेण वशंमिति” म्यावाह हेतौ वृत्तौ ततोऽ-
धमयो यसात्सिद्धः सादिसपर्यवसितस्तस्मात्सास्त्यन्तरमप्य-
थाऽप्येव वसितत्वायोगात् । असिद्धस्यैव असिद्धस्यानादिक-
स्यापर्यवसितस्य नास्ति अन्तरमपर्यवसितत्वाद्वासिद्धत्वा-
प्रच्युतेः अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं भूयोऽ-
सिद्धत्वायोगात् जी० सर्वजी० १ प्रति० ।

अन्तरां-अन्तरङ्ग-पुं० अन्तरं सचशमहं यव्य । अस्यन्तमिषे,
बहिरङ्गाशक्योनिमित्तसमुदायमये अन्तर्भूतायि अङ्गानि नि-
मित्तानि यव्य । व्याकरणोऽं परतिसाधिरङ्गवाचके कान्ये-
भेदे, तद्दोषके शक्ये च वाच० । अन्तरङ्गबहिरङ्गोन्तरङ्ग
एव विधिर्बलवान् आ०म० द्वि० । अस्यन्तरे, वि० तं० । विषे०
(काल शब्दे एवदुदहरणम्)

अन्तरंजिय-अन्तराजिका-क्री० नगरीभेदे, वच भूतग्रहं चैवं
बलभी राजा वैराशिकानामुत्पत्तिश्चाभूत्, उत्त० ३ इ० । वि०
आ०म० द्वि० । कल्प० । सा० । आ० षू० ।
अन्तरंनगरोऽसिपा-अन्तराएदकगोत्रिका-क्री० अदकशोरा-
अन्तरस्य गोत्रिकायाम्, महा० ५ अ० ।
अन्तरकैद-अन्तरकन्द- पुं० अन्तर्ज्जावत्तकमनस्पतिभेदे,
प्रा० १ पद० ।

अन्तरं (रा) कल्प-अन्तरं (रा) कल्प-पुं० चारिनाम-
न्तरस्वकरो कल्पभेदे, । तद्भाष्येनात्मयम् ।

पिन्विसकप्यो एसो, एतो बोच्छामि अंतराकप्यं ।
 संखेवपिभियत्थं, गुरुवत्सं जहाकम्मो ॥ दारं ॥
 पंचद्वाणमसंखा, बारसगं चेव तिण्हि वितियायां ।
 अञ्जल्यकरणणाख-द्वया ए एसोतराकप्यो ॥
 सामादिसंजतादी, पंचद्वचरणं तु तेसि एकेके ।
 संजमजाणमसंखा, एकेके तत्थ णाखम्मि ॥
 होति अणंता चारि-त्तपज्जवा ताख संखगुणियायाणि ।
 एके संजमककग-कंदसंखा ए छद्धानं ॥
 उद्धाना संखेज्जा, संजमसेही तु होति बोधन्वा ।
 सामाइयेडेदंजम-ठाणागं तुं अस्संखेजा ॥
 परिहारसंजमद्वाण, ताहे लभ्यंति ते अस्संखागा ।
 गंतुं ण होति जिष्सा, ताहे तत्तो पुणो परतो ॥
 वदंति जे अस्संखा, सामाइयेडेसंजमद्वाणा ।
 सामाइयधेद्वजाणा, ताहे जिष्सा भवंती तु ॥
 तो सुदुमपगजाणा, ते वि अस्संखेजंगं तु बोच्छिज्जा ।
 तत्स अणत्तिमजाणा, अणंतगुणवद्धितं णियमा ॥
 एके परमविमुक्के, होति अहक्खवा संजमद्वाणं ।
 पंचमसंखानितं तं, बारस गयारपकिमाओ ॥ दारं ॥
 सुद्धपरिहारचउरो, अणुपरिहारी वि णवमकप्यउतो ।
 एते तिण्हि तिया खलु, एतेसि एकमेकस्स ॥
 अंतरसंजमजाणा, होति अस्संखाजु तेसि सन्नेसि ।
 होति सुविहा तु सोही, करणे अन्नत्थतो चेव ॥
 तो दो बी कायन्वा, णापचाए वउत्थेयां ।
 एसो अंतरकप्यो पं०भा० ॥

इयाणि अंतरकप्यो गाहा-(पंचद्वाण) अंतरकप्यो नाम पंच-
 विहं चारिसं सामाइयमाइ एकेकस्स अस्संखेजाइ संजमद्वा-
 णाइ अंतरं बारसपि बारस भिक्खुपडिमिओ तासि पि तहेव
 अंतरं तिषि तिगमित्तु च परिहारिया णव चचारि परिहारिया
 अणुपरिहारिया वि चचारि एसो कप्यद्विओ । एएसि अस्सं-
 खेजाइ अंतरा संजमद्वाणां तेषु पुण सव्वेसु वि दुविहा
 लोही अन्नमथसोही ए करणसोही ए ॥ दो वि कायन्वाओ
 नाणद्वया एवं नाणुमित्तिसं वा नाणोवउत्तो वा जं करेइ तत्थ वि
 अन्नमथकरणे पडव्व निज्जाविसेसो करणविसोहीए वि बाहि-
 रए अन्नमथओ चेव निज्जाविसेसो एस अंतरकप्यो । पं०वू० ।

अंतरकरण-अन्तरकरण-न० यथाप्रवृत्तकरणपूर्वकरणानि-
 वृत्तिकरणभेदाभिन्नं सम्प्रकत्वौपधिककरणे, पं० सं० १ द्वा० ।
 [तदुत्तं यथा प्रवृत्तादिशब्देषु करणशब्दे च]
 अंतराय-अन्तरीत-त्रि० मध्यगते, प्रश्न० सं० ३ द्वा० ।

अंतरगिह-अन्तरगृह-गृहान्तर-न० गृहस्य गृहयोर्वा अन्तरं
 राजदन्तादिवत्त्वं अन्तरगृहस्य पूर्वनिपातः । गृहस्य गृह-
 ओर्वा अन्तराले, वृ० ३ उ० । गृहयोर्न्तराले खानादि न
 कर्तव्यम् " गिहंतरणिसिज्जा य सि " दानाचारत्येन तस्य
 * कथनात् ।

(सूत्रम्) नो कप्यति निर्गम्याणं वा निर्गम्यीणं वा अंतरा-
 गिहम्मि चिद्धिचए वा निसीयत्तए वा तुअद्वत्तए वा निपाइ-
 चए वा पयसाइत्तए वा असणं वा पाणं वा स्वाइमं वा साइमं
 वा आहारं आहारित्तए उबारं वा पासवणं वा खेलं वा
 सिंयाणं वा परिद्वित्तए सज्जायं वा करित्तए भ्राणं वा
 भाइत्तए काउत्सम्मं वा ठाणं वा ठाइत्तए अह्द पुण एवं
 जाणिज्जा बाद्धिए जराउष्ठो तवस्सि । दुब्बले किंत्ते सु-
 च्छिज्ज वा पवभिज्ज वा एवं से कप्यइ अंतरगिहंसि चिद्धि-
 चए वा जाव ठाणं ठाइत्तए ।

नो कल्पते निर्गम्याणां वा निर्गम्यीणां वा अन्तरं गृहे गृहस्य
 गृहयोर्वा अन्तरं मध्ये राजदन्तादिवादापर्यव्याहारा अन्तरगृह-
 स्य पूर्वनिपातः स्यातुं वा निपणुं वा यावत्करणाल्पत्वव्यतिरेकितुं
 वा निष्ठापयितुं वा प्रवक्ष्यायितुं वा असनं वा पानं वा आदिमं
 वा स्वादिमं वा आहृतंमुखात् वा प्रक्षयणं वा खेलं वा सिंयाणं वा
 परिष्ठापयितुं स्वाध्यायं वा कर्तुं ध्यानं वा भ्यातुं (कारवस्स-
 मंति) कार्यासंगक्षकणं वा स्यातुं स्थानं कर्तुं स्वपैणैवापवादं
 दर्शयति । अथ पुनरंवं जानीयात् (बादि इत्यादि) व्याधि-
 तो म्लानो जराजीणः खविरस्मपस्वी क्षापको दुब्बलो म्लानव्या-
 द्बुनैबोत्थिनोऽखमर्थचारीः एतेषां मध्याह्न्यतमस्तपसा नि-
 क्षापयत्येन वा क्लान्तः परिश्रान्तः सन्न मुच्छेद्वा प्रपतेद्वा एवं
 कारणमुद्दिश्य कल्पते अन्तरगृहे स्यातुं वा यावत् कार्यासंगं
 वा कर्तुं (मिति स्याथः) ।

अथ भाष्यविरुद्धः ।

संज्ञानमसम्भावे, लुहद गिहानंतरं तु सम्भावे ।

पासपुरोहदभ्रगण, मउभंति ए होतसंज्ञावं ॥

गृहान्तरं द्विधा सङ्गानोऽसङ्गानवत्तम् । गृहयोर्गृहयोर्दन्त-
 रं मध्यं तत्सङ्गयो गृहान्तरम् । यत्तु गृहस्य पादवर्तः पुरोहते-
 न्मङ्गणे गृहमध्ये वा तत्सङ्गवगृहान्तरं भवति एतस्मिन् द्विवि-
 धेऽपि भिन्नाद्यथे निर्गेतस्य स्थानादि कर्तुं न कल्पते ।

कुङ्कुतरजिज्ञेए, शिंससणो गिहे तहेव रन्थाए ।

वार्यतगणो लुहगा, तत्थ वि आणइणो दोसा ॥

द्वयोः कुक्षयोर्न्तरं (जिष्णपिण्) सतिप्रातस्तथाभिनय-
 क्रियमाणस्य वा गृहस्य जिष्णो विवेशितभारिभ्रमभूनीनां गृहा-
 णामाजोणं (गिहदिण्) गृहपादवर्ते रथ्यायां प्रसंतायाभेतेषु ख-
 नेषु तिष्ठतश्चतुर्भुजेषुकाः तत्राप्याहादयो दानो मन्तव्यास्ताकमिसं
 प्रायश्चित्तं पृथग्भवतीति जावः । तथा-

स्वरिपे स्वरिया मुएहा, णडे वडे खरे व संकिज्जा ।

स्त्रिण्णं य अगणिकाए, दारे विचिं व केण तिरियक्खं ॥

स्वरको दासः स्वरिका दासी स्त्रिया वधुः वृषस्वरन्तरङ्गमः एतेषु
 नष्टेषु स्त्राषुः शङ्कते यः भ्रमणकः कस्ये अथ गृहान्तरं उपविष्टः
 आसीत् तत्र हतं भविष्यति । द्वारे वा भ्रमणन चद्वाटिते स्तनः
 प्रविश्य हतवानिति (वेणिसि) वेणं केनचित् आतं हसमि-
 त्यथेः शनिंकायो वा केनापि दृष्टो भवेत् द्वारेण वा प्रविश्य
 वृत्तिं वा द्विधा केनापि सुवर्णादिकमपि हतं स्यात् तिर्य्यो-
 नीयो वा गोमर्दिनीप्रवृत्तिकां स्त्रियो भवेत् तत्रापि शङ्कायां प्र-
 णाकर्षणवद्दयी, दोषा बत पयमतो गृहान्तरे ष्यात्तव्यम् ।

अथ सुत्रांके द्वितीयपदं भावयति ।

उच्छुक्कमरीरं वा, उच्छुक्कतपसोमिते व जे होजे ।

येरे लुधमद्विष्टे, वीसंपर्णवेसहत्संके ॥

उच्छुक्कं रोगाज्जतं शरीरं यस्य स उच्छुक्कशरीरो वाशब्दः उच्छुक्कस्या विकल्पार्थं कुर्वन्नोऽभ्यन्तित्यस्याः तपःशोषितो वा विष्टुहृतपोनिष्ठतद्दो प्रवेष्ट यो वा स्वधियो ज्ञाँः षड्विधोऽतिक्लान्तजन्यप्रायः सोऽपि यदि महान् सयैव्योऽपि हृदयत भवे विश्रामप्रवृत्तार्थं गृहान्तरे तिष्ठेयुः । इह च व्याधितोद्वे च उस्सर्गतो जिज्ञाटनं न कार्यते परमात्मविश्रकारणोपेक्षया भिन्नामृतां प्राकृतस्तत्राद्यतारो मन्तव्यः स च व्याधिनानिर्विभ्रमभण-वेयः संविमयेषधारी इत्युच्छुक्क हास्याद्विकारविकलतया अ-संज्ञानवीयच्छुक्कशब्दः सन् तत्र स्थानार्थानि पदानि कुर्यात् ।

अहवा ओसहद्वेठं, संख्विसंघादए व वासासु ।

वाषाए वा तत्थ उ, जयणाए कप्यती ठाठं ॥

सुत्रांकेस्त्यायदपवादो वृत्तिः । अर्थायतः प्रकारान्तरेणान्यु-च्यते इत्यत्र वाशब्दार्थः शीघ्रघतेतोदात्तारं गृहे अस्वाधीनं प्र-तीकृते संज्ञाशब्दां वा याप्येद्वेला भवति संघाटकसाधुर्वा याव-ज्जकसाधुर्वात्तं भाजनं वसतो विमोच्य समागच्छति वर्षासु वा गृहं प्रविष्टानां वर्षे निपेतव बधुवराद्यागमनेन वा रथ्यायां व्या-घातानं प्रवेष्ट नायचश्रेष गृहान्तरे यतनया बह्यमासुधा स्थानु कल्पते एष द्वारगाथासमासायः ।

अथमामेव विद्यरीशुरीर्यसंकिङ्कारे व्याख्यानयति ।

पामंमि ओसहदाई, ओसहदाता व तस्य असहई।यो ।

संख्वि अमती काडो, उठेंते वा पविच्छंति ॥

म्लानस्वीशधानि पेष्टयानि तत्र पेष्टणशिला प्रतिश्रेये नेतुं न कल्पते अतस्तेषां आगारिणां गृहान्तरे स्थित्वा तानि पेष्टन्ति । श्रापधर्माणांशुर्वा वा कस्यापि गृहं गताः स चौरपधता त-दानीं तत्रास्वाधीनोऽतस्त्वं प्रतीक्षामौः भ्वातव्यम् । संखडी वा कापि वनेन तत्र वसेकालोऽद्यापि देशकालो न भवति गृहस्वामिना चोक्तं प्रतीक्षार्थं क्षणमेकं यावद्वेला भवति तत-स्तस्मिन्नभ्यसिन्नु वा गृहे प्रतीक्षणीयम् । अगारिणो वा तदानीं गृहाङ्गणमापुत्र्यं भोक्तुमपविष्टाः सन्ति ततस्तानुपविष्टतः प्रतीक्षन्ते ।

संघाटकद्वारमाह ।

एगवर उभयओ वा, अओजे अहद्व वा उभयलंभे ।

वसईं जाणे एगो, ता इच्छरो चिडईं दूरे ॥

एकतरस्य भक्तस्य वा पानस्य वा उभयोर्वा अलाभे दुर्ल-भनायामित्यर्थः । [आह्वय] कदाचिदुभयमपि प्रचुरतरं लब्धं तेन च आज्ञनमापुरितं ततः संघाटकस्य मध्याध्यावे-कस्नत्राज्जनं वसति भवति तावदितरः साधुरागारिणां दूरं भूत्वा तिष्ठति एष चूलैर्भिमिप्रायः । पुनर्यं भक्तस्य पानकस्य उभयस्य दुर्लभस्य लाभः समुपस्थितो मात्रकं च तस्मिन् दिने अनाभोगेन न गृहीतं ततो यावदेको मात्रकं वसतेरणयति तावदितरस्तत्र गृहिणां दूरे तिष्ठतीति ।

वर्षांद्धारमाह ।

वामासु च वासंते, अणुषचिचाण तस्य णावाहे ।

अंतरगिहे गिहे वा, जयणाए दो वि चिडंति ॥

वर्षासु वा कापि गृहे गतानां वर्षे वर्षति गृहस्वामिनमु-

हाय्य तत्रानावाधे अयकाशे अन्तरगृहे वा गृहे वा द्वापि संघाटकसाधु यतनया विद्यधतिपरिहारेण तिष्ठतः ।

प्रत्यनीकद्वारमाह ।

पदिणीपनिवेपंते, तस्स अंतरे गतो फिदिए ।

बुगहनिव्वहजावे, वाधातो एवमादीसु ॥

प्रत्यनीकं समागच्छन्तं दृष्ट्वा यावदतीं द्वानिमज्जति तावदेकान्ते निर्वाण तिष्ठति सुपो वा सम्मुज्जेनेति तस्य वा सुपस्थानतः-पुरं गजो वा हस्ती निर्गच्छति ततो यावदहसी सिफटितो प्रव-ति तावच्चश्रेयासते (बुगहसि) दृष्टिकौ द्विजो वा झी परस्य-वं विप्रदं कुर्वन्ती समागच्छतो निवेदं षधुषरं ततो महता पि-च्छेन समायाति आदिशब्देन गौष्टिका गीतं गायन्तः समा-यन्ति एवमादिषु कारणेषु व्याघातस्तत्रैवं प्रतीक्षणसणो भवन्ति । तत्र च तिष्ठतामियं यतना ॥

अयाणगुत्ता विकहाविहीणा,

अच्छणएखाणे व त्रिया पविष्ठा ।

अर्यंति त संतमुद्दा णिविंउं,

भंति वा सेसपदे जहुंषु च ।

आदानैरिच्छियेगुत्तासुधा विकथया भक्तयादिरूपया वि-शेषेण हस्तसंज्ञादरेपि परिहारेण हीनास्यकास्तत्र गृहान्तरे अच्छणे छुषे वा प्रदेशे ऊर्ध्वस्थता उपविष्टा वा त साधवः शास्त्वुजा आसते । निवेश्य चोपविश्य शेषारण्यपि स्वाध्याय-विधानादीनि यथोक्तानि पदानि यथायोगं भजन्ते न च द्वाप-मापद्यन्ते । कथमिति वेदुच्यते ।

याणं च कालं च तदेव वत्थुं,

आसज्ज औ दोसकरे तु ठाणं ।

तेव व अमस अदोसवेते,

जवेति रोगिस्स व ओसहदाईं ।

स्थानं च स्त्रीपशुपत्नरकसंसक्तं भूभागदि कांसे च ऋतुबद्धा-दिकं तथैव वस्तु तरुणनीरोगादिकं पुरुषद्वयमासाद्य यान्ये-कस्य गृहान्तरे स्थानानिपदानि स्थानानि दोषकारिणि भवन्ति तान्येवान्यस्य पुर्वोक्तविपरीतस्थानकासपुरुषवस्तुसा-खिव्याप्तदोषवन्ति रोगिण इवौषधानि । यथा किञ्च यान्यीषधा-न्येकस्य पिस्तरीणिषो दोषाय भवन्ति तान्येवापरस्य वातरोगि-णो न कमपि दोषमुपजनयन्ति एवमत्रापि भावनीयम् ।

अन्तरगृहे यथेकधा न कथनीया ।

[सूत्रम्] नो कपति निर्गम्याण वा निर्गम्यीण वा अंतर-गिहमि जाव चउगाई वा पंगगाहं वा आइसिचए वा वि-जाविचए वा किट्टइचए वा पंवेयइचए वा नभस्य एगना-एण वा एगवागरणेन वा एगगाहाए वा एगसिखोएण वा सेविय ठिक्का नो चेव एं अत्रिच्छा ।

नो कल्पते निर्गम्याणां वा निर्गम्यीणां वा अन्तरगृहे यावच्चतुर्गंधं वा पञ्चगंधं वा विभावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेष्टयितुं वा । एत-देवापयवद्भाह । "नक्तव्य" इत्यादि नो कल्पते इति योऽयं निषेधः स एकद्वाराद्वा एकगाथाया वा एकद्वेष्टेकाद्वा अन्यत्र मन्तव्यः । सूत्रे च पञ्चगंधास्थाने तुतीयानिदोषः प्राकृतवत्त्वात् । अपि च एकगाथादिव्याख्यानं स्थित्वा कर्तव्यं नैवास्थित्वा सिक्तां पधे-ता उपविष्टेन वा इति सूत्रार्थः ।

अत्र विषयप्रशान्ति भाष्यरुद्र विवृणोति ।
 संहियकट्टणमादि-अपठं तु पदच्छदं यो विनांगो ज ।
 मुत्तन्त्योकिट्टणया, पवेतणं तपफळं जाण ॥
 इदं संकिताया अर्थलिततत्त्वेच्छायापकाया यदाकर्षणं तदा-
 कृतानुसूच्यते तत्त्ववेदे अतसमितिकथायानां धारणरक्षणविनि-
 प्रदाः सन्मध्यपदेन्यश्चोपरयो धर्मोः पञ्चोच्चियमश्च एवं भिक्त्वा-
 गते गृहस्थानां धर्मकथनार्थं संहिताकरणं करोति । यस्तु पद-
 छेदः ' मा ' इति पादपुरणे स विभागे विनावना प्रस्यते यथा
 प्रतानां धारणं समितोनां रक्षणं कथायाणां निप्रद इत्यादि ।
 यस्तु सूत्रार्थं कथनं सा अन्वोतेना सा चेषं ब्रह्मणि प्राणातिपा-
 ताविविदमणरूपाणि तेषां सत्यगमप्रसेन धारणं कर्त्तव्यम् ।
 समितय ईशोसमित्यादयस्तासामेकाग्रचेतसा रक्षणं विधेय-
 मित्यादिकस्य धर्मस्य यत्कर्ममैहिकाणुमितिक्रममङ्गलं तत्र-
 रूपणं प्रवेदनं जानीयात् यथा ब्रह्मवर्षणीतमसुं धर्ममनुतिष्ठन्
 इदं च भुवनवन्दनीयतायशःप्रसादाद्व्यां गुणा लपटोक्तं परञ्च
 अ स्वर्गापवर्गमेवात्युप्राप्तिर्भवति इति एवं श्लोकादेराख्यानादिषु
 भिक्त्वां गतेन विधीयमानेषु शोचानाह ।
 एका वि ता मद्रुहा, किमंग पुण हौति पंच गाहाओ ।
 साहृण लहुगा आणा-दिदोसा ते चेविमे असे ॥
 एवं संहिताविविस्तारेण व्याख्यायमाना तावदेकाग्रि ग-
 था महती महाप्रमाणा भवति निमङ्ग पुनः पञ्च गाथाः ॥ अतो
 योकाग्रिप गाथां कथयति तत्र चतुर्लघुका आश्वादेशश्च
 दोषाः । तथा चतुर्लघुमादिहृत्तनष्टाद्वयस्य पदान्तरवृष्टोक्ता
 दोषा भवन्ति । इमे च वचनमाणा अन्ये दोषास्तानेवाह ।
 अर्द्धीकारगपोर्यग-सररुणमक्खरा चव ।
 साहारापरिक्वण्चे, गिहाणअहृहाजा वा चरिंम ॥
 भिक्त्वां पर्यटनं कर्मण्यगारिणमशुद्धां गाथां पठन्तं श्रुत्वा ब्र-
 वीति विनाशित्येवं त्वया गाथा । तथा (अर्द्धीकारगण्ति) गा-
 थाया अर्द्धमहं करोमि अर्द्धं पुनस्त्वया कर्त्तव्यम् । (पुर्यगण्ति)
 पुस्तकादेव शास्त्रमधीतं भवता न पुनर्मुञ्च्यता । (सररु-
 ण्ति) किमेवं वर इवारटनं करोमि (अक्खरा चेवन्ति) अ-
 च्छरायेष त्वाश्रवाञ्च जानीते अतः पट्टिकामानयाहं भवन्तं
 तानि शिखयामि इत्यादिमुवाक्यो यावत्तत्र व्याघ्रेण करोति ता-
 वत् इमे दोषाः (साहाराण्ति) साधारणं सर्वेषु मिलितेषु
 बन्मण्डल्यां भोजनं तस्मिन्समयितरे साधयः तं प्रतीक्षमाणा-
 स्तिष्ठन्ति (पड्धिण्तिस्ति) तेन साधुना कश्चित् ग्लानः प्र-
 क्षान्तः अथाहं भवतः प्रायोन्यमानेष्यामीति ततस्तत्र वेलावि-
 लम्बेन यत्सौ ग्लानः परितापादि प्राप्नोति तत्र चतुर्लघु-
 कादि चरमं पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तमिति ह्यारगाया-
 समासार्थः ।
 सांप्रतमेनामेव व्याख्यानयति ।
 जगविभग्मा गाहा, भणई हीणा व जा तुमे जणित्ता ।
 अइ से कोरि अइहं, तुम से अइहं पसाहेहि ॥
 साधुभिक्त्वां गतः सुपाण्डित्यव्यापनार्थं गृहस्थं पठन्तं श्रुत्वा
 ब्रवीति येषं त्वया गाथा भसित्ता सा भद्रविद्या इति भणति
 हीना वा कृता । यथा अर्द्धं (से) तस्या गाथाया अहं क-
 रोमि अर्द्धं पुनस्त्वं प्रसाधय इत्येवमभिनवा गाथा कियते ।
 मोत्यगपबगपरिचं, किं रडसि रासुठ व्व अत्रिलापं ।

अकयमुहु ! फल्यमाणय, जा ते लिवस्सं तु पंचमं ॥
 पुस्तकप्रत्ययादेव भयता पठितं न गुरुमुखात् अतः किमेतन्
 प्रयासेन किं वा त्वमेवं रासन् इव अभिलापं विस्तारमागृह्णस्व ।
 यथा अकृतमङ्गलरूपकारेणोत्पत्तं मुष्णं यस्यासायकृतमुक्त्वा-
 स्यामन्त्येवं हे अकृतमुक्त्वा अपठिताशिक्षितः । एवं भयात्र किमपि
 ह्यस्विति अतः फलकं पट्टिकामानय येन तत्र योऽयमि एषा-
 न्प्रायङ्कराणि शिष्यस्तामस्मानिः । एवं भिक्त्वां पर्यटनं यदि वि-
 कल्पते तत इदं प्रायश्चित्तम् ।
 बहुगादी छुगुरुगा, तवकालामिमेसिया चठगुरुगा ।
 अधिकरणमुत्तरचर-एसाएसंकाइ किन्दियम्मि ॥
 गाथायामर्द्धीकारके च चतुर्लघु, पुस्तके चतुर्लघु, अक्षरशि-
 क्षणे चतुर्लघु, सररटने चतुर्लघु, । अथवा तपकाशविशेषिता-
 चतुर्लघुकाः तद्यथा गाथायार्द्धीकारकयोस्तपःकालान्वां लघुकाः
 पुस्तके कालेन शुक्या अक्षरेषु तपसा गुरुकाः सररटने तपसा
 कालेन च गुरुकाः । अधिकरणं च कलदस्नेम सयं जयति उ-
 त्तरोत्तरा अकिप्रयुक्तीः कुवोनस्य च तस्य भिक्त्वायां देशकालः
 स्फिटति तस्मिन् स्फिटिते पर्यटनेष्वप्यथोः प्रेरणं कुव्यात् अकाल-
 चारिणश्च शठकादयो दोषा जयन्ति ॥
 वागिहृदि इय सो जाव, तेण ता गहिय भायणा इपेरे ।
 अत्यन्ते अंतराय, एमेव य जो परिक्वणो ॥
 यावत्सौ तेन समुत्तरप्रत्युत्तरिकां कुवन्द् ध्यायुञ्जति व्याक्रे-
 षेणु वेलां गमयति तावदितरे साधवो गृहोत्तराजनाः सन्तः
 आसन्ते ततोऽन्तरायदोषः । एवमेव यो ग्लानः प्रतिहस्तस्वेषो-
 म्यं प्रायोन्यमथ मया आनेनव्यमित्यर्थः ततस्त्विसंक्षयं ताथन्ते
 कालं बुद्धिकेने तिष्ठति तस्य साधोःन्तरायं जयति ।
 कान्नाइकमदाणे, होइ गिहाणजस रोमपरिउहुं ।
 परितावणमासति, चउइहृहा नाव चरिंमपटं ॥
 कान्नातिक्रमेण च श्वानस्य जकपानदाने रोगपरिउद्धिर्भवति
 तत्रच यदसाथनागादपरितापादिकं प्राप्नोति तत्र चतुर्लघुका-
 दिप्रायश्चित्तं यावत् कालगतं चरमपदं पाराञ्चिकम् । इति-
 यपदे गोचरप्रविशोऽपि परेण स्पृष्टः सन् कथयेत् । किं कारयमि-
 ति चेदुच्यते ।
 किं जाणोति य चरगा, हइं जहि पाण जे उ पण्डइया ।
 एवंविधो अणणो, मा होइहं तेण कथयति H
 यदा परेण प्रश्रितना अपि न कथयन्ति तदा स्व चिन्तयन्ति किमे-
 ते चरका जानन्ति ये हलं परित्यज्य प्रमंजिताः एवंविधोऽथवोः
 प्रवचनस्य मा जूत् तेन कारणेन कथयन्ति । अथ "यगताण-
 वा" इत्यादिसुष्यद्व्यविख्यातयाऽऽइ ।
 एगं नायं उदगं, वागरेणपरिहसन्नकण्ठो भग्मो ।
 गाहाहिं सिलोमेहि व, समासतो तं पि ठिच्चा णं ॥
 परप्रश्रितेन विवक्षितार्थसमर्थनार्थमेकं ज्ञानमभिधातव्यं तत्र
 चोदकदृष्टान्तो भवति व्याकरणं निर्वचनं यथा केनचित् धर्मस-
 क्तं पृष्टस्ततः प्रतिश्रयात् अहिंसासङ्गणो धर्मः । अथवा गाथाभिः
 श्लोकोर्वा समासतो धर्मकथनं कर्तव्यं तदपि च स्थित्वा गोपवि-
 षेन न वा भिक्त्वा हिण्डकमानेनेति निर्मुक्तिमाथासमासार्थः ।
 अर्थेनामेव विवृणोति ।
 नजइ अणण अत्यं, णायं दिहंते इति व एगहं ।

वागर्णं पुण जा ज-सस धम्मता होति अत्थसस ॥
 हायते अनेन दाहोमितिकोऽथे इति हायं कथं दृश्यन्त इति शेषार्थं व्याक-
 र्णं पुनर्यो यस्य मोक्षादेरर्थस्य धर्मता स्वभावस्तस्य निर्वचनम् ।
 अर्थात्कदाहन्ता भवत्येते "एगो साह् उन्मासगभिक्षाचार्याय
 भवं गामं वबाह तत्थ अंतरा गिहयां मिशितो ते दो व वंत्ता कं-
 तरापदे उद्दं उषिण्णा सो अगतां गामं पविट्ठो तस्स य भगिणी
 अथि तीप धरं पाहुणागो गतो । साह् वि भिक्खं हिंसेतो तं
 धरं गतो प्रगिणीय पुरेकम्मं कथं साहुणा पडिसिद्धं । भगिणी-
 य कदिंयं कीस न गिएहसि । साह् भणह उदगसमारजो न धह-
 ह । अगारा जणति जे मय ससं पंथे उद्दं उषिणो सि नं किह
 कपह अहो मायाविणो बुद्धिधम्मणां सि । साह् जणह न वयं
 मायाविणो न वा बुद्धिधम्मणां कि तु " पयं सु परिहरामो,
 कल्पेणं विवज्जणं न विज्जति हु पयं खहु सारज्जं, अज्जतो होह
 अणवज्जो " प्राप्यमेव परिहत्तुं शुकमेमेवं दयं परिहरामः
 स्य परिहत्तुं मराकयस्य मार्गकमातात्तदकदाहकार्दवियुक्तैः
 परिहर्ता न विद्यते अत एव प्राप्यं साराधं पुरःकर्मादिकं वर्ज-
 यन् अनवधो निर्दोषो भवति । अपि च नायमेकान्तो यत्केवना-
 वधनया हर्षं तदन्यत्र प्राप्यमेवधयेव ज्ञवति । तथाहि ।

चिरपाहुण्यतो भगिणिं, अत्रयारिंतो अदोसवं होति ।

तुं चेव मज्ज सकखी, गरहज्जइ अमसिद्धं काळे ॥

चिरकालादायताः प्राचुर्यैको जगिनीभवकालामानः सस्नेहमा-
 शिङ्गन् अद्योवबाद् भवति । तथा चान्न त्वमेव मम साक्षा प्रमाणं
 संप्रप्तमेव भवति । चिरप्राचुर्यकतया जगिनीपरिचक्षस्य कृत-
 त्वादिति ज्ञावः । तामेव च जगिनीमन्यस्मिन् काले परिष्वज्ज
 गहोम निन्दते अत्रापि त्वमेव प्रमाणमिति । तथा ।

पादेहि अथादेहि वि, अगामिय तस्मि करीती अष्वा ।

संमिण वि संकिज्जति, मषव चित्तीकया उविओ ॥

अत्र प्रतिमा सा यावज्जाद्यपि प्रतिष्ठिता तावदप्यैतैरपि पा-
 दैराक्रम्योपरि चक्षित्वाऽपि क्रियते । सैव प्रतिमा चित्तीकया चै-
 त्यस्वेन व्यवस्थापिता शीर्षेणापि स्मर्ये शङ्कयते शिरसा स्पृश-
 ङ्गिरपि शङ्का विधायित इति ज्ञावः ।

केऽ सरीरावयवा, देहत्था पूय्या न पुण विउता ।

साहिज्जंति वणमुहा, मसोमि वूहे ए सव्वे उ ॥

केचित् शरीरावयवा वस्त्रकेशनकाद्यो देहस्थाः सन्तः पू-
 जिताः प्रशस्ता भवन्ति न पुनर्विमुताः शरीरात्पृथग्जनाः ।
 तथा मणुष्याभ्यां अपि भोजनचक्षुःपायुधतृतीमि न्ये म्भूदे सति न
 सर्वाधयपि शोभन्ते किंतु कानिचिरेवति ।

जइ एगत्थुवल्लंत्तं, सव्वत्थ वि एवमससी मोहा ।

जूमती होति कण्णं, किस्स सुवस्रा पुणो जूम ॥

यदि नाम एकत्र यत्पुल्लभं सर्वत्रापि तेन भवितव्यमि-
 त्येवं मोहाद्ब्रह्मानन्द मन्यसे ततः कथय जूमतीः कनकमुप-
 घमानं दृश्यते ततः सुवर्णोत्पुनरपि किं न भूमिः सम्पद्यते ।
 तन्हा उ अण्येगंती, वा दिङ्गमेगत्था सव्वाहिं होति ।

लोप भक्खमभक्खं, पिज्जपिज्जं च दिङ्गाइ ॥

तस्मादनेकान्तोऽनियमो यः कीदृश इत्याह । नैकत्र हर्षं स-
 र्वत्रापि भवतीति । तथाच लोके प्राप्येकत्रैव समानेऽप्योदनप-
 कात्प्रादिकं भयं मांसवसादिकमभयं तफजलादिकं पेयं

मद्यपरिवाहिकमपेयमित्सादीनि पृथक् व्यवस्थाप्यार्याणि ह-

एानि तथात्रापि उदकसमागम्यमाद्री मतव्यानि गतमेकान्तम् ।

अथैकव्यकरणेन यथा धर्मोऽभिधीयते तथा दृश्यति ।

जं इच्छसि अण्यणतो, जं व खा इच्छसि अण्यणतो ।

तं इच्छ परस्स वि वंयं, इत्थियंमं जिण्णसासाण्यं ॥

यदात्मनः स्वजीवस्य सुखादिकमिच्छसि यच्च दुःखादिक-

मात्मनो नेच्छसि तत्परस्याप्यात्मव्यतिरिक्तस्य जन्तोर्निच्छ

आत्मवत् परमपि परयेति भावः । एतावत् जिन्नासनिभिय-

न्मात्रो जिनेपदेश इति । गाथया पुनरित्यं धर्म उपदिश्यते ।

सव्वारंज परिगह्—[शिक्षेयां सव्वजुत्तसमया य ।

एकगमणसमाहा—एया अह एत्तिओ मोक्खतो ॥

सर्वस्य सुखमादादायेषोजीवविषयस्यारम्भस्य सर्वस्य च

सच्चित्ताचित्तमित्येदमित्थस्य परिप्रत्ययगो निषेधः स न्यातो

यावत्सर्वभूतेषु समता, या च एकाग्रमनःसमाधानता, अ-

थैष एतावान् मोक उच्यते । कारणे कार्योपचारादेषो मो-

क्षोपाय इत्यर्थः । न्तोकेन यथा ।

सव्वजुत्तपणुत्तसं, समं जूताइ पासउ ।

पिडिया सम्मस्स दंढस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥

पाठिसदः— येतु संस्कृतकथयस्तेषामिदं गाथया न्तोकेन वा

धर्मकथा क्रियते । "व्रतसमितिकथायासां, धारणरक्षयविनि-

प्रहाः सम्यक् । दृष्टेभ्यश्चोपरमो, धर्मः पञ्चेन्द्रियवन्मभ्य ॥ यत्र

प्राशियधो नास्ति, यत्र सत्यमनिन्दितम् । तत्रात्मनिप्रहो हृष्टः

स धर्ममपि रोचयेत्" ।

अथ किं कारणं स्थित्या धर्मः कथनीय इत्याशङ्क्याह ।

इरियावहियावधो, सिक्खं ण गिाएह अतो उिष्वा ।

नइहिं पणिणीए, अमिष्मोगे बहउहाइ वि परेण ॥

इर्यापथिको चक्रमण्यक्रिया तां कुर्वन् यदि कथयति तदा

लोके अर्थो भवति दुर्दैरधर्मोऽपि यदेवं गच्छन्तो धर्म

कथयन्ति अपि च शिष्टमपि कथितमपि धर्मेमेवं भोता न शु-

द्धान्ति । अतः स्थित्वा एकन्तोकादि कथनीयश्च । अथापवाद

उच्यते कश्चिद्भक्तो धर्मभयात्तुः श्रद्धिमान् धर्मं पृच्छ-

ति ततः सत्त्वानुकम्पया प्रवचनोपग्रहकरञ्च भविष्यतीति

कृत्वा तिरस्त्रतन्नः पञ्च वा बहुशरा वा गथा उपविश्व

कथयितव्याः । प्रत्यन्तो का कश्चिद् व्यतिव्रजति तं

प्रतीक्षमाणस्तावकर्म कथयेत् यावदसौ व्यतीतो ज्ञयति ।

यद्वा स प्रत्यन्तोः सत्सदा हृष्टो भवेत् ततो यः सत्प्रियः स

उपशान्तानिनिमित्तं बहुविधमुपदेशं दद्यात् । दृष्टिकथस्य वा अ-

भियोगो बलाकारो भवेत् । किमुक्तं ज्ञवति । एकन्तोकेन धर्मं उ-

पदिष्टे दृष्टिकर्तुं ह्यथात् कथय कथय मे संप्रति मइती भक्त्वा व-

र्तते ततश्चतुर्णां न्तोकानां परतोऽपि कथयेत् । ग्राह कीदृशी

पुनः कथा कथयिनस्वा कीदृशी वा नेति ।

सिगाररसुत्तियाया, मोहमई कुकुका हसहसति ।

जं पुण माणुस्सकहं, समणोण तु सा कहेयव्वा ॥

यां कथां शृण्वतः श्रोतुः स्त्रीसुवर्णकादि अयणजितो रसस्स गु-

ङ्गारो नाम रसस्तेनोपेज्जिता सती मोहमयी कुकुका (हसह-

ससि) प्राणवत्यते सा कथं अवेणन कथयितव्या ।

समणोण कहेयव्वा, तवनिभयमकहा विरागमणुत्था ।

अंतरगिह

जं सोऽङ्ग मणूसो, वचच्च् भवेगिण्येने ॥
 तपोऽनानादि नियमा इच्छियनिग्राहस्तप्रधाना कथा तपो-
 नियमकथा विरगसंयुक्ता न निदानादिना रगादिंसंगता ध-
 मनेन कथयितव्या यां श्रुत्वा मत्पुत्रः श्रोता संवेगनिर्वेदं ब्रजति ।
 संबंभो भोक्षामिभलायो निर्वेदः संसारचैराभ्यम् ।
 महाभ्रतानि न गृह्णातं कथनीयानि ।

(श्रुत्वम्) नो कप्यं निगंधाणं वा निगंधीणं वा अंतरगिहमि
 इमां पंचमद्वय्यां सजावणां आदिसिचत्प वा विजावि-
 च्त्प वा किट्टिचत्प वा पंचयत्प वा नक्षत्र्य एगनाएण वा
 जाव सिखाएण वा सेविप त्रिचचा नो चेष णं अट्टिचचा ।

अस्य व्याख्या प्राक्सुत्रवदं द्रष्टव्या । नक्षत्रम्-इमानि स्वयमनु-
 न्युयमानानि पंच महाभ्रतानि समाधानानि प्रितरतं प्राचन्यापञ्जा-
 युक्तानि शक्यातुं वा विजाचयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा
 न कल्पते । आश्रयानं नाम साधुनां पञ्च महाभ्रतानि प्राचन्यायुका-
 नि यदकारयत्कृणसाराणि भवन्ति । विभाचनं तु प्राणातिपातादि-
 रमणं यावत्परिग्राहद्विरमणमिति । प्राचन्यास्तु "इरियासमिप स-
 या जप इत्यादि" गाथोक्तस्वरूपाः वदुःपास्तु पृथिव्याद्यः को-
 र्त्तनं नाम या प्रथमव्रतरूपा अहिंसा सा जगवती सर्ववमनु-
 जासुरस्य लोकास्य पूज्या श्रायं गतिः प्रतिष्ठेत्यादि एवं स-
 र्वेषामपि प्रसन्न्याकरणश्लोकात् गुणाकीर्त्तयति प्रवेदने तु मा-
 हाभ्रतानुपालनात् स्वर्गोऽप्यर्थो वा प्राप्यत इति सूत्रार्थः । परः
 प्राह । ननु पूर्वसूत्रेण गताधर्मिदमतः किमर्थमारभ्यते उच्यते ।
 गिहयागाद्वियविसमा, गाथायुता तु होति वयमुत्ते ।
 पिदेसकतो व नरे, परिगन्तव्यो व विमयी ॥

गाथासुवाङ्गतसुत्रे पठितो मन्थितः कथितो विज्ञानं भव-
 ति अनन्तरसुत्रे चउगाहं वा पंचगाहं वा इत्येकं तत्रैव गोप्यं भवि-
 ता भवति इमानि तु महाभ्रतानि प्रथितानि अग्रयितानि या भव-
 न्प्रथितानि नाम पदपाठबन्धने वा श्लोकबन्धने वा यद्वानि क-
 थयति अग्रप्रथितानि तु मुक्तैरेव वचनेयान्याभिधीयन्ते यदा
 निर्देशः कृतोऽत्र विशेषो भवति अनन्तरसुत्रे वतुगर्थं पञ्चगाथं
 वा कथयितुं न कल्पते इत्युद्देशामात्रमेव कृतम् अत्र तु महाभ-
 रतानि स्वभाषनाकानीत्यनेन तस्यैव विशेषनिर्देशः क्रियते । परि-
 गानकृतो वा विशेषो विदेशः । यदधस्तनयने धर्मस्वरूपमुक्तं
 तद्वचनं महाभ्रतमञ्जकमिति संख्याया विशेषो निरूप्यते ।

प्रायात्रैव दोषानाह ।

पंचमद्वय्यतुर्गं, जिघावयणं जाणापाणिणद्वं ।
 मादृशुद्धगुणा आणाद-दोसं जं वा णिसिजाए ॥

इह जिनवचनं मेरुसदृशं पञ्चनिर्मदात्मैरुतुङ्गमुत्कृतं पञ्च-
 महाभ्रतमयोक्त्वातन्त्ययसत्यैव महाभ्रतोऽङ्गितस्य रक्षणार्थं
 भावनाभिः पञ्चविंशतिसंख्याकैभिः पिनकं गादतरं नियन्त्रि-
 त्वाद्दृशं जिग्वचनमन्तरगृहे उपविश्य कथयन्त्युत्तमैः युक्ताः आ-
 ङ्गादयो दोषाः । यदा गृहनिषद्यायां वाहितयां प्रायश्चित्तं यच्च
 दोषजालं तदापच्यते । तथा महाभ्रतपञ्चकविषया दोषा भवन्ति ।
 प्राशुबधमापद्यते प्राणधधे वा शुकुधधे । एवं यावत्परिग्रहमापद्यते
 परिग्रहं वा शुकुधधे । तथाहि ।

पाणवड्ढिमि गुजनेण, कण्ठहादाणए य मंकाभ्रो ।
 जण्डिऊए दाइ कोइ, मोसविपं संकथा साए ॥

गृहे उपविश्य साधुधर्मं कथयति शुद्धिं च तस्यान्तिके उ-
 पविश्य शृणोति वाचकस्यास्ती तत्र तिष्ठति तावत्सदृशं यमंस्वाहा-
 रव्यचच्छेदने विपुलिभवेति । एवं प्राणवधो लगति । तथा ध-
 र्मं कथयतः काश्चिद्विरतिका श्रुण्वस्येवापातराले कायिक-
 श्रुर्मं गच्छेत् स च पुनस्तथैवास्ते ततः सपत्नीं क्षिप्रं लभन्वा-
 तत्पत्नयं मिषेण साधोरप्रतो निपात्य द्रावयति एवं प्राणातिपात-
 विषया शङ्का जनेत् । तथा यथार्थं कुरैः प्रतियुक्तं तस्यया न क-
 सेव्यमिति प्रतिहातेः प्रतियुक्तां निषद्यां वाहयतो श्रुवावादां भव-
 ति । यद्वा स्वमुक्तं नैव गृहनिषद्यां निषिष्य पञ्चाद्वात्मनैव तां परि-
 शुञ्जानो श्रुवावादापद्यते । अथवा सा दिने दिने तस्या अविर-
 तिकाया भये धर्मं कथयति ततो गृहस्वमिना भिगतो मे मम
 गृहं नायासीरिति । साधुना प्रश्रितम् । आगमिष्यन्ति ते गृहं पा-
 णगुणका पञ्चमुक्त्वाऽपि जिह्वाभोस्तदिदोषेषु तदेव गृहं म-
 जन् भगिनोऽपि तेन गृहस्थेन धारितोऽपि कश्चिद्विति एवं श्रुवा-
 वादाऽपि । स च गृहस्थां श्रुयत् किं पाणजुकः संयुक्तोऽ
 स्तीति । यद्वा गृहस्थां जोजनं कुर्वन् धर्मं श्रुण्वतोऽपि मगरीं किम-
 प्युक्तं द्वितीयाङ्गं याचेत् सा इयात् गुना भक्तिम् । अगारो
 स्यात् जानाम्यहं तं श्वानं येन ज्ञकितमिति । एवं श्रुवावादि-
 यथा शङ्का भवेत् । अथाप्य एव पुरोऽहं व्याचष्टे ।

शुद्धिया पिपासिया वा, मंदक्रेणं न तस्स उट्टे ।
 गन्धस्स अंतरायं, वाधिज्जे मंनिरोपेणं ॥

शुद्धिशी धर्मकथां श्रुण्वती शुधिता वा पिपासिता वा भ-
 वेत् सा च तस्या साधोः संबन्धिनो मन्दाक्षेणं लज्जमाना ति-
 ष्ठति ततो गर्भस्यान्तरायं भवति । तेन साधारणवच्छेदलक्ष-
 णेन संनिरोधेन स गर्भो वाप्यते । ततो व्यापत्तिसंयुक्तो
 प्रपुत्रावर्ति प्राणवधमापद्यते ।

अथ प्राणवधविषयशङ्कां दर्शयति ।
 उक्त्वावितो सो हत्या, बुत्तां तस्सग्गतां णिवारिच्चा ।
 सुण्णे व विवारगते, हाहं चि स चित्तिणो जुएति ॥
 अविग्निकाया अग्ने स धर्मं कथयति सा चापातराले का-
 यिकायर्थं निर्गता ततस्तस्यां श्रुण्वत्यां आधिकायां विचार-
 भूमौ गतायां सपत्नी तदीयं पुत्रं तस्य साधोरप्रतः उक्तव्यं
 भूमौ महस्यैव निपातयति निपात्य च अग्रे अनेन अग्रसेन
 अयं पुत्र उक्तिः सधेनवीर्यहस्ताच्छ्रुतो शिष्य इति महता
 शयनेन हातिपुकारं करोति । ततो भूयान् लोको मिलितस्त्वं
 सायुं तव स्थितं हद्दुः शङ्कां कुयां किमेतत्सत्यमेवेदमिति ।
 श्रुवावादापप्रकाराः सप्रपञ्चमुक्त इति न भूयो भाष्यते ।

अथादत्तदानमैथुनयोर्दोषानाह ।
 मयमेव कोइ बुद्धो, अपहरती तं पुदुक्क कम्मकरी ।
 वाणिगिणं मेहुण्ण, बहुसी य चिरें व संका य ॥

काश्चिदानीं लुब्धः सन् विजनेन मत्वा स्वयमेव सुवर्णकलिकां
 मुद्रिकामपहरति एवमदत्तदानमापद्यते । तं वा संयतं प्र-
 नीत्य "मायुत्रत्रायं शङ्क्यते नाहमिति" कृत्वा कर्मकारी का-
 च्चिदपहरत् । वाणिजिका वा काश्चिप्रोषितभर्तृका तथा सत्तं
 मैथुनविषया आत्मपरोपयसमुत्पन्ना दोषा भवन्ति । अथवा
 यत्र प्राणपतिकस्तित्तमिति तत्रास्ती बहुयो वारं ब्रजति
 चिरं च ताभिः सह कन्दर्पं कुयांस्तित्तमिति ततश्चतुर्थवि-
 षये शङ्क्यते ।

अथ परिग्रहद्वेषमाह ।

धर्मं कहेइ जस्स उ, तस्मि उ वीधारए गए संते ।

मारक्खणपरिमाहो, परेण दिट्ठम्म उड्ढाहो ॥

यस्य श्रावकवैरेभे धर्मं कथयति स इत्यादि यावत्पूर्वं कायिकीं म्युत्सृज्य श्रम समागच्छामि तावज्जता गृहं रक्षणीयेष्वेभ-
मुक्त्वा तत्र विचारभूमौ गते स संयतो यावत्तूहं संरक्षति
तावत्परिग्रहद्वेषमापद्यते तदेवं गृहं रक्षन् परेण उच्यते स शङ्कां
कुर्यात् नूनमेतस्यापि हिरण्यं सुवर्णं वा विद्यते उड्ढाहं च स
कुर्यात् श्रद्धो अयं श्रमयुक्तः सपरिग्रह इति । यत एते दोषा
अतो नान्तरगृहे धर्मकथा कस्तव्यां ।

द्वितीयपदमाह ।

एगं छायां उदकं, वागरणमहिंसकखणो धम्मो ।

गाहाहं मिलोमेहि उ, सपासतो तं पि त्तिभा एं ॥

गतायं च । वृ० ३ उ० ।

अंतरजाय-अन्तरजात-म० भाषाच्छब्दात्तमेदे, यामि दन्या-
यि अन्तराहं समभ्रेणयामेव निस्सृष्टामि तानि प्रायपरिणामं
जजनेते तावन्मरजातमुच्यते आचा० २ कु० ४ अ० ।

अंतरणइं (दी०)-अन्तरनदी-ओ० चुद्रनदीपु,

यत्र यावत्यांऽन्तरनद्यस्तत्प्रतिपादयति ।

जंबुद्वारस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महाणइए उचरेणं
तज्जा अंतरणइंओ पसत्ता तेजहा गाहावइं दहवईं पंकवईं ।
जंबुद्वारपुरच्छिमेणं सीयाए महाणइए दाहिणेणं तओ
अंतरणइंओ पसत्ता तेजहा तत्तजला मत्तजला उम्मत्तज-
ला । जंबुद्वारपञ्चच्छिमेणं सीओदाए महाणइए दाहिणेणं
तओ अंतरणइंओ पसत्ता तेजहा खीरोदा सोहसोया अंतो-
वाहिणं । जंबुद्वारपञ्चच्छिमेणं सीओदाए महाणइए
उत्तरेणं तओ अंतरणइंओ पसत्ता तेजहा उम्मियालिणी
फेणयासिणी गंजरीयालिणी । एवं धायइरखंदीवपुरच्छि-
मदे वि । अकम्मजुमीओ आदवेत्ता जाव अंतरणदीओ
त्ति गिरवसेसं जाणियव्वं जाव पुक्खवरदीवहूपञ्चच्छिम-
द्वे तडेव गिरवसेसं जाणियव्वं ।

अन्तरनदीनां विष्कम्भः पञ्चविंशत्यधिकं । योजनशतमित्ति
स्या० ३ उ० ॥

जंबुद्वारपुराच्छिमेणं सीयाए महाणइए उजयकूले उ अंत-
रणइंओ पसत्ताओ तेजहा गाहावइं दहवईं पंकवईं तत्तजहा
मत्तजला उम्मत्तजला । जंबुद्वारपञ्चच्छिमेणं सीओयाए
महाणइए उजयकूले च अंतरणइंओ पसत्ता तेजहा खीरोदा
सोहसोया अंतोवाहिणी उम्मियालिणी फेणयासिणी गं-
जरीयालिणी स्या० ६ उ० ॥

संमहेण

दो गाहावईओ दो दहवईओ दो पंकवईओ दो तत्तजला-
ओ दो मत्तजलाओ दो उम्मत्तजलाओ दो खीरोयाओ दो
सोहसोयाओ दो अंतोवाहिणीओ दो उम्मियालिणीओ
दो फेणयासिणीओ दो गंभीरियालिणीओ ॥

विषकूटपक्षकूटयज्ञस्कारपञ्चतयोरन्तरे नीलवर्षेभरपञ्चेतानि-
म्बव्यवस्थितत्वात् प्रादवतीकुण्डाह्निष्णोरणविनिर्गता अष्टा-
विंशतिनदीसहस्रपरिचारा सीताधिगामिनी सुकच्छमहाकच्छ-
विजययोर्विभागकारिणी प्रादवती नदी । एवं यथायोगं द्योहो-
योर्वैकृष्कारपञ्चतयोर्विजययोरन्तरे क्रमेण प्रदक्षिणया इन्द्रशा-
प्यन्तरनद्यो योऽप्यास्तद्विन्द्वं च पूर्ववदिति स्या० २ उ० (पूर्व-
पश्चिमार्कोपकथा द्विगुणव्यवदिति)

अंतरदीव-अन्तरद्वीप-पुं० अन्तरराष्ट्रदो मध्यवाची अन्तरे लघ-
णसमुद्रस्य मन्थं द्वीपा अन्तरद्वीपाः प्रज्ञा० १ पद० । अथवा
अन्तरे परस्परं विभागस्तत्प्रधाना द्वीपा अन्तरद्वीपाः । एकोरु-
कादिषु अष्टाविंशतिविधद्वीपनेषु, स्या० ४ उ० ।

मं किं तं अंतरदीवया ? अंतरदीवया अजावीसविहा प-
सुत्ता एमोत्था अहामिया वसंणिया णंगोत्ती ३ इयकख
गयकथा गोकथा सकंझिन्ना २ आयंसमुहा मंडमुहा अय-
मुहा गोमुहा ३ आसमुहा हत्थियमुहा सीहमुहा वग्गमुहा
४ आसकन्ना सीहकन्ना अकन्नः कसपाउरणया ५ उक्का-
मुहा मेहमुहा विज्जुमुहा विज्जुदेता ६ घणदेता लहदंता
गृदंता मुदुदंता उ सत्तं अंतरदीवया ।

एवं किं तमित्यादि सुग्रामं नवमष्टाविंशतित्रिधा इति यादृशा
सेवं यावत्प्रमाणं यावद्वपान्तराहा यक्षामानो हितमन्वपंतपुर्षा-
परदिक्क्यवस्थिता अष्टाविंशतिविधा अन्तरद्वीपास्तदृशा एव
तावत्प्रमाणास्तावद्वपान्तराहास्तत्प्रमाणं एवं शिखरिपंतपुर्षा-
परदिक्क्यवस्थिता अष्टपंतपुर्षास्तद्वपान्तया व्यक्तियेभनमपेक्ष-
अन्तरद्वीपा अष्टाविंशतिविधा एव विवक्षिता इति तज्जज्ञता म-
नुष्या अपि अष्टाविंशतिविधा उक्तास्तानेव नामप्राहमुपदर्श-
यति " तेजहा एतोरथा इत्यादि " एवं सप्त चतुष्का अष्टाविं-
शतिसंख्यत्वात् एते च प्रत्येकं हिमवति शिखरिण तत्र हिम-
चरुततया तावज्जव्यन्ते (प्रज्ञा० १ पद०) इह एकोरुकादिनामा-
नो द्वीपाः परं तात्स्थ्यात्तद्वपदेश इति न्यायान्मनुष्या अन्त्येकां-
रुकाद्य उक्ताः यथा पञ्चालेदे शनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला
इति । जीवा० ३ प्रति० । एतेषु सप्तसु चतुष्केषु प्रथमअनु-
ष्कः । तथा च एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकाद्वीपं पिपुच्छिपुराह ।

कहिं एं भंते ! दाहिणिष्णाणं एगुरुक्यमणुस्साणं एगुरुक्यदीवं
एणं दीवे पज्जेते ? गोयया । जंबुद्वीवे मंदरस्स पण्ययस्स
दाहिणेणं चुद्धिमवत्तस्स वाइरपण्ययस्स उचरपुरच्छिमि-
ष्णाओ चरिंमंताओ सवणनमुष्टं तिमि जायणसयाइं उग्गा-
हिता एत्य एव दाहिणिष्णाणं एगुरुक्यमणुस्साणं एगुरुक्यदीवं
नामं दीवे पसखे तिमि जायणसयाइं आयामाविकस्वंजेणं एव
एकूपणएणे जायणसएणं किंचि विसेसुणे पारंक्खेवणं । सेणं
एणएण पडमवरवेइयाए एणएणं वणसकेणं सव्वओ सपता
संपरिकखेत्ता से एणं पडमवरवेइया अद्दजायणं उक्कं उक्क-
चेणं पंच धेणुंसेयाइं विकस्वंभं एणोरुक्यदीवसमंता परि-
क्खेवेणं पन्नत्ता । तीनेणं पडमवरवेइया अयमेयाकूवे व-
न्नावासे पन्नत्ते तेजहा वयरामया निम्मा एव वेतिया व-
न्नओ जहा रायपसेणीए तहा भासियव्वा । सेणं पडम-

वरवेद्या एतेषां वणसंभेणं सव्वओ समंता संपरिकित्ता
 णं णं वणसंभेणं देमूणां दो ज्ञोयणां चकवालाविकसं-
 भेणं वेद्या समए परिक्खेवेणं पन्नचे से णं वणसंभे कएद्वे
 किएहोवभासे एवं जहा रायपसेणजे वणसंभवन्नओ त-
 हेव निरवसेसं भाणियच्चं । तएण य वननगंधफासो सरो
 तएणं वा वीओप्यायपव्वयगा पुदविसिहा पटगा य जा-
 णियव्वा जाव तत्थ एं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ
 य आमयंति जाव विहरंति । एगुर्यदीवस्स णं दीवस्स
 ओंओ बहुसमरमणिजे ज्ञमिजांग पन्नचे से जहानामए
 आलिंगपुक्खरेइ वा एवं सयणीए भाणियच्चे जाव पुदवि-
 सिहापटगं ति । तत्थ णं बहवे एगोर्यदीवया मणुस्सा य
 मणुस्तीओ य आमयंति जाव विहरंति । एगुर्यदीवे णं दीवे
 तत्थ तत्थ देसे तद्धि तद्धि बहवे उदाइका मोहालका
 कोहालका कतमाला नत्तमाला खट्टमाला मिंगमाला सं-
 खमाला दंतमाला सेलमाला गाम दुमगणा पन्नचा मम-
 णाउसो । कुमविकुसविमुद्धकखमला मूलमंतो कंदमंतो जाव
 वीयमंतो पत्तेहि य पुप्फेहि य अच्चन्नपरिच्छन्ना मिरिए
 अइव २ सोभेमाणा ओयसो जेमाणा चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं
 दीवे तत्थ तत्थ बहवे हेरुयालवणा जेरुयालवणा मेरुया-
 लवणा मेरुयालवणा मालवणा मरलवणा मन्नपएणवणा
 प्पफडिवणा खज्जरीवणा नालिपरवणा कुसविकुस जाव
 चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे तिलयाइउत्ता
 नगोहा जाव गयकखा एंदिक्खा कुसविकुस जाव चि-
 ट्ठांति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहुओ उपमलयाओ नाग-
 याओ जाव मोमलयाओ निच्चं कुममियाओ एवं जयावन्नओ
 जहा उववाइए जाव पभिरूवाओ । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ
 बहवे सिग्गियुम्मा जाव महाजाइगुम्मा तणुगुम्मा दसक्क-
 वन्नं कुमुपं कुमुपेंति जेणं वायविहुल्लगसाला । एगुर्यदी-
 वस्स बहुसमरमणिजं ज्ञमिजांग मुक्कपुक्कपुंओवयारकलिंयं
 करंति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहुओ वणराइओ पन्नचा-
 ओ ताओ णं वनराइओ किएहाओ किएहोवभामाओ जाव
 रम्माओ महाभेइहिंगुसंवेज्याओ जाव महता गंधशिंगि सुयं-
 ताओ पामाइयाओ । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे मत्तंगा
 नाम दुमगणा पन्नचा समणाउसो । जहा से चंत्थपमणिसि-
 लागवरसीधुपवत्तारुणिसुजायफलपुक्कचोणित्ता संसार-
 बहदुक्खुत्तिसंसारकाइसंधियआमवमदुमैरगरिहाभदुइजा-
 इपन्ननेइगा स ताओ खज्जूरमुदियासारका विमायाण-
 सुपक्खोऽयरमवरमुगवणसरसंगंधफरिसुजत्तवत्तारियए -
 रिणामा मज्जविधिं य वहुप्पगगा तदेव ते मत्तंगया वि दुम-
 गणा अणेगवहुविहवीसमा परिणयाए मज्जविट्ठीए उव-

वेया फलेहिं पुत्ता विव विमट्ठंति कुमविकुमविसुद्धकखमूला
 जाव चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे भिंगगा एणम
 दुमगणा पन्नचा समणाउसो ! जहा से चारंगधककरक-
 इसककरिपायकंचाएउत्तुक्कवद्धिणमुपइहकविट्ठा पारावस-
 गा भिंगारा करोमिसरंगपरंगपत्तीयाहाणिक्कगचबलियअ-
 यपलगवालविचित्तवट्टकमणित्ठकसिप्पिसारपिणइक्कचण-
 मणिरयणभच्चिच्चित्तविभायणविह्वहुप्पगारा तहेव तेहिं
 जिंमंगेया वि दुमगणा अणेगवहुविह्वहीसमा परिणया-
 चाए भाणयविहीए उववेया फलेहिं पुएणा विव विसइंति
 कुसविकुस जाव चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे
 तुर्यंगा नाम दुमगणा पन्नचा समणाउसो ! जहा
 से आलिंगपयखददपरकह्मिंरुमाभंभातहोवंकिणियख-
 रमुहिसुयंगसंखिपपरिद्धए पव्वगा परिवायणच्चंसवेणुवी-
 गोमुथोसगवंपंचमइतिकच्छुत्तिरिक्खसतफलाकंमालता -
 इकसंपत्ताओ आतोयविधिंए एणउणगंधव्वसमयकुस-
 लेहिं फांदिया तिहाएकरणसुक्का सहेव ते तुभियंगा
 वि दुमगणा अणेगवहुविहवीसमा परिणयाए ततवितत-
 वंधणसिराए चउत्तवहाए आतोउज्जविहीए उववेया फलेहिं
 पुएणा विव विमट्ठंति कुसविकुमविसुद्धकखमूलाओ जाव
 चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे दीवमिहा
 एणम दुमगणा पन्नचा समणाउसो ? जहा से संभवि-
 रागममए नवनिसीहपित्तो विदंविद्या चकधाइचं देप्य-
 वट्ठिपलत्तज्जणोहिं विउज्जदियि तिमिरमए कणगानिकर-
 कुमुमियपारिजायघणप्पगसे कंचणमणिरयणविमलमहरि-
 हतवाणिज्जुजलविचित्तदंरुहिं दीवियाहिं सहसा पज्जा-
 द्दिओ सविगणिकत्तेयदोपंताविमल्लगहागसमयपट्टाहिं वि
 तिमिरकरकमूपसरिउज्जोवविद्धियाहिं जालाउज्जलपह-
 मियाभिंगाहाहिं सोजनाणाहिं सोजमाणा तहेव ते दीविसि-
 हा वि दुमगणा अणेगवहुविहवीसमा परिणयाए उज्जो-
 यविहीए उववेया फलेहिं कुसविकुस जाव चिट्ठांति ।
 एगुर्यदीवे णं दीवे तत्थ बहवे जोइसिया नाम दुमगणा
 पन्नचा समणाउसो ! जहा से अचिरुग्गयसरयसूरमंरु-
 पंरंतठकामहसइदोपंतविरुज्जलइदुयबहुनिज्जुभजालि-
 निच्छंतथोयत्तत्तवणिज्जकिंसुया सोभाजामुयणकुमुमविमउ-
 दियपुंजमणिरयणकिरणजच्चिंहुत्तयतिरयकवाइरंरुवा त-
 हेव ते जोतिंसिहा वि दुमगणा अणेगवहुविह्वहीसमा
 परिणयाए उज्जोयविहीए उववेया धुल्लेसा मंदलेसा मंदा-
 तवलेसा कुरांगणट्टिया इन्नेोन्नमंमोगाहाहिं हेसाहिं माए
 पमाए तेयसा सव्वओ समंताओ जासंति उज्जोवंति
 पनासंति कुसविकुम वि जाव चिट्ठांति । एगुर्यदीवे णं

दीवे तस्य बहवे चित्तंगा नाम दुमगणा पञ्चत्ता समणाउसो !
 अहा से पेच्छायरे व्व चित्ते पमेव कुमुदाममाला कुमु-
 ज्जलेमा जासंतमुक्कुपुंजोवयारकसिण्णं विरक्षियविचि-
 चमल्लामिरिसमुदप्पगारंभे गंथिमवेधियपूमिसंधयमेणं मल्लं
 छेयसिरिषविजागरइएणं सव्वओ समंता चेव समयुवच्छे प-
 विरललंबंतविप्पइहेट्ठिं पंचवकोहिं कुमुदामेहिं सोजपाणा
 बनमालकतगए चेव दिप्पमाणे तद्देव ते चित्तंगया वि दुम-
 गणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए मल्लविट्ठीए उव-
 वेया कुसविकुस वि जाव चिद्धंति । एगुर्यदीवे णं दीवे
 तस्य बहवे चित्तरसा नाम दुमगणा पञ्चत्ता समणाउसो !
 जहा से मुगंधवरकलममाक्षित्तंउल्लविस्सिण्णिरुक्थहुद्धर-
 च्छे सारयवयमंरस्संरुमभूमेलिए अइरसे परमभे देज्जउत्त-
 येगवभगंधमत्ते रखो जहा वावि चक्कवट्टिस्स होज्ज निउणे-
 हिं सूपुरिसिंहिं सज्जिण्णं चाउरकपमेयसिचे व आदोये
 कसमसाक्षिण्णव्वातिए विवक्कसेवक्फमिउविसयसगल्लसित्थे
 अणेमालणएगसंजुचे अइवा पान्नुव्वाउव्वस्सवे सुसकए
 वषणंधरसफरिसजुत्तवन्नवोरियपरिणामे इंधियवन्नवक्खणे
 खुप्पिवासासहणे पहाणगल्लकटियव्वंइमच्छंति उवणीय व्व
 मांयगे मइस्समित्तिगन्ने ह्वेज्जा । परमइहगसंजुचे जहेव
 ते चित्तरसा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिण-
 याए भायणविट्ठीए उववेया कुसविकुस जाव चिद्धंति ।
 एगुर्यदीवे णं दीवे तस्य बहवे मणियंगा नाम दुमगणा पण-
 चा समणाउसो ! जहा से हारद्धहारवैटणएमउरकुंडलवा-
 नुज्जमहंमजासमणियाज्ञाकणगजाज्ञगमुत्तगउचित्तियकदग-
 खइयएगावलिकेठमुत्तमगराउरत्थमेवेज्जसांणिसुत्तमच्चूड-
 मणिक्कणगतिलगफुल्लगसिद्धरियक्कषवालिस्सिसमूरउसज-
 चक्कगत्यभंभेयगुहियहृत्थमाज्ञगवन्नसदीनारमाक्षिया चंद-
 मूरमाक्षिया हरिसयकेपूरवन्नियपासंबंअंगुलिज्जगंभीमेह-
 लाकलावपरकपायजान्त्वयित्थिवरिणिययणोरुजाज्ञउदि-
 वरनेउरवन्नएमाक्षिया कणगणिममालिया कंचणमणि-
 रयणभत्तिचिच्चन्नसुसणविट्ठी बहुप्पगारा तद्देव ते मणियंगा
 वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए नूसणवि-
 ट्ठीए उववेया कुमविकुस वि जाव चिद्धंति । एगुर्यदीवे णं दीवे
 तस्य बहवे गेहागारा नाम दुमगणा पञ्चत्ता समणाउसो !
 जहा से पगारट्टाअगचरियागोपुरपासायागामसतलगमंदवए-
 गसाज्ञाचाउसाज्ञगवन्नयरोभेएयरवन्नजियरचित्तसाज्ञ-
 गमालियजत्तियरवहत्तंसंदिपायचमंठियावत्तपंफुरतल्लुफुमा
 सइम्मियअणंभवलहरअइसावहंविक्कमतसेसइसंसेसंति-
 थक्कहारगमुविहिकोइगअणेगयरसरण्णेएअविणविदंमजाज्ञ-
 चंदनिव्वइअपवरककरोत्ताक्षिचंदसाक्षिविभत्तिकसिता जव-

णविही बहुविगप्पा तद्देव ते गेहागारा वि दुमगणा अणेगबहु-
 विविहविस्ससा परिणयाए मुट्टारुइयसुहोत्ताराए मुहनिक्क-
 मणपवेसाए दइसोपाणपंतिकसियाए पइरिचाए सुहविहाराए
 मणाणुकूलाए भवणविट्ठीए उववेया कुमविकुस वि जाव चि-
 द्दंति । एगुर्यदीवे णं दीवे तस्य बहवे अणियाए नाम दुमगणा
 पञ्चत्ता समणाउसो ! जहा से अणेग आइगरवोमत्तएयवन्न-
 लदुगल्लकोसेज्जाकसामियपट्टचीणअमुत्तवन्नावरणातवारवा-
 णगपच्छआभरखचित्तमहिणक्कल्लआणगजिगमेहल्लकजल-
 बहुवन्नरत्तपीयमुक्किल्लभरकयमिगल्लोमहंमक्कल्लग अवरतगसि-
 न्नुउसभदामिस्सविगकसिंमनसिण्णंतमुगयभत्तिचिच्चा वत्थविही
 बहुप्पगारा ह्वेज्ज वरपट्टएगुत्ता वएखारागकसिया तद्देव ते
 अणियाए वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए
 वत्थविट्ठीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिद्धंति ९० । एगु-
 र्यदीवे णं जंते ! दीवे माणुयां केरिसए आगरभावपडां-
 यारं पम्भते ? गोयमा ! ते णं माणुया अणनिवरसोमवाक्खवा
 भोगुत्तमा भोगलक्खणपरा जोगमास्सीरिया सुजायसव्वं-
 गमुंदरंगा सुपट्टिक्कम्भचारुक्कलणा रत्तुप्पलपत्तमउयसुकु-
 मासोकोमसतला नगणगरपरसागरचक्कहंरंक्कक्कल-
 णंक्रियचन्नणा अणगुत्तवन्नुसाइयंगुलिया उष्णयतणुयंतव-
 णिक्कएखा संठियसुसल्लइदुग्गुप्फा एण कुर्विदावत्तपट्टा-
 पुपुत्तजंवा साङ्गुगनिग्गुगग्गुआणुत्तससणुत्तजातससिभो-
 रुवरवारणमत्तुक्कविक्रमविज्ञासितगतती सुजातवरत्तुरगगम्भ-
 देमा आइम्नहत्तो व्व णिरुव्वेवा पमुइयवरत्तुरगगीहअइ-
 रंगवट्ठियककी साहयतोपिंदमुसलदप्पण्णिएगारित्तरक्कण-
 उरस रिसवरवइरवत्तित्तमज्जा उज्जुअसमसंदिहत्तमुजायचच्च-
 तणुक्कसिण्णिएक्कआदेज्जलउहसुकुमालमउपरमणिएज्जरोम-
 राई गंगावत्तयपादिणवत्तत्तरंजंगुराविकिरिखत्तरुणवो-
 धियअकोसा तंतपउममंजोरविगकणाया जसविदुगमुजायपी-
 णकुच्छं ऊसोदरा सुइकरणी पम्हभिगकणा नामन्नत्तपासा
 संगतपासा सुंदरपासा सुजातपासा मितभाट्ठपीणरत्तपासा
 अकरंइयक्कणरुयगनिम्भम्भमुजायनिरुक्कइयदेहधारी पसत्थ-
 उरसीसन्नक्कलएषरा कणगसिज्ञातल्लुज्जापसत्थसमत्तलव-
 चियविच्छिन्नपिडुन्नवच्चा सिरिवच्छंक्रियवच्चा पुरवफसि-
 हवट्ठियत्तया नुयगीसरविपुज्जोगआयाणफल्लिहउच्छु-
 दीहवाहुजुगमन्निभपीखरइयवीवरपउत्तंसंठियउवचिययणा-
 थिरसुवक्कसुससिद्धपव्वंसंधी रत्तदोवइत्तमउयमंससपसत्थल-
 कएणसुजायअच्छिउजालयाणी पीवरवट्ठियसुजायकोमद्ववरं-
 गुलीआ तंवत्तसिणुसुवित्तिस्स (स्वकिर) निदुल्लुक्का (नखा) ।
 चंदपाणिलेहा मूरपाणिलेहा संवपाणिलेहा चक्कपाणिहेहा
 दिसासोवत्थियपाणिलेहा चंदमूरस्सवक्कदिमासोवत्थियप-

णिजेहा अणोववरलक्षत्रशुचमपसत्यशुचिविरइयाणिलेहा वरम
 हिसवराहसीहसदृशस्रसभणागवराः ठलठसमदंक्षंधा च-
 चंरंगुलसुणप्याणकुंबुरसरिसगीवा अवहितसुविजससु-
 जाताचितमसुमंसलसंठियपसत्यसद्वलविउलहणुया उतवित-
 सिलप्यावालविषकलसन्निजापरोहा पंडुरससिमगलविम-
 लानिन्मलसंखदधिषण्णोसीरकणदगदगपयुणालियाधवन्न-
 दंतसेदी अखंसदंता अकुपियदंता अविखंसदंता मुसिणि-
 ऋदंता मुजातदंता एगदंतामिदिव्व अणोवदंता हुतवहनि-
 ऋंतपोतत्तवणिज्जरत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्त-
 तासा अवदासियपोंदरीयणया क्कोसहितयवन्नपत्त-
 णंठा आणामियचावडुइलकिाहउजरायसंठियदंतगतआ-
 त्तसुजातताणुकिाणिन्किञ्जुमया अद्वीणपयाणुत्तसव-
 खा सुस्सवणा पीणमंसलकवाइदेसभागा अइरुग्गयबाह्नचं-
 दंसंठियपसत्यविच्छन्नसमणियडाला उनुवदंपदिपुसभास-
 वयणा उत्तगुरुत्तिसंगदेसा पणनिचियसुवक्कलस्वशुष-
 यकुढागराणजिपिंदियसिरा हुतवहनिच्छंतपोतत्तवणिज्जर-
 त्तकेमंतकेसज्जमिसामिह्नपोंदरयाणिचियडोडियमिउविमय-
 पसत्यसुहुमन्नकवणसुंगधसुंदरज्जुयपोयगजिण्णंइलकज्जलप-
 डदमगयंणियच्छुईरुंबांणंचियकुंचियपयाडिणात्तसुद-
 सिरिया लक्खणवंचणगुणोववेया मुजायसुविभत्तमरूवा
 पावइया दरिसणियजा अजिरूवा पडिरूवा । तेणं मणुया
 ओहस्सरा हेमस्सरा कौचस्सरा एंदियोसा सीहम्मरा सीह-
 योमा मंजुस्सरा मंजुयोमा सुस्सरा निग्गोसा ढायठउजो-
 ष्यंगमंमा वज्जरिसदहारायमंथयणा समचउरंसंसंठाणमं-
 ठिया सिण्णिच्छवी निरायंका उत्तमपसत्यअइसेमनिरुवम-
 तणु जल्लमन्नकइकसेयरपदोसिचिविज्जियसरिा निरुवमले-
 वा अणुलोमवाउवगा कंकगहणं । कपोतपरिणामा सउनि-
 पोमपिउतोरपरिणया विग्गहियठअपकुच्छं । पउमप्यहा-
 सरिसंगधनिस्सासुुरहियवयणा अहपणुसयऊतिया तेभिं
 मणुयाणं चउसट्टिपिदिकरंगा पन्नता समणाउमो ! ते णं
 मणुया पगइभदया पगइविणीया पगइउवमंता पगइपयणु-
 कांढमाणमायालांजा भिउमवसंभंभा अहं । णा भदगा वि-
 णिया अपिच्छा असिधिसिंचया अचंदा विंदिमंतरवि-
 रुखा जिहत्थियकामगामिणो य ते मणुयगणा पन्नता समणा-
 उमो ! तेसि णं भंते ! मणुयाणं केवतिकालस्स अहाट्टे सधु-
 प्यज्जइ ? गोयमा ! चत्थयभत्तस आहाराट्टे समुप्यज्जइ एगुरु-
 यमणुइं णं भंते ! केरिसए आगारभाउपकांथार पधत्ते ? गोयमा !
 ताओं णं मणुइओ मुजायसत्त्वंगसुंदरीओ पच्छाणमडिलागु-
 षोडिं शुत्ता अचंतविसप्पयाणपणमसूमासकुम्मसंठियविसि-
 ङ्कन्नया उज्जुमउयपीवरनिरंतमुसात्तन्नगंमुदीओ अ-
 ञ्जुष्यरतियवत्तिलणत्तसुमुदिणिकणत्वा रोमरहियवट्टल-

इसंठियअजहन्पसत्यलक्खणअकोप्यंथयुयन्ना सुणिमि-
 यमुगूदजाणु मंसलसुषुक्कसा कयसिखंजातिरेगंसंठिया णिव्व
 णसुमाह्नमउयकोमन्नअविरन्नसमसंहंतसुजातवट्टपीवरनिरंतरो-
 रुअअह्वावदीवपिष्टसंठिया पसत्यविच्छिषापिदुलसोणिवद-
 णायामप्पयाणुसुणियविसाह्नमंसलसुषुक्कजहक्षवधरिणि-
 उवज्जविराडयपसत्यलक्खणणोरोदरा तिवालयत्तणुणामियम-
 ङ्गियाओ उज्जुयसममहियज्जचत्तणुकसिणाणियच्छाअदेज्जल
 हुनसुविभत्तकेतमुजायसंजंत्तरुदलरमणिज्जरोमराः गंगावच-
 कप्यायादिएवावत्तरंगंजुगुरविकिणत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्त-
 तपउमगंजीरियगच्छाजा अणुन्मरुपमत्तपपीणकुच्छं । सन्न-
 यपासा मंगयपासा मुजायपासा भियमाइयपणिइयपासा अ-
 करंइयकणरुयगनिम्मसमुजायणिव्वहयगयसदी कंचण-
 कन्नसपपाणमसोहियमुजायालहृचुयुअमन्नजमन्नजुगन्न-
 बट्टियअच्छुष्यरतियसंठियपयोधराओ ज्जुगंअणुपुव्वत-
 णुयगोपुच्छवट्टसममहिययणियआएज्जालियवाहाओ तं-
 बाणहा मंसलगदहत्या पीवरकोमलवरंगुलीओ णिच्छपा-
 णिलेहा रविमसंसंखकसोत्थियविज्जसुविरतियपाणि-
 लेहा पीणुष्ययकक्खवक्खवन्थियपदेमा पदिपुसलककोला
 चउरंगुलसुप्याणकुंबुरसरिसगीवा मंसलसंठियपसत्यह-
 णुगा दालिमपुक्कपासापीवरपलंतकुंचियवरागा सुदुरोत्त-
 रोहा दधिददरायचंदकुंदवांमिंतउलअच्छिहविमलदसगा
 रसुप्लरत्तमउयसुमाह्नातुजीहा कणयरमउअकुनिलअ-
 ञ्जुगयउज्जुतुंगणासा सारयनवकमलकुमुदकुवलयविमु-
 क्कमउलदइनिगरसरिसलक्खणअंक्रियकंतनयणा पत्तल-
 थवलायत्तन्नोययाओ आणमित्तावरुदइकिहभराइमं-
 ठियसंगयआययसुजायतणुकसिणियच्छुमया अद्वीणप-
 याणुत्तमवणा सुस्मवणा पीणमहंरमणिज्जगंढलेहा चउरं-
 सपसत्यसमणिकाला कोमुदीरयणीकरविमलपदिपुसोम-
 वयणा उत्तस्यउत्तिमंगा कनिह्नसुसिण्णिच्छदीहसिरिया
 उत्तउभयजुवपूजदामिणिकर्मन्नुकत्तसवाविसोत्थियदहा-
 गजवमच्छुम्भरहवरमगरउभयसुक्कयासअंकुमअह्वावयवी-
 ईसुपइरुकम्मऊरसिरियाजिसेतोरमेइए । उदधिवरजव-
 णगिरिवर आरंसंझिललययउत्तजसीहचमरउत्तमपसत्यह-
 त्तोमलक्खणपरीओ हंससिरसगईओ कांइन्नमदुरगिरसुस्म-
 राओ कभाओ सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवत्तियविसिया-
 वंगहुवन्नवादी दोभग्गसोणसुक्काओ वचेणयनराण थोच्छुण-
 मूसियाओ सज्जावसिंमारचारुवेसा संगतगतइसियपणिय-
 चोइयविसाससंझावनिणणुत्तावयारकुसन्ना सुंदरघणजह-
 णवयणकरचरणणयाहा वन्नवन्नक्कवोव्जणविसासकलिया
 नंदणवणविवचचारिणीओ वन्न अच्छराओ अच्छरामपिच्छ-
 णिज्जा शानाहततो दरिसणिज्जातो अजिरूवाओ पंदिरूवाओ

तासि णं जंते ! मणुईणं केवतिकाइस्स आहाराइहे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! चउत्तवज्जस्त आहाराइहे समुप्पज्जइ । ते एं भंते ! मणुया किमाहारंति ? गोयमा ! पुडवीपुक्फलाहारा ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! तीमं एं जंते ! पुडवीए केरिसए अस्साए पक्कत्ते ? गोयमा ! स जहानामए गुद्धइ वा खंवेइ वा सक्कराइ वा मण्डेडियाइ वा भिसकंदेइ वा पप्पमोततेति वा पुप्पकराइ वा पउमुत्तराइ वा अकौसियाति वा विज्जाति वा महाविज्जयाति वा पायसांभमाइ वा उवमाइ वा अणपोवमाइ वा चउत्तं गोखीरं चउत्ताए परिणए गुद्धखंरुमच्छंभिवणीए मंदग्गिकडिए वल्लेणं उववेए जाव फामेणं जवे एताखवेसि ता नो इण्ठे सम्भे । तीसि एं पुडवीए एत्तो इट्टपराए चव जाव मणामतराए चव । आमाएणं भंते ! पुक्फलाएणं केरिसए आसाए पक्कत्ते ? गोयमा ! स जहानामए रन्तो चाउत्तं चक्कवट्टिस्स कक्काणपवरजोयणे सयसहस्सनिफण्णे वन्नेणं उववेए गंधेणं उववेए रसेणं उववेए फामेणं उववेए आसायाणिज्जे वीसायाणिज्जे दीवणिज्जे दप्पणिज्जे वीहिट्ठिज्जे मयाणिज्जे सत्तिवदियगायपल्हायाणिज्जे भवे ता रुक्के मिया नो इण्ठे सम्भे । तेमि एं पुक्फलाएणं इचो इट्टतराए चव जाव अस्साएणं पन्नत्ते । ते णं भंते ! मणुया तमाहारेत्ता कट्ठि वसट्ठि उव्वेति ? गोयमा ! रुक्खगेहालयाएणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउत्तो ! ते एं भंते ! रुक्खा किं भंजिया पक्कत्ता ? गोयमा ! क्कगारमंठिया पच्चायरसंजिया उत्तागारसंजिया जयसंजिया धूभसंजिया तोरणमंठिया गोपुरसंजिया पाद्दगसंजिया अट्टाद्दगसंठिया पासायसंजिया हम्मिमतद्दसंजिया गक्कवसंजिया वाद्दगपातियसंजिया वल्लभोसंजिया अएणे तत्त बहवे वरजवणसयणासणविंसिद्धमंठाणसंजिया सुभसीतलक्कया णं ते दुमगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे गेहाणि वा गेहावयणाणि वा एो इण्ठे सम्भे रुक्कवे गेहालया एं मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे गामाइ वा नगराइ वा जाव सन्निवेशाइ वा एो इण्ठे सम्भे । जइत्थियकामगाणि एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउत्तो ! अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे अमीइ वा मसीइ वा किंसीति वा विवर्णोइ वा पर्णोइ वा वाणिज्जाइ वा नो इण्ठे सम्भे । ववगयअसिमासि किमं विवणियपिणियवाणिज्जवज्जा एं ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे हिररणेइ वा सुवणेइ वा कसेइ वा हूसेइ वा मणोइ वा मुत्तिएइ वा विपुत्तपणकणुगरयमणिमोत्तियसेखसिद्दपवामंत-

सारसावयजे वा हंता ! अत्थि णो चव एं तेसि मणुयाएणं तिच्चे ममसिजावे समुप्पज्जइ । अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवेणं दीवे रायाइ वा जुकरायाइ वा ईमरेइ वा तद्धवरेइ वा माहंविएइ वा कोकुंविएइ वा इन्धेइ वा सेट्टिएइ वा सेणावई वा सत्त्ववाहेइ वा नो इण्ठे सम्भे ववगयइहिमकाराएणं ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे दासाइ वा पेसाइ वा सिस्साइ वा भयगति वा जाइक्कगणइ वा कम्मगाराइ वा भोरापुरिसाइ वा नो इण्ठे सम्भे ववगयआभोगिया एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउत्तो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे माताति वा पियाइ वा जायाइ वा जयणीइ वा भज्जा वा पुत्ताइ वा भूयाइ वा सुएहाइ वा हंता ! अत्थि नो चव एं तेसि एं मणुयाएणं तिच्चे पेम्मबंधणं समुप्पज्जइ पयणुपेम्मबंधणा एं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे अरोइ वा वेरिइ वा घायगाइ वा वद्दगाइ वा पट्टणीइ वा पच्चाभिसाइ वा एो इण्ठे सम्भे ववगयवेराणुबंध णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउत्तो ! अत्थि णं जंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे मिचाइ वा वयसाइ वा यत्थियाति वा सुहंति वा सुदीयाइ वा महाभागान्ति वा संगतियाति वा नो इण्ठे सम्भे ववगयपेमापुराणां ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे आवाहाइ वा विवाहाइ वा जन्हाइ वा सक्काइ वा थालिपागाइ वा चोलीवणत्तणाइ वा सीमंतावणत्तणाइ वा पतिपिंदनिवेयणाइ वा नो इण्ठे सम्भे ववगयआवाहविवाहजन्सक्कालिपागकोत्तोवणसीमंतोवणत्तणपतिपिंदनिवेदणा एं ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि एं जंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे इंदमहाइ वा रुदमहाइ वा खंदमहाइ वा सिवमहाति वा वेसमणमहाति वा मुग्गंमहाति वा नागमहाइ वा जक्कवमहाइ वा भूतमहाइ वा कूवमहाइ वा तद्दगमहाइ वा नंदिमहाइ वा इंदमहाइ वा पववमहाति वा रुक्कमहाइ वा चेतिमहाइ वा पूजमहाइ वा एो इण्ठे सम्भे ववगयमहातिया एं ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! ! अत्थि एं भंते ! एगुरुयदीवे एं दीवे नरुपिच्छाइ वा छट्टपेच्छाति वा मक्खपेच्छाति वा मुट्ठिपेच्छाति वा विरुम्बगपेच्छाति वा रुद्धकपेच्छाति वा पवगपेच्छाति वा अक्कववाइगपेच्छाति वा द्वासगपेच्छाति वा हंसपेच्छाति वा मंखपेच्छाति वा तणइहसपेच्छाति वा तुंबवीणपेच्छाति वा कीवपेच्छाति वा मागहपेच्छाति वा जल्लपेच्छाइ वा कट्टयापेच्छाइ वा एो इण्ठे सम्भे ववगयकील्लक्कया णं ते मणुयगणा पक्कत्ता समणाउत्तो ! अत्थि

एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवेसगदाइ वा रहाइ वा जाणाइ वा गिझीति वा पझीति वा थिझाइ वा पवहण्णाइ वा सीयाइ वा संदपाणियाइ वा नो इण्णहे समधे पाच्चारविहारिणो एषं ते मणुयगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे आसाइ वा हत्थीइ वा उट्ठाति वा गोणाइ वा महिसाइ वा खराइ वा अयाइ वा एलगाइ वा इंता अत्थि नो चेव एषं तिसि मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वयागच्छंति । अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे गाबीइ वा महिसीइ वा उट्ठीति वा अयाइ वा एलगाइ वा इंता ! अत्थि नो चेव एषं तिसि मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वयागच्छंति । अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे सीहाइ वा बग्घाइ वा दीविगाइ वा अत्थाइ वा परस्सराइ वा सियासाइ वा विडालाइ वा मुण्णाइ वा कोसमुण्णागति वा कौकैतियाइ वा ससगाइ वा दिच्चित्तलानि वा चित्तुलगाइ वा इंता ! अत्थि नो चेव एषं अन्नमक्ष्म तिसि वा मणुयाणं किंचि आवाइ वा पवाइ वा उपायंति उच्चियेयं वा करंति । पगइमद्दगा एषं ते सावयगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे साझीइ वा वीहीइ वा गोमूमाइ वा इक्खुइ वा तिज्ञाय वा इंता ! अत्थि नो चेव एषं तिसि मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वयागच्छंति । अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे गत्ताइ वा दरीइ वा पाइ वा वंसीइ वा जिम्बुइ वा उवापइ वा विसमंइ वा विजलेइ वा धूसीइ वा रेणुति वा पंकेइ वा बलणीइ वा एणो इण्णहे समधे । एगुरुयदीवे एषं दीवे बहुसमरमणिज्जे जूभिनागे पन्नात्ते समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे खाणुइ वा कंटापइ वा करीमहाइ वा सक्कराइ वा तणकयवराइ वा सत्तकयवराइ वा अमुईइ वा पूई वा उच्चिगंधाइ वा अचोक्खाइ वा एषो इण्णहे समधे वगयत्ताएकंठकरीसहसकरतणकयवरअमुइपूईयत्तुच्चिगंधमचोक्खवज्जिएणं एगुरुयदीवे पन्नात्ते समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे दंसाइ वा ममगाति वा पिमुगाइ वा जूयाइ वा लिक्खाइ वा दिक्खणाइ वा नो इण्णहे समधे वगयदंममगपिपुगजूयाडिक्खवाडिक्खुणपरिचज्जिए एषं एगुरुयदीवे पन्नात्ते समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे अहीइ वा अयगराइ वा महोरगाति वा इंता अत्थि नो चेव एषं ते अन्नमन्नस तिसि वा मणुयाणं किंचि आवाइ वा पवाइ वा उच्चियेयं वा पकरंति पगइमद्दगा एषं ते वाडगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे गहदंदाति वा गहमुससाइ वा गहमाज्जियाइ वा गहजुच्चाइ वा गहसंधाइ वा गहअवसवा अच्चाइ वा अच्चस्ससाइ वा संभाइ वा गंधव्वणगराइ वा गज्जियाइ वा विज्जुयाइ वा उक्कापयाइ वा दि-

सादाहाइ वा गिग्घाइ वा पंसुकिचीइ वा जूयाइ वा जक्खाल्लिचाइ वा भूमियाइ वा माहियाति वा रत्तग्घायाइ वा चंदोवरागाइ वा सुरोवरागाइ वा चंदपरिवेसाइ वा सुरपरिवेसाइ वा पच्चिंददाइ वा पच्चिंनराइ वा इंदपणुआइ वा उगमच्छाइ वा अयोहाइ वा कविहसीयाइ वा पाईणवायाइ वा पटीणवायाइ वा जाव सुद्धवायाइ वा गामदाहाइ वा नगरदाहाइ वा जाव सन्निवेसदाहाइ वा वाणक्खयजणक्खयकुलक्खयपणक्खयवसणजुतमणारयाइ वा नो इण्णहे समधे । अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे डिंवाइ वा नमराइ वा कलहाइ वा बोसाइ वा खाराइ वा वेराति वा विरुद्धरज्जाइ वा नो इण्णहे समधे वगयद्विचरुमरकलहबोलखारवेरीवृक्करज्जविबज्जिया एषं ते मणुयगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे महाजुच्चाइ वा वा महासंगामाइ वा महासत्थपटणाइ वा महापुत्तिसपहाखाइ वा महाखिरपक्खाइ वा नागवाणाति वा खेलवाणाति वा तामसवाणाति वा हृच्छुइयाइ वा कुल्लोगाइ वा गामरोगाइ वा नगररोगाइ वा पंचल्लोरोगाइ वा सीसवेयणाइ वा अच्चिक्खेयणाइ वा कन्नेवेयणाइ वा नक्खेयणाइ वा दंतवेयणाइ कासाइ वा सासाइ वा जराइ वा दाहाइ वा कच्छुइ वा खमराइ वा कोट्टाइ वा कुक्काति वा दगोवराइ वा अरिसाइ वा अजिरगाइ वा जगंदलाइ वा ईदग्गहाइ वा खंदग्गहाइ वा कुमारग्गहाइ वा नागग्गहाइ वा जक्खग्गहाइ वा ज्यूग्गहाइ वा उच्चेयग्गहाइ वा धणुग्गहाइ वा एगाहिंयाइ वा वेयाहिंयाइ वा तेयाहिंयाइ वा चाउत्थयाहिंयाइ वा हिययत्तुलाइ वा मत्थयत्तुलाइ वा पासत्तुलाइ वा कुच्चिन्नाइ वा मोत्तिसुत्तुलाइ वा गाममारं । वा जाव सन्निवेसमारी वा पाणक्खय जाव वसणजुतमणारियां वा नो इण्णहे समधे वगयणंमारिका एषं ते मणुयगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं जंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे अच्चात्ताइ वा मंदासाइ वा सुवुट्टीइ वा मंदावुट्टीइ वा उदवाहीइ वा पवाडाइ वा दग्गुच्चेयाइ वा दग्गुत्तुलाइ वा गामवहाइ वा जाव सन्निवेसवहाइ वा पाणक्खय जाव वसणभूतमणारियां वा नो इण्णहे समधे वगयक्खोवद्दगा एषं ते मणुयगणा पन्नात्ता समणाउसो ! अत्थि एषं भंते ! एगुरुयदीवे एषं दीवे आवागराइ वा तंवागराइ वा सीमागराइ वा सुक्खनागराइ वा रयणागराइ वा वहरागराइ वा वसुहाराइ वा हिरण्यवासाइ वा सुक्खवासाइ वा रयणवासाइ वा वरवासाइ वा आजरणवासाइ वा पत्तं वा पुप्फं वा फलं वा वीर्यं वा समंघं वा मज्झं वा सन्नं वा सत्तुन्नं वा सत्तीरवुट्टीइ वा रयणवुट्टीइ वा

हिरण्यबुद्धी वा सुयन्तं तदेव जाय बुद्धबुद्धी वा सुकालाऽ वा बुकालाऽ वा सुभिक्षवाऽ वा दुभिक्षवाऽ वा अकालपुत्रा वा महग्याऽ वा कयाऽ वा विकयाऽ वा सं-
 णिहीऽ वा संचयाऽ वा निधीऽ वा निहाण्यऽ वा चिर-
 पोराण्यऽ वा पहीण्यामियाऽ वा पहीण्यसत्रयाऽ वा पही-
 ण्योसागाऽ जाऽ इमाऽ गामागरनगस्वेकव्यहमदत्रदोहसु-
 हपइ ग्राममसंवाहसन्निवेशेसु सिधामगतितगचक्रचबरचउ-
 म्मुद्रमहापदमयेसु नगरनिष्क्रमेसु मुसाणमिरिकंदरसंतिस-
 लोवत्साणभरणगिहेसु सन्निविचा चिह्नंति नो इण्डे समहे
 एगुरुयदीवे णं भंते ! दीवे मणुयाणं केवइयं कालं
 उंइं पसुत्ता ? गोयमा ! जहएणेणं पत्तिओयमस्स असंसंखज्ज-
 भागं अमंखेज्जति भागेणं ऊणणं उक्कोमेणं पत्तिओयमस्स
 असंसंखज्जनागं । ते णं जंते । मणुया कासमासे काजं किचा
 काहं गच्छंति काहं उववज्जति गोयमा ! ते णं मणुया उ-
 म्मासावमंसाउम्मा मिहुणाऽं पसवंति अउणासीऽं राहंदिद्याऽं
 मिहुण्यऽं मारकवंति संगोवंति सारखिचा उस्ससिचा णि-
 स्ससिचा कासिचा क्षित्तिचा अकिद्धा अउवाहिया अपरि-
 याविया सुहं सुहेणं कालमामे कालं किचा अमपरिसु देव-
 होएपु देवत्ताए उववचारी जवंति देवलोपरिगहिया णं
 ते मणुयगणया एएणत्ता समपाठमो ॥

एकोरकमनुष्याणामेकोरकहीये पिपुक्कियुराह । कहिणं भंते !
 इत्यादि क जदन्त ! दाक्षिणात्यामामिह एकोरकवायो मनुष्याः
 शिखरिण्यपि पवन्ते विद्यन्ते ते च मेरोरकतरदिग्भतिन इति तद्व्यव-
 च्छेदार्थे दाक्षिणात्यानामित्युक्तम् एकोरकमनुष्याणामेकोरक-
 हीपः प्रकृतः जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरपर्वतस्यान्व-
 त्वासेंभवत्स्मिन् जम्बूद्वीपहीये इति प्रतिपत्तव्यं मन्दरपर्वतस्य
 मंगदंक्रिणस्यां दिशि कुल्लहिमवर्षधरपर्वतस्य कुल्लग्रहणं म-
 हाहिमवर्षधरपर्वतव्यवच्छेदार्थं पूर्षस्माव पूर्षकापरमान्तात्
 उत्तरपूर्वणं उत्तरपूर्वस्यां दिशि सवणसमुद्रं त्रीणि योजनशा-
 तान्यवगाह्यान्तरे कुल्लहिमवर्षध्या उपरि दाक्षिणात्यानामे-
 कोरकमनुष्याणामेकोरकहीयो नाम द्वीपः प्रकृतः स च त्रीणि
 योजनशतान्यायामिष्कमेन समाहारे ब्रह्मः आयामेन वि-
 ष्कमेन अन्वयेथः । नवेकोनपञ्चाशतात्येकोनपञ्चाशदधिकानि
 नवयोजनशतानि (१५४५) परिक्लेपेण प्रकृतः परिक्लेपेण परिमा-
 णगणितमावना विष्कमेनः " सग्वद्वहदहस गुण-करण्यीषद्वस्स
 परिभो दोहं " इति कदरावशात् स्वयं कतेष्व्या सुगममत्वात्
 " से णमित्यादि " स एकोरकनामा द्वीप एकया पद्मवरवेदि-
 कया एकेन धनकपरेन सवैतः सवोयो दिणु समेततः सामस्येन
 परिलितः । तत्र पद्मवरवेदिकावर्षेको धनस्यपरवणकश्च
 कश्चपथमजम्बूद्वीपजगत्पुपरि पद्मवरवेदिकावर्षावर्षावर्षकयत्
 भावनीयः । स च तावत् यावच्चरममासयतीति पद्यम् ।
 " एणोस्यदीवस्स णं भंते ! इत्यादि " एकोरकहीपस्य णमिति
 पूर्षवत् भदन्त ! कीदृशः क इव इयः आकारमवपन्त्यवतारः
 पूष्यादिस्यकपसम्भवः प्रकृतः जगवानाह गौतम ! एकोरकहीये
 बहुसमरमणीयः प्रभूतसमः सन् रम्यो नृमिसिन्धुः प्रकृतः " से

जहा णामए आसिगपुक्कवेरेह वा इत्यादि " उत्तरकुट्टमस्ताव-
 द्नुत्तमसैव्यो यावद्नुत्तज्जनासुं नवरमत्र नानात्वमिदं मनुष्याः
 एषी भयुःशतामुच्छ्रिता यकत्वात्तुःपच्छिष्टकरकदाः पुष्ट-
 वंश्या बृहत्प्रभाषानाहिते बहवो भवन्ति पकोनादीति च
 रात्रिद्विवाभि स्वापत्यागुपपालयन्ति (स्मितेस्तेषां अज्मेन
 देशेनः पदयोपमासंख्येयमातः एतदेव व्याचष्टे पदयोपमासं-
 ख्येयमागम्युत्त उरुक्पेतः परिपुष्येः पदयोपमासंख्येयजागः
 जी० ३ प्रति० ।

कहिं जंते ! दाहिण्येण्णाणं आभासियमणुयाणं आज्ञा-
 सियदीवे नाम दीवे पष्यते ? गोयमा ! जंबुद्वीवे दीवे तदेव
 सुल्लहिमवन्तस्स बासहरपन्वयस्स दाहिणेणं सुल्लहिमव-
 तो चरिंमताओ सवणसमुद्रं तिन्नि जोयणं सेसं जहा ए-
 गुस्याणं निरवसेसं सव्वं ॥

क भदन् ! दाक्षिणात्यानां प्राभाषिकहीपानामन्तरद्वीपः प्रकृतो
 भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि
 कुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य पूर्वस्याम्बरमान्तात् दक्षिणपूर्वेषु
 दक्षिणपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं कुल्लहिमवर्षध्या उपरि त्रीणि
 योजनशतान्यवगाह्यान्तरे वंश्या उपरि दाक्षिणात्यानामा-
 प्राषिकमनुष्याणामेकोरकहीयो नाम द्वीपः प्रकृतः शेषपेककवत्
 एकोरकवद्वकव्या यावत् स्थितिसुप्रम् ।

कहिं जंते ! दाहिण्येणं वेसाणियमणुस्साणं पुच्छा ? गो-
 यमा ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पन्वयस्स दाहिणेणं सुल्लहिमव-
 तस्स बासहरपन्वयस्स दाहिणेणं पवच्छिमिप्राओ चरिंमता-
 ओ लवणसमुद्रं तिन्नि जोयणा सेसं जहा एगुस्याणं ।
 " कहिणं जंते इत्यादि " क भदन् ! दाक्षिणात्यानां वैशाखि-
 कमनुष्याणां वैशालिकहीपो नाम द्वीपः प्रकृतः जगवानाह गौ-
 तम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि कुल्लहिम-
 वतो वर्षधरपर्वतस्य पाश्चात्याम्बरमान्तात् दक्षिणपश्चिमायां दि-
 शि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्या अन्तरे दाक्षि-
 णात्यानां वैशालिकमनुष्याणां वैशालिकहीपो नाम द्वीपः प्रकृतः
 शेषं यथा एकोरकाणां तथा वक्तव्यं यावत् स्थितिसुप्रम् ।

कहिं जंते ! दाहिण्येण्णाणं नंगोसियमणुस्साणं पुच्छा
 गोयमा ! जंबुद्वीवे दीवे मंदरस्स पन्वयस्स दाहिणेणं सुल्ल-
 हिमवन्तस्स बासहरपन्वयस्स उत्तरपच्छिमिप्राओ चरि-
 मताओ सवणसमुद्रं तिन्नि जोयणसयाऽं सेसं जहा एगु-
 रुयमणुस्साणं ।

क जदन्त ! दाक्षिणिकमनुष्याणां नाङ्गोलिकहीपो नाम द्वीपः
 प्रकृतः जगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षि-
 णस्यां दिशि कुल्लहिमवतो वर्षधरस्य पाश्चात्याम्बरमान्तात्
 उत्तरपश्चिमेन उत्तरपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि यो-
 जनशतानि अत्रवाह्यान्तरे वंश्या उपरि नाङ्गोलिकमनुष्याणां
 नाङ्गोलिकहीपो नाम द्वीपः प्रकृतः शेषपेकोरकवत् वक्तव्यं या-
 वत् स्थितिसुप्रम् । जी० ३ प्रति० । स्वा० । नं० । कमे० ।
 द्वितीयबहुतुकः ।

कहिं जंते ! दाहिण्येण्णाणं ह्यकसमणुस्साणं इयक-
 न्ददीवे नाम दीवे पष्यते ? गोयमा ! एगुरुयदीवस्स उत्तर-

पुरच्छिन्नाभ्यां चरिर्मताओ हवणसमुद्ं चचारि जोयण-
 सयाई उग्गाहिचा एत्य णं दाहिणिग्लाणं हयकन्नमणुस्साणं
 हयकन्नदीवे नाम दीवे पन्नत्त चचारि जोयणसयाई आ-
 यामविकसंभेण वारसमया पन्नउट्टा किंचि त्रिमेषुणाई परि-
 कलेवेणं एगाए पडववरवेदयाए अन्नसेसं जहा एगुरुयाणं ॥
 क अदत्तः हयकस्येभमुण्याणां हयकर्णद्वीपो नाम द्वीपः प्रहसः
 जगवानाह । गौतम ! एकोरुकद्वीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् उत्तर-
 पूर्वस्थां दिशि हवणसमुद् चत्वारि योजनशतान्यवगाहान्तरं
 क्षुद्रहिमवद्द्वीपाः उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तादपि चतुर्यो-
 जनशतान्तरं दक्षिणतानामि हयकर्णमनुष्याणां हयकर्णं नाम
 द्वीपः प्रहसः स च चत्वारि योजनशतान्यायामविष्कम्भेन द्वा-
 दश पञ्चपष्ठानि योजनशतानि किंचिच्छिषोधाधिकानि परिक्रमेण
 श्रेयं यथा एकोरुकमनुष्याणाम् ।

कहिं णं जंते ! दाहिणिग्लाणं गयकन्नमणुस्साणं पुच्छा ?
 गोयमा ! आजासियदीवस्स दाह्णिगपुरच्छिन्नाभ्यां चरिर्म-
 ताओ लवणसमुद्ं चचारि जोयणसयाई ससं जहा हयकन्नाणं
 एवमाजधिकद्वीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् दक्षिणपूर्वस्थां दिशि
 चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्मवगाहान्तरं क्षुद्रहिमव-
 द्द्वीपा उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् चतुर्योजनशतान्तरं गजक-
 ष्मन्मुण्याणां गजकर्णं नाम द्वीपः प्रहसः आयामविष्कम्भपरि-
 चिपरिमाणं हयकर्णद्वीपवत् ।

एवं गोकन्नमणुस्साणं पुच्छा ? वेमालियदीवस्स दाह्णिग-
 पुर्वच्छिन्नाभ्यां चरिर्मताओ लवणसमुद्ं चचारि जोय-
 णसयाई ससं जहा हयकन्नाणं ।

नाह्णंभिकद्वीपस्य पश्चिमन्ताच्चरमान्तात् दक्षिणपश्चिमेन
 चत्वारि योजनशतानि हवणसमुद्मवगाहान्तरं क्षुद्रहिम-
 वद्द्वीपा उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् चतुर्योजनशतान्तरं गोक-
 ष्मन्मुण्याणां गोकर्णद्वीपो नाम द्वीपः प्रहसः आयामविष्कम्भ-
 परिचिपरिमाणं हयकर्णद्वीपवत् ॥

सत्कलिकण्णणं पुच्छा ? गोयमा ! नंगेलियदीवस्स
 उत्तरपुर्वच्छिन्नाभ्यां चरिर्मताओ लवणसमुद्ं चचारि
 जोयणसयाई ससं जहा हयकन्नाणं ।

नाह्णंभिकद्वीपस्य पश्चिमन्ताच्चरमान्तात् उत्तरपश्चिमायां दिशि
 लवणसमुद्मवगाहा चत्वारि योजनशतानि अन्नन्तरं क्षुद्रहि-
 मवद्द्वीपा उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तात्चतुर्योजनशतान्तरं दक्षि-
 णतानामि शङ्कुलीकर्णमनुष्याणां शङ्कुलीकर्णद्वीपो नाम
 द्वीपः प्रहसः । आयामविष्कम्भपरिचिपरिमाणं हयकर्णद्वीप-
 वत् । पद्यवरवेदिकावमलपद्मनुष्याधिकारुवं च समस्तेको-
 रुकद्वीपवत् जी० ३ प्रति० । स्था० । प्रहा० । कर्म० ।

तृतीयश्चतुष्कः ।
 तेषि णं दीवानं चउमु वि दिसामु हवणसमुद्ं पंच पंच
 जोयणसयाई अगोहिचा एत्य णं चचारि अंतरदीवा पम्पु-
 चा तंजहा आयमसमुद्दीवे मंडगमुद्दीवे अओउददीवे
 गोमुद्दीवे । तेषु णं दीवेसु चउविह्वामणुस्सा भाणियव्वा ।
 एतेयामपि हयकर्णदीनां परतः पुनरपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरदि-
 विदिकु प्रत्येकं पञ्च पञ्च योजनशतानि व्यतिक्रम्य पञ्चयोज-

नशतायामविष्कम्भा एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिके-
 षाः पूर्वोत्तरदिशिदिक् प्रत्येकं लवणसमुद्मवगाहान्तरा आदर्शमुखः ३ मे-
 षदमुख २ अयोमुख ३ गोमुख ४ कामान्तराणां द्वीपास्तद्यथा
 हयकर्णस्य परतः आदर्शमुखो गजकर्णस्य परतो मेगदमुखः
 गोकर्णस्य परतोऽयोमुखः शङ्कुलीकर्णस्य परतो गोमुख इति
 एवमग्रेऽपि ज्ञापना कार्या प्रहा० । पद० । जी० कर्म० ।
 चतुर्थश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवानं चउमु वि दिसामु लवणसमुद्ं च उ जो-
 यणसयाई अगोहिचा एत्य णं चचारि अंतरदीवा पद्यचा
 तंजहा आससमुद्दीवे हत्थियमुद्दीवे सीङ्गमुद्दीवे बग्गमुद्दीवे
 तेषु णं दीवेसु मणुस्सा भाणियव्वा ॥

एतेषां मध्यवर्द्धमुखद्वीपानां चतुर्णां द्वीपानां परतो चतुर्थोऽपि
 यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिदिक् प्रत्येकं लवणसमुद्ं च योजनश-
 तान्यवगाहा च योजनशतायामविष्कम्भानाः सप्तनवत्यधिक-
 षादशयोजनपरिकेपाः पद्यवरवेदिकावमलपद्ममणुस्सापरिसरा
 जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् चतुर्योजनशतप्रमाणान्तरा अश्वमुखद-
 स्तिमुखान्तरेऽश्वमुखः ३ खान्तरेऽश्वमुखः ३ द्वीपा वक्तव्यस्तैर्य-
 था आदर्शमुखस्य परतोऽश्वमुखः ३ मेगदमुखस्य परतो हस्तिमुखः
 आयाममुखस्य परतः सिंहमुखः गोमुखस्य परतोऽयाममुखः ।

पञ्चमश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवानं चउमु वि दिसामु लवणसमुद्ं सच सच
 जोयणसयाई अगोहिचा एत्य णं चचारि अंतरदीवा प-
 एणचा तंजहा आसकस्यदीवे हत्थियमुद्दीवे अन्नस्यदीवे
 कस्यपाउरणीदीवे । तेषु णं दीवेसु मणुया भाणिय-
 व्वा । स्था० ४ टा० ।

एतेषामाश्वमुखद्वीपानां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वो-
 त्तरादिदिक् प्रत्येकं सप्त सप्त योजनशतानि हवणसमुद्मव-
 गहा सप्तयोजनशतायामविष्कम्भान्तराश्वमुखदशधिकद्विंशति-
 योजनशतपरिसराः पद्यवरवेदिकावमलपद्मसमवगाहा जम्बूद्वी-
 पवेदिकान्तात् सप्तयोजनशतप्रमाणान्तरा अश्वमुखदशतिकर्णा-
 कार्णकर्णप्रारवखानामानश्चत्वारो द्वीपा वाक्यस्तैर्यथा अ-
 श्वमुखस्य परतोऽश्वकर्णः हस्तिमुखस्य परतो हस्तिकर्णः
 सिंहमुखस्य परतोऽकर्णः व्याधुमुखस्य परतः कर्णप्रारवः
 जी० ३ प्रति० । प्रहा० । कर्म० ।

षष्ठश्चतुष्कः ।

तेसु णं दीवानं चउमु वि दिसामु हवणसमुद्ं अद्द अ-
 द्द जोयणसयाई अगोहिचा एत्य णं चचारि अंतरदीवा
 पमाचा तंजहा उकासुद्दीवे मेहसुद्दीवे विज्जुमुद्दीवे विज्जु-
 दंतदीवे तेषु णं दीवेसु मणुस्सा जाणियव्वा स्था० ४ टा० ।

एतेषामश्वकर्णदीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं
 पूर्वोत्तरादिदिक् प्रत्येकं अष्ट योजनशतानि लवणसमु-
 द्मवगाहाप्रथमयोजनशतायामविष्कम्भाना एकोनत्रिंशदधिक-
 चिंशतियोजनशतपरिकेपाः पद्यवरवेदिकावमलपद्ममणुस्सा-
 परिसरा जम्बूद्वीपवेदिकान्तात्चतुर्योजनशतप्रमाणान्तरा उल्का-
 मुखमंडमुखविज्जुमुखविज्जुमुखभिन्नाहचत्वारो द्वीपा वक्त-

व्यासतथा आह्वयकार्यस्य परत उल्कासुखः हरिकर्षस्य परतो मेघसुखः अकण्ठस्य परतो विद्युत्सुखः कायोप्रावरणस्य परतो विद्युद्दन्तः ॥ जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । कम्म० ।

तेषु षं दीवानं चउमु वि दित्तासु लवणममुदं एव एव जोयणसयादं ओगाह्तिचा एया षं चत्तारि अंतरदीवा पएणत्ता तंनहा षणदंतदीवे लउदंतदीवे गुददंतदीवे सुच्छ- दंतदीवे । तेषु षं दीवेसु चउचिक्विडा मणुस्सा परिसंति तंनहा षणदंता लउदंता गुददंता सुच्छदंता ।

पतेषामणुत्सुकामुखादीनां चतुएणां द्वीपानां परतो यथाक्रम पुबौत्तरादिदिग्दिशु प्रत्येकं नव योजनशतानि लवणसमुद्रम- ग्राह्य नवयोजनशतयामाविष्कम्भाः पञ्चचत्वारिंशदधिकारा- यिदियोजनशतपञ्चदशयंदि काचनखंरुससमयगुहा जम्बुद्वीप- शेदिकान्तात् नवयोजनशतप्रमाणान्तरा चनदन्तषुददन्तगुददन्त- शुच्छदन्तानामानवत्त्वारां द्वीपास्तथाया उल्कासुखस्य परतो घ- नदन्तः मेघसुखस्य परतो अष्टदन्तः विद्युत्सुखस्य परतो गुदद- न्तः विद्युद्दन्तस्य परतः शुच्छदन्तः जी० ३ प्रति० ।

अन्तरद्वीपप्रकरणार्थं संग्रहधायाः ।

“ बुद्धिमवंतपुत्रा-वरण वित्रिसानु सागरं तिसप ।
गंतुंनरद्वीवा, तिथि सप होति विरथासा ॥ १ ॥
अगणायधनवसप, किञ्चणे परिहिसिमे नामा ।
प्रारुय आसिय, वेसणां चित् संगुहो ॥ २ ॥
एरसि दीयाणं, परां चत्तारि जोयणसयादं ।
ओगाहिरुण लवणं, स पविदिसि चउसयपमाणा ॥ ३ ॥
चत्तारंतरदीवा, हयगयगोकणसंकुलीकसा ।
एवं पंच सयादं, उ सत् अठे व नव चैव ॥ ४ ॥
ओगाहिरुण लवणं, विष्कंभोगाहसरिसया भणिया ।
अउरो अउरो दीवा, इमोदं नामेदिं नामया ॥ ५ ॥
आयंसमेदगमुहा, अओमुहा गोमुहा य अउरते ।
अस्समुहा इत्थिसुहा, सीधमुहा चव चउमुहा ॥ ६ ॥
तचो य अस्सकथा, इत्थिअकथा अकथापाउरणा ।
उकामुह मेहमुहा, यिज्जुमुहा विज्जुदंता य ॥ ७ ॥
षणदंत लउदंता, निगुददंता य सुच्छदंता य ।
वासहरे सिहरमि वि, एवं थिय अठवीसावि ॥ ८ ॥
अंतरदीविसु नरा, षणसुयअद्धसिया सया सुदया ।
पालिति मिहुणधम्मं, पद्धस अस्सजजागओ ॥ ९ ॥
अउसदि विट्टिकरं-रगाण मणुयएण वण्णवात्तयाया ।
अउणालीदं तु दिणा, अउन्धमसेण आहारो सि ॥ १० ॥
स्था० ४ ज० । एतेषामिव द्वीपानामवगाहनायामविष्कम्भ- परिचयपरिमाणसंग्रहाधापुदकमाह ।

पदमभि तिथि उ मया, सेसाण सतोचरा नउज्जा च ।
ओगाहण विकसंनं, दीवानं परिरिं वोच्चं ॥
पदमचउकपरिरिया, बीयचउकस्स परिरओ अहिओ ।
सोभेदिं तिदि उ जोयण-सराहं एमेव सेसाणं ।
एणोरुयपत्तिकेवो, नव चैव सयादं अउएणपएणां ॥
वारसपएणांहां, हपकक्षाणं परिकेवो ।
पयगरस एकसीया, आयंसमुहाण परिरओ होइ ।
अद्वारसनउयाओ, आसमुहाणं परिकेवो ।

वाचीसं तेरादं, परिकेवो होइ आसकएणाण ॥
पणवास अउएणीसा, उकाहपरिरओ होइ ।
दो चैव सहस्राहं, अद्वेव सया इवंति पणयात्ता ॥
षणदंता दीवाणं, विसेसमहिओ परिकेवो ।

प्रथमद्वीपचतुष्के चिन्वमाने त्रीणि शतानि अथगाभाना अयणसमुद्रावगाहं विष्कम्भं च विष्कम्भप्रहणश्रायायोऽपि गृह्यते तुल्यपरिमाणत्वात् जानीदिति किञ्चिदशेषः शेषाणां द्वी- पचतुष्काणां शतोत्तराणि त्रीणि शतानि अथगाहनाविष्कम्भं तावज्जानीयात् यावन्नव शतानि तद्यथा द्वितीयचतुष्के अस्वामि शतानि तृतीये पञ्च शतानि चतुर्थे षट् शतानि पञ्चमे सप्त शतानि षष्ठे अष्टौ शतानि सप्तमे नव शतानि अत ऊर्ध्वं त्रीणाना- मेकोरुकप्रभृतीनां परिचयप्रमाणं ध्रुवेषु । प्रतिज्ञातमेव निर्बाहय- ति “ पदमचउकमादि ” प्रथमचतुष्कपरिचयात् प्रथमद्वीपच- तुष्कपरिचयपरिमाणत्वात् द्वितीयचतुष्कस्य द्वितीयचतु- ष्यस्य परिचयः परिचयपरिमाणमधिकः चांशैः चोरुशोत्त- रैस्त्रिभियोजनशतैरवमेयानैव प्रकरणं शेषाणां द्वीपानां द्वीप- चतुष्काणां परिचयपरिमाणमधिकं ध्रुवेषुचतुष्कपरिचयपरिमा- णादवसातव्यमेतदेषु चैतेन दर्शयति (एकोरुयस्यादि) एकां- रुकपरिक्रमे एकोरुकेपडाकृतप्रथमद्वीपचतुष्कपरिक्रमेण नव श- तानि एकानांश्चादधिकानि तत्तस्मिन् योजनशतेषु पोरु- शोत्तरेषु प्रकृतेषु “ इयकक्षाणमिति ” बहुचचत्वात् हयकणप्रमुखाणौ द्वितीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्रेषो भवति स च द्विदशयोज- नशतानि पञ्चदशधिकानि तत्रापि त्रिषु योजनशतेषु पोरु- शोत्तरेषु प्रकृतेषु (आयंसमुहाणति) आशुशोसुखसुखाणां मृतीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिचयपरिमाणं भवति तच्च पञ्च- दशयोजनशतान्येकाशीत्यधिकानि ततो त्रयोऽपि त्रिषु योजन- शतेषु योऽशोत्तरेषु प्रकृतेषु (आयंसमुहाणति) अम्बुसुखप्र- दूनीनां चतुर्णां चतुर्णां द्वीपानां परिक्रेषो भवति तद्यथा द्विदशयो- जनशतानि सप्तनवव्यधिकानि तेष्वपि त्रिषु योजनशतेषु पोरु- शोत्तरेषु प्रकृतेषु (आसकएणाणति) अम्बुकरणप्रमुखाणां पञ्चमानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्रेषो भवति तद्यथा द्विदशयति- योजनशतानि त्रयोदशधिकानि ततो त्रयोऽपि त्रिषु योजनश- तेषु पोरुशोत्तरेषु प्रकृतेषु उल्कासुखपरिचयः उल्कासुखप्रमुखप- ष्ठद्वीपचतुष्कपरिचयपरिमाणं भवति तद्यथा पञ्चदशयति योजनश- तानि एकानांश्चादधिकानि ततः पुनरपि त्रिषु योजनशतेषु पोरु- शोत्तरेषु प्रकृतेषु घनदन्तद्वीपस्य घनदन्तप्रमुखसहद्वीपचतु- ष्यस्य परिक्रेषो भवति तद्यथा द्वे सहस्रे अष्टौ शतानि पञ्चचत्वारिंश- दधिकानि (विसेसमहिओदिति) किञ्चिदशेषमधिकोऽधिकृतः परिक्रेषः पञ्चचत्वारिंशानि किञ्चिदशेषाधिकानि ति प्रायश्चः । इदं पदमन्ते इतिदित्वात्सवैवाप्यभिस्संवाचनीयं तेन स्वैश्वर्यं किञ्चिदशेषाधिकमुक्तरूपं परिचयपरिमाणप्रवसताव्यम् तदे- वमेते हिमवति पर्वते चतसृषु विदिशु ज्यवस्थिताः सर्वसं- क्यया अष्टादशतिः एवं हिमसुदृश्यवर्णप्रमाणे पञ्चदशप्रमाणा- यामविष्कम्भावगाहपुएदरीकहद्वेपशोभितशिखरिएष्यि पर्वते लवणेदाए एणोरुजलसंस्पर्शोद्भूय यथोक्तप्रमाणाव्यात्त- स्युषु विदिशु एकांस्कदादिनामानांश्चाप्यान्तराताप्यामविष्कम्भा अष्टादशतिसंख्या द्वीवा वेदितव्याः ।

कहि षं भंते ! उचरिद्विणां एगुरुयमणुसयासं एगुरुद्वी-

वे नामं दीवे पण्णात्ता ? गोयमा । जम्बूदीवे दीवे मंदरस्स पन्थयस्स उचरेणो तिहरिस्स वासहरपन्थयस्स उचरपुर-
च्छिभिन्नाओ चरिपंथाओ भवणसमुद्धं तिन्नि जोयणस-
थाइं भोगाहिवा एवं जहा दाहणिष्णाणं तहा उचरिष्णाणं
भाणियन्वं णवरं सिहास्सि वामहरपन्थयस्स विदिसामु
एवं जाव सुक्कंददीवेति जाव सेचं अंतरदीवगा ॥

“कहि णं तंते । परुकुययादि” सर्वे तत्रेव नवरमुत्तरेण विभा-
वा कर्त्तव्या सर्वसंस्कृष्या वदुपञ्चाशदन्तरहीपाः । उपसंहारमा-
ह । सेषानन्तरहीवगा ते पते अन्तरहीपका इति ॥ जी० ३
प्रति० ॥ प्रहा० । स्या० । ज० । कर्म० । एतद्भन्ता मनुष्या अण्ये-
तन्नामान उपचारान्नुवन्ति । तास्त्व्यासत्प्रादेशां यथा पञ्चा-
सद्वेदानिवांसिनः पुरुषाः पञ्चाशा इति प्रहा० ? पद० । जी० स्या० ।
अंतरदीवग [य] अन्तरदीवग [ज] -पुं० अन्तरहीपेषु श्लाघा
अन्तरहीपगाः प्रहा० १ पद० । तेषु जाता वा अन्तरहीपजाः ।
सं० । एकोऽका अन्तरहीपवासिगर्भस्थुक्तातिकमनुष्यभेदेषु, ते
व एकोऽकादिनामानोऽष्टाध्विपरिध्वंस्त्रिणायासौत्राहभेदेव मि-
थयामाः पदुपञ्चाश्व कर्म० १ क० १ स्या० । आ० प्र० द्वि० ।
(तद्वर्णकोऽन्तरमेवअंतरहीवशब्दे दृशितः)

अंतरदीववेदिया-अन्तरद्वीपवेदिका-श्री० द्वीपान्तरवेदिका-
याव, तथा अन्तरद्वीपवेदिकायां चाराणि सन्ति न वेति प्रश्ने
अगत्या चाराणि कथितानि सन्ति अन्तरद्वीपे तु वेदिका जगत्याः
स्थानेऽस्ति श्रुतां वेदिकायामपि द्वारणि संभाव्यन्ते इत्येव ० ४
उल्ला० ३८ प्र० ।

अंतरदीविया-आन्तरद्वीपिका-श्री० अन्तरे मध्ये समुद्रस्य
द्वीपा ये ते तथा तेषु जाता आन्तरद्वीपास्त पदान्तरद्वीपिकाः ।
अन्तरद्वीपवास्तवमनुष्यश्रीपु, स्या० ३ जा० । जी० । (व-
कम्यता चासामंतरद्वीवशब्दे दृशिता) ।

अंतरद्वी-अन्तरद्वी-श्री० अन्तरकाले, आचा० १ सु० ८ अ० ।
अन्तर्धी-श्री० अन्तर्धीने, “सह अन्तरद्वी” स्मृत्यंशेऽन्तर्धीने
किं मया परिशुदीते कया मर्यादया व्रतामित्येवमनुस्मरणमि-
त्यर्थः आचा० ६ अ० ।

अंतरपद्मी-अन्तरपद्मी-श्री० मूलश्लोकात्सार्किकगम्यतस्य प्रा-
मविशेषे, प्र० ७ डा० । वृ० ।

अन्तरप्या-अन्तरात्मन-पुं० अन्तर्मध्यकूप आत्मा शरीररूप इ-
त्यन्तरात्मनि अ० २० हा० ३ उ० । स्वरेऽन्तरश्च ८ । ? । १४
इति स्वर्णाम्बयम्बज्जलस्य स्वरे परं शुक् निषिद्धः प्रा० । जीव, प्र-
श्न० संव० १ डा० । प्र० ७ । आत्मेभेद, यो हि सकर्मावस्था-
यामपि आत्मनि हानापुष्योगलकृते शुक्लवैतलकृते महान-
न्दस्वरूपे निषिङ्काराभूतावस्थाम्बयकूपे समतपरभावमुक्ते आ-
त्मशुद्धिः (सः) अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिशुण्ठ्यानकतः क्षणिको-
द्दं यावत् अन्तरात्मा उच्यते प्र० १ ? अष्ट० ।

अन्तरभावं-अन्तरजाव-पुं० परमायें, पञ्चा० १८ वि० ० ।

अन्तरभावंविहणं-अन्तरजावविहोने-वि० परमायेंविमुक्, प्र-
श्न० १८ वि० ० ।

अन्तरभावा-अन्तरभावा-श्री० गुरोर्भावंमाणस्य विवाहप्रभाषणे,
७० ३ अष्टि० । आचा० । विहरेत् स्यात् चैरिः पृष्टः “ आयरि
उच्यते वा संभासेऽज वा विषामरेऽज वा आयरि उच्यते

यस्स त्रासमाणस्स वा विषामरेणोपस्स वा यो अंतराजासं
करेऽजा ” आचा० २ सु० ३ अ० ।

अंतराहिय-अन्तर्हित-वि० व्यथिते, “ मणुतरहियाप पुढ-
धीप ” आचा० २ सु० १ अ० । नि० वृ० ।

अन्तरा-अन्तरा-अर्थ० अन्तरंति इण्-मानिकेत्, वर्जने, भेदि-
नी-वाच० । अन्तराले, सुष० १ सु० ८ अ० । श्लो० । आचा० ।
मध्ये, “ इच्छार्यामागंतु अंतराव विसीवह ” सुष० सु० ३ अ० ।
अत्रायें च. कल्प० “ अंतरा वि च से कल्प इव से कल्प ”
प्रवांगपि कल्पते परं न कल्पते कर्म० १ क० १ ।

अन्तरा (य) इय-अन्तराय-ज० पुं० अन्तरा दातृप्रतिप्रा-
हकथोरन्तर्भाषेऽप्रावर्त्तकवद् विष्णोर्हेतुता अयते गच्छती-
अन्तरायम् उक्तं ३३ अ० । अन्तरा अय-अक्ष-प्रथ० ? प्रहा० ।
जीवं दानादिकं वा अन्तरा व्यथयानायावरायति गच्छ-
तीति अन्तरायम् । अन्तरा-इ-अक्ष-पुं सं० ३ डा० । कर्म० ।
अन्तर्मध्ये दातृप्रतिप्राहकयोश्चिचाले आयातीत्यन्तरायः । जी-
वस्य दानादिविष्णुकारकऽप्ये कर्मभेदे, यथा राजा कसैस्त्रि-
हातुमुपदिशति तत्र भाग्यदामारिकोऽन्तराले विष्णुहृदं भवति
तदन्तरम्यकर्माऽप्यमम् भवति उक्तं ३३ अ० । “ जह राया
दाणारं, न कुणह भंडारिप विक्कलम्भि । एवं जेणं जीवो,
कम्मं तं अंतरायति ” स्या० ।

तद्वेदा यथा-

अन्तराए कम्मे लुविहे पम्भे तंजहा पदुप्पमिणा-
मिणं चेव पिहणिय आगामिपहं स्या० १ जा० ।

(पदुगुणविनासिपुवेवति) प्रत्युपपन्नं तैतानं शब्दं वस्तु इत्यर्थो
विनाशितमुपग्रहं येन तत्पथा । पाठान्तरेण प्रत्युपपन्नं विनाशय-
तीत्यर्थं शीलं प्रत्युपपन्नविनाशि शब्दं समुच्चये इत्येकमर्थवत्पि-
पद्ये च निकण्डि च आगमिनो लक्ष्यवस्थे वस्तुनः पन्थाः
आगमिपथः तमिति क्वचिद्गामिपथानिति इत्येतं क्वचिच्च
(आगमपहति) तत्र च लान्तर्ममित्यर्थः । स्या० २ जा० ।

अन्तराए णं भंते ! कम्मं कतिविह पद्यते ? गोयमा !
पंचविहे पद्यते तंजहा दाणंतराए जाव वीरियंतराए
प्रहा० १५ पद० ।

तथ यद्दुश्चयशान्तं सति विभवं समागते च गुणवति पात्र-
दनमस्यै महाफलासिद्धिं ज्ञानक्षयं दातुं नोस्वहंतं तद्वानन्तरायं
यथा यदुद्दयवशाद्दानमुद्योतं प्रसिद्धादिपुं दातृशुद्धे (विद्यमानम-
पि दीयमानमर्थेदानं चाप्युक्तशोषितं गुणवतिपुं वाचको न
श्रमते तज्जानन्तरायं तथा यद्दुश्चयशान्तं सत्यपि विशिष्टादा-
रादिसंभवे अस्ति च प्रत्याक्यानपदिपानेन वैराग्ये वा प्रवस-
कापेयाश्रोतसहते नानुं नद्रोगानन्तरायंमेवमुपमोगान्तरायमपि
भावनीयम् । तत्रैवं जोगोपजोगाथोरयं विशेषः सङ्कतं उच्यते इति
जोगः “ आहारपुष्कराभे उ, उवमोगो उ पुणो पुणुः । उच्यते व-
स्यथिसयाइं ” तथा यदुद्दयत्सत्यपि निकजि शरीरे वैतनिकाया-
मपि वर्तमानोऽप्यप्राशो जवति यद्दुश्चयवति शरीरे स्वाधेऽपि
प्रयोऽनेऽपि ईतनस्यतया प्रवर्त्तते तद्वीर्यन्तरायम् प्रहा० २३ पद० ।

दायें श्लाभे य भोगे य, उवजोगे वीरिणं तदा ।
पंचविहमंतरायं, समासेण विषाहियं उच्यते ३३ अ० ।

एतच्च भाएडागारिकसममिति दशयथाह ।
मिरिहुरियसमं एयं, जह पदिभूकेण तेषां रायाई ।
न कुण्ड दाणाई, एवं विगेषेण जीवो वि ॥
श्रियो गृहं श्रीगृहं भाएडागारं तद्विपतेन यद्वय स श्रीगृहको
भाएडागारिकस्तेन समं तुल्यमेतन्नरायकर्म यथा तेन श्री-
गृहकेण प्रतिकृतेन राजादिः राजा नृपतिः आदिशुभार्त्तं भे-
द्धीश्वरत्तलवराविपरिग्रहः न करति कर्तुं न पारयति दानादि
आदिशुभार्त्तं लाभमोगोपयोगादिग्रहणम् । एवममुना श्रीगृ-
हकृद्दत्तानेन विघ्नेनान्नरायकर्मणा जीवोऽपि जन्तुरपि दाना-
दि कर्तुं न पारयतीति व्याख्यातं पञ्चविधमन्नरायं कर्म ।
कर्म० १ कर्म० । पं० सं० । आ० । (अनुभागाद्योऽस्य अणु-
भागादिशुभेषु ।) (अणुभागाद्यस्योऽस्य कर्म शब्दे)
विघ्ने, सूत्र० १ सु० १ १ १ ॥

योगस्यान्नरायाः ।

प्रत्युहा बाधयःस्थानं, प्रमादालस्य विघ्नमाः ।
संदेहाविरतीन्मय-लान्श्राप्यनरियति ॥ ११ ॥
(प्रत्युहा इति) व्याधिसंस्थानसंशयप्रमादालस्याविरतिघ्ना-
न्तिदशानलसंधर्मिकनानवस्थिततत्त्वानि विरचयित्वास्तेऽ-
न्नराया इति सूत्रम् । आ० १६ आ० । विघ्नकरणे, स्वा० धटा० ।
व्ययच्छेदे, "जे अंतराअं जेयह" स० । शक्यभावे च ।
"नअन्थ अंतरायणं परगेहे गिसीयप" सूत्र० १ सु० ६ अ० ।
अन्तरायिक-न० विघ्ने, प्रअ० संव० ३ आ० । बहुप्रत्ययाय,
आच्चा० १ सु० ६ अ० ।

अंतरापह-अन्तरापह-पुं० विघ्नकित्तस्वान्नरान्नरालमागं,
न० २ सु० १ उ० ।

अंतरायबहुल-अन्तरायबहुल-त्रि० विघ्नप्रभुते, नं० ।
अंतरायवग-अन्तरायवगं-पुं० अन्तरायप्रकृतिसमुदाये, क० प्र० ।

अंतराज्ञ-अंतराल-न० अन्तरं सीमामभारति शुद्धमिति-आ-रा-
क-रस्य इत्यम वाच० । इधये, विशेषे० । संकीर्णवर्णं च पुं०
तद्वर्तिनि त्रि० वाच० ।

अंतरावण-अंतरापण-पुं० अन्तरे भ्रामादीनामर्द्धेषु आपणाः
अन्तरापणाः प्रअ० आअ० ३ आ० । राजमार्गप्रभूतिमध्यमाग-
वर्तिषु हृष्टु, विपा० १ सु० ३ अ० । बीथीषु हृष्टमागेषु, सु० १
उ० । "अंतरावणाओ धमपडय गिरहंति" परिकोदकमगान्-
रासवर्तिनो हृष्टाः कुम्भकारसम्बन्धिभ्य इत्यर्थः आ० १२ अ० ।
अंतरावणमिह-अन्तरापणयुद्ध-न० युद्धविशेषे, तद्यथा ।

अह अंतरावणो पुण, वीहीना एगओ व लुहओ वा ।
तथ गिहं अंतरावण-गिहं तु समयावणो चैव ॥

अधेयानन्तये अन्तरापणो नाम वीधी हृष्टमार्ग इत्यर्थः सा
पकतो वा एकपाश्वेन (उडओ विरति) आश्वयं वा पाश्वीभ्यां
भवेत् तत्र यद्वहं तदन्नरायणयुद्धमुच्यते वृ० १ उ० ।

अन्तरावास-अन्तरवृषे-पुं० अन्तरेभवसरावर्षस्य वृषेयं आसा-
कन्तरवर्षैः । वर्षाकाशे, न० १५ श० १ उ० ।

अन्तरावास-पुं० अन्तरेऽपि जिगमिततः शेषमप्राप्याऽपि यत्र
स्ति साधुभिरवश्यमावासो विधीयते सोऽन्तरावासः । वर्षा-
काशे, न० १५ श० १ उ० । "अच्छिये नामं नीसाप पदमं अंतरा-
वासं उचामय" कल्प० ।

अंतरि (लि) कत्व-अन्तरि (री) ज्ञ-न० अन्तरः स्वर्गपु-
थिव्यामेव्ये हेयते इह-कर्मणि चस-अन्तः अन्तःकृत्वि भस्य था
पुषाद्रादित्यापके इहस्यः अन्तःकृत्स्व रिच्यं वा वाच० । अन्तमेव्ये
इहां दशानं बस्य तदन्तराकर्म भ० १७ श० १० न० । आकाशे,
विशे० 'अन्तःकृत्स्व रिच्यं बुधा, गुज्जाणुचरियत्सि यदशु०७ अ०
आन्तरिक-न० अन्तरिकमाकाशं तत्र जयमान्तरिकम् । गण-
धनगरादी, स्या० ८ ज० । उक्त० । मेघादिके, सूत्र० २ सु० २
अ० । प्रहाणासुदयास्ताद्विपरिहानास्यके, कल्प० । चक्रपात-
भूमकेतुयमुखाणामुद्यविचारविद्यासङ्गणे, (उक्त० २५ अ०)
आकाशप्रमथप्रदुखुमेदाविभावकलमिवेदिके वा चतुर्थे
महानिमित्तशास्त्रे, स० । "गदबहभूअग्रहहासपुद्ध अन्तरि-
कसंतं" प्रव० २५७ आ० । प्रद्वेषयुताहृष्टान्नमनुकमान्त-
रिक्तं निमित्तम् । तत्र प्रद्वेषो प्रद्वेष्य प्रद्वेष्येन निर्गमः ।
युताहृष्टासोऽप्रतिमहानाकाशे आकिसिकिणारायाः यथा "जिनसि
सामभ्येन, प्रद्वेष्यन्त्यतो यदा" । तथा राजजयं विधात्प्रजाको-
भं च दाकण" मित्यादि प्रमुक्तप्रहाणः प्रद्वेषनगराद्विपरिग्रहः ।
यथा "कपिले शस्यपाताय, मादिजुष्टे हरणं गवाम् । अय्यकवर्णे
कुरुते बललोभं न संशयः । गन्धर्वनगरं हेयं, समकारं संतेर-
णम् । सोम्यां दिशं समाश्रित्य, राक्षस्तजिज्यंकरमित्यादि" प्रव०
२५७ आ० । अस्य सूत्रं सहस्रप्रमाणं वृत्तिलैकप्रमाणा
वार्तिकं काटिप्रमाणम् स० ७९ पत्र-१ आ० ।

अंतरि (लि) कलजाय-अन्तरिज्ञजात-वि० स्कन्धमञ्ज-
पासादादी, भुच उपरिचरित्पदार्थजाते, आच्चा० २ सु० ५ अ० ।

अंतरि (लि) कत्वपदिवय-अन्तरिखलप्रतिपक्ष-वि० आ-
काशगने, उपा० २ अ० । जं० ।

अंतरि (लि) कत्वपासाह-अन्तरिकुपार्थनाथ-पुं० श्री-
पुरेऽन्तरिकत्वपाश्वीनाथप्रतिप्रामायाय,

तत्कल्प इत्यम ।

'पयदृष्टानिवाभं, पासं पणमिषु सिरिपुरं नगरं । किंचेपि
अंतरिखल-द्विअन्तपदिमाई कपलवं' पुर्वि लंकापुरीए द-
सगीवेण अरुचकिणा माली सुमात्तिनामानो निअगाओ
लग्गा केयावि पेमिया वेसि उविमाणरुदाई तह पहे व-
वंताणं समागया भोअणवेत्ता । फण्वबुएण चिनिंयं मए
ताव अजज जिणपदिमाकरंरिया ओसग्गेषेण परे विसा-
रिआ एपमिं च दुरह वि पुव्वंताणं देवपुण्य अकयाए
न कन्थ वि भोयणं तओ देवयावसरकरंदिअपददु मपोवरि
पकुविसंसंति च । तेण विज्जावलेण पविचवाटुआप अहि-
एवा भाविजिणपासनाहपदिमा निम्माअिआ । मासिसुमा-
लिहिं तं पुट्टाजा जोअणं कणं तओ तेसु तह मग्गे पडिपसु
सा पदिमा आसन्नसरोवरपज्जे अस्संदिअरुवा चैव तस्य
त्रिया । कासकपेण तसस सरोवरसस ज्जे अणियच्चं जसज-
रिअं खरुगं व दीसह । तओ कादंतरेण विगउद्धीदेमे विग-
अन्नयणं तस्य सिरपालो नाप नरवई हुत्था । सो अगाहको-
दविट्टुरिअसव्वंभो अणवरोहिं हऊई वाहिं गओ तं तस्य पि-

बासाए अग्गाए तन्मि खुबुक्रमेणं पचो तत्थ पाणिअं पीअं मुहं इत्था य पक्खाअिमा । तन्नो ते अंगावपवा जाया नीरोगा कण्णयकमल्लुज्जलच्छाया । तन्नो वरं गयस्स रन्नो पडादेवी तपच्छेरं दहं पुच्छिन्ना सामि ! कत्थ वि तुम्होहिं अज्ज एहाण्णा कयं राएण जहद्वियं पधत्तं देवीए चितिया अहो सामि ! सा दिव्वं ति बीयदिणे राया तत्थ नीअो तीए सव्वंमं पक्खालियं अअो पुण्ण खवसरं रावयवो राया, तअो देवीए बलिपुआअं काल्ण भणिअं जो इत्थ देवया विसि सो विट्ठ सो पयमेअ अण्णाए । तन्नो वरं पनाए देवीए सुमिणंतेरं देवयाए जणिअं इत्थ भावित्थियरपासनाह-पडिमा चिट्ठे तस्स पभावेणं रन्तो आरुगं संजायं एअं पडिअं समगे आरोविअण सचदिअजाए वि णिज्जुत्तिचा आममुत्तं तुमिचरस्सीए रन्ना सयं सारहिदुएणं सट्ठाएणं पडवाले अयाइमा । जत्थेव निवो पच्छा हृत्यं पलोइस्सइ तत्थेव पडिमा ठाहिइ । तन्नो नरनाहेण तं खुबुगजलमा-खोइकण मा पडिमा अक्का । तेण वहेव काअं पडिमा चा-अिआ कितिअं पि न्निमि गएण रन्ना किं पडिमा एइ न वि चि सिहावडोइअं कयं पडिमा तत्थेव अंतरिकत्थे ठि-आ । सगगे अग्गाओ हुत्तं नीसिरिओ रन्ना पडिमा अ-द्विणि अधिए गया । तत्थेव य सिरिपुरं नामं नयरं नि-अनामोबलित्थयं निवेसिअं वेदअं च तहिं कारियं । तत्थ पडिमा अणेगमहसवपुत्तं ठाविआ प्यइत्तं पुव्वहिं पडिति-कासं अज्जवि सा पडिमा तहेव अंतरिकत्थे चिट्ठे । पुत्ति-किं सा वाहमिअं घरं सिरिअि बहंती नारी पडिमाए सी-हासणवल्लोसिं वरिसु काम्णेण ज्जीवेगचरुणेण वा मिच्छा-इत्थिअकालाणुनावेण वा अहो अहो दीसंती जाव संप-नारी मित्थे पडिमाए हिडे संचरइ पडवप्याहायसीहाय-णज्जीअंतरासे दीसइ जया य सा पडिमा सगरुमारोवि-आ तथा देवीं विलवालो अमहेव पडिमाओण सगत्थेण सिद्धपुद्दानं अन्नयरो पुचो अंबाए देवीए गहिअो अ-ओअं ठाविअो तन्नो विलवालस्स अण्णती दिन्ना जहा एसदारओ ताए आण्णेअव्वो तेणावि अइउत्ताअं वलं तेण नाणीओ तओ देवीए सुंवरण सत्थेइ अह सो अं-तवालसीसे दीसइ एवं अंबाए वि विलवालोहिं सेवि-ज्जमाणे भरणिदपडभाअंहिं च कपपडिहेरो सा पडिमा सव्वओपहिं पुइअइ अंतरिकत्थिअपासनाहकत्थे जहामु-अं किं पि सिरिअण्णहसुरिहिं सिहिअो सपरोवयारकए अन्तरिअुपाअं नायकत्थः ती० ५२ क० ।

अंतरि (सि) वसोदय-अन्तरिदोदक-न० अन्तरिके उदक-मन्तरीकोदक । वयोदक, लि० ७० १ उ० यज्जलमाकाशा-त्पत्थेव शुद्धते " उपा० १ अ० ।

अंतरिज-अन्तरीय-न० अन्तरे भवं महादिव्वाच्छः " नामी धृतं च यद्वह्य-माच्छाद्यति जलुनी । अन्तरीयं प्रशस्तं त-द-च्छिअमुभयान्तयो " रिथेवंअकणे परिधानवस्त्रं, वाच० । अथ्या-या अथस्तने वस्त्रे च । " अंतरिअं शाम शिथलणं अहथा अं-तरिअं शाम जं सेज्जाए हेहिअं पोअं " लि० ७० १५ उ० । आच० । प्रवाचये-सुअं अन्तरीयकः तद्वन्न, लि० वाच० । अंतरिअिया-अन्तरीया-अी० स्थविरात्कामअं निर्गतस्य वेषपा-तित (वैसवादिष) गणस्य नृतीयशाकायाम्, कल्प० १८१ पत्र । अंतरिय-अन्तरित-त्रि० अन्तर-इ-कसंरि कः । अन्तरंते, अन्तरं व्यवधानं करोतीति णिचि-कर्मणि-कः । व्यवधापिते, निरस्कृते, अक्षदादिने, वाच० । व्यवहिते, विशेषे । आ० ७० द्वि० । अन्तरिया-अन्तरिका-अी० अन्तस्य विच्छेदस्य कारणमन्तरि-का खीलिअशब्दः निवक्तिनवस्तुनः समासी, " अण्णतरियाए वट्टमाणस्स " आरुवध्यानस्य समासिरपुवंस्थानाभज्जणमित्य-र्थः अ० १ वक० ।

अन्तरिका-अी० अन्तरमेवात्तस्यं नेपञ्चादिव्वात्स्वायेंपु अए ततः खीत्वावकायां ऊपे प्रत्यये आन्तरी आन्तस्येव आन्तरि-का । अन्तरे, व्यवधाने, सू० प्र० २० पादु० । लक्ष्यन्तरे च. रा० । अंतरुच्छुय-अन्तरिच्छु-पुं० इच्छुपर्वमध्ये, आच० १ सू० १ अ० " उभयोपेकरइयं अंतरुच्छुअं होमि " लि० ७० १६ उ० । अंतरण-अन्तरेण-अय० अन्तरेति इण्-ण-उवर्गादिव्युत्पि-शस्य नेसंस्कृत्वम् । मन्थार्थे, वाच० । विनायं च. उक्त० १ अ० । अहाराभनेरेण नाम अहाराभनेव लि० ७० १ उ० । अंतव (त्)-अन्तवत्-त्रि० अन्तोऽस्थानी अन्तवाद् । परि-मिते, " अंतयणिदए लोए इति धेनोति पास" । अन्तवानलोकः समद्वीपाः वसुंधरेति परिमाणकेस्ताहपरिमाणेनेत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतवाल-अन्तपाल-पुं० अन्तं तच्छिण्ण आदेइयदंशसम्बन्धिनें पालयति उपरुवादिन्य इत्यन्तपालः । पूर्वदिगादिदेशलोकानां देवादि कृतसमस्तोपवचनिकारके, अं० ३ वक्ता० आ० म० । अंतविकाट्टिपंतपाल-अन्तविकर्षितान्त्रयाल-त्रि० गृणालादि-जिरुपाटितोद्वरमथावयवै, तं० ।

अंतमुह-अन्तसुव-न० परिणामसुखे, " मासैरछिन्नहा च पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कसंत्वं अनुत्थेण, वस्थाने सुखमेध-ने " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

अंतमो-अन्तशस्-अय० अन्त-शस् निरवशोपत इत्यर्थे, " सल्लं कंतीत अन्तसो " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । विपाककाले इत्य-र्थः सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । यावज्जीवमित्यर्थे, " अणसा वयसा वेअ कायसा चैव अंतसो " सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । कथञ्चिक्काय-निस्तारे, " अचपाणे अ अन्तसो " जनेः पाणे जातशः सम्भयु-पयोगवना जाव्यमिति सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतावेइ (ई)-अन्तवेदि (दी)-अी० अन्तर्गता वेदिवेअ देणे । हीवेहस्वी मिथो वृत्ती ८ । १४ । इति हृत्स्यस्य ईः । आहावसंसेदो, प्रा० । वाच० ।

अंताहार-अन्त्याहार-पुं० अन्त्ये भयमन्त्यं अण्णधन्नायं बह्ना-दि आहारो यस्य । कृतसपरिस्वामे, अी० । सूत्र० । स्था० ।

श्रुति (नू)—अन्तिन-वि० अन्तो जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽ-
स्यास्तीत्यन्तो । जात्यादिभिर्दसमतया पर्यन्तवर्तिनि,
स्था० १० डा० ।

श्रुतिश्र [य]—अन्तिक-न० अन्त्यते संबध्यते सामीप्येन
अन्त-वश्च । वाच० । समीपे, नं० । सूत्र० । उच० । स्था० ।
विशे० । उच० । " बुद्ध्यां श्रुतिय सया " उच० १ श्र० ।
आ० म० द्वि० । नि० । म० । रा० । पर्यवसाने, "अह भिक्षु
गिलाएजा, आहारस्सेव श्रुतिया " आचा० १ श्रु० ८ श्र० ।
पाठ्ये च " देवाखंवाए माहणीए श्रुतिय एयमहुं सोबा "।
कल्प० । अन्तोऽस्यास्तीति अन्तिकोऽन्ते वा चरतात्यन्तिकः ।
पर्यन्तवासिनि, सूत्र० २ श्रु० २ श्र० ।

श्रुतिम-अन्तिम-वि० अन्ते भवमन्तिमः । चरमे, स्था० १
डा० । यतः परं न किञ्चित्स्ति विशे० ।

श्रुतिमराड्या-अन्तिमरात्रिका-स्त्री० अन्तिमाऽन्तिमभागरू-
पाश्र्वथये समुदायोपचारत्वात् सा चास्ती रात्रिका वान्तिमरा-
त्रिका । रात्रेवसाने, स्था० १० डा० । म० ।

श्रुतिमसंप्रयणतिग-अन्तिमसंहननत्रिक-न० अर्थनाराचसं-
हननकीलिकासंहननसेवातसंहननरूपे संहननत्रिके, कल्प० ।
श्रुतिमसारांरिय-अन्तिमश (शा) रीरिक-वि० अन्ते भव-
मन्तिमं चरमं तच्च तच्छरीरं ज्येष्ठमन्तिमशरीरं तत्र भवा अ-
न्तिमशरीरकी दीर्घत्वं च प्राकृतौत्येव । चरमदेहभवेऽपु क्ति-
वादिषु, स्था० १ डा० ।

श्रुतंश्रारि (नू) अन्तश्रारिन्-वि० अन्तश्रारिन् अन्तर चर-
यिनि । तोऽन्तरि वा११६० । इति अत एवमय । मय्यागामिनि, प्रा० ।
श्रुतंउ [पु] र-अन्तःपुर-न० अन्तरभ्यन्तरं पुरं गृहकर्म
वाच० । तोऽन्तरि वा११६० । इत्यन्तःशब्दस्यान्त एवमय प्रा० ।
अधरोधे, राजस्त्रीणां निवासगृहे, ग० ॥ १० । " चिय अंतेउर
धरदारपवेसी " श्री० । तत्र गमनं निषिद्धम् ।

[सूत्रम्] जे भिन्नत्वं रायंतेपुरं पविमइ पविसंतं वा
साइज्जइ ॥३॥

इममेव सूत्रं गायया व्याख्यानयति ।

अन्तेउरं च तिविधं, सुधं एव च वसगाणं च ।
एकेकं पि य दुविधं, सत्याणस्यं च परत्थाणे ॥१८॥
रथो अंतेपुरं तिविधं रहसियं जेव्वणाओ अपरिउज्जमा-
णाओ अत्यति परं सुधंतेपुरं । जेव्वणं पणाओ परिउज्जमा-
णाओ जत्य अत्यति तं राधंतेपुरं । अपत्तजेव्वणाणं रायदु-
हियाणं संगओ कथंतेपुरं । ते अत्तओ एकेकं दुविधं सट्ठाणं
परट्ठाणं य । सट्ठाणत्थं रायधरे जेव परट्ठाणत्थं वसंतादिउ
उज्जाणियाणं ।

एते सामघातरं, रथो अंतेउरं तु गो पविसे ।
सो आणाअणवत्थं, भिच्छुत्तविराणं पावे ॥ १९॥
इमे दोषाः ।

दंवारक्खिगदोषा-रिपिइ बरिसवज्जं सुज्जेहिं ।
णिंतेहि अन्तिंतेहि य, वायातो होइ जिक्खुस्स ॥३०॥
इमं यक्खाणं ।

दंबधरो दंवरक्खिओ, दोवारिजा तु दारिडा ।

वरिसवरद्विपिपिति, कंजुगिपुरिसा महचरगा ॥ ३१ ॥
दंवरुदियदुत्तो सत्त्वतो अंतेपुरं रक्खइ रथा वरुणेण इत्थि पुरि-
सं वा अंतेपुरं णीयति पवेसीति वा एस दंबङ्गिक्खतो । दोवारि-
या दारं जेव अं संभेसीति हिक्खेति ता तपिया रथो आयाचं । ए
अंतेपुरियसमीवं गच्छति । अंतेपुरिया जंतीए वा रथो समी-
वं गच्छति उ रथो समीवं अंतेपुरिया णयति चाप्येति चादि-
र-एहायं वा कइकहिते कुविधं वा पसावेति कहंति य रथो विवि-
ते कारणे अणुणत्तां वि जे अभातो काउं वयंति ते महचरगा ।
अथ य इमे दोसा ॥

अओ व होति दोसा, आइषो गुम्भरगणइत्थीओ ।
तथीसाए पवेसी, तिरिक्खमया जावे दुडा ॥ ३३ ॥
पूर्ववत् ।

सपादिइंदियत्थो, पयोगदोसाण एस णं मीवे ।
सिंमारकहाकहणे, एगतरुज ए य बहु दोसा ॥ ३३ ॥
तथ गीवादिसदोवओणेण इरिवं एसणं वा ण सोहेति
तहि वा पुच्छित्तो सिंमारकहं कहेज्ज । तथ य चायपरोजन-
समुथा दोसा एते सट्ठाणत्थं दोसा । इमे परट्ठाणं ।
कहिंता वदोति दोसा, केरिसगा कषणगिएहणादीया ।
गन्वो पायासिणं, सिंमारणं व संजरणं ॥ ३४ ॥

उज्जाणाविट्ठियात्तु कांए साए कोउयोग गच्छेज्ज ते जेव पु-
व्ववविष्ठा दोसा सिंमारकहाकहणे वा गणदगादिया दोसा
अंतेपुरं भम्मकहा णागमं गच्छेज्ज भोरालसरीगे वा गम्वं क-
रेज्ज अंतेउरपवेसे ओज्जाणितो मिहइ अत्थे पदादिकणं करंते
पाउसदोसा भवंति सिंगारे य सोवं पुव्ववकांलिते सुमरेज्ज
अइवा पाउ इहु अणयो पुव्ववसिंमारं संभरेज्ज पच्छा परिगम-
णादी दोसा इहज्ज ।

वितियपदमयाजोगे, विसंघिपरिक्खेवसेज्जसंधारे ।

दुयपादी उज्जाणे, संघकुलगणाण कजे व ॥ ३५ ॥
अखाओणेण पविट्ठो अइवा अंतेपुरं परट्ठाणत्थं साधुणा जातं
एयाओ अंतेपुरिआत्थि पुव्ववभासेण पविट्ठो अयाणतो अइवा
साए उज्जाणात्थि उज्जा राधंतेपुरं च सव्वओ समतो आग-
ओ परिवेडिय तिणं अथवसहिमभावे य तं वसहिं अंतेपुरं न-
उज्जेण अतिं णिति वा । अइवा संयागस्स पच्छपणाणहओ
पविट्ठो अइवा सोइवग्गमहासादियाण उज्जाण परणयस्स वा
जया राधंतेपुरं पविसेज्जा अथतो णत्थि सीसणो वा तो क-
ज्जेति कुलगणसंघकजेसु वा पविसेज्जा तथ देवी दव्वसा-
रायणं कपयेति अंतेपुरपविट्ठो रायदट्ठो नि० सू० ९८० ।

अंतेउरपरिवारसंपरिउड-अन्तःपुरपरिवारसंपरिवृत्त-त्रि० अन्तः
पुरं च परिवारअ अन्तःपुरलक्षणो वा परिवारो यः सः ।
ताभ्यां नेन वा संपरिवृत्तः । अन्तःपुरलक्षणेन परिवारेण अ-
न्तःपुरेण परिवारेण वा संपरिवृत्तः, ज्ञा० ८ अ० ।

अंतेउरिया-आन्ताःपुरिकी-स्त्री० अन्तःपुरे विद्या आन्तपु-
रिकी । रोगिग्राह्यकारके विद्याजने, यथा आनुरस्य नाम शु-
दीत्या आत्मनोऽङ्गमपमाज्येति आनुरस्य प्रमुखां जायते सा आ-
न्तःपुरिकी व्य० ५ अ० ।

अंतेवासि (नू) अन्तेवासिन्-पुं अन्ते समीपे वस्तुं चातिच-
क्रियायां वस्तुं शीलं स्वभाषो वस्येत्येवासी । दशा० ४ अ० ।

अन्ते गुरोः समीपे वस्तुं शीलमनस्येव्यन्तेवासी । शिष्यं, स्था०
 अ० प्र० । जं० । सू०० । रा० । अ० ।

अन्तेवासिनां जेदप्रतिपादनार्थमाह ।

च नारि अंतेवासी पञ्चत्वा तंजहा उद्देमणंतेवासी नाम ए-
 गे नोवायणंतेवासी, वायणंतेवासी नाम एगे नो उद्देसणं-
 तेवासी, एगं उद्देमणंतेवासी वि वायणंतेवासी, वि, एगे नो
 उद्देसणंतेवासी वि नो वायणंतेवासी वि ।

अस्य सूत्रस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह ।

पद्भ्यापरिरयं होइ, अंतेवासी उ मेवखा ।

अंतितामञ्जामासार्थं, समीपं चैव आह्वयं ॥

अधस्तानान्तरसूत्रे आचार्याः प्रोक्ताः आचार्यं च प्रतीत्यान्ते-
 वासी भवति तस्मात्प्रत्यासिस्तुभित्तिषो भेदतः संबन्धः । अ-
 चान्तेवासी तत्र योऽन्यथेव्यन्तेवास्यान्तेवासीयेमकार्थिकान्यथाह ।
 अन्ते नाम अन्तिकप्रभ्यास आसन्नं समीपं चाख्यातं तत्र वस-
 तीत्येवंशीलान्तेवासी ।

संप्रति भङ्गनावनार्थमाह ।

बहू चैव उ आपरिया, अंतेवासीति हाति एपेव ।

अंते व वसति जहद्वा, अंतेवासी ततो होइ ॥

यथा चैव आचार्यो उद्देशनादिजेदतन्मनुजो जयन्ति एयमेव
 अन्तेवासिनोऽपि यस्मादाचार्यस्थाने वसति तस्मात्प्रवृत्त्याचा-
 र्यमनुजोऽंतेवासी । इयमत्र नायना यो वस्थान्ते उद्देशमन्वा-
 धिष्ठ्य वसति वसते स तं प्रत्युद्देशमान्तेवासी । वस्य स्वन्ते वा-
 चनामन्वाधिष्ठ्य वसति तस्य वाचनान्तेवासी । यद्योद्देशं न वा-
 चनं वाधिष्ठ्य यस्थान्ते वसति स तं प्रत्युज्यान्तेवासी । य-
 स्थ स्वन्ते नोद्देशं नापि वाचनमधिष्ठ्यान्ते वसति किं तु ध-
 र्मप्रवृत्तमधिष्ठ्य स तं प्रत्युभयाधिकृतो धर्मान्तेवासी । उद्दे-
 शान्तेवासी वाचनान्तेवासी वा । तत्र काञ्चित्प्रतिभिरपि प्रकारैः
 समन्वितो भवति कश्चिद् द्वाभ्यां कश्चिदेकैः । व्य० १० उ० ।

चत्वारि अंतेवासी पञ्चत्वा तंजहा पन्वावणंतेवासी एां
 उवद्वावणंतेवासी, उवद्वावणंतेवासी, एाममेगे णो पन्वावणंते-
 वासी, पन्वावणंतेवासी वि उवद्वावणंतेवासी वि, एगं णो
 पन्वावणंतेवासी णो उवद्वावणंतेवासी ॥

अन्ते गुरोः समीपे वस्तुं शीलमनस्येव्यन्तेवासी शिष्यः । प्रजा-
 जनया दीक्षया अन्तेवासी प्रजाजनान्तेवासी दीक्षित इत्यर्थः ।
 उपस्थापनान्तेवासी महाव्रतारोपणतः शिष्य इति चतुर्थमङ्ग-
 कथः क इत्याह धर्मान्तेवासीति धर्मप्रतिबोधनतः शिष्यो
 धर्माधिकृतोपसम्पन्नो वेत्यर्थः । स्था० ४ डा० ।

धीगान्तेवासिनां धीकृ ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समयसस जगवओ महावीरसस
 अंतेवासो बहवे समएा भगवंतो अप्पेगइया उगपव्वइआ
 भोगपव्वइया राइसएातकोव्वसत्तिएपव्वइआ भन्ना
 ओडा सेएावइपव्वइआरो सेइी इन्भे अएे बहवे एवमाइएा
 उचमजातिकुलरूवचिणयावसाएावप्रावसाविकमपहाएा -
 सोजगकंतिधुत्ता बहुधएाअणचियपरियात्ताकिन्निआ गर-
 वइगुणाइइचिअभोगो मुहसंपत्तिआ किंपागकलोवमं च

मुणिअ विसयसोवखं जलवुवुअसमाणं कुसगजलविदुच्चं-
 चलं जीवियं च एाण्ण अक्खमिणं रययमिव पढगहकमं
 संविधुएात्ताणं चइत्ता हिरखं जाव पव्वइआ । अप्पेगइआ
 अक्खमासपरिआया अप्पेगइया मासपरिआया एवं हुमासा
 तिमसा जाव एक्कारस । अप्पेगइया वासपरिआया दुव्वा-
 वस तिवासा अप्पेगइया अणेगवासपरिआया संजेमणं तवसा
 अप्पणं भावेमाएा विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं
 समएणस भगवओ महावीरसस अंतेवासी बहवे एिग्गया
 भगवंतो अप्पेगइया आभियेवोहियएाणी जाव केवल-
 एाणं । अप्पेगइआ मणवल्लिआ वयवलिआ कायवल्लिआ
 अप्पेगइआ मणेणं सावाएाण्णहसमत्था ३ अप्पेगइआ खे-
 लोसहिपत्ता एवं ज्जओसहि विपोसहि आमांसहि सन्वोसाह
 अप्पेगइआ कोइवुद्धी एवं बीअवुद्धी पद्भुक्की अप्पेगइया
 पयाएामारी अप्पेगइआ संजिक्खसीआ अप्पेगइया खीर-
 सवा अप्पेगइआ महुवासवा अप्पेगइआ मण्णिआमवा अप्पे-
 गइआ अक्खंणमहाणिमिआ एवं उज्जुमसी अप्पेगइआ
 विउलमइं विउव्विणिह्मिआ चाराणा विज्जाहारा आगासा-
 तिवाइणो । अप्पेगइआ कणागवल्लि तवोकम्मं पडिवसा एवं
 एक्कावल्लि खुट्ठाकसीहनिक्कीदियं तवोकम्मं पडिवसा अप्पे-
 गइया महालयं मीहानिकंलियं तवोकम्मं पडिवसा जरप-
 टिमं महाभदपडिमं सव्वतो जहपडिमं आरियंविज्जवक्खमाणं
 तवोकम्मं पडिवसा मामिअं जिकखुपडिमं एवं दोमामिअं
 पडिमं तिपामिअं पडिमं जाव सत्तपामिअं भिक्खुपडिमं
 पडिवसा पहमं राइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवसा जाव तच्चं
 सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवसा । अहाराइंदियं जिकखु-
 पडिमं पडिवसा इकराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवसा सत्त-
 मत्तमिअं जिकखुपडिमं अइइमिअं भिक्खुपडिमं एणव-
 वमिअं जिकखुपडिमं दसदसमिअं जिकखुपडिमं खुडिय-
 मोअपडिमं पडिवसा महद्वियं मोअपडिमं पडिवसा जव-
 मज्जकं चंदपडिमं पडिवसा वज्जमज्जकं चंदपडिमं पडिवसा
 संजेमणं तवसा अप्पणं भावेमाएा विहरंति आ० ७७पव्व ।

(मनोयलिकादीनामर्थः स्वस्वशाब्दे)

तेणं काटोणं तेलं समएणं समयसस भगवओ महावीरसस
 अंतेवासो बहवे थेरा जगवंतो जातिमंपमा कुलसंपमा
 बलसंपएाणा रूवसंपएाणा विणयसंपएाणा एाणसंपएाणा
 दंसणसंपएाणा चरित्तसंपएाणा लज्जासंपएाणा लायवमंपमा
 उ अमीतिअंसं वरचंसं जसंसं जिअकोहा जिममाएा
 जिअमाया जिअओभा जिअइदिआ जिअएिहा जिअप-
 रीसहा जीविआसमरणभयविपमुक्का वयप्पहाया गुण-
 प्पहाया करएव्पहाया चरएव्पहाया पिग्गहप्पहाया

निष्कृष्यपद्माणा अज्वष्यपद्माणा मष्वष्यपद्माणा लायवष्य-
 हाणा खंतिष्पद्माणा मुलिष्पद्माणा विजापद्माणा मंतष्प-
 द्माणा वष्यपद्माणा बंधपद्माणा नयपद्माणा नियमपद्मा-
 णा सच्यपद्माणा सोअपद्माणा चारुवेषा लज्जातवस्सी
 जइदिआ साही अशियाणा अप्पसुआ अवहिहेस्सेसा
 अप्पन्निस्सेसा सुसामण्यया दंता इणमेव णिग्गंये पाचयणं
 पुरओ काउं बिहरंति तेसि णं जगवंताणं आर्यावदी विदि-
 ता भवंति परवादी विदिता जवंति आयावादां जमइत्ता
 लवणमिव मत्तमातंगा आच्छिदपसिएणवागरणं रयणकरं-
 रुगसमाणा कुलिआवणजूआ परवादिपरमइणा दुवा-
 लसंगिणो सम्भत्तगणिपिंदगधरा सव्वक्खरससिखाइणो
 सव्वभासाणुगामिणो अजिणा जिणसंकासा जिणा
 इव अविसेहं वा करेमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं जाये-
 माणा विहरंति । तेषां काक्षेणं तेषां समएणं सम-
 णस्स भगवओ महावीरस्स अंतैवासी बहवे अणगारा
 भगवंतो इरिआसमिआ भामासमिआ एसणासमिआ
 आदाएजेरुमत्तनिक्खेवणासमिआ उच्चरापासवणखेलसिं-
 पाणज्जुपारिट्ठावणियासमिआ मणुगुत्ता वयुगुत्ता कायगु-
 त्ता गुत्तिदिया गुत्तबंधयारा अममा अकिंचणा णिएणगन्था
 णिएणमोआ निरुवडेवा कंमपातीव मुक्कतोआ संख इव
 निरंगणा जीवो विव अप्पदिहयगती जक्कणगं पिव जा-
 तरूवा आदादिमफल्मा विव पगइभावा कुम्भो इव गुत्ति-
 दिआ पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा गगण्णिव निराल्लवणा
 अण्हिओ इव निगलया चेद इव सोमलेसा सूर इव तेअ-
 हेसा सागरो इव गंधेरा विहग इव सव्वओ विप्पयुक्का मंदर
 इव अप्पकंपा सायरससिल्लं व मुच्छिदिया खगविसाणं
 व एगजाया जारंरुक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सोई-
 रा वमजो इव जायत्थामा सीहो इव उक्कुरिसा वधुंधरा
 इव सव्वफामविसहा सुअहुअसुआसणो इव तेअसा अंसेता
 नत्थि णं तसि णं भगवंताणं कथय पडिबंधे । से अप्पदि-
 बंधे चउत्विहं पण्णसे तंजहा दव्वओ खित्तओ कालओ
 भावओ । दव्वओ णं सच्चिचाच्चिमीसएणु दव्वेणु, खेत्तओ
 गांमे वा एणरो वा रणे वा खेत्ते वा खेत्ते वा धगे वा अणरो-
 वा, कालओ समए वा आवल्लिआए वा जाव आयाणे वा
 आण्णरे वा दीहकालसंजोगे, भावओ कोहे वा माणे वा
 मायाए वा होहे वा भए वा हासे वा एवं तेषि णं जवइ तेणं
 जगवंतो वामावासवज्जं अइ गिम्हदेहंतिआणि मासाणि
 गांमे एराइआ एणरो पंचराइआ वासी चंदएणसमाणकप्पा
 समसेहुक्कंचणा समसुइत्तुक्का इहभोगपरसोगअप्पकिक्का
 संसारपारगामं। कम्मणिग्गमाणहुआए अम्भुद्धिआ वि-
 हरंति ॥ अओ १०१ पव. ।

(पदार्थमात्रविन्यसिनी टीकेति न विन्यस्ता) (तेषि णं ज-
 गवंताणं एते णं विहारेणं विहारमाणा सुं इमेयारूपे आध्वंजतर-
 ए बाहिरए तयोवहाणं होरथा तंजहा अस्मिंंतरए उजिहवे बाहिर-
 ए उजिहवे इत्यादितव आदिशब्धेषु प्रदर्शयिष्यते । तेषां काशेषुं
 तेषां समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अणगारा
 जगवंतो अप्पेगइथा आचारखरा इत्याएणगारउज्जे) ।
 धीरास्तेवासिनः कति सेत्थ्यन्तीति पृच्छा ।

तेषां काशेषुं तेषां समएणं महासुक्काओ कप्पाओ महास-
 म्माओ विमाणाओ दो देवा महाहिया जाव महाणुभागा
 समणस्स जगवओ महावीरस्स अतियं पाठन्तूया । तए
 खं ते देवा समएणं भगवं महावीरं मणसा चेव वंदंति न-
 मंसंति वंदंतिचा नमंसंतिचा मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं
 पुच्छंति । कइ णं देवाणुपियाणं अंतैवासिसयाइं सिज्झिहिं-
 ति जाव अंतं करेहिंति ? तए णं समणे जगवं महावीरं
 तेहि देवेहिं मणसा पुच्छे तेसि देवाणं मणसा चेव इमं ए-
 यारूवं वागरणं वागरेइ एवं खलु देवाणुपिया ममं सत्त
 अंतैवासिसयाइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति तए णं
 ते देवा समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा पुट्टेणं मण-
 सा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरिया समाणा हउत्तुइ
 जाव इयिया समएणं जगवं महावीरं वंदंति एमंसंति मण-
 सा चेव सुम्भसमाणा एमंसमाणा अजिमुहा जाव पज्जु-
 वामंति भ० ५ श० ५ उ० ।

इहापि टीका प्रसिद्धशब्दार्थमात्रविन्यसिनीति न गृहीता ।
 अन्तो-अन्तर-अन्थ० मध्ये, इशा० २ अ० । “अंतो पत्रिवाहं-
 सि” आचा० २ श० ६ अ० । इशा० २ अ० । प्रअ० । आव० ।
 सू० । “एवामेव मार्यां मार्यं ककु अंतो अंतैकिज्याइ” अन्तर-
 न्तःक्रियया ध्यायन्ति इत्यनैर्हीच्यन्ते इशा० उ अ० ।
 अंतो अंत-अन्तोपान्त-पुं० सान्तमध्ये, “तुमं खेच षं संति-
 थं यन्थं अंतोअंतण पकिलेहिस्सामि” त्वहीयमेवाहं वक्कमन्तो-
 पान्तेन प्रत्युपकितं सूहीयाम । अन्तःस्थहितमन्तोपान्तकरपकि-
 लेहादिप्रदूणकरं, आचा० २ श० १ इ० ।

अंतोकरण-अन्तःकरण-न० क-करणे-ल्युट् । अन्तरज्यन्त-
 रस्थं करणं कम्मभा० । तदुत्तिपदाध्यांनं सुखादीनां करणं
 ज्ञानसाधनम । ज्ञानसुखादिसाधने, अन्त्यन्तरे मनोबुद्धि-
 खादिपद्व्यभिन्नव्यमाने इन्द्रिये, बाच० । तच्चान्तःकरणं स्मृति-
 प्रमाणात्तसं कल्पयिक्तयाइं वृत्त्याकारणं चित्तबुद्धिमनोऽह-
 हारशब्दैर्व्यवहृत्यते न० ।

अंतोस्वरियसा-अन्तःस्वरिका-स्त्री० नगराभ्यन्तरवेश्यात्वे,
 विशिष्टवेश्यात्वे च । “द्वेषं पि रायगोहे सुयंरं अंतोस्वरियसा-
 ए उववज्झिहिंति” ज० १५ श० १ उ० ।

अंतोगिरिपरिरथ-अन्तगिरिपरिरथ-पुं० गिरेरन्तः परिक्रमे,
 जी० ३ प्रति० ।

अन्तोजल-अन्तजल-न० जलाज्यन्तरे, “अन्तो जले वि एवं
 गुणभ्रंरं फासश्चक्षुण्णित्ते” वृ० ६ व० ।

अंतोत्थाय-अन्तनीद-त्रि० इदये सतुःक्षमादाति, "होपउं मुदं हत्येणं अंतोत्थायं गये रवं" आब० ४ अ० ।
अंतोत्थायपसणी-अन्तनिवसनी-अ०० आर्याणामौघिकापीधने-
दे, तत्स्वरूपम् ॥ "अंतोत्थियंलघी पुण, लींशतरा जाच अज-
अंजाता" । अन्तनिवसनी पुनरुपरिफटिनागदावरण्याधेऽधेज-
हा वाचदं भवति सा च परिधानकात्रे हीनतरा परिधीयते मा
पुदनाद्वृता जनेपहास्येति" वृ० ३ उ० । नि० चू० । पं० चू० ।

अंतोदहणसील-अन्तदेहणसील-त्रि० इदयस्य उःखाभिना
दाहके, "कुंजुया विव अंतोदहणसीलाभे" (माव्यः)
भुक्तिः करीषामिस्सह्य अन्तदेहणसीलाः पुरुषाणामन्तदुःखा-
भिना ज्वालनत्वात् । उक्तं च "पुत्रश्च मुक्तो विधवा च कन्या,
शठं च मित्रं चपलं कलत्रम् । विद्यासकालेऽपि दरिद्रता च,
विनाशभिना पञ्च दृहन्ति कायम्" तं० ४६ पत्र ।

अंतोदुष्ट-अन्तवेष्ट-पुं० उन्तादिशेषतो नवहाराघनावेन सौ-
म्यत्वाद् अभ्यन्तरदोषयुते मणभेदे, शठत्वात् संवृताकारत्वाद्
इदयुधे पुरुषभेदे च पुं० स्था० ४ ग० ।

अंतोद्युम-अन्तर्द्युम-पुं० अभ्यन्तरधूमे, गृहादिनिकरुधूमे, आब० ४ अ० ।
अंतोमज्जीवसाणिय-अन्तर्मध्यावसाणिक-पुं० लोकमध्याव-
सानिकाख्ये अभिनयभेदे, नाट्यकुशलेश्यां ऽयं विशेषतो वंदि-
तव्यः रा० ।

अंतोमुह-अन्तर्मुह-न० अभ्यन्तरद्वारे, "अंतोमुहस्स अस-
वी उभयमुहे तस्स बाहिर पिहए" वृ० १ उ० ।

अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त्त-३० मुहूर्त्तस्य घटिकाद्वयसङ्गणस्य का-
लविशेषस्यान्तर्भ्ये ऽन्तर्मुहूर्त्तस्य । निपातनादेवाच अन्तः-
शब्दस्य पूर्वनिपातः नं० । अभिमुखत्वे, आब० ४ अ० ।

अंतोलिप्त-अन्तोलिप्त-त्रि० अभ्यन्तर्भ्ये श्लिप्तमल्लिप्तम् । अभ्ये ले-
पेनोपदिभ्ये, "अग्निमंतोलिप्तं" वृ० १ उ० ।

अंतोवृत्त-अन्तर्वृत्त-ि० अभ्ये वृत्तसंस्थानसंस्थिते, तेणं णरगा
अंतोवृत्ता बहिं चउरसा" बाह्यमङ्गीकृत्यान्तर्भ्ये वृत्ता सूत्र०
२ सू० २ अ० ।

अंतोवृत्ति-अन्तर्वृत्ति-अ०० पक्वीकृत एव विषये साधनस्य
साधनेन वृत्तौ, यथाग्नेकान्तात्मकं वस्तु सत्स्य तथैवापपत्तेः
१० ६ पत्र ।

अंतोवाहणी-अन्तर्वाहिनी-अ०० अन्तरस्य पश्चिमे शतोदाया
महानया इक्षिणे प्रबहन्त्यामन्तरनद्याय, स्या० ३ ग० । "कुमुप
विजय अरजा रायहाणी अंतोवाहणी बहं" जं० ४ वल० ।

अंतोवीर्षज-अन्तोविश्रभज-पुं० अन्तर्विश्रभजः त० स० । तोऽ-
न्तरतीत्यस्य काचित्कत्वाच्चातस्यैत्वम् । चित्तविभ्राले, "अंतो-
वीर्षजनिवेशिष्माणं" प्रा० ।

अंतोसङ्ग-अन्तःसङ्ग-त्रि० अन्तर्भ्ये शब्दं वक्ष्य अरहस्यमा-
भिस्यर्थः तत्तथा । बहिरनुपसङ्गयमा मणभेदे, स्या० ४ ग० ।
अनुकृततोमरादौ, अ० ३ श० ५ उ० । अन्तर्भ्ये मनसोत्यर्थः ।
शब्दमिव शब्दमपराधपदं यस्य सोऽन्तःशब्दः । अग्निमानादि-
विरताङ्गाचितातिचारं, स० ४१ पत्र ।

अंतोसङ्गमयण-अन्तःशब्दयुक्त-त्रि० अनुकृतमायशब्देषु
अभ्यवर्तिभङ्गादिशब्देषु वा सारु सुतेषु, अ० २५६ पत्र ।

अंतोसङ्गमरण-अन्तःशब्दमरण-न० अन्तःशब्दस्य रूप-
तो ऽनुकृततोमरादेर्जावतः सातिचारस्य वयमरणं तदन्तःशब्द-
मरणम् । चालमरणभेदे, ज० ३ श० १ उ० । स० ।
तत्स्वरूपम्

लज्जाए गारवेण च, बहुस्तुयुमयेण वापि दुष्करियं ।
जण कहेति गुरुणं, ए कु ते आराहगा होति ।
गारवयंकिणुका, अद्यारं जे परस्स प करेति ।
दंसरणणणचरिणे, समङ्गमरणं हवति तेसिं उच्च० नि० ।

तत्र सञ्जया अनुचितानुष्ठानसंवरणात्मिकया गौरवेण च
सातर्किसंगौरवात्मकेन मा दृग्ममालोचनाहमाचार्यसुपसर्पत-
स्तद्वन्दनादिना तदुक्ततपोनुष्ठानसेवेनेन च अक्रिरससत्ता-
नावसंजय इति बहुभुतेभ्येन वा बहुभुतोऽदं तत्कथमप्यभूतोऽयं-
मम हास्यमुक्त्वरिष्यति कथं चाहमस्मि वन्दनादिकं दास्याम्यपन्ना-
जना इयं ममेत्यभिमानेन आद्यः पूर्णेने ये गुरुकर्मणां न कथय-
न्ति नाश्लोचयन्ति केषां गुरुणामाश्लोचनाहोषामाचार्यादीनां किं
तत्पुत्रुकरितं उरनुष्ठितमिति संबन्धः । न तु देव तेऽन्तःमरणमुक्-
रुपाः आराध्यत्यविकलतया निष्पादयन्ति सम्प्रत्यशोनाद-
नीत्याराधकता भवति । ततः किमिवाह । गौरवस्य इव
काशुष्यदेतुया तस्मिन्निब्रुवा इति प्राकृतत्वान्निमान्म इव निम-
न्नास्तकोर्नोक्ततया सञ्जाम्दयोरपि प्राणुपादान्ने यदिह गौर-
वस्यैवापादानं तदस्यैवातिदुष्टताव्यापानार्थम् । अतिचारमरण-
धं परस्याचार्योदेने कथयन्ति किं विषयमिवाह । दर्शनहान-
कारिणे दर्शनज्ञानचारित्रिविषयं दर्शनविषयं शब्दादिज्ञानविषयं
कासात्मिकमादि चारित्रिविषयम् । समित्यनुपासनादिशब्दमिष्व
हास्यं कालान्तरेऽप्यनिरपेक्षविधानं प्रत्यनवयतया नह तेनेति
सशक्यं तत्र तन्मरणं च सशक्यमनं तच्छान्तःशब्दमरणं
भवति । तेषां गौरवपदमन्तानामिति गाथाश्रवणैः ॥
अस्यैवास्त्यन्तपरिहायतां स्यापयत् फलमाह ।

एतं समङ्गमरणं, मरिज्जण महाभय दुरंतमिम् ।
सुचिरं भयांतं जांवा, देहीं संसारकर्तारे ॥ उच्च० नि०

एतदुक्तस्वरूपं सशक्यमरणं यथा भवति तथेत्युपस्कारः ।
सुभ्यस्यवाता पंतन सशक्यमरणेन मृत्वा त्यक्त्वा प्राशान्
जीवा इति संबन्धः । किं सुचिरं भ्रमन्ति बहुकालं पर्यटन्ति
क संसारः कान्तरमिवातिगहनतया संसारकान्तरस्त्वस्ति-
ञ्चिति संतःङ् । कीदृशि महज्जयं यस्मिन्लम्पहायं तस्मिन्तथा
नुःभेनान्तःपर्यन्तो तस्य तरन्तं तस्मिन् । तथा हीयं अ-
नादी केणचिद्विषयवसिते वेति तत्संबन्धेया परिहस्येभ्येवेति
भाव इति गाथायैः । प्रब० १५४ ग्रा० ।

अंत्रमी-अ००-अन्त-न० अपसंशे स्वाधिकप्रत्यये क्ते । लिङ्ग-
मन्तत्रम दाश० । इति नपुंसकस्याऽपि श्लोत्वम् । उदरम-
ध्याऽवयवभेदे, "पारविलगमी अंत्रमी" प्रा० ।

अंत्र-अन्द्र-अ०० अन्धत्वे च्यत्तेऽनेनेति अदि-कू-वाच० ।
निगडे, "अंत्र सुपक्विकृष्णविहन देह" सूत्र० १ कु० ५ अ० ।
अंदेउर-अन्ताःपुर-न० अघःकचिद् दाश० २६० इति शौरसेन्यां
नकारस्य दकारः । राजस्थानां गृहे, प्रा० ।

अंदोलग-अन्दोलक-पुं० यत्रागस्य मनुष्या आत्मानमान्दो-
लयन्ति ते आन्दोलकाः । हिण्डोल इति लोकप्रसिद्धेषु, जी०
३ प्रति० । रा० । जं० । दोलनकरीरि, त्रि० वाच० ।

अंशदोषणं । ए-अ (अ) न्दोऽन-न० ६ चशशाखादी षे-
लने, ष० २ अ० ११ । कर्णे-ष-इएडोल इति प्रसिद्धे आन्दो-
नयम्, सूत्र० १ बु० ११ अ० । यत्रान्दोलनेन युवमतिरुक्तयते
तस्मिन् मार्गविशेषे, सूत्र० १ बु० ११ अ० ।

अंध-अन्य-भि० अन्ध-अन्ध-नयनरहित, डा० १२ डा० । षो० ।
पञ्च० । सूत्र० । स चान्यो द्विधा ज्ञानस्थः पश्चाद्वा हीनने-
प्रोऽपगतत्वस्तुः सूत्र० १ बु० १२ अ० । स चान्यो द्रव्यतो
भावतश्च । तत्रैकान्द्रयद्योन्द्रियधीन्द्रियाः द्रव्यभावाध्याः । अ-
तुरिन्द्रियादयस्तु सिध्यादृष्टयो ज्ञानाध्याः उक्तञ्च “ एकं हि
चक्षुरमलं सहजो विवेक-स्तद्विज्ञेरेव सह संवसति द्वितीयम् ।
एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्य-स्तस्यापमार्गचलने ऋतु
कालोऽपराधः ” सम्यग्मृद्ययस्तुपहतनयना द्रव्यान्वास्त एव स-
चक्षुरेण न द्रव्यतो भावि भावतस्तद्वेदसम्बन्धं द्रव्यभावभेदभि-
न्नेकान्दनेन दुःखजननमभ्यसोतीत्युक्तञ्च “ जीवशेषे मृतोऽन्यो,
यस्मात्सर्वकियास्तु परतन्त्रः । नित्यास्तमितदिनकर-स्तमो-
न्धकाराण्यभिमनः ” “ लोकद्रव्ययसनवद्विचिरीपिताम्न-मन्धे
समीक्ष्य रूपं परपदिनेयम् । को नोद्विजेत भयकञ्जननादि-
योप्रातः, कृष्णादिदैनिकनिचितादिव चान्धगर्वात् ” आचा० १
बु० २ अ० ३ उ० । अन्ध इत्याद्यः । अन्धाने, ज्ञानरहिते, “ ए-
पर्यं अंधा मूढा तमप्यविद्वा ” अ० ७ श्रु० ७ उ० । “ तिष्ठतो
यजतो वापि, यस्य चक्षुने दूरगमः । चतुष्पदां भुवं मुक्त्वा,
परिडाडन्ध उच्यते ” इत्युक्तवर्णो परिडाडन्धे, वाच० ।
पुं० । अन्धयतीत्यन्धम् अन्ध-भु० प्रेरण-शिष्य अन्ध । अन्ध-
करणे, अन्ध वा अन्धकारे, तमसि, अन्धाने च । जले, न.
मेदि० । वाच० ।

अन्ध-पुं० अन्ध-रत्न० । देशभेदे, स च देशः जगन्नाथार्द्धजा-
गादर्वाक् श्रीसरमात्माव तावदन्ध्राभिधो देश इत्युक्तः वाच० ।
नहोरात्रेण जनं च. १०५० उ० । स च म्लेच्छजनोक्तः प्रज्ञा० १
पदः । प्रज्ञा० । प्रब० । सूत्र० । वेदेहेन कारावरस्य स्त्रियास्तु-
त्याविते अन्यजनभेदे, व्याजनेदे इति काश्यपः वाच० ।

अंधकण्टक-अन्धकण्टकी-य-न० अन्धस्याविकृतकण्टको-
पगमनरूपेऽतिक्रितोपगमने, आचा० १ बु० १ अ० ।

अंधकण्ड-अन्धयकृत-भि० स्वकपाचलोक्तनशकियकले, अष्ट०
२ अष्ट० । अहं मेमति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदाव्यकृत् ” अष्ट० ।

अंधका (या) र-अन्धकार-पुं० न० अन्धं करोति कृ-अण्
उप० । वाच० । कृष्णार्त्तव्यादिजये, अरुणभवसमुद्रोक्तवत-
मस्काये च. तं ७६ पत्र. । बहुव्रतमेनिःशब्दे, अनु० ।
स्था० । ज्ञा० । तच्च तेजोद्रव्यमात्मायाजावरूपमिति त्रैयायिकाः
वाच० । “ कांक्षं मद्गलं तं पिय विद्याणं तं अंधयारं ति ” इत्युक्त-
मरुणः पुत्रलपरिणाम इति समयधिदः सूत्र० १ बु० १ अ० ।
अन्धकारि “ सध्वयारउज्जोम्भो, परहमगतवधरथा । वनगधर-
वप्रासा पोमहाणं तु ह्यक्षयणं ” उक्त० २ अ० । नच तमसः
पौद्गलिकत्वमसिद्धं चाकुरवस्थाध्यानुपपत्तेः प्रदीपारोकेत्यतः ।
अथ यथाकृत्यं तत् सर्वं प्रतिज्ञासि प्राज्ञोक्तमपेक्षते नैवैवं
तमस्तक्तयं चाधुप्यं मैत्रयं उलूकादीनामालोकनन्तरेणापि तन्म-
तिज्ञास्तात् । येत्यस्मद्विदिनित्यवस्थाकृत्यं षडाधिकमाशोकं
विना नापलभ्यते तैरपि तिमिरब्रह्मोक्तविष्यते विवित्रन्नाज्ञा-
वानां कर्मव्यथा पीतभ्रष्टाद्विधोऽपि स्वयंमुक्तपश्चात् आशोका-
पेक्षदोनाः प्रदीपचन्द्रावयस्तु प्रकाशान्तरिरेपेक्ष इति सिद्धं

तमश्चाधुपय । रूपवशात्तच्च स्पष्टोऽयमपि प्रतीयते । इत्यस्व-
शर्मस्ययजनकत्वात् । यानि त्वनिविदायवत्यमप्रतिघातिन्यम-
नुज्ञस्वशोविशेषव्यमप्रतीयमानस्यप्राथम्यविद्युत्प्रभागस्य-
मित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिवेद्येधाय परैः साधनाःयुपस्य-
स्तानि तानि प्रदीपमसाष्टान्तेनैव प्रतिवेध्यानि स्या० ६ पत्र. ।

सर्वाण्यन्तरं मरुत्समविद्युत्वाग्धकारसंस्थितिं प्रति-
पिपादयितुस्तद्विषयं प्रभूत्समाह ।

तता एं किसंतिता अंधकारसंतिती आहिताति वदेजा ।
ता उद्धीमुहकलंबुतापुष्पगठिता आहितेति वदेजा । अं-
तोसंक्कुभा बां । वित्यथा तं चैव जावतः से एं दुने बाहातो
अणवद्वितातो भवंति तं सव्वभंतरिता चैव बाहा सव्व-
बाहिरिता चैव बाहा । तीसे एं सव्वभंतरिता बाहा मंदरं
पव्वयं तेणं हू जोयणसहस्सां तिषि य चउब्बंसे जो-
यणसते उ विदसज्जागे जोयणसस परिकखेवेणं । ता से एं
परिकखेवविसेसो कतो आहितेति वदेजा । ता जे एं मं-
रसस पव्वसस परिकखेवेणं तं परिकखेवं दोहिं गुणित्ता द-
सहिं छेत्ता दसहिं जागे हिरमाणे हिरमाणे एम एं परि-
कखेवविसेसं आहितानि वदेजा । ता से एं सव्वबाहिरिता
बाहा लवगममुदं तेणं तेवहिं जोयणसहस्सां दोहिं य
पणयाले जोयणसते उच्च दसज्जागे जोयणसस परिकखेवेणं
ता से णं परिकखेवविसेसो कतो आहितेति वदेजा । ता
जे एं जेवुदीवसस दीवसम परिकखेवेण परिकखेवं दोहिं गु-
णित्ता दसहिं छेत्ता दसहिं जागे हिरमाणे हिरमाणे एम
ए परिकखेवविसेसं आहितानि । ता से एं अंधकारे कंवतितं
आयमणं आहितानि० ता अट्टुत्तारिं जोयणसहस्सां तिषि
य तेत्तीसे जोयणसते जोयणतिज्ञाग चआयामेणं आहितेति
वदेजा तता ए उचमकट्टे उक्कांसे अचरसस मुहुत्ते दिवसे जवति
जहसिया सुवालम मुहुत्ता राती भवति । ता जता एं सुरिए
सव्वबाहिरं मंरुलं उवसंकिप्ता चारं चरति ता उद्धीमुह-
कलेयुता पुष्पसंतिता तावसंखेचसंतिती अंती संक्कुभा बाहिं
वित्यमा जाव सव्वभंतरिता चैव बाहा सव्वबाहिरिता
चैव बाहा । ता से णं सव्वभंतरिता बाहा मंदरपव्वतेणं
उ जोयणसहस्सां तिषि य चउब्बंसे जोयणसते हूच्च
दसज्जागे जोयणसस एवं जंपमाणं अन्धंतरमंहेले अंधकार-
संतिते तं द्दमाणं वि तावसंखेचं संतिती ऐतव्वजा । बाहिर-
मंरुले आयामो सव्ववत्य वि एको तया एं किसंतिता
अंधकरसंतिती आहिताति वदेजा । ता उद्धीमुहकलंबुता
पुष्पसंतिता अंधकारसंतिती आहिताति वदेजा । अंती
संक्कुभा बाहिं वित्यमा तं चैव जाव सव्वभंतरिता बाहा
सव्वबाहिरिता आहिता चैव बाहा । ता से णं सव्वभं-
रिता बाहा मंदरपव्वयं तेणं एव जोयणसहस्सां चत्तारि
य उल्लसंति जोयणसते एव दसभागे एवं जंपमाणे अन्धं-

तर्पेरुन्नतिरि ए सूरि ए तावलेखनंतिर्त्तिए नं चैव गेयव्त्वं भाव आतामो ता जता एं उचपउक्कोसा अडारसमुहुचा राती जवति जहृषए दुवाइसमुहुत्ते दिरसे भवति ।

तदा सर्वोभ्यन्तरमण्डलचारकाले (किं संतिश्चालि) किं संस्थितं संस्थानं यस्याः । यद्वा कस्येव संस्थानं संस्थिति-र्यस्याः सा किं संस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् । अगवाणाह " ता इत्यादि " ता इति पूर्ववत् ऊर्द्धकृतकल-म्बुका पुष्पसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् । सा चान्तर्मणदिति विष्कम्भमधिकृत्य (संकुडा) संकुचिता बहिलेखणदिति विस्तृता । तथा अन्तर्मणदिति वृत्ता ऊर्द्ध कथयान्कारा सर्वतो वृत्ता मेरुनामो द्वी देशभागी व्याप्य तस्या-वस्थितत्वात् । बहिलेखणदिति प्रयुक्ता विस्तीर्णा एतदेव संस्थानकथनेन स्पष्टयति " अतो अकमुहसंतिष्ठा बाह्ये संस्थितमुहसंतिष्ठा " अन्वयोः पदयोर्व्याख्यानेन प्राप्तवत् वेदितव्यम् । " उभयोपसेणमित्यादि " तस्या अन्धकारसंस्थितेस्तापक्षेत्र-संस्थितेर्द्विव्यवशाद् द्विधा व्यवस्थिताया मेरुवर्षेनस्योभय-धाम्नेन उभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकमेकैकभावेन ये जम्बूद्वीपगणे वाहे ते आर्यामेन आर्यामप्रमाणमधिकृत्यावस्थिते भवतस्त-धया पञ्चचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि (४५०००) द्वे च वाहे विष्कम्भमधिकृत्य एकैकस्या अन्धकारसंस्थितेर्भवेतस्तधया सर्वोभ्यन्तरा सर्वबाह्या च एतयोश्च व्याख्याने प्राग्विह द्रष्ट-व्यम् । प्रतः सर्वोभ्यन्तराया वाहाया विष्कम्भमधिकृत्य प्रमा-णमभिधित्सुराह (तासेणमित्यादि) तस्या अन्धकारसंस्थितेः सर्वोभ्यन्तरबाहा मन्वर्यवतान्ते मन्वर्यपरित्तसमीपे सा च पदयोर्जनसदृशाणि त्रीणि शतानि चतुर्दशत्यधिकानि (६३२४) वद् दश भागा योजनस्य (६) यावत् परिक्षेपे-ष्वाख्याता इति वदेत् । अमुमेवायं स्पष्टावबोधनार्थं पुच्छति (ता से एं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थि-तेर्योक्तः परिमाणपरिक्षेपविशेषां मन्वर्यपरित्तपरिक्षेपेण विशेषः कृतः । कस्मात्कारणादाख्यातो नोनाधिको वेति भग-वान् वदेत् एवं प्रश्ने हते भगवानाह । ता इति प्राथम्यं । यो क्षामिति वाक्यालङ्कारे मन्वर्यवत्तस्य परिक्षेपः प्रागुक्तप्रमाणः नं परिक्षेपे द्वान्यां गुणयित्वा कस्माद् द्वान्यां गुणनमिति चेदुच्यते इह सर्वोभ्यन्तरे मण्डले चारं चरतोः सूर्य-योरैकस्यापि सूर्यस्य जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र तत्र प्रदेष्टे तत्तच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण दश भागाह्वयः प्र-काश्या भवन्ति । अपरस्यापि सूर्यस्य त्रयः प्रकाश्या दश भागास्तव उभयभागेभ्ये वद्दश भागा भवन्ति तेषां त्रयाणां दशानां भागानामान्तराले द्वौ द्वौ दशजानौ रज्जो ततो द्वान्यां गुणनं तौ च दशजानाविति दशभिर्भागहरणं द-शभिर्भागहरणे यथोक्तं मन्वर्यस्य समीपे अन्धकारसंस्थिति-परिमाणमागच्छति । तथाहि मेरुवर्षपरित्यपरिमाणमेकत्रिंश-त्तोजनसदृशाणि वद् शतानि त्रयोविंशत्यधिकानि (३१६३३) एतानि द्वान्यां गुणयन्ते जातानि त्रिषष्टिसहस्राणि (३१६३३) तद्वत्कारणसदृशके (६३२४६) इति शतानं च दशभिर्भागो हते ल-ब्धमिति वद् योजनसदृशाणि त्रीणि शतानि चतुर्दशत्यधिका-नि । वद्दश भागा योजनस्य (६३२४) (६) तत् एव एतावान-नन्तरोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपो मन्वर्यपरित्यपरि-क्षेपेण विशेषे भाष्यत इति वदेत् । तदेवमुक्तमन्धकार-

संस्थितेः सर्वोभ्यन्तराया वाहाया विष्कम्भपरिमाणम् । अमुना सर्वबाह्याया वाहाया आह । " तासे एं इत्यादि " तस्या अन्ध-कारसंस्थितेः सर्वबाह्या वाहा लक्षणसमुद्धान्ते ह्ययसमुक्त्-समीपे जम्बूद्वीपपर्यन्ते सा च परिक्षेपेण जम्बूद्वीपपरिरयप-रिक्षेपेणोपाख्याता त्रिषष्टियोजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंश-त्तोजनशते वद् दशभागा योजनस्य यावत् (६३२४५) (६) एत-देव स्पष्टे स्वशिष्यानावबोधयितुं भगवान् गौतमः पुच्छति " ता-से एं इत्यादि " ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थितेः स-एतावान् परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेण (१०) विशेषः कृतः कस्मात्कारणादाख्यातो नोनाधिको वेति वदेत् भग-वान् वदंमानस्यामी आह " ता जे एं इत्यादि " ता इति पूर्व-वत् यो क्षामिति वाक्यालङ्कारे जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपः प्रागुक्त-प्रमाणस्तं परिक्षेपे द्वान्यां गुणयित्वा दशनिष्ठित्वा दशभिर्वि-भज्य अत्र च करत् प्रागेवोक्तं दशभिर्भागो हियमाणे यथोक्त-मन्धकारसंस्थितेर्जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपमागच्छति । तथाहि जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपपरिमाणं त्रीणि शतानि चतुर्दशसहस्रा-णि द्वे शते अष्टाविंशत्यधिके (३१६३२४) तद् द्वान्यां गुणयन्ते जातानि वद् लक्षाणि द्वान्विंशत्यसहस्राणि चत्वारि शतानि वद्-पञ्चाशत्यधिकानि (६३२४५६) तेषां दशभिर्भागो हते लब्धा-नि त्रिषष्टियोजनसदृशाणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंशत्तधिके वद् दशभागा योजनस्य (६३२४५) (६) एत एव एतावाननन्त-रोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपप-रित्यपरिक्षेपेण विशेषे भाष्यत इति वदेत् । तदेवमुक्तं स-र्वबाह्याया ह्यपि वाहाया विष्कम्भपरिमाणम् । " सम्प्र-ति साम्पत्येनान्धकारसंस्थितेरायामप्रमाणम् । " तासे एं इत्यादि " । इदं चायामपरिमाणं तापक्षेत्रसंस्थितिनान्द्रा-परिमाणवद्भावनायं समानजावनिकत्वात् । अत्रैव सर्वोभ्यन्त-रे मण्डले वसैमानयोः सूर्ययोर्दिवसरात्रिसमुच्चैःप्रमाणमाह । " तथा एं इत्यादि " सुगमं सर्वोभ्यन्तरे मण्डले तापक्षेत्रसंस्थि-तिमन्धकारसंस्थितं चाभिधाय समप्रति सर्वैकबाह्यमण्डले ताम-भिधित्सुराह " ता जया णमित्यादि " ता इति पुर्ववदेव यद्द सूर्यः सर्वैकबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किं संस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिराख्यातेति प्रगवाण्येदत् । अगवाणाह । " ता उभयोर्द्वे इत्यादि " पूर्ववद्भाव्येया । " ता से एं इत्यादि " तस्याश्च तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वोभ्यन्तरवाहाऽऽभ्यन्तरमेरुसमीपे सा च परिक्षेपेण मन्वर्यपरित्यपरिक्षेपेण वद् योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्दशत्यधिकानि (६३२४) वद् च दशभागा योजनस्य (६) आख्यातानि भवेति वदेत् स्वशिष्येभ्यः । " एवं इत्यादि " एवमुक्तं सति कारणे यद्दन्त्यन्तरमण्डलगतसूर्ये-ऽन्धकारसंस्थितेः प्रमाणसुक्तं तद्वाह्ये बाह्यमण्डलगतसूर्ये-ऽन्धकारसंस्थितेः परिमाणं त्रिषष्टियोजनं । तर्थाह " ता से एं परिक्षेपविवेसेकतो आहिति । जेणं मंदरस्य पठवयस्स परिक्षेपेवं तं दांहे भागं हि रारमाणं एतं यं परिक्षेपविवेसेसे आदिभासे वएजा ता जेणं जम्बूद्वीवस्स दीवस्स परिक्षेपेवं दांहे गुणित्वा एसांहे क्षित्ता इसांहे भागं हि रारमाणं एतं यं परिक्षेपविवेसेसे आदिभासे वएजा ता से यं तावकिस्से केवहं प्रायामेण आदिभासे वएजा । तीतेसीहं जेओणसह-एतं तिणि छे तीरीवहजेओणतिभागं चायामेण आदिभासे वएजा " इदं सकलमपि सुगमं नवरं मन्वर्यपरित्यपरि-क्षेपेण विशेषे भाष्यत इति वदेत् । तदेवमुक्तमन्धकार-

अज्ञेयत्वमनस्य चकत्कालस्य यत्र तत्र वा प्रदेयो तत्कक्यालके-
 चानुसारेण ही ही दृशमागौ तापकेत्रम् । एतच्च प्रागेव प्राविनं
 ततो मन्दरपरिरयादि हात्र्यां सुधयेत गुणधिया च दशजिमी-
 गहरणं तथा सर्वबाहो मरणले सूर्यस्य सारं चरतो हयणस-
 सुद्रमये पञ्चोजजनसहस्राणि तापक्रेत्रं बद्धं तत्कथशीलिया-
 जनसहस्राणि इत्याद्युक्तम् । तेषां ह्यन्यांजन तु प्राग्ब्रह्मवनीया
 तदेवं सर्वबाहो मरणले चरन्तोऽसौ तापक्रेत्रसंस्थितं परि-
 भागमभिधाय सम्प्रति तत्रैवाभ्यकारसास्थितेपरिभाणमाह ।
 (नया ण किं संतिआ इत्यादि) तदा सर्वबाहोमरणले चारचरण-
 काले णमिनि थाक्यालहाइर किंसंस्थिताऽन्यकारसंस्थितिरा-
 क्थानंत बदेव । जगधानाह “ ताठकीमुहेत्यादि ” सुगमं
 “ता से खं इत्यादि ” तस्या अन्धकारसंस्थितेः स्यादन्धरत्नबाहो
 मन्दरपर्वतान्ते मन्दरपर्वतसमीपे । “ ताव जाव परिक्लेषवि-
 सेतु आदिभक्ति वषज्जा । ता से ण अंधकार केवअन्न प्राय-
 मेषु अहादिभक्ति वषज्जा ता सतींरं जोअणसहस्रहस्रांरं तिभि भ्र
 तेशीसए जोअणस्स जोअणतिभागं च आदिभक्ति वषज्जा ”
 इह यन्मन्दरपरिरयाद्विभिमुणनं हरयुं च शेषाकृतयोजना तु
 प्राग्बन्धकंठ्या । तदेवं सर्वबाहोऽपि मरणले तापक्रेत्रसंस्थितिः प-
 रिभाणं चाकमयुना सर्वबाहो मरणले चरन्तमानयोः सूर्ययोः रा-
 त्रिदिनसमुहून्नेरंरमाणमाह । (ता जया ण इत्यादि) तदा सा
 सर्वबाहोपद्वयचारकाले उत्तमकाष्ठं प्राप्ता वक्तुऽपदादशमु-
 हूर्त्ता रात्रिरेवति जघन्यां द्वादशमुहूर्त्तां दिवसः तदेवमुक्तं ताप-
 क्रेत्रसंस्थितिरिभाणमन्धकारसंस्थितिरिभारणं च । चं० प्र०
 ४ पाहु० ॥ सू० प्र० ॥

वर्धनामन्धकारी दग्दककमेणाह ।

से रणुणं भंते ! दिवा उज्जोए रादअंधधारे ? इता गो-
 यमा ! जाव अंधधारे से केणट्टेणं ? गोयमा ! दिवा सुभा
 पोग्गला सुते पोग्गलपरिणामे राति अमुज्जा पोग्गला
 असुते पोग्गलपरिणामे । से तेणट्टेणं नेरइया णं जंते !
 किं उज्जोए अंधधारे ? गोयमा ! नेरइयाणं नो उज्जोए
 अंधधारे से केणट्टेणं ? गोयमा ! नेरइयाणं असुभा पों-
 ग्गला असुभे पोग्गलपरिणामे से तेणट्टेणं असुरकुमाराणं
 भंते ! किं उज्जोए अंधधारे ? गोयमा ! असुरकुमाराणं
 उज्जोए नो अंधधारे । से केणट्टेणं ? गोयमा ! असुरकु-
 माराणं सुभा पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे से तेणट्टेणं
 जाव एवं वुञ्ज जाव थाणियाणं पुढेरीकाट्या जाव तेदंदिवा
 जहा नेरइया । च उरंरिदियाणं भंते ! किं उज्जोए अंधधारे ?
 गोयमा ! उज्जोए वि अंधधारे वि से केणट्टेणं ? गोयमा !
 च उरंरिदियाणं सुभासुभा पोग्गला सुभासुजे पोग्गलपरि-
 णामे से तेणट्टेणं एवं जाव यणुसताणं बाणमंतरजोइसवे-
 माणिया जहा असुरकुमारा ॥

“ से रणुणमित्यादि ” (दिवा सुहा पोग्गलति) दिवा दिवसे
 सुभाः पुत्रता जवन्ति । किमुक्तं भवति ह्यभयुज्जलपरिणामः स
 चार्ककरसंपर्कात् (रतिरिति) राशौ (नेरइयाणं असुभा पोग्ग-
 लाणं) तद्वेदस्य पुत्रसुज्जला(निमित्तसुखविकारादिप्रकाश-
 कवस्तुवर्धनात्वात् । (असुरकुमाराणं सुहा पोग्गलात्) तदा-
 भवादीनां भास्वरत्वात् (पुढेरीकाट्याइत्यादि) ऋषिबीकापि-

काद्यस्त्रीद्वियान्ता यथा नैरयिका उक्तस्तथा वाच्यः । एषां
 हि मास्युद्घोनाऽन्धकारं चास्ति पुत्रलामामद्युमत्याद् इह केयं
 भावना एतन्नेत्रे सत्यपि रविकरादिसंपर्के एषां चक्षुःरिन्द्रिया-
 भावेन दृश्यवस्तुनो दृशनाज्ञायात् । ह्यभयुज्जलकायोकरयेनाद्यु-
 ज्जाः पुत्रला उच्यन्ते तत्रभ्रंशमन्धकार पक्षि (अउरंरिदियाणं
 सुजासुजोयमासति) एषां हि चक्षुःसद्भावेन रविकरादिसद्भा-
 वे इदयायोवधोहेतुत्वात् सुजाः पुत्रला रविकराद्यभावे स्वर्धा-
 वधोपाजनकत्वाद्युभा इति न० पृ० १० ६ ८० ।

अधोलोकेऽन्यकारः ।

अहोलोमे णं चचारि अंधकारं करंति तंजहा खग्गा
 णेरइया पावाइं कम्पाइं असुजा पोग्गला ॥

“ अहेत्यादि ” सुगमं किन्तु अधोलोके उक्तसङ्केने चत्वारि
 वस्तुनीति गम्यते नरका नरकाबासा नैरयिका नरकायै तेषु कृ-
 णरूपत्वाद्यन्धकारं कुर्वन्ति पापाणि कर्माणि इति भाष्येणापीन
 मित्यात्वाज्ञानसङ्केनेनामन्धकारिवाद्यन्धकारं कुर्वन्तीत्युच्यते ।
 अथवाऽन्यकारस्वरूपेऽधोलोके प्राणिनामुत्पादकत्वेन पापानां
 कर्मणामन्धकारकृतवमिति तथा अद्युभाः पुत्रलामामद्युभावे-
 न परिणता इति । स्था० ४३० ॥ तथा यथाऽन्ये चतुर्भिः कार्पण्येनैकं
 उद्घोतौ भवति तथा अन्धकारमपि अहेनिर्वाणेषु इहंक्षुतव-
 मीनायै जाततेजस्य सच्छुद्धेऽपि तत्र यथाऽहेनो निर्वाणं लोक-
 अन्धकारं नयति । तथा त्रयाणां नागे समानमुत कश्चिद्दिशेयो वेति
 मते शोकानुनायादिवाहैदीनां चतुर्णामप्येच्छेदं द्रव्यान्धकार
 समानम् अग्निविनाशे त्रयोच्छेदे भावान्धकारमधिकं स्यादिति
 विशेषः स्याताङ्कमुयनुसारेण ज्ञायत इति १०० इयन्०२ उज्जो० ।
 (अहेति निर्वाणं गच्छति धर्मं शुक्लियमने पर्वगते वा म्युच्छि-
 यमाने लोकान्धकार इत्यहेच्छेदं) तमसि, स्था० ३३० ॥ मरु-
 णभवसमुद्राद्भवतमस्कायै च० तं० । तमोरुपत्वात्सत्य न० ।
 स्था० । अशोचत् अन्धकारवति, त्रि० ज्ञा० १ अ० । औ० ।
 अंधका (या) रपक्व-अन्धकारपद-पुं० रूपणपके, सू० ।
 १३ पाहु० ॥

अंधग-अंदिहप-पुं० वृत्ते, म० १८ श० ४ उ० ॥

अंधगवहिह-अंदिहपद्विह-पुं० अदिपा वृत्ता(स्तेषां बहवस्तदा-
 भयवेनेत्यादिपहयः । वाहृतेजकायैषु, न० १८ श० ४ उ० ।
 अन्धकवह्नि-अन्धका अप्रकाशकाः सुदमनामकामंवाद्ये
 बहवस्ते अन्धकवह्नयः । सूहमतेजस्कायैषु, १ ।

जीइया खं भंते ! का अंधगवहिहणो जीवा तावइया
 परा अंधगवहिहणो जीवा ? हंता ! गोयमा ! जावइया चरा
 अंधगवहिहणो जीवा तावइया परा अंधगवहिहणो जीवा
 सेवं जते ! भंतेचि ।

तत्परिमाणाः (परसि) पराः प्रकृताः स्थितितो दीर्घोयुष
 इत्यर्थः इति प्रश्नः हन्तेत्याद्युत्तरमिति । म० १८ श० ४ उ० ।
 यदुवंशजनुपभेदे, “ चारवतीए लयवीए अंधगवहिह गामं
 राया परिचयसि मइया हिमवंत वधोत्तरे तस्स वं अंधगव-
 हिहस्स रथो धारणी गामं वेथो होत्या ” इत्यन्० । अन्धक-
 वह्नेर्य युवाः “ समुदे १ सागरे २ गंभीरे ३ यिमिप ४ अ-
 यत्ते ५ कपिण्डे ६ अमन्धोरे ७ पसेरुद्वे ८ विरुह्वे ९ एते नव
 पतेष्वं प्रथमो भौतम इति दश-इत्यन्० १ वर्गः । “ अहं व

अंधगवपिह

भोगरायस्स तं च सि अंधगवपिहयो" त्वं च भवसि अन्ध-
 कृच्छ्रेः समुद्रविजयस्य सुत इति गम्यते " दश०२४० । १० ।
 अंधतम-अन्धतमस-न० अन्धकारे, तत्रान्धतमसस्तेजोरुपा-
 स्तरस्य संक्षेपे, "असुरियं नाम महाभितावं अंधं तमं दुष्पतरं
 महंतं" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० । अथ प्राकृतत्वात्प्यतम इति ।
 अंधतमस-अन्धतमस-न० अन्धं करोतीत्यन्धयति अन्धयती-
 त्यर्थं तच्च तमक्षेति अन्धतमसम् । समवाण्यातमस इत्यप्र-
 त्ययः । निविडान्धकारे, स्या० ६८ पत्र० ।

अंधतामिस-अन्धतामिस-न० तमिन्ना तमस्सन्ततिः । तमि-
 क्षेय तमिन्नाम् । अन्धयतीत्यन्ध कर्म-स० । निविडान्ध-
 कारे, साङ्गपशास्त्रप्रसिद्धेः भयविशेषविषयकेऽभिविशेषे, पुं०
 स्या० ३६ पत्र० । देहे नष्टे अहमेव नष्ट इत्यहाने च. बाच० ।
 अंधपुर-अन्धपुर-न० नगरभेदे, यत्र अनन्धो राजाऽन्धम-
 काः श्रु० ४ उ० ।

अंधपुरिस-अन्धपुरव-पुं जात्यन्धे, यथा मृगापुत्रः वि०१अ० ।
 अंधप-अन्ध-पुं प्राकृते "विपुत्रवपीताप्याहः ८२।७३इति
 स्वायं लः प्रा० । चतुर्विंशती, श्रु० ४ उ० । नि० चू० (अन्ध-
 दान्तो व्युद्ग्राहितशब्दे-निष्कलाशब्देऽप्यन्धदृष्टान्तः)
 अंधारू-अन्धरूप-नि० अंधारूकृती, "तए णं सामिया देवी
 त्वा रूपं हुं अंधारूवं पासइ" विपा० १ अ० ।

अंधिया-अन्धिका-स्त्री० चतुर्विंशतीष्वीश्वरेशे, उच० ३६
 अ० । प्रहा० । जी० ।

अंधि (धे) झग-अन्ध-पुं अन्ध एवातिष्ठकः । जात्यन्धे,
 प्रथ० आश्र० १ द्वा० । चतुर्विंशते, पि० । प्रथ० ।

अंधी-अन्धी-स्त्री० अन्धदेशजसियाम्, "अन्धीणां च ध्रुवं
 सीला-वलितं भूतले मुखे । आसज्य राज्यमारं सं, सुखं स-
 यिति मन्मथः " भाव० ४ अ० ।

अंध-अन्ध-पुं पञ्चदशसुरनिकायान्तर्वर्तिपरमाथामिकनि-
 कायानां प्रथमे परमाथामिके, यो देवो नापतन्मरतले नीत्या
 विमुञ्चत्यसाधम् इत्युच्यते ज० ३ वा० ६ उ० ।

ते चाभ्याभिधाः परमाथामिका यादृकां वेदनां परस्परोद्दि-
 ण्णुः सं चोत्पादयन्ति तं दर्वीत्युताह ।

धार्मेति पदार्मेति य, इणानि विधिंति तद् इणुंभेति ।

धुंवेति अंधरतले, अंधा खलु तस्य षोडश्या ॥ १० ॥

" धार्मेतीत्यादि " तत्राभ्याभिधानाः परमाथामिकाः स्वभव-
 नाशरकावासं गत्या क्रीडया नागकां अजागान् सारमेयांनिव
 शूलादिप्रहारस्तुदन्तो [धार्मेति] प्रययति । स्थानात् स्थाना-
 न्मन्त्रं प्राययन्तीत्यर्थः । तथा (धार्मेतिनि) स्वच्छयत-
 क्षेतत्वाऽनाथं भ्रमयन्ति । तथाऽन्धरतले प्रक्षिप्य पुनर्मिपतन्ने
 मुञ्चरादिना प्राप्ति । तथा शूलादिना विधयति तथा (निस्-
 मंतिनि) कृकादिकायां गृहीत्या नृभो पातयति । अथोमुक्षमयो-
 क्रियाम्बरतले मुञ्चन्तीत्येवमार्दिकया विदधन्त्या तत्र नरक-
 पृथिवीषु नागकां कदंभयन्ति सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । आय० भा०
 १०० । (अंधरीसाराध्दये)

अन्ध-न० अन्ध-ल-तकं, रसभेदे, पुं० तद्वति, नि० अच० ।

अन्ध-नि० तकादिसंस्कृते, ज० ३ वल् ० प्र० ॥

अंध-पुं० अन्ध गत्यादिषु रज दीर्घवच । षड्यः संयोगे ही-

षड्य उ । १ = ८ इति सूत्रेण आदेहेस्वत्यम् । प्रा० । चूत-
 वृक्षे, स्या० । दर्वी० (पाभ्यस्थादिनिः संसंसे ज्ञेयनरो आन्नकदृष्टा-
 स्तः क्षेत्तशब्दे) तस्य फलम् अष्ट तस्य लुक् आन्नफले नष्टु, अष्ट० ।
 अथासुकासुप्रहणनिधो यथा ।

अहं निक्वृ इच्छेजा अवं जोत्तए वा सेजं पुण अंभं
 जाणेजा असंनं जाव ससंताणं तहप्पगारं अंभं अफासुयं
 जाव णो पदिगाहेजा । से निक्वृ वा भिक्खुणी वा से-
 जं पुण अंभं जाणेजा अप्पं जाव संताणं अतिरिच्छ-
 च्छिणं अबोच्छिणं अफासुयं जाव णो पदिगाहेजा । से भि-
 क्वृ वा भिक्खुणी वा सेजं पुण अंभं जाणेजा अप्पं
 जाव संताणं तिरिच्छिणं बोच्छिणं फासुयं जाव प-
 दिगाहेजा । से निक्वृ वा निक्खुणी वा अयिक्खेजा
 अंबभित्तं वा अंबोसियं वा अंबचोयं वा अंबमाहं
 वा अंबदाहं वा जोत्तए वा पायए वा सेजं पुण जा-
 णेजा अंबनित्तं जाव अंबदाहं वा सअंनं जाव सं-
 ताणं अफासुयं जाव णो पदिगाहेजा । से भिक्खु वा
 निक्खुणी वा सेजं पुण जाणेजा अंबनित्तं वा अप्पं
 जाव संताणं अतिरिच्छिणं वा अफासुयं जाव णो प-
 दिगाहेजा । से भिक्खु वा निक्खुणी वा सेजं पुण जाणे-
 जा अंबभित्तं वा अप्पं जाव संताणं तिरिच्छिणं
 च बोच्छिणं फासुयं जाव पदिगाहेजा ॥

से इत्यादि स भिक्षुः कदादिजास्रवनऽप्यप्रहमीहवरवादिकं
 याचेत् तत्रस्थश्च सति कारणे आम्ने नोक्तुमिच्छेत्तस्मात् सागरं
 ससन्तानकमप्राप्तुकमिति च मत्वा न प्रतिशुद्धीयादिति । किंच
 'से त्यादि' स निशुद्धयुनरागमद्वेषादमलव्यसन्तानक वा जानी-
 यतिक्रान्तिरर्क्षीति चान्नेन तिरक्षीनमपाटिते तथा व्यवच्छिन्नं न
 खणितं यावदप्राप्तुकं न प्रतिशुद्धीयादिति । तथा 'सेइत्यादि'
 स निशुद्धयुनरागमलव्यसन्तानकं तिरक्षीनचिच्छं तथा व्यवच्छिन्नं
 यावदप्राप्तुकं कारणे सति शुद्धीयादिति । एवमात्रावयवसंबन्धि-
 सूत्रत्रयमपि नेयमिति । तत्रम् । "अंबनियणं" आश्रकम् "अंभ-
 पेसी" आश्रफाली (अंबचोयगतिं) आश्रच्छिणीसागर (रसं-
 दाहगतिं) आश्रदाहमखणयान्ति । आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

(सूत्रम्) जे भिक्खु सचित्तं अंभं नुजइ अंभं भुंजंते वा
 साइजइ । ५ । जे निक्खु सचित्तं अंभं विदसइ विदमंते वा
 साइजइ । ६ ।

एवं सचित्तपरमिते वि दो सुत्ता । एते चउरो सुत्ता एतेसि
 इमो अयो । सचित्तं पाप सजीव चतुधरसाखायं गुणनिष्प-
 र्णं पापं अंभं वृज पालनायवहरायाः इह ज्ञेयणं दृढसं-
 प्राणादी चउउरुं च पच्छिं । एवं विनियसुत्तं पिणवर्षं दृढसं-
 खं निष्खणं विधिहेहि पगारेहि इसति विदसइ एवं पइट्टिप
 वि णवर्षं चउमंगो । सचित्तं पइट्टिपते पइट्टितं सचित्तं, अचि-
 त्तं अचित्तं सचित्तसु अदिद्वेसु हासु भंगसु चउउरुं । चरिमसु
 हासु मासदुं । इमं सुत्तफासं ।

सचित्तं वा अंभं, सचित्तपदिद्वियं च दुविहं तु ।
 ओ उंजे विणोए सो, दयाअगाहं भोदि तो भ. ति । ३ ।

आगाढफरुसमासग. दमसुद्रेसम्मि वसियं पुव्वं ।
 तं चैव वज्जवत्तेयं, सो पावति आणपार्दा॥१॥ ४ ॥
 सच्चित्तं सच्चित्तं पइदियं वा एयं चेष डुव्हिहं सेसं कंठं ।
 अमिलाताजिण्ये वा, अपर्कं सच्चित्तं होति उच्चं वा ।
 तं चिय सयं भिज्जातं, रुक्खवगयं सवयणपतिहं ॥ ५ ॥
 जं अग्निण्वं गिष्मं अग्निहाणं तं सच्चित्तं नवति । जं च रुक्खं
 चैव हित्तं अक्खिष्मं वरुद्धियं अरुद्धियं वा अपर्कं या तं पि
 सच्चित्तं तं चिय तदेय अयादियं पल्लवरुक्खं चैव चियं दुव्व्या-
 यमादिशा अप्पया वा अप्पजाति भायं मित्तसु तं सवयणपति-
 चियं भवति ।

अत्राहा जे वद्धटियं, वाहिर पर्कं तं विय एपतिहं ।
 विविद्ध दमणेय जं वा, अरुद्धदति विदसणे होति ॥६॥
 जं वा पल्लवं वाहिरं कमाहपकं अतो सन्धेयणं वीयं तं वा स-
 चित्तपतिचियं भवति । अप्पतीतव्वं अनपतीतव्वं च सुदेत वा
 सह कप्परेण वा सह तथाय्येन वा लवणच्चातुजातकथासा-
 दिता सह पस्सा विविद्धदसणा अरुद्धद इति च्चिक्खत्तं मुंचति
 अग्गोच्यं गंहेदि वा अरुद्धदति नल्लपदा वि द्दानतीत्यर्थः पसा या
 विरुसणा भवति । एवं परिते भणियं अणुंते वि एवं च नवरे
 नउडुगुपक्खत्तं । सच्चित्तं सच्चित्तं पतिचित्ते य दंसु वि सुनेसु
 एमो अवधानो गाहा ।

वित्तियपदमणुपपम्भे, जुंजे अतिकोविए य अप्पक्का ।
 जाणिते वावि पुणो गिलाण अक्काएओमेव ॥७॥
 खेलादिगो अणुपपम्भो वा जुंजेते सेहो वा अतिकवियत-
 राअं अजाणते रांगोवसमणिमत्तजेज्जया दसतो गिलाणो या
 जुंजे अक्काणिमसु वा असाथरंता जुंजेता विसुक्का एमो होसुवि
 विडवमाणुसुत्ते अरुवधातो गाहा ।

वित्तियपदमणुपपम्भे, विडसे अचितेव अप्पक्के ।
 जाणंतेयावि पुणो, गिलाण अक्काएओमेव ॥८॥
 कंठेणवरं चोद्ग आह-विरुसणा इल्लो तं अरुवधाते माकरेउ ।
 आचार्ये आह । जरटवर्गाहरकमादं तं अरणेवं खायंतस्स अरु-
 वधां ण दांसो । जं वा पल्लवस्स जं उवकारी लवणादिके
 तेण सह तं जुंजेतस्स ण दांसो । कोमलं जरटं वा इमेति परि-
 षाढंत्तं गढमादीहि वि अरुद्धेजा ।

(मूलम्) जे भिक्खु सच्चित्तं अंत्रं वा अंत्रवपेसियं वा
 अंत्रभित्तिं वा अंत्रसालागं वा अंत्रचोपयं वा जुंजेइ जुंजेतं
 वा साइज्ज ॥७॥ जे जिकखु सच्चित्तं अंत्रं वा अंत्रवपे-
 सियं वा अंत्रभित्तिं वा अंत्रसालागं वा अंत्रचोपयं वा अं-
 वचोपयं वा विरुसइ विदसंतं वा साइज्ज ॥८॥ जे भिक्खु
 सच्चित्तपइदियं अंत्रं जुंजेइ जुंजेतं वा साइज्ज ॥९॥ जे
 भिक्खु सच्चित्तपइदियं अंत्रं विरुसइ विदसंतं वा साइज्ज
 ॥१०॥ जे जिकखु सच्चित्तपइदियं अंत्रं वा अंत्रवपेसियं वा
 अंत्रसालागं वा अंत्रभासगं वा अंत्रचोपयं वा जुंजेइ जुंजेतं
 वा साइज्ज ॥११॥ जे भिक्खु सच्चित्तपइदियं अंत्रं वा अंत्र-
 वपेसियं वा अंत्रभित्तिं वा अंत्रसालागं वा अंत्रचोपयं वा
 अंत्रवचोपयं वा विरुसइ विदसंतं वा साइज्ज ॥ १२ ॥

एते उ सुत्तपदा विरुसणापि वि ऋषेव एतेसि एमो आधो अंत्रं
 संकलं ए केणइ ऊणं चोद्ग आह आरिह्लेसु चउसु सुत्तेसु ए प-
 ल्लवणुसंकल्पं चैव भणियं आचार्ये आह सत्त्वं किंतु तने पल्लव-
 लणण पज्जत्तं वंछियं गहियं एमे तु पल्लवत्तणं अपज्जत्तं अरुक्-
 चियं अविपक्करं लव्हादसकलमेवपर्यथेः । पेसी दीहागारा अरु-
 भितं वाहिरा छुट्ठी सात्रं नसइ । अदीहं वि समच्चकलियागा-
 रंणं जं खंढंतं गहं भवति यहरुणियागारा जं केसरा तं चोयं
 भवति । इमो सुत्तफालो । गाहा ।

एमेव गमभोअिदा-रगलंतोअियमिपं चोए ।
 चउसु वि सुत्तेसु भवे, पुव्वं अवराम्भियं पदे ॥ १॥ १॥
 अंत्रं गलियज्जा चउसु सुत्तेसुत्ति सेसं कंठं । अरुवा आ-
 दिह्लेसु चउसु सुत्तेसु जो गमो मणिनो सो चैव गमो अंत्रगा-
 दिपसु छुसु पदेसु साविरुसणेसु भाणियथेवो । चोद्गगाह णणु-
 पदमसुत्तेसु प्रणितां चैव अरयो किं पुणं अंत्रवादिद्यायं गह-
 णं । आचार्ये आह । गाहा ॥

एवं ताव आपिष्म, अरुससेव पुणो एमो भेदो ।
 रगलंतु होइ खंढं, सालं पुण वाहिरा उच्चं ॥ १० ॥
 एवं ताव आदिह्लेसु चउसु सुत्तेसु अग्निणएणमगहणं । अरुवा
 आदिह्लेसु अविचित्तं गहणं इह विचित्तं गहणं कर्यं । अरु-
 वा मा काइ वि विदिति अग्निणमक्खणियुत्तं भिष्मं अरुक्ख-
 णियुत्तं भिष्मं पुण जक्खणेण अंत्रवपेसियादिगादिगाधि सिज्जं-
 ति । रगलंतु पक्कत्तं कंठं । गाहा ।

जित्तं तु ह्वाइ अक्कं, चोयं जे तस्स केसरा ह्वाति ।
 सुहपएहकरं हारि, तेण तु अंत्रेकर्यं मुत्तं ॥
 पुव्वकं कंठं चोद्गगाहा कि अणमाअं अंधादिया फला ज-
 क्का जेण अंत्रं चैव गित्तज्जति । आचार्ये आह । एगगहएणमगहं
 तउजालीयाणंति सत्त्वं संगहिया । अंत्रं पुण सुहपएइ पक्कत्तं
 अंत्रेण सुइं पइहाति परसंढने इत्यर्थः । किंच हारितं जिह्मेन्द्रिय-
 प्रीतिकारकमित्यर्थः । अनेन कारणेन अंत्रं सूत्रप्रतिबन्धः कृ-
 तः । अन्याचार्येभिःप्रियतेण गाथा ।

अंत्रे केणित्तज्ज, रगलत्तं भित्तगं चउभगो ।
 चोयणतया उ जसति, सगत्तं पुण अरुक्खं जाण ॥१२॥
 घोषेण ऊणं अंत्रं भवति रगत्तं अरुं भवति भिष्मं चउ-
 भागादितया चोपयं भवति नरकवादिभिकखुण सात्रं प्रकति ।
 अक्खुं अंत्रसालागमित्यर्थः पेसी एवैवत ।
 सच्चित्तं च फलेदि, अणगपडे वा तु मुत्तित्ता सत्त्वे ।
 अणगपडेवेहि पुणो, मूढं चैव कया मुया य ॥ १३ ॥

नि० चू० १५ उ० ।
 अंत्रक-अरुक्क-न० अरुक्कति शीघ्रं नरकप्रस्थानपर्यन्तं गच्छ-
 ति अरुक्क एवुइ १ मेव, अरुक्क्यते स्तंहेनोपशगद्यते घञ् स्वार्थे
 क-२ पितरि, वाच० ।
 अरुक्क० पु० अरयोअलः अल्पायं कन लकुचवृक्षे वाच० ।
 अरुक्क-न० चूतफले, पि० ।

अंत्रगहिया-आप्रकास्थि-न० आप्रकस्य फलविशेषस्यास्थीनि
 अत्तेप दत्तेषु शुष्काप्रकसास्थिषु, अरु० ।
 अंत्रवपेसिया-आप्रकपोशका-खो० आप्रकलवपने, अरु० ।

अंबचोयम-न० आब्रत्वच-स्त्री० आब्रचट्टयाम्, आब्रा० २-
श्रु० ७ अ० २ उ० ।

अंबवट्ट-अम्बवट्ट-पुं० अम्बाय चिकित्सकत्वाय तन्प्रकृत्यापनार्थे
तिष्ठते अभिहिते स्था. क. वचम् । चिकित्सके, वाच० ।
ब्राह्मणेन वैश्यायां जातध्वान्तरजातीये, मू० १ श्रु० ११ अ० ।
आब्रा०। अयं आब्राऽऽप्येत्वेनच्यजातिव्येन चोपदेशितः स्था०
६ उ० । प्रहा० । देशभेदे. इतिपके, च । स्थायिकायाम् स्त्री०
स्वार्थे अन्त इत्ये अम्बष्ठिकाऽप्यत्र " वामनहारी " इति स्था-
तायां लतायाम्, वाच० ।

अंब (म्) द--अम्ब (म्) ड-पुं० ब्राह्मणपरिव्राजकभेदे
अं० । तद्वक्तव्यना चक्ष्व ।

अम्बदशिव्याणामनशनेन मृत्या देवलोक उपपानः ।

तेषु कात्रेण तेषां समेषां अम्बदस्स परिव्वायगस्स सत्त
अंतवासिसयाई गिम्बहाकस्समयसिं जेद्धामूलं मांसिं गंगाए
दानईएओ उजउकुंसे कंथिपुपुरातां एगराओ पुरिमतालं
एगरे संरुञ्जिआ विहारए । तएणं तेमिं परिव्वायगएणं
तांसे अगमियाए ठिस्सोवायाए दीहमहाए अरुवीए किं-
चिदेसंतरमणुपत्ताए से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परि-
जुंजमाणे ऋणे तएणं ते परिव्वाया जीणोदका समाणा
तएहाए परिजवमाणा परिउदगदातारमपस्समाणा अस्स-
ममं सदांवेचि अस्सममं सदांविचा एवं वयासी एवं खलु
देवाणुपिया अम्ह इमीसे अगामिआए जाव अहवी ए-
गंवि देमंतरमणुपत्ताए से उदए जावउज्जणे से तेषं खलु
देवाणुपिया अम्ह इमीसे अगामियाए जाव अहवीए-
उदगदातारस्स सव्वओ समंता मगणं गवेसणं करिचा
कट्टु अस्समस्स अंतिए एअमदं पदिमुणंति पदिमुणंति-
त्ता तीसे अगामियाए जाव अरुवीए उदगदातारस्स सव्व-
ओ समंता मगणगवेसणं केइ करिचा उदगदातारमलभ-
माणा दोचंचं पि अस्सममं महावेइ सदावेइला एवं वयासी
उहसं देवाणुपिया उदगदातारो णत्थि । तं णो खलु कपपइ
अम्ह अदिमं गिहएत्तए अदिमं सति जिउत्तं मे माणं अम्ह
इदाणि आबः काडं पि अदिमं गिहएहो अदिमं सादि-
ज्जापो माणं अम्ह तवल्लोवे जविस्सइ । तं तेषं खलु
अम्हं देवाणुपिया तिदंरुयं कुंडियाओ य कंचणि
याओ य करोनियाओ य जिजियाओ य ठासालए
य अकुंमए य केमरीयाओ य पविउत्तए य गणेत्थिया
ओ य उत्तएय वीहणाओ अ पाउआओ अ भाउरचाओ
य एगेते पदिन्ता मंगामहाणं अंगामहिता बालुअसंया-
रए संयरिचा संसेहणाओआओगिणं भत्तपाणयाइपक्-
क्खित्ताणं पाइओवगयणं कालं अणवकंस्समाणाणं
विहरिउत्तए तिकट्टु अस्समस्स अंतिए एअमदं पदिमुणंति
अस्समस्स अंतिए पदिमुणित्ता तिदंरुए य जाव एमंते

पमेइ पमेइत्ता गंगामहाणई ओगोहेइ ओगोहेइत्ता वेलुआ-
संथारए संथरंति बालुया संथारयं दुर्हंति वा दुर्हंति त्ता
पुरत्थानिमुट्टा संथायंकिनसत्ता करयय जाव कट्टु एवं
वयासी णयोत्थुणं अरहंताणं जाव संपत्ताणं नमोत्थुणं समा-
णस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकापस्स नमोत्थुणं
अंबदस्स परिव्वायगस्स अम्हं पम्मायारियस्स पम्मावदस्स-
गस्स पुव्वेणं अम्हं अम्बदस्स परिव्वायगस्स अंति-
ए धुलगपाणाइवाए पक्कत्वाए जावज्जीवाए सुमावा-
ए अदिस्सादाणं पक्कत्वाए जावज्जीवाए सव्वे मेहुणं
पक्कत्वाए जावज्जीवाए धूलए परिग्गहे पक्कत्वाए जा-
वज्जीवाए । इदाणि अम्हं समणस्स भगवओ महावीरस्स
अंनियं सव्वं पाणाइवायं पक्कत्वाओ जावज्जीवाए एवं
जाव सव्वं परिग्गहं पक्कत्वाओ जावज्जीवाए सव्वं
कोहं माणं मायं लोहं पेज्जं दोसं कल्लं अम्बत्ताणं पेसु-
णं परपरिवायं अरुइरुमायाओसं मिच्छदंमएणसद्धं अकर-
णिज्जं जोगपक्कत्वाओ जावज्जीवाए सव्वं असणं पाणं
खाटंमं साइमं चउत्तवहं पि आहारे पक्कत्वाओ जावज्जीवाए
जं.पिय इमं सररीं इहं कंतं पियं मणुणं मणामं थेज्जं वेमांसि-
यं समंतं बहुमंतं अणुमंतं भंरुकरंइकसमाणं माणं सियं माणं
उरहं माणं खुट्टा माणं पिवासा माणं बाला माणं चांग
माणं देसा माणं मसगा माणं वारियं पित्तियं संनिवाइयं
विविहा रोगावकापरीसहोवग्गमा कुस तु तिउइ एतं पि णं
चरमेहिं उमासणंसाभेहिं वोसिगामि तिउइ संसेहणा अ-
सणा श्रुसिया जत्तपाणा पदियाइक्खिया ए अंबवया
कालं अणवकंस्समाणा विहरंति तए णं तं परिव्वाया बहु-
भत्तां अणसणाए उतिंति उतिंत्ता आलांइयपदिक्कतो
समाहिपत्ता कालामे कात्रंकिचा बंधलोए कपपं देवत्ताए
उववत्ता तेहिं तेमिं गं दससागरोवमां हिइ पक्कत्ता प-
रुओगस्स आराहगा सेमं तं चव १३ ॥ अं० ॥
एतं च यत्थापि देशविगंमत्तस्सत्थापि परिव्राजकदियया ब्र-
ह्मलोकं गता इत्यवसंयमयधेतुज्जनेन वृथैव स्यादेवशिवरिणिकले
न्यायं परलोकागयकच्यमेवति न च ब्रह्मलोकं गमनेन परिब्राजक-
क्रियाफलमेवाभेयोच्यते अन्वेषामपि मिथ्यादृशां कपिप्रभृ-
तीनां तस्योक्तवादिति । श्रौ० । ज० । अम्बदः स्य मलप्रहणश्च ।
बहुजगणं भंते । अस्समस्स एवमाइक्खंति एवं जासइ
एवं परुवेइ एवं खलु अंबवे परिव्वायाए कंथिपुपुरे णयेरे
घरासते आहारमाहारेति घरसतेवसहिउ ते तीसे कटयेयं भंते ।
एवं गोयमा । जसं से बहु जणो अस्समस्स एवमाइक्खइ
जाव एवं परुवेति एवं खलु अंबवे परिव्वायाए कंथिपुपुरे जाव
घरासते वसहि उवइ सव्वेणं समइ अहं पि णं गोयमा ।
एवमाइक्खामि जाव एवं परुवेमि एवं खलु अंबवे परि-
व्वायाए जाव वसहि उववेसे केणुएणं भंते । एवं बुच्चइ

अंबडे परिव्यायए जाव बसहिं उवेई गोयमा । अम्मरुसस
 एं परिव्यायगसस पाइजहयाए जाव विणीयाए उड्डं उड्डुणं
 अतिबिस्वसेणं तवोकम्मणेणं उड्डं बाह्माभ्रां पणिञ्जय २
 सूराजिमुहुसस भ्रातावणज्जूदीए भ्रातावमाणसस मुभेणं परि
 णामेणं पमत्थंदिं लेसाहिं विमुज्जमार्णाहिं अक्षया कयाइ
 तदावराणित्जजाणं कम्म्याणं जाणं कम्म्याणं खओवसमेणं
 ईहायमगणगवेसएकरेमाएसस वारियलच्छीए वेउव्वियल-
 छीए ओहिणाणसद्धी समुपपसा । तएणं मे अम्ममे परि-
 व्वायए ताए वारियलसद्धीए वेउव्वियलसद्धीए ओहिणाणल-
 छीए समुपपसाए । जएविम्हावणहउं कंफिक्खपुरे घरसते जाव
 बसहिं उवेई से तएण्डेणं गोयमा । एवं वुत्तं अंबडे परि-
 व्वायए कंफिक्खपुरे नगरे घरसए जाव बसहिं उवेते । पभूणं
 जंतं ! अंबडे परिव्वायए देवाणुपिययाए अंतिए मुंमे ज-
 वित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वत्तए णोतिएण्डे समेट्ठे
 गोयमा । अम्मरुणं परिव्वायए समणेवासए अजिणयजी-
 वाज्जेवं जाव अण्णाए जावेमाणे बिहरति खवरं उमिय-
 फळिइ अवेगुदुवारे चियत्तते पुरयरदारपवेत्तोण्वं ण वुत्तं
 अम्मरुसस णं परिव्वायगसस धूल्ले पाणातिवाते पबक्खाते
 जावज्जावाए जाव परिग्गहे खवरं सवे महेणं पच्च-
 वखाते जावज्जावाए अम्मइसस णं णो कपपइ अक्खसो-
 त्तपमाणमेत्तं पि जलं सयगहं उत्तएहं उच्चरित्तए ।
 गणस्य अक्खाणगमणेणं अम्मरुससणं णो कपपइ मगं
 एवं चेव जाणियव्वं । जाव णस्यए पगा एणं गामट्टियाए
 अंबरुससणं परिव्वायगसस णो कपपइ आहाकम्मिए वा
 उदेसिए वा सीसजाएति वा अज्जेअरए वा पूकम्मे वा
 कायगमेति वा पामिच्छे वा णिअणिसिच्छे वा अग्गिदेइ
 वा इत्तए वा रत्तए वा कंतारज्जेइ वा दुक्खिक्खज्जेइ
 वा पाहुणकज्जेइ वा गिन्हाएभत्तेइ वा वदालयाभत्तेइ वा
 जोत्तए वा पाउत्तए वा अंबरुसस णं परिव्वायगसस णो
 कपपइ मलजोयणे वा जाव बीयभोयणे वा भोत्तए वा
 पाउत्तए वा अंबरुसस णं परिव्वायगसस चउव्विडे अ-
 पत्थादंइ पबक्खाए जावज्जावाए तंहा अंबउक्खाणाय-
 रिए पमादायारिए हिंसण्याणे पावकम्मोवदंसे अंबरुसस
 कपपइ मागहए अ आट्टं जलसस पटिगाहत्तिए सविय-
 वहामाणे नो चेव णं अंबट्टयाएण जाव से वि पूए नो
 चेव णं अपरिपूए से वि य सावज्जेत्ति काठं णो चेव णं अ-
 एवज्जे से वि य जीवाइ कड्ड णो चेव णं अजीवा से वि य
 दिस्से णो चेव णं अदिस्से से वि य दंतहत्थयायचात्तवस-
 नत्थाप्राणहत्ताए पवित्तए वा णो चेव णं सिण्णात्तए अंबरु-
 सस णं परिव्वायगसस कपपइ मागहएण आट्टं जलसपाद-
 गहत्तिए से वि य वपमाथे दिसे नो चेव णं आदंस्स स तव

य मिणात्तए णो चेव णं हत्थपादचात्तवसपक्खालयणह-
 याए पवित्तए वा अंबरुसस परिव्वायगसस णो कपपइ अण्णउ-
 त्तिया वा अण्णउत्तितदेवयाणि वा अण्णउत्तितपरिग्गह-
 याणि वा चेइयाइ वंदित्तए वा एम्मसित्तए वा जाव पज्जुवा-
 सित्तए वा अरिदंते वा अरिहंतचेइयाणि वा ।

[सुणथथ अरंइहेदिहत्थि] न कल्पने बह बोधं नेति प्रतिषेधः
 सोऽप्यथाइदृश्यः अहेतो यज्जयित्थेयधः । स हि किल परित्राज-
 कथेणधारकोऽतोऽप्ययुधिक्के वतावन्वगादिनिषेधे अहेताभाप
 वन्वगादिनिषेधो भाद्रुदिति कृत्वा णकथेत्वाद्यद्योषं, औ० । अ०
 अम्मरुसस मृत्योपपातः ।

कालमासे कालं किञ्चा कहिं गच्छति किं उववाजि-
 हिति ? गोयमा । अंबडेणं परिव्वायए उच्चावएहिं सल्लव्य-
 यगुणवेरमणपबक्खाणपोपट्टोववाभेहिं अप्पाए जावेमाणे
 बहूँ वामाई समणेवासयपरियायं पाउणित्तए पाउणि-
 त्ता मासियाए संझेहाए अप्पाएणं कुसित्ता सद्धिं जत्ताई
 अणसत्ताई उदेत्ता अण्णाइयपरिक्कंते समाहिपत्ते काल-
 मासे कालं किञ्चा वंभज्जेए कपे देवत्ताए उववज्जेहिंति
 तत्थ णं अप्पगयाणं देवाणं दससागारोवमाई त्रिती
 पत्थात्ता तत्थ णं अम्मरुसस वि देवसस दससागारोवमाई
 त्रिती । से णं भंते ! अंबडे देवत्ताओ देवदोगाओ आउ-
 क्खएणं जवक्खएणं ट्टिक्खएणं अणंतरं चइ चइत्ता क-
 हिं गच्छति किं उववज्जेत्ति ? गोयमा ! महा-
 विदेहे वासे जाइकुलाई जवंति अह्हाई दित्ताइ वि-
 त्ताइ विच्छिस्सविउत्तज्जवमयाणसाणजाणवाट्टाणं बहुथ-
 णजायरूवरयत्ताई आओगपओगसंपत्ताई विच्छे-
 यपत्तभत्तपाणां बहुदासोदामगोभट्टिसनेलगप्पज्जाई व-
 हुजणसस अपारजयाइ तहप्पगारुस कुलेसु पुमत्ता प-
 व्वायाहिंति । तए णं तस्स दारगसस गम्भत्थस्स चेव समाणस्स
 अम्मपिती णं धम्मे दृढयतिमो भविस्सइ मे णं तत्थ गा-
 वएहं मासाणे बहुपदिगुष्माणं अक्कट्टमाणाराईदियाणं
 वीतिकंतानं सुकुमालपाणिपाए जाव ससिसोत्ताकारे कंते
 पियदंसणे सुखे दाए पयाहिंति । तए णं तस्स दारगसस
 अम्मापियरो पदमे दिवसे पिट्ठि पदियं काहिंति तइयदिव-
 से चंदसरदसाणयं काहिंति उडे दिवसे जागरियं काहिंति
 एकारसमे दिवसे वीतिकंतं सिण्वते अमुइ जावइ कम्मं
 करणे संपत्ते बारसमे दिवसे अम्मापियरो इमं पयाहवं
 गुणं गुणसिण्णवं णामपेज्जं काहिंति तम्हाणं अम्हं इमं-
 सि दारगंसि गम्भत्थसि चेव समाणंसि धम्मे ददपत्तमा तं
 होत्ताणं अम्हं दाए ददपत्तयाणमेणं तत्तणं तस्स दारगसस
 अम्मापियरो णामपेज्जं करोहिंति "ददपत्तं" तं ददपत्तं
 दारगं अम्मापियरो सातिरेक्खासज्जतं जाणित्ता मोभ-

र्णसि तिहिकरणदिवसणकलत्रमुकुचमि कलाययिरिस्स उव-
 मेहिति । तए एं से कलाययिरि एं तं ददपइसं दारगं मेहा-
 तियाओ गणियपपहाणओ सउणकयपउजवसाणाओ
 बावत्तरिकलाओ सुत्ततो य अन्थतो य करणतो य सेहा-
 विद्धिति । औं (कलानामानि कलाशब्दं) सिक्खवाचेता
 अम्मापियरो तं उवोहिति तए एं तस्स ददपइसस्स दारगस्स
 अम्मापियरो तं कलाययिरियं विपुलेणं असणपाणवाइमेणं
 माइमेणं वत्थगंधमद्दालंकारेण य सकारेहिति सम्मारोहिति
 सकारेत्ता मग्गाणेत्ता विपुत्रं जीवियारिहं पीइदाएं दण्ड-
 स्सति विपुले विपुलेत्ता पक्खिमज्जेहिति तए एं से ददपइसं
 दारए बावत्तरिकलापान्दए नवंगमुत्तपक्खिवाहिये अट्टारस-
 द्दीत्तासाविसारए गीतरती गंधपाणउकुसले ह्यजोही
 गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमदी विपात्तचारी
 साहसिए अइवं भोगनमत्ते आविज्जविस्सति तेत एं ददपइ-
 सं दारगं अम्मापियरो बावत्तरिकलापइहं जाव अलं
 जांगसमत्थं वियाणित्ता विपुलेहं अइमजोगेहिं हेणजोगेहिं
 वत्थजोगेहिं सयणभोगेहिं कामभोगेहिं उवजिणंतेहिति ।
 तए एं से ददपइसं दारए तंहि विउल्लेहिं अइमो-
 गेहिं जाव सयणजोगेहिं एो सउज्जेहिति एो रज्जिहिं-
 ति एो गिन्निहिति एो अक्खविज्जहिति से जहाणामए
 उप्पइइ वा पउमइ वा कुमुमेइ वा नभियेइ वा सुभ-
 गेत्ति वा सुभंभेत्ति वा पोंडरीएत्ति वा महापोंडरीएत्ति
 वा सत्तपत्तेइ वा सइस्सपत्तेइ वा सत्तसइस्सपत्तेइ वा
 पंके जांते जत्ते संवुइं एोवत्तिप्पइ पंकरएणं पोवत्तिप्पइ
 जलरएणं एवंव ददपइसं वि दारए कामेहिं जाते भोगे-
 हिं संवुके एो वत्तिप्पइहिति कामरएणं एोवत्तिप्पइहिति मो-
 गरएणं पोवत्तिप्पइहिति । मित्तणाइणियगयणसंवेधिपरि-
 जणेणं सेणं तहाक्खाणं थेराणं आंतेए केवइं वेहिं वुज्जि-
 हित्ति । केवलवोहिं वुज्जिक्खा अगाराओ अणगारियं पव्व
 हित्ति । से एं जविससइ अणगारं भगवने इरियासमिति
 जाव गुत्तवंभयारी तस्स एं जगवंतस्स एते णं विहारेणं
 विहरमाणस्स अणंते अणुत्तरे शिंवायाए जिगवरणे क-
 सिणं पडिपुइं केवलत्तरणाएदंभणे समुपज्जेहिति । नतेणं
 से ददपइसं केवलं । बइइं वामादं केवइं परिपारं पाउण्हित्ती
 पाउण्हित्ता मानियाए संलेहयाए अप्पाणं कुसित्ता सइं
 जत्ताइं अणसणणं उएत्ता जसइहाए कीरए एणगभावे मुं-
 दजावे अण्हाणए अदंतवणए केसलोए वंभंचरवासे अ-
 नुत्तकं अणोवाहणकं जूमिसेत्ता फइमेसेत्ता कइसेत्ता
 पगघरपवेमो इक्खावलकं वित्तीए परेहिं हीसयाओ
 सिंनयाओ शिंदयाओ मइरुणाओ तासणाओ तज्ज-

णाओ परिजवणाओ पव्वहणाओ उवाचया गामकंटाका
 बावीसं परीसहोवसग्गा अट्टियासज्जति । तमट्टारा-
 टित्ता चरिमेहिं उस्सामणिस्सासेहिं सिज्जिहिति वुज्जि-
 हिति मुवाहिति परिणिव्वाहिति मव्वउक्खाणणं करेहिं-
 ति औं । जं ।

परिभाजके विधाधरअमशोपासके ष षस्य वक्तव्यता ।
 अर्थाय नगर्यामर्थमो विधाधरआवको महावीरसर्मापि ध-
 मेमपुत्रस्य राजपुत्रं प्रस्थितः स च गजद्वय भगवता बहुसत्यां-
 पकाराय मणितो यथा सुलसाध्याविकायाः कुशलवार्त्ता कथ-
 य स च चिन्तयामास पुण्यवतीयं यस्यांश्लोकनायः स्व-
 कीयकुशलवार्त्ता प्रेषयति, क. पुनस्तस्या गुण इति तावत्सम्य-
 कस्य परीक्षे, ततः परिभाजकव्येधधारिणा गत्या तन्न भणित्ता
 सा, आयुष्माते । धर्मो भवत्या मयिधर्मनीत्यस्मभ्यं प्रक्या भो-
 जनं इहि तथा जणितं येज्या दत्तं भवत्यसौ ते विद्वाता एव, त-
 तः।सावकाशावरीत्ततामरसामानानां जो नं विस्मापयति
 इम, तनस्तं जनो प्रोजनेन निमन्त्रयामास स तु गेज्जत् ।
 शोकस्ते पप्रञ्च कस्य भगवत् । भोजनेन आभयेयवार्त्ता
 मासकृपणकपयितं संबद्धेयिष्यात् । स प्रतिभणति स्म सुल-
 सायाः । ततो लोकस्तस्या यदेनकं न्यवेद्यत् । यथा तव
 गेहे भिक्षुर्ये बुभुक्तुः तयाऽऽन्यधाय किं पाष्वाग्निभिरस्माकमि-
 ति शोकस्तेस्मै स्यवद्यत् । तेनापि व्यवहाये परमसम्यक्दर्शि-
 रेया या महाविशयदर्शनेनापि न इष्टियमाहमममार्जति तनं
 शोकेन सहसौ तन्हे नैरौधकीं कथंपञ्चनमस्कारमुच्चारय-
 तप्रविवा । साऽन्यन्युत्थान्नादिकां प्रतिपात्तमकरात् तेनाप्यसा-
 नुपमंहेति । ॥१०६१॥ । अयमागमिष्यन्त्यामुस्तीपिष्णां देवो
 नाम इविशस्तीयेइदं नृत्या धर्मं प्रकृत्य संस्यति यात्सवदु-
 खानामन्नं करिष्यति । ॥१०६१॥ । ॥१०६१॥ । ॥१०६१॥ ।
 निं ॥१०६१॥ । ॥१०६१॥ । ॥१०६१॥ । ॥१०६१॥ ।
 तदुक्तम् । यथोपपातिकांफांके महाविदेहे संस्यन्तीत्यभिधांयनं
 साऽन्य इति समासयत्ते । इति ॥१०६१॥ । निं ॥१०६१॥ ।

अंबभा(दा)सगा-आम्नाडालक-नं आम्नासुम्भकरं देपु, आच्वा०
 अं २ १० ७ ।
 अंबच-अ (आ) स्तुत्व-नं (अम्भरसत्ये) "अंबसत्तेण
 जीहाप, कृषिया होइ करिमुदगंमि " विदे० ।
 अंबदेव-आम्भदेव-पुं नैमिक्तन्सुकिरुत्ताऽऽस्यानकमत्सिकोहा-
 स्यापरि टीकाकारके स्वनामक्याते आच्वायै, जे० इ ।
 अंबपलंबकोरव-आम्भदम्भकोरक- न० अ.अम्भूतस्तस्य प्रभ-
 म्भः फलं तस्य कोरकं तक्षिप्यादं मुकुटमाम्रफलकोरकम् कोरक-
 विशेषे, पवं यः पुरुषः सेष्यमान उचितकाले उचितमुपकारक-
 फलं जनयत्यसावाभ्रपलम्भकोरकसमान उच्यते, ॥१०६१॥ ।
 अंबपद्मवपिञ्जनि-आम्भपद्मवपिञ्जनि-न. नाट्यविधिदे, वा.
 अंबपमिया-आम्भपेशी-स्त्री।आम्भस्य पेशीय शुष्काभ्रकोशो, वाच०
 आम्भपेशी-स्त्री० आम्भकल्याय । आच्वा० २ १० ७ ।
 अंबफल-आम्भफल-न० रत्नालफले, १००, ३॥। (सागारिकस्या-
 भ्रफलानि आम्रपृक्कृष्णांरपित इत्येतत्कथ्यते न येनि सागारीय-
 पिकशाब्धे) ।
 अंबनिसय-आम्भनिस-न० आम्राजं आच्वा० १०१, ७ अं १० ७ ।

अंबर-अम्बर-न० भम्बेव मातेष जननसाधर्म्याद्भवा जलं तस्य राणाहानाशिकितोऽम्बरस्य आकाशे । म० २ श० २ उ० ४० । ब्र० । ब्र० । नि० ब्रू० १ उ० । आ० म० प्र० । सु० । आवा० प्रश्न० । स्वनामस्थाने गन्धकल्पे, अन्नप्रधानी च, वाच० ।

अंबरतल्ल-अम्बरतल्ल-न० आकाशतले, रा० । ज्ञा० ।

अंबरतिज्ञ-अम्बरतिज्ञक-पुं० धानकोषएडके पर्वतजेदे, यत्र मङ्गलावलीविजयचर्चिन्दिप्रामसंविधेशस्वधर्म्दुकुलजा-तनिर्नायिका नाम कन्या मातुः साद्यमनवायु तद्व्यनेन गत्वा पकफलानि गृहीतयती । आ० म० प्र० । आ० ब्रू० ।

अंबरतिलया-अम्बरतिज्ञक-स्त्री० नगरीभेदे यत्र हस्तारिद्विर्ण-विमर्दो महाराजः । दश० ।

अंबरवल्गु-अम्बरवल्गु-न० स्वच्छताया अम्बरतुल्यानि वल्गाणि अम्बरवल्गाणि स्वच्छयत्नेषु । कल्प० ।

अंबरस-अम्बरस-न० अम्बा पुर्यांक्युक्या जले तद्गो रसो यस्माशिकितोऽम्बरसम् आकाशे, न० २ श० २ उ० ।

अंबरि (री) स-अम्बरि (री) ष-पुं० न० अम्बयते पयतेऽन्न अम्ब-अरिष नि०वा द्वांभिःभजेनात्र, अम्बरीसमापि वाच० । आ० प्र०, ज० ३ श० ६ उ० । प्रया० कोष्ठके, लोहकाराम्बरीषे च, जी० ३ प्रति ।

अंबरि (री) स (सि)-अम्बरिष (रीष) ऋषि (षि)-पुं० यस्तु नारकन् निहितान् कल्पनिर्णयिः खण्डराः हृत्या ब्राह्मणकार्यान् करोतीत्यसाध्वर्योपेक्ष्य ब्राह्मण्य संबन्धाद्-म्बरीष इति द्वितीयपरमाधार्मिकः, प्रव० १२० ब्र० । ज० । स० ।

आहुयहयेय तद्विषं, गिस्मने कृष्णोर्हि कर्णति । विदुल्लगच्छदुल्लगञ्जिने, अंबरिसीं तस्य गेहर्ष ॥११॥

(आहुयहयादि) उप सामीप्येन मुद्रादिना इता उपहताः पुनरुपुपहता एव खड्गदिना इता उपहदहतास्माभ्यकारान् तस्यं नरकपृथिव्यां निःसहकारं नष्टसंहराद् मूर्च्छितान्मस्तः कर्णधीभिः कल्पयन्ति त्रिन्द्वीतमेतत्तत्र पायन्ति । तथा द्वि-लक्षदुल्लगच्छिन्नानिति मय्यादितान् खंडराद्विज्यांश्च नारकां-स्त्रज नरकपृथिव्यांमर्षीनामानेऽस्तुराः कुर्वन्तीति सु० ५ श्रु० ५ अ० । आवा० प्रव० । आ० ब्रू० । प्रश्न० ।

अंबरिसि-अम्बरकृषि (षि)-पुं० उज्जयिनीवास्तव्ये ब्राह्मण-जेदे, यथेय मालुक्या प्रिया निम्बः सुतः इति विणभोचगय शब्दे चषयते । आ० क० । आ० ५ । आ० ब्रू० ।

अंबरवाण-आम्बरवाण-न० आम्बरवन्तः । नित्यं गत्वम् । आम्बृ-कसमुदायात्मके वने, वाच० । आवा० ।

अंबरसमाण-अम्बरसमान-पुं० "अंबरिसेहि अंभो नतेहिं सिर्कि तु बवहारो" येषु बचनपुकेषु परस्य शरीरं विन्दुविदायते तानि अम्बानि अम्बैः पर्वशैष्य चर्वेत्थवहारं नसिर्कि नयति सोम्बल-बचनयोगाद्बल इति इत्युक्तकृते तुभ्यंबवहारिणि । ब्य० १ उ० ।

अंबरालवण-आम्ब्रसालवण-न० आम्ब्रफले आम्ब्रैः शोभेत्त्वानि-प्रचुरतयोपशकिते वने तपोगाढामलकल्पया ईशानकोणस्थे वैद्ये च " आमलकल्प्याण्यथदीपं बहिष्या उत्तरपुरकिम्बे दि-स्तीमाय धंसलावणेण नाम चेषय द्रोत्या पोरारेण आच पत्रिक-के" मूलप्रदवैद्यवचस्य वर्णकः । रा० । उ० । श० । ग० । आ० म० ।

अंबरवृद्धि-अम्बरवृद्धि-स्त्री० देवीभेदे । महा० ।

अंबा-अम्बा-स्त्री० अम्बयते केनेतोपगम्यते अम्बा । कर्मणि धृच् । वाच० । मातरि । उ० ३ अ० । स्था० । श्रीनेमिनाथस्य तीर्थाधिष्ठा-तुद्वयतायां च सा च, अम्बादेवीकनककान्तश्चिः सिंहवाहना च-तुर्भुजा आम्बलुम्बियाशुतद्विज्ञेकरडयासिपुष्पाकुशाधिष्ठितवा-मकरद्वया च । प्रव० २१ ब्र० । तस्याः प्रतिमा यथा-आहंछन्नाया अ-विदुरे । सच्छेत्रे पार्थस्यविभक्त्येयप्रकारसमीपे श्रीनेमिसूर्यसिंहिता सिन्धुक्षेत्राणि आम्बलुम्बियाहस्ता सिंहवाहना अम्बादेवी तिष्ठति, ती० ७ कल्प० । प्रतिष्ठानपुरपत्तने देववतमेखलायां कुम्भेन अम्बादेवीप्रतिमा कृता " तथय अंबाय सण उववासासतिगण्य " ती० २ कल्प । अम्बाल्लतायां, काशीराजकन्यायां च । खण्ड० ।

अंबाजकर-अम्बाजकर-पुं० यक्षभेदे, " गोधार्मिणि णिक्क, समणा रोसेण मिसिमिसाणं ता । अंबाजक्खो य जणति, पयम-वाहिदि संपेति " ति० ।

अंबादग-आम्बानक-पुं० आम्ब इवानति आम्बः किञ्चिदी-नरसफलकत्वात्, अत्-एवञ्च (आमडा) । वृक्षे २ तत्फले, न० । आम्बेण तत्फलरसेन तक्ते प्रकाशते । आम्बतक हासे अम्ब । शु-ष्काभ्ररसनिर्मिते (आमट्) कल्पभेदे, तत्करणप्रकारः भाव-प्र० उक्तः । यथा "अम्बस्य सहकारस्य, कर्देविस्तरितो रसः । घम्मेयुष्को मुहुर्द्वं च, आम्बानक इति स्मृतः " वाच० । प्रज्ञा० । अतु० । आवा० ।

अंबादिय-आम्बिन्नत-त्रि० आम्ब इव कृतः खराण्डेते, आ० म० द्वि० 'चमदेति खरंटेति अंबादोसिणि वृत्तं जवति' निच० ७ उ० ।

अंबातव-अम्बातपस्-न० अम्बोदेशेन कृतं तपः अम्बातपः शौ-किकफलप्रदे तपोभेदे, तच्च अम्बातपः पञ्चलु पञ्चमीयेकाशना-दि विधेयं नेमिनाथाध्यात्मिकापुत्रा वेति, पञ्चा० १ धृ चिष्य० ।

अंबावर्द्धा-अम्बलवर्द्धा-स्त्री० अम्बलरसवती वल्ली त्रि० पाणिका-नामकम्भेदे, वाच० यल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

अंबिआ (या) अम्बवा-स्त्री० अम्बैव । कन, मातरि, दुर्गायां, वाच० । नेमितीर्थधिपदेवतायां, तस्याः प्रतिमा मयुरायाम् "हरयं कुपेरो नरवाहणं अंबिआ लीहवाहणं" ती० १० कल्प० । उज्ज-यन्तशैलशिखरेऽज्यलोकाशखरताम्बक "अंबियाए भवणं दीस-इ" ती० ५ कल्प० । त्रिपुण्यांमम्बिकासुरिः "अम्बिकाद्वारसमीप-वर्ती, भीक्षेप्राज्ञो लुचपट्टमास्वरः । सर्वज्ञपादाम्बुजसेवनाशि-नौ, संघस्य विष्णोमपंगोहतः ज्वालत्" ती० ४ धृ कल्प० । पञ्च-मवासुदेवमातरि च । स० । आवा० ।

अंबियासमय-अम्बिकासमय-पुं० उज्जयन्तशैले गिरिप्रमुम्ना-वतारे स्वनामस्थाने तीर्थजेदे । " गिरिप्रज्जुषययारे, अंबिआ-समय व नामेणं । तस्य वि पीआपुडयी, हिमवाए होइ वरहेमं" ती० ४ कल्प ।

अंबिणी-अम्बिनी-स्त्री० कोटीनारनगरवास्तव्यसोमब्राह्मण-प्राचार्याम् । ती० ५ कल्प । (कोहकिदेवकल्पशब्दे)

अंबिल-अम्बिल-अ (आ) म्ल-पुं० अम्-कः प्राणते "सात्" एः २ । इति सूत्रेण संयुक्तकारात्पूर्वभेदिगमः, प्रा० । अशि-दीपनादिहृति अम्बिककाद्याभिर रसेभेदे, " अम्बोऽश्विदीसिहृत् किञ्चिः, शोकपित्तकफावहः क्लेशः । पाचनो रुच्यो, मृदवाता-नुलोमकः " ॥ १ । कर्म० १ कर्म० । अतु० । ज० ।

एग अंबिले-आभयणकृदन्वयः । स्था० १ उ० । अम्बलरस-

वनि, वि० आदादिसंस्कृते, झा० १७ अ० नकारानालकादौ, ल० काञ्जिके, स्थान० १० डा० सांवीरे, स्थान० १० डा० वाचा० कङ्काल-
 चरुसु अंभिलं साउअं " कल्पयात्रयुद्धेषु किलाभ्रशशब्दं यमुष्कारि-
 ते सुरा विनश्यति अग्निद्वारिहाराधेयमन्त्रं स्वावुच्यते, अत्रु० ।
 अंभिलणाम्-अभिल्लनामन्-न० रसनामकमंभेदं, यदुद्याजी-
 वशारीरमन्लीकादिष्वभ्रम्लं भयति तदभ्रम्लाम्, कर्म० १ कर्म० ।
 अंभिलरस-अभ्ररस-पुं० क० स० अभ्रमे रसे, तद्वति, त्रि०
 वाच० अभ्ररसश्च तद्वत् । प्रश्न० संव० ५ डा० ।

अंभिलरसपरिणाय-अभ्ररसपरिणत-पुं० अभ्रवेतसादिव-
 दभ्ररसपरिणामं गते पुष्कले, प्रहा० १ पद ।

अंभिल्लिआ-अभ्रिल्लिका-स्त्री० अभ्रवेद स्वार्थे कन् । तिन्तिव्याय,
 अश्राभ्लोकेत्यपि सा च १ पलाशीलतायां ३ भ्रताम्लिकायां
 ४ सुष्वाभ्रिकायाञ्च, राअभिल० जं० ३ वृत्त० ।

अंभिल्लोदा-अभ्र्लोदक-न० काञ्जिकवस्त्वनावत पवाम्लपरि-
 णामे, जज्ञे, जी० १ प्रति० । प्रहा० ।

अंभुणोद्-अभ्रुनाथ-पुं० ससुदं, व्य० ६ उ० ।

अंभुर्यंभ-अभ्रुस्तम्भ-पुं० जलनिरोधकपे त्रयोदशे कला-
 भेदं, कल्प० ।

अंभुपवित् (ण)-अभ्रुत्तज्ञिन्-पुं० जलमात्रभ्रुकके वानप्र-
 स्थभेदे, औ० । नि० ।

अंभुनाभि (न्)-अभ्रमुनाभिन्-पुं० अभ्रमुप्रधाने देशे यस्यति,
 वस-णिनि-ङीप् । पाठशुक्ले, जलवासिमात्रे, त्रि० वाच० ।
 वानप्रस्थभेदेषु, पुं० ये जलनिमनना पवासन्ते । औ० ।

अंभ-अभ्रभस्-न० आच्यते । भाए-असुद । उदके तुम्भो चेति
 उणा० अभ्रमः शब्दे अत्रुन् वा । वाच० । जज्ञे, प्रति० । अष्ट० ।

अंभ-अंश-अ-पुं० अंश (श) नाव अञ् । विनागे, स्थान० ३
 डा० । कर्मणि अच् । जागे, विशेष० । आ० चू० । प्रति० । आवा० करणे
 अच् । अययवे, पञ्चा० ७ विद्य० । नेदे, विशेष० । जेदाः विकल्पा अंशा
 इत्यनयान्तरम् । आ० म० प्र० । आवा० । पर्याये, विशेष० । स्कन्ध
 च, हा० १८ अ० ।

अंभ (सा) गय-अंश (श) गत-त्रि० स्कन्धदेशमागतं, विपा०
 १ अ० ३ अ० । स्कन्धावस्थितं, हा० १८ अ० ।
 अंसलगा-अंश-पुं० स्फुर्ये, तं० ।

अंभि-असि-स्त्री० । अभ-किः । कांटी, स्थान० ८ ज० ।

अंसिया-अंशिका-स्त्री० । अंश एवांशिका । स्वार्थे कप्रत्ययः ।
 भागे, " सागारियस्स अंसिया अविमत्ता " वृ० ३ उ० ।
 " अंसियाओ गामद्वारो " अंशिका तु यत्र ग्रामस्यार्यम् ।
 आदिशब्दात् त्रिभानं वा चतुर्भानं वा गत्वा स्थितः स ग्राम-
 स्वार्था एवांशिका, नि० चू० ३ उ० ।

अंशीसु-न० बहिकाकारं रोगभेदं, " अंसिया अरिसा ता य अ-
 दिद्वान्ने णासाय वणेषु वा जयति " नि० चू० ३ उ० । तस्स (आ-
 तापयतः) " अंसिया ओसेहं तं च व विज्जां अदक्खु हसिं
 पारेहं पारेहथा अंसियाओ जिद्वज्जा " (अंसियाओत्त) अ-
 र्थासिं ताभिं च नासिकासकन्तीति च्युंनिकारः, ज० १६ श० ३
 उ० । प्रति० (शेषे) अणगराशब्दे ।

अंसु-अंसु-पुं० अंश मृग-कु करणे, सूत्रे, सूत्रमांशे, प्रकाशे,
 अमायां, वेगे च, वाच० ।

अत्रुन्-न० अत्रुते व्याप्तिनि वेदमदर्शनाय । अश-कुन् । प्राहते ।
 वक्रादावन्तः ८। १६ इति सूत्रेण अत्रुस्वारागमः, प्रा० । नेवजने,
 वाच० । " गुरुदुष्करभरकतस्स अंसुणि धाएण जं जसं गालियं
 ते अग्रतलायणहेसमुद्धामहेसु ए वि होञ्जा " मत्त० ६ अ० ।
 " अंसुपुण्णयणे तिरयपरसरीरयं तिकसुत्तो " जं २ वक्ष० ।
 " अंसुपुण्णोहं णयणोहं वे मेपरिचिचहं " उच० ३० अ० ।

अंसुय-अंसुक-न० आनिविषये बहिस्तापुण्ये सूत्रे, अत्रु० ।
 आ० म० प्र० । " अभ्रमेतरहीरे जं उण्णज्जितं अंसुयं " नि०
 चू० ७ उ० । आवा० । अंसुकं क्खणपट्टस्तशिष्णमशुयक, वृ०
 २ उ० । वक्खाविशेषं, हा० १ अ० । जं० जी० । परे च, अंसु स्वार्थे
 कन् । अंसुशब्दांश्च, पुं० । वाच० ।

अंसोवसत्त-अंसोपसक्त-वि० । उ० तं । अंश (स) योः स्क-
 न्धयोरुपसक्तं ज्ञानं यत् स्कन्धगलने, कल्प० ।

अकइ (ति)-अकत्ति-त्रि० न कति न संख्याता इत्यकति
 असंख्यातेषु अन्वेषे, स्थान० ३ ज० । म० ।

अकइ (ति) संचिय-अकतिस्सञ्चित-पुं० न कति न संख्याता
 इत्यकति असंख्याता प्रनन्ता वा तत्र ये अकत्यकति असंख्याता
 असंख्याता एकैकसमये उत्पन्नाः सन्त्यथैव संचिन्तास्ते अकति
 सञ्चिताः । स्थान० ३ ज० । एकसमयेऽसंख्यातोत्पादेनानन्तो-
 त्पादेन च परिग्रहतेषु नैर्यकियादिवि (अत्र दृग्गकक्रमेण नर-
 यिकादीनामकति संचिन्त्यमुपपातशब्दे) ज० २ श० १० उ० ।

अकट्या-अकाटाक- त्रि० न० ब० । कएटकरहेतुषु न तेषु
 मध्ये बन्धुशब्दिवृत्ताः सन्ति, जा० ३ प्रति । पाषाणादिङ्-
 व्यकएटाकिकरूपे, आवा० ५ अ० । प्रतिस्पर्दिगोत्रजे (राज्ये)
 " आहयकटयं मसिद्यकटयं अकटयं " हा० १ अ० ।
 स्थान० सूत्र० ।

अकंद-अकाएद-न० । न० त० अग्रस्ताये, अत्रवसने, अत्रु० ।
 " एथ मया अकंदं विणाशिया तं कारणं सुणहं " आ० म० प्र० ।
 अकासे, वृ० १ उ० ।

अकंदूयग-अकाएदूयक-पुं० न कएदूयते इत्यकएदूयकः
 स्थान० १ डा० । अकएदूयनकारकं अभिप्रहविशेषवति, प्रश्न०
 संव० १ डा० ।

अकंत-अकान्त-त्रि० कान्तः कान्तियोगात्, स्थान० ८ ज० । न का-
 न्तोऽकान्तः । जी० १ प्रति० । स्वरूपेणाकमनाये, उपा० ८ अ० ।
 म० । प्रश्न० ।

अकंततर-अकान्ततर-त्रि० स्वरूपतोष्यकमनीयतरे, जी० ३
 प्रति० । वि० ।

अकंतता-अकान्तता-स्त्री० असुन्दरनायाम्, म० ६ श० २ उ० ।
 अकंततुकव-अकान्ततुःख-त्रि० अकान्तमनमिमत्तं दुःखं सेधा-
 न्तोऽकान्तदुःखः अन्नजितमाशानेषु सूत्र० १ वृ० १ अ०
 " अकनदुष्कं तसथावरा दुटो असुसए " आवा० २ वृ० २ अ० ।
 दुःखविदुःख, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अकंतस्वर-अकान्तस्वर- त्रि० ६ ब० अकान्तितुक्स्वरे,
 स्थान० ८ डा० ।

अकंद्विपि (न)-अकन्द्विन्-त्रि० कन्दपोहीपननाचितादि-
 विकसे, व्य० १ उ० ।

अकंप-अकम्प-त्रि० स्वरूपनिष्ठे, अष्ट० । अज्ञोच्ये, " नाथंभि

हंसगमि य, तथे चरिते च वडुषु वि अक्षयं " अक्षय्योऽङ्गो-
न्यो वैश्वर्यव्याप्त्य इत्यर्थे, आनु० ।

अक्षयिण्य-अक्षयित-पुं० । न० त० । श्रीमहावीररुद्राष्टमे गणधारे,
सं० (अस्वागारपर्व्याद्याद्यो गणधरशब्दे) आ० सू० । आ०
न० त्रि० । कष्टप० । (अक्षयपत्तनमा किञ्चोपाध्यायो
विराजितं गतो भगवता नामसोभाश्यामाभाष्य) वि० । "आ-
ह्वेयं य जिशेणं, जाहजरामरणविष्णुभुक्तेण० । नोमि य गुप्तं
य, सव्यन्त्यस्यद्विरासि० ॥ किं मन्ने नेरुद्रया, अन्वियं नत्वित्ति
संसक्तो नुज्ज, वेदपयासं अर्थ्यं, न यासुसी तेषिमो अर्थ्यो " (इत्याद्युक्त इति नारदशरभे प्रदशयिष्यते)

अक्षयकसनासा-अक्षयकनाजाषा-अं० अतिशयोक्त्या हामन्स-
रपुं०यां भाषायाम्, दश० ७ अ० ।

अक्षयकसवेयणिज-अक्षयकशवेदनीय-न० अक्षयकसोम सुक्ते
नयेते यानि तानि अक्षयकशवेदनीयानि प्रस्ताहीनामिव सुख-
येदनीयंयु कर्मसु० ॥ अथ दूएकः "अर्थियं भेते जीवाणं अक्षय-
कसवेयणिजा कम्मा कज्जति ॥ हंता अर्थियं कएणणं जंते । जीवाणं
अक्षयकसवेयणिजा कम्मा कज्जति । गोयमा । पाणाइवाचसं-
वेरमणं जाव परिमहवरमणं कोइयियेणं जाव मिच्चाइसं-
णसल्लवियेणं एवं अहु गोयमा ॥ जीवाणं अक्षयकस-
वेयणिजजा कम्मा कज्जति अर्थियं भंते । नेरुद्रयासं अक्षय-
कसवेयणिजा कम्मा कज्जति कोइयण्ठे । महेइ एवं जाव येमा-
णियाणं श्वरं मणुस्सासं जं जीवाणं । अ० १ श० ६ व० ।

अक्षयक-अक्षय्य-न० अक्षयसं कार्य्यम् अक्षय्यस्थेन त० कुत्सि-
तकार्य्यं, निषिद्धकार्य्यं च । कश्चिन्मिभे, त्रि० वाच० । आचा० ।
अक्षयकमाए-अक्षयिमाए-त्रि० न० त० वर्षमानकाले अ-
निवसमाने अ० १ श० १० उ० ।

अक्षयकमाएक-अक्षयकमाएक-त्रि० कियमाणं वर्तमान-
काले कृतं चातीतकाले तत्रिभ्यधार्दियमाणकृतं (वर्तमाना-
तीतकालयोरनिवर्त्यमानानां निवृत्ते) "अक्षिचं दुष्कलं अकु-
सं दुष्कलं अक्षयकमाएकं दुष्कलं " अ० १ श० १० उ० ।

अक्षयक-अक्षय-त्रि० न० ब० काष्ठरहिते अनिधने, "असीज-
लंतो अगणी अक्षयः" सूत्र० १ सु० ५ अ० ।

अक्षय-अक्षय-त्रि० न० त० अविहिते । " कं कडिचि भा-
सिजजा, अक्षयं नो कडिचि य " उच० १ अ० " अक्षयं करि-
स्सामिणि मयमये " यदपरेण न हृतम् । आचा० १ सु० १ अ० ।

अक्षयजोगि (न्)-अक्षयजोगिन्-पुं० यतनया योगमकृत-
वति, अ० ३ उ० । अक्षयजोगी अगतितायैः श्रीन वारान् कल्पमेच-
णीयं वा परिभाष्ये प्रथमभेलायामपि यतस्ततोऽकल्पमनेचणी-
यमपि प्राही । अ० १० व० । " अक्षयजोगिणि दारं तियुणं प-
ण्डुवंति विसंजा तिसि गृणीभो तियुणो असंधरालीसु
तिसि वार पसणीयं सखिसिभो ज्ञाना ततियवाराप वि षु
लज्जति तदा अउरपरिवाहीए अणेसणीयं येसस्यं एवं ति-
शुणं जोगं काऊण जोगो व्यापारः वितियवारपणेष्व अणेस-
णीयं मेरहसि जो सो । अक्षयजोगी भजति अक्षयजोगिणि
ययं " नि० सू० १ उ० ।

अक्षयपायिच्छिन्न-अक्षयपायिच्छिन्न-त्रि० न कृतं प्रायश्चित्तं येन
अननुष्ठितविशेषः " जे निक्खु साधिरयं अविउसखिय-
पाहुइ अक्षयपायिच्छिन्नं " नि० सू० १० उ० ।

अक्षयसामायारि-अक्षयसामायारि-पुं० ३ व० अविधेया मरु-
क्षुपसंपत्सामायारिमुकुर्वति, वृ० ३ उ० । एवंविधां (सामायारि-
शब्दे धव्यमाणां) उपसन्नप्रमरुक्षसूचिभयां द्विविधामपि सा-
मायारि यो न करोति सोऽक्षयसामायारिक उच्यते, वृ० १ उ० ।
अक्षयिण्य-अक्षयिण्य-त्रि० कोमले, अं० ३ प्रति ।

अक्षय-अक्षय-पुं० सिद्धसुकुलीपथ्ये नैत्रसक्तौ (अन्तर-
पशुधोक) प्रमाणे अन्तरक्षीपे, महासस्ये मनुष्यं च, अ० ४
उ० । अक्षा० नं० । कर्णरहिते, वाच० ।

अक्षयिण्य-अक्षयिण्य-त्रि० न अक्षिन्नकणं त्रि० न त्रिन्वी
कर्णौ बस्य स तथा । अक्षयिण्ये, नि० सू० १४ व० ।

अक्षयिण्य-अक्षयिण्य-त्रि० उच्यस्वत् फलं कर्तितुं शक्तिमत्स्य । कृत-
युष्मत् न० त० । उच्यस्वित्प्रापिस्त्वस्ववति अर्थे, कृत-भाषे वयु-
न० ब० त्रेदन्विति त्रि० वाच० ।

अक्षयिण्य-अक्षयिण्य-त्रि० न कुत्रिमः । न० त० कुत्रिमजिभे, स्वजा-
वसिक्ते, वाच० "अक्षयिमेहिं खेव कसिमेहिं खेव " ज० १ वृ० ।

अक्षय-अक्षय-पुं० कल्या-न्यायो विधिराचाररूपकरण-
व्यापार इति यावत् । न कल्याऽकल्याः अक्षय इत्यर्थः । अ० १
अर्थि० अर्थिषो चरकादिदीक्षायां, अत्राद्ये, पंचा० १२ त्रि० ।
आच० । अ० सू० । अक्षय्ये, अर्थोभ्ये, "अक्षयं परियाणामि
कल्पं उनसपज्जामि " आच० ४ अ० । द्वावी०, इवा० १ उ० ।
अर्थोभ्ये, "अक्षयं अक्षयं तथिच" पि० । "अक्षयं पडिगा-
हेज्ज, अउरथाप ज्ञाओगम कल्पं वा । पडिसेवइ उचवा-चणं
गोयं परिवट्ठो व " । महा० ७ अ० । द्वाण्ये । नि० सू० १५
उ० । अनाचारं, कल्प० । अक्षयः अक्षय्योहा अनीतिः अनुपपश
इत्यनघोत्तरम्, पं० सू० । पिशङ्कशय्याचक्ष्णप्राप्रकृतपुण्येऽक-
ल्पनीये, अ० २ उ० । "अक्षयं अक्षयं, अक्षयं गिहिन्याणं"
अकल्पः शिक्कशय्यापनाकल्पयिः । दश० ६ अ० । तत्राकल्पो
द्विविधः शिक्कशय्यापनाकल्पः अकल्पशय्यापनाकल्पश्च तत्र
शिक्कशय्यापनाकल्पः अक्षयतीतिपिण्डनिर्मुक्त्यादिमानोत्तमाहा-
रादि न कल्पते इत्युक्तं च " अणहीया अणु जेणं, पिरेस-
णसंज्जवत्थयासस । तेणाणियाणि अतिणो, कल्पंति न पिरे-
माहेसि ॥ उचचंअमि ण अणधा, वासावासंउ हो वि णो सेदा ।
दिक्किअजंती पाणं, उवणाकप्पो इमां होइ " अकल्पशय्याप-
नाकल्पं त्वाइ ॥

जाइ चचारिणुज्जाइ, इसिणा हारमाहिण ।

ताइं विहिणा वज्जंतो, संजयं अणुपाल्ल ॥ १४० ॥

सुत्रं व्याख्या-यानि अक्षयभोग्यानि संयमापकारित्येनाकल्पनी-
यानि अक्षणीणां साधुनामाहापदीत्याहाउशय्याचक्ष्णप्राप्ति
तानि तु विधिना वज्जंतं संयमं ससदशमकारमनुपाल्लयेत् ।
तद्व्यागे संयमाभावादिनि सूत्रार्थः । एतदेव स्पष्टयति ।

पिण्डसेजं च वत्थं च, अउर्यं पायेमव य ।

अक्षयिण्यं न इच्छिज्जा, पडिगाह्जिज कपियं ॥ ४४ ॥

पिण्डशय्यां च वत्थं चतुर्थं पात्रमेव च । एतत्त्वकल्पं प्रमा-
द्यमकल्पिकं मेच्छेत् प्रतियुद्धीयात् कल्पिकं यथोचितमिति
सूत्रार्थः । अक्षयिण्ये केषामहा ।

जे नियामं मयायंति, कियमुदेसियाहंम् ।

वहं ते अणुजागंति, इइं वुत्तं महेसिणा ॥ ४६ ॥

ये केचन द्रव्यसाध्याद्यो द्रव्यलिङ्गधारिणः (नियोगिनि)
नित्यसामान्यतः पितृष्टं (समायन्तीति) परिपृच्छन्ति । तथा क्रीत-
वृष्टिकाहृतम् । एतानि यथा सुखकाकारकध्यायां बधं त्रस
स्वावरादिनां तैः द्रव्यसाध्याद्योऽनुजानन्ति । दानुमभुव्यनुयो-
वनेनेत्युक्तं च महर्षिणा बधमानेनेति सूत्रार्थः । यस्मादेवम् ।

तद्भा अससापाणां, किययुष्टिसियाहं ।

बजयति त्रियप्पाणां, निर्गया भम्नांविणो ॥९०॥

तस्माद्यज्ञानपानादि चतुर्विधमपि यद्योदितं क्रीतमौद्देशिक-
माह्वनं वर्जयति स्थितामानो महासत्या निग्रन्थाः साधवो
धर्मजीविनः संवमेकजीविनः इति सूत्रार्थः । उक्तोऽकल्पः । पृ०
६ अ० जीत० पं० सू० ॥ पं० भा० "अप्रतिमाहणा अकल्पमि
हारे पलेषादीसलाम मज्जिणादि हौति उवर्हापे सेज्जापे द्ग-
मसाला अकल्पसेहा य से अये " पं० क० सू० ॥ पं० भा० ।

एषो अकल्पं वाञ्छामि शिक्विष गिरणुक्कपो पुष्फ-
लाणं च सारणं कुणति जं च एह एवमादिं सन्वं तं जाणसु
अकल्पं जो तु किंणं ए करेतीं दुक्खभेमुं तु सन्वसत्तेमुं
गिरिवेक्खो रीयादिमु पवत्तइ शिक्विषो सेतुं महसा वय-
साए ए व परितावणमादिविदिद्यादांणं काऊए नाणु-
तपइ गिरणुक्कपो हवति एसो सत्तडमठाणेषु सट्ठाणासे-
वाएए सट्ठाणं गच्छामादिमि तु काराणंमि वितिथं भवे टाणं
सत्तडमट्टाणइ उ कपो चेव तह अकलोपो य ते निक्कार-
रणसेवी यावति सट्ठाणं पच्चत्तं पत्तमि कारणे पुण रा-
यलुट्ठादिथमि आगाढे जयणा य करेमाणो होत्रियकपो
वि तिहाएणं दारं । पं० चू० ।

"इतिथि अकल्पो गाहा नामगणो नामणी धेयमीधो विज्जा-
ओ पउजइ अइवेयालीं नाम जो उउउं नेऊण पदिपात्रेइ वेयालीं
उउवेइ गम्माहाणं परिस्मांइ संमुक्खिय पाइइ जोणियाहुइं
वा करेइ अणंणसु य पवमाइसु पावायापणसु वहुइ गाहा तसए-
दिइयतसपणएइमसगाइविट्ठिए वा सेसंसेम वा संमुक्खाविइ
सुज्जाणमन्नअग्निआंगाइहि माहंसेरि वा आहंएवणं वा पउजइ
रुद्धा दिइवणं बंभउंइ वा अणणिकायं थंमइ गाहा निक्कौवो
नाम निग्घिणो निरुक्कपो पुष्फकल्याणि य विरुंसेइ विज्जा-
ओ परसुमादि पउजइ पवमाइ कम्मकारे सो अकल्पो ययाणि
एण ओकल्पअकल्पाणि निक्कारणे करेती अट्ठाएपत्तिस्सयावइ
इ । एतदर्थं गाहा सत्तडमठाणेषु गच्छमासु पुण कारणेषु य
रायडुडमासु असिवाइसु य कारणेषु जयणाए करेत्तस
ओकल्पो कप्पा विदयं ठाणं भवति किं पुण तं वितिथं टाणं पक-
ल्पो वेध सो भवइ एस अकल्पो" पं० सू० [अपरिणतादेरकल्प-
स्याद्वाहात्ताऽपरिणत्यादिशब्देषु वक्ष्यते] आदिधेतकल्पे च, पृ. ४ उ. ।
अकल्पद्वारणाकल्प—अकल्पस्यानुपानाकल्प—पुं० अनेषणीयपि-
गुरुशय्यावस्त्रपात्रत्रकण्डेऽकल्पनेदे, जीत० ।

अकल्पपट्टिय—अकल्पस्थित—पुं० कल्पे दशधिषे आधेसुक्यादौ
संपूर्णं न स्थिताः अकल्पस्थिताः चतुर्णांमधमप्रतिपन्नसु, पृ. ४
उ० अन्वयमहाविशतिजिनसायुषु महविषयदहेजुषु च, जी० ॥ कल्प-
स्थितानामधीय कृतं कल्पतं कल्पस्थितानां तदर्थं कृतं कल्पते
कल्पस्थितानां नेतरथा]

जे कमे कल्पट्टियाणं कल्पइ से अकल्पट्टियाणं, नो
कल्पइ कल्पट्टियाणं । जे कडे अकल्पट्टियाणं नो से कल्पइ
कल्पट्टियाणं, कल्पइ से अकल्पट्टियाणं । कल्पे ट्टिया कल्प-
ट्टिया णां कल्पे ट्टिया अकल्पट्टिया ।

यदशनादिकं कृतं विहितं कल्पस्थितानामर्थाय कल्पते
तदकल्पस्थितानां, न कल्पते कल्पस्थितानां । इहांशुलुक्या-
दौ दशविधे कल्पेऽस्थितानास्ते कल्पस्थिता उच्यन्ते पञ्चयाम-
धमप्रतिपक्षा इति भावः । ये पुनरेतस्मिन् कल्पे संपूर्णं न स्थिता-
स्ते अकल्पस्थितानाश्चतुर्धमधमप्रतिपत्तार इत्यर्थः । ततः पाञ्चया-
मिकानुद्दिश्य कृतं चातुर्यमिकानां कल्पते इत्युक्तं भवति
तथा यदकल्पस्थितानां चातुर्यमिकानामर्थाय कृतं नो स क-
ल्पते कल्पस्थितानां, पाञ्चयामिकानां किन्तु कल्पते तदक-
ल्पस्थितानां चातुर्यमिकानामर्थैव व्युत्पत्तिमाह कल्पे आचेलु-
क्यादौ दशविधेऽपि स्थिताः कल्पस्थिता न कल्पे स्थिता अकल्प-
स्थिताः । एष सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

कल्पट्टिपरुवणाता, पंचेव महव्यया चउजामा ।
कल्पट्टियाए पणमं, अकल्पचउजाम सेहे वि ॥
कल्पस्थितः प्रथमतः प्रकृपणा कसेव्या । तथया । पूर्वपञ्चम-
साधुनां कल्पस्थितिः पञ्चमहाव्रतकृपा मध्यमसाधुनां महाविदेह-
साधुनां च कल्पस्थितिश्चतुर्धममहाव्रतया ततो ये कल्पस्थितास्ते
थां (पणगंनि) पञ्चैव महाव्रतानि जवन्ति अकल्पस्थितानां तु
स्वतारां यामाश्चत्वारि महाव्रतानि प्रवर्तिता नापर्युद्धेता स्त्री
सुज्यत इति कृत्वा चतुर्धमव्रतप्रव्रततामेव तेषां अन्नज्वनी-
ति भावः । यच्च पूर्वपञ्चमार्थांथेकरसाधुनामपि सम्भवः । सेकुस्या-
पि सामायिकस्येव इति कृत्वा चातुर्यमिकोऽकल्पस्थितश्च
मन्तव्यः यदा पुनरुपस्थापितो भविष्यति तदा कल्पस्थित इति
प्रकृपिता कल्पस्थितिः । इह " जे कमे कल्पट्टियाणं " इत्यादिना
आध्यात्मसुचितमनस्तस्य उपात्तमाह ।

सालंययुक्कगोर—सावसु बद्धं फलेसु जातेसु ।
पणद्धकराणसु, आहाकम्मं (एणंमतापु) ॥
कस्यापि दानश्चेरिभित्तमाश्चादस्य धानः शलिः भूया न शुद्धे
समायातस्ततः स चिंतयति पृथं यत्तानामदत्त्वा ममात्मना परि-
त्रोक्तं न युक्त इति परिभाष्याध्याकमं कुर्यात् एषं सूत्रे गोरसे-
नधे यश्चतुर्धमविद्वहं फलेसु जातेषु पुण्यार्थं दानकृत्वाः आशः
(करणति) आध्याकमं कृत्वा साधुनां निमन्त्रणं कुर्यात् । तस्य
वाध्याकर्मणोऽभ्युत्थेकार्यकपदादि ।

आहा आहयकम्मं, अत्ताहंमेय अत्तकम्मये ।
ते पुण आहाकम्मं, एाएव्वं कप्पते कस्स ॥

आध्याकर्म, अध्याकर्म, आत्ममन्न, आत्मकर्म, चेति स्वत्वारि
नामानि तत्र साधुनामधेयप्रणिपातेन यत्कर्म यत्कृत्याविनाशना-
शानादिनिष्पादनं तदाध्याकर्म । तथाविद्युक्तस्य मस्थानेभ्यः
प्रतिपत्त्यात्मानमधिगुह्य संयमस्थानेषु यथापः करोति तदध्याकर्मः
आत्मानं ज्ञानदशनचारिभूतप विनाशयतीत्यात्मदत्तः । यथापका-
दिसम्बन्धि कर्म पाकदिसकृपां क्षानावर्णीयादिदलकृपां वा तदा-
त्मनः सम्बन्धि क्रियन्ते, अनेनेत्यात्मकर्म । तत्पुनराध्याकर्म
कस्य पुरुषस्य कल्पते न वा यथा कस्य तीर्थं कथं कल्पते न कल्प-
ते वेत्यमीतिज्ञातेऽहोतव्यं, ताम्येव दर्शयति ।

संघस्य पुरिमपडिभूम-समण्णाणं चैव समण्णाणं ।

चउएहं उवससयाए, कायव्वा मग्गणा होति ॥

आधाकर्मकारि सामान्येन विशेषेण वा संघस्योद्देशं कुर्यात् तत्र सामान्येनाधिकारिणोऽपि संघमुद्दिशति विशेषेण तु पूर्वं वा मध्यमे वा पश्चिमे वा संघं वेत्तसि प्रणिधत्सि भ्रमणानामप्येतानां विजागतक भिद्वेषं करोति, तत्रैवधत्तां विशेषितभ्रमणानां विजागतः पाञ्चयामिकभ्रमणानां चातुर्यामिकभ्रमणानामेवं भ्रमणीनामपि वक्तव्यं तथा चातुर्याणामुपाश्रयाणामप्येवमेव सामान्येन विशेषेण च मार्गणा कर्तव्या भवति, तत्र व्यवहार उपाश्रवा इमे पाञ्चयामिकानां भ्रमणानामुपाश्रयमुद्दिशनीत्येकः पाञ्चयामिकानामेव भ्रमणानां द्वितीयः एवं चातुर्यामिकभ्रमणभ्रमणानामप्येवं भावयति ।

संघं समुद्दिशिचा, पदमो वितिआो य समणसमणीओ ।

ततिआो उवसए खमु, चउटयओ एगपुरिससस ॥

आधाकर्मकाराः प्रथमे दानआकाङ्क्षिः संघं सामान्येन विशेषेण वा समुद्दिश्याकर्म करोति । द्वितीयः भ्रमणसमण्णाः प्रशिक्षणं करोति । तृतीय उपाश्रयानुद्दिश्य करोति । चातुर्ये एकपुरुषस्योद्देशं कुर्या करोति ।

अत्र यथाकर्म कटाकपट्टिधिधमाह ।

जदि सव्वं उद्दिसिउं, संघं करेति दोएह वि ए कप्ये ।

अदवा सव्वे समणा, समण्णां वा तत्थ वि त्थेव ॥

यदीयान्युपगमे यदि नाम श्रुतमस्वामिनोऽजितस्वामिनस्तत्तीर्थेकत्र मिलितं जवति पाश्चैर्यामिषवर्द्धमानस्वामिनोर्वा तीर्थं मिलितं यदा प्राप्यते तदा तत्काश्रमङ्गीकृत्यायं विधिर्निर्धार्यते, सर्वेमापि संघं सामान्येनोद्दिश्य यदाधाकर्म करोति । यदा द्वयोरपि पाञ्चयामिकचातुर्यामिकसंघयोर्न कल्पते अथ सर्वान् भ्रमणान् सामान्येनोद्दिशति तत्रापि भ्रमणानामपि सामान्येनोद्देशेन तथैव सर्वेमापि पाञ्चयामिकानां चातुर्यामिकानां न कल्पते एवं भ्रमणानामपि सामान्येनोद्देशे सर्वसामकल्पयत् ।

अथ विभागेद्देशे विधिमाह ।

जं पुण पुरिसं संघं, उद्दिशती मज्जिमसस तो कप्पी ।

मज्जिमउद्दिहे पुण, दोएहं पि अकपितं होति ॥

यदि पुनः पूर्वश्रुतस्वामिसकं संघमुद्दिशति ततो मध्यमस्याजितस्वामिसंघस्य कल्पते अथ मध्यमं संघमुद्दिशति तदा द्वयोरपि एवंमध्यमसंघयोरकल्पं जवति, एवं पश्चिमतीर्थेकरसकसंघमुद्दिश्य कृतं मध्यमस्य कल्पते मध्यमस्य कृतं द्वयोरपि न कल्पते ।

एभेव समणवग्गे, समण्णीवग्गे य पुव्वमुद्दिहे ।

मज्जिमगाणं कप्ये, तसि क्हं दोएहं वि ए कप्यं ॥

एवमेव भ्रमणवर्गे भ्रमणीवर्गे पूर्वेषामुपमस्वामिसंघनिधनां भ्रमणानां भ्रमणीनां वा यदुद्दिष्टमुद्दिश्य कृतं तन्मध्यमिकानां भ्रमणभ्रमणीनां कल्पते तेषां मध्यमानामधीय कृतमुपवेष्टामपि पूर्वमध्यमानां साधुसाध्वीनां न कल्पते । एवं पश्चिममध्यमानामपि धरुण्यम् ।

अथैकपुरुषोद्देशे विधिमाह ।

पुरिमाणं एगसस वि, कयं तु सव्वंसि पुरिमचरिमाणं ।

चरिमाणं ए वि कप्ये, उवणामत्तगइयं तद्धिं नतिथ ॥

पूर्वेषामुपमस्वामिसक्तानामेकस्यापि पुरुषस्यार्थाय कृतं सर्वेषामपि पूर्वपश्चिमानामकल्पं पश्चिमानामप्येकस्यार्थाय कृतं सर्वेषां पूर्वपश्चिमानामकल्पस्य । एतच्च स्थापनानामात्रं प्ररूपणामात्रं संकायिहानार्थं क्रियते बहुकालान्तरत्वेन पूर्वपश्चिमसाधुनामेकतांसंभवात् तत्र परस्परं ग्रहणं नास्ति न घटने मध्यमानां तु यदि सामान्येनैकं साधुमुद्दिश्य कृतं तत एकैकं शूरीते शेषाणां कल्पते अथ किमप्येकं विशेष्य कृतं ततस्तस्यैवाकल्पं शेषाणां सर्वेषामपि कल्पं पूर्वपश्चिमानां तु सर्वेषामपि तत्र कल्पते ।

अथोपाश्रयोद्देशे विधिमाह ।

एवमुपसस्य पुरिसि, उद्दिहणं तं तु पच्छिमा ङुज्जी ।

मज्जिमं तु वज्जजाणं, कप्ये उद्दिहणं तु पुजे ॥

एवं यदि सामान्येनोपाश्रयानुद्देशं करोति तदा सर्वेषामकल्पयत् । अथ पूर्वेषामाधारीयंकरसाधुनामुपाश्रयानुद्दिशति ततस्तदर्थमुद्दिष्टं पश्चिमानामुपलक्षणात्पूर्वं वा साधवः सर्वेऽपि न मुञ्जते मध्यमानां पुनः कल्पनीयम् । अथ मध्यमसाधुनामुपाश्रयानुः सर्वानुद्दिश्य करोति ततो मध्यमानां पूर्वपश्चिमानां सर्वेषामकल्पयत् । अथ क्रियते एव मध्यमोपाश्रयानुद्दिशति ततस्तद्वर्जानामुपाश्रयेषु ये भ्रमणास्तान् वर्जयित्वा शेषाणां मध्यमभ्रमणभ्रमणीनां कल्पते (उद्दिष्टसमपुजेवति) सर्वसाधवः श्रुतमस्वामिसक्ता भवन्ते ते उद्दिष्टसमये साधुमुद्दिश्य कृतं तगुल्याः । एकमुद्दिश्य कृतं सर्वेषामकल्पनीयमिति भावः । एवं तावत्पूर्वेषां मध्यमानां च भवितव्यम् ।

अथ मध्यमानां पश्चिमानां वा अभिधीयते ।

मन्वे समणा समण्णां, मज्जिमगा चैव पच्छिमा चैव ।

मज्जिमगसमणसमण्णां, पच्छिमगा समणसमण्णां ॥

सर्वे भ्रमणाः भ्रमणयो वा यदुद्दिश्यते तदा सर्वेषामकल्पयत् (मज्जिमगा चैवति) अथ मध्यमाः भ्रमणाः भ्रमणयो वा उद्दिष्टास्ततो मध्यमानां पश्चिमानां च सर्वेषामकल्पयत् (पच्छिमाचैवति) पश्चिमानां भ्रमणभ्रमणीनामुद्दिष्टे तेषां सर्वेषामकल्पयत् मध्यमानां कल्पयत् मध्यमभ्रमणानामुद्दिष्टं मध्यमसाध्वीनां कल्पते मध्यमभ्रमणीनामुद्दिष्टं पश्चिमसाधुसाध्वीनां न कल्पते पश्चिममानामुपवेष्टामपि कल्पते । एवं पश्चिमभ्रमणीनामुद्दिष्टे वक्तव्यम् ।

उवससयगिया विभाएउ, उज्जुमज्जु य वंकनज्जु य ।

मज्जिमगउज्जुपप्पा, पेच्छासप्पायागामपणं ॥

अथोपाश्रयेषु साधून् गणितविभाजितान् करोति गणितानामित्यादि पञ्चाहिसंख्याकानां द्वाकल्पं विभाजितां अनुकस्यामुकस्येति नामोक्तींसेनेन निर्द्धारिताः अत्र चातुर्येणैव गणितानि त्रयि विभाजिता अपि १ गणिता न विभाजिता २ विभाजिता न गणिता ३ न गणिता न विभाजिता ४ अत्र प्रथमजङ्गं मध्यमानां गणितविभाजितानामेवाकल्पं शेषाणां कल्पते । द्वितीयजङ्गं यावत् प्रमाणैर्न शूरीते तावत् सर्वेषामकल्पयत् गणितप्रमाणैर्न शूरीते मध्यमानां शेषाणां कल्पयत् । तृतीयजङ्गं यावत् सदृशमादानस्तेषां सर्वेषां सममकल्पं शेषाणां कल्पयत् । चातुर्येभ्यो सर्वेषां कल्पं पूर्वपश्चिमानां तु सर्वेषामपि त्रङ्गेषु न कल्पते (साधुनां कल्पस्थितत्वात् कल्पस्थितत्वकारणं कल्पद्वये) ह्येतेन कारणेन चातुर्यामिकपाञ्चयामिकानामाधाकर्मग्रहणे विशेषः कृत इति प्रथमः ।

अथ द्वितीयवदमाह ।

आयपरि ए अजिसगे, जिक्खुम्मि भिग्गाएण य भयणाओ ।

भित्तुस्सइविपेसे, चउपरिवेट्ठे तत्रो गहणं ॥

आचार्यानिवेकमिक्खणामेततमः सचं वा भ्रान्ता भवेयुः तत्र सर्वथापि योग्यमुक्त्वादिदोषाद्युक्तं प्रदीतव्यम् असंशयानि पञ्चकपरिहाया यतित्या चतुर्गुरुकं यदा प्राप्तं जयति तदा आ-
धाकर्मणे भजना स्वयना भवति अथवा भजना नाम आचा-
र्यस्याभिषेकस्य गीतार्थमिहोक्तं यत्र शोकेणाशुक्मान्नीतं तप-
रिस्तुद्रमेव कथ्यते । यः पुनरगीतापोऽपरिणामको वा तस्य न
निवेद्यते । अशिशुवादिभिर्नो कारणैरुत्तरीमध्वानि प्रवेष्टुमनित्य-
ति तत्र प्रथममेव शुकोऽप्यकल्पसिद्धयस्त्वनि वाराय गंधप्यने
यदा न ज्ञयते तदा चतुर्थे परिवर्ते पञ्चपरिहायाधाकर्मिकस्य
प्रदणं करोति ।

अप्वनिर्गतानां चार्यं विधिः ।

चउरो चउत्थभंसे, आयंविस्सएगजाण पुरिमहं ।

एिण्वीयगदायव्वं, सयं व पुण्वेग्गाहं कुञ्जा ॥

आचार्यः स्वयमेव चतुष्कल्याणकं प्रायश्चित्तं गृह्णाति तत्र च-
त्वारि चतुर्थेभक्तानि चत्वारि आचार्यामृत्तानि चत्वार्येकस्याना-
नि एकासनकानीत्यर्थः चत्वारि पूर्वोक्तानि चत्वारि निर्दुष्टि-
कानि च चरन्ति । ततः श्रेया अप्यपरिणामकप्रत्ययनिमित्तं च-
तुष्कल्याणकं प्रतिपद्यन्ते । योऽपरिणामिकस्मस्य पञ्चकल्याण-
कं दातव्यं तत्र चतुर्थेजकादीनि प्रत्येकं पञ्च पञ्च भवति
स्यं चानार्यैः पूर्वमेव प्रायश्चित्तस्यास्यप्रदणं कुर्यात् येन श्रेयाः
सुखमेव प्रतिपद्यन्ते यत्पूर्व प्रतिसिद्धं भवति एवं भूयोऽ-
नुज्ञायते अनुज्ञातं वेति ।

अनः किमर्थं प्रायश्चित्तं दीयत इत्याह ।

काणशरंरारावेक्खं, जगस्म भावं जिणा वियागिता ।

तह तह दिसंति धम्मं, जिज्जाति कम्मं जहा असिलं ॥

कालशरीरपिच्छं कालस्य शरीरस्य च याशः परिणामां ब-
सं वा तदनुकूपं जगना मनुष्यलोकास्य स्वभावं विश्वाय जिना-
स्नीयेकराः तथा तथा विधिप्रतिषेधरूपेण प्रकारेण धर्ममुपदिश-
न्ति यथा अजिज्जस्यपि कम्मं कुर्याते यच्चानुज्ञातं प्रायश्चित्त-
दानं तदनयस्थाप्रसंगवारणाय । सु० ४ उ० ।

अकप्पिय-अकल्पक-३० अर्गाताथे, “ किं वा अकप्पियणं,
गाहवे वसायुं न तं होह ” अ० ३० अनेवर्णाय, जि० अकप्पियं
अ हत्थिञ्जा पणिग्गाहउज कप्पियं ” दश० ४ य ० ॥

जे जम्मि देसजाए, अकप्पियं जेअ जेण कालेण ।

बुच्छामि अचपाणे, वि कारणं सुचनिदिहं ॥५॥

महाहाइ महासाही-णं ओयणमुहह यं इवइ भुज्जं ।

सायलगं तु अमुज्जं, कुणुममाद्यं रसज्जेणं ॥६॥

तेसिं तु तंहुत्तैदं, एगंनेणं जवे अत्थिज्जं तु ।

पिंफालु य पत्तंके, परिवुच्छा मा वि य अमुज्जजा ॥७॥

बालगकोडिसरिसा, उरुपरिमपा तहिं सुभूमदेहा ।

संमुच्छिंति अयोगा, कुण्ठिकवा मंसचकलुणा ॥८॥

तामि य वेव पणंस, उएहं सालुअं इवइ जक्खं ।

संयलर्गमि य जहाजा, रसया ममुच्छंति य अणेगा ॥९॥

सरिसवमागं मुग्गेण, मासायां ऊंबझेण जं रच्छं ।

एगंतेअ अजक्खं, तहिं मंहुक्का चवे सुहुमा ॥१०॥

मासा मूलपसिच्छा, परिवुच्छा संजयाणपसिच्छं ।

मच्छा य संमुच्छंति, न सरएणुवंत्रिआ वहे ॥११॥

सो पव्वलजाया ? अय-तको उगणियाहिं मिच्छाओ ।

परिमुच्छंति य विविहा, मव्हे पंचिदिया हुंति ॥१२॥

आमे तके सिच्छे, कुणुंजसुमां अकप्पियं निच्चं ।

बाणसरिसा अणेगा, सप्पा संमुच्छिमा तत्थ ॥१३॥

जवसागरभनाज्जं ? परिवुच्छं नव कप्पियं होइ ।

संमुच्छंति अणेगा, मच्छा जलुआ सहस्साइ ॥१४॥

एगंतेअ अपयं, खारं दुरजाइयं तहिं देसे ।

संसदमं तत्थ जिया, गंडुलया सप्पमंहुक्का ॥१५॥

दहियं तिरत्तिपुक्खं, अकप्पयंति जल्लुयसंघाया ।

गुलवाणिअं अपयं, परहमि गए तहिं देमे ॥१६॥

गुलवाणिं अपयं, अंदाओगजीवसंजंवा तत्थ ।

जवपाणिं अपयं, सेमाण य उएहतायाणि ॥१७॥

एगंतेअ अभक्खा, परिवुच्छा भासपांशिआ तत्थ ।

सम्मुच्छंति निगाया, तेहिं य जीवा बहुविहा य ॥१८॥

अग्गपिंडगज्जा, मंडुक्काया परअपरिवुच्छा ।

पुव्वएहं सा कप्पइ, अवरएहे तंनुआ जीवा ॥१९॥

जक्खा य पंचरत्तं, तु मायगा देसमंडले तम्मि ।

एगंतेअ न कप्पइ, मीयलकूरो अतुसिणो अ ॥२०॥

आयागे पडिंसच्छो, जामतासा ? अल्लंजइ अत्तं ।

आयारियपरिमहा, पाणिवहकरा अ माहुआ ॥२१॥

मूत्तगज्जा चेंचु अ, तत्थ य संसजए मुहुत्ताणं ।

न हु मूत्तगमंसत्ता, कंदकलाइ उ मंसत्ते ॥२२॥

सव्वं तिलगयआमं, गोरममासं तु रत्तिपज्जसियं ।

इहासाईचूया, संसजए मुहुत्तेणं ॥२३॥

उवरुक्खलगतियेयं, पत्तेयं तभिरत्तकालियं ।

विज्जलयणट्ठभाइ ? सुहुमुहुइसु संसत्ते ॥२४॥

एवं जुज्जं मगहे, त्रिसए तठेव ममासओ भणियं ।

मगहा इव नापव्वं, जाव कश्शिमाउ नेपालं ॥ २५ ॥

दविक्कं वा विक्कतामो ? एयंमि य देसमंफले पत्ता ।

पाणाणि य भक्खाणि य, नायव्वाइं पपत्तेणं ॥ २६॥

मिरियकुंडंगकुसंजी, करमियअगे सत्थिक्कामाया ।

एसा निगोयजाणी, परिवुच्छा होइ अज्जक्खा ॥ २७ ॥

कुदवतंहुज्जआओ, दगकून् पंचरत्तिपरिवुच्छं ।

एगंतेअ अपयं, जल्लयपरिनाए जायंति ॥ २८ ॥

पूरियमंहुक्काअ, मासा वथुला य देसला जाया ।

हुंति अबक्खा तुथुअ-भक्खअमसगाए सा जार्ण ॥२९॥

कुक्षु न तद्वलउदगं, कूरो जो होइ रचिपरिवुच्छो ।
 एगतेण अपयं, बहुविहसत्ताण सा जोणी ॥ ३६ ॥
 गुलपाणियं तु पेयं, मज्जाएहे विच्छुपाणियं च व ।
 सेमं काल न पर्यं, तेसु वि जीवा अणगविहा ॥ ३० ॥
 आजारसरडीए, करवंगं झगन्नतकसिद्धो अ ।
 एगतेण अभक्खो, सो ऊ उएहो अ सन्निझेणं ॥ ३१ ॥
 समुच्छंति निगोया, तस्सा पंचिदिया अणगविहा ।
 सुहुया जइहं दिट्ठा, तज्जोणीया बहु जीवा ॥ ३२ ॥
 सूरणकंदो भीसे-हिं मीसिओ ? एगरचिपरिवुच्छो ।
 एगतेण अभक्खो, तेसि निगोया य मंहुका ॥ ३५ ॥
 झगलतके सिच्छो, उगणेहिं किरइकंगुओ जीओ ।
 धूलं करिहिं मासो, परिवुच्छो तत्थ बहुवरया ॥ ३५ ॥
 पंचसवमुदुत्तकंदा, अकपिया सिद्धयारिन्चिच्चं पी ।
 पत्ता कसाणवचयं, सोरट्टा जारदेसंमि ॥ ३६ ॥
 चउहिं पयारेहिं सया, न कप्पए कंगुओ तहिं देवे ।
 जो अंबलेमि सच्छो, तत्थयमावन्निया जीवा ॥ ३७ ॥
 उएहे संयुच्छंमि य, अणोणजीवा निगोयसंटाणा ।
 सीयलपयि य मच्छा, रहणेण संटिया बहुवे ॥ ३९ ॥
 झगन्नतके सिच्छो, कंगुओ स्वायरे हिं कडेहिं ।
 उएहे निगोयजीवा, सीयलए तंतुया हुंति ॥ ३९ ॥
 तकं बिलंमि सिच्छो, मामो लणएयरएल्लामाम्मि ।
 उएहेमि तसा जीवा, सीयलए हुंति य निगोया ॥ ४० ॥
 माहिंसतके झगलेहिं, सिच्छो जइति कंगुओ होइ ।
 समुच्छंति अणोया, सीयलए तंतुया जीवा ॥ ४१ ॥
 चट्टापचंतिद्वं-मि सिच्छयं उएहयं च अगिणीए ।
 उप्पज्जंति अणगा, सीयलए किएहया जीवा ॥ ४२ ॥
 अंबिन्नमिच्छविराड्डी, एगतेणं च सा वि पफिसिच्छा ।
 उगहंमि तसा जीवा, निगोयजीवा य सीयलए ॥ ४३ ॥
 सासासरसकंगुओ, एए तिप्पि च उएहया कूरा ।
 परंहरियन्वा निच्चं सीयलए तंतुया जीवा ॥ ४४ ॥
 झगन्नतके सिच्छो, कंगुओ स्वायरेहिं कडेहिं ।
 तिन्नयल्लगुमिस्सो, निगोयपंचिदिया हुंति ॥ ४५ ॥
 निगंघाण अभक्खं, मल्लगसागं विरचि परिवुच्छं ।
 कुंउदमायनिगोया, उप्पज्जंति य बहुय जीवा ॥ ४६ ॥
 मासाविहूपरिवुच्छा, एगतेण वि हुंति अभक्खला ।
 हुंति य निगोयजीवा, तंतुअ पंचिदिया तत्थ ॥ ४७ ॥
 सतु अजक्खवा भक्खवा, भक्खवा परिवुच्छेज्जसुरहत्तसंमि ।
 पेसासुहुकुक्कुदिया, पंचिदियजीवजाणं सा ॥ ४८ ॥
 एगं जामं जक्खवा, पुव्वरिया कुंउआ भवे पच्छा ।
 एगंतेण अजक्खवा, परिवुच्छा मासपोड्डीया ॥ ४९ ॥
 उप्पज्जंति निगोया, जीवा पंचिदिया बहुविहा य ।

बुद्धिसे सु मायेगसुं, परिवुच्छासु तहिं देसं ॥ ५० ॥
 गोसत्त्वायाएयं, गोणीए गोरसेण जं मिसं ।
 संसप्ये रसएहिं, खणेण वाग्गससरिसेहिं ॥ ५१ ॥
 सव्वेसु वि देमेसुं, परिवुसियाहं अकप्पणज्जाइं ।
 असणं पाणमज्जक्खं, नाणा जीवाण सा जोणी ॥ ५२ ॥
 जा परिवुच्छं जुंजइ, एगरमं चउविहं पि आहारं ।
 सा बहुविहजीवाण, करेइ अंतं अयाणतो ॥ ५३ ॥
 जो नाही पडिवाचिं, खायादेसेसु सत्तभसिएणं ।
 सो संजमं अविक्कं, करेइ साहु य परिहरंतां ॥ ५४ ॥
 अंकुल्लयाणियाए, बायाल्लट्टीइ जो य इक्खुरमो ।
 मच्छासमुच्छंति अ, तक्कासं सव्वदेमेसु ॥ ५५ ॥
 संसत्तयणज्जुत्ती, एसा साहुहिं च व पडिअन्वा ।
 अत्थो पुण सव्वेहिं वि, सोयन्वो साहु पासाओ ॥ ५६ ॥
 सं० नि० । आचा० ।

अकट्टिपत्त-वि० अयन्त्ये, ग० १ अचि० ।

अकन्नर-पुं० पारसीकांश्च शब्दः दिङ्हीनगराधिपतौ, म्हे-
 क्लुराज, स हीरविजयप्रतिबोधितः “ यो जीवानयदानमिदि-
 मारियात् स्त्रीयं यशोर्गिडिम, वरमासास्मनिवर्षसुधमखिले
 चृमाकलेऽपीयदत् ॥ जेजे धार्मिकतामधम्मरसिको म्हे-
 च्छाप्रिमोऽकम्बरः, श्रुत्वा यद्वदनादनाविलसितभिर्धर्मोपदेशं
 सुप्रम ॥ १ ॥ कण० ॥

अकम्म-अकर्मन-न० न० त० कर्मकरणाज्ये, ह० १ उ० आ-
 श्रयनिगेधे, मू० १ ह० १२ अ० १ न विद्यते कर्मोक्त्ये (की-
 णकर्मणि) पुं० आचा० १ अ० ५ अ० ६ उ० ।

अकर्मणा गतिः ।

अत्थि एणं भंते ! अकम्मस्स गर्हं पएणायइ हंता अत्थि
 कएहं भंते ! अकम्मस्स गर्हं पएणायइ गोयमा ! निस्संगयाए
 निरंगणयाए गइपरिणामेणं बंधणउयेणयाए निरिधलयाए
 पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गर्हं पएणायइ कएहं भंते ! नि-
 स्संगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं अकम्मस्स गर्हं प-
 छायाइ गोयमा ! से तुंवे तेमि अट्टएहं मट्टियासेवाणं गुरुयत्ताए-
 भारियत्ताए गुरुयसंजारियत्ताए सज्जिततलपइवइत्ता अहं
 धरणिगतलपइइएणं भवइ हंता हवइ अहे एणं से तुंवे तेमि
 अट्टएहं मट्टियासेवाणं परिकखएणं धरणिगतलपइवइत्ता
 उप्पि मल्लिलपइइएणं भवइ हंता भवइ एवं खहु गोयमा !
 निस्संगयाए निरंगणयाए गतिपरिणामेणं अकम्मस्स
 गइपसायइ कएहं भंते ! बंधनउयेणयाए अकम्मस्स
 गर्हं पएत्ता गोयमा ! से जहा नामए कल्लमिचं लयाइ वा

मुगसिंवलियाइ वा मामसिंवलियाइ वा सिंवलिसिंवलियाइ वा परंमिजियाइ वा उगडे (दिणा सुक्का ममाणी) कुञ्चित्ताणं एगंतमेतं गच्छइ एवं खलु गोयया । कहुइहं जंते ! निरिण्णयाए अकम्मस्स गई गोयया ! से जहा नामए धूमस्स इण्णविपुक्कस्स उहं वीससाए निब्बाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयया ! कहुइहं भंते ! पुञ्जपत्रोणेणं अकम्मस्स गई पप्पमा गोयया ! से जहानामए कंइस्स कोदंइविपुक्कस्स लक्खाजिमुहं निब्बाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयया ! पुञ्जपत्रोणेणं अकम्मस्स गई पवत्तइ एवं खलु गोयया ! नीर्मगयाए निरिण्णयाए जाव पुञ्जपत्रोणेणं अकम्मस्स गई पवत्तइ ।

(गह पघायहसि) गांतेः प्रहायेतेऽनुपगम्यन् इति यावत् (निस्संगयाएत्ति) निःसङ्गतया कर्ममहापगमेन (निरंगणयाएत्ति) नीरागतया मोहापगमेन (गगपरिणामेणंति) गतिस्वभावतया अज्ञातुच्छत्येष (अथत्रयेणयाएत्ति) कर्मवधनच्छेदनेन परयस्फलस्यैव (निरंगणयाएत्ति) कर्मवधनविमोचनेन धूमस्यैव (पुञ्जपत्रोणेणंति) सकर्मतायां गतिपरिणामवस्थेन बाणस्यैवांत एतद्देव विषयषष्ठाह (कहुइहामित्यादि) (निरुवइयंति) वाताद्यनुवहंतं (देवमेवियंति) दिक्कः समसैः (कुञ्चोत्थियंति) कुञ्चोत्थैरेव छिन्नसूत्रैः (वृद्धंमूर्च्छं) जूया जूयः (अस्याहेत्यादि) इह मकारो प्राकृतप्रजनवाद्यतोऽस्तायेऽत एवातारोऽत एवाणोक्तयेऽपुकरप्रमाणे (कञ्जिसिंवलियाइ वा) कलायाजिनाथान्धमफलिका (सिंवलिया) वृद्धविशेषः (परंमिजियाया वा) पररुपफरं (एगंतमेतं गच्छइत्ति) एक इत्येवमनोना निश्चया यथासावकान् एक इत्यर्थोऽतस्समन्ते जूजागं गच्छति इह क बाजस्य गमनप्रपेयत् कलाय सिम्बलिकादि । तज्जकं "सत्तयारभेदोपचारादिति" (उहं वीससायत्ति) उहं विस्सयाया स्वयानेन (निब्बाघाएणंति) कटाघाच्छादनाजावात्, म० ७५० १, ७० (अकम्मस्स वयहरो रा विज्जति) आवा० १ ७० २ अ० १३० । न विद्यते कमांस्येति अकमां कमांरहिते, धीयान्तरायक्यजिनने जापस्य सहजं धीयै, "किन्तु वीरस्स धीरंत्तं, कहं जेयं पवुच्चइ । कम्ममेगे पवेदेति, अकम्मं वा वि सुज्जया" सुज० १ ७० ३ अ० अकम्मओ-अकम्मैतस्-अव्व० कमाणि विनेत्यर्थे, "सां अकम्मओ धिंमत्तिजानं परिणमइ" ज० १२ श० ५ ७० ।

अकम्मस-अकर्मोडा-पुं० न विद्यते कमांशो यत्सोऽकर्मोडाः । कर्महवधिप्रमुते । "अपत्तिंयं अकम्मसे, पयमट्टिमिगे सुए" सुज० १ ७० १ अ० १ ७० । विगतयातिकर्मणि स्नातकभेदे, म० १५ श० ६ ७० ।

अकम्मकारि [न]-अकर्मकारिन्-वि० स्वर्ज्यमानुचितकर्मकारिणि, प्रक० प्राअ० २ श० ।

अकम्मग-अकर्मक-वि० नास्ति कम्मं यत्सु क० क० । व्याकरणेते कम्मशब्दे धातौ । "लः कम्मणि च भावे आकर्मकेज्यः" ३ ५ । ६९ इति [पाणिनिः] " फलव्यापारयोरिकनिष्ठताया-अकर्मकः " इति हरिः । शिष्यां टापि कापि अत इत्यथ अकर्मिका " प्रसिद्धेरेविषयकृतः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया " इति हरिः । आवा० आविषयकैतकर्मका अकर्मका जवन्ति । यथा, पश्य सूत्रो आचरति, आवा० १ ७० १ अ० ६ ७० ।

अकम्मनुपग-अकर्मनुपक-पुं० कर्म कृषियाणिष्यादि मोक्षा-नुष्ठानं वा तद्विकला प्रमियैवास्ते अकर्मनुमास्ते एवाकर्मनुमका आपेवात्समासात्तोऽप्रत्ययः । जीवा० १ प्रति । अकर्मनुमिज्जु वमंयुक्तात्तिकमनुच्येय, प्रहा० १ पद । ते च त्रिशद्विधाः ।

से किं तं अकम्मभूमिगा ? अकम्मभूमिगा तीसतिविहा पप्पमा तंजहा पंचाहिं हेमवपहिं पंचाहिं हेएएणवपहिं पंचाहिं हरिवासेहिं पंचाहिं रम्यगवासेहिं पंचाहिं देवकुरुएहिं पंचाहिं उत्तरकुरुएहिं सेसं अकम्मभूमिगा ।

अथ के ते अकर्मभूमिकाः ? सुरिराह अकर्मभूमिकात्रिशद्विधाः प्रहताः । तच्च त्रिशद्विधत्वं हेमजेदाव । तथा आह । "तं जहा पंचाहिं हेमवपहिं" इत्यादि । पञ्चभिर्हेमवपः पञ्चभिर्हेमवपः तैः पञ्चभिर्हरिवपैः पञ्चभिः रम्यकवपैः पञ्चभिर्देवकुरुभिः पञ्चभिस्तरकुरुभिर्मिथममानास्त्रिशद्विधा जवन्ति । येषां पञ्चानां त्रिशदांस्त्व्यातकत्वात् तत्र पञ्चसु हेमवपेषु मनुष्या गच्छतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया स्वयंयमायुषो वज्रपेभनाराचसंदर्शनिनः समचतुरस्रसंस्थानाः अतुष्यष्टिपुष्टकरएककाश्चतुर्धातिक्रमभोजिनः एकोनाश्रितिदिनान्यप्यपालकाः । उक्तं च " गावयमन्वापाल-छां-वमावणो वज्रजित्सहस्रसंघयणा । हेमवप रम्ववप, अर्हामिन्दरा मिहुणवासी ॥ १ ॥ अतुष्यष्टिपुष्टकर-रयाणमपुषयाण तेसिमाहारा । जसस्स स्वत्थस्से-गुणसिंहविद्यवधपाल-णया ॥ २ ॥ पञ्चसु हरिवपेषु पञ्चसु रम्यकवपु द्विपव्योपमा-युषो विगच्छतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया वज्रपेभनाराचसंदर्शनिनः समचतुरस्रसंस्थानाः षष्ठ्यनकातिकमाहाराणि ॥ ५५५ विद्वान्-धिकशतसंख्यपुष्टकराणकाश्चतुष्पट्टिदिनान्यप्यपालकाः (आ-इ च " हरिवासरम्यसु, आठयमाणं सरोगमुसंदो । पत्तिशो-वमाणि दोक्षि य, शोषि य कोसुसिसया भजिया ॥ १ ॥ अटुस्य व आहारा, अटुसट्टिदिणाणि पालना तेषि । पिष्टकरंराणस्यं, अ-टावां सं मयेयव्वं ॥ २ ॥ पञ्चसु देवकुरुषु पंचस्वरकुरुषु त्रिपल्या-पमायुषो गच्छतिप्रमाणशरीरोच्छ्रयाः समचतुरस्रसंस्थाना वज्रपेभनाराचसंदर्शनिनः पदपञ्चादधिकशतस्रप्रमाणपुष्ट-करएकका अष्टमनकातिकमाहाराणि पक्कानपञ्चाहां हानान्यप्य-पालकाः । तथोक्तं च " दोसु वि कुकसु मणुया, तिपट्टपरमरासे ति कोसुत्था । पिष्टकरंसयादि, दोऽप्यथाइ मणुयाण ॥ १ ॥ सुसमसुसामणुजायं, अणुभवमणाणसुवक्कंशय्या । अठया पञ्चदिणां, अटुमजसस्स आहारा ॥ २ ॥ यतेषु स्वेष्यपि हेमेष्वन्तरहीणेष्विव मनुष्याणामुपयोगः कल्पद्रुमसम्पादिताः नवरमन्तरदीपापयथा पञ्चसु हेमवपेषु मनुष्याणामुखांनब-हर्षायादिकं कल्पपादफलानामास्वादां जूमामोषुधैर्मयेयमा-दिका भावाः पयैयानधिकृत्यानन्तगुणा रुष्टव्याः त्रयोऽपि पञ्चसु हरिवपेषु पञ्चसु रम्यकवपेषु अमन्तगवास्तेऽप्योऽपि पञ्चसु देव-कुरुषु पञ्चस्तरकुरुष्वन्तगुणाः । प्रहा० १ पद । जी० । आ० म० ६ ० । एषां कल्पवृक्षाः-

अकम्मभूमिगाणं मणुआणं दसविहा रुक्खा उवजोगत्ताए उवत्थिया पणुत्ता । तंजहा-मर्त्तगया य अंगा, तुनि-अंगा दीव-नोइ-विचिंगा । विचरसा मणिअंगा, गेहामारा अणगिया य ॥

तथा अकर्मभूमिकानां मोगजुमिज्जमनां मनुष्याणां द्वाविधा (रुक्वति) कल्पवृक्षाः (उषभोगत्ताएत्ति) उषभोग्मत्तयाय

(उच्यथियत्ति) उपस्थिता उपनीता इत्यर्थः । तत्र मत्साङ्गकाः मद्यकारणतृताः (जिगति) भाजनरायिनः (तुभियंगति) तुयाङ्गसम्पादाः (दीवत्ति) दीपशिक्षाः प्रदीपकार्यकारिणः (जोरति) ज्योतिरभितस्त्यकार्यकारिण इति (चिन्तयति) चिन्नाहः पुष्पदायिनः चित्ररत्नाः भोजनदायिनः मगयङ्गा आजर-पदायिनः मेघाकाराः भवनव्येवापकारिणः अननन्तं सखत्वं तच्छतुस्वादनम्ना इति, स० १० सम० ।

अकम्भजूमि-अकम्भजूमि-खी० न० ७० ह्य्याविकर्मरहितः । क-
ल्पपादपफलोपभोगप्रधाना भूमयो हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चक-
देवकुपञ्चकोत्तरकुपञ्चकर्म्यकर्म्यकर्म्यकर्म्यवतपञ्चककपाशि-
शदकर्मजुमयः । न० ० । इत्येतासु जोगजूमिषु, प्रथम० अथ० ५
ह्य० । ख्य० । प्रथ० ।

जंबुद्वीपे दीवे मंदरस्स पवत्रयस्स दाहिणेणं तत्रो अकम्भ-
भूमिओ पम्पत्ताओ तंजहा-हेमवप हरिवासे देवकुरा । जंबुद्वी-
पे दीवे मंदरस्स उत्तरणं तत्रो अकम्भजूमिओ पम्पत्ताओ
तंजहा-उत्तरकुरा रम्मगवासे परभवप (स्था०३ उ० ५ उ०)
जम्बुद्वीपे दीवे देवकुपउत्तरकुपञ्चकाओ चचारि अकम्भजु-
मिओ पम्पत्ताओ तंजहा-हेमवप हेमवप हरिवासे रम्म-
गवासे, स्था० ५ उ० ।

सर्वसङ्घे ।

जंबुद्वीपे दीवे अकम्भजूमिओ पम्पत्ताओ । तंजहा-हेमवप
हेरभवप हरिवासे रम्मगवासे देवकुरा उत्तरकुरा । धापद्वं द-
दीवपुरच्छिमकेणं अकम्भजूमिओ पम्पत्ताओ । तंजहा-हेम-
वप जहा जंबुद्वीपे तहा जाव अंतरणंओ जाव पुक्खरवरदीव-
हे पत्थियमके भाणियववं (स्था० ६ उ०) कइविहेणं जंते ।
अकम्भजूमिओ पम्पत्ताओ । गोयमा । तीमं अकम्भजु-
मिओ पम्पत्ताओ, तंजहा पंच हेमवयाइं पंच हेरभवयाइं ।
पंच हरिवासाइं पंच रम्मगवासाइं पंच देवकुराइं पंच उत्तर-
कुराइं एयासु णं भंते ! तीसासु अकम्भजूमिसु अत्यि
उस्सपिण्णति वा ओसपिण्णति वा ? णो इण्ण उस्सपत्ते ।
भ० ५ उ० श० ८ उ० ।

अकम्भजूमिय-अकम्भजूमिज-पुं० अकम्भजूमिषु जाता अकम्भ-
जूमिजा गभेजमनुयभेदपु, नं० ।

अकम्भजूमिआ-अकम्भजूमिजा-खी० अकम्भजूमिभोगूमि-
स्तत्र जाता अकम्भजूमिजा जोगजूमिजगभ्यंत्वात्तिकमनुष्य-
स्त्रीषु, स्था० ३ उ० १ उ० ।

से किं तं अकम्भजूमियाओ अकम्भजूमियाओ तीसति-वि-
धाओ पम्पत्ताओ । तंजहा-पंचसु हेमवपसु पंचसु हेरभवपसु
पंचसु हरिवासेसु पंचसु रम्मगवासेसु पंचसु देवकुरुसु पंचसु
उत्तरकुरुसु सेचं अकम्भजूमिगमपुस्सीओ । जी० १ प्रति० ।
अकम्भया-अकम्भया-खी० कर्मणामभावे, अस्याः फलं यथा-

अहाठयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तावसेसाउए जोगनिरोइं
करेमाणे सुट्टमकिरियं अप्पदिवाइयं मुक्कजाणं भायमाणे
तपट्टमयाए मणजोगं निरंभइ मणजोगं निरंजइत्ता बइजोगं

निरंभइ बइजोगं निरंजइत्ता कायजोगं निरंभइ कायजोगं
निरंभइत्ता आणयाणनिरोइं करइ आणयाणनिरोइं
करइत्ता इसि पंच रहस्सवत्थरक्काएपय णं आणयाणं समु-
च्छिन्नकिरियं अणियट्टइ मुक्कजाणं जियायमाणे वेय-
एज्जं आउयं नामं गीयं च एए चत्तारि विकम्मसे सुग-
वं खवेइं ॥५३॥ तत्रो आराद्धियकम्माइं च सव्वाइं विप-
जट्टयाइं विपजट्टिच्चा उज्जसेदी पत्ते अफुसमापागई उठ्ठं
एगसमएणं अविगग्गहेणं तत्थ गंता सागारावठत्ते सिज्जइ
बुज्जइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वज्जत्तावा अंतं करइं ॥५३॥

शैलेत्यकर्मताहारमर्यतो ध्यावित्थ्यासुराह (अदिति) केच-
ला उवाच्यनन्तरमायुक्तं जीवितमन्तमुहूर्त्तविपरिमाणं पाल-
यित्वा अन्तमुहूर्त्तपरिमाणः अथका कालोऽन्तमुहूर्त्तकालो वशेषे
मुद्रितं यस्मिंस्तदन्तमुहूर्त्तकालावशेषेण । तथाविधमायुस्तेति
अन्तमुहूर्त्तकालावशेषेणायुक्तः सन् पादान्तरतस्मान्मुहूर्त्तकाले-
षु आयुक्तः । पठन्ति च " अंतोयुक्तुश्चाद्यवसेसा " इति प्राकृ-
तस्वाद्यन्तमुहूर्त्तकालावशेषेणायुक्तः (जोगनिरोइं करेमाणिष्ठ)
योगनिरोइं करिष्यमात्रः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपत्तनशीलमप्रति-
पात्यधःपतनाभावात् शुक्लव्याप्तं "समुदायेषुहि प्रवृत्ताः श-
ब्दा श्रवणवेच्छिप वसन्ते" इति युक्तो ध्यानतृतीयदेवः ध्याय-
स्तप्रथमतया तदाद्यथा मनसो मनसोः मनोयोगाः मनोद्रव्य-
साधिव्यजनितो व्यापारस्तं निरुण्णि । तत्र च पर्याप्तमात्रस्य
संज्ञिनो जघन्ययोगिनो धावन्ति मनोद्रव्याणि तज्जनिताश्च या-
वान् व्यापारस्तदसंख्यगुणविहीनानि मनोद्रव्याणि तद्यापि तत्रापरि-
प्रतिपत्तयं निरुण्णन् तदसंख्येयसमर्थस्त्वर्धेनोक्तं करोति ।
यत् उक्तम् "पञ्चतमिससधि-स्तजसियाइं जइधजोगिस्स ।
हीति मणोइव्वाइं, तव्वावाणं य जम्मसो" ॥ तयसंख्यगुण-
विहीणे, समए २ निरंभमाणो सो । मणसो सव्वनिरोइं, कु-
णइ असंखजसमएइं " तदनन्तरं च धावो वाचि वा योगो
वायोगो भायाद्रव्यसाधिव्यजनितो जीवव्यापारस्तं निरु-
ण्णि तत्र च पर्याप्तमात्रादीन्द्रियजघन्यवागयोगोपयायेभ्योऽसं-
ख्यगुणविहीनास्तत्पर्यायान्समये २ निरुण्णन्नसंख्येयसमयेः
सर्ववायोगं निरुण्णि । यत् उक्तम् " पञ्चसमेवधियेव, जइ-
धवइजोगपज्जवा जे उ । तवसंखगुणविहीणा, समए २ निरं-
भंतो । सव्ववरजोगएइं, संखाएइं कुणइ समएइं ।
आणयाणनिरोइं, पट्टमसमओयसुहुमपणमणि " आणया-
णाहुत्तासनिःश्वासो तन्निरोइं करोति सकलकाययोगनि-
रोधोपलक्षयं चैतत्तं च कुर्वन् प्रथमसमरोपसमुद्गमपनक-
जघन्यकाययोगतोऽसंख्येयगुणहीनं काययोगमकैसमये
निरुण्णन् देहाभिमाणं च शुद्धन्नसंख्येयसमयेरेव सर्वं निरुण्-
ज्जि । उक्तं च । " जो किर जइधजोगो, संखेज्जगुणहीणमि
इकिंके । समए निरंभमाणो, देहाभिमाणं च मुञ्चंतो । कंभइ
सकायजोगं, संखाएइं चैव समएइं । तो काययोगनिरोइो,
सेलेसीभावणमिति " इत्थं योगत्रयनिरोधं विधाया (इति-
त्ति) इपदिति स्वल्पप्रयत्नोपलया पञ्चानां इस्वात्तराणां
अइउरुत्तदर्थेयंउपाणामुच्चारो भणन् तस्माद्भाक्ताडो वावता
उच्चारयन्ते इत्यपञ्च, इस्वात्तराणामुच्चारणा तस्यां च (गमिति) प्रा-
वत्त अनगारः समुच्छिन्नोपपत्ता क्रिया मनोव्यापारादिकया य-
स्मिंस्तत् समुच्छिन्नक्रियं न निवर्तते कर्मकृत्यान् प्राणित्वेयंशी-

समनिवर्तिं ह्युक्तध्यानं चतुर्भेदरूपं ध्यायन् वैशैल्यवस्थामनुभवद् इति भावः । ह्रस्वाङ्काराभारणं च न बिलम्बितं इतं वा किं तु मयमेवैव गृह्यते, यत आह । " ह्रस्वसम्भाराई मज्जेण जेण कालेण पंच भवति । अच्यति सेत्थेसिगतो, तत्तियमित्तं ततो कालं " एवंविधोऽयः कुरुते तदाहा वेदनीयं शातादि आरुष्यं मनुष्यायुर्नाम मनुजगत्यादि गोत्रं चोक्थोगात्रम् (एषत्) एतानि चत्वार्यपि (कम्मं सेत्ति) सत्कम्माणि युगपद् कृपयति एतत्तुल्यएण्यारब्धं भाग्यगाथाभ्योऽवयवस्ताराचैताः "ते संखे-ज्जगुणाए, सेढीए यरइयं पुरा कम्मं। समए २ खय्यं, कम्मं सेवे-सिकात्तएण ॥ सव्वं खवेइ इं तुणए, निह्वियं किंचित्तु चरिमसमए। किंचिच्च होइ चरिमे, सेत्थेसोएत्तयं वोच्चं ॥ मणुएणइजायतत्तवा-परं प जत्तएणत्तजगमाएच्चं ॥ अणयरेवेयणित्तं, नराउत्तमुच्चं जसं पांमं ॥ संखभओ जिणुणांमं, नरापुपुब्बोयचरिअसमयंमिं। सेसा जिण-संताऊ, तुचरिमसमयमिं दिट्ठति " तत इति वेदनीयादिङ्गायानन्तर (श्रौतस्मृत्यकम्माहं च त्ति) श्रौतिककार्मण्ये शरीरं उपलक्षणोक्तं जसं च (संख्यादि विषयजहासाहिति) सखोभिर-शेषाभिर्विशेषेण विविधं वा प्रकृतो देहयस्ययोगो विप्रहाण-यो व्यक्तव्येकं बहुवचनं तामिः किमुक्तं भवति संबंधा परिशा-देन न तु यथापूर्वं संघातपरिशादाज्यां देशान्त्यागः (विष्य-जडिक्का) विशेषेण प्रहाय परिशादाः उक्तं हि "अंतरालियाहिं सव्वा, चयइ विष्यजहसाहिं अं भणियं । नीसेसतयाण जहा, देसत्तएण सो पुत्तिव " चशब्दोऽत्र श्रौतिक्यादिजायनिवृत्तिम-स्थामनुक्तमपि सम्बन्धिनाति यत उक्तम् " तत्सेत्तियिया-भासा, प्रवृत्तं च विणियत्तए जुगयं । सम्भसणएत्तंसेण, सुइत्ति-जसाणिमोत्तणं " अत्रुत्तरका अणिगराकाशप्रदेशपङ्क्ति-सं प्रातः अत्रुत्तरेणित इति यावत् (आकुसुममाणवत्तिल) असृष्टप्रतिनिमित-नायम यो यथा सर्वानाकाशप्रदेशात् स्पृशत्यपि तु यावत्सु जीवो-ऽवगाह्यस्तावत् एव स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमस्मत्पि प्रदेश-मूर्ध्वमुपपेकसमयेन द्वितीयादिसमयान्तराऽस्पृशनेनविधेयं वरुणतिरुपयिप्रहाभावेन अन्यव्यतिरेकाच्चायुक्तोऽधोः स्पृष्ट-तरां प्रवर्ततीत्यनुभेणिप्राप्त इत्यनेन गतार्थेऽपि पुनरभिधानं तत्राति विवाङ्कितं मुक्तिपदं इति यावत् (गंतैत्ति) गत्या साका-रोपयुक्तो हानोपयेयगवान् सिष्यनीत्यादि यावदन्तं करोतीत्या-दि प्राग्भूत् । उक्तं च " अत्रुत्तरेण पडियन्तो, समयएपसंतं अकुसुमाणां । एगममएण सिउअइ, अहसागारावज्जतो सो " इति अणसर्गसुत्तरेणः । इह श्रुतिभूतः "सेत्थेसो अं भंते ! जीवे किं जणयइ अकम्मं जणयइ अकम्मायाओ जीवा सिज्जेति" इति पाठः पूर्वत्र च क्वचित् किंचित्पाठं नदेनात्वा एव प्रश्ना आश्रिताः अस्माभिस्तु भूयसीयु प्रतिपु यथाव्याख्यातपाठदृश्यं-नादिदृश्यवतीतिमिति । उक्तं २१ अ० ।

अकम्हा (म्मा) - अकम्मात् - अत्र ० न कस्मात् किञ्चित्कार-
णाधीनत्वं यत्र । अत्रुत्तसमासः वाच० । 'एदमइमप्पसम्हां इहः' ८ । २ । ७३ । इति सूत्रेण स्मेति भागस्य मकागक्रान्तो हकारः प्रा० । अथवा मगधदेशे गोपात्रसालावलादिप्रसिद्धोऽकम्मा-दिनि शब्दः । स इह प्राक्तेऽपि तथैव प्रयुक्तः । इथा० २ उ० । कारणाधर्षिण, अनीकीर्तननेन वा, बाहानिभिसानपेक्के, इथा० ७ उ० । अनभिसन्धे, प्रश्न० संब० ५ उ० । प्राचा० ।

अकम्हा (म्मा) किरिया - अकम्मात्किरा - क्री० अन्यस्मै निवृ-
त्तेन शरादिनाऽन्यथागतज्ञेये चतुर्थं किरास्थानं, ध० ३ अर्थि० ।

अकम्हा (म्मा) दंड - अकम्माहएउ - ३० अकम्मादन्नि-
सन्धिनाऽन्यथाधर्मयुक्त्या इष्टतोऽन्यस्य विनाशोऽकम्माहृ-
एकः । स० १३ सम० । अन्यवधाद्यप्रहारो मुक्तेऽन्यस्य बधलकणे
चतुर्थं दण्डे, इथा० ५ उ० २ उ० । प्रश्न० । प्रश्न० । भाव० ।

अकम्हा (म्मा) दंभवत्तिय - अकम्माहएउप्रत्ययिक - न० अ-
कम्माहृएउः प्रत्ययः कारणं यस्य । चतुर्थं दण्डसमादाने,

आहावेरं चत्तये दंभवत्तयादाणे अकम्मादंभवत्तियएत्ति आ-
हिज्जइ से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंति वा जाव वण-
दुगांसि वा मियवत्तिए मियसंकपे मियएण्णहाणे मियवहा-
ए गंता एए मियात्ति काउं अन्नययस्स मियस्स वहाए इमुं-
आयामेत्ता एण्णिनिरेजा स मियं बडिस्सामित्तकट्टु तिचि
रं वा वट्ठं वा चरुगं वा ज्ञायगं वा क्वयोयं वा कविं वा
कविजलं वा विपिता जवइ इह खलु से अन्नस्स अच्चाए
अम्मं फुसति अकम्मादं ॥ १० ॥ से जहाणामए केइ पुरिसे
सालोण्णि वा बीहीणि वा कोइवाणि वा कंगुण्णि वा पर-
गाणि वा रालाणि वा णिलिज्जाणे अन्नययस्स तणस्स
वहाए सत्तयं णिसिरेज्जा मे सामगं तणगं कुमुट्टुगं बीहीऊ
सियं कलेसुयं तणं टिदिस्सामित्तकट्टु सात्ति वा बीहिं वा
कोइवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं वा छिदिता भवइ इति
खलु मे अन्नस्स अच्चाए अन्नं फुसति अकम्मादं एवं खलु
तत्पत्तियं सावज्जं आहिज्जइ चत्तये दंभवत्तयादाणे
अकम्मादंभवत्तिय आहिए ॥ ११ ॥

अकम्मादं चतुर्थं दण्डसमादानमकम्माहृएउप्रत्ययिककम्मास्था-
यते । इह चाकम्मादित्यर्थं शब्दो मगधदेशे सर्वसाध्यागोपा-
लाङ्कादिना संस्कृत एवाचार्यत इति । तदिहापि तथाभूत-
एवोच्चारित इति । तद्यथानाम कश्चित्पुरुषो लुब्धकादिकः
कच्छे वा यावद् वन्दुर्न वा गत्या मूर्ध्वैरिरोत्तरादव्यपशुनिर्भूति-
वर्षेन यद्य स मृगवृत्तकः स चैवंभूतः मृगुपु संकलपो यस्या-
सौ मृगसंकल्पः । एतदेव दर्शयति । मृगुपु प्रथियमानन्तःकर-
णवृत्तियस्यासौ मृगप्रथिधानः क मृगान्दृश्यामीत्येतदव्यव-
सायी सन् मृगवधायां कच्छादिपु गन्ता भवति । तत्र च गतः
स दृष्ट्वा मृगान्ते मृगा इत्येवं कृत्वा तेषां मध्येऽन्यतरस्य मृगस्य-
वधाधर्मिणु शरम् (आयामेत्तिल) आयामेन समाकृष्य मृगमु-
द्दिश्य निरुजति स चैवंसंकलपो भवति । तथाऽहं मृगं मृगमु-
प्यामीति इपु क्षिप्तवान् । स च तेनपुरुणा तित्तिरादिकं पाल्कि-
शेषे व्यापदयिता भवति, तदेवं खल्वसावन्वस्यार्थय निमित्तो
दण्डो यदाप्यं स्पृशति घातयति तदा 'अकम्माहृएउ' इत्यु-
च्यते ॥ १० ॥ अथुना वनस्पतिमुद्दिश्याकम्माहृएउ उच्यत
(सं जहत्यादि) तद्यथानाम कश्चिदुत्तुवः कृषीवलादिः शा-
ल्यादेषोऽन्यजानस्य श्यामादिकं तृणजातमपनयन् धान्य-
शुद्धि कुवाणः सन् अन्यतरस्य तृणजातस्यापनयनार्थं शक्यं
दात्रादिकं निरुज्जेत् स च श्यामादिकं तृणं श्लेन्स्यामीति कृ-
त्वाऽकम्माहृण्णित्ति वा रालकं वा छिदाद्गृहणीयं व्यासावक-
म्माहृण्णित्ति भवति । इत्येवमन्यथाधोऽन्यकृतेऽन्यं वा स्पृश-
ति छिनत्ति । यदि वा स्पृशतीत्यनेनापि परितापं करोतीति द-

शैथिली । तदेवं अलु तस्य तत्कर्तुंस्तत्प्रत्ययिकमकम्पाहृदइनि-
मित्तं सावधानिमिति पापमापीयते संबद्धते । तदेतच्चतुर्थेदृष्ट-
समादानमकम्पाहृदप्रत्ययिकमाख्यातमिति ॥ ११ ॥ सुखं
२ कृ० २ अ० ।

अकम्पा (म्पा) भय-अकस्माद्भय-न० अकस्मात्वेव बाह्य-
निमित्तानयनं युहादिभ्येव स्थितयव राज्ञाथौ भयमकस्माद्भ-
यम्, आच० ४ अ० । स्था० । बाह्यानिमित्तनिरपेक्षे स्वविकल्पा-
ज्ञाते भयमदे, स० उ सम० । आ० चू० नि० चू० । अकस्मात्सह-
सैव विश्रब्धस्थातेष्वनिश्रवणाद्भयमकस्माद्भयम् । यथा हस्त्या-
गणत्तीत्यादिश्रयणात्प्रब्रजनम्, वर्य० ।

अकृत्-अकृत-त्रि० कृ कर्मणि कः । न० त० । कृतजिने, अग्न्यधा-
कृने, बलपूर्वकृते, अणलेष्यपत्रादौ, साधर्थं दायकमे पाकतोऽ-
विहिते, प्रअ० सच० १ द्रा० । अकयमकारियमसंकीर्णयमणा-
हुव " न० उ द्रा० १ उ० । एकदेशग्रहणेन ग्रहणात् । अकृ-
तकरये, अयुहीतमायश्चित्, व्य० १ उ० । जावे क० । अमावाथे,
न० त० करणाभावे, निवृत्तौ, वाच० ।

अकयकरण-अकृतकरण-पुं० यष्टाद्यमादिजिस्तपोविशेषैरप-
रिक्तिं तदारीर, प्रायश्चित्तचर्यायेव्युपक्रमे, व्य० १ उ० । "अ-
कयकरणाप्य जुविहा, अदिगथा अणदिगया य बोधव्य" अ० १
उ० । अकृतकरणा द्विविधाः । अदिगता अनधिगताश्च । तत्र ये
अयुहीतयुवाथोस्ते अनधिगताः । युहीतयुवाथोस्ते अधिगताः,
व्य० १ उ० ।

अकयमुष्-अकृतकृ-त्रि० कृतमुष्कारं परसंबन्धिनं न आनाती-
त्यकृत्कः, स्था० ४ टा० ४ उ० । क्रा० । क० । असमर्थे स० ।
कृतापकारास्मारके कृतत्र, वाच० ।

अकयमुष्पा-अकृतकृता-स्त्री० अकृतकृत्स्य प्राचस्तत्पा । कृतप्र-
तायाम्, "चउहिं उरोहिं संते गुणे णासेज्जा तज्जा-कोहेणं प-
निःणियेसण अकययणुयाप मिच्छुत्तादिहिण्येसं" स्था० ४
ता० ४ उ० ।

अकयपुष्-अकृतपुष्प-त्रि० अविहितपुष्पे, विपा० १ कृ० ७
अ० "अकयपुष्प जणमणोरहा विवंचित्तिस्समाणी" क्रा० ५ अ० ।

अकयप (ण्)-अकृतात्पन-त्रि० अयतन्दिब, "सुखमात्प-
निकं यत्तद्, बुद्धिप्राप्तमतीन्द्रियम् । तं हि मोक्षं विजानीयाद् बु-
ध्प्रापमकृतात्मनिः, स्या० ।

अकयमुष्-अकृतमुष्-त्रि० अकृतमङ्गरसंस्कारेणसंसृष्टं मुष्ं
यस्यासावकृतमुष्ः अपठितशिक्षिते, "पोत्यगवषयपठियं, किं
रुसे पसं बुध्ब अदिशायं । अकयमुष्पसगमाणय-जाते सि-
क्षन्तं पंचमाः" कृ० ३ उ० ।

अकयसमाचारीय-अकृतसमाचारीक-पुं० उपसंपदविषयाया
मण्डलविषयायाश्च द्विविधया अपि समाचार्या प्रकारके,
वृ० १ उ० ।

अकयमुष्-अकृतभुत्-पुं० अनीतार्थे-व्य० ६ उ० । अयुहीतो-
चित्तस्वार्थे, तदुभये, व्य० ४ उ० ।

अकरंरग-अकरारक-त्रि० अकरारको बंधप्रधितः समतलक-
स्तवेषवाकारो यस्य तत्करारकम् न करारकमकरारकम्, अ-
थौ । करारककारारहिते शीर्षे, समचतुरस्रे, वा "अकरारयंभि
भागे, इत्थो षकं अहा न पठेत्" कृ० ३ उ० ।

अकरंरुय-अकरारुक-त्रि० अविद्यमानं मांसलतया अनुपस-

ह्ययमाणं करारकं पृष्ठवंशास्थिकं यस्य देहस्यासौऽकरारकः ।
जी० ३ प्रति० । मांसलतयाऽनुपसहयमाणपृष्ठवंशास्थिक,
शौ० । मांसोपचितत्वाविद्यमानपृष्ठपाशोस्थिकं, तं० । प्रअ० ।
" अकरंरुयकणगमरुयगणिममसज्जायापिद्वहयदेहधारी "
जी० ३ प्रति० ।

अकरण-अकरण-न० । क० प्राये व्युद्, अर्थाजावे, न० त०
अन्वापारे, आचा० १ कृ० ५ अ० । १ उ० । अनासेवने, आच० ।
६ अ० । पञ्चा० । परिहरणे, आ० चू० १ अ० । अकणान्यन्कुर-
णं भेयः । अकरणं च न्यायादिमते करणाभावः, भीमांसकवेदा-
न्तिमते निवृत्तिः, अकरणीये मैयुने, "अह संवेतअकरणं, पंचणहं
विबाहिरा हुति" व्य० ३ उ० । संस्कारहीनताक्ये, साधन (हेतु)
दोषे, यथाऽमित्यः शब्दः कृतकत्वस्मादिति । अत्र कृतकत्वादि-
ति वक्तव्ये कृतकत्वस्मादिति संस्काररहितोऽप्युच्य उक्तः ।
रत्ना० ८ परि० ।

अकरणया-अकरणात्-स्त्री० करणनिषेधकपतायाव, अ० १५ अ०
१ उ० " अकरणयाप्य अकृतदिस्य " न पुनः करियामीत्यनु-
पस्थानुमज्युपगनुमिति, स्था० २ ता० १ उ० । अनासेवनायाव,
अ० ३ अधि० । "सज्जायस्स अकरणयाप उअमो कात्तं "
आच० ४ अ० ।

अकरणयो-अकरणतम्-अव्य० अकरणमाभियेत्यर्थः । अकृवन्त
इति यावत्, " अकरणयो नो सातुक्त्वा " म० १ श० १ उ० ।
अकरणणियम्-अकरणनियम्-पुं० अनासेवननियमे, " अ-
संमज्ञातनामा तु, संमतो बुत्तिसंज्ञयः सव्वेत्ताऽस्मादकरणो, नि-
यमः पापगोचरः " । द्रा० २० द्रा० ॥

अकरणि-अकरणि-स्त्री० नञ् । कः आकोशे अतिः । करणं मानु-
दित्याकोशात्मके शोषे, "तस्याकरणिरवास्तु" इति, वाच० । प्रअ० ।
अकरणिज-अकरणि-ए-स्त्री० न० त० सामान्येनाकसंशये, आच०
४ अ० । आ० चू० " इच्छामि पतिक्कमितं, अकण्यो अविरादिमो
अकरणिजो " आच० ४ अ० । अकसंशये, इहसोकरलोकिवि-
रुद्धाश्चकार्ये, आचा० १ कृ० १ अ० उ० । " अयाणुणं
अकरणिजं पावकम्मं तं णो अयंसी " आचा० १ कृ० ५ अ०
३ उ० । असत्ये, "मिच्छति वा वितहसि वा असंभंति वा
असंभयंति वा अकरणीयंति वा एगट्ठा, " आ० चू० १ अ० ।
अकरणोदय-अकरणोदय-त्रि० भाविकालमाभियाकरणावैवो-
दयो यस्मिन्निति तत्तथा (अनागते कालोऽकरणविवेनोदयं प्रा-
प्यति) "उत्थाने विवेदात्, करणमकरणोदयं सदैवास्याः "
यो० १५ वि० ।

अकरलं-अकरल-पुं० विद्वद्भेदे, अकरलंन्याह-द्विविधं प्रत्यक्ष-
ज्ञानम् । सांख्यवहारिकं मुख्यं च, इत्यादि न० त० कर्मरूढरहिते च, त्रि०
अकरलुण-अकरल-त्रि० नास्ति करुणा यस्य यत्र वा, दैत्यशून्ये
च, वाच० । निदोषे, प्रअ० आअ० ३ चो० ।

अकरलुय-अकरलुय-त्रि० न० ब० क्रोधादिकालुष्यरहिते, अणु०
श्रेयर्जिते, अन्त० ७ धर्माः ।

अकसाइ (न्)-अकसायिन्-पुं० कषाया विघ्नते यस्यासौ
कषायी न कषायी अकषायी, सुख० १ कृ० ६ अ० । आचा० । कषा-
योदयरहिते, प्रहा० ३ पव ।

अकताप-अकषायि-पुं० कषायरहिते, "अकषायं अहकषायं,

कुवमत्यस्त जिणस्व वा" । उच० १८ अ० अकसायाः अशान्त-
भोहाद्यञ्चकारः सिद्धात्, स्था० ४ डा० ।

अकसिण-अकृत्स्न-वि० अपरिपूर्णं, प्रति० । पञ्जा० ।

अकसिणपवस्य-अकृत्स्नपर्यतेक-पुं० अकृत्स्नपरिपूर्णं संयमं
प्रवस्यति विवधति येतया । देशविरते, "अकसिणपवस्यया-
य, शिरयाविरपाण एव अरु लुप्तो" । संसारपयलुकरणे,
दव्यथयपकूबहिरंते० ॥ पञ्जा० ६ विष० ।

अकसिणसंजय-अकृत्स्नसंयम-पुं० देशविरतो, प्रति० ।

अकसिणसंजयवत-अकृत्स्नसंयमवत-पुं० देशविरतमिति आके ।
"किं योग्यत्वमकृत्स्नसंयमवतां, पूजासु पूज्या जगुः, प्रति० ।

अकसिणा-अकृत्स्ना-स्त्री० चतुर्थे आरोपणाभेदे, स्था० ५ डा०
२ उ० । यस्यां चामासाधिकं ओष्यते तस्यां हि तद्वतिरिक्त-
तादेनानापरिपूर्णत्वादिति, स्था० ५ डा० ३ उ० । व्य० वि० चू० ।

अकृत्स्ना-अकृत्स्ना-स्त्री० मिथ्यादिना अज्ञानिना सिद्धस्येन वा
गृहिया कथ्यमानायां कथायाम् । तद्धुक्कणम् ।

मिच्छं वेयेतो, अत्राणीं कर्हं परिकेहेइ ।

सिंगत्यो ब गिही वा, सा अकृत्सा देसिया समए ॥२१॥
मिथ्यात्वमिति । मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म वेदव्य विपाकेन यां कां-
चित् अज्ञानी कथां कथयति । अज्ञानित्वं चाऽप्य मिथ्यादिप्रत्ययै-
व यद्येवं नाथोऽज्ञानिप्रवृत्तेन मिथ्यावेदकस्याज्ञानित्वाव्यभिचारवि-
दिति चक्षुः प्रदेशानुभववेदकेन सम्यग्दर्शना व्यभिचारमिति । किं-
विशिष्टोऽसाविद्याह-सिद्धस्यो वा च्यपमज्जितोऽज्ञानमर्माकादिः
गृही वा यः कथिदितर एव । सा एवं प्रकफप्रयुक्तकथा श्रोत-
र्यैषि प्रहाणकृत्यपरिणामनिवन्धना कथा देहिता समये । ततः
प्रतिविशोऽकृत्स्नाकृत्स्नाज्जायते गिथार्यः ॥२१॥ दश० अ० ।

अकाइय-अकायिक-पुं० नास्ति कायः (औदारिकादिः पृथि-
व्यादिपरकायस्तदन्वो वा) यथां ते अकायास्त एवाकायिकाः ।
सिंक्षु, ज० ८ श० २ उ० ।

अकाम-अकाम-पुं० कर्मनं काम इच्छा, न कामोऽकामः अवि-
च्छायायाम्, सूत्र० २ श्रु० ६ उ० । उपरोपशोभितायाम् " तं च ह्युञ्ज
अकामेणं, विमणेणं पत्किच्छयं" दश० ५ अ० ६ ख० । इच्छाम-
दनकाममरहितं, आचा० । निजराचनभिलाषिणि, निरभिप्रायं, अ०
१ श० १ उ० । मोक्षे च, तत्र सकलाभिलाषनिवृत्तेः । उच० १५ अ०

अकामप्रअङ्गुण-अकामाभिननक-पुं० अकामज्ञानरहितं,
"अकामअग्रहाणगसीयायवेस्समसगसेयज्जमल्लुपंपकपितायं"
अकामानामञ्जानादिभिर्भेः परितायः परिदाहः स तथा । अका-
मां येऽस्मानकाद्यस्तेभ्यो यः परिदाहः स तथा निजराचनभिला-
षिणात्मस्त्वानादिभिः परितायं, औ० । अस्त्वानादिभिः परिदाहः,
निरजिप्राये वा, अ० १ श० १ उ० ।

अकामकाम-अकामकाम-वि० कामानिच्छामदनकामभेदान् काम-
मयते प्राप्यते यः स कामकामो न तथा अकामकामः । न विद्यते
कामस्य कामोऽभिलाषो यस्य स अकामकामः कामानिहाय-
रहिते, अकामो मोक्षाभिलाषयत्नर सकलाभिलाषनिवृत्तेः, तं
कामयते यः स तथा (मोक्षाधिनि) " संपद्यं जहेज्ज अकाम-
कामे" उच० १५ अ० ।

अकामकिञ्च-अकामकमुत्प-वि० कर्मनं काम इच्छा न कामो-
ऽकामस्तेन ह्यकर्मव्यं यस्यास्याचकामकृत्यः । अविच्छाकारि-
णि, । सूत्र० २ श्रु० ६ अ०

अकामा-अकामक-वि० कर्मणि प्रत्ययः । अविभिलषणीयं, प्रत्य०
आअ० १ श्रु० । कर्तरी एवुक् । अविच्छति, "अकामां परि-
कर्मं, कोउ ते वारुड मरिदिति" सूत्र० १ श्रु० २ ख० २ उ० ।
अविच्छतः शृदव्यापारेच्छारहितं पराकर्मन्तं स्वाभिप्रेतानुष्ठानं
कुर्वीतं कस्मात् अवनं वारयितुं निवेद्यधितुमर्हति योष्यो अवाति
यदि वा (अकामगति) वारुक्त्वावस्थायां मदनच्छाकाररहितं
पराकर्मन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कस्वामवसरप्राप्तः कर्मणि प्रवृत्तं
वारयितुमर्हतीति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । विषयादि
वाच्छारहितं, तं । प्रत्य० ।

अकामलुहा-अकामकुधा-स्त्री० निजराचनभिलाषिणां प्रथम-
परिषदसदने, अ० १ श० १ उ० ।

अकामाधिगरय-अकामनिकरण-वि० अविच्छाप्रत्यये, तद्यथा ।

ए ए अं अंधा मुदा तमपविद्धा तमपरुलमोइ जालपडिच्छसा
अकामनिगरणं वेयणं वेदंतीति वचन्त्यं सिया इता गोयमा!
जे इम असिखियो पाणा पुदविकाइया जाव वणस्सइकाइया
उद्धा जाव वेयणं वेदंतीति वचन्त्यं सिया । अत्थि एं भंत !
पच् वी अकामनिकरणं वेदणं वेदेइ इता अत्थि कइएणं भंत !
पच् वी अकामनिकरणं वेयणं वेदेइ गोयमा ! जे एं नो
पच् विणा पदीवेणं अंधकारंसि रूवाइं जेणं यो पच् पुर-
ओ रूवाइं अणिज्जाइत्ताणं पासित्तए जे एं नो पच्
मागाओ रूवाइं अणवयक्खित्ताणं पासित्तए जेणं नो पच्
पासओ रूवाइं अणुलोएत्तां पासित्तए पमए अकामनि-
करणं वेदणं वेदेइ अत्थि एं जेने । पच् वी पकामनिकरणं
वेयणं वेदेइ इता कइएणं समुहस्स जाव वेदणं वेदेइ जे एं
नो पच् समुहस्स पारंगमेत्तए जे एं नो पच् पारगयाइं रूवाइं
पासित्तए जे एं नो पच् देवलोगं गमित्तए जे एं नो पच् दे-
वलोगयाइं रूवाइं पासित्तए पस एं गोयमा ! पच् वी पका-
निकरणं वेदणं वेदेइ ।

(अंधयति) अन्धा इत्यान्धा अज्ञानाः (मूढति) मूढास्तत्व-
अज्ञानम्रति एत एवोपमयेव्येचन्ते (तमपविच्छति) तमःप्रवि-
ष्टा इव तमःप्रविष्टः (तमपरुलमोइहातमपरुच्छिच्छयः) तमः-
पदलमिव तमःपदलं ज्ञानावरणं मोहो मोहनीयं तदेव आजं
मोहजातं तान्त्रायं प्रतिच्छेत्वा आच्छादितं ये ते तथा (अकाम-
निगरणं) अकामो वेदानुभवेऽनिच्छा अमनस्कत्वात्मक एव
निकरणं कारणं यत्र तदकामनिकरणमज्ञानप्रत्ययमिति भावः ।
तद्यथा । अवतीत्येवं वेदानं सुखदुःखरूपां वेदानं वा संबेदनं
वेदन्ययुभवन्तीति अथासंक्षिपिक्रमाभिर्याद (अर्थोऽप्यादि)
अस्वयं पक्षो यद्युत । (पञ्चिषि) प्रवृत्तौ संक्षिप्त्येन यथाचक्षु-
रुपादिज्ञानं समर्थोऽप्यास्तामसंक्षिप्त्येनाप्रमुरित्यपिशुश्रायोः ।
अकामनिकरणमनिच्छाप्रत्ययमनाभोगात् । अन्ये त्यादुः अका-
मेनाऽनिच्छया निकरणं क्रियाया इहापेमातिलकृपाया अभावो
यत्र वेदेन तद्यथा । यद्यथा । अवतीत्येवं वेदानं वेदन्यतीति प्रथमः,
उत्तरन्तु (जेणंति) यः प्राणी संक्षिप्त्येनापायसद्धानेन च ह्या-
दीनां हानादौ समर्थोऽपि (नोपलुत्ति) न समर्थः विना प्रदो-
पेनान्धकारे रूपाणि (पासित्तए) द्युमेवोऽकामप्रत्ययं

वेद्यतीति संबन्धः (पुरञ्जोति) अमतः (अणिज्ज्ञापसाणंति)
 अमिथ्याय चक्षुरध्याप्यार्थे । (मगाउत्ति) । पुष्टः (अण्वय-
 किञ्चसाणंति) अनेवेद्य पञ्चान्नमनश्चक्षुष्येति अकामनिकर-
 णवेदनां वेद्यवन्तीत्युक्तमथ तद्विपर्ययमाह (अन्धीयमित्यादि)
 प्रकृतिरपि संक्षिप्तं रूपदर्शनसमर्थोऽपि (एकामनिकरणंति)
 प्रकाम ईदृशनाथोऽप्रातिरः प्रवर्द्धमानतया प्रकृष्टोऽजिलाषः । स
 एव निकरणमिच्छत्येसाथकियायामाद्यो यत्र, तत्र प्रकामनिक-
 रणमथ । तद्यथा भवति एवं वेदानां वेद्यतीति प्रकामः । अन्तस्तु
 (अण्वमित्यादि) यो न प्रमूः समुद्रस्य पारं गन्तुं तत्रतद्व्याप्राप्त्य-
 र्थित्ये स्वत्यपि तथाधिषसत्यैकत्वात् तत्र च, यो न प्रमूः
 समुद्रस्य पारगतानि रुपाणि कुरुं स तत्रतामिलाषातिरेकात्
 प्रकामनिकरणवेदानां वेद्यतीति । न० ७ श० ७ उ० ।

अकामिनिर्जरा-अकामनिर्जरा-स्त्री० अकामेन निर्जरां प्रत्य-
 नमिलाषेण निर्जरा कर्मनिर्जरेणहेतुर्नुसुखादिसहजं यस्ता अ-
 कामनिर्जरा । निर्जरा नमिलाषेणैव बुधादिसहजं, स्था० ४
 डा० ४ उ० । स्त्री० । कर्म० । (अकामनिर्जरा असंयता व्यन्त-
 रेपुपयन्ते इति ' बन्तर' शब्दे व्याख्यास्यामि)

अकामयतद्ग्रा-अकामयतद्ग्रा-स्त्री०निर्जराघनमिलाषिणां सतां
 तृषि, भ० १ श० १ उ० । स्त्री० ।

अकामयंभवेरवाम-अकामयंभवेरवाम-पुं० अकामानां नि-
 र्जराघनमिलाषिणां सतामकामो वा निरमिमायो ब्रह्मचर्य्येण
 कुर्यादपरिभोगाभावमत्रलक्षणेन वासो रात्रौ शयनमकाम-
 ब्रह्मचर्य्यंवासः । (फलानमिसन्धिनां ब्रह्मचर्य्यसेवने) न० १ श०
 १ उ० । स्त्री० ।

अकाममरण-अकाममरण-न० अकामेन अनीप्सितत्येन त्रि-
 यन्तप्रस्मिन् इति अकाममरणम् । बालमरणे, " बालाणं च अ-
 कं न्तु, मरणं असहं अवे " उत्त० २ अ० । (' बालमरण' शब्दे
 एतद्विपरिच्यते)

अकामिय-अकामिक-त्रि० न० ७ निरमिलाषे, " तथेव सता
 तंतापरितंता अकामिया " विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अकामिया-अकामिका-स्त्री० अनिच्छायाम् । " अकामियाय
 चिषंति दुक्त्वं " प्रअ० आअ० ३ हा० ।

अकाय-अकाय-पुं० न० ७ पृथिव्यादिवृष्विधकायविरहिते,
 स्था० २ डा० ३ उ० । स्त्री० । (अकारिकादि कायपञ्चकविप्रमुक्ते (वा)
 सिद्धे, प्रअ० १६६ हा० । आ० ७ । राहौ, तस्य शिरोमात्रत्येन
 कायशून्यत्वात् देहशून्ये, त्रि० वाच० ।

अकारा-अकारक-पुं० (न करोति भोजने रुचिम्) मन्त्रेणरूपे,
 रोगविशेषे, स्था० १ श्रु० १३ अ० । उपा० अण्व्ये, स्त्री० ।
 [अकचिरे] त्रि० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अकारगवा- (ष) -अकारकवादिन्-पुं० अकारकं वदन्ति
 तच्छीलाः, आरमनोऽतृत्वमित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यः
 निष्कारत्वेमेवाभ्युपगमेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (' शि-
 क्षियवाह' शब्दे चैतनां मत्तं तत्तुल्यत्वं च कारिष्यते)

अकारण-अकारण-त्रि० नास्ति करणं हेतुवदेर्यं वा यस्य हेतुर-
 हिते, उदेर्यरहिते च । श्रु० १६। कारकमित्ते, न० वाच० । यदा तप-
 सात्वेर्येवावृत्त्यादिकारणशून्यं निना तस्योर्थाधर्यं सरसा-
 हारं करोति तदा पञ्चमोऽकारणशब्दो इत्येबलक्षणे पञ्चमे
 परिमतीपण्याया दोषे, उत्त० २४ अ० ।

अकारवित-अकारयत्-त्रि० आरम्भकयकारणे परमव्यापार-
 यति । " आरम्भनियसाणं, अकिणुंताणं अकारवितार्णं । ध-
 म्मन्दा वायव्यं " वृ० १ उ० ।

अकारिय-अकारित-त्रि० अन्वैरकारिते, प्रअ० संब० १ हा० ।

अकाल-अकाल-पुं० अमाहास्ते, न० त० अमहास्तेकाले, विदि-
 तकर्मसु पर्युद्धस्ततयाऽनितिहे, शुद्ध्याकायस्तकालादी, अमस्ता-
 वे, उत्त० १ अ० । कतेऽप्याऽनवसरे, प्राचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । वृ० ।
 अशर्षात्, " अकाले वरिस्स " स्था० ७ डा० । अम्रातः कालो यस्य
 " प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदशोषः " इति वा० अ-
 न्यस्योपस्य । अमासकाले, अतुचितकाले, पदायं । इति कालः
 कृष्णः, न० त० । कृष्णविकृष्णभ्रमणं, न० ७ । कृष्णत्व विरोधि-
 षुभ्रव्यति, त्रि० । वाच० ।

अकालपदिवोहि- (ष) -अकालयतिवोधिन्-त्रि० (असमेये व्याभि-
 यमाने) " मिश्रकृष्णि अणारियाणि दुस्सस्यप्याधि दुष्पण्य-
 णिज्जाणि अकालपदिवोधिन् " अकालप्रतिबोधीनि । न तेषां
 कश्चिद पर्यटनकालोऽस्ति अर्धरात्रावधि मृगयादौ गमनस-
 म्भवात् । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । नि० वृ० ।

अकालपटन-अकालपटन-न० असमयवाचनायाम्, पष्वा० ।
 १५ विच० ।

अकालपरिही- (ष) -अकालपरिही-न० परिहाणिः परिहीणं का-
 ष्विलम्बः न विद्यते परिहीणं यत्र प्रातुर्वेने तत्र कालप-
 रिहीणम् (शीघ्रप्रकटीभवेन) " अकालपरिहीणं चैव सूरि-
 यानस्स अतियं पाठम्भवह " रा० ।

अकालपरिभोगि- (ष) अकालपरिभोगिन्-त्रि०, रात्रौ सर्वा-
 दरेण लुञ्जने, " अकालपरिभोगिणि अकालपरिमोर्शेधि "।
 नि० वृ० १६ उ० । प्राचा० ।

अकालमरुचु-अकालमरुचु-पुं० अकाल एव जीवितसंज्ञे, " प-
 दमो अकालमरुचु, तर्हि तासकलेण दारको उहते " आष० १ अ० ।

अकालवासि- (ष) अकालवर्षिन्-पुं० अनवसरवर्षिणि मेषे,
 तद्बदनवसरे दानव्याथानादिपरोपकारार्थप्रसूते पुरुषे च ।
 स्था० ४ डा० ४ उ० ।

अकालमकालायकर- (कारिन्) -अकालस्वाध्यायकर- (कारिन्) -
 पुं० असमाधिस्थानविशेषे, " अकाले सज्ज्जायकारो य कालियसुयं
 उग्यादपोरुहाय पदर्यतं ?] देवता असमाधिपे योजयति "।
 इत्यसमाधिस्थानत्वं तस्य । आचा० ४ अ० । स० ।

अकालि-देशी-पर्याये, दे० ना० ।

अकालुप्त-अकालुप्त-त्रि० असन्नाहारे, प्रअ० संब० २ हा० ।

अर्किचय-अर्किञ्चय-त्रि० नाऽस्य किञ्चन प्रतिबन्धात्पदं धनक-
 नकादि अस्तीति अर्किञ्चनः । निष्परिग्रहे, उत्त० ३ अ० । प्राचा० ।
 आ० वृ० । स्था० । औ० । प्रअ० । प्राचा० । हा० । हिरण्यादि-
 मिथ्यात्वादिदुष्प्रजावकिञ्चनधिमिमुक्ते, दश० ६ अ० । " समणा-
 भविस्सामो भ, अणारा अर्किचणा मज्जुत्ता च " सूत्र० २ श्रु० १
 अ० । इति के, वाच० ।

अर्किचयकर-अर्किञ्चनकर-त्रि० अर्किञ्चिस्तापदे, अर्किञ्चना-
 नां साधूनां प्रयोजनकरे, " बहदारवस्मिन् वापय अर्किचयकरे-
 य " योऽपि कश्चित्सधूनां प्रत्यनीकः सोऽपि तेषां राजादि-

अक्रिचण्यकर

कुमारमज्जितानां भयतो न किञ्चित् करोति । अथवाऽक्रिञ्जानां साधूनां यदि कथमपि केनाप्यर्ज्जने प्रयोजनमुपजायते तर्हि तत् सर्वं शोकं प्रायोऽप्रार्थित एव करोति, इयं २ उ० ।

अक्रिचणया-अक्रिचनता-स्त्री० न विद्यते किञ्चनच्यजात-मस्येत्यकिञ्चनस्तत्रावोऽक्रिञ्जता । निष्परिप्रदितायाम्, "चउ-व्विहा अक्रिचणया पञ्चत्ता तंजहा मणअक्रिचणया वइअक्रिच-णया कायअक्रिचणया उवकरणअक्रिचणया" अक्रिञ्जता च मनःप्रभृतिभिरुपकरणापेक्षया च भवतीति चातुर्भिष्यम् । स्या० ४ डा० ३ उ० । चतुर्थेऽप्य द्वितीयोद्देशकः भोगसाधनानामस्वी-कारलक्षणं यमभेदे, द्वा० द्वा० २१ ।

अक्रिचिकर-अक्रिञ्जित्कर-पुं० हेत्वाजासनेदे, स च यथा प्र-तीतं प्रत्याक्षानिराकरोते च, साध्यं हेतुराक्रिञ्जित्करः प्रतीयते । यथा-शब्दः श्रावणः शब्दत्वात्-स्त्री० न विद्यते किञ्चनच्यजात-मस्येत्यकिञ्चनस्तत्रावोऽक्रिञ्जता । निष्परिप्रदितायाम्, "चउ-व्विहा अक्रिचणया पञ्चत्ता तंजहा मणअक्रिचणया वइअक्रिच-णया कायअक्रिचणया उवकरणअक्रिचणया" अक्रिञ्जता च मनःप्रभृतिभिरुपकरणापेक्षया च भवतीति चातुर्भिष्यम् । स्या० ४ डा० ३ उ० । चतुर्थेऽप्य द्वितीयोद्देशकः भोगसाधनानामस्वी-कारलक्षणं यमभेदे, द्वा० द्वा० २१ ।

अक्रिच-अकृत्य-न० त० । कृ-क्यप् । अभाशस्ये । अकर-णीये, साधूनामाभिषेये, पञ्चा० ११ वि० । स्या० । प्रश्न० । "अक्रिचमप्यणा काउं कयमेपण भासइ अक्रिचं पाणा-इवायादि अण्णा काउं कयमेतेण भासइ अग्रस्त उच्छोहेइ" (समहामाहं प्रकरोति) श्राव० ४ अ० । न कृत्यमस्य । न० व० । कर्मरहिते, त्रि० वाच० ।

अक्रिचणाय-अकृत्यस्थान-न० कृत्यस्य करणस्य स्थानमा-श्रयः कृत्यस्थानं तत्किञ्चोऽकृत्यस्थानम् । मूलगुणादिप्रति-सैवारूपेऽकार्यविशेषे, अ० ८ शृ० ६ उ० ।

अक्षयं तु अक्रिचं, मूलगुणे चैव उत्तरगुणे य । मूलं व सर्वदेसं, एवेव य उत्तरगुणेसु ॥ अत्यन्तदृक्त्यं पुनः मूलोक्तं मूलगुणे मूलगुणविषयमुत्तर-गुणे वा उत्तरगुणविषयं वा तत्र मूलं मूलगुणविषयं सर्वदंशं वा सर्वथा मूलगुणस्योच्छेदे देशतो वेत्यर्थः । एवमेवाने-नैव प्रकारेणोत्तरगुणेष्वपि द्वैविध्यं भावनीयम् । तद्यथा । उत्त-रगुणस्यापि सर्वतो देशतो वा उच्छेदेनेति तत्रैव व्याख्या-नान्तरमाह ।

अथवा पणगार्दीयं, मासादीयं वि जाव उम्मासा । एवं तवोऽरिहं खलु, उदादिचउहमगयरं ॥ (अइयेति) अकृत्यस्थानस्य प्रकारान्तरतोऽदर्शनं पञ्च-कादिकं रात्रिदिवपञ्चकप्रभृति, प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानं यदि वा मासादिकं तच्च तावद्यावत्पणमासाः एतत् खलु अ-कृत्यस्थानं तपोऽहं तपोरूपप्रायश्चित्साहं यदि वा छेदादीनां चतुर्था प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानम् । इयं १ उ० ।

अक्रिञ्ज-अक्रिय-क्रि० क्रयानहं "सुक्रियं वा सुविक्कीयं, अक्रिञ्जं किञ्जमेव वा" दृश० ७ अ० ।

अक्रिड-अकृष्ट-त्रि० अविलिखिते, अ० ३ श० २ उ० ।

अक्रिण्त-अक्रिणत्-स्त्री० वस्त्रादिक्रयमकुशाणे, वृ० १ उ० ।

अक्रिचि-अक्रिचि-स्त्री० सर्वदिग्भ्याव्याऽसाधुवादे, ग० २ अ० चि० दानपुरयफलप्रभादे, दृश० १ च्छि० । दानकृताया एकदिगामि-न्या वा प्रसिद्धेरात्रे, श्रौ० "अक्रिचो मे वा सिया" स्था० ७ डा० ।

अक्रिया-अक्रिय-पुं० । न० व० । कायिक्याधिकरणिक्यादि-

क्रियावर्जिते, स्या० ७ डा० । कायिक्यादिक्रियाभिष्यङ्गवर्जिते, प्रशास्तमनाविनयभेदे, अ० २५ श० ७ उ० । न विद्यतेऽन-भ्युपगमात्परलोकविषयाः क्रिया येनात्तेऽक्रियाः । नास्तिकेषु, "अक्रियराहुमुह दुकरिस्" न० । नास्य क्रिया साधना विधा-ते इत्यक्रियः । संवृत्तात्मकतया सांप्रदायिककर्मोपभ्रंशकं, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अक्रिया-अक्रिया-स्त्री० नञिह दुःशब्दाद्यौ यथा अशीला दुःशीलित्यर्थः । तत्राक्रिया दुष्टक्रिया मिथ्यात्वाद्युदत्तस्योमा-कसाधके अनुष्ठाने, यथा मिथ्यादृष्टोऽनम्यज्ञानमिति । एषा मि-थ्यात्वभेदत्वेन दृशिता, स्या० ३ डा० ३ उ० । "अक्रिया तिविहा पञ्चत्ता तंजहा पञ्चामक्रिया समुदाणक्रिया अणणक्रिया" अक्रिया हि अशोभना क्रियवातोऽक्रिया । श्रविष्येभ्यमिषायाऽपि प्रयोग इत्यादिना क्रियैवोक्तं । स्या० ३ डा० ३ उ० । सूत्र० क्रिया ऽस्तीति कृपा सक्तपदार्थसाध्यापिनां सैव यथा अस्तुविप-यतया कृत्स्निता अक्रिया नञः कृत्साध्यात्वात् नास्तिक्ये, स्या० ७ डा० । नास्तिकवादे, "अक्रिये परिणामि क्रिये उप-संपञ्जामि" अ० ३ अ० चि० । योगनिरोधे, स्या० ८ डा० । "एका अक्रिया" एका अक्रिया योगनिरोधप्रकृणा, नास्तिक्ये वा । स० १ सम० । अभावे, न० त० । अपरिस्पन्दे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सर्वक्रियाविभगे च । अ० २ अ० चि० । क्रियाया अभावे, अ० २५ श० २ उ० ।

अक्रियाऽप्राय-अक्रियात्मन-पुं० आक्रिय आत्मा येषामप्युप-गमं ते अक्रियात्मानः । सांश्लेषु, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जे केइ लोमं अक्रियाया, अन्नोण पुट्टा धुयमाति विमुक्खहेइं । अरंभसत्ता गदिता य लोए, धम्मं ए जाणेति विमुक्खहेइं ॥ ये केचन आस्मिन् लोके आर्य्य आत्मा येषामप्युपगमं ते-ऽक्रियात्मानः सांख्यास्तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा नि-क्रियः पश्यते । तथा बोक्तम् । "अकर्मां निगुणां भोक्त, आत्मा कपिलदर्शनं" इति तुभ्यो विशेषणं, स चैन-द्विशिनाष्टि । अमूर्तेवव्यापित्वाभ्यामात्मनोऽक्रियत्वेमेव बुध्य-ते, ते चाक्रियात्मवादिनोऽन्येनाक्रियत्वे सति बन्धमौलौ न घ-टते इत्यभिप्रायधत्ता भोक्तसद्भावं पृष्टाः सन्तोऽक्रियात्वाद्दर्श-नेऽपि धूमं मोक्षं नदभावमादिशन्ति प्रतिपादयन्ति । ते तु पञ्च-नपाचनानदिकं स्तानाष्टि जलावभासनेरुपेवाऽऽरम्भे साधरो सक्ता अध्युपपन्ना शोकं भोक्षेहेतुमूलं धर्मं श्रुतचारित्र्यं न जान-न्ति कुमाग्रप्रार्थितो न स्वयमवगच्छन्तीति, सूत्र० १ श्रु० १० अ०

अक्रिय (या) वाइ (न)-अक्रियावादिन्-पुं० क्रि-या अस्तीतिक्रिया सक्तपदार्थैसाध्यव्यपिनां, सैवाऽयथावस्तु-विषयतया कृत्स्निता अक्रिया, नञ कृत्साध्यात्वात्, नामाकर्मां व-दन्तीत्यर्थोऽशौद्रा अक्रियावादिनि । यथाऽवस्थितं हि वस्तुनैकान्-तात्मकं, तत्रास्त्येकान्तात्मकेषु यस्मान्ति प्रतिपत्सिन्मसु नास्तिक्ये, स्या० ८ डा० । ते चाऽपि "अष्ट अक्रियावादां पञ्चत्ता तंजहा एकावादी ऋणिकवादिं मितवादीं निमित्तवादीं स्वायवादीं समुच्छेदवादीं णियावादीं गं संति परलोगवादीं " स्या० ४ डा० ४ उ० । (एष्यवाद्यादिपदानामर्थो निजानजस्थानित्) अक्रि-याऽक्रियाया अत्रायं वदन्ति तच्छौद्रा अक्रियावादिनः न कस्य-चित्प्रतिक्रमनवस्थितस्य पदापेक्ष्य क्रिया सम्भवात् उपपत्त्य-नन्तरमेव विनाशादित्येवं वदन्तु, न० । न० । तथा बाह्योक्ते । क-शिकाः सर्वसंस्कारा अस्तिराणां कुनः क्रिया " भूतित्येवं क्रिया

सैव कारकं सैव बोधयन्ते"मं०। अक्रियाया जीवादिपदार्थो नास्तीत्यादिकानि यदितुं शोभं येषान्तेऽक्रियावादिनाः । म० २६ श० २ र० । नास्त्येव जीवादिकः पदाद्यै इत्येवं यादियु, सूत्र०? मू० ११ अ० । नास्ति माता नास्ति पितेत्येवमादिवादिनि, नास्तिके, उच्य० ३ अ० । ब्राह्म० । ते चाशान्तिः "अक्रियैर्वाद्यै च होह बुलसीई" सूत्र० १ मू० १० श० ।

इह जीवाइ पर्याइ, पुषं पारं विणा ठविञ्जति ।
तेसिपदोनायमि, ठविञ्जए सपरसहदुगं ॥ १०८ ॥
तस्स वि अदो निहिञ्जइ, कास गदिच्छाइपयदुगसपेयं ।
नियइस्सदावईसर, अप्पसि इमं पयचउळं ॥ १०९ ॥

इहाक्रियावादिभेदानां प्रक्रमे जीयादीनि पूर्वोक्तानि पुरययाप-
पवर्जितानि नवस्तस पदानि परिपाठ्याव्यादिपदार्थो स्थाप्यन्ते
तेषां च जीवादिपदानामधोभागे प्रत्येकं स्वपरशब्दद्विकं स्था-
प्यत स्वनः परत इति द्वे प्रे न्यस्येने इत्यर्थः । अस्तत्वादा-
त्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तस्तकर्मिसिद्धापत्तेः । तस्यापि
च स्वपरशब्दद्विकस्यापस्तत् कालयद्वाङ्मपदद्वयसमेत-
मेतन्नियतिस्यभावेभ्रवात्मलक्षणं पदचतुष्कं त्रिस्यते, काञ्चयद-
च्चायनित्यस्वभावेभ्रवात्मरूपाणि पदं पदानि स्थाप्यन्ते इत्यर्थः ।
इह यदच्चावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिन एव न केचिदपि क्रिया-
वादिनस्ततः प्राग्यदच्चा नोपपत्सतः । अथ विकल्पानिज्ञापस्ततः ।

पदमं भंगे जीवो, नत्थि सओ कालओ तयणु बोए ।
परओ वि नत्थि जीवो, कालाइ य भंगमादोन्नि ॥११०॥
एव नइच्छाईदि वि, पपई भंगउत्तं दुत्तं पत्तं ।

मिद्वियावि वे तुवाइसस-संपपा जीवतत्तेण ॥ १११ ॥

नास्ति जीवः स्वतः कालत इति प्रथमो नङ्गः । तदनु नास्ति
जीवः परतः कालत इति द्वितीयो नङ्गः । एतौ द्वौ च भङ्गो
कालेन लक्ष्यौ, एवं यदच्छादिभिरपि पञ्चभिः पदैः प्रत्येकं द्वौ
ः विकल्पो जायते । सर्वेऽपि मिलिता द्वादश । अर्थावां च
विकल्पानामर्थः प्राग्ब्रह्मवनीयः । नवरं यदच्छात इति यदच्छा-
वादिनां मेत । अथ गाथा । के ते यदच्छावादिनः उच्यन्ते । इह
ये भावानां सत्तापकृत्या न प्रतिनियतं कार्यकारणनाथमिच्छन्ति
किन्तु यदच्छाया ते यदच्छावादिनस्तथा त एवमाहुने ऋषु
प्रतिनियतां वस्तूनां कार्यकारणजातवस्तया प्रमाणेनग्रहणात्
तथाहि-यालुकादपि शालुको जायते गामयादपि, अग्नेरप्यु-
द्भिर्जायते अरणिक्काद्यादपि, धूमदापि जायते धूमः ब्रह्मन्निवसं-
कृदपि, कन्ददापि जायते कदलीबीजादपि, अद्यदयोऽपि बी-
जादुपजायन्ते शासैकदेशादपि, ततो न प्रतिनियतः क्वचिदपि
कार्यकारणनाथ इति । यदच्छातः कश्चित् किञ्चिद्व्यतीति प्रति-
पत्स्यं, न खल्वन्यथा वस्तुसङ्गावपश्यन्तोऽन्यथाऽऽमानं प्रकृ-
यन्तः परिच्छाशयन्ति । एते च द्वादशा विकल्पा जीवतत्त्वेन
जीवपदेन संप्राप्ता इच्छाः । परमजीवादिभिरपि पदभिः पदैः प्र-
त्येकं द्वादश विकल्पः प्रासतः । ततो द्वादशभिः सस गुणता
जाता चतुरशीतिः । सर्वसंख्यया आक्रियावादिनामेते जेदा जव-
नीति । प्रथ० २०६ द्वा० । मू० । स्या० । अ० । ब्रा० ।

साम्प्रतमक्रियावादिदृशं नै निराचिकीयुः गाथापकार्कमाह ।

लवावसकीय अणुएहिं, यो किरियमाहंयु अक्रिययावाइ ।
खवं कर्म तस्मादपशक्तिमुपपसंतुं शोभं येषान्ते लवावसो-

क्तिनो शोकायतिकाः शाक्यादयश्च,तेषामात्मैव नास्ति कुतस्त्व-

क्रिया तज्जानतो वा कर्मबन्ध इति । उपचारभाषेण त्वस्ति न्यः ।
तद्यथा "बन्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिप्रथिकपातकाः । न चान्यं
द्रव्यतः स्मिन्, मुष्टिप्रथिकपातकाः" तथा बौदानामयमच्युप-
गमो यथा कृत्तिकाः सन्धेसंस्कारा इत्यस्थितानां च कुतः क्रिय-
त्यक्रियावादित्वम् । योऽपि स्वल्पपञ्चकाभ्युपगमस्तथा योऽपि
संबुधभाषेण न परमाद्येन यत्स्वभावायमच्युपगमः । तद्यथा विचा-
र्यमाणाः पदार्था न कथंविद्वेषात्मानं विद्वानेन समर्पयितुमलम् ।
तथाहावयथी तस्यातस्याज्यो विचार्यमाणो न घटां प्राञ्जति ना-
प्यवयथाः परमाप्युपयसानतवाऽनित्यस्त्वयाज्जानगोचरतां प्र-
तिपद्यन्ते । विद्वानमपि हेयाभावेनामूर्त्तस्य निराकारतया न
स्वरूपं विभर्ति । तथा शोकः " यथा यथायोऽस्मिन्वन्ते, विविच्य-
न्ते तथा तथा । यद्येतत् स्वयमर्थेऽनुतो, सोऽन्ते तत्र के वयम् " इति
प्रच्छन्नशोकप्रतिपत्ति इति बौद्धास्त्याऽनागतैः कृपिः चशब्दा-
दतीतैश्च वर्तमानरूपस्यासङ्गतेन क्रिया नापि च तज्जनितः कर्म-
बन्ध इति । तद्वदमक्रियावादिनां नास्तिवादिनः सत्तापज्ञापितया
लवावसङ्गिन्तः सन्तो न क्रियामाहुस्तथा अक्रिय आत्मा येषां सर्व-
व्यापिनया तेष्यक्रियावादिनः सांख्यास्तद्वं शोकायतिकाबौद्धाः
सांख्या अनुपसंख्यया अप्रद्विज्ञानेनत्ये तत्पूर्वोक्तुया हृतवन्तस्तथै-
व तस्याज्ञानेनैवाद्वाहृतवन्तः । तद्यथा । अस्माकमवमच्युपगमोऽ-
योऽवजासते युग्यमानको भवतीति । तद्वं श्लोकपूर्वादेह काका-
ङ्गिगोलक्यायनाक्रियावादिमेतेष्योऽयोऽयमिति ।

साम्प्रतमक्रियावादिनामज्ञानविद्युभिर्भवं दशोचितुमाह ।

सम्मिस्सभावं व गिरा गट्ठोए, स मुम्मई होइ अण्णाण्णवाइ ।
इमं उप्पक्खं इममेगपक्खं, अहंउत्तु उद्धानयत्तं च कम्मं ।१॥

स्वकीयाया गिरा गाथा स्वाच्युपगमैव गृहीते तस्मिन्मन्थ-
नान्तरौयकतया वा समागते स्मिन् तस्याऽयातस्यार्थस्य गिरा
प्रतिषेधं कुर्वन्त्याः संसिद्धीभावस्तद्वं नास्तिस्वापगमं ते शो-
कायतिकादयः कुर्वन्ति, चशब्दात् प्रतिषेधं प्रतिपाद्युक्ति-
त्वमेव प्रतिपाद्यन्तीति तथाहि । शोकायतिकास्तावस्तवस्तिष्येभ्यो
जीवाद्यभावप्रतिपादकं शास्त्रं प्रतिपाद्यन्तो नान्तरौयकतया-
त्मानं कर्त्तारं करणं च शास्त्रं कर्मतापक्षांश्च शिष्यान्ववश्यमच्यु-
पाच्यन्तुः सर्वशून्यत्वं त्वस्य तुनयस्याभावाविमिश्रीभावा ज्ञत्य-
यो वा । बौद्धा अपि मिश्रीनाथमेवमुपगताः । तद्यथा, "गन्ता
च नास्ति कश्चि-कृतयः पदं बौद्धशास्त्रेण प्रोक्ताः । गम्यत इति
च गतिः स्या-च्छ्रुतिः कथं शोभना बौद्धः ॥ १ ॥ तथा कर्म च
नास्ति फलं चास्तीत्यस्मिन् चान्नि कारके कथं पदं गतया ज्ञा-
नस्तान्तनस्यापि सन्नातव्यतिरेकेण संघटितस्त्वात् कृष्णस्य वा-
स्थितत्वेन क्रियाशास्त्रं नागनास्तिस्मभवः सर्वोपर्यप कर्मा-
पश्च-धनानि प्रकृपयन्ति स्वामेन तथा पश्चजातकदाशानि च
बुद्धस्योपदिशन्ति, तद्यथा "मातपितरो त्वा, बुद्धराजो रं च रुधि-
रनुत्पाय । अहं ह्येवं च कृत्वा, सन्पुं मित्वा च पश्येते ॥१॥ निर-
न्तर्मावोचिनरक यान्ति पवमादिकस्यागमस्य सर्वशून्यत्वे प्रणय-
नममुक्तिसङ्गतं स्यात् तथा जातिजगरणरोगशोकोसममध्य-
माश्रमन्त्यानि च न स्युः एव एव च नानाविधकर्मविपाको जीवा-
स्तित्वं कर्तृत्वं कर्मवस्त्वं चावेद्यति तथा "गन्धर्वेनगरतुल्या, मा-
या स्वभावात्पातयनसदृशी । सुगनुत्पान्नीहारा-बुधेन्द्रिकाज्ञातव-
क्रसमा" इति भाषणार्क स्पष्टमव मिश्रीभावापगमनां बौद्धानामि-
ति । यद्यि वा नाभिधकर्मविपाकाच्युपगमसत्त्वात् स्वयस्य पयति ।
तथा शोकः "यदि शून्यस्त्ववपको, मय्यदानिवारकः कथं भवति ।
अथ मयस्ये न शून्य-स्तथापि मयपक्का पक्काः" इत्यादि, तद्वं

अभिकिरियावाद्

बौद्धाः पूर्वोक्तया नीत्या मिथीभावमुपगतं नास्तित्यं प्रतिपादयन्तोऽस्तित्यमेव प्रतिपादयन्ति । तथा सांख्या अपि सर्वव्यापितया अक्रियमात्मानमन्युपगम्य प्रकृतियोगात्मोक्तसंज्ञां प्रतिपादयन्तोऽप्यात्मनो नन्वं मोक्षं च स्वभावा प्रतिपादयन्ति । ततश्च बन्धमोक्षसंज्ञाये सति स्वकीयया निरा सत्कियन्त्वे शूद्राते सत्यात्मानः संमिथीप्रायं ब्रजन्ति, यतो न क्रियामन्तरेण बन्धमोक्षौ घटते, वाक्याभ्यादक्रियन्त्वे प्रतिपाद्ये स्व सत्कियन्त्वे तेषां स्वभावा प्रतिपादयते, तदर्थं होकायतिकाः सर्वे प्रायाभ्युपगमेन क्रियामात्रं प्रतिपादयन्ति । बौद्धाश्च कृशिकत्वास्त्वैश्वर्यत्वाश्चाक्रियामेवाभ्युपगमयन्तः स्वकीयामगमपयनेन शोदितः सन्तः संमिथीभावं स्वभावैव प्रतिपादयन्ते । तथा सांख्याश्चाक्रियामात्मानमन्युपगम्यन्तो बन्धमोक्षसंज्ञां च स्वाम्युपगमेव संमिथीभावं ब्रजन्ति । अप्यर्थं वैतन्त्रिकादिपदितम् । यदि वा बौद्धादिः कश्चित्स्याद्द्विधा सम्भवत्युत्पद्यतेऽसौकुलीकियत्वात् सः सत्यमुत्तरं हातुप्रसमयो धरिक्तसंज्ञाप्रतिपाद्यः (समुमुदं दो-दृष्टि) गमद्प्राप्तित्वेनाऽप्यक्तभाषी जयति । यदि वा प्राकृतश्रीत्या श्लाघ्यत्वात्प्रायमर्थो द्रष्टव्यः । तद्यथा । भूकादिपि भूको भूकभूको जयति । एतद्वैव ह्यर्थयति । स्यादादिमोक्तं साधनमनुवर्तिषु शीलसमस्त्येनुवादी तत्रप्रतिपादयन्नुवादी । सक्तुनिभ्योऽनुकृतितमना मौनमेव प्रतिपादयति इति भावः । अनुपगम्य च प्रतिपत्तासाधनं तथाऽपुष्यतिवा च स्वपक्षं प्रतिपादयन्ति । तद्यथा । इहमस्यस्युपगमं दर्शनं मम एकः पक्षोऽस्ति एकपक्षमप्रतिपत्तयैकान्तिकमधिकार्याभिधायितया निष्प्रतिपाद्यं पूर्वापरविरोधकमित्यर्थः । इदं वैयंभूतमपि सदित्याह । द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं समप्रतिपक्षमैकान्तिकं पूर्वापरविरोधकार्याभिधायितया द्विपक्षवन्नमित्यर्थः । यथा च विद्याविषयमर्थं तेषां तथा प्रावृद्धितमेव । यदि त्यंतदस्मायं दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं कर्मबन्धनिर्जेयं प्रतिपत्तावसतमाश्रयणात् । तस्मात्प्रयणं चिह्नानुभवदना चौरपारदारिकादीनामित्येव । ते हि करचरणनासिकादीनामिहेव पुण्यफलदायककर्मणो विदं वनामनुभवन्त्यमुत्र च मरकादी वेदनां समनुभवन्तीति । एवमन्यदपि कर्मोपलब्धयमन्युपगम्यते । तच्छेदम् । प्राणी प्राणिज्ञानमित्यादि पूर्ववद । तथैवमकः पक्षोऽस्त्येकपक्षम्, इहैव जन्मनि तस्य वेद्यार्थात् । तच्छेदमविहोपनिषत्तमोर्षोपरयं स्वमनादिकं वेति । तदर्थं स्याद्द्विनामित्युक्ताः स्वदर्शनमेवमन्ननरोकया नीत्या प्रतिपादयन्ति तथा स्याद्द्विनामित्युक्तो ज्ञानाद्यतने ज्ञानं नवयत्नो देवदत्त इत्यादिकमाहुककवन्तः । चशब्दादित्येव द्वुपगमासादिकं तथा कर्म च एकपक्षमधिकारिकं प्रतिपादयन्ति इति । यदि वा यदायतनानि उपादानकारणानि आश्रयद्वाराणि शोभेन्निद्रायादीनि यस्य कर्मणस्तत्पदायतने कर्मोपलब्धयानुवर्तिते । ५ ।

साप्रतमेव तद्वृत्तानाह ।

ते एवमकवन्ति तं अनुभूजमाणा, विरुक्त्वापि अभिकिरियावाद् ।
जे मायइवा बहवे मणसा, भवन्ति संसारमणोवदमगं ॥ ६ ॥
(ते एवमकवन्ति) ते आर्याबौद्धादयोऽक्रियावादिन एव-
माहकृते । संज्ञावमनुष्यमाना मिथ्यामलपटलनृतात्मनः पर-
मात्मानं च न्युत्प्रादयन्तो विरुक्त्वापि नानाप्राकाराणि शास्त्रा-
णि प्रकृष्यन्ति । तद्यथा । दानेन महाजिन्गो, देहानां सुररातिश्च
शीलेन । भावनया च विमुक्ति-स्तपसा सत्त्वोणि सिध्यन्ति ॥
तथा पृथिव्यापसतेजोवायुरित्येतान्येव श्वत्सरे नृतानि विद्यन्ते

नापरः कश्चित्सुखदुःखमापामा विद्यते । यदि चैतान्यन्वेषिच-
रितरभणीयानि न परमाद्यतः सन्तीति स्वधर्मकृत्वात्तमन्मरी-
चिकानि च यद्विष्णुद्विप्रतिप्रासकृपयासर्ववर्धेयति । तथा सर्वे
क्षणिकं निरात्मकं मुक्तिस्तु शून्यता इष्टेस्तदयोः शेषभाव-
ना इत्यादीनि नानाविधानि शास्त्राणि न्युत्प्रादयन्त्यक्रिया-
त्मानोऽक्रियावादिन इति । ते च परमात्मन्युपगमात् यद्दर्शन-
माद्यं शूद्राश्च बहवो मनुष्याः संसारमनवदप्रमर्षवसान-
मरहृष्टादीन्यांन भ्रमन्ति पथेदन्ति । तथाहि लोकायतिकांतां
सर्वव्याप्यं प्रतिपाद्ये न प्रमाणमस्ति । तथा चोक्तम् ॥ "तस्याप्यु-
द्वतावीति, युक्तप्रायेण सिध्यति । नास्ति स्वधर्मकृत्यं तस्त्वं तस्ति-
दौ सर्वमस्तु सत्" न च तत्रत्यक्तमेवैकं प्रमाणम् । अतीतानागत-
प्रावृत्तयोपि पिगुणबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेस्ततः सर्वसं-
व्यवहारोच्छेदः स्यादिति । बौद्धानामप्यत्यन्तकृणिकत्वेन वस्तु-
त्वाभावः प्रसज्यते । तथाहि । यद्यथायंकिंवाकारि तद्वै परमा-
द्यतः सत् । न कृणः क्रमणार्थंक्रियां करोति । कृणिकत्वदानंनिर्णीपि
यौगपद्येन तत्कार्याणामकस्मिन्नैव कृण सर्वकार्योपपत्तेन चैतद्-
दृष्टमिष्टं वा । न च ज्ञानाधारमात्मानं गुणिनमन्तरेण गुणभूतस्य
सकृदना प्रत्यक्ष्य संज्ञाश्च इत्येतच्च प्रागुक्तमायम् । यथाच
'दानेन महाभोगं' इत्यादि तदाहैतैरपि कथंविद्व्यत एवेति न
चाभ्युपगमा एव भावार्थे प्रकल्प्यत इति ॥ ६ ॥ सूत्र० १. सू० १२
अ० । अक्रियैव परलोकसाधनायाऽप्रमित्येवं वदितुं शीलं यथा-
स्तोऽक्रियावादिनः ज्ञानवादिनो च प्रागुक्तमिदं यो भुवते किंक्रि-
यया चित्तशुद्धिरव कार्यां ते च बौद्धा इति, ज० ३० श० १ उ० ।
तेषां हि यथाऽऽस्तित्यवस्तुपरिहानादेव मोक्षः । तथा चोक्तम् ।
"पञ्चविंशतितत्त्वोः, यत्र तत्राभेदः रतः । शिखी मुपदी जटी-
वापि, सिन्धेते नमः संशयः" ॥ ॥ सूत्र० १. सू० ६ अ० । धर्म
धर्मिणोरेजेधोपचारात् समवसरणविशेषे च । म० २६ श० २ उ० ।
(अक्रियावादिनः कीदृशाः किं च प्रकुर्यन्तीति 'वादिनसमवसर-
ण' शब्दे उच्यं मिथ्यादृष्टिवर्णके) "अभिकिरियावादी वि जयति
नो हियवादी नो हियपणे नाहिय दियनोत्समावादी गो नि-
तियावादी य संति परलोगवादी" द्या० ६ अ० ।

अकील-अकील-त्रि० न० ब० शकुरहिते, घ० २ अत्रि० । पञ्चा० ।
अकुओ (तो) भय-अकुतोत्रय-त्रि० न विद्यते कुतः कस्माद् भ-
यं यस्य तत् कुताश्चदपिभयशून्यं, "चित्ते परिराजं यद्य चरित्र-
मकुतोमयम् । अक्षादज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो जयम्" ।
अष्ट० ११ । न विद्यते कुतश्चित्तोः कनापि प्रकारेण अल्पनां भयं
यस्मात् सोऽकुतोमयः । संयमे, "अप्राय अनिसमेवा अनुभो-
भयं" आचा० १ सू० १ अ० ३ उ० ।

अकुचियाग-अकुचिकाक-त्रि० कुञ्जिकाविरहिते । १० ।

अकुटाइ-अकुटादि-पुं० सम्पूर्णपापयादी, प्रब० ६६ अ० ।

अकुच्य-अकुच-त्रि० न० ब० हस्तपादसुखादिविरुक्त्वाद्यदि-

त्वे । व्य० ३ उ० । ऐषमृत्त्विकाररहिते, आचा० १ सू० १ अ० ३ उ० ।

सुसाए सुसागरे वा, रुक्त्वभूते व एगो ।

अकुच्यो शिरीएजा, ए य विचासए परं ॥

अकुच्योऽशिष्टेच्छारहितो निर्णीदेव तिष्ठेत्, यद्वा, अनुकृत्यः
कुच्यवादिबिराधनाज्यात् कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सितं हस्तपा-
दादिनिरस्त्वानां निर्णीदेत् । उक्तं ३ अ० ।

अकुकुज-त्रि० आर्षत्याग्राहते तथात्वम्, कुस्तिरं कूजति पी-
दितः सबाकन्दति कुकुजो न तथैत्यकुकुजः, कुस्तिरकूजना
कर्त्तरि, उच्यते ३१ अ० ।

अकुकुच्य-त्रि० नास्ति कौक्यं प्राणवित्केद्येयस्य सोऽकौ-
क्यः । सम्पत्कसाधुसुप्रायुके, उच्यते १६ अ० ।

अकुटिल-अकुटिल-त्रि० न० त० अमाविनि, व्यञ्ज ३ उ० ।
अवके, अं० ३ वक्त्वा० । अजौ, आचा० १ अ० ३ उ० ।

अकुतुहल-अकुतुहल-त्रि० न० विद्यते कुतुहलं यस्य स अकुतु-
हलः, कुहकेन्द्रजालभग्नविधानाटकदादिनामविज्ञातके । "नी-
याविच्छिं अचवहे, अतार्ह अकुतुहलं" उच्यते १० अ० ।

अकुमारचूय-अकुमारचूय-त्रि० अकुमारप्रक्षवारिणि, "अकुमा-
रभूय जे केइ कुमारचूय तिहंय" । स० ३० सम० ।

अकुय-अकुच-त्रि० कुचस्वप्नने, न कुचत्तीयकूचः । इत्यात्य-
रूपणः कल्पयः । व्यञ्ज ३ उ० । निश्चये, नि० च्चु० १ उ० ।

अकुसल-अकुशल-त्रि० अमनिष्ठ, प० व० ४ अ० वक्ष्यव्यक्त्य-
विज्ञानियुषु । प्रथम० आध० २ चा० । स्थूलमती, "तस्यधावर-
हिसाय, जना अकुसला उलयंति" दश० १ अ० । अरोभने च ।
औ० । न कुशले मङ्गलमस्य, मङ्गलशिवोप्यमङ्गलस्युक्ते, न० त० ।

कुशलविरोधिनि अजन्तं, न० वाच० ।

अकुसलकर्मोदय-अकुशलकर्मोदय-पुं० अज्ञानकर्म्मोद-
य, प्रकर्मानुभावे च । घ० २ अघि० ।

अकुसलविचक्षणिरौह-अकुशलविचनिरोध-पुं० आर्षध्याना-
द्विप्रतिषेधनाऽकुशलमनोविरोधे, दश० ६ अ० ।

अकुसलजोगणिरौह-अकुशलज्ञयोगनिरोध-पुं० अकुशलानां
मनोवाक्ययोगानां अघापाराणां निरोधः अकुशलज्ञयोगनिरोधः ।
मनआदित्रिविधकणैरायुक्ततायाम्, आघ० ३ ।

अकुसलणिवितिरुव-अकुशलानिद्रितिरुव-त्रि० सपापारम्भो
परमणस्वभावे, पञ्च० ७ विव० ।

अकुसल-अकुशल-पुं० न कुशीलोऽकुशीलः । कुशीलमिष्टे,
सूत्र० १ अ० ६ अ० ।

अकुहय-अकुहक-त्रि० न० त० । इन्द्रजालादिकुहकरहिते,
" अलोत्पुत्र अकुहय अमार्ह, अपीतुषु अवि अह्राणिविच्छिं"
दश० ६ अ० ५ उ० ।

अकू (कू) र-अकूर-पुं० न० त० । अरीद्राकारे । दश० ।

अकिष्णध्वजस्योः कुरो हि पच्छिद्रान्वेषणलम्पटः कलुष-
मनाः स्वानुष्ठानं कुर्वन्निप फलभाग् न भवतीति (अकूत्वं
पञ्चमः आचकणुषः) प्रथ० २३६ द्रा० । घ० ।

कुरो किलिङ्गभायो, सम्मं धम्मं न साहिं तरइ ।

२५ सो न इत्य जोगो, जोगो पुण होइ अकुरो ॥ १५ ॥

कूः क्लिष्टभायो मत्सरदिद्विपितपरिणामः सम्पत् निष्क-
लहं धर्मं न वैव साधयितुमारारयितुं (तदरस्ति) शक्नोति
समरविजयकुमारवत् । इत्यस्मात्केतोरत्नी नैवात्र शब्धधर्मं
योग्य उच्यते । पुनरेवकारयोः । ततो योग्योऽकूर एव की-
र्तिचन्द्ररूपवदिति । तयोः कथा वैषय-
बहुसाहारा पुत्रा-गसाहिद्या उच्चसालहेरिह्ला ।
आपामभूमिसरिसा, चंपा नामेण आधि वृत्ति ॥ १ ॥

तथ्यथि किलिचन्दो, नरनाहो सुययकुमयषणचन्दो ।
तस्स कण्ठो भाया, जुवराया समरविजउ छि ॥ २२ ॥
अह हाणियरापपसरो, समियरओ मलियुअवरो सबओ ।

अनीकयमइवओ, पओ सुमुणिय व घणसमओ ॥ ३३ ॥
तंमिय समए नीर-अनीरपूरेण अरबहु वट्टी ।

अवयोपरिदियुणं, विद्वा सरिया नरिदेष ॥ ४ ॥
तो कोऊहलआउल-दियओ वंषवजुओ तहिं यंतुं ।

अइर नियो इहाए, तरीए सिसासु सेसजयो ॥ ५ ॥
जा ते कीलंति नहिं, ता उवरी जलहरम्मि वुट्टम्मि ।

सो कोवि नइवओ, पओ अरतिववेणेण ॥ ६ ॥
निउंजंति कडियाओ, अअकदिसासु जेष वेडीओ ।

धोवो वि तथ्य न कुरइ, वावारी कणधारां ॥ ७ ॥
तो सरियामउकनओ, तडडिओ पुकुरेइ पुरलोओ ।

अह पडुवणएया निव-दोणी उ अरसणं पत्ता ॥ ८ ॥
लम्भा दीहतमाला-भिहाणअइवीए सा कहिं रुक्खे ।

तसो उतरइ निओ, कइयपरिवारंअणुडुत्तम्मि ॥ ९ ॥
जा वीसमेइ संतो, तसोरे ताव पिउइर नरिदो ।

नइपूरकणियउकन्ति-इरण्यं सुमणियणनिहिं ॥ १० ॥
गंण तथ्य सम्मं, पणिय दंसइ समरविजयस्स ।

अन्नियं च तस्स चित्तं, ज्ञासुररयणुच्छयं दट्टं ॥ ११ ॥
चित्तइ सहाचकूरं, मारिणु निवं इमं पणिहम्मि ।

तं रज्जं सुहएज्जं, अणियिदं रयणनिहिंयं ॥ १२ ॥
रन्तो मुक्खं आओ, पुदीइ शोयम्मि पुकुत्तम्मि ।

हाहा किमिदं ति विच्छिं-तिऊण वंचाविओ तेण ॥ १३ ॥
अणइ य अकूरमयो, निवदं बाहाइ तं अरेऊण ।

जियकुसलअणुअियमसमं, किं ज्ञायतए इमं विहियं ॥ १४ ॥
नइ कउजं रज्जं, समर धरेमो वयं तु वयं ॥ १५ ॥

गिह्वाहि अहिसुको, निमर धरेमो वयं तु वयं ॥ १६ ॥
तं सो निरुणिय अमुणिय, कोविशानां विवोपिणिसुको ।

विच्छोदिकुण वाहं, आसरिआं निवसगासाओ ॥ १६ ॥
जस्स निमिषं अणिमि-त्तवहरिणो वंघुणो वि वइ हंति ।

अन्नमिणिया निहिणामे, तं मुणुं निवो गअओ सपुंरं ॥ १७ ॥
समरो अमराहिसमा, पुव्ववमाओ पूणदियं पि तयं ।

रयणनिहाणमदहं, चित्तइ रत्ता पुवं नीयं ॥ १८ ॥
तो जाओ चारइने, चरने लुंटेइ वंघुणो वंसं ।

समतेहिं चरिउं, कयाविं अओ निवसनीयं ॥ १९ ॥
मुक्खं अणण रज्जं, निमत्तओ चित्तं गअओ पवं ।

गहियव्वं रज्जमिणं, हटेण नहु विज्ज मेणं ॥ २० ॥
एवं कयाइ वहे, अंभरं जणुवप य सो लुक्को ।

पओ निषेण मुक्को, रज्जेण भत्थिओ य दइ ॥ २१ ॥
तो जाओ अणवाओ, निपइ अओ सोयराण सविसेसं ।

पगस्स वुज्जणुणं, अरस्सिमअस्स सुयखुणं ॥ २२ ॥
गुवरेम्यां राया, अश्विरेसे वासरे शिवइ जाव ।

ता तथ्य समोसरिओ, पवोहनामा पवत्तणां ॥ २३ ॥
अल्लिओ पयोयकण्ठिओ, तन्नमणयं निवो सपरिचरो ।

निमुणिय धम्मं पुउइइ, समए नियवंषवचरिं ॥ २४ ॥
अणइ गुरु विपेदे-सुं मंगले मंगलावदं विजए ।
सोमंअिपुरे सागर-कुरंगया मयणविड्डिसुया ॥ २५ ॥
पदमथयसमुच्चियाहिं, कालाहिं ते कयाधिं कींस्ता ।
विउंजंति बालगडुपं, तइ एणं बालियं रम्मं ॥ २६ ॥

पुद्गा य तेहि एव. के तुम्भे ना भणाइ ताणंगो ।
 भांथयथ मोहनामा. निवहं जगतीलपसिक्को ॥ २७ ॥
 तस्सतिथ यहरिकरिकर-इकसरी रायंकसरी तणओ ।
 तपुत्तोऽहं सागर. महासस्रो सागरऽजिहाणो ॥ २८ ॥
 मम तणओ कुडविणओ, एसो उ परिग्गहाअभिहासुत्ति ।
 बहसानरस्स धूया, एसा किर कुरयानाम ॥ २९ ॥
 इय सुणिय हरिसिया ते. कीर्त्ति पक्करं तओ भित्ति ।
 निम्मह सागरो सवह. सिवुहि न उ कुरबायि वि ॥ ३० ॥
 कुणह कुरंगो भित्ति, तेहि समं करयाइ खणिसेसं ।
 जयाभिन्नयत्तकमा, पत्ता ते तारताकणं ॥ ३१ ॥
 अइ भित्तपेरियमणा, द्धिणोयज्जणकए गहिच्चनडा ।
 गियरहि वारिया वि डु, चलिंया देसंतरम्मि इमे ॥ ३२ ॥
 भिन्नेहि अंतरा अ-तरायवसओ य गहिच्चरुरिषणा ।
 उररिधोषाद्वन्वा, पवन्नपुत्त पट्ठयं पत्ता ॥ ३३ ॥
 द्धिपण तेण तदियं, गहिउं हहं कुम्पंति वषसायं ।
 दीणारसहस्सजुगं, दुक्खसहस्सोहि अज्जति ॥ ३४ ॥
 तो वच्चियवहुतएहा, कणासत्तिनाह भंरुमालाओ ।
 पकुण्ठि करिसयं पि डु, उच्चविक्खत्ताई कारंति ॥ ३५ ॥
 तत्तसत्तलत्तिनाणं, निपिअणं सुणियमाह ववहारं ।
 कारंति एव जाया, ताणं दीणारपणसहसा ॥ ३६ ॥
 तो तहसंग इच्चा, कामेण हक्खे वि जाव ते मियियं ।
 अह कोरि पुरणिच्चा, जाया सिताणुजावेण ॥ ३७ ॥
 तो गुरुगंभीनिवहा, पदिया देसंतरेसु विवियेसु ।
 जइदिमि पोयसंघा-यवसंघा करहमल्लिया ॥ ३८ ॥
 गहियाइ निवकुलाओ, पट्टेण बहूणि सुकउत्ताणं ।
 विहिया धणगणियाओ, बदा उ हयाइ हेडाओ ॥ ३९ ॥
 इच्चाइ पावकोभिदि, जा कोरि वि तसे संमियिया ।
 तो पावभित्तवसओ, उवषसा रयणकोहिच्चा ॥ ४० ॥
 अइ खियठ्ठण स्वयं, पोए ते पाथिया रयणभूमिं ।
 ताकुरया विलग्गा, गाढं कके कुरंगस्स ॥ ४१ ॥
 जंपइ हंत हंतुं, असदरमिं करेसु अप्पवसं ।
 सयलं द्धिणिमिणं जे, धाणिणां स्वव्यंइ इह सुयणा ॥ ४२ ॥
 इय सा जंपइ निधं, तदेय ते परिणयं इमस्स तओ ।
 पाक्खवह सागरो सा-गरम्मि लाहठ्ठण सो इदिं ॥ ४३ ॥
 असुहउत्ताणवगओ, जलहिजलुत्तोऽखीविणियमरीरो ।
 मारिठ्ठण तअनरग-मिम्भारओ सागरो जाओ ॥ ४४ ॥
 काठं सयकिच्चं जा-उगस्स दिट्ठो कुंरंगो हियए ।
 जा जाइ कियि दूरं, ता कुट्टं पयवहं उणि ॥ ४५ ॥
 बुद्धो बोओ गलिय, कथाणं कसइयं लांहए पत्तो ।
 कह कहवि तुरियदिवस, पत्तो नीरानदितांरम्मि ॥ ४६ ॥
 अजिणिय धणुजाए, भुंजिस्सं इय विविचिरो धणियं ।
 भिंमरो वणम्मि हरिणा, हलिओ धूमण्णं पत्तो ॥ ४७ ॥
 तो भमिय जयं ते दो, वि कथेहि अज्जणयगं हरी जाया ।
 इकगुहयं जुज्जिय, चअरथनरए गया मारंठं ॥ ४८ ॥
 ता अहिणो इरामिदिणा, कए कुमंता महत्तयं जुज्जं ।
 विज्जायसुकउत्तणा, पत्ता धूमण्णं पुदवि ॥ ४९ ॥
 अह बहुमपज्जंतं, पणम्म वणिसस्स जयिय जज्जाओ ।
 तम्मि मय विहवकए, जुज्जिय मारंउ गया इदिं ॥ ५० ॥
 भमिय जयं पुण जाया, तणया निवयस्स उवएए तम्मि ।
 कइहंता रज्जकए, मरिउं पत्ता तमतमाए ॥ ५१ ॥

एयं द्ध्वनिमित्तं, सहियाओ तेहि वेयया विविहा ।
 न य तं कस्सइ विअं, परिउत्तं तं सयं जयं ॥ ५२ ॥
 अइ पुवभवे काठं, अभाणतयं तहायिइं कियि ।
 जाओ सागरजीवो, तं निव इयरो तु हूअं ५३ ॥
 तुट्टाणवि पवक्कओ, इओ परं समरविजयजुत्तो ।
 सो काही उवसम्मं, इकस्सि तुह गहियवरणस्स ॥ ५४ ॥
 तो कुरयाइ सदिओ, अदिओ तस्स थावणज जीवणं ।
 उस्सइउहदहियदेहा, भमिहीहा उवसम्मंमि ॥ ५५ ॥
 इअ सुणिअ गकयवेर-गपरिगओ गिएए वयं राया ।
 नियभाइणउअहरिकुम-रवसहसंकमियरज्जजुरो ॥ ५६ ॥
 कमसो अरतव सोसिय, देहो बहुपुदिय सुक सिक्तो ।
 अम्भुजयं विहार. उअजयत्तां पयउजेह ॥ ५७ ॥
 कस्सवि नगरस्स बाहं, पंअक्खाइ चिओ य सो जययं ।
 दिट्ठो पायिठ्ठणं, सवणं कहिंवि गमिरेणं ॥ ५८ ॥
 वदरं सुमरेतंयं, दिणओ अग्गेण कंधराइ सुली ।
 गुरुवणणामिअओ, पदिओ धरणीयडे सहसा ॥ ५९ ॥
 चित्ते र जीव ! तए, अभाणवसा जिवेगरदिण ।
 विणयाओ अयणओ, नरएसु अणंतसा पत्ता ॥ ६० ॥
 गुरुअरयहणकणदो-इयाहमीउअणुहुगिवासाइ ।
 उस्सइदुइदंतीलो, तिरेपसु वि सवसिजयम्मि ॥ ६१ ॥
 ना पीर मा विसीयसु, इमासु अइअप्येवयणसु तुमं ।
 को उअरिउं जलहि, निउत्तए गुण्णं नीरं ॥ ६२ ॥
 पउज्जेसु कूरजायं, विसुअंवात्तां जिपसु सव्वेसु ।
 बहुकम्मअवसहाओ विससओ सवसिजयम्मि ॥ ६३ ॥
 तं लको इह धम्मो, जे न कया कुरया पुरावि तए ।
 इय चिंतो चत्तो, पाथण समं स पाणोइ ॥ ६४ ॥
 सुहसरो सहसरो, सो उववओ सुगे सुकयपुओ ।
 तत्तो चविय विदेह, सदिहं सुंनि सुकसावि ॥ ६५ ॥
 अशुवेत्यशुकरुणिणामविवामहेनोः ।
 धीकांतिच-उनरच-उचरिअमृचैः ।
 जया नरा जननमृत्युजगदिजिता,
 अक्रतागुणमरीणांधया इधचम् ॥ ६६ ॥ ५० २० ।

अक्रवृत्त-अक्रवृत्त-जि-न विद्यते केवलमस्मिन्सत्यकवक्ष्य ।
 अशुके, सूत्रं २ श्रुं २ अ० ।
 अक्रोउहदु-अक्रोतुहदु-वि० न० ब० स० नटननकादिपु. अ-
 क्रोतुक, “ नो मावप नो वि य माविअप्या, अक्रोउहदुं य सया
 सपुज्जा ” इश० ए अ० ३ उ० ।
 अक्रोप्य-अक्रोप्य-वि० अक्रापनीये, अदृपणीय, श्रुं १ उ०
 “ अक्रोप्यजयजुयज्ञा ” अक्रोप्यमतेष्यं रम्यं उह्वाणुगलं यासां
 तास्तथा । प्रश्न० आश्र० ३ श्रु० ।
 अक्रोविद-अक्रोपित्त-वि० अदृपणीय, “आरियं उयसंपज्जे, स-
 ध्वधम्ममकोविद्यं” । सूत्र० १ श्रुं ८ अ० ।
 अक्रोविद-पुं० अतन वयसा चाऽप्राप्तसोय्यताके, इय० १ उ० ।
 अर्पावर्तंत, सव्वात्स्वायंवांधरदिते, सूत्र० १ श्रुं ० अ० २ उ० “आ-
 रंजाइ न सकंति, अविपसा अक्रोविथा ” सूत्र० १ श्रुं ० अ० ३
 उ० । सम्यग्दानानिपुणे, “ वणे मूढे जहा अंतु, मूढे वेणाणुमा-
 मिए । दो वि एए अक्रोविथा, तिअं सोयं तियच्छइ ” सूत्र० १
 श्रुं १ अ० ३ उ० । इश० । पि० ।

अक्रोवियप्प (ण)-अक्रोविदात्मन्-पुं० सम्यक्परिज्ञानवि-
कस्ते, पु० १ उ० ।

अक्रोहण-अक्रोधन-बि० क्रोधरहिते, " एसपपमेष्को अमुसे
थरे वि, अक्रोहणे सबरते तयस्सी " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
अक्रन्तं-देशी-प्रबुद्धे, दे० ना० ।

अक्रन्त-आक्रान्त-बि० आक्रम-कः। अवधये, आचा० १ श्रु० ६
अ० ५ उ० । अभियुते, स्वापरिव्याप्त्यै ह्यथे, सूत्र० १ श्रु० १
अ० ४ उ० । भावे कः। आक्रमणे, नं० । अ० १ श० ३ उ० । आ-
क्रमन्ते, पादादिना चूतकार्दो प्रवति । अचित्तवायुकायिकभेदे,
पुं० ब्या० ५ डा० ३ उ० ।

अक्रन्तदुस्त्र-दुःखक्रान्त-बि० आक्रान्ता अभिभूता दुःकेन
शारीरमासेभाऽसातोद्वेगेन दुःखाक्रान्ताः (दुःखाजिज्ञृतेषु)
सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । " सव्ये अक्रन्तकुम्भाय, अक्रान्तस्ये
अहिसिया " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अक्रन्द-आक्रन्द-पुं० आक्रन्द-घञ् । सारथे रोदन्ते, वाच० । तदा-
त्मक एकवच्यारिणे उच्छ्वासात्तमाभेदे, आक्रन्दंरुदितविशेषं
पुत्रकलशादिययोगं तं विधत्ते । प्रवा० ३८ डा० । आह्वाने, शब्दे च,
कर्मणि घञ् । मित्रे, घान्ति च, आचारं घञ् । दारुणं युक्तं, युःसि
नौ रोदन्स्थाने च । आक्रन्दयति-अञ् पारिणप्राहायाव्यवर्तिनि
नृपभेदे, " पारिणप्राहं च समर्हय तथाऽऽक्रन्दञ्च मारुते " मनु० ।
अक्रन्द-आक्रन्दन्-न० । आनक्रन्द-ल्युट् । महता शब्देन वि-
रवणे, आ० ५ अ० । आह्वाने च, वाच० ।

अक्रन्दुर-अक्रन्तु (त्) वरं-स्त्री० गुच्छेनेदं, प्रभा० १ पृ ।

अक्रन्थल-अक्रन्थल-न० मधुरावस्थलभेदे, ती० ६ कटप ।

अक्रम-आक्रम-पुं० आक्रम-घञ् । अक्रुः । बहूनाऽतिक्रमणे,
अभियन्ते, व्याप्तौ, आगमे च । वाच० । प्राहते " आक्रामे रंहावा-
च्यारुञ्च " धा० ५६ । इति सूत्रेणाक्रमेण्य आदेशाः वा आहायश्च
उच्छ्वाशश्च ह्युदह । अक्रमश्च आक्रमन्ते, प्रा० । आक्रमणकर्मणः परा-
जयं, वच्छेदं, आ० म० प्र० । बलात्कारं, आ० ५ अ० । आक्रम्यते
परलाकाऽनेन । करणं घञ् । परलाकमासिंसाधने विद्याकर्मोदो,
रुताक्रमणे, अभिभूते, व्याप्ते, आगमे च । वाच० ॥

अक्रमण-आक्रमण-न० अभिभवने, विशेष० । पादेनात्कीरने,
आ० ४ अ० ।

अक्रमिन्ता-आक्रम्य-अ० आक्रमणं कृत्वेत्यर्थे " भीमकृषेहि अ-
कर्मिन्ता दृढदादा गाढं " प्रहस० आ० १ डा० ।

अक्रशास्त्रा-देशी० बलात्कारं, ईपमसत्प्रां स्त्रियाम्, दे० ना० ।

अक्रा-देशी-भगिन्याम्, दे० ना० ।

अक्रासिदेवी-स्त्री० व्यन्तरदेवीविशेषे, ती० ६ कटप ।

अक्रिष्ट-आक्रिष्ट-बि० न० त० अबाधिते, निर्वन्दने, अ० ३ श०
२ उ० । स्वशरीरोत्पक्षेकरहिते, जी० ३ प्रति ।

अक्रकुट्टं-देशी० अक्र्यासिते, दे० ना० ।

अक्रुत्त-गम-घा० गतिः, " गमेरह अक्रुत्तुष्यज्जावसज्जो-
कृत्साऽक्रुत्स० " धा० १६१ । इति सूत्रेण गमेरुकृत्साऽऽदेशः । अक्रु-
त्सह, गच्छति, प्रा० व्या० ।

अक्रुज (य)-अक्रुज-बि० अक्रयणीये, स्था० ६ डा० ।

अक्रो-देशी-भूते, दे० ना० ।

अक्रोमण-आक्रोमन-न० संग्रहे, विशेष० भुः अ० ।

अक्रोमो-देशी-द्वारे, दे० ना० ।

अक्रोस-अक्रोश-न० वर्षायोग्येष्वेवविशेषे, यस्य मूलनिबन्धा-
त्परतः पक्षां दिशाभ्यन्तरस्यामेककथां द्वयोस्तिस्त्रुषु वा दिक्षु
अटवीजलप्रवापदः सन्ति, तेन पर्येतनदीव्याघातेन च ग्रामं
मिवाचर्यां च न सत्प्रभवति, तन्मूलनिबन्धमात्रमक्रोशम् ।
व्य० १० उ० ।

आक्रोश-पुं० आक्रुश-घञ् । तुर्वचने, अ० ८ श० ८ उ० ।
निद्रुवचने, आ० ४ अ० । अस्तम्भापायाय, उक्तं २
अ० । विरुद्धचिन्तने, शापे, निन्दार्थां च । वाच० ।

अक्रोसग-आक्रोशक-बि० तुर्वचनवादिनि, उक्तं २ अ० ।

अक्रोसणा-आक्रोशना-स्त्री० सूत्रोऽसि त्वमिवाविद्यचनेषु,
आ० १६ अ० ।

आक्रोसपरि (री) सह-आक्रोशपरि (री) पट्ट-पुं० आ-
क्रोशनमाक्रोशाऽसभ्यसायात्मकः स एव परीपट्टः आक्रोशप-
रीपट्टः द्वादशे परीपट्टे, उक्तं १ डा० । आक्रोशोऽनिष्टवचनं,
तच्छब्दा सत्येतरात्त्रोचनया न कृत्यन्ते किन्तु सहैत आ० ४ अ० ।

" आक्रुषोऽपि हि नाक्रोशते, क्रमाभ्रमणतो विदन् । प्रत्युनाक्रोष्ट-
रि युतिभित्तयेऽप्युकारिताम् " ध० ३ अर्थि० । " नाक्रुषो मु-
निराक्रोश-सम्यक्ज्ञानाद्यजनेकः । अपेक्षेतोपकारित्वं न तु ज्ञेयं
कदाचन " आ० १ डा० । आ० म० शिः । तथाहि सर्वं, कः
कोपः । शिष्याभि हि मामयमुपकारी, न पुनरेवं करिष्यामीति ।
अनुते चेत् नुसुरां कोपौ न कर्त्तव्यः । उक्तं च " आक्रुष्टेन मति-
मता, तन्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः,
स्यादनुते किमिह कोपेन " इत्यादि परिभाष्ये न कोपं कुर्यात् ।
प्रब० ८६ डा० । " चाक्रुशः क्रिमयं द्विजातिरन्धवा शुद्धोऽथवा
तापसः, किं वा तस्यनिवेशपशमतिर्योरीहवः कोपि वा । इ-
त्यस्वल्पविकल्पजलपमुक्षुरैः संभाष्यमाणो जने-नो रूढो न हि
शैव हृष्टहृदयो योमीश्वरं गच्छति " पुनर्गाली, श्रुतेति वि-
चिन्तयेत् । " ददतु ददतु गाली गालिमन्तो जवन्तः, घयमपि त-
द्भावात् गालिदानेऽप्यशकाः । जगति विदितमेतद्वा विद्य-
मानं, ददतु शशविषाणं ये महास्यागिनोऽपि ॥११॥ " इति वि-
चाये समस्तं त्रिष्टुट् । उक्तं २ अ० । " अक्रोस गणपमारणं,
धम्ममंसाणवालुसुन्नणं । लामं मज्जं धीगे, जहुत्तरायं
अभावमिम् " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । एतद्वच्चुत्तदाह ।

अक्रोभेज परां जिक्वुं,
न तेसि पकिंसजले ।
सरिमां होइ बालाणं,
तद्दा भिक्वुं न संजले ॥ २५ ॥

आक्रोशोस्तिरुच्यते । पराऽऽर्थी धर्मापेक्षया धर्मव्याह आत्म-
व्यतिरिक्तो वा जिक्वुं यति यथा भिक्कुमुपकृत्किमिह त्वमागतोऽस्ती
ति (न तेसिति) सूक्तवचनस्य च व्यययाश्च नस्मै प्रतिसंज्वलेत्
निर्योतनं प्रति । तत आक्रोशादानतां न संज्वलेदतिभिर्यतनार्थम्,
देहदाहोहितपानप्रत्याक्रोशाभिघातादिभिरिञ्जकश्च वीर्येत्, सं-
ज्वलनकोपमपि न कुर्यादिति । संज्वलेदित्युपादानं किमयमुपदि-
ह्यत इत्याह सट्टः समानो भवति संज्वलति प्रकमः । केयां ?
बालानामहानां, तथाविधकृपकथं । यथा कमित् कृपको देवत-

आक्रोसपरिसह

यायुर्भारवजितया सततमजिनयते, उच्यते च मम कार्यमावेद्वी-
र्याम् । अन्वयेकेन धिग्जातिना सह योऽनुमारब्धस्तेन च बलवता क्षु-
द्रामशरैरेव भुवि पातितस्तापितम्ब, रात्री देवता बन्दिनुमा-
याता कृपकस्तृष्णीमास्ते । ततश्चासी देवतायाऽभिहितो, भगवन् !
किं मयाऽपराधम् । स प्राह न तस्य त्वया तुरात्मनो ममापका-
रिणः किञ्चित्कृतम् । सोऽप्रादीन् न मया विद्योषः कोऽप्युपलब्धः,
यथाऽभ्रमाश्रम्यं पित्राजितिरिति यतः कापिप्रीत्या ह्यश्वपि सन्मनो
संप्राप्यति । ततः सतीप्रेरणेनेति प्रतिपन्नं ह्यपकेणेति । उक्ते-
बाधं निगमयितुमाह । (तम्हृषि) यस्मात्सहशो भवति वा-
नानां तस्माद् भिद्युन् संज्वलेदिति सूत्रार्थः ।

हृत्पोषदेशमाह ।

सोषा एं फरसा चासा, दारुणा गामकेटया ।

तुसिण्णो उवेहिजा, या ताम्नो मरुसं करे ॥३५॥

शुवाऽऽकरथं षामिति वाय्वात्कारं परिषयाः कर्कशा प्राया गिरः ।
दारवन्ति मन्दस्तथानां संयमविषयां धृतिमिति दारुणास्ताः प्राग-
ऽनिक्रमाप्रामस्तस्य कपटका इव ममकपटकाः प्रतिकूलशस्त्राद्यः
कपटकत्वं शेषां दुःश्लापादकत्वेन मुक्तिमार्गप्रवृत्तिविग्रहेतुतया च
तदेकदेशत्वेन च परुषप्राया अपि तयोकाः । भाषाविशेषणत्वे-
ऽपि चात्राविष्टसिक्कित्वापुसिक्कित्वा, तृष्णाश्लेन कापाःप्रतिपुरु-
षभाषी एवंविधम् । " जा सहइ उ गामकेटय, उक्रोसपहा-
तज्जणायास " इत्यागमं परित्रायवन्नुपेक्रेतावधीर्येव । प्रक-
माप्यश्वनाया एव कर्थाभिपत्याइ न ता मनासि कुर्याद, प्रापिणि
हेषाकरणेनेति सूत्रार्थः । उच० २ अ० ।

कर्मणा दुःभगा चैव, इवाऽऽदुष्टं पृथुजणा ॥ ६ ॥

पृथक्जनाः प्राकृतपुरुषा अनायकतया इत्येवमाहुःरित्येवमुक्तव-
न्तः । तद्यथा । य एते यतयः जलावज्जदेहा लुञ्जितशिरसः कुधा-
दिवेदनाप्रस्तास्ते एतेः पूर्वाचारितः कर्मजिराताः एवैवकृतकर्मणः
फलमनुभवन्ति । यदि वा कर्मजिः कृष्यागिरिभारतोस्तकृतुमसम-
थां वञ्चिन्ना सन्तो यतयः संवृथा इति, तथैते दुःमेगाः सर्वेणैव पुत्र-
दारदिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामच्युपगता इति ।
एते सहे अचापंता, गामेसु षामेसु वा ।

तद्य मदा विसंयंति, संगमंमिव जीरुषा ॥७॥

एते पदं पुत्रोक्तानाकारुण्यत् तथा चौरचारकादिकृपाद् श-
ब्दाद् सांढुमशक्यनुवृत्तो प्रागमगारास्ते तन्मरुता वा व्यवास्थि-
ताः, तत्र तस्मिन् आक्रोशे सति भन्दा अज्ञानप्रयुक्ततया विदी-
दिति धिमन्त्का जवन्ति संयमाद् अश्वयन्तिना, भीरवः संप्रापे
रणशिरसि चक्रकुन्तासिश्चिकनाराचाकुले रटयटहशक्रुण्डीरी-
नाकरभरिं समाकुलाः सन्तः पौरथं पारत्यज्याऽश्याःपटहमङ्क-
रुत्य जग्यन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादस्वताः सयमे वि-
पीदन्ति । सूच० १ श्लो ३ अ० १ उ० ।

अनार्जुनामज्ञाकारणिकया ।

रायगिहे मालारो, अज्युष्यमो तसस जज्ज संदशिरि ।

मोगरपाण्णी गोर्ह, सुदंशना वंदंश्रीणीति ॥ उच० नि० ।
राजशुहे मासाकाराऽज्जुनकस्तस्य प्रायो स्कंदश्रीः मुक्त्रपाणि-
यंको गोर्हो सुदंशने (वंदंशति) वंदंशनायं निगच्छतीति गा-
थाकारार्थः, प्राषायंस्तु संप्रदायगम्यः । उच० ३ अ० । (स
च 'अज्युषण' शब्धे)

जो सहइ हु गामकेटय, आक्रोसपहातज्जणाओ अ ।

जयनेरवसहसपहासा, समसुहदुक्त्वसह्ये य जे सजिक्क ॥

किच (जो सहइति) यः लहु महात्मा सहते सत्यप्रागमकपट-
काद् प्रामा इन्द्रियाणि, तद्ःकहतयः कएटकास्तान्, स्वरुपत एवाह,
आक्रोशान् प्रहारान् तज्जनाश्रैति । तत्राक्रोशो अकारादिभिः, प्र-
हारः कशादिभिः, तज्जना शस्त्रादिभिः, तथा प्रहरमया अत्यन्त-
रीक्रभयजनकाः शश्याः सप्रहासा यस्मिन् स्थान इति गम्यन्ते
तस्यथा तस्मिन्, वेताह्यदिकृतातेमाहाद्प्राहास इत्यर्थः अत्रोपस-
र्गेण सत्यु लज्जःकसहस्योऽवचलितभावः स निश्चुरिति
सुत्रार्थः । इ० १० अ० ।

आक्रोसपरि (री) सहविजय-आक्रोशपरि (री) षह-
विजय-पुं० मिथ्यादशोनादूहसोदीरितुदुवैवांसि हानिदावदादी-
नि क्रोभहृत्वदोरीपनपरिह्वानि श्रुयवन्मोऽपि तस्यतीकारं कर्तुं-
मपि शक्युवन्तो 'दुरन्तः क्रोधादिकृपायोऽप्यनिमित्तपायकर्मवि-
पाक' इति चिन्तयतः कृपायानवमात्रस्यापि स्वहृदयजन्व-
काशदाने, पंचा १३ विव० ।

आक्रोह-आक्रोह-भि० न० ब० क्रोधोद्ययिदराहिते, । विफली-
कृतक्रोधे, श्री० । नम्रः स्वल्पार्थायान् स्वधक्क्रोधे, ज० २ वृत्त० ।
क्रोधमकुशोणे, उच० २ अ० । " स एणु भेते ! अक्रोहत्तं अ-
माणत्तं अमायत्तं अलोमत्तं समणान्ति निमंथायत्तं पसवत् ? इता
गोयमा । अक्रोहत्तं जाव पसवत् " अ० १ श्ल० ए० उ० ।

अवदमिन्द्र-देही-तथेत्यर्थे, दे० ना०

अवर्त्त-अङ्ग-पुं० जीवे, आ० म० प्र० स्था० तत्रयत्रापि "मा-
वाविचिमिकमिहानिकष्यणी" इत्यादिना औपानादिः सप्रत्ययः ।
आ० म० प्र० ।

जीवो अवर्त्तो अत्य-व्वावएभोयसगुणशिश्रोएण ।
अक्रुस्तावज्जिव उच्यते, केन हेतुनेत्याह (अत्यवावणेत्यादि)
अथेव्यापनज्जगुणान्वितो येन तेनाङ्को जीवः । इदमुक्तं भव-
ति "अहाक् व्यासी" अत्रयुते हानात्मना सर्वार्थान् व्याप्तोतीस्ती-
णादिकनिपातनाङ्को जीवः । अथवा "अहा भोजनं" अत्रनाति
समस्तत्रिहृद्यनन्तर्षितिनो देवलोकाससृष्ट्यादीनां धान् पाहयति
पुङ्गु वेति निपातनाङ्को जीवः । अत्रातेनोऽनार्थवाद्, कुजे-
श्च पाहनाज्यवहारार्थस्यादिति भावः । इत्येवमर्थं व्यापयमानं
नगुणकुत्सेव अहिकस्याक्त्वं सिद्धं भवति । विदो० । इन्द्रिये,
न० " जमकृमिन्द्रियं प्रोक्तं, हृषीकं करणं स्मृतम् " इति षच-
नात् । " अक्रुत्सस पोगम्यया, जे दम्बेदियमणपर होति "।
आ० म० प्र० । प्रहा० । आ० विदो० नि० सू० । दश० । अज्ञा-
ति नवनीतादिकमित्यङ्कः । धुरि, (चक्रनामो) उच० १ अ० । " अ-
क्क भेगमि स्याइ " । उच० ३ अ० अ० । श्री० । जं० । ज० ।
चतुर्भिहेस्तीरिप्येऽवमानविशेषे, अ० । अ० । व्यावहारिका-
ऽङ्कः पशुवत्यङ्कभूमिनि भवति । स० ६ स० । अङ्क इत्यङ्कापङ्क-
दानयश्चेति इमपुष्पिकाऽप्ययमे, दश, १ अ० । चन्दनके, अस्मिद् हि
अनाकारवती साध्यादेः स्थापनां कृताऽऽवश्यककार्याः कुशेः
स्थापनाऽऽवश्यकं भवति । अ० । प्राय० । तदपे उक्त्तौपम-
हिकोपधिधियोः, "अक्लासंथारो वा, परामयेगीगोर्हो अउक्रो-
सो । पोःधगपणं फलमं, उक्रोसोऽवगग्गो सव्यां " अ० ३
अधि० ना० पि० । पं० व० । कलाकृत्तविशेषे, अ० ३ वयः ।
पाराशे, कपदेके, "कजय अपराजिय जहो, अक्कोहि कुसलेहि
दीवयं" दृष० १ श्लो २ अ० २ उ० । विनीतेके, रावणसुतमेव, सपं,

जाताम्बु, गहमे च, तुर्थे, सौष्वले, कर्षपरिमाणे च, न० वाच० ।

अप्रसङ्ग-अक्रुतिक-वि० अश्रय, "अप्रसङ्गधीयणं अप्रापणं कम्मचधेणं मुहरि" अकृतिकधीजेन अक्षेपणं उःखहेतुनेत्यर्थः । प्रश्न० आश्र० १ श्रु० ।

अप्रसङ्गाद्य-अक्रुयोदक-वि० अक्षयं शाश्वतमविनाशरुदकं जलं यस्य सोऽक्रुयोदकः । नित्यसाक्षिलभूते, "जहा से सयं-अप्रसङ्गं उदहं। अप्रसङ्गाद्य" उक्त० ११ श्रु० ।

अप्रसङ्गम्-अक्रुचर्चन-न० जहापकचणकारो, "अप्रसङ्गम् उदगुददेसं" ज्ञा० ६ श्रु० ।

अप्रसङ्गवैश्व-देशी-सुरते, प्रदोषे च । दे० ना० ।

अप्रसङ्गवैश्व-अक्रुनिवृत्त-खी० गन्ध्याम्, पि० ।

अप्रसङ्गाय-अक्रुपाद-पुं० अक्षं नेत्रं द्रोणसाधनतया जातं पादोऽस्य म्यायमुत्रकारके गौतममुनौ, स हि स्वमतद्वयकस्य व्यासस्य मुखदशोर्न चक्रुपा न करणीयमिति प्रतिज्ञाय पश्चाद् व्यासेन प्रसादितः पादो नेत्रं प्रकाश्य तं दृष्टवानिति पौराणिकी कथा । वाच०। अक्रुपादमते किल योऽश्रु पदार्थाः। "प्रमाणप्रमेय-संशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्ताद्यवतर्कनिर्णयवाद्यजल्पवित-गडहृदयाभासच्छब्दजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानाभिःश्रयसाऽधिगमः" इति घञनात् । इत्याद्यन्त्र प्रकृपयिष्यते । स्या० । "अक्रुपादेर्नोः प्रत्ये च" विशे० । श्रा० म० प्र० ।

अप्रसङ्गम्-अक्रुम-वि० कृमते कृमः । अश्रु । न० त०। असमर्थे, कृम-भावे अश्रुः अभावात्, न० त०। कृमाभावे, ईर्ष्यायां, खी०। वाच० । अयुक्तत्वे, स्या० ३ ग० ३ उ० । अनुचितत्वे असमर्थत्वे, स्या० ५ ग० १ उ० ।

अप्रसङ्ग-अक्रुत-न० अक्रुत् इन्द्रियसन्निकर्षाज्जातः । जन-नः। इन्द्रियविन्यसन्निकर्षोत्पन्न प्रत्यक्षज्ञाने, वाच० । "अक्रुत्यापारमार्शिक्ये, भषदकृजमिष्यते । तद्व्यापारो न तत्रेति, कथमक्रुमं जनेत्" श्रा० म० छि० ।

अक्रुत-पुं० बहु० न क्षताः । अक्षान्ततदुक्ते, देशी० । प्रव० । पञ्चा० । स्वस्यमात्रे, । न० कृत्युक्तानिभे, उत्कर्षान्विते, अविदारिते, यं च, त्रि० कृणभाये, वाच० । परिपूर्णे, स० १ स० । प्रश्न० । क० न० त० क्षयाजावे, न० वाच० ।

अक्रुय-वि० नाऽस्य कृत्याऽस्तीत्यक्रुयः न० । अक्रुय्यं वसाने, प्रा० ४ श्रु० । अप्रमाश्रिते, पञ्चा० ४ वि० । स० । "सिद्धमयलमद्रमणेतमक्रुयमवभाहमपुत्रावाचित्यं सिद्धिगदनामयं तायां संपादितकामं" अक्षयं कृत्यरहितं साधनतत्त्वसात् । कल्प० । अनाशंसाद्यप्येवस्थितिकावात् । दे० १ श० १ उ० । विनाशकृपाज्जावात् । जी० ३ प्रति० । रा०। ध० । "स पश्यया अप्रसङ्गसागरे वा, महोदधि वा विअणेतपारे" स भगवान् प्रकृत्याऽक्रुयोऽक्रुणज्ञान इत्यर्थः । लृ० १ श्रु० ६ श्रु० ।

अप्रसङ्गपिहित-अक्रुयनिधि-पुं० देवजाणकारो, अप्रसङ्गपिहितं च अणुवद्वेहसामि" विपा० १ श्रु० ७ अ० । अश्रयं भाग्यगात् । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ४ ।

अप्रसङ्गपिहित-अक्रुयनिधितपस-न० सौकिकफलप्रदे तपोत्रदे, यत्र जिनविश्वस्य पुरतः स्थापितकक्षः प्रतियदिं प्र-क्रुयमाणेणलुप्तमप्यथा यापयित्तिनेः युद्धते तावन्तं दिना-न्यकाशनाम्नाऽकारितयोऽक्रुयनिधितयः । पञ्चा० ७ वि० ।

अप्रसङ्गपिहित-अप्रसर्पनिधि-खी० अक्षया चासौ तीर्थिभ्यश्च-

कृत्यानिधिः। यो० ६ वि० । अश्रयं मूलधने, येन जीर्णोत्तस्य देवकुलस्योत्तारः करिष्यते । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

अप्रसङ्गयतइया-अश्रयतृतीया-खी० कर्म-स० । वैशाखशुक्र-तृतीयायाम्, "वैशाखमासि राजन्त्रे, शुक्रपक्षे तृतीयाका । अश्रया सा तिथिः प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता । सन्तं दानादिकं सर्वं-मङ्गलं समुदाहृतमिति, वाच० । तस्मादाश्रयकथा वैश्वम्-प्रश्लिष्यन्तु प्रभुं पार्श्वं श्रीचिन्तामणिसंज्ञकम् । अथाश्रयतृतीयाया व्याख्यान्तं लिख्यते मया ॥ १ ॥ एतदेवाह भूतकेवली भगवान् भद्रबाहुः । "उसमस्स कु पारुण्य, इस्सुरसो आसि लोण नाहस्स । स्यात्ते परमं, अश्रियरसस्सोचं आसी ॥ १ ॥ पुट्टं च अहो दाणं, दिव्याणि आहियाणि दूराणि । देवा विस-सिधदिआ, वसुहारा चैव सुदीया ॥ २ ॥ भयवं धणेषु भुषणं, जसेण भयवं रसेण पडिहयो । अण्णा निरुवमसुचकं, सुपत्त-दाणं महधुवणं ॥ ३ ॥ रिसहेण समं पणं, निरज्जं वसु-रससमं दाणं । सेयंससमे भाषो, हविज्जं जडमेगियं हुज्जा ॥४॥" इति । एतान्तं गाथानां आभाषः कथयाऽवगन्तव्यः । तथाहिः-श्रीश्रुयभवेवस्वामिनो जीवः सर्वार्थसिद्धयिमिमानां च्युत्वाऽऽ-वाढकृष्णचतुर्थ्यां तिथौ नमिनाम्नः कुलकरस्य भाग्याया मरु-देव्याः कुलावधनीयाः । मय मासान् चत्वारि दिनानि च तत्रो-पित्वा वैश्वकृष्णाद्यभ्यां निश्रीघसमये जन्म जनुहे । तदानीं विपुत्रयं विदितुम् । तत्रं नारकैरपि जम्बैः शमययामि । तदनु यदपश्चात्तद्विक्रुमारिकाणांमासनानि चकम्पिरे । ताभा-वधिज्ञानेन भगवतो जनिप्रभवम्न जन्मस्थानमासाद्य च स्वस्व-कार्यं संपाद्य निजनिजननानि प्रत्यगम् । तन्तश्चानुत्पन्नैव-क्यकनामिन्द्राणामपि विहराञ्जेलुः । तेऽप्यश्चिन्तानिष्ठैव भग-वतो जनुग्रहणं विदित्वा सौधर्मैन्द्रव्यतिरिक्ता अन्ये त्रिष-धिरिन्द्रा हेमाद्रिं प्रतिजनुम् । ततः सौधर्मैन्द्रोऽपि जन्मस्थानं समागत्य तत्रसंभ्यो मातृमुखेभ्यो जनेभ्योऽवस्थापिनीं त्रिणां दत्त्वा मातृसन्निधौ स्वशक्या रचितं भगवत्पनिबन्धं तिषाय भगवन्तमुजाभ्यां पालिभ्यां गृहीत्वा कनकाद्रिं समापयौ । तत्र च चतुर्धरिसंख्यकैरिन्द्रे संयुज स्नात्रहोत्सवं कृत्वा ततः सौधर्मैश्वरहितैरन्यैरिन्द्रेऽष्टमो नन्दीश्वरश्चीपो जन्मे । सौध-र्मैन्द्रस्तु भगवज्जन्तयोः सन्निकृष्टे बालकं पूर्ववत् संस्थाप्य अश्रयार्थिनीं त्रिणां पूर्वनिहितं भगवत्पनिबन्धं चापहृत्य "न-मो रत्नकुतिधारितये" इत्युक्त्वा मातरं प्रश्लिष्यन् ततो भग-वन्तं च नमस्कृत्य नन्दीश्वरश्चीपमज्जात् । तत्र सर्वे इन्द्रा अष्टाद्विक्रमहोत्सवं विधाय निजनिजन्तुरालयं समासन् । अथ स भगवान् सौधर्मैन्द्रसंचारितास्तुतवन्तं निजाङ्गुष्ठमेध चुचुष । मातृस्तन्यापानं न चकार आऽआशानात् तीर्थहराणां तादृशाचरितत्वात् । ततः क्रमेण पिता "श्रुयम्" इति भग-वतो नाम विद्धे । इन्द्रस्तु तदानीमिच्छाकुर्वन्समातिष्ठत् । विशतिलक्षपूर्वधर्मं भगवान् कुमारावस्थायामथातिष्ठत् । वाससो विर्नानाख्यां नगरं कारयित्वा भगवन्तं प्रायच्छत् रा-ज्याभियेकं चाकरोत् । आश्रियदिलक्षपूर्वधर्मं महाराजपदवी-मनुषधुव । सुगन्धा बुमक्षला चेति द्वे पत्न्यौ भगवतो बन्-वतुः । तयोर्भरतबाहुवलीप्रमुखं सुतारात्मजनिद । तथा आ-दित्यशशःसोमशशःअभुतयो बहवः पौत्रा आब्रुवन् । ततो भग-वान् अयोध्यायां ज्येष्ठपुत्राय अतया वदौ, बाहुवलीने च तत्तशिला राज्यमदान् । अन्येभ्योऽपि तनुजेभ्यो यथाहं देश-नगरादिराज्यं प्रदाय स्वयं वैश्वकृष्णाद्यभ्यां हीतं जनुहे, आ-

हारार्थे प्रतिग्रामं विजहार च, भद्रपुरवास्तु साधूनामाहार-
दानं न विदुरतो भित्तौ याचकमानाय भगवते मयिमाणिक्वा-
दीयुसमवस्तुयवोपाजहः । भगवता त्यक्त्रप्रहत्वात्
दीयमानमपि तत्सर्वं न जग्रहे, अतः सर्वतः पर्यटन् चतुर्विं-
शत्वारहति एव किञ्चिदधिकमेकं वर्षमतिष्ठत् । अस्मिन्नेवा-
वसरे गजपुरनगरे बाहुपलिनः प्रवीरः सोमयशःपुत्रः श्रेयांस-
कुमारोऽभूत्, तत्र भगवान् श्रुयमन्वेव आहाराय विहरन्ना-
जगाम । तदा नरकं श्रेयांसकुमारः “ मेरुपर्वतः कृष्णिवभूव,
मया चासृत्नकलशैश्छालयित्वा स शृङ्गीकृतः ” इतीदं स्वप्न-
मपश्यत् । तस्यामेव निशि तस्मिन्नेव पत्तने सुबुद्धिनामा श्रे-
ष्ठपति “ सूर्यस्य किरणसहस्रं भूमौ निपतन् श्रेयांसकुमा-
रस्तु तदुत्थाय पुनः सूर्याग्निं संयोजयुः ” इति स्वप्नद्रा-
रौत् । पुनः सोमयशा भूपतिरपि “ बभुररिपुसमवकदौ
व्याकुलः कश्चन सुभटो यदा तान् स्वरिपुं जेतुं नाशकम्, तदा
श्रेयांसकुमारं तस्य साहाय्यमकारि, येन स तत्तणमैव स-
र्वान् विजिग्ये ” इति स्वप्नं निरीक्षाञ्चके । एवं स्वप्नत्रयं त्रयः
पुरया अद्राक्षुः । ततः प्रजाते सर्वे राजसन्धायुसंगम्य य-
थास्वं स्वप्नं प्रव्यूचुः । नदवधार्थं “ अथ श्रेयांसकुमारस्यापूर्व-
स्वप्नाभिव्यक्तिः ” इति सर्वे सभ्या व्याजहः । एतस्मि-
न्नगरे सदाऽऽप्रतिबध्निदायप्रमत्तं भगवत् भित्तार्थं प्र-
तिशुद्धं परिशुभन् तत्र श्रेयांसकुमारनिकेतनमुपस्थेय । तमा-
क्यन्ते जगवन्ते समवसोक्य कुमारोऽनीव जहपि । अन्ये च जना
श्रष्टवन्साधुमुद्राः पादाभ्यामेव पर्यटन्ते तमवसोक्य हस्यश्व-
प्रभृतीनि विविधवस्तूनि समुपाहरन् । भगवांस्तु किमपि नो-
पादत् । तेन ते लोकाः कांशावेवं कृत्वा (विषयमासा विन्यय-
न्ति स्म, यतो जगवान् अस्मकस्तदुक्तं किमपि नोपादत्, जातु
अस्मासु कृत्वा योपाहृतय इति । ते तु युगन्नत्वावध्यामचरणी-
वाहासिपुरतः साधुनिज्ञानाविधिं न विदन्ति । अथ श्रेयांस-
कुमारो जगवन्तः साधुमुद्रां समवसोक्य “ इदंमौ मुद्रा मया पूर्वं
कुत्रापि निरीकृता ” इत्ययमुद्गृह्णायाहौ कुर्वन् तदानीं तस्य मतिज्ञान-
मभेदभूत् जानिस्मण्डानं समजनि । तेन ज्ञानेन भगवता साकं
नव जना भेवत्यतीताः इत्यादि सर्वे शोऽनुच्यन्त । तत्र “ घण १
मिहृणु १ सुर ३ महव्यव ४, लोबिग ३ वयरज्ज ६ मिहृणां य
७ । साहम्म ६ विज ६ अच्युय १०, चक्री ११ सव्य १२
वन्मो य १३ ” ॥ इति साध्यात्मनां श्रेयांशुजगानां मध्ये प्रथ-
मे भवे जगवान् साध्यांशुऽभूत्, द्वितीयं युगन्निकः, तृतीयं
देवता, चतुर्थं महावलनामा राजा, पञ्चमं लज्जित्कामनामकां
दंयोऽभवत् । श्रेयांसकुमारस्तु प्रथमे भवे खीन्वजानां धर्मि-
णीनामिका खी समजनि । एवं क्रमेण बलिनाङ्कदेवायतारस्य
नगरेः स्वयंप्रजाप्या देवी बभूव । ततश्चतुःत्वा ललिताङ्कदेव-
जीवः पष्ठे भवे यज्जगत्तारस्यो राजाऽभवत्, स्वयंप्रजा च तस्य
धीमतीत्याख्या राजपती बभूव । एवं सप्तमे भवे चोन्नौ युगन्निक-
को बभूवतुः । अष्टमं स्याभेदवसोक उभौ देवाः समजनिपालाम् ।
नवमे भगवान् जीवान्ताभिर्यो वैद्यः, श्रेयांसजीवस्तु केशचा-
र्यः श्रेष्ठिपुत्रः संजातः । तत्रापि द्वयोरगर्भविभजना बभूव । ततो
दशमे जयऽच्युतदेवसोकं उभौ मित्रदेवौ संजातौ एकादशे ज-
गवान् चक्रयतीं श्रेयांसश्च सारथिः । द्वादशे चोभौ सार्थाधिष्ण-
वित्सेन देवौ । तत आशुपि कृष्णे सति त्रयोदशे भवे भगवतो
जीवाऽसमवसोऽहश्च श्रेयांसकुमारोऽस्मि । एवं स श्रेयांसो जा-
तिस्मरणज्ञानेन प्राक्तनानां मथभवायं स्वरुपमभेदं, तेषु अ-

वेपु पूर्वं साधुकियामाकांक्षीत्, अत एव श्रेयांसकुमारो व्यक्तित्व-
यत् यत् संसारिजिवानां कीदृशमहान्निष् जयति येन त्रिलोका-
प्रभुं राज्यपदवीं तुल्यत् विदुष्य विषयभोगकषं सांसारिकसुखं
किपाकफलमिव विदित्वा साधुषु गृहीत्वा च कर्मवचनविमो-
चनाय प्रयतमानं रागद्वेषादसकान्धकारिभूत् परिग्रहं परमा-
ण्डामत्रमवस्थीकुवाणं जगवन्ते नावेदिषुः । यः सर्वथा निर्ग-
न्धो निपरिग्रहः स कथं पुनर्दस्यश्वक्याःस्वर्णमणिर्माणिक्य-
मुक्ताफलादीन् परिग्रहान् प्रहीयति ? । एवं बुद्धो स श्रेयांस-
कुमारो निजप्रसादादगयाज्ञात्, तूर्णमपः समवतीर्य जगत्प्रदक्षर-
णोपकण्ठं समाययौ जगवन्ते त्रिः परिक्रम्य परमानन्दसिन्धु-
निम्नो वयन्ते च । पुनरज्ञावे बद्धा भगवन्तं तुष्टाय व्यजिह्वपथ
। हे स्वामिन् ! मयि कृपा विधीयताम् ईं संसारतापतोऽस्मि ।
अतो मं संसारभित्तानः क्रियान्त । अष्टादशकांटाकांटासाग-
रोपपरम्यन्तविच्छिन्नो मुनिजनानां प्रासुकाहारदानविधिः प्रका-
श्यताम् । मम शूद्र उपहाररूपेण समाताद् इक्षुरस्युपाणं
शुकाहारभूताद् अष्टोत्तरशतघटान् भवान् समाददातु । इति
वचो निशाम्य ज्ञानचतुष्टयसम्पन्नो भगवान् तमिकुरसं कल्पत्र-
कालजायातुकुलं निरयथाहारं समवगम्य श्रेयांसनिकेतनमुप्य
निजहस्ताञ्जज्ञौ सर्वे युगपज्जग्राह । यतो भगवता पाणिपात्र-
द्विधमता नृत्यते, तैवेव स निखिलेऽष्टोत्तरशतघटसोऽञ्जलि-
प्रविशे । रसग्रहणसमये चैकविशुद्रपि त्रुमी न निपयान ।
यद्यप्यमष्टोत्तरशतघटपरिच्छिन्न एव रसोऽनूत् यदि च शत-
सहस्रलक्षकूपरिमितः समुद्रपरिमितो वा स्यात् तथापि प्रविशेव ।
एवं भगवन्ते विशुकाहारदानस्य महानानन्दः श्रेयांसस्य तनौ न-
मसौ । पुनर्विजगवन्ते त्रिलोकौपुत्रोऽनन्तमुनिधिमयेवाद्
श्रुयज्जेषो यन्मे हस्तेनाहारमाद्दे तन्मयि परमप्रसादे व्यध-
त् । भगवन्ते निर्दोषाहारं ददन्ते मे सवः पापसन्तापः क्षायाः
यावत् स एवं विचिन्त्यति तावकर्मनिर्गरो देवाः पञ्च दिव्यानि
प्रकटांचक्रुः, “ अहोदान्दोऽहोदान्दोः यव प्रकल्पन्ते देवदुःखभी-
न् च वादार्थाचक्रिरे । तिर्यगजुगभकात्प्यास्त्रिंशः साधद्वादश-
कांटिलुययैदोनाराणां रत्नानां च श्रुष्टिमापुः । तदा श्रेयांस-
गृहं सुवर्णदालरि रक्षेः समुद्रादिभिश्च परिपूर्णं समजनि ।
विष्टपत्रयं धनघायासिद्धिः परिपूर्णम् । श्रेयांसस्वयामा निरप-
मसुखनाजने संजातम् । तदारज्य लोकं सर्वे साधूनां भिक्का-
दानांवाधि विदाञ्चकुः । भगवान् यस्मिन् यस्मिन् देशे विहरति
तस्मिन् तस्मिन् देशे कदापीतयो न भवन्ति स्म, सकलसुहाण्य-
पि परमात्मसादृशप्रदानेति बभूवुः, येन अस्मिन्नाम द्विप जगवन्
परमांशं प्रयच्छन्ते स्म नस्यातिशयविशेषात्वात् । अस्मिन्
वेशास्य शुकुत्तुनीयादिने जगवन्तः श्रीऋषयदेवस्य पाशना श्रेयांस-
सगृहे इक्षुरसने निवृत्तः । इदं च दानं श्रेयांसस्याङ्कयसुसका-
रणी नूत् संजातमन्तऽस्यास्तुनीयायाः “ अक्षयतीयायाः ” इक्षु-
त्तुनीया ” वा संज्ञा लोकं प्रावीरिष्ट । अत्र कश्चिन् प्रहने करोति,
श्रेयांस्यनाथस्य भगवता वर्षमेकं जोनानरायः कथम् ? । अत्रो-
प्यने कल्पविवरणं प्रदशयमानस्तरायनिदानं कर्म । तथाहि-
चतुर्भवे जगवाद् मार्गे गच्छन् खड्गं धान्यानि खादते बृषजान्
क्षुपीवक्षेस्तत्कामानववसोक्य सजातकरुणस्तान् प्राधावन्,
अरे रे सुखाः कृपाणाः ! पतान् बभूवुस्तु ययं न ताम्बुकिं कित्तु
मुखधर्मी निर्मायेतपं मुखानि धरति । तदा नैने किमपि
मांशुं शक्यति । तदा तं प्रव्यूचुः, एवं स तां निर्मातुं जानामि ।
ततो जगवाद् तत्रोपाविश्य स्वहस्तेन तां निर्माय तथा च बृषजनु-

शं बद्धा तान् प्रादर्शयत् । तथा बन्धुना बुध्नो महता कष्टेन
पद्मपुत्रशतत्रयद्वयः श्वासान्मुञ्चत्, अतस्तत्रोपाजितमन्तराय-
कर्म दीक्षाग्रहणसमये प्रादुर्भूयैकषधानन्तरमद्योपशमतामवापे-
त् । अथास्य दानस्य प्रजापेण श्रेयासां भोक्तृपदवीमवाप्स्यति ।
भगवत्श्लोकसहस्रं कर्वाणं उग्रस्थावस्थायाभनित्तु । एकसहस्र-
पानेनस्रकृपुवैश्याव्येकशालित्वावस्थायां स्थिधानिकान् प्र-
स्यजोधान् प्रतिबोधयन् विचकार । ततोऽष्टावपद्वतोरपरि नश्व-
रमिमं लोकमपास्य भोक्तृमथाप । अतोऽङ्कयतृतीयादिने भय-
जीवानां सुपाशेदानं, शीशपालनं, तपस्याऽधरणं, प्राचनानात्र-
नं, देवपूजनं, आश्रमहोस्त्याचरिकं च कर्म विधीयत इति ॥
सद्यपद्यमयं क्षेत्रं पुष्याचार्यैर्विनिर्मितम् ।

महाहास्यं क्षिणिते सारं तथा राजन्कस्त्रिणा ॥ १ ॥

युगे प्रथमायामकृष्वर्चनया कर्मसु पृथम् । के ऋतवः पूर्व-
मतिक्रान्ताः का वा सम्प्रति वसन्ते ? । तत्र प्रथमाया अकृत्यतृती-
यायाः प्राक् युगस्थादित आरभ्य पर्वोयत्तिक्रान्तानि पको-
निवेशिताः । तत पकोनिवेशिताभिर्नियते धृत्वा च पञ्चदशार्भुण्येते
जाते ज्ञे शते पञ्चाशीत्यधिकं (२८५) अकृत्यतृतीयायां किल-
पृथमिनि पर्वणामुपरि तिष्ठस्तिथयः प्रकृत्यन्ते जाते ज्ञे शते
अष्टाशीत्यधिकं (२८८) तावति च कालेऽधमरात्राः पञ्च प्र-
वन्ति, ततः पञ्च पात्यन्ते जाते ज्ञे शते श्यशीत्यधिकं (२९२) ते
द्वान्यां युगस्थन्ते जातानि पञ्च शतानि पद्यपथिकानि (५६६)
ताभ्यं कषट्टिसहितानि क्रियन्ते जातानि पद्य शतानि सप्तविंशत्य-
धिकानि (६१७) तेषां द्वाविंशतिमेतेन प्रागहरणं श्रव्याः
पञ्च ते च षडभिर्भागं न सहन् इति न तेषां षडभिर्भागद्वारं,
शेषास्त्वेषा उचरन्ति सप्तदश, तेषामष्टजाताः सार्वाष्टी, अगता,
पञ्च ऋतवांशिनिक्रान्ताः पद्यस्य च ऋतोः प्रवत्सन्तस्याष्टौ
दिवसा गता नवमां वसन्ते इति । सू० म० ११ पद्य०
अक्षयतपूया—अद्भुतपूजा—श्री० जिनप्रतिमानां पुरतोऽखण्डत-
द्वजसम्पन्नो, तन्माहास्यविषये शुककथानकं विजयचन्द्र-
चरित्राल्लिख्यते । तद्यथा—

अश्वरुद्रानियुक्त्व-कृष्णपहिं पुञ्जस्यं जिणदस्स ।
पुरात्रो नरा कुण्ठो, पावेति अश्वरुद्रियसुहार्हः ॥ १ ॥
जडं जिणपुरात्रो बुक्त्व-कृष्णपहिं पुञ्जस्यं कुण्ठेते ।
कीरमिहृण्ये पत्तं, अश्वरुद्रियं सासयं सुक्खे ॥ २ ॥
अथित्य जरहवासे, सिरिपुत्रनयस्स बाहिल्लज्जाणे ।
रिन्दजिणसरनुवणं, देवविमाणं व रमणीयं ॥ ३ ॥
भण्णस्स तस्स पुरात्रो, सहयारमहापुणं सज्झात्रो ।
अनुब्रंनदरत्तं, सुक्कामिहृण्यं तम्मि परिवसइ ॥ ४ ॥
अह अन्नया कयाइ, भाणेत्रो सो तीह अत्थोणं जत्ता ।
भाणइ होह्लो भे, सीसे इह साङ्गिकत्ताओ ॥ ५ ॥
प्रणिया सो तेणु पिप, ययं (सिरी)कंतराणो क्षिणं ।
जो पयम्मि वि सीसे, गिह्हाइ सीसे निवो तस्स ॥ ६ ॥
भाणो सो तीप सामिय ! तुं सारिसे नथि इत्थिपपुरिसे ।
जो भल्लं पि य मरन्, इण्णस्सि निवज्जीवल्लोदेणु ॥ ७ ॥
इय भाणो सो तीप, जज्जाप जीविस्स निरुक्खिओ ।
गंतुण साङ्गिक्खे, भाणइ सो सालिसेसाण ॥ ८ ॥
ययं सो पहादिहं, रक्खंताणं पि रायपुरिसाणं ।
भाणइ मंजरीओ, अज्जापसेण सो निष्णं ॥ ९ ॥
अह अन्नया जरिदो, समागओ तम्मि सालिक्खित्तम्मि ।
पिक्कइ सव्वाविलत्तं, तं क्षिणं पयाइस्सम्मि ॥ १० ॥

पुत्रो य आरयेत्, पुद्गवीपालेण सात्थिया ह्युत्ति ।
किं इत्थ इमं दीदइ, सउभेहि विणालियं क्षिणं ॥ ११ ॥
सामिय ! इक्को कीरो, मच्छइ सो सालिमंजरी धित्तं ।
रक्खज्जेतो वि ददं, चोरुक्ख ऊटुलि नासेइ ॥ १२ ॥
प्रणिश्रो सो नरवइत्था, मंथियपासेहिं तं गदेऊणं ।
भाणइ मज्जापसे, इणह चोरुक्ख तं उटुं ॥ १३ ॥
(आणयेज्जां पासे, सहसो चोरुक्ख अइडुटो । इतिपाजान्तरम्)
अह अन्नदिणे कीरो, रायापसेण तेण पुरिसेणं ।
पासनिबको निज्जइ, सुइए पिक्कमणीए ॥ १४ ॥
पुचविलम्भा धावइ, अंतुज्जा पुण्णोयणा सुइं ।
पत्ता दइण सयं, सुउक्खिया रायभवणम्मि ॥ १५ ॥
अघाणठिउ राया, विक्कओ तेण सालिपुरिसेणं ।
देवसेो सो सुआं, बडो चोरुक्ख आणीओ ॥ १६ ॥
तं दट्टुणं राया, खमं गहिकुण जाणए पण्णेइ ।
ता सहसंविद्य सुइं, नियपणेणो वंतेरे पत्थिया ॥ १७ ॥
पमणइ सुइं परेणसु, निस्सेको अज्ज मज्ज देहम्मि ।
मुं वसु सामिय ! एयं, महजीविद्यदायणं जीयं ॥ १८ ॥
तुइ सालीए ववर्ति, संजाओ देव मोहल्लो मज्ज ।
सो तणसरिस्सं काठं, नियजीये महवि भोयम्मि ॥ १९ ॥
हसिकुण जणइ राया, कीर ! तुमं पमिओसि विक्कामो ।
महिल्लाकळे जीयं, इणह विक्कामो कइएणु ॥ २० ॥
पनणइ सुइं सामिय, ! अण्णउ ता जणजिणयविस्साइं ।
नियजीविपं पि उट्टइ, पुरिस्सं महिल्लाणुराएण ॥ २१ ॥
तं नथिय जं न कांइइ, वसणासत्तेहिं कामलुकेहिं ।
ता अण्णइ इयारुण्ण, इणह देहदुयं तिष्णं ॥ २२ ॥
जह सिरिदेवीह कए, देवतुमं जीविपं पि उट्टइ ।
तह अन्नो वि उट्टइ, को हांसो इत्थ कीरस्स ॥ २३ ॥
तीह वयणेण राया, चित्तइ इययण विस्सियं इंतो ।
कइ एत्ता पक्खिणिया, वियाणप मज्ज वुत्तंते ॥ २४ ॥
पनणइ राया भेइ, विट्टंते कइ कओ अहं तुमए ।
साइसु सव्वं एयं, अइगइयं काउयं मज्ज ॥ २५ ॥
पनणइ कीरी नितुणसु, दिट्ठंते इत्थि जह तुम जाओ ।
आसि पुरा तुह रज्जे, सामिय ! परिवायणा एण ॥ २६ ॥
बहुक्कइकवडभरिया, भत्ता जा खइसंवेदवाणं ।
सा तुह जज्जाइ चिरं, सिरियां देविप उवयरिया ॥ २७ ॥
नरवइणोहं जज्जा, बहुभज्जा एस मज्जमत्तारो ।
कमवसेण जाया, सख्खिस्सं पुहवा अइयं ॥ २८ ॥
ता तह कुणसु पसायं, जयवइ जडं होमि वल्लहा पणो ।
महजीविपण जीवइ, मरइ मरंतीह किं बहुणा ॥ २९ ॥
जणिया पसा वच्चे, गिह्हाइ तुमं ओसहीवसणो ।
तं वेसु तस्स पाणे, जेण वसे होइ तुइ जत्ता ॥ ३० ॥
अयवइ भवणपवेसो, वि नथिय कइ देसणं सयं तेणं ।
कइ ओसहीवसणं, देमि अइ तस्स पाणम्मि ॥ ३१ ॥
जइ एवं ता भेइ, गहिकुणं अज्ज महसयासणो ।
साहुसु एगमगमा, मंतं सोहमासंजणं ॥ ३२ ॥
भणिकुण सुइमुट्टुसे, दिओ पव्वाइयाइ सो मंतो ।
पुओ काठण पुणो, तीप वि पमिओओ विरिणा ॥ ३३ ॥
जा जयइ सा देवी, तं मंतं पददिपं पयसेण ।
ता सहसा नरवइणा, पमिहारी पेत्थिया भणइ ॥ ३४ ॥
आणवइ देवि देवो, जह तुमए अज्ज वज्जभवणम्मि ।

आगतत्वमवसरसं, कुविषयो नेव कायस्यो ॥ ३५ ॥
 रयणी-कृपसिगारा, समंतभो रस्योत्पयपरिचरिया ।
 करिणीकांशकदा, समागया रायभवणमि ॥ ३६ ॥
 नरवरकयसमाणा, दोहमं देवि सेसमहिज्ञान ।
 सोहमं गहिकणं, संज्ञाया सा महादेवी ॥ ३७ ॥
 पूंजह इच्छियसुक्कं, संतुद्रा देह इच्छियं द्वाणं ।
 वृद्धा पुण सा जेसि, ताणं व विणिगाहं कुणह ॥ ३८ ॥
 अह अन्नदियो पुद्धा, तीप परिवाइया इमा देवी ।
 बच्चे तुह संपन्ना, मणोरहा इच्छिया जेवं ॥ ३९ ॥
 भयवह तं नतिथ जप, तुह पयभसाण जं न संजवई ।
 तह विहु प्रयवह अज्ज वि, हिययं दोलायप मज्ज ॥ ४० ॥
 अह जीवह महजीवं, तियाह अह मरह महमरंतीय ।
 आ जासिज्जह नेहो, महउपरि नरचरिंदस्स ॥ ४१ ॥
 जह पयं ता गिद्धसु, नासं महमूलियाय पयाय ।
 जेण तुमं मयजीया, लक्खणीयसि जीवमाणा वि ॥ ४२ ॥
 बीयाह सुलियाय, नासं शकण तुह करिस्सामि ।
 देहं पुणभवं चिय, मा भीयसु मज्जा पासत्या ॥ ४३ ॥
 पवंति पमणिऊणं, गहिहं देवीयं सुसियावलयं ।
 सा वि ह्र समपिऊणं, संपत्ता निययताणमि ॥ ४४ ॥
 अह सा नरवह पासे, सुत्ता गहिकण अंसही नासं ।
 ता विट्ठा निच्छिदा, नरवहया विवयज्जीवव ॥ ४५ ॥
 एत्तो आकंदरभो, वच्छलिभो ज्जसि राख्खो नवणे ।
 देवीं मया मयसि य, पाहावह नरवहं लोभो ॥ ४६ ॥
 नरवहआएसेण, मिलिया बहुमंतिवज्जकुसलाय ।
 तहव वि सा परिवत्ता, मरसिं वट्टण निच्छिदा ॥ ४७ ॥
 भणिया मंतीहं निवा, किज्जउ पयाह अगिमसक्कारो ।
 भणिया ते नरवहणा, मज्जथि किज्जउ सह इमाय ॥ ४८ ॥
 वल्लणविल्लो लोभो, पमणह न हु देव परिंसं जुत्तं ।
 भणह सुउडकवं राभो, नेहस्स न उच्चिमगाभो ॥ ४९ ॥
 ता मा कुणह विसंभं, कद्धह सह उदंदिणधणं पउरं ।
 इय जसिऊणं राया, संवसिन्नो पिअयमासहिओ ॥ ५० ॥
 घजिजर नूरवेणं, रोचिज नरमांरिपउरनिवहेण ।
 पुरितो गयणयं, संपत्तो पेयताणमि ॥ ५१ ॥
 जा विरदकण चिअयं, राया आरुहइ पिअयमासहिओ ।
 ता दूराउ रुयंति, पत्ता परिवाइया तथ ॥ ५२ ॥
 भणिया तीप तुमयं, मा देव पेवसादसं कुणसु ।
 भणियं तुमप जयवह, महजीवं पिअयमासहिंयं ॥ ५३ ॥
 आह एवं तो विसहसु, खणमेगं मा हु कायो होसु ।
 जीवावंमि अश्चसं, तुह दूइओ शोअपचवक्कं ॥ ५४ ॥
 तं वयणं सोऊणं, ऊसयिंते तस्स राख्खो चित्तं ।
 न हु जीवियस्स लाहं जह सोहं तीहं जज्जाय ॥ ५५ ॥
 जयवह कुणसु पसायं, जीवावसु मज्ज बहहं दूइअं ।
 तीप वि हु देवांप, दिओ संजीवणी नासो ॥ ५६ ॥
 तस्स पत्रायणं चिय, सा देवी सयसल्लायपचवक्कं ।
 वज्जिअिया य समयं, नरवहणा जीवियासाय ॥ ५७ ॥
 तं जीवियंति नावं, आणं वज्जसुल्लोयणो लोभो ।
 नच्छह उच्चिमयाहो, वजिज्जवट्टमूलनिवहेण ॥ ५८ ॥
 सव्भंगानरंणेहं, पाप परिवाइअह पुणयं ।
 पमणह अज्जे अज्जे, जं मगासि तं पणामिमि ॥ ५९ ॥
 भाणो तीप राया, सुपुरिसमह नतिथ किं पि करसिऊजं ।

निष्काणइणेण अहं, संतुद्रा नयत्तज्जमि ॥ ६० ॥
 गयवक्कंधाकदं, काऊणं निययपिययमाराया ।
 संपत्तो नियमवणे, आणंदमहुसवं कुणह ॥ ६१ ॥
 फसिहमयमिन्नधमा, कंचणसांवाणयंभनिम्मविया ।
 काराविया निषेणं, मडिया अज्जह तुट्ठणं ॥ ६२ ॥
 पव्वइया सा नरवर-मरिऊणं अहुज्जए होसेणं ।
 संज्ञाया सुहसूहं, साहं पत्ता तुह सयासे ॥ ६३ ॥
 वट्टणं देव । तुमं, तुह पासपरिचियं महादेवि ।
 जायं जाइसरणं, संभरिअं तुह मय खरिअं ॥ ६४ ॥
 सोऊणं तीह वयणं, रोवंती भणह सा महादेवी ।
 भयवह कह मरिऊणं, संज्ञाया पक्खिणी तुमयं ॥ ६५ ॥
 मा भूयसि कियोवारी, दुक्खिल्ला अज्जमज्जज्जम्भेण ।
 कामवसेणो जीयो, तं नतिथइं अं न पावइ ॥ ६६ ॥
 तेण तुमं दिट्ठंते, दिओ नरनाहमहिज्ञिया विसय ।
 सोऊण इमं राया, संतुद्रो सुखं भणय ॥ ६७ ॥
 सत्त्वो दिट्ठंताहं, दिओ तुम पत्थ महिलिया विस्सप ।
 ता तुट्ठाहं पनणसु, अं इट्ठं तं पणामिमि ॥ ६८ ॥
 पनणह सुईं निमुणसु, महइट्ठो नाह अत्तणो जत्ता ।
 ता तस्स देसु जीयं, न हु कज्जे किं पि अणण ॥ ६९ ॥
 इसिऊण भणह देवी, देव तुमं कुणसु मज्जवयणेण ।
 पयाय पीइंदाणं, ज्ञोयणदाणं व निच्छेयं ॥ ७० ॥
 भणिया सा नरवहणा, वक्कवसु जइ जहिअिय उणं ।
 मुक्काय पसं सत्तिया, तुट्ठण तुज्ज वयणेण ॥ ७१ ॥
 मणिआ य सासियावो, पयाणं तंज्जलाणदाणं च ।
 पण्दियइं दाणव्यं, रासि काऊण विसंभं ॥ ७२ ॥
 अं आणवेइ देवा, इय भणिय भणह कीरिमिहुण पि ।
 पस्स पत्ताओ सामिय, ! इय भणिय उच्चि उट्ठाणं ॥ ७३ ॥
 पुण्यत्तं च्चुअट्टमे, गतूणं पुअनाहसा सुईं ।
 नियनियरुम्मि पव्या, निपयन्नं अणियउत्तंति ॥ ७४ ॥
 मह तम्मि वव समयं, तीप सवक्की वि निययनीरुम्मि ।
 तम्मि दुममि पव्या, संपुञ्ज अंडयं पणं ॥ ७५ ॥
 आ सा च्चूणि निमित्तं, विणिग्गाया तं दुमं पमुत्तणं ।
 ता मच्छुरेणं पदमा, आणह तं अरुगं तीप ॥ ७६ ॥
 जा पच्छिमा न पिउअह, समागया तथ अत्तणं अरं ।
 ता सफरिव्व विलोडह, धरणिपयेन्न दुक्खसंतंताण ॥ ७७ ॥
 तं विलयंति य द्दुं, पट्टावायेण तवियहिययाय ।
 पट्टमाए नेऊणं, पुणां वि तथेयं तं मुक्कं ॥ ७८ ॥
 धराणयत्ते लुलिऊणं, अवं आरुहइ जाव नीरुम्मि ।
 ता पिउअह तं इरं, सा कीरिय अमयसिस्सव्व ॥ ७९ ॥
 बरं च तं निमित्तं, कम्मं पट्टमाए दाहणवियागं ।
 पट्टायावियण इयं, धरियं चिय पयाअवट्टकं ॥ ८० ॥
 तम्मिय अंडयज्जयत्ते, संज्ञाया सुइया य सुअणो अ ।
 कीरित्ति यणुणिगुंते, समयंअअ जमणिजणगेहिं ॥ ८१ ॥
 रहए तंज्जलकूणे, नरवहवयणाउ सानिखिसम्मि ।
 चंजुपुइं गहिकणं, वक्कह तं कीरिमिहुणं ॥ ८२ ॥
 अह अन्नया कयाइ, चारणसमणो समागभो नाथी ।
 रिसहजिणसरभवण, वंदणहइं चिणियइस्स ॥ ८३ ॥
 पुनरनारिनिरिद्धं, देवं पुण्णकणपहिं पुणउं ।
 पुण्णह नमिऊण मुणं, अक्खयपूयाकणं राया ॥ ८४ ॥
 अक्षेमकुदिययोक्क-क्कपहिं पुंजसयं जिणियदस्स ।

पुरश्चो तरा कुणतो, पावति अश्विडियसुहादे ॥ ८५ ॥
 इय गुरुवयं सोऽं, अक्सयपुत्रा समुद्राले लोभो ।
 दृष्टुं सा सूरि, पमनाह निभअत्तयो कंते ॥ ८६ ॥
 अहो वि नाह ! एवं, अक्सयपुत्रसपण जणनाह ।
 पुपयो अक्षिरेण, सिद्धिदुद्धे जण पापयो ॥ ८७ ॥
 एवं तीए प्रणिऊण-नं बहुपुदे शिविय चोक्सकखएहि ।
 राखं जिणित्पुरश्चो, पुजातिअं कोरियिहुणं ॥ ८८ ॥
 भक्षिअं अक्खजुअलं, जणणीजणएहि जिणवरिदस्स ।
 पुरयो मूचह अक्खे, पावह जेणकलयं सुफलं ॥ ८९ ॥
 इय परविद्यहं काठं, अक्सयपुत्रं जिणित्पञ्चपीए ।
 आउकखए गयाह, चत्तारि वि देवब्रह्मणिमि ॥ ९० ॥
 ज्ञानुण देवसुक्खं, सो सुअजोवो पुणो वि चविऊण ।
 संजाओ हेमपूर, राया हेमप्योहो नाम ॥ ९१ ॥
 सो वि य सुईजीवो, नत्तो चविऊण देवलोकाओ ।
 हेमप्यहस्स अज्जा, जाया जयसंदरो नाम ॥ ९२ ॥
 सा पच्चिमा वि सुई, संसारो हिंकिऊण सा जाया ।
 हेमप्यदस्स रओ, रटनामा त्रारिया दुइया ॥ ९३ ॥
 अन्नाओ वि कमेणं, पंचसया जाव त्रारिया तस्स ।
 जायाओ पुण द्ढा, पढमा ते भारिया दो वि ॥ ९४ ॥
 (सजाया पुण द्ढा, पढमाओ भारिया दुहि) इति पाठान्तरम् ।
 अह अन्नया नरिंदे, दूस्सजरातवनावियसरीरो ।
 चंदणजलुद्धिओ वि हु, सोअह रुमोह अण्णं ॥ ९५ ॥
 एवं अणणविट्ठो, चिउह जा तिणि सत्तए राया ।
 ना मंतेत्तकुसला, विज्जा वि परं मुहा जाया ॥ ९६ ॥
 उयोसयई सत्ती, दिज्जति य बहुविदाई दाणाई ।
 जिणजवणेसु य पुआ, देवयआराहणओ य ॥ ९७ ॥
 रण्यो य पच्चिमकं, पयसीं होऊण रक्खसो मणह ।
 कि सुत्तो सि नरेस्स, अण्णं नियो कए हु मइ तिहा ॥ ९८ ॥
 ओआरणं करेउं, अण्णायं जइ नरिंद ! तुह अज्जा ।
 पक्खवइ अग्गिकं, तो जीअं अअहा नग्घि ॥ ९९ ॥
 इअ भणिकण नरिंद, विण्णाम्माओ रक्खसो नियट्ठणं ।
 राया विमिहाहियओ, चित्तं कि इदंजालु सि ॥ १०० ॥
 कि वा दुक्खसेणं, अज्ज मए एस्स सुविण्णो दिट्ठो ।
 अहया न होइ सुविणो, पचकखओ रक्खसो एसां ॥ १०१ ॥
 इत्तो विनयपसहिया, बोलीणा जाभिणो नरिंदस्स ।
 सद्याअन्नमि च्छिओ, सुरो वि हु कमलिणीनाहो ॥ १०२ ॥
 रण्योए वसंते, नरवधणा साहिओ सुमत्तिस्स ।
 तेण वि ओणंउं किउजउं, देय ! इमं जीयकज्जमि ॥ १०३ ॥
 परजोपयं नियजी-यरक्खणं न हु कुणोत्त सप्पुरिसा ।
 ता होउ मज्ज बिहियं, इय भणिसो राहणा मंती ॥ १०४ ॥
 सदाविऊण सव्वाअ, उट्ठेउं जण्णं नरवधस्स जज्जाओ ।
 कहिओ रक्खसमणिओ, वुत्तंते ताण नीसेसो ॥ १०५ ॥
 साऊण मीनवयणं, सव्वाओ नियजियस्स लोहण ।
 उाउं अहोमुहीओ, न भित्ति मंतिस्स पडिययणं ॥ १०६ ॥
 पण्डुव्वचयणकमला, उट्ठेउं जण्णं रई महादिही ।
 मइ जीवियए देवो, जइ जीवइ किं न पज्जअं ॥ १०७ ॥
 इय भणिए सो मंती, जवणगवक्खस्स हिट्ठुभीए ।
 काराविऊण कुंडे, आरोइइ अगककुइह ॥ १०८ ॥
 सा वि य कयांसिगारा, नमिऊणं जणह अत्तयो कंते ।
 सांमिय ! मइ जीवणं, जीवसु नियडामि कुंडमि ॥ १०९ ॥

जणह सत्तुक्खं राया, मग्गक कए देवि ! अयसु म्मां ।
 अणुहविद्ययं च मए, सयमेव पुआयकं कम्मं ॥ ११० ॥
 पनह चअणविअगा, सांमिय ! भा अणुसु परिस्सं वयणं ।
 जं जाइ तुअक कज्जे, तं सुलहं जीवियं मग्गकं ॥ १११ ॥
 ओआरणं करेउं, अण्णायं साजला वि नरवधणां ।
 भवणगवक्खे उाउं, जणिए कुंडमि पणिसवई ॥ ११२ ॥
 अह सो रक्खसनाहो, तीसे सत्तेण तोसिमा सहसा ।
 अण्णसं वि य कुंडे, इयासदूरं समुक्खिवई ॥ ११३ ॥
 भणिया रक्खसवइणा, तुट्ठो ह अज्ज तुअक सत्तेण ।
 मग्गसु जं हियइदं, देमि वरं तुअक कि बहुणा ॥ ११४ ॥
 जण्णियजणएहि दिओ, हेमपहो महवरो किमण्णेए ।
 मग्गसु तह वि हु भूदे, देवाण न दंसणं विहलं ॥ ११५ ॥
 जइ एवं ता एसां, मह भत्ता देव तुह पलाएण ।
 जीवउं चाहिदिहीणो, विरकालं होउ एस्स वरो ॥ ११६ ॥
 एवं ति पमणिकुणं, दिव्वालंकारभूसिअं काउं ।
 कंवाणपउमे मुत्तं, देवो हु अदंसणीहुओ ॥ ११७ ॥
 जीव तुमं मणह जणो, सीमे पुण्णकखए खिचेऊण ।
 नियजीवियदासेणं, जीए जीवाविओ भत्ता ॥ ११८ ॥
 तुट्ठो तुह सत्तेणं, वरसु वरं जणिए पियं तुअक ।
 भणिया परणा पमणह, देव वरो मह तुमं वेव ॥ ११९ ॥
 जीवियमुण्णेण, वसीकओ हं सया वि कमलच्छि ।
 ना अन्नं करण्यो, अणुसु तुमं मणह सा हसितं ॥ १२० ॥
 जइ एवं ना चिट्ठउं, एस्स वरो सामि ! तुह सयासोमि ।
 अक्सरवडियं पयं, पच्चिउस्सं तुह सयासोओ ॥ १२१ ॥
 अह अन्नया उएणं, भणिया पुत्तत्थियोह कुलदेवी ।
 जयसुंदरिपुसेणं, देमि वलिं होउ मह पुत्तो ॥ १२२ ॥
 भवियव्वयावसेणं, जाया दुग्गं पि ताण वरपुत्ता ।
 बहुलफण्णसंपुआ, सुहजणया जण्णियजण्णयाणं ॥ १२३ ॥
 तुट्ठो रई वि चिनइ, दिओ कुलदेवयाइ मह पुत्तो ।
 जयसुंदरिपुसेणं, कह कायवया मए पुआ ॥ १२४ ॥
 एवं चिंतंतोए, लज्जे पुयाइ साहणो वारो ।
 नरवधरेणो रज्जे, काऊण वसे करिस्सामि ॥ १२५ ॥
 इय चित्तिऊण तीए, अक्खसरपत्ताइ पमणियो राया ।
 जो पुट्ठिव पडिवओ, सो दिज्जउं मह वरो सामि ॥ १२६ ॥
 मग्गसु जं हियइदं, देमि वरं जीवियं पि कि बहुणा ।
 जइ एवं ता दिउजउं, मह रज्जे पंचविदिहाई ॥ १२७ ॥
 एव्व ति पमणिकुणं, दिअं तुह पियं सए रज्जे ।
 पडिवओ तं तीए, महापसाउं ति काऊणं ॥ १२८ ॥
 पाल सा तं रज्जे, पसो रण्योए पच्चिमं जामं ।
 जयसुंदरीइ पुत्तं, आणावइ रोयमणीए ॥ १२९ ॥
 तं महाविऊण बालं, चउपुण्णकखएहि वएउं ।
 पडलयउवरिं काउं, ठावइ दासीइ सीसामि ॥ १३० ॥
 वअइ परिउयसांहिया, उज्जाणे देवयाइ भवणमि ।
 चज्जिनदूररेणं, नअिअ नरनारिलोएण ॥ १३१ ॥
 अह थिउजाहवरवइणा, कंवाणपुरसामियए सुरेण ।
 वउचत्तेण नहणं, विट्ठो सो वारणो तेण ॥ १३२ ॥
 उज्जायंतो गयणं, दिण्णयरेतेउं अय नियतेएण ।
 गहिऊण तेण अलक्खं, अन्नं मयवालं मुत्तं ॥ १३३ ॥
 उउह सहुं कि तोयदि, थिउऊणु नियदरमं जायं ॥ १३४ ॥

किं हससि तुमं सामिभ्य !, हसिहा हं निमिषेण देवेण ।
 किं कथय वि सुवद्भद्र, बंजापुत्रं च पत्सवहं ॥ १३५ ॥
 पभनइ पवसियवधणो, जइ मह वयणेण नत्थि सहइहं ।
 ता पिच्छेहि सयं चिय, नियपुत्तं रयणारोसि व ॥ १३६ ॥
 इय संसयहियथाय, परमत्तं साहिकुण सा भणिया ।
 नियपुत्तविरहियाणं, अमहाणं पस पुत्तो सिं ॥ १३७ ॥
 पत्तिचञ्जिकण एयं, नीश्रो नयरम्मि नो य पइरियहं ।
 पविवहेइ कत्ताहिं, सियपक्कगसो मियंकु व्व ॥ १३८ ॥
 सा वि य रत्तमव्वालं, सीसोयारि नामिकुण देवीए ।
 आफालंइ तं पुरओ, वरथं वसियायले तुहा ॥ १३९ ॥
 गंतुण तओ भवणे, संपुत्रमणारंहा सुहं वसइ ।
 जयसुंदरी वि द्वियहा, पवविरहे दुक्खिणा गमइ ॥ १४० ॥
 कयविजाइरनारो, मयणकुमारंत्ति गहियवरविओ ।
 वच्चतो गयणयत्तं, पिच्छइ तं अत्तणो जणायि ॥ १४१ ॥
 भवणयवक्कल्लादा, सुयसोयउत्तनयणसत्तिहेहिं ।
 अत्तेहनिभ्रंणं, उक्किक्खा मयणकुमारं ॥ १४२ ॥
 तं वट्टण कुमारं, हरिसवसक्कं च नयणसत्तिलेन ।
 सिचंती भयलोयइ, पुणो पुणो निक्कदिहाए ॥ १४३ ॥
 उक्किक्खायाहो लोश्रो, धाटावइ पुरवइय मज्जम्मि ।
 एसा हरिज्जइ धरिणीं, नरवइणो उक्ककंउणं ॥ १४४ ॥
 अइसूरो वि हु राया, पयचारी किं करइ गयणयं ।
 सुउज्जउ किं कुणइ फंइ, नरसइरययउप दिट्ठं ॥ १४५ ॥
 चित्तइ मणम्मि राया, दुक्कं खयखारसत्तिहं जायं ।
 एणं सुअस्स मरणं, बीभं पुण जायियाहरणं ॥ १४६ ॥
 पत्तं दुक्खियहियओ, चिउइ राया नियम्मि नयरम्मि ।
 अहया धरिणीहरणे, भणु कस्स न जायए दुक्ख ॥ १४७ ॥
 अवदिहिसयण नाउं, पुत्तं तं मइयाइ देवाए ।
 मह जाया नियजणणो, धरिणीसुद्धिइ अवरहरण ॥ १४८ ॥
 नियपुत्तपच्छाल्लं, सवरपयावीइ च्युयत्तायाए ।
 जणणीसाहिओ कुमरो, जा चिउइ ताय सा देवी ॥ १४९ ॥
 वानररुवं तह वा-नरीइ काउण च्युयसाहाय ।
 पभनइ वानररुवी, कामुयतित्थं इमं अउजे ॥ १५० ॥
 निरिओ वि एत्थ पत्तिओ, तिथपपयावेण लहइ मणुअत्तं ।
 मणुओ वि इ देवत्तं, पावइ नत्थिय संदेहो ॥ १५१ ॥
 ता पुत्तं पुत्तं दासि वि मणुसोइ पक्कंइदवभूओ ।
 पदाइं मणे काउं, निवडामो इत्थ तिथत्तिम्मि ॥ १५२ ॥
 उणं तुमं माणुसिआ, अत्तं पुण पत्तिस्सं मणुसुत्ति ।
 होहाम्मि पत्तिम्मि, को नामं विरहइ इमस्स ॥ १५३ ॥
 जां निअजणणियि पइं, धरिणीसुद्धिइ नेइ हरिकुण ।
 तस्स वि पावस्स तुमं, सामियकवम्मि अदिहासां ॥ १५४ ॥
 सोउण वानरीए, तं ययणं देवि वि अक्कमणाइं ।
 चित्तंनि कइं एसा, मह जणणी सा वि कइ पुत्तो ॥ १५५ ॥
 नेहेणं हियि वि ह, एसा मह जणइ जणणियुत्तं सि ।
 सा वि य चित्तं एसां, मह पुत्तं अवरज्जाओ सि ॥ १५६ ॥
 पुत्तइ संसयहियओ, कुमरो तं वानरिं पयसेणं ।
 भइं किं सच्चमिण, जं तुमए भासियं वयणं ॥ १५७ ॥
 तीए जणियं सच्चं, जइ अउज वि तुउक्क अत्थि संदेहो ।
 ता पयम्मि निगुंजे, पुत्तं तु वरजाणणं साइं ॥ १५८ ॥
 इय नत्थिक्कणं सहसा, वानरज्जुत्तं अद्वस्सणीदुवं ।
 सा वि य विरइयहियओ, पुत्तइ तं मुणियवं गुतुं ॥ १५९ ॥

भयवं ! किं तं सत्तवं, जं भणियं वानरीइ मह पुरओ ।
 मुणिवहणा वि हु भणिओ, सत्तवं तं होइ नहु अत्तिवं ॥ १६० ॥
 निचवं चिट्ठामि उअओ, कम्मक्कयकारणम्मि जायतो ।
 हेमपुरं सोसिस्सं, साहिस्सइ केवडीं तुज्ज ॥ १६१ ॥
 इय भणिओ तं नमिउं, सहिओ जणणीइ सो गेमो गेहं ।
 जणणियुत्तपहिं दिट्ठो, हरिसियहियवदिस्सो विमणं ॥ १६२ ॥
 एतं उक्किक्कणं, वलणवत्तलेण पुत्तिक्खा जणणी ।
 अम्मो साहेतु पुत्तं, कइ जणणं मज्जं को जणओ ॥ १६३ ॥
 चित्तइ सा सविइक्का, किं एसा अउज पुत्तए पयं ।
 पभनइ पुत्तयं ! अइ य, तुह जणणो पत्त जणओ सि ॥ १६४ ॥
 सत्तवं अम्मो एयं, तह वि हु पत्तम्मि जम्मदायाए ।
 तं परमत्तं पुत्तयं !, तुइ जणणं एसा जणउ सि ॥ १६५ ॥
 तेण वि परिउट्ठेणं, कहिउं पदल्लाइवइयरो तस्स ।
 तह पुण जणओ पुत्तय, विआओ किंचि नहु सत्तं ॥ १६६ ॥
 भणिओ कुमरेण पुणो, एसा जा ताय आणिया नारी ।
 सा वानरीइ सिहा, पत्ता तुह जम्मजणायि सि ॥ १६७ ॥
 मुणिया वि हु पुत्तेणं, एयं चिय साहिकुण भणिओ हं ।
 हेमपुरं गंतुणं, पुत्तं केवलिं एयं ॥ १६८ ॥
 तो या तत्थ गंतुं, पुत्तं गेमो केवलिं निरवसेसं ।
 जेणेसो संदेहो, तुह मह जुअतंतु तु ॥ १६९ ॥
 इय भणिकुणं कुमरो, चलिओ सह निययजणणियजणणं ।
 (इय भणिकुणं चलिओ सहिओ सह जणणिय जणयलोपहि
 इति पाठान्तरम्)

संपत्तो हेमपुरे, केवलियो पायमूलम्मि ॥ १७० ॥
 भत्तिभरंनभ्रंणो, केवलियो पापकयं नमिउं ।
 उवविओ धरिणायले, सपरियणो सुउकुमार व्व ॥ १७१ ॥
 जयसुंदरी वि देवी, बहूदारिस्सहस्समज्जयारम्मि ।
 नियपुत्तेण संसेया, निगुणइ गुरुभासियं वयणं ॥ १७२ ॥
 हेमपमो वि य राया, नियपुत्तनारिलोयपरियणिओ ।
 उवविओ गुरुम्मले, निगुणइ गुरुभासियं वयणं ॥ १७३ ॥
 पत्थावं सहिकुणं, नरनाहो भणुइ केवलिं नमिउं ।
 भयवं ! मा मह भज्जा, जयसुंदरि केअ वहरिया ॥ १७४ ॥
 भणिओ सो केवलियो, हरिया नरनाह ! नियपुत्तेण ।
 विनिहियहियओ पभनइ, भयवं ! कइ तीइ पुत्तं सि ॥ १७५ ॥
 जा आसि तीइ पुत्तो, सो वालो वेव हयकयतेण ।
 कवलीकओ महायस, बीश्रो पुत्तो वि नत्थि ॥ १७६ ॥
 अलियं न तुगइ वयणं, बीश्रो पुत्तो वि तिय से नत्थि ।
 इय विहडियकज्जं पिव, संतावं संसओ कुणइ ॥ १७७ ॥
 भणुइ मुण्णिं नरवर ! सच्चं मा कुणुत्तु संसयं एत्थ ।
 भयवं ! कइसु कं वि य, अरगरुअं कोउउ मज्ज ॥ १७८ ॥
 कुलदेवपूयाए, वृत्तंतो ताव तस्स परिहकिओ ।
 जा वेयइपुराओ, समागओ तग्गि उज्जाणे ॥ १७९ ॥
 विण्णारियनयणसुओ, जोयइ नरवइ तमुज्जाणं ।
 तो विहडियसंदेहो, कुमरो वि हु नमइ तं जणयं ॥ १८० ॥
 आलिगिक्कण पुत्तं, अंतुजणभरियलोयणो राया ।
 रोयंतो बहूदुक्कं, दुक्कंलेण य बोहिओ गुरुणा ॥ १८१ ॥
 (रोयंतो वि हु दुक्कं दुक्कंलेण विबोहिओ गुरुणा
 इति पाठान्तरम्)
 जयसुंदरी वि पइणो, चलेण गहिकुण तीइ तह रइं ।

जइ देवाण वि परित्सा, बहुदुक्खसमाउड्ढा जाया ॥ १२५ ॥
 (जइ देवाण वि दुक्खं, परित्सा मज्जे समावचं इत्यपि)
 पुणे य रुयंतीय, भयवं ! मह केण ! कम्मला एत्ते ।
 जाभो पुत्ताविओगा, सोल्लसवत्तिणा अइदुदुर्दा ॥ १२३ ॥
 सोल्लसमुत्तगारं, सुइभवे जं सुइउहे उविथा ।
 अंमं इरिऊण तप, सुआधिरो । तेण तुह जाओ ॥ १२४ ॥
 जो दुक्खं व सुइं था, तिरुत्तसमिचं पि देइ भनस्स ।
 सोः बीओ व सुखिते, परओय बहुफलं लहइ ॥ १२५ ॥
 सोउं गुरुणा वयणं, गुरुपज्जायावतावियमणा ।
 जम्मंतरदुक्खरियं, अमाविथा सा रडे तीए ॥ १२६ ॥
 नीए वि उडिऊणं, प्रणिथा जयसुंदरी वि निमिऊणं ।
 खमसु तुमं पि मइसाइ, जं काणियं तुज्ज सुयडुक्खं ॥ १२७ ॥
 जणिया गुरुणा जुन्न वि, जं बचं मउरएण गुरु कम्मं ।
 न अज्ज खामणाए, सावयं तुमंहेदि नीसेत्ता ॥ १२८ ॥
 जणइ नरिंशं भयवं, ! अअभवे किं चए पावं ।
 जेण सह सुंदरीए, कुमणेव य पाविचं रज्जं ॥ १२९ ॥
 जइ सुयजम्ममि तप, जिणपुरओ इक्खएणंदि विविऊण ।
 संपंस देवत्तं, रज्जं तइ साहिचं गुरुणा ॥ १३० ॥
 जं जम्मंतरविइयं, अक्खयपुज्जत्तं जिणिदस्स ।
 तस्स फले तुह अज्ज वि, तइयनेव सासयं ठाणं ॥ १३१ ॥
 इय भणिए सो राया, रउजं दाऊण इयपुत्तस्स ।
 जयसुंदरिक्खनरज्जुओ, पवइरंशं गुरुसर्मावमिं ॥ १३२ ॥
 पवइरंशं पाइरं, साइओ इइआइ तइ य पचेण ।
 मरिऊण समुपनो, सत्तमकप्पमिं सुनराहो ॥ १३३ ॥
 ततो चुओ समाणो, लइण स माणुसत्तणं परमं ।
 पाविहिस्सि कम्ममुक्को, अक्खयसुक्खं गओ सुक्खं ॥ १३४ ॥
 जइ राया तइ जाया, कुमरां देयत्तणमिं का देवी ।
 चत्तारि वि पत्तारं, अक्खयसुक्खमिं सुक्खमिं ॥ १३५ ॥

अकखयायार-अकूनाचार-पुं० ६ ब० । स्थापितादिपरिहाररिखि
 आचारवनि साधो, "आहाकमुदेसिय, उवियरयकोयकारियं
 उेज्ज । अंभयाहादुमालं, वण।मगाजीवणणाकाए।परिहरति-
 सर्ण पाणं, सज्जावदिह्मिसंक्रियंमीसं । अक्खयमभिधममप,
 संक्रिणं वासए जुत्तो" एतानि (आध्याकमादिनि) बोडानपा-
 नादिश्रुत्योपधीअ परिहरति । तथा पुंति ससंक्रितं मिश्रम, उप-
 लक्षणमतत् अक्खयपुक्कादिकं च यथावदयके सुक्तः संसृ-
 त्तान्धारः । व्यं० ३ उ० ।

अकखयायारया-अक्षताचारता-की० परिपूर्णाचारतायाम् व्यं०
 ३ उ० ।

अकखयायारसंपण-अकूनाचारसंपण-वि० अकूतेनाचारेण सं-
 पणः । अकूताचारसंपणं, व्यं० ३ उ० ।

अकखर-अक्षर-न० कर्तरीत्यक्षरं स्वभावात्कदाचिन्न प्रचय-
 त इति कृत्वाऽक्षरम् परं तत्त्वे, "ज्योतिः परं परस्ताव, तमसो यद्-
 गीयते महासुनिनिः। आदित्यवर्णममलं, अष्टादशरं परं अक्षरं"
 वा० ३ वि० । न कर्तरी न विनयतीत्यक्षरम् । केवलज्ञानं,
 "संश्रुतीवाणं पिय यं अक्खरस्स अणुंतभाउणिच्छुग्घाडिओ"
 विदो। क्खर संखसने, न कर्तरीति अक्षरम् । ज्ञानं, चेतनायाप, ।
 न खल्विदमनुपयोगेऽपि प्रचयते ततोऽक्षरमिति, प्रा० म० प्र०।

न कखरइ अणुवओगे, वि अकखरं सो य चेयणाजावो ।

अविमुक्कनयाणमयं, सुप्कनयाणकखरं चैव ।

'क्खर संखसने' न कर्तरी न खल्वनुपयोगेऽपि न प्रचयते इ-
 त्यक्षरः स च चेतनाभावो जीवस्य ज्ञानपरिणाम इत्यर्थः । (तथा
 च तन्मतानुसारिणो मीमांसका नित्यं शब्दमातिष्ठमानाः प्र-
 तीता एव । वृ० १ उ०) एतच्च नैगमादीनामविमुक्कनयानां मतं
 बुद्धानां तु श्रुत्युत्पत्त्यादीनां ज्ञानं कर्ममेव न त्यक्करमिति ।

कृत इत्याह—

उवओगे चिय नाणं, मुक्का इच्छंति जअ तन्विरहे ।

उपायजंगुरा वा, जं तंस्सि सव्वपउज्जाया ॥

यस्माच्छुक्कनया उपयोग एव सति ज्ञानमिच्छन्ति नानुपयोगे,
 घटादरेपि ज्ञानवस्वप्रज्ञात् । अथवा यस्मात्सोवां शुक्कनयानां
 सर्वेऽपि श्रुदादिपर्याया घटादयां भावा अत्यादभङ्गुरा अत्यन्ति-
 मन्तो विनश्वराभ्यर्थः । न पुनः केचिन्नियत्वाद्दक्षरा इति
 भावः । प्रतो ज्ञानमन्युत्पादभङ्गुरस्ते कर्तमेवपि प्रकृतम् । अ-
 शुक्कनयानां तु सर्वमेवानामन्यस्थितत्वाज्ज्ञानमन्यऽक्षरमि-
 ति । एवं तावदभिलाषहेतोर्विज्ञानस्याक्षरत्तानक्षरता चोक्ता ॥
 इदानीं साभिलाषविज्ञानविषयभूतानामभिलाषार्था-
 नामन्यत्वाऽऽक्षरत्ते नन्यविभागेनाह ।

अभिलप्पा वि य अत्त्या, मव्वे दव्वट्टयाए जं निष्ठा ।

पजाएणानिष्ठा, तेण खरा अकखरा चैव ॥

अभिलप्या अप्यथा घटव्योमाद्यः सर्वेऽपि द्रव्यास्तिकन-
 याभिप्रायेण नित्यत्वाद्दक्षराः, पर्यायास्तिकनयाभिप्रायेण त्व-
 नित्यत्वान् क्षरा एवेति (क्षरा घटादयोऽक्षरा धर्मोस्तिकाया-
 दयः । वृ० १ उ०)

अथ परेऽतिव्यमितमुक्तावयवाह ।

एवं सर्वं चिय ना-एणमकखरं जमविसंसियं मुणे ।

अविमुक्कनयमएणं, को सुयानणे मइविसेसो ॥

यदि न कर्तरीत्यक्षरमुच्यते एवं सति सर्वं पञ्चप्रकारमपि
 ज्ञानमविशुद्धनयमनेनाक्षरमेव । सर्वस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपा-
 यिचलनाद्यतत्त्वाविशेषितं सूत्रेऽप्यभिहितमित्युपस्कारः । त-
 दाथा "सव्वजीवाणं पिय यं अक्खरस्स अणुंतभागे निच्छु-
 ग्घाडियओसि" तत्र ह्यक्षरमध्येनाविशेषितमेव ज्ञानमभिहितं
 न पुनः श्रुतज्ञानमेव अपरं च सर्वेऽपि भावा अविशुद्धनया-
 भिप्रायेणाक्षरा एव ततोऽत्र कृतज्ञाने कां प्रतिविशेणो येनो-
 च्यते 'अक्षरभूतमनक्षरभूतम्' इति ।

अत्रोत्तरमाह ।

जइ वि हु सव्वं चिय ना-एणमकखरं तइ वि रुडिओ वओ ।

जइइ अकखरमिहुरा, न खरइ सव्वं सजावाओ ॥

यद्यप्यविशुद्धनयाभिप्रायेण सर्वमपि ज्ञानमक्षरं तथा सर्वेऽपि
 भावा अक्षरास्तथापि रुदिवशाद्भ्रणो एवेहाक्षरं अस्यते इतर-
 धा तु यथा त्वं भणसि तथैवाशुद्धनयमनेन सर्वमपि वस्तुस्व-
 भावात्क्षरत्वेवेति । इदमुक्तं भवति । यथा गच्छतीति गौः,
 पङ्के जातं पङ्कजम्, इत्याद्याविशिष्टार्थप्रतिपादाका अपि शब्दा
 कदिवशाद्भ्रिणोया एव वक्षन्ते, तथाऽऽन्यक्षरशब्दो वक्षी एव
 वक्षति । वक्षी च वृत्तमेवेत्यातस्तदेवाक्षरानक्षररूपमुच्यते इति ।
 विशे० न० ।

अस्ये य स्वरः न य जेणक्खरं तेणं ।

अर्थानभिधेयान् ऋरति संश्रय्यतीति निराक्षिबिधिनाथेकार-
लोपादान्तरम् । अथवा क्षीयत इति क्षरम् । अस्यैव्यर्थसं-
योगे अन्नतानर्थान् प्रतिपादयति न च स्वयं क्षीयते तेनाक्ष-
रमिति भावः । वर्थे, स च स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भवति ।
विशेषः ० तत्र ऋविश्रादक्षरं वर्थे इत्युक्तम् ॥

तच्च त्रिविधं भवतीति दर्शयति ।

मे किं तं अक्षरस्युयं १ तिविधं पञ्चत् । तं जहा सञ्-
क्खरं वंजणक्खरं लुक्खरं । मे किं तं सञ्क्खरं २ अ-
क्खरस्स संग्राणादिं । सेत्तं सञ्क्खरं । मे किं तं वंजणक्खरं
वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाजिलावो सेत्तं वंजणक्खरं ।
मे किं तं लुक्खरं अक्खरं अक्खरस्स अक्खरलुक्खियस्स
हादिअक्खरं समुपज्जइ । तं जहा सोईदियल्लुक्खरं
चत्थिदियल्लुक्खरं धाण्णियल्लुक्खरं रसण्णिय-
ल्लुक्खरं फासिंदियल्लुक्खरं नोईदियल्लुक्खरं सेत्तं
हादिअक्खरं सेत्तं अक्खरस्युयं ।

(से किं तमित्यादि) अथ किं तदक्षरभूतं ? सूरिराह—अक्ष-
रभूतं त्रिविधं प्रथमं तद्यथा संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं लक्ष्यक्षरम् ।
तत्र 'क्षरं संचलने' न ऋरति न चलनीत्यक्षरं ज्ञानम् । तद्वि-
सर्वस्वाभाव्यादुपयोगेऽपि तत्त्वतो न प्रचल्यते । यद्यपि च
जीवनामेवविशेषोपलक्ष्यं तत्र प्रामोनि तथापि श्रुतज्ञानस्य प्र-
स्तावादाक्षरं श्रुतज्ञानमेव द्रष्टव्यं न शेषमित्यभूतभावात्क्षरकार-
णं चाकारादिवर्णजातम्, तत्त्वतदुपचारात्क्षरमुच्यते, तत्-
त्वाक्षरं च तच्छ्रुतं च श्रुतज्ञानं चाक्षरभूतं भावश्रुतमित्यर्थः ।
तथा लक्ष्यक्षरभूतं वेदितव्यम् । तथा अक्षरात्मकमकारादि-
वर्णोत्पन्नं श्रुतमक्षरभूतं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । तच्च संज्ञाक्षरं व्य-
ञ्जनाक्षरं च द्रष्टव्यम् । अथ किं तन् संज्ञाक्षरम् । अक्षर-
स्याकारादेः संस्थानाकृतिः संस्थानाकारः । तथाहि—सं-
ज्ञायतेऽनेवेति संज्ञा नाम तत्रिबन्धनं तत्कारणमक्षरं संज्ञा-
क्षरम् । संज्ञा च निबन्धनाकृतिविशेषः । आकृतिवि-
शेष एव नाम्नः कर्त्तव्यं व्यवहरणोच्यते । ततोऽङ्कारस्य
पट्टिकादौ संस्थापितस्य संस्थानाकृतिः संज्ञाक्षरमुच्यते ।
तच्च आद्यप्राद्विभेदतोऽनेककारस्य । तत्र नागरीलिपिम-
धिकृत्य प्रवृत्त्येते, मध्यस्थापितचुद्धिसिद्धिवशसदृशो रखा-
स्तत्रिबन्धविशेषोकारः । यकीनुनश्च सारमपचुद्धसिद्धि-
वशसदृशो ढकार इत्यादि तदेतत्संज्ञाक्षरम् । अथ किं तद्
व्यञ्जनाक्षरम् । आचार्ये आह—व्यञ्जनाक्षरमक्षरस्य व्यञ्जनाभि-
ज्ञापः । तथाहि—व्यञ्ज्यतेऽनानर्थः प्रदीपनघट इव व्यञ्जनना-
व्यकारमकारादिकवर्णजातं तस्य विवर्त्तनार्थोऽप्यञ्जकत्वात् ।
व्यञ्जनं च तदङ्कं च व्यञ्जनाङ्कं ततो युक्तम् व्यञ्जनाङ्क-
मक्षरस्य व्यञ्जनाभिज्ञापः । अक्षरस्याङ्कमङ्कवर्णजातस्य व्यञ्-
जनेन अत्र जाये अमद् । व्यञ्जकत्वेनाभिज्ञाप उच्यतेऽनेकव्यञ्जक-
त्वेनोक्त्यायमणमकारादिवर्णजातमित्यर्थः (से किं तमित्यादि)
अथ किं तत् लक्ष्यक्षरम् । त्रिबन्धपर्यायः, स चेद् प्रस्तावात्
शब्दार्थपर्यलोचनानुसारं गृह्यते, त्रिबन्धरूपमङ्कं लक्ष्यङ्कं
भावश्रुतमित्यर्थः । (अक्षरलक्ष्यस्तेत्यादि) अङ्करेऽङ्करस्यो-
च्चारणेऽवगमं वा त्रिबन्धस्य सोऽङ्करलक्षिकस्तस्याकाराद्यङ्करा-
नुविद्धश्रुतलक्षितमन्वितस्येत्यर्थः । त्रिबन्धङ्कं जावयन् समुप-

द्यते, शब्दादिब्रह्मसमन्तरामिन्द्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थपर्या-
लोचनानुसारं ' शङ्खोऽयम् ' इत्याद्यङ्करानुबन्धिं चिह्नानमुप-
जायत इत्यर्थः ।

नन्विदं लक्ष्यङ्कं संज्ञिनामेव पुरुषादीनामुपपद्यते नासंज्ञि-
नामेकेन्द्रियादीनां तथा मकारादिवर्णानामवगमं उच्यते वा ल-
क्ष्यसंभवात् । न हि तेषां परोपदेशो भवत्येवं संभवति येनाकारादि-
वर्णानामवगमादि भवेत् । अथ वैकेन्द्रियादीनामपि भावश्रुत-
मित्येते । तथाहि—पार्थिव्यादीनामपि भावश्रुतमुपपद्यते "द्वय-
सुयात्रावश्मि चि, भावसुयं पत्थिवाइणं " इति वचनप्रामाण्या-
त् । जावश्रुतं च शब्दार्थपर्यालोचनानुसारिगविज्ञानं शब्दार्थपर्या-
लोचनं चाङ्करमन्तरं न भवतीति सत्यमेतत् । किं यद्यपि
तेषामेकेन्द्रियादीनां परोपदेशावगणानसंभवस्तथापि तेषां तथा-
विधत्तयोपशान्नाभावतः कश्चिदव्यक्तोऽङ्कस्ततो जगति यदशा-
दङ्करानुबन्धिं श्रुतज्ञानमुपजायते इत्यं चेतदङ्किकेत्येवम् । तथा-
हि—तेषामभ्यङ्कराद्यभिज्ञाप उपजायते, अत्रिबन्धप्रधानं, ना
च यदीदमं प्रामोनि ततो भव्यं भवनीत्याद्यङ्करानुबन्धिं च,
तत्त्वस्यामपि कार्त्तव्यत्वात्कारलक्षितव्यर्थं प्रतिपत्तव्या तत्-
त्वेनामपि लक्ष्यङ्कं भवतीति न कश्चिदोपपत्तः । तच्च लक्ष्य-
ङ्कं शोभा । तद्यथा श्रेयैन्द्रियलक्ष्यङ्कमिदं, इदं
यत् श्रेयैन्द्रियेण शब्दभवेण सति शङ्खोऽयमित्याद्यङ्करानु-
बन्धिं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारं विज्ञानं तत् श्रेयैन्द्रियलक्ष्यङ्क-
रं तस्य श्रेयैन्द्रियनिमित्तत्वात् । यत्पुनश्चक्षुषा आम्नङ्कानुपपन्न-
भ्याम्नङ्कमित्याद्यङ्करानुबन्धिं शब्दार्थपर्यालोचनानामपि विज्ञानं
तच्च श्रेयैन्द्रियलक्ष्यङ्कमेव । श्रेयैन्द्रियलक्ष्यङ्कमपि जावनीय-
म् (संज्ञमित्यादि) तदेतन् लक्ष्यङ्कं तदेतदङ्कश्रुतम् । न ० ।
५० । कल्प ० । आ ० चू ० विशेष ० ।

अथानभिज्ञेयं च—अज्ञाक्षरं इच्छितेतरं वदतो ।

रुवं च पणसैणं, विज्जति अत्थो जत्तो ताणं ।

इह पञ्चविक्रितं तदेव यदि वदति यथा अश्वं भणित्वातीति
तदेवं ह्ये तदा तदीतिस्मनमन्यद्विद्विज्ञानोऽप्यन्वेच्छुचरति तदा
तदितरादनीत्यतमीतिस्मितरं वा वदतो यद्यथाऽन्यङ्कम-
जिधानं तद् व्यञ्जनाक्षरम् । अथ कस्याद्भ्यञ्जनाक्षरमुच्यते
नाभिधानाक्षरमत आह—रूपमिव घटादिकमिव प्रकाशन
दीपादिना तस्मिन् लक्ष्यमानम् अर्थां घटादियतो यस्माद्भ्यज्यते
प्रकटीक्रियते तेन कारणेन व्यञ्जनाक्षरमित्युच्यते ॥

ते पुण जहत्थनियतं, अजहत्थं वा वि वंजणं दुविहं ।

पगमणोपगारियं, एमंय व अक्षरसुं पियं ।

तत् पुनर्व्यञ्जनं द्विविधम् यथार्थनियतमर्थार्थं च । यथार्थ-
नियतं नामार्थयुक्तं, यथा ऋषयनीति रूपणः, तपनीति तपन
इत्यादि । अथार्थं यथा—नेन्दं गोपयति तथापीन्द्रगोपकः ।
न पञ्चमआति तथापि पञ्चाश इत्यादि । अथवा तद् व्यञ्जनं
द्विधा एकःपर्यायनिकपर्यायं च । एकः पर्यायोऽभिधेयो यस्य
तदेकपर्यायम् । यथा अलोकः स्वपिण्डलमिदं । अलोकशब्देन
ह्यलोकस्थलरूपेण एक एव पर्यायोऽभिधीयते । स्वपिण्डलशब्देन
स्वपिण्डलस्थमकमिति । अनेके पर्यायाभिधेया यस्य ननुनक-
पर्यायम् । यथा जीव इति जीवशब्देन हि जीवोऽप्युच्यते
सत्त्वोऽपि प्राणपि भूतोऽपि च । जीवशब्दश्च प्रतिनिधायकता-
याः । तथा चोक्तम् । "प्राणा द्विविधेः प्राणा, भूनाश्च तरवः
स्मृताः जीवाः पञ्चेन्द्रिया हेवाः, शेषाः सत्त्वा उर्ध्वीताः" ततो

भवति सामान्येन जीवशब्दस्यानेकपर्यायाभिधायकत्वमिति । एवमेव एकानेकभेदेनाक्षरेणैव च्छब्दव्ययम् । तथाया—द्विविधं व्यञ्जनभेदाक्षरभेदाक्षरं च । एकाक्षरं ध्वंः श्रीरित्यादि । अनेकाक्षरं वीणा लता माहा इत्यादि ।

सक्यपाययज्ञासा—विणियुक्तं देसतो अयोगविहं ।

अजिहाणं अजिधेया—तो होइ भिन्नं अभिन्नं च ॥

अथवा द्विप्रकारं संस्कृतं प्राकृतभाषाविनियुक्तं च, यथा—वृक्षः कृष्णा इति । देशतो नामादेशानाम्निष्य अनेकविधम्, यथा—मगधानामोदनो लाटानां कूरो द्रमिलानां बीरोऽन्ध्रानामिन्द्रा-कुरिति, तथा तदभिधानं व्यञ्जनाक्षरमभिधेयात् अभिन्नमिन्नं च । तत्र भिन्नं प्रतीतं, तादात्म्याभावात् ।

तमेव तादात्म्याभावात्—

सुरअग्निगोपयुच्चा—रयामि जम्हाउ वयणसवणार्णं ।

न वि डेओ न वि दाहो, न वि पूरणं तेषु जिज्ञे तु ॥

यस्मात् सुरशब्दोच्चारणे अभिशब्दोच्चारणे मोदकशब्दोच्चारणे च यथाक्रमं वदतो वदन्त्येव श्रवणतः श्रवणस्य न कुदो नापि दाहो नापि पूरणमतो ज्ञायतेऽभिधेयाद्भिधानं भिन्नम्, अन्यथा तादात्म्यबन्धनात् सुरादयोऽपि तत्र सम्भूतिं वदन्त्येव श्रवणस्य च त्रेदाविप्रसङ्गः । अजिज्ञावं नाम संबद्धत्वम् । तथा च श्लोकऽप्यभिशाब्दः संबद्धत्वाच्च व्यबह्रियते यथाऽयमस्माकं खादनपानेनाभिः संबद्ध इत्यर्थः ।

ततस्तदेव संबद्धत्वं भावयति—

जम्हाउ भोगे अजि—द्वियमि तत्थेव पचओ होई ।

न य होइ सो अग्रते, तेषु अजिज्ञं तद्व्यातो ॥

यस्मान्मोदकं अजिहितं तत्रैव मोदकं ज्ञययो जयति नात्यत्र, न च न नियमन तत्र प्रत्ययोऽप्यन्वयेऽसंबद्धत्वे सति भवति संबन्धजावतो नियामकाज्ञायैनाप्यपि तत्रान्यप्रसक्तोः, तेन कारणेन ज्ञायते तदभिधानमर्थाद्भिन्नमर्थेन सह चारुयवाचक-भावसंबद्धम् ।

एकेकमक्षररस उ, सपञ्जाया इवंति इयरे य ।

संबद्धमसंबद्धा, एकेका ते भवे बुविहा ॥

व्यञ्जनस्य यान्यक्षराणि तस्याक्षरस्यैकैकस्य द्विविधाः पर्यायाः स्वपर्याया इतरे च परपर्यायाश्च । तत्र वर्णश्लिषा—इत्यां दीर्घः प्लुतश्च । पुनरैकैकश्लिषा—उदासोऽनुदासः स्वरितश्च । पुनरैकैका द्विधा—सानुनासिको निरनुनासिकश्च । एवमष्टादशप्रकारोऽर्थवर्णः उक्तं च— इत्थदीर्घोऽनुत्प्लाञ्च, शैत्थयोऽनुत्पयेन च । अनुनासिकभेदाच्च, संख्यातोऽष्टादशसामकः ॥” एते श्रवणस्य त्रयः पर्यायाः, तथा ये एकैकाक्षरसंयोगतोऽक्षरसंयोगत एव यद्यन्तो घटन्ते संयोगस्तावत्संयोगशततो येऽवस्थाविशेषा ये च तत्सदृशीभिधायकत्वस्वभावात्संज्ञेऽपि तस्य स्वपर्याया इतरे तत्रा-स्तन्तः परपर्यायाः । एवमिषाणोदीनामपि स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च बक्तव्याः । येषु परपर्यायास्तोऽपि तस्यैति ध्यादिद्वयन्ते । व्यवहारेणतया तेषां तद्विशेषकत्वात्, यथाऽयं मे पर इति । ते च स्वपर्यायाः, परपर्यायाश्च एकैकं द्विविधा भवति । तद्यथा-संबद्धा असंबद्धाश्च ।

एतदेव भावयति—

अस्तियचे संबद्धा, हुंति अकाररस पञ्जाया जे उ ।

ते चेव असंबद्धा, नस्तियचे एं तु सव्वे वि ॥

ये अकारस्य पर्यायाः स्वपर्यायास्ते तत्रान्तिस्त्वेन संबद्धा भवन्ति, नास्तित्वेन पुनस्त एव सर्वेऽप्यसंबद्धाः; तत्र तेषां नास्तित्वान्नावात् ।

एमेव असंता वि उ, नस्तियचे एं तु होंति संबद्धा ।

ते चेव असंबद्धा, अस्तियचे एणं अज्ञावाच ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेणास्तनः परपर्याया, अपि नास्तित्वेन जयति संबद्धाः । ते चैवं परपर्याया अस्तित्वेनासंबद्धाः, तथा-स्तित्वस्य तत्राज्ञावात्वात् ।

अथैव निदर्शनमाह—

घमसहे घमकारा, इवंति संबद्धपञ्जाया एते ।

ते चेव असंबद्धा, इवंति रहमरमांसु ॥

घटशब्दे ये घकारटकारकारस्तेषां ये पर्यायास्ते एते भवन्ति । तत्रान्तिस्त्वेन संबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, त एव घकारटकारकारपर्यायाः रघशब्दादिषु भवन्ति अस्तित्वेनासंबद्धाः; तथा तत्राभावात् । तद्वचमस्तित्वेन स्वपर्यायास्तत्र संबद्धा अन्यत्र चासंबद्धा उपदर्शिताः । एतदुप-देशेनैतदधीवापन्नम् । ते स्वपर्यायास्तत्र नास्तित्वेनासंबद्धा अन्यत्र तु संबद्धाः । तथा ये रघशब्दस्य स्वपर्यायास्ते तत्रान्तिस्त्वेन संबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, घटशब्दे न संबद्धास्तेषां तत्रासत्त्वात् त एव च रघशब्दे नास्तित्वेनासंबद्धा घटशब्दे तु संबद्धा इति । तद्वचं स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च प्रत्येकं संबद्धा असंबद्धाश्च निदर्शिताः ।

अधुना स्वपर्यायात् दर्शयति—

मंजुत्तामंजुत्तं, इय लजने जेसु जेसु अस्त्येसु ।

विधिभागमक्षरं ते—सि होंति सभावपञ्जाया ॥

इत्येवं घटशब्दरघशब्दादिगतेन प्रकारेण संयुक्तमसंयुक्तं वाऽक्षरमकारादिकं येषु येषुषु विनियोगं लभते ते तेषां स्वभावपर्यायाः स्वपर्याया भवन्ति । अर्थादिदमयातम् अयं परपर्याया इति । तद्वचमभिहितं व्यञ्जनाक्षरम् । तदभिधाना-च्चाभिहितं त्रिविधमक्षरम् । वृ० १ उ० ।

लक्ष्यक्षरमाह—

जो अक्षररोवलंभो, सा झळ्ळी तं च होइ विष्णाणं ।

इंदियमाणोनिमित्तं, जो आचरणत्त्वञ्चोचसमो ॥

यऽक्षरस्योपलम्भो लाभः सा लम्भनं लक्षिणः, तन्लक्ष्यक्षर-मित्यर्थः । तच्च किमित्याह—इन्द्रियमनेनिमित्तं भुतग्रन्थानु-सारे विज्ञानं भुतज्ञानोपयोग इत्यर्थः । यच्च तज्ज्ञानोपयोगो यच्च तदाचरणकर्मज्ञोपयोग एतौ द्वौपि लक्ष्यक्षरमिति भावार्थः । उक्तं त्रिविधमक्षरम् ।

अथात्र किं द्रव्यभुतं किं वा भावभुतमित्याह—

द्रव्यसुयं सखावं—जणकवरं जावमुत्तमियं तु ।

मंजुसुवाविसंज्ञां वि, मोत्तुणं दम्बसुयं ति ॥४॥

संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं चैते द्वे अपि भावभुतकारणत्वात् द्रव्य-भुतम्, इतरतु लक्ष्यक्षरं भावभुतम् । अत्र विनयेः प्राह—तनु पूर्वं मतिभुतभेदविचारे येयं गाथा प्रोक्ता ॥ सोरदिशोचलळी, होइ सुयं सेमयं तु महनाणं । मोत्तुणं दम्बसुयं, अक्षरसंज्ञो य सेसु ति” अस्यां किमस्य त्रिविधस्याक्षरस्य संग्रहोऽस्ति, भुतविचारस्य तत्रापि प्रस्तुतत्वात्, यथास्त तदिदं दर्शनात् कथ-

मसौ ? अथ नास्ति तद्विधापि किमनेनाप्रस्तुतेन इति । सूरिः पूर्वापरग्रन्थसंबादं दिदर्शयितुस्तत्राप्यस्यात्तरज्यस्य संग्रह-पुस्तकशेषेति (महसुययेत्यादि) मतिभूतविशेषणोऽपि मतिभूतभेदविचारोऽपि "सांदिश्रोवलक्ष्णी" इत्यादिगाथायां "मोक्षं दृष्टवसुयं" इत्यनेन गाथावयवेन किमिव्याह—

दृष्टवसुयं सप्तक्षरं—मक्षरद्वंद्वोऽपि भावसुयमुत्तं ।

सोऽत्रावलक्षिष्यते, एष वंजयं भावसुयं च ॥

संज्ञात्तरमुक्तम्, कथंभूतमित्याह—द्रव्यभूतं भावकारणत्वात् द्रव्यभूतरूपम् "अक्षरलक्ष्णो य सिसुयुत्ति" अनेन त्वययवेन लक्ष्यत्तरमुक्तामिति शेषः । कथंभूतमित्याह—भावभूतं विज्ञानात्मकत्वात् भावभूतरूपं "सांदिश्रोवलक्ष्णी होह सुयं" इत्यनेन त्वययवेन श्रोत्रेन्द्रियेषोपलक्षणधरस्य शब्दस्येति बहुव्रीहि-समानाभिप्रायात्, व्यञ्जनं व्यञ्जनात्तरमुक्तम् । श्रोत्रेन्द्रिय-स्वोपलक्षिष्यविज्ञानमिति षष्ठीसमासाङ्गीकरणेन तु पुनरपि लक्ष्यत्तरं भावभूतरूपमहितामिदं न पूर्वापरविसंबादः ।

ननु लक्ष्यत्तरं कथं प्रमाणात् लभ्यं इत्याह—

पक्षसर्वमिदियमणो—हि ह्रस्वः श्लिगेण वक्करं कोड ।

श्लिगेणप्राणमणो, सारिकवाइ पभासंति ॥

तन्त्रात्तरं लक्ष्यत्तरं कश्चित्प्रत्यक्षं लभते प्रत्यक्षरूपतैयव कल्पचिदुपपत्त्यन इत्यर्थः । कार्यां कृत्वा इत्याह—इन्द्रियमनो-भ्याम्, इन्द्रियमनोनिमित्तं यद् व्यवहारप्रत्यक्षं तत्र कस्याचि-द्व्यत्यन्तरं भुक्तज्ञानरूपमुपपत्त्यात् इत्यर्थः । श्रान्त्युत्तिं धूमा-दिना तदुत्पत्त्ये, धूमादिलिङ्गं दृष्ट्वा श्रम्यादिज्ञानरूपं तत्क-ल्पचिदुपपत्त्यात् इत्यर्थः । "होङ्गि किमुत्तरे" इत्याह—अनुमान-मिति । ननु लिङ्गप्रत्यक्षं संबन्धस्मरणाभ्यामनुपपन्नानामनु-मानं लिङ्गं ज्ञानमुच्यते । कथं लिङ्गमवाप्तुमानमिति चेत्-सत्यम्, किं तु कारणं कार्यापत्त्यादप्यनुमानम्, यथा प्रत्यक्ष-ज्ञानमन्तो घटोऽपि प्रत्यक्ष इति । तदिह तात्पर्यम्—लक्ष्यत्तरं भुक्तज्ञानमुच्यते । तच्चेन्द्रियमनोनिमित्तं प्रत्यक्षं वा स्यादनु-मानं वा स्यादन्यत्, शेषस्यात्मप्रत्यक्षस्यावधारिकरूपत्वादिति भावः । साहचर्यादिभ्यो जायमानत्वात्तरनुमानं पञ्चवधमिति केचित्प्रमाणत्वं । विशेषे ०

सामन्त्रविसेषेण य, वृद्धिा इच्छी पदमा अज्ञेया य ।
[तिविदा य आणुनलक्ष्णी, उवलक्ष्णी पंचहा विः पा ॥
लक्ष्यत्तरं लक्ष्यत्तरं द्विविधं द्विप्रकारम् । तद्यथा—सामान्येन विशेषेण च । सामान्यलक्ष्यत्तरं विशेषलक्ष्यत्तरं चेति भावः । तत्र प्राथमिकी सामान्यापलक्षिः । सामान्यापलक्ष्यत्तरं मजदसामान्ये भेदाज्ञात्वात् । इहोपलक्ष्यत्तरमुपलक्ष्यत्तरात्तस्मैवा अपि प्र-रूपणा कसंशयस्य आह—त्रिविधा द्विप्रकारा अनुपलक्षिष्यो पु-नर्दिनानां विशेषोपलक्षिष्यविशेषोपलक्ष्यत्तरं सा पञ्चधा पञ्च-प्रकाराः । वृ ? उ ० ।

सामन्त्रमक्षरभ्रान्त्यावकारोव यदुक्तं मूवे "अक्षरत्तद्विअस्स ह्विअक्षरं समुपज्जह" इति तत्र प्रयंमत्यापयन्नाह—

अक्षरद्वंद्वो मणी—एण हौङ्गि पुरमाइवसुविसायाणां ।
कत्तो उ असमणं, जणियं च युमियं तेसि पि ॥

पुरवक्ष्णीनपुंसकघटपटादियमविज्ञानरूपोऽङ्गरत्नानः संज्ञिनां समनस्कजीधानां भयंभूदध्यामरे एतदसंज्ञिनां चामनस्कानां कुत पतद्वर्णविहानं भवति ? न कुतश्चिदित्यर्थः । अक्षरत्नानस्य परोपदेशजत्वान्मोक्षिकत्वात् न तदसंततया, वा नृत् नैषां नदिं

तदिव्याह—भणितं च षष्ठीविज्ञानं भूतं तेषामप्येकैन्द्रियाद्यसंज्ञि-नाम् "पर्यविद्यात् महप्रमत्तानां सुयमन्तानां य" इत्यादि वच-नात्, न हि श्रुतज्ञानमक्षरमन्तरं संभवति तदेतत्कथं अज्ञात-व्यमिति ? अत्रोच्यते—

जह चेषामणिकल्पिभ—मसणीया तह होह्ति नाणं पि ।
धोवत्ति नोवलक्ष्णद, जीवत्तमिव इंदियाणं ॥

यथा चैतन्यं जीवत्वमकृत्रिमस्वभावमाहारादिसंज्ञाद्वारंणा-संज्ञिनामधगम्यते तथा ह्रस्वकारात्मकसमज्ञानमपि तेषाम-धगन्तव्यम्, स्तोकात्वात् स्पृहलक्ष्णैरिभ्रस्तन्मोपलक्ष्यते जीवत्व-मिव गुणिव्याचोकेन्द्रियाणां । एकशब्दस्य वेदो ज्ञोपः, भामा सत्यनामत्यादिदर्शनादिति । यदपि परोपदेशजत्वमक्षर-स्याच्यते तदपि संज्ञाव्यञ्जनाङ्करयोरैवावस्यम् । लक्ष्यत्तरं तु क्षयोपशमैन्द्रियादिनिमित्तमसंज्ञिनां न विरुध्यते, तदेव च मुख्यतवेह प्रस्तुतम् । तस्य संज्ञाव्यञ्जनात् श्रुतज्ञानाधि-कारादिति । दृष्टान्ताभ्रमाह—

जह वा सण्णीणमण—नखराणं असइ नरवसुविषाणे ।
लक्ष्णत्तरं ति भसइ, किमपि चि तदा असासणं ॥

यथा संज्ञिनामपि परोपदेशाभावे नवाङ्कराणां केषांचिद्विध-मु-धप्रकृतीनां पुत्रिन्दुबालगोपालगवादीनामसत्यपि नकारादि-षोविशेषविज्ञानं ह्रस्वत्तरं किमपीदयेते नरादिवसोषारण त-च्छ्रुतवादिनिमित्तनिरीक्षणदर्शनात् । गौरपि हि स्वभावदृष्ट्यादि-शब्देनाकारिना सती स्थनाम जातोते प्रवृत्तानिवृत्त्यादि च कृ-वेनी इत्यनेन, न चैषां गवादीनां तथाविधपरोपदेशः समस्ति । अथवास्ति लक्ष्यत्तरं नरादिविज्ञानमज्ञात्वात् । एवमसंज्ञिनामपि किमपि तदुच्यमानं । तदेवं साधनमैन्द्रियादीनामपि यत्र यावच्च लक्ष्यत्तरम् ॥

अधैकैकस्याकाराङ्करस्य यावन्तः पर्याया भवन्ति तदेतद्विशेषतो दर्शयति—

एकैकमक्षरं पुण, सपरपजायपिभेयओ जिणं ।
तं सवन्देवपजा—यरासिमाणं सुणोयव्वं ॥

इह भिन्नं पृथगेकैकमपि तदकाराङ्करं पुनः स्वपर्यायभेदतः सर्वाणि यानि द्रव्याणि नपर्यायराशिमानं ज्ञातव्यम् । इ-दमुक्तं जयति—इह समन्त्रिशुचयवर्चीनं यानि परमाणुद्वयशु-कादीन्येकाकाशप्रदेशादीनि च यानि द्रव्याणि ये च सर्वेऽप-वर्णीस्त्वद्विभेदाध्यायस्तेषां संवेधामपि विपक्ततो यः पर्याय-राशिर्भवति स एकैकस्याप्यकाराङ्करस्य जयति, तन्मध्यं ह्य-कारस्य कश्चित्कोऽकारः स्वपर्यायास्ते चानन्ताः, शेषास्त्वन्मनुशाः पर्याया इत्येवं सर्वेसंग्रहः । अयं च सर्वोऽपि सर्वेद्रव्यपर्याय-राशिः सद्भावतोऽनन्तानन्तस्वकाराङ्करस्यैककल्पनात् । क्व हस्तं पदायांश्चाकारैःकारादयो धर्मास्ति कायादयः सर्वाकाशप्रदेशस-हिताः सर्वेऽपि किल सहजं तत्रैकस्याकारपराधस्य सर्वेद्रव्याग-तलक्षयपर्यायराशिमप्याटस्तिन्वेन संबद्धाः किल शतप्रमाणाः स्वपर्यायाः, शेषान्तु नास्तिन्वेन संबद्धाः सर्वेऽपि वरपर्यायाः । ए-वमिकारादयः परमाणुद्वयकाङ्कैकैकस्य द्रव्यस्य वाच्यमिति । आह—के पुनः स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्याह—

जे लव्वंउ केतोळ—वमसहिओ व पजजवायारो ।
ते तस्स सपजजाया, मेसा परपजजाया सव्वे ॥
यानुदात्तानुदात्तसानुनासिकनिरनुनासिकादीनामसङ्गतान्

पर्यायाद् केवलोऽप्यवर्णनं संयुक्तोऽप्यवर्णनं संयुक्तो वाऽकारो लभते ऽनुजवति तस्य स्वपर्यायाः प्रोक्तवन्ते ऽस्तिवन्ते संबन्धत्वात् । तेनाऽन्तारास्तद्व्यस्य विष्णुपरमाश्रयाद्विद्वन्व्यनन्तत्वात्तद्व्यस्य प्रतिपादनाशकत्वात् । अथवा तत्रप्रतिपाद्यस्य स्वपर्यायकत्वमसङ्गादिकल्पयतीत्याहवासात् । बोधास्त्विकारादिसंबन्धिनेष्वदादिगतात्त्वात् परपर्यायास्तेऽन्ये व्यावृत्तित्वेन नास्तिवन्ते संबन्धात्, एषमिकारादीनामपि प्रागजनीयत्वात् । अक्षरविचारस्य चेह प्रकान्तत्वादेकैककर्मकं सर्वद्वयपर्यायराशिमानमुच्यते, अन्यथाऽन्येषामपि परमाद्युद्वाहकघटादिविद्वन्व्याणामिदमेव पर्यायमानं द्रष्टव्यमिति । एवमुक्तं सति परः प्राह—

जइ ते परपञ्जाया, न तस्य अद्र तस्य न परपञ्जाया ।
जं तमि अमंबन्धा, तो परपञ्जायववपसो ॥

इह स्वपर्यायाणामेव तत्पर्यायता युक्ता । ये त्वमी परपर्यायास्ते यदि घटादीनां तर्हि नाक्षरस्य, अक्षरस्य ते तर्हि न घटादीनाम्, ततश्च यदि पर्यायास्तर्हि तस्य स्वध, तस्य स्वपर्यस्तस्य कथमिति विरोधः । तद्वक्तुमस्मिप्रयापरिज्ञानात् । यस्मात्कारणत्वात्स्मिप्रकारे कारणाक्षरे घटादिपर्याया अस्तिवन्तेनासंबन्धात्, ततस्तेषां परपर्यायव्यपदेशोऽन्यथा व्यावृत्तेन रूपेण तेषुऽपि संबन्धा एवेत्यतस्तेषामपि व्यावृत्तरूपनया पारमाश्रित्यै स्वपर्यायत्वं न विरुध्यते । अस्तिवन्ते न तु घटादिपर्याया घटादिव्ये संबन्धा इत्यक्षरस्य ते परपर्याया व्यपदेशयन्त इति भावाः द्विविधे इ वस्तुनः स्वकल्पमस्तिवन्तं नास्तिवन्तं च । ततो ये यस्मात्स्तिवन्ते प्रतिबन्धास्ते तस्य स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तिवन्ते संबन्धास्ते तस्य परपर्यायाः प्रतिपाद्यन्ते इति निमित्तभेदक्यापनपराधेव स्वपरशाश्रयै, न श्लोकं नत्र सर्वथा संबन्धपरिज्ञानपर्यै, अतोऽक्षरघटादिपर्यायाः अस्तिवन्तेनासंबन्धा इति परपञ्जाया उच्यन्ते न पुनः सर्वथा, न तत्र संबन्धा नास्तिवन्ते तत्रापि संबन्धाः । नैकस्याभयत्र संबन्धो न युक्त एकस्यापि द्विप्रबन्धद्विरुद्धान्येन पूर्वापरसमुद्घादिसंबन्धात् । यदि होकेनैव रूपेणैकस्याभयत्र संबन्ध इष्येत तथा स्याद्द्वारोः, एतच्च नास्ति, रूपद्वयेन घटादिपर्यायाणां तत्रान्यत्र च संबन्धात् । सत्वेन तत्र संबन्धात्सत्वेन त्वङ्कारादिवु । असत्त्वमाभावात्त्वाद्द्वस्तुनो रूपमेव न भवति खरविषयाणवदिति चेदयुक्तञ्च खरविषयाणकटवपस्य वसवभावेऽसिद्धत्वात् न इ प्रागभाष्यप्रथं साभावघटाभावपदाभावादिवस्वभावविशेषणवत्खरविषयाणां द्विष्वपि विशेषणं संभवति, तेषां सर्वोऽप्याक्याविरहलक्षणं निरभिलष्ये पष्ठभूतवर्धोरूपेऽप्यन्ताराभावमात्र एव व्यवहारिभिः संकेतितत्वात् । न च वष्टुतुवद्वस्वजाबोऽप्यस्मान्निर्कोपभ्युपधीयते, नोक्षरस्य निरभिलष्यत्वेन प्राग्भावाविशेषणानुपपत्तेः, किं तु यथैव शृण्विण्कारादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारादिव्यावृत्तिसाम्राज्जत्वात् प्राग्भाष्य इति व्यपदेशयन्ते, यथाव कपादादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारः परमात्रात्, प्रथंसाभावोऽपिधीयते, तद्व्यपर्यायान्तराश्रयात्कृत्वादिभाव एव घटादिवस्वजावः प्रतिपाद्यते, न तु सर्वथैवाभावस्तथा, सर्वथा न किञ्चद्व्यपर्यायान्तराभिलष्यन्त्वात् । न च षकथं खरविषयाणादिशब्धेन साऽप्यभिलष्यन् एवोति निरभिलष्यत्वात्पनाप्रथंभे संकेतमात्राज्यानिं खरविषयाणादिशब्दानां व्यषहरिजिस्तत्र निषेधात् । किं च यदि घटादिपर्यायाणाक्रे नास्तिवन्ते संबन्धो नैष्यते तर्ह्यस्तिवन्तास्तिवन्तयोऽप्यव्यपदेशकत्वपरादिति वन्ते तेषां तत्र संबन्धः स्वाभाव्यो च सत्यक्षरस्यापि घटादिवस्वजावः स्यात्, न च सति सर्वविश्वमेकरूपतामेवासादयत्, ततश्च सहापर्यायादिप्रसङ्गः ।

न च वक्तव्यं घटादिपर्यायाणां घटादीं व्यवस्थानानां नास्तिवत्त्वकृष्णं रूपं कथमक्रे प्राप्ते, कृपिणामन्तरेण रूपयोगात् । अथ तेषुपि तत्र सति तर्हि विष्वेकत्वात् घटादिपर्यायाणां घटादीन् विद्यायाऽन्यत्र नास्तिवन्ते न्यन्तरेऽस्तिवत्त्वकृष्णस्य स्वपरभाष्यायोगात् । अथ कथं विद्विष्वेकताऽप्यभाषिकैव । इत्यादिकृतत्वा तदेकत्वस्याव्यभुगमादत्तं गम्भीरमिदं स्थिरबुद्धिभिः परिभाषणीयम्, तस्मात् घटादिपर्याया नास्तिवन्तेनाऽपि संबन्धा इति तत्पर्याया अप्यन्ते अस्तिवन्ते घटादावेव संबन्धा न त्यक्ते इति परपर्यायताव्यपदेश इति स्थितमिति ।

यदि घटादिपर्यायास्तत्राक्षरे असंबन्धत्वेन परपर्याया व्यपदेशयन्ते तर्हि ते तस्य कल्पमन्तरे इत्याह—
चायसपञ्जाया वि—सेसाइणा तस्य अमुवउज्जति ।

सप्रणमिवांसंबन्धं, जवति तो पञ्जाया तस्य ॥
ततस्तस्मात् घटादिपर्याया अपि तस्याक्षरस्य पर्याया भवति यतोऽक्षरस्यापि ते उर्युज्यन्ते उपर्योगं यान्ति । केनत्वाहत्यागस्वपर्यायविशेषणादिना त्वानेन स्वपर्यायविशेषणेन व्योयांगदित्यधेः । इदमुक्तं भवति—घटादिपर्यायाः सत्वेनाक्षरे असंबन्धा अपि ते स्वपर्याया भवन्ति, त्वानेनाज्ञानेनोपयुज्यमानत्वात् । यदि हि तत्र तेषामाज्ञाने न जनेषर्हि तदक्षरं घटादिपर्याये व्यावृत्तं न सिच्यत्तपि घटादिपर्यायाणां ज्ञावादिः । ततोऽक्षरस्य त्वानेनाज्ञानेनोपयोगात् घटादिपर्यायास्तस्य भवति तथा स्वपर्यायाणां विशेषणेन विशेषव्यवस्थापकत्वेन परपर्याया अपि तस्य जवन्ति, न हि परपर्यायव्यवस्तु स्वपर्यायाः केचिन्नेदं सिध्यन्ति, स्वपरशब्दयोरानुपपत्तिकृत्वात्वात् । इत्थं यथाऽप्युज्यन्ते तद्वदवत्यपि तस्येति व्यपदेशयते, यथा—देवदत्तादेः स्वधनम् । उपयुज्यन्ते च स्वागस्वपर्यायविशेषणादिज्ञानेन घटादिपर्याया अप्यक्षरस्यास्ति तस्यापि जवन्तीति । एवमक्षरपर्याया अपि घटादीर्वाच्यता इति । एतद्वच भाषयति ।

सप्रणमंसंबन्धं पि हु, सेयणं पि व नरे जहा तस्य ।
उवउज्जइ चि सप्रणं, भयइ तह तस्य पञ्जाया ॥
इह देवदत्तादिके नरे चैतन्यं यथाऽऽस्ति संबन्धं तथा स्वधनम्, असंबन्धमपि स्वधनं तस्य लोके भयते । कुत उपयुज्यते इति कृत्वा तथाऽक्षरे असंबन्धा अपि घटादिपर्यायास्तस्याऽक्षरस्य पर्याया भवन्ति । अनुमेवाथै दृष्टान्तान्तरेण साधयति—
जह दंसणानाणचरि—त्तोगोयरा सब्दद्वपञ्जाया ।
सक्यनेवकिरिया—फलोवमोए गि भिन्ना वि ॥
जइ गो मपज्जया इव, सकज्जानिफाडग चि सपणं च ।
आणायच्चायफहा, तह सव्वे सब्ववन्नाणं ॥

इह यथा सर्वद्वयपर्याया जिज्ञा अपि संयतरेव भवन्ति यतोः सखन्धनो व्यपदेशयन्ते । कुत इत्याह—स्वकार्यक्रियाफलोपर्यायिणो यन्तिरिति कृत्वा अक्षरवत्त्वेनोपयोगात्, ज्ञेयत्वेनोपयोगात्, त्यागान्तादित्किया रूपं यच्चरुचानज्ञानफलं तनुपयोगित्वाच्चरि । कथंनूत्सिते सर्वद्वयपर्याया इत्याह—दशेनानज्ञानवार्तवगोचरः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविययनुताः, ते हि सम्यग्दर्शनेन अक्षीयन्ते ज्ञानं तु ज्ञानेन चारित्रव्याप्याहारवत्कृपाप्राप्तुपरकणोऽवजिष्पयादिश्रांणोपग्रहमेतेषां बहवो जवन्ति । अथवाहाराः उनेरचाः इति वचनात् । अथवा 'पदमस्मि स्ववजीवा, वीए चरिसे

य सव्यद्वन्द्वारं । सेसा मइव्वया क्लुतु, तदिहदेसेण व्वाणं ” इति वचनान्नेते सर्वेऽपि ज्ञानदर्शनवाचिप्रयोगैः । प्रतागं चारिद्रात्मकस्वाधारिद्रस्य च ज्ञानदर्शनाद्यर्थं विनाभावाभावात् । अतुत एवैते अद्वैतव्युत्पत्तियोगमन्त्रेण धरुनाद्ययोगाद्विषयमन्त्रेण विषयिणोऽनुपपत्तेः । के यथा स्वकार्यभिष्पादकाः सन्तो यतेजैवन्तीत्याह—यथा ज्ञानदर्शीनारिद्रकाः स्वपर्यायाः स्वधनं स्या यथा मिश्रमपि देवदत्तद्वैभवंति तथा सर्वेऽपि द्रव्यपर्यायास्वाग्राहानकलात्मन्येकं ज्ञानाति सर्ववस्तुपरिहाने नानुपसङ्गणत्यात् घटादीनां मिश्रा अपि भवन्तीति ।

न चैतदुत्पत्तिमिति दृश्यति—

एगं जाणं सव्वं, जाणं सव्वं च जाणमगं ति ।

इय सव्वमजाणोतो, नागारं सव्वद्वा सुणइं ॥

इह सूत्रेऽप्युक्तं “ज एगं जाणह से सव्वं जाणह से सव्वं जाणह से एगं जाणइ ति” । किमुक्तं भवति, एकं किमपि वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानन्नवस्तुत्वमानं । सर्वशोकाशोकगतं वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानाति सर्ववस्तुपरिहाने नान्तरि यत्नात्वं वस्तुज्ञानस्य । सर्वं स्वपरपर्यायेतं वस्तु जानाति स एकमपि स्वपरपर्यायेतं जानात्येकपरिहानस्य नान्तरियकत्वात् पतकं प्रागपि प्राधितमेवेत्यतः सर्वं स्वपरपर्यायेतं वस्तुजानानो जानन्नवस्तुत्वमानं । सर्वपरपर्यायेतं जानाति वस्तु, तस्मात्प्रेषसमस्तवस्तुपर्यायैः परिहारेरेव एकमङ्गरं ह्रं ह्रायते नात्ययेति भावः । यद्वि नामैवं तथापि प्रस्तुते घटादिपर्यायाणामङ्गरपर्यायैरे किमात्यन्तित्याह—

जेमु अनाएतु त्त्रो, न जजए नजए य नाएतु ।

किह तस्स ते न धम्मा, घटस्स रुवाइधम्म व्व ॥

तत्तस्माद्येपु घटादिपर्यायैश्चक्रातेषु यदेकं प्रस्तुतमङ्गरं न ज्ञायते, ज्ञातेषु च ज्ञायते ते घटादिपर्यायाः कथं न तस्य धर्मा अपि तु धर्मा एव, यथा घटस्य रुपादयः, प्रयोग—येषामनुपपत्तेषां धर्मोपलभ्यते उपलब्धौ चोपलभ्यते तस्य ते धर्मो एव यथा घटस्य रुपादयः नोपलभ्यते च प्रस्तुतमेकमङ्गरं समस्तघटादिपर्यायाणामुपलब्धौ, उपलभ्यते च तदुपलब्धाविति ते तस्य धर्मो इति । इह चाङ्गरं विचारितयत्वं प्रस्तुतमित्येतान्धर्माद्येव तत्सर्वपर्यायराशिप्रमाणं साधितं, न चैतदेव केवलमित्यभूतं दृष्टव्यं किं त्वत्किं यत्किमपि वस्तु तत्सर्वमित्यनुत्तमेव, सर्वेऽपि व्यावृत्तिरूपतया परपर्यायासद्भावादिति ।

नहि नवरमन्वतरं पि, सव्वपज्जायममममं पि ।

जं वत्थुमत्थि होए, तं सव्वं सव्वपज्जायं ॥

गताथैव । यद्येवं किमङ्करमेवाह्दित्येवं पर्यायमानमुकमिति भाष्यकार पवोक्तत्याह—

इह अक्वराट्टिगारो, पक्खणिज्जा य जेण तव्विसम्मो ।

ते चित्तंज्जेते वं, कइ भागो सव्वजाबाणं ॥

इहाकाराधिकारो यस्मात्प्रस्तुतोऽतस्त्वैवेदं पर्यायमानमुकं दृष्टव्यम् । उपलभ्यते च सर्वं वासिद्यमेव, भवत्येवं किं तु प्रस्तुतस्याङ्गरस्य के स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्यादि निवेद्यतेमित्याह (पन्नवणंउज्जेत्यादि) तस्य सामान्येनाकाराद्यङ्गरस्य स्वपर्यायां विषयस्तत्रिषयां येन यतः । के इत्याह—प्रज्ञापनीया अग्निज्ञात्याः पर्याया न पुनरनिलात्याः अतस्ते एवं

चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते । कथमित्याह—कतिथो भागस्तेषां भवति, केषां सर्वेज्ञावानां सर्वेषामभिज्ञाप्यानाभिज्ञाप्यापयाणां समुद्दितानामित्यर्थः । इदमुक्तं त्रयति—मार्गिष्ठाप्यं वस्तु सर्वमङ्करेणोच्यतेऽतस्तदभिधानशक्तिरूपाः सर्वेऽपि तस्याभिज्ञात्याः प्रज्ञापनीयाः स्वपर्याया उच्यन्ते, शेषास्वभाभिज्ञात्याः परपर्यायाः । अतस्तेऽभिज्ञात्याः स्वपरपर्यायाः स्वपरपर्यायाणां कतिथो भागो त्रयतीत्येवं विचिन्त्यत इति । कथमित्याह—

पक्खणिज्जा ज्ञावा, वक्खाण सपज्जया तथा थोवा ।

सेसा परपज्जाया, तो णेतुगुणा निरभिल्लपा ॥

यतः प्रज्ञापनीया अग्निज्ञात्या ज्ञावाः सामान्येन वृणोनामकारादीनां स्वपर्यायास्ततः स्तोका अन्नन्तमजगामयसैनः शेषास्तु निरभिज्ञात्याः प्रज्ञापयित्तुमहाशयाः सर्वेऽपि परपर्याया इत्यतः स्वपर्यायेऽप्युक्तं तदनुत्तुगुणाः सर्वेऽपि हि वस्तुनो लोकाशोकाकाशं विहाय स्तोकाः स्वपर्यायाः, परपर्यायास्तन्नन्तगुणाः, लोकाशोकाकाशस्य तु केवलस्यत्वमन्तगुणात्वात् । शेषपर्यायानां तु ससुदितानामपि तदन्नन्तगुणात्परिहायपरितं दृष्टव्यम् । स्तोकाः परपर्यायाः स्वपर्यायास्तन्नन्तगुणाः । अन्न विनेयातुप्रहार्यं स्थापना काचिन्निरुप्यते—तद्यथा—सर्वाकाशप्रदेशाशोरन्त्ये सर्वेऽपि धर्मास्तिकाद्यप्रदेशपरमाणुच्छाद्यकादयः पदार्थाः सङ्घावोऽनन्ता अपि कल्पनीयाः किल, देशसर्वाकाशप्रदेशपर्यायास्तु केवला अपि किल शतं प्रतिपदाद्यं च पञ्च स्वपर्यायाः । एवं च सति धर्मास्तिकाद्यप्रदेशादीनां सर्वेषामपि पदार्थानां पञ्चाशद्वै स्वपर्यायाः, ते च ननसः परपर्यायाः स्तोकाश्च स्वपर्यायाणां तु पञ्चशतानि, बहवधर्मा । परपर्यायैभ्यस्तस्माच्छेषपदार्थानां सर्वेषामपि ननसोऽनन्तजगामवतिंत्वात्प्रस्तुतसस्तु केवलस्यपि तेऽप्युक्तं तदनुत्तुगुणात् स्वपरपर्यायास्तन्नन्तगुणात्परितं दृष्टव्यमिति । ननसोऽप्युक्तपदार्थानां च तत्रैव निदर्शनेन स्वपर्यायाणां स्तोकाश्च परपर्यायाणां तु बहुत्वं परिभाषनीयम् । तथाहि—किंल्लोकासिन्धु धर्मास्तिकाद्यप्रदेशे पञ्च स्वपर्यायाः, परपर्यायाणां तु पञ्चत्वारिंशदधिकानि पञ्च शतानि । एवमङ्करपरमायादायपि वाच्यमित्येवं चिन्त्यतेऽपि ।

अथ परो ज्ञाप्यस्वयामने सह विरोधमुज्जाययति—

नाणु सव्वगासपए—सपज्जाया वक्खमाणमाइं ॥

इह सव्वद्वन्द्वपज्जा—यमाणागहणं किमत्थं ति ॥

नित्यस्यसूयायाम्, सर्वस्य शोकाशोकाकाशं आकाशस्य प्रदेशास्तेषां मिश्रिना ये सर्वेऽपि पर्यायास्ते षण्णस्य पर्यायाणां सूत्रे मानं परिमाणमादिष्टम् । सर्वाकाशप्रदेशाणां यावन्तः सर्वेऽपि पर्यायास्तावन्त एकस्याङ्करस्य पर्याया भवन्ति इत्येतावदेवागमे प्रोक्तमित्यर्थः । इह तु “ तं सव्वद्वन्द्वपज्जाया(सिमाणं मुणयव्वं” इत्यत्र किमिति सर्वद्वन्द्वपर्यायमानप्रदणं कृतम् । इदमुक्तं भवति—“ सव्यागासपसपसं सव्यागामस्यएहेहि अणेतुगुणं पज्जवक्खरं निपज्जावति” न चित्त्वे प्राक्तम् । यत्तु वृत्तौ तत्र व्याख्यातम् । तद्यथा—सर्वं च तदाकाशं च सर्वाकाशां शोकाशोकाकाशासमित्यर्थः । तस्य च प्रदेशा निर्विभागास्तेषामङ्ग परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम्, सर्वाकाशप्रदेशैः किमन्तमुणितम् । एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽनन्तानामुक्तं सुपर्यायाणां सद्भावात्पर्यायाङ्करं पर्यायपरिमाणान्करं निष्पद्यत इति । तदेवमागमे केवलसर्वाकाशप्रदेशपर्यायराशिप्रमाणमङ्करपर्यायमानमुक्तम् । अत्र तु धर्माधर्माकाशापुञ्जजीवास्तिकाकाशकालक-

णसर्वेऽप्यपर्यायराशिप्रमाणं तदुच्यत इति कथं न विरोधः ? इति । अत्रोत्तरमाह—
 शेषं चि न निर्विद्धा, इहारा धम्मत्थियाइपज्जाया ।
 के सपरपञ्चयाणं, इवंतु किं होतु वाऽऽनावां ? ॥

स्तोका आकाशपर्यायेभ्योऽनन्तप्रमाणवर्तिन इति कृत्वा नन्दि-
 सूत्रे धर्मास्ति कायादीनां पञ्चदश्यानां पर्याय न (निर्विद्धा नास्ति-
 हितः साक्षात् किन्तु य एवं तेन्योऽस्तिवद्यथाऽनन्तगुणास्त एव
 सर्वाकाशपर्यायाः साक्षात्तु काः । अथैतस्तु धर्मास्ति कायादिपर्या-
 या अपि नन्दि सूत्रे प्रोक्ता द्रष्टव्याः । इतरथा यद्येतादृशान्युपमाभ्य-
 ते नदां धर्मास्ति कायादिपर्याया अक्षरस्वरपरपर्यायाणां मध्य-
 र्के भवन्तु ? , कि स्वपर्याया भवन्तु परपर्याया वा ? , कि वाऽभावः
 अस्ति वाऽप्युक्तो भवतु ? इति त्रयी गतिः । विज्ञाने हि ये पर्या-
 यास्तेः सर्वैरुपकारादेष्वस्तुनः स्वपर्यायेर्वा प्रविष्टव्यं, परपर्या-
 यैर्वा, अन्यथाऽज्ञाप्यप्रसङ्गात् । तथा हि 'जे एणं जाणइ' इत्यादि-
 सूत्रप्रामाण्यार्थार्थोऽङ्करस्य परपर्यायेत्येवोक्ता दृष्टव्या इति ।
 अथाप्यम् प्रथयति—

किमणंतगुणा जणिया, जमगुरुद्वुपज्जाया पपसम्मि ।
 एकैकम्मि आणंता, पणसा चं पर्यामाणि ॥

ननु "सव्यागासपपसोर्हि अणंतगुणियं" इत्यत्र किमित्या-
 काशप्रदेशः सूत्रे अनन्तगुणा भगिताः । अत्रोत्तरमाह (जमि-
 त्यादि) यस्मात्कारणात् एकैकसिद्धाकाशप्रदेशः अगुरुद्वुपु-
 योया वीरारैस्वीधेकराणपरैरनन्ताः प्रज्ञासाः प्रकृतिताः । तत-
 आद्यमभिप्रायः—इह निश्चयमतेन वादरं वस्तु सर्वमपि गुरु लघु
 सूत्रं च । अगुरुलघु, तत्राऽगुरुलघुवस्तुसंबन्धिनः पर्याया अप्य-
 गुरुलघवः समसंभिधीयन्ते । आकाशप्रदेशाश्चागुरुलघवोऽस्त-
 र्त च, तत्पर्याया अगुरुलघवो भवयन्ते । तेषु प्रत्येकमनन्ताः
 मन्यतः सर्वाकाशप्रदेशां सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणसुकमिति
 भाव इति । न केवलमप्यङ्करं संज्ञाकारुच्यते किन्तु ज्ञानम-
 पि । तत्र शिष्यः प्रश्नयति— कियत्प्रमाणं तदङ्करमुच्यते, सर्-
 वाकाशप्रदेशेषुऽनन्तगुणं कथमेतावत्प्रमाणमुच्यते ? । इहै-
 कैक आकाशप्रदेशः स्वल्पनैरगुरुलघुपर्यायैः संयुक्तः । ते च
 सर्वैरुपगुरुलघुपर्याया ज्ञानं हायन्ते । न च येन स्वनायितैको
 ज्ञायते तनापरोऽपि, तयोरेकत्वप्रसङ्गात्, किन्त्वन्वयेन स्वजाये-
 न । ततो यावन्तो गुरुलघुपर्यायास्तावन्तो ज्ञानस्थानताः ।
 उक्तं च— 'जावइय पज्जाया ते, तावइया तेसु नाणभेया वि ।'
 इति भवति सर्वाकाशप्रदेशेषुऽनन्तगुणः । आह च—
 बुद्धराभ्ये— 'अक्षरमुच्यइ नाणं, पुण होऽआहि कि पमाणं
 तु । मणइ अणंतगुणियं, सव्यागासपपसोर्हि ॥' किं होइ अणं-
 तगुणं, सव्यागासपपसरासीतो । मणइ जं पळेळो, आगास-
 रस प्पंदेऽत्तं । संसुणोणं तेदि, अगुरुलघुपुञ्जवोहिं नियमेण ।
 तेण उ अणंतगुणियं, सव्यागासपपसोर्हि ॥' पुनरपि शिष्यः
 प्राह—कथमेतदवसीयत एकैक आकाशप्रदेशो' अणंतगुरुलघु-
 पर्यायैरुच्यते ? । उच्यते—इह द्विविधं वस्तु—कपिप्रव्यमरुपिद्वयं
 च । तत्र कपिद्वयं वस्तुद्वौ । तथा—गुरुलघु अगुरुलघु च ।
 एतद्व्युच्यते—व्यवहारात् । निश्चयतः पुनर्द्विविधमेव-गुरुलघु अगु-
 रलघु च । इ० ।

संप्रति यथा ज्ञानं सर्वाकाशप्रदेशेषुऽनन्तगुणं
 भवति तथा दर्शयति—

उवन्नष्ठी अगुरुलघुसंयोगसरादियो य पज्जाया ।
 एतेण हुंतएतां, सव्यागा सपपसोर्हि ॥
 वतुणोमप्यस्ति कायोनां पुज्जास्ति कायास्य च ये अगुरुलघवः
 पर्यायाः, उपलक्षणमेतत् वादरस्कंधानाम् । अगुरुलघुपर्यायाश्च
 याधन्तश्चाङ्करेषु स्वरूपतोऽभिलाषमेवतो वा संयोगा यैश्चोदा-
 सादिनिः स्वैरनिलप्यन्ते भावाः, आदिशब्दाद् ये चान्ये शुकुन-
 रुतादिगताः स्वविशेषा ये च जीवपुत्रगतभेदादिविशेषास्तं
 सर्वेऽपि गृह्यन्ते । एतेषां संयोगान्मुपसहितमिच्छति । न च येन
 स्वभावेनेकस्य तेनैवाप्यस्य, किन्तु भिन्नं । तदुत्तरे प्रकारं
 ज्ञानस्य स्वभावाः सर्वाकाशप्रदेशेषुऽनन्तगुणः । इ० पृ० ७० ।
 प्रकारांतरं प्रथयति—

तथाविसंसेयं ना—एभक्खरं इह सुखस्वरं परयं ।
 तं किइ केनलपज्जा—यमाएतुत्तुं इविज्जाहि ॥

(तथेति) "सव्यागासपपसमा सव्यागासपपसोर्हि अणंतगु-
 णिय पञ्चवक्खरं निपपज्जइ" इत्यत्र सूत्रे नन्वच्यते अविशो-
 पितं सामान्येनैव (नाशमक्षरं ति) ज्ञानमक्षरं प्रतिपादितम्,
 अविशेषाऽभिप्रेयं च केवलज्ञानस्य महत्वात्तदेव तत्राक्षरं ग-
 म्यते । इह तु श्रुतान्वयिचकाराधिकाराच्छुनाकारमकाराद्योदा-
 करशब्दवाच्यत्वेन प्रकृतं प्रस्तुतम् । ततः को दोष इत्याह—तथा-
 कारादिश्रुताक्षरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेत् कथंचिद्वि-
 त्यर्थः । अयमभिप्रायः—केनलस्य सर्वदृश्यपर्यायैरेतदुदाहरणं
 तु सर्वेऽप्यपर्यायमानतुल्यं, धुनस्य तु तदन्तन्तगुणपर्यायकथं
 नपर्यायमानतुल्यंतेति । अत्रोच्यते—ननु तत्रापि "अक्षरस-
 ष्ठीसम्मं सादयं खलु" इत्यादिप्रक्रमेऽप्यव्यसितश्रुते विचा-
 र्थमाणे "सव्यागासपपसग्गं" इत्यादिसुत्रं पठ्यते, अतो यथेह
 तथा तत्रापि श्रुताधिकारादङ्करमकाराद्ये गम्यते, न तु केवल-
 क्षरम् । अथ सूत्रे-तत्र द्वितीयमनन्तरं सूत्रं यत् पठ्यते "सव्य-
 जीवाणं अक्षरमेस अणंतगोणो निच्छुणादिधोमि" एतस्मा-
 र्केवलक्षरं तत्र गम्यते न तु श्रुताक्षरं सफळदृशाङ्गविदो सं-
 पुणस्यापि श्रुताक्षरस्य सज्जावासर्वेजीवानामङ्करस्याऽनन्तभागो
 नित्योद्घाट इत्यस्याधोऽन्यतुपपत्तेः । अहो ! असमीक्षितानभिधानं,
 यत् एवं सति केवलानां सपुणस्यापि केवलक्षरसज्जावात्स-
 र्वजीवानामङ्करस्याऽनन्तभागो नित्योद्घाट इत्यस्याऽप्यस्याऽप्युप-
 पत्तिरं । अथ मनुष्यं तत्रादिशेषं सर्वे जीवग्रहणे सत्यपि
 प्रकरणादिप्रशब्दात् केवलज्ञानो विद्यायाऽन्यथासंज्ञाङ्करस्याऽ-
 नन्तभागो नित्योद्घाट इति केवलक्षरग्रहणेऽविरोधः । इतः ।
 तदेतच्छ्रुताङ्करग्रहणात् समानम्, यत्तत्रादिशेषं सर्वे जीव-
 ग्रहणे सत्यपि प्रकरणादिप्रशब्दात् समस्तक्षरस्योद्घाटो विद्या-
 याऽन्यथासंज्ञाङ्कानामङ्करस्यानन्तभागो नित्योद्घाट इती-
 हापि शक्यते पक्ष वक्तुम् । तस्मात्तदेव च श्रुताङ्करमकाराद्येव
 गम्यते । यदि वाऽत्र श्रुताङ्करं, तत्र केवलक्षरमपि नवतु, न च
 श्रुताङ्करस्य केवलपर्यायतुल्यमानता विरुद्धते । कथमित्याह—
 सपपज्जवोहिं ते के-वज्जेण तुत्तं न होज न परोहिं ।

सपपरपज्जाएहिं, तुत्तं ते केवसेणेण ॥
 स्रकाः स्रकोथा अकारंकाराकारादयोऽनुगतः पर्यायाः श्रुतज्ञान-

स्य स्वपर्याया इत्यर्थः । तैरनुगतैः स्वपर्यायैः, तच्छब्दाकारं केवलंन केवलशक्तिं तुल्यं न भवेत्, सर्वपर्यायान्नजागर्तवित्वात् । तच्छब्दज्ञानं स्वपर्यायाणां, केवलज्ञानं तु सर्वद्रव्यपर्यायाणामि-
प्रमाणं, सर्वेष्वपि तेषु व्यापारात् । तथाहि—लोकसमस्तद्रव्याणां पितृभ्यः पर्यायाशिरन्तान्तान्तस्वरूपोऽव्यस्यकल्पनया किञ्च लक्ष्य, एतन्मध्याच्छूनज्ञानस्य स्वपर्यायाणां किञ्च शान्तं, तदनु-
लक्षे तु परपर्यायाः, केवलज्ञानत्वे तद्वृत्तमपि पर्यायाणामुपस-
च्यते, सर्वोपलब्धिव्यभावत्वात्तस्य । ते चोपलब्धिविशेषाः सर्वेऽपि केवलस्य पर्यायाः स्वभावाः, क्रोधापह्नवश्चिस्वजाभवात्
ज्ञानस्य । एवं च सति लक्ष्यपर्यायं केवलं, श्रुतस्य तु शान्तं स्व-
पर्यायाणां, अतस्त्वैतत्केवलमपर्यायाशितुल्यं न प्रबन्धितं
स्थितम् । तर्हि परपर्यायैस्तत्स्य तुल्यं भविष्यतीत्याह—न परै-
नोपि परपर्यायैस्तत् केवलं न भवेत् । तथाहि—घटादि-
व्यावृत्तिरूपाः परपर्यायास्तस्य विद्यन्तेऽनन्तानन्ताः, कल्पन-
या तु शान्तानलक्ष्मणान्तरथापि सर्वद्रव्यपर्यायाशितुल्या न
भवन्ति, सर्वपर्यायान्तभागेन कल्पनया शतरूपेण सद्भाव-
स्वचनतामकेन स्वपर्यायाशितान्मूलनकात् केवलस्य तु संपुण-
सर्वपर्यायाशितान्तरात्वात् । स्वपरपर्यायैस्तु तत्केवलपर्यायतु-
ल्यमेव । केवलवत्सर्वथापि सर्वद्रव्यपर्यायमाणात्वात् । आह-
यद्येवं केवलंन सदाऽस्य कां विशेषः उच्यते, अस्ति विशेषः यतः—

अविसेसकेवलं गुण, सयपज्जाएहि चैव तत्तुल्यं ।
जद्येषु पदं तं स—स्वभाववावरा वि(ए)जुत्तं ॥

अथय सर्वद्रव्यपर्यायाशितान्तरात्वे तुल्यं पितृ श्रुतकेवल-
पर्यारस्ति विशेष इत्येवं पुनः शब्दोऽत्र विशेषोऽतानाधः । कः
पुनरसौ विशेष इत्याह— अविशेषेण पर्यायसामान्येन युक्तं
केवलमविशेषकेवलं स्वपरविशेषराहित्येः सामान्यत एवाऽनन्त-
पर्यायैर्युक्तं केवलज्ञानमविशेषमित्यर्थः । तदर्थं न्यूनं केवलं
स्वपर्यायैरेव तत्तुल्यं, तेन प्रकामानुचरैरानसर्वद्रव्यपर्यायाशि-
ना तुल्यं तत्तुल्यं, श्रुतज्ञानं तु समुदितैरेव स्वपरपर्यायैस्तत्तुल्य-
मिति विशेष इति भावः । कथं पुनः केवलज्ञानस्य तावन्तः
स्वपर्याया इत्याह— (जणपयमित्यादि) यदस्मात्तत्केवलज्ञान
सर्वद्रव्यपर्यायसङ्गणं कथं प्रति सर्वेजानेषु निःशेषज्ञातव्यपदार्थेषु
योऽसौ परिच्छेदलक्ष्यो व्यापारस्तत्र विनियुक्तं प्रतिसमर्थं
प्रवृत्तमदित्यर्थः । इदमुक्तं प्रवर्तते । केवलज्ञानं सर्वानपि
सर्वद्रव्यपर्यायां जानाति । ते च तेन ज्ञायमाना ज्ञानवादिन-
यामतेन तदपुनया परिणताः, ततो ज्ञानमयत्वात् केवलस्य स्व-
पर्याया एव प्रवर्तते, अतः केवलज्ञानं तैरेव सर्वद्रव्यपर्यायाशि-
तुल्यं जानाति । श्रुतज्ञानानि तु सर्वद्रव्यपर्यायाशिरन्तान्तम-
मेव ज्ञानं जानन्त्यतस्तेषां स्वपर्याया एतावन्त एव भवन्त्यतो न
श्रुतज्ञानं स्वपर्यायैस्तत्तुल्यं, तदन्तन्तान्तान्तस्वपर्यायमान्यावा-
दिति श्रुतकेवलपर्यायैरेव । अत्र पक्षे केवलस्य परपर्यायविवेका
न कृता । ये हि केवलस्य निःशेष्येकगतान् विषयभूताः पर्यायास्ते
ज्ञानान्तरवादिनयामतेन जानन्तपरादर्थापस्यैव स्वपर्यायाः प्रोक्ता
न तु पर्यायानावाः प्रोक्ताः । वस्तुस्थित्या पुनरिदमपि स्वपरपर्या-
यान्वितमेव दर्शयति—

वस्तुसद्धार्वं पदं तं, पि मपपज्जापनेयत्रो जिह्वं ।

तं जेष जीवभाषो, भिष्ठा य तत्रो पडाईयं ॥

वस्तुस्वजावं प्रति यथावस्थितं वस्तुस्वरूपमभिधेयं तदपि

केवलं ज्ञानमकाराद्यङ्कारवत्स्वपरपर्यायभेदतो भिन्नमेव न तु
यथास्मिन्त्या स्वपर्यायान्वितमेवति भावः । कुत इत्याह— येन
कारणेन तत्केवलज्ञानं जीवभाषः प्रतिनियतो जीवपर्यायान् च-
टादिस्वरूपं तथापि घटाद्व्यस्तस्वजावाः किन्तु ततो जिह्वा
इति, तेन ज्ञायमाना अपि ते कथं तस्य स्वपर्याया जन्मेषु, सर्व-
संकरैकवादिप्रसङ्गात् । तस्माद्भूतान्तरान्तत्वं सर्वेवन्तुत्वाप्रति-
पातित्यनिराकरणत्वाद्यः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः । घटादिप-
र्यायास्तु व्यावृत्तिमाभिधेय परपर्यायाः । अन्ये तु व्याचक्षते—स-
र्वद्रव्यगतान्सर्वानपि पर्यायान् केवलज्ञानं जानाति, येन च स्व-
भाववैकं पर्यायं जानाति न तैरेवापरमपि, किन्तु स्वभावभेदेन, प्र-
त्यथा सर्वद्रव्यपर्यायैक्यप्रसङ्गात्, तस्मात्सर्वद्रव्यपर्यायाशिर-
तुल्याः स्वभावभेदलक्षणाः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः, सर्वद्रव्य-
पर्यायास्तु परपर्याया इत्येवं स्वपर्यायपरपर्यायाङ्गोपदेशेऽपि पर-
स्परं तुल्याः केवलस्यति । एवं च सति किं स्थितमित्याह—

अविसेसयं पि सुते, अस्वरपरज्जायमाणाहट्टं ।

सुयकलक्षस्वराणां, एवं दोगाहं पि न विरुक्तं ॥

एवं सत्यविशिष्टमपि नद्विषुषे यत्सर्वोकाद्यप्रदेशप्रसन्नत-
शुणितमक्षरपर्यायप्रमाणमादिष्टं ततः श्रुतस्य केवलस्य वा न
विरुक्तं, श्रुताक्षरस्य केवलस्य चोक्तव्यायनाथो ह्योरपरिचय-
समानपर्यायत्वान्, तथापि श्रुतस्य केवलस्य च स्वपरपर्यायास्ता-
वन्निर्वादि तुल्या एव । स्वपर्यायास्तु ' यद्यप्यन्ते तु व्याचक्षते'
इत्यादिनाऽऽप्येमानानन्तरमेव केवलस्य भूयांसः प्रोक्तास्तथापि
नेभ्यो व्यावृत्तवन्तः केवलस्य चोक्तव्यायनाथो ह्योरपरिचय-
ह्योरपरिचयसामान्यतः पर्यायसमानत्वमित्युभयोरपि प्रहणेन
सूत्रे न किमपि श्रुयत इति । नन्वेतत्स्वपर्यायपरिमाणमक्षरं
किं सर्वमपि ज्ञानावरणकर्मणाऽऽप्यविति न वेत्याह—

तस्स उ अणतंजागो, निच्युत्तयाद्यो य सवज्जोवाएणं ।

जणित्तो सुयम्मि केवडि, वज्जाणं तिवाहभेज्जाणं ।

तस्य च सामान्येनैव सर्वपर्यायपरिमाणङ्कारस्यानन्तभागे
नित्याद्याटितः सर्वेद्वानावृताः केवलविजानां सर्वजीवानां ज-
घन्यमध्यमोक्तप्रविशेन्द्रोऽपि श्रुते भणितः प्रतिपादित इति ।
तत्र सर्वेजघन्यस्याऽङ्कारान्तभागस्य स्वरूपमाह—

सो पुण सवज्जह्जो, चेयसं नाथरिज्जट्टकयाड ।

ह्जोसावरणमि वि, जलयच्छुक्कभासोव्व ॥

स पुनः सर्वेजघन्योऽङ्कारान्तभागं आसन्नो जीवत्वनिबन्धनं
चैतन्यमात्रं, तच्च तावन्मात्रमोक्तप्रवर्णस्य सति जीवस्य कदा
चिदपि नाभिव्यते न निरिच्छेद्यते, अजीवत्वप्रसङ्गात् । यथा—सु-
ष्टुपि जलच्छत्रप्रत्याकस्याऽऽदित्यस्य भासः प्रकाशो दिनान्तर-
विज्ञाननिबन्धनं किञ्चित्प्रमाणमेव कदापि नाऽऽभिव्यते, एवं जी-
वस्यापि चैतन्यमात्रं कदाचिच्छाऽऽभिव्यते इति भाव इति । केपां
पुनरसौ सर्वेजघन्योऽङ्कारान्तभागः प्राप्यत इत्याह—

धीण्डिससिहयणाए—वरणोदयत्रो स पत्थिव्यार्शणं ।

वेऽदियाइयाणं, परिवट्टए कमविमोहीए ॥

स्यानकिमिहानिदोदयसहितोक्तप्रकारावरणोदयार्थसौ सर्व-
जघन्योऽङ्कारान्तभागः पृथिव्याद्येकैकियाणां प्राप्यते, ततः
कामविशुद्ध्या श्रीग्लियादीनामसौ क्रमेण वर्यते इति । तद्युक्तो
मध्यमश्लेष केपां मन्तव्य इत्याह—

ह्जोसो उकोसय—सुयणाएविज्जो तत्रो वसेमाएणं ।

होइ विमज्जो मज्जे छट्ठाणयाए पाएण ॥ ४१ ॥

स एवाङ्कराऽनन्तजाग उरुच्छेदो भवत्युत्कृष्टभुतज्ञानविदुः संपूर्ण-
भुतज्ञानस्यैवयः । अत्राह—नन्वस्य कथमङ्कराऽनन्तभागो या-
वता भुतज्ञानाऽङ्करं संपूर्णमप्यस्य प्राप्यत एव ? । सत्यम् । किन्तु
संज्ञितसामान्यभुतकेवलज्ञाकराऽपेक्षीयस्याऽङ्करानन्तभागो वि-
षयिणः, “ केवलित्वञ्चापे तिविहमेभोवि ” इत्यनन्तरवचनात् ।
अन्यादि यथा केवलिनः संपूर्णकेवलाऽङ्करयुक्तेनाङ्कराऽनन्त-
भागस्त्रिधाऽपि न संभवतीति तद्वर्जनं कृतम् । एवं संपूर्णभु-
तज्ञानिनोऽपि समस्तभुताऽङ्करयुक्तेनाङ्कराऽनन्तभागस्त्रिधा-
घोऽपि न संभवतीति, तद्वर्जनमपि कृतं स्यात्, तस्मान्न संमिलि-
तसामान्याङ्करापेक्षीयस्याङ्करानन्तभागः प्राक्, सामान्ये वाऽ-
ङ्करं विषयज्ञितं केवलज्ञाकरापेक्षया भुतज्ञानाङ्करस्य संपूर्णस्याप्य-
नन्तभागवर्तित्वं युक्तमेव, केवलज्ञानस्यैवयः इत्यनन्त-
स्वपर्यायाभावनन्तभागवर्तित्वात् तस्य परोक्तविषयत्वेनास्पष्ट-
त्वाच्चेति । यच्च सन्निहितस्वपर्यायोऽपेक्षया भुतकेवलाङ्करयो-
स्तुद्वयत्वं तद्विह न विवक्षितमेवेति । अन्वे तु “ सो उण स-
वज्ञहोत्वे भवथ ” इत्यादिनाथार्यां स पुनरङ्करात् इति व्याख्य-
हते, इदं वाऽनेकद्रोयाऽन्वितव्याख्यिनमरुणजगत्प्रामाण्यपुञ्ज-
टीकायां वाऽदर्शनाद्सङ्कतमेव लङ्कामात् । तथा हि—“ तस्य
च अर्थान्तमार्गो निच्छुद्धानो ” इत्याद्यनन्तरगाथायामाङ्कराऽनन्त-
जाग एव प्रकृतः, अङ्करालान्तरव्यञ्जनरपरामार्गानां तच्छब्देन कृ-
तो द्वयः ? किमाकाशगतितः ? । किं च, यद्यङ्करालान् इतीह
व्याख्यायते तर्हि “ केवलित्वञ्चापे तिविहमेभोवि ” इत्यथ कि-
न्तु केवलिनो वर्जनं कृतं ? यथा हि भुताङ्करमाभिव्यक्तुष्टेऽङ्क-
रालाभिः संपूर्णभुतज्ञानवतां ज्ञप्यत तथा केवलाङ्करमङ्क-
रुष्टेऽसौ केवलिनोऽपि ज्ञप्यत एव, किं तच्चर्जनस्य फलम् ? । स-
माभरणपुञ्जेषु “धीर्वादि” इत्यादिगाथायामित्यं व्याख्यातस्य
स च किल अर्थयोऽनन्तजाग इत्यादि । अथ सामान्यमङ्करं नह
प्रकृतं गृह्यते किन्तु भुताङ्करमेवेति । तद्वक्तव्यं, चिरन्तनटीकाह-
येऽप्यन्तरस्य सामान्यस्यैव व्याख्यानात् । किं च-विशेषतोऽत्र
भुताङ्करे गृह्यमाणे तस्य भुताङ्करस्यानन्तभागः सर्वज्ञी-
यानां नित्याद्यञ्चाट इति व्याख्यानमापद्यते । एतच्चाऽयुक्तम्,
संपूर्णभुतज्ञानिनो ततोऽनन्तजागादिहीनभुतज्ञानवतां च भुताङ्क-
रानन्तभागवत्त्वात्पक्षः । किं च, “सो उण केवलित्वञ्चापे तिवि-
हमेभोवि ” इत्यन्तदसंबन्धमेव स्यात्, केवलिनः सर्वैष्व भुता-
ङ्कराऽनन्तजेने तद्वर्जनस्याऽऽन्यथ्यस्यङ्गाच्चेति, परमार्थे चेह
केवलिनो बहुभुताया विद्वन्तीत्यलं प्रसङ्गम् । धिप्रथममङ्करान-
न्तभागमाह—ततस्तस्मात्कृष्टभुतज्ञानविदोऽथशेषाणामेकेन्द्रि-
यसंपूर्णभुतज्ञानिनो मध्ये वर्तमानानां यद्विद्वान्पतितानामनन्त-
भागदिगतानां श्रेयसं विमथ्यो मध्यममङ्करानन्तभागो भवति,
एकस्मात्कृष्टभुतज्ञानिनोऽथशेषोः केचित् भुतमाभिव्य तुल्या
अपि मध्यम्यत उक्तप्रार्थेणशेषानां विमथ्यम् इति । अथार्थ-
विषयज्ञितोदकस्मात्कृष्टभुतज्ञानिनोऽविशेषाणामपि केषांचिदु-
त्कृष्टभुतज्ञानवतां तत्पुत्र एवाऽङ्करानन्तभागो भवति न तु
विमथ्यम् उरुच्छेद इत्यर्थः । इति सप्तचत्वारिंशद्धार्यः ।
इत्यन्तरभुतं समाप्तम् । विशेषः ॥

पचैयमकरारोई, अक्षरसंज्ञोय जचिया होए ।

एवइया मुयनापे, पयनीओ होंति नायव्वा ॥

एकमेकं प्रति प्रत्येकमङ्कराएयकारादीभ्यनेकमेद्वानि । यथा-

अकारः सानुनासिको निरनुनासिकश्च । पुनरैकैकस्त्रिधा-ह्रस्वो
दीघोः व्युत्पद्यते । पुनरैकैकस्त्रिधा-उदात्तोऽनुदात्तः स्वरद्वितश्च ।
इत्यथमकारोऽष्टादशभेदः । एवमिकारादिष्वपि यथासंभवं भेद-
जालमभिधानीयमिति । तथाऽङ्काराणां संयोगा अङ्करसंयोगा
ह्रस्वयो यावत्संकेतो, यथा-घटः पट इत्यादि, व्याजः स्त्रीत्यादि ।
एवमेतदन्ताः संयोगाः, तत्राप्यैकैकः स्वपरपर्यायापेक्षयाऽनन्त-
पर्यायः, अत एवावस्यः भुतज्ञाने प्रकृतयो भेदा ज्ञातव्या इति
निर्गुणिकागार्थः ।

अथ भाष्यम्—

संजुचासंजुचा—ए ताएमेकस्वरारोईसंजोगा ।

होति अर्णता तत्य वि, एकेको एतपज्जामाओ ।

एकमङ्करमादियैषां ह्रस्वादीनां तान्येकाङ्करादीनि । एवं संयोगा
एकमङ्करसंयोगाः, तन्नन्ता भवति । कथं च एकाङ्कारादि-
संयोगा इत्याह—तेषामकारककाराद्यङ्कराणाम् । कथंभूतानामि-
त्याह—संयुक्तासंयुक्तानाम् । तच्च संयुक्तैकाङ्करसंयोगो यथा-
अग्निः प्राप्त इत्यादिः । असंयुक्तैकाङ्करसंयोगो यथा-घटः पट
इत्यादिः । एते चाङ्करसंयोगा अनन्ताः । एकैकश्च संयोगः स्व-
परपर्यायैः पूर्वानिहितन्यायेनाऽनन्तपर्याय इति ॥

अथ परमतमाशङ्क्योत्तरमाह—

संखिज्जनस्वरजोगा, होंति अर्णता कणं जमजिधेयं ।

पंचन्यकायनोपर—मज्जोन्नित्तंस्वणुणत्तं ॥

संखेयानि च तावत्काराद्यङ्कराणि, तेषां योगाः संयोगाः कथ-
मनन्ता भवन्ति न घटन्त एवेति भावः । अत्रोत्तरमाह—यद्य-
स्मात्संखेयानामप्यङ्कराणामभिधेयमनन्तम् । कथं ज्ञतमित्याह-
अन्योऽप्यङ्कराणां परस्परविसंज्ञताम् । किं विषयमित्याह—पञ्चा-
स्तिकायगोचरं पञ्चास्तिकायगतस्फुटेशदशप्रमाणुका-
दिकम्, अभिधेयान्यायकाजिनाभ्यन्याप्यानन्यमवसेयमिति ।

एतद्वैच

अणुओ पपसनुद्धी—ए जिस्सस्वाइ धुवमएताइ ।

जं कममो दव्वाइ, हवंति भिन्नाजिद्धाणाइ ॥

इहास्माद्गुणः परमाणुतः प्रारण्य क्रमशः प्रदेशरुक्च पुरु-
लास्तिकायोऽपि भूवं सर्वद्वैषानन्तानि भिन्नरूपाणि द्वैषकस्य-
प्राप्यन्ते भिन्नाभिन्नानि चैतानि, यथा—परमाणुं त्रैषकस्य-
णुक्कभ्रुणुको यावदन्तप्रदेशिक इति, अतोऽप्येकं चानेकाभिधाना-
न्येतानि, तद्यथा—अणुः परमाणुंरंशो निरवयवो निःप्रदेश
अप्रदेश इति, तथा ऋणको द्विप्रदेशिको द्विदेशो द्व्यवयवः इ-
त्यादि सर्वद्वयसर्वपर्यायेष्ववयवज्ञतीयम् । यस्मात्कश्चैवमभिधेयम-
नन्तं विसदृशकं जिनान्नाभिधानं च तस्मात्कश्चैवमिह—

तेणाभिधानाणामां, अभिधेयांरंशो तपज्जवसमाणं ।

जं च सुयम्म वि भणियं, अर्णतामपज्जयं सुत्तं ॥

यतोऽभिधेयमनन्तं जिन्नरूपं जिन्नाभिधानं तेन कारणेना-
ङ्करसंयोगरूपाणामभिधानानां यत्संख्यारूपं मानं परिपूर्णं त-
दपि प्रवर्तते । कियदित्याह—अभिधेयजनेनाऽभिधानस्यापि जे-
दात् न हि यैवैव रूपेषु घटादिशब्दैः अकारादिषुः संयुक्तास्त-
नैव स्वरूपेण पदादिशब्दैऽपि, अभिधेयेकस्यप्रसङ्गात्, ककष्यात्वा-
भिधेयत्वात् घटतस्वरूपवर्धति, अतोऽभिधेयानन्याभिधाना-
नानन्यमिति यस्ततः सूत्रेऽप्यनिहितम् । “ अर्णतागमा अर्णता
पज्जवा ” इत्यतः स्थितमेतत् “ संजुचासंजुचाणं ” इत्यादीति
गायचनुष्टयार्थः । विशेषः ॥

उजयं भाक्खरओ, अणक्खरं होज्ज वंणएक्खरओ ।
मइणाणं सुणं पुण, उजयं पि अणक्खरं करउ ॥

इडाकरं तावद्विधिय-उत्थाकरं भावाकरं च । तत्र उज्या-
करं पुस्तकानिन्यस्ताकारादिकं, तावदादिकारणज्यः शब्दा
या । एतच्च व्यवस्थेऽर्थोऽनेति व्यञ्जनाक्रमण्युच्यते, भावाकरं
तः स्फुरदकारादिवर्णाभाकरपदम् । एयं च सति (प्राक्चक्षर-
ओ सि) प्रावाक्षरमाश्रित्य मतिहानं जयेत् । कथंभूतमित्याह-
(उभयं ति) उभयकर्मकरवदनकरं चेत्यर्थः । मतिहाननेदे-
हावप्रहे भावाकरं नास्तीति तदनक्रमुच्यते । ईहादियु तु तन्नेदे-
षु तदेतेषु तद्वस्तीति मतिहानमक्रवत्प्रतिपादितमिति भावः ।
(अनक्खरं होज्ज सि) व्यञ्जनाकारं विद्यते, तस्य उज्यभूतत्वेन-
रुदन्त्यात् इत्यमरित्वेनाप्रसिद्धत्वादिति (सुणं पुणां सि) सूयं
शुतहानं पुनरुभयमपि उज्यभूतं भावभूतं चेत्यर्थः । विश० ।
अकारादि लभ्यकराणांमयत्वंरसम्पदः कर्म० १ कर्म० । करणशू-
न्ये, त्रि० उज्वले, मोक्षे च । न० वाच० ।

अक्खरगुण-अक्खरगुण-पुं० ६ त० स० । अकारादीनामकारा-
णां गुणेऽनन्तागमपर्यायवचनमुच्चारणं च, अन्यथाऽप्यस्य प्रति-
पादयितुमशक्यत्वात् । सूत्र० १ श्रु० १ श्रु० १ उ० ।

अक्खरगुणमदसंघटना-अक्खरगुणमदसंघटना-स्त्री० अक्खरगु-
णेन मनेः (मतिहानस्य) संघटना, भावभूतस्य उज्यभूततन
प्रकाशनेऽक्खरगुणस्य मत्या संघटनायां बुद्ध्या रचनायां च । सूत्र०
१ श्रु० १ श्रु० १ उ० ।

अक्खरपुट्टिया-अक्खरपुट्टिका-स्त्री० ब्राह्मया शिपेनेवमे हेखवि-
धाने । प्रहा० १ पद ।

अक्खरलंन-अक्खरलान-पुं० पुरुषस्त्रीनपुंसकघटपटादिवर्ष-
विक्राने, “ अक्खरलंनं सखी-ण होज्ज पुरिसाश्वमविषाणं ।
कसं अस्खीणं, जणियं च सुवाप्पमंतिं सि पि ” विश० । सूत्र० ।

अक्खरविष्णु-अक्खरविष्णु-त्रि० पदैरकैरेषांल्लुहते, पं० च० ।
अक्खरसंबन्ध-अक्खरसंबन्ध-पुं० वर्णव्यतिकमति, स्थान० शजा० ३
उ० । (अस्य व्याख्या ‘भासा’ शब्दे)

अक्खरसिधियाय-अक्खरसिपात-पुं० अकराणां भक्षिपाताः
संयोगाः । राय० । अकारादि (वर्ण) संयोगेषु, “ अजिणाणं
जिणसंका-साणं सव्वक्खरसिधियावाणं ” स्थान० ३ टा० ४ उ० ।

अक्खरसम-अक्खरसम-न० (अकैरेः समो यत्र) गेयस्वरभेदे,
यत्र अक्षरे दीर्घे दीर्घस्वरः कियते, ह्रस्व ह्रस्वः, प्लुते प्लुतः,
सानुनासिके सानुनासिकस्वदक्खरसममिति, स्थान० ७ ग० ।

अक्खरममास-अक्खरममास-पुं० अकारादि लभ्यकराणां द्वा-
दिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

अक्खलाया-देशी-त्रिगोत्वर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्खल-देशी-पुं० (अक्खरोट) इति प्रसिद्धे, षुके, तत्फले
च, न० । प्रहा० १६ पद ।

अक्खलियं-देशी-प्रतिफक्षिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्खलिय-अक्खलित-त्रि० न० त० । अग्रच्युते, स्वकर्तव्ये,
अग्रमत्ते, वाच० । उपशमकारात्कुञ्जप्रज्ञागे, लाङ्गलमिव स्व-
सति यत्स्वस्वस्वितं, न तथाऽस्वस्वस्वितम् । सूत्रगुणनेदे, अत्रु० ।
ग० । आ० म० प्र० ।

अक्खलियचरित्त-अक्खलितचारित्र-पुं० अक्खलितमतिचार-
रहितं चारित्रं मूलगुणरूपं यस्यासीत् अक्खलितचारित्रः । नि-
रतिचारचारित्रे, ईदृशेन सार्कं केवल्यपि विद्वेत् । “ मीथये
जे सुल्लिभिमो, अणत्तस्सी द्दव्वय । अक्खलियचरित्तं य,
रागादोसविज्जय ” ग० १ अत्रि० ।

अक्खलियाइगुणलुत-अक्खलित्तादिगुणयुत्त-त्रि० अक्खलि-
तममिनमवयत्वात्प्रोक्तमित्यादिगुणयुक्ते, “ अक्खलित्तादिगुणयु-
त्तैः स्तोत्रैश्च महामाप्रथितैः ” शो० ए विव० ।

अक्खवाढग-अक्खपाटक-पुं० अक्खे व्यवहारे पाटयति दीप्यते ।
पटर्दासी-एवम् । व्यवहारनिर्णेतरे घर्माप्येत्, वाच० । चतुरक्षा-
कारे (आसने,) “ तसि ष बहुमज्जदेसजाए पत्तेयं २ वहरा-
मया अक्खवाढगा पक्खत्ता ” जी० ३ प्रति० ।

अक्खलुत्तपाला-अक्खलुत्तमाहा-स्त्री० षक्ता रुदाक्ताः फलवि-
होपास्त्यां सम्बन्धिनीं सूचयतिक्त्वा माहा भावशं या सा तथा
सैव गणयमानैर्निर्मोस्तयाऽतिव्यक्तत्वात् । रुदाक्तामालायाम,
“ अक्खलुत्तमाला विव गणिज्जमाणेहि ” अणु० ३ वर्ग ।

अक्खलसोय-अक्खलसोत्त-न० अक्खरः प्रवेशरन्त्रं, ज० ७ श० ६ उ० ।

अक्खलोयप्पमाण-अक्खलोत्तःप्रमाण-त्रि० अक्खलोत्तःअक्खरः-
प्रवेशरन्त्रं, तदेव प्रमाणमज्जोत्तःप्रमाणम् । ज० ७ श० ६ उ० ।
चक्रनाभिष्ठितप्रमाणं, शो० ।

अक्खलसोयप्पमाणमेत्त-अक्खलोत्तःप्रमाणमात्र-त्रि० अक्खलोत्तः
प्रमाणेन मात्र परिमाणमवगाहते यस्व स तथा । (चक्रनाभ-
ष्ठितप्रमिताऽवगाहं) “ तेण काशेण तेणं समपणं गंगासिधुअं
महाणसो रहपदित्थराओ अक्खलसोयप्पमाणमेत्तं जत्ते
थाज्जिदिं सि ” म० ७ श० ६ उ० ।

अक्खला-आख्या-स्त्री० आ-ख्यायनेऽनया । आ-ख्या-अह ।
वाच० । अत्रिधाने, “ काशे उ लदक्खत्, पं० अन्दाख्या इत्य-
जिधानम् । स काशः प्रतिपत्तव्यः । श्रु० ३ उ० ।

अक्खलाइय-आख्यातिक-न० पठति लुङ्गे इत्यादि (आख्यात-
निष्पत्ते) यजेदे, आ० म० छि० । विशेष० । धावतीत्याख्यानि-
कम्, क्रियाप्रधानत्वात् । अत्रु० साध्यक्रियापदे, ‘ यथाऽकरोत्
करोति करिष्यति ’ प्रश्न० संब० २ श्रु० ।

अक्खलाइयट्ठाण-आख्यायिकास्थान-न० कथानकस्थाने, आ-
वा० २ श्रु० ११ अ० ।

अक्खलाइयाणिस्सिय-आख्यायिकानिश्चिन-न० आख्यायिका
प्रतिबन्धेऽस्यज्ञापे, एष नयमो मृणज्जदः । स्थान० १० टा० ।

अक्खलाइया-आख्यायिका-स्त्री० आ-ख्या-तुल्य । कल्पितक-
थायाम्, संथा० यथा तरङ्गवतीमत्रयवतीप्रच्युतयाः, श्रु० १ उ० ।

अक्खलाउं-आख्यायि-अन्व० आख्यानं कर्तुमित्यर्थे, “ न य
दिट्ठं सुयं सव्वं जिक्खू अक्खामरिदिहइ ” वृश० ८ अ० ।

अक्खलाग-आख्याक-पुं० स्तंभविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥

अक्खलाग-आखाटक-पुं० प्रज्ञाकारिजातान्नयुते, स्थान० ४
ग० २ उ० । चतुरङ्गे शोकप्रतीत्ये, स्थान० ३ ग० ३ उ० । “ नि-
सि ष बहुसमरमणिज्जाने भूमिभागाणं बहुमज्जदेसमाए पत्तेयं
२ वहराम अक्खलाइय ” राय० ।

अकृत्वाण-आरुयान-न० । आ-रुया, चक्रिह वा, ल्युट् । आ-भिसुत्थेनादरेण वा स्थापनं प्रकथनमभिधानं वा । “ अ-रुक्लाणं खावणामिहाणं वा ” आभिसुत्थेनाऽऽदरेण वा प्रकथनेऽभिधाने च, विशे० । निवेदने, घ० १ अधि० । अभिधाने, पञ्च० २ विव० । आरुयानशानि धूर्ताऽऽरुयानकादी-नि । घृ० २ उ० । नि० चू० ॥

अकृत्वाय-आरुयान-नि० आ-रुया-क्तः । पूर्वतीर्थकरणग-आरादिनिः प्रतिपादिते, सुज० १ घृ० ३ अ० । आरु० । “ सं-तिमेयं दुवे ठाणा, अरुक्खाया मारणंति य ” ॥ उक्त० ९ अ० । समन्तात्कथिते, वक्त० २ अ० । “ सुयं मे आउसं तेणं भग-वया एवमकृत्वायं ” आ मर्याद्या जीवाऽजीवलङ्कणासंकी-र्णनाकृपयाऽजिधिधिना वा समस्तवस्तुविस्तारव्यापनलङ्कणे-न स्वातं कथितमाख्यातामात्यादिपस्तुजाभिमिति गम्यते । स्या० १ ठा० । लृ० । दू० भगिने, खंदा० । तिङ्कृत्य प्रत्यये, भाव एव साधयथा लिङ्गादिरामिधीवर्त न कर्ता “ पूर्वोपरिभूतं ना-वमाख्यातमाचष्टे ” इतिवचनात् । सम्म० ।

अकृत्वायपवञ्ज-आरुयानपत्रज्या-स्त्री० आरुयानेन धर्मद-शेनेन आरुयानस्य वा प्रव्रज्येत्यदिहितस्य मुक्तभार्या साऽरुयान-तप्रज्या । प्रव्रज्याभेदे, स्या० ३ ठा० २ उ० । “ अकृत्वा-याए जंबु धर्मे अरुक्खादिपवञ्जस् ” पं० भा० । “ अकृत्वाया-ए सुदंसणो सेट्टी सामिणा संबोधिओ ” पं० चू० ।

अकृत्वा-आरु-नि० अरुवने विपयान्, अ-रु-क्तिः । नेत्रे, वाच० । “ अकिरुहिये यान्माहिये य जिष्माहिये आरुहिये ” विपा० १ थु० २ अ० । “ ते अंजिअकिरुहिये ” नि० चू० १ उ० ।

अकृत्वातर-अरुयन्तर-न० ६ त० । नेत्ररन्त्रे, (विपा०) “ अकिरुहतरु दुवे ” (नाट्ये) विपा० १ अ० १ अ० ।

अकृत्वात-आरु-नि० आ-रु-क्तः । कृतोक्तेषु, यस्याक्तेषुः कृतस्त्वस्मिन् । वाच० । आरुह्ये, हा० १ थु० १ ६ अ० । उपलोभिते, हा० १ थु० २ अ० । आरुजिते, दहा० ३ अ० । उपन्यस्यते च, पंचा० १ २ विव० ।

अकृत्वा (कृत्) च-अरु-नेत्र-न० । न० त० । क्रेत्राभावे, “ मगण्णा खेत अकृत्वे ” एकक्रेत्रविषयानां मार्गणा कर्तव्या, कस्य क्रेत्रं भवति कस्य वा न भवति क्षेत्रमित्यर्थः । थ्य० ४ उ० । क्रेत्रभिन्ने बहिरर्थे, “ अकृत्वेणुवस्ये पुच्छमण्णे द्वावलिय-यासो ” अनेत्रे स्थितानामुपाश्रये उपभाषयविषया मार्गणा कर्तव्या । अनेत्रे उपाश्रयस्य मार्गणा कर्तव्येत्युक्तं तत्र तावदेक्रेत्रमाह- “ एहाणापुजाण अदा-णसीसए कुञ्जगणे चकके य । गामाहवाणेत-र-महे य उजाणमादीसु । इंदकील-अणोलादो जलथ राया । ओदि वपंच इमे । अमचचयुपाहिया सेट्टी, सेणावति सत्थवाहो ” थ्य० ४ उ० । जं दिसं वाधातो तं दिसं अकृत्तुत्वाणं जाय खेतं भवति परखो अकृत्वेत् ” नि० चू० १ उ० ।

अकृत्वाविषयस्य-आरु-नि० नि० ३ अ० । अरुह्यप-रिधानवञ्ज, “ अकिरुह्यविषयसणा मणिणइंदिखंरुवसणा ” प्रश्न० आश्र० ३ हा० ।

अकृत्वावराग-अरु-नि० अरुणां रागो रञ्जनम् । सौषोरादि-कऽञ्जने, “ आरुणिमकिरुवागं च, गिणुवघायकऽममं । उचोवणं

च कळं च, तं विज्जं परिवाणिया ” ॥ १५ ॥ लृ० १ थु० ९ अ० । अकृत्वावराग-आरु-नि० चिचयप्रत्यापादने, प्रश्न० आश्र० ३ अ० । अकृत्वाविज्जं-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० ।

अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० । अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० । अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० । अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० । अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० । अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० । अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० । अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० । अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० । अकृत्वाविक्रय-आरु-नि० अरु-नि० अरु-नि० । स्त्रीकृत्वि-त्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अनखसुह—अक्रुष्य—नि० । न० त० । अमर्हिते, नि० ७० १० उ० ।
 "अक्रुष्यसुह पहेसु पुदयी उदगीमि होइ पुहभो वि" ७०१ उ० ।
 अनखसुह—अक्रुष्य—पु० । न० । अक्रुष्यनमो, ४० १ अघि० ।
 ४० १० । अक्रुष्ये, कृपणो ह्यौचित्येन उच्यव्ययकरणशाकत्याश्च
 तत्साम्येनय शासनप्रभावनाय चाक्षमिति तद्विषयस्य प्रथमभा-
 कसुणवचनम् । पंचा० ७ वि० । अश्वरे, अश्वे हि परोपता-
 पितृत्याज्जनश्रेयेण कृत तदायत्नं तन्मत्सरेण जगद्विष्यं स्या-
 दिति (तद्विषयस्य प्रथमभायकगुणवचनम्) पंचा० २ वि० ।
 तेन निपादितं सर्वानखदायिताया इति जयति । दर्श० ।
 अस्य विस्तरं प्रतिपादनम्—

खुदां चि अगंनरीरो, उचाणमं न साहए धम्मं ।
 सरोवयासत्तो, असखुदां तेष इह जुगो ॥ ८ ॥
 यद्यपि भूद्रशब्दस्तुष्कृदरिउत्तसुप्रशुप्रतिष्वेषु वसते तधा-
 पीह कृद् इत्यगंनरीर उच्यते. तुच्छ इति कृत्या स पुनरुत्तानम-
 तिरनिपुणधियेण इति हेतोर्ने साधयति नाराधयति धर्मं, भीमवत्,
 तस्य सुहृदमतिसाधयत्वात् । उक्तं च— "सुहृदश्चा स विहेयो,
 धर्मो धर्माधिभिर्नरेः । अयथा धर्मसुहृदैव, तद्विधातः प्रसज्यते
 ॥ १ ॥ सुहृदोऽपि श्लानमैयधर्मं. प्रदानाभिर्महं यथा । तदप्राप्ती त-
 दन्तेऽप्य, शोकं समुपगच्छतः ॥ २ ॥ सुहृदोऽपिप्रमिहश्रेयो, श्ला-
 नां ज्ञातो न च वचिद । अहो ! मे धन्यता कष्टं, न सिद्धमभि-
 वाञ्छितम् ॥ ३ ॥ एवमेतत्समादानं, श्लानभावाजिसिन्धिमत् ।
 साधुर्ना तत्रतो यत्तद् दुष्टं ज्ञयं महासर्माजः" ॥४॥ इति, एतद्विप-
 रीतः पुनः स्वपरोपकारकरणे शक्तः समर्थो भवतीति शेषः ।
 असुहृदः सुहृदशी सुपयोऽज्ञानिकराते तेन कारणेनेह धर्मप्रणये
 योग्याधिकारी स्यात्, भीमवत् । तयोः कथा वैचर्म—
 नराणकालियं सुजह-चन्द्रं पि व कणकपुरमरिध ।
 तथासि धासयो वा-सउ इ विबुद्धपियो राया ॥१॥
 कमला य कमलसेणा, सुलयाणा नाम तिनि तरणीभा ।
 भूमिवाडुदिभाभा, दुस्मदपियविरहदुदिभाभा ॥ २ ॥
 अज्ञायसकवाभो, अन्तुषं पि तु तिह कयतीभा ।
 समदुडदुहिय चि त्रिया, पारथ गर्मात् दिवसाह ॥ ३ ॥
 तथेगा सुगुणेदि, अयामगो वामगो च रुचण ।
 सम्मं निययकशादि, रजह निवपनिद्रसयलपुरं ॥ ४ ॥
 कइया वि निवेणुत्तां, सो जह इह विरहदुहियतरणीभा ।
 जह रंजिदिही नूणं, तो तुह नजह ककुसरिसो ॥ ५ ॥
 धामिणं ति स भणियो, रक्षोऽणुभाह बहुवयसेतुभाः ।
 पत्तो ताणं जवणे, कइह विचिहं कइशाव ॥ ६ ॥
 मणेण वयंसेणं, वुत्तं किमियादि मिन ! वसाहि ।
 किं पि सुइसुइयचरियं, कइतु तभां कइह छयरो वि ॥ ७ ॥
 महिमहिलाजाश्रयध-निशयं व पुंइ इहथिय तिलयपुरं ।
 तम्य य परिचमगा-मणोणहो मणिरहो राया ॥ ८ ॥
 सुइसुइस्तीलाजियधिम-लमालहं मालहं चि मे दइया ।
 पुत्ता य लुयणप्रक्रम-णविक्रमो विक्रमो नाम ॥ ९ ॥
 नियमंदिशसंनिहिए, मिहमिम किम्म वि कया वि संजाए ।
 सो सुणह सवणसुइयं, केण एयं पडिज्जंनं ॥१०॥
 नियुक्ताप्रमाणं गुण-विपदिमा सुजगदुज्जणविसेसो ।
 नजह नेगथथिय-दिं नेण निउत्ता निर्यति मदि ॥ ११ ॥
 तं वुणिय सुणिय मवगणि-य परिचयो देमदं सलसत्तपहो ।
 कुमरो रथणीइ पुत्ता-उ निमात्रो अगवमाकरो ॥ १२ ॥
 सो वच्चतो संतो, अगो मग्गे निपइ कं पि नरं ।

निहदुरपहारविहुरो, पिवासियं मयियसे पडियं ॥ १३ ॥
 तो सरवाउ ससिभं, गदित्तु उण्युण्युपकाहनो ।
 तं पावसा पणण-पययामो कुणइ पणणतणुं ॥ १४ ॥
 पुच्चर य भो महायास !, कोसि तुमं किं इमा अवाथा ते ? ।
 सो जणह सुयणसिररय-ण ! सुणसु चि सुं जोई ॥१५॥
 विउजावियणं थिय-कलजोइया उलवदोइरिया अइयं ।
 एयमवथं नीभो, तप पुणे पुगुणिभो सगुणो ॥ १६ ॥
 तो सो तोसेणं गहन-मंतमण्यनु नरवरसुयस्स ।
 सचाणं संपत्तो, कुमरो पुण इथ नयरमि ॥ १७ ॥
 निसि मयणमिहं वुत्तो, चिदुइ जा सुदुं जमिगरो कुमरो ।
 ता तथेगा तरुणी, समागया पूइसे मयणं ॥ १८ ॥
 यदि नीहरितं जणइ, अम्मो वणदेवया सुणह सम्मं ।
 इह वासवनरवणो, सुदिवा कमसं जइं दुइहिया ॥ १९ ॥
 मणिरहसुयस्स विक्रम-कुमारस्तुजसगुणासुराएण ।
 दिव्वा पिउणा सो पुण, इयिह न जउइ कधिं पि गभो ॥ २० ॥
 अइ मइ इह नउ जाओ, सो भत्ता तो परथं वि हइउजाः ।
 इय पमाणिअ उच्चइव, वरुविदविणि जाय सा अण्यं ॥ २१ ॥
 मा कुणसु साहसं इय, जणियो लुरियाइ म्दिदिं पसं ।
 कमलं कमलसुकोमल-वयणोइं संउवइ कुमरो ॥ २२ ॥
 इत्तो तस्सुइकए, प्रउच्चइगरपरिवुदो तहिं पत्तो ।
 वासवमिवा वि कुमरं, वुंदिदुदो अणइ एयं ॥ २३ ॥
 तिलयपुरं अमंमिहं, गयहिं मणिरहसिमत्तमिलणयं ।
 तं याससे दिट्ठो, दक्खिअसुपुववर ! कुमर ! ॥ २४ ॥
 निष्णणरत्ता पत्ता, पउ कमला कउमंशियि व्वं दिणुवाहं ।
 तुह दाहिकणरमेलण-वसा सुहं लइउ मइ उहिया ॥ २५ ॥
 इय महुत्ताइमंमिहं, पथिभो वासवण नरवणा ।
 विक्रमकुमरो कमलं, परिणइ तिविक्रमु व्वं तओ ॥ २६ ॥
 गोसं तोसेणं पुं, पवेसिओ विउत्ता समउत्तो सं ।
 तीइ सम्मं कींसेतो, चिउइ निवदिउत्तासाए ॥ २७ ॥
 तो किं अगो कमला-इ जंपिय मणिय रायसेवाए ।
 समभो चि गभो सुजो, वीयदिणे कइइ पुण एयं ॥ २८ ॥
 कइया वि सुणिय रयसोइ, कलुणसइं हयंनरमणी ।
 तस्सइणुसारेण य, स गभो कुमरो मसाणमि ॥ २९ ॥
 दिट्ठो भाइजणविलं-विशालतोणजुया तीहं जुवई ।
 तीए पुरभो जोई, नह कुंमं जलिरजलणजुयं ३० ॥
 हांउं लयंतरे पउ-रपउरिसा जाव चिउप कुमरो ।
 विसमसरपसरविहुरो, तो जोई अणइ तं बालं ॥ ३१ ॥
 पत्तिय चिउय सियसयवत्त-पचनणणे ममं करिय दइयं ।
 च्चुलामणि अ तं हो-सु सयलरमणीयरमणी ॥ ३२ ॥
 सा रुयमाणीं पमणइ, किं अणपमणथयं कयथसिं ।
 जइसि हरीं मययो था, तदा वि तुमए न मे कज्जं ॥ ३३ ॥
 अइ रुत्तो सो जोई, वत्ता वि जा मिविदही करेण तयं ।
 ता पुकरियं तीए, हइ ! अणाइ हमा पुइयो ॥ ३४ ॥
 अं सिगिपुरपडुअयसे-णनिशुचिइया अहं कमलसेणा ।
 दिव्वा पिउणा मणिरह-नियसुयविक्रमकुमारस्स ॥ ३५ ॥
 सपइ विउजावसिभो, अइइ ! अचचं कइइ कोवि इमो ।
 इय निसुणिय पयत्तियको-वधियम्मो देवमं कुमरो तं ॥ ३६ ॥
 पुदिमो हवसु सयं, कंसु सुमदसु देवयं इट्ठं ।
 परमहिलमहिलसेतो, रे रे पाविट्ठ ! नटोसि ॥ ३७ ॥

तो अक्षमक्षिभो जोह, भणह परिर्थापसंगवारणभो ।
 निवहंतो इं मरुप, साडु तप रक्षिभो कुमर ! ॥ ३७ ॥
 उषयारभो सि द्वाहं, इषयराधिसि कारिणि विज्जं ।
 पुनणह जोगी मभे, गुरुविक्कमसाहसगुणहिं ॥ ३९ ॥
 ७८ पइ इमीह दिट्ठी, वसण्णेणं तं सि विक्कमकुमारो ।
 इयरो वि स्वाहइ भदो, तुहिं गियागारकुसलसं ॥ ४० ॥
 तो ओणि पत्थिभो तं, बासं परिथिनु तं विसज्जेवं ।
 सीय जुभो कुमारो, नियमवेषुज्जाणमणुपत्तो ॥ ४१ ॥
 ता कि जायं तस्समा-भो पि सुत्थिम्मि कमलसेणाप ।
 भोसग्गाप वेत्त सि, अंपिउं निग्गमो खुज्जो ॥ ४२ ॥
 अय तइयवासरम्मि, ध्यागंतुं कइइ तथ पुण यवं ।
 कुमरो जाडुग्जाणो, कीलइ सह कमलसेणाप ॥ ४३ ॥
 परकज्जसज्ज ! मह कज्ज-मज्ज कणुसु सि ताव तं कोइ ।
 आह कुमारो वि ब्रणह, करेमि जीवियकसं एमं ॥ ४४ ॥
 तयथु विमाणाकटो, कुमरो बयंत्तिकणयपुरयडुणो ।
 विजयनिवसस्स समीहं, नीभो खो तेण इय भण्णो ॥ ४५ ॥
 कुमर ! मह अरिथ सन्नु, अदिअपुरसाभिपूमकेठनिथो ।
 तं अक्रमिउं आरा-हियाइ कुसुवेवयाइ मय ॥ ४६ ॥
 तविजयकसमो तं, कुमर ! पमणिभो गिपहता इमा विज्जा ।
 आगासगामिणीमा-इयाउ तइ खेव सो कुणइ ॥ ४७ ॥
 अह साहिंयथहुविज्जं, इयगयथडुसुहइ नकादिंसयधिं ।
 कुमर इतं निसुणिय, संसुहो धूमकेठनिथो ॥ ४८ ॥
 अत्तुच्छलभिविच्छडु-मंदिंयं वेरिउं गभो रज्जं ।
 तं गहिंय मदिंयसत्तु, पत्तो कुमरो वि सछाणं ॥ ४९ ॥
 हरिसुकरिसपरंणं, रन्मा वि सुल्लोयणं निययधुयं ।
 परिणोविभो कुमारो, विट्ठइ तथेय कइ वि दिणे ॥ ५० ॥
 इट्ठु पुवपियाभो, कया वि कुमरो सुल्लोयणासहिभो ।
 इथेय पुणो नयरो, नियभवेषुज्जाणमोइहो ॥ ५१ ॥
 सो काथ गभो सि सुल्लो-यणइ पुछिमि धामणो हसिरो ।
 तां तुण्हे विव अग्गेह, अणिया इय वत्तु नीइरिभो ॥ ५२ ॥
 नियनियअरियसवणभो, नियनियतणुनिउणुंरुणभो ताहिं ।
 कयकवपरावत्तो, नियमत्ता तक्किभो खुज्जो ॥ ५३ ॥
 अह रायपहे खुज्जो, गच्छंतो सुणिय कम्मि वि गिइम्मि ।
 करुणसरं तो कं पि डु, पुच्छइ रोइउज्जप किमिइ ॥ ५४ ॥
 सो जणइ तिलयमंति-स्स पुत्थिया सत्सह सि मामेण ।
 भवथोवावरि कीलंतं, नक्का कसिणेण उररोय ॥ ५५ ॥
 वत्ता नरिंइविदा-रयइ तो सीह मायपियसयणा ।
 उम्मुक्ककेठमुक्कं-उवज्जिया इय रुयंति बहू ॥ ५६ ॥
 तं सोउ भणइ खुज्जो, गच्छामो भइ मंतिगइम्मि ।
 पिच्छमि तयं बासं, अइमवि उज्जेमि तइ कि पि ॥ ५७ ॥
 इह वुत्तु मंतिजवण-म्मि धामणो तयणु तेण सह पत्तो ।
 पवणइ पोडमंत-व्यभावभो ऊपि तं बाहं ॥ ५८ ॥
 नियविन्नाणं ब तुम्मं, सकवमार्थदंसुत्तु सि सविषेणु ।
 सो पत्थिभो कण्णेणं, नडुव्य अज्जो सहाअरयो ॥ ५९ ॥
 तस्स पहानं रुवं, इट्ठं अइसिंदिभो विल्लयमंती ।
 आ विट्ठइ ता पडिंयं, मागहविंदिण पयमिमिं ॥ ६० ॥
 मणिरहनिवकुसससहर !, हरहारकरेणुअवन्नजसव्यसर ! ।
 पत्थिरयतिहुयणविक्कम !, विक्कमवत्तु ! कुमर ! जय सुच्चिरं ॥ ६१ ॥
 तो मंती वरकुलक-वयिक्कमं विक्कमं निपत्तण ।

कुमरीह पाणिगहणं, कारावइ इहनुत्तुमो ॥ ६२ ॥
 तं सुणिय जाणितं निय-सुयाइ कमलाइ पिययमं हिट्ठो ।
 वासवराया कारइ, महुसवं सव्वनयवरम्मि ॥ ६३ ॥
 तसो मंतिगिहामो, नीभो नियमंदिरे विट्ठं ॥ ६४ ॥
 सो सव्वपियादि जुभो, सुहेण विच्छ सुउ वय त्थिं ॥ ६५ ॥
 कइया वि जणयत्तेहेण वेरिभो पुत्थिउं ससुररायं ।
 अरहि वि ज्ञाहिं सारं, कुमरो पत्तो तिअयनयरो ॥ ६६ ॥
 पणभो य जणणिजणप, इत्तो उज्जायापसणप निथो ।
 विअत्तो सिरिअकत्तं-कट्टरिआगमकइणेण ॥ ६६ ॥
 तो नासुरभूरुभो, स कुमारो मारसासणु व्य निथो ।
 अस्सिभो गुरुमणत्थं, रायपहे नियइ नरमेणं ॥ ६७ ॥
 अइसल्लवलंतकिमिअडु-अज्ञासमच्छिमिअपियाअच्छं ।
 निक्किउत्तुसुअट्टिर-सिरइरमइदीणइणसत्तं ॥ ६८ ॥
 तं इट्ठमणिअट्टिर-अंल्लम्मि व विअसासमसिणुत्तो ।
 पत्तो गुरुवपारो, नमिउं निसुणेइ धम्मकइं ॥ ६९ ॥
 जीवो अणाइतणुक-अम्मवंथजोगभो सया डुट्ठिमो ।
 भमइ मणाइवणस्सइ-अज्जकगभो णेतपरिउट्ठं ॥ ७० ॥
 तो वायरेसु तत्तो, तस्सत्तं कइ वि पावइ जीवो ।
 अडुक्कमो य तत्तो अइ, पावइ पंथिवियत्तं व ॥ ७१ ॥
 पुत्थिविडुणो य तत्तो, न अज्जाअत्ते अइइ मणुयत्तं ।
 लत्ते वि अज्जाअत्ते, न कुलं जाइ वलं रुवं ॥ ७२ ॥
 यं पि कइ वि पावइ, अण्णाक वा इविज वाहिंलो ।
 इदीअत्तभो निरोगो हविज्ज अइ पुअजोपण ॥ ७३ ॥
 पत्तो मीरागत्तो, वंसयानाणस्स वावएणभो य ।
 न य पावइ अिणधम्मं, विवेयपरिवज्जिअभो जीवो ॥ ७४ ॥
 लदुत्तु वि अिणधम्मं, इत्तणमोहणियअभोअइएणं ।
 संकाइकलुसियमणो, गुरुवयलं नेव सहइइ ॥ ७५ ॥
 अह निम्मलसंमत्तो, जहइयं सहइइ गुरुवपणं ।
 नाणावरणस्सुवए, संसिज्जं तं न कुज्जेइ ॥ ७६ ॥
 कइ संसियं पि कुज्जेइ, सयं पि सहइइ वोअइ अणं ।
 आरिअत्तमोहवोसेण, संज्जमं न य सयं कुणइ ॥ ७७ ॥
 अणि अरिअत्तमोहं, विमलत्तवं संज्जमं व ओ कुणइ ।
 सो पावइ मुत्थिसुइं इय मणियं अीअगरागं ॥ ७८ ॥
 सुल्लगपासगयत्ते, सुए तथेयं य सुमिणअक्के य ।
 अम्मत्तुणे परमाणु, दस विट्ठंता सुयपसिक्का ॥ ७९ ॥
 पयाहिं इमं सव्वं, मणुयपयां कमेण डुअज्जं ।
 लत्तुं करइ सहलं, काठण अिणिवद्वरधम्मं ॥ ८० ॥
 अह समए भणइ निभो, अयवं ! कि तुक्कयं कयं तेण ! ।
 उक्किउत्तुडुपयां, तो इह अंयेइ सुनिनाहो ॥ ८१ ॥
 मणिसुदरमंदिरे-दिरिअम्मि मणिमंदिरिम्मि नयरम्मि ।
 इतो सोमभ्रीमनामा, कुलपुत्ता निवचमविअरं ॥ ८२ ॥
 पडमो अुत्ताणमरं, अणुत्तुभो अइमो विणोणी य ।
 तविअरिभो कीभो, परपेसणजीविणो दो वि ॥ ८३ ॥
 अ-नदिणे दिनमणिअिणमआसुरं सुरगिरिं व उणुंगं ।
 काथ वि यत्तवं तेहिं, तेहिं जिगमंदिरे विट्ठं ॥ ८४ ॥
 इहममइ सोमो जणइ, भीम ! सुक्कयं कयं न कि पि पुरा ।
 अइइहिं तेण नूणं, परपेसणजिणं पत्तं ॥ ८५ ॥
 अं तुल्ले वि नरं, पगे पडुणो पयाइणो अग्गे ।
 तं सुक्कयडुकयफत्तं, अकारणं इवइ कि कज्जं ॥ ८६ ॥

तो पणमामो देवं, देमो ए जलजोसिं दुहसयाणं ।
 उणाणमई बाया-स्रमावओ भराइ अइ मीमो ॥ ८७ ॥
 न व अणिय नृपपंचगणवं-वअहिवां जिउ चिव्व जयम्मि ।
 इं सोम ! बोमकुसुमं, व तयणु देवावाणो किइणु ॥ ८८ ॥
 पासंकिनुइअरचंड-तंतवाचंवरंहि किं मुक्क ! ।
 देवो देवु पि सुहा-कअथसे अण्णमयमई ॥ ८९ ॥
 इय वरिओ वि तेणं, सोमो सोम उव सुक्कमइणुणो ।
 गंतुं जिणअवणे भुध-यं धंधवं नमइ समियतमो ॥ ९० ॥
 गटिउं रुवगकुसुम, पुणइ जिणं पराइ नसीय ।
 तपुणणवसा अउअइ, स बोहिवीयं नराउजुयं ॥ ९१ ॥
 मरिउं स एस सोमो, जाओ मणिणरहनरिइ ! तुह पुत्तो ।
 पत्तिपुक्खुणसारा, भारो इव विक्रमकुमारो ॥ ९२ ॥
 नीमो उख सुहमई, जिणाहंनिअणपरायणो मरिउं ॥ ९३ ॥
 जाओ एसो कुट्टो, पुओओ निमिंइ जमणवं च ॥ ९४ ॥
 अइ जायजाइसरणो, कुमारो हरिसुल्लसंतरोमंओ ।
 निमिंउं गुरुयकमलं, गिएइ गिदिअम्ममइरम्मं ॥ ९५ ॥
 मणिणरहनियो वि विक्रम-कुमरे संकमिअरउअण्णमारो ।
 गहिअवओ उपाणिय, केवलनाणो गओ सिंकि ॥ ९६ ॥
 जिणमंदिअणपत्तिमा-जिणरइअत्ताकरावसुउजुत्तो ।
 मुणियजसंवेणसत्तो, इअसंमत्तो विमलअत्ति ॥ ९७ ॥
 संपुअकओ पत्तिपु-अमंमओ दणियदुरियतमपसरो ।
 विक्रमराया राउ-अव कुवलयं कुणइ सुहकलियं ॥ ९८ ॥
 अणम्मि दिण्ये निवई, नियपुत्तामिहिअत्ताकवरउअजुथुरो ।
 अकलंकसूरिपासे, पवअजं संपयउअइ ॥ ९९ ॥
 अक्खुओ गंत्रो, सुअमई दणियदुरियतमपसरो ॥
 विहिणा मरिउं पत्तो, दिअम्मि अहिहिं कमेण सिवं ॥ १०० ॥
 भुवेति गंभीरुणस्य वैभवं,
 महात्तमुत्तानमतेभ वै भवं ।
 अकधानाः आक्रुजानाः समाहिता-
 अकुद्रतां धत्त सदा समाहिताः ॥ १०० ॥ ध० २० ।
 अक्रवुपुरि-अस्रपुरि-अं-नगरीभेदे, यत्र सूर्यस्य प्रभां प्रहतिः,
 सूरभीसस्य नाट्यां, तस्याः सूरप्रभाया दारिकाः सूर्यस्य अ-
 प्रभाहर्षित्वेन जाताः ॥ श्रा० ३ ध्रु० ।
 अक्रसेव-आसेप-पुं आक्षेपणमाक्षेपः, आशङ्कामा, आं० म०
 ङि० । पूर्वपक्षे, विशे० । आ-क्षेप, क्षिप मेरणे मर्यादोपदि-
 धर्ममाक्षिपति न सप्रयोगेति । किमाक्षिपति ? आह-क्षि-
 पित्वेन सत्रम् । यसंक्षेपकं, यद्वा विस्तारकं, संक्षेपकं सामा-
 यिकम्, विस्तारकं चतुर्देशपूर्वाणि । एवमेव नमस्कारः । नापि
 संक्षेपेणोपदिष्टः, नापि विस्तृतः । एतावती च परिकल्पना नृत्ती-
 वा नास्ति । “नमो सिंहाय ति (णिवृत्ता गहिया एमो साइयं ति
 संसारया गहिया एवं संखेयो विद्यरो, णमो अरहंताणं णमो
 सिंहाय एमो आयरियाणं एमो चोइअसुववीणं २ जाव एमो
 आयततराणं णमो आमोसहिपत्ताणं एवमादि एयंतेरे णं काय-
 व्वा जेण ए कीरति तेणं डुट्टु सि अक्खेवदरं” ॥ आ० सू० १, अ० ।
 “अक्खेवं सुत्तदासा पुच्चा वा” आक्षेपो नाम यत्सुत्तदाया उच्य-
 ते, पुच्चा वा कियते, इ० १ उ० । परउट्टयात्तेस्वरूपे एकान-
 विश्रित्तमे गौणवैयं, प्रअ० आश्र० ३ द्वा० । भस्तेने, अपवाद्,
 आकषेणे, धनादिभ्यासरूपे निक्षेपे, अर्थात्तङ्कारजेदे, निवेशने,
 उपस्थाने, अनुमाने, यथा जातिशक्तवादिनामाक्षेपात् व्यक्ते-
 र्बोधः । सतिरस्कारवचने च, वाच० ।

अक्रसेवणी-आक्षेपणी-अं-आक्षिप्यते मोहात्तत्त्वं प्रत्याकल्प-
 ते श्रुताऽनयेत्याक्षेपणी, कथामेदे, सा चतुर्विधा-“ अक्खेवली
 कथा चउत्विवा एषयात्, तं जहा-आयारक्खेवली बवहाक्खेव-
 णी पक्खिक्खेवणी विट्ठिवायक्खेवणी” इत्या० ७ ब० ।
 आयारे बवहारे, पक्खी चेव दिट्ठिआए य ।
 एसा चउत्विवा स्सु, कदाउ अक्रसेवणी हौइ ॥ १०० ॥
 आचारो लोचानानादिः, व्यवहारः कथंविधापक्षदोषव्यपेयोहा-
 य प्रायश्चित्तलक्षणः, प्रहातिश्च संशयापक्षस्य मधुरवचनैः
 प्रहापना, दृष्टिवाद्ब्रह्म श्रोत्रापेक्षया सूत्रमजीवादिजावकथनम् ।
 कस्ये त्वनिदधति-आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचारा-
 यभिधानादिति । एवाप्तन्वरोविता चतुर्विधा । अलुशब्दो विशे-
 षणार्थः श्रोत्रापेक्षयाऽऽचारादिदानाश्रित्यात्प्रकारं प्रति कथा
 त्याक्षेपणी भवति । तुरेधकारार्थः । कथैव प्रहापकनोच्यमाना
 नाप्येन । आक्षिप्यन्ते मोहात्तत्त्वं प्रत्यनया भव्यप्राणीत्याक्षे-
 षणी भवतीति गाथार्थः । इदानीमस्वा रसमाह—

विज्जा चरणं च तवो, य पुरिसकारो य समिइगुत्तीओ ।

उवइस्सइ स्सु जुहियं, कदाइ अक्रसेवणीं रसो ॥ १०१ ॥

विधा ज्ञानमत्यन्तोपकारि भावतमोभेदकं, चरणं चारित्रं स-
 मप्रविरतिकरूपम्, तपोऽनशानादि, पुरुषकारश्च कर्मशत्रुन् प्रति
 स्वर्ध्यात्कर्णलक्षणः, समितिगुणयोः पूर्वोक्ता एव । एतदुपदि-
 श्यते अलु श्रोत्रभावापेक्षया सामीप्येन कथ्यते । एवं यत्र क-
 च्चिदसाधुदेशः कथाया आक्षेपण्या रसो निष्पन्नः साए
 इति गाथार्थः । दश० नि० ३ अ० ध० । ग० श्री० । द्वा० (इयं
 कस्मै कथयितव्यंति ‘ धम्मकहा’ शब्दे)

अक्रसेवि (ण्)-आक्षेपिन्-प्रि० आक्षिपन्ति वशीकरणा-
 दिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः (वशीकरणादिना-
 परद्वयमुद्र०) प्रअ० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्रलोड-कृष्-धा० असेः कोशात्कर्षणे, “ असावकषोडः ”
 ङ । ४ । १८७ । इति सूत्रेण अक्षिपिष्यस्य कृषेरक्खोडादेशः । अ-
 क्खोडाइ । अक्षि कोशात्कर्षतीत्यर्थः । प्रा० ।

आक्षोड (ङ)-पुं आ-अस-ओट-ओड-शैलपिलवृत्ते,
 ‘ अक्षरोड’ इतिलोक प्रसिद्धः । वाच० । तत्फले, न० ।
 प्रहा० १७ पद ।

अक्रलोडभंग-आक्षोडजङ्ग-पुं ओटभङ्गशब्दार्थे, “ खोटभंगो
 सि वा उक्कोभंगो सि वा अक्खोडभंगो सि वा एगट्टु ”
 व्य० १ उ० । नि० सू० ।

अक्रलोड-आक्षोड-प्रि० न० ब० । लोभवर्जितं, “ अक्रलोभे सा-
 गरो व यिपिपे ” प्रअ० सत्र० ५ द्वा० । अचलितस्वरूपे,
 “ एतुस्सगो अक्रलोभो होइ जिणविधो ” पंचा० ४ विष० ।
 “ अक्रलोहस्स भगवओ संघसमुहस्स ” अत्रोभयस्य परी
 यदोपरसंगसंभवेऽपि निष्पकल्पस्य, न० । अत्रकवृत्तेर्धरि-
 रथां जाते पुत्रे, स च आरावर्था नगर्यामन्धकवृत्तेर्धरिण्यां
 देश्यामुत्पन्नोऽरिष्टेनेरेन्निके प्रकृतितः शत्रुञ्जये संलेखनां
 कृत्वा सिद्ध इत्यनङ्गइरास्तु स्थितम् । तदङ्कयत्ताप्रति-
 यदंऽन्तकृशानां प्रथमवर्गस्य सप्तमेऽव्ययने च ।
 अन्त० १ वग० । इत्या० ।

अक्रलोर्वंजण-आक्षोपाञ्जन-न० शकटपूर्वस्यै, “ अक्रलोर्वं-

जगत्प्राणसंवेक्षणभूयं ” अत्रोपास्यनमणानुलेपनभूतम् (आहारम्) अत्रोपास्यनं च शक्यभूषणं च, अणुलेपनं च क्षत-स्वयंप्रथेन विलेपनम्, अत्रोपास्यनमणानुलेपनं, ते इव विचि-तार्थसिद्धिरस्वादिनिरभिषङ्कनासाधर्म्याद्यः सोऽत्रोपास्यन-मणानुलेपनभूतमूलम्, क्रियाविशेषत्वं वा । अ० ७ श० १ उ० ।
 अखंड-अखण्ड-त्रि० । न० ४० । पौर्यामासीचन्द्रबिम्बवत् (आ० ७ श० ३०) संपूर्णवियव्ये, आ० म० द्वि० । तं० । आ० । स-र्वधर्मास्तिकायादिकं संपूर्णं देशदेशिककल्पनारहितमखण्डं बभूवुः । विशेषेण 'सुहृद्गुरुजो गो तव्यव-एसेवशा आभयमखंडा' आभयमखण्डा आजन्माऽऽसंसारं वा । ल० । पञ्चा० । "सं-घनगरवदं ते अखंडं चारिषयागारा " अखण्डमथिवाधितं चारित्र्येव प्रकारो यस्य तत्पथा । न० ।
 अखंडगाणारजन-अखण्डज्ञानराज्य-त्रि० अचूर्णितज्ञान-राज्ये, " चित्ते परिकल्पे यस्य, चारित्र्यमकुतोभयम् । अखण्ड-ज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् । अष्ट० १७ अष्ट० ।
 अखंडत-अखण्डदन्त-त्रि० अखण्डाः सकला दन्ता येषां ते अखण्डदन्ताः (जी० ३ प्रति०) परिपूर्णादेशनु, जं० २ वच० । श्री० ।

अखंडित्य-अखण्डित्य-त्रि० परिपूर्णे, पंचा० १८ विव० ।
 अखंडित्यसंज्ञा-अखण्डित्यज्ञान-त्रि० अखण्डित्यसंज्ञा, पंच० चू० ।
 अखण्डित्य-अखण्डित्य-त्रि० न विलयते न कणाश्च आदीयते, खिल-कं । न० तं० । वाच० । समस्तं, अष्ट० ८ अष्ट० । " अखिले अग्निके अणिय य चारं । " अखिलो ज्ञानदर्शनचारित्र्यैः संपूर्णः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । " अखिलगुणाधिकसंघो-गसारसदृश-यागपरः " । पंच० ६ विव० ।

अखण्डमंपया-अखण्डसंपद-खी० सर्वसंपत्तां, "आधीनां पर-मौपध-मन्याहतमखिलसंपदां बीजम् " वा० १४ विव० ।
 अखण्ड-अखण्ड-पुं० अख्याकुलतायाम्, " अखण्डो देवकार्योदा-वन्यमार्द्रप एव च " डा० २० डा० ।

अखण्ड-अखण्ड-त्रि० सांपद्वेव मांगे, नद्वत् क्रोधाद्युपश्रवसहिते पुरुषजाते च । स्था० ४ ग० २ च० ।

अखण्डरूप-अखण्डरूप-पुं० आकारेण सांपद्वेव मांगे, तच्चतु-र्यवलिङ्गवर्जिते, स्था० ४ ग० २ च० ।

अखण्डेयाण-अखण्डेया-त्रि० अनिपुणं, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । अकुशलं, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अग-अग-पुं० न गच्छतीत्यगः । सुक्ते, आ० म० द्वि० । नि० चू० । विशेषेण । पर्यन्ते, कल्प० गमनाकर्तारं शूद्रादौ, त्रि० न गच्छति यन्नगत्या पश्चिममित्याः । सुयं, तस्य दिं ह्यकृत्यभावाच्चः ज्यो-तिषप्रसिद्धः । वाच० ।

अग-असुर-पुं० "मौणाद्वयः" । ङ० १ । ७४ । इति सूत्रेण अ-सुराद्वयस्य 'अग' इति निपातः । द्वैत्ये, प्रा० ।

अगसमावयण-अगतिसमापन्न-पुं० अगतिं सरकादिं गच्छ-ति । नैरयिकादौ,

सुविद्या णेरया पणत्ता तं जहा-गच्छसमावयणं चैव अगसमावयणं चैव जाव वेमाणिया ।

गतिव्ययकं गतिसमावयका मरकं गच्छन्तः, इतरे तु तत्र ये ग-ताः अथवा गतिसमावयका नारकत्वं प्राप्ताः, इतरे तु कृष्णनारकाः,

अथवा सलस्थिरस्वापेक्षया ते ह्येवा इति । स्था० २ ग० २ उ० ।

अगतिम्-अग्रन्यम्-न० कदलीफलेषु, अण्णाकलीहृन्नेषु वा फलेषु, वृ० १ उ० । अग्रकल्पे, " सत्करघययगुहमीसा अज्ज-रअगतिमा वत्तंमि " अगतिमा नाम कथयथा अर्थे अर्थे मर-इतिवत् फलाण कथकल्पमाणाश्चो पि मीश्रो एकस्मिं रात्रे बह्विकिञ्च अर्थताणि फलाणि खंडाखंडाणि कथानि श्यन्ति । नि० चू० १६ उ० ।

अगतिगो-देशी-यौवनमले, वे० ना० १ वर्ग ।

अगद्वय-अकसद्वय-पुं० काङ्क्षयनाकारकेऽभिप्रहीवशेष-धारकं, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अगद्य-अग्रन्य-पुं० न विद्यते ग्रन्थः सबाह्यान्पन्थोऽप्ये-त्यग्रन्थः । निर्रन्धे, " पाव कम्मं अकुव्वमाणं एसं मइं अगंथे विद्यादिपं " आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

अगंध-अग्रन्य-त्रि० नम्रः कुन्सारंध्याद्-अतीव दुर्गन्धे, वृ० १ उ० ।

अगंधण-अग्रन्य-पुं० नागजातिनेत्रे, नागानां भेदद्वयम्-गन्ध-नोऽगन्धतः । तत्र अगन्धना नाया मन्त्रेकाद्याः " अवि मरणम-ज्जवस्संति ण य वंतमाविषंति " । " नेच्छति वंतयं ज्ञेपुं कुड्डं जाया अगंधेण " इश० २ अ० ।

अगच्छमान-अगच्छत्-त्रि० न गच्छत् न० तं० पैशाच्यां न णत्वम् । अचञ्जति, प्रा० ।

अगद-अकृत-पुं० अकृते, " सगामे मा वीसुं, वसेज्ज अगरे असुसे से " इय० ६ उ० । गच्छं, वृ० ३ उ० ।

अगदत-अवदत-पुं० अकृतं, विद्योः ।

अगदत्त-अगदत्त-पुं० शङ्करं सुन्दररूपस्य सुलसायां जातिऽगदत्तं पुत्रे, अथ तत्कथां लिख्यते-शङ्करं सुन्दररूपः । तस्य सुलसा प्रिया । तन्सुतोऽगदत्तः । स च सप्त व्यसनानि सेवते स्म । शोकानां शूद्रेष्वन्यथायं करोति स्म । शोकैस्तदु-पहम्मा राहो दत्ताः । राहो स निर्वातितो गतो वागणस्यो पवनचण्डोपाध्यायशूद्रे स्थितः । द्विसततिकलावान् जातः । शूरोधाने कलाभ्यासं कुर्वन् प्रत्यासन्नशूद्रगणान्कथथा प्रया-नंश्रित्युत्तया मदनमज्जय्यां तदपमोहितया च तथा प्रकृतिः पुणस्तवकः । सञ्जातामीतितस्तमप एष जातः । अन्त्याद तुरगा-रुदः स नगरमध्ये गच्छस्ति स्म । तावता ईशो लोके कोलाइहः हुतः, यथा- " किं चञ्चिद्वि ज्व सुमुदो, किं वा जित्तो ह्युत्तमो धारो । किं पत्ता रिउसेणा, तदिदं दो निवमिञ्चो किं वा ? ११॥ मं-नेण वि परिचच्छो, मारतो सुमिगोयंरं पत्तो । सवडं मुहं चडंतं कालु व्व अकारणे कुक्को " ॥ २ ॥ तावता तेन कुमारंण अर्थं मुक्त्वा स इस्ती गजमरुतधिषया दान्तः पञ्चासमारुह राजकु-लासन्नमायातो राहो दह आकारितो मानपूर्वम् । कुमारंण तं गजमानस्तम्भे बधुधवा राहोः प्रणामः हुनः । राहो चिन्तितम्-कश्चिन्महापुरुषोऽयम्, यतोऽप्यन्तर्निर्गतो ह्ययंते । यतः- " वा-ली भरेण तोयं-ण जलहरा फलजरेण तबसिहरा । विणारुण स सय्पुस्सिहा, नमंति नहु कस्सं भरण " ॥ ततो विनयंरिज्जेतेन राहो तस्य कुमादिकं पृष्टम्, कियान् कलाभ्यासः कृतः ? इत्यपि पृष्टम् । कुमारस्तु ह्युत्तमत्वं न किञ्चिदुत्तमो । उपाध्यायेन तस्य

कुलादिकं सर्वविद्यानिपुणं च कथितम् । कुमारचूत्तानं भुव्या
 अमरकृतो नृपतिः । अथ तस्मिन्नेवावसरे राक्षः पुरं अमरलोकः
 प्राभूतं मुकुन्दा एवमूचिवाच-हे देव ! त्वन्नारं कुर्वन्सदृशं किय-
 द्दिनानिवाद्यदासीत्, अत्यन्तं घोरं नृपतुल्यमस्ति । केनापि तस्कर-
 णनित्यं नृपते, सत्यस्यं रक्तं कुटुम्बं । राक्षो तन्नाराज्ञा आकारिता
 भृशं वचोनिस्तंजिताः तैरुक्तम-महाराज ! किं कियते, कोऽपि तस्कर-
 णस्तरस्करोऽस्ति, बहुपकरोऽपि न दृश्यते । ततः कुमारंणोक्तम्-
 राजन् ! अहं सप्तदिनमप्ये तस्करकर्मणं चेष्ये करोमि ततोऽग्निप्रवेशं
 करिष्यामि ति प्रतिज्ञा कृता । राक्षो नृपुत्रकोऽप्युक्तं कुमाराय दत्त-
 म् । कुमारस्तत उवाच यौरस्थानानि विचारयति स्म । "यंसाणं
 निर्विबाणु, पाणुगारेणु ज्युगामेणु । कुञ्जिरिवाणुणु अ, उज्जाना-
 निर्विबाणुसाणु । १ ॥ अठुनृपद्वललेणु य, बचुचरहउहसुप्र-
 साणु । एणुसु ठाणुसु जयं पाणं नकरा होह ॥" एवं चौर-
 स्थानानि पश्यतः कुमारस्य पददिनानि भवामि । पञ्चासत्सप्तदिने
 नमाराहृदिगत्याश्च स्थितः चिन्त्यति स्म-"गिञ्जल सीसं अह
 हो-उ बंधणं अयउ अस्वहा अस्व ॥ पडिञ्जलकुलपुणु पु-रिसाणं
 जं होह तं होह ॥ १ ॥ एवं चिन्त्यन्सीसा कुमार इतस्ततो
 दिगमग्नोकनं करोति स्म । तस्मिन्नेवावसरे एकः परिहितधातुवक्रो
 सुगिरितशिरःकूर्चैश्चन्द्रधारी चामरहस्तः किमपि बुद्धुव-
 इति शब्दं मुनेन कुर्यात्ः परित्रजकस्तथागतः । कुमारं दृष्ट-
 धिन्स्मितश्च-अयमवश्यं चौरः, यतोऽस्य लङ्गणानिदृशानि
 सन्ति- " करिसुपकात्रुयद्वयो, विसात्रवचरथयो पुरुस-
 चेतो । नवकुञ्जवणा रवहो, रत्तचो द्वाहजयो य ॥ १ ॥ एवं चि-
 न्त्यतः कुमारस्य तेन कथितम्-अहो अस्मिन् कस्यमाय-
 तः ? केन कारणेन पृथिव्यां भ्रमसि ? । कुमारं भणितम्-उज्ज-
 यन्तीताऽहस्यभायातः द्वाहृदयभक्तो भ्रमामि । परित्राजक उवाच-
 पुनः त्वं मा खेदं कुत, अथ तव द्वाहृदयं द्विगुणं, समीहितमप्य-
 द्वापमि । ततो द्वियत्सं याचता तत्र स्थितः । किं कुमारसहितश्री-
 रः कस्यचिद्विज्यस्य गृहे गतः । तत्र क्षात्रं दत्तवाद् । तत्र स्वयं
 प्रविष्टः । कुमारस्तु बहिः स्थितः । परित्राजकं उवाच नृपतः पति-
 कास्ततो बहिष्कल्पिताः । ताः क्षात्रमुञ्च कुमारसमीपं मुकुन्दा स्व-
 यमप्यत्र ऋचिन्त्वा द्वाहृदयजन्मः पुरुषा अनेके आनीताः । तेषां
 शिरसि ताः पेटिका दत्त्वा कुमारंण समं स्वयं बहिर्गतः । स ता-
 पः कुमारं प्रत्येवमुवाच-कुमार ! ऋणमात्रं बहिस्तिष्ठामः, निद्रा-
 सुखसुप्तनृपमः । परित्राजकंनेत्युक्तं सर्वप्रपुत्रुयास्तत्र सुप्तः, कप-
 टदिश्या परित्राजकोऽपि सुप्तः । कुमारोऽपि नो तादृशानां विषया-
 सः कार्ये इति कपटनिद्रयैव सुप्तः । तावता स परित्राजक उवाचय
 ताद् सर्वान्द कङ्ककपय्या मारयाताम् । यावत् कुमारसमीपं स मा-
 यति स्म तावत् कुमार उवाचय तं खड्गं न जङ्गुयाव्ये जघान । गिभे
 जङ्गुयाव्ये स तत्रैव पतितः कुमारं प्रत्येवमुवाच-वत्स ! अहं लुज-
 ङ्गनामा चौरः । ममैह इमंज्ञानं पातालगृहमस्ति । तत्र वीरपत्नीना-
 ङ्गी मम भगिन्यसि । अत्र वटपादपस्य मूले गत्या तस्याः समीपं
 शब्दं कृत्वा । यथा मा त्मिनिगृहक्षारमृदापाटयति त्वाञ्च स्वस्वामि-
 नं करोति । सद्भूतदानार्थं मत्खड्गं शूर्यण्ययुक्तं कुमारस्तत्खड्गं
 गृहीत्या तत्र गतः । स तु तत्रैव स्तः । कुमारंण सा शब्दिताऽऽ-
 गता द्वापमृदापाटयामास । कुमारंण भ्रातुः खड्गं दृशयित्वा स्व-
 रूपमुक्तम् । तस्या अन्तः खेदो जातः परं नमूले खेदं द्वापामा-
 स । मध्ये आकारितः खेदः । परित्राजकः उक्तः-कुमारंण वि-
 लेषनाद्यर्थं खन्नादिकंमहामनयामीति । ततो निर्गता । तत्रैव
 चिन्तितम्-मायः स्त्रीणां वधवासं न कार्यः । यतः-शास्त्रे इमे

दोषाः प्रायो निरूपिताः- " माया अज्ञियं सोमो, सुदृचं साहसं
 असेयसं । निसेभिया तद भिय, महिलान सहश्रिया होसा " ।
 एतस्यास्तु तथाविधचौरभगिन्या विश्वासो नैव कार्ये इति
 विचिन्त्य कुमारः शय्यां मुकुन्दाप्यत्र गृहकोणे स्थितः । सा
 बाहिरंत्वा यन्प्रप्रयोगेण हाय्योपरि तिष्ठति । तदा शय्या चू-
 णिता । ततः कुमारंण सा सद्यः साकोशं कैशेषु कृता राक्षः स-
 मीपमानिता प्रोक्तः सर्वोऽपि वृत्तान्तः । राक्षो तद्दृशित्वा
 समस्तं विश्वमानय्य लोकेभ्यां दत्तम् । कुमारंण सा जीवन्ती
 मोचिता । पञ्चानृपाग्रहात् कुमारंण नृपतस्तदा कमलसेनानाम्नी
 परिणीता । नृपेण कुमाराय सहस्रं प्रामा दत्ताः, शतं गजा
 दत्ताः, दश सहस्राण्यश्वा दत्ताः, सङ्घं पदायतो दत्ताः । ततः सु-
 खेन कुमारस्तत्र तिष्ठति स्म । अल्पदा कलाज्याससमये यया श्रे-
 ष्ठितुनया सह प्रतिजिताऽऽसीत्सा मद्भनमज्ज्यां कुमारसमीपं
 दृती प्रेषिता । तया उक्तम्-तव गुणानुरक्ता तवैवयं पत्नी जवितुं
 वाञ्छति । कुमारंणानुक्तम्-यदाऽहं शङ्खबधुं यास्यामि तदा
 त्वां गृहीत्वा यास्यामि तस्यै त्वया वक्तव्यम् । अथान्यदा
 तत्र पित्रा प्रेषिता नराः कुमाराराक्षणाय समेताः । कुमारस्तु तेषां
 वचनमाकार्यं पितृमिस्रया नृगामुकरिणतः इक्षुवर्षं पृष्ठा कम-
 लसेनया समं चञ्चितः । चलनसमये च मद्भनमज्जरी आकारिता ।
 साऽपि कुमारंण समं चञ्चिता । ताभ्यां प्रियाभ्यां सह सैन्यवृत्तः
 कुमारः पथि चलत् बहून् अग्रेण संमुखमापतेता दृशो ।
 तदा कुमारसैन्येन तैः समं युक्तं कृतम् । जन्मं कुमारसैन्यं भिक्षु-
 गित्तमिनस्ततो गतम् । निष्ठुपतिस्तु कुमारंण समयातः । कप-
 टवृत्तिना कुमारंण स्वपत्नी रथाप्रभामो निवेष्टिता । तस्या रूपेण
 माहङ्गुतो भिक्षुपतिः कुमारंण हतः पतितं च तस्मिन् सुऽपि
 जिह्वा नष्टाः । कुमारस्तु तैश्च एकं रथेन गच्छन्नम्र मद-
 तः सार्धस्य मिश्रितः । सार्धोऽपि समाध इव मार्गं चञ्चति स्म ।
 कियन्मार्गं गत्वा सार्धकैः कुमारंण विद्युत्कम-कुमारः । इतः प्र-
 ध्वरमार्गं भयं वर्तते, ततः प्रध्वरमार्गं पशुव्या अरण्ये मार्गेण गम्य-
 ते । कुमारंणोक्तम्-किं गम्यते ? । ते कथयति स्म-अस्मिन् प्रध्वर-
 मार्गे महत्यटवी संस्पृथति, तस्या मध्ये महानेकक्षीरं दुर्गोधन-
 नामा वर्तते, चिन्तियन्तु गजानरं कुर्वन् विषमं गजो यच्छते । नृ-
 तीयो दृष्टियिषसर्पो वर्तते । अतृशो दारणेण ध्याञ्चो वर्तते । एवं च-
 त्वाहं भयानि तत्र वर्तन्ते । कुमारः प्राह-पतेनां मध्ये नैकस्यापि
 भयं कुरुत । अज्ञत सत्वरं मार्गं । कुशलंनैव शङ्कतेय यास्यामः ।
 ततः सर्वप्रपु नस्मिन्नेवाप्यनि चञ्चिताः । अग्रे गच्छन्तं तेषां दुर्गो-
 धनक्षीरंश्चद्राभ्रमग मिलितः । साऽपि पाथोऽहं शङ्कतेयं सम-
 प्यामांति वदन् सार्धेन सार्धं चलति स्म । मार्गे वैकः सन्निवेशः
 समायातः । तदा चिद्विपिनना उक्तम्-मम उपलक्षितोऽयं सञ्जव-
 शो वसते । तेनात्र गत्वा मया द्वाप्यदि आनीयेत, यदि भयद्वयो
 रुचिः स्यात् । सार्धकैरुक्तम्-आनीयेताम् । ततस्तन तद्दृष्टमेव
 आनीतं द्वाप्यदि विपमिभक्तं कृत्वा सञ्जं पाथिताः । ततो स्तुताः
 सञ्जं सार्धकैः । अग्रदत्तेन जाय्याद्युतेन न पीतामिति न स्तुतः
 न । शिद्दाम्नी पुनः सञ्जवशामये गत्वा कियत्परिचारयुतो
 गृहीतशय्याः कुमारंणतथाऽऽप्यातः । कुमारंण खड्गं गृहीत्वा
 संमुखं गत्वा चौरसंप्रामकरणेन स हतः । परिचारस्तु नष्टः ।
 दुर्मो पतता तेन चौरैर्भयमुक्तम्-अहं दुर्गोधनक्षीरः प्रसि-
 दः, त्वयाऽहं हतो न जायिष्यामि, परं मम बहु उज्वं वर्तते,
 मम भगिनी वधश्री(वाग्नी) चैतदवशामयेऽस्ति, तत् त्वया गृही-
 तव्यं सा चपत्नी कार्यः । कुमारस्तत्र गतः । साऽऽगता गत्या-

ताः । दृष्टः कुमारः । ज्ञातस्तथा प्रातुवृत्तान्तः । तदा कुमारोऽपि युगामध्ये आकारितः । तत्र गच्छन्मदनमञ्जयो वारितस्ततो तत्रैव मुक्त्वा कुमारोऽपि चलिताः । कियमागौ यावद्गतेन कुमारोऽपि प्रचरन्नुत्सव्यादपमप्रमत्ततस्कोऽदिनिघृष्टगिरितटः सवेगं संमुख-
 माचक्रन्द यम इव रौद्ररूपो गजो दृष्टः । ततः कुमारो रथा-
 युचौर्यं गजाभिमुखं प्रवर्तितः । अस्त्रीययस्त्रयोदिकं कृत्वा गजाग्रे
 सुभीच । गजस्तव्यहारायै शुक्रादापकमनः क्लिपन् यावद्दृषत्
 तस्तावत् कुमारस्तद्वदन्त्येवा पादौ कृत्वा तस्य स्कन्धेऽधिकदृष्टः यज्ञ-
 कठिनाज्यां स्वमुद्दिष्ट्यां तत्कृमभक्षलद्वयं जघान । कुमारोऽपि प्रका-
 ममितस्ततो प्रामादित्वा स गजो बशीकृतः । पश्चात् स गजो
 गिरि रथान्तो कृत्वा मुक्त्वा । तत्रैव पुनः कुमारो रथे निविष्टोऽपि
 चलिताः । कियमागौ यावच्छ्रुतिं कुमारस्तावत् कुण्डलीकृतब्रा-
 ह्मणः स्वस्वेषु गिरिप्रतिपन्नाद् विस्तारयन् विद्युच्छब्दलोचनः
 सपौपमां रसनां स्वमुक्त्वा रथिष्कासयन् सिंहः सामायातः ।
 तेनापि सप्तं कुमारो युक्तं कृत्वात् । कुमारोऽपि कथं प्रहारीर्जैरितः
 सिंहस्तत्रैव पतितः । कुमारस्ततोऽपि चलिताः । सर्वोऽप्युपलब्धो
 मागौ विद्यथैव निवारितः । कुमालेन कुमारः स्त्रियसंयुतः शङ्क-
 पुरे प्राप्तः । प्रवेशमहात्सवः प्रकामं पितृभ्यां कृतः । संघेषां पीरा-
 णां परमानन्दः सप्रभ्राः । तत्र सुखेन कुमारस्तिष्ठति स्म । अन्यथा
 वसन्ते मदनमञ्जयो सह कुमार एकाकथैव कीर्त्तयन्ने गतः ।
 तत्र रात्रौ मदनमञ्जरी संपेण दृष्टा मुनेव सञ्जाता । कुमारस्तु
 तस्माद्दृष्ट्वा प्रविशान् गानमार्गेण गच्छन् विद्याधरेण धारितः ।
 विद्याधरेण सा जीवता । विद्याधरस्तु स्वस्वर्गं गतः । कुमार-
 स्तथा सप्तं राज्यासायै कस्मिंश्चिद्वयकुत्रे गतः । तत्र तां मुक्त्वा
 दद्यात्कलकणाय अग्निमानेत्तुं कुमारो बहिर्गतः । तस्मात् तत्र
 पश्य पुरुषाः पूर्वं कुमारहन्तुयांश्चैवर्षात्ततः कुमारवधाय
 पुत्र आगताः । इतस्ततो ब्रह्मताः कुमारस्य लभसमानस्समाग-
 ताः सति स्म । तैस्तु तत्र दीपको विहितः । मदनमञ्जयो तेषां मध्ये
 बहुभ्रातृ रूपं विशेषकितम् । कृपाक्षिततया तस्यैव प्रार्थना विदि-
 ता । त्वं मम भर्ता भव, अहं तव पत्नी भवामि । तेनोक्तम-
 तव जर्जरैर्जीवति सति कथमेवं प्रथति । सा प्राह-तमहं भार-
 विष्यामि । तदानीमग्निं गृहीत्वा कुमारस्तत्र प्राप्तः । आगच्छ-
 न्तं कुमारं दृष्ट्वा तया तत्रक्षो दीपो विष्यापिनः । तत्रायतेन
 कुमारं पृथक्-अत्राद्यातः कथमनुत् । तया उक्तम्-तव
 इदस्तस्यध्यामेरवोद्घोतः । सप्रसेन तेन तथैवाङ्गीकृतम् ।
 मदनमञ्जयौ इदं च खड्गं गृहीतम् । कुमारोऽग्निप्रज्वालनायै
 प्रीवामधश्चकार । तावता तदा कुमारवधाय खड्गः प्रिति-
 कांशाभिष्कासितः । तस्याश्चरितं दृष्ट्वा चौरलपुत्रातुर्बै-
 राव्यमुत्पन्नम् । पश्चाद्दस्या हस्तासेन खड्गोऽप्यत्र पा-
 तितः । पश्चापि श्वतरस्ततः कुमाराऽश्लक्षिताः शुनैः शुनैर्नि-
 र्गताः कस्मिंश्चिद्वने गताः । तत्र कैल्येकमुत्पुङ्गु दृष्टम् । तत्र
 सातिशयज्ञानौ सापुद्बृष्टः । तत्समीपे तैः पश्चरिपि वीरता
 गृहीता । तदायां पालयन्तः संघमे रतास्तत्रैव तिष्ठन्ति स्म ।
 कुमारेण नैतत्किमपि ज्ञातम् । अथ कुमारस्तत्र मदनमञ्जयौ
 रात्रिमेकमुपित्वा प्रभाते स्वपृष्टे समायातः कियदिनानन्तर-
 मशवापहत् एव एकागडत्सकुमारस्तस्मिन्नेव वने तत्रैव कैल्ये
 गतः । तत्र देवाभ्रमस्कृत्य सायवो बभूवताः । शुष्णा देशना
 कृता । कुमारेण पृथक्-अभवत् । क एते पश्चापि श्वतर इव
 साधवः । कथमेवायैराव्युत्पन्नम् । कथमेभिर्जीवन्मनेऽपि
 मत्तं गृहीतम् ? एवं कुमारेण पृष्टे गुरुः प्राह सर्वं तदीयं क-

स्तान्तर । कुमारस्तच्चरितं बुत्वा युवतीस्वरूपमेवं विचिन्त-
 यति स्म "अपुत्रजंति वनेषु, युवदभ्यो वनेषु युवो विज्जति ।
 अन्नुभ्रगानिरया, हलिहरायुह्यं च लपेमा" ॥ ४ ॥ इति वि-
 चिन्त्य कुमारोऽपि वैराव्यात्म्यमजितः । यथासौ अगडदत्तः
 प्रतिबुद्धजीवी पूर्वं द्रव्यासुप्तः पश्चाद्भ्राजामुतोऽपि इह लोके
 परलोके च सुखी जातः । उच्यते ४ अ० । इयं कुमाराभ्य-
 यन्त्य इहृष्टसाविपि द्रव्यते । प्रथमं विशेषः (जितशत्रुनामा
 राजा । तस्य सारथिमोघरथनामा । अमोघरथस्य स्त्री यशो-
 मतिः, पुत्रश्चागडदत्तः । तस्य पितरि सृते माता भृशं क्रोदत् ।
 तदाऽगडदत्तो मातरं नितान्तरोद्वेगहेतुं पमच्छ । तदा माता
 प्रत्युवाच—पुत्र ! अयममोघप्रहारी सारथिस्वदीयपितृपद-
 मनुभवति, यदि त्वं कलावित् स्वस्तदा कथमेवं भवेत् ? ।
 पुत्रोऽप्युक्त्वा—को मां कलामयापयिष्यतीति ? । माता प्रत्यावा-
 दीत्—कौशाम्बीनगर्यै दृष्टप्रहारीत्याख्यः कलाचार्यो विद्यते,
 तं त्वमुपदिष्टुल्येति । सा मातृवचनमभ्युपगम्य तत्र जग्राह ।
 कलामध्यगच्छ । ततो राजसभां प्रविशेत् ॥ तं दृष्ट्वा सर्वे प्रसेदुः ।
 राजा तु प्रसन्नताविरहित एव केवलमुचितावारं परिपाल-
 यन् तस्मै किमपि शतुमिषेय । स तु राजस्तदान्तरदानमव-
 गत्य नाहमीदं दानं जिघृक्षामि इत्यभिधाय तत्र जग्राह ।
 तदानीमेनेके नागरिकाः "चौरोऽस्मान् बाधते" इति राक्षः पुरो
 व्यजिज्ञप्तः । राजा तलारत्नम् [कौटपालम्] आग्रह्य न्य-
 गादीत्—मोस्तलारत्न ! भवता सप्तभिरहोरात्रैश्चौरो निमही-
 तव्यः । इत्याकर्यागडदत्तो राजानं प्रार्थयाञ्छेक-महाराज ! अहं
 सप्तभिरिदं नैस्तं चौरं निग्रहीतुं प्रभवामीति) अन्यत्सर्वं समा-
 नम् । उच्यते ॥

अगदददुर-अवददुर्-पुं-कूपमगृह्णे, शा० ८ अ० ।

अगदमह-अवदमह-पुं-कूपप्रतिष्ठोत्सवे, आचा० २ भु० १ अ० २ उ० ।

अगदिय-अग्रयित-त्रि० अप्रतिबद्धे, आहारे वाऽपृष्टे, "अ-
 क्षाप्य अगद्वीप अदुष्टे अदीपे अविमये" प्रश्न० १ संव० द्वा० ।
 मुक्तलैरेव घञ्चनैरभिधीयमाने, वृ० ३ उ० ।

अगणि-अग्नि-पुं-अहति ऊर्ध्वं गच्छति । अग्नि-नि, नलोपः ।
 वाच० । वन्ही, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । उच्यते । "क्षत्तारि
 अगणिश्चा समारभित्वा जेहि कूरकस्मान्नि तर्षति बालं" सूत्र०
 १ भृ० १ अ० १ उ० । "अंगारं अगणिं अग्निं, अलायं वा सजो-
 इयं । ए उजिञ्जा ए घट्टिञ्जा, नो एणं निवावप सुणी" । दृश०
 ८ अ० । प्रदीपनेके, व्य० १ उ० । (अग्नेः सर्वो विषयः 'ते-
 उकारय' शब्दे)

अगणिआहिय-अग्न्याहित-पुं-अग्निरहितो वै । "वाऽऽ-
 हितान्ग्याविबु" २।२।३७ इति वाऽऽहितशब्दस्य पूर्वनिपा-
 तः । अग्न्याहिता आहितानयः । कृतवन्धाधनेव, श्रीऋषभजि-
 नेशचिन्तायामग्निं स्थापितवन्तस्तेन कारयेनाहिताग्नेः इति
 तत्र एव च प्रसिद्धः । आ० अ० प्र० ।

अगणिकदयदृष्टान-अग्निक्काएककस्थान-न० अग्निप्रवेशस्थाने,
 "अगणिकदयदृष्टोऽनु अमथरंसि वा तहप्यगारंसि णो उ-
 च्चारं पासवणं व्वांसिरेज्जा" आचा० २ भु० १० अ० ।

अगणिकाय-अग्निकाय-पुं-तेजस्कायै, भ० ७ श० १० उ० ।

अनु०। (अस्य विषयः सर्व एव 'तेजःशक्तिश्च' शब्दे) नवरस-
अगणिकाए णं भंते । अहृणोऽज्जालिए समाये महाकम्मतर-
राए चेव महाकिरियतराए चेव महस्सवतराए चेव महाविष-
णतराए चेव नवइ, अह णं समए २ वोक्खिसिज्जमाणे वोच्छि-
ज्जमाणे चरिमकाइसमयसि इंगालत्रूपे मुमुमुत्रूपे ढारिय-
त्रूपे तत्रो पच्छा अप्पकम्मतराए चेव किरिया आसव अप्प-
वपणतराए चेव भवइ ? । हुंता, गोयमा । अगणिकाए णं
अहृणोऽज्जालिए समाये तं चेव ।

(अगणिकायदि अहृणोऽज्जालिए ष्टि) अणुनोऽज्जलितः सद्यः प्र-
दीतः (महाकम्मतराए ष्टि) विध्याप्यमानानलापेक्षया ऽतिशयेन
महास्ति ज्ञानावरणादीनि बन्धमाश्रित्य यस्यासौ महाकमतरः ।
एवमन्याप्यपि । नवरं, किरिया दाहव्या । आश्रयो नवकर्मोपादान-
हेतुः । वेदना पीडा । जाचना तत्कर्मज्या परस्परशरीरसम्बन्ध-
जन्तुः वा (बोक्खसिज्जमाणे ष्टि) व्यपकृत्यमाणेऽप्यर्षं गच्छ-
न् (अप्पकम्मतराए ष्टि) अङ्गाराद्यवस्थामाश्रित्याल्यशब्दः
स्तोकायैः । क्लारावस्थार्यां त्वज्जावार्थैः । म० ५ श० ६ ७० ।
काशोऽद्यिप्रभेन अणुयुज्ज्वाहकविश्लेषकयोः कतरो महाकर्मति-
विचारितम् । म० ७ श० १० उ० ।

अगणिजीव-अग्निजि-व-० अणयश्च ते जीवाश्च अग्निजी-
वाः तेजस्कारिकेषु, विशे० (अग्निजीवानां परिमाणमवधिः
'अग्नि' शब्दे उक्तम्) ।

अगणिजीवशरीर-अग्निजीवशरीर-न० तेजस्कायजीवबद्ध-
शरीरं, जीवात्तरशरीराणामग्निजीवशरीरत्वम् ।

अह भंतेः उदसो कुम्मासे सुराए णं किसरीराइ वत्तव्वं सि-
या ? । गोयमा । उदसो कुम्मासे सुराए जे यणे दव्वे एए णं पुव्व-
जावपणवणं पणुच्च वणणस्सज्जीवसरीरा तत्रो पच्छा स-
स्थातीया सत्थपरिणामिया अगणिकायामिया अगणिकुसि-
या अगणिसेविया अगणिपरिणामिया अगणिजीवसरीराइवा
वत्तव्वंसिया सुराए य जे दव्वे एए णं पुव्वजावपणवणं पणुच्च
आउज्जीवसरीरा तत्रो पच्छा सस्थातीया जाव अगणिसरीरा
इ वत्तव्वंसिया । अह णं भंते ! अये तंवे तएण सीसए उव्वे कस-
पट्टियाए एए णं किसरीराइ वत्तव्वंसिया ? । गोयमा ! अये तंवे तए
सीसए उव्वे कसपट्टियाए एए णं पुव्वभावपणवणं पणुच्च
पुदव्वं जीवसरीरा तत्रो पच्छा सस्थाइया जाव अगणिसरी-
राइ वत्तव्वंसिया । अह भंते ! अही अट्टिज्जामे चम्मे चम्म-
ज्जामे रोमे २ सिंगे २ खुरे २ नहे २ किए णं किसरीराइ
वत्तव्वंसिया ?, गोयमा ! अही चम्मे रोमे सिंगे खुरे नहे
एए णं तसपाणजीवसरीरा अट्टिज्जामे चम्मज्जामे रोम-
ज्जामे सिंगखुरणहज्जामे एए णं पुव्वभावपणवणं पणुच्च
तसपाणजीवसरीरा तत्रो पच्छा सस्थाइया जाव अगणि-
त्ति वत्तव्वंसिया । अह भंते ! इंगले ढारिए बुसे गो-
मए एए णं किं सरीराइ वत्तव्वंसिया ? । गोयमा ! इंगले
ढारिए बुसे गोमए एए णं पुव्वभावपणवणं एए एमि-

दियजीवसरीरए अगणपरिणामिया वि जाव पणिविय-
जीवसरीरए अगणपरिणामिया वि तजो पच्छा सस्थाइया
जाव अगणिजीव वत्तव्वंसिया ।

[अद्वैत्यादि पर्यणति] यत्तानि षष्टित्वहकारं (किसरीर-
त्ति) केवां शरीराणि किसरीराणि (सुराए य जे घणे ष्टि)
सुरायां द्वे द्वेषे स्थाताय-वनदव्वं वृषकव्वं च । तत्र यद् घनदव्व-
म्, (पुव्वभावपणवणं पणुच्च ष्टि) अतीतपर्यायप्रकृपणामङ्गी-
कृत्य वनस्पतिशरीराणि, पूर्वं हि ओदनादयो वनस्पतयः (तत्रो
पच्छ ष्टि) वनस्पतिजीवशरीरवा स्यन्त्यानन्तरमङ्गीवशरीराणि-
ति, वक्तव्यं स्यादिति सम्बन्धः । किंभूतानि सन्तीत्याह
(सस्थातीव ष्टि) शक्येणोदसमुद्राशयप्रकृपादिना, कारणचूतेन
अतीतानि अतिभ्रान्तानि पुव्वपर्यायमिति शास्त्रातीतानि (सत्थ-
परिणामिय ष्टि) शक्येण परिणामितानि कृताभिनववर्षाणि
शक्यपरिणामितानि । ततश्च (अगणिकायामिय ष्टि)
वन्दिना स्यामितानि ध्यामीकृतानि स्वकीयवर्णत्याजनात्, तथा
(अगणिकुसिय ष्टि) अग्निना जोपितानि पुव्वस्वभाववृक्षपाणात्
अग्निसेवितानि वा लुपी प्रीतिलेखनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयो-
गात् (अगणिपरिणामियाइ ष्टि) संजातानि परिणामानि, औत्थय-
योगादिनि । अथवा 'सस्थातीता' इत्यादौ शक्यमग्निर्वे, 'अग-
णिकायामिया' इत्यादि तु तद्भाष्येन भवेत्ति । (ववले ष्टि) इह
दन्धपापाणः (कसपट्टिय ष्टि) कपपट्टः (अट्टिज्जामे ति) अ-
स्तिध्यामं चानिना इयामां कृतमापादितपर्यायान्तरमि-
त्यर्थः । (इंगलेत्यादि) अङ्गारो निर्वलेनन्धनम् (छारिए ष्टि)
छारिकं भस्म (बुसे ष्टि) बुसम् (गोमय ष्टि) अणमम् ।
इह बुसगोमयो भूतपर्यायानुवृत्त्या दग्धावस्थौ प्राहानं, अथवा
अग्निध्यामितोदसमुद्रव्यामविशेषणानामनुपपरिः स्यादिति ।
एते पूर्वाभावप्रकृपणानां प्रतीत्य एकन्द्रियजीवैः शरीरतया प्रयो-
गेण स्वव्यापारेण परिणामिता ये ते तथा । एकन्द्रियशरीराणि-
त्यर्थः अपिः समुच्चये । यावत्करणाद् द्वीन्द्रियजीवशरीरप्रयोग-
परिणामिना अप्रित्यादि हृदयस्य । द्वीन्द्रियाद्विजीवशरीरपरिणत-
त्वं च यथा सम्भवमेव न तु सर्वपदेष्विति । तत्र पुव्वमङ्गारो
भस्म वैकन्द्रियादिशरीररूपं भवति, एकन्द्रियादिशरीराणा-
मिन्धनत्वात् । बुसे तु यवगोमपुट्टरित्वावस्थायामेकन्द्रियशरी-
रम् । गोमयस्तु तृणाद्यवस्थायामेकन्द्रियशरीरम् । द्वीन्द्रियादी-
नां तु गवादिनिर्भक्षणे द्वीन्द्रियादिशरीरमित्यर्थः । म० ५ श० २०० ।

अगणिकायामिय-अग्निध्यात-त्रि० ३ त० अग्निना दग्धे, (ज०)

अग्निध्यामित-वि० अग्निनेपहृदये, अग्निना स्वकीयवर्णत्वा-
जनाद् ध्यामीकृते, ज० ५ श० २ उ० ।

अगणिकुसिय-अग्निजोषित-त्रि० अग्निसेविते, लुपी प्री-
तिलेखनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयोगात् । ज० ५ श० २ उ० ।

अग्निजोषित-त्रि० पुव्वस्वभाववृक्षपाणात् । म० ५ श० ३ उ०)
अग्निना कृपिते, म० १५ श० १ उ० ।

अगणिकायामिय-अग्निनिर्दिष्ट-त्रि० अन्नाद्युपरि निर्दिष्टे,
"अगणिकायामिय-अग्निनिर्दिष्टे-अग्निनिर्दिष्टे-अग्निनिर्दिष्टे-
अग्निनिर्दिष्टे" आचा० १ श्रु० १ श्रु० ५ उ० ।

अगणिकायामिय-अग्निपरिणमित-त्रि० ३ त० औत्थययो-

गादृ सन्जाताभिवरिणामि, म० ५ श० ३ अ० । पूर्वस्वभाषत्या-
जनेनाऽऽमनाथं नीति, म० १५ श० १ उ० ।

अग्रगणितुह—अग्निमुख—पुं० अग्निमुखमिष यस्य । देवे, इतदुच्यं
हि देवेरेनिद्रुपमसह्यारोपीषादयेते “ दृष्यं बहति देवानाम् ”
इति श्रुतेस्तत्रैव तात्पर्यात् । “ अग्निमुखा वै देवाः ” इति च
श्रुतिः, इति वेदविदः । वाच० । श्रुतभेदेष्वभितायामिगमिकमिषा
यदनेः स्वधर्मनि प्रकृतियन्तः, तत एव निबन्धनाश्लोके “ अग्निमु-
खा वै देवाः ” इति प्रसिद्धम्, इति समयाविदः । आ० म०
प्र० । आ० सू० । अग्निमुखं प्रधानमुपास्यो यस्य । अग्निरो-
त्रिणि द्विजे, वाच० ।

अग्रत (दृ) अग्रद—पुं० नास्ति गदो रोमो यस्मात् ५ ब०, औ-
षधे, नि० सू० ११ उ० । परमौषधे, पं० ब० ३ द्वा० । नकुशापी-
षधे, नि० सू० १ उ० । ६ ब० रोमशान्ये, त्रि० । “ गद भाषणे ”
अच, न० त० अकथके, त्रि० । वाच० ।

अग्रस्थि—अग्रस्ति—पुं० अग्रं विन्यास्यहमस्यति । अस्—किञ्च ।
शुकन्वादिः । अग्रस्यनामके सुयो, “ अग्रस्यस्यापत्यानि, ब-
हुषु यथा लुक्, तद्गोत्रापत्येषु ब० ब० । तत्सम्बन्धित्यात्
दक्षिणस्यां दिशि, बृहत्संहितायामस्य गगनमण्डले दक्षिणस्यां
ताराकूपेण स्थितिरुक्ता । वक्रवृत्ते, वाच० । अष्टाशीतिमहाप्रहा-
णं पञ्चत्वारिंशो महाप्रहरे, “ द्वा अग्रशी ” स्थानं २ ता० ३
उ० । च० प्र० सू० प्र० । अ० कदम्ब० ।

अगम—अगम—पुं० न गच्छतीति । अग—अच् । न० त० । वृत्ते, अ-
गमन्ति, त्रि० । वाच० । आकाशे, न०, तन्मिदं गमनाक्रियारहितत्वेना-
गमम् । म० २० श० २ अ० ।

अगमिन्—अगमिक—न० ग गमिकमगमिकम् । प्रायो गाथाश्लो-
कवेष्टकादसदृशपाठात्मके भुवनेदे, । तत्रैवैतत्प्रथमः प्रायः [विशे०]
आचार्यादिकालिकप्रथम, असदृशपाठान्तरकाव्ये । तथाचाह-
“ अगमिन् काशियसुयं ” ने० । आ० म० प्र० । कर्म० । वृ० ।
अगमन्—अगम्य—त्रि० न गन्तुमहेति । गम—यच् । न० त० । ग-
मानेनहीसु स्तुवादिषु, चागन्ताद्व्याधिकार्यां च, “ फाल्गुणे
अगमन्, अन्वाह स्तुमिणे गमो अगमन्ति नि ” स्पृष्ट्वा कायेर्भात ग-
म्यने । अगम्यां स्तुवां च्यादाव्यादिकां वा श्रियमिति शेषः ।
म्य० १ उ० ।

अगम्यगमि (ष) अगम्यगामिन्—त्रि० अगम्याद्यभिगन्तरि,
प्रश्न० २ द्वा० प्र० द्वा० ।

अग्ररत्ना—अग्रर्षी—श्री० न ब०, सुविज्रकाङ्करतया अरहस्यायां
वाय्याम्, औ० । “ अग्ररत्नाय अमन्नाय सन्व्यक्करसंक्षिपा-
व्यापि ” (जिनवाय्या) तत्र, अग्रमेया व्यक्त्वर्णेषोचयेत्स्वरे ।
द्वया० २ अ० ।

अग्ररहिय—अग्रहृत्—त्रि० (आहारविषये) अहृतगर्हो, अह्रन०
१ सम्ब० द्वा० ।

अग्रर्षी—त्रि० अत्रित्ये, “ से अग्ररहिय अचैसे जे समाहिय ”
आच्चा० १ श्रु० उ अ० उ उ० ।

अग्रह—अग्रह—न० अग्रहचन्दनाख्ये गन्धिकरुच्ये “ कुटं त-
वर् अग्रहं संपिठं सम्मुद्रितरेण ” स्व० १ श्रु० ४ अ०
२ अ० । प्रश्न० । नि—सू० । उपा० । आच्चा० । “ संकतिगिस्तागु-
चंर्याह ” नि० सू० २ अ० ।

अग्रहर्षिधि—अग्रहान्धित—त्रि० अग्रहान्धो धूपनादिप्रकारेण
जातोऽप्येति अग्रहान्धितम् । अग्रहचन्दनेन धूपिते, तं० ।

अग्रहपुन—अग्रहपुन—पुं० ६ त० अग्रहनामकगणधरुच्यस्य पुनः,
“ अग्रहपुनया वा ह्यंगगुणान वा वस्तुगुणान वा ” । अ० १ श्रु० ३० ।

अग्रहस्तुय—अग्रहस्तुयुक्—न० न विधेते गुरुस्तुयुक् । अस्मिन्-
द्वगुरुस्तुयुक्, परिधानोयुस्तुतेक्यन्वात्तद्वगुरुस्तुयुक् । परतस्ते,
“ नित्यं प्रकृतिविद्युक्तं, शोकाशोकायशोकाशोमंगम् । स्तिमित-
तरङ्गोद्विषाम्-अन्धधमस्वरोभ्युक्तसु ” । वा० १५ विष्णो न मुक्त्वा-
धोमनस्वभावं न ह्युपकृत्यन्धेगमनस्वभावं यद्दृश्यं तद्गुरुस्तु-
युक्म् । अस्त्यस्तुयुक्त्वे भाषामनःकर्मकल्प्यादौ, रथा० १ ता० १३ ।

अयं किं गुरुस्तुयु किं वा अगुरुस्तुयु इति शब्दाभ्यां
तत्स्वरूपप्रतिपादनायर्थाह—

अगुरास्त्रियवेऽन्वय—आहारगतेयं गुरुस्तुयु द्वाया ।
कम्प्याणमणुभासादौ, पर्यादौ अग्रहस्तुयुयादौ ॥

इह शी नयी—व्यवहाररम्यो निश्चयनश्च । तत्र व्यवहारर-
म्यः प्राह—चतुर्दो दृष्यं, तद्यथा—किंचिद् गुरु, किंचिद्गुण,
किंचिद् गुरुस्थ, किंचिद्गुरुप्रश्न । तत्र यद्दृश्यं तित्यम् प्रकृतम-
पि पुनर्मिसर्गावधो निरपतित द्रव्यं तद् गुरु । तद्यथा—किंचिद्गुणः ।
यत्तु द्रव्यं निसर्गतं यत्वेध्वेगतिस्वभावं तद्गुण । यथा—दीपकलि-
कादि । यत्पुनर्नोर्ध्वेगतिस्वभावं नाप्यध्वेगतिस्वभावं किन्तु स्व-
भावेनैव तित्यम्गतिधर्मकं तद् गुरुस्तुयु, यथा—वायुः । यच्चध्वो-
धस्तिर्दम्यतिस्वभावानामेकतरस्वभावमपि न भवति सर्वत्र वा
गच्छति तद्गुरुस्तुयु । यथा—ध्योम परमावायुः । उक्तं च—
गुरुअल्लहृयं उभयं वि, नोभयमिति वायुहाररयनयसत् ।
द्रव्यं हेतुं दीवो, वाजु वोमं जहासंस्व ॥

निश्चयनयः पुनरेवमाह—न सर्वेगुर्वैकान्तेन किमपि वस्तुस्ति,
गुरोरपि हेतुद्विः प्रयोगार्थ्वादिगमनयश्चान्त् । नाप्येकान्तेन
सर्वेध्वयप्यास्त, अतिलयोरपि वाक्वादेः करतारनादिनाऽधो-
गमनादिदर्शनात् । तस्माद् द्विविधेभ्यो वस्तु । तद्यथा—गुरुस्तु-
यु, अगुरुस्तुयु च । तत्र यद् बादरं भूजघरादिकं तत्सर्वं गुरुस्तु-
यु, शेषं तु भाषाप्रधानपानमनावर्गणादिकं परमाणुवत्तुल्यकृत्यामा-
दिकं च सर्वमगुरुस्तुयु । उक्तं च—

निष्कृत्यतो सत्त्वगुरुं, सबलहं वस न बिज्जप द्रव्यं ।
बायरमिद् गुरुल्लहृयं, अगुरुल्लहृयं सेसयं द्रव्यं ॥

तत्रेयं गाथा निश्चयनयमेतेन । परमाणुवत्तुल्यं वैद्यम्—श्रीवा-
रिचैकियाहारकतेजसद्रुच्ययाश्चि अघराययाश्चि जेअसद्रुच्यन्त्या-
सन्नानि तद्वाभ्यासाश्चि बादरकृपायाद् गुरुस्तुयुनि गुरुल्लहृयसन्न-
वानि । कामेणमनोनाशादुच्ययाश्चि तु आदिशुद्ध्यापानपान-
व्यापि प्राणकृत्यावैवर्त्यानि भाषावैवर्त्यानि । अघराययाश्चि च
परमाणुवत्तुल्यकादीनि, श्यामादीनि चैतानि अगुरुस्तुयुस्वभावा-
नि । वक्ष्यमाणयाथाहृयसंक्षेपः । एवं पूर्वं किल केवकाहसं-
निधयोः केवस्योरद्वयाविलकासंक्षेपयादिकेभिर्भागकल्पनयत् पर-
स्परपेनिकम्ब च्छः । आ० म० प्र० ।

इदमेव व्यतीकृष्येर्वाह—
जा तेयगं सरिरी, गुरुल्लहृद्व्याणु कायगोमो य ।

मणसा अगुरुल्लहृयि अ—रुचिद्व्यायु सन्ने वि ॥

श्रीवार्तिकशरीरादारण्य तेजससरादीं यवद्य, यानि रुच्याणि
वक्ष्यते तेषामेव संक्षेपः । काययोगः शरीरस्वभावारः, यतस्सर्वं गुरु-
ल्लहृयमिति निर्देशः । यानि तु मनोनाशप्रयोगाव्युत्पन्नकृत्यामा-
दानपामकामेणप्रयोगाणि तदपान्तरात्प्रवर्त्तानि च रुच्याणि या-

नि च सर्वाण्यपि धर्माधर्माकाशाजीवास्तिकायज्ञकणान्यरूपे-
द्रव्याणि, तदेतत्सर्वमगुरुलहुयकम् ।
अट्टवा बापरबोर्दे-कसेवरा गुरुद्वद् जवे सन्वो ।
सुहृदायंतपदेशो, अगुरुद्वद् जाव परमाण् ॥

अथवेतिप्रकारान्तरघोतने । बादरा बोक्तिः शरीरं येषांते बादर-
बोन्द्यो बादरनामकमौदयवासिनो जीवा इत्यर्थः, तेषां सवन्धी-
यानि कसेवराणि यानि वाऽऽपरास्यत्वात् बादरपरजानि त-
त्सदधरादीनि शकचापगन्धर्वपुत्रपुत्रीनि वा वस्तुनि तानि
सर्वाण्यपि गुरुलहुयकमन्ते । यानि तु सूक्ष्मनामकमौदयवासि-
नां जन्तूनां शरीराणि यानि च सूक्ष्मपरिणामपरिणतानि ध-
नन्तप्रत्यक्षशिकादीनि परमाण्पुत्रात् बायत् कल्याणि तानि सर्वा-
ण्यमगुरुलहुयि ।

अथ व्यवहारनयमतमाह—

ववहारनयं पप्य उ, गुरुया लहुया य मीसमा चेव ।
लेट्टुपदीवगमास्य, एवं जीवाणु कम्मां ॥

व्यवहारनये प्राप्याङ्गीकृत्य त्रिविधानि कृत्याणि भवन्ति । त-
द्याया-गुरुकानि लहुकानि मिश्रकाणि च, गुरुलहुमिश्रणीत्य-
र्थः । तत्र यानि तिर्यग्भुजं वा प्रक्षिप्तार्थेषु स्वनावादेवाधो
निपतन्ते तानि गुरुकाणि, यथा-श्रेष्टपुत्रीनि । यानि तूद्धग-
तिस्वभावानि तानि लहुकानि, यथा-अर्धापकादीनि । यानि
तु नाधोगतित्स्वनावानि नवा ऊर्ध्वगतित्स्वभावानि किं तर्हि
तिर्यग्गतिधर्मकाणि तानि गुरुलघूनि, यथा-मारुतो वायुस-
प्रवृत्तीनि, एवं जीवानां कर्माणां यानि त्रिविधानि भवन्ति-गुरु-
णि लघूनि गुरुलघूनि वा । तत्र येरमी जीवा अधोगतिं नीयन्ते
तानि गुरुकाणि, येस्तु त पयोर्द्वेगतिं प्राप्यन्ते तानि लघुकानि,
यैः पुनर्मन्थन्योनिषु वा मध्येषु वा गर्गतिं कार्यन्ते तानि गुरु-
लघूकानि । तदेवं व्यवहारनयमात्रिप्रायेण समयतिः कर्मणां
गुरुलघुसुखपरिणामः । वृ० १ उ० ।

एतदेव सर्वमभिप्रेत्य सूहृदाहाह-

सत्तमे णं भंते ! उवासंतरे किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए
अगुरुयलहुए ? गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए नो गुरुयलहुए
अगुरुयलहुए । सत्तमे णं भंते ! तण्णुवाए य लहुए ? गोय-
मा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए । एवं नो अगुरुयल-
हुए । सत्तमे षण्णुवाए सत्तमे षण्णुवर्देहं । सत्तमा पुव्वं उवा-
संतराहं सन्वाहं जहा सत्तमे उवासंतरे जहा तण्णुवाए एवं गुरु-
यलहुए षण्णुवायण्णुवर्देहं पुव्वर्देहं वा य सागरावासा । ने-
रइयाणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुद्वद्दुया ? गोयमा ! नो
गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुद्वद्दुया वि । से केण-
ट्ठेण ? गोयमा ! वेज्जविपतेयाहं पट्टुच नो गुरुया नो लहुया
गुरुयलहुया नो अगुरुयलहुया । जीवं च कम्मं च पट्टुच नो
गुरुया नो लहुया नो गुरुयलहुया अगुरुयलहुया, से तणेह-
णं एवं जाव वेमाणिया, नवरं णाण्णं च जाणियन्वं सररीहिं
धम्मत्थिकाए जाव जीवत्थिकाए चउत्थपपणं । पोमगल-
त्थिकाए णं भंते ! किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए अगुरुय-
लहुए ? गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए वि अ-
गुरुयलहुए वि । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! गुरुयलहुयद-

व्वाहं पट्टुच णो गुरुए णो लहुए गुरुयलहुए नो अगुरुयलहु-
ए, अगुरुयलहुयद्वद्वाहं पट्टुच नो गुरुए नो लहुए नो गुरुय-
लहुए अगुरुयलहुए, सयमा कमाणिया चउत्थपपणं । क-
यहसंस्थाणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुयलहुया ? गोयमा !
नो गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुयलहुया वि । से
केणट्ठेणं ? गोयमा ! दब्बसेस्सं पट्टुच तइयपपणं भावसेस्सं
पट्टुच चउत्थपपणं, एवं जाव सुक्खेस्सा । दिट्ठीदंसणना-
ण्णुवाणसम्माओ चउत्थपपणं पेयव्वाहं हेडिड्ढा चत्तारि
सररीरा नायव्वा, तइयं कम्मयं चउत्थपपणं पपणं मएज्जोणं
वइजोणे चउत्थपपणं पदेयं कायजोणे तइयपपणं पपणं सगा-
रोवओगो अण्णामारोवओगो चउत्थपपणं सव्वदव्वाओ
सव्वपदेसा सव्वपज्जावा जहा पोमगलत्थिकाओ । अत्तीतइहा
अजागयइहा सव्वक्का चउत्थपपणं पपणं ।

(सत्तमणमित्यादि) इह चेषं गुरुलघुसुखवस्था—
निच्छयघ्नो सव्वगुरु, सव्वलहुं वा न विउत्तप दव्वं ।
ववहारओ उ ऊत्तह, बायरसंघेसु णाणेसु ॥ १ ॥
अगुरुलहुं चउ फासा, अरुविदव्वा य होति नायव्वा ।
सेसा उ अउ फासा, गुरुलहुया निच्छयसुखस्स ॥ २ ॥
(अउ फास ति) स्वमपरिणामानि (अउ फासस्स) बादराणि
गुरुलघुसुखं रूपि अगुरुलघुसुखं त्वरूपि रूपि वेति । व्यवहा-
रतस्तु गुरुबोर्देनि चत्वार्यपि सन्ति । तत्र निदर्शनीना-गुरुबोर्दे-
शोभगमनाद, लघुसुखं ऊर्ध्वगमनात्, गुरुलघुसुखं मुक्तिर्योगमनात्,
अगुरुलघुसुखं तत्स्वभावत्वादिति । एतानि चायकाशान्तरा-
दिसूत्रासंघेदात्तसूत्रासंघात्तसूत्रासंघात्तसूत्रासंघात् । एतथा—
“ववासयाय-
घनतर्हाह-पुट्टुवीदीवा य सागरावासा । नेरइयाह अण्णयय, स-
मयाकम्माहं सेसाओ ॥ १ ॥ दिट्ठी दंसणत्थण, सन्नसरीरा य
जोगत्तवओणे । दव्वपपसा पट्टव, तीया अण्णामिसंबदस्स ति” ॥२॥
(वेउड्वियतेयाहं पट्टुच स्सि) नारका वैकियतैजसवरीरे
प्रतीत्य गुरुलघुसुका एव । यनो वैकियतैजसवर्णणाम्मेके त, ए-
तासक गुरुलघुसुका एव । यदाह—“ओरा(सिधेषुवेउड्विय-आहार-
गतेय गुरुलहुं दव्वस्सि”) । (जीवं च पट्टुच स्सि) जीवा-
पेक्षया काम्मणशरीरापेक्षया च नारका अगुरुलघुसुका एव,
जीवस्याकपितेन गुरुलघुसुकात् । काम्मणशरीरस्य च काम्म-
णत्थकत्वात्कार्मणजन्तुणात् वागुरुलघुसुकात् । आह च—
“कम्मणजन्तासाहं, एयाहं अगुरुलहुयाहं ति” (नासत्तं जाणि-
यव्वं सररीरेहिं ति) यस्व यानि शरीराणि भवन्ति तस्य तानि
हात्वा अगुरादिसूत्रासंघेयानीति इदयमि । तत्रागुरादिहेवा
नारकवद्वाच्याः । पूषिध्यादयस्तु औदारिकतैजसं प्रतीत्य गुरु-
लघुसुखः, जीवं कम्मं च प्रतीत्यागुरुलघुसुखः । बायवस्तु औदा-
रिकवैकियतैजसानि प्रतीत्य गुरुलघुसुखः । एवं पण्णुवियतिथे-
ओऽपि मनुष्यास्वौदारिकवैकियतैजसाहारकाणि प्रतीत्येति
(धम्मत्थिकाए स्सि) इह यावत्करणात्, “अहम्मत्थिकाए अण्ण-
सत्थिकाए” इति इहयम (अउत्थपपणं ति) एते अगुरुलघु
इत्यनेन एतेन वाच्याः शेषाणां तु निषेधाः कार्यः, धर्मास्तिकाया-
दीनामकपितया अगुरुलघुत्वादिति । पुत्रास्तिकायसुखे उत्तरं नि-
च्छयनयाश्रितम्, एतान्तगुरुलघुसुखोत्तरमनेनाज्जावात्, गुरुलघुसुख
दव्वाहं ति) औदारिकादीनि ४ (अगुरुलघुसुखदव्वाहं ति) कामे-

णादीनि (समया कस्माणि य चतुर्थपपणं ति) समया अमृ-
तोः कर्मणि च कामेणवर्णोत्सकामीयगुरुलघुत्वमेवाम् ।
(इवलेसं पदुञ्ज तद्वचपपणं ति) इत्यतः कृष्णलक्ष्या भीदारि-
कादिशरीरवर्णः, औदारिकादिकञ्ज गुरुलक्षिति कृत्वा गुरुल-
क्षित्येन तृतीयविकल्पेन व्यपदेश्यः । प्राक्लक्ष्या तु जीवपरि-
णतिः, तस्याभ्यास्युत्त्वाद्गुरुलक्षित्येन व्यपदेश्य इत्यत आह
(भाष्येसं पदुञ्ज चतुर्थपपणं ति) (दिशिदोस्येत्वादि)
दृष्टयादीनि जीवपर्यायत्वेनागुरुलघुत्वाद्गुरुलघुलक्षणेन चतु-
र्थपदेन वाच्यानि । अज्ञानपदं त्विह ज्ञानविपकृत्वाद्बन्धनम,
अन्यथा ज्ञारेषु ज्ञानपदमेव दृश्यते (हेष्ठिले लि) औदारि-
कादीनि । (तद्वचपपणं ति) गुरुलघुपदेन गुरुलघुवर्ण-
णामकत्वात् । (कस्मणा चतुर्थपपणं ति) अगुरुलघुद्रव्याम-
कत्वात् कामेणशरीराणां मनोयोगवाच्योर्गी कर्मण्यपदेन वाच्यो,
तद्रव्याणामगुरुलघुत्वात् , काययोगः कामेणवर्णस्तृतीयेन गुरु-
लघुत्वस्युच्यमानास्माभिति । (लक्ष्येष्वेत्वादि) सर्वद्वयानि ध-
र्मोस्तिकायादीनि सर्वप्रदेशास्तयामेव निर्विभागा भ्रंशाः सर्वपर्य-
वा वर्णोपयोगाद्यो इत्यधर्माः, एते पुनस्तिकायावद् व्यपदेश-
्याः, गुरुलघुत्वेनागुरुलघुत्वेन धैर्यैः । यतः सूक्ष्माण्यमूर्तानि
च इत्याण्यगुरुलघुनि, इतराणि तु गुरुलघुनि । प्रदेशपर्यव्यान्तु
तत्तद्द्रव्यसम्बन्धत्वेन तत्तत्स्वभावा इति । अ० १ श्ल० ९ उ० ।
संप्रति गुरुलघुद्रव्याणामगुरुलघुद्रव्याणां चाल्लक्ष्यत्वेन वर्ण-
णाभिनयने-तत्र बादरस्कन्धेषु अधन्यमव्यक्तभेदनिमित्त-
कोत्तरवृक्षा प्रवर्धमाना वर्णेषु अनन्ता भवन्ति । ताश्च ताव-
द्दृष्ट्या यावत्सर्वोक्तयो बादरस्कन्धः ।

ततो य वर्णणाओ, सुदमाण जवंत एतंगुणियाओ ।

परमागुण य एका, संवेरपदेसंस्वता ।

नाम्यः समस्तबादरस्कन्धगतान्यो वर्णणाः स्युःसूक्ष्माणां सूक्ष्मा-
नन्तप्रदेशकस्फंधानामनन्तगुणितः वर्णणास्त्वा परमाणुनां स-
मन्तानामिका वर्णणा । (संखे लि) संख्येयप्रदेशेषु इषादिप्रभृ-
त्युक्तं संख्यातं यावत् संख्याताः संख्यातस्य संख्यातभेदभा-
वात् । इतस्मिन्संख्येयप्रदेशे असंख्येया वर्णणाः, असंख्यात-
स्य संख्यातभेदमिभित्वात् ।

इय पोग्लकायमि य, सव्वत्थोवा उ गुरुलहु दव्वा ।

उजयपडिसेहिया पुण, अणंतकप्पा बहुविकप्पा ॥

इति एवमुपदिशितेन प्रकारेण पुन्र्णकार्ये पुन्र्णस्तिकायो
गुरुलघुद्रव्याणि सर्वस्तोकानि उभयप्रतिपत्तिनाति संज्ञात-
गुरुलघुप्रतिपत्तिनाति अगुरुलघुनीत्यर्थः । पुन्र्णद्रव्याणि अनन्त-
कल्पानि अनन्तभेदानि । तत्रानन्तभेदत्वं गुरुलघुद्रव्येष्व-
प्यस्ति, तत्र आह-बहुविकल्पानि विकल्पातिशयेन बहुभेदानि ।
संप्रति पर्योपरिमाणमलपबहुत्वेन विन्यसे-इह पञ्जाराशयः
क्रमेण स्थाप्यन्ते । तद्यथा-परमान्युराशिः, संख्यातप्रदेशकस्क-
न्धराशिः, असंख्यातप्रदेशकस्कन्धराशिः, सूक्ष्मानन्तप्रदेशक-
स्कन्धराशिः, बादरानन्तप्रदेशकस्कन्धराशिश्च । तत्र बादरान-
न्तप्रदेशकस्कन्धराशी योऽस्तिवहः सर्वोक्तयो बादरस्कन्ध-
स्तत्र बहवो गुरुलघुपर्यायाः, सर्वस्तोका अगुरुलघुपर्यायाः,
इह बादरस्कन्धेष्वप्यगुरुलघवः पर्यायाः सन्ति परमुकलिता
गुरुलघुपर्याया इति । त एव तत्र शेषकालं गणयन्ते, संप्रति
तु वस्तुनिश्चितिभ्रमन्ते । इत्येवमव्युत्पन्नान्तिनातो वेतिनाति ।
तत्सर्वोक्त्याद्वादरस्कन्धाद् येऽधस्तना बादरस्कन्धास्तेषु

गुरुलघुपर्यायाः क्रमेणानन्तगुणहात्वा द्रव्याः । अगुरुलघु-
पर्यायाः पुनरनन्तगुणवृद्धाः । एवं च तावद् भातव्यं यावत्सर्व-
जन्मो बादरस्कन्धः । उक्तं च- “ परमाणुसंलक्षणा, सुद-
माण ताए वापरणं च । एपसि रासीतो, क्रमेण सव्वे ठवे-
ऊणं ॥ तेसि जो भ्रतिससो, सव्वुकोसो य बायरो कंधो ।
तस्स बहु गुरुलहुया, अगुरुलहु पज्जवा थोवा ॥ तसो
दिट्ठा हुना, अणंतहाणिए गुरुलहुहुडी । एवं ता जाव
अहोसि ति ”

एतदेवाह-

ते गुस्सहुपजावा, पण्णच्छेदो गोसिचाणं ।

जा बायरो जहुसा, अणंतहाणिए हायंता ॥

ते गुरुलघुपर्यायाः प्रज्ञाच्छेदनेनागुरुलघुपर्यायेभ्यो व्युत्कल्प
पृथक्कत्वा सर्वोक्त्याद् बादरस्कन्धावधस्तनेषु बादरस्कन्ध-
ध्वनन्तगुणहात्वा हीयमानास्तावद् द्रव्या यावद् जन्मो बा-
दरस्कन्धः । अगुरुलघुपर्यायास्तु क्रमेणानन्तगुणवृद्ध्या प्रव-
र्धमानाः, ततः सूक्ष्मानन्तप्रदेशादिषु स्कन्धेषु केवला
अगुरुलघुपर्याया एव क्रमेणानन्तगुणवृद्ध्या प्रवर्धमाना द्र-
व्याः । ते च तावत् यावत्परमाणवः । उक्तं च- “ तेण परं
तुहुमाओ. अणंतवुद्धिए नवर वहुत्ता । अगुरुलहु क्षिय केवल,
जा परमाणु य तो नेवा ” तदेवं पर्यायपरिमाणमल्पवहुत्वेन
चिन्तितम् । सांप्रतमरुपि द्रव्यं विन्यते- तन्नतुयो, तद्यथा-
धर्मोस्तिकायः, अधर्मोस्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवा-
स्तिकायश्च ।

तेयां किमगुरुलघुपर्यायपरिमाणमत आह-

केण हविज विरोहो, अगुरुलहुपज्जावाण उ अमुत्ते ।

अबंतममंजोगी, जहियं पुण तिव्वक्खस्स ॥

यद्भ्राम् सं धर्मोस्तिकायादौ तद्विपलस्य गुरुलघुपर्यायजात-
स्यात्यन्तमेकानानस्योयोऽधस्तना तत्रागुरुलघुपर्यायाणं केन
विरोधो विनाशनं भवेत्?, नैव केनचित् । ततः केनापि विना-
शाभावात्सदैव प्रतिप्रदेशमनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

तथाचाह-

एवं तु अणंतोहं, अगुरुलघुपज्जावोहं संजुणं ।

होइ अमुत्तं दव्वं, अरुक्किवाणा चाउहं ॥

एवं तु सति चतुर्णामन्यरुपिकायानामरुपिणामस्तिकायानां
धर्मोस्तिकायप्रभृतीनामेकैकस्यै वदसूत्रं द्रव्यं तद् भवति
प्रत्येकमनन्तैरगुरुलघुपर्यायैः संजुक्तम् । तदेवंभावित एकैक
अगुरुलघुप्रदेशोऽनन्तैरगुरुलघुपर्यायैरूपैः । इ० १ उ० ।
अगुरुलघुचुक्र-अगुरुलघुचुत्क- न० अगुरुलघुपघातप-
राघातोच्छ्वासलक्षणामकर्मकृतिचतुष्टये, कर्म० १ कर्म ।
अगुरुलघुगाम-अगुरुलघुनामप- न० नामकर्मभेदः, यदु-
दयाद्गुरुलघु स्वयं शरीरं जीवानां भवति । स० ।

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।

अगुरुलघुत्वाद्गुरुलघुनामोदयेन जीवस्स अंगं शरीरं न गुरु
न लघु जायते भवति, किन्तु अगुरुलघु, यत एकान्ते गुरुत्वे
हि बाहुमशयं स्यात्, एकान्तलघुत्वे तु बाहुनाऽपहियमाणं
धारयितुं न पायत, यदुदयाज्जन्तुशरीरं न गुरु न लघु नापि
गुरुलघु किन्तु अगुरुलघुपरिमाणपरिणतं भवति, तदगुरु-
लघुनामेत्यर्थः । कर्म० १ कर्म० । प्रच० । आ० पं० सं० ।

अगरुलपुपरिणाम-अगरुलपुपरिणाम-पुं अगुरुलपुकेने-
ध परिणामः, परिणामपरिणामयत्नोत्तरेन्द्रादगुरुलपुपरिणामः ।
अजीवपरिणामनेदे, स्था० १० ठा० । अगरुलपुपरिणामस्तु पर-
माणोरारुच्य यावदन्तानन्तप्रदेशिकाः स्फुटाः सूत्रमाः सूत्र०
१ सु० १ अ० १ उ० ।

अगरुलपुपरिणामि णं भेते । कतिविहे पण्येते ? गोयमा ।

एगागारे पण्ये ।

अगुरुलपुपरिणामो आवादिपुल्लानां "कम्मणमणभासाईपया-
ई अगरुलपुह्याइ" इतिवचनात् । तथा अमृतंछव्याणां चाकाशा-
दीनाम् । अगुरुलपुपरिणामप्रदणमुपलक्षणम्, तेन गुरुलपुप-
रिणामोऽपि द्रष्टव्यः । स चौत्तरिकादिदृश्याणां तैजसद्रव्यपर्य-
न्तानामवसयः । " मोरान्तिवयत्रिविध-प्राहारगतय गुरु-
ल्लह दन्वा । " इति वचनात् । प्रहा० १० १ उ० ।

अगरुवर-अगुरुवर-पुं रुणागार, ज्ञा० ११३ अ० ।

अगलौट-अगलौट-त्रि० अश्राविणि, " अस्तो मोयमहीए कय-
कय अगलंत सत्तए गिसिरे " व्य० ७ उ० ।

अगलिय-अगलित-त्रि० अगतिते, " अगलियेणइणियेह्या-ई
जोअण णक्खु विज्जाठ । वरिससएण वि जो मिल-इ स हिं सो-
क्कई सो छाउ य " । प्रा० १ पाद ।

अगविट-अगवपित-त्रि० अगवपयया अग्रपरिभायिते, "अगविट-
स्म उ गहणं, न होइ न य अगहियस्म परिभोगे । " पिं० "अ-
गविट्टाय गविट्टा, णिणया धारणदिसासु" व्य० ४ उ० ।

अगद्वयवभाणा-अग्रहणवर्णाणा-खी० अल्पपरमाणु रूपत्वेन
स्मृत्युपरिणामतया च स्वभावाज्जीवानां भ्रष्टेऽसमागच्छन्तीषु
वर्णमयुहा, कर्म० ५ कर्म० १ पं० स० । (आसां स्पष्टं स्वरूपं
'वभाणा' शब्दे दर्शयिष्यते)

अगद्विय-अग्रद्वित-त्रि० न० त० अस्वीकृते, पञ्चा० ११३ विष० ।

अगद्वियगद्वए-अग्रद्वीतप्रदण-न० साधुभिरस्वीकृतभक्त्यादि-
दातव्यद्रव्ये, "पांडकेअणरारागं, केइ असे अगद्वियगद्वणस्स"
पञ्चा० १७ विष० ।

अगद्विद्वगाराय-अग्रद्विलकराज-पुं० राजनेदे, (ती०) तत्क-
था वैवम-केइ पुण अगद्विद्वगारायअप्रक्षणागविदीए काला-
दोसा वि अण्णण निव्वाइइस्संति, तं च अक्खणायथेयं पक्ख-
वंति पुब्बायिरया-पुत्थिं किर पुइवीपुंगं पुष्पो नाम याया । तस्-
स मंनी सुबुद्धो नाम । अत्रया लोणदये नाम मेअसिआमे अग्रा-
ओ । सो य सुबुद्धिमंतिणु आगमेसिं कालं पुटो । तेण भणियम-
भासासंतेने इत्थं जलदरो वरिसस्सइ । तस्स जलं ओ पाहिइ
सो सव्वं वि गहल्लोअओ भविसस्सइ । किंत्तए वि कालं गय
सुबुद्धी जवस्सइ । तज्जअयाणेण पुणो जग्गा सुत्थीभविसंति ।
तमे मंतिणा ते राइणो विअत्ते । रथा वि परुइअगोसेण वारिसं-
गहत्थं अजेओ आइओ । जणेण वि तस्संगहो कओ । मासेण बुटो
भहो । तं च संगहियं तीरं कात्रेण निट्ठियं सोएहिं नवोदयं
खेव पाउमाइत्तं । तमे गहल्लोअओ सव्वेओओ सामंताइ गा-
यंति नच्यंति सिज्जाए वि विट्ठो । केवलं राया अमक्खो अ
संगहियं जलं न निट्ठियं । तं खेव दो वि सुत्था विट्ठि ।
तमेओ सामंताईहिं विसरिसें विट्ठे इयअमक्खोई निरिक्किणए
परवत्तं मंतिअं । जहा गद्विद्वो राया मंती य । एए अस्सहदितो वि
विसारसीयारा । तमे एए अस्सवारिठण अवरं अण्णपुज्जायारे

रायाणं उवाचिस्सामो । मंती कण तेसिं मंते नाकण रायाणो विअ-
वेइ । रथा सुत्तं-कइ मे पट्ठेतो अण्ण रक्खियव्वो विइइनरि-
दत्तुत्तं हवइ । मंतिणा भणियं-महाययं । अगद्विद्विं पि अस्सेहिं
गद्विद्विं होऊण गयव्वं । न अण्णदा सुक्को । तमेओ सिअमगहिल्लो-
होउं ते रायमक्खो तस्सि मज्जे निअसंयं रक्खंता विट्ठंति ।
तमेओ ते सामंताइ नुत्ता, भहो । रायमक्ख वि अस्सहसिरसा सजे-
य ति । उवाएण तेण तेहि अण्णया रक्खिअं । तमेओ कालंतरेण सुद-
बुट्टी जाया । नयोदगे पीए सव्वेओओ पगइभावसा सुत्था संवु-
त्ता । एवं इस्सकाले गीयत्थकुल्लिगीहिं सह सिरसा होऊण
वइंता अण्णयो समयं भाविणं परिवासितो अण्णयं निव्वाइइ-
स्संति । ती० ३१ कट्ठ० ।

अगद-अगद-त्रि० अगदगद, सूत्र० १ धु० १३ अ० ।

अगदपस-अगदप्रह-त्रि० अगदा तवविता प्रहा बुद्धियस्य

सोऽगदप्रहः । परमाण्येवसितवुद्धौ, " अगदपस्येसु वि भा-

वियया, अन्नं जणं सपथ परिहव्वंजा । " सूत्र० १ धु० १३ अ० ।

अ (आ) गार-अगार-न० गृहे, दश० १ अ० । अगैरुमह-

पदादिभिर्निर्भूतमगारम् । दश० १० अ० । विशेष० स्था० ॥

अनु० । सूत्र० । आचा० । प्रव० । पञ्चा० । नि० चू० । आ० अ०,

द्वि० । (अगारनिर्कृपे) अगारं द्विविधं छव्यभावभेदात् । तत्र द्र-

व्यागारमभैरुमहपदादिभिर्निर्भूतम् । भावागारं पुनरंगविपाक-

कालेऽपि जीवविपाकिनया शरीरपुद्गादिषु बहिःप्रवृत्तिरि-

तरन्तानुक्त्वादिभिर्निर्भूतं कषायमेतन्नोपयम् । समरं सु य

अगारेसु, सर्षासु य महपदे " अगारेषु शुन्नुगृहेषु । उच्यं

१ अ० । " अगारमावमंनस्स, सव्वो संविज्जाए तया " सूत्र०

१ धु० ३ अ० ३ उ० विशेष० । अगारं द्विविधम्-स्वातन्त्रिकृतं च ।

तत्र कालं जूमिअदि, उच्छिन्नमूच्छिन्नं हुनम्, उभयं भूमि-

गृहस्योपरि प्रासादाः पञ्चा० १ विव० स्थानं च । " मिगारा-

गारचारुवेसा " औ० । अगारं गृहं तयोगाद् । विशेष० । अगारं

गृहं तदेयां (वा) विद्यंते इत्यशौदिगणन्यावृत्तप्रत्ययः । गृहस्ये,

पुं० । दश० १ अ० ।

अगारतय-अगारास्थ-पुं० अगारं गृहं, तत्र तिष्ठन्तीति अगार-

स्थाः । गृहस्येषु, अचा० १ धु० ए अ० १, उ० ॥

अ (आ) गारधम्म-अगारधर्म-पुं० न गच्छन्तीत्यां वृक्षा-

स्तेः कृतमा समन्ताद्वाजत इत्यगारं गृहम् । तत्र स्थितानां ध-

र्मोऽगारधर्मः । शाकपायिवादिस्वाभ्यमपदसोपानि समासः ।

दशविरती, प्रा० म० टि० ।

पंच य अणुव्यायाईं, गुणव्यायाईं च दौति तिष्ठेव ।

सिक्खवावायाइ चउरी, गिंथिय्मो वारसविटो य । १ ३ ।

पञ्चाणुव्रतानि स्फुल्लप्रतीतिपातविरत्यादीनि गुणव्यायानि च

भवन्ति, श्रीवेद्य दिग्ब्रतादीनि शिक्षापदानि चत्वारि सामाधि-

कादीनि, गृहियेभो द्वादशविधस्तु एव पयाणुव्रतादिः अणुव्रता-

दिवस्वरूपं चावश्यं चत्विन्त्वाशक्तमिति गाथायः ॥ दश० १०६

अ० ४० । तत्र सामान्यतो नाम सर्वविशिष्टजनसाधारणानि

नरुपः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रतादिप्रतिपत्तिरूपः, चकार

उक्तसमुच्चय इति । तथाच भेदं द्वाभिः स्तुंकेदंशैथि-
" तत्र सामान्यतो गृह-अर्मो न्यायजितं धम्मम् ।
वैवाद्यामन्योऽर्थैः, कुञ्जरीधम्मः समम् ॥ ५ ॥
शिष्टाचारप्रशंसाऽऽरि-पद्वयगंल्यजं तथा ।
इन्द्रियाणां जयं उपप्लुतस्थानविवाजितम् ॥ ६ ॥

सुप्रातिवेशिमि के स्थाने, नातिप्रकटगुणम् ।
 अनेकानिमेषार-गृहस्थ विभिवेशमम् ॥ ७ ॥
 पापनीरुक्तास्थोता, देशावाप्रपात्रनम् ।
 सर्वेष्वनपघादित्सं, सुपादिसु विशेषतः ॥ ८ ॥
 भायोचितव्ययो देवा, विश्रवाद्यनुसारतः ।
 मासुपिप्रचयेन सङ्गः, सदाचारैः कृतकृता ॥ ९ ॥
 मञ्जीपुअंजनं काले, वृत्तिकः सम्पद्भात्रता ।
 वृत्तस्थज्ञानवृक्काहा, गहितव्यवर्षेनम् ॥ १० ॥
 भस्वेष्वनरणे दीये-शुश्रुषेभंश्रुतिदेया ।
 अष्टबुद्धिपुण्यैः, पक्कातो गुणेषु च ॥ ११ ॥
 सदाऽनजनिवप्राञ्च, विशावज्ञानमन्वहम् ।
 यथाईमतिथौ स्वाधौ, दीने च प्रतिपन्नता ॥ १२ ॥
 अन्योऽन्यानुपघातेन, त्रिगणैस्त्वापि साधनम् ।
 अदेशकान्नाचरणं, यलावस्रविचारणम् ॥ १३ ॥
 यथायंशोकचयात्रा च, परंपरकृतिपाटवम् ।
 ॥१४॥ लीम्यता वेति जिनेः, प्रहृते हितकारिजिः ॥ १४ ॥

(दशनिः कुशकम्)

तत्र तयोः सामान्यविशेषरूपयोर्गृहस्थधर्मयोर्वैकुमुपकृतयोर्मध्ये
 समान्यतो गृहधर्म इति अमुना प्रकारेण हितकारिभिः परोपकर-
 णशीलजिनैर्हंजिः प्रहृतः प्रकृतिप इत्यनेन संवन्धः ॥ ७० ॥ अधि० ।

(न्यायार्जिनधनादिपदानामर्थः 'हायजिय' शब्दे)

अंगारबंधुए-अंगारकन्यु-न० क० स्त० पुत्रकस्रप्रधानध्याप्य-
 दिरूपे गृहपाते, आचा० १ श्रु० ५ ब्र० ४ उ० ॥ "एवं समुद्रिप
 निकम् । वोमिजा गारबधणं" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।
 अंगारव-अंगारव-त्रि० न० व० । अरुद्रादिगौरवजिते, प्रअ०
 ५ स्रम्भ० द्वा० ।

अंगारवाम-अंगारवाम-पुं० गृहवासते, "अंगारवास्तमज्जे व-
 सिता" न० १५ श्रु० १ उ० ।

इहलोग दुहावई विऊ, परसोगे य छुहै दुहावई ।
 विरुंसणधम्मपव तं, इति विजं कोऽंगारमावसे ॥ १० ॥

(इहलोग इत्यादि) इहाऽस्मिन्नेव शोकं हिरण्यस्वजनादिकं
 दुःखमावहति । (विऊ ति) विद्याः जानोहि । तथाहि- "अयो-
 नामजने दुःख-मजितानां च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखे,
 धिगर्थ दुःखान्नाजनम् ॥ १ ॥ तथाहि- " रेवापयः किल्लयानि च
 सल्लकाः भिन्धायपकणोपिभिमं स्वकुलं च हित्वा । किं ताभ्यस्ति
 प्पि ! गतेऽस्ति वशं करिण्या स्नेहा निबन्धनमनमधेपरम्परा-
 याः ॥ १ ॥ परशोकं च हिरण्यस्वजनादिभित्वापादितकर्मजं
 दुःखं नयति, तद्व्यपरे दुःखमावहति, तदुपादानकर्मोपादाना-
 दिति भावः । तथैतदुपाजनेमपि विभवेसनधमे विशरुक्स्वभावं
 गव्वरमियेधः, इत्येवं विद्वाद्वा ज्ञानेन कः सकपांङ्गारवासं
 गृहवासावसेत्, गृहवासं वाऽनुबध्नायदिति । उक्तं च "दाराः
 परिजवकाराः भन्पुत्रतो कथ्यं (विषं विषयाः कोऽयं जनस्य मोहोः,
 ये रिपवस्तेषु सुहृदाश्च" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।
 गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुवं पाणैहि संजए ।
 समता सम्बन्ध सुवृते, देवाणं गच्छे स ह्योगे ॥ १ ३ ॥

अंगारमपि गृहमप्यावसेत् गृहवासमपि कुर्वन् नरो मनुष्यः
 (अणुपुवं ति) अणुपुवं भवणमप्येतिपदादिदक्षणाया
 प्राणिषु यथाशक्या सम्यग्यतः संयतनतुपमदर्शनेबुद्धः, कि-
 मिति, यतः समता समभावः आत्मपरनुवदा, सर्वत्र यतौ शु-

हस्थे च यदि चैकेन्द्रियार्थौ भ्रयतेऽभिधीयते आहंते प्रवचने
 तां च कुर्वन् स गृहस्थाऽपि सुव्रतः सन् देवानां पुन्द्रारक्षीनां
 लोकं स्थानं गच्छन्, किं पुनर्वां महाशस्ततया पञ्चमहात्मना-
 र्थो यतिरिति । " सेभो अंगारवास्तो (स, इह भिक्षु न चित्त-
 प " उक्तं २ अ० ।

अंगारि (ण्) अंगारिन्-पुं० गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।
 आचा० क० । "अंगारिणो वि समया भवन्तु, सेवंति उ ते तह
 पंगारं" सूत्र० ३ श्रु० ६ अ० ।

अंगारिकम्म-अंगारिकम्म-न० अंगारिणां कर्मोऽनुष्ठानम् । गृ-
 हस्थानां सावधे आरम्भे, जातिमदादिके च । "जिक्खम्म से सं-
 वद गारिकम्मं, ए पारंप इवं होमोयणाए" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।
 अंगारियंम-अंगारियंम-न० अंगारिणां गृहस्थानामङ्ग कारण-
 म् । ज्ञात्यादिकेः भद्रस्थाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अंगारी-अंगारी-स्त्री० गृहस्थास्त्रियाव, व्य० १ उ० ।

अंगारीपविषं-अंगारीपविषं-पुं० अंगाराः प्रतिबन्धोऽगारि-
 प्रतिबन्धः । यथागारवी विषये आरम्भेरोजयसमुत्था दोषा इत्ये-
 वरूपे गृहियेप्रतिबन्धं, व्य० ४ उ० ।

अगाट-अगाट-त्रि० गमनं, दे, स्था० ४ उ० ४ उ० ।

अगिउज्ज-अगाध-त्रि० इस्तादिना प्रहीनुमशक्ये "तमो अ-
 गिउज्जा पञ्चता, तं जहा- समप पयसे परमायु" स्था० ३
 उ० ३ उ० । अनाश्लेष्यं, "अणेगणरुत्तयाऽगिउजे" स्त्री० ।
 अग्रमेये, रा० ।

अगिहृद्यव-अग्रहीतव्य-त्रि० । न प्रहीतव्योऽप्रहीतव्यः हेये,
 उपेक्षणीये च । उभयोरपि कार्यासाधकत्वात् । "गच्छो जो क-
 ज्ञसाहगो होइ" इति कार्यसाधकस्यैव प्राणात्कोशः "गायमि
 गोपिहृद्यव्यमि, अगोपिहृद्यव्यमि सेव अत्यमि" उक्तं १ अ० ।
 आय० ।

अगिच्छ-अगुच्छ-त्रि० न० तां अनश्रुयपक्षे अश्रुजिते, "अगि-
 के सहफालेसु, अरनेसु अगिस्तिए" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०
 "वचहिम्मि अमुद्रियए अगिदे अग्रावउजं पुलाणिण्णहाए" ।
 अगुच्छः प्रतिबन्धमावेन । दश० १० अ० ।

अगिलाह-अग्लानि-स्त्री० अक्षदे, स्था० ८ उ० ४ ॥ "अगि-
 लाह अणःजीयो, पायव्वो वीरियायारो" पंचा० १५ अ० ३ ॥ अ-
 गिलाणाम णो मनोवाहापदि अज्जउरमाणेत्यर्थः ॥ नि० ख० ३ उ० ।

अगिला-अग्लानि-स्त्री० निर्जाराधेमास्तोत्सादे, व्य० ४ उ० । गिला-
 व्याख्यातार्थमाह-"निववेडुं व कुणतो, जो कुणई एरिसा गिला
 हाइ । पनिलेहुच्छणइ, येवावन्थियं तु पुव्वुचं" यो नाम नुपवदि
 राजकोष्ठमिष कुर्वन् वैद्यावृत्त्यं करोति एतादृशी भवति गिला-
 ग्लानिस्तस्याः प्रतिषेधोऽगिला । तथा करणीयं वैद्यावृत्त्यं, किं
 तदित्यत आह-प्रतिल्लोत्थापनाविकं भाएइस्व प्रत्युपेक्षणमु-
 पविष्टयोत्थापनमादिशब्दात् । मित्तायनादिपरिहारे, एतन्प-
 र्शोकं वैद्यावृत्त्यं । व्य० १ उ० । "अगिलाएणं भसेयां पाणेणं
 विणएणं येवावडियं करंइ" म० ५ श्रु० ४ उ० ।

अगिलाय-अग्रज्ञान-पुं० अग्लाने, "कुज्जा भिक्षु गिला-
 एस्स, अगिलाए समाहिए" भिक्षुः साधुलोत्तस्य वैद्यावृ-
 त्त्यमग्लानोऽपरिभ्रान्तः कुर्वत्ये, सम्यक् समाधिना ग्लानस्य

वा समाप्तिमुत्पादयेदिति । सू० १ श्रु० ११ अ० ।
अग्नीय-अग्नीत-पुं० अग्नीतार्थे, व्य० १ उ० ।

अग्नीयत्थ-अग्नीतार्थ-पुं० न० ३० । अनधिगताचारप्रकल्पया-
दिनिमीयतात्प्रभत्तार्थे, जी० १ प्र० (अग्नीतार्थो येन हेतुदृष्ट-
तार्थो न गृहीतो गृहीतो, वा परं विस्मरितः । श्रु० १ उ० ।

अध्यागीतार्थोपदेशः सर्वोऽपि दुःखाबहो भवतीत्याह-

अग्नीअत्यस्स वयणेषु, अग्निमं पि न पुंयुए ।

जेण नो तं भवे अयमं, जं अग्नीयत्थदेसिञ्जं ॥४६॥

परमत्यभो न तं अमपं, विसं हलाहलं लु तं ।

न तेण अजराभरो हुत्था, तक्खणा निहणं वए ॥४७॥

अनयोर्थाभ्या-अग्नीतार्थस्य (संविम्पए नाम एगे नो गीय-
त्था १, नो संविम्मा नाम एगे गीयत्था २, संविम्मा नाम एगे
गीयत्था वि ३, नो संविग्गा नाम एगे नो गीयत्था वि ४)
पूर्वोक्तप्रथमचतुर्थभङ्गनुत्पत्त्ये वचनेन अग्निमपि (न पुंयुए
सि) न पिबेत् । अग्नीतार्थोपदेशेनामृतवद् इत्यमाने सुन्दरम-
व्यनुष्ठानं न कुर्वीदिति परमार्थः । येन कारणेन न तदमृतं भ-
वेत् यद्गतीतार्थेऽशितमग्नीतार्थोपदिष्टम् । एतदेव विशेषेणाह-
परमार्थतः तत्त्वतस्तदमृतं न गुणकारीत्यर्थः । तवु विपं हला-
हलं (लु सि) निश्चितं, न तेन अजराभरो मोक्षसुखभाग् भ-
वेत् । तदनुष्ठानादिव निश्चयं विनाशमनन्तजन्मपरणलक्षणं ब्र-
ह्मेण प्राप्नुयात्, अग्नीतार्थोपदेशेनामृतपानस्यापि अनन्तसं-
सारहेतुत्वात् । उक्तं च—“ जं जयए अग्नीयत्थो, जं च अग्नी-
यत्थनिस्सिञ्जो होए । वहावेइ य गच्छं, अणंतंसंसारिओ
होए ॥ १ ॥ कह उ जयतो साह, वहावेइ य जो उ गच्छं तु ।
संजमजुसुतो होइ, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥ २ ॥ दुव्वं बिंसं
काळं, भावं पुरिसपयइसावओ य । न वि जाअं अग्नीओ,
उस्सगाववाइयं वेव ॥ ३ ॥ जहटियदंखं व जाणइ, सवित्ता-
चित्तमीसिञ्जं वेव । कप्पाकपं च तहा, जांग वा जस्स जं
होए ॥ ४ ॥ इत्यादि उपदेशमालायामिति विषयमाहरेति माथा-

चङ्गइत्थात् । ग०२अधि० महा० । “अवहुअसुए अग्नीय-रथेण-
सिरए वा धारए व गणं । तदेवसिय तस्स, मासा चत्तारि
भारिया होति” श्रु० १ उ० । (इत्यग्नीतार्थस्य गच्छुधारणनिषे-
धं “गणहर” शब्दे) “अग्नीयत्थो दायवस्स धारंयवस्स वा
अकपिअओ ” उच्यते नैर्ऋतयान्तेन माहा-“ जह नहे जह न-
टिया, अयाणतिया विवज्जासं । करेइ गिज्जमारं, नहे राटिया
य गरटिया य ” (१) भवेइ एवमग्नीयत्थो अग्नीयर्थो य न सकरे
समायारिउं पडिलेहणए उवदिंसिउं वा परेत्तुं पं० चू० १ श्रु०
नि० चू० । (अग्नीतार्थो गच्छुसारणं कर्तुं न शक्नोतीति “ग-
च्छुसारण” शब्दे) अग्नीतार्थो दुस्व्याज्यत्वस्सङ्गेन दुःकप्रतिः
“ अग्नीयत्थसदोसेणं, गोयमा । ईसरेण उ । जंतं तं निसा-
मेला, नहु गीयत्थो मुणी भवे ” महा० ६ अ० । (“ईसरे” शब्दे
अग्निं राजन्-ङि० जा० पु० ६४५ तत्कथानकम्) “सा-
सारमयाणसा, अग्नीयत्थसदासओ । चित्तिवमेणेणाविरज्जाए,
पावणं जं समजिज्जं । तेषं तीए अहं ताए, जा जा होति नि-
यं-तए । नारयणितियकुमालु-सत्तं सोआ को पिइं लमे ? ” (र-
ज्जइत्था) शब्दे कथानकम् । “अग्नीयत्थसदोसेणं, भावसुटि
ए पावए । बिणा भावसुटिए, सक्कलमहासो मुणी भवे । अ-
सुथोवक्कलुसदिय-ए अग्नीयत्थसदोसओ । काऊणं लक्खण-

जाए, पत्ता दुक्कलपरंपरा । तम्हा तं णाउ बुद्धीहि, सव्वभाषेण
सव्वहा । गीयत्थेहि भविस्साणं, कायव्वं निकलुसं मणं”
(महा० ६ अ०) “शास्त्रादिबीजयुतोपाश्रये न श्लेषयति निषेध
द्वितीयपदे “विद्येयपयकारुण्मि पुर्विव वसमा पमज्ज जत-
याए ” इत्यायुक्त्वा, “अग्नीयत्थस्स न कप्प-इ तिथिह ज-
यत्तं तु सो न जायाइ । अयुक्कवणाए जयणाए, जयत्तं सप-
क्कलपरपक्कजयत्तं च ” (श्रु० २ उ०) इत्यागीतार्थस्य निषेध-
यतनाह्वानमदर्शनं “वसइ” शब्दे । अग्नीतार्थेन साकं
न विहरेत् । “ गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थयि-
स्सिञ्जो होइ ” इत्यनेन “विहार” शब्दे दर्शयिष्यमाणे-
न निषेच्यमानत्वात्)

अगुणहीयपरमत्या वि, गोयमा । संजए भवे ।
तम्हा ते वि विवज्जिजा, दुगाइएणदायो ॥ ४८ ॥

हे गौतम ! ये संयता अपि संयमवन्तोऽपि (अगुणहीयपरम-
त्ये सि) अनर्थाता अनच्यस्ताः परमार्थो आगमरहस्यानि वेस्ते
अनर्थातपरमार्थो, अग्नीतार्थो इत्यर्थः । ते यस्मात् अज्ञातकव्य-
क्तेप्रकालजावौचित्या जवन्तीति शेषः । तस्मात्तानर्थातार्थं वि-
वर्जयेत् । विहारो एकत्र निवासो वा वृत्तस्थजित् । अगुणशब्दोऽ
त्र भिन्नक्रमः, स च यथास्थानं योजित एव । किंभूतं दुर्गतिप-
थदायकात् तिर्यक्प्राक्कुमानुवकुद्वक्पदगुंतिमागैप्राक्कामित्य-
र्थः । ग० २ अधि० । अग्नीतार्थस्य सह सङ्गो न करणीयः । “अग्नी-
यत्थस्स कुसीयेहिं, संगं तिंविंय वज्जाइ । मोक्खमणं(सिमे
विग्घे, पइम्मं तेणमे जहा । पउज्जायं हुयवइं वट्, एसिंको
तत्थ पविस्सिञ्जो । अत्ताणं पि रुडिज्जासि, नो कुसींजं समज्जि-
ए ॥ वासलक्खं पि सुणीए, संसिञ्जो अग्गियासुइ । अग्नीय-
त्थसु एव पं, वणकं पि न से वसं । बिणा वि तंतंमोहि,
घोरादिट्ठिविस आं । दसंतं पि सम्मज्जा, पागीयत्थं कुसील-
गं ॥ विसं खाएज्ज हलाहलं तं, किर मारेइ भक्खणं ।
ए करे गीयत्थसंसंमि, विदवे लक्खं जह तहिं ॥ व्हिं वणं
पिसायं व, घोररुपं भयंकरं । आगिहमांशं पि सोएज्जा, व कुसी-
लमणं गीयत्थं । सत्तज्जमंतंरं सत्तु, अवमज्जिज्जा सहावोरं ।
वयनियमं जो विराहेज्जा, जलयं पि क्वेतवं तिओ । महा० ।
६ अ० । अग्नीतार्थस्य स्वातन्त्र्येण विहारोऽनन्तसंसारितैकान्ति-
क्यनाथायेति महनः १४ । अत्रोत्तरम्-अग्नीतार्थस्य स्वातन्त्र्यवि-
हारोऽनन्तसंसारितायां कान्तियैति ज्ञातं, कर्मपरिणतेर्नैवियादि-
ति । सेन० १ उच्छा० ।

अगुण-अगुण-पुं० दोषे, न० । गुणविरोधिनि दोषे, गुणरहिते,
त्रि० । वाच० ।

अगुणगुण-अगुणगुण-पुं० अगुणे एव कस्यचिद् गुणत्वेन वि-
परिणममाणं, स चकथिवयः यथा गौगणिरसज्जातकिणस्कन्धो
गौगणस्य मध्ये सुखेनैवास्ति । तथा च “ गुणानामेव दीर्जन्या-
दुदि चुर्व्यो निगुण्यते । असंजातकिणस्कन्धः सुखं जीवति गौर्ग-
निः । ” ॥१॥ अचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अगुणत्त-अगुणत्त्वं-न० अविद्यामत्तगुणोऽगुणस्तद्भावस्तत्त्वम् ।
गुणानां च, “अजगुणगुणी भिक्खु, न संस इह गो पइख को
इउ । अगुणत्ता इह देह, को दिट्ठेत्तु सुवमिषव ” श्रु० २ अ० १
अगुणपेष्टि (ए)-अगुणमेष्टिन्-नि० अगुणान् प्रेक्षते तच्छी-
लश्च यः । अगुणदर्शनेनैवे, श्रु० ४ अ० १ ।

अमृगुणवज्र-अमृगुणवर्ज-वि० अमृगान् दोग्धत् वज्रयति सतोऽ-
 प्रिय न शुद्धति इत्यमृगणवर्जकः । सतामप्यगुणानामप्रादेक, सं० ।
 अमृगुत्-अमृगुत्-वि० गुमिरदिते, "केचन्नैव अमृगुत्ता, सहसा
 याज्ञोपवेत्यप्येहिं" इव० १ उ० । "असमितो मितो कील
 सहसा अमृगुत्ता वा" अमृगो गुप्तप्रमत्तः । पञ्चा० १६ विच० ।
 अमृगुत्ति-अमृगुत्ति-स्त्री० । मनःप्रभृतीनां कुराशानां निवसेत्तुःकुरा-
 शानां प्रवसेत्ते, स्था० ३ गा० १ उ० ।

तत्रो अमृगुत्तीप्रो पसत्ताओ, तं जहा-मणअमृगुत्ती नयअमृगुत्ती
 कायअमृगुत्ती । एवं एणरइयाणं जाव थणियकुमाराराणं पंचि-
 दियतिरिक्खजोणियाणं असंजयमाणुस्साणं बाणधंतराणं
 जोडसियाणं वेमाणियाणं ।

तत्रो इत्यादि कण्ठ्यम् । विशेषतश्चातुषिधातिदण्डके यथा अति-
 द्रव्यश्राह-प्रवमित्यादि (एषमिति) सामान्यसुखबन्धनारका-
 दीनां तिष्ठो गुप्तयो वाच्याः, शेषं कण्ठ्यम्, नवरम्, इहैकेन्द्रिय-
 यिकलेन्द्रिया मोक्षाः, वाक्मनसयोस्तेषां यथायोगमसम्प्रयात् ।
 संयतमनुश्या अपि मोक्षास्तेषां गुप्तप्रतिपादनादिति । स्था०
 ३ गा० १ उ० । इच्छाया अर्थापनरूपे अर्थाविशो मीणपरिमदे,
 प्रभ० ५ आध० द्वा० । ति० चू ।

अमृगुल्लुत्तुचउक-अमृगुल्लुत्तुचतुष्क-न० । नामकमप्रकृतिचतुष्टये,
 कर्म० १ क० (व्याख्या चारय 'कम्म' शब्दे)
 अमृगुल्लुत्तुगुणाम-अमृगुल्लुत्तुगुणाम-न० । नामकमभेदे, कर्म० १ क०
 (निरूपणमस्य 'अमृगुल्लुत्तुगुणाम' शब्दे) ।

अमृगुल्लुत्तुय-अमृगुल्लुत्तुय-न० । अत्यन्तसूक्ष्मे ज्ञापामन-कर्मक-
 व्यादी, स्था० १० गा० (स्पष्टमेतद् 'अमृगुल्लुत्तुय' शब्दे) ।
 अमृगुल्लुत्तुपरिणाम-अमृगुल्लुत्तुपरिणाम-न० । अजीवपरिणा-
 मभेदे, स्था० १० गा० (प्ररूपणा चार्य 'अमृगुल्लुत्तुवपरिणाम' शब्दे)
 अमृगुल्लुत्तु-अमृगुल्लुत्तु-पुं० कृष्णागरी, द्वा० १ श्रु० १ अ० ।

अमृगोविय-अमृगोपित-वि० प्रकटे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अमृगोरसव्वय-अमृगोरसव्रत-पुं० गोरसमाश्राडभङ्गक, 'पयोम्रतो
 न दध्यस्ति, न पयोऽस्ति दध्यस्ति' । अमृगोरसव्रतो भोमे, तस्मात्स-
 व्रं त्रयात्मकम् ॥१॥ अश्व० ४ अ० ।

अमृग-अमृग-न० अमृग-रुक्, नलोपः । उपरिमाणे, शेषभागे,
 आलम्बने, पूर्वभागे, वाच० ।

इदाणि अमो ति दारं दसनेदं भयति

द्वेषो ? गाहण २ आए-
 स ३ काल ४ कप ५ गाणण ६ कं वण ७ जावे ८ ।
 अम्रं भावो ए तु पहा-
 एवदुय उपचारतो तिबिहं ?० ॥ ४५ ॥

नामद्वेषाभ्यो गताभ्यो । द्वेष्यं दुविहं-आगमभ्यो ङो आग-
 मभ्यो य । आगमभ्यो जाणय अणुवउत्ते, ङो आगमभ्यो जाणयस-
 रीरं अणवसरीरं जाणयअणवसरीरवइरिचं तिबिहं तं दिसिंति ।

तिबिहं पुण द्वेष्यं, मच्चिंतं मीसं च अच्चिंतं ।

स्वविद्यं दस उवचित्त-अवचित्त तस्सेप कुंमगं ॥ ५० ॥
 (स्वविहं ति) तिनेयो, पुणसहो द्वेष्यमावधायार्थं । सच्चिंतं
 मीसं च अच्चिंतं । पच्छेयं जहासंखं उदाहरणा-सच्चिंतं च-

ज्ञां । सेमीसे देसो । उवचियं णाम देसो सच्चिंतो, अवचियं
 णाम देसो अच्चिंतो, जहा स्थीयमी, ईसिं ददुमिंसं रुक्कमं च ।
 अच्चिंतं कृतम्यं गतं ॥ १ ॥

इदाणि अमृगाहणमं-

अमृगाहणमं साम-त्तएगाण उस्तुअचउत्थजाणो णं ।
 मंदरिबिउज्जाणं, जं चोगादं तु जावतियं ॥ ५१ ॥
 अंजसागदहिमुखाणं, कुंतलरुक्कयवगरं मंदराणं च ।
 अमृगाहो उ सहस्से, संसा पादं समो गादा ॥ ५२ ॥
 अमृगाहनमवगाहः, अमृगस्तत्त्वविश इत्यर्थः । तस्समं अवगा-
 हणमं शब्दकृत्तनीति शब्दताः, श्रमा पवता । ते य जं अंजुदी-
 येयद्वारणो ते येणंति ण सेसवीहेसु, तेसि उस्तुअचउत्थमा-
 गो अवगाहो जवति । जहा वयंहे पुण्णवंसं जोयणाणुस्तुअो ते-
 सि चउत्थजाणो उज्जोयणाणि सणताणि । तस्से जवावगाहो
 जवति, सोअवगाहो येयकुत्तस भवति । एवंसेसाण विषेयं । मं-
 दरो मेक तं वज्जेऊण एवं वज्जजागवगारलक्खणं अणितं तस्से
 उ सहस्सेमेवावगाहो । जं वा अणदिउत्तस वत्तुणो जावतियं
 अंजसागं तस्से अमं अंजसाहणमं । गयं अंजसाहणमं ॥ २ ॥

इदानीं आणसमं-

आदेसमं पंच-गुलादि जं पच्छिमं तु आदिसिं ।
 तं पुरिसाण व जाजय, भोयणकम्मदिउज्जेसु ॥ ५३ ॥
 (आदेसमं ति) आदेशो निर्देश इत्यर्थः । तेषु आदेशेण अमं
 आदेशमं । तत्पुद्गलरूपं पंचगुलादि पंचहं अमृगुल्लुत्तुव्याणं
 कम्मद्विज्ञानं जदि पच्छिमं आदिसिंति तं आदेशमं जवति ।
 आदेशकारणं इमं-भोयणकाले जहा सप्तद्वारे बहुआण कम्म-
 द्विज्ञान इमं बहुयं भोजयसु ति आदिसिंति । एवं कम्मदिउज्जेसु
 वि नेयं । गयं आदेशमं ॥ ३ ॥

कालमा-कममं पेगा गाहा । ने मस्यति-

कादमं सव्वदा, कमगचत्तुषा तु द्वयमादीयं ।
 खंषोगाहठित्तिसु य, जावेसु य अंतिमा जे ते ॥ ५४ ॥

कलनं कालः तस्से अमं कादमं, सव्वदा, कदं ? समयो
 आवसिया लथो सुदुत्तो पहरो दिवसो अहोरत्तं पक्खो मासो
 उऊ अययं संवत्तरो जुगपक्षिअोवमं सागरोवमं ओसपिणी
 उस्सपिणी पुणलपरिवचदो तीतकमणागतत्ता सव्वदा एवं सव्वे-
 सि अमं भवति । बृहत्वात् कालमं गयं ॥ ४ ॥ इदाणि कममं-
 कमो परिवादी, परिवादीप अमं कममं, तं चउविहं हेयक-
 ममं आदिसहातो सेचकममं कादकममं ज्ञायकममं चेति ।
 पच्छुद्धेण जहासंखेण उदाहरणा-खंथ इति द्वयमं । अमृगाह
 इति चिन्तमं । त्तिनीसु य ति कालमं । भावेसु य ति ज्ञायमं ।
 एनेसि चउवद इति अंतिमा जे ते अमं भवति । उदाहरणं
 जहा-दुपपत्तिभ्यो चउपचउत्तसदृगवत्सपपत्तिभ्यो असंखं,
 एवं जाव णंताणं तपपत्तिभ्यो खंथो । ततो परं अमो
 बृहत्सरो न जवति सो खंथो द्वयमं । एवं एणपपत्तिसा-
 दाहि जाव असंखेयपंदसावगादो सुहुमखंथो सव्वलोगो ततो प-
 रं अणो उक्कोसावगाहणंतरो न जवति । स एव सेसमं ।
 एवं एणसमयचितियं वचं दुसमयचितियं जाव असंखेज-
 समयचितियं जं तो परं अणं उक्कोसतरुत्तिजुत्तं वा जवति
 तं कादमं । सहो ज्ञानिभयमेवखं उदाहरणं, जहा-पुदावि-
 काइपस्स अतो सुत्तुत्तावरण जाव वासीरकममहस्सत्ति-
 त्तो कालजुत्तो भवति, एवं सेसेसु वि ख्यं । चिंतसु परमा-

एतु एतस्मयादात्स्य जाय अस्सकलाद्विती जाता । परमाणु-
द्वितीतो परं अश्वे परमाणु उकोस्ततरद्वितीभो ण भवति, तं
परमाणुं जानीत कास्मम् । एवं जीवाजीवेषु उवउजं शेषं, एवं च
सहो अयकशेति, आश्रमं परमाणुकालम् । सि जाय अश्रुतगुणका-
लम् न्ति भावजुतं तं भावम् जयति । ततो परं अस्यां उकोस्त-
सतरो ण जयति, एते आश्रमं । गतं अस्मम् ॥ ५ ॥ इदाणि गण-
णामं-परादो जाव सीसपहेलिया ततो परं गणणा ण पयद्वि
तेण गणया ते सीसपहेलिया अस्मम् । गतं गणणम् ॥ ६ ॥

संचय-जावग्मा, हो वि प्रथमं—

तणसंचयमादीणं, जं उवरि पट्ठाण स्वाग्गो जावो ।

जीवादिउक्कए पुण, बहुयमं पज्जवा हौंति ॥ ५५ ॥

तथाणि दग्गादीणि तेसि चउपिन्दनेत्यर्थः । नस्स वयस्स उ-
चरिं जा पुलो तं तसुमं भवति, अविस्सदातो कट्ठपसालाती
दुट्ठयं । तथं संबणमं ॥ ७ ॥ इदाणि ज्ञावमं सुसदागाहाए
अपियं ॥ ८ ॥ (अगं भावो तु सित्) तं एवं वक्तव्यं भावो अ-
मं । किमुक्तं भवति-भाव एव अगं ज्ञावमं कथापुलोभ्यात् ।
(अगं ज्ञावो स) तं भावमं दुविहं-आगमभो णो आगमभो य ।
आगमभो जाणुए उवउत्त, णो आगमभो । इमं तिचिहं-पढाणया-
वमं बहुयजावग्मा उवचारजावमं, एवं तिचिहं । तुशाम्भोऽश्वेऽप-
नाश्वे । ज्ञापयति-जहा एतसु तिचिहंभावगोण सहितो दश-
विहम्याणकशेवो जयति, तथ पढाणभावमं उदइयादीण ज्ञा-
वण समीवभो पढाण ज्ञातिगो भावो पढाणोत्ति गयं । इदा-
णि बहुयमं भवति—

जीवा पोगलसमया, दव्वपदेसा य पज्जवा चेव ।

थोवा एंताएणतो, विमसमद्विया दुवं एंता ॥ ५६ ॥

जीवा आदी जस्स उक्कगस्स तं जीवाइल्लुक्कं, तं चिमं
पोग्ला जीवा समयादव्वा पदेसा पज्जया चेति । एयमि उक्को
स्ववधो वा जीवा जीवहितो पोग्ला अश्रुतगुणा पोग्लाहेदितो स-
मया अश्रुतगुणा समयादेनो दव्वा विमसहािता दव्वेहितो पदेसा
अश्रुतगुणा । जहासंचेण तेण भवति-बहुयमं पज्जवा हौंति बहु-
सेण अमं बहुयमं बहुत्वनाश्रं पर्याया भवन्तीति वाक्येऽर्थः । पुण-
सहोः बहुत्वावधारणतो द् दुट्ठयो । गतं बहुयमं । इयाणि उवचा-
रगं-उवचरणं उवचारं नामग्रहणम्, अभिगममित्यर्थः । स च
जीवाजीवभावेषु संबधति । जीवाजीवेषु औद्दयिकादिषु अजी-
वभावेषु वर्णादिषु । तथ जीवाजीवजाणं पिट्ठिमं जो घेण्ण-
सो स उवचारमं भावमं जयति । इह तु जीवसुत्तभावोवचा-
रमं दुविहं-सगलसुत्तजावोवचारमं देससुत्तजावोवचारम्
च । तथ सगलसुत्तजावोवचारमं दिट्ठिवातो दिट्ठियान्नुवा
वा देससुत्तजावोवचारमं पठुक्क भवति । तं चिमं चेव पक-
पज्जयणं । कहं ? उज्जो भवति—

पंचह वि अग्गा एं, उवयारेणिदं पंचमं अगमं ।

जं उवचरिणु तादं, तस्सुवयारो ण इहरा तु ॥ ५७ ॥

(पंचह वि इति) पंच संज्ञा (अग्गाणं ति) आयरगाणं ते
च पंच चूडाओ । अविस्सदो पंचग्गावहारणत्थं भवति । ग-
गारो देसिवयणेण पायपूरणं । जहा-समणेण रक्कशां च सुब्बा णं
ति । उपचरणं उपचारः, तेण उवचारेण कणभूयण (इदमित्ति)
अयमाचारप्रकल्पः । (पंचमं अगं ति) पंचमं अगं उपचारेण
अगं न भवति । एवं धितियतियचउरग्मा वि भवन्ति । पं-

चमचुलगं उवयारमं अगं जयति, तेण जयति पंचमं अगं ।
शिय्य आह-कयम् ? आचाये झाह—(अमित्ति) जं यस्मात् कार-
णात् (उवचरिणु सित्) उवचरिणु गृहीता (ताहं ति) चउरो
अगमं (तस्से ति) आचारप्रकल्पस्य उपचारो ग्रहणं । ण इति
प्रतिषेधे (इहरा तु) तेण्वगृहीतेषु सीसो पुच्छति-एथ दस-
विहवक्खणं कयमेण अग्गाणादिकारो भवति ? ।

उपचारं तु पगतं, उवचरिताधीतगीतमेगट्ठा ।

उवचारमेत्तमेयं, केसिचि एतं कमा जम्हा ॥ ५८ ॥

उवचारो वक्खानो । पगतं इहियारः, प्रयोजनेत्यर्थः । तुहा-
धो अयधारणे पादपूरणे वा, उवयारसहसंपचयत्थं एगट्ठिया
भवति । उवचारो सित् वा अहितंति वा आगमंयं ति वा गृहीतो
ति वा एगट्ठं (उवचारमेत्तमेयं ति) जमेयं पंचमं अगं अगोत्ते-
णोवचरिउज्जति, एतं उपचारमात्रं । उवचारमेत्तं नाम कल्पनामा-
त्रं । कहं?, जेण पदमचूलाए वि अगसहो वयत्तर, एवं धितियच-
उसु वि अगसहो वयत्तर सित् । तम्हा कथायि अग्गाया । सव्वगा-
पसेमं च एगगा कप्पणा जा सा उपचारमात्रं जयति । केपाचि-
दाकाथोणमित्थमाथगुरुप्रणीतोत्तिसारी गुरुह—(ण तं क-
मो जम्हा इति) ण सित् परिस्सेह (ते ति) केह मयक-
प्पणा ण धरुतीरोति वक्कसंत्तं । कमां सित् नाम परिचारी । अतुक-
म इत्यर्थः (जम्हे सित्) चउसु वि चूडासहितामु पगीउय पंचमी
चूडा दिउजति, तम्हा कमावचारा पंचमी चूडा अगं भवति । उप-
चारं अग्गाण वि अगं वक्कसंत्तं ददुज्जमिति । गतं मूलम्गदं
॥ ६१ ॥ १० ॥ नि० चू० १ उ० ।

अगं च मूलं च विमिं च धीरि ।

अयं भवोपमाहकमेचतुष्टयम् । मूलं धानिकमेचतुष्टयं, यदि वा
मोहनायं मूलम् । योगाणि त्वंश्रं, यदि वा मिथ्यात्व मूलं, शेषं त्व-
प्रम । तद्वं सर्वमेषं मूलं च (विमिं च इति) त्यजापनयं पृथकरु ।
तदनेनेदमुक्तं जयति-न कमेणः पौरुषिकस्यायानिककृतयोऽपि-
त्यामनः पृथक्करणम्, कथं मोहनायस्य मिथ्यात्वस्य च मूलत्व-
मिति चेत्तद्वशाच्छेषप्रकृतिकम् । यत् उक्तम्- “ न मोहयानि
वृत्त्यन्वयं उदितस्त्वया कर्मणां, न चैकाविधव्यन्यं प्रकृतिवन्ध-
तो यो महानि । अनादिजसवतुरेप न च कल्पते नासकृत, त्वयाऽ-
तिकुट्टिता गतिः कुडालकर्मणां दशोना ॥” । तथा चागमः “कहं
जंते । जीवा अट्टकम्मपगडोओ बंधंति ति” गोयमा । शाणवार-
णज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावराणज्जं कम्म नियच्छइ ।
दारिसणावराणज्जकम्मस्स उदएणं र्इणमोहणज्जं कम्म निय-
च्छइ । र्इसणमोहणज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं नियच्छइ ।
मिच्छत्तेणं उदिणंणं एवं खलु जीव अट्टकम्मपगडोओ बंधइ”
कृतोऽपि मोहनीयकृपाविनाभावी । उक्तञ्च—“णायगम्मि हए
सत्ते, अहा सेणा विणस्सति । एवं कम्मा विणस्सति, मोह-
णिज्जं खयं गए” ॥ ६१ ॥ इत्यादि । अथवा, सुप्रमत्तयमः कमे वा,
अश्रं संयमतपसी मोजो वा, ते सुप्रमत्त धीरोऽङ्गोऽयो धीविवा-
जितो वा विवेकं दुष्प्रसुखकारणतयाऽवधारय । आचा० १
खू० ३ अ० २ उ० । परिमाणं, नं । विदो० । सु० प्र० । स्था० ।
अगं ति वा परिमाणं ति वा एगटा । आ० चू० १ अ० ।
सत्त० “अन्ते उणव देसमं तेणं उवचारं । देसमं देशात्तरम् ।
हा० ११ अ० । उक्तयं, समूहे, प्रधाने, अधिके, प्रथमे च । नि०
ऋषिर्भद्रः, पुं० । वाच० ।

अग्र्य-वि० अग्ने प्रथममध्यम् । प्रधाने, अन्त० ७ वर्ग० । यो० । नि० चू० । म० । इ० । सूत्र० । अत्यन्तोरुक्ते च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । जं० । अग्ने जातो यः । जेष्ठं भ्रातरि, वि० वाच० ।

अग्नाभौ-अग्र्यतसु-अव्य० अग्ने अग्नाद् वा । अग्र-तसिच् । प्राहुते "अतो वो विस्वोस्य" । ॥ १ । ३७ । इति सूत्रेण प्रतः स्थाने नोः इत्यादेशः, उ इन् । प्रा० । पूर्ववृत्तौ, पूर्वभागावधिषके च । वाच० ।

अग्नाथ-अग्र्यथ-पुं० निर्गन्थे, भ्राचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अग्नाकंस-अग्रकंश-पुं० अग्रमृतेषु केशेषु, म० ७ श० ३३ उ० ।

अग्नाकसंधो-देशी-रग्नसुधे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्नाजाय-अग्रजात-न० । वनस्पतीनामग्रभागे जाते, "अग्नाजायाणि मूलाजायाणि वा खंजजायाणि वा" भ्राचा० १ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

अग्नाजिष्वा-अग्रजिष्वा-स्त्री० अग्रज्जा जिष्वा अग्रजिष्वा । जिष्वाग्ने, "सज्जं च अग्नाजिष्वाए, वरेण रिस्वहे सरं" (सज्जमित्यादि) चकारोऽभावधारणे । परुज्जमेव प्रथमस्वरसङ्गणे श्रूयान् । कयन्त्याह-अग्रभृता जिष्वा अग्नाजिष्वा, जिष्वाग्नेमिथंस्तथा । इह यद्यपि परुज्जमणेन स्थानान्तराण्यपि कण्ठाद्गानि व्याप्रियन्ते, अग्नाजिष्वा च स्वरान्तेषु व्याप्रियन्ते, तथापि सा तत्र बहुव्यापारवतीति कृत्वा तथा तमेव श्रूयादित्युक्तम् । इत्यत्र हृदयम्-परुज्जस्वरतोऽग्रे जिष्वा प्राप्य विशिष्टां व्यक्तिसमासादयति तदपेक्षया सा स्वरस्थानमुच्यते । एवमथ्यत्रापि माधना कार्या । श्रुत० ।

अग्नातावसग-अग्रतापनक-पुं० । ऋषिभेदे, यद्गोत्रं धनिष्ठानकऋत्रम् । "धीणघ्राणकश्च किं गोत्रे पश्यते ? अनातावसगोत्ते पश्यत" । सू० प्र० १० वाहु० च० । जं० ।

अग्नादारि-गिज्जामग-अग्रदारीनित्यामक-पुं० अग्रद्वारसलाय-स्थापकं, भ्रानप्रतिचारिणि च । प्रथ० ७२ इ० ।

अग्नाद्-अग्रार्थे-न० । एवाँडे, नि० चू० १ उ० ।

अग्नापदंब-अग्रपदम्ब-पुं० न० । प्रथमनामग्रभागे, इमे अग्नापलेभा-"तलघनासिपरिलक्ष्याए, कविद्वे अंबाड अंबए चेव । एयं अग्नापलंबं, ऐयस्वें आणुपुव्वीय" । १४० । जस्यपदसिद्धा एते । (आणुपुव्वं सि) एसे च तसादिगा । नि० चू० १४ उ० ।

अग्नावीय-अग्रवीज-पुं० अग्ने वीजं येषामुत्पद्यते तं तथा । तल-ताधीसहकारादिवु शास्त्रादिवु च अग्रधाण्येत्यसौ कारस्तथा प्रतिपद्यन्ते येषां कोरएटकादीनां तं अग्रवीजाः । कोरएटकादिषु वीजजप्रकेषु वनस्पतिषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । स्था० विज्ञे० । श्रु० म० द्वि० । अग्नावीया १ मूलावीया २ पौरवीया ३ खंजवीया ४ इत्याद्यो वनस्पतिभेदाः । भ्राचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अग्नापिंड-अग्र (इय) पिाह-पुं० तरुल्लोच्छीर्षोदनादिस्था-ह्या अग्र्यापरितायाः शिक्षायाम्, (उपरितने भागे) प्रथ० २ इ० । शाब्दोदनादेः प्रथममुज्ज्वल्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यमाने (परिडे, भ्राचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

से भिक्व् वा १ जाव पविडे समापे से जं पुण जा-

णेजा, अग्नापिंडे उक्तिव्यपमाणं पेहाए, अग्नापिंडे पि-क्तिव्यपमाणं पेहाए, अग्नापिंडे इंदरमाए पेहाए, अग्नापिंडं परिजाइज्जाणं पेहाए, अग्नापिंडं परिनुज्जमाणं पेहाए, अग्नापिंडं परिद्वेज्जाणं पेहाए, पुरा अग्निपाइ वा अग्रवहा-राति वा पुरा जत्थेभु समएमाणअतिदिहिकिणववणिएमा खरुं १ उवसंकमांति, से हेता अहुमवि सखं उवसंक-मामि, माइहाणं मंफांते णो एवं करेजा ।

(स भिक्खु वेत्यादि) स भिक्खुं हृदयतित्तुल्यं प्रयिद्ये सन् यत्पुनरेवं जानांथात् । तथथा-अग्नापिण्डो निष्पद्यस्य शाब्दोदनादेवा-हारस्य देवतापथ्यं स्तोत्रकस्तोकादारस्तमुक्तिव्यपमाणं वृष्टा तथाऽन्यत्र निष्क्रियमाणं तथा विद्यमाणं नीयमानं देवतायतनादौ तथा परिजस्यमानं विभज्यमानं स्तोत्रकस्तोकमन्त्रेभ्यो दीयमानं तथा परिनुज्जयमानं तथा त्यज्यमानं देवतायतनात्पुनित्तुल्यं क्रियमाणं तथा (पुरा अग्निपाइ वंति) पुरा पूर्वमन्त्रे अग्नापादयो येषु अग्रपिण्डमभिसावतस्तथा पुष्यमपहनवतो व्यवस्थाप्यस्यवस्थायां वा शुडीतवन्तः । तदभिप्रायेण पुनरापि पुष्यमिव वयमत्र लप्स्या-मह इति । यत्राग्रपिण्डादौ अग्नापादयः (शब्दं शब्दं नि) स्वरित-मुपकामति स भिक्खुरेत्तदपेक्षया कश्चिद्वेवं कुर्यादालोक्येयथा-हेतौ तं धाक्योपम्यासाधे । अहमापि स्वरितमुपसंक्रामां । एवं च कुर्येत् भिक्खुं तद्वत्साधं संस्पृशेदित्येतां नेषं कुण्णिदिदि । आवा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । काकपिण्डकाम् "अग्नापिण्डमि वा वायसा मंधया सभियइथा" अग्नापिण्डं काकपिण्डक्यां वा बहिःकिसायां वायसाः सभियतित्ता नवेयुः । आवा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

जे भिक्खु गितियं अग्नापिंडं भुंइह, नुंजंतं वा साइज्जाइ ? । गितियं भुवं सासतमियथेः । अग्ने वरं प्रधानं अहवा जं प-दमं दिउज्जति से पुण जत्थो भिक्खाम्भितं वा होउजा । एस सु-त्तयो । अपुना नित्युक्तिवस्तरः-

णिएति तु अग्नापिंडे, एणमतपो वीलना य परिमाणे । साजाविए गिही दां, तिणि य कप्पंति तु कमए । २ ? ३ ।

गितियमा सुत्ते वक्खाया । गिहटयो गिमतंति, साइ उ वीइ-णं करेति, साइ चेव परिमाणं करेति, साभाविं गिहटयो दां तिणि आइहाण कप्पंति, साजाविं कप्पंति । गिमतपो वीलणपरिमाणाम् । इमाओ तिण्य वक्खाणागाहातो-

जगवं ? आणुगइ तां, करेहि मज्जत्ति जणति आमांति । किं दाहिंसि जेण्णो, गयस्स तं दाहिंसि ण वत्ति । १ ? ४ । दाहामि च्चि य जणित्ति, तं केवतियं व केविरं वा वि ? । दाहिंसि तुंणं ण दाहिंसि, दिसेऽद्वेषे व किं तेण् । १ ? ५ । जावतिण्णो जे, जविरकालं च रोएय तुत्तमा । तं तावतियं तविरं, दाहामि अइ अपरिहाणं । १ ? ६ ।

गिही गिमतंति-भगवं ! आणुगइ करेह मज्ज, घरे जत्थं गेगह-इ । साइ मयति-करेम अणुमाहं, किं दाहिंसि ? । गिदं जणति-जेण जे इहं । साइ उ वीलणं करेति, माहणे जणति-घरं गयस्स तं दाहिंसि वा यं वा ? । गिहियो दाहामि च्चि य जणित्ते, साइ प-रियाणं कारवैतो भणति-तं परिमाणमां केयतियं केव चिरं वा कावं दाहिंसि ? । प्रथमगादीत्तरं साइ आह-दाहिंसि तुमं

ण दादिति । दत्तमापि नन् अदत्तवद् व्युत्पद्यम् । स्वदत्तत्वा-
द् । गृहस्थो द्वितीयपादोऽस्यैव जावतिरण भक्त्य इद्वे
जे जावतिर्यं वा काले तुभिमन् । गिरी पुणो जगति-कि बहुणा
भणिण्ण, जं तुपन्ने गेयते दृश्यं जावतिर्यं जतिर्यं वा काले . नमई
अपरिहीणे अपरिभंनो दादामि ति । गिमंतणो पालणपरि-
माणेषु वि मासल्लुद् पंकिउत्तं । चोदग आह—

सामाचिन्ते च उचियं, चोदगपुच्छाणं पच्छिमां को वि ।

दोसो चतुर्विधमि,णितियमिप य अग्रगणितं.म्मा।३११।

सामाचि विणितिय कप्पति, अणित्यंतणा वीज्ज अपरिमाणे य ।

जं वा वि य सयुदाणो, संजिक्खं दिज्ज साधुणं ॥३१२॥

साजाचियं जं ऋण्यणो इच्छादं उचियं दिणे दिणे जतियं
रज्जं तं चोक्खो भवति । परिसेसा माविण गिमंतणायीज्जणा-
दिदिं निक्खामेति एमवि अक्याअपण्णहा साहण कय्यं.सामा-
वियजच्चि ए वि गिमंतणादिदिदिं इमे दोसा-

निण्यस्ये वि सअट्ठा, उगमदोमा उ उचितगदीया ।

उपं जंवे जम्हा, तम्हा सा य वज्जणिज्जा उ ॥२१६॥

अपण्णट्ठा वि निण्यस्ये उगमादिदोसा जयन्ति । निक्काचिन्तो-
दमिति अचयं दातव्यय । कुट्ठागहिंसु स्थापयति तस्माभिमं-
तणादिदिपिक्खो वय्यं ।

उक्कामण अहिंसकण, अज्जभोयरण तहेव ऐक्कंती ।

असत्य भोयणमि य, कीने पामिक्खे कम्मये य ॥ २२० ॥

अवस्सदायव्ये अतिप्पए साहुणो आगच्छति उविधुव्यवस्स
उसकण करेजा,उस्सरे अगच्छति अनिदिसकण करेज्ज.अज्जा-
यरयं वा करेज्ज । गिकातिअं स काउं जतिने अणायथ णि-
मंतिया तहा वि तद्दुट्ठाए कियेज्जा वा पामिक्खेज्जा वा आहाकम्मं
वा करेज्ज । कारणे पुण णिकायणा पिदं गणहेज्जा इमे कारणा—

अभिने आभोयारिए, रायदुडे भए व गेलएणे ।

अक्काणरोहए वा, जयणा गहणंतु गीतत्ये ॥ २२१ ॥

असिचमहिता ण लभन्ति गिमंतणाएणसु वि गेहेज्ज । अथवा अ-
सिच काणोद्धिता अभियगहियकुलाणि य परिहरतो भगदियकु-
लेसु अपावंतो गिमंतणो वीज्जणादिसु वि गेहेज्ज. आंमि वि अण-
यंतो । एवं रायदुडं नप्पसु वि अयंतो गच्छंतो वा गिज्ञाणपाउज्जं
या गिमंतणाणिणसु गेगहेज्जा । अज्जाणं रोहए वा अणुयंतो वा नी-
तस्था पणमपरिहाणीए जयणाए जोह मासल्लुद् पत्तं ताहे णा-
यगा पिदं गेगहति । नि० नू० १ उ० ।

अग्रगणया—अग्रपूजा—ली० “ गंधर्वकण्ट्याय्य-ज्ञपणज्ञसाम्पि-
याह दीवाह । जं किचंनं सव्यं, पि अं अरध अग्रगणयाए ” इत्ये-
वं लक्षणं जिनप्रतिमापुरनः पूजाभेदे, अ० १ अर्थि० ।

अग्रगण्यहारिं (ण)—अग्रपट्टारिन्—पुं० । पुः प्रहरणशीले,
“ चोरयाहं गतो तस्य अग्रगण्यहारिं गिमंसो य चोरसेखावति-
मनो ” अश्व० १ अ० । आ० म० ङि० ।

अग्रमहादिनी—अग्रमहादिपं—ली० अग्रपूजा प्रधाना महिषी, रा-
जजातयंयाम्, स्था० ४ उ००. उ० प्रजातजातयंयाम्, उपा० ३
अ० । पट्टाश्याम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । अथ देवेंद्राणा-
मग्रमहिष्यः प्रदर्थन्ते—

तथ लुचनपतीन्द्रायाममग्रमहिष्यः—

चमरस्स एं भंते ! अमुरिंदस्स अमुरकुमाररण्यो कइ
अग्रमहितीओ पएणत्ताओ ? । अज्जा ! पंच अग्रगण-
हितीओ पएणत्ताओ, तं जहा—काली रापी रयणी विज्जु
भेहा । तथ एं एणंमगाए देवीए अइद्वेदवीसहस्सपरिचारो
पएणत्तो, पभू णं ताओ एणंमगाए देवीए अएणां अइ-
द्वेदवीमहस्साइं परिचारं विज्जावित्तए, एवांमव सपुष्वा-
वरंणं चत्तालीसं देवीसहस्सा सेत्तं तुमिए । पजू णं भंते !
चमरे अमुरिंदे अमुरकुमारया चमरचंचाए रायहाणीए
सजाए सुहम्माए चमरंसि सीहासखंसि तुमिएणं सक्किं दि-
व्वाइं जोगजोगाइं जुंजणाए विहरित्तए ? । एो इण्ठे
समहे, से केण्ठणं भंते ! एवं वुच्चइ, णो पजू ! चमरे अमु-
रिंदे अमुरराया चमरचंचाए रायहाणीए जाव विहरि-
त्तए । अज्जा ! चमरस्स एं अमुरिंदस्स अमुरकुमाररण्यो च-
मरचंचाए रायहाणीए सजाए सुहम्माए माणवप चेइए
खंने वइरामपसु गोत्ववट्टमगपसु बहुओ जिणमक-
हाओ सण्णित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं चमरस्स अ-
मुरिंदस्स अमुरकुमाररण्यो अणंसि च बहुणं अमुरकुमा-
राणं देवाण य देवीण य अचण्णिज्जाओ वंदणिज्जाओ णमं-
णिज्जाओ पुणएण्जाओ सकारणिज्जाओ संमाणणिज्जाओ
कट्ठाणं मंगलं देवयं चेयं पज्जुवामाणिज्जाओ जवति ।
तेसि पाणहाणे णो पजू ! मंतेण्ठेणं अज्जा ! एवं वुच्चइ-
णो पजू चमरे अमुरिंदे अमुरराया चमरचंचाए रायहाणीए
जाव विहरित्तए पजू णं ! अज्जा ! चमरे अमुरिंदे अमुरराया
चमरचंचाए रायहाणीए सजाए सुहम्माए चमरंसि मोहा-
सणंसि चउसट्ठी सामाणियसाहस्सीहिं तायत्तीसाए जाव अ-
र्याइं च बहुहिं अमुरकुमारोहिं देवेदि य देवीदि य मदिं संपरि-
वुंने महयाइय जाव जुंजणाए विहरित्तए केवलं परिचार-
दीए एां चेव णं मेहुणवचियं ॥ भ० १० श० ५ उ० ॥

आसां पुत्रेवः—

तेणं काले एं तेषं समएणं रायागिहे णामं नयरी होत्था ।
वस्यओ तस्म-णं रायगिहस्स नगरस्म बहुआ उत्तरपुर-
च्छिमे दिमिजागे तत्य एो गुणसिले चेइए नामं चेइए
होत्था । वस्यओ—तेणं काज्ञेणं तेषं समएणं समएणस्स भग-
वओ महावीरस्स अंतैवानी अज्जसुहम्मं नामं येरा भग-
वंतो जाइसंपत्ता कुळसंपत्ता जाव चउइमपुंवी चउआणो-
वगया पंचहिं अणगागरमएहिं सक्किं संपरिवुक्का पुच्चाणु-
पुच्चि चरमाणा मामाणुणामं दूइज्जणाया सुहं सुहेणं जेणे-
व रायगिहे नयेरे गुणमिलए चेइए जाव मंजमेणं तवसा
अप्राणं जावेमाणे विहरति । परिसा निग्गया । वम्मो क-
हिओ, परिसा जामेव दिंसं पाउञ्ज्या तांमं दिंसि पारु-

गया । तेषां काले एं तेषां समए एं अजमुहम्मस्स अणुगारस्स अतेवासी अज्जजंबू नामं अणुगारे जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-जइ एं जंते ! समएणं जाव संपत्ते एं उट्ठस्स अंगस्स पदमस्स सुयक्खन्धस्स नायक्कयणस्स अयमंठे पठात्ते, दोषस्स एं जंते ! सुयक्खन्धस्स धम्म-कहाणं समएणं जाव संपत्ते एं के अट्ठे पत्थत्ते, एवं खलु जंबू ! धम्मकहा एं दसवग्गापएणत्ता । तं जहा-चरमस्स अग्रगमहिंसीणं पदमवग्गे ॥ १ ॥ बद्धियस्स वहरो-यण्णिदस्स वहरोरग्ग्न्तो अग्रगमहिंसीणं बीए वग्गे ॥ २ ॥ असुरिंदवज्जियाणं दाहिणिद्व्याणं ईदाणं तइए वग्गे ॥ ३ ॥ उत्तरिद्व्याणं असुरिंदवज्जियाणं जवणवासिंददाएणं अग्रगम-हिंसीणं चउत्ते वग्गे ॥ ४ ॥ दाहिणिद्व्याणं बाणमंतराणं ईदाणं अग्रगमहिंसीणं पंचमे वग्गे ॥ ५ ॥ उत्तरिद्व्याणं बाणमंतराणं ईदाणं अग्रगमहिंसीणं उट्ठे वग्गे ॥ ६ ॥ चंद-स्स अग्रगमहिंसीणं सत्तमे वग्गे ॥ ७ ॥ सूत्तस्स अग्रगमहिं-सीणं अट्ठमे वग्गे ॥ ८ ॥ सक्कस्स अग्रगमहिंसीणं नवमे वग्गे ॥ ९ ॥ ईमाणस्स अग्रगमहिंसीणं दसमे वग्गे ॥ १० ॥ जइ एं भंते ! ममएणं जाव संपत्ते णं धम्मकहा एं दसवग्गा पत्तत्ता । पदमस्स णं जंते ! वग्गस्स ममएणं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पत्थत्ते ? । एवं खलु जंबू ! ममए णं जाव संपत्ते णं प-दमस्स वग्गस्स पंच अज्जकयणा पन्नत्ता । तं जहा-काही १ राई २ रयण्णी ३ विज्जा ४ म्हा विज्जा ५ । जइ णं भंते ! ममएणं जाव संपत्ते णं पदमस्स वग्गस्स पंच अज्जकयणा पन्नत्ता । पदमस्स णं जंते ! अज्जकयणं समणे णं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पन्नत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेषां काझे णं तणं समए णं रायगिडे नगरे गुणमिन्नए चइए, सेणिए राया, चिन्नणाए दे-बीए, मायी समोरिए, परिसा निग्गया । जाव परिसा पज्जु-वासति तेषां काझे णं तेषां समए णं काझी देवीं चपरचंचाए रायहाणीए काझवर्त्तिसयज्जवणे कालांसि सी-हासणंसि चउट्ठिं सामाणियसाहसीं चउट्ठिं मयहरिया-हिं मपारिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्ताहिं अणिएहिं सत्त-हिं अणियाहिं वतीं हिं सोलसाहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अर्धेहिं य वहुएहिं कालवर्त्तिसयभवणवासां हिं अमुरकुमार-हिं देवोहिं य देवीं हिं य सद्धिं संपरिवुत्ता म्हायाहय जाव बि-हरइ, इमं च णं केवलकणं जंबूहिं देवीं णं विठले णं ओ-हिंणा आओपमाणी पासइ । जत्थ समं जगवं महावीरं जंबूहिं देवीं चारहे वासे रायगिडे नगरे गुणसिले चेए अहापबिरूवं ओगाहइ, ओगाहइत्ता संजेमणं तवसा अत्थाणं भावेनाणं पासइ, पासइत्ता इत्तुत्तुच्चिन्माखंडिया पीडमण जाव हियया सीहासणाओ उन्नुट्टेइ, उन्नुट्टेइत्ता पायपीहा-

ओ पंचोरुहइ, पंचोरुहइत्ता करयत्त जाव कहु एवं वयासी-नमोऽत्थु एं अरिहंताणं जाव संपत्ताए नमोऽत्थु एं समएस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स । वंदामि णं जगवं ! ते तत्थ गयं इह गया तिकहु बंदइ णमंसइ सीहास-णवरगंसि पुरत्थाजिमुहे सुहनसिभे तए णं तीसे कालीए देवीए इमेया रूवे जाव समुपज्जित्त्वा । सेयं खलु समए णं गवं महावीरं वेदिता जाव पज्जुवासिचए तिकहु एवं मं-पेइइ, संपहइत्ता आभिओगिअदेवं सहावेइ, सहावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुपिया समणे जगवं महावीरे एवं जहा सूरियाभे तहव आणवियं देइ जाव दिव्वं सुरचराजि-रामगमणं जागं करेइ, करेइत्ता जाव पच्छुपियाइ ते वि तहे-व करेत्ता जाव पच्छुपियाणंति, नवरं, जायणसहस्सावेत्थिअ जाणं, ससं तइव नाम गोयं साहइ, तहेव नइविहिं उवदंसेइ, उवदंसेइत्ता जाव पदिग्गया (जंतेति) भगवं गोयमे ! समए जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-कालीए णं जंते ! देवी सा दिव्वा देवद्वीओ कट्ठिं गया कूहागरसालादिहंतो ! अहो णं जंते ! काहीदेवीं महइया कालीए णं भंते ! देवीए सा दिव्वा देवद्वीए किष्वा लच्छा किष्वा पत्तत्ता अजिसमग्गा गया-एवं जहा सूरियाभस्स जाव एवं खलु गोयमा ! तेषां काले णं तेषां समए णं इहेव जंबूहिं भारे वासे आमलकप्पा नामं न-यरी होत्था । वसुओ-अंबसाहवणे चेए जियसत्तुराया । तत्थ णं आमलकप्पाए नयरीए काले नामं गाहावती होत्था । अहुं जाव अपरिचूए तस्स णं कालस्स गाहावइत्तस्स काळसिरीए नामं भारिया होत्था मुक्कुमाइ जाव सुक्का । तस्स णं काळ-स्स गाहावतिस्स धूया कालसिरीए चारियाए अत्तया काली णामं दारिया होत्था । वद्धा वहुकुमारी लुक्का लुक्कुमारी पट्टियपुत्थएणं निव्विअवरा वरगपरिवज्जिया वि होत्था । तेषां काले णं तेषां समए णं पावे अरहा पुरिसा दाणिए आइगरे जहा वच्छामाणसामो, णं णं, एवुस्सेहे सोहस-हिं समएसाहस्सिहिं अट्ठत्तासाए अज्जिअसाहस्सिहिं सक्किं संपतिवुडे जाव अंबसाहवणे समोसहे, परिसा णि-ग्गया जाव पज्जुवासति । तते णं सा काही दारिया इमी-से कहाए लच्छा समाएणं इह तइ जाव हियया जेणव अम्मापियरो तेणव उवागउत्ति, उवागउत्तिता कयल जाव-एवं वयासी-एवं खलु अम्मायाओ पासे अरहा पुरिसा-दाणीए आइगरे जाव बिहरइ । तं इच्छामि णं अमयाओ तुम्भेहिं अन्नणुआया समाएणं पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणो तेणस्स पायवंदणमिचए । अहासुइं देवाणु-पिया मा पदिचंचं करेइ । तस्स णं सा काली दारि-आ अम्मापिइहिं अम्भाणुआया समाएणं इहत्तुइ जाव हियया एहाया कयवत्तिकम्मा ! कयकोटयमंगलपायच्छिता

अग्रगमहिती

सुख्यावेसाति मंगलाति बत्याति पवरपरिहिया अण-
महृग्याभरणाक्षिक्रियसरीरा चेन्निआ चक्रवालपरिक्रिआ
साओ गिहातो पदिनिकलमट, पदिणिकलमट्चा जेणेव
बाहिरिया उवढाणसाला जेणेव धम्मियजाणपवरं तेणेव
उवागच्छति, उवागच्छिआ धम्मियजाणपवरं दुख्खा ।
तए णं सा काली दारिया धम्मियं जाणपवरं एवं जहा
देवाणंदाए जहापञ्जुवासइ । तए णं पासे अरहा पुरीमा-
दाणीए काळीए दारियाए तीमे महइ, महइचा महाक्षियाए
परिसाए धम्मकहाए तए णं सा काली दारिया पासस्स
ए अरहओ पुरिसादाणियस्स अंतिए धम्मं सोत्ता खि-
सम्म हचुत्तु जाव हियया पासस्स ए अरहओ पुरिसा-
दाणीयस्स तिक्लुत्तो वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-सहहामि
ए जंते ! निगंथं पावणं जाव से जहयं तुभे वयह जं
नवरं देवाणुप्पिया अम्मापियरो आणुप्पामि तएणं अहं
देवाणुप्पियाणं अंतिए जाव पव्वयामि । अहासुहं देवाणुप्पि-
या मा पडिबंधं करेह । तए णं सा काळिदारिया पासणं अ-
रहा पुरिसादाणीए ए एवं वुत्ता समणी हइत्तु जाव हि-
यया पासं अरहं वंदइ नमंसइ, नमंसइचा तमेव धम्मियं जा-
णपवरं दुख्खइ, दुख्खइचा पासस्स ए अरहो पुरिसादाणीए
अंतियाओ अंबसालवणचेऽयाओ पदिनिकलमट, पदिनि-
कलमट्चा जेणेव आमलकया नयरी तेणेव उवागच्छइ,
उवागच्छइचा आमलकपं नयरीमडं मज्जेणं जेणं व-
हिरिया उवढाणसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छि-
आ धम्मियं जाणपवरं ठावइ, ठावइचा धम्मियाओ जाण-
पवगओ पबोरुहइ, पबोरुहइचा जेणेव अम्मापियरो तेणे-
व उवागच्छति, उवागच्छइचा करयत्तपरिग्माहं एवं
वयासी-एवं खलु अम्मायो मए पासस्स ए अरहाओ
अंतिए धम्मं निसंते सेविय धम्मं इच्छिए पडिच्छिए अ-
भिरुहइ । तए णं अहं अम्मायो संसारभज्जिग्गा जी-
या जम्मपरणाणं इच्छामि एं तुभेहं अम्माण्णया समाणी
पासस्स ए अरहओ अंतिए मुंआ जविचा आगाराओ अ-
णगारियं पव्वइत्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह ।
तए एं कासे गाहावई विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं
उवक्खहावेति, उवक्खहावेतिचा मिचनानिनियगसयणसंबं-
धीपरिययं आमंतेइ । आमंतेइचा ततो पच्छा एहाए जाव विपु-
लेणं पुण्णवत्थंगंधमद्वाक्षिकारेणं सक्कारिआ संमाणित्ता तस्सेव
मिचणानिणियगसयणसंबंधिपरिययस्स पुरओ कालीदा-
रियं सेयापीएहिं कडमेहिं एहवेइ, एहवेइचा सव्वालंकार-
विभूसियं करेइ, करेइचा पुरिससहस्सवाहिणीयं सियं दुख्ख-
इ, दुख्खइचा मिचनानि जाव परियणसक्किं संपरिवुडे स-
व्वहीए जाव रवेणं आमलकपावनरिं मडं मडंमं नि-

गच्छइ, निगच्छइचा जेणेव अंबसालवणे वेइए तेणेव उवा-
गच्छति, उवागच्छइचा ठाटाइए तिच्छयराइं पासइ २ सीयं ठ-
वेइ, उवेइचा काक्षिया दारिया सीयातो पबोरुहइति, पबो-
रुहइचा तते एं तं कालीयं दारियं अम्मापियरो पुरओ का-
इं जेणेव पासं अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागच्छति, उ-
वागच्छिआ वंदंति, एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया का-
क्षियदारिया अहं वूया इहा कंता जाव किमंग! पुण पाण-
णयाए एस एं देवाणुप्पिया संसारजिउब्बिग्गा इच्छइ देवा-
णुप्पियाणं अंतिए मुंटे जविचा, जाव पव्वइत्तए तं एयमं
देवाणुप्पियाणं सिसिणिं भिक्खं दलयामो पडिच्छंतु णं
देवाणुप्पिया सिसिणिं भिक्खं । अहासुहं देवाणुप्पिया मा-
पडिबंधं करेह । तए एं सा काली देवी कुमारी पासं अ-
रिहं वंदइ, वंदइचा उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अक्कमति,
अक्कमट्चा सयमेव आजरणमद्वाक्षिकारा मुयति, मुयति-
चा सयमेव लोयं करेति, जेणेव पासं अरहा पुरिसादाणी-
ए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छिआ पासं अरहं तिक्लुत्तो
वंदंति नमंमंति, एवं वयासी-आक्षि ! तेणं भंते ! होए एं
जहा देवाणंदा जाव सयमेव पव्वाविओ तए णं पासं अरहा
पुरिसादाणीए काळीए सयमेव पुण्णुत्ताए अज्जाए सि-
सिणियचाए दलपइ । तए णं सा पुण्णुत्ता अज्जा काळि
कुमारि सयमेव पव्वावेइ, जाव उवसंपजिच्चाणं विहरति,
तते एं सा काळी अज्जया इरिया समिता जाव
गुत्तबंधचारिणी । तए णं मा काली अज्जा पुण्णुत्ताए
अज्जाए अंतिए सामाइयमाइयाइं एगारस अंगाइं अहिज्जइ,
अहिज्जइचा वहुहिं चउत्थं जाव विहरति । तए णं मा
काली अज्जा अणया कयाइं सरीरपासिओमिआ जाया
वि होत्था । अजिकखणं अणिकखणं हत्थं धोवइ, पाए धो-
वेइ, सीसं धोवेइ, मुंठो धोवेइ, यणंतरा य धोवेइ, कक्खंतरा य
धोवेइ, गुज्जंतरा य धोवेइ, जत्थ जत्थ वियद्धानं वासेज्जं
वा निसिंहियं वा चेएइ, तं पुव्वामेव अणुत्तिसिखचा तओ
पच्छा आसइ वा, सपइ वा तएणं मा पुण्णुत्ता अज्जा का-
ळि अज्जि एवं वयासी-नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया समणी-
णं निगंथीणं सरीरपाउसीपाण होंए तुमं व णं देवाणु-
प्पिया सरीरपाउसिया जाया वि होत्था । अणिकखणं
अणिकखणं हत्था धोवइति, जाव आसयाहि वा सयाहि वा, तं
तुमं देवाणुप्पिआ एयस्स इहाणस्स आलांएहिं जाव पाय-
च्छिचं पडिबज्जाहि । तए णं सा काली अज्जा पुण्णुत्ता-
अज्जाए एयस्सं नो आढाइ जाव तुमिणीया संचिइइ, त
एणं ताओ पुण्णुत्ताओ अज्जाओ काळि अज्जं अणिकखणं
इ हींतेति, निंदंति, सिमंति, गरहंति, अज्जमाणाति, अज्जिसत्ताए
२ एयमट्ठं निवारंति, तए णं तीसे कालीए अज्जाए समणीहिं

निगंभीहिं अभिकल्पं २ ह्रीलिज्जाणीए जाव वि-
हरिज्जाणीए इमेयारूवे अन्मत्थिए जाव समुपज्जित्या,
जया एवं अहं अगारवासमग्जे वसित्ता तथा एवं अहं सयं-
वसा, जणजित्ति च एवं अहं हुंका भवित्ता अगाराओ
अणगारियं पब्बइया तपजित्ति च एवं अहं परवसा
जाया । ते सेयं खलु मम कळं पाठ पत्तायाए
रयणीए जाव जज्ञेते पाठिकयं उवसंपज्जिता णं वि-
हरित्ताए तिकहु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कळं जाव
जज्ञेते पाठिकयं उवस्मयं गेहइ, गेहइत्ता तत्थ णं अणा-
वारिआ अणाहुइआ सच्चंदमती अभिकल्पं २ हृत्ये
धोवेइ, जाव आसयइ वा सयइ वा तए एवं सा काही
अजा पात्सत्ता पात्सत्थविहारी कुसीआ कुसीआविहारी अ-
हाउंदा अहाउंदविहारी संसत्ता संसत्तविहारी बहूणि वा-
साणि सामन्नपरियाणं पाउणिता अरूमासीयाए हेहणाए
अत्ताणं कसेइ, ऊमेइत्ता तीमं जत्ताइं अणमणाइं उेदित्ता
तस्स उाणस्स अणाउोइय अपाठिकंता कासे मासे कालं कि-
त्ता चपरचंचाए रायहाणीए कासि वरिसिए भवणे उववाय-
मजाए देवसयणज्जिमं देवदंसंनरिआ अंगुलस्स अंसखेउजइ
जागमेत्ताए आंगाहणाए काही देवं देविताए उववन्नाए ।
तए णं सा काही देवं अवहुणोववका समाणी पंचविहा-
ए पज्जत्ताए जहा सुरियाभे जाव भासायणपज्जत्तीए ।
तए एवं सा काली देवी चण्हं माभाणियसहस्सीणं जाव
अभेभं च बहूणं काही वरिसगजवण्णासीणं अमुरकु-
मारणां देवाणं य देवीण य आहेवच्छं जाव विहरइ, एवं
खलु गोयमा ! काहीए देवीए सा दिव्वा देवद्वी लच्छा पन्न-
त्ता अजिममएणा गया । काहीए एवं भंते ! देवीए केवति-
यं कालं उिची एणत्ता ? । गोयमा ! अहइज्जा तिपत्तिओ-
वपाइं उित्तं पन्नत्ता, काहीए एवं भंते ! देवीं ताओ देवदो-
गाओ अणतरं उव्वट्ठित्ता कहिं गच्छंहिति कहिं उववज्जि-
हिति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिञ्जइइ, एवं
खलु जंबू ! समणे एवं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पढमञ्ज-
यणस्स अयमठ्ठे पणत्ते ति वेमि [पढं अज्जयनं समत्तं] ।
जत्ति एवं भंते ! समणे एवं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं पढमस्स
वग्गस्स पढमज्जयणस्स अयमठ्ठे पणत्ते, वित्थियस्स एवं भंते !
अज्जयणस्स समणे एवं जाव संपत्ते एवं केअठ्ठे पणत्ते ? ।
एवं खलु जंबू ! तेषं कासे एवं तेषं समए णं रायगिहे नगरे
गुणसिद्धए चंद्रए सामी समासे वेरिसा निग्गया जाव पज्जु-
वासइ । तेषं कासे एवं तेषं समए एवं राई देवी चपरचंचाए रा-
यहाणीए, एवं जहा काली तदेव अगया नहुविहि उवदंसेत्ता
जाव पद्मिया [भंते त्ति] जगवं गोयमे ! पुब्बजवपुत्ता । एवं

खलु गोयमा ! तेषं काले एवं तेषं समए णं आमन्नकप्पा नयरी
अंबसालवणे चंद्रए जियसक् राया, राई गाहावई रायसिरी
भारिया राई दारिया पासस्स समोमरए राई दारिया जहेव
काही तहेव थिन्सित्ता तहेव सरंरियाउसिया, तं चेव सव्वं
जाव अंतं काहित्ति, एवं खलु जंबू ! वीयज्जयणस्स निक्खेवओ
॥१॥ जतिणं भंते ! तएयस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ, एवं
खलु जंबू ! रायगिहे नयरे गुणसिद्धे चंद्रए एवं जहेव राई तहेव
रयणी वि, नवरं, आमन्नकप्पा नयरी. रयणी गाहावती रयण-
सिरी भारिया, रयणी दारिया, सेसं तहेव, जाव अंतं काहित्ति
॥३॥ एवं विज्जू वि. आमन्नकप्पा नयरी, विज्जू गाहावतं
विज्जुसिरी जारिआ विज्जू दारिया, सेसं तहेव ॥४॥ एवं मे-
हाव. आमन्नकप्पा नयरी मेहा गाहावती मेहसिरी भारिआ
मेहा दारिआ, सेसं तहेव । एवं खलु जंबू ! समणे एवं जाव संपत्ते णं
धम्मकहा णं पढमस्स वग्गस्स अयमठ्ठे पणत्ते । इां २ शु० १ वगे।

चमस्स णं जंते ! अमुरिंदस्स अमुरकुमाररखो सोमस्स
महारखो कइ अग्रगमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अज्जो !
चत्तारि अग्रगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा- कणया
कणयत्तया चित्तगुत्ता वसुंयरा । तत्थ एवं एगमेगाए देव। ए
एगमेगं देवीमहस्सं परिवारो पणत्तो । पत्तुं एवं ताओ एगमे-
गा देवी अस्स एगमेगं देवीमहस्सपरिवारं विउत्तित्ताए ?
एवमेव सपुत्तारं एवं चत्तारि देवीसहस्सा सेसं तुट्ठिए ।
पत्तुं एवं जंते ! चमस्स अमुरिंदस्स अमुरकुमाररखो सोमे
महाराया सोमाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए सोमसि
सीहामणंसि तुट्ठिए एवं अवसेसं जहा चमस्स, णवरं, परि-
यारो जहा सुरियाभस्स, मेसं तं चेव, जाव एणं चेवं एवं मेहु-
खवत्तियं । चमस्स णं जंते ! जाव रखो जमस्स महारखो
कइ अग्रगमहिंसीओ ? । एवं चेव, णवरं, जमाए रायहाणीए, एवं
सेसं जहा सोमस्स । एवं वरुणस्स वि, णवरं, वरुणाए रायहा-
णीए, एवं वेमणस्स वि, णवरं, वेमणस्स रायहाणीए, एवं
सेसं तं चेव जाव मेहुणवत्तियं । वस्सिस्स णं भंते ! वररोयाधि-
दस्स पुत्ता । अज्जो ! पंच अग्रगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं
जहा-सुंभा थिमुंजा रंभा निरंजा मएणा । तत्थ एवं एग-
मेगाए देवीए अट्टट्टं, मेसं जहा चमस्स, णवरं, वस्सिस्स
रायहाणीए परिवारो जहा मेओदेनए, सेसं तं चेव जाव
मेहुणवत्तियं । वस्सिस्स णं भंते ! वररोयाधिदस्स वररोयण-
रखो सोमस्स महारखो कइ अग्रगमहिंसीओ पणत्ताओ ? । अ-
ज्जो ! चत्तारि अग्रगमहिंसीओ पणत्ताओ । तं जहा-भीणगा
सुभदा विज्जुआ अमणी । तत्थ एवं एगमेगाए देवीए, सेसं
जहा चमस्स । एवं जाव वेसमणस्स । अ० १० श० ५ ड०।
आत्तां पुंकेवः—

जइ णं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं दोच्चस्म वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबु ! समणे एं जाव संपत्ते णं दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्जया पक्खा । तं जहा—सुंभा ? तिदुजा २ नरं ३ निरंभा ४ पदया ५ । जइ खं जंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकटा एं दोच्चस्म वग्गस्स पंच अज्जयाया पक्खा । दोच्चस्म एं भंते ! वग्गस्स पदमज्जयाणस्स केअट्टे पक्के ! एवं खलु जंबु ! तेषं काझे एं तेषं समणं एं रायगिहे गुणसिल्ले चेट्ठे, सामी समोसंढे, परिसां जाव पज्जुवासति, तेषं काझे णं तेषं समणं एं सुंभा देवी बल्लिवेचाए रायहाणीए सुंजवडिसए जवणे सुंभंमि मिहासंखंसि कास्सिमणं एं जाव एट्टविहि उवदंसेत्ता जाव पाडिगया पुब्बनवपुच्छा । माचत्थी नवरी, कोट्टए चेट्ठे, जियसत्त राया, सुंभं गाहावडि, सुंजसिरी भारिआ, सुंजा दारिया, सेसं जहा काडोए, नवरं, अणुत्ताति पल्लिआवमाइं उतिं, एवं खलु जंबु ! उक्खेवओ पदमस्स अज्जयाणस्स, एवं सेसा वि चत्तारि अज्जयणा सावत्थीए, नवरं, माया पिया धूपसिरिनिनामया । एवं खलु जंबु ! निक्खेवओ वीयस्स वग्गस्स । इ०२५०१ अ०

धरणस्य—

धरणास्स एं भंते ! पागकुमारिंदस्स पागकुमाररणो कइ अग्गमहिमीओ पक्खाओ ? अज्जो ! पक्खाओ । तं जहा—अला सक्का मतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया । तत्थं एं पगमेगाए देवीए उ उ देवीसहस्रपरिवारो पक्खाओ । पनं । णं ता अओ एगमेगा देवी अयाए उ उ देवीसहस्रमाइं परिवारं वि उल्लिखत्तए, एवामेव सपुंवावरं उ उतीं मं देविमहस्साइं, सेत्तं तुट्टिणं । पत्तं ! णं भंते ! धरणं, मसं तं चेव, एवरं, धरणाए रायहाणीए धरणंसि सीहामणंमि सओ परिवारो, मसं तं चेव । धरणस्म एं जंते ! पागकुमारिंदस्स कालवाडस्स जोगवाडस्स महाराणो कइ अग्गमहिमीओ पाणत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिमीओ पाणत्ताओ । तं जहा—असोगा विमला सुपजा सुदंसणा । तत्थं एं पगमेगाए देवीए ०, अरवंसे जहा चमरदोगपालाणं, सेसायं तिण्हि वि ।

भूतानन्दस्य—

जूयाणंदस्स णं भंते ! पुच्छा । अज्जो ! उ अग्गमहिमीओ पक्खाओ । तं जहा—रूया रूपंसा सुरूया रूपंसा इव रूपंसा रूपंसा । तत्थं एं पगमेगाए देवीए ०, अरवंसे जहा धरणस्स । जूयाणंदस्स णं भंते ! पागकुमारस्स चित्तस्स पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिमीओ पक्खाओ । तं जहा—सुंनंदा सुभहा सुजाया सुमणा । तत्थं एं पगमेगाए देवीए ०, अरवंसे जहा चमरदोगपालाणं । एवं सेमाण वि तिण्हि वि लोणपालाणं तहा, दाहिणिद्धा इंदा, तेमिं जहा धरणस्स । लोणपालाणं वि, तेसिं जहा धरणलोणपालाणं । उत्तरिंदाणं जहा जूयाणं-

दस्स । लोणपालाणं वि, तेसिं जहा जूयाणंदस्स लोणपालाणं, एवरं, इंदाणं मव्वंसि रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिसणामागणि, परिवारो जहा मोआहेसए, लोणपालाणं सव्वंसि रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिसणामागणि परिवारो जहा चमरदोगपालाणं । ज० १० श० ५ उ ० ॥
जूतानन्दस्य—(एवमिति) यथा कालवासस्य तथाऽथेयाम्नि, नवरं. तृतीयस्थाने चतुर्थो वाच्यः । धरणस्य दक्षिणभागकुमारिणिकायन्दस्य लोकपालानामप्रमदित्थो यथा २ यन्नामिकास्तथा २ तन्नामिका एव स्वयं वाक्त्रिणात्यानां देवाणामग्रानां वेणुदेवहरिकान्ताश्रास्यपूणजलकान्तामितगतियेवस्यधोपाख्यानामिन्द्राणां य लोकपालाः सूत्रे दक्षिणास्तेषां स्वयंमिति । यथा च भूतानन्दस्यद्वितीयनागरजस्य तथा देवाणामग्रानामीन्द्राणां वेणुपालिहस्सिन्द्राक्षिमाणवसिज्जलप्रभामित्थादनप्रभञ्जनमधोपाख्यानां य लोकपालास्तेयामपाति । पत्तेवहाह—जहा धरणस्सेत्यादि ।

आसां पुर्वभवः—

उक्खेवओ नटयवग्गस्स । एवं खलु जंबु ! समणे णं जाव संपत्ते एं तइयस्स वग्गस्स चउप्पक्का अज्जयाया पक्खा । तं जहा—पदमं अज्जयाणं जाव चउप्पक्कत्तिप अज्जयाणं । जइ एं भंते ! समणे एं जाव संपत्ते एं धम्मकटा णं तइयस्स वग्गस्स चउप्पक्का अज्जयाया पक्खा । पदमस्स एं भंते ! अज्जयाणस्स समणे णं जाव संपत्ते एं केअट्टे पक्के ! एवं खलु जंबु ! तेषं काझे एं तेषं समणं एं रायगिहे नगरं गुणसिल्ले चेट्ठे सामी समोसंढे, परिसा निग्गया जाव पज्जुवासति । तेषं काले एं तेषं समणं एं अला देवी भारा रायहाणीए अलावडिसए जवणे अत्तेसि सिंहासणंसि, एवं काडो गमए णं जाव नटविहे उवदंसेत्ता पणिगया पुब्बजवपुच्छा । वाणारसीए काममहावणे चेट्ठे अत्ते गाहावती अल्लसिरी भारिआ अला दारिया, सेसं जहा कास्सिण, नवरं, धरणस्स अग्गमहिमित्ताए उववाओ साइरं अणुपालिपोवं उतिं, सेसं तहवा एवं खलु निक्खेवओ पदमज्जयाणस्स । एवं कपा सक्का सतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया वि, सव्वाओ एयाओ धरणस्स अग्गमहिमीओ । एते छ अज्जयाणा वेणुदेवस्स अरवंसेसा जाणियव्वा, एवं जाव घोसस्स वि एते चेव अज्जयाणा । एए चेव दाहिणिद्धाणं इंदाणं चउप्पक्कं अज्जयाणा भवंति, सव्वाओ वि वाणारसीए काममहावणे चेट्ठे तइयवग्गस्स निक्खेवओ । चउत्थस्स वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबु ! समणे एं जाव संपत्ते णं धम्मकटा एं चउत्थस्स वग्गस्स चउप्पक्का अज्जयाणा पक्खा । तं जहा—पदमं अज्जयाणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबु ! तेषं काले णं तेषं समणं एं रायगिहे समोसरं जाव परिसा पज्जुवासइ । तेषं काले एं तेषं समणं एं रूया देवी रूयाणंदारायहाणीए रुयगवडिसए जवणे रुयंसि

सीहामणंसि जहा कालिण तहा, नवरं, पुव्वजने चंपाए पुण-
जरे चेट्टए रूप गाहावती रुयगसिरी जारिआ रूया दारिया.
सेसं तहेव, नवरं, नूयाणंदा अग्गमहिंसिचाए उववाओ देह-
एणं पलिओवपडिती निक्खेवओ एवं खलु जंबू ! सुरूवा
वि रुयंसा वि रुअगवार्दे वि रुअकंता वि रूपपजा
वि, एयाए चेव उत्तरिह्वाणं इंदाणं भाणियन्वाओ जाव महा-
घोसस्स । निक्खेवओ चउत्थस्स वग्गस्स । हा०२.७०१ वगे ।

व्यत्तरेन्द्राणं कालस्वयं—

कालस्स णं भंते ! पिसायइंदस्स पिसायरओ कइ अग्ग-
महिंसीओ पण्णत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ
पण्णत्ताओ । तं जहा-कमला कमलपञ्जा लप्पला मुदंसा । त-
त्तं णं एगमेगाए देवीए एगमेगं देवीसहस्सं, सेसं जहा चम-
रल्लोणपालाणं, परिवारो तहेव, णवरं, काल्हाए रायहाणीए
कालंसि सीहामणंसि, सेसं तं चेव, एवं महाकालस्स वि ।

सुरूपस्वयं—

सुरूवस्स णं जंते ! जूईदस्स जूपरओ पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि
अग्गमहिंसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-रूपवई
बहुरूवा सुरूवा मुभगा । तत्थ णं एगमेगा०, सेसं जहा
कालस्स, एवं पक्खिवस्स वि ।

पुण्यमदस्वयं—

पुण्णजइस्स णं भंते ! जिकिखदस्स पुच्छा । अज्जो ! च-
त्तारि अग्गमहिंसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-पुष्पा बहुपु-
त्तिया उत्तमा तारया । तत्थ णं एगमेगा०, सेसं जहा
कालस्स, एवं माणिजइस्स वि ।

जीममहाजीमयोः—

जीमस्स णं जंते । रक्खसिंदस्स पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि
अग्गमहिंसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-पठमा पठमावई
कण्णा रायणप्पभा । तत्थ णं एगमेगा देवी०, सेसं जहा
कालस्स, एवं महाजीमस्स वि ।

किन्नरस्वयं—

किण्णरस्स णं जंते ! पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गम-
हिंसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-बईसा कंतुमई रइसेणा
रइपिया । तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं किंपुरिसस्स वि ।

सुपुरुषस्वयं—

सुपुरिसस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ
पण्णत्ताओ । तं जहा-रोहिणी नवमिया हिरी पुक्खवई । तत्थ
णं एगमेगा देवी०, सेसं तं चेव । एवं महापुरिसस्स वि ।

अतिक्रयस्वयं—

अइकापस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसीओ
पण्णत्ताओ । तं जहा-जुयगा भूयगवई महाक्क्या कुभा ।
तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं महाकालस्स वि ।

गौतरतेः—

गौयरइस्स णं जंते ! पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिं-

सीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-सुघोसा विमला सुस्सरा स-
रस्सई । तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं गीयजसस्स वि । सज्जे-
सि एएसिं जहा कालस्स, णवरं, सारंसनामगाओ रायहा-
णीओ सीहासणाणि य, सेसं तं चेव । ज०१.०७०५ व० ।

आसं पूर्वमवः—

पंचमवग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! जाव वत्तीसं
अज्जयणा पण्णत्ता । तं जहा-

कमला कमलाप्पभा, उप्पहा य मुदंसणा ।

रूववई बहुरूवा, सुरूवा मुभगा वि य ॥ ? ॥

पुन्ना बहुपुत्तिया च, उत्तमा तारया वि य ॥

पठमावती सुमई, कण्णा कणणप्पजा ॥ २ ॥

वदंसा केउमई च, रइसेणा रइपिया ।

रोहिणी नवमिया वि, हिरी पुक्खवई इय ॥ ३ ॥

जुयगा जुयगावती, महाक्क्या कुडाइया ।

सुघोसा विमला चेव, सुस्सराइ सरस्सई ॥ ४ ॥

उक्खेवओ पदमज्जयणस्स । एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं

तेणं ममए णं रायगिडे णयरे समोसरणं जाव पञ्जुवासइ ।

तेणं काले णं तणं समए णं कमला देवी कमलाए रायहाणीए

कमलवार्दिसए जवणे कमलंसि सीहासणंसि०, सेसं जहा

काल्हाए तहेव, नवरं, पुव्वजने नागपुरे णगरे सहसंबवणे

उज्जाणे कमलस्स गाहावइस्स कमलसिरी भारिया कमला

दारिया पासस्स णं अंतए निक्खंता, कालस्स पिसायकुमा-

रिंदस्स अग्गमहिंसीओ अक्खण्णिओवपडिती, एवं सेसावि

अज्जयणा । दाहिणिह्वाणं बाणमंतरीदाणं भाणियन्वाओ स-

व्वाओ, नागपुरे सहसंबवणे उज्जाणे मायापियरो पूयासिरि-

सनामया ठिवी अक्खपलितोवमं । पंचमो वग्गो सम्मत्ता ॥ ५ ॥

उद्धो वि वग्गो पंचमसारिओ, नवरं, महाकालिदाणं उत्तरि-

ह्वाणं इंदाणं अग्गमहिंसीओ पुव्वजने साएए एयरे उत्तरकु-

रुउज्जाणे मायापियरो धूयमिरिणाभया सेसं तं चेव ।

उद्धो वग्गो सम्मत्ता । हा० २ ख० ६ व० ।

ज्योतिष्कन्दाणाम्—

चंदस्स णं जंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरओ कति अग्ग-

महिंसीओ पण्णत्ताओ ? । चत्तारि अग्गमहिंसीओ पण्णत्ताओ ।

तं जहा-चंदप्पभा जोसिणाजा अच्चिमाही एभंकरा । तत्थ णं

एगमेगाए देवीए चत्तारि चत्तारि देवीसाहस्ससीओ परिवारो

पण्णत्ताओ । पञ्च ! णं ततो एगमेगा देवी अण्णाई चत्तारि चत्तारि

देवसाहस्साई परिवारं विउण्वित्तए, एवामेव सणुव्वाव-

रेखं सोससेदेवीसाहस्ससीओ पण्णत्ताओ, सेसं तुमिणं ।

(चंदस्स णं भंते ! इत्यादि) चन्द्रस्य अदन्तं । ज्योतिषेन्द्रस्य

ज्योतिषराजस्य कति कियस्संकाया अग्रमदित्यः प्रकृताः ? ।

जगवान्नाह—गीतमं ! अतस्त्रोऽग्रमदित्यः प्रकृताः । तद्यथा-च-

न्द्रमजा (जोसिणाभेति) ज्योःस्तानाम्, अच्चिमाली, प्रभङ्गा ।

(तस्य णमित्यादि) तत्र तासु चतसृष्वप्रमहिषीषु मध्ये एकैक-
स्या देव्याश्चत्वारि ३ देवीसहस्राणि परिवारः प्रहसः । किमु-
क्तं भवति । एकैका अग्रमहिषी चतुर्णां चतुर्णां देवीसहस्रा-
णां पट्टाङ्गीनामेकैका च सा इत्यभूताऽग्रमहिषी, परिवारणाव-
सरे तथापि च । ज्योतिष्काराजस्य चन्द्रदेवैश्चासुपलन्त्य प्रहृ-
रम्यानि आत्मसमानरूपाणि चत्वारि देवीसहस्राणि विकुर्वितुं
स्वाभाविकानि, पुनरन्वयेय उक्तप्रकारैव पूर्वपरमीलनेन वारु-
शदेवीसहस्राणि चन्द्रदेवस्य प्रवर्ति । "सप्तं तुभिय" तत्रैव
तावत् शुटिकमन्तःपुरं व्यपदिश्यते ।

सनायामभोगः-

पञ्च । णं जंते ! चंदे जोतिसिंदे जोतिसराया चंदवर्दिसए
विमाणे सजाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुदिणए स-
किं दिव्वाइं भोगभोगाईं जुंजमाणे विहरित्तए ? गोयमा !
नो इण्णहे समइ । से केण्णहे णं भंते ! एवं बुबइ ? नो पञ्च !
चंदे जोइसराया चंदवर्दिसए विमाणे सभाए सुधम्माए चं-
दंसि सीहासणंसि तुभिय णं सकिं विपुलं भोगभोगाईं जुं-
जमाणे विहरित्तए ? गोयमा ! चंदस्स णं जोतिसिंदस्स जो-
इसरखो चंदवर्दिसए विमाणे सभाए सुधम्माए माणवगंसि
चेतियखंजंसि वरुणामयेयु गोवल्कलसमुगएपु बहुयाओ जि-
एसकहाओ चिट्ठिंति, जाओ णं चंदस्स जोतिसिंदस्स जो-
तिसरखो आणोसिं च बहुयां जोतिसयाणं देवाण य
देवीण य अब्धिणज्जाओ जाव पञ्जुवासिणज्जाओ तामि
एं परिहाए नो पञ्च ! चंदे जोइसराया चंदवर्दिसए जाव
चंदंसि सीहासणंसि जुंजमाणे विहरित्तए, मे तेण्णहे गौ-
यमा ! नो पञ्च ! चंदजोतिसराया चंदवर्दिसए विमाणे सभा-
ए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुदिणए सकिं दिव्वाइं
जोगजोगाईं जुंजमाणे विहरित्तए अदुत्तरं च णं गोयमा !
नो पञ्च ! चंदजोतिसिंदे जोतिसराया चंदवर्दिसए विमाणे
सजाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि चइहिं सामाणियस-
हस्सीहिं जाव सोइससहिं आयरकस्वदेवसाहस्सीहिं अत्रे-
हि य बहुहिं जोतिसिणहिं देवेहि य देवीहि य सकिं सपरि-
बुडे महयाहयएण्णगीयवाइयतंतीतलत्तान्नुविद्ययणमुंगपकु-
प्पवाइयरेणं दिव्वाइं भोगभोगाईं जुंजमाणे विहरित्तए
केवलपरियारतुदिणए सकिं जोगभोगाईं चोसहिंए बुक्कि-
ए नो च व णं भइणवत्तियं ।

(पञ्च णं जंते । इत्यादि) प्रभुभेदन्त ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्यो-
तिषराजस्य चन्द्रावन्तसक विमाने सनायां सुधमायां चन्द्रे सिहा-
सने शुटिकेनाम्तःपुरेण सार्द्धे दिव्यात् भोगभोगान् भुञ्जमानो
बिहंतुमासितुं भगवानाह- गौतम ! नायमर्थः समर्थः । अत्रैव
कारणं पृच्छन्ति- (स केण्णमित्यादि) तत्रैव भगवानाह-
गौतम ! चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य चन्द्रावन्तसक
विमाने सनायां सुधमायां माणवकनैयस्सन्नेन वज्रमेधेयु गो-
वल्कलसमुद्रकेतु ते च यथा तिष्ठन्ति तथा विजयराजधामगत-
सुधमासभायामिव द्रष्टव्यम् । बहुनि जिनसकथां नि सञ्चिह्नन्ति नि

तिष्ठन्ति यानि । सूत्रे श्रीव्यतिदेशः प्राकृतत्वात् । चन्द्रस्य ज्योति-
षेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य भवेनीयानि पुष्पादिभिवःवनीयानि
विशिष्टेः स्तोत्रैः स्तोतव्यानि पुजनीयानि वस्त्रादिभिः सकार-
णीयानि आर्घ्यप्रतिपत्त्या सम्माननीयानि जिनांश्चितप्रतिपत्त्या क-
स्यायां मंगलं चैत्यमिति पुराणसामान्यानि (तांसि पविहाए ण)
तेषां प्रतिजिया तानि आश्रित्य नो प्रभुचन्द्रो ज्योतिषराजस्य चन्द्र-
वन्तसक विमाने यावच्छिद सैव्यमिति । (पञ्च णं गोयमा । इत्यादि)
प्रभुगतम् । चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराजस्य चन्द्रावन्तसक विमाने
सनायां सुधमायां चन्द्रे सिहासने चतुर्भिः सामानिकसहस्रै-
श्चतसृभिरप्रमहिषीभिः सपरिवारानिस्तित्स्वजिः पर्यङ्गः सप्त-
भिरनीकाधिपतिभिः वारुशानिरात्मरक्षकदेवसहस्रैरन्यैश्च बहु-
भिर्ज्योतिषेन्द्रैश्चैवैकीभिश्च सार्द्धे संपरिवृतो महयाहवेत्यादि पृ-
ष्वक्त् दिव्यात् भोगभोगान् भुञ्जमानो बिहंतुमिति न पुनर्मिथु-
नप्रत्ययं मैतुननिमित्तं दिव्यात् स्पर्शादीन् भोगान् भुञ्जानो
बिहंतुं प्रयुरिति ।

सूर्यस्याप्रमहिष्यः-

सूरस्स एं भंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरन्नो कति अग्रगमहि-
सीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि अग्रगमहिंसीओ पण-
त्ताओ । तं जहा-सूरिप्पजा आतपाभा अग्निपाली पजंकरा ।
एवं अबसेमं जहा चंदस्स, णवरिं, सूरिवर्दिसके विमाणे
सूरमि सीहासणंसि तट्ठेव ।

(सूरस्स एं भंते ! इत्यादि) सूरस्य भद्रन्त ! ज्योतिषेन्द्रस्य
ज्योतिषराजस्य कति अग्रमहिष्यः प्रहसताः ? । जगवानाह-गौत-
म ! चन्द्रोऽग्रमहिष्यः प्रहसताः । तथा-सूरस्य आतपाभा
अग्निपाली प्रजंकरा । तस्य णं परमगाए देवीए । इत्यादि चन्द्रवत्
तावद् वक्तव्यं, यान्तु नो चेष णं मैतुणवत्तियं, नवरं, सूर्यवत्-
सक विमाने सूर्यसिंहासने इति वक्तव्यम्, शेष तथय । जी०
४ प्रति० । स्वा० ।

अङ्गारकादीनाम्-

इंगालस्स एं भंते ! महागहस्स कति अग्रगमहिंसीओ ?
पुञ्जा । अज्जो ! चत्तारि अग्रमहिंसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-
विजया वेजयंती जयंती अपराजिता । तस्य णं एगमेगाए
देवीए०, सेसं तं चेव, जहा चंदस्स, णवरं, इंगालवर्दिसए वि-
माणे इंगालगंसि सीहामणंसि, मेसं तं चेव, एवं विद्यात्तस्स
वि । एवं अट्टासीए वि महागहाणं वचल्लया णिरवत्सेसा
भाणियव्वा जाव जावकेउस्स, णवरं, वदिमगा सीहासणा-
णिय य सरिसखामाणिय, मेसं तं चेव । भ० १० श० ५
ठ० । जीवा० । स्या० ।

आसां पूर्वप्रवचः-

सप्तमवगस्स उक्खेवो । एवं खलु जंबू । जाव चत्तारि अ-
ज्जयणा पण्णत्ता । तं जहा-सूरप्पभा आयंवा अग्निपाली
पजंकरा । पढमस्स अज्जयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू !
तेणं काळेणं तेणं समए णं रायगिडे समोसरणं जाव परि-
सा पञ्जुवासति । तेणं काळेणं तेणं समए णं सूरप्पजा देवं ।
सूरंसि विमाणंसि सूरप्पजंसि सीहासणंसि सेसं जहा का-
लिए तट्ठा, नवरं, पुववभवो अक्खुपुरीए नयेरे सूरप्पभस्स

गाहावद्दस्स सुरसिरिए भारियाए मूरप्पजा दारिया मूर-
स्स अग्गमहिंसी तिती अक्खपत्तिआवयं पंचहिं वाससएहिं
अभ्भइयं, सेसं जहा कासिए । एवं सेसाओ वि सच्चाओ
अक्खपुत्तुरीए नयरीए [सत्तमवगो सम्मत्तो] ॥७॥ अद्धमस्स
वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू । जाव चचारि अक्खयथा
पत्तत्ता । तं जहा—चंदप्पभा दी।तिप्पजा अग्निमाली पट्टंकरा ।
पट्टमस्स अक्खयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू । तेणं काले
णं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पञ्जुवा-
सइ । तेणं काले णं तेणं समए णं चंदप्पजा देवी चदप्पजंसि
सीद्दासणंसि, सेसं जहा कालिए, नवरं, पुव्वभवे महुराए न-
यरीए भंभीवंसिए, उज्जाए चंदप्पजे गाहावद्दं चंदसि-
री भारिया चंदप्पभा दारिया चंदस्स अग्गमहिंसी तिती
अद्धपत्तिआवयं पच्चासं वाससहस्तेहिं अच्चाइयं, सेसं जहा
कालीए, एवं सेसाओ वि महुराए नयरीए भायापियरो
धुयसिरीनामया [अट्टमो वग्गो सम्मत्तो] ॥७॥ ५ श्रु० ।

वैमानिकानां शाक्य—

सक्कस्स णं भंते । देविंदस्स देवरणो पुच्छा । अज्जो ! अद्ध
अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ । तं जहा—पठमा सिवा सेवा
अंजुं अमला अच्छरा नवमिया रोहिणी । तत्थ णं एगमे-
गाए देशेए सोत्तस ५ देवीसहस्सपरिचारे पएणत्ताओ । पभू !
ए तं आओ एगमेगा देवी अच्चाई सोत्तस ५ देविसहस्सा-
ई परिवारं विउत्तवत्तए । एवामेव सपुव्वावरणं अट्टावी-
सुत्तरं देवीसपयसहस्सं परिवारे विउत्तवत्तए, सेत्तं तुप्पिए ।
ज० १० श्रु० ५ उ० ।

उपासकदशाङ्कटीकायां काम्यदेशवकल्पतायामभयदेशवसुरिणा
अग्रमहिर्षीपरिवारः प्रत्येकं पञ्चसहस्राणि, सर्वमीक्षने चत्वारि-
ंशसहस्राणांति लिखितम्, तस्मिन्त्यम् । जं० स्था० ।

जोगः—

पभू ! णं भंते । सक्के देविंदे देवराया सोहम्मे कप्पे सोह-
म्मवदंसिए विभागे सजाए सुहम्माए सक्कंसि सीद्दासएणंसि
तुप्पिए णं सक्किं, सेसं जहा चपरस्स, खरं, परिवारे जहा
माओइसए ।

शकलोक्पालानाम्—

सक्कस्स णं भंते । देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारएणो
काति अग्गमहिंसीओ । पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिंसी-
ओ पएणत्ताओ । तं जहा—रोहिणी मट्टया चित्ता सोभा । तत्थ
ए णं ०, सेसं जहा चपरलोगपालाणं, णवरं, सयंपजे विभागे
सभाए सुहम्माए सोमंसि सीद्दासणंसि, सेसं तं चेव, एवं जाव
वेसमणस्स, णवरं, विभागाई जहा तइयमए । ज० १० श्रु०
५ उ० । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरणो वरुणस्स महारओ
सत्त अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ । स्था० ७ उ० ।

ईशानस्य—

ईसायस्स णं भंते । पुच्छा । अज्जो ! अद्ध अग्गमहिंसीओ
पय्थत्ताओ । तं जहा—काएटा काएहराती राभा रामरक्खिया
वत्तु वसुवुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा । तत्थ णं एगमेगाए०, सेसं
जहा सक्कस्स । ज० १० श्रु० ५ उ० स्था० ।

ईशानलोक्पालानाम्—

ईसाएस्स णं भंते । देविंदस्स देवरणो सोमस्स महार-
णो काति अग्गमहिंसीओ । पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गम-
हिंसीओ पएणत्ताओ । तं जहा—पुठ्ठी राई रपणी विज्जू ।
तत्थ णं ०, सेसं जहा सक्कस्स होमयासायं । एवं जाव वर-
णस्स, एवरं, विभाया जहा वत्तवत्तए, सेसं तं चेव जाव णो
चेव णं बेहुएवत्तियं । ज० १० श्रु० ५ उ० । सक्कस्स णं
देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारएणो उ अग्गमहिंसीओ
पएणत्ताओ । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरणो जम्मस्स महार-
णो उ अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ । स्था० ६ उ० । ईसा-
एस्स णं देविंदस्स देवरणो सोमस्स महारएणो सत्त अग्गम-
सीओ पय्थत्ताओ । ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरणो जम्मस्स
महारएणो सत्त अग्गमहिंसीओ पएणत्ताओ । स्था० ७ उ० ।
ईसायस्स णं देविंदस्स देवरणो वरुणस्स महारणो जव
अग्गमहिंसीओ पणत्ताओ । स्था० ९ उ० ।

भासां पूर्वजवः—

नवमस्स० उक्खेवओ । एवं खलु जंबू । जाव अद्ध अक्खयथा
पत्तत्ता । तं जहा—पठमा सिवा सुई अंजुं रोहिणी नवमिया इय
अचला अच्छरा । पट्टमअक्खयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु
जंबू । तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं परिसा
जाव पञ्जुवासइ । तेणं काले णं तेणं समए णं पठमावई देवी
सोहम्मे कप्पे पठमवदंसिए विभागे सभाए सुहम्माए पठ-
मंसि सीद्दासणंसि, जहा कालीए, एवं अद्ध वि अक्खयथे
कालीगमए णं नेयच्चा, नवरं, सावात्थिए दा जणीओ हत्थि-
णाउरे दा जणीओ कोंपट्टपुरे दा जणीओ सासए दा जणी-
ओ पठमे पियरो विजया भायरो सच्चाओवि भासस्स अं-
तिपे पव्वइया सक्कस्स अग्गमहिंसीओ तिई सत्तपलिओव-
याई महाविदेहे अंतं काहिति [नवमो वग्गो सम्मत्तो] ॥ १॥
दमस्स० उक्खेवओ । एवं खलु जंबू । जाव अद्ध अक्खयथा-
पत्तत्ता । तं जहा—काएटा य काएहराई राभा तट्टा रामर-
क्खिया वसुया वसुवुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा चेव । ईसाणे
पट्टमअक्खयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू । तेणं काले णं
तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं परिसा पञ्जुवासइ । तेणं
काले णं तेणं समए णं काएटा देवी ईसाणे कप्पे काइवदंसि-
ए विभागे सजाए सुहम्माए काइंसि सीद्दासणंसि०,
सेसं जहा कालीए । एवं अद्ध वि अक्खयथा काली-

मप एणं नेयव्वा, नवरं, पुव्वज्जे वणारसीए नयरीए दो जणीओ रायगिहं नमरे दो जणीओ सवत्थीए दो जणीओ कोमवीए दो जणीओ रामोपिया धम्मा माया सव्वावि पासस्स अरहत्तो अंतिए पव्वइयाओ पुफ्फुल्लाए जज्जाए सिमिणीयत्ता एसोणस्स अभाग्गिहिंसीओ त्तिती नवपल्लिओवमाहं महाविहेहे वामे सिग्गिहिंहे जाव सव्वउरखाएणं अंतं काहिइ । एवं खतु जंजू । निक्खेवगो [दम्मो वग्गो सम्मत्तो] ज्ञाओ २ शुओ ।

कृष्णस्याग्रमहिष्यः—

कृष्णहस्स णं वासुदेवस्स अह्म अग्गमहिंसीओ, अरहत्तो णं अरिहन्तेभिस्स अंतियं मुंका भवित्ता अगाराओ अणगागारियं पव्वइत्ता सिक्काओ जाव सव्वउरखवप्पहीणाओ । तं जहा—पडभावेइ ये गोरी, गंधारी लक्खणा सुमीया । जंजूवइ सक्खपा रुप्पिणी अग्गमहिंसीओ ॥ १ ॥ स्याओ ८ ठाओ । अन्यत्रासं कथाकामक (आसां राजधान्यो ' रश्करपव्वय ' शब्दे वर्णिताः)

अग्गरस—अग्रवरस—पुं० अग्र्यः प्रधानो रसो येन्यस्ते अग्र्यरसाः । गृह्णारसोत्पादकेषु रसादिषु, गृह्णारस्ते च । उक्तं १४ अ० । रसाग्र—न० रसानां सुखानामग्रम् । प्राकृतत्वाद्प्रदाव्यस्य पृथे-
न्यात् । सुखप्रधाने, उक्तं १४ अ० ।

सुसंभिया कामगुणा इये ते, संपिन्दिया अग्गरसपव्वज्जा काइशाः कामगुणाः ? । अग्रधरसप्रज्जुताः—अग्रधः प्रधानो रसो येन्यस्ते अग्रधरसाः, गृह्णारसोत्पादका इत्यर्थे । यदुक्तम्—“र-
तिमात्याह्वरिः, मियजगणशब्देकामसेवाग्निः । उपवनगमनवि-
हारेः गृह्णारसः समुद्भवति ” ॥ १ ॥ अग्रधरसाश्च ते प्रज्जु-
ताश्च अन्व्यरसप्रज्जुताः, प्रचुरा इत्यर्थः । अथवाऽन्व्यरसेन गृ-
ह्णारसेन प्रचुरास्ताम् कामगुणान् (अमारस सि) चशब्दस्य गम्यमानत्वात् अग्रधा रसाश्च प्रथाना मधुरादयश्च प्रभूताः प्रचुराः कामगुणान्तर्गतत्वेऽपि रसानां पृथगुपादानमतिशुद्धितुल्या-
च्छब्दादिष्वपि वैशामेव प्रवर्त्तकत्वात् । कामगुणविशेषणं वा, अग्रधा रसास्त एव गृह्णारादयो वा येषु ते तथा । वृक्षास्वाहु-
रसानां सुखानामग्र रसाग्रं ये कामगुणाः । सूचे च प्राकृतत्वा-
द्प्रथशब्दस्य पूर्वनिपातः । उक्तं १४ अ० ।

अग्गद्व—अर्गल—न० वरुशितितरे महाहरि, सू० प्र० २० पाहु० ।
अजे—कलञ्च—मृत्कादित्वात् कुल्यम् । कपाटमध्यस्थे रोधके, क-
ह्लोते, कपाटे च । वाच० । “ अभासं फलिहं दारं, कवारं वा वि-
संअए । अथहंविद्या ण विट्ठिसा, गोअरमभाओ मुणं । ” ॥ १ ॥ अर्ग-
सं गोपादिसंबन्धिनाम् । द्वा० ५ अ० २ उ० ।
अग्गद्वपासग—अग्गद्वपाशुं क—पुं० यथावेत्ता निक्कियन्ते तेपु,
आवाओ २ शुओ १ अ० ५ उ० ।

अग्गलपाभाय—अग्गद्वपासाद—पुं० स्त्री० यथावेत्ता निक्कियन्ते
अग्गद्वपाशुं क—पुं० यथावेत्ता निक्कियन्ते तेपु,
आवाओ २ शुओ १ अ० ५ उ० ।

अग्गलपाभाय—अग्गद्वपासाद—पुं० स्त्री० यथावेत्ता निक्कियन्ते
अग्गद्वपाशुं क—पुं० यथावेत्ता निक्कियन्ते तेपु,
आवाओ २ शुओ १ अ० ५ उ० ।

विष्कम्भमात्रे, रोधकमात्रे, स्त्री० न० । वाच० । “अग्गला अग्ग-
लपासाया य वहरामहेतो ” रा० ।

अग्गवीथ—अग्रवीथ—न० । अग्रं वीजं येषां ते तथा, को-
रएटकादयः । अग्रं वा वीजं येषां ते अग्रवर्जिताः । ब्रीह्यादियु,
स्था० ४ उ० १ उ० ।

अग्गवेत्तो—दंशी—नदीपूर, दे० ना० २ अ० ।

अग्गमिहर—अग्रशिरस—न० शिराअं, “ घणनिषियसुवकलकल-
सुखयकूनागाराणिजाणिकुवमपिग्गियग्गसिरा ” तं० ।

अग्गमिहर—अग्रशिरस—न० वनस्पत्यादीनां शिखरात्रे, “सो
हियवरं कुरएगसिहरा ” औ० १ रा० ।

अग्गमुयक्तवन्ध—अग्रश्रुतस्कन्ध—पुं० आचाराङ्कस्य द्वितीयं श्रुत-
स्कन्धे, आचाओ २ शुओ १ अ० १ उ० ।

अग्गसोएका—अग्रशुक्ला—स्त्री० शुक्लात्रे, उपाओ २ अ० ।

अग्गह—अग्रह—पुं० आ—प्रद-अञ्च् । ममताऽभिनिवेशे, प्रति० ।
मिथ्याभिनिवेशे, चो० २ र १ व० । आवेशे, प्रासकौ, प्राकम्, अ-
नुप्रहं, प्रहणे च । वाच० ।

अग्गहच्छेयकारि (ष)—अग्रहच्छेदकारिन्—वि० सूर्यावि-
च्छेदके, “समाधिराज पतञ्ज, ददे तत्तस्वदर्शनम् । प्राग्रहच्छेद-
कार्यतयत्, तदेतदश्रुतं परम् ” ॥ १ ॥ ह्रा० २५ ह्रा० ।

अग्गहए—अग्रहए—न० अनादरे, “अहा पुण अग्गहणं, जाणं-
तो वा विपरिणमेज्जासं ” बु० ३ उ० । अनुपादानं, उक्तं २
अ० । “यसणमणुसिणज्जं, तिएहं अग्गहणंयणयाणं ” उक्तं
नि० १ अ० ।

अग्गहएवग्गला—अग्रहएवग्गला—स्त्री० वर्णगानेदे, कर्म० ६ कर्म ।

अग्गहत्य—अग्रहस्त—पुं० अग्रभासी हस्तश्चेति गुणगुणिनोर-
भेदात् । क० सं० । इत्यस्याप्रभोगे, वाच० । हस्तात्, अनु० ।

अग्गहि (ष)—अग्रहिन्—त्रि० अग्निनिवेशिनि, “ आग्रहं
यत ! निनीपति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पकृपातर-
रहितस्य तु युक्तिवेत्र तत्र मतिरिति निवेशम् ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ शुओ २
अ० ३ उ० ।

अग्गालीअ—अग्गाली (नी) क—न० अग्रज तदनी कं चिति गुण-
गुणिनोरेभेदात् । क० सं०, णत्वम् । वाच० । सैन्याप्रभागे, “जेणव
अरहस्स एणो अग्गालीअं तेषेव उवाचकृत्तिति उ० ३ वक्क० ।

अग्गा (गो) एीअ—अग्गायणीय—न० अग्रं परिमाणं, तस्या-
यं गमनं परिच्छेद इत्यर्थः, तस्मै हितमप्रायणीयम् । सर्वेद्व्या-
दिपरिमाणपरिच्छेदकारिणि द्वितीयायुषे, तत्र हि—द्वितीयम-
प्रायणीयम् । अग्रं परिमाणं तस्य अग्रं गमनं, परिच्छेद इत्य-
र्थः, तस्मै हितमप्रायणीयम् । सर्वेद्व्यादिपरिमाणपरिच्छेदका-
रिति भावार्थः । तथाहि—तत्र सर्वेद्व्यापानं सर्वेषुयागानां
सर्वेजीवावशेषाणां च परिमाणमुपवर्धयति । यत उक्तं ऋग्निह-
ता—“वीडयं क्रमणीयां तथा सव्यध्वज्या एज्जवाए य सव्यजी-
वाण य अग्गं परिमाणं वञ्चिअरसिं” । अग्गणीयं तस्य पदपरि-
माणं पदशुचितिपदशातसहस्राणि । न० संथा० । “अग्गणीयाणु-
व्वस्स से चोहसवत्पुज्जवालसच्चुञ्जिया वत्थ पक्खता ” । न० ।

अग्गि—अग्नि—पुं० अक्षत्यर्थे गच्छति, प्राग्नि-नि, नलोपः । “ खे-
हान्योवो ” सं । २ । १०२ । इति प्राकृतसूत्रेण वाऽन्योम्ने-

अग्गलपाभाय—अग्गद्वपासाद—पुं० स्त्री० यथावेत्ता निक्कियन्ते
अग्गद्वपाशुं क—पुं० यथावेत्ता निक्कियन्ते तेपु,
आवाओ २ शुओ १ अ० ५ उ० ।

ध्येऽकारः । अग्नि, अग्नी । प्रा० । वैश्वानरे, सि० । निम्नान्यानि निर्मथीनां श्रोत्रयेषामपि परस्परदर्शनेन बहवो दोषा अवन्तीति दर्शनायाग्निष्टधानप्रकृषये अग्निनिष्कृष उक्तः । यथा-

दुविहो य होइ अग्नी, दन्वग्नी चैव तह य भावग्नी ।

द्व्वग्निमि अग्नी, पुरिमो व घरं पलीवैतो ॥

द्विविधश्च प्रवयस्त्रिः, तथा—द्व्यग्निश्चैव भावाग्निश्च । द्व्यग्नाग्नी विद्यमाने अगारी अविरतितापुत्रयो वा शुद्धं प्रदीपयद् यथा सर्वस्वं दहति, एवं सार्धां वा सापुत्रो सर्जीवयुद् सद्भवं सत्वाग्निना प्रद्वीपयन् चारित्रसर्वस्वं दहतीति नियुक्तिगाथासंज्ञेयार्थः । अथ विस्तरार्थमभिहितसुद्ध्याग्नि विद्युण्णितित्यय पुण होइ दन्व, दहणादिगणकत्वणा अग्नी ।

नामोदयपञ्चदयं, दिप्ये देहं समापञ्ज ॥

तत्र तयोर्द्व्यग्निभावाभ्याम्भेभ्यो द्व्यग्निः पुनरयं भवति—यः ऋतु दहनान्दनेकसङ्कोपऽग्निः, दहनं भस्मीकरणं तद्धृषणः । आदिशब्दात् पञ्चनप्रकाशनलक्षणश्च । देहिमिध्ननकाष्टादिकं समासाद्य प्राप्य नामोदयप्रत्ययमुत्पन्नसर्पादिनामकर्मोद्घादोद्घातित्ये, स द्व्यग्निरुच्यते ।

किमर्थे पुनरयं द्व्यग्निरिति चेत् आह—

दन्वाइसन्निकरिसा, उपपन्नो ताणि चैव रुद्रभाषो ।

द्ववग्नि स्ति उ वृचद्, आदिमभावाइजुक्तो वि ॥

द्व्यग्नाभ्यांभ्यां व्यवधिदमन्तर्गणकाष्टं, तस्य, आदिशब्दात् पुष्यप्रयत्नादेश यः सन्निकर्षः समायोगकस्तमाऽनुत्पन्नः, ताम्येष काष्टाद्वीनि द्व्यग्निं दहद् यथायादिमैतदधिकलक्षणन भावेन युक्तोऽग्निनामकर्मोद्घनेत्यर्थः, आदिशब्दापारिभाषिकादि—भावेन च युक्तो वक्षते तथापि द्व्यग्नाग्निः प्रोच्यते, द्व्यग्नाद्वत्प्रो द्व्यग्नाणां वादाहकोऽग्निरिति व्युत्पत्तिसमाधत्तनात् ।

स पुनः कथं दीप्यते इत्याह—

मो पुणित्रणमासज्ज, दिपति संदीर्त्त य तद्भावा ।

नाणत्तं पि य लभप, इंधणपरिमाणतो चैव ॥

स पुनर्द्व्यग्निरिन्धनतृणकाष्टादिकमासाद्य दीप्यते, सीदती च विनश्यति, तद्भावादिधनाभावात् । नानात्वं विशेषस्तदपि च ब्रह्मते, इन्धनतेः परिमाणतश्च । तत्रेन्धनतो यथा—तृणाग्निः काष्टाग्निरित्यादि । परिमाणतो यथा—महति तृणाद्विन्धने महद्भवति, अल्पे वेद्येने स्वल्प इत्युक्तो द्व्यग्नाग्निः ।

अथ भावाग्निं नियुक्तिगाथापर्यन्तं व्याच्छेत्—

भावमि होइ वेदो, इचो तिविहो नपुंसगादां च ।

जइ तासि तद् अत्यि, किं पुण तासि तयं नत्यि ? ॥

प्राग् प्रायाम्निवेशात्प इत ऊर्ध्वं वक्तव्यो भवति । स च वेद्विन्धयो नपुंसकादिको ज्ञातव्यः । अथ परः प्राड—यदि तासां संयतीनां तर्क मोहनीयं स्यात् तर्हि युष्मज्जुक्तोऽग्निष्टधानतोऽपि सफलः स्यात्, किं पुनः परं तासां तर्क मोहनीयं नास्ति, अतः कुतस्तासां भावाग्नेः संभवो ज्ञेय इति भावः । एतन्नस्त्रत्र भावपिप्यते । अधानन्तरोक्तभावाग्निस्वरूपं स्पष्टयति—

उदयं पत्तो वेदो, भावग्नी होइ तदुवभोग्योणं ।

जावां चरितमादी, तं रुद्रइ तेण जावग्नी ॥

वेदः ऋग्वेदादिकस्यं प्रोक्तः सः, तस्य ऋग्वेदादिसंभवन्धी य उपयोः पुष्यभिशायादिब्रह्मणस्तेन हेतुभूतेन भावाग्निर्ज्ञेयति ।

कुन इत्याह—भावाकारिणादिकपरिणामस्त्वं प्रायं येन कारयन् बहति तेन जावाम्निरुच्यते । जावस्य दाहकोऽग्निर्भावाग्निरिति व्युत्पत्तः । कथं पुनर्देहतीति चेदुच्यते—

जह व सार्हाणरयणे, जवणे कस्मद् पमायदप्येणं ।

रुज्जोते समादिचे, अग्निच्छपाणस्म वि वसूणि ॥

इय संदीपणसंभा—सणोहि संदीपिअो मयणवर्हो ।

वर्जादो गुणरयणे, रुद्रइ अग्निच्छस्म वि पमाया ॥

यथा वा स्वाधीनरत्ने पञ्चरागादिबहुतरत्नकलिते जवने प्रमादेन द्येण वा समादांते प्रज्वालिते सति कस्यचिद्विज्यावेरनिच्छतोऽपि वसुनि रत्नानि वृक्षान्ते (इय सि) एवं संदेशमवलोक्तं, संभापणं मिथःकथा, ताज्यां संदीपितः प्रज्वालितो मदनवह्निरनिच्छतोऽपि सापुत्रास्त्रीजनस्य ब्रह्मादिगुणरत्नानि ब्रह्मचर्यतपःसंयमप्रतृतयो व शृणुस्त एव दीर्गयज्ञःक्षापहारितवा रत्नानि प्रमादादहति भस्मसात्करोति ।

अमुमेवार्थं उच्यते—

सुखिखणवाउबझा—भिदीवितो दिपते इहियं वन्दी ।

दिष्टिष्यरागानिल—समीरितो वि इय जावग्नी ॥

सुष्कन्धनेन वायुबलन वाऽग्निदीपितो यथा वह्निरपिकं दीप्यते (इय सि) एवं दष्टिरूपे यद्विन्धनं यच्च रागकोऽग्निर्लो वायुस्ताज्यां समीरित ईदीपितो भृशं भावाग्निरपि दीप्यते । वृ० १ उ० । कल्प० । 'अग्नेयेणको' 'घोर' शब्दे' (अग्नेः प्रथमोऽपादाद्यः 'उसह' शब्दे') बहुनामकं श्लाकात्किदं च, आ० म० प्र० । कृत्स्नकान्जत्रस्य देवतायाम्, स्या० ४ डा० २ उ० । 'कतिवा अग्निदेवताय' ज्यो० ३ पाठु० । सू० प्र० । 'दो अग्नीश्रो' स्या० २ उ० ३ उ० । 'वस्तारि अग्नी जाव जमा' । अग्निरिति कृत्स्नकान्जत्रस्य देवता यावद्यम इति । स्या० ४ डा० २ उ० ।

अग्नि (अ) य—अग्निक्—पुं० यमशिष्ये यमद्विनात्मके तापसे, "यमाख्यस्तापस्तत्र, स तापार्थेऽग्निकोऽयमत् । प्रपञ्चस्तस्य शिष्यत्वं, स घोरं तप्यते तपः । यमशिष्योऽग्निक् इति यमद्विनिरिति कुतः " आ० क० । आ० १ । आ० म० ह्रि० । आ० चू० । (अस्य कथानकं 'कोह' शब्दे)

अग्निश्रो—देशी—इन्द्रगोपकीडविद्येये, मन्वे च । दे० ना० १ घर्मा ।

अग्निक्जज—अग्निर्कार्ये—न० यागादिविधौ, स्या० ।

अग्निकारिया—अग्निर्कारिका—ज्ञो० अग्निर्कमेण, साधूनां प्रव्याग्निकारिकायुदासन भावाग्निकारिकैवाजुहाता । प्रति० । 'अग्निहोस्त' शब्दे चैतद् दृश्यम्)

अग्निकुमार—अग्निकुमार—पुं० अग्निश्चासौ कुमारश्च कुमारश्चेष्टमान इति लुचनपतिदेवजेदो, प्रज्ञो० १ पद । (अन्नराप्रमहि—प्याद्वस्तत्तच्छब्द एव इत्याः) ('लुचणवश' शब्दे चाऽस्य वर्णादिकम्)

अग्निकुमाराहुवण—अग्निकुमाराहान—न० तैजस्येयसंकीर्तने, "अग्निकुमाराहवणे भूवं एगे इहं वेति" पञ्जा० २ विव० ।

अग्निक्च—अग्नेयो—पुं० उन्नरयोः कृष्णराज्ययोर्मिथे अग्नेयो—अग्निमानवास्तोऽष्टमे लोकादितिकदं च, स्या० ५ डा० ३ उ० । प्रव० । ज० । ह्रि० । 'लोमंगित' शब्देऽस्य सर्वं वृत्तम्)

अग्निचञ्चल-अग्निधात्र-न०। सत्तरयोः कृष्णराज्ययोर्मध्ये वसोमाने
 ने आग्नेयनामलाकान्तिकदेवविमाने, स्था० ॥ ५ ॥ ३० ॥ ३० ॥ ३० ॥ ३० ॥
 अग्निजस-अग्निपुत्र-पुं० ॥ दीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, इ० ॥
 अग्निजोय-अग्निद्योत-पुं० ॥ अग्निपुत्रस्यैव ज्ञेयं विप्रजने, श्री-
 वीरस्यैव भवे वैत्यसन्निवेशे च । पठितकपूर्वाण्युक्तोऽग्निद्योतो
 नाम विप्रसिद्धपदीभूत्वा मृतः । कल्प० ॥ ३० ॥ ३० ॥
 अग्निदत्त-अग्निदत्त-पुं० ॥ प्ररसक्तेजसाभ्यग्निजसमकालजाते
 परवतक्तेजसे तीर्थकरे, न० । मद्रवाहोर्द्वितीये शिष्ये, कल्प० ।
 अग्निदहण-अग्निदहन-पुं० ॥ मद्रवाहोर्द्वितीये शिष्ये, कल्प० ।
 शरीरदहने, प्रश्न० १ आश्र० ३० ॥

अग्निदेव-अग्निदेव-पुं० ॥ दीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, इ० ।
 अग्निजीह-अग्निभीरु-पुं० ॥ चरदप्रयतोतपतेः रत्नले, भा० ॥ १० ॥
 अग्निगृह-अग्निनृति-पुं० ॥ मन्वसन्निवेशजाते ब्राह्मणजने, श्री-
 वीरस्य दृशमभवे, मन्वसन्निवेशे च । पदपञ्चागालकपूर्वाण्युक्तोऽग्नि-
 त्तिर्नामा ब्राह्मणसिद्धिपदीभूत्वा मृतः कल्प० आश्र० ३० ॥
 म० ॥ ३० ॥ श्रीमतो महावीरस्य इति वा गेणधरे, (अस्याऽऽयुरादिः
 'गणहृद' शब्दे, नवरमिन्द्रसूतो प्रवृजिते)

ते पञ्चदशो मूर्तेः, वीओ अग्निच्छर्द्दि अपरिसिण् ।
 वञ्चामि शुभापेमि, पराजिणिषा एतं समर्ण ।

तमिन्द्रसूति प्रवृजिते श्रुत्वा इति वाऽग्निनृतिनामा तत्सोऽदयंकपु-
 रवात्तरेऽयं गोकुलिजेताः समागच्छति जगवस्तस्मीपथ । केना-
 जिप्रायणेत्याह- (वञ्चामि णमिति) व्रजति णमिति वाक्यात्सङ्गारे ।
 आनयामि निजज्ञातरमिन्द्रसूतिम् । नत इति गम्यते, णत्ययमपि
 वाक्यात्सङ्गारे । तं भ्रमणमिन्द्रजालिकं कमपि पराजित्येति ।
 पुनरपि किं चिन्त्यससावागत इत्याह-

उलिओ क्लाराणा सो, मने माएदंजाक्षिओ वा वि ।
 को जाएह कइ बचं, चाहै वट्टमाणी मे ॥

जुञ्जेषिभ्युचनस्यापि मञ्जातेन्द्रसूतिः, केवलमहमिदं मन्ये
 ग्लहादिना इति तौऽसौ तेन धूंसन इहज्ञानिनिमग्नहृत्स्थानप्रदण-
 निपुणेन, येन केनापि जुञ्जेन ज्ञामितो मद्भृत्पूरित्ययः । अथवा
 मायन्डजाज्ञिकः कोऽपि निश्चितमसौ, येन तस्यापि जगजुरोर्म-
 ङ्गाद्भ्रामितं चेतः । तस्मात्किं वट्टना, को जानाति ग्लहाद्विज्ञानकं
 तयास्तत्र कथं वृत्तं, मयरां कुवत्या । इत ऊढं पुनर्मयि तत्र गते
 (से) तस्य तद्विन्द्याज्ञाप्यतिकरञ्जमितानामस्य क्चरनरात्मग-
 तवन्दनमात्रवृत्तिहेतवतः भ्रमणकस्य (वट्टमाणि) वा का-
 चिच्छासौ वर्तनी वा भविष्यति, सां द्रव्यत्वायं समगोऽपि लोक
 इति । किं च तेन तत्र गच्छता प्रोक्तमित्याह-

सो पक्वंतरमेगं, पि जाइ जइ मे त्थो मि तस्सेव ।
 सीसचं होज्ज गओ, तत्तो पओ निअसगासं ॥

को जानाति ताश्चिद्विन्द्यनिस्तेन कथमपि तत्र निजितो न ।
 किंतु एकमपि पत्तान्तरं पत्रविशेषं मं स यदि यात्यवबुध्यते,
 महिहितस्य सहेतुदाहरणस्य पत्रविशेषस्य स यद्युत्तरप्रदा-
 नेन कथमपि पारं गच्छन्तीति हृदयम् । नतः, मीति वाक्यात्स-
 ङ्गारे । तस्यैव भ्रमणस्य शिष्यत्वेन गतोऽहं भवेयमिति निश्चयः ।
 तत इत्यादिवाग्मजितं कृत्वा जिनस्य श्रीमत्प्रहावीरस्या-
 न्तिकं प्राप्त इति । नतः किमित्याह-

अग्नासिषो जिण्णं, जाइजरामरणविष्णुकुणं ।
 नापिण य गोपेण य, सत्वरण्णु सत्वरदरिमीणं ॥
 आभाषितश्च संतपितश्च जानिज्जरामरणविष्णुकुणेन सर्वे-
 न सर्वदक्षिणा च जिनेन । कथं, नाथा च हे अग्निभूते ! गोपेण
 च हे गौतमसगोत्र ! इति । इत्ये च नामगोत्राभ्यां संतपितस्य
 तस्य चिन्ताऽभूत् । अहो ! नामापि भव विजानाति, अथवा ज-
 गत्प्रसिद्धोऽहं, कः किल मां न भवति ? यदि हि मे इज्जनं संशयं
 ह्यास्यत्यपेनेष्यति वा तदा भवेन्नम विस्वय इति चिन्तयति
 तस्मिन् भगवानाह-

किं मणे अत्थि कम्मं, उयाहु नत्थि सि संसओ तुज्ज ।
 वेयपगाय य अत्थं, न याणियो तेमि मो अत्थो ॥

हे अग्निभूते गौतम ! त्वमेतन्मन्यसे चिन्तयसि यद्युत् कि-
 ष्यते मिथ्यात्वादिहेतुसमन्वितेन जीवेनेति कर्म ज्ञानावर-
 णादिकं तत्किमास्ति न वेदिति नृत्ययमनुचितस्तव संशयः ।
 अयं हि भवतो विरुद्धवेदपदिबन्धनो वर्तते, तेषां च वेदपदा-
 नामां स्वमर्थं न जानासि तेन संशयं करोषि । तेषां च वेदपदा-
 नामार्थव्याख्यापुनरस्मरसी यथा ज्ञानावरणादिकं कर्म प्राहित-
 स्तथा चास्मिन्नैव धन्यं ' कम्म ' शब्दे तृती० २४६ पृष्टे वक्ष्यते ।
 तं च प्रवृजितं भूत्वा, दृष्यो तद्वान्धवोऽपरः ।
 अपि जानु द्वेषदकि-हिंमानी प्रवृत्तदपि ॥ १ ॥
 बहिः शीतः सिधरो वायुः, संभवेन्न तु बान्धवः ।
 हारयेदिति पयच्छ, लोकायश्चावद्विद्मिः ॥ २ ॥
 ततश्च निश्चये जाते, चिन्तयामास चेतसि ।
 गत्वा जित्वा च तं धृतं, बालयामि सहोदरम् ॥ ३ ॥
 सोऽप्येवमागतः शीतं, प्रभुणा प्रापिनस्तथा ।
 हारयेदिति पयच्छ, ध्यकीकृत्वावद्विद्मिः ॥ ४ ॥
 हे गौतमाग्निभूते ! कः, संदेहस्तव कम्मणः ? ।
 कथं वा वेदतत्त्वार्थं, विभावयसि न स्पृदस्य ? ॥ ५ ॥
 स चायं ' पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्य-

म ' इत्यादि । तत्र ६ इति वाक्यात्सङ्गारे, यद् भूत-
 मतीतकाले, यच्च भाव्यं भाविकाले, तत्सर्वमिदं पुरुष
 एव भाव्येव । एवकाः कर्मेश्वरादिनिर्धारयः । अनेन च
 बन्धनेन यश्चरामरतिर्ये द्वेषेन वृथिष्यति कं वस्तु इत्येतं तर-
 वंभाव्येव । ततः कर्मणिर्यतः स्पृद पव । किं च । अन्-
 र्थस्यात्मनो मूर्त्तेन कर्मणाऽनुभव उपधातश्च कथं भवति ? ।
 यथा आकाशस्य बन्दनादिना मण्डनं सङ्गादिना स्रवणं च
 न संभवति; तस्मात् कर्म नास्ति इति तव चेतसि वर्तते । परं
 हे अग्निभूते ! नायमर्थः समर्थः । यत इमानि पदानि पुरुष-
 स्तुतिपराणि । यथा-त्रिविधानि वेदपदानि-कानिचिद्विधि-
 प्रतिपादानि । यथा-"स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादीनि ।
 कानिचिदुपादापरणि । यथा-"द्वादश मासाः सबत्सरः" इ-
 त्यादीनि । कानिचिद् स्तुतिपराणि । यथा-"इदं पुरुष एकः"
 इत्यादीनि । ततोऽनेन पुरुषस्य महिमा प्रतीयते न तु कर्माच-
 भावः । यथा 'जले विष्णुः स्थले विष्णु-विष्णुः पर्वतमस्तके ।
 सर्वभूतमयो विष्णु-स्तस्माद्भिष्णुमयं जगत्' ॥ १ ॥ अनेन हि
 वाक्येन विष्णुमहिमा प्रतीयते, नत्वप्यवस्तुतामभावः किं च,
 अमूर्तस्यात्मनो मूर्त्तेन कर्मणा कथमनुग्रहापघातो ? । तद्-
 प्युत्तम, यद्दुस्तेष्यापि कानस्य मधादिनोपघातो ब्राह्मणा-

अग्निजूट

सौषधेन वातुग्रहो हृद्य एष । किं च । कर्म विना एकः सुखी, भ-
 न्यो बुःखी, एकः प्रभुः, अन्त्यः किञ्च इत्यादि प्रत्यक्तं जगद्देविभ्यं
 कथं नाम संबलतीति भ्रूयात् नतसंशयः प्रमजितः । इति द्वितीयो
 गणधरः । कल्प० ॥ आ० म० ॥ (अन्वद् 'गणधर' शब्दे ऊर्ध्व्यम्)
 पायकविभ्रूयां, बीर्यं च । स्त्रीः० ६ ॥ ३० ॥ ६ ॥ ३० ॥ ६ ॥ ३० ॥
अग्निमाणाव-अग्निमानव-पुं० दाक्षिणात्यानामग्निकुमाराना-
 म्भिन्, स्था० २ ॥ २० ३ ॥ ३० ॥ ३० ॥ (अग्रमार्हिषीलोकपालादयश्चा-
 स्य 'अग्रमार्हिषीलोगपालाश्च' शब्धे तु निकृताः)
अग्निमात्री-अग्निमाली-स्त्री० । रतिकर्पवंतस्योत्तरेण दिश-
 तायां शकाममहिष्याम्, स्त्री० ।
अग्निमिष्ठा-अग्निमित्रा-स्त्री० । पोहासनगरवास्तवस्याजीविक-
 मतोपासकस्यैव्यकुम्भकारस्य सहास्रपुत्रस्य भार्यायाम्, उ-
 पा० ७ ॥ ३० ॥ ('सहास्रपुत्र' शब्दे ऽस्या बलक्यता)
अग्निमंहु-अग्निमेय-पुं० । अग्निवहाहकारजलं मेधे, ज० ७
 श० ६ ॥ ३० ॥
अग्निग-अग्निक्-पुं० । जसकमिधाने वायुविकारे, विपा० १ ॥ ३० १
 ॥ ३० ॥ इन्द्रत्सेन राज्ञा स्वमन्त्रितुतायास्त्यादितस्य सुरेन्द्रत्स-
 स्य दास्यं जाते पुत्रं, ('मण्डसू' शब्दे चैतद्विभक्तिः) आ० चू० १
 ॥ ३० ॥ आ० क० । वत्सगोत्रायान्तगोत्राभ्यं, स्था० ७ ॥ ३० ॥
अग्निग्लिय-अग्निम्-पुं० । अग्ने भवः । अग्र-डिमच् । ज्येष्ठज्जातरि,
 श्रेष्ठ, वाच० । "अग्निग्लिया पङ्क्तिग्लिया सेसं सार्धं पाउमः" ।
 पं० च० २ ॥ ३० ॥
अग्निगुण-अग्नि-पुं० । पञ्चपञ्चाशत्सेन महामहे, सू० प्र० २०
 पाहु० । चं० प्र० । " वेो अग्निगुणा " स्था० २ ॥ ३० ॥ ३० ॥
अग्निग्वेस-अग्निवेश-पुं० । सोमकसिद्ध आग्निवेदे, नं० ।
अग्निवेदय-पुं० । पक्षस्य चतुर्वेदे दिने, ज० १ ॥ वक्ष० । कल्प० ।
 ज० । दिवसस्य द्वाविंशतितमं मुहूर्त्तं, चं० प्र० । १० पाहु० ॥
अग्निवेशायण-अग्निवेदयायन-पुं० । अग्निवेश्याप्यमन्त्रिषे-
 ष्यः । गर्गोर्द्वयजिति यमप्रत्ययः । तस्याऽपत्यमन्त्रिषेऽयायनः ।
 अग्निवेशाधिपते, नं० । तन्नोत्रजति च । यथा-सुधर्मो गणधरः ।
 आ० म० ॥ ३० ॥ कल्प० । गोशासस्य मन्त्रितुपुत्रस्य पञ्चमं दि-
 कृत्वरं, म० १५ श० १ ॥ ३० ॥ द्वाविंशो दिवसमुहूर्त्तं, स० ३० स० म०
अग्निगसकार-अग्निगसकार-पुं० । अग्निना संस्कारां मन्वपुर्वेक-
 दाहः । विधानेन अग्निहृतदाहे, वाच० । " जावणया अग्निगस-
 कारः " ध्यापना नामाग्निगसकारः, स च प्रगथत श्रुपजनस्य
 निर्वोत्प्राप्तस्याऽन्येषां च सार्धनाग्निहृत्वाङ्गानामितरेषां च प्रथमं
 त्रिदशैः कृतः पञ्चाङ्गोकेऽपि संजातः । आ० म० ३ ॥ ३० ॥
अग्निगन्पत्ता-अग्निगन्पत्ता-स्त्री० । अग्निवर्षिण्यां ह्यार्यानीप-
 करस्य वासुपुत्रस्य दौशासत्यस्य उपपुत्रकशिबिकायाम्, स० ।
अग्निगन्पत्ता-अग्निगन्पत्ता-पुं० । तीप्रकापान्विते श्रुवि-
 भेदे, वाच० । यमुपहसता शुषत्सेनेन त्वमभवात्पुत्राङ्गि द्वैर्वर्ति-
 तम् । लनामभवाते प्राङ्गणजंवे, आन्वा० १ ॥ ३० ३ ॥ ३० ३ ॥ ३० ॥
 (अन्त्य कथायत्तं ' लीशोसपिञ्ज ' शब्दे ऊर्ध्व्यम्)
अग्निगसाहिय-अग्निगसाहिक-पुं० । अग्नेर्द्वयमात्स्येन साधा-
 र्ये, यथा- " हिरये व सुखे व जाव सावये च " इत्यादि । अ० ए ॥ ३०
 ३ ३ ॥ ३० ॥ ३० ॥

अग्निमिह-अग्निशिल-पुं० । अग्नेरिष वा शिखा
 यस्य । कुकुम्भवृक्षे, कुसुम्भवृक्षे च । वाच० । अग्निवर्षिण्याः सितम-
 दन्तनामकवासुदेवस्य-वन्दनामकवसुदेवयोः पितरि, तस० ।
 स० । आच० । श्रौतराजामग्निकुमारानामिन्ध्रे, स्था० २
 ॥ ३० ॥ ज्यलनशिखनाम्नो राज्ञो मित्रे च । उक्त० १ ३ ॥ ३० ॥
 अग्निपुत्र्यज्जाटायति, वि० । अग्निशिक्षेच शिक्षाममस्य झाङ्गि-
 कावृक्षे, स्त्री० । अग्निपुत्र्याग्रभागे, वि० । स्वर्णे, कुसुम्भपुत्रे
 च । न० । ६ ॥ ३० ॥ अग्निज्वालायायाम्, स्त्री० । वाच० । स्था० ।
अग्निमिहाराण-अग्निशिक्षाराण-पुं० । अग्निशिक्षाभुषा-
 दाय तेजस्कथिकानविराधयस्तु स्वयमवहामाने तु पाद्विहा-
 रनिपुण्ये चारणयेत्, प्रच० ६ १ ॥ ३० ॥
अग्निमहा-अग्निमेय-पुं० । वतेनायामभवसर्षिण्यां भरतस्यैव-
 जसम्भवाजिनसमकाक्षिकैरवतने तीर्थकरे, " भरह व सन्-
 धजिणो, देवय अग्निसेखजिनचन्दो " ति० । प्रारतज्जादिहं-
 मिसमकाक्षिकैरवतने तीर्थकरे च, " प्रदेवे अग्निदण्णेभि, पर-
 चय अग्निसेणजिनचन्दो " ति० । प्रच० ।
अग्निहोत्र-अग्निहोत्र-न० । अन्त्ये इत्यनेन । हु-प्र० ४ ॥ ३० ॥
 अत्रकण्वद्विष्ट्यापाननान्नं तदुदेह्यकहोमे, वाच० । तत्स्येव्यं च
 सत्यं धीपिताद् लौकिकप्रतिदिवनृष्ट्यादवगन्तव्यम् । यथा 'सिध' शब्दे
 शिबराज्विचरिभ्रांयास्थाने बर्हितम् । तत्र निर्ये कास्ये
 च वायञ्जिवमनिहोत्रं जुहोति । वाच० । 'जराभर्ये वापतस्येव्यं
 यदनिहोत्रं, तज्जराभर्यमेव, वायञ्जिविचरिभ्रांयास्थाने' । आ० म०
 ॥ ३० ॥ विद्ये० । भ्रूया, 'नित्यस्य उपसद्भिर्भक्तिवा मास्येकम-
 निहोत्रं जुहोतीति' भ्रूया च, कास्यस्य विधानमुक्तम् । वाच० ।
 एतच्चाकशिञ्जकरमिति सिकान्ते दृष्टितम्-
 हुएण एते पवयंति भोक्त्वां ॥ १३ ॥
 एके तापसप्राणनादयो हूतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति । ये किल
 स्वगोविफलमनास्य समिधा घृतादिनिर्दिष्ट्याचिरोद्धृताशनं
 तपयन्ति ते भोक्तायानिहोत्रं जुहोति, शेषास्त्वयुदायन्ति ।
 युक्तिं चात्र त आहु-यथा इमिः सुपर्णादीनामसं दृह्येव्यं द-
 हनसामभ्यर्दशनादात्मनोऽप्यामत्रं पापमिति ।
 इति पूर्वपक्षमुदाहर्य-
 हुतेण जे सिक्थिगुदाहरति
 सायं च पायं आगां फुमंता ।
 एवं भिया सिद्धिं हवेज्ज तदा
 अग्निं फुसंता कुकुम्भियां पि ॥ १४ ॥
 "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वयंकासः" इत्यस्माद्वाक्याद् ये केचन
 सूत्रा हुतेनाग्नी इत्यमकोपेण सिद्धिं सुगतिगमनादिकां स्व-
 गोवासिलक्षणासुदाहरति प्रतिपादयन्ति । कथंभूता, सायम-
 परागृहे विकाले वा, प्रातः प्रत्येरे वाऽग्निं सृष्टान्तो यथेहे-
 ईव्येरेभि तपयन्तस्तत एव यथेष्टगतिमभिभवन्ति । आहुञ्चैव-
 ते-यथा अग्निकार्याः स्यादेव सिद्धिरिति । तत्र च यथैवमन्त्रि-
 स्पष्टेन सिद्धिरिवेच्यते, ततस्तस्माद्भि सृष्टान्तो कुकुम्भियामङ्गा-
 रदाहककुम्भकारायवकारादीनां सिद्धिः स्यात् । यदपि च
 मन्वपुत्रादिकं तैवदाहियेते तदपि च निरन्तराः सुहृदाः प्रपश्ये-
 न्ति, यतः कुकुम्भियामप्यग्निकार्यं प्रकम्पायत्तमनिहोत्रिका-
 दीनामापि प्रसमसाकरणमिति मातिरिच्यते कुकुम्भिन्याऽग्नि-
 होत्रादिकं कर्मति । यदुच्यते-अग्निमुखा वै देवाः, यदपि

युक्तिफलत्वाद् वाङ्मात्रमेव । विष्टादिभङ्गणेन चाम्नेस्तेषां बहूनाद्योपेत्यस्येति । सूत्र०? सु० १ अ० । यदप्यनिहितम्-वेद्यानां प्रविशित्वाप्रतिनिपादात्कारणं वेदोविहितो हिंसा न द्वाष्य इति । तदपि वित्तयम् । यतो देवानां संकल्पमात्रेणप्रणामाभिमतता-हारभूत्वात्सास्वादस्युहितानां वैक्रियशरीर्याद् सुष्टुत्वावक्रित्तनुपुंसिनपयुग्मांसाद्याहुनिप्रतिवृद्धोनाविच्छेद्यं सुःसंभवा, औदारिकशरीरिणामेव तदुपादानम्-रूपवान् । प्रकृपाहारस्वीकारे च देवानां सम्भ्रमयदेहत्वाच्च्युपगमयाचः । न च तेषां सम्भ्रमयदेहत्वं भवत्पक्षे न सिद्धम् । "चतुर्थ्येते पदमेव देवता" इति अग्निविचयनप्रामाण्यम् । तथा च श्रुतिः- "शब्देतरन्वे युगप-ङ्गिरश्चन्द्रो यष्टुव । न सा प्रयाति सार्कथे, सूक्ष्त्वात्सदासुवत्" ॥१॥ इति । संति देवता । दूयमानस्य च वस्तुनां भस्मी-नामभ्रपलस्रज्जात् तनुपनेगाम्निता देवतानां प्रीतिः प्रलापमत्तव । अथि च । योऽप्ये वनाऽभिः स ब्रह्मविश्याकस्त्रिदेवता-नां सुब्रह्म, "अग्निमुखा वै देवाः" इति धृतः । तन्मध्येसम्-प्रध्यानाधमदेवानामेकैनेव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहायक्यो-षारणसंकरः प्रसज्यते । अथच । मुखं देहस्य स्वमेव मामस्तर-दपि येषां दाहात्मकं तेषामेकैकशः सवस्वदेहस्य दाहात्मकत्वं त्रिभुवनत्रयनत्रमीकरणाप्येवमितमेव समाधत्ते, ह्यथत्र-ति चक्षया । यच्च कारीर्यव्यादी वृष्ट्यादिकलाव्यभिचारर-न्त्रीणित्तदेवताऽनुग्रहेतुकं चकः । सोऽप्येकार्तिकः । अवि-ष्टानिचानस्यापि दर्शनात् । यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न तदादिभृतिभोजनत्रया तत्रनुग्रहः, किं तु सं देवताविशेषोऽतिशयज्ञानी स्वादेहाभिर्बन्धितं पुत्राचारं यदा स्वस्थानावस्थितः सन् जानीते तदा तत्कारिं प्रति प्रसन्नचेतोऽङ्गितस्त्वत्कार्यांतांवाशयास्तापयति । अनुपयोगादिना पुनरज्ञानानो जानानोऽपि वा पुत्राकर्तुरभायसहकृतः सन्न साधयति, इत्येकत्रकालानापादिसदकारिणास्त्वियंक्कथेव कायोपादेवस्थोपलभ्यते । स च पुत्रोऽप्यारः पशुविश्रसन्व्यतिरिक्तैः प्रकारान्तरैरपि सुकरः, तनिकमनया पापिकफलया शौनिकवृत्त्या । यच्च उग्राजज्ञलहो-मानपरराप्रवर्शकृतिस्त्वद्वादेव्याः परितोपायुगमानम् । तत्रकः किमाहः । कर्सांस्त्रिंशुच्छदेवतानां नथैव अथेतेऽकारात् । किं च तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादिनैव परितोपां न पुनस्तदुक्त्या । नि-म्बपत्रकटुकनैलाऽऽरनात्तधुमादीनां तुयमानइत्यागामपि तद-भ्रांशयत्रप्रसज्जात् । परमाथेतस्तु तत्सलहाकारिसमवधानसखि-धारापर्कानां भक्तिरेह तत्सफलं जनयति, अथेतेऽभिन्नाम्प्रायादी तथा दर्शनात् । स्या०? रे० ० ॥ ननु "न वि जाणसि वेद्यमुहं न वि जन्मणं सुदं ति" जयघोषेण पृष्टं विजयघोषोऽशुक्ल उ-त्तरदासं "वेद्याणं च मुहं श्रि, वृद्धि ज्ञाणं जं मुदं ति" जयघोष-मेव जिहासमानः । "अग्निहोत्रमुदा वेद्या जगद्वा वेद्यसं मुहं" । इति तथ्यमुत्तरदासो । विजयघोषः प्रब्रज । उ० ० १५ अ० । इत्यग्निहोत्रस्य सिद्धान्तरापि कर्तव्यत्वमच्युपगतं कथं दप्यते । सत्यम् । न तत्र प्राणियधप्रधानं इत्यग्निहोत्रं सुष्ठुते, किं तद्विध्यानिहोत्रमिदम् । तथाच तद्दीका-अग्निहोत्रमभिकारिका, सा

वेद "कर्मन्धनं समाश्रित्य, हटा सद्भावनाऽऽहुतिः । धर्मध्याना-ङ्गिना कार्या, दीक्षितानामिकारिका" ॥१॥ इत्यादिकपा परिगृह्यते । तद्वै मुखप्रधानं येषां तेऽग्निहोत्रमुक्त्वा वेदाः। वेदानो हि दृष्ट्या-देरिच नवनीतादि आरण्यकमेव प्रधानम् । उक्तं हि-"नवनीतं यथा दग्ध-भक्ष्यं न मलयादिषु । औषधेचयोऽसृष्टं यद-द्वेषार-ण्यकं तथा" ॥१॥ तत्र च अशुभकार एव धर्मं उक्तः तथा च तद्व-चः-"सत्यं तपः संतोषः संयमश्चारित्र्यमात्रं कृमा धृतिः अष्टा अहिंसेत्येनह्राविषमिह धामोति" ॥१॥ तत्र च धामशब्देन धर्मं एव विवक्षितः । एतदनुसारि श्लोकः कर्मध्यानाग्निहोत्रमिति । उ-क्तं ० २५ अ० ।

एतदेव प्रपञ्चितं दारिभद्राएके—

कर्मन्धनं समाश्रित्य, हटा सद्भावनाऽऽहुतिः । धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितानामिकारिका ॥ १ ॥
 कर्म ज्ञानावरणादिकं मूलप्रधानंन्याऽऽपकारं, तदेव दाह्य-त्वात्पुनर्व्यावृत्ति-ध्यानाधमन्धनं कर्मन्धनं तस्मान्मिथ्याङ्गीकृत्या-मिकारिका कार्येति योगः । किंविधा? हटा कर्मन्धनदादं प्रति प्रयत्ना । तथा सद्भावना शून्यता या जीघ्रस्य वासना सौधा-हुतिशून्यादिप्रकृतेपलक्षण यस्यां सा तथा । केन कारणभूतेनेत्या-ह-धर्मध्यानाग्निना धर्मध्यानमुपलक्षणत्वात्कृद्धानं तच्चाभिरि-वामिधर्मध्यानं च तदग्निश्च धर्मध्यानाग्निमनं कार्या विधेया । केनयाह-दीक्षितेन प्रपञ्जितेन । काऽर्सा? अग्निकारिका अग्नि-कर्मैति । इत्थं वैतदङ्गीकर्तव्यम्—दीक्षितस्य इत्याग्निकारिका अनुचिन्ता, तस्या नूतनापमदेकरुपत्वात्, तस्य च तन्निष्ठुत्पत्त्यं तत्रानधिकारित्वात् । अधिकारिवशाच्च धर्मसाधनसंस्थितिरिति प्रागुक्तम् । शूदस्थस्य तु स्वयं यत्नोपमर्दाननिष्ठुत्पत्त्येवामिधा-रित्वास्तां करोत्यपि । अत एव धूवृद्धनदीपप्रवाधादिना प्रका-रेण इत्याग्निकारिकापि कुर्वन्त्याहंनशूदस्था इति । अनन शोकेनेदमुक्तं भवति—यदि हे कुतोऽर्थिकाः ! यद्यं दीक्षितास्तदा कमलक्षणः समिधः कृत्वा धर्मध्यानलक्षणमग्निं प्रवाद्येव सद्भावनाशुतिप्रकृतेपतोऽग्निकारिका कार्या, नन्यथा, तस्या दी-क्षितानामनुचितत्वात् । यदि तु हतः ! शूदस्थास्तत्कृत्या पा, ततः कुरुवं इत्यग्निकारिकाभिति ॥ १ ॥

अथ ध्यानाग्निकारिकैव कार्या दीक्षितेनेति परस्मि-दानेनेव प्रसाधयथाह—

दीक्षा मोसार्थमाख्याता, ज्ञानध्यानलक्षं स च । शास्त्रं उक्तो यतः सूत्रं, शिवधर्मोत्तरं हृदः ॥ १ ॥
 दीक्षा प्रत्यया, मोक्षायां सफलकर्मनिर्मुक्तिनिष्ठासाध्याना त-त्त्वकपर्वनिर्मदिता । यत एषं ततस्तां प्रतिपन्नं मोक्षसाधक-मेयानुष्ठानमाश्रयणीयं न पुनर्द्व्याग्निकारिके इत्ययम् । उ-ध्याग्निकारिकैव साधनं मोक्षस्त्याशुद्व निराकरत्यायाह—(ज्ञानध्यानलक्षं स चेतिस) स पुनर्मोक्षा विज्ञानमुद्गैकप्रवायोः साधो धर्तते न पुनर्द्व्याग्निकारिकाया इति भावना । कथम-द्वयमस्ति प्रत्यङ्गयोगोचरत्यास्येति चेदं अह-शास्त्रे उक्तः आगमं ज्ञानध्यानफलतयाभिहितं इत्थं । यथापि हि प्रत्यङ्गानुमानयोसारवतीन्द्रियेवनागोचरनयाऽप्यागमाभिहितत्वात् ज्ञानफलतयाऽस्ती प्रतिपत्तव्याः आगमश्च प्रमाणतया सर्वमोक्ष-धादिनिरच्युपगत एव । यथापि च बौद्धैः स तथा नेष्यते, त-ध्यापि संशयादिदर्शनव्यवहारात् प्रवृत्तिवृत्तिहेतुत्वात् । स-कथंनच्युपगत पदेति । अथ कथमयसतिमिदं यदुत शोक्तैः क-

तत्फलतयाऽभिहित इत्याशङ्क्याह-यतो यस्मान्कारणात् सूत्र-
मर्थसूक्तं वाक्यं शिष्यधर्मोत्तरं शिवधर्मोभिधाने पराजिन्मते
शैवात्मविशेषं, हिरिति वाक्यालंकारे । अत्र पदद्वयमाग-
मिति । अतो भवद्वयपुनरुपगतयोः भोक्तृस्य ज्ञानाद्विकल्पतयोक्त-
व्यञ्ज मोक्षाधिना दीक्षितनानाधिहृता द्रव्याभिकारिका का-
र्येति ज्ञावाप्ये इति ॥ २ ॥

तदेतं सूत्रं दृश्येच्छाह—

पुत्रया विपुलं राज्य-मभिकार्येण संपदः ।

तपः पापविशुद्धयर्थं, ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥३॥

पुत्रया देवतायाः पुण्यापचर्चनरक्षणया न तु तदन्याया, तदन्य-
स्यास्तपाहानरूपत्वेन पापविशुद्धिमोक्षयोरैव संपादकत्वाद् । वि-
पुलं विस्तीर्णं राज्यं राजभाषो भवति, तन्कारकस्येति गम्यते ।
तथा अभिकार्येण कर्मावाभिना वा कार्यं कृत्यमभिकार्यम्, तेन
द्रव्याभिकारिकयत्वेऽपि, न ज्ञावाभिकारिकाया, तस्या ध्यानरूप-
त्वेन मुक्तिसाधकत्वात् । संपदः समृद्ध्या जन्वतीति गम्यम् ।
तथा तपोऽनशनानादि, पापविशुद्धयर्थमशुभकर्मकृत्याय भवति ।
तथा ज्ञानमवबोधोऽप्यविशेषः । ध्यानं च शुभचित्तकप्रतालक्षणम्, च
शब्दः समुच्चयं, मुक्तिं भोक्तृमदं जन्वतीति शिवधर्मोत्तरप्रत्य-
श्रवार्थं इति ॥ ३ ॥

एवं तावन् पराज्यपगमेवैव द्रव्याभिकारिकाकरणं दीक्षितस्य
द्विजन्तम्, अथ तस्यैव पूर्वां पुनरभिकारिकां च प्रकारांतरेण
द्वयप्राह—

पापं च राज्यमपन्तु, संभवत्यन्यतः ततः ।

न तद्वैतोऽरुपादान-मितं मय्यं विचिन्त्यताम् ॥४॥

न केवलं मुमुक्षोरभिकारिकाकरणमपार्थक्यं, पापं चाशुभं कर्म
च, राज्यसंपत्तु नरपतिव्यससृष्टिपु पुत्राभिकारिकाकरणान-
न्तर फलभूतानु सतोऽपु, संभवति संजायते । यत् एवं तत्स-
स्मादनप निरवयथं ते नैव भवति, तद्वैतोऽः राज्यसंपत्कारणयोः
प्राभिकारिकाकारणयोः अज्ञानमाधयणमिति । एतदनन्तरं पु-
त्राभिकारिकयोः अज्ञानस्य सत्पापत्वं ससृष्ट्युत्पत्तिसंज्ञानाना-
विरोधेन विचिन्त्यतां पर्यालोच्यतामिति । संपुण्योलोचितकारिणो
हि भवति मुमुक्षुव इति ॥ ४ ॥

राज्यसंपत्तु पापं भवतीत्युक्तं तद्व्याधिख्याक्तेयः क्रियते,

नतु राज्यसंपद्भावे भवतु नाम पापम्, दानादिना तु

तस्य शुक्तिर्नविष्यतीत्याशङ्क्याह—

विशुद्धिश्चास्य तपसा, न तु दानादिनैव यत् ।

तदियं नान्यथा युक्ता, तथा चोक्तं महात्मना ॥५॥

विशोधनं विशुद्धिः, सा पुनरस्य राज्यादियज्यपापस्य तपसा,
अध्यारणस्यैव संबन्धात्सपत्सेव अनशनानादिनैव, तपः पापवि-
शुद्धयर्थमिति घञनात्, न तु दानादिना न पुनर्दानहोमादिना,
दानेन जोगानमोनीति चञ्चनात् । तत् कथं दीक्षितस्य पुत्राभि-
कारिका युक्तं इति । इह च द्रव्याभिकारिकाया एव सुभयं कृणुं,
पुत्रायास्तु प्रासङ्गिकमित्यभिकारिकाया एव विगमनमाह—(त-
द्विधं मान्यथा युक्तेति) यस्मात् मुमुक्षुःस्येवैयं पापसाधनसंप-
त्तेरुत्तनात्, तस्माद्विमर्शकारिका, नैव, अन्वया धर्मध्याना-
भिकारिकायाः प्रकारान्तरापात्, अन्वयाभिकारिकयोः, युक्ता सं-
गतेति । विशोधनाईपापसाधकसंपत्तिमित्येव द्रव्याभिकारि-
काया अकारणीयवैव व्यासत्पार्थिव्याः संमतमिति दृश्ये-
च्छाह-तथा चोक्तं महात्मनेति । तथा च यथाऽऽत्मबुक्ताधेसंबादा
भवति, तथैव उक्तमिदं, तथात्मना परमस्वभावं, असावेनेति

शेषः । इह च यन्मिथ्यादृष्टेरपि व्यासस्य महात्मत्याभिधान-
माचार्येण कृतं, तपर्यसंमतानुकार्यमात्रमात्रमात्रं प्राप्यस्या-
विक्रणार्थमिति न दुष्टम् । संमतम् परमसा महात्मनया व्या-
सः । अत एव च तद्वचनं स्वपक्षे परमप्रतिजननयोऽप्यस्यस्तिमिति ॥५॥
तदेवाह—

धर्मोर्थे यस्य विवेदा, तस्यानांदा गरीयसी ॥

प्रज्ञालानां चि पङ्क्तस्य, दूरादपश्यन्तं वरम् ॥ ६ ॥

धर्मोर्थे धर्मोनिमित्तं, यस्य पुंसः, विवेका द्रव्योपार्जनचंदा कृषिवा-
णिज्यादिका, तस्य पुरुषस्य, अनींदा अचंचेदा विद्यानुपार्जनमेव, ग-
रीयसी अयसितरा, सङ्गततरयर्थः । अयमभिप्रायः-वित्तार्थं चेदा-
यामवश्यं पापं भवति, तन्नोपार्जनवत्सवितरणेनावश्यं शोष-
नीयं जन्वति । एवं च विद्याधेमेवैव वरतरा, वित्तवितरणविशो-
ध्ययापानात्वात्, परिग्रहारजनवर्जनात्मकात्वेन वेदाया एव च धर्म-
त्यादिति । अत्रार्थे ह्यहन्तमाह-प्रज्ञासनात्प्राप्तनात् सकाशाद् द्वि-
यस्मात्, पङ्क्त्याशुचिरूपकर्मस्य दूराद् विप्रकर्षादेव दर्शान्तमस्तेष्व-
मेव, वरं प्रधानमिति । इदमुक्तं भवति-यदि पङ्क्तं करत्तरणादिवर-
वः क्षिप्याऽपि प्रज्ञाननीयस्तदा वरमर्हति एव, एवं यथाभिकारि-
कां विधाय संपदं उपार्जनीयास्तत्तत्प्रयत्नानकं च पुनर्दानेन शांथनी-
यं, तदा सैवाभिकारिका चरमकृतेति । प्रयोगश्चेद-न विधेया मुमु-
क्षुणा द्रव्याभिकारिका, नसंपाद्यस्य कर्मपङ्क्तस्य पुनः शो-
धनीयत्वात्, पादादेः पङ्क्तैवयति । एवं तर्हि गृहस्थेनापि पु-
त्रादि न कार्यं स्यात्, नैवम्, यतो जैनगृहस्था न राज्यादिनिमित्तं
पुत्रां कुर्यन्ति । न च राज्याद्यावर्जितमवर्षं दानेन शोधयिष्यतम
इति मन्यन्ते, मोक्षार्थमेव नेषां पुत्रादी प्रवृत्तेः । मोक्षार्थितया च
विहितस्यापानानुसारिणो धीराणापुत्रादिमोक्ष एव मुख्यं फलम्,
राज्यादि तु प्रासङ्गिकम् । ततो गृहिणेः पुत्रादिकं नावि-
शेषम्, दीक्षितेतयोश्च अनुष्ठानस्यानन्तर्यं परार्पणं एव फलं
विशेष इति ॥ ६ ॥

दीक्षितोऽपि संपदर्थित्वे सानि युक्ता द्रव्याभिका-
रिकायाश्चान्निराकरणायाह—

मोक्षाध्वसेवया चैता, प्रायः शुभतरा ज्ञुवि ।

जायन्ते ह्यनपायिन्य-इयं सत्त्वास्त्रसंस्थितिः ॥ ७ ॥

मोक्षा निर्वाणम्, तस्याध्या मागः सत्यगुणोऽज्ञानचरणलक्षण-
सस्य संवाऽनुष्ठानं मोक्षाध्वसेवा, तथा, चशब्दः पुनःशब्दार्थः ।
तत्तथाभिकारिकायाः कार्यभूताः संपदः पापदंतुया अध्याभाः,
मोक्षाध्वसेवया पुनः शुभतरा जन्वतीत्यर्थो ह्ययते । अध्याध-
रार्थो वा अत्रादः, तेन मोक्षाध्वसेवैव, नाभिकारिकाकर-
ण एना अनन्तरादिता अभिकारिकाफलभूताः संपदः, प्रायो
बाहुल्येन । आशोधनं च कस्यापि मोक्षाध्वसेवाज्ञ एव नि-
र्वाणभावाच्च जायन्ते एवेति ज्ञापनार्थम् । शुभतरा अभिकारि-
कार्येण्यः सकाशात्प्रशस्ततराः भुवि गृहस्थेऽपि, जायन्ते भव-
न्ति । हिशब्दो यस्मादधेः, अनपायिन्यः पापवर्जिताः । यस्मा-
न्मोक्षाध्वसेवया प्रशस्ततराः, अनपायिन्यश्च संपदो जायन्ते, त-
स्मादियमभिकारिका नान्यथा युक्तेति प्रकम् । मोक्षाध्वसेवया
शुभतरा एता भवन्तीति कथमिदमवसितमित्याशङ्क्यामाह-
इह यमनन्तरादिता सत्त्वास्त्रसंस्थितानाविसंवादाकामगर्ववस्थाः,
यदाह—“मोक्षार्थमिप्रवृत्तस्य, महाज्ज्युदयव्ययः । संजायन्तेऽनु-
पङ्क्तं, पलासं सत्त्वपायि ॥१॥ मुमुक्षुणां च शास्त्रं अत्रा-
मेव । यदाऽऽह— न प्राणमागमादन्वृह, मुमुक्षुणां हि विद्यते ।
मोक्षार्थमे ततस्तप, यतितव्यं मनीर्षिभिरिति ॥ ७ ॥

अथ परस्मयसमाअयणैश्च उज्यात्मिकारिकाकरणं निराकृत्याह-

इष्टापूर्च न मोक्षाङ्गं, सकामस्पोपवर्णितम् ।

अक्रामस्य पुनर्वीका, तेव न्याय्याऽनिकारिका ॥ ८ ॥ इत्येते द्वीयते स्मेतीहम्, पुर्वेते स्मेति पुंस्ये, इह च पूर्णं वेदीष्टापूर्चमिति समाहाराद्व्याहः।हान्त्वसत्वावेष्टापूर्चम् । तदसकृपं चेदम्-“अतर्षेयां तु यद्दत्तं, ब्राह्मणानां समकृतः । श्रुतिभिर्भस्मस्वकारि-रिहं तस्मिधीयते ॥ वापीकृतडागानि, देवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामाः, पूर्णं तस्मिधीयते ॥ २५ ॥ तदेवमुक्तस्वरूपमिष्टापूर्चम्, न तेष, मोक्षाङ्गं मुक्तिकारणम् । इहायमानि-प्रायाः-स्वभिकारिका न मोक्षाङ्गमिष्टकर्मस्वरूपत्वात् । तस्या यतोऽन्तर्षेयाधामाप्रतिप्राधान्येन कर्माणिव्यस्त इति । कुतस्तन्न मोक्षाङ्गमित्याह-सकामस्याभ्युदयानिहाविषाः, यस्मात्स्वित्येव वाच्यवो-धो हृदयः । उपवर्णितमुपदिष्टम्, भवद्यत्सिकान्त एव यतः श्रूयते-“स्वर्गकामो यजेत” इत्यादि कृतिचन्मत् । तथा “इष्टापूर्चं मय्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मृदाः । नाकस्य पृष्ठे सुकृतेन श्रूया, इमं लोकं हीनतरं वा विशान्ति” इति । अथाकामस्य का वार्तेत्याहक्याह-अकामस्य स्वर्गप्राधानां-सकामो मुमुक्षोः, पुनःशब्दः पूर्ववैवाक्यायस्य विरोधाभिधायकः । योक्त कर्मन्धनमित्यादिना प्रतिपादिता, तेष, नान्या परान्युपगता, न्याय्या न्यायादनपेता । न्याय्याश्च दर्शित एव । अभिकारिकाऽ-निक्रियेति ॥ ८ ॥ इति चतुर्थाष्टकविवरणम् ॥ ४० ४ अष्ट ० । अभिहितसम्बन्धिष्वत्वाद् इविष्ये, यद्वा च । पुं ० । वाच ० ।

अभिहितोत्तवाइ (ए) अभिहितोत्तवादिन्-पुं० । अभिहितोत्तवादेव स्वयोगमनाभिष्ठाति, तस्मिन्कृते युक्तिवादिनि, “ अ अभिहितो-त्तवादी जलसोयं जे य इच्छति” इत्यादिउत्तवादिनां कुर्यात्त्व-त्वं दर्शितम् । सूत्र ० १ भू ० अ ० ।

अगुजाए-अग्रयोद्यान-न० । नगरादेशैर्हः प्रधानोद्याने, “ ह-न्थिलीसे जस्स नयरस्स बहिया अगुजाएने सत्थसन्धिवसं क-रोति” । इत् ० १ अ ० । आं ० मं ० । आं ० मं ० ।

अगोअ-आनेय-वि० अन्वैरिदम्, अन्वैरिद्वेतास्य वा ङक् । अ-न्वैरिद्वेताकं हविरादी, वाच ० । शास्त्रभेदं च । न० । सूत्र ० १ भू ० अ ० ।

अगोई (पी) आनेयी-स्त्री० अन्वैरिद्वेता यस्याः सा आनेयी । दक्षिणपूर्वस्यां विदिशि, (‘ विसा ’ शब्दे चकल्पता) न० । श ० १ ङ ० । स्थान ० । आं ० मं ० ।

अगोणीय-अग्रायणीय-न० । चतुर्दशपूर्वाणां मध्ये द्वितीयपूर्व, (अस्य विस्तरस्तु ‘अग्राणीय’ शब्दं) नं० । स्थान ० ।

अगोत (य) ण-अग्रोतन्-वि० । अग्रे भवति, अग्र-एट् । पौर-स्ये, आ ० मं ० प्र० ।

अगोदय-अग्रोदिक-न० । उपरितन उदकं, “लवणस्स पं समु-द्वस्स सत्ति जागसाहस्सीओ अगोदयं धारैति” अगोदयति-ओइवासहकोष्ठितया वेलाया यद्गपरि गम्यतिद्वयमानं कृत्वि-हामिस्वजावं तदग्रोदकम् । जीषा ० ३ प्रति० ।

अग्रय-राज-धा० द्वीतौ, न्यादि०, उभ०, अक्र०, सेट्, फणादिः । वाच ० । “ राजेरवन्नजस्सहरीरेहाः ” = १ । ४ । १०० । इति राजेरवन्नः । अग्रय, राजति, राजते । प्रा० । अग्र्ये-पुं० अर्ह-वच् । राजनाद्विद्वयक्ये मूल्ये, वाच ० । संधा० ।

अवा० मस्यभेदे, “ ह्यवणसमुद्गं अग्रियेषेण धरति वा जाग-राया अग्रासिहा विज्जाह वा ” अग्राद्येवा मस्यकच्छपविश-वाः । जी० ३ प्रति० ।

अर्ह-करणं घञ्, न्यङ्कादिवात् कृत्वम् । प्रोपवचारे दूर्वाङ्क-तादौ, वाच ० । पुष्पादिषु पूजाद्रभ्येषु, हा० १६ अ० ।

अग्र्ये-वि० अग्रयो देयं यत्परद्वयम् । पूजायै देयं अज्ञादौ, अ-र्थेऽज्यानि च “आयः क्षीरं कुशाभं च, दधि स्वपिः सतगुडुस्रम् । यवः सिक्कार्थकश्चैव अष्टाङ्गऽयैः प्रकीर्तितः” ॥ १ ॥ वाच ० ।

अग्राय-पूर-धा० पूर्वां, ग्रीणनं च । दिवा०, आस०, सक०, से-ट् । कुरा०, उभ०, सक०, सेट् । वाच ० । प्राहते “पूरेशाडोम्बवोऽकु-मांगुमाहिरमाः” = १ । ४ । १६८ । इति पूरेश्वाभादेशः । अग्रा-रुह, पृथ्वेते, पृथ्यति वा । प्रा० ।

अग्राय-अप्रातक-पुं० । गुच्छवन्नस्पृतिकायभेदे, प्रहा० १ पद ।

अग्रायो-देशी, अपामागं, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्राया-देशी, तुषधये, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्राय-अप्राय-अभ्य० । नासिकया गन्धं शृहीवेत्यर्थः । “सुर-जिगंधाणि वा अग्राय से तथ आसाय वक्रियाय मुच्छिय” आचा० २ भू ० १ अ० ८ उ० । आं ० मं ० प्र० ।

अग्रायमाए-आजिग्रत्-वि० । उस्मिह्विति गन्धे नासिकया शृ-ह्विति, “महाय गंधकश्चि सुयते अग्रायमाणीओ द्वांष्टं विणि-ति” हा० ८ अ० । आं ० मं ० ।

अग्रिय-अग्रित-वि० । अग्रं-क, अग्र्यः संजातोऽस्य इत्त्व वा । बहुमूल्यं, “अग्रियं नाम बहुमालं” नि० सू २ व० ।

अग्र-अग्र-न० । अग्र-भायऽच् । पापे, वाच ० । “ब्राह्मणो लि-प्यते नैध-निर्यागप्रतिपासिमाद्” अष्ट ० २८ अष्ट ० कर्तेरि अच् । पापकारकं, नि० । व्यसने, दुःखं च । न० । पूनायकसुरया-भ्रान्तिरि असुरनेदे, पुं ० । वाच ० ।

अग्रय-अग्रय-वि० । न० । अष्टदे, ओ० । विरले, पिं० ।

अप्राण्य-अप्रातिनी-स्त्री० । ज्ञानदर्शनाद्विगुणानां मध्ये न कि-ञ्चिद् गुणं प्रतीत्यर्थंशास्त्रा अप्रातिन्यः।ज्ञानाद्विगुणानामप्रातनाम-करणशिलासु कर्मप्रहृष्टिषु, अप्रातिन्यः प्रहृष्टयोः ज्ञानाद्विगुणं न प्रति, केवलं यथा स्वयमतस्करस्वभावाऽपि तस्करैःसह वतं-मानस्तस्कर इव हृदयेत, यवमेता अपि प्रातिनीभिः सह विद्यमा-नास्तदाया इव भवन्ति । यथाऽऽः।शिवशर्मसूत्रप्रवर्गा-“अभसे-सा पयसीओ,अप्राद्यथाई यमियमागं”पलियमागु लि । साहचर्यं प्रातित्वं च प्रहृतीनां रसाविशेषाद् विज्ञेयम् (ताक्षपञ्जसप्तसिं-स्थाका अभिधीयन्ते, इत्यादि ‘कम्’ शब्दे तुर्नायभागं २६४ पत्रे प्रतिपादितम्)

अप्राइरस-अप्रातिरस-पुं० । ज्ञानाद्विगुणस्य स्वकार्यसाधनं प्र-त्यसामर्थ्याकारकं रससर्वकलङ्गनं, पं० सं० ३ हा० ।

अप्रातिरसस्यरूपमाह-

जाए न विसओ पाइ-त्तणम्मि ताणं पि सव्वपाइरसो । जापइ पाइसमासे-ण चौरया देव चौराणं ॥३६॥

यासां प्रहृतीनां प्रातित्वमपिहृष्टये न कोऽपि विषयो न किमपि ज्ञानाद्विगुणं घातयतीत्यर्थः, तासांमपि प्रातिसकाशेन सर्वभा-तिप्रहृत्तिसंपर्कतो प्रायते सर्वघातिरसः । अर्थेव निदर्शनामाह-यथा स्वयमचौराणां सतां चौरसंपर्कतश्चौरता । पं० सं० ३ हा० ।

अधुणित (य)-अधुणित-त्रि० धुरैरविद्ये, ६० १ ६० ।

अचं (चं) कारियभद्रा-अचञ्जुरितभद्रा-स्त्री० धन्वभेद्रिणो
 भद्राय नार्थायामुपादिनायामुपायध्वन्वत्त्वात्तिल्लेहन न केनचि-
 द्देया बह्वारयित्तयेति स्मामन्वयतायां सुतायाप, ग० २ अधि० अ-
 मानफले अचंकारितभद्राशहरमम । यथा-किंपिपनिद्रिये तगर ।
 जियस्सू राया धारिणी देवी । सुखे० सचिबो । तथ य नगरे धनेो
 नाम सद् । तस्स भद्रा णाम भारिया । तस्स य ध्या पत्त । सा य
 माउपियभाउयाण य उवायलका । नार्थापताहि य सवपरिजणं
 प्रणति-एस्ता ए य केण वि किंवि चंकारियथ सि । ताहे
 हांगेण से कयं णामं अचंकारियभद्र सि । सा य अतीव कववती
 बहूसु खणियकुलेंसु वरिउज्जति । धणो य सद्दी भण-ओ । एयं ण चं-
 कारेदिति तस्सेसा डिअदिति सि, एवं वरगे परिसेहति । अण-
 याए सचिणण धरिया । अणेण भणियं-अण य किंवि वि अचराइ
 चंकारेहिसि तो ते पयच्छामो । तेण य पदिस्सुतो । तस्स दिक्का
 भारिया । सो तं न चंकारेतो । सो य अमचं रातीए जामे गए रा-
 यकउज्जति समाणेउं आगच्छति । सा तं दिणे खिसिती-संवेद्याए
 नगच्छसि सि । ततो सवेलाए पतुमणसो । अणया रणणा चि-
 ता ज्ञाया-किमेसो मंती संवेद्याए गच्छति । रथां अणणेदिं कदियं-
 एल नारियाए आणानं ग करेति सि । अणया रणा भणियं-इमं
 परिसं तारिसं च कउजं सवेलाए तुमं ए गंअम् । सो उस्सुयजू-
 ते हि रायाणुवनीए जितो । सा य रुहा दारं बन्धेउं जिआ । अ-
 मचचओ । आगओ । उस्सुं दारमुआदिं सि बहुनसियि वि आ-
 हेण उग्माअंति, ताहे तेण चिंरं अन्धिऊण भणिया-तुमं ए चे-
 व सामिणीं होउज्जसि सि । अहो ! मे आलां अंगीकओ, ताहे सा
 अहमासोदिं सि भणिया दारमुआदिं उं पिउघरं गया, सव्वालं-
 कारिविभूस्सिअ अंतार चोरदिं गहिया । होसि सव्वालंकारे पेणु
 चोरदिं भणावतिस्स उचणीया । तेण सा भणिया-मम महिला
 हादिं सि । सो तं बभेण ण उंजति । सा चितं णच्छति । ताहे तेण वि
 मः जदुग्मयउजस्स हार्ये विक्किया । तेण वि सा जणिया-मम प्र-
 ज्जा भवादिं सि । नं पि अणचमंती तेणावि रुसियेण भणिया-पा
 णीयातो जल्ला गेरहदिं सि । सा अण्णारं गवणीएणमंखिउं
 जलमचसाहः एचं जल्लाओ गिरहति । सा तं अणणुक्वं कम्मं
 करेति, ण य सीलमं गं इच्छुति । सा तेण रुहिरसावेण विरु-
 लावथा जाया । इतो य तस्स भाया दूयाकिण्णेण तत्तागओ । तेण
 सा अणुसरिं सि काउं पुक्किया । तीए कहियं । तेण दब्बेण
 मोयाविया । आणिया य वमणविरेवणेहिं पुण णवसरीरा जा-
 या । अमचणेण पण्णा गियघरमाणिया, सव्वसमिणी उचिया ।
 ताहे कोहपुस्सरस्स माणस्स होस्सं दूरे अमिग्गहो गहियो ।
 ए मए कोहो माणो वा कायव्भो । तस्स घरे सयसहस्सपागं
 तेज्जमरिं । तं च साहुणा वणसंरोहणत्थं ओसहं मणियं । तीये
 दासचेदी आणसा-आणुहिं सि । तीए अणतीए सह तेज्जणं
 भाययो मिअं । एवं तिअि आयाणुणि मिआणि, ण य सा रुद्धा ।
 तिसु सयसहस्सेसु बिण्णुसु चउत्थवाराए अण्णसा उट्टेऊण
 दिअं । अह तीए कोहपुस्सरो मेवसरिंस्सो माणो निज्जिओ ।
 साहुणीहिं सुदुनरं सिहंतव्वो सि । ग० २ अधि० ।

अचंचल-अचञ्चल-त्रि० । वशीकृतनिद्रये, प्रथ० ६४ डा० । 'चं-
 चल' शब्दे प्रतिपादयित्त्वया चञ्चलविपरिते अनुयोगाच्च-
 योहं, ६० १ ६० ।
 अचंचद-अचञ्चद-त्रि० । न० त० । अतीमकोपे, तं० । निष्कार-

एप्रबलकोपरहिते, प्रथ० ४ आध० डा० । स० । सौम्ये, "मा
 अचंचडालिये कासी" उच० १ अ० ।

अचकि (ए)-अचकिन्-पुं० न चको । नमः पर्युदासवा-
 चकत्वेन सदृशप्राहकत्वाद् सामान्यपार्थिवे, ६० १ ३० ।

अचक्रिय-अचक्रित-त्रि० । आवासिते, " समुद्रगंभीरसमा दु-
 रासया, अचक्रिया केणु दुष्पहंसया " उच० १ १ अ० ।

अचकल-दृग्-धा० । आनुबहाने, भ्यादि०, पर०, सक०, अ-
 निद् । घाच० । " दृशो निअच्छुपेकत्वावयच्छावयञ्जक-
 सचवदेकसो अचकालकचा " । ६४ । १६० । इत्यादिना सूत्रेणाच-
 क्कादेशः । अचकलद, प्रथति । प्रा० ।

अचकलु-अचलु-प० । न० त० । अचुर्वजेशोपेन्द्रियचतुष्टये,
 मनसि च । कर्म० १ कर्म० । जी० । उच० । न० च । अचुर्व-
 र्शनवजिते, कर्म० ४ कर्म० ।

अचकलुदेसणु-अचलुदेर्शन-न० । अचलुया अचुर्वजेशोपेन्द्रियच-
 तुष्टयेन मनसा वा दर्शने यत्तदचलुदर्शनम् । आ० ६ डा० ।
 अचुर्वजेशोपेन्द्रियमनोभिः स्वस्वविषयस्य सामान्यप्रहणस्वरूपं
 दर्शनभेदे, पं० सं० १ डा० । कर्म० । स्थाना० (" दंसणु " शब्दे
 वरण्येने सर्वम्)

अचकलुदेस पावरणु-अचलुदेर्शनावरणा-न० । अचलुदर्शन-
 स्यावरणम् । दर्शनावरणकर्मभेदे, आ० ६ डा० ।

अचकलुफाम-अचलुःसर्ष-पुं० । अन्धकारे, " पुरसो पवाए
 पिट्टुओ हदिथभयदुहसो अचकलुफासो मज्जे सरा णियव-
 ति " आ० १ अ० १४ अ० ।

अचकलुय-अचलु-त्रि० । अन्धे, " अचकलुओवनेयारं, बुद्धिं
 अण्णेषए गिरा " इय० १ उ० ।

अचकलुविषय-अचलुर्विषय-पुं० । ६ त० । अचुरगोचरे, " अ-
 चकलू विस्सओ जय, पाणा दुष्पडिलेहया " अचलुर्विषयो यत्र
 न अलुपो व्यापारो यथेत्यर्थः । दश० ४ अ० ४ उ० ।

अचकलुप-अचलुप-त्रि० । अलुपाउदश्ये, प्रथ० १ आध० डा० ।
 अचकलुस्स-अचकलुप-त्रि० । उट्टमनिदे, ६० ३ उ० ।

अचयंत-अशकुवत्-त्रि० । अलमर्थे, " चोहरा मिच्छकचरिया,
 अचयंता जजित्तए " सूत्र० २ थु० ३ अ० २ उ० ।

अचर-अचर-पुं० । न० त० । वृथिव्यादिषु स्थावरेषु, दर्श० ६
 चलनशब्दे, त्रि० । ज्योतिषोक्तवृषसिहसुक्रिककुम्भराशि संज्ञेषु
 स्थितराशिषु, वाच० ।

अचरग-अचरच-त्रि० । अनुपमोक्ति, " चारिचरकलंसंजीवित्य-
 चरकचारुविधानतच्चरमे " यो० १ १ विष० ।

अचर (रि) य-अचरम-त्रि० । न० त० । प्रतिममभ्यवसिनि,
 तच्चव्यतिक्र, तस्य चरमापेताभावात् । यथानथाविधान्य-
 शरीरापेक्षया मध्यशरीरमचरमशरीरम् । प्रभा० ६ पद० ।
 (सर्वेषां चरमाचरमस्य 'चरम' शब्दे दर्शयिष्यन्ते) चरमभि-
 ज्ञेयु नारकादिषु धैमानिकार्थ्येनेषु जीवेषु, ते हि अचरमाः
 येषां अभ्यर्थे सत्यपि चरमा भवो न भविष्यन्ति, न निर्वा-
 स्यन्तीत्यर्थः । स्या० २ डा० ६ उ० । " बुद्धिहा सव्वजोवा प-
 षुसा-अचमा चेव अचरमा चेव " स्या० २ डा० ४ उ० ।

अचरिमे दुविद्धे पक्षे च । तं जहा-अण्णादिषु वा अप-
ञ्जवसिषु, सादिषु वा अपञ्जवसिषु ।

अचरमो द्विविधः-अनाद्यपर्यवसितः साद्यपर्यवसितश्च ।
तत्रानाद्यपर्यवसितोऽभव्यः, साद्यपर्यवसितः सिद्धः ।
प्रश्ना० १६ पद ।

अचर (रि) मेनपपस-अचरमान्तप्रदेश-पुं०।अचरम एव क-
स्याप्यपेक्षयाऽनन्तनाम्न्यादान्ते, प्रश्ना० ए पद । ('चरम्' शब्द-
ऽचरमान्तप्रदेशस्यपुच्छा कारिष्यते) ।

अचर (रि) मसमय-अचरमनमय-पुं० अरमसमयादन्यस्मिन्
यावच्चैतेऽयव्याचरमसमये, न० ।

अचर (रि) मावट्ट-अचरमावट्ट-चरमपुत्रलपरायतोर्दवाक-
समये, अष्ट० १८ अष्ट० ।

अच (य) झ-अचञ्ज-त्रि०। न० त० । निष्प्रकल्पे, "अयत्ने भव-
भेरवाणं कल्प० । " मणिहे अचले चले भवद्विष्टसे परिच्य-
" । न चलतीत्यचलः परीषद्दीपसर्गघातेरितोऽपि । आच० १ श्रु०
६३०७३० । "अचञ्जे जे समादिषु" यद्यप्यसाधित्प्रदेश स्वतः
शरीरमात्रेण चलति तथाप्यभ्युद्यतमरणश्च चलतीत्यचलः । आ-
च० १ श्रु० ८ अ००८३० । "अचले जगत् ! ईदृञ्जा" आच० १ श्रु०
६ अ०३ उ० । "अचञ्जे जह मन्दरे गिरिवरं" अचलो निश्चलः परीष-
द्दादिभिः । प्रश्ना० ५ संक्ष० द्वा० । "सिचमयलमस्यमकलयमण-
तमन्त्रवाहमणुराविति सिचमगशास्येयं ज्ञान संपत्तयं" ।
अचलय, स्वाभाविकप्रयोगिकचलनश्च, प्राप्यपोहात् । जी० ३
प्रति० । स० । ल० । भ० । श्री० । इत्यन्तद्विचित्रित्वात् । प्रश्ना०
४ संव० द्वा० । रा० । आ० । द्वा० । रा० । वृष्टे द्वा० । पुं० । अन्त० । वर्ग ।
पुर्वजने मञ्जिनाथजीवस्य महाशक्तानाम्नाः बालययस्य, स च तेन
सह प्रव्रजितो विपुत्रं तपः कृत्वाऽनदानेन सृष्ट्या जन्मतयिमानं
उपपन्नो देशोनाति ३० सारारोपमाणि स्थितिं परिप्राप्य च्युतः
प्रतिपुच्छे नामेष्टवाकुराजा जातः । मञ्जिनाथ च सह प्रव्रज्यां
सृष्टीत्या सिद्धः । आ० १ श्रु० ८ अ० । ('मञ्जु' शब्दे चेतद् विस्तरण)
अचसर्पिय्यां प्रथमे बलदेवे, प्रथ० २० एव द्वा० । आच० ।
स० । (स च प्रजापतेर्मेष्ठानाम्यां भास्वयो जातः, तस्य
भांगीनी मृगावती । तां तस्य पिता प्रजापतिश्चक्रे, इति
जायान्त कल्पयित्वा तस्यां त्रिविष्टपनामानं दशमे वामुदेवं
जन्तयामास । अचलश्च मादिधर्मतां नाम पुत्री सह मन्त्राऽऽकृत्या
मात्रा रातः । इति 'वीर' शब्दे व्येकणे दर्शयिष्यते) शृं०, द०
ना० १ यर्म । तद्वचकव्यता समासतो-

पुत्रो पयान्तिस्मि, जहा अयलोति कि कुञ्चिसंजूओ ।
गेरुषपाडिकखमहणं, तिविदु अयलो ति दो वि जणा । ७३ ।
अयलं तिविदु दोत्र वि, संगमे आसि दोवि रायाणं ।
हेतूणु सव्वदाहि ण, दाहिणजरहं अइजणं ति । ७३ ॥
उपण्णयरयाण्विहा, कौमिलिणाए वलं तुअउणं ।
अरुजरहाडिसेयं, अह अयल तिविदुणो पत्ता । ७४ ॥
चकं मुदरिसणं मे, संखो वि ए एव पंचजमनामो ति ।
नंदयनामो आर्मी, रिउसोणियमंमिंतो आर्मी । ७५ ॥
मात्ता य वेजयती, विचिचरयणोवमोहिषारंजा ।
सारिक्खा जा जणियं, यणमए इदरायसस । ७६ ॥

सत्तुजणस्स जयकरं, जावं दधियारिजीवउच्छावं ।
जीवानिग्घोसेणं, सत्तु सहसा पदइ जस्स ॥ ७७ ॥
कोसुभमणी य दिव्वो, वच्चत्थत्थजूसणो तिविदुस्स ।
द्वच्छीए परिगह्तिओ, रयणुत्तमसारसंगाह्तिओ ॥ ७८ ॥
अयरपरिगह्तियाई, संते वि रयणाइ अह तिविदुस्स ।
अयरंतु जूसणुसु य, एयाइ आइअपुच्चाइं ॥ ७९ ॥
वहइ हनी वि इलं जो, पणयजिम्भं वि तिवस्वइरवउं ।
पवरं समरमहाभन्-विदत्तकितीणो जीवहृरं ॥ ८० ॥
साणंदं वा णंदिय, आसं पि य सत्तुजुकसयपदसं ।
मुससं से जे महपुत्र-जंजणकुससं वइरसारं ॥ ८१ ॥
सत्तो उ पंचमासं, कुमपासवलोलोक्षयणं विउदं ।
मणिकुंदं च वामं, कुवेरपरआमारारामं ॥ ८२ ॥
अचञ्जस्स वि अमरपरि-गहाई एयाई पवररयाणं ।
सत्तुणं अजियाई, समरगुणपहाण्णयाई ॥ ८३ ॥
वद्धमउहाणु निच्चं, रउमधुरवहुणधोरवमजाणं ।
जोऽनरिंदाजाणं, सोअमरारोःसहस्साइं ॥ ८४ ॥
वायाञ्जीसं झक्वा, दूयाण रहुगयवराण पटिपुष्पा ।
अट्टयदं वसहस्सा, अभिउन्मा सव्वकज्जसु ॥ ८५ ॥
अट्टयात्ताकांडीओ, पाइकपयाण रणमत्थाणं ।
सोअसहस्सा उ तहा, सजणवयाणं पुरवराणं ॥ ८६ ॥
पयणासं विज्जाहर-नगराण सजणवयाई रम्माणं ।
पव्वंतराअवासी, नेगो य फणग्गभमउको ॥ ८७ ॥
नेगाई सहस्साइं, गावागनगरपट्टयादीणं ।
वेयदुदाहिण्णु उ, पुच्चावरअंतराठियाणं ॥ ८८ ॥
उरियाउमाणमहणं, अवसे वसमाणइतु नरवणो ।
दाहिणभरदं सयलं, अजति तिस्राण पमिक्खवा ॥ ८९ ॥
सोअसहाहस्सातो नरवटतणयाण रुक्कलियाणं ।
तवेइ य श्वि यज्जवइ-कट्ठायातो तिविदुस्स ॥ ९० ॥
इय वत्तोमसहस्सा, चारुपत्तीण ता तिविदुस्स ।
धारिणपामोक्खाण य, अट्टमहस्साइ अयलस्म ॥ ९१ ॥
उसियमारवयाणं, विदिणवत्तवाअविषयाणं ।
सोअसगाणियसहस्सा, वसंतंमेणपहाण्णयाणं ॥ ९२ ॥
एवं तु मए जणियं, अयज्ञानविद्याण दोएहवि जणासांति० ।
" अयत्ने बलदेवे, अस्तीं धणुं उद्धु उच्छणं होथा " स० उ
सम० । मनोहरीपुत्रः, (र चाण्डियदेहे शक्तिस्वामीविजयं
वीनशोकायां नगर्यां जिनरात्रोः राज्ञो मनोहरीभार्यायामुपस्थां
बद्धदेवो जातः । पितर्युपरते मातरि प्रव्रज्यां सृष्टीत्वा सृष्टार्यां
ज्ञानं कल्पं देवत्येनोपपन्नायामटवीं गत्वा सांश्च विभी-
षणनाम्नि अतति मृते तत्रैवागत्य तदरूपं विकल्प्य देवक-
पया मात्रा मिलित उच्छान्तियां मनुजं जित्वा परलोकादिभ-
कुर्वति । ततः प्रव्रजितो सृष्ट्या अलितान्नाको देवो जात इति,
पतस्सर्वे आसेनाऽऽप्तनाऽऽप्तनसम्पत्तौ प्राकृत्यतः अर्थसः,

इति 'उत्सन्न' शब्दे कि० भा० ११३३ पृष्ठे वक्ष्यति । आ० ब० १
 अ० । अ० म० अ० । निर्णयपुराणम्बरस्य रामचन्द्रस्य सामन्ते,
 स च स्वयंप्रियतकपदयोगिनो वरं दत्त्वा संवेगमापद्य प्रमजितो
 मुनीम्बरो जातः । तच्चरितं चैवम्—

भयरेदिप निभयपुर-मिम पुत्रजापविदियगुरुवहिरसो वि ।
 रायासि रामचन्दो, सलकषणो रामचन्द्रु ध्व ॥ १ ॥
 तस्स युक्तानुवक्षयं, अयसो नामेण अग्रिय सामन्तो ।
 मयसम्बसोयसोमी-रयाङ्गुणवर्णयणनिही ॥ २ ॥
 कइया वि सो नरियो, सभागतो त्रुटिसारपरिवातो ।
 बुक्खनरसुङ्गाए, गिराह पउरेश्च इय प्रथिओ ॥ ३ ॥
 देव ! न होसइ चोरो, न य जसो न वि य करणसंचारो ।
 केण वि तव वि मुसिउजह, अविठ्ठक्येण पुरमेयं ॥ ४ ॥
 तं सोऽंतं कुविपणं, भणियं रत्ता अहो सुहउसया ।
 किं को वि तक्करं तं, निग्गाहउं से समायु ति ? ॥ ५ ॥
 जां किं पि न विंति भत्ता, ता अयसो आह देव ! मह देसु ।
 आएसं नयु किलियि—मिच्छं पसो वराणो ति ॥ ६ ॥
 रत्ता सहयत्तंभो—सदाणपुण्यं पंपपिओ स इमं ।
 तह कुणसु जह ! सिग्गं, जह सम्भइ तक्कारो एसो ॥ ७ ॥
 जइ पक्खंनो चोरं, न लदेमि अहं विसामि तो जलणं ।
 इय काउ पइसं सो, विगिमाओ रायनवणाओ ॥ ८ ॥
 परिजामओं पुरमउं, सिघागत्तियचउक्कमाइसु ।
 लकां न को वि चोरो, नोहरिसो तयणु नयराओ ॥ ९ ॥
 करकसियस्समाइं, विविडो कयपरिसरो द्दपइओ ।
 सो रयणियपइमपहरे, पसो कुंडाभिहमसाणे ॥ १० ॥
 तथ अइकनुपकक्कल-रंरंतपयकक्क-कुंडुपिपक्कं ।
 भन्नुक्ककक्कपरिक-पिककपिककारे व खे ॥ ११ ॥
 एयाव कावयो-सज्जलसंजणियकिक्किल्लारावे ।
 अअरथ मुक्कपुट्ट-इहासपरिजमियभूयउं ॥ १२ ॥
 जा अयुडिओ अयलो, अयसो इच जाइ किं पि पूभागं ।
 ता साहगगइणपरं, विसायमेगं स पिच्छइ ॥ १३ ॥
 तं पइ भणइ महायस ! साहगपुरिसं इणसि किं एयं ? ।
 आह विसाओ इमिणा, एयाइओ हं विणे सल्ल ॥ १४ ॥
 संपइ अइवुडिणं, मए इमो मगिमाओ महांससं ।
 न तरह दांतं खुदो, ता एयं लहु इणिससामि ॥ १५ ॥
 पउठवयरपराणो, अयलो पच्छाह मुंच नरमेयं ।
 नुह देमि महांससं, अइमिं मग्गाइ विसाओ वि ॥ १६ ॥
 तो त्रुटियाए ठिण्ठं, नियमंसं स तस्स वियांइ ।
 अस्स विसाओ वि अहो !, अमुत्तपुण्यं ति जंपेणो ॥ १७ ॥
 उक्किण्ठण जह जह, अयलो से देह मंसंखंनो ।
 तह तइ दिव्योसिहिविहि-कयं एव बुद्धिं ब्रुवा जाइ ॥ १८ ॥
 नीसेसमंसविययं, निए वि सयलं कल्लवरं अयलो ।
 अह जीवियनिरिक्कओ, सीसं पि हु त्रिगुणपक्को ॥ १९ ॥
 धरिऊण विसायणं, वादिहइरणं सल्लतुणेण ।
 अणिओ सो अल्लमेएणं साहसेणं बरेसु वरं ॥ २० ॥
 अयसो भणइ साहग-इदं पकरंसु जसि तुदो मे ।
 एयं कयं चिय मए, मग्गासु अणं पि आह सुरो ॥ २१ ॥
 अयलो जंपइ तुज्जं वि, किं सीसइ अमरमुणियकज्जसस ।
 नावं भोहिबलेणं, तं कज्जं आइ इय अमरो ॥ २२ ॥
 तं अयसो ! गक्कं सगिदं, बीसत्थो होसु मुंचसु विसायं ।
 एसो चोरपक्को, गोसे सयलो कुमो होई ॥ २३ ॥

इय मणिय गभो अमरो, अयसो वि विच्छेदइहावक्को ।
 निययावासे पसो, निरिच्छतो सहइ निहं स ॥ २४ ॥
 ववगयनिदो अयसो, पए विसायण पत्राणो जह ! ॥
 तं तक्करुणंतं, निगुणसु सो आह कहसु कुनं ॥ २५ ॥
 एयस्स पुरस्स बहिं पुव्वहिंसाभासमे वषट्ठं ओगी ।
 पव्वयओ से सिओ, कविलक्को वेदओ अथि ॥ २६ ॥
 तेणं हरेइ नयरे, सो सारं रमइ गिसि अहिउज्जाए ।
 काठण ओगिक्कं, दिवसे पुण कहइ धम्मकइं ॥ २७ ॥
 तस्सासमज्जुमिहरे, विउड अयहारइव्वस्सव्वांसं ।
 मा काहिंति इह संसय-मिय यणिय तिरोडिओ देवो ॥ २८ ॥
 अइ काउ गोसकिक्कं, अयसो कहवयज्जाणुणो पसो ।
 सुरकदियभासमे त-तथ तेण दिट्ठो कयडंओगी ॥ २९ ॥
 गऊण य तय अणुं, अयसो पसो वारिदपयमूले ।
 निवपुणो एगंतं, कहेइ तं चोरुत्तुणं ॥ ३० ॥
 को इय पक्कओ इय, नअररपुट्टो कयंपए वयसो ।
 तस्सासमज्जुमिगिह-मिम मोसजायं सयलमथि ॥ ३१ ॥
 तो सिरवियणांमिसवस-विसज्जिपासिसपरियणो राया ।
 सुत्तो तयणु जणेणं, पारइता विविडउवयारा ॥ ३२ ॥
 जावो न य को वि गुणो, आइया मंतवाइपमुहजणा ।
 ते वि अकयपरिआरा, गया विलक्का सज्जाणेसु ॥ ३३ ॥
 तो सुविसन्नमणेण व, सो ओगी वारिदपयमूले रत्ता ।
 संभसिउमरयो, सायरविआसणो य तयं ॥ ३४ ॥
 पुरिसं य पेसिऊणं, अणाविओ संस आसमो उण्णि ।
 निमायमसेसमोसं, आणीयं रायनवणमिम ॥ ३५ ॥
 आइओ तव्वेत्तं, मदायाणो दंसियं तयं मोसं ।
 उवलकिक्कणं जं अ-स्स आसि तं तस्स उवणीयं ॥ ३६ ॥
 अइ वुत्तो सो ओगी, रे रे पासंनियावमो ! अणज ! ।
 को एसो बुत्तंसं, सो भीओ जंपए न किं पि ॥ ३७ ॥
 खेओ दूरीहुओ, सिरुवज्जिम उज्जाणु एव लहुं ।
 सुवहुं विडंविं सो, ओगी माराविओ रत्ता ॥ ३८ ॥
 इय इट्ठ तस्स मरणं, अयलो चित्तेर कुरियवेरमो ।
 हा ! कह जीवा अणसंभ-विमोदिआ अंत इह विहणं ॥ ३९ ॥
 पणसोनेणं जीवो, हणंइ जीव सया मुंसं बहइ ।
 पियपुत्तमित्तुसुकल-सपमुहडोयं पि संवेइ ॥ ४० ॥
 इइ भोइयतुक्कपक्को-यणुथमित्थं अकिक्कअणंसं पि ।
 काउं कंखइ जीवो, व पिच्छइ तक्कं तुक्कं ॥ ४१ ॥
 अइगकपलंहासुगगर-पहारभरगाहाविडुरियसरीरा ।
 हा ! किह णु उग्गाउग्गाइ अयने निवमंतिमे जीवा ? ॥ ४२ ॥
 ता सयसोइसंभोह-निविडसत्थोपरोल्लजणदक्क ।
 कयवं पिव पव्वज्जं, संपइ गिपहामि द्दससो ॥ ४३ ॥
 इय जा अयसो अचसिय-संवेगनरो विचित्तए चिंत्तं ।
 ता तथ सभोसरिओ, सूरी गुणसुंदरो नाम ॥ ४४ ॥
 सुब्बा गुणो तोक्कणं, स आगमो आगो सुहससासे ।
 पणमियतव्ययउमं, आसोणो उविद्येइसमिम ॥ ४५ ॥
 तयणु ज्जणपरमण्येय-कारिणी लोदमोइनिम्महिणी ।
 विसयासुरागयायव-करिणी संवेयंसज्जणणी ॥ ४६ ॥
 संसारसमुत्थसमत्य-वत्सुविगुणसपयडणपाणा ।
 सुससुहकरेइ वयणे-इइ देसणा सूरीणा विहिया ॥ ४७ ॥
 तं सोऽंतं पक्किको, अयलो पुत्ते वि कह वि मरनाइं ।
 गुक्को तस्स सतीव, संविमो गिणइए विक्कं ॥ ४८ ॥

अचल

परिव्रजविहिरिक्तो, गुरुणा सह विहरण मदीयस्य ।
 धरते अरिन्दे, आराह संसमरहते ॥ ४७ ॥
 पवयवचक्षुसरो, गणहृत् सिके सया सुहसामिके ।
 सिषकलतकामो गुरुणो, सेषव दंशसालिष्ययुक्तो ॥ ४० ॥
 सुपवयवपञ्जायधरे, धरे सुबहुस्तुप तवस्ती य ।
 जह उचियं आराहृष्ट, अत्रिकणनाशोवमोगपरो ॥ ५१ ॥
 स। ह्यव्यपु आह-स्त्वयसु परिहरह वृमहयारे ।
 अमुष्यनायामाहं, सुयभानिपरायणो कुणह ॥ ५२ ॥
 तयसा निकारयाणं, कम्पान अउ सि कुणह मरुयतधं ।
 अणलथजाणुवचत्तो, मुण्णिय मसाह विरयेह ॥ ५३ ॥
 पकिममास्स भयस्स व, नासह अरणं सुधं अमुण्णया ।
 न हु वेयावचक्षियं, सुहोद्यं नासप कम्मं ॥ ४४ ॥
 इय विलतो वेया-वधं पकुणह अतिप्यमाणयो ।
 पवयवपनावणपरो, कुणह समाहि च संधस्स ॥ ४५ ॥
 पथमणु चरदंसेप-नायचारिते अतिप्यमायसु ।
 उग्गतवकारिणो सु-उग्गमाणसुपसपल्लेस्स ॥ ४६ ॥
 अउज्जयतिर्यंकरणा-मकम्मयो तस्स अवहसाहुस्स ।
 सधोसहिपमुहाओ, जायाओ विविहिलकीओ ॥ ४७ ॥
 इसो निमयपुरे रा-मअंधरत्नो विसिचियेजेहि ।
 पयडिउज्जेतसु वि स ब-हुभेसज्जाो सहपओग्गसु ॥ ५८ ॥
 बहूमेतंतवाहं-दि कारमाणसु अवि सुकिरियासु ।
 रोगेण मरति करी-तो प्रादन्धो निवो जाओ ॥ ५९ ॥
 अह गुरुणा सुग्गओ, अचलसुणो तथ प्रागओ तथा ।
 पसो निवो सुणिते तं, नमिय निसिन्धो उचियेदेसे ॥ ६० ॥
 मुणिया वि निवहज्जुयो, सहसंयणमुलपरिकलिओ ।
 पंथाउवयसधो, तिग्गुणयगकयसाहोयो ॥ ६१ ॥
 सिक्कावयपरिसिद्धो, निमयअधुनिपमकुसुमसंकिन्तो ।
 सुमणुयसमिद्धिकलो, कहिओ गिहिधम्मकप्पतठ ॥ ६२ ॥
 इय सोत निवो अणह, पठे ॥ अम्ममिसं-सिद्धीमा कावं ।
 कि तु अक्रासे सिपु-संदाहं वृद्ध मरमाणं ॥ ६३ ॥
 न गिदे न धादि न जणे, न काणुणं न व दिणं न रयणीय ।
 मह संपह संपज्जह, रदं मणानं पि मुणिपवव ॥ ६४ ॥
 तो कहतु कि पि जेण, सुपमणो हं करामि धम्ममिमं ।
 इय रत्ता पुणकणं, धुतो पि हु सुणुणित्तुल्लो ॥ ६५ ॥
 सावज्जकज्जवज्जा, सन्नापो वि हु न किं पि आ अणह ।
 ता मुणिसमीडियल्ले-यरेण एधं निवो वुत्तो ॥ ६६ ॥
 बहुलाडिसिद्धिसिद्ध-भिययस एयस संमणुसहीहस्स ।
 पयरेणहि संकुलिय-य कुणसु सज्जं करिसम्मूहं ॥ ६७ ॥
 तं सुणिय निवो तुद्धो, मुणियपयसंकुसियरेणुनियरेण ।
 करिनियरं सव्वं पि हु, आमरिसावह तिक्कुणो ॥ ६८ ॥
 विसमिय पीडसाहयं, तमं व दिषसयराकिरणपडिठकं ।
 वेणुण रोगजायं, तं नद्धं कुंजरकुलाओ ॥ ६९ ॥
 तं पिच्छु वि अच्छरियं, अणंतहरितो इमं भणह राया ।
 अयवं ॥ वारयाधारी, केण निमित्तण संजाओ ॥ ७० ॥
 मुणिया भयियं नववर ॥ जो जोरं प्राओ तथा मुयप ।
 मरिउं अफामिज्जर-वसेय सो रक्कसो जाओ ॥ ७१ ॥
 सरिज्जय पुव्वववरं, स तुह सरीरमि अण्यमवमाओ ।
 पयं पि होउ तुक्कं, ति कासि वृत्तीय रोगमरं ॥ ७२ ॥
 मह चरखरेउत्तुद्ध, संधं ते वाहियो सुभयसंता ।
 सो रक्कसो पणुद्धो, सज्जं जायं करिकुंडं ॥ ७३ ॥
 मुणियाहण्यमण्यं, वृणं गहिउत्तुवगिहिधम्मो ।

तुद्धो राया पवयव-पमाओ साओ जाओ ॥ ७४ ॥
 अयलो वि अणियणो, चरखाहसु काउ अयसणं सुमणो ।
 सोहम्मे उवचओ, तथो य बुओ विदेहम्मि ॥ ७५ ॥
 कच्छाविजप, सिरिजय-पुरीरओ पुंरदजासत्तो ।
 देवो सुदंसयाण, चउदसवखुमिणकयसुओ ॥ ७६ ॥
 गम्भे पाउम्भूओ, समुच्चियसमप व जम्मवणुपओ ।
 अहिसिओ स सुरासुर-वमोय सुमेवसिहरम्मि ॥ ७७ ॥
 कयअयमित्तिहाओ, उचिय समयम्मि पव्वरउकामो ।
 सोमंतियतियसेहि, सविसेसुडुडिउच्छाहो ॥ ७८ ॥
 लोणाणं संवच्छर-मच्छिअविधिवाविधभंभारो ।
 वउसट्टिसुरेसरविहिय-गठयनिकमजसुखरमहिमा ॥ ७९ ॥
 तिजयं पणजयं पि व, पणत्थायणसुडुडिउच्छाहो ॥ ८० ॥
 कुणमाणो पदिवओ, निस्सामभं ससामभं ॥ ८० ॥
 तो सुक्कआणाल-समुलनिहउपाकम्ममयो ।
 उण्णकवेलासाय-सोदथासेतनइल्लो ॥ ८१ ॥
 सीहासणोवधिओ, सिरउवारी धारिय सेयसुचतिगो ।
 निवेदह तुवालसगुण-महल्लकमिअियसोहो ॥ ८२ ॥
 चात्रियासियवरचमरो, धुरओ पकिअककुमुमवरपरो ।
 निजियादिपयमंरुह-भामंरुहल्लकियतमोहं ॥ ८३ ॥
 सुरपहयउत्तुडिस्सर-पयमियदुउमेयभाधरउविजओ ।
 सव्वसज्जासाणुगदि-वववाणियतित्तयसंवेहो ॥ ८४ ॥
 पायमियसगहमगो, पकिओदिधमुंरिजावभयियजणे ।
 विहरिआ चिरकालं, अणंतलूहसंपयं पसो ॥ ८५ ॥
 अत्रिनशासिनवनीयवनीयव-
 मुयेति वुत्तमवसस्य मुनीअरव्य ।
 सज्जानदोततपधरणदिक्कु
 अडामतुमहसंता मुनयो विघण ॥ ६६ ॥ ४० २० ॥

अच (य) द्वाहाशो-अचलरथात-न० अचसो (निष्कणः परमा-
 एवादिभेषति, तस्य स्थानमत्र ह्यस्थानम् । निरजःक्रासे, अचञ्च च
 तत्स्थानं चावस्थानमत्रवस्थानमिति सुपुणसर्वं । निरजःक्रासञ्च
 परमाएवादीनामयञ्च- परमाणुपमानं णं जंतं । निरेव क्रास-
 ओ केव चिरं दोहः । गोयमा । जहशेणं एके सयये उक्तांसणं
 असेञ्जं कालं असेञ्जंजाओ तसपिणी क्रोस्सपिणीतो ॥ ४०
 १ उ० । नि० नू० । अचरस्थानं तु चनुभो, सादिसस्यैवसानम-
 दात् । तद्यथा-सादिसस्यैवसानं परमावसादेत्तस्यैकमदशा-
 दावस्थानं जघन्यत एकं समयमकृच्छासंख्येयकालमिनिः
 साधपयैवसानं सिद्धानं भविष्यत्कालकथम्, अत्रादि सपयैवसा-
 नमतीत्यादाकपयशैलं इयवस्थासमसमे कामेणतेजसशरी-
 रजप्यावानां चोत; अनाद्यपयैवसानं धमोधमाकाशानामिति ।
 आओ ० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अच (य) झपु-अचलपु-न० आनीरदेशान्गते ब्रह्महि-
 पासने पुरन्दे, कण्ठ० । ('बंभरिविया' शब्दे कथा चास्य)
 "अयहपुरा लिक्कंते, कालवसुप्राणुआगिणो धीरे " । न० ।

अच (य) लजाया-अचलजाता-पुं० श्रीमहावीरस्य मव-
 मे गणधरे, विशेषं । आ० म० द्वि० । कण्ठ० । (तस्य पुरादि-
 कं 'गणहर' शब्दे बहयते)

अच (प) झा-अचझा-स्त्री० शकस्य द्वेषेकस्य समग्रामादि-
 प्याम, श० २ श्रु० (तत्कथा प्र० जा० १३३ पुठे 'अग्रामहिस' शब्दे)

अच (य) लिय-अचलित-न० वञ्चं शरारं वा न चक्षितं

कृतं यत्र तदचक्षितम् । अत्रमादप्रत्युपेक्ष्यभेदे, स्था० ६ डा० ।
 ध० । श्रोत्र० । अत्र चतुर्भङ्गी यथा—“वत्यं अचक्षियं अप्पाणं
 अचक्षियं; तथा वत्यं चक्षियं अप्पाणं अचक्षियं; तथा वत्यं
 चक्षियं अप्पाणं चक्षियं; तथा वत्यं अचक्षियं अप्पाणं चक्षियं ।
 एष्य पदयोर्भंगो सुक्तः” । ६ त० । अत्रारथचक्षनक्रिये, त्रि० । “अ-
 चक्षियमावां पवसां यो” । प० ब० ४ डा० । नि० ब० ।
 अचक्ष्वच-अचक्ष्वच-त्रि० । अचक्ष्वति शब्दरहितं, प्रश्न० १
 संख० डा० । “अनुत्तरुं अचक्ष्वचं आहारमाहारं” । प्र० ७
 श० १ उ० ।

अचक्ष्वल-अचक्ष्वल-त्रि० । न० त० । स्थिरस्वभावे, व्य० ३ उ० ।
 “गतिगणनासमावा-दिपृष्टि णि कुणति चंचलत्वं तु । गायं
 गणितानु भवे, अचक्ष्वलो सोऽमुणयसो” । पं० भा० । पं० ब० ।
 अचक्ष्वलत्वं चतुर्धा जवति-गत्याश्चपलः १, स्थित्याऽचपलः २,
 स्थायाऽचपलः ३, भावनाऽचपलः ४, गत्याऽचपलः ५, शिष्टाच-
 री न भवति १ । स्थित्याश्चपलस्तद्व्यभिचारी शरीरहस्तपादा-
 दिकमचक्ष्वल्यत् स्थिरस्तिष्ठति २ । प्रायायाश्चपलेऽसत्यादि-
 प्रायी न स्यात् ३ । भावनाऽचपलः सुभेऽप्येऽजागतेऽप्रमासे
 सत्येवाऽप्रमेतं गृह्णाति ४ । (एषंभूतः शिष्यः ॥ “णीया-
 विषा) अचक्ष्वलं, अमादि अकृतुहलं ” उच्यते १० प्र० ।
 कायिकादिचापव्यरहितं, प्रश्न० ४ आश्र० डा० । “अनु-
 रिचमचक्ष्वलमनंते मुह्योतिषं पडिलिहरे” अचक्ष्वलं मान-
 सचापव्यरहितम् । प्र० २ श० ४ उ० । “अतिष्ठेण अचक्ष्वले, अ-
 प्पमासी भ्रियासणे” अचक्ष्वलां अमर्षं सर्वत्र स्थिर इत्यर्थः ।
 दश० ८ प्र० । विश० १० । “अचक्ष्वला” गत्या कायचा-
 पव्यवर्जिता । कर्त्त० । “अचक्ष्वला” अचक्ष्वला मनो-
 वाक्कायैस्त्व्योत् । स० ।

अचाङ्ग-अशाक्त-त्रि० । असमर्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ प्र० ।
 “जहादियापोतमपत्तजानं, सायासगा यविर्दे मयमाणं । त-
 मचाङ्गं तरुणमपत्तजानं ङकाइ अचक्ष्वलनमं हरेजा ” । ४१
 सूत्र० १ श्रु० १४ प्र० ।

अचापंत-अशाकवृत्-त्रि० । असमर्थे, “अव्यावाध अचापंतो ने-
 च्छरे अप्पचेतए एए ” व्य० ३ उ० । सूत्र० ।

अचाग-अत्याग-पुं० । त्यागपरिहारे, ध० २ अत्रि० ।

अचास्या-अचासता-स्त्री० । असुन्दरत्वे, “बुधविषये त्वचास-
 तया ” वो० १ विव० ।

अचालाण्डिज-अचालनीय-त्रि० । शैथिल्यदंशरीभौये, “अभि-
 गयतीजीवा, अचालाण्डिजाउ पवययाओ ” दर्श० ।
 अचित्त-अचिन्त्य-त्रि० । चिन्तयितुमनुमापकहेत्वभावेन तर्क-
 यितुमशक्ये, शक्यार्थे कर्मणि एष्यत् । न० त० । बाच० । अचि-
 त्तैवचनये, डा० १६ डा० ।

अचित्तगुणसमुदय-अचिन्त्यगुणसमुदय-न० । अचिन्त्यो गुण-
 समुदायो ज्ञानादिसमुदायो यस्य तदचिन्त्यगुणसमुदायः । पर-
 तत्त्वे, “तनुकरणादिविरहितं, तच्चाचिन्त्यगुणसमुदायं सूदमय”
 वो० १४ विव० ।

अचित्तवितापिण्ड-अचिन्त्याचिन्तापिण्ड-पुं० । चिन्ताभितकान्ताऽ-
 पवर्षोविधायकत्वेन चिन्तामसिखरलकल्पे तीर्थकरे, पं० सू० ३ सू० ।

अचित्तन-अचिन्तन-न० । न० त० चिन्तनाभावे, यत्कदाचिद्वि-

कृपादिकं वदं तस्य चेतसि न स्मरन्मपरिभावमित्यर्थः ।
 “अचित्तं येव अकिसत्तं च ” उच्यते ३२ प्र० ।

अचित्तसा-अचिन्त्यशा-स्त्री० । अनिर्वचनीयसव्यवस्थाहा-
 ले, “अचिन्त्यशक्तियोगेन, चतुर्थो यम उच्यते” डा० १६ डा० ।
 अपिट्ट-अवेष्ट-त्रि० । अविद्यमानचेष्टे, श्राव० ३ प्र० ।

अचित्त-अचित्त-त्रि० । नविद्यते चित्तमस्तिस्मित्यचित्तमचेत-
 नम् । जीवरहिते, श्राव० १ श्रु० १ प्र० उ० । श्राव० ।
 अनु० । नि० ब० । सूत्र० । अचित्तचित्तमिध्वयिकः-

प्रायः सर्वोणि धान्यानि । धानकजरीराऽजमकविरहाली-
 सुआरार्थसखसप्रभृतिसर्वकणाः सखोणि फलपत्राणि
 लयलक्षारीसारकः रक्तसैन्धवसुञ्जलादिरकृषिमः क्षारं मृत-
 खट्वीर्षणिकादि आद्रेदन्तकणादि च व्यवहारे सचिन्ता-
 नि । जले निरवेदिताभ्यणकगोधूमदिकणाभ्यणकमुञ्जद्विदाल-
 यक्ष क्रिषा अपि क्वचिन्नखकालंमगन्मिथाः, तथा पुषे लव-
 णादिप्रदानं वाष्पादिप्रदानं बालुकादिसेषा वा चिन्ता सांका-
 षण्यका गोपमुद्युग्धर्ष्यादिधानाः क्षारदिप्रदानं विना लोसि-
 ततिला श्रोलकडेविकाः पृथुसेतिकतफलाकाः पपेटकायां
 मरिचरजिकाक्षारदिमात्रसंस्कृतचिर्भटिकादीनि सचिन्ता-
 नधीजानि सर्वेकफलानि च मिश्राणि । यदिते तिलकुडिः
 कृता नदिने मिथा, मध्येऽकसेटिकादिसेषे तु मुह्येत्तदनुप्रासु-
 का, दृशिलमालयादी प्रभूततरयुडपेण तद्विनेऽपि तस्याः प्रा-
 सुकण्यव्यवहारः । वृक्षात्कान्तासुहृतेतं गुदलासाङ्गाल्यादि, ना-
 त्कालिको मालिकानिभ्यःकनिभ्यःमेषादीनां रसस्ताकालिक
 तिलादितैले, तत्कालममं निर्वाजीकृतं नालिकेर्यूहाटकपूर्णा-
 फलादि, निर्वाजीकृतानि कफफलानि, गाढमर्दिनं निष्कणं जी-
 रकाजमकादि च मुह्यन्ति यावन्मिथाणि, मुह्यन्तदुर्मुं तु प्रासुका-
 नीति व्यवहारे । अन्यदपि प्रवलाभ्रयोंगं विना यत्प्रासुकी-
 कृतं स्यात्तन्मुह्यतीति मिथं, तदनु प्रासुकं व्यवहितं । यथा
 प्रासुकं नीरिति । तथा कफफलानि, कच्चधान्यानि, गाढं मर्दि-
 तमपि लवणादि च प्रायाऽन्यादिविप्रलक्षशं विना न प्रासुका-
 नि । योजनशान्तरन अगाननि हरीतकीक्षारकोकिसिमि-
 सिद्राःखजूंमरीत्वापिपलीजातिकलचदःमयायमासांठकन-
 मिजापिस्ताचिणी कषायस्फटिकानुकारिसैन्धवादिनेसाजैका-
 विदुलवणादिः कृषिमः क्षारः कुम्भकारादिपरिकर्मितमुद्गादि-
 कम्, पलालवङ्गजाविश्रीशुष्कमुस्ताकाङ्गुणादिपक्वकल्पा-
 लान्युत्कलितकुम्हाटकपूर्णादीनि च प्रासुका नीति व्यवहारे
 दृश्यते । उक्तमपि श्रीकल्पे—

जोअणसयं तु गंतुं, अणहारेणं तु भ्रंनंकंती ।
 वायागण्णधुमेण य, विष्क्यं होइ होणणं ॥ १ ॥

अवणादिकं तु स्थस्थानाद गच्छन् प्रत्यहं बहुबहुतदिक-
 मेण चिन्त्यस्वमानं योजनशतात्परतो गत्वा सर्वथैव विषयस्सम-
 चिन्तं भवति । शक्त्याभावे योजनशतमममत्रेणैव कथमचिर्वा-
 जयतीत्याह—अनाहारेण यद्व्यपिदंशादिकं साधारणं तत्
 ततो ध्येवदिधतं सोऽपष्टमकाहारविच्छेदाद् चिन्त्येत् । तच्च ल-
 वणादिकं भाण्डसंका-या पूर्वस्मात् २ नाजनादपरभाजनेषु ।
 यद्वा । पूर्वस्था माण्डशाभाया अपरथां भाण्डशाभायां संक-
 र्ण्यमाणं विषयस्ते तथा वातेन वा अग्निना वा महानवादीं
 भूमेन वा अवणादिकं विषयस्ते जयति “लाणं” इति । अत्रादि-
 शब्दादीमि कृष्ट्याः—

हरियालमणांसिखिपि-पक्षी अ खजूर मुदिआ अजया ।
आइकमगाइआ, ते वि हु एमेव नायव्या ॥ २ ॥

हरितालं मनःशिखा पिपलीं च खजूर एते प्रसिद्धाः सृष्टी-
का झाका, अमया हरितकी, एतेऽप्येवमेव लवणमिव योजनवा-
तमनादिभिः कारणैरचित्तोभवन्तो ज्ञानवाः । परमेकेश्वरा-
चीर्णा अपरेजानाचीर्णाः । तत्र पिपलीहरितालीप्रभृतय आचीर्णा
इति गृह्यन्ते । खजूरमुदीकादिभिः पुनरनाचीर्णा इति गृह्यन्ते । ॥ २ ॥

अथ सर्वेषां सामान्येन परिणमनकारणमाह-

आरुहणो ओरुहणे, एमिअण गोणाणं च गाउम्हा ।
भोमाहारुच्छेए, उवकमेणं च परिणामो ॥ ३ ॥

शुक्रादिषु लवणादीनां यदि तूयां तूत्र आरोहणमयरोहणं च
तथा यन् तस्मिन् शक्यतां लवणादिजानोपरि मनुष्या निरी-
कृन्ति तेषां गवादीनां च यः कोऽपि पिच्छादिशोषमाप्ता, तेषां च
परिणामो भवति । तथा यो यस्य मौमादिकः पृथिव्यादिक आ-
हारस्तद्भवच्छेदं तस्य परिणामः, उपक्रमः-शास्त्रं, तच्च चिदा-
स्वकायपरकायतदुभयकल्पः । तत्र स्वकायशक्तं यथा-लवणा-
दकं मधुरोदकस्य, कृष्णजम् पाण्डुरूपस्य । परकायशक्तं यथा-
अग्निरुदकस्य, उदकं चाम्भोरिति । तदुभयशक्तं यथा-उदकं शु-
क्रादिकस्येत्यादि । यमगादीनि सचित्तवस्तूनां परिणमनकारणा-
नि मन्तव्यानि ॥ ३ ॥

उपलपउमाई पुण, उड्डे दिहाई जाम न धरिति ।
मोगगरगृहीआओ, उड्डे बृदा चिरं हुंति ॥ ४ ॥
मगदंतिअपुफाई, उदकचूटाई जाम न धरिति ।
उपलपउमाई पुण, उदए बृदा चिरं हुंति ॥ ५ ॥
उपल्लानि पक्षानि च उदकयोनिस्त्रिणादुष्णे आतपे दसानि
यामं प्रहरमात्रं काशं न श्रियन्ते नावतिष्ठन्ते, किन्तु प्रहरादवोगे-
याचित्तोजवन्ति । मुक्करानि-मगदंतिकापुण्याणि युधिकापुण्या-
णि च उष्णयानिकवाडुष्णे क्षिप्तानि चिरमांष काशं भवन्ति,
सचित्ताप्येव तिष्ठन्तीति ज्ञायः । मगदंतिकापुण्याणि उदकं क्षि-
प्तानि याममपि न श्रियन्ते, उपलपपक्षानि पुनरुदकं क्षिप्तानि चि-
रमपि भवन्ति ॥ ४ । ५ ॥

पषायां पुफायां, सररुकलाणं तद्देव हरिआणं ।
विंदिमि भिलाणामि य, शायवन् जीवविपुजदं ॥ ६ ॥
पक्ष्याणां पुषायां शरतुफलानामवज्जान्धिककजानां वास्तुला-
दीनां सामान्यतस्तरुणवन्पत्नीनां बृते मूलनाशे म्लाने सति
ज्ञातव्यं जीवविप्रयुक्तमेतत्प्रादिकमिति (श्रीकल्पवृक्षौ शाल्या-
दिवाय्यानां तु श्रीपञ्चमाङ्गे पशुगतकसमवेदशकं सचित्ताचि-
त्तवयिजाग पशुमुक्तः, स च 'जोणि' शब्दे दर्शयित्वा) कर्पास-
स्याचित्ता त्रिवर्षानन्तरं स्यात् । यद्गुक्तं श्रीकल्पवृक्षज्ञाप्यं-
सेरुगं तिवरिसाई गिहंति ।

सेरुक्तं त्रिवर्षानन्तरं विष्वस्तयोर्निकमेव कल्पते । सेरुक्तः क-
र्पास इति । तदुक्तं पिष्टस्य तु मिश्रतायेवमुक्तं पूर्वसुरिभिः-
" पणदित्तमीसा बुद्धो, अचाक्षिओ सायण अ भद्वप । चउ भा-
सोए कत्तिम-मगविरयोसेसु तिभि दिवा ॥ १ ॥ पणपहर काल
फरुण, पहरा चत्तारि वेत्तयसाहो जिआसादे तिपहर, तेण
परं होइ आक्षिओ " ॥ १ ॥ आलितस्तु मुहुसौध्वंमचित्तः,
तस्य चाक्षिओभूतानन्तरं विनशुकालजामानं तु शास्त्रं न हृदयते,

परं कृष्यादिविशेषेण वर्षोदिविपरिणामभवेन यावत् कल्पते ।
उष्णानोरं तु विष्णुकोकलितार्थमिच्छत । यद्गुक्तं यारसमुत्तुकी-
उसिणोदगमखुचेषु, देके वासे य पडिअमित्तमिम् ।
मोत्तादासतिगं, चाउलउदगं बहुपसत्तं ॥

अनुदूषेत्तु विदपेत्तुफालेषु जलमुष्णं मिश्रं, ततः परमचित्त-
म । तथा वर्षे वृष्टौ पतितमात्रायां ग्रामादिषु प्रभृतमनुष्यप्रचार-
उत्तुमी यज्ञं तद् यावच्च परिणमति तावन्मिश्रम, अरण्याभूमी तु
यत् प्रथमं पतति तत्पतितमात्रं मिश्रं, पश्चात्पिततु सचित्तम । आ-
देशाधिकं मुक्त्वा तद्गुहोदकमबहुप्रसक्तं मिश्रम, अतिस्वच्छीयुतं
त्वचित्तम । अत्र अय आदेशः । यथा केचित्त्वद्वान्ति-तदुलोदके
तरतुप्रमङ्गालनजाएमादन्वत्र जाएने क्लिष्यन्त्या बुट्टिन्धा प्रा-
एउपाभै लम्ना चिन्दया यावच्च शास्यन्ति तावन्मिश्रम । अपरे-
तथैव याता यावद्बहुदा न शास्यन्ति तावत् । अन्ये तु-यावच्च-
रुह्ना न सिद्ध्यन्ति तावत् । एते त्रयोऽप्यादेशा ककेतरजाएउ-
पचन्नामित्तमवधिदिभिः, पुण कालनियमस्याभावात्, ततोऽति-
स्वच्छीयुतमेवाचित्तम ।

तिष्णोदगस गृहणं, कइ चाणेसु अमुइ पडिसेहो ।

गिहिजायणेषु गृहणं, त्रिअवासे मीसगं जारो ॥ १ ॥

तीव्रादकं हि धूमधूज्ज्वलनिकरकरसस्यकैलोपनीप्रसस्य-
काचित्तमित्तम, अतस्त्वग्रहणे न काचित्तिराधना । केविहाः-स्व-
भाजेषु तद् प्राहम । अत्राचार्य्यः प्राह-अयुचिरवास्तुपात्रेषु
ग्रहणप्रतिबन्धः, ततो गृहभाजे कुपिरकदावी प्राहम । वर्धति मे-
धे च तन्मिश्रम, ततः स्थिते वर्षेऽन्तदुष्णोत्तुं श्रेष्ठं प्राहम । जसं
हि केवलं प्रासुकुञ्जतमपि प्रहरत्रयादृष्टं भूयः सचित्तं स्या-
दतस्तन्मध्ये ज्ञातः कल्पः, एवं स्वच्छताऽपि स्यादिति । पिपलीनि-
युक्तित्तुनी तदुल्लभावनेदकानि प्रमदित्तीयत्तुयान्यचिर-
कृतानि मिश्राण, चित्ति निष्ठितं स्वचित्तानि, चतुर्थादिनिष्णानि
तु चिरं स्थितान्यापि सचित्तानि । प्रासुकुजज्ञादिकायमानमेय-
मुक्तं प्रवचनसरोकारादी- "उसिणोदगं तदुष्ण-कालिभं फसु-
अ जलं जड कल्पं । नवरि गिलाणाइकप, पहरानगोवरि विधारि-
अव्वं ॥ १ ॥ जायइ सचित्तपये, मिग्हासु उ पहरं चगस्तुवरि ।
चउपहस्वरि सिसिरे, वासासु जसं तिपहस्वरि " ॥ २ ॥ तथा-
ऽनन्तनस्यपि कङ्कुमुकुरहरीतकीकुलिकादिगवनेष्यानिरुक्त्वा-
नां निःशुक्रतादिविपरिहारार्थं च न दस्तादिनिभेज्यते । यद्गुक्तं
श्रीभ्राघवियुक्तिपञ्चसतितमगाथावृत्तौ-अचित्तानामि कया-
ञ्छिन्नस्पतीनामविनाश योनिः स्याद शुद्धवीमुदकीनाम । तथा-
हि-गुन्ची गुष्काऽपि जलसेकात्तादृश्यं भवति ति हृदयते,
एवं कङ्कुमुकुरादिरपि, अनां शोनिरुक्त्वाथिभवेतमयतना न्याय-
वयेवेति । घ० २ अघि० । वृ० नि० वृ० । पि०

पदव्याऽप्यच सङ्गह-ए-

अह पयाणं जं जं, कालपमाणं अगामि सर्वेसि ।
अत्तं सिखं विषयं, कट्टुं जं हिंसुसहिजं यं ॥ ६२ ॥
पुष्पफलपत्तयां, वीयच्छाली विणा य क्रामफलं ।
मंडपुवाइये जल-सप्यसोवडोयपरकया ॥ ६३ ॥
चउपहरमाणमेत्तं, श्रायणमंदवारजामगराप ।
उत तकरवन्नपिण, पादियं परिमाणमवि सुवृत् ॥ ६४ ॥
द्वितकरवर्द्धणे, कयसाणाण सोलजामं च ।
वासासु पक्कम हेम-तं मासुसिरणु वीसादिणमाणं ॥ ६५ ॥
पक्कणयकालो विउ, विअसा कुलिकोप पक्कणे ।

बासासु पुगदिणं वा, चक्षियरस्सं ज्ञथं जं जाह ॥ ६६ ॥
 निव्विगय पक्कम्भं, अमस्यजुयं तस्सिंसेमय परिमाणं ।
 उच्चुवियारगयाणं, चक्षियरस्सं तं तहा जाण ॥ ६७ ॥
 घयतिष्ठगुराईणं, वधरस्संघंपथमुपपज्जासे ।
 काक्षपरिमाणमुंघं, जाणुज्जा नो तहा पायं ॥ ६८ ॥
 इथ य चक्षियरस्सम्मि, जीथा वेईदिया समुच्चंति ।
 पुण्फिय पमिदिया, वट्टंनि दुवे वि समगं वा ॥ ६९ ॥
 अचित्तजज्ञे सचित्तं-नवय पुगैदिया समुच्चंति ।
 अरणं सुजियमिन्निप, परिणंटी समुच्चिमा तुंति ॥ ७० ॥
 तिष्ठमुगमसूरचवल्लय-भासकृत्तथयकलायनुबरीणं ।
 बल्लाण वट्टचणयाण, पंचवयरिसस्यमाणं च ॥ ७१ ॥
 सात्तिविदि जयजुगंधरि-गोद्दुमतिणघस्यतिष्ठकपासात्तं ।
 वासानियं परिमाणं, तसां विरुंसेय जाणी ॥ ७२ ॥
 सुट्ठा कंगू अयसी, सणकोसुसगवरट्टसिद्धत्या ।
 पत्तयकृद्धवमही, मूलगवलीया चवट्टा य ॥ ७३ ॥
 पहियाणं लत्तणं, उक्कासिठई सत्तवासाई ।
 हाइ जइस्येण पुणा, अंतमुहुत्तं सममाणं ॥ ७४ ॥
 पिप्पस्सिखज्जुरमिरी-मुदिथ्य धमया वदांम सारिका ।
 पत्ता जाइफत्ते पुण, ककोलं चार कुलिया य ॥ ७५ ॥
 विरुंसिद्ध जौली, पुण्फियं जलधधोसंभोगंदि ।
 संघारयजलफलाइ, घाणं जौणी तहा चित्तं ॥ ७६ ॥
 जायवस्यं जलम्मि, यत्तम्मि सद्धई अंरुसंकांती ।
 वायामाणं धूमैदि, पविद्धजौणी हवइ तोसं ॥ ७७ ॥
 इनियात्तलवणमणसिद्ध-पुण्फियं जलधधोसंभोगंदि य ।
 पमेव अणाइसा, विरुंथा अवि मुण्येव्वा ॥ ७८ ॥
 सीयाविचवपासक-रणीकथिइगुलुज्जाईरुंदिगनागाई ।
 अचित्तजौणीया, द-दस्सणाइयमिदलमजिजा ॥ ७९ ॥
 पिठ्ठं मिस्समसुत्तं, पण्चजोनिथदिणममाणमापक्कं ।
 सावणाभांयपासे-सु जुयत्तम्मि यए अणुभांगो ॥ ८० ॥
 पण्चचरन्तियजामाण, माहुंम चित्तजुयलजिठ्ठेण ।
 तइ नज्जियधघाणं, दालीण विपज्जपर पायं ॥ ८१ ॥
 चालियत्तन्तियसुराईय, सुक्कं जा ताव मित्तिसयं नेयं ।
 सोणजुयं जं सागं-अज्जियत्तविपणं तं सुद्धं ॥ ८२ ॥
 अग्ने जणानं भज्जिय-धघाणं पक्कत्तन्नियमिव काठो ।
 सत्तपणदसदसदिणं, बासासुत्तं मिस्सलोणसत्तं ॥ ८३ ॥
 अंतमुहुत्तं मोइ-स्स चोचिसिजाम घाउपत्तयं ।
 गोमुत्तं जइ केयल्ल-महिंसा इमं रसाविषज्जासं ॥ ८४ ॥
 अशमितले विचच्चासे, तिचचपण्णजामसुत्तिसानरस्स ।
 बासासुत्तं पुपमाणं, कासुज्जस्सावि पमेव ॥ ८५ ॥
 उस्सेइम १ संसेइम, २
 तदुत्तनीरं ३ तिलोत्तं ४ य वि ।
 तुत्त ५ जव ६ आयामं ७ वा
 सोधीरं ८ सुक्कविद्यं च ए ॥ ८६ ॥
 अंभ १० कविट्ठा ११ मनगं १२,
 अंभारग १३ माउलिंग १४ अज्जुत्तं १५ ।
 दक्खा १६ द्दामि १७ कैरं १८,
 चिंवा १९ नारिअर २० कोलज्जं २१ ॥८७॥

पुण्यानिं भच्छे, ष्ठे तिष्ठनुसज्जाधोदं भणियं ।
 आ जामं सोधीरं, अट्टमे उलियं नीरं च ॥ ८८ ॥
 मथमसित्यं गलियं, तियदं कुकलियपरिमियमलेवं ।

परकड्जइं ए कप्पइ, न कप्पइं अयमरुंसेसं ॥ ८९ ॥
 उस्सेइम संसेइम, तं दुत्तं तिष्ठनुसज्जायणीरं च ।
 आ जामं सोधीरं, सुक्कं विद्यं जलं नवदा ॥ ९० ॥
 तिहत्ता तमालपत्तं, मुत्तयकुट्टं च क्यररमाईदि ।
 फासुक्यं खल्लाइदि, कारणओ कपपिणजं तु ॥ ९१ ॥
 जिठ तवे भच्छे, पमिसुवहासु अभिमाहायमिं ।
 सट्टाणं जियकप्पइ, उपाहज्जेणं अयसुणं वि तहा ॥ ९२ ॥
 फलं चोदगमिगज्जा-ममाजामं धखनीरसुत्तणं ।
 उच्चुरसे सोवीरं जामदुगं घोयणं तिमहु ॥ ९३ ॥
 वधरसगंधपज्जव-अयविमिस्सं सुं हवइ फासुज्जेणं ।
 सक्करगुरुत्तं डाई, वत्तुयिनिपदिं परिणमियं ॥ ९४ ॥
 गोपल्लगमहिंसीणं, खीरं पण अट्टसदिधियाखुवरी सुक्कं ।
 तिदिणाणुवरी बल्लकी, नवत्तसुवयाण पमेव ॥ ९५ ॥
 चउपहरोवरी जायं, वदि सुद्धं इवइ कपपिणजं च ॥
 तक्करजुयखीरंयो, घोयदिणं होइ वा कप्पा ॥ ९६ ॥
 निधीरं तिलमिस्सं, संघाणं तइ विचारियफत्तणं ।
 अचित्तजोहणो पुण, कप्पइ तक्करमणुमालियं ॥ ९७ ॥
 निव्वल्लिनिच्छियफत्तं, जामगमासुहुत्तसुवरी कयं ।
 वियलं तक्करमिस्सं, न कपपसुत्तणं कथण विणा ॥ ९८ ॥
 भांयाफलं पत्ताली, घोसादोलां च रुक्कमुत्तं ।
 तणुत्तं जं नो, इवइ तं देवईचिचि ॥ ९९ ॥
 उक्कजइइस्यमिस्स-नेपदिं होइ तिविहत्तणत्तं ।
 चउत्ता सचित्तपरि-आयणुत्तं नेपय ॥ १०० ॥
 विदिहम्मि अभिगहं खलु, न कप्पइ सचित्तवावारो ।
 तत्थाणाहारवत्तु, कप्पइ सत्तवावि रयणीय ॥ १०१ ॥
 आर्यावल्लमथि तिदिं, उक्कजइइस्यमिस्सवपारी ।
 तिदिहं जं वियलं पु-याईं पकापप वि तत्त ॥ १०२ ॥
 सियासिधसुत्तुगिमीरं, मोई सोचक्कलं च विद्धवयणं ।
 दिगुत्तुगंधिसुयाइ य, पक्कपप साइमं वत्तु ॥ १०३ ॥
 कारणजापण जइण, अत्तणं सिदं इविज्ज गमियं वा ।
 पिठ्ठं जज्ञेण रत्तं, घुग्घेरिट्ठाइ सिदकेणं ॥ १०४ ॥
 पण्णवक्कया रुक्खा, सिद्धा तिगपीकया इवइ कप्पा ।
 भज्जियधणं तिणधस्य, कट्टदं सिणेइवियलं जं ॥ १०५ ॥
 सव्वाणं धघाणं, पि हुया उट्टेण सिद्धिसाइमयं ।
 वेसस्यत्ताइ इइ, सिद्धया तीह अक्कयं च ॥ १०६ ॥ जं १०६ प्र० ।
 अचित्त-वि० अक्कुरं, गु० प ३० ।

अचित्तद्वयिकल्प-अचित्तद्वयिकल्प-पुं० अचित्तद्वय्याणा-
 माहारादीनामुपयोगविधिविशेषे, “ अचित्तद्वयिकल्पं, एत्तो
 चोच्चं समासेण । आहारे उवाहिम्मि य, भोवसणे तह य पस्स-
 वणे ॥ १ ॥ पयसं नित्तजउत्ताणं, दंरं धंमे चित्तमोहिली अयल्ले-
 इणिया वल्लाणं सो-चणे दंतसोहणे चेव ॥ २ ॥ पिप्पलगसुत्तिय-
 क्खा-णट्टेइयं चेव सोलसं मज्जा हारो खलु द्विदिहो भो-इयल्लो-
 उच्चरं णायव्वा ॥ ३ ॥ तिदिहो तु लोइओ खलु, तथ इमो होति
 णायव्वा ॥ ४ ॥ पं० पा० । पं० चू० (‘आहार’ प्रभृतिशब्देषु विवृतिः)
 अचित्तद्वयसंधं-अचित्तद्वयस्कन्ध-पुं० । अविद्यमानचित्तोऽ
 चित्तः, स चाऽसी इत्यस्कन्धः । द्विभेदोकारिपुद्गलस्कन्धरूपे
 अचेतने इत्यस्कन्धभेदे, अस्तु० ।
 अचित्तद्वयचूला-अचित्तद्वयचूला-स्त्री० चूदामणिकुन्ताप्र-
 सिंहकर्मणासादापदाघने, नि० चू० १३० ।

अचिचसंभत-अचिचसंभत-त्रि० । न विद्यते चिचमुपयोगो ज्ञानं वक्ष्य । कनकजटादावचिचते, सूत्र० १ शु० १ अ० १ उ० । 'चिचसंभतमचिचं वा एव सयं अचिचं गिरहेज्जा' । द्वा० ४ अ० । पा० । आचा० ।

अचिचमहासंभत-अचिचमहासंभत-पुं० । उत्कृष्टावगाहनेऽनन्तमदेशिके स्कन्धे, (तस्यरूपं 'संभ' शब्दे वक्ष्यते) विशेष० ।

अचिचसोय (गृ) -अचिचसोतम् (क) -न० । जीवरहित-चिच्रे, (अचिचसोतसो भेदास्तत्र शिचं प्रवेश्य शुभपुरुलानिष्कासनं च 'मंगादाण' शब्देऽद्र्शि) ॥ नि० सू० १ उ० ।

अचियत-देशी-त्रि० अमीतिकरे, 'अचियति वा षण्णियतंति वा एषा ङ' इति वचनात् । व्य० २ उ० । पि० अमीती च । व्य० १ उ० । सूत्र० । देशीपदमेतत् । वृ० १ उ० । ङी० अमीतिमत्याम्, व्य० ७ उ० ।

अचिचंते उरपरपरपवेस-अचियतान्:पुरपरगृहप्रवेश- पुं० अचियतेऽनभिमतोऽनतःपुत्रप्रवेशवत् परगृहप्रवेशोऽन्यतीर्थिकप्रवेशो येषां ते तथा । अनभिमतपरमतप्रवेशेषु सम्प्रक्षिप्यथु, यथा राज्ञामन्तःपुरं गन्तुं नेष्यते, एवं परतीर्थिकेष्वपि यैः प्रवेशो नेष्यते, ते आचकाः । सूत्र० २ शु० २ अ० । "असियफ-तिहा अच्युयवुचारा अचियतेउरपरपरपवेसा चाउदस-दुपिदुपुष्मसिणेषु पडिपुषं पोसहं समं अणुपालेमाणा विहरति" सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अचु (चो) वल-अचोस-त्रि० । न० त० । अचुदे. तं। जी० । अचिचण-अचिचण-न० । न० त० । चेष्टाभावे, सर्वथा चेष्टानिरोधे, य० ३ अचि० ।

अच्येयक-अच्येयक-त्रि० । अच्येतन्यकृते. य० १६ श० २ उ० । (जीवानामच्येतकृतकर्मकत्वं 'च्येयक' शब्दे)

अच्येयण-अच्येयण-त्रि० । न० त० । चेतनाविकले, अच्य० ४ अ० । 'अच्येयणा' नराधमः, विशिष्टचैतन्याभावात् । प्रस्त० २ अच्य० ह्य० ।

अच्येयसु-अच्येयसु-न० । न० त० । चेतनाविकल्पे, " अच्येतन्यमजीवता " द्रव्य० ११ अच्य० ।

अचेल-अचेल-न० । अच्य० । चेलस्याभावाऽचेलम् । जिनकल्पिकादीनामन्येषां सुयतीनां निभे स्फुटितेऽप्यमूल्यं च चेलं. प्रव० ११३ ह्य० । वस्त्राणां घासगन्धनवीनावदातसुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽभावे, स० २२ अच्य० ।

अचेल (ग) -अचेल (क) -पुं० । न विद्यन्ते चेलानि वासवासि यस्यासाच्येचेलकः । स्या० ४ डा० ३ उ० । नञ् कु-स्त्वर्थे, कुस्तिनं वा चेलं यस्यासाच्येचेलकः । प्रव० ७ उ० ह्य० । अल्पकुनिसतचेलं, जिनकल्पिकेः च । आचा० १ शु० ६ अ० २ उ० । सवसचेलत्वेन तस्य द्वैविध्यम्-

दुविहो ह्येति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य ।

तिष्णगर असंतचेलो, संताचेलो भवे सेसा ॥

द्विविधो भवत्यचेलः-सदचेलो असदचेलश्च । तत्र तीर्थ-करा असदचेलो देवदूष्यतनानन्तरं सर्वदैव तेषां वस्त्राभावात् । शेषाः सर्वेऽपि जिनकल्पिकादिसाधवः सदचेलोः, जघन्यतोऽपि रजोहरणमुल्लसकिकासन्भवात् । वृ० १ उ० ।

आह-यद्येवं ततः कथमसी अचेलो भवत्यने? सत्यम् । सति च चेलं अचेलकत्वस्यागमे लोके च कदाचित् ।

पददेवाह-

सदसंतचेलोऽचे-लागो षं ज्ञोगममयसिम्बो ।
तेपाचेसा मुण्डिआ, संतेहि जिणा असंतोहि ॥
सदचासच सवसती चेले यस्यासा सदसचेलो यद्यस्मा-
च्छोके समये वाऽचेलकः संसिद्धः प्रसिद्धः । अच्युदः प्रस्ता-
वनायाम्, सा च कृतैव । तेन तस्मादिह मुनयः सामान्यसा-
धवः सन्निरेव चेलैरुपचारतोऽचेलो भवत्यन्ते । जिनास्तु ती-
र्थकरा असन्निरेलैरुप्यवृत्त्या अचेलो व्यपदिश्यन्ते । इवमर्थो
भवति-इहाचेलत्वं द्विविधम्-सुखमुपचरितं च । तत्रेदानीं
मुख्यमचेलत्वं संयमोपकारि न भवत्यत औपचारिकं गृह्यते,
सुख्यं तु जिनानामेवासीदिति ।

इदमौपचारिकमचेलत्वं भावयति-

परिसुखं जुनकुत्थी-यं योवाऽनिययभोगभोगेहि ।
मुण्डिओ मुच्छारहिया, संतेहि अचेन्नया ह्येति ॥
मुनयः साधवो मुच्छारहितः सन्निरेपि चेलैरुपचारतोऽचे-
लका नवान्ति । कथमन्यैश्चैरित्याह-परिसुदंति लुप्तविज-
कदेशेनात् परिसुद्धेरपणीयैः, तथा जीणैरुदियैः कुनितैरसा-
रैः, स्तेकैंगणनाप्रमाणतो ईनैस्तुञ्जवो (अनियतजोगभोगेहि नि)
अनियतभोगेन कादाजिकसेचनेन भोगः परिभोगो येषां तानि
तथा तैरवंतुनेश्चेलैः सन्निरेप्युपचारतोऽचेलका मुनयः प्रत्य-
न्ते । तथा 'अजजोगभोगेहि नि' इत्येवमपि योज्यते, तत्रश्च लोक-
कदप्रकाराद्युपप्रकारेण भोगः आसन्नेन, प्रकारलक्षणस्य मध्यमप-
दस्य लोपादन्यभोगः, तन्नामभोगेन भोगः परिभोगो येषां तानि
तथा तैरप्येवमनैश्चैरुपचरितं लोकः प्रसिद्धम्, तथा कर्त्ता-
वाससा वेष्टिनारिसो जज्ञावगाढपुरुषस्य साधोपपि कच्छा-
न्धाभावात्कुर्यात्प्रायामप्रमाणः, एवं चात्रपदकस्य धारणात्मन-
कस्योपरि प्रावणान्दमावाञ्च लोककदप्रकारादित्युपकारेण चेल-
जोगो कृष्यः । तद्वयं 'परिसुखं जुनकुत्थिय' इत्यादिद्विधाप-
रुणिसिद्धेः सन्निरेपि चेलैस्तथाविधयस्त्रकार्यकामाणांषु मू-
र्ताजवाञ्च-मनयोऽवज्ञका व्यपदिश्यन्ते इतीह तात्पर्यम् ।

आह-ननु चेलस्यायथापरिजोगेण किमचेलत्वमवशेषः

क्यापि हृष्ट इत्याशयं यत्तदुपदेशार्थमाह-

जह जलमवगाहंतो, बहुचेलो विमिरवेदियकटिहो ।
भषट् नरो अचेसो, तह मुण्डिओ संतचेलो वि ॥

जीर्णादिनिरेपि वस्त्रैश्चेलत्वं लोके कदाचित् भावयति-

तह थोच जुनकुत्थिय-चेसोहि विजसप अचेसो ति ।
जह नुर सैलिय ! अप्पय, मे पोत्तिं नग्गिया वत्ते ॥

इयमपि सुगमा, नवरं जह तुस्त्वादिदृष्टान्तः । यथेह क्यापि
योचित् कटीवेष्टिनार्णवहुद्रिदेशाटिका काञ्चिकात्मिकः सव-
ति-त्वरस्व लोः हेदिपक । शीघ्रो भूत्या मदीयपासां शटिकां
निर्माण्य ददस्व समर्य, नग्गिका वनेऽहम्, तविह सवस्त्राया-
मपि योत्तंति नाम्मयाञ्चकशाष्ट्रवृत्तिः । विशेष० ।

अथ तत्रैवाणयनमाह-

शुष्धिं खंदिपाहि य, असन्वतणुपाउतेहि ण य णिचं ।
संतोहि विणग्गया, अचेन्नया ह्येति चेदोहि ॥

एवं जीर्णैः पुराणैः, क्षयैर्भूतैरिष्यैः, असर्वतनुमावृत्तैः स्वल्पप्र-
माणतया सर्वस्मिन् शरीरे अवावृत्तैः, प्रमाणैः हीनैरिष्यैः । न च
मित्यं सर्वेषु प्राभूतैः किन्तु शीतादिकारणसद्भावे एषांविधेभ्यो-
क्तैः, साक्षरिप विद्यमानैरपि, निर्मथ्या अचेलान् प्रवर्तति ।

अथ पराजिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

एवं दुग्मातपहिया, अचेलगा ह्येति ते जने वृत्तौ ।

ते त्वसु अस्तन्तीर्य, धारंति एष धम्मवृत्तौ ।।

यदि जीर्णैश्चादिवादिभिर्वक्ष्यैः प्रावृत्तैः साधवोऽचेलकास्तत
एवं दुर्गताश्च द्विरात्रः पाथिकाश्च पाण्या दुर्गतपथिकास्तेऽप्यचेल-
काऽभवन्तीति ते भवेद् बुद्धिः स्यात् । तत्राच्यते-ते अस्तु दुर्गतप-
थिका अस्वसया नवव्यूतसदृशकादीनां बह्व्याणामसम्पत्त्या परि-
जीर्णादीनि वासांसि धारयन्ति, न पुनर्धम्मवृत्त्या । अतो भावत-
स्नाह्वयवृत्तमुच्छ्रापिणाभस्यानिवृत्तत्वात्तैरेऽचेलकाः । साधवस्तु
सति क्षामे महाधनादीनि परिहृत्य जीर्णैश्चादिवादीनि धर्मवृ-
त्त्या धारयन्तीत्यचेलान् उच्यन्ते ।

यद्येषमचेशास्ततः किमित्याह—

आचेलकको धम्मो, पुरिसस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मज्झिमाणा जिणाणं, ह्येति अचेशो सचेलो वा ।।

अचेलकस्य प्राथ आचेलकस्य च, तदस्यास्तीत्यचेलकस्यः ।
अत्राहं राकुतिगणत्वादिप्रत्ययः । एषांविधो धर्मः पूर्वस्य च
पश्चिमस्य च । जनस्य तीर्थे प्रवर्तति । मध्यमकानां तु जिनानाम-
चेलः सचेलो वा प्रवर्तति ।

इदमेव भावयति—

पदिमाए पाउत्ता, एणातिकमंते म ज्जिम्मा समखा ।

पुरिमचरिमाए अमह—द्वणाइ जिष्साइं मोमोचुं ।।

मध्यमा मध्यतीर्थकस्तत्काः साधवः प्रतिमया वा हनन्तया
प्रावृता वा प्रमाणातिरिक्तमहाम्लयविदिर्भासांभिराच्छादितव-
पुरां नातिक्रान्तिन्, प्रागवर्तमानांश्रामिति मग्यते । पूर्वचरमाणान्
तु प्रथमपश्चिमतीर्थकरासधुनाममहाधनानि स्वल्पमूल्यानि,
मिथ्यानि वा कृत्स्नानि प्रमाणपेतान्यदृशकानि चेत्यर्थः । पर-
मिथ्यानि कारणानि मुक्त्वा ताभ्येवाह—

आसज खेत्तकर्णं, वासावासं अजान्वितो अमहू ।

कासे अच्चाणमि य, सागरि तेणो व पाउरणं ।।

क्षेत्रकल्पं देशविशेषाचारमासाद्याभिन्नान्यापि प्राक्षिप्यते, यथा
क्षिप्रविषये तादृशानि प्रावृत्त्य द्विपन्ते । वर्षावासं वा वर्षाक-
ल्पं प्रावृत्त्य द्विपन्ते । अभाषितः शैकः कृत्स्नानि प्रावृत्त्या द्विपन्ते
यावत्प्राचितो जवति । असाहसिणः शीतस्यैव वा नाभिसद्भु-
शक्नोति ततः कृत्स्नं प्रावृत्तुयात् । कासे वा प्रत्येषु भिक्षार्थं
प्रविष्टान् प्रावृत्त्य निर्गच्छेत् । अज्वनि वा प्रावृत्ता गच्छन्ति ।
यस्यागारिकप्रतिबद्धप्रतिश्रये स्थितास्ततः प्रावृताः सन्तः
कायिकादिद्वेषं गच्छन्ति, स्वैना वा पथि यत्सैनं, तत उत्कृष्टपथि
स्कन्धे कक्षायां वा विपिण्डको कृत्योपरि सर्वोद्गीयमावृता गच्छ-
न्ति । एतेषु कारणेषु कृत्स्नस्योपधेः प्राचरणं कल्प्यम् । तथा-
निकवहयलिगभेदे, गुरुमा कर्पति कारुण्येत्ता ।।

गेषास्रसोयरीयं, सररिबेतादियिमादं ।।

निवृत्तवृत्तो नाम शीतोपस्तस्य लिङ्गमर्धं कुर्वतअनुगुरुकाः ।
अथवा निवृत्तं नाम यथाजातलिङ्गं तस्य भेदं अनुगुरुकः ।
तस्य च लिङ्गभेदस्येने भेदाः—

खंषे दुवार संगति, गरुळदंसं य पट्टलिगपुवे ।

लुटुगो लुटुगो य तित्थु वि, चउगुरुमो दोसु मूढं तु ।।

स्कन्धे कल्पे शीर्षद्वारिकां चा करोति, मासलसु संयन्ती प्राचरणं
करोति, अतुलसु गरुडपक्षिकं प्रावृणोति, अर्धाराहतं करोति,
कटीपट्टकं बध्नाति, एतेषु त्रिष्वपि अतुलसु गृहस्थलिङ्गं पर-
लिङ्गं वा करोति, द्वयोरपि मूलया । द्वितीयपदे तु कारणजाते
लिङ्गभेदोपि कर्तुं कल्पते । कुत्रेत्याह-ग्लानत्वं कस्यापि विद्य-
ते । तस्याहस्तमुपदेशनमुत्पापनं वा कुर्वन् कटीपट्टकं बध्नी-
यात् । शोचं वा अन्वस्य साधोः कुर्वाणः पट्टकं बध्नाति । (रो-
गि स्थि) कस्यापि रोगिणोऽग्रांसि लम्बन्ते, द्वौ वृषणौ वा शूरी,
स कटीपट्टकं बध्नीयात् । एहलिङ्गान्यलिङ्गकारयमपवादः—

असिंषं ओमोयपरिण, रायुदुट्टे व वादिदुट्टे वा ।।

आगाह अश्रद्धिं, कासकसंभो व गण्यं वा ।।

स्वपक्षमान्ते आगाटे अश्रिये अन्यलिङ्गं कृत्वा तथैव काल-
क्षेपं कुर्वन्ति, अन्वय वा गच्छन्ति । एवं राजद्विष्टे राक्षि सा-
धूनामुपरि द्वेषमापन्ते, वादिद्विष्टे वा बादपरजिते कापि वा-
दिनि व्यपरोपणादिकं कर्तुं कामे एषांविधे कारणे आगाटे
अन्यलिङ्गमुपलक्षणत्वाद्दुहित्वात् कृत्वा कालक्षेपो वा गम-
नं वा विधेयम् । ५० ६ ३० । १० ३० । १० ३० ।
१० ३० । (१० सं० । अश्रव० । कल्प० । जीत० । प्रथ० ।)
पञ्चानं । (तिष्ठकोपाने केशीकुमारस्य चातुर्योमपञ्चयामधर्म-
भेदहेतुप्रश्नकारकं “ अचेलगो य जो धम्मो, जो
इमो संनन्दनो । देसिओ वडमारणं, पासेय य महायसा ”
(उत्त० २३अ०) इत्याचेलकस्य धर्मस्य कथं वीरतीत्यं सर्वं पार्श्व-
तीर्थेऽस्तस्वमिति पृथुं गौलमो विधेयकारणं ‘ गौमकसि-
ज्ज’ शब्दे च द्रव्यतं) प्रागुपपन्नस्य भविष्यत्प्रथमतार्थकरस्य स-
मयेऽप्यचेलकधर्मो भविष्यति । स्या० ए डा० ।

पञ्चानि कारिरेचलसः प्रयत्तो भवति—

पंचंदिं ठाणेहि अचेलए पसत्थे जवइ । तं जहा—अप्पा-
पडिलेहा, लापविण पसत्थे, रूवे वेसासिण, तवे अणु-
ष्णाए, विउले इंद्रियनिगहे ।।

(पञ्च हीन्यादि) प्रतीतम्, नवरं, न विद्यन्ते चेलानि वासांसि
यस्यासाचेलकः, स च जिनकटिपकविशेषः, तद्भजाभादेव । तथा
स्वविकटिपकत्वात्प्रावृत्त्युत्पत्त्यसम्भोग्जाणंभिनिससन्तवा-
दिति प्रशस्तः, प्रशंसितस्तीर्थकरादिभिरिति मग्यते । अस्या प्र-
स्तुपेक्षा अचेलकस्य स्वादिनि मग्यं प्रस्तुपेक्षणीयं, तथाविद्योपधे-
रानावात् । एवं च न स्वाध्यायादिवपरिमर्शेति । तथा लोचनार्थो नो
लाघवं तदेष शाभाविकं, प्रवृत्ततोऽप्यवतोऽपि रागाधिपत्याप्राधात प्र-
शस्तमनिग्यं स्यात् । तथा कृपे नेपथ्यं वैश्वार्सिकं विश्वासप्रयोज-
नमलिप्सुतासूचकत्वात् स्वादिनि । तथा तप उपकरणसङ्घान्ता-
रुपमुद्रांताते जिनानुमत्तं स्यात् । तथा विपुसो महानिन्दित्यिग्रहः
स्यात्, उपकरणं बिना स्पृशंनप्रतिकूलतात्वात्तपसिद्विषयनादि-
ति । स्या० ए डा० ३३० । (प्रतिमं प्रतिपक्षो वक्ष्यवयान् अनुर्थं वक्ष-
मन्वेषयन् लक्ष्म्या च तदु देमन्ते तस्मिन् जीर्णं, ‘अनुवा पगसाते
अनुवा अचेलं साधवियं आगममाणे तथे से अजिनसमाध्यागे
भवति स्थि’ ‘मरण’ शब्दे दर्शयिष्यते) । (अचेलस्य निर्मथ्यस्य
संचक्षिकाभिर्निर्मथ्योनिः संवाचः ‘संवास’ शब्दे उच्येतम्)
अचेलगधम्म—अचेलकधर्म—पुं० । अविद्यमानानि जिनकटिप-

कश्चिन्नापेक्षया असस्योदेव, स्थविरकल्पिकापेक्षया तु जीर्णमस्तिनक्षयित्तथ्यात्पत्त्यादिना चेन्नानि धक्खायि यस्मिन् स तथा, धमेअरिधम्, स चास्ती धम्मअज्ञेकधमेः । आचेलकथास्ये इयाधिसातिः। धेकरप्रकृते श्रुयत्रवीरतीयेस्मन्ते साध्याचार, स्वा० ६ उा०। (यथा चैव धम्मस्तथाऽऽन्तरम् 'अचेलग' शब्दे इतिः) अचेलपरि (री) सह-अचेलपरि (री) षह-पुं० । अचेलं बेलाभायो जिनकल्पिकादीनाम्, अन्वेषां तु यिन्नमल्प-भूलयं च चेलमप्यचेहय, अथस्मशीलवत्, तदेव परीषहोऽचेल-परीषहः । उक्त० २ अ० । अचेलतयां जीर्णोपुणमस्तिनादिचे-रुत्वे सञ्जाद्विप्याऽऽकाङ्क्षाकारणेन परियच्छामाणत्वादिति । अ० उ हा० उ उ० । वृष्टे परीषहे, प्रअ० ६ संख० द्वा०। स०। अ-महास्येयानि क्षरिद्धतानि जीर्णानि च वासांसि धारयेत् । आर० उ ४ अ० । न च तथाविधवक्त्रः सन् मम प्राक् परिपृहीतं वरुं नास्ति, नापि तथाविधो दातेति नैव्यं गच्छेत् ; अन्यथासम्भवा-धनया प्रमुदितमानसश्च न भवेदिति । प्रव० उ ६ द्वा० । यथा- 'नास्ति वासोऽस्तुभं चैवत्, तथेच्छेत्साध्वसाधु वा । नाभ्येन विन्दुतो जानन्, सामाऽनाजनिविचि स म' ॥१॥ ध० ३ अघि० । 'शानाजितोऽपि यति-स्वयस्वस्त्राणवाजिनः । वासोऽकल्पे न शृद्धीया-र्द्धि नोऽज्जालयेद्वि' ॥ ११॥ आब० १ अ०।

एतदेव सूत्रकार आह—

परिजुषेहि न्येयेहि, होक्खामिति अचेलपरि ।

किंवा सचेन्नपरि होक्खं, इइ जिस्सु ए चित्तए ॥

परिजुषीं सन्मत्ताद् हासिमुपगतैर्बन्धैः शयकदिग्भिः (हो-काभामिति) इतिर्निर्नकमः, ततो भविष्याम्यचेन्नकञ्चन्नकञ्चो-ऽप्यदित्तमाश्रित्यादीनामिति भिक्खुं चिन्त्येत् । अथवा सचेन्न-कञ्चन्नमित्तो भविष्यामि, परिजोषेवरुं हि मां इट्ठा कश्चित् आ-कः सुवत्तरत्तये वक्खायि इत्येतोति भिक्खुं चिन्त्येत् । इदमुक्तं अचरि-जोषयकः सन्ससमः प्राक् परिपृहीतं न परं वक्खम-स्ति, न च तथाविधो दातेति न नैव्यं गच्छेत्, नचाभ्येयानासंभाव-नया प्रमुदितमानसो भवेदिति सूत्रार्थः । इयं जीर्णादिवस्त्रतया-ऽचेलं स्थविरकल्पिकमाश्रित्याचेलपरीषह उक्तः । समति तमेव सामान्यानाह—

एगया-ऽचेलपरि होइ, सचेले वा वि एगया ।

एयं धम्मद्वियं नब्बा, एण्णो षो परिदेवप ॥ १३ ॥

एकद्वैकसम्पन्नाञ्च जिनकल्पप्रतिपत्तौ, स्थविरकल्पेऽपि कुल्ले-भवक्खासौ वा सर्वथा बेलाभावेन, सति वा चैत्रे यिना वर्षादी-नि तमप्राचरणेन, जीर्णादिवस्त्रतया वा अचेलक इत्येवमो भव-ति । पश्यते च- अचेलपरि सयं हाति ' तत्र स्वयमेयात्मनेव न पराजियोगतः सचेन्नः सचन्नश्चाप्येकदा स्थविरकल्पिकत्वे तथाविधाऽऽस्मन्नेनाचरये सति । यथंयं ततः किमित्याह-एतद्वि-स्वयस्वैरिभ्येन सचेलत्वमचेन्नस्यं च धर्मो यथिधर्मस्तस्ये हि तमुपकारकं धर्मदितं, इत्याऽऽपुन्यं, नवाचेलकवचस्य धर्म-हितममल्पमत्युपेक्षादिभिः । यथोक्तम्- 'पंचाह गणोहं पुरिम-अरहंताए अगवन्ताए अचेत्रप एपसंथं भवामि । तं जहा-अपापदिहेइा बेलासिए रुवे १, तये १ अणुमप ३ लाच-वपसथे ४ विडले इंदियण्णगाह ५ नि' । सचेन्नकस्य तु धर्मो-पादित्वममभ्याघारममनिवारकयेन संयमफलत्वात् । ज्ञानी भवा एव प्राथित्येत्पारकस्त्वद्भवन्तयं च मया मन्त्यपि वासांस्वपास्येन इत्येवंबोधत्वात् परिदेवयत् । किमुक्तं भवति-

अचेलः सन् किमिदानीं शीतादिप्रमितस्य मम शरणमिति न नैव्यमाहम्भेत इति सूत्रार्थः । उक्त० २ अ० ।

अत्र ' एवं धम्मदियं नक्केति' सूत्रसूचितं दृष्टान्तमाह- ।

बीतजये देवदत्ता, गंधारं सावगं पदियारिषा ।
लज्जइ सयुग्गुणियाणं, पज्जोतेणाणि उज्जोणि ॥
दहूए चेंदिरखं, पभावई पव्वइतु कालगया ।
पुक्खरकरणं गहूणं, तस्य पुरपज्जोयमुययं ॥
माया य रुद्धोभा, पिया य एण्णोण सोमदेवो ति ।
जाया य फग्गुगखिय, तोसन्निपुत्ता य आपरिया ॥
संहीगिरिजद्वृत्ते, वदरक्खमणा पडित्तु पुव्वगयं ।
पव्वावितो य जाया, रक्खियकलमणेइ जणओ य ॥
उत्त० नि० ॥

गाथाचतुष्टयम् । बीतजये देवदत्ता गन्धारं भवकं प्रतिजा-गय्यां लनते शताहुस्त्रिकानां, प्रघातेनानां तो उज्जयिनी, इट्ठा वटीम-रणं प्रजावती प्रमदय काहं गता, पुक्खरकरनं, प्रहसं, दशपुत्र प्रघो-तमाचनं च, माता च रुद्धसेमा, पिता च नाम्ना सोमदेव इति, ज्ञाता च फग्गुरक्तिः, तोसन्निपुत्ताआचार्याः । सिंहगिरिभद्र-शुलाभ्यां धक्कमण्यः पठित्वा पुष्येणते प्रमाजितश्च ज्ञाता राज-तल्लमणैर्जनकश्चेति गाथाचतुष्टयाङ्कः । जग्याध्वस्तु-वृक्ष-सं-प्रदायाववसेयः । स ख्यां (जीवित्त्यामिप्रतिमावकथ्यता आ-र्य्वरक्तिस्त्रिंशदां दशपुत्रमगमानवाधि 'अन्नरक्षिय' शब्दं वक्ष्य-ते) उक्त० ३ अ० । आचार्यैरक्तिस्त्रिंशत् तत्र सस्मात्पुत्रिणीप्रमुक्तः सर्वसंसारिकवर्गो दीर्घकं प्रादिति । निता तु इट्ठा ताहश्रियोऽ-पि सायुलिकुं न शृद्धाति । स्वहातायजनामां लज्जां च वदति । आचार्या दीर्घकप्रहणाय तस्य बहु कथयन्ति । ततः स कथ-यति-पुत्रवत्स्युपगजयोषीर्वी, तनकमण्डलुच्छ्रिकोपादिभिः सभ-चद् दीक्षां इदाति तदा ज्ञामि । ततो लार्जं इट्ठा ताहश्रियोऽ-स तं गुरुः प्रमाजितवान् । प्रादित्तन्नरणकरणस्याध्यायम् । अन्यदा वैद्यवन्दनार्थं गता आचार्यास्त्रय सायुशिक्षिता शृष्टस्वधिन-का वदन्ति-एनं उक्खिं सुक्खा स्वर्चनं सायुव वन्दाम्हे । ततः स बुद्धो वक्ति-मम पुत्रनप्यादये तं वन्दित्वा ; अहं कस्मात्प्र-वन्दितः; किमया दोक्षा न शृहीता ? त आहुः-किं वीक्षितस्य उन्न-कमण्डव्यादीनि स्युः ततो गुरुव्यागपुत्र स बुद्धो वक्ति-पुत्र ! मम-किन्नका आंग हसन्ति, ततो न कायं उत्रेण । एवं प्रायोगेण क्रमते धैतिकव्यासं सर्वं त्याजितः बहुरुसथा प्रायोगक-रुणेऽपि धैतिकं न मुञ्चति तस्म । अन्यदा एकः सायुश्रीहानाशुनः स्वर्गं गतः । तत आचार्यैर्वृक्षस्य धैतिकव्याजनाय सायु प्रयेव-मुकम-य एनं मृतमात्रं व्युत्पुष्टं रक्थेन वदति, तस्य महत् पु-रयम् । ततः स स्वविरा वक्ति-पुत्राऽत्र किं वदुमिजं ? आचार्यो आहुः-वाहम् । ततः स वक्ति-महं वदामि । आचार्यो वदन्ति-अयासगं जायते, खेटकरुणाणि लयन्ते, यदि शक्यतेऽधिसेत्तुं तदा वरं, यदि कुंभो अधिपतिं तदा श्रुमन्स्माकं भविष्यति, एवं सिद्धीकृत्य स तत्र नियोजितः, सायुसाध्वीसमुदायः पुष्ट-स्थानः।यावत्स न सायुशः कर्म-समारोप्ये वोढुमास्वयं, तावत्स-स्य धैतिकं शुश्रूषिज्ञितदिग्नेकैराकार्येन, स लज्जया याव-त्सायुशः कर्म-सायुश्चेति तावद्व्येकत्वम्-आ सुवचं २, एकेन-चोत्रपटको द्रवरकेन रुष्या कटौ बद्धः स तु लज्जया तस्यायुश्च-

वं हार्यूर्ध्वं यावद्भुङ्क्ते तत्र स्युःशब्दोऽपि भक्ति-पुत्र !
 अथ महाजुषसर्गो जातः । आहुतस्त्रयोः-आनीयतां शीतिकं,
 परिधायन्ताम् । ततः स शक्तिः अयाऽन्नं शीतिकेन, यद् रुष्टस्यं
 तद् दृष्टमेव । अथ बोलपट्ट एवान्तु । पूर्वं तनाऽञ्चेलपरीचदो न
 सोढः, अर्थात् सोढः । उच्यते २. ४० ।

पतदेवाञ्चेलसाहनं प्रत्यपादि यथा—

एयं तु शुष्णी आयाणं सया मुअकस्ययधम्मे विवृतक-
 प्ये शिञ्जोसइच्छा, अञ्चेलो परिव्रासिते तस्तथे णिक्नु-
 स्स णो एवं जवति, परिजुण्णे मे वतये वत्थं जाइस्सामि सुणं
 जाइस्सामि मुई जाइस्सामि संधिस्सामि सीविस्सामि उक-
 त्तिसस्सामि बोक्किसिस्सामि परिहिस्सामि पाञ्जणिसामि,
 अमुवा तत्थे परिकरं ज्ञेज्जे अञ्चेलं तण्णकासा फुंसिति
 सीयफाना फुंसिति तेज्जकासा फुंसिति देसमसण्णकासा फुंसिति
 एणयरे अण्णयरे विरूक्खवे फासे अहिहासेधिते अञ्चेलो
 ज्ञापवं अगममाणा, तवे से अभिसमएणाणए जवति, अहेयं
 भगवता वेवेदितं, तमेव अज्जिसमेच्छा सन्तो, सम्बचाए
 सम्मत्तमेव समभिजाणिया, एवं तेसिं महावीराणां चिररासं
 पुनार्हं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहिघासियं
 आमणएणाणाणं किंसा बाह्वा अवंति । पण्णएयं अंससोणियं
 विसोणियं कट्टु परिणएणए एस तिथे सुचे विरए वियाहि-
 ए चि वेमि ।

पतच्छ पुर्वोक्तं चङ्क्यमाणं वा, सुवर्षायासहस्रान्तरे, आदीयत इत्या-
 दानं कर्म, आदीयत इति चाऽनेन कर्मोत्पादानं कर्मोत्पादानम् ।
 तत्र धर्मोपकरणतादिरिकं चङ्क्यमाणं वस्त्रादि तन्मुनिर्भोजयितेति
 संबन्धः किंप्रुतः । स्वधा सर्वधर्माणां सुवृत्त्यान्तः धर्मोऽयेनैव स्वा-
 क्यताधर्मो संसारजीरण्याद्यधरोपित्तनारवाहृत्यर्थः, तथा वि-
 पूनः क्षुण्डः सम्यक् स्फुटः कटप आचारो येन स तथा, स एवंचूतो
 मुनिरादानं भोजयित्वा आदानमपनेष्यति । कथं पुनस्तदादानं
 वस्त्रादि स्याच्चू येन तद् जोषयितव्यं भवेदित्याहः (जे अञ्चेल इत्या-
 दि) अन्वयै नञ्, यथा-अयं पुमानहः स्वधण्णान् इत्यर्थः । यः
 चापुनोन्त्ये वेत्ते वस्त्रमन्तोर्यतोऽञ्चेलोऽजपक्षेण स्फुर्यते ॥ संयमे
 एवंचितो ग्र्यवर्धित इति नस्य भिक्षोर्हितेन्द्रचिते नैतत्कथ्यते ।
 यथा परिजोषि मे वस्त्रमन्तोर्यतोऽञ्चेलोऽजपक्षेण, न तेऽन त्यक्त्रान्-
 थं जविष्यति, ततश्च शीतोदाह्रितस्य किं शरणं मे स्याच्च वस्त्रं
 चित्नेत्यतोऽहं कञ्चन आश्चर्यादिकं प्रत्येत्य वस्त्रं याच्छिष्ये, तस्य
 वा जीविष्ये वस्त्रस्य संधानाय त्वं याच्छिष्ये, त्वामि याच्छिष्ये
 वा, आसाज्यां सुखीसूत्राज्यां जीर्णवस्त्रेण संधायामि, पादितं
 सर्वाश्चामि, जण्डु वा सत्पद्मराकललनगत उक्थयिष्यामि,
 दीर्घं वा सत्तु अक्षापनयनतो भ्युत्थयिष्यामि । एवं च कृतं स-
 परिरिक्षायामि, तथा प्रावरिस्यामीत्याद्याश्चाप्यानेपहनः सत्यपि
 जीर्णो दिवक्षसद्भावो यज्ञविष्यसाश्ववसायिनो यमैकप्रबणस्य
 तु भवत्यन्तःकरणवृत्तिरिति । यदि वा तिमकल्पिकाभिः प्राये-
 षेतेत्यत्तु स्वयं व्याख्येयम् । तद्यथा- (जे अञ्चेल इत्यादि) नास्याञ्चेलं
 वस्त्ररक्षात्यर्थः क्लिष्टपणिवाद्योपायाः । पाणिपान्त्यात्पा-
 आदिसप्तविधतन्त्रिर्गोचरहितोऽनिप्रवृत्तिवशात् त्यक्तव्यप्रयः ।
 केषलं रजोहरणमुक्तवर्तिकसामन्वितसत्प्रवृत्तस्य भिक्षोर्हित-

ह भवति, यथा परिजोषि मे वस्त्रं सत्पिण्डं पादितं वेत्येवमादि-
 क्षणतमपचयानं न भवति, धर्मिणोऽस्यत्वाद्भर्मोभाषः । सति च
 धर्मिणि धर्मो-वेपथुं स्यात्व्यभिहितं तस्य चश्चत्तयेन्द्रप्रति तस्य न
 भवत्येव । यथा परं वस्त्रमहं याविध्य इत्यादि पूर्ववन्नेयम् । यो-
 ऽपि जिद्रुप्राणित्वात्प्राणिवर्गोसमयित्वः कल्पव्याप्यतरुको-
 ऽस्यचपि परिजोषिदिसद्भावो तद्रुतमपचयानं न विधत्ते, यथा
 कृतस्याव्यपरिकर्मणो प्रहयात् सुखिसुधान्येयं न करोति ।
 तस्य चाञ्चलस्याव्यपेक्षस्य वा तुणादिस्योऽसद्भावे यद्दि-
 धेयं तदाह— (अमुवा इत्यादि) तस्य हाञ्चेलतया परिवसनो
 जीर्णवस्त्रादिकृतमपचयानं न प्रवति, अथयेनत्त स्यात्तत्राञ्चेल्ये-
 पराकर्मणः (ह्यञ्जो) पुनस्तं स्यापुमनेलं कश्चिद् प्रामादौ त्व-
 कृताणांभावात् तेषु प्राच्यश्रापिनं तुणायां स्फुरोः परव्यास्तु-
 र्भोजनिताः स्फुराः सुश्रावणोऽन्वयस्योऽन्वयेन कर्तायचित् स्फु-
 शन्ति, ताञ्च सम्यक्कर्णममनाऽसिप्तसह इति संभवः । तथा
 शीतस्पर्शः स्फुराम्पुपातपयन्ति, नेजेऽन्यस्पर्शाः स्फुरन्ति, तथा
 दंशमशकस्पर्शाः स्फुरन्ति । तेषां नु परीहयाणैकतरे विकृता
 दंशमशकपुनस्पर्शादयः प्रादुर्भवेयुः, शीतोष्णाधिपरीहयाणां
 वा परस्परविकृताममत्यतरे प्रादुर्भुवुः । प्रत्येकं बहुबलवनिर्दे-
 शश्च शीमन्मन्त्रमध्याह्न्यासंस्वक इति । पतदेवद्योयति-विक्रपं
 बीभस्तं मनोऽनयामाहादि विधिष्वं वा मन्त्रादिवेद्योयं येषां तं वि-
 कृत्तयाः के ते?, स्फुरां दुःखविशेषासह्यापदात्कस्त्राणादिस्योऽस्यो-
 वा, तात् सम्यक्कर्णमपचयानरहितोऽसिप्तसह, कोऽसौ?, अ-
 चेलोऽपगतत्वं कोऽप्यचेलो वा सञ्चलस्वरूपो वा सम्यक् तितितितः ।
 कम्भिसिस्य परियेदानसिप्तसह इत्यत आह—(लाघवमित्यादि)
 लघोऽनीषो श्रावय, क्यत्यतो भावतश्च, क्यत्यतो क्षुपकणसाधार्यं,
 जायतः कर्मसाधयय । आमगम्यजगमयलसुच्यमान इति यावद्-
 धिसहते परीहयोस्तर्णामिति । नागजुर्नीयास्तु पठन्मि-“ एवं
 अह्नु से उच्यराश्रावयितं तवं कम्मकस्यकरणं करोति” एव-
 मुक्तकण्ठेन जोषकस्याः पुनरुच्यते तस्यै तपश्च करोतीति आ-
 चार्यः । किञ्च (तवे इत्यादि) (से) तस्योपकरणसाधयेन कर्म-
 साधयमागमयतं कर्मसाधयेन चोपकरणसाधयमागमयतस्य-
 णादिस्योऽनिसिप्तसहमानस्य तपः कायकेशकपतया बाह्मनिस्त-
 मन्वारागतं जवति।समयाभिमुक्त्वेन सोढुं भवति।एतत्पन्नमयोज्य-
 त इत्येतद्दोषयितुमाह—(जहेयं इत्यादि) यथा येन प्रकारेणोदमिति
 यदुक्तं चङ्क्यमाणं वैतत्, जायता वीरचकामस्यामिता, प्रकर्ष-
 णाऽऽशी वा धेदितं प्रवेदितमिति । यदि नाम भगवता भवेदिति ततः
 किमियाह—(तमेव इत्यादि) तदुपकरणसाधयमाहात्साधयं वा-
 ऽसिप्तस्येव ह्वात्वा, एवकारोऽवधारणे, तदेव साधयं ह्वात्येव्यर्थः
 कथमिति चेत्पुनरेव-सवत इति क्यत्यः क्वेचतः कास्तो भावतश्च ।
 तत्र द्रव्यत आहारोपकरणादी, केचतः सर्वत्र प्राप्तादी, कालतो-
 ऽदि रात्रौ वा, दुर्मिक्षादी वा । सर्वोन्मेते । भावतः कृत्रिम-
 कृत्ताराभावेन, तथा सम्यक्त्वमिति । प्रकाशं शोभनेनेकं सङ्गतं
 वा तत्तं सम्यक्त्वम् । तदुक्तम्-“प्रशस्तः शोभनकैव, एकः सं-
 गत एव च । इत्येतेऽप्युच्यन्ते, भावः सम्यक्त्वमुच्यते”॥१॥ तदेव-
 चूतं सम्यक्त्वमेव वा समभिजानीयात् सम्यगाभिसुक्त्वेन जानी-
 यात् परिचिन्त्यात् तथा ह्यवेतोऽप्येकेश्रादिकं नाशयत्येत, यत्
 उक्तम्-“जो वि सुवयि विवयो,पेणण अञ्चेलगो च संवरइ । ए हु ने
 हीतोति परं, सञ्चयि हि तु ते जिणा पाए ॥१॥ यथा-“जेअह्नु तिस-
 परिसकपा, संघयमणियादिकारणं जणिया । पण्णयमणुयदोणं,
 अण्णयो मयहं ते” ॥१॥ सर्वे वि जिणा गाए, जहादिर्हि कम्म-

कषणमद्वाप । विहरति उडनुया बहु, समं प्रमिजाणैर्पवं ॥२॥ इति । यदि वा तदेव साधनमितिमेत्य सर्वतो ज्ञप्यादिना सर्वोत्पन्नादिना सम्यक्त्वमेव सम्यग्विजिगीषीयात् तीर्थकर-गणधरोपदेशात् सम्यक् कुर्व्यादिति तात्पर्यार्थः । एतच्च नाश-क्यानुष्ठानम् । उपररतककच्युक्त्वाङ्कुररत्नोपदेशश्च प्रवतः केषुमनुपन्यस्यते, अपि त्वयैव बुभिक्षिरकाक्षमासेवितमित्येत-दृशोयितुमाह— (एयमित्यादि) एयमित्येकस्यता पर्युषितानां तुयादिसर्वशान्धिसहमानानां तेषां महावीराणां सकळसोकचम-रुत्कारिणां बिररात्रं प्रवृत्तकालं यावज्जीवमित्यर्थः । तदेव विशेषतो दृश्येति-पूर्वोक्तिं प्रवृत्तानि रीयमाणानां संयमादुद्यमेन-पञ्जतां, पूर्वस्य तु परिणामं वर्णनां सतिः कोटिहस्ताः पथं वा श-तकोटिसहस्रास्तथा प्रवृत्तानि चर्षोणि रीयमाणानां तत्र नामधे-वारभ्य शीतलं दशमतीक्ष्णं दूरं यावत्पूर्वं संस्थासद्विजायात् पूर्वाणी-त्युक्तम् । तत्र आरभ्य धेयांसाद्वात्प्रत्ययं वर्षसंस्थाप्रवृत्तौषोणीत्यु-क्तमिति । तथा ज्ञप्याणां ज्ञप्यानां मुक्तिमग्नययोग्यानां पद्मया-धमिन्, यत्पुणस्पशोदिकं पूर्वमोर्मिहान्तं, तद्विजिगीष्यामिति सम्यक्-करणेन स्पशंति सहनं कृतमेतदवगच्छेति । एतच्चर्यापि सहमा-नानां यस्यासदाह— (आगय इत्यादि) आगतं प्रहानं पदार्थावि-र्भावकं येषां ते तथा, तेषामागतप्रहानां तपसा परीहयानिसह-नेन च कृया बाहवो भुजा भवन्ति । यदि वा सत्यपि महोपस-नीपरीहदावावगमप्रहानत्वाद्वाः पीरुः कृया जवन्ति, कर्म-पणायोनित्यस्य शरीरमात्रमपीकारिणः परीयहोपसर्गात् सहा-बन्धिति मन्थमानस्य न मनःपीरुपपद्यत इति । तदुक्तम्—“नि-म्माणेह परोत्क्रिय, अयागमो न विषयं सररीराणं । अयासोवि-य हियस्त, न उण दुष्कर्मं परो वन्ति ॥१॥ इत्यादि । शरीरस्य तु पीरुः जवत्येवेति दशोयितुमाह—(पयण्य इत्यादि) प्रतनुके च, मांसं च शोणितं च मांसशोणितं, द्वे अपि । तस्य हि क्क्षादरत्वा-दव्याहारत्वाच्च प्रायशः क्लृप्तवैजवाहाराः परिणमति, न रसत्वेन कारणान्नायाच प्रतनुके च शोणितं तत्तनुत्वाद् मांसमपीति, ततो भेदोऽस्त्येदन्वियपि । यदि वा प्रायशो कर्तुं वातमं भवति वातप्रधानस्य च प्रतनुते च मांसशोणितयोश्चेलतया च तृणस्प-शोदिशुभ्रमोवेन शरीरोपापात्प्रतनुके मांसशोणिते भवत इति संबन्धः । तथा संसारवर्तनी संसारवत्तरता रागद्वेषकाषायसंत-तिस्तां ज्ञान्यादिना विभोषिण कृत्वा तथा पिकात्वा च समवायना-यया । तथा—जिनकल्पिकः कश्चिदेककल्पधारी द्वी श्रीन वा बिभ्रति, स्वविरकल्पिको वा मासास्येमासकल्पकस्तथा वि-कृष्टाविकृष्टतपक्षारी प्रत्यहं भोजी कूरगह्मका वा । एते सर्वेऽपि तीर्थकृच्चानुसारतः परस्परानिन्द्यां संशुण्णित् सम्यक्त्व-दर्शन इति । उक्तं च— “ जो वि दुवत्यतिकार्यो, दमेण अचेल्लगो व संथरद । न हु ते हंइतिं परं, सव्ये वि हु ते जिणा एव मुक्कः सर्वसङ्कमो वित्तः सर्वसावधाउद्युत्तनेमो ध्याक्यातो नापर इति मवीमि । इतिहास्यः एवंचत । आचा०॥२०६३०२३० ।

अचेत्यारिः (रौ)महुविजय-अत्रेलेपरिः(री)महुविजय-पुं० उचम-भूतिसंहनमादिविक्रमानामिदानांःनससधूनां नृणप्रदधानानस-सापरिहारतः संयमस्कीर्तितिमिभं क्खिदत्ताहपम्युपपरिजोणी-सर्वेऽर्थाणि वक्खामि आरयतामावेऽअयपरिपहसहने, ०० सं० ।

संज्ञमजोगिमिन्निचं, परिजुकादीणि धार्यतस्स ।
 कह न परीसहसहणं, जद णो सइ निम्ममचस्स ॥
 ब्राह्मेहक्यमुक्तप्रकरणं तावदौपचारिकं तत्तस्यारुपावेक्षया-
 सेषेन वरीषसहदनमप्यौपचारिकमेव स्यात् । तथा च सति कुतो
 मोक्षायातिरुपचरितस्य निरुपचरितस्योक्त्याकारित्वायोगत् । न हि
 माणवको दहतेनोपचारादाधीयते पाके इति यद्येवं तर्हि कल्पनी-
 यमाहारमपि दृष्टान्तस्य न सम्यक् कुर्यरीषहसहनं भवेत् भव-
 दुक्तन्यायेन सद्यथा आदारपरित्यागत एव तत्सहनोपसत् ।
 एवं च सति जगवात्पर्यहं दृष्टुपरीहजज्ञेता न ज्ञवेत् । सोऽपि
 हि भगवाद् उक्त्वावस्थायां जन्मतेनापि कल्पनीयमाहारमु-
 पतुञ्जे । न च स तथा कल्पनीयमाहारमुपतुञ्जामोऽपि
 क्षुत्परीहजज्ञेता नेष्टः, ततो यथाऽनेषशीलाकल्पनीयमोजनप-
 रित्यागतः क्षुत्परीहसहदनमिष्टं, तयो महामृत्यावेषोणीयाक-
 ल्पनीयवक्षुपरित्यागत ब्राह्मेहक्यपरीहसहनमेष्टव्यम् । न च
 वाच्यम्—एवं तर्हि कल्पनीयकामिनीजनपरिजोपरिहारतः का-
 श्चेतविकल्पयामेनापरिजोगमपि कुर्वतः क्षीपरीहसहनप्र-
 सङ्ग इति, क्षीपरीभोगस्याप्यत्र सर्वोत्पन्ना सूत्रान्तरेण प्रतिषि-
 क्त्वात् ; न चैव परिजोणीत्यप्येववक्षुपरिजोगः सूत्रान्तरेण
 प्रतिषिक्तः, ततो नातिप्रसङ्गावाप्तिः, कृत प्रसङ्गेन । विस्तरं तु
 धर्मसंप्रहणीटीकायामपवादः प्रपञ्चित इति तत एवावधार्यः ।
 पं० सं० ४ ब्र० ॥

अचेक्षिआ—अचेक्षिआ—क्षी० । वक्खरहितयां श्रियाम, निर्म-
 न्त्वाऽचेल्लिकया न भावितव्यम् । ६० ५ ४० ।

नो कप्पइ निग्गंधीए अचेलियाए हुंतेए ।
 नो कस्यते मिग्गन्था अचेक्षिकया वक्खरहितया णवितुनेव-
 सूत्रायः ।

अथ भाष्यम्—

उचो अचेक्षममो, इति काइ अचेक्षलगतं ववसा ।

जिनकप्यो वजाणं, निवारिआं ह्वाइ एवं तु ॥

अचेक्षको धर्मो भगवता प्रोक्त इति परिभाष्य काश्चि-
 द्बलकत्यं व्यथस्येत कर्तुमजिलवत्, अतस्ताक्षिपेयोर्धर्मिदं सुत्रं
 कृतम्, अचक्षक्यप्रतिषेधेन आचार्याणो जिनकल्पऽप्येवम-
 नैवेव सुत्रेणैव निवारितो मन्तव्यः । कुत इत्याह—

अजिअम्मि साहसम्मि, इत्थीण वण अचेक्षिआ ह्वाडे ।
 साइसमणं पि करे, तेणैव अइपमंगेणं ॥
 कुलभावितापिणेच्छति, अचेक्षयं किमु सइ कुले जाया ।
 पिक्खारुकिआणं, तिरुत्तेअओ दुलभाविच्च ॥

साध्वसे भये तरुणादिकृतोपसगमुद्ये अजिते सति अचे-
 क्षिका मचितुं क्षी निर्मथ्रेयो न शक्यनुयात् । अथ जवति तत्सत्सै-
 वानिप्रसङ्गनाच्छेत्तासङ्गुणनाचदपि चतुर्धसैवाधिकं साहसं
 कुर्यात्, तथा कुलटाऽपि तावद् नेच्छत्येच्छतां किंपुनः कुमे जाता
 सती साक्षी । अथतत्तं प्रतिपन्नानां वार्यिकाणां (विश्वरुद्राक्षिमा-
 शं ति) लोकापवादद्वगुपसितानां तीर्थोच्छेदः, दुस्मा च वृत्ति-
 मेधति, न कोऽपि प्रव्रजति, न वा जन्मपानामिदं ददातीत्यर्थः ॥
 गुरुगा अचेक्षिआणं, समलं च सुगुणियं मरहियं च ।

होइ परपत्यणिञ्जा, विइयं अफ्फाणमार्हसु ॥
 अत एव यथापिका अवेहिका न भवन्ति, यतस्सत्तां वतुगुयुका
 आहाइवच्च होयाः। तथा चेलरहितां सेयतीं स्सत्तासं मइइय्यवेहो
 वइहा होको जुगुप्पितं जुगुप्पसां कुवीत् । अः कइमिइहोक्क एता-
 इवयवस्या, परहोके तु पापतरा भविष्यति । गहिंसे व गही
 प्रवेचनस्य कुर्वात्-असात् स्रयंमेतइहामिति । अवेहिसिंका च
 परस्य प्राथेयीया भवति । अत्र द्वितीयपदमन्वादिषु विविक्का-
 नां मन्तथयम् । अपि च-

पुणराविचिनिवारण-उदिष्णयोहो व दहुं पेडेज्जा ।
 पदिबेधो समयारो, किंदिणयोसा य नगिणाए ॥
 अवेसामार्थं इह्मा प्रज्यायिमुक्खानामपि कुलस्सामीं पुनरावृ-
 त्तिर्भवति, प्रज्यां न प्रहं।पुिरित्यर्थः । अन्वयो वा कश्चिच्चिवार-
 खं कुपान्, किमेतासां कापानिनीनां समीये प्रजजिजेतेति । यत्ता-
 कश्चिदुदीर्णमाइस्तामप्रावृत्तां इह्मा कर्मरुकतया प्रेरयेत्, सापि तत्रैव प्रतिबन्धं कुवीत्, प्रतिगमनादिनि वा विद्विष्यात् ।
 त्रिस्त्रिभद्रापाञ्च जयेयुः, यत एते गमन्या होया अतोऽवेहया न
 भवितव्यम् । ितीयपदे सेयत्या अथानि स्तेनैर्विचिकार्यास्ततो
 न किमपि वखं भवेत् । आदिशम्यत्ता किमिच्छा यक्कायिष्ठा वा
 वस्त्राणि परित्यजेत्, एवमवेशापि भवन्ति । ७०५ उ०। नि०।
 अचोऽय-अचोदिन-वि० । अग्ररिति, "विचो अवेहोओ गिष्ण,
 विष्णं इवइ सुचोऽयम्" उच० १ अ० ।
 अचोप्पमा-अचोपहा-स्त्री० । निरुत्पाक्ये अक्षेपकृते पेयद्रव्ये,
 य० ३ अधि० ।

अचोरिय-अचौर्ये-न० । अव्य० । चोरतामावे, "अचोरियं करे-
 तं" अचौर्यं कुर्वन्, चोरतामकुर्वाणमित्यर्थः । प्रअ० २ आअ०।
 अच-अच-धा० पूजायाम्, उअ०, ज्वादि०, सक०, सेट् । अचं-
 ति, अचन्ते, आनचं, आनचं, आचन्ति, आचिष्ट । चुरा०, उअ०,
 सक०, सेट् । अचैयति, अचैयते । वाच० । "अचे मुत्ते महामा-
 गा, एति किञ्च अचिच्चमा" उच० १२ अ० ।
 अच-वि०। अचैति यःसः। अचै-अच॥ "कगचजतइयवां प्रायो
 लुक्" ८ । १ । ७७ । इत्यसंयुक्तस्यैव सुविधायकत्वेन न
 लुक् । पूजके, प्रा० । कालविशेषात्मकस्यभेदे च, यस्मिन्
 हि धर्मणा भगवान् महावीरो निवृत्ते । कल्प० ।
 अचर्ये-वि० । पुज्ये, स्त्रा० ३ ता० १ उ० ।

अचंग-अत्यङ्ग-न० । आदिशायिषु कारणेषु, " यज्जवमणंतयुं-
 धरि, अरुंसाणं च भोगो माणं" । अयङ्कानीत्यदिशायीनि
 प्रोगस्य कारणान्यवयवा मधुमद्यमांसादीनि रात्रिप्रोजनकक-
 वन्दनाङ्कनादीनि च । पञ्जा० १ वि० ।

अचंतकाल-अत्यन्तकाल-वि० । अन्तमत्तिकालोऽत्यन्तः,
 अत्यन्तः कालो यत्र होऽप्रयत्नकालः असीमकालिके, "अचंत-
 कालस्स समुसयस्स, सव्वेस्स दुक्कस्स उ जो पमाक्को" ।
 उच० ३२ अ० ।

अचंतथाव-अत्यन्तस्थावर-पुं० स्त्री० । अनादिस्थावरे, "मद-
 देवा अचंतथावरा सिक्का" । मध्येवा अत्यन्तस्थावरा अनादि-
 वनस्पतिराशेरुज्ज्वल्य सिक्काः । भा० म० द्वि० ।

अचंचपरम-अत्यन्तपरम-वि० । अघिकोष्ठे, " अचंचंतपरमो
 आसी, अउत्तो क्वचिदिहो" उच० ३० अ० ।

अचंचंतभावसार-अत्यन्तजावसार-वि० । अतीवस्ताभ्यव-
 सायप्रधाने, पञ्जा० १४ वि० ।

अचंचंतविशुद्ध-अत्यन्तविशुद्ध-वि० । सर्वथा निर्दोषे, स्या०
 ए ता० । " अचंचंतविशुद्धीहरायकुलवंसपस्य" । अत्यन्तं
 विशुद्धः सर्वथा निर्दोषः हीनेश्च पुरुषपरम्यरापेक्षया यो राज्ञां
 भूपाज्ञानां कुललक्षणो वंशः सन्तानस्तत्र प्रसृतो जतो यः स
 तथा । स्या० ए ता० ।

अचंचंतसंकिट्टेस-अत्यन्तसंकिट्टेस-पुं० । अतिनिषिद्धतया रामटे-
 पपरिणामे, च० १ अधि० ।

अचंचंतमुपरिसुद्ध-अत्यन्तमुपरिशुद्ध-वि० । अतिनिर्मलतरे,
 पञ्जा० १४ वि० ।

अचंचंतसुद्धि (ष)- अत्यन्तसुस्विन्-वि० । निरतिशयसुखा-
 ऽऽप्नुते, "तो होइ अचंचंतसुद्धी कयत्थो" उच० ३३ अ० ।

अचंचंताजाव-अत्यन्ताजाव-पुं० । अत्यन्तोऽन्तमत्तिकान्तो नित्योऽ-
 भावः । क० स० । नास्तीति बाक्याभिलष्यमाने नाशप्रागभाव-
 निष्ठे संसर्गाभावे, वाच० । अत्यन्ताजावमुपादिशार्त्त- कास-
 त्रयापेक्षिणी तादात्म्यपरिणामानिष्कृतिरत्यन्ताभाव इति । अती-
 तानागतवर्षमानकपालत्रयेऽपि याऽसी तादात्म्यपरिणाम-
 निवृत्तिरंशकत्वरिणित्यावृत्तिः सोऽत्यन्ताभावोऽभिधीयते ।
 निर्दोशयान्ति-यथा चेतनाचेतनयोरेरिति, न खलु चेतनमान्त-
 त्वमचेतनमुत्सालात्मकतामचकलत्कलयति कस्यपिप्यति वा, तस्मै-
 तयत्रिरोषात् । नाप्यचेतनं पुद्गलतत्त्वं, चेतनरूपकमचेतनमत्यवि-
 रोधात् । रत्ता० ३ परि० ।

अचंचंतिय-अत्यन्तिक-वि० । अत्यन्त-भवायै उच्च । अतिशयेन
 जाते, वाच० । सर्वकालजाविनि, " नेगंतणुणंतिय उदप वं,
 वयंति ते दीपि शुणोदयमिम्" सूत्र० २ शु० ६ अ० । सोऽत्यन्तिको
 दुःखाविगमः सोऽपवर्गः । अत्यन्तं सकलदुःखाशक्तिनिर्मूलनेन
 प्रवर्तित्यत्यन्तिको दुःखाविगमः । घ० १ अधि० ।
 अचंचंतासयु-अत्यन्तासयु-पुं० । अयस्येणेष्वेव प्रमाजितेषु, सं-
 विष्टैः प्रमाजितमात्रेष्वेवैवावसन्नतया विहृतेषु च । "अचंचंतास्ये-
 सु य, परहिगज्जेगे व मूलकम्मं व । भिक्खुमिं व विहियतवोऽ-
 णवट्टपारिचियं पचं" ॥ जी० ।

अचंचकस्वर-अत्युत्तर-वि० । एकादिजिह्वैररिचिके, "अनयक-
 रत्वे हि सुत्रगुणः" इत्येव होचः । अउ० । विशे० । आव० ।
 भा० म० प्र० । अउ० चू० ।

अचंचण-अचंचन-न० । पुष्पादिजिः सत्करणे, "अचंचणं सेवयं वेध,
 मणसा वि ग परथप" । उच० ३५ अ० ।

अचंचणा-अचंचना-स्त्री० । अचंच-युक् । पूजायाम्, वाच० । "गन्धै-
 र्नास्त्वैर्विनिर्बहुहसपरिमत्तेरकृतेर्धूपदीपैः, साध्यायैः प्राज्यभेदे-
 ष्वकजिह्वपद्धतिः पाकतृतिः फलैश्च । अन्नमःसम्पूर्णपात्रैरिति हि
 जिनपतेरचंचनामभेदेर्वा, कुर्वणा वेष्टमनाजः परमपदसुक्कस्तोम-
 प्राराह्णन्ते" ॥ १ ॥ च० ३ अधि० ।

अश्वपिण्ड-अर्चनीय-वि० । अश्व-अर्चनीयर् । बन्धनगन्धादिभिः सत्करणीयं, " अश्वपिण्डे बंदिण्डे कल्लानं मंगलं देवयं चेरु-यं ।" औ० । बपा० । जी० । भ० । हा० ।

अश्वपिण्डा-अर्चनीका-स्त्री० । सिन्धुयतने जिनप्रतिमाद्यर्चने, भ० ४ शृ० १ उ० ।

अश्वत्थ-अत्यर्थ-न० । अतिक्वत्तमर्थमुत्कृष्टरूपम् । अतिशये, तद्वत् च । त्रि० । अत्यये, अन्व० स० । अर्थार्भावे, अन्व० स० । बाष्प० । " अंगारपलिसककल्पश्वत्थसंश्लेषेण " प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अश्वत्थ-अत्यर्थ-न० । महाधैर्याऽपरपर्याये परिपुष्टाधा-त्रिधाधितारूपेऽद्यने सत्यबन्धनातिक्रमे, रा० ।

अश्वय-अत्यय-पुं० । अति-इण-अच् । अतिक्रमे, भभावे, विनाशे, वीषे, कृष्णे, अतिक्रम्य गमने, कार्यस्याऽव्ययज्ञाभावात्, वाच० । प्रत्यवाये, वृ० ३ उ० । आत्यन्तिके विनाशे च । वृ० ४ उ० ।

अश्वर्षा-अत्यालीन-त्रि० । अतीवात्यर्थमाहीने आसन्न, प्रा० ।

अश्वसण-अत्यज्ञान-न० । अतिशयितमज्ञानम् । अतिभोजने, वाच० । प्रतिषदादीनां पञ्चदशदिवसानां (तिथिनां) लोकां-तरसंख्या द्वादशे दिनेषु, पुं० । चं० प्र० १० पाठ० ।

अश्वा-अर्चा-स्त्री० । अर्थनेऽस्मावाहारात्प्राद्वारिभिरित्यर्था । इहे, अचा० १ । ध्रु० १ अ० ६ उ० । सूत्र० । अचा० । "दुविहवा प-दिमयेरस्मिहितेर अश्चिस्सश्चिच" अर्चो द्विविधा । तद्यथा-सञ्चिता अश्चिता च । तत्राश्चिता द्विविधा-प्रतिमा इतरा च । इतरा नाम स्त्रीशरीरे निर्जीवम् । पदैकं पुनाद्विधा-सञ्चिहिता, अ-सन्निहिता च । अ० ६ उ० । " एगच्चार पुण एगे भयंतरो भवन्ति " एके पुनरेकस्यैकेण शरीरेणैकस्माद् भवन्ति सि-ङ्गिति गन्तारो प्रवन्ति । सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । कौशाभ्यवसा-यात्मिकायां ज्वालायाम्, आचा० १ ध्रु० ६ उ० । अचा० । लेश्यायाम्, " इओ विच्छंसमाणस, पुणो संवोर्दुल्लहा । दुल्लभाओ तदच्चाओ, अ धम्मदु वियागरे " अर्चो लेश्याऽन्त-परिणतिः, अर्चो मनुष्यशरीरम् । सूत्र० १ ध्रु० १५ अ० । पुत्रायां च, " मध्यान्हृत्वां सत्पात्र-दानपुमन्तु भोजनम् " अ० ३ अर्धो ।

अश्वाहृत्-अत्याकीर्ण-वि० । जनसंकुलत्वात्प्रादीवाकीर्णै, " अश्वाहृत्ता विंसा पां परस्स षिक्कमणपवेसाए " आचा० २ ध्रु० ३ अ० १ उ० ।

अश्वाहृत्-अत्यानुत्-त्रि० । नृशं ग्लानि, " अश्वाहृत् वा वि स-मिक्कणं, विप नश्चां धेनु दलित्तु तस्स " वृ० १ उ० ।

अश्वागाढ-अत्यागाढ-न० । अत्यन्तस्नेहकादिभयं, " अश्वागाढे वसिया, षिक्कित्तो जइ व होज्ज जयणाए " वृ० २ उ० ।

अश्वावेदण-अत्यावेदण-न० । अतीवाऽऽवेद्येन परितोपने, नि० चू० १२ उ० ।

अश्वामणया-अत्यामनता-स्त्री० । अत्यन्तं सततमामनमु-पवेशनं यस्य सौऽत्यासतस्तदामनसत्ता । सततमुपवेशने, अचा० ९ डा० ।

अत्यश्रुता-स्त्री० । अतिमात्रमज्ञानमत्यश्रुतं तदेवाऽत्यश्रुता ।

दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् । प्रमाणधिक्रोजने, अचा० ६ जा० । अश्वाससु-अत्यासन्न-वि० । अतिनिकटे, " अश्वासये नाशर्रे सु-स्तुसमाणे " अ० १ शृ० १ डा० । रा० । सू० प्र० ।

अश्वासाहृत्-अत्याशातितुमु-अन्व० । ज्ञायाथा ग्रंथवितुमि-त्यर्थं, " इच्छामि पुं देवापुत्रिया सक्तं देविदे सयमेव अश्वा-साहृत्ए । ज० ३ श० २ उ० ।

अश्वासाहृत्-अत्याशातित-वि० । उपसर्गितं, " से व अश्वा-साहृ ए समाणे परिकुविण् " अचा० १० जा० ।

अश्वासाहृत्-अत्याशातयत्-त्रि० । उपसर्गं कुर्वति, अचा० १० जा० ।

अश्वासायणा-अत्याशातना-स्त्री० । साध्यादीनां ज्ञायापुद्-घाटनादिदंशारूपायाम्, कर्म० १ कर्म० । आत्यन्तिक्यामाशा-तनायाम्, अचा० १० जा० ।

जे जिकरु जदत् । अणायरीए अश्वासायणाए अश्वा-साहृ अश्वासाएतं वा साज्जाइ ति । नि० चू० १० डा० । (अ० रा० २ मा० ४३८ पुठे 'आसायणा' शब्दे वक्ष्यते)

अश्वाहार-अत्याहार-पुं० । प्रभूताऽऽहारे, " अश्वाहारेण स-हइ अइणिकेण विसया उइज्जति " । आच० ४ अ० ।

अश्चि-अर्चि-स्त्री० । अवे-इत् । अश्चि-न० । अश्चे-इसि । वाच० । किरणे, रा० । हा० । शरीरस्थरत्नादिज्ञानाज्वालयाम्, " अश्चीए तेषां लेसाए दसादिसाए उज्जापमाणे " ज० २ श० ५ उ० । प्रश्न० । जी० । उपा० औ० । शरीरनिर्भयनेज्ञा-ज्वालायाम्, अचा० ६ उ० । लेदयायाम्, सूत्र० १ ध्रु० १० अ० ।

दाहप्रतिषेधे ज्वालाविशेषे, अचा० १ ध्रु० १० अ० । हा० । अचा० । अचानलपिण्डुत्रायां ज्वालायाम्, जी० ३ प्रति० । " एष बादरेतजसो भेदः " प्रश्न० १ पद । दश० । दीपशिक्षायाम्, अच० ३ अ० । प्रथमकृष्णराजरेच्यन्तपुष्यारक्षकाशास्त्रे स्थिते लोकात्मिकविमानं, ज० ६ श० ५ उ० ।

अश्चिमालि (ण)-अर्चिर्मालिन-वि० । अर्चयि किरणा-स्तेषां माला, सा अस्यातीति अर्चिर्माशो । सर्वतः किर-णमाशापरिवृत्तं, " अश्चिमालिमासरासिवञ्चामे " (सौत्र-मैकल्पः) जी० ४ प्रति० । रा० । प्रश्न० । आदिशयि, पुं० । सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० । स० । पूर्वयोः कृष्णराज्योरकाशास्त्रे (स्थिते) लोकात्मिकविमानदे, ज० ६ श० ५ उ० ।

अश्चिमालिपत्र-अर्चिर्मालिपत्र-त्रि० । अर्चिमाली आदित्य-सहस्रत्वमान्ते शोभन्ते यानि तानि अर्चिर्माश्रममाणे सूर्यवत् किरणैः शोभमानेषु, स० ।

अर्चिमालिणी-अर्चिर्मालिनी-स्त्री० । सूर्यान्तमसोस्तुतीया-यामप्रमहिष्याम्, ज० १० श० ५ उ० । सू० प्र० । जं० । जी० । अचा० । (अन्वयार्थवच्यकथाश्रव १७२ पुठे 'अग्ना-महिनी' शब्दे प्राञ्जा) दक्षिणशरीरस्थरतिकरपथेतस्य प-श्चिमदिशि, शक्यस्य संवत्तान्भ्यास्तुतीयाया अग्रमहिष्या इह-योज्ञतप्रमाणाय राज्ञान्यां च । अचा० ६ उ० ।

अश्चिच्य-अर्चिचि-त्रि० । अन्वमादिना भाषितं, हा० । ध्रु० १ अ० । मदाप्ये, वृ० ३ उ० । प्रमाणीकृतं, नि० चू० ३ उ० । माप्ये, " जं जस्स अश्चियं तस्स पूषिण्जे तमस्सिया सिंहे " । ज-

अचिय

वे कप्रत्यय इति क्लियम्, भावप्रत्यये क्लिङ्गविशेषणानुपपत्तेः ।
४०० १ ४० । “अचिन्तं यद् तत् पूर्वं निपतति । यथा—मातापितरौ,
वासुदेवाजुनाविति ” । नि० सू० १ ४० ।

अचिन्तसहस्रमाहणजिञ्-अचिःसहस्रमाहणनीय-त्रि० अचिं-
चां किरणानां सहस्रैर्माहणनीये परिवारणीयम् । ज्ञा० १ ४० ।
रा० मणिरक्षप्रमाहणानां सहस्रैः परिवारणीये, किमुक्तं
भवति । एवं नाम अत्यद् दृष्टैर्मणिरक्षप्रमाहणैराकलितमभवति-
ति, यथा—नूतमिदं न स्वाज्ञाविकं कितु विशिष्टविद्याशक्तिः—
मत्पुत्रप्रपञ्चप्रभावितमिति । “अचिन्तसहस्रमाहणजिञ् रुचगस-
हस्रकलियं भिसमाणं भिमिसमाणं चक्षुस्त्वोर्याणल्लसं”
आ० म० प्र० । रा० । जी० ।

अचिन्तसहस्रमाहण-अचिःसहस्रमाहण-स्त्री० । दृशिसहस्रमाहण-
मावलीषु, ज० १० हा० ४ ४० ।

अचिन्तसहस्रमाहणिया-अचिःसहस्रमाहणिनिका-स्त्री० अचिः-
सहस्रमाहणा दृशिसहस्रमाहणमावदयः सन्ति यस्यां सा तथा ।
स्वार्थिककप्रत्ययं च अचिःसहस्रमाहणिनिका । दृशिसहस्रपरिवृ-
तायाम्, ज० १० हा० ५ ४० ।

अचिंकरण-अचिंकरण-न० । अकृतव्या अचो अतर्चा, अतर्चाया-
अचोकरणमर्चाकरणम् । अदुततद्वाचं चिः । राजादीनां
गुणवर्णनं, नि० ४ ४० ।

जे जिकन् रायरक्त्वयं अचिंकरेऽ अचिंकरंतं
वा साऽज्ज । ३ । जे भिकन् गुणरक्त्वयं अचिंकरेऽ अचिं-
करंतं वा साऽज्ज । ४ । जे भिकन् शिगमरक्त्वयं अचिंकरेऽ
अचिंकरंतं वा साऽज्ज । ५ । जे भिकन् मन्वाररक्त्वयं अ-
चिंकरेऽ अचिंकरंतं वा साऽज्ज । ६ । (नि० ७०) जे भिकन्
गामरक्त्वयं अचिंकरेऽ अचिंकरंतं वा साऽज्ज । जे भि-
क्व् दमरक्त्वयं अचिंकरेऽ अचिंकरंतं वा साऽज्ज । जे
भिक्व् मीमरक्त्वयं अचिंकरेऽ अचिंकरंतं वा साऽज्ज ।
जे जिकन् रथो रक्त्वयं अचिंकरेऽ अचिंकरंतं वा सा-
ऽज्ज । जे जिकन् रथो रक्त्वयं अचिंकरेऽ अचिंकरंतं वा
साऽज्ज । नि० ७० ५ ४० ।

अचिंकराणं रथो, गुणवर्णनं तं समासत्रो दुविधं ।
संतमसंतं च तदा, पञ्चकलपरोत्सपेक्षकं ॥ १५ ॥
रथो अचिंकरणं किं गुणवर्णनं सौन्दर्यादित् दुविधं संतं
असंतं च परेक्षकं पञ्चकलपं परोत्सपेक्षकं ।

एषो एगतरणं, अचिंकराणं जो तु रायाणं ।

अचिंकरेति भिक्व्, सो पावति आणमादीणि ॥ १६ ॥

इमं गुणवर्णनं-

एकत्रो द्विमंतो, अक्षततो साह्यनारणो राया ।
समभारतरोकता, तेण ए वद्धत्थप पुह्णं ॥ १७ ॥
राया रायसुह्री वा, रायाभिसा अमिन्सुद्धिणे वा ।
भिक्वसुस व संबंधी, संधे सुह्री तवं सोच्चा ॥ १८ ॥
संजयविद्यकरे वा, सरीरवाधारे व जिक्वसुस ।
अणुलोमे पहिलोमे, कुजा दुविधे व डवसगो ॥ १९ ॥

गङ्गास्यारवुद्धो, वेरञ्जविरुहोहमाहणे ।

उवमुज्जावणणिकत्वम-युवपसकजमत्थेषु वि य ॥ १२० ॥

एतेहिं कारणेहिं, अचिंकरणं तु होति कातत्वं ।

रायारक्त्वयणागर-योगमसवे वि एस गा ॥ ११ ॥

नि० ७० ५ ४० ।

अच्युक्त-अच्युक्ता-त्रि० अत्यन्त उल्कटः । अत्यन्तोमे, वाच० ।
अच्युन्ते, आ० म० प्र० ।
अच्युत्काम्-अच्युत्काम्येत्-न० । कर्कशवेदनीये कर्मणि, प्रव०
२२४ हा० ।

अच्युत्काम्यदृण-अच्युत्काम्येद्दहन-त्रि० अत्यन्तं कर्कशवेद-
नीयं यत्कर्म तस्य दहनोऽपनायकः । कर्कशवेदनीयस्य कर्मणो-
ऽपनायकः, “संक्षेपान्निरेपेक्षणं, यतीनां धर्म ईरितः । अच्यु-
त्कर्मदहनो, गहनोप्रविहारतः” ॥ १ ॥ ४० ४ मकि० ।

अच्युचिय-अच्युचित-त्रि० । होकानामतिरक्षघ्नयोः, “गर्मयोगे-
ऽपि मातृणां, भूयतऽच्युचिता किया ” हा० १४ हा० ।

अच्युट्टिय-अच्युत्थित-त्रि० । अतीवाकार्यकरणं प्रत्युत्थिते,
“दासीवित्नाऽत्यन्तमुत्थिता” इति । दास्या अपि दास्याम्, स्त्री० ।
“अच्छुट्टियाप घट्टासिप वा अगारिणं वा समवायुत्सिमा”
सू० १ ४० १ ४० ।

अच्युएट-अच्युएणा-त्रि० । अनौबोष्ण वष्णधर्मो यत्र सोऽच्यु-
एणः । अतिशयितोष्णस्वभावे, स्या० ५ ज० ३ ३० ।

अच्युदय-अच्युदक-न० । मदांमहति वर्षे, “समए वा सप्तानं,
अच्युदये सुखसंततं षणोणः” ओ० प्रदूतजले, जी० ३ प्रति० ।
अच्युय-अच्युत-पुं० । सौधावीतत्सकादिसकप्रविमानप्रधाना-
च्युतावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षिते चादशो देशलोके,
अनु० । दश० । नि० ७० । प्रव० । स० । आरणाच्युतयोरका-
दशहादशयोः कल्पयोरिन्द्रं च । स्या० ३ ज० ३ ३० ।

अच्युया-अच्युता-स्त्री० । श्रीपद्मप्रत्यय शासनदेश्याम्, सा
च मतान्तरेण इयामा (नाम्नी) देवी इयामथर्षां नरवाहना
चतुर्भुजा वरदवाणान्वितदक्षिणकरद्वया कान्तुकाजयुतवामपा-
ण्ड्वया च । श्रीकृत्याः शासनदेश्यां च, सा च मतान्तरेण
बलाजिधाना कनकचर्मविभूषवाहना चतुर्भुजा बीजपूरकस्त-
ान्वितदक्षिणपाण्ड्वया भुशुचिरुपान्वितवामपाण्ड्वया च ।
प्रव० २७ हा० ।

अच्युत्वाय-अच्युत्वात्-त्रि० । अतीबोद्धतः परिभ्रान्तः । दृशं
भान्ते, “अच्युत्वाया वसुवेति” वृ० ३ ३० । नि० ७० ।

अच्युसिण-अच्युष्ण-त्रि० । अतीव तले भ्रान्तवदिकं, “अच्यु-
सिणं सुष्पणे वा जाव कुमाहि वा” आचा० २ मु० १ ४० ७३० ।
अच्छ-आस्-घा० उपवेशने । अदादि०, आ०, प्रक०, सेदं ।

प्राकृतं “मभिच्छमासां षः” ङ । ४ । १२४ । इति प्राकृतसूत्रेण
अत्यस्य षः । अच्छ, आस्ते । प्र० । “अच्छति अश्वलोपति व
लङ्गुमा” ॥ (अच्छति सि) प्रतीकितो व्य० १०० । “अच्छेज वा चिदं-
उज वा” । आसीत सामान्यताः तं । म० अधिपूर्वेः अधिराणं,
सक० । गगनमध्यमस्थान्ते, वाच० ।

अच्छ-अव्य० न उच्यति दधि, सम्मुखत्वात् । छो० । न०-
त० । अभिसुक्ते, “अच्छ गत्यर्थेयदेवु” १।।।६९ । इति पाणिनिषुके

अच्छगत्थ, अच्छोघ इत्युदाहृत्य, अत्रिमुसं गत्वा अत्रिमुसमु-
कथयति व्याहृतम् । लि० क० त० ४० ।

अच्छ-त्रि० । न उच्यति इष्टिम् । जे०-क । न० त० । आकाश-
स्फटिकरत्नवदतिस्वच्छे, प्रज्ञा० २ पदा जी० । आ० म० प्र० ।
म० । औ० । स्या० । रा० । ज० । निर्मले, ज्ञा० १ अ० १२ अ० ।
पञ्च० । म० । अनादिं, जी० ३ प्रति० । स्फटिकवद्द्रविर्निर्म-
लप्रदेशे, जी० ३ प्रति० । "अच्छा सद्यहा मृदा णीरया शिष्यका"
मेरी, पु० । सुनिर्मलजाम्बूनदरनबहुलत्वात्सास्य " ता अच्छंति
णं पव्ययसि" सं० प्र० ५ पाठोऽपि सू० प्र० । जी० । आर्यदेशभेदे,
स्फटिके च । पुं० प्रथ० २७५ ज्ञा० न च्छति भक्षयति नाशित-
सत्वम् । ज्ञा-मङ्गणे-क । न० त० । वाच० । अङ्के, भावा०
२ अ० १ अ० ५ उ० । प्रति० । जी० । प्रज्ञा० । ज० । एष
सनस्यपदनेदः । प्रज्ञा० १ पद ।

अप्स-त्रि० अपः सनोति । सन-ना । प्राकृते "ह्रस्वात् ध्यञ्ज-
सप्सामनिश्चले ६ । २ । २१ । इति प्तभागस्य च्छः । प्रा० ।
अपां विशेषगुणीभूते रसे, वाच० ।

अच्छं-देही-आयये, शभि च । वे० न० १ घर्म ।

अच्छन्द-अच्छन्द-त्रि० । नास्ति उद्यो यस्याः । अस्वक्षे । " अ-
च्छन्दो जे य नृजंति ण से चाइत्ति वुच्चइ" दशा० २ अ० । अ-
भिप्रायशून्ये च । वाच० ।

अच्छन्द-अच्छन्दक-पुं० । मोरकप्रामसन्निवेशशब्दे पाष्ठाग्निरनि,
" मोरये सङ्कारं सङ्को अचिदप्य कुविद्यो" आ० क० । (स
मोरके वसत्यन्तमन्त्रांशं केषुचित्तत्र समागतस्तत्र समाग-
तस्य श्रीवीरस्य पुत्रतः सिन्धुर्वायव्यन्तरेणाऽच्छेद्यमिदमिति प्र-
तिज्ञाय गृहीते तृष्णं छिन्दन् शकणेन यज्ञं प्रक्षिप्य निश्चयशाङ्गुली-
कृतो जैतुरपहसित इति ' वीर' शब्दे बह्यते) आ० चू० ।
प्रा० म० द्वि० ।

अच्छण-आसन-न० । अवस्थाने, ग० १ अधि० । ज्ञा० पर्युपास-
ने, इ० ३ उ० । प्रतिभवणे, "अच्छण अवसेणे वा" व्य० १ उ० ।
अच्छण-पुं० । अहिसामय, दश० उ अ० ।

अच्छणपारग-आसनगृहक-पुं० । अवस्थानगृहकेषु, येषु यदा
तदा वाऽपगत्य बहवः सुक्वासिकयाऽवतिष्ठन्ते । जी० ३ प्रति० । ज० ।
अच्छणजोय-असाणयोग-पुं० । अहिसाव्यापारे, "तेसि अच्छ-
णजोयणि च्छं होयिस्स" तेषां पृथिव्यादीनामक्षययोगानाह-
साव्यापारेण नित्यं भवितव्यम् । दश० उ अ० ।

अच्छणाल्य-अच्छन्नत्य-त्रि० । अच्छन्नदेशे स्थिते, इ० ३ उ० ।
अच्छति (दि) त-अच्छादित-त्रि० । निरुद्धे, "संणद्धवका-
लुतितं व्व" प्रज्ञ० ५ संव० ज्ञा० ।

अच्छत्तय-अच्छन्नक-त्रि० । न० ब० । अन्नरहिते, वीरमहापद्मयोरुन्न-
को धर्मो मतः "अदंतवणे अच्छत्तय अरुवाणहृय" स्या० ५ ज्ञा० ।
अच्छद्व-अच्छद्व-पुं० । स्वच्छादिके, प० ब० १ ज्ञा० ।

अच्छधी-अच्छधी-त्रि० । ६ ब० । बिमलबुद्धौ, " विष्णुः
प्रातः प्रभुं नखा, साधुंश्चापुञ्जच्छधीः" आ० क० ।

अच्छभङ्ग-अच्छन्नङ्ग-पुं० । अङ्के, व्य० १ उ० । व्याप्रविशये
च । प्रज्ञ० १ आश्र० ज्ञा० ।

अच्छमाण-आसीन-त्रि० । तिष्ठति, " सुचित्मापि अच्छमाणो"
दश० ३ ज्ञा० । ज्ञा० ।

अच्छरणसंधसंधिद्वेषु-अप्सरोगणसंधसंधिकीर्ण-त्रि० । अ-
प्सरोगणानां संधः ससुवयस्तेन सम्पक्व रमणीयतया विकीर्णो
व्यासा अप्सरोगणसंधसंधिकीर्णः । अप्स्तेरोग्यसंपरिचुमे, "अ-
च्छरणसंधसंधिकिधा दिव्यनुदिमधुरसहस्रपथा" । जी०
३ प्रति० । प्रज्ञा० । रा० ।

अच्छरस-अच्छरस-त्रि० । अच्छो रसो येषां ते अच्छरसाः । प्रत्या-
सनवस्तुप्रतिबिम्बाधारतुतेष्विधाऽतिनिर्मलेषु, जी० ३ प्रति० ।

अच्छरसा-अप्सरस-स्त्री० । ब० व० । अद्भुतः सरन्ति उक्-
चन्ति । सु-असद् । अप्सरसः " ह्रस्वात् ध्यञ्जस्तप्साम-
निश्चले" उ । २ । २१ । इति स्वेषेण प्राकृते 'प्स' भागस्य 'च्छ'
आदेशः । प्रा० । "आयुरप्सरसोयां" उ । १ । ३० । इति स्वेषेण
च अन्यव्यञ्जनस्य वा साः प्रा० । देवीभाषे, रूपेण देवीकल्पना-
यां स्थियां च । "गंदशुषणाविवचारिणीश्चो अच्छराश्चो उलर-
कुमानसच्छराश्चो अच्छरशोपेच्छिण्योश्चो तिष्ठि पलिश्चोवमाह-
इ परमाउं पातयिस्ता ताभ्यो वि उवणमंति मरणधम्मं" प्रज्ञ० ७
आश्र० ज्ञा० । जी० । (आसां धर्मकम् "अचरकुरं" शब्दे बह्यायामः)
अच्छरसांतुक्ष्ण-अच्छरसतदुहस्त-न० । अच्छो रसो येषु तेऽ-
च्छरसाः ।

अच्छरसा-अप्सरा-स्त्री० । शकस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य पृथ्वा-
मममहिषास्य, स्या० उ ज्ञा० । म० । ती० । (तस्याः पूर्वाऽपर-
भवकथा एतस्मिन्नेव भागे १७३ पुत्रो 'अमामहिंसा' शब्देऽर्द्धां)
अच्छाणियाय-अप्सरानिपात-पुं० । चतुष्टिकायां, नतकरण-
काले च । यावता कालेन चतुष्टिका क्रियते तावत् कालोऽप्यप्स-
रानिपातशब्देनाभिधीयते " अच्छरानियाभिरेहि तिससक्खुत्तो
अणुपरियत्ताणं हव्वमगच्छेज्जा" जी० ३ प्रति । सूत्र० । ज० ।

अच्छवि-अच्छवि-पुं० । न० ब० । योगनिर्गमविद्यमानशरीरे
स्नातकाभ्यनिर्ग्रन्थभेदे, अत्र अन्वारोऽनुवादायाः- 'अव्य-
थक' इत्येकं । उचियोगाच्छः शरीरं तद्योगानिर्गमेन यस्य ना-
स्यसौ 'अच्छविक' इत्यन्ये । कृपा सच्छब्दो व्यापारस्तस्या
अस्तित्वात् कृपी, तन्निरुधत् 'अक्षपी' इत्यन्ये । घातिकमचतुष्ट-
यकृपाणन्तरं वा तत्कृपाणभावोऽक्षपीत्युच्यते । म० २५
श० ६ व० ।

अच्छविकर-अक्षपिकर-पुं० । न कविः स्वरयोग्यासां यः सः,
तत्करणीशो न भवति सोऽक्षपिकरः । ज० २५ श० उ व० ।
व्यधाधिरोषस्याऽकारके प्रशस्तमनाविनयेनेद, स्या० उ ज्ञा० ।
अच्छविमलमसितपुष्प-अच्छविमलमसितपुष्प-त्रि० । अ-
च्छेन स्वकपनः स्फटिकवच्छुद्धेन विमलेनऽऽप्तानुकरमलरहिते-
न सलिलेन पुष्पाः स्फटिककल्पस्फटिनिर्मलजस्रजुते, रा० । जी० ।
अच्छा-अच्छा-स्त्री० । वरुणदेशप्रतिबद्धे पुत्रीभेदे, आर्यदेशराज-
णनायां वरुणा अच्छा । वरुणा नगरी, अच्छा देशः । अन्ये तु
वरुणा देशः, अच्छा पुत्रीत्याहुः । प्रथ २७५ ज्ञा० । सूत्र० ।
अप्सा-त्रि० । अपो जलानि सनति ददाति । सन्-विस् । जल-
दातरि, वाच० ।

चू० आच्चेष्टे प्रायश्चित्तम्- 'अच्छिञ्जे अणिसिञ्च य उक्त्वहु' पं० चू० । सर्वसिनाच्चेष्टे आशामानसम् । जीत० । दशा० । ष० । प्र-अ० । दशो० । चू० । पं० वा० ष्या० पंचा० । स्वा० । सूच० । उच० । आच० । (आच्चेष्टादाहप्रहणनियेषः 'पस्तण' शब्दे, आच्चेष्ट-पात्रप्रहणनियेषः 'पस्त' शब्दे, आच्चेष्टवचसती स्वाननियेषो 'हस्त' शब्दे द्रष्टव्यः)

अच्छिज्जती-आच्छिज्जयाना-ञी० । तुम्बवीणादिवादनप्रकारेण वाद्यमानायाम्, "तुम्बकाणं तुम्बवीणाणं वाइज्जतानं" भाव० ३, प्र०; अच्छिज्जिमीशिष्य-अच्छिनिमीशिष्यतः । अक्षिणिकाच, जी० ३ प्रति० ।

अच्छिज्जिगीमिंशियमेव-अच्छिनिमीशितमात्र-न० । अक्षिणिका-चकालमात्रे, "अच्छिज्जिगीमितियमेसं, णट्थि सुहे बुक्खमेव अणुअहं । णट्ठ येररायां, अहेतिणसं पच्चमाणाण " ॥ १ ॥ जी० ३ प्रति० ।

अच्छिज्ज-अच्छिज्ज-ञि० । छिद-कर्मणि क । अणुप्रभूते, स्वा० १० उ० । असम्मिते, अनवरते च । पं० व० १ द्वा० । (छि-अच्छिञ्चं चेलीद्वैगिकस्य अहद्वयं कृत्याप्रच्छिञ्चस्य व्याख्या-नाम् 'उहेसिअ' शब्दे छि० जा० ८१, ९२ छे छेदयम्)

अच्छिज्ज-ञि० । आ-छिद-क । बलेन गृहीते, सम्यक्-छिञ्च च । वाच० । प्रतिनिवतकालविषयत्वात्, चू० १ उ० । अच्छिज्जच्छेदनाय-अच्छिज्जच्छेदनय-पुं० । सूचमच्छिञ्च छेदेनेच्छति । नयभेदे, यथा 'धर्मो भंगलम्कुठं' इति श्लोकाऽप्येता द्विनीयादिस्लोकमपेक्षमाणः । स० १२ सम० ।

अच्छिज्जच्छेदनाय-अच्छिज्जच्छेदनायिक-न० । अच्छिज्जच्छे-दनययति घृष्टे, "अच्छिज्जच्छेयणइयां आजीविविसुत्तपरि-वादीए" स० १२ सम० ।

अच्छिज्जिनय-अच्छिज्जिनय-पुं० । नित्यवादिनि च्यवास्तिके, विरो० । प्रब० ।

अच्छिज्ज-अच्छिज्ज-ञि० । न छिद्रे तत्सकार्येषु प्रमादादिना स्थलनं रम्भं वा यच्च । प्रमादादिना स्थलनरहिते, "अच्छिज्ज च भवत्वेत-स्सर्वेषां च शिवाय नः" रत्नरहिते, वाच० । अ-विरले, जं० २ वक्त० " गोशालस्य मक्षालिपुत्रस्य यथा दिक्चराणां चतुर्यं दिक्चरे, पुं० । म० १५ श० १ व० ।

अच्छिज्जज्ञान-अच्छिज्जज्ञान-न० । अचिबरे, यत्किञ्चिद्द्वस्तु-समूहं, प्रश्न० ४ आश्च० द्वा० ।

अच्छिज्जजालपाणि-अच्छिज्जजालपाणि-पुं० । अच्छिज्जजालौ विद्यमिताहुस्त्वन्तरालसमूहवरहस्ती पाली हस्ती यस्य स तथा । अचिबरेणहुस्त्वन्तरालसमूहवरहस्तेकः, " अच्छिज्जजालपाणी पाव-रकोमलवरांगुली " इति करयोः सुलक्षणम् । औ० । प्रश्न० ।

अच्छिज्जपत्त-अच्छिज्जपत्त-ञि० । अच्छिज्जद्राणि पत्राणि यस्य सः । नीरप्रपत्ते, आ० १ अ० । औ० । "अच्छिज्जपत्ता अचिरल-पत्ता अचार्हणपत्ता अण्यहणपत्ता सिद्ध्यनन्दयडुपत्ता " (इति पलवर्णनाहुं वृत्तचरणीकः) अच्छिज्जद्राणि पत्राणि येषां ते अच्छिज्ज-रुपत्राः । किमुकं भवति । न तेषां पत्रेषु वातदोषतः कालदोष-ता वा गभुरिकादिरीतिकुपजायते, येन तेषु पत्रेषु छिद्रायम्-विष्वन्, इत्यच्छिज्जद्रपत्ताः । अथवा एवं नामान्योन्याशास्त्राप्र-शास्त्रानुशेषात्पत्राणि पत्राणामुपरि जातानि येन मनागव्य-पान्तरारूपं छिदं नोपलभ्यत इति । तथा ब्राह्- "अचिरल-पत्रा इति" ता० । जी० ३० ।

अच्छिज्जपसिणवागरण-अच्छिद्रमभ्रव्याकरण-पुं० । अच्छिज्जद्रा-ण्यचिरलानि निर्दूषयानि वा प्रख्याकरलानि येषां ते तथा । अचिरलप्रभोस्त्रेषु, निर्दूषप्रभोस्त्रेषु च । म० २ श० ४ उ० । औ० । अच्छिज्जविमलदसण-अच्छिज्जविमलदसान-पुं० । औ० । अच्छि-ज्जद्रा विमला दशना यासां तास्तथा । अचिरलसच्छददना-याम्, जं० १ वक्त० ।

अच्छिज्जपत्त-अच्छिज्जपत्त-न० । अक्षिपत्तमणि, म० १४ श० ८ उ० । अच्छिज्जेवग-अक्षिजेवक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उच० ३६ अ० । जीवा० ।

अच्छिज्जमल-अच्छिज्जमल-पुं० । द्विषादौ, तं० नेत्रमले, "अच्छि-ज्जमलौ दूषिकादि" नि० चू० ३ उ० ।

अच्छिज्जोदय-अच्छिज्जोदक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उच० ३६ अ० । जी० ।

अच्छिज्ज-अच्छिज्ज-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उच० ३६ अ० । अच्छिज्जवृष्टयां-देशी-निर्मालनं, दे० ना० १ वर्ग० ।

अच्छिज्जिआच्छि-देशी-परस्परमाकषणे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अच्छिजेवणा-अक्षिजेदना-ञी० । उ० तं० । लोचनयोऽङ्गुष्ठा-नुभवने, उच० २ अ० । "योऽश्वातं रोमानां द्वादशोऽयम्" उपा०-४ अ० । झा० ।

अच्छिज्जल्लुङ्गां-देशी-क्षेपे, धे० च । दे० ना० १ वर्ग० ।

अच्छिज्जो-अच्छिज्जो-ञी० । अच्छिज्जनामकदेशोदनवायां क्षियाय, प्रज्ञा० ११ पद ।

अच्छिज्ज-अच्छिज्ज-ञि० । अष्टुज्जने तद्द्वैती अन्तरिक्षे वा जाय-ते । जन-ड, अलुक स० । जलजाते, वाच० ।

अच्छिज्ज-ञि० । आच्छादिते, इय० १ ध्रु० ८ अ० ।

अच्छिज्ज-आस्तरण-न० । प्रस्तत्त्वे, नि० चू० १५ उ० । दावा-नन्नादिभये, यद् भूमावास्तीत्येते प्रलम्भादिवितरणाय वा यत्-हास्तरणम् । पत्तप्रयाञ्चमयं जवातः । साधुनामौपप्रहिाकोपाधा-वन्तभयति । चू० ३ उ० ।

अच्छिज्ज-आच्छिज्ज-रित-न० । आ-हर-क। सशब्दाहस्ते, नखा-वन्तः, नखाघाते च । आस्तीर्णं, चू० २ उ० ।

अच्छिज्ज-अच्छिज्ज-ञि० । स्वस्थानं त्याजिते, चू० १ उ० ।

अच्छिज्ज-अच्छिज्ज-न० । छेत्तमशाक्ये, स्या० ३ उ० २ उ० ।

अच्छिज्ज-अच्छिज्ज-न० । "अग्ना तु अग्नीषोमी, सो कुण्ठी पा-णचरलमादाणि । तग्नां हलु अचच्छेदं, गुण्यत्सिद्धं इवति नामं " ॥ १७ ॥ गौणतुहायाम्, पं० भा० ।

अच्छिजेर (ग)-आश्चर्ये-न० । आश्चिस्मयतर्ध्वत्सेवगम्यन्ते इत्यश्वर्याणि । आ-चर-यत् ; सकारः कारस्कारादित्वात् । स्या० ६ उ० । प्राक्ते " दुस्मात् व्यङ्ग्यस्तस्मान्निष्पत्ते " ॥ २ । २१ । इति आभास्ये ४ ; तुक् च । प्रा० । गोस्तरस्याऽकारस्य वा पच-म । तत् " आभास्ये " ॥ १ । ६६ । इति एतः परस्य यस्य रः, अच्चेर । पत्याजोवे "अनें रिवारिज्जरीभं" ॥ ८ । ३ । ६७ ॥ इति अकारात् परस्य यस्य रिभ ऋर रिज्ज रीभ इत्येत आदेशाः । अ-च्चेरिभं, अच्चेरभं, अच्चेरिञ्जं, अच्चेरिञ्जो । अणुपुत्रेषु, "रि-न्ध्यथिसिधसिद्धं, भारद्वाजं जिणिदकालमि । बहुबच्चैरय पुराणं, उलस्रामो जाव वीरज्जिणो " । १ । ६ उच्यते विधास सेवे, दस

दस अच्छेरगाइ जायाईं । उस्सपिणिय एवँ , तितुगालीइ भणियाईं ” ॥ १ ॥ तिस ॥

दस अच्छेरगा पसुसा । तं जहा— “उवसमा गम्भहरणं , इत्थी तित्यं अभाबिया परिसा । कएहसस अवरकंका, उचराणं चंदसूराणं ॥ ? ॥ हरिंरंसकुडुपुपची, चमरुपाओ य अइसपतिष्ठा । अस्संजएसु पूया, दस वि अणंतेण कालेण ” ॥ २ ॥

उपसृज्यते किंप्यते क्याप्यते प्राणी धर्माद्देरित्युपसर्गाः, देवादि-
कृतोपरुखाः। ते च भगवतो महाधीरस्य उग्रपक्षाक्षे कवासिका-
क्षे च नरामरतिथेकुकृता अस्वयं । इहं च क्लिप्त न कदाचिद्भूत-
पूर्वम् । तीर्थेकरा हि अनुसप्तपुण्यसंभारतया गोपसर्गभाजनम्, अ-
पि तु सकलनरामरतिरक्षां सत्कारादिस्थाननिषेधनन्तकाल-
भाव्ययमर्थो लोकेऽद्भुतोऽद्भुद् इति । तदा गर्भस्य उदरसत्वस्य इ-
दरुमुद्रान्तरसंस्कारार्थं गर्भेदरणम् । एतद्वि तीर्थेकरापूज्याऽ-
नूतपूर्वं सद्गणवतो महाधीरस्य जातम् । पुरन्दरादिहेन हरिदैगमे-
विदेवेन देवानन्दामिधानाद्वापुसुवराःकिशालाभिधानाया राज-
पत्न्या उदरसंस्कारमादाएतदप्यनन्तकालावित्यादाः। धर्ममेवेति २
तथा स्त्री योगित् । तस्यास्तीर्थेकरत्वेनोपनायास्तीर्थे द्वादशाहं,
सङ्को वा, स्त्रीतीर्थे हि पुरुषसिंहाः पुरुषवरगणभक्तिनक्रिज्जुवने
ऽप्यव्याहतप्रज्जनावाः प्रयच्छयति । इह त्ववसरपिण्यां मिथिधा-
नरापतेः कुम्भकमहाराजस्य दुहित्वा सुधायाभिधानाः एकान्वि-
शतितमनीर्थेकरस्यानोपनाया तीर्थे प्रवर्तितवतीत्यनन्तकाल जा-
तत्वात्स्य जावस्याभ्येतेति । ३ । तथा अज्या अयोग्या चा-
रित्रधर्मस्य, पणं तीर्थेइससमचरणभोऽल्लोकाः । अयते हि-
भगवतो बर्द्धमानस्य अग्निकामाननगद्वं बहुरिपुषंकेवलस्य
तदनन्तरमिहितचतुर्थिधेवतिकाविरचित्तसमवसरणस्य ज-
निकुनुहस्रहस्रसमायातानेकरामरविशिष्टरतिः। स्वस्वराजाप-
सुसाराणाऽतिमोहदिरिष्वा महाध्वनिता कदपपरिपालनैधव
धर्मकया बभूव, यतो न केनापि तत्र बिरतिः प्रतिपत्ता, न चेतत्
तीर्थेकृतः कस्यापि भूतपूर्वमितीद्माभ्यर्थमिति ॥ ४ ॥ तथा
कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य अपरकह्वा राजधानी गतिविषया
आनेत्यप्यजातपूर्वत्वादाभ्यर्थम् । अयते हि-पाठवभयायं दै-
पद् । धातकीलएदरनरतेकेनापरकह्वाराजधानीनिवासिना प-
घराजेन दैवसाभिनयेनापवृत्तना । ह्याराजं। वास्तव्यश्च कृष्णो वासु-
देवो मारदादुपस्रधत्तहातिकः समाराः। भित्तिरुच्यताभिधानस-
वणसमुद्राधिपतिदेवः पञ्जलिः वापुसः स हि शिवोऽनन्तकृष्णम-
णं जसधिमतिकस्य पघराजं रणविमर्देन धिक्वित्य द्रौपदीमा-
नीतवाद् । तत्र च कपिस्वासुदेवो मुनिसुमन्तजिनाव कृष्णवासु-
देवागमवर्तात्मुपलज्य सवर्द्धमानं कृष्णंतीर्थेनाधेमागतः । कृष्ण-
श्च तदा समुद्रमुल्लङ्घयति स्म । ततस्तेन पाञ्चजन्यः पुरितः ।
कृष्णेनापि तथैव । ततः परस्परं शङ्काश्चभ्रयमजायतेति ॥ ५ ॥
तथा भगवतो महाधीरस्य वन्दनार्थंभवतरणमाकाशात्समवसर-
णभूम्यां च-रुस्युयेयोः क्षात्रधर्तविमानोपेतयोर्बभूव । इदमप्याभ-
धैमेवेति ॥ ६ ॥ तथा हरेः पुरुषविशेषस्य वंशः पुत्रयोत्रादिपर-
म्परा हरिवंशस्तद्गुणं यद् कुलम् । तस्योत्पत्तिकुलं ह्यनंकेया,
ततो हरिवंशेन विशेष्यते । एतदप्याभ्यर्थमेवेति । अयते हि-भर-
तकेपेकेक्या यत् दृतीयं हरिवंशस्य सिधुयतककेभं, तनः केनापि
पूर्वैरिदोधिना ध्यवतरसुरेण सिधुनकमेकं नरतकेभं क्लिप्तम्, तत्र

पुण्यानुभावाद्वाज्यं प्राप्तम्, ततो हरिवंशजातहरिनाम्नःपुरुषाद्यो
वंशः स त्येति ॥ ७ ॥ तथा चमरव्यासुरकुमाराजस्योपत-
नमूर्ध्वगमनं चमरोत्पातः, सोऽप्याकस्मिन्कथादाभ्यर्थमिति ।
अयते हि-चमरचञ्जाराजधानीनिवासी चमरोद्भोऽग्निनवोत्पन्नः
सन्तुर्ध्वमधिपताऽऽज्ञोकायामास । ततः स्वशीर्षोपरि सौधमेव्यव-
स्थितराक्षं दधौ । ततो मत्सराभ्याः शार्कतिरक्काराहितमति-
रिदागस्य प्रगचन्तं महाधीरं उग्रस्थावस्थमेकराधिर्षी प्रतिमां
प्रतिपत्तं सुसुमारनगरोधानावर्षीं सवद्भुमानं प्रणम्य नगधंस्व-
त्पादपङ्कजयनं मे शरणमरिपरजितस्येति विकल्पविरचितघो-
ररूपो सङ्कोजमनशरीरः परिधरन्मग्रहरणं परितो ब्रामयद्
गजघात्काटयन् देवांतेत्तासयन्नुपपात । सौधमर्षावतसकविमान-
वेदिकार्यां पादप्यासं कृत्वा शकमाकोशयामास । शकोऽपि
कोपाञ्जवत्सयमानस्कारकपुल्लिङ्गशतसमाकुलं कुलिशं तं प्रति
मुमोच । स च जयाप्रतिनिधयत् भगवत्पादौ शरणं प्रयेदे । श-
कोऽप्यविश्रान्तावगततदुद्यमतिररतीर्थेकराशतनामयास्त्री। प्र-
मागस्य वज्रमुपसंजहार । भमाण च-बुकोऽप्यहो ! प्रगवतः
प्रसादान्नास्ति मत्सत्ते प्रयमिति ॥ ८ ॥ तथाद्यभिरिधिचक
शतमघरातम्, अघरातं च ते सिच्चा निर्वृत्ता अघरात-
सिद्धाः । इदमप्यनन्तकालजातमित्याभ्यर्थमिति । तथा अस-
यना असंयमवन्त आरम्भपरिग्रहप्रसङ्गा अग्रहचारिण-
स्तेषु पूजा सत्कारोऽस्यतपूजा । सर्वदा हि क्लिप्तसंयता एव
पूजार्हाः, अस्यो त्ववसरपिण्यां विपरीनं जातमित्याभ्यर्थम् । १० ।
अत एवाह दशार्प्यतानि अनन्तं कालमनन्तकालात्संभृत्ता-
न्यस्यामवसरपिण्यामिति । स्यात् १० १० ॥

से भयवं ! अस्मिन् के जेण मिणोपो परमगुरूणं पि अइय-
णिजं परमरणएफुर्द पयमं पयदपयदं परमकह्वाणं कसि-
एकमहदुक्तसिद्धिबणं पवयनं अइकमेज वा पइकमेज वा
खंदेज्ज वा विराडिज्ज वा आनाइज्ज वा से मएमा वा व-
यसा वा कायसा वा जाव एं वयसि गोयमाणं तणं का-
क्षेणं पत्तिवमाणेणं सयं दस अच्छेरेणं जविंमु । तत्पणं
अमंसेजे अमप्ये अस्सेजेजे मिच्छादिदे अमंसेजे सासा-
यणदव्वजिणं मासी य सइत्ताए । कंभेणं सकारिज्ज ते ए-
त्त्वए धम्मं गत्ति काठणं बहव अदिट्टकह्वाणे जइ एं पवय-
णमभुवगमंति । तत्पुवगमिंयं रसोलोत्ताए विमपलोत्ताए
पुइंनियदोसेणं अणुपिथोई जइधियं मणं निडव-
ति । उम्मणं च उमप्यियंति मज्जे तेणं काले एं इमं
परमगुरूणं पि अल्लंयोगिज्जे पवयणं जावणं चामायंति ।
से भयवं ! कपरेणं तणं कानेणं दम अच्छेरेणं जविंमु । गो-
यसा ! एं इमे तणं कालेणं दम अच्छेरेणं जवति । तं जहा-
तित्यपराणं उवमग्गा, गच्चसंक्रमणे, वामा तित्ययरे, तित्य-
यरस्स एं देमणाए अमव्वसमुद्राए एं परिंसा, वंदियमवि-
माणणं चंदाइवाणं तित्ययरममवमग्गे, रागमणं बा-
सुदेवाणं, संसेज्जणीए अम्वयेणं वा रायकउडेणं परो-
परमंसावगो । इह इंतु भारदं लेखे हरिंरंसकुडुपुपचीए,
चमरुपाए एगसपणं अहसपसिक्किगमणं, अस्संजयाणं

अच्छादणा—आच्छादना—स्त्री०। स्वगने, “संतस्तस अच्छादणाय
ममस्तस” । अ० ३ ७० ।

अच्छि—अच्छि—न०। अक्षते विषयात् । अश्—क्विप् । “जेऽक्ष्या-
दौ” ॥ १२ । ३१७ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य क्षमागस्य ऽः । प्रा० ।

“द्वितीयस्यैवोरपरिपठे” । ष । २ । ९० । इति द्वितीयस्यैपरि
प्रथमः । अ० । सौ० च्च, तं० । दृशा० । “वाऽक्ष्यधेवचनमादाः”

॥ १ । १३३ । इति वा पुंस्यस्य “अजय वि सासदते अच्छी नम्बा वि
बाह तेणम्ह अच्छी” । अजयत्पाविपाजदक्षिण्यः स्त्रीलिङ्गऽपि ।

प्रा० । “एसा अच्छी” उपा० २ अ० । (अक्ष्योऽप्राप्यकारित्यम्
‘इदिव’ शब्दे हि० भा० १५७ वृष्टे ऋण्यम्)

अच्छादणाय—आच्छादना—स्त्री० । स्वगने, (‘अच्छादणा’
शब्दसमानार्थः)

अ (आ) च्छिदण—आच्छेदन्—न०। एकवारमीव वा द्वेने,
“एकस्ति ईषद् वा अश्छिदणं” नि० चू० ३ ३० । “पायपुं-
ज्यमश्छिद्वद् वा” अश्छिदन्ति बलादुद्वाहयतीति । स्या० ७ । २०

१३० । “अश्छिद्विहि सि-ईवच्छेदस्यतीति । अ० १५ भा० १ ३० ।

अ (आ) च्छिदिचा (य)—आच्छिद्य—अव्य० । आ-
ञिद-स्वप् । इत्याहुहालनेनापह्नव्येय्ये, उपा० ७ अ० । “अच्छि-
दिय जं मिषमामिमादीनां” पञ्जा० १३ विव० । आ० ७ ।

अ (आ) च्छिदुपाण—आच्छिदुत्—ञि० । ईवन्तकृद् वा
जिद्विति (“सन्धजापे ण अश्छिदमाणे” ज० ८ शा० ३ ७० ।
अच्छिदक-ईशा-अस्पृष्ट, “अच्छिदोपरिदेहे” अ० १ ३० ।

अच्छिचमरण—अच्छिचमहन—न० । अक्षुभ्योमेलने, वृ० ३ ३० ।

अच्छिञ्ज—अच्छेज—न० । न० तं० । उभयमशक्ये, (स्या०)

तत्रा अच्छेजना पणत्ता । तं जहा-समए परमे परमाणु ।
एवमेतज्जा अमज्जा अगिज्जा अणद्धा अमज्जा अप्पसा
तत्रा अविभाइमा ।

छेपुमशक्यया बुद्ध्या चुरिकादिशब्देषु वेत्यच्चेया, अच्छे—
चाच्चे समयादिःषायोगादिति । समयः कालविशेषः ;
प्रदेशो चर्माधर्माकाशजोवपुर्बुलानां निरचयव्योऽशः पर-
माणुरस्कृत्यः पुर्बल इति । उक्तं च— “सत्येण सुतिक्केण वि,
छेपुं मेणुं च अं किरन स्वक्कं । तं परमाणुं सत्त्वां, धर्यति आइं
पमाणुणं” ॥ १ ॥ एवमिति । पूर्वमेत्राभिप्रायस्येवार्थे इति, अमेधाः
सुव्यादिना, अमेधा अस्मिन्कारदिना, अप्राणा, इत्यादिना, न
विद्यते अर्द्धे येथामित्यनर्द्धाः, विनागच्छायाजवात्, अमरूपा विभा-
गत्रयाभावात् । अत एवाह—अमेदेशा निरवयवाः, अत एवा-
विभाज्या विनरूपाशक्याः अथवा विभागने निर्वृत्त्वा विनागि-
मात्सन्निधेयादविभागिम्याः । स्था० ३ जा० २ ७० । “शोणे अच्छि-
ज्जमेज्जा” छेयः शब्दादिना, तन्निधेयादच्छेयः । इत्यपरमार्था,
अ० ३० श० १ ३० ।

अच्छिद्ये—न०। आच्छिद्यते अस्मिच्छेनोऽपि भूतकपुत्राईः सका-
शात् साधुदानाय परिश्रुते यत्तदाच्छेद्यम् । पि० । “अच्छेज्ज
वा निद्विय, जं स्वामी सिद्धमाईणं” । आच्छेयं चाऽऽच्छेया-
क्यः पुनर्दोषः । आच्छिद्यपहृत्य यद् अकारिकं स्वामी प्रभुः
भृत्यादीनां कर्मकरादीनां सत्कं ददाति ददाति । पञ्जा० १५
विच० । अस्तुदेशोद्देशमाईपुष्टे, तद्देशोपचारात् अस्तुदेशे
उद्गमद्वेषे च । ग० १ अधि० ।

तद्भेदाः—

अच्छेजं पि य तिविहं, पभू य सार्थी य तेणए चेव ।
अच्छेजं परिउद्धं, सपमाण न कप्पए पेत्तुं ॥

अच्छेजमपि प्रागुक्तशब्दार्थे त्रिविधं त्रिकारम् । तद्यथा—प्रभौ
प्रभुत्वविषयं प्रभुत्वकर्त्राभिमतमित्यर्थः । एवं स्वामिनि स्वामि-
विषयं, स्तेनकविषयं च । एतच्च त्रिविधमप्यच्छेजं तीर्थकरण-
गणैः प्रति कुंतिराकृतमततः अमणाणां तस्यैव गृहीतुं न कल्पते ।

तत्र प्रथमतः प्रभुत्वविषयं भावयति—
गोबालए य जयए—उवरए पुषे य भूय सुण्हाए ।
अचियत्तसंस्वदाई, केइ पठस्सं जहा गावो ॥

प्रभुत्वकर्त्रकामच्छेयं गोपालके गोपालत्वविषयं, तथा भूतकः कर्म-
करस्तद्विषयम् । अक्षरकोः अक्षरकोः अक्षरकारनिधानो दास इ-
त्यर्थः ; तद्विषयम् । पुत्रविषयं, दुहिद्विषयं, सुत्पाविषयम् । उप-
लक्षणमेतद् अर्थाद्विषयं च । अथ च दोगमाइ— (अचियत्त-
स्यादि) अचियत्तमतीति ; स्वस्मं कलहः ; आदिशब्दादा-
त्मगोलादिपरिभ्रष्टः । केचित् पुनः प्रभूयमपि साध्या गच्छति ।

यथा—गोपो गोपालकः ।
एतमेव दृष्टान्तं गाथायनेनह—
गोतपयं अच्छेजुं, दिक्खं तु जइस्स भइ दिसे पड्डुणा ।
पयजा गुणं दूट्ठं, सिंसिइ जोइं स्व चेना ॥
पदियरण पभोमं एं, जावं नाठं जइस्स आलावो ।
तन्निव्वंधा गदियं, हुंदि उ मुक्कोसि मा वीयं ।
वसन्तपुरं नगरम् । तत्र जिनदास्तो नाम आशकः । तस्य भार्या रु-
क्मिणी । जिनदास्तस्य गृहे वत्सराजो नाम गोपालः । स चा-
ष्टमेऽष्टमे दिने सर्वसांमिप गोमहिषीणां दुग्धमादत्ते, तथैव
तस्य प्रथमतः भूतत्वात् । अथवा च सायुसंघाटको भिक्षादि
तत्रागमत् । इतच्च तस्मिन् दिने गोपालस्य सर्वदुग्धादानवा-
रकः ; ततस्तेन सर्वा अपि गोमहिष्यां दुग्धा मत्तो पारिर्तु-
ष्येमाऽऽपुण्यो । जिनदास्तश्च जिनवचनजावितात्नःकरणतया
सायुसंघाटके परमपात्रभूतमायातमथलोक्ष्य भक्तितो यथेच्छं
भक्त्यामादिकं तस्मै दत्तवान् । ततो दुग्धान्नानि जोगान्नीनि
पारिजत्रव्यं प्रकतिरहितमनस्कतया गोपालस्य दुग्धं बहेनाच्छि-
द्य कतिपयं ददौ । ततः स गोपालो मनसि साधोरुपति मनाक्
प्रहृष्टं ययौ, परं प्रभुभयात् न किमपि वक्तुं शक्तः । ततस्तत्पयोज्ञा-
जनं कतिपयन्त्येव स्वगृहं भीतवान् । ततः तथात्तुं नान्यमवशो-
क्य भार्या सरोपं बधित्यती—कस्मिंति न्यूनमिहं पयोभाजनमिति ? ।
ततो गोपेन यथावच्छित्यती—कस्मिंति सापि साधुनाकोष्ठं प्रापसेत् ।
वेदरूपाणि च दुग्धं स्तोत्रमवशोक्ष्य किमस्माकं प्रविष्यती-
ति रोदितुं शुकुत्सिति । तत इत्थं सकलमपि स्वकुटुम्बमाकुम्बमे-
त्य स गोपः संजातसाधुविषयमहाक्रोषः साधुं ध्यायादधिपुं
बलितवान् । इत्यथ जिज्ञार्थं परिश्रमन् दृष्टीम् । ततः
प्रधाविनो लकुटमुखास्य साधोः पृष्ठतः । साधुरपि कथमपि
पश्चादशशोकं तं गोपं तथाभूतं कापारुणजनयमनाशोक्य परिभा-
षयामास्—नूनमेतस्य दुग्धं बलायाच्छिद्य जिनदासेन महां ददं,
तेन प्रारणार्थमेव कुपित एव समागच्छन्तुपसह्यते । ततः साधु-
विशेषतः प्रसन्नवदनो नृत्या तस्यैव संसुद्धं मन्यागन्तुं प्रवत-
ते स्म । बभान च—यथा भो गोः कौरपुष्टनिमुक्तः । तव
प्रतुनिव्वेधेन मया तवानीं दुग्धमात्रं गृहीतम् ; संप्रति तु
गृहान स्वमार्मीयं दुग्धमिति । एवं चोक्तं सस्युपशान्तकोपः
साधुं प्रति स्वस्वभावं प्रकटितवान्—यथा भोः साधो !

सुविहित । तत्र मासपार्थम्यमिन्द्रानामागतः, परं संप्रति स्वहृत्वा-
नामूनपरिप्रेकन उषशशामि म सन्नोऽपि कोपानलः । ततो गृहाण
स्वमधेवं दुग्धम, मुक्कञ्जाकृतगणानां मया, परं भूयाऽप्ययमाच्छे-
द्यं न सदा तस्यमिति निवृत्तां गोपाः स्वस्वाम्यं च गतः साधुरिति ।
सन्नं सुगमं, नखरं (पयजा गुणुं ति) विजलिकोऽपाम्नु पयाजाज-
नं न्यूनं यद्वा (भोई इति) भोम्या प्रायो इत्यर्थः । (क्वे णि)
कृदन्ति । इहीत्यामन्त्रणे । तन्निरन्त्यात् तदीयाजिनदासाव्यप्र-
निर्बन्धाद् गृहीतम् । ततः प्रत्याह-मुक्तोऽसि संप्रति मा ढित्नीय
चारदमेवं गृहीयाः । ।

संप्रति गोपालविषय एव ' अचियससंखडाइ ' इत्येतद्या-
खियासुग्राह—

नानिञ्चिहं लज्जद, दासं । वि न जुजए रिते जत्ता ।

दोत्रेगयर पत्रोमं, जं कदां । अंतरायं च ॥

प्रभुणा बलादाच्छिञ्जमाने दूधे कोऽपि गोपो रुधः प्रभोः
संसुखमेवमपि भुवाणः संभाव्यते । यथा-किमिति मदीयं दुग्धं
बलादाप्यूह्यसि न खख्यनिविष्टप्रभुपात्रितमिह किमपि लज्जयेत्,
ततो मया स्वशरीरायासवलनेदं दुग्धमुपाजितम्, अतः कथमत्र
प्रभाव्यते ? । न हि दास्यपि, आस्तामुत्सवमद्यथादिगमिष्यपिशा-
द्वार्यः । जकस्येत् जकदानमते भरणपोषणमूत इत्यर्थः । लुज्यते
भोक्तुं लज्जयेत् । ततो मदीयं जोजनमिदमनो न ते तत्र प्रभुत्वा-
वकाशः । एवं चोक्तं सति कदाचिन्नु द्वयोरपि प्रभुगोपालत्वयोः
परस्परमेकस्य द्वितीयस्योपरि प्रभूयो भवेत् । प्रभूयं प्रथममाने
यत् करिष्यति धनहरणमात्राणां कर्त्तव्यमेव आच्छेद्यादने
दोषान्येन विवेच्यम् । तथा यथाभन्तरायं गोपालकस्य तत्तदुत्सवस्य
च, तदपि दापयन् विवेच्यमिति । तद्वयं गोपालपुं इत्यादि
व्याख्यातम् । एतदनुसारेण च जूतकादावपि यथायोग्यमप्र-
त्यादिकं समाधनीयमिति ।

संप्रति स्वामिविषयमाच्छेद्यं विनायविपुराह—

सामं चारजका वा, संजय दहूण तेसि अट्टाप ।

कलुणापि अच्छेज्जं, साहण न कएप्यं पेत्तुं ॥

इह स्वगृहमात्रनायकः प्रभुः प्रामादिनायकः स्वामी । चार-
जटा वा स्वामिजटा वा; तेऽपि स्वामिप्रहणेन गृह्यन्ते । संयता-
न् दृष्ट्वा तेषां संयतानामर्थाय करुणानां कृपास्थानानां दरिद्र-
कोऽतिबन्धकदीनां संसृज्याच्छिञ्ज यद्वादि तत्साधूनां न कल्पते ।
एतद्वयं व्यक्तं भावयति—

आहारोर्वादिमई, जइ अट्टाप उ केइ अछिञ्जे ।

संखरअसंखरीए, तं गेएहेते इमे दोसा ॥

यदि कोऽपि स्वामी जटो वा यर्नानामर्थाय केपाञ्चित्सखन्धि
आहारोपपत्त्यादिकं संसृज्या कलहकरणान्, असंखरया अकलह-
नानेन । कोऽपि हि तत्संबन्धिनि बलादाच्छिञ्जमाने कलहं करति,
कोऽपि स्वामिभयादिना न किमपि वक्ति । तत उक्तं संसृज्या
असंखरया भेति । बलादाच्छिञ्ज यतिन्यो यद् ददाति तद्यतोनां
न कल्पते । यतस्तदगृह्यतामिमे दोषाः ।

तानेवाह—

अचियत्तमंतरायं, तेनाहं एगणेगवोच्छेओ ।

निच्छरणां दोसा, तस्स अज्जेने य जं पावे ॥

येषां सत्कामच्छिञ्ज बलात् स्वामिना दीयते तेषामचियन्-
मयीतिकर्त्तव्यं आयेत । तथा तेषाम् (अंतरायं) शीघ्रमागत्यन्त-

परिजोवाहानिः कृता भवति । तथा इत्थं साधूनामादधानानां
स्नेनाहते भवति, दीयमानवस्तुनाथकेयनानुक्तावस्थाम् । तथा
येषां संबन्धि स्वामिना बलादाच्छिञ्ज दीयते तं कदाचित् प्रच्छि-
ष्टाः सन्तोऽपि तस्यैकस्य साधार्यकपातव्यवच्छेदं कुर्वन्ति,
यथा-अनेन संप्रति बलादस्माकं भकादि गृहीतं ततः काशान्तर-
ेऽप्यस्मि न कस्मापि दातव्यमस्माज्जिति । अथवा सामान्यतः
प्रभूयमुपयानि, यथा-अनेन संयतेन बलादस्माकं भकादि गृहा-
ते तस्मात् काशान्तरं न कस्मापि संयताय दातव्यमित्येक-
साधूनां भकादिव्यवच्छेदः । तथा ते रुष्टाः सन्तो यः पुत्रमुपा-
ध्यायं दत्तः तस्माच्छिञ्जसाधयन्ति । आदिशब्दात् अरपरथाणि
भाष्येने इति परिगृह्यते । तथा तस्योपाधयस्याऽज्ञाने यत्किम-
पि कष्टं प्राप्नुवन्ति तद्व्याच्छेद्यदानमिति संप्रति दोषः ।

संप्रति स्नेनाच्छेद्यं जावयति—

तेणा व संजयइ, कजुणाणं अरपणो व अट्टाप ।

ते य पत्रोसं जं वा, न कएपई कएणु आण्यं ॥

इह स्नेना अपि केचित् संयतान् प्रति जद्रुका प्रयानि । सं-
यता अपि कापि दरिद्रसाधनेन सह प्रजति । ततस्मान् जि-
ज्ञायेत्तानां त्रिकामप्राप्तुवनां दृष्ट्वा संयतार्थाय संयतानामर्थाय,
ज्ञातव्यस्थानानांऽर्थाय तेषां करुणानां कृपास्थानानां दरिद्र-
साधेमानुषाणां सकाशादाच्छिञ्ज यद्दन्ति स्नेनास्नतस्नेनाच्छे-
द्यं कृद्व्ययम् । तत्र साधूनां न कल्पते, यत्संसिद्धं गृह्यमानं येषां
संबन्धि तद् द्रव्यं ते पुत्रोत्पत्तिकरणे एकामेकसाधूनां जन्तव्य-
वच्छेदं कुर्वन्ति । तथा-अत्रेणं रोपमुपयानि । तथा च सति सा-
ध्याच्छिञ्जानम्, काशान्तरंऽपि तेषां पाशे उपाध्यायप्रतिबन्ध
इत्यादयो दोषाः । यदि पुनस्तेऽपि साधिका वयमप्यप्रकारेणा-
नुजानते तर्हि कल्पते ।

एतद्वच गाथाद्वयेन स्पष्टं भावयति—

संजयभरा तेणा, आयेतं वा असंयं जइणं ।

जइ देति न पेत्तव्वं, निच्छम वोच्छेत्तं मा होज्जा ॥

पयसचुयदिहंतो, मणुण्णाम्पा व पेत्तुणं पत्था ।

देति जइ गतेसि नि य, मणुण्णाम्पा य जंजुंति ॥

इह स्नेना अपि केचित् संयतमपका जवन्ति, साधवश्च क-
दाचिन्नु दरिद्रसाधनेन सह क्वापि प्रजान्ति । नतस्तेषां साधूनां
भिक्षावैलायाससंस्मरे अनिवीहेतं स्नेनाः स्वप्रामाण्यमुक्तं प्र-
त्यागच्छन्तः; बाशब्दात् स्वप्रामाद-व्यव गच्छन्तो वा, यदि तेषां
दरिद्रसाधेयमानुषाणां बलादाच्छिञ्ज भकादि प्रयच्छन्ति,
तर्हि न प्राथं, यद् मा भूत् निकोतः साध्यानाम् । एकामेक-
साधूनां नेत्रेण भकादिव्यवच्छेदो वा । यदि पुनस्तेऽपि साधिका-
काः स्नेनेबलाद्वाध्यमाना एव प्रयते-यथाऽस्माकमिह घृतशक्तु-
दद्यान् उपातिष्ठत । घृतं हि सक्नुमध्ये प्रकृष्टं विजिष्टसंयोगाय
जायते, एवमस्माकमप्यर्थयं चौरैर्गृहीतव्यम्, ततो यदि चौरा
अपि युष्मन्तं दापयन्ति ततो महानस्माकं समाधिरिति । तत
एवं साधिकाः कुतः साधवो दीयमानं गृह्णन्ति । पञ्चाक्षरैरप्य-
पगतैषु जुयोर्थाय तद् कृत्यं गृहीतं ते समर्पयन्ति । तदानीं
चौरप्रतिभयादस्माभिर्गृहीतं संयति ते गतान्तेन एतदार्थयं द्र-
व्यं ययं गृह्णीत इति । एवं चोक्तं सति यदि तेऽपि समनुजानते ।
यथा-युष्मन्तदस्माज्जितं समिति तर्हि लुज्जते, कएपनीयस्था-
दिति । अनेन कृप्यं गुणानामित्यवयवो व्याख्यातः । पि० । नि०

पुष्य क्रमो विः महा० ५ अ० । कल्प० । प्रव० । पं०
 व० । ध्वो णाम सत्यवाहो, तस्य य सुवे अच्छेरेगाणिव
 चउसहृदसारजूया मुचावली, धुया । आ० म० द्वि० ।
 अच्छेरेपेच्छणजजज-आश्रयमेकूण । य-त्रि० । अहा । किमिद-
 मिति कौतुकेन-सौष्टवाहोर्गोये, जी० २ प्रति० ।
 अच्छेरेवंत-आश्रयवर्त्-त्रि० । चमत्कारघाति, " वक्तुमाश्चर्य्य-
 वाक् भवेत् " अ० ४ अ० ।
 अच्छोदण-आस्फोटन-न० । आ-स्फुट-ल्युट-प० । अक्षुलि-
 मोटने, वाच० । वखाणां रजकेरिव शिलायामास्फालने, पि० ।
 अच्छोदण-देशी-भूगयायाम्, दे० ना० १ वी० ।
 अच्छोदग-अच्छोदक-न० । स्वच्छपानीय, ग० ।
 अच्छोदगपिद्वन्द्व-अच्छोदकप्रतिहस्त-त्रि० । स्वच्छपानीय-
 परिपूर्णं, " ताउ खे पाहओ अच्छोदगपिद्वन्द्वयाओ " रा० ।
 अजंगम-अजङ्गम-त्रि० । गमनशक्तिधिकले, व्य० १ उ० । ज-
 ङ्गवत्परिहीनं, " बुद्धो खलु समधिगतो, अजंगमो सो य
 जंगमविस्सेस " व्य० ८ उ० ।
 अजज्जर-अजजेर-त्रि० । जराग्रहिते, जी० ३ प्रति० ।
 अजशियकाशिया-अजनिष्कनियका-स्त्री० । केनचिदजनि-
 तस्य प्रख्यायाम्, " उदायणनबोहो, पउमावती देवसगहसिः
 वच अणुवेओ मणकाः कथार अंजगिओ तं केणइ वि
 पुत्तो जाय स्तिः जो तुमा होति अजशियकसो तु णिवति-
 मुत्ताः । तस् दांखि वि निष्कनारं तु भातुमंमाइं । अजदा रायसुओ
 तु णिसार होयपत्तो कृणति उच्छोडामि पभाते चलणाहो । कातुं
 कालपदियरत्तो पोगालमज्जामण । अइ णिवजियसु बाहेसु वा-
 संयाया, ते नम्म य तिसोहडा तंमिचव ठाणमि । तथय य पव-
 सिणाय य अदायता गामं गोनुज्जा । अइ तीए रायउडिया न ये
 दित्तु मयदेमे । अइ तंमि उवचिद्वणविरितो ए पमोत्तुग सह समो ।
 गाइ तज्जाए सह स धंत्वं तंमि रज सुकपोगगाइणइ तुउमंमि
 सन्नियंसे । अइ सुक्कं जोगिमोगादंनो गमंमो आनुत्तो । अइ पाटं
 वंदिउं पयत्तं च सुणिया य सुधिहिया दि पुष्ठा वेत्ती तु न वि
 जाणे अमिसयणाणो धेरा य पुच्छिस्ता तेहिं सिद्धा जहावुत्तं
 हांहा । जुगण्णपाणो रक्खइ न अल्पमादंणं जं मं सक्कुलेसु संव-
 द्दिनो गोसुणामकनकसीए । सा तु अजजकधो पव्जआ हांति
 णायत्वा " पं० भा० । पं० ५० ।
 अजमेर-अजमेर-पुं० । प्रियप्रयसुरिप्रतिष्ठाधिष्ठानसुभटपात्र-
 पात्रपालिनहंपुरनिकटस्थे ' अजमेर ' इतोदानी प्रसिद्धे नगर-
 जेदे, कल्प० ।
 अजय-अयत-पुं० । विद्यते यत्तं यतिष्येयेति सर्वसावद्यविर-
 तिहाते, कर्म० ४ कर्म । गृहस्थकथं स्याथी, ग० १ अधि० ।
 अविरतसम्पद्यष्टौ, कल्प० । कर्म० ६० । अयत्नवि च, धा० ।
 यतनाऽप्राये, न० । " अजयं चरमाणो य प्राणद्यूह हिंसइ "
 अयतनमुपदेशं न सूत्रार्थयति क्रियायतिगणयतवत्, चरन्
 गच्छन् । वृश० ४ अ० ।
 अजयचद-अयतचद-पुं० । अविरतसम्पद्यष्टौनापत्रकितेषु अ-
 विरतसम्पद्यष्टौश्रिततप्रसात्प्रमत्तश्रुतेषु चतुषु मृतीयवि-
 गुणस्थानवर्तिषु, " मिच्छ अजयचउअशक " कर्म० ५ कर्म ।
 अजयणकारि (ण)-अयतनकारि-पुं० । अयतनया कार्य-

कारण, " अजयणकारिस्त्वेष, कञ्जे परद्वयसिगकारिस्व "
 अजयणं जो करेत्तं सो मखणि अजयणकारी " गिक्कारणप-
 र्त्सिंयौ, अजयणकारी व कारणे साहू " । नि० ५० १ उ० ।
 अजयणा-अयतना-स्त्री० । यतनाऽप्राये इय्यांशोशोभने, " अज-
 यणाए पव्वति, पाहुणणाणं अयच्छा " ग० ३ अधि० ।
 अजयदेव-अजयदेव-पुं० । दाउसहावादानामकादु म्भेच्छनगराहा-
 गच्छन्तो जिनप्रभसूरीणां जण्डारके राज इति प्रतिष्ठितनामदातरि
 त्रयादशशतनाशाशितमयपेकादि के नरश्चरजेदे, ती० ४६ कल्प० ।
 अजयभाव-अयतजाव-त्रि० । ६ व० । असंयनायवसायं,
 " परस्म तं देइ सवमो होइ अहिगरणप्रजयजावस्स " अय-
 तभावस्व अयतोऽशुकाऽऽहागपरिहारकथेन जोवरकुलगरहितो
 भावाऽऽप्यवसायां यस्य स तथा । पि० ।
 अजयसेवि (ण)-अयतसेवि-त्रि० । अयतनया प्रतिसेवके,
 " योयं गमिथंमि य अजयसेविम्म " व्य० १ उ० ।
 अजर-अजर-पुं० । नास्ति जरा यस्य । देव, जराकृष्य, त्रि० ।
 वाच० । " उम्मुक्कम्मकवया अजर अमरा असंवाया " नि-
 का अजरा, वयसेऽजरावत् । जा० । नास्ति जराऽस्या, घृत-
 कुमारीवृक्षे, तस्य जराऽभावात्तवत् । वाच० । वृक्षदारकवृक्ष,
 पुं० । गृहगोधिकायाम्, स्त्री० । न विद्यते जरा यस्य तदजरम् ।
 आ० म० प्र० ।
 अजरापर-अजरापर-न० । जरा वयोहातिः, मरण मरः, स्वरा-
 न्नावाद्च्युपययाः न विद्येते जराभरी यत्र तदजगमरम् । भोजे,
 विशेषे । ज० । तं० । ६ व० । वापेक्यमृत्पुहिति, त्रि० । " अहाय-
 राश्या परिनयत्माणे, अट सुदुहे अजगमरं च्व " अजरागच-
 द्वाव, क्रिद्धेनं धनकाऽस्यां मूत्र० । श्रु० १० अ० । "साथि काउ
 जराभि अजराभरो " । महा० ७ अ० । मम्मणाख्ये वणि-
 भंवेद. पुं० । (नन्काया 'मम्मस' शब्दे उच्यते)
 अजना-अयशस्त-न० । विरोध, न० । अन्नाद्यायाम्, असद्वृत्त-
 तथा निन्दायाम्, मूत्र० १ श्रु० २ अ० । ग० । सर्वदिग्गामिन्याः प्र-
 सिद्धेभवावः न० ए श० ३३ उ० । अयराकमच्छते, न्यूनं च ।
 " इहेव धम्मं अजसो अकिली " । वश० १ क्वल० । अयरा-
 वादनावायाम्, नि० ५० ११ उ० ।
 अजसकारग-अयशःकारक-त्रि० । सर्वदिग्गामिन्याः प्रसिद्धेः
 प्रतिषेधकं, म० ए श० ३३ उ० ।
 अजसकनिषाण-अयशःकीर्तिनाम्-न० । नामकमेजेदं, य-
 द्वायच्छाकीर्त्तौ न भवत्तद्वयशःकीर्तिनाम् । कर्म० १ कर्म० ।
 यद्वयशःशान्त्यवस्थजनस्यायशस्थो भवति तद्वयशःकीर्ति-
 नाम । कर्म० ६ कर्म० । प्रव० । भा० ।
 अजसजणग-अयशोजनक-त्रि० । निन्दनीयतादिकारके, ग० १
 अधि० ।
 अजसवहुत्-अयशोबहुत्-त्रि० । अयशोऽन्नाद्याऽसद्वृत्ततया
 निन्दा तद्वहुत्तः, यानि यानि परापकारभूतानि कर्माणुष्ठा-
 नानि विद्यन्ते तेषु तेषु कर्मसु करवरणकडेदनादिषु अयशा-
 ज्ञाजि, " जिणियावहुत्ते साधवहुत्ते अजसवहुत्ते, उस्सवत्तस-
 पाणघाती " सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।
 अजससयविमप्यमाणद्वियय-अयशःश्रावतिसर्पद्वय-त्रि० ।
 न यशःश्रावति अयशःश्रावति, तेषु विसर्पद्वि विस्तारं कश्चइ

अजससयविसपमागदियथ

अभिधानाजेन्द्रः ।

अजिअसेय

दृश्ये मानसं यस्य स तथा, प्रतनास्त्रावाचित्तुमनस्कं, " अजससयविसपमागदियथ कडयवपुसली" (स्त्रीणां) तं ।

अजसस-अजस-न० । न०त० । जस्-रा । अजनवरते, "आमरणंतमजससं, संजमपरिपालणं विधिणा " पञ्च० = विद्य० । विक्रान्तावस्थायिनि वस्तुमात्रे, वि० । बा० ।

अजहमुकोस-अजयन्तोत्कृष्ट-ज्ञ० । न जघन्योत्कृष्ट स्थितिर्यस्य सः, एवं स्थितिशब्दशोभात् तथा । मध्यमायां स्थितौ वर्तमाने, श्रा० म० ङि० ।

अजहमुकोमपृषिय-अजघन्योत्कर्षप्रदेशिक-पुं० । जघन्या-भ्योकार्षश्च जघन्येतकार्षाः, न तथा अजघन्योत्कर्षाः, मध्यमा इत्यर्थः, न प्रदेशाः सन्तं येषां ते अजघन्योत्कर्षप्रदेशिकाः मध्यमप्रदेशनिष्पन्नौ, स्या० १ ङा० १ उ० ।

अजहृथ-अयथाय-न० । पञ्चाशदावयवधावयवेषु के नामभेदे, स्या० १ ङा० १ उ० ।

अजाद्व-अयाचित-वि० । अयाचयथा लक्षे, अदत्तादाने च । "मुसावाये बहिष्ठे च, उगदं च अजाद्वे । सत्या दानाह शो-गंसि, तं यिउजं पारजाणया" ॥॥ अयाचितमित्यनेनादत्तादानं गृहीतम् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

अजाणेत-अजानत-अजानान-वि० । अनवबुध्यमाने, " अजाणेत मुसंभवे " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । कल्पाकल्पमजानानं शिखीतार्ये, पुं० । श्रु० ३ उ० ।

अजाण्य-अज्ञ-वि० । न जानाति । ज्ञा-क । न० त० । स्वल्प-ज्ञाने, अचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । " एवं विपन्निवक्षणे, अपरणा उ अजाणया " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । हानशुभ्ये, सूक्ष्मे, वेदनिमित्तसिद्धाज्ञानस्यपर्यायार्थान् च । वाच० ।

अजाणिय-अज्ञान्वा-अव्य० । अविज्ञायत्यर्थे, नि० । नृ० ३ उ० ।

अजाणिया-अज्ञिका-स्त्री० । न-ज्ञिका, ज्ञिकाविलक्षणयां सम्भ्यक् परिक्रानरहितयां पपेदि, " अजाणिया जहा जा होह पगमदुहा मियगवयसीहकुडुगनूया रयणमिष असंज-यिया अजाणिया सा नवे परिसा " या ताश्चूदकएरीवकुर-ङ्गपोनवत्कृत्तया मुक्त्वाभावा अंसंस्पयितजात्यरक्षमियावन्तु-णविशिष्टगुणसमुद्धा सुसप्रज्ञापनीया पपेद सा अज्ञिका । उ-क्त च-" पपेद सुदअजाणिया, मियगवयसीहकुडुगनूया । रयणमिष असंजयिया, सुहसणगणगुणसमिका " ॥ १ ॥

अजाण-अज्ञा-स्त्री० । अज्ञस्य हिंसादेहेतुलक्षकपक्षाविशुषो हानाद् व्यापृती, स्या० २ ङा० ३ उ० ।

अजाय-अजात-वि० । न० त० । अनिगच्छे, सुसम्पदरूपेणत-याऽवस्थात्सहाभे साधौ, लक्ष्यतिरेकाकल्पभेदे च । पुं० ।

"गीयथ जायकपो, अगिभो बलु भवे अजाओ अ" अगीतः खटुगीताधेयुक्तः विहारः पुनर्भेदजातोऽजातकल्पः, अव्यक्तत्वे-न जातत्वात् । ध० ३ अक्षि० । पञ्च० ।

अजायकपिय-अजातकल्पि-पुं० । अगीतार्थे, " एगविहारो अजायकपिओ ओ भवे उयकप्ये " ग० १ अक्षि० ।

अजिअ-अजित-वि० न० त० । अपराजितं, "अजिबे महःथ" (जिनाहाम्) अजिनामशेषपरप्रचक्रनाज्ञाजिरपराजिताम्, इशो० । अवा० । जिघातोऽहिकमेकवादिर्जितशशौ, अ-पराजितदेशादौ चाप्ये प्रशसिः, एकस्य कर्मणोऽविवक्षाया-मन्यस्य विवक्षायां, तस्यै कर्मणि क्तः भूरिप्रयोगस्तु-अजाजित-

शभावैव । तथा च 'गौणे कर्मणि छुवायेः' इत्युक्तेः, गौणकर्मण एवाभिधानिनियमात् तस्यैव जयकर्मणयां क्त्वाऽभिधान्तौ योयत्वम्, न च नास्येवाभिज्ञो देहा इत्यादौ गौणकर्मणोऽविवक्ष-यैव जयपददेशादौ जितगोत्रप्रयोगाद् ततो मज्जसमास इति भेदः । रागादिभिर्जितत्वाभावात् शिवे, विष्णौ, बुद्धे च । वाच० । परीवद्विभिरनिर्जितो गनेस्ये भगवति जननीयते राजानिति इत्यजितः ॥ ध० २ अक्षि । अयस्यार्थेयाऽद्वितीये तीर्थकरे, "अक्सेमु जेण अजिया, जणणी अजितो जणेतम्हा" अक्के-पु अजावियण कारणेण भगवतो जननीं अजिता गनेस्ये भग-वत्य मूत्तस्मादजितो जिनः । अथ बुद्धसंप्रदायेः-" जगथतो ध-म्मार्पियरो जुय रमति, पढमं राया जिणिया इतो जाहे भववं आयाओ नाहे देवो जिणारओ राया ततो अक्खेसु कुमारप्रभावात् देवो अजिय ति, अजिश्रो से नामं कयं " । श्रा० म० ङि० श्रा० चू० । ध० १० कल्प० । (अन्तरापुरादि कल्पस्य 'मत्स्यस्य' शब्द-वक्ष्यते) भावनि द्वितीये बलदेव, ती० २१ कल्प० । श्रीमुवि-धिजिनस्य यक्षु च । स च श्वेतवर्णे, कर्मवाहनश्चतुर्थोऽसौ मातु-भिङ्गावस्यत्रयुक्तदक्षिणापाण्ड्यो नकुलकुनकलितवामपाणि-इत्यश्वः । प्रथ० २७ श्रा० ।

अजिअदेव-अजितदेव-पुं० । मुनिचन्द्रसुरैः शिष्ये, विजयसिंहस्य सुरी, "जातो तस्य (गुरुच-द्वय) विनयी, सुरैर्यशोभद्वेने स-चन्द्राहो । तादयां मुनीन्द्रचन्द्रः प्राग्मुनिचन्द्रो गुरुः सम-चूत ॥ १ ॥ श्रीअजितदेवसुरिः श्राद्धस्वस्माद्भुव शिष्य-वरः । वादीनि देवसुरिद्वितीयांशाद्यस्तर्थायोऽनुत् ५ ५ ॥ तत्राऽऽदिमाद् ब्रह्मसं गुरुर्विजयसिंह इति मुनिपसिंहः " । ग० ३ अक्षि० । अयंऽप्येतन्नाम (वि० सं० १२७३ वर्षे) ब्राह्मिनि । स च भानुप्रमसुरैः शिष्यः, योगविधानमने ग्रन्थस्य कर्ता । ज० ६० ।

अजिअपुण-अजितपुण-पुं० । स्थानामस्थाने गाणानि स च (वि० सं० १२८२ वर्षे) गुज्जरांरण्यां विद्यापुर (बीजापुर) प्रान्ते त्यहार्थ-त्, धर्मरत्नश्रावकाचारनामानं श्रयं च व्यरंभवत् । ज० ६० ।

अजिअबला-अजितबला-स्त्री० । श्रीअजितस्य शासनदेव्याश्च, सा च गौरवर्णा लोहासनापिच्छा चतुर्भुजा वरदपशकाधि-छिन्ददक्षिणकण्ठया बीजपुरकाकुशास्तम्कनवामपाणिद्वया च । प्रथ० २७ श्रा० ।

अजिअसंह-अजितसिंह-पुं० । स्थानामस्थानेऽञ्जलगच्छंरि-सुरी, स च (वि० सं० १२८३ वर्षे) जितदेवेन पित्रा जितदेवात् नाम मानरि जन्म लब्ध्वा सिंहप्रजयत्पदाम्बुसले प्रयत्नः, देवे-न्द्रसिंहनामानं च शिष्ये प्रमाजजित । ज० ६० ।

अजिअसेय-अजितसेन-पुं० । जम्बूद्वीपे नारतवर्षेऽतीताया-मुत्सर्पिण्यां जाते चतुर्थे कुलकरे, स्या० १० ङा० । कौशाभ्या अधिपतौ धारणीवहने नृपतिभेदे, " कौशाभ्यान्व्येस्तपुस्तत्रा-जितसेनो महीपतिः । धारणीयभिधा देवी, तत्र धर्मस्यगुरुः " ॥ १ ॥ श्रा० क० । श्राव० । अ० चू० । (एकथा 'अणयाय' शब्दे-वक्ष्यते) आरवर्तानगरं समवभूते यशोभजायाः कीर्तिमत्या म-हत्करिकायाः प्रमाजक आवायिनेदे, 'अलाद' शब्दे कथा दृष्ट-व्या) श्रा० चू० श्राव० । दर्श० । अजितसेनो नाम अजयनेवसुरि-शिष्यः राजगच्छंरिष्यादमहाणवनामनां ग्रन्थस्य कर्ता, यस्मय (वि० सं० १२९३ वर्षे) अञ्जलगच्छः समजनि । ज० ६० । श्रा० क० । महिलपुनगरं नागस्य रुद्रभेदेः सुलसानाम्नां भाव्यायामुपनेने पुत्र, स चाऽद्विष्टनेमरेतिरके प्रमज्ज शमुष्य-सिक्तः । अत० ६ वी० ।

अजिन्ना-अजिता-स्त्री० । अथसर्पिण्याश्चतुर्धस्याभिनन्दनजिनस्य प्रथमित्याम, "अजिन्यदणस्स अजिन्ना, कास्वी सुमती-जिण्दिस्स" ति० ।

अजिन्दिद्य-अजितोन्द्य-त्रि० । न जितानि भोधादीनीन्दि-याणि येन स तथा । इतिद्रवाचशे, "अजिन्दिद्यसोवहिया, व-हगा जइ ते गाम पुज्जति" दश० नि० १ अ० । असर्वेह्ये, स्था० ५ द्रा० ।

अजिण-अजिन-न० । अजति सिपति रज आदि आवरणेन । अज-इनच्, न व्यादेशः । बाच० । शुगादिचर्मणि, उक्त० ५ अ० । आचा० । सुच० । अमेधारित्वे, "कीराजियं नमिणिये, जडीसंघाडिमुंइयें" उक्त० ५ अ० । न जिनेऽजिनः । न० त० । अर्चातरणं, भ० १५ श० १ उ० । असर्वेह्ये, पु० । "अजिणा जिणसंकासा जिणाह याऽवितहं द्यारेमाणा" । औ० । कद० । स्था० ।

अजिस्य-अजीर्ण-न० । अजरशे परिपाकमनागते, वि० । अ-जोर्णोऽभोजनम् । एतदपि गृहिभिर्भूमोऽयमस्माकमिति बु-द्ध्या कार्यम् । तथाऽजीर्णोऽजरशे पूर्वभोजने, अथवाऽजीर्णं प-रिपाकमनागते पूर्वभोजनेऽधेजीर्णं इत्यर्थः । अभोजनं भोज-नन्यायाः । अजीर्णभोजने हि सर्वैरोगमुलस्य वृद्धिरेव रुना भवति । यदाह-"अजीर्णप्रभावा रोगः" इति । तत्राजीर्णं चतुर्विधम्-"आमं विदग्धं विप्रधं, रसशेषं तथा परम् । आम-मे तु हवर्गाधत्वं, विदग्धे भूषगन्धिना ॥१॥ विप्रधे गात्रन-क्षोऽज, रमशेषे तु जाम्बती" इवगन्धिव्यमिति । द्रवस्य गृह्य-स्य कथितनक्तदार्द्रिव गन्धो यस्यास्ति तत्तथा, तद्भायस्तत्त्व-मिति । "मलवातयोर्विगन्धो, विरुजेदो गात्रगौरवमरौच्यम् । अविशुद्धाद्वाद्वाः, पडजीर्णव्याक्रान्तकानि ॥१॥" मूच्छो प्रलापो यमपुः, प्रसेकः सदनं घ्नमः । उपद्रवा भवन्त्येते, मरणं वाऽप्यजीर्णः" ॥१॥ प्रसेक इत्यधिकनिष्ठोवनप्रवृत्तिः, सदनमित्यङ्ग-म्लानिरिति । घ० १ अ० । "जिन्नाजिये अमोयणं बहुसो" जीर्णो जीर्णे च भोजने बहुशः; एष आयुष उपक्रमः । अस्माद् द्वियन्ते प्राणिन इत्यर्थः । प्राव० १ अ० । जी० । एतत्प्रती-कारो यथा-"अवेदजीर्णं प्रति यस्य शाङ्ग, स्निग्धस्य जन्तो-र्बलिनोऽश्नकाले । पूर्वं स शुष्टीममयामशङ्कः, संप्राप्य भु-ञ्जति वितं हि पथ्यम्" ॥१॥ इति चक्रः । "अजीर्णे भोजने वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम्" इति वैद्यकः । कश्चि कः । जीर्णो-वृक्षः, तदभिधे, त्रि० । बाच० ।

अजिम्मकंतेण्यथा-अजिह्वकान्तनयना-स्त्री० । अजिह्वेऽम्बदे भद्रभावनया निर्विकारचपल इत्यर्थः, कान्ते नयने यासां नास्तथा । सुभगत्वयत्नत्वसहजचपलत्वभाजनलोचनानु, "अजिम्मकंतेण्यथा पत्तलधवलतयत्तयायतबलाश्चाशाशो" जं० २ वक्त० ।

अजिय-अजित-त्रि० । अपराजिते, ('अजिभ'शब्देऽस्य विस्तरः) अजियदेव-अजितदेव-पुं० । मुनिचन्द्रवरेः शिष्ये, (निरूपणमस्य 'अजिभवेव' शब्दे)

अजियपन्न-अजितपन्न-पुं० । स्वनामक्याते गणिनि, (विशेषो-ऽस्य 'अजिभपन्न' शब्दे)

अजियवला-अजितवला-स्त्री० । श्रीभजितस्य शासनदेव्याय, ('अजिभवला' शब्देऽस्य विस्तरः)

अजियसीह-अजितसिंह-पुं० । स्वनामक्यातेऽङ्गलकण्डोपे सूरौ, ('अजिभसीह' शब्देऽत्र छन्दः)

अजियसेण-अजितसेन-पुं० । जम्बूदिपस्यचतुर्थे कुलकरे, (स्पर्शोऽयं 'अजिभसेण' शब्दे)

अजिया-अजिता-स्त्री० । अथसर्पिण्याश्चतुर्धस्याभिनन्दन-जिनस्य प्रथमित्याम, (अस्मिन् विषये 'अजिन्ना' शब्दो द्रव्यः) अजीर-अजीर्ण-न० । आहारस्याऽजरशे, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः । व्य० १ उ० । जं० । हा० । वि० । उपा० ।

अजीव-अजीव-पुं० । न जीवा अजीवाः । जीवविपरितत्सक-पेषु धर्मो धर्मोकाशुपुल्लास्तिकायाऽस्मासमयेषु, प्रज्ञा० १ पद । ते च चतुर्धा, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । द्रव्याजीवाः, यदा पुञ्जलद्रव्यमजीवरूपं सकलशुणुपयोधिकलतया कल्प्यते, तदा तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याजीवः, भावे चाजीवद्रव्यस्य पुञ्जलत्वस्यैव दशविधपरिणामोऽजीव इति प्रक्रमः । ततः शब्दादयः पञ्च शुभाशुभतया भेदेन विवक्षिताः । नथाव सं-प्रदायः-शब्दस्पर्शरसकपर्णधाः शुभाश्चाशुभाश्चेति । उक्त० ३५ अ० ।

एतयों ह्येतः क्षेत्रतः काश्चनो भावतश्च व्याख्या-

रुविणो य अरुवी य, अजीवा वृविहा जवे ।

अरुवी दसहा वुचा, रुविणो वि चरविहा ॥ ४ ॥

अजीवा ऽऽविधा भवेयुः, एके अजीवा रूपिणे रूपवन्तः, च पुनरन्ये अजीवा अरूपिणोऽरूपवन्तः । तत्र रूपं स्पर्शोऽप्यभ्य-तृप्तं मूर्तं तद्विस्तयेषु ते रूपिणः, तद्व्यतिरिक्ता अरूपिण इत्यर्थः । तत्रार्थोऽजीवा दशधा उक्ताः, रूपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाः प्रोक्ताः ॥ ४ ॥

पूर्वं दशविधत्वमाह-

धम्मत्थिकाए त्तेसे, तप्पसे य आहिए ।

अहम्हे तस्म देसे य, तप्पसे य आहिए ॥ ५ ॥

आगासे तस्म देसे य, तप्पसे य आहिए ।

अक्कासमयए वेव, अरुवी दसहा भवे ॥ ६ ॥

अरुवी अजीव एवं दशधा भवेदिति द्वितीयायायामन्वयः । प्रथमं धर्मोत्तिकायः-धरति जीवपुञ्जौ प्रतिगमनोपरिणारेणितं धर्मस्तस्याऽस्तयः प्रदेशसद्भावपरिणतिम् । सप्तदो धर्मो-त्तिकायः, सर्वदेशानुगुणसमानपरिणतिम् । ह्ययमिति भावः ॥ १ ॥ पुनस्तद्देशस्य धर्मोत्तिकायस्य कतमो विभागो देश-स्त्वतीयचतुर्थादिनागस्तद्देशो धर्मोत्तिकायदेशः ॥ २ ॥ तथा पुनस्तत्प्रदेशस्तस्य धर्मोत्तिकायविज्ञास्य अतिसूक्ष्मा नि-रंशोऽशः प्रदेशो धर्मोत्तिकायप्रदेशस्तथैकीरेराश्यातः क-थितः ॥ ३ ॥ एवमधर्मो जीवपुञ्जयोः स्थिरकारि धर्मोत्तिका-यायुत्तिकाधर्मोत्तिकायः ॥ ४ ॥ पुनस्तस्य अधर्मोत्तिका-यस्यापि देशस्तद्देश एकः कश्चिद्भागोऽधर्मोत्तिकायदेशः ॥ ५ ॥ एवं पुनस्तस्याधर्मोत्तिकायस्य प्रदेशोऽशस्तत्प्रदेश आख्यातोऽधर्मोत्तिकायप्रदेश इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इत्यनेन पर-त्रेदा अरूपिणोऽजीवद्रव्यस्य । अथ भोवात्कार्वाक्य-उच्यन्ते-आकाश इति सप्तमो भेदः । आकाशमाकाशास्तिकायः, जीवपुञ्जयो-रकाशादयि आकाशम् ॥ ७ ॥ तस्याऽऽकाशस्य देशः कतमो विभाग आकाशास्तिकायदेशः ॥ ८ ॥ तस्य आकाशास्तिकाय-

स्वः निरंकोः वैश्वस्त्यप्रवेश आकाशास्तिकायप्रवेशः ॥ ६ ॥
 दशमो भेदश्चास्त्रसमयः; अथा काशो वर्षमानमाहणस्तद्रूपः
 सन्मोक्षस्तस्यः। अस्त्वैक एव त्रेशो निर्बिभागात्। वैश्वदे-
 शावपि कालस्य न सम्भवतः ॥ १० ॥ एवं दशभेदा अर्धाणो
 हेत्याः ॥ ६ ॥

एतान् अरूपिणः क्षेत्रत आह—

धर्माधर्मो य दो एए, शोगामिना वियाहिया ।

शोगालोमे य आगामे, समप समपरिवापि ॥ ७ ॥

धर्मधर्मौ धर्मास्तिकायधर्मोस्तिकायौ, एतौ द्वावपि लोक-
 मात्रौ व्याख्यातौ । यावत्परिमाणो शोकास्तावत्परिमाणौ धर्मा-
 स्तिकायाधर्मोस्तिकायौ । यत्तुदेशरज्ज्वात्मकलोकां व्याप्तावित्यने-
 नालोके धर्माधर्मौ न स्तः। आकाशं लोकशोके वर्तते इत्यनेना-
 ऽकाशास्तिकायः यत्तुदेशरज्ज्वात्मकलोके व्याप्य स्थितः, ततो
 बहिर्लोकमपि व्याप्याऽऽकाशास्तिकायः स्थित इत्यर्थः । स-
 मयः समयादिकः काशः समयत्रैत्रिको व्याख्यातः । समयोप-
 सृजितं क्षेत्रं साद्वैद्यप्रतीपसमुद्रात्मकं समयक्षेत्रं, तत्र भवः
 समयत्रैत्रिकः । साद्वैद्यप्रतीपयो बहिस्तु समय आधुनिका-
 दिवसमासादिकान्नेदो भनुद्योगोकाभावाच्च विवक्षितः ॥ ७ ॥

पुनरेतानेव कालत आह—

धर्माधर्मागासा ति—भि वि एए अगाहिया ।

अपजजवसिया चैव, सव्वचत्तु विवियाहिया ॥ ८ ॥

धर्मोधर्मोकाशाणि एतानि श्रोत्रमपि सवाहं इति सर्वकां
 सर्वथा स्वस्वरूपापरिस्थानेन निर्यानि अनादीनि च पुनरपर्य-
 कसितानि अन्तर्हितानि व्याख्यातानि ॥ ८ ॥

अथ कालस्वरूपमाह—

समप वि संतदं पप्य, एवमेव वियाहिया ।

आएस् पप्य साहंए, सपज्जवसिए वि य ॥

समयोपि कालोऽपि, एवमेव, यथा धर्मोधर्मोकाशानि अना-
 दान्तानि; तथा कालोऽपि अनाद्यन्त इत्यर्थः । किञ्चत्वा ?
 सन्तति प्राप्य, अपरापरोत्पत्तिकरूपमाहात्मिकमाभिव्य-
 कोऽर्थः, यदा हि कालस्यात्पत्तर्विलोक्यते तदा कालस्याऽ-
 दिरपि नास्ति, अन्तोऽपि नास्तीत्यर्थः । पुनरादेशं प्राप्य का-
 र्योऽभ्यमाभिव्य कालः सादिक आदिसहितः, तथा सपर्यव-
 सितोऽवसानसहितो व्याख्यातः । यदा च यत् किञ्चित् कार्यं
 यस्मिन् काल आरभ्यते तदा तत्कार्योऽभ्यमयशात् कालस्या-
 यस्तुपाधिवाशादिति; एवं कार्योऽभ्यमसमाप्तौ कालस्याऽप्यन्तो
 व्याख्यात इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ रूपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाश्चतुर्भेदा उच्यन्ते—

खंथा य खंप्रदेशा य, तपपमा तदेव य ।

परमाणवो य वेषध्वा, रूषिणो वि चउचिविहा ॥ १० ॥

रूपिणोऽप्यजीवाश्चतुर्विधाश्चतुर्भेदाः । के ते भेदास्तानाह-
 स्कन्धाः—यत्र पुत्रे परमाणवो विचउचिहा मिलनाच्च न्यूना-
 अधिका अपि भवन्ति, एतादृशाः परमाणुपुञ्जाः स्कन्धाः?,
 स्कन्धदेशाः २, तथा तत्पदेशाः—तेषां स्कन्धानां निर्बिभागा
 अंशाः स्कन्धप्रदेशाः ३; तथैवेति लोच्यते; अ पुनः परमाणवो
 बोद्धव्याः, परमाणव एव परस्परममिलिता इत्यर्थः । ४। एवं
 बन्धवो रूपिणश्चतुर्विधा बोद्धव्या इति भावः । अत्र च मु-

ख्यवृत्त्या परमाणुवृत्त्यस्य द्वौ भेदौः परमाणवः स्कन्धाश्च । वैश-
 वाप्रदेशयोः स्कन्धेष्वेवान्तर्भावः ॥ १० ॥

अथ स्कन्धानां परमाणुना लक्षणमाह—

एगसेण पनुत्तेण, खंथा य परमाणुओ ।

लोएग्देशे लोए य, भइव्या ते उ खिचभओ ॥

इत्तो काइवविभागं तु, तेसिं बोधं चउचिविह ॥ ११ ॥

एते स्कन्धाश्च पुनः परमाणवः, एकत्वेन पुनः पृथक्त्वेन
 लोकैकदेशे च पुनर्लोकैः क्षेत्रतो अह्वयाः । तत्र केचित् स्कन्धाः
 परमाणवश्च एकत्वेन समानपरिणितिरूपेषु लक्ष्यन्ते । अथ च
 स्कन्धाः परमाणवश्च पृथक्त्वेन परमाणवन्तैरसङ्घातरूपेषु
 लक्ष्यन्त इत्यप्याहारः । इति द्रव्यतो लक्षणमुक्तम् । अथ च
 क्षेत्रत आह—ते स्कन्धाः परमाणवश्चेति तत्स्कन्धपरमाणुनां
 प्रहणोऽपि परमाणुनामेकप्रदेशास्त्वान्मन्यतां ते परमाणवः
 स्कन्धेषु लोकैकदेशे लोके सर्वत्र अह्वया भजनीया दर्शनीया
 इति यावत् । ते हि विचित्रन्वात्परिणतेर्बहुप्रदेशे तिष्ठन्ति ।
 इतः क्षेत्ररूपणतोऽन्नन्तरं तेषां स्कन्धानां परमाणुनां चतु-
 र्विधं कालभेदं वक्ष्ये, साधनादिसपर्यवसितापर्यवसितभेदं
 कथयिष्यामि । इदं च सूत्रं पदपादं गाधेत्युच्यते ॥ ११ ॥

संतदं पप्य तेऽएहं, अपज्जवसिया वि य ।

उिदं पनुच माहया, सपज्जवसिया वि या ॥ १२ ॥

ते स्कन्धाः परमाणवश्च सन्निभपरापरोत्पत्तिप्रवाहाकर्यां
 प्राप्याऽनाद्यव आदिरहितान्स्तथाऽपर्यवसिता अन्नरहिताः
 स्थितिं प्रतीयन् क्षेत्रवस्थानकर्यां स्थितिमह्नीकृत्य सादिकाः,
 सपर्यवसिताश्च वर्तन्ते ॥ १२ ॥

सादिसपर्यवसितत्वंऽपि कियत्कालमेयां स्थितिर्नित्याह—

असंखकालमुक्कोसं, इकं समयं जहभयं ।

अजंवाण य रूबांणं, उिदं एसा विवियाहिया ॥ १३ ॥

स्कन्धानां परमाणुनां चात्कृष्टाऽसंख्यकालं स्थितिः जघ-
 न्त्यिका एकसमया स्थितिः । एयाऽज्जीवानां रूपिणां पुत्रानां
 स्थितिव्याख्यातः ॥ १३ ॥

अथ कालतः स्थितिमुक्त्वा तदन्तर्गतमन्तरमाह—

अणंतकालमुक्कोसं, इकं समयं जहभयं ।

अजीवाण य रूबांणं, अंतरे यं विवियाहिया ॥ १४ ॥

अजीवानां रूपिणां पुत्रानां स्कन्धेशप्रदेशपरमाणुना-
 म्भन्तरं विवक्षितक्षेत्रावस्थिते प्रच्युतानां पुनस्तःक्षेत्रमाहर्षेय-
 धानमन्तरमुत्कृष्टमन्तकालं अभवति । जघन्यक्रमकसमयं या-
 वज्जवति । इदमन्तरं तीक्ष्णरूपेण व्याख्यातम्—पुत्रानां हि विव-
 क्षितक्षेत्रावस्थितिः प्रच्युतानां कदाचित्स्वमायावत्कालादि-
 संख्यातकप्रज्ञतो वा फण्डोपमादौ यावदन्तकालादपि तत्क्षे-
 त्वावस्थितिः सम्भवतीति भावः ॥ १४ ॥

अथ भावतः पुत्रानामाह—

वज्जओ गंधओ चैव, रसओ फामओ तहा ।

मंठाएअ य विज्जेओ, परिशाभो तिसि पंचहा ॥ १५ ॥

तेषां पुत्रानां परिणामोः वर्णतो मन्त्रतो रसनः स्पर्शतस्मथा
 संस्थानतश्च पञ्चया प्रज्ञप्रकारो द्युः । यतो हि पुरणालनध-
 मोगं पुत्रास्तेनामेव परिणतिः सम्भवति । परिणमते स्पर्श-
 रूपावस्थितानां पुत्रानां वर्णगंधस्पर्शसंस्थानोद्वन्ध्याभ-
 वनं परिणामः । न पुत्रानां पञ्चप्रकार इत्यर्थः । (२०५)

पुत्रुलानां वर्षेगन्धरस्त्वपशैसंस्थानानां जेदाद् वक्ष्ये । अथ तेषां क्रमेण प्रत्येकं संख्यां वदति । तद्यथा-एकस्मिन्नेकस्मिन् पुद्ग-
साभितवर्षो गन्धौ द्वौ, रसाः पञ्च, स्पर्शाः अष्टौ, संस्थानानि पञ्च,
एवं सर्वेऽपि विशिष्टविशतिभेदा जवन्ति । कृष्णनीललोहित-
पीतवर्णकानां पञ्चवर्णानां प्रत्येकं २ विशिष्टभेदप्रतीकानां शतं
भेदाः षण्णपुद्गलस्य । अथ गन्धयोर्द्वयोः षट्कत्वारिंशद्भेदाः जव-
न्ति । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च, स्पर्शाः अष्टौ, संस्थानानि
पञ्च । एवं सर्वे त्रयोविंशतिसंख्याकाः । ते च सुगन्धदुग्न्धतत्क-
योविशतित्रयोविंशतिप्रमिताः । वज्रयमौलने षट्चत्वारिं-
शद्भेदाः । अथ रसपुद्गलानां शतं भेदा जवन्ति । तद्यथा-
वर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, स्पर्शाः अष्टौ, संस्थानानि पञ्च । एवं वि-
शतिभेदाः । प्रत्येकं २ तिककटुकषायाम्बमपुरादिपञ्चभि-
न्नेकाः सन्तः शतं जेदा जवन्ति । अथ षष्टोभेदाः
षट्त्रिंशदधिकशतम् । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, रसाः
पञ्च, संस्थानानि पञ्च । एवं सप्तदश भेदाः । ते च खरसृग्गुह-
लसुक्कानिस्पर्शातोष्णपुद्गलैरशभिर्मुणितः षट्त्रिंशदधिकं
शतं भेदा भवन्ति । प्रहापनायां स्पर्शपुद्गलानां चतुरश्र-
स्यधिकशतं भेदा उक्ताः सन्ति । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च,
गन्धौ द्वौ, स्पर्शाः षट्, एवं शृङ्खलं । यतो हि यत्र खरस्पर्शः पु-
द्गलो गणयते, तत्र तदा सृज्ः पुद्गलो न गणयते । यत्र स्निग्धा
गणयते, तदा तत्र शृङ्खलं न गणयते । यत्र स्पर्शरोहिणौ हि एक-
त्र न तिष्ठतः, तस्मान् स्पर्शः षट्, संस्थानानि पञ्च, एवं सर्वे
मिथ्यास्पर्शयोश्चिदाभिज्ञेताः । ते त्रयोविंशतिभेदाः प्रत्येकं खर-
सृग्गुरुलसुक्कानिस्पर्शकृशीतोष्णाद्यष्टभिः पुद्गलैर्मुणितः चतु-
रश्रास्यधिकशतं भेदा भवन्ति । वीतरागोक्तं वचः प्रमाणम्,
येन यादृशं ज्ञातं तेन तादृशं व्याख्यातम्, तस्यै केवली बन्ध ।

अथोपसंहारेणोत्तरप्रश्नसम्बन्धमाह—

एमा अजीवविभर्त्ता, समासेण विधाहिया ।

पर्याऽजीवविभक्तिः समासेन संक्षेपेण व्याख्याता । उक्तं ३६
अ० दश० ज० । प्रहा० । जी० । आ० । आ० चू० नो० सूत्र० ।
दर्श० । स्या० । "गन्धि जीवा अर्जावा वा, ण्यं सर्वं णिवस्य"
सूत्र० । (' अस्थिवाय' शब्दे व्याख्यास्यामः)

अजीवआणवणिया-अर्नवाहाणपानिका-अर्नवाहाणपानिका-
जन्यः कर्मबन्धोऽप्याहाणपानिका । अजीवविषयाऽहाणपानिका अ-
र्नवाहाणपानिका । 'अर्नवाहाणपयव' स्पर्शादेशनरुपाया आहाण-
पिनक्याः क्रियाया भेदे, स्या० २ ज्ञ० १ ष० ।

अर्जवानायनी-अर्नवाहाणपिनक्या अर्नवाहाणपिनक्या-
यनम् । आनायनरूपायाः क्रियाया जेदे, स्या० २ ज्ञ० १ उ० ।

अर्जिवआरिजिया-अर्जिवारिजिका-अर्नवाहाणपिनक्या-
यनम् । आनायनरूपायाः क्रियाया जेदे, स्या० २ ज्ञ० १ उ० ।

अर्जिवकाय-अर्जिवकाय-पुं० । अर्जिवकाय-तेऽचेतनाः कायाश्च
राशयोऽर्जिवकायाः । जीवविपरतेषु धर्माधर्माकाराणुभलेषु,
म० ७ श० १० उ० ।

अर्जिवकायअसंजम-अर्जिवकायासंजम-पुं० । पुस्तकादीनाम-
जीवकायानां प्रहणपरिभोगानुपरमेण तस्मात्प्रतिजिवविधाते,
स्या० ७ ज्ञ० ।

अर्जिवकायअसंजम-अर्जिवकायासंजम-पुं० । पुस्त-
कादीनां प्रहणपरिभोगतस्त्वादिप्रतिजिवानां परित्यापकरणं,
स्या० ७ ज्ञ० ।

अर्जिवकायआरंभ-अर्जिवकायारम्भ-पुं० । पुस्तकादीनां प्र-
हणपरिभोगतस्त्वादिप्रतिजिवानामुत्पन्नवर्ण, स्या० ७ ज्ञ० ।

अर्जिवकायसंजम-अर्जिवकायासंजम-पुं० । पुस्तकादीनामजीव-
कायानां प्रहणपरिभोगपरमे, स्या० ७ ज्ञ० । आव० । प्रज्ञ० ।

अर्जिवकिरिया-अर्जिवक्रिया-अर्नवाहाणपिनक्या-
यनम् । जीवस्य पुत्रुलसमुदाय-
स्य यन्कर्मैवापस्यं तथा परिणामने साऽर्जिवक्रिया । " अर्जिव-
किरिया उड्विहा पण्णत्ता । तं जहा-इरियावहिया चैव, संप-
राहया चैव " स्या० २ ज्ञ० १ उ० ।

अर्जिवणिस्सिय-अर्जिवनिःश्रित-त्रि० । अर्जिवानिने, स्या० ७ ज्ञ० ।

अर्जिवनिःसृत-त्रि० । अर्जिविच्यो निगते, स्या० ७ ज्ञ० ।

अर्जिवद्वन्द्वविजति-अर्जिवद्वन्द्वविजक्ति-अर्नवाहाणपिनक्या-
यां विजागरुपे विभक्तिभेदे, अर्जिवद्वन्द्वविजक्तिस्तु कल्पकृ-
त्तयनेदाद् द्विधा । तत्र कृपिकल्पविजक्तिश्चतुर्धा । तद्यथा-स्क-
न्धाः, स्कन्धदेशाः, स्कन्धप्रदेशाः, परमाणुपुत्रुलाश्च । अर्जिव-
द्वन्द्वविभक्तिर्दशधा । तद्यथा-धर्मास्तिकायां धर्मास्तिकायस्य
देशो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः । पश्मधर्माकाराशयोरपि प्रत्येकं
त्रिजन्ता उड्वयथा । अस्मात्समयश्च दशम इति । सूत्र० १
श्रु० ५ अ० १ ष० ।

अर्जिवदिद्विधा-अर्जिवदिद्विधा (जा)-अर्नवाहाणपिनक्या-
यनम् । अर्जिवानां चिद-
कर्मिदानीं दर्शनाय गच्छतो गतिक्रियारूपे शक्तिकायाः क्रियाया
जेदे, स्या० २ ज्ञ० १ उ० ।

अर्जिवदेस-अर्जिवदेश-पुं० । धर्माधर्मास्तिकायादिदेशेषु, म०
१६ श० उ० ।

अर्जिवधम्-अर्जिवधमे-पुं० । अचेतनानां सृतिमतां द्रव्याणां
वर्णगन्धरसस्पर्शेषु, अर्जिवधमेतां द्रव्याणां धर्माधर्माकारानां ग-
त्यादिकेषु धर्मेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अर्जिवपञ्जव-अर्जिवपर्याय-पुं० । अर्जिवानां पर्यायेषु, प्रहा० ।
पर्याया गुणा विशया धर्मा इत्यनर्थान्तरम् । प्रहा० ५ पद ।

अर्जिवपञ्जवा णं जंते । कइविहा पण्णत्ता ? । गोयमा !
उड्विहा पण्णत्ता । तं जहा-रुविअर्जिवपञ्जवा य अरु-
विअर्जिवपञ्जवा य । अरुविअर्जिवपञ्जवा य जंते ।
कविविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दमविहा पण्णत्ता ? ।
तं जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकाय-
यस्स पदेसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे,
अधम्मत्थिकायस्स पदेसा । आगासत्थिकाए, आगास-
त्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पदेसा । अद्दासमए ।
रुविअर्जिवपञ्जवा णं जंते । कतिविहा पण्णत्ता ? । गो-
यमा ! चउड्विहा पण्णत्ता । तं जहा-खंषा, खंषपदेसा,
खंषपदेसा, परमाणुपोगल्ला । ते णं भंते ! किं संखेज्जा, अ-
संखेज्जा, अण्णत्ता ? । गोयमा ! नो सत्खेज्जा, नो असंखेज्जा,

अरुंता । से केणुठे एं जंते । एवं बुध्द, नो संखिज्जा, नो असंखिज्जा, अणंताऱी गोयमा ! अरुंता परमाणुपोग्गला, अणंता दुपपामिया खंधा, जाव अनंता दमपपरिया खंधा, अरुंता संखिज्जपदेसिया खंधा, अनंता असंखिज्जपदेसिया खंधा, अरुंता अरुणपदेसिया खंधा, से तेण्हं णं गोयमा ! एवं बुध्द; ते णं नो संखेज्जा, नो असंखिज्जा, अरुंता । प्रह्णां ५ पद ।

अजीवपणवणा-अजीवप्रज्ञापना-खीं० अजीवानां प्रज्ञापनाऽजीवप्रज्ञापना । प्रज्ञापनाभेद, प्रज्ञां ० ।

से किंते अजीवपरणवणा ? अजीवपरणवणा उचिहा परणवा । तं जहा-रुविअजीवपरणवणा, अरुविअजीवपरणवणा य । से किंते अरुविअजीवपरणवणा ! अरुविअजीवपणवणा दसविहा पणसा । तं जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस देसे, धम्मत्थिकायस पएसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस देसे, अधम्मत्थिकायस पएसा । आगामत्थिकाए, आगामत्थिकायस देसे, आगामत्थिकायस पदेसा, अच्चासमए । सेचं अरुविअजीवपरणवणा । से किंते रुविअजीवपरणवणा ? रुविअजीवपणवणा चउव्विहा परणवा । तं जहा-वंश्या, खंधेदेसा, खंधपएसा, परमाणुपोग्गला । ते समासत्रां पंचविहा पणसा । तं जहा-वणपरिणया, गंधपरिणया, रसपरिणया, फामपरिणया, संजाणपरिणया । ते जणणपरिणया ते समा मत्रो पंचविहा पणसा । तं जहा-कालवणपरिणया, नीलवणपरिणया, लोहिवणपरिणया, ट्ठान्हिवणपरिणया, सुक्खिवणपरिणया ।

अमीवामित्थे क्रमोपन्यासे किं प्रयोजनम् ? उच्यते-इह धर्मास्तिकाय इति पदं मङ्गलभूतम्, अर्थाद् धर्मशुद्धाद्विस्तृत्यानु पदार्थप्ररूपणा च सम्प्रति प्रथमत उक्त्या भवते, ततो मङ्गलाधर्माद् धर्मास्तिकायस्यापदानम् । धर्मास्तिकायप्रतिपन्नभूतत्वाधर्मास्तिकायस्तनस्तदन्तरप्रधर्मास्तिकायस्य । इत्येतेषां चानयोराधारभूतत्वाकाराभिते तदन्तरप्रधर्मास्तिकायस्य । ततः पुनरजीवसाधर्म्याद्दत्तासमयस्य । अथवा इह धर्माधर्मास्तिकायां विदु न मनस्वन्तद्विभूतये तस्यासमर्थतया जीवपुरुलानामस्वालिनप्रचारप्रवृत्तौ लोकांशोक्यवस्थाऽनुपपत्तेः । अस्ति च लोकांशोक्यवस्थायाः तत्र तत्र प्रवृत्ते सूत्रे साक्षाद्दर्शनात् । नतो यावन्तं ज्ञेयव्यापारौ (धर्माधर्मौ) नावयमाणां लोकांशोक्यवस्थाऽप्येतेषां इति सिद्धया उक्तं च-

“ धर्माधर्मविवृत्तात्, सर्वत्र च जीवपुरुलविवृत्तात् । नाशोकः कश्चिस्त्यात्, न च सम्मतमनदायोणाम् ॥ १ ॥

तस्मात्सोधर्मा-ववगादौ व्यायु लोकाकं सर्वम् ।

एवं हि परिच्छिन्नः, सिक्खति लोकस्तद्विस्तृतात् ॥ २ ॥

तत एव लोकांशोक्यवस्थाऽनु धर्माधर्मास्तिकायावित्थनयोरादुपपदानम् । तत्रापि माङ्गलिकत्वात् प्रथमतो धर्मास्तिकायस्य, तद्यत्पिपकृत्यासतोऽधर्मास्तिकायस्य, ततो लोकांशोक्यवस्थापिपकृत्यास्तिकायस्य, तदनन्तरं लोकांशोक्यवस्थापिपकृत्याव्यवस्थाकारित्वाद्दत्तासमयस्य । एवमागमासुराणोऽप्युचि-

कस्यनुपति धकस्यमित्यस्य प्रसङ्गेन । प्रकृतोपसंहारमाह- (संख अरुविअजीवपणवणा) सीया अरुवजीवप्रज्ञापना । पुनराह विनेयः- (सं कितमित्यादि) अथ का सा रुज्यजीवप्रज्ञापना । सूरि-राह-रुज्यजीवप्रज्ञापना चतुर्विधा प्रज्ञापना । तद्यथा-स्कन्धा-स्कन्दन्ति बुध्दान्ति, धीयन्ते च पुण्यन्ते पुरुलानां विचउतेन चउतेन वेति स्कन्धाः । पृथोऽद्वारित्वाद् रूपान्परिणतः । अत्र बहुधा वचनं पुरुलस्कन्धानामानन्त्यवधानार्थम् । नचातन्त्यमनुपपन्नम्, आगमंऽपिघानात् । तथा चाजीवशब्दे उक्तम्-“इत्थतो गुं पुमाइत्थिकाए गुंता दव्वा” इत्यादि । स्कन्धदेशाः स्कन्धानामेव स्कन्धत्वपरिणाममजहन्ते बुध्दपरिकल्पिता इवादिप्रदेशात्मक विभागाः । अत्रापि बहुवचनमनन्तप्रादेशिकेषु तथाविधेषु स्कन्धेषु प्रदेशानन्तत्वस्कन्धानाथम् । स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरिणतानां बुध्दपरिकल्पिताः प्रकृष्टा देशा निर्विभागा जगताः, परमाणव इत्यर्थः, स्कन्धप्रदेशाः । अत्रापि बहुवचनं प्रदेशानन्तत्वस्कन्धानाथम् । (परमाणुपुरुल्ला इति) परमांशु ते अणवश्च परमाणुवो निर्विजानादव्यरूपाः, ते च ते पुरुल्लाश्च परमाणुपुरुल्लाः स्कन्धत्वपरिणामरहिताः केवलाः परमाणव इत्यर्थः । (ते समासत्रो इत्यादि) ते स्कन्धाश्च यो यथासम्भवं समासतः स्वङ्गेषु पञ्चविधाः प्रकृताः । तद्यथा-वर्णपरिणता वर्णतः परिणताः, वर्णभाज इत्यर्थः । एवं गंधपरिणताः, रसपरिणताः, स्पर्शपरिणताः, संस्थानपरिणताः । परिणता इत्यन्तीतकालनिर्देशो वर्तमानानागतकालोपलक्षणम् । वर्तमानानागतवर्तमानानागतत्वस्यासम्भवात् । तथाहि-यथा वर्तमानत्वनिर्णयः सोऽस्तीति भवति । वर्तमानत्वं च सोऽस्तुत्विति सोऽस्तीति त्वमतिरिक्तान्त्वम् । उक्तञ्च-“ भवति स नामानीतो, यः प्राप्नो नाम वचंमानत्वम् । एत्थं च न जवति । यः प्राप्यति वर्तमानत्वम् ॥ १ ॥ ततो वर्णपरिणता इति वर्णरूपतया परिणताः परिणमन्तीति परिणमिप्यन्तीति वा द्रष्टव्यम् । एवं गंधरसपरिणता इत्यादि परिणामनीयम् । प्रज्ञां ० १ पद ।

अजीवपरिणाम-अजीवपरिणाम-पुं० । ६ त० । पुरुलानां परिणामे, “इत्थविह अजीवपरिणामे पणुत्तं । ते जहा-बंधणपरिणामे, गइयपरिणामे, ठाणपरिणामे, जेवकसरपरिणामे, गंधपरिणामे, फामपरिणामे, अगइयलहुयसहपरिणामे । (बंधणपरिणामार्थानां व्याख्याऽप्येव) स्यां ० १ त० ।

अजीवपाउसिया-अजीवप्राद्विकी-खीं० । अजीवे पापाणादौ स्थाइतस्य प्रज्ञेपादजीवप्राद्विकी । स्यां ० २ त० १ उ० । अजीवस्यापरि प्रज्ञेपाथाः क्रियाः, प्रज्ञेचरणमेव वा । प्राद्विकी-क्याः क्रियाया भेद, स्यां ० २ त० ३ उ० ।

अजीवपाउसिया-अजीवप्रातीतिकी-खीं० । अजीवं प्रतत्ययो रागद्वेषाद्भवस्तज्जा यो बन्धाः सा अजीवप्रातीतिकी । प्रातीतिक्याः क्रियाया भेद, स्यां ० २ त० १ उ० ।

अजीवपुट्टिया-अजीवपुट्टिका (जा) (स्पुट्टिका)-खीं० । अजीवं रागद्वेषाभ्यां पुट्टनः स्पुट्टा यो क्रियात्मक, पुट्टिका (जा) (स्पुट्टिका) याः क्रियाया जेदे, स्यां ० २ त० १ उ० ।

अजीवमिसिया-अजीवमिश्रिता-खीं० । सत्यमृगजंते, यदा यदा प्रभूतेषु मृत्युस्तोक्य जीवन्तु एकत्र राशौ कतेषु शरदादेषु एवं वदति-अदे ! महाय मृतोऽजीवराशिरिति तदा सा अजीवमिश्रिता, अस्या अपि सत्यमृगजंते, मृत्युषु सत्यत्वात्, जीवन्तु स्वृत्वात् । प्रज्ञां ० १ पद ।

अजीवरासि-अजीवरासि-पुं० । राशिभेदे, सं० ।
 अजीवरासिं दुविधा पञ्चत्वा । तं जहा-रूवी अजीवरासिं,
 अरूवी अजीवरासी य । से किंतं अरूवी अजीवरासी ॥
 अरूवी अजीवरासी दसविधा पञ्चत्वा । धर्मत्यक्ताए० जाव
 अक्तासयए । रूवी अजीवरासी अणंगविहा ।
 तत्राजीवराशिद्विविधः, रूप्यरूपिभेदात् । तत्रारूप्यजीवरा-
 शिदेशा-धर्मास्तिकायस्तदेशास्त्यदेशाक्षेति । एवमधर्मोस्तिका-
 कायाकाशास्तिकायाचपि वाच्यौ । एवं नव । दशमोऽज्ञासमय
 इति । रूप्यजीवराशिभ्यनुर्द्धा-स्फन्धाः देशाः प्रदेशाः परमाणुष-
 क्षेति । ते च वर्णनधरसपर्यशसंस्थानभेदतः पञ्चविधाः । सं-
 योगतोऽनक्तिविधा इति । सं० ।
 अजीवविजय-अजीवविजय-पुं० न० । धर्मोऽधर्माकाशकाल-
 लपुं प्रलानामनन्तपर्ययात्मकानामजीवानामनुचिन्तने, स-
 म्भ० ४ ख० ।
 अजीववेरागिणिया-अजीववेदाराणिका-अजीववैक्यणिका-
 अजीववैचारणिका-अजीववेतारणिका-स्त्री० अजीवं वि-
 द्यारयति स्फोटयति, अजीवमसमानभोगेयु विरुद्धाति, द्वैभा-
 पिका विचारयानं, पुरुषादिविप्रतारणुख्वाऽजीवं भण्यतेना-
 दशमतदिति यस्या तथा । अजीववेदा- (वैक्य-) (वैचा-)
 (वेता-) रणिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ टा० १ उ० ।
 अजीवमाभेतावृत्तवाद्या-अजीवमानतोपतितीर्की-स्त्री० ।
 कस्यापि रथो रूपवानस्ति, न च जनां यथा यथा प्रलोकयति
 प्रशंसति च, तथा तथा तत्त्वानी हृष्यतीति । रथादीं हृष्यतः
 क्रियात्मकः सामन्तोपनिपातिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २
 टा० १ उ० ।
 अजीवसाहस्रिया-अजीवसाहस्रिका-स्त्री० । स्वहस्तगृही-
 तैर्नवाजीवन खड्गादिनाऽजीवं मारयति सा अजीवस्वाह-
 स्तिका, स्वहस्तेनाजीवं ताडयतोऽजीवस्वाहस्तिका । स्वाह-
 स्तिकाः क्रियाया भेदे, स्था० २ टा० १ उ० ।
 अजीवपञ्चवाणिकिरिया-अजीवपञ्चवाणिकरिया-स्त्री० ।
 अजीवपुं मयादिषु अत्रत्याख्यानात्कर्मबन्धनरूपेऽप्रत्याख्या-
 नक्रियाभेदे, स्था० २ टा० १ उ० ।
 अजीवविभगम-अजीवविजगम-पुं० । ६त० । गुणप्रत्ययाध्या-
 दिप्रत्ययानः पुञ्जास्तिकायाधभिगमं, स्था० २ टा० २ उ० । "से
 किंतं अजीवविभगमं ? अजीवविजगमं दुविधे पञ्चत्वे । तं जहा-
 रुविअजीवविभगमे य, अरुविअजीवविभगमे य । से किंतं अरु-
 विअजीवविभगमे ? अरुविअजीवविभगमे दसविधे पञ्चत्वे । तं
 जहा-धर्मरथिकाए एवं जहा पञ्चवणाए जाव । सत्तं अरुवि-
 अजीवविभगमे " । जी० १ प्रति० ।
 अजीवुभय-अजीवोद्भय-त्रि० । अजीवप्रभये, दश० १ अ० ।
 अजीवु-अजीव-त्रि० । युक्तमिष्ये इत्ययं परैरमिष्येते सेत्यधमिषी-
 क्ते । अतो यैति पृथग्भवति इति यु-विचि, छान्दसत्वाद्
 गुणात्मानः । न युनयुः । अयुधभूते, " चिधाऽयो नः प्रवेदो-
 यान् " जैनगायत्री ।
 अजीवभयसा-देशी-अस्मिलकायुके, दे० ना० १ वर्ग ।
 अजीवभययो-देशी-सप्तच्छन्दनामके वृत्तविशेषे, दे० ना० १ वर्ग ।
 अजीवो-देशी-सप्तच्छन्दवृत्तविशेषे, दे० ना० १ वर्ग ।

अजुगद्विअ-अजुगद्वित-त्रि० । असमभ्रेणस्थे, "अजुगलत्रिआ,
 अजुगलत्रि, विगहरहिआ वयति पदमं तु " थ० ३ अथि० ।
 पं० व० । अजु० ।
 अजुसुदेव-अजीणैदेव-पुं० । अज्ञादुहीनाऽऽगमनसमयात्वा-
 म्भाविति जैननन्दभेदे, ती० २० कल्प० ।
 अजुत्त-अयुक्त-त्रि० । युज्ज-क। न० त० । विषयान्तरसक्त-
 या कतंयेष्वनयादिते, अजुत्तिते, अपपत्ते, असंयुक्ते, " अयुक्तः
 प्राकृतः स्तब्धः " अयुक्तोऽनवहितः । अयोम्ये, बहिमुक्ते, युक्ति-
 शान्ये, अनियोजिते च । वाच० । बुद्ध्या विन्ययमाने अनुपपात्त-
 क्रमे सूत्रदोषविशेषोपलुष्टे, न० । यथा- " तेषां कटतटवृद्धेयजानां
 मद्रविन्दुजिः । प्रावसंत नदी घोरा, हृत्सम्भरथावाहिनी " ॥१॥
 इत्यादि । विशेष० । आ० म० द्वि० । अनु० । वृ० ।
 अजुत्तकृत्-अयुक्तरूप-त्रि० । न० ब० । असंगतरूपे, अनुचित-
 वेषे, स्था० ४ टा० ३ उ० ।
 अजुगणया-अजीणैता- (अजुगणता)-स्त्री० । शरीरजीणैत्वाऽ-
 विधानं, पा० । थ० । शरीरापचयकारिशोकात्पुत्राद्यने, " व-
 ह्णं पाणानं जाव सत्ताणं अद्रुकणययाए असोयययाए अजुग-
 णयाए " । म० ७ शा० ६ उ० ।
 अजोग-अयोग-पुं० न० त० । शैलेशीकरणे, सकलयोगावप्य-
 रदिते योगं च । " प्रीतिनाकिकवचोसक्तेः, स्थानाद्यपि चतुर्विधम् ।
 तस्माद्योगयोगात्मैर्कृपायाः क्रमाद् भवेत् " ॥१॥ अष्ट० २८ अष्ट० ।
 " तथायोगादागमुक्त्वाद्, भयोपप्रादिकर्मणात् । कथं कृत्वा प्र-
 यात्युक्तेः, परमानन्दमन्दिरम् " ॥१॥ द्वि० २५ टा० । अज्ञसंस्थयोगा-
 नानां, योगः परं ब्रह्मदत्तः । योगोऽयोजनजावेन, कर्मसंन्यास-
 त्कृत्यः " ॥१॥ ल० । अद्यापारं, शा० ३५ टा० । असम्भवे च । शा०
 १० टा० । अज्ञाशस्यं, न० त० । ज्योतिषांके तिथिवाग्रादीनां
 दुष्टे योगं, " परः ब्रह्मदत्तः, ज्ञानोन्मत्तः भवतो यतिः । अ-
 थयोगो इत्येते तत्र, सिद्धिद्वयः प्रवर्तते " ॥१॥ राजमार्गप्रः । न०
 ब० । विधुरे, कूटे, कठिनोदये, सुशुभोके वमनापशमनीये रोग-
 जेदे च । यत्राभ्याने हृदयप्रहरकृष्णा मूर्च्छा दाहश्च भवति तत्रयो-
 गमित्याचकृते. तन्माह वमयदिति । वाच० ।
 अजोगया-अयोगता-स्त्री० । योगनिरोधोत्तरं शैलेशीकरणात्मा-
 भवेत्तानायात्मवस्थायात्, श्री० । " योगनिरोहं करेह, करेहत्ता
 अजोगत्तं पाउरुह, अजोगत्तं पाउणित्ता इंसि रहस्सु " श्री० ।
 अजोगकृत्-अयोगारूप-त्रि० । ६ ब० । अघटमानकं, " अजोग-
 कृत्वं इह संजयान्, पावं तु पाणानं च संककाउं " सूत्र० २
 थु० ६ अ० ।
 अजोगि (ण्)-अयोगिन-पुं० । न सन्ति योगा यस्या । स्था० २
 टा० १ उ० । बहुव्रीहेर्मत्वर्थीय इति । यथा-सर्वधनी । सर्वध-
 नादेराकृतिगणत्वात् । दश० । न योगीति वा योऽसाधयो-
 गी । स्था० २ टा० १ उ० । निरुद्धयोगं, स्था० ४ टा० ४ उ० ।
 शैलेशयवस्थायम सूत्र० २ थु० ३ अ० । प्राव० । कर्म० । कथमयो-
 गित्वमसाहुपगच्छतीति वेत् ?, उच्यते-स भगवान् सयो-
 गिकेवत्री जयन्तोऽन्तमुहूर्तेमुहूर्ततो देशानां पूर्वकोटिं विहृत्य
 कश्चिर्कर्मणां समीकरणायं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनी-
 याविक्रमायुषः सकाराद्यधिकतरं भवति, अन्यस्तु न करोति ।
 (' केवलिसमुप्राय ' शब्दे वेत्तुं यथाशक्तः) भवत्प्रादिकर्म-
 क्षणाय लेखयतीतमत्यन्ताप्रकम्पं परमनिर्जराकारणं ध्याने

प्रतिपित्तुयौगिनरोधार्थमुपक्रमते । तत्र पूर्वं शार्दकाययोगेन शार्दकमनोयोगं निरूपयति, ततो वायुयोगः । ततः सूक्ष्माययोगेन शार्दकाययोगं, तेनैव सूक्ष्ममनोयोगं सूक्ष्माययोगं । सूक्ष्माययोगं तु सूक्ष्मायविवर्ति शुक्रध्यानं ध्यायन् स्वापद्यमनैव निरूपयति, शून्यस्यावद्यमनोवस्य योगान्तरस्य तदाऽसंस्थात् । तद्व्यायानसामर्थ्याच्च वेदनादादिविवरपूरणेन संकुचितवेदनिभागावर्तिप्रदेशो भवति । तदनन्तरं समुत्सन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्रध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्जात्तोरुह्रस्वमात्रकालं शैलेशीकरणं प्रविशति । कर्म० २ कर्म० ।

अजोगिकेवलि (ए)-अयोगिकेवलि-पुं० । अयोगी चाऽसौ केवली च अयोगिकवली । निरुद्धमनःप्रभृतियोगे शैलेशीगते, स० १४ सम० । विगतक्रियानिवर्ति शुक्रध्यानं ध्यायन्वाध्यायोगिकेवली निःशेषितमलकह्रोऽवाप्तशुद्धनिजस्वभाव ऊर्ध्वगतिपरिणामः स्वाभाव्याविघातप्रदेशप्रदोषशिखावदूर्ध्वगच्छत्येकसमयेनाऽऽलांकान्तात् । सम्म० ४ खं० कर्म० । अयं च शैलेशीकरणं चरमसमयान्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मकल्पनव्यादृष्टसृष्टिकालेपि लिमाधेनिमप्रक्रमपानीतमृत्तकालेपि-जलनलमयोर्दोषैर्गामि तथाविधाऽलात्वावदूर्ध्वलोकान्ते गच्छति, नापरतोऽपि, मत्स्यस्य जलकल्पं गतुमुपपद्यमकर्ममस्ति-कायाभावात् । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋतुश्रेण्या यावन् स्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तावदेव प्रदेशादूर्ध्वमवगाहमानो विवर्तितसमाद्य समयान्तरमसंस्पृश्य गच्छति । तदुक्तमावश्यकचूर्णैः-“जतिप जीवो अखादो तावद्व्याप आखादेष्वपर उद्धं उज्जुगं गच्छद् न वंके वीयं च समयं न फुसइ ति” । दुःपमान्यकारनिमप्रजिनप्रवचनप्रदीपप्रतिमाः श्रीजिनभद्राणिपुण्या अण्वाहुः-“ उज्जुलेदीपडिबयो, समये समयंनरं अफुजमराणो । परासमयेण सिउरुह, अह सागारेवउत्तो सो” ॥ १ ॥ कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

अजोगिकेवलिगुणगण-अयोगिकेवलिगुणस्थान-न० । ६ न० । चतुर्देश गुणस्थानं, कर्म० १ कर्म० । न योगी अयोगी, अयोगी चासी केवली च अयोगिकेवली । तस्य गुणस्थानमयोगिकेलिगुणस्थानम्, तस्मिन् वर्तमानः कर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमनिवृत्ति ध्यानमारांहेति । आह च-“ स ततो देहत्रयमो-त्तार्धमनिवृत्तसर्ववस्तुगतम् । उपयाति समुच्छिन्नक्रियमनसकं परं ध्यानम् । १ । परमसावर्ण्येनिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्मुदयवानं कर्मोपि तानि स्थितिक्रयणानुभवकृतयति । यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न संभयन्ति तानिवेद्यमानासु प्रकृतिपुस्तितुलकसक्रमण संक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिपतनया वा वेद्यमानस्तावद् याति यावदयोग्यवत्त्वाद्भ्रुकचमसमयेः, तस्मिन्श्च चिचरमसमये देवगनिदेवानुपूर्वाश्रयपरञ्चकवधनपञ्चकसंघानपञ्चकसंस्थानपट्टाङ्गोपाङ्गप्रसंहननपट्टवर्णादिविशतितपराधानोपघातागुरुकचूर्णामप्रशस्ताप्रशस्तविद्यायोगनिधि-रास्थिरभुजाशुभसुरवन्दुःस्वरजुषंगप्रत्येकान्देवाद्यश्चः कीर्तिनिर्माणपर्यासकनीचैर्गोत्रसातासातान्यतरागुदितवेदनस्वरूपाणि ह्रिसन्तिसिन्ध्यानि स्वरूपसत्तामिधकृत्य कृत्यमुपगच्छन्ति । चरमसमये स्तितुलकसंक्रमोद्भवयनीयु प्रकृतिपु मध्ये संक्रम्यमानात् । संक्रमश्च सर्वोऽप्युक्तस्वरूपो मूलप्रकृत्यर्थेयशासु परंप्रकृतिपु उच्यतेः । “मूलप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गणत उचराः प्रकृतीः” इति बचनान् । चरमसमये च सातासातान्यतरवेदनीयमनु-

प्यगतिमनुप्यानुपूर्वमनुप्यापुःपञ्चेन्द्रियजातिवस्तुनागाद्येषु-शःकीर्तिपर्याप्तवाद्दरतीर्थकर्मोर्भोगैर्भूषणानां प्रयेदशप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः । अथै पुनराहुः-मनुप्यानुपूर्व्यां द्विचरमसमये व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तितुलकसंक्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलित इत्यत एवैति युक्तस्तामां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्व्यानां तु अनुपूर्व्यामपि क्षेत्रवियुक्तया प्रयापनराज्ञगतांशोर्ध्वद्वयः, तेन भवस्थस्य तदुदयसंभवः, तदसंनवाद्यायोग्यावस्था द्विचरमसमये एव, मनुप्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति तन्मतेन द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः, चरमसमये द्वादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये केशशभ्रमोक्तलक्षणसहकारिसमुत्पत्त्यजावपिशोषादेरगुरुफलमिव भगवानपि कर्मसंबन्धनिर्मातृलक्षणसहकारिसमुत्पत्त्यस्यभावाविशोषादूर्ध्वं लोकांते गच्छति । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋतुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तावदेव वेदशानुद्धेमप्यवगाहमानो विवर्तितसमयाध्यायनसमयान्तरमस्पृशन् गच्छति । वक्तुः-चाऽऽवद्वयकचूर्णौ-“जतिप जीवो अखादो तावद्व्याप आखादेष्वपर उद्धं उज्जुगं गच्छद् न वंके वीयं च समयं न फुसइ ति” तत्र च गतः सन् भगवान् शाश्वतं कालमवतिष्ठते । पं० सं० १ द्वा० ।

अजोगिजन्त-अयोगिजन्तवस्थ-पुं० । अयोगी चासी भवस्थ-अयोगिमवस्थः । शैलेश्वयस्थापुपगते, न० ।

अजोगिजन्तकेवलिगण-अयोगिजन्तकेवलिज्ञान-न० । ६ न० । शैलेशीकरणमध्यस्थितस्य केवलिज्ञानं, न० । (‘केवलनाय’ शब्दे व्याख्याऽस्य उच्यते)

अजोगिसंतिगा-अयोगिसत्ताका-खी० । अयोगिकेवलिनि सत्ता यासां ता अयोगिसत्ताकाः । चतुर्दशगुणस्थानिनि लभ्य-सत्ताकासु प्रकृतिपु, पं० सं० १ द्वा० ।

अजोग-अयोग-वि० । अनुवृत्ते, पञ्जा० १० विव० ।

अजोगिजन्त-अयोगिजन्त-न० । विश्वस्तयोर्नी प्ररोहासमर्थे, दश० ।

अजोगिय-अयोगिनिक-पुं० । न० वा । सिके, स्था० २ उ० १ उ० ।

अजोगिय-अनुवृ-वि० । असंविने, “जे विषयणा अजोगिसिवा” सूत्र० १ ४२२ अ० १ उ० ।

अज-अन-धा० । प्रतियोगे । श्वादि०, पर०, सक०, सद्-“अजं-वित्तवः” = १ । ३० । इति प्राकृतमूषेण विदवांशानांते, अज्जह, अज्जति । आनर्ज । आर्जीत । प्रा० । अज्जिउह, अ-अर्जते । प्रा० । अजं संस्कारं, चुग० । उज०, सक०, सेट । अजय-ति-ते । आर्जित-जन्त । “अनुपपन्नं पितृद्वयं, अमेण यदुपा-ज्येत्य” स्मृतिः । वाच० ।

अज्ञ-वि० । न० त० । “ज्ञो अः” = १ । २ । ३ । इति अज्ञोपे द्वित्वं जस्य । ज्ञानरहितं मूर्खं, प्रा० ।

अद्य-अद्य० । अस्मिन्नहनि इदंशब्दस्य निपातः समर्थ्यं ।

उत्त० २ अ० । सूत्र० । वर्तमानदिने, नि० च० ए० ३ । “अज्ञो ! आ-उज्जम् सफलं ज्ञो” प्रा० । अद्यतया वाऽभुजानततया धर्तमान-काल इत्यर्थः । अ० १४ श० ए० उ० । वैजानपर्यवतयाऽप्रत्यय-ह्रदः, पुं० । अ० २ श० ४ उ० ।

अज-न० । असु ज्ञायते । जन्-७ । उ० । पदम्, सङ्घे, पुं० न० ।

निवृत्तबुद्धे, तस्य जलप्रायजवत्वात् तथात्वम् । चन्द्रे, धन्वन्तरी च (पुं०) तथाः समुद्रजातवान् तथात्वम् । चन्द्रनामकं कर्पूरे, पुं० । जलजातमात्रं, (त्रि०) वाच० । दशार्धुदसंख्यायां, शतकोटिसंख्यायां, तत्संबन्धे च (न०.) कल्प० ।

आर्य्य-त्रि० । आर्य्य-यत् । "आर्य्यः स्वामिदैवशयोः" ३ । १ । १०३ । इति पाणिनिस्मृत्यात् स्वामिनि दैवेषु च वाच्ये एततोऽपवाद्यो वत् । स्वामिनि, म० ३ शृ० १० २ ।

आर्य्य-त्रि० । आरात सवर्धेयधर्मज्यो यातः प्रातो गुणैरित्यार्य्यः । प्रह्ला० १ पद । न० । आच० । पापकर्मबहिर्भूतत्वेनापापे, स्था० ४ ग० २ उ० । न० । साची, कल्प० ७ । "भगवत्यरियजज्ञानं, आस- ह्यु सवर्धु वा " दश० ६ अ० । आरिचार्धे, आचा० १, ७७० अ० २ उ० । आर्य्यकर्मकारिणि अज्जुप्सितकारिणि, श्व० ११ अ० सुजने, वृ० १० । आमन्त्रणे आर्य्यशब्दप्रयोगः । "अज्जो ! सामाद्यं जाणामा" हे आर्य्ये !, आकारान्ता सम्बोधनं प्राकृतत्वात् । म० १ शृ० ६ उ० । "एसं अं अज्जो कहंहे वासुदेवे" अज्जोति आमन्त्रणवचनम् । भगवत् महावीरः किञ्च साधूनामन्त्रयति-हे आर्य्योः ! । स्था० ६ उ० । "अज्जोति ममणे जगवे महावीरे गोयमाइसमणे णिमग्गे आमतिपा एवं वयासी" । स्था० ३ ग० २ उ० । मातामहे, (नि०) पितामहे, श्रा० ८ अ० । गात्रप्रवर्तकं श्रुतिभेदे, पुं० । यदुगोत्रं जीतधरः, "वंदे संसिद्धं अज्जजीतधरं" शाबिडव्यव्यापि शिष्य आर्य्यगोत्रो जीतधरनामा स्मृतिरसीत् । न० ।

अज्जसिवाश्रिय-आर्य्यर्षिपालिन-पुं० स्त्री० । आर्य्यशान्तिधेनिकस्य मातृसंगोत्रस्य चतुर्थे यथापत्ये अर्जुनासिनि, कल्प० । आर्य्यर्षिपालिना (शिःस्वतयां) शाखायाम्, स्त्री० । "धेरोहिंते अज्जसिवाशिर्षिर्हिंते इत्यं णं अज्जसिवाश्रिया साहा णिमग्गा" । कल्प० ।

अज्जउत्त-आर्य्यपुत्र-पुं० । १६ त० । अपापकर्मवतो मातापिथाः पुत्रे, स्था० ८ ग० ।

अज्जओ-देशी-सुरसगुरेयोऽस्तुजनेदयोः, दे० ना० १ वगं ।

अज्जकएह-आर्य्यकृणु-पुं० । विगम्बरमनमर्षतकस्य शिवचतुर्तेर्गुरी, श्रा० म० ह्रि० । उत्त० । विशे० । श्रा० श्रु० । ('बोमिन्' शब्दे किञ्चित् विशेषं वक्ष्यामः)

अज्जकम्म-आर्य्यकर्म-न० । आर्य्य दैवधर्मज्यो मृगंसतादिज्यो वृत्त्यातं कर्म । शिष्टजनोचिते अज्जुत्तने, "जहं संमि भोग ववहं असतां अज्जार्हं कम्मार्हं करेह रायं" उत्त० १३ अ० ।

अज्जकालग-आर्य्यकाल-पुं० । स्वातिसिष्ये हारीतगोत्रे श्यामाभ्यां परनामके आचार्य्ये, न० । 'सम्मवाय' शब्देऽस्य तत्कारित्वं कृष्टव्यम्) श्रा० म० ह्रि० । श्रा० श्रु० ।

अज्जसउद-आर्य्यखण्ड-पुं० । विधासिसे आचार्य्यभेदे, श्रा० म० ह्रि० । श्रा० श्रु० । ('विज्जालिक' शब्देऽस्य वक्तव्यता)

अज्जग-आर्य्यक-पुं० । पितामहे; श्व० १ उ० । श्रा० । श्रा० म० प्र० । "अज्जए पज्जत्र वासि वण्णसुद्ध पिउ त्तिय । मात्तला भा- इण्णं त्ति पुत्तो नत्त पवसि" १ । १ । दश० १० ।

अज्जपञ्चपिउपज्जयागव य बहुरिरणणे य सुवणणे य' श्र० ६ शृ० ३३ उ० ।

आर्य्यक-पुं० मृत्युने, नि० श्रु० ११ उ० ।

अज्जगंग-आर्य्यगङ्ग-पुं० । द्वैकियनिश्चयमतप्रवर्तके निह्वाऽऽचार्य्यभेदे; "उल्लुकातीरक्रेत्रे महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम । इत्यादि शिष्य आर्य्यगङ्गा नामाऽऽचार्य्यः । श्रयं च नद्याः पृथ्वेर्तटे, तथा-ऽऽचार्यांस्तथपरतटे । ततोऽयदा शरत्समये स्मृतिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गादूर्गमुत्तरी त्ति स्म । स च खलवाटः । तत्सत्स्योप- रिष्ठादुभयं न दृश्यते स्म अह्नि, अथस्तासु नद्याः प्रातःपूजनेन शैत्यमुत्पद्यते स्म । ततोऽभ्यन्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोद- यादसी चिन्तितवान्-अहो ! त्त्स्वित्वात् युगपत्क्रियाद्वयानुभवः किल निषिद्धः । अहं त्वेकस्मिन्नेव समये शैत्यमौष्येयं च वे- क्षि । अतोऽनुजयविरुक्तत्वाभेदमागमोक्तं शोचनमाभातीति वि- चिन्त्य गुरुज्यो निवेदयामास । तनस्त्वैवैद्वयमाणगुणिकमिः प्रहा- पिताऽसी यदा स्वाप्रहस्तस्तुद्विस्वात् किञ्चित्प्रतिपद्यते स्म, तदा उद्घाष्ट्य बाह्यः कृतः । स विह्वलं राजपृथुनगरमागतः । तत्र च महातपस्वीरत्नप्रभवनाभिन् प्रप्रभवे प्रणितागमार्थो नागस्य वैश्वमस्ति । तत्समीपे च स्थितो गङ्गः पर्युतोःसरं युगपत्क्रि- याद्वयवेदनं प्रकृत्यति स्म । तत्र श्रुत्वा प्रकृपितो मणिनागस्तम- बादीत्-अरं तुष्ट शिष्यकः । किमयं प्रहायसि, ? यतोऽपिच प्रदे- श्च समवसुनेन श्रीमद्दर्शनान्त्वस्वामिना एवमो एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियायावेदनं प्रकृपितम् । तच्चेदं स्थितेन मयाऽपि श्रुतम् । तर्हि ततोऽपि लक्षणः प्रकृपको ज्ञान । यथैवं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्रकृत्यति ?; नत्पत्त्यजैर्नां कृतप्रकृपणामः इत्यथा नशायिष्या- मीत्यादि । न कृतजनयकार्य्येक्यचर्चनं अप्रकृतोऽसी मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा गुह्यमलं गवा प्रतिज्ञातं इति । अत्र ज्ञाप्यम्- "नमस्तु- गमुत्तरतो, सपरस्ये जत्रमज्जगमस । सुराजितपासिसेतो, उ- सिणयेयणोपयउ लमाहो ? । (अ) यमसामाहो जुगधे, उजयकिरि- याय उवभोगो त्ति । जं देवि समयमेव च, सीओसिणयेयणाओ मे " । २ । गतां व । विशे० । ('दोकिरिय' शब्दे पतवमत)

अज्जोस-आर्य्यपोष-पुं० । पार्थिवतास्य द्वितीये गणधरे, स्था० ८ ग० । कल्प० ।

अज्जचंद्णा-आर्य्यचन्दना-स्त्री० । भगवतो महावीरस्य प्रथम- शिष्यायाम्, कल्प० । श्रा० श्रु० । श्रा० म० प्र० । अन्त० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्-

" इतश्च नगरी चम्पा नरेन्द्रो दधिवाहनः । तामादात् शतानीको, नैसिन्येन स्म गच्छति । २४ ॥ निशंकया गतश्चम्पा-मवेद्यदक्षिणिताम् । चम्पापतिः पशाघ्न, तदानीं दधिवाहनः । २५ ॥ यद्गृहाहो घोषितस्तत्र, शतानीकमहीशुआ । तदानीकमद्राक्ष्यां, स्वेच्छया मुमुक्षुस्ततः । २६ ॥ औष्टिकः कोऽपि जग्राह, दधिवाहनवज्रनाम । वसुमत्या समं पृथ्या, वदयन्तीं धारिणीं तदा । २७ ॥ कृतकृत्यः शतानीका, निजं नगरमागत । औष्टिकोऽप्याह शोकानां, पन्थेयां न भविष्यति । २८ ॥ विक्रमेयं कन्यकां चैतां, राज्ञी भुवेति नुःखिना । मृता हृदयसंघट्टात्, स्वशीलम्रशशङ्कया । २९ ॥ दधिवातोऽपिदोःश्या-स्तयुक्तं नोकमिदं मया । सुताऽथ रुदतीं तन, नीता संबोध्या बुद्धिभिः । ३० ॥ चतुष्यथेऽथ विक्रंते, दत्त्वा मूर्ध्नि नृणं धृताम् । कन्यामनन्यसामान्यां, हृद्वा भ्रेष्टी अनायतः । ३१ ॥ दधौ राज्ञः सुता कस्या-पीश्वरस्याथवा जनेव् ।

तन्माऽऽपदापदमसौ, कापि हीनकुलं गता ॥ ३३ ॥
 बात्रेयं स्वजनैर्जातु, मिलेदस्मत्पुत्रे स्थिता ।
 पर्याथितमथ रूपे, दत्त्वा तामप्रदंशिवनः ॥ ३३ ॥
 नीत्वा सा स्वग्रहं पुष्टा, कथं ? काऽसीति नावदत् ।
 सुतेत्यथ प्रपन्ना सा, श्रेष्ठिना मूलयाऽपि च ॥ ३४ ॥
 विश्वस्र स्वेच्छया श्रेष्ठिभेदे स्वे वंशमनीय सा ।
 सुयागुनिवयशीलाथ-गृहलोको यशोऽकृतः ॥ ३५ ॥
 स लोकास्तो तनोऽवादीतु, तैगुणध्वन्नेत्यसौ ।
 ततोऽपिनीयमैतन्नामाऽऽशुद्धिर्ध्यायश्चम ॥ ३६ ॥
 श्रेष्ठिभ्य-यदा मध्यमाह, श्रेष्ठी मन्दिरेमागमत् ।
 काऽप्यङ्किक्काहको नासत्, तदाऽऽदीकित चन्दना ॥ ३७ ॥
 श्रेष्ठिना चार्थमाणाऽपि, ब्रह्मादङ्गावयत् पदौ ।
 क्कावयत्यास्तदा तस्याः, वृदिता केशवह्वरी ॥ ३८ ॥
 पतन्ती पाणियथैव, कृत्वा श्रेष्ठो बबन्ध ताम् ।
 साऽर्चायां मा पतेद् भूमौ, मूलैकत गम्बज्या ॥ ३९ ॥
 अचिन्त्यततो मूला, मया कायं विशानितम् ।
 यदेतामुद्धरेत् श्रेष्ठो, तदाऽहं पतिता बहिः ॥ ४० ॥
 ध्याधियांक्सुकुमार-स्तावदेते दिनप्रथमम् ।
 गते श्रेष्ठिभ्यथाऽऽहूय, नापितं ताममुण्डयत् ॥ ४१ ॥
 निर्गम्यैवन्ध्रियत्वाऽऽश्रेष्ठो, किंसा कापि गृहाम्तरं ।
 श्रेष्ठिनोऽवारि कथयन्, सचेः परिजनेऽनया ॥ ४२ ॥
 मूला मूलगृहे ऽयासौ, भोक्तुं श्रेष्ठो गृहऽऽगतः ॥ ४३ ॥
 एव चन्दनेति प्रयत्नः, मूलाभितो न काऽऽप्यवक ॥ ४३ ॥
 सोऽज्ञासोऽदममाणा सा, भविष्यत्यथवापरि ।
 पुष्टा निययपि नाऽऽख्याता, हाने सुप्ता भविष्यति ॥ ४४ ॥
 त्रिनीयेऽप्यहं नादृशि, तृतीयऽप्यन्येव हृष्ये ताम् ।
 क्वच श्रेष्ठो न यो ज्ञाननाख्याता स हन्तिपुत्रम् ॥ ४५ ॥
 ततः स्थाविरया दास्ये-कया मज्जीविनेन सा ।
 जीवन्वित्यान्वभवेऽप्य, चन्दनावारकऽप्याय ॥ ४६ ॥
 ह्यदा तावक भङ्गत्वा, तदङ्गारमुदघाटयन् ।
 क्षुत्पुयासौ निरङ्कितेता-माश्वस्याथ घनावहः ॥ ४७ ॥
 पश्यन्, भोज्यं कृते तस्याः, नापश्यत् किंचनपि सः ।
 कुलमापान् दीप्य दत्त्वाऽऽस्ये, सृपंकोणं निधाय तान् ॥ ४८ ॥
 निगदानां भञ्जनाया-ऽगताकर्मोर्गृहं स्वयम् ।
 तदा सा कुलमस्मार्यीद, दुःखपूरणं दुःखिता ॥ ४९ ॥
 क मे राजकुलं तादृश, दुर्दशा कैयमोक्षिणी ? ।
 किं मया प्राक् कृतं कर्म, विपाकोऽयं यतोऽभवत् ? ॥ ५० ॥
 श्रीकृष्णि श्वासनस्यारि, तपसः पारश्यादितं ।
 साधर्मिकाणां वान्सन्धं, कृत्वा पारणकं व्यधाम ॥ ५१ ॥
 कस्याप्यदत्त्वा किमपि, पठं पारणकं कथम् ? ।
 अश्रमासीत्यतिधर्मोर्ग, पश्यन्त्याऽऽस्तेऽस्ति सा न तु ॥ ५२ ॥
 मय्येऽह्निमकं देहत्वाः, बहिष्कृत्या छिनीयकम् ।
 द्वारशास्त्राविलग्नऽऽस्ते, रुदती मन्दमुन्मना ॥ ५३ ॥
 तदाऽन्नागदगवान् वीरो, भिक्षार्थं तमवेपय सा ।
 अहो ! पात्रं मया प्राप्तं, किञ्छिन्नयुग्ं ममास्थयपि ॥ ५४ ॥
 नोचितं वः प्रभो ! देयं, परं कृत्वा रुपां मयि ।
 कल्पते चेदाददीतं, भ्रातृऽऽयाथोपना प्रभुः ॥ ५५ ॥
 पुण्योऽद्याभिप्रहं इति, पाणिपात्रमभारयत् ।
 कुलमापान् वदी वही सार्वां, धर्मं सत्वाऽतिभक्तः ॥ ५६ ॥
 साऽहंदादशकोऽप्यस्तु, पतन्त्यस्यैव तद्गृहं ।

बलात्सपः पुष्पगन्ध-हृष्टयो दुन्दुभिष्वनिः ॥४७॥
 केशपारास्तेयैवाभू-स्त्रिगडानि व पादयोः ।
 स्वर्णानुपुरतां भेत्तु-वेपु कान्तिनैवाऽभवत् ॥४८॥
 तत्तणागाब्धन्दना चके, सुदुरैः सर्वाङ्कमुपिता ।
 आययौ देवघाट शक्रः, प्रमोदभरनिर्भरः ॥४९॥
 दुन्दुभिष्वनिमाकर्ण्य, भ्रातृवा पारणकं प्रभोः ।
 शानतीकः सपत्नीको-ऽप्यागमदहनधर्मनि ॥५०॥
 घाट्यानांतः संपुलोऽभूद्, दृधिवहाहनकञ्चुकी ।
 सोऽप्यागात् तत्र तां वीचय, तदङ्कयोः प्रणियन्त्य च ॥५१॥
 मुककण्ठं वदन् सोऽथ, कैपत्यप्रच्छिन्न भूमुखा ? ।
 सोऽप्यवक च्मपेशपुत्रीयं, वसुमन्यभिधाननः ॥५२॥
 तादृश्यपि कथं प्रप्य-भावं प्राप्सिति रोहितम् ? ।
 मृगावती तदाकरण्यो-बोचन्मेऽसौ स्वसुः सुता ॥५३॥
 अमात्योऽपि सपत्नीक-स्तेनैस्त्वावन्दत् प्रभुम् ।
 पञ्चाहन्त्यनवरामास्याः, कृत्वा पारणकं प्रभुः ॥५४॥
 निययौ कनक युक्त्वा, भूपः शक्येण वारितः ।
 यस्मै दास्यत्यसौ स्वर्ण-मेतन्नस्य भविष्यति ॥५५॥
 सा पुष्टा मत्पितुः स्वर्णं, ततः श्रेष्ठो तदाददे ।
 शक्याऽभाणि राज्ञाऽथ, स गोप्या चन्दना त्वया ॥५६॥
 आश्वाभिधानमेया यन्, शिष्याऽऽता भावितौ प्रभोः ।
 चन्दनाऽस्याहृते गच्छ, शक्राटाः स्याद्वयं ययुः ॥५७॥
 लोकनिष्ठाऽञ्जणवल्गा, स्तुता चन्दनया पुनः ।
 दुर्दशैवं न चन्मे स्यात्, कथं स्यात्पारणा प्रभोः ? ॥५८॥
 धन्याऽहं कृतपुण्याऽहं, पारणाकारणात् प्रभोः ।
 बभूव दुर्दशाऽपीयं, मम सर्वोत्तमा दशा ॥ ५९ ॥ अ० क० ।
 स्यात् । अनर्थेव कालो-अनन्तं च यमो देवानन्दप्रभुनयः प्रवा-
 जितः । अ० ए० श० ३३ उ० । उपालम्बनं, दृश० १, अ० ।
 अञ्जनेपु-आर्य्यञ्ज-भू-पुं० । सुधर्मस्वामिन-शिष्यं, " अञ्ज-
 हम् अक्षवासी अञ्जनेपु जाव पञ्जनासति " अन्तः १ वमं ।
 अञ्जनिर्विषणु-आर्य्ययिक्षा-अ- । अरिधेयः प्रथमशि-
 प्यायाम, कल्प० ।
 अञ्जनेपु-आर्य्यञ्जयन्त-पुं० । आर्य्ययञ्जसन्स्य तृतीय शि-
 ष्य, कल्प० ।
 अञ्जनेपु-आर्य्यञ्जयन्ती-स्त्री० । स्थविरादाव्येयधारिणी-
 तायां शास्त्रायाम्, " धरेहितेनां अञ्जरेदहितेनां णं इत्य णे अ-
 ञ्जनेपुनां साहा णिगया " कल्प० । आर्य्यञ्जना-कर्मणोर्नां
 शास्त्रायां च । " धराश्रो अञ्जनेपुनां अञ्जनेपुनां साहा
 णिगया " । कल्प० ।
 अञ्जनीयपु (ह) र-आर्य्यजीतधर-पुं० । आर्य्यन्वर्धेयधर्मभ्यो-
 ऽर्वाग यान्मात्यं, जीनमित्ति मृत्रमुच्यते । जीनं, स्थितिः, कल्पः,
 मर्यादा, व्यवस्था, इति हि पठ्यायाः । मर्यादाकारणं च मृत्र-
 मुच्यते । ' भूष्य धारणं ' ध्रियते, धारयतीति या धरः । लिहादि-
 न्य इत्यञ्चुप्रत्ययः । आर्य्यजीनस्य धर आर्य्यजीनधरः । मृत्र-
 समग्रं, आर्य्यक्षासौ जीतधरः । आर्य्यगोत्रं शागिडव्यदिष्यं
 जीतधरनामकं मूरी, " वंदं कान्तिरयुग्ं, मन्दिञ्ज अञ्जनीयधरं "
 इत्यत्राऽऽर्य्यजीतधरशब्दस्य प्रदक्षितार्थव्यपश्यतया व्याख्या-
 नात् । नं० ।

अञ्जण-अनेन-न० । अर्जे-च्युद । प्रदणे, विणे० ।

आव० । सम्पादने, स्वामित्वसंपादकं व्यापारभेदे च । वाच० ।
अज्जणकखच-आर्यनकृत्र-पुं० आर्यनकृत्र शिष्ये, कल्प० ।

अज्जणरहित-आर्यनन्दिल-पुं० आर्यनन्दिलः शिष्ये आर्यना-
महस्तिगुरौ,

नागार्थिम् दंसणम्मि य, तव विणायणरुचकालमुज्जुत्तं ।

अज्ञानदिल्लवमणां, सिरसा वंदे य संतपणां ॥

आर्यमङ्गोरपि शिष्यमार्थनन्दिलकृपणं प्रमत्तमनसं शर्मरि-
द्विष्टान्तःकरणं शिरसा वन्दे । कथं नूतमियाह-होन धुतङ्गा-
नदशेन, सम्यक्च, चराध्याम्भादित्रे च, तथा नपसि यथायो-
गमनशानादिरूपे, विनये ज्ञानविनयादिरूपे, नित्यकालमुपयुक्तप्र-
मादिनये । न० । अनेनैवाथमन्दिलेन धरणेन्द्रपन्थ्या नागस्त्रया
‘नमिज्जण चि’ शब्दादि स्तोत्रं कृतम् । जै० इ० ।

अज्जणगइल्ल-आर्यनागिद्वी-पुं० आर्यवज्जसेनस्य प्रथमेऽन्ते-
वासिनि, कल्प० ।

अज्जणगइल्ला-आर्यनागिद्वी-स्त्री०। अर्यवज्जसेनागिद्वी-
गितायां शास्त्राद्याम्, “ धराश्रो अज्जणगइल्लाश्रो अज्जणगइल्ला सा-
दा णिग्गया ” कल्प० ।

अज्जणगइल्लो-आर्यनागिद्वी-स्त्री० । आर्यवज्जसेनाश्रिगतायां
शास्त्राद्याम्, “ धरंहितो अज्जवहरसेणिएहिता इथयं अज्ज-
णगइल्लो सादा णिग्गया ” कल्प० ।

अज्जणित्ता-अर्जेयित्ता-अव्य० उपादायत्यर्थे, “ एतन् दुक्खं
भवमज्जणित्ता, वेदंति उक्खी तमणं उक्खं ” सूत्र० १ अ० ५
अ० २ उ० ।

अज्जणत्तवम-आर्यतापम-पुं० आर्यवज्जसेनस्य चतुर्थेऽन्तेवा-
सिनि, कल्प० ।

अज्जतावसी-आर्यतापमी-स्त्री० । आर्यतापसाक्षिःसुतायां
शास्त्राद्याम्, “ धराश्रो अज्जतावसाश्रो अज्जतावसी सादा णि-
ग्गया ” कल्प० ।

अज्जत्ता-अद्यता-स्त्री० । वनेमानकालतायाम्, “ अज्जका-
लिना अज्जत्ताया वा ” कल्प० ।

आर्य्यता-स्त्री० । पापकर्मधार्यैर्भूततायाम्, “ जे इमे अज्जताए
खमणा णिग्गया विहरति ” अष्ट० २ अष्ट० कल्प० । अ० ।

अज्जणुत्तमभे-आर्य्येषूत्तमभे-पुं० आर्य्यसे नूतविजयस्य शि-
ष्ये मद्धार्यागुरुमुहस्तिनेगुरौ, कल्प० । आद्य० ।

अज्जणुदिस-आर्य्यदूत्त-पुं० । पादर्थनाथस्य प्रथमगणधरे, स० ।
“ पाससत अज्जादेणो पढमो अठव गणहरा ” ति० । इन्दु-
त्तस्य कायपणोपस्य शिष्ये च । तस्य शान्तिश्रेणिकः सिह-
गिरिश्च । कल्प० ।

अज्जणुदिस-आर्य्यदूत्त-पुं० आर्य्यदूत्तनामि वीरशिष्ये, (‘अद्य’
शब्दे कथा वास्य) सूत्र० २ अ० ६ अ० ।

अज्जधम्म-आर्य्यधे-पुं० आर्य्यमङ्गैः शिष्ये त्रुत्तगुरौ, “ वं-
वामि अज्जधम्मं, तत्सो वंदे य जह्णुत्ते य ” न० । आर्य्यसिंहस्य
शिष्ये आर्य्यशासित्त्वस्य गुरौ, कल्प० ।

अज्जपत्तम-आर्य्यपत्त-पुं० आर्य्यवज्जस्य शिष्ये द्वितीये, कल्प० ।

अज्जपत्तमा-आर्य्यपत्ता-स्त्री० आर्य्यपत्ता चिनिःसृतायां शा-

खायाम्, “ धरंहितो अज्जपत्तमहितो इथयं अज्जपत्तमा सादा
णिग्गया ” कल्प० ।

अज्जपुंगुत्त-आर्य्यपुङ्गुत्त-पुं० । बौक्करिभाषितेयु बाह्यार्थानावात्त
केवलतुक्क्याःस्यु अर्थेयु, अने० ४ अर्थि० ।

अज्जपुसगिरि-आर्य्यपुष्पगिरि-पुं० आर्य्यरथस्य शिष्ये, कल्प० ।

अज्जपोमिल-आर्य्यपोमिल-पुं० आर्य्यवज्जसेनस्य द्वितीये शि-
ष्ये, कल्प० ।

अज्जपोमिल-आर्य्यपोमिल-स्त्री० । आर्य्यपोमिलानिगताया
शाखायाम्, “ धराश्रो अज्जपोमिलो अज्जपोमिला सादा णि-
ग्गया ” कल्प० ।

अज्जपुभव-आर्य्यपुभव-पुं० । आर्य्यजम्भनाम्नः काहयपणोत्र-
स्य शिष्ये, कल्प० । (‘पभव’ शब्दे वक्तव्यता वास्य)

अज्जप्पनिद-अद्यपत्तुति-अव्य० । इतो वसैसावदिनादार-
ज्यत्यर्थे, “ सो खहु अंत । कल्पए, अज्जप्पनिद अद्यवत्थियां
वा ” उपा० १ अ० प्रीति० ।

अज्जफग्गुमित्त-आर्य्यफग्गुमित्त-पुं० । आर्य्यपुष्पगिरिः शिष्ये
आर्य्यधनानेपुंगुरौ, कल्प० ।

अज्जम (ण)-अर्य्यमन्-पुं० अर्य्यं श्रेष्ठं मिमीते । मा-कनिन् ।
मूर्धं, आदिज्येदे, गितुणां राजनि, वाच० । अयंमनामके देव-
विशेष, जे० ७ वक्त्र० । अन्तु । उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रव्यायामा दि-
वनेति । ज्यो० ६ पाह० । अथमदेवोपक्रुति उत्तरफाल्गुनीन-
क्षत्रे, ज्यो० १५ पाह० । ख० प्र० । सू० प्र० । ग० । “ दो अज्ज-
मा ” स्थानं २ पा० ३० ।

अज्जमंगु-आर्य्यमङ्गु-पुं० । आर्य्यसमुच्चस्य शिष्ये,
भूणमं करणं ऊणमं, पभावमं णाएदंसणुणाणं ।

वंदामि अज्जमंगं, सुयसागरपारमं धीरं । ३० ॥

जणमिस्यादि । आर्य्यसमुच्चस्यापि शिष्यमार्थं भुङ्क्ते । किन्तु-
तमित्याह-नेणकं कालिकादिस्तुभामनवरत्नं भणति प्रतिपाद-
यतीति भणः, भण एव भणकः । “कथं” इति प्राकृतकृष्णसू-
त्रात् स्वार्थे कप्रत्ययः, तम । तथा कारकं कालिकादिस्तुभोक्तमेवा-
पधिप्रत्ययेकृष्णादिकृष्णिकाकार्त्वापे करोति कारयतीति वा कार-
कः, तम । तथा प्रभेभ्यानं ध्यायतीति ध्याता . न ध्यातारम् ।
इह यथापि सामान्यतः कारकविशेषेन ध्यातारमिति वि-
शेषणं गतार्थम्, तथापि तस्य विशेषतोऽभिधानं ध्यानस्य प्रधा-
नपरलोकाङ्कताख्यापनार्थमिति । यत् एव जणकं कारकं ध्यातारं
वा, अत एव प्रभाषकम् । ज्ञानदेशेनगुणानाम्, पकमहणे तज्जाती-
यग्रहणमिति न्यायात् चरणगुणानामपि परिग्रहः । तथा धिया
राजत इति धीरः, तम । तथा श्रुतसागरपारमं । न० । “तेन प्र-
माद्वानिलोभोतो यक्त्वं नाधासम् ” ध० २० ।

इह अज्जमंगुसुरी, ससमवयरसमयकणयकसवहे ।
बहुभाषित्तुत्तसुस्त्-ससिस्ससुत्तत्थदणणे ॥ १ ॥

सज्जम्भदसणाए, पमिबोहियज्जियेयत्थेयत्थोहो ।
कड्या वि विहारणं, पत्ता महराद नयरीए ॥ २ ॥

सो गटपमयापिसाय-गहियहियेया विमुक्कतववरणो ।
गारवतिगपकिञ्चो, सत्तुत्त मसत्तुत्ता ॥ ३ ॥

अणववरवभत्तत्तपि-ज्जानाएकदरत्तवत्थेयेण ।
सुत्था तहि चिय चिरं, दुणज्जयउज्जुयविहारो ॥ ४ ॥

दइसिदिल्लयसाम्भो, निस्सामभं पमायमचइत्ता ।
 कालेष मरिय जाओ, जक्को तथेष निदमणे ॥ ४ ॥
 मुणिसं नियमाणेणं, पुब्बजन्वं तो विचित्तए पयं ।
 हा हा पाबेष मप, पमायसयसत्थिक्खेणु ॥ ६ ॥
 पक्किपुब्बपुब्बममं, हागबहदरं महानिहाणं व ।
 सक्कं पि जिनमयमिणं, कहुं तु विदइत्तमुपणीयं ? ॥ ७ ॥
 माणुस्सक्खित्तजार्हं-पमुइं अदं पि धम्मसाममिं ।
 हा हा पमायजठं, इत्तो कत्तो लहिस्सामिं ? ॥ ८ ॥
 हा जीव ! पाव तइया, इधुरिस्सगारवाण विरस्सं ।
 सुत्तयजाणणेण, वि, इयासन्नु लक्खिअयं तइया ॥ ९ ॥
 अउत्तपुब्बधरा वि हु, पमायओ अति णंतकापत्तु ।
 पयं पि इ हा हा पा-वं जीवनत्त तया सखियं ॥ १० ॥
 थिअं मइसुहमत्तं, थिअं गारवपमायपडियमं ।
 थिअं परोपपत्त-व्यहाणपक्किस्सवमज्जंतं ॥ ११ ॥
 एवं पमायउत्थिल्ल-सियं नियं जायपपरमनिव्हेओ ।
 निदंतो दिवसाइं, गमेइं सओ गुणक्खित्तु व्व ॥ १२ ॥
 अइ तेण पपेसेणं, विचारपुत्तमीइं गच्छमाणो ते ।
 दण्ण नियविशेण, तेसिं पक्किवहणनिमित्तं ॥ १३ ॥
 जक्कपभिमामुहाओ, इहीं निस्सारिअं जिमो जीइं ।
 तं च पओइय मुणियो, आसओहीउं अइ यतिं ॥ १४ ॥
 जो कोइ इत्थं देवो, जक्कओ रक्खो व किनरो वा वि ।
 सो पयमं चिय पणजउ, न किपि पयं वयं मुणिमो ॥ १५ ॥
 तो सविस्सायं जक्कओ, जपइ ओ भो तो वस्सिणो ! सोहं ।
 सुहं गुरु किरियाय, सुपमत्तो अज्जमंगु सि ॥ १६ ॥
 तइइ दि वि पडिअणिय, विस्सअहिउपडिं हा सुयनिहाण ! ।
 किह देव ! तुमाइमिमं, पत्तोसि अहो ! महच्छरियं ॥ १७ ॥
 जक्कओ वि अइ न इमं, बुक्कं इइ साणुणो महाभागा ! ।
 एस च्चिवय होइ गई, पमायवससिदिल्लचरणणं ॥ १८ ॥
 ओसक्खविहारीणं, इधुरिस्ससयागारवगुरुणं ।
 उम्मकसाहुकिरिया—नराण अमहारिसाण कुनं ॥ १९ ॥
 इय मज्ज कुद्वत्तं, भो भो मुणियो ! वियाणंत्तं सम्मं ।
 जइ सुगइए कज्जं, जइ षीया कुगइममाणो ॥ २० ॥
 ता गयसयलपमाया, विहारकरउत्तुया चरणजुत्ता ।
 गारवरहिया अममा, होह सया तिअत्तवकलिया ॥ २१ ॥
 भो भो देवाणुणियं !, सम्मं पक्किवोइया तए अग्गे ।
 इय जपिय ते मुणियो, पक्किवओ संजजुओषो ॥ २२ ॥
 इति खुरिरायंमहु—मैहूअफलमअत प्रमादवशात् ।
 तथतयः शुभमतयः !, सदांघटा प्रवत् चरणजेर ॥ २३ ॥
 (इत्यायंमहुकथा) दशं० । तां० आ० चू० । नि० चू० ॥
 अज्जमंगु—आर्यमणक—जुं० श्रीशय्यन्नवसुविपुजं ,
 वडिं मासेइं अहिअं, अज्जयणमिणं तु अज्जमणगेणं ।
 उम्माता परियाओ, अइ कालगओ समाहीए ॥ ३९ ॥
 पइमिमंलैरअंत्तं पठितमभ्ययनमं नु अथीयत्त इत्थय्यनम,
 इदं च दशवैकालिकाथयं हाअम । कनाधीतमित्थाह-आर्यमण-
 कं जावाराधनयोगात्, आरादं यातः सर्वहैयमैभ्य इत्यायः
 आर्यभार्या मणकश्चेत् विप्रदः । तेन परमासाः पर्याय
 इति, तस्यायैमणकस्य परमासा एव प्रख्याकालः, अ-
 एवजितित्वात् । अत एवाह-अथ कालगतः समाधिनेति यथा-
 कशाआभ्ययनपर्यायानन्तरं कालगतः । आगमोक्तेन विधिना

मृतः, समाधिना ह्यमहेइयाप्यानयोगेनेति गाथायः । अत्र चैवं
 वृत्त्वाद्—यथा तेनेतावता धृतेनाराधितम्, एवमन्येऽप्येतदा-
 राधनाद्युद्यतं आराधका भवन्ति ।
 आर्योदंअमुपायं, कासं सिज्जंजवा तइं येरा ।
 जसभइस य पुब्बा, कट्ठाया अ विआहाणामं ॥ ४० ॥
 आनदाभुपातमहो ! आराधितमनेनेते ह्यौष्ठमोक्ताणकपायुः
 कृतवन्तः, शय्यमज्जयाः प्रागुच्यारयित्तसकपाः । तत्र तस्मिन् कास-
 गते स्थविराः श्रुतपर्योयवृकाः प्रवचनगुरवः । पूजायं बहुवच-
 नमिति । यशोत्रदस्य च शय्यमभवप्रधानशय्यस्य गुरुंभुपातद-
 शेनेन किमेतदाश्चयैमिति विस्मितस्य सतः पूजा-भगवत्-
 किमेतदकृतपूर्वमियंयंभूता । कथना च भगवतः—संसारकोह ई-
 शः स्तोत्रो ममायमित्येवंरुपा । चशुदादनुतापअथशोभकार्त्तना-
 थ-अहो ! गुराविव गुरुकृत्, वचित्तव्यमितिन, न तत् कृमिदमसा-
 भिरित्युक्तप्रतिबन्धावपरिहायं यथा न कथितं, नात्र जयतो
 देवो गुरुपतिस्स्थापनं च विचारणासह इति शय्यमज्जेना-
 ज्यायुषमनमवेत्य मयेदं वार्षं निव्वुदं किमत्र युक्तमिति निवेदि-
 त् विचारणासह कासहसदां पातुं प्रभुतसत्त्वानिमिदंमेषोकारक-
 मतस्तिष्ठत्येतदित्येवजुता स्थापना वेति गाथायः ।
 अज्जमहागिरि—आर्यमहागिरि—पुं० । आर्यस्सुहृत्तमच्छय पेसा-
 पत्तसगोत्रं शिष्ये, नं० । अयञ्ज जितकल्पिकवउत्तुविदाराः रा-
 जपिण्णोपभोजिन आर्यसुहृत्तिनः स्वशुशिक्षिष्यादपि सनः वि-
 संभोगमुत्पाद्य पृथमाच्छं कृत्वा विजहार । तदाप्रनृत्येव गच्छ-
 पृथक्त्वमासीत् । ('संभोग' शब्दे चैतद् वक्ष्यामि)
 अज्जगक्ख—आर्यरत्त—पुं० । आर्यमन्त्रकृत्स्य शिष्ये, 'यसस्य णं अ-
 ज्जकृत्तस्य कासवगुणस्य अज्जकृत्तस्य इत्येवं अनेनादि । कासव-
 गोत्तं' अयं रक्षितायाद् भिक्षोऽग्निशो वेत्यत्र कल्पसुत्रमुपेधांशिका-
 टीकाकृतान् विप्रतिपत्तयः—' धरं अज्जगक्ख ति' अहो ! वन
 किरणावली कारस्य बहुश्रुतप्रसिद्धिभाजोऽप्यनाभोगवित्तमितम,
 यतो येन श्रीतोसत्तिपुत्राचार्याशय्याः श्रीवज्रस्वामिपाश्वेऽधित-
 स्वाधिकनवपूर्वा नाम्ना च श्रीश्रीभार्यैरक्षितोस्ते निन्नाः, एते च
 श्रीवज्रस्वामिन्यः शिष्यप्रशिष्यादिगणनया नवमस्थानभाविनो
 नाम्ना चार्यैरक्षा इत्येवमनयोरायैरक्षितार्यैरक्षयोः स्फुटं ज्ञेयं
 विस्मृत्याऽऽर्यैरक्ष्यानि आर्यैरक्षितव्यजिकरं क्षितित्वात् । कएण० ।
 अउजराक्खिय—आर्यैरक्षित—पुं० । सोमदेवपिज्जेन रुक्मोमायां
 प्राययामुत्पादिने तोसत्तिपुत्राचार्याशिष्ये वज्रस्वामिसमोऽधी-
 तस्वाधिकनवपूर्वं स्थावरभेदः, ' वंदाभि अज्जगक्खिय, खमण
 रक्खिय चरित्तसव्वमं । रय्यकरं रग्गओ, अणुगोओ रक्खि-
 ओ जइं' ॥ ॥ नं० । तदुत्पत्तिस्त्वयम्—
 " माया य रुक्मोमा, पिअ य नामेण सोमदेवु सि ।
 प्राया य फग्गुरक्खिय, तोसत्तिपुत्ता य अय्यरिअ ॥ २४ ॥
 निज्जमणभइरुत्तं, धोसुं पणं च तत्स पणायोसि' ॥ २५ ॥
 पज्जाविओ अ माया, रक्खिअमणोहं जणओसि' ॥ २६ ॥
 "आस्ते पुरं दशपुरं, सारं द्वादिशाविव ।
 सोमदेवो द्विजस्त्वत्र, रुक्मोमा च तंप्रिया ॥ १ ॥
 तस्यायंगदितः स्रुतयुजः फल्गुसितः' ।
 (दशपुरंगोत्तः 'दसउर' शब्धं कृष्टया) भा० क० ।
 उत्पन्नो रक्षितस्त्वत्र, शाखं यावदच्युपितुः ।
 तत्रैवाधीर्वातस्ताव-दथागात् पाटलापुरम् ॥ ७६ ॥

चतुर्दशापि तथासौ, विद्यास्थानान्यधीतवान् ।
 अथागच्छद्दशपुरं, राजाऽग्राहयत् संसुक्चम् ॥ ७७ ॥
 उत्तमिमतपताकऽपि, अद्भ्योति ब्राह्मणैः स्तुतः ।
 अघ्निरुदः करिस्कन्धे, प्रविशेशोत्सवेन सः ॥ ७८ ॥
 स्वग्रुहं बाह्यालान्यां, सित्योत्तं लोकाधिपमहोत्तम् ।
 पुरोधसः स्तुतिरिति, न वा केः कैरपुत्र्यतः ? ॥ ७९ ॥
 सुयणैरलवस्थापै-स्वदग्रुहं प्राप्नुवन्मृतम् ।
 अधानम्रैषेनं गत्वा, जननीमन्यथावाद्यत् ॥ ८० ॥
 वत्स ! स्वागतमित्युक्त्वा, मध्यस्थेव स्थिता प्रवृत्तः ।
 सोऽवद्यत् किं न ते मात- स्तुष्टिर्मेद्विद्याऽऽजवत् ? ॥ ८१ ॥
 सत्त्वानां बधदृष्टत्सा-ऽधीते बह्वपि पापान्ते ।
 नृप्याम्यहं दृष्टिवारं, पठित्वा वेत्तवमागमः ॥ ८२ ॥
 स दध्यौ तमधीत्याम्बां, तोष्ये किं ममापरैः ? ।
 दृष्टिवादस्य नामापि, तावदाह्वयव्यसम् ॥ ८३ ॥
 अस्य काष्यापका मानः !, साऽऽस्यविश्रुष्टेह निजे ।
 सन्ति तोसत्रिपुत्राख्याः, आचार्याः श्वेतवाससः ॥ ८४ ॥
 तं प्रगोऽभ्येतुमारप्ये, मातर्मैवाधृतिं हृद्याः ।
 अघोऽथाय प्रभातेऽपि, नयाऽऽर्थां प्रतिधत्तः सुधीः ॥ ८५ ॥
 रक्षितं द्रष्टुमागच्छत्, प्रामात्रियसुहृदिपुनः ।
 नवैक्यष्टिका सार्काः, विघ्नमामनुन्वहेतयं ॥ ८६ ॥
 पुम्नं प्रेक्ष्य सोऽप्राक्रीत, करुणं भोः ! रक्षितोऽस्यदृष्टम् ।
 तमयात्रिकेषु सन्नेह-सुखे त्वां द्रष्टुमागमम् ॥ ८७ ॥
 सोऽवद्याम्यहं कार्या-ध्यायान्, शकलं दशमस्य तु ।
 रक्षितः प्रैकतादौ मा-मिति मानुनिवदधेः ॥ ८८ ॥
 तेन मत्कथितं गत्वा, माता दध्याविदुं ततः ।
 नवपुत्राणि सार्कानि, मत्पुत्रोऽध्येष्यते स्फुटम् ॥ ८९ ॥
 सोऽपि दध्यौ नवाऽध्यायान्, शकलं दशमस्य तु ।
 अध्येष्ये दृष्टिवादस्य, ज्ञापयते शकुनादतः ॥ ९० ॥
 ततः सक्तुग्रुहं यातो, दध्यौ ध्यामि किमह्वयत् ? ।
 पतद्गन्तव्यं केनापि, समं गत्वा नमामि तान् ॥ ९१ ॥
 इति यावद् बहिः सोऽस्वाद्यत्, तावदाग्राह्याभ्रयम् ।
 दहुरभावको गाढः, व्यधाशैवाधिकीत्रयम् ॥ ९२ ॥
 ईयादिबद्धं सर्वं, स चकार स्वरस्वस्वम् ।
 अनुगस्तस्य तत्सर्वं, मेधाघो सोऽपि निरमे ॥ ९३ ॥
 आर्त्तानवादि तेनेति, ज्ञानो नश्यः स सूरिमिः ।
 पुत्रोऽयं भोः ! कुतो धर्मा-ऽऽसिस्ते सोऽऽर्त्तविक्रिः ॥ ९४ ॥
 साधुभिः कथितं पुत्र्याः !, रक्षितः आधिकानुतः ।
 ह्यः प्रवशोऽभवत्स्य, विदुर्मैत्रं ब्रह्मीयतः ॥ ९५ ॥
 आचार्याः साहुरस्माकं, दीक्षायाऽधीष्यते हि सः ।
 परिपाठ्या च सोऽवादी-दृष्ट्वेवं नादमुक्त्वाः ॥ ९६ ॥
 किं त्वत्र स्वाद्य मे पुत्र्याः !, प्रमज्या यनूपदायः ।
 बलामां मोक्षययुस्तं, यामां देष्ट्यात्तर ततः ॥ ९७ ॥
 अथाऽऽस्यदृष्टितस्तेषां, जनन्या प्रेषितः प्रजे ! ।
 युष्माकं संनिधौ दृष्टि-वादमथ्येतुयानामम् ॥ ९८ ॥
 सोऽदीदृश्यत तथा कृत्वा, पाठ्याऽसौ शिष्यचैरिका ।
 तेनपिकादाशाङ्गानि, पठितान्यविरादपि ॥ ९९ ॥
 दृष्टिवादां मुनेः पाम्बे, योऽनृत्तमपि सोऽपठत् ।
 सोऽध्याभ्येतुं दृष्टापि, यज्ञस्याम्पन्तिकंऽचलत् ॥ १०० ॥
 याते तेनान्तरांशे च, भीमद्रुष्टतस्वतः ।
 अधन्यां वन्दितास्तैः स, धन्य इत्युपबृंहितः ॥ १०१ ॥
 वैदकं मम नियोगं, नास्त्यन्यस्येवं ततो जय ।

स तत्रप्रतिब्रूणोति स्म, नोद्वहृष्यं गुरुशासनम् ॥ १०२ ॥
 कालं कुर्वन्निश्चिन्ते तैः भो वात्सवीधुञ्जसिर्षी ।
 वसेद्यस्यैः स्वैकाम-पुत्र्यां तैः सह तन्मृतिः ॥ १०३ ॥
 पठंमिहाभ्रयस्थसत्-सद्योति स्वीचकार सः ।
 तेषां स्वर्गमेन सोऽभात्, श्रीवज्रस्यामिसंनिधौ ॥ १०४ ॥
 दृष्टव्यं तेषां स्वल्पः, किञ्चित् किन्तुदुर्गतयः ।
 सावशेषभुवत्प्राही, तत्रपतिञ्च समेष्यति ॥ १०५ ॥
 इति यावद्विस्मृत् तैः, रक्षितस्तावदागतः ।
 पृष्टस्तोसत्रिपुत्राणां, किं शिष्याऽऽस्म्यार्यरक्षितः ॥ १०६ ॥
 एवमुक्तेऽवद्यद्गङ्गा, स्वागतं तव वत्स ! किम् ? ।
 कश्चित्तोऽसि बहिः स्वामिन् !, बहिः स्थोऽध्येष्यसे कथम् ? ॥ १०७ ॥
 स कञ्च भगवद् ! मद्-शुभाऽऽद्याहृष्टिः स्थितः ।
 यज्ञस्याम्युपयुज्योषे, शुकलं युक्तमाचर ॥ १०८ ॥
 ततोऽप्यनु प्रवृत्तां ह्यङ्क, नव पुत्रोऽप्यधीतवान् ।
 प्रारेभे दशमं पूर्व-मायवज्रस्ततोऽभजत् ॥ १०९ ॥
 यथिकानि त्रिशत्युक्त-परिक्रमसमायुहो ! ।
 पत्राऽऽदी जितनस्यवानि, कष्टानान्येव सोऽपठत् ॥ ११० ॥
 इतस्तन्मातापितरौ, शोकासांभितिं दृष्यतुः ।
 वदुयोने कर्तुमिष्टे च-वन्धकारात्तरं हृदः ॥ १११ ॥
 यज्ञव्यथापि नः पुत्रोऽ-धाहृतोऽप्यागमेषु सः ।
 अथानुजं तमाह्वतुं, प्रहृष्टं फलसुखकृतम् ॥ ११२ ॥
 सोऽऽन्यथाह्वान्तराज्यं, वतार्यां ते जनोऽस्त्रिजः ।
 स ऊचं सत्यमतच्छे-त्तस्वमादौ परित्रज ॥ ११३ ॥
 लग्नः प्रमज्य सोऽभ्येतु-मधीयन् रक्षितोऽप्रतः ।
 यथिकैर्पुत्रिणोऽप्राक्रीत, शोचमस्य कियतमः ! ? ॥ ११४ ॥
 स्वाम्युक्ते सर्वेपे भेरा-विन्दुमन्धेस्वमप्रहो ! ।
 ततो दध्यौ विषयात्मा, ह्युप्रापं पापस्य मे ॥ ११५ ॥
 अथापृच्छज्यभो ! याभि, ज्ञातः मामाह्वययत्सम् ।
 आहृष्टेऽधीष्व तस्यथा, पीनःपुत्रेण पृच्छतः ॥ ११६ ॥
 उपयुज्य शुकलैः, पूर्वं स्थास्यत्यदो मयि ।
 व्यसृज्यतं दशपुरं, सातुजः सोऽयं जमिवाद् ॥ ११७ ॥
 यज्ञस्वामी तु याति स्म, विहरन् दक्षिणपथम् ।
 शंभ्यात्सोऽऽनाथितं बुरगी-मेकदा श्रवणे न्यधात् ॥ ११८ ॥
 मुले केश्यामि नृकुञ्चित, भोजनान्ते स्मृतः न सा ।
 विकारं च प्रतिक्वाम्नी, मुखपातीहताऽपठत् ॥ ११९ ॥
 उपयोगाद्यं ज्ञान-माः ! प्रमादोऽपि केशुः स्मृतिः ।
 प्रमादं संयमा नास्ति, युज्यतेऽनशनं ततः ॥ १२० ॥
 हृदशाब्धं च ह्यभिर्कं, तदा सन्नबहाः पथाः ।
 विद्यापिण्डं तदानीय, यज्ञः साहूनभोजयन् ॥ १२१ ॥
 अघोचं तन्न भिक्षासंति, विद्यापिण्डेन वचनम् ।
 ऊचुस्ते व्रतदान्या किं, कियतेऽनशनं न भोः ! ? ॥ १२२ ॥
 यज्ञसतोऽन्तिष्वृ ह्याया, प्राक् प्रेषीयतुशित्ये तु ।
 यत्र त्वं बभसे भिक्षां, अज्ञात्वात्तदा मुनि ! ॥ १२३ ॥
 गतं ह्यभिर्कमित्येत-द्विज्ञाया स्थानमाचरः ।
 यज्ञस्वामी पुनर्भक्तं, विभोक्तुं सपरिच्छदः ॥ १२४ ॥
 लघुः कुलक एकस्तु, तिष्ठत्युक्तेऽपि साधुभिः ।
 नाथ्यादाक्याय भयानः-रथ व्यासोऽहं तवः ॥ १२५ ॥
 शैलमकमथाकृत्य, कुलकोऽप्यनु तत्पदैः ।
 नितम्बे तद्विरेः स्थित्वा, पादपंगमं व्यधात् ॥ १२६ ॥
 तापेन तु कृणमिष, विज्ञीय धां स जमिवात् ।

सुरैस्तन्महिमा चक्रे, किमिदं मुनयोऽवदन् ? ॥ १२७ ॥
 आचक्षुर्गुरवस्तेषां, कुहः स्वार्थमसाधयत् ।
 ऊचुस्ते दुष्करं तर्हि, मास्माकं स्वायंसाधयन् ॥ १२७ ॥
 मयनीकाऽमरी तत्र, श्राविका रूपज्ञा मुनीन् ।
 मयन्वयद्रूपकपतिः, पापेण किन्नामिति ॥ १२६ ॥
 मयनीकेति तां ज्ञात्वा, गुरवोऽयं गिरिं ययुः ।
 काप्योत्सर्गमधिगच्छे, चक्रः साऽसायत्तानवदुः ॥ १३० ॥
 पूज्याः सन्तु सुखेनात्र, ततस्तत्र समाधिना ।
 चक्रुः कालं रथेनैव, शक्रस्तानमत् ततः ॥ १३१ ॥
 मद्रक्षिणां रथस्थोऽदा-दुक्तादीनप्यनामयत् ।
 ते तथेषाद्युराद्रिः स, तदद्यावत् इत्ययुः ॥ १३२ ॥
 (तस्मिन् जगवन्ते अद्वैतारायं दसपुत्रा वाञ्छिन्वा । आ० म० द्वि०)
 बज्रसेनस्तु यः प्रिय, स सांपारं पुरं गतः ।
 पात्यमादाय लक्षणा-ऽयाकीलभम्बरी तदा ॥ १३३ ॥
 दृष्यो चात्र विषं किंपवा, स्मृत्वा पञ्चनमस्कृतम् ।
 स्वः समाधिना काष्ठ-मितं तत्रपुत्रा कृत्स्नम् ॥ १३४ ॥
 स चागात्तदगृहे साधु-स्तेन तं प्रतिलाज्य सा ।
 स्वमाथ्याब्धिन्तितं तस्य, सोऽवयोऽन्मा कृथा वदम् ॥ १३४ ॥
 यत्र लक्षाभिसाऽऽसिः, स्यात्तत्राऽऽयुः सुनिस्तता ।
 यत्रस्वामीदमुचं मां, नान्यथा भावि कृत्स्नम् ॥ १३६ ॥
 तपहुलानां तदैवात-धोतास्तत्र समागमन् ।
 सुनिक्तं सहसा जातं, कुदुष्यं प्रत्ययोधि तत् ॥ १३७ ॥
 बन्धनानोरुविद्याज्ञ-दुस्तुः स ममोऽभ्यरतः ।
 अर्दीक्ष्य च्छसेन-स्तेऽप्योऽऽयुः प्रजसन्ततिः ॥ १३८ ॥
 इतश्च रक्षित्वाचार्यैः, गतेदशपुरं तदा ।
 प्रप्राप्य स्वजानां सर्वान्, सोऽज्यं प्रकटीकृतम् ॥ १३६ ॥
 स्नेहात् पिताऽपि तैः साह-मातेस्तं गृह्णति तद् प्रतप्तम् ।
 श्लेते सुनास्तुवादीनां, पुरो नावसरत्संप ॥ १४० ॥
 उकः पुत्रेण सोऽवादीत्, प्रमादिष्यात्यर्थं परम् ।
 उपानकुशिककाच्छत्र-वस्त्रयुग्मोपवीनजित् ॥ १४१ ॥
 द्वाद्विं पितुराचार्योः, प्रपद्यमपि व्रतम् ।
 स च तपालयामास, ब्रह्मवेत्तु नामुचत् ॥ १४२ ॥
 अथोक्तुः दिाकिता मिन्नाः, सर्वान् यन्नामहं मुनीन् ।
 मुक्त्वा उग्रिणमेकं तु, तत्पराभवतोऽय सः ॥ १४३ ॥
 ऊचे पुत्रेण पुत्राऽलं, गुरुष्णाह साप्रतम् ।
 नापे दद्याः पटीं मौला-धेवं सर्वोद्यमोच्यत ॥ १४४ ॥
 अन्यदोपमते साधी, साधवाः पूर्वेसंज्ञिताः ।
 अहंपूर्विकया योदुं, गुरुस्त्वमुपास्थिताः ॥ १४५ ॥
 स्वाविरोऽप्युचिवात् पुत्रां, धैर्यभेत्तदहास्यधम् ।
 गुप्तः स्नाहोपसंगेः स्यात्, स सहो मेऽप्यथा किति ॥ १४६ ॥
 तत्रोक्तिरे स संधानां, गच्छतां पथि श्रमकेः ।
 कर्त्तव्यं कृतेऽप्यस्यात्, तूर्णो माऽनृदुः मुनेः किति ॥ १४७ ॥
 साधुभिश्च तदैवास्वयं, बह्व्योऽलपटः पुरः ।
 अथाऽऽगतानां गुरुकं, शतकालानयेनवदन् ॥ १४८ ॥
 द्रष्टव्यं दृष्टमेवदं, स्यात्सोऽलपट एव तत् ।
 पितुर्निष्ठादनाथे च, गुरुः साधुर्होऽन्यथात् ॥ १४९ ॥
 भिक्षामानीय भुञ्जीष्यं, मा स दत्तं पितुर्मेम ।
 प्रक्षिः कार्या पितुर्मेचत्, साक्षाद्भुक्तवा मुनीमिति ॥ १५० ॥
 आधुन्यार्थमगाद् प्राय-भाग-तास्मि पितः । प्रगे ।
 स्वर्गोऽप्याहुन् तस्याद-विहृतेःकेकोऽप्य ते ॥ १५१ ॥

दृष्यो कष्टोऽयं संप्राते, सूतावाक्यास्यतऽभिज्ञम् ।
 आचार्याः प्रातरयाताः, पृष्टस्तातोऽभिलं जगौ ॥ १५२ ॥
 किं च खं नाज्जिष्ण्ये-भ्यासीविष्यमहोऽप्यहम् ।
 ततः सर्वेऽपि गुरुनि-निरभस्थंस्त साधवः ॥ १५३ ॥
 पात्रमानय तानाश-मन्तिष्यामि स्वयं तव ।
 अहमप्येतदानीत्, शोचये नैवाऽद्य दे विनः ! ॥ १५४ ॥
 सोऽथ दृष्यो लोकपुत्रो, जिज्ञासायस्वस्यो कथम् ? ।
 ततोऽहमेव यास्यामी-त्युक्त्वा भेष्यासोऽगमत् ॥ १५५ ॥
 सोऽथैकत्र गृहेऽवित्त-वपद्दारेऽवदद् गृही ।
 साधो ! चारेण किं नैपि, सोऽवदद् मुखं ! यत्सि नो ॥ १५६ ॥
 किं द्वारं किमप्यारं, प्रविशन्त्या गृहं धियः ।
 तं गृही शकुनं मत्वा, दृढी स्यालेन मोहकान् ॥ १५७ ॥
 आगत्याशोच्यत्तान् स, तत्संख्यायुं बीहृष मूरयः ।
 ऊचुः शिष्या भविष्यति, द्वारिणोऽभिज्ञसन्ततौ ॥ १५८ ॥
 कुदुष्यमिति साधुनां, लानं स प्रथमं दृढी ।
 शानीयादात्सर्वं पश्चात्, सखपञ्चस्य सपायसम् ॥ १५९ ॥
 स एवं शिष्यसम्पन्नो-ऽनृदुः बाष्ठापुपकारकः ।
 तदा दुर्बलिकापुण्यः, पुण्यं च घृतवस्त्रयोः ॥ १६० ॥
 गुर्विषया धियु यया पाङ्क-मोर्सेन-शिक्षितं घृतम् ।
 घृतपुण्यस्य तद्घात्, साऽपि तद्विधिर्यदीशो ॥ १६१ ॥
 निवीरो काऽपि कष्टेन, कर्त्तव्यं शतकं व्यधात् ।
 वस्त्रपुण्यस्य तद्घात्, साऽप्यन्येषां किमुच्यते ? ॥ १६२ ॥
 तत्र दुर्बलिकापुण्य-अभिगतो नवपूर्विकाम् ।
 दुर्बलोऽभूत्स्मरतिष्यं, विस्मरयति चास्मन् ॥ १६३ ॥
 सौगतैर्मीविनास्तस्य, स्वजनो गुरुपतिः ।
 अस्माकं त्रिकुषो ध्यान-परा न ध्यायामसि नः ॥ १६४ ॥
 ध्यानाद् दुर्बलिकापुण्यं, दुर्बलोऽयं गुणजंगा ।
 तान्याह गृह्यासेऽनृदुः, स्निग्धारादादसौ वशी ॥ १६५ ॥
 न स वोऽस्ति गुरुः स्नाह, घृतपुण्यद्विदुः स नः ।
 प्रत्यक्षेण वो नीत्वा, स्वगृहे पोष्यतामयम् ॥ १६६ ॥
 तनस्तेः पोषितोऽप्यनं, पृथग्यानात्तथैव सः ।
 अथाध्यानं कृतः पृथः, प्रान्तोऽगोऽप्यनृदु बली ॥ १६७ ॥
 ततस्तामि प्रबुधानि, धावकथं वृषतिः ।
 तत्र गच्छे च चत्वारो, मुण्यास्तिलग्नित साधवः ॥ १६८ ॥
 आधां दुर्बलिकापुण्यं, द्वितीयः फल्गुः कितिः ।
 विन्ध्यस्तनीयको गोष्ठा-मादिद्वयं चतुर्थकः ॥ १६९ ॥
 विन्ध्यस्तल्पवि मेधावी, स्वप्रदग्धाश्रयः ।
 गुरुन्याच मरुकत्या-माहापाऽऽसिन्धारामम् ॥ १७० ॥
 गुरुदुर्बलिकापुण्यं, ततोऽप्यालापकं दृढी ।
 दिनानि कतिचिद्व्या, धावतां तस्य सोऽन्यथात् ॥ १७१ ॥
 वाचनां ददतेऽप्ययुः, पूर्वं मे स्वयं प्रतो ! ।
 विस्तरिष्यत्यतः पूज्या-देशोऽस्तु मम कीदृशः ? ॥ १७२ ॥
 अथैवं दधुराचार्याः, यद्यमुष्यापि विस्मृतिः ।
 भविष्यति भ्रवं प्रका-दीनां हानिरतः परम् ॥ १७३ ॥
 चतुर्ष्वेकैस्त्रयो-स्थानं स्यात्कोऽपि न कुमः ।
 ततोऽनुयोगांशुत्वरं, पार्थक्येन व्यधात् प्रहृः ॥ १७४ ॥

चातुर्विधमाह—

“कालिभ्रतुसं च इतिमा-सिन्धो इत्यहो अ सुरपत्नी ।
 सर्वो उ विधियोऽनो, चउत्थो ह्ये अश्रुप्रसनी ॥”

कालिकभुजेकादशाङ्ककरेण चरणरक्षणयोगः, ऋषिनापितानि
वसराध्यनाभि धर्मकथानुयोगः, सूर्यपङ्क्त्यादिनि गणतानु-
योगः, दृष्टिदाश्च, सर्वोपि उच्यानुयोगः; दृष्टिवादाङ्कव्य
ऋषिर्भारिर्भक्तिवायः। कल्पदीनामापि तर्हि धर्मकथानुयोग-
त्वम् । तत्रत्याह-

“जं च महाकल्पसुभं, जाणि अ सेसाणि छेअसुत्तणि ।
चरणकरणुआश्रंगो-लि कालिअन्धे उवगयाणि ॥” ११ ॥
यच्च महाकल्पसुभेकादशाङ्करूपं, यानि च शेषाणि निशो-
धादिनि उदस्राणि, चरणकरणानुयोगं छति चरणकरणानु-
योगवक्रणे कालिकार्थे कालिकभुजसक्तेऽथे उपगतानि सम्ब-
द्धानिःत्यर्थः ।

अधार्थरक्षिताचार्याः, मधुरां नगरां गताः ।
तत्र यत्कुण्डायां च, व्यन्तरायतेन स्थिताः ॥ १७५ ॥
ततः शक्रो विदेहास्तः, धर्मोन्मथ्वरसन्निधौ ।
निगोदजावनामक्रो-द्गणवात् व्याचकार तान् ॥ १७६ ॥
अधोच भरतेऽप्येव, निगोदान् वक्ति कश्चन ॥ १७७ ॥
जगवाञ्चिवाचार्य-रक्षिताः सन्ति सूर्यः ॥ १७८ ॥
भिक्षुगं सापुत्रुन्दं च, बुद्धाभरणरूपनाक ।
शक्रोऽन्यागयं पप्रच्छ, कियदापुः प्रभोः ॥ मम ॥ १७९ ॥
ज्ञानित यत्कथ्यायु-ज्याथ प्राप्तुं तेषु ते ।
यावत्तदागुरुरिहन्ते, तावद् छे सागरे गतं ॥ १७६ ॥
अथोत्पाठ्यं युवावृचं, शक्रस्यं सोऽसर्वाचितः ।

हेतुं स्वागमने तेषु, निगोदान् स्वामिबुद्धयुः ॥ १८० ॥
तनसुष्टः प्रणम्योच, शक्रो यामिति तेषुभ्युः ।
तावदागमयस्य तं, आध्यायानि साधयः ॥ १८१ ॥
ये चक्रा निश्चयान्ते स्यु-यैतं स्वां बोध्यं दीक्षिताः ।
स ऊचेऽप्यतः करिष्यामि, निदानं वोच्य मामामो ॥ १८२ ॥
तेऽप्युचु कुरु तच्छिष्ट-मथ यत्कुण्डानुभवम् ।
दाक्रोऽप्यथा विधायामा-दाजमुद्ध तपोधनाः ॥ १८३ ॥
ते च चारं न योक्तो, सुखस्तानाध्यायधुः ।
शक्रो चारं व्यधादिश्व-मित एत तपोऽपुना ॥ १८४ ॥
कपुस्ते किं मुहूर्त्तं न, धृतोऽस्माकं निर्रांक्रितुम् ? ।
शक्रोऽकथय ते तेषा-मावयन् छःश्वमथ स्थिताः ॥ १८५ ॥
अथाप्यवा दशपरं, यानि स्म सूर्यः क्रमात् ।
मधुरां नालिकस्थ्यागतं, सर्वे नार्यांति स मुवन् ॥ १८६ ॥
सङ्गः सङ्घटकरं प्रपीद, गुरुं हापायितुं तनः ।
निगोष्टामाहिलः प्रियं, व्यग्रहीतं स वादिनम् ॥ १८७ ॥
आयकैश्च तत्रैव, चतुर्मासां स कारिनः ।

६तश्चायुर्निजं ज्ञायवा, गुरवो गच्छमश्विरिरे ॥ १८८ ॥
आचार्यैः कोऽस्तु च स्माहुः, स्वजनाः फल्गुरक्षिताः ।
स्याःकोष्टामाहिलां वापि, पुण्यस्वयंजितयो गुरोः ॥ १८९ ॥
शब्दयित्वा च निःशेषान्, गुरुद्वारान्तमभियान् ।
निष्पावतेलहयान्तं, कियन्तऽप्येमुष्माः कुट्टाः ॥ १९० ॥
सर्वे निर्यान्ति निष्पावा-सैलांशाः सन्ति केचन ।
निष्पावाज्यं पुनः प्राप्य-मेवमेवप्यहं शिषु ॥ १९१ ॥
पुण्यं प्रति भुतेनाहं, निष्पावकुट्टसन्निभः ।
धृतकुम्भः पुनर्गोष्ठा-माहिलं मातुङ्गं प्रति ॥ १९२ ॥
फल्गुरक्षितमाश्रित्य, तैन्नकथमसमस्तथा ।
तथाचार्योऽस्तु वः पुण्य-स्तैरपि प्रत्यपद्यत ॥ १९३ ॥
नबाऽऽजवै तथा सापुत्र-नुशिष्यं यथोचितम् ।

विधायानशनें बुद्धे, स्वर्गलोकागमाद् गुरुः ॥ १९४ ॥
ननु गोष्टामाहिलेनापि, भुने वद् धामगाद् गुरुः ।
निष्पावकुट्टवृत्तानात्, पुण्यश्च स्वपद इतः ॥ १९५ ॥
स गोष्टामाहिलोऽप्येव, पुण्यं तस्यै तदाश्रयात् ।
कर्मबन्धवचोरऽभू-ब्रह्मवः मोऽभ्युद्योक्तनः ॥ १९६ ॥ आ०क० ।
देविद्विदं परिहं, महागुभावेदि रविसख्यजेदि ॥
गुणमासञ्जीविभक्तो, आगुभोगो तं क्रमो चउहा ॥

देवैश्चबन्दि तैर्महागुभावेरारक्षितैर्दुर्बेक्षिकापुष्पमिषप्राङ्गमप्य-
तिगुणितयत्वाऽनुयोगस्य विस्मृतसुप्रथमश्लोकं युगमासाद्य
प्रचननहिताय विजक्रः पुण्यं व्यवस्थापितोऽनुयोगः, ततः
कृतञ्चतुर्थो, चतुर्थे स्थानेषु नियुक्तः चरणकरणानुयोगादिरिति ।
आ० म० द्वि० । उक्त० । आ० चू० । घ० र० । दश० । ती० ।
विशे० । स्था० । अञ्जलमन्त्रस्थापके आचार्यं च । अथं च
(विक्रमसं० ११३६ वर्षे) दत्ताश्रीनामप्रेमोद्गोष्ठीमे देदीना-
म्याजार्थायाः जातः । (विक्रमसं० ११४२ वर्षे) प्रसजितः । (वि-
क्रमसं० ११६० वर्षे) विधिपक्क- (अञ्जल-) गच्छमस्थापयन्,
(विक्रमसं० १२२६ वर्षे) ए१ वर्षेऽजमपर्यायो मृत्वा देवशक्तो
गतः । जै० ६० ।

अञ्जरविसयमीस-आर्यरक्षितमिश्र-पुं० । अनुयोगवानुविष्य-
कारके रक्षिताचार्ये, सूत्र० १ अ० १ उ० ।

अज्जरह-आर्यरथ-पुं० । आर्यवज्रसामितस्त्वृतीयं शिष्ये, कल्प० ।
अज्जल-आद्यह-पुं० । छेच्छमेदे, प्रहा० १ प० ।

अञ्जव-आर्जव-न० । श्रुज्ञोः रागरेवपवचञ्जितस्य सामायिक-
वतः कर्म भावा वा आञ्जवः । सर्वे, श्वा० ४ उ० । १ उ० । श्र-
नुभाव आञ्जवम् । श्राव० । मनोवाकायविक्रियाविरहे मायारा-
हित्ये, ध० ८ क्षिप्रो प्रव० । ध्य० । पंचा० । आवा० । कल्प० । श्राव० ।
ज्ञ० । परस्मिहित्वात्परऽपि मायापरित्यागः, शृश० १० श्र० ।
प्राथं चोरणाज्यनुज्ञातम् । स्था० ४ उ० । १ उ० । एतत्पुर्वीय-
ध्रमणधर्मः । स्था० २ श्र० १ उ० । दशमो योगसंभ्रदः । स०
३१ सम० । श्राव० । “ चंपाप कालिप्रजो, अंगारसो रहप अ
श्रावत् । पंधगजो इजता वि अ, अश्वकलाणे अस्संवेही ॥” ११ ॥

चम्पार्यां कौशिकार्योऽभू-द्वुपाध्यायो महामितः ।
तस्यापऽङ्कश्रुः विः शिष्यो, प्रणिषिद्धिदुक्तोऽपरः ॥ १ ॥
उपाध्यायेन दार्वथे, द्वावपि प्रेषितौ वने ।
दारुभारं गृहीत्स्थिति, सायमङ्कश्रुपिन्नात् ॥ २ ॥
रुद्रो रम्बा दिवा सायं, स्मृत्वा बहिरध्यावत् ।
दश्यां बोध्य तमायान्तं, गुह्योऽस्याराम्यमुमु ॥ ३ ॥
इतो ज्योतिर्यथा वस्त-पार्श्वो नीत्वाऽक्रमात्मनः ।
पुत्रस्य पञ्चकस्यायै, धलन्ती दारुकाष्ठतृत् ॥ ४ ॥
दृष्ट्वा तेनाथ तां स्त्वाऽऽ-दाय तद्दारुभारकम् ।
शीघ्रं मार्गान्तरणैत्यं, गुरोरपे करी पुनन् ॥ ५ ॥
आस्थः मिथिश्रिधेण, ज्योतिर्यथा ध्वनाडयत् ।
आगतः सोऽथ गुरुणा, यथो निस्सारितोऽटवीम् ॥ ६ ॥
तत्र गृह्णा मनेष्यानात्, जातजाविस्मृत्तव्रतम् ।
सोऽवाप केवलं वाथ, महिमानं व्यपुः सुराः ॥ ७ ॥
दक्षैः कथितमेतस्या-ज्याश्वानं प्रददंऽपुनम् ।
रुद्रको हीलितो लोके, दश्या सत्यं मया ददे ॥ ८ ॥
अज्याश्वानमिति ध्यायन्, सोऽगामप्रव्यनुवृत्तताम् ।
उपाध्यायः सपत्नीकः, प्रव्रज्य प्राप केवलम् ॥ ९ ॥

चात्वारोऽपि ययुः सिद्धि-मेवं कस्यैवमाञ्जवम् । आ० क० ।
 आ० वृ० । आ० ।

अञ्जवद्वर-आपिबन्- (वैर)-पुं० आरात्सर्वेदेयधर्मभ्यो वातः
 प्राप्तः सर्वैरुवादेयगुरैरित्यर्थः, स चास्ती वज्रक्ष्म । आ० म० छि० ।
 धर्मगिरिः सुतन्त्र्यां न्यायितासुत्यादिते पुत्रे आर्यसिंहगिरिः शिष्यो
 के ते आर्यवैरा इति स्वतंत्राण तदुत्पत्तिमाह—
 तुंबवणान्निवेशा- नुनयंयं पित्रसारासमष्टीयत् ।

अम्पासिअं अमु अत्रं, माऊ अ समभिअं बंदे । १ ॥
 तुम्बवनत्संभिवशाभिगेते पितृसकाशमालीने पापमासिकं पद-
 सु जीवनिकाययु युतं प्रयत्नवन्तं प्राञ्च च समन्वितं वन्दे । एष-
 गाथाऽस्यारथः । भावायैस्तु कथातोऽवगन्तव्यः ।

कथा चेषय-

शक्रस्य लोकपः भीड-स्तस्य सामन्तिकः पुनः ।
 इन्द्रज्ज्वाभोजीच, प्रामवंतः जम्भकात्मरः ॥ २ ॥
 इन्द्रश्च पुष्टचम्पायं, श्रीवीरः सुमसात्मरः ।
 सुभूमिभाग उद्यानं, शालस्तत्र नृपः पुरि ॥ ३ ॥
 यवराजो महाशाल-स्तयोर्पामिर्गेशोमती ।
 पित्रो रमश्चस्तस्याः, गार्गलिस्तनयः पुनः ॥ ४ ॥
 शालः श्रुत्वा प्रजोधर्मं, भ्रतायानुजम्भुचिवात् ।
 राज्ये स्वं विशा सोऽवादीद, न मतेभ्यस्मि ते नु किम् ? ॥ ५ ॥
 समानीयाथ कामिष्वया, गार्गलि स्वस्वस्तुः सुतम् ।
 राज्येऽभिचिष्य ते तौ द्वौ, पात्रवै प्रामज्जतो प्रजाः ॥ ६ ॥
 साऽपि तद्गमनी जाता, धर्मनोपासिका तनः ।
 नाथपेकादशाङ्गाय-धर्मायातां महाऋषी ॥ ७ ॥
 विहरन्त्यदा स्वामी, ययौ राजगृहे पुंरे ।
 ततोऽपि चम्पां नगरीं, प्रति प्रातिष्ठत् प्रजुः ॥ ८ ॥
 मुनी शालमहाशाज्ञो, प्रजुं पप्रच्छतुस्तदा ।
 आवां यावः पुष्टचम्पां, कांऽपि स्वात्तत्र धर्मवान् ॥ ९ ॥
 ज्ञात्वाऽवबोधं तौ तत्र, वैषयज्ञौतमाचिवात् ।
 तनः स्वामी ययौ चम्पां, पुष्टचम्पां च गौतमः ॥ १० ॥
 समातापितृकस्तत्र, गार्गलिगौतमातिके ।
 श्रुत्वा धर्मं सुतं राज्ये, विषेइय प्रतमप्रहीत् ।
 यातां मार्गोऽथ चम्पायां, स्वजिनमनहर्षतः ।
 प्राप्ता शालमहाशाज्ञौ, निघार्मिच केवलम् ॥ ११ ॥
 समातापितृकस्याथ, गार्गलपारं केवलम् ।
 अत्रामुत्राधेदावेलौ, भर्मेत ध्यायन्तोऽभवन् ॥ १३ ॥
 अथ चम्पां ययौ स्वामी, गौतमस्तपरिचरुद्वः ।
 प्रह्लं प्रदक्षिणीकृत्य, प्रणिनेसुः पुरोऽनवन् ॥ १४ ॥
 इत एव प्रजुं नन्दुः, तामिन्वाचष्ट गौतमः ।
 प्रजुगौतमसूत्रे मा, केवलयाशातनां कथाः ॥ १५ ॥
 गौतमोऽथ प्रजुं तत्त्वा, कृमयामास तां ज्ञमी ।
 गौतमं केवलाऽनति-बिभ्रं मन्वाऽदिशात्मजुः ॥ १६ ॥
 अष्टापदं तपोलभ्या-ऽऽरोहोद्यः स्वात्स केवली ।
 अष्टपदापार्श्वेय-मुक्त्वा श्रुत्वाऽथ तां गिरम् ॥ १७ ॥
 अष्टापदापकण्ठ-स्तापमास्तपसा कृशाः ।
 कौतिक्यदृष्टशोवाला, एकत्रिंशत्तरेऽहनि ॥ १८ ॥
 आर्किन्दशुष्ककन्द-शुष्कशैवासभोजनः ।
 आकङ्कन् पदिका एक-द्विजस्तेऽपि तपःकमाद ॥ १९ ॥
 गौतमोऽपि प्रजुं वृष्टा-श्रापदादिमुपविचार्त् ।
 दृष्ट्वा ते तं मिथः प्राहुः, स्वुत्तोऽप्येवोऽपिरोक्ष्यति ॥ २० ॥

तपःकृशा अपि षयं, न शक्युम इतः परम् ।
 गौतमस्तावदकौशु-शिक्षां हत्वाऽऽरुहोह तम् ॥ २१ ॥
 तदुत्तुवाचिस्मितास्तेऽथ, दृष्टुयैरधोवमप्यति ।
 ततोऽमुष्य षयं शिष्याः, नविष्यामो महाऋषेः ॥ २२ ॥
 नन्वाऽदहेतः प्रतुच्छेयां, विषयशोकातरस्तले ।
 तत्र पृथ्वीशिखापदं, तामयास्तीक्ष्णायत्रीम् ॥ २३ ॥
 अगाद्यष्टापदं नन्दुः, तत्र वैषयध्यातया ।
 जूम्नकेण समं सख्या, भव्या सर्वान् जिनान्धय ॥ २४ ॥
 स्वाध्यायध्वनिना ज्ञात्वा-ऽऽप्येत्य गौतममानम् ।
 कुर्वाणः स्वाम्यपि व्याख्यां, सुधामधुरगौग्यधात् ॥ २५ ॥
 अन्नाहारपन्नाहारे-त्यादिकं साधुवर्णनम् ।
 तच्छ्रुत्वा मुखमाशोक्य, मिथस्तेऽ इति तौ सुवै ॥ २६ ॥
 एवं साधुगुणानाह, स्वयमीदृक् पुनः प्रभुः ।
 ज्ञात्वाऽऽयस्तेनमनः पुरा-रीकायधनमन्विशान् ॥ २७ ॥
 न दीर्घव्यं ब्रह्मिन् वेदा, सक्त्ये कि नु जावना ।
 श्रीदोऽथ ध्यानविज्ञानान्, प्रीतो नन्वा प्रतोयवात् ॥ २८ ॥
 जूम्नकस्तु प्रतिवृद्धः, शुकं सम्यक्कथमादद ।
 सचं च प्रकथा पुरा-रीकायधनमप्रहीत् ॥ २९ ॥
 गौतमस्तु द्वितीयोऽप्य-ष्टापदश्रोत्रातरत् ।
 भीतान् प्रमुमाहूतः, शिष्यं कुरु गुरुभवं ॥ ३० ॥
 स्वाभ्यथाद्वाद व्रतं तेषां, वेशान् शासनदेवताः ।
 पारणे वोऽस्तु किं वस्तु, पृष्टान्ते प्रमन्ययुः ॥ ३१ ॥
 इष्टासिद्धेस्तदस्यथ, पायसं घृतसालयुक् ।
 तद्वैवातीयं तस्वामी, तानुके ज्ञानुमास्यत् ॥ ३२ ॥
 दृष्टुस्ते नो भविष्यन्ति, नेयतां तिलकायि ।
 परं गुरुवचः कार्यं, न विचार्य नृणां कवत् ॥ ३३ ॥
 आसीनास्तेऽथ सर्वेऽपि, स्वाम्यङ्गीणमदात्मसः ।
 आर्तुमिं नो जायत्या ता-नभ्रानि स्व स्वय तनः ॥ ३४ ॥
 शतानां तेषु पञ्चानां, नृजानानां महाशिमाम् ।
 ध्यायतां गौतमीं लक्ष्मि, जज्ञे केवलमुज्ज्वलम् ॥ ३५ ॥
 गच्छतां च प्रनुपान्ति, विलोक्य प्रामर्शो श्रियम् ।
 पञ्चगत्या इष्टदत्तुजं, समजायत केवलम् ॥ ३६ ॥
 एकान्तरनृजां चासात्, श्रीवीरजिनदर्शनं ।
 गौतमस्तेः समं भर्तु-र्ददौ तिष्ठः प्रदक्षिणाः ॥ ३७ ॥
 नवीनाः साधवस्तेऽथ, जग्मुः केवलपिपेदम् ।
 गौतमः स्माह तानेवं, नमत् प्रिजगपन्ति ॥ ३८ ॥
 स्वाम्यहाशातनामिन्द्र-ज्ञतेः केवलिनोऽवधाः ।
 नन्वा प्रजुं वदौ मिथ्या-वृत्तं तेषु गौतमः ॥ ३९ ॥
 गौतमेऽथायुनिं सुपु, प्रपञ्चं स्वाभ्यस्योचत् ।
 अन्ते तुल्या भविष्यामो, मा कार्षीं गौतमाऽऽश्रुतिम् ॥ ४० ॥
 लृणद्विद्वलचर्मोणां-कटयकस्यचिन्पुनः ।
 कांऽपि क्वापि भवस्तेदो, मेषोणांकटवपु ते ॥ ४१ ॥
 तत्र स्नेहे चिरजये, प्रावृषीय व्यपेयुनिं ।
 केवलज्ञानहसन्तः, हृत्सरस्थां स रस्यते ॥ ४२ ॥
 उद्दिश्य गौतमं शोक-प्रतिवोषकृतं तथा ।
 आदिशद्भ्रमप्रीया-व्ययनं भगवांस्तदा ॥ ४३ ॥
 इतश्चावल्लिदेशोर्वा-हृदि हारतटोपमा ।
 सशिवशस्तुम्बवन्-नामा धामदनुनश्रियाम् ॥ ४४ ॥
 तत्रत्यसुधोर्गाति-मैतार्थी पितनो यतुः ।
 तच्छेन वृष्टतः कन्यां, यस्य ते संन्यपेधयत् ॥ ४५ ॥

स्वयम्भराऽथ तस्यादृष्ट, सुनन्दा धनपालसूः ।
 विबाहिताऽथ सा तेन, तथा कठोऽथ स व्रतात् ॥ ४६ ॥
 अथाप्यन्दा स्वतः स्वामात, स क्युत्वा जुम्मकाभरः ।
 सुनन्दाकुञ्जिकासारे-ऽवतरकलहसवत् ॥ ४७ ॥
 तथाधारोऽभज्जाधी-स्युक्त्वा धनगिरिः प्रियाय ।
 ब्रह्मसिंहविरैः शिष्यः, क्षालकात्समितायतु ॥ ४८ ॥
 जाते च तन्धे अन्धो-स्त्वेषे स्फूर्जति काऽप्यवहत् ।
 अिता बेत् प्राजिष्यन्ना-स्यात्रविद्युत्-संरदा ॥ ४९ ॥
 स संह्री तद्वचः भुक्त्वा-ऽहासीन्मे ब्रह्मचरुयिता ।
 एषं विन्तयतस्तस्य, जाता जातिस्त्वितिः शिशोः ॥ ५० ॥
 अहर्निशं ततोऽरोहीव, माता निर्विद्येन यथा ।
 प्रवयान्निमुषं पश्चा-नेषं वपमासिद्युत्-सगम् ॥ ५१ ॥
 अन्यदा समयासार्पीत्, तत्र सिंहगिरिर्गुरुः ।
 समितो धनगिरिश्च, पश्यायः स्वज्जनामितं ॥ ५२ ॥
 यावथातो गुरुं पृच्छा, मकुनस्तावद्विचिन्वान् ।
 तस्ततो सूरयोऽप्येव, प्राधी लामाऽथ बां महाद्व ॥ ५३ ॥
 सचिन्तं वाप्यचिन्तं वा, प्राहं तत् तौ ततो गमौ ।
 सुनन्दा ससखीबुन्दा, दृष्ट्वा तावित्यबोचन ॥ ५४ ॥
 कात्तयन्ति दिनान्यत्रे, पालयते स्म भया तव ।
 त्वमेवं गोपयेद्दार्मी, स्वतोऽच्छादितऽमुना ॥ ५५ ॥
 तेनां च माऽस्तु ते पश्चा-न्तापः संविद्वज्र निःस्पृहा ।
 कृत्वाऽथ साङ्गिणोऽप्रति, सोऽप्यार्कः यात्रभयने ॥ ५६ ॥
 व्रतप्राप्तं च तत्कां, रोदनाद्विराराम सः ।
 अथायातो मुनेर्दोष्णो-ऽदाज्ञोतोऽथ करं गुरुः ॥ ५७ ॥
 अतिनारासथाऽऽदिव, साधो ! वज्रं किमानयः ? ।
 आकृष्यालोक्य तं बाह्वं, बाध्यमासमिव स्मरम् ॥ ५८ ॥
 भाष्येव प्रासनाधारो, वज्रस्वामी गुरुस्ततः ।
 साध्वीशय्यातरीणां तः नीविषन्नानुमापयत् ॥ ५९ ॥
 प्रहृष्य-प्रासुकाहार-क्षानमपडनखेलनेः ।
 तत्रावर्हिष्ट वज्रः स, सार्कं गुरुमनारथैः ॥ ६० ॥
 बहिल्याहापुराचार्याः, सुनन्दाऽमार्गयन्स्तुतय ।
 उबुस्ता एष निकेयो, गुरुणां नाथ्येते परैः ॥ ६१ ॥
 आगमस्युचस्तत्र, वज्रे जाते शिवायिके ।
 सुनन्दा याचते सृष्टे, गुरवस्वर्षयन्ति न ॥ ६२ ॥
 विबादाऽधामवकाज-कुले जातश्च निगेयः ।
 यदप्रतः सुतस्तस्याऽऽस्तुतो याति यदन्तिके ॥ ६३ ॥
 ससंयो गुरुरेकत्र, नन्दुऽभयत्र सनागरा ।
 ऋषिकृदभितो भूषं, वज्रस्तु नृपतेः पुरः ॥ ६४ ॥
 राजोचं शय्यन्त्वादी, पित्ता स्त्रीपाङ्किका जगुः ।
 स्वामिभ्रम्बाऽऽह्वयवादी, दयास्थाननिधं यतः ॥ ६५ ॥
 प्राण राजोकाऽह्वयन्मात, साधकेननचाटुमिः ।
 बहिष्यत्पम्बां परं सोऽह्यदा, नाचार्लीत्किन्त्वचिन्तयत् ॥ ६६ ॥
 पाजनस्योऽप्युपभृत्वा, योऽर्थातेकादशाङ्कः ।
 सोऽहं मांहे जनन्याः किं, यामि सङ्गं विशङ्क्य तत् ॥ ६७ ॥
 ब्रतय्ये मयि माताऽपि, व्रतमङ्गीकरिष्यति ।
 राज्ञो प्रोक्तः पित्ताऽबोचत्, वचन्तं प्रति तदथा ॥ ६८ ॥
 “ अहसि कयञ्जवसाभो, धम्मञ्जयस्यसिद्धं इमं वहरं ।
 गिहं लङ्घं रयहरणं, कम्मरयत्पमञ्जणं धीरं ! ” ॥ ६९ ॥
 तच्छ्रुत्वा तरुणादेय, स रजोहृदिमाद्वे ।
 तदैवादीकिं गुरुणा, सपीतोऽप्यबुधन्नुपः ॥ ७० ॥

दृष्यावथ सुनन्दाऽपि, ज्ञाता सर्षो सुतश्च मे ।
 प्रावर्जन्किं ममान्येन, साऽपि प्रवर्जिता ततः ॥ ७१ ॥
 पञ्चं तत्रैव संवाप्य, साधुभिः पञ्चैर्बुधैतम् ।
 स्यहापुर्गुरोरोऽप्यत्र, यक्षैकत्र यतिविद्यतिः ॥ ७२ ॥
 ब्रथाहवयो वर्यानि-स्यंहरदुःखिः समथ ।
 अयमुच्च गुरवोऽवन्त्यां, बुद्धिश्च प्रावृत्तयदा ॥ ७३ ॥
 तस्य प्राग्जनवाग्मार्ग, व्रजतोऽपि जुम्मकाभरः ।
 दृष्ट्वा तं तत्र तैः सार्कं, कृत्वा तस्युः परीक्षितुम् ॥ ७४ ॥
 राप्य्वा न्यमन्थयद्वज्रं, विप्रयो बीहय संस्थिताः ।
 पुनराह्वन् स्थिते वर्ये, गतस्तत्रोपयुक्तवान् ॥ ७५ ॥
 इत्यतः पक्कूप्यापरं, कृतस्तस्युच्चयन्तसी ।
 काभतः प्रथमं वर्यां, भावतो दायकाः पुनः ॥ ७६ ॥
 अमुस्युशो निर्निमेषा, देवा इत्याद्वे न तत् ॥
 तस्य नुष्ठा निधेद्य सं, विद्यां वैकुण्ठिकां दृष्टः ॥ ७७ ॥
 नृपयोऽवन्त्यां पुरि ज्येष्ठे, वज्रे बाह्यहृद्यं गत ।
 प्रन्वद्विधाय सार्कं तं, घृतयुर्गु-न्यमन्थयत् ॥ ७८ ॥
 द्रव्यादकपायेगेन, ज्ञात्वा नासैषु तेष्वपि ।
 तस्याकाशगमं विद्यां, दत्त्वाऽपुः स्वं निरुध्य ते ॥ ७९ ॥
 निर्युक्तिकारोऽप्यन्तेदेवाह-
 “ जो गुरुजोहिं बाहो, निमित्तश्रो भोऽप्राणेण वासंते ।
 नेच्छद्वि विर्णाभविणुधो, तं ययरिस्सि नमंसाभिः ” ॥ १ ॥
 गुरुकैर्देवैः वासंते वर्यति नेच्छति विर्नातविनयोऽप्यन्तेदेवियः ।
 तथा—
 “ उज्जणीए जो जं-भगोहिं आपाकिन्नल्ल पुममहिंभं ।
 अक्खीणमहानसिभं, सीहगिरिपसंसिभं वंदे ” ॥ १ ॥
 प्राणकिन्नल्ल परीधय, स्तुतोना वनेनैः, महितो विद्यादानेन ।
 तच्छ्रुत्वाप्यत्र पत्रतः श्रुत्ये-कादशाङ्गी स्थिराऽभवत् ।
 अतं पूर्वमप्य्यात्, यत्किञ्चिप्यत्रा लुप्तम् ॥ २ ॥
 पनेत्युक्तोऽपत्रन् नित्यं, तमेवालापकं मुदुः ।
 अपराप्यत्रतः श्रुण्वत्, शृङ्खान्तः ततः श्रुतम् ॥ २ ॥
 त्रिजार्थमन्यदा साधु-प्रातं याते हि मध्यमे ।
 बहिरुमी गुरो प्राप्ते, तस्यो वज्रः प्रतिभ्ये ॥ २ ॥
 अथाप्यस्य स मल्लरुथा, मध्ये त्रियतिवेष्टिकाः ।
 मध्ये स्थितः स्वयमदात्, क्रमेणाहुविद्याचक्षमा ॥ २ ॥
 आयाताः सूरयो दृष्यु-मुनयो द्राक् किमाययः ? ।
 स्वरमाकर्ष्ये गम्भीरं, ज्ञातं वज्रविभूतितम् ॥ २ ॥
 अपस्यय ज्ञानं स्थित्वा, व्यष्टयैर्विषयैर्वा च्वनिम् ।
 ज्ञातस्थानेऽपि मुक्त्वा तां, प्रामाङ्गीस्व गुरोः पदौ ॥ २ ॥
 इतं स्वम् बुतधरं, माऽवज्जानन्तु साधवः ।
 इत्याचार्यो विद्वासायै, चक्षितः पञ्चान्नं दिनान् ॥ २ ॥
 योगिनः स्माद्गुरुस्माकं, भावी को वाचनानुक्तः ? ।
 गुरवो वज्रमादिक्-स्ते तथेति प्रवेदिरे ॥ २ ॥
 साधवोऽपि गुरुं वज्र-मासविद्याऽऽग्नेने प्रगे ।
 योगाऽनुष्ठानमाधाय, वाचनार्थमुपाविशान् ॥ २ ॥
 वाचनं स तथाऽऽवत्, मन्दा अत्यन्तं यथा ।
 अधीनमपि तैः स्थदी-कृतौ पुष्टं स शिष्टवान् ॥ २ ॥
 अथ ते साधवो दृष्यु-गुरुणां बहवो दिनान् ।
 वेष्टुमान्ति तदाऽस्माकं, श्रुतकःस्थः समाप्यते ॥ २ ॥
 गुरोः रधीयतेऽह्वाय, तयोऽक्याऽपि वज्रतः ।
 इत्येवं सर्वसाधुनां, वज्रो बहुमतोऽभवत् ॥ २ ॥

ह्यपितास्ते बह्वगुणा-नित्याचार्याः समाययुः ।
 आयाजुर्यतिना जहे, स्वाध्यायां वस्त ऊर्ध्वरे ॥ ९२ ॥
 जहे किं त्वेष एवास्तु, स्वामिन् । नां वाचनानुगः ।
 गुरुकृचेऽमुनोपास, कर्णेषातात् भूतं ततः ॥ ९३ ॥
 मुन्यते वाचनं दानु, नास्य स्वयमतदुग्रहे ।
 हानुं वो बह्वमाहास्यं, वाचनाद्राप्त्वपीथीनां ॥ ९४ ॥
 यस्त्वस्याऽऽसीद् गुरुः सर्वे, भूतं बह्वस्य तद्गुरो ।
 विहरन्न्यदःऽऽयासीत्, पुरं दशगुराह्वयम् ॥ ९५ ॥
 कृकावासं सन्त्यवस्थां, श्रीमच्छुभसूरयः ।
 तेभ्योऽन्यभुतमादानुं, वज्रः प्रैपि द्विसाधुयुक्त ॥ ९६ ॥
 तदा च भद्रगुणयोः, स्वामिऽपश्यत् यथा मम ।
 पतदुग्रहं क्षीरभृत्, पीत्वाऽऽमानु सभाभस्वीत् ॥ ९७ ॥
 साधूनां प्रातराचख्यु-स्तेऽन्योन्यकलसुचिरे ।
 गुरुकृचे प्रतीच्छेमे, त्वास्म्यन्त्यासिन्नं भुतम् ॥ ९८ ॥
 बह्वेऽन्यस्याद्द्विनेन-मदुर्ध्यायान एव हि ।
 ज्ञान्योद्देशाद्गुरुवर्जे, माहास्ये नम गृहवान् ॥ ९९ ॥
 तेषां पार्श्वेऽथ बह्वर्षे-दशपूर्वीमधीतवान् ।
 यत्रोद्देशस्तत्रानुक्त-न्यागाद्दशपुरेऽसु सः ॥ १०० ॥
 तत्रानुयांगानुज्ञायौ, वयस्यैस्तस्य कृष्मकैः ।
 इन्द्राद्यैर्गीतमादीना-मिव चक्रे महास्यहः ॥ १०१ ॥
 अमुमेवाथं प्रन्यद्वृदाह—
 “ जस्स अणुआप वा-यगसत्तणं दम्पुग्गिम्म नयरग्गिम्म ।
 देवोदि कया मदिमा, पयागुत्तारिं नमस्सामि ॥ १ ॥
 यस्याऽऽनुत्तं वाचकत्वे आवाचन्त्वे, शोपं स्पधम् ।
 अधान्यदा सिहगिरि-देवता बह्वमुनेरेणम् ।
 विवायानदान धीमाद्, यथौ स्वर्गं समाधिना ॥ १०२ ॥
 बह्वस्वाभ्यथ संयुक्तः, साधूनां पञ्चभिः श्रुतैः ।
 संधेनः प्रसरकान्ति-स्यैव्याध्याय्यत् जनम् ॥ १०३ ॥
 इतश्च पाटलीपुत्रे, श्रेष्ठः श्रेष्ठौ धनो धनः ।
 तत्पुत्री रुक्मिणी नाम्नी, रूपापास्तपुत्रोमजा ॥ १०४ ॥
 साध्यस्तदानशाशास्त्रा-श्चक्रुर्वेज्जुगुणस्त्वितिम् ।
 वज्रमेव पतीयानी, श्रुत्वा तं रुक्मिणीं स्थिता ॥ १०५ ॥
 आगच्छतोऽप्यनेकान् सा, वरकरा इत्यपेथयत् ।
 साव्याऽन्ययुने हे जने, । मती परिणयन्यसौ ॥ १०६ ॥
 साऽवदत् मां न वज्रभिः, परिणयति चेतनः ।
 प्रभ्रजिष्याम्यहमपि, स्त्रियो हि पतिवन्मनाः ॥ १०७ ॥
 विहरत् पाटलीपुत्रे, वज्रोऽप्यन्येयुनामन् ।
 निययौ संयुक्तस्तस्य, नगरेशः सनागरः ॥ १०८ ॥
 हपुऽऽयातो वृद्धवृन्दै-दिव्यरूपात् बहुमुनीन् ।
 राज्ञोच संप वज्रस्ते-ऽन्ययुक्तस्यैकशायकः ॥ १०९ ॥
 मा मूर्त्पैरजनक्रोभाः, इति वज्रमुऽरुन्मदा ।
 हत्वा बपुःपराकुत्ति-भागच्छान्तिस्तशस्त्रीः ॥ ११० ॥
 पश्चिमस्वार्थेकं हष्टौ, वज्रः स्ववपुःपरिच्छदः ।
 सानन्दं वन्दितो राज्ञा, तत उद्यानवेष्टमानः ॥ १११ ॥
 धर्ममाख्यत्रप्रभुः क्षीरा-श्रवस्त्राध्यासितवितम् ।
 तेनाकितमनाः इमाजुत्, नाऽऽदितं कृत्तुपं तथा ॥ ११२ ॥
 अन्तःपुरं नदाचख्यौ, वध्मिन् तं तदप्यगात् ।
 भुत्वा भेष्टिसुना लोकात्, रुक्मिणी जनकं यथौ ॥ ११३ ॥
 आयातोऽस्यत्र वज्रः सः, तात । तस्मै प्रवेदि माम् ।
 सोऽथ बह्वृणयित्वा तौ, नित्ये सार्कं स्वकोटिभिः ॥ ११४ ॥

भगवान् धर्ममाचख्यौ, श्लोकः सर्वोऽपि राज्ञितः ।
 दृष्यौ चास्य यथाऽनेकः, गुणा रूपं न तादृशम् ॥ ११५ ॥
 ज्ञान्वा तदाशयं स्वामी, सहस्रदलमम्बुजम् ।
 हत्वाऽप्युचः स्वकृपस्यः, कवलीवापावष्टवा ॥ ११६ ॥
 तं वीङ्क्येवाच लोकःऽस्य, सहस्रं रूपमीदृशम् ।
 प्राथ्योऽङ्कनातो मा नृप-मिन्त्यास्ते स्यकृपजनाक ॥ ११७ ॥
 नृपाऽपि विासिनः साह, शक्तिरेवाऽपि पांऽस्ति किम् ? ।
 लक्ष्मीरेकाः साधूनां, तदाख्यन्त्यनेनैर्गुरुः ॥ ११८ ॥
 भेष्टिना मान्दपुत्र्याथे-स्तातुपारुष्यजनी च सः ।
 मरुका चेद्वदतिन्यस्तु, जगृहे साऽपि तद्व्रतम् ॥ ११९ ॥

अमुमेवाथंमाह—

“ जो कन्नाइ धणेण य, निमित्तो जा जुवणग्गिम्म गिहवरणा ।
 नयरग्गिम्म कुसुमनामं, तं वरररिंस्सि नमस्सामि ॥ १२० ॥
 पदानुसारिणा तेन, स्वामिना प्रस्मृता सती ।
 महापरिज्ञाप्यना-द्विषोऽहं जनेगामा ॥ १२१ ॥
 “ जेणुद्धरिणा विज्ञा, आगामसमा महापरिणायो ।
 वेदाभि अज्ञवदरं, अपाच्छिमो जो सुअहराणं ॥ १२२ ॥
 जगह अ शदिग्गिञ्जा, जंबुद्वीप इमाह विज्जाए ।
 गण्ण मारुणमनं, विज्जाए वस्स मे विस्सओ ॥ १२३ ॥
 जगह अ धारेअज्या, न इ दापय्वा मए इमा विज्जा ।
 अत्तपुञ्जा य मणुआ, होहिंति अओ पर अञ्जं ॥ १२४ ॥
 वज्रोऽथाऽमानु, पुर्ववेशा-द्विदम्पुत्तगणयम् ।
 अत्तच्छ तत्र दुग्गिंके, पन्थानोऽपधिपाकाः स्थिताः ॥ १२५ ॥
 नतः सङ्कु उधाम्याऽऽवार्धोऽसिक्तात्पति तम् ।
 पेटेऽथ विचया सङ्ग-मारोप्य प्रस्रियतः प्रभुः ॥ १२६ ॥
 शय्यातरस्तु वायथे, गतोऽन्यायाद्विज्ञाप्य तान् ।
 शिवां जिवाऽवदद्वृज्ज, प्रभो । साधुमिकोऽस्मि वः ॥ १२७ ॥
 अर्थदं स्मरता स्तु, साऽप्यथ्याऽपिः पेटः ।
 (“ साहग्गिम्म अचच्छहःग्गिम्मि उज्जुया य मज्जाए ।
 वरणकरणग्गिम्म अ तात, तिथस्स पमावणाए य ” ॥ १ ॥)
 पञ्चाऽनुत्पत्तिनः स्वामी, प्राप्नो नाम्ना पुरीं पुरीम् ॥ १२८ ॥
 मुनिक्क वसेत्त तत्र, श्रावकुलन्तर् भूरथः ।
 तत्र नाथाननः श्रोत्रो, गजा तेऽहं यवस्तनः ॥ १२९ ॥
 आहंतानां च तेषां च, वैश्वंयु रूपधेया पुनः ।
 कुर्वतो ज्ञानपुत्रादि, जनेऽन्यस्तन्यगमयः ॥ १३० ॥
 न्यवायन्त्याथ तेः पुण्या-पयहेतां राजवन्धेमा ।
 श्लाकाः पशुपतायां च, पुण्याभावं गुरुं जगुः ॥ १३१ ॥
 प्रतो । जैत्रतु युष्मात्, शान्तं वाऽऽमिनुयुषे ।
 श्रयोपत्य यथौ वज्रः, कृणाःमाहोहवरीं पुरिस् ॥ १३२ ॥
 हुताशनवने तत्र, पुष्पकुम्भः प्रजान् ।
 भगवाण्यत्तुमिषं च, नक्तितस्तस्य विन्तकः ॥ १३३ ॥
 प्रभुं हपुऽऽवदन्तोपा-त्किं वाऽऽजगामकारणम् ? ।
 स्वाम्युचं पुण्यस्मर्याः, स्वस्त्रा प्राणमर्थाः मम ॥ १३४ ॥
 स्वाम्युचं मुमनसोऽभि-मलेपर्यावद्व्यहम् ? ।
 लुब्धं हिमवति स्वामी, यथौ धीसन्धिर्वा ततः ॥ १३५ ॥
 देवाचार्योपास्तपथा, पथा पश्चाद्दशवदा ।
 प्रदेव प्रतुं प्रमेवंतं, प्रमुखा प्राणमर्थाः मम ॥ १३६ ॥
 ऊर्ध्वेऽथादिदयतो स्वामी, सोऽवद्व्यप्यमर्षयम् ।
 साऽप्येषां पृष्टीत्या स, हुताशनवद्वेऽजगत् ॥ १३७ ॥
 विमानं तत्र निर्माय, पुष्पकुम्भं निषाय च ।

अज्जकैः कृतसंगीतः, पद्यमूले स्वयं स्थितः ॥ १३४ ॥
 व्योम्ना पुर्या उपयागा-दुर्बिरः सौगतास्तनः ।
 अहो ! अस्मत्प्रातिहास्यं, देवा अप्यायुर्मुदिहः ॥ १३५ ॥
 तद्विहारेमधोऽङ्गकृष्ण, गतासेनैत्यमहेतः ।
 तन्माहात्म्यं नृपः प्रवेद्य, सपौरोऽप्याहंतोऽभवत् ॥ १३६ ॥
 उक्तमैवाधेमाह—

“माहेसरीउ सेसा, पुरिंभं नीआ हुआसखगिहाओ ।
 गयणतलमइवइत्ता, बहरणं महाउज्जवणं ॥ १ ॥
 माहइवयो नगयोः सकाशात् सख्यामिकात् नखरव्यादेरखामि-
 कात् प्रस्तावात्पुष्पसंपदिनि हेयम् । वज्जेण महाउज्जवदेर हुताशन-
 व्यन्तरगृहभूताऽऽरात्मात् गगनतलमगित्थनोत्येव अतिशयेन उज्ज-
 ह्व पुरिकां पुरीनाम्मीं नगरीं नीता, एवं विहरपुवज्जस्वामी श्रीमा-
 लपुरं गतः । इत्यन्तं कालं यावदुज्जयान्सापुधकत्वमासीत्, ततः
 पुधकत्वमहृदित्वाह—

“ अनुपुहं अनुओमां, खचारि तुबारभासप पगो ।
 पुहत्ताणुओगकरणे, ते अत्थ तमां अनुच्छिआ ॥ १ ॥
 आ०क० । आ० म० । आ० चू० । वि०ग० । पं० । आ०अ० । ध० । र० ।
 कल्प० । सं० । (अस्य वज्जस्वामिनोऽनशन्तं कृत्वा देवलोकागमनं
 ‘अज्जकिख्व’ इत्येवमेवनामं २१२ पुष्टे उक्तम्) अस्य वज्जस्वामिनो
 जन्म (वि० सं० २६) (स्वर्गोयु. ८८) (वि० सं० ११४ वर्षे) स्वर्गं गतः
 ज० ६०॥ अत्रकाव्यानि—“माहाग्निपदच्युल्लोकीके, येन बाहेन ली-
 लया । श्लिनतीस्तेदपूरस्ते वज्जेपिस्त्रावकथाम् ? ” ॥ १ ॥ आ०क० ।
 “वंदांमि अज्जधम्मं, तत्तो वेदं य जह्मुत्तं चं । तत्तो य अज्जव-
 इरं, तथंनियमगुणंहिं वय्हरस्सं ” ॥ नं० ॥ “ समज्जनि वज्जस्वामी,
 जुम्भकवेदायिनस्कुट्टद्विषयः । बाल्येऽपि जानजाति-स्मृतिः
 प्रतुष्णमदुपार्थी ” ॥ १ ॥ ग० ४ अर्थि० । अस्माचार्यस्य शिष्य-
 समुह-“ धरम्मणं अज्जवइरस्सं गोयमसगोअस्स अनेवासं ।
 धरे अज्जवइरस्सणं उक्तांनियगोस्सं । ” धरे अज्जवइरं धरे अज्ज-
 रहे ” । कल्प० । (नीयोऽत्रिकमन एत-भरणे स्थानाकृत्युच्छेदः)
 “ नरमवचिससपदिं, पणणासासम्मिपदि वोच्छेदो ।
 अज्जवइरस्सं मरणे, उाखस्स जिणंहिं निदिट्ठो ” ॥ १ ॥ ति० ।
 अज्जवइरंसेण-आर्यवज्जमन-पुं० । आर्यवज्जस्य शिष्यं, कल्प० ।
 अज्जवइरी-आर्यवज्ज-स्त्री० । आर्यवज्जाभिःसुत्तानां शाखाया-
 म्, “ अरेहिंतेणं अज्जवइरंदितां मे गोयमसगोत्ततो इत्थ
 णं धरेणइरं साहाणिग्गया ” । कल्प० ।

अज्जवइहाए-आर्जेवस्थान-न०० । आर्जेव सम्यरस्तस्य स्थाना-
 नि भेदा आर्जेवस्थानानि । साध्यार्जेवविषु सम्मभेदेषु,
 पंच अज्जवइणा पद्यता । तं जइ-साहुअज्जवं साहुमइवं
 साहुलायवं साहुखंती साहुमोची ।

सापु सम्यदर्शनपूर्वकत्वेन शोभनमार्जवं मायानिग्रहस्ततः
 कर्मधारयः, साधोर्वा यतेराजवं साध्यार्जेवम् । एवं शेषाव्यपि ।
 स्था० ५ अ० १ उ० ।

अज्जवइहाए-आर्जेवस्थान-त्रि०० । मायोदयनिग्रहप्रदाने, औ०
 अज्जवभावे-आर्जेवजाव-पुं० । अशशतायाम्, “ मायं चज्ज-
 वमावेणुं ” इ० ८ अ० ।

अज्जव्या-आर्जेवता-स्त्री० । मायावर्जनात्मके धमणभेदे, पा० ।
 अस्याः कलम—
 अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जण्यइ ? अकिंचणाय णं

काउज्जुयुयं जाडुज्जुयुयं अविंसवाययं जण्यइ । अवि-
 संवायणसंपसयाए जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ४२
 लोनाविनानाविनी च मायेति तदभावेऽवयवे प्रावाजं वमतस्स-
 दाह- (अज्जवयाए ति) सुखवाइदुश्चुत्तकस्स ज्जाव अज्जेवम, तत्र
 मायापरिहाररूपेण कायेन, श्वजुयं श्वजुयः कायश्चुत्तकस्स ज्जा-
 वस्तसा, कुञ्जादिवेषध्वविकाराद्यकरणतः प्राज्ञितः, ताम् तथा
 प्रावोऽभिप्रायस्सस्मिस्सनेन वा श्वजुकता भावश्चुत्तकता, यदन्य-
 दविचिन्तयत् लोके भक्त्वादिनिमित्तमन्यथाया कायेन वा स-
 माचरति तत्परिहाररूपा, एवं भाषायाश्चुत्तकता भावश्चुत्तकता, य-
 दपहासादिहेतोरन्यदेशभाषया भाषयं तत्परित्यागामिका,
 तथाऽविंसंवादनं पराविप्रनारणं जनयति, तथा विधिध्या-
 विसंवादनसम्पन्नतपोलक्षणत्वात् कायश्चुत्तकतादिसम्पन्नतया
 च जीवो धर्मस्याराधका भवति, विशुद्धाध्यवसायत्वान्यज-
 न्मन्यपि तदवितेः । उच्य० १७ अ० ।

अज्जविय-आर्जेव-न०० । मायावकतापरित्यागात् (आचा०)
 अमायित्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।
 अज्जेवय-आर्यवेदक-न०० । अग्निमाकारतत्सगोत्राभिःसुत्स्य
 चारस्यगणस्य पद्ये कुजे, कल्प० ।

अज्जसमिय-आर्यसमित-पुं०० । भार्यवज्जस्वामिमातुः सुतन्दाया
 ज्ञातृनि आर्यसिंहगिरिदिशये, कल्प० । आ० म० द्वि० । आ०
 चू० । येन योगप्रसावाइचपुरासम्भ्रमज्ञापे पाद्वेपेन जलो-
 परे गच्छन्ते तपस्सं जित्वा ते सानुपं प्रमाज्यं ब्रह्मही-
 पिका शाखा निर्गमिता । कल्प० । (‘ बंधदीपिया ’ शब्दे
 वक्ष्यामि)

अज्जसमुद-आर्यसमुच्च-पुं०० । उदधिनामनि आचार्यभेदे, ज-
 ह्वाबलपरिवर्तानामनुपधिनाम्नाभार्यसमुद्राणामपराक्रमं म-
 नस्यमभूदिनि वृद्धप्रसिद्धिः । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

अज्जसाम-आर्यश्याम-पुं० । आरात्, सर्वदेवधर्मभ्यो यातः
 प्रातो गुणैरित्यार्यः, स चासौ श्यामश्च आर्यश्यामः ।
 प्रहापनाहृत्तिकात्काचार्यनामके आचार्ये, प्रहापनासूचक-
 रणप्रयोजनादि तदुपक्रम एवोक्तम्—“ वायगवरंसाओ, ते-
 वीस्स इमेण धीरपुरिसेणं दुद्धरयेण मुणिएणा, पुव्वसुयसमि-
 ख्खुडीणे ” ॥ ३॥ “ सुयसागरा वि एक-ए जेण सुयसुयसमु-
 सं दिव्थं । सीसगणस्स भगवओ, तस्स खामो अज्जज-
 मस्स ” ॥ ४२॥ (‘ पद्मवणा ’ शब्दे चैतद् व्याख्यास्यते)

अज्जसुहृत्थि (ण्)-आर्यसुहृत्तिन्-पुं०० । आर्यस्फुल्ल-
 र्दस्य शिष्ये स्थावरे, आच० ४ अ० । धैराव्यसुहृत्सिभिर्दीक्षितो
 द्रमको मृत्वा सम्प्रति नामा राजाऽभूत् । कल्प० । (‘ संपर ’
 शब्देऽस्य कथानकम्)

अज्जसुहृत्थि (ण्)-आर्यसुधर्मन्-पुं०० । अमरस्य भगवतो
 महावीरस्य पञ्चमे गणधरे, तत्सकपं वेदम्-कुल्लागसभिवेशे
 धम्मिल्लविप्रस्य भार्य्या भद्रिला, तयोः सुतत्त्वमुदंशविद्यापात्र-
 म् । पञ्चाशद्वर्षान्ते प्रव्रजितः । विशद्वर्षाणि वीरस्सया कृता वीर-
 निर्वाणद्वद्वाद्दशवर्षान्ते जन्मतो द्विनवतिवर्षान्ते च कथत्तम् ।
 ततोऽष्टौ वर्षाणि केवलित्यं परिपाल्य शतवर्षायुषं जम्बूस्वा-
 मिनं स्वपदे संख्याय शिषं गतः । अन्त० १ वर्गं । कल्प० । सं० ।
 अज्जसेणिय-आर्यसैनिक-पुं०० । आर्यशान्तिसैनिकस्य द्वि-
 तीये शिष्ये, कल्प० ।

अञ्जसेषिया—आर्यसैनिकी—स्त्री०।आर्यसैनिकीकर्मितायां
शाब्दायाम्, “ येनेदितो शे अञ्जसेषिपरहितो इत्थं अञ्ज-
सेषिया साहा सिग्म्या ” कल्प० ।

अञ्जा—आद्या—स्त्री० । भ्रातृ भवा, विनादित्वात् यत् । वाच०
‘ गवि ’ इति केचित् । अन्विक्त्याय, दे० ना० १ ध्व० ।
आर्या—स्त्री०। अञ्ज—एयत् । प्रशान्तकृपायां तुर्गोयाम्, हा० ८ भ०,
ग० । सतचतुष्कलगणादिव्यवस्थानिकेः मात्राभ्रन्दादि, जं० १
षक० । आर्यसंस्कृततन्त्रभाष्यसु गद्यासंज्ञा । ग० १ अचि० ।
आर्यारचनं हि एकविंशतिकृपायां कलायां गण्यते (तच्च ‘ कला’
शब्दे तु० ना० वृष्टे ३७७ द्रष्टव्यम्) हा० १ अ० । साध्याम्,
ग० ३ अचि० । आर्यासामाचार्याः स्वनिकामाभ्रमण दृश्यते
विस्तारस्तु यथास्मानम् (‘पकागि’शब्दे पकाकित्यनिषेधो बहयते)
आर्याया शुद्धिसमकं दुष्टभाषणे दोषमाह—

जत्थ जयारमयारं, समणी जंषं गिहृत्पपक्वखं ।

पक्वखं संसारं, अञ्जा पक्वखं द्रप्पाणं ॥११०॥

यत्र गच्छे (जयारमयारमिति) अवाच्यदुष्टगालिरूपं जकार-
मकारसहितं बचनं या अमणी शुद्धस्थप्रत्यक्षं गृहिसमकं जल्प-
ति । हे गौतम ! तत्र गच्छे सा आर्या आत्मानं संसारं प्रत्यक्षं सा-
क्षात् प्रकृष्यतीति ॥ ११० ॥ (‘ गार्तरथयवयण ’ शब्दे दोषं
प्रायश्चित्तं च वक्ष्यामः)

आद्यायांया विचित्रवस्त्रपरिधानं दोषमाह—

गणि । गोअम ! जा उचिअं, सेअवत्वं विअज्जउं ।

सेवप चित्तरूपाणि, न सा अञ्जा विआइआ ॥१११॥

हे गणित् गौतम ! याऽऽयां उचितं श्रेष्ठवस्त्रं विचित्रं
विचित्र-
पाणि विविधवर्णानि विविधानि विचानि वा वस्त्राणि सेवते,
उपसङ्गान्पात्राद्गण्डपादयि चित्ररूपं सेवते, सा आर्या न कथि-
तेति । विषमाक्षरैते गाथाभ्रन्दः ॥ १११ ॥

अद्यायांया शुद्धस्थादीनां संविनादिकरणे दोषमाह—

सविणं तुअणं जरणं, गिहृत्थाणं तु जा करे ।

तिअणुव्वट्ठणं चावि, अप्पणो य परस्स य ॥११२॥

या आर्यां शुद्धस्थादीनां शुद्धादन्यतार्थिकादीनां च वस्त्रकर्म-
स्त्रीनांशुकादिसंघिच सविणं, तुअणं, [जरणमिति] भरणं करो-
ति, तथा या आत्मानम् स्वस्थ परस्स च शुद्धस्थिकाभादेः (तिष्ठ-
ति) तैलान्नाङ्गम् (उव्वट्ठणंति) सुरभिष्णुणांदिनेभ्रतंनं च अपीति-
शब्दाक्षयनाभ्रनमुक्त्वात्तलनपरमनादिकं च करोति, न सा आ-
र्यां व्याहृतेति पूर्वगाथात् आकर्षणीयम् । तस्याः पाम्बस्थादि-
त्वसमासाद्गन्तात् । ग० ३ अचि०। (अत्र सुत्रज्ज काली चेत्युदा-
हरणे ‘ बहुमुत्तिआ ’ काली ’ शब्दयोः गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्या)
अथ गाथात्रयेण गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्याः दृश्यन्ति-

गच्छइ सवित्तामर्गइ, सपणीयं नूलिअं सविण्णोअं ।

उव्वट्ठेइ सरिइं, सिणाणमर्गइ जा कुणइ ॥ ११४ ॥

गेहेसु गिहृत्थाणं, गन्तुण कडा कहेइ काही आ ।

तरुणइ अह्विभनेने, अणुजाणे साइ पणिणीया ॥११५॥

याऽऽर्यां सविण्णोचं यथा स्वास्थ सवित्रासा गतिव्यस्थाः सा
सवित्रासगतिगच्छति, तथा शयनीयं पक्वङ्गादि वा नूलिकां
संस्कृतस्तादृश्रुतामकनूलादिश्रुतां वा, तथा या शरीर-
सुद्धयति, तथा या स्नानादीनि च करोति । अथवा सवित्तास-

गतिगच्छति तथा शयनीयं नूलिकां च (सविण्णोचं ति) उच्छ्रि-
पंकसहितं सेवते । शेषं तथैव । तथा गृहस्थानां गृहेषु गत्या
उपसङ्गत्वात् उपाश्रयेऽपि स्थिता संयमयोगाद् मुक्त्वा वा
कायिका कथिकसङ्गणोपेता आर्या कथा धर्मविषयाः संसार-
व्यापारविषया वा कथयति, तथा या तरुणादीन् पुरुषान् अवि-
पतत अविमुक्तमाच्छतोभुजानानि सुन्दरमागमनं प्रवर्ततां पुनराग-
मनं विषयेषु, कार्यं ज्ञात्यभित्याद्विप्रकारेण ‘ ई जे इराः पादपूरणे’
॥२२१७॥ इति प्राकृतसूत्रोक्तैरकारः पादपूरणायां । गच्छप्रत्य-
नीका शशुतुल्या स्वात्, अगवदाहाविराधकत्यादिति ॥ १५ ॥

वृद्धाणं तरुणाणं, रचि अञ्जा कहेइ जा धम्मं ।

सा गणिणीं गुणसायरं । परिणीया होइ गच्छस्स २१६
बुधानां स्थविराणां, तरुणानां युमां, तरुणाणं (रचि ति)
‘सतम्या द्वितीया’ ॥३११३॥ इति प्राकृतसूत्रेण सतम्रीस्थाने
द्वितीयाविधानात् । रात्री वा आर्यां गणिनीं (धम्मं ति)
धम्मकथां कथयति, उपसङ्गान्दु दिवसऽपि या केवल-
पुरुषाणां धर्मकथां कथयति, हे गुणसायर ! हेऽन्धभूते ! सा
गणिनी गच्छस्य प्रत्यनीका भवति । अत्र च गणिनीप्रवचनं शे-
पसाञ्चीनामपि तथाविधाने प्रत्यनीकत्वमवसेयमिति ॥ ११६ ॥

अथ यथा भ्रमणीभिर्गच्छस्य प्रधानतः—

स्यात् तथा दर्शयति—

जत्य य समणं।णममं—सख्दाइं गच्छम्मि नेव जायति ।

तं गच्छं गच्छवरं, गिहृत्थभासाठ नां जत्थ ॥ ११७ ॥

यत्र च गणे भ्रमणीनां परस्परम् (असंस्तरानि) कदादा नैव
जायन्ते नैवावगच्छन्ते, तथा यत्र गणे गृहस्थानां जायाः ‘मामा
आइ वाप जाइ’ इत्यादिका अथवा गृहस्थैः सख साधुप्राया
गृहस्थप्राप्त्यास्ता नोच्यन्ते, स गच्छः गच्छवरः सकलगच्छप्रधान-
नः स्यादिति ॥ ११७ ॥

अथ स्वच्छन्दाः भ्रमणो यत् प्रकुर्वन्ति

तत्राथापञ्चकनं प्रकटयति—

जो जत्तो वा जाअं, नाऽऽलोअइ दिवसपक्खिअं वा वि ।

सच्छन्दा समणीआं, ययहरिआए न जायति ॥ ११८ ॥

यो धायान् वा अतिचार इति शेषः । आतः उत्पन्नः, तं तथा
दैवसिकं पाक्किं वा अग्रिशब्दात्तुमौसिकं सायस्तरिकं
वाऽतीचारं नाऽऽलोचयन्ति । अत्र वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात् ।
स्वेच्छन्दाचारियः भ्रमणयः, तथा महत्तरिकाया साध्या आहा-
यामिति शेषः । न तिष्ठन्ति इति ॥ ११८ ॥

विट्ठियाणिय पंजजति, गिआणमेहीए मेव तपंति ।

अणगादे आगाइं, करंति आगादि अणगादं ॥ ११९ ॥

विट्ठलिकानि निमित्रादीनि।पिपटंठं निमित्रादीयोघनिपुंकिवृ-
त्त्यादी व्याख्यानात् । तानि प्रयुज्जते।अणपि वचनव्यत्ययः प्राकृत-
त्वादि च । तथा भ्रान्ताश्च गोगिययः शैक्ष्यश्च नवदीकित्ता इति शब्दः ।
अनस्ता नैव तर्पयन्ति-औषधभेयवज्जपात्रज्ञानदानादिना नैव
प्रीणयन्तीत्यर्थः । अत्र सूत्रे “ कस्विद् द्वितीयादेः ” ॥३१३५॥
इति प्राकृतसूत्रेण द्वितीयास्थाने षष्ठी । यथा—“सोमाधरससंवे-
दि” तथा आगादमवश्यकरंशं भ्रान्तप्रतिज्ञाजरायादिकं, न
आगादं अनागादं तस्मिन् अनागादे, कार्ये इति शेषः । आगाद-
मवश्यकरंशैत्यमिति कृत्वा कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा आगादेऽवश्यकरं-
शे कार्ये आगादं कार्यं, येन कृतेन विनापि सरति तत्कार्यं कुर्वन्ती

त्यर्थः । अथवा अन्नाद्ययोगानुष्ठानं वर्तमाने अन्नाद्ययोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, तथा अन्नाद्ययोगानुष्ठानेऽन्नाद्ययोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, स्वच्छन्दाः अमणय इति कर्तुं परं पूर्वगाथात आकर्षणीयम् । एवमप्रोक्तगाथाधिकेऽपीति ॥ १६९ ॥

अजयाए पकुञ्चति, पाहुणगाण अक्वञ्चला ।

चिचलयाणि असेवन्ति, चित्ता रयदहरो तहा ॥ १७० ॥

अयतनया ईर्ष्याघाशोनेन प्रकुञ्चन्ति गमनादिकमिति शेषः । तथा प्राधुषणकानां प्रामाण्यराधागतसाध्वीनामवसला निर्दोषियुजाभवादिना मकिन कुर्वन्त्यर्थः तथा निचन्नानि, सूत्र च करत्यर्थः स्वाधिकः, प्राहूनलक्षणवशात् । अकारः स्तुभ्यर्थः । विचित्राणि वस्त्राणि इति शेषः । संवन्ते परिदधानि, तथा चित्राणि पञ्चवर्णयुक्तादिरचनार्थानि रजोहरणानि सेवन्ते धारयन्ति । स्वच्छन्दाः अमणय इति, विपमाङ्कुरति गाथाच्छन्दः ॥ १७० ॥

गद्विभवाइएहिं अगार-विगार तह पयासति ।

जह वुहुगाण मोहो, समुदरेइ किं तु तणाणै ॥ १७१ ॥

स्वच्छन्दाः अमणयो गतिविभ्रमादि (अगारविगार सि) अत्र विकलोलपः प्राहूनत्यात् । तत्र आकारं मुखनयनस्वनाद्याद्युक्तिं, विकारं च मुखनयनादिव्युक्तिं, यज्ञ-आकारस्य स्वाभाविकाकृतैर्विकारो विद्वन्ति तथा प्रकाशयन्ति प्रकटयन्ति यथा वृकानाम्, अप्रमथ्यमानस्यान्वयाव्यवराणामपि मोहः कामानुरागः, सुमुद्यतेन समुपपद्यते, किं पुनस्वनानामम्, तेषां सुतरां समुपपद्यत एवमर्थः । तुः पुनर्थः ॥ १७१ ॥

बहुमो उच्छाञ्चन्ति, मुदमणये दृश्यपायकत्रवाओ ।

गिगहेइ रागमंदल, मोदंदिअ तह य कव्वेइ ॥ १७२ ॥

मुखनयनानि हस्तपादकक्षाश्च बहुमो वार वारं उच्छालयन्ति स्वच्छन्दाः अमणयः । तथा रागमण्डलं वसन्तादिरागसमूहं अमनन्तह यत् पदस्य 'गिगहेइ' इतिपठेन सह संबन्धात् । तह य गिगहेइ (सि) नयेव युञ्जन्ति नयेव कुर्वन्तीत्यर्थः । यथा (कव्वेइ (सि) कल्पस्थाः समसपरिभाषया वाञ्छकान्तेयामपि श्रोत्रेन्द्रियं भ्रवणन्द्रियम्, 'गिगहेइ' इति क्रियाया अत्रापि संबन्धाद् युञ्जन्ति हरन्तीत्यर्थः । अथवा कारणेण कायेषुचान्तु रागो रागोत्पत्तिहेतुर्ननु, यथा-मन्थे शृङ्गारगीतादि, नयनेऽञ्जनादि, मस्तके मीमन्तदि, हलाटे नित्रकादि, कण्ठे कुमुममालादि, अथेरे ताम्बुलरागदि, शरीरे चन्दनलोपादिः तस्य मण्डलं समूहं तथा युञ्जन्ति यथा बाञ्जानामपि श्रोत्रेन्द्रियमुत्पन्नयुञ्जन्त्याद्यर्थदिन्द्रियचतुष्टकं मनश्च युञ्जन्ति हरन्ति । अत्रोत्तराकं पात्रान्तरम् । यथा-'मण्डलं रामण मंडलं, भाष्यं च ताउ कव्वेइ' । अस्यापि युद्धस्वायत्तकानां प्रदणं कुर्वन्ति, रामणं मञ्जारीनेन, मार्कमं वा प्रसन्नमन्थे, यदि वा ताः कल्पस्थान् युद्धस्थवाञ्छकां ज्ञेयार्थिनि । अत्रापि गाथायां विन्यक्तोलोपादिभक्तिव्यवचनव्यवस्थाः प्राहूनत्यादेचित्ति ॥ १७२ ॥

अथ साध्वीनां शयनविधिं दर्शयन्नाह-

जत्य य थेरं तरुणो, थेरं तरुणो य अत्रोरे सुयडे ।

गोअम । ते गच्छवरे, वरणाणचारित्तआहारे ॥ १७३ ॥

यत्र च गणे स्थयिरा, ततस्तर्हणो, पुनः स्थयिरा, ततस्तर्हणो-वसन्तरीताः साध्यः स्थयन्तीति भाष्यार्थः । तर्हणो ना निरन्तरशयने हि परस्परजङ्गाकरस्तनादिसुपरीनेन पूर्वकीर्तितस्मरणान्दीशयः स्वादन्तः स्थयिरान्तरिता एव ताः शरते । हे गौतम ! वरणाणचारित्तआहारे तं गच्छवरे जामीदीति ॥ १७३ ॥

अथ या आर्या न भवन्ति ता गाथाभरणे दर्शयन्ति-

धोअंति क्रियांआओ, पाओन्तं । तह य दिनि पोत्ताणि ।

गिहिकञ्जचित्ताओ, नहु अञ्जा गोअमा ! ताओ ॥ १७४ ॥

कण्टिका गलप्रदेशान् धावन्ति नीरेण क्षालयन्ति, तथा (पोत्तंति सि) मुक्ताफलचिदुमादीनि प्रोतयन्ति, गृहस्थानामिति गम्यते । तथा च (पोत्ताणि सि) शालकाद्यर्थे अस्त्राणि वदन्ति, अकारादीपद् चकारादिकमिति वदन्ति । अथवा 'पोत्ताणि सि' जलादीकृतवस्त्राणि वदन्ति, मलस्फोटनाय शरीरे चषयन्तीत्यर्थः । तथा गृहकार्यविचिता आगारकृत्यकारणतत्परान्, हे इन्द्रभूते ! ता आर्या न हुनैव भवन्तीति गाथायाः ॥ १७४ ॥ खरयोपाहुण्डाणे, वयंति ते ना वि तथ वञ्चति । वेसत्थीसंभर्गो, उवससाओ समीवमि ॥ १७५ ॥

खरा गर्वाभाः, घोटकास्तुत्कामाः आदिशब्दाद् इत्याद्यर्थः, तेषां स्थानि वा व्रजन्ति । उक्तं च व्यवहारभाष्यसमावेशक- "तह चेष ह्यिच्छासला, घोडगमालान् चेष आसन्ना । जंति तह जेतसाला, कोहीयत्तं च कुव्वन्ति" । अथवा [खरसि] खरका दासाः, घोडा भट्टाः, अथ चानयोः शब्दयोरर्थः, आदिशब्दान् स्तुतकाराद्यर्थः, तेषां स्थानि व्रजन्ति, ते वा गर्वभाष्याद्यर्थे दासभट्टादयो वा, तत्राऽऽर्थिकोपाश्रये व्रजन्ति समायान्तर्यः । औप्यवहारभाष्यसमावेशकः (विद्वं प्रथमपदस्य पाठान्तर्य- 'धलिघोडाहट्टाणे नि' नत्र स्थाल्या देवद्वेगयः, नत्र घोटा निङ्गराः, अत्रादिशब्दस्वभाविय देवादिङ्गणमनेकभेदव्यापनार्थः, तेषां स्थानि व्रजन्ति । तथा स्थाल्यादेव विङ्गणपरम्परायास्तत्रार्थिकोपाश्रये व्रजन्ति । तथा वेण्यास्त्रीसंभर्गो पुमान् स्तद्वेव यासां संभर्गो वसन्ति, यदि वा वेण्यास्तुहसमीपे यास्तामुपाश्रयः । ता आर्थिका न भवन्तीति शेषः ॥ १७५ ॥

संभर्गामुक्तुगोगा, धम्मकहादिकदपसए गिहैओ ।

गिहिनिसुजेजं वाहि-निं संघयं तह करंतीओ ॥ १७६ ॥

स्वाध्यायेन मुक्तो योगो व्यापारो यासां ताः स्वाध्यायमुक्तयोगाः 'लुक्कायजोग सि' पाठे तु यदुक्तयेव मुक्तो योगो यतनालक्षणे व्यापारो यतिभस्ताः यदुक्तयेव मुक्तयोगास्तथाभूताः सत्यो गृहिणा धर्मकथनामाप्त्यानां विकथानां च लीकथादीनां करणे, प्रपण्ये प्रपण्ये च नानारूपे गृहिणामुक्ताः, तथा या गृहिनियथा वाचन्ते गृहे निपद्यन्तुपविशन्तीत्यर्थः । तथा याः संस्तवे परित्यजं गृहस्थेः सह कुर्वन्त्ये वर्तन्ते, ताः साध्वी न भवन्तीति ॥ १७६ ॥ न ॥ ३० इ अथिओ ।

अथ गाथाभरणे वचनमुत्तिमाश्रय साध्याचारं दर्शयन्ति-

जत्तुत्तरपडित्तर, वुडिअ अञ्जा उ साहुणा सत्थि ।

पलवंति मुरुहा वा, गोयम । किं तेण गच्छेण ॥ १७७ ॥

यत्र गणे अथा साधुना सार्द्धमुत्तरं प्रत्युत्तरं वा (बुद्धि सति) बुद्धा अपि ताः, अप्यर्थस्यात्र योजनान्, तथा सुरुहा अपि भूयं संभवा अपि प्रपन्नति प्रकण्णे वदन्ति । हे गौतम ! तेन गच्छेन किम् ? न किमपीत्यर्थः ॥ १७७ ॥

जत्य य गच्छे गोयम ! उप्पण्ये काणम्मि अञ्जाओ ।

गारिणीपिच्छिअओ, जासंती मउअमहेण ॥ १७८ ॥

हे गौतम ! यत्र च गच्छे ज्ञानादिकारेण उत्पन्ने (अञ्जाओ सि) आर्याः साध्वी गन्तवीपुच्छिथता मुक्तकथाभ्यं भाषन्ते स गच्छः स्वादिनि शेषः ॥ १७८ ॥

माऊए छहियाए, मुएहाए अइव नइणियाईणं ।

जत्य न अज्ञा अकखइ, गुणिविभेयं तयं गच्छे ॥ १३१ ॥

यत्र मच्छे आर्यां मातुः डहितुः स्तुत्याया अथवा भगिन्यादीनां संबन्धि (गुणिविभेयं ति) गुणैरेवमनुजैरेदो अङ्गे यस्मात्तद् गुणिविभेयम्, नात्रकोट्ट्याटकमित्यर्थः । वचनमिति शेषः । नाक्यासिद्धिं बह्वकुलं अथति-हे मातः ! हे स्तुतेः ! हे भंगिनि! इत्य-दिनात्रकोट्ट्याटकवचनेन माताश्रीनाम्नापत्तयि । यत्कलं श्रीशशै-काक्षिके सतमाध्ययने-“ अउजए पउजए वा वि, अम्मो माउ-लिय ति अ । पिउरिस्सए भायणिज्जति, धूए ननुणियत्थिय ॥११ ॥ १५ ॥ तथा-“अउजए पउजए वा वि, वण्णुज्ज पिअ ति अ । माउहा भायणिउज्ज ति, पुत्ते मनुणियत्थिय ॥१७ ॥ अथया ममेयं माता ममेयं डुदितेत्यादि, अइमस्या वा माता अइमस्या वा उदित्ता अइमस्या वा धपूट्टीत्यादि वा नात्रकोट्ट्याटकवचनेन कारणं जिनो न जसपति । अथवा मायाश्रीनामापि ‘गुणिविभे-यं ति’ गोपनीयमर्थं न कथयति; स गच्छः स्यादिति ॥१३१॥

अथ गाथाप्रयेण साध्वीस्वरूपवक्तव्यतागोपमाह-

दंसपियायारं कुणई, चारिचनामं जणेइ भिच्छत्तं ।

दुएण वि वग्गाएउज्जा, विहाउभेयं करेमाण्ण ॥ १३२ ॥

दर्येणतिचारं करोति, चारित्रनाशं, मिथ्यात्वं च जनयति, इ-योरपि वर्गयोः साधुसाध्वीरूपयोः, आर्याः किं कुर्वाणाः?, विहार-आगमोक्तविभक्ता विचरणम्, तस्य अेदो मर्यादांलङ्घनम्, तं कुर्वाणाः ॥१३२॥ ग० ३ अथि० ।

आर्योणां ज्ञापणप्रकारः—

तम्मूलं संसारं, जणेइ अज्जा वि गोयमा । नृणं ।

तम्हा धम्मवएरसं, मुत्तुं अन्नं न भासिउज्जा ॥ १३३ ॥

तद् धर्मोपदेश्यत्पत्तिकं वाक्यं, मूलं कारणं यत्र संसारजनने तत्तम्मूलं, तद्यथा स्यात्तथा हे गौतम ! आर्योऽपि साध्वयपि तुं निश्चितं संसारं जनयति विध्वर्ययति, अस्मात् इति शेषः । तस्मा-त्कर्मोपदेशं मुक्त्वा अन्यदर्शमार्यां न ज्ञापेत् ॥१३३॥

माते माते ऊ जा, अज्जा एगसित्थेण पाएए कलहे ।

गिहत्यजासाहिं, सव्वं तीइ निरत्थयं ॥ १३४ ॥

‘मासे मासे ऊ’ इत्यत्र “क्रियामध्येऽवबालो पञ्चमी च” इति सूत्रेण सप्तमी । वीप्सायां चिध्वचनम् । तुश्चैवकारार्थः । ततश्च मासे मासे एव नत्वर्थमासादौ या आर्या साध्वी एकसिद्धेन एककणेन पारयते पारणकं कुर्यात् । (कलहे ति) कलहयेच्च कलहं कुर्यात् । गृहस्थजात्याभिर्मेमांसांघाटननापमदानजकारण-कारादिवचनैरित्यर्थः । अथया कलहे रादौ गृहस्थजात्याभिः क्रि-यमाणे स्वर्गति शेषः । सर्वे तपः प्रवृत्तिं धर्मात्पुण्यं तस्याः निरर्थकं निष्फलमिति । विषयमाकरोति मायात्कण्डः ॥१३४॥ ग० ३अथि० ।

अम्यच्च साध्वीनामनाचारिणम्—

जत्य य तेरसहन्थे, अज्जाओ परिहरंति नाएधरे ।

मागमा सुयदेवामिब, सव्वमवि त्थी परिहरंति ॥

इनिहासलेह्कंदे-प्पणहवादाणं कीरए जत्य ।

धावणदुवणल्लंयण-मयाजयाउत्तरणं ॥

जन्थित्थीकरफरिसं, अंतयिं कारणे वि उप्पये ।

दिट्ठीविसादिचग्गी, विसं व वज्जिउज्ज स गच्छे ॥

जन्थित्थीकरफरिसं, लिंमि अरहाविसयमावे करंउज्जा ।

तं निच्छयओ गोयम ! जाणिउज्जा मूलगुणवाहा ॥

मूलगुणेहि उ खलियं, बहुगुणकालियं पि क्खित्तंसंपभं ।

उत्तमकुले वि जायं, निद्धाकिउज्ज जहि तहि गच्छं ॥

अथ हिरस्सुववणं, जणधमे कंसदोसकलिहाणं ॥

सपणाए आसणाए य, नयपरिभोगो तयं गच्छं ॥

जत्य हिरस्सुववणं, हत्थेण परायं पि नोच्छिप्ये ।

कारणसमपियं पि हु, खणांनिमिसच्छं पि तं गच्छं ॥

दुद्धरबंजनवयपाल-णट्ट अज्जाए वषलविचाणं ।

सतसहस्सं परिहरे-उज ए वी जत्थत्थियं तं गच्छं ॥

जत्पुत्तरवचपदिउ-त्तरोहि अज्जा उ साह्मिा सार्द्धं ।

पलवंति सकुच्चा वि य, गोयम ! किं नेए गच्छेण ? ॥

जत्य य गोयम ! बहुवि-प्पकञ्जोत्तचंलमणए ॥

अज्जाणमणुट्टिज्जाइ, जणियं तं केरिसं गच्छं ? ॥

जत्य कवंगसरिरो, साह अणत्ताहु णिच्च हत्थयया ।

उहं गच्छेज्ज बहिं, गोयम ! गच्छम्मि का मेरा ? ॥

जत्य य अज्जाहि समं, संलाउद्धावमाइ ववहारं ।

मोत्तं धम्मवएरसं, गोयम ! तं केरिसं गच्छं ? ॥

भवयाणियत्थंविहारं, णिययविहारं ण ताव साहूणं ।

कारणनीयावासं, जो सेवे तस्स का वचा ? ॥

निम्मम निरहंकारे, उज्जुत्ते जाहदंसणचरित्ते ।

सयलारंभविमुक्के, अप्पन्दिवच्चे सदहेत्ते ॥

आयारमाययंते, पगस्सेत्ति वि गोयमा ! मुण्णो ।

वाससयं पि वसंते, गीयत्थाराहगे जणिए ॥

जत्य समुद्देमकाले, साहूणं मंदझइ अज्जाओ ।

गोयम ! उचंति पादे, इत्योरज्जं न तं गच्छं ॥

जत्य य हत्थसए वि य, रयाणीवारं चउएहमुण्णाओ ।

उहं दसएहमसई, करेत्ति अज्जाउ णो तयं गच्छं ॥

अववाएण वि कारण-वमेण अज्जा चउएहमुण्णाओ ।

गोयम ! वीपरिमक्के-तिजत्य तं केरिसं गच्छं ? ॥

जत्य य गोयम ! साहू, अज्जाहि समं पइम्म अउए ॥

अववाएण वि गच्छे-ज्ज तत्थ गच्छम्मि का मेरा ? ॥

जत्य य निमहिभेयं, वक्कणुगणुगुदीराणं साहू ।

अज्जाओ निरिक्खेज्जा, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥

जत्य य अज्जालद्धं, पदिमगहमादि विविहउवगरणं ।

परिअंइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥

अइ दुलहं जेमअं, बलउद्विदिवहणं वि पुट्टिकरं ।

अज्जालद्धं अंजइ का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥

साऊण गइ सुकुमासि-याए तह ससगजसगजइए ।

ताव न वीसभियव्वं, सेयट्ठी पम्मिओ जाव ।

ददचारित्तं मोत्तुं, आयरियं मयइरं च गुणरासिं ।

अज्जा वजावेई, तं अणगारं न तं गच्छं ॥

यएणांजिय कुट्टुकुट्टुव, विउउदुगेज्ज मूढहिययाओ ।

होउज बावारियाभो, इत्थीरजं न तं गच्छं ॥
 पक्कला सुयदेवी, ते च सप्पीइ सुराहि अणुया वि ।
 जत्य एरिसए कुज्जा, इत्थीरजं न तं गच्छं ॥
 गोयम ! पंचपहव्यय-गुणीयं दसविहसस धम्मसम ।
 एकां कइ वि खमिउज्जद, इत्थी रजं न तं गच्छं ॥
 दिण्णदिकिवलयस दमण-स अमिभुहा अज्जवदेणा अज्जा ।
 निच्छइ आमणगहण्यं, मो विण्णभो मव्वअज्जाणं ॥
 वाससयदिकिसयाए, अज्जाए अज्जदिकिवभो साहू ।
 जत्तिभरनिउजराए, वेदणविण्णएण सो पुज्जो॥महा०५०५० ।
 (उपपयादिकम ' उवहि ' आदिशब्देषु ७० प्रा० १०६०)

पृष्ठे दृष्टव्यम्) नि० सू० । ग० ।

अञ्जनाकल्प-आर्याकल्प-पुं० आर्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याकल्पः । साध्वीनाताऽऽहरे, ग० ।

अध्यार्याण्यतिकरेण गच्छस्वकल्पमेव गाथादशकेनाह-जत्य य अञ्जनाकल्पो, पाण्चचाए वि रोउउत्तिभक्से ।

न य परिमुज्जइ सहसा, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥६१॥

यत्र च गण्ये आर्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याकल्पः, साध्वीनाताहार इत्यर्थः । प्राण्यत्येऽपि मरुत्तानामनेऽपि, रोउउत्तिभे दाकणुत्तकाले, नच नैव, परिमुज्यते साधुभिन्निति शेषः । कामः, सहसति । अविच्युत्य संयमस्य विराधना-विराधने, यतः सर्वत्र संयममेव रक्षत, संयमे च तिष्ठति आन्मानमेव रक्षत, आत्मानं च रत्नं हिंसादिदोषाद् मुच्यते । मुकस्य च प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशुद्धिः स्यात् । तेन च हिंसादिदोषप्रतिषेधनकालेऽप्यविचरति, । तस्याशये विशुद्धतया विशुद्धपरिणामत्वात् । उक्तं श्रीचरित्युक्तौ गाथायाम्-“सर्वत्र संयमं सं-जमाउ अण्णाममेव रक्खना । मुक्खइ चायाभो पु-ण्णा विसोहीन याविहरे” ॥१॥ नतो विमृश्य परिमुज्यतेऽपि अस्त्रिकापुत्राचार्यैरिव । यदाह-“अविण्णपुत्राचार्यो, मत्तं पाणं च पुण्णचूलाए । उवणीयं भुंजतो, पंचपवणं सो अलंगज्जा” ॥१॥ हे गौतम ! स गच्छो भणित् । सूत्रे नपुंसकत्वं प्राकृतत्वादि-त्ति ॥ ६१ ॥ ग० २ अधि० । अस्त्रिकापुत्राचार्यसंबन्धश्च ‘ अ-धिआउच ’ शब्दे धक्यते)

अज्ञान्यदिज्ञ-आर्येणान्दिन्दल-पुं० आर्यमज्ञोः शिष्ये आर्येनाग-द्विज्ञागुरौ, न० (व्याख्यास्य ‘ अज्जणदिल ’ शब्दे दृष्ट्या)

अञ्जालच्छ-आर्यालच्छ-त्रि० । सार्धो प्राप्तिः । ग० २ अधि० ।

जत्य य अञ्जालच्छं, परिगहमाइं वि विविदउवगरणं । परिमुज्जइ साहूइं, तं गोयम ! करिसं गच्छं ? ॥६२॥

यत्र च गण्ये आर्यालच्छं सार्धोप्राप्तं पलद्वयहादिकं विविध-मुपकरणमपि किं पुनराहादिकमित्यादिवाच्यार्थः । कारणं यिन साधुभिः परिमुज्यते, हे गौतम ! स कीदृशो गच्छः?, न कीदृशो-ऽपि नान्नाऽऽयालच्छं पतद्वयहाद्युपकरणस्य कथं संबन्धितं, अर्थोनां गृहस्थसकाशात् स्वयं वस्त्रपान्नस्यैव प्रहणनिषेधात्, ग्रहणे च प्रायश्चित्तम्, अनेकं दोषात् । उक्तं च यतिजीतकल्प-प्रकरणे-“गुरुउवाहिमं पदिसिंहे, उप्पयप्रसोहिकमित्तमाहसे । बह्णुणा गुण्णज्जाणं, सयमं च वथपायागिहे” ॥१॥ अस्याः किञ्चिदुपपन्नात्कृत्तिसिलो यथा-आर्याणां संवतीनां गृहस्थ-सकाशात् स्वयमेव वस्त्रपान्नप्रहणं चतुर्गुणाः । यतः संय-

तीनां गृहस्थेषु स्वयमेव वस्त्रादिप्रहणेऽनेके दोषाः संबन्धिन्ति । तथाहि-संवतीं गृहस्थादस्त्राणि गृह्णातीं दृष्ट्वा कोऽप्यनियमश्चास्ति मिथ्यायं गच्छेत्, निम्नशोऽपि भारीं गृह्णातीति शक्यते वा । गृह-स्थो वा वस्त्राणि वस्त्रा भैनुनमभवायेव, प्रतिषिद्धे कैषामेव व-स्त्राणि गृह्णीत्यां न करोतीत्युक्ताहिं शक्यात् । स्त्री च स्वयमेव नादपसस्या, ततो येन तेन वा वस्त्रादिनाऽऽखेनापि सोऽनेन सा-जिता आकार्यमपि करोति, बहुमाहात्र स्त्री, ततः पुरुषैः सह संलापं कुर्वन्त्या वस्त्राणि गृह्णन्त्याऽऽस्ताः पुरुषसंपर्कनां मोहां दीव्यते, उदाररूपां वा संवतीं दृष्ट्वा कामंभानिना कश्चिदशो-कु-यात् । वशीकृता च आदिप्रविराधनां करोति, तस्मात्किंन्यपीय-शुंदस्थेषु स्वयं वस्त्राणि न प्राहासि, किन्तु तानि गणधरेण दातव्यानि । तत्रायं विधिः-संवतीं प्रायश्चयमुपपिमुक्तां सार-दिनानि स्थापयति, ततः कथं कृत्वा स्वविरं स्थविरां वा परि-धापयति, यदि मानसं विकारस्ततः सुखम् ॥ ६१ ॥ एवं पंचक्राम-कृत्वा यदि वदति, तदा चतुर्गुहकम् । तं च परीक्षितमुपधिमा-चार्यो गणियाः प्रच्छति, गणियां च संवतीनां विधित्वा वदा-ति । आधाचार्यः स्वयं न तासां वदति तथा चतुर्गुहकम्, यतः काश्चिन्मन्त्रमां प्रणेद्व्यासांशोरं दत्तं तेनैवाऽऽप्येष्टा यीजनस्या च एवमस्थाने स्थापयति । तस्मादाचार्येषु प्रथमिन्या एव इत्ते दातव्यमित्यादि । एतच्च निशोषपञ्चदशोद्देशकृष्णांश्चपि सवि-स्तरस्मिनि । प्रश्नोच्यते-यत्कं भवता, तत् सत्यं, परं संज्ञयते, अमणानावादी आर्यांश्चत्थमुपकरणस्य अमणासज्ञावादी निम्नश्रीनामपि श्वित्वादिक्रमेण स्वयमेव वस्त्रप्राणस्तुतुहा-नात् । उक्तं च निशोषपञ्चदशोद्देशकृष्णांश्च-यथा चोयग भाइ-यद्येयं, तुत्रस्य नैरुपेक्ष्यं प्रसज्यते । आर्यविप्रो भाइ-‘ अलइ सयमाणं चोअग !, जायंते भोमंते तइ खेव । जायंति धेरिय सती, व मीसगा मोमंते उणो ” ॥ १ ॥ हे खोदग ! समलायं असति धेरियाओ वधे जायंते, निमंतेषु वधं वा गोवदंति, जहा साहू तथा ताओ वि, धेरीणं असति तरुणी व ति मिस्साउ जायंति स्मे उणे भोमुमित्यादि । अत्र वस्त्रप्रहणव्यपक्रममहमनुकल्पं अमणाभावाद्यनुज्ञातं सं-भाव्यते ॥ ६१ ॥

अदुष्टद्व-नेसज्जं, बलमुक्त्विबिबुहणं पि पुष्टिकरं ।

अञ्जालच्छं पुंज्जं, का मेरा तत्त गच्छमि ॥ ६२ ॥

यत्र गण्ये, आर्यशस्त्रस्य प्रतिविशेषणं संबन्धात् अतिदुर्ल-भमपि अतिशयेन दुष्पापयमपि । अत्र विधिलोपः प्राकृतत्वात् । सप्रसतो वा भैषज्यशब्धेन सह । तथा बहमुक्त्विबिबुधेनमपि, तत्र बहं शरीरसाधर्म्यं, बुद्धिमत्ता, तथा पुष्टिकरमपि शरीरोपचय-कार्यपि, भैषज्यमौषधमायोश्च सं साध्यानीतिं मुच्यते, साधु-जिविति शेषः । हे गौतम ! (का मेरा) का मर्यादा तत्र गच्छे?, न काव्दिपीत्यर्थः । मेरिति मर्यादावाच्यं देशशब्दः ॥ ६२ ॥ एगो एगित्थिए सत्थि, जत्य चिट्ठिज्ज गोअप्पा ।

संज्ञंए विभेमेण, निमरं तं तु जासिमे ॥ ६३ ॥

एक एकात् साधुरेकार्कान्यास्त्रिया सार्धं हे गौतम ! यत्र (त-ष्टेत् तं गच्छं निमरं निमंयोर्द् प्रापामहे वयम् । संयत्ता च एका-किन्या एकाकी वत्र साधुसिंहद्वं तं तु गच्छं विशेषणं निमरं-भाषामहे इति । अत्र एकाकिन्या स्त्रिया साध्या च सार्धमे-कार्कानिः साधुषुद्वेकार्कान् स्नानवर्जितं तेषामेकार्कान्ते परस्परम-प्रत्यङ्गादिदर्शनाऽऽस्तापादिकरणतो दोषोत्पत्तेः संबन्धात् । किं-

च-प्रतीतमेकान्तोऽपि श्रेणिकच्छेदणयोः क्वादिदशनेन धीमन्महा-
 धीरस्तापुसाश्वीनां निदानकरणादिदोषोपपत्तिः संज्ञानेति श्रीद-
 शाश्रुतस्कन्धे तथोपलम्भमिति । अमुपपन्नः ॥ ए३॥ ग० २ अर्थां०
 महा० । आच० । ('अग्निश्चाउत्त' शब्दे तत्कथा वक्ष्यते)
 अञ्जविषयत्व-आज्ञापयितव्य-वि० । आज्ञाप्ये समाहायितव्ये,
 "अहं षं अज्ञावेयव्यो अग्ने अज्ञावेयव्या" सूत्र० १५ श्रु० २ अ० ।
 अज्ञासंसर्गा-आर्योसंसर्गा-खी० । साध्यापरिचये, ग० ।

आर्योसंसर्गवर्जिते कारणमाह-

वर्जिते अप्यमत्ता, अञ्जज्ञांसंसर्गा अग्निविसमरिसि ।
 अञ्जानुचरो साह, अहं ह अकिंचि सु अचिरेण ॥ ६३ ॥
 वर्जयत मुञ्चतः अप्रमत्ताः प्रमादवर्जिताः सन्तो ज्ञोः साधवः ।
 यूयम काः, आर्योसंसर्गाः साध्यापरिचयान् । अत्र शशां लोपः
 प्राकृतत्वात् । उपसर्गोऽग्निविसदृशीरुपलक्षणत्वात् व्याघ्रविष-
 घरादिस्वदतीक्ष, सूयैस्मादर्थे । सतोऽयमर्थः-यस्मात्कारणात्
 आर्यानुचरः साधुमुनिर्भवेत् प्राप्नोति अकीर्तिसमसाधुवादमि-
 रेण स्तोत्रकालेनात् ॥ ६३ ॥

धेरस्म तवस्मिस्स, बहुस्तुअस्स द पमाणुयस्स ।

अज्ञासंसर्गाए, जणजंपणयं हविआहि ॥ ६४ ॥
 र्धाचिरस्य वुच्छस्य तपसिन्तो वा तपोयुक्तस्य बहुश्रुतस्य वाऽ-
 धीतवह्नागमस्य प्रमाणश्रुतस्य वा सवजनमायस्य पर्वविध-
 म्नापि साधोः आर्योसंसर्गाः साध्यापरिचयं (जणजंपणयं
 ति) जनवचनीयता जनापवाद इत्यर्थः, भवेदिति ॥ ६४ ॥
 अथ यथेष्टविधस्यार्योसंसर्गो जनापवादः स्यात्सार्ह-
 एतद्विपरिन्तस्य का कथंयाह-

किं पुण तरुणो अत्रवृद्ध-सुअ न व विगिटतवचरणो ।

अज्ञासंसर्गाए, जणवंचणयं न पाविजा ॥ ६५ ॥
 तरुणो युवा अत्रवृद्धोवृद्धागमर्थाद्द्वाराहिति । न चापि बहुवि-
 कृतपत्रधरणो न दशमादितपकतोः पर्वविधां मुनिगर्वांससर्गो
 जनवचनायनां किं पुनर्न प्राप्नुयात्, अपि तु प्राप्नुयादित्यर्थः ।
 ॥ ६५ ॥ ग० २ अर्थे० ।

अञ्जासादि-आर्योषाह-पुं० । श्रीवीरमिच्छे चतुर्दशधिकव-
 र्षदान्द्वयप्रतिक्रान्ते उत्पन्नास्वदृशीनां गुरोः, ते चाऽऽर्योषाहा-
 ज्ञिषा आचार्याः श्वेताश्यां नगर्यां समवस्थस्य तत्रैव हृदयशु-
 लीरोगतो शुभ्या सौधमं उपपद्य पुनः शरीरमाद्युष्टाय कश्चिन्व-
 शिष्यमाचार्ये कृत्वा दिव्ये गता इति । तत्रिःश्याश्चाप्युक्तदृष्ट्याऽन-
 वृ० । आ०क० । तत्त०शा०म० । ('अव्यक्तिय' शब्देऽस्य विस्तरः)

अजिअ-अजित-वि० । उपादितः उच० २ अ० । उपाजितं,
 " धम्मजित्तं च वयहाणं, वृद्धहायसिय सया " उच० १ अ० ।
 संश्लेठ. " अट्ठवहं कमसूलं, बहुहहि भवेहि अज्जयं पाव " सं-
 थया० । नि० वृ० । उच० ।

अजिअज्ञाज-आर्यिकालाज-पुं० । आर्यिकालाभ्यां ज्ञान-
 आर्यिकालान् । साध्यानीतवस्त्रपात्रादौ, आच० ।

अजिअज्ञामे गिद्धा, मएण लोनेण ते अम्मनुट्ठा ।

जिक्खापरियाजमा, अग्निपुत्तं ववदंति ॥ ११७ ॥
 आर्यिकाण्यो ज्ञानं तस्मिन् कृत्वा आत्मज्ञानं, स्वकीयनाम्नीय-
 न ज्ञानेन ये अस्सनुट्ठा मन्धर्मो भिक्षुवर्गया भग्नाः जिह्वाऽ-
 ट्ठेन निर्विषया इत्यर्थः । ते हि सुसाधुना चोदितः सन्तः अम-

द्योऽयं तपस्विनामिति अजिक्खापुत्रमाचार्यो व्यदिक्षस्याल-
 म्बन्वन्वेनेति गाथायै ॥ ११७ ॥

कथम् ?-

अग्निपुत्तायारिआ, भवे पाणं च पुप्फवृणाए ।

उवणीयं जुंजंता, तेषं भवेय अंतगदो ॥ ११८ ॥

अज्ञाराधो निगदसिः । भावाध्वस्तु कथमागमाद्वयस्येः (तच्च
 ' अग्निशोचत ' शब्दे वक्ष्यते) तेन मन्दमतय इदमालम्बनं कु-
 र्वेन्नः सन्तः, इदमपरं नेहन्ते । किमत आह-

गयसीसण्णा ओमे, भिक्खायारिआ अप्पवत्तं येरं ।

निगदंति महो विसदो, अजिअज्ञालामं गवेसंता ॥ ११९ ॥

गतः शिष्यगणाऽऽयति समासस्तस्य, (ओमे) दुर्मिक्षे जिह्वा-
 चर्यायाम्, (अप्पवत्तं) असमर्थः, जिह्वाचर्यायामपचक्षत्र अम-
 मर्थसन् स्थायिरं वृद्धमेवगुणयुक्तं न गणयन्ति नाश्रोत्रयन्ति, स-
 द्हा विसदोः समर्थाः, अविशब्दात् सहायादिगुणयुक्तोऽपि सत्र-
 मायायिन आर्यिकालाम्ब वेरं गवेययन्ति अन्वेषन्त इति गाथा-
 यैः ॥ ११६ ॥ आच० ३ अ० ।

अजिअ-आर्यिका-खी० । मानुसोतरि, दृश० ७ अ० । पिता-
 महाम्, वृ० ३ उ० । ग० । साध्यां च । ' ज्ञानोत्ते जिनयचनं, अद्वैत
 चार्थिकासकलम् । नाभ्यास्वयमभयस्या-वाट्टविरो-
 धगतिरसि' ॥ ११७ ० २ अर्थे० ।

अज्जु-अश्रु-अश्रु० । अपगुंशे उकारान्तत्वम् । अस्मिन्नदति,
 " विष्णुयारत्र जइवि, पिउता वि ते आणहो अज्ज " प्रा० ।
 अज्जु-अज्जु-पुं० । अज-उन्नद । ककुभपयायं, आ० । बहु-
 वीजकृत्कन्दे, प्रज्ञा० । पद० । ज्ञा० । रा० । तपुण्ये, तच्च सु-
 रति भवति । ज्ञा० ० ए अ० तुणविशेषे, प्रज्ञा० १ पद० । आ-
 चा० । स्वनामस्मिन् पाण्डुस्वयं, जे० ३ वृ० । गोशालस्य
 महश्चिपुत्रस्य ग्रेणे गौतमपुत्र टिकचरे, भ० १५ शब्दे उ० । " अ-
 उज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सर्गसो विष्णुजडामि " ज० १५ ज० १
 उ० । द्वैहयवश्ये कृतवीर्योऽप्येव नृपदेन, भूतागमानी हृदयश्चा-
 न्तेन । ध० १ अर्थे० । पाण्डुरजस्य नृतीये आरमज, ज्ञा० १
 श्रु० १६ अ० । (विवाहादि चास्य 'दोष' शब्दे उच्यते)
 " अज्जुणइत्तं व तस्स ज्ञाहा " उपा० २ अ० ।

अज्जुणाग-अज्जुणक-पुं० । माहाकारनेदे, अन्तो तत्कथा चैवम-
 तेषं काले णे ते णं समएणं रायगिहे णयेरं गुणसिद्धए चइ-
 ए, संभए राया, चइण्णा देवी, तथं णं रायगिहे णयेरं
 अज्जुणए नामा मालागारं परिवसति । अइहे जाव
 अपरिज्जे तस्म णं अज्जुणयस्स मालागारस्स बंधुपती-
 नामं जारया होन्था । सुमालस्स तस्म णं अज्जुणयस्स मा-
 लागारस्स रायगिहस्स नगरस्स बहिया । एतयं णं महं एगे
 पुष्पागामे होन्था, किंहे जाव निकुंसेज्जे तं मच्छवणकुसु-
 मं पाता ते तस्म णं पुष्पागामस्स अइरनामंते एतयं णं
 अज्जुणयस्स मालागारस्स अज्जपयज्जयपिडपज्जायते अ-
 णेगकुलपरांसं परंपरागेते भोगपाणस्स अक्खाययणे हो-
 न्था, पैगए दिव्से सच्चे मच्छवातिए जहा पुष्पभंदे तस्य

णं मोग्गरपाणिस्स एणं महं पल्लसहस्सनिप्पणअओपयमो-
ग्गरं गहाय चिद्धति. तस्सेव अञ्जुणए मालागारे बालप्पञ्जि-
त्ति चेष मोग्गरपाणि जक्खस्स ज्ञेया वि होत्थ्या, कल्ला-
कद्धि पच्चियन्दिपा वि गेएहोवेत्ति, गेएहोवेत्ति रायगि-
हातो णगमाओ पन्निक्खवत्ति, पाँडनिक्खवत्था जेणव पु-
प्फारामे उज्जाणे तेषेव उवागच्छति, उवागच्छतिचा पु-
प्फचयं करोति, करोतिचा अग्गाइं वराइं पुप्फाड गहाय जे-
णव मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेषेव उवा-
गच्छति, उवागच्छतिचा मोग्गरपाणिजक्खस्स महरिह पुप्फ-
चयं करोति, करोतिचा जाणुपांतं पन्दिने पणामं करोति,
करोतिचा ततो पच्छा रायमग्गंसि विति कप्पेमाणे विहरति,
तथ एं रायगिहे नगरे ज्ञित्तननामं गोहं। परिवसति, अद्दा
जाव अपपरिद्धया जक्खयमुक्खा या वि होत्थ्या, तं रायगिहे
णयंरं अमया कयाइं पमांये घुट्टे या वि होत्थ्या, तस्सेव अञ्जु-
णए माज्ञागारे कल्लपयुवतराएहं पुप्फाँइं कञ्जंमि तिकहुं
पच्चमकाज्ञसमयंसि बंधुमतीए जारियाए सत्किं पच्चिय प-
टियाइं गेएहति, गेएहतिचा मयाउ गिहातो पन्निक्खवत्ति,
पन्निक्खवत्तिचा रायगिहं णयंरं मञ्जं मञ्जणं निगच्छइ,
निगच्छइचा जेणव पुप्फारामे उज्जाणे तेषेव उवाग-
च्छति, उवागच्छतिचा बंधुमतीए जारियाए सत्किं पुप्फचयं
करोति, तीसं लाडियाए गोधी; तथ गोहंइत्था पुरिमा जेणव
मोग्गरपाणिस्स जक्खायतणे तेषेव उवागया अज्जि-
ममाणे चिद्धति, तस्सेव अञ्जुणए मालागारे बंधुमतीए
जारियाए सत्किं पुप्फचयं करोति, करोतिचा पच्छीयं भरोति
अग्गाइं पुप्फाँइं मिडाइं जेणव मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स
जक्खायतणे तेषेव उवागच्छति, उवागच्छतिचा ते इ गो-
हंइत्था पुरिमा अञ्जुणए माज्ञागारे बंधुमतीजारियाए सत्किं
एज्जमाणं पासंति, वामंतिचा अएणमएणं एवं वयासी-पस
एवं देवाणुप्पिया ! अञ्जुणमालागारे बंधुमतीए जारियाए स-
त्किं इहवमागच्छति. इहवमागच्छतिचा तं सेयं खलु देवा-
णुप्पिय ! अहं अञ्जुणयं मालागारं अउरुयबंधणयं क-
रोति, करोतिचा बंधुमतीए भारियाए सत्किं विपुलाइं भोग-
भोगाइं तुंजमाणेणं विहरित्तए तिकहुं एयमहं अएण-
माणस्स पडिमुणुति, पडिमुणुतिचा क्वाइंतंरसु निलुक्कति,
निबडा निप्फदा तुनिंणं एया पञ्जा चिद्धति, तस्से अञ्जु-
णए मालागारे बंधुमतीए जारियाए सत्किं जेणव मोग्गर-
जक्खायतणे तेषेव उवागच्छति, उवागच्छतिचा झालोए
पणामं करोति, करोतिचा महरिहं पुप्फचयं करोति, जाणुपायं
परणामं करोति, तत्ते एं तं अ गोहंइत्था पुरिमा दवदव्वस्स
क्वाइंतंरहित्तो निग्गच्छति, निग्गच्छतिचा अञ्जुणयं मा-
ज्ञागारं गेएहंति, गेएहंतिचा अवरुगं बंधयं करोति, बंधुमती-

मालागागए सत्किं विहराइं भोगजोगां तुंजमाणे विहर-
ति, तस्से अञ्जुणयस्स माज्ञागारस्स अयं अएपसत्थीए । एवं
खलु अहं वाहप्यभिति चेष मोग्गरपाणिस्स भगवतो कद्धा-
कद्धि जाव कप्पेमाणे विहरामि, तं जयणं इहं मखिहित्तं सुव-
त्तेणं एस कहुं कत्तेणं से मोग्गरपाणिजक्खं अञ्जुणयस्स
मालागारस्स अयमेयासुवं अवस्थियं जाव वियागित्ता
अञ्जुणयस्स माज्ञागारस्स मरीरंयं अणुपविमति, अणुप-
विसत्तिचा नदततदहसंबक्काइं छिदति, छिदतिचा तं पल्लस-
हस्सनिप्पणं अहमयं मोग्गरं गेएहति, तं इत्थं। मत्तं इ
पुरिसे घाएइं तमे अञ्जुणए मालागारं मोग्गरपाणिणा ज-
क्खेण अणाइंहे समाणं रायगिहस्स णगरस्स परिपेवं तेषं
कद्धाकद्धि उ इत्थिमत्तमे पुरिसे घायमाणे विहरति, तए एं
रायगिहे णयंरं सिंथारुग जाव महापरेइं बहुजणो अमम-
णस्स एवमाइक्खति०४ । एवं खलु देवाणुप्पिया ! अञ्जुणए
माज्ञागारं मोग्गरपाणिशा अणुपाइंहे समाणं रायगिहे णयेरं
वट्टिया छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घायमाणं इविहरति, तत्ते एं
से मेणिए राया इमीसं कहाए द्वाद्धे समाणे कोहुंवि ए स-
दावेत्ति, सदावेत्तिचा एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! एं
अञ्जुणमालागारं जाव घायमाणे विहरति, तं माणं तुभं के-
इकट्टस्स वा तथस्स वा पाणियस्स वा पुप्फकहाणं वा अह्माए
संतंरं निग्गच्छमाणं तस्स सरीरयस्स वावत्ती भविसमति,
तिकहुं द्वाँचि पि तत्ते पि घोसणयोमेहाति, घोसणयोमेहातिचा
खिप्पा मम एयं माणत्तियं पच्चप्पिणंति, तए णं कोहुं-
विय जाव पच्चपिणंति, तत्त एं रायगिहे णगरे सुदंसणे
नाये सेहं। परिवसति, अहं तस्से सुदंसणेणं समाणं वासए या
वि होत्थ्या, अज्जियजं। वाजंवि जाव विहरति। तेषं कालं एं
ते एं समए एं समणं भगवं महावीरं जाव समासेहं जाव वि-
हरति, तं रायगिहे णयेरं सिंथारुगबहुजणो अममणस्स एव-
माइक्खति जाव किमंग ! पुण विपुलस्स अट्टस्स गहणताए
ते तस्स सुदंसणस्स बहुजणस्स अंतिए एयमहं सुखा निसम्म
अव्वन्थ्येत्ते ० ५ । एवं खलु समाणं एं जाव विहरति, तं गच्छा-
मि, एं वंदामि, एवं संपेहेति, संपेहेतिचा जेणव अम्मापियरो
तेणव उवागच्छति, उवागच्छतिचा करयत्तं ० एवं वयासी-
एवं खलु अम्मायाओ समाणं जाव विहरति, तं गच्छामि एं
समाणं भगवं महावीरं वंदामि, जाव पज्जवामामि, तत्ते एं ते
सुदंसणं सेहं। अम्मापियरो एव वयासी-एवं खलु पुत्ता
अञ्जुणए मालागारं जाव घायमाणं विहरति, तं माणं तुमं
पुत्ता समाणं जगवं महावीरं वंदंति, पज्जुवासंति, निग्गच्छा-
माणं तवमरीरस्स वा विति भविसंति, तुमणं इह गए चैव स-
मणं भगवं महावीरं वंदाति, तए एं मे सुदंसणे सेहं। अम्माप-

गर्तो एवं वयानी-किं एं अस्मयातो समणं भगवं महावीरं इह-
 मागते इह पचं इह समासहं इव तेव वेदंदिस्सामि, तं गच्छा-
 मि, एं अहं अस्मयात्तु गुरुम्हंदि अस्नणुआते समणो समणं
 भगवं महावीरं वेदति, तं सुदंसणं सेच्छी अस्मापियरो जा से नो
 संचाएति, बहुहिं अयावयोहिय ध जाव पस्केहिं संता संता
 परितंवा तीहे एवं वयासी-अह्हाइइ तचे णं से सुदंसणे अ-
 स्मापितीहिं अस्नणुआते समणं यद्वाहिं, सुक्या वेसाइं जाव
 सरिरे सपातो गिहातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता
 पायावंहाराचारेणं रायगिहं णयरं मज्जे मज्जेणं निग्गच्छति,
 निग्गच्छतित्ता भोग्गरपाणस्स जक्खल्लस जक्खलायतणे अऊर-
 माम्भेते णं जेणव गुणसिलए चेतिए जेणव समणे जगवं तेणव
 पाद्विरेत्थगमणए तचे णं से भोग्गरपाणं। जक्खे सुदंसणं स-
 मणो वासयं अद्ररसामंते णं वीयीवयमाणे पासमि, पासतित्ता
 आमुस्तेइ तं पल्लसहस्स निष्फल्लं अस्मायमोग्गरं उल्लासिमाणे
 जेणव सुदंसणे समणो वासए तेणव पद्दारेत्थगमणए तचे
 णं से सुदंसणे समणो वासए भोग्गरपाणं जक्खे एज्जामंते
 पासति, पासतित्ता अजीते अतत्थे अणुव्विमं अक्खुमिते
 अर्चान्ण अस्संभंते कथंतेणं जूमी पमज्जति, पमज्जतित्ता
 करयल्लोणं वयासी-एभोत्थु णं अरहंताणं जाव संपत्ताणं;
 नभोत्थु णं समणस्स भगवं जाव संपाविउकामस्स पुज्जं पि
 णमए समणस्स जगवओ महावीरस्स अंतिए थूलए
 पाणातिवातं पक्खवाए जावजीवाए थूलए मूमावाए
 थूलए अदिएणादाणे सदारसंतासे करे जावजीवाए तं
 इट्ठाणं पि ए तस्सेव अंतिअं मच्चं पाणातिवायं पच्च-
 क्खामि जावजीवाए, मूमावायं अदत्तादाणं बहुएपरिग्गहं
 पच्चक्खामि जावजीवाए, सच्चं काहं जाव मिच्छादंसणस-
 ह्दं पच्चक्खामि जावजीवाए, सच्चं असणं पाणं स्वाइयं
 साइयं चडब्बिहं पि आहारं पच्चक्खामि जावजीवाए, जति
 णं एतो लवसपातो सुत्थिक्खस्सामि, तो मे कण्ठं पारे तचे ।
 अहं एं एत्तो लवसपातो न मुत्थिक्खस्सामि, तो मे तहा
 पच्चक्खवाए वि तिकहुं सागारं पडिमं पडिबज्जति । स
 भोग्गरपाणी जक्खे तं पल्लसहस्सनिष्फणं अस्मायं भोग्ग-
 र उल्लासिमाणे ५ जेणव सुदंसणे समणो वासए तेणव
 लवगतं नो चेव णं संचाएति सुदंसणं समणो वासयं तेयसा
 समज्जिपडिताते । तचे णं से भोग्गरपाणं। जक्खे सुदंसणं स-
 मणो वासयं सच्चंओ समंताओ परिणोलोमाणे ५ आहे नो संचा-
 एति सुदंसणं समणो वासयं तेयसा समज्जिपडितते ताहे सुदं-
 सणस्स समणो वासयस्स पुरतो नपकिंल्ल सपकिदिंदिं सिञ्चा
 सुदंसणं समणो वासयं आणंमिसाए दिट्ठं। ए सुचिं निरिक्ख-
 ति, निरिक्खतित्ता अञ्जुणयस्स मात्तागारस्स सरिं विप-
 ज्जाति । तं पल्लमहस्सनिष्फणं अस्मायं भोग्गरं गहाय जाये-

व दिंतिं पाठज्जते तामेव दिंतिं पदिगते । तए णं अञ्जुणए
 मालागारे भोग्गरपाणिणा जक्खेणं विप्यवुचिक्खस्समाणे ध-
 सति धरणीयतल्लंति, सच्चं गहं निवाइए ते सुदंसणं समणो
 वासए निरुक्कसग्गमि तिकहुं पडिमं पारेति, तचे णं से
 अञ्जुणए मालागारे ततो मुद्दुत्तरेण अस्सत्थे समाणे उट्टेति,
 उट्टेतित्ता सुदंसणं समणो वासयं एवं वयासी-गुज्जकं
 देवापुप्पिया ! कहं वासं पथिया ! तचे णं से सुदंसणं समणो
 वासए अञ्जुणयं मालागारं एवं वयासी-एवं खल्लु देवाणु-
 प्पिया । अहं सुदंसणे नाम समणो वासए अग्निगयजीवाजीवे
 गुणसिद्धे चेइए समणं जगवं महावीरस्स वेदते, सपथिए
 तमे अञ्जुणए मात्तागारे सुदंसणं समणो वासयं एवं वया
 सी-तं इच्छामि तं देवाणुप्पिया ! अहमावे तुमए सच्चिं समणं
 जगवं महावीरस्स वेदिए जाव पञ्जुवासिए । अहामुहं देवाणु-
 प्पिया ! तचे णं से सुदंसणे समणो वासए अञ्जुणएणं मात्ता-
 गारेणं सच्चिं जेणव गुणसिलए चेतिए जेणव समणे जगवं
 महावीरे तेणव लवगच्छति, उवागच्छतित्ता अञ्जुणएणं
 मालागारेणं सच्चिं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव पञ्जु-
 वामति । तचेणं से समणो भगवं महावीरं सुदंसणं समणो वा-
 सए अञ्जुणयस्स मात्तागारस्स तिसयद्दम्पकहासुदंसणे सम-
 णो वासए पदिगते तसे अञ्जुणए मात्तागारे समणस्स भगवतो
 महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा इहुत्ता सइहामि, णं जंठे !
 निग्गयं पावयणं जाव अक्खुहेमि, अहामुहं तमे अञ्जुणए
 उत्तरपुरच्छिमे व सपपेव पंचमूहंतिं लोणं करंति, करंतित्ता
 जाव अएणारे जाते जाव विहरति, तचे णं से अञ्जुणए अ-
 णगारं जं चेव दिवसं मुंजे जाव पच्चइए तं चेव दिवसं स-
 मणं जगवं महावीरं महावीरस्स वेदति, वेदतित्ता इमे एया-
 रूवं उग्गहं उग्गिण्णदिं, कप्पति, मं जावजीवाए उहं उहंएण
 अग्निक्खलेण तत्रोक्खेणं अण्णायं जावेमाणस्स विहरितए
 तिकहुं अयमयारूवं उग्गहं उग्गिण्णदिं, जावजीवाए विह-
 रति, तचे णं अञ्जुणए अणगारे उट्टक्खमणवारणायंसि
 पटमपोरसीए सच्चंआयं करंति, जहा गोयमाममी जाव अ-
 रति, तचे णं से अञ्जुणयं अणगारं रायगिहं णये उच्च-
 नीचं च जाव अरुमाणं बहवे इत्थी उ व पुरिसा व रुहरा
 य महला य जुवाणा य एवं वयानी-इमे णं मे पितामातरां
 इमे णं मे मा मारिया जायजग्गिणीज्जा पुत्ते धूया सुएहा मा
 मारिया, इमे णं मे अस्से य मयणसंबंधे परियणं मा मारेति, ति-
 कहुं अण्णगया अकोसंति, अण्णगया वीरंति, अण्णे० निदंति,
 अण्णे० विसति, अण्णगया गरहंति, अण्णे० तज्जेति, तचे-
 णं से अञ्जुणए अणगारे तोहं बहुहं पुरसेहिं महल्ले
 य जाव अकोमिज्ज मा जाव ताणेणते समणसा वि अ पव-

सस्वभावे समं सहति, समं कल्पति, चितिकल्प, आदिज्जापे
 आदियांस, समं सहभावे कल्पतो तितिकल्पति, आदिया-
 सेति, रायगिरे एषरे ऊंचनीचमधिकमकुशादं अरुभावे जइ
 भत्तं झजति, तो पाणं न झपति, अइ पाणं झभइ, तो जचं
 न झभइ, तत्तं छं ते अञ्जुणए अणगारे अदीये अविषये
 अकलुसे अणाइसे अदीसादी अपरितत्तजोगी अरुति, अ-
 रुतिचा रायगिहातो नगरातो पहिनिक्खमति, पहिनिक्खम-
 तिचा, जेणव गुणसिलाए वेइए जेणव समये भगवं महावीरे
 अहंभ गौतमसामी जाब पहिदंसेते २ समणं भगवं महावीरे
 अम्भभुण्णते समाणे अरुहिते ४ विमपिव पणमचूतेण
 अप्पाणेण तमाहारं आहारोति, आहारोतिचा तत्तं पं समये
 भगवं महावीरे अक्का कपाति, कपातिचा रायगिहाओ
 पहिणिक्खमति, पांरुणिक्खमतिचा बहिया जणविहं विहारं
 विहारति, तत्तं पं से अञ्जुणए अणगारे तेणं उरालेणं
 विपुत्तेणं पयत्तेणं पणहिएणं महाभुभगंणं ततोक्कम्मंणं
 अप्पाणं भावेभाणं बहुपहियुत्तं उम्मासे सामसपरियाणं
 पाउणति, अक्कामियाए संझेइणाए अप्पाणं कुसेति, ती-
 सं भत्तां अणमणाए उदेति, उदेतिचा जसद्धते कीरति,
 कीरतिचा जाव सिंहे ॥ अंतं ६ वगे ३ अं ।
 स्वनामथयति तत्करमेदं, आत्तां १ बुं ३ अं १ वं । (तस्य
 शब्दासक्त्याद 'सह' शब्दे कथा वक्ष्यते)
 अञ्जुणसुवस-अञ्जुणसुवस-नं । भक्तकाङ्क्षे, औं ।
 अञ्जोग-अयोग-पुं । "सेवावै वा" ॥ २ । ६६ ॥ इति प्राकृ-
 तन्नकाङ्क्षे वा चित्तम् । योगवर्जितं, पं सं १ इत्तां ।
 अञ्जोगि (ष्)-अयोगिन-पुं । सेवादिन्वाद् जाह्वन्त्वम् । अ-
 योगिकेशमि, " अञ्जोगे अञ्जोगी, संमत्सञ्जोगमि होति
 जागाउ " पं सं १ इत्तां ।
 अञ्जुओ-देशी-प्रतिबेहिम्के, रे० ना० १ वगं ।
 अञ्जुत्त-अध्यात्म-नं । अघि भास्मिन् वचते इत्यध्यात्मम् ।
 वेत्ति, वश० १ अं । आत्तां ० प्रव० इत्तां ० ध्याने, आत्तां ० अं ०
 स्वययधर्मध्यानादिभावनायाव, सूत्र० १ अं ० ३ अं ० आत्मानमधि-
 कृत्य यत्नं तत्तं अध्यात्मम् । सुख० ३ अं ० ३ अं ० (अञ्जुत्तं जाण
 इ से बहिया जाणइ, अे बहिया जाणइ से अञ्जुत्तं जाणइ " आ-
 तां १ अं ० ३ अं ० ३ अं ०) (आत्मनि इति अध्यात्मम्, 'अव्ययं विनो
 ॥ २ १ १ ६ ॥ इति पाणिनिवृत्तेण समासः) आत्मनीत्ययं, उच० १ अं ०
 अध्यात्मस्य-नं । अध्यात्मं मनस्तस्मिन् तिष्ठत्यध्यात्मस्यम्,
 प्राकृतत्वाद्ब्रह्मोत्पत्तेः, इहसंयोगान्निष्ठसंयोगादिहेतुभ्यो जाते सु-
 बन्धुःसादी, उच० ० । " अञ्जुत्तं स्वप्नो स्वप्नं, हिंस्रमाणे
 पिशाचप " उच० ६ अं ० ।
 अञ्जुत्तमोग-अध्यात्मयोग-पुं । सुप्रणिदितास्तःकरणतायाम्,
 धर्मध्याने च । सूत्र० १ अं ० १ अं ० १ अं ० योगभेदे च, तन्नल्लभ-तत्रा-
 नादिचरजाब औचैधिकमाचरमणीयतां धर्मत्वेन निर्धार्य तत्पुष्टि-
 हेतुं कियत्तं कुर्वे अर्थे धर्मदुःखा इच्छन् प्रवृत्तः स एव निरामय-
 निःसंभ्रुद्धात्मभावनाजायितान्तःकरणस्य स्वभावा एव धर्म-
 इति योगद्वयाध्यात्मयोगः । अष्ट० ० अष्ट० ० ।

औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य, वचनात्पत्त्वचिन्तनम् ।
 मेरुपादिजावसंयुक्त-अध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ ३ ॥
 (औचित्यात्पत्त्वचिन्तनम्) औचित्यात्पत्त्वचिन्तनप्रवृत्तिरुक्त्याद् वृत्तयुक्त-
 स्यात्पुत्रमहामात्रतस्मिन्चित्तस्य वचनात्पत्त्वचिन्तनं
 जीवादिपदांशेषांयथासौम्यं मेरुपादिभावेमैकीकरणासुदिता-
 पेक्षाकल्पः समन्वितं स्वहितमध्यामे तद्विदोऽध्यात्मज्ञातारो
 चित्तुजानेते ॥ ३ ० १ ० इत्तां ० । " अञ्जुत्तमोगे गयमाणस-
 स्त " आत्तां १ बुं ० ।
 अञ्जुत्तमोगमाहृणुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं ० । अ-
 ध्यात्मं मनस्तस्य योगा ध्यातार धर्मध्यानादवयवत्वेभां साध-
 नान्येकाप्रतादीनि तैर्युक्तोऽध्यात्मयोगसाधनयुक्तः । चित्तैका-
 प्रताऽऽदिभाति, उच० २६ अं ० । " निविकारेणं जीवे व-
 गुत्तं अञ्जुत्तमोगसाहृणुत्तसे या वि भव " उच० २६ अं ० ।
 अञ्जुत्तमोगसुद्धादाण-आध्यात्मयोगशुद्धादान-विं ० अध्या-
 त्मयोगेन सुप्रणिदितास्तःकरणताया धर्मध्यानेन शुद्धमवदान-
 मादानं चरिं यस्य स तथा । शुभंसेतसा विदुःअचारिभे,
 " अञ्जुत्तमोगसुद्धादाणे उवट्टिए टिअप्पा संचाए पर-
 त्तमेहिं भिक्खुं ति वच्चे " सूत्र० १ बुं ० १६ अं ० ।
 अञ्जुत्तकिरीया-अध्यात्मक्रिया-स्त्री ० । केनापि कथञ्चना-
 प्यपरिभूतस्य धैर्मनस्यकरणरूपेऽद्ये क्रियास्थाने, इत्तां ५
 इत्तां २ उं ० । कोइत्तसाधोरिव यदि सुताः सम्प्रति क्षेत्रवह-
 राणि संजलयन्ति तदा अर्थ्यामित्यादि चिन्तनमध्यात्मक्रिया ।
 धं ३ अघिं ० ।
 अञ्जुत्तजगाहणुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-विं ० । अध्यात्मना शु-
 भमनसा ध्याने यत्तेन युक्तो यः स तथा । प्रवृत्तध्यानात्पयुक्ते,
 प्रश्न० ५ सत्त्व० इत्तां ।
 अञ्जुत्तद-अध्यात्मद्वय-पुं ० । शोकाधिमिधेऽष्टमक्रिया-
 स्थाने, प्रश्न० ५ सत्त्व० इत्तां ।
 अञ्जुत्तदोस-अध्यात्मदोष-पुं ० । कपायै, सूत्र० ० ।
 कोहं च मायं च तद्देव मायं,
 लोभं चउत्तं अञ्जुत्तदोसा ।
 एआणि नंता अरहा महेसी,
 ए कुब्बे पाव ए कारवेइ ॥ ११ ६ ॥
 (कोहं वेत्यादि) निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छे-
 दो भवतीति त्यागाद् संसारस्थितेभ्यो क्रोधाद्यः कार-
 णतः पतानध्यात्मदोषाश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कपायान्
 वात्सा परित्यज्याऽऽसौ भगवान्हेतुर्थेकृद् जातः । तथा म-
 हर्षिश्च । एवं परमाधेतो महर्षित्वं भवति यद्यध्यात्मदोषान् भ-
 वन्ति, नाप्यधेति, तथा न स्वतः पापं सावधमनुष्ठानं करोति,
 नाप्यन्यैः कारयतीति । सूत्र० १ बुं ० ६ अं ० ।
 अञ्जुत्तमपपरिक्त्वा-अध्यात्ममत्परीक्षा-स्त्री ० । नामानुकरुपा-
 मिधेय, शतप्रभ्योहृता नयचिजयशिष्येण यशोविजयवाच-
 केन कृते प्रनयविधेये, प्रति० ॥ इत्तां ० ।
 अञ्जुत्तचरय-अध्यात्मचर- स्त्रि ० । प्रवृत्तध्यानासक्ते, इह०
 १० अं ० ।
 अञ्जुत्तवचित्य-अध्यात्ममत्त्वचिक-(पुं ०)-आध्यात्मिकमत्त्वचि-
 क्-नं ० । आत्मनि अघि अध्यात्मम् । तत्र भव आध्यात्मिको द-

एडस्तत्प्रत्ययिकम् । अष्टमे क्रियास्थाने, तद्यथा-निर्मितसमे-
व दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयं हिमयाण्यभित्तासागरा-
वगाढः संतिष्ठते । सूत्र० २ श्लो० १२ अ० ।

पतदेव सूत्रकारोऽभ्यस्यसाह—

अहारे अष्टमे किरियादाणे अज्जत्तवत्ति ए ति आहि-
ज्जइ मे जहा णामए केइ पुरिमे एत्थि मे केइ किं विमं-
बादेति समयमे हीणे दीणे एते एड् समणे आंहायमणसंकपे
चित्तसोणसागरसंपविट्ठे करतत्तपल्लहत्तयुधे अट्टज्जाणावे-
गए भूमिगयदिट्ठिए किरियां तस एं अज्जभत्तया आसं-
मइया चत्तारि उणा एवमाहिज्जइ, तं कोट्ठे माणे माया
लोहे अज्जत्तयमेव कोट्ठामाणयासोत्ते एवं खलु तस त-
प्पथियं सावज्जंति आहिज्जइ अष्टमे किरियादाणे अज्ज-
त्तवत्ति ए ति आहि ए ॥ १६ ॥

आध्यापरमष्टमे क्रियास्थानमाध्यात्मिकमित्यन्तःकरणोद्भवमा-
ख्यायते । तद्यथा नाम कश्चिन्मनस्वित्तोपक्रामधानस्तस्य च
नास्ति कश्चिद्विषयादयित्ना न तस्य कश्चिच्चिन्सादेन परिज्ञाये-
न वा सद्भूतोद्भायनेन वा चित्तञ्चक्षुमुपादयति, तथाप्यसौ
स्वयमेव वर्णापसदयद् हीनो दुर्गतवर्दीना दुःखिततया दुष्टो दुर्म-
नस्तयोपहतोऽस्वच्छन्तया मनःसंकल्पो यस्य स तथा । चिन्ते-
व शोक इति सागरभित्ताप्रधानां वा शोकश्चित्तशोकः सागर
इव विस्फोटोक्तसागरः । तथातुल्यश्च यदवस्थां जयति लक्ष्यो-
चित्त-कृतले पर्यन्ते मुलं यस्य स तथा अहीनिं भवति, तथाऽऽ-
र्तयानांयगतोऽपगतसङ्घिकतया धर्मयान्तरवर्ती निर्मितस-
मेव द्वष्टोपहतवक्ष्यायति । तर्कथेव चित्ताशोकसागरावगाढस्य
सत् आध्यात्मिकमित्यन्तःकरणोद्भवानि मनःसंख्यानसंशयि-
तानि वा निःसंशयितानि वा चत्वारि बह्व्यमानानि स्थानानि
जयन्ति, तानि चैवं समाख्यायतेः तद्यथा-क्रोधस्थानम्, मान-
स्थानम्, मायास्थानम्, लोभस्थानमिति । ते चावश्यं केषामान-
मायाशोभा आत्मनोऽपि भवन्त्याध्यात्मिकाः, परिभय सङ्घिर्दुष्ट-
मनो भवति । तदेव तस्य दुर्मनसः क्रोधमानमायालोभयत एव-
मेवोपहनमनःसङ्घत्तस्य तत्प्रत्ययिकमध्यात्मनिमित्तं सावद्यं क-
मोऽऽधीयते संबध्यते । तदेवमेतन्निक्रियास्थानमाध्यात्मिकास्थमा-
ख्यातमिति ॥१६॥ सूत्र० २ श्लो० २ अ० ।

अज्जत्तवत्तयण-अध्यात्मवचन-नं । आद्यमर्थश्च अध्यात्मम्,
तच्च तद्वचनम् । हृदयगतो वचनजदे, वंकरयचनानां समप्रमा-
दम् । आत्मा० २ श्लो० ४ अ० १ अ० । आत्मन्यधि अध्यात्मं हृद-
यं ते तत्परिहरणान्यद् भणिय्यतस्तद्वच । सहसा पतिते वचने,
विशो । आत्मा० ।

अज्जत्तवत्तिदु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । यथार्थतासन्धेयं प्रथमं, "ये
यावन्तोऽवस्तवन्था भलवन्, नेदज्ञानाज्यस्त एयात्र मूलम् । ये
याफन्तो ध्वस्तवन्था भयानि, नेदज्ञानाभाय एवात्र बीजम्" ॥१॥
इति तद्वचनम् । अष्ट० १४ अष्ट० ० ।

अज्जत्तवत्तिसीयण-अध्यात्मविपीदन्-त० । संयमकष्टमनुसय
मनसि विषमज्ञिचने, सूत्र० ।

जहा संगामकाशमि, पिठनो नीरु वेट्ठे ।
वसयं गट्ठं रूपं, को माणइ पराजयं ? ॥ १ ॥
(जहरेयादि) दृष्टान्तेन हि मन्दमनीनां सुमेनेषायावगतिर्भव-

न्यत आश्रायेश दृष्टान्तमाह-यथा कश्चिद्भीरुरङ्कनकरणः सं-
ग्रामकाले परानीकयुक्तोऽवसरे समुपस्थितः पृष्ठतः प्रकृते आदा-
यवाऽऽपःप्रतीकारहेतुजुतं दुर्गादिकं स्थानधर्मलोकयति । तद-
व दशयति-(वदयमिति) यथादकं वदयाकारेण व्यवस्थित-
मुदकरहिता वा गतो दुःस्वनिमेषप्रयशक्ततथा गतं यथादिदु-
क्षैः कटिस्तस्थानीयम्(णुमं ति प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम् । किमि-
त्यसाधेयमवशोकथयति । यत एवं मयत्त तत्रैवं जूते तुमुले संश्राम
सुजटसङ्कुले को जानानि कस्यात्र पराजयो भविष्यतीति । यतो
देषायत्ताः कार्यविजयः स्तेकिरणं यदवशं जीयन्त इति ॥१॥

किञ्च-

मुदुत्ताणं मुदुत्तस, मुदुत्ता हाइ तारिसो ।
पराजिया वणप्पाभो, इति नीरु अवेहेइ ॥२॥
मुठ्ठानांमकथं वा मुठ्ठनंस्थारो मुठ्ठनंः कालविशेषस-
णोऽवसरस्ताहमभयति यत्र जयः पराजयो वा संभाव्यते, त-
त्रैवं व्यवस्थिते पराजित्ना वयमपसंपांभो नश्यम इत्येतदपि
संभाव्यते, अस्मद्विधाधार्मिति भिरुः पृष्ठत आत्यतोकात्कार्य
शरखमपचते ॥२॥

शोककष्टयन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्शनिकमाह-
एवं तु ममणा एगे, अवलं नच्चा व क्रुप्पमं ।
अणागयं जयं दिस्स, अ विकंपंति मे सुयं ॥३॥

यथा सधामं प्रपुमिच्छुः पृष्ठतोऽवलोकयति किमत्र मम
पराभयस्य वलयादिकं शरणं आणाय स्यादिति, एवमेव
अमणाः प्रव्रजिता एके कथनादष्टमनयोऽल्पसंस्था आत्मा-
नमवलं यावज्जीवं संयमभारवहनानामं ज्ञान्या अनागतमेव
मयं दृष्टीप्रपेय । तद्यथा-निराकञ्जोऽहं कि मम बुद्ध्यावस्थायां
म्लानावस्थायां दुर्मिलं वा श्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाभ-
यमुपस्रेय विकल्पयति परिकल्पयति मयन्ते, एवं यत्करणं,
गणितं, ज्योतिष्कं, घटकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिकं वा भूतम-
धीते ममाऽधमोऽनो श्राणाय स्यादिति ॥३॥

पतंभेते विकल्पयन्तीत्याह-
को माणइ विउवाते, विक्तीओ उदगाउ वा ।
चाइज्जोता पववस्वामो, ए णो अयि एक्कल्पेयं ॥४॥

अल्पसंस्थाः प्राणिनः, विचित्रा च कर्मणां गतिः, बहूनि प्रमाद्-
स्थानानि विद्यन्ते, अतः को जानानि कः परिच्छिन्नतत्त द्वायानं
संयमजीविनादु-बद्ध्यन्तः । केन पराजितस्य मम संयमद् युशः
स्यादिति । किं स्त्रीनः स्त्रीपरि । यहाद् उनादकाले म्लानाद्यथमुदृका-
सवनात्रिलयायादित्येवं ते यराकाः प्रकल्पयन्ति, न मोऽस्माकं कि-
ञ्चन प्रकल्पितं पुषोपाजितदृश्यजातमस्ति, यत्तस्यामवस्थाया-
मुपयोगं संयम्य यास्याति, अतस्त्वेषामनाः परेणापुष्यमानाः क-
श्चित्शिक्षापुत्रुवैद्यादिकं कुट्टिप्रविष्टादिकं वा प्रवश्यं ममः ह-
यिष्यामः प्रयाहयाम इत्येवं ते हीनसत्त्वाः संप्रधार्थ्यं ध्याकरणा-
दीं श्रुतं प्रयत्नत इति न च तथापि मन्दमात्स्यानामभिमत्तार्थावा-
पिनेत्रयतीति । तथा चोक्तम्-" उपशमफलाद्विद्याबीजात्क-
षं धनमिच्छन्ताम्, भवति विक्रान्तो यथावासस्तदत्र किमद्दुष्टमम् ? ।
न नियतफलाः कर्तुंशोः फलात्तरमीशते, जनयति खलु वीह-
वीजं न जातु यचाङ्कुरम्" ॥१॥

उपसंहारार्थमाह-

इशेवं पदिलेहंति, वलया पदिलेहियो ।

अञ्जत्तिसीयय

वितिगिच्छसमावभा, पंथाएँ च अक्रोविया ॥ ५ ॥
 इत्येवमिति पूर्वप्रकात्परामर्शाद्यः यथा भीरवः संप्रति प्रवि-
 विक्रयो बलयादिकं प्रत्ययेकिणो भ्रमन्तीत्येवं तदपि प्रज्जिता
 मन्त्रभागवत्या अल्पस्त्वया आजीविकाभयाद्याकल्प्यादिकं जी-
 वनोपायत्वेन प्रत्ययेकृन्ते परिकल्पयन्ति । किंभूताः विचिकि-
 त्सा चित्तविष्णुतिः, किमेवं संयममभ्युत्थितमेतुं नेतुं वयं सम-
 धीः, उत नेतव्यं वचुताः । तथा चोक्तम्—“ लुक्कमणुपदमणि-
 ययं, कालाहकत भोग्यं विरसं । चुमीत्ययं शोभां, अस्तिपा-
 णं वनचरं च ” ॥ १ ॥ तां समापत्ताः समागताः । यथा पथानेन
 प्रत्यकोविदा अनिपुणाः—किमयं पन्था विवक्षितं भ्रमार्गं या-
 स्यन्त्युत नेति, इत्ययं कृतचित्तविष्णुतो भवन्ति, तथा तदपि
 संयममभ्युत्थनं प्रति विचिकित्सां समापत्ता निमित्तगणित्यादिकं
 जीविकाद्यं प्रत्ययेकृन्त इति ॥ ५ ॥

साम्प्रतं महापुरुषवेदिते दृष्टान्तमाह—

जे उ संगामकालाम्भि, नाथा सूरपुरंगमा ।
 एते ते पिष्टमुनेर्होति, किं परं मरणं सिया ॥ ६ ॥
 ये पुनर्महासत्त्वाः, तुष्टान्दो विशोपायोः, संसामकाले परा-
 नीकयुक्तावसरे ज्ञातारं लोकविदिताः, कथम् ? शूराणामप्रगा-
 मिनां युक्तावसरे सैन्याप्रकल्पयतिन इति, पर्यभूताः संसामं
 प्रविशन्तो न पृष्ठमुपेकृन्ते न दुर्गोदिकमापन्नान्या पर्यालोच-
 यन्ति, ते चाभङ्गकृतमुष्टयोर्दपि त्वयं मयगन्तं—किमपरमभ्रा-
 त्स्माकं भविष्यति, यदि परं मरणं स्यात्, तच्च शाश्वतम्, यदाः प्रवा-
 हसिञ्जामस्माकं स्ताकं वतंत इति । तथा चोक्तम्—“ विदा-
 राहभिरविनश्वर-मतिचपलेः स्थाम्नु वाञ्छन्तं विशदम् । प्राणै-
 र्बेदि च सुराणां, भवति यशः किं न पर्यामम् ? ” ॥ ६ ॥
 तदयं सुनष्टदृष्टान्तं प्रदर्श्य दाष्टान्तिकमाह—

एवं समुद्रिणं भिन्नम्, बोसिज्जागारवर्षणं ।
 आरंजं तारिर्यं वृष्टे, आतत्तापं परिष्वप ॥ ७ ॥
 एवमित्यादि । यथा-सुभद्रा ज्ञातारो नामतः कुलतः शौर्यतः
 शिक्तातत्र, तथा सशिवद्वपरिकराः करं वृहोतंहेतयः प्रतिभट-
 तसमितिभेदिनां न पृष्ठतोऽवभोकयन्ति । एवं भिन्नुरपि साधु-
 रपि महासत्त्वः परलोकप्रतिस्पर्धितमिन्द्रियकपायादिकमस्त्रिच-
 र्मं जेतुं सम्यक् संयमेत्यालोचनस्थितः समुत्थितः । तथा चोक्तम्—
 “कोहं मार्धं च मायं च, लोहं पंचैदियाण्ये य । दुःखयं चैयमपा-
 णं, स्ववमये जिय जिय” ॥ १ ॥ किं कृत्वा समुत्थितः इति दृशयति-
 ध्युत्सृज्य त्यक्त्वा, अगारभ्रमणं वृहथायत्त तथा आरंजं सायघा-
 नुष्ठानरूपं तिर्यक् कृत्वाऽपहस्तं यत्वाऽस्त्रनां प्राञ्च आ-भ्रमणमशेष-
 कर्मकसङ्हरहितं तस्मै आत्मन्वाया । यदि वा आत्मा मौक्तः, संय-
 मो वा, तद्वावस्तस्मै तदर्थं, परि संमताद् भ्रजव संयमानुष्ठान-
 कियार्थं हत्वाऽपानो भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥ सूत्रं १ श्रुं २ अं ३ उं ।
 अञ्जत्तविसुद्ध-अध्यात्मविशुद्धि-वि० । विसुद्धिः कान्तःकरणे,
 सूत्रं १ श्रुं ३ अं २ उं ।

अञ्जत्तविसांदिनुजु-अध्यात्मविशोभियुक्त-वि० । ३ तं ।
 विदुक्त्वाभि, “जा जयमाणस्य भवे, विराहणा सुप्तविहिसमग-
 स्स । सा होहं गिज्जरफला, अञ्जत्तविसोदिनुजुत्स्स” ॥ १ ॥ श्रुं ।
 अञ्जत्तवेड् (ण) —अध्यात्मवेदिन्-वि० । सुखदुःखादेः स्व-
 रूपसोऽवगन्तरे, आवा० १ श्रुं १ अं ७ उं ।
 अञ्जत्तसंबुद्ध-अध्यात्ममंनूत-वि० अध्यात्मं मनस्तेन संबुतः ।

कीर्जोगादत्तनमति, सूत्रार्थोपयुक्तिकदमनोयोगे वा “यद्गुणे
 अञ्जत्तसंबुद्धे परिवर्ज्य सया पावं” आवा० १ श्रुं ४ अं ४
 उं । सूत्रं ।
 अञ्जत्तसम-अध्यात्मसम-वि० । अध्यात्मानुके परिणामानु-
 सारिणे, श्रुं २ उं ।
 अञ्जत्तसुद्ध-अध्यात्मशुद्धि-वि० । चित्तजयोपायप्रतिपादन-
 शास्त्रे, प्रश्नं १ सन्धं ६ ॥
 अञ्जत्तसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-वि० । चेतःशुद्धौ, अध्यात्मशु-
 द्धिरेव फलदा च शाश्वतः, जतरत्तचक्रवर्तिनः बाह्यकरणस्य रजो-
 हरणादरंभवेऽपि अध्यात्मशुद्धेव केशकेशयोः । प्रसन्नचन्द्र-
 स्य च बाह्यकरणयोर्दपि आच्यन्तरकरणविकल्पस्य सतमपुधि-
 यीप्रायोग्यकर्मकथात् पश्चाद्द्वैतिया अध्यात्मशुद्धेव मोक्षम-
 नात् । आ० सू० १ अं ।

अञ्जत्तसोहि-अध्यात्मशोधि-वि० । चेतःशुद्धौ, आ० सू० १
 अं । (वर्णनमस्य ‘अञ्जत्तसुद्धि’ शब्दे कृतम्)
 अञ्जत्तिय-अध्यात्मिक-वि० । आत्मानं अधि-अध्यात्मकं, तच्च
 भय अध्यात्मिकः । आत्मविषये, आ० मं ० प्रं । भं । वि० ।
 हा० । नि० । “ अञ्जत्तिय चित्ति” आत्मनि क्रियमाणे, “ पर-
 किरियं अञ्जत्तियं संसृष्ट्यं णो तं सति” आवा० २ श्रुं १ ३
 अं । आन्तरोपायसाधं सुखदुःखादौ, अध्यात्मिकं दुःखं द्वि-
 विधस-शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनि-
 मित्तः मानसं कामक्रोधभ्रमोदेषां विषयशार्दशून्यनिबन्धनात् ।
 सर्वं चैतदान्तरोपायसाधयत्वादाध्यात्मिकं दुःखमिति साधनाः ।
 स्यात् । अध्यात्मनि मर्त्तसं भय अध्यात्मिकः बाह्याभिमतान-
 पेक्षे शोकानिभयः, “ अष्टम क्रियास्थानमेतत् ” स० ।

अञ्जत्तियवीरिय-अध्यात्मिकवीरिये-भ० । आन्तरशक्तिजनितं सात्त्वि-
 कमित्यर्थः । तच्च वीर्यं चेति । “ उज्जमपिति वीरत्तः स्त्रीदीरत्तं
 क्षमाय गेन्नां । उवअमयोगतव सं-जमदि य होह अजु-
 पो ” ॥ १ ॥ इत्युक्तेः उद्यमशुल्कादि, सूत्रं १ श्रुं ३ अं ।

अञ्जत्तिय-अध्यात्म-न० । अधि आत्मनि वर्तते इत्यध्यात्मम् ।
 सन्वयधर्मध्यानादिप्राप्तनायाम्, सूत्रं १ श्रुं ७ अं ।
 अञ्जत्तियभोग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रतिहितान्तरकरणता-
 याम्, धर्मध्याने च । सूत्रं १ श्रुं ६ अं । (निरूपणमस्य ‘ अ-
 ज्जत्तभोग ’ शब्दे कृतम्)

अञ्जत्तियभोगसांदिनुजु-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । विसै-
 काप्रतादिनाजि, उक्तं २ ६ अं ।
 अञ्जत्तियभोगसुक्तादाण-अध्यात्मयोगसुक्तादान-वि० । ह-
 नचेतसा विदुक्त्वाकारि, सूत्रं १ श्रुं १ ६ अं ।
 अञ्जत्तियभोग-अध्यात्मयोग-पुं० । योगभेदे, अष्टं ६ अष्टं ।
 (बह्व्यताऽस्य ‘ अञ्जत्तभोग ’ शब्दे)

अञ्जत्तियभोगसांदिनुजु-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । विसै-
 काप्रतादिनाजि, उक्तं २ ६ अं ।
 अञ्जत्तियभोगसुक्तादाण-अध्यात्मयोगसुक्तादान-वि० । ह-
 नचेतसा विदुक्त्वाकारि, सूत्रं १ श्रुं १ ६ अं ।
 अञ्जत्तियभोग-अध्यात्मयोग-वि० । प्रशस्तस्य गो-
 पयुक्ते, प्रश्नं ४ सन्धं ६ ॥

अङ्गप्रत्ययद्वय-अध्यात्मद्वय-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न०
 ५ सम्ब० ३० ।
 अङ्गप्रत्ययद्वय-अध्यात्मद्वय-पुं० । कथाये, सूत्र० १ कु० ६ अ० ।
 अङ्गप्रत्ययविन्दु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । स्वनामवशात् प्रत्यभेदे,
 अष्ट० १४ अष्ट० ।
 अङ्गप्रत्ययपरिवर्त्तना-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजय-
 यवाचकंन कृते प्रत्यविशेषे, प्रति० ।
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्म-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।
 अङ्गप्रत्ययसिचय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने,
 सूत्र० २ कु० १२ अ० ।
 अङ्गप्रत्ययवर्ण-अध्यात्मवचन-न० । धोरुशवचनानां सप्तमे
 वचने, आचा० २ कु० ४ अ० १ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययविशोप-अध्यात्मविशोप-न० । संयमकष्टमनुसृत्य
 मनसि विषयीभवने, सूत्र० १ कु० ३ अ० ३ उ० । (विदुतिरस्य
 'अङ्गप्रत्ययविशोप' शब्दे निरूपिता)
 अङ्गप्रत्ययविशुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे,
 सूत्र० १ कु० ४ अ० २ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययविशोप-अध्यात्मविशोपियुक्त-त्रि० । विशुद्ध-
 नावे, प्रति० ।
 अङ्गप्रत्ययवेद (ष) -अध्यात्मवेदिन-त्रि० । सुखदुःखादेः स्व-
 रूपतोऽवगन्तवि, आचा० १ कु० १ अ० ७ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययसंयुक्त-अध्यात्मसंयुक्त-त्रि० । स्त्रीभोगाऽदत्तमनसि,
 सूत्रार्थोपयुक्तनिरुक्तमनोयोगे च । आचा० १ कु० ५ अ० ४ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मरूपे परिणामा-
 नुसारिणि, व्य० ३ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययसुद्धि-अध्यात्मसुद्धि-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशा-
 खे, प्रश्न० १ सम्ब० ८० ।
 अङ्गप्रत्ययसुद्धि-अध्यात्मसुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० सू०
 १ अ० ।
 अङ्गप्रत्ययसोहि-अध्यात्मसोधि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० सू०
 १ अ० ।
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० प्र० प्र० ।
 आन्तरोपायसाधने सुखदुःखादौ, स्या० ।
 अङ्गप्रत्ययवीरिय-अध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमवृत्त्यादौ, सू-
 त्र० १ कु० ८ अ० ।
 अङ्गप्रत्ययवाहिसंबन्ध-अध्यस्तोपाधिस्मरन्-पुं० । आत्मनि
 प्राप्तयुक्तसंसर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलस्फटिकस्यैव, स-
 दृशं रूपमात्मनः । अध्यात्मोपाधिसम्बन्धो, जसन्न विमुक्त-
 नि " ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्म-न० । चेतसि, दश० १ अ० । ध्याने, आच०
 १ अ० ।
 अङ्गप्रत्यययोग-अध्यात्मयोग-पुं० । अन्तःकरणद्वये धर्मध्या-
 ने, सूत्र० १ कु० १६ अ० ।
 अङ्गप्रत्यययोगसाहजुक्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । शुभ-
 चेतसा विशुद्धचारिणे, सूत्र० १ कु० १६ अ० ।

अङ्गप्रत्यययोगमुक्तादाह-अध्यात्मयोगमुक्तादान-त्रि० । शु-
 द्धचेतसा विशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ कु० १६ अ० ।
 अङ्गप्रत्ययकिरिया-अध्यात्मकिरिया-स्त्री० । अष्टमे क्रियास्थाने,
 स्या० ५ उ० २ उ० ।
 अङ्गप्रत्यययोग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रतिहितान्तःकरणतायां
 धर्मध्याने, सूत्र० १ कु० १६ अ० ।
 अङ्गप्रत्यययोगसाहजुक्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । चित्त-
 काप्रतादि प्राप्ति, सत्त्वं २ ए अ० ।
 अङ्गप्रत्यययोगमुक्तादाह-अध्यात्मयोगमुक्तादान-त्रि० । शुभ-
 चेतसा विशुद्धचारिणे, सूत्र० १ कु० १६ अ० ।
 अङ्गप्रत्यययोगयुक्त-अध्यात्मयोगयुक्त-त्रि० । प्रशस्तध्यानो-
 पयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० ३० ।
 अङ्गप्रत्ययद्वय-अध्यात्मद्वय-पुं० । शोकाद्यनिवृत्त्यर्थे अष्टमे क्रि-
 यास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० ३० ।
 अङ्गप्रत्ययद्वय-अध्यात्मद्वय-पुं० । कथाये, सूत्र० १ कु० ६ अ० ।
 अङ्गप्रत्ययविन्दु-अध्यात्मविन्दु-पुं० । यथार्थनामाभिधेये स्वनाम-
 वशात् प्रत्ये, अष्ट० १४ अष्ट० ।
 अङ्गप्रत्ययपरिवर्त्तना-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजय-
 कृते प्रत्यविशेषे, प्रति० ।
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्म-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।
 अङ्गप्रत्ययसिचय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने,
 सूत्र० २ कु० १२ अ० ।
 अङ्गप्रत्ययवर्ण-अध्यात्मवचन-न० । दृढयगते वचनभेदे, धोरु-
 शवचनानां सप्तमिदमे । आचा० २ कु० ४ अ० १ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययविशोप-अध्यात्मविशोप-न० । संयमकष्टमनुसृत्य
 मनसि विषयीभवने, सूत्र० १ कु० ३ अ० ३ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययविशुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे,
 सूत्र० १ कु० ४ अ० २ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययविशोप-अध्यात्मविशोपियुक्त-त्रि० । विशुद्धमा-
 ने, आचा० ।
 अङ्गप्रत्ययवेद (ष) -अध्यात्मवेदिन-त्रि० । सुखदुःखादेः स्व-
 रूपतोऽवगन्तवि, आचा० १ कु० १ अ० ७ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययसंयुक्त-अध्यात्मसंयुक्त-त्रि० । स्त्रीभोगाऽदत्तमनसि, सूत्र-
 ार्थोपयुक्तनिरुक्तमनोयोगे च । आचा० १ कु० ५ अ० ४ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मरूपे परिणामानु-
 सारिणि, व्य० ३ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययसुद्धि-अध्यात्मसुद्धि-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशा-
 खे, प्रश्न० १ सम्ब० ८० ।
 अङ्गप्रत्ययसुद्धि-अध्यात्मसुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० सू०
 १ अ० ।
 अङ्गप्रत्ययसोहि-अध्यात्मसोधि-त्रि० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशा-
 खे, प्रश्न० १ सम्ब० ८० ।
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० प्र० प्र० ।
 आन्तरोपायसाधने सुखदुःखादौ, स्या० ।
 अङ्गप्रत्ययवीरिय-अध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमवृत्त्यादौ, सू-
 त्र० १ कु० ८ अ० ।
 अङ्गप्रत्ययवाहिसंबन्ध-अध्यस्तोपाधिस्मरन्-पुं० । आत्मनि
 प्राप्तयुक्तसंसर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलस्फटिकस्यैव, स-
 दृशं रूपमात्मनः । अध्यात्मोपाधिसम्बन्धो, जसन्न विमुक्त-
 नि " ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।
 अङ्गप्रत्यय-अध्यात्म-त्रि० । अध्यात्मरूपे परिणामानु-
 सारिणि, व्य० ३ उ० ।
 अङ्गप्रत्ययसुद्धि-अध्यात्मसुद्धि-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशा-
 खे, प्रश्न० १ सम्ब० ८० ।
 अङ्गप्रत्ययसुद्धि-अध्यात्मसुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० सू० १ अ० ।
 अङ्गप्रत्ययसोहि-अध्यात्मसोधि-त्रि० । मायशुद्धौ, आ० सू०
 १ अ० ।
 अङ्गप्रत्यययोग-अध्यात्मयोग-त्रि० । आत्मनि क्रियमाणे आन्तरोपा-
 यसाधने सुखदुःखादौ, आचा० २ कु० १६ अ० ।

अज्जपियवीरिय-आध्यात्मिकवैर्यं-म० । उद्यमभूयादौ, सूत्र० १, सु० ७ अ० ।

अज्जयण-अध्ययन-म०। अधीयते हायते परिरिचयययनामि । नामसु (शाबकदाभ्येवु), "ता कं देवताणं अज्जकथं आरिहाता विषयस्स" मं० प्र० १ पाठु० । सु० प्र० । अधीयते विनेवादिक्कमेण सुसुत्तयेण हस्यप्ययनम् । (विशिष्टाद्येधमिसंस्वयेकपे सुत्तये, ज० १ प्र० । "अज्जकथं पिय ति विहं, सुत्ते अर्ये व तदुत्तरं खेव" विहो । तम्मिक्कयो यथा-

से किंत्तं अज्जकथये? । अज्जकथये चत्तन्निवे पत्तते; तं जहा-
णावज्जयणे, उवखज्जयणे, दब्बज्जयणे, भावज्जयणे । णा-
वज्जयणाओ पुनवपिआओ । से किंत्तं दब्बज्जयणे? । दब्बज्ज-
यणे सुविदे पत्तये । तं जहा-आगमओ अ, णोआगमओ अ ।
से किंत्तं आगमओ दब्बज्जयणे? । आगमओ दब्बज्जयणे जस्स
शं अज्जकथय चि पदं सिक्खत्तं उिंत्तं जितं मितं परिजितं जाव
एवं जावएआ आणुवउत्ता आगमओ तावडआदं दब्बज्ज-
यणाइं । एवमेव बवहारस्स वि। संहरस्स पं एगो वा अणेगो वा
जाव सेत्तं आगमओ दब्बज्जयणे । से किंत्तं पो आगमओ दब्ब-
ज्जयणे? । पो आगमओ दब्बज्जयणे ति विहं पत्तते । तं जहा-
जाणुगसरीरदब्बज्जयणे, भविअसरीरदब्बज्जयणे, जाणुग-
सरीरजविअमरीरवडरिचे दब्बज्जयणे । से किंत्तं जाणुगसरी-
रदब्बज्जयणे? । जाणुगसरीरदब्बज्जयणे अज्जयणपदत्त्याहि-
गारजाणुयस्स जं सरीरं ववगयचुअच्चविअचत्तदेहं जीववि-
पमदं जाव अहोए इमां सरीरसमुत्सएणं जिणदिंएणं भा-
वेणं अज्जकथोत्ति पदं आघवितं जाव उवदमितं जहा-को दिहं
तो-अयं पयकुंभे आसी, अयं महकुंभे आसी, सेत्तं जाणुगसरी-
रदब्बज्जयणे । से किंत्तं भावियसरीरदब्बज्जयणे? । भावियस-
रीरदब्बज्जयणे ज जीव जाणुगजम्मणानिकखंत्ते इमेणं खेव आ-
दत्तएणं सरीरसमुत्सएणं जिणदिहेणं जायेणं अज्जयणेोत्ति
पदं ते अकाले निविस्सस्सति, न ताव सिक्खति, जहा-को दि-
हंता-अयं महकुंभे भविस्सद, अयं पयकुंभे जविस्सद, सेत्तं भ-
विअसरीरदब्बज्जयणे । से किंत्तं जाणुगसरीरजविअसरीरवड-
रिचे दब्बज्जयणे? । जाणुगसरीरभाविअसरीरवडरिचे दब्बज्ज-
यणे पत्तवपात्तयत्तिलिंत्तं, सेत्तं जाणुगसरीरभाविअसरीरवड-
रिचे दब्बज्जयणे। सेत्तं पो आगमओ दब्बज्जयणे। से किंत्तं भा-
वज्जयणे? । भावज्जयणे उविहं पत्तते । तं जहा-आगमओ अ
एओ आगमओ अ । से किंत्तं नो आगमओ भावज्जयणे? । अ-
ज्जकप्पस्साखयणं, कम्मणं अरववओ उवविआणं । अणु-
ववउ न विआणं, तहमा अज्जयणमिच्छं । ? । सेत्तं पो
आगमओ भावज्जयणे, सेत्तं भावज्जयणे, सेत्तं अज्जयणे ।
(से किंत्तं अज्जकथये इत्यादि) नामस्सायना, कथयनायमेदात् ।
वतुत्थोऽप्यध्ययनमाह्वयं निक्षेपः । तत्र नामादिविचारः सर्वो-
ऽपि पूर्वोक्तद्वयावयवकानुसारं वाक्यः, यद्यप्यो आगमतो प्रा-
काशयते । अज्जकप्पस्सायनामिस्सादिनाथाय्वाक्या-अस्य सत्तिस-
स्य भाषणं, इह निरुक्त्वितिना प्राकृतस्वाभावात्वाक्यपकारस-

कारः।ऽकारणकारणज्ञानमध्यगतवर्णकतुचयदोष अज्जयणमिति
भवति, अर्थात् वेतस्तस्यायनमध्ययनमुच्यत इति ज्ञानः। आ-
नीयते च सामाधिकाराध्ययने शोभते चेत्तोऽस्मिद् सत्यमुज्जक-
मेकमध्ययनात् । अत एवाह-कर्मणामुपचितानां प्रागुपनिष्कानं
यानुऽप्यथयो ह्यतोऽस्मिद् सति विद्यते नवानां यानुऽप्यथयो व-
न्धो यस्तस्माद्धैवं ययोक्तशब्दाद्यप्रतिपत्तेः "अज्जकथं" प्राकृत-
भाषायामिच्छामि सूरयः, संकृते विद्वदमध्ययनमुच्यत इति ।
सामाधिकारिकं वाध्ययनं हायकियासमुद्घातमकम । तत आगम-
स्यैकदेशुत्तित्वात्नो आगमतोऽध्ययनामिदमुक्तिमिति गाथायः ।
अनु० । "जेण सुहृत्पज्जकथं, अज्जकथायणय महियणयणं वा ।
वोहस्स संजमस्स व, माक्खस्स व अं तंमज्जकथं" । इह नैद-
केन विधिना प्राकृतस्वाभाव्याक्य सिक्खं । विरो० । आ० म० ॥ १० ।
निरुक्तयन्तरेद्यैतदेव व्याख्यातुमाह-

अधिगम्यंति व अन्ता, अणण अधिगं व खयणमिच्छंति ।
अधिगं व साहु गच्छति, तम्हा अज्जयणमिच्छंति । उण० १ ।
अधिगम्यन्ते वा परिच्छिन्ते वाऽप्या जीवाद्योऽनेनाधिकं वा
मयं प्राप्यं मय्योवात्तमि हानाहं। नामनेतीच्छति, विद्धानं
इति शेषः । अधिगमनमर्थं श्रित्तरमिति यावत्, वा सर्वत्र
विकल्पार्थः । (साहु ति) साधयति पौकषेधोभिविशिष्टकिया-
जिपवर्णमिति साधुगच्छति यानयार्थं मुक्तिम्, अनेनेत्यत्रापि यो-
ज्यते, यस्मादेवमेव च ततः किमित्याह-नेस्मादध्ययनमिच्छ-
ति, निरुक्त्वितिनाऽर्थानिर्देशपरत्वाद् वा । अस्यायतरेतेषां अधि-
पूर्वस्याध्ययनमिच्छन्तीति वाऽभिधानम् । सर्वत्र सुवार्थाभा-
धया इयाव्यधिकल्पानां पूर्वोक्तार्थसंज्ञतत्वेनाऽऽश्रयव्यापना-
र्थमिति गाथार्थः । उत्त० १, अ० । अनु० । आ० म० । दश०
स्था० । सु० १ । अधीयते हस्यप्ययनम् । कर्मणि ह्युद् । पठ्य-
मानं, आ० ४ अ० । धर्मप्रज्ञतो, दश० ४ अ० । "अध्ययनामि
शुलोक्च्युत्तानि "

चोयादींसे अज्जयणा इसिजासिया दियाओगच्छुया भासिया ।

वतुत्थवार्तिगतं (इतिमासिधे ति) आधिभाषिताभ्ययनामि
कालिकवृत्तविशेषतुत्तानि (दियालोयच्छुयाभासिय ति) देवलो-
कच्युतेः आधीनृतरभाषितानि देवलोकाच्युताभाषितानि । क-
चित्वाउस्तु- " देवलोयच्छुयां चोयादींसे इतिभासियज्जयणा
पन्नत्ता " । स० म० ४३ स० म० । अधि-दृष्ट-नाभे ह्युद् । पुनः पु-
नर्मन्थाच्यासे, विरो० । स्वाध्यायं, षो० १३ विव० । पठने, गु-
रुमुखांवारणानुसारीणि उभाषणे वा । धा० व० । (पठनकल्पता,ऽ
कित्ता 'उह्वेत्' 'धायता' 'उवसंपत्ता' इत्यदिशब्देषु द्रष्टव्या)
अज्जयणकप्प-अध्ययनकल्प-पुं० । योयत्ताऽनुसारं वाक्या-
दानसामाध्याय्यं, पं० मा० ।

वक्खतां सुतकप्पो, एतो वोच्छामि अज्जयणकप्पं ।
दायव्वं जेण विहिणा, जग्गुणुज्जस व तां तु ।
जेए परिआए अण-रिहं अरहं व विणयपदिबणे ।
सुत्तय तदुभएत्तं, जे अज्जयणेसु अणुभागा ॥
जस्सागाढो जोगो, तं आगाढे वा खेव दायव्वं ।
अणगाढे अणगाढं, एत्तो वोच्छामि परिआणं ॥
जं संस्परिआणं, जणितं सुत्तमि तिबरिआदीं वं ।

ते तेषां माणेणं, उदिसियव्वं जवे सुचं ॥
 सुदिपविसाणयविज-जिमादि दीहे च नृयमायाए ।
 णवि दिज्जांति अणरिदे. अणारिहेत्ते तु इमो होंति ॥
 तिंतिणिए च्चल्लिचिचे, गाणं गाणिए य सुच्चलचरिचे ।
 अयारिय परिभावी, वामायट्टे य पिसुणं य ॥
 अदी अदिहभावे, अरुमसमायारिए तरुणधम्मे ।
 गच्चित्तपइएइणिएहइ, उदेसुचे वज्जितो अउंरुहुरो ॥
 अकुलीणो ति य दुम्मे-हो दममे मंदवुच्चि ति ।
 अबियपपलाभलच्छी, सीसो परिजवइ आयरिए ॥
 सो वि य सीसो दुविहो, पव्वावियतो य सिकसवउ चैव ।
 सो सिकसित्तो वि ति विहो, सुत्ते अत्ये य तनुजयणं ।
 एतंमि अणारिहाणं, जे पविन्नस्साउ होंति सर्वंसि ।
 परिणायमा य जे तु, ते अरिहा होंति णापव्वा ।
 एतारिमे विणीतो, सुचं अत्ये य जजिया भेदा ।
 अज्जयणा वेसजुया, सेण अमेसए देजा ॥ पं०जा० ।
 ('सुय' शब्दऽस्य विस्तरो ह्यर्थः)

अज्जयणगुणियउच-अध्ययनगुणानियुक्त-ि० । प्रकान्ताशा-
 खनिपुण्ड्रजुते प्रकान्ताध्ययनाग्निहितगुणसमन्विते, दश० ए
 अ० ४ व० ।

अज्जयणगुणिए (ष्)-अध्ययनगुणिन-त्रि० । प्रकान्ताध्यय-
 नोक्तगुणवर्तित, दश० १० अ० ।

अज्जयणाउरु-अध्ययनपदक-न० । अश्वयजनामभूते, तस्य
 सामायािकादिष्वयनकलायात्मकत्वात् । विशे० ।

अज्जयणएउक्कवग्ग-अध्ययनपदकवर्ग-पु० । आश्वयजे, षडय-
 यनकत्रयात्मकत्वात्तस्य । विशे० । अनु० ।

अज्जवसाण-अध्यवसान-न० । अतिदण्विपादाज्यामधिकम-
 वसानं चिन्तनमध्यवसानम् । विशे० । रागस्नेहभयात्मकऽध्य-
 वसाये, स्वा० ७ टा० । रागभयस्नेहभेदात् । विविधमध्यवसानम् ।
 (तच्चिन्तितक मायुजंदा द्वि० भा० १० पृष्ठे 'आउ' शब्दे यद्यने)
 मन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मानस्यापरिणती,
 हा० १ श्रु० १ अ० । उल्ल० । "मणसंकेपेचि वा अज्जवसाणं-
 ति वा पगहा" नि०चू० १० उ० । प्रकृतोऽपि प्रथमनंदे, अनु० ।
 विशे० । औ० ।

एरइयाणं जंते ! केवनिया अज्जवसाणा पल्लत्ता ? ।
 गोयमा ! असंखिज्जा अज्जवसाणा पल्लत्ता । तेणं जंते !
 किं पसत्था, अपसत्था ? गोयमा ! पसत्था वि अपसत्था
 वि । एव जाव वेमाणियाणं ।

अध्यवसायचिन्तायां प्रत्येकैरेयिकादीनामसंख्येयाध्यवसानानि
 प्रत्येकं प्रायोऽपान्ताध्यवसायज्ञायात् । प्रहा० ३३ पद ।
 अन्तःकरणे, आ० म० द्वि० । उपा० । प्रहा० । आवा० ।

अज्जवसाणजोगणिव्वत्तिय-अध्यवसानयोगनिर्वर्तित-त्रि० ।
 अध्यवसानं जीवपरिणामः, योगश्च मनःप्रभृतिव्यापारस्तान्त्रां
 निर्वर्तितो यः स तथा । परिणामेन मनोयोगादिना चासाधिते,
 म० २५ श्रु० ८ उ० ।

अज्जवसाणाणिव्वत्तिय-अध्यवसाननिर्वर्तित-त्रि० । मनःप-
 रिणतिसाध्ये, " अज्जवसाणाणिव्वत्तियणं करणोपायणं से य
 काले तं गणं विज्जजहिहा " अध्यवसाननिर्वर्तितेन कृतो-
 त्तयं मयेत्येवकपाध्यवसायनिर्वर्तितेन । म० २५ श्रु० ८ उ० ।

अज्जवसाणावरणिएज्ज-अध्यवसानावरणीय-न० । अध्य-
 वसानस्याऽऽवरणरूपे कर्मभेदे, म० ६ श्रु० ३१ उ० ।

अज्जवसाय-अध्यवसाय-पु० । मधि-अव-यो-घञ् । इदमेवेति
 विषयपरिच्छेदे निश्चये, स चात्मधर्मं इति नैयायिकाः । बुद्धिधर्मं
 इति वेदान्तिनः । उपात्ताविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेः
 रजस्तमोऽभिभवति सति यः सत्वसमुद्रकः सोऽयमध्यवसाय इति
 बुद्धिरिति ज्ञानमिति चाऽऽख्यायत इति साङ्ख्याः । वस्तुसाहे,
 बाच० । संकल्पे, आवा० ३ अ० । सूत्रमेव आस्तनः परिणामविशेषेषु,
 आवा० १ श्रु० २ अ० । अनुभागवन्प्रस्थानं, "अनुभाग-
 वंधंराणं, अज्जवसाया व पगहा" पं० सं० २ श्रु० १० चू० ।
 अज्जवसायहाण-अध्यवसायस्थान-न० । परिणामस्थानं, तानि
 करणत्रयेऽन्येयानि । अष्ट० ५ अष्ट० । ('करण' शब्दे नृपु० प्रा०
 ३६१ पृष्ठे दृष्टयानि धैरानि)

अज्जवसिद्धं-निवापितं, मुख्यं च । दे० ना० १ वग् ।

अज्जवसिय-अध्यवसित-न० । अध्यवसाये, अनु० ।

अज्जसंसं-देशी-आकृष्टे, दे० ना० १ वग् ।

अज्जहिय-आपहित-न० । आस्तनं हितमामादिभ्य ।
 स्वहिते, प्रअ० १ संघ० ट्ठा० ।

अज्जा-देशी-अस्त्याम् । शुभाशयम्, नववश्याम्, तरुणायाम्,
 एतस्यां च । दे० ना० १ वग् ।

अज्जाय-अध्याय-पु० । आ मर्थोऽया प्रवचनोक्तं प्रकारं
 पुनमध्यायः । स्वाध्यायकरणे, प्रव० । आश्वयजे, आवा० ४ अ० ।
 रथा० । कर्मणि घञ् । वेदादिशास्त्रस्यैकार्यकविषयसमाप्ति-
 शान्तके विश्रामस्थानरूपे अश्वविशेषे, बाच० ।

अज्जारुह-अध्यारुह-पु० । उपर्येपर्येध्यारोहन्तीति अर्थाकरुहाः ।
 वृक्षोपरिजानेव वृक्षानिधानेषु कामवृक्षानिधानेषु वा वनस्थेषु,
 सूत्र० । च यद्दृष्टवानिधाना इति वृक्षाणां शाखाप्ररोहे च । सूत्र०
 २ श्रु० ३ अ० । प्रहा० । आवा० । (अध्यारुहयोपश्रान्तं जीवा-
 नामाहारशरीरवर्णादिष्वथवा 'वणस्तद' शब्दे चक्षते)

अज्जारोव-अध्यारोप-पु० । अधि-आ-रुह-शिच-पान्ता-
 देशः-घञ् । अस्मिन्न तद्बुद्धौ, यथा-रज्जौ सर्पयोः । बाच० ।
 ज्ञान्तौ, यो० ४ विषव० ।

अज्जारोवण-अध्यारोपण-न० । अधि-रुह-शिच-पान्तादेशः,
 लुट् । अतिशयेनाऽऽरोपणे ध्यान्तोर्द्वैषेण, बाच० । पर्येतु-
 योजने, विशे० ।

अज्जारोवमंरुज-अध्यारोपमण्डल-न० । अध्यारोपो ज्ञान्ति-
 स्तया मण्डलं मण्डलाकारम् । सिध्याज्ञानेन वृत्ताऽऽकाराऽऽ
 रोपणे, " आगमदीपेऽध्यारोपमण्डलं तस्यतोऽस्येष " पं० ४ विषव० ।

अज्जारोह-अध्यारोह-पु० । वृक्षाणां शाखाप्ररोहे, सूत्र० २
 श्रु० ३ अ० ।

अज्जावय-अध्यापक-पु० । अध्यापयति । अधि-रुह-शिच,

पवुह । अत्ययनकारितरि, वाच० । उपाध्याये च, "अज्जा-
 धयाये पठिहूलभासी" उच० १ २ अ० । आ० म० । आ० म्० ।
 अज्जावसत-अध्यावसत्-वि० । मध्ये वसतिमाने, "गिहमउभा-
 वसतस्स" इहमध्यावसतः-शुद्धे वर्तमानस्य । उपा० १ अ० ।
 अज्जाविषा-अधुप्य-अभ्य० । मध्ये वर्तयित्वात्यर्थे, "पंच-
 तित्यनरा कुमारासमम्भाविषा" स्था० ४ टा० ३ उ० ।
 अधिष्ठायत्यर्थे च । वाच० ।

अज्जासहा-अध्यासना-स्त्री० सहने, उच० २ अ० । (परी-
 यहासामभ्यासहना 'परीसह' शब्दे ङघ्या)

अज्जाहार-अध्याहार-पुं० । अध्यारुहते ज्ञानायाऽनुसन्धी-
 यते । अधि-आ-ह-घञ् । आकाङ्क्षाविषयपदानुसन्धाने, ऊहे,
 तर्कं, अपूर्वोन्मेषणे च । वाच० । व्याख्याऽङ्गमतेः । आचा० १
 श्लो० १ अ० ४ उ० ।

अज्जीण-अधीण-न० । आर्थिन्योऽनवरतं दीयमानमपि वर्द्धत
 एव, न तु क्षीयत इत्यधीणम् । अथवा व्यवच्छिन्नित्यप्रत्यये
 स्वर्थेदेव व्यवच्छेदादस्तीकवदस्तीणम् । विश० । आ० म० ।
 सामायिकचतुर्विंशतिस्तवात्मक अत्ययने, अज्जु० ।

अस्य निज्ञेपः-

से किं अज्जीणे ? । अज्जीणे च त्रुविहं पमत्तं । तं जहा-
 णामज्जीणे, उवणज्जीणे, दव्वज्जीणे, जावज्जीणे । नामउ-
 वणाज्जो पुव्वं वसिअज्जाओ । से किं तं दव्वज्जीणे ? । दव्वज्जीणे
 दुविहे पणत्ते । तं जहा-आणमज्जो अ, णोआणमज्जो अ । से किं
 तं आणमज्जो दव्वज्जीणे ? । दव्वज्जीणे जस्स एं अज्जीणे चि
 पदं सिखिस्सं जितं मितं परिजितं जाव सेचं आणमज्जो दव्व-
 ज्जीणे । से किं तं नो आणमज्जो दव्वज्जीणे ? । नोआं दव्व-
 ज्जीणे ति विहे पणत्ते । तं जहा-जाणमसरीरदव्वज्जीणे, जवि
 अमरीरदव्वज्जीणे, जाणमसरीरजविअसरीरवदरिसे दव्व-
 ज्जीणे । से किं जाणमसरीरदव्वज्जीणे ? । जाणमसरीरदव्व-
 ज्जीणे अज्जीणपयत्थादिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववमय-
 चुअचाविअचचददं जहा दव्वज्जयणे तथा जाणिअव्वं जाव
 सेचं जाणमसरीरदव्वज्जीणे । से किं जविअसरीरदव्वज्जी-
 णे ? । जविअसरीरदव्वज्जोणे जे जीवे जोणिअम्मणिअनिसं-
 ति जहा दव्वज्जीणे जाव सेचं जविअसरीरदव्वज्जीणे ।
 से किं जाणमसरीरजविअसरीरवदरिसे दव्वज्जीणे ? ।
 दव्वज्जीणे सव्वाणससेदी सेचं जाणमसरीरजविअसरीर-
 रवदरिसे दव्वज्जीणे, सेचं नो आणमज्जो दव्वज्जीणे, सेचं
 दव्वज्जीणे । से किं जावज्जीणे ? । भावज्जीणे दुविहे
 पणत्ते । तं जहा-आणमज्जो अ, नो आणमज्जो अ । से किं आ-
 गमतो भावज्जीणे ? । जावज्जीणे जाणए उवदरिसेचं आ-
 गमज्जो भावज्जीणे । से किं नो आणमज्जो भावज्जीणे ? ।
 जह् दीवा दीवसतं, परपए दीपए अ सो दीवो । दीवसमा
 आयरिअ, दिप्यंति परं च दीवंति ॥ १ ॥ सेचं नो आ-
 गमज्जो जावज्जीणे, सेचं जावज्जीणे, सेचं अज्जीणे ॥

अत्रापि तस्य विचारः, या तु (सव्वाणससेदी ति)
 सर्वाकार्यं लोकात्मिकमनःस्वरूपम्, अस्य संबन्धभाविः प्र-
 शापहारतोऽपह्नियमाणाऽपि न काराचित् क्षीयते, अतो ह-
 गरीरमन्वयगरीरउपतिरिक्तद्रव्याक्षीणतया प्रोच्यते, द्रव्य-
 तावत्याऽऽकारोऽव्याप्तगतत्वादिति । अत्र बुदा व्याचक्षते-
 यस्माच्चतुर्दशशुभविद् आगमोपयुक्तस्यानुष्ठुप्तं मानोपयोग-
 काले येऽधोपलम्भोपयोगपर्यावास्ते प्रतिसमयमेकैकापहार-
 णानन्तात्तन्प्युत्सर्षिणीभिर्नोपह्नियते, अतो भावाक्षीणतेहा-
 वसेया । नो आगमतस्तु भावाक्षीणता-शिव्येभ्यः सामायिका-
 दिभुतप्रदानेऽपि स्वामन्यनाशादित्येनदेवाद्— (जह् दीवा)
 यथा दीवादनधिज्ञतादीपशतं प्रदीप्यते प्रवर्त्तते, स च सुलभुतो
 दीपस्तथापि तैरेव रूपेण प्रवर्त्तते, न तु स्वयं क्षयस्तुभयति । प्र-
 कृते संबन्धप्रकाश-एवं हीपसमा आवायो हीप्यन्ते स्वयं वि-
 वक्षितभुवनत्वेन तथैवावतिष्ठन्ते, परं च शिव्यवर्गी दीपमति-भूत-
 सपदं लघनयन्ति । अत्र नो आगतो भावाक्षीणता भुतशुभका-
 चाय्योपयोगस्यागमत्वाद्, चाक्षाययोगयोश्चागमत्वादनर्थयति
 बुक्ता व्याचक्षते इति गार्थार्थः । अज्जु० । यथा हीपाद् हीपशतं प्रदी-
 प्यते उज्ज्वलति, सोऽपि च हीप्यते दीपः, न पुनरन्याम्यदोपोत्पत्ता-
 विद् हीयते । तथा किमियाद्-दीपसमा आवायो हीप्यन्ते सम-
 स्तनाश्चार्थविनिश्चयेन स्वयं प्रकाशन्ते, परञ्च शिव्यं हीपय-
 न्ति शास्त्रार्थप्रकाशाननिक्युक्तं कुर्वन्ति । इह च तात्सम्यक्प्रक-
 र्पेया इत्याचार्यशब्देन भुतज्ञानमेव बोधकम्, भावाक्षीणस्य प्रस्तुत-
 न्त्वात्, तस्यैव चाक्षयसंभवोऽदिति गार्थार्थः । उच० १ अ० ।
 अज्जीणज्जोणय-अधीणज्जोणय- वि० । अधीणकलहं,
 आच० ४ अ० ।

अज्जुववण-अज्जुपपन्न-वि० । अधिकमत्यर्थमुपपन्नस्त्विच-
 स्तदात्मकः । विषयपरिभोगायतजीविते, आचा० १ श्लो० १ अ०
 ७ उ० । स्या० । म० । अधिकं तदेकत्वमं गते, ज्ञा० २ अ० । वि० ।
 म० । आतानुरागे, इय० २ उ० । सुचिन्ते, आचा० २ श्लो० १ अ०
 ७ उ० । युधे, सूत्र० २ अ० ६ अ० । "मुच्छिन्नं विदुः गतिपरं अज्जु-
 ववणं य" इति एकार्थाः । वि० । "अज्जोववणा कामेहि, वा-
 इज्जना गया गिहं" अज्जुपपन्नाः कामगतिविन्ताः । सूत्र० १
 श्लो० ३ अ० २ उ० । अज्जोववणा कामेहि मुचिन्त्या "अज्जुप-
 पन्ना श्रुत्वा" सूत्र० १ श्लो० २ अ० ३ उ० । पीनमुत्थेनाभिलषमाणं,
 सूत्र० १ श्लो० २ अ० । अधिक्येन भोगेषु इण्डे, सूत्र० २ श्लो० १
 अ० । स्या० ।

अज्जुसिर-अज्जुपिर-वि० । न० व० । रुद्धणज्जुपिररहिते, रा० ।
 "अज्जुसिरं जय्थ कोट्टंरं नतिव" नि० श्लो० २ उ० । तुपाद्य-
 नवच्छिन्नं, घ० ३ अ० । कुडावनतुणादी, संस्तारकनेदे च । नि०
 श्लो० २ उ० ।

अज्जुसिरतण-अज्जुपिरतण-न० । दर्जावै, श्रुपिररहिते तृणे
 च । जीत० ।

अज्जेमणा-अधयेवणा-स्त्री० । अधि-इ-य-उ-ए । सत्कारयु-
 क्तियोगे, सम्म० । अधिकता यथा प्रायना । अधिकमयं, स्त्री० ।
 वाच० ।

अज्जोपरय-अध्यवपूर-पुं० । अधि अधिचक्षेनाध्यवपूरं
 स्वाधेऽस्तिअयशादेः साध्यागमनमवगतय तद्योग्यमङ्गलसि-
 क्षयं प्रादुर्भूय अरत्समप्यवपूरः । स एव आधिक्यकामययवि-
 धानाद्यव्यवपूरकः, तद्योगाङ्गलाप्यव्यवपूरकः । प्रथ० ६७

द्रो० स्वार्यमूलाद् ग्रहणे कृते स्वाध्यायार्थमधिकतरकणप्रसेपणेन भद्रादीं संपादितं सति, तत्र सम्भर्तव्यं योऽग्रे उद्ग्रामदोषे, भ०६ श्रो ३३ उ० "सहाप्य मूलमगच्छे, अत्रकोटर हाए प-
नवेवो" स्या० ६ उ० । ६० । अ० प्रावा० । प० ७० । पंचा० ।

अधुना अथवपूरकहारमाह-

अज्जोयरभो तिविद्रो, जावत्सिय सपरमीस पासंटे ।

मूत्रमिथ य पुष्पकर, ओयरई तिएइ अट्टापे ॥

अथवपूरकस्त्रिकारः । तद्यथा- (जावत्सिय इति) स्वग्रह-
मिश्रयोः शब्दयोरत्रापि संबन्धनात् स्वग्रहयावर्द्धिकमिश्रः (स
घरमीस इति) अत्र साधुशब्दोऽव्याहृत्यते. स्वग्रहसाधुमिश्रः ।
(पासंटे इति) अत्राप यथायोगं स्वग्रहमिश्रशब्दसंबन्धः ।
स्वग्रहपापप्रमिश्रः स्वग्रहभ्रममिश्रः स्वग्रहपापपडमिश्र-
पन्मर्भिवितः प्रथमः नोकः । त्रिविधस्यापि सामान्यतो लक्ष-
णमाह- (मूलस्मितादि) मूले आस्येऽस्त्रिसंयुतत्वास्थालीज-
लप्रतेपादिरूपे, पूर्वं यावर्द्धिकाद्यागमनात् प्रथममेव स्वार्थं
निष्पादिते पश्चात् यथासंभवं अत्रासौ यावर्द्धिकार्दानमा-
र्थायानरयति, अधिकतरान् तद्गुलादीन् प्रक्षिपति, ए-
षोऽथवपूरकः । अत एव चास्य मिश्रजानाद्भेदः । यना मिश्र-
जातं तदुच्यते-यत् प्रथमत एव यावर्द्धिकाद्यार्थमात्मार्थं च
मिथं निष्पाद्यते, यत् पुनराभ्यते स्वार्थं, पश्चात्प्रभूतानर्धिनः
पाथगिडन. साधून् वा समारानवगमये तेषामर्थोयाधिकतर-
जलतन्गुलादि प्रक्षिप्यते, सोऽथवपूरकः, इति मिश्रजाना-
दस्य भेदः ।

अमुमेव भेदं दर्शयति-

तंदूल जत्र आयाणे, पुष्पकते सगवेनेणे लोएण ।

परिमाणे नाणचं, अज्जोयर मीसजाए य ॥

इह 'अयमेनेऽप्यासाम्' इति वचनात् समीप-यथायोगं पृष्ठयर्थे
तृतीयार्थं वेदितव्यात् । ततोऽयमर्थः-अथवपूरकस्य मिश्रजातस्य
च परस्परं नानार्थं हि तद्गुलपुष्पफलशोकवेशजलवयादान-
काले यद् विचित्रं परिमाणं तेन द्रष्टव्यम् । तथाहि-मिश्रजाते
प्रथमत एव स्थानार्थं प्रभूतं जलमारोप्यते, अधिकतरमाह तद्गु-
लाः कण्डनादिनिरुपकष्यन्ते, फलादिकमपि च प्रथमत एव
प्रभूततर् संरज्यन्ते । अथवपूरके तु प्रथमतः स्वार्थं स्तोकतरं
तद्गुलादिं गृह्यते, पश्चात् यावर्द्धिकादिनिमित्तमाधिकतरं तद्गु-
लादिं प्रक्षिप्यते, तस्मात्सागुड्यादीनामादानकाले यद् विचित्रं
परिमाणं तस्मिन् अथवपूरके निशोऽङ्की नामः-यमवसेयम् ।

संयथयवपूरकस्य कालविधिमाह-

जावत्सि ए विसोदी, सपरपासंदिमा। नए पुरे ।

द्विषे विसोदिदिन्न-मिमि कण्पड न कण्पडे नैमं ।

यावर्द्धिकं स्वग्रहयावर्द्धिकमिश्रोऽथवपूरकं शुद्धमकम्ब-
पतितं यदि तावन्मात्रमपनीयते ततो विशोधयितव्यम् । अत-
एव स्वग्रहयावर्द्धिकमिश्रोऽथवपूरको विशोधिकादीं बन्धयते ।
स्वग्रहपापमिश्रमिश्रे, उपलक्षणत्वात् स्वग्रहसाधुमिश्रे च शुद्ध-
मकम्बपतितेषु प्रतिभवंति, न कल्पते तद्गुलम्, पुतिहापुच्छं न-
बन्दीत्यर्थः । तथा निशोऽङ्की विशोधिकोटिकूपे यावर्द्धिकाथव-
पूरकं द्विषे यावन्तः कणाः कार्पाटिकाद्यर्थं पश्चात् तस्मात्स्वार्थ-
त्वं स्थायात् । पुष्पकृते, कार्पाटिकादिभ्यः वा द्रव्यं सति, शोभ-
मुद्गरितं यद्गुलं तस्मात्पूर्ना कल्पते । अयं पुनः स्वग्रहपापकारि-
मिश्रस्वग्रहसाधुमिश्राथवपूरकं न कल्पते । किमुचं भवति ? ।

गृहीतं तत्पाकत्वात्तं स्थायात् । पुष्पकृते, दत्तं वा पाचकत्वादि-
त्तस्यैवापि यत् शुष्यं, तत्र कल्पत इति ।

जावत्सि ए विसोदी । इत्यथयं विशोधतो भ्याव्यायनयति-
त्रिमिमि तभो उक-द्वियमिमि पुदुक्ए कण्पड सेसं ।

आहुवयाए दिवो, व तसियं कण्पड सेसं ॥

विशोधिकोटिकूपे यावर्द्धिकोऽथवपूरको यावर्द्धिकं पश्चात्
प्रक्षिप्तं तावन्मात्रं द्विषे पुष्पकृते, तत्र ज्ञेयो रेवभाविष प्रयति,
तत आह- (तभो उकद्वियमिमि) तत्स्वस्थाद्भुत्कारितं कर्पाटितं,
इहाकर्पितं स्वस्थानादुत्पात्तं शोषकम्कठोपरि मिश्रितमपि भ-
ष्यते, ततो विशोधयात्तरमाह-पुष्पकृते स्थायाद्वा बहिनिक्वा-
शिते, शेषं यद्गुलं तस्मात्पूर्ना कल्पते । अथवा आजगमया उद्-
शेन, न तु शिक्यादिपरिगणनेन यदि तावन्मात्रं कार्पाटिकादिभ्यो
दत्तं स्यात् त त शेषं कल्पते । पि० । तत्र प्रायश्चित्तं स्वार्थं
कं मासगुरु । ६ । १ । ० । "यावत्सिय अज्जोयरए माससङ्गु, स-
रपासंर अज्जोयरए माससुरु" । पं० अ० । अथवपूरकत्वात्संभेदद्वये
एकाशनकम् । जी० ० । पंचा० ।

अज्जोववज्जा-देसी-कांडाभरणे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अज्जोववज्जा-अधुपपादना-ली० । कश्चिदिन्द्रियायैश्चुष्प-
पत्तौ, अभिव्यञ्जं च । "तिविद्वा अज्जोववज्जणा-जाए, अजाणु,
विनिचित्ता" तत्र ज्ञानतो विषयज्ञ-यमर्थं वा तत्राप्युपपात्तः
सा जाणु । या स्वज्ञानः सा अजाणु । या तु संशयवतः सा विचि-
कित्सा । श्या० ३ उ० । ३ ।

अज्जोवववव-अधुपपज-वि० । विषयपरिणोगावतर्जीविते,
स्वात्वा० ।

अज्जोववाव-अधुपपात-पुं० । प्रालौकिकाप्रवृत्ततायाम्, "पर-
वृत्तिर्लोकावकाशेऽवकाशकालेऽवकाशात्" इत्यत्रापि परवृत्तत्वस्य अ-
धुपपातं च ग्रहणैकाप्रवृत्तनां शोभं मुक्तौ जनयन्ति यासि
सति अधुपपातसंभजनानि । प्रश्न० ५ सत्य० द्रो० ।

अञ्च-कृप-धा० प्राकरणे, विज्ञेखने च । तुदा०, आमं०, सक०,
अनिद् । "कृपेः कृत्साप्रडिवाण्यजायदाहकृत्" । ॥ ७ । ७ । ७ ।

इति कृपेर्लेशः । अत्रच, कृपने । प्रा० ।

अञ्चिअ-अञ्चिव-वि० । अञ्च-कृ । वर्गोऽन्यो वा । १ । १ ।

३० । इत्युत्तराण्ये वा परस्वर्णोः पूजिते, आकृशिते च । प्रा० ।

अञ्च-अञ्च-वि० । "न्ययणह्जाञ्चः" । ॥ १ । २ । ३ । इति सूत्रं

मागध्यां हस्य भ्रमः । दित्तो अकार इत्यर्थः । सूत्रं, प्रा० ।

अन्य-वि० । न्यस्य स्थानं द्विक्रके अकारः । जिञ्जे, सद्यो वा । ए-

वमेतद्व्यदिता क्रयुदाहार्याः । प्रा० ।

अज्जलि-अज्जलि-पुं० । अज्ज-अलि, "न्ययणह्जाञ्चः" । ॥ १ ।

४ । २६२ । इति मागध्यां व्रज इतिभागस्य व्रजः । संयुतकर-

पुटे, प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-धा० गतौ । ज्वा०, सक०, पर०, भेदः । "शकादीनां

त्रिव्यम्" । ॥ १ । २ । २ । इति टट्टिव्यम् । परिअट्टह, पर्यट्टानि । प्रा० ।

अट्ट-कवृथ-धा० तिण्णाके । ज्वा०, पर०, सक०, सट्टा, "कवृथहः"

दा० १ । १ । इति कवृथह इत्यादेशः । अट्टह, कवृथानि । प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-पुं० । अट्टयति भाक्तियेनेऽन्यत्पुं० । अट्ट-आचारं

घञ् । प्रासादस्योपरि घृहे, प्राकारोपरिस्थस्यैवापुं० । अट्ट-आचारं

घञ् । प्रासादस्यैवापुं० । इतिनया भाक्तियन्ते । यस्मिन् वसतस्भा-

म्योत्कर्षोऽसादरः । आचम० । " अङ्गिण वा अहासवाचि वा " भाषा० २ भू० ११ अ० । अत्रत्येति कर्मयतेऽनेनेत्यङ् । आकाशे, न० २० भू० १ उ० ।

आर्ति-वि० अर्तिः शारीरमानसौ पीडा, तत्र जय आर्षेः । भाषा० १ भू० २ अ० ५ उ० । पीडिते, सू० १ भू० १० अ० । दुःखिते, भाषा० १ भू० ४ अ० २ उ० । मोहादयेन आर्षे, भाषा० १ भू० ६ अ० १ उ० । शरीरतो दुःखिते, औ० । मोहाद्येवाद्गणितकार्यविवेके च । भाषा० १ भू० १६ अ० १ उ० । अस्य निक्षेपः— " अष्टे क्षेपे परिज्ञेष्टे दुस्संबोहे अविज्ञायते " । भाषा० १ भू० १ अ० १ उ० । ('पुढकियाय' शब्दे एतत्सूत्रप्राख्यानेन वक्ष्यते)

अष्टे चठपिहं खड्डु, द्रव्ये नदिपादि जप्य तथुकृत्वा । आवसंते परियायि, से च सुनयादि आवष्टे ॥

आर्षेः अहु चतुर्विधः । तद्यथा-नामांसे, स्थापनात्, द्रव्यान्ते, भाषान्तः । तत्र नामस्थापने सुप्रतीतः । द्रव्यान्तोऽपि मोक्षगमनो ह्यारीरव्योतिरक्तो यत्र नयायैः प्रदेशे दृष्टकामिनि पतितानि आवसंते, यच्च या सुवर्णोपायसंते, स इष्टव्यः प्रा सर्वेनः परिश्रममेव ज्ञातानि गतानि यत्र यो वा स आर्षे इति ध्युत्पत्तेः ।

अष्टवा अचीजूतो, सचिचादिहिं होइ दम्बमि । जाये कोटादीहिं, उ अजिजूतो होति अष्टो उ ॥

अथवा सर्वाचारादिभिर्द्रव्यैरसंप्राप्तेः प्राप्तावियुक्तैर्वा य आर्षेः स द्रव्यानेन, द्रव्यैरातोऽप्यन्ते इति व्युत्पत्तेः । कोषादिभिरनिर्भूतो नो आगमनो भाषासे । तद्व्यभासेशब्दाथे उक्तः । व्य० ५ उ० । आचम० । ऋतस्य पादितस्येदं वचनमिति कृत्वा यामसे गौणालोके, प्रअ० २ आअ० ३० । अयं दुःखं, तत्र अयमातेम । अष्ट वा आर्ति, पीडा, पातमे च, तत्र जन्मासम्भ० य० २ अर्थि० । अष्ट । क्रिष्टे, आचम० ५ अ० । विषयानुसन्धिजनं, ध० १ अर्थि० । इष्टविषयसंयोगाभिलाषे, प्रअ० ४ अ० ५ उ० । एतदन्तमे शोकाकम्पद्विज्ञेयमादिलक्षणेषु वा ध्यानभेदे, आचम० ५ अ० । आ० । अष्ट-देशी-कृतो, दुर्बलं, गुरौ, महीनं, शुक्लपक्षिण, सुखं, सौख्यं, धृष्टे, विपाते, झलसे, शीतके, शब्दे, ध्वनी, असत्ये च । दे० मा० १ वगे ।

अष्टदृ-देशी-कृतने, दे० मा० १ वगे । अष्टक-अष्टक-पुं० (आटने) कुडिहोपेकतकपे पात्रिककूपक कृत्ये, कृ० १ उ० ।

अष्टजगत्-अतिध्यान-न० । अष्टतः दुःखम । ठके हि-अष्टतथ्यो दुःखवर्ध्यायवाच्याभाषयते । अष्टे नवमासम्, उक्त० ३० अ० । अष्टतः दुःखं, तस्य निमित्तं, तत्र वा अथवा । कृतं वा पीडिते नवमासे । भाषा० ५ उ० । आचम० । तच्च तद् ध्यानेन । आर्षेमावे गन आर्षेः, आर्षस्य वा स्थानमासंस्थानम् । भा० सू० ५ अ० । मनोहामनोहवस्तुविद्योगसंयोगादि विषयवर्त्मनश्च विप्रबलक्षणे प्रामाण्येदे, स० १ अ० १ । राज्ञोऽभोगेहायनासनाहातेषु, श्रीगण्डमात्यमभिरन्तमिषूषयोषु । इच्छाभिलाषमतिशामभुपिति भा०-रुधाने नदार्सेमिति संभवन्ति तज्जाः ॥१॥ दश० १ अ० । ' भवकार्यामष्टदृहाइ " । आर्षेध्याने स्वपिषयसकृत्पुनरेतत्प्रयुतो । उक्तं च भगवता वाचकतुष्येन-आर्षेःमनोहो-ह्यानां संश्रयो, तद्विप्रबोनाय स्मृतिरसन्वाहात्, वेदना-यश्च विपरितम्, मनोह्यानां निदानं वेष्ट्यादि । आचम० ५ अ० ।

" अष्टजगणे चउभिवहे पक्षणे " अतस्तो विधा मेहा यस्य तत्तथा । अमभुक्तसंप्रयोगसंप्रयुक्तो हस्त विप्रयोगागितिसमस्यागए याचि भवइ ॥

अमनोहस्यानिष्टस्य 'असमभुक्तस्येति' पाठान्तरे अस्वमनो-हस्यानामभिप्रेत्य शब्दादिविषयस्य, तत्सामान्यवस्तुनो वा संप्रयोगः संश्रयस्तेन संश्रयुक्तः संश्रयोऽमनोहस्यागसंप्रयुक्तो-ऽस्वमनोहसंप्रयोगासंप्रयुक्तो वा, य इति गम्यते । तस्येति, अ-मनोहस्य शब्ददेविषययोगाय विद्योगार्थं स्मृतिभ्रान्ता, तां सम-न्यागतः समनुप्राप्तो भवति यः प्राणी, सांभेदोपाचारवाच्यमिति । वाऽपीतिशब्द- विकल्पार्थक्या समुच्चयायैः । अथवा मनोहसं-प्रयोगसंप्रयुक्तो यः प्राणी, तस्य प्राणिनः विप्रयोगे प्रकामाद्वनो-ह्याद्यादिवस्तुनां विद्योगेन, स्मृतिभ्रान्तम, तस्याः समन्यागतः समगमनं समन्याहारो विप्रयोगस्मृतिसमन्यागतं वाऽपीति तथैव ज्ञायते, आर्षेध्यानमिति प्रकमः । अथवाऽमनोहसंप्रयो-गसंप्रयुक्तो प्राणिनि, तस्येति अमनोहस्यद्वेविप्रयोगस्मृति-समन्यागतमार्थं ध्यानमिति ।

अमभुक्तानां सदा-द्विसवयवतुषु दोसमदससस ।

धणिभं विप्रयोगवित्तल-संप्रयोगागुसुरणं च ॥६॥ । अमनोह्यानामिति । अमनोऽनुकृत्तानि मनोह्यानि, इष्टानीत्यर्थः । न मनोह्यानि अमनोह्यानि, तेषाम्, अथाभिव्यक्तं आह-शब्दादिविषयप्र-रूपाभिमिति । शब्दाद्यभ्येन विषयश्च, आदिशब्दाङ्गोद्विषयप्र-हो विधीयन्तेषु सक्तः प्राणिन इति विषयाः-इन्द्रियगोचराः, वस्तूनि तु तदाश्रयज्ञानि रासमादीनि । ततश्च शब्दादि-विषयाश्च, वस्तूनि तेषु विग्रहः । तेषाम्, किंसंप्राप्तानां सताम् ? अणियमत्यर्थम, विद्योगवित्तमं विप्रयोगवित्तमिति योगः । कथं तु नामैर्निर्देशयोगः स्यादिति प्रावः । अनेन वर्गमानकाल-प्रहः तथा सति च विद्योगसंप्रयोगानुसमर्ण, कथमेभिः सहेषे संप्रयोगाभावे इत्यनेन वाऽनागतकालप्रहः चशब्दात्पूर्वमपि वि-युक्तानसंप्रयुक्तयोर्बहुमतयेनातीतकालप्रह इति । किंविशिष्टस्य सन इदं विद्योगवित्तमिति । अत आह-देषमतिरस्य, जन्त-रिति गम्यते । नत्रापीतिलक्षणोऽत्रैः, तेषु मतिरस्य, तदाऽन्त-मूर्तिरिति गाथायैः । इति प्रथमो भेदः ।

साम्प्रतं द्वितीयमभिधिरुग्राह-

तद् भूतवीसरोमा-एवेअणाय विप्रयोगपणियाहाणं । तयसंप्रयोगवित्तं, तपदिआराहलवणसत् ॥७॥

नयेति अणियमत्यर्थमेव । श्रुतिशिरोगादिवेदनाया इत्यथ श्रुतिशिरोगोर्गो मस्तिरै । आदिशब्दाच्छेदरोगात्तद्विपरिग्रहः । त-तश्च श्रुतिशिरोगोर्गादिव्यो वेदना । अणत इति वेदना । तस्याः किम् ?, विद्योगप्रधिषानम्, विद्योगे ह्येष्टाप्यवसाय इत्यर्थः । अनेन वक्ष्यमानकालप्रहः । अनागमनमिच्छुत्वाह-तदसंप्रयोगवित्तमिति, तस्या वेदनायाः कथंविद्योमे सति असंप्रयोगवित्तता, कथं वक्ष्यमानयाऽऽवस्था संश्रयोमो न स्यादिति विस्तारं आर्षेध्यानेषु शुद्धत । अनेन वक्ष्यमानागमनकालप्रहणेनातीतकालप्रहोऽपि कृतं पक्षे वेदितव्यः । तत्र ज्ञानानन्तरंसाधार्यां कृतैव । किं विशि-ष्टस्य सन इदं विद्योगप्रधिषानादि ? अत आह-तद्वतीरौकारे-वदनाप्रतीकारे विकिस्तस्यामाहकृतेषु व्यर्थं मनोऽन्त्याःकर्मणं पश्य स्व तथाविधस्तस्याविद्योगप्रधिषानाचार्यध्यानमिति गाथायैः । उक्तो द्वितीयो भेदः । आचम० ५ अ० ।

अनुना लृपीयुपदशेषाह-

आर्वाकसंप्रयोगसंपउचे तस्स विष्णुभोगसितिसमध्याग-
ए यावि भवइ ॥

आतहो रोगः इति । स्वा० ४ ज० १ ४० ।

इहाण्यं विसयाई-ए वेअण्यारु अ रागरत्तस ।

अविभोगज्जवसाणं, तह संयोगाजिहासो अ ॥॥

इहानां मनोहानां विषयादीनामिति । विषयाः पूर्वोक्ताः आदि-
शाब्दास्तुपरिग्रहः तथा वेदनायाश्च इहाया इति वर्तते । किम्?,
अविभोगाभ्यवसानमिति योगः । अविप्रयोगहृदाभ्यवसाय इति
जघः । अनेन च वर्तमानकालग्रहः तथा संयोगजिहास-
केति, तत्र तथेति । अथिष्यमसिस्तेनात्ययंपकारोपदेशमाधे ।
संयोगजिहास-कथं भ्रमैर्भविष्यदितिभिरास्यो संबन्धः ?, इ-
तीच्छा । अनेन च अनागतकालग्रह इति बुद्ध्या व्याकृते । अश-
ब्दात्पूर्वेषुवर्ततीतकालग्रह इति । किंविशिष्टस्य सत इदमवियो-
गाभ्यवसानादि । अत आह-पगरकस्य, जन्मोत्तरित गम्यते ।
तत्रातिष्यञ्जवइणो रागः, तेन रकस्य तद्भावितमूर्तेरिति गा-
धार्यः । उक्तस्तृतीयो नेदः । भाव० ४ अ० ।

साम्भवं चतुर्धमभिधितुराह-

परिजुसिय कापजोगसंप्रभोगसंपउचे तस्म अविप्पओ-
गसितिसमध्यागए यावि भवइ ॥

(परिजुसिय सि) निवेदिता ये कामाः कमनीया जोगाः
शब्दादयः । अथवा कामी शब्दरूपे, जोगा मन्धरस्वरुशोः ।
कामभोगाः कामानां वा शब्दादीनां यो भोगस्तेस्तेन वा
संप्रयुक्तः । पाठान्तरे तु तेषां तस्य वा संप्रयोगस्तेन संप्रयुक्तो
च स तथा । अथवा (परिजुसिय सि) परिजुगो जरादिना, स
बावो कामजोगसम्प्रयुक्तश्च यस्वरूप, तेनाभावितप्रयोगस्तुतः स-
म्भवागतं समवाहारस्त्वदि नवत्यास्यभानमिति । स्वा० ४ज०

वेदिदचक्वाट्टि-चणाय गुणरिद्विपत्यणामइयं ।
अहयं निआणचित्तमभाणुणुगमपचत्तं ॥६॥

द्वीत्यन्तंति देवा भवनयास्यादयस्तेषामिन्द्राः प्रभयो देवे-
न्द्राश्चमरादयः । तथा अकं प्रहरणं, तेन विजयाधिपस्य वासिंतुं
शालमेषामिति चक्रवर्तिनां प्ररतादयः । आदिशब्दाद् बलदेवा-
दिपरिग्रहः । अमीषां गुणरूपयो देवमूचकत्वत्पोविगुणरूपः ।
नत्र गुणस्तु क्वादयः, अक्किस्तु त्तिन्निः, तत्पार्थनात्मकं
तद्याज्यामथमित्यर्थः किं तद्?, अथयं जघयं, निदानविभ्रतं नि-
दानाभ्यवसायः, अहमनेन तपस्व्यागादिना हेचनेदः स्वामित्वादि-
कः । आह-किमिति तदधममुचयते, तस्मादहंनानुगतम, अत्य-
न्तम, तथा च नाहानिनो विहाय सांसारिकसुखेऽन्येयामभिलाष
उपजायते । उक्तं च- "अहानात्प्राश्च्युतवनिनापाक्कविकेपि-
नास्ते, कामे सकिं दधति विनवाजोगानुक्काजेने वा । विद्विज्जं
अवति दि महम्मोक्काक्कात्तानं, नादयस्सकंधे चिटपिति कस्यं-
वमित्तं गज्जन्कः" ॥१॥ इति गाधार्यः । उक्तस्तुथो नेदः । भाव०
४ अ० द्वितीयं बह्वमधनाद्विषयं, अनुयो तस्संपाद्यशब्दादि-
प्रागावधयमित्ति नेदोऽनयोभोवनीयः । प्राक्कान्तरे (भावव-
कं) तु द्वितीयं अनुयेयोरेकायेन नृतीशरमं, अनुये तत्र निदाननु-
कम् । उक्तं च- "अमणुक्कानं सद्धानं" इत्यादि । स्वा० ४ ज० १४० ।
आप्राप्तमिदं यथानुत्स्य भवति यद्वर्धनं चेदमिति तदनद्वि-
धातुकाम आह-

एयं चउभिविदं रा-गशोअमोर्किअस्स जीवस्स ।
अट्टअभाणं संसा-रवहणं तिरिअग्गमूलं ॥१०॥

एतद्वन्तरोदितं चतुर्धमं वस्तुप्रकारं रागद्वेषमोहद्वयं, किं तस्य?,
रागादिहात्रितस्येत्यर्थः कस्य?, जीवस्य आत्मनः किम्?, प्रा-
संध्यामिति । तथा वस्तुद्वयमपि किं विशिष्टम्?, इत्यत आह-
संसारवर्द्धनम्, क्रीडतस्तिथेर्भातिमूलं विशेष इति गाधार्यः ।
आह-साधोरपि शुद्धवेदानाभूतस्यासमाधानादासंध्यामप्रा-
प्तिरित्यभ्यन्तरे, रागादिवशावर्तिनां भवत्येव, न पुनरत्यस्य-
ति । आह च ग्रन्थकारः-

मज्जत्त्वस्स उ मुणियां, सकम्मपरिणायमधिअमेअं ति ।
वत्युस्सइद्विचित्थ-परस्स सम्भं सहवस्स ॥ ११ ॥

अथे निवृत्तौति मध्यस्थः, रागद्वेषोरिति गम्यते । तस्य मध्य-
स्थस्य, तुल्यम् एवकारार्थः, स चाप्रधारणे । मध्यस्थस्यैव नेतर-
स्य । मनुते जगतत्सकाशावस्थामित्ति मुनिः, तस्य मुनिः, साधारि-
त्यर्थः सकर्मपरिणामजनितमेतत् जसादि, यच्च प्राक्कविपरिणा-
मिदेवावशुभमापनति न तत्र परिताप्या जयन्ति सन्तः उक्तं च
परममुनिभिः- "पुत्रिं च खलु जेो करामं कम्मणं सुविआणं
उप्पवरिक्कताणं वेइत्ता मोक्खं नन्धि, अयेइत्ता तवसा वा जेस-
इता" इत्यादि । इत्येवं वस्तुस्वजाबन्धितनपरस्य सम्यक्शोभ-
नाभ्यवसायेन सहमानस्य सतः कुतोऽसमाधानम?, अपि तु ध-
र्मनिदानमिति वच्यतीति गाधार्यः ॥ ११ ॥ परिहृताऽऽरा-
ह, गतः प्रथमपक्षः ।

द्वितीयानुवीयावचिहत्याह-

कुएओ व पमत्थालं-वणस्स पहिआरमप्पसावज्जं ।
तवसंजमपविआरं, च सेवओ धम्ममएणुम ॥ १२ ॥

कुर्वेनो वा, कस्य?, प्रशसने ज्ञानात्पृषकारम्, आहमभ्यत इत्या-
म्यने प्रवृत्तिनिमित्तं शुभमध्यवसानमित्यर्थः । उक्तं च- "कोह
अन्विस्सित्तिमायदि" प्रशस्तमात्मनं वृत्तं यस्यासौ प्रशस्ताल-
म्बनः, तस्य । किं कुर्वतः?, इत्यत आह-प्रतीकारं चिकित्साद्वयम्,
किंविशिष्टम्?, अल्पसाधुम्, अशुभं च, सहावचनं सावकम् ।
अल्पशार्धाऽभाषवाचकः सांख्यबलनेो वा । अल्पं सावचं यस्मि-
न्प्रसावल्पसावचसत्तं धर्मनिदानमेधेति योगः । कुतः?, निर्दोष-
त्वात् । निर्दोषत्वं च बलनमागएयात् । उक्तं च- "गीयसो जय-
पाए कउजोगी कारणामि निहासो" । इत्याद्यामस्त्यास्तर्गापवा-
दरुपत्वात् । अन्यथा परलोकरूपे साध्यायतुल्यरुपत्वात्, साधु
वैतदिति तथा तपःसंप्रयत्नकारं च सेवमात्मन्येति । तथा सं-
मावेव प्रतीकारः, सांसारिकदुःखानामिति गम्यते । तं च सेवमा-
नस्य, अशब्दात् पूर्वोक्तप्रतीकारं च । किम्?, धर्मं धर्मध्यानेव अ-
वति, कथम्?, सेवमानस्यानिदानमिति क्रियाविशेषणम्, देवन्दा-
दिनिदानरहितमित्यर्थः आह-दुःखनकसंघातमाहोः अथवित्ति-
दमपि निदानमेव उच्यते, तस्यम् । तदपि निवृत्तयः प्रतिविद्यमेवा
कथम्?, "मांक्कं प्रवे च सवेव, नित्युदो मुनिसत्तमः । प्रहयध्या-
सयेगेन, यत उक्तो जिनागमे" ॥१॥ इति । तथापि तु भावनाधामप-
रिणनं सत्त्वमङ्गुल्यम् एवधारत इदमदुर्धमेव । अनेनैव कारितेण
तस्य विच्छेद्युक्तं; क्रियाप्रवृत्तियोगात्पश्यत बहु वक्तव्यम्, तच्-
नोक्तयते ग्रन्थविस्तरमयादिति गाधार्यः ॥ १२ ॥ इत्येव पुनरिदं गा-
धार्यं वस्तुनिमित्यात्प्राधान्यमपिहत्याः अर्थव्येधकरुपतया
व्याकृते, न च तद्व्यन्तस्तुद्वयम्, प्रथमवृत्तियपकृत्यं प्रथमप्राधान्य-

ज्ञाया एषानुपपत्तेरिति । आह-उक्तं भवता आतैश्वाने संसारव-
र्द्धनमिति, तत्कथमुच्यते ? ॥ बीजत्वात् ।

बीजत्वमेव दर्शयामाह-

रागो दोसो मोहो, ज्ञेयं संसाराद्देवप्रवो जगिआम् ।

अहृदि भ्र तै तिषि वि, तौ तं भवत संसारेवबीर्झं ॥ १३ ॥

रागो दोसो मोहश्च येन कारणेन संसारहेतवः संसारकारणा-
नि मणिता उक्ताः, परममुक्तिमिरिति गम्यते । आत्में चात्संस्थाने च
प्रयोऽपि तै रागाद्यः संनयन्ति यत एव, नतस्तसंसारतत्त्वबीर्झं भ-
वद्बहुकारणमित्यर्थः । आह-यथाभवत् एव संसारतत्त्वबी-
र्झं ततश्च तिर्यग्गतिमुत्सृजामिति किमर्थमग्निधीयते ? । उच्यते-तिर्यग्-
गतिमग्नित्त्वभिनत्त्वेनेव संसारतत्त्वबीर्झमिति । अन्ये तु ध्याव-
कृते-तिर्यग्गताविव मत्तसत्त्वं संनयात्स्तिर्थातबहुव्याच्य संसारा-
पचार इति गाथायै ॥ १३ ॥

इदानीमात्संस्थानिनो हेतुयाः प्रतिपाद्यन्ते-

कावोअनीलकासा, हेसाओ छाडंसंकिह्निआओ ।

अहृज्जाणोवगय-स्स कम्मपरिणामजगिआओम् ॥ १४ ॥

कापोननीलकण्ठा ज्ञेय्याः किंरताः?, नातिसंकिह्ना रौड्ढयानत्रे-
इयापेसया मानीयाशुभानुभावाः, भवन्तीति क्रिया । कस्येत्यत-
आह-आत्संस्थानोपगतस्य, ज्ञानोपरिति गम्यते । किञ्चिदप्यना-
एना?, इत्यत आह-कर्मपरिणामजनिताः । तत्र--" कृष्णादिद्वय-
सात्त्विकात्, परिणामाः य आत्मानः । स्फटिकस्यैव तत्रायं, ल-
इयाशब्धः प्रयुज्यते" ॥ ११ ॥ एताश्च कर्मोद्वेद्यासा इति गाथायै ॥
१४ ॥ अत्र ० ४ अ० ।

आह-कथं पुनरोपघन पयात्सं ध्यायन् ज्ञायत इत्युच्यते, लिङ्गे-
ज्यः तान्येवापदर्शयामाह-

अहृस्स षं भाणस्स चत्तारि क्वक्खण्णा पन्नता । तं जहा-
कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया ।

सदयते निर्णीयते परोकृमपि विषयवृत्तिसंघटनत्वात् आत्संस्थानमे-
तिरिति स्रज्ज्जाणानि । तत्र अन्वयना-महता शब्देन विरचणम्, शो-
चनता-दानता, तेषनता-तिवः करणाथेत्वाद्युधिमिच्छनम्, परि-
देवता-पुनः पुनः किह्णसापणमिति । एतानि चोद्यवियोगानिष्ट-
संयोगरागवेदनाजनितशांकरूपस्थेवात्संस्थे स्रज्ज्जाणनि ।
(स्या० ४ ज्ञा० १ उ०) तत्र आह-

तस्स कंदणसोअणपरिदेवणताडण्णाः सिंगाई ।

इट्ठाण्हविआोगा-विआोगविआणानिमिआई ॥ १५ ॥

तस्यात्संस्थानिनः, आक्रन्दनादीनि सिङ्गानि । तत्राक्रन्दनं महता
शब्देन (विरचणम्, शोचनं त्वश्रुतिपूर्णेनयनस्य दैव्यम्, परिदेव-
नं पुनः २ किह्णसापणम्, ताः, नमुनुरः शिरःकुल्लकशुल्लम्बनादि,
एतानि सिङ्गानि सिङ्गानि, अमूनि च इष्टानिष्टवियोगावियोगवर्ष-
णाभिनिस्तानि । तत्रैष्टवियोगनिमित्तानि, तथाऽनिष्टावियोगानि-
स्तानि, वेदनाभिनिस्तानि चेति गाथायै ॥ १५ ॥

किं चाप्यत-

निर्दइ निअयकयाई, पसंसई विह्निओ विजईओम् ।

परंयई तामु रज्जई, तयज्जाणपरायणो होई ॥ १६ ॥

निन्दन्ति च कुस्तन्ति च निज्ज्जाणानि आत्मकृतानि अल्पफलवि-
फलाग्नि, कर्मनिष्ठपलाबाणिज्यादीन्हेतुस्मर्यते । तथा प्रहंसति
इतीति बहु मन्वते सविस्मयः साध्यः विद्वताः परस्परं द-

त्यर्थः । तथा प्रार्थयते अग्निमिति, परविद्वतीरिति । तथा तामु
उच्यते-नास्तिति प्राप्तासु विद्वतीषु रागं नशन्ति, तथा तदज्ञ-
नपरायणो भवति-तासां विद्वतीनामज्ञेन उपादाने परायण उ-
पशुक्तदज्ञेनपरायण इति । ततो यथैवद्वृत्ते भवत्संसारव्याप्तौ
ध्यायतीति गाथायै ॥ १६ ॥

किञ्च-

सदाइविसयगिद्धो, सदम्पपरम्मुहो पमायपरो ।

निणमपमणविससंता, बट्टइ अहृमि जाणमि ॥ १७ ॥

शब्दादयश्च तं विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषु शुकौ मूर्च्छितः,
काङ्क्षावमित्यर्थः । तथा सद्मपपराक्मुक्तः प्रमादपरः । तत्र दुर्गेना
प्रपलनमात्मानं धारयतीति धर्मे, संज्ञासौ धर्मश्च सद्मप,
क्रान्त्यादिकश्चरुणकणधर्मो शुद्धते, तत्पराक्मुक्तः । प्रमादपरं
मयादिप्रमादासक्तः, जिनमतमनपेक्षामापो वृत्तते आत्सं स्थान
इति । तत्र जिनास्तीर्थकारसंघातमत्तमगमनपम्, प्रवचनमित्यर्थः ।
नदनेपेक्षमाणस्तरिपेक्ष इत्यर्थः । किम्, वचते, प्रात्संस्थाने । इति
गाथायै ॥ १७ ॥

साम्प्रतिमिदमात्संस्थानसंनयमधिकृत्य यदनुगतं यदई च
वर्तते तदेतदभिधुसुराह-

तयविरयेदसिरिय-पमायपरसंजयाणुगज्जाणं ।

मत्वं पमायमूलं, वज्जेअव्वं जइजोणो ॥ १८ ॥

तदात्संस्थानमिति योगः । अविरतदेशधिरतप्रमादपरसंयतानु-
गतमिति । तत्राविरता मिथ्यादृष्टयः सत्यदृष्टयश्च, देशविरता
एकहास्युत्तरपरभेदाः आद्यकाः, प्रमादपराः प्रमादनिष्ठश्च,
ते संयताश्च, ताननुगच्छन्तीति विग्रहः । नैवाप्रमत्तः संयता-
नामिति भावः । इदं च स्वकृपतः सर्वे प्रमादमूलं वचते, यत-
श्चैवमेव नैर्जयितव्यं परित्यजनीयम्, केन?, यतिजननसाधुशोकं,
उपलक्षणत्वात् आश्चजनन च । परित्यागाहंवेदाहंवास्ती मा-
ध्यायः ॥ १८ ॥ अत्र ० ४ अ० । ४० । प्रब० । १० । १० ।

अहृज्जाणवियप्य-आत्संस्थानविकल्प-पुं० । रुधुमप्यानभेदे,

" जो एथ अदिस्संजो, संतासंतेसु पावहेइ चि । अहृज्जाण-
वियप्यो, स इमीए संगओ कइ " ॥ १९ ॥ ४० १ ज्ञा० ।

अहृज्जाणवैरग्या-आत्संस्थानवैरग्या-पुं० । आत्संस्थानं च तद्
वैरग्याम् । वैरग्यायेदे, हा० । तद्बुक्षणम्-

इष्टेरवियोगादि-निमित्तं मायशो हि यत् ।

यथाशुक्लपि हेयादा-वमष्टस्यादिविभितम् ॥ २॥

तद्वैरग्यादिविभितम्-मात्मयानादिकारणम् ।

आत्संस्थानं ह्यदो मुख्यं, वैरग्यं कोकतो मत्तम् ॥ ३ ॥

इष्टश्च प्रियः, इतरश्चानिष्टः, इष्टेतरौ विषयाविति गम्यते । तथ्यां-
थासद्बुद्धेन यो विषयादिर्बिहसंप्रयोगी, स निमित्तं कारणं
यस्य तदिष्टेतरविषयोर्गादिमित्तम् । प्रायशो बाहुल्येन न पुनरिष्ट-
तरविषयोर्गादिमित्तमेव, स्वविकल्पनिमित्तस्यापि तस्य संभ-
वात् । हियध्वो यस्मादर्थे । तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः । य-
दिति वैरग्यायम्बुत्तरात्संस्थानमपेक्षेति संबन्धः । कुतस्तदात्सं-
स्थानमेव न पुनर्यथावैरग्यामित्याह-यस्माच्चथाऽहःकस्यपि
सामर्थ्यानुकूलमप्यस्तां धक्ताऽतिशयाच्छक्तयतिप्रमत्तः हेयादीं
हेयावादेवस्तुविषये क्रमेणाम्बुत्तरादिर्बिहते निवर्ततविरहितं
यतिकल यथावैरग्यायं भवति तत्किं द्वियथायैव्येदेधु च तपोध्या-

मादिषु यथाशाक्तिं निवृत्तिप्रवृत्तियुक्तं भवति, तत्स्वरूपत्वात् । इदं तु तद्वर्जितं वरुणात् तस्मात्प्राक्स्थानमेवेति भावः । तथा उद्वेगं मन्तःस्थास्यैव चखनं करोतीति उद्वेगशब्दः, तथा विधायां दैव्यं, तेनाऽऽद्यं परिपूर्णे विधायाऽऽद्यकम्, अनेन मनोदुःखहेतुताऽऽद्योक्तः । अथ शारीरदुःखहेतुतामस्यैवाह—आत्महं कठिनः स्वशारीरम्, तस्य घातयि हिंसनताडनादि, तस्य कारणं हेतुतात्सघातादिकारणम्, आक्स्थानम् । हिंस्राद्यैव कारार्थाः स्वाहाक्स्थानमेव अहं इति संबन्धित्वमेव । किञ्चूतमित्यहं-सुखं प्राप्तं सुखं प्रदानम्, निरुपचरितमित्यर्थः । ननु यथाक्स्थानमेव तत्राह कस्माद्धैराग्यतथोक्तमित्याह—त्रैराग्यमुक्तमित्येवंचनं लोकोता, लोकं पुण्यजनमाश्रित्य तद्द्वैतव्यर्थो न पुनस्तस्यतो मतं संमतं तदवधिदुष्पामिति । हा० १० अष्ट० ।

अष्टज्जायावेरम्ग—आर्त्तस्थानोपगत—त्रि० अगतसन्निधिकतया धर्मध्यायबुद्धिर्निनि आर्त्तस्थानत्वायिति, “ अष्टज्जायावेरम्ग, जू-मिगयदिष्टिप जिवावा” सूत्र० २ सू० २ अ० ।

अष्टदृष्टहाम—अष्टदृष्टहाम—पुं० उभेहस्यनस्येपे हासिधये, उपा० २ अ० । “नीमं अष्टदृष्टहामं सुयुतो धोहावेह” आ० म० ङि० । आच० । अष्टदृष्टो—देवी—यति, दे० मा० १ वगे ।

अष्टन—अष्टन—न० । अष्टयते परिच्युते रिपुरनेन । अष्ट—करणे ल्युट् । चक्राकारफलकार्त्तम्, प्राये ल्युट् । अनाद्वर, न० । वाच० । स्वनामख्याते मष्टे, पुं० । उच० ५५० । तत्कथा चैवम्—उज्जयिन्यां जितशत्रुपथ्य अष्टनमष्टो वस्तंते स्मा स च प्रतिवर्षं सांपारकं गत्वा सिद्धिगिरि राक्षः सभायां मङ्गल विजित्य जयपत्राकां क्रातिं कृ । अथवा राक्षा एवं चिन्तितम्—परदृष्टायाऽयमष्टनमष्टो मत्स-प्रायां जिन्वा बहु उच्यं प्राण्यति, मर्त्याः कोऽपि मष्टः न जयति, नैतद्वरम्, एवं हि ममैव मद्यत्कृतिर्जायते । इति मत्वा कश्चिद्द-लगतं मस्यीरवं दृष्ट्वा स्वमष्टं चकार । तदव्यतिरिक्तमेव मङ्गलविद्या समायाता । ‘मस्यीं मष्टु’ इति नाम तस्य कृतम् । अथवा अष्टनमष्टः सांपारकं समागतंस्वतः स्वं राक्षा मस्यीमष्टस्य युद्धं कारितम्, जितो मस्यीमष्टः । अष्टनः पराजितः स्वनगरे गत एव चिन्तयति स मस्यीमष्टस्य तारुण्येन बलवृद्धिः, मम तु बार्द्धकेन बलहातिः, ततोऽप्यं स्वपक्षपातिनं मष्टं करामि । ततो ऽसौ बलवन्ते पुरुषं यितोऽकथम् जूगुक्चन्द्रोश्च समागतः । तत्र हरिणीप्रामं पक्षः कपैक एकन कारणं हस्तं चादयत् द्वितीयेन तस्य हीमुत्पादयत् दृष्टः । स प्रोज्ञनाय स्वस्थानकं सार्द्धं नीतः । तस्य बहु भोजनं दृष्टम् । इत्यंशस्यमेव च सुदृढमस्यं पुरुषं दृष्ट्वा मष्ट-विद्या प्रातिता । ‘फलहीमष्टु’ इति तस्य नाम कृतम् । अष्टनः सांपारकं फलहीमष्टुं गृहीत्वा गतः । राक्षा मस्यीमष्टेन समं फल-हीमष्टस्य युद्धं कारितम् । प्रथमं द्विवसे द्वयोः समतेव जाता । अष्टनेन सांपारकं फलहीमष्टुः पृष्टः—पुत्रः । नवाङ्कं च प्रहारा-सन्नाः । तेन स्वाङ्कप्रहारास्थानानि द्दिंत्तानि । अष्टनेनोत्थिचरसेन तानि स्थानानि तथा मर्दिनानि यथाऽसौ पुनर्नवीभूतः । मस्यी-मष्टस्यापि राक्षा पृष्टम्—क्व तथाऽहं प्रहारा सन्नास्तथा ताद् द-शयं ?, फलहीमष्टुः पुनर्नवीभूतः भूयते । मस्यीमष्टोऽभिमानान् स्वस्थानं न दृशयति स्म, यत्किं स्म च—अनं पुनर्नवीभूतः फलही-पितरं जयामि । द्वितीयदिवसे पुनर्गृह्यासंरं द्वयोरपि साध्यमेव जानाम् । तृतीयदिवसे मस्यीमष्टसो जितः फलहीमष्टेन । अ-ष्टनेन ह्यपराजितः स्मारितः । ततो मस्यीमष्टेनान्याययुद्धाकर-णेन फलहीमष्टस्य मस्तकं जिघ्राम् । चिन्तोऽष्टनमष्टो गत उज्ज-

विनीम । तत्र विमुक्तयुक्त्वापारः स्वदुहे तिष्ठति क्व परं जराकान्त इति न कस्मैचित् कार्याय क्राम इति स्वजनेः परादुष्टते क्षः अन्वेह स्वजनापमानं दृष्ट्वा साननापृक्त्वैव कौशार्यां नगरीं गतः । तत्र वर्ष-मेकं यावद्भयानयनं भक्तिवत् । ततोऽस्थनबलवान् आतः । उज्जयि-न्यां राजपथेदि मष्टमेव प्रवर्षमां पुनर्नवागतवीचनेन अष्टनमष्टेन समागत्य राक्षा नीरदुष्पणनामा महामङ्गला जितः । राक्षा तु मदीयाऽयं भागम्युकेनानेन जित इति कृत्वा न प्रशंसितः । लोकोऽपि राजप्र-शंसासम्पत्तेश्च सौमनाः क्राताः । अष्टनस्य स्वल्कपक्षपातया सभा-पक्षिणः प्रत्याह—नो जोः पक्षिणः?, भूत-अष्टनेन वारकृष्णो जितः । ततो राक्षा उपलक्षितः मदीयं पथायमष्टममष्ट इति कृत्वा सन्ततः । बहु द्रव्यं चाक्षे राक्षा दत्तम् । स्वजनसत् तथाभूतं भृत्वा सम्भु-जमागत्य मिश्रितः । सरकारादि चकार । अष्टनेन चिन्तितम्—द्र-व्यभोगादेते मम सास्रतं सत्कारं कुर्वति, पक्षाधिकेद्वयं मामप-मानयिष्यन्ति, जरापरिगतस्य मे न कश्चिद् प्राणाय भविष्यति, यावद्दं सावधानबलाऽस्मि तावत्प्रजातीति विचार्य गुरोः समर्पितेऽष्टनेन दीक्षा गृहीतेति । “ जरोपणीमस्तं तु नत्थि तासु” उच० ५ अ० । आ० सू० । आच० । अष्टन—० । गमने, घ० ३ इति० । स्वायामे, औ० ।

अष्टनसाला—अष्टनशास्त्रा—स्त्री० । व्यायाभशास्त्रायाम्, हा० । तदर्थकः—

जेणव अष्टनसाला तेषेव उवागच्छद्, उवागच्छद् उच्यते अष्टनसालं अष्टनसालं, अलेगनायामनोगवगणवामह-णमष्टयुक्तकरणैरि संते परिभते मयपामसहस्रपगोहिं सुगं-धवरतद्व्यापाएदि पीयणिजोहिं दीर्वाणिजोहिं दुपणिजोहिं मण्णिजोहिं विदुणिजोहिं सन्विदियगायपन्हायणिजोहिं अम्भिभोहिं अम्भिभोहिं समाणे तेज्जवर्म्मसि पन्पुष्पाणां-पाचत्तुनुनास्रकर्मिभतन्नेहिं पुरिसिदिं देपदिं दक्खेदिं पट्हादिं य कुसलोहिं मेहावीहिं निउप्येदिं निउणसिपुणावगतोहिं नियप-रिस्समेहिं अम्भिभणपरिमहाण्णदुकरणणुणनिम्माएहिं अ हिउदुहाए मंसमुहाए तथामुहाए रोममुहाए चउक्विहाए संवाहण्णए संवाहिप समाणे अवगपपरिस्समे नरिंदे अ-खामात्तातो पक्किन्कलमेति । हा० ? अ० । आ० चू० । औ० । अष्टनियदियचिच—आर्त्तनिवर्तिनाचिच—वि० । आर्त्तं निवर्त्तितं चिचं येस्तु आर्त्तनिवर्त्तितचिचत्ताः । आर्त्तात्ता निवर्त्तितं चिचं येस्तु आर्त्तनिवर्त्तितचिचत्ताः । क्रिष्टायणचिचत्तु, औ० । “ अष्टनियदिय-चिचत्ता, जह जोया दुक्खसावारसुंयति” अ० १ शू० १ सू० । आर्त्तनिवर्त्तितचिच—वि० । क्रिष्टायणचिचत्ता, आर्त्तनिवर्त्तितचिचत्ता-तमनुगतं चिचं येषां त तथा । औ० ।

अष्टनर—आर्त्तनर—न० । अतिशयिते आर्त्तस्थाने, “ पजिज्ज-मणाऽष्टनरं रसंति” सूत्र० १ सू० ६ अ० १ उ० । अष्टदुहृष्ट-आर्त्तदुहृष्ट—वि० । दंत० । आर्त्तनाम्नो ध्यानविद्योपस्य दुष्त्वा, उपा० २ अ० । आर्त्तदुःखार्त्त—वि० । ३ त० । अर्त्तनं दुःखप्रादिने, उपा० २ अ० । आर्त्तन्नासी तुःआर्त्तः । मनसा देहेन च दुःखितं, चिदो० । अष्टदुहृष्टदसट्ट—आर्त्तदुहृष्टवशात्—वि० । आर्त्तस्य ध्यानविद्यो-

अष्टदुहृद्वसह

वस्य यो दुर्घटो दुःस्वगो दुर्मिरो गो वसः पारतन्त्र्यं, तेनासं: पी-
डित आसं दुर्घटवशात्: । असमाधिभासे, हा० ४ अ० ।

आसं दुःखात्: स्वात्: वशात्-त्रि० । आसं न दुःखात्: आसं: स्वत-
या वशेन च विषयपारतन्त्र्येण श्रुतः परिग्रहो वशात्: ।
ततः कर्मधारयः । किञ्चिदप्यवसत्येन विषयव्यञ्जनाया च
दुःखान्ते, उपा० २ अ० । आसं मनसा दुःखितः, दुःखात्: सौं
वदेन, वशात्: स्तु इन्द्रियवशेन पीडितः । ततः कर्मधारयः ।
विपा० १ सु० १ अ० । मनसा, देहेनोन्द्रियवशेन च पीडिते,
“अहा सं तृणं अहदुहृद्वसह अकाले जेव जं विद्याभा ववरो-
विहज्ज” उपा० २ अ० ।

अष्टदुहृद्विचित-आसं दुःखार्दितचित-त्रि० । आसं दुःखार्दि-
तं चितं येषां ते तथा । किञ्चिदप्यवसयातो दुःखितमनस्कं, जी० ।
अष्टदुहृद्विगतय-आसं दुर्घटोपगत-त्रि० । आसं सारं ध्यानं, दुर्घटं
दुःस्वगनीयं दुर्घात्: मित्यर्थः, उपगतः प्राप्ता वः स तथा ।
दुर्मिवायं संध्यानवति, विपा० १ सु० २ अ० ।

अष्टदुःख-आसं धार्मिक-पुं० । आसं आसं ध्यानं मतिषेषां ते आसं-
मत्तिकाः । आसं ध्यानोपयुक्ते, आतु० ।

अष्टदुःख-आसं वशा-पुं० । आसं ध्यानवसयतायाम्, हा० १ सु० १ अ० ।

अष्टदुःखदुहृद्वट-आसं वशात्: दुःखात्-त्रि० । आसं वशासं ध्यान-
वसयतामृतं गते, दुःखार्दित्यर्थः स तथा । आसं ध्यानविवशी-
नृत्तदुःखान्ते, “अष्टदुःखदुहृद्वट काले मासे काले किञ्चा”
हा० १ सु० १ अ० ।

अष्टदुःखदुर्घटवग-आसं वशात्: सौपगत-त्रि० । आसं वशात्: अथ स उ-
पगतश्चेति समासः । आसं ध्यानसामर्थ्येनासं, आ० ।

अष्टदुःख-आसं स्व-त्रि० । दुःखेन शब्दायमानं, “अष्टदुःखे ते
कसुणं रसंते” सूत्र० १ सु० ५ अ० १ उ० ।

अष्टदुःख-अष्टदुःख-पुं० । अष्टनातिशयेन हासः । ३ ते० । इत्य-
ण् । उच्छासं, वाच० “अष्टहासजीसणो” भाष० ४ अ० ।

अष्टदुःख-अष्टदुःख-पुं० न० । अष्ट इव प्रासावगृहमित्य अलति
गार्थानां जवाति । अल-अन् । बाच० । प्राकारां परिचर्यं अगवि-
शेषे, प्रअ० १ आअ० हा० । ज० । स० । जी० । हा० । नि०
व्यू० । ज० । प्रह्ना० । आवा० । रा० । अतु० । प्राकारां कौप-
रिचरति मन्दिरे, “पारां कारयिष्या णं, गोपुरहः लगाण्ये य”
उत्त० ६ अ० ।

अष्टि-आसं-त्री० । शरीरमानस्यं पीडायाम्, आवा० १ सु० २
अ० ५ उ० । याननायास, घ० २ अथि० ।

अष्टियचित-आसं तितचित-त्रि० । आसं तित आसं वा ध्यान-
विशेषादाकुञ्चं चितं येषां ते आसं तितचित्ताः । शोकादिपीडिते,
“अहा अष्टियचित्ता” उपा० २ अ० ।

अष्ट-अर्थ-पुं० । भाष्यकर्मादौ यथावथमञ्च । “स्थानचतुर्थाथं
वा” ८ । २ । २३ । इति संयुक्तस्य वा उ० । प्रयोजने,
नि० व्यू० १ उ० । कल्प० । सूत्र० । उ० । आवा० । स्था० । हा० ।
आ० । “अष्टं अण्यो अष्टां चैवदाहं जयति” आवा० २
अ० २ अ० ३ उ० । प्रयोजन एव षः, यदा तु धनमुपस्थते तदा
जे न स्थाव । अथो धनम् । आथं तु जवति-“अष्टा वयं न
सिक्किञ्च, वेहाइयं च गो वय” इत्यत्र अर्थेन इत्यर्थो धनधा-
न्याहिरण्यादिक इति व्याख्यानात् । सूत्र० १ सु० ३ अ० २ उ० ।

प्राविप्रयोजने, “अष्टं वा देवं वा समगुरुसत् चिरं हियं कहेमो”
इत्य० २ उ० । धर्मविषयेऽर्थित्वे, उत्त० ३ अ० । कर्त्त, स्था० ५
उ० २ उ० । शोके, तत्कारणात्ते संयमं च । “अष्टं परिहायनी
बहु, अहियार्णं न करेअ पियं” सूत्र० १ सु० २ अ० १ उ० । निवृत्तौ,
हा० १ अ० । स्वाभाविके, प्राकृतवाद् नपुंसकत्वमप्यर्थशाब्दस्य ।
पा० । अजित्ये (वाधे), सूत्र० १ सु० ६ अ० । स्था० । वस्तुनि,
“स नृणं कामदेवा अष्ट समते इता । अष्टि” अस्तेयोऽर्थे इत्य-
र्थः । अथवा मयादिते वस्तु समर्थेः संगतः । उपा० २ अ० ।
“अग्निदे अष्टे पन्नसे । तं अहा-संसयअष्टे, दुगाहअष्टे, अणुजोर्त्तौ,
अणुसोमि, तदणुणे, अतदणुणे” स्था० ६ उ० । (टीकाऽस्य ‘पदु’
शब्दे कृष्टया । अथ्येते गम्यत इत्यर्थः । आसं रीत्यादिकः थत् ।
हेय उपादेये वा वस्तुनि, जनयस्याप्यर्थ्यमानात्वात् । उत्त० १
अ० । आ० व्यू० । नि० । विषयभागादिके, आवा० १ सु० ३
अ० ३ उ० । सूत्र० । (अच्छक्यतामप्राप्त्यर्थशब्दस्य अर्थो ‘अ-
त्य’ शब्दे बहव्येन)

अष्टन-त्रि० । ४ व० । अष्ट-ध्यासौ कनिष्ठ, तुट् च । सङ्घा-
भेदे, तसंस्थान्त्रिते च । वाच० । प्रह्ना० ।

अष्टंग-अष्टाङ्ग-त्रि० । अष्टाष्टङ्गाणि वस्य तदष्टाङ्गम् । यमनियमा-
दाष्टाष्टांगेनां, वाच० ।

अष्टांगणिसि-अष्टाङ्गनिमित्त-न० । औषध १, उर्यातम् २,
स्वप्नः ३, शान्तरिकम् ४, आङ्ग ५, स्वर् ६, लक्षणं ७, इत्यङ्गम्
८; इत्येवं नवमपुर्ववृत्तीयाचारवस्तुनिर्गतं सुखदुःखादिसुखं
निमित्तं, सूत्र० ।

संवत्तरं सुविणं लक्षणेन च,
निमित्तं देहं च उपास्यं च ।
अष्टंगमेयं बहवे अहिसा,
क्षोणिसि जाणंसि अणानताईं ॥ १ ॥

सांस्वरासिनि ज्योतिष्यम्, स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थः स्वप्नः, तम-
धीन्य । लक्षणं श्रीवत्सादिकम् । चक्षुःशान्तरिवाहभेदनि-
अम् । निमित्तं याकुप्रशस्तशकुनादिकम् । देहं भवं देहम्, मषक-
तिल्लकादि । उच्यते जन्मोपातिकसुखकृपातदिश्यादिधोसधु-
मिकम्पादिकम् । तथाऽऽङ्गं च निमित्तमधीन्य । तद्यथा-जीम-
सुपातमान्तरिकमाङ्गं स्वर् ३ अङ्गं ध्येज्जन्ममित्येवंकपय । नवमपु-
र्ववृत्तीयाचारवस्तुनिर्गतं सुखदुःखज्जितलमरणलक्षणं आभा-
विसंखुचं (निमित्तमधीन्य) कोऽस्तिभवेतौतानि वस्तुनि अना-
गतानि च जानन्ति परिच्छिद्यन्ति । न च शब्दादिषां ध्येनत्वं घ-
टने, तस्मादभ्यागिकमेव तैरिधिधीयत इति । एवं येषांवा-
सति आह परः-ननु ध्येनिसाधिये सुखमुपसङ्ग्यते । तथाहि-
चतुर्दशपुरविद्वामपि यदस्थानपतितन्वमागमे उहृद्युच्यते, किं
पुनरुहृद्वनिमित्तशाब्दादिकम् । अथ चाङ्गवर्जितानां निमित्तशा-
ब्दाणामानुपुनेन उच्यन्ते स त्रयोदशशतानि सुखम्, तावन्धेय सह-
आणि सुखिः, तावत्प्रमाणलक्षणा परिजायति । अङ्गस्य त्र-
योदशसहस्राणि सुखम्, तत्परिमाणलक्षणा सुखिः, अपरमिति
वार्तिकमिति ॥

तद्वचमष्टाङ्गनिमित्तविनामपि परस्परतः पदस्थानपतितत्वेन
द्वयनिवारित्वमत इवमाह-

केई निमित्ता तदिया जवंति,
केसि च तं विष्पनिष्पति ष्याणं ।

ते विज्ञमावं अणद्विज्ञायाः,
आहंशु विज्ञापरिमोकस्येव ॥ १० ॥

ग्रन्थसत्यात्पाकृतशैल्या वा शिक्कव्यत्ययाः कामिचित्प्रित्तिनां तद्यमि त्स्यानि प्रवर्ति । केवांचिक्क निमित्तानां निमित्तस्येदिनां वा शुद्धिचकत्सात्तयाविषयप्रयामाभावेन तस्मिन्निज्ञाहानं विषयोऽस्यैव व्यत्ययेने । आहंशानामपि निमित्तव्यभिचारः स्वप्नलक्ष्यते, किं पुनस्तंविज्ञाकामिः १, तदर्थं निमित्तशास्त्रस्य व्यभिचारमुपगृह्यते । क्रियावादिनो विद्यासद्भावमनधीयानाः सन्तो निमित्तं तथा चान्यथा च भवतीति मत्या, ते (आहंशु विज्ञापरिमोकस्येव) विद्यायाः श्रुतस्य व्यभिचारेण तस्य परिमोकं परित्यागमाहुरुक्यतः । यदि वा क्रियाया अजावाद् विद्या ज्ञानैव मोक्षं सर्वकर्मस्युत्पन्नकामावुरिति । क्वचित्स्वर-मपादस्यैव पाठः-“जागृतो ज्ञानं सि धयति मेदंति” विद्यामनधी-व्यं स्वप्नमेव मोक्षकर्मिन् न वा मोक्षे भावाद् स्वयं जानीमः, एवं मन्दा जडा वदन्ति । न च निमित्तस्य तद्वत्ता, तथाहि-कस्य चिक-त्रिमुतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिदर्शनात्, क्वचित् शकुनसद्भावेऽपि कार्यविशददर्शनात्, अनो निमित्तबलेनादेशविधायिनां सृष्ट्यावाद् एव केवलमिति । भैतदस्ति । नहि सम्यगधीतस्य श्रुतस्यार्थे विसंवादाऽस्ति । यदापि पदस्थानपातनव्युत्पद्यते, तदपि पुत्र पाश्रित्तयोऽप्यशयशेन । न च प्रमाणाभासव्यभिचारः सम्यक्-प्रमाणव्यभिचाराशङ्कं कर्तुं न्ययते । तथाहि-सममरीचिका-निचये जलप्रादि प्रत्यक्षं व्यभिचारीति क्त्वा किं सत्यजलप्रा-दिणोऽपि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारो युक्तिसंग्रहो भवति ? न हि महा-कवत्सिंहरिसिंहात्पुदिश्यमाना व्यभिचारिण्येवमिदं स्यात् । य-पि व्यभिचारः । न हि सुविचेचितं कार्यकारणं व्यभिचरतीति । तत्र प्रमातुरयमपराधो न प्रमाणस्यैव । सुविचेचितं निमित्तं श्रुतमपि न व्यभिचरतीति । यच्च श्रुतेऽपि कार्यसिद्धिदर्शनं व्यभिचारः शाङ्कते, सोऽनुपपन्नः तथाहि-कार्योक्ततात् श्रुतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिः साऽपान्तरालेऽन्तरयोऽमननिमित्तबलात्सं-जातेत्येवमवगतव्ययः । शोभननिमित्तप्रस्थितस्यापीतनिमित्त-सबलात्कार्यव्याघात इति । तथा च श्रुतिः-किल बुद्धः स्वशिय्या-नाहृमोक्त्वात् । यथा-द्वादशवार्षिकमत्र बुद्धिर्ले भविष्यतीत्यनो देशान्तराणि गच्छत युयम् । ते तद्वचनाच्छ्रुतस्तेनैव प्रतिप-त्ताः । यथा-मा गच्छत युयमिहापैव पुण्यवाद् महासत्यः संजा-सतप्रजावास्तुभिरक्षं भविष्यति । न तदेवमन्तरापरनिमित्तसद्भा-सद्भवनिचारादङ्गेति स्थितम् ॥ १० ॥ सु० ११ श्रु० १२ ब्र० ।

“ अद्विभक्तं स्यात्, विद्वुःप्रातंतत्रिक्षक भोगं च । अंगं सर-लक्षणं च-जयं च तिविद्ं पुणेकेकं ” ॥११ ॥ अ० ११ शं० ११ उ० ।

अष्टांगविज्ञाय-अष्टाङ्गविज्ञक-पुं० । अष्टयङ्केषु पुण्येः, ज० ११ शं० ११ उ० ।

अष्टांगमहात्तिमित्त-अष्टाङ्गमहानिमित्त-न० । अष्टाङ्गानि यत्र, एवं-विधं यद् महानिमित्तं शास्त्रम् । आङ्गस्त्वन्त्याद्यष्टयवे प्रा-विष्यार्थं सुचक्रे स्वनादिफलव्युत्पादके प्रपञ्च, कल्प० ।

अष्टाङ्गमहात्तिमित्तसुचक्रेषु-अष्टाङ्गमहानिमित्तसूत्रार्थ्याङ्क-क० । अष्टाङ्गमहात्तययं यन्महानिमित्तं यथाशयप्रतिपत्सिका-रणव्युत्पादकं महाशास्त्रम्, तस्य यो सूत्रार्थो तौ धारयन्ति ये ते तथा । अपीताष्टमं महानिमित्तशास्त्रम् । निचयेषु, हा० १ ब्र० । शः ।

अष्टांगिया-अष्टाङ्गिका-स्त्री० । अष्टाङ्गिर्ज्ञेनिवृत्त्यायाम्, “ प्रवृत्ति-रष्टाङ्गिकी तस्ये ” वो० १६ विव० ।
अष्टाङ्गिथिय-अष्टाङ्गिक-त्रि० । ब० स० । अष्टकोणविभागं, स्या० ऽ ङा० ।

अष्टाङ्कमग्नौ० । विभोपण-अष्टाङ्कमग्नौ विभोषक-त्रि० । अष्टक-मैकयो यो ग्रन्थस्तस्य विभोषकः । ज्ञानावरणीयादिकर्मणो रूपके, प्रश्न० प० सन्म० ७० ।

अष्टकमत्तनुपुणबंधण-अष्टकमत्तनुपुनबन्धन-न० । ३ त० । अष्टकमैकज्ञस्यैतन्मुभिधने च-पञ्च, “ वेदता कोसिकारकीडो एव अप्यंगं अष्टकमत्तनुबंधणस्ये ” प्रश्न० ३ आश्र० हा० ।

अष्टकमस्युदयतव-अष्टकमस्युदयतव-पुं० । अष्टांगं कर्मणो ज्ञानावरणादीनां सुदने विनाशने यस्मात्तदष्टकमस्युदने तयः । तपोभेदे, प्रव० १७१ हा० । पंच० ।

अष्टकर-अर्थकर-पुं० । अर्थानं हिताहितप्रातिपरिहारादीं राजा-दीनां दिव्याभ्रादीं तथापदेवानः करोतीति अर्थकरः । मन्त्रिणः, भैमिसिके च । स्या० ऽ ङा० ३ उ० ।

अष्टग-अष्टक-न० । अष्टौ परिमाणस्य प्रत्येकमष्टाध्यायामके ऋ-भेदाङ्गनेदे, पाणिनेरष्टाध्यायोदूषे च । बाच० । अष्टपद्यात्मके प्रकर-णे, नाष्टेर्ह्रादिशाना घटितं प्रथं च । यथा इरिज्जसुरिखिरचित-मष्टकम्, तस्य जितेभ्यराचायुक्तः तन्विष्यथैर्दाम्भयदेशस्यु-प्रतिमंस्वता च युक्तिः । ह्रादिशदष्टकानि, तेषु-प्रथमं महादेवा-ष्टकम्, द्वितीयं स्नानाष्टकम्, तृतीयं पुजाष्टकम्, चतुर्थं मानिका-रिकाष्टकम्, पञ्चमं भिक्षाष्टकम्, षष्ठं गिरादविशुद्धाष्टकम्, सप्तमं भाष्योक्त्याष्टकम्, अष्टमं प्रत्याख्यानाष्टकम्, नवमं ज्ञानाष्टकम्, दशमं वैराग्याष्टकम्, एकादशं तर्काष्टकम्, द्वादशं वादाष्टकम्, त्रयो-दशं धर्मोक्त्याष्टकम्, चतुर्दशं प्रव्यासिकाष्टकम्, पञ्चदशं पर्याय-याष्टकम्, षोडशमं कात्यायाष्टकम्, सप्तदशं मानिक्याष्ट-कम्, अष्टादशं मांसभक्षणदृषणाष्टकम्, एकोनविंशं मद्याष्टकम्, विंशतितमं भिक्षुनाष्टकम्, एकविंशं सुदमवृष्ट्याष्टकम्, द्वाविंशं भा-वशुष्प्याष्टकम्, त्रयोविंशं शान्तमालिन्याष्टकम्, चतुर्विंशं पुण्य-पुण्यविचाराष्टकम्, पञ्चविंशं मोक्षप्रवृत्त्याष्टकम्, षोडशं तीर्थ-करदानाष्टकम्, सप्तविंशं तीर्थकृतानं महादानपुण्यवाष्टकम्, अ-ष्टविंशं तीर्थकृतानं राज्याष्टकम्, एकोनविंशं सामायाष्टकम्, विंशतमं कबलाष्टकम्, एकविंशं तीर्थकृतानं धर्मदेशनाष्टकम्, द्वा-विंशं सिद्धाष्टकम्, अने च “ अष्टकाद्य प्रकरणं, कृत्वा यत्पुण्य-जितम् । विरहात्तन पापस्य, भवन्तु सुखिनो जनाः ” ॥ १ ॥ हा० । यथा या श्रीमच्छांशोविजयोपाध्यायेन ज्ञानसाराख्या ह्रा-त्रिशादष्टप्रमाणो ग्रन्थो विरचितः, तस्य द्वाचन्द्राणि-ना ज्ञानमञ्जरी नाम टीका कृता, तस्य च ह्रात्रिशोऽष्टकान-नां नामाभिधेयो तत्रैवान्तं दर्शिताः । “ पुणो मनः स्थिरा मे होत्र, ज्ञानी ज्ञानो जितनिष्ठः । म्यावो क्रियापरम्पूते, मिलेवो वि-सृष्टो मुनिः ” ॥ १ ॥ विद्यायधिकसंपन्नो, मध्यस्थो भयवर्जितः । अनात्मशंसकस्तस्य-दृष्टः सर्वसंयुक्तिमाद् ॥१॥ ध्याता कर्मवि-पाकाता-मुक्तिर्नो नववाची ॥ लोकसंवादिनिमुक्तः, शास्त्रस्य निष्पारप्रहः ॥ ३ ॥ ॥ अष्ट० ३२ अष्ट० ।

अष्टगुणोवैवेय-अष्टगुणोपपेत-न० । अष्टनिर्गुणरूपेणमष्ट-गुणोपपेतम् । एणाद्विगुणादक्युते ज्ञेये । ने चाष्टावमी गुणाः-एणं रकमश्नुते प्यकमविपुष्ट मधुरं तमं सल्ललितं च । तथा

अष्टगुणोपवेय

बोकरम्—“पुत्रं रत्नं च अन्नं-किंच व बन्तं तदेव अमिच्छते । मष्ट-
 रं सप्तं सप्तत्रिंशत्, अष्टगुणं त्रिंशत्-नेचस्त्वं” ॥१॥ औ० ३ प्रति० ।
 अष्टचक्रबालापरिहाण—अष्टचक्रबालाप्रतिष्ठान-वि० । अष्टचक्र-
 प्रतिष्ठिते, “पद्ममेघेनं महाशिखी अष्टचक्रबाणपद्मणे अष्ट
 अष्ट जोषाखण्डं उच्छेदकस्य” औ० ३ प्रति० ।
 अष्टज्ञाय-अष्टज्ञात-न० । जातशब्दे भेदबाचकः । अर्थभेदे, नि०
 सू० १ उ० । धनाधिनि, व्य० ३ उ० ।

सूच्य-

अष्टज्ञायं निरकुण्ठं गिह्यायमाणं नो कप्यत् । तस्म गणाब-
 ष्चेदयस्स निरजुहोश्च अगिलाए करणिज्जं वेयावाहिंये
 जाव रोगागतो विष्णुसुके, वतो पच्छा अहा लहुस्सते
 नामं बवहारे पड्डविपन्ने सिगा ॥
 साम्प्रतमर्थेजातं मिण्णं भ्वायत्तमित्थं योऽप्येजातशब्दस्तु-
 त्तपत्तिप्रतिपादनायमाह—

अर्थेण जस्स कज्जं, चाजिज्जंतो परिगिलाई ॥
 सो पुण्ण संजमभावा, सज्जिज्जंतो परिगिलाई ॥

अर्थेनार्थितया जातं कार्यं यस्य । संभवप्रविवलायामत्र घट्टी,
 येनेत्यर्थः । सोऽर्थजातः । गमकत्वादेवमपि समासः । उपल-
 क्षणमेतन् । तेनैवमपि ध्युपसिखरसत्ताध्या-अर्थेः प्रयोजनं
 जातंऽस्येत्यर्थजातः । पक्षत्रयेऽपि कालस्य परनिपातः, सु-
 ख्यादिगणे दर्शनात् । स पुनः कथं ग्लायतीति चेदत आह-स
 पुनः प्रथमनः प्रथमव्युत्पत्तिस्त्वितिः संभवभावाद्वा चाल्यमानः
 निष्क्रयस्यानः परिग्लायति । जित्तीयव्युत्पत्तिपक्षे प्रयोजना-
 निष्पत्त्या ग्लायति, तस्योभयस्यापि अगिलया प्रागुक्तस्वरूपया
 वच्यमाणं धैयावृत्त्यं करणीयम्, यावद् रोगान्मुक्तिं च रोगात्-
 ह्नात् । संभवभावाच्चलनात् प्रयोजनानिष्पादनाच्च विप्रयुक्तः
 ततः पश्चात्क्रियमाच्चरितं भीषणादि, तद्विषये यथा
 लघुस्वको व्यवहारः प्रस्थापितः स्यादिति ।

सम्प्रति निर्युक्तिरुत्तं येणु संयमस्त्वित्यस्यार्थजातमुत्पाद्यते,
 तन्व्यमिधित्तुराह-

सेवगपुरिसो अ्रोमे, आवन्न अण्णत्त बोहिंये तेणे ।

एएहि अष्टज्ञातं, उण्णज्ज संजमत्रियस्स ॥

सेवकपुरुषे सेवकपुरुषविषये, एवमवमे दुर्मिच्छे, तथाऽऽपने
 दासत्वं स्वमापन्ने, तथा विदेशान्तरकालमे उचमणैनानासे, तथा
 बोधिरुपरहरेणे, स्तेनेरपहस्णे च । बोधिफला-अनायंस्तेच्छ्वाः,
 स्तेना आर्यजनपदज्ञाना अपि शरीरापहारिणः । एतेः कारण-
 र्थेजातं प्रयोजनजातमुत्पाद्यते, संयमस्त्वित्यस्यापीति । एष नि-
 र्युक्तिग्राथासंकेतार्थः ॥

साम्प्रतमेनामेव विषारीमुक्तानः प्रथममाह-

अपरिमह्मागणियाए, सेवगपुरिसो उ कोइ अल्लतो ।

सा तं अतिरागेणं, पणयए ह्नु अण्णजाया य ॥

सा कविणीत्ति काइं, रग्णाऽऽणौया उ संभवारेण ।

इपरो तीए चित्ततो, दुक्कवत्तो चेय निक्खंतो ॥

पणागप तं सोइं, निक्खंतं वैइं गंतुं णं तीहियं ॥

बहुयं मे उव्वत्तं, जइ दिज्जइ तो विसउज्जामि ॥

न विद्यते परिग्रहः कस्यापि यस्याः साऽपरिग्रहा, सा वा-
 ङ्गी गणिका च अपरिग्रहागणिका, तथा, कोषपि राजाजीवं से-

वकः पुरुष आलपितः संभाषितः । आलप्य च स्वस्वमहानी-
 तः । सा अर्थेजाता सती तं पुत्रमतिरागेणाऽतिरागवश्या-
 त्मण्यते प्रसादयति । इत्यन्वा सा गणिका कृपिणी अतिशयेन
 रूपवतीति कृत्वा राज्ञा स्मन्भावारेण कटकने गच्छता आमना-
 सदासीत् । अतरोऽपि च सेवकपुरुषस्या गणिकया विद्युको
 दुःखार्त्तः । प्रियाविप्रयोगपीडितो निष्कान्तस्तथाकृपाणामन्तिके
 प्रसज्यां प्रतिपन्नः । सा च वेदया राज्ञा सह प्रत्यागता तं पुरुषं
 न पश्यति स्म, गवेवापितुमारब्धः । ततः कस्यापि पार्थ्वे निष्कान्तं
 श्रुत्वा यत्र स तिष्ठति स्म, तस्यां वसती गत्वा तान् त्वविराज्
 ह्ने-बहुकं प्रभूतं मम तु इत्यनेनोपयुक्तमारोपयोगं नीतम्, ह्य-
 कमित्यर्थः ; तद्यदि दीयते ततो विसृजामि ॥

एवमुक्ते यत् कतेष्वं स्वधिवेस्तवाह—

सरजेयवसुजेयं, अंतदाणं विरेयणं वा वि ।

वर्धणायवेम पुस्स-भूती कुसलो सुहमे य भ्राणम्मि ॥

मुदिकाप्रयोजनस्तस्य स्वर्भेदं वर्णभेदं वा स्वार्थिनः कुर्वन्ति,
 यथा सा तं न प्रत्यभिजानाति, यदि वा प्रामात्तरादिप्रयोजने-
 नान्कानं व्यवहारां क्रियते । अथवा तथाविधोपघप्रयोगतो विर-
 चनं कार्यते येन स ग्लान इव दृश्यते, क्रूररुणैष जीवतीति ज्ञा-
 त्वा सा तं मुञ्चति । अथवा शकौ तस्यां यथा ब्रह्मत्सद्विरुद्धं
 धनुःपुत्रेण वधधनुना मृतकवेपः कृतस्तथैव निश्चला निरकुन्त्याः
 सुहममुच्छ्वस्व तिष्ठति, येन मृत इति ज्ञात्वा तथा विसृज्यते ।
 यदि वा पुण्यद्विराचार्यः सुहमे ध्यानं कुशलः सन् ध्यानवशाद्
 निश्चलो निरकुन्त्याऽऽप्यतिष्ठत् तथा तेनापि सुहमेध्यानकुशलेन
 तथा स्थातव्ये येन सा मृत इत्यवगम्य विसृज्यति ।

एषां प्रयोगाणामभाव-

अणुसिद्धिं उच्चरती, गर्मेति णं मित्ताणयागदीहिं ।

एवं पि अष्टज्ञाय, करंति मुत्तम्मि जं वृत्तं ॥

तस्या गणिकया यानि मित्राणि, ये च कृतानि, अन्ताराश्याद-
 न्यतथाविधपरिग्रहः । तैः स्वविरास्तां गमयति बोधयति, येना-
 नुशिष्टमुच्चरति, मुक्तकनं करोतीति भावः । एवमपि अविष्ट-
 न्यां तस्यां यदुक्तं सूत्रे तत्कुर्वन्ति, “स मोचयितव्यः”
 इति सूत्रे मोचनस्याभिधानात् । तथा चोच्यम्—“ताहं तो मो-
 क्खेयव्भो एवं सुत्ते भणियं” इति । गतं सेवकपुरुषद्वारम् ।
 भयुनाऽवमहारमाह-

सुकुटुंभो निक्खंतो, अन्नवंतं दारंणं तु निक्खित्तिव्भो ।

मित्तस्स धरे सो वि य, कालामतो ताऽऽस्रं जायं ॥

तत्थ अयादिज्जंतो, तस्स उ पुत्तेहि सो तन्नो चेको ।

घोलंतो आवसो, दासत्तं तुस्स अगमणं ॥

मधुरायां किञ्च नयायां कोऽपि वणिक् अत्यंतं धानं, द्वारकं पुत्रं,
 मित्रस्य शूदे निक्खिय सकुटुम्भो निष्कान्तः, सोऽपि च मित्रवृ-
 तः पुरुषः काशं गतः । (तो स्ति) तस्मात्तस्य कालशममादनन्त-
 रप्रथमं दुर्मिच्छं ज्ञातम् । तत्र च दुर्मिच्छे तस्य मित्रस्य पुत्रेः स चे-
 दोऽनाजित्यमाणाऽऽप्यन्वयं घोलति परिस्त्रमति, स च तथा
 परिस्त्रमं कस्यापि शूदे दासत्वमापन्नः । तस्य च विपुण्यथावि-
 हारकमं विहतस्तस्यामेव मधुरायामगमनं ज्ञातम् । तेन च
 सर्वं तज्ज्ञातम् ।

सम्प्रति तमोभने विधिमज्जिष्कुराह—

अणुसाम करण उविंये, भीसण ववहार सिंणं जं जत्य ।

दुराभोग गवेक्षण, पथे जयणा य जा जत्य ॥

पूर्वमनुशासनं तस्य कर्मसम, ततो धर्मकथाप्रसङ्गेन कथनं स्थापन्यापुत्रादेः करणीयम् । एवमप्यतिष्ठति यत्किञ्चामता स्थापितं कर्म तद् गृहीत्वा समर्पणीयम्, तस्याप्राये निजकानां तस्य वा भीषणसुप्राप्तनीयम्, यदि वा राजकुले गत्वा व्यवहारः कार्यः । एवमप्यतिष्ठति यतो यत् जिह्वं पूज्यते, ततस्तत्र परिपृष्ट्वा स मोक्षनीयः । एतस्यापि प्रयोगस्याभावे दुरेणोक्तिप्रस्थापिकतया, दूरदेशव्यवधानेन वा यत्किञ्चान् तस्याभोगः कर्तव्यः, नन्दनन्तरं तस्य गवेक्षणया च गमने पथि मार्गे यतना यथोचित-सुकुत्रता तथा कर्तव्या । या च यत्र यतना साऽपि तत्र विधेया यथासुखमिति द्वारत्वायासंकेपाथः ।

साप्रसन्ननाभेय विवरीपुः प्रथमतोऽनुशासनकथनद्वारं प्राह-
निस्थिभो तुञ्जधरो, रासिपुत्रो चो ह्रादिर्दु धम्मा ।

धम्मकहापमेणैण, कहरणं यावत्पुत्रुत्तस ॥

एष ऋषिपुत्रस्तत्र गृहेऽप्यमादिकं समस्तमपि निस्तीर्णोऽभुना प्र-
तप्रहरणंमुच्यत इत्यमुं मुञ्च, तथापि प्रभूतो धर्मो नाविप्यन्तीति ।
एतावता यत्नमनुशासनद्वारम् । नदनन्तरं धर्मकथाप्रसङ्गेन च
कथनं स्थापन्यापुत्रस्य करणीयम्, यथा स स्थापन्यापुत्रो व्रतं
जित्पुत्र्युत्सवेन महता निष्कमणमहिम्ना निष्काश्य पार्श्वस्थितेन
प्रतप्रहणं कारितः, एवं युष्माभिरपि कर्तव्यम् ।

तद् वि य अउते उविथं, जीमण वव्हार विकस्वमतेण ।
तं धेणुणं देज्जद, तस्सासदए इमं कुञ्जा ।

तथापि च, अनुशासने कथने च कृते स्वर्थः । अनिष्ठति स्थाप-
नं देवस्य, जीषणं वा करणीयम्, व्यवहारं वा समकार्पणीयम् ।
तत्र स्थापितं ज्ञापयति-तेन पिना निष्कामता यत्किञ्चपि स्थापितं
न कल्प्यमस्ति तद् गृहीत्वा तस्मै दातव्यम् । उपसन्नस्यमेतत् ।
तेनैतदपि ब्रह्मदस्य-अजिनयः कोऽपि शिष्यक उपस्थितस्तस्य य-
त्किञ्चप्यज्जातं स्थापितमस्ति, यदि वा गच्छन्तरे यः कोऽपि
शैकक उपस्थितस्तस्य इस्ते यद् उच्यमयतिष्ठते, तद् गृहीत्वा
तस्मै दायते, तस्य उच्यस्यास्यभावे इदं वक्ष्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह—

नीयद्वगाण तस्स व, जीसणं रायउत्ते सयं वावि ।
अविरीकामो अग्घे, कहे व हज्जा न तुज्ज चि ।
बवहारेणै अहरयं, जाणं पेच्छामि बहुतराणं भे ।
अधिपत्तिं गं करं, पडवणा दावण्णाए ॥

निजकानामात्मनां स्वजनानां, तस्य वा जीषणं कर्तव्यम् ।
यथा वयमविरिका अवि सकरिकया वसामिहे, ततो मोक्षयत मदी-
यं पुत्रं, कथं वा केन युष्माकं न लाऽऽनू यदेवं मदीयपुत्रो दास्य-
त्वमापन्नोऽप्यापि भूता वसेत् बह । अथैवमुक्ते नै उच्यं न प्रय-
च्छति तत इदमपि बकव्यस-राजकुले गत्वा व्यवहारोणाप्यहं
भगं बहुतरकं प्रभूततरकं प्रदीप्यामि (अ) जवतां पाभ्यः, तद् वर-
मिदानीं स्तोत्रं प्रयच्छथ । एवं तेषां भीषणं कर्तव्यम् । यदि वा
येन गृहीतो वसेत् तस्य भीषणं विधेयम्, यथा यदि मोक्षनीयं
तर्हि मोक्षय, अन्यथा भवतस्तेन शापं दास्यामि येन न त्वस्य, नेदं
वा तव कुटुम्बकमिति । एवं भीषणेऽपि कृते यदि न मुञ्चति,
यदि वा ते स्वजना न किमपि प्रयच्छन्ति, तदा स्वयं राजकुले
गत्वा निजकैः सह व्यवहारः करणीयः, व्यवहारं च कृत्वा
जग आत्मीयो गृहीत्वा तस्मै दातव्यः । यथा-स एव राजकुले

व्यवहारः-तत्र च गत्वा बलव्यय-यथाऽप्यसुविपुत्रो
स्ति विपुत्रः केनापि कपटेन वृत्तत् - - - - - - - - - - -
पारनिवृत्तास्ततो यथाऽयं धर्ममावर्तति, यथा सामीयावधीनां
समाधिकप्रजायते तथा बलव्यमिति । अस्वापि प्रकारस्याभावे
यद्यत्र सिद्धमस्ति तत्परिपृष्ट्वा दापनायैव, विवक्षितबाहकमो-
क्षार्थमित्यर्थः । तादृशकारिणां मध्ये ये महात्तस्तेषां महापना
कर्तव्या, येन ते मोक्षयति ।

सम्प्रति दुराभोगेत्यादि व्याख्यानायंमाह—

पुष्टा व अणुचा वा, चुपसामिणिह कहेति उयोहाई ।
पेत्तूरा जावदद्वा, पुणरावि सा रक्वणा जयणा ॥

यदि वा अवप्यादयोऽवधिज्ञानिनः । आदिशब्दादितिशेष-
तज्ञानिपरिग्रहः । पूष्टा वा अणुष्टा वा तथाविधं तस्य प्रयोजनं
ज्ञात्वा द्युतस्वाभिकं निधिमन्वत्प्रस्थापिकं निधिं कथयन्ति,
तदानीं तस्य तेषां तत्कथनकस्याचित्तवान् । ततो यावदर्थः,
यावता प्रयोजनं तद् गृहीत्वा पुनरापि तस्य निधिस्वरक्षणं कर्त-
व्यम् । प्रत्यागच्छता च गतनाविधित्यर्थः, सा चापि स्वयमेव य-
चयते ।

सोऽज्जल अष्टाजयं, अह्मं पत्तिजगए य अयारिअो ।
संयादयं वि देति य, पटिजगइ णं गिलाणं पि ॥

निधिप्रदणार्थं मार्गे गच्छन्तमयजानं सायुं भुत्वा सांभोभि-
को याऽऽज्जायैऽयं प्रतिजगति त्वपादयति । यदि पुनस्तस्य
द्वितीयः संघटको न विद्यते, ततः संघटकमपि दद्यात् । अथ
कथमपि ग्लानो जायते ततो ग्लानमपि जागति न गृह्णाते, जि
नाङ्गाविशरणप्रसक्तः यतना प्रत्यागच्छता कर्तव्या, तामाह—

यदुक्तमन्तरं यतना प्रत्यागच्छता कर्तव्या, तामाह—
कांरं निर्मादियं जा-ह्जनायपविषयाणं च गुरुहन्थे ।

दाऊण पत्तिमणं, मा पेहंता मिगा पेसो ॥

यत्रान्यगणे स प्राचूर्णक भायति, तत्र वैपेधिकी कृत्वा, 'नमः
कृमाअमणेभ्यः' इत्यादिवा च मध्ये प्रविशति । प्रविश्य च बद्-
धेजानं तद्गुरुभ्य आवेदयति कथयति । आवेद्य च तदर्थजानं
गुरुहस्ते दत्त्वा प्रतिक्रामति । न स्वपार्श्वे एव स्थित इति बद्ध्य-
त आह-मा प्रेक्षमाणा मृगा एव मृगा अर्णीतार्थाः क्रुद्धिकादयः
पश्येयुर्गुरुहस्तेऽवस्थिनं तद् निरीक्षते, असदृश्यां समर्पित-
मिति विरूपसेकस्येऽप्रवृत्तेः ॥

सम्प्रति 'जयणा य जा जत्येति' तद्व्याख्यानायंमाह—

समी व सावको वा, निरुविण देज्ज अह्जनात्तस ।
पत्तुपप्पनिहाणे, कारणजाए गहूयसोही ॥

यत्र संहो सिक्खुः श्रावको वा वसेत् तत्र गत्वा तस्मै स्व-
रूपं निवेदनीयं, प्रहापना वा कर्तव्या । ततो यत्तत्र तेन प्रत्युत्प-
न्नं तत्र निधानं गृहीतं वसेत् तस्याज्जातस्य मध्याकस्तिप-
याद् जगाम् दद्यात् । स्वयं तदानीं महापनातो वा शीतार्थ-
त्वात् । अस्य प्रकारस्याजावे यत्किञ्चान् दूयवगाहं वसेत्, तत-
स्तेन उक्तस्य दीयमानमथकृते कारणज्ञाते मुञ्चानोऽपि सुकः,
अगवदत्तायसेत्नात् । गतमवमद्वारम् ।

इदानीमापन्नद्वारमाह—

योवं पि धरेमाणो, कप्पइ दासत्तमपे अद्दंसेते ।
परदेसमि वि सुम्भति, वाणियधम्मो भमेस चि ॥

स्ताकमापि श्रद्धं शेषं धारयन् कश्चिदेव कोऽपि पुत्रः, ततः (अर्धंते पि) अर्धदानः काशकमेण प्रभुत्वा, दासत्वमेव प्रति-
- - - - - । अर्धत्वं दासत्वमापन्नस्य, स्वर्धेवो इति। न दातव्या ।
- - - - - कदाचित्परवशं शि. - - - - - ।
- - - - - । तत्र च बधिजा बाणित्वादि कारण-
- - - - - । तत्राथं किल स्यात्—परदेशमपि गता बधिज आत्मीयं
- - - - - । तत एव बधिजधर्मं व्यवस्थिते स एव श्याय् ' मम
- - - - - इति न मुञ्चिष्येऽमुमिति ।

तत्र यत्कर्मण्यं ताम्रप्रतिपादनार्थं चरगामाग्रह—

नाहं विदेत्तद्भाहुर—गर्भाइ विजा य मंत जोगा य ।
नेभिस्त राय धम्मे, पासंद गणे धणे चैव ॥

यस्यच दासत्वमापको बध्ते, न सोऽहं, किं त्वहमन्यस्मिन्वि-
- - - - - जातः, एवं तु सदृशतया विप्रसम्भोऽपि, अथ सम्भूतजनवि-
- - - - - दितो बध्ते तत एव न चकर्म्यं, किं तु स्थापत्यापुत्राद्याहरणं
- - - - - कथनीयम्, यद्यपि कदाचित् तच्छ्रवणतः प्रतिबुद्धो मुक्तलय-
- - - - । आदिश्रुद्दान् शुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदादि कर्त्तव्यमिति
- - - - - । एतेषां प्रयोगाणामभावे विधा मन्त्रो योगो वा, तं प्रयोक्त-
- - - - - व्याः, येः परिश्रुद्दातः सन् मुक्तलयति । तेषामन्यभावे (निमित्ते-
- - - - - नाना) नानागताविषयेण राजा, उपलक्षणमेतन्, तद्वयो वा नगर-
- - - - - प्राधान्यं आपर्जन्याः, येन तत्रभोग्यास्तं प्रयेते, धर्मो वा कथनी-
- - - - - यो राजादीनाम्, येन तं श्रावताः स्मृतस्ते प्रेरयन्ति । एत-
- - - - - स्यापि प्रयोगस्याज्ञाये पापगन्तुं सहायान् कुर्यात् । यद्वा
- - - - - गणः सारस्वतादिको बलीयान् तं सहायं कुर्यात् । तद्भा-
- - - - - वे दूरभोगादिना प्रकारेण धनमुत्पाद्य तेन भोजयेत् । एष
- - - - - द्वारगामाघासंक्रोधः ।

सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीशुराह—

सारस्वतपूरा जंपासि, जातो अग्रन्ये ते वि श्राभति ।
बहुजनविषायाम्पि उ, यावच्चसुयादिश्राहुरणं ॥

यदि प्रभूतजनविदितो न भवति, यथा-अयं तद्देशे जात इति,
- - - - - तन एव श्याय । अहमन्यत्र विदेशे जातस्त्वं तु साह-
- - - - द्यैव विप्रसम्भ एवमसमस्त्रसं जल्पसि । एवमुक्तं तेऽपि
- - - - - नश्रया श्रामेवमेतद् यथाऽयं वदतीति साक्षिणो जायन्ते,
- - - - - अथ तद्देशजाततया प्रभूतजनविदिनो बध्ते, ततस्मत्सिन्धु-
- - - - जनविक्राते पूर्वोक्तं न बह्वयम्, किन्तु प्रबोधनाय स्थापत्यापु-
- - - - - त्राद्याहरणं कथनीयम् ।

विजा भंता जोगा, अंतद्द्वारं विरेयणं वा वि ।

वरपणु य पुस्तभृती, गुलिया सुदुमं य ऊणम्पि ॥

विद्याद्वयो विद्यामन्त्रयोगाः प्रयोक्तव्याः, येन नैरनिपोजितः
- - - - - सन् मुक्तलयति । आहरणमादीत्यत्रादिश्रुद्दव्याकथनार्थमाह-
- - - - शुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदेन । उपलक्षणमेतन् । वर्णनेदं कार-
- - - - येत्, यदि वा अन्तर्कोनं प्रामाण्यप्रयणं व्यवधानम्, विरेचनं वा
- - - - - न्दानतयाद्वर्धनाय कारवित्तयो यत्कच्छुण्य जीवतीति इत्याद्या
- - - - - विक्षुण्यते । यदि वा बरधुत्तुर्वि शुटिकाप्रयोगतः, पुष्पभूतिरा-
- - - - धार्यं इष सुदुमप्यानवधायतो निष्कतो निरुच्छ्वासः तदा स्याद्
- - - - - येन मृत इति इत्याद्या परित्यज्यते ।

असतीए विणवेती, रायाणं सो व होज्ज अ निज्जा ।

तां से कडिज्ज धम्मो, अग्निच्छमाणां इमं कुज्जा ॥

एतेषां प्रयोगाणामसति अभावे राजानं शिक्षापयति । यथा-

तपस्विनमिह परलोकादिः स्तुहमेनं मताद्याययतीति; अथासौ
- - - - - राजा तेन मित्रो व्युत्पादितो वदति । ततः स तस्य राज्ञः प्रति-
- - - - - बोधनाय; धर्मः कथ्यते, अथ स धर्मं नेच्छति, ततस्त्वास्मिन् ध-
- - - - - र्ममभिमिच्छति, उपलक्षणमेतन्, निमित्तेन चाऽतीतानागतकृपाया-
- - - - - र्णमन्त्रो इहं बह्वयमायं कुर्यात् ।

तवेचाह—

पासंदे व सहाए, गेएहइ तुअंके पि एरिसं हुज्जा ।

होहामोह सहाया, तुज्ज विजो वा गणो बलिआं ॥
पापगन्तुं वा सहायान् गृह्णाति । अथ ते सहाया न प्रबन्धि,
- - - - - तत इहं तान् प्रति बकल्यथ-गुण्याकर्मपटिषो प्रयोजनं अनेह
- - - - - नविष्यति तदा गुण्याकर्मपि व्ययं सहाया भविष्यामः । एषं
- - - - - तासहायान् कृत्वा तद्व्यवहतः स प्रेरणीयः, यदि वा यो गणो
- - - - - बलीयान् तं सहायं परिगृह्णीति ।

एरिसि असतीए, संता वि जया न होंतिइ सहाया ।

उवणा दूराभोगे, लिगेण व एसिउं देति ॥

एतेषां पापगन्तानां गणानां वा असति अभावे, ये सन्तः शिष्टा-
- - - - स्ते सहायाः कर्त्तव्याः । यदा तु सन्तो वा सहाया न जन्वति, तदा
- - - - - (उवण सि) निष्कामता वा कृप्यस्य स्थापना कृता तद्दानतः
- - - - - स भोजयितव्यः । यदि वा दूराभोगेन प्रागुक्तप्रकारेण, अथवा
- - - - - यद्यत्र शिक्षामर्चिनं, तेन धर्ममोषित्वा उत्पाद्य ददाति, तस्मै वरदु-
- - - - - वभाः । गतमापन्नद्वारम् ।

द्वारामोमनाश्रारम्हाह—

एवम अणत्तस सि, तवतुज्जाणा नवरी एन्य नाणसं ।

जं जसस होइ धंरं, सो देति मयंतिगे धम्मो ॥

एवमेव अनेनेव दासत्वापन्नगतेन प्रकारेण अनाप्तस्यापि प्रागु-
- - - - क्तादीधस्य मेनेव यतना प्रकृष्या, नवरय, अत्र धनदानवि-
- - - - न्नायां नानात्वम् । किं तदित्याह—तपस्तुलना कर्त्तव्या । सा
- - - - - सैवं न्रपयते—साधवस्तनपोधना आहरणस्यसुवधाः, लोकेऽपि यद्य-
- - - - स्य न्राणं जयति, स तत्तस्मै उचमणांश्च ददाति । अस्माकं च
- - - - - पार्श्वं धर्मस्ततस्त्वमपि धर्मं गृह्णय ।

एवमुक्ते स ग्राह—

जोऽणेषु कतो धम्मो, तं देउ न एचियं समं तुलह ।

हीणं जावेताहं, तावयं विजयभंभयाय ॥

योऽनेन कृतो धर्मः सभं मद्यं ददातु, एवमुक्ते साधुनिर्विकल्प्यम्,
- - - - - नैतावद्दुःखं, यतो नैतावत्समं तुलति । स ग्राह-एकं संवत्सरेण
- - - - - हीनं प्रयच्छत, तदपि प्रतिपद्यतीत्यं चेद् ग्राह्यां संवत्सराख्यां हीनं
- - - - - दत्त । एवं तावत् विभाया कर्त्तव्या—यावद्देकेन विचसेन कृतो
- - - - - योऽनेन धर्मस्तं प्रयच्छत । ततो यत्कल्प्य-नाच्यधिकं ददा-
- - - - किन्तु यावच्छ्रुद् गृह्णाति सुवर्तविद्विक्तेन धर्मेण तोत्यमानं समं तुल-
- - - - ति तावत्प्रयच्छामः । एवमुक्ते यदि तोलनाय दौकते, तदा
- - - - - विद्यादिनिस्तुला सत्सनीया, येन कृपमाश्कृतेनापि धर्मेण
- - - - - न समं तोक्षयतीति । धर्मतोक्षनं च धर्माधिकारविकनीति-
- - - - शास्त्रप्रसिद्धमिति, ततोऽवस्थावन्तम् ।

जइ पुण नेच्छेज्ज तवं, बाणियधम्मणे ताहे सुच्छो उ ।

को पुण बाणियधम्मो, सामुहे संजमे इशमो ॥

नत्याणाजरणाणिय थ, सत्थं उड्डिउ एरान्दिण ।

पोयामि विवधम्मि उ, बाणियधम्म इहइ सुच्छो ।

पयं इमो वि साहू, तुज्जं नियगं च सारमुत्पूर्णं ।
निकसंतो तुज्जं धरे, करेइ इरिह वु बाणिज्जं ॥

यदि पुनःकृष्णकारेण कृष्णमात्रकृतस्वाधि धर्मस्थालामेन मेच्छे-
त् तयोः प्रदीपयुध । ततो बलकयुध-वर्णियधर्मणे वर्णियन्वायेन एष
बुद्धः स प्राह-कः पुनर्वर्णियधर्मो येनैव कृष्ण-विष्णोः साध-
यो बद्धन्ति-समुक्ते संक्रमेण गमनेऽयं वक्ष्यमाणः । तमेवाह-(वर्त्या-
धामरथेऽस्वधि) यथा वर्णियुद्धं यथा कृत्वा प्रवहणेन ससुप्रसव-
गाढः, तत्र पोते श्रवणे विपसे आत्मीयानि परकीयानि च प्रजु-
तानि वक्ष्याम्यामरत्णानि, चराव्याकुलेष्वमपि च नानाविधं कया-
लकं सुभे हर्षयित्वा । परित्यज्य, एकवृत्तेन, प्रावप्रधान एकशब्दः-
एकतैव वृत्तं, तैमैकाको उत्तरीणो, वर्णियधर्मे वर्णियन्वाये लुब्धो
भवति, न क्रमं दाप्यते । एवमयमपि सायुस्तव सक्रमात्मीयं
च सारं सर्वं तव युद्धे मुक्त्वा निष्कान्तः संसारसमुद्रादुत्कीर्णो
इति बुद्धः, न धनिका क्रममात्मीयं याचिन्तुं शक्यते, तस्मात्
किञ्चिद्न तवाऽऽदेशमस्तीति । कपोत्विनामिष स्वेच्छया त-
पोषाणियस्य, पोतब्रह्मवर्णियगिष निष्क्रमेण याणियमिति । गनम-
नासद्धारम् ।

अधुना बोधिकस्तेन चारप्रतिपादनार्थमाह—
बोदियतेणेहि हिण, विमगपा साहुणो नियमतो य ।
अणुसामणमादातो, एमेव क्रमो निरवसेसो ॥
बोधिकाः स्तेनाम्ब प्रमुक्तस्वरुपाः, सैहंते साधो नियमशो
नियमेन साधोविमार्गणं कथयन्त्य, तस्माच्च विमार्गणे कस्त्व्यं-
नुशासनादिकोऽनुक्तिरिष्टमदानादिको धनप्रदानपर्यन्त एव पवा-
नन्तरादितः क्रमो निरवशेषो भवित्यतः ॥

संप्रत्युपसंहाराव्याजेन शिक्षामपवादां आह—
तद्गद्वा अपरापये, दिक्सिज्जाऽणारिणण वजेज्जा ।
अफ्फण अणान्जगा, विदेस अस्सिदादिदो दो वि ॥
यस्मान्परापयच्छदीकणेऽनार्यदेशगमने चैते दोषास्तस्मादपरार-
पयन्त दीक्षयेत्, अनार्योश्च देशान् वजंयेत् । अत्रैवापवाद-
माह-(अफ्फण णि) अफ्फानं प्रतिपन्नस्य ममोपग्रहमेतं करि-
ष्यन्तीमि हेतोः परायस्तानपि दीक्षयेत् । यद्विद्याऽनान्नो गनः प्र-
ब्राजयेद । विदेशस्थानं वा स्वकूपमजानतो दीक्षयेत् । पुनरति-
वादिषु कारणेषु (दो वि णि) च अपि परायणदीक्षणानार्थदे-
शगमनेऽपि कुर्वाणः । किमुक्तं जयति-अग्निवादिषु कारणेषु स-
मुपसिद्येतेषु परायणानपि मच्छोपपत्तहनिमित्तं दीक्षयेत्, अना-
र्योऽपि देशान् विदेशेदिति । व्य० २ उ० । एतनुकृत्यार्थज्जात-
त्वमुपदर्शितम् ।

अथ संपत्त्याऽथेजातत्वमुच्यते-
अष्टजायं णिग्गंथे णिग्गंथि गिहहमाणे वा अवलंबमाणे
वा णारुक्कह ॥
अर्थः कार्यमुपपन्नजाततः स्वकीयपरिणेज्जाते जाते यथा साऽ-
थेजाता पतिचौरादिना संयमात्त्वाद्यमानत्वर्थः । स्या० ५
ग० २ उ० ।

इह गाथा-
अष्टेण जायकज्जं, भंजायं एस अष्टजाया जु ।
तं पुण संयमभावा, चासिज्जंनो समद्वंसे ॥ १ ॥
अथेनार्थतया संजाते कार्ये यथा । यद्वा-अर्थेन द्रव्येण जातमु-
त्पन्नं कार्यं यथाः सा अर्थंजाता । गनकत्वादेवमपि समासः ।

उपलक्षणमेतत् । तैमैकमपि स्थुत्यतिः कर्तव्या । अर्थः प्रयोजनं
जातमस्या इत्यर्थंजाता । कार्यं पुनरस्या अचलत्वान्नं कियत् इ-
त्याह-तुं पाणः प्रथममुत्पत्तिस्थितिं, संयमप्राप्ताच्चाल्यमानाम् ।
श्रितियदुत्कीर्यस्युत्पत्तिमेव च ... चन अयाजिगामिष्यथा वा
... समासतामेतं-साहाय्यकरणेन सम्प्रत्यापयेत्, उप-
लक्षणत्वाद् युद्धीयादपि । बु० ६ उ० । (संयमस्थिताया निर्मग्न्या
अर्थंजातवक्ष्यमाना निरवस्था निर्मग्न्याश्च भावनीया, केवलं
स्वयमिहापः कार्यो भवतीति बहुकल्पयोका साऽत्र नोपप्यस्ता) ।
अष्टजुत्त-अर्थयुक्त-वि० । अर्थेन हेतोर्पोदादेशस्येन युक्तान्यन्वि-
तानि अर्थयुक्तानि । हेतोर्पोदाधेयविधायकेषु आगमवचनानिषु,
अर्थो मोक्षस्तत्र युक्तान्यन्वितानि अर्थयुक्तानि । मोक्ष उपदेय-
तया सज्जेतेषु वचनानिषु, “ अष्टजुत्तानि सिक्खेज्जा, गिरचाणि
उ वज्जप ” उच० १ ख० ।

अष्टद्विमिका-अष्टाष्टमिका-अष्टी० । अष्टाष्टमिनि विनामि यस्वो
साष्टाष्टमिका । यस्वो हि अष्टौ दिनान्कालानि भवेत्तन्नाम्ना-
ष्टौ अष्टमनि प्रवन्द्येवेति । वतुष्पदिदिननिष्पत्रायां अष्टमि-
मायाम, स० ।

अष्टद्विमियाणं जिक्खुपटिमा चत्तसद्धीए रांदिंएहि दो-
हि य अट्ठासीएहि, सैकस्वामएहि अट्ठासुत्तं जाव भवइ ।
मिथुप्रतिमाऽग्निग्रहविशेषः । अष्टाष्टमिकायि यतोऽस्ती भवन्त्य-
तन्मनुष्येषु राशिदिशेः सा पालिता जवति, तथा प्रथमेऽष्टके
प्रतिदिनेमेकैका मित्रा, एका दक्षिणोऽनन्त्य पानकस्य च, एवं
द्वितीयं द्वे द्वे यावदष्टमे अष्टाष्टमियायि संकलनया द्वे शते मित्रा-
णामष्टाशीत्यधिके भवतः । अत उक्तं द्वान्यो न्येत्यादि यावत्कणा-
त् । “ अष्टाकल्पे अष्टाममो कसिया पाठिया सोरिद्या नीरिया
कसिया सम्मं आणए आराहिया वि भवइ ” इति इहयम् ।
स० ६४ स० ० । अष्टाष्टमिकयायमष्टकं आदिष्टकं उ-
त्तरमष्टको गच्छः । तत्राष्टसङ्ख्यां गच्छ उत्तरणाष्टकेन युतः क्रि-
यते, जाता वतुष्पदिः, सा उत्तरहीना आदियुता कियते, तथापि
सैव वतुष्पदिः । एतदष्टमेऽष्टके भिक्षापरिमाणम्, एतद्विद्वान्नाऽष्ट-
केन पूते कियते, जाता अस्तर्षितः ३२ः सा गच्छात्केन वतुष्केन
गुरयते, जाते च शते अष्टाशीत्यधिके । व्य० ६ उ० । प्र० ० अन्तः ।
अष्टाष्टान्-अष्टव्यानक-न० । प्रमाणनाया अष्टमे स्थाने, “ एवं
जहा अट्ठायो ” स्या० १० जा० ।

अष्टणाम्-अष्टणाम्-न० । अष्टविधपराधेयनामि, “ से कितं
अष्टणामे ? अष्टणामे अट्टविहा वयक्खिभन्ती ” अजु० (‘वय-
णाविमत्ति’ शब्दे निकृषितमेतत्) ।
अष्टदं सिण्-अर्थेदर्शिन-वि० । यथाविधितमर्थे यथा गुरुस्व-
काशाहृथारितमर्थे प्रतिपादं कुरुं शीलमस्य स भवत्यर्थदर्शी ।
सत्यार्थवेत्तदि, “ समाह्वेज्जा पत्तिपुत्रमासी, निसाभिया
सामिय अट्ठुत्तम् ” सूत्र० १ बु० १६ अ० ।
अष्टदुग्ग-अर्थेदुग्गं-वि० । अर्थतः परमार्थतो दुग्गं विषयम् ।
सूत्र० १ बु० १० अ० । परमार्थतो विचार्यमाणं गदमे दुग्गिक्केयं,
सूत्र० १ बु० ६ अ० १ उ० । परमार्थतो वुरुत्तरे, “ इमां सुत्तसु
ड्वमदुदुग्गं ” सूत्र० १ बु० १० अ० ६ उ० ।
अष्टपपसिय-अष्टपपदेशिक-वि० । अष्टौ प्रदेशा यस्मिन्स्यप्र-
देशिकः । स्थायिककप्रत्ययविधानादिति । प्रदेशाश्चकुरिष्पन्न,
“ पथं भं अष्टपपसिय इयमे ” स्या० १० ग० ।

अष्टपदचित्तय

अष्टपद (य) चित्तन—अर्थपदचित्तन—न० । अर्थयमाणां विद्या-
 र्थमाणां यत्पर्यं वाक्यादिः पद्यते इत्यर्थेऽर्थोऽनेनेति ध्युत्सयेः । तस्य
 चिन्तनं भाषनं विचारणं, स्वविषये स्वामिति यावत् । विचार-
 णीयस्य वाक्यादिरथेऽर्थोऽभावने, योऽर्थं प्राप्य-सुखेभ्योऽङ्गिकया प्रा-
 च्चानुप्रधानेन स्वताऽर्थेऽर्थं विचारणीयं, विचार्यं च बहु भूतसकाशात्-
 स्वविषये प्रतीयतव्यम् । अर्थपदचित्तनं इति सत्यमर्थं भक्तजनस्य
 न घटते । तथा च परमार्थे “ सुखस्य च धम्मं अरहंतानासिद्धं,
 समाहितं अष्टपदोऽष्टसुखं ” इत्यादि । तस्मादर्थपदं विचार्यं
 स्वविषये स्थापयितव्यम् । तथा—यदि सुखमोऽप्यतिचारो ब्रा-
 ह्मीसुवृत्त्यादीनामिव स्त्रीभावहेतुस्तदा प्रमत्तानां साधूनां
 कथं चारिषं मोक्षहेतुत्वेन घटते?, प्रमत्तानिचारवत्त्वात् । अर्थेयं
 समाधानप्राप्त्या—यः प्रमजितः सुखमप्यतिचारं करोति, तस्य
 त्रिपाकोऽतिरिक्त एव, परं प्रतिपक्षाध्यवसायः प्रायस्तस्य
 रूपेणैतन्नोक्तोऽन्यादिमात्रम् । आह यादीनामपि तद्भावात् । प्रतिप-
 क्षाध्यवसायस्य—कोषादिषु क्रमादिः संस्वरथाद्येनोक्तः । एतच्च प्र-
 मत्तानामपि प्रत्यतिचारं तुल्यगुणभिकगुणप्रतिपक्षाध्यवसाययतो
 धर्मचरणमविरुद्धम्, सत्यकृत्तमप्रतीकारस्य विषयेवातिचा-
 रस्य स्थापकोक्तत्वात् । नन्यथ प्रतिपक्षाध्यवसायस्यैवातिचार-
 प्रतीकारत्वे प्रायश्चित्तादिव्यवहार उचित्येतेति चेन्न । प्रायश्चित्ता-
 दियतनादव्यवहारे तुल्यतामप्राप्तुष्यति प्रतिपक्षाध्यवसायस्य वि-
 शेषणस्य प्रीत्यात् । तदुक्तसंकेतैव च विदोष्यस्य साफल्यात् । वि-
 शेष्यविशेषणयोश्च विनिगमनाविरहस्तु नयभेदाऽऽप्यस्यो दुष्प्रा-
 हर एव । तथाप्यसकृत्प्रमादं (अरुणकृतमतिप्रमत्तजातं प्रतिपक्षाध्य-
 वसायेन कथं परिहृयते?, असकृत्कृतस्य मिथ्यादुष्कृतस्याप्य-
 विषयव्यतिहितं चेन्मैवम् । अत एव तुल्यगुणाधिकगुणाध्यवसाय-
 स्यैव ग्रहणात् । एकंनोपि बहुवता प्रतिपक्षेण परिच्युते बहु-
 लमप्यनर्थजानं, कर्मजनितानिचारोद्वेगस्यैवावसमुत्स्यस्य
 स्मोक्तस्यापि प्रतिपक्षाध्यवसायस्य बलवत्समुपदेशपदादिप्रसि-
 क्तमेव । स्यादेतत् । मनसो विचाराः प्रतिपक्षाध्यवसायनिवर्तयो
 प्रवन्तु, प्राथिकप्रतिसेवनारुपा इतिचारस्तु कथं तेन निवर्त्तय-
 ? इति चेन्मैवम्, संज्वलनोद्दयजनितत्वेनातिचारानामपि मानस-
 विचारावत्, उच्यरूपकामिकप्रतिसेवनादीनां तु अन्वविप्रक-
 र्णैव निवृत्तिरिति दिक् । यं ३ अष्टि० ।

अष्टपद (य) परकृषया—अर्थपदरूपणता—स्त्री० । अर्थकय-
 णुकरूपव्यादि, तत्पुंक्तं तद्विषयं वा पदमातुपुर्व्यादिकं, तस्य
 प्रकृषणं कथनं, तद्भावात् । अर्थपदप्रकृषणता । अथमातुपुर्व्यादिका
 संज्ञा, अथअत् तद्विधेयरूपक्यादिरर्थः संज्ञी, इत्येवं संज्ञा-
 र्थस्यैव प्रकृषयन् “ स किंत्तं येनमयवकहानम् अथोऽपिदिश्या
 इत्यादियुष्मदी ? पंचविहा पयणा । तं जहा-अष्टपदकथयथा ”
 (इत्यादि सर्वे पितृव्यमागे ३३१ षष्ठं ‘ आष्टपुष्पी ’ शब्धे व-
 ष्यामः) अत्रु० ।

अष्टपदोऽष्टसुखं—अर्थपदोऽष्टसुखं—स्त्री० । अर्थपदानि युक्तयो हेतवो
 वा तैरुपशुद्धमवहातम् । सपुष्पिकं, सत्पुंक्तं च । अर्थपरिभेदेः
 पदेषु बावकैरुप सामीप्येन युक्तं निर्दोषम् । निर्दोषकाम्यवाचकं,
 “ लोकाश्च य धम्मं अरहंतभाषिषं, समाहितं अष्टपदोऽष्टसुखं ”
 सुव० । १ सु० ६ अ० ।

अष्टपिष्टिपिष्टिया—अष्टपिष्टिनिष्ठिता—स्त्री० । अष्टपिः शास्त्रप्रसि-
 द्धिः पिष्टिर्निष्ठिताऽष्टपिष्टिनिष्ठिता । प्रश्नो १७ पद० । अष्टपारिपि-
 ष्टप्रदानिपिष्टे सुराभेदे, जी० ३ प्रलि० ।

अष्टपुष्पी—अष्टपुष्पी—स्त्री० । अष्टी पुष्पाणि पुञ्जात्वेन समाहृतान्य-
 टपुष्पी । पुञ्जादिकं पुष्पादिकं, पुष्पादिकनिष्पाद्यायां पुञ्जायां च । यावत् ।
 अष्टपुष्पीं समाहृत्या, स्वर्गमांशप्रसाधनी ।
 अष्टुक्तेतरजेदेन, द्विधा तत्त्वार्थदक्षिणिः ॥ १ ॥

अष्टी पुष्पाणि कुसुमानि यस्यां पुञ्जायां साऽष्टपुष्पी । नद्वि-
 ट्पुंशाच्च ईरूप्यः । इयं च जन्मपदमात्रोच्यते, न द्विचि-
 ट्पुःपुष्पाण्यारोपणीयानि । यद्द्वयति—” स्तोत्रैकौ बहुभुक्तोऽपि ”
 इति । अष्टपुष्प्याश्च देवपुजनं कारणत्वं वक्ष्यति । द्विप्रेत्यस्येह
 संबन्धात् द्वान्यां प्रकारान्यां द्विधा द्विक्रमका समाख्याता स-
 न्यगभिहिता, तत्त्वार्थदक्षिभिरतिह संबन्धते । तस्यदृशा अर्थ-
 जीवाद्यस्तादृ, तस्यैव वा परमार्थबुद्ध्याऽर्थीय पद्यतीत्येवं-
 शीलास्तत्त्वार्थदक्षिणस्तैः । कथं द्विधेयाह—अष्टुक्तेतरजेदेन, अ-
 ष्टुक्त्वात् सावदातया, इतरा च निरुच्यतया, अष्टुक्तेर, तत्त्वार्थो कृ-
 त्वा तयोर्वा नेदो विलक्षणता अष्टुक्तेरिदंस्तं, इह चेत्यार-
 ष्वस्य पुष्पद्रावः, “ वृत्तिमाने सर्वोर्वाणां पुंशुद्रावः ” इति वच-
 नात् । फलतस्तानं निरूपयन्नाह—स्वर्गमांशप्रसाधनी; अथा
 देवशांसापत्नी, द्वितीया तु निर्वाणसाधनीत्यर्थः । पाठान्तरं
 तु स्वर्गमांशप्रसाधनाद्वेतोऽद्विधा । पतदेव कथम?, अष्टुक्तेरजेदेन
 इत्येव पदयोजना कार्येति ॥ ३ ॥

अष्टुक्त्वात् स्तोत्रद्वयेन तावदाह—
 बुद्ध्यागमिथैथालानं, प्रत्यग्निः सृष्टिभाजने ।
 स्तोत्रैर्वा बहुभिर्वाऽपि, पुष्पैर्नोऽप्यादिसंभवेः ॥ ५ ॥

अष्टुपापापानिमुक्तं—तदुत्पुण्यगुणतृते ।
 दीपये देवदेवाय, यास्य सा सुष्टेऽप्युदाहृता ॥ ३ ॥

गुडा निर्दोष भागमः प्राप्यपुण्यायो येषां तानि बुद्ध्यागमानि,
 न्ययोपापानिचिन्तेनाचौषेयं वा रुहातानित्यर्थः । पुष्पैर्हिते देव-
 देवाय या सा गुष्टेऽप्युदाहृतेति संबन्धः । कथं दीयत इत्या-
 ह—तामस्थानतिक्रमेण यथालाभं, प्रथमनप्रथमार्थसुखारजा-
 धेन मालिकाघाशात्रपुष्टीहेतुशास्त्राधिक्या चोक्तमन्यमज-
 ययिषु यानि हर्षयानि तैः पुष्पैरिति भावना । प्रत्यग्भारोपद्विज्ञानैः,
 शुचिभाजनेः पवित्रपटयकाचार्यैः, इतरथा स्नानादिशौचमपि
 न मनोनिवृत्तिमादायैवितिः स्तौकैर्यैः, प्रत्यापायपणम् पुण्यदा-
 नादृष्टिरित्यर्थः । बहुभिर्भूरिनिस्तुपुष्टेरोनादानात् । वाशाधौ
 स्तोत्रकष्टुपुष्पपुञ्जायां बहुमानधानस्य फलं प्रत्यविशेषप्रतिपाद-
 नाथी । अथिष्वस्तु ससुखचयाय इति । पुष्पैः कुसुमैः, जात्यादि-
 संज्वयेमालोत्पुष्टिमर्थे; आदिशुद्धादिचोक्तिकादिपरिग्रहः ।
 इह कश्चिदाह—जात्यादिग्रहणं सुवर्णमिस्तुमनसो निष्पाधार्थम् ।
 जात्यादिकुसुमानि हि सद्गुरोरोपितामि निर्मोक्षमिति कृत्वा न
 पुनः पुनरारोपन्ते, सौवर्णादीनि तु पुनः पुनरारोपणीयानि
 भवन्ति, निर्मोल्यारोपणदोषश्चैवं प्रसज्यत इति । पदव्युत्कम-
 “ कंचणमालिचययना—इदमप्यदि च विविदेहि ” इत्यनेन
 तेषामनुहातत्वात् । पुनरारोपणनिषेधे तु कः किमाह ? । किन्तु
 यद्वा नोऽप्यन्ते तदा निर्मोल्यारोपणदोषोऽपि न स्यात् ।
 आत्यादिकुसुमानि हि काशातिक्रमेण विगन्थानि भवन्तित्यय-
 द्यसुखारोपणीयानि स्युः । सौवर्णादीनि तु न तथेन नावययमु-
 खारोपणीयानि स्युः । तथाविधविषयः यथात्मावर्धेव । तेषां पुनरारोपण-
 ऽपि न तथाविधो दोष इति प्रत्यये । यदपि कैश्चिदुच्यते—
 अशुद्धारोपणमयुक्तं, शीतरागाकारस्यात्रावप्राप्तिः । तदपि न
 युक्तम् । पुनरारोपणं इति तथाप्रसङ्गात् । यथा हि मानरुणानि

धीनरागस्य भोपपद्यते, एवं पुष्पायस्य, उन्नयेवाभ्यपि स्वामी-
 गचरितेवादिभित्ति । अष्टपुष्पीविधाने काण्डनामाह—अथापोऽन्वये-
 स्तन्नेतुत्वाद्यथाया ज्ञानावरणाद्यः, अष्टापायायाः समाहृताः
 अष्टापायस्य, तस्मादिष्टोपेत्य प्रकाशरातेऽर्चये, दग्धरज्जुकल्पक-
 नः । प्रवोपप्राहिर्दग्धरज्जुर्दग्धः । अतः तानिःसत्सकलतया
 खतुर्न्ये एव घातिकर्मयो मुक्तः अपेतः । धान्वर्थमात्रहृत्वा वा
 विद्योऽन्वितःशुद्धाविति । विनिमुक्त इव विनिमुक्तः, अष्टापायवि-
 निमुक्तस्तथा, तस्मादष्टापायविनिमुक्त्याऽष्टापाय उक्तानं यस्याः
 सा तद्व्याप्य, गुणा अनःतद्धान्वदशोनाद्यस्तेषां त्रुतिः प्रादुर्भावः,
 त एव वा भूतिलैर्दमीर्गुणभूतिः । तद्व्याप्य त्रुतिर्यस्य स तथा ।
 अष्टापायविनिमुक्तस्तद्व्युत्पन्नभूतिःशब्दः स तथा, तस्मैः । यद्यपीह
 गुणीभूतं विनिमोचनं, कप्रत्ययाधैर्येणैव प्रथामव्याप्त, तथापि
 तद्व्युत्पन्नं तदेव पराद्वयते, यस्मा तथैव विवक्षितत्वात् । इष्ट-
 भावं व्याप्यः । यथा—सम्बन्धज्ञानवृत्तिका सर्वेषुव्याप्यासिद्धिरिति
 नद्व्युत्पद्यत इत्यादाविति । दीयते विद्यायैते, वैदेवदोष्य स्तु-
 त्वाद्युत्पाय, वाऽष्टपुष्पी सा युक्ताऽस्मात्तथा, उदाहृता सर्वैर-
 मिदितेति । नन्वष्टापायाविनिमुक्ताया एतद्विनिमोक्त्याया
 गुणत्रुतिर्यस्येतन्नैवाष्टपुष्पीविषयधनस्यावस्यमानत्वात्किं त-
 द्भङ्गोपादानेनेति । नैवम्, अष्टापायविनिमुक्त्याय दीयते इत्यनेना-
 ष्टपुष्पीनिबन्धनमाह । तद्व्युत्पन्नस्यैते इत्यनेन चतुःपुष्पिकाया
 अनतत्कात्तद्वर्षेणसुखवर्षीयं चतुःपुष्पिकायाऽष्टकमविनिमुक्तप्रत्यय-
 गुणानाम, अष्टापायविनिमुक्त्यायेत्येवैवावसितमिदमिति चेन्न,
 कश्चिदां हि कैश्चित् प्रवृत्तियोगात् इत्याभायः, शरी-
 रमनसोरनावादीयोभायः, विषयानावद्य सुखानावो भाव्यते,
 तन्मतस्तदुत्पायाधैर्यादित्युपपन्नायः, तदाऽऽचारकृपे हि तेषां
 न्यायप्रस्ताव्यात् । यथेते ज्ञानावरणप्रच्छेदकृपे केचिन्नो
 ज्ञानप्रच्छेदप्रसङ्गः, न चेत्प्यने, " नदुःखिनामत्रिण्ये नाशु " इति-
 न्यवयवः । नैवम् । केचिन्नानेवैव शोचन्तस्तेष्वस्य प्रकाशि-
 त्वेन तेषामनर्थक्याप्रच्छेदमुपदिश्यते इति । एतेन नु पूर्वोक्तं न
 यं मन्वते जिनाधैर्यप्रतिष्ठायावदस्याप्रथम, उदाहृते तेषां बाह्या-
 वस्थाभवं स्नानम्, निष्कम्पाद्यवस्थावित्तं रथारोपणपुष्पपूजादि-
 कः, केवल्यवस्थाश्रयं च बन्धनं प्रवर्तते इति, तन्मतप्रकाशेति ।
 नन्वष्टापायविनिमुक्त्याऽष्टारेण पूजा क्रियमाणा यद्व्यवस्थायां वि-
 षयीकराति, किन्तु केवल्यवस्थाधैर्ये । ननु चिन्तनीयमिदं यद-
 ष्टापायविनिमुक्त्याऽष्टारेण पूजा क्रियते, यतो न चातिरिचः स्नानाद्यो घटन्ते । तद्व्याप्त्यामायं तदप्रसङ्गः ।
 न च तच्चरितं सताऽऽस्तव्यनीयम्, अन्यथा परिणामकायादिप-
 रित्वाद् आचरणनिषेधायाः कथं स्यात् । धूयते दि-यकदा स्वनावतः
 परिणतं तदगीदरस्थाऽकार्यादितिशासि शेषादिच्छेदशं च इष्टा-
 पि प्रजापदं महावीरःरक्तप्रयोऽजन्मतोऽपि साधुः तस्त्वेवार्थे
 न प्रवर्तितस्यादः । सा एतेदशास्मर्त्तितमाजन्मतोऽपि सूर्योऽन्वास्तेषु
 प्रवर्तयन्तु, साधुष्वपि मा तथैव प्रवर्त्ततामिति । सत्यम्, किन्तु वि-
 म्वकल्पोऽय इति मन्वते, यथैव ज्ञायार्हति च वर्तितव्यं न त-
 थैव स्वान्नाद्वैत्यपीति ज्ञायः । अत एव अथवस्त्वमीपे मीतमाद-
 यः साधुर्त्तितमिति स्म । नदुःखिन्मस्मीपावस्थाने तु तेषां निषेध
 रतः । यदाह—"जइ वि न आह्वाकम्, न्रिविककयं तह वि ब-
 जयंतोर्हि । नस्ती खनु होइ कथा, इहग आसायाण परमा"॥१॥
 तथा—"बुद्धिमगममममस्यवि, तगुरपि सवइणिण य । अमभो ब-
 वहो चैव, तणद्धृति न चेरए" ॥२॥ तेषांवापिका वृत्तकं स्थाप-
 नाच्चायं स्थापयन्ति । अन्यथा यथा भावाचार्यसमीपे नावश्यकं

दुर्वृत्तिः तथा स्थापनाचार्यसमीपेऽपि न कुर्ये, न च साः प्रव-
 र्तिनीं स्थापयन्तीति वाक्यम् । प्रतिक्रमणकाय एव सैवत्वन्ना-
 वस्ते महावीरादेरकथं कल्पनीयत्वेन तद्वाच्यस्य समानता-
 वस्ते, नन्वाचार्य एव पुष्पाय न भगवाद् । नच बीतरागशेषेऽपि
 भगवत्समीपे आर्यैचन्नाचार्याःका रात्रौ तद्व्युत्पन्नः । ननु प्रतिक्र-
 मादिकालेऽस्तेष्वप्यां कृत्या सैवत्वन्नेन क्रियमाणं आशातनादा-
 यप्रसङ्ग इति । नैवम् । जिनायतेऽपि सैवत्वन्नेन स्थापनात्वात् ।
 यदाह— "निसकनमनिसकडे वा, वि चेरए सक्खाईं धुरे तिणि ।
 वेदंयचेइयाणि य, नाउं एकेकिया वा वि " ॥ १ ॥ इत्यथं प्र-
 सङ्गान्ति ॥ ३ ॥

अष्टकाऽष्टपुष्पी स्वरूपतः, सैव स्वर्गप्रस्तावनीति
 यत्कृतं तदुत्पन्नं प्रदर्शयन्माह—
 संकीर्णेषां स्वरूपेण, ज्ञान्याज्ञाव्यपसन्तितः ।
 पुण्यकल्पनिधिपितृत्वा—विज्ञेया स्वर्गनाथनी ॥ ४ ॥
 संकीर्णेषां अथवनं ध्यामिन्ना, यथाऽऽनन्तरोकाऽष्टपुष्पी, स्वकेषु
 स्वभावेन । कथमित्याह—कृत्यात् पुष्पायः सकाशाद् भावप्रसूति-
 तां प्रगवति चित्तप्रसादात्पसेः । इदमुक्तं भवति—पुष्पादिकव्यो-
 पयोगाद्विषयं, शुभभावाच्च स्व्यतामिति संकीर्णत्वम् । इवं च न क-
 मंज्ञपणनिष्कर्मपि तु पुण्यकल्पनिधिसंज्ञेयत्वं ज्ञाह—पुण्यक-
 ल्पकर्मणो बन्धो बन्धनं तस्य निमित्तं कारणं पुण्यकल्पनिमित्तं
 तद्भावस्तत्वं, तस्मात्पुण्यकल्पनिमित्तत्वात्केतोर्विज्ञेयाऽऽसेया, स्व-
 र्गनाथनी देवलोकाप्रतिद्वेषुः । अथवाकल्पन्यात् सुमानुष्यसा-
 धनी, पारंपरेण भावप्राज्ञानच्यवनतां प्रतिपद्य मोक्षसाधनी चेति
 कथ्यमिति ॥ ४ ॥

अथ शुद्धामष्टपुष्पीमभिधानुमाह—
 या पुनर्जावनेः पुष्पैः, शास्त्रोक्तिगुणसङ्घातैः ।
 परिपूर्णत्वतोऽस्मान्नि—रत एव सुगन्धिभिः ॥५॥
 याऽष्टपुष्पी, पुनःशाब्द उक्तवृत्तयामायापेतिशयोक्त्याभ्याः ।
 प्रायश्चित्तपरिणतिरस्यैवः, पुष्पैरेव पुष्पैर्दग्धव्याजकंपेराद्य-
 धमिविशेषैः, किन्तुः, शास्त्रोक्तिगुणसंगतेः, शास्त्रमागमस्तस्या-
 किर्णैर्नितिराकथ्यैः । अथवा शास्त्रोक्तिरेव गुणाद्व्यकरस्तस-
 गतेः । एतेनेषां माहात्म्यप्रतीका, तथा च द्रव्यपुष्पायस्य यदा माहर्
 कृत्याऽऽरोप्यन्ते तदाऽष्टापयायापगमनं स्मृत्या रोपणीयानीति
 दृश्यते । पाठान्ते तु-शास्त्रोक्तगुणसंगतेरिति, तथा शास्त्रोप-
 सत्त्वादिगुणापेतिरित्यर्थः । पुनः किन्तुःसैरित्याह—परिपूर्णत्वतो
 ऽस्मान्निः परिपूर्णतया सकलजोषुष्टयावाहारादिविषयत्वेन निरति-
 चारतया शास्त्रोक्तिर्नानिमग्नयतैः । अत एव च परिपूर्णत्वादेव,
 सुगन्धिभिः सङ्घोर्षतैः, परिपूर्णताधर्मं सैध्यामस्मान्निस्तुगन्धि-
 तालक्षणी पुष्पधर्मो द्रष्टव्यवित्यर्थः । द्विधीयते सा शुद्धोत्प-
 णः श्लोकावसाने वाक्यशेषो द्रष्टव्य इति ॥ ५ ॥
 नामतत्त्वात्त्वाद्—

अर्द्धिसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्कता ।
 गुणैर्जातैस्तपो ज्ञानं, सपुण्याति प्रकृतम् ॥ ६ ॥
 प्रमत्ततायोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तद्भावोऽर्द्धिसा, सैकं
 पुण्यम् । तथा सङ्गोर्षतैः सत्यम्, अनुत्तानावो द्वितीयम् । तथा
 स्तेनस्य चोरस्य कर्म भावो वा स्तेयं चौर्यं तद्वानुक्तोऽस्तेयवर्त्त-
 ति तृतीयम् । तथा ब्रह्म कुतलं कर्म तदेव चरिते स्तेयवर्त्त-
 इत्यर्थम् । ब्रह्मचर्यं, मनोवाक्यायैः कामसेवनवर्जनाभिवर्धः, तच्छु-
 धं । तथा मार्त्त सङ्गोऽभिवर्त्तो सत्यं सोऽऽसङ्गस्तद्भावो-

अष्टपुष्पी

उलङ्घना, धर्मोपकरणातिरिक्तपरिग्रहपरिवर्जनम्, धर्मोपकरणा-
 रथापरिमहत्वात् । यदाह— “ जं वि वयं च पायं वा, कंचले
 पायवृत्तयः । तं पि अन्तस्मज्जघा, धारति परिहरति च ॥१॥ न
 स्तो परिमहो बुधो, नायुष्येण तापना । सुखा परिमहो बुधो,
 इह बुधं महेसिणा ॥२॥ इतरथा हरिहराहाराय विप्रिग्रहः
 स्यादिति पञ्चमम् । तथा शृणोति शास्त्रार्थमांत मुक्चः । ब्राह्म
 च— “ धर्महो धर्मकर्ता च, सदा धर्मपरायणः । सत्वेच्यया धर्म-
 शास्त्रार्थ-देशको मुक्चकथ्यते ॥१॥ तस्य भक्तिः सेवा, बहुमान
 च, शुभमकिरिति षष्ठम् । तथा तापयतीति तपोऽनग्रनादि ।
 ब्राह्म च— “ रसकीधरमांसमेदोऽस्थिमज्जजुष्मापयनेन लभ्यते ।
 कर्मानां च श्रुभानोत्पन्नस्तपो नाम नैहकम् ॥१॥ इति सप्तमम् ।
 तथा ज्ञायन्तेऽर्था अनेनेति ज्ञानय, सत्यकप्रवृत्तिमिषुसिहेतुत्तो
 बाध स्थलमह । इह समुक्चयानिषाधी चराचर्यो ऋच्यते ।
 सप्तपुष्पाणि अत्यन्तमेकान्तं च विवाहितार्थसाधकतया ऋच्य-
 पुष्पायंक्रया सान्ति शोभनाति पुष्पाणां परिष्कणान्तरं, तथा-
 नीत्यर्थः । प्रचकते शुद्धाष्टपुष्पस्वरूपभाः प्रतिपादयन्तीति ॥६॥

उक्तमेवापि चाक्यान्तरेणाह—

एभिर्देवाधिदेवाय, बहुमानपुरस्तरा ।
 दीयते पालनाय या तु, सा वै श्रेष्ठ्येऽनुदाहता ॥ ७ ॥
 एभिर्नन्तरोदितैर्नावपुषैः, देवानां पुरन्दरादीनामधिको देवः
 पुत्रत्याह देवाधिदेवः प्रागुक्तो महादेवस्तस्मै, बहुमानः प्रतियोगः
 पुरस्तरः प्रधानो यत्र सा बहुमानपुरस्तरा, दीयते वितार्थते ।
 कर्षामित्याह—पालनाद्विस्तारिषुष्पाणां परिष्कणान्तरं, तथा-
 लने दि देवाधिदेवाज्ञा कृता भवति । आहूतकणमैव च सर्वे-
 था हनन्त्यस्य तस्य पुजाकरणम्; नञ्ज्ञाज्ञो विराघयता दो-
 वपुष्पाणांनाप्यसाधारणोच्यते । नर्वाति, आहूतकणमैवराजव्यक्तिः ।
 या तु यैवाष्टपुष्पी, सा वै सैव, मुक्चा निरचया, इतिरवेप्रकारा-
 र्थः, उदाहृता तत्त्वधिदिनिरजिदिति ॥ ७ ॥

अथ मुक्चाया एव मोहसाधनीयत्वं दर्शयन् विशेषेण
 सत्समतत्वं प्रतिपादयन्नाह—

प्रशस्तो ज्ञानया भाव-स्ततः कर्मक्षयो भुवः ।
 कर्मक्षयाच्च निर्वोण-मत एषा सतां मता ॥ ८ ॥
 प्रशस्तः प्रशस्त्यः शुद्धः, दिग्दर्शो यस्माद्धै, ततश्च यस्मात्प्र-
 शस्तोऽन्याऽनन्तरोदितस्य प्रत्यक्षासन्नया शुद्धाष्टपुष्प्या, भाव
 आत्मपरिणामो भवतीति गम्यते, न पुनर्द्व्यष्टपुष्प्या जीवां-
 यमर्गाभिन्त्यासत्त्वाः । ततः प्रशस्तज्ञानात्, कर्मक्षयो ज्ञानाव-
 रणादिकर्मविक्षयो जयति, भूषांश्वयत्वं(मर्षा), कर्मक्षयाच्चोक्त-
 स्वत्वात् । अथाहः पुनरर्थः । निर्वोणो मोहो भवतीति मोह-
 साधनीयमतः प्रशस्तज्ञायज्जन्मकर्मक्षयसाध्यनिर्वाणसाधनत्वा-
 द्वा मुक्चाऽष्टपुष्पी, सतां विदुषां, यतीनामित्यर्थः; मता विधेयत्वे-
 नेष्ट, न पुनर्द्व्यष्टपुष्पी । मतो हे कुतोर्धिकाः । यदि द्यूयं यत-
 स्वत्वात् प्राप्यज्जन्मव कुन्तेत्युक्तं जयति । अथवा यतो अन-
 या निर्वाणमतः सतां विदुषामेवा समंतति ॥ ८ ॥ इति तृतीया-
 दकाविवरणम् । हा० ३ अष्ट० ।

अष्टपुष्पिकुण्डल-अष्टपुष्पिकुण्डल-३० । क० २० । वृष्पादिव अ-
 ष्टपुष्पिकुण्डल, तैरष्टपुष्पिकुण्डलयोः समागमः कर्तव्यः ।
 (एव सामान्यवृद्धिर्भवे) बुद्धिगुणाः वृष्पादयः, ते स्व-
 मी— “ शुष्पा अन्नं चैव, प्रदत्तं धारणं तथा । उदात्तोहोऽप्य-
 विज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च श्रीगुणाः ॥ १ ॥ शुष्पादिविनिर्जिदं उपहित-

मकः पुमाक करादिककल्याणामोक्षे, एते च बुद्धिगुणा यथा
 समन्वयं प्राप्ताः । अ० १ अष्टि० ।

अतज्जाद्या-अष्टपुष्पादिका-श्री० । अष्टमे भागे वसंत इत्यष्टमा-
 णिका । वद्व्याप्यवृष्टिकालत्रयपलमानायां षण्णिकायाम्, मा-
 णिकाया (अष्टकपर्यन्त्यायाः) अष्टममागवर्तित्वात्, श्रान्तिश-
 यप्रसमाप्ते स्वसामविद्येये, अतु० । अ० ।

अष्टमद्वय-अष्टपुष्पदिक-श्री० । अष्टौ मन्वन्थानामि येषां तेऽष्टम-
 दिकाः । अष्टपु मन्वन्थानेषु प्रसक्त्यः, “ जे पुण अष्टमईको, प-
 णिपसत्थाऽपसत्था य ” आतु० ।

अष्टमंगल-अष्टमङ्गल-न० । अष्टपुष्पितामि अष्ट वा मङ्गलानि ।
 स्वनामकथानेषु श्रीवत्सादिवु, “ तत्सत्तं प्रसोमसुरपायवस्व
 उषरिं बहवे अष्टमङ्गलमा पत्था । तं जहा-सोषथियं १ सिरि-
 वथा २ योदियावत् ३ बन्धनाग ४ म्हात्सया ५ कलस ६
 मन्च ७ द्यपण ८ ॥ ” तत्र अष्टपुष्पादिति वीत्साकरणात् प्रत्येकं
 तेऽष्टपुष्पितामि बुद्ध्याः । अन्यैस्त्वष्टपुष्पितामि संख्या, अष्टमङ्गलानीति
 च संज्ञा । मी० । हा० । अ० ३० । अ० ३० प्र० । अ० ३० ।
 १० । लोकेऽपि च—“मृगप्राज्ञो वृषो नागः, कलशो म्यजने
 तथा । वैजयन्ती तथा मेरी, दीप इत्यष्ट मङ्गलम् ॥३॥ लोकेऽस्मिन्
 मङ्गलान्यष्टौ, ब्राह्मणे गौर्दशानः । हिरण्यं सर्पिरदित्य-
 भापो राजा तथाऽष्टमः ॥ ३ ॥ वाच० ।

अष्टमभक्त-अष्टमभक्त-न० । एकैस्मिन् दिने शिवारं भोजनी-
 चित्तेन दिनत्रयस्य यथां प्रतानामुत्तरवारणकविमयोर्दकैकस्य
 भक्त्य च त्यागेनाष्टमभक्तं त्याप्यं यत्र तत्तथा, इति स्युत्पत्त्या
 समयपरिजात्या वा उपनासत्तये, “तद्यं सं नन्दे तथा बहु-
 मभक्तं वि परिणममानंति पोसहसाज्ञातो पङ्क्तिक्लमम्”
 जं ३ अ० । पंचा० ।

अष्टमजलित्य-अष्टमजलित्य-श्री० । दिनत्रयमनाहारिणि, जं
 ३ अ० ।

अष्टमपमहण-अष्टमपमहण-श्री० । अष्टमद्वयाननाशके, प्रअ०
 ५ अम्ब० हा० ।

अष्टमहापाकिरे-अष्टमहापातिहार्य-न० । अर्हतां पूजौपायिके-
 पु अशोकवृक्षादिव, “अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-द्विन्ध्वनि-
 क्षामरमासं च । नामरत्नं तु-दुम्भिरातपत्रं, सत्यातिहाय्योनि
 जिनेम्भराणय” ॥१॥ ने० ।

अष्टमिपोसद्वि-अष्टमिपोषधिक-श्री० । अष्टम्याः पौषध उप-
 वासादिकोऽष्टमपौषधः, स विद्यते येषां तेऽष्टमिपोषधिकाः ।
 अष्टम्याः पौषधमतः क्रियमाणेषुसत्तये, आचा० ३ अ० १
 अ० ३ अ० ।

अष्टमी-अष्टमी-श्री० । अष्टानां पुरणी पौदशकशास्त्रकचन्-
 स्याष्टमकथा । क्रियारूपायां स्वनामकथ्यातानि तथौ, वाच० ।
 “ वाउदसि पवर्षति, वज्जोऽष्टमीं च णवर्षिं च । उाहूँ च
 अउर्षिं वा-रसि च ससाहुं देआदि ॥१॥ ” विद्ये० । वृद्धवैयाकरण-
 संमते विभक्तिभेदे, “ अष्टमीं क्षामंतणीं भवे ” अष्टमीं संवृ-
 रामन्वनी भवेत्, आमन्वणां विधीयत इत्यर्थः । अतु० । अष्टम्या-
 मन्वनी भवेत्” इति । सु मी जलसि अष्टमाऽपीं विभक्तिरामन्व-
 यमङ्गलार्थस्य कर्मकरणादिवत् त्रिज्ञाथेमात्तारिकस्य प्रति-
 पादकत्वेनाष्टपुष्पाः । का० ८ वा० । “क्षामंतणे भावे अष्टमी उ जहा
 हे युवाय । शि” क्षामन्वणे भावे अष्टमी तु यथा-हे युवकिति, वृ-

अथैवाकरणद्वारेण चैवमष्टमी गणयते, ऐवंयुगानां त्वसौ प्रथमेवेति मन्त्रार्थमिति । अट्ट० । अष्टसंख्यापूरुषायां च, अष्ट-क । अष्टं संघातं स्याति वा माति, मा-क, गौरा०-क्री० । कोटाहतायाम्, वाच० ।

अट्टमूत्ति-अट्टमूत्ति-पुं० । अष्टौ दृश्यादयो मूर्त्तयोऽस्य । शिषे, " कितिजलपथननुशाशन-यजमानाऽऽकाशाचक्रसूत्रोक्त्याः । इति सूर्यो मद्राभर-सम्बन्धिनां जन्मस्थष्टी " ॥११॥ आ० १ डा० । अट्टरसमंपठस-अट्टरसमंप्रयुक्त-वि० । ३ त० । अट्टजिः अट्टारादिनी रसैः सम्यक् प्रकयेयं युजेत्, जी० ३ प्रति० ।

अट्टविह-अट्टविष-वि० । अष्ट विधाः प्रकारा यस्य । अष्ट-प्रकारे, म० १५ श० १ डा० । अ० । अट्टविहकम्मन्त-मण्डलपत्रिकेच्छे " अष्टविषकर्मैव तमःपटलमम्भकारसहस्तेन प्रायवन्तिष्ठन्मिति तथा " विज्ञे० ।

अट्टसदया-अष्टैशतिका-त्रि० । अष्टैशतानि यासु सन्ति ता अष्टैशतिकाः । अष्टवा-अष्टानामिष्टकार्याणां शतानि वाभ्यस्ता अष्टैशतस्ता एवाष्टैशतिकाः । स्वायं कप्रत्ययः । अष्टशतानिपार्दिक्तासु वागादिषु, " अपुणस्तदादि अष्टसदयादि बभूवुर्दि अण-वरयं अतिशयेता य " जे० २ वक्र० । म० ।

अट्टसंयान-अट्टमङ्गाट-पुं० । क० स० । अष्टसु प्रायश्चित्तसंयानेषु, " संघातो षि वा लयति वा पगारो षि वा एगट्टं " इति घचनान् । घृ० १ डा० ।

अट्टमय-अट्टशत-न० । अष्टानिरेषिकं शतम् । अष्टोत्तरशते, आ० १० डा० ।

अट्टमयसिद्ध-अट्टशतमिष्क-पुं० । अष्टशतं च ते सिद्धाश्च नि-सृंसा अष्टशतसिद्धाः । एकस्मिन् समये अष्टनस्वामिना सह निर्दोषि मतेष्वष्टोत्तरशतेषु सिद्धेषु । इदं अज्ञानतत्काज्ञानमिति नयममाश्रयेमुच्यते इति । स्या० १० डा० । कल्प० । अत्र गुण-विजयगणिना कृतस्य अष्टस्य हीरंजयसुरिदक्षमुत्तमम् । अष्ट-जस्वामी अष्टाप्रशतैकस्मिन्नेव समये सिद्धः । इदं चाश्रयेस-तत्र बाहुबन्ध्याद्यापुराश्रिता का गतिः ? इदं च तत्रप्रतिपाद्यकर्मणाममप्रसाधनपूर्वं निर्भयकारि प्रसाध्यमिति ॥ ५ ॥ उत्तरम्-अत्र 'अट्टसयसिद्धा' अस्मिन्नेवाश्रये बाहुबलंरायुषाऽप्यसंमन्तभे-धनि । यथा-दरिनेस दुष्टुष्पत्ति " ति, आश्रये हरिचर्पकेभानीतस्य युगसंख्यायुग्परवर्तेन शरीररक्षुकारणं नरकगमनादि ज्ञान्तभेय-तीति ॥ ५ ॥ ही० ।

अट्टसदृस-अट्टनदृस-न० । अष्टोत्तरसदृससङ्घेषु, " वरशाम-यवर्षणितेजोऽहयकसदृससदृसं वरकचणं स लक्षिमिषण " भी० ।

अट्टसामय-अट्टसामयिक-त्रि० । अष्टी समयार्थसन्तोऽष्टसम-यः स पश्चादसामयिकः । समयार्थकदूम्भं, स्या० ७ डा० । " केवलसमुच्चय अट्टसामय्ये पद्यते " भी० ।

अट्टसिण-अट्टसन-पुं० । वनसंगोत्रजं पुरुषभेदे, तदप्येषु च । स्या० ७ डा० ।

अष्टसेन-पुं० । पुरुषविशेषे, स्या० ७ डा० ।

अट्टसोबधिय-अट्टसोबधिष्क-त्रि० । षोडशकर्ममाध्यात्मकु-षणेमानाष्टकमिते, " परमगस्य स रश्मो वाडरतं चक्रयद्विस्स अट्टसोबधिय काकितिरयणे " स्या० ७ डा० ।

अट्टदृशरि-अष्ट (श्र) सप्तति-त्रि० । अष्टाधिकायां सप्तति-

संख्यायाम्, " अट्टदृशरि ए सुवर्णकुमारदीयकुमारवासस्य-सहस्सायं " स० ।

अट्टा-अट्टा-स्त्री० । प्रथमजिषोः स्तोकेकाग्रहणे, " निगहदृशुक्चयी, अट्टा से तिभि अस्तिष्ठा " ॥ पं० च० १ डा० । मुष्टी, " अडिहि अडाहि सोयं करेद " जे० २ वक्र० ।

आस्था-स्त्री० । आस्थानमात्सा । प्रतिष्ठायाव, सूत्र० २ भू० १ अ० । आ-स्था-अष्ट । आलम्बने, अण्येसायां, अडायां, स्थितौ, यत्ने, आदरे,समायाम्, आस्थाने च । वाच० ।

अट्टाण-अस्थान-न० । अट्टुचिते स्थाने, स्या० ६ डा० । वैश्या-पाटकादौ कुस्थाने, स्य० २ उ० । अ० । अट्टुके, " अट्टाण-मेयं कुसला वयंति, दगेण जे सिद्धिमुदाहरति " सूत्र० १ शु० ७ अ० ।

अट्टाणद्वेषा-अस्थानस्थापना-स्त्री० । अष्टवैषम्यप्रहतिके अस्थाने प्रत्युपेक्षितोपधेः स्थापनं निक्षेपोऽस्थानस्थापना । प्रमाद-प्रत्युपेक्षणभेदे, स्या० ७ डा० ।

अट्टाणमंदव-आदयानमाहप-पुं० । उपस्थानकृते, स्या० ४ डा० १ डा० ।

अट्टाणिय-अस्थान (नि) क-न० । अमाजने, अनाधारे, " अट्टाणिय होइ कृड सुणाणं, जेगणण संकार मुसं बवज्जा " सूत्र० १ शु० १३ अ० ।

अट्टादंद-अष्टेदाद-पुं० । अष्टेन स्वपरोपकारलक्षणेन प्रयोज-नेन दूरको हिंसा अष्टेदूरकः । स० ए स० । प्रसार्तं स्थावरानां वाऽऽत्मनः परस्य योपकाराय हिंसायाम्, स्या० ५ डा० २ उ० ।

अट्टादंदवतिय-अष्टेदूरकप्रत्यय-पुं० । आत्माध्यायं स्वप्रयो-जनकते दूरकोऽष्टेदूरकः पायोपादानम्, तत्प्रत्ययः । प्रथमे क्रिया-स्थाने, सूत्र० । तत्प्रत्ययं च-

पदमे दंदसमादायो अट्टादंदवत्ति ए ति आहिज्जट्, से नहा छापर कइ पुरिसे आयहुंउं वा पाइहुंउं वा आगारहुंउं वा परिवारहुंउं वा मिषहेउं वा णागहेउं वा वृवहेउं वा नक्खवेउं वा तं दंउं तनधावरोहिं पाणेहिं सयपेव णिनि-रिति, अणेण वि णिगिरिवेति, अमिण वि णिहिउंउंउंउं सम-णुजाघइ, एवं तल्लु तस्स तत्पत्तिपं सारज्जति, वि आहिज्जट्, प-इपं दंदसमादायो अट्टा अट्टादंदवत्ति ए ति आहिउंउंउं । ॥१॥

यःप्रथममुपासं दूरदसमादानमर्थाय दूरकमित्येवमाख्यायते, तस्यायमर्थः-तद्यथा नाम कश्चिदुपधः । पुरुषप्रणममुक्तेः पल्लकणाधेय । सर्वोऽपि चातुर्भेदिकः प्रायशात्मनिमित्तमात्मार्थं तथाऽनिहानिनिमित्तं स्वजनाधेयं तथाऽप्यारं गृहं तस्मिन्ने, तथा परिवारो दासकर्मकरादिकः परिवारो वा गृहदिभृत्यादिक-स्तास्मिन्ने, तथा मित्रनाभूतयुक्तादयः, तथाभूते स्वपरोपघात-कृतं दूरकः प्रसंस्थावरं पृ स्वधर्मं निस्तुजति, निस्तुजति, दृष्ट-मिय दृष्टमुपासं पालयति, प्राण्युपमर्दकारिणीं क्रियां करान्ति-त्यर्थः । तथाऽऽधर्नाप कारयपरं दूरकं निस्तुजति, निस्तुजते समस्तजानानि । एवं कृतकारितानुमितिभेदे तस्याऽनामहस्य तत्प्रत्ययिकं साधकाक्रियापासं कर्मोपायते संघटयते इति । एतन्प्रथमदूरदसमादानमर्थेदूरकप्रत्ययिकक्रियाकथ्यतामिति ॥ १ ॥ सूत्र० १ शु० २ अ० । आ० ७ । आ० ७ ।

अष्टादशमाहा-अभिधुत्-वि० विधितिमकुर्वति, " तह विद्य अष्टादश-
माणं गोणं " पञ्चा० १६ विव० ।

अष्टार-अष्टादशान्-वि० आकृतत्वात्पदस्य शोऽपः अष्टाधिकेन दशसु,
" एष सत्त्वे वि अष्टारा " पञ्चा० ३ विव० ।

अष्टारम-अष्टादशान्-वि० अष्टौ च दश च, अष्टाधिका वा दश
अष्टादशान् । (अष्टार)सङ्ख्यायां, तत्सङ्घटने च । शब्च० "पदमे
ज्मल्लसे अन्वि अष्टारसमुद्रचाराती" सू० प्र० १ पाठु० ।

अष्टादशकर्मकारण-अष्टादशकर्मकारण-म० । अष्टादशकौ-
रप्रसिद्धैस्तौ, प्रथम० ३ आश० ब्रा० ।

अष्टारमहाण-अष्टादशस्थान-म० । क० स० । प्रतिसेचनीयेषु
अष्टादशसु स्थानेषु, दश० ।

इह खलु भो एवमप्येवं उष्णसदुक्तेषु संज्ञेय अरदसमा-
वसाविनेषु ओहाङ्गुपेहिणा अगोहाइएणं चैव हरस्सि-
गर्पकुसर्पायपपागाभ्रमाइ इमाइ अष्टारमहाणाइं समं
संपक्कित्तेहिअन्वाइं हवंति । तं जहा-इंनो उस्समाइं उ-
प्पजीवीं । ? ।

इह खलु जोः प्रमाजितेन, इहेति जिनप्रथमेन, खलुशुभ्येऽव-
धारणे । स च निष्कर्म इति दर्शयिष्यामः । जो इत्यामन्त्रणे ।
प्रमाजितेन साधुना, किञ्चिद्योगेन्याह—उत्पन्नद्रुःखेन संजात-
शीतादिशुभरत्खीनिपयादिमानसद्रुःखेन, सत्यमे व्यापारितस्व-
रूप, अरतिसमापन्नविचेतोद्वेगगताभिप्रायेण, संयमनिर्विष्यभा-
वेत्यर्थः । स एव यद्विद्योत्पत्ते-अवधारितोद्वेगिणा-अवधारणम-
पत्सरणं, संयमादुत्थावन्तेन प्रेक्षितुं शीलं यद्यत् स तथाविधस्तं,
उत्पन्नजितुकामेनेति भावः । अनन्वधाचितेनैवायुष्मजितेनेव, अ-
मूनि बहुमायासङ्कणाप्यहाइतस्मान्नि, स्वयन्नावसांरं सम्यु-
पेक्षितव्यानि सुदुग्गोक्षचीयानि, जवन्तीति योगः । अवधारितस्य
तु प्रमुपेक्षणं प्रायाऽनयेकमिति । तावन् विद्योत्पत्ते-हरद्विगम-
जाडुवापोतपताकाभूतानि अश्वसखीनगजाडुशुभादिस्थितपट-
तुल्यानि । एतदुक्तं भवति-यथा इयादिन.सुम्नार्गप्रवृत्तिकामान-
नं रश्मयाइयो नियमनंइतवस्तपेताम्यपि संयमादु-मार्गप्रवृ-
त्तिकामानं आचसत्त्वानामिति । यतश्चैवमतः सम्यक् सम्युपे-
क्षितव्यानि अशन्ति । अष्टादशवधारणयोगान् सम्यगेव सम-
्युपेक्षितव्याःश्वेत्यर्थः । (तं जहेइयाइं) तद्योपेक्ष्यफासार्थः ।
इमेऽं दुःखमायां दुष्पञ्जांविनं कलि, ' हजे ' शिष्यामन्त्रणे ।
दुःखमायाधमपकाशाव्यायां कालदोषादेव दुःखेन कृच्छ्रेण
प्रकृत्योपादोमोमापेक्षया जीविषु शीलं येषां तं, दुष्पञ्जांविनः
प्राग्निव इति गम्यते, नरेन्द्रादीनामप्यनेकदुःखप्रयोगदर्श-
नाम् । उदारयोगारहितेन च विरम्भनामप्येण कुमातेइतुना किं
गृहाश्रमेणेति, सम्युपेक्षितव्यमिति प्रथमं स्थानम् । ? ।

सहसुसा इत्तरिआ गिह्दीणं कामधोगा । २ । जुजो अ
सापबहुसा षण्णस्सा । ३ । इमे अमे दुत्तरेन चिक्का-
सोवद्वाइं थविस्सई । ४ । ओमणणपुरकारे । ५ । इ-
त्तस थ पक्किपायणं । ६ । अहरगइवावोवसंपया । ७ ।
उद्धहे खलु भो गिहीणं धम्मे गिह्पासपज्जे वसंताणं
। ८ । आयपे के वेहाय हांइ । ९ । संकपे से वेहाय
हाइ । १० । सोवकैसे गिह्वासे । ? । निवकैसे परिआए

। १३ । बंधे गिह्वासे । ? । सुके परिआए । ? ४ । सावजे
गिह्वासे । १५ । अणवजे परिआए । ? ६ । बहुसाहा-
णा गिह्दीणं कायधोगा । १७ । पत्तेमं पुणपावं । ? ८ । अ-
ण्णिचे खलु भो पण्णस्साणं जीविणं दुस्सगजलविहुत्तं चसे,
बहुं च खलु भो पावं कम्मं पगदं, पावाणं च खलु जो
कपाणं कम्माणं पुत्तिं बुद्धिष्णाणं तुप्पादिकं ताणं वेइत्ता,
मुक्खो नतिप अवेइत्ता, तत्तवा वा जोसइत्ता अष्टारसमं पयं
जवइं । भवइ अ इत्थे सिद्धो गो—

तथा-अथ इत्तरा वृहियां कामधोगा, दुःखमायामिति वत्ते-
ते । सन्तोऽपि अथवस्तुभजाः । प्रहृष्यैव तुषण्णिवदसाराः, इत्तरा
अत्तरकाशाः गृहियां गृहस्थानां कामधोगा मदनकामप्रधानाः
शुद्धादया विषयाः विषाककसम्भ न हेवानामिव चिररिताः
अतः किं गृहाश्रमेणेति सम्युपेक्षितव्यमिति द्वितीयं स्थान-
म् । २ । तथा-नृपञ्च स्वानिबहुला मनुष्याः दुःखमायामिति
वसेत एव । पुनश्च स्वानिबहुला मायाप्रभुराः, मनुष्या इति
प्राणिनः, न कदाचिद्विभ्रमभैतेषाम् । ३, तद्रहितानां च कीदृशो
सुखम् ? तथा मायाशब्धेऽनुयेन च दारणतरो बन्ध इति किं
गृहाश्रमेणेति संयुपेक्षितव्यमिति तृतीयं स्थानम् । ३ । तथा-
इदं च मे दुःखं न चिरकालपरम्यापि ज्ञाविष्यति, एवं वायु-
नृपमानं, मम आमप्यमगुपालयते, दुःखं शरीरमामसं कर्म-
फलं परीपहज्जितेन, न चिरकालसुपस्थानुं शीले भविष्याति, अ-
मप्यपाज्ञनेन परीपहज्जितेन, कर्मनिर्जनात्संयमराज्यप्राप्तेः,
इत्तरथा मदानेकादौ विषयेषु, अतः किं गृहाश्रमेणेति । ४ । सम-
्युपेक्षितव्यमिति चतुर्थं स्थानम् । ४ । तथा- (ब्रामज्जण णि)
मूनजनपुत्रा, प्रमाजितो हि धर्मप्रमावाप्राजानाम्सादिभिरनुपे-
स्थानासनाज्जिप्रहादिभिः पृथगेन । अमप्रजितेन तु म्युज्जणस्य-
पि स्वयसमनुगतयेऽभ्युत्थानादि कार्यम्, अधार्मिकराजविषये वा
वेदिप्रयोगेषुः अरकर्मणो नियम्यत एव, इहेवेदमधर्मकमतः किं
गृहाश्रमेणेति सम्युपेक्षितव्यमिति पञ्चमं स्थानम् । ५ । एवं सर्वत्र
क्रिया योजनीया । तथा वागन्वय प्रयापानम्, पुत्तौचित्यपरिभोग
इत्यर्थः । अयं च श्वग्गुणाहादिद्रुल्लसत्वाचरितः सत्तां निष्ठां व्या-
धिदुःखजनकः । वान्त्वाक् प्रोगाः । प्रमथ्याङ्गीकरणेनैव प्रत्या-
पालनमप्येवं चिन्तनीयमिति षष्ठं स्थानम् । ६ । तथाऽप्युत्तरतिवासां-
पसंपन्, प्रयोगान्तेन कतिथं भातिस्सयां वसनम भोगतिवासः,
एतन्निमित्तभूतं कर्म गृह्णाते, तस्योपसंपत्तसामीप्येनाङ्गीकरणं
येतदुत्पन्नमप्येवं चिन्तनीयमिति सप्तमं स्थानम् । ७ ।
तथा दुल्लंभः खलु भोः गृहियां धमे इति प्रमादबहुसत्त्वाद्
दुल्लंभ एव, ' मे ' इत्यामन्त्रणे । गृहस्थानां परमनिष्ठुतिजम-
को धमेः । किञ्चिद्विज्ञानामित्याह— गृहपाश्रमभ्ये वसामा-
त्यत्र गृहपाशाश्रमं पाण्डुपत्तयाः पुष्कलपादयो गृहस्थे, तस्य-
भ्ये वसतामनादिमवाभ्यासादकारणं ऐहिकबन्धनेतार्थवन्तनी-
यमित्यष्टमं स्थानम् । ८ । तथाऽऽहस्तस्य वधाय भवति;
आतङ्कः सद्योधाती विच्छिक्कादिरोगः, तस्य गृहिलो धर्म-
बन्धुरहितस्य, वधाय विनाशाय भवति । तथा वधश्चानेक-
वधहेतुरेव चिन्तनीयमिति नवमं स्थानम् । ९ । तथा संक-
ल्पस्तस्य वधाय भवति; संकल्प एतन्निश्चियेनगप्रासिजो
मानस आतङ्कः तस्य गृहियां, तथावेद्यायोगाद् मिथ्या-
विकल्पाभ्यामेन प्रहादिप्राप्तेर्वधाय भवत्येनचिन्तनीयमिति

दशमं स्थानम् । १० । तथा-सोपकलेसो गृहवास इति; सहो-
पकलेसोः सोपकलेसो गृहवासो गृहाश्रमः । उपकलेसाः-कृपि-
पाशुपाल्यधाणिज्याघनुष्ठानानुत्पत्ताः परिहृतजनगाहिताः शी-
तोष्णभयमारयो घृतत्वष्टाव्यचित्तादयस्त्वेष्वं चिन्तनीयमि-
त्येकादशं स्थानम् । ११ । तथा-निकपकलेसः पर्याय इति; एभि-
रेवोपकलेसैः रहितः प्रथमज्यापर्यायोऽनारम्भो कुचिन्तापरिव-
र्जितः स्थापनीयो विद्युत्पामित्येषं चिन्तनीयमिति द्वादशं स्थान-
म् । १२ । तथा-बन्धो गृहवासः, सदा तज्जेत्यनुष्ठानात्
कायकारकीटवह्नित्येतच्चिन्तनीयमिति त्रयोदशं स्थानम् । १३ ।
तथा-भोगः पर्यायोऽनवरतकर्मनिवहविविधयनाद् मुकवदित्येषं
चिन्तनीयमिति चतुर्दशं स्थानम् । १४ । अत एव सावधो
गृहवास इति; सावधः सपापः, प्रशातिपातवृषावादादिप्रभृ-
त्कारेणचिन्तनीयमिति पञ्चदशं स्थानम् । १५ । एवमनन्वयः पर्याय
इति; प्रपाय इत्यर्थः; आहिंसादिपालनात्मकाद्येताच्चिन्तनीयमिति
षोडशं स्थानम् । १६ । तथा-बहुसाधारण गृहस्थां कामजोगा इति;
बहुसाधारणाभीरुज्वरजकुहादिसामान्याः गृहस्थां गृहस्था-
नां, कामजोगाः पूर्वेबाधित्येतच्चिन्तनीयमिति सप्तदशं स्थानम्
। १७ । तथा प्रत्येकं पुण्यपापमिति; मातापितृकलत्रादिभिमिस-
मन्यनुष्ठितं पुण्यपापं प्रत्येकं पुण्यं २, येनानुष्ठितं तस्य कर्तुरेव
तद्विदितं भावाधेयं; एवमष्टादशं स्थानम् । १८ । एतद्दन्तगतो बृका-
भिप्रायेण शेषग्रन्थः समस्तोऽप्येव ॥ अन्ये तु द्वावधकले-सोपकले-
सो गृहवास इत्यादिषु पदसु स्थानेषु सप्तविंशत्यु स्थानत्रयं
सूचते । एवं च बहुसाधारणा गृहस्थां कामजोगा इति चतु-
र्दशं स्थानम् । प्रत्येकं पुण्यपापमिति पञ्चदशं स्थानम् । शेषा-
वर्णनविधौ-तथागतं च अष्टविंशत्येव नियमतः । 'भो'
इत्यामन्वये, मनुष्याणां पुंसां, जीविनमायुः एतदेव विशेष्यते-
कृत्वाप्रसक्तान्कञ्चल्लं सोपकलवाद्नेकाद्यव्यवस्थित्यादित्य-
त्सात्सम्, तदलं गृहाभ्येगेति संप्रत्युपेक्षितमिति षोडशं
स्थानम् । तथा-बहु च बहु भोः पापं कर्म प्रकृतं; बहु ज्येष्ठ बह-
व्याद विशदं, 'बहु' शब्दोऽवधारणं, बहुव, पापं कर्म चारि-
भोहीयादि, प्रकृतं निर्वाहं, मयेति गम्यते । अमप्यप्रयासात्प-
यं कृत्वाचिप्रभृत्; नहि प्रतर्किल्लकर्मरहितानामिवमकुलात्ता
बुद्धिर्भवति, अतो न किंचिद् गृहाभ्येगेति संप्रत्युपेक्षितमिति
सप्तदशं स्थानम् । तथा-पापानां केषाद्यः; पापानां चापुण्यकपा-
नां बहव्यात्पुण्यकपाणां च, बहु जोः हुतानां कर्मणासु; बहुश-
ब्दः कारितानुमतिशेषाण्यर्थः; 'भो' मति शिष्यामन्वये, हुता-
नां मनोवाङ्मययोगो रोजतो निर्धोतितानां कर्मणां ज्ञानावरणीया-
घसालेवदेनीयादानां, प्राक् पुत्रेभ्यः, अयजन्मसु बुद्धरितानां प्रमाद-
कायजडुच्चरितक्रतितानि दुश्चरितानि, कारणे कार्योपचारात् ।
दुश्चरितेहेतूनि वा दुश्चरितानि, कार्ये कारणोपचारात् । एवं
दुष्पराकान्तानां मित्याद्दशानाविरतजडुष्पराकान्तजनितानि
दुष्पराकान्तानि, हेतो क्लेशोपचारात् । दुष्पराकान्तेहेतूनि वा
दुष्पराकान्तानि, कसे हेतूपचारात् । इह च दुश्चरितानि-प्रघ-
पानास्त्रीहानुतजापणादीनि, दुष्पराकान्तानि-बन्ध-घनादीनि ।
तदमीषामिदंभूतानां कर्मणां बद्धयित्वाऽनुत्पन्नं, कर्ममिति बाध्य-
शेषः । किं भोक्तो भवति, प्रधानपुरुषार्थो भवति?, नास्त्येवबद्धि-
त्या न प्रवत्यमनुभूय, अनेन सकर्मकमांशुष्यवच्छेदेमाह । इत्येत
च स्व्यपकर्मोपेतानां कैहिवत् सहकारिनिरोधस्तकला-
दानवादिभिः, तस्यैव नास्त्येवदित्या भोक्तव्यकारुण्यत्कर्म-
णः स्वकलादाने कर्मत्वापेक्षात्, तपसा वा क्रायवित्त, अनश-

नमायविकल्पदिना वा विशिष्टकृत्यां पशामिकानुभवावधेया त-
पसा प्रशयं नीत्या, इह च वेदनानुभवप्रसस्य व्याधिचरिवाणारुषो-
पकमस्य क्रमसोऽन्यन्विबन्धनपरिहृतेन, तपःकृपणं तु सत्य-
शुक्रमेवाशुविधौदीर्घणोपकृपणवद्व्याभिसेत्, अकर्मणाप-
रिहृशमित्यतस्तपोनुष्ठानमेव भेद्य इति, न किंचिद् गृहाभ्येगेति
संप्रत्युपेक्षितमितिपद्यथाद्दशं पदं जवति-अष्टादशं स्थानं प्रवर्तति ।
जवति चान इत्येकः, अनेत्यष्टादशस्थानार्थमप्यनिकर उक्तानु-
कार्यसंभ्रहर्ष इत्यर्थः । स्त्रेक इति च जातिपरं निर्देशः । ततः
स्त्रेकजतिरनेकमिदा भवतीति प्रकृतस्त्रेकोपवासादपि न
चिरोचः ।

जया य जयधर्मं, अशज्जो जोगकरणा ।
से तस्य मुच्छिद्य भक्ति, अपादं नावबुद्धः ॥ ? ॥
यदा वैवमन्यद्रादशसु व्यावसंनकारणेषु सस्वर्षिप त्यजति
अहाति, धर्मं चारिषन्नकृण्व, अनायं इत्यनार्यं इवानार्यं स्त्रेक-
वेदितः। किमर्थमित्याह-भोगकारणात् शब्दादिनां गमिषिं सत्
धर्मत्यागी, तत्र तेषु भोगेषु, मुच्छिद्यते गृहो, काशोऽहः, आचरि-
मामागिकालं, नावबुद्धेने न सत्यमवगच्छतीति सूचार्थः ॥ १ ॥
एतदेव दर्शयति-

जया अटोतिवत्रो होहि, इंदो वा पतिव्रो उमं ।
सव्यधम्मपरिक्वन्द्धो, स प्रच्छा परितप्ये ॥ २ ॥
यदा चावधावितोऽप्यदृष्टो भवति संयमसुखचित्तुतः, उग्रप्रजिन
इत्यर्थः । इन्द्रो वेति देवराज इव, पतितः हर्मागतः, स्वयिभ-
दुरेण भूमौ पतित इति भाषः । इमा भूमिः । सव्यधम्मपरिच्छ-
सर्वधर्मन्यः कान्त्यादिन्यः आसंविनेभ्यां प्रथं कायत प्रतिहास-
ननुपालनात्, शौकिकेज्योप्रथं वा गौरवादिन्यः; परिच्छ-ः संयतः
चतुतः, स पतितो जुत्वा पश्चामनामो मोहावससने, परितप्यते, कि-
मिदमकार्यं मयाऽनुष्ठितमित्यनुत्पापं करोतीति सूचार्थः । इशो १
वृत्तिः ॥ अग्रप्रमणा १० । ३१ पुष्टुषो 'मोहाव' शब्दे विन्यस्य
समगेषु जगवया महावरींशे समणाणां निज्योषाणं स-
स्तुष्टुव विन्याणां अष्टारसहाया पण्णाच्छं । तं जहा-“व्य-
द्वकं कायतकं, अकृप्यो गिह्जिजापणं । षलिपंकासिनेज्जा य,
सिणाणं सोमपउजणं” ॥ ? ॥ स ० १५ स ० ।

(मत्पदकादीनि विस्तृतोऽन्यत्र स्वस्वस्थाने निक्षिप्तानि) एषु
मत्पदकं, शोभावर्जनेन वेति विधेयं, शेषं प्रतिषेधनीयम् । व्य-
०-१० उ ० ।

अष्टारसहिं ठाणेहिं जो होति अपतिद्धितो नरमत्यो
तारिसो होइ बवहारं बवहरितप । अष्टारसहिं ठाणेहिं जो
होति पतिद्धितो अलमत्यो वारिसो होइ बवहारं वहरितप ।
“व्य० १० उ ० । (इति व्यवहरितलक्षं 'ववहार' शब्दे
वधयेत)

अष्टारसपावडाण-अष्टादशपापस्थान (क)-ग । पापहेतूनि
स्थानकानि पापस्थानकानि, अष्टादश च तानि स्थानकानि ।
प्राणातिपातादिषु अष्टादशसु पापानुत्पत्तहेतुषु स्थानेषु, प्रव-
० ।
सर्वं पाणाद्वाप्यं, अलिपयद्वं च भेदुणं सर्वं ।
सर्वं परिगृहं तह, राईजजं च बोसिरिमो ॥ ? ॥
सर्वं कोहं माणं, माणं लोचं च रागदोसे व ।

कलहं अन्तरवाणं पेशुषं परपरीवायं । ३ ॥
माया-मोसं मिच्छा-दंमणसङ्गं तद्देव वीसिरिमी ।

अंतिमज्जनासामि य, देहं पि जिहासपचकलं । ३ ॥

सर्वं सप्रयत्नं प्राणानिपातं, तथा-सर्वमेतानां मृत्वादां, तथा-
सर्वमदृशमदृशदानं, तथा-सर्वं मैशुषं, तथा-सर्वं परिग्रहं,
तथा-सर्वं पात्रमकं रजनिमोजनं, म्युत्पुत्राजाम् परिहरामः ।
तथा-सर्वं क्षोधं, मानं, मायां, ज्ञानं च, रागपदौ च,
तथा-कर्महं, अभ्याख्यानं, वैशुष्यं, परपरिवादं, मायां,
मृत्वा, विषयावशोनादायं च, तथैव स्वप्रतिहं म्युत्पुत्राजाम् ।
यत्तन्महादृशपापहेतुनि स्थानकानि पापस्थानकानि, न कंचस-
मताम्येव किन्तु अन्तिमं उच्छ्रासे, परलोकगमनसमय इत्यर्थः,
देहमायं निजशरीरमपि, म्युत्पुत्राजाम्; तत्रापि ममत्वमोक्त्वाद्
जिनादिप्रत्येकं शीघ्रकारित्वानां स्वप्रकृतिमिति । प्रश्न २३७७ ।

अष्टारसर्वजसाउल-अष्टादशशयञ्जनाकुसु-वि० । अष्टादश-
मिमीकप्रतीत्यैवञ्जनेः शालनतकादिभिराकुलं सङ्गीयं यत्त-
तथा । अथवा अष्टादशमेदं च तद् व्यञ्जनाकुलम, शाकपा-
थिवादिशरीरान्द्रशय्यलोपः । स्याद्यष्टादशशयञ्जनासङ्गीयै,
चं० प्र० अष्टादश च भेदादमे-“सूत्रो १ दशो २ जषधं, ३ ति-
थि य मंसार ६ मोरसो ७ जलो = अम्फा ६ गुल्लसारवणिया,
१० मूलकला ११ हृत्तियं १२ ज्ञानो १३ ॥ १ ॥ होर रसात्
१४ तहा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणुं चैव १७ । अष्टारसमो
सागो १८, शिखरवहो लोहप्रो पिडो ” ॥ २ ॥ चं० प्र० २०
पादु० । स्या० । म० ।

अष्टारसविधिन्परादेशीभासाविसारय-अष्टादशविधिप्रकार-
रदेशीजापाविशारद-पुं० स्त्री० । अष्टादशविधिप्रकाराः, अष्टा-
दशभिर्भा विधिभिर्भेदः प्रचारः प्रकृतिर्विद्याः सा तथा, तस्यां
देशीभाषणां देशभेदेन वर्णावलीकृतायां विशारदः परिज्ञतो
यः स तथा । अष्टादशधामिअदेशीभाषापरिज्ञते, “अष्टार-
सविधिन्परादेशीभासाविसारय गौरवर्गध्वण्यङ्कुसले
ह्यजोही ” इति १ पुं० १ अ० ।

अष्टारससंज्ञमहस्रस-अष्टादशश्रीलाङ्गसहस्र-न० । शी-
लभेदानामष्टादशसहस्रं, पञ्चा० ।

तानि चैवच-

नापिऊण वक्रवाणं, संज्ञां६ समासो बोद्धं ।
ममणाय सुविद्वियाणं, गुरुवर्षाणुसारणं ॥१॥
नवा प्रणय, वदंमानं महावीरं, शीलाङ्गानि चारित्रांशक-
पाणि, तत्कारणानि वा, समासतः संक्षेपेण, वक्ष्ये मणिष्यामि ।
केपां संक्षेपानि इत्याह-अभंगानां यतीनां, सुविद्वितानां सद्गु-
ष्ठानामां, गुरुपदेशानुसारणं जिनादिवचनानुवृत्तिति गा-
थार्यः ॥ १ ॥

शीलाङ्गानां तावत्परिमाणमाह-

संज्ञां६ सहस्रा, अष्टारस पत्य ह्येति गियमेणं ।
जावेणं ममणायं, अस्संकारिणुत्ताणं ॥ २ ॥
शीलाङ्गानां चारित्राणामां, सहस्राण्यष्टादश, अत्र-अभंगधर्मं,
प्रवचने वा, अन्वितं स्युः । नियमेमाद्यह्यतया, न म्युत्पान्चधिकानि
वेति भावः कथमित्याह-आवेन परिणामेन, बहिर्बुध्या तु कल्प-
प्रतिषेधव्या-म्युत्पान्यपि स्युरिति भावः । केपामित्याह-अभंगाना-
नां यतीनां न तु भावकाणां, सर्वविरतानां चैव तेषामुक्तसंख्या-

वतां सज्जनात् । अथवा भावेन अभंगानां न तु कल्पधर्मणामात्,
तेषामपि किंविधानमित्याह-अस्संकारिणुत्ताणामां सकलचर-
णांपेतानां, न तु व्यंगप्रतिषेधया कश्चित्करणाणामात् । नन्वाख्य-
वरणा एव सर्वविरता प्रथमिन, तन्वाङ्गानुसंक्षेपितत्त्वसंगमा-
त्, तथा 'पन्थिअह अहकर्म पंच' इत्यागमप्रामाण्यात् सर्व-
विरताः पञ्चार्थि मद्राजगानि प्रतिपद्यतेऽनिकासमिति । प्रयो-
ज्येव, नैककादिकमिति कथं सर्वविरतदेशकालनमिति? । प्रयो-
ज्यते-सर्वमेतत्, किं तु प्रतिपश्येकं सर्वविरतायं, परिपाल-
नापेक्षया स्वव्यथापि संशयजनकपायोद्वयात्स्यात् । अत एवाकम्-
“सर्वे वि य अरयारा, संजलणानं उदयधो ह्येति” इति । अ-
तिशारा हि अरण्यदेशकनरकपा एवेति । तथैकजलातिकमे सवा-
तिकम इति यदुक्तं, तदपि वैयक्तिकम् । शिवज्ञा ज्ञेयम्-“ज्ञेयस्व
जाव दानं, ताव अहकर्मह चैव एवमि । एवमं अहकर्मनां, अहक-
मे पंचमस्येनं” ॥ १ ॥ एवमेव हि दशविधप्रमाणवित्प्रमाणानां सकलं
स्यात् । अन्वया मूलाद्येव, तस्मादाद्यवहनयत्तस्मात्तिशारसंज्ञः,
निश्चयतस्तु सर्वविरतितया ज्ञान एवमेव प्रथमंनेति गाथार्यः । २ ।
कथं पुनरेकविचरय शीलस्याङ्गानामष्टादशसहस्राणि

अन्वन्तीत्याह-

जोए करणे सप्पा-इदियच्चूभादे समणधम्मो य ।
संज्ञिमपइस्साणं, अष्टातमगम सियपत्ती ॥ ३ ॥

योगं व्यापारं विषयजंतं, करणे योगस्यैव साद्यकतमे, संज्ञासं-
नि चत्वारिंशद्वानि इत्येकत्ववन्ति । तत्र संज्ञासु केनानाविशेष-
द्वेतासु, इन्दिष्येच्छक्यु, चूर्म्यादित्यु गुणव्यादिजीविकायजीव-
कायं च, अभंगधर्मं च क्लान्त्यादी, शीलाङ्गसहस्राणाम् प्रस्तुतानाव,
अष्टादशपरिमाणमस्य चूर्म्येत्यष्टादशकं, तस्य, निश्चयः सि-
द्धिर्भवेतीति गाथार्यः ॥ ३ ॥

योगादीनेषु व्याख्यातुमाह-

करणादि तिसि जोगा, षण्णमादि णि उ ह्वंति करणार्इ ।
आहारादी सप्पा, चउ सप्पा इदिया पंच ॥ ४ ॥
भोगादी एव जीवा, अजीवकाभो य समणधम्मो उ ।
संतादि दसपगारो, एवं त्रिप जावणा एना ॥ ५ ॥

(करणार्इ चि) स्वव्यात्करणार्इयः, करणकारणानुमतयस्यवो
योग भवन्ति । तथा मन आर्इति तु मनोवकायकवर्णानि, पुन-
रन्वन्ति स्युः; करणानि अर्थव्ये, तथा आहाराद्यः आहार-
व्यैशुणपरिग्रहविषयाः वेदनीयमयोहवेदमोहलोभकपायोद-
वसंसाध्यव्यवसायविशेषरूपाः संज्ञाः, (चउ) चतस्रः संज्ञा प्रथ-
न्ति । तथा-भोगादीनि भो रचक्षुर्भाषणरसनस्पर्शानानादिद्रव्याणि पञ्च
अन्वन्ति । तथा-भूत्याद्यः पृथिव्यमेजोवायुचन्द्रस्यतिसिचिचतु-
पञ्चैन्द्रिया नव जीवा जीवकायाः, अजीवकायस्य अजीवकायिः
पुनर्वेशमो यः परिहर्त्येत्येतकः स च मद्राजगानि सखपात्राणि
विकटहिरण्यदीनि च, तथा-पुस्तकानि मूलाद्यमनुपपत्तिनामि
प्रावार्दिच्छुच्युत्पत्तिनामि । कोट्यादिपुण्यजादिवर्षाणि
व्यातमप्रसिद्धानीति । तथा-अभंगधर्मस्य यतिधर्मः । पुनः क्लान्त्या-
दिः क्लान्त्यमार्दवाजैवसुचितपःसंयमस्यैवौषाधिकान्यव्यव-
स्यैकपां द्वाप्रकारो दृशयिषि इति । (एवं ति) एवमुक्त्यात्मन,
स्थिते औत्साराधयेण पट्टकादी व्यवस्थिते, द्विषितनुपुण्यदृश-
संक्षेपमृषपट्टकसापमायवा अङ्गसंज्ञाकरणे, एषा अनन्तर-
व्यमाणसकथेति गाथाइत्यर्थः ॥ ५ ॥

सामेवाद-

एष करति मणेण आहारा-रसमविष्यजगो उ शियमेण ।
सोर्द्धियसंबुद्धो पु-दविकापारंज खंतिसुओ ॥ ६ ॥

न करोतीति करणसङ्कणः प्रथमयोग उपासः । मनसोति प्रथ-
मकण्यः । (आहाररसमविष्यजगो उ त्ति) आहारसंज्ञाविप्रदी-
पः । अनेन च प्रथमसंज्ञा । तथा-नियमेनावरधनया भोत्रेन्द्रियसं-
वृत्तो निष्करागात्रिमयोभेन्द्रियप्रवृत्तिः, अनेन च प्रथमेन्द्रियसं-
वृत्तविषयः सङ्ग किं करोतीत्याह-पृथिवीको, वारजं पृथ्वीजीव-
हिसाह, अनेन च प्रथमजीवत्वानुत् । कान्तिपुतः कान्तिसंपन्नः, अनेन प्रथमभयनधर्मभेद इति । तदेवमेकं शीलाङ्गमाविनाचित-
मिति गाथायः ॥ ६ ॥

अथ शेषानि तान्यतिदेशतो दर्शयन्वाह-

इय मद्वादिजोगा, पुढर्वाकाए जवंति दम नेया ।

आठकायादीसु वि, इय एतं पिर्किंयं तु सये ॥ ७ ॥

सोर्द्धिएष एयं, मेसोर्द्धि वि जे इमं तत्रो पंचो ।

आहाररससंज्ञा, इय मेसाह्नि सहस्रमुजं ॥ ८ ॥

एयं प्रयोग वरमा-दिष्टु एयं ति उरमहस्माई ।

ण करइ मेसोर्द्धि पि य, एप मन्वे वि अष्टारा ॥ ९ ॥

इत्यनेनैव च पूर्वोक्तमित्यानेन, मद्वादिद्योगान् मद्वाद्यजिवा-
दिपरसंयोगेन, पृथिवीकाये पृथिवीकायमाभिव्य, पृथिवीकाय-
समारम्भमित्याभिलापनेत्यर्थः । भवन्ति स्युः, इश भेदा दश शील-
विकल्पानां, अण्कायादिष्वपि मयसु स्थानेषु, अण्पिशब्दां दश-
स्यर्थसंकेतयन्नाथे इति । अनेन द्वेषेण एते सर्वेऽपि भेदाः ।
(पिचिबं तु सि) प्राकृतवार्तिकपरिचयताः पुनः सन्तः, अथवा पि-
चिदन्तं पिचिदमाभिव्य, शानं शतसंख्याः स्मृतिनि, भोत्रेन्द्रियैकत-
च्छ्रुतं लक्षणम्, शेषेपि च कुत्रिन्द्रियार्थिनिः, यद्यस्मादेवं शते प्र-
त्येकं लभ्यते, ततो मीलितानि पञ्चशतानि स्युः । एतानि आहा-
रसंज्ञायामाङ्गधानि इति । एवं शेषान्भित्तस्युः पञ्च पञ्चाङ्ग-
तानि स्युः, एवं च सर्वमीलेने सहस्रद्वयं स्यादिति । यन्तु सह-
हकाङ्क्षिणीये मनसा लक्षं (यममाहएसु सि) वागाद्यविषयन-
काययाः प्रत्येकमेतत् सहस्रद्वयम्, इति एवं, पदसहस्राणि न क-
रोतीति अत्र करणपदे स्युः । शेषयोरपि च कारणानुसम्योरि-
त्यर्थः । पद पद सहस्राणि स्युः । एतं अनन्तरकाः, सर्वेऽपि
शीलभेदाः पिचिदताः सन्तः, (अष्टार) प्राकृतव्यादृष्टादृशस-
हस्राणि भवन्तीति गाथात्रयायः ॥६॥ नन्वेकयोः एषादाभ्यांशु-
सहस्राणि स्युर्यदा तु क्वादिंसंयोगज्ज्या इह स्थित्यने तदा बहु-
तराः स्युः । तथाहि-एकक्वादिंसंयोगेन योगेषु सप्त विकल्पानां,
एवं करणेषु, संज्ञाषु पञ्चदश, इन्द्रियेभ्यःकविशब्दं, मीम्यादिषु त्र-
योविंशत्याधिकं सहस्रम्, एवं क्षमादिष्वपि । इत्येवां च राशीनां
परस्परभ्यासे द्वे कीटिसहस्रे, त्रीणि कीटीशतानि, चतुरशीति-
कीटीनामेकपञ्चाशत्सहस्राणि, त्रिपष्टिसहस्राणि, षे शते, पञ्चपष्टि-
श्लोति [२३=५१+६३=२५४] ; ततः किमष्टादशैव सहस्रायु-
क्तानि ? उच्यते-यदि प्राद्यकधर्मवदन्यतरभङ्गकेत सर्वविरति-
प्रतिपत्तिः स्यात्, तदा युज्येत, ननु तत्र नैवमेकतरस्यापि शी-
लाङ्गकस्यैव शेषसंज्ञाय एव भावात् । अन्यथा सर्वविरतिरेव
न स्यादित्येतदेवाह-

एत्य इमं विसृप्यं, अइदंपजं तु बुक्किमंतेहि ।

एकैपि सुपरिमुच्छं, सीलंगं ससप्तभावे ॥१०॥

अत्र एषु शीलाङ्गेषु, इदं वक्ष्यमाणं, विशेषेण ज्ञातव्यम् । (अइदंपजं
ति) इदं परं प्रधानमंत्रेणोदपरं, तद्वाह्ये देवेषु तत्त्वम् । तुशब्दः पु-
नःशब्दार्थः । तद्वाहना वैषम्य-शीलाङ्गसहस्रायद्यादृश भव-
न्ति । देवेषु पुनरेवमेवं ज्ञेयं, बुद्धिमज्जितुषैः किं तदित्याह-एक-
मपि । अण्पिशब्दं बहुवच्यं, सुपरिमुच्छं निरतिचारं, शीलाङ्गं च-
रुशानां, शेषसंज्ञायै तदप्यशीलाङ्गसत्त्वायामेव, तदर्थं समुचितान्य-
थैतानि जन्मन्तीति न क्वादिंसंयोगज्जुकोपात् । नमपि तु सर्वेषा-
न्धमङ्गल्येयमष्टादशसंज्ञासंज्ञायाः । यथा विचित्रं विविधेनैवस्य
नवांशतेति । इह च सुपरिमुच्छमिति विशेषणान्यवहारनयनमे-
नापरिमुच्छानि पाहनायामन्यतरस्यामाऽपि स्मृतिरिति दर्शितम् ।
एवं हि संज्यल्लोद्वयविरतायो ज्ञेयविति ; चरणेकदेशभङ्गेऽनु-
त्वाद् तस्य । अत एव यो मन्थते ह्येवं भङ्गयामीति तम(मुनिना)
मनसा न करोत्यादरसंज्ञाविहीनो रसमेन्द्रियसंबन्धतः पृथिवीकाय-
समारम्भमुक्तिरसंकेत इत्येतेकं तदङ्गम् । तदङ्गं च प्रतिक्षणान्दि-
प्रायश्चित्तं श्रुतिः स्यात्, अन्यथा मूर्धनैव स्यादिति गाथायः ॥१०॥
अनन्तरगाथायं समर्थयन्वाह-

एको वाऽऽपपसोऽसंखेयपपससंभो जह तु ।

एतं पि तदा एयं, सतसचाभ्यो इहारा उ ॥ ११ ॥

एकोऽपि, प्रास्तामनेकः । आत्मप्रवेदो जीवावः । असंख्येयमेदश सं-
गत एव संख्यातीतोऽसमन्वित एव भवति, तस्य तदास्वप्नायवा-
त् । यथा यद्वत्, तुवाद्द एवकारार्थः । तस्ययोगश्च दर्शित एव । एत-
दपि शीलाङ्गमपि, तथा सङ्घेयपरिशीलाङ्गसमन्वितमेव, इयं ज्ञातव्य-
म्, शेषानपेक्यं च तस्य को दोष इत्याह-स्वतस्य्यागः सर्वविर-
तिलक्षणशीलाङ्गानिः स्यात् । इतरथा तु पञ्चाशत् पञ्चमत्तयोः
समुदिताभ्यानां संवर्धविरतिशीलाङ्गानामावर्तने । इत्याशा पुनः
सर्वाविरतिशीलाङ्गानां त्यजनानि प्रायमेतं गाथायः ॥११॥

इदमेव समर्थयन्वाह-

जम्हा समगंमेपं, पि सव्वसाजजोगविरिउ ।

तत्तेणोससुब्बं, ण संदरूपत्तणमुवेइ ॥ १२ ॥

यस्मात् कारणानामसं परिपूर्णमेव, सदा द्वैवाकमिन्यर्थः । एत-
दपि शीलं, न केवलमात्मा समग्रः स ज्ञाता स्यात् । सर्वसहस्र-
योगविरति, स्वस्वप्नायप्यापरिनिवृत्तौ भवति, तस्यैव भावित्यर्थः ।
तुशब्द एवकारार्थः । योजितश्च-तथा च-तत्त्वं सर्वनिवृत्तिरूप-
त्वेन हेतुना एकस्वचमष्टादशसंज्ञायामेव । अन्यथा सर्वविर-
रित्त्वयायागाद्, न क्वाङ्गकप्येकपञ्चोत्पेक्येकद्वय, उदेत्युपयाती-
ति । प्रयोगोऽन-यद्यद्यथा स्वतन्त्रं रूपेण तत् तस्युपयायात् तस्य
भवति । यथा-प्रदशाहीन ज्ञाता, यथा वा शतमेकादशाय, ह्यन-
ते च सर्वस्यापेक्षाया सर्वविरतिः स्वतस्त्वम्, अत एकादशी-
लाङ्गविकोऽपेक्षा न प्रवर्तीति गाथायः ॥१२॥

उक्तार्थं एव विशेषमभिधानयाह-

एयं च एत्य एव, विरतीज्ञावे पणुष द्ढुब्बं ।

न ठ वरुं पि पविचिं, जं सा जावं विणावि भवे ॥ १३ ॥

एतच्च च तत् पुनः शीलम्, अत्र शीलाङ्गकमेव, एवमस-
द्वकप, विरतीज्ञावं साधयामविरमणपरिणामं, प्रतीत्याधि-
त्य, इत्यर्थं भवम् । न तु न पुनः, बाह्यमपि कायबाहुसंबन्धिनी-
मपि, अण्पिशब्दः समुच्छेयः प्रवृत्ति चेदाम् ; कुन पदार्थ-
मित्याह-यद् यस्मात्, सा बाह्या प्रतिपत्तिः, भावसंभवस्यार्थं, वि-
नाऽपि अन्तरेणापि । अण्पिशब्दाऽन्येन सहापि, अनेन स्यादिति
गाथायः ॥१३॥ पंचा-१३ विषया आवा० पृ० ५० व ० ५० ।

अट्टारसेति—अष्टादशश्रेणि—स्त्री०। कुम्भकारादिषु अष्टादश-
 श्च राक्षः प्रजासु, जं०। अष्टादशश्रेण्यश्वेमाः—“कुन्ना११ पद्महा-
 सुचषकाया य ३ सुचकाया य ४। गंधत्वा ५ कासयगा ६, मा-
 लाकारा य ७ कञ्जकरा ८ ॥१॥ तंबोलीश्रा ९ ए य एए, नवप्य-
 यारा य शोकाश्र मणिका। अष्ट शं गवप्ययाने, कौश्रव्ये
 पचकवाभि ॥ २ ॥ चम्मपर १ अंतपीलय २, गंधिअ ३ क्षिप-
 य ४ कंसकारा य ५। सीवग ६ युआर ७ भिजा ८, पीवण ९
 वधाह अट्टवस ॥३॥ चित्रकाराद्वयस्तु एतेष्वेवान्तर्भवन्ति ।
 “तए ण ताभो अट्टारसेतिप्यसेणीओ भरहेणं रक्षा एषं उ-
 का समाणीओ हट्टाओ” जं० ३ वक्ष्ण० ।

अट्टारसय—अष्टादशक—त्रि०। अष्टादशवर्षप्रमाणे, “ते बरिस्ता
 होर एवा, अट्टारसिया उ हरिया होर” अष्टादशिका अष्टा-
 दशवर्षप्रमाणा । वय० ४ ४० ।

अट्टालांजि (ण्)—अष्टालोभिन—त्रि०। अर्थोऽत्र कुत्यादि-
 स्त्रत्र आ समन्ताङ्गोः अष्टेलाभः स विद्यते यस्येति समन्त-
 तो धननुष्ये, “अहोयराओ परियप्यमांशे कालाकालस्समुद्दा-
 ई संजाओट्टी अट्टालांमी” आवा० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अट्टावण—अट्ट (ट्टा) पञ्चाशत्—स्त्री०। अष्टाधिका पञ्चाशत्
 अष्टपञ्चाशत्; अष्ट च पञ्चाशत्च अष्टपञ्चाशदिति वा । ‘अ
 ट्टावन’ इति प्रसिद्धायां संख्यायां, तत्संख्येयं च । “पदमदे-
 च्चपंचमासु तिसु पुढवीसु अट्टावषं गिरयावाससयसहस्सा”
 स० ५८ सम० ।

अट्टावय—अर्थपद—न०। अर्थेत इत्यर्थं धनधान्यहिरण्यादि-
 कः। पद्यंत गम्यते येनार्थस्तपदां शास्त्वम्, अर्थार्थे पदमर्थपद-
 म् । चाणक्यादिकेऽर्थशास्त्रे, सूत्र० १ सु० ९ अ० ।

अट्टापद—न०। घृत्तकीडाविशेषे, सूत्र० १ सु० ९ अ० । घृत्तफत्र-
 के, जं २ वक्ष्ण० । प्रश्ना०। इत्यमन्ति कलासु केषं त्रयोदशो कला ।
 शा० १ सु० १, अ० । स० । घृत्तफाम्ने, जं० २ वक्ष्ण० । नि०
 न्यू० । “अत्रायं ण सिक्किअ” सूत्र० १ सु० ९ अ० । अष्टधा—अष्टौ
 अष्टौ पदानि पञ्चाशदस्य । वृत्तौ संवाराशब्दस्य धीप्साधेयाङ्गी-
 कारः, आत्यम, अर्कवादिः । शारीफलकैः अष्टसु धातुषु पदं
 प्रतिज्ञा यस्त्य, स्वर्णैः उपचारात् स्वर्णमयंऽपि, शरभे, नूनायां च ।

(पुं०) तथोरष्टपदत्वात् । अष्टे यथा स्यासंधा पद्यते, ह्यमैः
 अष्टसु दिक्षु आपद्यते, कीर्त्तकैः अष्टानिः सिद्धिनिरापद्यते । (आ-
 पद—अप० ३ त०) अणिमाद्यर्थास्तुच्युक्त्ये, केशसे च । पुं० ।
 शाब्० । स्थानामस्थाने पर्वतविशेषं, यत्र अष्टपर्वतैः सिद्धः ।
 पञ्चा० १९९ शिव० । आ० म० प्र० । कटप० । “अत्राक्षयमि
 म्नेले, अउसभलेण सो महिसीणं । इवाहि सहस्रिह समे,
 गिष्वाणमसुररं पत्तो” ॥ १ ॥ आ० क० । जं० । संधा० । न० ।

(गीतमस्याष्टापदमनं तत्र नाप्यप्रत्याजन्मं अजवहर’ शब्देऽ
 श्रेय भागे २१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) आ० क० । भ० । आ० म०
 हि० । एतस्मादेव चात्ये तीर्थेयम् । तस्माद्वात्यं यथा—
 यत्रमर्कः। निश्चयतो, विद्यानव्याधिनः पवित्रयुतः ।
 देवेन्द्रवन्दितो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २ ॥
 श्रुपभसुता नवनवति—शुद्धवतिप्रभूतयः प्रवरपतयः ।
 यस्मिन्नभज्जन्मनं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २ ॥
 अस्मिन्नभिवृत्तिसां, विद्योगमिभूत इति प्रशोः समकम् ।
 यत्रविदशसहस्राः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ३ ॥
 यथाह पुत्रपुत्राः, सुगपदं वृषभेण नवनवतिपुत्राः ।

समर्थकेन शिवसमुः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ४ ॥
 एतन्नयमिव मूर्च्छं, स्तुपत्रिनयं चित्त्रयस्थानं !
 यथास्थापयद्विन्द्रः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ५ ॥
 सिद्धायतनप्रतिभं, सिद्धनिषद्येति यत्र सुचतुर्त्वा ।
 भरतोऽरक्षयिष्वा, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ६ ॥
 यत्र विराजति वैद्यं, योजनदीपे तद्वत्पुष्पमानम् ।
 कोशत्रयोभूम्भैः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ७ ॥

यत्र ज्ञातुप्रतिमाः, व्यधाच्छतुर्वर्षिताकिनप्रतिमाः ।
 नरतः सान्प्रतिमाः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ८ ॥
 स्वस्वाकृतिमितिवर्णाङ्ग—यतिगान्, वर्तमानजिनश्चिन्मात्र ।
 भरतोः पणितयामिह, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ९ ॥
 सप्रतिमा नवनवति, यत्पुस्त्र्यास्तथाऽहं तस्वपुत्रः ।
 यत्राच्ययचक्रं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १० ॥

(‘उत्सज’ शब्दे हि० भा० ११५१ पृष्ठे वक्ष्यताऽस्य वक्ष्यते)
 नरतेन मोहसिंहं, ह्यनुमिषाच्छपदः कृत्वाऽप्यदः ।
 शृणुमेऽप्ययंजगो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ११ ॥
 यस्मिन्ननेककाष्ठे, मद्भेष्यो प्रतनचक्रवर्थाद्याः ।
 सिद्धि साधितवन्तः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १२ ॥

(‘नरद’ शब्देऽस्य नैतत्पत्न्या चक्यते)
 सगरपुत्रात्ते सर्वो—धंशिवगनीन्द्र भरतराजवंशर्षीन् ।
 यत्र सुसुद्धिकरधत्त, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १३ ॥
 परिखासागरमकर—न्त सागरः सागराऽऽशया यत्र ।
 परितो रक्षितकृत्यं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १४ ॥
 ज्ञातुप्रतिमिव स्वंगो, जैसो यो गङ्गाया श्रिनः परितः ।
 संततमुद्गुलकैः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १५ ॥

(‘गंगा’ शब्दे कथाऽस्य चक्यता)
 यत्र जिततिसकदाता—हमयनस्याऽऽपे कृतानुरुपफलम् ।
 जालस्त्रावतिलकं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १६ ॥
 (‘दमयतो’ शब्दे कथेषा निरूपयिष्यते)
 यमकूपारे कोपत्तं, क्षिप्रकल्पं बाहिनाऽकृत्रिणाऽकृत्र्य ।
 आरावि रावणोऽहं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १७ ॥
 भुजतन्या जिनमहदृक्—लङ्कन्तोऽथाप यत्र धरणेऽम्बत ।
 विजयामोर्षो शक्तिः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १८ ॥

(‘रावण’ शब्दे कथेषं प्रकथयिष्यते)
 शत्रुशत्रुतोऽप्यदत्ता, द्वौ प्राच्यादिदिक्षु जिनश्चिन्मात्र ।
 यत्रावन्दुत गणभूत, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १९ ॥
 अचलेऽश्रोदयमचलं, स्वशक्तिवन्दितजिनो जिनो जगते ।
 वीरोऽवगोपयति यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २० ॥
 प्रभुभानिपुत्रुदरीका—ध्वयनाध्ययनात् सुरोऽत्र दशमोऽच्युत् ।
 दशपुर्वेषुगुदरीकः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २१ ॥
 यत्र स्तुनाजनायो—ऽदीक्षत तापसज्ञानानि पंचदश ।
 श्रीगीतमगनाद्यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २२ ॥

(‘अजवहर’ शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१६ पृष्ठे कथेषं निकषिता)
 इत्यष्टापदपर्वत इव योऽप्यष्टापदमपि चिरस्थायी ।
 ध्यावर्णि महाती, स जयत्यष्टापदगिरीशः २३। ती० १८६ कटप० ।
 भरतत्रकवर्णि कारितवैश्यानामिहासीं सत्ये प्रश्नोक्ते—
 नन्वष्टापदपर्वते भरतचक्रवर्त्तिकारिताः सिद्धनिषद्यप्रामुखासा-
 दास्तत्राभिर्भानि चाद्ययात्कथं स्थितानि सन्ति, तथा योऽभ्युज-
 यपर्वतेऽपि नरतकारितानि तावप्ये प्रासादविश्वानि कथं न स्थिता-

नि । यतस्तत्रासंख्याता उदाहरा ज्ञाताः भवन्ते, नैनाप्यपदे कस्य-
सांनिध्यं, शत्रुञ्चैव च कस्य न ? , यदेतान्वाद् जेद् इति व्यक्यया
प्रसास्यमिति । उच्यते-अप्यपदपर्यन्तं भरतकवर्तिकारितमासा-
दादीनां स्थानस्य विरपायत्वाद्, देवादिस्त्रिभिश्चात् च "कथस्यं
पुण कासं प्रायथणं अर्थासङ्गिस्तदः । ततो तेण अमेवण
अण्णि-अव इमाओ ओसण्णिणि सि मे केवडिजिजाण अंतिर
सुयं" इत्यादि बहुवचनैश्चत्प्रभृत्प्रवाचकाद्यवाच्यत्वस्थानं
युक्तिमेव । शत्रुञ्चैव तु स्थानस्य सापायत्वात्, तथाविधदे-
वादिस्त्रिभिश्चाभावाच्च, भरतकारितप्रसादादीनामधयाव-
द्वस्थानाभाव इति संभाव्यते । तस्य तु तत्त्वविशेषमिति ।
ही० ४ प्रका० । किञ्च-अष्टपदपर्यन्ते प्रतिमाप्रतिष्ठा केन कृता ?,
कुत्र वा सा कथिताऽस्तीति ?, विष्णुश्रुतिगणितप्रश्नः । तदुत्तरप्र-
श्न अष्टपदपर्यन्ते प्रतिमाप्रतिष्ठा भीष्मपदभेदवशिष्येषु कृतेति
भीष्मपदमहात्म्यमेव कथितमस्तीति । (ही०) अष्टपद-
विरो सक्कीयत्वव्याये जिनिप्रतिमां वन्त्ये ते तद्भवसिद्धिगामि-
नि इत्युत्तराणि सन्ति, तथा च सन्नि वे विद्याधरपरमिनस्त-
था राक्षसान्तरवारणमेदिमिन्न अनेके ये तपस्विनस्तत्र गन्तुं
शक्तास्तेषां सर्वेषामपि तद्भवसिद्धिगामित्वमापद्यते, ततः सा
काश्चित्, यथा तत्र गम्यन्ते, तथा गौतमादिष्वकद्भवसिद्धिगामि-
नो भवन्तीति । तथाऽष्टपदविरो ये तपःसंयमोत्पल्लव्या
पार्त्तं कुर्येति ते तद्भवसिद्धिगामिन इति संभाव्यते, व्यक्ता-
क्षरानुपलम्भान् । ही० १ प्रका० ।

अष्टपदवाङ् (ष) -अष्टपदवादिन्-पुं० । इन्द्रभूतिना सह
वीरजिनसमीपं समागते विप्रभेदे, कल्प० ।

अष्टांति-अष्टांति-स्त्री० । अष्टांतिका विशतिः । अष्ट
च विशतिश्चाऽष्टाविंशतिः । 'अष्टांति' अष्टाधिकविंशति-
संख्यायाव, "तिथि य काले अष्टांतिं चणु सयं" ज० । वज्र० ।

अष्टाट्ट-अष्टाट्ट-न० । अष्टानामहानां समाहारे, हा० १ श्रु० ४० ।

अष्टाट्टिवा-अष्टाट्टिका-स्त्री० । अष्टानामहानां समाहारोऽष्टाट्टि-
व इति यस्यां महिमायां साष्टाट्टिका । महिमामात्रं, व्युत्पत्तेः
प्रदर्शनमात्रफलत्वेन महिमामात्रस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् ।
हा० १ श्रु० ४० । अष्टदक्षिणार्थं च । 'अष्टादिषा य महिमा,
समं अणुधरादिमा केर' पञ्च० ८ विष० । प्रा० म० प्र० ।

(अष्टादिषाया रथवागायाः स्वल्पम 'अणुजाण' शब्दे वचयते)
अष्टि-अस्थि-न० । अस्थयते । अस्-विध्नु । 'ठोऽस्थिविस्त्रं-
ते' ॥ १ । ३२ ॥ इति संयुक्तस्य थः । प्रा० । कीकशं,
प्रश्न० प्रा० ३० । श्रौ० कुलके, प्राचा० २ भु० ४० ० उ० ।
कुल्ये पञ्चमे धातो, न० । स्थानं । सास्थिके सरजस्के कापा-
तिके, 'अठी विजा कुञ्जनाथिकम्' ॥ ४० १ उ० ।

अष्टि (ष) -अस्थिन्-वि० । अथोऽप्याऽस्तीत्यर्थी । प्रयोजन-
वति, प्राचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अष्टिप्राम-अस्थिकप्राम-पुं० । सनामक्याते प्रामभेदे, तत्र
वीरजिनः समवासरत् । तदेतत्सर्वमुक्तम्—

'अस्थिकप्राम' इत्याक्या, कथं जागति कथ्यते ।
प्रामोऽयं वधेमानोऽप्ये, वेगवत्यस्य नद्यभूत् ॥ १२ ॥
मयवादिपरमपुष्पांना-मनसां पञ्चभिः शतैः ।
पन्धेवो वणिक् तत्रा-यातः प्रेष्य महाद्वारम् ॥ १३ ॥
महोत्समेकं सर्वेषु, शकटेषु नियोग्य सः ।
वापनो दक्षिणान्ध्यां-स्तौ नद्यनुदत्तारयत् ॥ १४ ॥

अतिभारकपर्वणे, सोऽथान्तरमुद्रितो वृषः ।
तस्य कृत्वा विद्यायाव, प्राम्यानाकार्यं तत्पुः ॥ १५ ॥
वारिचारिकृते तथा, तेषां द्रवियमापयत् ।

पाल्योऽयमिति चोक्त्या ताव, साभुक्क स वणिक् ययी ॥ १६ ॥
प्राम्या विप्रथय तद् उच्यते, सर्वे जगदिरे स्वयम् ।
तस्यासौ निर्दयो प्राम-आरि वारि न कोऽप्यद्वारम् ॥ १७ ॥
आस्तां किञ्चित्प्रियमिति, द्यया मे प्रसिकियाम् ।
मत्स्वामिदत्तद्रव्येणा-व्येते किञ्चित् कुर्वते ॥ १८ ॥
ततः प्रेष्यमापण-सद्वृत्तमापरि सावरः ।
सोऽकामनिर्जरायोगात्, सुनृपावाधितो मृतः ॥ १९ ॥
यसोऽभूत् शूलपाठयाक्या, प्रामोऽथैव पुरो वने ।
उपयुक्तोऽथ सोऽवासीत, तद्गुणः स्वं ददौ च ॥ २० ॥
मारि तद्भाम्लोकस्य, स विभक्तं ततः कृत्वा ।
तद्गोकां मनुमारजे-ऽभूत्सर्गैरस्थिसंघयाः ॥ २१ ॥
कारितैरपि रक्षायै-भोरिणोपशशाम सा ।
प्रामान्तरव्युत्सोकाः, स तांस्तत्राप्यमारयत् ॥ २२ ॥
अभितयंस्ते तत्रस्थैः, कोऽप्यस्माजिर्दिधाधितः ।
यामस्तथैव तद्ग्रामे, तत्रसाद्वन्दहेतवे ॥ २३ ॥
अथागतास्तद्वेते, प्रचक्रुर्विपुलां बह्विम् ।
समन्ततः क्षिपन्तः प्राय, प्रामस्यान्वयुक्तमुक्ताः ॥ २४ ॥
देवा वा दानवो वाऽपि, यः कश्चिदपिनाऽऽसि नः ।
शरणं नः स एवास्तु, ज्ञाप्यत्वामाः प्रसीदतु ॥ २५ ॥
यज्ञोऽन्तरिके सोऽवादीव, ज्ञानार्थं कृत्वाधुना ।
वणिग्दृक्पथेनेनापि, तदा मोनें तुभाषतु ॥ २६ ॥
बलां सन्वाऽदं, शूलपाणिः सुरोऽभयम् ।
नेन वैरेण वः सर्वान्, मारयामि ततोऽधुना ॥ २७ ॥
तेऽथ तं भक्तिनम्राङ्गाः, दैन्यात् कस्यैवपदः ।
कृतेऽस्माभिररं मनुः, शान्त्यै च प्राम्यामदिशु ॥ २८ ॥
तद्वदेन्यात् सोऽपि शान्तस्ता-द्वेव मन्मरितास्थिमिः ।
कृत्वा कृतं तद्गुपरि, कृत्वायतनं मम ॥ २९ ॥
मथ्ये विद्याव मे मूर्ध्नि, बहोवदेस्य शैकतः ।
पूजयेयुर्ममस्येषु-स्ततो मारिः शमिष्यति ॥ ३० ॥
तथैव विद्वचुते च, मारिश्चापि न्यवर्षतः ।
इन्द्रमार्त्तं भूतिं दत्त्वा, प्राम्यैस्तस्यार्थकः हतः ॥ ३१ ॥
वीह्यास्त्रिकृतं पथिकै-रस्थिप्राम इतीरितः ।
'अस्थिकप्राम' इत्याक्या प्रामस्तस्य तदाधभूत् ॥ ३२ ॥
प्रा० क० । कल्प० । प्रा० कृ० । प्रा० म० ॥ ३० । प्रा० ।
अष्टिकपञ्चन-अस्थिकपञ्चन-पुं० । अस्थिबहुले कल्पपरभेदे,
प्रका० १ पद ।

अष्टिकद्विप-अस्थिकद्विप-वि० । अस्थिद्वयः कद्विपम् । कीक-
शैरमृद्विपि, न० ।

कठिनास्थिक-वि० । कठिनाभि अस्थिकानि यत्र तत्तथा ।
अमृद्विकीकशके, "अष्टिककठिणे सिररहाक्येण" तं० ।

अष्टिक-अस्थिक-न० । इदुके, प्रश्न० ३ प्रा० ३० । कापालिके,
पुं० १० २ उ० । अथकवीर्ये अतिपत्ते कले, न० । वृ० १ ३० ।

प्रा (अ) थिक-न० । अस्थेत् इत्यथो मोक्षः, स प्रयोजनम-
स्येत्याधिकम् "तद्व्यय प्रयोजनम्" इति उक्तं । अथवाऽर्थैः स
पथ प्रयोजनरूपोऽप्यास्तीति अर्थिकम् "अत इतिनमो" ५।१।
११। । इति उक्तं । उच्य० १ अ० । मोक्षोपायकं, "पलवा हा-

प्रवसन्ति, विवर्णं अद्विष्टं सुयं " उच० १ अ० । प्रमिज्ञाविधि,
सुय० १ ब० ३ अ० ३ उ० ।

अद्विष्टान्न (ष) कृत्तुद्विष्ट-अद्विष्टकक्षाश्लिप्त-वि० । अद्विष्ट-
काम्येव कक्षाणि, कान्तिर्यथाधर्म्यान्, तेषु यदुत्पन्नं तत्तथा ।
कर्मिकीकरोम्यः समुचिते देहे, ज० ६ श० ३३ उ० ।

अद्विष्टम्यसिरसा-अद्विष्टम्यशिरसा-श्री० । अस्थीनि च
अर्थं च शिरसाश्च स्नाययो विघ्नते यस्य स तथा, तद्भाषस्तत्सा ।
अद्विष्टम्यदोरामाप्रशालित्ये, (धनानगरस्य) 'अद्विष्टम्य-
सिरसाय पश्चामिति षो चेष भं संस्रोगियसाय चणं अग्रमारं'
अद्विष्टम्यशिरावसया प्रजायेते तद्भ्रूयादावेताविति, न पुनर्मा-
ससोपिगतवसया, तयोः क्लीणत्वादिति । अग्र० २ वर्ग० ।

अद्विष्टम्यावषण्ड-अद्विष्टम्यावनिष्क-त्रि० । अस्थीनि चमांश-
नकानि यस्य सोऽद्विष्टम्यावनिष्कः । हस्त्यावम्येत्तनकीकक्षाके,
" अद्विष्टम्यावषण्डे किमिदिकद्विष्टय किसे घममणिसंयत यावि
होत्या " ज० २ श० १ उ० ।

अद्विष्टयुक्त-अद्विष्टयुक्त-न० । योषप्रतियोषयोश्चरिस्थितिः संम-
हार, ज्ञा० १ अ० १ अ० ।

अद्विष्टजाय-अद्विष्टजाय-न० । अद्विष्टं च त्वं ध्यायं चाभिनवा
श्यामर्त्तकृतम् । आपादितवप्यायान्दरेऽस्थिति, म० ५ श० २ उ० ।
अद्विष्टाममय-अद्विष्टाममय-न० । हस्त्यावसायते, तं० ।

अद्विष्टमणिसंतामसंतय-अद्विष्टममनिम्नानसन्त-त्रि० । अ-
द्विष्टममयः सन्मानेन परम्परया सन्तं ध्यायं यत्तद्विष्टमम-
नित्यसन्तम् । अद्विष्टममनिरम्परया ध्याते, "अद्विष्टमणिसंताम-
संतयः सत्यमो संमता परिसमंतं च" तं० ।

अद्विष्टजन्-अद्विष्टजन्-न० । कीकक्षाजन्मनकपे शरीरद्वारे,
प्रअ० १ आध० हा० ।

अद्विष्टिना-अद्विष्टिमिज्ञा-श्री० । अस्मिन्धरस्य, स्था० ३ ज०
५ उ० । तं० ।

अद्विष्टिनाशुभारि (ष)-अद्विष्टिमिज्ञानुभारि-त्रि० । अस्मि-
न्मिज्ञान्तघातुश्यापके, स्था० ६ ज० ।

अद्विष्टिनाशुभारिगर्त्त-अद्विष्टिमिज्ञामेनानुभारिगर्त्त-त्रि० ।
अस्थीनि च कौकशाति मिज्ञा च तमम्यवर्तधातुरद्विष्टिमिज्ञा-
स्ताः प्रेमानुभारिणे सार्वभृत्प्रवचनप्रतिकल्पसुद्विज्ञाद्विरागेण रक्षा
द्वे रक्षा यथां ने तथा । अथवाऽस्मिन्मिज्ञासु जिनशासनगतमेमनु-
भारिणे रक्षा येने तथा । म० २ श० ५ उ० । अस्यकल्पयासितान्तक्षे-
तःसु, सुब० २ अ० ७ अ० । "स्यमानुसो निःशेषं पातयणे अद्वि-
ष्टय परमंते सेसे अण्डे" इत्येषमुल्लेखेन सम्यक्त्वेषु, ज्ञा० ५
अ० । दशा० । दशै० । रा० ।

अद्विष्ट-अद्विष्ट-त्रि० । वाऽद्विष्टे, उच० १ अ० ।
अद्विष्ट-त्रि० । अव्यवस्थिते, प्रअ० ३ आध० हा० ।

अद्विष्टकल्प-अद्विष्टकल्प-पुं० । क० स० । अनवस्थितसमा-
चार, पञ्च० ।

अद्विष्टकल्पानिधानायाह-

उसु अद्विष्टो ल कपो, एतो मज्जिमज्जिणाय विण्णेओ ।
एो सययेवणिज्जो, अण्णिव्वेवसरुवो चि ॥ ७ ॥
वदसु दर्शविचयमाणकपेषु पदेषु, अद्विष्टस्तु अनवस्थितः पुनः
कल्पः समाचारः, (एतो ति) एतेभ्य एव दशः एवः पदेभ्यो, मन्था-

मां मध्यमजिनामां, तत्साधूनामित्यर्थः; विक्रयो ज्ञातव्यः । कुतो-
ऽद्विष्टतोऽयमित्याह—नो नैव, सततसंवेनीयः सदाविधेयो,
दशःस्थानकपेषुकेषु । एतद्विष्टं कुत इत्याह—अनित्यमयोवा-
सकपोऽनित्यव्यवस्थास्वजाय इति कृत्वा । ते हि दशानां स्था-
नानां मन्थाव कानिचित् स्थानानि कदाचिदेव पालयन्तीति
भाव इति गाथायाः ॥ ७ ॥

वदस्त्ववस्थितिः कल्प इत्युक्तमयं तानि दर्शयन्नाह—
आचेलव हुहेसिय-परिमकमणरायपिदमासेतु ।

पञ्जुनणाकृष्यामि य, अद्विष्टकपो धुणेयव्णो ॥ ८ ॥

आचेलकपोऽपि कप्रतिकमणराजपिदमासेतु प्रतीतेषु विप-
यदुनेषु, पर्युत्थलाकल्पे च वर्षाकालसमाचार, चः समुच्चय ।
अद्विष्टकल्पोऽपिहितार्यो (सुयेयथो ति) ज्ञातव्य इति
गाथायाः ॥ ८ ॥

एवामपि शेषवदेषुकेषु स्थितकल्प एवेति दर्शयन्नाह—
सेसेतु द्विषकपो, मज्जिमगाणं पि होइ विण्णेओ ।

च उतु त्रिता उतु अत्रिता, एतो चिचव भणियपयेतु ॥ ९ ॥

शेषेषु तु प्रागुक्तैः च वदस्त्वोऽन्वेषु पुनः शब्दातरपिण्डाविषु,
स्मितकल्प इत्यर्थः, मध्यमकालामपि श्राविशतिजिनसाधूनामपि
न केवलमाद्यचरमाणो, भवति स्याद्, विक्रयो ज्ञातव्यः । उक्तमेवा-
थेमानेन समर्थयन्नाह—चतुषु स्थानकेषु शब्दातरपिण्डासु, स्मि-
ताः परिहारादितोऽद्विष्टानाः, वदसु आचेलकपोऽपि अद्विष्टता
अनवस्थिताः कादाचित्कारिहारादितो मध्यमजिनसाध्यः,
अत एव पूर्वोक्ताथेषुशब्दे, जगिणसुजमागे, एतत् इदम्,
अनन्तरयेकम् । तुशयः पुरणे, इति गाथायाः ॥ ९ ॥

शेषेषु स्थितः कल्प इत्युक्तमथैतेदेव स्पष्टयन्नाह—
सिञ्जापरपिदंमि य, चाउज्जायि य पुरिसज्जेतुं य ।

किन्तिकम्पस य करणे, त्रियकपो मज्जिमाणं पि ॥ १० ॥

शब्दातरपिण्डे च प्रसिद्धे, तथा अनुर्था परिग्रहविरत्यन्तर्ह-
तत्राक्षर्यत्वेन चतुःस्थानानां यामानां व्रतानां समाहारश्चतुर्थीयम्,
तत्र च; पुरुष एव अंगः पुरुषअंगस्तत्र च, कृतिकर्मणश्च वन्द-
कल्प; अथवाः समुच्चयायाः । करणे विधाने, स्थितकल्पः प्रतीतः,
मध्यमकालामपि श्राविशतिजिनसाधूनामपि न केवलमाद्यचरमा-
णामिति गाथायाः ॥ १० ॥ पंचार० । उचिष० । पं० आ० । पं० चू० ।
('अचेल' शब्देऽस्मिन्नैव भागे १०८ पृष्ठे अद्विष्टकल्पं
व्यकचित्तरः)

अद्विष्टा वोच्यन्ति अद्विष्टं कपं ।
संवेवपिद्विष्टं, जह जणियमणंताणणीहिं ॥

वत्ये पाए गदुणे, उक्कोसजहसगमि अत्रिओ तु ।
त्रियमद्विष्टे विसेसो, परुविता सच कपाम्मि ॥

कयाणिय य पाताणिय य, मज्जिममित्थंकराण कपाम्मि ।
वदसुपमाण वेणे, अद्विष्टकपो समपरमाओ ॥

मोक्ष्णकृत्ये पि वत्ये, अचारमपन्नं रुजगजेहसं ॥
एतो य मतमइसं, उक्कोसमोअं तु णायव्वं ॥

जहणग अट्टारसगं, वत्ये पुण साहुणो अण्णणातं ।
एतो अतिरिचं कपं, णाणुमातं भवे वत्थं ॥

जिणवेराणं पूर्णं, अहुया वोच्यन्ति आणुपुर्णीए ॥

षं जन्थ जडा णिवयति, समासतो तं जहा मुणसु ॥
 जिणयेराणं कप्यं, जम्हा उड्डितमि अट्टिए चव ॥
 तित्तअड्डितकप्पाणं, तम्हा अंतगता एते ॥
 जं तु विसेसो एत्थं, तं तु समासेण णवरि वक्खामि ॥
 जिणयेराणं कप्ये, जिणकप्ये ता इयं वोचं ॥
 दुयसत्तणे तियचउ-ककेगस्स अरूच्छएगउदेणं ।
 अब्बि होज्ज क्कालकरणं, पुणारावत्तं ण वि य तस्सि ॥
 पिंममणा उ सत्त उ, हवति पाणेमणा उ सत्तव ।
 चउ सेज्ज वत्थ पाते, तिसे ते चउकगा हौति ॥
 दोल्लादिमाउ सत्तसु, अवरणेउं सेसमायं च ।
 अरूच्छ होति उदेदो, दो दो अब्बणं चउकेसु ॥
 गेएहंति उवररिमासुं, तत्थ अति पेसु अस्सतरियाए ।
 डेड्डिला पुण गेएहति, त्ति विकरे क्कालकिरियं तु ॥
 अणजिगहणे णविता, गिए हंति विही तु एम जिणकप्ये ।
 अट्टया उ थेरकप्यो, वोचंअमि विहि समासेणं ॥
 गहणे चउव्विहंमि, विनिए गहणं तु परमजचेणं ।
 जं पाणवीयरिट्थं, हवेज्ज तरमाणए सोहं ॥
 गहणं चउव्विहंती, वत्थं पातं च मज्ज आहारो ।
 एतेसि अमनीए, गहणं पदमं तु चियसस ॥
 वितियं पातं जण्णति, किं कारणे तस्स गहण पदमं तु ।
 तेष वि षो वान्निपडिमा-गिहि भायण भोगहाणी य ॥
 अहवा चउव्विहं तू, असणादी तेष भोज्जगहणं तु ।
 तत्थ तु वितियं पाणं, तस्स तु गहणं पदमत्तण ॥
 अमनीए फामुयस्स, वसहिए एकं उविय सट्टिए वा ।
 किं कारणे तेष विणा, आसुं पाणक्खमो होज्जा ॥
 तरमाण गेएहंती, सुच्छं अतरं पट्टये संथरे ।
 संथरं तो तु गेएहति, पावति सट्टाणपच्छिन्नं ॥
 सेत्तं दुए दसए व, अरणेण उाणेण वा भवगहणं ।
 एसो चि मादिरिन्त्तं, उग्गमउप्पायणोसणासुच्छं ॥
 जणियं ति कप्यति ती, तस्स अमनीए असुच्छं पि ।
 एनो तु थेरकप्यो, पं भा ॥
 इयाणि अट्टियकप्यो । तत्थ माहा- 'वत्थे पाव' ति । वत्थाणि सय-
 सहस्समेज्जाणि वि चेपति, मज्जिमाणं तिथगगणं, संसं पुण जं
 उियकणियणं अणियं तं भाणियसंभं । जहा-सत्तबहकप्ये ताभो
 च्व, गशो पस् उियकप्यो । इयाणि जिणकप्यो । तत्थ माहा- 'दुय-
 सत्तणे' ति । सत्त पिंममणासो, सत्त पाणमणासो अहवा पि-
 रचउगहपदिमासो य, तियचउके सेज्जपदिमासो य उ वत्थप-
 डिमासो उ पायपदिमासो उ एयासि अरूच्छेसो उा इ अउ वण-
 कणं सेसाहिए संति आहागइ पयासु पसमाणा जइ न ज्ञानंति
 तो अविक्कालाकरिया होज्जा, न थ इत्थिआसु गेएहति, एस जि-
 णकप्यो । इयाणि थेरकप्यो । माहा- 'गहणं चउव्विहंमि' ति । वत्थं
 पायं आहारो सेज्जा चउएहावि असइ, पदमं पायं चेपइ, किं का-
 रणं, तेष वि पदिमा च्व, अहवा असणाई पदमं, तत्थ विदयं पा-

णगहणं परमपयंणेणं सयमाणो, पदमं संवरमाणो तसपाणुबी-
 यरहिया कंदमुलरहिए गेएहइ, अंतरं तो पुण तसपाणुसाहिए वा
 बीयकंदमुलसाहिए वा गेएहइ, किं कारणं ? तेण विणा आसुं पा-
 णक्खमो होज्जा, तरमाणो सुच्छं गेएइजा, अतरं तो पेहेज्जा । माहा-
 'सत्त दुय (तिथि पिंममणापाणसणाभो दसए)' ति । दस, एसणा-
 दोसा । 'अणगहाणे (ति) उग्गमाअइ न दस संसलस । 'एसो चि'
 मादिरिन्त्तं नाम उग्गमउप्पायणएसणासुच्छं, तविवरीयं जं एतेहि
 जेय उग्गमाईहि असुच्छं, तं गेएइजा गच्छसारक्खणहउं, गच्छ-
 वासीहि अणियं नामकारणे कप्पइ, इयरधान कप्पइ । एस थेरक-
 प्यो । पंचू । (अस्थिनकउपसक्काइ जिनस्थाविरकहवाव्युत्ती)
 अट्टियकप (ण) अस्थितात्म्यु-त्रि० । अस्त्वलाचिचतथाऽस्थि-
 स्वजाव, " अट्टियया अविस्ससि" उत्त० २३ अ० ।
 अट्टियरक्ख-अस्थिसरजस्क-पुं० कापालक, व्यं० उ उ० ।
 अट्टियुवा-अस्थियुवा-स्त्री० अस्थ्यां सुखतेतुवाइस्थिसुखा ।
 स्त्री० अस्थ्यां सुखकारिण्यां संवाधनायाम्, कल्प० ।
 अट्टुत्तर-अट्टोत्तर-त्रि० । ६ ब० अट्टाभिगंधिके, "अट्टुत्तर सयस-
 हस्सं पाइदानं दसयति" अट्टोत्तरं शतसहस्रं अकं रजनस्य
 तुष्टिदानं ददाति स्मति । अं० ।
 अट्टुत्तरमयकइ-अट्टोत्तरज्ञानकउ-पुं० शशुउजयपयंते, तस्य ता-
 वत्प्रमाणाकूटयान् । ती० १ कल्प० ।
 अट्टुत्पात्त-अट्टोत्पात्त-स्त्री० अट्टयम्यात्पात्तिस्यस्मात् । व्यवहारः
 अथो व्यवहागद्वयपद्यते इति तस्य तथात्मम् । व्य० २ उ० ।
 अट्टुत्साम-अट्टोत्साम-पुं० अत्तमस्कां, "अट्टुत्सामे अहवा
 अरुग्गमाहाइ उडावजा" प० व० २ टा० ।
 अट्टुत्तं-अट्टोत्तमेय-त्रि० । अट्टो योजनान्युत्सेध उच्छयो ये-
 पां ते तथा । अट्टयोजनं च, "चक्रउपेच्छाणा अट्टुत्सेहा य"
 स्था० ६ टा० ।
 अट्ट-अट्ट-धा० गतौ । इवादि०, सक०, पर०, सेट् । वाच० ।
 ' अरंति संसारे ' प्रश्न० १ आश० टा० ।
 अट्ट-पुं० लोमपकिभेदे, जीव० १ प्रति० । प्रश्ना० ।
 अट्ट-पुं० । अट्ट-अट्टत् । " यावत्तावज्जीवितायसं मानावट्ट-
 प्रावारकदेवकूलैवमेवैवः" = । १ । २७ । इति सुवेण अन्तर्वर्त्त-
 मानस्य यस्य लोपः । कृपे, प्रा० ।
 अट्टउत्तमिअट्ट-देवा-पुण्यायिते, विपरितरते च । दे० ना०
 १ वगे ।
 अट्टउत्त-अट्टात्त-त्रि० । अग्निज्ञारदिना भइमवदकरणीये,
 "नश्चो अट्टेजा पमसा । ते जहा-समए पयसे परमाणु" स्या० २
 टा० ४ उ० । "अउउकुकुअट्टुत्तुवधे य गुणा भणिया"
 दश० १० अ० ।
 अट्टउत्त-अट्ट-न० । अतुरशीतिलकृणितेऽट्टाट्टे, स्था० २ टा०
 ४ उ० । "चउरासीई अट्टमंगसयसहस्साई से एगे अट्टमे"
 अतु० । जी० अ० । जं० । कर्म० ।
 अट्टमंग-अट्टाट्ट-न० । अतुरशीत्या लकृणिते नृदिने, "चउ-
 रासीई तुकिंसयसहस्साई से एगे अट्टमंगे" अतु० । वाचना-
 न्तरमतेन अतुरशीतिलकृणिते महाभूदिने, ज्यो० २ पाहु० अ० ।

अक्षर-अक्षर-न०। अक्षरे, गमने च । इथा०६ डा०। प्राग०। च०।
अक्षर-देशी-मार्ग, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्षरपद्धाण-देशी-न०। आटेपु स्वनामप्रसिद्धेऽप्यत्र चिह्निरिति
कथते बाह्वन्मेवे, जी० ३ प्रति० ।

अक्षरभाण-अक्षर-वि०। गच्छति, "अणासो संवत्सरकर्मणसि
अक्षराभे " आ० म० प्र० ।

अक्षरपा-देशी-असत्याम, दे० ना० १ वर्ग ।
अक्षरपा-देशी-असत्याम, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्षरपाल-अष्ट (ष्ट) चत्वारिंशत्-वि०। अष्ट च चत्वारिंशच्च,
अष्टाधिका वा चत्वारिंशत् । (अष्टतालिस) इष्टपञ्चशतमिति,
आव० ।

अक्षरपाल-देशी-प्रयंसायाम्, प्रहा० २ पद । जं०। स०।
जी०। प्रथ०।

अक्षरपालकयवणमाल-अष्ट (ष्ट) चत्वारिंशत्कृतवनमाल-वि०।
अष्टचत्वारिंशद्भेदा विच्छिद्यः कृता वनमाला येषु तानि
अष्टचत्वारिंशत्कृतवनमालानि । अष्टचत्वारिंशद्विधिविच्छेद्यवृत्त-
मालायुक्तेषु, जी० ३ प्रति० ।

अक्षरपालकृतवनमाल-देशी-'अक्षराय' शब्दो देशीवचनन्वा-
प्रसंसावाचोत्पन्नपदमेव निरूपितम् । तेन कृता वनमाला येषु
तानि । प्रथमकृतवनमालेषु, जी० ३ प्रति० । अष्ट० ।

अक्षरपालकोत्तर-अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकचित्त-वि०। अष्टच-
त्वारिंशत्तन्मिथविच्छिद्यकचित्ताः कोष्ठका अप्यवरका रचिताः
स्वयमेव रचनां प्राप्ता येषु तानि अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचितानि ।
सुखादिगणेषु दर्शनायासिको निगलनस्य परनिपातः ॥ " अक्षर-
पाल' शब्दो देशीवचनन्वा प्रसंसावाचोत्पन्नः । प्रहा० २ पद ।
अष्टचत्वारिंशद्भेदाविच्छिद्यकचित्तोपुचरचितेषु, " अक्षर-
पालकोत्तरस्या अक्षरपालकयवणमाला " स० । जं० । जी० ।

अक्षरवि-अक्षरवि (र्त्वि)-स्त्री०। अक्षरं वि मृगयापाथिनो यच्च ।
अक्षर-प्रवि, वा क्षीपः कान्तरः । इथा०४ डा०२ व०। अक्षरस्ये, तं०।
तन्नेदाः सव्याख्याता-

" अक्षरं सपर्वण्यार्यं, घोषेऽपे वैसिप्रोवपसेणं ।
पारिथि जडिहपुरं, भयारवि यो तदा जीवा ॥ १ ॥
पारिथि भिन्नुहपुरं, जिष्णोवरेणैव च्वेव गणेशं ।
अक्षरं ई दिसिअक्षं, पवं नेत्रं जिष्णुपादानं ॥ २ ॥
इहाटपी शिवा-कृत्यापथी, ज्ञावापथी च । तयोः कथा-
इहास्ति हास्तिकाश्वीय रथपादादिसंज्ञकम् ।
यस्यनपुरमुवीर्य-अप्यधःकारि यद्विद्य ॥ १ ॥
साथेवाहो धनस्तत्र, गर्भुं देशान्तरं प्रति ।
प्रकलितः कारव्यामास, घोषणां पुरि सर्वतः ॥ २ ॥
यः कोऽप्यस्ति विष्णोः सः, सर्वोऽप्येवमु भवा सः ॥
मिथिठानां च सर्वेषा-आम्बम्मार्गमुणान् ॥ ३ ॥
तत्रैकः सरसोऽप्याऽप्ये, चक्रमैरेणम गच्छते ।
मनाक्ष सुखेन किं निषे-पुरावातिभिराङ्गवेप ॥ ४ ॥
यः पुनः सरसः बन्धा, अन्ते मिथि स्तोऽपि च ।
गम्पते सखरं तेन, कष्टेन महता परम् ॥ ५ ॥
सत्रादितोऽपि मार्गं स्तः, सिंहव्यामौ विज्रीषणी ।
भीतानां त्यक्तमार्गानां, ताचनधांश्च भावयथा ॥ ६ ॥

इष्टपूर्वैर्नैव यावत्, तावन्ती चानुयाधतः ।
तत्रैकं तरयः सन्ति, पत्रपुष्पफलाद्भृताः ॥ ७ ॥
तच्छायास्वापि विभ्रान्ति-नै कार्यं सृष्टये हि ताः ।
ये जीश्रीश्रीयोगीश्वराः, स्वधेयमीयसदाश्रये ॥ ८ ॥
मनोहृक्पलाययथा, मनोहरगिरो नराः ।
तृयांसो मार्गपार्थिवस्था-स्तत्राऽऽह्वयति वस्तसाः ॥ ९ ॥
अप्यं न तद्वधं मोक्ष्या, न प्रसिद्धका कदाचन ।
इयायानिः प्रमदन् मार्गं, विष्णोः सततोपसैः ॥ १० ॥
अविष्ण्यात्, पुनः स्वर्धे, नियमाक्षिर्हृत्स्यसौ ।
अप्रेऽपि दुर्गैः शैलोऽस्ति, सोपयोगीः स लक्ष्मणे ॥ ११ ॥
अप्यथा इहमेव तु स्वायुः, स्वसलनाधैर्मितः क्वचित् ।
पुरस्तादस्ति गुणिल-गह्वर वंशजालिक ॥ १२ ॥
सा विश्वरूप्यः ऋगित्येय, तत्रस्थानां महापदः ।
अष्टपीयानसि गत्तोऽपि, सर्वथा तत्सन्तोऽप्यः ॥ १३ ॥
द्विजो मनोरथाभिरुषा, वृक्षयेनं पुरयेति सः ।
वक्षस्तथावमतरत्यं, पूर्वैः स्तोकोऽपि नैव सः ॥ १४ ॥
वर्द्धते पुर्वमणः सः, कनिष्ठैः शन्यमानवत् ।
तथा पञ्चमकाराणि, सिन्धुमुखाणि वर्णतः ॥ १५ ॥
न प्रेक्षयानि न अष्टयावि, किपाकावां फलानि च ।
हाविशिताः करालास्तु, वेतासा विद्वन्ति च ॥ १६ ॥
न गगयास्ते तथामार, इहाइतास्तत्र बुद्धिमाः ।
ह्यौ यामौ निद्रयपि स्थायः, सर्वदाऽपि अग्रयणम् ॥ १७ ॥
वृक्षत्रिभ्रमभ्रान्त-मदर्थं कलुषते सद्युः ।
प्राप्यते पुरमिष्टं च, तत्र चाऽऽसाद्यते सुखम् ॥ १८ ॥
तत्र क्वचित् समं तेन, प्रवृत्ताः सरलाप्यना ।
इतरेण क्वचित्, स प्रशस्तेऽपि निश्चये ॥ १९ ॥
पृथुतुगाभिलोकानां, शिशोर्वा कान्ते यद्विदुः ।
गतागताध्यामानं च, लिखन् यथानं जगाम सः ॥ २० ॥
तन्निदृशकृतो यद्वत्, द्विजितानुसुखाश्च ये ।
ते सर्वेऽपि समं तेन, संप्राप्ताः पुर्यमोस्तिवत् ॥ २१ ॥
निषिच्छकारिणां ये च, याता याध्यापति वा न ते ।
जिनन्द्रः साथेवाहोऽत्र, घोषणा चर्मदेशना ॥ २२ ॥
पायथाः संसारिणो जीवा, भवां ज्ञायावतो पुनः ।
क्रान्तुमायः सापुत्रमं, ग्रहिवान्तुपुत्रोपपत्ताः ।
सिंहव्यामौ रागद्वेष्ये, वासनायीतुपाभिनौ ॥ २३ ॥
वसत्यः कृपादिसंस्काराः, सर्ववृक्षच्छायाया समः ।
अवृत्तुक्षीपमानास्तु, निरवद्याः प्रतिभयाः ॥ २४ ॥
पार्थिवस्थायाः पुनः पार्थिव-स्थाह्वानुपुत्रोपपत्ताः ।
उत्तलहावानसः कांचो, मानो तुर्ममहीधरः ॥ २५ ॥
बंधुजातिः पुत्रमोया, सोमो गर्वस्तु कुन्तेरः ।
फनप्रयाश्च विषया, वेतासास्तु परीधरः ॥ २६ ॥
दुर्जेन वैषवणीयाश्च, स्थानं द्वौ प्रहरी निदिः ।
प्रयाणं तृप्यो मित्ये, मोक्षभेत्सितपत्तनम् ॥ २७ ॥
शिखादीं वर्णालिखन्, सिन्धुतन्प्रथमनिर्मितिः ।
पञ्चाशद्विमुनीन्काणान्, गतवप्यत्रसंविद्धे ॥ २८ ॥
इष्टुः प्राप्तिसाहाय्या-अप्यते साथेयो यथा ।
एवं मोक्षपुरावापुत्र-पकारो नमथे जिनः ॥ २९ ॥ आ० क० ।
अष्टविजयम्-अष्टविजयम्-न०। अष्टविजयम्-अष्टविजयम्-न०।
अष्ट० २ आश० डा० ।

अडविदेशसुदुग्वासी

अडविदेशसुदुग्वासी (कु) - अडविदेशसुदुग्वासिन्-पुं० अडवीदेशे जलस्थसुदुग्वासीषु दुग्गेषु वसति कीदृशी, प्र० ३ भा० ३० ॥ अडवि (बी) वास - अडवि (बी) वास - पुं० अरण्यवसने, " उष्णिनाप्रव्या असरणा अरवीवासं उषेति " प्र० ३ भा० ३० ॥

अदसट्टि - अदट्ट (प्टा) षट्टि - स्त्री० अद व षट्टि, अद्वयिका वा षट्टिः । (अदसत्) अद्वयिकषट्ठिसंख्यायाम्, " विमसत्स गं अरहन्ना अदसट्टि समणसामस्वीणां " स० ६ ए सम० अदाहो - देशी - तथेत्वर्थे, दे० ना० १ धर्म ।

अदिह्ल - अदिह्ल - पुं० । अमपकिनेदे, प्र० ३ १ पद् । जी० । अहो - देशी - कृपे, दे० ना० १ धर्म ।

अहोसिका - अटोलिका - स्त्री० यवनाज्यो राक्षः एतानं गर्दभराजस्य प्रतिय्याम, वृ० १ उ० ।

अहुकस - क्रिप - धा० प्रेरणे, तुदा०, उभ०, सक०, धनिद् " क्रिपेर्गस्यधाहुकस " ॥ ८ । १४२ ॥ इति सुत्रेण अहुकसादेशः । अहुकस, क्रिपति । प्रा० ।

अहुया - अहुिका - स्त्री० उपदेशमात्रकृपे शास्त्रानिकके मङ्गलं करणविशेषे, विशेष० । प्रा० म० ।

अहु - अहु - न० अह - घञ् । " अहर्कसूधार्थेऽने वा " ॥ २ । ४१ ॥ इति सुत्रेण संयुक्तस्य वा ङः । प्रा० । आटव - पि० आ - न्ये - क, पूये० । युके, शिशिष्ठे च । वान्० । अहुया परिपूर्णं, नि० । औ० । धनधान्यादिभिः परिपूर्णं, अ० २ हा० ५ ठा० सस्युक्, ज० ए हा० ३२ उ० । स्थाम् । धनयति, स्थाम् ए जाम् । महति च । संघा० ।

अहुकस - अहो - कर्त्तव्यं हस्त (पाणि) निवेशे, दे० ना० १ धर्म । अहुकसत् - अहुकस - न० । अहोरात्रप्रमितस्य केशस्य चन्द्रेण सह योगमहनुवस्तु नक्षत्रेषु, अ० प्र० । अहोरात्रिणि नक्षत्राणि च । तद्यथा - उषराजाम्रपद्मा, उषराफाल्गुनी, उषरा ५ व्यादा, राहिकी, उषरवस्तु, शिशिका च । सं० प्र० १० पाठु० ।

अहुग - आटव - पि० । युक्, परिपूर्णं च । संघा० १२ विष० । " संजनतसहुगस्त उ, अविगप्यं तहङ्कारे " प्रा० म० छि० ।

अहुग - अर्धरात्रि - पुं० । अर्द्ध रात्रिः, अर्द्ध समा० । निशीथे, " अहुरसे आगतं दारं अम्हा " प्रा० न० छि० ।

अहुडज्ज - अर्द्धतृतीय - पि० । अ० ३० । अर्द्ध तृतीयं येषां तेऽर्द्धतृतीयः । अचययेन विग्रहः, समुद्रायः समासार्थः । (अर्द्धादे) सार्द्धद्वयोः, जी० १ प्रति० । प्रहा० । " अहुडज्जसुसम्हाणसुस्सह " नं० । १० । प्रा० म० ।

अहुडज्जदीव - अर्द्धतृतीयद्वीप - पुं० । अर्द्ध तृतीयं येषां तेऽर्द्धतृतीयः, ते च ते द्वीपाश्चेति समासः । अर्द्धतृतीयद्वीपः । अर्द्धतृतीयधत्तकीकण्डपुष्करादिमङ्गले सार्द्धद्वीपद्वयं, अ० १ हा० ३ उ० ।

अहुडज्जदीवसमुद्रतदेकदेशजग - अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रतदेकदेशभाग - पुं० । अर्द्धतृतीयधत्तकीकण्डपुष्करादीद्वीपसमूहसमुद्रकाशोद्विषलमुद्राणां विभक्तिते भागं, " साधारणं षड्भुज अहुडज्जदीवसमुद्रतदेकदेशजग होउजा " अ० ए श० ३ उ० । अहुपकान्ति - अर्द्धपकान्ति - स्त्री० । अर्द्धस्याऽसमप्रतिभायक-

पस्य एकदेशस्य वा पकान्तिपदार्थस्यपकमणमवस्थानं, ये पस्य तु अद्विपसङ्घातकपस्यैकदेशस्थोऽपि गमनं यस्यां रचनायां सा समपरिभायसार्द्धपकान्तिरुच्यते । इयुक्तनिशक्तिप्रत्यां तपोरचनायाम्, विशेष० ।

अहुज्ज - अद्विप - न० । धनपरित्ये, तस्य सुखकारणत्वात्, सुखभेदे च । स्थाम् १० जाम् ।

अहुज्जया - स्त्री० । आह्वैः क्रियमाना इत्या पूजा आह्वेज्या, प्राकृतत्वात् " अहुज्ज " ति । धनिहस्तकारे, स्थाम् १० जाम् ।

अहुकग - अर्द्धक - पुं० । अर्धे ऊरुकाद् विभजतीति निदकाद् - कौरुकाः सान्ध्वानामौपमिहकोपधिबिधेये, ध० ३ अधि० । " अहुकगो उ द्रासिह वि गिरिह उ ङाप कनीभागं " अर्द्धकगोऽपि तौ द्रावपि अवप्रधानस्तकपद्मापुरिहाद् एहृत्वा सर्वं कटीभागमासाद्यति । स च मल्लचसनाकृतितः कथसुपरि ऊरुस्थं च कशावहः । वृ० ३ उ० । नि० ष् ० । पं० ष० ।

अहु - अण्य० । नभ्ये, " अण णाई नभ्ये " । ऽ । २ । १ ए० । एती नभ्ये प्रयोक्तव्यौ । " अणु सितिअममुजंति " प्रा० ।

अहु - अण - न० । कुसिन्ते, कुसितत्कारणानि कुसितानि कर्त्तव्यानि इत्यर्थानि, अणुव्यनेति व्युत्पत्त्यर्थौ । पाप, विशेष० । आ० म० । अण चयेति द्रव्यकथानुः । अणिति मण्ठति तासु तासु यानिषु औकात्म्येति । पाप, आ० म० छि० । अ० । अण्यकरणान्यादिप्रधानं, तं । अणुव्यनेन जन्तुभानुगतिकं संसाराप्रित्यणम । कर्मणि, अण्य० १ शु० २ अ० १ उ० । शब्दे, गती च । विशेष० । अण रणत्वादि द्रव्यकथानुः । अणनीवाप्रतिकर्तृत्वमेनासात्पथं नरकाधायुक्तं शब्दव्यस्त्यपणाः । कोधादिषु चतुर्षु कथायेषु, विशेष० ।

अण - न० । एकदेशेन समुद्रायस्य गण्यमानत्वाद् अन्तानुबन्धिषु कोधादिषु चतुर्षु कथायेषु, विशेष० । " अणु इत्स नपुंसिधी - येयं ङके च पुरिसयेयं च " विशेष० । आ० म० प्र० ।

अणम् - न० । शकटे, अण इय अणः शरीरे, तस्याऽन्तर्गतसाराधिना प्रयत्नीयत्वात् । औ० ष० ।

अणु - न० । व्यक्ताकारकदेवभ्ये, हा० १ २ अ० १८ अ० । अण्यकारे कर्मणि, उक्त् ० १ अ० । आच० ।

अणुह - अणति - अण्य० । अणिति अण्ययमित्यकार्ये, न अति अणति । अणतिक्रान्ते, तं ।

अणुहकमणुज्ज - अणतिकमणुज्ज - पि० । व्यतिचारयितुमशक्यं, " अणुहकमणुज्जोऽहं वागणार्हा " अ० ११ श० १ उ० ।

अणुहप्यग - अणतिकप्रकट - पि० । अणतिकमार्गं, ध० १ अधि० ।

अणुह्वरिचय - अणतिपत्य - अण्य० । अणनिकस्यर्थे, " अणुह्वरिचय सव्येसि पाणानं " प्राचाम् १ शु० ६ अ० ५ उ० ।

अणुह्वरि - अणतिवर - न० । प्राधाने, न विद्यतेऽतिवरं यस्माद्वदन्तिवरम् । सर्वभेदे, औ० ।

अणुह्वरिसोमचाररूप - अणतिवरसोमचाररूप - पि० । अणतिव अतिशयेन सोमं दृष्टिसुभ्रं आरूपं येषां त तथा । यथा - अणतिव अण्ययमित्यकार्ये, न अति अणतिः सौम्यं च तद्व्याह च सौम्यत्वात् । सौम्यत्वाद् व तत्पुं च सौम्यत्वात् । अणुह्वरि - अणतिवर - न० । प्राधाने, न विद्यतेऽतिवरं यस्माद्वदन्तिवरम् । सर्वभेदे, औ० ।

प्रत्यचाररूपं च वरसौम्यचाररूपम् । अनतीति अग्रतिकास्तं वर-
सौम्यचाररूपं येषां तं अग्रतिवरसौम्यचाररूपाः । देवमनुष्या-
दिभिः स्वभावस्थशुभादिभिरभितकयेषु, सं० । "तेषां मण्डुया
प्रवहवसोमचाररूपा भोगुत्समा" सं० श्री० ।

अण्डवापमाणा-अनापितायत्त-नि० । प्राणाद्यतिपातमकुर्वन्ति,
"अण्वकंक्षमाणा अण्डवापमाणा" आचा० २७५०५३० ।

अण्डविलोचयित-अग्रतिविलोचयित-न० । अष्टाविंशो सत्य-
वचमतिशये, रा० ।

अण्डवृत्तधाण-अनतिवृत्तधाण-न० । न अतिवृत्तधाणमनतिवृ-
त्तधाणम् । दृश० । अण्डवृत्त, "मिथ्याअण्डवृत्तधाणं सासयवुद्धं य
जयया य" पञ्चा० ७ विव० ।

अण्ड-देशी-अण्डे, दे० ना० १ वर्ग ।

अण्डम-अनन-न० । नास्ति अण्डमाकारो यच्च । आकारो, चित्ते
वा । अण्ड० । अण्डकर्मिथुनापेक्षायां भोमिहं हं च, तद् अतिरि-
क्तान्यनङ्गानि । कुचकक्रोडवदनाधिपु, पञ्चा० १ विव० । आहा-
र्ये शिङ्गादी, स्था० ५ ग्रा० २ उ० । मोहोद्येद्ये नृत्ततामिथुना-
ध्ययसायाक्ये कामे, अण्ड० ६ अ० । स च पुंसः-श्रीगुणपुंसक-
लेनैवचडा, हस्तकर्मोदीचडा वा, वैदोमयात् । तथा-श्लियोऽपि पु-
रुवपुंसकश्रीसेवेचडा, हस्तकर्मोदीचडा वा । नपुंसकस्यापि-नपुं-
सकपरपुंसश्रीसंयनचडा, हस्तकर्मोदीचडा वा । प्रव० ६ ग्रा० ५० ।
कामवेद्ये, पु० । एक० काश । आनन्दपुं नगरे जितारिद्राजस्य
विश्वसत्यां आर्यायां जाते पुत्रे, रा० २ अण्ड० ७० ।

अण्डगकिट्टा (कीटा) -अननङ्गकीटा-श्री० । अनङ्गानि कु-
चकक्रोडवदनादीं नि तेषु कीडानमनङ्गकीटाः । योनिमेहनयोरेव्यत्र
रणे, पञ्चा० २ विव० । अण्ड० । अनङ्गो मोहोद्येद्येभूतस्तीमो
मैथुनाध्ययसायाक्ये कामो भयन्ते, तेन तश्चिन्मा वा कीटा
अनङ्गकीटा । समासप्रयोजनस्थायि स्थलिक्रमाऽऽहार्यः काष्ठ-
पुस्तकलक्षणिकाचमोदीचडित्प्रयो जनेयोपिद्वयच्येऽदेशीसेव-
ने, अण्ड० ६ अ० । पञ्चा० । स्वयङ्गुन कृत्तृयोऽपि योपि-
तामवाच्यदेशं नयो ज्ञयः कुञ्जाति । केशाकर्षणप्रहारदानदन्त-
नकवर्धनादिप्रकर्विभ मोहनीयकर्मवशात्तथा कीरति यथा
प्रमहो रागः समुज्ज्वलन्ते इति तन्वम् । प्रव० ६ ग्रा० ५० ।
अण्डः कामस्तप्रधाना कीटा, परद्वारेषु अघरदशनासल्लिङ्गा-
दिकारण, वास्याप्यनापुच, चतुर्धातिरुक्त्वासेवेने च । अ० २
अधि० । अनङ्गकीटनमप्यत्र । पञ्चा० १ विव० । अण्डं च स्वदार-
संयुक्तयोः अण्डतयोर्वाऽऽतिचारः आणकणेन न समासवदित्यर्थः ।
अतिचारताऽस्य स्वदारन्योऽप्यत्र मैथुनपरिहारेणानुरागादा-
दिङ्गादि प्रतमालिप्यादिति । उपा० १ अ० ५० १० । अण्ड० ।
असादावर्धेक्रयालक्षणं सम्राटकामभेदे, प्रव० १६९ ग्रा० ।
"अण्डवर्धे गा अण्डवृत्ता यस्याः साऽनङ्गकीटा" इत्युक्तलक्षणं
मात्रावृत्तभेदे, वाच० ।

अण्डगपानिसिविणी-अननङ्गप्रतिसेविनी-श्री० । मैथुने प्रधान-
मङ्गं मेहनं अण्डं, तन्मतेवधोऽनङ्गव, तेनाऽनङ्गनादार्थ्यल्लिङ्ग-दि-
ना, अनङ्गं वा मुक्तादी, प्रतिसेवास्तित् यस्याः अनङ्गं वा काम-
मपरागपुरुषसंपर्कताऽतिशयेन प्रतिसेवत स्व्येशीला अनङ्ग-
प्रतिसेविनी तथापिधवयाद्यत् आहाऽथ्यल्लिङ्गदिना, मुक्तादी वा,
बहुपुरुषैर्वा मैथुनप्रतिसेवमानायावः एतादृशी श्री गर्भे न चार-
यति । स्था० ५ ग्रा० २ उ० ।

अण्डगपारिष्ट-अनङ्गपारिष्ट-न० । सविरिरेन्दबाहुस्यामि-

प्रभूतिभिराचार्यैरुपनिबद्धे आचर्यकनिष्ठ्युक्तयोर्भुविशेषे,
आ० म प्र० । नो० वृ० विंश० । ("अण्वपिचि" शब्देऽप्ये ज्ञेये
३० पुष्टेऽस्य विदोषस्वकवचमुक्तम्)

अण्डगंमंजरी-अनङ्गमंजरी-श्री० । पृथिवीचूदनरनाथस्य
रेखायां सुतायाव, दृश० ।

अण्डगंमेश-अनङ्गमसेन-पुं० । सुषणकारभेदे, 'कुमारनदी'
इति तस्य नामांतरम् । वृ० ४ घ० । (तत्कथा 'दससर' शब्दे
दशोपिप्यते) ग० २ अण्ड० । नि० । सं० ।

अण्डगंमेषो-अनङ्गमेषो-श्री० । कृष्णवासुदेवसमये द्वारवतीजा-
तायां प्रधानगणिकायाम्, आ० वृ० । नि० । अन्त० । आ० म० ।

अण्डत-अनन्त-नि० । नाऽस्यान्तःस्तीत्यन्तः । निरवयवनाश-
नामद्वयमाने, अपरिचिते, निरवधिके च । "अण्ते निदृष्ट लोप
सास्येण विणस्सति" भावत्याऽऽस्तीत्यन्तः । न निरवयवना-
शेन नश्यतीत्युक्तं प्रवर्तति । नृश० १ शु० १ अ० ४ उ० । न० ।
अङ्कव, प्रअ० ३ आ० ४ ग्रा० । अपर्येवसाने, दृश० । वृ० ० ।
नाऽस्यान्तो विद्यत इत्यन्तम् । केवशाप्रमोऽनन्तत्वात् । ह० ।
रा० । प्रअ० । अनन्ताधेयवयवत्वाद् वाऽनन्तमन्तरहितम्, अप-
र्येवसितत्वात् । दृश० १ अ० । स्था० । अनन्तापिचयङ्गान-
स्वरूपत्वात् । सं० १ सम० । अविनाशित्वात् । जं० २ वङ्ग० ।
केवलज्ञाने, आ० १ शु० ० ग्रा० । आकारो च, (न०) तस्यान्तव-
ञ्जितत्वात् । अ० १ श० १ उ० । भरतहोत्रेण अयसर्पिण्याभ-
नुर्देशे तीर्थकरे, अनन्तकर्मोशजयाऽनन्तः । अनन्तानि वा ज्ञा-
नादीनि अस्त्येति । "सत्येहि वि अणता कामेसा जिवा सत्येसि
च अयेनाणि पाणादीनि वि अणयिचिचमपन्ते दामं सुमिणे
ततो अणते" रत्नविधिर्ब रत्नसञ्चितमनन्तमिति महाप्रमाणं दाम
स्येन जनन्या दृष्टमन्ते मतोऽनन्त इति । आ० म० १ि० । अन-
न्तान् कर्मोशार जयति, अनन्तौ ज्ञानादिभिजिपयति अन्तन्तिज् ।
तथा गर्भेऽप्ये जनन्याऽनन्तरत्नदामि हृष्टे जयति च त्रिजुलनेऽप्य-
न्तजिज्, भोमो प्रीमसेन इतिवदन्त इति । अ० २ अण्ड० ।
(अनन्तक्रियाऽन्तरादि 'तिथ्यवर' शब्दे वच्यते) साधार-
णजैने, प्रअ० १ आ० ५० ८० ।

अण्डतद्-अनन्तान्त-पुं० । अयसर्पिण्याभनुर्देशे तीर्थकरे,
अ० २ अण्ड० ।

अण्डतम-अनन्ताश-पुं० । अनन्ततमोऽशो भागोऽनन्ताशः । अ-
नन्ततमे भागे, विंश० ।

अण्डतकर-अनन्तकर-नि० । संसारपारमगमाऽसमये, "तेणानि
संज्ञोगमिप्यपहाय, कायोवगा णंतकरा जनेति" । कायोवगास्त-
द्वयमदोरमभ्रभुलाः संसारस्यान्तकराः स्युः; संसारस्यान्त-
करा न भवन्तीत्यर्थः । नृश० २ शु० ७ अ० ।

अण्डतकाइय-अनन्तकायिक-पुं० । अनन्ताः कायिका जीवा यत्र
तदनन्तकायिकम् । अनन्तजीवे वनस्यतिनेद्रे, अ० २ अण्ड० ।
पं० अ० । (लक्षणदि चार्य 'अण्तेजवी' शब्दे वच्यते) ।
अण्डतकाय-अनन्तकाय-पुं० । अनन्तजीवि वनस्यती, पु० ० ४ ग्रा० ।

अण्डतकाल-अनन्तकाल-पुं० । अपर्ययसितकाले, प्रअ० ३
आ० ४ ग्रा० ।

अण्डतकिति-अनन्तकिति-पुं० । धर्मदासगणपरनामक उपदे-
शमत्ताकृति आचार्ये, जं० ६० ।

अर्णतसुतो-अन्तकृष्यन्-अर्ण०।अन्तवाराणित्यर्थः । " अ-
इ षं अंते । जीवे णेरस्यस्य एवयवपुत्रे हंता गोयमा । असति
अनुवा अर्णतसुतो " ज० १२ श० १६ उ० ।
अर्णतम (य) अर्णतक-न० । गणनासंख्याभेदे, स्था० ।

तद्यथा—

पंचविदे अर्णत पष्ठाचे । तं जहा-णामार्णतए, ठवर्णाणं-
तए, दव्वार्णतए, गण्णाणंतए, पपसाणंतए । अइहा पंच-
विदे अर्णतए पष्ठाचे । तं जहा-एगम्भोणंतए, दुहुआणंतए,
देसविन्वाराणंतए, मव्वविन्वाराणंतए, सासयाणंतए ॥
पंचविदेत्यादिपुत्रकृत्यं प्रतीतार्थम्, जवरं, नाम्ना अनन्तकं नामा-
नन्तकम्, अनन्तकमिति यस्य नाम यथासमयज्ञापयाइवस्थ-
मिति । स्थापनीयं स्थापनया वा अनन्तकं स्थापनाऽनन्तकम्,
अनन्तकमिति कल्पयनाइतिव्यासः कुरारोवादिव्यतिरिक्तम्,
द्रव्याणामाशयार्थानां गणनीयानामनन्तकं द्रव्यानन्तकं, गणना
संख्यानां तल्लक्षणमनन्तकमायिक्रिनाऽत्यादिसंख्येयविषयः सं-
ख्याविशेषो गणनानन्तकम्, प्रदेशानां संख्येयानामनन्तकं प्रदेशा-
नन्तकमिति । एकत एकैर्नाशेनायामल्लक्षणानन्तकमेकतोऽनन्त-
कम्-एकश्रेणीकं क्षेत्रम्, क्रिया सायामयिस्ताराभ्यामनन्तकं क्रिया-
ऽनन्तकं-प्रतरं क्षेत्रम्, क्षेत्रस्य यो ठवकापेक्षया पूर्वोच्यतेतरदिग्ग-
ल्लपो देशस्तस्य विस्तारो विष्कम्भस्तस्य प्रदेशोपेक्षयाऽनन्तकं
देशविस्तारानन्तकम्, सर्वोकादायम् वस्तुतयम्, शम्भतं च त-
द्वन्तकं च शाश्वतानन्तकमनादाययसिते यज्जीवादिद्रव्यम्,
अनन्तसमयस्थितिकत्वाद्रिति । स्था० ५ जा० ३ उ० ।

दसविदे अर्णतए पण्णत्ते । तं जहा-णामार्णतए, उवर्णाणं-
तए, दव्वार्णतए, गण्णाणंतए, पपसाणंतए, एगम्भो-
णंतए, दुहुआणंतए, देसविन्वाराणंतए, मव्वविन्वारा-
णंतए, सासयाणंतए ।

नामानन्तकम्-अनन्तकमित्येषां नामभूता वर्णानुपूर्वी यस्य, वा
स्वचनान्नादेवस्तुतोऽनन्तकमिति नाम तन्नामानन्तकम् । स्थाप-
नानन्तकं-यद्वादावनन्तकमिति स्थाप्यते । द्रव्यानन्तकं-जीवक-
व्याणां पुद्गलद्रव्याणां वा यद्वन्तकम्, गणनाऽनन्तकं-यदेको ही
वय इत्येवं संख्यानां असंख्याता अनन्ता इति संख्यामानव्य-
पेक्षं संख्यामात्रतया संख्यातमात्रं व्यपदिश्यत इति । प्रदेशानन्त-
कम्-आकाशप्रदेशानां यदात्मन्यमिति । एकतोऽनन्तकम्, अनी-
ताऽऽ अनागतताऽऽ वा क्रियाऽनन्तकम्, सर्वोका देशविस्तारा-
नन्तकम्-एक आकाशप्रतरः । सर्वोविस्तारानन्तकं सर्वोकाहा-
स्तिनाय इति । शाश्वतानन्तकमकृत्यं जीवादि द्रव्यमिति ।
स्था० १० जा० ।

से कितं अर्णतए ?। अर्णतए तिविदे पण्णत्ते । तं जहा-
परिचार्णतए, जुचार्णतए, अर्णताणंतए । मे कितं परिचा-
र्णतए ? । परिचार्णतए तिविदे पण्णत्ते । तं जहा-जह्ण-
ए, उक्कोसए, अजह्णएणमुक्कोसए । से कितं जुचार्ण-
तए ? । जुचार्णतए तिविदे पण्णत्ते । तं जहा-जह्णएण,
उक्कोसए, अजह्णएणमुक्कोसए । मे कितं अर्णताणंतए ? ।
अर्णताणंतए दुविदे पण्णत्ते । तं जहा-जह्णएण,
अजह्णएणमुक्कोसए ।

अनन्तकम्-पि-परीक्षानन्तकं, युक्तानन्तकम्, अनन्तानन्तकम् ।
अनापन्नतमेवद्वयं जघन्यादिभ्यां प्रत्येकं वैविध्यम् । अनन्ता-
नन्तकं तु-जघन्यमजघन्योक्तद्वयं जघतंति । उक्कोसत्तानन्त-
कस्य काव्यसंज्ञादिति सर्वमपीदमष्टाविधम् । अज० ।

जह्णस्य परिचार्णतयं केवद्वं होइ ?। जह्णस्य असंखे-
ज्जासंखेज्जयमेत्ताणं रानीणं असमणेषामो पट्टिपुसो
जह्णस्य परिचार्णतयं होइ, अइहा उक्कोसए असंखेज्जा-
संखेज्जए रूवं पक्खितं जह्णस्य परिचार्णतयं होइ,
तेण परं अजह्णएणमुक्कोसयाइं उणाइं जाव उक्कोसयं प-
रिचार्णतयं ए पावइ । उक्कोसयं परिचार्णतयं केवद्वं होइ ?।
जह्णस्य परिचार्णतयमेत्ताणं रानीणं अक्षमणेषासो
खुणो उक्कोसयं परिचार्णतयं होइ, अइहा जह्णएणं
जुचार्णतयं रूवं उक्कोसयं परिचार्णतयं होइ । जह्णस्य
जुचार्णतयं केवद्वं होइ ? । जह्णस्य परिचार्णतयमेत्ताणं रा-
सीणं अक्षमणेषामो पट्टिपुसो जह्णस्य जुचार्णतयं होइ,
अइहा उक्कोसए परिचार्णतए रूवं पक्खितं जह्णस्य जुचा-
र्णतयं होइ, अश्वसिच्छिन्ना त्रि तत्तिन्ना होइ, तेण परं अज-
ह्णस्यमुक्कोसयाइं जाव उक्कोसयं जुचार्णतयं ए पावइ ।
उक्कोसयं जुचार्णतयं केवद्वं होइ ?। जह्णस्य जुचार्णतयं
अजवमिच्छिन्ना गुणिता अक्षमणेषामो खुणो उक्कोसयं
जुचार्णतयं होइ, अइहा जह्णस्य अर्णताणंतयं रूवं
उक्कोसयं जुचार्णतयं होइ । जह्णस्य अर्णताणंतयं केवद्वं
होइ ? । जह्णस्य जुचार्णतयं अजवसिच्छिन्ना गुणिता
अक्षमणेषासो पट्टिपुसो जह्णस्य अर्णताणंतयं होइ, अ-
इहा उक्कोसए जुचार्णतए रूवं पक्खितं जह्णस्य अर्णता-
र्णतयं होइ, तेण परं अजह्णएणमुक्कोसयाइं उणाइं ।

जघन्यपरीक्षानन्तके यावन्ति रूपाणि भवन्ति तत्रासंख्येयानां
राशीनां प्रत्येकं जघन्यपरीक्षानन्तकप्रमाणानां पुर्व्वद्रव्या-यु-
ज्यासकपोनमुक्तं परीक्षानन्तकं भवति । 'अइहा जह्णस्यं-जु-
चार्णतयमित्यादि' स्वरूपम् । 'जह्णस्यं जुचार्णतयं कत्तियमित्या-
दि' व्याख्यातार्थमेव । 'अइहा उक्कोसयं परिचार्णतयं' इत्यादि
सुत्रार्थम् । जघन्ये च युक्तानन्तकं यावन्ति रूपाणि प्रवर्णयित्वा-
सिक्तिका अत्र जीवाः कथञ्चिना तावन्त एव इष्टान्ति । 'तेषु प-
रिचार्णतयमित्यादि' कण्ठशब्दः । 'उक्कोसयं जुचार्णतयं कत्तियमित्यादि';
जघनेन युक्तानन्तकेनाभिव्यक्तिसिद्धिगुणितो रूपानां सन्तुद्वयं युक्तान-
न्तकं जघति, तेन तु रूपेण सह जघन्यमनन्तानन्तकं सम्पद्यते ।
अन एवाह- 'अइहा जह्णस्यं अर्णताणंतयमित्यादि' गताशब्दः ।
'जह्णस्यं अर्णताणंतयं कत्तियमित्यादि' नाशिनार्थमेव । 'अइहा
उक्कोसए जुचार्णतए इत्यादि' प्रतीतमेव । 'तेण परं अजह्णस्यमु-
क्कोसयाइ इत्यादि' जघन्यादन्तानन्तकागतरलः सर्वोपैयधि अज-
घन्याः कृष्टायामन्तानन्तकस्य स्थापनाय भवन्ति, उक्कोस्यनन्ता-
नन्तकं नास्त्येवेत्यभिप्रायः । अग्न्ये त्वाचायाः प्रतिपाद्यन्ति-
अजघन्यमनन्तानन्तकं वाच्यं पुर्व्वं धर्यते, ततश्चिते पङ्कनन्तकाः
प्रक्षेपाः प्रद्विष्यन्ते । तद्यथा-

“सिका निगोयजीवा, धनस्यै काल पुमाला खेव ।
सवमसोमगासां, उप्येतऽप्यंत पक्षेष्वा ॥ १ ॥

अथमर्थे—सर्वे सुकृमबादरिगोदजावाः प्रत्येकानन्ताः, सर्वे
वनस्थतिजनन्तः, सर्वाऽप्यन्तीतामागतवर्षमानकालसमयराशीः,
सर्वेषुफलरूपसमूहः, सर्वाऽसोकाकाशप्रदेशराशिः। एत एव प्रत्ये-
कमन्तकसंख्याः षट् मध्येऽन्ताः, एतैश्च प्रकृत्यौ राशिजांयते, स
पुनरापि वारत्रयं पूर्वैश्चर्यते, तथाऽप्युक्तमन्तकानन्तकं न प्रव-
ति; तन्नाम केचनहानकेचनक्षेत्राणांयाः प्रकृत्यन्ते। एवं च
सत्युक्तमन्तकानन्तकं सम्पद्यते, सर्वैस्त्वैव वस्तुजातरूप संयु-
हीतत्वात् । अतः परं वस्तु सर्वैस्त्वैव संख्याविषयस्त्राजायादि-
ति प्रावः । सूत्राभिप्रायस्तु—इदमप्यन्तकानन्तकमुत्कृष्टं न प्रा-
प्यते; अजन्मयोत्कृष्टस्थानानामेव तत्र प्रतिपादितत्वात् इति । त
सं तु केवलिनो विवृन्तीति प्रावः । सूत्रं च यत्र कुत्रापि अन्-
तकानन्तकं दृष्टते तत्र सर्वत्राजन्मयोत्कृष्टं दृश्यम्, तदेवं प्रक-
रितमन्तकम् । अतु ।

इदानीं नवविधमसंख्येयकं नवविधमेषु खानन्तकं
निरूपयितुमिच्छुयांथापुमग्राह—

रुच्युयं तु परिचा—संख्यं लहु अस्स रासि अम्भासे ।

जुचासंसिखं लहु, आत्रवलिप्यासमयपरिमाणं ॥ ७८ ॥

पूर्वात्मनोत्कृष्टं संख्येयकं, कपयुं तु रूपेणैकन संप्रपय बुन-
शुंके लह्यु जघम्यं परीसासंख्यं परीसासंख्येयकं भवति । इद-
म हृदयम्—इह यनेकेन संप्रकरणेण रदितोऽनन्तरादिष्टो राशि-
रुत्कृष्टसंख्यातकमुक्तं तत्र राशी तस्यैव रूपस्य निष्पत्तौ यदा क्रियते
तदा तदात्कृष्ट संख्यातकं जघम्यं परीसासंख्यातकं भवति । इह
च अजन्मपरीसासंख्येयकंऽभिहितं यद्यपि तस्यैव मध्यमोत्कृ-
ष्टमन्तकानन्तकसंख्यापि परीसासंख्येयकं जघम्यं तदात्कृष्टमन्तकान-
मन्तकसंख्येयकानां मध्यमोत्कृष्टमन्तकं पञ्चादल्पवक्तव्यत्वात्प्रकृ-
प्यन्ते । अतोऽप्युत्ता जघम्ययुक्तासंख्यातकं तावदाह— (अस्स
रासि अम्भासे इत्यादि) अस्स राशोऽजन्मपरीसासंख्येयकगतरा-
शोः, अजन्मासे परस्परगुणेन सति, लह्यु जघम्यं, युक्तासंख्येयकं भ-
वति, तच्चावलिवासमयपरिमाणम् । आबलिक्का—असंसिखान्तां
नमयानां समुद्रयसमिहसमागमेण ” इत्यादिसिद्धान्तप्रसिद्धा,
तस्याः समया निर्विभागाः कालविभागाः, तत्परिमाणमावलि-
कासमयपरिमाणम्; अजन्मयुक्तासंख्येयकतुल्यसमयराशिप्रमा-
णा आबलिक्का इत्यर्थः । एतत्कृतं प्रवृत्ति—अजन्मपरीसासंख्येय-
कसंख्येयानि यावन्ति सर्वेषुपक्षेणानि रूपानि तात्प्रेक्षिकाः पृथ-
क् पृथक् संस्थाप्य तत्र एकैकविभूयं रूपे अजन्मपरीसासंख्यात-
कप्रमाणां राशिसर्ववस्थाप्यते । तेषां च राशीनां परस्परमन्त्र्यासां
विधायते । इदं च जात्रना—असकटपनया किञ्च अजन्मपरीसासं-
ख्येयकराशिशेखाने पञ्च रूपानि कटपनन्तानि विभिन्यन्ते—जाताः
पञ्चैककाः १११११ एककानामयः प्रत्येकं पञ्चैव वाराः पञ्च व्य-
वस्थाप्यन्ते । तद्यथा— १ १ १ १ १ अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिता
जाता पञ्चविंशतिः । साऽपि पञ्चभिरभ्यासे जातं पञ्चविंश
शतम् । इत्यादिक्रमेणामीषां राशीनां परस्परभ्यासे जा-
तानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकविंशच्छतानि ३१२५ । एवं कटप-
नया तावदेतान्मन्त्र्यो राशिमेषानि, सद्भाषतस्त्वसंख्येयकप
अजन्मयुक्तासंख्यातकतया मन्तव्य इति ॥ ७८ ॥

सम्प्रति शेषजघम्ययासंख्यातासंख्यातकदेशस्य अजन्मपरीसा-

मन्तकाविल्लक्षणायां त्रयाणां अजन्मानन्तकनेवानां च स्वकूपम-
तिदेशतः प्रतिपिपादयित्पुराह—

त्रि ति चउ पंचम गुण्ये, क्मा मगासंख्ये पदमचलसत्ता—
ऽणतां ते रुच्युया, मत्रक्ता रूच्यु गुरु पञ्चा ॥७९॥

इह ‘संख्येयकमसंख्येयसिद्धादि’ गाथोपन्यस्तमुत्कृष्टं संख्यातकम् ।
उत्कृष्टसंख्यातकप्रथमोत्कृष्टपक्षेयुक्त्वा संख्यातासंख्येयक-
परीसंख्येयकं

परीसंख्येयकं	२ युक्तासंख्येयकं	३ असंख्येयकं	४ खानि यानि प-
परीसंख्येयकं	५ युक्तानं	६ अन्तकानन्तं	७ रीसासंख्यात-

कादीनि षट्पदानि तानि परीसासंख्यातकानन्तकानन्तकमुत्कृष्ट-
विकल्पानि शिषिचतुःपञ्चसंख्यायेन प्रोक्तानि, ततो शिषिचतुः-
पञ्चमगुणेने द्वितीयपरीसासंख्येयकपञ्चमपञ्चाव्यवस्थोपन्याप्या-
से सति, क्रमात् क्रमेण, (सगासंख्येयं) प्राकृतत्वात् ससमासं-
ख्यातम् । स्थापनापेक्षया अजन्मयासंख्यातासंख्यातकम् । (पदम-
चलसत्ताऽणतं सि) प्राकृतत्वात् प्रथमचतुर्पैतसामान्यतन्तकं सि,
तत्र प्रथमानन्तकं अजन्मपरीसासंख्येयकं चतुर्थानन्तकं अजन्मयु-
क्तानन्तकं ससमानन्तकं अजन्मानन्तकानन्तकं जयतीति । इह अजन्म

अजं सं १	मध्यं सं २	उत्कृ सं ३	मध्यमोत्कृष्टमन्त-
परीसंख्येयकं	परीसंख्येयकं	परीसंख्येयकं	तोऽन्तकानन्त-
युं अं जं	युं अं मं	युं अं वं	न्तकयोः प्रत्ये-
अं अं जं	अं अं मं	अं अं वं	कं नवविधत्वात्
पं अं जं	पं अं मं	पं अं वं	प्रदृशितभेदात्
युं अं जं	युं अं मं	युं अं वं	असमप्रथमादि-
अं अं जं	अं अं मं	अं अं वं	संख्याने संग-

उत्त एव । इदमर्थेपृथग्—द्वितीये युक्तासंख्यातकपदवाच्ये ज-
घम्ययुक्तासंख्यातककक्षणे राशी विद्यते सति यावन्ति रूपानि
तावन्तु प्रत्येकं अजन्मयुक्तासंख्यातकमाना राशीः।ऽन्तकानन्त-
यास्ततस्तेषां राशीनां परस्परतामने यो राशिर्भवति, तत्
ससमासंख्येयकं प्रत्येयम् । तृतीये त्वसंख्येयकासंख्येयक-
पदवाच्ये अजन्मयासंख्येयकासंख्येयकरूपे राशी यावन्ति रू-
पाणि तावतामेव अजन्मयासंख्येयकासंख्येयकराशीनामन्यो-
न्यगुणेने सति यो राशिः संपद्यते तत्रप्रथमानन्तकं अज-
न्मपरीसासंख्येयकमवश्यम् । चतुर्थे तु परीसासंख्येयकपदवाच्ये
अजन्मपरीसासंख्येयकरूपे राशी यावन्ति रूपानि तावत्संख्यानां
अजन्मपरीसासंख्येयकराशीनां परस्परमन्त्र्यासे यावान् राशिर्भव-
ति तच्चतुर्थमन्तकं अजन्मयुक्तानन्तकं भवति । पञ्चमे युक्तान-
न्तकपदवाच्ये अजन्मयुक्तानन्तकरूपे राशी यावन्ति रूपानि
तत्रप्रमाणानामेव अजन्मयुक्तानन्तकराशीनां परस्परगुणेने यावान्
राशिः संपद्यते तत्ससमानन्तकं अजन्मानन्तकानन्तकं भवति ।
आह—परीसासंख्यातकं १ युक्तासंख्येयकं ३ असंख्यातासं-
ख्यातकं ३ परीसासंख्येयकं ५ युक्तानन्तकं ५ अन्तकानन्तकं ६
संख्याः षट्पि राशयो अजन्मयास्तत्वावितिदेशः, मध्यमा उत्कृष्ट-
संख्येयकं मन्तव्या इत्याह—(ते रुच्युया इत्यादि) ते अन्तकानन्त-
कं अजन्मयाः षट्पि राशयो रूपेणैककक्षणेन युताः समन्वि-
ताः । रूपयुताः सन्तः किं भवन्तीत्याह—अथवा मध्यमाः, अ-
जन्मयोत्कृष्टा द्वितीयादिति यावत् । तत्र यः प्राग्निर्दिष्टो अजन्मपरीसा-
संख्यातकराशिः स एकस्मिन् रूपे प्रकृतिं मध्यमो भवति । उ-
पसङ्गश्च वैतन्—नैककक्षणेप एव मध्यमगुणं, किन्त्वैकैक-
रूपनिक्षेपेऽप्यं तावन्मध्यमो मन्तव्यो यावत्कृष्टरूपपरीसासंख्येयक-
राशिने जयतीत्येवमनया दिशा अजन्मयुक्तासंख्यातकपदोपि

राशय एकैकस्मिन् रूपे निहिते मध्यमाः संपद्यन्ते, तदनु चै-
कैकरूपवृद्ध्या तावन्मध्यमा अद्यसेया यावत् स्वस्वमुत्कृष्टपदे
नास्तायन्तीति । तस्मैने यदपि किञ्चिद्व्यापः सन्त उक्त्या भवन्ती-
त्याह—(रूपेण शुरुपच्छ स्ति) रूपैरेकैकरूपेणानोनाः युता रूपानाः
सन्तस्ते पद्य प्रागभिहिता जल्पया राशयः, तेश्चद् भावुष्येहा-
पि संबन्धनीयः । किं भवतीत्याह—गुरुव उक्त्याः, पाश्चात्याः
पाश्चिमराशय इत्यर्थः । इयमत्र जावना—अध्वन्ययुक्तसंख्यात-
कराशिरैकेन रूपेण न्यूनः, स एव पाश्चात्य उत्कृष्टपरां तासंबन्धेय-
कस्वरूपो भवति । अध्वन्यसंख्यातसंख्यातकराशिरांस्तु एकै-
न रूपेण न्यूनः सन् पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तासंबन्धयत्कस्वरूपो भवति ।
अध्वन्यपरीक्षान्तकराशिः पुनरैकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उ-
त्कृष्टसंख्यातकस्वरूपो भवति । अध्वन्ययुक्तान्तकराशिस्त्येक-
रूपेणः पाश्चात्य उत्कृष्टपरीक्षान्तकस्वरूपो भवति । अध्वन्ययान-
न्मानन्कराशिरेकरूपरहितः पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तान्तकस्वरूपो
भवतीति ॥ १६ ॥

इदं च संबन्धेयकान्तकभेदात्नामित्यं प्ररूपशमागमाभिप्रायत
उक्तम् । कैश्चिदन्यथाऽपि चोच्यते, अत एवाह—

इय मुचुत्तं अस्ते, वगिगयमिक्किं स चउत्थयमसंखं ।

ह्रीह असंवासंखं, लहु रुवुञ्चयं तु तं मज्जं ॥ ८० ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण यद्संख्यातकान्तकस्वरूपं प्रतिपादितं, त-
स्यैवमुद्योगात्तराजसुखे सिकान्ते उक्तं निगदितम् । कर्मोऽध्वन्यं (अ-
त्र मतान्तरम्) असंखिञ्जं शब्दे व्याख्यायन्ते । मृताच्चादनसमर्थे
वस्त्रे, भावोऽध्वन्यं नवप्रयत्नप्रसिद्धे अन्तर्कायं, पंचां० ४ विधयः ।
अनन्तम्—वि० । अन्ते गच्छतीत्यन्तयः, नाप्तयः अनन्तयः ।
अविनाशिनः, "चिञ्चा अणंतां सोयं, निर्येकस्वो परिव्यव" ॥
सूत्र० १ भु० ६ अ० ।

अर्थांतगुरुरिय—अनन्तगुरुरिय—वि० । अनन्तगुरुरिये, विज्ञे० ।

अर्थांतघाड (घ) —अनन्तघातिन्—पुं० । अनन्तविषयतया अन-
न्ते ज्ञानदर्शने हन्तुं विनाशयितुं शीलं येषां तेऽनन्तघातिनः ।
ज्ञानदर्शनाविनाशनशीलेषु ज्ञानावरणीयादि कर्मपर्येषेषु, "पस-
त्यजोगपरिविद्ये यणं अणगादे अणतघाडपद्येव खवेह" ॥ उल०
२६ अ० ।

अर्थांतचक्रवृत्त—अनन्तचक्रुप—पुं० । अनन्तं क्रैयानन्ततया नित्यतया
वा चक्रुरिव चक्रुः केवलं ज्ञानं यस्य, अनन्तस्य वा लोकस्य पदा-
धिप्रकाशकतया वा चक्रुर्भूतोः यः स भवत्यनन्तचक्रुः । सूत्र०
१ भु० ६ अ० । अनन्तमपर्यवसानं निर्यं क्रैयानन्तत्याद्वाऽनन्तं
चक्रुः केवलज्ञानं यस्य स तथा । केवलज्ञानिनः, "तारुं स-
मुहं च महाभयोष, अनयंकरं वरिं अणंतकस्व्" ॥ सूत्र० १ भु० ६ अ० ।
अर्थांतजिण—अनन्तजिन—पुं० । अनन्तध्यासी ज्ञानात्मतया नित्य-
तया वा जिनश्च रागद्वेषजयनादनन्तजिनः । अद्यसंपर्पियाश्चतु-
र्दशे तीर्थकरे, आचा० । कट०० । प्रव० ।

अर्थांतजीव—अनन्तजीव—पुं० । अनन्तकार्यिके घनस्पर्तनिन्दे,
स्वा० ३ प्रा० १ उ० ।

अनन्तजीवस्य अदास्तद्वृत्तं चेन्धम्—

तणमूलकंदमूलो, वंसीमूक्षि ति याऽवरे उ ।

संखेजमसंखिज्जा, बोधवन्ना एंतजीवा य ॥ ? ॥

सिंघाडमस्य गुच्छो, अणगेर्जावो उ हंति एण्यव्वे ।

पचा पसेय जीवा, टोणि य जीवा फले भणिया ॥२॥

जस्स मूलस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से मुल्ले, जे यावणे तहाविहा ॥ १ ॥

जस्स कंदस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से कंदे, जे यावणे तहाविहा ॥ २ ॥

जस्स खंदस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से खंभे, जे यावणे तहाविहा ॥ ३ ॥

जस्स तथाए भग्गाए, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवा तथा सा उ, जे यावन्ना तहाविहा ॥ ४ ॥

जस्स सासस्स भग्गस्स, समो जंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से सासे, जे यावणे तहाविहा ॥ ५ ॥

जस्स पवाडस्स जग्गस्स, समो जंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे पवाले से, जे यावणे तहाविहा ॥ ६ ॥

जस्स पत्तस्स भग्गस्स, समो जंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से पत्ते, जे यावणे तहाविहा ॥ ७ ॥

जस्स पुप्फस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से पुप्फे, जे यावणे तहाविहा ॥ ८ ॥

जस्स फलस्स जग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे फले से उ, जे यावणे तहाविहा ॥ ९ ॥

जस्स बीयस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।

अर्णांतजीवे उ से बीए, जे यावणे तहाविहा ॥ १० ॥

तुण्णमूलं कन्दमूलं यच्चापरं यशीमूलम्, एतेषां मये क्वचि-
ज्जातिभेदात् देशभेदेना वा सङ्ख्याना जीवाः क्वचिदसंख्याताः,
क्वचिदन्त्याश्च ज्ञातव्याः । (सिंधागस्संख्यादि) शूद्राटकस्य
यो गुच्छः सोऽनिकर्त्तव्यो जवतीति ज्ञातव्यः स्वकृशास्त्रार्त्-
नामनेकजीवात्मकत्वात् । केवलं तत्रापि यानि अर्थाणि तानि प्र-
त्येककर्त्तव्यानि, फले पुनः प्रत्येकमैकैर्कर्मिभ्यः ह्रीं उ जीवैः भागिन्ते ।
(जस्स मूलस्संख्यादि) यस्य मूलस्य जग्गस्य सतः सम एका-
न्तरुपश्चकारां भङ्गः प्रकपेण इत्यतः, तन्मूलमनन्तजीवस्य-
सेयम् । (जे यावणे तहा एति) याऽयपि चाऽयानि अभिज्ञानि
तथाप्रकाराणि अर्थिकतमूलमभ्रममप्रकाराणि तावन्मनन्तजी-
वानि ज्ञानयानि । एवं कन्दस्कन्धवृक्षशूद्राप्रब्रह्मपञ्चगुण्यफल-
वांजायपया अपि एवं व्याख्येयाः ॥१०॥ प्रश्ना० १ पद० ।

अधुना मृदादिगतानां वल्लकरुपानां कृत्वा नामनन्त-

जीवत्वरिकृत्वाऽपि सङ्खणमाह—

जस्स मूलस्स कट्टाओ, उच्छीं बहुलतरं जवे ।

अर्णांतजीवा उ सा उच्छीं, जा याऽवणा तहाविहा ॥१॥

जस्स कंदस्स कट्टाओ, उच्छीं बहुलतरं भवे ।

अर्णांतजीवा उ सा उच्छीं, जा याऽवणा तहाविहा ॥२॥

जस्स खंभस्स कट्टाओ, उच्छीं बहुलतरं जवे ।

अर्णांतजीवा उ सा उच्छीं, जा याऽवणा तहाविहा ॥३॥

जस्स सालाड कट्टाओ, उच्छीं बहुलतरं भवे ।

अर्णांतजीवा उ सा उच्छीं, जा याऽवणा तहाविहा ॥ ४ ॥

यस्य मूलस्य कट्टाड सन्ध्यासात् उच्छीं यत्करुपानां बहुलतर

भवति, सा अनन्तजीवा हातम्या । (जा याऽवस्था तद् इति) याऽपि
 चान्या, अर्णतया अनन्तजीवन्ते निश्चितया समानकया ब्रह्मि,
 साऽपि तथाविधा अनन्तजीवात्मका, हातम्या । एवं कन्दस्कन्ध-
 श्लाघाविषया अर्ण तिस्रो भाषाः परिभाषणीयाः । प्रज्ञा० १ पद ।
 यदुक्तं ' जस्य मूलस्य मग्नस्य समो भ्रमो य वीसहै' इत्यादि
 तेषु लक्षणं स्वपदं प्रतिपिपादयिषुरिन्द्रमाह-

चक्रागं भजमाणस्स, गृन्ती चुसप्रयो जवे ।
 पुदवीसरिसभेदेण, अर्णतंजीवं विद्याणाहि ॥ ? ॥

चक्रकं चक्रकारमेकान्तेन समं भङ्गस्थानं यस्य अद्यमानस्य
 मूलकन्दस्कंधः पञ्चकशास्वापञ्चपुत्रादिभ्यानि, तन्मूलादिकमनन्त-
 जीवं विज्ञानीहि इति मध्यम्याः तथा 'गृन्ती' चुसप्रयो जवे' इति ।
 ग्रन्थिः पर्व सामान्यतोः भङ्गस्थानं वा स यस्य प्रत्यमानस्य चुण्णं-
 न प्रज्ञा यांतां ध्यानां प्रज्ञानं, शयथा यस्य पञ्चविंशत्यमानस्य
 चक्राकारं जङ्गलजसा ग्रन्थिस्थानं ध्यायि च विना पुष्टिर्वा'सहो-
 न भेदेन जङ्गलान् भवति, मध्ये कान्तिकारप्रत्येकशरीरकारप्रत्येक-
 अरुणस्य समो भङ्गो भवतीति ज्ञायः नमनन्तकान् विज्ञानीहि । ?

पुनरपि लक्षणान्तमाह—
 गृदसिगमं पत्तं, सञ्चीरं जं च होइ निञ्चीरं ।
 जं पिय पणहुसंघि, अर्णतंजीवं विद्याणाहि ॥ ७ ॥

यस्य सञ्चीरं निःशरीरं वा गृदस्विकारमलक्ष्यमाणशिराविशेषं,
 यदपि च प्रणष्टसन्धिः सर्वथाऽनुपलक्ष्यमाणपत्राक्षर्यसन्धिः,
 तदनन्तजीवं विज्ञानीहि ॥ ७ ॥

सम्प्रति पुष्पादिगते विशेषमभिधिसुराह—
 पुष्पा जज्ञया धज्ञया, विटवच्चा य णालिवच्चा ।
 संविज्जमसंवेज्जा, बोधव्वा णंतंजीवा य ॥ ३ ॥

पुष्पाणि चतुर्विधानि, तद्यथा-जज्ञजानि सहस्रपत्रादीनि, स्थज्ञ-
 जानि कारणकदादीनि, पतान्धपि च प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-कानि
 चिद् वृत्तवद्धानि-अतिसुककप्रभृतीनि, कानिचिन्नान्नवद्धानि-
 जानिपुष्पप्रभृतीनि, अथैतेषां मध्ये कानिचित्पञ्चादिगतजीवाप-
 लया मूलधयर्जोधानि, कानिचिद्सहस्रेषधयर्जोधानि, कानिचिद्द-
 न्तंजीवानि यथागमं बोधव्यानि ॥ ३ ॥

अथैव किञ्चिद्विशेषमाह—
 जं केदं नालिया वद्धा, पुष्पा संसेज्जनीविषया ।
 एणहुया अर्णतंजीवा, जे याऽवस्ये तहाविहा ॥४॥

पञ्चमुष्पसिर्णं कंदे, अन्तरकंदे ग्हेव मूह्नी य ।
 एते अर्णतंजीवा, एगो जीवो भिस म्फुल्लो ॥ ४ ॥

यानि कानिचिद् नालिकावद्धानि पुष्पाणि जाल्यादिगतानि तानि
 सर्वान्यपि सङ्ख्यातंजीवकानि जगिणानि तीर्थकरणधरैः ।
 किद्द चिद्पुष्पं पुनरनन्तजीवम्, यान्यपि चान्यानि किद्दपुष्पक-
 ष्पाणि तान्यपि तथाविधानि अनन्तजीवात्मकानि हातम्यानि ।
 (पञ्चमुष्पसिर्णं कंदेत्यादि) पश्चिमीकन्दः, उत्पत्तिमीकन्दः, अ-
 न्तरकन्दो जसजवनस्पतिविशेषः कन्दः, किद्दिका वनस्पतिविशे-
 षरूपा, एते सर्वेऽनन्तजीवाः । नवरं पश्चिमादीनां विशेषं, मूणाले-
 षः एकजीवात्मकं विशामूणाले इति ज्ञायः ॥५॥ प्रज्ञा० १ पद ।
 सक्फाप सज्जाए, उक्केइलिया य कुदुणकुंठुके ।
 एए अर्णतंजीवा, कुंठुके होऽ जयणाओ ॥ १३ ॥
 एतं कुदनादिवनस्पतिविशेषा शोक्ततः प्रत्येतयाः । एते च

अनन्तजीवात्मकाः, नवरं कःकुठ्ठे प्रजनाः स हि कोऽपि
 देशविशेषादनन्तोऽनन्तजीवो भवति, कोऽप्यसंख्येयजीवात्मक
 इति ॥ १३ ॥

किं बीजजीव एव मूलादिजीवो जयति. उतान्तरस्तिस्वप्नकान्ते
 स्वप्नधते इति परप्रश्नमाहाङ्गवाह—
 जोणिकुण्णु बीए, जीवो चकमइ सो व उओ वा ।

जो वि अमूले जीवो, सो वि हु पत्ते पडयएए ॥१४॥
 बीजं यानिभूतं योन्यवस्थां प्राप्ते, यानिपरिणाममुद्भवतीति भा-
 वः । बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था । तद्यथा-योन्यवस्था, अयोन्यवस्था
 च । तत्र यदा बीजं योन्यवस्थां प्राप्ते, अथ चोर्जितं जन्तुना
 तदा ननु यानिभूतमित्यभिधीयते । उर्जितं च जन्तुना निश्चय-
 तो नाशयन्तो शक्यते, ततोऽनतिशायिना स्वप्नधते सचेतनमच-
 तनं वा अन्विष्यन्त्येते यानिभूतमिति व्यभिचरन्ति यः । विध्यस्त-
 योनि तु नियमाद्वचनतयादयानिभूतमिति । अथ योनिरिति कि-
 मभिधीयते ? उच्यते-अन्तेऽपरिणामस्थानमाध्यस्तशक्तिकं तत्र-
 स्थ जीवपरिणामशक्तिः स्वप्नधमिति भावः । तस्मिन् बीजे यो-
 निरूपे जीवो व्युत्क्रामान् उपपद्यते, स एव पूर्वको बीजजीवोऽप्यो
 वा आगत्य तत्राप्यपद्यते । किमुक्तं भवति-तद् बीजनिवर्षेकज
 जीयेन स्वपुत्रः कृयाद् बीजपरिणामः कृतो भवति । तस्य च
 बीजस्य पुनरभ्युत्क्राशाऽप्यनिसंयोगात्पञ्चमामोसम्भवस्तदा क-
 दाचित् स एव प्राक्तनो बीजजीवो मूलादिनामगोत्रं निष्यञ्ज्य
 तन्नामस्य परिणमति; कदाचित्पुत्रः पुष्टिर्वाकायिकादिर्जीवः ।
 'योऽपि च सूत्रे जीव इति' य एव मूलतया परिणतं जीवः
 'साऽपि पत्रे प्रथमतयति' य एव प्रथमपत्रतयाऽपि च परि-
 णमते, इत्येकजीवकर्तृकं मूलप्रथमपत्रे इति भाषा—यद्येवं
 " स्वधो वि किसलस्यो खलु, उगमममाणो अर्णतस्यो भ-
 णिसो " इत्यादि पश्यमाणं कथं न विरुध्यते ? । उच्य-
 ते-इह बीजजीवोऽप्यो वा बीजसूत्रानोरप्य तदुच्छ्रान्तावस्थां
 करोति, ततस्तदनन्तरं भाविनीं किसलयवस्थां नियमता
 ऽनन्ता जीवाः कुर्वन्ति । पुनश्च तेषु स्थितिक्रयापरिणतेषु अ-
 सावेव सूत्रजीवोऽनन्तजीवतनुं स्वशरीरतया परिणमस्य ताव-
 द्भूतेन यावत्प्रथमपत्रमिति न विरोधः । अन्ये तु व्याचक्षते-प्र-
 थमपत्रमिह याऽसौ बीजस्य संसृष्टेनावस्था, तेन एकजीवक-
 र्तृकं सप्तप्रथमपत्रे इति । किमुक्तं जयति—मूलसमुच्छ्रान्तावस्था
 एकजीवकर्तृकं, एतच्च नियमदर्शोनाथेयुक्तम् । मूलसमुच्छ्रान्ताव-
 स्ते एकजीवपरिणमिते एव । शेषं तु किसलयदिनाऽवश्यं सूत्र-
 जीवपरिणामविशिष्टमिति । ततः सख्यो वि किसलस्यो खलु,
 उगमममाणो अर्णतस्यो जगिणो " इत्यादि पश्यमाणमधिकदम ।
 मूलसमुच्छ्रान्तावस्थानिर्वर्तनाऽरम्भकाले किसलयत्वाभावादिनि ।
 आह-अत्येकशरीरे वनस्पतिस्वाधिकानां सर्वकालशरीरावस्था-
 मधिकृत्य किं प्रत्येकशरीरस्यतु कर्त्तिसिद्धवस्थाविशेषोऽनन्त-
 जीवस्यमपि सम्भवति ? । तथा साधारणवनस्पतिस्वाधिकाना-
 मपि किं सर्वकालमनन्तजीवत्वमतु कदाचित्प्रत्येकशरीरस्यम-
 पि भवति ? ।

तत्र आह—

सख्यो वि किसलयो खलु, उगमममाणो अर्णतस्यो जगिणो ओ ।
 सो वेव विवर्द्धते, होऽ परीचो अर्णतो वा ॥ १५ ॥
 इह सर्वशब्दः परिशेषवाचि । सर्वोऽपि वनस्पतिस्वाः प्रत्ये-
 कशरीरः साधारण एव किसलयवस्थासुपगतः सन् अनन्त

कायस्त्रीयकरगणधरैर्मणितः । स एव किसलयवयः अनन्तका-
यिकः प्रकृतिं मन्त्र्यन्तं अन्ते वा भवति परीतो वा । कथम् ? ।
उच्यते—यदि साधारणं शरीरं निर्वैयर्थ्येन तदसाधारण एव भव-
ति, अथ प्रत्येकशरीरं ततः प्रत्येक इति । कियतः काहावृक्षं प्र-
त्येको भवति इति चेत्तुच्यते—अन्तर्मुहुर्गुणः । तथाहि—निगोदाना-
मुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहुर्गुणं कालं यावत् स्थितिरुक्तं, ततोऽन्तर्मुहुर्गुणो-
परतो विवक्ष्यमानः प्रत्येको भवतीति । प्रका० १ पृ० ।

निगोदादिशब्दैः सहास्य साधियत्वाद्दानन्तजीवस्य च अनन्त-
जन्तुसन्ताननिपातनिमित्तत्वाद् भङ्गणं वर्ज्यम् । यतः—“गुज्यो
नैरयिकाः सुराश्च निखिलाः पञ्जाकृतिर्युगणो, द्व्यङ्गाया ज्वल-
नो यथोत्तरममी संख्यातिगा भयिताः । तेज्यो तुजलवायवः स-
मथिकाः प्रोक्ता यथाऽनुक्रमं, सर्वेभ्यः शिवगा अनन्तगुणितारस्ते-
ज्योऽप्यनन्ता नगाः ” ॥ १ ॥ तानि आद्यैश्शमप्रसिद्धानि द्वावि-
शदः । तदाहुः—

सन्वा य कंदनाई, मूरणकंदो अ वज्रकंदो अ ।
अक्ष हल्लिया य तहा, अक्ष तह अक्षकचूर्णो ॥ ? ॥
सत्तावरी विराली, कुंआरि तह पोहरी ग्लोई अ ।
लमुणं वंसकरिझा, गजर लुणो अ तह लोढा ॥ २ ॥
गिरिकशि किसलिपता, खरिसुआ येग अक्ष मुन्या य ।
तह लूणखलउझी, तिलरुहको अमपञ्चो य ॥ ३ ॥
मूला तह भूमिहदा, विरुहा तह टकवयुदो परतो ।
सुअरवञ्चो अ तहा, पञ्चको कोपलंबिदिआ ॥ ४ ॥
आलू तह पिंढालू, हवंति एए अणंतनायेणं ।

अक्षमणंतं नेअं, लकलणजुचीई समयआओ ॥ ५ ॥
सर्वैश्च कन्दजातिरन्तकायिका इति सम्प्रथः । कन्दो नाम
भूमिपद्मगोत्रकल्पयवः । ते चात्र कन्दा अशुष्का एव प्राहाः, शु-
ष्काणां तु निर्जीवत्वाद्दानन्तकायिकत्वं न सम्भवति । श्रीहैमम्-
भिरप्येवमेव 'आर्द्रैः कन्दैः समप्रोऽपि, आर्द्रोऽशुष्कः कन्दः शुष्क-
स्य तु निर्जीवत्वाद्दानन्तकायिकत्वं न सम्भवति' इति योगशास्त्रसू-
त्रबुध्याहा । अथ तावैश्च कान्धैः कन्दान्, व्याप्रियमाणत्वात्साम्यत
आह—सूरणकन्दोऽशोणः कन्दविशेषः १, वज्रकन्दोऽपि कन्दवि-
शेषः २, आर्द्रो अशुष्का, हरिद्रा प्रतीतेश्च ३, आर्द्रकं गुञ्जवे-
रुम् ४, आर्द्रकचूर्णस्तिकद्वयविशेषः प्रतीत एव ५, शतावरी
६, शार्ङ्गिके ७ वल्लीनिवेदी । कुमारी मांसस्रमणासाकारपत्रा प्र-
तीति ए, पोहरी स्तुहीनकः ८, युद्धी बह्वीविशेषः ९, त्रिवेण
१०, सद्युनं कन्दविशेषः ११, वंशकरिहानि कामस्रातिनवयं-
शावयवविशेषाः प्रसिद्धा एव १२, गजकानि सर्वजनविदिता-
न्येव १३, लवणको वनस्पतिविशेषः—यम दण्णेन सार्जिका नि-
पचते १४, रोढकाः पश्चिमांकन्दः १५, गिरिकशिगा बह्वीविशे-
षः १६, किसलयकपाणि पत्राणि प्रौढपत्रादयोक्ता बीजस्योक्त-
नावस्यासङ्गणानि सर्वोप्यनन्तकायिकानि, न तु कानिचि-
देव १७, अरिद्रुकाः कन्दभेदाः १८, धंगोऽपि कन्दविशेष एव
१९, आर्द्रो मुस्ता प्रतीता २०, लवणापरपर्यायस्य अमरनाम्नो
द्वयस्य दुग्धिस्यक, न त्यन्तेऽवयवाः २१, लिङ्गदंडो लोकप्रसिद्धः
कन्दः २२, अमृतवल्ली बह्वीविशेषः २३, मूलको लोकप्रतीतः
२४, भूमोर्हानि शुष्काकाराणि वर्षीकालमवाप्ति भूमिस्तीट-
कानीति प्रसिद्धानि २५, विश्वाम्यकृत्तितानि द्विदलधान्या-
नि २६, टङ्कास्तुलः शाकविशेषः, स च प्रथमोद्गत एवानन्त-

कायिको न तु विदुश्चक्रकन्दः २७, शकरसंबको वनः, स एवा-
नन्तकायिको न तु धान्यबह्वः २८, पल्लवह्वः शाकभेदः २९, को-
मलाभिलका अक्षद्वयिका विदुश्चक्रिका ३०, आशुक् ३१, पि-
पहालुकी ३२ कन्दभेदी । एते पूर्वोक्ताः पदार्था द्वाविशसं-
ख्याका अनन्तकायनामभिर्भवन्तीत्यर्थः । न वैसाधस्य धान-
न्तकायिकानि किन्त्वन्तेऽपि, तथाऽऽह—अन्यदपि पूर्वोक्ता-
तिरिक्तमनन्तकायिकम्, लक्षणयुक्त्या वक्ष्यमाणलक्षणयुक्ता-
रणया, समवात् सिद्धान्ततः ज्ञेयम् ।

तान्येवानन्तकायानि यथा—
पोसकरिंरुंरु ति—दुयं अइकोमलंबगार्डिण ।
वक्ष्यवर्नान्वयार्द—ए अंरुंरुंरुं अणंताई ॥ ? ॥
घोषताफीकीरीयोरुंरुंरु, तथाऽतिकोमलान्यवक्ष्यस्थिकानि
तिन्दुकाप्रफलादीनि, तथा वक्ष्यदनिम्बानीनामहूरा अनन्त-
कायिकाः । अनन्तकायलक्षणं चेदम्—“गुदासिरसपिपथेव, स
ममंभोगिहृदहं च द्विग्रहहं । साहारणं सरीरं, तन्विचरीभं च
पंचेभं” ॥ १ ॥ एवं लक्षणयुक्ता अन्येऽपि अनन्तकायाः स्युः, ते दे-
याः । यतश्च—“वन्धारो नरकहाराः, प्रथमं रात्रिभोजनम् । पर-
कीसंगमश्चैव, संधानानन्तकायिक ” ॥ १ ॥ उक्तमनन्तकायि-
कम् । च २ अधि० । (अनन्तकायिकस्यादाने प्रार्थयिष्यत
'पलंब' शब्दे प्रवृत्तियन्ते ।)

अहं जंते । आहुरे मूलए मिगवेरे हरिली सिंगली
सिसिरद्वी किट्टिया निरिया ठीरविरालिया कहकंदे व-
ज्रकंदे सूरणकंदे सेण्डे अहमुत्वा पिंढहलिया लो-
हाणि हृषिविजागा अस्सकथी साईकथी साईकी
मुट्टुंकी जेयाऽवखणे तहपुणारा सन्वे ते अणंतं । वा विवि-
हसत्ता ॥ हेता गोयमा । आहुरे मूत्रण० जाव अणंतं । वा
विविहसत्ता ॥ भ० ७ शो ३ उ० । प्रहा० ।

जे निक्खु अणंतकायसिम्पस्सं जुत्तं आहारं आहारैरं,
आहारंते वा साऽज्जे ५ ।

जे निक्खु अणंतिकातो मूलकंदो अहणकमादि वा एवमादि
सिम्पस्सं जो भुंजति नस्स चउरुश ॥

जे भिक्खु भसाणादीं, भुंजेज्ज अणंतकायसंजुत्तं ।
सो आण्णा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ५३ ॥

आण्णादिया दोसा हवन्तिः इमे दोसा—
तं कायपरिव्ययं, तेषु ए वत्तण समं वयति ।

अतिसत्थं आणुचित्तं, ए विसुत्तिकादींणि आयाए । ५४ ॥

इमा आयविराहणा—तेषु रत्तालेण अतिसत्थं अणुत्तेण व वि-
सुत्तिकादीं मंभेअज्ज वा अज्जंरंतो वा अण्णतरं रोगात्तंको भवे-
ज्ज, एवं आयविराहणा, जग्हा एते दोसा तग्हा ए भोतव्यं;
कारणे तु वृत्तेज्जा ।

असिंवे ओमोयारिणं, रायइड्ढे भए च गेल्ले ५ ।

अक्खाणं रोहए वा, जण्णा इमा तत्थ कायव्वा ॥ ५५ ॥

पूर्ववत् इमे वक्खमाणजयणा—
अयं तिभागमेहं, तिभाग आर्यविले चउत्त्यादी ।

निम्पस्से मिस्सेया, परिचणं ते य जा जतया ॥ ५६ ॥
जह एणुत्ते वक्खमाथो जहा पापे भणिया तग्हा वक्खव्वा ।

आणंतजीव

इमो सं अक्षररथो-भोमं एसणिञ्छं जुञ्जति, नित्रांगण वा रुण्यं पसणिञ्छं जुञ्जति, अरुं वा पसणिञ्छं, तिभागं वा एसणिञ्छं, आ-
यं विलेप वा अरुयति । अउयं वा करंति, ग य अणंतकार्यं तस्मि-
स्सं जुञ्जति आहो णिमिस्सं लभन्ति, जाहो णिमिस्सं ण लभन्ति
साहे परीसकायमिस्सं गेहदति, जाहो ते पि न लभन्ति ताहो
अणंतकार्यमिस्सं गेहदति, जा य पणगादिजयया सा दृष्ट्या ।
नि० सू० १० उ० ।

अणंतजीविअ-अनन्तजीविक-पुं० । अनन्तकथिकचनस्पती,
अ० ण० ३ उ० ।

अणंतज्ञान-अनन्तज्ञान-न० । अनन्त स्वपरपर्यायापेक्षया
यस्तु ज्ञायते येन तदनन्तज्ञानम् । केवलज्ञाने, दश० २ अ० ।

अणंतप्राणार्द्रसि-(ण)अनन्तप्राणार्द्रसि-पुं० । अनन्तं ज्ञानं दर्श-
नं च यस्यासाधनत्वज्ञानदर्शा । केवलज्ञाननि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतप्राण (ष) अनन्तज्ञानिन्-पुं० । अनन्तमविनाशय-
नन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं विशोषादकं यस्यासाधनत्व-
ज्ञानी । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । उपपन्नकवत्तज्ञाने तीर्थकरे,
व्यां० ६ पाठ० १ उ० ।

अणंतर्द्रसि (ष) अनन्तर्द्रसिन्-पुं० । अनन्तमविनाशयनत्व-
पदार्थपरिच्छेदकं दर्शनं सामान्यार्थपरिच्छेदकं यस्य स
अनन्तदर्शा । जग्यकवत्तदर्शनं, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतपपसि-अनन्तप्रदेशिक-पुं० । अनन्तपरएवात्मके
स्वप्ने, ज० ण० २ उ० ।

अणंतपार-अनन्तपार-स्त्री० । अनन्तः पारः पर्यन्तो यस्य
कालस्य स अनन्तपारः । अन्तविरहितपर्यन्ते, “ केण अणंतं
पारं, संनारं हिमं ज्ञीमि ? ” आउ० । “ से परया अक्षयसा-
गरे वा, महोद्दोहा वा वि अणंतपारं ” सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतपासि (ष) अनन्तदर्शिन्-पुं० । परवन्तं भविष्यति वि-
द्वान्तिभे नंधेकृति, नि० ।

अणंतमिस्सिया-अनन्तमिस्सिया-स्त्री० । मूलकादिकमन्त-
कार्यं, तस्यैव सक्तं: परिपाकुरुपरिव्येन वा केनचित् प्रत्ये-
कचनरूपान्ता मिश्रमवलोचय स्वयंऽप्येवऽनन्तकार्यिक इति
वदतः सत्यसूचनाभावोद्भे, प्रश्ना० १ पद० घ० ।

अणंतमस्य-अनन्तमिश्रक-न० । अनन्तविषयकं मिश्रक-
मन्तमिश्रकम् । सत्यसूचाभेदे, यथा मूलकादादी परीतपवा-
दिसम्बन्धकारयोऽयमिस्सिविदधतः । स्थान० १ उ० ।

अणंतमोह-अनन्तमोह-त्रि० । अनन्तोऽप्येवस्ति तदभावा-
पेक्षया प्रायस्तस्याऽनपममाद् मुखने येनाऽस्ती मोहो हा-
नावरणदर्शनमोहनीयात्मकः । तत्तद्वान्तो मोहोऽस्येत्यनन्त-
मोहः । वच० ४ अ० । अविनाशितोऽभावरणमोहनीयकर्मणि,
‘दोषव्यग्रहे च अणंतमोहे, नेयाद्यं वं दृष्टमदृष्टमेव’ वच० ४ अ० ।

अणंतर-अनन्तर-त्रि० । न विद्यतेऽनन्तरं व्यवधानं यस्य । ६
अ० । अव्यवहिते, नं० । पञ्चा० । निर्व्यवधाने, “ अणं-
तरं देवलोप अणंतरं मण्डलस्य भवे किं परं ? ” अ०
१ श्रु० ७ उ० । कव्य० । “ अणंतरं चयं चइसा ” अव्य-
वहितं व्यवधेनं कृत्येपर्यः । (हा० ण० ४ अ०) देवत्वसम्बन्धिनं
वेहं स्वकृत्येपर्यः । अथवाऽनन्तरम्-प्रायःकृत्याचनन्तरं (चयं
ति) व्यवधेनं (चइस षि) च्युत्वा, महाविद्येहे अनन्तरं शरीरं

त्यक्त्वा, व्यवधेनं वा कृत्वा । चिप्रा० १ श्रु० १ अ० । न विद्यते-
ऽन्तरं व्यवधानमस्येत्यनन्तरः । वचंमामसमयं, स्थान० १ उ० ।
अणंतरस्वेचोगाह-अनन्तरस्वेचावगाह-त्रि० । आत्मशरीरा-
वगाहकेत्रापेक्षया यदनन्तरं केत्रं तत्रावगाहे, ‘ नो अणंतरस्वे-
चोगाहे योग्यं अन्तमायाए आहारेति’ । ज० ६ श्रु० १ उ० ।

अणंतरस्वेदोववद्यग-अनन्तरस्वेदोवपन्नक-त्रि० । अनन्तरं स-
मयाद्यव्यवहितं खेदं उन्नेनोपपन्नमुपादकेत्रप्राप्तिलक्षणं ये-
थां तेऽनन्तरस्वेदोवपन्नकाः । खेदप्रधानोत्पत्तिप्रथमसमयवर्तितेषु
नैरयिकादितु, प्र० १ श्रु० १ उ० । (अत्र दृग्दकस्तेषामायुर्बन्धश्च
‘आठ’ शब्दे हि० भा० १ श्रु० पृष्ठे वदयते)

अणंतरगंतिय-अनन्तरगन्त्यत-त्रि० । ३ त० । प्रथमप्रवृत्ती-
नामनन्तरव्यवस्थितैर्मिथिजिः सह प्रवृत्तौ, ज० ५ श्रु० ३ उ० ।

अणंतरच्छेप-अनन्तरच्छेद-पुं० । स्वार्थकैव द्वैधीकरणे, “ अह-
दंतादि अणंतरं षोडशं द्वेहि वा सं क्विचित् तं अणंतरच्छेपो
जगति ” नि० सू० १ उ० ।

अणंतरणिमय-अनन्तरनिर्गत-त्रि० । निश्चितं स्थानान्तरप्राप्त्या
गतं गमनं निर्गतम् । अनन्तरं समयविना निर्व्यवधानं निर्गतं
येथां तेऽनन्तरनिर्गताः । प्रथमसमये सगारवेकचित्तेषु स्थानान्-
तराप्तेषु, अ० १ श्रु० १ उ० । (अत्र दृग्दकस्तेषामायुर्बन्धश्च
‘आठ’ शब्दे हि० भा० १ श्रु० पृष्ठे वदयते)

अणंतरदिहृतय-अनन्तरदृष्टान्तक-पुं० । यः कल्पनान्तरप्रयुक्तो-
ऽपि परोक्तवादागमस्यत्वाद् दार्ष्टान्तिकार्थसाधनत्वात् न
न ज्ञानि तस्मिन् दृष्टान्तभेदे, दश० १ अ० ।

अणंतरपज्जत-अनन्तरपर्याप्त-पुं० । न विद्यते पर्याप्तव्यभं-
तरं येषां तेऽनन्तराः, ते स ते पर्याप्तताकेत्यनन्तरपर्याप्तताः । प्रथ-
मसमयपर्याप्ततेषु नैरयिकादितु, स्थान० १ उ० ।

अणंतरपच्छाक-अनन्तरपश्चात्कृत-त्रि० । अनन्तरं व्यवधाने-
न पश्चात्कृतोऽनन्तरपश्चात्कृतः । व्यवधानं पश्चात्कृतं, सं०
प्र० ण० पाठ० ।

अणंतरपरंपरअिगमय-अनन्तरपरंपरानिर्गत-पुं० । प्रथमसम-
यासिगतेषु, ये हि गराकदुद्वृत्ताः सन्त्या विग्रहगतौ वर्तन्ते न ताव-
दुपादकेत्रमासादयन्ति, तथामनन्तरजावेन परस्परजावेन बोधा-
दकेत्रप्राप्तत्वेन निश्चयनामिर्गतत्वात् । ज० १ श्रु० १ उ० । (अत्र
दृग्दकस्तेषामायुर्बन्धश्च ‘आठ’ शब्दे हि० भा० १ श्रु० पृष्ठे वदयते)

अणंतरपरंपरअिवद्यग-अनन्तरपरंपरावपन्नक-पुं० ।
अनन्तरमव्यवधानं परस्परं च द्विद्वादिसमयकूपमविद्यमानमुप-
पन्नमुपायो येषां ते तथा । विग्रहातिवक्तुः, विग्रहगतौ हि द्विवि-
धत्वात्पुपादस्वाविद्यमानत्वाद्दिति । ज० १ श्रु० १ उ० ।

अणंतरपरंपरअिवद्यग-अनन्तरपरंपरावपन्नक-पुं० ।
अनन्तरं परस्परं खेदं नास्ति उपपन्नकं येषां ते तथा ।
विग्रहातिवर्तितेषु, अ० १ श्रु० १ उ० ।

अणंतरपुरस्वद-अनन्तरपुरस्कृत-त्रि० । स्वाव्यवहितोत्तरव-
र्तिनि, “ अणंतरपुरस्वदे कालसमयसिनि ” अनन्तरमव्यवधानेन
पुरस्कृतोऽप्रे कृतो यः सोऽनन्तरपुरस्कृतः । अनन्तरं द्वितीय इ-
त्यर्थः । सू० प्र० ण० पाठ० । सं० प्र० ।

अणंतरसमुदाणिकिरिया-अनन्तरसमुदानक्रिया-स्त्री० । ना-
स्वन्तरं व्यवधानं यस्याः सा अनन्तरा, अव्यवहितौ । सा च

अर्थांतरसमुदायक्रिया

अभिधानराजेन्द्रः ।

अर्थताणुबंधि

समुदायक्रिया च । क० स० । प्रथमसमयवर्तिस्समुदायक्रियाया-
श्च, स्था० ३ डा० १ उ० ।

अर्थांतरसिद्ध-अनन्तरसिद्ध-पुं० । न विद्यतेऽन्तरं ध्ववधान-
मर्थात् समयेन येषां तेऽनन्तराः, ते च सिद्धाभ्यानन्तरसिद्धाः।
सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमानेषु सिद्धेषु, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

अर्थांतरद्वय-अनन्तरद्वित-त्रि० । अन्वयबहिर्ते, आचा० १ बु० २
अ० ३ उ० । सचिच्छे, आच० ३ अ० । "जे भिक्खु माउग्गामस्स
मेहुण्णवडियाए अयंतरोहियाए पुदचीए शिसियावेअ वा" अन-
न्तरहितया, अनंतरहिया एाम सचिच्ता । ति० बू० ७ उ० ।

अर्थांतरागम-अनन्तरागम-पुं० । आगमभेदे, अर्थापेक्षया गण-
धराणामनन्तरागमः । सूत्रापेक्षया गणधरशिष्याणामनन्तरा-
गमः । सूत्र० १ बु० १ अ० १ उ० ।

अर्थांतराहारग-अनन्तराहारक-पुं० । अनन्तरानव्यवहितान्
जीवप्रदेशरान्कान्ततया स्पृष्टतया वा पुद्गलानाहारयन्तान्यन-
न्तराहारकाः । जीवप्रदेशैः स्पृष्टानां पुद्गलानामाहारकेषु भैर-
यिकासिषु, स्था० १० डा० । अनन्तरमुपपातसिद्धप्रार्थिसिद्धमयमेव
आहारयन्ति इत्यनन्तराहारः । प्रज्ञा० ३४ पद । प्रथमसमया-
हारकेषु, स्था० १० डा० । ('आहार' शब्दे अनन्तराहारग्रहणं
शरीरस्य निर्णालित्वेयमवधिक्रमो द्वि० भागे बह्यते)

अर्थांतरोर्य-अनन्तरिते-त्रि० । न० त० । अन्वयबहिर्ते, विशे० ।

अर्थांतरोगाढग-अनन्तरावाढाढक-पुं० । अनन्तरं संप्रत्येव स-
मये क्लिप्ताकाशदेशेऽग्रादा आभित्यस्त एवानन्तरावागा-
ढकाः । प्रथमसमयावगाढकेषु विवक्षितं क्षेत्रं द्रष्टुं वाऽपेक्षया-
व्यवधानेनावगाढेषु भैरयिकाद्विजिबेषु, स्था० २ डा० १ उ० ।

अर्थांतरोवशिष्टा-अनन्तरोपनिधा-स्त्री० । उपनिधानमुपनिधान,
धातुनामनेकार्थत्वानामांशमित्यर्थः । अनन्तरोपनिधाऽनन्त-
रोपनिधा । अनन्तरयोगस्थानमधिकृत्य उत्तरस्य योगस्थानस्य
मार्गेषु, सं० पं० ५ डा० । क० प्र० ।

अर्थांतरोवश्लग-अनन्तरोपपञ्चक-पुं० । न विद्यतेऽन्तरं ध्वव-
धानमस्येत्यनन्तरः वर्तमानः समयः । तत्रोपपञ्चकाः, स्था०
१० डा० । न विद्यतेऽन्तरं समयादिव्यवधानमुपपञ्च उपपाते
येषां ते अनन्तरोपपञ्चकाः । प्रथमसमयेपञ्च, म० १३ श०
१ उ० । येषामुत्पन्नानामेकोऽपि समयो नातिक्रमन्ते यतः
स्था० १० डा० । एकसादनन्तरमुत्पन्नेषु भैरयिकादिषु वैमानि-
कपर्वनेषु, स्था० २ डा० २ उ० ।

अर्थांतरवर्गभ्रय-अनन्तवर्गजक्त-त्रि० । अनन्तवर्गापवर्तिते,
" सोऽर्थांतरवर्गभ्रयो सव्यागासेण मीपज्जा " औ० ।

अर्थांतरवर्षियाणुप्येष्टा-अनन्तवृत्तितानुमेष्टा-स्त्री० । अनन्ता
अत्यन्तं प्रभृता वृत्तिवर्तनं यस्यासावनन्तवृत्तिः, तस्या अनु-
प्रेक्षा अनन्तवृत्तितानुमेष्टा । भवसान्दानसयानन्तवृत्तितानु-
वृत्तितकथायां शुकुष्यानस्य प्रथमानुपप्रेक्षायाम्, यथा-एस अ-
र्थाई जीवो, संसारसागरो व्व दुषारो । नायतिरियनारमर-
भवेसु परिहिंइए जीवो ॥ अ० ४ डा० १ उ० । औ० । म० ।
अनन्तवर्तितानुमेष्टा-स्त्री० । अनन्तया वर्तते इति अनन्तव-
र्ती, तत्रावस्तथा, भवसान्दानस्येति गम्यते; तस्या अनुप्रेक्षा ।
शुकुष्यानभेदे, स्था० ४ डा० १ उ० ।

अर्थांतरविजय-अनन्तविजय-पुं० । भरतकेभे भविष्यति चतुर्वि-
ंशे तीर्थकरे, स० । ति० । सुषिष्टिराङ्गे, वाच० ।

अर्थांतरविधाण-अनन्तविक्रान्त-पुं० । अनन्तमप्रतिपाति, विशि-
ष्टं सर्वद्रव्ययोः विषयबोधोक्तं, केवलान्वयविक्रान्तं ततोऽनन्तं
विक्रान्तं यस्य सोऽनन्तः । केवलसिद्धि, स्था० १ स्तो० ।

अर्थांतरवीरिय-अनन्तवीर्य-पुं० । जमरशिनार्योया रेणुका-
याः स्वसुःपत्न्यौ कार्तवीर्यपितरि, आ० बू० १ अ० । आ० म०
आ० क० । दश० । भरतकेभे भविष्यति त्रयोविंशे तीर्थ-
करे, ती० २१ क० ।

अर्थांतरसंसारिय-अनन्तसंसारिक-पुं० । अनन्तश्चासौ संसार-
अनन्तसंसारः, सोऽस्मास्तीत्यनन्तसंसारिकः । 'मनोऽमेकस्व-
राव' इतीकप्रत्ययः । अपरिमितसंसारे, रा० । प्रति० । भैर-
यिकादिवैमानिकपर्येत्यु, स्था० २ रा० १ उ० ।

अथ केनाजितमनन्तसंसारियः इति प्रश्ने उत्तरमाह—
जे पुण गुरुपादिया, बहुभोहा ससबला कुसीडा य ।
असमादिया मरंति ठ, ते हुंति अर्थांतरसंसारि ॥६६॥

(जे पुण) ये पुनः, गृणास्यभिषयं तस्यमिति शुकः, नं प्रति, ज्ञा-
नायवर्णवाद्जावणादिना प्रत्ययः । प्रतिकृजाः, तथा बहुमोहा-
न्तिश्रामोदनीयस्थानवर्तिनः, सद्द शब्लैरेकविशतया शबलस्था-
भैर्वर्तन्ते ये ते सशबलाः, कुत्सितं शीशमाचारो येषां ते कुदा-
ज्ञाः । अः समुच्चयः । एषांविधा येऽसमाधिनाऽऽनैरुक्तावै वष-
माना ज्ञियन्ते, तेऽनन्तसंसारिणां भवन्तीति । आनु० ।

अर्थांतरसमयसिक्-अनन्तसमयसिक्-पुं० । अनन्तेषु समयेषु
एकैकसिक्, स्था० १ रा० १ उ० ।

अर्थांतरसेण-अनन्तसेन-पुं० । तृतीयायामवसर्पिण्यां जाते च-
तुषुष्णुलकरे, स० । भक्तिपूर्वावस्तव्यस्य नागयूथपनेः सु-
रसानाम्नायां जायते जाते पुत्रे; तत्कथा अनन्तहृदशयास्तृतीया-
ये वर्गे द्वितीयाध्ययने सुचिता, तत्रैव प्रथमाध्ययनोकाऽणीय-
स्वैव प्रावर्तनीया (अन०) । अथ द्वाविंशज्ज्ञायाः, द्वाविंशत्क एव
दानम्, विशदितवर्णिय यर्थायः, चतुर्दशपूर्वाणि क्षुतम्, शत्रुऽजय
सिद्धिः । एस्तुस्तु अयं वसुदेवदेवकीर्तुः । अन० ६ अ० ।

अर्थांतरा-अनन्तशस-अय० । बहुधारमित्यर्थे, निरवधिक-
काक्षमित्यर्थे च । सूत्र० १ बु० १ अ० ३ उ० । " गमभस्सं-
ति णंतसो " इति । अनन्तयो निर्विच्छेदमिति वृत्तकारः ।
सूत्र० १ बु० १ अ० २ उ० ।

अर्थांतरहियकामुय-अनन्तहितकामुक-त्रि० । मोक्षकामुके, दश०
६ अ० २ उ० ।

अर्थांतरानन्त-अनन्तानन्त-त्रि० । अनन्तेन गृथिता अनन्ताः ।
अनन्तगुणितेषु अनन्तेषु, म० १४ श० १ उ० ।

अर्थांतराणुबंधि [ए]-अनन्तानुबन्धिन्-पुं० । अनन्तं संसारं
त्रयमनुबन्धात् अविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी । अन-
न्तो वाऽनुबन्धो यस्येत्यनन्तानुबन्धी । सप्रयश्चरेशसहस्रवि-
क्षमास्वरूपशरमादिचरणास्वनिबन्धिनि कांषादिकथायै, स्था०
४ डा० १ उ० । यद्वाचि- "यस्मादनन्तं संसार-मनुबन्धनं द्वेदि-
नः" ततोऽनन्तानुबन्धीति, स्वशां सपु निबंधिता" ॥१३॥ ते च स्यातः
कांश्चामनाम्यासोः । यद्यपि चैतेषां शेषकथायाद्वयरहिताना-
मुरयो नास्ति, तथाऽप्यवश्यमनन्तसंसारस्यकारणविधयानो-

यथाऽऽज्ञेयकथाद्योपमिषानानुबन्धिः तत्रैवैव्यपदेशः । शेषकथाया
हायवयं मिथ्याऽयोद्यमाज्ञेयपत्यस्तेषामुद्यययोग्येषु सत्यपि
नायं व्यपदेश इत्यस्य धारणमेवैतन्नमिते । कर्म० १ कर्म० ।
('कसाय' शब्देऽपि मृ०भा० ३६७शुद्ध आर्वितमितद् विस्तरतः)

अणंतापुबंधि विसंयोग्या-अननानुबन्धि विसंयोजना-ञ्जी०
अननानुबन्धिनां कथायाणां विषयमोज्ञानायाध, (चिन्ताये) अन-
नानुबन्धिनां कथायाणामुपशमनास्थाने विसंयोजना भवति ।
क० प्र० (तत्प्रकार 'उच्यते' शब्दे द्वि०जा० १०२५ पृष्ठे वक्ष्यते)
अणंतिय-अनन्तिक-न० । अन्तिकमासत् तन्निषेधादन्तिककर्म,
नञोऽप्यर्थत्वात् । अनासत्ते, भ० ५ श० ४ उ० ।
अणंदमाण-अनन्दमत्-त्रि० । सौख्यमनूच्यति, त० ।

अणंदिय-अनान्दिर-त्रि० । अणंशोकावसिन्ध्यामष्टयं दिङ्-
मायांभ, अण० क० ।

अणंध-अनन्ध-पुं० । अणंधपुरनगरेश्चरे राक्षि, "अंधपुरं नगरं
तस्य अणंधो राया" शृ० ४ उ० । नि० चू० ।

अणंधिद्व-अनाम्न-त्रि० । न० त० । स्वस्वादावच्छिन्ने, अचा०
२ शृ० १ अ० ७ उ० । अनाम्नीचूते जीवितविषयमुक्ते पानकादौ,
नि० चू० १९, ४० ।

अणंमुवाइ [ण]-अनभ्रुपातिन्-पुं० । न अण् पतयतीति
मागोदिकेदेव्यपि अनभ्रुपातनशीले ह्यभाभ्यादौ, "अं अचरंपा-
ति अचरंपादि अणंमुवाइ" ज० ३ वक्ष० ।

अणकम्-अनकर्म-न० । अणः शकटम्, तत्कर्म अणःकर्म । शकटश-
कटाङ्गघटनक्रेतविकारदौ, घ० । एतच्च पापकृतीनां कारणमि-
ति ह्येषा भावकेण त्यक्तव्यम् । यदाह-"शकटानां तद्वहानां, घट-
नं क्रेतनं तथा । विक्रयश्चेति शकटा-आयिका परिकीर्तिता" ॥१॥
तत्र शकटाभिमिति चतुःपदवाक्यानां बाह्यनामां, तद्वहानां चका-
दीनां घटनं स्वयं परेण वा निष्पादनं, क्रेतनं बाह्यं च शकटाना-
मेव सम्भवति, स्वयं परेण वा विक्रयश्च । शकटादीनां तद्वहानां
चैदं कर्मोपि सकलचूतोपमर्दजननं गवादीनां च वधवन्धा-
दिहेतुः । घ० २ अचि० ।

अणकर-अणकर-पुं० । अणं पापं करोतीति अणकरः । चतुर्विधो
गौणप्राणतिपाते, प्रअ० १ आ० ४० हा० ।

अणक [वत्] अनल-पुं० । स्तंभकभेदे, प्रअ० १ आ० ४० हा० ।

अणकजिण-अनासाभिन्न-त्रि० । अणरितेते बलीबहादौ,
"अणिर्लजिणं अणकभिणोर्दं गेणहिं तसपाणुविजिणोपि
विचोर्दं विन्ति कप्येमाणा विहरंति" भ० ८ श० ५ उ० ।

अणकस्वरसुयं-अनकरभ्रुत-भ० । द्येदितशिरःकम्पनादिनि-
मित्तं मामाह्वयति धारयति वेत्यादिरूपे अणिप्रावपरिहान-
स्वरूपेऽक्षरभ्रुतविषयचूते भुनभेदे, कर्म० १ कर्म० ।
से किं तं अणकस्वरसुयं ? अणकस्वरसुयं अणैर्यद्विदं पश्यं ।
तं जहा- "ऊससियं नीससियं, निच्छूदं खासियं च द्वीयं
च । निर्ससियं पणुसारं, अणकस्वरं डेलियायिं" ॥१॥ सेत्
अणकस्वरसुयं ॥

अथ किं तदनकरभ्रुतम्-अनकरात्मकं भ्रुतमनकरभ्रुतम् । आचा-
र्ये आह-अनकरभ्रुतमनकरविषय-अनेकपदार्थं प्रकृतम् । तद्यथा-
(ऊससियमित्यादि) उच्चसवनमुच्चसितम्, भांभं निष्ठाप्रत्य-

यः । तथा निःश्वसनं निःश्वसितम्, निद्रीवनं निदृष्टम्, काशनं
काशितम् । अशब्दः समुच्चयार्थः । छिन्ना कुतम्, एषाऽपि ।
बहायः समुच्चयार्थः, परमस्य व्ययहितः प्रयोगः । सेटिकादिकं
केत्येवं दृष्टव्यम् । तथा निःसिद्धितम् । अनुस्वारपद्य-अनुस्वार-
मित्यर्थः । तथा सेटिकादिकं आनकरं भुतम् : न० ।

अथ प्राच्यम्-

ऊससियार्दं दन्वसु-यमेवमदृषो मुद्रोवउत्तस ।
सञ्चो वि य वावरो, सुयमिह तो किं न च्छा वि ॥

इहोच्युसितादि अनकरभ्रुतं, उच्यतमात्रमेवावगतव्यम् ;
शब्दमात्रत्वात् । शब्दश्च प्रावभ्रुतस्य कारुण्यैव; यश्च कारणं
तद्व्ययमेव जवतीति प्रायः । जवति च तथाविधोच्युसितनिःश्व-
सितादिश्रवणे शक्योऽप्यमित्यादि ज्ञानम् । एवं विशिष्टमि-
स्थिषुष्येकनिष्ठपूतकासितभ्रुतादिश्रवणेऽप्यत्रमहानर्गदं ज्ञानं
वाच्यमिति । अथवा भ्रुतज्ञानोपयुक्तस्यात्मनः स्वार्थनिबोधो-
योगात्सर्वोऽप्युच्युसितादिको व्यापारः भ्रुतमेवैव प्रतिपत्तव्य-
मित्युच्युसिताद्यः भ्रुतं भवत्येवेति । आह-यथेवं ततो गमना-
गमनचञ्चलनस्पन्दनादिकर्पादि चेद्वा व्यापार एव, ततः भ्रुतोपयुक्त-
संबन्धिनी एषाऽपि किं भ्रुतं न जवति ? । उच्यते-कः किमाह ? ।
प्राप्त्यनेन न्यायेन साऽपि भ्रुतः, किन्तु-

रूढी य तं सुयं सु-बद् चि चेद्वा न सुबद् कयाइ ।
अहोगमया वएणा इव, जणुएस्तारादओ तेषां ॥

उक्तन्यायेन भ्रुतत्वप्राप्ती समानायास्यति तद्वोच्युसितादि भ्रुतं,
न शिरोऽधूननकरचलनादिचेद्वा ; यतः शास्त्रलोकरूपसिद्धा
रुदिरियं तत उच्युसिताद्ये भ्रुतं रूढं, न चेदर्थः ॥ अथते
इति भ्रुतमिति आन्यर्थव्यशत् । तद्वोच्युसितादि भ्रुतम्, न चेष्ट-
त्येवं अशब्दः पञ्जात्तस्युचको भिन्नकर्मश्च । करारदिचेद्वा तु
दृश्यत्वात्कदापि न भ्रुत इति कथमसौ भ्रुतं स्यात् ? इत्यर्थः ।
अनुस्वारोऽप्यस्वकारादिवर्णा इवावस्थाविगमनात्, एवेति तेन
कारणेन ते निर्विबाद्भवे भ्रुतमिति गाथायः । इत्यनकरभ्रुतमि-
ति । विशेषः ।

टिडि चि नंदगोव-स्स बालि वर्ये निवारइ ।
टिडि चि य मुच्छडप, सेसा लठीनिवाएण ॥

नन्दगोपस्य बालिका क्षेत्रादिकं रङ्गनी वस्त्रकान् बालगोक-
पात् टिडि इत्यनुकरणात्कृत्युक्तकार्येऽनुकरन्ती निवारयति । तथा
ये मुग्धा इतिवाहयस्तामपि टिडि इत्येवं निवारयति । शेषास्त-
सज्जभ्रुतीन् यद्यिनिपातेन निवारयति । अत्र टिडि इत्येवदन्-
करमपि वस्त्रादीनां प्रतिपक्षलक्षणाधैर्यापत्तिहेतुरुक्तं जायते,
इत्यनकरभ्रुतम् । शृ० २ उ० । कर्म० । विशेषः ।

अणगराहिय-अग्रार्हित-त्रि० । परममुनिभिरपि महापुरुषैः सेवि-
तत्वात् । सामाधिकं, आ० म० ७ि० ।

अणगार-अनगार-पुं० । अनगारशब्दे व्युत्पन्नोऽप्युत्पन्नश्च ; अ-
व्युत्पन्नः साधै, "अनगरतो मुनिमौनं, साधुः प्रव्रजितो व्रती ।
अमणः कृपणश्चैव, यतिश्चैकाधैवाचकारः" ॥१॥ इति । उच्य० । व्यु-
त्पन्नोऽगारशब्दो द्विधा-ऊच्यन्नायं भेदात् । तत्र ऊच्यगारमगै-
र्युत्पन्नादिजिनिर्भूतम्, आभावात् पुनरगैविपाककार्त्सपि जीव-
विपाकितया शरीरपुरुगलादिविषु बाहिःप्रभृत्परिहृतेऽननानुब-
न्ध्यादिजिनिर्भूतं कथायमोहनीयम् । तत्र ऊच्यगारपदं नञ्-
तु निषेधे । अत्रयमानमृच्छः, भावात्प्राप्यं त्व्यकर्मवर्माहनीयं;

कषायमोहनीयं हि कर्म । न च कर्मणः स्थान्यादिभ्यस्त्वैव विर-
लितसम्भवः । यत् आगमः—“ सत्सहै पयसोयं, अमिभतरसां य
कोऽहोकीप । काठकण सारारणं, जह लहह जउयदमथयरे” ॥१॥
इत्यादि । उक्तं १ अ० ।

(१) पतभिक्षेपः—

अणुगारे निकल्वतो, चउज्विहो वुविहो होइ द्वम्भिम ।
अणय नोअणुगमो, अणुगमो हाइ सो तिंविहो ॥
जाणुगसरीरभविण, तव्वइरिचे य णियहवईसु ।
जावे सम्महिट्ठी, अणुगारवास विण्णिसुक्को ॥ उक्तं ० नि० ।
रूपधिमिं गाथाच्यम, नवरं, तदुव्यतिरिक्ख निह्ववादिपु, आदि-
शाब्दात्थेचविण्णि चारिचपरिणामं विना शुदानावयत् । निद्वारणे
सप्तमी । ततश्च यस्तेषु मध्ये अणुगारत्वेन नोके कूट इत्युपस्का-
रः स तदुव्यतिरिक्तो कल्पानुगारो, भावे सम्यग हाईः सम्यग्-
धर्मवान्, निह्वयतो यत्सम्यक्त्वयं तन्मौलमिति । चारिचो च अणु-
गारसंज्ञानुगारश्चास्तेन या, प्राकृतस्वात् लुनीयाथे पञ्चमी । विशेष-
ण तत्प्रतिबन्धपरिखाणकषय, निमुंकरस्यक्तः, विनिमुंकोऽणु-
गार इति प्रकमः । उक्तं ३३ अ० अ० प्रह्णा० स० सूत्र० । नि०
५० । हा० सु० प्र० रा० । ज० । आचा० । परिम्यकद्रुव्य-
जावगुटे, न० । सामान्यसाधो, अ० १५ हा० १ उ० । शुइरंहाते,
सूत्र० २ अ० १ अ० । त्यकद्रुव्ययापारं, आचा० २ अ० ६ अ०
२ उ० । हा० । पुनदुहितुस्तुवाक्कातिधाव्यादिरहिते, आचा० १
अ० ० ५ उ० । मि० ५, स्था ६ हा० १ उ० ।

(२) अणुगारत्वं धीरात्तवाप्तानं वर्णकः—

ते एं काले एं ते णं समए एं मयएस्म जगवओ महावीरस्म
बहवे अणुगारा जगवतो अप्पेगइआ आयागरा जाव विवाग-
मुअधारा (तथ तथ) ताहिं ताहिं देसे मे गच्छागच्छं गुम्मागुमं
कुट्टाकुट्टं अप्पेगःआ वापंति, अप्पेगइया पडिपुच्छंति, अप्पे-
गःया परिउटंति, अप्पेगइया आणुप्पेहंति, अप्पेगइआ अक्खे-
वणीओ विक्खेवणीओ मंवेअणीओ णिण्वेअणीओ चउ-
ज्विहाओ कइआओ कहंति । अप्पेगइआ उहं जाणु अदो सिरा
जाएकोटोवगया संजमेणं तवसा अप्पाएं जावेमाणा विट्ठं-
ति संसारजउज्विग्गा जीआ जम्मए अरमएणकवीरं गंभीरउ-
क्खपसणुजिअप उरसजिल्लं संजागविओगवीचीचिंतापसंग-
पसंतिअवहं बंधमदह्वविउसकट्ठाओसकुणुवाविलाविअल्लंजक-
लक पंतिउत्तोलवहुइं अणुगारणंएणित्थिक्खसएणुल्लं पुल-
एणुअरोगवेअणुपरिअवविणिवायफरुसधिसणु।समावटि-
अकटिणकम्मप मत्थतरतरं गरांतंनिब्वमचउजयतो अपहं क-
सायणायालमंहुइं भयससहस्मकलुसजलसंचयं पतिजयं
अपरिमिअमद्वित्थकलुसमतिवाउवेगे उकुम्मायाणदगरयरयं-
अधरवरफेणपउरआसाणपिवासधवलं माइमहावचजोगमम-
माएणुपुपमाणुच्छंलतपक्को णिपत्तपाणियपमायंक्वहुदुससा-
वयसमाह्युक्तायामाएणउरारोरेकंदियमहारवरवरेउरवरवं
अएणुणपमंभतमच्छपरिहत्थअणुणित्थिदिमहा।मगरतुरिअ-
चरिययोवुंउममाएणनंभंतचवलंचलचलेतत्तम्भंजलसमूहं
अरतिजयविंसायमोगमिच्छत्तसेसंकर्म अणाइसंजाणकम्म-

बंधणुकिसेसिक्खिल्लुत्तारं अमारासुरनरतिरियनिरयगइ-
मएणुहुल्लपरिमत्तविउल्लवेत्तं चउरंतमहंतमयक्वदगसक्कंसंसा-
रसागरं जीपदरिसणिकं तरंति, धीईपणिए अनियक्केणं तुरि-
यं चवहं संवरेवरगतुंगकूवयमुसंपउत्तेणं एणु।सितवमल-
सुसिएणं सम्मचाविसुक्कल्लुक्खिजाएमणं धीरा संजमोएण
संल्लकलिया पसत्थज्जाएतववापयो।क्खिअपवाविएण उ-
अभववसायगहियेणउज्जरअजयणउवभोगणाएदंसएवि-
सुदुवयभंअरिअसारा जिणवरवयणोवदिह्वयगणे अकु-
दिलिए (सिद्धमहापट्टाभासिमुहा सभणवरसत्थवाहा सुमुइ-
सुसंभासपुएहसासा गामे गामे एगरायं सारं एमरे पंच-
रायं दूइउवया जिदंदिया णिअभया गययया सच्चित्ताविच-
मं।सिपु इज्जसु विरागइंगया संजया विरया मुत्ता ह्रुआ
णिरवकंत्वा साहू णिउआ चरंति धम्मं ॥

‘अप्पेगइया आयारधरेत्यदि’ प्रतीतम । क्वचित् इत्यने (तथ
तथं ति) उद्यानादी (तहिं तहिं ति) तदशोकमोहाद-देशे
देशे अथग्रहभागी धीस्त्वगच्छं वाऽऽधारवाहुर्येन साधुवाहू-
त्यप्रतिपादनाथंम (गच्छुवागच्छं ति) एकावाथपरिवारं गच्छ-
गच्छं गच्छं गत्वा गच्छुवागच्छं, वाचयन्तीति योगः । द्यडा-
दएणादिचच्छुवत्सिद्धिः । एवं गुम्मागुमं कुट्टाकुट्टं च; न-
वरं, गुमं गच्छं कइथा उपाध्यायाधिष्ठितः, पुक्कं लघुवरो
गच्छदेश एव गणावच्छंदि कार्थिष्ठित इति । अथ प्राकृतवा-
चना—(चार्यंति) सूत्रवाचनं इदंति (पडिपुच्छंति
सि) सूत्रार्थं पुच्छंति (परिउटंति) परिउटयन्ति तावेव (अणुप्पेहंति ति) अणुप्पेहन्ते तावेव विजयन्ति (अ-
क्खेवणीओ सि) आसिष्यन्ते मोहाद नयं प्रत्याकुर्यन्तं श्रोता
यकामिरित्यात्पणयः (विक्खेवणीओ सि) विजित्यन्ते कुमा-
र्यमित्युभो विधीयन्ते श्रोता यकामिरित्यात्पणयः (संवेय-
णीओ सि) संवेद्यन्ते मोक्षस्तुखामिलाया विधीयन्ते श्रोता य-
कामिरित्यात्पणयः (निव्वेयणीओ सि) निव्वेद्यन्ते संसारनि-
र्विण्यो विधीयन्ते श्रोता यकामिरित्यात्पणयः । तथा (उहं
जाणु अहो मिर ति) शुद्धपुषिय्यासनयजैनाद्रीपप्रहिकनि-
पदाया अभावात्।कुट्टकालसाः सन्ताऽपविश्यन्ते ऊर्ध्वं जा-
दूनी येणं ते ऊर्ध्वं जानव्यः, अथः शिरसोऽधोऽनुवाः, मोर्ध्वं तिर्य-
ग्त्वा विक्खित्तयन्ते इत्यर्थः । (आणुकोटोवगय सि) ध्याकरो
यः कोटुल्लमुपगतया ये त तथा, ध्यानकाष्ठप्रवेशेन संबुनेन्द्रिय-
मनोवृत्तध्याना इत्यर्थः, संवेयेन तपसाऽऽत्मनं भावयन्ता वि-
हरन्तीति । प्रकारान्तरेण स एवाच्यन्ते—(संसारभउज्विग्गा सि)
प्रतीतम् । (अमणुअरमणेत्यादि) जम्मजगमरणात्थेव कस्या-
नि साधनानि यस्य तस्यथा तच्च तच्छरीरवुत्तं च तदेव प्र-
भुमिंतं प्रभुरं सलिलं यत्र स तथा; तं संसारसागरं तरन्ती-
ति योगः । (संजागविओगन्यादि) संजागविओगा एव धी-
व्यस्तरङ्गा यत्र स तथा, चिन्ताप्रसङ्गिह्वानासात्मन्यादित्यर्थः,
स एव प्रवृत्तं प्रभरो यस्य स तथा, धयाः हननानि, कथाः
संयमनानि, तांथेव अहान्तो दीधो विपुलाश्च विस्तीर्णोः क-
क्षोला महंमेयो यत्र स तथा, कटण्णं विहापित्तानि यत्र स
तथा, स वातो लोभश्च स एव कलकलायमानो यो बोद्धो
ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा—ततः संयोगादिपदानां कर्म-
धारयः अतस्तथ, (अवमाणुएणेत्यादि) अपमानमेव पूजनमेव,

फेनो यत्र स तथा । तीर्णकिसलं चात्यर्थमिन्द्रा, पुषुष्युलप्रभृता
 अमरवरोद्धना वा योगवेदना । पाठात्ते-तीर्णकिसलप्रभृति-
 तानि च, प्रभृतरोगवेदनाश्च; परिमयवित्पातश्च पराभिभव-
 सत्पत्तिः । प्रथमवर्षेषुश्च मिद्वरवचननिर्भस्तनानि, समापित-
 तानि समापन्नानि बह्वानि यानि कठिनानि कर्कशोद्यानि,
 कर्माणि ज्ञानाधारणादीनि, नानि वेति इन्द्रः; ततः एताभ्येव
 च प्रस्तारः प्राणाः, तैः कृत्वा नरैः दिव्यहीहितक्यसत्त्वं, तिर्यं
 भ्रूयं, सृष्ट्युभयमेव मरुत्मीतिर्ये, तोषपुष्टु जलोपरितननागो
 यत्र स तथा, ततः कर्मधारयः । अथवा अप्रमाणफेनमिति ती-
 यपुष्टस्य विशेषणमतो बहुव्रीहिरेवास्तु, तम, [कसायेत्यादि]
 कषाय एव पानालाः पानालकषायास्तैः संकुलो वः स तथा
 तम, [भवसत्यहस्तेत्यादि] मयशतसहस्राण्येव कलुषं जला-
 नं सत्वतो यत्र स तथा तम, पूर्वं जननादिजन्मदुःखस्य स-
 लिल्यतोक्ता, इह तु भवानां जननादिप्रमेयतां जनिविशेषस-
 सुवादानोक्तेन न पुनरुक्तमिति । [परमयं ति] व्यङ्गम, [अपरिमि-
 यायादि] अपरिमिता अपरिमिता वा मरुत्कृत्वा बुद्धमिलाया सा
 येषां तं लोकास्तेषां कलुषा मलिना वा मतिः सैव वायुवेगस्तेन
 ' उद्गममागं उद्गममागं वा ' उपात्यमानं यदुद्करञ्ज उद्क-
 रंशुसमुद्ग, तस्य रयो वेगस्तेनाम्भकारो यः स तथा, वरफे-
 नेनेव प्रचुराशापिपासाभिः, तत्र प्रचुरा बहव आशाः अप्रामा-
 र्थानां प्राप्तिसम्भावना, पिपासास्तु-नेपायमेकाङ्कानां, अतस्ता-
 निभेषल एव भवलो यः स तथा, ततः कर्मधारयः, अत-
 स्तमः, [मोहमहावसेत्यादि] मोहकरो महावसें भोगरूपं प्राप्त्य-
 न्मरुदलेन प्रमदं गुण्युष्णकृत्वा कुलीजलय, उच्छल्य तु उत्पन्न, प्रत्यय-
 निपातकषा-पतत्, पानीयं जलं यत्र स तथा, प्रमादा अघाद्य-
 एव एव अरडवबुद्धस्यपादाः रौद्रमूर्च्छिद्रुद्रपातास्तैरेव समाह-
 ताः प्रहना उद्गावन्तश्च उचित्ततो वा विविधं चेट्टमानाः समु-
 द्रत्पेह मस्याद्याः, मंसारपे उच्छ्रायाः, तेषां प्रभावरः पुरो वा
 नस्योही यत्र स तथा, तथा घोरः चन्द्रित्तमहाह्वः स एव र-
 वनप्रतिशब्दकरत्नः शब्दायमानो भैरवश्चो भीमयोपो यत्र स
 तथा, तत्पदत्रयस्य कर्मधारयः, ततस्तम, [अशाणममनेत्यादि]
 अहानात्येव प्रमदो मस्याः (परिदग्धं ति) दृक्ता यत्र स तथा,
 अनिभृताम्यनुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि ताम्येव महामकारा-
 स्तेषां यानि त्वरितानि शृङ्गाणि चरितानि वेष्टितानि तैः (खो-
 रुञ्जमणे नि) त्रयो शून्यमाणो, कृपान्त्यमन्त्रं चपशानां मये
 चक्षुश्चात्पर्यारभेन, चक्षश्च स्थानान्तरगमनेन, पूषश्च श्राम्य-
 उग्रसमुद्रो जलसंघातः, अन्यत्र जलसमुद्रो यत्र स तथा; ततः
 कर्मधारयः, ततस्तम, [अरतित्रयेत्यादि] अरतिभयाविदाशोभि-
 यत्यानि प्रणीतानि, ताम्येव शैलान्तैः संकटो यः स तथा, तम् ।
 (अश्रासंताश्यादि) अश्रासित्तानमनादिप्रवाहं यत् कर्म-
 न्यनं तच्छ, क्रेशाश्च रागाद्यस्तद्गुणं यच्छिक्लिष्णं कर्दमस्तेन
 सुगु पुस्तारो यः स तथा, तम्, अमरास्तुर्यादि] अमरास्तुरित्येक-
 निरयानिपु यदमनं तदेव कुटिलपरिचर्षायां परिचर्षना विपुला
 चि वस्तीषो वेला जन्मकुटिलकणा यत्र स तथा, तस, (चउरं-
 नइत सि) चतुर्विभागं दिग्भेदमतिरेदद्यानां महामत्तं च महाया-
 मम्, [अणुवद्भवं ति] अनवद्भ्रमनन्तमित्यर्थः, विस्तीषो संसार-
 भागरमिति व्यक्तम् । (भीमदूरिसाधिउग्रं ति) भीमो इत्यन्त इति-
 भिमदूर्शोभीयस्तं, तरन्ति लक्ष्म्यन्ति संवसपोतेमेति योगः । कि-
 म्भूतेन (चीहैथलिआपिपकंयेन सि) धृतिरउच्छ्रवणनेन, चनिक-
 म्पत्त्यै, निष्पकमोपविचलो यः स, मध्यमपदसंगोपु धृतिधनिक-

निष्पकम्यस्तेन, त्वरितं, चक्षमत्तित्यरितं यथा जयतीत्येवं तरन्ति ।
 (संवरचेरोगेत्यादि) संवरः प्राणातिपातादिभिरतिक्रमः, वेराय
 कषायनिग्रहः, एतद्गुणो यस्तुक्त उच्यते: कूपकस्तज्जविशेषस्तेन,
 सृष्टु मयुक्तो यः स तथा, तेन [आणयादि] ज्ञानमय सितः
 सितपटः स विसल शक्तिद्वानं यत्र स तथा तेन: णकारश्चेत् प्राह-
 तशीलः प्रभवः [सम्मत्स्यादि] सम्यक्कषयो विशुक्तो निर्दोषो
 हृष्योऽवाभौ निर्यामः कर्मधारयः कर्मधारो यत्र स तथा, तेन, चीराः अङ्का-
 नाः, संयमयोनेन ह्रीलकक्षिता इति च प्रतीतम् । (पस्यंथेत्यादि)
 प्रशस्तं ध्यानं धर्म्मोदि तद्वृत्तयः स एव वातो वायुस्तेन
 यत् प्रजोदितं प्रेरणं तेन प्रधायितो वेगेन चक्षितो यः स तथा,
 तेन; संयमपोलेमि प्रहृणम् । (उज्जमवचसायेत्यादि) उज्जम अना-
 क्तस्यं, व्यवसायो भवतुनिर्णयः, सङ्ख्यापारो वा, तावनां मूलक-
 स्थापनार्थं यद् दृष्टीतं क्रीतं निरुत्थयतनोपयोगशालादर्शनविशुद्ध-
 प्रकृत्यं आरककषायकं तस्य अरितः संयमपोलेमरत्तपिहितः
 सारो वैस्ते तथा; अमणवरसार्थवाहा इति योगः । तत्र निर-
 र्थं तपः, यतना बहुदोषयामेनात्पदेषु प्राप्रयण्य, उपयोः साध-
 चानना, ज्ञानदर्शनाज्यां विशुद्धानि व्रतानि, अथवा ज्ञानदर्शने च
 निशुद्धव्रतानि वेति समासः व्रतानि च महाव्रतानि । पाताम्ब-
 (आलदं सनेत्यादि) तत्र ज्ञानदर्शनचारित्र्याख्ये विशुद्धवरभारम्,
 तेन भरितः सारो वैस्ते तथा । [जिणवरंर्यादि] ज्यकः (सुसुह इत्या-
 दि) सुधुनयः सत्यकृत्तप्रथाः, सतिसकात्ता वा, सुसुधयो वा, सु-
 कः सम्भारो येषां, सुकन वा सम्भार्यन्त इति सुसम्भारः, शोभ-
 नाः प्रशाः, सुकन वा प्रभ्यन्ते ये ते सुप्रशाः, शोभना आशाः चाप्य-
 येषां तं स्वशाः । अथवा सुकन प्रभ्यन्ते शास्यन्ते च शिष्टान्ये
 ये ते सुप्रशाशास्याः, शोभना वा प्रशस्तस्यानि वृत्त्याधान्यानि
 येषां तं तथा, अथवा सुप्रशाः शस्याश्च प्रशंसनीयाः, ततः कर्म-
 धारय इति । (दूडस्य सि) कृत्तानां सवन्तः, अनेकाथैवाका-
 दूनम् । (गिम्भय सि) भयमोहनो योर्ध्वयिनेषात् । (गयभय सि)
 वद्यविक्रताकारणात् । (संजय सि) संयमवन्तः । कुत
 इत्याह- (विरय सि) यतो निवृत्ताः हिंसादिभ्यः, तपसि वा वि-
 शेषेण रता वितताः ' विरवा ' वा निरैस्तुष्ण्याः विरजसा वा
 अवापाः । ' संचयामो विरयि सि ' कर्वायद् इत्येते, तत्र सविष-
 षिष्ठुना इत्ययोः । (मुस सि) मुक्ताः प्रन्थन, (सहस्र सि) स्रष्टुकः
 अणोपधिवत्वाद्, (गिरयकसं ति) अमातायीकाङ्कवियुक्तः
 (साहृ) मोक्षसाधनात्, (शिहृक्ता) निरुक्तः प्रशान्तवृत्तयः, चरन्ति ।
 [धम्म ति] अमनात् । अत्र सातुर्लोकैः कृतेनिरुत्थयतीति विशेष-
 षणानि बहुशुद्धोऽर्थीतानि, नानि च गमान्तरतया निरवधानि,
 यत् पुनरत्रैव मयं पुनरुक्तमवधानस्तेन, तत् स्ववत्वात् दुष्टम् । यदाह-
 " सज्जायज्जगनवभ्रो-सहेसु उअयस्सुइएणामेसु । संनगुण-
 किणणसु य, न कुंनि पुनरुक्तंसाओ " ॥१०॥ श्री० " " तिदि उणहि
 संवेध अणुगारं अणुगारं अणुवदमं दीहमदं वाउरंतंसंसार-
 कंनारं विरैवपज्जा । तं जहा-अणिदानथाए विटिंसं प्रथाए जो-
 मवाहियायं " इथा० ३ उा० । (सर्वेषां पदानां व्याख्या स्वस्व-
 स्थाने द्रष्टव्या)
 (३) पृथिवीकायिकदिहिसकानामनगरत्वं न भवति-
 पवयति य अणुगारा, य ए तस्मिं गुणोहि जेहि अणुगारा ।
 पुददिं विहिसमाणा, न हौंति बायाइ अणुगारा ॥८०॥
 अणुगारावाऽणो पुद-विहिसगा निगुणा अणारिसमा ।
 निदानं सि य मत्ता, विरइ पुगुछइ मत्ततरा ॥१००॥
 आञ्जा० नि० ।

इह श्लोकं कुतीर्थिका यतिषेचमास्थाप एवञ्च प्रवदन्ति-वयम-
नगाराः प्रमज्जिताः न च तेभु गुणेषु निरवघातुगुणानकंपनु घतेने
वेधनकाराः । यथा खानगारगुणेषु न वनेते तद्दशयति-यतस्तेऽऽ-
निशं पृथिवीअनुविपसिकाखिणो इत्यन्ते गुदपाणिपादप्रकाश-
नाथेम्, अम्यथाऽपि निर्लेपनिगन्धव कर्तुं शक्यमा । अत्रअन्ते गुण-
कहापण्यथाः, न वाक्यात्रेण युक्तिवरपेक्याणनवारता जघतीत्यनेन
प्रयोगः सूचितः तत्र माथापूर्वाथेन प्रतिक्रा, पभाधेन चरेतुः, उ-
त्तरगाथाधेन स्वाधर्म्येदधानः । स ख्यायं प्रयोग-तीर्थिका यत्य-
भिधानत्रादिनाऽपि यतिगुणेषु न वनेने, पृथिवीहिंसाप्रवृत्तवा-
त्, इह ये ये पृथिवीहिंसाप्रवृत्तस्ते ते यतिगुणेषु न वनेने, ए-
हस्यवत् । स्वाधर्म्ये दधानगर्भे निगमनमाह- [अम्यथादि] अणुग-
ारवादिनाः-वयं क्लेश इति यदनशीलाः पृथिवीकार्यार्थहसकाः
सन्तो निर्गुणाः, यतोऽणुपरिसमा इहस्यतुल्या जघन्ति ।
अम्यथायमाह- 'स्वेतना गुणिवी इत्येवं ज्ञानरहितत्वेन त-
त्समास्त्ववतिनः स्वोधा अथि सन्तो वयं निर्दोषा इत्येवं
अयमामाः स्वदोषप्रकाशिसुखार्थाःअग्निनाः कल्पितइत्याः,
पुनश्चातिप्रसहभतवा साधुजनार्थिताया निरवघातुगुणानामिका-
या चित्तेः उरुगुणस्या निन्द्या मयिततरा भवति । अत्रवा च
साधुनिन्द्याऽनन्तस्संसारिन्ते प्रदर्शितं भवतीति । आचा० १. ५०
१ अ० ३ उ० १ " अणुगारं पासेडं, चरंगे तह भंमपे चव " इति ।
इति । १. ५० १ अ० १ " बुद्धः प्रमज्जितां मुक्तं-अनगराक्षरकल-
था" ॥ ५० २७ ॥ १ ।

(४) क्रियाऽसंबुनेऽनगमरो न सिध्यति, किन्तु संबुत् इति
सत्कामरमाह-ननु सत्यपि खानादेमोक्षहेतुत्वे दर्शन एव यति-
तत्त्वञ्च, तस्मैव संबुद्धहेतुत्वात् । यदाह- "अहं च चरिसांभो, सु-
दुयरे दंसणे ग्धेवध्वे । स्विक्रमति करणरहिण, दंसणरहिण ए
स्विक्रमति" ॥ ३ ॥ इति यो मन्वेन तं शिक्यितुं प्रवश्यमाह-
असंबुत्वे सं जेते । अणुगारं सिज्जति वुज्जति मुच्चति
परिखिन्वाति मन्वदुक्त्वाणमंत्तं करेति ? ।

प्रअसुत्तं सुगमम् । उचरमाह-

गोयमा । एा इण्ठे सभ्ठे । मे केणड्हे एं जंते । जाव
अंते न करेति । गोयमा । असंबुत्वे अणुगारो अउयवज्जा-
ओ सचकम्मपगदीओ सिद्विअवंधणवक्काओ पणियवंध-
णवक्काओ पकरेडं, हस्सकाइड्ढितियाओ दीहकाइड्ढिती-
याओ पकरेडं, मंदाणुजावाओ तिन्वाणुजावाओ पकरेडं,
अणपदेममाओ बहुपदेममाओ पकरेडं । आउयं च एं
कम्मं सिय वंधेडं, सिय नो वंधेडं, असायावेयणिज्जे च एं
कम्मं भुज्जेओ जुज्जेओ उवाचिण्डं, अणुाडयं च णं अणव-
यगं दीहपक्के चाउरंतंसासरकंतां अणुपरियट्ठति, से ते-
ण्डे एं गोयमा । असंबुत्वे अणुगारं णां मिज्जक ॥

एतदपि कण्ठमम् । नवरं (नो इण्ठे चर्येड्ढि) नो नैव,
अयमनगरोक्तत्वेन प्रयक्कोऽर्थो भावः, समयो वसवान्, वज्र-
माणवृषणुकरप्रहाणज्जेरित्तान्त्तम् । [आउयवज्जाओ णि]
वसमाविक्रम भवप्रदणं स्वकृते च अनन्तदुष्कर्मसायकाल एव, आयुषा
बन्धः, तत् उक्तम्-आर्युषांओ इति । [सिद्धिअवंधणवक्काओ णि]
सुखबन्धनं इणुपुत्ता वा, वचना वा, निधसता वा, तेन वद्धा
आमप्रदेशेषु सम्बन्धिताः, पूर्ववत्स्यायामअनन्तरपरिणामस्य

कथञ्चिद्भावाविति शिथिलबन्धनयकाः । एताव्हायुजा एव
द्रष्टव्याः, असंबुत्तमावस्य निन्द्याभ्यामावा । ताः कस्मिन्वाह-
[अथिवंधणवक्काओ पकरेडं णि] गाढतरबन्धनवक्कावस्था वा,
निधस्ता वस्था वा, निष्काशितावस्था वा प्रकरोति । प्रशब्दस्यादि-
कर्माधेत्वात्कृतमारुच्यते, असंबुत्तवस्थे शुभभयानकपत्वेन गाढ-
तरप्रकृतिबन्धहेतुत्वात् । आह च- "ओ गावपडियपसं ति" यीनः
पुन्यात्वे त्वसंबुत्तवस्थे ताः करोतीत्यर्थे । तथा- "उडकसं-
स्थितिका दीवेकासस्थितिकाः प्रकरोति, तत्र स्थितिकपात्तस्य
कर्मणोऽवस्थानं, तामनकासां प्रकरोतीत्यर्थेः । असंबुत्त-
त्वस्य कथावरुपत्वेन स्थितिकवर्णहेतुत्वात् । आह च- "डिइमणु-
जागं कसावओ कुण्ड णि" । तथा [अंदाणुजावायादि] इहाणुभा-
वा विपाकाः, रसविशेष इत्यर्थेः, ततश्च मन्दाणुजावाः परिपेह-
वरसाः स्तुतीगार्धरसाः प्रकरोति । असंबुत्तत्वस्य कथावरुपत्वे-
देवाणुमागबन्धस्य च कथावत्यव्यवर्थाविति । [अणपदेमस्या-
दि] अणपं स्तोकां प्रदर्शां कर्मदक्षिकपरिमाणं यासां तासुत्वा,
ताः बहुप्रदर्शायाः प्रकरोति प्रदर्शकधर्स्यापि बाणप्रवन्धवाव-
संबुत्तत्वस्य च बोधद्रव्यत्वादिनि । [आउत्तं चेत्यादि] आयुः,
पुनः, कम्मं, स्यात् कद्विचिदं, बन्धात्, स्यात्, स्यात् । यस्मात्सि-
जागचवओपायुषः परजवापुः प्रकुर्वन्ति, तेन वद्धा सिज्जागदि-
स्ताद कजाति, अन्यद्वा न कज्जलीति तथा । [असाए इत्यादि]
असाणवेदनीचं च उ-उडकवर्णां कर्म पुनर्भूयांश्चः पुनरुर्वाच-
नोति उपचितं करोति । ननु कर्मसमाकृतवर्त्तिव्याद्वामावेद-
नीयस्य पुनोक्तविशेषणैभ्य एव तदुपचयप्रतिपत्तः किंमेतद्-
प्रहणेन ? । इत्यत्रोच्यते-असंबुत्ताऽत्यन्तमुक्तिरिति भवतीति-
प्रतिपादनेन अयजनमासंबुत्तवर्णवर्त्तिव्याद्वामावेदमित्युक्तमित्ये-
[अणारयं ति] अभाविकं अग्निधर्माणिकम्, अहातिकं वा
आविद्यमानस्त्वजनम्, अणुं वा अतीत्य, अणुजज्युःक्याऽति-
कान्तदुःस्थानातिमिसन्तयेति अणुजातयेति । अणं वा अणकं
पापमतिशयेनेन गतम्--अणान्तयेति । अणं वा अणकं
पापमं ति' देशविचनोऽतवाचकस्तनस्तावपिवात् 'अणययमं'
अनन्तमित्यर्थे । अणवा अयनमानकमममनो यस्य तस्यथा,
तन्निष्पादनयताप्रमेतरेवर्षणशुद्धिनयताप्रमिति । अथवा अन-
वगतमपरिक्रमप्रं परिमाणं बन्ध तस्यथा । अनप्य [दीहम-
कं ति] दीर्घादी दीर्घकाश, दीर्घाध्वं च दीर्घमात्मम् । [चाउरंत
णि] अनुप-तदेवाग्निगमनेनायुषोविदिग्भेदाच्च अनुविज्जागं तदेव
स्थाविकाणुअभयोपादानाचानुत्तरम् । [संसारकंतां ति]
प्रवारणयम् । अणुपरियट्ठ णि] पुनःपुनःप्रतीति ॥

असंबुत्तस्य तावदिदं फलं, संबुत्तस्य तु यावत्साक्षात्-
संबुत्ते एं जंते । अणुगारं मिज्जह ? । इता मिज्जह
जाव अंतं करेडं । मे केण्डेणं यं मे ? एवं तुचच ? । गोयमा ।
संबुत्ते एं अणुगारं आणयवज्जाओ सत्तकम्मपगदीओ
अणियवंधणवक्काओ सिद्विअवंधणवक्काओ पकरेडं, दीह-
काइड्ढितियाओ हस्सकाइड्ढितियाओ पकरेडं, तिन्वाणुभा-
वाओ मंदाणुजावाओ पकरेडं, बहुपदेममाओ अणपदेममा-
ओ पकरेडं, आउयं च णं कम्मं न बंधं, असायावेयणिज्जे
च एं कम्मं णो भुज्जेओ जुज्जेओ उवाचिण्डं, अणुाडयं च णं
अणवदमं दीहपक्के चाउरंतंसासरकंतां वीरियडं । से तेण-
डे एं गोयमा । एवं संबुत्ते अणुगारं मिज्जह जाव अंतं करेडं ।

(संयुते णमित्यादि) व्यकम्, नवरं, संयुक्तोऽनगरः प्रमत्तसंय-
तादिः, स च कर्मप्रशरीरः इत्यादिकर्मशरीरो वा, तत्र यश्चरम-
शरीरस्तदपेक्षयं सुप्रम, यैश्चरमशरीरस्तदपेक्षया परस्परया
सुजायोऽप्येव्यः । ननु पारपर्येणासंबन्धव्यापि सुजांकार्यस्या-
वश्यंभावात्; यतः ह्युक्तपात्रिकस्यापि मोक्षोऽवश्यंजायी, तदेवं
संबन्धासंबन्धयोः कलतो जगतामव एवेति । अत्रोच्यते-सत्यम्,
किन्तु यासंबुतस्य पारपर्यं तदुक्तकृतं सत्प्रज्ञप्रमाणम् ।
यतो वक्ष्यति-“अहंश्रियं चारिताराहणं आराहिहा सत्प्रज्ञजनय-
माहणेति सिद्धमिति” । यथाऽसंबुतस्य पारपर्यं तदुक्तकृतो-
ऽपादेतुः कृतप्रदायतेनमानमपि स्यात्, विराधनाकल्पत्या तस्येति ।
(वीरेश्वरवृत्ति) ध्यातिवज्रति, ध्यातिकासतीत्यर्थः अ० १ श० १ उ० ।

(५) अनगरस्य भावितात्मनोऽभिधारादिव्यवगाहना—
रायगिहे जाव एवं वयासी-अणुगारे एं जंते । जाविय-
प्या अस्सिधारं वा खुरधरं वा अगोरेजा । हेता ओगाहे-
जा । से एं तत्य जिञ्जेज वा भिञ्जेज वा । एो इण्ठे
समडे, एो खलु तत्य सत्यं कमड् । एवं जाहो पंचमसए
परमाएुं गले वचन्वया पत्तं । अणुगारे एं जंते । भावि-
प्या उदावत्तं वा जाव । णो खलु तत्य सत्यं कमड् ।

[रायगिहे इत्यादि] इह चानगरस्य कुरधारादिषु प्रवेशो
वैकियव शिष्यस्तामर्थ्याद्वचस्यः । [एवं जहा पंचमसए इत्यादि]
अनव च व्यस्थितं तद्विद्व-“अणुगारे एं जंते । भाविप्या अण-
णिकायस्य मज्जे मज्जेणो वीरेश्वरजा ? , हेता वीरेश्वरजा , से
णं तत्थ विज्जायाएजा ? । नो इण्ठे समडे, नो खलु तत्य सत्यं
कमड् ” इत्यादि । अ० १८ श० १० उ० ।

[६] अनगरस्य जन्मप्रत्याख्यातुराहारः—

जत्तपच्चक्खायए एं भंते । अणुगारे सुच्चिए अज्जोव-
वणे आहाराहारेडे, अहे एं वीसमाए कालं करेइ, तज्जो
पच्छा अमुच्चिए अगिच्छे जाव अणुज्जोववणेण आहारा-
महारेति । हेता गोयमा । जत्तपच्चक्खायए एं अणुगारं तं
चवं । से केण्ठे एं भंते । एवं वुच्चइ जत्तपच्चक्खायए णं तं
चवं । गोयमा । जत्तपच्चक्खायए एं अणुगारे मुच्चिए जाव
अज्जोववणेण आहारे भवइ, अहे एं वीसमाए कालं करेइ,
तज्जो पच्छा अमुच्चिए जाव आहारे भवइ, से तेण्ठे एं जाव
आहाराहारेइ ॥

(भसत्त्यादि) तत्र (भसत्पच्चक्खाय एं ति) अनशनी मूर्च्छि-
तः संजातमूर्च्छः जाताहारसंरक्षणानुबन्धस्तद्व्यपिषये वा
मूढः । मुच्छां मोहस्तस्युच्छापयः । इति वचनात् । यावत्करणा-
दिद् इदमय- (गडिप) अथित आहाराविषयस्नेहतनुमिः स-
न्दर्भितः , प्रथं अन्ध सन्धेत्ते । इति वचनात् । (गिक्) पु-
त्रः प्रासाहारे आसक्तः, अनुसन्धेत्त वा तदाकाङ्क्षायाद्, ‘युधु’ अ-
भिकाङ्क्षायाः इति वचनात् । (अज्जोववणे ति) अणुपपञ्जाऽप्रा-
साहारेऽन्ताराध्यामाधिक्येनापेक्षः । आहारं वायुतेलान्यङ्गादि-
कम्, अंदादिकं वाऽन्युपवहयेति । अणुवेदनीयकमोदयादसमाधी
स्वति मनुपशमनाव प्रसूक्तमाहारयन्युपभुञ्जे ॥ (अहे एं ति) अ-
हारात्मनश्च विकल्पया स्वभावात् एव, (कासं ति) कालो मरणं,
कास इव कालो मारणात्तिकसमुद्घातः, तं करोति यामि । (तज्जो
पच्छ ति) ततो मारणात्तिकसमुद्घातात्पश्चाद् तस्मात्किञ्च

इत्यर्थः । अमुच्छिन्नादिविशेषणविशेषित आहाराहारेऽप्यति, प्र-
शान्तपरिणामसङ्गावदिति प्रज्ञाः अत्रोत्सम्- [हेतागोयमेत्यादि]
अनेन तु प्रभायं एवाऽनुपगतः, कस्यापि त्रकप्रत्याख्यातुरंत्तं-
भावस्य सङ्गावदिति । अ० १४ श० ७ उ० ।

[७] शैलेशीप्रतिपक्षस्यानगरस्य पजना—

सेहेसिपदिक्कवसुए एं भंते । अणुगारे सया समियं ए-
यति वेयति जाव नं तं जावं परिणमड् । एो इण्ठे समडे, ए-
णत्थेगेणं परप्पभोगेणं ॥
(नो इण्ठे समडे ति) योऽयं निवेशः सोऽन्यथैकस्मात्परप्रयो-
गादेजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैवेकं शैलेश्यामिजनादि
नयति, न करणान्तरणेति जावः । अ० १४ श० ३ उ० ।

[८] अनगरतो भावितात्माऽऽत्मनः कर्महेतुयाशरीरं जानाति-
अणुगारे एं जंते । भाविप्या अणुप्या कम्मसेसं ए
जाणइ, ए पासड, तं पुएण जीवस्यत्ते सक्कम्मसेसं णाएइ,
पासड ? । हेता गोयमा । अणुगारे णं भाविपस्या अणुप्यो
जाव पासड ।

(अणगारे णमित्यादि) अनगरो भावितात्मा संयमज्ञानया
यासिनात्मनःकरणं, आत्मनः संबन्धिर्नवी कर्मणो योग्या हेतुया
कृपादिका, कर्मणा वा लेख्या वा, “ लिहा नेरणेण ” इति वचना-
त् । संबन्धः कर्महेतुया, तां न जानाति विशेषणो न पश्यति च,
सामान्यतः कृपादिहेतुयायाः, कर्मद्रव्यहेतुयस्य चानिसुप्रम-
त्तेन ह्योऽस्थानानागोचरत्वात् । (तं पुण जीव ति) यो जीवः
कर्मलेख्यावास्तेन पुनर्जीवमान्मानं (सकवि ति) सद् रूपेण
रूपरूपवतोऽन्येदोपचारार्थदरीशु वतते योऽस्ती [समासात्तावि-
धिः] सकृपि, तं सकृपिणत्त-सशरीरमित्यर्थः । अत एव सकृ-
मैलेखं कर्मलेखया सद् वस्मानं जानाति शरीरस्य च सुप्रमा-
त्वाद् जीवस्य च कथाविच्छरीराव्यतिरेकादिति “सकृपि सकम्म-
सेसं ति” । ज० १४ श० ६ उ० । (अनगरस्य अनयुक्तं गच्छतः
कियाः ‘ किरिया ’ शब्दे तृतीयभागे ब्धत्ते)

(९) अनगरस्य ज्ञावितात्मनः किया-

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणुगारस एं जंते । भा-
वियप्याणं पुरज्जो सुद्धमं जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणसस
पायसस अहे कुक्कुदपाते वा वट्ठापाते वा कुल्लिगच्छाए वा
परियावज्जेजा, तम्म एं जंते । किं इरियावहििया किरिया
कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा । अणुगारसस
णं जावियप्याणो जाव तससं णं इरियावाहििया किरिया क-
ज्जइ, थो संपराइया किरिया कज्जइ । से केण्ठे एं भंते ।
एवं वुच्चइ ? । जहा सत्तमसए संवुहुंसए जाव अहो णि-
क्खिसो सेवं भंते । जंतेति जाव विहरइ । तए एं समणे
जगवं महावरेरे जाव विहरइ ॥

(पुरभां ति) अमरतः (वुद्धमं ति) विधाऽन्तराऽन्तरा पाश्वतः
पृष्ठमभ्येयर्थः (जुगमायाए ति) सुपमात्रया दृष्ट्या (पेहाए ति)
प्रक्षय (रीयं ति) गतं गमनं, (रीयमाणसस ति) कुर्वत इत्यर्थः ।
(कुक्कुदपाय ति) कुक्कुटमिन्नः (वट्ठापाए ति) इह वनेका
पक्विशिशः । (कुल्लिगच्छाए ति) पिपीलिकादिसदृशः (प-
रियावज्जेज ति) पर्यापयेत सिन्धेन, (एवं जहा सत्तमसए दया-

दि) अनेन च यन्वृत्तिते तस्याद्यंशश्च एवम्-अथ केनायेन भ-
वन्नेवमुच्यते ? । गौतम । यस्य क्रीयादयो व्ययचिह्ना भवन्ति
तस्यैवोपचयेव क्रिया जवतीत्यादि । [जाव अत्रो निक्किञ्चो
ति] "से केण्डे एं जेने ।" इत्यादिवाक्यस्य निगमनं यावदित्यर्थः ।
तत्र [से तेण्डे एं गोयमेत्यादि] इति शान्ममममभित्ति विचारः-
कृतः । अथ तदेवाभित्याप्यधुषिकेननेपेधतः स एवोच्यते-
[तवणमित्यादि] अ० १८ श० ८ उ० ।

अग्रगारस्स एं जंते । जाबियपणो उठ्ठे उठ्ठे एं अग्रि-
कित्तेने एं जाव अयावेमाणस्स तस्स एं पुरच्छिमेणं अ-
वड्ठं दिवसं एं कप्पइ, हत्थं वा पादं वा जाव उठ्ठं वा अत्तं-
ट्टावेत्तप वा पसारेत्तप वा पच्छिमेणं अवड्ठं दिवसं कप्पइ,
हत्थं वा पादं वा जाव उठ्ठं वा अत्तंट्टावेत्तप वा पसारेत्तप
वा तस्स य अंसिअओ लंबइ तं चेव विज्जे अद्रक्खु, इसिं
पानइ, पाणइत्ता अंसियाओ इतिइइजा, स एणुं जंते । जे उ-
देजा, तस्स कइ किरिया कज्जइ, जस्म छिज्जइ एो तस्स
किरिया कज्जइ ? , णाणत्थेगेणं धम्मतराएणं ? । हुंता
गोयमा । जे उदिइ जाव धम्मतराएणं एं से एं भंते । भंते ति ।
(पुरच्छिमेणं ति) पूर्वभागे पूर्वाह्ने इत्यर्थः । (अवड्ठं ति) अ-
पगनाद्धर्मद्वैत्रिवसं यावद् न कल्पते हस्ताद्याकुण्टयितुं, का-
योत्सर्गव्ययमित्यात् । (पच्छिमेणं ति) पश्चिमभागे
(अवड्ठं दिवसं ति) दिनाह्ने यावत् कल्पते हस्ताद्याकुण्टयि-
तुं, कायोत्सर्गगोभावात् । तदेतच्च चूरेणसुसारितया व्याख्यातम् ।
[तस्स य एति] मन्थ पुनः साधोरेवकायोत्सर्गाभिप्रवहतः
(अंसियाओ ति) अश्रीति, तानि च नासिकासकानीति
चूर्णिकारः । (तं च एति) तं बानगारं कृत्वाकायोत्सर्गं लम्ब-
मानाश्रयम्, (अद्रक्खु ति) अद्रात्तीन् । तत्राश्रीयं छेदार्थम्
। इसिं पाइइ ति । मनगनवारं भूयसां पातयति, नापानित-
स्याश्रींछेदः कर्तुं शक्यन् इति । (तस्स ति) वैद्यस्य, क्रिया
व्यापाररूपा, सा च शुभा धर्मवुच्छा । छिन्द्यान्त्य लोभा-
दिना क्रियेत म्यशुभा भवति (जस्स छिज्जइ ति) यस्य सा-
धोश्रीमि छिद्यन्ते नो तस्य क्रिया भवति, निर्व्योपारत्वात् ।
किं सर्वथा क्रियाया अभावः ? प्रैवम् । अत आह-(नक्षन्थेत्वा-
दि) न इति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्वाद्धर्मन्तरायाद्ध-
र्मन्तरायलक्षणा क्रिया, तस्यापि भवतीति भावः । धर्मा-
न्तरायश्च अशुभप्यातविच्छेदादश्रीयच्छेदाश्रीयामोदमाद् भति । अ०
१६ श० ३ उ० ।

(१०) संवृत्तस्यानगरस्य क्रिया-

रायगिहे जाव एवं वयासी-संवुद्धस्स एं भंते । अग्रगार-
रस्म वीऽपंये त्रिच्चा पुरओ रुवाइ निज्जायमाणस्स पग-
ओ रुवाइ अन्नयत्तमाणस्स पामओ रुवाइ अवत्तोएमा-
णस्स उठ्ठं रुवाइ उलोएमाणस्स अठ्ठे रुवाइ अलोए-
माणस्स तस्स एं भंते । किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,
संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा । संवुद्धस्स अग्रगार-
रस्म वीऽपंये त्रिच्चा जाव तस्स एं एो इरियावहिया कि-
रिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ । से केण्डे एं भंते ।
एवं वुच्चइ, संवुद्धं जाव संपराइया किरिया कज्जइ ? । गो-

यमा । जस्स एं कोहमाणमायालोजा एवं जहा सत्तमसए
पदमुरेत्तए जाव से एं उस्सुत्तमेव रीयइ । से तेण्डे एं जाव
संपराइया किरिया कज्जइ । संवुद्धस्स एं भंते । अग्रगार-
रस्स अवीऽपंये त्रिच्चा पुरओ रुवाइ निज्जायमाणस्स
जाव तस्स एं जंते । किं इरियावहिया किरिया कज्जइ,
पुच्छा । गोयमा । संवुद्धं जाव तस्स एं इरियावहिया कि-
रिया कज्जइ, एं संपराइया किरिया कज्जइ । से केण्डे एं
जंते । जहा सत्तमसए सत्तमुरेत्तए जाव से एं अहाशुत्तमेव
रीयइ, से तेण्डे एं जाव एो संपराइया किरिया कज्जइ ।

(रायगिहे इत्यादि) तत्र । संवुद्धस्स ति । संवृत्तस्य सामा-
न्येन प्राणानिपातयास्त्रवद्वानसंशरोपेनस्य (वीऽपंये त्रिच्च ति)
वीचिशब्दः सप्रयोगे । स च सम्प्रयोगो ह्योपेनिति । तत्रैव
कथायाणां जीवस्य च सम्प्रयो वीचिशब्दवाच्यः, तत्रैव वी-
चिमतः कथायवतः, अतुपत्ययस्य वद्यथाह्य लोपस्य दर्शनात् ।
अथवा " विचिर पृथग्भाव " इति धवनाद् विविच्य पृथ-
ग्भूय यथास्थानसंयमा/कथायाद्यमनपवाच्येत्यर्थः । अथवा
विचिन्त्य रागाविकल्पावित्यर्थः । अथवा विकृता कृतिः क्रि-
या सरागत्वाद् यस्मिन्नवस्थाने तद्विकृति यथा भवतीत्येवं
स्थित्या (पंथे ति) मागे (अवयवकत्वमाणस्स ति) अत्र-
काङ्क्षोऽपेक्षमाणस्य वा, पश्चिप्रहृत्यस्य बोधलक्षणात्वात्-
म्यत्राप्याधारे स्थित्वेति द्रष्टव्यम् । (मो इरियावहिया किरि-
या कज्जइ ति) न केवलयोगप्रत्यया कर्मव्यपथिषा भव-
ति, सकथायवतस्तस्येति । जस्स एं कोहमाणमायालोभा इह-
एवं जहत्याधनिशुवादिदं इत्यर्थ- (बोच्छिक्खु भवन्ति तस्स
एं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स एं कोहमाणमायालो-
भा अवोच्छिक्खु भवन्ति तस्स एं संपराइया किरिया कज्जइ,
अहाशुत्तं निवं रायमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उ-
स्सुत्तं रीय रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ ति)
व्याख्या चास्य प्राथम्येति । (से एं उस्सुत्तमेव ति) स पुन-
रुत्सृष्टमेवागमात्तत्रमणुत्त एव (रीय ति) गच्छति " संवुद्धस्सं-
त्वादि " इत्युत्पत्तिपर्यप्यन्तम्, तत्र च (अवीऽइ ति) अवीचिन्तोऽ
कथायसम्प्रभवतोऽविविच्य वा अपृथग्भूय यथाऽस्थानसंय-
मात् आविचिन्त्य वा रागाविकल्पाभावेनेत्यर्थः । अविहृतिर्वा
यथा भवतीति । अ० १० श० २ उ० ।

संवुद्धस्स एं भंते । अग्रगारस्स अत्रात्तं गच्छमाणस्स
जाव अत्रत्तं वत्यपिगमहं कवलं पायपुच्छां गेएहमाण-
स्म वा निखिवमाणस्स वा तस्स एं भंते । किं इरिया-
वहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? ।
संवुद्धस्स एं अग्रगारस्स जाव तस्स एं इरियावहिया
किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ । से के-
ण्डे एं जंते । एवं वुच्चइ संवुद्धस्स एं जाव नो संप-
राइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा । जस्स एं कोह-
माणमायालोजा बोच्छिक्खणा भवन्ति तस्स एं इरियाव-
हिया किरिया कज्जइ, तद्वेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स
संपराइया किरिया कज्जइ, से एं अहाशुत्तमेव रीयइ, से

तेण्डे एं गोयमा । जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ ।
ज० ७ श० ७ उ० ।

(११) अणुगारस्व गण्युपपादौ-

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणुगारे एं भंते । जावियप्पा चरम देवावासं वीइकंते परमं देवावासं अंसपत्ते एत्थ एं अंतसलं काइं करेज्जा, तस्स एं जंते । कहिं गइं कहिं उववाए पक्कं ? । गोयमा ! जे से तत्थ परिस्सिओ तल्लेस्सा देवावासा तहिं तस्स गइं, तहिं नस्स उववाए पएणत्ते । से य तत्थ गए विराहेज्जा, कम्मलेस्सामेव पक्कवड, से य तत्थ गए नो विराहेज्जा, तांमेव लेस्सं उवसंपजिजाएणं विहरइ ।

[चरमं देवावासं वीइकंते परमं देवावासं अंसपत्ते ति] चरममयाभ्यागवतिं स्थियाद्यादिप्रित्तेवावासं सीधमादिदेवत्तेकं ध्यतिमान्ते लक्ष्मिगतस्त्रुपातहेतुभूतलेइयापरिणामापत्तया परमं परनागवतिं स्थियादिजिरेव देवावासं सनत्तुमारादिदेवत्तेकमसंप्रामांसप्राप्तवत्तुपुत्तलेइयापरिणामापत्तयैव । इदमुक्तं भवति-प्रशस्तेष्वध्वन्यायस्थानपुस्तोत्तरणु वर्तमान आराङ्गागस्थितसीधमादिगतदेवस्थियादिदेवध्याम्यतामतिकान्तः परभागवतिसनत्तुमारादिगतदेवादिस्थियादिवन्प्रयोष्यतां चाप्राप्तः । [एत्थ एं अंतरं ति] इहायस्मरे [काइं करेज्ज ति] म्रियंते यस्मिन् कांयाद इति प्रश्नः । उत्तरं तु- [जे से तत्थ ति] अथ ये तत्रति तयोअंमदेवावासपरमदेवावासयोः परि पाश्चैतः समीपे सीधोमदेवासकाः सनत्तुमारादेवो आसन्नास्त्वयोमेष्यमागे इशातादौ इत्यर्थः । [तल्लेस्सा देवावासं ति] यस्मां जेइयायां वीमेमानः साणुवुत्तः सा लेइया येणु ते तहेइया देवायासाः [तहिं ति] तेषु देवावासेषु तस्यानगरस्व गति-मं वनीति, यत उच्यते- 'अणुस्सं मरइ जिए, तणुस्सं जेव उववजे' इति । [से य ति] स पुनरनगरस्वतत्र मध्यत्रागवतिंति देवा-वासे गतः [विराहेज्ज ति] येन जेइयापरिणामेन तत्रोत्पन्नस्सं परिणामं यद्दि विगणयेणु तदा [कम्मलेस्सांमेव ति] कर्मणः सक्रामाया जेइया जीवपरिणतिः सा कम्मलेइया, जाइलेइयेत्यर्थः । तांमेव प्रतिपत्तति-तस्या एव प्रतिपत्तति अणुननतां यति, न तु द्रव्यलेइयायाः प्रतिपत्तति । सा हि प्राक्येवास्ते इत्थमेव । इयं चित्तलेइयायाश्चैवानामिति पक्कान्तरमाह- [से य तत्थेयादि] से । सानगरस्वतत्र मध्यमदेवावासे गतः सद् यदि न विराधयेत्तं परिणामं, तथा तांमेव जेइयां योताम्यज उपसंप-पद्याश्चित्य विहृत्स्यास्त इति । एवं सामान्यं देवावासमाश्रित्या-कम् ।

अथ विशेषितं तमेवाश्रित्याह-

अणुगारे एं जंते ! जावियप्पा चरमं अणुस्सुकरारावासं वीइकंते, परमं अणुस्सु० एवं चेव० एवं जाव यणियकुमारा-वासं जेइसियावासां एवं वेमाणियावासं जाव विहरति ॥
अणु यो भावित्तात्माऽनगाः स कथमणुस्सुकरामरेवृत्त्यस्वते, विराधितसंयमनां तत्रोत्पादादिति ? । उच्यते-पूर्वकालायेइया भावित्तात्मायमनकाले च संप्रमथिराचमासन्नवाइसुकरामा-दादित्योपपादइ इति न दोषः । बाअतस्वस्वी बाऽयं भावित्तात्मा कज्जव इति । म० ४ श० १ उ० ।

(१२) अंसकृतस्यानगरस्व विकृष्टवर्णा-
अंसवुदे एं जंते ! अणुगारे बाहिरए पोमगळे अणुपरिया-
इत्ता पणु एगवसं एगस्वं विउन्विचए ? । गोयमा ! षो इण्डे समडे । अंसवुदे एं जंते ! अणुगारे बाहिरए पो-
मगळे परियाइत्ता पत्तु ! एगवणं एगस्वं जाव । हेता । पत्तु !
से भंते ! किं इह गए पोमगळे परियाइत्ता विउन्विड, तत्थ
गए पोमगळे परियाइत्ता विउन्विड, अणुत्थ गए पोमगळे
परियाइत्ता विउन्विड ? । गोयमा ! इह गए पोमगळे परि-
याइत्ता विउन्विड, नो तत्थ गए पोमगळे परियाइत्ता विउ-
न्विड, नो अणुत्थ गए पोमगळे जाव विउन्विड, एवं एगवसं
अणुगेगस्वं चउजंजो नद्दा उट्ठसए नवमे उहेमए तहा
इहावि भाणियव्वं, नवरं अणुगारे इह गए य पोमगळे परि-
याइत्ता विउन्विड, सेमं ते चेव जाव हुवत्तपोमगळं स्थि-
पोमगलत्ताए परिणामेत्ताए ? । हेता । पत्तु ! से जंते ! किं इह
गए पोमगळे परियाइत्ता जाव नो अणुत्थ गए पोमगळे
परियाइत्ता विउन्विड ।

अंसवुतः प्रमत्तः (इह गए ति) इह पृच्छको गौतमः, तद्वेपक्या
इह शब्दाव्या मनुष्यलोकेऽननइ इह गतात् नरलोकाव्यवस्थि-
तान् (तत्थ गए ति) धार्क्यं कृत्वा तत्र याव्यति तत्र व्यव-
स्थितानित्यर्थः (अणुत्थ गए ति) उक्तस्यानह्वयव्यतिरिक्तस्था-
नाभित्तात्तत्थोः (नवरं ति) अयं विशेपः- (इह इति) इह शतं,
अनगर इति, इह गतात् पुन्रानांति च वाच्यम् ; तत्र तु दे-
वइति, तत्र गतानांति चोक्तमिति । म० ७ श० ६ उ० ।

[१३] केयाघटिकात्रकण्डयादिगिकृष्टवर्णा-

रायगिहे जाव एवं वयासी-से जहाणामए केइ पुरिमे
केयाघटिं महया मच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे वि जावियप्पा
केयापांरिया किबहृत्थगएणं अप्पाणेणं उण्ठं वेहासं उप्पएज्जा ।
हेता गोयमा ! जाव सणुप्पएज्जा । अणुगारे एं जंते ! भावि-
यप्पा केवइयां पत्तु ! केयापांरियं किच्चहृत्थगएणं रुवाइं
विउन्विचए ? । गोयमा ! से जहाणामए जुवतिं जुवाणो
हृत्थेणं हृत्थं एवं जहा जेइसएणं पंचमोइसए नावतां चेव
एवं संपत्तीए विउन्विटु वा विउन्विटि वा विउन्विस्संति वा
से जहाणामए केइ पुरिसे टिरिस्सोपेदिं गहाय मच्छेज्जा, एवा-
मेव अणुगारे वि भावियप्पा हिरस्सोपेदिं इत्थकिबगएणं अप्पा-
णेणं सेसं तं चेव । एवं सुवस्सोपेदिं एवं रस्सोपेदिं बपरिपेदिं वत्थ-
पेदिं आजरणोपेदिं, एवं विउत्तकिं सुवाकिं चम्मकिं कं-
लकिं, एवं अयजार् तंबजार् तउयभार् सीसगजार् हिर-
स्सभार् सुवस्सजार् वरजार् से जहाणामए वग्गुसं । सिया
देवि पाए उलंविग उलंविप उण्ठं पाया अणुओ सिरा विउ-
ज्जा, एवामेव अणुगारे वि जावियप्पा वग्गुसो किबगएणं
अप्पाणेणं उण्ठं वेहासं । एवं जसो वडयवत्तव्या भाणि-
यव्वा जाव विउन्विस्संति वा से जहाणामए जसोया सिया

उद्गंसि कायं वि उच्चिह्य उच्चिह्य गच्छेज्जा, एवामेव सेसं जहा वग्गुलीए मे जहाणामए वीयं नियगसउणे सिया दोवि पाए समतुरंगेमाणं समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए पक्खिविरालए सिया रुक्खाओ रुक्खं केवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए जीवं जीवगसउणे सिया, दो वि पाए समतुरंगेमाणं समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए हंसे सिया तीराओ तीरं अजिरममाणे अजिरममाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे हंसकिच्चगएणं अप्पाणं, सेसं तं चेव । से जहाणामए समुद्दहायसए सिया वीईओ वीई केवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव तहेव । से जहाणामए केइ पुरिसे चकं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे जावियप्पा चककिच्चगएणं अप्पाणं, मेसे जहा केयावदिपाए, एवं उणं, एवं चम्मं, से जहा केइ पुरिमे रयणं गहाय गच्छेज्जा एवं चेव । एवं वइए वेरुळीयं जाव रिठं एवं उप्पलहत्थयं पठमहत्थयं कुमुदहत्थयं एवं जाव । से जहाणामए केइ पुरिसे महहसपत्तगं गहाय गच्छेज्जा, एवं चेव । से जहाणामए केइ पुरिसे जिसे अवदालिय अवदालिय गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे वि जिसे किच्चगएणं अप्पाणं तं चेव, से जहाणामए सुणाक्षिया सिया उद्गंसि कायं उम्मज्जिअ उम्मज्जिअ चिडेज्जा, एवामेव सेसं जहा वग्गुलीए, मे जहाणामए वणखंडं सिया किएहे किएहोभासे जाव निकुंखच्चए पासादीए थ, एवामेव अणुगारे भावियप्पा वणखंडं किच्चगएणं अप्पाणं उहं वेहासं उप्पएज्जा, सेसं तं चेव । से जहाणामए पुक्खविरिणं मिया चउक्कोणा समतीरा अणुपुव्वसु जाय जाव सवुत्तयप मधुरसरणादिया पामादीया थ एवामेव अणुगारे वि जावियप्पा पोक्खविरिणं किच्चगएणं अप्पाणं उहं वेहासं उप्पएज्जा ? । हेता उप्पएज्जा अणुगारेणं भंते ! जावियप्पा केवयाई पत्तु ! पोक्खविरिणं किच्चगएणं रूवाई विउच्चिह्यत्तु ! सेसं तं चेव जाव विउच्चिह्वसंति वा । से जंते ! किं मायी विउच्चवड, अमायी विउच्चवड ? गोयमा ! मायी विउच्चवड, णो अमायी विउच्चवड, मायीणं तस्स उणस्स अणालोइय एवं जहा तइयमए चउत्तुइमए जाव अरियं तस्स अणारहया ॥

(रायगिहेत्यादि) (केयाघटिंयं ति) उज्ज्वलान्बच्चटिका केयाघटिया (किच्चहत्थयणं ति) केयाघटिकासकृणं यत्कृत्यं कायं नक्खन्ते गतं यस्स स तथा, तेनात्तमा विहासं ति) विजकिविपरिणामाद्दहायस्याकासे केयाघटिया [किच्च इत्थं गयाहं ति] केयाघटिकालक्षणं कृत्यं हस्से गतं येषां तावि तथा [हिरण्यं ति] हिरण्यमज्जवां (विद्यमकिलं ति) विद्वलानां च-शास्त्राणां वा कदाः स तथा तं (संवुकिच्चं ति) अरणकटं (चम्मकितं ति) चम्पेत्तं शब्दादिकं [कच्चकितं ति] औष्णी-

मयं कंचकं औभादि [वग्गुलीति] चम्पेत्तः पक्खिविसेवः । [वग्गुलिकिच्चगएणं ति] वग्गुलीसकृणं कृत्यं कार्यं गतं प्राप्ते येन स तथा, तद्वपनां गत इत्यर्थः । [एवं उच्चोच्चिह्यवचनव्या प्राणयव-व्या] इत्यनेनेवं सूचितम् । “ हेता उप्पएज्जा, अणुगारे णं भंते ! भावियप्पा केवयाई पत्तु ! वग्गुलिकिच्चगएणं विउच्चिह्यत्तु ! गोयमा ! से जहाणामए उच्चिहं उच्चिहं हत्थेणं हत्थेणं गिहेहेत्थेत्थादि ” [जलोय ति] जलोका जलजो अत्रियज्जीव विसेवोः । [उच्चिह्यति ति] उच्चिह्यत्तु उ उच्चिह्यत्तु इ इत्यर्थः । [वीयं नियगसउणे ति] वीजो बीजकामिधामः शकुनिः स्यात् [दोवि पाए ति] जावपि पादौ । [समतुरंगेमाणं ति] समी तुष्यौ तुरङ्गस्या-भ्यस्य समुरङ्केपणं कुर्वन् समतुरङ्कयमाणः समकसुत्पादयतिर्यथ-र्थः । (पक्खिविराडय ति) जीवविशेषः [उम्मज्जि ति] अत्रि-कामकिच्यर्थः [वीईओ वीई ति] कडोसाराकडोसम्पेकसिचयम् । इह यावत्करणादिहं इत्यम्-“ होहियक्खं मत्सागणं हंसगणं पुसुगं सोत्तोपियं जोरसेत्तं अकं अज्जेणं रयणं जायक्खं अज्जेण-सुलं फसिहं ति ” । “ कुमुदहत्थयं ” इत्यत्र तु एवं यावत्करणादिहं इत्यम्-“ नल्लिणहत्थयं सुत्तगहत्थयं सांगं (विद्यहत्थयं) पुत्तुरी-यहत्थयं महत्तुत्तुरीयहत्थयं सययतहत्थयं ति ” । [भिसे ति] विशं मृणालं [अचदालिय ति] अचदार्थं दार्गयम् । [सुणा-लिय ति] नौसिनीकायं [उम्मज्जिय ति] कायमुत्तम्य उम्मज्जे क्खत्वा [किएहे किएहो जासे ति] कृणः कृण्यधर्मा जनयन्स्वरूपेण कृण्यं यथावत्तासते कृपूणां प्रतिभार्ताति कृण्यत्थं भावः । इह यावत्करणादिहं इत्यम्-“ नीळे नीलोभासे हरिणं हरिणोभासे सीए सीओभासे ति तिच्छोभासे ति तिच्छोभासे ति तिच्छोभासे ति किहह कि-वहच्छाप नीळे नीलच्छाप हरिणं हरियच्छाप सीयं सीयच्छाप तिच्छं तिच्छच्छाप चणकडिच्छाप रम्मं महादिनिउत्तरच्छाप ति ” तत्र च [नीले नीलोभासे ति] प्रदेशान्ते, [हरिणं हरिओभासे ति] प्रदेशान्तर एव । नीलश्च मयूरमलयत, हरितस्तु शुक-विच्छवत्, हरितालाभ इति च वृत्ताः । [सीए सीओभासे ति] श्रुतिः स्पर्शाधिकृत्या, वल्ल्याद्याकान्तव्यादिनि च वृत्ताः [निच्छे नि-च्छोभासे ति] स्निग्धो कृष्णस्वर्णतः [तिच्छे तिच्छोभासे ति] तीक्ष्णो वर्षादिशुणप्रकर्षेवाद्य [किएहे किएहच्छाप ति] इह कृ-ष्णशब्दः कृष्णच्छाप इत्यस्य विशेषकामिति न पुनरुक्तता । तथादि-कृष्णः सन् कृष्णच्छापः, ग्राया चादियत्तावरुज्ज्यो वस्तुविशेषः । यममुत्तरपद्वत्त्वविधेणकमित्यच्छाप ति अन्वयः शास्त्रानुप्रव-शाद्दहलानिरन्तरच्छाप इत्यर्थः । “ अणुपुव्वसुजाय ” इत्यत्र याव-त्क रणाद्देव इत्यम्-“ अणुपुव्वसुजायवत्तणं नीरसीयज्जला ” आनुपूर्व्येण सुजाता यथा यत्र. गम्भीरं श्रुतिश्च यत्र सत् तथा इत्यादि । [सुवुत्तयप मधुरसरणादिय ति] इहमेव इत्यम्-“ सुयवरहिनमयणुसालुकेऽसकरोरकजिगारककडालकजीव-जीवकनदीमुहकविलिपगलक्खगकारं उच्चकवायकललेत्तसारा-सअणेणससणगणमिहुणविरइयसहस्रइयमधुरसरणादिय ति ” तत्र शुकादीनि स्वरसात्तानामेवकेतं शकुलनामनि (सिधु-वि-विरचितं शब्दोन्नतिकं चोन्नतशब्दं मधुरस्वरे च नादितं स-पितं यस्याः सा तथेति । ज० १३ हा० ६ उ० ।

[१४] अणुगारस्य भावितान्मनां विकुर्वेत्ता बाहो पुव्व-

गहापर्यादानपुत्रेकं स्त्रीरूपस्य-

अणुगारे णं जंते ! जावियप्पा बाहिरिए पोम्मेओ अपरि-यादत्ता मभू ! एगं महे इत्थिक्खं वा जाव तंदमाणयह्वं

वा विकुञ्चित्प ?। गोयमा ! एते इण्डे समेटे । अणुगारं एं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पांगले परियाइत्ता मजू । एणं महं इत्थिरूवं वा जाव संदयाणियरूवं वा विकुञ्चित्प ?। हंता । पजू ! अणुगारे एं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पजू ! इत्थिरूवाइं विउञ्चित्प ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइं लुवाणे हत्थेण हत्थे गेण्णेज्जा, चक्खस्स वा नाजी अणुग उत्ता सिया, एवामेव अणुगारे वि भावियप्पा वेउञ्चित्प-समुयाएणं समाहणइं जाव पजू ! एं ! गोयमा ! अणुगारे एं भावियप्पा केवलकएणं जंजुदीवं दीवं बहुदिं इत्थिरूवे-दिं आयभं वित्तिकिएणं जाव एस एं गोयमा ! अणुगारे-रस्स जावियप्पाएणं अयमेयारूवं विसए विसयमेसे बुइए नो चेव एं संपचीए विकुञ्चित्प वा ३, एवं परिवारिणए नेयचवं जाव संभाणिया । से जहानामए केइं पुरिसे अमि-चम्मपायं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणुगारे वि भाविय-प्पा अमिचम्मपायं हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उहं वे-हामं उप्पएज्जा ?। हंता उप्पएज्जा । अणुगारे एं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पजू ! अमिचम्मपइत्थकिच्चगयाइं रूवा-इं विउञ्चित्प ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइं लुवाणे हत्थेण हत्थे गेण्णहज्जा तं चेव जाव विउञ्चित्प वा ३, से जहानामए केइं पुरिसे एगओ पहाणं काउं गच्छेज्जा, ए-वामेव अणुगारे जावियप्पा एगओ पहाणा इत्थकिच्च-गएणं अप्पाणेणं उहं वेहामं उप्पएज्जा ?। हंता गोयमा ! अणुगारे एं भंते ! जावियप्पा केवइयाएणं पजू ! एगओ प-हाणा इत्थकिच्चगयाइं रूवाइं विउञ्चित्प, एवं जाव वि-कुञ्चित्प वा ३, एवं दुइओ पहाणं पि से जहानामए केइं पुरिसे एगओ जणोवइं नं काउं गच्छेज्जा । एवामेव अ-णुगारे वि भावियप्पा एगओ जणोवइं य किच्चगएणं अप्पाणेणं उहं वेहामं उप्पएज्जा ?। हंता उप्पएज्जा । अणुगारे एं भंते ! जावियप्पा केवइयाइं पजू ! एगओ जसो-वइयं किच्चगयाइं रूवाइं विउञ्चित्प, तं चेव जाव विकु-ञ्चित्प वा ३ । एवं दुइओ जसोवइयं पि । से जहानामए केइं पुरिसे एगओ पहाणियं काउं विउज्जा, एवामेव अणु-गारे भावियप्पा तं चेव जाव विउञ्चित्प वा ३ । एवं दुइओ पहाणियं पि, से जहानामए केइं पुरिसे एगओ पन्नियं काउं चइएज्जा, तं चेव विकुञ्चित्प वा ३ । एवं दुइओ पन्नियं पि । अणुगारे एं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पांगले अपरियाइत्ता पजू ! एणं महं आसरूवं वा हदियरूवं वा सोहरूवं वा वण्य-मदीविय अउत्तरउत्तरासरूवं वा अभिजुंजित्प ?। एणं इण्डे समेटे । अणुगारे एं एवं बाहिरए पांगले प-रियाइत्ता पजू ! अणुगारे एं भंते ! जावियप्पा एणं महं आसरूवं वा अभिजंजित्ता अणुगारे जायएणं

गमित्प ?। हंता । पजू ! से जंते ! किं आइदीए गच्छइ, परि-ह्णिए गच्छइ ?। गोयमा ! आयदीए गच्छइ नो परिहोए । एवं आयकम्मएणा परकम्मएणा आयपपभोगेणं पत्थयेणं उरिस्स-ओदयं वा गच्छइ, पयोदयं वा गच्छइ । से एं भंते ! किं अ-णुगारे आसे ?। गोयमा ! अणुगारे एं से नो खलु से आसे, एवं जाव परासरूवं वा । से भंते ! किं मायी विकुञ्चइ, अमायी विकुञ्चइ ?। गोयमा ! मायी विकुञ्चइ, नो अमायी विकुञ्चइ । मायीणं जंते ! तस्स उणस्स अणालोइयपभिकंते काउं करेइ किं उववज्जइ ?। गोयमा ! अणुपरेसु आभियोगेसु देवजोगेसु देवचाए उववज्जइ । अमायीणं तस्स उणस्स आसोइय प-दिकंते कालं करेइ, किं उववज्जइ ?। गोयमा ! अणुपरेसु अ-णानियाणियसु देवजोगेसु देवचाए उववज्जइ, सेवं भंते ! जंतंति । गाहा -“ इत्थी अमीपदागा, जसोवइए य होइ बोधव्वो । पण्हत्थिय य पन्नियंके, अभियोगविकुञ्चणा मायी ॥ ? ॥ ” तइयसए पंचमोइसे सम्मत्ता । अणुगारे एं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छदिदी बीरियलकीए वेउञ्चित्प-की-ए विभंगनाणलकीए बाणारसिं नगरिं समोहए समोइहि-त्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पास-इ । से जंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अणुगारे जाण-णइ पासइ ?। गोयमा ! एं तहाभावं जाणइ पासइ, अणुगारे-जावं जाणइ पासइ । से केण्डे एं जंते ! एवं जुवइ-नो तहा-भावं जाणइ पासइ, अणुगारे जाणइ पासइ ?। गोयमा ! तस्स एं एवं जवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहित्ता बाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेण्डे एं जाव पासइ, अणु-गारे एं जंते ! मायी मिच्छदिदी जाव रायगिहे नगरे समोहए समोहित्ता बाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ, तं चेव जाव तस्स एं एवं होइ, एवं खलु अहं बा-णारसीए नयरीए समोहए समोहित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेण्डे एं जाव अणुगारे जाणइ पासइ, अणुगारे एं जंते ! भावि-यप्पा मायी मिच्छदिदी बीरियलकीए वेउञ्चित्प-कीए वि-जंगलकीए बाणारसिं नगरिं रायगिहे च नगरं अंतरए एणं महं जणवयवणं समोहए समोहएत्ता बाणारसिं नगरिं रायगिहे तं च अंतरए एणं महं जणवयवणं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । से जंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अणुगारे जाणइ पासइ ?। गोयमा ! एं तहाभावं जाणइ पासइ, अणुगारे जाणइ पासइ । से केण्डे एं जाव पासइ ?। गोयमा ! तस्स खलु एवं जवइ, एस खलु बाणारसीए नयरीए एव खलु रायगिहे नगरे एस खलु अंतरए एणं महं

जणवयवगं नो खलु एस महं बीरियलक्ष्मी वेरन्वियलक्ष्मी विभंगनायलक्ष्मी इही जुची जसे बले बीरिए पुरिसकारपर-
कमे लक्ष्मी पत्ते अभिनमवाणगए, सेसे दंसणे चिववासे भवइ,
से तेणइएणं जाव पासइ । अणगाारे एं भंते । भावियप्पा अ-
मायी सम्मदिह्ठी बीरियलक्ष्मी वेरन्वियलक्ष्मीए ओहिनाण-
लक्ष्मीए रायगिहे नगरे समोहए समोहणिया बाणारसीए
नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ? इंता जाणइ पासइ । मे भंते ।
किं तद्धानां जाणइ पासइ, अणगाारे जाणइ पासइ ।
गोयमा ! तद्धानां जाणइ पासइ, नो अणगाारे जाणइ
पासइ । से केणइएणं भंते ! एवं बुचइ ? गोयमा ! तस्म णं
एवं जइइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समो-
हणिया बाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणामि पामामि ।
मेसे दंसणे अविपच्चामे जइइ, से तेणइएणं गोयमा ! एवं
बुचइ । बीओ वि अलावगो एवं चेष, एवरं बाणारसीए
नयरीए समोहणा भेषवो । रायगिहे नगरे रूवाइं जा-
णइ पासइ अणगाारे एं भंते । जावियप्पा अमायी स-
म्मदिह्ठी बीरियलक्ष्मीए वेरन्वियलक्ष्मीए ओहिनाणलक्ष्मी-
ए रायगिहे बाणारसि नगरि च अंतरा एणं महं जणवय-
वगं समोहए समोहणा रायगिहे नगरे बाणारसि च न-
गरि तं च अंतरा एणं महं जणवयवगं जाणइ पासइ ?
इंता जाणइ पासइ । से भंते ! किं तद्धानां जाणइ पा-
सइ, अणगाारे जाणइ पासइ ? गोयमा ! तद्धानां
जाणइ पासइ, नो अणगाारे जाणइ पासइ । से केणइ
ए ? गोयमा ! तस्म एं एवं जइइ, नो खलु एम रायगिहे
णो खलु एम बाणारसी नगरी नो खलु एम अंतरा एणे
जणवयवगं एस खलु ममं बीरियलक्ष्मी वेरन्वियलक्ष्मी
ओहिनाणलक्ष्मी इही जुची जसे बले बीरिए पुरिसकार-
परकमे लक्ष्मी पत्ते अभिनमवाणगए मेसे दंसणे अविवासे
जइइ, से तेणइएणं गोयमा ! एवं बुचइ, तद्धानां जाणइ
पासइ, नो अणगाारे जाणइ पासइ । अणगाारे एं
भंते । जावियप्पा बाहिरए पोमगं अपरियाइत्ता पजू !
एणं महं गामरूवं वा नगररूवं वा जाव सभिवसरूवं वा
विकुञ्चित्तए ? गोयमा ! णो इणइएणं समहे । एवं त्रित्तो
वि अलावओ, नवरं बाहिरए पोमगं परियाइत्ता । पजू !
अणगाारे एं भंते । केवइयइं पजू ! गामरूवाइं विकुञ्चित्तए
? गोयमा ! से जहानामए जुवइं जुवाणे हत्थेण हत्थे गे-
सइत्ता तं चेष जाव विकुञ्चित्ति वा ? । एवं जाव साधि-
वेसरूवं वा ? ।

[असिचर्मपात्रं गहाए सि] असिचर्मपात्रं स्फुरकः ।
अथवा असिष्णुः सङ्घः, चर्मपात्रं च स्फुरकः, सङ्घकारो वा,
असिचर्मपात्रं तद् गृह्णीत्वा । [असिचर्मपात्रहत्याकिञ्च-

गएणं अपाणेषुं ति] असिचर्मपात्रं हस्ते यस्व स तथा
हृत्वं संघादिप्रयोजनं गत आधितः कृत्यमतः, ततः कर्म-
धारयः । अतस्तेन आत्मना । अथवा असिचर्मपात्रं हृत्वं
हस्ते कृतं वेनासी असिचर्मपात्रहस्तकृत्यकृतः, तेन, प्राकृ-
तत्वात्तैवं समाप्तः । अथवा असिचर्मपात्रहस्तकृत्यं हस्त-
करणं गतः प्राप्ते यः स तथा, तेन । [असिचर्म-
विशेषः प्रतीतश्च [विगिति] वृत्तः । [विगिति] वस्तुप्य-
विशेषः । [अचछु ति] श्रुत्वा । [नरच्छु ति] व्याग्रविशेषः ।
[परासर ति] श्रमः । तथाऽन्यान्यपि श्रुतालादिपदानि वा-
च्यनान्तरे दृश्यन्ते । [अभिभुञ्जिताए सि] अभिभोञ्जं विद्याऽऽ-
दिसामर्थ्येन स्तनहनुप्रवेशेन व्यापारयितुं यच्च स्वस्थानुप्रवेशेन-
नाभियोजनं तद्विद्यादिसामर्थ्योपात्तबाधुपुङ्गवान् विनाम स्या-
दिति कृत्योच्यते [नो बाहिरए पोमगं अपरियाइत्ता णि] [अ-
णगाारेणं से ति] अणगाार एवासी तस्मत्तोऽनगरारथेषां अभा-
वघनुप्रवेशेन व्याग्रप्रवमालाभ्यान् [मायो अभिभुञ्जइ ति] कषाय-
वानभियुक्त इत्यर्थः । अचिन्तनाचरनायोः मार्यापिउत्त्वइ ति
दृश्यते । तत्र चाभियोगोऽपि विबुधैर्गति मन्वत्पम, विक्रियारू-
पत्वात्संज्ञयति । [अणयरेरु ति] आभियोगिकदेवा अच्युतान्ता
भवन्तीति कृत्वा अन्तर्गच्छित्युक्तम्, केचुचित्तिदुः । व्युत्प-
द्यते चाभियोगभावनायुक्तः साधुराभियोगिकदेवेषु करेति च
विद्यादालक्ष्युपजीविकाऽभियोगभावनाय । यद्वाऽऽमना जोगं
काउं, भूईकम्मं तु जे पउंजति । साइरस्ताइद्विउं, अभिभोणं
जावणं कुणणं ॥ १ ॥ इत्थीएवदिमइहगया गेत्तां । (इति
तुनीयशतके पञ्चमः) विकुञ्चणविकारसम्बन्ध एष पण उहं-
शकः, तस्य चाद्युत्पन्नम् । (अणगाारे णमियादि । अणगाारे गृह-
वासयागाणाऽविनामा स्वस्मयानुसारादिप्रशामादिमार्गान्यु-
पलक्षणत्वान् कषायवान् । स्वयमष्टिरथ्येवं स्यादित्याह-मिथ्या-
हृदिरन्वनीयिक इत्यर्थः । वीर्यलक्ष्यादिभिः करणानुनाभिवांरा-
खसी नगरी (संमोहए ति) विकुञ्चिनवान् राजगृहे नगरे रुपा-
णि पशुपुरुषमासाद्यप्रभृतीनि जानाति पश्यति पिभङ्गान्तसंख्या
(नो तद्धानां भवति) यथा वस्तु तथा जावोऽनिसंघियेयं इति
तत्तथाभावम् । अथवा यथैव संवयान् तथैव भावो बाधो वस्तु
यत्र तत्तथाभावम्, अन्यथा भावो यत्र तत्तथाजायम् । क्रिया-
विशेषणे चेत्ये । स हि मन्यतेऽहं राजगृहे नगरे स्वमहतां वारा-
णस्या रूपाणि जानामि पश्यामीत्येवम् । (से ति) नत्वाऽणगाारस्य
[से ति] असी दशमे विषयोऽसौ विषयोऽसति ; अन्यद्वाय-
रूपाणामन्यद्वीयतया विकल्पितत्वाद् । दिक्कांहादिव पुत्रांसापि
पश्चिमां मन्यमानस्येति क्वचित् [सेते दंसणे चिववरीए विशिष्णा-
से ति] इत्येते तत्र च तस्य तद्दहनं विपरीतं क्षेत्रव्यत्यर्थेति
कृत्वा विषयोऽसौ सिध्यत्यर्थः । एवं द्वितीयसूत्रम् । तुनीये तु
[बाणारसी नगरी रायगिहे नगरे अंतराए एणं महं जणवयव-
गं समोहए ति] वाराणसीं राजगृहं तथोऽन्ये चान्तरालवर्तिनं जन-
पद्वर्गं दशसमूहं स्वमहतां विकुञ्चित्तवाद्, तथैव च तानि
विभङ्गान् जानाति पश्यति केचन नो तथाजायव, यतोऽसी वैकि-
याथयति तानि मन्यते स्वाभाविकानिति [अस्से ति] यशोहं-
तुवाधाराः [नगररूवं वा] इह याचनकरणादिदं इत्यम- । " निगम-
रूवं वा, रायहाणिकरूवं वा, लेहकरूवं वा, कषररूवं वा, मरु-
रूवं वा, दोणमुद्रकरूवं वा, पणकरूवं वा, पाणकरूवं वा, आत्म-
रूवं वा, संवाहकरूवं वा " णो २ शो ० श ० क ।

[१५] अणुगारस्य भाषितात्मनो वृक्षमूलस्कन्धादिदृशेणम्—
अणुगारे एषं जंते ! जाविष्यपा स्कन्धस्स किं अंतो पासइ,
बाहिं पासइ चउजंगो १, एवं किं मूलं पासइ, कंदं पासइ च-
उजंगो, मूलं पासइ, खंभं पासइ चउजंगो । एवं मूलेणं बी-
जं संजोएयव्वं । एवं कंदेण वि समं जोएयव्वं जाव बीयं ।
एवं जाव पुण्णेण समं बीयं संजोएयव्वं । अणुगारे एषं
जंते ! भाविष्यपा स्कन्धस्स किं फलं पासइ, बीयं पासइ
चउजंगो ॥

[अंतो णि] मध्यं काष्ठसारादि, [बाहिं ति] बहिर्वर्तिन्वकृप-
नसञ्जयादि । [एवं मूलेणमित्यादि] पचामिति मूलकन्दन्त्राभिला-
षेण येन मूलेन सह कदाचिपदानि वाचयानि, यावद् बीजपद्मम् ।
तत्र च मूलं १, कन्दः २, स्कन्धः ३, त्वक् ४, शाखा ५, प्रवालं ६,
पत्रं ७, पुष्पं ८, फलं ९, बीजं १० चेति दश पदानि । ० पर्यं च प-
ञ्चम्यारिशादृष्टिकसंयोगाः । एतावन्त्येवह चतुर्जङ्घीसुभ्राग्य-
भ्येयायीति । एतदेव दर्शयितुमाह—[एवं कंदेण दीत्यादि] अ०
३ श० ४ उ० ।

[१६] अणुगारस्य भाषितात्मनो बाणुपुद्गलादानपुर्वकं
उल्लूकपनप्रलङ्घनम्—

अणुगारे एषं जंते ! जाविष्यपा बाहिरए पांग्ले अप-
रियाइत्ता पञ्च ! वेजारपव्वयं उल्लूयेत्तए वा पङ्गेयेत्तए वा ? ।
गोयमा ! नो इण्णइ समइ । अणुगारे एषं जंते ! जाविष्यपा
बाहिरए पांग्ले परियाइत्ता पञ्च ! वेभारपव्वयं उल्लूयेत्तए वा
पल्लंयेत्तए वा ? । इत्ता । पञ्च ! अणुगारं एषं जंते ! भाविष्यपा
बाहिरए पांग्ले अपरियाइत्ता जावइयाइं रायगिहं नगरे
रूवाइं एवइयाइं विउत्तिन्त्ता वेजारपव्वयं अंतो अणुप-
विमिन्त्ता पञ्च ! समं वा विममं करेत्तए, विममं वा
समं करेत्तए ? । गोयमा ! नो इण्णइ समइ, एवं चेव
विमिन्त्ता वि अलावगो, एवरं परियाइत्ता । पञ्च ! से भंते !
किं मायी विकुब्बइ, अणुमायी विकुब्बइ ? । गोयमा ! मायी
विकुब्बइ, एषो अणुमायी विकुब्बइ ? से केण्णइ एषं जंते !
एवं वुत्तइ जाव नो अणुमायी विकुब्बइ ? । गोयमा !
मायीणं पणीयं पाणजोयणं जोत्त्वा भोच्चा भामेइ, तस्स
एषं तेषां पणीएणं पाणभोयेणं अट्ठि अट्ठि मिन्त्ता बहन्नी
जन्वति, पणुएण मंससोणिएण अवइ, जे वि य से अणुमायी वायरा
पांग्लत्ता ते वि य से परिणमंति । सांइदियत्ताए जाव फा-
निदियत्ताए अट्ठि अट्ठि मिन्त्ताकेसमंसुरंमनइत्ताए सुक्कत्ताए
सांणियत्ताए अणुमायीणं ल्हं पाणजोयणं भोच्चा भोच्चा
एषां चामेइ, तस्स एषं तेषां ल्हं पाणजोयणं एषं अट्ठिअट्ठि-
मिन्त्तापणुजन्वति बहल्लं मंससोणिएण जे वि य से अणुमायी वादरा
पांग्लत्ता ते वि य से परिणमंति । तं अणुमा—उच्चारत्ताए
जाव सांणियत्ताए स तेण्णइ एषं जाव नो अणुमायी विकुब्बइ ।
मायीणं तस्स अणुमायीणं पणिकंते कासं करेइ,

नत्थि तस्स अणुमायीणं तस्स अणुमायीणं तस्स अणुमायीणं
इय पणिकंते कासं करेइ, अत्थि तस्स अणुमायीणं, से वं
जंते ! जंते चि ।

[बाहिरए णि] औदारिकशरीरव्यतिरिक्तान् वैकियासिन्त्येः ।
[वेभारं ति] वेजारभिधानं राजपुद्गलादानपर्वतं [उल्लूकियेत्तए
वाप्यादि] नभोऽङ्गुलं स्कन्धं, प्रलङ्घनं पुनःपुनरिति [नो इण्णइ
समइ णि] वैकियपुद्गलपर्यादानं विना वैकियकरणस्यैवामा-
वात् । बाणुपुद्गलपर्यादानं तु सति पर्वतस्याङ्गुलानादीं प्रतुः
स्यात्, महत्तः पर्वतातिक्ताभ्याः शरीरस्य सभवावदिति ।
[जावइयाइं इत्यादि] याचन्ति कृपाणि पशुपुद्गलादिकृपाणि
[एवइयाइं ति] एतावन्ति [विउत्तिन्त्ता णि] वैकियाणि
कृत्या वेभारं एवतं समं सन्तं विममं । विममं तु समं, कर्तुमिति
सिस्सन्धः । किं कृत्येत्याह—अणुमायीणं वेजारस्यैवाणुपुद्गलपर्यादानं
[मायावाणुपुद्गलकृपात्वात्स्य सकृदायप्रसक्तं इति याचत्] ।
प्रमसो हि न वैकियं कुरुत इति । [पणीयं ति] प्रणीतं गल्लस्नेह-
वि-वृक्कम् [भोच्चा २ यामेइ णि] यमनं करोति विरेचनं वा करो-
ति, वलीवलायधं यथाप्रणीतं भोजनं तद्वमनं च विकियास्त्वभावं
मायिन्याव् भवति, एवं वैकियकरणमपीति तात्पर्यम् । [बहन्नी-
जन्वति णि] घनीभवति. प्रणीतत्सामर्थ्यात् [पणुएण णि] अणु-
गारम् [अणुमायीणं णि] यथाचितवादेन आहारपुद्गला इत्यर्थः ।
[परिणमंति] श्रोत्रेन्द्रियादिव्येन, अन्यथा शरीरदुष्कारोत्पन्नवा-
त् । [ल्हं ति] कृत्तमप्रणीतम् [एषं चामेइ णि] अणुमायीणस्य
विकियायात्मनिर्भङ्गान् "पास्वणत्ताए" इह यावत्तत्करण्यादिदं
इदमम्—"संलत्ताए सिवाणत्ताए वंत्तत्ताए पित्तत्ताए पुयत्ताए
णि" कर्तुमिति उच्चारितव्याहारादिपुद्गलाः परिणमन्ति,
अन्यथा शरीरस्यैवाणुपुद्गलात्प्राप्तत्वात् । माय्यामिनाः कृत्तमाह-
[मायीणमित्यादि] [तस्स णि] तस्मात् स्थानात् विकुब्बणा-
करणत्वात्, प्रणीतं भोजनं कृत्तमाह वा [अणुमायीणमित्यादि] पण-
मायित्वाङ्गिकं प्रणीतं भोजनं वा कृतवान्, पश्चाद् जातानु-
तापोऽमायिं सन् तस्मात् स्थानात् आसोचितप्रतिक्रान्तः सन्
कालं करोति बल्लस्यास्साराधनेति । अ० ३ श० ४ उ० ।
[१७] वैकियसमुद्घातेन कृतकपणनगारो जानाति न वेति—

अणुगारे एषं भंते ! जाविष्यपा देवं वेउत्तिव्यं समुग्घाए णं
समोहय जाणक्खेणं जायमाणं जाणइ पासइ ? । गोयमा !
अत्थेगइए देवं पासइ, नो जाणं पासइ । अत्थेगइए एं
जाणं पासइ, नो देवं पासइ २ । अत्थेगइए देवं पि जाणं पि
पासइ ३ । अत्थेगइए नो देवं पासइ नो जाणं पासइ ४ ।
अणुगारे एषं भंते ! जाविष्यपा देविं विउत्तिव्यं समुग्घाए एं
समोहय जाणक्खेणं जायमाणि जाणइ पासइ ? । गोयमा !
एवं चेव । अणुगारे णं भंते ! जाविष्यपा देवं सदेविं
वेउत्तिव्यं समुग्घाए एं समोहय जाणक्खेणं जायमाणि जा-
णइ पासइ ? । गोयमा ! अत्थेगइए देवं सदेविं पासइ, नो
जाणं पासइ । एणं अजिन्नावेणं चचारि भंगा ॥

तत्र भाषितात्मा संयमत्परिणामवैधिविधानात्मनारणां हि प्रा-
योऽवधिज्ञानाधिष्ठयधयो भवन्तीति कृत्या प्रावितात्मस्युक्तम्;
विहितोत्तरवैकियशरीरमित्यर्थः । येन प्रकारेण ताविकायाका-

एषस्त, वैकियाविमानोन्मेष्यः । धान्तं गच्छन्तं, ह्यनेन दर्शनेन ।
कच्छरिह चतुर्भङ्गाविशिविषयवर्धमानस्येति । अ० ३ श० ३
उ० । [अध्याहारस्य भाषितात्मनः केवलीसमुद्रुपात्समवहतस्य,
मारणान्तिकमुद्रुपात्समवहतस्य वा चरमपुरुलाः सर्वशोकं
समुद्रुपात् सिद्ध्यन्ति इति 'केचिसिसमुद्रुपा' शब्दे नृतीयनागे वक्ष्यते]

- (१) अनगारस्य निष्पत्तिः ।
- (२) अनगारस्य धारान्तेधासिनां वर्णकः ।
- (३) पृथ्वीकायिकादिर्दिसकानामनगारत्वं न भवति ।
- (४) कियाऽसंभूतोऽनगारो न सिद्ध्यति ।
- (५) अनगारस्य भाषितात्मनोऽसिंधाराद्विष्ववगाहना ।
- (६) अनगारस्य अकप्रत्याख्यातुराहारः ।
- (७) शैलेर्वाप्रतिपक्षस्यानगारस्य पञ्जना ।
- (८) अनगारो भाषितात्माऽऽत्मनः कर्मलेधाधारतीर्जनाति ।
- (९) अनगारस्य भाषितात्मनः क्रियाः ।
- (१०) संवृत्तस्यानगारस्य क्रियाः ।
- (११) अनगारस्य मत्पुत्रपत्नी ।
- (१२) असंभूतस्यानगारस्य विकुर्वणा ।
- (१३) कियाषटिकालक्षणकृत्यादिविकुर्वणा ।
- (१४) अनगारस्य भाषितात्मनः स्त्रीरूपस्य बाह्यपुरुलादान-
नपूर्वकं विकुर्वणा ।
- (१५) अनगारस्य भाषितात्मनो वृत्तमूलकस्यादिदर्शनम् ।
- (१६) अनगारस्य भाषितात्मनो बाह्यपुरुलादानपूर्वकमुल-
ह्वनप्रलङ्घने ।

(१७) वैकियसमुद्रुपात्तेन कृत्वरूपमनगारो जन्मति न वेति ।
कृत्वरूप-पुं० । अणमिष कालान्तरक्रेयात्पुत्रवर्धेतुत्या अ-
णमष्टप्रकारं कर्म, तत्करोतीति कोऽर्थः-तथा २ श्रुत्वचनविप-
रतमन्वुत्तिमिदरायिनीतीति अणकारः । दुःशिक्षे, उत्त० १ अ० ।
अध्याहारगुण-अनगारगुण-पुं० । ६ त० । साधोः मतपदके-
न्द्रियाभिप्रहादिवु सप्तविशतिगुणेषु, उत्त० ३१ अ० ।

मन्वावीतं अध्याहारगुणा पण्यत्ता । तं जहा-पाणाश्वाया-
ओ वेरमणं सुसावायाओ वेरमणं अदिआदाणाओ वेरम-
णं मेद्रुणाओ वेरमणं परिमाहाओ वेरमणं सोईदिय-
निग्गेह चकिंसदियनिग्गेह घाणिदियनिग्गेह जिञ्जिनियनि-
ग्गेह फासिदियनिग्गेह कोह्दिविगेमे माहविगेमे मायाविगेमे
होत्रविगेमे भावसत्त्वे करणसत्त्वे जोगसत्त्वे खवाविरा-
गया मणनमाहरणया वयसमाहरणया फायसमाहरणया
घाणसंपन्नया दंसणसंपन्नया चरितसंपन्नया वेषणअद्विया-
सणया मारणंतिय अद्वियासणया ॥

अनगारार्णं साधूनां, गुणाध्वरिजविशेषाः अनगारगुणाः,
तत्र महाप्रतानि पञ्च (५) पञ्चेकियनिग्रहाश्च पञ्च (१०)
क्रोधादिष्विवेकाध्वर्याः (१४) सत्यानि षीणि । तत्र भावसत्त्वं-
युद्धान्तरात्मना, करणसत्त्वं-धर्मप्रतिषेधनादिक्रियाः । तां यथो-
क्तं सम्मगुपयुक्तः कुर्वते । योगसत्त्वं-योगानां मनःप्रवृत्तानाम-
विनशयत्वं [१७] अमाऽननिय्यक्रोधात्मानस्यरूपस्य ह्यसं-
हितस्यातीतिभावस्याभावः । अथवा क्रोधमानयोर्व्यतिरो-
धः, क्रोधमानविवेकशब्दाभ्यां तदुद्ब्रजप्रसन्नयोर्निरोधः, प्रानेहा-
भिहित इति न पुनरुक्तताऽपीति (१८) विरागता-अविष्य-
क्रान्तस्य भावः । अथवा मायालौभयोरुद्बुदयो मायालौभवि-

कशब्दाभ्यां तदुद्ब्रजप्रसन्नयोस्तयोर्विरोधः प्रागभिहित इतीहापि
न पुनरुक्ततेति (१९) मनोवाक्कायानां समाहरणना, पाठान्-
तरनः-समत्पाहरणना अक्रुश्लानां निरोधाभ्यायः (२२) आ-
नादिसंपन्नतासिद्धः (२५) वेदनाऽतिसहजता शीताघृतिसं-
हानम् (२६) मारणात्मिकातिसहजता-कृत्याणामिष्वद्वा मार-
णात्मिकोपसंगसहजमिति (२७) स० २७ सम० उत्त० ।
प्रश्न० । जीन० । आ० चू० । संघा० ।

पुनरन्येन प्रकारेण साधुगुणान् दर्शयितुमाह-
से जहाणामप अध्याहार भगवतो इरियासमिया जामा-
समिया एसाणसमिया आयाणजेरुमत्तणिकेववणासमिया
लघारपासवणखेलसिधायजणपरिहावणियासमिया मण-
समिया वयसमिया कायसमिया मण्युत्ता वयगुत्ता काय-
गुत्ता गुत्ता गुत्तिसिधिया गुत्तवर्चभरारी अकोहा अमाणा अ-
माया अलोजा संता पंतता उवसंता परिणिव्वुत्ता अणा-
सवा अगंधा अिषसोया निरुवलेवा कंसपाऽ व सुकताया
संख इव एिरंजणा जीव इव अपदिहयगती गगणतदं
पि व निरालंबणा वाउरिच अपदिबंथा मारदमलिल इव
सुच्छिदिया पुक्करपत्त इव निरुक्लेवा कुम्भो इव गुत्तिसि-
धिया विहग इव विष्पुम्भो खमिभिसाणं व एगजाया भारड-
पक्खी व अप्पमत्ता कुजरो इव सौमीरा वसजो इव जातथि-
मा सीहो इव बुक्करसा भंदरो इव अप्पकंया सागरो इव
मंजीरा चंदो इव सोमलेसा मूरो इव दित्तयेया जञ्चकं-
एणं च इव जातरूवा वयुंधरा इव मन्वपासविमहा सुह-
यदुयासणो विव तेयसा जज्ञंता राण्णियं ॥ ७ ॥ तेसिं
जगवंताणं क्त्यावि पमिबंधे भद्व, से पडिबंधे चउण्विहं
पण्येचे । तं जहा-अंढएइ वा (वोदजेइ च) पो-
यएइ वा उग्गेइ वा पग्गेइ वा जणं जणं दिसं इच्छंति
तणं तणं दिसं अपदिबक्का सुच्छुया अप्पसहुज्या अप्प-
मंथा संजमेणं तवसा अप्प्याणं जावेमारेणे विदुरंति ॥ ७ ॥
तेसिणं भगवंताणं एमा एतारूवा जाया माया विचो होत्था ।
तं जहा-चउरुपे भत्ते उठ्ठे जत्ते अट्टेमे भत्ते दसमे जत्ते
दुवालसमे भत्ते चउदसमे जत्ते अक्कपासिए जत्ते मासिए भत्ते
दोमासिए तिमासिए चउरमासिए पंचमासिए अम्मासिए
अनुत्तरं च वणं उक्खित्तचरया णिक्खित्तचरया उक्खि-
त्तणिकित्तचरया अंतचरया पंतचरया सुहचरया
समुदाणचरया संसहचरया असंसहचरया तज्जात्तसंसहच-
रया दिह्लाभिया अदिह्लाभिया पुह्लाभिया अप्पुह्ला-
भिया निक्खुत्ताभिया अणिक्खुत्ताभिया अन्नापचरया
अन्नायसोगमरणा उवनिधिया संसादत्तिया परिमितपिक्वा-
इया सुद्वेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विर-
साहारा लुहाहारा तुग्गाहारा अंतजीवं पंतजीवं आ-
यंभिसिया पुमिपडिया विगइया अमज्जपंसा समिणो खो-
णियामरसजोइहाणइया पदिमाताणइया उक्कुआस-

गिया गेसजिया बीरासणिया दंदायतिया झगंदसाणो
 अप्पाउना अगचया अकंदुया अण्डिदुहा पुतकेसमसरोपन-
 हा सव्वया य पढिकमविपण्णका चित्ति ॥ ७२ ॥ तेषं
 एतेणं बिहारेणं बिहरमाणा बहुदं बासाईं सायणपरियाणं
 पाठणंति बहु बहु आवाहंसि उण्णंसि वा अणुण्णंसि
 वा बहुदं जचाईं पक्खत्ताइ, पक्खत्ताइया बहुदं बासाईं अ-
 णसणाईं वेदिति, अणसणाईं वेदित्ता जसहाए करिति
 नगजावे मुंदभावे अएहाणजावे अदंतवणेगे अइत्तए अ-
 णोवाट्टणए नृमिसेजा फलगमेजा कइसेजा केसओए वंज-
 चरवांस परपरपवेसे लक्खा अलक्खामाया अमाणाणामो ही-
 लणाओ निंदणाओ खिसणाओ गरहाणओ तज्जणाओ ताल-
 लाओ ओ उक्खावया गामकटंगा बाबींसं परीसाहोवसगं अहिया
 सिज्जति, तमइं आराहंति, तमइं आराहिचा चरेमिं उस्सा-
 मनिस्सासिदिं अणंतं अणुएचं निब्बापारंतं निरावरणं कसिणं
 पादिपुणं केवलपरणाणदंसएससुप्पोदंति, सव्वुपादंतित्ता
 तमो पच्चा सिज्जंति उज्जंति मुंभंति परिणिब्बायंति सव्वा-
 यंति सव्वज्जुक्खायं अंतं करंति ॥ ७३ ॥

तद्यथा नाम केचनोत्तमसदनमधूतिबहोपेता अनगारा भगव-
 न्तो जवन्तीति । ते पञ्जनिः सान्तिभिः समिताः, वरमित्युपश्रं-
 नः । श्रीपारतिकाचारार्कसंनयप्रथममुपायः । तत्र साधुगुणः
 प्रबन्धेन व्याख्ययन्ते, तदिहापि तेनैव क्रमेण दृष्टव्यमित्यदिदे-
 शः । यावद्भूतमपमर्षांतं केराहमशुशोभनकारिकं येसे, तथा
 सर्वग्राहपरिकर्मिषुमुक्त्वा निष्ठातिक्रमोत्तीरासित्तुतीति ॥७०॥
 ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ तं चोपप्रविहारिणः प्रव्रज्यामनुपाय बाधाकपे
 रोगान्तु सन्मुपकंसुपुण्यं वा भक्तप्रत्याख्यां विदधति, किं बहु-
 नोकेम-यत्तुऽयमयोगोऽहक्यभिरास्वाः करवालधारामाणव-
 द् दुःपथवसायः अमणसाधोऽनुपायान्ते, तमयं सम्यग्ज्ञानज्ञान-
 चारित्राख्यमाराधय, अव्याह तमनतं मोक्षकारणं केवलज्ञानमा-
 नुवन्ति, केवलज्ञानायासेकत्वं सर्वेदुःखविमोक्षलक्षणं मोक्षम-
 वाणुवन्तीति । सूत्र० २ श्लो० २ अ० ।

अणुगारचारित्तधम्म-अनगारचारित्रधर्म-पुं० । अणारं नास्ति
 येयां तेअनगाराः साधयः, तेषां चारित्रधर्मः महाव्रतादिपापहनकेपे
 चारित्रधर्मजने, “अणगारचारित्तधर्मं दुबिहे पण्यंते । तं जहा-
 सरागसंजमे, कीयरागसंजमे” स्वा० २ ज्ञा० १ उ० । [व्याख्या
 वास्तव स्वस्वस्थाने दृष्टव्या]

अणुगारधम्म-अनगारधर्म-पुं० ६ त० । सर्वेविरतिचारित्रे य-
 तिमं, श्री० ।

अणुगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वयाए मुंके
 भविता आगाराओ अणुगारियं पव्वइसंतं सव्वओ पाण्ड-
 वायाओ वेरमणं सुसावायअदिआदुपमंहुणपरिमगह्दरार्ह-
 षोअणुओ वेरमणं अयमाउमो । अणुगारसामइए धम्मं
 पयसंतं । एअसस धम्मस्य सिकत्ताए उवड्ढिए निग्गये वा नि-
 म्मंथं वा बिहरेमाणे अणुगए आराइए जवति ।
 अथचिह्नतयात्मना-इह खलु-इदं च, मर्येदोके, [खञ्जो स-

व्वयाए चि] सर्वतः-द्रव्यतो प्रायतश्चेत्यर्थः । सर्वात्मना स-
 र्वाणं क्रोधादीनामपरिणामानाभिव्येत्यर्थः । एते च सुखेष्टिभू-
 त्वस्यस्य विशेषण, अनगारिता प्रमजित्तव्येत्यस्य वा [अय-
 माउसो चि] अयमायुष्मन् ! [अणगारसामइए चि] अनगाराणां
 समये समाचारे, सिक्तन्ते वा यथाऽनगारास्तामपिकं, अनगार-
 सामयिकं वा [सिक्खाए चि] शिक्षायामभ्यासे [आणया चि]
 आहाया विहरन् आराधको भवति ज्ञानादीनाम् । अथवा आ-
 हाया जिनापदस्याराधको प्रवर्तीति । श्री० ।

साधुधर्ममाह-

खंती य मएव अण्ण, मुची तवसंजमे अ बोधव्णे ।
 सव्वं सोयंं आकिं-चएणं च वंनं च जइधम्मो ॥ १४ ॥
 क्खान्तिअ, मार्दवअ, अजैवअ, मुक्तिः, तयःसंयमी च वोक्खो;
 सत्तं, हीचअ, भाकिज्जयं, अल्लवयं च यत्तिधमं इति मायाह-
 रायं ॥ १४ ॥ दृश० नि० ६ अ० ।

सायंको निरपेक्खअ, यत्तिधमं जिथा मतः ।
 सायंकेसुत्तत्र शिक्षायि, युवन्तेयासिताऽव्वइह ॥
 यत्तिधमं उक्कलक्षणः मुनिस्संख्यनुष्ठानविशेषः, जिथा हाचर्यां
 प्रकारभ्यां, मतः प्रकृपितः, जिनेरिति शेषः । द्वैविध्यमेवाह-
 सायको निरपेक्खति । तत्र युक्त्यादिसाहाय्यमेपेक्खामो यः
 प्रव्रज्यां परिपालयति स सायकः । इतरस्तु निरपेक्को यतिः, ग-
 च्छाद्योपेकारहित इत्यर्थः । तयोधेयोऽपि क्रमेण गच्छावसत्सख्यो
 जिनकट्टपारित्तक्षणस्य सायको निरपेक्कोऽप्येत, धर्मधर्मियो-
 रभेदोपचारात् । तत्र तयोः सायकानिरपेक्ययत्तिधमयोप्याव
 अयं सायकयत्तिधमो भवतीति क्रियासकथः । पवयमऽपि या-
 ज्यम् । स च यथा शिक्षाया इत्यादि । तत्र शिक्षा अन्यासः ।
 सा च जिथा-प्रव्रजिक्काऽस्यवनामिक्का चिति । तत्र प्रहण-
 शिक्षा-प्रतिदिनसुचार्यप्रदानान्यासः । आसियनासिक्का-प्रति-
 दिनक्रियाऽभ्यासः । तस्यैतदर्थं न त्तरपुत्र्याचधंमिति भावः ।
 ध० २ श्रुति० ।

अणुगारमगमाह-अनगारमार्गमति-खी० । ६ त० । सम्यग्दृष्टे-
 स्तत्रप्रतिबन्धपरित्यागकण्येण शिमुं कस्य सम्यग्ज्ञानज्ञानचारित्रेपु,
 सिक्किगतौ च । उच० ।
 एयां चोत्तराधयनयानं पव्वअजिरोऽप्यवसे द्दिसित्ति सुवापि-
 मुणुए भोगमगणो, पमं बुदेद्वि देसियं ।
 जमापरंतो जिकव्वु, दुक्खलाणंतकरो जवे ॥ १ ॥

अलुन आकूलयत, मे मम, कथयत इति शेषः । एकाग्रमनसः
 कोऽर्थः-अन्यव्ययानजिथाः सन्तः, शिष्या इति शेषः । किं तदित्याह-
 मार्गमुक्कपं प्रकमानुसुकेतुदैरवगतवधासिधतवस्तुनस्वैकवप-
 कवलरहंइः भूतकेवलशिर्गिणेषुपरादिविभेत्सुक्तं भवति । हेरां-
 तं प्रतिपादितम् । अर्थतः सूत्रतः । तमेव विशेषयितुमाह-[ज-
 मिनि] मार्गमाचरन् आसेवमानो, शिषुरनगारो, दुःआनां शार-
 दीरमानसानामनसः पर्यन्तः सकटणुहीलोऽस्तकरो, अनेव
 क्याव, सकलकर्मनिर्मुलनत इति जावः । तदनेनसेव्यासेक-
 संकपेनाऽनगारसंघर्षधर्मो, तफले च मुक्तिगतिरिति
 दर्शितम् । ततश्चानगारमार्गं, तज्जनिं च बुणुत इत्यर्थं उक्तं भव-
 तीति सूचार्थः ॥ १ ॥

यथाप्रतिज्ञातमाह -

तिद्वारां परिचज्ज, पव्वज्जामसित्तओ सुणी ।

इमे संगे विद्याणिज्जा, जेहिं सज्जति माणवा ॥ २ ॥

गृहवासं गृहवासस्थानं, यदि वा गृहमेव पारवश्यहेतुतया पाथो गृहपाठस्थलं, परिवृत्त्यप्य परिहृत्य, प्रत्यज्यां सर्वसङ्गपरि-
त्यागलक्षणं भागवतीं ब्रह्मण्यभाष्यतः प्रतिपन्नः सुमिः, अत्राह
प्रतिप्राप्तिप्रतीततया प्रत्यक्षान्, सङ्गान् पुत्रकन्याद्वीस्तप्रति-
बन्धाद् वा, विज्यामीयाद् भवहेतवाम्। इति विशेषणव्युत्थं, निष्कष्यते निष्कल्लव्याससत्त्वात् ज्ञानस्य च विरतिकल्लव्यान्
प्रत्याञ्जतेत्युक्तं भवति । संगराध्वव्युत्पत्तिमाह- [जेहिं ति]
सुखव्यत्ययाद् येषु, सङ्गन्ते प्रतिपद्यन्ते, अथवा ये संगेः सङ्गन्ते
संबन्धन्ते, ज्ञानावखण्डिकर्मेणैति गम्यन्ते । के ते ? । मानवा
मनुष्याः, उपसङ्गणव्यवस्थेऽपि जन्तवः ॥ २ ॥

तदेव हिंसं अस्मिन्, चोर्जं अर्धजसेवां ।

इच्छाकामं च लोहं च, संज श्रो परिब्रज ॥ ३ ॥

तथैति समुच्चये । एतेन पूरणे । हिंसा प्राणव्यपरापणम्,
अर्धकन्यतमापणम्, चौर्ध्वमन्त्यादानम्, अन्नह्रस्वयनं भेषु-
नाचखण्डकामम्, इच्छाकामः काम इच्छाकामस्तं अज्ञातवस्तुकाङ्क्षाकामं,
लोहं च लव्यवस्तुविषययुक्त्वात्मिकम्, अनेनाभयेनापि परिब्रं
उक्तः । परिब्रं च स्वयते यतिः, परिब्रज्येत परिहरन्तु । अनेन
मङ्गुणा उक्तः । एतदर्थस्थितस्यापि च शरीरिणोऽवश्यमाश्र-
याहाराभ्यां प्रयोजनं, तयोश्च तद्विचारहेतुत्वमपि क्रयाभि-
रत्यादिनि सम्भानस्तत्परिहाराय सुखपदकन तावदाश्रयचिन्तां
प्रतिव्यते ॥ ३ ॥

मणोहरं चित्तपरं, मङ्गुधनं वासियं ।

सकवानं पदरुद्धायं, माणमा वि न पश्य ॥ ४ ॥

[मनोहरं ति] चित्ताङ्गकम्, किं त्वत्, चित्रप्रधानं गृहाम् । तदपि
कीदृशम् ? । सार्धप्रयत्नपुष्पैर्धनैश्च काष्ठारुतुक्त्वादिस्व-
स्त्रिजिद्योस्तिं सुरभीकृतं, मान्यधूपनवास्तं, सह कपाटन वनंत
इति स्वरुपम्, तदपि पाण्डुराङ्गैश्च भवनवस्त्रविद्युपितं, मनसा-
पि, आसनां चवसा, न प्रार्थयेत् नाभिलषत्, किं पुनस्तत्र
तिष्ठेदिति भावः ॥ ४ ॥

किं पुनरेवमुपदिश्यत इत्याह—

ईदियाणि उ भिक्षुस्य, तारिसम्म उवसम् ॥

उक्त्वाह निवारो उ, कामरागविन्दुषे ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, तुरिति यस्माद्, निष्कारनगरस्य
तस्यै तथाभूते उपाश्रये, उ-ङ्ङेन क्रियन्ते-करातेः सर्वेषांवाप्यं
मन्वेष्टकथ्यन्ते दुःकराणि, दुःशकालीनयोः तुरिवकारार्थः । उ-ङ्क-
रास्येव धारायितुमुन्मागं प्रवृत्तिनिषेधेनो माग एव व्यवस्थापि-
त्म् । पश्यन् च-उक्त्वाणि निवारिंति ति । तत्रार्थं निवारयितुमि-
ति नियमित्तु, स्वस्वविषये प्रवृत्तोरिति गम्यन्ते कीदृशीम् ? । काम्य-
मानवात् कामममनेनाह इन्द्रियविषयास्तेषु रागाभिप्रेक्षस्त-
स्य विवरुते विशेषणं वृद्धिहेतौ कामरागाविवधने, तथाविध-
चित्तव्योक्तपसंभवात् । कस्यचित्-मूलगुणस्य कथंचिदांतचार-
स्तेनैव दोष इत्येवमुपदिश्यत इति प्राहः ॥ ५ ॥

एवं तर्हि क कीदृशं स्वातन्त्र्यम् ? —

सुसाणे सुभगारे वा, रुक्त्वमूले व पराए ।

पदरिक्ते परकमे वा, वार्त्तं तत्प्राभिरोरप ॥ ६ ॥

हमशांनं प्रथभूमौ, शून्यागारे उद्रास्तिगृहे, वा-विकल्पे, वृक्षसूत्रे

वा पादपसमीपे, पदनेत्येकस्मिन्स्थायिबिधकाले । पश्यन्ते वैश्व-
पि-एगानि चि'एकको रागद्वेषवियुक्तोऽसहायो वा, तथाविधधयो-
व्यतायां, पारक्ये वा परस्वस्वच्छिन्नि तथाविधप्रतिबन्धनास्वीकृते ।
पाठान्तरतः— " पतिरिक्ते " देशीभाष्येकान्ते कृपावाप्यं कुले,
परकृत-परैर्यैर्निर्यादिते, स्वायंमिति गम्यन्ते । वा समुच्चये ।
वासमवस्थानं, तत्र हसशानादी, धर्मिरोऽप्येत्त्वं प्रतिप्रास्येव ।
अर्थोदाहमनो निरुक्तिर्युत्तरेण योगः ॥ ६ ॥

फासुयस्मि अण्णावाहे, इत्थीहिं अणजिण्णु ।

तत्थ संकप्पए वार्त्तं, भिक्खु परमसंजए ॥ ७ ॥

प्रासुके अचिन्तीभूतभूजानरूपे, तथा-अचिदमाना बाधा, आत्म-
नः पर्यायं वाऽऽत्मनूकसत्त्वानि तथास्थानां च यस्मिन्स्तथा
तस्मिन्, तथा-कीर्तिरिक्त्वाभिः उपलक्षणव्यात पदकदादिनि-
क्षानभित्तुं, तदुपलक्षरहितं स्वयंभः पतानि हि मुक्तिव्यपत्तिनि-
ग्रह्यत्वेन तदवृत्तानामुपपन्नं हेतुभूतानिऽथैवमाभिधानम् । तत्रैतं
प्रासुकां विशेषणविशिष्टे इमदानादीं सस्यकलपयेत् कुर्यात् । किम् ?
वासम्, (भिक्षुणशीलो निःसु) स च शाश्वत्यादिपरिस्थादत आह-
परमः प्रधानं, स चेह मोक्षस्तदर्थे सम्यक् यन्ते परमसंयतः,
जिनमार्गप्रतिपन्न इत्युक्तं भवति । तस्यैव मुक्तिमार्गं प्रति वस्तु-
तः सम्यग् यत्नसंभवात् । प्रागवासे तत्राजिनोच्येतिर्युक्ते, ऊर्ध्व-
मात्रेण्य कश्चित्तुध्यदिति । तत्र सत्कल्पयेद्वासमियं (भिधानम् ॥७॥
तनु किमिह परकृतं धति विशेषणमुक्तमित्याहुः प्राह—
न सयं गिहाड कुव्वेजा, नेज अन्नोदि कारणं ।

गिहकम्मममारम्भे, ज्ञयाणं टिस्सण वहे ॥ ८ ॥

न स्वयमानाना, गृहाणि उपाश्रयकपाणि, कुर्वन्ति विदधीत, नि-
वास्यैर्गृहस्थादिभिः, कारयेद्ग्रापयेत् उपलक्षणव्याप्तापि कु-
न्तमभ्युत्तम्यन्त । किंमिति, येनो गृहनिपत्येयं कर्म गृहकर्म, ए-
कासूदानयनादि, तदेव समारम्भः, प्राणानं परित्यापकरव्यात् ।
उक्तं हि—परित्यापकरा भवे समारभोति । यथा-तस्य समार-
म्भः प्रत्यन्ते गृहकर्मसमारम्भः, तस्मिन्, ज्ञानानमेकैन्द्रियादिप्रा-
णानां, हृदयते प्रत्यक्षत एवोप तत्रन्ते, कांश्चि ? । यथा विनाशः ।।

ज्ञानानां वध इत्युक्तं तत्र मा भूत् केषां-

चिद्विवासावित्याशङ्क्याह—

तमार्गां थावराणं च, सुहृदाणं बायणय य ।

तद्धा गिहमभारंभं, संजश्रो पारिब्रज ॥ ९ ॥

असानां शिन्द्रियादीनां, स्वाधारणां पृथिव्याद्येकैन्द्रियाणां, चः
समुच्चये । तेषामपि सूक्ष्माणां निरुद्धगानां शरीरा-
प्रेयाः जीवप्रदेशाप्रेया तस्यामन्तयेयं प्रायो व्यवहारायोगाद्,
बादराणां वैश्वमव, स्थूलानाम् । यथा—सूक्ष्मनामकर्मोद्वात्-
ह्रणाणां, तेषामपि प्रमादतो भावहिंसासंभवात् । बादरनामक-
मौद्ग्यान्व बादराणां । उपसहेतुमाह-[तत्र चि] प्यसाद्वैभूत-
वधस्तस्माद् गृहसमारम्भं संयतः सस्यमार्गैः समादिश्य उपर-
तः अन्नगार इत्यर्थः । परिब्रज्येत परिहरन्तु ॥ ९ ॥

इत्यमार्थचिन्तानं विद्याधारार्थचिन्तामाह—

तदेव जपपाणोसु, पयसे पयावणु म् य ।

पाणज्ययद्विष्टाए, न पए न पयावण ॥ १० ॥

तथैव तैव प्रकारेण, भक्तानि च शास्त्र्यादानादीनि, पीयन्त इ-
ति पतानि च पयःप्रज्जनीनि, भक्तपानानिः तेषु पचनानि च
स्वयं विद्भेदापादकथनानि, पाचनानि च ता-यार्थः पचन-

पाचमानि, तेषु च भूतवधो ह्येत इति प्रकर्मः । ततः किमि-
त्याह-प्राणा इति चिदाद्यः, ज्ञानिनि पृथिव्यादीनि, तेषां हया
रक्षणम्, प्राणभूतदया । तदर्थसं-तलेताः । किमुक्तं जवति-पवन-
पाचयन्तुत्यानां यः संभवां जीवांपथाः स मा जृदिति न पच-
त्, स्वतो भक्तादीनि तः प्रकर्मः । नापि पाचयेत्, तदेवात्यै-
रिति ॥ १० ॥

अनुमेवाथै स्थणरमाह—

जलप्रश्ननिस्सिया जीवा, पुदबीकहानिस्सिया ।

हमांत जत्तपाणेषु, तम्हा भिक्खु न पयाचए ॥ ११ ॥

जलं च पानीयं, प्रान्यं च शब्दादि, तत्रिःभित्तास्त्रान्नाम्यश्च च
रुपायं यं तत्रिःभ्याः स्थिताः—पुनरकण्टजंगलकापिपथिलिका-
प्रभृतयः । उपलक्षणस्यात् नदपाक्ष जीवाः प्राणिनः । एवं
पृथ्वीकायनिगमिता एकांस्त्रयाद्यो इत्यन्ते, भक्त्यानु प्रकमात्
पचयमानादिषु । यत् एव तस्माद् भिक्षुने पाचयेत् । अत्र अर्पण-
स्यमानत्वात् पाचयेदपि न, किं पुनः स्वयं पचेत् । अनुमतिनि-
षेधोपलक्षणं वेत्तत् ॥ ११ ॥

अपरं च—

विसपं मन्वओ धारे, बट्टपाणिविणाणसे ।

नथि जोइममे सत्थे, तम्हा जोइं न दीवए ॥ १२ ॥

विसर्पतीति विसर्पश्च, स्वल्पमपि बहु भवति । यत् उक्तम्—
“ अणयांश्च वणयोश्च, अर्माधोश्च ” इत्यादि । सवेतः सर्वानु
दिक्षु, धारंश्च धारा जीवाविनाशिका शक्तिरस्येति सर्वतो धारम्,
सर्वोद्धारस्थितजन्तुपदानकत्वात् । उक्तं च—“ पार्षणपरुणं वा
हि ” इत्यादि । अतएव बहुधा प्राणविनाशमनने जीवजीवि-
त्यपरेणकं, नास्ति न विद्यते, ज्योतिःसमस-अज्ञित्तुल्यम्, वास्यन्ते
हृत्सन्नेऽनेन प्राणिन इति शब्दं प्रदणम्, अयंदिनि गम्यते ।
तस्याविसर्पित्यादसर्वतो धारःत्वारुप-जन्तुपघातत्वात्केतुः ज्ञायः ।
सर्वोद्धारः प्रान्त्यः । यस्मादेवं तस्माद्, ज्योतिर्विभ्रान-
रस, न दीपयेत् न ज्वाहयेत् । अनेन च पवनस्याग्निवज्रनाऽवि-
नाभांवात्वात् तपरिहार एव समाहितः इत्यं च विशेषप्रकर्मऽपि
सामान्याभिधानं प्रसङ्गतः शीतान्पादादिप्रयोजनेनापि तदारम्भ-
नपंचायंम्, आपाकर्मादिका विद्युत्कारादिरनेनैवायतः परिहायो-
क्तः, तदपरिहारं ह्यवश्यं भावपचनानुपानादिप्रसङ्ग इति ॥ १२ ॥
नन्वेवं जीववधानमित्यन्वयम् पच्यादांनिषेधे निरुपधनम्, तच्च
नास्ति कृयविक्रयोरिति, युक्तमेवास्ति निषेधमिति कस्यचि-
दाशुक्तं स्यात्, अनस्तुपनान्दनाया हिरण्यपिपरिपूर्वकत्वात्-
सोस्नाक्षिषधपूर्वकत्वे सूत्रप्रयेण तत्परिहारमाह—

हिरन्मं ज्ञापकृत्वं च, मणसा वि न पत्थए ।

मधेष्पुक्कंचेपे भिक्खु, विरए कपविकप ॥ १३ ॥

हिरन्मं कर्मकम्, ज्ञातरूपं कल्पम् । चकारोऽनुकारोशेषधान्यादि-
स्मरुक्त्वम् । मणसाऽपि त्वित्संनानि, आरत्नां वाञ्छा, न प्राथयेद्-प्रमा-
नुकं स्यादिति । अयेगेम्यमानत्यात्प्राथयेदपि न, किं पुनः परिरुद्धी-
यात् । कीदृशःसदृः, सन् कीदृशे—प्रतिभवाभाववस्तुत्वे, हेतुका-
ञ्चने सुविपरुषकरकमेकस्येति समेहेतुकाञ्चनः, एवंविधश्च सद-
भिक्खुविरतो निवृत्तः, स्यादिति शेषः । कृतः, कयोऽस्येनाय-
संबन्धेन तथाविधवस्तुनः स्वीकारः, विक्रयश्च तस्यैवास्तीत्यस्य
तथाविधवस्तुज्ञातेनात्यस्य दानम्, कृयश्च विक्रयश्च कृयविक्रय-
मिति समाहारः, तस्मात् । पञ्चम्येवं सप्तमी, विषये सप्तमी या ।

तत्र च कृयविक्रयविषये विरत इति-विरातेमातिव्यर्थः ॥ १३ ॥

किमित्येवमत आह—

किणंते कइओ होइ, विक्कणंते वा बाणिओ ।

कयविक्रयम्मि वट्टंते, भिक्खु न हवइ तारिस्सो ॥ १४ ॥

कीणन्त परकीयं वस्तु मूल्यमावादानः, कयोऽस्यास्तीति कृयिको
जवति, तथाविधेतरलोकास्वहा एव भवति । विक्रीणानश्च स्व-
कीयं वस्तु तथैव परस्य हृद्द्वं बणिग्भवति, वार्जज्यप्रभृत्सत्त्वा-
दिति भावः, अतएव कृयविक्रयं उक्तेषु, वतमानः प्रयत्नमानो,
भिक्खुने तादृशो भवति, गम्यमानत्वाद् यादवः स्थानिहितो
मावभिक्खुरिति ॥ १४ ॥

किमित्याह—

भिक्खिसयण्वं न केयव्णं, भिक्खुणा जिक्खुवित्तिणा ।

कयविक्रमो महादोसो, जिवत्वाविचो मुहावहा ॥ १५ ॥

जिक्रितव्यं याचितव्यम्, तथाविधं वस्तिवति गम्यते । न जैव,
केतव्यं मूल्येन प्रदीतव्यम्, केन र, भिक्षुणा । कीदृशः, जिक्खैव
वृत्तिवर्तने निर्बर्हेण यस्यासौ भिक्षार्कतस्नेन । उक्तं हि—“ सव्यं
सं जादयं होइ, नथि किंकि अजादयं ” । कृयविक्रयवद् भिक्षाऽपि
सदोषैव भविष्यतीति मन्धीमेत्येत, तत्र आह- कृयश्च विक्रयश्च
कृयविक्रयम्, एवचक्रेदफलत्वाद् रूपं, नदेद महादापः उक्तस्यापतः,
लिङ्गव्यत्ययश्च प्राग्वत् इति । जिक्खुणा वृत्तिः कुजमिहलोकपर-
लोकायोः कल्याणं, सुखं वा तदावृत्ति स्मरतात् प्रापयतीति
शुभावाहा, सुखावाहा वा । एतेन कतिदोषपरिहार उक्तः, स चा-
शेयाव्युत्कृष्टाटीगमनेपरिहारोपरिस्मरणम् ॥ १५ ॥

जिक्रितव्यमित्युक्त्, तच्च दानभङ्गादिवैरमानं क्वचिदकृतव
स्यातत आह—

मुमुयाणं उंठमेसेजा, जहामुत्तमणिदिपे ।

लाभालाभमि संतुट्टे, पिन्दवायं चरे मुणी ॥ १६ ॥

समुदानं भैश्यस, न त्येकभिक्षामेव, तत्त्वेऽभिधेयत्वम्-अन्या-
न्यवैरमानः स्वल्पस्वल्पमात्राणां मौलमन्-भयुक्तकृत्या हि प्रमत्त
इहगेव भवतीत्येवमुक्तम्, एषयेऽश्लेषयेत् । एतच्छोम्प्रमपि
स्यात् । अत्र आह-सूत्रमागमस्तदनुनिकमेण यथासूत्रमागमाभि-
हितोऽस्मैयणाद्यभाषात् । इत्युक्तं जवति तत् एवामिन्दितं शिष्ट-
निःशेष स्वपरप्रसादि हेतुनोत्पादितं जात्यविदुःप्लितजसं-
विधवान् जवति । तथा ज्ञानश्च कर्माभक्ष ज्ञानाज्ञानं, तस्मिन्,
संतुट्टे आदनादेः प्राप्ताप्रतीति च संतोषवान्, न तु वाग्मवियु-
त्संविन् इति ज्ञायः । इह च लाभोऽपि धान्-उत्तरोत्तरवस्तु-
विययेत्वेन भावनीया । पिपुक्कत इति पिपुक्को जिज्ञा, तस्य
पातः पतनम्, प्रकमात् पात्रेऽस्मिन्निति पिपुक्कपाते मिषाद्यस्य, नद्
चरदासंवेत, मुनिरिति तपस्वी । पात्राम्तरतः-पिपुक्कस्य पातः
पिपुक्कपातस्ते गवेषयेद्व्येवयेत् । उभयश्च वाक्पाततस्विष-
यत्वात्पीनकलयम् ॥ १६ ॥

इयं च पिपुक्कवाप्य यथा वृज्जितं तथाऽऽह—

अशाले न रसे जिक्के, जिक्कजदंत्तं अमुत्तिअए ।

न रतट्टापे जुज्जजा, जवणट्टापे महामुणी ॥ १७ ॥

बलाशः सरसः कश्चि प्राप्ते लाभोऽप्येवार्थः, न रसे स्निग्धमधुरादौ
गुदोऽप्रासावनिकाह्मकावान्, कथं चैवंविधः । यतो [जिक्कजदंत्तं
सि] प्राकृतवादात्ता वरीकृता जिह्वारसना येनासी दान्म-
जिह्व, अत एवास्मिन्नितः सखिधेरकरणेन नक्वासे चानिषुङ्गा-

आयन । उक्क हि- "यो धामातो इहयाभेव, दाहिणे दाहिणा उवा यायं संबालय- " एवंविधश्च स्वरभेव । रसघाय चि । रसायं सरसमिदमहास्वाद्यामीनि, चातुर्विधेषां वा रसः । स च शेषधातुपणकणं, तत्समुपपन्नः स्यादित्येतदर्थं न सुखीति नाभ्य- वहरण । किमर्थं तर्हि ? यापना-निर्वाहः, स आचारसंय- मस्य, तदर्थं महाभिनिः प्रधानपदयोः । अनेन पिण्डविशुष्कि- कत्वा । तदेवमादी मूलगुणान् विधेयनयाऽविधाय तन्मतिपा- सनाधमाभयाहाररहितान्तरा उत्तरगुणाश्च उक्ताः ॥ १९ ॥

समाप्ति तदर्थान्तरस्यत एवास्मन्मुत्पन्नश्च मानः कश्चिद्वेना- वि प्रायेणैदिति तन्निषेधार्थमाह--

अणुणं सेषणं चैव, वेदणं पुषणं तथा ।
 अह्निस्कारसमाहणं, मणमा वि न पत्थणं । १८ ॥

अनेनां पुष्यादिभिः पूज्याम्, इत्येवमिति धार्यादिविषयां, स्थिति- कादिन्यासात्मिकां वा । चः समुच्चये; एषोऽनारण्ये, नेत्यनेन संभवन्त्येते । अन्त्यं समस्तपुष्यादिषु याञ्चोऽर्थाद्येवमन्व, पु- जनं विशिष्टवत्त्वादिभिः प्रतिज्ञान्नमः । तथेति समुच्चये । अ- क्तित्वात् आद्यकारकादिषु संपदाऽभ्यर्थोपचारिकया वा, सत्कार- द्वापेन्द्रानादि, संसाधनव चान्युत्थानादि, श्रुक्सिन्कार- संमानम्, ततो मनसाऽपि, आस्तो वाचा, नैव प्रार्थयन्-ममैवं स्यादित्यन्निष्ठयत् ॥ १८ ॥

किं पुनः कुर्यादित्याह--

मुक्कञ्जभाणं जियाएज्जा, अनियाणं अकिंचिये ।
 वोमदुक्काए विहरेउज्जा, जाव कालसम पज्जअं ॥ १९ ॥

युक्कपानममुकरं यथा भवत्येवं ध्यायतिभक्तयेव । अनिदानो- प्रविद्यामाननिदानः, अकिञ्चनः प्रावर्तनं, व्युत्पन्नं चैव व्युत्पन्नः का- वः शरीरं येन स तथा, विहरतः, अमतिवचविहारनयेति मन्थ- ये । वाचयति मनोदायाय, कालस्तरां मुखाः । [पज्जअं चि] पर्यायः परिप्राज्ञा, प्रस्ताव इति यावत् । यावत्प्रकरणसमयः क्ल- म्भातो भवतीति ज्ञावः ॥ १९ ॥

एवंविधाऽनगारगुरुस्यहच यावदासुविद्वन्त्य मृगुसमये यच्छ्रया यत्कलमयाभिनि तदाह--

निज्जूहिउण आट्ठां, कोझधम्मे उवहिण्ण ।
 चउज्ज माणुमं वोदिं, पदु दुक्खे विमुक्कह ॥ २० ॥

(निज्जूहिउण चि) परिचयस्य, आहारमशनादि, तत्परित्याग- हच संलेखनकर्मणैव, अस्मिन् तत्कारणं बहुतरदापसज्जवान् । तथा चायाम् " देहस्मि अस्मिंदिपि, सहसा आत्ते हि निज्जमा- रोदि । जायउ अहउज्जाणं, सरोरिणो चरिमकालम्मि " ॥ २० ॥ व. द्वाः; कालधर्मे आगुःकयसङ्गणं मृगुस्त्वयनेव, उपस्थितं प्रत्यासक्तं- ते, त्यक्त्वाऽपराधाय, [माणुमं सं] मानुर्या मनुष्यमन्वर्धनीम, वोदिं शरीरम्, मञ्जु-वीर्या-तरायकयतो विशिष्टमामर्धवचन, [दुक्खे चि] दुःखैः शारीरमानसैः, विमुक्कयेत-विशेषण मुक्कयेत, तद्व्यवधानकर्मपगत इति ज्ञावः ॥ २० ॥

कहिणः सन्निध्याह--

निम्ममां निरुंकारां, वीयगगो अण्णासवो ।
 संपसां केवलं नाणं, मासए परिनिज्जुवे ॥ २१ ॥ चि वेमि ॥

निम्मोऽपगतममकारः, निरुंकारोऽमस्यकजातीय इत्याद्यहः- काररहितः, ईदृशकुलः, वीतरागः प्रावर्तमानरागद्वेषः, तथासा- भवः कर्माश्रवरहितः, विध्याव्यभिचिन्त्येव यावत् । स प्राप्तः, केव-

ज्ञानम्-उत्कल्पम् । शाश्वतम्, कदाचिद्व्यवच्छेदात् । परिनि- ज्जुताऽस्वास्थ्यं हेतुर्कर्मजावतः सर्वथा स्वस्वर्थात्तः, इत्येकविश- तित्त्वभावार्थः ॥ २१ ॥ उक्क ३६ अ० । स० ।

अणुगारमहेभि-अनगारमहेभि-पु० । अनगाराश्च ते महर्षय- इहेति । अनगारगुणविशिष्टेषु महर्षिषु, स० ।

अणुगारवाऽ(ए)-अनगारवादिन-पु० । यतिवेषमास्थितेषु अ- नगारगुणरहितेषु अनगारमन्थेषु शाक्यादिषु, आचा० १ सु० १ अ० ३ उ० । "अनगार" शब्दश्चैव भागे २७० पृष्ठे भावितं वेनत्- यन् शाक्यादयो नानगाराः]

अणुगारसामाधिक-अनगारसामाधिक-त्रि० । अनगाराणां स- मये भव इति । अनगाराणां समाचारे सिद्धान्ते वा भये, आ० । स्था० ।

अनगारसंज्ञ-अनगारमिह-पु० । मुनिंसिहः, " एवं युजिस्ताण स रायसिंहं परमाह जत्थीए " उक्क २० अ० ।

अनगारमुय-अनगारभुत-ज० । आचारभुतापरनामके मूत्रहता- कृष्य द्वितीयेष्वनस्कत्वे पञ्चमाऽप्ययने, मूत्र० । " आचारसुय " शब्दे त्रि० आ० ३६१ पृष्ठेऽस्य प्रवृत्तिनिमित्तम् ।

अणुगारि (ण)-अनगारिन्-पु० । अणुरी गृही असंयतस्तर- तिषेधादानगारी । संयते, प्रअ० ।

अणुगारिय-अनगारिक-त्रि० । न विद्यते अणार यन्त्येत्यनगारः सायुस्त्वस्वधर्मित । अनगारसम्प्रदायेन सर्वेविरिनसादायिका- दौ, विषे० ।

अणुगारिया-अनगारिता-स्त्री० । अणुरी गृही असंयतः, तत्र- तिषेधादानगारी संयतः, तद्भाववन्त्वा । सायुतायाव, स्था० ४ उ० १ उ० ।

अणुगालि-अनगालि-पु० । उष्णकाले, वृ० ३ उ० ।

अणुगिण-अनगन-पु० । सुषमसुषमायां जगत्तपे कर्मभूमिषु च सदा भवति कल्पवृक्षनेदं, ति० । अनेषुषु कल्पयादेषु अन्यथे बहुप्रकल्पानि यस्मान्नि विश्रान्तान् एवातिस्त्वमसुहुमा- र्देवदुमायुकाराणि मनेहराणि निमत्सानि उपजायन्ते । तं ।

जि० । अदिगम्बरं, आच्छादयतिविशिष्ट च । वाच० ।

अणुग-उत्तर-स्त्री० । सर्वोत्तमव्याद्विद्यमानमूल्ये, आच० ४ अ० । अर्षेणोच्यते, संथा० । " मन्त्रे वि य सिज्जंता- साद्व्यययणमाया सतेसांका । जिणययणम्म भवण्मां, न तुज्ज- म्पियेते अणुमन्थे " ॥ २१ ॥ यथाऽन्यस्त्वानर्थप्रकाशकत्वेन सकल्प- प्रणेतृत्वात्त्वाद्यादिविद्यमानमूल्यमन्वर्थम् । अथवा अणुमन्थमिति, तत्र अणुं पृथिव्यपरम्पर्यापासकमप्यकार कर्म, तद् हस्ति यत्तत् श्रृणुमम् । दर्श० ।

अणुगयगयचुत्त-अर्षेणोच्यते-पु० । मृगुपत्तने श्रीमुनिसुसुते देवे, मृगुपत्तने अर्षेणोच्यतेः श्रीमुनिसुसुतः । तौ ४४ कल्प ।

अणुय-अणुय-त्रि० । नास्ति अणुपापे दुःखं व्यसने कासुख्यं वा यस्य । पापशून्यं, मलशून्यं, स्वच्छं, वाच० । शोभनं, पं० अ० १ अ० १ अ० । व्यापृत्तत्त्वप्रतिपासवाशकर्मपापान्यात्मनिष्ठं, " संविमस्तच्छुत्तरेव, ज्ञानतयो नरात्तथा " अ० १ अ० १ अ० ।

अणुयमय-अणुयमत-त्रि० । ६ त० । अयदानबुद्धिः, पं० अ० ४ अ० ।

आणुचउक्क-अनतानुवन्धिचतुष्क-न० । अनतानुवन्धिचो- धमातमयात्तंभास्यं करण, कर्म० २ कर्म ।

अणुश्रुतिय

अणुश्रुतिय-अनात्यन्तिक-पुं० । सहायिनं मुक्त्वाऽप्रतिनिधायित-
प्यति सहायभेदे, वृ० ४ उ० ।

अणुचक्रस्तर-अनत्यङ्ग-न० । एकदिगिरिकुरैरधिकमन्यङ्गं,
न तथा अनत्यङ्गम् । अणु० एकन्यायङ्गेणानधिके, आ०प्र०प्र० ।

अणुचक्राविय-अनति-त्रा० । वक्रमात्मनं वा न नतिं तं न नृत्य-
वदि व कृं नं वष तद्वर्तनं प्रत्युपकृणाम् । अग्रमात्प्रत्युपकृणाभेदे,
स्था० । वक्रं मत्तयत्यात्मनं चेत्येवमिह चत्वारो भङ्गाः-“ वन्य
अप्याणमि य सत्रहं अणुचक्रावियं ” स्था० ६ ना० १ उ० । पं०
व० औ० “ गच्छण सरोरे वत्ये वा, सरोरे उच्छरणं, वत्ये वि
विकारा करेति, ण लुचक्रावियं अणुचक्रावियं ” नि० वृ० ८ उ० ।

अणुचक्रासायणाम्-अनत्याशातना,श्रील-पुं० । अतीवायं
सम्यक्साधित्वाभं शातयति विनाशयति इत्याशातना, तस्याः
श्रीलं न तच्छब्दात्सम्बन्धस्येत्याशातनाश्रीलं, न तथाऽ-
नत्याशातनाश्रीलः गुरुपरिचारादिकृतिः । आचार्यादीनामभ-
क्तिनिर्दाशीलावेषायाशाशातनानिचारके, उच्य० २६ अ० ।

अणुचक्रासायणानिणय-अनत्याशातनानिणय-पुं० । अत्या-
शातनं शातना, तर्षणप्रभृते विनयोऽनत्याशातनानिणयः ॥ भ०
२४ श० ७ उ० । दर्शनविनयभेदे, औ० ।

सं किं नं अणुचक्रासायणानिणय १ । अणुचक्रासायणा-
निणय पणयालीसिद्धिं पश्यते । तं जडा-अरहेतापं अणु-
चक्रासायणया अरहेतपणुसप्तमं धम्मस्स अणुचक्रासायणया
अयस्मिणां अणुचक्रासायणया उवज्जायाणं अणुचक्रासा-
यणया धेराणं अणुचक्रासायणया कुलुस्स अणुचक्रासाय-
णया गणस्स अणुचक्रासायणया संघस्स अणुचक्रासायणया
किरियाण अणुचक्रासायणया संजोगस्स अणुचक्रासाय-
णया आभिण्णिवोदियणाणस्स अणुचक्रासायणया नाव
केवज्जाणाणस्स अणुचक्रासायणया एएमि चैव भत्तिवहु-
माएणं यं एएमि चैव वससं जलणया, सत्तं अणुचक्रासाय-
णया निणय, सत्तं देसाणनिणय ॥

(किरियाए अणुचक्रासायणयं सि) इह किया-अस्ति परलो-
कोऽस्यात्माऽस्ति च सकलक्रियाकलाहितं मुक्तिर्दिव्यत्वादि
प्ररूपणमिका गृह्यते । (संभोगस्स अणुचक्रासायणयं सि)
संभोगस्य समानधार्मिकाणां परस्परं भक्त्यादिदानप्रहण-
रूपणानत्याशातनानिणयसंबन्धस्यपरिचरजनम् (भत्तिवहु-
माएणं सि) इह णेकारो वाक्यात्सङ्घेरे, अक्या सह बहुमानो
भक्तिवहुमानः, भक्त्विहेह बाह्या परिशुद्धिः, बहुमानश्चान्तरः
पानियोगः (वससं जलणयं सि) सद्भूतगुणवर्णनेन यशोदी-
पनम् । भ० २४ श० ७ उ० ।

अणुचक्र-कुप-धा० । आकर्षणे, धिलेस्सने च । तुदा०, आत्म०,
सक०, अनिदं, भ्यादि०, पर०, सक०, अनिदं । “ कुपेः कहुस्ता-
अधाआणक्यायस्मादङ्क्याः ” ॥ ८ । ४ । १८७ ॥ इति कुपेरण-

अणुचक्र-अरं-देशी-अकिञ्चन, वै० ना० १ वने ।

अणुचक्रेय-अणुचक्रेद-पुं० । उत्तमर्णावुं शूर्वातद्रथस्वोच्छेदे,
ध० । अणुचक्रेदे च न विलम्बनीयम् । ननुकम्-“ अमरभम्भे
अणुचक्रेदे, रुग्णाद्दारे ४ रागम् । गुरुवनेऽक्षिरोमे क, काज-

लेपेन कात्थयेत् ॥१॥ स्वनिर्वाहात्मतया अणुचक्रानाशकेन नूत-
मर्णेशुह कर्मकरणादिनाऽपि अणुचक्रच्छेदध, अन्यथा भयान्तरे
तद्गृह कर्मकरमाहियेषुमकरभरासभाभित्यस्यापि संभवात् ।
उत्तमर्णाऽपि सर्वथा अणुचक्रानाशको न याच्यः, सुधाऽऽसत्त्वा-
नक्रेणपापवृत्त्यादिप्रामुखांवात्, किन्तु यथा शक्नोति तदा
दद्याः नो चेद्विदं मे धर्मपदे भूयदिति याच्यः, न तु अणुचक्रसं-
स्थक्षिर्न स्थाप्यः, तथा सत्यानुःसमाप्तौ भयान्तरे इवोमिधः-
संबन्धैरवृत्त्याद्यापतेः । ध० ३ अवि० ।

अणुज-अनार्य-पुं० । आराधातं सर्वहयधर्मस्य इत्याच्येयं,
न आर्येयनाच्येयं । आच० ४ अ० । आर्येतरं, करे च । प्रश्न०
४ आअ० हा० । पापकर्मस्य, प्रश्न० २ आअ० हा० । अनार्ये इ-
वानार्येः । म्लच्छोद्यते, दश० १ वृ० । अनार्येलांकरणात्,
प्रश्न० १ आअ० हा० । अनार्यप्रयुक्ते, प्रश्न० २ सअ० हा० ।
अन्यार्य-त्रि० । अनार्योपेतं, प्रश्न० १ कअ० हा० ।

अणुजजधम्म-अनार्यधर्म-पुं० । अनार्योणामिव धर्मः स्वाभा-
वो येषां ते तथा, अनार्यकर्मकारिणात् । सूत्र० २ धु० ६ अ० ।
कर्मकारिणु, “ इहोचमाहसु अणुजजधम्मं, पणारिया बाल-
रसेसु गिद्धा ” सूत्र० २ धु० ६ अ० ।

अणुजजाव-अनार्यजाव-पुं० । कोधादिमतिं पुरुषजाते, ल्या०
४ डा० २ उ० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । आलोचनामात्रे अर्थव-
सायाभावे, रत्ना० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुजजवसाय-अनर्यवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० । अणुजजवसाय-पुं० ।

अणुद्वाकारग

अणुद्वाकारग-अनर्थकारक-त्रि० । पुरुषार्थोपचालके, प्रश्न० २ आश० ब्रा० । अनाते, पु०। आर्तेप्यालनहिते, वच० २ अ० । अणुद्वाकारग-अनर्थार्थप्रकृत-त्रि० । साधुनिमित्तं नियतितं, "अ नर्त्तं पंगडं ज्ञेयं, जहस्यस्यजासत्" दृश० ८ अ० ।

अणुद्वाद्दं-अनर्थदृष्ट-दु० । अर्थः प्रयोजनं गृहस्थस्य क्षेत्र-वाच्यनपचान्मं शरीरपरिपालनादिविषयं तदर्थं आरम्भो नू-सोपमदौऽथेदृशः । दृशो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः । अर्थेन प्रयोजनेन दृशोऽथेदृशः, सैवैतन्न उपमदंनलक्षणो वृषः क्षेत्रादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽथेदृश उच्यते, तद्विपरीतोऽ-नर्थेदृशः । आश० ४ अ० । निष्प्रयोजने हिंसादिकरणे, आनु० । इहलोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनतोपमदंनामनो निग्रहे, पंचा० २ विव० । स च उच्यते-यदकारणं राजकुले दृशकथे । प्राचमस्तु-निष्कारणं ज्ञानाद्दंनो इति । वृ० १ उ० । आश० । " जो पुण सरदारैणं, धावरकायं च वणस्यपिङ्गं । मारुतु वि-दिकण च, जंमे पत्तो अणुद्वाए " ॥ २ ॥ प्रब० २ ५४ ब्रा० ।

अद्वारं दोच्चे दंदसमादाने अणुद्वादंवाचि ए चि आ-द्विज्ज, से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भ-वंति, ते सो अच्चाए एो अजिणाए एो मंसाए एो मो-णियाए एवं हिययाए पिच्चाए वसाए पिच्चाए पुच्चाए बालाए सिंसाए विसाणाए देताए दादाए णहाए एहा-रुणिए अच्चीए अद्विमंजाए एो हिंससुंमंति एो हिंसिनि-मंति एो हिंसिस्मंतिमंति एो पुसपोसणए एो पसुपोस-णए एो अमारपरिवृद्धणए एो सपणमाहणपत्तणा-हए एो तस्स सरंरामस्स किंपिसिपपरियादिचा भवंति, से हंता वेचा भेत्ता हंपुप्पत्ता वित्ठंपत्ता उद्वत्ता उज्जितं बाले वेरस्स आभामं भवंति अणुद्वादंमे ॥६॥ से महा-णामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तं जहा-इकडाइ वा कदिणइ वा जंतुमाइ वा परमाइ वा भोवखाइ वा तणाइ वा कुसाइ वा कुब्बगाइ वा पप्पमाइ वा पद्माइ वा ते णो पुसपोसणए एो पसुपोसणए एो अमारप-दिवृद्धणए एो सपणमाहणपोसणए एो तस्स सरंर-मस्स किंपि विपरियाइत्ता जवंति, से हंता वेचा भेत्ता हंपु-पत्ता वित्ठंपत्ता उद्वत्ता उज्जितं बाले वेरस्स आ-भामं । अणुद्वादंमे ॥९॥ से जहाणामए केइ पुरिसे क-च्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दक्षिंसंति वा बल्यंसि वा गुणंसि वा महणंसि वा गहणविट्ठगंसि वा वणंसि वा वणविट्ठगंसि वा पक्कंसि वा पक्कविट्ठगंसि वा तयाइ उअविय सयवे अगणिकायं गिनिवित्तं, अक्षे-ण्वि अगणिकायं पिमिरावेंति, अक्षयं पि अगणिकायं पि-सिरितं सपणुआणइ अणुद्वादंमे, एवं खनु तस्म तत्प-त्तियं सावज्जेति आद्विज्ज, दोबे दंदसमादाने अणुद्वाद-दवचि ए चि आद्वि ए ॥८॥

अवापरं द्वितीयं दंदसमादानसर्वधृष्टप्रयत्निकमियनिधी-

यते । तद्वचना व्याख्यायते । तद्यथा नाम-काश्चित्पुरुषो निर्नि-मित्तमेव निर्विकृतया प्राणिनो दिनस्ति । तदेव दशयितुमाइ- [जे इमे इत्यादि] ये केचनानी संसारात्मकानेन-प्रयत्ना अणुद्वाइ-यः प्राणिनस्तांभवासी हिंसकायां शरीरं, जो शैव, कथयंति दिनस्ति, तथाऽजिनं जमे, नापि तदर्थंमयं, नैव मांसोपगतदृष्टयपित्तवसा-पिच्युपुच्यबालमृष्टयविशालुद्धणवत्तं प्रूनक्षसम्बन्धिमज्जा इत्येवमा-दिकं कारणमुद्दिश्य, नैव हिंसितुमोपि हिंसविय्यति मां भद्रयं केति कारणमुद्दिश्य, तथा मो पुत्रपोषणयति-पुत्रादिकं पोषयित्वाभीष्टे तदपि कारणमुद्दिश्य नव्यापादयति, तथा नापि पशुनां पोषणय, तथाऽभारं गृहं तस्य परिवृद्धणमुपभयवस्तदर्थं वा न दिनस्ति, तथा न अमणब्राह्मणवर्तनान्हेतुं, तथा यत्नेन पादयितुमारब्धं नो तस्य शारंरस्य किमपि परिआणाय तत्राणव्यपरोषणं भवति, इत्ये-वमादिकं कारणमनपेक्षयित्वासी क्रीडया कञ्चलितया, प्चसं-न वा प्राणितो हन्ता भवति दानादिविभिः । तथा वेत्ता भवति क-र्णनासिकाविकर्तनतः, तथा नेत्ता शुलादिना, तथा ह्युष्मिताऽ-न्यत्रात्प्राणव्यवचिकर्तनतः, तथा वित्तुत्पत्तिना अहमुत्तानव-मंत्रिकर्तनकरपाद्गदिकुद्वदनतः, परमाधामिकवप्राणिनां निर्नि-मित्तमेव नामविशेषोपाये षोडशोपादकां भवति, तथा जीविता-द्व्यपेक्षाव्यतिता भवति । स च सत्त्विकमज्जित्वा, आत्मानं वा परित्यज्य, बालवृद्धालोऽङ्गोऽसंभ्रांक्षितकारितया जमल्लराटुक्-श्चिना वेरस्य आत्मा भवति ॥ ६ ॥ तदर्थं निर्निमित्तमेवं पञ्जे-न्द्रियप्राणीरुत्तनो यथाऽनर्थदृशो भवति, तथा प्रतिपाक्षिणः । अधुना स्थावरानधिहृत्यायत्ये- (स जेहेत्यादि) यथा कश्चित्-पुरुषो निर्विकः पांथ गच्छन् वृद्धादिः पल्लवादिं क दामादिना प्रवृत्तस्यन फलनिर्पेक्षस्तच्छीडतया मज्जति । पतेद्वे दशयंती- (जे इमे इत्यादि) ये केचनानी प्रयत्नाः स्थावरा वनस्पतिका-वाः प्राणिनां भवन्ति । तद्यथा-इकडाइ वा वनस्पतिविशोपा उचि-नाथाः । तद्विहेकदा मजानया प्रयो जमामियेयमभिसंधाय न जि-नस्ति, केचये तववपुष्पादिमिरेपेक्षस्तच्छीडतया दिनसोऽन्येनस-वैर योजनोयमिते । तथा न पुत्रपोषणय, नो पशुपोषणय, नावारप्रतिवृहणय, न अमणब्राह्मणप्रवृत्तय, नापि शरीरस्य कि-ञ्चित्प्राणं जिविष्यतीति केवलमवासां वनस्पतिहन्ता जेत्सेत्यादि-यावद् जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्य आगो भवति । अयं वनस्प-त्याभयोऽनर्थदृशःऽजनिहितः ॥ ७ ॥ संप्रानमभ्याश्रितमाइ- (स जेहेत्यादि) तद्यथा नाम-काश्चित्पुरुषः सखिद्वयकविक-कृतया कच्चादिकेषु दशसु स्थानेषु वनदुर्गवर्षेणेषु तुष्णानि कु-शोपाकीर्दीनि वैनःपुत्रयोनांपात्रःस्थाने हत्याऽदिकरणे हुतभुज-नित्तुजति प्रकृष्यति, अर्थेन वाऽऽत्मिकायं बहुसत्त्वापकारं द्वा-वयं निषज्यति प्रकृष्यति, अन्यं च निस्पृश्य समनुजायते, त-दर्थं योगत्रिकेण हतकारितानुमतिमिदमेव यत्किञ्चनकारिण-स्तप्रत्ययिकं दृष्टवन्निमित्तं साधकं कर्म महापातकमायायि, द्वितीयमनर्थदृष्टसमादानमाख्यातमिति ॥ ८ ॥ सूत्र० २ अ० २ अ० । आ० ५० ।

अणुद्वाद्वैवमहा-अनर्थदृष्टविरमण-म०। अर्थः प्रयोजनम, तत्प्रतिषेधोऽनर्थः, दृष्टवत्तं आत्मानेनेते दृशो निग्रहः, अर्थे-न दृशोऽनर्थदृशः । इह लोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनपू-नोपमदंनानमो निग्रह इत्यर्थः । तस्मात्सस्य चा विरमणं (विर-तिः) । नृतीये गुणान्तं, पंचा० १ विव० । उपा० । तथा क्लृप्तं च णं अणुत्थयेदं च उल्लिखे पक्षतः ॥ तं जहा-अणुत्थयाथरिप-पमायाथरिप हिंसपपयत्तौ पायकमोवावसे । तस्स यं अणुद्वा-

इहैवैरमणस्य समयोबास्यस्य पंच अहयारा आणियव्या, न समायोरयव्या । तं जडा—“एहाण्यवदृणयवण-विलेयते सह-कवरसंगं० । अणुयासअमरते, पदिकमणे देवस्वियं अचं ॥१॥ कंठपं १ कुकुइए ३, मोहारिपे अंसजुतादिकरणे ५ वा । उचमोगपरिभोगानिरेच-” । अणु० १ अ० अस्यामयंइवइविरमण-एव अस्यामयासकेन अमी पञ्चमीवारा हातवया न अस्याचरितवयाः । भाव०६ अ० । इयाक्या ‘कंठप’ आदिशब्देषु रुचय्या

अणुद्राधिपि-अनर्षवन्निन्-पुं० पक्षमये अनर्थकं निष्प्रायोजन-मेकवारोपरि ही श्रोत्रं चतुरो वा वाराव् कम्पाव् अणुद्रा द्वाति, चतुरपरि बहूनि अहकामि वा वजाति, तथा च स्वाध्यायवि-ष्णपरिमण्याद्वा दोषाः, यदि कैकान्तिकं अणुकारिप्रेने लभ्य-ते तदा तदेव ब्राह्मण, कथमादिपलिमण्यपरिदारात् । कणप० । अणुद्राण-अनटन-न० । अणुमणे, पंआ० १३ विव० ।

अणुमे-देशी । आरे, वे० ना० १ वर्ग ।

अणुणियु-अनर्थ-अण्य० । प्रतीपमनर्थेयार्थे, “अपदिह-दुमणुणियुत्तु संवञ्च” । अणुणियु-न प्रतीपं अर्पयतीत्यर्थः । नि० सू० २ उ० ।

अणुणुभ्रोग-अननुयोग-पुं० । अनुयोगविपर्यते अननुरूपे यो-गे, विशे० ।

नामादिभेदात्मसविधमनुयोगं व्याख्याय तन्नियुक्तभूतमननु-योगं विमणितुुरुकोपसंहारं प्रस्तावनां आह--
एवोऽणुवृजोगां, मन्त्रोऽणुभ्रोगो इभ्रो विवज्जनयं ।
जो सो अणुणुभ्रोगां, तत्पं-मं हीति दिष्टता ॥१॥
नदंशं गतो भाणित एवोऽणुवृजोगोऽणुभ्रोगः समविधोऽपि ।
अथ विपर्यस्तनद्विपर्ययेण योयमननुयोगः, स उच्यते, तत्र
कैनं चक्षुमणहृष्टान्मा भवन्तीति ॥ १ ॥

के पुनस्तऽननुयोगहृष्टान्मा इत्याह-

वृत्तमगाणीं शुजा, सज्गाए चव बाहिकुवाये ।
गायन्नए य वयण, मते यं हीति भावमि ॥ २ ॥
भाषगजजा सचव-इए य कोकणगरए नउले ।
कमसामेला संव-स्त साहसं मेणए कांवा ॥ ३ ॥

यथाऽनुयोगो नामादिभेदात्मसविधस्तथाऽननुयोगो यथासं-
भवं चकषुः । तत्र नामस्वभावे सुगमे, इत्यानुयोगस्तप्रसंगतः
द्रव्यानुयोगश्च व दत्तमीश्वरहरणम् । अत्र स्वभूतयोनामुयोगोः
कुञ्ज उदाहरणम् । काले स्वाध्यायः । वचने पुनरुदाहरणमध्यम,
तद्यथा-अचिराद्वापः, प्रायमकम् । ज्ञाने तु सतोदाहरणानि जव-
न्ति, तद्यथा-आवकभायां १ सासपदिकः पुरुषः २ कोङ्कक-
वारकः ३ नकुलः ४, कमलामेला ५, शम्भरए साहसम्, ६ भे-
णिककोप ७ अेति नियुक्तिगाथासंज्ञेयार्थः ॥ ३ ॥
अथ विस्तरतो वत्सगोणुवृद्धरणं आधुकारः प्राह-
वीरं न देहं सम्यं, परवृत्तिनोऽप्यभ्रो इहा गाव् ।

अणुवृज व परनुत्तं, करेज देहोरोइं वा ॥

यथा काश्चित्पलादिका गौरवस्था बहुश्रादिकायाः संवन्धि-
नि मोदोदकं न वत्से नियुक्तं सत्त्वानुयोगोऽध्यामिति इत्या तन्वियोग-
गतः क्षीरं दुग्धं सम्यक् न दृशति । अथवा न तावना तिष्ठेत् कि-
न्तु परवृत्तम्-अप्यस्था अपि गोः सत्यं कृत्वात्ममदं वि मोदोदक-
िकायां ध्वयस्त्रिभुज्जन्मती उर्वयेत् त्याजयेत्, यदि वा देहोपरो-

धं सत्साम्रारादिभिर्जानुजङ्गादिना देहबाधामपि कुर्वीदित्यर्थः ।
तथा किन्मियासकस्य प्रमुने येोजयकाह-

तह न चरंशं पत्तये, परपजायवित्श्रीभ्रोगो दत्वं ।
पुव्वचरणोवधायं, करेऽ देहोवरोहं वा ॥
त्रिणवयणसायणभ्रो, उम्मायातंकरणवसणाई ।
पावेज्ज सव्वंशोवं, स बोद्धिआभोवधायं वा ॥
दव्वविचउज्जासाभो, साधणं भ्रो तभ्रो चरणभेभ्रो ।
तत्तो मांस्त्वाजावो, मोक्त्वाजावेऽफला दिक्त्वा ॥

तथाऽत्रापि व्याख्या-यदा जीवार्थे इत्यवजीवार्थिः प्रक-
पयति, अजीवार्थि इत्यर्थं वा जीवार्थिः प्रकपयति, तदर्थं
प्रकृत्यमात्रं तद् इत्यवमन्योमनो उच्यतेत्यागीवं अरत्तं चिदंशं
न प्रकृते । परपर्यायविनियोगतो विपर्ययोऽप्युक्तः, तत्र अवि-
तीत्यर्थः । न सैतावता तिष्ठति, किन्त्वियमननुयोगं कुर्वतः
पूर्वमात्रवरोपघातं च करेति, नपश्चमद्वैवप्रकपणवत्तत्त्व
रोगाभुवसेद्वैद्वैद्याप्युपरोधं बाधं विदधाति । किञ्चैतं जिन-
वचनाशातनल्प सेनमादात्तुकरवृष्यसना-वपि प्राप्नुयात्, तथा
सर्वप्रतलोपं, बोधिसत्त्वोपघातं च प्राप्नुयादिति । ननु कथं-
चिदपर्यायप्रकपणमात्राद्वैयात्यतोऽंशो भ्युपित्याह-“इव्यावि-
चउजास्यादि । विपरीतप्रकपणे हि इत्यस्य विपर्ययोऽभ-
वति, तथा च सति साधनस्य सम्यग्ज्ञानादेर्देहेऽप्युपघातो
जायते, ततः साधनमदात्तवचनं देहस्तज्ज्ञात्वा तस्याप्यस्य
मोक्षस्याज्ञापयसहः, उपयागोऽप्युपघातः । ततो मोक्षा-
भावो निष्कस्येव दीक्षा, मोक्षाद्येव तस्मिन्निपतिस्तन्मत्तवभावं
निरयेकैव वेति । तदेवं इत्यानुयोगो निर्दिष्टा बोधाः ।

अथ द्रव्यस्य सत्यगनुयोगे गुणानाह-
सम्यं एयं पयच्छेद, सवृत्तविधिभ्रोगो जहा षेण् ।
तह सयपज्जवैया, दत्वं चरणं तभ्रो मोक्खे ॥

यथा परवत्सपरिद्वाराणं स्थवःसविनियोगतो गोः सम्यक् एवः
प्रयच्छति तथा स्वकपर्यायोऽणुद्रा इत्यर्थं, तत्र अर्थः, ततो मोक्षः प्रा-
प्यत इति । तदेवं इत्यानुयोगे च हावगुणयोर्वत्सगोहृष्टान्त उक्तः

अथ क्षेत्रघननुयोगे दोषान्स्वनुयोगे तु
गुणा-सोदाहरणानतिश्राआह-
एवं स्वेत्ताइसु वि, सपम्याविणिभ्रोगोऽणुभ्रोगो वि ।
विपरीए विपरीभ्रो, सोदाहरणोऽणुगदवो ॥

एवमुक्त्वानुसारेण, क्षेत्रकास्रवचनभावेणैव स्वधर्मविनियो-
गः आत्मोचितमन्योऽज्ञानात्, अत्रयमि ॥ विपरीते तु-वि-
परीतधर्मयोऽज्ञे तु, विपरीतोऽनुयोगः सोदाहरणः स्वबुद्ध्या,
प्रधाताराद्वाऽनुगुणत्वात् हातव्यः ।

तत्रधर्मातिदिष्टेऽपि सुधर्मिनैयानुप्रसाधे किञ्चिदुच्यते-तत्र
क्षेत्रतोऽनुयोगोऽनुयोगश्च कुञ्जादाहरणमधिधोयते-प्रतिष्ठा-
ननगरं शालिवाहनो नाम राजा । स च प्रतियवै समागत्य
भृगुकच्छे नरोवाहनमुपं रुणक्ति स्म । अतुवके च काले तत्र
स्थित्वा वर्षासु स्वनगरं अणुदति स्म । अणुदत्त च रोहक
समागते तेन राज्ञा स्वनगरं जिगमिषुणा आस्थानसभाम-
रदपिकायां पतङ्गकमन्तरंशापि भूमौ निष्कृष्टतम । अणुदत्त च रा-
ज्ञः पतङ्गकारिणी कुञ्जा समस्तस्म स्म । तया चातीयभायवृत्तया
क्षितिम-भूयं परिजिहासिद्वै स्थानं नरपतिप्राप्त्यति प्रजाते
स्वनगरं, मेनेधमिद निष्ठिवनीति संखिन्य निगदितं कथ-

आणुशुभोग

मप्यामप्रविवित्तम्य यानांशान्कस्व । तत्स्नेन प्रणीकृत्य या-
नायपचञ्चल एव राहः पुरतोऽपि प्रवातितामि, तत्पुष्टनक्ष स्वर्वा-
ऽपि रुक्मकाव्याः प्रवृत्ता गन्तुम् । श्यामं च नजामपकृतं कटकधं-
शिकिणः । तन्निहितं विस्मिन्नमनसा तराधिपेन-मनु कस्या-
पि प्राणकं न कथितं धूरीभयात्किञ्चिदं स्ववपवारिच्छता भू-
त्वा मेत्यस्य पुरन एव यास्यास्येत्तच्च विपरीतमापन्नम्, तत्कथ-
मिदं कटकशोकं विहास्यमिति । पश्यत्या शोधयना विहासा
कुर्यात् । पृथया च तथा कथितं सर्वमपि यथाशुभम् । तदत्र सत्रा-
मपठपिकादि क्लेशेण निष्ठिवनस्य अननुयोगं, निष्ठिवनादिर-
क्षप्रमाजैतोपन्नपनादिकस्वनुयोगं । एवमेकाम्निनियमकमप्रदेशं
याकाथां प्ररूपयतोऽनुयोगं, स्याद्वाद्वाऽपि न तु तद्वं प्ररूप-
यतोऽनुयोग इति ।

कालाननुयोगानुयोगयोः स्वाध्यायवृष्टाह्नः-तद्यथा-एकः सा-
युः प्रादोषिककालप्रहाणान्तर कासिकभ्रुमर्मोतामपि तदुण-
नवेस्रामज्ञानानः परावनेयेन स्म । नन सन्ध्यादृष्टिद्वयतया वि-
नितम-बोधयास्यसु, मा रुनिमध्यादृष्टिद्वयवत्तजमस्य, ततो
मथितकारिण्य मथितभूतमेव घट मस्नेन निषाय तस्यैव स्वा-
धारनिके गतागतानि कुर्वती मथितं सन्त्येन इति महता शब्दे-
न पुनः पुनर्वोपयन्ती परिश्रुती स्म । ततोऽप्युद्देशिनं साधुना
प्रोक्तम-घटोः । नवम्यास्तकारिण्ययेन ? । ततो मथितकारिक-
याऽप्यवधि-अहो ! तवापि स्वाध्यायवैश्र ? । ततो विस्मितः सा-
धुरुपयुज्य मिथ्यादुष्करं ददाति स्म । ततोऽज्ञानस्वाध्यायविधा-
नेन मिथ्यादृष्टिद्वयनाहिति तच्छलानि भवन्त्यतः प्ररूप्येवं मा का-
र्वास्वमिथ्यादि साधुद्वयवतयाऽप्युशान्तितः । इत्येव स्वाध्यायस्य
काशाननुयोगः, काशेऽप्युपउतस्त्वनुयोगः, प्रकृतोत्तमपि काशधर्मा-
णां वैशरीत्यावैपरीत्यरूपणं अननुयोगाऽप्युधायौ चाध्यायिति ।

अथ वचनविषयमनुयोगाननुयोगयोराहरणद्वयमुच्यते-तत्र
प्रथमं बधिरोगोऽपि । तत्र कैकस्मिन् प्राप्ते बधिरकुटुम्बं परिवस्-
ति स्म । स्थविरः, स्थविरा, पुत्रः, बधुश्च । सन्ध्या च पुत्रः क्षेत्रं हस्तं
वाहश्च । पथिकैर्मणिं पृष्टो, बधिरतया ब्रवीति-गृहजातो मम बहो-
वर्दाविमो, न पुनरन्वस्य सत्की । ततो बधिरोऽप्यमिति विहाय गताः
पथिकाः । ततो जकं गृहीत्वा बधुः समायाता । शृङ्गी पाथिकै-
र्ब्रांघर्वाविश्यादि निबोधितं तेन तस्याः । तथा च प्रोक्तम-कारमज्ञ-
वर्णं बिति न जानाम्यहम्, एतस्वर्दीयजनस्यैव हि संस्कृतम् । ततो
गृहं गन्तया तथापि द्वारद्विदं भग्नमप्यतिकाः निबोधितः स्थविर-
या च कर्तव्यम् । प्रोक्तम-स्थूलं सुहृदं मा भवन्तिदं, स्थविरस्य प-
रिचालं भाविष्यतीति । निबोधितं चैतानानुयोगविषया स्थविरया
गृहप्रान्तस्य स्थविरस्य । तेनऽपि विच्यता प्रोक्तम-तय जीवितं
निबन्धि, मथेकमपि तिलमहं वक्ष्यामीति । एवमेकयवनानादिकम-
प्युक्तम् । श्लिषचनादितया यः शृणोति तथैव चाप्यस्य प्ररूपयति,
तस्याननुयोगः, यथास्वच्छवणनिकुपणे स्वनुयोग इति ॥ यचना-
नुयोगस्यैवैह प्राधान्यस्याप्यनार्थं वचनविषयमेव चिन्धिं प्रायेण-
कादाहरणमुच्यते-तत्र कैकस्मिन्नपरे कस्याश्चिमहिलाया जतो
सुतः, तत्रभ्रमजहादिकेण बाधिता निवेदन्तिं श्रुत्वा निजत-
नयेन सह प्राप्तं यताऽसीत् । ततो बृद्धिं गेनेन पुत्रेण सा पृष्टा-मदी-
यायितुः का जीविका आसीत् ? । तथा प्रोक्तम-राजसेवा । नेनोक्त-
महमपि तां करोमि ? । तथा प्रोक्तम-पुत्र । दुष्कराऽसीत्, महता
विनयेन पृष्टः । कौशुः पुनरसौ विनयाः ? । तथा प्रोक्तम-सर्व-
वर्णापि हृदस्य प्रणामः कार्यः, मुनिवैश्या सवस्थापि प्रयतित्यम्,
पुत्रकन्दानुवृत्तिपरिष्व सर्वत्र भवितव्यम् । एवं कतिप्यामिप्य-

रनुपगम्य चलिताऽयं राजधानीम् । सम्मुखे मार्गे च हरिषेष्वा-
गच्छतु युक्तुस्तेष्वारुह्यतुष्टयुष्टयोर्निलाना व्याधाः हृष्टाः । तेषां
च तेन महता शब्देन योत्कारः कृतः, ततस्वस्ताः प्रवक्ष्याम्य गता इ-
रिणाः । ततो व्याधेः कुहयित्वा बहोऽसीत् । ततस्तेनोक्तम-जनयाऽदं
शिक्षितः-हृदस्य सर्वस्यापि योत्कारः कर्तव्य इत्यादि । तत्राह-
नुयमिति हात्वा मुक्तस्तेः, शिक्षितश्च-यथा-इहो हृष्टे निजानैर-
वनेनः शब्दमुकुर्वन्तः शिवायां जल्पन्ति नृतमगाभ्यसे । तदनुप-
गम्य पुरतो गन्तुं प्रवृत्ताऽसीत् । इत्याह वरणा जालयन्तो रज-
कास्तेषां च वरणापि तस्करीनैत्यमपह्नित्येन स्म, ततस्तत्र दिने
श्रुगुदादिव्यप्रमाणयो रजकाः प्रवृत्तापविष्टा हेरयत्नस्तिष्ठन्ति
स्म । आगतश्चाजल्पन्प्रयनगत्रो निशियमानः स्यैः सः तत्र प्राप्ते-
यकः । स एव चौर इति कृत्वा कुहयित्वा बहोऽसीत् रजकः । तत्राह-
न च कथिते मुक्तस्तेः शिक्षितश्च-यथेदो कार्मिभ्यः हृष्टे एवमुच्य-
ते, यथा-ज्येकारोऽत्र एतत्, शुकं च भयमिति । तत्राह-
गम्ये श्रुतुः पुरतो गन्तुम् । ततो हृष्टे कृच्छ्राम्ने बहुमिर्मन्त्रैः
प्रथमं कृच्छ्राम्नेन विमुक्तकरणं क्रियमाणम् । तत उक्तम-उप-
त्यादि । ततस्तेषुपि कुर्वन्तिः पितृभिः कृच्छ्राम्नेन उक्तम्,
शिक्षितश्च-यथेदो क्वापि हृष्टे प्राच्यते, यथा-गन्धोऽत्र श्रियन्तां,
बह्वत्र मथतु, सर्वे च ममास्वति । अभ्युपगमे च तेनेदम् ।
आन्यत्र च स्तनकः बहिर्लोमाने प्राक्तमिदम् । तत्रापि कुह्यतो बह-
वः, सत्रावकथने च मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदो मा भूदुष्वातां क-
दाचिदपि, विद्यामश्नतां नास्मिन् । एतन्नान्यत्र त्रिषुवा प्रोक्तम-
तत्रापि तथैव बहः, सत्रानं परिज्ञान मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदो
प्राच्यते-सर्वे एवमस्मिन्निहासि मयन्तः, साधवश्च भवन्त्येतेन-
वन्तः, मा त्रुद्विदं विद्योम इति । इदं चाप्यत्र कर्त्वाऽप्यत्र, बहो
राजानमन्वाय युवाणस्तथैव कर्त्तव्योऽपि मुक्तः, शिक्षितश्च-
यथेदो विद्योमः शोऽपि भवत्यनेन, एव च मा युवर्त्वाऽनपरीत्य-
मिषीयते । एतन्वाप्यत्र कर्त्वाऽपि सर्वो जल्पयमाने प्राक्तं, तत-
स्तत्रापि तथैव कर्त्तव्यः । एव स्वानि उक्तमिदं प्राक्तम-
कस्यापि विमन्त्रतः प्रमुक्तस्य उक्कुरस्य सेवां विधानुमावश्यः, त-
त्र चाप्यदा गृहे आमुश्रित्त्रिकायां मिदयां धामसमाजनसमुह-
मध्ये उपविष्टस्य उक्कुरस्य शान्तिलभुता एया ज्ञानुप्रयोगया
भविष्यतीति ज्ञायया नदाकारणया प्रोपतोऽपि प्रायेणकः । तेनापि
तस्य जन्तसम्भूतस्य शृण्वतो महता शब्देन प्रोक्तम-आगच्छ
उक्कुर ! शोभयतु इह, सुहृद, शस्त्रं बलिना कांतां तनोऽजनापि
रिच्यताऽसीत् । ततो लोकाज्जित्तो गृहं गन्तव्यं च तदापि या-
शिक्षिताऽसीत्, यथा नेथं कुर्वन्ति गृहप्रयोजनानि भयन्ते, कि तु
बखेण मुखं स्थगयित्वा कर्त्तव्योपे च स्थित्वा शनैः कथन्ते ।
ततोऽप्यदा वाहरीति गृहं गते । प्राप्तेनानो, शनैरन्तः स्थि-
त्या वक्ष्य च मुखद्वारं दत्त्वा कथितं तस्य कथं । ततः
संभ्रमाद् धावितो गृहानिमुक्चः उक्तः, इधं च सर्वेवश्च सर्वेमाप
गृहं, तत- कृपितेन धामं तांरतोऽसीत् उक्कुरेण, परिगतश्च निशे-
कण ! प्रथमेव धामं तत्रिते जलावाऽश्रुधासिस्मार्ताः कर्त्तव्यं
तथा नं निहितं महता च शब्देन किमिति न्याया न प्रकृतम् ।
तेनोक्तम-अप्यदा इयं करिष्यामीति । ततः कदाचिद्विहितस्त्वानो
धृपनायोपविष्टः उक्कुरः, निर्वानं च प्रवृत्तादनपठस्थापारं श्रम-
ध्याशोशां हृष्टा च प्रायेणकं क्षिप्ता बोध्याहृष्टा तनुपयोर्वाऽश्रु-
तमहास्थाऽऽ, जलपृथीनसादिकं च, तथा च पृक्तं महद्विः
शर्द्विर्मानं । ततोऽप्यनुऽप्यमिति निष्कासितो गृहद्वारं । एवं शिष्यो-
र्पि यावन्मन्त्रं वचन मुक्तः कथयति तावन्मन्त्रमेव स्वयं उच्य-

केचकालपगामिप्रार्थोक्तिपरिहाराभययो यो वक्ति, तस्य वचनमा-
नुयोगः, यस्तु कस्यैश्चैवापौचित्येन वाक्ये, तस्य तदनुयोग इति ।
भावावनुयोगानुयोगयोः सन्तदाहरणमनि—

तत्र आश्वकायांदाहणमाह—एकं पृथ्वीताणुजनेन तदणु-
आश्वक्ये आश्वकजायंतीं बहूपवती कृताद्भूतकण्टकान्तरा निजप-
तस्या एव सखी कदाचिद्दृष्टा । गाढलक्ष्यपरश्वज तस्यो, परं स-
ञ्जाहिना किमपि बहन्मशकृत्वंस्तस्यासिचिन्तया च प्रनिदिनम-
तीय दुष्कलो भवश्लिषंघेन पृष्टं कारणं स्वजायंथा, काथंत्तं च कथं
कथमपि तन । तथा चातीवदक्षतया प्रोक्तम—एतावन्मात्रेऽन्यथे
किं श्लिषसे? प्रथममेव ममेतर्कि न कथितम्? स्वाधीना हि मम सा,
आनयानि सन्वन्मवति । ततोऽन्यादिने मणितां मता-तथा अन्वृ-
पगत सहर्षये तथा युष्मासमीहितं, प्रदोष एवागमिष्यात्, परं स-
ञ्जासुतया वाससमनप्रविष्टमात्रमपि प्रदोषं विषयापिच्यनितीना-
कम-परं ज्ञतु, किमियं विनयेत्यति, ततो वासस्यायाः सकाशाकि-
चिन्मिक्तसुजास्य याचिन्तानि तथा तदोयानि स्वनिदृष्टपुष्पाणि
प्रधानवस्त्राण्यभारणानि च, ततो मुष्टिकादिप्रयोगतो विदितस-
खीसदशस्वरादिस्वरूपा तथैव कृतशुद्धारा तस्यदशसल्लिनेन
विशोऽन्जास्यिता तस्यैव आरूपाय भायां सखिहितवरकुमुदता-
म्बुधोऽन्जासुगुरुकरकस्त्रिकादि समस्तभोगाङ्गं विहितामल-
प्रदोषासोके रमणीये वासभवने सपिलात्मस्यविशितः । ततोऽद्य
सोऽन्जासुगुरुकरकस्त्रिकादिशक्योऽनिपुलिनेप्रतिपदिप-
द्यङ्कोपविष्टेन जगन्नेव नयनमनसोऽनुभूयिमिवाद्यधाना तेने-
या । तथा च दृष्टमात्रया विषयापानः प्रभूतः । कौतिलि विधिधर्मा-
द्विभ्र-अपुष्पकं तथा सद् विनेरं तन । तायां च सख्यां प्रगुपसि
चिन्तितमनेन—“सयलसुरासुरपुत्रमिय-चलणेहि जिणेहि जेहि-
नं प्रीत्ये । न परजवसंचलये, अहह ! मय हारि रं सलं ॥ ३६-
न्यादिस्वंगवशोऽप्यन्वपचासापमहाज्ञानलक्ष्णुप्रधानानःकराः प्र-
निदिनमधिकतरं दुष्कलीमायस्योऽनि । ततो निक्षेपेन भायंया पृष्ठा नि-
श्वस्य स्वखंद् प्रवीति स्म—प्रये । यतश्चिह्नकालानुपार्जितस्वर्गाप-
वर्गनिबन्धनसखपदानेनामुना कृतं मया नदकतंयं यद् बाह्निशा-
नामव्यविषयसः । ततः कृशी भवाभ्यदहनया चिन्तया । ततो भायं-
या स्वंगवशः । मृतं व्यापृत्तं च तन्मना विहाय कथितः सर्वोपय यथा
वृत्तः । सन्नायन्निहानकथनादिनिश्चय समुदादिना प्रतीतिस्त-
स्य, ततः स्वधर्मानुतोऽयमिति । तदर्थं स्वकलत्रमपि परकलत्रा-
मिप्रायेण नुज्जानस्य तस्य ज्ञाधाननुयोगः, यथाऽचिन्तितवगमे
ज्ञाधानुयोगः । एवमीदृशिकादिभावन स्वकलत्रवरीत्येन प्रकृपय-
तो ज्ञाधानुयोगः, यथाऽचिन्तितवकल्पे तु भावपुंयोग इति ।
सर्वाभः पदैऽयंघहरतीति सात्तपविकरुतप्रुशहरणमुच्यते—
एकस्मिन्प्रत्यन्तश्रामे काप्रपि सेवकपुरुषो वसति स्म । स च
सायथादिशोनिमां संवाचंघनं यमे कदाचिद्वदिप न शृणोति स्म न
च तदतिकं कदाचिद्विप प्रजति स्म, न च कस्याप्युपाश्रयं ददा-
ति स्म । यतो दयावृत्तां परचणपरकलत्रनिष्ठाद्विगुणप्रतिपत्ति
केन उपदेहयन्ति, न च पाह्यवितुमर्हं शक्यतेति । अन्यदा च वयो-
सन्नसमायातास्तत्र कथमपि साधय, तेषां च तत्र चरानिमन्नेषय-
त्वां कौतुकद्विष्टुभिः सेवकनरविधिर्भाषैरुक्त-आश्रयं ज्ञतो भ-
वनामनिदं भक्तोऽनुकगुहे आश्वकानिद्वान्ति, यन्मन्यता न किञ्चि-
दुभयं किरिच्यति, तन्प्रकृतं तथैति; कृतं तत्तपयैतैः । स च नेपां पु-
तोऽपि स्थितानां संमुखमपि नाशशोकयति स्म । तत एकं स-
धुना शेषसाधनानामिभुक्षमुक्त-स एव न भवति, प्रवञ्जिता वा
तेषांमियकैर्ययम् । ततस्तेन संज्ञान्तोक्तम—किं किमगय युयम् ॥

ततस्मैः कथितं स्वधर्मपि भावितव्य, ततस्तेन चिन्तितव-आहो !
मत्तोऽपि ते किञ्चिद् धैरेतेऽपि प्रवञ्जिताः, तस्मात् तदा स्वधर्मो ब्रह्मं
च तदुपहासायकाः अतोऽनिष्टमपि करोम्येतदिति चिन्त्योक्तम-
निष्टम मम निप्राकृशालायाभितस्याह, परं मम धर्माकरं न क-
थानियंत्त । प्रतियुक्तमैः किञ्चिन्तया सुखेन तत्र चतुर्मासकालस्यं
यावत् । ततो विदिङ्गिधुजिस्तेरनुजनायांमागतस्य शयानतरस्य
कथोऽयमिति द्वाःऽनुशासितः । ततो प्रथमसंज्ञोपाधतादिवि-
रतिं कर्तुमशक्यतुवतस्तस्यातिशयज्ञानितयाऽसं प्रसिधोऽधुस्यं प-
द्यद्विष्टुनिः सात्तपविकं वनं दत्तम् । किञ्चिदप्यन्दिप्रमाणं
जिघांसुना यावता कालेन सतपदान्धवध्यक्यन्ते, तावन्तं काञ्चं
प्रतीव्य इत्यतोऽसाविति । प्रतिपद्यतेतसेन । गताञ्च साधवोऽन्य-
त्र । अन्यदा चासौ सेवकनरकोटयोऽयं गतः कापि, ततोऽन्यशु-
नादिकारोनेन स्वल्पमेव कालेन प्रतियुक्तः । कीदृशोऽपरशु-
कभयपृष्टे समाचार इति जिह्वासुभिर्शीघ्रं प्रच्छन्न एव प्रविष्टो
निजपृष्टे, तस्मिन् दिने तदोयजगिनो प्रामान्यरादागता, तथा
च कनचिद् हेतुना विदिनेपुरुषनेपथयया नटा नृत्यनां निरोक्ता-
ताः । ततोऽसौ प्रचलनिद्वारशीकृतपुरुषवैषैश्चाजुजायायाः स-
मीपे प्रदोषासोकाद्विरयवासमघनगतपथङ्क एव निनेरं प्रसुता ।
तेनाऽपि च तदप्युना अकस्मादेव शृष्टमविष्टेन दृष्टं तत्सादृशम् ।
ततश्चिन्तितमनेन—आहो ! विनष्टं मद्गृहम् । विष्टः कोऽन्यथं मज्जा-
योसमीपं प्रसुप्तसिन्धुनाति कोपावेशादाशकृपाणः, ततः स्मृतं
वने, विलम्बितं च सतपदापसरणकालम् । अत्रातरे तन्मज्जिनी-
बाहुलनिका निद्रावनेन तन्मज्जायां समस्तकानाकाला, ततः पी-
क्यमानया तन्मज्जिन्या प्रोक्तम—हस्तः । मुञ्च मम बाहू, द्येऽत्यथे-
मदम् । ततः स्वराशोपेण ज्ञाताऽनेन स्वमगिनो । अहो ! किञ्चिद्दो-
षमनाय मया न कृतमिदमकार्यम् । तन उचितं संसृप्तं भ-
गिनोभायै । कुपितश्च सर्वैः स्ववर्गिकरः परदपरः । ततो य-
थोक्तानिप्रदमात्रस्याप्येवैतूने कसमुद्रोक्त्य स्वधिरः प्रमजितोऽ-
साविति तदत्र स्वभागीनीमपि परगुणानिप्रायेण जिघांसोस्तस्य
ज्ञाधाननुयोगः । यथाऽचिन्तितवगमे तु भावानुयोगः । प्रस्तुत-
योजना तु भावकभार्योदाहरणवदिति ।

काङ्कणकदारकादारणम्—
यथा काङ्कणकवियेपेकस्य पुरुषस्य श्रुशुहारकोऽस्ति स्मा नारायं
तु स्तना, अन्यां च परिपेतुमिच्छन्तोऽपि सपानीपुत्रोऽस्यास्ताति
न कोपि ददाति स्म । अन्यदा च सर्वेदे तेन दारकेणासावरस्ये का-
ष्ठानां गतः, तत्र च कस्यापि पित्रा काण्डं मुक्तं, तदनिन्तयं च
दारकः शोषणः, गतशून्यम्, अत्रातरे दुष्पितृमत्तस्य चानिदं चिन्तं,
यस्य दारकस्य सत्कारणेनान्यां नारायं मम न कोपि ददाति ।
ततोऽन्यःकाण्डं किञ्चया विदोऽसौ दारकः, ततो महता स्वर-
णोः काङ्कणकेन-नात । किन्तकार्कं स्वया सुकाम, विदो ह्यने-
नाहम् । ततो निर्दुषेने पित्राऽन्यत् कार्कं मुकम् । ततो ज्ञाते दार-
कणेन-इत्त ! बुद्धिा मारयत्येव मामिति विस्वरे रटाकिञ्चिदेन तेन
मारितोऽसाविति । पूर्वमन्यस्य बाणं मुञ्जनाऽपिज्ञाजोगत एवाहं
विदो इत्येवमवशुधमनस्य ज्ञानानुयोगः, पश्चाद्यथाविधता-
वगमे तस्य ज्ञाधानुयोगः । अथवा संरक्ताहमपि तं बाहकं मारया-
न्यापयधस्येनः पितृभोऽनानुयोगः, तदङ्कानुभवसाये तु ज्ञाधानु-
योगः । एवं विपरितज्ञावप्रकरणं भावानुयोगः, अविपरितभाष-
प्रकरणे तु भावानुयोग इति ।

अथ तदुल्लाहाहरणम्—
यथा पद्मिनेः कस्यचिद् ज्ञायो गुर्विणी ज्ञाता, तदुल्लाहा

काचिद् ग्रहद्वयाद्याभिता मुर्ध्विणी, पदातित्राययो सह एकस्यां रज्ज्वां प्रवृत्ता । तस्या नक्षत्रो जातः, रतरस्यास्तु पुत्रः, ततोऽस्य समीपे नक्षत्रः सर्वेषु तिष्ठति स्म । अन्वया च पदातित्राययो ह्यारो कस्यङ्कयन्या मध्ये मन्त्रिकायां स्थापितो बालकः संपेण दृष्टो सुतस्य । ततो मन्त्रिकाया अक्षरं नक्षत्रेण दृष्टो विचपरः अयमसः कृत्वा मारितस्य; ततो ह्यारो पदातित्राययोः समीपे गवा घोषितोपशितवकाचयचयोऽतो चाद्वि कर्तुमारभ्यः, दृष्टस्य तथा । ततो नूनं मर्द्विपुत्रं मारयित्वा भङ्गिनाऽभ्येतेति विचिन्त्य कोपाधेहामसुशुभेन हत्वा मारितो नक्षत्रः । गता च पुत्रसमीपे । दृष्टस्य पुत्रेण सह चिन्तयः सपे; ह्यारो च यथा सया निदहतस्मना इत्येत्यं निरपराधोऽप्युपकारोपि मया निरुद्धया इतो बराको नक्षत्रः, इति विचिन्त्य द्विगुणतरं सोकमापन्ना । पूर्वमपराधिनां विज्ञाय नक्षत्रं प्रस्थापयत्या प्राजावनयुगां इति; यथावस्थितावगमे त्वन्युयाः । प्रस्तुतयोजना त्वनन्तरं कवद्विदि ।

अथ कमशालोदाहरणम्—

तत्र द्वारावर्षां नारायं ब्रह्मद्वेषुना निषचः, तस्यापि सतुः सागर-चन्द्रः, स च रूपेणालीबोऽकृतः, शम्भुदादीनां च कुमारणां सर्वै-
 रात्म्यमितियः, तस्यामेव च द्वारावर्षां नारायोऽम-व्यथ राज्ञा उ-
 द्दिता कमला नाम समस्ति स्म । सा बोधसेननयनस्य नभःसेनकु-
 मारस्य दत्ता वृता च तिष्ठति स्म । अन्वया च तत्र नारदः सागर-
 चन्द्रस्य समीपे गतः । तेनाप्युपधाय उपवेश्य च पृष्टः—
 दृष्टं भगवन् । ब्राह्मण्यं किमपि क्वापि ? नारदोऽनोक्तम्-एष्ट कमशाल-
 मन्त्रानिधानराजपुत्रिकायाः न क्वहु भवेयं किन्तु भुवनत्रयस्याव्या-
 योबाकारि रूपम् । सागरचन्द्रेणोक्तम्-ईक दत्ता कस्यचित्साः ।
 नारदोऽनोक्तम्-इसा परं नाद्यापि परिणीता । कथं पुनममं सा संप-
 त्तयेत ? इति सागरचन्द्रेणोक्तं, न जानाम्येतत् इहमित्यनिधाय गतो
 नारदः । सागरचन्द्रस्तु तदिनाद्वारम् न शयानो नाप्यासीनः
 कल्पे रतिं श्रमते, तामिष कन्याकं फलकादिप्रचलितम्, तन्नाम-
 मानजरायं चानवतरं कुर्वन्नास्ते स्म । नारदोऽपि कमशालेलाऽन्तिकं
 गतः । तयाऽपि नयेवाक्ये किमपि दृष्टम्, इति पृष्टः कलहदृशेन-
 म्रियतया स प्राह-दृष्टमाक्यैर्द्वयं मया-भ्यागचन्द्रे सुकृपायं, नभः-
 सेने तु कुकृपायम् । तयो ऋगियेव सा विरक्तानजःसेने, अनुरक्ता
 च सागरचन्द्रे । तन्मात्रचिन्त्याऽस्तुरा च समाभ्यासिता नारद-
 ता-वर्ते । स्थिरीभव संपत्स्यते ब्रह्मरादेयं तवामित्युक्तया गतः
 सागरचन्द्रसमीपे । दृष्टवन्तो वी संस्पृशयद्य ग्रन्थः । ततो विदहा-
 स्रस्याव्यथितं प्रलपति च सागरचन्द्रः, आतेः सर्वोऽपि मन्त्रादिस-
 जनवर्षः; किञ्चते यादवाः, तद्वारन्तरे समायातः कथमपि याग-
 रच-कृतसमीपे शम्भुकुमारः, दृष्टस्य तेनासी तदवस्थाः, ततः पूज्युत्स-
 र्ववित्वा इत्यन्वयेनाचक्रादिने तद्विक्रिणी शम्भेन । सागरचन्द्रेणो-
 क्तम्-ई कमश्रमिभा ? शम्भोऽनोक्तम् नाहं कमशालेला, किन्तु कमशाल-
 मेऽहोऽहम् । ततः सागरचन्द्रेण शम्भोऽयमिति ज्ञात्वा प्राकम्-सत्य-
 मेव कमलसममदीषोतो चमं कमशालेलां मेलापिष्यति, कोऽत्रार्थोऽ-
 यः स मर्थे इतिगतोऽप्येवेऽकृपायैः पीतमद्यः परवर्षाः । ततः शम्भो
 प्राहितस्तद्वाप्रमपतिज्ञाम् । उच्यते च मदी मया विचिन्तितं शम्भेन-
 ब्रह्मो ! नलं मयाऽऽऽप्तपुत्रस्य, ब्रह्मकथं मेलापिष्यति, कथमर्थं प्रतिज्ञा
 दिबोऽपिष्यते, ततः प्रपुत्रं पाश्वोऽनोक्तसिधिया याचिता शम्भेन ।
 विज्ञाहदिवसे च ब्रह्मिणीवद्वकुमारेः परिकृतेन तेन सुब्रह्मं पाल-
 न्तिसिन्धु पिशुपदाङ्कयन् नीला बहिकृपाते कमलामेला । नारदं
 च साक्षिणं कृत्वा कारितस्नयाणिग्रहणसंकर्यः सागरचन्द्रस्य । ततः
 सपेऽपि कृष्णविद्याचक्रयः श्रीमन्स्तिष्ठति स्म । उच्चा-

ने पितृभ्यस्तुरप्राङ्कैकाल्येवपरिर्दंष्टा इतविद्यावरकपा नवपरि-
 ष्णुतिषेधपरिष्णुति च क्रीडनो कमलामेला । विद्यापर्येवहय प-
 रिणीताः कमलामेलेति कथितं तैर्बोद्धुदेव्येति । निर्गतस्य विद्या-
 धरोपरि कृपितः सबलवाहोऽसी, शङ्खं च महद्वायुधंनं ताव-
 द्यावन्पञ्चाब्दम् परिरुतैकियकपः पतितो जनकस्याऽस्मिन्नुमे ।
 ततबोधसंहतः सः सुदुग्धः; दत्ता च कृष्णेन कमलामेला सागर-
 चन्द्रस्यैव । गतास्य सपे सल्लसालम् । तत्र सागरचन्द्रस्य शम्भं कम-
 शामेभं मन्व्यमानस्य प्राजावनयुगां, यथावस्थितावगमे तु प्रा-
 जातुयागाः । विपरीतादिप्रकल्पयोजना तु प्रस्तुता पुर्वेवदिति ।
 शम्भुसाहसोदाहरणमिति वचनान्तरे शम्भुसाहोदाहरणम्-आसु-
 देवाऽप्यजाह सदैव भृणोति आम्बुवती-समस्तानामप्यासीनां
 मन्दि-रं त्वपुत्रः शम्भु एति । ततो आम्बुवत्या विष्णुर्भदिति-
 मया पुत्रसक्तः एकऽप्यामिने दृष्टा । विष्णुना प्रोक्तम्-आम्बु-
 येनाह दृशोयति । ततो आम्बुवती चकृत्लादश्वमाजीरंरुं कृपं
 कारता, स्वयं पुनराभीरुपं कृत्वा द्यकहस्तः स्वयं पुष्टे व्य-
 स्थितः । अग्रतस्तु मस्तकस्यसद्विधिदिकटा आम्बुवती । कृता,
 प्रविष्टोऽथ दधिचिकथायं मगदीप्रये । दृष्टा च शम्भेन सात्त ।
 तदुक्कृष्टया अभीरिति विज्ञाय प्रांका शम्भेनीवा-आम्बु-
 सद्रयुष्टं सपेस्यापि तद्विद्यया योवाम्भारं सुस्यं यावत्से तदहं दास्या-
 मोत्यग्रतः स्वयं पुष्टतस्वामीरीरु पश्चात्स्वामीरुः स्वतः शून्येऽव-
 कृत्वा योमेकस्यां गर्वा प्रोक्ता शम्भेनाभीरु-प्रविश्य पतम्भ-
 धये, भुञ्ज दधि । तथा च विद्युपाजिप्रायं नं विज्ञाय प्राकम्-नाहमभ-
 प्रविशामि, द्वारस्थिताया एव शृङ्गा दधि, प्रयच्छ मृन्मया ।
 बलादपि प्रवेशयिष्यामीत्यादिभाष्य शृङ्गाणां शम्भेन सः बाही,
 ततो धावित्वा द्वितीयाबाहीं जम्न धारिः । द्वयोरपि चाकपयं
 विकषणं कुर्वतोऽनेनं भारदम् । गतः कृतं सहजपमामानो,
 आम्बुवत्याश्च विष्णुना । तच्च दृष्टा लज्जितो नष्टः शम्भुः, नाग-
 र्गतिं चावसेऽपि लज्जया राज्ञस्तुम् । ततोऽस्मिन्ने विष्णु-
 नियुक्तवृद्धतुर्वयः कथेनानीयमानः क्षुरिकया वंशालीकः घट्टय-
 चागच्छत्यसी । प्रणामे च कृते पृष्टो वासुदेव्येन शम्भुः-किमेतत्
 क्षुरिकया घट्टयते । तेनोक्तम्-कीलकोऽयम् । किमर्थं पुनरसी ? यः
 पर्युषिनामतीतज्जल्प्याश्चिद्व्यति तन्मुञ्जे ब्रह्मदनायमिति । तद-
 च शम्भस्य मानसप्याजीरी मन्व्यमानस्य भावानुयुगां, पश्चा-
 द्यावाब्दवगमे तु प्राजातुयागाः । प्रस्तुतयोजना तु पुर्वेवदिति ।

अथ भोगकपोदाहरणम्—

राजपृष्टे नमरे समभवत्तस्य भगवतः भीमन्महावीरस्य क्षेणिक-
 नाराधोपो राक्ष्या चेल्लणया सह प्राचमासे हिमकणमवर्षति
 महाशोते पतति चन्मार्थे गतः । तनां निवर्तेशाकस्य च तस्य,
 राक्ष्या चेल्लणया भारोसन्नः तपःकथितशरीरः सपथाऽप्यनार-
 यो मरुशिखरमिव निष्पकस्यः प्रतिभामानपञ्चोऽजितमकथायं तसमि
 स्थितः संपथायं दृष्टः कथित तपस्वी । गताऽसी तद्व्युजानेव मना-
 सि ध्यायन्ती शृष्टम्, सुसा च रजन्त्यानेकश्रीतापशुभ्रमरणप्रा-
 वृता पश्यन्ते, निर्गतस्य प्रावरणपञ्चा बहिस्ताऽकथमप्येकः करः,
 श्रीतामिन्नूतश्चायमतीव स्तथीहीनः, तदनुसारं स समस्तमपि
 शरीरं तया न्यातं पीतेन यथा निष्कारंऽपि जागीरतं मया ।
 ततः क्लिप्तो इतः प्राधरणमप्ये, स्थितस्य हृदये स तथा कायो-
 स्तमेस्यायो महादुग्निः, तद्गोणपथाकुचकुचद्वयमाया विस्मितया
 च प्रोक्तं तथा-स तपस्वी किं करिष्यमीति, यथेकानप्यावरण-
 बहिर्निर्गतेन इत्सेनाहमेतावतीं शोतबाधां प्रसातः, तद्वारप्ये निरा-
 वरते कृष्णः कथितश्चैवविद्यमहाश्रीतावधितः स तपस्वी किं

करिष्यतीति तस्याभिसातिप्रायः, अयं चेत्यालुतया अणिकनूप-
 कस्यथापरिणतः—नूनमनया कस्यापि संज्ञाना इक्षन्तद्विके
 च माय संज्ञाहितं गन्तुमशक्यं, तन्तत्सञ्चित्तत्त्वं चेतसि निष्ठा-
 य एतदुक्तम् । ततो महता खेदेन तस्य विभ्राता रजनी । चञ्चितः
 श्रीमन्महावीरस्यात्मिकः । गच्छता चानिकोपावेशाशक्यपिनोऽ-
 भयकुमारः—सर्वोभिरवधानः—पुरिकातिः सह प्रदीपय सर्वोपगमनः-
 पुरदृष्टाणि । ततोऽभयकुमारंण चिन्तनम्—केनायाभिनयोपश-
 कोपावेशोभयमसौ वाक्, प्रथमकांयं च यदुच्यते तत्क्रियमाण
 न खलु परिणतो सुखयति । अथवाऽन्यतेनीयं गुरुणां वचनमन-
 शूनयो इक्षितशास्त्रिकां प्रदीप्य प्रस्थितः संऽपि भगवच्छन्दना-
 थम् । इतश्च भगवान्मृष्टः अणकजातेन—जगवत् । चेल्लया किम-
 कयन्ती, अनेकयन्ती वा? । भगवता प्राक्कम्—एकयन्तीति । ततो
 निरुतुः सन्तमेव गृहामिभुक्षमभयकुमारनिवारणाय । भगो चो-
 गच्छन्वीकृतेऽपि । पृष्ठश्च—किं दृश्यमन्तःपुरम् ? । तेनोक्तम्—दृश्यम् ।
 राज्ञा प्रकृतिनाऽन्यथाप्य—स्वयमपि तंथेव प्रविश्य किं न दृष्योऽ-
 मि ? । कुमारोक्तम्—किं ममाभिप्रेयसेन ? । मनेमेव प्रदीप्यस्वह-
 य, ततो मा नुदृश्य महान् शब्द इति कथितं यथावदेवेति । तद्ब्र-
 मुर्वीशमपि चेल्लयां कुशलीनां मयमानस्य राज्ञो भावाननुयागाः,
 यथावदयमाने च तदनुयागाः । एवमिदं दायिकादिभावाद् विपरिण-
 स्वरूपानं प्रकृतयो भावाननुयागाः । यथाऽन्यास्वरूपास्तु
 ताम् प्रकृतयो भावाननुयागा इति । विशेषः । विप्रः । ।

अणुशब्दोप—अननुचित—त्रि० । शास्त्रानुज्ञाने, “ जो तु अ-
 कालमेवा सा सत्या अणुचोच्यतेनां हौति, जा अकालतो प-
 र्तिनया गुणदोसे अचित्तिकत्वा सा अणुचोच्यते ” नि० सू० १ उ० ।

अणुशब्दोप—अननुपादान—न० । न० । अनासिन्धु, आय०
 ६ अ० । पंचा० । “ योसहोवयासस्व सम्ममणुपालयणा ”
 पांयथोपवासानिवाः । उपा० १ अ० ।

अणुशब्दोप—अननुपातिन्—त्रि० । सिक्कामेन सहऽघट-
 मानकं, इय० १ उ० ।

अणुशब्दोप—अननुपात—पुं० । अनागमने, पंचा० ७ विव० ।

अणुशब्दोप—अननुशामना—स्त्री० । शिक्ताया अभावे, का०
 १ श्रु० १३ अ० ।

अणुशब्दोप—अनन्य—त्रि० । अभिज्ञे, विज्ञे० । “ अणुश्च अभिज्ञे ”
 अपृथगित्यर्थः । नि० सू० १ उ० । मोक्षमार्गोद्वयऽन्यथः, ना-
 न्यऽन्यत् । ज्ञानादी, “ अणुश्च नरमाने से ण छेषे ण छया-
 यव ” भाषा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यनेय—त्रि० । अन्येन नेत्राऽनेत्ये, “ ज्ञानतो अ-
 न्येन अणुशब्दोप बुद्धा हुते अंतकमा हवती ” न च स्वयं बुद्ध-
 त्वात्पदं नीयन्ते तस्वावशोर्षं कार्यन्ते इत्यनन्यनेयाः, हिता-
 हिनप्राप्त्यपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेना विद्यत इति भावः ।
 सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यदर्शिन—पुं० । अन्यद् रूपं शीलमस्ये-
 न्यव्यदर्शी यस्तथा, नासायन्यदर्शी । यथावस्थितपदाधिष्ठा-
 रि, भाषा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यपरम—पुं० । न विद्यतेऽन्यः परमः प्रजातो य-
 स्माहित्यन्यपरमः । संत्यं, “ अणुशब्दोप भाणी, णो परमाए
 कयाइ सि ” । भाषा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यपानस—त्रि० । न विद्यते अन्यद् धर्मोपादान-

कृणात्मनो यस्य सोऽन्यमननाः । एकाप्रवृत्ते, मथा० । भव-
 वचनसि, श्रौ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यथा—दिन—पुं० । सत्यवक्ति, “ अ-
 णुशब्दोपरात्प्रागह—वराणा ज जिणा जगत्पवरा । जिभराम-
 दांसमोह, अनहवावाहोणेण ” ॥ १ ॥ भाषा० ४ अ० ।

अणुशब्दोप—अनन्यारा—त्रि० । मोक्षमार्गोद्वयप्रारम्भणं, आ-
 चा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुशब्दोप—अनाश्रव—पुं० । न० । न० । नवकर्मोऽनादाने, प्रश्न०
 १ आश्र० छा० । स्था० ।

अणुशब्दोप—अनाश्रवकर—पुं० । प्राणानिपाताद्याश्रवकरणर-
 हिते पञ्चमे प्रदास्तमनाविनयभेदे, न० २५ श्लो० ३ उ० । स्या० ।

अणुशब्दोप—अनदृक्त्वन्—न० । न विद्यते अहः पापं यस्मिन्
 तन् अतदृक्त्वम्, तस्य भावोऽनदृक्त्वम् । अविद्यमानकर्मत्वे,
 “ संज्ञेण अणुशब्दोप ज जणयइ ” उच्य० १ अ० ।

अणुशब्दोप—अनतिकर्माणि—त्रि० । न० । अचाल-
 नीयं, भा० २ श्लो ५ उ० । दृश० ।

अणुशब्दोप—अनतिकर्माणु—अनतिकर्माणुयवचन—त्रि० । अनतिक-
 मर्णाय वचने येषां त । वचनानतिकारकेषु, “ अस्मादिणं अ-
 णुशब्दोपजवयणा ” अस्मादित्रोः स्वरकर्मणिकर्मणायं वचने
 येषां त तथा । श्रौ० ।

अणुशब्दोप—अनतिवार—त्रि० । न विद्यते अतिबागा यस्मिन् ।
 अतिवारहिते, ध० ३ अर्थ० ।

अणुशब्दोप—अनतिपातिन्—पुं० । अनिपत्तमतिपातः प्राःसु-
 पमर्दने, नतिघाते यथास्वाविपुतिनातिक्रमस्तप्रतिषेधादतिपाति-
 तिकः । अहितिके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अणुशब्दोप—अनतिविलंबियत्—अनतिविलम्बित्यन्—न० । अतिविलम्बर-
 हित्येकं वचनातिशय, श्रौ० ।

अणुशब्दोप—अणुशब्दोप—पुं० स्त्री० । राजादीनां हिरण्यादिकधारेकं,
 ग० १ अर्थ० । ऋणपीडिते, स्था० ३ अ० ५ उ० । स न दी-
 कृणायः । ध० ३ अर्थ० । प० भा० । प० सू० ।
 अनात्—अपरिदृष्टीते, ध० २ अर्थ० । स्था० ।

व्यायण अणुशब्दोप—

सञ्चितं अञ्चितं, वा योसंगजायते तु धर्मिणि ।
 समणाय व समणीण व, न कपतीता तारिसं दिक्वा ४ ? ?

कंठा । इमे दोसा—

अथ मां य अकितीचा, तम्मूला गंतहिं पवयरम्म ।
 अणुशब्दोपवदभेभक्तिया, सव्वे एयारिसा मण्ण । ४ ? २ ।
 अणं रिणं, पोवत्तं महेत्तं, चकुरायपरिजवे अणणाणुपव्वडो,
 (ऊंऊरिप सि) ऊंऊरिया रिसे आदंऊंति यणंएहि अण-
 नत्पगारं रोउ दुव्वयणेहिं ऊंऊरियाऊंऊरियालकसादिपहिं
 वा ऊंऊरिया सव्वे एयारिसा । एत्तं गेएणकट्टणादिया दोसा ।
 इमं वितियपदं गाहा—

दाशेण मे तोमितो, अहवा वंसिज्जितो पडु णं ।
 अह्राणपरिवदेसे, दिक्खा मे तुत्तमाऽपचवो ॥ ४ ? ३ ॥
 अह्रुपदं दाशेण तोसिण्ण यणिण्ण विसिज्जितो (पडु सि)

धनिता स्वस्मिन् इदिके तेण विसज्जितो पव्वाविज्जति. स्वस्सं कंठे । अणसे रातामिति । ति० चू० ११ उ० ।

अणसं-देशः । निर्मात्रे. दे० ना० ११ वगे ।

अणस्यार्थिक-अनात्मार्थिक-वि० । नामार्थे एव यस्यास्यसाधनात्मार्थिकः । परमार्थकारिणि, प्रश्न० १ स्वम्ब० हा० ।

अणस्यपण-अनात्मपण-वि० । नामने हिताप प्रज्ञा येषां ते अनात्मपणाः । व्यर्थे बुक्तिवु. " एगे विस्वियमाणे अणस्यपणे " आचा० १ अ० ५ अ० ६ उ० ।

अणस्य-अनात्मवत्-वि० । अकषायो ह्यात्मा भवति. स्वस्थकषायस्थितत्वान्, तद्वाच भवति यः सोऽनात्मवाद् । सकषाय-ए, स्था० ६ उ० ।

अणस्यगतम-अनात्मगतम-न० । अनात्मा अपरिच्युहीता-वेद्यदा, स्वीरिणी, प्रापित्तजनेका, कुलाङ्गना वाऽनात्मा. स्वर्थां गमनश्च । अपरिच्युहीतागमने स्वदारस्मन्नेपात्सिचारे, ध० २ अधि० ।

अणस्य-अनर्थ-पुं० । अनर्थदत्तुवाद् गीण एकविशे परिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० हा० ।

अणस्यक-अनर्थक-पुं० । परमार्थबुध्या निरर्थके अष्टाविशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० हा० । निष्प्रयोजने, पंचा० ६ विव० ।

अणस्यकारण-अनर्थकारक-वि० । पुरुषार्थोपपातकारकं, प्रश्न० ३ आश्र० हा० ।

अणस्यतर्-अनर्थानन्तर-न० । अन्वयोऽर्थोऽन्तरम्. न विद्यतेऽर्थानन्तरं यत्र पार्थिवे. एकार्ये शब्दे, " योऽर्थमहिमिन्यर्थानन्तरम् " आ० म० ६ उ० ।

अणस्यगंय-अनर्थग्रन्थ-पुं० । न० त० । प्रावधनयुक्ते, श्री० ।

अणस्यबल-अनर्थबल-पुं० । निजगुणापात्तनामके रत्नवत्त्वाः सुते. दश० ।

अणस्यदेवउभाण-अनर्थदेवउभाण-न० । अनर्थदेवको निष्प्रयोजनं हिंसाकारणं नस्य ध्यानात् । दुर्दान्तरात्तया उपायनं कथी कुर्वतो शास्त्रादीनामिध. वक्रमण्डलीं सर्पविशेषरुपां धनतो गङ्गात्तस्यैव, विष्णु श्रीदेवी स्वर्गमदेशकथननिपुणस्य वा बालस्यैव, ध्याने, आनु० ।

अणस्यफलद-अनर्थफलद-वि० । स्वपर्योत्तरकारकफलदायकं, पश्चा० ३ विव० ।

अणस्यमित्यमंकर-अनस्तमितसंकर-पुं० । अनस्तमिते सुये मंकरतो भोजनमितलांवा यस्य । अनिष्टराशिमंजने दिवानो-जिति, वृ० १ उ० ।

अणस्यवाय-अनर्थवाद-पुं० । निष्प्रयोजने जल्पे, प्रश्न० २ स्वम्ब० हा० ।

अणस्यार्द-अनर्थदृष्ट-पुं० । निष्प्रयोजनहिंसाकरणे, आनु० । (' अणत्वाद् ' शब्देऽश्वे प्रागे शब्दं पृष्टे वास्य विवृतिः) अणस्यार्दद्वेषरमण-अनर्थदृष्टद्वेषरमण-न० । नृत्वांशे गुणव्रते, पंचा० १ विव० (' अणद्व्याद्वेषरमण ' शब्देऽश्वे प्रागे शब्दं पृष्टेऽस्य विस्तरः)

अणधार-रग-रूपधारक-पुं० । अणं व्यवहारकदंष्ट्रं द्रव्यं, तयो धारयति । अघमर्थे, हा० १७ अ० ।

अणस्यवाद्-अनर्थवाद्-पुं० । अनः शकटं प्रचोदयति प्रेर-

यति । विष्णोः, शैशवे हि विष्णुना चरणेन शकटं पर्यस्तमिति धूनः । " धियो योऽनः प्रचोदयान् " अ० गा० ।

अणप (प) उज-अनात्मज्ञ-वि० । अनात्मज्ञं ग्रहयुहीने, त्रिभुवि सार्दां च । ति० चू० १ उ० ।

अणधिकारि(ण)-अनधिकारि-पुं० । अधिकारिविभुके, ल० ।

अणरु-अनर्थ-वि० । न विद्यतेऽर्थे येषामित्यनर्थाः । निर्विभागेषु, " समयः प्रदेशः परमाणव एते अनर्थाः " स्था० ३ हा० २ उ० ।

अणपक्षिय-अप्रकृतिक-पुं० । ध्यन्तरनिकायोपरिवर्तिनि व्यन्तरभेदे, प्रश्न० १ आश्र० हा० । स्था० । श्री० । ते च रत्नप्रभाया उपरितने रत्नकाण्डरूपे योजनसहस्रं अथ उपरि च दशयोजनशतगहिते वसन्ति । प्रश्न० १९ उ० हा० ।

अणपक्षय-अनर्थग्रन्थ-वि० । अनर्थोऽनपक्षयोऽसौकर्मणः परेषामाध्यत्मिकत्वाद् ग्रन्थवद् द्रव्यवत् ग्रन्थो ज्ञानादित्येव सोऽनर्थग्रन्थ इति । परंभ्योऽदातव्यह्यानादिके, स्था० ६ हा० । अनल्पग्रन्थ-वि० । न० व० । बहूगमे, श्री० ।

अनात्मग्रन्थ-वि० । अविद्यमानो वा आत्मनः सम्बन्धी ग्रन्थो हिरण्यविर्यस्य । अपरिग्रहे, श्री० । सूच० ।

अणप्य-अनर्थित-न० । अविशेषिते, यथा जीवद्रव्यं स्वर्गादि, स्वसार्थेण प्रसरत्, स्वस्वरूपमपि पञ्चन्द्रियं, तदपि नस्वपरमित्यादि तु अप्रति विशारिते विशेषः । स्था० १० हा० ।

अणप्यपण-अनर्थितनय-पुं० । अनर्थितमविशेषितं सामान्यमुच्यते, तद्वादी नयोऽर्थितनयः सामान्यमेवास्ति न विशेष इत्येवं वादिनि आगमप्रसिद्धे नयभेदे, विशेषे । आ० चू० ।

अणबल-अणबल-पुं० । अणो भवति त्वे बलं यस्मिन् । बलवत्युत्तमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० हा० ।

अणबलनिपय-अणबलपणित-पुं० । उत्तमर्णेनास्मद् द्रव्यं देहोऽस्वममिहितं अघमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० हा० ।

अणरु-अनर्थ-वि० । अन्नरहिते, हा० २४ हा० ।

अणरुधय-अनर्थक-वि० । अन्नरहिते, तं० ।

अणरुधवगय-अनर्थुपगत-वि० । धृतसंपदानुपसंपत्ते अन्वितात्मनि, आ० म० प्र० ।

अणभंग-अणभङ्ग-पुं० । अणं वेद्यं द्रव्यं अङ्गमिति न ददति ये ते । उत्तमर्णे अणं श्रुतिवाऽदायकेषु, प्रश्न० ३ आश्र० हा० ।

अणभिक्त-अनर्थियोग-पुं० । न अभियोगोऽनर्थियोगः । अनर्थियोगे, श्री० ।

अणभिक्त-अनर्थिकान्त-वि० । न अभिकान्तो जीविनादन्तमिकान्त इति । सचेतने, आचा० २ सू० १ अ० १ उ० । अनतिल-क्लिंते, आचा० १ सू० ४ अ० ४ उ० । अश्वेरन्तमिकान्त्यायामपरिभुक्तायां दोषविशयविशिष्टायां वसतो, श्री० ग० १ अधि० आचा० । अणभिक्तकिरिया-अनर्थिकान्त-क्रिया-स्त्री० । नरकादिनिवसवमेतिपूर्वायां वसतो, सा चान्निकान्तत्वाद्वाऽकटर्पनीया । आचा० २ सू० १ अ० २ उ० ।

अणभिक्तसंज्ञोग-अनर्थिकान्तसंयोग-पुं० । अनर्थिकान्तोऽन्तःशक्तिः संयोगो धनध्यायहिरण्यपुत्रकर्मत्रादिकृतोऽसंघ-

संयोगो या येनाऽसावनभिद्वन्द्वसंयोगः । परिग्रहप्रस्तेऽसंयते, आचा० १ बु० १ अ० ४ छ० ।

अणुनिगम-अनभिगम-पुं० न० तं० विस्तररघोषाज्जावे, भ० २ श० १ इ० । सत्यगमनिपत्तौ, घ० ३ अ० ३ पा० ।

अणुभिगमहिय-अनभिगमिहिक-न०० अभिग्रहः कुमत्परिग्रहः स पञ्चादिते तदाभिगमिहिके, तद्विपरितमनाभिगमिहिकम् । निष्पत्त्याव-ज्जेदे, स्था० २ ज्ञा० १ उ० । तच्च प्राकृतजनानां सर्वे देवा बन्धान निन्दनीयाः, एवं सर्वे गुरुषः, सर्वे धर्मा इत्याद्यनेकविधम् । घ० २ अ० ३ । "अणुभिगमाहियमिच्छादेशेण कुविधे पद्यते । तजहा-सप-ज्जयवति षेव अणुवकस्येव षेव" अनभिगमिहिके भव्यस्य सपर्य-वसिनामतरस्यापर्यवसितमिति । स्था० ३ ज्ञा० १ उ० ।

अनभिग्रहित-पुं० अभिग्रहिकमिच्छात्वरिहेते, वृ० १ उ० ।

अणुभिगमहियकुददिष्टि-अननिशुद्धीतकुदष्टि-पुं० । अननिशुद्धीता अनाङ्गकृता कुदष्टिर्वीरुमनाविष्वा येन सोऽननिशुद्धीतकुदष्टिः । संक्षेपदर्शां, येन मिष्यात्विनां कुमत्तमङ्गकृतं नास्तीत्यर्थः । उच० २ ए ४० ।

अणुभिगमहियसिज्जासाणिय-अनानिशुद्धीतशय्यासनिक-पुं० । न आनिशुद्धीते शय्यासने येन सोऽननिशुद्धीतशय्यासनिकः । स्था० २ इकप्रत्ययः । शय्यासनविषयकमभिग्रहिते, "नो क-पयं निगन्थाण वा निगन्थां वा अणुभिगमहियसिज्जासाणिय-पं हुत्तर" कण्ठ० ।

अणुभिगमरीशुपुपाव-अननिशुद्धीतशुपुपाव-त्रि० । अनभिग-नशुपुपाव, अविदितशुपुपावकमेहेता च । प्रश्न० २ अक्ष० ४ ज्ञा० । अणुभिगमहिया-अनानिशुद्धीता-स्त्री० । अर्थानभिग्रहेण नि-स्थादिबहुत्वमानायां आणयाय, "अणुभिगमहिया मासा, मासा य अभिगमं निवोपथा" । भ० १० ज्ञा० ३ उ० ।

अणुनिशुद्धीत-अननिशुद्धीत-पुं० । अनस्वेऽभिनिवेशभावे, अ-नाभावे च । पंचा० ११ वि० । अनिकितेशराहित्ये, अभिनिवेश-श्च नीतिपथमनागतस्यापि परामिभवपरिणामेन कार्यस्वार-म्भः । घ० १ अ० ३ ।

अणुनिशुद्धीत-अनानिशुद्धीत-पुं० । अननिशुद्धीतस्य संयोगे, उ-च० १ अ० १ पं० सं० ।

अणुनिशुद्धीत-अनभिज्ञत-त्रि० । नाभिज्ञतोऽनभिज्ञतः । अनुकू-लप्रानिकूलपत्तयैः परतीर्थिकैर्वाऽजाताजिभवे, आचा० १ बु० ३ अ० १ ।

अणुभिल्लप-अनजिलाप्य-त्रि० । प्रज्ञापनायोगे, आ० म० प्र० । "पक्षशण्णजा प्रावा, अणनभागे उ अणजिल्लपायं" सूत्र० १ अ० १ अ० १ उ० । आ० ५० ।

अणुभिल्लप-अननीत-पुं० । अणु वणेति इष्टकधातुः, अणानि गच्छति लासु तासु योनिषु जीवाऽनेत्येतेषां पापं, तस्माद् नीतः । अस्वाद्ययोगं, आ० म० टि० ।

अणुभिल्लप-अननिशुद्धीत-अणु० । अननिशुद्धीताभावादि-त्यर्थे, पंचा० ४ वि० ० ।

अणुभिल्लप-अननिहित-न० । आत्मन एवैकस्याऽभाजितलक्ष-णं, वृ० १ उ० । स्वसिद्धान्तामुपदिष्टकेषु स्वधोषज्जेदे, यथा-सप्तमः पदार्थो षोडशकस्य, प्रकृतियुक्तायाधिकं वा साक्ष्य-

स्य, दुःखं समुदायमार्गनिरोधलक्षणं, अतुरारसत्यादानार्तिरि-कं वा यीदृश्यस्यादि । अनु० । आ० म० टि० । वि० ० ।

अणुराय-अराजक-न०० । राजोऽभावः, प्राक्तनस्य राजो मरणे संजाते सति यावच्छायि राजा युवराजमेवो हाव्यपि नाभिषे-कौ तावदराजकं भवत्येव, वृ० १ उ० । ("विहाट्" शब्दे व्याख्या) अणुरिक-देशी-न० । इषिकीरादेः, नि० ५० १६ उ० ।

अणुल-अनल-पुं० । भास्ति अलः पर्यासिर्येस्य, बहुदाहावहने-ऽपि कृतेरभावात् । न० ७० । बर्हा, अनलदेवतत्वात् कृत्सकान-कृषे, चित्रकशूके, पुं० । तस्य सर्वतः पर्यासित्येऽपि पर्यासः स्ति-माभावात्तस्यम् । भङ्गात्कं शूके च । आच० । प्रश्न० । स्था० । आच० । न प्रलोऽनलः । अत्रत्येते अपर्यासे अयोम्यं, नि० ५० ११ उ० । अलसम्यं, ज्ञा० म० टि० ।

अनलमित्यस्य-

कामं खलु अनलसरो, तिविहो पञ्चत्तर्हि पगतं । अणुलोऽपचलो विष, ह्यौति अजोगो व एगदा ३२ ? चादक आह-ननु अलशब्दः त्रिष्वर्थेषु एहः, तद्यथा-पर्यासे, भूपये, वारणे च । आचार्य आह-यथापि त्रिष्वर्थेषु एहः तथापि अर्थवशाद् अत्र पर्यासे एहस्यः, न अलोऽनलः, अपचलः अचान्यक्ष एते एकायाः । नि० ५० ११ उ० । अणुलंकिंय-अनलकृत-त्रि० । न० तं० । मुकुटादिभिरविच्युषिते, भ० ३ ज्ञा० १ उ० ।

अणुलंकिंयविच्युषिय-अनलकृताविच्युषित-त्रि० । न० तं० अ-लकृतेन मुकुटादिभिः, विच्युषितं घञ्जादिभिः, तक्षिषेधादमल-कृतेन विच्युषितम् । मुकुटादिभिश्चादिभिर्वी शोभामप्राप्येते, ज्ञ० २ श० १ उ० ।

अणुलानि-अनलानि-पुं० । अणुलप्रोत्तजपूतेऽस्तित्त्वे, उ-च० १ अ० । "स्मरन् च शिवा देवी, गजोऽनलनिगिः पुनः" । आ० क० ।

अणुलस-अनलस-त्रि० । उरसाइवाति, दश० १ अ० ।

अणुलानिगतपणवस्तदणुलिस्मिय-अनलानिगमृषुषनस्प-तिगणनिःश्रित-त्रि० । अनलस्तेजस्कायोऽनिलो वायुकायस्तृण-वनस्पतिगणो आदरवनस्पतीनां समुदायः, एतन्निःश्रिताः । तेजस्कायापुण्यजीवकेषु असुप्त, प्रश्न० १ आच० ४ ज्ञा० । अणुलिप्य-अनलीक-न०० । सत्यं, वृ० २ उ० ।

अणुलिप्यसिज्जा-देशी-त्रि० । अनाश्रयणोय अयोम्यं, "वि-स्यर्हाःअणुलिप्यसिज्जा" । स्त्रियः विषवर्हीवृद्ध हाहाहह-विषहतावत् अनाश्रयणीयाः संध्या सङ्गादिकर्तृमयोप्याः तत्काशप्रणप्रयाणैरेतुत्वात् । पचेतकस्य राजो नन्मुप्राविषक-न्यायत्वं । तं० ।

अणुव-अणुवत्-पुं० । दिवमस्य वरुविशे लोकोत्तरमुहूर्त्तं, कल्प० । चं० प्र० ।

अणुवकंस्वभाण-अनवकाङ्क्षत्-त्रि० । विहर्नुमिच्छति, क-ल्प० । स्था० ।

अणुवकंस्ववत्तिया-अनवकाङ्क्षमत्याया-स्त्री० । अनवकाङ्क्षा स्वधोषराधनपेक्षत्वं सैव प्रत्ययो यस्याः साऽनवकाङ्क्षप्रत्यया । इहलोकपरलोकपापानपेक्षत्वं कियामिह, स्था० २ ज्ञा० १ उ० ।

अणवकंठवसिया किरिया लुविदा पमता । आयशरीर-
 अणवकंठवसिया चैव, परशरीरअणवकंठवसिया चैव ।
 तत्रात्मशरीरानवकाङ्कप्रत्यया सा स्वशरीररक्षितकारिकर्मा-
 षि कुर्वते ; तथा परशरीररक्षितकारिण तु कुर्वते द्वितीयेति ।
 ७२० १ टा १ उ ० । "अणवकंठवसिया इह लोके परलोके य ।
 इह लोके अणवकंठवसिया लोकादिनां विचोदिकादीनि
 करति जेषु वद्वधधादीनि इहैव पावति, परलोके अणवकंठ-
 वसिया अदृष्टदृष्काती इदियपरधुते हिंसादिक्कम्मणि करे-
 माणे परलोके नावकंठवति" आ० ७० ४ अ० ।

अणवकंठा-अनवकाङ्का-आ० । अनाकाङ्कायां स्वशरीराद्य-
 नयेत्तत्त्वे, स्था० १ टा १ उ ० ।

अणवगय-अनवगत-वि० । अपरिहाने, स्था० ४ टा ४ उ ० ।

अणवगल्ल-अनवकल्प-पुं० । जरसा पीडिते, अनु० । अत्य-
 न्तवृद्धे, पं० व० १ टा ० । ध० ।

अणववनुय-अनववयुत-त्रि० । न० त० । अपृथग्भूते, व्य० ७ उ ० ।

अणवज्ज-अनवद्य(अणवज्जपे)-न० । अचयं पापं, मान्निअव-
 चसत्तत्पनवचम । सामागिके, विशेषे । आ० ७० । सावध-
 योमाप्रत्यास्थानामकत्वाशस्य । आ० म० हि ० ।

पावमवज्जं सामा-इयं अप्रापं ति तो तदणवज्जं ।

पावमणंति व जम्हा, वज्जज्जट तेण तदसेसं ॥

अणुशब्दस्य कुलिस्तार्थं शब्दादगन्ति कुलिस्तानि करगानि श-
 ब्दयानि, अणुन्ययेनेति व्युत्पत्तौ, अणुं पापमुच्यते । तदर्थं
 सर्वमपि व्यर्थेन परिहृत्येते यस्मान्नेन सामागिकेन अणुं वज-
 यतीति वा, ततः सामागिकमणववर्षमुच्यते इति शेषः ।
 विशेषे ० ।

इदानीमणवचङ्कारम् । तत्र कथानक-वसन्तपुरे नगरे जिय-
 सन् राया । धारिणी देवी । तीसं पुत्तो धम्मरुई । सो व राया
 थेरो । अथवा तावसो पव्वइउकामा धम्मरुईस्स रज्जं दाउ-
 मिक्कुइ । सो मायंरं पुक्कुइ-कीस तातो रउज्जे परिव्ववइ ? ।
 सो अणइ-रउज्जे संसारवहुं । सो अणइ-मम वि न कज्जं ।
 ततो सो वि सह पियंरेण तावसो जाओ । तथ अमावसा
 होहिं सि गइओ घोसेइ आसमसु-कल्ल अमावसा होहिं इ-
 तो पुणफलाणं संगरहं करेह । कल्लं नइइ हिदिउं । धम्मरुई
 चिंतेइ-जइ सव्वकालं न हिदिउजा तो सुंवरं हेज्जा । अथवा
 साहु अमावसाए तावसासमस्स अट्टुणं बोलीति । ते धम्म-
 रुई पंक्कुइअण अणानि-अथयं । किं तुप्पे अणाकुट्टी नत्थि तो
 अद्विज जाह । ते अणानि अन्हं जावज्जीवं अणाकुट्टी । सो
 संसंनो चिंतिउमारउ-साह वि गया जाईसंमरिया पत्ते य-
 बुद्धो जातो ।

अनुमंवाधेमभिधित्तुराह-

सोऊण अणाउट्टे, अणानिचो वज्जिपाण अणमणुं ।

अणवज्जयं उवगतो, धम्मरुई नाम अणुणगतो ॥

धुत्वा आकर्ण्य, आकुट्टनाकुट्टिः क्षेत्रं हिसंस्थेयः । न
 आकुट्टिरनाकुट्टिः, तां सर्वकालकीमाकायं अणुभीतः अण
 बणेति दृष्टकथातुः, अर्थात् गच्छन्ति तासु तासु योनिषु जीवो
 अनेनेति अणुं पापं, परित्यज्य सावधयोगात्मिण्यर्थः । अणस्य
 वर्ज्यं अणुवर्ज्येनैव, वसनामणुवर्ज्ययानुपगतः प्राप्तः सायुः
 संकृत इति भावः । धर्मकथित्वेन अनगारः । गतमनवद्यहा-

रम् । आ० म० हि ० । निर्दोषे, म० १ श ० ६ उ ० । उक्तं ।
 पापाभावे कर्मापचयाभावे, "अणवज्जमनहं तेसि" कुतोऽपि
 हेतोः कथंलमनसः अणवोऽपि अणवचं पापाभावः, कर्मापच-
 याभावां वा जयन्ति । सुत्र० १ श ० १ अ० १ उ ० । कामादि-
 पापव्यापाराप्रकपे, विशेषे । गुणविशेषविशेषे सूत्रे, अणवध-
 मगद्धीमहिंसाप्रतिपादकम् । यतः "पशुनामिं नित्युच्यन्ते, पशूनां
 मध्यमेऽहनि । अश्वमधस्य वचनत्पुनानि पशुमिंस्त्रिभिः" ॥११ ।
 इत्यादिवचनमिव न हिंसाप्रतिपादकम् । आ० म० हि ० अनु० ।
 पीडानुपादके, अपापे वाक्यं "संभसु वा अणवज्जं वयंति"
 सूत्र० १ श ० ६ अ० । ("सत्त्व" शब्देऽस्य विवृतिः) ।

अणवज्जंगी-अनवज्जार्ही-खं० । सुदशेनापरनामिकायां भगवतो
 महावीरस्य वृत्तिर्न विनाक्षिगृहियाम, विशेषे ० । उक्तं ० ।

अणवज्जजोग-अनवज्जयोग-पुं० । कुशलानुष्ठाने, "अणवज्जजो-
 गमसं" अणवचं योमं कुशलानुष्ठानमकं सकलकुशलानुष्ठानानाम-
 नवद्ययोगव्याख्यातचारात् । पा० ।

अणवज्जया-अणवज्जयता-खं० । अणस्य पापस्य वर्ज्योऽणव-
 ज्यस्तद्वाचोऽणवज्जयता । संखरे, आ० म० हि ० ।

अणवट्ट-अनवट्ट-पुं० । अनवस्थापे, व्य० १ उ ० ।

अणवट्टेप-अनवस्थापे-न० । अवस्थापते इत्यवस्थाप्यस्य, तन्नि-
 पेधादनवस्थाप्यम् । पुष्टनापरिणामस्याऽहृतनपरिणामस्य प्रता-
 नामनारोपणं, ध० ३ अ० । ग० । अं० । यो इह श्रमंविना-
 तिचारविशेषः सकलाकारितनपरिणामः, तद्व्यापारतो महाद-
 तेषु भावस्थाप्यते नाधिक्रियते इति; तदतिचारजाने तच्छुद्धि-
 कं, तत्रैव प्रायश्चित्तं च । स्था० ३ टा ० ४ उ ० । यत्र प्रति-
 मन्ते उच्छान्नायामप्ययोम्यन्तेन यादृशदानां गीतया, पश्चाच्छा-
 न्गताः पुनर्माहावनेषु स्थाप्यन्ते तव । जी० न० । व्य० ० ।

अनवस्थापनीयाः—

ततो अणवट्टपापन्नतां ते जहा-साहम्मियाणं तंमं करेमाणे ।
 अन्नप्रम्मियाणं तेषां करेमाणे, इत्यादात्तं दद्वेमाणे ॥

अणवस्थाप्यस्थानाः कृपावेव प्रत्येकवस्थापनीयाः । प्रहत्याः
 नश्यानाश्रमिकाः साधवस्तथा मन्त्रकस्यांस्तृष्णाधः शिष्याः
 देवो स्तैन्यं चौर्यं कुर्वाणः । अन्वधामिकाः शाक्यधियो वृद्धस्था
 वा, तेषां सत्कस्यांयथाधेः स्तैन्यं कुर्वन् । तथा हस्तेन तासं ह-
 स्तनातां, सूत्रे च तत्कारस्य द्कारध्यातः । अपिच्यवः, ते द्रवमाणे व-
 द् व यष्टिपुष्टिभुक्तिनिर्वातमानः परस्य वा प्रहरंति भावः ।
 अथवा हस्ताभ्यानि पात्रं हस्ताभ्यां व हस्ताभ्यां उणिवादि-
 प्रशमनार्थं निवारकमन्त्रादिप्रयोगत्वे द्रवमाणः कुर्वन् यद्वा-ह-
 म्थादापं द्रवमाणे लि' पात्रः स्वाधादानमर्षोपादानकारणमघा-
 त्कनिमित्तं ददत्प्रयुज्जानः । एव सूत्रसंक्षेपार्थः । वृ० ४ व ० । जी० न० ।
 अथ विस्तरार्थं विज्ञापितुराह—

अमायाएपनिमंवी, अणवट्टो वि होति वुविदो तु ।
 एवकेको वि य वुविदो, सचरित्तो चैव अचरित्तो ।

आशातनाऽनवस्थाप्यः, प्रतिशयनाऽनवस्थाप्यश्चेत्येवमवस्थापो
 द्विविधो भवति । न केवलं पाराश्रिक इत्यपिवादायैः । पुन-
 रैकेकोऽपि शिष्यः—सचारित्राः—चारित्र्यकंति । एतौ ज्ञापि
 जेदौ पाराश्रिकवद्वक्तव्यौ ।

अथासातनाऽनवस्थाप्यमाह—

तित्यपरपणपुत्तं, आयरिये गणहरें महिष्ठीप ।

एते आसादेते, पाच्छिचे मगणा हाई ॥
 नाथेकरप्रयचने सुनम, आचार्यः, गणधरः, महर्षिकञ्जोते ।
 एतानागतनतः प्रायश्चित्तमार्गेणा भवति । अग्नीषां आशातनाः
 पाराश्रिकवज्रवनीयाः ।

प्रायश्चित्तमार्गेणा पुनरियम्-
 पद्मवतितेपुमु नवर्षे, भसे एकैकं चउगुरु ह्यति ।
 मन्वे आसादेतो, अणवद्वयो उ भौ होई ॥

प्रथमद्वितीयाथास्तीरकरसङ्क्रामतनायाकपाध्यायस्य नवम-
 मन्वस्थाप्यं भवति, शेषेषु शुभादिषु प्रत्येकमेकैकस्मिन्नाशा-
 स्तमाने चतुर्गुरुरां भवति । अथ स्वर्षाधि चतुर्ष्वधि पुनार्ह-
 नि आशःतनातः, ततोऽसाधनवस्थाप्यो जयति । उक्त आशात-
 नाऽनवस्थाप्यः ।

अथ प्रतिशेवनाऽनवस्थाप्यमाह-
 पदिशेवणअणवद्वो, तिबिडो सो हाई आणुपुष्पीए ।
 साहृमियऽसुधामिय, हत्यादात्तं व दत्तया ॥
 यः प्रतिशेवनाऽनवस्थाप्यः स्ये साक्षादुक्तः स आनुपूर्वां वि-
 विधौ भवति-साधर्मिकसैम्यकारी, अथधार्मिकसैम्यकारी,
 हस्तातालं दद्व ।

तत्र साधर्मिकसैम्यं तावदाह-
 साहृमि तेष उवधि-वाचारणजामणा य पद्मवणा ।
 सेहं आहाराविडो, जा जह्नि आगेवणा जगिता ॥

साधर्मिकज्ञानमुपयवन्त्यात्रादिलक्षणस्य सैम्यं करति । वा-
 चारणात् । मुक्तिरूपधेरुपादानाय व्यापारणा प्रेरणा कृता, अत-
 र्जनमुपाय गुरुगामनिवेशान्तरां स्वयमर्थविनिष्ठिति । कामणा
 य । उपकरणं सङ्क्रामनाऽनवस्थाप्ये वा ध्यामिने दग्धं भ-
 वेत्, तद्व्याजने आनवस्यदग्धं धर्मादिकं शूद्राया स्वयमेव
 पृच्छे । पद्यवण । स । कनाप्याचांयण कस्यापि संयतस्य हस्ते
 ऽवराचार्यस्य दौकतया प्रतिग्रहः प्रेषितस्वमसावःतरा स्वयमेव
 स्वीकरेति । सेह । सित । शेषविषय सैम्यं करति । आहाराव-
 हि । सित । दानअक्रादिषु स्थापनाकुशेषु शुभनिरननहात आहार-
 विधिप्रशनादिकमाहारप्रकरं शूद्रानि । एतेषु स्थानेषु साधर्मि-
 कसैम्यं जयति । अथ च या यत्र स्थाने आरापणा प्रायश्चित्ताप-
 रपर्याया भिन्नाः, सा तत्र चकल्या । एष निर्गुणिकाधासकंपार्यः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरोपुदाह-
 उवद्विस आसियावण सहमसेहं य दिह्दिह्दिहं य ।
 मेहं मूलं जगित्त, आणवद्वयो पा पारर्षो ॥

इहोपेयः, 'आसियावणं' सैम्यमित्येकार्थः । तत्र शैके वा कुप्या-
 दशैके वा । उनावपि-इहं वा सैम्यं कुप्यात्, अहहं वा । तत्र शैके
 मूलं यावदावयश्चित्तं भवित्यतः । उपाध्यायस्वानवस्थाप्यपर्यन्त-
 म् । माचर्यस्य पाराश्रिकान्तम् ।

एतदेव भावयति-
 सेडो चि अग्नीपरयो, जो वा गीतो आणुसिंपपभौ ।
 उवद्वी पुणु वस्थादी, सपरिगव एतरो तिबिडो ॥

शैक इतिपदेनागीतायां जयते । यो वा गीतार्थोऽपि अन्-
 कित्तयेत् । आचार्यपदादिसम्युक्तिसमाप्तः, सोऽपि शैक इहोपेयः ।
 उपाध्यायः पुनर्द्वितीयः, आदिशुभ्याप्यपरिग्रहस्तवपरिशुद्धीतः
 स्थान, इतरो पाऽपरिशुद्धीतः स्थान् । पुनर्केकस्त्वविध-
 ज्ञानयो अथम उक्तुवध ।

अथ 'सेहं मूलं' इत्यादि पञ्चाधे व्याख्यातयति-
 अतो बहिं निवेशण-वाङ्मगुजाणस्यमितिकेने ।
 यास चउ च्छलहु गुरु, देडो मूलं तह उणं वा ॥

अन्तः प्रतिश्रयान्यतरं साधर्मिकाणामुपधमदरेशैकः स्तेन-
 यति तदा मासलघु, वसन्तेश्वरपद्यमेव स्तेनयति तदा मास-
 गुरु, निवेशनस्यान्तमासगुरुकं, बहिः अतुलंशुक्तं, वाटकस्यान्त-
 तुलशुक्तम्, बहिः अतुलशुक्तम्, उधानस्यान्तः पद्मवतः, बहिः पर-
 गुरु, स्वीमाया अन्तः पद्मवतः, अतिप्रान्तायां तु तस्यां बहिः
 देवः (मूलं तद उणं य सित) मूलं, तथा शिकं या-अनवस्थाप्य-
 पाराश्रिकमुपमा ।

एतदेव भावयति-
 एवं ताव अदिह्दि, दिह्दि पदमं पदे परिह्वेत्वेना ।
 तं चेव असेहं वै, अदिह्दि दिह्दि पुणो एकं ॥

एवं तावदसेहं सैम्यं क्रियमाणं शैकेष्व प्रायश्चित्तमुक्तम् । इह
 तु प्रथमं मासगुरुलक्षणं पदं परिह्वय परिह्वय मासगुरुका-
 वार्ष्यं मूलं यावद्वक्तव्यम् । अशैक उपाध्यायस्तस्यापि अहदं
 नाप्येव मासगुरुकादीनि मूलान्तानि प्रायश्चित्तस्थानानि प्रच-
 न्ति । इह पुनरेकं मासगुरुलक्षणं पदं ह्वयति, चतुर्वेद्युक्तादा-
 यमनवस्थाप्यं निहो यातीत्यर्थः । आचार्यस्याप्यहदंअनवस्था-
 प्यमित्येव । इह तु चतुर्गुरुकादारब्ध पाराश्रिके तिष्ठति । गते
 साधर्मिकोपधिसैम्यद्वारम् ।

अथ व्यापारणाह्वारमाह-
 वाचारिय अणुः हा, बहिं वेषुण उवधि गिगह्तिनि ।
 लु णो आदाति लहुगा, आणवद्वयो पा आदिमा ॥
 व्यापारिता नाम गुरुनिः प्रेषिताः, यथा- [आणह सित] उव-
 धिसुधामनयत । तं चैवमुक्ता अनेकविधमुपधिं शूद्रयोऽपि ।
 त्वोपाध बहिरेवाचार्यसमोपमायाता उपाध उपाधि शूद्रनि-इहं तव, इहं
 मेमेति विजज्य स्वयमेव स्व । कर्त्तव्ये । त्यर्थः । एष शूद्रानां मास-
 शु, आगता आचार्यस्य न इदंति, तदा चतुर्ष्वधः प्रस्तुतमुपा-
 देशाह । तं स्वचन्द्रचक्रनुप्राहकः साधुवर्गोऽनवस्थाप्यो भव-
 ति । गते व्यापारणाह्वारम् ।

अथ ध्यामनाह्वारस-सा च ध्यामना द्विविधा-सती, असती
 च । तत्र सती तावदाह-
 दृघु निमतण लुच्छे-ऽणापुपुच्छा तस्य गंतु तं जणति ॥

जामिय उवधि अहपद, गीहं पमितो गहति पातो य ॥
 आचार्याः केनापि विरूपरूपैथैकैर्निमित्तान्तरासैकं तानि प्रति-
 यिज्जानि, एकञ्च साधुसत्तां निमन्त्रणां श्रुत्वा तानि च सुत्प-
 रान्ति यक्षणां इह्हा लुच्छो लोभं गतः । तत आचार्यमना-
 वृच्छप (तमिति) तं भावकं तत्र गत्वा भणति-अस्माक-
 मुपाधिर्योमिति दग्धः, ततोऽहं तैराचार्यैर्युष्माकं सकारो
 यक्षार्थं प्रेषितः, एवमुक्ते दत्तस्तेनोपाधिः, स च शूद्रात्वा गतः,
 अन्वे च साधव आगतः । आदिन भंगतव-युष्माकमुपाधि-
 र्दग्ध इति कृत्या यो भवज्जिः साधुः प्रेषितस्तस्य नृतमोपधि-
 र्दग्धं स विद्यते, यदि न पर्याप्तं ततो यथाऽपि द्वाभिमिति । सा-
 धवो ध्वने-नास्माकमुपाधिरदग्धः, नवा चयं कमपि प्रेषयामः,
 एवं स लोभामभिमत्तः । साधुसैन भावकश्च ज्ञातः यथा-गुरुणां
 वृच्छामन्तरंशायां शूद्रातयात् ।

ततश्च किं भवतीत्याह-
 अहुता आणुस्यद्वयी, गुहगा अणितियस्य कयावन्ता ।

मूलं वा जलमग्ने, वाञ्छेद पयज्जना मेसे ॥

एवं तेन साधुना स्तैन्वेन वस्तेषु गृहीतेषु यद्यद्यत्तथाऽऽ-
नुब्रह्म मयन्ते-यथापि नथापि ददामीति साधक इति, नथापि
चतुर्लोकः । अथवाऽऽमीतिके करानि, ततश्चतुर्गुरुवः प्राय-
श्चित्त कर्तव्याः । अथास्ती स्तेनोऽप्यमिति शब्दं जनमध्ये
विस्तारयति, तदा मूलम् । यत्र शेषद्रव्याणां शेषसाधुनां वा
न्यवच्छेदः (पसज्जण णि) प्रसंगतः करोति, तन्निष्पन्न
प्रायश्चित्तम् ।

अथ सर्वा भ्यामनां दर्शयति-

सुव्वचत्तामिन्द्रोऽवधि-पसए गह्निने व अंतरा ह्रुद्धो ।
लहुमा अद्वैतं गुरुमा, अष्टावहृणो व आदरेस ॥

अथ सुव्यक्तं सम्यमेव ध्यामितोपधिर्गुरुभिस्तथैव प्रेषणं कृ-
तम्, प्रेषितश्च सन् येनाचार्या निम्ननिम्नानस्तद्वाद्यस्याश्वा आ-
वकाद वन्नादिकमुपधिं गृह्णीत्वा अन्तरा लुब्धां लोभाभिमतां
यद्वा-चूतलसमबन्तुरस्वर्णांशुतान्दिगुणोपेतः, तथा सह नियो-
गेन पात्रकवन्धादिना यः स मनीषीः । एवधियस्य प्रति-
ग्रहस्यान्तराल एवास्ती लुब्धां प्रहणं स्वीकरणं करानि, तत्र
चतुर्लोकः । तत्र गनस्तेषां मृगिणां तं प्रतिग्रहं न प्रयच्छति,
तत्र चतुर्गुरुः । तथाशरोन वा अनवस्थाप्योऽस्ती उच्यते ।
गनं प्रस्थापनाद्वारम् ।

अथ प्रस्थापनाद्वारम्-

उक्तेस मनिज्जोमो, परिगृहो अंतरा गह्ण लुद्धो ।
लहुमा अद्वैतं गुरुमा, अष्टावहृणो व आदरेस ॥

केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते अग्राचार्यस्य दौ-
कनेतेतः प्रतिग्रहः प्रेषितः । स चात्कृष्ट उरुकोषाधिपक, यद्वा-
चूतलसमबन्तुरस्वर्णांशुतान्दिगुणोपेतः, तथा सह नियो-
गेन पात्रकवन्धादिना यः स मनीषीः । एवधियस्य प्रति-
ग्रहस्यान्तराल एवास्ती लुब्धां प्रहणं स्वीकरणं करानि, तत्र
चतुर्लोकः । तत्र गनस्तेषां मृगिणां तं प्रतिग्रहं न प्रयच्छति,
तत्र चतुर्गुरुः । तथाशरोन वा अनवस्थाप्योऽस्ती उच्यते ।
गनं प्रस्थापनाद्वारम् ।

अथ शैलद्वारमाह-

एव्वावण्णज बाहिं, उवेत्तु धिक्खुस्स अतिगते संने ।
सेहस्स आसियावण, अजिघारंते य पावयर्णो ॥

कोऽपि साधुः प्रमाजनीयं सशिक्षाकं शैलं गृहीत्वा प्रस्थितः,
तं निष्ठाकाले कापि प्रांभ बहिः स्थापयित्वा शैलाधर्मनिगतः-
प्रविष्टः, प्रविष्टे च सति तस्मिन् परः साधुस्त्वं शैलं दृष्ट्वा विप्र-
तापं च तस्य 'आसियावयो' अपहरणं करानि, साधुविरहती वा
एवाकाकी कर्मपि साधुमनिधारयन् शैलां प्रजेत्, तमपरः
साधुर्विप्रतापं प्रमाजयेत्, एतेो द्वावपि यदा प्रावचनिकौ जाते, तदा
द्वावपि शैली स्वयमेवात्मनो दिक्परिच्छेदं कुरुत इति
संग्रहमाद्यासमासायः ।

अथेनामेव विधुर्गाति-

सस्यदिगभो अद्दा-ण्णिवो व वणदणग पुच्छे से होमि ।
सो क्तय पज्ज कज्जे, उतापिवासिस्स वा अहति ॥

सन्नाभूमिगत आदिशब्दाद्वाह्णद्विपिष्ठापनिकायं निगमः
कोऽपि साधुः शैलं दृष्टवान्, अथवा अश्वनिकः पथिकोऽस्ती
साधुस्ततः पथि गच्छन् शैलं दृष्टवान् । तेन च कन्दनं कृते
सति, साधुः पृच्छति-कोऽसि त्वं, क्वन आगतः, क्व वा प्रस्थितः ?
शैलः प्राह-अमुकेन साधुना सार्कं प्रस्थितः प्रवजितुकामः,
शैलोऽस्त्यहम् । साधुः पृच्छति-स साधुः संप्रति क्व गतः ?

शैलो भग्नित्त-स मम कार्यं बुभुक्षितस्य पिपासितस्य वा भ-
रूपानार्थं पियत्तम् ।

मञ्जु भयमस्युपागं, उवत्रीवऽणुकपणा य सुच्छो ष ।
पुहमपुट्टे केणया, एमेव य इहरहा दोसो ॥

ततः स साधुर्वर्धयामिदमन्नानमुपजीव लुक्कथेति कुर्वीते
यादं साधुर्मिकोऽप्यमित्युक्तस्या दद्याति, तदा शुद्धः । शैलण
पुट्टो अष्टो वा यद्यमेवानुक्तस्या धर्मकर्ता करोति, तदा
शुद्धः । इतरथा अपहरणाथं नृकपानं ददती धर्मं च कथयती
दोषः, चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ।

अपहरणप्रयोगानेव दर्शयति-

जत्ते पाणवण प्रयो-हणा य बावार ऊपणा चेव ।
पत्थावाण सपट्टरणा, सेहे अन्वच वणे य ॥

अपहरणाथं नृकपानं ददाति, धर्मं वा तस्य पुरतः प्रज्ञापयति ।
तत्र म शैल आहृतः सन् जगति-नयेन एव सकाशेऽह प्रम-
जामीति किन्तु न शक्नोति येनातीतस्तपुरतः स्थातं ततो मां
गुणं प्रदंशे निगदन्मा नतोऽस्मी न व्यापारयति-अमुकत्र नित्यं
निष्ठेति । तनस्व तत्र निश्चिंते साधुः पलाणादिना ऊरुयति, स्थ-
गयन्तान्येव । अन्यैः सार्धमन्यं ग्रामं प्रस्थापयति, एकाकिने वा
प्रेषयति, अमुकत्र प्रामादीं वज्र, अहमप्रसमुष्पान्दिवसे तत्राग-
मिष्यामि । अथवा स्वयमेव गृह्णीत्वा तमपहरति, एतानि पद-
पदानि भवन्ति । तथाचा-नृकप्रदानं १, धर्मकथा २, निगदना-
वचनं ३, व्यापारणं ४, ऊरुयनं ५, प्रस्थानं स्वयंहरणं ६ वाति ।
एतन् पदेषु शैलं व्यक्तःऽयं के च प्रायश्चित्तमिदं भवान्-

गुरु चउलहु चउगुरु उलहु उगुरुमेव वेदो प ।

निचतुगुणायारिणाणं, मूठं अष्टावहृणं पारं च ॥

निभुद्येव्यकशैलं कस्यापहरणाथं भक्तं ददाति, तदा मासगुरुः
धर्मप्रहापनायां चतुर्लोकः निगूहनप्रचने चतुर्गुरुः व्यापारणं
पदलघु, ऊरुयनं पदगुरु, प्रस्थापने स्वयं हरण वा वेदः । एवम-
व्यकशैलं भणितम् । अन्यको नाम-पस्थापानि इमथु न सं-
जानम् । यस्तु व्यक्तः स ज्ञातहमथुः, तस्य चतुर्लोकुदाकाराभ्यं
मूलं यावत् निजोः प्रायश्चित्तम्, गणित्वा उपाध्यायस्य चतुर्ल-
कुदाकाराभ्यमनवस्थाप्यं निष्ठति । आचार्यस्य चतुर्गुरुकादा-
रुभं पाराञ्चिकं पर्यवर्त्यात् । एवं सहाय्यं शैलं भागुनम् ।
यः पुनरसहाय्योऽभिधारयन् व्रजति तत्र विधिमाह-

अजिघारं पयवेतो, पुच्छो एवमहं अमुगकुलं ।

पाणवणजत्तदाणं, तेहेव सेसा पदा एत्थं ॥

कोऽपि शैलं एकाकी कस्याचार्यमनिधारयन् प्रजग्वाभिमुक्तो
व्रजति, तेन कचिद् ग्रामे पथि वा साधुं दृष्ट्वा यन्मनकं कृतम् ।
साधुना पुष्ट-क गच्छति ? स प्राह-अमुकस्याचार्यस्य पदमूलं
प्रवजनाथं व्रजामि । एयमेकं यदि निहुरव्यकशैलं कस्य नृकदानं
करोति, तदा मासगुरु, धर्मप्रहापनायां चतुर्लोकः, व्यकशैलं कस्य नृ-
कदाने चतुर्लोकः, धर्मकथायां चतुर्गुरु, उपाध्यायचार्ययोर्ध्याक-
मं पदगुरुकं च भवति । अश्वस्तनमेकैकं पदं दृष्ट्वात्तयोर्ध्याक-
शेषाणां तु निगूहनप्रधारणप्रवनादीनि पदानि न सन्ति,
असहायस्त्वात् । तदत्रावाप्रायश्चित्तमपि नास्तीति ।

एतं चाऽपरे दोषाः-

आणादगंतंसेमा-रियचं बोद्धियदुच्चजं वा ।
साहंभियंतधम्मं, एमत्त उण्णाणाऽधकुराणं च ॥

शैक्षमपहरत श्राद्धाभङ्गाद्यो दोषा जवन्ति, अनन्तसंसारिक-
त्वे च अणवतामङ्गाजङ्गप्रवृत्तिः । बोधेभ्य उद्वेगभक्तं जायते,
सामर्थिकस्त्वैभ्यं च कुर्वाणः प्रमत्तो भवति, प्रसक्तस्य च प्रान्ते
देवताया उद्वेगना जवन्ति । यस्य च संबन्धी सोऽपह्नियते, तेन
सममधिकरणं कलह उपजायते । एवं तावदुद्वेगविषयाद्यो
दोषा उक्ताः ॥

अथ स्त्रीविषयांस्तानेवातिदिशति—

एवेव य इत्यीए, अजिधारेति ए तद् वयंतीए ।

वत्तवत्साए गम, जहेव पुरिससस नायव्वा ॥

एवमेव स्त्रिया अपि शैक्षकाया अभिधारत्वाः, तथा (वयंतीए
सि) सलहायायाः प्रसजितुं प्रसज्याः, व्यकाया अव्यकायाश्च
गमः स एव ज्ञानव्या यथा पुरुषव्यांकः ।

अथ प्रायश्चनिकवर्गं व्याचष्टे—

एवं तु मो अत्रिद्रिओ, जाहे जाओ सयं तु पावयणी ।

निष्कारणे य गहिओ, पवयति ताहे पुरिद्रिओ ॥

एवमनन्तरैः प्रकारैः स शैकोऽपहृतः सन् यद्वा स्वयमेव
प्रायश्चनिको ज्ञानः, अस्यां या निष्कारणे यः केनापि शुदीनः,
स आत्मनो विकृपारिच्छेदं कृत्वा भूयांसि बोधिज्ञानाभावात्
पूर्ववर्तिव्याचार्याणामितिक प्रसजति ।

अप्रसन्नं व असतोए, गुरुभिम अशुभ्जएगरतनुतो ।

धारेति तमेव गणं, जाव हको कारणज्जाते ॥

येन स शैको निष्कारणमपहृतस्त्वस्यैः अपरः कोऽप्याचार्यः
पदयोग्यो न विद्यते, ततोऽन्यस्याभावे. यद्वा—गुरवाचार्यैः
ऽन्युद्यतस्यैकतरणं युक्तं अत्युद्यतमपहृत्युद्यतविहारं वा
प्रतिपन्न इत्यर्थः । ततो यदि कोऽपि शिष्यस्त्वंनिष्पन्नो ना-
स्ति तदा तमेव गणमसौ धारयति, यावत्कोऽपि तत्र निष्पन्न
इति । यश्च कारणजाते केनाप्याचार्येण हृतः, सोऽपि तमेव
गणं धारयति ।

किं पुनस्तन्कारणमित्याह—

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते काक्षियाणुओगे ए ।

अज्जा कारणाजाते, कप्पति सेहाऽवहारे उ ॥

कोऽप्याचार्या बहुभूतः, तस्य पूर्वगते किञ्चिदस्तु प्राभूते वा,
काक्षिणानुयोगेऽपि धृतस्त्वोऽप्ययं वा, विद्यते, तन्नाशयस्य
मानसि, तस्य यद्यस्य न संकाशयते, तदा तद् व्यचक्षिद्येत । एवं
पूर्वगते काक्षिणानुयोगे च व्यचक्षेदं ज्ञात्वा तं च संप्रसिद्धं वीक
पहणधारणसमर्थं विज्ञाय भक्तादानधर्मकाद्यादिभिर्विपरिणा-
मकम्पनादप्यपि कुर्वाणः शुद्धः । यद्वा—तस्याचार्यस्य नास्ति
कोऽप्याचार्या प्रवर्तकस्तस्तासामपि कारणजाते शैक्षमपह-
रेत्, एवं कल्प्यते शैक्षापहारः कर्तुम् ।

तस्य च कारणे ऽपहृतस्य को विधिरित्याह—

कारणजाए अवहिरिअ, गए धारेतो तु अवहरंतसम ।

जा एगो निष्पद्यो, पच्छा से चप्पणो ऽच्छा ॥

यः कारणजातेऽपहृतः स तदीयं गणं धारयन् अपहरत एव
विनेयो जवति । अथ येन कारणेनापहृतस्तन्कारणं न पुरयति
तदा पूर्ववर्तिव्यं भवति, नापहृतः । स च कारणापहृतस्त्वस्मि-
न्गणे तावदास्ते तावत्को गोताथो निष्पन्नः, पश्चात्तस्वार्थ्या
इच्छा-तत्र वा तिष्ठति पूर्ववत् वा सत्कार्ये गच्छति । यस्तु

निष्कारणे अपहृतः स एकस्मिन्निष्पन्ने नियमात्पूर्वेषामितिके
गच्छति । स तस्यात्मीयेच्छेति भावः । गतं शैक्षकार्यम् ।

अथाहारविधिचारमाह—

उवाणारम्मि लहुगो, मायो गुरुगो अणुगगे लहुगा ।

अण्णियम्मि गुरुगा, वोच्छेदं पसज्जाणं सेसे ॥

दानश्रद्धाविक्रमं स्थापनागृहं जयते, तस्मिन् य आचार्यैरसं-
दिष्टोऽननुज्ञातो वा प्रायश्चित्तं, तस्य मासस्यु । अथवा प्राधुर्णिक-
श्रानार्थमहमिहायात् इति तेषां आदानं पुरतो मार्यां करोति,
ततो मायिनो मासगुरुकथ, एवमुक्ते यदि ते श्राद्धा अनुग्रहोऽ-
यमिति मन्यन्ते, तदा चतुर्लक्षे । अथामितिकं कुर्वन्ति, तत्रशु-
गुरुकः, यश्च तदुद्वेगव्यवच्छेदादि शोषदोषाणां प्रसजनाप्रसङ्गात्,
तानिष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

इदमेव व्याचष्टे—

अज्ज अहं निद्रिष्टो, पुद्धोऽपुद्धो व साहई एवं ।

पाहुणगगिज्ञाणद्धा, तं च पलोजेति तो वितिये ॥

काश्चिदाचार्यैरसंदिष्टः स्थापनाकृतेषु प्रविष्टः पृष्टोऽपृष्टो वा इदं
जगति—अद्याह गुरुजिः संदिष्टः प्रेषित इति, ततो मासस्यु ।
यदि च पूर्व संदिष्टसघाटकप्रविष्ट आसीत्, आर्यैश्च तस्यासंदिष्ट-
स्याग्रे इदं भणितं भवेत्—संदिष्टसघाटकस्य वक्षमिति । ततो यदि
श्रयात्-प्राधुर्णिकार्थं भ्लानार्थं वा साम्प्रतमहमागत इति, एवं तं
श्राद्धजनं मत्पथा यदि प्रोत्रयति, ततो द्वितीयं मासस्यु । ते च
आद्या विपरिणमेयुः, विपरिणताश्चाचार्यादीनां प्रायोभ्यं न
दद्युः, ततः शुद्धं कुन्देनाप्येतन्नायश्चित्तं भाष्यम् ।

आर्यारिगिलाए गुरुगा, लहुगा य हव्यंति स्वपणपाहुणए ।

गुरुगो य बालवुद्धे, मेमे सव्वेसु मासलहु ॥

आचार्यस्य भ्लानस्य च प्रायोभ्यमहदानेषु आशुषु चतुर्गुरुकः ।
कृपणकस्य प्राधुर्णिकस्य च प्रायोभ्यमहदानेषु चतुर्मेघवः । बाल-
कुक्षानां प्रायोभ्ये अत्रभयमाने गुरुमासः । शोषालामेतद्व्यति-
रिक्तानां सर्वेषामपि प्रायोभ्ये अत्रच्यमाने मासस्यु । गतं साध-
मिकस्त्वैन्म्यम् ।

अथान्यधार्मिकस्त्वैन्मयाह—

परधम्मिया वि बुविहा, सिंगपविद्धा तद्दा गिट्ठ्या य ।

तोसिं तेधं तिनिहं, आहारे उपधि सव्विधे ॥

परधार्मिका अन्यधार्मिका इत्येकोऽर्थः । ते च द्विविधा—सिक्क-
प्रविष्टाः, गृहस्थाश्च । सिक्कप्रविष्टाः शाक्यादयः, गृहस्थाः प्रती-
ताः, तेषामुजयेयामपि स्त्रीभ्यं त्रिविधम्—आहारविषयमुपवि-
धिवयं सव्विधसव्विधं चेति ।

तत्राहारविषयं तावदाह—

जिकखुण संखमीए, विकरणरुणेण तुंजई तुच्छे ।

आभोगएमुच्छेसए—पवणएहीला दुरपाओ ॥

मिक्षो वंजास्तेषां सक्कमन्थां कश्चिल्लुम्भो विकरणरुणेण
सिक्कविषकेन भुङ्क्ते, तदीयं लिङ्गं कृत्वेति भावः । एवं तुऽजानं
यदि कोऽप्याभोगयति उपलक्षयति, तदा चतुर्लक्षवः । एवमुप-
लक्ष्य यद्यत्पादुच्छेपं कोऽर्थः निर्भस्तेनं करोति, तत्रचतुर्गुरुकः ।
प्रवचनहीनां वा ते कुट्टु— यथा बुरामानोऽमी भोजननिमि-
त्तमेव प्रसजिता इति ।

अपि च-

गिहवासो वि वरागा, धुवं कृष्ट एते अदिदृक्कणाणा ।

मन्त्रं पावरी च बलिता, एतं सत्युपा चेव ॥

गृहवासेऽप्येते वराका भूषं निश्चितमेवाहृष्टकल्याणाः, एतेषां च यां तीर्थेकता सुम्भरितामाहारशुष्पादिचर्यामुपदिशता गन्तव्यः एव नवरं च बलिताः, शेषं तु सधर्मपि कृतमिति ज्ञायः । गतमाहारविषयं स्तैव्यम् ।

अथोपविषयविषयमाह-

उवस्सए उवदि उवे-तं गतभिवसुम्मि गिणहती लहूगा ।

गेएहणकट्टणववहा-रपच्छकददुहृट्टणाणिव्विसए ॥

उपाश्रये भोक्, उपविषुपकरणं, स्थापयित्वा काश्चिन्निकुकां बोद्धा भिक्षां गनस्तस्मिन् गते यदि तदीयमुपधिं गृह्णाति, तदा चतुर्विधः । स भिक्षुकः समायातः स्वकीयमुपकरणं स्तेनितं मत्वा तस्य संयतस्य प्रदहनं करोति, तदा चतुर्विधः । राजकुलानिमुष्णमाकर्षणे वद् गुरुयः । व्यवहारं कारयितुमारभ्ये उदः । पश्चाच्छेते सति सुक्ष्मः । उदुहनेऽनवस्थाप्यम् । निर्विषयज्ञापने पाराश्रिकम् ।

अथ सच्चित्तविषयं स्तैव्यमाह-

सच्चित्ते सुद्धादी, चउरो गुरुगा य दोस अझादी ।

गेएहणकट्टणववहा-रपच्छकददुहृट्टणाणिव्विसए ॥

सच्चित्तं स्तैव्यं चित्तयमानं भिक्षुकादिः सम्भारं धनं सुल्लक्ष्म, आदि-शब्दात्कृत्स्नक वा यद्युपहरति, तदा चत्वारो गुरुकाः आझादयश्च दोषाः । प्रहणकपणव्यवहारपश्चात्ततोऽुहृत्तानिर्विषयज्ञापनादयश्च दोषाः प्राक्च्यन्तव्याः ।

अथ तेष्वेव प्रायश्चित्तविषयमाह-

गठणे गुरुगा उप्पाम, कट्टणे ज्झंमं होइं ववहरं ।

पच्छा करम्मि मूले, उडुहणविंरंणे नवमं ॥ १ ॥

उदावणनिव्विसए, एगमंणेगे य दोस पारंचं ।

अणवडडपा दोमु य, दोसु उ पारंचिओ होइं ॥ २ ॥

गाधाद्वयं गनाधर्म ।

सुद्धं व सुद्धियं वा, सैति अचवं अपुच्छियं तसं ।

वत्तम्मि णत्थि पुच्छा, खेत्ताणो च नाऊणं ॥

कृत्स्नका वा कृत्स्निका वा योऽप्येकः, स यस्य शास्त्रादेः सम्बन्धः, तमपुष्ट्या यदि तं कृत्स्नकं कृत्स्निका वा मयति, ततः स्तेनाः अर्थधार्मिकस्तेन्यकारोः स मन्तव्यः, चतुर्गुरुकं च तस्य प्रायश्चित्तम् । यस्तु व्यक्तव्यं नास्ति पुच्छा । तामन्तरेणापि स प्रजज्ञानः किं सर्वथैयान्तेत्याशङ्कय्याह-ऊपस्थानं च ज्ञात्वा । एकमुक्तं भवान्-यदि विभक्तितं केचं शास्त्रादिवानिं राजवसु-प्रनादिकं वा तेषां तत्र भवं, तदा पुच्छामन्तरेण व्यक्तोऽपि प्रमा-जयितुं न कल्पते, अन्यथा तु कल्पत इति । एवं तत्र लिङ्गप्रवि-ष्टानां स्तैव्यमुक्तम् ।

अथ गृहस्थानां तदेवाह-

एमेव होंति तेसां, तिचिं हं गारत्थियाण जं वुत्तं ।

महणादिगा य दोसा, सविनेसतरा ज्वे तेसु ॥

एवमेवागारस्थानामपि चित्तविषय-आहागादिभवाङ्गिकारं, स्तैव्यं भवति, यद्वन्तन्मेव परतोऽर्थिकानामुक्तम् । नेपु च गृहस्थ-

पु आहागादिकं स्तेनयतां प्रहणादयो दोषाः सविशेषतरा ज्वे-युः । ते हि राजकुलं कारादिकं प्रयच्छन्ति, ततस्तद्वलेन समधि-कतराद् प्रहणाकर्षणादीन् कारययुः ।

कथं पुनरमीमांसाहारादिकं स्तेनयतीत्युच्यते-

आहारं पिड्ढादी, तेषुण सुद्धादियं भणियपुत्वं ।

पिड्ढम्मि य कप्पद्दा, संउभण पदिग्गहे कुससा ॥

आहारं, पिष्टादिकं बहिर्षिगहिनं द्रष्टुं कृत्स्नकः स्तेनयति, उप-धा, [तनु] सुत्राष्टिकास, उपसङ्गणवाहसादिकं च, अपहर-नि, सच्चित्तं, कृत्स्नं वा स्तेनयति । एवं यदेव पूर्वं परतीर्थेकानां प्राणत, तदेवाध्यापि मन्तव्यम् । कथं पुनः पिष्टां स्तेनयति-(पिष्ट-म्मीत्यादि)काश्चिन्निकुकां हि ज्ञामदन्त्यः किंचिद् गृहं प्रविष्टास्त्र-त्र च बहिः पिष्टं विसारितमास्ते, तत्र द्रष्टुं तासां मध्यादेका कल्प-स्थिका पिष्टपिष्टिकां सुदीप्त्या पतद्गृहं प्रकृत्सतम् । सा वा-विरतिकया हृष्टा । ततो जणितम्-एसां पिष्टपिष्टिकांममैव स्थापय, ततस्तथा कृत्स्निकाया कुर्यासवेनाम्यस्याः संघटिकाया अन्तरे प्रकृता । एव सुत्राष्टिकांमपि दृक्त्वैनापहरते ।

अथ सच्चित्तविषयं विधिमाह-

नीणहिं अविदिंसे, अप्पचवयं पुमं ए दिक्खित्वां ।

अपरिग्गहो उ कप्पनि, विजोहो जे समदोमेहिं ॥

निर्जकमात्पितृमृतृतिभिः स्वजनेनचित्तौणस्य तमप्रामवयस्-मयत्वं पुमानं न दीक्षयति । यदि पुनरपि गृहीतोऽप्येकः स श्रे-यदायिषालज्जस्याधिनादिनिर्विमुक्तस्ताहिं प्रयुज्यितुं कल्प्यते । अपरिग्गहा उ नारी, ण ज्वति तो माण कप्पति अट्टिमा ।

सा वि य हु काचि कप्पति, जह पउमा सुद्धमाता य ॥

नारी स्त्री सा प्रायणापरिग्रहा न जवतिः पितृपितृमृतृतीनाम-न्यन्तरेण परिगृहीता जवतिति भावः । ततो नाम्नायदत्त्वा स्तौ कल्पने प्रयाजयितुम् । साऽपि च कारिन्दत्ताऽपि कल्पते । यथा पश्चात्ततो देवा-करकणकुमाना प्रमाजिता । यथा वा सुद्धककु-मारमाता योगसंप्रहाजिहता यशोभन्ता नास्ती प्रयुजिता ।

अथ द्वितीयपदमाह-

विइयपयं आहारो, अस्साये हंममादिणे उव्वहिं ।

उवउज्जिऊण पुत्वि, होहिंति उणुपहाण ति ॥

द्वितीयपदमाहारादिपु त्रिष्यप्वभिधीयते । तत्राहारोऽस्मानं प्रवेष्टुकामस्ततो वा सत्त्वानां उपलक्षणत्वाद्दशियादीं चर्ष-माना अन्तरेण अदक्ष्णपि जकणं सुद्धीयुः । आमा-दे कारणे उपधिमापि हंसादेः सम्भाष्यना प्रयोगेणोत्पादयेत् । सच्चित्तविषयं अपि भविष्यन्त्येवो युगप्रधाना इत्यादिकं हृदा-लम्बनं पूर्वं प्रथममेवापेयुष्यु पतिभ्याम् गृहस्थसुल्लक्षणं अन्त्य-तीर्थकसुल्लक्षणं वा हरेत् ।

हृदमेव भावयति-

अविं ओम विं वा, पविमिउत्तामो ततो व ठनिष्सा ।

नियतिं गिअप्पति त्थियग, जायइ अदिसे तु गेएहंति ॥

अशिवगृहीते विषये स्वयं वा साधवाऽशिवगृहीता भक्तपा-नसामावाञ्छ संस्तरेयुः । अथमं दुश्चित्तं तत्र वा भक्त्यामं न लभेत् । विहमध्यानं वा प्रवेष्टुकामस्ततो वा उत्साहो न सं-स्तरंयुः । ततः स्थलिक्रियां वा स्थलिका-देवप्रोक्षित्युः, तस्मात्साञ्-ज्ञे, यदि ते न प्रयच्छन्ति तदा बलादपि गृह्यन्ति । अथ बल-

बन्धनं, शक्यप्रकृतयो वा, ततोऽन्यतीर्थिकानामपि स्थलीषु याच्यते, यदि न प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेव प्रकटं, प्रच्छन्नं वा शूद्रोऽपि । एवं गृहस्थेष्वपि याचितमभमानः स्वयमपि गृह्णति । असंस्तरेण उपधिरह्येवमेव सैव्यप्रयोगेण प्रहीतव्यः ।

नाऊण य वोच्छेदं, पुत्राप ए काशियापुत्राग्रो य ।
गिहि अमनितियं वा, हरेज्ज एतोहं हेतुहि ॥
पूर्वगते कालिकानुयोगं वा व्यवच्छेदं श्वावा यो गृहस्थपुत्र-
कोऽन्यतीर्थिकपुत्रको वा प्रहृष्टधारण्येधावी, स याचितो यदा न लभ्यते तदा स्वयमपि शूद्रोऽपि । एतेरेवमादिभिर्हे-
नुभिः कारयेद्यैहस्थमन्यतीर्थिकं वा हरेत् । गतमन्यधार्मिक-
स्तैव्यम् ।

अथ 'हत्यादालं दलमाणे' इत्यादिपदत्रयं विधरीषुराह-
हत्यादाले हत्या-लंवेऽप्यादाणे य वोच्यते उ ।
एतेनि णाणत्तं, वोच्छामी आणुपूर्वाए ॥
हस्तानालो हस्तालभ्योऽथोदानं वेति त्रिधा पाठोऽत्र बो-
ध्यः । एतेषां त्रयाणामपि नामात्वं वचयामि यथानुपूर्वोऽर्थम् ।
तत्र हस्तातालं तार्यादिसृष्टौति-
उक्त्विमि य गुरुगां, दंभो पदियमि होइ जयणा उ ।
एवं सु होइयाणं, लोउत्तरियाण वोच्छामि ॥

इह हस्तेन, उपलक्षणवान् सद्वादिभिश्च यदा ताडनं, स हस्ता-
तालः । स च त्रिधा-लौकिको लोकाकारिकश्च । तत्र लौकिक-
हस्तातालं पुरुषवधाय सद्वादावुत्कर्णं गुरुकां रूपकाश-
मर्शातिसहस्रलक्षणो दग्धो भवति । पतिते नु प्रहारे यदि कथ-
मपि न मृतस्तदा भजना दशं दशं अपरापदं दग्धलक्षणा भवति ।
अथ मृतस्तद्वशादतिशयहन्तं दग्धः । एवं खुरवधारणे,
लौकिकानां दग्धो भवति । लोकाकारिकानां तु दग्धमतः
परं वचयामि ।

दत्येण व पादेण व, अणवदृष्टो उ ह्मिति उगिणो ।
पदिप्याम ह्मिति जयणा, उडवेणो ह्मिति चरिपपदं ॥
हस्तेन वा पादेन वा उपलक्षणत्वाद् यद्युपध्यादिभिर्वा यः
साधुः स्वपक्षस्य परपक्षस्य च प्रहारमुक्तिरति सोऽनवस्थाप्या
भवति, पतिते नु प्रहारे भजना, यदि न मृतस्ततोऽनवस्थाप्य
पथ । अथापद्रावणे मृतस्तदा चरमपदं पाराञ्चिकं भवति ।
अत्रेदं द्वितीयपदम्-

आयरिय विणयगाहणं, कारणजाते व बोधिकादीसु ।
करणं वा पदिमाए, तस्य तु भेदोपममण वा ॥
आचायः पुत्रकस्य विनयग्राहणं कुर्वन् हस्तातालमपि द्वा-
धान् । कारणजाते वा गुणवच्छ्रमभूर्तानामात्मन्तिके विनाशे
प्राप्ते, बोधिकस्तेनादिव्यपि हस्तातालं प्रयुञ्जीत । पञ्चाङ्गेन ह-
स्तालम्भमाह- (करणं वा इत्यादि) अशिशुपराचरोऽथाली त-
त्यग्रमनापि प्रतिमां पुच्छलिकां करोति, तत्र अभिचारिकमन्त्रं
परिजपयत् तथैव प्रतिमाया भेदं करोति; ततस्तस्योपद्रवस्य
प्रशमनं भवति । एतां निर्दुष्किणाय ।
अत पर्नां विवृणोति-

विणयस्स उ गाहणया, कसामोडणसङ्गचचेरणीहं ।
सावेकस इत्यतासे, द्वाति मग्गासि फेदंती ॥
इह विनयशब्दः शिष्यायमपि वर्तते । एत उक्तम्-विनयः

शिक्षाप्रणयोरिति । ततोऽप्यर्थः-विनयस्य प्रहृष्टशिक्षायां
आसेवनाशिक्षायां वा कर्णोमांडकेन सखुकाभिश्चपशानियां
सापेको जीवमाणोऽपि कुर्वन्, अत एव मर्माणं स्केटयन्-येषु प्र-
देशेष्वहाताः सम्भो श्रियन्ते तानि परिहरन् आचायः कृत्स्नकस्य
इस्तातालं ददाति । अत्र परः प्राह-ननु परस्य परितापं किय-
माणो अशातवेदनोऽयकमेवन्धो न्वति तत्कथमसामान्नायत ? ।
उच्यते-

कायं परपरितापो, असायहेतुं जिणेहिं पमत्तो ।
आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जद दुस्सले खल्लु उ ॥
काममनुमतमस्माकं परपरितापो जिमैरशातहेतुः प्रकृतः, परं
परपरितापो दुःश्लं मादवकशिक्षया तुमैहे तुविनीते शिष्ये षण्ण
निश्चिनमिष्यन् एव । कुन इत्याह- (आतपरहितकरो शिष्ये) हे-
तो प्रथमा, भावप्रधानश्चिर्देशः । ततोऽप्यर्थः-आत्मनः परस्य
च हितकरत्वात्, तथात्मनः शिष्याशिक्षां माहयतः कर्मनिर्जरा-
ज्ञानः । परस्य तु सम्यगगृहीतशिक्षस्य यथावच्छरणकरणानु-
पालनादर्थो भूयोऽंशो गुणः । पुनःशब्धो विशेषणस्य । स वेतिद्वि-
शेष-यो दुःश्लयसत्यनया परपरितापः किरने स एवाशात-
हेतु प्रकृतः, यस्तु शुक्याभ्यवसायनं श्वायपरहितकरः कियत स
नैवाशातहेतुत्विति ।

अमुमेयायं दहत्तेन उडवयति-
मिप्यं णेउणियद्दा, वाते वि संहतिं सोऽप्या गुरुणो ।
ए य मधुराधिच्छया वे, ए ह्मिति एसेविहं उवमा ॥

शिष्यानि रथकारकमभूर्तानि, निपुण्यानि च द्विपणिता-
दिकलाकीशालानि, तदर्थं शौकिकाः शिष्यकागुरुपरिषदस्य या-
नाद् परिस्मरन्ते, नच तथा ते, तदानीं दाकणा अपि मधुरनि-
श्चयाः । तेः सुन्दराः कियन्ते, नैवेयपरिणामा न प्रवर्तन्ति, किन्तु
शिश्यादिपरिद्वानि वृत्तिसन्नामजनपुत्रनीयादिना परिणामस्ते-
षां सुन्दरां नवतीति प्रायः । येषांपमा इह प्रस्तुताप्ये मन्तव्या,
यथा तेषां ते पाता हितस्तथा प्रस्तुतस्यापि दुविनीतस्य
शिष्यस्येति भावः ।

अत्रायं बुद्ध्याप्ये उक्तः सांप्रमेयांपरा दृष्टान्तः-
अहवा वि रोगियस्सा, ओसद विज्जेदिं दिअए पुत्थि ।
पच्छा साजिनुमवां, देहहिण्येछा पाडज्जइ स ॥
इय नवरोगिणस्स वि, अणुकूलं ण तु सारणा पुत्थि ।
पच्छा पदिक्कलेण वि, परलोगहिण्येछ कापव्वा ॥
(ओसह सि) विभक्तिषोषादौषधमिति मन्तव्यम् । अस
एव साधुरेवेषंधो जयेव-

संविगो महविओ, अमुदं अणुवचओ विसेसन्नु ।
उज्जुत्त अपहितेती, इच्छयपत्थं इइइ साहू ॥
संविन्ने मोक्षाभिज्ञायी, मार्दविकः स्वभावकोमलः, अमोची
गुरुणाममोचनशीलः, अनुवर्तकस्तेषामेव उन्मोऽनुवर्ती, विशेष-
हो वस्त्वस्तुविभागयेदी, उषुकः स्वाध्यायादी, अपहृत्तान्तो
वैयानुयादी, एवंविधः साधुरीप्सितमर्थमिह परत्र च श्रमते ।
अथ कारणजाते ' बोधिगाश्मुत्ति ' पदं व्याख्ये-

बोहिकेतणजयादिसु, गणस्स गसिणो व अचए पत्ते ।
इच्छंति हृत्यतासे, कालातिचरं च मज्जं वा ॥
बोधिकस्तेनमर्थे, आदिशब्दात् आपादादिमयेषु वा यदि

गणस्य गच्छस्य गणितो वा आचार्यस्य अत्यय आत्यमिका विनाशः प्राप्तः, तथा कालानिचार् वा कालानिक्रमेण, सद्यो वा तत्कालमेव, हस्तनारासिमिच्छति, गोत्रार्थो इति गच्छते ।

अथ हस्तासम्बन्ध व्याख्यानयति—

अस्ति च पुरोवर्गेषु, एवार्था वरममसु अजिज्ञता ।

संज्ञापपवया खलु अस्तेसु य एवार्थार्थीसु ॥

परत्तमयेणोऽभिज्ञते, ते णानु देवते बुवाभते ।

परिमै कांठं मञ्जे, विंधति मते परिजन्तौ ॥

अशिशेन लोको भूयान् क्रियते, परबलेन वा पुं समन्तादुपकृष्टं, तत्र ऋदिः कटकयोधेगान्यनाराणां कटकमर्दः क्रियते, अन्नकृष्याद्या कृष्या क्रियते, आदिशब्दाद् गलगाणानिभिर्धा रो- गार्थाः प्रभूतौ जनां मरणमव्युत्ते । एवमार्थार्थीसुः खरिजि- ज्ञतास्ते परिजनाः संज्ञातप्रत्यया यं उच्यते आचार्यो बहूभूतां शुश्रूषंस्तपस्वी स हाकां वैशसमिदं निरारुंद् नान्यः कश्चिदिति । (स्मृतिः) सम्यग् ज्ञानः प्रत्ययो येषां ते तथा, न कचलमन्धेय किन्तु अन्धेष्वप्येवमादिषु संज्ञातप्रत्ययास्ते संज्ञय तमाचार्यमु- पास्ते-धरणमुपगताः प्राञ्जलिपुटाः पादपतितस्तित्छन्ति । ततः स एवाचार्यस्तान् पौरजनान्, मरणजनेयानिज्ञानं देवनामिवा- स्मानं पृथुवासीनाम् हावा तदनुकम्पायरीतचित्तः प्रतिमां कृत्वा तन आचिन्तारिकमन्त्रान् परिजपन् तं प्रतिमां मध्यन्तानि विधायत, ततो नष्टा सा कुत्रदेवता, प्रशमितः सर्वोऽप्युपद्रवः । पथविशार- स्तालम्बार्था यदा अज्युत्तच्छति तथा नकारासम्बन्धे गोपन्थायने किन्तु किमन्त्राणि कांशे गच्छे गत्य वसन्त्वाभ्यर्चने कार्यते ।

अथाथीदानमहाह—

अणुकंपला निमित्तं, जायण परिसेहणा सउणि मे वा ।

बाणिय पुच्छा य तहा, सारण उन्नापयविष्णामे ॥

कस्याप्याचार्यस्य भागिनियो भवे परिच्ययमुकज्ञापयति । तत्र आचार्यस्य अन्नकम्पा-कथयम द्रव्यमन्तरेण गृहवासमभ्यासि- ध्याते हन्येवैरक्षणा भूयुष । स च निमित्तंऽनीचकुशर इति त्रैविद्यायैतयोर्द्वयोर्विष्णोर्जात्रैतिके भागिनियं रूपकथाचनाय प्रोपतवान्, स च तत्रैकं यणिजा- किं मम हाकुनिका रूपका- न् हदने, एवमुचया मिथिदः, द्वितीयानु रूपकनवलकातां दर्शना कृता । द्वितीये च सर्वे चाभ्यामपि वणिग्नयो पुच्छा कृता, तत आचार्येषु सारणा कथासकप्रणविषया शिक्षा दत्ता, ततो येन रूपका न दत्तास्तस्यै सर्वेस्वविनाशः समजनि, येन तु दत्तास्तस्योद्गावने महर्षिकानसंपादनं कृतवान् । एष निजु- किगायाऽहारायः । पू० ४ उ० ।

आचार्यस्तु कथानकादवसेयः । तखेदम्—

“वशिजाजुजायिन्मां ३०, प्रायः पुत्रा गुं सदा ।

पनायमानो पर्यायैः, परमासिद्धिमयानुः ॥ १ ॥

ओरभदु गुच्छां जामियो, जोगार्थो ज्वतमयथा ।

ततस्ते कृपयोचे स, विनाऽर्थैः किं करिष्यसि ? ॥ २ ॥

तथाहि वणिजो तो ल्वं, अणुऽर्थे मे प्रयच्छमसु ।

गुणंदिवालतः सोऽपि, गत्वा तौ अणत स्म तत् ॥ ३ ॥

प्रयैकः स्माह जोः ! कस्मा-दस्माक द्रव्यसंखयः ।

हाकुनी रूपकाद् भदः, कुवापि हनतेऽथ किम् ? ॥ ४ ॥

अदौकयद् द्विनीयस्तु, तस्यारो इजिये बहू ।

ऊचे देव ! गृहाण स्तं, यथेच्छं सोऽपि आग्रहीत् ॥ ५ ॥

द्वितीयेऽप्ये स तिरुव्व-प्रदः पुच्छजनययत ।

कीर्त्तिहि तुणकाष्टानि, स्थापयेच्छ पुगुद् बहिः ॥ ६ ॥

द्वितीयकस्तु नेकतः कीर्त्वा स्नेहं गुडं कणात् ।

यन्मकार्यामकाष्टानि, पुगुमये निधेहि भोः ॥ ७ ॥

वयांग्मं स मस्तेषु, क्वादिनेष्वथ येमस्तु ।

दग्धं सर्वं पुत्र जह, तुणकाष्टमहर्चना ॥ ८ ॥

प्रायं तदाऽप्याश्रितं, मुकज्ञामियसिदः ।

दग्धं सर्वं द्वितीयस्य, सोऽप्याज्येप्यावद्द मुकम् ॥ ९ ॥

किं न ज्ञातमिदं पुत्र्याः, गाढं प्लुष्टोऽहमेवमः ।

निमित्त्युचं निमित्तं नः शकुनी हृदतेऽथ किम् ? ॥ १० ॥

तथाऽप्यायाऽपि वा किंचित्, स्थापयन्धनं मे धनम् ।

ततो रुदं गुणं हात्वाऽत्यर्थं क्रमयति स्म सः ॥ ११ ॥ जतं ॥

उज्जोर्त्तिसोसर्धं, दो वणिया पुच्छिचं बवहरति ।

जोगाजितोस तन्वय, मुंचति ए रुवर् सउणी ॥ ? ॥

एगो व एउल्लादायण, वितिणं जलिप तर्हि एको ।

अणाम्मि ह याम्मि य, गेहहासो किंति पुच्छंति ? ॥ १२ ॥

तएकट्टेनैधमं, गिाहृद् कपासदुसगुस्यार्दो ।

अतो बर्दि च उत्रणा, हर्मां सउणी ण य निमित्तम् ॥ १३ ॥

इति तिस्रोऽपि व्याख्यातार्याः, नवरं मित्रकेण यणिजा भागिनिय उच्यते-अत्रिय तर्हि एको ज्ञियावतो युष्मज्ये रोचन्ते तायेना नवलकाद् मुह्यति, पथं द्वितीयेन धाणजा भाणतम् । तत्र नेपं मध्ये एकां नवत्रका मुहीतः । अन्वस्मिन् हायने वयं इत्यर्थः । दृष्यं वल्लभ्यन्ते, (सउणी न य निमित्तं ति) न च नैय मम हाकुनिका निमित्तं हदते ।

प्यारिमो य पुगंसां, अणवद्वयो उ मो सुदेसम्मि ।

नेतृण अणदेसं, चिद्द उवचावणा तस्म ॥

एतादृशोऽथो दानकारी यः पुत्रोऽप्युत्तिष्ठत स स्वदेशेऽन्य- स्थाप्यो न महादानेषु स्थाप्यते, किन्तु तमन्वदेशं नीत्या तस्य च तत्र तिष्ठत उपस्थापना कर्तव्या ।

कृत् इति च उच्यते—

पुव्वन्नासा जांस-ज किंचि गोरेवासिणेहनयतो वा ।

न सहइ परी-नहं पि य, णारुं कंठुव्व कच्छुद्धो ॥

न तैमिक्तिकं लोकाः पुत्रंन्यासाभिमिचं पुच्छेत् । सोऽपि ऋकि- नीरवतः स्नेहाद्वा नयाद् वा किंचिद्वा नयाद् च तत्र शिक्तो जायते । अपि च स ज्ञानविषयं परीवेद तत्र न स हते, सोऽहं न जाकोनीत्य- धेः । यथा कच्छुः पाप्मा तहात्त पुच्छयः कण्ठं आर्जेन विनाशितुं न शक्नोति ; एवमेवोऽपि तत्र निमित्तकथनमन्तरेण न स्थातुं शक् । इति भावः ।

अथ पूर्वोक्तमप्यर्थं विदोषज्ञापार्थं भूयोऽप्याह—

तदपस्स दांभि मोत्तुं, दृव्वे जावे य सेस जयणा उ ।

पकिमिद्धांलिककरणं, करणं अस्सत्थ तत्थेव ॥

इह 'साधर्म्यनेस्थियं करेमाणे' इत्यादिषु च ममासायेन ह- स्थातागतवस्तुनीय उच्यते । स च त्रिधा-हस्तानासो हस्तासम्बो- ऽथादानं वेति । तत्राद्ये हं एते मुकत्वा यच्छेपमर्थादानासं मृतीयं पदं तत्र उच्यते भावतश्च लिङ्गमदानं अजना भवति । कथा- स्थाद-(पमिसिद्ध इत्यादि) उल्लेख कारणं ह्यथविधाकथनान्ता- दिह निष्कारणमिति गम्यते । ततो निष्कारणे प्रतिषिद्धमर्थो-

मकारिणो लिङ्गकरणे प्रथमलिङ्गस्य वा तत्र क्लेशे प्रथमो, कारणं तु भक्तप्रत्याख्यानप्रतिपत्तिलक्षणे अन्वय वा तत्र वा अनुकृतमेव । एषा पुरातनी गाथा ॥

अतः पत्तो विचरिषुवाइ—

हृत्पातालो जहिओ, तस्स उ दो आइमे पदे मोसुं ।

अत्थायाणो लिंमं न दिंति तस्सेव तिसयाभिं ॥

हृत्पातालमूत्रकमप्रामायात्, तुर्यथैव, अथोद तस्यैव आदिमे हस्तातालहस्तालम्बकक्षणे पदे मुक्त्वा यद्दर्थानाकथं पदं तत्र वतैमानस्य तत्रैव विषये देशे लिङ्गं न ददति । स च अर्थादानकारी गृहीही ही वा । तत्र—

गिहिलिंणस्स उ दोमं वि, आसन्ने न दिंति जावलिंमं तु ।

दिज्जंति दोवि लिंगा, ओवत्थि य उचचइस्स ॥

यो गृहीलिङ्गि प्रज्जयाधमच्यपिद्युत्तित तस्ये द्वे अपि-कृत्यजाव-लिङ्गे तास्मिन्देशे न ददति । यः पुनरवसन्नस्यस्य कृत्यलिङ्गं विद्यत एव, परं भाषालिङ्गं तत्र तस्यैव ददति । यदा पुन-रस्वावुत्तमाधंस्य प्रतिपत्त्येमुपतिद्युते तदा तस्मिन्नापि देशे द-धोरपि गृहस्थावसन्नयोर्द्वे अपि लिङ्गे ददति ।

अथेवं करणम्—

ओपासिवपार्हिइ व, सपिस्समति तेण तस्म तत्थेव ।

न य अमहाओ मुच्चइ, पुट्ठो य भाणज्ज वंमरिये ॥

अथमाश्रयराजप्रियादिषु वा समुपस्थितेषु गच्छस्य प्रतिस्-पिप्यति अपवृद्धं करिष्यति, तेन कारणेन तत्रैव क्लेशतस्य लिङ्गं प्रपच्छति । तत्र चैवं यन्ना[न य अमहाओ स्मादि] स नरा-रोपिनमहात्मनः मन्मसहाय एकाकी न मुच्यते । लोकं च नि-मित्तं पुष्टौ प्रणति-विस्मृतं मम स्यामि तन्निमित्तमिति । अथ साधर्मिकारिस्तैर्येषु प्रायश्चित्तमुपदर्शयति—

साहृषिण्य अक्षयभिम्य-तेणेषु उ तस्य हावति (६) मा जयणा ।

चउल्लुगा चउ गुरुगा, अणवद्वयो य आएसा ॥

साधर्मिकस्तैन्यान्धधार्मिकस्तैन्ययोस्तावद्विषं प्रज्जना प्रायश्चि-त्तरचना भवति-आहारे स्तेनयतश्चतुल्लेषु, सचिचं स्तेनयतश्च-तुल्लेषु, आदेशेन वा अनवस्थाप्यम् ।

अहवा अणुवज्जाओ, एएसु पएसु पावती तिविहं ।

तेसुं चैव पएसुं, गणिआयारियाण खवमं तु ॥

अथवा अनुवाध्यायो य उपाध्यायो न भवति किं तु मामान्य-निष्ठुः स पणेषु आहारोपायसिन्धिरूपेषु यथाक्रमं त्रिविधं अ-धुमानं चतुर्लक्षे चतुर्लक्षवर्षमाणं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति । तेष्वेव आहारादिषु पदेषु गणितेन उपपायस्याचार्यस्य च नवममनव-स्थाप्यं भवति । अथ परः प्राह-ननु सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्य एव भणितो न पुनर्लक्षप्रामाणिकं त्रिविधं प्रायश्चित्तं, तत्कथ-मिन्द्रमेवनाजिषीयते ? उच्यते-आहृतानामेकान्तवाद्ः कापि न जवति । तथाहि—

तुल्लमि वि अन्नराहे, तुल्लमपुल्लं व दिज्जप दोएहं ।

पारंविंके पि नवमं, गणिस्स गुरुगो ठ तं चैव ॥

तुल्यः सहस्रोऽपराधो हाउपयामपि आचार्योपाध्याय्याज्यां से-विता, तत्र ह्येवंपि तुल्यमतुल्यं वा भावयित्त्वं दीयते, तत्र तुल्य-हानं प्रनातमेव । अनुल्यदानं पुनरिन्द्रम-पाराश्रिके पाराश्रिकाप-विशयोस्ते ऽवपराचपदे सेविते गणित उपाध्यायस्य तदमनव-

स्थाप्यमेव दीयते, न पाराश्रिकम्, गुरोराचार्यस्य पुनस्तद्वेव पा-राश्रिकं दीयते, ततो यथापि सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्यमुक्तं त-थापि तत् पुरुषविशेषांपेकं प्रतिपन्नमस्य, यद्वा-अमीहस्येवा-निष्पन्नम् । तथा चाह—

अहवा अजिक्खसेवी, अणुवरयं पावई गणी नवमं ।

पावति मूलमेव छ, अजिक्खपन्निसेविणो सेसा ॥

अथवा साधर्मिकस्तैन्याद्वर्माङ्गणसेवी पुनः २ प्रतिसेवां यः करोति स ततः स्थानादनुपपन्नम् अनिघतेमानो गणो द्रवाध्या-यो नवमं प्राप्नोति । शेषास्तु ये उपाध्यायत्वमाचार्यत्वं वा न प्राप्तान् अमीङ्गणप्रतिसेविनोऽपि मूलमेव प्राप्नुवन्ति, नानव-स्थाप्यम् ।

अत्थादाणो ततिओ, अणवद्वो लेत्तओ समक्खाओ ।

गच्छे चैव वसंतो, निज्जुहुज्जाति सेसाओ ॥

अथाङ्गानिमित्तप्रयोगेथार्थे कृत्यमावृत्तं इति अर्थादानाकथो य-स्तुतोऽयमवस्थाप्यः, स क्लेशतः समाकथानो, तत्र क्लेशं नापस्था-प्यत इत्यर्थः । शेषास्तु दस्तातालकारिमृशृतयो गच्छ एव वसन्तो निवृत्तान्ते आलाचनादिभिः पदैरैहिः कियन्ते इत्यर्थः ७०५उ० । उक्तोऽं बहुसो वा, पउट्ठविचो व तेणियं कुणइ ।

पहुरइ जो य सपक्वे, निरवेक्को व धीरपरिमाणो ॥

अजिसेव्वां सन्नेसु वि, बहुसो पारंविपाज्जराहेसु ।

अणवद्वयावचित्तु, पसज्जमाणो अणोसासु ॥

उच्छेदं वस्तु(वैषयं बहुशो वा पौनःपुन्येन प्रवृष्टविचो वा संक्रि-ष्टमनाः कोऽपि आदि कुशिलमनसो याव स्तैर्ये स्यात्सकस्तैन्य-त्र-यधार्मिकस्तैन्ये वा करोति । जतो ॥ एवंविधायां पाराश्रिकानां आचार्यः स्वस्य महाव्रताचारोपयितुमभ्यर्थयमानो तदोपकरण-निवृत्तौऽपि तत्र क्लेशे न महाद्वेषेण स्थाप्यते, तथा हस्तालम्बक एव हस्तान्मस्मिन् ददानः, अग्निये पुरोऽप्रादौ तत्रमग्नयार्थमजिन्वा-रमन्थादीन्प्रयुञ्जाम इत्यर्थः । तथा हस्तेन तारकं हस्ततालस्मिन् ददानः यदुष्पुट्ठग्रगुहादिनिरागमनः परस्य च मरसभयनिरवे-क्कः स्वपक्के, अश्रुणा उपरपक्के च, धारपरिणामो निर्व्यो वा प्रहर-ति । एते त्रयोऽप्यनवस्थाप्याः कियन्ते । याद् वाऽऽव्यायोर्द्वि-कोऽपि हिनस्ति ततस्तन्मारणेनापि तान् रक्षेत् । यदाह—“आय-रियस्त विषासः, गच्छे अहवा वि कुसमाणे संधे । पविंदिथेव-रमणं, काठं नित्थारणं कुज्जा ॥ १ ॥ एवं तु कर्तियेत्त, अ-च्छेत्तच्छी कया उ नित्थंमि । जइ वि सरीराओओ, तइ वि य आराहको सो ॥ २ ॥ ” यस्तु समर्थोऽव्यागारोऽपि प्रयोजने न प्रगल्भते स विराधकः । इहातिथेक उपाध्यायः स येषु वेध-परधेषु पाराश्रिकमापद्यते तेषु बहुशुः पाराश्रिकमापद्येत्तु स-र्वेष्वपि बुद्धिमित्तमनवस्थाप्याः कियन्ते । यथा भिक्कोरमव-स्थाप्यपाराश्रिकेऽपि प्राप्तस्य सूत्रमेव चरमं प्रायश्चित्तं भवति, एवमुपाध्यायस्याप्यनवस्थाप्यमेव परमं, तथा अनवस्थाप्याव-चित्तु उपचाराद्वनवस्थाप्याक्यप्रयश्चित्तार्थापत्तिकारिणोऽपि त-वारप्रतिसेवाप्यनेकासु प्रसज्जणं प्रसक्तिं कुर्वीसोऽनवस्थाप्याः कियन्ते ।

स आनवस्थाप्यः कियमाणः कस्मिन्क—

स्मिन्निषेधे कियते इत्याह—

कीरइ अणवद्वप्पो, सो लिंगविचकालओ तवतो ।

लिंगेसु द्वाज्जावो, जसिओ पच्चाणया ऽगरिहो ॥

क्रियते तथाविधापरिधाकारिस्वाम्नाइतेषु सिद्धे वा मानवस्था-
 प्य इत्यनवस्थाप्यः । स चतुर्थो-सिद्धतः, क्षेत्रतः, काशतः, ।
 तपोविशेषतश्चेति । सिद्धं द्विधा-रूपे च प्रांच वा । तत्र इत्यसि-
 ङ्गे उद्देश्यत्वादि, भावसिद्धं महाप्रतादि । अत्र चतुर्भङ्गी-रूप-
 सिद्धेन भावसिद्धेन आनवस्थाप्य इत्येको नङ्गः । इत्यसिद्धेनाव-
 वस्थाप्यो न भावसिद्धेनेति द्वितीयः । प्रावसिद्धेनानवस्थाप्यो
 न इत्यसिद्धेनेति तृतीयः । अत्राप्यानवस्थाप्य इति चतुर्थः ।
 इह इत्यसिद्धेन भावसिद्धेन चाऽनवस्थाप्यः प्रथममङ्गस्यः
 प्रशाजनाऽनर्हो भणितः ।

लिङ्गानवस्थाप्यादिचातुर्विधमेव चित्तव्यवाह-
 अप्परिचरितोसम्भो, न भावसिद्धिगारिहोऽणवद्वयो ।

जो जल्य जेष दूमइ, पहिसिक्को तत्य सो खितो ॥

अप्रतिरिक्तः सार्धमिकाप्यधामिकस्तेत्यासद्वृत्तित्वेना-
 निवृत्तः स्वपक्षपरपक्षरूपगोचरतश्च निरपेक्षातुपशान्तवैरो यः
 स इत्यभावल्लिङ्गापमानवस्थाप्योऽनवस्थाप्यप्रथममङ्गवर्ती
 कियते । इस्तादव्यवर्थाय अर्थादात्मकरो धाव्यसम्भाविकश्च तत्त-
 द्वापानिवृत्तं न प्रावसिद्धिगार्हः । अयं भावः-स इत्यसिद्धिं भव-
 ति न भावसिद्धमर्हति, भावसिद्धमपेक्षात्ववस्थाप्यतुलीयतद्भूयतीं
 जन्तोत्यथैः द्वितीयचतुर्थभङ्गीपुनर्ये संभवनः, क्षेत्रतोऽनवस्था-
 प्यो यो यत्र क्षेत्रे येन कमेणा इत्यनेन स तद्दोषकरणानिवृत्तोऽपि
 क्षेत्रे प्रतिरिक्तो महाभूतेषु स्थाप्यते । निराकृतो यथाशौहानकादी
 तत्रैव क्षेत्रे न महाभूतेषु स्थाप्यते, यतः पूर्वोऽन्यासात् तं लोको
 भिमिच्छं पृच्छेत्, स च नं निमित्तज्ञानअव्युत्पिच्छीरवं सोऽनुमत्तः
 कदाचिद्वत् कथयेत्, ततोऽप्यत्र निश्चयवस्थाप्य उक्तमाद्यप्रतिप-
 क्षय पुनस्तथापि स्वस्थानेऽपि विद्यतेत्य महाभूतारोपः कार्य
 यत्र । उक्ती लिङ्गैश्चाऽनवस्थाप्यी । जीतो ।

जत्तियमिच्छं कालं, तवसा उ जट्ठअणण उम्मासा ।

संबच्चररुकोसं, आसायइ जो जिणइणं ॥ ए१ ॥

यो यावन्तं कालं दोग्धाक्षोपरमते तावन्तं कालमनवस्थाप्यः
 कियते । तपसा त्वनवस्थाप्यो द्विधा-प्राशानताऽनवस्थाप्यः,
 प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च । तत्र जिनादीनां तीर्थेकरसङ्घुत्ता-
 चार्यमहर्षिकगणधराणामाशानतां यः कुर्वान् । यथा-तीर्थंकरैः
 स्वयोपायकुम्भैरेपि गृहवासस्याप्यादिकाऽतिकंशा देशना हताः
 यद्वि च गृहवासो न भेद्यन्त ततः किमिति स्वयं गृहवासं वस-
 न्ति स्म, नोगांश्च लुकवन्त स्वयं हतोऽसिद्धतः सङ्घं च हत्वा
 ऽपराधया वदन्त-पुं० हत्वा मयाऽरक्षेऽपि सङ्घः ऽप्यालम्बानवृ-
 क्षिचकारानामिति । सुतं श्रैवमर्षिकैरपि यथा-“कथावचाय
 तित्किच्य, पुणे वि तित्किच्य वमायपय । मुक्खस्स देसणण,
 जोहसज्जोणिदिं किं कळं॥१॥” आचायं च जातादिभिरधिष्ठा-
 पिति । महर्षिकाश्च गणज्जोना गौतमाद्यः, ये वा यस्मिन् युगे प्रधा-
 नभूताः, तान् श्रुत्वा रसा गौरवप्रसक्तः कथका इव सोऽप्याय-
 नोद्यता इत्यादिव्याक्यैरधिष्ठापिति । स आशानताकारिवादाशान-
 तगतपोऽनवस्थाप्यः । स जघन्थेन पाशासत् उक्तवन्तः संभस्-
 रं यावत् तपः कुर्वन् कर्तव्यः, तावत् च तपसा कृपिताऽऽशा-
 नतामनितकर्मत्वापूर्थे महाभूतेषु स्थाप्यते, प्रतिसेवनाऽनव-
 स्थप्यव्यक्तोत्तरगाथार्यो वदन्त्येते ।

सा वेयम्—

वासं वारसवासा, पकिसेवो कारणात्त सव्वो वि ।

धोवं धोक्त्तरं वा, वहिज्ज सुब्बिज्ज वा सव्वं ॥ ए२ ॥

प्रतिसेवो प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यः सार्धमिकाप्यधामिकस्तेना-
 च्यां इस्मतालादिनिश्चयश्चेति, स च जघन्थतो वर्षेण, उरुहृष्टोना
 दाश वर्षाणि, तदनन्तरं जनेषु स्थाप्यते । स चानवस्थाप्यः
 संदर्शनादिगुणयुक्त एव कियते, अन्यस्य तु मूलमेव दीयते ।

अथ कौटुम्भागुणयुक्तस्यानवस्थाप्ये दीयते इत्याह—

“संहरणविरयअगम-सुत्तस्यारिहो यदीहयथो ॥ १ ॥

तवसी निग्गाहत्तुसो, पवयणसारां व गहिदयथो ॥ २ ॥

तिलतुसमतिभागमित्तं, वि जस्स अनुभो न विज्जं भावो ।

निज्जुणारिहो सो, सेसे निज्जुहणा नरिय ॥ ३ ॥

पयगुणसंपपत्तो, पावइ अणवद्वयुत्तमगुणो ॥ ४ ॥

पयगुणवियुत्तुण, तारिसगम्मा भवे सुत्तं ॥ ५ ॥

[तपसी] तपश्चरणवान् [निग्गाहत्तुसो] जिनिःप्रयः [नि-
 ज्जुहणारिहो] गच्छात् पृथक्करणार्हः अपवादतत्त्वमनवस्थाप्यकु-
 लगणसंघकार्यकारी, बहुजनसाध्यं च कार्यं ऽप्यङ्गादितमुच्य-
 ते, तत्साध्यकत्वायमित्यतः कारणात्सर्वोऽपि द्विप्रकारोऽपि प्रा-
 शानतेनावस्थाप्यते । प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च गुरुमुखात् सङ्घा-
 वेदान् लोकं लोकतरं वा, मासद्वयं मासिकमात्रं वा श्रानवस्था-
 प्यतयो बहवः । सङ्घो वा सार्धोऽप्येवमादिकर्मव्याप्तनवस्था-
 प्यशोधयत वारमत्रे क्षान्तियत्तलोति सधे सुभेत्तं, अनवस्था-
 प्यतयो न कारयन्तिर्यथः । जीतो । ५० ।

यस्त्वमवस्थाप्यतपः प्रतिपद्यते तद्विधिमाह—

आसायाणां इहसं, उम्मासाः वारस उ मासा ।

वासं वारममासं, पक्केभो कारणे भणियो ॥

इचिरियं निक्खेवं, काउं वन्नं गुणं गमित्ताणं ।

दव्वाइ सुत्ते विरयणण, निरुवस्मगहत्त उवस्मगो ॥

अणवद्य निक्खयथा, आणार्यो वि जंतोणं सणो ।

परगो न होति पए, आण्णा थिरया जयं चेष ॥

गाथापदकं, यथा पाराशिक्के व्याख्याते तथैवात्र मन्तव्यम् । नवर्षं,
 [वव्वाइसुत्ते विरयणण ति] इत्येकैककालजावेषु युगेषु प्रशस्तेषु,
 प्रथमो वटवृक्षादीं क्षीरवृक्षैः क्षेत्रत इहूकेषुक्षादीं, काशतः पुष्पां,
 ज्ञातः प्रशस्तेषु चन्द्रताराविद्येषु, गुरुणां विक्रानतामाशान्चना
 ददाति । तत आचार्यो भणन्ति-“ पय सान्द्रस्स अणवद्वयत्तव-
 स्स निरुवस्ममित्तिसिं उमि काउसम्भं [ति] अण्णपुससिप-
 व” इत्यादि वार्त्तारमोति याद्यत् । ततस्सुत्तविंशतिरुत्तुसुत्तव्या-
 चार्यो भणन्ति-एव तपः प्रतिपद्यते, ततो न भवद्भूः सार्धमाशान-
 पादिकं विधास्यति, स्वयमप्येतेन सार्धमाशापादिकं परिहरस्व-
 मिति । ५० ४ उ ॥

वंदइ नइ वंदिज्जं, परिहरातत्तं सुट्ठरत्तं चइ ।

संवासो से कपट्टे, नाहोवणइणिणं सेसाणि ॥ ए३ ॥

अनवस्थाप्यतपश्चरणकरुणकालं यावत् स्वयणं गीताथे नि-
 क्षिप्यान्वाथे उपाध्यायो वा प्रशस्तेषु इत्येकैककालजावेषु,
 तत्र इत्यतो घटादीं क्षीरवृक्षैः, क्षेत्रतः इहूक्षालिंक्षेषुसु-
 मित्तनक्षत्रप्रदक्षिणावर्त्तजपपासासरक्ष्येप्रादिषु, कालतः
 पुष्पांश्च, भावतः प्रशस्तेषु चन्द्रतारावलेषु, सध्यागतादि-
 नक्षत्रयजमालोचनं प्रयुक्ते स्वार्त्तित्तरं प्रकारार्थाः । आशो-
 चऽनन्तरं जघन्थेन मासमुकथेतः पथमासादिकमनवस्था-
 प्यतपःप्रपद्यमाने आलोचनादायकः काप्यास्तेषु करोति । “ व-
 यस्स आयारियस्स अणवद्वयत्तवस्स निरुवस्ममित्तिसिं उमि

अणवद्विष्य

काउत्सस्योऽन्नस्य उत्ससिष्योः, इत्यादि 'बोसिपामि' इति यावत्
 चतुर्विंशतिस्तनवमुत्ससिष्यं पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तनवमुत्ससिष्याः-
 ५५चार्यो बन्धि- "इत्येत तव पदियत्तदह, न कियत्तद्माह माह
 माहवह । अणवद्विष्यस्तस्य त, धायात्रो मे न कियत्तयोः । " एव
 युष्माकालाप्यिति, युष्मानिदपि नालाप्यः, एव युष्मये शरीर-
 याती वा न प्रक्ष्यति, युष्मानिदपि न पृच्छ्यः । भेदमल्लुकमा-
 त्रादिकं वा नास्य प्राणवर्षणोयं वा, उपकरणं परस्परं न प्रति-
 क्षेप्यं, अकपानं परस्परं न प्राण्यः । संघाटकोऽस्य न मेलनीयः ।
 अनेन सहैकमाह्रस्वयं न भोकस्य, किमप्यनेन साधि न
 कार्ये कार्येति । अयुष्मा गाथाऽनकार्यो-प्रतिपक्षाऽनवस्थाप्यत-
 पः शैक्यादीनि वन्दते, न चासौ वन्दते । परिहारतपश्च पारि-
 हारिकसाधूनां तपः मीमे चतुष्येष्टाहमिति, शिशिरे षष्टाहमद-
 शमनि, यथाऽष्टमदशमदशानि अत्रन्यमन्थमोक्तुष्टानि, पार-
 यणं च निलेपः, अकमिन्धवं कपे सुमुत्तरे चरति । संघासः स-
 हयासो गच्छन्नास्य एकक्षेत्रे एकोपाश्रये एकस्मिन् पाश्वे शेष-
 सायुरिभोयमदेशे कल्पते, नालपनादि शेषाणि; इत्येष
 सङ्केपतोऽनवस्थाप्यविधिः । उक्तमनवस्थाप्याह्वयः । जीत० ।
 एवंविधं तपः प्रतिपद्य यदसौ विद्यथाति तद्वपदशयति—
 सेदृष्टिं वंदंतो, परगद्वियमदात्तावो जपो चैव ।
 विद्वद्वद्व नारसवासं, अणवद्वष्टापो गणो चैव ।

शैक्यादीनि वन्दन्त्याने जिनकल्पिक इव प्रह्रीतमन्थातपाः
 पाणकं निलेपं अकपानं प्रह्रीतमन्थान्धातपानकामिद्वष्टुकं
 चतुष्येष्टादिकं विमुक्तं परिहारतपः कुर्वन्नाति भावः । एवंवि-
 धोऽनवस्थाप्या गण एव गच्छन्तमंत एवेत्यपेक्षितो द्वयश
 वर्षाणि विहरति ।

इदमेव ज्ञावयति—

अणवत्तं वहमाणां, वेदं सो भेदमायिषो मध्ये ।
 संघासो मे कपश्च, सेसा उ पया न कल्पति ॥
 परमण्डलनवस्थाप्य वहमानः स उपाध्यायविधिः शैक्यादीनिप
 सगंघं साधुन् वन्दते, नस्य च गच्छेन सार्धमेकत्रोपाश्रये एक-
 स्मिन् पाश्वे शेषसायुजनापरिजोमे प्रदेशे संघासं कर्तुं क-
 ल्पते । शेषाणि तु पदानि न कल्पन्ते ।

कानि पुनस्तानीत्याह—

अज्ञानवद्विष्योऽनवस्थाप्य-परियच्छाणवद्विष्येण मथे ।
 पदिल्लेणसंघाटाह-भक्षदापसंयुजणा चैव ॥ ०५ ॥

अज्ञानपणे स साधुभिः सह न कार्यते, सर्वेभामपि स कदा-
 ति, तस्य पुनः साधवो न कुर्वन्ति, (अथेति) । भेदमात्राद्विष्य-
 पेणं तस्य न कियते, मोक्षसि तेषां न करोति । उपकरणं परस्पर-
 रं न प्राप्येकान्तं, संघाटकेन परस्परं न भवन्ति । अकमानम-
 न्योमं न कुर्वन्ति । एकत्र माण्ड्यानां न संयुज्यन्ते । यथाप्यव कि-
 ष्टिकरणीभय, तस्मै साधि न कुर्वन्ति । 'संघो न लभइ कश्चं'
 इत्यादिगाथाः पाराञ्चिकवद्विष्यतानि ० ५ सं० (अनवस्थाप्य-
 स्व्यं श्रुभूतस्थाश्रुभूतस्य योऽनवस्थाप्या उवजावणा' शब्दो
 वृत्ति ० आ० ४१०० पृष्ठे वक्ष्यते) तपोऽनवस्थाप्यश्च चतुर्दशपूर्वधरे
 श्रीभक्त्याहुस्वामिनि द्युक्तिःच । " अणवद्विष्यो तवसा, तव
 पारयण्यं इति शुद्धिः । अबदसपुण्यधरिभ्य, धरंति सेसाउ
 जा तियं ॥ १ ॥ जीत० ।

अणवद्विष्योऽनवस्थाप्या-श्री० । येन पुनः प्रतिसेवातेन
 उपाध्यायनाया मन्थयोः सन् कश्चित्काष्ठं न भ्रेषु स्थायते

तदनवस्थाप्यात् ५११स्वानवस्थाप्यात् प्रायश्चित्तम् । यथा-यथो-
 कं तपो यावत् कृतं तावत् तन्नैषु लिङ्गे वाऽनवस्थाप्यत् इत्यनव-
 स्थाप्यस्तस्य भावोऽनवस्थाप्यात् । नवमप्रायश्चित्तं, स्या० १५
 ३१० । अणवत् । एवा० ।

अणवद्विष्यादि-अनवस्थाप्यादि-न० । नवमप्रायश्चित्तं, स्या० । य-
 क्षि भासतिवे कश्चन काष्ठं अंत्यनवस्थाप्यं कृत्वा यत्काष्ठं गेत्तवा
 तयोपोपरतो अंत्ये स्थाप्यते तदनवस्थाप्यात् । स्या० १०० ग्रा० ।
 अणवद्विष्यादि-अनवस्थाप्यादि-श्री० । (उपकारात्) ।
 अनवस्थाप्यास्त्याप्यद्विष्यापि कारिणीषु प्रतिसेवायु, जीतो० ।
 अणवद्विष्यापि-अनवस्थापि-न० । न० त० । सामायािककालापे-
 र्पूणे यथा कथञ्चिद्विज्ञानाहनस्य करणे, एव सामायािकस्य
 पञ्चमोऽतिवारः । उपा० १ अ० अमं० ।

अणवद्विष्य-अनवस्थापि-त्रि० । अनवतप्रमाणे, " अणववि-
 शालं तस्य श्लु राशिविवा पक्का " च० प्र० ५ पाठु० । अस्थिरे
 कल्पानुयोगाश्रयानहंदेशे, वृ० ।

तत्रानवस्थितं ताबदाह-

दुविहो लिंगविहारो, एकेको चैव हाइ दुविहो ॥
 चठरो य अणुग्याया, तस्य वि अणाण्डाणो दोसा ॥

अनवस्थितो द्विषिः । तद्यथा-लिङ्गानवस्थितो विहारान-
 वस्थितश्च । एकैकः पुनरापि द्विषिषो भवति । तदुभयमपि
 द्विषिष्यमनमनस्साध्यायं वष्यते । अत्रार्थं भासा अणुदाला
 गुरुवः, उपलक्षणान्वाहणमुसासाविकं वा अत्र यद् प्रायश्चित्तं
 भवति, तन्न यथास्थानमेव भावयिष्यते । तत्रापि लिङ्गानव-
 स्थितविहारानवस्थितयोरप्याहावयो दोषा द्रष्टव्याः ।
 अथेनामेव गाथां ध्यास्यानयति-

गिद्विलिङ्गं अन्नलिङ्गं, जो उ करेइ स झिगमो दुविहो ।
 चरणे गणो अ अयिरो, विहार अणवद्विष्यो एसा ॥

शुद्धिलिङ्गं एतस्यानां वेचम, भव्यलिङ्गमतीर्थिकानां नेपव्यव ।
 यः साधुः, युष्मदो विशेषणे । किं विशिनष्टि ? इत्येष यो लि-
 ङ्गव्यं करोति, स एव लिङ्गतो द्विषिषोऽनवस्थितः । अस्य च
 स्कन्धोपरि कल्याणमात्रोपरणकं गद्व्यपानिकं प्रायुष्य-
 त उतरासङ्करूपमद्वैतस्यात्संयत्तं कुर्वते । अस्ते कं चत्वारो गुरु-
 मासाः, आश्रयि बाहू छादयित्वा संयतीं प्राशरशमातन्यामस्य
 चत्वारो लघवाः, कल्पेन शिरस्थगनकपां शीर्षहारिकां कुर्वते
 मासलघु, चतुष्कलं मुक्तसं वा कल्पे स्कन्धोपरि कृत्वा गो-
 पुच्छवदधोलम्बमानं कुर्वते मासलघु । एतेऽपि लिङ्गाऽनव-
 स्थितेऽन्तर्भवन्ति । तथा चरणे चापि अस्ति यः पुनः पुन-
 ष्टिकारिणात्यतिपतति, तस्य यदि स्वयं 'दवाति तदा चतुर्लघु',
 अर्थं ददाति तदा चतुर्लघु, गणे गच्छे अस्थिः पुनराण्डाणं
 संकल्पति । एव द्विषिषोऽपि विहारानवस्थितः । एतद्विषिरोतस्य
 स्वलिङ्गावस्थितस्य संविधिविहारानवस्थितस्य च दातव्यं यदि
 न ददाति, तदा तस्यै स्वयं चतुर्लघु, अर्थं चतुर्लघु । सतमनव-
 स्थितद्वारस्य । वृ० १ उ० । स्या० । (आचेलक्यावयः पञ्चमव-
 स्थितकल्याः 'कल्प' शब्दे तु० ग्रा० ३१२ पृष्ठे वक्ष्यते) । अ-
 ष्टाद्विष्यस्य करणत्वा । अन्नवस्थिततस्यत्यक्ताकाराणस्तस्यानव-
 तस्य सामायािकस्य करणमनवस्थितकरणमस्यकालकरणान-

अणवद्विद्य

स्तरमेव स्वजति, यथाकथञ्चिद् वा करोतीति भावः । उपा० १ अ० । पंचा० । अ० । अणवः ।

अणवद्विद्यवित्त-अनवस्थितवित्त-त्रि० । एकत्र स्थापितान्तःकरणस्वरहिते, वि० सू० १ उ० ।

अणवद्वि (त) यस्त्राण-अनवस्थितसंस्थान-न० । सतत-अणुप्रवृत्त्या सम्यगवस्थाने, जी० ३ प्रति० ।

अणवस्थित न-अनपनीतत्व-न० । कारकलक्षणवचनलिङ्गविध्यव्ययरूपवचनदोषापेक्षताकूपे पञ्चविंशे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० । रा० । औ० ।

अणवतत्पया-अनवत्पयाना-स्त्री० । अपतापायितुं लङ्गवित्तुमर्तः शक्यो वा अपत्रायणे लङ्गनीयः, न तदाऽनवत्पयस्त्वन्तुभावाऽनवत्पयता । हीनसर्वाङ्गत्वे, उक्त० १ अ० । अल-अनोयाङ्गतायाम्, स्था० = टा० ।

अणवतारण-अनवतारण-न० । न० त० । अणुपस्थापने, अ० २ अ० ।

अणवत्या-अनवस्था-स्त्री० । अव-स्था-अङ् । अवस्थापितः । न० त० । अवस्थाभाष्ये, तर्कदोषविशेषे च । उपापाद्यस्य समर्थ-नाय उपापादकस्यानुसरणं तर्कः, यत्र तर्क उपापादोपापादकयोर्विभ्रान्तिर्नस्ति तादृशतर्कस्थानवस्थादोषः । तत्र न तर्को न ब्रह्मः । आत्व० । अनवस्था तु पुनः पुनः पदद्वयावतन्त्राया प्रसिद्धेव, इह तु अनवस्थाचक्रयोर्नामकृत एव विशेषो लभ्यते न पुनरर्थकृतः । किञ्चिद् यद्व्यपत्ति-सामान्यविशेषयोरे चक्रक-मनवस्थाविभुत्वेरिति । अथ हि चक्रके साध्ये अनवस्थानिवृत्त-लक्षणो हेतुरपन्यस्तः । अतो ह्ययत्नेऽनवस्थैव चक्रवत् पुनः पुनर्ग्रहणं च चक्रकमित्युच्यते इति । अ० १ अ० । किञ्चिद्व्य-वस्थानाऽप्राप्तौ, विशे० । अनाम्नात्, वृशे० । किञ्चिदकार्यं कुर्वन्ने ह्युद्गम्येयामपि तथाकरणे, व्य० ७ उ० । यथा कि-मयमेवंविधं करोति किमहमेतन्न करिष्यामीत्येवंरूपा । (तस्त्व-रूपे च 'पलंब' शब्दे यद्व्यत)

अणवद्वग-अनवताम्र-त्रि० । अवनतमासक्रमप्रमत्तो यस्य त-स्यथा । तस्मिन्नेवादनवतमास्रम, तदेव वर्णमाशादनवताम्रमिति । आससन्नाथे अनवगतमपरित्रिभ्रमर्षे पारिमाणं यस्य तस्यथा । अ-परित्रिभ्रान्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अणवद्वृत्त-त्रि० न विद्यतेऽनवद्वृत्तं पर्येतो यस्य सोऽयमनवद्वृत्त इति । अपर्यन्ते अन्तरे, सूत्र० ३ अ० २ अ० । सम० । ३० । न० । प्र० ० । अपर्ययसाने, सूत्र० २ अ० ५ अ० । अपरिभ्रान्ते, वि० सू० २ उ० । सूत्र० । प्र० ० ।

अणवपत्तित्वा-अनवेष्ट्व्य-अन्व० । पक्षाद् प्रागमनवलोक्ष्येन्व-ये, "जेणं नो पञ्च मगसो क्वादे अणवयक्लिप्तानं पासित्वा-य" न० ७ श० ७ उ० ।

अणवप्रयमं-देशी-अवयमं इति देशीयचनोऽतवाचकः, त-स्तन्निषाद्यवयमं । अन्तरे, भ० १ श० १ उ० ।

अणवयमाण-अनपवदत्-त्रि० । अपवदन् अन्वयैव व्यवस्थि-तं वस्तुस्यथावद्अपवदत् । न अपवदन् अनपवदत् । प्राकृ-तत्वादास्याद् वा पकारलोपः । मृधाभाद्मकुर्वति, व्य० ३ उ० ।

अणववित्त-अनवर्त-त्रि० । अथ-वर्त-जाये कः । अवर्तन् वित्त-मस्तत्प्राप्ति यस्य । भ० । निरन्तरे, विभ्रामशुभ्ये च । वाच० ।

निरन्तरे, कल्प० । सतते, अ० १ श० ३३ उ० । पंचा० । आचा० । जं० । सकलकाले, प्रा० म० ङि० ।

अणववाद्-अनपवादित्व-न० । सर्वेषु अणवोऽसमभ्यमने-वेषु जन्तुषु अपवाद्मन्त्राद्यो करोतीत्येवं शोकोऽपवादी, मापवा-दी अनपवादीति । न० त० । तस्य भावस्वरूपम् । अपवाद्भाष-णे, परापवादे हि बहुदोषः । यदाह बावकचक्रवर्ती-"परपरि-वषपरिवादा-शामोक्त्यापच भवते कम् । नोविशोऽं प्रतिजव-म-नेकजवकोटिदुर्मोचम्" ॥१॥ इति । तद्वैयं सकलजवकोटोऽप्य-वर्णवादा न अत्रान्, किं पुनरेवमात्यपुरोहितारिषु बहुजनमा-न्येषु । मृधाघवणंवाद्वाणु प्रागनाशादिदोषादिति । भ० १ अ० ।

अणवय-अनपय-त्रि० । अपायरहिते निर्दोषे, " आगमवचन-परिणति-भेययोगसदोषधं यद्वनपायम्" यो० ५ विष० ।

अणवित्तित्वा-अनपेक्षता-स्त्री० । शिखारहितन्त्रे, ग० १ अ० ।

अणवैकस्वमाण-अनपेक्षमाण-त्रि० । शरीरनिरपेक्षं, "सुणे उ-रालं अणुवेदमाणं, चिन्त्वा ए सायं अणवैकस्वमाणे" सूत्र० १ अ० १० अ० ।

अणवे (वि) क्त्वा-अनपेक्षा-स्त्री० । स्वपरविशेषाकरणे, व्य० ३ उ० ।

अणमण-अनदान-न० । अश्रयते भुज्यते इत्यनदानम् । अश्रेया-हारप्रत्यास्थानं, उक्त० । एकस्माद्गुणवासादारण्य पापमात्मिक-पर्यन्ते, उक्त० ३० अ० । पा० । आहारान्यगर्गणे बाह्यनानेद, स्था० ६ उ० । ग० ।

से किं तं अणमणे । अणमणे द्विविधे पणत्ते । तं जहा-इत्तरिण्य, आत्रकट्टिए य मे किं तं इत्तरिण्ये । इत्तरिण्ये अणमणे पणत्ते । तं जहा-चउर्ये भत्ते, उद्रे भत्ते, अद्रेभे भत्ते, दस्ये भत्ते, तुवात्समे जत्ते, चउद्रेभे भत्ते, अद्रेभे भत्ते, मासिए भत्ते, दोपामिए जत्ते, निपामिए जत्ते, जाव उम्पामिए जत्ते, मेत्तं इत्तरिण्ये । से किं तं आत्रकट्टिए । आत्रकट्टिए द्विविधे पणत्ते । तं जहा-पात्राङ्गमिण्ये य, ज-त्तचक्वसिण्ये य । ज० ३५ उ० ।

अश्रयन्त्रिधा-इत्वरं, यावत्कथिकं च । तत्रैवर्षं चतुर्धावि प-रामासात्तन्मिदं तैःशेमाश्रयन्त्रि, यावत् कथिकं न्वाङ्गमजावि त्रिधा-वात्पोगमनोऽङ्गतरणनकपरिश्रमेभात् । एतन्न प्राये-द्यात्मयतिमिति । स्था० ६ उ० । तत्रैवर्षं परिमितकालम्, तत्पु-नःश्रीमाहचौरतीर्थं नमस्कारसहितान्द्रियमासात्तं, श्रीनाभयर्षे-थेऽङ्गतीर्थं सवस्तरपर्यन्तं, मध्यमतीर्थं कर्तायं अष्टौ मासाव, यावत्कथिकं पुनराङ्गमजावि । तत्पुनःश्रीमाहचौरतीर्थं शोषत-क्षिवा । यथा-वात्पापमनम्, इङ्कितमण्यम्, भकारिङ्काचेति । प्रव० ६ उ० ।

इत्तरिण्ये मरणकाला य, अणमणे द्विविहा जने ।

इत्तरिया सावर्कला, निरवर्कले उ वेदज्ञिया । ए ॥

(इत्तरिण्ये) इत्तरमेव इत्तरकं स्वल्पकालं नियतकालाधि-कमित्यर्थः, मरणवासानः कालो यस्य तन्मरणकालम् । प्रा-भ्यन्मध्यमपदलोपः समासः यावज्जीवमित्यर्थः । यदा-मरणं का-

श्रोत्रसरोरो यस्य तन्मरणकालम् । चः समुच्चये । अथयते तुज्यत इत्यश्वामभ, अथोसाहाराविधानमेतत् । उक्तं हि—“सर्वो वि य आहारात्, ए सस्यं सर्वो वि बुध्वा ए पाथं । सर्वो वि आरामं चिय, सर्वो वि य अरामं होह” ॥ १ ॥ ततश्चाविधानं दशतः सर्वतो बाध्यमन्मस्मिभित्तनयानं, द्विविधं हिः प्रकारं भवेत्, तत्र [इच्छरिय ति] इच्छरं सहावकाङ्क्षया घटिकाङ्क्षयापुच्छरकासं प्रोञ्जनामिलाचकाङ्क्षया वरतेत इति सावकाङ्क्षम्, भिष्काण्त्साकाङ्क्षातो निराकाङ्क्षम्, तत्रजम्भनि प्रोञ्जनांशोभावात्, तुवाभ्यस्तं भिष्कमत्वात् । द्वितीयं पुनर्मरणकालम् । पाठांतरतश्च निरवकाङ्क्षं द्वितीयम् ।

जो सो इच्छरेयतवो, सो समासेण उच्यते ।
सेदितवो परतरवो, यणो य तद् होह वगो य ॥ १० ॥
तयो य वगवगो, पंचम उक्त्वो पञ्चतवो ।

मणुःच्छिपुचिचत्थो, नायवो होह इच्छरिच्यो ॥ ११ ॥

यथोद्देशं निर्दिष्ट इति न्यायतः इच्छरकानशनस्य जेदनाह— यथादित्यरं तपः इच्छरकानशनरूपमनन्तरमुक्तं तन्मसासेन संक्षेपेण बहिर्षं विस्तरण तु बहुतरभेदमित्था भावः । बहिर्षत्वमवाह— (सेदितया इत्यादि) अत्र च श्रेणिः पङ्क्तिस्तदुपसङ्कितं तपः श्रेणिनपल्लवतुषोधिक्रमेण क्रियमाणमिदं यमासान्तं परिगृह्यते, तथा भगिच्छरं श्रेण्या गुणिता प्रतर उच्यते, तनुपलङ्कितं तपः प्रतरतपः, इह आख्यामोहायं चतुष्षष्टाष्टमदशमाक्षयपद्वचतुष्टयात्मिका बहिर्षिविषयतः सा च अनुनिर्गुणिता चौरुशपदात्मकः प्रतरो भवति । अयं च प्रायामतो विस्तरतश्च नुव्य इति । अस्वयं स्थापनोपाय उच्यते—

“एकाद्याद्या व्यवस्थाप्याः, पङ्क्तयोऽत्र यथाक्रमम् ।
एकादींश्च निवेशयान्ते, क्रमापङ्क्तिं प्रपूरयेत्” ॥

अस्यार्थः—एकः आदित्यं वा त एकादयः एककक्षिकत्रिकचतुष्कास्ते आद्या यास्तु ता एकाद्याद्या, व्यवस्थाप्या न्वसनीयाः, पङ्क्तयः श्रेणयो, यथाक्रमं क्रमानतिक्रमेण, कोऽप्ये—प्रथमा एकाद्या पङ्कदादरज्य संस्थाप्यते, द्वितीया द्विकाद्या द्विकादारज्य, तृतीया त्रिकाद्या, त्रिकादारज्य, चतुर्थी चतुष्काद्या चतुष्कादारज्य । आह—एवं सति प्रथमपङ्क्तिरेव परिपूर्णा भवति, द्वितीयाद्यास्तु न पूर्यन्त एव, तत्कथं पूरणीयाः ? उच्यते—एकादींश्च निवेश्य व्यवस्थाप्य, अन्त त्व्यत्र, क्रमादिति क्रममाश्रित्य, पङ्क्त्युपसर्गाणां भणी, पूर्यते परिपूर्णां कुर्यात् । तत्र च द्वितीयपङ्क्तिं त्रिकाक्षिकचतुष्कात्प्रथमं एककः, तृतीयपङ्क्तिं त्रिकचतुष्काद्याः पर्यन्ते एकको द्विकक्षिकः, चतुर्थपङ्क्तिं चतुष्कावसानं एकाद्वित्रिकाः स्थाप्यन्ते ।

स्थापना अर्थय—
प्रक्रमाद् घन इति घनतपः, चः पूरणे, तथेति समुच्चये, अर्चनीति क्रिया प्रतितपोनेहं योजनीया । अत्र च चौरुशपदात्मकः प्रतरः पद्वचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गुणितो घनो भवति आगनं चतुःषष्टि ६४, स्थापना तु पूर्विकैव, नवरं, बाहुल्यतोऽपि पद्वचतुष्टयात्मकं विरोध पतनुपसङ्कितं तपो घनतप उच्यते । चः समुच्चये । तथा अर्चनी वर्गश्रेतीहापि प्रक्रमादग्रे इति घनतपः, तत्र च घन एव घनं गुणितो । वर्गो प्रवति, ततश्चतुष्षष्टितुष्षष्ट्येव गुणितो जातनि वषयत्यर्थिकानि चत्वारि सहस्राणि, पतनु-

चतुर्थेऽं	षष्ठं	अं	दं
१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

पलङ्कितं तपो वर्गतपः, ततश्च वर्गतपसाऽमन्तरं वर्ग २ इति वर्ग २ तपः, तुः समुच्चये । पङ्कतं पङ्कसंस्थापूरणम्, अत्र वर्ग एव यदा वर्गेण गुप्यते तदा वर्ग वर्गो भवति, तथाच चत्वारि सहस्राणि वषयत्यर्थिकानि तावन्ते गुणितानि जातेककादितः, सप्तसष्टिसहस्राः, सप्तसप्तसहस्राणि, द्वे श्रेते चोद्देशाधिके । अङ्कतोऽपि १६७७२१६ । एतनुपसङ्कितं तपो वर्गवर्गतप इत्युच्यते । एवं पद्वचतुष्टयात्मिक्य श्रेण्यादितपो दक्षितम् । एतदुत्तरांशे पङ्काद्विपद्वेष्यत्यन्तरजानवा कार्या । पङ्कतं प्रकीर्णकतयो यत् श्रेण्यादित्यन्तरचनानादिरितं स्वशक्यपेक्षं यथा कथं द्विविधं यते, तच्च नमस्कारसहिनादि पूर्वतुरुपचरितं यथमव्यवहाराप्रतिमादि च । इयं अदाननिधाय उपसंहारमाह—(अश्वधिकृत्यचित्तत्योः) मनसश्चित्तस्य ईक्षितं इष्टद्विभोऽनेकप्रकारांशेः स्वर्गापचर्वादिसेजोलेइयादिव्यो यस्मात् तन्मनं ईक्षितवित्वाद्यं शतव्यं अर्चनीत्यरं प्रकामानुशान्त्यं तपः उक्तं ३ ब्र० । (कित्यत्कक्षिकेनाऽमशनन कियती निर्जरा प्रवतीति ‘अश्व-इत्याय’ शब्दे बह्व्यते)

संप्रति मरणकालमनशनं वक्तुमाह—
जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाद्विया ।

सविपारम्भोऽपि, काःचैते पई भवे ॥ १२ ॥

(जा सा अणसणा इति) प्राक्तत्वाद्न क्रीतव्यं, यदनशनं मरणे मरणायसरे द्विविधं, तद्दशोपस्थाप्यते कथं व्यप्यते, तीक्ष्णदाहिनिरिति गम्यते । द्विविधमवाह—सह विचारं च च्छेदाम्बेन वर्तते यस्तस्यिचारं, तद्विपरीतमविचारम् । विचारश्च कायथाङ्कमनोभेदात् अविचरिति । तद्विशेषपरिष्कारमात्राह—कायच्छेदाम्, उद्धर्तनपरिवर्तनादिकं कायप्रविचारं प्रतीतिमाश्रित्य, प्रवृत्तं स्यात् । तत्र सविचारं अकप्रत्याख्यानादिप्रतिमरणं च । तथादि—नक्तप्रत्याख्याने गच्छमभवतीति गुरुहसोक्ष्मनो मरणायोधनो विधिना संलेखनां विधाय तमाश्रिषिं चतुर्विधं चाऽहारं प्रत्याचष्टे; स च समास्तुतमृच्छंस्तारकं समुत्सुज्य शरीरापुष्करणममत्तः स्वयमवोक्षाहितनमस्कारः समीपवादि—सायुदस्तनमस्कारो वा सत्यं शकौ स्वयमुद्धर्ते, परिवर्तते च, शकिकलतायां चापरेरपि कित्तिस्कारयति । यत् उच्यते “विद्यमममुच्छान्, उच्यते संलेहणं च काऽयं । पञ्चकक्षति आहारं, तिविधं च उच्यते वा वि ॥ उच्यते परयत्तद्, सयमेव श्रेणायि कारय कित्ति । उच्यते नवरं, समाहितगणं अप्र-द्विष्यते ॥” इङ्गिनीमरणमप्युक्त्यायतः प्रतिपद्य शुद्धस्वादिहस्थानामेकाक्षयं कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानस्तत्प्राद्विहस्थानच्छायात्त उपागुणव्यवस्थायां स्वयं संक्रामति । तथा साह—“इंगियमरणाविहाणं, आपव्वज्जं तु विद्यमणं दावं । संलेहणं च कावं, जहासमाही महाकावं ॥ १ ॥ पञ्चकक्षति आहारं, चउच्यते नियमञ्चो गुरुसगसे । इंगियेदसम्मि तदा, चिद्विपि दु इंगिये कुरुह ॥ उच्यते परियत्तद्, कायममंतेहो होह च विलासो । कित्तिं चि अप्पणायिय, हुंजह नियमण धीवल्लिओ ” ॥ अविचारं तु पादपुण्यमगमं तत्र हि सव्याघाताघातात्तदभेदतो द्विनेदोऽपि पादववशिष्टेनवैध स्वीयते । तथा च तद्विधिः—“प्रभिरादिकण देये, जहादंही सेसय यमुत्तहं । पञ्चकक्षाइत्तु उच्चो, तथेतिह उच्यतेसमाहारं । सत्समावसिम् त्रियपवा, सम्मं लिंत्तमणियमभेणं । गिरिकंरं तु गंतं, पायवगमणं अह करेति ॥ सव्यत्थापदिच्ये, देनो य पतायत्तमिह नादं ।

जावज्जीवं चिद्व्य, निश्चिद्वो पायवसमाप्ते ॥ ”
पुनरपि त्रिविधं प्रकारान्तरणाह—

अहृषा सपरिक्रम्या, अपरिक्रम्या य अह्रिया ।
नीहारिपनीहारी, आहारञ्चेन्नो य दोसु वि ॥ १३ ॥

अथवेति प्रकारान्तरसूत्रेण, सह परिक्रमेणा स्थाननिवदनत्वगुण-
तन्निष्पाद्य विभ्रामणादिना च वतेते यत्तत्सपरिक्रमं, अपरिक्रमं च
तद्विपर्ययताभ्याम्बतं कथितम् ॥ तत्र सपरिक्रमं जक्रमत्याभ्यान्-
सिक्त्रिनीमरणं कैश्च स्वयमेनेन वा कृतस्य अन्त्य तु स्वयं विहि-
स्य, उद्धृत्यादिनेष्टात्सपरिक्रमणांशुक्रानात् । तथ चाह—“अथ
परपरिक्रमं, अत्तपरिचारा दो अणुश्रया । परयञ्जिजया य ई-
गिष्ये, चतसिषहाहारचिरतो य ॥ गणुनिसीय तुयद्दृष्ट, तिरि-
याहिं जहा समाहोय । सयमेव य सो कुणह, उवसना परीस-
हृदिया से” ॥ अपरिक्रमं च पादोपगमनम, निष्प्रतिक्रमेताया एव
तत्राभिधानात् । तथा चागमः—“समक्षिसममिष य पडिओ, अ-
च्छह जह पायवोय विहोयो । निष्प्रणनिष्प्रडिक्रमो, निष्प्रवह
जं जहिं अंमं ॥ तं थिय होह तहृषिय, एधरं चरणं परंप्रओ-
गामो । बायादिह तस्सत् । वत्रिणीयादिह तदिं तस्सत्” ॥ यथा-
परिक्रमं संलेखना सा यत्रादिन तत्सपरिक्रमं, तत्रिणीमपरि-
क्रमं । तत्र च इयाघाते त्रयमप्येतत्सुत्रार्थोभयनिष्ठितो निष्पा-
दितशेषः संलेखनापुर्वकमेव विधायं, अन्यथा अतंभ्यानसंन-
यात् । उक्तं च—“देहमि अस्सिदिहिय, सहसा धादिह किञ्जामोणिह ।
जायति अहृउक्ताणं, सदीरियो अरिसकालमि” इति सपरिक्रमो-
च्यते । अन्त्यमन्त्रोघाते गिरिभिसिपतनाभिजातादिपु संलेख-
नाविषयविषय जक्रमत्याभ्यानादि किञ्चित्, तद्वपरिक्रमं । उक्तं चा-
गमे—“ अमिघाउ वा विज्जुगिरिभिसिकोणगा य वा होउजा ।
संलच्छहृथपाया, दयायापण होउजाहि ॥ एप्यदि कारेणदि, वा
घातिसमरण होह नाययं । परिक्रमसकालेण, पचककलाती
ततो मचं” ॥ तथा निदेरुणं निहोदि गिरिकन्दरादिगमनेन प्रमादे-
वेदिनिर्मनं, तद्विद्यते यत्र तत्रिहोदि, तद्व्यवनिहोदि, यदुन्था-
नुकामेन वृजिकादी विधोयते, एतच्च प्रकारद्वयमपि पादपा-
यममन्विषयम्, तत्रस्ताव पचागमेऽस्याभिधानात् । तथा चागमः
“ पचककलाती काउं, णेययं जाव होह वोच्छिपो । पंचतले ऊ-
णय सो, पाओपगमं परिणओ य ॥ तं वृषिदनाययं, नीहारि वेव
तद् अणोहारिं । बहिया मामादीणं, गिरिकन्दमाह नीहारिं ॥
बहयास्तु जं अंतो, उद्धोस मणाणगाह अणदारिं । तद्दा पायव-
गणणं, जं उवमा पायवणेणयं” ॥ आहारोऽप्यादिनस्त्वच्छेदस्तत्रि-
कारणमाहारच्छेदः । शुक्योरपि सपरिक्रमोपरिक्रमणांनि-
हृषियेतिरिणोच्च स्तम इति शेषः । उभयत्र तद्व्यवच्छेदस्य
तुल्यत्वादिनि सूत्रपञ्चाशदर्थः । उक्तमनगमम् । उचं ३० अ० ।
स्या० । औ० (अमशानविधानं, येन येनाऽमशानं कृतं तत्तच्छ-
वेऽपि हृत्त्वम्, यथा ‘कंदग’ शब्दे ‘मिषकुमार’ शब्दे ‘मरण’ शब्दे च
विशिष्टे विधिः) अपरिभोगे, सूत्रं १ श्रु० ७ अ० । तथा दाञ्च-
उवरी कश्चिदनशं कृत्वा रज्ज्मासपि जलपानं विषयं । यथा-
ह्रियामशाममेव न करोतीत्यत्र राओ संबंधा जलत्यागाशकंन ते-
नाहारत्यागरूपमनशनं तु विषयेमेवेति ज्ञातमस्ति । तथाऽमश-
निगा आशेनाऽविषयमेव जलं पेयं, तद्व्युत्पन्नेमेवेति । हो० प्रक० ।
“ नंदे जहे सुभहे य, वे पुषेऽमनगणं करे ” इति तन्मुहूर्तम् ।
गणि० प्र० ।

अणुसिय-अनशित-वि० । न अशितोऽनशितः । अनुके, “न-

ययं पदीगमणतो, संघच्छरमणसिभो विहरमायो” आ०
मं प्र० ।

अणुसुआ-देशी-आसकप्रसवे, वे० ना० १ वर्ग ।
अणुह-अनय-वि०नाऽमशमस्याऽस्तीति अमशः निरघद्यानुष्ठ-
यिनि, सूत्रं १ श्रु० २ अ० २ उ० । अप्राये, आय० ४ अ० नि-
होये, औ० प्रक० । अकृते, सू० प्र० २० पाहु० । वं प्र० ।
अणुहृत्पाण्यं-देशी-अन्धे, वे० ना० १ वर्ग ।
अणुहृत्वीय-अनघधीज-पुं० । अविनष्टवीजे, वृ० ४ उ० ।
नि० वृ० ।

अणुहसमग-अनयसमग्र-वि० । अमघमकृतं न पुनरवान्त-
राले केनापि चौरादिना विभुतं समग्रं च्यवं ज्ञापकोपरकरणादि
यस्य स तथा । नरकरादिनाऽऽनुगुणनसंबन्धे, चं प्र० २० पाहु० ।
निर्वृत्त, अहीनपरिवारं, “ सखट कथकउं अणुहसमगो (ण-
यं घंरं इव्यमागए” अनघत्रवं निर्वृत्तयतया समप्रत्यमहीनघन-
परिचारातया । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।
अणुहाराओ-देशी-अच्छ, वे० ना० १ वर्ग ।

अणुहृत्सखट-अनशितानार्थ-पुं० । अविषयसमुद्देशानर्थे,
“ तांसि पचकवेदे उ अणुहृत्कषाञ्च अ कलहो अ ” ह० १ उ० ।

अणुहृत्गिय-अनधिगन-वि० । अगीताथे, व्य० १ उ० । अम-
न्तरभाविनि, विश० । अविज्ञाते, व्य० १ उ० ।

अणुहृत्गियगुप्सापाव-अनधिगतपुष्पापा-वि० । सूत्रार्थकथने-
ऽर्थावज्ञानतुल्यपापे, “ अणुहृत्गियगुप्सापाव उघाचंवेत्सत् चउ
गुक् होंति ” व्य० ४ उ० ।

अणुहृत्ज्जमाण-अनधीयमान-वि० । अपगति, “ ते विज्ज-
माण अणुहृत्ज्जमाण, आहसु विज्जा परिमोक्खमेव ” सूत्रं
१ श्रु० १ श्रु० १ अ० ।

अणुहृत्पिण्डि-अननिनिविष्ट-वि० । अतस्वार्थिनिवेशयोजितं,
पंचा० ३ विय० ।

अणुहृत्पास-अनधिसह-पुं० । असहियौ, वृ० १ उ० ।

अणुहृत्पिला (वा) कृणएय-अनहृत्पिलाटकनगर-क्य० ।
गुर्जरेधारिण्यो सरस्वतीनदीतीरे ‘ पाठण ’ इतीदानीं कथां
नगरे, यत्रादिपदेभिः पूज्यते । “ पणमि अररिदेनेमां, प्रणहिर-
पुरपहृणावयसस्स । वंनाण गच्छाणिसस्य, अरिउंनेमिस्स (क-
सिमां कयं ” ती० २६ कटप । “ अरिउणमि ’ शब्दे द्वावि-
प्यतेऽयं कटपः । यत्र अमयदेवद्वारनिर्मणया विरचिताः । यथाःकं
पञ्चाशकं—“अतुरधिकविशतिवृत्ते, बर्षेसहस्रे शते च सिरंयम ।
धवलकणुरे वनसत्यां, धनपरयोऽकुलचन्द्रिकयोः । अणहिलपा-
टकनगरे, सङ्घवेरेवेतमानुत्पद्यन्त्येः । अदीणाणाञ्चोद्ये-वि-
हृत्तिः शोभिता येति ” पञ्चा० १६ विय० । अमवतीवृत्तय-
“ अहविशतियुके, वर्षेसहस्रे शतेन चाऽप्यधिके । अणहिलपा-
टकनगरे, कृतेयमच्छेत्तधनिवसती ” अ० ४३ श० १ उ० ।

अणुहृत्-अनधी-स्त्री० । पाक्षिपानकनगरे कपदिनामधेयस्य
ग्राममहत्तरस्य आर्योयाभ, ती० ३३ कटप ।

अणुहृत्-अनधीत-वि० । अमन्यते, मं० १ अक्षि० ।
अणुहृत्परमरथ-अनधीतपरमार्थ-पुं० । अमधीता अमन्यस्ता

परमांश्च आगमरहस्यमि वैस्तेऽनधीतरमांशोः । अग्नी-
तायै, “ जे अथाह्वयपरमत्ये गोवामा ! संज्ञाय प्रवे ”
ग १ अथि० ।

अथाह्-अनादि-वि० । न विद्यते आदिः प्रावत्यमस्येत्यनादिः ।
वच० १ अ० । अथाद्यभ्ये, हा० ३० अह० । पं० सं० । आदि-
विक्रते, उच० १ अ० । अथाप्या० आ० म० । नास्याऽऽदिरस्यना-
दिः । संसारे, सूत्र० २ कु० ३ अ० । आदिरहिते, श्या० ३
जा० १ उ० ।

अथाह्जजापाम्[पु]अनादेयनामन्-न० । नामकर्मभेदे; कर्म० १
कर्म० । प्रव० आ० । यद्बुधवशात्पुपत्रमपि भुषाणो नोपादेयव-
चनो प्रयति, नाप्युपकिचमाणांऽपि जनस्तस्याऽप्युत्थानादि समा-
चरति । पं० सं० ३ इ० ।

अथाह् (ए) ज्वषययाषषापाय-अनादेयवचनमत्याजात-
वि० । अनादेये वचनप्रत्याजाते येषां ते तथा । अनुपादेयवचन-
जन्मसु, ज० ७ हा० ६ उ० ।

अथाह्पिहृद्य-अनादिनिधन-वि० । आदिः प्रथमं निधनं प-
र्यन्तः, ततश्च ते आदिनिधने, न विद्यते आदिनिधने यस्य स
अनादिनिधनः । दृश० । स्वम० । अनाद्यप्यर्थव्यतिस्ते, अत्युत्प-
श्राभ्यंते च । आश० ४ अ० ।

अथाह्पु-अनाचीर्ण-वि० । अनासेचिते, महापुत्रैरनाचीर्णम्
[नाऽऽचरणीयम्] कु० १ उ० । तदेवाशुशुष परः प्राह-यदि
यद्यथास्वीमशुर्गनिचावीर्णं तस्यान्वायैरप्याकारित्यं, तर्हि ती-
र्थकैः प्राकारत्रयद्वयप्रभृतीकप्रभृतीकैः तेषामिवाधीयं तु-
ईर्बैरिवेता यथा समुपजीविता, तद् वयमपि अस्मभिमिचकृते
किं नोपजीवामः ? । सूत्रिराह-

कामं तद्वु अणुगुरुणो, धम्मा तद् वि ठु न सव्यसाहम्मा ।
गुरुणो जं तु अइसस्य, पाहुनिपाई समुपजीवे ॥

काममनुमत्तं कल्पस्माकं यदनुगुरो धर्माः, तथापि न सर्वथा-
साध्याधिचिन्त्यन्ते किन्तु देशसाधन्योदेव । तथाहि-गुरुच-
स्वीर्थकराः, यस्तु यत्पुनरितिशयान् प्रावृत्तिकादीन् कोऽप्येः प्रा-
वृत्तिका प्रैरन्कादिकृता समवसरणरचना, आदिशब्दादवस्थि-
तनकरो प्राधेनुककण्टकादिस्तुत्कृतातिसायपरिग्रहः, तान्, समु-
पजीवति, स तीर्थकरो जीतकल्प इति कृत्वा न तत्रानुधर्म-
ता वितनीया, यत्र पुनस्वीर्णकृतामित्येषां च साधूनां सामा-
न्यधर्मत्वं तत्रैवानुधर्मता चिन्त्यते, सा चैवमनाधीर्षेति हृदयते ।

सगदहसमधोमे, अवि अ विसेसस्य विरद्वियतरं से ।
तथा वि स्तुलु अथाह्मं, एससुपुधिमो पवययसस ॥

यदा स भगवान् श्रीमन्महावीरस्वामी राजगुहमनरादुदा-
यननरेन्द्रप्रमाजगप्ये सिन्धुसौबीरेदेवावतंसं वीतमयं नगरं प्र-
स्थितस्तदा किन्नापस्तदासं बहवः साधवः बुधाषांस्तुप्रादिताः
संज्ञावाधिताश्च बभूवुः, यत्र च भगवानावास्तितस्तत्र तिलपूता-
मिं शकटानि, पानीयपूनीहं हृदं, वनमीमं च गर्वाधिष्ठादिर्वाजि-
तं स्थपितममनवत् । अपि च-विरोधेण तथिहोदकस्यविकलजा-
तं विरहिततरय, अतिशयेनाऽऽमृग्यकैहच औषेर्वाजितमित्यर्थः ।
तथापि कस्य भगवताऽनाचीर्षि, मातुगुहं च, येषोऽनुधर्मः प्रवच-
स्य तीर्थस्य, सर्वैरपि वचनमध्यमन्वास्वीमैः शक्नोपहृत्परिहार-
कृत्तय पच च धर्मोऽनुमनस्य इति भावः ।

अथैतदेव विष्णोर्गति-

वक्तंजोषि र्गन्तु-अतसा दिशा जिई अवि तुहाई ॥

तद् वि न गेहंस्तु जिषो, मातु पसंगो असत्यहृए ।

यत्र जगत्तानावास्तितस्तत्र बहूनि तित्वाकटाऽन्यावास्तितान्या-
स्तन्, तेषु च तिस्रा ध्युकान्तयोनिका अशक्नोपहृता अन्नापुःसंज्ञ-
येणाविशीभूतानि च यद्यस्थितिज्ञे स्थितता भवेयुक्तानां न कल्पे-
रक्षित्यत आह-स्थितिज्ञे स्थितताः । एवंविधा अपि प्रसैः संस-
का भविष्यतीत्याह-अत्रसास्तदुसमागन्तुकस्यविरहिताः, ति-
लशाकटस्वामिभिश्च गृहस्थैरसाः । एतेन वाऽऽस्तावानदोषोऽपि
तेषु मालीर्युक्तं जवति । अपि च-ते साधवः बुधापीकितं मापुषः
स्थितिक्षयमकार्षुः तथापि जिना वक्त्रमानस्वामी नाग्रहीत, प्रा
भूदशकृते प्रसङ्गाः तीर्थकरेणापि गृहीतमिति मदीयमात्मन्येनं
कृत्वा मत्सन्तानगतितिनः शिष्या अशक्नोपहृतमप्रवीतुति
भावः । युक्तिज्ञं चैतद् प्रमावृत्त्यपुरुषाणाम् । यत उक्तम्-
“ प्रमानाणि प्रमणस्थैः, रक्षणीयानि यत्ततः । विधीयन्ति प्रमा-
यानि प्रमाणस्थैःसिंसंस्तुतेः ” ॥ १ ॥

एवमेव य निज्जीवे, दृहम्भि तसचमिप द्प दिन्ने ।

समजोमे अत्र अवि त्रिती, जिमिताऽऽसन्ना न याणुन्ना ॥

एवमेव च हृदे निज्जीवे यथाऽऽप्युक्त्यावृत्तिशीतुते भवित-
पृथिव्यां च स्थिते प्रसवर्जिते च उक्ते पानीये दृष्टस्वामिना च
वृत्ते तुषाहिंतानां स्थितिक्षयकारेऽपि जगत्तानावास्तितानि स्म, प्रा
पूत् प्रसंग इति, तथा स्वामी मृतीयोर्युक्त्यां जिमितमत्रैः सा-
पुजिः सार्द्धमकारण्यो प्रपञः स्वमनिसंज्ञाया आभावा, यथा-
[मासलन] ज्ञावास्तितता साधूनां समज्जि। तत्र स्वमनैर्न गण-
गोप्यद्विस्वादिर्वाजितं यथा स्थितिक्षयं व्युत्कान्तयोनिक्पृथिवीकं
प्रसप्रापयिदिदं स्फुटिज्ञं जनेन, अपरं च शक्नोपहृतं स्फुटि-
ज्ञं नास्ति न प्राप्यते, अपि च ते साधवः संज्ञावाधिताः स्थिति-
क्षयं कुर्वन्ति, तथापि भगवान्नातुहां करोति, यथाऽत्र ध्युस्तुज-
तेति, सा भूदशकृते प्रसङ्गः, इत्येवोऽनुधर्मः प्रवचनस्येति स-
र्वत्र योज्यम् । ६० १ उ० । नि० पू० । [कश्चिद्विषयाऽऽस्वीर्णताऽऽ-
नाचीर्णता च ‘पलम्ब’ शब्दे बह्वयते]

अथाह्पुवन्ध-अनादिबन्ध-पुं० । यस्त्वनानादिकासात् सत्तानाप्र-
वने प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यर्थचिन्तनः सोऽनादिबन्धः । कर्मव-
ध्जनेदे, कर्म० ५ कर्म० ।

अथाह्पुवन्ध-अनादिबन्ध-पुं० । निध्यायस्यसंसारे, पंचा० ३ विव० ।

अथाह्भवद्वन्निग-अनादिजवद्वन्निग-न० । अनादिप्रवे नि-
ध्यायस्यसंसारे यानि कृत्यानिङ्गानि भावविकलत्वेनाप्रमाणप्र-
जितादिनेपथ्यचरजन्मकृत्तानि तानि तथा । संसारे परतीर्थक-
प्रमजितेषु, “ एतेषु च विभाषणो अथाह्भवद्वन्निगमो वेव ”
पंचा० ३ विव० ।

अथाह्पुवन्ध-अनादितिक-वि० । अविच्यमानस्यजने, अ० १ श० १ उ० ।

अथाह्पुवन्ध-वि० । अत्युत्पन्नं पापमसिंसायेनेतं गतमपातीतम् ।
पापं प्राप्ते, अ० १ हा० १ उ० ।

अनादिक-वि० । अविच्यमानादिके, प्र० १ श० १ उ० । श्या० ।

नास्यादिः प्रथमोपर्यधिद्यते इत्यनादिकः । अतुर्दशाऽऽस्तात्मके
श्लोके, चर्मोऽधर्मविके वा कल्पे, सूत्र० २ कु० ५ अ० ।

अथाह्पुवन्ध-वि० । अत्युत्पन्नं अत्युत्पन्नं अत्युत्पन्नमित्यस्य ता
संसारे, अ० १ हा० १ उ० ।

अथाइन्द्र

अथाइन्द्र-अनाविल-वि०। अकल्पे, "अथाइन्दो वा अकसाइ मुके, सकेव देवादिबर्हि सुइमं" यथा जासी सागरोऽनाविलोऽकमुष-अस एवं जगवानपि तथाधिधकमेतेषामायाइकमुषकान इति । सूत्र० १ सु० ६ श्र० । "गीहागे यणलोपजा, वृषस्योय अणाधिके । अथाइन्दे सवा इते, संधिपेसे ऋणेऽसिं" यथाऽना-विशोऽकमुषो गण्डेयाऽस्युकतया मरुतराऽनाकुलो वा, विषयाप्रवृत्तेः । सूत्र० १ सु० १५ श्र० । सामादिनिरपेके, "गो नुष्पय गो य विकंपइजा, अथाइन्दो वा अकसाइ भिष्कम्" अनाधिकोऽनादिनिरपेकः । सूत्र० १ सु० १४ श्र० ।

अथाइंसुत्तय-अनादिंस्युक-पु०। न विद्यते आदिः प्रायस्य-मस्येत्यनादिः। स बेह प्रकमात् संयोगस्तेन संमिते, "अणोणाणाणुगयायं, एमं च तं च तिविमयणमजुत्तं" इत्यागमाच्चिआ-गानावेम युक्तः सिद्धोऽनादिसंयुक्तः स एवानादिंसंयुक्तः । यथा-संयोगः संयुक्तस्तोऽनादिसंयुक्तमस्येत्यनादिसंयुक्तम् । कर्मणाऽनादिसंयोगसंयुक्ते जीवे, उक्त० ३ श्र० ।

अथाइंसताण-अनादिमन्तान-पुं०। अनादिप्रथाहक, औं । "अथाइंसताणकम्मबंधणकिंसेत्विक्खिण्णसुमुत्तारं" अनादिः सन्तानो यस्य कर्मबन्धनत्व तस्यथा । प्रश्न० ३ श्राश्र० श्रा० ।

अथाइंसिक्त-अनादिसिक्तान्त-पुं०। अमनमन्तो वाच्ययाचक-कल्पनया परिच्छेदोऽनादिसिक्तश्चासावन्तश्चानादिसिक्तान्तः । अनादिकाऽनादित्वात्पर्येदं वाचकमिदं तु वाच्यमित्येवं सिद्धं प्रति-ष्ठितं परिच्छेदं, अनु० ।

अथाण-अनायुष-पुं०। न विद्यते चतुर्विधमव्यायुर्यस्य स भवत्यानायुः । द्रष्टव्यकर्मबीजत्वेन पुनरुत्पत्तिविरहे जिते, "अ-पुत्तरे सव्यजगसि विज्जे, गंथा सन्ति अनय अणाऊः" सूत्र० १ सु० ६ श्र० । अयत्तायुःकर्मणि क्ते, "तं सहहाणा य जणा अणाऊ, इदा व देवादिब आगमिस्सं" सूत्र० १ सु० ६ श्र० । जीवनेदे, स्या० २ ग० १ श्र० ।

अथाण्टी-अनाकुट्टी-पुं० । 'कुह क्हेदेने' अकुट्टममाकुट्टः, स विद्यते यस्यासावाकुट्टी, नाकुट्टी अनाकुट्टी । आर्हिसायम, आचा० १ सु० ५ अ० १ श्र० । आ० म० इि० । "जाणं काएण णाण्टी, अनुदो जं च हिंसति । पुत्ते संबेदं परं, अभियत्तं कल्लु सयज्जे" सूत्र० १ सु० १ श्र० २ श्र० २ श्र० । 'कम्म' शब्दे चैतद् तुतं। यज्जां ३३० वृष्टे स्पष्टं। न विद्यति ।

अथाण्टिया-अनाकुट्टिका-स्त्री० । अनुपेत्य करणे, पंच० १६ वि० ।

अथाउत्त-अनायुक्त-वि०। न० त० । अनाभोगयति अनुपयुक्ते, स्या० २ ग० १ श्र० । उक्त० । असवधाने, औं० । आलस्य-भाजि प्रत्युपेक्षाऽनुपयुक्ते, उक्त० १७ श्र० ।

अथाउत्तअइणया-अनायुक्तादानवा-स्त्री० । अनायुक्तोऽना-जोगवाननुपयुक्त इत्यर्थः । तस्यादानता अनायुक्तादानता । अनायुक्तस्य वस्त्रादिविषये प्रहणनायाम्, अनाजोगप्रत्ययक्रिया-भेदे, स्या० २ ग० १ श्र० ।

अथाउत्तपमज्जणया-अनायुक्तप्रमाज्जना-स्त्री० । ६ त० । अनायुक्तस्य पात्रादिविषयप्रमाज्जनारूपे अनाजोगप्रत्ययक्रिया-नेदे, इह इयोः शब्दयोः ताप्रत्ययः स्वार्थिकः । प्राहृत्यनेच अनादानां भावविबन्धनेति । स्या० २ ग० १ श्र० ।

अथाउत्तल-अनाकुल-वि० । समुद्रवक्रकादिभिः परीयहोपसर्ष-

रकुप्यति, "अथरथमिप अणाउले, समविस्साई सुणी दिथा सय" सूत्र० १ सु० २ अ० २ श्र० । सूत्रायां दुत्तरति, "सव्वं अणेत्त परिचज्जयंते, अणाउलेया अकसाइ भिष्कम्" सूत्र० १ सु० १३ श्र० । "गवपि अणाउलां संवत्तरसमणंसि" भा० म० प्र० । अन्त० । क्रोधादिपरहिते, स्या० १ श्र० । औत्सुक्य-रहिते, इ० १ श्र० ।

अथाउलया-अनाकुलता-स्त्री०। निराकुलतायाम्, "सर्वज्ञा-नाकुलता-यतिप्राधाप्रययपरसमासं" सो० १३ वि० । अथाएम-अनादेश-पुं०। आङ्कितं मयोदया विशेषरूपानतिक्र-मात्मिकया विद्यते कथ्यते इत्यादेशो विशेषः, न आदेशोऽना-देशः । सामादि, उक्त० १ श्र० । (सोहाइरणोऽयं 'संजोग' शब्दे एव प्रदर्शयिष्यते)

अथागाइ-अनागाति-स्त्री०। न० त० । अनागमने, अशेषकर्मद्यु-तिकर्यायां लोकात्प्राऽऽकाङ्क्षकं धातुकर्यायां वा सिक्ते, "गं च ओ जाणइ णागइ च" सूत्र० १ सु० १३ श्र० ।

अथागंता-अनागत्य-अव्य० । अगमनमकरित्यर्थे, स्या० ३ ग० २ उ० ।

अथागत (य)-अनागत-वि० । न आगतोऽनागतः । वर्तमान-न्यमप्राप्ते जविष्यति, स्या० ३ ग० ४ उ० । समयार्थे पुत्रव-परावतने काले भविष्यत्कालसम्बन्धिनि, सम० । सूत्र० । "अथागयमपरसेत्ता, पच्चुपपन्नयसगा । ते पच्चा परितप्यति, कांणे आरम्मि जेवण्णे" अनागतमेध्यत्कामानिपुत्तानां नर-कादियाननस्थानेषु महादुःखमपश्यन्तोऽपत्यंते। ज्वनन्ति । सूत्र० १ सु० ३ अ० ४ उ० । "ततिय उप्पन्नमणागयाइ, लोमसंज जा-याति तहागयाइ" अनागमानि च भवान्तरमावीनि सुखदुःखा-दीनि । सूत्र० १ सु० १३ श्र० । "जं य बुक्का अगिकता, जं य बुक्का अणागया" अनागतं भविष्यदन्तकाशमयिनि । सूत्र० १ सु० १३ श्र० ।

अथागत (य) काश-अनागतकाल-पुं० । विवर्जितं वर्तमानं समयमपधीहृत्य भाविनि समयशो, ज्ये० १ पाठु० ।

अथागतच्छा-अनागतच्छा-स्त्री० । आगामिपत्युत्पुत्तपर-वर्तेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

अथागत (य) काशमहाद्य-अनागतकालमहाद्य-न० । ज-विष्यत्कालमहाद्यस्य वस्तुनः परिच्छेदात्मकं विशेषपदश्रुतमान-भेदे, अनु० ।

से किं तं अथागयकाशमहाद्यं ? अथागयकाशमहाद्यं-अभस्स निम्मझंत्तं, कसिणायगिरो सिवज्जुआ मेहा । थणियं वाउक्क्यामी, सज्जारसापण्णटा य ॥ १ ॥

वारुणं वा मर्हिदं वा अस्सयं वा उप्पयां पसत्थं पा-निचा तेण साहिज्जा । जहा-सुवृत्ति जविस्सइ । सेत्तं अथा-गयकालमहाद्यं ॥

गारा सुगमा, नवरं, स्मन्तितं मेघगर्जितं (वाचमामोक्षि) तथा-विधो हृद्यव्यभिचारो प्रदक्षिणं दिक्षु समम प्रशस्तो वातः (वाह-णे ति) आर्कोमूलादिनक्षत्रप्रजवं, मादेऽच्छोर्गोष्णोऽद्यदिनक्षत्र-संभवम्, अन्यतरमुत्पातमुत्पातानिद्विन्द्यादिकं, प्रशस्तं वृष्टेऽव्यभिचारिणं दृष्ट्वाऽनुधीयते, यथा-सुवृष्टिश्च भविष्यति, तत्र-व्यभिचारिणामनुनिमंस्त्रव्यां। नो समुदितानामन्यतरस्य वा द्रो-

नापथाऽन्वयविति । विशिष्टा ह्यत्र निर्मलस्यवयो सुवि न व्यति-
 षरन्ति, अतः प्रतिपक्षे तत्र निपुणेन भावव्यति । अत्रु० ।
 अष्टागार-अष्टागार-पुं० अष्टागारमन्, आच्चा० १५०६४०३२० । अपौ-
 कयेयादौ आगमे, आगमसङ्कण(विहीनत्वात्स्य । ह्या० १० उ० ।
 अष्टागारमाद्यधम-अष्टागारमन्पर्यन्त-भि० अष्टागारमन् धर्मो येषां
 तेषां यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभार्यादिस्यात् । न पुन्युद्देश्यमागमने-
 प्त्यु, आच्चा० १ १०६ ४० ३ उ० ।

अष्टागारपचक्रवत्त्वाण-अष्टागतप्रत्याख्यान-न० । प्रत्याख्यान-
 भेदं भविष्यति प्रत्याख्यानं, आद्य० अष्टागतकरणाष्टागतपच्यु-
 षणाश्राव्याव्योद्विषयाहस्यकरणाश्राव्याव्यहारात् एष त-
 सत्पचःकरणे, ह्या० १ १०६ ४० ३ उ० ।

उक्तं च—

होद्दौ पञ्जोसवणा, ममपतया अंतराद्यं होज्जा ।
 गुरुदेयावर्षेण, तत्रस्तिमेषाया एव ॥ ५ ॥
 सो दाइ तवोक्मर्म, पहिनज्जइ तं अष्टागार काले ।
 एवं पचक्रवत्त्वाणं, अष्टागारं होइ नायव्वं ॥ ६ ॥

अभिष्यति पशुवणा मम च तदाऽन्तरायं भवेत् । केन हेतुनेत्यत
 आइ-गुरुदेयावर्षेण न परिषदाश्रावतया वेत्पुणकणामिति गाथा-
 समासार्थः—(सो दाइ सि) स इदानीं तपःकर्म प्रतिपद्येत् तदनागते
 काष्ठे एतत्प्रत्याख्यानमेवभूतमनागतकरणाष्टागतं हातय्यं जव-
 नीनि गाथासमासार्थः ॥ ६ ॥ "इमो पुण पथ जावथा—अष्टा-
 गारं पचक्रवत्त्वाणं, जहा अष्टागारं तयं करेज्जा पञ्जोसवणा
 गहणं एतां पथासिण्ठे कीरु, सव्वज्जहोअं अचमं, जहा पञ्जोसव-
 णा एतां वाऽअमासिए उट्ठं पचक्रवत्त्वाणं अचमत्तं अण्येसु य
 एहण्णुएजाणदिसु तहिं ममं अंतराद्यं होज्जा, मुक्खायरिया
 तेस्सि कायव्वं, ते कि ए करेति असदु होज्जा अहवा अच्चा काइ
 आणसिया होज्जा कायक्चिया गामनरादि सव्वस्य वा आण-
 णं सगंरिययावदिवा वा ताहे सो उववासं करेइ, गुरुदेया-
 वचचं न सक्केइ जो अण्णे दोगहवि समग्घो सो करेइ, जो वा
 अण्णे समग्घो उववासस सो करेइ नत्थि न वा लभेज्जा ए-
 याणं जाव विधि ताहे सो जेव पुव्वं उववासं काठणं पच्छा त-
 दिवसं भुजेज्जा तवस्सं नाम आमणो वेत्स कायव्वं होज्जा
 तो कि तदा न करेइ सो तीरे पचो पञ्जोसवणा ऊसारिया
 (असदु सि) वा सयं पाराविओ नाइ य सयं पञ्जोसमसग्घो
 जाणि अचमत्तं ताणि वचचो नत्थि अथइ सेसं जहा गुरुमि
 विमासा मेवजं जाणइ जहा तहिं दिवसे असदु होइ विजेण
 वा भणियं अमुणं दिवसे (काहसि) अहवा सयं जेव जाणति
 संगंरोगादिहिं तेहिं दिवसेहिं असदु होइ (सामिणि) सेसे वि-
 मासा जहा गुरुमि कारणकुलगणसंघआयरियगच्छे वा तरेव
 विमासा पच्चा सो अष्टागते काले काठण पच्चा पुजेज्जा
 पञ्जोसवणादिसु तस्स आ किर निज्जरा पञ्जोसवणादिहिं त-
 रेव सा अष्टागते काले भवति ॥ गतमनागतद्वारम् । आब०
 ६ अ० । आनु० । ध० । ज० ३० ।

अष्टागारालिय-अनमैलित-भि० अनिचारिते, अ० १ १५ श० १ उ० ।

अष्टागारकलित-भि० अग्रमेये, अ० १५ श० १ उ० । उपा० ।

अष्टागारालियचरन्तीवरोस-अनमैलितचरदन्तीवरोप-भि० ।

अनिचारितचरदन्तीवरोपे, अ० १५ श० १ उ० ।

अष्टागारकलितचरदन्तीवरोप-भि० । अष्टागारकलितप्रमेयचरदन्ती-
 वरोपे, " अष्टागारकलितचरदन्तीवरोसं समुह्णुयिं च वलं अमं

तं विदिविसे सत्पं संबंहेति" । अ० १५ श० १ उ० । उपा० । अष्टा-
 अष्टागारद-अष्टागारद-भि० । अनभिगृहीतवर्षेणविशेषे, अ० १
 उ० । आगादभिषे करणेण, अ० ३ उ० । "आगाद" शब्दे तिती-
 यनागे ६६ पुष्टे व्याख्यास्यते] अय किमिदमागादं किं वा अ-
 नागादम् ? । अथत्वे—"अहिद्विद्विसेविद्विद्व-सङ्कण्यवत्समा-
 गादं ।" अहिना संपद्य दृष्टः कश्चिद्व, यिषं वा केनचिद् अका-
 दिभिश्च दत्तं, विद्विषा वा कस्यापि ज्ञाना, सचः कृयकारि
 वा कस्यापि शूलमुपकथ, एवमादिकमाद्युषाति सधमन्मागा-
 दम् । एतद्विपरीतं तु खिरघाति कुञ्जादिरोगात्सकमनागादम् ।
 अ० १ उ० । नि० अ० । अष्टागादं योगे अथ उच्यते अनागादौ
 स्ते, नि० अ० ४ उ० ।

अष्टागारा-अनाकार-न० । अविद्यमाना आकारा महत्सकां-

राद्यो विच्छिन्नयोजनत्वात् प्रतिपत्तिरितिस्तदनाकारम् ।
 ह्या० १० उ० । अविद्यमानमहत्सकाकाराकारं, प्र० ३३ ह्रा० ।
 अविद्यमानाकारे प्रत्याख्याननेदे, अविच्छिन्नयोजनसम्भवा-
 जाय कान्तारदुर्भिकादौ महत्सकाकारमनुष्कारयदुर्भिकधी-
 यते तदनाकारमिति केवलमनाकारेऽपि अनाभोगसदृसाकारा-
 अनुष्कारयितव्यावेच काष्ठादुष्पादुर्भिके प्रकृतेपणतो न ज्ञेयां मा नृदि-
 यते । अतोऽनाभोगसदृसाकारापेक्षया सर्वदा साकारमेव । अ०
 ७ श० १ उ० । ह्रा० प्र० । अनाकारं नाम तत् किंतु केवलसि-
 हानाकारेऽपि अनाभोगः सहसाकारश्च आद्याकारौ भणितव्यौ,
 येन कदाचिदनाभोगतोऽज्ञानतः सहसा वा रमसेन नृणादि
 मुखे क्षिप्रनिपेत्ता कुतोऽपि इति कृताकारत्किमपि शेषैर्माह स-
 राकाराद्विभिराकारैः रहितमनाकारमभिधीयते । उच्यते अनाकारं
 कदा विधीयते ? अत्राह—"दुर्भिकस्यचित्कता-रगाद्वरोगाइए
 कुञ्जा ।" दुर्भिके वृष्टयभावे हिष्टमनापि भिक्षा न लभ्यते,
 तत एदं प्रत्याख्यानं कृत्वा ज्ञियते । वृत्तिकातारे वा, वसंतै
 शरीरं यथा सा वृत्तिकादिवा तद्विषयं कान्तारमिय कान्तारं
 तत्र यथाऽऽव्यां जिज्ञा न लभ्यते तथा सिण्णधल्ल्यादिपुत्रजा-
 वाऽऽद्वारुजिकाकारेणु शासनसिद्धौऽपि अष्टितेपु भिक्षादि माऽऽ-
 स्याद्यते, तदेदं प्रत्याख्यानम् । तथा वैद्याष्टप्रतिविधेये गाइतर-
 रोगे सति गृह्यते । आदिशब्दात् कान्तारे केशरिंशोरादिज-
 न्यमानायामापादि कुर्यादिति । प्र० ४ ह्रा० । अविद्यमान आ-
 कारो भेदो ब्राह्मणस्यास्त्ययनाकारम् । सम्म० । अतिकान्तविशेषे
 सामान्यालम्बानं दर्शनं, " साकारं सेणोणं अष्टागारां वंसेणुं"
 सम्म० । " मसुपुवधिभ्रमणकेवल-विद्येगमसुपुणाणासागारा ।"
 सह आकारेण जातिवस्तुप्रतिनियतप्रहणपरिणामरूपेण " आ-
 गारां उ विसेसा " इति वचनात् विशेषेण वर्तन्त इति साका-
 राणि । अग्रमथे—वद्वयमापानि चत्वारि दर्शनानि अनाका-
 राणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि । तथाहि—सामान्यवि-
 शोपात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु । कथमिति चेदुच्यते—दूराद्व-
 हि शास्त्रमात्रवत्कलादिव्यक्तिकपतयाऽवधारितं, तत्तव महोदहमुप-
 किरुपतयाऽवधारितं तद्विक्रमयशोकततः सामान्येन वृक्ष-
 माअप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमाप रूपं चकसिते, तस्मान्-
 म्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते, "निर्देशं विशेषाणामग्रहा दर्शन-
 मुच्यते" इति वचनप्रामाण्यात् । यत्पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य
 तास्तमात्रशास्त्रादिव्यक्तिकपतयाऽवधारितं, तत्तव महोदहमुप-
 इयतां विशिष्टव्यक्तित्तीतिजनकं परिस्फुटं रूपमापानि, तदिश-
 परूपं साकारं ज्ञानमग्रमथम् । प्रमा च पारोक्ष्यपरवचन-
 प्रधीणचेतसः प्रतिपद्यन्ति, सद् विशिष्टाकरणे वर्तते इति

कृत्वा । तदर्थं प्रतिप्राप्यसिद्धप्रमाणावाहितप्रतीतिवशात्सर्वमपि वस्तुजातं सामान्यविशेषकप्रवृत्त्यात्मकं भावनीयमिति । कर्म० ४ कर्म० । "अथस्तु अथक्त्वं ओही केवलद्वैतस्यअथागारा" द्यो-
वश्यादथ प्रत्येकं संबन्धात्कुर्यादुरोः १ उच्यतेदोः २ उच्यतेदो-
स्तु ३ केवलद्वैतमप्यापि अथारि द्योमिति । तत्र वस्तुषा व-
स्तुसामान्याशात्मकं प्रदर्थं वस्तुद्वैतमपि १, अथस्तुया वस्तुद्वैतमपि-
येकियवस्तुद्वयेन ग्रहणात् अथ द्योः संबन्धात्सामान्याशात्मकं प्रदर्थं तत्-
वस्तुद्वैतमपि २, अथपिना रूपिद्वयमथाद्या द्योः संबन्धात्सामान्याशा-
त्मकमवधिद्वैतमपि ३, केवलम संपुर्णवस्तुतत्त्वप्राहकवश्याविविशेष-
कप्रत्येकं द्योः संबन्धात्प्रदर्थं तत्केवलद्वैतमपिमिति । किकपा-
एतेतापि द्योःसामान्यत आह—अनाकाराणि सामान्याकारयुक्त-
ान्ये सत्यपि न विद्यते विविधव्यक्त आकारो येषु ताभ्यामकारा-
णि इति । कर्म० ४ कर्म० ।

अणार्जिव—अनार्ज। विक्र-पुं०। निःस्पृहे, दृश० ३ अ० । "अगि-
लाह अणाजीवे नाथक्ये सो तथापारो" ग० १ अथि० ।

अणार्जिवि (ष)—अनार्जिविन्-त्रि० । न आर्जवी अनार्जवी।
अनाशोसिनि, नि० षू० १ उ० ।

अणार्जो—देयी—जारे, दे० ना० १ उ० ।

अणाहायमाण—अनाहियमाण—त्रि० । अनादत्त्यति, आचा० २
शु० १ अ० २ उ० ।

अणाहिये—अनाहत-न०। न०। आ-ह-भावे-क्त। अनादरे सं-
क्षमरहिते, आचा० ३ अ० । "आदरकरणे भादा, तविवरि०यं अणा-
हियं होइ" । आदरः संभ्रमस्तत्करणाभादतता, सा यत्र न जयति
तद्वानुमुच्यते । इत्येकप्रयं वचनवर्धनाणां प्रथमं दोषे, वु० ३
उ०। आ०। आ०। षू० । अ०। आदरः संभ्रमः, तत्करणाभादतता ।
आर्षत्वादाहियं तद्विपरीतं तद्विहितमनादतं जयति । प्रथ० ३ अ०।
अनाहारेण वन्दने, एष अन्वक्तव्य प्रथमदोषः । आ०। षू० ३ अ०।
। तररुक्ते, त्रि० । काकन्दीनगरीवास्तव्ये गृहपतिने, पुं०। तत्क-
थानिरुपयव्याः ३ वर्गे १० । अन्वयने सुखिताऽस्ति । तत्रैव पञ्चमा-
ऽन्वयनोः कर्णजकस्यैव ज्ञाननीया । सारायस्तु—अणाहियगृहप-
तिः काकन्दी नगरीयं सप्रवृत्तानां स्थविराणाम्प्रति के प्रत्ययां
गृहीत्वा श्रुतमर्षित्य तपः कृत्वा आमपयमनुपाद्य अनाहानेन का-
सं कृत्वा सौधमं कस्ये अणाहियविमानं द्विसागरोपमायुक्तत-
या देवत्वमोपपन्नः, ततश्चतुष्पा मदाहिविहे संस्थातः । नि० ।
भादता आदरक्रियाविषयः। कृताः, शेषा जम्बूदीपगता द्वायेना-
त्मना ह्यनुद्वृतं मदाहिकत्वमं। कृमाणेन सोऽभ्यासतः । जी० ३ प्रति०।
अनर्किक्-पुं० । जम्बूदीपाविद्याद्वये, उच० ११ अ० । "ज-
म्बूदीपादिवर्षे अणाहिये" इति० । जी० । स्था० । "अनुद्वृतस्य"
शब्देऽप्यव कथ्यन्ता ।

अणाहिया—अनाहता—क्री० । अनाहतादनाहाराया सा अनाहता,
नन्दिषेखस्येव अनाहतस्य वा विधिलस्य वा सा तथा । स्था०
१० ज० । "दोगिनियथ सविष्कवा अणाहिया रामकहपुत्रवचने" १०
पं ज्ञा० १० षू० । अनाहहतस्य जम्बूदीपाधियतेः राजधान्याव,
जी० ३ प्रति० ।

अणाणा—अनाना—क्री० । आभात्पत्ते स्थाः। हितादितासिप-
दिहारातया सर्वेदोपदेशस्तद्विषयोऽनाहः । तीर्थकरानुपदिष्टे
स्वमनीयिकया आचारितेऽनाहरे, आचा० ।

अणाणाए एगे सोयज्ञामा, आणाणाए एगे निरुवच्छापां,

एषं व मा होउ एषं कुसलस्त दंसणं ।

इह तीर्थहृत्करणधरादिनोपदेशगोचरोभूतो विनेयोऽभिधीयते-
यदि वा सर्वे भावसंभवेत्साद् भावस्य सामान्यतोऽभिधानम्, अ-
नाहानुपदेशः स्वमनीयिकाचरितोऽनाहारस्तयाऽन्यथा तस्यां
वा एकेन्द्रियवशात्। तुगति जिगमिषथः स्वभिमानप्रवृत्तः ।
सह उपस्थानेन अन्वयरागात्सोयमेन वर्तते इति सोयस्थानाः,
किल वयमपि प्रवृत्तः। सदसकर्मविशेषविषयविकलाः साव-
धारम्यतया वर्तन्ते । एके तु न कुमार्गवासिताः। करणाः किन्तु
आहस्यावर्णनस्तजानुपवृद्धितनुकृप आहारायां तीर्थकरोपदेशप्र-
शिते सदाचारैः निवेतयुपस्थानमुद्यमेन येषां ते निरुपस्थानाः,
सर्वेऽप्रतीतसदाचारानुष्ठानविकलाः । एतःकुःमार्गानुष्ठानं सन्मा-
गावसादनं च हयमपि ते तव शुचिविनेयोगमतस्य तुगेनिहेतु-
त्वात्मा नृपतिः। सुयमस्वामी स्वमनीयिकाचरितदारात्समाह—(एव-
मित्यादि) । एतद्युषोर्लोकं यदि वा अनाहारायां निरुपस्थानतः समा-
हाराय च सोयस्थानत्वमित्येतत्कुरुलस्य तीर्थकृतोः द्योमनि-
प्रायः, यदि वैतद् बहुयमाणं कुशलस्य द्योमनः । आचा० १
शु० ५ अ० ६ उ० ।

अणाणाए—अनानान्त—न० । भेदवर्जिते, स्था० १ ज० ।

अणाणय—अनाहकृक—तीर्थकरोपदेशशस्ये स्वीरिणि, आचा० १
शु० २ अ० ६ उ० ।

अणाणुगामिय—अनानुगामिक—त्रि० । न अनुगच्छति इति
काशानुगम्यकारित्वेनाननुगतिरिति, स्था० ५ ठा० १ उ० । अनु-
जानुबन्धे, स्था० ६ ज० । न अनुगामिकमनानुगामिकः । ३-
ज्ञापयतिवक्तव्यप्रतिपत्तेश्च गच्छन्तमननुगच्छति अनुग्रहानविशे-
षे, न० । तच्च—

स किं ते अणाणुगामिये ओहिनाणं ? अणाणुगामियं
ओहिनाणं स जहानामए केड पुरिसि एगं महंते जोऽह्याणं
काठं तस्सेन जोऽह्याणस्य परि परंनिदि २ परिओऽह्याणं
परियोलेभाये तमेव जोऽह्याणं पासइ, अणएण्यगए नो
पासइ, एवमएव अणाणुगामिये ओहिनाणं जन्त्येव मुपज्जइ,
तस्येव संखिज्जाणि वा अमंखिज्जाणि वा संबक्काणि वा
असंबक्काणि वा जोग्याणं जाणइ पामइ अणएण्यगए न
पासइ, सेसं अणाणुगामियं ओहिनाणं ।

अथ किं तद् अनानुगामिकमवधिज्ञानम् ? सुरिराह—अनानुगामि-
कमवधिज्ञानं स विषयज्ञानं, यथा नाम-काशियुक्तः पृथेः सुख-
तुःआनामिति । पुरुषः पुरि शयनाह। पुरुष यत् महज्जयतिः स्वान-
मसिस्थानं कुर्यात् कस्मिंश्चित्स्थाने, अनेकज्जासाहासकुलमसि-
प्रदीपं वा स्थूलवर्तिज्जासाहानुकरमुपायवोदियथेः । ततस्तत्कृत्वा
तस्यैव ज्योतिःस्थापनस्य परि परंन्तेयु २ परितः सर्वांसु दिक्षु पर्व-
न्तेषु परिपूर्णान् परिप्लम्ब इत्यर्थः । तत्रैव ज्योतिःस्वानं ज्योतिः-
स्थानप्रकाशितेकेऽं पश्यति, अन्वयं गतो न पश्यति । एष
हृत्पत्तः । उपपन्नमाह—एवमेव अनेनैव प्रकारेणानानुगामिकमव-
धिज्ञानं यथैव केने व्यवदिद्यतस्य सतः समुपपद्यते तत्रैव व्यव-
स्थितः सद् सत्त्वयैयानि असहस्येयानि वा योजनानि स्वाध्याया-
हक्रेण सह संबन्धानि असंबन्धानि वा अथविशुद्धिकोऽपि ज्ञा-
यमानः स्वाध्यायाददेशादारण्य निरन्तरं प्रकाशयति कोऽपि पुन-
रपान्तरमे अन्तर कृत्वा परतः प्रकाशयति, सत् उच्यते—सम्भ-

काचसंभारति वीति ज्ञामति विज्ञेयाकारेण परिचिह्नानि,
पद्यति सामान्याकारेणानुप्युते, अन्यत्र देशान्तरमतेषु वैष पद्यति;
अथविज्ञानावरणकारणैशामस्य तत्क्षेत्रस्यापेक्षायात् । तदेव-
मुक्तमनुनायामिकम् । मं० । कर्म० ।

अथापुगाभिय-अनानुयुक्त-वि०। अनाशक्तो, 'से यस्यं ज्ञान म-
नेस्यं च, अक्षस्त पाणस्त अथापुगाभिये' दृ०१० ७०१३ ७० ।
अथापुगाभिय- (अ)-अनानुतापिन्-पुं०। अथवापदेन कायाना-
मुपग्रभेर्षि कृते पश्चादनुतापयति, अन्० २ उ० । इ।। वुमु कृत-
मित्यादि पश्चात्तापमकुर्वति निःशङ्क, निर्दये च भवतेमाने,
बृ० ३ उ० ।

अथापुगाभियि वारम्-

वितियपदे जो तु परं, तावेसा एणुपुतप्यते पच्छ।।
सो होति अथापुगाभिय, किं पुण दप्येण सेविवा? ।।४७२।।

वितिवं अथवातपदं, तेण अथवातपदेण जो साह्यपर पुष्पिकाया
तेजोसंघट्टपरितावकवहवणेण वा तावयं करेत्ता, पच्छा जाणुत-
प्यति, अहा-हा । वुदु कयं, सो होति अणुयुताबी-अपच्छावाबी।त्य-
र्थः। कारणवितियपदेण जयणाय पदिसेचिह्नण अपच्छावावियामो
अणुयुताबी पदिसेवा जयति, किं पुण जो दप्येण पदिसेविता
नानुतप्यते इत्यर्थः । अथापुगाभियि ति गमत् । नी० ७०१३ उ० ।
अथापुगाभिय-अनानुपूर्वी-स्त्री०। न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी, अनु-
पूर्वीपश्चात्पूर्वप्रकारानुवासादिरुक्तकपायामपरिवादी, अतु०
(अनानुपूर्वी आनुपूर्वी सह सम्मिश्रितो विषयः 'अनुपूर्वी'
शब्दे द्वितीयनागे १३१ पृष्ठे बह्वचने, सांकाशांकादीनां पूर्वपश्चा-
त्प्रयोऽनुपूर्वीत्यादि च 'रोहा' शब्दे बह्वचने)

अथापुगाभिय- (अ)-अननुबन्धिन्-न०। नातुबन्धोऽननुबन्धः, सो-
ऽन्यस्मिन्निति । न विद्यतेऽनुबन्धः सातत्वं प्रस्फोटकादीनां
यत्र तदनुबन्धि, इन् समासान्ताऽत्र इत्यर्थः । नातुबन्धि अननुब-
न्धिः । स्था० ६ डा० । अत्रमादप्रत्युपेक्षणविधिने, प्रत्युपेक्षणं च
न निरन्तरमाकोटादि, किं तर्हि, सास्तरं सविच्छेदमिति तस्यच ।
धर्म० ३ अश्रि० । औ० । नि० ७०१३ उ० ।

अथापुगाभिय [अ]-अननुबन्धिन्-वि०। प्रकृत्येव निदुरे, वृ०१ उ०।
अथापुगाभिय [अ]-अननुवादिन्-पुं०। वादिनोक्तं साधनमनु-
वादिन् शीघ्रमन्वेषेणानुवादात्, तन्वित्तियथावननुवादी । अथापुगाभिय
नन्वेषेणानुवादादपि कर्तुमशक्ते, " से मुमुदे होह अथापुगाभिय"
दृ०१० १ उ० १२ अ० ।

अथापुगाभिय-अननुवित्तिन्-अन्व० । पश्चादविचारवैषम्ये,
दृ०१० १ उ० १२ अ० ।

अथापुगाभिय-अनातापक-वि० । संस्तारकपात्रादीनामातेऽ-
दातरि, [साधो] कल्प० ।

अथापुगाभिय-अनातीति-पुं० । आ समन्तादतीति शते गतोऽनाद्यन-
न्तसंसारे आतीतः, न आतीतोऽनातीतः । संस्तारावैषारण्यामि-
नि, आत्मा० १ उ० ७ अ० ६ उ० ।

अथापुगाभिय-अनादि-वि० । प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, उक्त० ४ अ० ।
आ० म० श्रि० । प्र० ।

अथापुगाभिय-अनाहत-पुं० । अन्वृष्टीप्राथम्ये स्थितरुरे ,
उक्त० ६ अ० ।

अनादि-पुं०। मास्यादिः प्रथमोत्पत्तिविद्यते इत्यन्वादिः। अतु-
देशाऽऽद्यत्वमेव धर्मोऽनादिके वा प्रथमे, दृ०१० २ उ० ५ अ० ।
दोषविशेषे, वृ० ३ उ० । [स्युत्पत्तिस्तु 'अनादिच' शब्दे निरुक्तिः।
प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते,] वि० । न० ७० । प्र०१० ३ अ०५ अ० ।
अनादि-वि०। अणं पापकर्म आदिकारणं यस्य सोऽन्नादि-
कः । पापकार्ये, प्र०१० १ अ०५ अ० ।
अनादि-वि०। अथमणेन हेतुदृश्यमतिमान्ते, "पंचविहो पन्नतो
जिणेहि इह अहमेव अनादिचि" प्र०१० १ अ०५ अ० ।
अथापुच्छियचारि- (अ)-अनापुच्छयचारिन्-पुं०। गणमनापु-
च्छय चरति क्षेत्रान्तरसकमादि करोतीत्येवंशीतोऽनापुच्छयचा-
री । नो आपुच्छय चारिणि पक्षमं विग्रहस्थानं प्राप्ते, स्था०
१ ग० १ उ० ।

अनावाह-अनावाप-पुं० । अथकातो, वृ० ३ उ० । वाधाव-
जिते, दृ०१० ६ अ० । न विद्यते आवाधा अन्वहरामरुणुत्पिया-
सादिका यत्र तदनावाचम् । स्वभाविकवाचापगमतो मोक्षकुले,
स्था०१० डा० । स्वाध्यायादास्तायकारणयदिहेते, उक्त० ३५अ० ।
"होह अनावाहगमित्त-मन्वेषणमाउलो निदुरे" अनावाधा-
निसिद्धमनावाचाकार्येव, निमित्तशब्दः कार्यवाचकः तथा लो-
के वक्तारो भवन्ति-अनेन निमित्तेन अनेन कारणेन मयेदं कार्य-
मारब्धमनेन कार्योन्त्यर्थः । आ० म० श्रि० ।

अनावाहसुहादिकवि- (अ)-अनावाधसुहाजिकान्तिन्-पुं०।
मोक्षसुखाभिलाषिणि, दृ०१० १ अ० ।

अथापुगाभिय-अभिप्रह-न० । न विद्यते अभिप्रह इदमेव
दर्शने शोभनं मान्यदित्येवकपो यत्र तदभिप्रहय । मिच्छा-
न्वये, यत्रमास्त्वर्थागमयि दर्शनात् शोभनातीत्येवमीषस्ता-
धर्म्यमवलम्बते । पं० सं० १ डा० ।

अथापुगाभिय-अनाभोग-पुं० । आभोगमनाभोगः, न आभोगोऽ-
नाभोगः । पं० व० २ डा० । अत्यन्तविस्तृतौ, आनु० । पंचा०
जीत० । नि० ७०१३ । स्व० । एकान्तविस्तृतौ, आ० ७०
६ अ० । अज्ञाने, नि० ७०२ अ० । आभोगमनाभोगः, उपयो-
गविशेष इत्यर्थः । अनुपयोगे, आ०५ अ० । असाधधान-
तायाम्, ध० २ अश्रि० । न विद्यते आभोगः परिभाषनं यत्र
तदनाभोगम् । तत्त्वैकेन्द्रियव्यापितमिति । पं० सं० ३ डा० ।
विचारग्रन्थस्यैकेन्द्रियव्यापितो विशेषज्ञात्विकतस्य भवति । इदं
सर्वोपाधिप्राप्यारुह्यबोधस्वरूपं विवक्षितं किञ्चिद्दृष्टान्त-
बोधस्वरूपं चैत्येवैकविधम् । ध० २ अश्रि० । दृ०१० । कर्म० ।

अथापुगाभिय-अनाभोगध्यान-न० । अनाभोगोऽत्यन्त-
विस्तृतिः, तस्य ध्यानम् । विस्तृतव्रतप्रसन्नचन्द्रस्येव ध्याने,
आनु० । ['पसच्चंद' शब्दे चैतव कथानकम्]

अथापुगाभिय-अनाभोगकृत-न० । अनाभोगेन कृतं जति-
तत् । अज्ञानकृते, कर्म० ५ कर्म० ।

अथापुगाभिय-अनाभोगक्रिया-स्त्री० । अनाभोगमन्वेष्ये
क्रियाभेदे, अनाभोगक्रिया द्विविधा-आदातनिलेपपञ्जाभोगा-
क्रिया, उक्तमणानाभोगक्रिया च । तत्राऽऽदातं रजोहरणप्रा-
चीवरदिक्कामागमप्रत्युपेक्षिता, अत्रमजितानामनाभोगोनाऽऽ-
दातनिलेपः । उक्तमणानाभोगक्रिया-सहस्रसंज्ञकभाषानासमी-
क्षागमनागमनादि । आ० ७० ४ अ० ।

अष्टाजोगशिवस्तिथि-अष्टाजोगनिर्वाहति-पुं० । अष्टाननिव-
र्तित, स्था० ।

अष्टाजोगप्रतिसेवणा-अष्टाजोगप्रतिसेवना-स्त्री० । अष्टा-
भोगो विश्वस्तिथस्तत्र प्रतिसेवना । प्रतिसेवनाभेदे, स्था० १०
डा० । (अष्टाभोगप्रतिसेवनायाः स्वस्वयं ' पश्चिसेवणा ' शब्दे
वर्णयिष्यते)

अष्टाजोगभ्रम-अष्टाभोगभ्रम-पुं० । विश्वरत्नसम्प्राये, " इय
चरणमि दिवाशं, होर अष्टाभोगमाश्रयो बलस्यो " पंचा०
१७ विष० ।

अष्टाभोगया-अष्टाजोगता-स्त्री० । अष्टाभोगरहिततायाम,
कर्म० ४ कर्म० ।

अष्टाभोगव-अष्टाजोगवत्-त्रि० । अष्टाभोगोऽपरिज्ञानमात्र-
मेव केवलं प्रस्थाप्योदितुं सूक्ष्मबुद्धिगम्येषु, स विद्यते यस्य स
तथा । अष्टार्थापरिज्ञातरि, " यो निरनुभवंदोषा-च्छ्रद्धाद्धोऽना-
भोगवान् बुद्धिनदीकः " श्लो० १२ विष० । संमूच्छेनजप्रयाय
अष्टानिनि, श्लो० १० श्लो० ।

अष्टाभोगवत्तिथ्या-अष्टाभोगमत्पत्त्या-स्त्री० । अष्टाभोगोऽष्टा-
नादि । अष्टानं प्रत्ययो निमित्तं यस्याः सा तथा । स्था० २
डा० १ उ० । पात्राद्यादृतो निक्षिप्तो वा सम्भवति क्रिया-
भेदे, स्था० ५ डा० २ उ० । " अष्टाभोगवत्तिथ्या क्रियाया दु-
विहा प्रथमा । तं जहा-अष्टाउत्तथायस्या जेव, अष्टाउत्तपम-
ज्जणया जेव " स्था० ४ डा० २ उ० । अष्टा० चू० । अष्टा० ।

अष्टार्धस्तिथि-अष्टान्धस्तिथि-अष्ट्य० । अष्टापूर्वधस्तिथे, अष्टा०
२ भ्रु० १ अष्ट० ७ उ० ।

अष्टाभियावाहृ-अष्टाभिकव्याधि- पुं० । नामरहिते व्या-
धौ, अष्टाभिको नामरहितो व्याधिरसाधरतरागः । सं० ।

अष्टार्धवित्त-अष्टाचामाश्ल- त्रि० । अष्टाचामाश्लरहिते,
आव० ६ अ० ।

अष्टाययण-अनायक-पुं० । न विद्यतेऽन्यो नायकोऽत्येव्यना-
यकः । स्वयंप्रभे चक्रवर्त्यादौ, सूत्र० १ भ्रु० २ अ० २ उ० ।

अष्टातक-त्रि० । अष्टसज्जने, त्रि० चू० ८ उ० । अष्टहापने, त्रि०
चू० ११ उ० ।

अष्टाययण-अष्टायतन-न० । न अष्टायतननायतनम् । अष्ट्या-
ने, वेष्ट्यासामन्ताधिकेपे दृश० १ अ० । साधुनामानश्रये, प्रश्न०
४ सम्ब० श्लो० । नाट्यशास्त्रायां, अष्टवर्षपरितजन्तुगुणशास्त्रा-
याम्, पंच० । पार्श्वस्थायातने, आव० ३ अ० । पशुप-
रथकंसलके वा स्थाने, श्लो० ।

इदानीमनायतनस्यैव पर्यायशब्दाद् प्रतिपाद्यशब्द-
सावजमष्टाययणं, अष्टोद्विडाणं कुसीलसंसर्गात् ।
एराद्या ह्येति पया, एए विवरणं अष्टाययणा ॥ १०८६ ॥
साव जमनायतनमशोषिस्थानं कुशीलसंसर्गात् एताभ्येकाधिकानि
पदाणि भवन्ति । एताभ्येव च विपरीतानि अष्टायतनं भवन्ति ।
कथम् ? असावद्यमनायतनं शोषिस्थानं कुशीलसंसर्गात् । अत्र
जमनायतनं वर्जयित्वा आयतनं गविवर्णायम् ।

पतदेवाह-

ब्रह्मिषु अष्टाययणं, आययणमेवेषां मदा कुज्जा ।
तं तु पुण अष्टाययणं, नायञ्चं न्वरजावेण ॥ १०८७ ॥

वर्जयित्वा अनायतनमायतनस्य गवेषणं सदा सर्वथाहं कुर्वन्-
त् । तमुपरनायतनं ह्येतो प्रावतश्च विज्ञेयम् ।

तत्र ह्यनायतनं प्रतिपाद्यशब्द-
द्वये रुदाऽप्या, अष्टाययणं भावओ दुविहयम् ।

सोऽयं श्लोक्ततरि, तस्य पुण सोऽयं इष्टयो ॥ १०८८ ॥

ह्येव द्रव्यविषयमनायतनं रुदादियुद्धम् । इदानीं जाततोऽना-
यतनमुच्यते । तत्र प्रायतो द्विविधमेव-सौकरिकं, लोकोत्तरं च ।
तत्रापि लौकिकमनायतनमिदं वर्तते-

स्वरिया तिरिस्वरिणी, गालायर समण माहृण मुसाणो ।
वागुरिय वाह गुम्मिय-हरिएसपुसिद्वयकिञ्चंभा या १०८९ ।

स्वरिकति इतिस्वरिका यथाऽस्ते तदनायतनम्, तथा तिर्यग्येवमयश्च
यत्र तद्व्यवनायतनम्, तामाश्रयाश्रयास्ते यत्र तदनायतनम्, अ-
मणाः शाक्यादयस्ते यत्र, तथा श्रावणा यत्र तदनायतनं, इमहा-
नं वानायतनम्, तथा वागुरिका व्याघ्रागुल्मिकाव्युत्पत्तिशालाः
हरिमना पुलिन्दा मत्स्यवन्ध्याश्च यत्र तदनायतनमिति ।

एतव्यनायतनेषु कृणमपि न गतव्यम्, तथाबाह-
स्वणमपि न स्वयं गंतुं, अष्टाययणसेवना सुविहियाणं ।

जं गंधं होइ वणं, तं गंधं मारुओ वणं ॥ १०९० ॥
कृणमपि न कर्म न येत्यमनायतनं गन्तुं, तथा सेवना च अना-
यतनस्य सुविहितानां कर्तुं न क्त्वा न सुक्ता । यतोऽयं दोषो
जयति- " जं गंधं होइ वणं तं गंधं मारुओ वाह " । सुगमम् ।

न अत्र एवमाइ, श्लोगमि दुर्मजिया गरहिया य ।

अष्टाययणं न समणो ण व, न कल्पेऽ तारिसो वासो १०९१ ॥
येऽन्ये एवमाद्यं कर्तुं न शक्नुवन्ति, अत्राश्रयप्रदाय-
तनविशेषाः, तत्र अमणानां अमणीनां वा न कल्पते तादृशां वास
इति । उक्तं सौकरिकं भावनायतनम् ।

इदानीं लोकोत्तरं प्रावनायतनं प्रतिपाद्यशब्द-
अहं लोगुत्तरियं पुण, अष्टाययण भावओ सुणयव्वं ।

जे संजमसोणाणं, करिति हाणि ममत्ता वि ॥ १०९२ ॥
अथ लोकोत्तरं पुनरनायतनं भावत इदं ज्ञातव्यम् । ये प्र-
जित्ताः संयमयोगानां कुर्वन्ति हाणि समथा अपि सन्तः, तल्लोक-
तरमनायतनम् । तेष्व पर्वविषः संसर्गात् न कर्तव्यः । (कुशीलसं-
सर्गं दोषाः ' किहकम्म ' शब्दे नृनीयमाणे वक्ष्यन्ते)

नाणस्स दंसणस्स य, चरणस्स य जत्थ होइ उवथाओ ।
वाज्जिज्जव्वज्जभूरे, अष्टाययणवज्जओ खिणं ॥ १०९३ ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चारिषस्य च यत्रायतनं भवति सपञ्चातस्त्वं
वर्जयेद्वद्यमीकः साधुः, किचिशिष्टः ? अनायतनं वर्जयतीति
अनायतनवर्जकः । स पर्वविषः किमि अनायतनमुपघातकं
वर्जयेदिति ।

इदानीं विशेषतोऽनायतनप्रदर्शनायाह-
जत्थ साहम्मिया बह्वे, जिञ्चिच्चा अष्टारिया ।

पूसगुणपत्तिसेवो, अष्टाययणं तं वियाणाहि ११०१ ॥
सुगमा, नवरं, मूलगुणाः शाणातिपाताद्यवस्तुनामभित्तिसंभव
इति मूलगुणप्रतिसेविनस्ते चत्र निवसन्ति तदनायतनमिति ।

जत्थ साहम्मिया बह्वे, जिञ्चिच्चा अष्टारिया य ।
उत्तरगुणपत्तिसेवो, अष्टाययणं तं वियाणाहि ११०२ ॥

सुगमा, नवरं, उत्तरगुणाः 'पिंडस्स जा बिखोही' इत्यादि
सम्यक्सिद्धिभेदे ।

जन्ध साधमिया बहवे, भिक्षुविया अणारिया ।

लिंगवैसपदिच्छन्ना, अणायययं तं विद्याणारि ॥ १ ० ३ ॥

सुगमा, नवरं, सिद्धिवेद्यमानेन प्रविष्टकृत्वा बाह्यतः, आत्यन्तरतः
पुनर्दूतगुणसेविन उच्यतेपुणसेविनश्च, ते यत्र तदनायतनमिति ।
उक्तं लोकोत्तरं आध्यात्मयत्नेन तत्रापि तदनायोक्तमनायतनस्वरू-
पश्च ॥ अ० ।

अणाययये चरंतस्स, संसग्गीए अमिकसणं ।

दोज्ज वयायं पीसा, सायकम्मिय य संसज्जो ॥ १ ० ॥

अनायतने अस्थाने वेद्यसासाम्पत्तादी, चरतो गच्छतः, संसर्गेण
सम्पन्नेन, अनीक्षणं पुनः २। किमिच्छाह—अवेद्यं प्रत्यात्तं प्राणाति-
पातविरथादीनां पीसा, तदाज्ञितव्येनो मावविराधना, आम-
ध्ये च अमणभावे च उच्यते रजोहरणादिविचारणरूपे नूयो
भास्यतप्रधानहेतौ संशयः कदाचिदुभिक्ष्वाःप्रत्येयवधेयः । तथा
च कृच्छ्यात्वा—“ वेसादिगयभायस्स, मेहुणं पीडिज्जइ, अणुप-
योगेणं पसणाकरणं हिंसा, पशुपायणे अणुपुञ्जप्रवलयणा-
ऽसत्त्ववयणं, अणुसायवेसाहंस्सणे अहंसादानं, मसत्करणे
परिभाहा, एवं सत्त्ववयपीसा । दय्यसाम्भे पुण संसज्जो उचि-
कम्ममणेण प्ति ” सुत्रार्थः । दश० ५ अ० ३ उ० ।

अणाययणपरिहार—अनायतनपरिहार—पुं० । आयतनं पार्श्व-
स्थादिक्रुतीर्धिवेद्ययादिवद्वाहदिकृच्छानवर्जनेन, दश० ।

अणाययणसेवण—अनायतनसेवन—न० । पार्श्वस्थाधायतनज-
नेन, आव० ३ अ० ।

अणायर—अनादर—पुं० । तिरस्कारे, को० । अनुत्साहादिमके
सामायिकव्यतिवृत्तारभेदे, स च प्रतिनियतव्येत्वायां सामायि-
कस्वकारणं, यथाकर्षविच्छा करणानन्तरमेव पारयं च । यदा-
हुः—“काठक तक्षणं विय, पारेद करेद वा जहण्णए । अणवण्ठि-
असामाहअ—अणायराज्जो न तं सुख्” ॥१॥ धर्म० ५ अ० ३ प्रथ० ।

अणायरंत—अनाचरतु—अ० । विवर्जयति, “ पाचमणायरंतं ”
पापमगमनियुक्तं कर्म, अनाचरत् वियजेयत् । पंचा० ११ विच० ।
अणायरणजोग—अनाचरत्खोजोमय—वि० । आसत्त्वनाऽनेहं,
“ सिक्खावेड अणायरणजोगो ” पञ्जा० १० विच० ।

अणायरणया—अनाचरत्ता—स्त्री० । गौणमाहंनयकर्मणि,
सम्भ० ।

अणायरिय—अनार्य्य—पुं० । आराद् यताः सर्ववेद्यवर्मेज्य इ-
त्यर्थः । अस्त्रिष्येयान्द्वार्याः । क्रूरकर्मण, आचा० १ सु० ५ अ०
१ उ० । शक्यवनादिवेशोऽज्ञवेपु, सुत्र० २ सु० १ अ० ।

अणायस—अनायस—वि० । अल्लोहमये, नि० ५ उ० ।

अणाय्या—अनात्थन्—पुं० । न आत्मा अनात्मा । यदादिद्वयार्थे, 'यो
अनाया' । सप्रदेशार्थेतयाऽसंख्येयामत्सर्वदेशोऽपि तथाधिक-
परिणामरूपप्रव्यायीपेक्षया एक एव, सत्तानापेक्षयाऽपि, मुख्य-
रूपापेक्षया तु अनुपयोगसङ्गैकस्वभावपुंकार्यात्काश्चाच्छिञ्जि-
कृष्कपाणामापि धर्मास्तिकायादीनामनासामयैकत्वमयत्सवामि-
नि । स० १ सम० । परस्मिन् अ—अणायार अचकमह ” अ०
१ श० ५ उ० ।

अणाय्याण—अनादान—न० । अकारणे, “अणाय्याणमेवं अग्निना-
दियसिज्जासथियस्स ” कथ्य० ।

अणायार—अनाचार—पुं० । आचरणमाचारः, आचारकर्मोदिय-
रिहरणपरिष्ठापनरूपोऽनाचारोऽनाचारः । आचारकर्मोदिय-
भातु० । साध्याचारस्वपरिभोगतो ष्वेत्ते, ष्व० १ उ० । आच० ।
ध० । (अनाचारव्याख्याऽऽध्याकर्मोऽभित्य 'अहकम' शब्दे अचैव
भागे २ वृष्टे कृता) आचरणीयः आचकाणामाचारः, न आचा-
रोऽमाचारः । अनाचरणीये “ अणायरे अणिच्छियम्मे ” ध० २
अधि० । शास्त्रविहितस्य व्यवहारस्याभावे, ग० ३ अधि० ।

अय साधुनां यदनाचरितं तत्तत्समासेन स्वासेन च
प्रदर्शयामः । तत्र दर्शयैकालिके द्वितीयाध्यायने—

संज्ञमे सुट्ठि अण्पाणं, विप्पुक्काण ताएणं ।
तेसियेयमण्णाएणं, निग्गयाण मह्सेसिणं ॥ १ ॥

इह संदितादिकमः सुपुषः । भाषायेस्वययव-संज्ञमे कुमपुणिय-
काव्यावर्णितस्वरूपे शोचनेन प्रकारेणऽऽगमनीयत्वा स्थितं, आरंभं
येषां तु सुस्थितात्मानः, तेषाम् । त एव विशेष्यन्ते-विधियमनेकैः
प्रकारैः प्रकषेण भावसारोख मुक्ताः परित्यक्त्वा बाह्यभ्यन्तरेण प्र-
स्थेनेति विप्रमुक्ताः, तेषाम् । न एव विशेष्यन्ते-भाष्यन्ते आत्मानं प-
रजुनयं चेति ज्ञातारः, आत्मानं प्रत्येकमुक्ताः, परं तीर्थेकराः, स-
त्स्वीतोत्साहप्रभं स्थविरा इति । तेषामिदं बह्व्यमाणसङ्गणमना-
चरितमकथयः । केवामित्याह-निर्मम्यानां साधुनामिधामभेत-
त् । महान्तश्च ते श्रुत्ययश्च महर्षयो यतय इत्यर्थः । अथवा महान्त-
मर्षितु शीलं येषां ते महर्षिणोतेषाम् । इह च पूर्वपूर्वेनाह पयो-
सरोपरत्वाभो नियतो हेतुहेतुमज्ञानेन वेदितव्यः । यत एव
संज्ञमे सुस्थितात्मानः अत एव विप्रमुक्ताः । संज्ञमसुस्थिताऽऽ-
त्मनिबन्धनत्वाद्दिप्रमुक्तेः । एवं शेषेष्वपि भाषानीयम् । अन्ये तु
पश्चात्पूर्वयो हेतुहेतुमज्ञानमित्यं चणैयन्ति-यत एव महर्षेयः
अत एव निर्मम्याः । एवं शेषेष्वपि उच्यतेमिति सुत्रार्थः ।

साम्प्रतं यदनाचरितं तदाह—

उदेसियं कीयगमं, नियामगमिह्णुणायि य ।
राइज्जे सेणाणे य, गंधमद्धे य वीयणे ॥ २ ॥

(उदेसियं ति) उद्देशानं साध्याद्याभित्य दानारम्भनस्थेत्युद्देशः,
तत्र भवमीदृशिकम (१), कथयं कीर्तं, भावे निज्जात्येयः ।
साध्यादिनिमित्तमिति गम्यते । तेन कृतं निर्वेर्तितं कीर्तकृतम
(३), नियाममित्यामन्वितस्य पितृत्वस्य प्रहस्यं नित्यं तत्त्वनाय-
न्वितस्य (३), (अनिह्णुणायि व ति) स्वप्रसादेः साधुनिमित्त-
मनिमुञ्जनातीतमत्त्वाद्दत्तम्, बहुवचनं स्वप्रसादप्रदानमेशोधा-
निभेद्व्यापनार्थं (४), तथा तानिमिकं रानिजोऽनेन दिवस्युत्तरी-
तद्विस्वतुकादिचतुर्भेज्जनस्यम् (५), स्नानं च देशसर्वेज्ज-
निर्घं द्वास्नानम(अनिह्णुणायि)तरेकेषांनिह्णुणहमप्रकालममपि ।
सर्वस्नानं तु प्रतीतम् (६), तथा गन्धं माद्यं च, गन्धप्रदं गान्-
त्काणुदुदादिपरिप्रदः, माद्यप्रदं गान् प्रथितवहितानोभेद्व्युत्सव
(७), वीजनं यज्जनं तद्विह्णुणादिना चर्म एव, इदमनाचरितम्
(८), दोषाभौदृशिकदिप्यारम्भपरवर्षनादयः स्वविध्याऽव्यगन्त-
व्या इति सुत्रार्थः ॥३॥

संनिद्धीं गिदिमपे य, रायपिंने किमिच्छए ।
संवाह्यायं दंतपद्दानं य, संपुच्छये देहपलोयणा य ॥३॥

इदं काव्यचरितमित्याह—(संविद्यं चि) समिधीयतेऽनेनाऽऽ
 त्वा कुर्वताथिति संनिधिः । वृत्तमुद्रादीनां संबन्धकिया (१),
 पृथक्त्वं यद्बन्धस्यार्थं च (२), तथा राजपिण्डा सुपादारः
 (११), किमिच्छतीत्यर्थं यो दीयते स किमिच्छकः राजपिण्डो-
 ऽप्यो वा सामान्येन (१२), तथा संवाधनमधिक्यमोस्तत्प्रमो-
 ह्यवतया वसुविषं मयेन्द्रम् (१३), दत्तप्रपाचनं शाङ्गुत्यादिना
 भाषणम् (१४), तथा संमसः सावधो गृहस्थविषयः, पद्मा-
 र्थं कीदृशो वाऽइमित्यादिक्रमः (१५), देहमलोकं चादर्शोदी
 (१६), अनाचरितम् । दोषाश्च सन्निधिप्रभृतिषु परिग्रहमाणाति-
 पाताश्चः स्वधियैव बाधया इति सुभाष्यैः ॥३॥

अद्वावप य नालीए, अयस्स य धारख ॥ १ ॥
 तेगिच्छं पाहणा पाए, सपरंभं य जोइयो ॥ ४ ॥

अद्यपदं दूतम्, अर्थेपदं वागुद्देश्यमधिकृत्य निमित्तादिविषय-
 म् (१७), अनाचरितम् । तथा नात्रिका जेति पूनविशेषलक्षणा, यत्र
 मऽदूष्कल्याऽन्यथापादाकपातनमिति नात्रिकया पात्यन्त इति ।
 इयं आनाचरिता अद्यापदेन सामान्यतः दूतग्रहणे सत्यमिनेयश-
 निवचनत्वेन नात्रिकायाः प्राधान्यव्यवधानार्थं जेदत्त उपादानम् ;
 अर्थेपदमेवोक्तार्थं तद्विरत्येव अमिच्छते । अस्मिन् एषे सकलश्रु-
 तोपलक्षणायां नात्रिकाग्रहणरक्षणपदवृत्तविशेषपक्षे कोत्रयोदिति
 (१८), तथा उभयस्य च लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं
 प्रति भाडनयोदित्यागमनापादानम्तु युक्त्याऽनाचरितम् । प्रा-
 कृतवैद्यः आत्मानुसंधारदोषोऽकारणकारणोपायं च दृष्टव्ये, तथा
 कुशित्वात्प्रायादिति (१९), तथा (तेगिच्छं चि) । खिकित्वाया भा-
 वकैकित्त्वं स्वाधिप्रतिक्रियावत्पक्षे [२०], तद्योपानही पाद-
 बोधोचरितम् । पादयोदिति सामिप्रायकम् । न त्वापकल्पप-
 रिहाराथंमुग्रप्रहारार्थेन [२१], तथा समासस्यैव समासम्भ-
 जे च व्योतिषोऽमेः [२२], तदनाचरितम् । दोषा अद्यपदा-
 दीनां क्लृप्ता पथेति सुभाष्यैः ॥ ४ ॥

सिञ्जापर पिर्नं च, आसंर्दी पक्षिभ्रंकर ।

गिहंतरनिसिञ्जा य, मायस्सुव्वहृणाणिय य ॥ ५ ॥
 किञ्च—शब्दातरपिण्डोऽन्यनाचरितः । शय्या वसतिस्तथा
 तरति संसारमिति शय्यातरः स्वायुषसतिव्रता, तपिण्डः [२३],
 तथा भासदकपर्यङ्को अनाचरितः । यतैः च लोकप्रसिद्धावयव
 [२४], तथा सुदान्तरनिपादाज्जाचरिता । पृदमेव सुदान्तरं गृहयो-
 र्थं अयान्तरालं, तत्रोपवेशनं, बहाम्दान्तराद्विपरिग्रहः [२५]
 तथा मासस्य कावस्योत्पत्तेर्नामि आनाचरिताभिः । उद्धर्तानि प-
 ङ्गापनयनरक्षणानि । अद्यपदस्यसंस्कारपरिग्रहः [२६], इति
 सुभाष्यैः ॥ ५ ॥

गिहियो वेद्वाचकिर्भं, जा य आजीववत्तिया ।
 तत्तानिबुद्धभोहर्षं, आह्रारस्सरखाणिय य ॥ ६ ॥

तथा (गिहियो चि) गृहियो, गृहस्थस्य वैषाण्यं व्यापृत्तस्य
 मनो वैषाण्यं, गृहस्थं प्रत्यङ्गादिसंपन्नमित्यर्थः [२७], यत्त-
 वनाचरितमिति । तथा आजीववत्तिया जानिकुलगणकमेतिष्वा-
 नामाजीवयमाजीवस्तेन बुधित्स्त्रज्ञाव आजीववत्तिया । जात्या-
 ध्याजीवनेनात्मपाहनेत्यर्थः [२८], इयं आनाचरिता । तथा तसा-
 निबुद्धभोमित्यर्थं-तत्तं च तद्विभूतं च आदिपदोऽनुत्तं भेति वि-
 ग्रहः । उद्धकमिति विशेषणमन्यथाऽप्युपपन्ना गम्यते । तज्जोवि-
 त्वं मिश्रसचिचोदकमोजित्वमित्यर्थः [२९], इयं आनाचरि-

तम् । तथाऽऽनुरस्मरणानि च क्लृप्ताद्युतराणां पूर्वोपयुक्तस्मर-
 णानि च अनाचरिताः । आनुरस्मरणानि वा दोषाऽऽनुरभ-
 यत्वात् (३०), इति सुभाष्यैः ॥ ६ ॥
 मूलए सित्तरेये य, वसुस्यंने अमिच्छुडे ।

कंदे मूले य सचिचते, फले बीए व आमए ॥ ७ ॥

किञ्च (मूलए चि) मूलको लोकप्रतीतः (३१), पृथक्त्वं
 चार्ककम् (३२), तथेकुकणं च भोकप्रतीतम् (३३), अविभु-
 नमग्रहणं सर्वैर्भोजित्वं च्यते । अमिच्छेत्प्रपरिणतमनाचरितमिति ।
 इकुकणं चापरिणतं द्विपर्णात्तं यत्तं यतैः तथा कन्वो बज्जकन्वा-
 दिः (३४), मूलं च सद्वाह्लादि सचित्तमनाचरितम् (३५),
 तथा फलं वपुस्त्रयादि (३६), बीजं च तिलादि [३७], आमकं
 सचित्तमनाचरितमिति सुभाष्यैः ॥ ७ ॥

सोवचपत्ते सिधिये लोणे, रामालोणे य आमए ।

साम्भे पेसुस्वारे य, काडालोणे य आमए ॥ ८ ॥

किञ्च (सोवचले चि) सौवर्चलम् (३८), सैन्धवम् (३९),
 लवणं च सौमरलवणम् (४०), दमालवणं च (सानिलवणम्)
 (४१), आमकमिति सचित्तमनाचरितम् । साम्भं लवण-
 मेव (४२), पांडुसारकोपरलवणम् (४३), कृष्णलवणं च
 (४४), सैन्धवलवणं च वैतेकदेशजम्, आमकमनाचरितमिति
 सुभाष्यैः ॥ ८ ॥

पुत्रोणे चि वपये य, वन्थीकम्म विरेयोणे ।

अंजयो दंतवसे य, गायाम्भंग विजुणोणे ॥ ९ ॥

किञ्च (पुत्रोणे चि) धूपनमित्यात्मवधोदरेनाचरितम् । प्राह-
 तशील्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूपपानमित्येव व्याचक्षते
 (४५), वमनं प्रजनफलदिना (४६), बालकम् पुटकेनाधि-
 छाने स्नेहदानम् (४७), विरेचनं दन्त्यादिना (४८), तथाऽऽ-
 व्रजनं रत्नाङ्गनादिना (४९), दन्तकाष्ठं च प्रतीमम् (५०),
 तथा गान्धर्वकस्तैलादिना (५१), विजुषणं गान्धर्वामेधेति
 (५२), सुभाष्यैः ॥ ९ ॥

किचासुलमाह—

सव्वमेयपपाइर्षं, निर्गमंणा यदेमिणं ।

संजममि अ बुच्छाणं, लहुचुपविहारिणं ॥ १० ॥

(सव्वमेयं चि) सर्वमेतदौद्देशिकादि यदन्तरमुक्तं तदमा-
 चरितम् । केचामित्याह—निर्गम्यानां मरुपर्णां साधुनामित्याह ।
 त एव विशेष्यत्वे-संजमे अद्यात्तपरिसंयुक्तानिमिच्छु-
 तानं, लघुभूतविहारिणां-लघुभूतो वायुः, ततश्च वायुभूतोऽप्रतिब-
 द्यतया विहारो येनां ते लघुभूतविहारिणस्तेषाम् । निगमनकि-
 चापदमेतदिति सुभाष्यैः ॥ १० ॥

किमित्यनाचरितं यतस्त पबंदूता भवन्तीत्याह—

पंचातप परिष्खाया, तित्तुया हसु संजया ।

पंचातपगहृणा बीरा, निर्गमंणा उज्जुदंतिणो ॥ ११ ॥

(पंचातप चि) पञ्चाशवा हिंसाव्या परिष्खाया द्विविधया
 परिक्रया-कपरिक्रया, प्रत्याव्यानपरिक्रया च । परि समन्ताद् वा-
 यैस्ते पञ्चाशवपरिष्खायाः । आहितान्प्रायेऽराकृतिगणव्याच-
 क्षिण्याः पूर्वनिपात इति समासो युक्त एव । परिष्खातपपञ्चाशवा
 इति वा । यत एव चैवंभूता अत एव त्रिगुणा मनोवाक्कायगु-
 णाः । वदंसेताः वदसु जीविकायेषु वृथिव्यादिषु सास-

स्येन यदाः [पंच निगार्या इति] निरूपणीति निगृह्यः, क-
र्यति २५३ । पञ्चानां निगृह्याणां, पञ्चानामतीतिर्याप्याम् । अती
बुक्तिः स्यात् । स्थिरा वा । निर्याः साध्वः ॥ २५३ ॥ इति ।
अनुप्रासः प्रति अनुप्रासः संयमः, तं परमन्युप्रासद्वयमेति अनु-
प्रासः संयमप्रतिबन्धा इति सूत्रार्थः ॥ २५३ ॥

ते च अनुप्रासः काव्यमधिकृत्य यथाशक्येतरकुर्वन्ति—
अप्रासव्यति गिन्हेऽपि, हेमतेऽपि अप्रासः ॥

वासामु पदिसंज्ञीया, संज्ञया सुसमाहिया ॥ १२ ॥
(आयावयति सि) आतापयन्त्युद्धृत्यानादिया आतापनां कुर्व-
न्ति, प्रीधेपुण्यकालेषु, तथा हेमतेऽपि शीतकालेषु प्रादुष्या इति
प्रायश्चर्यरहितान्तिष्ठन्ति । तथा वर्षासु वर्षाकालेषु प्रतिसेमीमा
शक्येकाग्रयस्या भवति । संयताः साध्वः, सुसमाहिया काना-
दियु यन्तपराः । प्रीधिविषु बहुवचनं प्रतिवर्षेकरणापनाय-
न्ति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

परीसहरिजु दंता, धूमोहा जिर्दिया ।
सव्वदुक्कसपरीणह्ण, पकमंति महोमिणो ॥ १३ ॥
(परीसह सि) मार्गोच्यवनिर्जराऽपि परिषोडव्याः कृत्विपा-
सादृशः । त एव रिपवस्तुल्यधर्मैर्भाष्योऽपि हरिपवः, ते, दान्ता
उपशमं नीना येस्तं परीषहरिपुद्गान्ताः । समासः पुंश्वत् । तथा
धूमोहा विजिसमाहा इत्यर्थः, मोहाऽज्ञानम् । तथा जित्ति-
याः शब्दादिषु रागद्वेषरहिता इत्यर्थः । त एवेज्जताः सर्वेदुःख-
प्रकृषार्थं शरीरमानसांशुःखप्रकृत्यानिमित्तं, प्रकामन्ति प्रय-
सन्ति । किज्जताः ? महर्षयः साधव इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

इदावीमेतेषां फलमाह—
बुकरां करिताणं, दुसह्रां सडिषु य ।
केइ त्य देवलोपसु, केइ सिक्कोंति नीरया ॥ १४ ॥

(बुकरां नि) एवं बुकराणि कुर्वन्नेशिकादित्यागादीनि,
तथा दुःसह्राणि सडिःत्वा तापनादीनि, केचन तत्र देवलोकेषु
सौधमंदिषु गच्छन्तीति वाक्यशेषः । तथा केचन सिद्धन्ति
तैरेव भवेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । वर्तमाननिर्देशः सूत्रस्य त्रिका-
द्विषयत्वज्ञापनायः । नीरजस्का इत्यद्विषयकमविप्रमुक्ता न त्वे-
कं क्रिया इव कमेयुका एवेति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

येऽपि वैश्विधानुष्ठानतो देवलोकेषु गच्छन्ति, येऽपि ततश्च्यु-
ता आर्यदेशेषु सुकुटुं जन्मावाप्य कांश्च सिद्धन्त्येवेत्याह—
स्वविचा पुव्वकम्मां, संजमेण तवेण य ।

निष्किमगामधुप्यत्ता, ताऽणो परिणिव्वुके ॥ १५ ॥ इति वेमि ।

(आविचि सि) ते देवलोकेच्युताः, स्वपितृया पुत्रकर्मणि सा-
वशोपानि । कन्तेत्याह—संयमेनोक्तसङ्गणेन, नपसा च; एवं प्र-
वाहणे सिद्धिमार्गं सन्त्यध्वशीनादिस्वरूपमनुप्रासाः सन्तक्यातारः
आत्मादीनां परिनिर्वाणं सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । अन्ये तु
पञ्चन्ति- (परिनिष्पुड चि) तत्रापि प्राकृतशैल्या जन्मसत्त्वाभा-
संभवा पात्रे अस्वापानिति । ब्रवीमीति पुत्रवदिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥
इहा ३३०० उक्तं समासतोऽनाकारितम् । अथ विशेषतस्तदुच्यते—
आसूणी मक्किरारं च, गिणुपपवायकम्मंगं । उच्चोक्षणं च
कळं च, तं विज्जं परिजाणिमा ॥ १५ ॥ सूत्रं १ कुं ६ अ० ॥
(अस्या व्याख्या ' धम्म ' शब्दे लुप्या)
आदशोदी मुक्कदशंमाकि क्कोति—

जे निक्खं मत्तए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जे निक्खं अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥
जे निक्खं अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥
जे निक्खं मणीए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥
जे निक्खं उडुवयाएए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥
जे निक्खं तोए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥
जे निक्खं फाणिए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥
जे निक्खं वसाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

मत्तमे दप्पणस्स भरिते तथ अप्पणो सुहं पडोवति जा, ए-
त्तस्स भाणादिया दोसा । चउदहं वा से पडिक्कं । एवं पडिग्ग-
हादियु विसेसपदानं इमा संगहणी गाहा—
दप्पण मणि आणये, सत्यु दए जाणएऽभतरए य ।

तेल्ल महु सपि फाणित-मज्ज वसा सुचमादीसु ॥ ५६ ॥
वपणमादरोः, स्पट्टिकादि मणिः, स्थानकादि आभरणं, कर्ण-
दि शकं, वृकं पानीयम्, तच्च अन्यतरे कुयदादिभाजेने स्थितं, ति-
लादिजं तेषं, मधु प्रसिद्धं, सर्पिषूतं, फाणितं जिणुको, मज्जं
मत्यादीनां, वसा, सुचं, मज्जे कज्जति इक्कुरसे वा शुद्धिया सुचं
सर्वे सुलसु जहासंभवं अप्पणां अक्कल्लुविससय्या णयणादियु
देहावयवा पडोवइ कोऽप्या-तथ स्वयं पडवति । चोदक आह-
किं तव पडयति ? आचार्य आह—अत्रोच्यते यथा पुन-
रप्याद चोदकः—कथमादित्यादिनामरुज्जानितस्त्रयादिर्जोमं
प्रमुक्या अयतोऽपि हयते । आचार्य आह—अत्रोच्यते यथा-
पञ्चानन्दनीलप्रदीपशिखानामात्मस्वरूपानुरुपा क्रमे जाया
स्वत एव सर्वतो भवति, तथा सर्वपुत्ररुज्जयानामात्मप्रजाऽनुक-
पा छाया सर्वतो जवत्यनुपलक्षा वा इयतोऽयतोऽपि हयते । पुनरपि
चोदक आह—जति अप्पणा च्छायां देहति, तो कइं अप्प-
णा सरीरसरिंसं वणकपं पिच्छति ? ।

अभोचयंत—
भामा तु दिवा जाया, अभभासरगता णिसि तु काट्ठाभा ।
से सव्वे भासरगतं, सदेहवत्ता म्मुणयव्वा ॥ ६० ॥

आदित्येनाश्वजासिते दिवा अभास्वरे अदीप्तमिति त्रुम्यादि-
के ल्ये बुक्कादीनां निपतिता जाया जायैव हयत्येते । अनिर्णय-
ताऽवयवा वर्णतः इयामाऽऽजा तस्मिन्नेवात्रास्वरे ल्ये भूत्या-
दिके रात्रौ निपतिता जाया वर्णतः कृष्णा भवति । जाया पुन स-
व्वे व ह्याया दीप्तमिति हर्षणके ल्ये निपतिता दिवा रा-
त्रौ वा तदा वर्णतः शरीरवर्णतः शरीरवर्णवर्जितावयवा च
हयत्येते । सा च जाया सहरशी न भवति । चोदक आह—यदि
जाया सहरशी न भवति सा कथं न भवति, किं वा तपयन्ति ? ।
अभोचयंत—

उच्चोयपुक्कमि तु द-प्पणम्मि संजुज्जे जया देरी ।
होति तथा पडिबिषं, जाया जइ जाससंजोमो ॥ ६१ ॥
उच्चोयपुक्कं वर्णतः निर्मलः इयामादिविरहितः तस्मिं दया स्व-
रीरं अयं वा किंचि चभादि संयुज्यते तदा स्पष्टं प्रतिबिम्बं प्र-
तिनिभं जवति घटादीनाम्, यदा पुन स वर्णतो साम्ये आवारितो,
गणयं वा अज्जगदिहि आवारितं तदा, तस्मिं देहं आवारिते
पणासद्धिते देहादिसंज्ञेते गणामारं विस्सइ । इदायं सीसो
पुच्छति—तं पडिबिषं जां वा को पासति ? । तथ भवति—
ससमयपसमयवचनव्याप—

आदरिसपादिह्याभ्रो-वलभंति रस्सीं सरुवभवेसि ।
तं तु न जुज्जनि जम्हा, पस्सति अचा ए रस्सींओ ॥६७॥
आत्मनः शरीरस्य वा रश्मयः पददिशं विनिर्गताः तासां या
आदरीं अथाह्नाः प्रतिहता रश्मयः । ता रश्मयो विभ्यादिस्व-
रूपमुपलभन्ते । एषोऽभिप्रायोऽयं परतन्त्राणाम् । जैनतन्त्र-
स्थावस्थिता आहूतः-न सुयते पतत, यस्मात्सर्वप्रमाणानि आत्मा-
धीमानि तस्यादात्मा पश्यति न रश्मयः । इदानीं पराजिप्रायं
तिरस्कृते स्वपक्षः स्थाप्यते-उज्जोयपुकुम्मि 'कि' गहा ।
एषोऽर्थस्तस्यार्थस्य स्थितोकरणाथं पुनरुप्याह-
जुज्जति हु पमासकुमे, पमिचिबंधं दपणम्मि परसंतो ।
जस्सेव जया चरणं, सो ज्ञाया होति विबंधं वा ॥ ६३ ॥
जुज्जते घटते फुहपगासं दपणे अप्पाणे पलोएतो पमिचिबंधं
प्रतिकुपे शिवबंधं जिताययबंधं पस्सति । तं च पस्संतस्स जया
अप्यादाहं अप्पगामीज्जंतं भयति तदा संभय विबंधं ज्ञाया दा-
सति [विचि'सि] यं वा पेषकंतस्स अग्नादीं आक्वण्णावगमे नमेव
ज्ञायं विबंधं पस्सति शिष्यजिताययबंधं प्रतिकुपमित्यर्थः ।
सोसो पुच्छति-कम्हा सन्ने देहावयवा आदरिसे ए पेच्छति
अतो भवति-

जे आदरिसे वचा, देहावयवा इवंति ण्यण्णादी ।
तंमिं तरपुवल्लकी, पमासजोगा ण इतरंसिं ॥ ६४ ॥
छुहिति सररीरतरयरस्सिनु पचाविनासु जे द्विसि आदरिसे
जितं ततो जे ण्यणहत्यादां सररीरवायवादी । जे य आदरि-
से ण वक्षिया तेसिं तमिं आदरिसेण उवल्लकी जयति । अदि य
आदरिसे अग्नावगमे सव्यागणसंजुत्तो न अंधकारव्यवस्थित
इत्यर्थः । [इतरंसिं ति] जे आदरिसेण सह न संजुत्ता तेन तत्रो-
पलक्षयन्ते ।

एमेव य पराविंधं, जे आदरिसे ण ह्वा संजुत्तं ।
तस्य विद्धो उवसळ्की, पमासजोगा आदिद्धे वि ॥ ६५ ॥
एवमित्यवधारणे । किन्तु अवधारणेत्यर्थः । येन द्रुपलम्बि-
कारणमुक्त्वा । अनेन उपलम्बिकारणेन यद् व्यज्यते घटादि-
रूपप्रतिबिम्बमादर्शं संयुज्यते । तत्रानुपलम्बिभवेत्यात्मनोऽप-
श्यतोऽपि घटादिकम् । एवं मणिमार्द्रसु विभावयिष्यं, णवरं,
तेलुज्जवादिषु जारिसं विबंधं प्रागासमंतरंति तारिसमेव वीसन्ते ।

एवमापमनरे, अप्पाणं जे उ देहं भिक्खु ।
सो आणा अणवण्यं, मिच्छल्लविराहणं पावे ॥ ६६ ॥
दप्यणमणिसादीयाणं अणुएजे अत्त अप्पाणं जण्यनि तस्स
आणादिवा यं दासा, चउत्तहुं वा सं पच्छिळं । आयसंजमं विरा-
हणा य भवति, इमे य अण्यं य दासा ।
गण्णादीया रुवम-रुवंतु जुज्जा पिदाणमादीणि ।
वाउस-गारवकरणं, खिख्वादिं निररयगुह्वाहं ॥ ६७ ॥
आदरिसादिषु अप्पाणं रुववंतं द्दुं विषए जुज्जामि सि पारु-
माणं करंति, अण्णतिरिण्यपसु वा पविसति, सिद्धपुत्तां अवाणि,
सिद्धपुत्तां वा संवति, सखिमेण वा संवति पत्तिसंति । विरुवं वा
अप्याणं द्दुं शियाणं करेज्जा । आतेसदातो देवतारोहणादि
वसीकरणजोगादि वा अग्निजेज्ज, सररीरपाउसत्तं वा करेज्जा ।
आदरिसे वा अप्पणां रुवं द्दुं सोमाणि सि गारवं करेज्जा

रुवेण इगिसिउ, विरुवो वा विसादेण खिखादिविचिं सो भवेज्ज, तं
कम्मसवणवेज्जिं निररथकं सागारियं दिट्ठे उट्ठाहो ण एव
तस्सी कामीय स अजिहंदिउ [सि उट्ठाहं करेज्जा । वितीयागहा-
वितियपपदमणपग्गो, मेहो अवि कोवितो च अप्पज्जो ।

विस आर्यका पज्जण-मोद्वृत्तिगिच्छापे नाणमवि ॥ ६८ ॥
अणुपज्जो परापोषणं तं, वेहो अवि कोवितो अज्जाणसणतो
ओ पुण अणुज्जो जगुगो सं इमहिं कारणेहिं अप्पाणं आदरिसे
देहनि, सप्यादिसिसेण अजिजुते आत्ताहमहत्तातकं वा उवाचित
आदरिसाविज्जाए प्रतिकुपय्वं, तस्य आदरिसे अणुसो पमिचिबंधं
गिशाणस्स वाउ मज्जति, ततो पण्यपांत मोह[तिगिच्छापे वा देह-
ति । अहया इये कारण-

पुप्फण गलगंडं वा, पंडळ दंतरोय जीडु उट्ठे य ।
उचमलुत्तिसयद्विय बु-ट्टिहाणिसि जाणह्वा वा पधो ॥६९॥ ॥
अभिविम्मि पुहणं गेहं वा मंमं पसुसि मेमंलं वा वंतं वा कां-
नियुएदंतगादिगंरो अहवा जिप्पाए उट्ठे वा किंचि उचितं
पिलगादि एवमादि अचक्खुविसयद्वियं अप्पिक्खंता तिगिच्छा-
णिमिभं बुद्धिहाणि जाणानिमिंलं वा उहाए देहंति अण्य-
सागारिए ण दांसो । तिउ च्चु १३ उ० ।
उपानहादिधारणम-

" पाणहाअं य उचं च, णालीअं बालवीअणं ।
पराकिरियं अणमअं च, तं विज्जं परिज्जाणिअं " ॥१॥
सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ('धम्म शब्देऽग्या व्याख्या ')

कपाटोद्घाटनादिकरणम-
" गोपिणे ण यावपणुणं, धारं सुणणपरस्स संजए ।
सुट्ठेण उट्ठाहरे वयं, ण समुत्थे णा संथंरे तणं " ॥१॥
सूत्र० १ श्रु० २ अ० २० । (' धर्माणि ' शब्दे व्याख्याऽग्या
पश्यते) (अचिचमनिपुत्तं सचिचमनिपुत्तं वा गंधं जिप्रति
इति ' गंध ' शब्दे वचयते)

गात्रप्रमाणनम-
जे जिकक्खु लहुसपे सं आदागविधेहेण वा उतिपोदगवि-
येहेण वा हत्याणि वा पायाणि वा कप्पाणि वा अर्च्छा-
णि दंताणि नहाणि मुह्वाणि वा उच्छोलेज्ज वा पयोक्षे-
ज्ज वा उच्छोदंतं वा साइज्ज ॥ ७० ॥

लहुसं स्नाकं याव निजि य सती स्तीतोदकं स्तीतं उतिगो-
दं उरुहं विथरं पयगतज्जियं पथ्य स्तीनदवाविथरं हि सपवि-
चक्खेहि चउमंगसु, ते य पदमतातिया मेगा गहिया, दो हत्या
हत्याणि वा, दो पादा पादाणि वा, दन्तासं दंता दंताणि वा, आ-
सय पोसय य अण्यं य इंदियमुहा मुहाणि वा, उच्छोलेज्जा धा-
वणं । तं पुण दांसं सन्ने य णिउत्तु'कविशारा इमे-
तिमि य मती य लहुसं, विथरं पुण होति विगततीर्वतु ।
उच्छोलेज्जा तु तेषां, देसे सन्ने य णायव्वा ॥७०॥
गताथं ।

आइसमणाऽग्या, दुविधा देयमिं होति णायव्वा ।
आययं विं य दुविहा, णिकारणया य कारणं ॥ ७१ ॥
देसं उच्छोलेज्जा उविहा-आइसा अणास्था य । साधुभिगम-
यंतं या सा आचोपां, इतरा नडिपरीता । अणास्था उविहा-
कारणं गिक्कारणं य आ कारणं सा दुविधा-

अथा मासे लेवे, कारण णिकारणे य विवरीये ।
 माणिवंधादि करसुं, जचियमिचं ति लेवेण ॥ ८५ ॥
 तथा जन्ना मासे मखिबंधाओ करेसुं ति अणणाइणा वेवडेण
 इत्या लेवाभिया ते माणिवंधानो जाव धोवति, एसा भन्ना, मा-
 से इमा, लेवे-जचियमचं तु वेवेणं तिअसज्जा तिय मुत्तपुरीसा-
 दिणाजति सरीराऽववेणधावि गातं लेवाजिते तस्से तत्तियमेसं
 धोवे, एसा कारणओ भणिता । णिकारणे तविवरीये सि ।
 एतं खलु आइन्ने, तविवरीते भवे अणायाम् ।
 चलणादी जाव सिरे, सर्वं चिय धोतिऽणायाम् ॥ ८६ ॥
 भन्ना मासे लेवे य इमं आइण्यं, तविवरीये देसे सव्वे वा
 सव्वं अणायाम् ।

मुहणायणचलणपदता-णकसिरा बाहुवत्तियेदो य ।
 परिणट्टाह दुमुओ, पत्तय उच्छोअणा देसे ॥ ८७ ॥
 मुहणयणदिया ण कसि वि डुग्गमत्तयं वा देसे सव्वे वा
 उच्छोअणं करोतीत्यर्थः । वक्ष्यमाणपोरुशभङ्गमध्यादर्मी अष्टौ
 घटमानाः, शेषा अष्टमानाः ।

आइएण लहुसएणं, कारण णिकारणे वऽणायामो ।
 देसे सव्वे य तहा, बहुएणेमेव अइ पदा ॥ ८८ ॥
 आइणलहुसएणं देसे एव प्रथमः । एव एव णिकारण-
 साहेतां द्वितीयः, अणाचोणप्रइणान् तृतीयचतुर्थीं शुद्धीं,
 लहुसणिकारणदेसेत्यनुवर्तते । चतुर्थं विशेषः सर्वमिति वक्त-
 व्यम् । जहा लहुस पदे चतुरो भंगा तथा बहुएण वि चउरो
 सव्वे अइ । एवशब्दप्रइणान् तृतीयचतुर्थपञ्चमपष्ठमिप-
 यांसः प्रदर्शितः । वक्ष्यमाणपोरुशभङ्गक्रमेण घटमानाघटमान-
 नङ्गप्रदर्शनाथं लक्षणम् ।

जत्याऽऽऽमं मव्वे, जत्थ व करणे अणायाम् ।
 जंगमा सोलसएहं, ते वज्जा मेसगा गज्जा ॥ ८९ ॥
 यस्मिन् मङ्गे आचोणप्रइणं इहयते तथैव यदि सव्वेअ ग्रहणं इहयते
 ततः पूर्वोपरविरोधान्न इहयते घटने अमौ नङ्गः । यत्र वा का-
 रणप्रइणे इह अनाचोणं इहयते असावापि न घटते । एतन्तु व-
 जेतियवा शेषा प्राणाः ।

सोलसभंगयण गाहा इमा-
 आइम लहुम कारण, देसेतरे जंग सोलम इवेति ।
 एतयं पुण गेज्जभा, ते पुण वोचं संमासेणं ॥ ९० ॥
 इतरप्रइणान् आरभवइत्यणिकारणसव्वमिति-एते पदा व-
 च्छना अमी प्राणाः ।

पदमे तति एकारो, वारो तह पंचमो य सत्तमओ ।
 पन्नर सोलनमो वि य, परिवारं हाति अइएहं ॥ ९१ ॥
 पदमो ततिओ एकारो वारसो पंचमो सत्तमो य दो चरिमा
 य यथादिहक्रमेण स्थापयित्वा इमं ग्रन्थमनुसरेज्जा ।

आइणलहुसएणं, कारण णिकारणे व तत्थेव ।
 आइण देसमव्वं, लहुसे तहं कारणं एत्थि ॥ ९२ ॥
 आइणलहुसएण कारणे इति प्रथमः । णिकारणे तत्थेवेति
 आइणलहुसे अनुवर्तमाने णिकारणं द्रष्टव्यं द्वितीयो भङ्गः ।
 पदमोततोपसु देसमित्थं अथो उच्यते । पञ्चमेन तृतीयचतुर्थ-
 भङ्गो शुद्धीतो । अणायामं तृतीये देसे, चतुर्थे सर्वं बहुसमित्यनु-
 वर्तते, ततियवउत्थेषु कारणं एत्थि ।

इदानीं पञ्चमविभङ्गप्रदर्शनायं गाथा—
 आइमं बहुएणं, कारण णिकारणे वि तत्थेव ।
 अणायण देससव्वे, बहुणा तहं कारणं एत्थि ॥ ९० ॥
 पंचमे बहुएणं आइमं कारणं तत्थेव सि आइण बहु एस
 अणुवट्टमाणेषु उडे णिकारणं द्रष्टव्यमिति । पंचमच्छेदेषु देस-
 मिति अथाहं द्रष्टव्यमिति । सत्तमाइमेपु अणायामं सत्तमे देसम,
 अइमे सर्वं बहुसमित्यनुवर्तते, कारणं नास्त्येवेत्यर्थः ।
 प्रथममङ्गानुष्ठानार्थं शेषभङ्गप्रतिषेधार्थं वेदमाह—
 आइण लहुसएणं, कारणतो देसतं अणुसमातं ।
 सेसाणाणुणायया, उवरिह्वा सत्त वि अदातुं ॥ ९१ ॥
 आइणलहुसएणं कारणे देसे एस भङ्गे अणुणायतो उवरिमा
 सत्त वि पडिऽसिद्धा भंगा ।

द्वितीयादिभङ्गप्रदर्शनायमिदमाह—
 आइणलहुसएणं, णिकारणदेसओ जवे वितिउं ।
 णायणलहुसएणं, णिकारणदेसओ तइओ ॥ ९२ ॥
 णायणलहुसएणं, णिकारणसव्वतो चउत्थो उ ।
 एवं बहुणा वि अओ, जंगा चचारि णायव्वा ॥ ९३ ॥
 पदमं मुद्धो लहुगा, तिसु लहु उवन्नहु य अइमए ।
 एत्थियं परिवारं, अउत्तु भंगेसु एएसु ॥ ९४ ॥
 दुग्गं आइणलहुसे णिकारणे सव्वतो वउत्थमंगो, एवं बहुणा
 वि अथं चउरो भगा णायव्वा । पदममंगो सुद्धो, सेसेसु
 इमं पच्छिउं—

सुच्छिणायतो वितिए, ततियपदमि पंचमे चेव ।
 उद्धं य सत्तमे वि य, ते भेवेताणुपदादीणि ॥
 वितियततियपंचमच्छेदसत्तमेसु भंगेषु सुच्छिणायतो मास-
 लहु, चउत्थपदेसु चउलहुं तमिति । ति० सू० २ उ० । “पर-
 मत्तं अणयानो, ण भुंजिउज्ज अहं वि । परवत्थमयेलोवि, ते
 विजं परिजाणिया” ॥ २० ॥ सू० १ सू० ६ अ० । (अरथा
 व्याख्या “धम्म” शब्दे द्रष्टव्या)

मद्यमासादिसव्ववच—
 अमज्जमासासि अमच्छरी य,
 अणिवत्तणं निव्विगयं गया य ।
 अजिक्खणं काउरसमगाकारी,
 सिउजायजोगे पयओ ह्वियजा ॥ ७ ॥

अमद्यमांसाशी भवेदिति योगः, अमद्यपोऽमांसाशी च स्यात् ।
 एते च मद्यमांसं लोकागमप्रति ते एव । ततश्च यत् केचनानि-
 दध्वयारनालाऽरिष्टाद्यपि संधानादीवनाद्यपि प्राणयङ्गत्यात्
 त्याज्यमिति । तदसत् । अमीनां मद्यमांसत्यायागात् । लोकशा-
 स्त्रयोरप्रसिद्धत्यात्, संधानप्राणयङ्गुल्यत्वचोदनात्सत्तात्पर्यात्,
 अतिप्रसङ्गत्वात्, द्रष्टव्यकृत्यनुत्पन्नत्वात् सूत्रयानुसंगत्वात्
 नादिप्रसङ्गात्, इत्यलं प्रसङ्गेन । अक्षरगमनिकाभाप्रक्रमत् ।
 तथा अमत्सरी च न परत्सपदद्वेषी च स्यात् । तथा अमीच्छं
 पुनः पुनः पुनरुकारणाम्बे, निविद्धकित्वाच्च निमित्तविकृतिपरि-
 भागश्च अर्थः । अनेन परिभोगोचितविकृतिकृत्यमास्यकारण
 प्रतिषेधमाह—तथा अमीहणं गमनागममादिषु विकृतिपरिभा-
 नेऽपि चान्ये । किमित्याह—कार्योत्सर्गकारी भवेत् । इत्यादिपथ-

प्रतिकमयमङ्गल्यः न किञ्चिद्व्यक्तुर्व्यात्, तद्व्यक्तत्वापचेरिति । तथा स्वाभ्याययोरेः बाचनापुत्राभ्याम्पारोः आचामाभ्यायौ । प्रयतोऽतिशयप्रयत्नपरो भवेत्, तथैव तस्य फलवत्त्वादिप्रत्यय-
कत्वादाविद्योषप्रसङ्गादिति सूत्राग्रे ॥ ७ ॥

किञ्च—

एष पश्चिमाविजा सयथाभरणार्हं,
सिजर्जं निसिजं तह् अचपायं ।
गामे कुञ्जे वा नगरे व देसे,
मयचजावं न कर्हि वि कुजा ॥ ८ ॥

[एष पश्चिमाविजो षि] न प्रतिहापयेन्मासादि कल्पपरिसमाप्तौ गच्छन् भूयोऽभ्यन्तलक्ष्यं ममैतैतानि दातव्यानीति न प्रसिद्धां कार-
येत् पूरकम् । किमाभित्येत्यह-शयनाशने शय्यां निषयां तथा
अह्नपानमिति । तत्र शयनं संस्तराकदि, आसनं पीठकदि, श-
या वसतिः, निषया आभ्यायविद्युभिः, तथा तेन प्रकारेण तु-
कासाकचैवित्येन अह्नयावं अतद्व्याप्यकद्वासापानकादि न प्र-
तिहापयेत् । ममत्वयोदात्तु सर्वथैतच्छेषेऽप्याह । ग्रामे शक्तिमा-
मदौ, कुले वा भावककुलादौ, नगरे साकेतादौ, देशे वा म-
भ्यदेशादौ, ममत्वभावं भेदवर्माति स्नेहे भोहं न कश्चिदुपकर-
यादित्यपि कुर्यात्, तन्मुक्त्वात् तुः आदीनामिति सूत्राग्रे ॥ ८ ॥
दश० च्छुः शि० (रोमरुन्तमश्च रोमं शब्दे निषेक्त्यते) 'स्यैषे परो
वीहाइ वातावं वीहाइ रोमाहं हं । हाइ भुहाइ वीहाइ कफस्वरोमा
हं वीहाइ वतियरोमाहं कपेञ्ज वा संदेषेञ्ज वा णो तं सात्थ णो तं
नियमे' आच्चा० (घमनिषेरेचमादिकरणं 'वमन' शब्दे वषयते)
वक्ष्यापनादिकरणम्—

“घोश्चर्यं रयणं चैव, वधोऽकम्पं विरेयणं ।
वमयं जणुपलीमंथं, तं विज्जं परिजाण्णिआ ॥ १२ ॥
गन्धमङ्गलसिणाणं च, वदत्तपञ्चकालं तहा ।
परिग्गहत्थिकम्पं च, तं विज्जं परिजाण्णिआ ॥ १३ ॥
सूच० १ कु० अ० । (अनयोर्व्याख्या 'घम्म' शब्दे)

विषयवद्देशेन—

आदाय बंजचेरं च, आसुपणे इमं वयं ।

अस्सि घम्मे अणायारं, नायरेज कयाइ वि ॥ १ ॥

आदाय शुद्धीत्वा, किं तद् ? प्रकृष्यै सत्यतपोभूतदयंन्द्रियनि-
रोधकज्ञानस्य तद्यते अनुष्टीयते यस्मिन्समौनीन्द्रप्रवचनं प्रकृ-
ष्यमित्युक्तम् । तदादायाम्ऽसुप्रश्नः पदुप्रश्नः, सद्सत्त्विकेकक्षब्ध ।
क्यासिद्व्यक्त्योत्तरक्रियासम्पत्तेरिवात् तामाह—इमं सम-
स्ताभ्ययनेनाभिधीयमानं प्रत्यक्षासन्नभूतां वाचमिदं शश्व-
तमेवेत्यादिकां कदाचिदपि नाचरेदं नाभिद्व्यात्, तथाऽस्मिन्
धर्मे सर्वैकप्रणीते व्यवस्थितः सन् अनाचारं साधयानुष्ठान-
कं न समाचरेच्च विद्वेष्यादिति संबन्धः । यदि वा ऽसुप्रश्नः स-
धैः प्रतिसमर्थं केवलज्ञानवशेनोपयोगित्वात्, तत्सम्बन्धिनि
धर्मे व्यवस्थित इमं वषयमायां वाचमनाचारं च कदाचि-
दपि नाचरेत् । इति श्लोकायः । तत्रानाचारं नाचरेदित्युक्तम् ।
अनाचारश्च मौनीन्द्रप्रवचनानु अपरोऽभिधीयते । मौनीन्द्रप्र-
वचनं तु मोक्षमार्गहेतुत्वा सम्यग्दर्शनज्ञानवाचित्वात्प्रत्यय, स-
म्यग्दर्शनं तु तत्त्वार्थेऽज्ञानरूपं, तस्यं तु जीवाजीवपुष्यधयापा-
अवकथनसंवरनिर्जराभोक्षात्मकम् । तथा धर्मोऽधर्मोऽज्ञान-
जीवकालात्मकं द्रव्यं नित्याभित्यस्वभावं, सामान्यविशेषा-
त्मकोऽनाद्यपर्यवसानवानुदेशरज्ज्वात्मको लोकस्तस्वमिति ।
ज्ञानं तु प्रतिभुतायाधिमनःपर्यायकेवलस्वरूपं पञ्चधा । चा-

रिजं सामाधिकं क्षेत्रोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीयस्वमसंप-
रायध्याऽऽख्यातकपं पञ्चविधः । मूलोत्तरगुरुभेदो बाजेकथे-
त्येवं व्यवस्थिते मौनीन्द्रप्रवचने न कदाचिदनीदृशं अगतिरिति
कृत्वाऽऽनाद्यपर्यवसाने लोके सति दर्शनाचारप्रतिपक्षमूलमना-
चारं दर्शयितुकाम आचार्यो यथावस्थितलोकप्रकोपादजन-
पूर्वकमाह—

अण्णादियं परिहाय, अणुवद्गोति वा पुणो ।

सासयमसासेते वा, इति दिद्धिं न धारए ॥२॥

(अण्णादियमित्यादि) नास्य चतुर्देशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य
धर्मोऽधर्मोदिकस्य वा लब्धस्थादिः प्रथमोत्पत्तिर्बिद्यते इत्य-
नादिकस्तमेवंदूतं परिहाय प्रमाणतः परिच्छिद्य, तथाऽनवद्गम-
पर्यवसानं च परिहायोभयात्मकस्युदासनेकनयदृष्टाऽऽधारणा-
त्मकं प्रत्ययमनाचारं दर्शयति-शश्वत्नयतः। इति शाश्वतं नित्यम्,
संख्यात्रिधायेणाप्रकृतानुपपत्तिरकस्त्वभावः । प्रवृत्तौ नानु-
यायिनं सामान्यश्रमवलयस्य धर्मोऽधर्मोऽज्ञानाभित्यन्तः। इत्य-
पर्यवसानत्वं बोधप्रत्यय, सर्वमिदं शाश्वतमित्येवंज्ञानं हृदि न्य-
वधारयदिति; एवं पदं न समाधत्तेत् । तथा विशेषकृत्वाभित्य-
न्तं बर्तमानानरकाः समस्तस्यस्यन्तीति एतच्च सूत्रमङ्गीकृत्य यत्-
स्तस्यंमनित्यमित्येवंज्ञानं दर्शयन्मिमांशेण च सर्वमशाश्वतम-
नित्यमित्येवंज्ञानं च हृदि न धारयदिति । किमित्येकान्तेन
शाश्वतमशाश्वतं वाऽऽस्तित्येवंज्ञानं हृदि न धारयदित्याह—

एएहिं दोहिं उणेहिं, ववहारो ए विज्जनि ।

एएहिं दोहिं उणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ३ ॥

(एतदिहं दोहिमित्यादि) सर्वं नित्यमनित्यमित्येव विचार्यो
ह्यर्थां स्थानात्रयमभ्युपगम्यमानाभ्यामनयोर्वो पक्षयोर्व्यव-
धौ व्यवहारोऽहोऽस्यैहिकात्मिकयोः कार्यायोः प्रवृत्तौ नित्यो-
त्तरकृतौ न विद्यते । तथाहि—अभ्युपगानुपपत्तिरर्थकस्यभावं सर्वं
नित्यमित्येवं न व्यवहियते । प्रत्यक्षेणैव नचपुराणां प्रायेण प्र-
थ्वंसाभावेन वा दर्शनात्तथैव च लोकस्य प्रवृत्तेरासुमित्केऽपि
नित्यवान्मनोबन्धमोक्षप्रायेण ह्येतामनित्यमादिकमनर्थ-
कमिति न व्यवहियते, तथैकान्तानित्यमेनापि न लोकोऽधनधा-
न्यवष्टयादिकमनागतज्ञानार्थं संशुद्धीयात् । तथाऽसुमित्केऽपि
कृष्णिकन्वादात्मनः प्रवृत्तिर्न स्यात् । तथा च ह्येतां विहारा-
दिकमनर्थकं तस्मात्प्रित्यान्तित्यात्मकस्याह्लादे सर्वव्यवहारप्रवृ-
त्तिः, अत एव तयोर्नित्यानित्ययोरेकान्तत्वेन समाभियमावर्षदिति
कामुष्पिकार्थेविष्वंसकप्रथमाचारमौनीन्द्रानामाचारार्थं विजा-
नीयात् । तुराष्ट्रो विशेषणार्थः । कथञ्चिन्प्रित्याभित्ये वस्तुति स-
ति व्यवहारो बुज्यते इत्येतत्तशिनिर्णयः । तथाहि—सामान्यमन्ववि-
मर्शमशाभित्य 'स्यानित्यस्य' इति प्रवर्तते । तथा विशेषार्थं प्रति-
क्षणसन्ध्या च नचपुराणादौदर्शनतः 'स्याद्वनित्यस्य' इति भव-
ति । तथोत्पत्तिव्यवज्ञेयार्थेण चार्हदर्शनाभित्यानि व्यवहाराणि
भवन्ति । तथा चोक्तम्—“घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पत्तिर्द्विधः
समुच्छिदिति सत्परो, सन्धे पाणा अणोलिसा ।
गंठिया वा जपित्संति, सासयंति य एो वदे ॥ ४ ॥

तथाऽन्यमन्यनाचारं प्रतिपेक्षकाम आह—

समुच्छिदिति सत्परो, सन्धे पाणा अणोलिसा ।

गंठिया वा जपित्संति, सासयंति य एो वदे ॥ ४ ॥

[समुच्चिद्द्वितीत्यादि] सत्यभिरवशेषतयोच्चेत्यस्युच्छेदं या-
 स्पन्ति कृतं प्रास्पन्ति, सामस्येनोभाष्येन सैस्पन्ति वासि-
 षि यास्पन्ति । के. ३, शास्त्रारस्ताधिकृतः सर्वज्ञः, तच्छासनप्र-
 तिपन्ना वा, सर्वे निवशेयाः । सिद्धिगणनयोः, ततश्चोत्सन्त-
 भयं अगत्यादिति युक्तकर्मामानप्रवृद्धेतां युक्ति बामिच्छ-
 ति । जीविसन्नाये सत्यप्युच्छेत्तानाभावात्प्रवृद्धस्य वा सिद्धिग-
 मनसंभवात्, काष्ठस्य चाऽऽन्यस्याद्वाकारनासिद्धिगमनसंभवेन
 तद्योपपत्तेर्योमावाद्नम्योच्छेद इत्येवं नो वदेत् । तथा
 सर्वेऽपि प्राणिनो जन्तयोऽनीदृशा विसहशाः सदा परस्पर-
 विस्तरणा एव, न कदाचित्तेषां साहचर्यमस्तीत्येवमप्येकान्तेन नो
 वदेत् । यदि वा सर्वेषां भ्रम्यानां सिक्तिसन्नायं विहायाः सं-
 चारिऽनीदृशा अभव्य एव भवेयुरित्येवं च नो वदेत् । युक्ति
 चोत्सन्न एवद्यतः । तथा कर्मोत्तमोः कर्मो येषां विद्यते ते प्र-
 तिष्ठाका इति, प्रत्थिकाः सर्वे प्राणिनः प्रथमोयुक्ता एव ज्वि-
 ष्यन्तीत्येवमपि नो वदेत् । इदमुक्तं भवति—सर्वेऽपि प्राणिनः
 सैस्पन्त्येव, कर्मोयुक्ता वा सर्वे ज्विष्यन्तीत्येवमपि पक्व-
 मेकात्मिकं नो वदेत् । यदि वा प्रत्थिका इति । प्रत्थिकसत्त्वा भ-
 विष्यन्तीति प्राग्निदेहं कुतुमसमर्था भविष्यन्तीत्येव च नो व-
 देत् । तथा शाश्वता इति । शास्त्रारः सदा सर्वकालं स्यायि-
 नस्तीर्थेकरा ज्विष्यन्ति, न समुच्छेद्यन्ति नोच्छेदं यास्य-
 न्तीत्येवं नो वदेदिति ।

नदं दर्शनाच्चारवादिनिषेधं बाह्यमात्रेण प्रदशयंतुना युक्ति
 दर्शयितुकाम आह—

एषाहं दौहिं ठाणोहिं, बवहारां न विज्जति ।
 एषाहं दौहिं ठाणोहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ५ ॥

(एषाहं इत्यादि) एतयोरनन्तरोक्तयोर्द्वयोः स्थानयोस्तद्यथा शा-
 स्त्रारः कृतं यास्यन्तीति शाश्वता वा भविष्यन्तीति । यदि वा सर्वे
 शास्त्रारस्तद्दोषप्रतिपन्ना वा सैस्पन्ति शाश्वता वा भविष्यन्ति
 यदि वा सर्वे प्राणिनो ह्यनीदृशाः विसहशाः सहशा वा, तथा प्र-
 तिष्ठाकसत्त्वात्मनोहिना वा ज्विष्यन्तीत्येवमनयोः स्थानयोर्वेवह-
 रणं व्यवहारास्तद्वृत्तित्येव युक्तेरभावात्प्रवृत्तयेति । तथाहि—यत्त्वाव-
 क्तं, सर्वे शास्त्रारः कृतं यास्यन्त्येव इति । एतद्व्युक्तम् । कृत्यनिबन्ध-
 नस्य कर्मणां भावात्सिक्तानां कृत्याभावात् । न, अत्र सद्यकवहणं कृत्येव
 मभिधीयते । तद्व्युत्पन्नपक्षम् । यतोऽनाद्यन्तानां केषाञ्चनो सन्ना-
 यत् प्रवृत्तयैः सदा तद्गतावाजावः यद्व्युक्तम्—पूर्वोया भावं सि-
 खिगमनसन्नायेन च व्ययसन्नाकारप्रवृत्त्यर्थं अगतं स्यात्; इत्ये-
 तदपि सिक्तान्तरप्रमाणोर्विद्यते बचनम् । यतो अत्रयोरौ राजान्ते
 प्राविश्रकालस्य वाऽऽन्यस्युक्तम्, तस्यैवमुत्पत्तेर्यदि कृत्यो न
 ज्वयति, सति च तस्मिन्कालस्य न स्यात्, नापि कावश्वं सर्वस्यापि
 अभवस्य सिद्धिगमनेन भाव्यस्तिरान्त्याकृत्यानां तस्मात्प्रवृत्त-
 यात् प्रवृत्तयैः कृत्यमिमांशत्त्वं व्युत्पत्तिरिति । तथा नापि शाश्व-
 तात्, अत्र सद्यकवहणं शास्त्रारं सिद्धिगमनसन्नायत्, महा-
 दापेकृत्या शाश्वतत्वमेव । अतः कथाञ्चित् शाश्वतः कथाञ्चित्शा-
 श्वतः इति । तथा सर्वेऽपि प्राणिनो विषिष्यन्तेसन्नायानानासि-
 त्जातिशरीराङ्गोपासिद्धिसम्बन्धित्वाद्नीदृशा वा विसहशाः, त-
 थोऽप्योमास्येयमदेष्टाव्यावृत्तंत्वाविभिर्भेदः कथाञ्चित्सहशाः इ-
 ति । तथाञ्चित्तसद्वायं तथा केषाञ्चिन्नप्रत्ययोऽपरं च तथाविध-
 परिग्रामाभावाद् प्रत्थिकसत्त्वा एव भवन्तीत्येवं व्यवस्थिते
 शिकाम्बेनेकान्तपक्षो भवतीति प्रतिषिध्यः । तदेवमेतयोरिव द्योः

स्थानयोःकनीत्या नामाऽऽचारं विजानीयादिति स्थितम् । अपि
 च । प्रागमेवमनामनास्यप्युत्सर्पिष्यवसर्पिणीषु भव्यानामनन्त-
 भाग एव सिष्यतीत्यस्यमर्थः प्रतिपाद्यते । यदा वैद्यंयुवं तदाऽऽ-
 न्त्यं, तत्कथं तथाः कृत्यः । युक्तिरप्यत्र मन्त्रकायानां कृत्यवृत्तौ-मुक्तिः
 संसारं विना न भवति, संसारोऽपि न युक्तिमन्तरेण, ततश्च
 भवोयुच्छेदे संसारस्याप्यभावात् स्यादतोऽभिधीयते-नानयोर्व्ये-
 वहारो बुज्यत इति ।

अधुना चारिवाचारमङ्गीकृत्याह—

जे केइ तुद्ग पाणा, अहुवा संति महासया ।
 सरिसं तेहिं ति बेरंति, असरिसं तीं य णो वदे ॥ ६ ॥

(जे केइ इत्यादि) ये केचन कृत्तकाः सत्त्वाः प्राणिन एकेन्द्रिय-
 चीन्द्रियाद्योऽप्यकाया वा पञ्चिन्द्रियाः । अथवा महासया मद्-
 कायाः सन्ति विद्यते, नेषां कृत्तकाणांमन्त्रकायानां कृत्यवृत्तौ, महा-
 नालयः शरीरं येषां ते महासयाः इत्याद्यः तेषां च, ध्या-
 पादेन सहस्रं वैरमिति वक्तुं कर्म, विरोधकृत्यं वा वैरं, सहस्रं स्त-
 मानं तुल्यमदेष्टावसंभवेजन्तानमित्येवमेकान्तेन नो वदेत् । तथा
 विसहशमसहस्रं तद्भाष्यो वैरं कर्मवधो वा इन्द्रियविज्ञान-
 कायानां विसहशत्वानसत्यपि प्रदेष्टुत्वमेवेन सहस्रं वैरमित्ये-
 वमपि नो वदेत् । यदिह वध्यापेक एव कर्मबन्धः स्यात्ततः
 न सहस्रान्तमन्तोऽपि साहचर्यमसाहचर्यं वा वक्तुं युज्यते, न च
 तद्गहादेव तथा, अत्रि त्थव्यवसायादपि । ततश्च तीर्थाध्यव-
 सायिनोऽप्यकायसत्त्वस्यापादेनऽपि महद्द्वैर, अकामस्य तु
 महाकायसत्त्वस्यापादेनऽपि स्पष्टमिति ।

एतदेव सूत्रेण दशयति—

एषाहं दौहिं ठाणोहिं, बवहारां न विज्जति—
 एषाहं दौहिं ठाणोहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ७ ॥

(एषाहं इत्यादि) आध्यामनन्तरोक्तयोर्द्वयोः स्थानाज्यामन-
 योर्वा स्थानयोरप्यकायमहाकायसत्त्वस्यापादानपादिनकर्मब-
 न्धसहशावासाहस्योर्व्येवहरणं व्यवहारो निर्गुक्तिकत्वमु-
 ज्यते । तथाहि—न बध्यमेव सहशात्वमसहस्रं कर्मैव कर्मबन्ध-
 स्य कारणम्, अपि तु बधकस्य दीमभावात् मन्त्रभावात् ज्ञानभा-
 वोऽज्ञानभावात् महावीर्यमल्पवीर्यं चेत्येतदपि । तदेवं
 बध्यवधकयोर्विदोषात् कर्मबन्धविशेष इत्येवं व्यवस्थिते व-
 न्धमेवाश्रित्य सहशात्वमसहस्रव्यवहारो न विद्यते इति । तथा
 तयोरिव स्थानयोः प्रवृत्तस्थानाचारं जानीयादिति । तथाहि—य-
 ज्विसत्त्वात्मकमेवसहस्राव्युत्पत्तेरिति । तद्व्युक्तम् । यतोऽनदि जी-
 वध्यापस्या हि सोऽप्यते, तस्य शाश्वतयेन व्यापारविद्युत्प्रसक्त-
 स्यात्, अपि त्तिन्द्रियादिव्यापत्तेः । तथा चोक्तम्—'पञ्चिन्द्रिया-
 णि त्रिधे भवे च, उच्छ्वासनिःश्वासासंस्थानाद्यः प्राणा वरी-
 ते भगवद्भिरुक्ता—स्तेषां विद्योर्गीरकृत्यं तु हिंसा ॥ ' इत्यादि । अ-
 पि च—त्रायसव्यपकृत्येव कर्मबन्धोऽऽप्युत्पत्तौ युक्तः । तथाहि—यै-
 स्यागमसव्यपकृत्यस्य कृत्यं कुर्वते यद्यप्युत्तरविपक्षिभवति, त-
 थापि न वैरातुसङ्गा नमेव, दानादानात् । अपरस्य तु सप्युत्तना
 उक्तंमपि ततो ज्ञाधोपात्तकर्मबन्ध, तद्वहितस्य तु न बन्ध इति ।
 उक्तं चागमे—'उच्चाश्रियस्मियाए' इत्यादि । तन्नुत्तमस्याश्वास्त-
 कं तु सुप्रसिद्धमेव । तदेवंविधव्यवधकभावापेकया स्यात्
 सहशात्वं, स्यात्सहस्रावमिति, अत्रथाऽनाचार इति ।
 पुनरपि चारिवाचारमङ्गीकृत्याऽऽचारविषयानाच्चारवारी प्रतिपाद-

यितुकाम आह—

आह्नाकस्मात्ति भुंजति, अग्रमपि सकस्मृणा ।

उत्वात्तिचे ति जाशिज्जा, अग्रुपत्तिचे ति वा पुणो ॥ ७ ॥

साधुप्रधानकारणमादायाऽऽशित्य कर्मोप्याध्याकर्मणि, तानि नु-
स्मयानेन वस्त्यादी-युच्यन्ते । एतान्याथाकर्मणि यं युज्जेन एतेरु-
पभागे ये कुर्वन्ति, अत्यन्तं परस्परं तास्वकीयेन कर्मसांप्रसिन्नात्
विजानीयादित्येवं नो वदेत्, तथाऽनुपालसानिति वा नो वदेत् ।
एतदुक्तं प्रवर्ति—आध्याकर्मणि भूतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा
सुऽज्ञानः कर्मणा नो पक्षिष्यन्, तदाऽऽध्याकर्मोपयोगेनाद्यव्ययतया
कर्मबन्धाः अवलम्बितं नो वदेत् । तथा भूतोपदेशमन्तराह—
सुद्धाऽऽध्याकर्मोपज्ञानस्य तन्निमित्तकर्मबन्धस्य सहाय्यात्सहाय-
योग्यवहरस्य व्यवहारो नियुक्तिकत्वात् युज्यते । तथाहि—
न वक्ष्यस्य सहशत्यासहशत्यायोग्यवहरस्य व्यवहारो नियुक्ति-
कत्वात् पुक्तसहशत्यात्, अतोऽनुमित्तानापी नो वदेत् । यथाऽव-
दित्येवमानीनामकस्य त्वत्वं युज्यते वक्तुमाध्याकर्मोपयोगेन
स्यात्कर्मबन्धः, स्यात्प्रति । यत् उक्तम्—“किञ्चिदनुक्तं कदप-
म-कल्पं वा स्यात्कल्पमपि कल्पम् । गिरजः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा
नेत्रजत्रयं वा ॥ १ ॥ ” तथाऽऽध्याकर्मनिहितम्—“उपपद्यत हि
साऽऽवस्था, देशकालागमयान् प्रति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्,
कर्मं कार्यं च वर्जयेत् ॥ २ ॥ इत्यादि ॥ ८ ॥

किमित्येवं स्याद्भवः प्रतिपाद्यते इत्याह—

एषदं दौर्द्धे उगोर्द्धे, बवहारो ए विजर्द्धे ।

एषदं दौर्द्धे उगोर्द्धे, अणायारं तु जाणय ॥ ९ ॥

(एषदं दौर्द्धे इत्यादि) आर्यानां अणायारं स्थानात्प्राणाश्रिताभ्या-
मनयोर्ध्वेषानयोराध्याकर्मोपयोगेन कर्मबन्धात्प्राणाभावभूतयो-
र्बन्धकारो न विद्यते । तथाहि—यद्यथाध्याकर्मोपयोगेनोक्त-
त्वेन कर्मबन्धोऽऽद्युपगम्यते, एवं चाहारात्प्राणव्यापि कविसुत-
रामनयोर्ध्वः स्यात् । तथाहि—सुतप्रपिक्रितो न सम्यग्भो-
पथं शोषयेत्, ततश्च ब्रजन् प्राणयुपमर्दमपि कुर्यात् । मूर्च्छा-
दिसलज्जवनया वेदपाने सति अवर्जयन्तीति असादिव्याघातोऽ-
कालमरणं चातिरिक्ताङ्गानां ब्रजन्, आनेप्यानापत्तां च तिर्यग्-
निरिति । आगमश्च—“सव्यत्व संजम संजमाश्रो अण्यणमेव र-
कण्डज्जा ” इत्यादिनाऽपि तदुपपन्ने कर्मबन्धाभाव इति । त-
थाहि—आध्याकर्मव्ययपि निष्पादमाने पद्वर्जितिकायबन्धः, त-
द्धेतो च प्रतीतः कर्मबन्ध इत्यतोऽनयोः स्थानयोर्कान्तेनाधीय-
माणयोग्यवहरस्य व्यवहारो न युज्यते । तथाऽऽध्यामेव स्थानाभ्यां
समाश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादिति स्थितम् ।

पुत्रव्यवस्था द्वातेन प्रति चागमानाचारं दर्शयितुमाह—
यदि वा योऽप्रमनन्तरमाहारः प्रदर्शितः स सति शरीरं भवति ।
शरीरं च पञ्चधा, तस्य कौटारिकादिः शरीरस्य भेदान्नेदं
प्रतिपादयितुकामः पूर्वपक्षदर्शनाह—

जमर्द्धे उरालसाहाहं, कर्ममं च तंहेष व ।

सव्यत्व बोरियं अत्थि, एत्थि सव्यत्व बोरियं ॥१०॥
(जमर्द्धे इत्यादि) यदिदं सर्वंजनस्य हस्तुर्द्धिः पुक्तिसिद्धं त-
न्निवारिकमन्तरेवोपार्द्धं निस्सारय्यात् । एतच्च निर्वैकमनुपणायो
अतीति । तथा चतुर्दशपर्विना कवित्वेनश्यादाद्यादिभ्यत् इ-
त्याहारकम् । यत्तद्व्रजणात् वैकियोपादानमपि द्रष्टव्यम् । तथा क-
र्मणा निवृत्तं कर्मणम्, एतत् सर्वं तत्रैजसमपि प्राहम् । श्री-

दारिकवैकियाहारकाणां प्रत्येकं तैजसकार्मणाभ्यां सह युगप-
प्रत्यसम्भः कस्यचिदकत्याह्ना स्यादतस्तत्पदोदाहृतं तदभि-
प्रायमाह—तदेव तद्यदेवौदारिकं शरीरं, त एव तैजसकार्मण-
शरीरं । एवं वैकियाहारयोरेपि धारयम् । तदेवंभूतां संज्ञां नो
निवेशयामादित्युक्तस्योक्तं किया । तथैतन्मायात्तिको भेद इत्ये-
वंभूतामपि संज्ञां नो निवेशयेत् । युक्तिसाहचर्यकान्तमभि-
पद्य, तत् इदमौदारिकमुदाहरणकल्पिष्ये, तथैतत्कर्मणा निवे-
र्द्धितं कार्मणं, सर्वेस्यैतस्य संसारचक्रवात्सस्य प्रगमस्य करण-
भूतं तजोदर्थेनिष्पन्नं तत्र एव तैजसम्, आहारपकनिसिंसे तै-
जसस्रग्धिनिमित्तं ज्ञान्यं जेद्वं संज्ञानिरुक्तं कार्यं च न स्यात् ।
अथात्यन्तिको जेद्व एव, ततो घटयद्विप्रयोर्देशकास्योरप्यु-
त्पत्तिः स्यात् । न निश्चता युगपदुपस्रग्धिनिष्पत्तिः च व्यवस्थितं
कदाचिद्वेषोपस्रग्धरेभ्यः, कदाचिच्च संज्ञाभेदाद्वेद इति सिद्धम् ।
तथैवमौदारिकादीनां शरीराणां जेद्वभेदो प्रदर्शयामा सर्व-
स्यैव इत्यस्य भेदाभेदो प्रदर्शयितुकामः पूर्वपक्षं श्रोतव्यमा-
हेनं दर्शयितुमाह—(सव्यत्व धीरियमित्यादि) सर्वे सर्वेषु वि-
द्यन्ते इति कृत्वा सव्यत्वमित्येव संसारजन्तुमोरुपस्य प्रधान-
स्यैक्यात्सस्य च सर्वेस्यैव कारणत्वात्, अतः सर्वेसर्वोपमक-
मित्येवं व्यवस्थितं घटपटाद्यवयवस्य व्यकस्य धीरियं शक्तिर्विद्य-
ते । सर्वेस्यैव हि व्यकस्य प्रधानकार्यवत्कारणकारणशक्तिव्या-
दतः सर्वेस्य सर्वत्र वीर्यमस्तौत्थेयं संज्ञां नो निवेशयेत् । (अण-
मेतवायं शब्देऽत्रैव भागे अग्रमानी साक्ष्यमननिरासत्परवा युक्तिः
वर्जयते) सूत्र० २ श्रु० ४० (“एत्थि होप अहाणं वा, उणं च मगणं
निषेत्प ” इत्यादि सूत्राणि “अधिभारं शब्देऽऽप्रदर्शयित्यन्ते)
श्रोत्रोत्प्रेषणानागमेवितार्थमाह—

से य जाणमज्जाणं, वरुं आदिभियं पर्यं ।

संचरे विणपमज्जाणं, वीर्यं तं न समाये ॥ ११ ॥

स साधुजोनमज्जाणं वा अणोत्तोऽनायोमानाभ्यन्तर्यः । कृत्वा
अधार्मिकं पदम्, कथञ्चिदागद्वेषाभ्यां युक्तोत्तरगुणविराधनामि-
ति ज्ञावः । संचरेति प्रमात्मानं भावते । निवर्णशोचनादिना प्रका-
रणं, तथा द्वितीयं पुनस्तन् समाचरदु-
पनेद्वेचाह—

अणायारं परकम्प नेव गृहे न निन्हेत् ।

सुदं सया विपदभावे, अस्ससत्तां जिदिदिप् ॥ ३२ ॥

अनाचारं नायद्ययोगं पराकम्याऽऽव्येव गुरुमसक्तं श्लोचय-
न्नेव गृहयेत्, न निह्वेति । तत्र गृहेन त्रिंशत्कथाम्, निह्व
पकान्ताऽपलायः । किंविशेदः सन्निपाह—शुचिरकलुपमार्ज-
सहा विकटभाबः प्रकटजाबः, असंसकोऽप्रतिबन्धः, कावाज्जा-
तेन्दिभ्यां जितेन्दिभ्यप्रमादः सन्निपा । दृश० ४० अ० (सकामतप-
उक्तं न कदाचिद्व्ययनाचारोति ‘निदिसेण’ शब्दे उदाहरणकपत-
वा वर्णयिष्यते । तथा विविधाऽनाचारः ‘संकलेस’ शब्दे वक्ष्यते)
अणायारंज्जाण-अनाचारं ध्यान्-न० । अनाचारोऽनाचारः ।
नमः कुत्साधेयत्वं दुष्टानाचारस्य ध्यानमनाचारः । दुष्पत्तेन,
वधुरदायं ध्यायतः कांडुस्यसाधोरिव, देवानामागममनादुष्टम-
ज्जितुकामस्थापाठस्योरिव वा कुत्सानं, आतु० ।
अणायारं (ए) अनात्मवादिन्-पु० । आत्मानं वदितुं शो-
क्षमयेति । यः पुनर्वच्युत्तमात्मानं नाभ्युपगच्छति सोऽनात्मधा-
हं । आत्मानमननुपगन्तारं नास्तिकं, सर्वेभ्यापिने नित्यं वृण-
कं वाऽऽप्रमगमननुपगन्तारं, अथा० १ श्रु० १ क्र० १ उ० ।

अणायानिष्प (ण)—अनातापिन—पुं० न आताप्यता । अना-
पनां शीतादिहसहनरुपां करोतीत्यनाताप । मन्दश्चद्व्यव्यवस्थेय-
व्याहसिष्ठी, स्था० ५ ग्रा० ३ उ० ।

अणारंज—अनारम्ज—पुं० जीवाणुपघाते, भ० ८ शो० १ उ० ।
जीवाणुपघने, "सत्तद्विहं अणारंजे ये पणसे । तं जहा—पुद्विक-
द्वयअणारंजे जाव अजीवकायअणारंजे " स्था० ७ ग्रा० । न
विद्यते सावध अणारंजे येनां ते तथा । सावधयोगादितिषु,
"अपरिमहा अणारंजा, भिक्कू ताणं परिष्वप " सूत्र० १
श्ल० १ अ० ४ उ० ।

अणारंजीवि (ण)—अनारम्जजीविन्—पुं० । अणारम्भः सा-
वधानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा, तद्विषयबंधेन स्वानारम्जः, तेन जी-
विन् शोभं येयां ते अनारम्जजीविनः । समस्तारम्भनिवृत्तेषु
यनिषु, आचार्त्वा ।

अणारंजिप अणारंजिपानि अणारंजजीविप तेषु चैव-
मणारंजजीवी एतद्व्यवस्थेयं तं भोसिमाणे ॥

यावन्तः केचन लोके मनुष्यलोकेऽनारम्भजीविनः, अणारम्भः
सावधानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा । उक्तं च— "अणायणे णवक्षेये,
जासु संन्यायज्ञानमगादि । सर्वेण प्रमत्तजोगो, समणस्स
विहाइ अणारंजे " ॥ १ ॥ तद्विषयबंधेन स्वानारम्भस्तेन जीविन्तु
शिलमेपाभिनयनारम्भजीविनो यतयः । समस्तारम्भनिवृत्तास्ते-
ष्वेव गृहियु पुत्रकलत्रस्वशरीरार्थमनारम्भमृत्तुष्वनारम्भजी-
विनो भवन्ति । यतदुक्तं भवति—सावधानुष्ठानमवृत्तुषु गृहस्थेषु
पुं० दत्तायनाथमन्वयनारम्भजीविनः साधवः पट्टापापपङ्कयसि-
द्धेया एव भवन्ति । यद्येवं ततः किमन्याह—(यथावच्छेद ए-
त्यादि) अणारम्भस्वाणारम्भे कर्त्तव्ये उपरतः संकोचिताग-
त् । अत्र चार्हते धर्मे व्यवस्थितः उपरतः पापारम्भान् किं
कुर्वते ? स तत्प्राधान्यानुष्ठानायात्कर्म ऊपरयन् रूपयन् मुनि-
जावं भजत इति । आचार्त्वा ।

अणारंजिष्ठाण—अनारम्भस्व्यान्—न० । असावधानारम्भस्थाने,
"पगतमिच्छे असाह तथं ज्ञा सा सवतो विरिडे एसहा-
णे अणारंभहाणे आरिप " सूत्र० १ श्ल० २ अ० ।

अणारण्ड—अनारण्ड—(न०) । केचसिजिनिर्दिशुष्टमुनिभिर्बोऽना-
कीणं, " अणारंजं च षडणारंभे अणारण्डं च ण अणारंभे " आचार्त्वा
१ श्ल० २ अ० १ उ० ।

अणाराहण—अनाराहण्ड—(न०) । विराधके, "अणायवी
अस्समिप धम्मस्स अणाराहण्ड जठं" । स्था० ४ ग्रा० ३ उ० ।

अणारिय—अनारिये—पुं० । न आर्योऽनारियः । अज्ञानाहृतत्वाद्-
सन्नुष्टयिनि, सूत्र० १ श्ल० १ अ० ३ उ० । पापासके, भ० ३
श्ल० ६ उ० । सूत्र० । अकार्यकर्मकारिणं, नि० चू० १ उ० ।
धर्मसंज्ञागदितं, शिष्टसंमर्तानिखलव्यवहारं वा केच, सूत्र० १
श्ल० ५ अ० १ उ० । तथा—

सग जवणा सवर बन्वर—कायमुक्कडुगोडुपकणया ।
अरत्तागहणारोमय—पारसखसखासिया चैव ॥ १ ॥
ऊंभिलयलकुमबोक्कम—जिह्वेयपुल्लिदकौचजमरुत्ता ।
कांबायचीणचुंयुय—मालवद्विवा कुलत्था य ।
कैकयिक्रापहयमुद्ध—खरमुग्गयणरुग्गमिद्वयमुट्टा य ।
द्वयकत्ता गयकत्ता, उक्त्तं चि अणारिया बह्वे ॥ ३ ॥

शकाः, यवनाः, श्वराः, बर्बराः, कायाः, मुक्कटाः, वड्डाः, गोड्डाः,
पकणकाः, अरत्तामाः, दुग्गाः, रोमकाः, पारसकाः, खसाः, खासि-
काः, बुमिलकाः, लकुशाः, बोक्कसाः, मिग्गाः, चान्नाः, पुसिन्दाः,
कौञ्जाः, अमरकताः, कायांतकाः, चीनाः, सुम्बुकाः, मालवाः, इवि-
डाः, कुशार्थाः, कैकेयाः, किराताः, इयमुग्गाः, खरमुग्गाः, गज-
मुग्गाः, तुक्कमुग्गाः, मिपदकमुग्गाः, इयकयाः, गजकणांभेयंते
देशा अनार्याः । अन्धेपि देशा अनार्याः । प्रथ० २ उ० ग्रा० । न
केवलमेत एव किन्त्वपरिऽप्येवं प्रकारा बहवोऽनार्या देशाः प्रश-
व्याकरणादिप्रमथोका विक्षेयाः ।

तथाच सूत्रम्—

बहवे मिलिक्कुजाई, किं ते १, सक्का जवणा सवरबन्वरगा
य मुक्कडुगुडुगहगभियिप पकाणिया कुलकत्ता गौदसिद्धल-
पारसकोचअंधविद्विक्कल्लसुपुल्लिदआरोमरोवपोक्काणंघ-
हारमवदुल्लंयजट्टा रोसाभासा बउसमलया य चुंयुया य
चूलियकोकणामिपयवदुग्गमालवमुग्गहुरआजासिया अण-
कवीणलासियसखसखासियनेट्टरमुदुग्गमुट्टियआरवर्भोविस्स-
गकुट्टयकेकयहणारोमगरुमरुगविहायविसववासी य पव
पट्टाण ।

(इमे बहवे मिलिक्कुजाई लि) म्लेच्छजातीयाः किंते इति ? ।
तद्यथा—शकाः १, यवनाः २, श्वराः ३, बर्बराः ४, कायाः ५, मुक्-
कटाः ६, उड्डाः ७, आग्नाः ८, जिलिकाः ९, पकणिकाः १०, कुशकाः
११, गीमाः १२, सिह्णुगाः १३, पारसाः १४, कौञ्जाः १५, अन्नाः १६,
द्रविडाः १७, चिस्वलाः १८, पुसिन्दाः १९, आर्यायाः २०, डोवाः
२१, पोक्कायाः २२, गणहाराकाः २३, बरलोकाः २४, जट्टाः २५,
रोसाः २६, मायाः २७, बकुशाः २८, मलयाख २९, सुम्बुकाश्च ३०,
सूलिकाः ३१, सिह्णुगाः ३२, मेहाः ३३, पकवाः ३४, मासकाः ३५,
महुरा ३६, आभाषिकाः ३७, अणुकाः ३८, चीना ३९, लासिकाः
४०, खसाः ४१, खासिकाः ४२, नेट्टाः ४३, (मरदुल्लं लि) मह-
राणाः ४४, (पाठान्तरे पासुट्टे ४५) मौट्टिकाः ४६, श्वाराः ४७,
अम्बिलिकाः ४८, कुहणाः ४९, केकयाः ५०, हुणाः ५१, रोमकाः
५२, रवयः ५३, मरुकाः ५४, इति । एतानि च प्रायो लुप्तमध-
मावदुवचनानि पदानि, तथा खिलतविषयमासिख म्लेच्छ-
देशवासिनः । एते च पापमत्ताः । प्रथ० १, आभ० ग्रा० ।

अथ सामान्यतोऽनारियेऽस्वकणमाह—

पावा य चेरुक्कमा, अणारिया निग्गिणा शिरनुतावी ।
धम्मो ति अक्खराई, सुइये वि न नउजप जेसु ॥

एते सर्वेऽनारियदेशाः पावाः पापमपुण्यमकृत्तकपय, तद्व्य-
नन्वात् पावाः । तथा अरंउ कोपाक्कटतया रौद्रानभिधानर-
विशेषप्रवर्तितत्वादिनिरौट्टे कर्म समाचरन्तं येनां ते अणुक्क-
मत्साः, तथा न विद्यते घृणा पापानुपुण्यत्वात्तया येनां ते नि-
घृणाः, तथा निरनुतापिनः सेवितेऽप्यकृष्ये मत्तापि न पश्चा-
त्प्राप्तभाज इति भावः । किञ्च—येषु 'धर्मः' इत्यत्राणि स्व-
रूपेण सर्वथा न ज्ञान्यन्ते केवलमपेयपापमवयवभलात्साध्या-
मनादिनिरताः शास्त्राद्यप्रतीतवेषमापादिमत्ताचार्याः सर्वेऽ-
प्यमी अनार्या अनार्यदेशा इति । प्रथ० २ उ० ग्रा० ।

आर्यानांवेद्यव्यवस्था चैत्थम्—

अस्त्युप्यचि जिणाणं, चक्कीणं रापकहाणं ।

यश्च तीर्थकारादीनामुत्पत्तिस्त्वदायं, शेषमनायेमिति । आ-
 श्वकृष्णौ पुनरिस्थमार्थानायायव्यवस्था उक्ता-“असु केसु वि
 पयसेसु, मिथुणवाणि परद्विपसु हकाराया नीई पाकडा ते
 आयरिया, सेसा अनारिया” इति । प्रय०२७३ द्वा० । (अनारि-
 सेने न विहत्तव्यमिति विहार शब्दे वचयते) “अयंसि वा
 मरुवा वा अणारियरि” विमहिस्यत्पदादनायैस्त्रैचङ्गादि-
 भिर्जीवितकारिप्रापहारिभिरभिभूयानामिति शेषः । स्था० ५
 डा० २ उ० । स० । अनार्या स्त्रैचङ्गास्तत्तत्र साधुनिन्दा-
 दिना अनार्या इव अनार्याः । साधुप्रत्यनीकेषु उक्त० ३अ० ।
 अणारिषङ्गाण-अनार्यस्थान-न० । साधवाऽऽऽम्भाभये,
 सुख० २ सु० २ अ० ।

अणारोहण-अनारोहक-त्रि० । न० ब० । योषयजिते, “अणा-
 सप अणारहिय अणारोहणं” अ० ७ द्वा० ९ उ० ।

अणालोचन-अनालम्बन-न० । न विद्यते अनालम्बनं यस्य तद-
 नालम्बनम् । स्वोपादानङ्गाणामात्रापुरणयोगं कस्यापि विषय-
 स्यादन्वयमके बुद्ध्याने, अने० ५ द्वा० ५ ।

अणालोचनयोग-अनालम्बनयोग-पुं० । परतत्त्वविषये ध्यान-
 विषये, यो० ।

कः पुनरनालम्बनयोगः कियन्तं काश्च भवतीत्याह-
 सामर्थ्ययोगतो या, तत्र दिद्वेदेत्यसङ्गशक्याद्याया ।
 साऽनालम्बनयोगः, प्राक्तस्तददर्शनं यावत् ॥८॥

(सामर्थ्यत्यादि) शास्त्रोक्ताद् रूपकत्वेनाङ्गिनीयाऽपूर्वकरण-
 भाविनः सकारात् । सामर्थ्ययोगस्वरूपं चेदम्-“शास्त्रसंश्रि-
 तोपाय-स्मृदतिक्रान्तोच्चरः । सर्वोऽेकः शिरोधेयः, सामर्थ्य-
 कथोऽयमनुत्तमः” ॥१॥ यावत् परतत्त्वं द्रष्टुमिच्छा दिद्वेहा इत्येवैव
 कथा, अत्रज्ञा चासी शक्तिश्च निरमित्यङ्गानविरतमनुत्तमयाऽऽ-
 ख्या परिपूर्णा, दिद्वेहा, सा परमात्मविषये दर्शनेच्छा अनालम्बन-
 योगः प्राक्कः, तद्विभिनत्स्य परतत्त्वस्यापूर्वमनुत्तमम्भः, तद् य-
 थावत् परमात्मस्वरूपं दर्शनं तु केवलज्ञानेन अनालम्बनयोगो
 न भवति, तस्य तदानलम्बनत्वात् ।

कथं पुनरनालम्बनोऽयमित्याह-
 तत्रामतिष्ठितोऽयं, यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्त्वर ॥
 सर्वोत्तमानुजः खलु, तेनानालम्बनो गीतः कथितः ॥६॥

(तत्रेत्यादि) तत्र परतत्त्वेऽप्रतिष्ठितोऽयमिति प्रतिष्ठितः अयम-
 नालम्बनः, यतो यस्मात्प्रवृत्तश्च ध्यानरूपेण तस्यतो वस्तुतस्त्वर
 परतत्त्वं सर्वोत्तमानुजः खलु सर्वोत्तमस्य योगस्यानुजः प्रागन-
 स्तवर्तिना कारणेनानालम्बनो गीतः कथितः ॥ ६ ॥

किं पुनरनालम्बनाऽवर्तनीत्याह-
 द्वागस्माच्चदर्शनं-मिषुपातज्ञानमात्रतो ज्ञेयम् ।

एतच्च केवलं तद्, ज्ञानं यत्परं ज्योतिः ॥ १० ॥

(ज्योतिर्यादि) काक शीघ्रमस्मात्प्रस्तुतादानालम्बनात्तद्दर्शनं
 परतत्त्वदर्शनेमिषोः पातस्तद्विषयं ज्ञातमुपाहरन् तस्मात्प्रादिषु
 पातज्ञानमात्रतो ज्ञेयं तद्दर्शनम् । यत्तच्च परतत्त्वदर्शनं केवलं
 संपूर्णम् । तदिति तत्प्रसिद्धं ज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । यत्त-
 क्त्वज्ञानं परं प्रकृत्य ज्योतिः परमाशुक्रम, इषुपातोदाह-
 रणं च यथा-कनकविभूषणं लक्ष्मणमिषुके षाणो तद्-
 भिसंवादिनि प्रकृद्विने यावत्तस्य वाणस्य न विमोचनं त्रय-

तत्प्रगुणान्मन्त्रेण तद्विस्वादिद्येन च समानोऽनालम्बनो यो-
 गः, यदा तु तस्य वायस्य विमोचनं ज्ञयाविस्वादि पतनमा-
 श्वादि लक्ष्यवेषकं तदा अनालम्बनोत्तरकालभावी तत्पातकल्पः
 स्यादम्बनः केवलज्ञानप्रकाश इत्यनयोः साधर्म्यं कृत्वा विद-
 रोयम् । यो० १५ विष० । द्वा० १० ।

अणालोचनपट्टाण-अनालम्बनप्रतिष्ठान-त्रि० । अविद्यमानमा-
 लम्बनं प्रतिष्ठानं भायुकारणं यश्च स तथा । अनालम्बनरूपकरहिते,
 प्रज्ञ० ३ द्वा० १० ।

अणालोच-अनालोचित-त्रि० । अभाषिते, “पुनिय अणालोचने
 अलोचित्त वा संज्ञचित्त वा” प्रति० । उपा० ।

अणालोच-अनालोच्य-न० । अनुत्साहे, तं० । ब० स० । कृतो-
 द्यमे, व्य० ७ उ० ।

अणालोचस्यणिलय-अनालोच्यनिदय-पुं० । अनालस्यमुत्साह-
 स्तस्य शब्दम्, अकार्यदो सादरं प्रवृत्तित्तुवाह । योषिति, तं० ।

अणालोच-अनालोच्य-पुं० । मन्त्रः कुलाध्यायैर्वादीनिस्त्वादिबल
 कुलित आशापोऽनालोच्य इति । वचनाधिकल्पनेऽहं, स्था० ७ द्वा० १० ।

अणालोच-अनालोच्य-त्रि० । अहताऽऽस्त्रेण, प्रय० २ द्वा० १० ।
 श्राव० ।

अणालोच-अनालोचित-त्रि० । न० । अनिवेदिते, न० ब० । गुरु-
 णां समीपेऽहतालोचने, औ० सादरमर्वाहिते, “मूर्तिः स्फुटिभर्ता
 सदा विजयते जैनश्वरं । विरकुत-भोहोऽमाद घनदमादमिदम-
 सैरनालोचिता” अनालोचिता सादरमर्वाहितेत्यर्थः अनालोचि-
 तपदस्य सादरमनालोचिन्त्यर्थोऽनिरसकमिभतया वाच्यत्वाद्,
 अन्यथा च कुलितः पुनः कृतवस्तुनाऽनालोचितात्पट्टाणपत्तः, प्रति०

अणालोच-अनालोच्य-त्रि० । अनालोचिताऽप्रतिक्रान्त-त्रि० । अना-
 लोचिनश्चासी श्यामकर्मिभ्यः । गुरुणां समीपेऽहतालोचने दा-
 पाचचानिवृत्ते, औ० ।

अणालोच-अनालोच-त्रि० । अनालोचिननापिन-पुं० । सम्यग-
 ज्ञानपूर्वकमपयोलोच्य भाषक, प्रय० ७३ द्वा० ।

अणालोच-अनालोच-पुं० । न० तं । अहे, “खुलसीहजोनि-
 सयसह-सस गुविं अणालोकमधयारं ति” ॥ संसारसागर-
 वर्णकः) अनलोको नामाज्ञानान्धकारां यस्य स तथा । प्रज्ञ० ५
 द्वा० १० ।

अणालोच-अनालोच-न० । न अणालोचऽवागमः परस्व अर्थस्य
 स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थानिके तदानपातम् । प्रय० ७१,
 द्वा० जनसंपातरहिते, वर्जिते, अ० ८ रा० ६ उ० । अ० । पं० ७ ।

अणालोच-अनालोच-पुं० । अणालोचऽवागमः परस्व अर्थस्य
 स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थानिके तदानपातम् । प्रय० ७१,
 द्वा० जनसंपातरहिते, वर्जिते, अ० ८ रा० ६ उ० । अ० । पं० ७ ।

अणालोच-अनालोच-त्रि० । न० । अणालोचऽवागमः परस्व अर्थस्य
 स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थानिके तदानपातम् । प्रय० ७१,
 द्वा० जनसंपातरहिते, वर्जिते, अ० ८ रा० ६ उ० । अ० । पं० ७ ।

अणालोच-अनालोच-त्रि० । अणालोचऽवागमः परस्व अर्थस्य
 स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थानिके तदानपातम् । प्रय० ७१,
 द्वा० जनसंपातरहिते, वर्जिते, अ० ८ रा० ६ उ० । अ० । पं० ७ ।

अणालोच-अनालोच-त्रि० । अणालोचऽवागमः परस्व अर्थस्य
 स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थानिके तदानपातम् । प्रय० ७१,
 द्वा० जनसंपातरहिते, वर्जिते, अ० ८ रा० ६ उ० । अ० । पं० ७ ।

अणालोच-अनालोच-त्रि० । अणालोचऽवागमः परस्व अर्थस्य
 स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थानिके तदानपातम् । प्रय० ७१,
 द्वा० जनसंपातरहिते, वर्जिते, अ० ८ रा० ६ उ० । अ० । पं० ७ ।

अणालोच-अनालोच-त्रि० । अणालोचऽवागमः परस्व अर्थस्य
 स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थानिके तदानपातम् । प्रय० ७१,
 द्वा० जनसंपातरहिते, वर्जिते, अ० ८ रा० ६ उ० । अ० । पं० ७ ।

“अभयंकरे भिक्कु अणाविहप्या” सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।
अणानुद्धि-अणानुद्धि-स्त्री० । चर्षयाऽभावे, स० ।

अणासंसि (ष) -अनाशांसि-नु० । न० । त० । ओरुत्पयो बन्ना-
यनाकाङ्क्षिणं प्रयत्नसारपरिकथनयोः, ष० १ उ० । आधा-
यांघाराधनाशांसारहिते, सांसारिकफलज्ञानयंके वा, आशोचनान्न-
दानयाम्बे, आशयिम्बे हि स्वमन्नातिचारालोचनानसंज्ञवात् आशं-
साया यथातिचारवात् । धर्म० २ अथि० । ग० । प्रथ० । पञ्च० ।
अणानुद्धि-अनुद्धि-स्त्री० । अभ्यर्तहिते, न० ७ श्र० ६ उ० ।

अणानुद्धि-अच्छिन्नानाम्-स्त्री० । अकृतप्राये, नि० चू० ७ उ० ।
अणानुद्धि-अनासन्न-स्त्री० । अनिकटपरिनि, उच० २० अ० ।

अणानुद्धि-अनासक्ति-स्त्री० । अमतिबद्धतायाम्, स्वजनादिषु
स्नेहान्नाशे, म० १ श्र० ६ उ० ।

अणानुद्धि-अनाशय-स्त्री० । न विद्यते आशयः पूजाभिप्रायो
वश्यांसावनाशयः । उच्यते विद्यमानेऽपि समवसरणादिके
ज्ञातयोऽनास्थादिके तीर्थकृति, तद्वगतगङ्गाज्ञावात् । मूच० १
श्रु० १५ अ० ।

अणानुद्धि-अनाश्रव-पुं० । न विद्यते आश्रवा हिंसादयो यत् ।
३४ पापकर्मव्यवहिते हिंसायाश्चकारवितरे, क० प्र० ।
उच० । प्राणातिपाताविरहिते, स्त्री० । “अणासवे प्रथमे अकि-
चने” स्त्री० । अविद्यमानपापकर्मव्यवहिते, स्त्री० । आश्रयति तान्-
शोशनत्वेन अशोभनत्वेन वा शुक्लात्पाश्रवः, नाऽऽश्रवोऽना-
श्रवः । मध्यस्थे रागद्वेषविरहिते, न० ।

सहासि दोष्वा अद्दु जेरवाणि, अणासवे तेषु परिचरएजा ।
शब्दान् वेदुषीणादिकाम्यपुरान् श्रुतिपशालान्, भुत्वा स-
माकर्षये, अथ अश्वान् अयावहाद्, कर्षणकट्टाकार्षये, तेष्वनुक-
लेषु प्रतिकलेषु अश्वपशुपागतौ शुभ्रद्वे, नाश्रवो मध्यस्थे
रागद्वेषविरहितो जूत्वा परि समन्ताद् अजेत्यप्रज्जेव, इति । षु० ३
उ० । नवकमानुपादाने, प्रथ० १ आश्र० ३३ ।

अनाश्रवणैव सर्वथा कर्मकृय इति यथाऽस्त्री भवति तथा-
पापवद् ह्यसाचार्यं, अद्दत्त मेदुषा परिग्माहविरआ ।
रार्धोपयण विरज्जो, जीवो होइ अणानुद्धिः ।
पंचसमिद्धो तियुत्तो, अकसात्रो जिर्दिद्वो ।
आगारवो य निरुद्धो, जीवो होइ अणानुद्धिः ॥

सूत्रद्वयं प्रायः प्रतीतायमेव, नवर्, विरत इति प्राणवधादिभिः
प्रत्येकमनिसम्बन्धते । तथा प्रकल्पनाश्रव इति अविद्यमानक-
र्मोपादानेऽनुः । द्वितीयसूत्रेऽप्यनाश्रवः समित्यादिधिष्ययाणां
कर्मोपादानेऽनुत्वेनाश्रवकल्पवात्, तेषां अविद्यमानत्वादि
सूत्रद्वयार्थः । एवंविधश्च तादृशं कर्म यथाऽस्त्री रूपवत्था-
रूपवत् ।

पुनः शिष्यानिमुक्तीकरणपूर्वकं दृष्टान्तद्वारेण तदाह-
एषसिं तु विवक्षासे, रागदोसममज्जियं ।
त्ववर्दं तवसा जिक्खु, मपगममणो सुणो ॥
जहा मद्दत्तालापस्स, सधिरुक्के ज्जलगमे ।
उत्सिचण्णाप तवण्णए, कम्मए सोसणा जये ॥
एवं तु संजयस्सवि, पावकम्मनिस्ससो ।
ज्वकोदीसंचयं कम्मं, तवसा शिज्जिरिज्ज ॥

सूत्रद्वयम्-यतेषां तु प्राणिवधाविरत्यादीनां समित्यादीनां चाना-
श्रवहेतूनां (विवक्ष्यासे त्) विषयान्से प्राणिवधादावभावि-
तत्वादेव च रागद्वेषाद्यन्तं समाजितिसुपाङ्कितरागद्वेषसमाजितं,
कर्मैति गम्यते, तस्मै कथयतेति शेषः एकमेकत्र वस्तुनि अवि-
निविद्यत्वेन मनो यथाः सा एकमनाः, श्रुतवति शास्त्राभिप्रेक्षी-
करणम्, सधिरुक्के पाठ्यादिना नियेज्जे, ज्जलगमे ज्जलगमो, (उ-
त्सिचण्णाप ति) सूत्रत्वाद्भुत्सकनारधुधट्टीनिवध्वादिनिकट-
ज्ञानेन (तवणाय सि) प्राग्वत्सपनेन रविकरनिकरसत्पापकरण
कमेण परिपाठ्या शोषका अज्ञानावकथा भवेत् । पापकर्मविरा-
श्रवे पापकर्मनामाश्रवाज्जावे, भावकोटीसञ्चितमित्यत्र कोटिप्र-
हणमतिबद्धत्वेपलक्षणम्, कोटिमियमासंभवात्, कर्म तपसा नि-
र्जयंते आधिष्येन ह्ययं नीयते, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः । उच०
३० अ० । पञ्चमिश्रो वीणप्राणातिपातविरमणे, तस्य कर्मव्यवधि-
रौघोपायत्वात् । प्रथ० १ सस्म० ३० । आ सस्मत्ताद् श्रुतवति
शुद्धवनमाकार्ययन्तीति आश्रवाः । न तथा प्रतिज्ञावाचिष्यस्य
तस्याश्रवणाद्नाश्रवः । शुद्धवचनेऽस्थिते, “अणासवा पूहवथा
कुलीहा, मिउं पि चंनं पकरेति स्वीसा” इति तुर्विनीतलक्षणम् ।
उच० १ अ० । आश्रवः व्रतविशेषे, आश्रव० ।

अणानुद्धि-अनाश्रवमान-नि० । न० । त० । केवलं रत-
नेन्द्रियविषये, म० १ श्र० १ उ० ।

अणानुद्धि-अनाश्रवमान-स्त्री० । आशाविषयमकुर्वणे .
उच० १५ अ० ।

अनाश्रवदत्त-नि० । अनुद्भवे, उच० ३६ अ० ।

अणानुद्धि-अनाशातना-स्त्री० । न० । त० । तीर्थेकरादीनां
सर्वथाऽश्रवनायाम्, दृश० ६ अ० १ उ० । ज्ञा० । मनोवाक्यैः
प्रतीवचर्जने, उच० १ अ० ।

अणानुद्धि-अनाशातनाविषय-पुं० । अनुचितकिया-
निवृत्तिकडे दर्शनविनयभेदे, अयं च पञ्चदशविधः । आह च-
“ तित्यनारधम्मआयदि छ-वायमे धेरकुलणणे संखे । संभोगि-
अकिरियाप, मरुनाएदिख तहेव ” संभोगिका एकस्वमावा-
रिका क्रिया आस्तिकता । अथ आश्रवा-तीर्थेकराणामनाशात-
नार्था तीर्थेकरप्रकृतधर्मस्थानाशातनार्था च धर्तितव्यमित्यर्थं स-
वैव दृष्टव्यमिति । “कायम्बा पुण भस्सी, बहुमाणो तह व घडवा-
ओ य । अरहेत्तमाश्रवाणं, केववनाशात्ससाणाणं ” ॥ १ ॥ द्या०
७ उ० । ध० । ६० ।

अणानुद्धि-अनाशात-नि० । हुणुफिते, “अणासिया णाम म-
हासियात्ता, वा गभियो तथ सयासको भ” सूत्र० १ श्रु०
५ अ० २ उ० ।

अणानुद्धि-अनासेवना-स्त्री० । प्रासेवनाविरहे, आश्रव०
१ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

अष्टाह-अनाथ-स्त्री० । अश्रुत्वे, नि० चू० ३ उ० । निःस्वामिनि,
विषा० १ श्रु० ७ अ० । योगक्षेमकारिविरहिते, प्रथ० १ आश्र०
३३ । रङ्गे, ज्ञा० ८ अ० । आत्मनोऽनाथत्वपरिजायधितरि सु-
निजरे, पुं० । यथा मुनिना भोगिकं प्रति आत्मनोऽनाथता दार्शि-
ता-काऽयः ? , अनाथत्वसनाथत्वे च विचारते । तथोक्तम्—
सिद्धार्थं नभो किष्ठा, संघयाणं च भावज्जो ।
अन्धधम्मगईं वत्तं, अणुत्तद्धिं सुणेह मे ॥ १ ॥

जोः शिष्याः । मे मम अनुमोदिं सिक्कां द्युयं भुण्णत । किं

कृत्वा ? सिद्धात् पञ्चदशप्रकारान् नमस्कृत्य, च पुनर्जावतो ज-
कितः, संत्यक्तं साधुन् अण्णाद्योपेयावाप्तिसवसाधुन् नमस्कृ-
त्वा । कीदृशीं मे अमुशिष्टिः । अर्थधर्मगताः । अर्थ्यते प्रार्थ्यते
धर्मात्मनिः पुनरैरिति अर्थः, स वासौ धर्मश्च अर्थधर्मस्तस्य ग-
तिज्ञानं यस्मात् सा अर्थधर्मगताः, ताम्, इत्यवस्थां दुष्प्राप्त्या धर्म-
स्तस्य धर्मस्य प्राप्तिकारिकायाम्, यया मम शिक्षया दुर्लभधर्मस्य
प्राप्तिः स्यादिति ज्ञावः । पुनः कीदृशीं मे अमुशिष्टिः ?, तथ्यां स-
त्याम् । अथवा 'तव' तस्य कथां वा, इह आमुशिष्टिरभिधेया, अर्थ-
धर्मगताः प्रयोजनम् । अनयोश्च परस्परमुपायोपेयजावत्कणः
सम्बन्धः सामर्थ्याद्युक्त इति सूत्राः ॥ १ ॥

सम्प्रति धर्मकथाऽनुयोगाद्वास्तव्य धर्मकथाकथनव्याजेन
प्रतिज्ञातमुपकमितुमाह—

पञ्चदशयोः राया, सेखिभ्रो मगहादिभ्यो ।
विद्वाजत्तं निजाभो, मंकिञ्चित्ति सेइए ॥ १ ॥
श्रेणिको नाम राजा एकदा मणित्तकुक्षिनाभिं कैव्ये उद्याने
विहारयात्रया उद्यानकीयया निवसत्, नगरात् क्रीडत्यमतिरुत-
कुक्षिबन्धे गत इत्यर्थः । कीदृशः श्रेणिको राजा ?, मगधाधिपः म-
गधानां देशान्तमधिपो मगधाधिपः पुनः कीदृशः ?, प्रदूतरत्नः
प्रदूरप्रधानगजाश्वमणिप्रमुखपदाध्याधारी ॥ २ ॥

तद्वच विशिनष्टि—

नाणात्तुमलयाएषं, नाणापक्खिन्निसेविपं ।
नाणात्तुमुमसंउषं, उज्जाणं नंदोपवमं ॥ ३ ॥
अथ मणित्तकुक्षिनाभ उद्यानं कीदृशं क्वचनं तदाह । कीदृशं
तद्वनम् ?, आनाद्वमसतकोपं विविपञ्चकृत्तर्जिनीवासम् । पुनः
कीदृशम् ?, नाणापक्खिनिपविनं विविपायिक्कुरेत्तरिशय्यानाश्रयम् ।
पुनः कीदृशम् ?, नाणात्तुमुमसंउषं भववृणुपुण्येवास्यम् । पुनः
कीदृशं तत् उद्यानम् ?, नामरिक्कजानानां कीदृश्यायनम् । नगर-
समीपवर्षं वनमुद्यानमुच्यते । पुनः कीदृशम् ?, नन्दोपवमं न-
न्दनं देववमं तदुपवमम् ॥ ३ ॥

तथ्य सो पस्सइ ताहू, संजयं सुत्तमाहिइयं ।
निसत्तं रुक्खमूलम्मि, सुकुमालं सुहोइयं ॥ ४ ॥

तत्र वने न श्रेणिको राजा स्यात्पश्यति । कीदृशं साधुम् ?, संयतं
सम्यक्प्रकरणेन यतं यत्नं कुर्वन्तम् । पुनः कीदृशम् ?, सुसमाधितं
सुतरामतिशयेन समाधियुक्तम् । साधुः सर्वोऽपि शिष्ट उच्यते,
तत्र वनच्छेत्रयोः संयतमित्युक्तम्, सांश्रियं च बहिः संयमवान् नि-
ह्वाविरिं परि स्यात् इति सुहू समाहितं मनःसमाधानवान् सु-
समाहितस्तमित्युक्तम् । पुनः कीदृशम् ?, सुकुमालं निषत्तं विद्य-
तम् । पुनः कीदृशम् ? सुकुमालम् । पुनः कीदृशम् ?, सुखावितं
सुखलाभ्यम्, शुनोचितं वा ॥ ४ ॥

तस्स रुवं तु पासित्ता, राहो तोम्मि संजए ।
अश्वत्तरपो आसी, अउलो रुवविन्दिआ ॥ ५ ॥

राजः श्रेणिकस्य तस्मिन् संयते साधौ अत्यस्तः परमोऽतिशय-
प्रधानोऽधिकोक्तः, अतुलो निरुपमाऽन्यत्सहो रूपवित्स्मयो-
रुपाश्चर्यमार्थात् । किं कृत्वा ?, तस्य साधोः, क्वं दृष्ट्वा । तुशब्दो-
क्त्वात्तद्वदति ॥ ५ ॥

अहो ! वषो अहो ! रुवं, अहो ! अज्जसत् सोम्पया ।
अहो ! खंती अहो ! मुत्ती, अहो ! जोगे असंगया ॥ ६ ॥
तथा राजा मनसि चिन्तयति स्म—अहो ! इत्याश्रये । आश्रयकारि

अस्य शरीरस्य वशो गौरवादिः । अहो ! आश्रयैकत, अस्य सा-
धो रूपं श्रावण्यसाहितम् । अहो ! आश्रयकारिणी अस्य आश्रयस्य
सौम्यता वन्द्यधर्मप्रियता । अहो ! आश्रयकारिणी अस्य कर्त्तुः
कृपा । अहो ! आश्रयकारिणी आस्य मुक्तिर्लभता । अहो !
आश्रयकारिणी अस्य जोगे असङ्गता-विषये भिद्युहता ॥ ६ ॥

तस्स पाए उ बंदित्ता, काऊण य पाहाहिणं ।
नाइदूरमणासभे, पंजली परिपुच्छइ ॥ ७ ॥

तस्य साधोः पादौ बन्दिन्वा, पुनः प्रदक्षिणां कृत्वा, राजा ना-
तिदूरं नात्यासन्नः, कोऽर्थः ?, नातिदूरवर्ती, नातिनिकटवर्ती वा
सर्व, प्राञ्जलिपुटो वक्त्राञ्जलिः पुच्छति प्रश्नं करोति ॥ ७ ॥

तरुणांस्सि अज्जा ! पव्वइअओ, जोगेकालम्मि संजया ! ।
उवाहिअस्सि सायसे, पयमइ सुणापि ते ॥ ८ ॥

तदा श्रेणिकः किं पुच्छति—हे आश्रय ! हे साधो !, त्वं तरुणांसि युवा-
ऽसि । हे संयत ! हे साधो ! तस्माद् भोगकाले भोगसमये, प्रसजितो
गृहीतदीकः, तारुण्यं हि भोगस्य समयोऽस्ति न तु दीक्षायाः स-
मयः । हे संयत ! तारुण्ये भोगायोग्यकाले त्वं भ्रामर्यं दीक्षाया-
मुपस्थितोऽसि, आदरसहितोऽसि । एतदर्थं एतन्निमित्तं, त्वत्तः
शृणोमि, किं तव दीक्षायाः कारणम् ?, कस्मान्निमित्तात् दीक्षा
त्वया गृहीता ?, तत्कारणं त्वमुक्त्वात् श्रोतुमिच्छामोत्यर्थः ।

(पादौटीका)

तरुणस्यादिना प्रशस्त्वकपमुक्तम् । इह च यत् एव तरुणाऽन
एव प्रसजितो भोगकाले इत्युच्यते, तारुण्यश्च भोगकालस्यात् ।
यथा-तारुण्यंऽपि रागादिपञ्चाशानां भोगकालः स्यात्, इत्येवमभि-
धानम् । सांप्रिप कदाचित्स्मर्येऽनुभव एव स्यात् । त्वं नुरुपस्थि-
तः । पञ्जलि च—[वाचिओसिं सि] एवमर्थमिति सं यनाथेन प-
मीहयात्मयस्वच्छायां प्रसजितः, शृणोमि, 'ना' इति तावत्, प-
श्चात्तु यत्वं ज्ञाप्यसि तद्वि श्रेण्यमीति जायः । इति श्लो-
कस्तत्कार्यः ॥ ८ ॥

इयं राक्षोके मुनिराह—

अण्णाहोमि महाराजो, नाहो मज्ज न विज्जइ ।
अण्णकंपये सुहिं वा वि, कंचो खाहिं तुमं महं ॥ ९ ॥

अनाथोऽस्मात्तुकोऽस्मीत्यर्थं महाराज ! प्रशस्यन्तुपते ! किमि-
त्येवम् । यतः—नाथो योग्यकर्मविधाता, मम न विधानं । तथा
(अण्णकंपये ति) आश्रयत्वाद्दत्तकर्मका यो मामनुकम्पते
(सुहिं ति) तत एव सुहृत् (कचिं सि) कश्चिन्न विधानं,
ममैति सत्प्रथाः [नाहिं सि] प्रकामानन्दरुक्तमर्थं जानी-
हि [तुमं सि] त्वम् । पत्थम—' किंचो' पात्रिसमं महं ' कि-
चिदनुकम्पकं सुहृदं वापि नाभिसमं नाभिसंगच्छामि न केनाचि-
दनुकम्पनेन, सुहृदा च संगतोऽहमित्यादिनाऽप्येन तरुणाऽपि प्रस-
जित इति जायः । इति सूत्राः ॥ ९ ॥ एवं मुनिनाके-
-तत्रो पदसिञ्जो राया, सेणिअओ मगहादिहोवा ।
एवं ते इष्टिमत्तस्य, कदं नारो न विज्जई ? ॥ १० ॥
हामि नारो जयंताणं, भोगे जुंजाहि संजया ! ।
मित्तनाइरिपुत्तो, माणुस्सं खलु लुद्धं ॥ ११ ॥

[पादौटीका]

ततस्तदनन्तरं श्रेणिको मगधाधिपो राजा प्रहसितः । हे महा-
जग ! एवं तव श्रेणिकतः श्लेषितुकस्य कथं नाथो न विद्य-
ते ? । नवरम्, एवमिति इत्यमानकारेण, श्रेणिकसतो वि-

स्वयनीयवर्षादिस्वपत्निभान्, कथमिति केन प्रकरेश, नाथो न विद्यते ? तस्मालापेक्षया स्वैत्र वरंभामानिदेशः । “यत्राकृतिस्तत्र गुण्या बसन्ति, तथा गुणुवति धनम्, ततः श्रीः, श्रीसम्पत्क, ततो राज्यम्” इति हि श्लोकप्रवादः तथा च न कथाञ्चिद्नाराधनं भवतः संज्ञनवतीति नाथः यदि वाऽनाथैव भवतः प्रभवयाप्रतिपत्तिहेतुः, ततः हे पूज्याः ! अहं (अर्थात्तं) जन्तूनां पुण्यानां सुष्पार्कं नाथो न्रभामि, यदा न्रवतो कोऽपि स्वामी नास्ति तदा अहं भवतो स्वामी भवामि, यदा अनाथावद् सुष्पार्निर्वाहो पृथिता तदाऽहं नाथोऽस्मीति नाथः । हे स्वयत ! हे साधो ! भोवाद् हृत्स्वय । कौशिकः सन् ? , मिषहासिनिः परिहृतः सन्, हे साधो ! खलु इति निश्चयेन, मानुष्यं दुर्जनं वर्तते, तस्मान्मनुष्यद्वयं दुर्जनं प्राप्य जोगाय लुक्त्वा सफरीकुरु ॥ १० ॥ ११ ॥

मुनिराह—

अष्टाणा वि अष्टाहोसि, सेषिया ! महाह्रिवा ! ।

अष्टाणा अष्टाहो संतो, कस्स खाहो जविस्ससि ॥ ११ ॥ ११ ॥
हे राजन् ! अंगिकः मगधदेशाधिपस्यसमात्मनाऽपि अनाथोऽसि, अग्रामना अनाथस्य स्तस्तयापि अनाथता, तथा स्वमपरस्य कथं नाथो भविष्यसि ? ॥ १२ ॥

एवं च मुनिनोके—

एवं वृचो नरिंदो सो, सुमंभतो सुविम्भो ।

वययां अस्सुयुक्वं, साहुणा विम्भंयं निम्भो ॥ १३ ॥

स नरेन्द्रः साधुना एवमुक्तः सन् विस्वसं गति आश्रयं प्रापितः । कौशिकः नरेन्द्रः ? , सुस्वप्नान्द्रोऽत्यन्तं व्याकुलतां प्राप्तः पुनः कौशिकः, सुविस्मिनः पूर्वमेव तदर्थनात संजाताश्रयः पुनरपि तद्वचनप्रवचनं विस्मयमान् जातः, यतो हि तद्वचनमभ्युत्पूर्वं, अंगुकाय अनाथोऽसि त्वमिति वचनं पूर्वं केनापि नो भावितम् ॥ १३ ॥

यदुक्तयांस्पादाह—

अस्सा हन्वी मणुस्सा मे, पुरं अंतोठरं च मे ।

भुंजाभि माणुमे पोए, अष्टाणा इस्ससि च मे ॥ १४ ॥

एरिसे मंपयग्गामि, मवक्कामसमपिण्ण ।

कहं अष्टाहो जवद, मा हु भंते ! सुमं वए ॥ १५ ॥

अश्वानां गाथान्यां अंगिको राजा वदति—हे जन्तू ! पूज्य ! दुर्जनित निश्चयेन, मृषा मा ब्रूहि असत्यं मा वद । एतादृशो संपदः इह सति सम्प्रप्रकथं सति, अहं कथमनाथो जवामि ? , कौशिकोऽहम् । , सर्वकामसमर्पितः—सर्वं च ते कामाश्च सर्वकामाः, तेज्यः सर्वकामेभ्यः समर्पितः शुनकमणा ढौकितः । अथ राजा स्वसंप्रकथं वर्णयति—अथा घोटकाः बहवो मम सन्ति, पुनर्दंस्तिनोऽपि प्रभुराः सन्ति, तथा पुनर्मनुष्याः सुनटाः संवका बहवो विचग्ले, तथा मम पुरं नगरमप्यास्त, च पुनर्मम अन्तःपुरं राक्षीवृत्वं वर्तते । पुनरहं मानुष्यान् भोगान् मनुष्यसम्बन्धिनो विषयान् भुञ्जामि । च पुनरहं श्रेष्ठं वर्तते आशा अप्रतिहतशासनस्वरूपं प्रभुत्वं वर्तते, यतो मम राज्ये कोऽपि मदीयामाहानं न अङ्गयतीत्यर्थः ।

यतिस्तनुवाच—

न तुमं जाणे अष्टाहस्स, अत्यं पोत्यं च पत्थिया ! ।

जहा अष्टाहो हवद, सखाहो वा नराहिया ! ॥ १६ ॥

हे पार्थिव ! हे राजन् ! त्वमहं “अष्टाहस्स” अनाथस्य अर्थम्

अभिधेयय, अशब्दः पुनर्ये, च पुनरनाथस्य प्रोत्यां न जानासि, प्रकथेणेत्यानां सुखोपपत्तिः प्रोत्या, तां प्रोत्याम्, केनाभिप्रियेणायमनाथशब्दः प्रोक्त इत्येवंप्रकारं न जानासि । हे राजन् ! यथाऽनाथोऽथवा सनाथो भवति तथा न जानासि, कथमनाथो भवति, कथं वा सनाथो भवति ? ॥ १६ ॥

सुणहे मे महाराय ! , अन्वक्षिस्सेण चयसा ।

जहा अष्टाहो जवद, जहा मे य पवसियं ॥ १७ ॥

हे महाराज ! मे मम कथयतः सतः त्वमभ्यासितेन स्थिरंण वेतसा शृणु । यथाऽनाथो नाथरहितो भवति, तथा मे ममानाथत्वं प्रवर्तितम् । अथवा (मे य इति) मे एतदनाथत्वं प्रवर्तितं तथा त्वं शृणु इत्यनेन स्वकथाया उद्बुद्धः कृतः ॥ १७ ॥
कोसंबी नाम नयरी, पुराणपुरजेया ।

तत्थ आसी पिथा भउळ, पत्तुपथणसंचओ ॥ १८ ॥

हे राजन् ! कौशान्भी नगरी आसीत् । कौशिकी कौशाम्भी ? , पुराणपुरमेदिनी जीर्णनगरमेदिनी, यादृशाति जीर्णनगराणि भवन्ति तेभ्योऽधिकशोभावती । कौशाम्भी हि जीर्णपुरी वर्तते जीर्णपुरस्था हि लोकाः प्रायशश्चतुरा धनवन्तश्च बहुधा विविकवन्तश्च भवन्तीति हार्दम् । तत्र तस्यां कौशाम्भ्यां मम पिताऽऽसीत् । कौशिको मम पिता, प्रभूतधनसञ्चयः नाम्नाऽपि धनसंचयः, गुणेनाऽपि बहुलधनसंचय इतिवृत्तसंप्रदायः ॥ १८ ॥

पदमे वए महाराय ! , अउत्ता मेऽत्थियेयणा ।

अश्रोत्या विउलो दाहो, सव्वगसेमु पत्थियावा ! ॥ १९ ॥
हे महाराज ! प्रथमे वयसि यौवने एकदा अतुल्लोकात्, अस्थिवेदना अस्थिपीडा, (अश्रोत्या इति) अरूढ । अथवा “ अस्थिवेयणा ” इतिपाठे अस्थिवेदना वेदनाः अभूत् । ततश्च हे पार्थिव ! हे राजन् ! स्वर्गाग्रेषु विद्युतां दाघोऽरूढः ॥ १९ ॥
सत्यं जहा परमातिक्खं, मरीरिवरंतेरे ।

पाविजिज्ज अरी कुण्ढो, एवं मे अत्थियेयणा ॥ २० ॥

हे राजन् ! यथा कश्चिदरिः कथम् कुण्ढः सन्, शरीरविचरान्तरे नासाकेशेषुऽप्रसूकरप्रणोयं मध्ये परमतीक्ष्णं शस्त्रं प्रपीडयद् गाढमवगाहयत्, एवं मे ममाश्विनवनाऽरूढः । (शरीरविचरंतेरेति) (पाण्डेटीका)

शरीरविचरणि कथैरभ्रादीनि, तेवामन्तरं मध्यं शरीरविचरान्तरे तरेन्द्र (पाविजिज्ज इति) प्रवेशयत् प्रक्षिपेत् । शरीरविचरं मध्यमतिशुभ्रमारवादात्परन्तरे च गाढयदनेपलक्षणम् । पत्थयेत् च—शरीरवीर्यान्तरंण “आधिलिज्ज ति” पाणान्तरे शरीरवीर्यं सत्त धातवस्तदन्तरे तन्मध्ये आपीर्येद् गाढमवगाहेयत् । एवमित्यापीर्यमनास्य शब्दवद् मे ममाश्विनवना, कौशिकः, यथा तदत्यन्तबाधिपायि तथैवाऽपीति ॥ २० ॥

तियं मे अंतरिच्छं ज, उत्तमंगं च पीरुई ।

इंदासणिसमा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥ २१ ॥

हे राजन् ! सा परमदारुणा वेदना मे मम शिकं कटिपृष्ठविभागम् । च पुनरन्तरिच्छाम्—अन्तर्मध्यं इच्छा अन्तरिच्छा, तामन्तरिच्छाम् । भोजनपानरमणाभिलाषरूपम् । च पुनरसमाह मरुनकं पीडयति । कौशिकी वेदना, इन्द्रादानिसमा घोरा, इन्द्रस्याशनिर्वेजं तस्मिन्साऽतिदाहोपादकत्वात् तुल्या, घोरा जयदा ॥ २१ ॥

रिं न कश्चिस्सं प्रसिद्धवतिस्साह ।

उन्नटिया मे आपरिया, विज्जामंततिगिच्छया ।

अर्षीया सत्यकुसला, मंतमूलाविसारया ॥ ३३ ॥

हे राज्ञ ! तदेत्यभ्याहारः । आर्षाथी वैधानां शास्त्रान्या-
सकारकाः मे उपस्थितानि चिकित्सां कर्तुं लज्जानां, कीदृशा आर्षा-
थ्याः १, विद्यामन्त्राधिकित्सकाः विद्याया अभ्येष च विकित्सन्ति
चिकित्सां कुर्वन्तीति विद्यामन्त्रचिकित्सकाः, प्रतिक्रियाकर्तारः ।
पुनः कीदृशा आर्षाथ्याः १, अर्षीताः सत्यकृ पतिनाः । 'अर्षी-
या' इति पाठे न विद्यते अन्ये द्वितीयो येन्यस्तेऽद्वितीया अ-
साधारणाः । पुनः कीदृशास्ते १, शास्त्रकुसलाः शास्त्रेषु विचक्ष-
णाः । पुनः कीदृशास्ते १, मन्त्रमूलाविसारदाः, मन्त्राणि देवाधि-
ष्टिताणि, मूलानि जटिकाकपालि, तत्र विचक्षणाः मन्त्रमूलिका-
नां गुणज्ञाः ॥ ३२ ॥

ते मे तिगिच्छं कुर्वन्ति, चातुष्पायं जहादियं ।

न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अणाहया ॥ ३३ ॥
ते वैधाचार्या मम चिकित्सां रोगप्रतिक्रियां यथा हितं भवेत्त-
था कुर्वन्ति । कीदृशं चैकित्सव्यम् १, चातुष्पादं चत्वारः पादाः
अकारा यस्य तच्चतुष्पादम्, तस्य भावः चातुष्पादम्, चातुर्विध्य-
मित्यर्थः । वैध १ औषध २ रोगिण ३ प्रतिचारक ४ रूपम् ।
अधवा-अमन १ विरेचन २ मदन ३ रवेदन ४ रूपम् । अधवा-
अज्जन १ बन्धन २ लेपन ३ मदनरूपम् । शास्त्राणं गुरुपारंपर्यागतमा
चक्रतिरति स्थाने प्राकृतत्वात्कुर्वन्तीत्युक्तम्, ते वैधा मां दुःखाच्च
विमोचयन्ति स्म । प्राकृतत्वाद्भूतायै वर्षमानार्थः प्रत्ययः, एषा
ममानाधता वर्तते ॥ ३३ ॥

अथवा—

पिया मे सन्धसारं पि, देजाडि समकारणा ।

न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अणाहया ॥ ३४ ॥
हे राज्ञ ! मम पिता मम कारणे सर्वमपि सारं गृहे यत्सारं
सारमस्तु नसर्वमपि वैद्योऽप्योऽदात्, तथापि वैधा मां दुःखाद्
न विमोचयन्ति स्म । एषा मम अनाधता हेत्यति शेषः ॥ २४ ॥
माया वि मे महाराय !, पुत्रसोमजुद्धिया ।

न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अणाहया ॥ ३५ ॥

[पार्श्वटीका]

तथा मातापि पुत्रविषयः शोकः पुत्रशोकः, हा कथमिच्छं
दुःखी मस्तुनो जात इत्यादिरूपः, ततो दुःखम्, तेन [अद्वियंति]
अर्थाः । अथवा [अद्वियंति] अर्थाः, वमयत्र पीनितेत्यर्थः ।
ततः पुत्रशोकदुःखायां पुत्रशोकदुःखादीनां वा हेत्वा ॥ २५ ॥
भायरा मे महाराय !, समा जिह कण्ठिहया ।

न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अणाहया ॥ ३६ ॥
हे महाराज ! मे मम अत्रारोपि स्यका आर्षीयाः, ज्येष्ठक-
निष्ठका वृक्षा लघुचक्ष मां न च दुःखाग्निमोचयन्ति स्म । एषा
ममानाधता हेत्वा ।

(पार्श्वटीका)

[सग ति] शोककठित सारथाः स्वका वा आर्षीयाः ॥ २६ ॥
जड्यांश्च मे महाराय !, समा जिह कण्ठिहया ।
न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अणाहया ॥ ३७ ॥
हे महाराज ! मे मम अग्निगोऽपि स्वका एकमातुजाः । ज्ये-
ष्ठः कनिष्ठश्च मां दुःखाच्च विमोचयन्ति स्म, एषा मम अनाधता
हेत्वा ॥ २७ ॥

भायिया मे महाराय !, अणुरणा अणुष्वया ।

अणुषुषेहि नयोष्टिं, उरं मे परिंसिच ॥ २८ ॥

अन्नं पाणं च यदुष्टं च, गंधमद्भविक्षेर्षणं ।
मए नायमनायं वा, सा बाला नोयजुर्जहं ॥ २९ ॥
त्वंपि मे महाराय !, पामाश्चो वि न फिट्ठ ।
न य दुःखता विमोयति, एसा मज्ज अणाहया ॥ ३० ॥
हे महाराज ! मे मम प्राण्यं कामिग्यर्षिणं दुःखमनं मोचय-
ति स्म । कथमभूता प्राण्यं १, अतुरता अतुरागवती । पुनः क-
थमभूता १, अतुरता पतिमता पतिमनुत्तङ्गावृष्य इत्यर्थः सा
अतुरता । एतादृशी भाषां मे ममोरा इदमयणुषोणाभ्यां सोच-
नाभ्यां सिद्धति स्म ।

(पार्श्वटीका)

अपरञ्च भार्या पत्नी अतुरताऽतुरागवती [अणुष्वयं ति] अ-
न्विति कुलातुकेषु अनामाचाराऽभ्या अनुभवता, पतिमनेति याव-
त्, यथोऽतुकाया । पत्यने च— अणुत्तरमणुष्यं ति] इह
च मकारोऽलाङ्गणिकः । अनुत्तरा भति प्रधाना (उरं ति)
उरो बह्वः, परिश्रित्यति समन्तात् प्लावयति ॥ ३० ॥

पुनः सा बाला मत्कामिनी अन्मनशानं मोक्षकारिकं महयं,
पुनः शकरोदकदिक्, पुनः स्नानं कुकुमदिपादनीयैरजितैलचा-
वकमेवज्वाभिप्रोख्यंशोभाञ्जनं मया ज्ञानं वा अज्ञानं स्वभावेनै-
व पत्यस्यै भोगाहं नोपचुष्टे नानुभवति । मम दुःखात्सर्वा-
पथपि नोगाङ्गानि त्यक्तानि ।

(पार्श्वटीका)

स्नानं स्नात्यनेनेति स्नानम्-गन्धोदकादि, मया ज्ञानमज्ञानं वे-
त्येन सङ्गयसारताप्राह । पत्यने च— 'तारिस्व रोगमावधे' ति'
ताहयमुककपं रोगमक्षिरांगोदिकम्, 'आयधे' प्राप्तं मर्याति-
गम्यते । (से ति) भार्या बालव बालाऽमिनवयार्थिना नोप-
भुङ्क्ते नासेवते ॥ २६ ॥

(कखं वि ति) पुनर्हे महाराज ! सा बाला मम पार्श्वी-
कट्यात् (न विकिट्ठति) न अप्रयान्तीत्यर्थः । परं दुःखान्मां
न मोचयति, एषा ममानाधता हेत्वा ।

[पार्श्वटीका]

[पासाश्चो वि ए फिट्ठ ति] अपिअश्रुध्यायैः, ततः पार्श्वीच्च
नापयाति सदा सन्निहितैवाऽन्ते ॥ ३० ॥

अनेन तथा अपि वत्सलत्वमाह-
तश्चो हं पवमाहंसु, दुःखमा हू पुणो पुणो ।
वेयणा अणुभविं उं, संमारम्मि अणंतप ॥ ३१ ॥
ततोऽनन्तरं प्रतीकारेषु विफलेषु जातेषु अहमेवमवधि-
ष्य । यवमिति किम् ? इ इति निश्चयेन या वेदना अनुभवितुं
दुःखमा भोक्तुमसमर्थोऽस्त्वा वेदनाः संसारं पुनः पुनर्भूता इति
शेषः । वेद्यते दुःखमनयेति वेदना । दुःखेन क्षम्यते सहाते
इति दुःखमा दुस्सदा, कीदृशे संसारे १, अनन्तकेऽपारे ॥

[पार्श्वटीका]

तत इति रोगाप्रतिकार्यतात्पर्यमहमेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण
[आहंसु ति] वक्रवान्, यथा [दुःखमा हू ति] कुरेवका-
राथः । ततो दुःखमेव दुःखहेतुः पुनःपुनर्भूता उक्तकथा
रोगव्यथा अनुभवितुम्, 'अ इति निपातः पूर्ये ॥ ३१ ॥

सहं च अह मुक्षेज्जा, वेयणा विउत्ता उ मे ।
संनो दंतो निरारंभो, पव्वए अणगारियं ॥ ३३ ॥
अहं किमवादिषम !, तदाह—यति सङ्कटन्येकवारमप्यहं वेद-

नाया विमुच्ये, तदाऽहं ज्ञानतो भूत्वा, पुनर्ज्ञानतो जितेन्द्रियो भूत्वा निरारम्भः सन् अनगारम्भं साधुचर्यं प्रवृत्तामि दीक्षां गृह्णा-
मीति भावः । कथम्भूत्या वेदनायाः, विपुलाया विस्तीर्णयाः ॥

[पादौटीका]

यतश्चैवमतः [संरं च सि] चशब्दोऽपि शब्दार्थः । ततः सकृ-
दप्येकदाऽपि यदि मुच्येयाहमिति गम्यते । कुतः, [विषयसि]
वेदनाया [विडलसि] विपुलाया विस्तीर्णयाः । इत्यनुभूय-
मानायाः । ततः किमित्याह—ज्ञानतः समावाप्त्वा, ज्ञानं इन्द्रियनो-
इन्द्रियदमेन [पक्षप अगुगारियं सि] प्रवृत्तये गृह्णात्किमप्येवम् ।
ततश्चाऽनगारितां भावविभूतामङ्गीकुर्वामिति शेषः । यज्ञ-प्र-
वृत्तये प्रतिपद्येयानगारिताम्, येन संसारोच्छिद्यते मूलत
एव न वेदनासंभवः स्यादिति भावः ॥ ३२ ॥

एवं च चिंतित्वापि, पसुचोमि नराहृत्वा । ।

परियर्दति य राहृए, वेयणा मे स्वयं गया ॥ ३२ ॥

एवं पूर्वोक्तं चिन्तने चिन्तयित्वा हे नराधिप ! याचदहं सुतो-
ऽऽस्मि तावत्सम्येव राक्षीं प्रवर्त्तमानायाम्—अतिक्रमन्त्यां, मे
मम, वेदना कृत्यं गता ; वेदना उपशान्ता इत्यर्थः ॥

(पादौटीका)

एवं च चिन्तयित्वा जगन्ति न केवलमुक्त्वा चिन्तयित्वाचैवं
(पसुचोमिसि) प्रसुप्तोऽस्मि (परियर्दति य सि) परिवर्त्तमा-
नायामातक्रामन्त्याम् ॥ ३३ ॥

तत्रो कद्धे पभायस्मि, आणुच्छिताणं चंपेये ।

संतो दंतो निरारंभो, पव्वञ्जो अगुगारियं ॥ ३४ ॥

(पादौटीका)

ततो वेदनोपशमनात्परतः (कद्धे सि) कलपो नीरोगः सन् प्रमा-
ते जातः । यज्ञा- [कद्धे सि] चिन्ताऽऽदिनाऽप्येकया द्वितीयादिने
प्रकर्षेण ब्रजिनो गतः प्रवृत्तितः, कोऽर्थः, प्रतिपद्येयानगारिता-
मिति । ततो वेदनाया उपशान्तेरनन्तरं (चंपेये इति) नीरोगं जाते
सति प्रभातसमये बान्धवाद् स्वहृत्वात्प्राणहमनगारित्वं
माधुर्यं प्रवृत्तितः, साधुचर्यमङ्गीकृतवान् । कीदृशोऽहम्, ज्ञानतः
पुनर्ज्ञानतः, पुनर्हं निरारम्भः ॥ ३४ ॥

तत्रो हं नाहो जाओ, अण्णो य परस्स य ।

सव्वेमिं चैव जूयाणं, तसाणं चायराण य ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! ततो द्वाज्ञाप्रदणानन्तरमात्मनश्च पुनः परस्व
नाथो योगक्षेमकरत्वेन स्वामी जातः आत्मनो हि नाथः, बुद्ध-
प्रदपणस्य च । अपरस्व च, तिनचिन्तनात् । एवं निश्चयेन स्वयं-
यां भूनानाय, ब्रसानां च पुनः स्थावराणां नाथो जातः ॥ ३५ ॥
किमिति प्रवृत्त्याप्रतिपद्यन्तरेण नाथस्वयं जातः, पुरा तु नेत्याह—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूदसाभद्रीं ।

अप्पा काभदुया धेणु, अप्पा मे नंदणं चाणं ॥ ३६ ॥

(आत्मसि) व्यक्त्वच्छेदकत्वात्तत्राचक्ष्वस्यात्मैव नाथः कश्चिद्वि-
त्याह—नदी सरित् । चैतरणीति नरकनद्या नाम । ततो महाज-
यंहेतुतया नरकनदी वा । अत एव आत्मैव कूटमिव जन्मुद्यत-
नाहेतुत्वात्कात्मली कूटशालमही नरकोज्जवा । तथा आत्मैव
कामानभिलाषावर्द्धोऽपि प्रापकनया प्रवृत्त्यति कामज्जवा, धेनु-
रिव धेनुः इयं कद्धित वक्ता । एतदुपमात्कामभिलाषितस्वयं पावर्गा-
वासिहेतुतया आत्मैव मे मम, नन्दनं नन्दननामकं वनमुद्यानम् ।
एतदीपर्यं चाङ्गु चित्तच्छित्तहेतुतया ॥ ३६ ॥

यथा चैतदेवं तथाऽहं—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुष्ठाण य दुष्ठाण य ।

अप्पा मित्तममिचं च, दुष्पट्टिय सुपट्टिओ ॥ ३७ ॥

आत्मैव कर्ता विधायको दुःखानां सुखानां वेति योगात् प्रक-
माश्च आत्मन एव विकर्ता च विकल्पकश्चात्मैव तेषामेव ।
अतश्च आत्मैव निम्नमुपकारितया सुखद, (अमिचं वेति) अमि-
प्रक्षोपकारितया दुःखद । कीदृक् ? (दुष्पट्टियं सुपट्टिनो सि)
दुष्टु प्रस्थितः सकलदुःखहेतुरिति विषादिकथनः, सुष्ठु प्र-
स्थितश्च सकलसुखहेतुरिति कामधन्वादिकथनः । तथा च
प्रवृत्त्याऽप्युत्थायामिचमुपस्थितत्वेन आत्मनोऽन्वेषां च योगक्षे-
मकरणे समर्थस्याप्राध्यायमिति सूत्रमर्थः ॥ ३७ ॥

पुनरुत्थथा नाध्वयमाह—

इमा हु अओ वि अणाहुया निवा ।,

तमेकचित्तो निवुओ सुणेदि ।

निगद्धममं लभियाण वी जहा ,

सोर्दति एगे बहुकायरा नरा ॥ ३८ ॥

(पादौटीका)

इयमनन्तरेव बह्वयमाणा । हु पुरणे. अन्त्या परा, अपिः
समुच्येयं । अनाद्यताऽस्वामिना, यद्भावतोऽहं नाथो जात
इत्याशयः । निवृत्तिरूपतामित्यनाद्यतामेकचित्त एकप्रमत्ताः,
निभूतः स्थिरः, शुष्णु । का पुनरसावित्याह—निम्नान्थां धमे
आवागे निम्न-धर्मस्तम् [लभियाण वि सि] अन्त्याऽपि ।
यद्यनुपदेशेन । स्वीकृति तदनुष्ठानं प्रति शिष्टिशीलमिति । एके
केचन, ईदृक्परिस्वामाः कातरा निःस्वत्वा बहुकातराः 'विभा-
या सुयां बहुदुःपुरस्तात्' ॥ पाणि०-५। ३। ६० ॥ इत्यतः प्राय
बहुदुःप्रत्यये हि सर्वथा निःस्वत्वाः न भूतत एव न निम्नप्रमर्ग
प्रतिपद्यन्त इत्येवमुच्यते । यदि वा कातरा एव बहवः संजव-
न्तीति, बहुदुःखी योऽप्युत्थम् । नराः पुरुषाः स्वीदत्तश्च नाम्ना-
मर्त्याश्च रक्षयितुं क्रमाः । इतीयं स्वीदत्तलक्षणं पराऽनाथ-
तति प्रायः ॥ ३० ॥

जो पव्वञ्जाण महव्वयादं,

मम्मं च नो फासइ सं पयाया ।

आणियाणहृप्पा य रसेसु णिके,

न मूलओ जिदइ वेषणं से ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! यो अनुच्यः प्रमज्य दीक्षां गृहीत्वा, महाभक्तानि प्र-
मादात् सम्यक्चिन्तानां न स्पृशति न सेवेत, [से इति] स प्र-
मादवशवती बन्धनं कर्मबन्धनं रागद्वेषभङ्गणं संसारकारणं
मूलतः मूलान् न जिनसि मूलतो नात्पाटयति । सर्वथा राग-
द्वेषी न निवारयतीत्यर्थः ।

[पादौटीका]

नो स्पृशतीति नाऽऽसेवेत प्रमादाभिज्ञादेरनिप्रदोऽपि धिमान-
वियवनिमन्त्रेण आत्मा यस्य सोऽनिप्रदात्मा । अत एव रसेसु
सधुरादिषु शुद्धौ शुद्धिमान् । बन्धतेऽनेन केमेति बन्धनम राग-
द्वेषात्मकं [से इति] सः ॥ ३९ ॥

आउत्तथा जस्स य नत्थि काई,

इरियाइ भासाइ त्हेसणाए ।

आयाण—निकसेव—हुंमंण्णाए,

न धीरजाय आणुजाइ मग्गं ॥ ४० ॥

हे राजन् ! स साधुवीर्यात् मार्गे जायति, धीरैर्महापुरुषै-
स्तीर्थक्षेत्रैश्च परैश्च वात् प्रायत, अर्थोन्मोक्षमार्गं न प्राप्नोति ।
न काः, यस्य साधोरीयायां गमनागमनसमितौ, तथा जायायां,
तथा पथपायामाहाइअकसमितौ, पुनरपान्निकेपथसमितौ,
वसुधां ब्रह्मभोगमविधौ, तथा [पुनोन्जाय इति] उच्चारअभय-
नक्षेपजलांसहवायादीनां परिष्ठापनसमितयाऽऽयुक्ता का
विद्यास्तीति ॥ ४० ॥

तथा च—

चिरं पि से सुंकरई जविचा,
आथिरन्वप त्वनिययेईं जट्टे ।
चिरं पि अप्पाण किल्लेत्तत्था,
न पारए होइ दु संपराए ॥ ४१ ॥

स पुर्वोक्तो मुण्डकविरहितो मुन्याभासधिरं मुण्डकचिर्भू-
त्वाऽऽत्मानमपि चिरं क्लेशो पातयिष्या, दु इति निश्चयेन, सं-
परापे संसारे पारगो न भवति । कीदृशः सः ? अस्थिरव्रतोऽ-
स्थिराणि भ्रतानि यस्य सोऽस्थिरव्रतः । पुनः कीदृशः सः ? , त-
पो नियमदुष्टः । यः कदापि तपो न करोति, तथा पुनर्नियममभि-
प्रहादिकं च न करोति, केवलं ब्रह्मयज्ञो नयति, स संसार-
स्य पारं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

स वैश्वविधः—

पोखेव मुट्टी जह से असारो,
अर्थापि कूफकहावणे वा ।
राहापणी वैकसिचपणसासे,
अमग्यए होइ दु जाणएसु ॥ ४२ ॥

स पूर्वोक्तो मुण्डकविरहसारो नयति । अन्नःकरणे धर्मोऽनायात्
रिक्तोऽकिञ्चिद्वरको अस्ति । स क इव ? पोखो मुट्टिरिव । यथा-
रिक्तो मुट्टिरसारो मये सुथिर एव, तथा स मुण्डकवः कूटका-
र्षण इवास्त्यनायुकमिधायित्रितो नयति, न यत्रितोऽयत्रितो-
ऽनाइरणीयो निर्गुणवाऽप्रेरणीयोः स्यादित्यर्थः । उक्तमर्थमधो-
न्तरयासेन कथयति—दु यस्मात्करणात् राहामार्षः काचमणिः
[जाणएसु इति] कालुकेषु मणिपरीक्षकनरेषु वैदुर्यमकाशोऽ-
मर्चको भवति बहुमूल्यो न भवति । वैदुर्यमणियुत् प्रकाशो य-
स्य स वैदुर्यमणिकाराः, वैदुर्यमणिसदृशतेजाः । महान् अर्घो
वस्य स महार्घः, महान् एव महार्घकः । न महार्घकोऽम-
हार्घकः । अर्घमुस्य इत्यर्थः । यथा—मणिहेतु वैदुर्यमणि-
हेतुमूल्यः स्यात्, तथा काचमणिहेतुमूल्यो न स्यादेवं
धर्मोऽनो मुनिः साधुपणहेतु यथा सधर्मोच्चारयुक्तः साधुवै-
न्दव्यः स्यात्तथा स मुण्डकविरधर्मोऽनो न स्यादिति प्रायः ॥

(पार्श्वटीका)

“पोखरमुटी जहसि” पाठान्तरम् । इह “पोखरसि” सुथिरा,
असारत्वं चोभयोरपि सव्यैशून्यतया ॥ ४२ ॥

कुसीसिर्गमं इह पारयिता,
इसिउम्भयं तीजिय वूइयिता ।
असंजये संजिय सण्णमाणे,
विणिट्ठायसामउइ से चिरं पि ॥ ४३ ॥

(स इति) स साध्याचारवदितः, इह संसारं चिरं चिरकालं या-
वक्षिणातमागच्छति पीडां प्राप्नोति । किंकरवा ? कुसीसिर्गमं
पार्श्वस्थादीनां चिह्नं धारयित्वा । पुनर्जीविष्येति आजीविकापे-
सुचिष्वजं रजोहरणमुद्योगोत्पत्तिकारिकं बृंहयित्वा च्छिद्रं प्रापयत्,
विशेषेण निघाने विनिघातं विविधप्रीत्याम् । स किं कुर्वन् ?
असंजयतः सद् बहं संजय इति ज्ञातव्यमानः— असाधुपति
साधुरहसिति ह्यवाणः ॥ ४३ ॥

अथैव हेतुमाह—

विसें तु पीयं जह काळकम्,
हणाइ सत्थ जह कुग्गहंयं ।
एवेव धम्मो विसमोवत्तएणे,
हणाइ वेयास इवाविवएणां ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! यथा काळकृतो महाविषः पितः सन् [हणाइ ति]
इति । पुनर्यथा कुन्दहीतं विपरीतवृत्त्या गृह्णीतं शास्त्रं इति ।
एवमेव अननेव इष्टातेन विषयैरिन्द्रियसुखैरुपपन्नो विषयस-
न्धानिज्ञात्युक्तो धर्मोऽपि इति । पुनः स विषयो धर्मोऽपि पस-
वेतास इव इति । मन्त्रादिभिरकीर्तितः । यथा स्फुरत्पशो
मन्मथनैरनिवारितबलां वेतातो महापिशाचो मारयति, तथा
विषयसहितो धर्मोऽपि मारयतीत्यर्थः ॥

[पार्श्वटीका]

[वयास इवाविषयो ति] अस्य गम्यमानवाद्येतास इवाऽ-
विषयोऽप्राप्तविषयत्, मन्त्रादिविरनियन्त्रित इत्यर्थः । पश्यते च—
[वेयास इवाविषयघ्नो ति] इह वा विषयान्ऽपि चरान्नमन्त्रा-
द्विनियन्त्रणः । उभयत्र साधकमिति गम्यते ॥ ४४ ॥

जे लक्खणं सुविणं परंजमाणे,
निमित्तकाऊहससपगाइ,
कुहेदविज्जासवदराजीवी,
न गच्छई सरणं तम्म काळे ॥ ४५ ॥

यः साधुवैश्वं प्रयुज्जानः साधुप्रोक्तं स्वीपुरुषशरीरचिह्नं श-
जाशुनसूचकं प्रयुज्जः गृहस्थानां पुरतो वक्ति । यः पुनः साधुः सु-
विणं स्वप्रविष्यं प्रयुज्जानो भवति—स्वप्रानां फलाफलं वक्ति ।
पुनर्यः साधुर्निमित्तकौतूहलसम्प्रगादो जयति—निमित्तं च
कौतूहलं च निमित्तकौतूहलं तयोः सम्प्रगादोऽप्यन्ताराकः
स्यात् । तत्रनिमित्तं अयुक्तोत्कापातकतृत्वादि । कौतूहलं कौ-
मुकं पुत्रादिप्राप्यर्थं ज्ञानजेषु जीवेषु आदि प्रकाशयन्म् । उभयत्र सं-
ज्ञो जयति । पुनर्यः साधुः कुहेदविद्याऽऽभवद्दाराजीवी भवति—कु-
हेदका विद्याः कुहेदकविद्याः । अलीकाऽऽध्ययविधायिमन्त्रतन्त्र-
यन्त्रहोमात्मिकास्ता यथाभवद्दाराण, वैजीवितुमाजीविकं कर्तुं
शीलं यस्य स कुहेदकविद्याऽऽभवद्दाराजीवी, यथाहो यो भव-
ति । हे राजन् ! परं तस्मिन् काले लक्ष्मणस्वप्ननिमित्तकौतूहल-
कुहेदकविद्याभवद्दाराप्राप्तिपानकफलोपनोगकासे स साधुः
शरणं न गच्छति, न प्राप्नोति । तं साधुं कौऽपि दुःखान्नकरतिय-
न्येत्यादी न श्रवत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अमुमेवार्थं भावयितुमाह—

तमंतपणवेव ठ से असीसे,
सया मुट्टी विण्णिया समुवेइ ।
संभारइ नयं तिपरिक्खणेत्ती,

मोणं विराहिषु असादुरुषे ॥ ४६ ॥

न पुनः स द्रव्यसुराः साधुक्रोयो जौनं विराध्य साधुधर्मं दूष-
यित्वा, नरकतिर्योगीनि संघावति सततं गच्छति । पुनः अघो-
रः कुगीको विषयोऽसुमेति-तस्यैव विपरीत्यं प्राप्नोति, मिथ्या-
स्वप्नेषु भवतीति ज्ञायः कीदृशः सः । तमस्तमसैव सदा दुःखी
मतिहायेन तमस्तमस्त्वमः, तेन तमस्तमसैव अज्ञानमहात्माका
रैर्गैव संशयविपानाजिततनुः क्लृप्तः ॥ ४६ ॥

कथं पुनर्मौनं विराध्य कथं वा नरकतिर्यग्गती सम्भावतीत्याह-
ठोसियं क्रीयमनं नियामं,
न मुषः किंचि अघोसणिज्जं ।
अग्गीविवा सत्त्वभक्ष्सी भविषा,
इधो बुधो गच्छइ कद्रुपुवावं ॥ ४७ ॥

पुनर्यः साधुप्राप्तः बहिःशिकदशैनिन सदिश्य कृतं उद्देशिकमा-
हात्म्य । पुनः साधुनिमित्तं क्रीतं मौन्येन गृहीतम् । पुनरहत्तं
साधुसंमुखमानीनं साधुज्ञान एव गृहस्थेन प्रानीतं तदाहृतम् ।
पुनर्यदाहारं नित्यकं नित्यपिण्डं गृहस्थगृहे नियतपिण्डमहाहारं
सद्योमहाहारमनेषण्यं साधुना अग्रमां न मुञ्चति । जिह्वासा-
ग्येन किमपि न त्यजति, सर्वमेव गृह्णाति । सोऽग्निरिव सर्व-
भक्षी नृप इतिशुक्रप्रस्तात्रको वैभानार इव पूत्वा प्रासुकाहारं
मुक्त्वा इतश्च्युतो मनुष्यजन्माच्युतः कुर्वति ब्रजति । किं कुर्यात्,
पापं कुर्या संशयविपानां विधाय ॥ ४७ ॥

न तं अरं । कंठजेसा करेऽ,
जं से करं अण्णसिय दुरपपया ।
से नाहर्इ मच्छुद्धं ति पत्ते,
पच्छाऽणुतावेण दयाविहणो ॥ ४८ ॥

(पाईटीका)
यतश्चैवं सुदुष्कारिरेव दुर्गतिप्राप्तिः, अतोऽनेनैव (तमिति)
प्रस्तावाद्मन्थेकरणैरुक्ता प्राणहृत्ता (सि) तस्य (दुरूपयेति) प्राकृ-
तत्वाद् दुरात्मतां दुष्टाचारप्रवृत्तिरुपां नचैनामात्वरूपि जन्तु-
रत्यन्तमुद्धनया वेत्ति । तस्मिन्नुत्तरकालमपि न वेत्स्यतीत्याह-
स्व दुरात्मा कसौ ज्ञास्यति । प्रकमाद् दुरात्मतां श्रुत्यमुक्तं तु मर-
णसमयम्, पुनः प्रासः पश्चादनुतापेन हा बुधं प्रयाऽनुष्ठिनमिति,
एवंरूपेण दया संशयसत्यापुपसङ्गममहिंसा वा तद्धिहीनः
स्वः । मरणसमये हि प्रायःअतिमन्त्रधर्मस्थापि धर्माजिप्रयोगत्प-
शिरेवमनिधानम् । यतश्चैवं महानर्धहेतुः पश्चात्पारहेतुश्च दुरा-
त्मता तदाहित एव सुदानमपहाय परिहरेन्वेवमिति भाषः ॥४८॥
यस्तु श्रुत्यमुक्तं प्रस्ताऽपि न तं वेत्स्यतीति

तस्य का वासैत्याह-
निरद्विया निपुर्कं ठ तस्स,
जे वत्तमं विवञ्जासथे ।
इमे वि से नदिया परे वि लोए,
दुहम्भो वि से जिक्कम्मइ तथ लोमे ॥ ४९ ॥

(पाईटीका)
निरर्थिका तुदाग्दसैबकारांशस्येह सम्भ्रंशप्रिरेथैकैव नि-
पुक्त्वा नाम्ये आम्भे कश्चिद्विद्वान्नाम्भेकचित्तस्य [जे उ-
त्तमं ति] सुहृत्स्ययादयेष्व गम्यमानाऽनुत्तमार्थेऽपि
पर्यन्तस्त्वयाराधनारुपे आस्तं पृथैमिवापिदृष्टार्थः । वि-

पर्योसं दुरात्मतायामपि सुन्दरात्मतापरिज्ञानरूपमेति गच्छति,
इतरस्य तु कपाजित्यादापि किञ्चिद्विद्वान्नाम्भे भाषः । किमेवमु-
च्यते । यतः [इमे वि सि] अयमपि प्रत्यक्षो लोक इति सम्भ्रंशः ।
[सि इति] तस्य मात्स्यं न भवति । न किंचिद्विद्वान्नाम्भे परोऽपि हो-
को अन्मत्तरलक्षणः । तमेह होकाऽभावः शरीरकमेव हेतुलोक-
मादिस्वभावः, परलोकामात्रेण कुणितगमनतः शरीरमानसदु-
ःखसम्भवात् । तथाच [बुद्धमे वि सि] शिवाऽपेहिकपारत्रिका-
र्थे भाषेन [जिक्कम्मइ सि] स पेहिकपारत्रिकाकार्येसंप्रसिततो ज-
नानवलोक्य चिन्मामपुण्यभाजनमुपयुक्तहृत्तयेति चिन्त्या ही-
यते । तत्रेऽनुपयुक्तलोकभावे सति लोके जगति ॥ ४९ ॥
यत्कं स ज्ञास्यति पश्चात्तनुतापेनेति तत्र यथाऽस्ती परितप्यते
तथा दशयन्नुपसंहारमाह-

एवेव हा बंदकुसालीरुवे,
मगं विराहिषु जिण्णसमाणं ।
कुररीविवा भोगरसाणुणिद्धा,
निरत्तोया पतितामपे ॥ ५० ॥

(पाईटीका)

एवमेवोक्तयेव महाश्वनस्परीदिना प्रकारेण यथाऽग्नाः स्व-
कश्चिद्विराचितान्नादाः कुररीलाः कुसितशीशास्त्ररूपस्वरस्वभा-
वाः कुररीव पात्रिणीयां निरत्तोयां सि] निरर्थो निष्प्रयोजनः शो-
को यस्याः सा निरर्थेऽपि, परितापं पश्चात्तनुत्तय, एति गच्छ-
ति । यथा चैवाऽऽमिषगुणा पश्चात्तरेज्यो विपत्त्यां शोचनेन च
ततः कश्चिद्विपत्प्रतीकार इत्येवमसावपि भोगरसयुक्त पेहिका-
सुधिमकानर्धेप्राप्ती ततोऽप्येव स्वपरिद्वान्नासमर्थयेऽनाथत्व-
मिति ज्ञायः ॥ ५० ॥

एतच्छ्रुत्वा यत्कृत्यं तदुपवेष्टुमाह-

सोञ्जाण मेडावि । सुजासियं इमं,
अनुतासयं नाणुगुणांवेवं यं ।
मगं कुसीराण जहाय सव्वं,
महानियद्वहाण वए पट्ठेणं ॥ ५१ ॥

हे मेधाविदु ! हे पतिरत ! हे राजदु ! इवं सुभावेनं सुष्टु भाषि-
तं सुभावेनम्, अनुतासमन्-चपदेशवचनेन, श्रुत्वा सव्वं कुसीराणां
मार्गम् । [जहाय इति] त्यक्त्वा महानिष्प्रधानो महासाधुनां,
पथि मार्गं, चरेद् भजेत् । कीदृशमनुज्ञासनम् । आनुत्तयापयेतं
ज्ञानस्य गुणाः ज्ञानगुणाः तैवपयेतं ज्ञानगुणांपयेत् ॥ ५१ ॥

ततः किं फलमित्याह-

चरिसमापारगुणसिए तम्भो,
अणुत्तरं संजमपालियाणं ।
निरत्सवसे खविद्याण कम्मं,
वेवेइ ताणं विजुत्तमं धुवं ॥ ५२ ॥

ततस्तस्मात्कारणात्पश्चात्तनुत्तयानामवस्थानात्संकोणमुत्सं
तपाहकः साधुर्बुधमन्त्रतसिदानामवस्थानात्संकोणमुत्सं
सर्वोत्कृष्टं पुनश्चैवं निष्प्रयं शाश्वतमेतादृशं मोक्षत्वानमुपैति प्रा-
प्नोति । कीदृशः साधुः, चारिवाचारगुणाग्निः चरिसव्याचार-
आरिवाचारआरिचरिसव्यं, गुणा ज्ञानशीलान्तर्या, चारिवाचारः
गुणाश्च चारिवाचारगुणास्तीरान्तर्याचारिवाचारगुणाग्निः । अत्र

प्रकारः प्राकृतत्वात् । किं कृत्वा सायुर्मौलं प्राप्नोति ? अन्वृत्त-
रं प्रधानं जगद्वाङ्मयस्य संसर्गशक्तिं पालयित्वा । पुनः
किं कृत्वा ? कर्मोपपद्यमानं संज्ञेय्य कर्मोन्वीयावता चारिभ्रा-
चारकानामविशुण्युक्तः । इत एव निरुद्धाश्रयः प्रधानसंशयं प्रया-
स्य, सर्वकर्मणि संकल्पं नीत्या मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अधोपसंहारमाह—

एतुम्गदंते वि महातबोहणे,
महासुणी महापदस्ये महायम ।
महानिर्पञ्जिमिणं महासुयं,
से कहिए महया वित्यरेणं ॥ ५३ ॥

एवममुना प्रकारेण, अंगिकेन राज्ञा, पृष्टः सन् स्व महासुनिर्महा-
सायुः, महात्वा विस्तरणं बृहत्ता व्याख्यानं, महानिर्पञ्चीयं म-
हापुनःप्रकथयत्, महास्यत्वे ते निर्दोषाश्च महानिर्पञ्चास्तेष्वप्यो
हितं महानिर्पञ्चीयं, महासुनीनां हितमित्यर्थः । कीदृशः सः ? ,
उग्रः कर्मशत्रुदहनं बलिष्ठः । पुनः कीदृशः सः ? , दातॄणां जित-
न्धियः । पुनः कीदृशः ? , महानयोधनः प्रहस्य तत्तपश्च महातपः
महातपो धनं यस्य स महातपोधनः । पुनः कीदृशः ? , महाप्रतिहः
यने हृदप्रतिज्ञाधारकः । पुनः कीदृशः ? , महायथाः महा-
कीर्तिः ॥ ५३ ॥

ततश्च—

नुद्यो य सेणिओ राया, इणमुदाहं कपंजही ।

अणुाहणं जहा जूर्यं, सुदरु मे उवदंसियं ॥ ५४ ॥

अंगिको राजा नुद्यः । नु इति निश्चयेन । इदम्, 'उदाहं' इदमवा-
दीत् । कीदृशः अंगिकः ? , हताजलिः बद्धाजलिः इदमिति किम् ? ,
हे मुने ! यथाज्ञतं यथावस्थितममनामयं, मे मम, सुदृष्टपदार्थं
सस्यम्दर्शितव्यं, त्वयेति शेषः ॥ ५४ ॥

किं अंगिक आह—

तुजं सुलच्छं खु माणससजम्भं ,

लाना सुलद्धा य मुमे महेसी ।

तुम्हे सण्णाहा य सर्वंधवा य,

जं भे द्विया मग्गजिणुत्तमाणं ॥ ५५ ॥

हे महर्षे ! खु इति निश्चयेन सुलब्धं सफलं त्वदीयं मानुषं ज-
न्म । हे महर्षे ! त्वेव लानाः रूपवर्णविद्यादीनां लानाः सुल-
जाः रूपलाभयथादिप्राप्तयः सुप्राप्तयः । हे महर्षे ! पृथमेव स-
नाथां भ्रातृमनो नाथयथात् नाथसहिताः । च पुनर्युयमेव सबाण्य-
वा हासिकुदुम्भसहिताः । यद् यस्मात्कारणात् (मे इति) ज-
न्मनः जिनांसमानां तीर्थकराणां मामे स्थिताः ॥ ५५ ॥

तं मि खाहो अण्णाहाणं, सब्वज्जाण्य संजया ।

त्वाभेमि ते महाजागा !, इच्छामि अणुसासिजं ॥ ५६ ॥

हे संवत् ! त्वम्, अनाथानां सर्वसूतानां ब्रह्मानां स्थावराणां च
जीवानां नाथोऽसि । हे महाभाग ! हे महाभाग्ययुक्त ! (ने इति)
त्वामहं क्लामि, मया पूर्वैयस्तथापराधः कृतः स क्लान्तव्य इत्य-
र्थः । अथ भवतोऽनुसासयितुं त्वत्तः शिक्षितुमामानमिच्छा-
मि । मदीय आत्मा तवाङ्गानुवर्ती भवत्विति च्छामोत्यर्थः ।

(पार्वटीका)

(तं सीति) पूर्वाह्नं रूपबुद्धया कृता, उत्तराह्नं तु क्लमो-
पसंपन्नता दर्शिता । इह (तुम्हे सि) त्वम् (अणुसासयंति)

अनुशासयितुं शिक्षितुमामानं जयतेति गम्यते ॥ ५६ ॥

पुनः क्लमणामेव विरोधत आह—

पुच्छिऊणं मए तुज्जं, ज्जाणविग्गो य जो कओ ।

निर्मांतियो य जोएहिं, तं सब्वं मरिसिहे मे ॥ ५७ ॥

हे महर्षिन् ! मया तुज्यं पृच्छा प्रश्नं कृत्वा यस्तव ध्यानविषयः
कृतः च पुनर्जोतिः कृत्वा निमित्तत-भोः स्वामिन् भोगाव
पृच्छस्वत्यादिप्रार्थना तव कृता तं सर्वं मे ममापराधं कृतुम-
र्हसि, सर्वं ममापराधं क्लमस्वेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सकलाप्ययनाधोपसंहारमाह—

एवं युण्णिचाणं म गायमीहो,

अणुमासीहं परमां जत्तए ।

सारोहो सपरियणो सर्वंधो,

धम्मणुत्तरो विमलेण चयमा ॥ ५८ ॥

राजसिंहः अंगिको राजा । एवममुना प्रकारेण, तमनगा-
रसिंहं मुनिसिंहं परमया उत्कृष्टया भक्त्या स्तुत्वा, विमलेन
निर्मलेन चेतसा धर्मानुरक्तोऽऽर्जुनि शेषः । कीदृशः अंगिकाः ? ,
सावरोधः अन्तःपुरेण सहितः पुनः कीदृशः ? , मर्याजिनः सह-
परिजनैर्नैते इति सपरिजनाः स्यादियमसहितः । पुनः कीदृ-
शः ? , सबाण्यवः सह बाण्यवैर्ज्ञानुप्रमुक्तैर्वैतन इति सबाण्यवः ।
पुराऽपि वनवाटिकायां स्वान्तःपुरपरिजनबाण्यकुदुम्भसहित
एव कीर्त्तं कर्तुमामात् । ततः मुनैर्वाच्यध्रुवणात्सर्वपरिकरयु-
क्तं धर्मानुरक्तोऽऽर्जुनित्यर्थः ॥ ५८ ॥

उत्ससिरोमकूपो, काऊण य पयाट्टिणं ।

अभिवोदुण्ण सिस्सा, अद्रयाओ नराहो ॥ ५९ ॥

नगधिपः अंगिकोऽनियतात् पृष्टं गतः । किं कृत्वा ? , शिरसा म-
स्तेनक, अभिवन्द्य मुने नमस्कृत्य । पुनः किं कृत्वा ? , प्रदक्षिणां
कृत्वा प्रदक्षिणां हत्वा । कथञ्चूते नराधिपः ? , (उत्ससिरोम-
मकूपो सि) उच्छसितरोमकूपः साधोर्देशनाश्रयध्रुवणादुल्ल-
सितरोमकूपः ॥

(पार्वटीका)

उच्छसिता इवोच्छसिता उच्छिन्ना रोमकूपे रोमर-ध्रानि यस्य
स उच्छसितरोमकूपः । (अद्रयाओ सि) अतियतां गतः स्व-
स्थानमिति गम्यते ॥ ६० ॥

इयंो वि गुणसमिक्को,

तिगुणिसुत्तो तिदं कविरओ य ।

विहइ इव विपपुत्तको,

विहइ वसुहं विगयमाहो ॥ ६० ॥ ति चिे वि ॥

अधेनरोऽपि अंगिकापिकृत्वाऽपरोऽपि मुनिरपि वसुधां पुषिर्वा
विहरति विहारं करोति । कीदृशः सन् ? , विमोहः सन् मोहरहितः
सर्व-अधोर्ध्वं केवलं सन्, कीदृशो मुनिः ? , गुणसमूहः सतविधा-
निसाधुगुणसहितः । पुनः कीदृशः ? , विगुणिसुत्तः सुमित्तव्यसहितः ।
पुनः कीदृशः ? , विहइ एव विहइ ततः विहइ एव सनावाकायानामसु-
त्रव्यापारैर्भ्यो विरतः । पुनः कीदृशः ? , विहइ इव विमसुक्तः
पक्षीव कथिदपि प्रतिक्थयमित्तो निष्पद्येत् इत्यर्थः । इति
सुधर्मो स्वामी । जन्मस्वामिनो प्रति चरति, अहमिति ब्रवीतीति
॥ ६० ॥ सस २० अ ० ।

अथाहृपव्यञ्जा—अनाथमन्त्र्या—की० । विशतितमे उत्तराध्व-
यने, स० ३३ स० १० । तच्च महानिर्णयमिति नाम्ना प्रसि-
द्धम् । उत्तर० २० अ० ।

अथाहारण—अनाधरण—न० । आश्रित्येतेनेत्याधरणमाधारः ।
तन्निधोऽनाधरणम् । आधर्तुमक्रमे, ज० १८ श० ३ स० ।

अथाहासाला—अनाथशास्त्रा—की० । आरोग्यशास्त्रायाम्,
अथ० ४ उ० ।

अथाहार—अनाहार—पुं० । न० त० । आहारविपरीतेऽप्यव-
हाय्ये, तल्लक्षणं चाऽऽहारनिष्प्रत्यमित्याहारानाहारयोः स्वकृप-
मन्वेव प्रदर्शयते—

परिवासात्प्रमाहार—स मगला को भवे अणाहारो ? ।
एगंगिभो चउविहो, जं वा अन्नमइजाइ तहिं ॥

परिवासितस्याहारस्य मार्गणा विचारणा कर्त्तव्या । तत्र
शिष्यः प्राह—वयं तावत् पतदेव न जानीमः को नाम आहारः
को वा अनाहारः इति । सुरिराह—एकाङ्गिकः ब्रूय एव यः क्षुधं
शमयति स आहारो मन्तव्यः । स च अनशनादिकश्चतुर्विधाः
यद्वा-तत्राहारोऽप्यहं लवणादिकमतिवाति प्रविशति, तद्व्या-
हारो मन्तव्यः ।

अथैकाङ्गिकं चतुर्विधमाहारं व्याचष्टे—

कूरो नासंइ दुहं, एगंगि तक्कउदमजाइ ।

साइम फलसंसाइ, साइम महुफाणियार्दाणि ॥

अन्नान् कुर एकाङ्गिकः शुक एव क्षुधं नाशयति । पाने तत्रोद-
मादिकमेकाङ्गिकमाद्यं नशयति, आहारकार्यं च करोति,
खादिमे फलमासादिकं, स्वादिमे मधुफाणित्वादीनि केवलान्य-
याऽऽहारकार्यं कुर्वन्ति ।

‘जं वा अहंइ तहिं ति’ [मूलसूत्रस्य] पदं व्याख्यानयति—

जं पुण खुहापममणे, अममन्थेगंगि ह्मांइ लोणार्दि ।

तं पि हाइ आहारो, आहारजुयं व विञ्जनुवा ॥

यत्पुनरेकाङ्गिकं क्षुधाप्रशमनेऽसमर्थं परमाहारे उपयुज्यते तद-
प्याहारोऽसंयुक्तमसंयुक्तं चाऽऽहारो भवति, तच्च लवणादि-
कम् । तत्राशनं लवणादिद्रुजोरिकरदिकमुपयुज्यते ।

उदए कपूराइ, फलमुत्ताइणि सिंगवेर मुहो ।

न य ताणि खर्विति खुहं, उवगारिन्ता उ आहारो ॥

उदके कपूरैरदिकमुपयुज्यते, आहारदिकत्रेण सूकादीनि क-
ष्याणि, शुकैश्च व शुष्कं मुक्तं उपयुज्यते । न ताणि कपूरा-
दीनि क्षुधं क्षपयन्ति, परन्तुफारित्वादाहार उच्यते, शेषः
सर्वोऽप्यनाहारः ।

अहंवा जं तुक्खुचो, कइमउववाइ पविस्वइ कोष्ठे ।

सव्वो सो आहारो, ओसहमाइ पुणो जइतो ॥

अथवा बुभुक्षया आशयं कर्त्तव्यमप्यया शूदादिकं कोष्ठे प्रकृ-
षति । कर्त्तव्यमप्यपि कर्त्तव्यपिण्डानां कुर्व्यां कुर्वन्ति निरन्तरं
स सर्वोऽप्याहार उच्यते । औषधादिकं पुनर्नेत्रं विकल्पितं
किञ्चिदाहारः किञ्चिन्नाहार इत्यर्थः । तत्र शर्करादिकमौषध-
माहारः, सर्पदण्डैर्मूलैश्चापि औषधमाहारः ।

जं वा तुक्खुत्तस उ, संकमपाणसइ इइ अस्साइ ।

सव्वो सो आहारो, अकामऽणियं च-उणाहारो ॥

यद्वा-क्यबुत्तुहाऽऽस्तस्य संकमतो प्रसमानस्य कम्बलप्रक्षेपं कु-
र्वत इत्यर्थः; आस्वादं रसनाह्लासकं स्वादं प्रपञ्छति स सर्व आ-
हारः । यत्पुनरकामप्रपञ्चहरामीत्येवमभिसम्बन्धार्थम्, अन्नं
च जिह्वाया अरुचया, ईदृशं सर्वमनाहारो भवत्येते ।

तथाानाहारमिदम्व—

अणहार मोय उह्णी, मूयं स फलं च हांते ऽणाहारो ।

सेस सपचूदसोयं, विट्ठिम्व च उउगुक् आया ॥

मोक्तं कार्यात्, उह्णी निम्बादिष्वक्, मूयं च पञ्चमूलादिकं, फलं
चाऽऽमसकदरितकविभीतकादिकमित्यसंभवेमनाहारो भवतीति
शृण्विः । निशीथशृण्वी तु या निम्बादीनां उह्णीष्वक् तच्च, तेषामव-
निम्बालिकादिकं फलं, यच्च तेषां मूलम्, एवमादिकं सर्वम-
प्यनाहार इति व्याख्यातम् । इ० ५ उ० । नि० ५ उ० ।
च इहारे रयणीए, फणुउअइ जाणि माणि वत्तुणि ।
समभागकया तिहना, पुमिहोसोरचंचदुवा ॥ ५६ ॥
गोमुचं कदु रोदिणि, वग्वां आनया य रोदिणी तुग्मा ।
मुग्गन्न ववा करीए, तिचं पंचंगमासगणो ॥ ५७ ॥
नह आसगंधि वंमी, वीइ हलिहा य कुंदक कुट्टा ।
विसनई य धमासो, कोलयवीया अरिद्धा य ॥ ५८ ॥
मिदलमं जिठकके—ल्लिकुमारिकं धेर बेर कुट्टा य ।
कपास वीय पत्तय, अगुठुठुका य तनुवडा ॥ ५९ ॥
धवखयरपन्नासाइ, कंतकसकान उह्णिमा ख्याए ।
जं कदुयसपरिगथं, आहारं पि हु अणाहारं ॥ ६० ॥
इवाइ जं अणिठं, पंहुवमं तं भवे अणाहारं ।

यथा पञ्चान्निम्बगुह्वरीकः ‘किरिआतुं’ । अतिविसर्वादि-
‘लुकदि’—रत्ना—हरिन्दा— रोदिणी ‘ऊपत्रोइ’ वज—त्रिकता-
वाउल्लह्णीत्यर्थे धमासो—नादि—मालोधिर्गणो—पक्षीभ्रा—गुमु-
ल—हरना—इल—अउणि—बदरी—कंधरि—करीर—सूते—पूवाक—मे-
ऊउ कोलबिभो—कुमारि— चित्रक—कुन्दकप्रभृतयोऽनिष्टाश्यानि
रोगाद्यापदि चतुर्विधाइरिष्येतानि कल्पयन्तीति । घ० १ अवि०
विक्रसाधनाहारवस्तुद्वयमध्ये गण्यते, न चा १। तैश्च प्रतिनाति-
यद्नाहारवस्तु प्रायो ब्रह्ममध्ये गण्यते, यदि च प्रत्याख्यानाव-
सरं तद्गणनमेव विवक्षितम्, तदा न गण्यतेऽपि । यथा सच्चि-
चिद्व्याधैः स्वमध्ये ग्रन्थेऽगणनेऽजिहितेऽपि संप्रति बहवो जनाः
प्रायस्तथाधैः स्वमध्ये गणनां कुर्वाणो उपलभ्यन्ते इति । ही० ३
प्रक० । न विषयं न विषयानाहारो यत्परमनाहारः । आचा० १ उ० न
अ० ८ उ० । अविधमानाहारः, इवा० १ अ० ।

अण्णाधार—पुं० । अणुधारकं, विधा० १ पु० १ अ० ।

अण्णाहारग—अनाहारक—पुं० । न० त० । आहारमकुर्वति चिप्र-

दगत्यापये समुद्घातगतकेचक्षिणि, अयोगिसिद्धे च । ज० ६

श० ३ उ० । शुक्या दुविहा पक्ष्या । तं जहा—आहारगा
वेव अणाहारगा वेव; एवं जाव वेमाणिया ” इथा० २ टा०

३ उ० । अ० ।

अनाहारकाश्चवारः—

विग्रहगद्मावन्ना, केवलिणो समुहया अन्नोमी य ।

सिक्का य अणाहारा, सेना आहारगा जीवा ॥

विग्रहगतिर्भवाद् ज्ञानान्तरं विभेद्यया गमनम्, तामापचाः सर्वे-

ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुक्ताः हतसमुद्घातान्, तथाऽ-

विग्रहगतिर्भवाद् ज्ञानान्तरं विभेद्यया गमनम्, तामापचाः सर्वे-

ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुक्ताः हतसमुद्घातान्, तथाऽ-

विग्रहगतिर्भवाद् ज्ञानान्तरं विभेद्यया गमनम्, तामापचाः सर्वे-

ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुक्ताः हतसमुद्घातान्, तथाऽ-

विग्रहगतिर्भवाद् ज्ञानान्तरं विभेद्यया गमनम्, तामापचाः सर्वे-

ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुक्ताः हतसमुद्घातान्, तथाऽ-

विग्रहगतिर्भवाद् ज्ञानान्तरं विभेद्यया गमनम्, तामापचाः सर्वे-

ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुक्ताः हतसमुद्घातान्, तथाऽ-

विग्रहगतिर्भवाद् ज्ञानान्तरं विभेद्यया गमनम्, तामापचाः सर्वे-

ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुक्ताः हतसमुद्घातान्, तथाऽ-

विग्रहगतिर्भवाद् ज्ञानान्तरं विभेद्यया गमनम्, तामापचाः सर्वे-

ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुक्ताः हतसमुद्घातान्, तथाऽ-

विग्रहगतिर्भवाद् ज्ञानान्तरं विभेद्यया गमनम्, तामापचाः सर्वे-

ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुक्ताः हतसमुद्घातान्, तथाऽ-

विग्रहगतिर्भवाद् ज्ञानान्तरं विभेद्यया गमनम्, तामापचाः सर्वे-

ऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुक्ताः हतसमुद्घातान्, तथाऽ-

योगिनः शैलेस्वयवस्थां प्राप्ताः, तथा सिद्धाः क्लीणकर्मद्वाराः । सर्वे ऽप्यन्तेऽनाहाराः, एतद्व्यतिरिक्ताः शिवाः सर्वेऽप्याहारकाः । इह परजन्मे गच्छतां जन्मनां गतिद्वेषा-अज्ञानातिः, विप्रहगति-
 स्त्रा । तत्र यथा जीवन्तु अन्तर्धानादुत्पत्तिस्थानं समभेद्यं प्रा-
 ष्णलमेव भवति तदा अज्ञानातिः सा वैकल्यतया समभेदिव्यव-
 स्थितत्वेनांगपक्षिदेशस्याद्यस्य एव प्राप्तेः नियमादाहारकभा-
 स्त्वा इवप्राहाणरीरकोग्रहणान्तराणांभेदानाहाराद्यवच्छेदात् । यदा तु मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं वक्तं भवति तदा विप्रहगतिः,
 एकभेदेयामन्तरारम्भरूपेण विप्रहणेपलक्षिता गतिर्विप्रहगति-
 रिति कुर्यात् तत्र विप्रहगत्यापञ्चा रम्भेतच्छरीर समयात् याव-
 दनाहारकाः । तथाहास्यां वक्तव्यं विधत्ते अन्तरेकेन ज्ञान्यां वि-
 तिच्छानुत्तं वा वैकल्यपक्षिदेशमाभाति, तत्रैकव्यक्त्या वा सप्तमौ त-
 लोकाश्च निरमाहाराःकः । तथाहाद्यसमये पूर्वेशरीरमोक्तस्वस्मि-
 समये तच्छरीरयोभ्याः केचित् पुत्रलाः जीवन्वियोगाङ्गोमाहा-
 राः तस्मिन्मयमायाति । मीढारिकवैक्याहारकपुत्रजानां चा-
 हाराः, तत आद्यसमये आहारकः, द्वितीयं च समये उत्पत्तिदेश-
 तन्त्रययोग्यशरीरपुत्रलात्प्रानाहाराकः, द्विचकार्यां गतयः स-
 मयाः । तत्राद्येऽप्येव च प्राग्ग्रहाहारको मध्यमेऽवनाहारकः । त्रि-
 चकार्यां चत्वारः समयाः, ते चैवं व्रतनाम्ना बहिरेषस्तनजगा-
 र्बर्धसुपरितनजगामादर्थो वा जायमानो जन्तुर्विदिशो दिशि दिशो
 वा विदिशि यद्वाप्यद्यते तदैकेन समयेन विदिशो दिशि याति, द्वि-
 त्तीयं व्रतनामं प्रविशति, तृतीयोपर्येयो वा याति, चतुर्थं च
 बहिरेषपद्यते । विशो विदिशि उत्पद्ये व्रतनामं प्रविशति, तृती-
 योपर्येयो वा याति, चतुर्थं च बहिरेषपद्यते; दिशो विदिशि उ-
 त्पद्ये त्याद्य समये व्रतनामं प्रविशति, द्वितीये उपर्येयो वा या-
 ति, तृतीये बहिर्गच्छति, चतुर्थे विदिशि उत्पद्यते । अत्राद्यन्तयोः
 प्राग्ग्रहाहारको मध्यमयोस्वनाहारकोः । चतुर्थकोऽप्यत्र समयाः,
 ते च व्रतनाम्ना बहिः, एषं विदिशो दिश्युत्पद्ये प्राग्ग्रहावनी-
 यः । अत्राद्यन्तयोराहारकस्युत्पत्त्यादाहारकः । प्रथमं २३३ द्वा० ।
 अतःसमयापत्तिश्चेत् भवति-व्रतनाम्ना बहिरेषपरिष्ठाद्योऽव-
 तनाहा प्रत्येद्यमानो विशो विदिशि विदिशो वा दिशि यद्वाप्यद्य-
 तं तदा लभ्यते । तत्रैकेन समयेन व्रतनामं प्रवेशः, चिन्तियोपर्ये-
 यो वा गमनम्, तृतीयं च बहिर्निःसरणम्, चतुर्थं तु विदिक्षु-
 त्पक्षिदेशमासि रिति । पञ्च समयात्कसनाम्ना बहिरेव विदिशो
 विदिशुत्पत्तौ लज्जन्ते । तत्र च मध्यवर्तिषु अनाहारक इत्यवग-
 तव्यम् । आद्यन्तसमयोऽस्वाहारक इति । सूत्रं २ सु० ३
 अ० । तथा केवलिनः समुद्रान्तेऽहस्तासमये तृतीयचतुर्थपञ्चमरू-
 पात् केवलकर्मयोग्युत्तंओम्समयात् अयोगिनः शैलेश्यव-
 स्थायां ह्रस्वपञ्चाकरोकारणमात्रम् । सिद्धान्तं साविमपर्ययसिन्
 कालमनाहारका इति । प्रथमं २३३ द्वा० । केवलसमुद्रान्तेऽपि
 कर्मणशारीरवर्तिव्यात् तृतीयचतुःपञ्चममयेऽवनाहारकोः कुर-
 ष्यः । शेषेषु त्वाहारिकादितन्मिधशरीरवर्तिव्यात् आहारक
 इति । (मुहुत्समकं च सि) अन्तर्मुहुत्तं शुक्रात् । तत्र च केवलौ
 स्वायुषः कृते सर्वयोगित्तोयोः सति ह्रस्वपञ्चाकरोक्तिरणमात्र-
 काञ्चं यावदनाहारक इत्येवमवगमन्तव्यम् । सिक्कजावास्तु शैले-
 श्यवस्थायाः भाविसमयादारभ्यानन्तरापि काश्मनाहारका इति ।

साप्रतमेतदेव स्वाभिविशेषविशेषिततन्माह-

एकं च दो व समए, केवलपरिवर्जिया अण्टाहारा ।

पंचमि दोसि लोए, य पूर्ए लिचि समयाओ ॥ ७ ॥

केवलपरिवर्जिताः संसारस्था जीवा एको द्वौ वा अनाहारका
 भवन्ति । ते च द्विविप्रहत्रिविप्रदोषपत्तौ त्रिचतुःसामयिकायां
 द्रष्टव्याः । चतुर्विधदपञ्चसमगोत्पत्तिस्तु स्वदपसत्त्वाचितेति न
 साक्षाद्गुप्ताः । तथाऽप्यत्रायन्निहितम्-एको द्वौ वाऽनाहार-
 कः । वाराध्याथिक् वा आनुपूर्वो अन्तुद्रुप्र उक्तव्यो विप्रहगतौ
 चत्वारः समयाः नाऽऽप्तमोऽपिदिताः । ते च पञ्च समयोपर्यौ ह-
 र्भ्यन्ते, नात्युपेति । भवस्थकेवलिनस्तु समुद्रान्तमप्येतत्करणोप-
 संहारावसरे तृतीयपञ्चमसमयौ द्वौ लोकात्पूणचतुर्थसमयेन
 सहितास्त्रयः समया भवन्तीति ॥ ७ ॥

पुनरपि नियुक्तिः सादिकमपर्यवसानं काश्मनाहारकं
 वशयितुमाह-

अंतो मुहुत्सपकं, ससेसीए जेच अण्टाहारा ।

सादीयमनिद्रुं पुण, सिद्ध्याण्टाहाराग हौति ॥ ७ ॥

शैलेश्यवस्थाया आरभ्य स्वयंथाऽनाहारकः तिकावस्थाऽप्रता-
 वनन्तमपि काञ्चं यावदिति पूर्व तु कावशिकाव्यव्यतिरेकेण प्रति-
 समयमाहारकः । कावशिकेन तु कदाचिक् इति । सूत्रं २ सु०
 ३ अ० । नि० । अ० । कर्म० । [क समयमनाहारकः " जीवे
 णं जने । कं समयमनाहारए अवर्षात् " आहारा" शब्धे द्वि-
 तयिजगं ४०० पुष्टे वक्ष्यते]

अण्टाहारिम-अनाहारिम-न० । अनाहार्ये, नि० सू० १ ए ० ।

अण्टाहारिय-अनाहात-त्रि० । अतीताहरणकिययाऽपरिणा-
 मिते, म० १ श० १ उ० ।

अण्टाहृद्भ-अनाहृष्टु-पु० । वसुदेवस्य धारएयां जाते पुत्रे, त-
 द्वाकल्पना गजसुकुमारस्येवमन्तकृशुहातां तृतीयं वर्णं त्रयोद-
 शाय्यने सूचितं । अन्त० ३ यो० ।

अण्टिअ-अनितिक-पु० । इतिवाद्ये नियतरूपोपर्यवर्णनः, त-
 त्कञ्च न विद्यते इतिवशासावाभिर्निकः । अण्टिअमाननियतस्यकवे,
 ईश्वरदरेरपि दादिकादिभावात् संसार, म० ए श० ३३ उ० ।
 अण्टिअत्त-अर्नानिपत्र-त्रि० । ईतिवशहितकम्पे, इ० १
 सु० १ अ० ।

अण्टिउं (उँ) तथ-अतिमुक्तक-न० । मुचो-भावे-क । अ-
 तिसायेन मुक्तं कथयं यस्य । प्राकृते ' गतितातिमुक्तके षः '
 ८ । १ । २०० । इति तस्य णः प्रा० । 'यमुनाचामुण्डाकामुकाति-
 मुक्तके मोऽनुनासिकश्च ॥ १ । १ । ७८ ॥ इति मस्य लुक्, तन्मा-
 नं वाऽनुनासिकः । प्रा० । ' वकादावत्तः ' ॥ ८ । १ । २६ ॥ इति
 तृतीयस्थाऽनुस्वारः । प्रा० । तस्य णवऽङ्कन्ते- ' अदसुचं अदसु-
 स्यं ' इति रूपकथम् । तिप्पकवृत्ते ताञ्चकृके च । प्रका० १ पृ० ।
 अण्टिउण-अनियुत्त-त्रि० । न नियुक्तोऽनियुक्तः । कृकुशले,
 भाव० ४ अ० । नि० सू० । दश० ।

अण्टिअचारे (च्)-अनियतचारि-पुं० । अनियतमम-
 तिबद्धं परिष्ठाद्योगाचारितुं शीलमस्याऽसावनिवतचारी । अ-
 तिकव्यतिहारिण, सूत्रं १ सु० ६ अ० । " स भूदृश्यसे अण्टि
 अचारी, ओदिते धीर अणतचक्षुश्च " सूत्रं १ सु० ६ अ० ५
 उ० । " अखिले अण्टि अण्टिअचारी, अमयंकरे भिक्कु अणा-
 विश्लया " सूत्रं १ सु० ७ अ० ।

अण्टिअवास-अनियतवास-पुं० । मासकल्पादिनाऽनिकेन-
 चात् अण्टे उचानादी धात्ते, " अण्टिअवाससमुयाण चरि-

अण्डिप्रवास

अण्डिप्रभावणा

वा, अण्डणाय उच्छं पत्र तिरिक्खाय व " दश० २ सू० ।
 अण्डिप्रोग-अनियोग-पुं० । मिथोगाद्वयोऽनियोगः । विपय्य-
 यागिपयोगे, पं० दृ० ४ सू० ।
 अण्डिगाल-अनङ्कार-त्रि० । रागपरिहारेहाङ्कारोदपरहिते, प्र-
 ङ्ग० १ सख्य० द्वा० ।
 अण्डिद-अनिन्द्र-त्रि० । मास्तीन्द्रो यस्मिन् सोऽनिन्द्रः । इ-
 न्द्विरहिते प्रजास्वामिके, न० ३ श० १ उ० ।
 अण्डिन्य-त्रि० । अङ्गुलिस्ते, सामायिके च । अण० म० द्वि० ।
 अण० सू० ।
 अण्डिद्विज्ज-अनिन्दनीय-लि० । गीतार्थादिजनादृष्ये, जी०
 १ प्रति० ।
 अण्डिदिय-अनिन्दित-त्रि० । शुभानुबन्धितयाऽगहणीये, च०
 १ अर्थि० । सप्तमकिश्वरेषु, प्रका० १ पद ।
 अण्डिन्द्य-पुं० । सिद्धे, सपत्नीसंके, उपयोगतः केवलज्ञानि,
 स्या० १० उ० । " गेरुव्यादुविहा पक्ष्यात् । तं जहा-सिंहदिया
 च, अण्डिदिया च य जाव येमाणिया " स्या० २ उ०२० ।
 अण्डिदिया-अनिन्दिता-स्त्री० । षष्ठ्यामूर्ध्वलोकवास्तव्यायां
 द्विक्रमारीमहत्तरिकायाम्, स्या० ८ उ० । अण० सू० । आ० न०
 प्र० । ति० ।
 अण्डिनिवृत्त-अनिक्रिप्त-न० । अविधान्ते, औ० । म० ।
 अण्डिनेप-अनिक्रम्य-त्रि० । अविधान्ते, माचा० २ बु० २ अ० ३ उ० ।
 अण्डिकाय-अनिकाय-न० । परिमिते, सु० १ उ० ।
 अण्डिकाय-अनिकाय-पुं० । लघुष्यवादादे, वि० सू० १ उ० ।
 (' मुसावाय ' शब्देऽस्य विवृतिः) ।
 अण्डिकेय-अनिकेत-पुं० । न विद्यते निकेतो गृहं यस्य । उक्त०
 २ अ० । अविद्यमानगृहे, अनेकत्र बह्नास्पदे, उक्त० १ अ० ।
 अण्डिकेय-अनिकेय-त्रि० । न० न० । द्रव्यतोऽङ्कशाशरीरे, जा-
 वतोऽवर्थाङ्कनकपायं, स्या० ४ उ० ४ उ० ।
 अण्डिकावाइ (ण्)-अनेकवादिन्-पुं० । सत्यपि कथाञ्चिदेक-
 न्त्वे भाषायां सर्वथाऽनेकत्वं वदनीत्यनेकवादी । परस्परवि-
 लक्षणा एव भाषाः, नर्थैव प्रतीयमान्यात् । यथा रूपं रूपन-
 येति । अन्वये तु भावाणां जीवाजीवष्यरूपकुसुमित्तुःकित्ता-
 द्वाभाषकत्वप्रसङ्गाद् दीक्षादिव्येयर्थमिति । किञ्च-सामान्य-
 मङ्गीकृत्यैकव्यवहिते परैः । सामान्यं च भेदत्रयो निजामि-
 धनया विन्यमानं न युज्यते । परमवयवेऽन्येऽवयवौ धर्मत्रयश्च
 धर्मी त्रयेष्वनेकवादी । इत्युपदिशितस्वरूपे अक्रियावादिनि,
 स्या० ८ उ० ।
 अण्डिनिवृत्त-अनिक्रिप्त-त्रि० । अनुक्तिस्तेऽस्याक्याते, न०
 १ उ० २ उ० । अविधान्ते, औ० ।
 अण्डिगामसोक्त्व-अनिकामसोक्त्व-त्रि० । अपक्वष्टुक्के तुक्क-
 तुक्त्वे, उक्त० १४ अ० ।
 अण्डिगाम-अनगन-पुं० । न विद्यते गमनास्तरकालीना जना
 येभ्यस्तेऽनगनाः । अ० २ वक्र० । सवस्त्ववहेतुषु कल्पवृक्षेषु,
 स० १० सप्त० ।
 अण्डिगृहण-अनिगृहण-न० । अगोपने, पंशा० १५ विध० ।
 अण्डिगृहयवर्त्तणीरिय-अनिगृहितवर्त्तणीर्ये-पुं० । अनिगृ-

हितेऽगोपिते बह्वर्थायै देहमाणुषिस्तत्साहचर्येण स तथा ।
 पंचा० १५ विध० । अनिगृहताहाज्यभ्रतरसामर्थ्ये, ग० १ अर्थि० ।
 दश० । अण्वा० ०, पू० । "अण्डिगृहयवर्त्तणीरिय, परिक्रम
 जो अङ्कमात्रतोः । अं अङ्क जहा धामं, नायवो धीरियायायो"
 दश० ३ अ० । पं० सू० । पञ्चा० ।
 अण्डिगृह-अनिगृह-पुं० । अविद्यमानो निगृह इन्द्रियनो-
 इन्द्रियनियन्त्रणत्वात्सोऽस्येति । उक्त० ४१ अ० । अयशीकृतेऽपि-
 ये, उक्त० ११ अ० । स्यैरे, प्रका० २ आश० द्वा० । उक्त० ११ अ०,
 दश० ८ अ० । एकादशे गौणाऽब्रह्मणि, तथाऽनिग्रहोऽनिपेक्षो
 मनसो विषयेषु प्रवृत्तमानस्येति गम्यते । एतस्मिन्मत्तत्वात्साव्या-
 ऽनिग्रह इत्युक्तम् । प्रका० ४ अश्र० द्वा० ।
 अण्डिब-अनित्य-त्रि० । न० । नित्यमित्ये सर्वदा स्यादिति, प्राचा.
 १ सु० १ अ० ४ उ० । प्रत्युतानुपपत्तिर्यैकस्वभावतया कृतं स्थं
 नित्यत्वेन व्यतिथितं सन्नित्यं नैवं यत्तद्विषयम् । अयुतानुपपत्ति-
 र्यैकस्वभावं हि नित्यमनोऽप्यप्रतिज्ञाविशारतु अनित्यम् ।
 आचा० १ सु० ४ अ० ४ उ० । अतु० । उक्त० । अशाश्वते, उक्त० २
 अ० । अनित्यमस्थिरत्वात् । प्रका० ५ आश्र० द्वा० ।
 अण्डिबजागरिया-अनित्यजागरिका-स्त्री० । अनित्यचित्ता-
 याम्, " अण्डिबजागरियं जागरंती " न० १५ श० १ उ० ।
 अण्डिबजागरिया-अनित्यभावन-स्त्री० । अनित्यत्वचित्तना-
 त्तमे प्रथमभावान्तेऽपि, प्रथ० । तत्स्वरूपं च—
 " प्रत्यन्ते वज्रसाराङ्गा-स्तेऽनित्यत्वरक्तसा ।
 किं पुनः कर्त्तव्यमिति-सारा नेह देहितः ? ॥ १ ॥
 विषयस्तुल्यं उच्यते, स्यादयति जने विद्वान् इव मुदितः ।
 नाप्यतिष्ठन्मदमिदो-त्पश्यति यममहद् ! किं कर्मः ? ॥ २ ॥
 धराधरचुनीनीर-पूरपारिप्लवं वपुः ।
 जन्तुनां अचितं वात-भूतत्वज्जपोऽपमम् ॥ ३ ॥
 श्रावणं ब्रह्मनाडोक-शोचताम्वलम्बुलम् ।
 यौवने मत्समातङ्क-कर्णताम्वलम्बुलम् ॥ ४ ॥
 स्वल्पं स्वप्नप्रवृत्तिसम्, चपलाचपलाः श्रियः ।
 प्रेम द्विवृत्तयेऽपि, स्थिरत्वविमुक्तं सुखम् ॥ ५ ॥
 सर्वथापि भावाणां, जायवशित्यनिर्यताम् ।
 प्राणप्रियेऽपि पुत्रादी, विषयैऽपि न शोचति ॥ ६ ॥
 सर्ववस्तुषु नित्यैव-प्रदमस्तसु वृष्टयः ।
 जीर्णतृणकुटीरेऽपि, जने रोहित्येऽपि निशाम् ॥ ७ ॥
 तत्सन्तुष्टाधिनारेण, निर्ममत्वविधागिनीम् ।
 सुकृतीर्भयवैश्रियमित्यनित्यवप्राप्तवाम् ॥ " ॥ १ ॥ १५, १६, १७ ॥
 तत्रानित्यत्वजायैवम-
 " यस्मात्तस्मिन् मय्यङ्गं, यम्यथाङ्गं न तस्मिन् ।
 निरीक्यते भवेत्किञ्चिद् हि, पदार्थानामनित्यता ॥ १ ॥
 शरीरं देहिनां सर्वे-पुरुषार्थेनित्यमनम् ।
 प्रवृत्तपवनेऽत-वनागनविनम्बरम् ॥ २ ॥
 कल्लोऽचपला लङ्कमीः, संगमाः स्वप्नसंनिताः ।
 वात्याऽप्यतिकरोऽङ्कित-वृत्तुल्यं च यौवमम् ॥ ३ ॥
 तथा ध्यायन्नानित्यत्वं, मृतं पुत्रं न शोचति ।
 नित्यतां शृणुस्तु, कुञ्चनैऽपि रोदिति ॥ ४ ॥
 एतच्छरीरमनयौवनमप्यथापि,
 जायते केवयमनित्यमिहाऽभुभुजाजाम् ।

विभं सचेतनमचेतनमन्यथा-
 सुपत्तिधर्मकमित्यनुवाचिन्तः सन्तः ॥ ५ ॥
 इत्यनित्यं जगदुत्थं, विधरविचः प्रतिक्षणम् ।
 गुण्णाह्वय्याहितन्याय, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥६॥ च०३३अधि० ।
 आधिज्ञान्या-अनित्यता-॥७०॥ अन्वयवतापाम्, सूच० ।

अगुणा सर्वैस्त्वानाऽनित्यतां दर्शयितुमाह-
 देवा गंधर्वारक्षसाः, अमुरा नृमित्रा सरीसिपा ।
 राया नर सेड्ढि माहृणा, डाणा ते वि चर्गति कुक्खिया ॥१॥
 देवा ज्योतिष्कसौधर्माद्याः, गन्धर्वैराक्षस्योरुपस्रक्षणात्वाद्दृष्ट-
 मकारा इवस्तदा गृह्णन्ते । तथा-अमुरा द्वाशमकारा जयनपत्नयः ।
 ये चाऽन्ये भूमिचराः सरीसृपाद्यास्तियेभ्यः । तथा-राजानभ्य-
 कषातिनां बह्वैवेद्यासुवैचमभूतयः । तथा-नराः सामान्यमनु-
 ष्याः, भ्रेष्ठिनः पुरमहत्तराः, ब्राह्मणाश्च, एते सर्वेऽपि स्वकीयानि
 स्थानानि दुःखिताः सन्तस्त्यजन्ति । यतः-सर्वेषामपि प्राणि-
 नां प्राणपरित्यागे महद्दुःखं समुपपद्यत इति ॥ ५ ॥

किञ्च—

कामेहि य संभवेहि य,
 मिष्ठा कम्मसद्धा कालेण जंतवो ।
 ताले जह बंधणच्छुप,
 एवं आउक्खयमिं तुहृति ॥ ६ ॥

कामैरिच्छामदनरुपैः, तथा संस्तवैः पुत्रोपरभूतैः, शुद्धा आधु-
 पपन्नाः सन्तः (कम्मसद्द हि) कर्मविपाकसहिष्णवः । कालेन
 कर्मविपाककालेन जन्तवः प्राणिनो भवन्ति । इदमुक्तं भवति-
 भोगिसौखिषयाऽऽसन्नेन तदुपशममिच्छत इहासुख क्रोधा एष
 केचनं न पुनरुपशमावाप्तिः । तथाहि- "उपभोगोपायपरो. वा-
 ङ्कृति यः शमयितुं विषयवृत्त्याम् । धायस्याऽऽकृतिमुत्तरीं पुरा-
 ऽपराहै निजज्जायाम्" ॥१॥ न च तस्य दुःसुयोः कामैः संस्तवैश्च
 श्राणमवश्यं पतति, एवमसावपि स्वायुषः कृयं नुत्पति जीवि-
 तान् व्यवत इति ॥ ६ ॥

जे या वि बहुसुण सिया,
 धम्मियमाहणानिकसुण मिया ।
 अग्नि एण्मकदेहिं सुच्छिप,
 तिब्बं से कम्मोहिं किन्ती ॥ ७ ॥
 ये चापि बहुभूतः शास्त्रार्थपारमाः तथा धार्मिका धर्माचरण-
 शिलाः । तथा ब्राह्मणाः, तथा मित्रिका भिक्षादनदीक्षाः, स्वधर्म-
 सेवुः, तेऽप्यानिमुष्येन (एणं ति) कर्म माया वा तत्कनैरसवनु-
 छमिमेच्छिता शुद्धास्तीव्रमन्यथैश्च । अथ च द्वादसत्वाद् बहुष-
 वनं द्रष्टव्यम् । एवमनृताः कर्मभिरसद्वैद्यादिभिः कृतान् विघ-
 न्त पीडयन्ते इति यावत् ॥ ७ ॥
 सांप्रतं ज्ञानदर्शनकारिभ्यस्मन्तरेण वाऽपरो भोक्तामार्गोऽस्तीति
 त्रिकालायपयत्यात् सूयस्याऽगामितीर्थिकधर्मप्रतिषेधार्थमाह-

अह पास विवेगमुद्धिप,
 अविनिभे इह जासई पुवं ।
 हाहिसि आरं कअो परं,
 नेहामे कम्मोहिं किच्चत ॥ ८ ॥
 अघोर्याधिकारात्तरे बह्मादौ पकादौ इति । अघोर्यमन्तरं ए-

तथा पश्य यस्तीर्थिको विवेकं परित्यागं गृह्येय पश्चिज्ञानं
 वा संसारस्याऽऽभिव्येतिथतः प्रजयोऽत्यायेन ? । स च स्वस्व-
 कृपयिज्ञानाभावाद्यवितोषः संसारसमुद्रप्रमत्तनीर्षुः केचनमिदं
 संसारे प्रस्तावे वा शाश्वतत्वाद् भूयो मोक्षस्तं तदुपायं वा
 संयमं ज्ञात एव न पुनर्विचिन्ते, तपरिज्ञानाभावाद्दिति भावः ।
 तस्मान् प्रपञ्चस्त्वमपि कथं हास्यात् च आभिदं प्रश्नं, कुतो वा
 परं परलोकम् ? । यदि वा आरामिति गृहस्थ्यर्थं, परमिति प्रप-
 ज्यायायंश्च । अथवा आरामिति संसारं, परमिति मोक्षम्, एवंभू-
 तत्वाऽन्योऽन्युभयभ्रष्टः (वेहासि सि) अन्तराले उभयात्यागतः
 स्वहृतेः कर्मभिः कृतयंत पीडयत इति ॥ ८ ॥

मनु च तीर्थिका अपि केचन निष्परिग्रहास्तथा तपसा मिह-
 त्सेहाश्च तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदाहाहाहा-
 जइ वि य जिण्णं किंते चरे,
 जइ वि य उण्जिय मामयंतंसा ।
 जे इह मायादि भिज्जइ,
 आगंता गअया ऽणंतसा ॥ ९ ॥

यद्यपि तीर्थिकः कश्चित्तापसादित्येकबाह्यगृह्यासादिपरिग्र-
 हत्वाद् निष्किञ्चनतया तमस्ववृक्षाणां प्राणायाश्च कृशाश्चरंतः ;
 स्वकीयप्रमत्तयाऽनुष्ठानं कुर्यात् । यद्यपि च यष्टाष्टमदशमहाद्वा-
 दि तपोविशेषं विधत्ते । यावदन्ततो मार्गं स्थित्वा भुङ्क्ते, तथा-
 ऽपि आन्तरकथायाऽपरित्यागाच्च मृचयन्ते इति दर्शयति—य-
 स्तीर्थिक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणैर्यथात्वात् कथयति कु-
 त्येवं परिग्रहिते अस्मी गर्भाय गन्तार्यमा समन्नाद् गन्ता याच्य-
 त्यनन्तशो निरवधिकं कालमिति । एतदुक्तं जयति—अकिञ्चनो-
 ऽपि तपोनिष्ठसद्वेदाऽपि कथायाऽपरित्यागाच्चकादिस्थानात्
 तिर्येगादिस्थानं गर्भोर्गमनमन्तमपि कालमग्नश्चर्मवत् संसारं
 पर्यटनीति ॥ ९ ॥

यतो मिथ्याहृद्युपदिष्टतपसाऽपि न दुर्गेनिर्गमनिर्गोऽतो
 मद्रुक् एव मार्गं स्थयमेतकर्ममुपदेशं दातुमाह-
 पुरिसोपरम पावकम्मणा, पलितंयं मणुयाण जीवियं ।
 सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंबुद्धा ॥१०॥

हे पुरुष ! येन पापेन कर्मणा असदनुष्ठानरूपेण न्यमुपलक्षि-
 तत्वात्ऽसकृत् प्रवृत्तत्वात् तस्मादुपरमं निवर्तयेत् । यतः पुरु-
 षार्णां जीविं सुवृक्षपि विपत्योपपत्तम्, संघमज्जीविनं वा परलो-
 पमस्यान्तमंथं वसंतं, तद्ऽप्यनां पूर्वकालिभित्तिं यावत् । अथ
 वा—परि समन्तात् अनांऽस्ति पर्वतं सानमित्यर्थः । नक्षैश्च
 तत्रमेवाऽवगन्तव्यम् । तदेष मनुष्याणां स्तोके जीवितमवग-
 म्य यावत्तत्र पर्यति तत्रैकमोनुष्ठानेन तत्कथं कसंभ्यम् । ये पु-
 नर्मोक्षेणहृष्टेऽथसत्रा मग्ना इह मनुष्यमेव संसारं वा कामेवि-
 च्छामदनरुपेण मुच्छिता आधुपपन्नास्ते नरा मोहं धार्मिन्, हि-
 ताहितप्राप्तिरहितारं मुह्यन्ति मोहनीयं वा कर्मोपाधिभ्रमन्तीति
 संभाव्यते । एतद्बन्धुत्वात् हिंसादिस्वधानिभ्यो निवृत्त्यामामसं-
 यतनिद्रियार्णां चति ॥ १० ॥

एवं च स्थिते यत्किञ्चिदं तद्दर्शयितुमाह-
 जयवं विहराहि जोगवं, अणुयाणा पंथा दुहत्तरा ।
 आणुसासणमेव यकमे, वरिहे च समं पवेइयं ॥ ११ ॥
 स्वल्पं जीवितमवगम्य विषयार्थं क्लेशेवामायानवपुञ्ज जि-
 स्था गृहपादाबन्धनं यतमार्गो यत्नं कुर्वन् प्राणिनामनुपरोधेन

विह्वर युक्तिवहारी जय । एवं द्रव्यं यथैति-योगवानिति-तयम-
योगवान्, सुखः समितिगुह्य इत्यर्थः । किमिच्छेयम् १, यतोऽणवः
सुखमाः प्राणाः प्राणितो येतुते । तथा अत्र नूताः पदानाःऽनुपयु-
क्तैर्जीवानुगम्येन युक्तया दुर्गमा इत्यनेन इयौत्वमितिरूपा क्लिप्ता ।
अस्याः शोषः प्रकृत्याः यथातः अस्याः स्यापि समितिगुह्य सततोपयु-
क्तेन जयितव्यम् । अपि च-अनुशासनमेव यथाऽऽगममेव स्या-
नुसारेण संयमं प्रकमेतु । एतच्च सर्वत्र चोदरैरहीद्विः स-
स्यक प्रवेदिनं प्रकषेणाऽऽख्यातामिति ॥ ११ ॥

अथ क एते वीरा इत्याह-

विरया वीरा मयुद्धि-या कोटकायिरियावपीसणा ।
पाणे ण ह्यंति तच्छयो, पावा क्रो विरिया अजिनिव्युक्ता १ २
हिंसाऽनुगताऽऽदिपपत्रयो ये विरयाः । विशेषेण कमे प्रेरयन्तीति
वीराः, सस्यगारकमपरिस्वामोनेवितयाः समुत्थिताः, ने, एतद्वृत्ता-
का चकारादीपिपाषणाः, तत्र काऽप्रदणवाम् मानो गृहीतः,
कान्तरीका माया, तद्वृप्रदणाह्लाभो गृहीतः । आदिप्रदणत् शेष-
साहंनीयवग्रिहः । तस्याऽवणास्तद्वपनेतारः, तथा प्राणिना जी-
वान्मुचमन्दमेद्विस्त्रान् सर्वशो मनोवाकायकर्मभिने वनन्ति न
व्यायादयन्ति । पाषाण सर्वेनः साधणानुगमनरुपाद्विरता निवृ-
त्ताः । ततश्चाऽजिनिवृत्ताः काऽधायुप्रशमेन शान्तीभूताः । यदि
चाऽजिनिवृत्ता मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥ १२ ॥ सूत्रं १ ४०
२ अ० १ ३० ।

अणिवाणुपेडा-अन्यानुपेडा-खी० । कायः सखिहिना-
पायः, सस्यः पदमापदा । सस्यमसाः सापवामाः, सर्वसु-या-
दि भङ्गम् ॥१॥ इत्येवं जीविनादरनिस्वयानुपेडा । धमको
धमस्थानस्यानुपेडानेदः, स्या० ४ प्र० १ ३० ।

अणिचत्रा-अनिचत्रा-खी० । इच्छाभावलक्षणवामामपरि-
खी० । अनिचत्रा ह्यत्र संसारः, स्वेषालाभादनुकृता । ॥ ४० ६
४० ॥ १० सू० ।

अणिचत्रयत्ता-अनीपितता-खी० । प्राणुमवाचिङ्कतयः, भ०
६ श० ३ ३० ।

अणिचित्रयन्व-अनेह्य-खी० । मनागपि मनसाऽपि अप्राथ-
नीये, आण० ४ अ० १ ४० । ॥ दुःखचित्तो अणायारो अणि-
चित्रयन्वो ॥ आण० ४ अ० १ ४० ।

अणिजाम-अनिजाणै-खी० । जीवप्रदेशेनयः परिशुद्धितप्रदे-
शः, आ० । कएव० ।

अणि (मि) जामाण-अनीयमान-खी० । अनुगमयमाने,
विषा० १ सु० १ अ० ।

अणि (मि) जामाणमग-अनीयमानमाम-खी० । अनुग-
मयमानमामे, ॥ मन्त्रियया चदगारहपहकरणे अणिजामाणमगो
मियामामे मयरे ॥ इत्यादि । विषा० १ सु० १ अ० ।

अणिजुद्धिना-अपोष-अय्य० । अपस्वेत्यर्थः, ॥ वयं अणिजु-
द्धिना ॥ अपोषाद्वसा हस्ताधावृतसुखस्य । प्रति० । ज० ।

अणिजापि ता-अनिर्थादये-अय्य० । अमुकस्यापार्थ्येत्यर्थः, भ०
३ उ० ३ ३० ।

अणिजापलात्तया-अनिर्थापलात्तिका-खी० । वाचनासंप-
नेदः, उक्त० १ अ० ।

अणिजुद्धि-अनिर्धेद्वि खी० । मद्गतो प्रयागु सुखाद्यकोषाय

सङ्केपानिसिखमनुप्रदपरगुणमिगुद्धते, ज० १ श० १ ए ३० ।

अणिद्ध-अनिद्ध-खी० । इत्येते स्मेति प्रयोजनवशात् इष्टम्,
न इष्टमनिष्टम् । भ० १ श० ५ उ० । ॥ इष्टयानुष्टेष्टासंरुष्टे ॥ ८
। २ । ३४ ॥ इति सूत्रेण इष्टयः छः । प्रा० । मनस इच्छामतिकान-
न्ते, जी० १ प्रति० । उपा० । इच्छा० अ० । अवाचिते, न० ५
श० ३३ उ० । सताममभिलषण्ये, ॥ सदाशिवस्यसाहाज-धन
संरक्षणपरायणमणिछं ॥ आण० ४ अ० ॥ ॥ अणिछा, अकंता,
अपिया, अमसुखा, अमलासा, एते एकाद्याः । विषा० १ सु० १
अ० । ॥ अणिछा जयति एयाद्वे बुद्धिर्वाया ॥ अनिछा जमस्य-
ति गम्यते । प्रअ० ३ आअ० ४० । ॥ इष्टस्य सुखादेर्विरोधिनि
प्रतिकूलवेदनीये दुःखः, तस्याधने पापे, विषादे, अपकारे च ।
। नागलयागम, खी० । यज-क्त । न० त० । अकृतयागे देवा-
दी, याच० । इच्छा० ।

अणिद्धतर-अनिद्धतर-खी० । अतिशयेन कमनीये, जी० ३
प्रति० । विषा० ।

अणिच्छफल-अनिच्छफल-न० । अशुभे कर्मणि, उपा० २ अ० ।
अनभिमतफलं दुर्गतिप्रयोजने, पञ्चा० ११ विव० । अनभिमत-
प्रयोजनेऽनर्थफलं, पञ्चा० ३ विव० ० ।

अणिद्धवयाण-अनिद्धवचन-न० । आकाशवाचि, ॥ अणिद्धवय-
णदि सप्यमाणा ॥ प्रअ० ३ आअ० ४० ।

अणिच्छविय-अनिच्छापित-खी० । अस्वमापिते, ॥ अणिच्छापिय-
स्यकारसंगण्ये ॥ अनिच्छापिताऽस्वमापिता सर्वकालं सदा
संस्थाप्यता नश्यत्करण्ये चस्य तत्तथा । भ० १ श० ३३ उ० ।

अणिद्धस्वर-अनिद्धस्वर-पुं० । प्रयोजनवशादपिच्छाऽविषये,
इच्छा ८ प्र० ।

अणिद्धिच्छाह-अनिद्धितोत्साह-पुं० । अहतास्वाहे, ॥ स
च सर्वसक्तयाऽनुष्ठानेषु यथाशक्तयोत्तमं कराति ॥ दर्श० ।

अनिद्धर-अनिद्धर-खी० । प्रस्तारगमनवकाऽव्यरहिते, ग० २
अधि० ।

अणिद्धुह-अनिद्धुवक-खी० । सुखस्येष्मणाऽपरिच्छापके, प्रअ० १
सस्य० ४० । सूत्रं ।

अणिद्धिपत्त-अनुक्तिमाप्त-पुं० । आमर्षीषयद्विसङ्कशासृष्टि
प्राप्ते, न० । प्रअ० ।

अणिद्धिपत्त-अनुक्तिमाप्त-खी० । अनुक्तिप्राप्ते, ॥ अधिहा अ-
णिद्धिमता मणुस्त्वा पश्चात् । तं जहा-इमपेनया हिरण्यधत्तया
हरिवसगा रमगवसगा कुवार्त्सिणो अंतर्दीवगा ॥ इच्छा० ।
६ प्र० ।

अणिद्धिपत्त-अनिर्धिक्त-पुं० । अनिश्चरप्रमाजिते, आ० म० ४० ।

अणिद्धव-अनिद्धव-पुं० । न० त० । अनवलपे, ग० १ अधि० ।
अ० । व्य० । दर्श० । (निह्वयवन्दे वद्वयमाणेन) निह्वयत्वेन र-
हिते, सु० १ उ० ।

अणिद्धव-अनिद्धव-न० । निह्वयनमपलपनम्, न निह्व-
यनमनिह्वयनम् । यतोऽर्थात् तस्याऽनपलोपः, एव हानात्वा-
रस्य पञ्चमो विषयः । यतोऽनिह्वयवन्दे पात्रादिस्वादेर्विधेयं, न
पुनर्मोनादिवशात् । यतोऽसाधवात्पात्राद्वया श्रुतयुक्तानां श्रुतस्य
वाऽप्राप्तयेति । प्रअ० ६ प्र० । य० । द० । ग० ।

शिणह्वणं अवलाबो,
कस्म सगामे अधिनमम चरुगुफा ।
यद्भावित विच्युरपरप,
दाण तिर्दं ऽणिपह्वण ॥ १६ ॥

को वि साहू बिस्वकस्वरपदार्थम दूमसादिप पढेनो परक्यते
अभिण साहूया पुच्छिओ-कस्म सगामे अदीय १, सागारहि-
गाराणं संधिपपभ्रांगेण आमारो लभ्भानि, ततो अहीते भवति;
नेण य जस्स सगामे सािक्खयं सो पुण सुकृतकस्सदांसकते-
सु पवीणो, जच्चवादिस्सु वा हीणतरो अतो नेण लज्जानि । अमं
जुमप्यहाणे कहय सि तगारणगाराणं संधिपपभ्रांगो लभ्भानि,
नेण अक्षिभित्ति भवति । एवं णिपह्वणं भवति । इत्थं से प-
च्छिओ य णाथि कलाणं उयादरणं ॥ नि० चू० १ उ० ।
सुहीतभ्रुनानिह्वयः कार्यः । यद्यस्य सकारोऽर्थात् तत्र स एव
कथनीयो नान्यः, चित्तकालुष्यापत्तेरिति ।

अत्र ऋष्टान्तः—

परस्स एहाबियस्स खुम भेदविज्जासाभयेण आगामे अच-
त्ति । तं च एगो परिखायामो बद्धुहि उवसेपज्जसाहि उवसेप-
ज्जसण, नेण सा विज्जा ब्रह्म, ताहे अन्नयं गंतुं तिदरेण-
गासलणण महाजणेण पुञ्जजति सि । यथा य पुच्छिओ-अभवो !
किं मे स विज्जानिससो उय तवानिससो ? सो भणति-वि-
ज्जानिससो । कस्स सयासामो गहिओ ? सो भणति-हिमसे-
कत्ताहारस्स रिस्सिणो सयासं अथिज्जसो । एवं तु बुत्तं समा-
णे सत्तिंसे सवुत्तयाए तं तिदरें खरुमि पदिने । एवं जो अप्या-
गमं आयरियं निगसहेउण अमं कहाते, तस्स चित्तसंकिंसे-
सदंसिणं सा विज्जा परलोपणं इयाति सि, अनिपह्वणं सि
गतं । दश० ३ अ० ।

अणिपह्वणमाण-अनिह्वान-त्रि० । अनपवपति, हा० १
श्रु० १ अ० ।

अणितिय-अनित्य-त्रि० । अमच्युताऽनुपपन्नस्थिरकस्वभावा-
त्तया कूटस्थनिष्पत्तेनाऽप्यवस्थितेन, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अणित्यंथ-अनित्यंस्थ-त्रि० । अमुं प्रकारमापन्नमित्थम, इत्थ
तिष्ठतीति इत्थंस्थम, न इत्थं स्थमनित्थंस्थम । केनाच्चिहो (किंकेत
प्रकारांस्थितेन, अ० । आच० । प० १०० । परिमरुदत्तादिमंस्थान-
रहितं, अ० २४ श्रु० १२ उ० । अनियताकारं, जी० १ प्रि० ० ।

अणित्यंथपंजाणसंतिप-अनित्यंस्थमंस्थानसंस्थित-त्रि० ।
इत्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थम, न इत्थंस्थमनित्थंस्थम, अनियता-
कारमित्थं । तच्च तत्संस्थानम, तेन संस्थानेन अनियत-
संस्थानसंस्थितेन, जी० १ प्रि० ० ।

अणित्यंथपंजाणा-अनित्यंस्थमंस्थाना-स्त्री० । अकिंचरंथं
संस्थानं यस्या अकवणयाः सत्तायाः सा । अनियताकार्यायां
सत्तायाम्, पं० सू० ५ सू० ।

आण्दा (या)-अनिदा-स्त्री० । निदामं निदा, न निदाऽनिदा,
प्राणिहंसा नगदादिदुःखहेतुरिति परिज्ञानविकलेन सता क्रि-
यामात्रे प्राणिविहलेन, स्वपुत्रादिमये वा विभागोनाऽवि-
विष्य सामान्येन विधीयमाने, अज्ञानतो वा व्यापाद्यस्य स-
स्वस्य व्यापादने च । “जाणं तु अजाणंते, तहं उहंस्सिय उ
बहंते वा वि । जणमम अजाणमं या, वहेद अणिया निया

पसा” पि० । अनिद्वारणायाम्, “पुढविकारया स्वधे, अस्-
सिभूया अणिदाए वेयणं वेदंति” अ० १ श० २ उ० । चित्त-
विकलायां स्वयन्निबन्धेकथिकलायाम्, पञ्चा० ३ अ० । अना-
भोगवन्त्यां हिंसायाम्, अ० १६ श० ५ उ० ।

अणिदा (या) ण-अनिदान-त्रि० । नाऽस्य स्वर्गावाप्त्या-
निदानमस्तीत्यनिदानम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । न
विद्यते निदानमस्येत्यनिदानं, निराकाङ्क्ष अशेषमंक्षयार्थिनि,
सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । निदानरहितं, हा० ५ हा० । निदानव-
जितं, आनु० । प्रार्थनारहितं, अ० २ श० १ उ० । पञ्चा० ।
आचा० । भाविकलाशंसारहितं, “ अणियाणे अकोउहले य
जं स भिक्खुं ” दश० १० अ० । पञ्चा० । प्रअ० । ध० । स्व-
र्गावाप्त्यादिलक्षणनिदानरहितं, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।
न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु जन्तुषु यथासाधारि-
दानः । सावधानुष्ठानरहितं अनाश्रयं, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।
भोगादिप्रार्थनास्यभावामाभ्यायाम् । तद्दृष्टजितं निदानेऽप्ये,
स्वा० ३ हा० २ उ० ।

अणिदा (या) एचय-अनिदानजन्-त्रि० । सावधानु-
ष्ठानरहितेनाश्रयभूते कर्मापादानरहिते अनिदानकाले ज्ञा-
नार्ता, सूत्र० ।

अण्यमिज्जिक्खुं समाहिपसे अणियाणवृते सुपरिव्वज्जा
न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु जन्तुषु यथासाधारिनिदानः ।
न गयन्नतः सावधानुष्ठानरहितः परि समानात्सयमानुष्ठानं
व्रजेच्छेदिति । यदि वा अनिदानततोऽनाश्रवन्नतः कर्मापादान-
रहितः सूत्रे परिब्रजन्तु सुपरिव्रजन्तु । यदि वा-अनिदानततोऽना-
निदानकल्पयानि ज्ञानार्थानि तेषु परिव्रजन्तु । अथवा-निदानं
हेतुः कारणं दुःखस्यातोऽनिदानततः कस्यचिद् दुःखसमु-
पादयन् मंत्रमे पराक्रमेदिति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अणिदा (या) ण्या-अनिदानता-स्त्री० । निदायते त्रयंन
ज्ञानाद्याराधना लना आनन्दरसोपेतमोक्षफला येन परब्रह्मण्य
देवैन्द्रादिगुणधिप्राथनाऽप्यवसानेन तदनिदानमनिदानं तद्यस्य
सोऽनिदानः, तद्वाचयन्नता । निरसुकतायाम्, एतस्याश्च फलमा-
नमित्यद्भुतमन्त्रयत्तकर्मप्रकरणम् । स्था० १० हा० । निदान भो-
गकिं प्राथनास्यभावामाभ्यायान्, तद्दृष्टिनाऽनिदानता । जोग-
दिप्राथनार्यायाम्, एतस्याः फलं ससाध्यानिव्रजन्नम । स्था० ३
हा० १ उ० । “ सव्यथ अमयया अणिदाणता पसन्था ”
स्था० ६ हा० ।

अणिदिद्व-अनिदिष्टि-त्रि० । प्रागकृतानिर्देशं, नि० चू० १ उ० ।

अणिदेम-अनिर्देश-पुं० । अग्रमाणं, उक्तं १ अ० ।

अनिर्देश्य-त्रि० । केनाऽपि शब्देनाऽभिज्ञाने, विज्ञे० ।

अणिदेमकर-अनिर्देशकर-पुं० । अग्रमाणकसंज्ञि, “ आणाणि-
देसकरं, गुणपुत्रायकारणं ” उक्तं १ अ० ।

अणियाण-अनिण्यञ-त्रि० । अतीतकारं निष्पत्तिरहितं, औ० ।

अणिमंतेमाण-अनिमन्त्रय-त्रि० । निमन्त्रणमदम्पति, आचा०
२ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणिमा-अणिमान-पुं० । परमाग्यरूपनायत्तिकरूपे सिद्धिभेदे,
हा० २६ हा० ।

अण्विमिस-अण्विमिष-पुं० । न० ब० । मत्स्ये, "बहु अट्टिषं पो-
मङ्गं, अण्विमिसं बहुकटयं" दशा० १ अ० । निष्कसनयने,
आव० ५ अ० ।

अण्विमिसण्वण्य-अण्विमिषण्यन-पुं० । न विद्यते निमेषो येषां
नामि अण्विमेषाणि, अण्विमेषाणि नयनामि येषां तेषामिमेधनयनाः ।
वेषेषु, "अमि शानमल्लदात्मा, अण्विमिसण्यशा य नीरजसरी-
रा । अवरंगुहणेन जृमि, न ह्यिधति सुरा त्रिषो कइह" इय० १
उ० । आ० म० छि० । निर्निमेषलोचने, पञ्चम० ११ पृथ० ।

अण्विय-अनीक-न० । सैन्ये, कण्व० ।

द्वेष-द्राणां सानीका अनीकाधिपतयः—

चपरम णं असुरिंदस्स असुरकुमाररसो मत्त अण्विया,
सत्त अण्वियाहिवई पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए, पीढा-
णिए, कुंजराणिए, महिमाणिए, रहाणिए, नट्टाणिए, गं-
धंवाणिए, दुम पायत्ताणियाहिवई । एवं जहा पंचद्वाणे
जाव किअरे रहाणियाहिवई रिडे नट्टाणियाहिवई गीय-
वई गंधंवाणियाहिवई । वरिस्स णं वड्डीयाणिंदस्स वड्डी-
यणत्तां मत्त अण्विया, सत्त अण्वियाहिवई पणत्ता । तं
जहा-पायत्ताणियं जाव गंधंवाणियं । मइदुमे पायत्ताणि-
याहिवई जाव किंपुरिसे रहाणियाहिवई महिण्टि एट्टा-
णियाहिवई गीयत्तेस गंधंवाणियाहिवई । धरएस्स णं
नागकुमरिंदस्स नागकुमारत्तां मत्त अण्विया, सत्त अण्वि-
याहिवई पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधंवाणिए ।
रुदमेणे पायत्ताणियाहिवई जाव आण्णे रहाणियाहिवई
णट्टेने णट्टाणियाहिवई तेतले गंधंवाणियाहिवई । ज्ञयाणं-
दस्स सत्त अण्विया, सत्त अण्वियाहिवई पणत्ता । तं जहा-
पायत्ताणिए जाव गंधंवाणिए दक्खं पायत्ताणियाहिवई
जाव णत्तं रहाणियाहिवई रई णट्टाणियाहिवई मा-
एमे गंधंवाणियाहिवई । एवं जाव त्रोसमहायोसाणं णे-
यव्वं । मक्कए णं देविंदस्स देवरत्तां सत्त अण्विया, सत्त
अण्वियाहिवई पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधं-
वाणिए र हण्णिणमेमि । पायत्ताणियाहिवई जाव मादरे
रहाणियाहिवई सेए णट्टाणियाहिवई तुंवरुंगंधंवाणिया-
हिवई । ईसाएस्स णं देविंदस्स देवरत्तां सत्त अण्विया, सत्त
अण्वियाहिवई पणत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधंवा-
णिए लहुपक्कमे पायत्ताणियाहिवई जाव महासेए णट्टा-
णियाहिवई एणए गंधंवाणियाहिवई । सेमं जहा-पंच-
द्वाणे एवं जाव अक्खुअस्सेमि नयव्वं । इया० १ डा० ।
अनृत- न० । वितथे, मिथ्यावितथममृतमित्तं पर्यायाः । आ०
१० डा० । आ० म० छि० । विशेषेण । आ० ७ ।

अण्वियट्ट-अण्वियत्त-पुं० । मोक्षे, आ० १० १ अ० १ उ० ।

अण्वियट्टामिन्-अण्वित्तैगामिन्-पुं० । अनियतो मोक्षत्वर

गन्तु शीलं यस्य स तथा । निर्वाणयाधिमि, आ० १
शु० ५ अ० ३ उ० ।

अण्वियट्टि (ण)-अण्वियत्तिन्-न० । न निवर्त्तते न व्यायसते
इत्येवंशीलमनिवर्त्तते । प्रवर्षेमानतरपरिणामाभ्यावर्षमशीले,
" सुदुमकिटिए अण्वियट्टी " इति शुक्लप्यायस्य सृतीये भेदे,
स्था० ४ डा० १ उ० । अशीलिनो महाप्रभे, अ० १०
पाठु० । आगमिष्यन्त्यामुस्तपिरयां त्रिचर्च्यत विशतित्तमं
तीथकरे, स० ।

अण्वियट्टिकरण-अण्वियत्तिकरण-न० । निवर्त्तनशीलं निवर्त्तितं,
न निवर्त्तितं अण्वियत्तितं, आस्य्यदर्शनेनाभात्त निवर्त्तत इत्यर्थः ।
न निवर्त्तते नापि त मोक्षतत्त्वार्थजकल्पं सम्यक्प्रवमनासाधोत्येवं
शीलमनिवर्त्तितं । पञ्चम० ३ विव० । अण्वियत्तिकरणमित्यन्त्यं
नातिवर्त्तन्ते परिणामा अस्मिन्नित्यनिवृत्तिकरणम् । आ० १०
१ अ० ३ उ० । तच्च तत्करणं च अण्वियत्तिकरणं सत्यक्त्वा-
द्यनुगुणे विशुद्धताराध्यवसायकपे भव्यानां करणभेदे, "अण्वि-
यट्टीकरणं पुण, सम्मसपुरकखडे जीव" आ० म० छि० ।

अण्वियट्टिवापर-अण्वियत्तिवापर-पुं० । न विद्यते अन्योऽन्य-
मध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिर्न्यस्यासावनिवृत्तिः । स चासीं
बादरश्चेति । कर्म० २ कर्म । नवमगुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे,
स च कथायादृकसंपर्गाभ्यामुत्सकविदापशामेने यावद् भ-
वति निवृत्तिवापरसमयादूर्ध्वं लोभमद्वेगद्वन्द्वानं यावदनिवृत्ति-
वापरः । आ० ७ अ० । अवाताणियादिभावे, प० व० ३ डा० ।

अण्वियट्टिवापरसंपरायगुणद्वय-अण्वियत्तिवापरसंपरायगुण-
स्थान-न० । नवमगुणस्थाने, व्याख्या चैव-पुणपदेतद्गुणस्था-
नकं प्रतिपन्नानां बहुनामपि जीवानामन्येत्समध्यवसायस्थान-
स्य व्यावृत्तिर्नस्यस्यति अनियुक्तिः, समकालमेतद्गुणस्थान-
कमादृकस्यापरस्य यद्व्यवसायस्थानं विवाहितोऽन्योऽपि क-
श्चित्तद्व्येवेत्यर्थः । संपरंति पर्यटति तस्मात्समेनेति संप्रगयः क-
थायोदयः वादरः सुदुमकिट्टिकृतसंपरायपिकथासुदुमसंप्रगयो
यस्य स बादरसंप्रगयः । अण्वियत्तिश्चासीं बादरसंप्रगयश्च त-
स्य गुणस्थानमण्वियत्तिवापरसंपरायगुणस्थानम् । इदमप्यन्त-
मुह्यतेप्रमाणमेव । तत्र चान्तमुह्यते यावन्तः सप्रयास्तप्रविष्टान-
मेकल्येवाध्यवसायस्थानस्यानुवर्त्तनादिति स्यापान० १००० प्रथ-
मसमायादरस्य प्रतिसमयमननगुणविशुक्कं यथोत्तरमध्यव-
सायस्थान भवतीति वेदितव्यम् । स चान्वियत्तिवापरं द्विधा-
कूपक उपशमकश्च । कूपयति उपशमयति वा मोहनंवादि क-
मेति वा कृत्वा । कर्म० २ कर्म । प्रव० ३ आ० चू० ।

अण्वियत्त-अनन-पुं० । विचित्रयत्नादायित्वात्त विवर्त्ते नमना
निवासिनो जना वेत्यस्येऽनमनाः । संहाशब्दो यादयमिति । वि-
शिष्टयत्नरायिषु कल्पमन्त्रेण, इया० १ डा० । प्रव० आ० १ ।

अण्वियत्त (य)-अण्वियत्त-त्रि० । अण्वियत्त-सुत्र० १ अ० १
अ० । उत्त० । अण्वियत्ते, अष्ट० ८ अष्ट० । अनेकस्वरूपे, दशा०
१० अ० । न० । अनियमवति अनवस्थाने, प्रथम० १ अ० १ डा० ।
अ० । अश्वरथेमाण्डुद्वयाऽप्रापिते आमपुच्छेभरस्वजावकमा-
दिकृतं सुखादिकं, "नियथावितथं संते, अयागोता अक्रुडिया" ।
सुत्र० १ अ० १ अ० ३ उ० । "अशाभतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि

स्यो धर्मं ह्यज्ञयित्वा तं पुरुषं मोक्षकाम् याञ्छन्ति वा । स प्राद-
भवात् । न समैकाकिन्मांऽधीना एते मोक्षकाः किन्त्वैतन्प्राप्तये-
कप्रियज्ञानानां, ततः कथमहं प्रयच्छामि । एवमुक्तं साधुप्राह-
ते (कर्त्ति नि) कुत्र गताः । स प्राह-नृणां स्नातुमिति । तत एव-
मुक्ते दृष्टोऽपि साधुस्तं प्रत्याह-परस्वत्केन मोक्षकसमूहेन त्वं पु-
ण्यं कर्तुं न शक्नोषिः । यदेषं याञ्छितोऽपि न ददासि । महापुना-
यमुदस्यं यः परस्वत्कानपि मोक्षकान् मह्यं दत्त्वा पुरयं नोपा-
ज्येयसि । अपि च-ह्यप्रियतमपि मोक्षकान् यदि मे प्रयच्छसि
तथापि न च प्रागे एक एव मोक्षको याञ्चितः । एवमस्यव्ययं ब-
ह्वयं हानं यदि ज्ञानासि सम्यग् हृदयेन तर्हि देहि मे सर्वान-
पि मोक्षकानिति । एवमुक्ते दत्तास्तेन सर्वेऽपि मोक्षकाः, भूतं
साधुनाजन्म, ततः संज्ञानतःपुः साधुस्तस्मात् स्थानाद् विनि-
र्गुप्तं प्रवृत्तः । अत्राने च सर्वे समागच्छन्ति स्म माणिभ्याद्यः ।
पृच्छतः साधु-जगद्वत् । किञ्च नृणां लघुमः । ततः साधु-
ना चिन्तितम्-यथा एते मोक्षकस्यामिनस्ततो यदि मोक्षका
सन्था इति वक्ष्ये तर्हि भूयोऽपि प्रहीत्यन्ति । तस्मान्न किञ्च
पि लब्धमिति प्रधीमिति । तथैवाकवात् । ततस्तस्मांनिभ्यः प्र-
सूक्तं चोक्तं साधुमन्त्रेण संजातस्यैवमाणि-दृश्ये निज-
प्राजने स्यात् । येन प्रहामहे । साधुश्च न दृश्यति । ततो बलात्प्र-
लोकिनम् । इहा मोक्षकाः । ततः कौपाकणहोचनेः साधिलेपं रक्त-
कपुरुषः पृष्ठः यथा किं भाः स्वयाऽस्मि सर्वेऽपि मोक्षका दत्ताः ।
स तं देव कम्पमानोऽध्वत-न मया दत्ताः । एवं चोक्तं माणिभ-
द्यादिनिः साधुक्त्वं-चौरस्यं पापः साधुवेषाधिभक्तः । सहाह-
रानि इत्यादीं प्राप्नोऽसि, कुनस्ते मोक्ष इति वृष्टीनो यस्माद्-
हे कर्त्तितो बाहुना । ततः पश्चात् कुडिल इति वृष्टीत्वा सकल-
मपि पात्रजोहरणादिकमुपकरणं वृष्टयैःकृतः, तत् उवाह इ-
ति । नीतो राजकुलम्, कथितो धर्माधिकराणकानाम् । पृच्छतः तैः
साधुश्च न किमापि लज्जया वक्तुं शक्नोति । ततः परिजातितमः
नूतमपि चौर इति, परं साधुवेषधारीति कृत्वा प्राणैर्मुक्तो नि-
विषयश्चाऽऽज्ञापितः । एवमप्रजायनायकं दैतदि एतेऽनन्तरोक्ता
प्रहणकैर्णाट्यां द्रोणा भवन्ति । (पठुमिच्छ) तृतीयार्थं सप्तमी ।
यथा-“ नित्यु अज्ञांकियपुडहं ” इत्यत्र । ततोऽयमर्थः-तस्मात्प्र-
भुणा मायकेन दत्ते मति साधुना प्रहणं जकद्वैः कर्त्तव्यम् ; न-
प्राप्याक्रेणादिकं सम्यक् परिहर्त्स्यमिति । उक्तं सोदाहरणं
मोक्षकद्वारम् ।

अधुना दोषावयानां द्वाराण्यतिदेशेन व्याख्यानयति-
एवम् य जंतमि बि, संसोदि खीरआप्यासां ।
सामनें पर्वकुहं, कपपई पेणुं अणुआयां ।
एवमेव मोक्षकोदाहरणप्रकारेणं यन्नेऽपि संक्षय्यामपि कीरे
च आपणादिषु च यत् सामान्यं साधारणं तत् स्वामीभिः
सर्वैरप्यनिच्छेत्, तत् प्रतिकुष्टे तीर्थकरणाधरेः अदुहातय, पुनः
सर्वैरप्यस्वामीभिः कल्पते प्रहीतुस्, तत्र दोषाभावात् ।
संप्रति बुद्धकद्वारस्य प्रस्तावनां बुद्धकस्य भेदं च
प्रतिपादयति-

बुद्धि नि दारमहुशा, बहुदत्तत्वं ति तं कयं पच्छ ।
वर्षेऽं गुक सो पुण, साथिय हत्याण विषेओ ॥
अधुना बुद्धकद्वारं व्याख्येयम् । अद्योच्यते-नूतनाध्यायां द्वि-
तीये स्थाने निर्दिष्टमात्रं कस्यात्, अत्राव्याख्यायैतानां पाश्चात्तरम् ।
तत् प्राह-यद्बुधकस्यामिदं द्वारम्, अतः व्याख्यायैतानां पाश्चात्तरम् ।

तकम् । तत्र गुरुस्तीर्थकरादिष्वैष्यति प्रकथयति यथा स
बुद्धको द्विधा । तद्यथा-स्वामिनो इति नमश्च ।
तत्र प्रथमतः स्वाम्यनिर्दिष्टं बुद्धकमाह-

क्षिप्रमक्षिप्रो दुर्बलो, होइ अत्रिभो निःसिद्ध अथिसिद्धो ।
क्षिन्मिच्छु गामि य, कपपई पेणुं निःसिद्धिम् ॥
इह द्विधा बुद्धकः । तद्यथा-क्षिप्रोऽक्षिप्रश्च । प्रथमत्र भावना-
इह कौश्लि कौटुम्बिकः सत्रगतहालिकानां कस्यापि पाम्यं
कृत्वा भोजनं प्रस्थापयति । स यदा एकैकहालिकयोऽप्यं पृथक्
पृथक् भोजनं कृत्वा प्रस्थापयति, तदा स बुद्धकलोच्छ्रः, यदा तु
सर्वेषामपि हालिकानां योग्यमेकस्यामेव स्थानां कृत्वा प्रथ-
यति, तदा सोऽक्षिप्रः । एवमन्यत्राप्युदापनिकादीं क्षिप्राऽक्षि-
प्रत्वं बुद्धकस्य भावनीयम् । अत्रिभोऽपि द्विधा । तद्यथा-नि-
च्छुष्टोऽनिच्छुष्टश्च । तत्र निच्छुष्टः कौटुम्बिकेन यथा च हालिकानां
योग्यः स बुद्धकलौक्ष साधुभ्यो दानाय मुक्तलितः । इतरतु
मुक्तलितोऽनिच्छुष्टः । तत्र यस्य निमित्तं क्षिप्रः स एव येष
स्थानांयस्य क्षिप्रस्य दाता तर्हि तस्मिन् क्षिप्रं बुद्धकं तत्स्वा-
मिना दीयमाने साधूनां प्रहानुं कल्पते, दोषाभावात्, तद्यथा
क्षिप्रोऽपि सर्वैरपि तस्वामिभिरनुज्ञाते तं प्रहानुं कल्पते, त-
त्रापि दोषाभावात् ।

एनमेवार्थं स्वधियेतिमाह-
क्षिप्रो दिष्टमदिष्टो, याप निःसिद्धो इ तिष्ठो य ।
सो कपपई इयरो उ ए, अदिष्टदिष्टो अणुआयो ।
यद्बुद्धको यस्य निमित्तं क्षिप्रः स तेन दीयमानो मूलस्वा-
मिना कुटुम्बिकेनाहोष्टो हृष्टो वा कल्पते । तथा यथाक्षिप्रः
योऽपि च यस्य निमित्तं क्षिप्रः स स्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽप्येन
दीयमानः स्वस्वामिभिरनुज्ञो हृष्टो वा कल्पते (इयरो उ ए
त्ति) इतर एतद्व्यतिरिक्तः, तुः पुनरर्थः । क्षिप्रोऽक्षिप्रो वा
स्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽहोष्टो हृष्टो वा कल्पते, प्राणुक्रमह्या-
दिदोषसंभवात् । अयं च विधिः साधारणोऽऽनिच्छुष्टोऽपि
वेदितव्यः ।

तथा चैतदेव गाथादैनं प्रतिपादयति-
अणुसिद्धमणुआयां, कपपई पेणुं तहव अदिष्टे ।
गजयस्स य अानेसिद्धं, न कपपई कपपई अदिष्टं ॥
अनिच्छुष्टं पुवं स्वस्वामिभिः सर्वैरनुज्ञातमपि यदि पश्चादनुज्ञा-
नं जन्त तर्हि कल्पते तद् ग्रहीतुं, तेषामनुज्ञातं सर्वैः स्वामिभि-
रन्वयं गन्तव्यादिना कारणेनाहमपि प्रहानुं कल्पते, तदोषाभा-
वात् । संप्रति इति नमश्च बुद्धकानिच्छुष्टे गाथात्तराजेन ज्ञापयति-
(गजयस्स त्ति) इत्येतानां प्रकं (मिष्टेनानुज्ञातमपि राजा गजेन
चाऽनिच्छुष्टमज्ञातं न कल्पते, वक्ष्यमाणार्थादोषसंभवात् । तथा-
मिष्टेन स्वस्वजन्यं भक्तं दीयमानं गजेनाहं कल्पते, यजहृष्ट-
प्रहणं तु वक्ष्यमाणोपाधयमज्ञाविदोषप्रसङ्गः ।

अस्यैव विधेरन्यथाकरणे दोषाभाह-
निर्वर्षिणो गजजन्तं, गहृणाईयंतरादुयमदिष्टं ।
तुं वस्त सतिप वि ट्ट, अमिक्ख संहईः फेणया ॥
इह यद् गजस्य प्रकं तत् राज्ञः पिण्डो राज्ञो भक्तं ततो
राज्ञा अमनुज्ञातस्य इहण्ये प्रहणार्थं प्रहणकर्त्तव्यं दोषा
भवेयुः, तथा-अमन्वरायिकम् अन्तरायनिमित्तं पापं साधोः
प्रसजतः । राजा हि यदा यदा मन्त्रेणैव साधये पिण्डं

बदातीति चः सन् कदाचिद् विरजं स्वाधिकाराद् अश्रयति, ततो मिश्रस्वयं वृष्टिच्येदः साधुनिमित्तं इति साधोरातराद्यिकं कल्पते । तथा (अभिसिद्धं) अश्रयति इत्येव, एताऽनुज्ञा-तत्वात् । तथा सुप्रवृत्तं विरजं स्वयं हीयमानेऽभीष्टं प्रति-विश्वसं यदि साधुस्त्वं विरजं स्वयं पश्यतो युष्मति, तदा मदी-यकप्रवृत्तमन्वेन सुभवेन विरजो युष्मते इत्येवं कदाचित् उच्यते सन् यथायोगं मार्गं परिब्रूयन् उपाख्ये साधुं इष्टुं तं सुखं प्र-साधये स्फोटितं साधुं च कथमपि प्राप्त्यं मारयेत्, तस्मान्न गज-स्य पश्यतो मिश्रस्वयं सत्कं वृद्धीयात्, तदेवमुक्तमभिसिद्धा-दयः । पि० । प्रव० । आशा० । जीत० । पं० व० । 'अभिसिद्धे च यद् भवेत्' पं० वृ० । सु० । (अभिसिद्धं उच्यते इत्येव शब्दे-भ्ये च प्रथमं) "अभिसिद्धं न कल्पति ब्रह्मण्येण्यं" नि० वृ० १५ उ० । शब्दात्तरेणानुज्ञातप्रवेशे, निरुद्धे नाम यस्य शब्दा-तरेण प्रवेशोऽनुज्ञातः, तद्विद्योऽनिरुद्धः । वृ० ३ उ० ।

अभिसिद्धिः-अभिसिद्धिः-वि० । अनुमते, कल्प० । सावधानु-ज्ञानाभिसिद्धिः, पञ्जा० १२ वि० ।

अभिषिद्धिः-अभिषिद्धिः-वि० । प्रकाशपातात्मकासोपदेशाद् वा निरीधयति स्तुतये, प्रा० म० ।
 सांज्ञतमनिशीयनिशीयोर्यत्र स्वकप्रतिपादनार्थमाह—
 नृपापरिणयविमर्षं, सत्करणं तदेव मनीसिद्धं ।
 पञ्चमं तु निसिद्धं, निसिद्धनामं जयउजयणं ।
 नृत्तमुद्रकं, अपरिणतं नित्यं, विनाशं विनश्यत्, नृत्तपरिणतवि-गतम्, समाहारस्वादेकवचनम् । किमुक्तं भवति ?—'उप्यस्येष्टं वा विमर्षं वा सुवेष्टं वा' इत्यादि । किंविशिष्टम् ?—'शब्दकरणं-शब्दः कियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम् । उक्तं च—' उक्तं च स-हकरणं, पासासपातं च सत्किंसेसोषा' स निरीधो भवति । इयमत्र भावना-चतुःपादाद्यथेप्रतिपादकः, तथा महताऽपि शब्देन प्रतिपाद्यं, तत् प्रकाशपातात् प्रकाशोपदेशाद्वा निरीध इति । आ० म० शि० ।

अभिसिद्धकम्-अभिषिद्धकम्-वि० । सर्वगण्यसाधारणे केशे, 'मि-स्सकम् अं गच्छं, संति अ मोक्षं अरं अभिसिद्धकम् । सिद्धाययनं च इमं, चेदयवर्णं विमिद्धिं ॥' घ० २ अभि० । ये राजा-हाराविवेचकारिणो मत्पितृवृत्तस्वार्थेनोपाशासीति संकल्पं निवेष्टाऽऽदौकानय, वशिनिष्पानेन, स्वपिपाद्यिद्रजकिमात्रकृतं भक्तं च । पि० ।

अभिसिद्धिः-अभिसिद्धिः-अभिषिद्धोद्घोष-वि० । निमित्तं रागः, उपाश्रितं द्वेषः । अथवा-निमित्तमाहागदिक्षिप्त्वा, उपाश्रितं शि-ष्यकुलद्वेषेणा, नदुर्वाजितो यः सोऽभिषिद्धोपाश्रितः । रागद्वेष-अज्ञेन, आहारशिष्यकुलाद्येकाराहित्येन च मध्यस्थनायं गते, 'सादृशिमयाणं आहगराणं स उप्यशंसि तस्य अभिसिद्धो-वस्तिभो ष्वपक्वगाहो' इत्या० उ० प्रा० ।

अभिसिद्धिः-अभिसिद्धिः, सत्तमं बहवहरमाणे समणे णिमंये, आशाए आराद्धे जवह ।

अभिषिद्धिः-सर्वासांसारदितैकभाषितोऽङ्गीकृतोऽभिषिद्धोपाश्रित-स्त्वम् । अथवा-निमित्तमथ शिष्यावादिप्रतिपक्ष, उपाश्रितमथ स यत्र वैयवृत्त्यकरवादिना प्रत्यासत्तरेण । अथवा-निमित्तं रागः, उपाश्रितमथ द्वेषः । अथवा-निमित्तमाहागदि-वि०, उपाश्रितं च शिष्यप्रतीक्षककुलाद्यपेक्षा, ने न स्तो यत्र

तस्येति कियविशेषणम् । सर्वथा प्रकृतपरित्यक्तमेव यथाचि-दित्यर्थः । इह वृत्तव्याख्या—'रागो य होइ निस्सा, उचस्सिभो दोससंजुणो । अहव न आहारार्हे, दाही मज्जे तु एस निस्सा-भो ॥१॥ सो सो पडिक्खए वा, होइ उचस्सकुलादी वा पि ।' म० उ० प्रा० उ० ।

अभिसिद्धिः-अभिसिद्धिः-अभिषिद्धोपाश्रितं-वि० । निमित्तमभिषिद्धं कल्प्योपाश्रितं-उपाश्रितकर्मण, आश्रयधामं तपः । आ० ५ वृ० । आ० वृ० । सुयोगसङ्ग्रहाय परसाहाय्यान्नेके तपसि, त० ३२ स्व० । परिहृक्कटाऽन्येषत्तपःकारितायाम्, एष चतुर्थो योगसङ्ग्रहः ।

इह परत्र च केन क्व इत्यत्रोवाहरसुभ-

" पादसिपुत्त महागिरि, अस्सुहृत्थी अ सेत्थि वसुपूर्णे ।
 चरं मिसि उज्जेणायं, जिणपडिमा एलकच्छं च" ॥ १ ॥
 शिष्यो द्वौ श्वूलजकस्य, महागिरिसुहृत्स्तिर्मा ।
 महागिरिमहासत्तो, गणं दत्त्वा सुहृत्स्तिनः ॥ १ ॥
 जिनकल्पे व्यक्तव्ये-उप्यस्ये तस्य वसंते ।
 विहारेणान्यदाभ्याता, पादसाधुपुत्रसमम् ॥ २ ॥
 तत्र श्रेष्ठो वसुहृत्तिः, सुहृत्स्तिप्रतिष्ठापितः ।
 भावकोऽन्यथावादी-द्वोषन्तं स्वजना मम ॥ ३ ॥
 ततः सुहृत्स्ती तं देवः, गत्वा धर्ममुपाश्रितम् ।
 महागिरिस्तदा तत्र-वासोऽजिष्णुःकृतोऽथ तान् ॥ ४ ॥
 इच्छुत्तस्यी सुहृत्सो प्राय, वसुहृत्स्तिप्रथाभिधौ ।
 गुरवो वोऽप्यमी तेऽथ, चक्षुस्तदुज्जसंस्तवम् ॥ ५ ॥
 एवमापेयं तेषां ते, प्रथायानुत्तमाभ्युः ।
 वसुहृत्स्तिप्रतिष्ठापितं, स्वजनाप्युपाश्रितम् ॥ ६ ॥
 तदेज्जका भवेत्तानि, वसुहृत्स्तिप्रथाभिधौ ।
 इत्था तमुद्रकनामम्, महागिरिप्रधानतः ॥ ७ ॥
 तद्बुद्धिमिति ज्ञात्वा, वसिष्ठोऽपि सुहृत्स्तिनम् ।
 अन्युत्थानशुभाव्यानि-वसुहृत्स्तिद्वेषे त्वया ॥ ८ ॥
 अथ ह्रावपि वैदेशी, समग्री उम्भतुर्गुहम् ।
 तत्राजितप्रतिनिधिं, वसिष्ठः श्रीमहागिरिः ॥ ९ ॥
 गजाप्रपद्वन्द्व-रत्नकच्छुपुरे यथौ ।
 तद्वराणपुरं पूर्व-मासीत् स्वस्मिन्नुपासिका ॥ १० ॥
 अतः वैकालिकं नित्यं, प्रथायथाति स्म वाच सा ।
 उपाश्रित्यतिस्मस्ताः, सायं शुकरोऽपि किम् ? ॥ ११ ॥
 निश्वयात् सोऽपि शुकरोऽपि, प्रथायथाव्यहृदमप्यतः ।
 मन्त्रव्यासं त्वं नैत्यस्ये, न प्रकृत्यामीति सोऽवदत् ॥ १२ ॥
 देवताऽऽभिसिद्ध्या-मसायुष्यदसत्यः ।
 निशीथे स्वचक्रणोऽऽ-न्यागादात्राय साभनस ॥ १३ ॥
 आदृष्टिः पन्थोच, किमेतैवात्तजासकः ।
 देवता तं प्रहृत्वाय, हर्षोऽपि च व्यापातवत् ॥ १४ ॥
 मा नृममायशः आहः, कायोऽसंगोऽथ सा स्थिता ।
 देवता स्माद् तं आह्राऽ-प्युपाश्रितैः ममाशयः ॥ १५ ॥
 साऽधार्मीयात्रो सयो, मारितैरस्य चक्षुषी ।
 पङ्कालस्तनः स्यताः, स आहः प्रथायाद्भूत् ॥ १६ ॥
 लोकः समेति तं हृत्-भेदकात् कुण्डहात् ।
 पदकात् पुरासि, तस्मान्ना तद्भूत् ततः ॥ १७ ॥
 गजाप्रपदगोपालः, शीतस्यैवमनूत् पुनः ।
 गवं दग्मणेनस्य, हर्षुं तानः तस्मानतः ॥ १८ ॥

यजेन्काकड यथाव, निः प्रादक्षिण्यत् प्रहृतम् ।
 ततो दशार्णकृदाश्च, तपद्वाम्पुस्थिताभ्ये ॥ १५ ॥
 देशानुनाशात् क्त्वातोऽथ, मज्जेप्रपद् इत्यसौ ।
 तस्मिन् महर्णगिरिकंठं, प्रत्यक्त्वाव विद्ं वयौ ॥ २० ॥
 सुहृदित्स्वयोऽप्येयुञ्जुत्कामिनीपुत्रीम् ।
 सुभक्ता यानराजान्यां, विशालाबां च ते स्थिताः ॥ २१ ॥
 यकथा वसिनीमुष्माश्चयनं पर्यवर्त्तयत् ।
 सुनका नृस्तदाऽचन्तस्तुकमालो महर्षिकः ॥ २२ ॥
 पत्नीह्राविशता सार्द्धं, सौख्ये ससतहेऽप्रसन्नत् ।
 सुस्तुतः स तच्छ्रुत्वा, जातजातिस्त्वितिः क्त्वात् ॥ २३ ॥
 अगत्याऽबोचनाशन्ति-स्तुकमालोऽस्म्यहं प्रभो ! ।
 आनूवं नक्षिणीशुभे, द्वेषः प्राक्पतमे भवे ॥ २४ ॥
 कथं तद्विद्य यत् किं, यूपमप्यागतास्ततः ? ।
 तयोऽप्यप्यनुनेह ! तद्विज्ञो वयमागतः ॥ २५ ॥
 हाकथं हजपते स्थमिन्पुत्रस्ते मद्द ! संवमात् ।
 सोऽयत्क न संवयं कर्तुं, चिदं शुकोऽस्मि किं पुनः ? ॥ २६ ॥
 तदर्थी जतमादाय, करिष्यामीक्षिणीवृत्तित् ।
 अयुक्त्वाऽनर्त्तनीं, नैक-श्लोचं सोऽयाकृत स्म्यहं ॥ २७ ॥
 निम्नं गुह्यं दौ सोऽयात्, ततः कम्पारिकावने ।
 तस्यी प्रतिमया तत्र, मरुतानेऽनशयी मुनिः ॥ २८ ॥
 स्फुटपदास्त्रमाश्रेना-कृष्टा तत्र शिवाऽभवत् ।
 पतनः सा शिवाऽजावत्, तदप्ययानि काव्यतः ॥ २९ ॥
 प्रथमे प्रहरे जानुं, ऊरुस्तस्मिं द्वितीयके ।
 तृतीये जउरं तुर्वे, सूत्रा स्थानेऽङ्गानिप्लवते ॥ ३० ॥
 गन्धाम्बुपुत्रवर्षाणि, तस्योपरि सुरा व्युत् ।
 आषाढोऽस्तज्जैः पूष्टास्तमिहगतं जयुः ॥ ३१ ॥
 सुनका सस्तुवा तत्र, वीह्वय सं कृतञ्जकरम् ।
 प्रवमाज स्थितेका तु, सुषिषी तस्तुता ततः ॥ ३२ ॥
 अवीकरदेवकुलं हसराणिऽद्भुतसुकृतम् ।
 तद्विदानीं महाकाशं, जातं शोकपरिग्रहात् ॥ ३३ ॥
 आर्यमहागिरिणामभिहिते तपः आ० क० ।

आधिस्तिव्य-अभिहित-वि० । निश्चयेनाऽऽधिचयेन च भितो-
 निहितः । न निश्चितोऽभिहितः । कश्चिच्छरीरादावप्रतिबन्धे, 'अ-
 न्य वि समन्तं आधिस्तिव्य अभिहितम्' सूत्र० १ सु० १६
 अ० । 'अगिधे सधकास्तसु, आरंजेसु कभिस्तिव्य' आर-
 जनेषु सावद्यानुष्ठानकथेष्वभिहितोऽस्मककोऽप्युक्त इत्यर्थः ।
 सूत्र० १ सु० ६ अ० । आचा०। कुलादिभ्यप्रतिबन्धे, दशा० अ०
 इह परलोकाऽऽस्ताभिप्रमुक्ते, " आच जीवाद्य आधिस्तिव्यो-
 ह नेव सयं पाणे अहनापञ्जा " पा०। व०। ज० । कथ्यमाव-
 निभया रदिते प्रतिबन्धभिप्रमुक्ते, दशा० अ० १ उ० । कात्या-
 यित्तिरेके वैवाह्याचार्ये, प्रश्न० १ स० ३ अ० ।
 अक्षिजे अचप्रदे, " आधिस्तिव्ययोगेणहृद् " निश्चितो लिङ्ग-
 प्रसितोऽभिधीयते-यथा वृथिकाकुसुमानामन्वत्पत्नीतस्यु-
 त्तिव्यभारिक्रपः प्राक् स्वशोऽनुवृत्तलेनाऽनुभागेन लिङ्गेन तं
 विधियमपारंतिव्यन्वत् यथा ज्ञानं प्रवर्तते तदाऽनिश्चितमसिङ्ग-
 मचयुद्धानांत्वभिधीयते । स्या० ६ डा० । अभिहितं नाम पुल-
 कादिनिर्दिष्टमेषावपुद्गाति च । अथवा-द्वयकारं भुतं पुन-
 र्बन्दा कश्चिदनुच ददति तदैव वक्तुं समर्थो नाम्बन्दा । एवं
 विधानं किमु स्मरन्तिरेपेक्ष एव भवतीति । दशा० ४ अ० ।

निश्चारहिते, कस्याऽपि साहाय्यमवाप्त्युक्ति, उच० १५ अ०।
 आधिस्तिव्यकर-अभिहितकर-वि० । रागद्वेषपरिहारतो व-
 थाऽचक्षितव्यवहारकारिषि, व्य० ३ उ० ।
 आधिस्तिव्यप्य (च्)-अभिधित्वात्मन्-पुं० । अभिधानं, "अ-
 धिस्तिव्यप्या अपदिबद्धा " आच० ६ अ० ।
 आधिस्तिव्यवथा-अभिहितवचन-वि० । रागादिना वाच्य-
 कालुष्यवर्जिते, दशा० ४ अ० ।
 आधिस्तिव्यवयथा-अभिहितवचनना-कौ०। निश्चितं कोष-
 दीनाय, अथवा रागद्वेषाणां निराश्रयुपगतम् । न निश्चितमभि-
 धितम् । व्य० ३ उ० । अथ्वय वचनतायाव, स्या० ८ डा०।
 रागाद्यकलुषवचनतायाम्, उच० १ अ० ।
 आधिस्तिव्यववहारी (च्)-अभिधितव्यवहारी-पुं०। नि-
 ध्या रामः, निष्ठा संज्ञाता अस्त्विति निश्चितः । न निश्चितोऽ-
 निश्चितः । स आऽसौ व्यवहारऽऽभिहितव्यवहारः, तत्क-
 रणशीला अभिहितव्यवहारिषः । अरागेषु व्यवहारका-
 रिषि, व्य० १ उ० ।
 आधिहृत्-अभिहृत्-पुं० । निहम्यत इति निहः । न निहोऽनिहः ।
 कोधादिभिरपीडिते, तपःसंयमसहने वा, निहृदितबलवीर्यं
 च । "अधिहे से पुते अहियासप" सूत्र० १ सु० २ अ० १ उ० ।
 परीसहोपसर्गे, निहम्यत इति निहः । न निहोऽनिहः । उपस-
 र्गैरपरजिते, सूत्र० १ सु० २ अ० २ उ० । " आधिपे सधिरे
 सुसंयुते, धम्मदो उवाहावर्षीरिपे " सूत्र० १ सु० २ अ० २
 उ० । निहम्यन्ते प्राणिनः संसारो यथा सा निहा माया । न
 विघते सा वस्याऽसावनिहः । प्रायाप्रपञ्जरहिते, सूत्र० १ सु०
 २ अ० । दशा० । " अस्ति सुविधा अधिहे अरेजा " सूत्र० २
 सु० ६ अ० ।
 अभिहृत्-पुं० । निश्चयेन निहम्यत इति निहतः । न निहि-
 तोऽनिहतः । भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभिरनिहते, " अ-
 धिहे दयमप्याक्षं संपेहाप बुषे सिरिरे " आचा० १ सु० ४
 अ० ४ उ० । सर्वत्र ममत्वरहिते, सूत्र० १ सु० २ अ० २ उ० ।
 अधिहृत्-अभिधन-वि० । अन्तरहिते, अह० ७ अ० ४ अ० ।
 अधिहृतय-अनिहृतक-वि० । निष्पकमायुष्कत्वात् उरो
 युद्धे च, शुभ्यामपातित्वाद् अतमप्रपिते, स० ।
 अधिहृत्परिउ-अनिहृत्परिपु-पुं० । अहितपुत्रकाल्पत्यनागयु-
 धतेः सुलसलान्ध्यां प्रायांयां अतोऽप्यतमे पुत्रे, तत्कथाऽन्त-
 कृद्दशसु ३ वेगे ४ अथयने सुचितः । तत्रैव प्रथमाभ्ययनांकाऽ-
 षीचसकुमारत्वेच साधनीया । यथा-आभिहात् जग्याः ह्राभिहा-
 र्क एव दानव, विशातिवर्षाणि पथ्यांय, सतुरेशपुत्राणि भुतम्,
 शयुञ्जये सिद्धिः, तत्त्वतस्त्रयं चतुर्दशदेवकोस्तुतः । अन्त०
 ३ वी० ४ अ० ।
 अधिहृत् (य)-अभिज्ञत-वि० । अनुपछान्ते, प्रश्न० ३ आ-
 अ० डा० । कौ० । निध्वेदिनि, ह० ३ उ० । " आधिहृत्वा य
 संज्ञाया " अतिहृत्ताश्च संज्ञाया गुर्वादिनाऽपि निहुरवको-
 कस्यादयः । पं० व० ४ डा०। प्रश्न० । ह० ।
 अधिहृत् (य) परिणाम-अभिज्ञतपरिणाम-वि० । अनि-
 श्चोऽनुपगतयत् परिणामो येषां ते, अनुपशमपरिणामेषु,
 प्रश्न० १ आश० डा० ।

अग्निमुसिद्धिय-अग्निज्ज्वलेन्निष्कृ-प-मं । अनुपशान्तेन्निष्क्रेषु वे-
हेषु, व० स० । प्र० ५ । वक्र० ५ ।

अग्नीष्टपत्र-अग्नीतिपत्र-मि० । न विद्यते इतिगुरुत्वादिक्वा
येषु ताम्यनीर्तानि । अनीर्तानि पत्राद्यै येषां ते तथा । इतिवि-
दहितच्छेषु, वं० १ । वक्र० ।

अग्नीयस-अग्नीक-न० । इत्यम्बरधरपदातिवृषभनसंकाशपाकजन-
रुगे सत्ये, औ० । न० ।

अग्नीयस-अग्नीयस-पुं० । अहिह्रपुरवास्तव्यनागधरपतेः सु-
हसनामन्यां भाषायां ज्ञातेऽन्यतमे पुत्रे, अन्त० ।

एवं स्वसु भवं । तेषां कालेषु तेषां समेषां अहिलपुरे
प्रायं प्रागेरु हेत्वा । वक्र० । तस्मिन् अहिलपुरस्मिन् उचर-
पुरश्चमेषं दिसिमाए सिरिवणे श्याम उज्जारे हेत्वा । व-
क्र० । जियसपू राधा, तस्य णं जहिल्लुरेण्यरे नागेनामं
गाहाती हेत्वा । अहं जाव अपरिचूए तस्मिन् णं गगस्स
गाहावत्तस्मिन् सुलसा प्रायं भारिया हेत्वा । सुडुमाला
जाव सुकुवा, तस्मिन् णं गगस्स गाहावत्तस्मिन् सुलसाए
नारियाए अत्तए अग्नीयस्स नामं कुमारे हेत्वा । सुडुमादे
जाव सुकुव पंचधातिपरिकल्पे । तं जहा-खीरधातं । जहा
दहपइसे जाव० [गिरिकंदरमंडले] एव चंपगवरपायवे सुईं सुईं
परु इहं । तेषु णं से अग्नीयसं कुमारे] सातरेगा अ-
ह्वासात्रायं अग्ना पियरो कलायारियाओ जाव भोगस-
मत्ये ज्ञाते यावि हेत्वा । तेषु णं ते अग्नीयसं कुमारे उ-
म्युकबालनावं जाणित्ता अग्नापियरो सरिसयाणं जाव
वत्तासाय रायवरकक्षमां एगदिदसेणं पाणी सिद्धाविति ।
तते णं से नागे गाहावती अग्नीयस्स कुमारेस्स इमे एया-
रुत्ते पीइदाणं दलयति । तं अह्वा-वत्तासं हिरिष्कांदांता
नदा महद्वस्स जाव लपि पासा फुरुं विहरति । तेषु
काज्ञेण तेषु समेषां अरहा अरिह्ठनमां जाव समोमदे सि-
रीवणे उज्जाये अरहा जाव विहरति, परिसा. ख. घा ।
तते णं तस्मिन् अग्नीयस्स कुमारेस्स । तं जहा-गोयपा ।
तहा खचरं सामाइयमाइयाति चोइसपुव्वाइं अह्ठिमज्जति ।
बीसं वासाणि परियाओ तेसं तहेइ । जाव सपुजए दहए
माभियाति संदेहगाते जाव सिद्धि एव स्वसु जम्बु समणणं
मगवया महावीरेणं जाव संपत्तयं ।

यथा (वदपचक्षु सि) हठप्रसिद्धो राजप्रकल्पे यथा धर्मित-
स्तथाऽयं वर्णनीयो यावत् 'गिरिकंदरमंडली' एव चंपगवरपाय-
वे सुईं सुईने परिवह्ण, तस्य णं तस्योयसं कुमारे' इत्यादि सर्व-
मन्त्रेषु वक्तव्यम् ; अग्निहोत्रमात्रकृत्यात् । पुस्तकस्य सारि-
सियाणमिन्यादी यावत्करणात् 'सरिसयाणं सरिसलाय-
क' आख्यायुभाषकेषां सरिसंहितो कुलोहितो अष्टिपल्लिया-
मिति वदयम् । 'जहा-अहद्वस्सत्स' 'संगवत्याभित्तस्य तथा
सस्यापि दानं तस्यै वाच्यम् । ' लपि पासावरगए फुहमाणाहि
सुइंगमच्छेपइ भोगमोगां तुंजमाणे विहरइ सि' । 'सपुत्रयप-

व्यए मासियाए संदेइयाए सिद्धे एव वाक्चित्त सुगमम् । अ-
न्त० ३ वगे० ५ मं० ।

अग्नीसम-अग्निमृष्ट-मि० । इत्यप्रमाणव्यवहारावच्छेदिते, वृ-
३ उ० ।

अग्नीसाकट-अग्निआकृत-न० । सर्वगच्छसाधारणे सत्ये, वं०
२ अचि० ।

अग्नीहृद-अग्निहृत्-मि० । अतिष्कासिते, वृ० १ उ० । अग्निहृ-
मिगिते, अनामीहृते च । आ० १ । वृ० १ । वृ० १ ।

अग्नीहारिम-अग्निहारिम-न० । गिरिकन्दावी विश्वामाने पा-
दोपगमनरुणे, कलेवरस्यानिर्हरणीयत्वात् तस्यम् । प्र० १ ३
श० ५ उ० । स्थान० ।

अग्नी-अग्नी-मि० । प्रमाणतः स्तोके, प्र० ३ । सव्य० ५ ।
पं० ५ । आ० मं० ५ । वृ० ५ । सुषे लयी, विशे० । आनु० । स्थान० ।
लघीयसि, आ० १ । वृ० १ । वृ० १ । परमाणी, वृ० ५ । वृ० ५ ।
अग्नीः परमाणुनिर्देशो निरवयवो निष्पदेशोऽप्रदेश इति । विशे० ।
आनु० । अश्व० । पञ्चाक्षर्या, आ० १ । वृ० ५ । मं० ५ । यथा-
उजाते, मि० । स्थान० १ । वृ० ५ । वृ० ५ । वृ० ५ । वृ० ५ ।
वृ० ३ उ० । अश्वधारणे, वृ० १ । वृ० १ ।

अणुअ-अणुक-मि० । तनुके, "अणुअसुकुमासलोमिअकृत्वाचि"
अणुकानां तनुकानामतिसुधमाणां सुकुमालानां लोम्यां स्निग्धा
ववियत्र तस्यथा । जं० ३ । वक्र० । मित्रकवशास्ये धाम्यभेद, इति हे-
मचन्द्रायुवृत्तिः । युगपद्यथा, की० । वं० २ । अचि० । वृ० ।
अणुअसंत-अणुवत्मान-मि० । उच्यतेऽशक्यमागतं, जाव
वृ० ५ उ० ।

अणुअल्ल-देशी-लक्षणरहिते, निरवसरे च । वृ० ना० १ । वगे० ।

अणुअ-देशी-यष्टे, वृ० ना० १ । वगे० ।

अणुअ-देशी-चणके, वृ० ना० १ । वगे० ।

अणुअ-अणुवीर्ये-मि० । आगते, " कायमंफासमणुविद्याए'
कायः शरीरं तस्मिन् रूपशोमनुजीर्णाः कायसंयमागताः । आ० ५ ।
वृ० ३ । वृ० ।

अणुअ-अणुवद-अणुवद-पुं० । अणुवकाले, " विसमं पवाशिषो परिण-
मंति अणुवदुदुदिति पुष्पकम् " स्थान० ५ । वृ० ३ उ० ।

अणुअ-अणुवद-अणुवद-मि० । प्रवर्तिते, नं० ।

अणुअ-अणुवद-अणुवद-पुं० । अणुव सुं महानयंस्ततो महतोऽ-
यंस्याणुना सुवेण योगोऽणुवदः । अणुवोऽजानमनुयोगः । अणु-
रूपो योगोऽणुवदः । अणुवदो वा योगोऽणुवदः । औ० ।
व्याख्याने विधिप्रतिषेधाऽन्याप्रथमप्रकरणे, विशे० । वृ० । मित्रेण-
मिषयेन सार्धमणुवदेषु सन्धये, स० । जी० । स्थान० ।
अणु० । वृ० ५ । वृ० ५ । वृ० ५ ।

- (१) अणुयोगाधिकारे अग्निनामनिर्देशकम् ।
- (२) निरुद्धारम् ।
- (३) सप्तविधाऽनुयोगे नामस्थापनानुयोगी ।
- (४) अणुवदः ।
- (५) अणुवदः ।
- (६) अणुवदः ।
- (७) अणुवदः ।
- (८) अणुवदः ।
- (९) अणुवदः ।
- (१०) अणुवदः ।

- (१०) एषां आनुयोगविषयाणां द्रव्यादीनां परस्परं बन्ध
वन्न सभावयो भजना वा तद्विकरणम् ।
- (११) एकाधिकानां बन्धनात् ।
- (१२) अनुयोगाद्व्याप्यनिर्बन्धनम् ।
- (१३) अनुयोगविधिः ।
- (१४) प्रवृत्तिद्वारम् ।
- (१५) युक्तिष्वप्यनुबन्धुर्भङ्गीनिकरणम् ।
- (१६) केनानुयोगः कर्तव्यः ।
- (१७) कस्य शास्त्रस्यानुयोगः कर्तव्यः ।
- (१८) पञ्चानेषु भूतज्ञानस्यानुयोगः ।
- (१९) तद्द्वारं ऽनुयोगवशात् ।
- (२०) यथोक्तयुक्त्युक्त्य कोऽर्थ इत्यनेन संबन्धेन तद्द्वारम् ।
- (२१) क्वाधिकारः ।
- (२२) चरस्य करणाद्यनुयोगात्तुर्विध्यविकरणम् ।
- (२३) अनुयोगानां वृथक्त्वमायैरक्षितात् ।

(१) अथाऽनुयागाधिकारः, स वैतैर्द्वारानुगतव्यः—

निस्संश्लेषेण चिक्वच—विद्धि पवित्रं च केण वा कस्तः ? ।
 तद्द्वारजेयसकलण—तद्विद्धि परिसा य मुच्यन्ते ॥
 अनुयोगस्य निक्रैपो नामादिन्यासो बकव्यः , तद्वन्तरे तस्यै-
 कार्थिकामि, तदनु मिकर्तं बकव्यम् । ततः को विधिरनुयोगे
 कर्तव्य इति विधिबैकव्यः । तथा प्रवृत्तिः प्रसक्तोऽनुयोगस्य
 बकव्यः । तद्वन्तरे केनानुयोगः कर्तव्य इति बकव्यम् । ततः परं
 कस्य शास्त्रस्य कर्तव्य इति । तद्वन्तरे तस्यानुयोगस्य द्वारा-
 बकव्यमादि वि बकव्यम् । तत्र तेषामेव भेदः, ततः परं तत्रस्य
 लक्षणम्, तद्वन्तरे सुस्वार्थां योग्याः, ततः परं परिच्छेदः,
 ततः सूत्रार्थः । एष द्वारगाथासंज्ञेयाः । व्यासार्थस्तु प्रति द्वारं
 वक्ष्यते । ७० ३ उ० । स्या० अनु० । आ० म० प० । आ० ७० ।

(२) तत्र प्रथमतो निक्रैपद्वारम्—

निस्संश्लेषो नासौ चि य, एगंक्षं सो उ कस्त निस्संश्लेषो ? ।
 अणुश्लोमस्स जगवन्धो, तस्स इमे वक्षिया जेया ॥
 निक्रैपो न्यास इत्येकार्थः । परं द्वारं—स निक्रैपः कस्य कर्त-
 व्यः ? । सूरिारह—अनुयोगस्य भगवतः, तस्य च निक्रैपस्य इमे
 बह्व्यमाणा वक्षिया भेदाः । ७० ३ उ० ।
 अथानुयोगस्यैव संभयन्तं नामादिनिक्रैपमाह—
 नामं उवणा द्रविण, संश्लेषं कश्चिं च वयणजाये य ।
 एसो अणुश्लोमस्स उ, निस्संश्लेषो द्वोऽस्य सविद्धो ॥१८॥
 नामानुयोगः, स्थापनानुयोगः, कल्याणुयोगः, केनानुयोगः,
 कालानुयोगः, बन्धानुयोगः, भावानुयोगः । एषोऽनुयोगस्य
 सप्तविधो निक्रैपः । इति मिथुनिकागार्थः ।

(३) विस्तरार्थे स्वमिथुनस्योप्यकारो नामास्थापनानुयोग—

स्वरूपं तावदाह—
 नामस्स जोऽणुश्लोमो, अह वा सत्सामिहाणपणश्लोमो ।
 नामेष व जों अत्रो, जोगो नामानुश्लोमो सो ॥
 उवणाप जोऽणुश्लोमो—ऽणुश्लोम इति स उविज्जपं जं च ।
 आह इज्जपं उवणा, जोगं क्वणानुश्लोमो सो ॥
 नामेद्वन्द्वोऽनुयोगो व्याख्यात्मनो नामानुयोगः । अथवा
 बन्ध वदन्तुनाऽनुयोग इति नाम क्लिप्ते तथामनाज्ञानानुयोगो
 नामानुयोग इत्युच्यते । यदि वा नाम्ना सह यः क्लिप्तोऽनुश्लो-

पो योगः संबन्धः स नामानुयोगः, नाम्ना सहानुक्रयोऽनुक्रुतो
 योगो नामानुयोग इति व्युत्पन्नः । यथा—दीपस्य दीपनाम्ना
 सह, तदपस्य तपनानाम्ना सह, ज्वलनस्य ज्वलनानाम्ना सह
 इत्यादि । एवं स्थापनाया अनुयोगो व्याख्यानं स्थापनानुयोगः ।
 अथवा अनुयोगं कुर्वन्नाथाप्यदियेव काश्चाद् स्थाप्यते तस्या-
 पनानुयोगः । यावद्विहाणुयोगकर्तुराथावादेस्तदाकारयति हे-
 त्वकमादीं योग्याऽनुक्रुते स्थापनापि च । एवं नामस्थापनां मुक्त्वाऽनुयोगः ।
 स्थापनाया अनुक्रुतोऽनुक्रुतो योगः संबन्धः स्थापनानुयोग इति
 व्युत्पत्तेः । इति निक्रैपद्वारम् । विरो० ।

(४) अथ द्रव्यानुयोगमाह—

सामिष करण अद्विगरण, एद्विं एगेषे व बहुषे य ।
 नामं उवणा मोंषुं, इति द्रव्यादीण उभयेया ॥
 स्वामित्तं संबन्धः, करणं साधकतमम्, धमिक्त्वम्, अमिक्-
 त्वमाधारः, एतैः प्रत्येकमेकत्वेन बहुत्वेन च पञ्चानां द्रव्यादी-
 नामनुयोगो बकव्य इति । एवं नामस्थापनां मुक्त्वाऽनुयोगः ।
 नामानुयोगस्य प्रत्येकं परममेवा भवन्ति । ७० ३ उ० ।

तथाहि—

द्वषस्स जोऽणुश्लोमो, द्बेषे द्बेषेण द्बषेहेउस्स ।
 द्बषस्स पञ्जावेषे व, जोगो द्बेषेण वा जोगो ॥
 बहुवयणश्लो वि एवं, नेत्रो जो वा कदं व अणुभवत्तो ।
 द्बन्धानुश्लोम एसो, एवं खेवाऽप्याणं पि ॥

द्रव्यस्य योगो व्याख्यानमेव कल्याणुयोग इति त्रितीयगा-
 ध्यायां संबन्धः । तथा क्ये निषदादाधिकरणभूते स्थित-
 स्थापनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्येषु वा सूरिपाथाप्याकला-
 दिना करणभूतेनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्यहेतोवो शिष्य-
 क्यप्रतिबोधनादिनिमित्तमानुयोगो द्रव्यानुयोगः । अथवा
 कल्याणु बन्धादेः कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह य इह यो-
 गोऽनुक्रुतो योगः संबन्धः, स द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्यणा-
 म्नीकादिना क्लवा यस्यैव बन्धाद्वैतस्यैव कुसुम्भरागादिना
 पर्यायेण सह योगोऽनुक्रुतो योगः संबन्धः स द्रव्यानुयोगः ।
 एवं बहुवचनतोऽपि शेषो द्रव्यानुयोगः । तद्यथा—द्रव्याणां द्र-
 व्येषु द्रव्यैर्वाऽनुयोगो द्रव्यानुयोगः, तथा द्रव्याणां हेतोरनु-
 योगो कल्याणुयोगः, द्रव्याणां पर्यायेः सह क्येवो करणभूतेर-
 नुक्रुतो योगो द्रव्यानुयोग इति ॥ यो वाऽनुपयुक्तः कथयत्यनु-
 पयुक्तोऽनुयोगं करोति, स कल्याणुयोगः । एवं केनानामपि
 क्षेत्रकालबन्धनमावेष्यपि यथासंभवमित्यभेदावयव इत्यर्थः ।
 तद्यथा—क्षेत्रस्य क्षेत्रेषु क्षेत्रे क्षेत्रानां क्षेत्रैः क्षेत्रेष्वनुयोगः क्षे-
 त्रानुयोगः, तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा हेतोरनुयोगः क्षेत्रानुशा-
 पनाय क्षेत्रेभ्यःकवत्वीदीनामनुयोगो व्याख्यानं यत्किञ्चत इ-
 त्यर्थः । तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा क्षेत्रेषु क्षेत्रेषु करणभूतेः
 पर्यायेण पर्यायेर्वा सहानुक्रुतोऽनुक्रुतो योगः क्षेत्रानुयोगः । एवं
 कालबन्धनमावेष्यपि ज्येष्ठकचनबहुवचनान्यां सुधिया यथा-
 संभवं चाप्यम, नवरं, कालादिस्वामितायः कार्य इति द्रव्य-
 स्थापनानुयोगो व्याख्यानं द्रव्यानुयोग इत्यादावभिहितम् । विरो० ।

(५) तत्र कतिभेदं तद्रव्यं किंस्वकपञ्च तस्यानुयोग इत्याशङ्क्याह—

द्वषस्स उ अणुश्लोमो, जं वद्वषस्स वा अज्जि वद्वषस्स ।
 एकैकांम्य य भेया, ह्वंति द्बन्धाऽया वउरो ॥

अपिहृतित्थि-अभिज्ञेत्थि-वि० । अनुपशास्त्रेऽपिहृतित्थि-
हेतुः, व० स० । प्र० ५, लम्ब० ३० ।

अपीडपत्त-अनीतिपत्त-वि० । न चिद्यते इतिगुरिकादिकया
येषु ताम्यनीतीनि । अनीतीनि पत्रापि येषां ते तथा । इतिवि-
दितत्तत्तयेषु, अ० १ वक्र० ।

अपीय-अनीक-न० । इत्यवभारतपत्रातिवृत्तमनसकगायकजन-
के सन्धे, औ० । न० ।

अपीयस-अपीयस-पुं० । अहिब्रुवास्तव्यनागपदपतेः सु-
हसनामभ्यां भावायां ज्ञातेऽप्यतमे पुंषे, अम० ।

एवं स्तुतु जन्व ! तेषां कालेषु तेषां समेषां भविलपुरे

एषाम् एगरे हेतव्या । वक्ष्यते । तस्य एं भविलपुरस्त उचर-
पुरश्चिमेणं दिसिभाए तिरिवणे एषाम उज्जाये हेतव्या । व-

क्षयते । जितसत्तू राधा, तस्य एं जहिलुः एणरं नागेनामं
गाहातती हेतव्या । अह्ने जाव अपरिचूए तस्य एं पागस्त

गाहावतिसम सुलसा एषामं भारिया हेतव्या । सुडुमाला
जाव सुकूवा, तस्य एं एगस्म गाहावतिसस सुससाए

जावियाए अत्तए अपीयसेनामं कुमारं हेतव्या । सुडुमाजे
जाव सुकूव पंचधातिपरिकल्पे । तं जहा-स्त्रीधातं । जहा

दवपसे जाव० गिरिकदरमह्ने । एव चंपगवरपायवे सुडं सु-
हेणं पराहते । तते एं से अपीयसें कुमारं सातिरेगा अ-

डुवास्तजायं अम्मा पियरो कडावयियाओ जाव भोगस-
मत्ये ज्ञाते यावि हेतव्या । तते एं ते अणपिसं कुमारं उ-

म्बुकवालजावं जाविया अम्मापियरो सरिसयाणं जाव
बीसया सं रायवरकस्यतां एगदिकसेणं पाणी विहाडिवाते ।

तते एं से नागे गाहावती अपीयसे कुमारस्त एं ये एया-
रुचे पीड्दानं दलयति । तं जहा-वत्सां हिरेस्यकांतीता

जदा महव्वस्त जाव ढापि पासा कुडं विहरति । तेषां
काज्ञेण तेषां समेषां अरहा अरिहतेनामं जाव समामडे सि-

रीवणे उज्जाये अरहा जाव विहरति, परिसा एग. या ।
तते एं तस्य अपीयसे कमारस्य । तं जहा-गोयमा ।

तदा एवरं सामाडयमाडयति चोइसपुव्वाडं अद्रिमज्जति ।
बीसें वासाणि परिआओ मेसें तदेव । जाव सतुजए ९९वए

मानियाते संसिहणति जाव सिद्धि एव स्तुतु जन्व समणयां
भगवया महावीरयां जाव संपणेयां ।

यथा (वदपकथं वि) ददमनिहो राजप्रककते यथा वनिन-
कतयाऽयं वणनीयो यावत् गिरिकदरमह्नीयां एव चंपगवरपाय-

वे सुडं सुतेणं परिवद्वद, तप एं तमपीयसें कुमारं इत्यादि सचं-
मन्नुव्व वकव्यम् ; अमिहानमात्रकणया । पुस्मकस्य सारि-

सियापमित्यादी यावत्कणयात् सारिसयाणं सारिसलावक-
क आम्बणयुजावकेयाणं सारिरोहिणे कुजेहितो अणुपल्लियाण-

मिति दइयसु । जहा-अहव्वस्त वि भगवयामिहितस्य तथा
हस्यपि वानं सत्यं वाच्यसु । ढापि पासावरमए कुडुमापेहिं

सुडंमत्तव्येहिं भोगभोगां सुंजमाये विहरदि वि । सलुंजय-

व्यए मासियाए संज्ञेदणाए सिडे एव कविविति सुगमसु । अ-
स्त० ३ वण० ५ अ० ।

अपीसद-अनिमृष्ट-वि० । इस्तप्रमाणवचमहादस्कोदिते, वृ०
३ उ० ।

अपीसाकृद-अनिभ्राकुत-न० । सर्वगच्छसाधारणे केत्ये, व०
२ अधि० ।

अपीहिद-अनिर्दूत-वि० । अनिष्कालिते, वृ० १ उ० । अषादि-
निर्गते, अनास्मीहते च । आवा० १ वृ० १ अ० १ उ० ।

अपीहारिम-अनिहारिम-न० । गिरिकदरराई विधीयमाने पा-
दोपगमनमरणे , कलेवरस्यानिहरेणीयाद्यात् तत्तम् । ज० १ ३
श० उ० । स्था० ।

अपु-अपु-वि० । प्रमाणतः स्तोके, प्र० ३ सव्य० ३० ।
पं० व० आ० म० ङि० सु० अ० सुमे लयी, विरो० आनु० स्था० ।

लघीयसि, धावा० १ अ० १ उ० । परमाशी, श्राव० ५ अ० ।
अपुः परमाशुनिंशो निरवययो निपदेशोऽप्रवेश इति । विरो० ।

अनु-अव्य० । पञ्चाच्छब्दाथे, आवा० १ वृ० ५ अ० उ० । पञ्चा-
ज्जाते, वि० स्था० १ उ० । अनुकृ, उ० १ २ अ० समाप, वृ०
३ उ० । अवधारणे, वृ० १ उ० ।

अणु-अणुक-वि० । तनुके, "अणुसुकुमासलोमिणञ्जकृत्वि" ।
अणुकानां तनुकानामतिसुधमाणां सुकुमालानां लोम्यां स्निग्धा

नवियं तत्तथा । ज० ३ वक्र० । मिणचवाक्ये धाम्यभेद, इति हे-
मन्नाश्रयवृत्तः । युगययाम, क्ली० । व० २ अधि० वृ० ।

अणुअतं-अणुवर्त्तमान-वि० । उचरवदेशाकालमागत, वि०
वृ० ५ उ० ।

अणुअसं-देशो-क्षणरहिते, निरवसरे च । हे० ना० १ वणं ।
अणुआ-देशी-यष्टे, हे० ना० १ वणं ।

अणुअसं-देशी-लणके, हे० ना० १ वणं ।
अणुअस-अणुवीर्य-वि० । आगते, " कायमंकासमणुचिष्णाए "

कायः शरीरं तस्मै स्पशमनुचीर्षाः कायसंगमागताः । आवा० २
वृ० ३ वृ० ।

अणुउद-अनृत-पुं० । अस्वकालं, " विस्वमं पवाशिपो परिण-
मंति अणुदुदुदिति पुष्ककसं " स्था० ५ ज० ३ उ० ।

अणुभोइय-अनुयोजित-वि० । प्रवर्तिते, न० ।
अणुभोग-अणु(तु)योग-पुं० । अणुसुधं महानयस्तेना महतोऽ-

र्थस्वाणुना सुधेण योगोऽणुयोगः । अनुयोजनमनुयोगः । अनु-
कपो योगोऽणुयोगः । अनुकूलो वा योगोऽणुयोगः । अ० १ ।

व्याख्याने विधिप्रतिषेधाच्यामयप्रकरणे, विश० ० ३० । निजेना-
विधयेन साधेयतुके सत्येभ्ये, स० । अ० १ । स्था० ।

अनु० । आ० म० प० । आवा० ।
(१) अनुयोगाधिकारे द्वारनामनिर्देशमम् ।

(२) निकेपद्वारम् ।
(३) सप्तविधातुयोगे नामस्थापनातुयोगी ।

(४) द्रव्यातुयोगः ।
(५) द्रव्यातुयोगभेदस्वकपनिकपणम् ।

(६) सैवातुयोगनिकपणम् ।
(७) कालातुयोगनिकपणम् ।

(८) वचनातुयोगनिकपणम् ।
(९) भाषातुयोगस्य वषां प्रकाराणां प्रदर्शनम् ।

- (१०) एषां चानुयोगविषयार्थां द्रव्यादीनां परस्परं बन्ध यत्र समावेशो भजना वा तत्रिकपणम् ।
- (११) एकधिकानां बन्धव्यता ।
- (१२) अनुयोगसम्बन्धार्थनिर्बन्धनम् ।
- (१३) अनुयोगविधिः ।
- (१४) प्रवृत्तिद्वारम् ।
- (१५) युक्तविषययोश्चानुयोगविकल्पम् ।
- (१६) केनानुयोगः कर्तव्यः ।
- (१७) कस्य शास्त्रस्यानुयोगः कर्तव्यः ।
- (१८) पञ्चज्ञानेषु बुतज्ञानस्यानुयोगः ।
- (१९) तद्द्वारे ऽनुयोगलक्षणम् ।
- (२०) यद्योक्तगुणस्य कोऽई हत्यनेन संबन्धेन तद्द्वारम् ।
- (२१) कथाधिकारः ।
- (२२) बरक्षकरशाघनुयोगचानुविषयविकल्पम् ।
- (२३) अनुयोगानां पृथक्त्वमायत्तलिनात् ।

(१) अथाऽनुयोगाधिकारः, स वैतैर्दीर्घरुणन्तम्यः—

निकलेषोऽपि गिरुच-विहि परिचीं य केष वा कस्त ई ।
तदारजेलयत्वेण-तद्विद्द परिसा य मुचन्त्यो ॥

अनुयोगस्य निकेषो नामादि-व्यासो बन्धव्यः, तदनन्तरं तस्ये-
काधिकानि, तदनु निकर्तं बन्धव्यम् । ततः को विधिरनुयोगे
कर्तव्य इति विधिर्बन्धव्यः । तथा प्रवृत्तिः प्रलसोऽनुयोगस्य
बन्धव्यः । तदनन्तरं केनानुयोगः कर्तव्य इति बन्धव्यम् । ततः परं
कस्य शास्त्रस्य कर्तव्य इति । तदनन्तरं तस्यानुयोगस्य द्वारा-
बन्धकमादिनि बन्धव्यानि । तत्र तेषामिव भेदः, ततः परं परिषद
लक्षणम्, तदनन्तरं सूत्रस्यार्थां योयाः, ततः परं परिषद
ततः सूत्राः । एष द्वारागथासंकेपाद्यः । व्यासाद्यस्य प्रति द्वारं
वचयते । ७० १ उ० । स्या० । अनु० । आ० म० प्र० । आ० ७० ।

(२) तत्र प्रथमतो निकेषद्वारमाह—

निकलेषो नामो वि य, पण्ड ई उ कस्म निकलेषो ? ।
अणुश्रोगस्य जगत्वर्था, तस्म ईमे वक्षिया जेषा ॥
निकेषो म्यास इत्येकार्थः । पर इह - स निकेषः कस्य कर्त-
व्यः ? । सुरिराह-अनुयोगस्य भगवतः, तस्य च निकेषस्य इमे
वक्ष्यमाणो बाणितो भेदाः । ७० १ उ० ।

अथानुयोगस्यैव संभयन्तं नामादि निकेषमाह-
नामं उषणा दविष, लेषे कांश्च य पयणजावे य ।
एसो अणुश्रोगस उ, निकलेषो द्वोइ स चविहो ॥३८॥
नामानुयोगः, स्थापनानुयोगः, कल्याणुयोगः, क्षेत्रानुयोगः,
काष्ठानुयोगः, बन्धनानुयोगः, आवातुयोगः । एषोऽनुयोगस्य
सप्तविधो निकेषः । इति निर्दिष्टिनायायः ।

(३) विस्तरार्थं त्वभिविस्तुर्नोष्णकारो नामक्यापमानुयोग-
स्वरूपं तत्त्वदाह-

नामस्स जोऽणुश्रोगो, अह वा जस्ताभिहाणमणुश्रोगो ।
उषणा व जो श्रो, जोगो नामाणु श्रोगो सो ॥
उषणा ए जोऽणुश्रोगो-ऽणुश्रोग इह व उषिज्ज ए व ।
जावेइ जस्स उषणा, जोम इषखाणुश्रोगो सो ॥

नाम इत्यादिषोऽनुयोगो व्याख्यात्मकसौ नामानुयोगः । अथवा
वक्ष्य वस्तुषोऽनुयोग इति नाम किञ्चे अद्यामायेषानुयोगो
नामानुयोग इत्युच्यते । यदि वा नामा सह वः कश्चिद्योयोऽणु-

यो योगः संबन्धः स नामानुयोगः, नाम्ना सहानुक्रपोऽनुक्रो
योगो नामानुयोग इति व्युत्पत्तेः । यथा-दीपस्य दीपनाम्ना
सह, तपस्य तपनाम्ना सह, ज्वलनस्य ज्वलनानाम्ना सह
इत्यादि । एवं स्थापनाया अनुयोगो व्याख्यानां स्थापनानुयोगः ।
अथवा अनुयोगं कुर्वन्नाम्नादियेषु काष्ठादीं स्थाप्यते तस्या-
पमानुयोगः । यावदिहाणुयोगकर्तुराचार्यादिसहाकारविशे-
ष्यकर्मादी योग्याऽनुक्रया स्थापना कियते, स स्थापनानुयोगः ।
स्थापनाया अनुक्रपोऽनुक्रूलो योगः संबन्धः स्थापनानुयोग इति
व्युत्पत्तेः । इति निकेषद्वारम् । विशेषे० ।

(४) अथ द्रव्यानुयोगमाह-

सामिच करण अहिरण्ण, वहीँ एणस्य य वतुस्य य ।
नामं उषणा मोंनु, इति इव्वादीण उठ्ठेभया ॥

स्वामित्वं संबन्धः, करणं साधकतमम्, अधिकृतत, कान्तिक-
रणमाधारः, एतैः प्रत्येकमेकत्वेन बहुत्वेन च पञ्चानां इव्यादी-
नामनुयोगां बन्धव्य इति । एवं नामस्थानानां अनुक्रया-
नामनुयोगस्य प्रत्येकं बहुभेदा भवन्ति । ७० १ उ० ।

तथाहि-

द्वन्द्वस्स जोऽणुश्रोगो, द्वन्द्वे द्वन्द्वेण द्वन्द्वेउत्तस ।
द्वन्द्वस्स पज्जेव च, जोगो द्वन्द्वेण वा जोगो ॥
बहुवचणुश्रो वि एसो, न्नेओ वि वा इहव अणुवउचो ।
द्वन्नाणुश्रोग एसो, एवं लेवाऽप्याणं वि ॥

द्रव्यस्य योगो व्याख्यानमेव कल्याणुयोग इति द्वितीयमा-
थायां संबन्धः । तथा द्वन्द्वे निषयादाबाधिकरणभूते स्मित-
स्यानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्येण वा चौरायापयसकला-
दिना करणभूतेनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्येहेतोर्बो विध्य-
द्वयप्रतिबोधनादिनिमित्तमनुयोगो द्रव्यानुयोगः । अथवा
द्वयस्य बन्धावेः कुसुम्भरागदिना पर्यायेण सह य इह यो-
गोऽनुक्रपो योगः संबन्धः, स द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्येणा-
म्लोकादिना कृत्वा यस्यैव बन्धादस्सैव कुसुम्भरागदिना
पर्यायेण सह योगोऽनुक्रपो योगः संबन्धः स द्रव्यानुयोगः ।
एवं बहुवचनतोऽपि ज्ञेयो द्रव्यानुयोगः । तद्यथा-द्रव्याणां द्र-
व्येषु द्रव्यैर्वाऽनुयोगो द्रव्यानुयोगः, तथा द्रव्याणां हेतोरनु-
योगो कल्याणुयोगः, द्रव्याणां पर्यायेः सह द्वयैर्बो करणभूतै-
रनुक्रपो योगो द्रव्यानुयोग इति ॥ यो वाऽनुपपुक्तः कथयत्यनु-
पपुक्तोऽनुयोगं करोति, स कल्याणुयोगः । एवं क्षेत्रानामपि
क्षेत्रकालबन्धनमायैष्वपि यथासंभवमभिव्यक्त्याप्येव इत्यर्थः ।
तद्यथा-क्षेत्रस्य क्षेत्रेण क्षेत्रे क्षेत्रानां क्षेत्रेः क्षेत्रानुयोगः क्षे-
त्रानुयोगः, तथा क्षेत्रस्य क्षेत्रानां वा हेतोरनुयोगः क्षेत्रानुवा-
पनाय वेद्येन्द्रकवर्षादीनामनुयोगो व्याख्यानां यत्कियत इ-
त्यर्थः । तथा क्षेत्रस्य क्षेत्रानां वा क्षेत्रेण क्षेत्रैर्बो करणभूतैः
पर्यायेण पर्यायेर्बो सहानुक्रपोऽनुक्रूलो योगः क्षेत्रानुयोगः । एवं
कालबन्धनमायैष्वप्येवोऽप्येकवचनबहुवचनान्यां सुधिया यथा-
संभवं वाच्यम्, नभवं, काष्ठादिष्वभिलाषः कार्ये इति द्रव्य-
स्यानुयोगो व्याख्यानां द्रव्यानुयोग इत्यादावभिहितम् । विशेषे० ।

(५) तत्र कतिभेदं तद्रव्यं किञ्चकपथ तस्यानुयोग
इत्याह इत्याह-

द्वन्द्वस्स उ अणुश्रोगो, जीवद्वन्द्वस्स वा अज्जीवद्वन्द्वस्स ।
एकेकांम्य य भेषा, हर्बति द्रव्याऽया उचरो ॥

द्रव्यस्यानुयोगो द्विधा-जीवद्रव्यस्य वा अजीवद्रव्यस्य वा, एकैकविक्रमयोगे द्रव्यादिकाद्यत्कारो भेदा भवति । किमुक्तं भवति ।-जीवद्रव्यानुयोगोऽजीवद्रव्यानुयोगो वा प्रत्येकं भवतिः केनतः कालतो भावतश्च भवति ।

तत्र जीवद्रव्यानुयोगं द्रव्यादित्वाद्-
द्व्येयोर्कं त्वेव, संसारीतत्पदेसमोगाहं ।

काले अनादिऽनिहृष्टे, चात्रे नाशायाऽऽंता ॥

द्रव्यतो जीवद्रव्यमेकं, सेवतोऽसंख्येयप्रदेशावगाहं, कालतोऽभाषानिश्चनं, भावतो ज्ञानादिकाः पर्याया अनन्ताः । तथा अनन्ता ज्ञानपर्याया अनन्ताऽऽतिरिचपर्याया अनन्ता दर्शनपर्याया अनन्ता अणुवस्तुपर्यायाः ।

अणुना द्रव्यादितिऽजीवद्रव्यस्यानुयोगमाह-
एवैव अजीवस्स वि, परमाणु द्व्येवैगच्छं तु ।

त्वेवे एवपत्से, अगोदो सो जवे नियमा ॥
समयादिति असंसा, आसापिणिको हृषति कालमि ।
वधादि चावऽंता, एवं दुपदेसमादी वि ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, अजीवद्रव्यस्यानुयोगो वक्ष्यः, तद्यथा-परमाणुसंख्येत एकं वक्ष्यम्, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाहय कालतो उच्यन्वतः स्थितिः समवायिको ह्यी चये वा । समवायुकथेतोऽसंख्यावगाहय । असंख्येया इत्यपिष्योऽवसर्वा-वक्ष्यं भवति । ज्ञावतो अनन्ता वर्णादियर्थाः । तद्यथा-अनन्ता वर्णपर्यायाः, अनन्ता गन्धपर्यायाः, यावद्वनन्ताः स्पर्शपर्याया इति । एवं चिद्विशेषादेरपि । द्विप्रदेशकस्य वावद्वनन्ताप्रदेशिकस्योपेतु-य वक्ष्यम् । तद्यथा-द्विप्रदेशकः स्फुटो द्रव्यतः एकं द्रव्यं, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाहः, द्विप्रदेशावगाहो वा । कालतो ज-ज्ञवतः स्थितिः, समवायिकथेत असंख्या उन्सर्पिष्योऽवसर्पयव एव इत्यादि ।

अथ द्रव्याणामनुयोग इत्येतद् ब्याहिक्यासुराह-
द्रव्याणं अणुभोगो, जीवमर्जावाण पञ्जवा नेवा ।

स्तव वि व मगखाभो, ऽयोगे सहाखपरत्रासे ।

द्रव्याणामनुयोगो द्विधा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां वा । किं कथोऽसत्त्वात्साह ?-पर्यायाः प्रकृत्यमाणा हेयाः । तथादि-कतिविधाः यद्वन्त । पर्यायाः प्रकृताः । गीतम् ! क्विचिदाः । तद्यथा-जीवद्रव्याणामर्जावद्रव्याणां च । तत्राप्यनेकाः स्व-स्थाने वा परस्थाने वा मार्गणाः । तावद्यत्-नैरविकिणाणामसुर-कुमारानां च कति पर्यायाः प्रकृताः । गीतम् ! अनन्ताः । अथ केनायेनेवमुच्यते । गीतम् ! नैरविकोऽसुरकुमारस्य द्रव्यार्थतया तुष्यः, प्रत्येकमेकद्रव्यत्वात्, प्रत्येकार्थतयाऽपि तुष्यः, प्रत्येकं भोकाकाराप्रदेशत्वात् । स्थित्या चतुःस्थानगतितः, भावतः यद-द्रव्यानपतितः, ततो भवति नैरविकिणाणामसुरकुमारानां प्रत्येकं पर्याया अनन्ताः । एवमर्जावद्रव्याणां पर्याया अपि, एवं स्व-स्थाने परस्थाने वा मार्गणाः । ('परमाणु योगमज्ञाषं नते ।' इत्या-दि 'पञ्च' शब्देऽभिधास्यते) ततो भवन्ति इयानामपि प्रत्ये-कमनन्ताः पर्यायाः । एवमनेकधा जीवद्रव्याणां अजीवद्रव्याणां वाऽऽनुयोगः, खूषे तत्र तत्र प्रवेशोऽभिविधौ ज्ञावर्णावस्तरेषं द्रव्याणां भेति स्थानितेषं गतम् ।

इदानीं करणे एकवचनव्याख्यामनुयोगमाह-

वृत्पि अक्षलेण च, करणुलादीद्य वा वि द्बन्वै ।

अक्षलेर्द्वे तु द्बन्वैर्हि, आदिगरणे बहुषु कपेत्तु ॥

वर्तिनाम कटिका, तत्र या कृता शशाका तथा, बभोष वा, क-राकृष्या वा, आदिगुणशशकेपकादिना वा वाः कियतेऽनुयोगः स द्रव्येणानुयोगः । इत्यैरनुयोगो यद् बहुजुनिरकैः कियतेऽनुयोगः । अधिकरणे एकस्मिन् द्रव्येऽनुयोगो यदा एकस्मिन् कल्पे स्थि-ताऽनुयोगं करोति, यदा तु बहुषु कल्पेषु स्थितस्तदा द्रव्येषु अनुयोगः । उक्तो द्रव्यानुयोगः यद्वेदः । ७० १ उ० । वि०० । इथा० । ('पराविदे द्रवियाणुभोगे' इति 'द्रव्यानुभोग' शब्दे व्याख्यासहितं सूत्रम्)

(६) सम्प्रति क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वाऽऽनुयोगमाह-

एएएति-जंबूद्वि, खेपस्संसाहं होइ अणुभोगो ।
त्वेचाणं अणुभोगो, दीवसमुहाण पथती ।

क्षेत्रस्यानुयोगः क्षेत्रानुयांण एवमादिको भवति । क इत्याह ?- [एवमितिऽनुयोगे सि] अन्वृत्तीप्रकृतिरित्यर्थः । अन्वृत्तीपत्र-कथकक्षेत्रस्याख्यानरूपतासत्त्वाः । बहुना तु क्षेत्राणामनुयोगो ह्यपसाणप्रकृतिर्भवति । बहुनां ह्यपसस्युक्तक्षेत्राणां तत्र व्या-ख्यामादिति । तत्रेषं क्षेत्रस्य क्षेत्राणामनुयोग इत्युक्तम् ।

अथ क्षेत्रेण क्षेत्रानुयोग इत्येतदाह-

जंबूद्विपमाणां, पुद्विजिवाणं तु पत्थयं काठं ।
पवमसंस्तिज्जाया, इवंति लोगा असंस्तिजा ॥
खेत्तेर्द्वि बहुद्वि, पुद्विजिवाणं तु पत्थयं काठं ।
एवमसंस्तिज्जाया, इवंति लोगा असंस्तिजा ॥

इद अन्वृत्तीपमानं प्रस्थकं पत्थयं कृत्वा पुनस्त-रूपणविरचितक-मेषु यदा सषंशेपि मूहप्रभावरूपेकीकायिका जीवा मीयन्ते तथा असंख्येयलोककाराप्रदेशसंख्येयानां अन्वृत्तीपमानं प्रस्था-भवन्तीयेव क्षेत्रस्य अन्वृत्तीपकपेणानुयोगोऽभिधीयत इति । क्षेत्रैस्त्वनुयोगोऽयं प्रथमः । तद्यथा-बहुद्विपप्रस्थकं कृत्वाऽऽजिघंनं त-रूपणविरचितकमेषु यद्वस्तुपत्थयं कृत्वा जीवा मीयन्ता अत्र-कृत्येयलोककाराप्रदेशराशिपरिमाणा बहुद्विपमानप्रस्था प्र-थमः । एतदसंख्येयकं पुर्वस्मात्पुनरुक्तं द्रव्यम् । प्रस्थस्यैव वृ-हत्तरावधेय बहुद्विपमहतीः क्षेत्रानुयोग इति ।

अथ क्षेत्रे क्षेत्रेषु चानुयोगमाह-

त्वे तन्मि तु अणुभोगो, तिरारं होगामि जन्मि वा खेवे ।
अणुहवदीवेषुं, अणुत्तीवसाहं खेत्तेषुं ॥

क्षेत्रे पुनरयमनुयोगः, तथा तिरारंभोकाक्षेत्रे चोऽनुयोगः प्रवर्षते यत्र वा आमननरादी । अथान्यत्रसादी वा क्षेत्रे स्थितोऽनुयोग-कसोऽनुयोगं करोत्येव क्षेत्रानुयोगः क्षेत्रानुयोग इत्येतत् । क्षेत्रेषु अनुयोगः क इत्याह-योऽन्वृत्तीपकपेणानुयोगोऽभिधीयत इति, साक्षेऽप्यभिधीयतिऽवप्रकृत्युप वा अथक्षेत्रेभ्यः । उक्तः बहुषुः क्षेत्रानुयोगः ।

(७) अणुना कालस्य कालानां चानुयोगमाह-

कालस्स समयरुचण, कालाण तदाइ जाव सम्बन्धा ।
कालेणऽनिलऽवराहो, कालोर्द्वे तु ससकायाणं ॥

कालस्यानुयोगः, क इत्याह ?-(समयरुचय सि) उन्वक्षयकश-तनेदपरादिकापाटमादिदृष्टान्तेः समयस्य प्रकृत्येयर्थः । का-लानां त्वनुयांणः-(तदा जाव सम्बन्ध सि) समयमादी कृत्वा वाच्यं त्वन्यायाः प्रकृत्येयर्थः । कालेणानुयोगोऽभिधापराः । इत्युक्तं प्रवृत्ति-वारपर्यायव्याख्याकारैः वैकिकरादीरे वषेजा-

ना इत्येवमेषोपमस्यासंबन्धेयमेतानेवापदिबन्ध इत्येवं प्रकृत्या, स काशेमानुश्लोम इति कोऽत्राचार्यटीकायां विवृणुमः । अन्यत्र स्व-
नुश्लोमश्लाहादिषु वैकिक्यशरीरेषां वाच्यः क्लेषपदेषोपमासंबन्धे-
भागप्रदेशपरिमाणा इत्यन्वये । तदर्थं तु केचन्नितो विद्वान् । शेषा-
नां तु बुधिव्यादिकाकारणां च धारासंघः कालेरनुश्लोमः । तद्यथा—
"एकत्रबायरात्मन्-असंखया इति श्लाघित्यवमा स्ति ।"

आयत्तिकाकार्यां वापसः समयास्तेषां वर्गः क्रियते-तथाविधेषु
चासंबन्धतेषु वर्गेषु वाच्यतः समयास्तत्रमात्राः वादरपयांततज-
स्कायिका भवन्ति, तथा प्रत्युत्पन्नस्कायिका असंबन्धेयाभिरु-
त्सर्पियवस्वर्षिणीभिरपद्विभ्यते । एवं बुधिव्यादिष्वपि यथासं-
भवं चाप्यविति ।

अथ काशे कालेषु चानुश्लोममाह—

कालमि वीयपोरिसि, समामु सिदु दोमु वा वि कालेसु ।
प्रथमपौरुष्वा किल सुधमप्यतय्य, द्वितीयोपौरुष्वां नु तस्यानु-
श्लोमः प्रवर्षते, अत्र इह कालस्य प्राधान्येन शिबङ्गनाःकाले
रितीभसौबचीकङ्कणेषुश्लोमः कालानुश्लोम इत्युच्यते । तथाऽ-
वशासिष्यां सुधमदुःषमादुःषमसुधमादुःषमाकपासु तिमुषु
(समासुक्षि) मिष्वरकेषु अनुश्लोमः प्रवर्षते माष्वत्र । उत्सर्पिष्यां
तु दुःषमसुधमासुधमदुःषमाकपासुःषमाकपासुःषमसुधमाकपासु-
नुश्लोमः प्रवर्षते माष्वत्र । अथ च काशेषुश्लोमः कालानुश्लोमो-
ऽस्तिधीयते । तदर्थं प्रथितः बह्विधः कालानुश्लोमः ।

(८) संप्रति वचनस्य वचनानां चाऽनुश्लोममाह-
व्ययसंज्ञेयवार्हा, वयशाणं सोऽस्यसंज्ञं तु ।

(वचनस्तेत्यादि) इत्यं नुतमेकवचनं भवत्येवंतूतं वा द्विव-
चनान्तरां वा बहुवचनसंज्ञेयस्य एकवचनमाद्यप्यतरवचनस्य
योऽनुश्लोमः, स च वचनस्यानुश्लोम उच्यते । वचनानां त्वनुश्लोमः
चोऽनुश्लोमस्यानुश्लोमः [योऽनुश्लोमनामि 'वचन' शब्दं वच्यन्ते]
वचनानामनुश्लोमः-अ एवे इव वचनादीनामेकवर्षिणशिवचनानां व्या-
च्येति वचनानामनुश्लोमः ।

अथ वचनेन वचनैर्वचनेऽनुश्लोम इत्येतदाह—
वयशेषोऽप्यारिष्या, एकेषुषो बर्हुर्हं वयशेर्हि ।

वयसे सत्रोवसमिए, वयसे पुषु नरिए अणुश्लोमो ॥

वचनेनानुश्लोमो यथा-कश्चिदाचार्यादिः साध्यादिना सहनेके-
नामि वचनानुश्लोमोऽनुश्लोमं करोति । वचनैस्त्वनुश्लोमो-यद्-स
एवासहस्रं बहुभिर्बन्धैरुपार्थितसं करोति । हायोपशमिके व-
चने स्थितस्यानुश्लोमो वचनानुश्लोमः । वचनेषु पुनर्नोऽनुश्लोमः,
वचनस्य चाद्योपशमिकेवैकैस्त्वानुश्लोमः । अन्वये तु अन्वय-
क्षेत्रेणैव हायाः तथैव हायोपशमिकेषु बहुषु वचनानुश्लोमो इत्य-
वधिकरन्नेवेति । तदर्थं पञ्चविधः बह्विधो वा निर्दिष्टो वचनानु-
श्लोमः । ८ । १ । ८०

शुद्धवागनुश्लोमः—

दमादिहे मुच्छावावागुजोमे वसुषे । तं अहा-बंकारे मं-
कारे षिकारे सयंकारे सायंकारे एगचे बहुषे संज्हे सं-
कामिए षिषे ॥

शुद्धा अनपेक्षितवाच्यार्था, या वाक् वचनं, सुश्रावित्वर्थः, तस्या अ-
नुश्लोमो विधाः शुद्धवागनुश्लोमः । सुधे चाऽनुश्लोमः प्राकृतवा-
ह, स च शकारादिकायाः शुद्धवाचो योऽनुश्लोमः स चकारादिरिव
अपेक्षितः । (स चकारादीनां अन्वयाद्य स्ववचनस्थाने वचने) (शि-
व्यविति) क्लेषकालेनानुश्लोमिर्निर्दिष्टं विवचयन्मः । तदनुश्लोमो वच-

'निविदं सिधिरमिति' संश्रुतुस्या पुनर्मणेणमिस्थादिना निवि-
हेण सि विवृतमिति कमजिचय, क्रमेण हि (सिधिरमित्येतक कर्ग-
मोऽप्यादिना सिधुय ततस्त्रिविधेषु सिधुषोऽपि अत्रणीं अत्रतीति । अन्य-
च क्रममिचस्यानुश्लोमोऽप्यत्र, यथा-कमचिचरन्ते हि यथासंख्यं
दोषः स्यादिति तदपरिहायं क्रमो भद्रः । तथाहि-न करोमि मन-
सा न कारयामि चावा कुर्वन्तं मानुजानामि, कायेभ्यो प्रत्युत्पन्नं,
अग्निं वैततु, प्रत्येकपदस्येष्टदोषः । तथाहि-मनःप्रवृत्तिर्भवेन क-
रोमि, तैरेव न कारयामि, तैरेव मानुजानामीति । तथा कालतो
नेहाऽतिनादिनिर्देशे प्राप्ते वर्तमानादिनिर्देशः । यथा-अनुश्लो-
मपक्षण्यादिषु श्लेषमस्याभिनमाभित्थ' सक्के दोषैर्दे देवराया
बंद्व ममस इ सति' सूत्रे । तदनुश्लोममात्रं वर्तमाननिर्देशः, नि-
कालजाविष्यपि तांशुकरंभेत-यायप्रदर्शनायै इति । इह च
दोषादिसुखवमन्यापय विमर्शनीयं, मन्मत्तरहास्येति वाग-
नुश्लोमसम्बन्धीनुश्लोमः प्रवर्षते इति, शुद्धो १० ज्ञो ।

[९] सम्प्रति भावानुश्लोमं च्छकारमाह-
जायेप संमहर्हि-ए ५५अथर्षेः दुगाऽजायेर्हि ।

जाये सत्रोवसमिए, जायेसु उ नस्य अणुश्लोमो ॥
अहवा आयाराइसु, भावेसु वि ए स होइ अणुश्लोमो ।
सामिभं आनञ्ज व, परिणामेषु बहुविहेषु ॥

संश्रवादीनां पञ्चानामप्यवसानानामन्वयतरेण चित्साध्यवन्त-
येन योऽनुश्लोमः क्रियते स भावेनानुश्लोमः । ते चामी पञ्चाग्नि-
प्रायाः । यदाह स्थानादिः-
"यवर्हि टाहोहि सुगे वापञ्ज । तं अहा-संगहदुयाए उवम-
हृत्पाए निजअरुदुयाए सुयपञ्जअप्राएषं अमोऽपिक्लोपी ।"

अथमर्थः-कथं तु नामैते शिष्याः सुत्रार्थसंग्रहकाः संपत्स्य-
न्ते ? तथा कथं तु नाम गोतापीन्याऽस्मी वस्त्रापुर्यानेन ग-
च्छन्तोपपन्नका जांच्यन्ति?, प्रमात्सेनां वाच्यः क्रमानुवृत्ता
अभिव्यक्तिः, तथा मुनयैवज्ञानं भूयपयोराशुशिमसादिषु कृत्वा वा-
स्यति ? इत्यस्य वाऽप्यव्यवृत्तिर्नैवविष्यतीत्येवं पञ्चाग्निप्रायैः
भूतं सुत्रार्थेनो वाच्येदिति । एषामेव संग्रहादिभावानां मथ्याद्
द्विष्यादिभिर्मांसैः सर्वैर्वोऽनुश्लोमं कुर्वतो भावेरनुश्लोमः । ज्ञावो-
पशमिके मांसं चित्तस्य स्वार्थां कुर्वतो भावानुश्लोमः । जायेषु
पुनर्नोऽनुश्लोमः, जायेषु पशमिकेन तदैकवात् । अथवा ए-
कोऽपि ज्ञावोपशमिको जाय आचार्यादिशास्त्रज्ञकृपाविययमेहा-
द्विष्यते, तदा आचार्यादिशास्त्रविष्यनेदमिषेषु ज्ञावोपशमि-
कभाषेषु अन्येषु अन्वयेषु अन्वयनुश्लोमो नाम काश्चिद्विरोधः । वा इत्यथवा
स्वामिभ्यस्मात्साधुनुश्लोमकर्तुः स्वामिभो बद्धं प्रतीत्य ज्ञावोपश-
मिकपरिणामेषु बहुषु अनुश्लोममात्रेणैवोभेष्यनुश्लोमो न विदम्यते ।
इत्युक्ते बह्विधो भावानुश्लोम इति ।

[१०] एषां चाऽनुश्लोमविषयानां द्वाधादीनां परस्परं वच्यं-
वच समावेशो भजना वा तदेवाह-

द्वन्द्वे नियमा भावां, न विद्या ते यावि स्वैस्तकाशेर्हि ।
स्वैस्ते तिस्र वि भयथा, काशो जयथाह तीर्षु पि ॥

द्वन्द्वे तावन्नियमाव् भावः पर्यायोऽस्ति, पर्यायनिरहितस्य द्वन्द्व-
स्य कापि कथाविषयभावान् । तौ चापि द्वन्द्वजावौ क्लेषकाश्यां
दिना न संभवतः । उच्यतेजावोर्हि नियममात्रं सहजावो व-
दित एव, उच्यं चावययकं क्लिप्तोभेऽस्यगाहमन्वयनस्थितिसं-
व नयति, अतः सिद्धमिदं उच्यतेभावापि क्लेषकालात् । विना

सूत्रस्याप्युक्तमेव । यद्यप्युक्त-न च मद्रथमेकानेनार्थस्येवादि,
 त्वप्यपरिभाषितपरिभाषितम् । बुद्धकृतिज्ञातादिषु सूत्रानुक्त-
 म्यादिकांऽप्येतादृशान्तरस्य सूत्रस्य, अथेवचतुः शेषोऽर्थः । उ-
 कोऽनुभोगः । ३० इ० स्वाभिधायकसूत्रेण सहस्रस्यैवातुगीयते-
 भ्युक्तो वा योगोऽस्यैवमभिधेयमित्येवं संयोगे शिष्येभ्यः प्रति
 पाठनमुद्योगः, स्वार्थैकधर्माभिव्यक्तिः । अथवा एकस्यऽपि सू-
 त्रस्यानन्तार्थे इत्यर्थो मद्रथः, सूत्रं त्वष्टुः, ततश्चाप्युक्ता य-
 त्रेण सहस्राधेय योगोऽनुभोगः । तदुक्तम्— " निययाप्युक्त-
 तजोगो, सुसूत्रस्यऽप्येव जो य अथुभोगो । सुसुं च अष्टुं तेन,
 जोगो अथस्य अथुभोगो " अतु० । १४० । न० । आ० न०
 प्र० । अ० । आ० । वि०

(११) अथुना विधिद्वारावसरः, तत्र येन विधिना-
 ऽनुयोगः कर्त्तव्यस्तमाह-

सुसूत्रयो रस्तु पदयो, विद्मो नो निज्जु(पम)सिञ्जो भण्णिञ्जो ।
 तदुको य निरवसेतो, एत विद्दि भणिय अथुभोगो ॥

प्रथमस्य भोतुः प्रथमं तावत् सूत्रार्थः कथनीयः—

यथा नो कप्यइ निगमाथं वा निगमैवीथं वा अप्पे
 तालो पमंवे अजिञ्जे, पिरुगादिपाए ॥

अस्यार्थः—नो इति प्रतिषेधे, न कल्पते न वचत इत्यर्थः । नैषां प्र-
 थो विधौ इति निम्नेत्याः, तेषां, वा विभाषायाम्, निम्नेयीमां वा,
 आममपक्, तासो वृक्तस्तालननं तासं, तालफलमित्यर्थः । प्रथमं
 सूत्रं, त्वपि तस्यै तालवृक्तस्य प्रतिषेधस्य । ततः समाहा-
 रः । अभिन्नमव्ययगतजीवं, प्रतिप्रतीनुमिति । एवं तावत् कथ-
 यितव्यं यावद्दध्ययनपरिसमाप्तिस्ततः । जित्वाप्यर्थां परिपाठ्यां
 निर्युक्तिमित्तः पीठिकाया सूत्रस्यैकानिन्युक्तया च समन्वितः,
 सोऽपि यावद्दध्ययनपरिसमाप्तिस्तत्कथनीयः । तृतीयस्यां
 परिपाठ्यामनुयोगो निरवशेषो वक्तव्यः, परंपदायंतामप्रत्यव-
 स्थानादिभिः समप्रज्ञं समस्तं कथयितव्यमिति ज्ञावः । एष वि-
 धितुयोगे मद्रथुधारणादिसमर्थान् शिष्यान् प्रति वदितव्यः ।

मन्द्रमतीन्द्रति प्रकारान्तरैरनुयोगविधिमाह-

मूयं हुंकारं वा, वादकारं पदिपुच्छं पीमंता ।
 ततो पमं वे पारा-ययं च परिगिद्धं सत्तपए ॥

प्रथमतः श्रुत्यात् । किमुक्तं भवति-प्रथमभवये संयतगात्र-
 स्युपीमासिद्ध, ततो जित्वाये अन्वये हुंकारं द्यात्, वन्दुं कुयो-
 दित्यर्थः । तृतीये वादकारं कुर्यात्, वादमेवमेतद्वृ नान्यथेति प्रशं-
 सेत्यर्थः । चतुर्थे पृथीतपदां(परस्युक्तिप्रियायो मनाक जित-
 पुञ्जां कुर्यात्, यथा कथमेवमिति । पञ्चमे मीमांसां प्रमाणजि-
 ह्वासां कुर्यात् । षष्ठे तदुच्छरोरशुणे प्रसङ्गः, पारगमनं वाऽस्य
 भवति । ततः सप्तमे परिनिष्ठो मुच्यन्तुजापेत इत्यर्थः । यत एवं
 मन्द्रपेचसां अवनपरिपाठ्या विधक्लिताऽप्यन्यार्थावगमः, ततः
 स्वात् प्रति सप्त पारान् अनुयोगो यथाप्रतिपत्ति करेव्यः ।

अथ पराक्काहामाह-

चोइए रागदोसा, सोऽस्य परिणामं पकवणया ।
 एत्सिं नापचं, चाम्पमि अद्वाशुपुम्पि ॥

शिष्ये मोक्षयति प्रकथयति स्वमर्थं मद्रथधारणासमर्थे, तथा
 परिणामके । उपसङ्गणनेतत्—मद्रथधारणासमर्थेतिपरिष्ठा-
 अके च वा प्रकृपणा तथा पुष्पां रागदोषी प्रसवणतः । तथाहि-
 तिस्रिभिः परिपाटीनिर्देकात् आरधको रागोऽपरात् सप्तभिः परि-
 पाटीभिर्नाहृयते ज्ञेयः । तथा परिणामकात् आहृतयो रागः, इत-

रासतिपरिणामकात् परिदरतत्त ज्ञेयः । एतेषां मद्रथधारणा-
 समर्थोसमर्थानां परिणामकादीनां च यथानुपूर्व्यां क्रमेण
 नामार्थं वदये, तत्र प्रतिज्ञातमेव निवोहयेत ।

प्रथमतो मद्रथधारणासमर्थोसमर्थेति रागदोषावाह-
 म्पचरपा अविमुचि, पूया सकार मच्छइ अतिष्ठो ।
 दोसा गदुत्थसमत्ये, इयेरे रागो उ बुच्छेपो ॥

मद्रथधारणासमर्थे शिष्यं तिस्रिभिः परिपाटीभिर्नाहृयत एता-
 वन्ति कारणानि स्युः—एव बहुविधितो मम प्रसक्तो भविष्यति
 ततो मत्सरतया परिभारत्वेन वसेत इत्यविमुक्तिकारणम् । अ-
 धवा—युद्दि तसूत्रार्थस्यास्य पूजा सत्कारो भविष्यति । शिष्यो वा
 परिभ्रान्तोऽप्यगणं गमिष्यति । (बुच्छेयं चि) मद्रसतो धानुयोग-
 स्य ध्ववच्छेदो भविष्यति, अन्यस्य तथाविधशिक्षिष्याज्ञानात् ।
 एवं कारणानि संज्ञायै मद्रथधारणासमर्थे तिस्रिभिः परिपाटी-
 निरुद्योगं वदतो ज्ञेयः । इतरस्मिन् वदते रागः, यथा—तद्वचो-
 चमनुयोगस्य प्रवर्त्तनत् । अत्राचार्ये आह—

निरवयवो नहु सक्को, सयं पयासो उ संपपेसेदं ।
 कुंजजले विहु तुरि उ—किज्यामि नहु तिष पडिअण्ण ॥
 नहु नैव सूत्रस्य प्रकथोऽर्थः सत्कुर्येकया परिपाठ्या निरवयवः
 समस्तः संमर्थोयितुं शक्यः, तस्य मद्रथधारणासमर्थो नैकया
 परिपाठ्याऽवधारयितुमीवा इति तिस्रिभिः परिपाटीनिरुद्योग-
 कथनमित्यर्थोयः ।

संभ्रतमितिपरिणामकानपरिष्णामकात् परिदरतो ज्ञेयाज्ञापमाह-

सुसूत्रत्यं कदुयंतो, पारोक्कली सिस्सजावमुवज्जचई ।
 अथुक्कपाइ अपत्ते, निज्जुइइ मा विणिंसिजा ॥
 पारोक्को परोक्कज्ञानोपेतः शिष्येभ्यः सूत्रार्थो कथयन् विनयावि-
 नयकरणादिना तेषां शिष्याणां प्राथमाभिप्रायमुत्पन्न्य, अत्रावा-
 नि अत्रात्रभूनात् शिष्यान् अनुकंपया निर्युहयति अपवदति ।
 न तेभ्यः सूत्रार्थो कथयति । श्रुताज्ञानादिना मा विनयेयु-
 रिति कृत्वा ।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह-

दाहं धाठं वाही—वीए कंकदुय लखसणं सुविणं ।
 एगंण अजोगं, एवमाई उ उदाहरणा ॥

एकान्तेनात्येभ्ये अपरिणामके च दाह धातुव्याधिबीजानि कां-
 कतुको लक्षणं स्वल्प इत्येवमार्थानि उदाहरणानि दृष्टान्तः ।

तत्र दाहदृष्टान्तमाह-

को दोसो एरंके, जं रहुदाहं न कीएए तपो ।
 को वा तिणिये रागो, उवजुज्जइ जं रहुंगेसु ॥
 पररंके पररइदुमे को ज्ञेयः, यत्तस्मात् रथयोगं दाह न कि-
 यते, को वा तिणिये रागो यदुपयुज्यते स रथाज्ञेयो ? ।

जं पिय दाहं जोगं, जस्स उ वट्टयुस्स तं पि हु न सका ।
 जोएउपणियमविठं, तच्छणदलवेहुकुसेहिं ॥

यद्यपि वस्तुनोऽक्रावेयौयं दाह तदपि तद्वग्नयन्वेवकुसीरि
 निर्मोत्यं योजयितुमशक्यम्, किंतु निर्मोत्यं, एवमिहापि योष्यो-
 अपि यावद्दोषोक्तैः सूत्रैः न परिकर्मितस्तावन्न कथं व्यवहारं वाऽ-
 ध्यापयितुं योग्यः । तत्र लक्षणं प्रतीतय, द्वाभानि हिंवा शिष्या वा
 काष्ठस्य पाटनं, वेधः प्रतीतः, कुण्डो यो वेधे मोतः प्रवेदयते ।

संभ्रति धातुच्छाप्तमाह-

एमेव अथाठं उ—अभ्रजण कुणइ पाठण अयापणं ।

न य अक्षमेण सका, भाउमि वि इच्छियं काठं ।
एवमेव रागद्वेषौ विना अभाउं त्यक्त्वा धाम्नामादानं करोति ।
न च धातामप्यक्रमेणैस्ति तं कर्तुं शक्यम्, किन्तु क्रमेण । एव-
मिहाप्ययोषान्ति क्रमेण ब्राह्मणे न द्वेषः ।

अधुना ध्याधिदृष्टान्तमाह-

सुहसज्जो जषोणं, जषासज्जो असज्जवाह्री उ ।
जह रोगे पारिच्छा, सिस्समजाबाण वि तद्देव ॥

यथा रोगे वैद्येन परीक्षा क्रियते, यथा-एव सुखसाध्यः, एव य-
त्नेन साध्यः, एव बाधसाध्यव्याधिर्यत्नेनाव्यसाध्यः । परीक्षाऽन्त-
रं च रागद्वेषौ विना तदनुकृपा प्रवृत्तः । एवं शिष्यस्वज्ञावानामपि
तथैव रागद्वेषान्नावेन परीक्षा क्रियते, तदनुकृपा च प्रवृत्तिः ।

अधुना बीजदृष्टान्तमाह-

वीयमवीयं नाठं, भोयुमवीए उ करिसभो सालिं ।
बवइ विरोहणजोगो, न यापि से पक्कलवाओ उ ॥

यथा कर्मको बीजमबीजं च ज्ञान्ना अभीजानि मुक्त्वा साक्षि
साक्षिबीजानि वपति, न च तस्मिन् विरोहणयोर्धीजे (से)
तस्य कर्मकस्य पक्षपातो रागः । एवमत्रापि आधमीयम् ।

संप्रति काकंडुकदृष्टान्तमाह-

को कंकडुए दोसो, जे अगगी तं न पाययइ दित्तो ।
को वा इयरे रागो, एमेव य अस्स जइज्जा ॥

को द्वेषोऽग्नेः काकंडुकं (' कोरइ ' इति ख्याते) यदग्निर्दो-
सोऽपि तं न चर्चति, को वा इतरेऽग्नेः रागो यत्पाचयति ?, नैव
कश्चित् । एवमत्रापि आधनीयम् ।

अधुना लक्षणदृष्टान्तमाह-

जे उ अल्लकलणजुचा, कुमारगा ते निनिद्धिउं इयरे ।
रज्जिरे अणुपसइ, सामुद्धो ने विमयां उ ॥

यथा सामुद्रलक्षणपरिकृता राहो व्यपगते नस्य ये कुमार
अलक्षणयुक्तास्ताद् निषिष्य इतरां लक्षणोपेतान् राज्याहो-
नुमन्यते । न च स तथाऽनुमन्यमानो विषमो रागद्वेषवान् ।
एवमत्रापि दृष्टव्यम् ।

स्वप्नदृष्टान्तमाह-

जे जह कहेइ सुमिणं, तस्स तह फलं कहेइ तच्चाणी ।
रत्तां वा दुट्ठा वा, नया वि वत्तव्वयमुवेइ ॥

यो यथा स्वप्नं कथयति तस्य तदा तज्जानो स्वप्नफलं
कथयति, न च स तथा कथन्तु क इति वा द्विष्ट इति वा
वक्तव्यतानुपैति । एवमत्रापि एकान्तेनायांया ये शिष्याः तेषां
परिहारे रागद्वेषान्ये दृष्टान्ता अभिमहिताः ।

संप्रति कालान्तरयोष्यानपरिणतान् क्रमेण परिणामयतो-

रागद्वेषामावे दृष्टान्तमाह-

अगगी बाल गिलाणे, सीहे रुक्खे करील्लयाईया ।
अपरिणए जह एए, सएणिवक्खला उदाहरणा ॥

अपरिणते आतकालान्तरयोग्ये, यतानि सप्रतिपत्तानि, पूर्वै-
स्योपान्यायं पश्चाद्योपान्यायमित्यर्थः । उदाहरणानि, तद्यथा-
अग्निशोभां ध्यानः । सिंहो वृकः । करीले वंशकरीलम् । आदि-
शब्दाद् वक्ष्यमाणहृत्स्वार्थदृष्टान्तपरिग्रहः ।

तत्र प्रथमदृष्टान्तमाह--

जह अरणीनिम्मविओ, योत्तो विउत्तिथणं नवा दहिउं ।

सकइ सो पज्जलिभो, सज्वस्स वि पबलो पच्चा ॥
यथा अरविनिर्मोषितः स्तोको बहिर्विपुलमित्यर्थं न दग्धं श-
क्येनोति, स एव पञ्चाभ्यञ्जलितः सर्वस्वापीञ्जगतस्य इहणे
प्रत्यक्षः समर्थः ।

एवं स्रु प्लवुष्की, निउणं अत्यं अपपच्छतो येत्तुं ।
सो चेव जणियुष्की, सज्वस्स वि पबलो पच्चा ॥
एवमग्निदृष्टान्तेन प्रथमतः शिष्यः स्थूलबुद्धिः सन् निगुणम-
र्षं प्रहीतुमप्रव्यहः । पश्चात् स एव शास्त्रान्तरेऽर्जितबुद्धिरुपा-
दितबुद्धिः सर्वस्वापि शास्त्रस्य ग्रहणे प्रत्यक्षो न्वर्षति ।

बालदृष्टान्तमाह-

देहे अभिवहुंते, बाइस्स उ पीहगस्स अजिनुवुदी ।
अइबहुएण विणस्सइ, एमेव हु णुद्धियगिलाणे ॥

बालस्य देहे अजिवदमाने तदनुसारंशु दातव्यस्य पीथक-
स्यादारस्थायि बुद्धिर्भवति । देहदृढत्वानुसारतः पीथकमपि
कमशो यत्कमानं दीयत इति प्रायः । यदि पुनरतिबहुं हीयते
तदा स विनश्यति । पश्चात् स एव शास्त्रान्तरेऽर्जितबुद्धिरुपा-
दितबुद्धिः सर्वस्वापि शास्त्रस्य ग्रहणे प्रत्यक्षो न्वर्षति ।

सिंहदृष्टान्तमाह-

खीरमिउपोग्गोहिं, सीहो पुट्ठा उ स्वाइ अट्ठी वि ।
रुक्खो दुपत्तओ खलु, वंसकरिद्धो य नट्टिज्जो ॥

तं चेव विवहुंता, हुंति अइज्जा कुहाइमदहिं ।
तह कोपलानिनुदी, जज्जउ गहणुंमु अस्सेयु ॥

सिंहः प्रथमतः क्षीरमुद्रपुत्रैः स्वमात्रा पोष्यते, ततः पुष्टः सन्
अस्थीन्यापि स खादति । तथा वृक्षां द्विषणो, वंशकरीलम्, पत्तौ
द्रावपि प्रथमतो कथच्छेद्यौ, ततः पश्चादग्निर्बर्हमानौ यतस्ततः
कुठारादिभिर्कच्छेद्यो भवतः । प्रथमतः कोपला बुद्धिर्भवति, ततः
सा गहने ध्वंशेषु जन्यते प्रह्वमुपयाति । क्रमेण तु शास्त्रान्तर-
शेनतोऽग्निवर्हमानो कुठोरास्करतरोपजायते इति न कश्चिदपि
अङ्गमुपयाति ।

पत्तरेषोपदिशसाह-

निउणं निउणं अत्यं, प्लतत्यं प्लवुष्कीओ कएए ।
बुद्धीविपहणकथं, होहिइ कालेण सो निउणो ।

निगुणे निगुणमर्षं कथयत, कथंभूमिस्वार्थ बुद्धिर्विचर्चनकरम् ।
एवं सति स कालेन निगुणो न्वर्षति । अग्रध्या बुद्धिर्जगत्प्रस-
ङ्गतो न स्यात् ।

संप्रतमविशिश्वस्वचितान् हस्वार्थान् दृष्टान्तमाह--
सिक्कएए वि गिएइ, हत्थी प्लुगएणो सुनिममओ ।
सरवेहपत्ताज्जि-प्पव घट्टपडिच्चि तह धमए ॥

हस्तौ स्थूलग्रहो सुनिर्मोतः सन् पश्चात्सिकार्यकानपि युष्मति ।
तथाहि-नवको हत्थी शिष्यमात्रः प्रथमं काष्ठानि प्राशते, तदनन्तरं
शुद्धकान् पाषाणान्, ततो गोष्ठीकाः, ततो बद्धराणि, तदनन्तरं
सिकार्यकानपि, यदि पुनः प्रथमम् एव सिकार्यकान् प्राशते, ततो
न शक्योति प्रहीतुमिति । एवं स्वरेषोपदिशस्वचितान् दृष्टान्त-
कारक विचकारकमकाल दृष्टान्ता ज्ञानवीयाः तं चैवम-प्रथमं

धातुकाः स्फुल्लं कल्पं व्यङ्ग्यं शिक्षति, पद्मात् सखासं पदुषाद्-
निस्तुमिपुनमातिः स्वेष्टेणऽपि विष्यति । तथा पञ्चदशकार्ये
प्रथममकिञ्चित्करैः पथैः शिक्षयते, ततो यथा निर्मातो भवति तथा
ईत्सिनं पञ्चदशकार्यते, तथा द्विषकोऽपि प्रथमं बहो लगयित्वा
ज्ञाप्यते, ततः पद्माद्द्वयसन् आकारोऽपि तांनि तांनि करणानि
करोति । षट्कारोऽपि प्रथमतः शराबाद्गिणि कार्यते, पश्चात्किञ्चि-
तो घटात्तपि करोति । पटकारोऽपि प्रथमतः स्फुभिणि वीत्ररा-
णि शिक्षयते, ततः सुशिक्षितः शोऽप्रनामापि पटान् वयति । विष-
कारोऽपि प्रथमं मुण्डकं विप्रथितुं शिक्षयते, ततः शोषानवयया-
द्, पद्मात् सुशिक्षितः सर्वं विषकर्म सम्यक् करोति । धमको-
ऽपि पूर्वं श्टक्वादीन् धमयते, पद्मात् शङ्खम् ।

वृत्रेषोपनयमाह—

जल्प मई श्लोगाहृद्, जोगं नं जस्स तस्स तं कट्ठए ।

परिणामागमसरित्तं, संवेगकरं सन्निवयेयं ॥

यथैते हस्यादयः क्रमेण निर्माष्यन्ते, एवं शिक्षयन्त्यापि यत्र म-
तिरवगाहते, यस्य च यद्योमं शालं तस्य तत्कथयति । कथंभू-
तमित्याह—परिणामागमसहस्रं यस्य याद्वाहः परिणामो यस्य च
याद्यानागमस्तस्यदर्शं यथेष्टशपरिणामस्येदंमेताथदागमस्य पु-
नरिदमिति । पुनः किञ्चिदृष्टं कथयितव्यमत आह—संवेगकरं-
सिक्किंवलोकंः सुकुलोत्तरपरिणामाद्देरभिज्ञायः संवेगः, तत्कर-
णशीलं संवेगकरं, तथा नरकहितर्ययोगिः कुमानुचत्यमित्यादिनि-
रकता निर्वैद्यः, तत्करणशालं निर्वैद्यकरः । तदेवं योम्येऽपि
क्रमेण दाने रागद्वेषासात्र उक्तः ॥ समाति शिष्येष्व्याचार्येण परि-
णामकत्वं परीक्ष्यानुयोगः कर्त्तव्यः, शिष्यैरव्याचार्ये परीक्ष्य
तस्य सकाशं श्रोतव्यमिति ।

शिष्याचार्ययोः परस्परविधिमतिदेशत आह—

गेहंत्त गाहमाणं, आदमूएणु विहि समक्खामो ।

सा चेव व होइ इयं, उज्जोगो वक्खामो नवरं ॥

शुद्धां शिष्याणां प्राहकस्याचार्यस्य आदिस्तुषु सामायिका-
विषु यो विधिः समाख्यातो गोण्णोचन्वणोत्यादिस्वरूपः स यथेह
किरवशोयो वक्तव्यः । यस्तु-शिष्याणामनुयोगकथने उद्योग उद्य-
मो यथा-तिसुभिः परिपाटीभिरथवा सततिः कर्त्तव्यः सः, नवरं,
सप्रपञ्चमुपवर्णितः । वृ० १ ७० ।

इषान्निमुद्योगविधिश्चरुचत—तत्रानुयोगो वक्ष्यमाणशार्द्धः, स
यदाऽधीनस्तुव्याख्यायप्रस्तापनयोऽथस्य शिष्यस्यानुज्ञायते, तदा-
ऽपि विधिः, प्रज्ञास्तेषु तिष्ठानवकारणमुद्गुत्तैः, प्रज्ञास्ते च जिना-
यतनात् कृते लुचं प्रमायं एका सुक्यामेका शिष्याणामिति नि-
पचाश्रयं कियते, ततः प्राभातिकस्यासौ प्रवेदिते निषद्यानिषद्यस्य
गुरोर्भोक्षपहकरजोहरणमुक्त्वयत्किनामात्रोपकरणो विनयेः पु-
रतोऽवतिष्ठते, ततो ह्रावपि शुक्रशिष्यो मुक्त्वयत्किना प्रेत्युपकृतः,
पुनस्तथा च समग्रं शरीरं प्रेत्युपकृतः; ततो विनये गुरुणा
सह ह्रादशावर्तवन्दनं दत्त्वा वयति—इच्छाकारेण संदिशत
स्वाध्यायं प्रस्थापयामि । ततश्च ह्रावपि स्वाध्यायं प्रस्थापयतः,
ततः प्रस्थापिते स्वाध्याये गुरुर्निषीदति । ततः शिष्यो ह्रादशा-
वर्तवन्दनं कर्त्तव्यं ददाति । ततो गुरुस्तथा शिष्येण सहानुयोगप्र-
स्थापननिमित्तं कायोऽस्वयं करोति, ततो गुरुर्निषीदति, ततः स
शिष्यो ह्रादशावर्तवन्दनं कर्त्तव्यं वयते, ततो गुरुः क्वाजिन्मन्डो-
विच्छुभ्याय च निषद्यां पुरतः कृत्वा चास्यार्थीकृतशिष्यकृत्य-
वन्दनं करोति, ततः समाते वैश्यवन्दने शिषुर्गुरुर्दक्षिणत

एव नमस्कारपूर्वं मन्त्रिसुक्कारयति, तदन्ते चातिपत्ते-नां
साधोऽनुयोगप्रज्ञानीनां, क्वाभ्रमणानां इस्तेन च्यप्युण-
पथयैरनुज्ञातस्ततो विनयस्यो वन्दनं कर्त्तव्यं । उचित्यत-
श्च ब्रवीति—संदिशत किं भवामि ? ततो गुरुराह—वन्दित्वा प्रवे-
द्य । ततो वन्दनं शिष्यः । उचित्यतस्तु ब्रवीति—प्रज्ञाकिंमेमानुयो-
गोऽनुज्ञात इच्छाम्यनुज्ञास्तिम् । ततो गुरुर्ब्रवीति—सम्प्रगवधा-
रय, अन्वेष्ये च प्रवेद्य, अन्वेष्यामपि व्याख्याने कुर्वीत्यर्थः ।
ततो वन्दते इत्सो, वन्दित्वा च गुरुं प्रदक्षिणयति, प्रदक्षिणांते
च भवद्भिर्मेमानुयोगोऽनुज्ञात इच्छाम्युक्तिः प्रत्युक्तीः करोति । द्विती-
यप्रदक्षिणा च तथैव, पुनस्तुनीयाऽपि तथैव, ततस्तुनीयप्रदक्षि-
णांते गुरुर्निषीदति । तत्पुरःस्थितश्च विनयेो वदति—युष्माकं
प्रवेदितं संदिशत, साधूनां प्रवेद्यामीत्यादिशेषमुद्गुत्तशिष्यवि-
द्वकव्यञ्च, याददनुयोगानुज्ञानिमित्तं कायोऽस्मिं करोति । त-
दन्ते च सनिष्यः शिष्यो गुरुं प्रदक्षिणयति । तदन्ते च वन्द-
न्ते, पुनः प्रदक्षिणयति, एवं त्रीन् वारान्, ततो गुरोर्दक्षिणमुज्जा-
ऽऽसक्तं निषीदति । ततो गुरुवारं पर्ये एतानि मन्त्रपदानि गुरुः
त्रीन् वारान् शिष्यस्य कथयति, तदनन्तरं प्रवेक्ष्यमाणाः प्रवरश्च-
गन्धमिश्नास्तिभोऽङ्कमुद्गीस्तस्मै ददाति । ततो निषद्याया गुरु-
स्तथाय शिष्यं तत्रोपवेश्य यथासन्निहितसाधुभिः सह तस्मै
वन्दनं कर्त्तव्यं ददाति । ततो विनयेो निषद्यास्यित एव “नामं पञ्च-
विदं पण्यञ्च ” इत्यादि सुभ्रमन्त्रायां यथाशक्ति व्याख्यानं क-
रोति । तदन्ते च साधुभ्यो वन्दनं कर्त्तव्यं ददाति, ततः शिष्यो निष-
द्याय उचित्यति । गुरुं च पुनस्तनू निषीदति । ततो ह्रावप्यनुयो-
गविस्मगोर्षं कालप्रतिक्रमार्थं च प्रत्येकं कायोऽस्मिं कुरुतः ।
ततः शिष्यो निरुक्तं प्रवेदयति, निरुक्तं करोतीत्यर्थः । अणु० ।

शिष्यं प्रति आचार्येण—

एवं वएमु ठवणा, समण्णं वक्खिआ समासेणं ।

अणुश्लोमगाणाणुभं, अन्नो परं संपवक्खामि ॥ ३१ ॥

एयमुक्तेन प्रकारेण व्रतेषु स्थापना भ्रमणानां साधूनां वर्णिना
समासेन संक्षेपेण अनुयोगगणानुज्ञां प्रागुद्दिष्टमतः परमः कि-
न्तियाह—सप्रवक्ष्यामि स्वाध्यासारतो ब्रवीतीति गाथायः ॥३१॥

किन्तित्यं प्रस्ताव इत्याह—

जम्हा वयसंपथा, कातोचिअग्गहिअसयलसुत्तथा ।

अणुश्लोमगाणाणुभं, जोगा जणियाणं निर्णपेदंदि ॥ ३२ ॥

यस्माद् व्रतसंपत्ताः साधवः कालोचित्युद्गीतसकसंस्मार्था-
स्तदनुयोगवन्त इत्यर्थः । अनुयोगात्कात्या आचार्योऽस्थापनाक-
पाया यथैवा भणिता जिनेन्दैर्नाम्य इति गाथायः ॥३२॥

कस्मादित्यह—

इहराओ मुसावाओ, पववणास्सिसा य होइ लोणम्मि ।

सिस्साए वि गुण्णहारणं, तित्युक्केओ अजावेण ॥३३॥

इतरथा इनीहशानुयोगानुज्ञायां मृषावाद्ः गुरोस्तम्नुज्ञाभनः
प्रवचनसिंसा च व्रतति लोके, तथाज्ञतप्रकृत्यत् । ततः शि-
ष्याणामपि गुणहानिः, सन्नायकामावा । तीर्थोक्तेद्वेष-
ततः, सम्यक्ज्ञानाद्यप्रवृत्तिरिति शारणाथायः ॥३३॥

व्यासायं त्वाह—

अणुश्लोमो वक्खार्यं, जिणवरवणयस्स तस्सऽणुखा उ ।

कायवर्णिगं जयया, विट्ठिआ सइ अण्यपत्तेणं ॥३४॥

अनुयोगो व्याख्यानमुच्यते जिनवरवचनस्यागमस्य, तस्यानु-

इम पुनरियम, यद्वत कर्तव्यमिदं व्याख्याय भवता विधिना,
न यथाकथञ्चिद्विदुः सहायमवचेन; सर्वेषु सनसत्स्वप्रादिति
गाथार्थः ॥ ३४ ॥

कालोचितप्रयाये, वयणं निश्चिनसयमेवयेति ।

दुग्गपमुअन्मि अहिंमं, दिज्झइ इमाईं रयणाइं ॥ ३५ ॥

कालोचिततद्भाये अणुयोगाभाये, वचनं निश्चियंमेतदिति ।
तदनुष्ठाचचनदहान्तमाह-वुर्गनसुते इरिप्रपुषे यथेदं वचनम-
'यदुत दद्यात्सवमेतानि रत्नानि' रत्नाभावाभिधिपयं, तथेद-
मप्यनुयोगाभावादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अस्तत्रबुधिमिसापोहायाह-

किं पि अ अहिं अं पि इमं, अलं वण नो गुणेहिं गुरुअणं ।

एत्थं कुसाइहुं, अइप्संगा सुसायाओ ॥ ३६ ॥

किमपि धावधाचदधीतमित्येतत्साम्यं न तत्त्वतो भवति
शुभैर्गुणकाम् । अत्र व्यतिकरे कुशावितुल्यमनालम्बनमित्यर्थः ।
कस्मात् , अतिमसङ्गात् । स्वल्पस्य आचकादितिप्यपीतत्वा-
द्वतो सुभाषादो गुरोस्तदनुष्ठानत इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अणुओमी लोगाणं, किल संसयाणसो दहं होइ ।

तं अन्नमिति तो ते, पायं कुसलादिगमहेओ ॥ ३७ ॥

अणुयोगी आचार्यः लोकानां किल संशयानशक्तो दृढमत्यर्थ
भवति । नच, 'अन्नियंति' उपयान्ति तत्तत्त लोकाः प्रायः । किमर्थ-
मित्याह-कुशलाधिगमहेतोः अयमिदंज्ञानायेति गाथार्थः ॥ ३७ ॥
ततः किमित्याह-

सो धोवो अ वराओ, गंभीरपत्थयण्णिइमगम्मि ।

एगंनेणाकुसलो, किं तेसिं कहेइं मुट्टमपयं ? ॥ ३८ ॥

स तस्योको वराकञ्जावपलु इत्यर्थः । गंभीरपत्थयण्णिमित्त-
मार्गे बन्धमोचतत्त्ववचनलक्षणे एकान्तेनाऽकुशलोऽनभिन्नः
किं तेभ्यः कथयति लोकभ्यः तस्य सुदमपदं बन्धादिगो-
चरमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

ततश्च-

जं किं पि भासगं तं, ददुणं वुहाएण होइ अणवण चि ।

पवणणपरो ठ तम्मो, इअ पवणणरिं वणणा णेअ ॥ ३९ ॥

यतिकञ्चिज्जापकं तमसंयद्वप्रलापिनमित्यर्थः-ददुणा बुधानां वि-
कुषां अन्वववहेति । कथं केयञ्चाह-प्रवचनपरोऽर्थमिति कृत्वा
तस्मिन् प्रवचने य एवं, प्रवचनसिन्ना अवधा ज्ञातव्या-
च्छदो । अस्मरोभ्यमत्तच्छेद्यमेतदभिन्नः सन्नैवमाहेति गाथार्थः ।
सिंसाण कुणइ कइ सो, तथाविदो इंदिइ । नाणमाईं ।

अहिंअदिअसंपां, संमारुच्छेअणं परं ॥ ४० ॥

शिष्यास्वामिति-शिष्येषु करोति । कथमसौ? तथाविधोऽहः
सन् इतीत्युपदर्शनं, ज्ञानादीनां गुणानां ज्ञानादिगुणानामधि-
कांसकसंपातिं वृद्धिमित्यर्थः । तर्कभूतामित्याह-संसारोच्छे-
दिसीं संप्राप्तिं, पत्न्यां प्रधानामिति गाथार्थः ॥ ४० ॥
तथा-

अणुत्तलओ पायं, हेअइविनेगविरिद्विओ वा वि ।

नदु अन्नओ वि सो तं, कुणइ अ भिच्छाऽजिमाणाओ ॥ ४१ ॥

अस्तपत्वात् तुच्छत्वाकारणान् प्रायो बाहुल्ये, न हि तु-
च्छोऽस्तर्ता गुणसंपदमारोपयति । तथा-इयाधिधिकेकवि-
दितो वाऽपि । हेयोपायेयपरिज्ञानाभावत इत्यर्थः । न ह्यन्य-

तोऽपि बहुभुतादसावहस्तां प्राप्तिं करोति तेषु । कुत इत्याह-भि-
ष्याऽभिमनानाहसप्याकार्य एव, कथं प्रच्छक्या अन्वसमीये
बृहवन्तीत्येवंकथयित्वा गाथार्थः ॥ ४१ ॥

तो ते वि त्थानूआ, कालेण वि होति नियमओ वेव ।

सीसाए वि गुणदाणी, इअ संताणेण विणेआ ॥ ४२ ॥

तत्तत्तेऽपि शिष्यास्तथाभूता सूक्तं एव कालेन बहुनाऽपि
भवन्ति नियमत एव, विशिष्टसंपाकाभावाच्छिष्याणांमप्यगीता-
धंशिष्यसत्त्वानां गुणदानिरियम, एवं सन्तामेन प्रवादेण वि-
भेयेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

नाणाइणमजावे, होइ विसिद्धाएऽणत्थगं सण्वं ।

सिरत्तुंमं दणाइ वि, विवज्जायाओ जहऽओसिं ॥ ४३ ॥

ज्ञानादीनामभाये स्तति विशिष्टानाम् । किमित्याह-अन-
र्थकं सर्वं निरवशेषम् । शिरस्तुण्डमुडनाद्यपि, आदिशब्दा-
ज्जिज्ञास्यनार्थापरिग्रहः । कथमनर्थकमित्याह-विपयेयत्कारणा-
द् यथाऽन्येषां वराकादीनामिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

ए य समइविणयेणं, जहा तहा कयमियां फंसे दे ।

अवि आगमाणुवाया, रोमतिगिच्छाविहाणं व ॥ ४४ ॥

न च स्वमगित्वकालेनागमशून्येन यथा तथा कृतमिदं शिरस्तु-
ण्डमुण्डनादि फलं ददाति स्वर्गोपवर्गलक्षणम् । अपि चागमानु-
पातादागमानुसारेण कृतं ददानां किमित्येव्याह-रोमतिगिच्छा-
विधानवत्, तत्रेककर्मण्यन्वात् परलोकस्तेनि गाथार्थः ॥ ४४ ॥
इय दम्बद्विगमिचं, पायमगीअणु जं अणत्थकणं ।

जायइ ता विणेओ, तित्थच्छेओ य भावेणं ॥ ४५ ॥

(इय) एवं द्रव्यलिङ्गमात्रं भिन्नानादिफलं प्रायोऽर्गनाथाद्यं
शुभैः सकाशाद् यद्यस्तानर्थफलं विषाकं जायते, तत्समा-
द्विधेयस्तीर्थोच्छेद एव, भावेन परमार्थेन, मोक्षलक्षणतीर्थ-
फलाभावादिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

कालोचिअणु सत्थे, तन्हा सुविणिचिचयस्स अणुओगो ।

निअमाऽणुजाणिअव्वो, न सवणओ वेव जह भण्णिअं ॥ ४६ ॥

कालोचितसुचार्यं अस्मिन्विषये तस्मात्सुविनिश्चितत्वान्न-
तत्त्ववचनयुगेण उक्तमङ्गणः सियमादेकान्तेनानुज्ञातव्यः । गुरुणा
न श्रवणत एव श्रवणमंत्रणेषु । कथमित्याह-यतो अणितं सं-
मत्यां सिद्धसेनाचार्येणेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

किमित्याह-

जह जह बहुट्टमुओ सं-भओ अ सीसगणसंपरिवुदो अ ।

अविण्णिच्छओ अ समयं, तइ तइ सिच्छंतपदणीओ ॥ ४७ ॥

यथा यथा बहुभुतः श्रवणमंत्रेण संमतत्वा तथाचिधलोकरय,
शिष्यगणसंपरिवुत्तत्वा बहुट्टपरिवात्, अष्टद्वानां तथाचिधाप-
रिहणान्, अविनिश्चितज्ञानतत्त्वत्वा स्वमये सिद्धान्ते तथा
तथाऽसौ वस्तुस्थिरया सिद्धास्तप्यनीकः सिद्धांतविनाशकः,
तद्वाच्यवाचादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

पतदेव भावयति-

सन्वसूहिं पणियं, सो उत्तमपइसएण गंभीरं ।

तुच्छकइहाइ दिद्धा, सेसाण वि कुणइ सिच्छंतं ॥ ४८ ॥

सर्वेषुः प्रणीतं सोऽविनिश्चित उत्तमं प्रधानमतिशयेन गंभीरं ज्ञा-
चार्येभ्यः, तुच्छकथनयाऽपरिणतदेशनयाऽचः शेषाणामपि सिद्ध-
त्वानां करोति, तथाचिधलोके प्रति सिद्धास्तमिति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

तथा-

अविधिच्छिद्रो ह्य संतः, उदसगाववायजाणश्रो होइ ।
अविसवपश्रोगश्रो सिं, मो सपरविशासश्रो नियमा ॥४६ ॥
अविनिश्चितः समये न सम्प्रत्यसर्गपवादको जशोत सवैश्व,
ततक्षविषयप्रयोगतोऽनयोऽरुससंगपशाद्योः, तथाविषयः स्वपर-
चिनाशको नियमात्, कूटैवैषयधिति गाधार्यैः ॥४७ ॥

ता तस्सव द्विभ्रडा, तस्मीसाणमयुगोभ्रगाणं च ।
तद् अप्यणो अ धीरो, जोगसस्सपुजाणार्इ एव ॥ ५० ॥
तसस्मान् तस्यैवाधिह्रनानुयोगधारिणः हितार्थे परहोके, तथा
तच्छिद्रप्याणां भाविनामनुमोदकानां च तथाविधाऽङ्गप्रार्थिनां,
तथाऽऽमनस्य हितार्थेमाहाकारधनेन धीरो गुरुयोग्याय दिनेयाय
अनुजानाति एवं वष्यमाणेन विधिनाऽनुयोगमिति ग्याधैः ॥४८० ॥

विद्धिजोगमि पसत्ये, गहिए काले निवैइए चैव ।
श्रोसत्तणमह पिमिज्जा-स्यणं संस्पर्णं चैव ॥ ५१ ॥
विधियोगे प्रशस्ते संक्षान्तिपूर्णिमादी, रुहीते काले, विधिना
निवेदिते शैव गुरोः समससरणव ।अथ निषघारचनमुचितभूना-
वपि गुरुनिषघाकरणमिर्षयर्थः । संघट्टनं वैधाऽनिकेप इति गा-
धार्यैः ॥ ५१ ॥

ततो पवैइआए, उवविसइ गुरुओ पि अनिसिञ्जए ।
पुरओ चिट्ठई सीसो, सम्म जहाजायउवकरणो ॥ ५२ ॥
तसस्सद्वनत्तरं रचकेन सानुना प्रत्येदियं कायितायां सन्त्यसुप-
विशति गुरुराचार्ये पय, न शेषसाधवः । कस्याह ?-निजनिषघायां
या तदधैमव रचिर्नाति । पुस्तकशिल्प्यहितप्रति प्रकासः, सम्प्रगसं-
प्राप्तः, यथाजातोपकरणो रओहरणमुखवस्त्रिकाधिषः, इति
गाधार्यैः ॥ ५२ ॥

पेहिंति तत्रो पोसिं, तीए अ स सीसगं पुणो कार्ये ।
बारसवंदण संदिम, सचक्रायं पट्टवामो चि ॥ ५३ ॥
प्रत्येवकेते तद्वनत्तरं मुखवस्त्रिकां द्रावपि, तथा च मुखव-
स्त्रिकया स शिरः पुनः कार्यं प्रत्येवकेते इति । ततः शिष्यो
द्राहृदावशेषवन्दनपुरस्सरमाह-संदिशत यूयं स्वाध्यायं प्रत्या-
पयामः, प्रकृषेण वतेश्याम इति गाधार्यैः ॥ ५३ ॥

पट्टवणाऽणुत्तराए, ततो दुअगा वि पट्टवेइ िषि ॥
ततो गुरु निसीअइ, इभरो वि शिंनइई वं ति ॥ ५४ ॥
प्रत्यापेत्यनुभूनाते सति गुरुणा, ततो द्रावपि गुरुशिष्यौ प्रस्था-
यत इति । ततस्सद्वनत्तरं गुरुनिषीदति स्वनिषघाध्याम, इतरोऽपि
शिष्यो निवेदयति तं स्वाध्यामिति गाधार्यैः ॥५४॥

ततो वि दोवि विहिणा, अगुभ्रांणं पट्टविति उवउत्ता ।
वंदिपु तत्रो सीसो, अगुनाणावेइ अगुभ्रांणं ॥ ५५ ॥
ततक्ष द्रावपि गुरुशिष्यौ विधिना प्रवचनोक्तानाऽप्योगं प्रस्था-
पयवः उपयुक्तौ कृन्तौ यन्वित्वा ततस्सद्वनत्तरं शिष्यः । किमि-
त्याह ?-अनुज्ञापकैश्चानुयोगं, गुरुणेति गाधार्यैः ॥ ५५ ॥

अभिर्मंतिजण अकसे, वंदइ देवं तत्रो गुरु बिहिणा ।
विअ एव नमोकारं, कइइ नैदि च संसुभं ॥ ५६ ॥
अग्निमन्त्र आचार्यमन्त्रेणा कृत्वाऽन्वनकारं च-न्ते देवार्थैस्तानि
ततो गुरुर्धियाणा प्रवचनोक्तेः । ततः किमित्थए-स्थित धरो-
वशैश्चानेन नमस्कारं पञ्चमङ्गलकारमाकर्षयति, त्रिः पठति कर्णं

च संसुभंमण्यपद्धतिमिति गाधार्यैः ॥ ५६ ॥
इभरो वि त्रिओ अंतो, सुणेइ पोचीइ उइअमुइकमतो ।
संविगं उवउत्तो, उवंतो सुदुपरिणापो ॥ ५७ ॥

इतरोऽपि शिष्यः स्थितः सन्तुषैश्चानेन पुणेति मुखवस्त्रि-
कया विशिष्टरुहीतया इयतिमुसुकमतः सन्ति । स एव विशेष-
प्यत-संविद्रो मोक्षायां उपयुक्तः सुवैकामतया, अनेन प्रकारेण-
त्यन्तं शुरुपरिक्षामः ह्युदाशय इति गाधार्यैः ॥ ५७ ॥

तो कइकिण नैदि, जणइ गुरु अहमिमस्स साहुस्स ।
अगुभ्रांणं अगुनाणे, स्वयासमणाय इत्येणं ॥ ५८ ॥
तत आकृत्य पट्टिवा नन्वी भयति गुरुराचार्यैः-अहमस्य
साधोकरस्थितस्यानुयोगमुसुकमतकणमनुजानामि कृमाअमणानां
प्राकृतस्रचक्राणां इस्तेन, न समनीविधियेति गाधार्यैः ॥ ५८ ॥

कथमित्याह-

द्वयगुणपञ्जवेदिं अ, एम अगुभ्राज वंदिउं सीसो ।
संदिमइ किं जगामो, वंदणमिदु जइव सामए ॥५९॥
रूपयगुणपर्यायैर्व्याकृतपरैरोऽनुभूता इत्यवन्तरे वन्दित्या
मिष्यः-संदिशत यूयं किं भगवतीत्यादि वन्दनं जातं यथैव स्वा-
मायिकं तथैव द्रष्टव्यमिति गाधार्यैः ॥ ५९ ॥

यदत्र नानान्यं तदभिधानुमाह-

नवरं सम्मं धारय, अशेसिं तह पवेइव भणइ ।
इच्छाम्यणुसट्टीए, सीमण कयाइ आयरिओ ॥ ६० ॥

नवरम, अत्र सत्यधारय, आचार्यसंवेनेत्यर्थः । अयेच्यस्त-
था प्रवेदय सम्प्रयेवेति जणति । कथेत्याह-इच्छाम्यनुशास्ती
शिष्येण कृतानां सत्यासचार्यै इति गाधार्यैः ॥ ६० ॥

तिपयक्वणीकाए तो, उवविसए गुरु कए अनुससगे ।
सणिसज्जे तिथय-क्वण, वेइए सीससस वावरो ॥ ६१ ॥
त्रिः प्रदक्षिणीकृते सति शिष्येण तत उपविशति गुरुः, कृत्वा-तरे
ऽनुज्ञाकार्यासंगः, कृते च कार्यात्समं तदनु सनिषघं गुरो त्रिःप्रद-
क्षिणं वन्दनं ज्ञावसारं शिष्यस्य व्यापारोऽयमिति गाधार्यैः ॥६१॥
उवविसइ गुरुमयीव, सो साहइ तस्स तिषिं वाराओ ।
आयरियपरंपर-ए अगणए तत्थ मंतपए ॥ ६२ ॥

उपविशति गुरुसमीपे तन्निषघाध्यामेव दक्षिणपार्श्वे शिष्यः
स गुरुं कथयति । तस्य ब्रह्म वारा । किमित्याह-आचार्यंपारम्प-
र्येणागतानि पुस्तकादिष्विन्निक्रानानि तत्र मन्त्रपदानि विधिना
सर्वार्थैसाधकानीति गाधार्यैः ॥६१॥

तथा-

देइ तत्रो मुट्टीओ, अकत्वाए सुभ्रभंगधमइअणं ।
वहुंन सो वि सीसो, उवउत्तो गिणइई विहिणा ॥ ६३ ॥
इदंति तत्ः ब्रह्म सुट्टीनाऽऽचार्याऽङ्गानां चन्दनकानां सुपनि-
गन्धसदितानां, वस्त्रेमानाद् प्रतिमुष्टि सोऽपि च शिष्य उपयुक्तः
सन् शुद्धाति विधिनेति गाधार्यैः ॥ ६३ ॥

एवं व्याख्याङ्कणनकाण दत्वा-

उट्टेति नासिज्जाओ, आयरिओ तत्थ उवविसइ सीसो ।
तो वंदइ गुरु तं, साहिको सेसेदिं साहुइं ॥ ६४ ॥
उच्छिष्टति निषघाया आचार्योऽज्ञान्तरे तत्रोपविशति शिष्योऽ

जुषोमी, ततो वन्द्ये तु गुरुस्तं शिष्यसहितैः शेषसाधुभिः सखि-
हितैरिति गाथार्थः ॥ ६५ ॥

जगद् अ कुरु वक्तव्यं, तस्य त्रिभो चैव सो तभो कुण्ड ॥
छांद्रा जहासची, परिसं नाक्षत्र वा भोगं ॥ ६५ ॥

भयति च-कुरु व्याख्यानमिति तमग्निवाचार्ये, तत्र स्थित एव
ततोऽसौ करोति सद्ग्याख्यालमिति मन्त्रादि यथाशक्त्येति
तद्विषयमित्यर्थः । पर्येदं च ज्ञान्या योग्यमन्यदपीति गाथार्थः ।

आयतिअग्निमज्जाए, ठवाविसणं वेदणं च तह गुरुणो ।
तुल्लगुणत्वावपण्णा, न तथा पुण्हं दुविएहं पि ॥ ६६ ॥

आचार्यनिषद्यायासुपवेशनम्, अग्निनवाचार्यस्य बन्धनं च तथा
गुरोः, मधममेमाचार्यस्य तुल्यगुणक्यापनार्थं शोकानं, न तथा
कुण्डं ब्रह्मरूपि शिष्याचार्यायैयोगार्थमेतदिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

वेदंति तयो साह, उचिह्णं अ तभो पुण्णां रिणिसिजात्रो ।
तस्य निसीअद् अ गुरु, ठवदुहूण पदमण्णे उ ॥ ६७ ॥

बन्धने ततः साधयः, व्याख्यानसमनन्तरमुक्तिप्रति च ततः
पुनर्निषद्याया अग्निनवाचार्यः, तत्र निषद्यायां निषीदिति च गुरु-
र्मीलः उपवेदङ्गमन्त्रान्तरं प्रथमम् । अन्यं तु व्याख्यानादिति
गाथार्थः ॥ ६७ ॥

पधोऽसि त्तुं णार्यं, जिणवयणं जेण सव्वदुत्तवहरं ।
तं सम्मणिये भवया, पत्तोजिअन्नं सयाकासं ॥ ६८ ॥

धन्योऽसि त्वं सम्पद्य ज्ञानं जिनवचनं येन भवता सव्वदुःख-
हरं मेऽहं दुःखसन्मयगिन्दं जयता प्रवचनमीत्या प्रयोक्तव्यं
सदा सर्वकालमन्तरतमिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

इहरा उ रिणं परमं, असंमज्जोमे अजोअग्गो अवरो ।
सा तह इह जइअन्नं, जह एतो केवलं होइ ॥ ६९ ॥

इतरकथु रिणं परममेतत्सम्पद्ययोगं सुखशरीलया । असम्प-
द्योगात्क अनागतोऽन्यपरः पापीयान् दुःख्यः । तच्छेदय तितनव्यसु-
पयोगेनो यथाऽतः केवलं जयति, परमज्ञानमिति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

परमो अ एस हेक्के, केवलनाणस्स अक्कायाणं ।
माहवाणथणओ तह, संवेगाइसयभावेणं ॥ ७० ॥

परमश्रेय जिनवचनमयोगेदुःखः क्लेशकलान्धय, अवन्ध्य इत्यर्थः ।
कुत इत्याह-अन्यप्राणिनः माहापनयन्ममोहपसरणकरणात्,
तथा संवेगादिशयभावेनोन्नयोरपीति गाथार्थः ॥ ७० ॥

एवं उन्नूहेठं, अथुभोगाविसज्जाणह्णुस्सग्गो ।
काहस्स पडिकमणं पवेअणं संघविहिदाणं ॥ ७१ ॥

पवमुपेधुल्ल तमाचार्यमनुयोगविषयैर्जातार्थसुखसं क्रियते ।
काहस्य प्रतिक्रमणं, तदात्ये प्रवेदनं, निरुक्तस्य संघविधिदानं
यथाशक्ति नियोगत इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

पच्चा य सोऽणुभोगं, पवयणकज्जन्मि निच्चयुज्जमुचो ।
जोगाणं वक्तव्याणं, करिज्ज सिक्कंतविहिणा उ ॥ ७२ ॥

पञ्चाक्ष सोऽनुयोगी आचार्यः प्रवचनकार्यं निष्पद्युक्तः सदा
योगेनो विनेयेऽन्यः व्याख्यानं कुर्याद् गुर्वदिशाहासिस्तन्त-
विधिनेवेति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

योगानाह-

मज्जत्या बुद्धिजुअा, धम्मतीयी अओयओ इमो जोगा ।
तह चैव पसत्थारि, मुचविससं सपासज्ज ॥ ७३ ॥

मध्यस्थाः सर्वेशारकादिष्टाः, बुद्धियुताः प्राज्ञाः, धर्म्मार्थिनाः
परलोकभीरवः, श्रोतः सामान्येभ्येते योग्याः सिद्धास्तमभवन्त्युच्यते ।
तथैव प्रशस्तानयो योग्याः आधिपत्यपरिणामकादिपरिग्रहः,
स्वविशेषमन्त्रकारिषु संसाधित्येति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

मध्यस्थादिवपदानं गुणानाह-

मज्जत्याऽसग्गाहं, एवो वि अह्णस्स न कुव्वंति ।
सुच्छासया य पायं, हीति तह इत्थं कल्पजन्वा य ॥ ७४ ॥

मध्यस्थाः प्राणिनः असद्ग्राहं तत्त्वावगोचरानुप, अत एव क-
विद् वस्तुनि न कुर्वन्ति, अपि तु मार्गानुसारिमतय एव जवन्तिः,
तथा सुच्छासायाश्च मायादिदोषरहिताः प्रायो जवन्ति मध्यस्थः,
तथाऽऽसन्नजयाश्च, तेषु सफलाः परिश्रमाः, इति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

बुद्धिजुअा गुणदोमे, सुहूमे तह चायरे य सव्वन्त्य ।
संमत्तकांरुमुक्के, तच्च इहंए पवज्जंति ॥ ७५ ॥

बुद्धियुताः प्राज्ञा गुणदोषानुवर्तुगतान् सुखमार्गस्था वादुराश्च
सर्वत्र विषये सम्यक्त्वकटिदुःखान् कषच्छेदतपश्चाद्विस्तार-
स्थियाऽतिगम्जोरतया प्रपद्यन्ते सांख्यिनि गाथार्थः ॥ ७५ ॥

धम्मतीयी दिह्णत्थे, ददो षं पकंमि अणदिंवेधाओ ।
उत्तारिज्जति मुहं, धन्ना अन्नाणससिद्धाओ ॥ ७६ ॥

धर्म्मार्थिनिः प्राणिनः दृष्टार्थे ऐहिके दृष्ट इव पक्केऽप्रतिबन्धा-
त्कारणादुत्तार्यन्ते पृथक् किपन्ते सुखं, धन्याः पुण्यभाजाः ।
कुतः ? अज्ञानसलिलान्मोहादिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

पत्तो अ कपिअओ इह, सो पुण्ण आवस्सामासुत्तस ।
जा भूअग्गं ता जं, जेणा ऽपीअं ति तस्सेव ॥ ७७ ॥

प्राज्ञश्च कल्पिकोऽत्र जयत्येव, स पुनरावयवकादिमुत्तमस्य यावच्च
सुशक्तं चिन्तियमर्कं तावच्छेदनाधीतमिति पठितमित्यर्थः । त-
स्यैव तान्यर्थेति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

अथुभोगाविसज्जाणह्णुस्सग्गो, ससमयजोवे वि भावुत्तो जो ।
पिअधम्मऽवज्जर्जीरु, सो पुण्ण परिणामगो णेओ ॥ ७८ ॥

नेरुत्तविषु च निशिक्षादिषु स्वसमयमावेऽपि स्वकाशभावे-
ऽपि भावयुक्तो यः विशिष्टान्तःकरणवाद् प्रियधर्म्मस्मीमर्कवि-
रचयतीरः पापभीरः स पुनरयमेवभूतः परिणामको इत्यर्थः । उ-
त्तर्गोपाव्यादिविषयप्रतिपत्तोरिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

एतद्वाह-

सो उत्सग्गाइणं, विषयविभागं अहट्ठिअं चैव ।
परिणामेइ हिणं ता, तस्स इमे होइ वक्तव्याणं ॥ ७९ ॥

स परिणामकः, उत्सर्गोपधाद्योविषयविभ्रान्नामोक्तिस्तत्र यथाऽ-
वस्थितमेव सम्यक् परिणमयत्यंशमेव हितं तत्तस्मात्कारणात्-
स्येद् भवति व्याख्यानं सम्यक्त्वोपादिहेतुत्वयेति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

अइपरिणामगऽपरिणामा-मगाण पुण चित्तकम्पदोसेणं ।
उदियं विसेयं दो-सुदए ओसइहमाएण उ ॥ ८० ॥

अतिपरिणामकारिपरिणामकयोः पुनः शिष्यप्राक्षिपकर्मादोषेण
हेतुनाहितमेव विद्वेदं व्याख्यानं, श्रोतार्येणोपेणोपधसमाप्तं विषय-
यकारिति गाथार्थः ॥ ८० ॥

तसिं तसिंय जायइ, जओ अएत्थो तओ ज मग्गं ।
तसिं चैव हिण्णइ, करिज्ज पुज्जा तहा चाहु ॥ ८१ ॥

तयोरतिपरिणामकाऽपरिणामकयोः तत एव व्याख्यानाऽप्यापे

यतोऽन्यौ विषयैवयोगात्, ततो न तद्व्याख्यायन् मतिमात्रं शुद्धस्त्वा-
दोरेवातिपरिणामकारिणामकारिणोर्हात्यायनमप्रतिघातेन कुर्यात् ॥
नेति वस्तेन, पुण्याः पूर्वधुरवः तथा चाशुपरित गाथायैः ॥ ८१ ॥
आमे षडे निहितं, जहा जलं तं षडं विद्यासेह ।

इह सिद्धतरदृष्टसं, अप्पाहारं विद्यासेह ॥ ८२ ॥

आमे षडे भिक्षितं स्वरूपाया जलं तं षडमात्रं विनाशयति, इत्येवं
सिद्धतरदृष्टमप्यप्यहारं प्राणिनि विनाशयतीति गाथायैः ॥
न परंपरया वि तत्रो, मिच्छानिभिनेसजाविभ्रमदंश्रो ।

अन्नेसिं पि अ जायइ, पुरिसत्थो मुद्दरूओ अ ॥ ८३ ॥

न परम्परयाऽपि ततोऽनिपरिणामकारे मिच्छाऽनिनिवेदाजावि-
तमतेः सकाशादप्येवामपि श्रोतृणां जायते पुरुषार्थः, शुद्धरूपो
वा, मिच्छाप्रकपणादिति गाथायैः ॥ ८३ ॥

एतद्वेवाह—

अविषवत्त्रो वि पायं, तन्नाशोऽप्याइमं ति जीवाणं ।

इअ मुण्डिऊण तयत्तं, भोगाण करिज्ज वक्खाणं ॥ ८४ ॥

अविषवत्त्रो एव अतिपरिणामादिक एव, प्रायो मिच्छाऽनिनि-
वेदाभिविनयतः सकाशात् तस्य च भावः तद्वाच्यं मिच्छाऽनिनि-
वेदाभावोऽनादिमानिति कृत्वा जीवानां भावनासहकारिणि-
शोपादियमेवं मन्था तदर्थं तस्मिन्नाशयैव योग्यता विनेयेत्यः
कुर्याद व्याख्यानं विधिनेति गाथायैः ॥ ८४ ॥

उवसंपाणणा जटा-विहाणुओ एव गुणजुआणं पि ।

सुतत्थाइकमेणं, सुविणिच्छिऊअमपण्णा समं ॥ ८५ ॥

उवसंपन्नानां सतां यथाभिधानतः स्वर्गान्त्वा, एवं गुणयुक्ताना-
म्बि मान्यथा तदपरिणत्यादिदोषात् । कथं कर्तव्यमित्याह—स्-
त्पादिकमन्थे यथाकोचं सुविनिमित्तमात्मना सम्यक्, न शुक्र-
प्रणामयमिति गाथायैः ॥ ८५ ॥ पं ७० ४ ४० । (अज्ञाचनुयो-
गविधिः ' जोगविधि ' शब्दे बहव्यते)

(१५) अनुना प्रभृतिद्वारं वक्कम्म—

प्रभृत्तिः, प्रवाहः, प्रवृत्तिरित्येकाद्याः । प्रथममनुयोगः प्रवर्षते इति ।
सा च प्रवृत्तिर्दिधा-द्रव्यतो मावन्नम । तत्र उच्यतेः प्रवृत्तिमाह—
अण्डिउत्तो अण्डिउत्ता, अण्डिउत्तो वेव होइ उ निवत्ता ।

नीउत्तो अण्डिउत्ता, निउत्तो वेव उ निउत्ता ॥

नीउत्तोऽण्डिउत्ताए, पवचाइ अइव त वि उ निउत्तो ।

द्वम्भि होइ गाणी, नावम्भि निपादयो हुंति ॥

उच्यतेः प्रसवे गौर्दृष्टान्तो मयति, भावे जिनावयं, तत्र गवि गो-
दोहकन स्तह अत्थारो मङ्गः, तद्यथा—दोहकोऽनियुक्तो गौरप्य-
नियुक्ता १ । दोहकोऽनियुक्तो गौरिनियुक्ता २ । दोहको नियुक्तो गौर-
नियुक्ता ३ । दोहको नियुक्तो गौरि नियुक्ता ४ । पञ्चमाचार्यशिष्य-
वर्षे प्रह्वत्तुष्टयं योजनार्थं, तस्मान्न संयतते । तत्र तृतीये भङ्गे
नियुक्त आचार्यो ब्रह्मादप्यनियुक्तानां शिष्याणांमनुयोगं प्रवर्षयति । अथवा
द्वितीये प्रह्वतेऽपि शिष्या नियुक्तानियुक्तानां
मनुयोगं प्रवर्षयति; एवं हि तृतीये द्वितीये च प्रह्वेऽनुयोगस्य
प्रवृत्तिः । अयमेव तु सर्वेषां न प्रवर्षति । चतुर्थं प्रवृत्तिर्मिथ्यतिपक्षैव ।
तत्र गौदृष्टान्तविषयं प्रह्वत्तुष्टयं व्याख्यायति—

अप्यहृदा य गोणी, नेव व दोहा समुज्जओ दोहं ।

स्वीरस्त कुओ पसवो, जइ वि य सा स्वीरां षण्णु ॥

वीए पि नत्थि स्वीरं, षोवं च इविज एव तइए वि ।

अत्थि चतुत्ये स्वीरं, एसुवमा आयरियसीसे ॥

गौरप्यस्तुता नेव च दोषवा वा दोषानु समुद्यमः, ततो यद्यपि सा
श्रीरदा येनस्तथाऽप्येवमेव प्रथमजङ्गे कुतः कृतिरस्य प्रसवः १, नैव
कुतश्चित् । द्वितीयेऽपि भङ्गे दोहकोऽनियुक्तो गौरिनियुक्तयैव रूपे ना-
स्ति श्रीरस्य, दोहकस्यानियुक्तत्वात्, अथवा गौः प्रसुतोति स्तनेषु
गल्लस्यु स्तोकोः श्रीरं भवेत् । एवं तृतीयेऽपि प्रह्वे दोहको नियु-
क्तो गौरिनियुक्तयैव लक्षणे नास्ति श्रीरप्रसवः, स्तोको वा
स्यादोहकगणेव । चतुर्थे पुनर्भङ्गे गौरपि प्रसुता दोहकोऽपि
नियुक्त इत्यस्ति श्रीरप्रसवः । एषा उपमा प्रह्वत्तुष्टयात्मिका अ-
चार्याशिष्ययोरप्यनुयोगस्य प्रसवे वेदितव्या । तथाहि—आचा-
र्योऽप्यनियुक्तः, शिष्या अपि अनियुक्ता इति प्रथमजङ्गे नास्त्य-
नुयोगस्य प्रवृत्तिः । अनियुक्त आचार्यैः शिष्या नियुक्ता इति
द्वितीयेऽपि प्रह्वे नानुयोगः, आचार्यैरनियुक्तत्वात् ।

अहृदा अण्डिउत्तमणं, अवि किंवि उज्जोगिणां पवर्षति ।
तइए सारिंते वा, होज्ज पविची गुण्णिते वा ॥

अथवा अनियुक्तमाचार्यमनिच्छन्तमपि उद्योगिनः शिष्याः
किञ्चित्प्रवृत्तिपुच्छादिनिरनुयोगं कर्तुं प्रवर्षयन्ति, ततो मयति
द्वितीयेऽपि भङ्गेऽनुयोगस्य प्रवृत्तिः । तृतीये—आचार्यो नियुक्तः,
शिष्या अनियुक्ता इत्येवंरूपे नास्त्यनुयोगस्य संभवः; अथवा
पुनःपुनः सारथत्याचार्ये, अथवा श्रोतृमनिच्छन्तमपि शैलस-
मानं किञ्चित् श्रोतारं पुरतोः शिष्यस्थमानस्य त्वनुयोग इति शु-
चयति गुणनिमित्तमनुयोगं कुर्याति भवेन्ननुयोगः ।

अत्र दृष्टान्तः काशिकाचार्यैः ॥ तत्रैवाह—

सागरापिम्पाहण—सुवनमुयसिसखंतलक्षणेण ।

कहणा सिस्सागमणं, धूल्लोपुजोवमाणं च ॥ १ ॥

उज्जयणीए नयरीए अज्जकालगा नामं आय-
रिया सुत्तयोववेवा बहुपरिवारा विहरंति, तेसि अ-
ज्जकालगाणं सीसस्त सीसो सुत्तयोववेवो सागरो
नामं सुवनन्नुमीए विहरइ, ताहे अज्जकालगा विंतेति—एए
मम सीमा अणुओमणं न सुणंति, तत्रो किमेएसिं भङ्गे ति-
द्दामि, तत्थ जामि जत्थ एणुओमणं पवचोति, अत्रिय एए वि
सिस्सा पच्छ लज्जा आ सो बिहिंति, एवं चित्तिऊण सेजा-
रमापुच्छंति—कहं अन्नत्थ जामि, तत्रो मे सिस्सा सुणोहं-
ति, तुमं पुण मा तेसिं कहेज्जा, जइ पुण गाढतरं निवंधं
करिज्जा, तो खरंटेउं साहेज्जा, जहा सुवनन्नुमीए सागराणं
सगासं गया, एवं अप्पाहिता (संदिश्य) रचिं वेव पमुत्ताणं
गया सुवच्चभूमिं, तत्थ गंतुं खंतलक्षणेण पविद्धा सागराणं
गच्छं, तत्रो सागरापेरिया खंत चि काउं तं नादाइआ अ-
च्छुद्धाईति, तत्रो अत्थ पोरिसंवेत्ताए सागरायरिएणं अथि-
या-खंता तुमं एयं गमइ १ । आयरिया अणंति—आमं तो
खाइं सुणंहासिं एकहिंया गम्बायंता य कहंति । इपरं वि सी-
साए पजाए संते संभंता आयरियं अपस्संता सब्बत्थ मग्गि-
ओ, सिज्जायरं पुच्छंति, न करइ, जण्डइ य तुमं अयणो
आयरिओ न करइ, मम कहं कहेइ १, तत्रो आउरीनुए-

हिं गाढनिष्पन्नकफ कटिधं-जहा-तुष्म निष्प्रेण सुवन्न-
 क्षयीए सागरारणं समासं गया, एवं कटिहा त खरिदिष्या ।
 तत्रो मे तह वेच उबालिया सुवन्नयूमि गंतं, पंथे लोमो
 पुच्छर एस कयरो आयरिओ जाइ । ते कर्हिंति-अज्जकाल-
 गा, तत्रो सुवन्नजूमिए सागरारणं भोगेण कटिधं-जहा
 अज्जकालया नाम आयरिया बहुरुसुया बहुरपरिधारा इहा-
 गंतुकामा पंथे पहांति- ताहे सागरो सिस्साणं पुरआं भण-
 ति-मम अज्जया इंति, तेसिं समासे पयत्थे पुच्छीहामि सि ।
 अचिरेणं ते सीसा आगया, तस्य अग्निहोहिं पुच्छिज्जाति-
 किं इत्थ आयरिया आगया चिट्ठाति, नरिथ, नवरं अग्ने
 खंता आगया, केरिसा वंदिए नावं एए आयरिया?, ताहे साग-
 रो इज्जिज्जो बहे, मए इत्थं पञ्चाविं-खमासमणया व वेदाविया,
 ताहे अत्राएहवेसाए चिष्माटुककं करंइ, आसाइय चि ।
 भणियं चाणेण-केरिसं खमासणो अहं वामोरेमि? । आप-
 रिया जणंति-सुंदरं, मा पुण गव्वं करिज्जासि । ताहे धूली-
 पुंजादिहंते करंति, धूली हत्थेण भेजुं तिसट्ठाणेसु उयारंति,
 जहा-एत धूली उविज्जमाणी ओखिणमारणं ३ सव्वत्थ
 परिसइ एवं अत्थो वि तित्थमरोहिंते गणहारां गणह-
 रेहिंते जाव अहं आयरियं लवज्जायाणं परंपरेण
 आगयं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गत्तिया १, तो मा
 गव्वं काहिसि, ताहे चिष्माटुककं करिथा आइथा अज्ज-
 कालिया सीसपर्ससाणं अणुआं गं करंते ।

संप्रत्यङ्गरामनिका-सागारिका श्रान्तारस्तस्य 'अप्याहणं' सं-
 देशकथनं, स्वयमाचार्याणां सुवण्यभूमौ श्रुतशिष्यस्यापि शिष्य-
 स्थ सागराभिधानस्य 'संनक्षत्रकेण' हृद्यज्जनेन गमनं, पञ्चाद-
 शिष्याणां सागारिकेण कथना-यथाऽऽद्यायैः सुवर्णयूसां साग-
 रस्यात्मिकं गताः, ततः शिष्याणां तत्राऽऽगमनं, सागरं गमं-
 इहन्तं प्रति धूलीपुञ्जपमानमिति ।

अतुर्थमङ्गमधिकृत्याह-

निउत्तो लजयकालं, भयवं कइणइ षट्त्पमाणाओ ।
 गोयपमाई विसया. सोयव्वे हुंति उ निउत्ता ॥ १ ॥

नियुक्त उभयकालमनुयोगं करोति, नियुक्ता उभयकालं
 धूपयति । अत्र कथनार्थं दृष्टान्तो-जगत्वात् सर्वमानस्वामि-
 नी, श्रोतव्ये स्वदा नियुक्ता दृष्टान्ता प्रवर्ति सौतमादयः ।
 (' वायणा' शब्धे वैतद् विस्तरतो वक्ष्यते) गतं प्रवृ-
 त्तित्वात् ॥ १० १ ३० ॥ अ० ॥

(१५) उद्यमी स्मृतिरुचयिनः शिष्याः, उद्यमी स्मृतिरुचयिनः
 शिष्याः, अनुद्यमी स्मृतिरुचयिनः शिष्याः, अनुद्यमी स्मृतिरुच-
 यिनः शिष्याः, इति अनुमेयं ॥

अत्र प्रथमजने अनुयोगस्य प्रवृत्तिर्भवति, अतुर्थं तु न भव-
 ति, द्वितीयतृतीययोस्तु कदाचिन्महाजिज्ञप्सव्यपि । अतु० ।

'अर्थं वृणु अहिगारो, सुवणारणं जज्ञो सुवणं तु ।
 सेसाणमप्यपो वि य, अणुओपयवविदुंतां ॥
 अनुस्य बोहोसायः प्रयच्छन्त इति । उक्तं च-सुवणारणस्स उद-

सो समुद्रेशो अणुसा अणुओगो पवसह' तत्रादावेकोहिदस्य
 समुद्रिदस्य समनुकालस्य च सतोऽनुयोगो भवतीति । अतो
 नियुक्तिकारणान्प्रयथाधि भुवहोमे अग्न्युयोगेनाधिकृतमिति ।

(१६) इदानीं केलाऽनुयोगः कस्येव इति आत्माह-
 देमकुलआइरुवी, संदणणी धिउज्जो आणासंसी ।

अविकत्थयो अयाई, धिरपरिवादी गहियवको ॥

जियपरिसो जियनिदो, भइकत्थं देसकालजावन् ।

आसन्नद्वइपट्ठो, नाणाविहददसजानन् ॥

पंचविदे आयारो, जुत्तो सुसत्थ-तज्जपविदिन्नु ।

आहरण हेउ उवयण-नयनिठणो गाहणाकुसलो ॥

ससयपरसयविभो गंजोरो दित्तिमं सिवो सोमो ।

गुणमयकलिओ जुत्तो, पवणसारं परिकहेत्तं ॥

युतशब्दः प्रत्येकमाधिसंबन्धते । देशयुतः कुलयुत इत्यादि । तत्र
 यो मध्यदेश जातो यावदर्थचंद्रशिपुज जनपदेषु स देशयुतः,
 स ह्यार्थदेशजनितं जानाति, ततः सुखेन तस्य समीपे शिष्या
 अधीयते इति । तदुपादानम्, कुलं पैतृकं, तथाच लोकं स्वयवहारः,
 इववाणुकुलजोऽयं, नाग (जात) कुलजोऽयमित्यादि । तेन युतः प्र-
 तिपश्चाद्येनिर्वाहको जवाति । जातिमोक्तुंकी तथा युतोऽविनयादिपु-
 ण्यात् भवति । इत्युतोऽंकोकाणां गुणविषयवद्भूमानमाए जायते,
 " यत्राकृतिस्त्वत्र गुणा वसति " इति प्रयादात् । सहनयुतोऽं
 व्याख्यातं न आस्यति । श्रुतिमुतोऽं नास्तिसहनेत्येषु प्रममुपया-
 ति, अनाशंभी श्रोतुभ्यो वखाघनाकाङ्क्षे । अविकथनो नाति-
 बहुभाषी । शिरोऽंतिशयनेन निरन्तराभ्यासतः स्वयंभाषणा
 अनुयोगपरिपाठ्यो यस्य स स्थिरगुणिरासीत्, तस्य हि सुप्रमयो
 वा न प्रमार्गपि गालति । शुद्धीनवाक्य उपादेयवचनः, तस्य ह्य-
 द्यमपि वचनं महार्थमिव प्रतिजानाति । जितपरिचरत मर्यादापि
 पर्यादि न क्रोममुपयाति । जितनिद्रो रात्रौ सुप्रमयं वाच्यत्वं प-
 रिजावयन् वा न निद्रया वाष्यते, मध्यस्यः सर्वेषु शिष्येषु मम-
 चिन्तः । देशं कालं भावं च जानातीति देशकालभायकः । स
 हि देशं कालं जायं च लोकाणां ज्ञान्वा सुखेन विहरति, शि-
 ष्याणां वाऽभिप्रायान् ज्ञान्वा तान् सुखेनानुवचयति । आसन्न-
 द्वयप्रतिमः परवादिना समाप्तः शोऽनुसत्तरादी । नाना-
 विधानां देशानां ज्ञानं जानातीति नानाविधदेशजावकः, स
 हि नानादेशीयान् शिष्यान् सुखेन शास्त्राणां प्राहयति । पञ्चवि-
 द्वा आचारो ज्ञानाचारोदिकृत्यनतिमन् युक्तः स्वयमाचारविधि-
 तस्याप्यानाचारंगु प्रवर्तयितुमदावश्यकतः । सूत्रार्थग्रहणेन च-
 तुर्मेज्ञं सुचितम् । एकवत् सूत्र नाथः ? द्वितीयाध्यायो न सूत्रम्
 २ । तृतीयस्य सूत्रमप्यहं ३ । अतुर्थस्य न सूत्रं नाऽप्यहं
 ४ । तत्र तृतीयमङ्गग्रहणार्थं तदुभयग्रहणं सूत्रार्थं तदुभयविधि-
 जानातीति सूत्रार्थमनुपयविधिः ॥ आहरणं दृष्टान्तः । हेतुश्च-
 तुर्विधोऽप्यप्यहं ५ । तत्र कारकं चतस्र्य कर्ता कुम्भकारः ।
 आपको यथा-तमसि घट्टादीनामनित्यङ्गकः प्रीपः ।
 उपनय उपसंहारः, नया नैगमादयः, पतेषु निपुण आहृणहे-
 नुपनयनिपुणः, स हि श्रोतारमपेदेव तम्रपिपस्यनुरोधतः क-
 ष्वित दृष्टान्तोपन्यासं कश्चिदनुपन्यासं करोति । उपसंहारनिपु-
 णतया सम्यग्धिकृत्यमुपसंहरति । नयनिपुणतया नववकथनाना-
 ऽप्यसरे सम्यक् प्रपञ्चं विवक्ष्येनवयानभिधत्तं । प्राहणाकुशाः

प्रतिपादनशास्त्रयुगेतः, स्वसमयं परसमयं वेद्यति स्वसमय-
परसमयविद्यः; स च परेणाकृतिः सुखेन स्वपक्षं परपक्षं च
निर्वाहयामि। गम्भीरोऽनुच्छस्वनामः दीप्तिमाह परवादिधामि।
सुदूरपणीयः। शिबोऽकोपनः। यदि वा यत्र तत्र वा विहरद् क-
दवाणकरः। सोमः शान्तदाहिः। गुणा मूलगुणा षण्णगुणाश्च,
केनो मृगामि कैः कश्चितो गुणशातकश्चितः। युक्तः समीचीनप्रयत्न-
मस्य ब्राह्मणाङ्गस्य सारमयं कथयितुमि।

कस्माद् गुणशातकश्चित इत्येते शिबे चरत ब्राह्—

गुणसुद्धियस्स वयाणं, धयपरिसिभु व्व पावभो भाइ ।

गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविदूषो जइ र्पवो ॥

यो मूलगुणविभु गुणेषु सुस्थितस्तस्य वचनेन चूतपरिसिक्तया-
वक इव ज्ञाति दीप्यते। गुणहीनस्य तु न शोभते वक्ष्यम्य,
यथा स्नेहेन विहीनः प्रदीपः। उक्तं च—“आयारं वद्धंतो, भाया-
रपकवषामसंकेतो। आयातरपरिमद्धो, सुदुखवरपदेसणे मग्-
भो ॥” गतं केन चेति ब्राह्म ।

(१९) अथुना कथ्येति ब्राह्मण-

जइ पवयाणस्स सारो, अत्यो सो तेषां कस्स कायण्वो ।

एवं गुणनिपणं, मव्वसुयस्सा ठ देसस्सा ॥

यदि प्रवचनस्य सारोऽर्थस्तर्हि स तेनैवगुणान्वितेन कस्य क-
थ्येयः?। किं सर्वश्रुतस्य, तत्र देशस्य श्रुतस्काधदिरिति।

मत्र सूरिराह—

को कङ्घाणं नेच्छइ, सव्वस्स वि एरिसेण वत्तण्वो ।

कप्पववहारेण ठ, पगयं मिससाण थिज्जय्यं ॥

को नाम जगति कल्प्यायं नेच्छति। ततः सर्वव्ययं वि श्रुतस्या-
नुयोगं ईदृशेन वक्तव्यः; केवलं कल्पे व्यवहारश्चापवादबहुस-
म्पन्न तयोरनुयोगे विशेषत एवाद्येन प्रकृतमधिकारः, एवं गुण-
युक्तेनैव कल्पय्यवहारोऽनुयोगः कल्पेव इत्यर्थः। कस्मादेवमु-
च्यते?—शिष्याणां स्थिरीकरणार्थम् ।

तदेवं स्थिरीकरणं माभवति—

एसुस्समाठियप्पा, जयणाऽपुत्ता ता दुरिसंयतो वि ।

तासु न वद्धं नूणं, निच्छयभ्रो ता वि अक्करिज्जा ॥

यदा नाम यथोक्तगुणशतकलितः कल्पव्यवहारोऽनुयोगं क-
रोति तदा शिष्या एवमेव बुध्यन्ते—एष स्वयुक्तमर्थं सिध्यताम्सा,
अथ च कथं व्यवहारं च यतनया पञ्चकादिपरिहाणिरूपया
प्रतिषेचनाः अनुभूताः प्रशस्यति। ततः प्रतिषेधनायतनया अनु-
ज्ञाता अपि प्रदर्शयन् स्वयं तासु न वर्तते, किंतु केवलमुत्सर्ग-
माचरति, तदेवं हायते नूनमथ, निश्चयेनैता यतनया अनुज्ञाता अपि
प्रतिषेचना अकरणीया न समाचरितव्याः।

किञ्च—

जो उच्चमोहं पवभो, मग्गो सो बुग्गमो न सेसाणं ।

आपरियमिं जपंते, तद्दुच्चरा केण सीऽज्जा ॥

य उच्चमैशुंयमिः प्रहतः सुखां मार्गः पन्थाः स शोषणां दुर्गमो
न भवति, किं तु सुगमः; तत्र आचार्ये यतमाने यथोक्तवृत्तित्या
प्रयत्नवति, नचतुच्चरास्तदाभिज्ञाः शिष्याः केन हेतुना सीदंयुः?,
मैव सीदंयुवति भावः। तत्र यतनेन कारणेन कल्पव्यवहारोऽनु-
योगे विशेषत एवाद्येन प्रकृतम् ।

अपुभोगमि य पुच्छा, अंग्गाइ क कपुच्छनिक्खेवो ।

सुयत्थंवे निक्खेवो, इकेके चउविहो होई ॥

अनुयोगे अङ्गादेः पुच्छा वक्तव्या, तदनन्तरं कल्पस्य चतुः निक्षे-
पः, ततः अल्पकथं च एकैकस्मिन् निक्षेपानुविधौ प्रवर्तति
वक्तव्यः। एष ब्राह्मणाद्यसमाप्तार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विचारीषुः प्रथमतोऽनुयोगे अङ्गादेः, पुच्छामाह-
जइ कप्पाइऽपुभोगो, किं सो अणं उपाहु सुयत्थं।

अज्जयणं ठेदसो, पडिववत्संगादिणो बद्धो ॥

यदि कल्पादिपरिहायाद् व्यवहारस्य प्रदहणमनुयोगस्ततः
किं सोऽङ्गमुत्तरो बुतस्काधोऽप्यवयवमुद्देशो वा। अमीनां चाङ्गा-
नां प्रतिपत्ता बहवोऽङ्गाद्ये कल्प्याः। इयमत्र भावना—यदि
नामैतारदोनाऽऽवयवयानुयोगः कल्पस्य व्यवहारस्य च कथं-
व्यः, स कथं व्यवहारो वा किमङ्गमनामि, श्रुतस्कन्धः श्रुत-
स्कन्धाः, अथ्ययनमथ्ययनानि, उद्देश उद्देशाः।

अत्र सूरिराह—

सुयत्थंभो अज्जकयखा, उदमा चेव हुंति निक्खिप्पया ।

सेसाणं पडिसेहो, पंचहइ वि अंगमपारोणं ॥

श्रुतस्कन्धोऽप्ययनानि उद्देशा एते त्रयः पक्षा प्रवृत्ति निक्षेप्याः
स्वाभ्या आदरणीया इत्यर्थः। शेषाणां पञ्चानामप्यङ्गादीनां प्र-
तिषेधः। तद्यथा—कल्पे व्यवहारो वा—नाङ्गनाङ्गानि, श्रुतस्क-
न्धो नां श्रुतस्कन्धाः, अथ्ययनं नाथ्ययनानि, नो चद्देश उद्देशाः।

तन्महा उ निक्खिविस्मं, कप्प व्ववहारो सो सुयत्थंवे ॥

अज्जकयणं ठेदो, निक्खिविस्मं तु जं जत्तय ॥

यस्मादेवं तस्मात्कल्पं निक्षेप्यामि, व्यवहारं निक्षेप्यामि, स्क-
न्धं निक्षेप्यामि, अथ्ययनं निक्षेप्यामि, उद्देशं निक्षेप्यामि, यथा
यत्र निक्षेप्यं नामादिचतुःप्रकारं पदप्रकारं च तत्र वक्ष्यामि, तत्र
कल्पस्य यद्येवं नामादिकां निक्षेपां यत उक्तं आह्वारणाध्याया-
‘कल्पकृत्निष्केषो’ व्यवहारस्य चतुर्विधो नामादिनिक्षेपः।

एतयोः स्वस्थानमाह—

आऽह्णायां दुहइ वि, सद्धानं होइ नामनिष्केषे ।

अज्जकयणस्स चउविद्धे, उदंस्सऽपुगमे भण्णिओ ॥

आद्ययोर्द्वयेः कल्पव्यवहारोऽयोःयाक्रमं बद्धस्य चतुष्कल्प-नि-
क्षेपस्य स्थानं भवति नामनिष्पन्ने निक्षेपे, ततः स तत्र वक्तव्यः
तत्र कल्पस्य पञ्चकल्पे, व्यवहारस्य पौनिक्याया अथ्ययनस्य
चतुष्प्रकारो निक्षेप इत्येवमिदं निक्षेपेऽभिधास्यते। उद्दे-
शस्य चातुर्गमे उपोद्घाते नियुक्त्यनुगमे अणितः।

संमति ‘सुयत्थंभे निष्केषो’ इत्यादित्यावधानार्थमाह—

नामसुयं उवणसुयं, दम्बसुयं चेव होइ जावसुयं ।

एमेव होइ स्वंभं, पक्कवणा तोरिंसे पुवुञ्जा ॥

श्रुतस्य चतुष्प्रकारो नामादिको निक्षेपः। तद्यथा—नामभुवं
स्थापनाभुवं कल्पभुवं भावभुवं च। एवमेव अनेनैव प्रकारेण,
स्कन्धेऽपि चतुष्प्रकारो निक्षेपः। तद्यथा—नामस्कन्धः, स्वापनास्क-
न्धः, कल्पस्कन्धः, भावस्कन्धश्च। एतेषां प्रज्ञापना पूर्वमाव-
द्यके कल्पावधारणीया। गतं कथ्येति ब्राह्म ॥ वृ० १ उ० ।

(१८) इदमेव सत्यमं हतं वेतति मिश्राय सूत्रकाराह—

नाणं पंचविद्धं वणचत्तं । तं जहा—आजिणिषोहिपनाणं,

सुयनाणं, ओरिहियाणं, मणपज्जवयाणं, केवलनाणं ॥

यदि नाम हानं पञ्चविधं प्रकृतं ततः किमित्याह—

त्यादि । तदुक्तम् । यतो नावश्यकनन्वयवयनं व्याख्याय तद्विद् व्याख्येयमिति नियमोऽस्ति , कदाचिदुद्योगादारभ्याकथानस्यैव प्रथमं प्रकृत्यैः अनियमभाषकव्यायमेव सुभोपन्यासः, अन्यथा ह्यङ्गभाष्येभ्यश्च तथैव निश्चितः, किमिहाङ्गानङ्गपश्चिद्विन्तास्तु-श्रोपन्यासेनेति ? ।

अणुना तद्द्वारं वक्तव्यम् । यदाह—

तस्स एषं इमे चत्वारि अणुश्रीगोदारा भवन्ति । वं जडा उक्त्वम् ? एषिक्त्वे २ अणुगामे ३ एषः ५ ॥ अणुः ० । इदानीं भेदद्वारं तेषामेव द्वापारामाणुपूर्वी नाम प्रमाणदिकोऽ-भ्येकोकस्वक्यां प्रेदो वक्तव्यः ।

(१६) तथाऽणुयोगस्य लक्षणं वाचयम्—

यदाह—

“ संधियायपदं चैव, पयस्थो पयविभगो ।
चाणनाय य पसिक्थी य, उधिये विदिं लक्षणम् ” ॥
प्रथमं कृते सति (पसिक्थि ति) चाणनायां सत्यां प्रसिक्थिः सनाधानम्, (विक्थि ति) जानाहि । व्याख्येयसूत्रस्य च “अल-यमुद्योग्यजणयमित्यादि ” द्वात्रिंशदोषपरिहितत्वादिक्ं द्रव्यं व-क्तव्यम् । अणुः ० ।

(२०) यथाकगुणयुक्तस्य सूत्रस्य कोऽहं इत्यनेन संश-येन तद्दहंकारमापनितम् । तत्र सोऽहं उरिष्कादिदृष्टान्त—
स्यापनयभूतस्तत आह—

उंडिय नृमी पेटिय, पुरिमगहणं तु पदमश्रो कांडं ।
एवं परिक्लियम्मी, दायव्वं न वा पुरिमे ॥

नवे नगरे निवेश्यमाने प्रथमतो नृमिः परीक्ष्यते, तदनन्तरं पी-यिका; एवमत्रापि प्रथमतः पुरुषप्रहणं कृत्वा तदनन्तरं परीक्षा कर्त्तव्या-किमयमपरिणामकोऽप्रतिपरिणामकः, परिणामको वेति ? । एवं पुरुषे परीक्षिते दातव्यं, न वा अपरिणामके अप्रतिपरिणाम-के वा न दातव्यम्, परिणामके दातव्यमिति गाथासंज्ञेपाथेः ।

संप्रतमेनामं व विद्योपुराह—

अग्निवननगरनिवेशे, समनृमिर्विरेयणऽखरविदिन्तू ।
पाटेऽ उंडियाश्रो, जा जस्म चाणसोहृणया ॥

स्वर्णं कुट्टण उवणं, पीठं पायाय रयण सुहवासो ।
इअ संजयनगर्सिन्धय-लिंगं पिचउत्तसोहृणयं ॥
वरि इग्गठवएणानिजा, पेडं पुण होअ नाव सूयगादं ।

पासाय जहिं पगयं, रयएणानिजा हुंति अत्यपया ॥
अभिनये नगरे निवेश्यमाने प्रथमतो नृमिः परीक्ष्यते, परीक्ष्य च तस्याः समनृमिर्विरेजं विधायते । तदनन्तरमङ्गरविधिहा या यस्थो योथा नृमिस्तस्य तस्याः प्रदानायधुमिका अङ्गरसं-हिताः मुक्तिकाः पातयति । ततः स्वस्थानस्य बोधधनता-शोधनम् । ततः स्वस्थाः २ भूमेः क्षमनं, तदनन्तरं वृषणीरिष्टकाशकलाजि प्रक्षिप्य तेषां कुट्टमे, ततस्तस्योपरि दृष्टकानां स्थापनं, तदनन्तरं यावत् सुयं तावत् पीठं, ततस्त्वस्य पीठकस्योपरि प्रासादकरणं, तदनन्तरं तेषां प्रासादानां रत्नैरापूरणं, ततः सुखेन वासः परि-ष्वसनम् । एव दृष्टान्तः अग्रमधोपकरण-नृमीमहणस्थानीयं पुरुष-प्रणयं, शुकं पुरुषं परीक्ष्य तस्य प्रमदप्रदानमित्यर्थः । तत “इति” पंचमुकप्रकरणेन नगरस्थानीयं संयमे स्थापयते, तत उरिष्का-

स्थानीयं रत्नैरुपरि तस्यै वीचने , तदनन्तरं मिथ्यात्वस्य ज्ञानस्य च कच्चवरस्थानीयस्य शोधनं, ततः शोषयित्वा मि-थ्यात्वं समूलमुत्खन्य स्थिरीकरणमिति संयमकस्य वृषणीरिष्टक-पयसिपुते मिथ्यात्वपुनःकाल्यकवत् कुट्टयित्वा अस्मच्छाणनि-मित्तं कृत्वा । तत उपरि दृष्टकास्थापनमिति ज्ञानं वीचयते, तत भावश्यकमादि कृत्वा यावत् सुखेन तावत्पीठं जयति, ततो यकाभ्यां प्रकृतं तो कल्पव्यवहारी प्रासादस्थानीयौ वीचयते, तथा-र्थपदानि यानि तानि रत्नमिज्जानि । गतं तद्वहंहारम् । ह्रं १ उ० । तथा तस्यैवानुयोगस्य परिपद्य वक्तव्या । (सा च ‘सलपणकुड-ग’ इत्यादिदृष्टान्तैः परीक्षितव्यंति ‘संल’ शब्दे , हापिकादिक्ता च त्रिविधा पयंत ‘परिस्ता’ शब्दे वक्ष्यते)

(२१) संप्रति कयाऽधिकार इति प्रतिपादयति—
उत्तंति भाए पगयं, जइ पुण सा हांजोमोहिं उव्वेया ।
तो देति जेहिं पगयं, तदभावे ठाणमार्दाणि ॥

अत्र उत्रानतिक्रया पर्यदा प्रकृतमधिकारः, बोधाः पयं उत्रारि-तसदृशा इति प्रकृत्याः । तत्र यदि सा उत्रान्तिका पयं पजि-वेहयमार्येगुंरोपेता भवति तदा यकाभ्यामत्र प्रकृतं तवकी व्यवहारी सुरयो वदति, नद्रव्यं चक्ष्यमाणणाभावे स्थानादी-नि, आदिप्रहणेन प्रकीर्णकान्तं परिचरः ।

अथ के ते गुणा इत्यत आह—

बहुसुष्टुए चिरपव्वइए, कपिपए य अवेचजो ।
अवट्टिपए य मइवां, अपरिस्ताविश्रो विउ ॥
पणे य अणुश्रीाने, भावतो परिणामो ।
एयारिसे महाभागे, अणुश्रीगं सोअमरिइइ ॥

बहुभुनक्षिरप्रमजितः, कल्पिकोऽवन्नः, अवस्थितो, मेधावी, अरिपरिभावी, यच्च विद्विज्ञात् प्रभूतं तेषां यथात्परिमलितकुत्तः, (पते य स्ति) पात्रं प्राप्ता वा तथाऽनुज्ञातः सन् भावतश्च परि-णामकः, एतदृशो महाभागोऽनुयोगे श्रेतुमहति, सामर्थ्याव कल्पव्यवहारयोः । एव चारगाथाद्वयसंज्ञेपाथेः । ह्रं १ उ० । (बहुभुतादीनां मितित्थिकादीनां च धराभया स्वस्वस्थाने दृष्टव्या) एतत्सर्वमभिधाय ततः सूत्राभौ वक्तव्यः ।

(२२) सोऽणुयोगवचतुर्बिभोभवति—

सुयनाए अणुश्रीगो—एऽऽहियं सो चउव्विहो हां ।
चरणकरणाणुयोगे, धम्मं काले य दविपए य ॥

कथम्, चरणकरणाणुयोगः, चर्यत इति चरणं प्रताडि, यथोकथम्— “ वय समणधम्म संजम, वेयावचं च वं जं कुत्तो । गाथादि-तियं तवका—इनिग्गहादी चरणमेयं ” ॥१॥ कियन् इति करणं-पियदविद्वुत्तयादि । उक्तं च—“पियविसेदो” समिधे, भावणुपडि-माह इदियनियोदो ॥ परिभेहणमुत्तुत्तुत्तो, अग्निग्गहा चैव करणं तु ” ॥ १ ॥ चरणकरणाणुयोगश्चरणकरणाणुयोगः । अणुकोपो योगोऽणुयोगः—सुखस्थानेन साधंमनुरुपः संनयो व्याख्यान-मित्यर्थः । एकारान्तः शब्दः प्राकृतवीद्या प्रथमाद्वितीयातोऽपि कृष्टव्यः । यथा “कथरे आगच्छइ दिशकवे” इत्यादि । धमे इति धर्मकथाणुयोगः । काले वेति कालाऽणुयोगश्च गणितानुयोगो-क्तेत्यर्थः । द्रव्यं वेति द्रव्याणुयोगश्च । तत्र काश्चिदुत्तं चरणकर-णाणुयोगं, अविभाषितानि उत्राराध्ययनादीनि धर्मकथाणु-योगाः, सूत्रप्रकृत्यादिर्मणितानुयोगाः, दृष्टिवादस्तु द्रव्याणुयोगः

इति । उक्तं च-“ काशियसुयं च इतिभा-सियाई तदयो व स्वरूप-
 णी । सत्वो व द्विचिदायो, अरुणो होइ अणुभोगो ” इति
 गाथायैः । इह बौधतोऽणुयोगो द्विधा-अणुधकवानुयोगः पृथ-
 कवानुयोगश्च । तन्माधकवानुयोगो धर्मकस्मिन्न सत्त्वे सर्वं यत्
 अरणाद्यः प्रकल्पन्ते, मननागमपर्योयत्वात्तुत्रस्य । पृथकवानु-
 योगश्च यत्र कश्चित् सूत्रे अरणकरणमेव, कश्चिदणुधर्मकथा वे-
 त्प्रादि । दृश० १ अ० । अरुणकरणायुयोगः “ भोदेण उ गि-
 ञ्जुस्ति, बोधं अरणकरणानुभोगां ” इति नियुक्तिगाथाया-
 अरणकरणस्येति शक्यते शैलीं त्यक्त्वापञ्चम्या निर्देशं कुर्वन्ना-
 चार्यै पतञ्जायपति-सम्बन्धेऽप्यनुयोगा इति । तत्राह-‘अरुण-
 करणानुयोगाद्ब्रह्मे नान्यानुयोगेभ्यः’ इति । तथा षष्ठी त्रिविधा
 दृष्टा-भेदपृष्ठी, अमेदपृष्ठी च । तत्र भेदपृष्ठी यथा-देवदत्तस्य
 गृहम् । अमेदपृष्ठी यथा-तैलस्य धारा, शिवायुधकस्य शरीर-
 मिति । तत्त्वं यदि अष्टधा उपन्यासः कियते ततो न ज्ञायते, किं अ-
 रणकरणानुयोगस्य शिक्षामाद्यनियुक्तिं बह्व्ये, यथा-देवदत्तस्य
 गृहमिति, आहोस्मिदभिर्नां बह्व्ये, यथा तैलस्य धारेत्यस्य संभो-
 हस्य निवृत्तस्यै पञ्चम्या उक्तप्यासः कृता इति । एवं व्याख्याते स-
 श्यपरस्वाह-अस्तीत्येकचनम्, अनुयोगा बहवश्च, तत्कथं बहु-
 र्प्रतिपादयति ? उच्यते-अस्तीति तिङन्तप्रतिरूपकमभ्ययम् ।
 अभ्ययं च-“ सहासं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभाक्तम् । वच-
 नेषु च सर्वेषु, यत्र श्येति तद्व्ययम् । ” ततो बहुवचं प्रतिपादयन्-
 येत्यर्थः । अथ वा-व्यवहितः सांभोऽस्तिशब्दस्य, कथमित्यम्,
 बोद्धकचनम् । षष्ठी सम्बन्धे किमिति न भवति विमर्शः । आ-
 चार्यै आह-अस्ति षष्ठीविभाक्तिः । पुनरुक्त-व्यवहितं ततः प-
 ञ्जमी भगिता किम् ? आचार्यै आह-अन्येऽप्यनुयोगाश्चात्वारः,
 अतः षष्ठी विष्टमानाऽपि नोक्तेति भावना पुनर्वच ।

अन्येऽपि अणुयोगाः सन्तीत्युक्तम्, न च ज्ञायन्ते
 कियन्तोऽपिने इत्यत्र प्रतिपाद्यब्राह्म-

चचारि उ अणुभोगा, चररो धम्मगणियाणुभोगे य ।
 द्विषियणुभोगे य तदा, जहकमं तं महद्दीया ॥ ७ ॥

अचार इति संख्यावचनः शब्दः, अनुकृता अणुरूपा वा योगा
 अनुयोगाः । तुशब्दं पथकारार्थः । चत्वार पथे त । अन्ये तु तु-
 शब्दं विशेषणार्थं व्याख्यानयति । किं विशेषयन्तीति खवा-
 रोऽन्योगाः, तुशब्दोद् धीय च; पृथक् ई देनात् । कथं चत्वारोऽ-
 नुयोगा इत्याह- (अरण धम्मगणियाणुभोगे य) अथेति अ-
 रण, तद्विषयोऽणुयोगाअरणाणुयोगस्तोत्रमेव अरणाणुयोगे । अत्र
 कोऽरुणपदोपादित्यनुपपत्त्यासः, अन्यथा अरणकरणानुयोग इत्येवं
 वक्तव्यम् । स च पक्कदाशङ्ककः । (यस्मिं) धारयतीति धर्मः
 दुर्गती प्रपतन्तं सत्त्वमिति, तस्मिन् धर्मे, धर्मविषयो द्वितीयाऽणु-
 योगो भवति । स चोत्तराच्ययनप्रकारोऽणुकरणः । (गणियाणुया-
 ने यत्ति) गणयत इति गणितम्, तस्यानुयोगां गणितानुयोगाः, त-
 स्मिन्, गणितानुयोगविषयसन्तीत्यो भवति । स च सूत्रे प्रकृत्या-
 विरूपः । अशब्दः अन्त्येकमनुयोगपदं समुक्त्यायकः । (द्विषियाणुयो-
 गेयत्ति) प्रवर्ततीति उच्यते-तस्यानुयोगो उच्यतानुयोगः, सत्त्वस्यपार्थ-
 साहोक्त्यायकः, स च अष्टपदायः । अशब्दाद्वानर्थः सम्बन्धाविरूपश्च
 तथेति क्रमप्रतिपादकः, आगमनोक्तेन प्रकारेण यथाक्रमं यथापरि-
 पाठ्येति अरणकरणानुयोगाया महाङ्गिकाः प्रथाना इति यदुक्तं भ-
 वति । एवं व्याख्याते सत्याह- (अरुणे धम्मगणियाणुयोगे य द्विषि-
 यऽणुभोगे यत्ति) यथेतेषां ज्ञेदोऽणुप्यासः कियते तत्किमर्थं अ-
 त्वार इत्युच्यते, विशिष्टपदोपपत्त्यासादेवाचमयोऽवगम्यत इति ।

तथा अरणपदं मिश्रया विभजया किमर्थमुपपत्त्यस्य ? धर्मगणि-
 तानुयोगी तु एकैव विभजया, पुनर्द्वयानुयोगो मिश्रया विभ-
 क्येति, तथाऽणुयोगशब्दश्च एक एवोपपत्त्यसनीयः, किमर्थं द्वयानु-
 योग इति ज्ञेदोऽणुपत्त्यस्य इति ? न प्रमोष्यते-यथावदुक्तं यतु-
 प्रेक्षणं न कर्तव्यं, विशिष्टपदोपपत्त्यासात् । तदसत् । यतो न विशि-
 ष्टपदोपपत्त्यासं विशिष्टशब्दायाऽवगमो भवति, विशिष्टपदोपपत्त्यास-
 ३पि कृतश्चरणधर्मगणितकृत्यपदानि सन्तीति, अन्यान्वयि स-
 न्तीति संशयो नाभूत्कस्यादित्यतश्चतुःप्रेक्षणं कियत इति । तथा
 यथाक्ता-मिश्रया विभजया अरणपदं केन कारणेनोपपत्त्यसं,
 तत्रैतत् प्रयोजनम्, अरणकरणानुयोग एवाऽप्राधिकृतमाधा-
 न्यस्यापनार्थं मिश्रया विभजया उपन्यास इति । तथा धर्मग-
 णितानुयोगी एकविभज्योपपत्त्यस्तौ; अत्र प्रकृते आग्रधानावे-
 ताविति । तथा द्वयानुयोगो च जिज्ञाविभज्योपपत्त्यासं प्रयोजनम् । अर्थं
 हि एकैकानुयोगमीलनोक्तः इति । न प्रमोष्यते-किंकाराशब्दपुक्तिमि-
 र्बिचारणीय इति । तथाऽणुयोगो हाब्दद्वयोपपत्त्यासं प्रयोजनमुच्य-
 ते । यत् अत्राणां पदानामतेऽणुयोगपदमुपपत्त्यसं तत्पृथक्त्वाऽणु-
 योगप्रतिपादनार्थम् ; यत् द्वयानुयोग इति तत्पृथक्त्वाऽणुयोग-
 प्रतिपादनार्थमिति । एवं व्याख्याते सत्याह परः इह गाथाः, तत्र
 पर्यायत इदमुक्तम्-‘यथाक्रमं तं महाङ्गिकाः’ इति । एवं तदिं अरुण-
 करणानुयोगस्य स्रष्टुव्यं, तत्किमर्थं नस्य नियुक्तिः किमर्थं ? अपि
 तु द्वयानुयोगस्य उपपत्त्ये कर्तुम्, सर्वेषामिव प्रधानत्वात् । एवं
 चोदकनाहोपे कृते सत्युच्यते-

सविसयवल्लवंतं पुण, लुज्जं तदि वि महद्दियं चरं ॥
 चारि चरकखट्ठा, जेणियरे तद्धि अणुभोगा ॥ ८ ॥

खट्ठासौ विषयशब्द स्वविषयः, तस्मिन् स्वविषये, बलवत्त्वं पुन-
 सुंज्यते घटते । पतञ्जकं प्रवर्तित-आत्माऽऽस्तीत्यविषये सर्वे एव
 बलवन्तो घर्तन्त इति । एवं व्याख्याते सत्यपरस्वाह-यथेति सर्वेषा-
 मेव नियुक्तिकरणं प्राप्तम्, आत्मासौ विषयत्वं सर्वेषामेव बलवत्त्वा-
 त्; तथापि अरणकरणानुयोगस्य न कर्त्तव्येति । एवं चोदकनाऽऽ-
 शङ्किते सत्याह गुरुः- (तह वि य महद्दियं अरणं) तथाऽप्येव-
 मपि स्वविषये बलवत्त्वेऽपि सति महद्दिकं चरणमेव, शेषानुयो-
 गानां अरणकरणानुयोगार्थमेवोपादानतः पूर्वोऽप्यन्तररक्षणार्थं
 पूर्वप्रतिपत्त्यर्थं च । शेषानुयोगा अन्येवंबुद्धभूताः । यथा हि
 कपूर्वरूपार्थं वृत्तिकयादीयत, तत्र हि कपूर्वरूपेण प्रधानं न तुन-
 र्भूतः । पदमभ्यापि चारित्ररक्षणार्थं शेषानुयोगानामुपपत्त्यासः ।
 तथा चार्ह- [चारित्तरक्षणत्वा जेणियरे तद्धि अणुभोगा]
 चारित्रमेव चारित्र, तस्य रक्षणं, तदर्थं चारित्ररक्षणार्थं, येन
 कारणेन इतर इति धम्मोऽणुयोगाह यत्तयोऽणुयोगा इति ॥
 एवं व्याख्याते सत्याह-कथं चारित्ररक्षणमिति वेत्त तदाह-

चरणपरिवचिद्वेहु, धम्मकट्ठा कालादिकमार्थाया ।
 द्विषि दंसणमुक्की, दंसणमुक्की अ चरंणं तु ॥ ९ ॥

अथेते इति चरणं मतार्हं, तस्य प्रतिपत्तिः अरणप्रतिपत्तिः ।
 अरणप्रतिपत्तेः हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायः । किं तदा
 इ-धर्मकथा, दुर्गती प्रपतन्तं सर्वसंघातं धारयतीति धर्मः, त-
 स्य कथा कथनं ; कथाचरणप्रतिपत्तिहेतुः धर्मकथा । तथाहि-
 आहोपपत्त्यादधर्मकथाऽस्तुत्याः सन्तो अभ्यधागिन्नचारित्रं प्रानु-
 वन्ति (कासे दिक्कमादी यत्ति) कसन्तं काला; कलासद्वृद्धो वा
 कासः; तस्मिन् काले, दीक्षाद्यः दीक्षाद्यः दीक्षा प्रपञ्चप्रदानम्, धा-
 विश्रान्दापुपस्थानाद्विप्रमहः । तथा च शोऽनन्तितियमन्त्रकृतसूच-

अग्निधोम

देवेभ्यश्चित्तेमहातुभ्यश्चिरयश्चित्तेः दुर्बलिकपुष्यमिदं माहम-
व्यतिगुणिलतभः । ऽनुयोगस्य विस्मृतवृत्तार्थमवलोच्य बलेमानका-
हस्रकृष्णं युगं चाऽऽसत्प्रवचनमहिनायुयोगो विभक्तः-पुष्यक २
व्यवस्थापितः । ततश्चतुर्धाकृतञ्चतुष्टयकालिकमुतादिहानेषु निरु-
कम् । इति निरुक्तिगाथायः ॥ २८ ॥

“माया य इहस्तेमा” इत्यादि पूर्वं सूक्ष्मव्ययकटीकास्थेभावाद्
भैरवकृतकधानकमवस्थेयमिति । (यतश्च अक्षरविश्वय) शब्दे-
ऽत्रैव जगो २१२ पृष्ठे विव्यस्ते इष्टव्यम्)

आप्यकारोऽपि “देविव्येदिव्यद्विहित्यादि” गाथाभावात्माह-
नाऊण रक्तित्यजो, मध्येभाधारणासमगं पि ।

किच्छेज धरेमागं, सुयसवं प्रदामितं पि ।
अदसपक्यलवभ्रोगो, मध्येभाधारणासमगं पिर्हाणो ।

नाऊण-नेसपुरिसे, स्वेत्तंकाढागुरुवं च ॥
साण्णमहोऽणुभोगे, बीसुं कासी य सुयविभोगेण ।

सुहृगइणाइनिमित्तं, नपे वि सुनिगृह्यि विज्ञागो ॥
स देवेभ्यश्चित्तः श्रीमानार्थरहितसुरिर्निजशिष्यं दुर्बलिका-
पुष्यमिदमपि कृच्छ्रेण श्रुत्वाप्यं धारयन्ते ज्ञान्वा विनयेवर्गे सा-
नुप्रदो बहयमाणकालिकादिभुवाविभागेन विष्वक् पृथक् चरण-
करणापचतुयोगानकार्थिदिति सम्बन्धः । कथंभूतं दुर्बलिकापु-
ष्यमिदम्, मतिमेधाधारणासमप्रतिपि । तत्रंमनु बांधेन भननं स-
तिरेव, बोधशक्तिः मेधा, धारणा अवधारणाशक्तिः, तामिः समग्रं
सुकामं, तथा अंतश्चक्षानकृतोत्पद्यंतया पथ्यान् भविष्यतः पु-
रुषांश्च ह्यत्वा, कथंभूतात्, मतिमेधाधारणाशक्तिपरिहृणान्, तथा
केन्द्रकाहस्रमुकपं च ह्यत्वा, न केचस्रमुयोगान् प्रयुगकार्थिनं, तथा
नयाश्च जैमावाद्, अकार्थिदिति धेतत । कथंभूतात् ? । सृष्टिनि-
धाने विहितो व्याख्यातिरंशेन उच्यते कृतो विभागो त्यक्तताया-
दानकपो येषां तं निगृहितविभागस्तोस्तथाहनात् । किमर्थम् ? ,
सुखप्रहाणादिनिमित्तम् । आदिशब्दाकारणादिपरिग्रहः । (वि-
शे०) (चरणकरणाद्यनुयोगभेदेनानुयोगचतुर्विधमार्थ्यैररहित-
सुरिभिः कृतमिति ‘अक्षरविश्वय’ शब्देऽत्रैव जगो २१२
पृष्ठे दृश्यते, इहापि उपयुक्तो जगो दृशितः) अनुकपो-
ऽनुकृतो वा योगोऽनुयोगः । सुखस्य स्वेत्ताभिधेयेन स्वा-
कंमरुपसंबन्धे तदपे दृष्टिवादान्तर्गतेऽधिकारे, स० । स्या० ।
स च द्विधा-

मे किं तं ब्राह्मणो ? । अणुभोगो जुहिवे पस्यते ।
तं जह्वा-मूढपदमणुभोगे, मन्दिपाणुभोगे य ॥

स च द्विधा-मूलप्रथमानुयोगः, गहिरकानुयोगश्च । इह सूत्र धर्मप्र-
त्ययनातीत्यकारस्तेषां प्रथमं सत्यकथावासिद्वेक्षणपूर्वनावादिगो-
बरोऽनुयोगो घृतसम्यमानुयोगः । इहवाकाहीनां पृथारपरिच्छि-
न्नो मध्यभागो गहिरका, गहिरकेव गहिरका, एकवाधिकारा प्र-
शिक्षितिरित्यर्थः । तस्यानुयोगो गहिरकानुयोगः । न० । स०
(प्रथमानुयोगगहिरकानुयोगस्योर्थात्था स्वस्वस्थाने दृष्टय्या)

अणुभोगमत्र-अनुयोगगत-पुं० । अनुयोगः प्रथमानुयोग-ती-
र्थकरविपुषेनवादिप्यक्तमप्रत्ययः, गादिङ्कानुयोगश्च मतन-
रपतिवैशज्यतामो मिश्रणमनानुसरविमानगमनवकल्पनाव्या-
वृत्तव्यवस्था इति ङिङ्कप्रत्यये गतोऽनुयोगगतः । दृष्टिवादांशाने-
दे दृष्टिवादान्तर्गतेऽधिकारे, अवयवे समुदायांपचाराद् दृष्टि-
वादे च । स्या० १० ज्ञा० ।

अणुभोगगणुष्या-अनुयोगगणुनुज्ञा-स्त्री० । अनुयोगोऽप्ये-
व्याख्यानम्, गणो गच्छः, तयोनुज्ञाऽनुमतिः ॥ ३३ अर्थि० ॥ अ-
नुयोगागणयोः प्रवचनोकेन विधिना स्वतन्त्रानुज्ञाने, पंचव० । इह०
अणुभोगतत्त्वज्ञ-अनुयोगमूल-पि० । अनुयोगप्रवहैकनिष्ठे,
बु० १ उ० ।

अणुभोगस्य-अनुयोगार्थ-पुं० । व्याख्यानतूतेऽर्थे, ब्राजा० १
बु० १ अ० १ उ० ।

अणुभोगदायय-अनुयोगदायक-पुं० स्त्री० । सुषवंस्थाभि-
प्रभृताद्यनुयोगार्थायानं, “ बंदिनु सव्यासिद्धे, जिणे व अणुभो-
गदायव सव्ये । आचारस्स जगत्रां, निवृत्तपि कितस्सत्सामि”
॥ १ ॥ ब्राजा० १ अ० १ प्र० १ उ० ।

अणुभोगदाय-अनुयोगदाय-न० । ॥ ७० ॥ । अथ्ययनायकथन-
विधिरनुयुग्मोऽहाराणीव द्वाराणि, महापुरस्तेष्व सामायिकस्या-
ऽनुयोगार्थं व्याख्यानार्थं द्वारायनुयोगद्वाराणि । उपकमादिषु
व्याख्यानकारेषु, अत्र नगरदृष्टान्तं वर्णयन्त्याचार्याः । अणु० ।
वस० । यथा हि अहृतद्वारं नगरं नगरमेव भवति; कृतेकद्वार-
मपि हृदयहरधजनसकुलत्वाद् दुःखसंचारं कार्यातिपस्ये च
जायते; कृतचतुर्भूतयनालोहारं तु सप्रतिद्वारं मुखनिर्गमप्रवेशं
कार्यातिपस्ये च । सामायिकपुरमध्यस्थार्थिगमनापायद्वारानुयु-
मशक्यार्थिगमं भवति; कृतेकानुयोगद्वारमपि कृच्छ्रेण द्वाधीय-
सा च कालनाधिगम्यते; विहितसमयेदोषकारिद्वारचतुष्टये
सुखाधिगमप्रत्यक्षा च कालेनाधिगम्यते, ततः फलवान-
नुयोगद्वारोपस्थासः । उक्तं च-

“अणुभोगद्वारां, महापुरस्तेष्व तस्स चत्वारि ।
अणुभोगोऽपि तदर्थो, दारां तस्स च मुहारां ॥
अकथहारमननं, कथंभूतां पि तुहस्तं चत्वारं ।
चउमूहद्वारं पुण, सप्यदिद्वारं सुहाहिगमं ॥
सामाह्यपुरमेवं, अकथद्वारं तहगद्वारं वा ॥
तुराहिगमं चउद्वारं, सप्यदिद्वारं सुहाहिगमं ॥
आ० म० प्र० । विशेष० । स्या० । आवा० ।
(अथारि अनुयोगद्वाराणि ‘अणुभोग’ शब्दे
३५५ पृष्ठेऽनुपदमेधोकाणि)

नवाद्यौ उपकथः, तदनन्तरं निक्षेपः, तदनन्तरं चानुगमः,
ततोऽप्यनन्तरं नव इत्यमीषामनुयोगद्वाराणामिच्छं क्रमापस्थासं
किं प्रयोजनमित्यहृदयस्य ‘कमप्योत्राव्याशं च वच्चा’ इत्यष्टम
क्रमप्रयोजनद्वारमनिधिस्तुराह-

द्वारकमेऽप्येव च, निक्षिप्तव्यं जेण नासमीत्तयं ।
अणुगमम्द नाण्णुं, नाणुगमो नयपयविहृणो ॥
संपंधोपकथमर्थो, समीपमापीय नयानिक्लेवं ॥
सत्थं तथोऽणुगमम्द, नरुहं नाण्णुविहाणोहं ॥

पथामनुयोगद्वाराणावयवमेधोपस्थासकथः । येन नासमीपस्थ-
मनुपकथान्तं निक्षिप्तं, न च नामादिनिरनिक्रिसमर्थेनाऽनुगम्यते,
नापि नयमनविकलोऽनुगमनिमित्तश्च संकथकप उपकथः सं-
कथोपकथस्तेन संकथकप उपकथेण समीपमापीय न्यासयोभ्य
विधाय स्वस्मिन्निक्षेपं विहिततामस्यापान्निक्षेपे सच्छास्त्रं
ततोऽर्थेनाऽनुगम्यते व्याख्यायते । नामापिचित्तानोनाभेदेऽर्थेस्त-
स्मादर्थमेवानुयोगद्वारक इति क्रमप्रयोजनद्वारं समाप्तमिति ।
आ० । न० । बु० । नि० ७० । व्य० । आ० म० १० । स्या०

कर्म० । सत्पद्मरूपशताविषु, विशेष० । ' संतपयपकवश्या
द्वष्यपरमांश्च ' इत्याद्यनुयोगद्वाराणामत्यन्तरदेकमन्युयोग-
द्वारानुच्यते । कर्म० १ कर्म० । तत्त्वकर्मप्रतिपादकध्वयनवि-
शेषोऽपेक्षोपाचारदनुयोगद्वाराणानुच्यते । पा० । उक्तालिक-
शुतविशेषे, नं० ।

अस्यादावेतद्गीकाह्वत्—

सम्यकसुरेन्द्रकृतसंस्तुतिपादपथ—
मुद्गामकामकरिराजकठोरसिंहम् ।
सदृशमदेशकवरं वरदं नतोऽस्मिन्,
घोरं विशुद्धतरबोधनिधिं सुजीरम् ॥ १ ॥
अनुयोगभृतां पादान्, वन्दे श्रीगीतमाविस्तीर्याम् ।
निष्कारणबन्धुनां, विशेषतो धर्मदेवानुग्राम ॥ २ ॥
यस्याः प्रसादममूलं, प्रपथ्य भवन्ति भव्यजननिबहाः ।
अनुयोगव्येदिनस्तां, प्रपथः क्षुतदेवतां वन्दे ॥ ३ ॥ ”
इहातिगम्भीरमहानीरचिम्पिन्पतितात्पर्यरत्नमिवातिनु-
ल्लेभं प्राप्य मानुषं जन्म ततोऽपि लब्ध्वा त्रिभुवनेकहितधी-
मजिनप्रणीतबोधोपलभं समासाद्य विरत्यनुगुणपरिग्रामं प्र-
तिपद्य चरणधर्ममधीत्य विधिष्वत् सूत्रं समाधिगम्य तत्पर-
मायं विज्ञाय स्वपरसमयरहस्यं तथाविधकर्मस्योपशमसं-
भारिणां चावाप्य विशदप्रज्ञां जिनवचनानुयोगकरणे यतित-
न्यम् । तस्यैव सकलमनोऽभिलषितापेक्षार्थसंसाधकत्वेन य-
थोक्तसमप्रसादमीफलत्वात् । स चाऽनुयोगो यद्यप्यनेकप्रन्य-
विषयः संभवति, तथाऽपि प्रतिशास्त्रं प्रत्यध्ययनं प्रत्युद्देशकं
प्रतिवाक्यं प्रतिपत्तुं चोपकारित्वात्प्रथममनुयोगद्वाराणामसौ
विधेयः । जिनवचनं ह्याच्चारद्विभुतं प्रायः सर्वमप्युपक्रमनिवि-
तानुगमनयद्भरिविचार्यते । प्रस्तुतशास्त्रे च तान्येवोपक्रमदि-
द्वाराण्यभिधायन्ये, अतोऽस्यानुयोगकरणे वस्तुतो जिनव-
चनस्य सर्वस्याप्यसौ कृतो भवतीत्यतिशयोक्तकारित्वात्प्रक-
तराश्वस्यैव प्रथममनुयोगो विधेयः । स च यद्यपि चूर्णितो-
काद्वारेण वृद्धैरपि विहितस्तथापि तद्वचसांतिगम्भीरत्वेन
तुरधिगमत्वाद् अन्वमतितानाऽपि मयाऽस्माधारणभुतमक्रिज-
नितोऽस्तुत्येव भावतोऽविचारितस्वशक्तिवाद्देषधियामनुग्रहाधे-
स्याच्च कर्तुमारभ्यते । अनु० ।

सोलससयाणि चतुर्ष-सराणि हौति च इम्मिमगाहाणं ।
दुसदस्समणुत्तुभंउदं-द्विचिण्णमामो भणिमो ॥ १ ॥
गारमहादारादं, चउवकामाणुओगकरदारा ।
अक्खरारब्दंमत्ता, सिहिह्मा पुक्कलणयउएए ॥ २ ॥
गाहा १६०४; अनुत्पुण्ड्रसा प्रत्यसंख्या ३००४ ।
अन्धान्ते च टीकाह्वत्—
प्रायोऽन्यशास्त्रदृष्टः, सर्वोऽप्यर्थो मयाऽत्र संकलितः ।
न पुनः स्वमनीषिकया, तथापि यत्किञ्चिद्दिद वितथम् ॥ १ ॥
सुत्रमलितलक्ष्यं शिञ्जितं, तच्छोऽयं मय्यनुग्रहं कृत्वा ।
परकीयदोषगुणयोः स्व्यागोपादानविधिमुक्तासौ ॥ २ ॥
उग्रस्थस्य हि बुद्धिः, स्वसति न कस्येद कर्मवशास्य ॥ १ ॥
सदनुत्तिविरहितानां, विशेषतो मज्झिमासुतमपि ॥ ३ ॥
कृत्वा यदस्मिमां, पुण्यं ससुपासितं मया तेन ।
मुक्तिमन्त्रेण समता, कृपितरजाः सर्वत्रन्यजनः ॥ ४ ॥
श्रीप्रज्ञाहन्कुलाम्भुमिधिसुतः,
द्योगिनप्रघनतकीसिद्धींशेगशासः ।
विभवसाधितविकल्पितवस्तुदञ्चै-

श्लयाशतप्रभुरनिर्भुतप्रभ्यजन्तुः ॥ ५ ॥
ज्ञानादिकुसुमनिञ्जितः, फलितः श्रीभ्रमूनीन्द्रफलवृक्षैः ।
कल्पद्रुम इव गच्छः, श्रीहर्षवृषीयनामाऽस्ति ॥ ६ ॥
पतोस्मिद् गुणरक्तः रणगौरिगोभ्रमोऽन्योपाधिधि—
स्तुक्त्वायुक्तकृमाधरपतिः सौम्यत्वतारापतिः ।
सम्बन्धानविशुद्धसंयमनपःस्वाभारचर्चानधिः;
शान्तः श्रीजयसिद्धसुरिभ्रमविज्ञःसङ्गक्षुद्रामणिः ॥ ७ ॥
रत्नाकरादिवैतस्मा-च्छिष्यत्वेनं भव्य तत् ॥
स क्षापीशोऽपि नामाऽन्यो, यद्गुणग्रहणे प्रभुः ॥ ८ ॥
श्रीवीरदेवविभुधिः, सत्यन्नाथातिशयप्रवरतोयिः ।
द्रुम इव यः संसिक्तः, कस्तगुणवर्णने विभुषः ? ॥ ९ ॥
तथादि-आज्ञा यस्य नरेऽवैररिप शिरस्वरोऽप्यते सादरं,
यं दृष्ट्वाऽपि मुदं ब्रजन्ति परमां प्रायोऽपि दुष्टा श्रपि ।
यद्दक्षाभुधिनियंनुञ्जलवचःपीयूषपात्रोक्षते-
गीर्वाणैरिव दुग्धसिन्धुमथने तृप्तिने ह्येने जनेः ॥ १० ॥
कृत्वा येन तपः सुदुष्करतरं विश्वं प्रबोधं प्रयो-
स्तीर्थं सर्वविद्ः प्रभावितमिदं, तैस्तेः स्वकीयेर्गुणेः ।
शुक्लीकुर्वेदोषविश्वकुहरं मन्वेदिलुभकस्युहै-
यस्याऽऽशास्त्रनिवारितं विचरते श्वेतांगुगौरं यशः ॥ ११ ॥
यमुनाप्रवाहविमल-श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिसंयकात् ॥
विष्णुजैकक्षिकालदुस्तरतमःसंतापुमनिधयिः,
स्येणैव विवेकिदृष्टरशिरस्यासाद्य येनोदयम् ।
सम्यग्ज्ञानकरिभ्रन्तनमृगिभूषणः समद्वैद्योतितो,
मार्गः सोऽभ्यदेवसूरिरनयनसन्धः प्रसिद्धो लुवि ॥ १३ ॥
तच्छिष्यलवप्रार्थ-रवगीतायाऽपि शिष्यज्जनेऽप्यर्थे ।
धीदेवचन्द्रसूरिनि-रिचमनुस्तिता प्रकृतवृत्तिः ॥ १४ ॥ अनु० ।
अणुश्लोकादरसमास-अनुयोगद्वारसमास-पुं० अनुयोगद्वाराणां
द्वारिसमुदायं, कर्म० १ कर्म० ।
अणुश्लोकादर-अनुयोगपर-पुं० अनुयोगिके, वच० ३ व० । “अ-
णुश्लोकादरं अणुश्लोकादरव्याजि र्हिररुण्यं सो ताराय य ल-
ज्जायि र्हिररुण्यं” आह अनुयोगकथाम् । नि० वृ० २० उ० ।
अणुश्लोकादर-अनुयोगपर-त्रि० । सिद्धान्तव्याख्याननिष्ठे, जी०
१ प्रति० ।
अणुश्लोकादर-अनुयोगानुज्ञा-स्त्री० । आचार्यपदद्वेषापना-
याम्, पं० व० ४ हा० । (‘अणुश्लोकादरं’ शब्देऽत्रैव ज्ञानं ३४७
पृष्ठे चैतद्रूपं व्याख्यातम्)
अणुश्लोकादर (ष)-अनुयोगि-पुं० । अनुयोगो व्याख्यानं
रूपरूपेति यावत्, स यत्राऽस्ति । व्याख्यानार्थं क्रियमाणे प्रभ-
वेदे, यथा— “चउदं हि समपदि लोणे” इत्यादिप्रकृषणाय ‘क-
इहि समपदि’ इत्यादि । सा० ६ डा० । आचार्यं, “अणुश्लो-
कादरं लोणाणं, किल संस्ययासाओ दृढं होह ” पं० व० ४ हा० ।
अणुश्लोकादर-अनुयोगिक-त्रि० । प्रसिद्धे, नं० । “अणुश्लो-
कादरवचनसमे, शारलकुलवसंसन्दिकरे ” नं० ।
अणुश्लोकादर-अणुश्लोकादर-स्त्री० । द्वारवतीघास्तव्यव्याहंनिभ्रस्य
अर्थोयाम्, यस्याः पुत्रस्य जिनदेवस्य आत्मदोषोपसंहारे
कथा । आच० ४ श्र० । आ० वृ० ।
अणुश्लोकादर-अणुश्लोकादर-त्रि० । अनुश्लोकादरानुपसार्थं, ततश्चाणुश्लोकादरं

कस्यते वेहत् इत्यनुकम्पः । अनुकम्पक्रियाप्रवृत्तेः, उचो १ २ अ० ।
अनुकम्प-वि० । अनुकम्पनीये, ४० ३ उ० ।

अणुकंपण-अनुकम्पन-न० । दुःखार्तानां बालवृद्धात्महत्यानां
यथादेशकात्मनुकम्प्यकरणे, ४० ३ उ० ।

अणुकंपपथमसवपाद्या-अनुकम्पपथमेश्वपाद्यादि-सौ० ।
जीषद्वयाधर्मशाकाकारणप्रभृति काव्याम्, पञ्चा० १० विष० ।

अणुकंपय-अनुकम्पक-वि० । भगवतो भक्ते, अनुकम्पयावाङ्
भक्तिवाचित्त्वम्, 'आचारियऽणुकंपय', गच्छे अणुकंपिभ्यो
महाभागो" इति वचनात् । कल्प० । आत्माहिते प्रवृत्ते, ४०
४ टा० ४ ४० ।

अणुकंपा-अनुकम्पा-सौ० । अनुकम्पनमनुकम्पा । इयायाम्,
नि० ४० १ उ० । अनुकम्पा, कृपा, दयत्येकार्थाः । श्रो० । अनु-
कम्पा कृपा । यथा-सर्वे एव सत्याः सुखार्थिनो दुःखग्रहा-
णार्थिनश्च, ततो नैवामत्याऽपि पीडा मया कार्येति । घ० २
अधि० । अनुकम्पा दुःखितेष्वपकापातेन दुःखग्रहाणेषुका स-
म्यकस्वलिङ्गम् । पकापातेन तु कस्या पुत्रादौ व्याधादीनाम-
प्यस्येच्येति न तादृश्याः कृपायास्तत्त्वम् । सा चानुकम्पा द्र-
व्यतो भावतमेति श्रिया । द्रव्यतः सत्यां शक्ती दुःखप्रतीकारे-
रेषु । भावतस्माद्द्रव्यत्वम् । यदाह-"दृष्टुं पाणिनिवहं, भीमे
भवसागरस्मि दुष्कषणं । अविसेसत्रोऽणुकंपं, दुःखा वि सान-
त्यश्रो कुणह" ॥१॥ घ० २ अधि० । श्रो० । प्रव० । दृशो० संघा० ।
अत्रादिदानकृपायाम्, घ० २ अधि० । भक्ती, श्रा० क० ।
(अनुकम्पया कुतसामायिकलाभे उदाहरणानि 'घञन्त'
शब्दे वचनम्) भङ्गपानादिभिरुपधर्मैश्च, म० ८ श० ८ उ० ।
'अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्यात्' अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, श्रा० १
श्रा० १० ।

अणुकंपं पठ्च तन्नो पदिणीया पषत्ता । न जहा-तव-
रिसपदिणं । ए गिलाणपडिणं । ए सेहपडिणं । ए ॥

अनुकम्पापधर्मं प्रतीत्याभित्य तपस्वी सपकः, त्तानो रोगा-
दिभिरसमर्थः, शैतोऽभिनवप्रमजितः, एते अनुकम्पनीया भव-
न्ति, तत्करणाकारणाम्यं च प्रत्यनीकतेति । अनुकम्पातो
वदानं तदनुकम्प्येषोपचाराद् । दानभेदे, उक्तं च वाचकमुच्यैह,
मास्वातिपुत्र्यपादैः-"कृपणैऽनाथदरिद्रैः, स्वसनप्राप्तं च रोग-
शोकहते । यदीयते कृपायां-नुकम्पात् तद्भवद्दानम्" ।
स्थाने १० टा० ।

अणुकंपादाण-अनुकम्पादान-न० । अनुकम्पया कृपया दानं
दीनानाथविषयमनुकम्पादानम् । स्थाने १० टा० । रक्षाने, प्रति०
अनुकम्पादानं जितैरप्रतिकुम्भ-

अनुकम्पाऽनुकम्पे स्या-ज्ञक्तिः पात्रे तु संगता ।
अन्यथाधीस्तु दातृणा-मतिचारप्रसङ्गिका ॥ २ ॥

(अनुकम्पति)अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, भक्तिस्तु पात्रे सत्त्वाद्दौ
संगता स्यात् समुचितफलदास्यात् । अन्यथाधीस्तु अनुकम्प्ये
सुपात्रत्वस्य, सुपात्रे चानुकम्प्यत्वस्य कृत्स्निं दातृणामति-
चारप्रसङ्गिकाऽतिचारापादिका । अत्र यद्यपि सुपात्रत्वविषयोऽ
नुकम्प्ये संयतोऽपि मिथ्यारूपत्याऽतिचारापादकत्वं युज्यते ।
सुपात्रेऽनुकम्प्यत्वविषयस्तु न कर्त्तव्यं, तत्र मानवादिद-
शायामन्यदाऽपि च संशोद्धारप्रयोगितुःसाध्यत्वरूपाऽनु-
कम्प्यत्वाधियः प्रमात्वात् । तथापि स्वपेक्षयाऽहंनिव्ये सति

संशोद्धारप्रयोगितुःसाध्यत्वरूपमनुकम्प्यत्वं तथाप्रामाणि-
कमेवेति न कोचः । अर्धरे त्वाहुः-तत्र प्रायुक्तं निर्विशेषण-
मनुकम्प्यत्वं प्रतीयमानं साहचर्यादिविरोधं यदा हीनत्वबुद्धिं
जनयति तदैवातिचारापादकं नास्यत्, अथवाधियार्थिनिवृत्त-
दोषकृपाः कर्णयुद्धाधानादिव दोषस्यात् । अत एव नचानुक-
म्पादानं साधुत्वं न संभवति । "आचारियऽणुकंपय', गच्छे
अणुकंपिभ्यो महाभागो" इति वचनादित्यत्रकृत्यन्तुकार्णाकार्या-
दिष्वन्युक्तव्यधियां प्रतिरोगेऽनुकम्पाऽव्याहतेति । एतन्नये च
सुपात्रदानमपि ग्रहीतुःसत्त्वात्प्रापत्येतेष्वमानमनुकम्पादान-
भवेद्य, साक्षात्संशोपायत्वनेष्वप्यापं चान्यथेति बोध्यम् ॥ २ ॥

तत्राथा दुःखिनो दुःखो-दिधीषोऽप्यासुखश्रमात् ।
पृथिव्यादौ जिनाऽर्वादी, यथा तदनुकम्पिनाम् ॥ ३ ॥

(तत्रेति) तत्र भक्त्यनुकम्प्यांमेव आद्याऽनुकम्पा दुःखिनो
दुःखार्तानां पुंसं दुःखोद्दिधीषो दुःखोत्तरच्छ्वा इत्यानाम-
सुखं यस्मादेत्याशेषः अत्रस्तस्मात् । इत्थं च यस्तुमया बल-
वन्निष्ठाननुभवधी योऽनुःसिदुःखोत्तरस्तद्विषयिणी स्वस्यच्छ्वाऽ-
नुकम्पेति फलितम् । उदाहरति, यथा-जिनात्वादी कार्यं पृथि-
व्यादौ विषये तदनुकम्पिनामिन्धेनुतमगवपुत्राप्रदेशानाविना
प्रतिबुद्धाः सन्तः वरकृपायाद् रत्नित्यति परिणामवतामित्यर्थः ।
यद्यपि जिनात्वादिकं भक्त्यनुष्ठानमेव, तथापि तस्य सम्यक्त्व-
शुद्धयर्थत्वात्तस्य चानुकम्पातिङ्गकत्वात्सर्वेकत्वमप्यारुक्ते-
वेति पञ्जलिङ्गवादिष्वेव्यवस्थिनैरस्माभिरप्यवमुक्तम् ॥ ३ ॥
अप्यासुखश्रमादित्यस्य कृत्यमाह -

स्तोकानामुपकारः स्या-दारान्नाद्यत्र नृपसाम् ।
तत्रानुकम्पा न मता, येथेऽनुर्त्पुर्त्तकर्मम् ॥ ४ ॥

(स्तोकानामिति)स्वपथ, नवरम्, दष्टपुष्टस्ववृकमेतत्, "आत्वि-
रिमन्त्रसंस्कारे-श्रीधाराणां समज्ञतः । अन्वर्थो हि यद्वत्-
मिष्टं तद्विधीयते ॥ १ ॥ यार्पाकूपनमामानि, देवताऽऽयतनाति
च । अन्नप्रदानमेतत्, पुनं तन्विवेदो विदुः" ॥ २ ॥
नन्वेवं कारुणिकदानेतात्कारिकमर्णोऽप्युच्छेदापत्तिरित्यत
आह-

पुत्रादाम्भनमाभित्य, दानशशादि कर्म यत् ।

तत्तु प्रवचनोन्नत्या बीजाधानादिनावतः ॥१॥
(पुत्रादाम्भनमिति)पुत्रादाम्भनं सजावकारणमाभित्य यद्दानशा-
नादि कर्म प्रदेष्टुं संप्रतिरत्तादीनां, तत्तु प्रवचनस्य प्रकाशादि-
नोन्नत्या बीजाऽऽनामादीनां भावतः सिद्धेऽनोक्तानाम् ॥ २ ॥

बहूनामुपकारेण, नातुकम्पा निमित्तताम् ।
अतिक्रामति तेनाऽत्र, सुख्यो हेतुः शुभाशयः ॥ ६ ॥

(बहूनामिति)ततो निवृत्तिसिद्धेर्बहुनामुपकारेणानुकम्पा निमि-
त्ततां नातिक्रामति, तेन कारणेनाशानुकम्पाभिन्नफल, सुख्यः
शुभाशयो हेतुः । दानं तु गौणमेव, वेद्यसंवेद्यपदस्य एव
साहाराशयपार्थ, साहाराशयानुगम एव च निश्चयतोऽनुकम्पेति
फलितम् ॥ ६ ॥

एतन्नेव नयप्रदर्शनपुत्रे विवेचयति-
क्षेत्रादिव्यवहारेण, दृश्यते फलसाधनम् ।

निश्चयेन पुत्रजातैः, केवलः फलनेदकृत् ॥ ७ ॥
व्यवहारेण पात्रादिव्यवहारेणैव, निश्चयेन तु नावैकित्या-
द्वेचित तस्यम् ॥ ७ ॥

कालाशम्भनस्य पुष्टयं स्पष्टयितुमाह-
 काशेऽल्पमपि लानाय, नाकाले कर्म बह्वपि ।
 वृष्टौ वृद्धिः कणस्यापि, कणकोटिर्दृष्टाऽन्यथा ॥ ८ ॥
 (काश इति स्पष्टय ॥ ८ ॥)
 अथ सरानुगुपयेनानुकम्पादानस्य प्राधान्यं जगद्वृष्ट्यान्तेन स-
 मर्थयितुमाह—
 धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं, दानस्य जगदानपि ।
 अत एव व्रतं गृह्णन्, ददौ संवत्सरं वसु ॥ ९ ॥
 (धर्माङ्गत्वमिति) अत एव काशेऽल्पस्यापि लाभार्थत्वादेव,
 दानस्यानुकम्पादानस्य, धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं जगदानपि व्रतं गृ-
 ह्णन् संवत्सरं वसु ददौ । ततश्च महता धर्मोपसरे तुष्टितं सर्व-
 स्यात्प्यवस्थौचित्ययोगेन धर्माङ्गमिति स्पष्टीजनयतीति भावः ।
 तदाह—“ धर्माङ्गत्वापनर्थे च, दानस्यापि महामतिः । अथस्थौ-
 चित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया ” इति ॥ ९ ॥
 नन्वयं साधारण्यतदापचित्यत आह—

साधुनाऽपि दशाजैर्दं, माप्यैतदनुकम्पया ।
 ततः ज्ञानाजगवतो, रङ्गस्वैव मुहस्तिना ॥ १० ॥
 साधुनाऽपि महाव्रतधारिणाऽपि दशानेर्दं प्राप्य पुष्टालम्बन-
 नमाभ्येतद्वानमनुकम्पया दत्तं मुहस्तिनेव रङ्गस्वैव तदाऽऽह ।
 अथैतं आगेन-आयंस्फुटसुखाचार्यस्य रङ्गदानमिति । कुत इत्याह-
 भगवतः श्रीवर्चमानस्त्वामिदं ज्ञानात् । ननुक्तम्—“ आपत्तौ चाप-
 जगवान् । निष्कान्तेऽपि द्विजजने । देवकृष्यं ददौ कामानुकम्पायि-
 शेषतः ” ॥ १० ॥ इति । प्रयोगश्चात्र-दशाजैर्दं यतः संवत्सराय दानम-
 तुष्टम, अनुकम्पायिमित्वाद्, भगवद्विज्ञेयानुभववित्याहुः ॥ १० ॥
 न चाधिकार्यं भोत-चित्युद्देशाद्यतो यदम् ।

अपि त्वन्यद् गुणस्थानं, गुणान्तरनिवन्धनम् ॥ ११ ॥
 (न चेति) नचैतत्कारणिकं यतदानमधिकरणं मतम् । अधिक्रि-
 यते आत्माऽनेनासंयतसामर्थ्येणोपेतु इत्यधिकरणम् । कुत इ-
 त्याह?—विद्युद्देशाद्यतोऽवस्थौचित्येनाऽऽद्ययविकृतेः, मायभेदेन
 कर्मनेदात् । अनर्थासंज्ञवमुक्तार्थमासिमप्याह-अपि चित्ति अच्यु-
 ष्याय । अन्यधिकृतगुणस्थानकाद् दिव्याऽष्टाश्यादेरपरमविर-
 तसम्पत्प्रदृष्टादिकं गुणानं ज्ञानादीनां स्थानं मतं, गुणान्तरस्य
 संचरित्यादीनिषधनम् ॥ ११ ॥ इति ॥ ११ ॥

नेव दारं पिहावेऽ, भुंजमाणो मुसावओ ।
 अणुकंपा जिगिदेहिं, मद्वाणं न निवारिआ ॥ १ ॥
 ददृष्ट पाणिनिवडं, भंमिं जवसायरम्मि दुक्खवं ।
 अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि साम्भयो कुणई ॥ २ ॥
 (दुहा वि चित्ति) इत्यभावाभ्यां द्विधा । इत्यतो यथा-आ-
 षादिद्विनेन, भावतस्तु धर्ममार्गप्रयत्नेन, धीयञ्जमाङ्गादावपि
 आश्रयणनाधिकारे “ अचंयुदुवारा ” इत्युक्तम् । श्रीजिनेनापि सांय-
 स्तरिकद्विनेन दीमोकारः कृत एव, न तु केनापि प्रतिविद्ये ॥ २ ॥

सर्वेहिं पि जिणेहिं, लुज्जयितयारागदोसोहेहिं ।
 अणुकंपादाणं स-हृषाय न कट्ठिं वि पकिसेत्त ॥ ३ ॥
 न कस्सिदं सुभं मनिविदं, प्रत्युत्त देशनाड्ढारेण राज्ञसमीयां-
 पाके केशिनापदेविनयम् । तथाहि—“ माणं नुमं पपस्सि पुब्बि
 रमाणञ्जं भविष्ठा पच्चा अरमणिञ्जं भविष्सासिं ” इत्यादि । ध०
 ११ अत्रि० ।

दाणं अणुकंपाए, दीखाणाहाण सत्तिओ णेयं ।
 तित्येकरखांतणं, साहण य पचमुच्छीए ॥ ६ ॥
 दाणं वितरणप्रकारेणानुकम्पया इत्यथा हीनानायेभ्यः, तत्र ही-
 नाः क्लीणविजयवत्वाद् वैश्वप्रासास्त एव सानाध्यकारिहिता भ-
 नाथाः, अतस्तेभ्यः शक्तौ विसृजते सामर्थ्यमाश्रित्येव, हेतुं
 ज्ञातव्यम् । अथ हीनादीनामसंयतत्वात् तद्दानस्य होष-
 पोषकत्वात्संगतं तदानमित्याशास्त्वयाह-तीर्थेकरकालेन जि-
 नोदाहरणेन । तथाहि-संगतं हीनादिदानं, प्रभावनाङ्गत्वाद् त्रि-
 नस्यैव । अथवा तीर्थकल्पयानं निर्विशेषतयेत्यर्थः, तीर्थेकरप्रभा-
 णेन वा । तथाहि-न हीनादिदानमविधेयं, जिनात्परितत्वाद्, म-
 दावतानुयाजनवदिति । हीनादीनामनुकम्पया तावदानम् । अथ
 साधुनामपि किं तथैवेत्याशङ्क्यामाह-साधुनां च संयतेभ्यः पुनः
 पात्रमुक्त्वा ज्ञानादिगुणरत्ननाजनेनतदिति धिया भक्षयेति गाथा-
 ये ॥ ६ ॥ पञ्चा० ६ विष० ॥

अणुकंपासय-अनुकम्पाशय-पुं० । अनुकम्पाप्रधानमाशुयोऽनु-
 कम्पाशयः । अनुकम्पाशयाने चित्ते, स० “अणुकंपासयस्योपा-
 तिकात्म दविस्तुज्जलजयाणां” अनुकम्पा अनुकम्पाशयस्यैव
 आशयात्तत्र तस्य प्रयोगोऽप्यावृत्तिरनुकम्पाशयप्रयोगस्तेन स० ॥
 अणुकंपि (ण) -अनुकम्पित्-त्त्वि० । अनुकम्पयमाने तच्छीले,
 स्व० १ भु० ३ अ० ३ क० । कृपावति, प्रति० ।

अणुकम्पि-अनुकम्पि-त्त्वि० । अनुकम्पणमनुकम्पिः । अनुवर्त्तने, पं०
 सं० ५ ङा० । अनुभागवत्प्राप्यवसायस्थानानां तीक्ष्णमन्ता-
 परिज्ञानार्थमनुभागवत्प्राप्यवसायस्थानानामनुकम्पिः “ बन्ध ”
 शब्दे च इत्येनं)

अणुकम्पिमाण-अनुकम्पित्-त्वि० । अनु पश्चात् कर्त्तव्यं अनुकम्पं ।
 पुष्टनः पश्चात् कृत्वा समाकर्षति, न० ।

अणुकल्प-अनुकल्प-पुं० । ज्ञानदर्शनचरित्रतपोवृत्तानां पूर्वा-
 चार्याणां ज्ञानप्रदहेन च तपोविधानेषु च अनुकृतिकरणं,
 पं० च्० ।

..... एनो वोऽं अणुकल्पं ।
 अणुसदो जूताट्टियं, पच्चाभावे मुण्णयन्वो ।
 छाणचरणहुगाणं, पुब्बावारियाण अणुफात्तिं ॥
 कुणई अणुगच्छइ गुण-धारी अणुकल्पं तं विवाणाहि ।
 गुणसयमहस्सकलियं, गुणंत्तं च अजिलमंताणं ॥
 जे खेत्तकालाजावो, आसज्जा जोगट्टाणिज्जेव ।
 गुणमतकालिअमंजमो, मोस्समो य गुणंत्तरो मुण्णयन्वो ।
 नाणाऽमु परिहाणी, तुजेगहाणी मुण्णयन्वो ।
 खेत्ताण संति अच्चा-ए उच्चकलेत्तम्मि काऽइ दुक्खिकवे ।
 भावे गेलेहहादी, मुक्काजावे उ जदसुक्खं ॥
 गेहेज्जाऽऽहारादी, छाणादिमु उज्जमण कुज्जा ।
 अणसणमादी य तवं, अकरेमाणस्स साहुस्स ॥
 पंगंताण्णज्जररा ने, जह जणिता मामणे जिणवराणं ।
 जोगनिवुत्तमतीयं, सुद्धसीलात्तं तवोच्छेदो ।
 सुद्धसंलिउद्धसंलि, तेसिं अणफासु गेहेमाणणां ।
 जं आवज्जे तथियं, तवं च वेदं च तं पावे ॥ पं० जा० ।

इयाँहि अणुकप्यो- (गाहा) (माणचरखुङ्ग लि) जो माणचर-
रिसखरचितवऽऽङ्गुणानं पुष्पावरियाणं नाममाहयेण य त-
बोविहयेसु य अणुकिए करे, सो अणुकप्यो । (गाहा) (गु-
णवचनि) आ पुण गुणसयसइहसकनियायां, अलंकृतानामि-
त्यर्थः । गुणतरं खेच अभिससंस्तानं नाणरसु परिहाणी होउआ,
केतं अक्कायासु, कालं भोमासु, प्राबं भिलायासु । (गाहा)
पगतमिञ्जरा तरेच तेसं पगतमिञ्जरा वेह । यथा- नगवजिरुप-
विहं प्रणीतमित्यर्थः । ओ पुस संजमजोगनियतमई खट्ठालि-
या सिरी सुहसिलो कुससोसो ति अजह तेसं तबोच्छेओ वा ।
यस अणुकप्यां ॥

अणुकरण-अनुकरण-न० । सीचलनेपनादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा श्ले-इच्चा-
कारेण तयेदमहं करिष्यामीत्युक्त्वा तदाकरणे, व्य० १ उ० ।

अणुकरणकारावणसिसंग-अनुकरणकारापणनिसर्ग-पुं० । अ-
नुकरणं नाम यस्सीचलनेपादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा श्ले-इच्चाकारेण त-
बेदमहं करिष्यामि, कुर्वन्तं च, कारापणं वेह यत्कव्यं करेण कु-
शलोऽप्यानवीकच्छाकारेण कारापयति, तस्मिन् निसर्गे, स्व-
भावे यस्य सोऽनुकरणकारापणनिसर्गः, इत्येनूतस्तस्य स्व-
जायो यदि अनभ्ययितं एव कर्माति कारयतीति जायः अनन्य-
र्थमेवैव कुर्वन्ति कारयन्ति च । जावसकुहविशेष, व्य० ३ उ० ।

अणुकहन-अनुकथन-न० । आचार्यप्रकरणतः पश्चात् कथ-
नं, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अणुकारि [ण]-अनुकारिन्-वि० । अनुकरोति । अनु+क-
णिनि । शिष्यां ङीप् । गुणक्रियाऽऽदिभिः सहवृत्ताकारके, वाच्य० ।
विचक्षितवस्तुनः सदर्थे, अष्ट० ७ अष्ट० ।

अणुकुडय-अनुकुचित-वि० । अनुचिते; नि० षू० ८ उ० ।

अणुकुड-अनुकुडय-अर्थ० । अनुसुखस्य समीपार्थप्रोक्तकत्या-
त्, अनुकुम्भमुपकुम्भम् । श्रु० ३ उ० । कुम्भसमीपार्थसंज्ञि प्रदे-
शे, श्रु० ३ उ० ।

अणुकूल-अनुकूल-वि० । अनुलोमे, आवा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।
स्था० । नि० । अनुकूपे, आ० म० प्र० । "अणुकूलेण धमे कुमार-
बंभचारी" आवा० ४ अ० । अग्रतिकूले, मशु० ४ सख्य० ४ ।
आचार्याणामन्यथा वा पुत्र्यानां वैषाण्युपादिना हितकारिणि
उत्साराकविषयोन्वयात्वात्, श्रु० ३ उ० ।

अणुकुसवपण-अनुकुसवचन-न० । अग्रतिकूलवचने, यथा
हे महाजान । नेदं तवोचिनं वक्तुं कर्तुं वेति । दर्श० ।

अणुकूलवाय-अनुकूलवात-पुं० । आमायकविचक्षिते पुरुवाणं
पवनं, जी० १ प्रति० ।

अणुकान्त-अनुक्रान्त-वि० । अनुष्ठिते आसेवनापरिहया सेविते,
आवा० । "एतं विदी अणुकान्ते माहनेणं मई मया बहुसां" ।
आवा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० ।

आनाक्रान्त-वि० । अनुकीर्णं, आवा० १ श्रु० ९ अ० ३ उ० ।

अणुकम-अनुकम-पुं० । अनुपरिपाठ्याय, आ० षू० । आनुपूर्वी
अनुकमोऽनुपरिपाटीनि पर्यायाः । अनु० । आवा० । "अणु-
परिवाग्निं च अणुकमेति वा परद्रु" । आ० षू० १० अ० ।

अणुकसाइ (ण)-अनुत्कशापिन-पुं० । उक्त उक्तापिठनः स-
त्कारादिषु वेते इत्येवंशील उक्ताशायी, न तथा अनुत्कशापी ।
प्राकृतत्वाद्अणुकशापी । सर्वेष्वनारिद्यादिनिः । सत्कारादिक-
कुर्वन्ते कुप्यति, तसं पत्तौ वाऽनहंकारवात्, उच्य० ३ अ० ।

अणुकशापिन-वि० । अणवः स्वभ्याः संवलनमात्रान् इति
यावन् । कषायाः क्रोधाद्योऽप्येति सर्वेष्वनारिद्यादिप्रत्ययेऽणु-
कशापी । प्राकृतत्वात् ककारस्य द्वित्वम् । संवलनकषायवि-
शिष्ट, उच्य० १५ अ० ।

अनुत्कषापिन-वि० । उत्कषायी प्रवृत्तकषायी, न तथा अनु-
त्कषायी । अणवप्रकषापये, उच्य० १५ अ० । सत्कारादिना इध-
रादने, "अणुकसाइ अपिच्ये अत्राप सीअलोत्तु" उच्य० १५ अ० ।

अणुकस्त-अनुत्कर्षवत्-पुं० । अष्टमदस्यानामान्यत्वमेतान्प्युत्स-
कमकुर्वन्ति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । "अणुकस्ते अणुर्हाणि,
मज्जेण मुणिजावप" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुकोस-अनुनुक्त-पुं० । आत्मनः परेभ्यः सत्काशाद् गुणैक-
त्कषणमुत्कृष्टतानिधानम् । गौणमोहनीयकर्मणि, अ० १ श्रु० ३ अ० ४
उ० । स० । आत्मगुणानिमित्ते, स्था० ४ उ० ४ उ० ।

अनुक्रोश-पुं० । व्यायाय, स्था० ४ उ० ४ उ० ।

अणुवित्त-अनुक्तिम्-वि० । पञ्चाशुर्यादिते, "अणुवित्तसि
धूमनि" हा० ८ अ० ।

अणुगंतव्य-अनुगन्तव्य-वि० । अनुसर्तव्ये, स्था० ५ उ० १
उ० ।

अणुगच्छण-अनुगमन-न० । आगच्छतः प्रत्युत्तमनकूपे काय-
विनयभेदे, दश० १ अ० ।

अणुगच्छमाण-अनुगच्छन्-वि० । अनुवर्त्तमाने, "अणुगच्छ-
माणे वि त्हे विजाणे, तथा तथा साहु अकसत्तणं" सूत्र० १
श्रु० १५ अ० । आवा० ।

अणुगम-अनु (ण) गम-पुं० । अनुगमनमनुगमः । अनुगम्य-
तेऽनेनास्मिभ्रममादिति वाऽनुगमः । सूत्रानुकूले परिच्छेदे,
स्था० १ उ० । निक्षिप्तसुत्रस्य अनुकूले परिच्छेदे, अर्थे, कथने च ।
ज० १ वक्ष० । सूत्रस्यानुकूपेऽर्थोक्त्यान्, व्य० १ उ० । आ० य०
प्र० । आवा० । संहितादिव्याख्यानाप्रकारप्रकृते, लेशदोहैदानिर्ब-
मादिद्वारकसायके वा । स० । अनुयोगहारे, अनु० ।
अत्रानुगमनिर्वाक्यमाह-

अनुगम्यदे तेण तद्धिं, तत्रो व अणुगमणमेव वाऽऽणुगमो ।
अणुणाऽणुकवमो वा, जं सुत्तत्यासाणुमुराणं ॥

अनुगम्येन व्याख्यायते सूत्रमेतान् ।ऽस्मिन्नस्मादा इत्यनुगमः,
वाच्यार्थविवक्षा तथैव । अथवा अनुगमनमेवाणुगमः । अणुनां वा
सूत्रस्य गमो व्याख्यानामित्यनुगमः । यदि वा अनुकूपस्य अट-
मानहयाप्येय गमनं व्याख्यानामनुगमः । सबंधं किमुक्तं भवती-
त्याह-यत्तुथार्थयोगानुकूलं सम्बन्धकारणमित्यनुगम इति ।
विशे० ।

अनुगमभेदाः-

से किं तं अणुगमे ? । अणुगमे दुर्विहे पससे ।
तं जहा-सुत्ताणुगमे अ निज्जुत्तअणुगमे अ ॥

(से किं तं अणुगमे इत्यादि) अनुगमः पूर्वोक्तशब्दार्थः । स
च द्विधा-सुत्रानुगमः सूत्रस्याख्यायानमित्यर्थः । निरूप्येधनुगम
निरा० युक्ताः सूत्रेणःसह लोलीभावेन संबन्धा निरूपेका अथोस्ते-
षां युक्तिः ऋतुत्कृताऽऽपादनम्, एकस्य युक्तशब्दस्य बोधार्थि-

किञ्चाम्बपनादिप्रकारैः स्वविभजनेत्यर्थः । तत्रोभयमस्तस्या वा अयुगमो व्याख्याने निरूप्यन्तुममः । अयु० । (सूत्रानुगमनि-
रूप्यन्तुममयोभ्यां व्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) व्याख्याने, संपृहीते,
सर्वव्यक्तिषु अनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादने च । विशेषे । यत्र
स्वाधने तत्र साध्यमित्येवमङ्गुणे साध्यस्य साधनेन सदाशब्धे,
विशे० । पञ्चाङ्गने, सहाय्यजनने च । घाञ्० ।

अयुगम्य-अनुगम्य-अप्य० । बुद्धेत्यर्थः, सूत्र० १ घु० १४ अ० ।

अयुगम्य-अनुगम्य-त्रि० । पूर्वमवगते, विशेषे० । अव्यक्चिजन-
याऽनुगृहे, प्रश्न० ३ आश० द्वा० । 'मतिस्वदिनेति वा मतिमयु-
गतेति वा एगडा' । आ० ब्रू० १ अ० । पितृवितृत्वाऽनुयाते पितृ-
समे पुत्रे, पुं० । स्या० ८ द्वा० ३ उ० । आनुकूल्ये, न० । स० ।
अयुगवेसेमाण-अनुगवेषयत्-त्रि० । सामाधिकपरिसमाप्य-
नन्तरे गवेषयति, " तं मंडं अयुगवेसेमाणे किं सयं मंडं अ-
युगवेसेह ? " अ० ८ श० ४ उ० ।

अयुगा (ग्वा) म-अनुग्राम-पुं० । अनुकूलो ग्रामोऽनुग्रामः,
व्य० २ उ० । विवक्षितग्राममार्गानुकूले ग्रामे लघुग्रामे, एक-
स्माद् ग्रामान्वयस्मिन् ग्रामे, उच्य० ३ अ० । एकग्रामान्नुप-
आद्वाभावाभ्यां स्थिते ग्रामे, स्या० ४ द्वा० २ उ० । विवक्षित-
ग्रामान्तरन्तरे ग्रामे, " गामायुगा (ग्वा) मं ब्रूहज्जमाणे "
श्लो० । घ० ।

अयुगामि (र्)-अनुगामिन-त्रि० । साध्यमसाध्यमन्या-
दिकमनुगच्छति, साध्याभावे न भवति यो ध्यादिहेतुः सोऽनु-
गामी । अद्ग्रहर्ते, स्या० ३ द्वा० ३ उ० । अनुयातारि, आश०
४ अ० । मोक्षयाऽनुगच्छति, व्य० १० उ० ।

अयुगामिय-अनुगामिक-त्रि० । उपकारित्साक्षान्तरमनु-
याति तदनुगामिकम् । स्या० ४ द्वा० १ उ० । अनुगमनशीले
भवपरम्परानुबन्धिसुखजनके, पा० । स्या० । अनुगमनशीलेऽ-
बन्धिमनने, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० २ उ० । गच्छन्तमनुगच्छतीति
अनुगामिकः । अनुचरे, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० २ उ० । अकत-
व्यर्हेतुभूतेषु चतुर्दशस्वसदनुष्ठानेषु, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० २ उ० ।

अयुगामियत्त-अनुगामिकत्वं-न० । भवपरम्परानु सातुबन्ध-
सुखे, श्लो० ।

अयुगिद्ध-अनुयुद्ध-त्रि० । प्रत्याशक्ते, सूत्र० १ घु० ३ अ० ३ उ० ।

अयुगिच्छि-अनुयुच्छि-स्त्री० । अमिकाङ्कनायाव, उच्य० ३ अ० ।

अयुगिल्ल-अनुगिर्द-अप्य० । भवचित्सेत्यर्थः, शा० ७ अ० ।

अयुगगीत-अनुगीत-त्रि० । मूलाभाष्यांस्वाभाष्यशिरष्यैः कृते
प्रथमैः, " महत्प्रथमका वयस्यभूया, गाथायुगीया नरसंसमयजे "
अन्विति तीर्थकृद्वगणधरादिभ्यः पञ्चाद् गीता अनुगीता ।
काठ्यैः-गीथकरादिभ्यः भूया प्रतिपादिता, स्वावैरिति
शेषः । अतुलोमं वा गीतात्मनं श्रोत्रासुक्तैश्च देशना कियते
इति क्यापितं भवति । उच्य० १३ अ० ।

अयुगुह-अनुगुह-त्रि० । यद्यथा पूर्वशुक्रमिराचरति तत्तथैव
पाञ्चात्थैरिति आचरणीयमिति शुरुपात्पर्ये व्यबस्यथा व्यब-
हरणीये, श्लो० १ उ० ।

अयुगुह-अनुगुह-पुं० । उपकारे, श्लो० । ज्ञानाद्युपकारे, स्या० ।

तिविधे अयुग्गृहे पश्ये । तं जहा-अयायुग्गृहे, पराश्र-
गृहे, तदुभयायुग्गृहे य ॥

तत्र आत्मानुग्रहोऽप्यवमादिप्रकृतस्य, परानुग्रहो वाचनान्दि-
प्रकृतस्य, तदुभयाग्रहः शास्त्रव्याख्यानादिष्वसङ्गहादिप्रकृ-
तस्येति । स्या० ३ द्वा० ३ उ० । पञ्चा० । " सर्वभोक्तोपदेशेन,
यः सत्त्वानामनुग्रहय । करोति दुःखतत्तानां, स प्रामोत्यधि-
राच्छिवम् " आ० म० प्र० । प्रश्ना० । यो० वि० । अनुपचारेत,
उज्जालने, लि० ब्रू० १ उ० । देहस्य अरुच्यन्वनाङ्गनावसना-
दिभिर्मोक्षरूपधर्मे, य० १ अ० वि० ।

अयुग्गृह-अनुग्रहार्थ-पुं० । अनुग्रह उपकारस्तत्कृपायो यो-
ऽर्थः पदार्थः, तदनुग्रहप्रदः शास्त्रव्याख्यानादिष्वसङ्गहादिप्रकृ-
तस्येति । स्या० ३ द्वा० ३ उ० । पञ्चा० । " सर्वभोक्तोपदेशेन,
यः सत्त्वानामनुग्रहय । करोति दुःखतत्तानां, स प्रामोत्यधि-
राच्छिवम् " आ० म० प्र० । प्रश्ना० । यो० वि० । अनुपचारेत,
उज्जालने, लि० ब्रू० १ उ० । देहस्य अरुच्यन्वनाङ्गनावसना-
दिभिर्मोक्षरूपधर्मे, य० १ अ० वि० ।

अयुग्गृहता-अनुग्रहता-स्त्री० । अनुग्रहान् इति अनुग्रहः । क-
र्मेयनद । तस्य भावोऽनुग्रहता । अनुग्रहस्ये, व्य० १ उ० ।

अयुग्गृहतापरिहार-अनुग्रहतापरिहार-पुं० । अनुग्रहतया
परिहारोऽनुग्रहतापरिहारः । कोटादिभङ्गरूपे परिहारभेदे,
व्य० १ उ० ।

अयुग्गृहाय-अनुवृत्ताय-न० । उद्घातो जागपातस्तेन नि-
वृत्तमुद्घातिम् अर्थित्यर्थः । यत् उक्तम्-" अद्वेज जिज्ञसेसं, पु-
व्व्वर्त्तं तु संयुते कामे । विज्ञाह हनुवृद्धानं, मुद्घाणं तत्तिय-
वेच " इति । (' उद्घाहह ' शब्देऽस्या व्याख्या । अ० भा० ७३०
पृष्ठे द्रष्टव्या) यत्किञ्चादनुवृत्तायाम् । पानुगृहण प्रायश्चित्ते,
तपोगात् महर्देषु सायुक्तु च । स्या० ३ द्वा० ४ उ० ।

अयुग्गृहाय-अनुवृत्ताय-पुं० । न विद्यते उद्घातो अयुक्तर-
जसङ्गानां यस्य तपोविशेषस्य तदनुवृत्ताय, यथाब्रुतदामित्य-
र्थः, तद्यथा प्रतिसेवाविशेषेनोऽस्ति तेऽनुवृत्तायाम् । स्या० ४
द्वा० ३ उ० । उद्घातो नाम आगपातः, सात्तरहानं वा, स वि-
द्यते येषु ते उद्घातिकाः; तद्विपरीता अनुवृत्तायाम् । तपोगुह्य-
यश्चित्तार्थे, पु० ४ उ० ।

प्रयोऽनुवृत्तायाम्-

तत्रो अयुग्गृहाय (मा) पश्यता । तं जहा-इत्यकर्म्यं क-
रेमाणे, मेधुयं सेवमाणे, राइनोयणं लुंजमाणे । स्या० ३
द्वा० ४ उ० ।

प्रविक्षितस्थका अनुवृत्तायाम् । उद्घातो नाम-" अद्वेज जि-
ज्ञसेसं " इत्यादिविधिना जागपातः, सात्तरहानं वा; स विद्यते
येषु ते उद्घातिकाः, तद्विपरीता अनुवृत्तायाम् । प्रश्नास्तीर्थक-
रादिभिः प्रकृतिताः, तद्यद्योपदेशोभाः । इति इत्यस्यैवा मुक्तमावृ-
त्त्यनेनेति हस्तः कारीरेकदेशो निष्कृपाद्यानादिसमर्थः, तेन यत्कर्म
कियते तदस्तकर्म, तत् कुर्वन्; तथा स्त्रीपुंसयुग्मं मिथुमनुवृत्ते,
तस्य ज्ञावः कर्म वा मेधुनं, तत्रप्रतिसेवमाणः; तथा शरीरं भोज-
नमशनादिभ्यः मुक्तान् । एष मन्त्रार्थः । श्लो० ४ उ० । निक्षेपपुर-
स्सरं विशेषव्याख्यानम् ।

अथाणुग्यातिपदं व्याख्यातुमाह-

अथातमणुग्याते, निरुत्सेवो द्विविद्धो उ कायचो ।

नामं उवखा द्रविण, खेते काञ्चे य जावेय ॥

इह ह्रस्ववर्द्धीर्धत्वमह्रस्वादिक्कानुद्व्यातिकस्य प्रसिद्धिरिति ह्रस्वा द्वयोर्द्व्यातिकानुद्व्यातिकयोः पठित्वा निक्षेपः कस्यचः । तद्यथा-नामानि स्थापनायां ह्रस्वे क्षेमकाश्च भावे चेति । तत्र नामस्थापने गताये ।

ह्रस्वादिषिष्यमुद्व्यातिकमनुद्व्यातिकं च दर्शयति-

अण्वापमणुग्याया, द्वचमि ह्रल्लिराग किमिरागा ।

लेखमि काहजूमी, पत्वरजूमी य ह्रमादी ॥

ह्रस्वे ह्रस्वत उद्व्यातिकं ह्रिन्द्रारागः, सुक्ष्मेत्यापने शक्यत्वात् । अनुद्व्यातिकः ह्रिमिरागः, अपनेतुमशक्यत्वात् । क्रेजत उद्व्यातिका ह्रमाभूमिः अनुद्व्यातिका प्रस्तरभूमिः । कुत इत्याह- (ह्रममादि षि) ह्रल्लुक्तिकादिभिः ह्रण्णमिभिरुदात्तयितुं क्रोदयितुं शक्या, प्रस्तरभूमिरशक्या ।

तथा-

कालमि संतर णिरं-तरं तु समयो व होतऽणुग्यातो ।

नचवस्म अह्र पयमी, उग्याति पपतरा इयेरे ॥

कालत उद्व्यातिकं साम्प्रत्यायञ्चित्वस्य दानव, अनुद्व्यातिकं निरन्तरदानं, लुघाम्नात् लघुमासादिकमुद्व्यातिकं, गुरुमासादिकमनुद्व्यातिकम् । अथवा-कालतः समयोऽनुद्व्यातिको भवति, सागराः कर्तुमशक्यत्वात् । आचञ्चिकत्वं उद्व्यातिकाः, स्मृतिरनु शक्यत्वात् । ज्ञावत उद्व्यातिका अथवस्थाई कर्मप्रकृतयः, उदात्तयितुं शक्यत्वात्, इतरस्याज्ञव्यस्य ज्ञाकास्ता पदेतरा अनुद्व्यातिकाः ।

कुत ? इति चतुर्वच्यते-

जेण खवणं करिस्मति, कर्माणं तारिसो अनव्यस्म ।

ण य उण्जज जावो, इति भावो तस्सऽणुग्यातो ॥

येन सुभाष्यधसायेन कर्मणो ज्ञानावरणादीनां कृपणमसौ करिष्यति स तादृशो भावोऽभव्यस्य कदाचिदपि नापद्यते, इत्यतस्तस्य ज्ञावोऽनुद्व्यातः कर्मणाऽनुद्व्यातं कर्तुमसमर्थः । अत एव तस्य कर्मणि अनुद्व्यातिकानि ज्ञयन्ते ।

अत्र च प्रायश्चित्ताणुद्व्यातिकेनाधिकारः । तत्र कुत्र नवतीत्याह-

ह्रथे य कम्म मेहुण, रत्तीभने य होतऽणुग्याता ।

एतेसि तु पहाणं, पचेय परुवाणं वोच्छं ॥

इहने हस्तकर्मकरणे, भैद्युनसेयने, रात्रिभक्ते पतेपु त्रिपु सुत्रो-कपदेषु अनुद्व्यातिकानि गुरुकानि प्रायश्चित्तानि ज्ञयन्ति । तत्र हस्तकर्मणि मासगुरुकं, भैद्युनरात्रिनिकयोश्चतुर्गुणकः । एतच्च प्रायश्चित्तं यदा यत्र स्थाने भवति तत्परस्तादृ व्यक्ती करिष्यते ॥ ३०४ उ० । (अथेतयो इत्यकर्मभैद्युनरात्रिभोजनानां व्याख्या-अथत्र स्वस्वस्थान एव ह्रद्व्या) ।

उपसंहराह-

अत्थं पुण अभिकारो-ऽणुग्याता जेसु जेमु ठाणेषु ।

उच्चारियसरिमाई, सेसाइ विकोवण्डाय ॥

अत्र पुनः प्रस्तुतस्य इत्यकर्मभैद्युनरात्रिनिकविषयेः स्थानैरधिकारः प्रयोजनम् । कैरित्याह-येषु येषु स्थानेषु अनुद्व्यातानि शु-

रुकाणि प्रायश्चित्तानि भणितानि तैरेवाधिकारः । शेषानि पुनरु-च्छारितार्थसंस्कारानि तिष्याणां चिकोपनायेमुक्तानि ॥ ३०४ उ० । उद्व्यातिके अनुद्व्यातिकमनुद्व्यातिके वा उद्व्यातिकं पञ्चानु-द्व्यातिकाः । "एव अनुग्यास्मा पणुणा । तं जहा-हृण्यकम्मं क-रेमाणे मेहुण परिसेवमाणे राईभोयणं तुंजमाणे उच्चारियपिदं तुंजमाणे रायपिदं तुंजमाणे" इथा० प ॥ २०० २०० । उद्व्यातिके अनु-द्व्यातिकमनुद्व्यातिके उद्व्यातिकं द्दतः प्रायश्चित्तम् ।

जे भिक्खु उग्याइयं सोष्वा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे जिक्खु उग्याइयहेट्टं सोष्वा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे जिक्खु उग्याइय-संकेपं सोच्चा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे जिक्खु उग्याइयं वा उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयसंकेपं वा सोच्चा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥ जे जिक्खु उग्याइयं वा उग्याइयहेट्टं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे जिक्खु उग्याइयसंकेपं वा सोच्चा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे जिक्खु उग्याइयं वा उग्याइयहेट्टं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे जिक्खु उग्याइयसंकेपं वा सोच्चा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे जिक्खु उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयसंकेपं वा सोच्चा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे जिक्खु उग्या-तियसंकेपं वा उग्याइयसंकेपं वा सोच्चा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे जिक्खु उग्याइयं वा उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयसंकेपं वा उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयसंकेपं वा सोष्वा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे जिक्खु उग्याइयं वा उग्याइयं वा सोच्चा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे जिक्खु उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयसंकेपं वा सोष्वा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे जिक्खु उग्याइयसंकेपं वा उग्याइयसंकेपं वा सोष्वा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे जिक्खु उग्याइयं वा उग्याइयहेट्टं वा उग्याइयसंकेपं वा उग्याइयं वा उग्याइयसंकेपं वा सोष्वा एत्त्वा संतुंजइ संतुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

एवं अणुग्याति वि सुत्तं । उग्याताणुग्याइयेण वि हो सुत्ता । उग्याथाणुग्याइयसंकेपे वि हो सुत्ता ।

एते कु सुत्ता-

उग्यातिं वहुंते, आवसुग्याइयेउणे होति ।

उग्यातियसंकेपिय-सुत्ते परिट्ठारियं त्हेव ॥ २६० ॥

उग्यातियं याम जं संतरं वहति, लघुमित्थयः । अणुग्यातिं याम जं सिरंतरं वहति, गुरुमित्थयः । सोष्वा ति.अक्षसगा-

साओ, एवं तिसर्वाभ जाणिया, संयुजति एगओ भोजनम् ; उन्धायाहेउ संकण्याह अयुग्धातियाण तियहि हम् बकक्षाणं । उन्धातिव पायकिञ्चनं बहतस्स पायकिञ्चसमाबबहस्स जाब मयालायं ताव हेउं भयति, भाओमए अ सुउदिये तुगळं य पकिञ्चं चिकिञ्चिहि तिस संकणियं भणति, एय पुण तुविधं पि तुविधं बहति-सुउदतवेण वा परिहारतवेण वा इचचिसुउद-स्स तबस्स वा परिहारतबस्स वा संकणियं पि सुउदतवेण वा परिहारतवेण अयुग्धायाहेउहेउ संकण्याह अयुग्धातियाण तियह हम् बकक्षाणं ।

अयुग्धातिवें बहंतं, आबभुग्धातहेउगे हेणति । अयुग्धातियसंकणिय-सुक्के परिहारियं तहेव । ॥१६१॥

पूर्ववत्, खवरं, अयुग्धातिय चि बचस्स, जे सगक्के सुउदपरि-हारतवा ए अरह ते सुउजति वेब । जे परगच्छातो आगता ते पुकिञ्जति ।

को भंने ! परियाओ, सुउत्तयअभिगहो तवो कम्मा । ककखनमकखनमएयु, सुक्कतवे मंडवादो ति ॥१६२॥
हमा पढमा पुक्खा ।

गीयमगीओ गीओ, महत्तिकं नत्पु कस्स वसि जोगो ? । अग्गाउ चि य भणित्ते, थिरमधिरतवे प कयजोगो ॥१६३॥

सो पुकिञ्जति-किं तुमं गीयथो अगीयथो ? । जदि सो भणति-गीनोऽहमिति, तो पुणो पुकिञ्जति-किं आयरिओ ? उयउत्ताओ ? पव्वसो ? थिरो ? गणवच्छेओ ? नेता ? वसओ ? । एतेसि एयंतरे अक्खाय पुकिञ्जति-कयमस्स तयजोन्मा सुउ-दस्स परिहारस्स, अहू सा अगीनोऽहमिति भाणज्जति, नत्तो पुकिञ्जति-थिरो अथिरो सि । थिरो दहो तबकरणे बलवा-नित्यथे : आथिरो अन्तर एव भज्जते, नान्तं नयतीत्यथे : । पुण थिरो अथिरो वा पुकिञ्जति-ताव कयजोगो तव-कारणेनाभ्यस्ततवो ।

सगणम्मि नदिय पुक्खा, अयुग्धायादायं च जं जाणे । परिपायजम्मदिक्खत्ता, उण्णतीसा बीसकोर्री वा ॥१६४॥
सगणे एया उ णत्थिय पुक्खा उ, जओ सगणवासिणो सत्थे वाउजति । ओ जारिस्सो अयुग्धायागंतं पि जं जाणं तं सो पुक्कम भंतं । आमतणुवयणं परिपाय चि । परिवाओ तुविहो-जम्मव-रियाओ, पव्वउजापरियाओ य । जम्मपरियाओ अहणेषु अस्स एणुण्णीस बीसा कहं ? जम्मवचरिस्सो पव्वति । तो रावमव-रिस्सो पव्वति, तो णवमवचरिस्सो पव्वति, तो ते णवमवचरिसे प-व्वतीओ विउत्थिचरिस्सस्स चरिसेणु सम्मओ । एवं चरिसेणु स-म्मओ । एवं चरिसेणु सम्मओ । एते अ उणतीसं बीसो उक्कोसेण देसुणा पुव्वकोडी पव्वउजा उणवीसस्स विट्ठिवातो उहिओ चरिस्सो सम्मओ । एते बीसं उक्कोसेण देसुणा पुव्वकोडी ।

इवाणि सुतत्थमिति—
नवमस्स ततियवत्तु, अहणुओसन्नूणह दत्तं । सुउत्तयअभिगहे पुण, द्वावदित्तवो रयणमादं ॥१६५॥
रावमस्स पुव्वअहणं ततिआयारवत्तुक्खो णाणं वणि-उजति, जाहे तं अथीयं उक्कोसेण जाहे ऊणगा वसपुव्वा अ-धीता संमवदसपुव्विणो परिहारतवो य विज्जति, सुउत्तयस्स

एवं पमाणं (अभिग्गोहे ति) अभिग्गोहो इव्वकक्कोसे कालभावे हि तवो तवोकम्मं पुण (रयणमादि चि) रयणवावली आदिस-हातो कण्णवावली, 'रीराहियिद्धीलिं अचमउकं वहरमउकं वेवा-णयं' कक्खडेसु य पक्कळं । अस्स ब्याक्खा-सुउदपरिहार-वाण कतमो कक्खओ, कयमो वा अक्खओ । एत्थ सेलए मंडवांइ विट्ठो कज्जति ।

अं मायति तं ह्हुमति, सेलमए मंदवे ए एरिं । उययपलियम्मि एवं, परिहारो दुव्वले सुक्को ॥१६६॥

सेलमंडवे जं मायतं तं ह्हुमति ए सो भज्जति, एरंडमए पुण जावतियं ह्हुमति, एवं उययचत्तिय तिचिधे संघयं गो-बज्जुओ जं आबज्जति इमेरिसाणं सब्बकालं सुउदतवो तं परि-हारतवेण विज्जति, सो पुण विक्कसंघयणं हि दुव्वलेऽति-हीणो तस्स सुउदतवो वा हीणतरं पि विज्जति । सीसो पुक्क-ति-किं सुउदपरिहारतवाण एगवओ उत मिधा ? ।

उच्यते—
अविंसिद्धा आबन्धी, सुक्कतवे संघयणपरिहारे । वत्तु पुण आसज्जा, दिज्जते तत्थ एगतरो ॥१६७॥

सुउदपरिहारतवाणु अविसेवी आबन्धी आरियाविचन्धी । संघयणोवज्जुतं जाणिज्जणं परिहारतवो विज्जति, इतरो वा सुउदतवो एयं एगतरो विज्जति, इमेरिसाणं सब्बकालं सुउ-दतवो विज्जति ।

सुक्कतवो अजाणं, अगीयत्थे दुव्वले अमंयणो । पितियवलिए संभत्ता-गए य सब्बं परिहारो ॥१६८॥
अज्जाणं गीयथस्स वितीयुव्वकस्स संघयणहोणे एतेसि सुउदतवो विज्जति, धितवज्जुत्तो संघयणसमधिप य पुरिस्से परिहारं तवं पडिबज्जते । एमो विही-

विउसगो जाणु, ववखाजि ए य दोसु वी तेसु । आगण य दीयराया, दिट्ठो जीय आसत्थे ॥१६९॥
परिहारनवं पडिबज्जंतं द्वावादि अप्पसत्थवज्जता पस-त्थेसु द्वावादिषु काउस्सगो कीरर, सेससाहू जाणुएठा आ-लावयादिपदाणु पट्ठवणा ठविज्जति, तेसु अ ठविपुसु जदि भीता तो आसासो कीरर ति, इमेहिं से वीहे पायकिञ्चं सु-उज्जति महती य णिउज्जरा भवति, कण्ठियअयुपरिहारियां य दो सहाया ठविन्ता इमेहिं अगडतिरादिट्ठोनेहिं नीतस्स आसासो कीरर, अगडे पडिबस्स आसासो कीरर ति, एस ज्जातो धावति, रज्जआ णियजति अथिरा उअरउज्जसि, मावि-सादं गेणहसु, एवं जतिणा सासिउज्जति, तो कयातिभाएण तत्थ वेव मारउज्ज, णरीपूरोण हीरमायो भणति- इं अचल-वाहिए सत्तारगो दतिगादि धपुमतरिओ मुत्तारेदिस्सि, मावि-सादं गेणहसु । रायगहिओ चि भयति-एस एया जदि वि दुट्ठो तहवि विधाविउज्जतो पुरिमादिपुसु आचारं परस्सति, अहमंडं न करंति, एवं आसासिउज्जतो आससाणि; दंबधेओ व प्रवति ।

काउस्सगो य किं कारणं कीरर ? उच्यते—
नीकवसगामिचित्तं, अयजणुएट्टा य सेसगाणं तु । तस्स-उप्यो य सुक्को, पसाहए होति पविचर्णी ॥७०

सायुस्व विद्ययसम्पत्तिमिच्छं सेससाहृण य भयाजणणटा का-
 वरसम्मा कीरद, सो य वस्यो भद्रमादि कीरकवत्सो जिण-
 चरापित्तु काळभो धुधसुरं पसरयादिविणेषु य भावतो बन्ता-
 राकेषु तस्योप्यवो य गुरुणा य साहयसु पवित्रतो भवति । सो य
 जइवेण मासो, उक्कोसेण उम्मासा, तस्मि णरहरतत्तं पवित्र-
 ज्जंति । आयरियो भणति-एय सायस्व (पवित्रसम्पत्तिमिच्छं ग-
 मि काउत्तस्समां जाव वासिरामि, सोमसुत्तोजोगरं अणुपहेत्ता
 यमोऽरिइतायं ति पारेत्ता सोऽगुस्सवं करं कच्चिन्ता आयरि-
 यो भणति-

कपाटिओ अहं ते, अणुपरिहारी य एस ते गीओ ।
 पुत्रिय कयपरिहारी, तस्स य सयणो विद्वहेहो ॥२७॥

आथरिओ आयरिया गिउत्तो वा गियमगीयथो तस्स आ-
 थरियाय पदाणुपालयो कप्यदितो भणति । सो जणति-अहं
 ते कप्यदितो परिहारियं मच्चन्तं सवथ्य अणुपकृच्छति जो सो
 अणुपरिहारितो सो वि (गियमा गीयथो) । सो स रिज्जति एस ते
 अणुपरिहारी, सो पुण पुण्यकयपरिहारियस्स अस्सति अथो वि
 अकयपरिहाराविति संवयवत्तुओ । दग्गेदो गीयथो अणुपरि-
 हारितो उचिउज्जति । एवं दोसु उचियसु इमं भणति-

एस सर्वं पडिवज्जति, य किं चि आलवति मा कु अ्यासवह ।
 आत्तहचित्तगस्सा, वायाओ जे न कायव्वो ॥ २७५ ॥

एस आयविसुक्कारओ परिहारतत्तं पडिवज्जति । एस तुज्जे
 न किंचि आलवति, तुज्जे वि एयं मा आसवह । एस तुज्जे
 सुत्तयेसु सरिंरं यइमाणी वा ण पुच्छति, तुज्जे वि एयं मा पु-
 च्छह । एवं परिउहणादिपदा सव्वे ज्ञानियथवा । एवं आलव-
 णादिपदे आत्तमां चिन्तकस्य ध्यानपरिहारक्रियाव्याधानो न
 कर्तव्यः । इमा ते आत्तवणादिपदा-

आलावणपडिपुच्छण-परियहृत्ताणसंवेदनगमतो ।
 पत्तिलिहृत्ताणसंवेदन-भत्तदाणसंवेदनं च व ॥ २७३ ॥

आज्ञायो देववत्तादिवुच्छादियसु पुब्बा वीतसुतस्स परिउह-
 णं कालजिक्खादियाण उठाणं । सओ सुतुत्तिहे जमणमादी-
 यं वा बंधं जलकाइयसयासंसेत्तो सभयो वा ण सोऽहित तस्स
 तिओ वा ण जेप्यति उवकरणं, परोत्परं ण पत्तिलिहेति संघारुगा
 परोत्परं ण जयंति , जसदाणं परोत्परं ए करेति । एवं मइल्लिय
 णहुंज्जति । यच्छा-यत्किञ्चिक्करणीयं तत्तेन सार्कं न कुवेत्तीत्य-
 थः । इमं गच्छुयात्तोणं पक्कित्तं-

संघारगतो जो वा, लहुगो मामो दयह तु पदाओ ।
 लहुगा य जसदाणो, सवेज्जो होत उणुग्याया ॥२७४॥

अदि गच्छिज्जाग परिहारियं आलवेति ता ताणं मासइहु ।
 एवं जाव संघारुगपदे अहमं सव्वेत्तो मासइहु । जदि गच्छ-
 या जत्तं गेहइसु तो वउत्तइहु, एवमं छंजनाण वउत्तइहु, परि-
 हारियस्स अहसु पयसु मासइहु, जसदाणससंवेज्जणु वउत्तइहु,
 कप्यदियस्स अणुपरिहारियस्स दोगह वि एगसंभोगो, एते दो-
 वि गच्छिज्जपदि समाणं आज्ञायं करेति । यंमां चि य भणति
 सेसं च करेति । कप्यदियपरिहारियाण इमं परोत्परं करणं-
 कित्तिक्कमं च पडिउत्ति, परिउष पडिपुच्छं पि से देति ।
 सो वि य गुरुमुवचिउत्ति, उदंतमवि पुच्छित्तो कइति ॥७६॥

कप्यदितो परिहारियवेदनं पडिउत्ति, परिउषति पक्कित्तो
 भंति । सुत्तयेसु पडिपुच्छं दिण, सो वि परिहारियओ

कप्यदियं अणुविदितो अणुद्वाराणि किरियं सुसमं करेति ।
 सयादिगत्तो आयथे पुच्छित्तो कप्यदियेण ओदंत इति सरि-
 इमाणी कइति-

उच्छिज्ज एसिएजा, भिवत्तं गेहइज्ज यंमं पव्हे ।

कुवि प वि बंधयस्स व, करेति इतरो च तुसियाओ ॥२७७॥

परिहारितो तवकालामितो जइ धुधवयाप उठ्ठे ज सकेह,
 ताहे अणुपरिहारियस्स अगमो जणति । उच्छिज्जामि शिसीपजा-
 मि जिक्कं दिंजिक ए सकेमि, ताअणुपरिहारिको परिहारियजाय-
 पोहे दिक्कित्तं देति । जइ ण सकेह जंरुमं पडिउत्तेउं ताहे अणु-
 परिहारितो से पवित्रेइणियं करेह, जइ ए सकेमि सयासा-
 इयत्तं गंतुं, तथ्य परिहारिको भणति-काइयसव्वो नृमिं ग-
 च्छेज्जामि, ताहे संसे अणुपरिहारिको करेति ।

सुयाणियाओ इत्थं, परिहारतवम्मि होति दुविधमि ॥
 सोष्वा वा एष्वा वा, संजुंत्तंसेम आण्णादि ॥ २७८ ॥

एथ सुत्तं निवाओ, जो परिहारतत्तं वृथियं उग्यायं अणुपसव्वं व-
 इइ ते सोष्वा एष्वा वा ओ संवेज्जितस्स आण्णादिइंसा जवति ।

वितियपदे माहुवेद-ए उभओ गेल्लुथेरअमती य ।

आलोयणादि तु पए, जयणाए समापेरं जिक्कवु ॥ २७९ ॥

साधुबंधयति अणुत्वं माधुसंजिता अणयो साधु ते दहुं भ-
 एति-अनुगमाहुस्स बंधणं करेत्ता, सो परिहारतत्तं पडिवयो
 जस्स परिज्जति ये हथो ते आयाणतो बंधिउं वंउणकयं कथंति
 तस्स यं दोसो, उभओ गेल्लुथं वि कप्यदिय अणुपरिहारिय परि-
 हारिको य एते जइ तिणिया वि गियाणा, ताहे गच्छेज्जाया सव्वे
 उज्जयाण करेति । का जयणा भणति ॥ गच्छिज्जाया अणुपरिहारि-
 यमाणेदि दिंजिता कप्यदियस्स पणामेति । सो अणुपरिहारि-
 यस्स पणामेति, सोवि परियस्स पणामेति । सो वि परिहारियक-
 प्यदिय अणुपरिहारिया पणामेउ पि ण वपति । सोयमेव गच्छि-
 ज्जाया सव्वे गियाणा तो ते कप्यदिया दिया तिणि जयणाए
 सव्वं पि करेत्ता, परिहारिउं गच्छिज्जयथायणसु आणियो अणु-
 परिहारियस्स पणाविति, सो कप्यदियस्स, सो वि गच्छिज्जयणं
 वेरअस्सनीए धेरा आथरिवा तस्मिं वेयावचक्करस्स अस्सतो
 वेयावचक्करदायाए वा अणयो य सलइंओ पायं, ताहे परि-
 हारिको वि करेत्ता जयणा, एतो आयणसु हिंइउं अणुपरिहारि-
 रियस्स पणावति । कप्यदियस्स वासो आथरियाव देति, इयमा-
 दिकजेसु आलावणादिपदे जयणा भिक्खु समाचरेदित्थं:

सुत्ताणु इ इदाणि एतंसि वेव एहं सुत्ताणु दुगादिअणुसुत्ता
 य सज्जा । तथ्य दुगसज्जोणं पयसु सुत्ता जयंति । तथ्य वइमं-

इसमं च एते तिणियं दुगं संजोगसुत्ता सुत्तं णेव गहिया ।
 सत्ता बारसउत्तया व तथ्या । तिमसंजोगेण वीसं सुत्ता भ-
 वंति । तथ्य छउ पयससमं च होति सुत्ता सुत्तेणेव गहिया ।
 सत्ता अट्टारस्स वाणेषेव वत्थ्या । उउसंजोगेण पयसस, ते
 अथंणं यत्तया । उउमसंजोगे एते न सुत्तंभव भणियं । एवं
 एते सत्तावणं संजोगसुत्ता भवति । एतंसि अत्तो पुब्बसमो
 दुगसंजोगेण उधातियं अणुयातियं वा कइं संभवति ॥ अ-
 थ्यति-आथरी से उग्यातिया कारणे उ दाउं अणुयातियं, एवं
 उधाय अणुयातियसंभवो । अइया तथ्य अणुयातकालतो
 उधातियं एवं वरिउत्तं भावेतत्तं । नि ० १० ० ।

अणुग्याय-अणुद्घात-पुं० । न विद्यते उद्घातो लघूकरण-
लक्षणो यस्य तदणुद्घातम् । यथासुतदाने, स्था० ५ डा० २
उ० । आचारप्रकल्पभेदे, आचा० १ ध्रु० ८ अ० २ उ० ।

अणुग्यायण-अणोद्घातन-न० । अणुत्यनेन अणुगण्यन्तु-
भक्तिं संसारमित्यर्थं कर्म, तस्योपासत्येन घातनमपनयनम-
णोद्घातनम् । कर्मण उद्घातने, " से मेहावी जे अणुग्याय-
णस्त जेयण जे य बंधप मोक्षमधेखी कुसले पुण यो बधे
खा मुके " आचा० १ ध्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणुग्यासंत-अणुग्यासत्-त्रि० । आत्मना गृहीत्वा पक्वाद् प्राप्तं
इति, " जे भिक्षु मा उन्मासस्त मेदुण्युबन्धियाए अणुग्या-
संज्ज वा अणुपापउज वा अणुग्यासंत वा अणुपायंत वा स्वा-
इज्ज " ति० वृ० ७ उ० । (' मेदुण्य ' शब्देऽस्य व्याख्या)

अणुच (य) र-अणुचर-त्रि० । अणुचरन्ति । अणु-चर-ट ।
स्त्रियां ङीए । सहचरे, पक्वाद्भक्तिश्च । वाच० । अणुपरिहा-
रिक्पदस्थितानां यावत् बाणमासकल्पस्थितानां सेवाकारके,
उत्त० २४ अ० ।

अणुचरिता-अणुचर्य-त्रि० । आस्ये, स० ।

अणुचितण-अणुचिन्तन-न० । पर्यालोचने, आच० ४ अ० ।

अणुचिन्ता-अणुचिन्ता-स्त्री० । अणुचिन्तनमणुचिन्ता, मनसै-
वाद्यस्मरणमिभिसं स्मृतास्मरणे, आच० ४ अ० ।

अणुचिच्छण-अणुच्युत्ता-अभ्य० । पक्वाच्छुच्येत्यर्थे, " अणु-
चिच्छणेहागमो तिरियपक्कस्सु " महा० ६ अ० ।

अणुचिमर्द-अणुचीर्णवत्-त्रि० । अणुछिनवति, आचा० १ ध्रु०
८ अ० ६ उ० ।

अणुचिय-अणुचित-त्रि० । अज्ञाधिनशंके, वृ० १ उ० । अयो-
भ्य, यो० ७ विव० ।

अणुचीद-अणुचिन्त्य-अभ्य० । शौचस्नानादिनेवमिक्कया बुद्ध्या
पर्यालोच्येत्यर्थे, आच० ४ अ० । जी० । सूत्र० । " अणुचीद
भासए सयाणमज्जे लइद पसंसणं " अणुचिन्त्य पर्यालोच्य
भाषमाणः सतां साधूनां मभ्य लभते प्रशंसनम् । दश० ७
अ० । सूत्र० ।

अणुचीदभासि (ण)-अणुचिन्त्यभाषिन्-त्रि० । अणुचि-
न्त्य पर्यालोच्य भाषंत इत्येवं शीलोऽणुचिन्त्यभाषी । व्य०
१ उ० । आलोच्यतयकदि, दश० ६ अ० ।

अणुचिरिय-अणुचरित-त्रि० । अश्रिते, महा० १ वृ० ।

अणुचिर्य-अभ्य० । निष्ठास्वाङ्गारयित्तययोग्ये, " अभिभादि-
यमिच्छदिडि अणुचरियणामधेजे सुज्जसिये " महा० १ वृ० ।

अणुचसद-अणुचसद् पुं० । अणुचसरे, " तं पुण अणुचसदं
बोद्धिममियं पमासेइ " न विद्यते उच्चः शब्दः स्वरो यस्य तद-
नुशब्दः, तदुच्यतेकिञ्च शब्दं विधिकममिश्रिताकारमित्यर्थः
तस्मिन् । व्य० १ उ० ।

अणुच्चाकुदर-अणुच्चाकुचिक् पुं० । उच्चा हस्तादि यावत् येन
विप्राधिकारेष्वेधो न स्यात् सप्रादेशो र्दंशो न स्याद् ; अकु-
चाकुचपरिस्वयम् इति बचनाद् । परिस्वन्वरहिता निम्बेल्लेति
वाच्यं ; ततः कर्मधारये उच्चा कुचा शब्दा कम्भादिमयी सा

नो विद्यते यस्य स अणुच्चाकुचिकः । नीचसपरिस्वन्शब्दायोके,
कल्प० ।

अणुजाइ (ए)-अणुयापिन् पुं० । सेवक, की० ।

अणुजाण-अणुयान-न० । रथयात्रायाम्, वृ० १ उ० ।

तद्विधिष्वेवम्—

नमिच्छण वद्धमाणं, सम्मं संसेवओ पवक्खामि ।

जिणजत्ताए विहाणं, सिक्कफलं मुत्तणीतीए ॥ १ ॥

नस्वा प्रणम्य, वर्षमानं महावीरं, सम्यग्भावतः, संक्षेपतः स-
मासेन, प्रवचयामि भणिष्यामि, जिनयात्रायाम् अहंहुत्सकस्य वि-
धानं विधिं, सिक्कफलं मोक्षप्रयोजनं, सूत्रनीत्या आगमन्याये-
नाति गाथार्थः ॥१॥

जिनयात्राविधिं प्रथमयामीत्युक्तम्, अथ तत्प्रस्तावनायैदह-

र्दंसणमिह्मोक्त्वं, परमं एयस्स अइहऽऽयारं ।

णिस्सकादीं जणितो, पजायणतो तिण्णिदेहिं ॥ २ ॥

दर्शनं सम्यक्त्वम्, इह प्रवचने, मोक्षाङ्गं सिक्कारणं, परमं प्र-
धानम्, आदिकारणत्वात्, तस्यामन्तरकारणतया तु परमं आ-
रिचमेव, 'सारां चरणस्स निष्ठाणमिति' वचनादिति । एतस्य
दर्शनस्य, पुनरुच्चाऽऽयाभिः प्रकृतिः, आचारो व्यवहारो यः स-
म्यग्दर्शनाभावात्तः स दर्शनस्याच्चार उच्यते, गुणगुणिनोरभेदात् ।
तमेवाह-आहं संयायं, तदभावां निःशङ्को निःशङ्कतयं, त-
दादियस्य स निःशङ्कादिः, जणितोऽभिहितः, प्रभावान्तो जिन-
शासनाच्चाभ्याऽप्यस्यानः, जिनःश्रीतोऽप्यकर्तः । तयाहि- 'निस्सं-
कियनिक्कंसिय, निजिनिगिक्कळा अमृद्विट्ठी य । उवव्हृदिरी-
करणे वच्छल्लपभाषणा अट्टा' इति गाथार्थः ॥२॥

ततः किम् ?, अत्र आह-

पवरा पभावणा इह, अनेसभावमित्थीए सज्जावा ।

जिणजत्ता य तयंमं, जं पवरं ता पयातोऽप्यं ॥ ३ ॥

प्रवरा प्रधाना, प्रयावना जिनशासनोद्धानवा, इहाउपकारे स-
म्यग्दर्शनाचारे । कुन एवमित्याह- अशयाणां समस्तानां नि-
शङ्कनादिसम्यग्दर्शनाचाराणां भाय- सत्ता अशोपभावस्सिक्कम्
सति, तस्याः प्रभावनायाः, सज्जावात् संभावनाःसाङ्गिताधि-
गुणयुक्त एव हि प्रजावको जवतीति । ततोऽपि किमित्याह-
(जिनयात्रा च जिनादेशमहः; पुनरुद्धं जिणप्रवचनप्रजावना-
कारणं, यदस्सकंठोः, प्रवरं प्रधानं, तत्सस्सकंठोः, प्रयासः प्रय-
त्नोऽयमेव वच्यमाणस्वरूपो जिनयात्राविषय इति गाथार्थः ॥३॥

अथ जिनयात्रेति कोऽर्थ इत्यर्थं जिज्ञासायामाह-

जत्ता मट्ठसो खल्लु, उरिस्स जिणे स कीरिइ जो उ ।

सो जिणजत्ता जणई, तिए विहाणं तु दाणाइ ॥ ४ ॥

यात्रा केत्याह-अहोस्त्वयः खलु महामह एव, नतु देशान्तरगम-
नम् । ततः किमत आह-उरिहायाभियं जिनावहेनः स इति म-
होस्त्वयः 'जिणे उ' इत्यत्र तु पाठान्तरे जिनास्तु जिनेनेति व्या-
क्येयम्, कियतं विधीयते । यस्तु य एव स इत्यसावेव अहोस्त्वयो
जिनयात्रेति भूयते अभिधीयते, तस्या जिनयात्रायाम् विधानं
तु कल्पः पुनर्नात्रि विधाणनप्रवृत्तिः । आदिशब्दात्पःप्रवृत्तिप्र
इति गाथार्थः ॥४॥

एतदेवाह-

दाणं तवोवहाणं, शरीरसकारो जहाससि ।

उचितं च गीतवाद्य, सुतिथोवापिच्छणादीय ॥ १ ॥

दानं वितरणं, तथा तपउपधानं तपःकर्म, तथा शरीरसकारो देहद्वेषा, अवाह्यः प्राकृतशैलीप्रभवः, यथाशक्तिः सामर्थ्यान्तिक्रमेण, इयं च किष्पविशेषमात्रं, अथैवं दानानिषु संभवते । उचितं योग्यम् । अशब्दः समुच्चये । गीतं च गेयं, वादितं च पट्टादिनादितं, गीतवादितम् । अनुस्वारलोपश्चात् इत्यर्थः, प्राकृतत्वात् । तथा स्तुतिस्तोत्राणि एकानेकश्लोककृपाणि, प्रकृणादि च प्रकृणाकप्रकृति च । आदिशब्दात्काव्यकथारथप्रामादिरिष्टदेहाजिनयात्राविधानं च अतीति प्रकम्; इतिहारावाद्यासंश्लेषार्थः ॥ १ ॥ एखाणं ए विवो । (यात्राविवयं दानद्वारम् ' भगुकेपा ' शब्देऽप्यैव आगे ३९० पृष्ठे उक्तम्) ।

अथ तपोद्वारमाह-

एकासद्याह गियमा, तवोवहाणं पि एव कायव्वं ।

तसो ज्ञावविमुक्की, शियमा विदिहेनत्ता वेव ॥ ७ ॥

एकाशनादि एकभक्तप्रकृति, आदिशब्दात्तनुषाद्विपरिग्रहः, निष्काराद्यव्ययतया, उपधीयते इत्येतेषुपधानं चरित्रोपशमनहेतुः; तप एवोपधानं तपउपधानं, तद्वि म केवलं दानमेव । अत्र जिनयात्रायां कर्तव्यं विधेयं भवति । कस्माद्देव कतेष्वमित्याह-तत्तपउपधानात् भावविमुक्तिर्यवसायनेमेदयं नियमाद्व्यवहृतया जयति, भावविमुक्तिरेव धर्माधिनामुपादेयेति, तथा विधिसेवना जिनयात्रा मीत्यनुपादानं वैधेति समुच्चयार्थः इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उक्त तपोद्वारमाह-

अथ शरीरसकारद्वारमाह-

वत्यिलेवलयपुद्गा-दिण्दिं विदिहो शरीरसकारो ।

कायव्वो जहाससि, पवरो देविद्वेषाएण ॥ ८ ॥

वक्ष्येक्षणमात्स्यादिनिर्वासांस्तुतेपणमप्रकृतिनिरादिशब्दात्कालकारपरिग्रहः । विविधो बहुविधः; शरीरसकारो देहद्वेषा, कर्तव्यो विधेयो, यथाशाक्ति शक्यतन्तिक्रमेण, प्रवरः सर्वोत्तमः । कथम् ? हेनेच्छातेन सुखराजोदाहरणेन, यथादि-जगवतामहंतां जन्ममहाविषु लुटेर्यः सर्वविषय्या सर्वोदरेण च शरीरसकारं विधयेत्, तद्वत्स्यैरल्पस्यै विधेय इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तः शरीरसकारः ।

अथोचिते गीत्याद्याह-

उचिपमिह गीयवाद्य-सुगियण वयाइपादिहि जं रम्मं ।

जिणगुणविसयं सक्क-अमुद्विज्जणो अणुणुणादीय ॥ ६ ॥

उचितं योग्यमिह जिनयात्रायां, गीतवादिनं गेयवाद्यम् । निविधिमित्याह-उचितानां योग्यानां स्वश्रुतिकोणया च अवादिहः कालकृतावस्थाप्रकृतिभियंविश्रुतयवस्वसंताम्यैर्द्वैर्धर्मो-दिमिनीवैरेक्यं रमणीयं जिनगुणविवयं धीतरागमवादितीर्थे-करणगोचरं म राजाविशुणाविवयं, तद्वि सक्कमैकजिजनकं सुन्दरधर्ममयुष्यादकं, तद्व्यनुपहासविधिमनांषोपहासमनुपहासमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

स्तुतिस्तोत्रद्वारविधानमाह-

धुइयोषा पुण ओचिय, गंजंरिपयव्यविगइया जे ठ ।

संवेगवुद्धिजणया, समा य पाएण सव्वेसिं ॥ १० ॥

स्तुतिस्तोत्राणि प्रतीतानि, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः उचि-

तानि योग्यानि । किंविधानीत्याह-गमभीरेतुत्पत्त्यात्सुभवादि-गमोः पदार्थैः शब्दानिर्धेयैर्विचरितानि विदितानि गमभीरपदार्थविचरितानि, यानि तु वाग्येव ताव्यपि स्वैंगणवृत्तजनकानि भोजानभिलाषातिशयकारिणी, समानि च तुष्टयानि च अभिप्राणि वा सुखोपानीत्याह-प्रायेण बाहुद्वयेन सर्वेषां स्तोत्रानामनुस्यदिस्तोत्रादिपठे हि कोलाहलं पथेति म पुनस्तोत्राणां भावार्थकं इति गाथार्थः ॥ १० ॥ उक्तं स्तुत्यादिद्वारम् ।

अथ प्रेक्षाणकादिद्वारमाह-

पेच्छणया विणुमादिं, धम्मिपणान्कपुणुआइ इह उचिया ।

पत्यायो पुण छेओ, इपेसिमारंभमादंओ ॥ ११ ॥

प्रेक्षणाकान्त्यपि प्रेक्षाविषयः । अविशब्दः स्तुत्याद्यपेक्षया समुच्चये । किं स्वरूपाणि; 'मदा' इति नटः शुकुलः तत्रवर्षितं वस्त्रेक्षणकं तच्छट एवाकथ्यते-नटप्रकृणाकमित्यर्थः । तदादि येषां प्रेक्षाणकाणां तानि नटादीनि । आदिशब्दात्विशयपरिग्रहः । तानि येह किंचिद्योग्यविधानीत्याह-धार्मिकनाटकपुनानि । जिनश्रम्यात्पुण्यमरत्निकमशादिधर्मसंबन्धानादिकोपायानि, इह जिनयात्रायामुचितानि योग्यानि, भव्यभूतानां संवेगोत्पादकत्वात् । प्रस्तावोपस्वरः । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । हेतयः ज्ञातव्यः, एषां प्रेक्षाणकानामारम्भमादिशब्दात्प्रस्तावित्वादिशब्दात्प्राथम्यादिरेति गाथार्थः ॥ ११ ॥ प्रेक्षाणकानामारम्भविप्रस्ताव उक्तः ।

अथ दानव्य कः प्रस्ताव इत्याशङ्क्यामाह-

आरंजे शिय द्दाणं, दीणार्दांणामपुत्तुद्विजणुणुत्तं ।

रसाऽमायायकरणं-समुच्छं गुणान् ॥ १२ ॥

(आरंजे शिय) यात्रारम्भकाल एव, दानं वितरणं विधेयं भवति । किमर्थमित्याह-दीनार्दानां रक्ष्यभूतानां मनस्तुष्टेः दिनानाथचित्ततोविधानाय तथा राज्ञा नृपेण मा सक्कोः । सा च हेत्वा-धनसङ्घः प्राणलक्ष्मीः; अन्नस्था घाताः हननं नश्या-प्राणोऽभाषानोऽमारिरक्ष्यापहारकृत्येयः । तस्य करणं विधानममायाकारकणमथ निर्द्वयं अथकृणमंजनश्रुमिमात्रसंपादनं, अग्न्या तदुत्प्रेक्ष्येत्प्राणं कर्तुं प्रायश्चित्तकं स्वहाकस्या स्वसामर्थ्येनेति गाथार्थः ॥ १२ ॥

प्रस्तुतविधिसमर्थनायागमविधिमाह-

विसयपवेसे रएणो, उ दंसणमोग्गाहाइदिकवा य ।

अणुणुजाणवणविहिण्णा, तेणानुणुणावयवणो ॥ १३ ॥

विषयप्रवेशे मण्डलप्रवेशेने, राज्ञो नृपतेः, तुशब्दः समुच्चयार्थः । तेन तद्व्याये तन्माम्यनुषचराजमात्प्रायेण क्वं क्वंने मीक्षकः कार्यः, इतोयं च इति ' किमगमनकारणम् ? ' इति च तेन सुधे अयमप्रहस्य ' देविद्वेषाद्यहद्वेष-सागरसाह' इत्येवो माहो ' जेय ' इत्येवविषय, आदिशब्दात्प्राज्ञापकृतास्त्वपस्त्येनो भवन्तीत्यादे-कः । यदाह-"सुदृशमाकुले लोकं, धर्मं कुरुः कथं हि ते ! क्वास्त-दान्सारिहन्त्यारस्त्रांश्चक्रान् न रक्षन्तीति " कथया प्रकृणा अत्र-प्रहादिकथना, अशब्दः समुच्चये, कार्येति शेषः । तन्मा-नुज्ञापनं मुक्तजनं कार्यम्, प्रथमप्रहस्य विधिनाऽप्रमत्नीत्या, तत्संस्तन राज्ञा राजसंमतेन वा अनुज्ञाने मुक्तचित्तैः प्रहस्ये संघातो निवासः तद्वैरो विधेय इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

कस्मादेवं विधीयते इत्याह-

एमा पवयणणीतो, पवसेताण. गिज्जरा विज्जला ।

इहसोयम्मि वि दसा, ण रंति गियमा गुणा हांति ॥ १४ ॥

एयाऽनन्तरिका प्रचचननीतिरागमन्याये वर्णते । अघानया
को शुण इत्याह-एषममन्तरकनीत्या वसतां तद्देशे निवसतां
निर्करा कर्मस्यवा, विपुला बहुः, अक्षरात्तानमन्तरच निरतिचार-
स्तानुपासनादाहाराधनाश्च । नचैतावदेवात्र फलमित्याह-इह
लोकंऽप्यत्रापि जन्मनि, भासां परलोकं, शोषाः प्रायसीकृष्टो-
पद्रवस्रकणाः, न प्रचन्ति न जायन्ते । नियमाद्व्यवहयंभावेन गुणाः
पुना राजपदप्रहाङ्गकं मान्यताद्यो, भवन्ति जायन्ते । यद्, इ-
" गन्तव्यं राजकुले, द्रष्टव्या राजपुत्रिता लोकाः । यद्यपि न
जन्मन्त्योः, जन्मन्त्यनर्थप्रतीघाताः" ॥ १ ॥ इति गाथायैः ॥१५॥

ये गुणा भवन्ति तानेवाह-

दिष्टो पवणगुरुणा राया अणुसासिधो ये विहिणा उ ।

तं नत्यि जं ए वियरः, किचियमिऽ आमपाभो चि ॥१५॥

दृष्टोऽन्तराकिनः, प्रचचनगुरुणा प्रधानाचार्यो, राजा नृपतिः, अ-
णुसासितऽणुशिष्टश्च, विधिना तु प्रचचननीत्यैव तत्रकृत्यनुष्ठानेना-
दिलक्षणाय । यदाह-"भाषाविभाषमेवं, सत्यविज्ञाय देहिनां गुरु-
णा । सख्यर्मदेशनापि हि, कर्तव्या तदनुसारेण" ॥१॥ एवं चासी-
त्प्रमुदितमना तद्वस्तु नास्ति न विद्यते यत्र वितरति न ददाति,
सर्वमेव ददातीत्यर्थः । कियत् परिप्रामाणम्, अल्पमिति कृत्वा
ददात्येवत्यर्थः । इह यात्राऽनन्तर अमाघातः प्राणिघातनिवारण-
म्, इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः । इति गाथायैः ॥ १६ ॥

अणुशासित इत्युक्तमन्तरकनुराशासनविधिं प्रस्तौष्यन्नाह-

एत्यमणुसासणविह्वी, जणिभ्रो सामएणगुणपसंसाए ।

गंधाराहरणेदि, उचोहिं ये ज्ञावसाराहिं ॥१६ ॥

अत्र राजविषये, अणुशासनविधिरनुशासितविधानं, भणित
उक्तः, नृपतिः । कथम्? सामान्यगुणश्रयसा लोकलोकेश्वरा-
विरुचयिनयदाहियसोऽज्ययाद्विगुणस्तथा, तथा गमनीयोदा-
हरणानुच्छ्रुतिः । महापुरुषगतैर्लोकभिश्च त्रिणिनिभिश्च, भाय-
साराभिर्भावगर्भाभिर्ननु तद्विकल्पाविरिति गाथायैः ॥ १६ ॥

अणुशासनविधिमेवाह-

सामाणे मणुजते, धम्माओ णरीसरत्तं एयं ।

इय मुणिकणं सुंदर !, जत्ता एयमि कायव्वो ॥ १७ ॥

सामान्ये बहूनां प्राणिनां साधारणे मनुजत्वे नरत्वे धर्माद्
कुशलकर्मणो नरेभ्यस्तं नृपत्वं भवतीति कृत्यं ज्ञातव्यम् । इति
पदं शास्त्राऽग्रमस्य, सुन्दर ! नरप्रधानं । यत्न उच्यतेऽत्र धर्मं
कलेभ्यो विधेया भवतीति गाथायैः ॥ १७ ॥

इच्छीण मूलमसा, सव्यामि जणपणाहाराणि ति ।

एसो ये जाणवन्, ऐभ्रो संसारजलदिहिमि ॥ १८ ॥

श्रद्धीनां संपदां सूत्रिणं मूलं कारणम्, एव धर्मः । सर्वासां
नरामरसंश्लिन्नीनां जनमनोहरणं शोकव्यतोदाहरिणीनाम् । इति
शब्दोऽलोकमासिद्धस्य संपदां जनमनोहरत्यस्योपदर्शनार्थः ।
अनेन च सांसारिकफलसाप्त्युत्पन्नस्योपदर्शितम् । अथ निर्वाण-
फलसाधकत्वमस्याह-एष चायमेव यानपाणं बोधिस्थ इव ज्ञे-
यो ज्ञातव्यः, संसारजलधी जयोवधौ तरोतव्य इति गाथायैः ।

कथं पुनरेव भवतीत्याह-

जायइ ये मुहो एसो, उचियत्यापायणेण सव्वसस ।

जसाए वीयरामा-ण विसयसारत्तमो पवरो ॥१८॥

जायते संपद्यते, अथाः पुनरर्थः, शुनः कुशलानुभवः, शुभ-

निसिस्त्यादेव धर्मः, उचितार्थोपादनेनानुपपन्नसंपदात्वेन, स-
वंश्य समस्तजनस्य । इहैव विशेषमाह-"जसाए" इत्यादि । का-
का भेदमध्यम-यात्रयोस्त्येन, पुनर्थप्रायां वा उचितार्थोपाद-
नेनाति प्रकृतम् । केयाइ, बीतरामाणां जिनानां, विषयसारत्वेन-
प्रधानोच्यतेऽत्र । बीतरामा एव हि निश्चितप्रवचनजातिशा-
यिगुणत्वेन यात्रागोचरोऽणुपवर्तितो जवतीति प्रथमः प्रधानतः
शेषजनाभिरार्थसंपदानोद्भवधर्मप्राप्त्या एव जायत इति प्रकृ-
तमिति गाथायैः ॥ १९ ॥

अधिकतराजानुशासनविधौ यो जावस्तं प्रकृत्यन्नाह-

एतं णं सव्वसत्ता, सुहिया खु अहिसि तमि कालम्मि ।

णंहि पि आमयाए-ण कुणुत्तं तं चैव पतंसि ॥ १९ ॥

एतथा बीतरामयात्रया एतस्या वा, सर्वस्वत्वाः समस्तदेहिनाः,
सुखिता एधानुभवत एव, 'खु' शब्दोच्यतेऽत्र । (अहि-
सि सि) अशुभः, तस्मिन् काले तदा यदा, जिनानां जन्माद्य-
जवत् । ततश्चदानीमुत्पन्नान्पि, यथाऽतीतकाल इत्यपिशब्दाः ।
[आमयाएण ति] प्राकृत्यन्नाहमाघातेन, अमरविषयदानेन, कुरुष्व
विधेदि, त्वं साराज ! देव ! सुखितत्यमेव । एतेषां सर्वस्वत्त्वाना-
नामिति गाथायैः ॥ २० ॥

अथाचार्यो न भवेत्तत्र तदा को विधिरित्याह-

तम्मि असंते राया, दृष्टव्वा सावोर्गादिं वि क्रमेण ।

कारोयव्वो य तद्दा, दाएण वि आमयाभो चि ॥२०॥

तस्मिन् प्रवचनगुरावसत्यविधानेन, उच्यतेऽत्र तदाऽजदशोना-
द्यसमर्थे वा, राजा नरपतिर्दृष्टव्यो दर्शनीयः, आचर्येण
अमणोपासकैरपि, न तु न दृष्टय इत्येतदर्थं येषुसूचनायांऽपि-
शब्दः । क्रमेण नीत्या तदाजकुलप्रसिद्ध्या, कारयितव्यं विधा-
पयितव्यो राज्ञः । चराष्ट्रः समुच्चयः । तथेति वाक्योपक्रममा-
त्रेण । तथा कारयितव्यशब्दोऽप्येव चास्य प्रयोगः । इति नेच्छति
चेद्भाजा ते कारयितुं तदा दानेनापि दृष्टयकरणेनो तं केवलं
वचनेनैवपिशब्दाः । (आमयाभो ति) अमाघातः प्राणिनाम-
मारिः, इतिशब्दः समाप्त्यर्थे इति गाथायैः ॥ २१ ॥

किं चात्यन्-

तेमि पि वायगाणं, दायव्वं सामपुव्वं दाणं ।

तत्तियदिणं उचियं, कायव्वा दमणा ये सुह्वा ॥२१॥

तेनामपि न केवलमामात्रा एव कारयितव्य इत्यपिशब्दाः ।
घातकानां प्राणिवधोपजीविनां मास्यकषादीनां, दातव्यं देयं,
सामपूर्वकं प्रेमोपादकचचनपुरस्सरे, दानमन्त्राद्वितरणं, ताव-
दिनानां यात्रापरिणामदिवसानामुचितं वायव्यः कर्त्तव्यः विधेया,
देशना च धर्मदेशना च शुभाऽनवघा । यथा-भवतामन्येवं धर्मा-
वासिर्भविष्यतीत्यारिक्त्वा, वयमेव च परापनापरिहारो धर्मा-
धिनां अयान्तिपुत्रकामिति गाथायैः ॥ २२ ॥

एव कियमाणे को गुण इत्याह-

तिरत्तस्य सियमात्रो, एवं लोणमो बोहिल्लानो य ।

केसिं नि ह्वाइ परमो, अणुमेमिं वीयल्लानो चि ॥ २२ ॥

तीर्थस्य जिनप्रवचनस्य, वर्णवाद्: स्थाया, एवमुना प्रकारेण
दानपूर्वकाऽमाघातकारणरूपकणेन, लोकं जने, भवति । ततश्च
किमित्याह-बोधिल्लानिः सम्यग्शरीरमात्रिः, चाशयः पुनरर्थो
भिन्नक्रमश्च । केपाविह्वुक्कमेणां प्राणिनां, जवति जायते, परमः
प्रधानोऽङ्गेषु मोक्षसाधकत्वात्त्वाद्यो पुनरपर्यायं, पुनर्बीजलाजः
सम्यग्दर्शनबीजस्य जिनशासनप्राप्तपातकशुभाप्यवसायलक्षण-

वर्षक प्रतिनि । इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ २३ ॥
 कथं तीर्थयेषांश्च यथ बोधिवती प्रवर्तते आह-
 जन्मिष्य गुणपतिवचनं । सन्वत्पुण्यमस्मि होऽपि परिमुद्रा ।
 सा वि य जायति बोद्धी-ए नेख हाएण चोराणं ॥ २४ ॥
 चियशब्द एषकारार्थः । स चार्थिवाशब्दार्थः । ततश्चायमपि काञ्चि-
 द्बन्धाऽप्यर्थार्थः । गुणप्रतिपत्तिगुणाऽप्युपगतिः । स्वैक्यमते जिन-
 शास्त्रनिषेधे, भवति जायते, परिमुद्रा मायगर्भा, साऽपि गुण-
 प्रतिपत्तिः । जायते संयथते, बो जइतुबोअये, सन्वत्प्रहंनप्रतिप-
 स्तेः । तेन ज्ञातेन, चौरोदाहरणेन तच्च प्रमुक्तमिति गाथार्थः ॥ २४ ॥
 यदि श्रावक भवति राजद्वेषानामसमोस्तादा कौ विधिरेत्याह-
 इष सामत्याभाये, दोहि वि वर्गोहं पुत्रपुरिमणं ।
 इयसामत्थलुभ्राणं, बहुमाणां होति कायव्भो ॥ २५ ॥
 इत्युक्तकेपे राजद्वेषोन्मत्तरेणामागतकारणं यस्मात्समर्थं बलं
 तस्य योऽजायतः स तथा गरिन्द, ज्ञान्यामपि, आस्मानकेन,
 वर्गोर्णो समुद्रायान्त्यो, अथचनगुश्रावककृपाभ्यां पूर्वपुरुषा-
 णामतीतमानयामात् । इतिस्वामिण्युत्पन्नमानमागतकारणकस्यु-
 क्तानां, बहुमानः प्रीतिविशेषो, भवति वचने, कर्त्तव्यो विषये इति
 गाथार्थः ॥ २५ ॥

बहुमानमेव स्वरूपत आह-

ते धष्ठा सत्पुत्रिंसा, ज एयं एवमेव णीसं ।

पुत्रिं करिंयु किञ्च, जिणजत्ताए विहाएणं ॥ २६ ॥
 ते पूर्वपुरुषाः, धन्याः रक्षयादा, समुचया महापुरुषाः । वचने ये,
 एतन्नतरांको कृत्यमिति योगः । एवमन्तकान्यायेनैव, निःशेषं सर्वं,
 पूर्वकाले (परिमुद्रा सि) भद्रापूर्वः कृत्यं कर्त्तव्यं, दानमुपमांसादान-
 अर्पणं, जिनयात्रयां जिनांस्तंभं, विधानं विधिर्निति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अमद्देउ तह अथया, धष्ठा उए एकिणए जे तेसिं ।

बहु मण्णयो चरिये, सुदावै धम्मपुत्रिसाणं ॥ २७ ॥

वयं तु वयं पुनस्तथा तेन प्रकारेण जिनयात्रादिसमयविधान-
 संपादनसामर्थ्याभावसंश्लेषोऽप्यथा अरुधाप्याः, धन्याः पुनः
 रक्षयादाः, पुनरिचयता एतावता, यत्तथां पूर्वपुरुषाणां, बहु मण्णयोऽह
 पुरुषातिविषयकर्मः, अरितं वेदिने सुखायहं सुखकारणं गुत्राय-
 हं वा, धर्मपुरुषाणां धर्ममेषान्नराणां । बौरपुरुषाणामिति च
 पाठः । अस्मरिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

एतद्बहुमानमेव फलमाह-

इय बहुमाणा तेसिं, गुणाणमण्णोयणा णिअंगेण ।

तत्तो तजुंझं वि य, होइ फसं आसयचिंमस्स ॥ २८ ॥

इयतिशब्ददुःसादान्दन्तरोकयच्छपातन्तेऽतोस्तेषां पूर्वपुरुषाणां
 सत्कानां गुणानां धर्मधरणादीनामनुमेदनाऽनुभूतिनिर्वोयमन्य-
 दर्थतया भवति (नत्तो रि) तत्तत्त गुणपुण्योद्भवतः । तनुदयमेव
 पूर्वपुरुषानुष्ठानफलसममेव प्रवर्तते । जायते । फसं कर्मकथादिको
 गुणः । यदाह- "अप्यदिहयमाचरते, अणुमेयोतं य सन्नाइं सट्ठ ।
 इहकारणमण्णुमा यतो मिणो जइ य वसदेवो" ॥ २९ ॥ अथ कथं
 कलागुणानवतां सकलागुणानवद्विस्तृत्यं फसं भवतीत्याह-
 आशातिविधापद्यवसायजिदरा । अथयसाय एव हि परं कार-
 णं गुणागुणकर्मधर्मादि धति । यदाह- "परमरहस्समिर्दिणं,
 सम्मतगणिपदयजारेयसाराणं । परिणामिये पमाणं, निचयय-
 वड्ढममाणाय" ॥ ३० ॥ इति गाथार्थः ॥ २८ ॥

'आरंभेभिय दाणं' इत्यादि पञ्चकं तदुपसंहरन्नाह-
 कयमेथ पसंगो, तंवाइदाणादिथा वि गियसमए ।
 अणुक्वं कायव्वा, जिणएण कट्ठाएदियेहेसुं ॥ २९ ॥
 कृतमसन्न दानाभाषातप्रसङ्गेन प्रसक्त्या तप उपधानादिका
 अपि तपःकर्मशरीरवस्त्कारप्रवृत्तिका अपि त्रावा-न केवसं दान-
 मित्यपिशब्दाः । निजसमये स्वकीयावसरं कटिगमये अणुक्वम
 भौक्तित्वेन कर्त्तव्या विधेया । कदेत्वाह-जिनानामहंतां कदायण-
 दिवसेषु पञ्चमहाकल्याणीप्रतिबन्धनिर्नापति गाथार्थः ॥ २९ ॥

कल्याणान्येव स्वरूपतः फलतश्चाह-

पंचं महाकट्ठाणा, सत्वंविं जिणएण होति रिण्णेषेण ।

जुवणच्छेरयज्जया, कट्ठाणफला य तंवाणं ॥ ३० ॥

गन्ने जम्मे य तद्दा, णिकसमोणे चैव णाएणिव्वाणे ।

जुवणगुणए जिणएणं, कट्ठाया होति णायव्वा ॥ ३१ ॥

पञ्चंति पञ्च महाकल्याणाणि परमश्रेयांसि सर्वेषां सकलकार-
 णनिष्कन्तरोक्तभाविनां जिनानामहंतां भवति तिथमेवाश्रयं भा-
 वनेन, तथावस्तुस्वभावत्वात् । सुवनाश्रयं जूता निर्लिखस्युस्व-
 न्नुवतूनामि, त्रिभुवनजानान्दहेतुत्वात् । तथा कल्याणकट्ठाणि च
 निःश्रेयससाधनानि । वाः समुच्चये । जीवानां प्राणिनामिति । गमे
 गर्माधानं, जन्मन्युपपत्तौ । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योप-
 क्रमे । निकमणे आगारवासाधिगमे, वैश्वेति समुच्चयवाधाकारण-
 योर्वित्युत्तरञ्च संज्ञस्येते । ज्ञाननिर्वाणे समाहाररुद्धत्व्यावैक्यस-
 ज्ञाननिर्मुक्तये च । केषां गर्मादिस्त्वित्याह-नुवन्नगुणां जगत्सं-
 द्रामां जिनानामहंताम् । किमित्याह-कट्याणमि श्वःश्रेयसानि,
 प्रवर्तित वतन्ते, इतत्तव्यानि हेत्यानीति गाथाशब्दाः ॥ ३०-३१ ॥

ततश्च-

तेसु य दिण्णेषु धष्ठा, देविंदाइ करिंमि जत्तिणया ।

जिणजत्तादि विहाणा, कट्ठाणं अण्णोणे चैव ॥ ३२ ॥

(तेसु य ति) तेषु च दिनेषु दिवसेषु, येषु गर्माद्ये बलवृधे-
 न्या धर्मेषु संख्यातः, पुण्यभाज इत्यर्थः । देविंदायः सुरम्भ-
 प्रभूतया, कुर्वन्ति विद्वन्ति, भक्तिजता बहुमानमन्त्राः । किमित्या-
 ह-जिनयात्राऽदि-नहंनुवन्नपुत्रजात्रप्रवृत्तिम् । कुल इत्याह-
 विधानादिभिः । अथवा जिनयात्राद्विधेयानां किमित्येति जिन-
 यात्रादीत्याह-कट्याणं श्वःश्रेयसम् । कस्येत्याह-आत्मनः स्वस्य,
 वैश्वस्यैव समुच्चयधर्मेण परेषां वेति याथार्थः ॥ ३२ ॥

यत एवम्-

इय ते दिणा पसत्था, ता मेसोहं पि तेसु कायव्वं ।

जिणजत्तादि महरिसं, ने च इमे वक्क्याणसस ॥ ३३ ॥

इत्यतो हेतोः पूर्वोक्तजीवानां कल्याणफलयादिलक्षणासंज्ञे इति,
 येषु जिनागोचानाद्यो भवन्ति, दिना दिवसाः । दिनशब्दः बुद्धि-
 श्लोष्यवृत्तिः प्रवृत्ताः श्रेयांसः ततः किमित्याह- (ता इति) य-
 स्मदिकं तस्मात् शेषैरपि श्रेयःकथादिश्रेयार्थैरिहेतुमुत्थर्य, न के-
 वलमिन्द्रादीनां श्रेयसपिशब्दाः । तेषु गर्मादिश्रेयसपिशब्देषु,
 कर्त्तव्यं विधेयं, जिनयात्रादि वातारगोःसुखपुत्रजात्रप्रवृत्तिके वस्तु,
 सहर्षं स्वमार्गे यथाभवति । क्वाणि च तानि दिनातीत्यर्थः
 जिहासायां सर्वत्रजनसंघट्टानं तेषां च वक्तुमशक्ययथावत्सोम-
 तीर्थोचितित्वेन प्रत्यासन्नस्यैव कस्यैव महावीरस्य, तानि वि-
 वक्तुराह- (ते य ति) तानि पुनर्नोदिदितानि इत्यानि वक्ष्यमा-

मायानि बर्हमानस्य महावीरजिनस्य भवतीति गाथाद्यैः ॥३३॥
ताम्येवार्ध-

आसाहमुद्रदृष्टी, चेत् तद् सुकृतेरसी चैव ।

भग्नासिराकिएदसमी, यद्साहे सुकृदसमी य ॥ ३४ ॥

कसियकिएरे चरिमा, गम्भाःदिणा जइकमं एते ।

इत्पुत्तरजेएणं, चउरो तद् सातिणा चरमो ॥ ३५ ॥

आयाइयुक्पव्वी आयाहमासं शुक्लपकस्य वव्वी तिथिरित्येकं दिनम् । एवं चैवमासं । तथेति समुच्चये । शुक्लपयोदयेवेति द्वितीयम् । चैवेत्यवधारणं । तथा भाग्यशीपेकृष्णदशमीति मृती-यम् । वैशाखं शुक्लदशमीति चतुर्थम् । अशुभः समुच्चयार्थः । कार्तिकेकृष्णे चरमा पञ्चदशीति पञ्चमम् । एतानि किमित्याह-
माभेदिनानि गन्नेज्जमनिष्कमण्णानि विवोणविदयाः । यथाक्रमं क्रमणैव, एताम्यनन्तरोक्तानि, एषां च मध्ये हस्तोत्तरयोगेन इतत् उत्तरो यस्मां हस्तोपस्रज्जिता वा उत्तरा इतोत्तरा उत्तराफा-
ल्लुपुयाः ताभिर्योगः संबन्धश्चरस्येति इतोत्तरायोगः, तेन कर-णशून्येन, अन्वयोद्यानि दिनानि भवन्ति । तथेति समुच्चये । स्वातिना स्वातिनसाम्भेण युक्तः । (चरमोसि) चरमकल्याणक-
दिनमिति, प्रकृतस्वातिनि गाथाद्वयार्थः ॥ ३४-३५ ॥

अथ किमिति महावीरस्यैवैतानि दृष्टीतानीत्यब्रुव-
अभिधायतिर्यविहाया, भगवं ति णिदंमिवा इदं तस्स ॥

मंसाण वि एवं वि य, णियणियसित्थेसु विसेया ॥ ३६ ॥

आयहूनतीर्थविधाता वर्तमानप्रवचनकृता, भगवान्महावीर इति, हेतोर्निर्दिष्टानाम्युक्तानि, इमानि कल्याणकविमानि, तस्य चर्चमानजिनस्य, अथ शेषाणां ताभ्यन्दिशास्त्राह-शेषाणामपि, न चर्चमानस्यैव । ऋचभाद्रीनामापि, चर्चमानस्यस्यपिर्णिगत्तज्ञा-
पेकृष्या एवंमवद तीर्थं वज्जमानस्यैव, जिज्जिज्जतीर्थेषु स्वकी-यप्रवचनावसरूपे, विक्रयानि ज्ञातव्यानि, मुक्खबुत्त्या विधेयतथेति । इह च यान्येव गतीदिनानि जम्बुद्वीपजनस्तानामुपजादिजिनानां ताम्येव सर्वभरतानां सर्वैरावतानां च, यान्येव यथेयाप्रस्थामभवस-
पिण्णयां ताम्येव च व्यत्ययगेत्सपिण्णयामपीति गाथाद्यैः ॥ ३६ ॥

अथ किमेषं कल्याणकेषु जिनयात्रा विधीयत इत्याह-

नित्यगरे बहुमाणो, अज्जानो तद्द य जौतकप्पसत् ।

देविंदाद्यणुकित्ती, गंभीरएक्खणा भाए ॥ ३७ ॥

बभो य पव्वएणसा, इय जत्ताए जिखाण णियमण ॥

मग्गाणुसारिभावो, जायइ एत्तो व्वि य विसुक्को ॥ ३८ ॥

तीर्थकरं जिनविषये, बहुमानः पक्वपातः तद्विदं दिनं यत्र भग-
वान् अजनीत्यादि वि कल्पितः कृतो भवतीति सर्वत्र गम्भ-
रमिति । यात्रयेरयमेन योगः । तथेति वाक्योपेक्षयाऽपि द्रष्ट-
व्यं । अजयासोऽप्यसमम् । अशुभः समुक्कथ्ये । जितकल्पस्य
पूर्वपुरुषाच्चरितलक्षणवाचस्तिति । तथा हंभन्दाद्यणुकृतिः दे-
वाधिपदेवदानवप्रभृत्याचारानुकरणम् । तथा गम्भीरप्रकृपाया
गम्भीरं स्थाप्रभायिदं यात्राविधायं न यादृच्छिकमित्यस्य प्रक-
पण्डा प्रकाशना गम्भीरप्रकृषणा कृता जयतानि, तथा शोकं
जनमध्ये; वधोः प्रसिद्धिज्जयत इति योगः । अशुभः समुच्चये ।
कस्ये, प्रवचनस्य जिनश्रावणस्य, श्रीकल्पं प्रकृतस्वादिनि । या-
त्रया अनन्तरोक्तविधानोत्सवेषु, किंयानोत्सवेषु । केपास् ?
जिनानां शैलरागाणां, निधमेन नियोगेन, (एकोसि य सि) यत्

एव कल्याणकयात्रया तीर्थकरबहुमानादिकं कृतं भवत्यत एव
हेतोर्मांगानुसारिभावो मोक्षपादानुक्रमाभ्यवसाय भागमानुसारी
या, जायते जयति । असी किमुतः ? विशुद्धोऽभवद्यः । स्वतो विशु-
द्धोऽस्वी जायते, विशुद्धस्वीत्यर्थे इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३७-३८ ॥

यद्यसौ जायते ततः किमित्याह-

तचो सयलसमीहिय-सिक्कं णियमेण अविकलं नं से ।

कारणमितीं भणियओ, चिण्णैहिं निबरागदोसेहिं ॥ ३९ ॥

ततो विशुद्धमोगानुसारमायस्विकलसमीहिनसिद्धिनिर्लि-
तेऽसिन्तार्थेनिष्पात्तनियमेन नियोगेन, कुतः पुनरेतदित्याह-अ-
विकलमवगन्धं यद् यस्मात्कारणं हेतुः, अस्याः सकल-
समीहिनासिद्धेभणितोऽर्जिताहता, जिबेरहेत्तुः । जिनाब्ब नाम-
जिनादयोऽपि भवन्तीत्यत आह-जिनरागद्वैविगतासत्यव्या-
दकारणैरित्यर्थे इति गाथाद्यैः ॥ ३९ ॥

अथ कथमसौ मांगानुसारिभावः सकलसमीहितसिद्धेः कार-
णं भणित इत्यबोधयेत्, शुभंवेष्टानिमित्तत्वेन; एतदेव दर्श-
यथाह-

मग्गाणुसारिणो खनु, तत्ताभिसिखेमओ मुजा चैव ।

होइ समत्ता चेद्धा, अमुथा वि य णिरणुधंथि ॥ ४० ॥

मांगानुसारिणो मांसपथानुकूलभावस्य जीवस्य, अलुर्वाक्या-
सङ्घरे, गुणैव येष्टेति संबन्धः । कुत एवमित्याह-तस्वामिनिवे-
शनां वस्तुस्वकपनिर्मायानिश्चयान्, शुभैव प्रशस्तैव, नेतरा ।
चैवशुभोऽवधारणार्थः । भवति जायते, सप्रस्ता निष्कृया, चे-
ष्टा क्रियाऽशुभा । किं सर्वथा न भवतीत्यस्यामाशङ्कयामाह-
अमुथाऽपि चाप्रशस्ताऽपि च । येष्टेति वस्तैः । अथि वेत्ते
समुच्चये । भवति केवलं निरनुबन्धा अनुबन्धनराहिता-पुनः
पुनरर्भावनीत्यर्थः । इतिशब्दः समासाविति गाथाद्यैः ॥ ४० ॥

कृतो निरनुबन्धा सेत्याह-

सो कम्मपारतता, वट्टं तीए ण जावओ जम्हा ।

इय जत्ता इय वीये, एवंभूयस्स जावस्स ॥ ४१ ॥

स मांगानुसारी जीवः कम्मपारतत्याचारविभ्रमोहीनीयक-
मवशादेव, यत्ते प्रवर्तते, तस्यामशुभवेष्टार्था, न भावतो न
पुनर्भावान्तःकरणेन तस्यानिनिवेशादेव यस्मात्कारणात्सा-
स्माद् निरनुबन्धेति प्रकृतमिति । कल्याणकयात्राकालिसम-
नायाह-इति यात्राऽनन्तरोक्तकल्याणकजिनोत्सव इत्युक्त्या-
येन शुभवेष्टाहेतुलक्षणं शोचं कारणम्, एवंभूतस्यानन्तरो-
क्तस्य सकलसमीहितसिद्धिकारणस्य, भावस्य मांगानुसारि-
परिणामस्य, पूर्वोक्तस्येति गाथाद्यैः ॥ ४१ ॥

उत्तवविशेषपस्यान्यस्यापि कल्याणकदिनेष्वेव वि-
धेयतां दर्शयथाह-

ता र्हणिकवणणादि वि, पेतुमु दिसे पणुच कायव्वं ।

जे एत्तो व्वि य त्रित्तओ, पहाशमो तोरिं किरियाए ॥ ४२ ॥

तद्विति यस्मात्तीर्थकरबहुमानादयोऽनन्तरमिहितमुष्णाः क-
ल्याणकदिनेषु जिनयात्रायां भवन्ति, तस्यद्वयस्य जिनाव-
स्थाधिष्ठितस्य स्वप्नस्य, जिनगृहाभिष्कमणं निर्गमो नगरप-
रिभ्रमार्थं रथनिकमणं तद्व्यापि तत्प्रभृत्तिकर्म, आदिशु-

व्याधिक्रियकामिचपदनिकमयादिप्रहः । न केवलं यावत्तद्यपि शब्दाः । एतेषु च तान्येव कल्याणकरुपाणि विद्यमानं प्रतीत्याभित्य, कर्तव्यं विधेयं भवति । कस्मादिभिमियाह-यद्य-आकारकारणाद्ये एव कल्याणदिनलक्षणे विषयो शोचरः प्रधानः शोभनः । मकारन्तु प्रकृतशैलीप्रत्ययः । तस्या रचनिकमयादिकायाः क्रियायाः अष्टायाः, इदं ब्याधारण्यमनागमो-ह्निदिनव्यवच्छेदाद्येमेव प्रष्टव्यम्, आगमोक्तदिनानां स्वगम-प्राप्तयाद्येव प्रधानत्वात् । अभिधीयते आगम- "संवच्छुरा-उम्मा-सपसु अछाहियासु य तिहीसु । स्वव्यायेर्ये लम्हा, जि-ण्वरूपया तवगुणेसु" ॥ १ ॥ तथा प्रतिष्ठानन्तरमष्टाहिकाया इदेष विषयतयोपरिष्टव्यादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

ननु कल्याणकदिनेष्वेव यात्रायाः कथं प्राधान्यम् ? बहुक-लत्वादिनि ह्यः, एतदेवाह-

वितयत्परगिरिसभावे, किरियायेत्तं पि बहुफलं होई ।
सकिरिया विहु ए तद्दा, इयरिमि अवीरारागिन्व ॥४३॥

विषयस्य क्रियाविशेषतोचरस्य प्रकर्षेभाव उच्छ्रुताविषय-प्रकर्षेभावः । तत्र, क्रियामात्रमपि अविशेषवत् क्रियाऽपि, आस्तां विशिष्टा, बहुफलं प्रयुक्तेषु भवति जायते । एतस्यैव व्यतिरे-कमाह-सर्गक्या विशिष्टवेषाऽपि आस्तां क्रियामात्रम् । इश-व्योऽलक्षकनैः । न तथा न तत्प्रकार, न बहुफला जयति । इत-रन्व, विषयस्य प्रकीर्त्या, उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह-अवीतरागे इव पुरुषमाप्रवत् । यथाऽस्य वीतरागे गुणोक्तयो-भवेन विषयप्रकीर्त्यानेन महत्स्यपि पुत्रादिका च्छा बहुफला न भवति, तथा कल्याणकदिनेष्वेव भवति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अथ कल्याणकयात्रामेव पुरस्कृत्योत्पदेशमाह-
लक्ष्णा लुङ्गं ता, माणुपंचं नह य पवयां जइणं ।
उत्तमणिदंमणेसुं, बहुमाणो होई कायवो ॥ ४४ ॥
अथवा प्राप्य, दुर्लभमसुन्नं (ता इति) यस्मादिन्दुःखिनिः कृता बहुफला च कल्याणकयात्रा तस्मात्कारणात्मनुजल्यं नरत्थम् । तथाचेति समुच्चयार्थः । प्रयत्नं शासनं, जैनं सर्वेह्वरचितं, जिनमतप्रतियुक्तस्यैव विशिष्टोत्पदेशोच्यते । तत्सफलताकरणं सामर्थ्यं च भवतीति कृत्वा मनुजत्वमित्यायुक्तम् । उत्तमनिद-र्शनेषु प्रधानसर्वज्ञातेष्विन्द्रादिलक्षणेषु । तद्यथा कल्याणक-यात्रा विषया देवप्रत्युत्पत्तिप्रवर्तितं च, यत्र इति बहुमानः प-कृ-पातो, भवति जायते, कस्येषु विधेयं, न तु सोदोपहतसन्नि-दर्शनेषु यथा यथाऽमुनाऽमुना वाऽरुमत्पत्तित्वात्मादिना-ऽप्येन चेदं विहितमिति विधेयमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

अधिकृतवात्रागतमेवोत्पदेशान्तरमाह-
एसा उत्तमजत्ता, उत्तमभुवणिण्णआ सइ बुहेहि ।
सेसा य उत्तमा खलु, उत्तमरिक्दिं कायवो ॥ ४५ ॥

एवाऽनन्तराका कल्याणकयात्रा उत्तमयात्रा प्रधानयात्रा, तद-न्यस्याः का वास्तव्याह-उत्तमभुवणित्वा प्रधानागमामिहता या-सा, शेषा च कल्याणकव्यतिरिक्ताऽपि, उत्तमा खलु प्रधानैव उ-त्तमभुवणित्वा तु, लोककडिहता तु भेति । प्रतञ्जोत्तमवत्सदा बुधैर्विद्विक्तरुमच्छा प्रधानवर्जनेन, न यथाकथंचित्कृतव्या विधेयति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

उत्तमतिरेके यदापद्यते तदाह-
इपरा वाऽबहुमाणो-उत्तमा य इमीए णिण्णबुद्धीए ।

एवं विधितियन्वं, गुणदोसविहायं परमं ॥ ४६ ॥
इतरथाऽन्यथा उत्तमच्छो तदकरणे । अथवोत्तमयात्राया अक-रणे तत्र यात्राविशेषोनात्रायाके कसमश्नुते उत्तमनिदर्शनेषु वा बहुमानः प्रीतिस्त्वद्बहुमानस्तदगतविधेयोऽस्तद्बहुमानः स भवति । तदुक्त्यात्राविशेषोपस्थाकरणान् तथाऽऽह-आध्याध्यायं कृता भवति । अस्यामुत्तमयात्रायामिति निगुणबहुला सूक्ष्माध्याया । एतदन्तराकमनर्थेद्वयं विचिन्तयितव्यं परित्रायमथियम्, यतो गु-णादोपवित्रायमनर्थानर्थोचनं सर्वस्यानुष्ठानस्य परमं प्रधानम्, ततः प्रवृत्तिनिवृत्तिभावादिति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

उत्तमभुनोक्तयात्राऽऽह-कानेन लोककडयोहाकरणमयुक्तमिति-
दृश्यन्नाह-

जेदमि विज्जमाणे, उचियं अणुजेदूपयणमणुत्तं ।
सांगाहरणं च तद्दा, पयमे जगवंतवयशमि ॥ ४७ ॥

ज्येष्ठे बृहत्तरं पुत्रावपेक्षया पित्रादौ विद्यमाने सति उचिते निर्दोष-त्वेन पुत्रायोयं, अनुज्येष्ठस्य स्रयोः पुत्रादेः, पुत्रेण सत्कौरोऽनुक-मसंगतम्, यथेति शेष इति दृष्टान्तः । दार्ष्टान्तिकमाह- (सांगा-हरणं च) लोकोदाहरणमपि पित्राऽपुत्रेणानुमानं यथा मासादौ अमुना च कियते यथाऽनस्तैषेव सा नो विधेयमेव लक्षणं, तथा तद्वदयुक्तमेवानुज्येष्ठपुत्रनयत्, प्रकटं रूपं भगवत्त्वेन जनागमे सकलजगज्जगज्येष्ठं सतीति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

अयुक्तत्वेभ्य लोकोदाहरणस्य आशयन्नाह-

लोपो गुरुत्तसो खलु, एत्तं मति जगवतो विदो ल्ति ।
मिच्छन्तो य एयं, एसा आसायणा परमा ॥ ४८ ॥

लोक एव सामान्यजन एव, गुरुतरको गरीयान् । खलुग्वधा-रणे, तस्य च दृष्टित एव प्रयोगः । एवमुक्तान्त्या, जनवद्वचन-सद्भावेऽपि लोकप्रामाणीकरणरूपे वन्मति सति, भगवतोऽपि सकलजगज्ज्येष्ठजिनादपि सकाशादिदोऽनमतः । इतिः समाप्ती । ततः किमन्याह-मिध्यात्यं मिध्याहाष्टवम् । आचारो निपातः पूरणार्थः चदाद्- पुनर्येकः एतद्भूतवद्वेषेणैवा लोक-स्य गुरुतरत्याभिगमनं विपरितोषोच्यते, तथा एया लोकस्य गुरुतरत्याजिनमनलक्षणा, आद्यातना सर्वज्ञावमानना, परमा प्रकृष्टा, अन्नसत्संसारोदहन्यः । सर्वज्ञवचनमेव प्रमाणेनाऽऽह-क-कन्त्यम् । लोकस्तु तद्विकृतानुष्ठानं यथेति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

अथ सर्वज्ञमुत्पदेशमाह-

इय अन्नतथ वि सम्मं, पाठं गुरुत्तावयं विमसेण ।
इत्थे पट्टियण्वं, एसा खलु जगवतो आणा ॥ ४९ ॥

इत्येवं कल्याणकयात्रावत्, अन्यथापि यात्राव्यतिरिक्ते दानादा-वपि, सम्यगवैपरिीत्येन, ज्ञान्वा विज्ञानं, गुरुत्तावयं सारं तत्त्वं, विशेषेण परस्परवैपक्ष्याऽधिक्येन, इष्टजिनमेतै धैयाकृत्यादौ, प्रव-र्तितव्यं यतितव्यं, यत एया खलु इयमेवानन्तराकमगततो जि-मन्याका आदेश इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

अयोपसेहरनाह-

जत्ताविहागमेयं, णाऊणं गुरुत्ताउ चरीरे हि ।
एवं वि य कायवन्, अविदिहियं भयित्तेहि ॥ ५० ॥

यात्राविधानं जिनेनेस्तथाविधिः, एतदन्तराको ज्ञान्वा विज्ञानं, गुरुत्तावत् स्वरिचनार्, धीरधीमस्त्रिः, (एवं वि य) एवमेवोक्त-विधिनैव, कस्यैव विधेयम्, अविदिहियं सततं भक्तिजन्तुमान-

विक्रितिं माध्याह्ने ॥ २० ॥ इति यात्राविधिप्रकरणं विचरणतः समाप्तम् । पञ्चादं विषयः । (अथयुजाने यथा स्वाध्यायकल्पे परिहरति तथा 'एतस्या' शब्दे तृतीयजगो ७० पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अथान्यानविषयो विचिन्वते—

आद्याइषो य दोसा, विराहणा ह्येऽसंजम्प्या ।

एवं ता वच्येते, दोसा पचे अण्येगविद्धा ॥

निष्कारणेऽनुजाने गच्छत आह्लादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मनो जवति । एवं तावद् प्रकृतो माये दोषाः, तत्र प्रातानां पुनरनेकविधा दोषाः ।

तत्र संयमात्मविराधनां भावयति—

महिषा तस्त्वयज्ञे, इरियादं । न य त्रिसोहृ तस्य ।

अप्या वा काया वा, न सुपं नेव पकिलेहणा ॥

महिषा नाम जगधनः प्रतिमायाः पुण्यारोपणविज्ञात्मकः स्वातिशय उत्सवः, तस्य दर्शनाद्येमुत्सुक्यतु इयोदिसमितिनं विशोध्यति । आदिशब्दाद्वेगणादियिरग्रहः । तत्र अयोदिनामगोप्येन आत्मा च कायाश्च विराध्यते । आत्मविराधना कण्टक-स्पर्शयामुष्णधानेन, संयमविराधना यथा कायानामुष्णदर्शना, तथा स्वरमाण्वादेव न सूत्रे गुणयति, उपसङ्गणत्वाद्यर्थं च ना-नुमेकते, नैव प्रतिश्लेषनां वस्त्रायाश्चैः करोति, अथवा अकालेऽपि विधना स करोति । एवमेव मांयं गच्छतां दोषा अभिहितः ।

अथ न तत्र प्रातानां ये दोषास्तानमिधित्सुहृद्गारगाधामाह—

चेइय आहाकर्म, उगमदोमा य सह इथीत्ता ।

नादगसंफामुत्तं—तुमुङ्कनिष्कस्यकजा य ॥

चैत्यानां स्वरूपं प्रथमतां वक्तव्यं, तत्र आधाकर्म, तत्र उग्रम-दोषाः, ततः शैक्षणं पारिभेद्येषु यमनं, ततः स्त्रीदर्शनसंस्था दोषाः, ततो नाटकयशोकनप्रभवः, ततः संस्पर्शनेसमुत्थाः, तदनन्तरं तन्मयः कौलिकजालं तद्विषयाः, तदनु (सुबु लि) पारिभेद्यदि बहुलदर्शनसमुत्थाः, ततो निर्धेमेणां लिङ्गनां यानि कायाणि तदुत्थिताश्च दोषा वक्तव्याः । इति ह्यारगाधासमा-साधः । १० । ३० । (चैत्यव्याख्या 'चेइय' शब्दे द्रष्टव्य) । (वसन्तिवचयनांवाकर्म 'आधाकर्म' शब्दे टि० भागे ३२० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

अथोक्तमदोशैकद्वयमहाह—

ठनिष संज्ञानादी, दुनोहया होति उगमे दोसा ।

वर्दिज्यंते ददु, इपरं सेहा तर्हि गच्छे ।

बहवः संयताः समायाना इति ह्येवा धर्मश्रद्धावाद् शोकः संयतार्थे स्थापितं भक्तपानादेः स्वपानां कुर्वीत । गृहमाग-नामभिक्रेयैव दास्याम इति ह्येवा (संज्ञो भ लि) यानि गृहाणि क्षाणुनिर्धेयानि अशुक्लीयानि तेषु शायोदन्तगकुल-धावनादिकं भक्त्याने, मोक्षकशोकसंनिप्रतुनीति या आचक्र-विधानानि निक्षिपेयुः, साधुनामागतानां दातव्यानीति । आदि-शब्दात् क्रीतकृत्प्राप्तिकादिपरिग्रहः । एते उग्रमदोषाः, तत्र दुःशोषाश्च दुष्परिहायां भवन्ति; तथा इतराश्च पारिभेद्यदि च बहुजनन वधयमानाश्च पुत्रयमानाश्च दृष्ट्वा शैक्षास्तत्र पारिभेद्या-दिवु गच्छेयुः ।

स्त्रीनाटकद्वयमहाह—

इत्थी विउन्विया वि ह, जुषाणं ददु दोसाओ ।

एमेव नादईया, सविधमा नविगीयाप ।

स्त्रीः विक्रियिता यश्चविशेषनादि निरलक्ष्णताः दृष्ट्वा युक्तानां दोषाः स्मृतिकौतुकप्रजवाः जवन्ति । एवमेव नाटकीया नाट्यथोषितः, सविजमाः सविज्ञासाः, भक्तिगतितयोः प्रवृत्ता शिक्षोप्य, लुत्वा च लुक्तायुक्तसमुत्था दोषा विज्ञेयाः ।

संस्पर्शनेहारमाह—

इत्थिपुरिसाण कामे, गुरुगा लहुगा सई य संपेटे ।

अप्यासंजयदोसा—ऽणुभावनं पच्छकम्मादी ।

समवसरणे पुण्यांगोपणादिकौतुकेन श्रूयांसः स्त्रीपुरुषाः समा-यान्ति, तेषां संमर्देन स्पर्शां जवन्ति, ततः स्त्रीणां स्वयोः अस्वारे गुरुवः, पुरुषाणां स्वयोः अस्वारे लघवः, स्मृतिश्च संघे लुकभे-गिनां भवति, चशब्दाद्भुक्तनोभिनां कौतुकश्च । आत्मसंयमवि-राधनादोषाश्च जवन्ति । आत्मविराधना संमर्दे सति इत्सपा-दाणुपघानः । संयमविराधना संमर्दे बुधिय्यां प्रतिष्ठिता पदक्या नावशोकयमेन, न च परिहृषुं शक्यते । अनुजावणपरच्छकम्मा-दी स्ति) साधुना कोऽपि शौचवाद् । पुरुषः स्पृष्टः संसनायात्, संसनां निरीक्ष्यापः पृच्छति-किमर्थं स्नासीति ? स ग्राह-सं-यनेन स्पृष्ट इति । एवं परम्परया साधूनां सुपुष्पंजायते—यथा 'अहा' मञ्जिना एते' एवमनुभावना, पश्चात्कर्म च भवति । आ-दिशब्दाद्संस्पर्शादयो दोषाः ।

अथ तनुद्वारमाह—

सुयाकोलिंगजान्म—कोर्यलकोरीपं उवरी गेटे य ।

सांभितमसांभिते, लहुगा गुरुगा अचर्चिए ॥

असंमाज्यमाणं चैत्यं भगवन्प्रतिमाया उपरिष्टोदितं नाम भ-वेयुः, क्षुता नाम कौलिकपुटकाणि । कौलिकजालकानि तु जा-सकाकाराः कौलिकाणां जालानुसंताना, कोर्यद्वारको भ्रम-री, तस्याः संसिन्धु शूदोपरि जयेव । यद्येतानि क्षुतादीनि शाट्य-ति तदा अस्वारे लघवः । अथ न शाट्यनि ततो भगवतां प्र-क्तिः कृता न जवति, तस्यां आन्रकयोः अस्वारे गुरुकाः ॥

अथ कुलकद्वारं, निर्धेमेकायद्वारं च व्याख्यानयति—

यद्वाड इपरकुडु, ददुं अगोत्रिया तर्हि गच्छे ।

उकुडुपरपुणादं, ववदारा चैव ति लिंगीणं ॥

त्रिदंतस्स अणुमर्दं, अमिज्ञंत अमिदं उक्त्विषया ।

द्विहाणि य पहेती, नेव य कज्जेयु साहिज्जं ॥

इतरे पारिभेद्यार्थेनां ये कुलका गृह्य, आदिप्रदण्ड । मत्तमु-पेडा पंडुपरकवाचनं इत्यादि, तानित्थंभूतात् दृष्ट्वा संविध-कुलका अचर्चयित्वा मस्रदिग्धेहाः परिजनाः सन्तः, तत्र तेषां शिक्षिनामन्तिकं गच्छेयुः, तेषां च तत्र मिलितानां परस्परमुत्सृष्ट-गृहधनादिविषया इत्यहदारा विवादा उपदौक्येते, ते च व्यवहार-च्छेदनाय तत्र स्विन्नात् आकारयन्ति, ततो यदि तेषां व्यवह-रमिच्छते तदा भवति स्फुटस्तेषां गृहधनादिकं दहतः साधो-बहुर्मतिदोषः । उपसङ्गणामिदम्, तेन येषां यद् गृहधनादिकं न दीयते तेषामप्रातिक्रमप्रवेगमनादयो दोषाः । अथ शिक्षिनामे-तद्दोषप्रथमत्वं प्रथमत एव न मिलन्ति, न वा व्यवहारपरिके-रं कुर्वन्ति, तत उक्तेपणा उद्घाटना साधूनां भवति, संघाटाह-हित्करणमित्यर्थः । द्विहाणि च दृषयन्ति, ते आकारिताः सन्तः साधूनां प्रकृते, नैव च ते कायेषु राज्ञिभ्यस्तान्वादिषाः समाह

तस्मिन्प्रक्रमसुपष्टम्भं कुर्वते, यत एते दायाः, अतो निष्कारणे न प्रवेष्ट्यमनुयानमिति स्थितम्, कारणेषु च समुपपन्नेषु प्रवेष्ट-
व्यं, यदि न प्रविशति तदा चत्वारो लघवः ।

कानि पुनस्तानित्युच्यते-

चेद्यप्या राया-निर्माणां सभि वाई भम्मकडा ।

संकेय पत्त पभाक्ख, पविचि कजाइ उडाहां ।।

अनुयानं गच्छता वैत्यपुजा स्थिराकृता भवति; राजा वा कश्चिदनुयानमहोत्सवकारकः संप्रतिनरेन्द्रादिवत् तस्य निम्न-
स्थं भवति, सैही भावकः, स जिनप्रतिष्ठायाः प्रतिष्ठापनां चिकी-
र्षति, तथा वार्दी कृपको, धर्मकथा च तत्र प्रज्ञानार्थं गच्छति, शक्तिर्योश्च सुभार्योस्तत्र निर्णयं करोति, पात्रं वा तत्राव्य-
वाप्तिस्विकाकारं प्राप्ति, प्रभावना वा राजमन्त्रिजातार्थिस्तत्र-
गौर्भवति, प्रवृत्तिस्वाचार्यदीनां कुसलवार्त्ताकृपा तत्र प्राप्यते, कात्यायि च कुलादिविषयाणि साधयिष्यन्ते । उक्त्वाहञ्च तत्रगते-
निर्भारयिष्यते इत्येतेः करणैर्गन्तव्यमिति द्वारमाथासमासाधः ।

अथ विस्तरार्थं विजगिषुधैत्यपुजारजनिम्नत्रणद्वारे
विद्युर्गति-

समुदावुहुं रणो, प्याए त्थिचत्तं पभावणायं ।

पदिपातो य अणत्थे, अणत्थ य कराई तित्थे ।।

कोऽपि राजा रथयात्रामहोत्सवं कारयितुमनास्तत्रनिम्नत्रणे
गच्छति; तस्य राज्ञः भद्रावृत्तिः कृता भवति, चेत्पुजायां स्थिर-
स्थं, प्रभावना च तीर्थस्थं संपादित्वा जयति, ये च जैनप्र-
वचनप्रत्ययिकाः शासनार्थं वाद्माहोत्सवोपवादादिकमर्थं कुर्व-
न्ति, तस्य प्रतिपातः कृतो भवति, तीर्थं च आस्था स्वपरप-
कृत्यादावृत्तिर्यादित्वा नवतीति ।

अथ संक्षिप्तं चाह-

एमेव य सर्वाण वि, जिण्णाण पदिमासु पढमपडुवणे ।

मा परवाई विग्गं, करिज्ज वाई अक्खो विसई ।।

संज्ञिनः भावकाः कंचित् जिनानां प्रतिमासु प्रथमतः (पठव-
ण लि) प्रतिष्ठापनं कर्तव्यकामाः, नेपात्म्येयमेव, राज इव भद्रा-
वृत्त्यादिकं कृतं भवति, तथा मा परवाई प्रस्तुतोत्सवस्य
विघ्नं कार्यादितो वार्दी प्रविशति ।

परवादिनिग्रहं च क्रियमाणे शुणानुपदशोचि-
नवभ्रमाण यिरत्तं, पभावणा सासणे य बहुमाणो ।

अभिगच्छंति य विदुमा, अविग्गाम्पूया य सयाम् ।।

नवभ्रमिणामभिनवभाषकारणां स्थिरस्थं स्थिराकरणं, शास-
नस्य च प्रभावना भवति । यथा आह-"प्रतिपत्तिवार्यभ्रं प्रव-
चनं यमेहडा वार्दस्यसंपन्न" इति । बहुमानकाम्येयामापि शा-
सनं भवति, तथा च यादिनमजिगच्छन्ति अथवायाति विग्राहः
सहृदयाः नचादिनः कौतुकाहृष्टविधाः, नेपां च स्वयंविख्याति-
प्रतिपत्त्या महाहं साजो भवति, परवादिना च निरुहीनेन प्र-
विशं निष्पन्नाहं पूजा कृता सती स्वपक्वपरपक्यांरिह परचं च
अथेते भवति ।

अथ कृपकद्वारमा-

आयावेति तवस्सो, अभाविना गया परपवाणि ।

ज्ज पूरना वि म हम्मं, उव्विंति कारिंति सदा य ।।

तत्र तपस्विनः पण्डितमदिकृपाका आतापयन्ति, तत्रक्षापमा-

यना श्रावणं परप्रवादिनां परतीर्थिकानां भवति, तेषां मध्ये ईह-
शानां तपस्विनामनावात् । आह्लासितयान्ति-यदि तावद् । एता
अपि जगवन्तास्मानिः क्रियमाणं महिमां वैत्यपुजां छुप्या-
यान्ति, तत इत ऊर्ध्वं विशेषत एतस्यां यत्नं विधास्याम इति
प्रवर्त्तमानभद्राका महिमां कुर्वन्ति कारयन्ति च ।

अथ काथिकद्वारमा-

आयपरसमुत्तारो, तित्थविबुद्धी य होइ कहयंते ।

अन्नाक्काभिमणो य, पूयाथिरया य बहुमाणो ।।

कीराश्रयादिलक्ष्यसंपन्न आकृषणाविकृषणासंयोगजनीनिषेध-
नीनिदाश्चतुर्थिधां धर्मकथां कथयन् धर्मकथेत्युच्यते । तस्मिन्
धर्मं कथयति आत्मनः परस्य च संसारसागरात् समुत्तारो
निरतरो भवति, तीर्थेविबुद्धिश्च भवति, प्रवृत्ते साकस्य
प्रवृत्त्याप्रतिपत्तेः । तथा देशान्तरं पुजाकर्मसुषण्यन्या-
निगमने अन्यायिभावकबोधनं च पूजायां स्थित्वा बहुमानश्च
कृतो भवति ।

अथ शक्तिपत्राचर व्याख्याति-

निस्संक्रियं च काहिंइ, उजए जं संक्रियं मुयहरे वि ।

अइ वांच्छित्तिकरं वा, सस्यस्य शक्तिं पत्तं दुपक्ववाओ ।।

उजयं सूत्रे मध्ये च, यत्स्य शक्तिं तत्तत्र भुतधरंयः पार्था-
विशक्तिं करिष्यति । अथ व्यवच्छित्तिकरं वा पात्रं छि-
पकान् लप्यते । इौ पकौ समाह्वनौ छिपकम्, गृहस्थपक्षः सय-
तपकश्चैतरे ।

अथ प्रभावनाद्वारमा-

जाइकुसलरूपणवल्ल-संपक्का इकिंमत्तं निकवत्ता ।

जयणाजुत्तो य जई, ममेस तित्थं पभावति ।।

जातिर्योपपन्नोः कर्त्तव्यं कृत्वा, अथ प्रभावना, यत्तं गोसम-
रिचमेयपारिक्रमेण अहोरात्रं कर्त्तव्यं जन्तु गृहस्थावस्थाया-
मासीत्, बलं सहस्रयोधिप्रभृतीनामिव सानिधायं शारारो-
धम् । एतेजात्यादिभिर्गुणैः संपन्ना, ये च अह्निमनः निष्कान्ता
राजप्रभ्रजितादयो, ये च यतनायुजा यथोक्तसंयमयोगकालना
वतयः, ते संस्यं तत्रामत्य तीर्थं प्रभावयन्ति ।

अपि च-

जो जेण गुणेषा हिंओ, जेग विणा वान मज्जए जंतु ।

सोतेण तंमि कजे, सवन्त्याणं न हावेइ ।।

य आचार्यादियं प्रवचनकथादिना गुणनायिकाः सानिधायः,
येन वा विद्यासिद्ध्यादिना विना यप्रवचनं प्रथमीकशिक्षणादि-
कार्यं न सिद्ध्यति, स तेन गुणेन तस्मिन् कार्ये स्वस्थानं सकल-
मपि धीयं न हायति, किं तु सर्वथा शक्त्वा तत्र गत्वा प्रवचन
प्रभावयतीति ज्ञावः । उक्तं च-"प्रवचनो धर्मकथा, यार्दी मेदि-
निकस्तपस्यं च । जिनप्रवचनकृष्यं, प्रवचनमुद्गाहन्त्येते" ।

प्रवृत्तिद्वारमा-

साहम्मिवायमाणं, खेमसिवाणं च लकिंमइ पविचि ।

गच्छिहिति जई तीर्थं, हांहीति न वा वि पुच्छति सो ।।

तत्राभ्यर्थं साधर्मिकाणां चिन्देशान्तरगतानां वाचकानां
वा आचार्याणां तत्र प्राप्तः प्रवृत्तिं लभ्यते, तथा क्रमे परचक्रा-
शुपल्लवाभावः, शिवं व्यवमृष्टेणपुण्याभावः, तथापुल्लव-
त्वात्, सुमिकृष्टिभिर्कादीनां चागामिसंयमभावितानां प्रवृत्तिं

तत्र त्रैविधिकसाधुनां लक्षाद्याह्वयन्ते । यदि वा यत्र वेदो लघ्वं गमिष्यति तत्र तानि क्रमाद्द्विनि भविष्यन्ति नवेति साधार्मि-कार्दीव वृञ्जति ।

कार्योद्वाहद्वारद्वयमाह-

कुलमार्गं कजाईं , साहिस्सं द्विगणो व मासिस्सं ।
जे सोगविरुद्धाईं, करिंति सोगुत्तराईं च ॥

कुशादीनि कुलगणसंघसत्कामि, कार्याणि तत्र गतः श्राधयि-
ष्यामि लिङ्गिन्मन्त्र तत्र गतः श्रासिष्यामि हितोपदेशानाम्द्विना
शिक्षयिष्यामि । ये लिङ्गिनो शोकविरुद्धानि लोकोत्तरवि-
रुञ्जति च प्रवचनोद्वाहकराणि कार्याणि कुर्वन्तीति ।
आह-यथोगतिन कारणानि भवन्ति, ततः किं कर्तव्यमित्याह-
एपुद्दिं कारणेद्दिं, पुञ्चं पडिनेद्दिऊण अइगमणं ।
अद्धानुनिगमादीं, हागा मुञ्जा जहा स्वपञ्जा ॥

पतैश्चेत्युपजादिभिः कार्जैरनुयानं प्रवेष्टव्यमिति निश्चित्य पूर्व
प्रत्युपेय ततोऽतिगमनं कार्यम् । अथाध्वनिर्गतास्ते अध्वानम-
तिसंक्षेप सहस्रैश्च तत्र प्राप्ताः । आदिशब्दात्प्रयोज्यत्वादिब्रह्म-
मात्मकारणपरिग्रहः । यथोक्तं कार्जैः प्रत्युपेकितेऽपि क्षेत्रे
गतः सन्तो यथोक्तां यतनां अथि यद्दिं सन्ना अशुद्ध-
भक्तार्थग्रहणदोषमापन्नस्तथापि शुद्धः । यथा कृपकः पिण्ड-
निर्मुक्तौ प्रतिपादिनचरितः शुद्धं गवेषयन्नपि निरुद्धाद्याकार-
वा तथापि आदिकथा उच्यते सन्नाभक्तमप्यपि शुहीते शुको-
ऽशठपरिणामम्यादिति निर्मुक्तिगथासमासार्थः ।

अथैतद्देव भाष्यते-

नाऊण य अइगमणं, गीए पेसिंति पेहिंठं कजे ।
उयसय जिवत्वाचरिया, बाईं उभाभारादीया ॥
सम्भाविक इयरे वि व, जाणतीं मंरुचाइणो गीया ।
सेहादीण य थेरा, नंदणुत्ति बहिं कइए ॥
चैत्यपूजादिके कार्ये समुपेक्षे अनुयानक्षेत्रं प्रत्युपेकितुं गीत-
थानं प्रेषयति, ततो ज्ञात्वा सम्यक् क्षेत्रस्वरूपमतिगमनं कर्तव्यम् ।
किं पुनस्तत्र प्रत्युपेक्ष्यमित्याह-मौलप्रामे उपपक्षयो बहिर्बाह्य-
ग्रामेषु च उद्ग्रामकाङ्क्षा भिक्ताभ्यां । आदिशब्दात्तस्यां गच्छ-
तामपामन्तराले विद्यामस्थानं, मौलप्रामे च भिक्षाविचारभूमिप्र-
दूतिकं प्रत्युपेक्ष्यम्, तथा सन्न्यासिका नितरंतरं मरणादीन् गी-
तार्थं ज्ञानमिति । यथा अमी सन्न्यासतः स्वपि मरुच्छपाः हुनाः ।
अमी तु संयतार्थं पदं केशवप्रयोगोपासनादित्ये प्रत्याययन्ति ।
आदिप्रदणानु पाठिकादिपरिग्रहः । इत्थं तैः प्रत्युपेकिते सूरयः
सबाह्वृत्तानस्त्वसहिना अनुयानक्षेत्रं प्रविशन्ति । स्वधियाश्च
बहिरेव वसन्तानां श्रेष्ठादीनां बन्धनयुक्ति पार्श्वस्थादिबन्धन-
विधिं कथयन्ति, मा भूद्व्यथा तद्वन्धने तेषां विपरिणाम इति ।

अथ चैत्यवन्दनाविधिमाह-

निस्सकदम, निस्सकदं, वि चेइए सकेद्दिं गुईं तिञ्जि ।
घेत्तं व चेइयाणि य, नाठं उक्किंथिया वा वि ॥

निष्ठाकृते गच्छप्रतिबन्धे, अनिष्ठाकृते च तत्परिणते, चैत्ये सर्वे-
अनिष्ठः स्तुतयो दीयन्ते । अथ प्रतिचैत्यं स्तुतिप्रथं दीयमाने
बेत्ताया अतिक्रमो भवति नृणांस्ति वा तत्र चैत्यानि, ततो येषां
चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेके काऽपि स्तुतिर्दत्तयेति ।
अथ समवसरणविषयं विधिमाह-

निःसकदं चेइए, गुरु, कइयचसहिए य चरावसईं ।
जत्य पुण आनिस्सकदं, पूरिति तईं समोसरणं ॥

निष्ठाकृते चैत्ये गुरुत्वाच्चैः कतिचयैः परिणतसाधुभिः सह-
नैश्चैत्यमहिमावलांकनाय तिष्ठति । इतरे श्रेष्ठादयस्तं मा पार्श्व-
स्थादीव न्ययसा लोकेन पूज्यमानान् दृष्ट्वा तत्र गमनं कार्जुरिति
कृत्वा गुरुभिरनुज्ञाता वसति मज्जेयुः । यत्र पुनः क्षेत्रे अनिष्ठा-
कृते चैत्ये तत्राऽऽचार्यैः स्वमवसरणं पुरयन्ति, सन्नामप्येवं धर्म-
कथां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

आह-किं संविश्रेस्तत्र धर्मकथा, आहो-
भिवदंस्संविश्रेति ?, उच्यते-

संविगेहिं य कइणा, इयरेद्दिं अपचञ्चो न अोचसमो ।
पञ्चज्जाजिमुहा वि य, तसु वए सेहुमादीया ॥
संविश्रेरुपतविहारिभिः कथना धर्मस्य कर्त्तव्या । कुत इत्याह-
इतरे असंविश्रेस्तत्र धर्मकथायां कियमानायां श्रोतृणामप्रत्ययो
भवति, नैत यथा वादिनस्तथा कारिण इति । नच तेषामुपश्रमः
सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिर्भवति । अपि च । प्रमथ्याजिमुहाः श्रेष्ठा-
दयो वा अद्याप्यपरिणतजितवचनाः तऽपि तेषु मज्जेयुः ; सोमन-
सकृतेऽपि धर्मं कथयन्तीति ।

आह-निष्ठाकृतचैत्यं यदि तदानीमसंविद्यानं प्रवर्तितं ततः को-
विधिर्नित्याह-

पूरिति समोसरणं, अस्सासइनिस्सचेइएत्तुं पि ।
इहरा लोगविरुद्धं, सट्ठान्तो ग सट्ठायं ॥
अन्येषामसंविद्यानामसत्तिनिष्ठाकृत्यर्थापि चैत्येषु स्वमवसरणं
पुरयन्ति, इतरथा शोकविरुद्धं शोकपाषाडो भवति-अहो ! अ-
मी मत्स्वरिणां यद्वचमन्यदर्थं चैत्यमिति कृत्वा नामोपविश्य
धर्मकथां कुर्वन्ति, अक्षानङ्कभ आक्षानां भवति, तेषामन्याथर्म-
ज्यपेयमानामामपि तत्र धर्मकथाया अकरणात् ।

अथ निष्ठाकृत्यर्थो यतनामाह-
पुञ्चपडिक्किं समं, हिंरतीं ततये ते पमाणं तु ।
साभाविकजिवत्वाओ, विदंतऽपुञ्जा य उविवादीं ॥
पुत्रप्रविद्यानामप्येवं ये क्षेत्रप्रत्युपेकणार्थं प्रतिहास्तैः सम भि-
क्षां दिरुत्ते, तत्र च भिक्षामदतो त एव प्रमाणं गन्तुं कैस्तत्र
शुश्रूक्षुःश्रुतमुत्तुथा कसंस्था, ते च पूर्वप्रविद्या इदं विदन्ति-ततोः
स्वाभाविकभिक्षाः स्वायन्निष्पादिताः, एतास्तु अपूर्वाः संयता-
र्थं स्थापिता भिक्षिसादयः ।

स्त्रीसंकुलनाटकशीतोयार्थतनामाह-

वेदे ण इंति तंति य, जुवपज्जेमे थेर इत्थिओ तेणं ।
चिद्धंति न नारुपत्तं, अइ तंति न पेहु रागादीं ॥
स्त्रीसंकुलवृन्दं नायन्ति निर्गच्छन्ति च, यं च युवावस्ते प्रप्ये
क्रियन्ते, यतः स्त्रियस्तेन पार्श्वेन स्वधिया बुद्धा भवन्ति, मा भू-
वन् तुलानुक्तमुत्तुथा दोषा इति । यत्र नाटकानि निरीक्ष्यन्ते
तत्र न तिष्ठन्ति । अथ कारणस्तत्तिष्ठन्ति, ततो (न पेहं स्तं) न-
सक्यादिकृपाणि न प्रकृतेः, सहसा इष्टिमोच्यमाणतेषु रागादीन्
न कुर्वन्ति, तेज्ज्जं प्राए इट्ठि निवन्तेयन्ति ।
तत्तुजाहादिषु विधिमाह-

संलिह मंलफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु ।
अभिजो जयंति तिसु य, आणिण्ठि फेहंतर्जंस्सता ॥

इतरे अस्मिन्निष्ठा देवकुलिका इत्यर्थः, तावत्तन्नुजाल्लुताकोलि-
कादिषु सन्तु, ते साधवो मोक्षयन्ति-यथा शीलियत परिकर्मयत
मङ्गलकसकानीय मङ्गलकसकानि । मङ्गो नाम विभक्तःप्रकृत्यप्रहस्त-
स्तस्य च यदि फलकानुत्पल्लं भवति, ततो लोकः सर्वोऽपि तं
पूजयति । एवं यदि श्रुयमानं देवकुलानि ज्यो भूयः संसाजंका-
दिना स्वयंशुश्रवायान, ततो ज्ञेयान् लोकानो जवतां पूजासकारं
कुर्यात् । अथ तं देवकुलिकाः सवृत्तिकाभ्यन्तप्रतिषेधकपृहकेभा-
दिदृष्टिजोगिनस्ततस्तानजियोजयन्ति निर्मल्यस्यन्ति-यथा एकं
तावदेवकुलानां वृत्तिसुपजीवय द्वितीयमेतेषां संसाजंकादिसारा-
मयि न कुपय । इत्यं युक्ता अपि यदि तन्नुजासादीन्पयमेतुं निषेध-
न्ति ततो अक्षयप्रमालाः स्वयमेव स्फोटयन्ति, अपनयन्त्यर्थः ।
शुद्धकविपरिणामसंभव यतनामाह-

छजलवेमे खुड्डे, करिंति उन्वट्टहाइ चोषले य ।
नो शुद्धंतऽसहाए, दिंति मणुजे य आहारं ॥

शुद्धकाव् उन्वट्टवेयान् पायदपृहकोलपट्टधारिणः उड्डसंन-
प्रहासनादिना च बोक्ताण् वृत्तिशरीरान् कुपन्ति । न च ते लु-
ष्टका असहाया एककिन्तो मुकयन्ते, वृषभाश्च तेषां मनेहाव्
स्तिश्रमपुत्रानाहारानानीय ददति । उड्डवट्टहाइन्ते च प्रहाप-
यन्ति । ३० १ उ० । (स च दृष्टान्तः ' उरभम् ' शब्दं द्वि० जा०
०५ १ पृष्ठे वच्यते)

अथ निर्मलकर्मैषु यतनामाह-

न विज्ञांति सिंगिकजे, अर्यंति च मेसिया उदा रीणा ।
विंति य निर्बंधध्मि, करेसु तिन्वे खु जे देमं ॥
यत्र सिङ्गिनामाहृष्टपृथ्वनादिकार्योपयुपदीकन्ते तत्र प्रथमत
एव न मिलन्ति । अथ तैस्सिङ्गा मोदिकया मीयन्ते ततो मेसिना
अपनुदासीना आसन्ते । अथ ते सुवीरन्-कुत्तासमंदायस्य ध्वय-
हारस्य परिच्छेदः । तत एव निर्बंधधे तैः कार्याणो साधवो भवन्ते-
यद्यस्माकं याम्भै ध्वयदारपरिकुर्वेद कारधिष्यथ तत उभयेया-
यामपि भवतां । तत्रादृगमगामोक्तः प्रायश्चित्तसङ्घर्षं कुर्मः क-
रिष्याम इति ।

' शङ्गाणनिम्मायाद' इति पदं व्याख्यानयन्ति-

अच्छाणनिम्मायादं, ठाणुपाइयमहंसवो कुणगो ।
नेलससत्यवसगा, महानइं तत्तिपा वा वि ॥

अधनिर्गता अधानमलिलक्षण सहसैश्च तत्र प्रासाः । आदिशा-
ब्दःपृथग्भेदविधे कारणं शुद्धत, स्थानाणोपातिकमदोन्सयं
नाम तत्रपूर्वः कोऽनुत्पन्नविशेषः, सहसैश्च आङ्गं कर्तुमस्मर्यः
तं वा श्रुत्वा, यदि वा क्लृप्तं प्रत्युपहितुं प्रयत्ने, तदानीं स्थाना-
ग्मानप्रतिषेधरणव्यापृता वा । अथवा सार्यवशास्ते तत्र सार्य-
मन्त्रेण गन्तुं न शक्यन्ते । महानइं वा कार्याधिपातराले, ताम-
भीक्ष्णमुत्तरतां बहवो दांयाः, तावन्मात्रा एव वा ते साधवो
यावतां अम्यादिकस्याप्यन्यत्र प्रेषणं न संशक्यते, अत एतैः कार-
णैरप्रत्युपहितेऽपि प्रायशानां न कश्चिद्भयः ।

अथ यतनामाह-

समणुन्ना सह अन्ने, वि दड्डिउं हाणमाइ वज्जंति ।
दुव्वाइं पेहेता, जइं जग्गंती तट्टिं मुच्छा ॥
यदि समनोहाः सांयोगिकाः पूर्वप्रविष्टाः सन्ति ततस्तैः सह
निष्ठाप्रदति । अथ न सन्ति समनोहास्ततोऽप्यानप्यव्यसन्ति-
गिकामपि दड्डा दानभाश्चकारि कुञ्जानि उज्जयन्ति ने, आधाकामि-

दिदोपसंजयात् । शेषेषु कुंजेषु पर्यटन्तो (इत्यादीं पेहं न पि)
कथ्यतेः क्लृप्तः कास्तो ज्ञातश्च ह्युक्तमन्वेष्यन्तो, यथापि कि-
मपि स्थापनाविकं दांये जगति प्राप्नुवन्ति, तथा ह्युक्ताः कृप-
कव्यशरुपरिणामतया जलक्षानोपयोगप्रवृत्तत्वादिति । गतं परि-
हरणानुयाननाम । ३० १ उ० ।

अणुजायाण-अनुज्ञापन-न० । अनुमोदने, सु० १ श्रु० ए
अ० । स्या० ।

अणुजायाणवाणा-अट्टज्ञापना-स्त्री० । सुत्वाग्ने, पञ्चा० ६ वि० ० ।

अणुभासादिगार-अनुपानाधिकार-पुं० । रथस्य पृष्ठतोऽनु-
मज्जनेन प्रतिष्ठाधिकारं, जी० १ प्रति० ।

अणुजाणित्तए-अनुज्ञानम्-अव्य० । तथैव स्वयंगनद्वारयाऽ-
न्येषां च प्रवेद्येवैवमभिधातुमित्यर्थे, स्था० २ उ० १ उ० ।

अणुजात (य)-अनुपात-त्रि० । अनुगतं, प्र० २ आ० ४
डा० । " सारिते वसभाणुजाए " अनुजातशब्दः सहशयचनः ।

वृषमस्य अनुजातः सहशो वृषमानुजातः स्त्र० प्र० १२ पाठु० ।
अनुकयः सम्पदा पितृस्तुत्यां ज्ञानेऽनुयातः, अनुगतो वा
पितृवितृयाऽनुयातः । पितृसमं सुतजने, यथा महायशाः, आदि-
त्यशसा यिन्ना तुल्यत्वात् । स्था० ४ उ० १ उ० ।

अणुजुक्ति-अनुजुक्ति-स्त्री० । अनुगतयुक्तौ, "सव्वाहिं अणु-
जुक्तीहिं, अचयंता जवित्तए" सर्वान्निरसोयुगताभिर्गुंकारिभिः
सर्वैश्च हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणवृत्तराशकनुवन्तः । सूत्र० १ श्रु० ३
अ० ३ उ० । "सव्वाहिं अणुजुक्तीहिं, मनिमं पदन्निहिया"।
सर्वायाः काश्चनानुरुक्याः पृथिव्यादौर्जविकायसाधनान्येनानु-
कुला युक्तयः साधनाणि, यदि वा साद्विकरुडाणि कारिकाकारिहा-
रणेण पृथग्भयंस्वपृक्तस्यविपक्षव्यावृत्तकृतया युक्तिसंगता
युक्तयस्ताभिर्मानमात् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुजट्ट-अनुजयेष्ट-त्रि० । अनुगतो ज्येष्ठः । प्रा० । स० ।

ज्येष्ठानुरूपे ज्येष्ठानतिक्रमे च । वाच० । पञ्चा० । ज्येष्ठसमीपे
वर्तमानं यथा एको द्विकस्य ज्येष्ठः त्रिकस्यानुज्येष्ठः; अनुष्का-
दीनां तु ज्येष्ठानुज्येष्ठः । आ० म० अ० । अणु० ।

अणुजया-अनुजया-स्त्री० । उद्वेगव्यवहारस्य विषयताविशेषे,
ध० १ अ० ४ ।

अणुजियत-अनुजितत्व-न० । वराकल्पे, ३० ३ उ० ।

अणुजुय-अनुजुक्र-त्रि० । असरं कथञ्चित् सरं कर्तुम-
हाकं, वत्त० ३४ अ० । वक्, प्रथम० २ आ० ४ डा० ।

अणुजभाण-अनुज्यान-न० । चिन्तने, अष्ट० २४ अष्ट० ० ।

अणुजभाविता-अनुज्याय-अव्य० । चिन्तित्वैत्यर्थे, "कम्म-
गरस्वात्ताए अणुजभाविता पदिमिचित्तां" आ० म० द्वि० ।

अणुज्ञाण-अनुज्ञान-न० । आचारे, स्था० ७ उ० । धैर्यव्यवहा-
दिके आचरणे, पञ्चा० ३ वि० ० । आ० । क्रियाशब्द, पञ्चा०
१६ वि० ० । क्रियाकलापे, ग० १ अ० ४ । काशाध्ययनादौ,
म० २ श० १ उ० ।

फलबहुमसद्गीर्ण-परोदसर्था तथा ।

साधनुष्ठानमित्युक्तं, साधुबन्धं यदधिभिः ॥ शुध ३ ॥

फलवन्तः फलसाधारणान्तो बहुस्य न्ययोपधातैः सहस्रव्यं
यदीजं, तस्य यः प्ररोहोऽङ्गो ज्येष्ठरूपेणनेन सहस्रां समं यत्-

सया, तथेति वक्तव्यान्तरसमुच्चये, एतेषां योगाधिकारिणां, साधु सुन्दरमनुष्ठानं यमनियमाधिकारमिषयेन प्रकारिणोक्तं, शास्त्रेषु साधुबन्धुसुखोत्साराबन्धवद् महर्षिभिः परममुनिभिः, ह्युक्त्याधिकारिसमारब्धत्वात्स्य ॥ २४३ ॥

अत एव—

अन्तर्विवेकसंपूर्तं, शान्तदान्तमबिष्णुतम् ।
नाम्नोन्नयनताप्रायं, बहिर्बन्धुभिमुक्तिकम् ॥ २४४ ॥

अन्तर्विवेकसंपूर्तम्, अन्तर्विवेकेन तत्त्वसंबेदनात्मा संपूर्तं प्रवृत्तं, शान्तदान्ते, शान्तदान्तेपुरुषारब्धत्वाद्, अत एवाबिष्णुतं सर्वेषां विस्मयार्थिनम् । न्यबन्धुसमाह—न नैव, अन्नान्नयनताप्रायम्—अन्नान्नयनताप्रायं यस्याः, सा चाली ज्ञता च तत्रायम् । सा हि ज्ञता अन्नान्नयनेन न लतान्तरमनुष्ठानं कृता इदं साधुबन्धुसुखोत्साराबन्धुप्रधानमित्यत उक्तं नाम्नान्नयनताप्रायमिति । तथा बहिर्बन्धुना चैत्यवन्दनादिक्रियायामभिमुक्तिः ह्युक्ता यत्र तस्यथा ॥ २४४ ॥

इयं विषयस्वरूपाबन्धुक्रियेप्रधानमनुष्ठानत्रयमज्ञिष्यथ
साम्प्रतं प्रयस्याप्यवस्थाजनेन समतन्त्रमाविधिकीपुराह—
एष्यते चैतदप्यत्र, विषयोपाधि संगतम् ।
निर्दक्षितमिदं तावत्, पूर्वमत्रैः भेदातः ॥ २४५ ॥

इयते मन्यते मतिमद्भिः । चः समुच्चये । एतदपि प्रागुक्तमत्र योगाभिधायं, विषयोपाधिबिषयमुद्गममुष्ठानं, किंपुनः स्वरूपमुद्गममुष्ठानमुद्ग इत्यपि शब्दाद्यैः । कीदृशप्रत्याह-संगते युक्तमेव, निर्वक्षितं निकृष्टमित्दं संगतत्वम्, तावच्छब्दः कर्माद्यैः पूर्वप्राग्भवे शब्दे भेदातः संक्षेपेन "मुक्ताविष्णुऽपि या स्यात्प्रा, तमःस्यकरौ मता" इत्यादिना प्रत्येन । विस्तरतस्तु विशेषप्रत्याहव्यसंयमिति ॥ २४५ ॥

अथ प्रस्तुतमनुष्ठानं यस्य भवति तमधिकृत्याह—
अपुनर्वैधकस्यैवं, सम्पद्य योपपद्यते ।
तत्पुनत्रोक्तमखिल—भवस्थाजेदसंप्रयात ॥ २४६ ॥

कार्पाणलसौगतदिशाःप्रणीतं समुक्तजनयोग्यमनुष्ठानमखिलं समस्तम् । कुत इत्याह—भवस्थाभेदसंभ्रयात् । अपुनर्वैधकस्यानेकस्वरूपाङ्गीकरणात् । अनेकस्वरूपाङ्गुपगमे हि अपुर्वैधकस्य किमप्यनुष्ठानं कस्यामप्यवस्थापामवतरतीति ॥२४६॥ यो० वि० ।

प्रतिज्ञाकानुष्ठानादिप्रेक्षाः—

सूक्ष्माश्च विरलाश्चैवा—तिचारानुचनोदये ।
सूक्ष्माश्चैव घनाश्चैव, ततः पूर्वममी पुनः ॥ ए ॥

(सूक्ष्माश्चेति) सूक्ष्माश्च लघुशः प्रायशः कार्पाणिकृत्यात् । विरलाश्चैव सन्तानमाभावात् । प्रतिधारा अपरपथा वचनोदये भवन्तिः ततो वचनोदयात् । पूर्वममी अतिचाराः पुनः सूक्ष्माश्च वादराश्च, घनाश्च निरन्तराश्च प्रवन्ति । तदुक्तम्— "अरमाद्यायां सूक्ष्माः, अतिचाराः प्रायशोऽतिविरलाश्च । प्रायश्चये त्वमी स्युः, सूक्ष्माश्च तथा घनाश्चैव" ॥ ६ ॥ द्वा० २८ द्वा० ।

सदनुष्ठानमतः खलु, बीज्यासात् प्रशान्तवाहितया ।
संजायते नियोगात्, पुंसां पुण्योदयसहायम् ॥ १ ॥
तस्वी, तभक्तिवचना—संगोपपदं चतुर्विधं गीमम् ।

तस्वाभिज्ञैः परमं, पदसाधनं सर्वमेवैतत् ॥ २ ॥
यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।
शोषत्यागेन करो—ति यश्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ ३ ॥
गौरवविशेषयोगात्, बुद्धिमतो यद्बुद्धिदितरयोगम् ।

क्रियेतरतुल्यमपि, हेतयं तद् भक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥
(सदनुष्ठानमित्यादि)सदनुष्ठानं प्रागुक्तमतः खलु बीज्यासात्वाह—

स्मात् पुण्यानुष्ठानेषुपुण्यनिकृपात्, प्रशान्तवाहितया प्रशान्तं बोद्धुं शीघ्रं यस्य तद् प्रशान्तवाहि, तद्वाहस्तस्या विस्तरसंस्कारक—पया, संजायते निष्पद्यते । नियोगाक्रियमेन, पुंसां अनुष्ठानां, पुण्योदयसहायं पुण्यानुष्ठानासहितम् ॥१॥ तदेव जेद्वारणाह— (नदित्यादि) तत् सदनुष्ठानं प्रीतिश्च भक्तिश्च यत्नं चासङ्ग—क्षेते शब्दा उपपद्युषोऽकारिपदं यस्य सदनुष्ठानस्य तस्यथा, अतुर्विधं चतुर्विधं, गीतं शब्दितं, प्रीत्यनुष्ठानम् ॥२॥ आह—प्रयत्ना—तिशयोऽस्ति परमः, प्रीतिश्चाऽभक्तिश्चरूपा, हितोदया हित सर्वतो यस्याः सा तथा भवति । कर्तुःसुष्ठानुत्तुः, गोपत्यागेन शोषप्रयोजनपरित्यागेन, तत्काले करोति यच्छातीय धर्मोदरान् । तदेवं जूलं प्रीत्यनुष्ठानं विज्ञेयम् ॥३॥ द्वितीयस्वरूपमाह—गौरवत्यादि । गौरवविशेषयोगात्, गौरवं गुरुवं पूजनीयत्वं तद्विशेषयोगात् तद् ध्य संकल्पात्, बुद्धिमतः पुंसां यद्बुद्ध्यां विद्युत्तरयोगं विद्युत्तरयोगं, कियथा करणेन, इतरतुल्यमपि प्रीत्यनुष्ठानतुल्यमपि, हेतयं तदेवविधं ज्ञक्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

आह—कः पुनः प्रीतिज्ञकयोर्विशेषः ? उच्यते—
अत्यन्तवज्जना खलु, पत्नी तद्विचिता च जननीति ।
ुद्यमपि कृत्यमनयो— क्तांतं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम् ॥५॥

[अत्यन्तेत्यादि] अत्यन्तवज्जना खलु अत्यन्तलघुमेव, पत्नी नारायं, तत्पत्नी पत्नीवन्तंष्टेव हिता च हितकारिणीति कृत्या जननी प्रसिद्धा, तुल्यमपि सहशर्मपि, इत्यं ज्ञानान्वाहनादि, अनयो—जनेनीपत्न्याङ्गोत्सुहाहरणं स्यात्, प्रीतिज्ञकितं प्रीतिज्ञकविषयमिदमुक्तं भवति, प्रीत्या पत्न्या क्रियते, ज्ञक्या मातुरीतीत्याह प्रीतिभक्तयोर्विशेषः ॥ ५ ॥

सूतीयस्वरूपमाह—

वचनात्मिका महत्तिः, सर्वत्रोचित्ययोगतो या तु ।
वचनानुष्ठानमिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ६ ॥

(वचनेत्यादि) वचनात्मिका आगमात्मिका, प्रवृत्तिः क्रियारूपा प—वेष सर्वस्मिन् धर्मेन्यापारं क्तांतिप्रत्युपकारदौ, प्रीत्यत्ययोगतो या तु देशकालपुरुषव्यवहाराद्यौचित्येन वचनानुष्ठानमिदमेवं प्रवृत्तिरूपं चारित्रवतः साधोर्नियोगेन नियमनं नान्यस्य ज—वतीति ॥ ६ ॥

तृतीयस्वरूपमाह—

यत्तन्ज्यामानिशयात्, सात्प्रीभृतमिव चेष्टयते सक्तिः ।
तः सङ्गानुष्ठानं, जघति त्वेतत्तदा वैधात् ॥ ७ ॥

(यत्तित्यादि) यत्तु यत् पुनरन्त्यासातिशयाद्भ्यासप्रकर्षाद्भूयो भूयस्तदासेवनेन, स्वाभीभृतमिवात्मसाद्भूतमिव, चन्दनगन्धन्यायेन चेषते क्रियते, सक्तिः सापुरुषेजिनकटिपकादिभिस्तदेवविषयमसङ्गानुष्ठानं जघति त्वेतज्जायते, पुनरेतत्तदा वैधाद् वचनवैधाद्गमसंस्कारात् ॥ ७ ॥

अणुहाण

बचनसङ्क्रान्तुष्ठानयोर्विद्यमाह—
बकप्रमथं दक्षा-बक्रां वै यत् परं भवति ।
बचनान्तङ्क्रान्तुष्ठा-नपयन्तु तद्वक्त्राकं ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

(बकस्याधि)बकप्रमथं कुम्भकार-बकपराशरं, दक्षामहकलं-
योगान्, बक्रमात्रं वैद्य द्रव्यसंयोगान्नात्रं वैद्य, यत्परम्यद्भवति,
बचनसङ्क्रान्तुष्ठानयोस्तु तयोस्तु, हापकमुद्राहरणं ज्ञेयम् । यथा
बकप्रमथमेकं द्रव्यसंयोगान्नात्रं प्रयत्नपूर्वकमेवं बचनानुष्ठान-
मप्यागमसङ्क्रान्तं प्रवर्तते । तथा आन्यबकप्रमथं द्रव्यसंयोगा-
नात्रं केवलमात्रं संस्कारपरिष्कारात् संजयति । एषमागमसं-
स्कारमात्रेण वस्तुतो बचननिरपेक्षमेव स्वाभाविकत्वेन यत् प्रव-
र्तते तद्वसङ्क्रान्तुष्ठानमितीयात् जेद् इति ज्ञावः ॥ ८ ॥

एषामेव बन्तुणामनुष्ठानमाह फलविज्ञानमाह—
अणुद्वयफले चाये, निःश्रेयससाधने तथा चरमे ।
एतदनुष्ठानानां, विद्ध्ये इह गतापाये ॥ ९ ॥

अणुद्वयफले आणुद्वयभिर्यत्कं च, आये प्रीतिमक्यनुष्ठाने,
निःश्रेयससाधने मोक्षासाधने, तथा चरमे बचनसङ्क्रान्तुष्ठाने,
एतेषामनुष्ठानानां प्रये, विद्ध्ये, इह प्रकमे, गतापाये अपाचर-
हिते निरपाये ॥ ९ ॥

एतेष्वेव बन्तुणामनुष्ठानेषु पञ्चविधकान्तिभोजनमाह—
उपकार्यपकारिविधा-कवचनधर्मोत्तरा मता स्मृतिः ।
आद्यहये त्रिजेदा, चरमद्वितये द्विभेदेति ॥ १० ॥

(उपकार्यः) उपकारी उपकारवान्, अपकारी अपकारप्रवृत्तिः
विपाकः कर्मफलानुभवजनधर्मरूपरा वा, यजनमागमः, धर्मः
प्रशामाधिक्यः, तदुत्तरा तत्प्रयाना मना संमता पञ्चविधा, स्मृ-
तिः ज्ञाना, आद्यहये आद्यानुष्ठानत्रये, त्रिजेदा त्रिमकारा । चरम-
द्वितये चरमानुष्ठानद्वितये, द्विभेदेति द्विविधा, तत्रापकारिणि कान्-
तिरुपकारिकास्मिः, तदुत्तरादुर्वचनार्थिण सहमानस्य, तथा अप-
कारिणि स्मृतिरपकारिकास्मिः, मर्मदुर्वचनोत्तरसहमानस्यायम-
पकारी प्रविष्यति इत्यभिप्रायेण समानं कुर्वेनः । तथा विपाके
ज्ञानिः विपाकज्ञानिः, कर्मफलविपाकं नरकादिगतमनुपपद्य-
तो दुःखनीकतया मनुष्यजायमेव वा अनधर्मपरम्पराभोगोचयतो
विपाकद्वेषीनपुटःसरा संभवति । तथा यजनकान्तिराममेवावल-
म्बनीह्यया या प्रवर्तने न पुनरुपकारिवापकारिविपाकाक्य-
माहम्यनस्य सा यजनपूर्वकत्वान्वायनिरपेक्षत्वात्सोध्यते । च-
म्बनीत्तरा तु कान्तिभेदस्येव शरीरस्य देवदाहादिषु सौरभावि-
श्वधर्मकस्या परंपेकारिणी न क्रियते, सहजज्येनावरिधत्ता
सा ततोभवते ॥ १० ॥ को० १० (वि०) । अणु० । देवपूजनादिके,
हा० १३ हा० । कर्मणि, आ० म० द्वि० ।

आणुद्वि-अनुष्ठित-वि० । अनुष्ठाने, भावा० १ छु० ए अ० ४
० । आ० म० प्र० । आसेविते, पञ्चा० ६ वि० । "अहवा अ-
वितहं णो अणुद्वि" सु० १ सु० २ अ० २ उ० ।
अनुत्तिवत्-वि० । इत्यतो निषयणे, आवतो हानवदंशन्चारिजो-
योगहिते, आवा० १ सु० ४ अ० १ उ० ।

अणुसांत-अनुनयद्-वि० । स्वानिप्रायेण गतिः २ प्रकापयति,
"पुरोहितं तं कमसोऽणुसांतं, पिमंतयंतं च सुप धमेणं"
उत्स० १४ अ० ।

अणुसाह(ण्)-अनुनादिन्-वि० । अनुनयति । अनु-तद्-गिति ।

प्रतिरुपशब्दकारके, "गम्भीरेषानुनादिना" वाच० । "गच्छि-
सहस्स अणुसाहणा" अनुनादिना सहशेन । कण० १ ।

अणुसाह-अनुनादित्व-न० । प्रतिरूपेयतताकृपे सत्यबचना-
विधये; स० ३५ सम० । रा० ।

अणुसाय-अनुनाद-पुं० । मेघस्वनादी, "अणुसादे पवादिणजने
जिणघरे वा" आ० म० द्वि० ।

अणुसास-अनुनाश-पुं० । अनु-नश-घञ् । अनुमरणे, अर्द्धेशा-
दावये । संकारादित्वात् ष्यः । वाच० ।

अनुनाश्य-वि० । तद्बुद्धेशदौ, वाच० । अनुनासिके नासा-
कनस्यरे, स्था० ७ उा० । नासा विनिर्गतस्वरानुगते मेयदोषेनेह,
जं ७ बह्व० । अनु० । जी० ।

अणुशिउजमाण-अनुनीयमान-वि० । प्रार्थयमाने, "अह एवं
पि अणुशिउजमाणे शेष्पति" नि० वृ० १ उ० ।

अणुसुत (य) अनुसुत-वि० । अनुसुते मन्वरेहिते, "एतद्
वि सिक्खु अणुसुत पिण्णिय" न उक्त्तेऽनुसुतः शरिरेणोऽनुसुतः,
आवांन्तस्वविमानप्रहस्तः, ताम्रतिपेचत्पानिर्जंरामदमपि
न विषत्ते । सु० १ सु० १६ अ० । "अणुसुतमायस्य अणुसि-
हो अणावते" अनुसुतेऽप्यतो भावतन्न । अत्यन्ते नाकारश-
र्की, भावतो न जात्याद्याजिमानवान् । श० ५ अ० १ उ० ।

अणुसुवणा-अनुज्ञापना-स्त्री० । अनुसुवने, "आवप्यमाणसि-
त्तो, चउरिंति होइ उमाहो मुक्को" । अणुसुतमायस्य सन्ना, न
कण्डे तस्य पसिसेठ" इत्यानिमनुज्ञापना, साऽपि नासादि(भ-
पुद्गैव । मामस्थाने सुगमे । अणुसुज्ञापना त्रिधा-सौकारिकी,
सौकारितर, कुमायचनिकी च । तत्र सौकारिकी स्वविधा(स्वामि-
धर्मद्वैस्विधा-अश्वाद्यनुज्ञापना प्रथमा । सुसाफलयेऽद्युत्त-
ज्ञापना द्वितीया । विधिजात्रणवित्पितवमिताद्यनुज्ञापना तृती-
या । सौकारितरऽपि स्वविधादिनाम् विधा—शिष्यद्यनुज्ञा
प्रथमा । वस्त्राद्यनुज्ञा द्वितीया । परिहितस्वविशिष्याद्यनुज्ञा
तृतीया । एवं कुमायचनिक्यपि त्रैधाऽवगतव्या । कुमायज्ञापना
यावतो क्षेत्रस्यनुज्ञापनं विधीयते, यस्मिन्ना क्षेत्रेऽनुज्ञा व्याख्या-
ते वा । एवं कान्दानुज्ञापं । जावातुका आचाराद्यनुज्ञा, एषा चात्र
प्राज्ञा । प्र० २ हा० । (आवप्रद्वैविषयाऽनुज्ञापना 'उमाह' शब्दे
द्वि० जा० ६६ पुष्टे; वसतिविषया च 'वसत्' शब्दे प्रथया ।
अणुसुवणा-अनुज्ञापना-स्त्री० । अवप्रद्वैव्यानुज्ञापनायावां
भावाय, स्था० ४ उा० ३ उ० ।

अणुसुविधा-अनुज्ञापय-अव्य० । अनुसुवोत्सर्वे, "जिष्वर
मणुसुविधा, अंजनघणस्यमधिमहसंकासा" आ० म० द्वि० ।

अणुसुवियपाणोयभोऽ(ण्)-अनुज्ञापानभोजनभोजिन्-
पुं० । आवायोधीननुज्ञाप्य पानभोजनप्रदिविधावति, अदत्तादा-
नविरतोऽिनायां ज्ञावनां प्रतिपद्ये, आवा० २ सु० २ उ० ६ उ० ।
आव० ।

अणुसुवेमाण-अनुज्ञापयत्-वि० । अनुज्ञां ददति, स्वजनान्
तदकालगतसाधिमकपरिष्ठापनायामनुज्ञापयतीति नातिक्रम-
न्ति" स्या० ६ उा० ।

अणुसा-अनुज्ञा-स्त्री० । अनुज्ञाननुज्ञा । अश्वादिनाम् ।

कथा० ३ ज्ञ० ३ उ० । अनुमोदने, सूत्र० २ पु० २ अ० । ज्ञ० ।
निष्कषोऽस्य—

ने किं तं अणुष्ठा ? । अणुष्ठा ऋषिद्विहा पक्षचा । तं जहा-
नामाणुष्ठा ? , उवणाणुष्ठा २, दन्वाणुष्ठा ३, सेचणाणुष्ठा ४,
कालाणुष्ठा ५, जावाणुष्ठा ६ । से किं तं नामाणुष्ठा ? ।
नामाणुष्ठा जस्त एं जीवस्त वा अनीवस्त वा जीवाणं
वा अनीवाणं वा तदुभयस्य वा तदुजयाणं वा अणुष्ण
ति नामं कीरइ, सेचं नामाणुष्ठा । से किं तं उवणाणुष्ठा
? । उवणाणुष्ठा जेणं कद्रकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चि-
त्तकम्मे वा गंठिमि वा वेदिमे वा पुरिमे वा संघाऽमे वा अ-
कलए वा वराहए वा एगओ वा अणेगओ वा, सन्जा-
बट्टवणाए वा अस्तम्भावउवणाए वा अणुष्णत्ति उवण-
विजइ, सेचं उवणाणुष्ठा । नामद्वयणां को वइविसो ? ।
नामं आवकहियं, उवणा इत्तरिया वा हुज्जा आवकहिया
वा, सेचं उवणाणुष्ठा । से किं तं दन्वाणुष्ठा ? । द-
न्वाणुष्ठा दुविद्धा पणुष्ठा । तं जहा—भागमओ य, नो भा-
गमओ य । से किं तं भागमओ य दन्वाणुष्ठा ? । भागमओ द-
न्वाणुष्ठा जस्त एं अणुष्णत्ति पयं सिक्खियं त्रियं त्रियं
मियं परिजियं नामममं पोससमं अहीणकलरं अणुष्णकलरं
अन्वाइडकलरं अकखलियं अमिलियं अविचामोसियं पदि-
पुष्पं पडिपुन्नापोसं कंठोद्विषिप्पुष्पुकुसुवायाणोवियं से एं
तथ्य वायणाए पुच्छणाए परिपट्टणाए भम्मकहाए नो अणु-
पेट्हाए कम्हाए अणुष्णउगो दम्भमिति कहुं नेगपस्स एगे
अणुष्णउत्ते भागमओ य इक्का दन्वाणुष्ठा । बुन्नि अणुष्णउत्ता
भागमओ दुस्सि दन्वाणुष्ठाओ तिसि अणुष्णउत्ता भागम-
ओ तिएण दन्वाणुष्ठाओ, एवं जावऽया अणुष्णउत्ताओ
तावऽयाओ दन्वाणुष्ठाओ । एवामेव बवहारस्स वि सग-
दस्स एगो वा अणुष्णो वा उवउत्ता वा अणुष्णउत्ता वा द-
न्वाणुष्ठा वा मा एगा दन्वाणुष्ठा उजुसुप्पस्स एगे अणु-
वउत्ते भागमओ एगा दन्वाणुष्ठा पुवुत्तं नत्थि इतिएइ
सदनयाणं जाणए अणुष्णउत्ते अकखकम्हा जइ जाणए
अणुष्णउत्ते न भवइ, जइ अणुष्णउत्ते जाणए ए भवइ, सेचं
भागमओ दन्वाणुष्ठा । से किं तं नो भागमओ दन्वाणुष्ठा
? । नो भागमओ दन्वाणुष्ठा तिविद्धा पणुष्ठा । तं जहा-जा-
णगसरीरदन्वाणुष्ठाणा, भवियसरीरदन्वाणुष्ठाणा, जाण-
गसरीरभवियसरीरवइरिक्का दन्वाणुष्ठा । से किं तं जाणग-
सरीरदन्वाणुष्ठाणा ? । जाणगसरीरदन्वाणुष्ठाणा अणुष्ण
त्ति पयऽथादियारं जाणगसस्त जं सरीरं ववगययुवचऽविय-
चत्तेदुं जीवविष्पजइ सिज्जागयं वा संघारगयं वा निनी-
दियागयं वा सिद्धसिद्धागयं वा अहोखं इमेणं सरीर-
समुत्सएणं अणुष्ठात्तं य पयं आणवियं पन्नीवियं पक्खियं

दिसियं निदंसियं उषदमियं जहा । को दिद्धो ? । अयं पय-
कुंभे आसी, अयं यणुकुंभे आसी, सेच जाणगसरीरदन्वा-
णुष्ठा । से किं तं भवियसरीरदन्वाणुष्ठा ? । जे जीवजोणी-
जम्मनिकखत्ते इमेणं च व सरीरसमुत्सएणं आसत्तेणं
जियद्विदो णं भवो एं अणुष्णाति पयंसियकाले सि-
क्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ जहा । को दिद्धो ? । अयं पयकुंभे
भविस्सइ, अयं यणुकुंभे जविस्सइ, सचं भवियसरीरदन्वा-
णुष्ठाणा । से किं तं जाणगसरीरभवियसरीरवइरिक्का द-
न्वाणुष्ठाणा ? । जाणगसरीरभवियसरीरवइरिक्का दन्वाणु-
ष्ठा तिविद्धा पणुष्ठा । तं जहा-लोइया, कुप्पावणिया य, जो-
उत्तरिया । से किं तं लोइया दन्वाणुष्ठाणा ? । लोइया दन्वाणु-
ष्ठा तिविद्धा पणुष्ठा । तं जहा—सच्चिचा अचिचा मीसिया ।
से किं तं सच्चिचा ? । सच्चिचा से जहा णामए रायाइ वा
जुवरायाइ वा ईसरे वा तल्लरे वा मार्दन्निएइ वा कोदंविणइ
वा सेह्ठीइ वा इम्भेइ वा सेणावडे वा सत्थवाट्टेइ वा कस्सइ
कम्मि कारणे तुट्टे समाणे आसं वा इत्थिय वा ठहं वा
गोणं वा खरं वा पोहयं वा एलयं वा चलयं वा दासं वा
दासिं वा अणुष्णाणिज्जा, सेचं सच्चिचा । से किं तं अ-
चिचा ? । से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ
वा तल्लरेइ वा कोदंविणइ वा मार्दन्निएइ वा इम्भेइ वा सेह्ठीइ
वा सेणावडे वा सत्थवाट्टेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्टे स-
माणे आसं वा सयणं वा उत्तं वा चासं वा पदं वा
मउरं वा द्विरिखं वा सुवणं वा कंसं वा मणिसुत्तियंसंख-
सिल्लपपाद्दारत्तरियणमाइयं संतमारसावज्जं अणुष्णाणिज्जा,
सेचं अचिचा दन्वाणुष्ठाणा । से किं तं मीसिया दन्वाणु-
ष्ठाणा ? । मीसिया दन्वाणुष्ठाणा मे जहा नामए रायाइ वा
जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तल्लरेइ वा मार्दन्निएइ वा कोदं-
विणइ वा इम्भेइ वा सेह्ठीइ वा सेणावडे वा सत्थवाट्टेइ वा
कस्सइ कम्मि कारणे तुट्टे समाणे इत्थिय वा मुदुमंरुणमं-
दिये आंमं वा पासं वा मरमंदिंयं सक्कंदिंयं दासं
वा दासिं वा सव्वांसंकारविच्चिसियं अणुष्णाणिज्जा, सेचं मी-
सिया दन्वाणुष्ठाणा । मेत्तं लोइया दन्वाणुष्ठाणा । से किं तं कु-
प्पावणिया दन्वाणुष्ठाणा ? । कुप्पावणिया दन्वाणुष्ठा तिविद्धा
पणुष्ठा । जं जहा-सच्चिचा अचिचा मीसिया । मे किं तं
सच्चिचा ? । मे जहा नामए आयरियाए वा उवउत्ताए
वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्टे समाणे आंमं वा
इत्थिय वा उट्टिं वा णाणं वा खरं वा धोमं वा अयं वा एल-
गं वा चलयं वा दासं वा दासिं वा अणुष्णाणिज्जा, सेचं
सच्चिचा कुप्पावणिया दन्वाणुष्ठाणा । से किं तं अचिचा ? ।
अचिचा से जहा नामए आयरियाए वा उवउत्ताए वा
कस्सइ कम्मि कारणे तुट्टे समाणे आसं वा सयणं वा

छत्तं वा चामरं वा पदं वा मण्डं वा हिरण्यं वा सुवर्षं वा कंसं वा दूषं वा मणिसुसियसंखिलपत्रालरचरणमादयं संतनारसावज्जं अणुजाणिज्जा, सेत्तं आचिन्ता कुप्पावांग-या दब्बाण्णया । से किं तं मीसिया ? । मीसिया से जहा नामए आयरिएइ वा उवञ्जाएइ वा कस्सए कम्मि कारणे तुट्टे समाणे इत्थिं वा मुहजंढगमरिये वा आसं वा घासगं वा चामरमंथियं वा सक्कियं वा दासं वा दासिं वा सन्नालकारविहू-सियं अणुजाणिज्जा, सेत्तं मीसिया कुप्पावणिया दब्बाण्णया । सेत्तं कुप्पावणिया दब्बाण्णया । से किं तं सोउत्तरिया दब्बाण्णया ? । सोउत्तरिया दब्बाण्णया तिविहा पयत्ता । तं जहा-सच्चिन्ता आचिन्ता मीसिया । ने किं तं सच्चिन्ता ? । सच्चिन्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवञ्जाएइ वा पवत्तएइ वा धेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेपएइ वा सीमस्स वा सीसिणीएइ वा कम्मि कारणे तुट्टे समाणे मीसं वा सि-स्सिणीयं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सच्चिन्ता । से किं तं अ-चिन्ता ? । आचिन्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवञ्जाएइ वा पवत्तएइ वा धेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणाव-च्छेइए वा सीमस्स वा सिस्सिणीए वा कम्मि य कारणे तुट्टे समाणे नत्थं वा पायं वा पक्कमाइं वा केवडं वा पायपुञ्ज-णं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं आचिन्ता । से किं तं मीसि-या ? । मीसिया से जहा नामए आयरिएइ वा उवञ्जाएइ वा पवत्तएइ वा धेरे वा गणावच्छेइए वा सिस्सस्स वा सिस्सिणीए वा कम्मि कारणे तुट्टे समाणे सिस्सं वा सि-स्सिणीयं वा सजंढमत्तोवगरं अणुजाणिज्जा, सेत्तं मीसिया । सेत्तं लोमोत्तरिया । सेत्तं जाणमगरीरभविषयरीरवइरिन्ता दब्बाण्णया । सेत्तं नो आगमओ दब्बाण्णया । सेत्तं दब्बाण्ण-या । से किं तं खेत्ताणुष्ठा ? । खेत्ताणुष्ठा ओ णं जस्स खेत्तं अणुजाणइ जत्थियं वा खेत्तं जम्मि वा खेत्ते, सेत्तं खेत्ता-णुष्ठा । से किं तं कात्ताणुष्ठा ? । कात्ताणुष्ठा ओ णं ज-स्स कालं अणुजाणइ जत्थिया वा कात्तं अणुजाणइ जम्मि वा कालं अणुजाणइ, तं तीतं पणुप्पं वा अण्णागतं वा व-सेतहेपत्ताउत्तं वा अन्नत्थणुट्ठेत्तं, सेत्तं कात्ताणुष्ठा । से किं तं जावाणुष्ठा ? । जावाणुष्ठा तिविहा पयत्ता । तं जहा-सोग-इया, कुप्पावणिया, सोगुत्तरिया । से किं तं सोगइया भावाणु-ष्ठा ? । से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा जाव रुट्टे स-माणे कस्सइ कोहाइभावं अणुजाणिज्जा, सेत्तं सोइया भावा-णुष्ठा । से किं तं कुप्पावणिया जावाणुष्ठा ? । कुप्पावणिया से जहा नामए कइ आयरिए वा जाव कस्स वि कोहाइभावं अणुजाणिज्जा, सेत्तं कुप्पावणिया । से किं तं लोमोत्तरिया भावाणुष्ठा ? । लोमोत्तरिया जावाणुष्ठा से जहा नामए

आयारए वा जाव कम्मि कारणे तुट्टे समाणे कात्ताणुष्थे नामाइ गुणजोगिणो विणयस्स ख्माइपट्टाणस्स सुसिद्धा-स्स सीसस्स तिविहणं तिगणविमुक्केणं भावेणं आयारं वा सुयमदं वा उणं वा समवायं वा विवाहणुष्थी वा छायाधम्मकहा णं वा उवासगदसा उ वा अंतमदसा उ वा अणुत्तरोववाइदसा उ वा पएहा वा गरणं वा विवागमुयं वा दिट्ठिवायं वा सब्बद्वग्गुणपञ्जवेहिं सव्वाण्णओं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं लोमोत्तरिया भावाणुष्ठा ॥

किमपुष्पा कस्सणुष्ठा, केवडं कात्तं पविण्णोअणुष्ठा । आइगरपुरिमत्तं, पवत्तया उसट्टेणुष्ठा ॥ ? । अणुण उणमणं णमणं, नामणि उवणा पजावो य । पभवण पयर तज्जयं, मज्जाया नाउ मगो कप्पो य ॥ २ ॥ संगहसंवरनिज्जर, उइकारणं चिच जंविणुत्तियं । पय पवरं चिच तहा, वंसमणुष्ठाइं नामाइं ॥ ३ ॥ नं० ॥ अणुण्णदत्तणुष्ठा, उण्णामि य जत्थियं वि उणमणी । मिडिसाभूटिं णमिज्जति, तम्हा जा हाति णमण चि ॥ सुतधम्मचरणधम्मो, णमयती जेण णामती तम्हा । उविओ य आरियत्तं, जम्हा तो तेण उवण चि ॥ उवितो मण्णापवत्तं, हाति पन्नूण पज्जवो य । सव्वेसिं णामादी-ण हाति पज्जवो पसु चि ॥

एगहा आयरिया-दीणं रूपं पजाविते । जेण विणा णो मिज्जति, तेण विचारो तु जिज्जति मगो से । तदुभयद्वियंति ज्जति, इह परलोमे य जण इत्तं ॥ गणधरमेव वरंती, जम्हा जत्तेण हाति मज्जाइ । फणो ज्जो कप्पो चि य, कप्पो गणकप्पकरणेणं ॥ खाण्णादिमोक्खमगो, सो तम्मि ठितो चि तो जवति मगो । जम्हा तु णायकारी, णाओ वा एस तो खातो । दव्वे जावे मगद, दव्वे आहाइवत्थमादीहिं । जावे णाखादीहिं, संगेहति संगहो तेणं । उविहण संवरो, इंदिय-णोइदिएसु जम्हा उ ॥ अण्णाण गणं व तहा, संवरयति संवरो तम्हा ॥ गणवारणमगिणो, कुणमाणे णिज्जरेति कम्माइं । अथे य णिज्जरावे, तम्हा तो णिज्जरा हाति ॥ वातेरिन्ता एइ इ, एक पण्णाण तणुमादीणं । हात्ति थिरा वडंतो, तव्वं थिरकरणतेणं तु ॥ जम्हा तु अबोच्चिन्ती, सो कुणती णाणवरणमादीणं । तम्हा त्थु अच्चेइ, गुणप्पसक्कं इवति णामं तु ॥ तित्थकरेइं कयमिणं, गणधारिणं तु तेहिं सीसाणं । तत्तो परंपरेणं, आयमिणं तेण जीयं तु ॥ वडइ य णाणचरणं, गणं तु तम्हा उ तेण बुद्धिपं ।

पवरं पद्मानपेक्षं, सन्वेभिं राखेदबाणं ॥

एस अणुष्ठाकप्यो, जहाविही बरिण्णतो ममासेणं । पं०भा० ।

तिविहाऽणुष्ठा पण्णा । तं जहा-आयरियणाए, उव-
ज्जायत्ताए, गण्णिच्चाए । स्था० ३ उा० ३ उ० ।

परं प्रति सूत्रार्थेदानानुमती, जी० १ प्रति० । सूत्रार्थेयोरन्यप्र-
दानं प्रत्यनुमतेन, व्य० १ उ० । गुरोर्भिक्षिते, सम्भगिन्धं धारया-
ऽर्थोऽश्वाऽध्यापयेति गुरुवचनविशेषे, अनु० । अन्त० । अनुष्ठावि-
धिस्तु योगोक्तैपकार्योत्सर्गवजंः सर्वोऽप्युद्देशविधिवद्वक्तव्यः,
नवरं, प्रवेदिते गुरुव्येदिते-सम्यग् धारयान्येषां च प्रवेदय, अन्या-
नपि पाठव्यत्यर्थः । आवश्यकादिषु तदनुलविचारखादिप्रकी-
र्षकैरपि चैव एव विधिः, नवरं, स्वान्यायप्रस्थापनं योगोक्तैप-
कार्योत्सर्गश्च न क्रियते । एवं साम्यिकादुपन्ययनेषुशकैषु च
चैत्यवन्दनप्रदक्षिणात्रयादिविशेषक्रियारहितनसम्यग्दानकप्रदा-
नादिकः स एव विधिरिति तावदियं चूर्णिकारक्षिभितासामा-
चारी । साम्रनं पुनरन्यथाऽपि ताः समुपलन्यन्ते, न च तथो-
पलन्य संमोहः कर्त्तव्यः, विधिप्रत्यासामाचारीणामिति । अ-
नु० । अन्त० । आ० म० ङि० । (इत्यतिहृष्टदशकालादौ उद्देश-
निषेधः ङि० भा० ८११ पृष्ठे ' उद्देश ' शब्दः पञ्चानां ज्ञानानां
मध्ये श्रुतस्यैवाऽनुष्ठा प्रवर्तते इति 'अणुष्ठा' शब्द उच्ये भागं
३५३ पृष्ठ समुक्तम् ।) धनिष्ठाशतभिकस्वतीश्रयणपुनर्वसुषु
श्रुक्षा कारयोः । द० प० ।

आणुष्ठाअ-अनुष्ठात-वि० । जिनानुमते, स्था० ३ उा० ४
उ० । दत्ताहे, उत्त० २३ अ० । आ० क० ।

अणुएण । कप्य-अनुष्ठाकटप-पुं० । कस्मिन् काले वल्गाधनु-
हातमित्येवविधौ, पं० भा० ।

..... अणुष्ठा बोचं अणुष्ठाकप्यं तु ।
काही कान्ने गहणं, वत्थाईणं अणुष्ठातं ॥
वत्थपायगहणे, वासावासाणुष्ठागमो मरदे ।
तिण्ण पण्णग सत्त तदुगा, उयम्मि कप्योपदं जाणो ॥
वत्थादीणं गहणं, एऽणुष्ठाणां होति वासासु ।
वामादीं परेणं, दुमाम अणुष्ठासु गिरहंति ॥
तेभिं पुण्ण णैताणं, मरदे जदि दोह्णगा उयाखंतो ।
दगसंयद्दहज्जेषु, ए तिरिद्द यं चैव पञ्चिक्कममा ॥
सत्ते चउ उक्कोसा, गिम्भद्द यं तिरिण्ण पंच हेमंते ॥
वाणामु य सत्त जने, परेण खेत्तं गणुष्ठाणातं ।
अणुष्ठादं त्ति मग्गा, जं तीरीयासु वणिणतं पुत्तिं व ॥
तं अरुद्धजोयणं, दगयद्दा जाव सत्ते वा ।
वत्थपायगहणे, ए व संथरणम्मि पदमण्णाणम्मि ॥
एत्तोऽवतिकमम्मि तु, सट्ठाणा सेवणा सुच्छी ।
पदमं ताऽणुष्ठासग्गो, तेषां नू णवम होति खेत्तेसु ॥
वत्थादीणं गहणं, तत्थेव य होति उ विहारो ॥
एवण्णाणतिकमे पुण्ण, हवई सट्ठाणतो विमुद्धो तु ॥
किं पुण तं सट्ठाणं, अनवादो असति ते होति ।

अथवा एणं गहणं, उत्सग्गो चैव होऽ सो ताहं ॥
गेहंत्तस तु करणे, सुच्छी तह चैव बोचन्वा ।
जह गेहंत्तुवसग्गो, सुच्छीओ बरिस्स एव वितिण्णं ।
गेहंत्तसम विसुच्छी, सट्ठाणं एवमक्खायं ।
अहवा वि इमे अण्णे, खव तु द्वाणा विवाहिता ॥
दन्वादीया ऽण्णो, बोच्छामी अणुणुव्वी सो ।
दन्वे खेत्त काले, वमहं । भिक्खमंतेरे ण्यं ।
संभ्राई गुरुजोगी, एतं ठाणा खिवाहिता ।
दन्वाणाहारादी-णि जाति सुलजाई तम्म खेत्तम्मि ॥
खेत्तं तिरिण्णहं खत्तु, वत्तं सुणंत्तं गगणस्स ।
वत्ताएपरियट्ठंती, सुण्णैति अत्थं गणो तु बालादी ॥
तस्स पटुच्चति खेत्तं, आहारादीहिं संथरणं ।
तत्तियकाले चेलो, वमहं । जाग्गा तु तिकखुसु लज्जति ।
न विगिट्ठमंतंती, मज्जाउ सुव्वक जहिं च हल्लमं च ।
आयरिअण्ण जोगं, त्रिण्णैयं चैव णियंमणं ।
एते ते खव ठाणा, जहिं उत्सग्गो गहणं तु ॥
उत्सग्गोण विहारो, संथरणोण्ण एवसु खेत्तसु ।
ते म वुधदुव्वदीणं, विपेत्तिया वि दग्गट्ठे य ॥
एवि दूरं गच्छंती, णवमस्स असंजवे त्रितियण्णं ।
दग्गट्ठे वट्टए वी, पेट्ठे वरं पि गच्छेज्जा ।
दुल्लभिम वत्थपादं, उण्ण वि एम्मे वि एवसु गच्छेज्जा ।
एमेव विहारो वि तु, खेत्ताण सती मुण्णयत्तो ॥
अल्लंवेणं विसुच्छे, उग्गणं तिरिण्णं चउग्गणं वा वि ।
खेत्तं कालातीयं, समण्णएणात पक्कणम्मि ॥
एम अणुष्ठाकप्यो ॥ पं० ज्ञा० ॥

इयाणि अणुष्ठाकप्यो (गाहा)(वत्थे पाए)अणुष्ठाणयम्मि काले
वत्थपायाणि घत्तव्याणि धामरत्ते णयं तेषु घत्तव्याणि, पच्छा-
उयाणं नाणुणायाणि निग्गयाणं वत्थे सत्तए अणुष्ठा खेत्तसु, जत्थ
नीयत्थं(विग्गोसु वासो न कओ तत्थ गोपट्ठंति, जत्थ वा गीय-
त्थेदि संविग्गोहि कओ तेहि गपट्ठे वीरे पच्छा गेहंति, तेसि
पुण्ण निग्गच्छाणं जह अद्द जोयणस्स वंतां तिरिदि पंच सत्त
दगसंयद्दह, दगसंयद्दह नाम जण्णहट्ठा तद्वि अणुष्ठाणां परेण
नाणुष्ठायं जंति अणुष्ठागमात्तरियाए जणियं जाय सत्तसंघ-
ट्टा, एवं अरुद्ध जोयणे (गाहा)(वत्थे पाए) एवं वत्थपायगहणे
वा तण्णसंधारय य पदमण्णाणं तु उत्सग्गोण गहणं नवसु णोणसु
पदमण्णाणं उत्सग्गोणं बुत्तं होऽ नवउणवदक्कमे पुण्ण सट्ठाण-
विस्साहं) अथ उवाहिमाह । किंच । तं सट्ठाणं आवाए ताह
उत्सग्गो ताहं अथवायंभो गहणं । काणि पुण ताणि नव ठाणा-
णि ?-तत्थ (गाहा)(दन्वे खेत्त) दन्वाणि जह आहारावकरणा-
णि खभंति तम्मि वंत्त उग्गमाह सुट्ठाणि (खेत्त) खेत्तं विदिउ-
त्तं मद्दाजणवाग्गं अर्थं च तारिस्सं तत्थे खेत्त (काले) तह-
याए पारिस्साए भिक्खवत्ता (वत्सिदिहि) वत्सिदिहि उग्गा हेमंत-
गिरद्वारासपाठमा तत्थि ननुसग्गाह दोस्तरदिवा भिक्खा सुस-

भा, शुक्रमास्या उष्मा भिषक्त्वा गामंतराणि अथिक्किदाणि अद्य-
 भ्रमसंक्राद्यं गुरुण सुखं प्राङ्गं जोगीशु व अग्राहेतराणं
 सुखं पाठ्यं, एवाणि नव सुमेति, अर्थं सुगुणं, सादृशं अ-
 भिषणं शुभेति वा सादहेति वा कुरुगुणारिंति वा सुखं नेहदति
 परियेहेति उज्जुवारैति वा सबाभुगुणालसस वा गच्छसस न-
 स्थि तारिसं अर्थं केचं कारं च बहुवृत्तिसंघर्षं ताण केव विसं-
 डिहाणं येहेति वा न हूरं गच्छति मासकल्पं करता केव उच्येदि
 श्रव्यायथति अह पुण द्यवं वयं पायं दुष्प्रभं, केचं या न पशुबह,
 नादे बहुप वि द्वासंघेहे पेवह, हूरं पि गच्छ, अरुजोयणपणेण
 वि(गाहा)(आभेषणे)ते च आलेखण विसुदे सव्यं पि अगुणाण्यं
 दुग्णं केसकालं दुगुणतिगुणचदुगुणहगुण वा केसकालाह-
 क्रमागुणया पक्षपम्भि । एत अगुण्यकण्यो । पं० सू० ।

अगुण्यहसंघट्टियककसंगं-अनु० गुसंघट्टितककशाङ्ग-त्रि० । भि-
 क्षापरिभ्रमणामावापुण्यलगाभावेन संवर्तितानि वतुलीभू-
 तानि अत एवाऽककशानि अङ्गानि पाण्यपादपृष्टादगमभूनी-
 नि येयांते अगुण्यसंघट्टितककशाङ्गः भिक्षाणामभावादुण्यसं-
 कष्याभावेन शीतीभूताकेषु, " अगुण्यसंघट्टियककसंगा, वि-
 एहति अं अग्नि न तं सहामो " सू० ३ उ० ।

अगुण्यनदेद-अनुतदनेद-पुं० । यशस्येव द्रव्यभेदे, स्या०
 १० डा० ।

अगुण्यदियाजेय-अनुत् टिकाभेद-पुं० । इण्यवादिषद् द्रव्य-
 भेद, प्रज्ञा० ११ पद । (तत्रेताः 'सद्यद्वभेद' शब्दं वक्ष्यते)
 अगुण्यति (ण)-अनुतापिन-त्रि० । अकल्पं किमपि प्रति-
 सव्यं अनु पश्चाद् हा । दुष्ट कारितमित्यादिरूपेण तपति स-
 तापमनुभवति, इत्यंशीलोऽनुतापि । अकल्पप्रतिसेवनाऽन-
 न्तरं पश्चात्तापविविष्टे, ४०० १ उ० ।

अगुण्यतद-अनुताप-पुं० । पश्चात्तापे, प्राच० ४ अ० । हा० ।

अगुण्यतावि (ष्)-अनुतापिन-पुं० । पुत्रः कर्मदिदोषदुष्टाहा-
 रमहणात् पश्चाद् 'हा । दुष्टु कृतं मया' इत्यादिमानसिकता-
 पश्चात्तापशीले, सू० ३ उ० ।

अगुण्यविद्या-अनुतापिका-स्त्री० । अनुतापयतीति अनुतापि-
 का । परस्वानुतापकारिकायां भाषायाम्, " अगुण्यताविद्यं
 क्षलु ते भासे मासंति " सूत्र० २ सु० ७ अ० ।

अगुण्यतपस्या-अनुत्रयता-स्त्री० । अप्रत्यक्षजायमान् उपाहवयेन
 कल्पते तज्जयते यन तत् उत्रय्ये, न उत्रय्यमनुत्रय्यमलज्जनीय
 यथा च शरीरशरीरमतांभेदमधिकृत्य । अहंनसर्वाङ्गशरीरं
 संपदभेदं, " वतुलउज्जय धात्र, अलउज्जगीअं अहीसुस-
 वयोगे । होई अगुण्ये सो, अविगलइदियपडिपुषां " ति । न्य०
 २ उ० । उक्त० ७० ।

अगुण्य-अनुक्त-त्रि० । अकथिते, घ० ३ अ०पि० । अभाषिते,
 पं० सं० ५ हा० ।

अगुण्य-अनुत्तर-त्रि० । उत्तरः प्रधानो नास्त्योत्तरो विद्यते
 इत्यनुत्तरः । स्या० १० डा० । सूत्र० । अविद्यमानप्रधानतरे,
 घ० १ श० ३३ उ० । अनन्यसदयो, अ० म० द्वि० । आचा० ।
 अ० । अनुत्तरप्रधाने, विशेषेण । सर्वोक्ते, अष्ट० १४ अष्ट० । प्रअ० ।
 कल्प० । आ० म० प्र० । दशा० । उक्त० । श्री० ।

केवलिनो दशानुत्तराणि-

केवलिस्य पं दस अगुत्तरा पमत्ता । तं जहा-अगुत्तरे
 नाणे, अगुत्तरे दंतेणे, अगुत्तरे चरिरे, अगुत्तरे तवे,
 अगुत्तरे वीरिण, अगुत्तरा संती, अगुत्तरा मुषी, अगु-
 त्तरे अजजेन, अगुत्तरे मद्दे, अगुत्तरे लायेषे ॥

तत्र हानावरस्यत्वाद् हानमनुत्तरम्, एवं दशानावरस्यत्वाद् द-
 शैरम, मोहनीयत्वाद् दशानं, चारित्रमोहनीयत्वाच्चारित्रं, चा-
 रित्रमोहस्ययादनन्तधीयम्, अनन्तधीयत्वाच्च तपः शुक्रध्यान-
 विरुपं, धीयग्निरायत्वाद्दीयम्, इह च तपःसात्त्विकस्याजैव-
 माईयलायानि चारित्र्यभेदा एवेति चारित्र्यमोहनीयत्वात्वाद् भ-
 वन्ति । सामान्यविशेषयोश्च कथंचिद्भेदेभेदेनोपासनीति ।
 स्या० १० डा० । बुद्धिरहिते च । आचा० १ सु० १ अ० १ उ० ।
 नास्त्यस्यात्तरं सिद्धान्त इत्यनुत्तरम् । यथाऽपरिधितसम्बन्ध-
 म्बन्तुप्रतिपादकत्वाद्दुसम्, प्राच० ४ अ० । सूत्र० । सर्वोक्ते
 भीजिनधर्मै, सूत्र० १ सु० ६ अ० १ उ० ।

अगुत्तरगह-अनुत्तरगति-त्रि० । सिद्धिगतिप्राने, " एत क-
 रेभि पलाभं, निन्धयराणं अगुत्तरगहं " । दृ० प० ४ प० ।

अगुत्तरमा-अनुत्तराद्या-स्त्री० । अनुत्तरा चात्ते सर्वोक्तम-
 त्वाद्भ्या च लोकाप्रत्ययस्थितत्वाद्दशानुत्तराऽभ्याः । ईपत्राभ्यारापां
 पृथिव्याम्, सूत्र० १ सु० ६ अ० ।

अगुत्तरण-अनुत्तरण-त० । न विद्यते उत्तरणं चारममं व-
 सिन्नं सति इत्यनुत्तरणः । फलमनप्रतिबन्धकं, उत्त० १ अ० ।

अगुत्तरणवाम-अनुत्तरणवास (पाश)-त्रि० । न विद्यते उत्त-
 रं पाशमन्मस्मिन् स्त्रीत्यनुत्तरणः । स चात्तो वासश्चा-
 वस्थानमनुत्तरणवासः । अनुत्तरणवासमहेतुत्वाद् अगुत्तु-
 त्मित्यादिवचनुत्तरणवासः । यद्वा-आत्मनः पारतन्त्र्यहेतुतया
 पाशयतीति पाशः, ततोऽनुत्तरणश्चातीं पाशश्चाऽनुत्तरणपाशः ।
 उभयत्र च सापत्नत्वैर्भयं गमकव्याप्तमासः । संसारार्थक्षती,
 पात्त्यये वा । एतच्च सम्बन्धसंयोगस्याधेनः फलम् ।
 उत्त० १ अ० ।

अगुत्तरणार्थदशानुत्तर-अनुत्तरज्ञानदर्शनपर-त्रि० । कथञ्चिद्
 भिन्नज्ञानदर्शनधारे, " एवं से उदाहृ अगुत्तरदंसी अगुत्तर-
 नापदंसण्यधरे " सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अगुत्तरणाणि (ण)-अनुत्तरज्ञान-त्रि० । नास्त्योत्तरं प्र-
 धानमस्त्रीत्यनुत्तरम्, तच्च तज्ज्ञानं च अनुत्तरज्ञानम्, तद्-
 स्यात्स्त्रीत्यनुत्तरज्ञानी । केवलिति, सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अगुत्तरभ्रम-अनुत्तरधर्म-पुं० । नास्त्योत्तरः प्रधानो धर्मो
 विद्यते इति अनुत्तरः । सूत्र० १ सु० ६ अ० । सुतचारित्राक्ये
 धर्मे, सूत्र० १ सु० २ अ० २ उ० ।

अगुत्तरपरकर्म-अनुत्तरपरक्रम-पुं० । परे शक्ये । ते च त्रि-
 धा-उच्यते मस्तरिणा; भावः क्लोधाद्यः । इह भावशुभ्रिः
 प्रयोजनं, तेषामयोक्तेभ्यो मुक्तिभावात् । आकामयुमाक्रमः, प-
 राजय उच्छेद इति यावत् । परंपायाक्रमः पराक्रमः । सोऽनु-
 त्तरोऽनन्यसदृशो यस्मिन्, " निजे तियधरे भगवते अगुत्तर-
 परक्रमे अमियलाणे " । अत्र अह-यं स्वतैवैश्वर्यादिभगवन्त-ते

ऽनुत्तरपराक्रमा एव, तन्मध्येण विद्यक्षितभगासंभवात्, ततोऽनुत्तरपरपराक्रमाभिव्यक्तनिरिक्रयते । नैव दोषः—अस्य अभाविदित्तैःश्वरीतिस्मन्वितपरमपुत्रपुत्रपतिपाद्मपत्नरक्षणादिनिषेधपरगत्यात् । तथाहि—कैश्चिदनुत्तरपराक्रमत्वमनन्तरीयैव हिरण्यगर्भादीनामनादिदिविक्षितभगयोगोऽनुत्तरपत्न्यते । उक्तं च—“हानमप्रतिषेधं स्वयं, धैर्यात् च उगत्यते । येऽभ्यर्च्यैव धर्मज्ञैः, सह सिद्धं चतुष्टयम् ” ॥ १ ॥ इत्यादि । अ० म० प्र० ।

अणुत्तरपुत्रसंज्ञार—अणुत्तरपुत्रसंज्ञार—पुं० । अणुत्तरः सयोचमहेतुत्वात् । तत्कार्योत्पुत्रपुत्रसंज्ञारः तीर्थेकरनामकर्मलक्षणो येषां तं तथा । तीर्थेकृतसु, पं० सू० ४ सूत्र ।

अणुत्तरविमाण-अणुत्तरविमान-न० । नैषामन्याःपुत्रराशि विमानानि सन्तीत्याणुत्तरविमानानि । सन्तुर्देश्येवलोकास्तथापुत्ररोपपतिकेवविमानेषु, अणु० (अत्र पचक्यं विमानं शब्दे वच्यते) “कहं नु जते । अणुत्तरविमाणा पशुता ? । गौयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पशुता । नै सं जने ! किं संखेज्जवित्थदा अर्थेखज्जवित्थदा य ? । गौयमा ! संखेज्जवित्थदा य असंखेज्जवित्थदा य ” । म० १३ श० ३ उ० । “कहं नु जते ! अणुत्तरविमाणा पशुता ? । गौयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पशुता । तं जहा-विजय, येज्यते, जयते, अपर्याजय, सव्यत्सिक्के य ” । म० १६ श० ६ उ० ।

अणुत्तरोवाइय-अणुत्तररोपपतिक-पुं० । अणुत्तरेषु सर्वोत्तमेषु विमानविशेषेषु उपपातो जन्मानुत्तररोपपातः । स विद्यते येषां तेऽणुत्तररोपपातिकाः । अ० । उत्तरः प्रधानः । नास्त्योत्तरो विद्यते इत्यनुत्तरः । उपपातनमुपपातो जन्मोत्पत्तिः, अणुत्तरख्यास्तावपयानश्चेत्यनुत्तररोपपातः ; साऽस्ति येषां तेऽणुत्तररोपपातिकाः । सर्वोत्तमसिद्धादिविमानपञ्चकोपपातित्वे, अ० १० श० । विजयाद्यनुत्तरविमानवर्षाभिनि, स० १, स० ० ।

अणुत्तररोपपतिकानामनुत्तररोपपतिकार्यम्—
अस्थिं जंते । अणुत्तरोवाइया देवा । हेता । अस्थि । मे कण्ठे जंते ! एवं वुच्ये अणुत्तरोवाइया देवा । गौयमा ! अणुत्तरोवाइयाणां अणुत्तरा सदा अणुत्तरा रूढा जाव अणुत्तरा फाना, से तेण्ठे पं गौयमा ! एवं वुच्ये जाव अणुत्तरोवाइया देवा ॥

(अर्थ जन्तिष्यति) (अणुत्तरोवाइयसि) अनन्तरः सर्वप्रधानोऽणुत्तरदाभ्यदिदिविषयैर्गादुपपातो जन्मानुत्तररोपपातः ; साऽस्ति येषां तं अनुत्तररोपपातिकाः । म० १६ श० ७ उ० ।

भेदाः अणुत्तररोपपतिकस्य—
से किं तं अणुत्तरोवाइया ? । अणुत्तरोवाइया पंचविदा पमत्ता । तं जहा-विजया, वैजयंता, जयता, अपराजिया, सव्यत्सिक्का । ते समाभमत्रो दुविहा पशुता । तं महा-पज्जत्तया य अपज्जत्तया य । प्रज्ञा० प १ प । (अन्तक्रियाद्येऽस्य स्वस्थान एव वऽव्याः)
वुच्यन्वच्य-

अणुत्तरोवाइयाणां देवाणां एगा रयणी उकुं उबत्ते-
एणं पशुता ।
(एगा रयणि सि) हस्त्वं यावद्, कोशं कीटिव्येन नदी इतिव-
दिह तिष्ठति । (उकुं उबत्तेणं सि) उस्तुनो ल्लेकेको वास्तुस्य-

दिशतस्यैकस्य, अपरं तिर्यं कृषितयस्य, अन्वद्गुणोक्तिकपय । अ० १ श० । विजयादिविमानेषुपपत्तिसम्पत् साङ्गु, स्था० व्जा० ।

अणुत्तरोवाइयां जंते ! देवा केवएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोवाइयदेवताए उववष्ठा ? । गौयमा ! जावइयं उट्ठजतिए समणे णिमंथे कम्मं णिज्जंजे, एवइएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोवाइयदेवताए उववष्ठा ॥

(जावइयं उट्ठमित्ते इत्यादि) किल बह्मभक्तिः सुसाधु-
योधकर्म कृपयति, एवाथा कर्मोवशेषेणानिर्जीर्णोऽणुत्तररोप-
पतिका देवा वत्यथा हति । म० १४ श० ७ उ० ।

अणुत्तरोवाइयदसा-अणुत्तररोपपतिकदशा-क्री० । व० व० ।
अणुत्तररोपपतिकवत्कव्यताप्रतिबद्धा दशा दशाऽप्ययतोपबद्धकि-
ता दशाध्ययनमतिबद्धप्रथमवर्गयोगादशा अन्वविशेषोऽणुत्तररोप-
पतिकदशा । स्था० १० श० । अणु० । नवमेऽङ्के, मे० पा० ६० ।

से किं तं अणुत्तरोवाइयदसाओ ? अणुत्तरोवाइयद-
सापुं अणुत्तरोवाइयाणां नगराई उज्जाणाई चइयाई वणखंडाई रायाणो अम्मापियरो समोसरणाई धम्मापरि-
या धम्मकहाओ इहलोगपरलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिखा-
या पव्वज्जाओ सुयपरिमहा तवोवहाणाई परियागो प-
दिमाओ संझेइयाओ जत्तपाणुपव्वक्खत्ताणाई पाओवगम-
णाई अणुत्तरोवाइयाओ सुकुलपच्चाओ पुण वोहिसाहो अं-
तकिरियाओ आधविज्जेति अणुत्तरोवाइयदसापुं ति-
त्थकरमभोसरणाई परमंगलजगहियाई जिगाविसेसा य ब-
हुविसेसा जिणसीसाणं चव समणणाणुपवरंयहेइयीणं सि-
रजमाणं पारिसहेसमिउवउत्तमपट्ठणाणं तवदिच्चरित्था-
ण सम्पत्तसारविहङ्गपरपसत्थगुणंमुज्जायाणं अणगरम-
ट्टरिसेणं अणगरागुणाण वक्खओ उत्तमवरतवविमिच्छणाण
जंगजुच्चाणं जह य जगहियं भगवओ जारिसा इड्ढिविसे-
सा देवापुरमाणुसाणं परिसाणं पाउज्जाओ य जिणसमीवं
जह य उवासंति जिणवरं, जह य परिकर्हति धम्मं, होगमु-
रु अमरनरमुरगणाणं सोऊण य तस्स जासियं अवसेसकम्म-
विमयविरत्ता नरा जहा अणुत्तेति, धम्ममुदालं संजमं तवं वा
नि बहुविहङ्गपरं जह वहुणि वासाणि अणुत्तरत्ता आराहि-
यनाणदंसणुचरित्तजंगा जिणवयणमणुगयमहियमुपासिय-
त्ता जिणवराण हिययेण मणुणत्ता जे य जहि जात्थिया-
णि जत्ताणि उअत्ता हक्काय य समाहिसुत्तमज्जाखाणो-
गजुत्ता उववक्का मुणिवरोत्तमा, जह अणुत्तरपसु पायंति
जह अणुत्तरं तत्थ विसयमोक्खं तत्रां य चुआ कमेण का-
हिंति संजया जहा य अंतकारियं एए अन्नेन य एवमादत्था
विन्त्यरेण ॥

अणुत्तररोपपतिकदशासु तीर्थेकरसमयसरणानि किंज्जतानि ?
परममाङ्गल्यजगत्कितानि, जिगाविशेषाश्च बहुविशेषाश्च “ देहं
विमत्सुयं ” इत्यादयश्चअनुत्तरदिशतस्य विकरता वा, तथा जिगत्ता-

ध्याणां चैव गणचरादीनाम् । किं नूतानाम्नाम आह-धम्मणगएव, रत्नचइदित्तानं, धम्मणोत्तमानामित्थेयोः तथा विद्यरथरासां, तथा परीवइसैयमेव परीवइबुद्धमेव, रिउत्तलं पउत्तकं, तथमईनामानं, तथा वृत्तवइवात्तिरिय, दीसाणुत्तमत्ति, चात्तलंनेरं तपोदीप्तानि' यानि चारिउत्तमानसम्भक्त्वाणि, तैः साराः स्फलाः, विविध-प्रकारविस्तारा अनिकविधप्रयत्नाः । प्रशस्तान्नि वे क्त्वाद्यो गुणाः तैः संयुतानाम् । क्वचिद् गुणव्यजावामित्ते पाठः । तथा अनगादाअइ ते महपेयअन्ननगारमहपयैः, तथाभिनगारगुणानां वर्णकः अक्षया, आक्खायल इति योगः । पुनः किंभूतानां जिनजिष्ण्याणाम्, उक्तमाअइ ते ज्ञायादित्तिवैरत्तपसअइ ते च ते विगिएह्णानयोगुत्तुक्त्वाअत्थ्यनस्तेवासुसमवत्तपोविगिएह्णानयोगुत्तुक्त्वाणाम् । किञ्च । अपरे यथा च जगत्किं भगवत् इत्यत्र जिनस्य शास्त्रमिति अभ्यन्ते । याहशाअइ अइदिविशेषा देवासुरमानुषाणां, रत्नोत्तमसुखीजनमानविमानरत्तचं सामानिकाधानकदवदेवकीकटिसमधाचयेनं, मणिखरुमविउत्तदत्तकपट्टुप्रचलत्याकाकाशा-तायपामित्तमहापधउत्तप्रवर्तिनेन, विविधाऽऽनोपायाद्व्यगताभोगोपुरणं, वैशमादिदक्षणाः, प्रतिफलितान्धमिःपुष्करकुम्भारहाणं चतुरङ्कस्येयपरिवारणं क्खञ्जानमरमहाप्यज्जादिमहागज्जिह्व-प्रकाशानं, वैशमाद्यअइ सम्यग्विशेषाः समवसरणमनग्रह-स्तानां, पैमानिकउपातिष्कानां भवन्पतिव्यस्तराणां, राजादि-मुत्तानां च । अथवा अणुत्तरोपयानिकसाधुनाम, अइत्ति-देवा देवादिभस्वीयनस्नाशा 'आशयायन्ते' इति क्रियायोगः । तथा पर्यदा ' संजयंयमाणानां संजइपुव्वेण पविमिओ वारे' इत्यादिनाकस्वरूपाणां प्राडुर्भायाअ आगमानानं, क १- (जिनवरसमपत्ति) जिनसमीपं, यथा च येन प्रकारेण, पञ्च-विधाभिगमादिना (उपासमीपिणं) उपासने सेवने गजा-द्यः, जितवत् तथा ' कथायन्ते' इति योगः । यथा च परिकथय-ति धर्मे, होकमुक्करीति जिनवरः, अमरनरासुरगणानां धृत्या च 'नरपे' जिनवरस्य भाषितं, अवशोपाणं क्खीणप्रायाणं, कमा-णि येयां ते तथा । ते च ते विषयविरत्ताइति, अवशोकमवि-षयविरत्ताःके, नराः । किम्, यथा अणुत्तरोपयित्थं यममुदारम् । किंसकपमत आह-संजमं तपआपि । किंसनूत्तमित्याह-बहुविध-प्रकारं तथा, यथा बहुनि वर्षाणि (अणुत्तरोपत्ति) अणुत्तरो-ववाहय, संयमं तपअति वस्ते । नत आयाजितवान्दर्शनवा-रिस्सोसाः । तथा (जिनवयणमणुगयमोहियमानियत्ति) जिनव-चनमाचारदि, अणुगतं सबंधं नाद्वित्तवैमिर्लथेः । महितं पु-जितम्, अथिकं वा भाषितं शैरप्यापमानित्ते तथा । पात्तलं-र-जिनवचनमनुगत्याऽऽनुकुर्येन सुपुभायित्तं येत्ते जिनवचनानुग-निपुत्तुभाषिताः । तथा (जिनवराणं हियणं म पुण्णंत्ति) इति वदुं जितोभांये । तेन जिनवराद् इदयेन मनसा अणुनीयं प्राप्य ध्यावेति यावत् । ये च यत्र यावत्तं च भक्तानि उद्वेगित्था ल-ध्या च समाधिमुत्तमभ्यानयोगुत्तुका उपपत्ता मुनिवरात्समाः यथा अणुत्तरोव, तथा ' वयायन्ते' इति प्रकमः । तथा प्राणुत्त-विनि यथाऽणुत्तरे (तस्यत्ति) अणुत्तविनिपु विषयसुखं, तथा वयायन्ते (तस्यो यत्ति) अणुत्तविनिमानेऽव्यह पुनाः क्रमण करि-ष्यन्ति, संवथा यथा चात्तः क्रियन्ते तथा कथायन्ते । स ॥

से किं ते अणुत्तरोववाहयदसाओ ? । अणुत्तरोववाहयद-साएमुणं अणुत्तरोववाहयाणं नगराई उज्जाण्णई चेइयाई वणुखंभाई समोत्तराणाई सायाणां अम्भापिरो धम्मायारि-

था धम्मकह्णओ इह्णोहायपरलोइया इहि विसेसा भोगप-रिक्खाया पव्वज्जाओ परिंयागा सुपपरिगमहा ततोवहाणाई पदिमाओ उत्तसगमलेह्णएअं भत्तपक्खन्नाणाई पाओवग-माणाई अणुत्तरोववाइ उच्चनत्तसु कुलपववायाइओ पुण्ण सौ-हिलाभा अंतकिरियाओ य अयविज्जांति अणुत्तरोववाइयद्-साणं परिचा वायणा संखिज्जा अणुआगदारा संखिज्जा वेह्ण संखिज्जा मिलेगा संखिज्जाओ (ननुत्तुत्तीअं संखिज्जाओ संगह्णणीओ संखिज्जाओ पदिवत्तं,ओ मे एवं अंगह्णयाए न-वम अंगे एगे सुयखंभे तिष्णि वग्गे तिष्णि उदेसणकाला तिष्णि समुदेमणकाला संखिज्जाई पयमहस्साई पयगणं संवि-ज्जा अक्खरा अर्णात्ताऽऽगमा अणोत्ता पउत्तवा परिचा तसा अणोत्ता थावरा सामयकरुनवत्तनिकाइया जिणपत्तत्ता जावा अयविज्जांति पव्वविज्जांति पम्बविज्जांति दींसिज्जांति निदींसिज्जांति उवदंसिज्जांति, मे एवं आया एत्तं नोपा एवं विक्खाया एवं चणकरणपक्खणा अ.व.वज्जड, एवं उअ-त्तरोववाइयदसाओ ॥

(अणुत्तरोववाहयदसाणुमित्यादि, पाठिसंज्ञं यावन्नगमनम, नयवध, अययनसमुहो वगै । वगै च वगै च दत्तं दत्ताऽभयनानि, वगैअं युगपदंवेदिइयते इति । अथ पय उहदानकाला, अथ पय उहदानकालाः, संस्थेयानि च पदसहआणं, महाप्राधिक-पदव्यावर्तशब्दप्रमाणानि वेदितव्यानि ॥ ३० ॥

अणुदत्त-अणुदत्त-पुं० । न उदात्तः, विरोधे नञ् । 'नोत्तरंनु-दात्तः' पा० १. २. ३० । इति लङ्किते तावदादिप समांगु स्वानपुं-भागे निष्पन्नं चित्तं, यथा नचिःशब्देन 'अ निष्कृ' इत्यकं करेइ' इत्यादि । पुं० १. ३० ॥

अणुदय-अणुदय-पुं० । वेलाप्राकांलं, इ० उ ३ ७ ० ।

अणुदयवंपुक्किहा-अणुदयवन्पोत्तुह्ण-खी० । यासां विपाका-दयामांभे अ-धादुत्तुक्खिंधित्तस्वकमांवांसिः तासु कर्मप्रकृति-पु, पुं० सं० ३ इ० । ताअ ' नाययतिर उरलदुग् ' इत्यादि-गाथया 'कम्य' शब्दे तु० भा० २.७६ पुठे दशिताः)

अणुदयवई-अणुदयवती-खी० । ' चरिममवधिम् इजिये, जासिं अन्नथा संकमे ताओ । अणुदयवई ' ' यासां प्रकृतिनां दालिकं चरमसवयेऽन्यसमये, अन्वथाऽन्यप्रकृतिवु, स्तिनुकस-त्रमण संकमयत्, संक्रमथ चावप्रकृतिमवपदंशानुभावानः स्वोदयेन तास्यनुदयवयोऽनुदयवती संजा । इत्युक्तसणासु कर्मप्रकृतिपु, पुं० सं० ३ इ० ।

अणुदयसंस्कृक्किहा-अणुदयसंस्कमोत्तुह्ण-खी० । यासामु-दयसंक्रमत्तं वन्कुरिंधितिलाजः तासु कर्मप्रकृतिपु, पुं० सं० ३ इ० । ('कम्य' शब्दे तु० भा० ३.३० पुठे वासां स्वकपमावेदियत्तं) अणुदरंभरि-अणुदरंभरि-पुं० । अनात्समदरी, इ० ६ इ० ।

अणुदरि-देहा-कणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वगै ।

अणुदहमाण-अणुदहत्-त्रि० । निसर्गान्तरमुपतापयति, २था० १० ज्ञा० ।

अभुपरिष्ण-अनुदीर्घ-ना० न० त० । अभागतकाले उदीर्घपार-
रहितं चिरेण भविष्यदुदीरणेऽभविष्यदुदीरणे वा कर्मणि, भ०
१ श० ३ उ० ।

अभुदिसा-अनुदिक्-त्वी० । आभ्रयाविकायां विदिशि, कल्प० ।
आवा० । "पाश्र्वापकिस्ये वा वि, उक्त्वं अभुदिसामि" वश०
६ अ० । आवायोपाध्यायपदद्वितीयस्थानवसिष्ये, स्व० २ इ० ।
('उदेरा' शब्दे द्वि० जा० ङ० पृष्ठे तदुद्देशो बक्ष्यते)

अभुदिरिद्ध-अनुदिरिद्ध-त्रि० । यावन्तिकदादिनेद्वज्जिते, प्रश्न० १
संख० द्वा० ।

अभुद्वरिक्तुषु-अनुद्वरिक्तुषु-पुं०-त्वी० । अनुद्वरिनामके
कुन्वुज्जिवे, वृ० १ उ० । स्था० । स हि चक्षुषेव विभाव्यते न
स्थिनः । सूत्रमवाहितं । स्था०ऽऽ ग्रा० । "अं रयिषं व णं स्रमणे
भगवं महावीरं जाव सव्वदुक्कलपणीं ते रयिषि व णं कुंषु-
अभुद्वरिनामं समुपपन्ना, आ जिया अचलमाणा णिमांघाण य
णिमांघाण य नो चक्खुप्फासं हव्वमागच्छह, जा जिया चल्-
माणा छुउअघाण णिमांघाण य निमांघीण य चक्खुप्फासं
हव्वमागच्छह" । कल्प० । ('वीर' शब्दे व्याख्यास्यते कैतय)

अभुद्वय-अनुद्वय-त्रि० । अनुद्वयेण वादनार्थमुक्तिसेऽनुद्वय-
तः । वादनार्थमेव वादकैरत्येके सूदङ्गादौ, द्वा० १ अ० विपा० ।
ज० । "अनुद्वयमुश्रमां" अनुद्वयाऽनुद्वयेण वादनार्थमुक्तिणा,
अनुद्वया वादनार्थमेव वादकैरत्येका, सूदङ्गा मर्दला वर्यांसा
तथा । द्वा० १ अ० विपा० । भ० । कल्प० । यत्र आनुद्वयेण
यथामार्दङ्गकविधिकमुक्त्वा वादनार्थमुक्तिना सूदङ्गा मर्दलाः
सन्ति । ज० ३ उ० ।

अभुधम्म-अभुधर्म-पुं० । बुद्धस्तापुधर्मोपेक्षयाऽऽशुभ्रतो धर्मो-
ऽशुधर्मः । वशाविरतौ, विशेष० । द्वा० म० द्वि० ।
अनुधर्म-पुं० । अनुगतौ मोक्षं प्रत्यनुकूलौ धर्मोऽनुधर्मः । अहि-
सालक्षणं, परीषहोपसर्गसहसङ्गण वा धर्मं, "पसोऽणुधर्मो
मुणिणा पवेदिआ" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अनु पश्चाद्
धर्मोऽनुधर्मः । तीर्थकराऽनुष्ठानादनन्तरं चर्यमाणं धर्मं, "पसा-
ऽणुधर्मो ह्म संजयाणं" सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । नि० चू० ।
(स यथा पूर्वोक्ताख्यौ तथाऽनुचरणाथमिति 'अणाइय' शब्द
ऽत्रैव जागे ३०४ पृष्ठे उक्तम्)

अभुधम्मचारि (ण)-अनुधर्मचारि-पुं० । तीर्थकरप्रणीत-
धर्मोऽनुष्ठायिनि, "जेसी वित्ता समुट्ठिया, कासवस्स अभुधम्म-
चारिणो" काश्यपस्य श्रुधम्मव्याभिर्भो वरुमनस्वामिनो वा
स्वबन्धी गं धर्मं, तदनुचारिणस्तीर्थकरप्रणीतधर्मोऽनुष्ठायिन
इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अभुधुपंथ-अनुधुपथ-पुं० । मार्गात्पथेण, वृ० २ उ० ।

अभुधुपथ-अनुधुपथ-त्रि० । पश्चात्प्राते, वच० ३ अ० ।

अभुधुपथारिणीकरेमाण-अनुधुपथारिणीकुर्वाण-त्रि० । आनुक-
ल्पेन भद्रकिणीकुर्वाणे, रा० ।

अभुपरियट्ठण-अनुपरिवर्त्तन-न० । वीनःपुन्येन प्रथमेण, भ० १
द्वा०ऽऽ उ० । पाहवेती प्रथमेण, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । घटोपन्यन्या-
येन प्रथमेण, आवा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । न० । " बुक्कजाण-
मेव आहट्टं अभुपरियट्ठरि ति" । दुःखानां शारीरमानसाना-

मायसैः वीनःपुन्यनवनमनुपरिवर्त्तते, दुःखावतां बभनानां बभन्यव-
ते । आवा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अनुपर्येतन-न० । योनीयस्तत्रैवागममे, "संसारपारकंभी ते
संसारं अनुयट्ठिं" । संसारमेव अनुगतिकसंस्तरणरूपमे, मनु-
पर्येतन्ति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

देवेणं जंते । महिद्वि एव जाव महेशकले पन् । अणवसमुहं
अभुपरियट्ठिणां हव्वमागच्छत्तए । हंता । पन् । देवेणं
जंते । महिद्वि एवं पायइ संदरीवं जाव हंता पन् । एवं
जाव रुयगवरं दीवं जाव हंता पन् । तेष परं वीद्विपेजा
णो चेव एं अभुपरियट्ठिजा ॥

(वीरैश्चरज्ज ति) एकया दिशा ध्यतिकामेव (नो चेव णं
अभुपरियट्ठिजा ति) नैव सधमेः परित्रमेव, तथाविधप्रयाजना-
भावाविति संज्ञायते । न० १२ श्रु० ७ उ० ।

अभुपरियट्ठमाण-अनुपरिवर्त्तमान-त्रि० । एकैकियादिवु पर्यव-
ति, जन्मजरामरणानि वा बहुदोऽनुभवन्ति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।
अरघट्टघटीन्यायंन वर्तमाने, आवा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । ज० ।

अभुपरियट्ठित्ता-अनुपरि वर्त्ये-अव्य० । सामस्येन परित्रम्यति
प्रादक्षिण्येन परित्रम्यति वांघे, जी० ३ प्रति० ।

अणु (नु) परिहारि (ण)-अ (णु) नुपरिहारि-पुं० ।
परिहारिणः अणु स्तोत्रं प्रतिबन्धनादिवु साहाय्यं करांति । ति
अणुपरिहारौ । यत्र यत्र भिक्षादिनिमित्तं परिहारौ गच्छन्ति
तत्र तत्र अणु पश्चाद् पृष्ठणो हनः सद् गच्छतीत्यनुपरिहारौ ।
व्य० १ उ० । परिहारिकणांमनुचरे, विशे० । (यथा च अनु-
परिहारिकाणां परिहारिकत्वेवा कर्मव्या तथा ' परिहार '
शब्दे बह्व्यते) निर्वर्त्त, आसंभितविचक्षितचारित्र्ये च । स्था०
३ ग्रा० ४ उ० ।

अणुपविसंत-अनुमविज्ञत्-त्रि० । अनु पश्चाद्जावे चरकाविषु
निवृत्तेषु पश्चात्पाकरणकालतो वा पश्चाद् भिक्षार्थे प्रवेशं
कुर्वति, नि० चू० १ उ० ।

अणुपविनिष्ठा-अनु (णु) मविश्य-अव्य० । अनुकूलं स्तोत्रं वा
प्रविश्येत्यर्थे, नि० चू० ७ उ० ।

अणुपवेस-अनु (णु) मवेश-पुं० । इत्युक्ते स्तोत्रे वा प्रवेशे,
नि० चू० ७ उ० ।

अणुपरिम (ण)-अनुदर्शिन्-पुं० । अनु द्रष्टुं शीलमस्वत्ये-
नुदर्शी । पर्यालोचके, " पर्याणुपस्ती णिऽमोसइत्ता " एत-
दनुदर्शी भवति, अतीतानागतसुखाभिलाषी न भवतीति
यावत् । आवा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुपरिसय-अनुद्वय-अव्य० । पर्यालोच्येत्यर्थे, सूत्र० १
श्रु० १ अ० २ उ० ।

अणुपाण-अणुपाण-त्रि० । अणवः सूत्रमाः प्राणाः प्राणिनो
येषु ते अणुप्राणाः । सूत्रमजन्तुपुके, " जययं विहरति जोगवं,
अणुपाणा पंथा दुक्कतरा " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुपा (वा) यकिरिया-अनुपातक्रिया-त्वी० । प्रमत्तसंय-
तानामापन्नपातं प्रत्ययंशुणसंपातिससत्त्वानां विनाशायमे
क्रियाभिरे, द्वा० चू० ४ अ० ।

अधुपालय

अधुपा (वा) य इ-अनुपातन-न० । अनु-पत-णिच्-ल्युट् ।
अधतारणे, ध० २ अथि० ।

अधुपालेत-अनुपातय-त्रि० । अधुभवति, " साया सोऽन्म-
मुपालेतित्थं " शातं सुखमनुपालयनाऽनुभवता । सुखात्-
कमनसेत्यर्थः । पा० । प्रतिपालयति, आधा० । ५०२अ० २३० ।

अधुपा (वा) लण-अनुपालन-न० । शिष्यगणरक्षणे, नष्ठाकु-
र्वन्तो दोषः । ध० ३ अथि० । अनुपालयते तु शासनप्रवृत्तीकवादि-
द्वेषा पथ । वतः पञ्चवस्तुप्रकरणे-“ इत्थं पमायखलिया, पु-
ष्वम्भालेण कस्स वयं हौति । ओ तेण वेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स
सफलं ति ॥१॥ को शास सारहीणं, सहाज्ज ओ भइवाहणेण
दमए । पुट्टे वि अ जे अण्ये, दमइ तं आसिअं विति ॥२॥ जो
आयरेण पदमं, पुब्बा वेज्जया नाण्येलेइ । सेहे सुत्तविहीए,
सो पयवणपच्छणीओ ति ॥३॥ अवि को वि अपरमत्था, विरु-
द्धिइ परम्ये असेवं वा । जे पारिवि अण्यथं, सो अल तण्ये,
अब्बओ सव्वो ” ति ॥४॥ ध० ३ अथि० ।

अधुपा (वा) ललाकप्य-अनुपालनाकप्य-पुं० । आवाच्यं
कथञ्चिद् विषये गणरक्षणविधौ, पं० अ० ।

स चैव-

..... अहूणा अधुपालगाकप्यं !
संखेवममुदिहं, बोच्छामि अहं ममासेणं ॥
मोहतिगिच्छाएँ गते, एण्ठे खेवादि अहं व कालगते ।
आयरि ए तम्मि गणे, पालादीरक्खणहाए ॥
कोवि गणी उवणिओ, मच्चति जंति तस्स कोवि सीसो तु ।
सुत्तत्थतदुभएदि, णिम्माओ सो उवेयव्वो ॥
असती य तस्स ताहे, उवियेव्वा कमेण मेणं तु ।
पव्वज कुले णाणे, खेचे मुट्टिउव्वसुतसीसो ॥
गुरु गुरुणं तं तू वा, गुरुवज्जिह्वउ व्व तस्स सीसो तु ।
पव्वज एगपक्खी, एपादी हौति णापयो ॥
असतीएँ कुञ्जओ वी, तस्स सतीएसु एगपक्खीओ ।
खेचे उवसंपणे, तस्स मतीए उवेयव्वो ॥
सुहदुक्खियसव असती, तस्स मतीए सुतोवमंपणे ।
एवं उियाण वेदिं, सोसम्म तु मगणा णट्ठिय ।
पादिच्छ गणधरे पुण, उविए इदियं तु मगणा इयमो ।
सुत्तयमहिज्जेतं, अण्हिज्जेतं इमं ज्ञाया ।
साद्वारणं तु पदमे, वितिए खेतम्मि ततिएँ मुहउक्खे ।
अण्हिज्जेतं मंसे, सेने एकारम विजाया ॥
पुव्वुदिहगणस्स तु, एरुदिहं पवाइयंतस्स ।
पुव्वं पच्छुदिहे, सोसम्मि तु जं तु हौति सच्चिचं ॥
संवच्छरम्मि पदमे, तं संवगणस्स आहवति ।
पुव्वुदिहगणस्स, पच्छुदिहं पवाइयंतस्स ॥
संवच्छामि वितिए, सोसम्मि तु जं तु सच्चिचं ।
पुव्वं पच्छुदिहे, सोसम्मि तु जं तु हौति सच्चिचं ॥
संवच्छरम्मि ततिए, एतं संव्वं पवा.यंतस्स ।

पुव्वुदिहं गच्छे, पच्छुदिहं पवाइयंतस्स ॥
संवच्छरम्मि पदमे, सिस्सिणिए जं तु सच्चिचं ।
संवच्छरम्मि वितिए, तं संव्वपवाइयंतस्स ॥
पुव्वं पच्छुदिहे, पदिच्छियए उ जं तु सच्चिचं ।
संवच्छरम्मि पदमे, तं संव्वपवाइयंतस्स ॥
खेनुवसंपायरिओ, सुहउक्खी चैव जति तु सो उविओ ।
कुञ्जगणमविओ वा, तस्स वि सइ हौति उ विवेगो ॥
संवच्छराणि तिणिए ष, सोसम्मि पदिच्छियम्मि तद्विचरं ।
एककुञ्जगणिविओ, संवच्छर संप उम्मासो ॥
तत्थेव य णिम्माए, अण्हिगए णिम्माए इमा भेरा ।
सकुले तिणिए तिपादं, गणे दुगं वच्छरं संधे ॥
ओमादिकारणेदिं, उम्मेदत्तेण वा ण णिम्मासो ।
काउण कुलसम्मगं, कुलयेरे वा उव्वेति ॥
एव हायणाइं ताहे, कुञ्जं तु भिक्खावए पयणेण ।
ण य किंचि तेसिं गएहति, गणो दुगं एगसंघो तु ॥
एवं तु दुवाइसदिं, समादिं जदि तय कोवि णिम्मासो ।
तो णिंति अण्हिम्माए, पुण वि कुदादी उव्वेहणा ॥
तेणैव कमेणं तु, पुणो समाओ हवांति वारस तु ।
णिम्माए विहरंते, इहरकुदादी पुणोवक्का ॥
तद्ध वि य वारसमामो, सोमस्स वि गणधरो हाइ ।
तेण परमनिम्माए, इमा विदिं हाइ तेसि तु ॥
इत्थीसातिकेते, पंचावहु व्व संपदा पयो ।
पच्छा पत्तं तुवसं-पदे पव्वजएसु एगपक्खम्मि ।।
पव्वजाएँसु तेण य, चउभंगो हौति एगपक्खम्मि ।
पुव्वोद्वित वीसरिए, पदमा मति ततिपजेणं ।
संवस्स वि कायव्वं, णिच्छअओ कंकुलं व उक्कुलं वा ।
काइसजावमत्ते, गारवज्जाएँ कादिंति ॥
एसउणुपाज्ञकप्यो । पं० अ० ।

आयरियाणहावए, आयरिए म्हे वा, मोहतिगिच्छाए वा, प-
क्खिचच्चिचं वा, कालग वा, तस्स य सव्वसुव्वुओ तस्स ग-
च्छस्स को गणधारी कायव्वो?, तय(गाहा)(पव्वजा)ओ अस्स
सोसां निम्माएसु तस्स सइ ओ पव्वजगणक्खमो पित्तिय-
ओ पित्तियपुणो वा तस्स सइ कुञ्जव्वओ तस्स सइ नाणंय-
क्खिमो एगवायणिमो तस्स जो तम्मि खेले उवसंपणओ मा-
यरिओ सुहदुक्खिमो वा सुवनिमित्तं वा जा तय पगइओ
पदिच्छओ एयिण इवियाण अहिज्जेताणं कस्स किया जवइ,
सोसे ताव उचिपल्लए का कहा?, संसु अण्हिज्जेतसु पदि-
च्छए उविए आयरिएण निम्माविएण कुञ्जगणसंचयिए वा जो
सो आयरिओ उविवो नाऊण य बोच्छेयं सो कुलिय पाइस्सि
अथं ते चैव आयरिया कालगया मेवि आयरियेवा तं निमित्तं
चैव सीसववावरं तम्मि ममत्तं चरंता एस अहं सज्जेतिओ सो
वि एए मम सज्जेति एत्ति काऊण ममत्तं करेइ, एयं सो निम्मा-

शो आयरिया काज्ञगया स्तो तं गच्छं न सुयद्, परया भवंतं वषे
 इह, क्षय जे ताव आयरियस्स पडिच्छया तस्सि तद्विद्वस्समेव गे-
 पदह, सच्चिस्साहं जे आयरियसीसा ते न सउकपायि तस्स लका-
 स्से तेण कोरयवन्ना तेसु अणुद्विज्जेने सुत्तं तथ्य लभह सच्चिस्सा-
 हं ते स्सायएहं पदमवारिस्स, विद्दे प्पेत्तावसंपपम्भो जं सम्भह ते
 तं न्नाभंति । सन्तोवसंपपाय नादवम्मां दुविहं भसवप य य
 लज्जति । नइए वरिस्से जं सुहपुक्कमोवसंपपम्भो ज्ञनहं ते तस्सि
 ज्ञाभं सुहपुक्कियस्स लानो पुव्वस्यंथपो पक्खुा संथथा य च
 उत्ये वरिस्से स्वव्वं गेपदह । एवं अणुद्विज्जेने पुणु इमेऽकारस्स वि-
 ज्ञाया-तस्सायारियस्स सीसा सीसियाभो पदिच्छयाभो जं
 जीवं तेनायारियज्जणस्स उद्विद्धं अज्जायं तस्स पदमवारिस्से स-
 च्चिसमाचिचं वा लभह, तं सव्वं गुरुणो काज्ञगयस्स वि पणो
 विभागां भह इमेण उद्विद्धं पदमवारिस्से, तो पवाइयंतस्स जं स-
 च्चिस्साहं वितिभो विभाभो विइए वरिस्से पुव्वं उद्विद्धं, पक्कोव-
 दिद्धं वा, सव्वं पवाइयंतस्स तस्सां विज्ञाभो, एवं पदिच्छ-
 सीस्सस्स पदमवारिस्से आयरियए वा उद्विद्धं तेण वा पदिच्छ-
 पुण उद्विद्धं सव्वं गुरुणो विज्ञाभो, विइए वरिस्से आयरियएण
 उद्विद्धं पदमवारिस्से सच्चिस्सिविस्से सम्भह । तं सव्वं गुरुणो वि-
 ज्ञाभो पक्कोव इमेण उद्विद्धंते पवाइयंतस्स उठो विभाभो ,
 तइए वरिस्से आयरियए वा उद्विद्धं इमेण वा सव्वं पवाइयंतो
 गेगदह वा पर्यंतो एउविभागां सत्तमो, सीसणीयाए जहा पदि-
 च्छयस्स निगिह गमा एए द्दम गमा, पडिच्छयस्स । आयरियए
 वा उद्विद्धं इमेण वा पदमवारिस्से वेव गेगदह वाययंतो, एए प-
 क्कारस्स विभागां वा एवं उम्मादं जणियं । प० चू० ।

संघतिपाह्ननं त्विचयम्—

..... बोद्धं अणुपालापाकपे कर्णं तु ।
 अणुपालंति सुविहंगा, गच्छं विहिया उ जणं तु ॥
 परिकधी परिकधं, तभो य वुविदो पुणो वि एक्को ॥
 उवसगस्सलकाज्ञ-व्वसे य अज्जणए परिवट्ठी ॥
 परियट्टियव्वयं सखु, परियट्ठी वेव होति एगट्ठं ।
 समया समणीभं वा, वुविहं परियट्टिव्वं तु ॥
 समएपरियट्ट वुविदो, आयरिभो वीयभो उववज्जाभो ।
 संजतिपरियट्टो पुण, तिविहो तु पवत्तणी तउया ॥
 समणपरियट्टि वुविदा, विहपरियट्टी य अविहिते वेव ।
 जतिणि परियट्टियव्वो, नियमेण य कारणा णिविणा ॥
 ताभो बद्धवसगा, तेणादिदुसंत्तराणि सेवणाणि ।
 कालवसेण य संजति, जायति छोमस्स जं तत्तं ॥
 तम्हा सव्वपयत्ते-ण रक्खियव्वो उ ताउ णियेवणं ॥
 ण वि सरती सोतव्वो, मा होज तासि तु विणासो य ।
 संवेगतिपरिणतो, तासं परियट्टो अणुणुत्तो ॥
 हांति पुण अणरिहो सखु, परिकधी तु इमो तासि ।
 अणुहस्सुए अणयि-त्ये तरुणे य मंधपम्मिप ॥
 त्पणीज्ञगट्टा, अविट्ठी दोणे य गहणे य ।
 बहसुयणीतज्जहणो, आत्तासगमादि जाव आयारो ।
 तेयमी य बहुसुय-तिरहसुमाणा रतो तरुणे ॥

जो उज्जेगं न कुणति, चरणे सो होति मंधपम्भो तु ।
 अणुहसुयट्टावादी, सरीरकिरिआ य कट्ठपी ॥
 णिकारणे अणुदा, संजति वसही तु वच्चए जो तु ।
 णिकारणमविट्ठीए, जो देती गिहहती वा वि ॥
 एयारिसे तु अज्जा-ण परिकधी तु ण कपप्पि ।
 कारुण्हिं इमंहिं तु, गम्मत उ ज्ञाणवत्सयं ॥
 उवत्सए य गेसएहं, उवही संयपाहुणे ॥
 सेहड्डवणुपेसे, अणुनाजंढणे णो ॥
 अणुपज्जअगलियाभो, वीयारे पुत्तसंगमे ।
 संवेहणुवोविणिये, बोसट्टाणिद्विए तेहिं ॥
 अरिहो उ णरिहो वा वी, परियट्ठी एवमाहिंभो । प०पा० ।
 इयाणि अणुपालापाकप्यो (गहा) (परियट्टियव्वयं) परि-
 यट्टिव्वयो भाणियव्वो परियट्टिव्वो ताव आयरियउववज्जाभो
 साहुणं संजइणं आयरियउववज्जाभो पवत्तणीं परियट्टियव्वयं
 वुविहं साहु साहुणंभो जतीणं पुण एक्को वुविहो विहि-
 परियट्टिभो अविहपरियट्टिभो य तथ्यं संजइभो नियमा
 परियट्टियव्वोभो, कि कारणं बहुवत्तमां तारिस्से तेयाणि
 सुव्वेवाणि य तुसव्वाराण काज्ञवसेणं संपयं पक्खुा होगोपंतो
 जाभो, एयाभो जरदाहमि पुव्वपरिपाह्नियाभंते वुट्ठं निवारिंति ।
 तम्हा नियमा परिपाह्नियव्वोभो साहु भइया केरिस्सो पुण परि-
 यट्टिव्वो ? (गहा) (अणुहस्सुए अणुहस्सुएण) न कपपे अणयि-
 यणु वा गीयथां तो तरुणां मंधपम्भो वा नाणुणाभो यम्मसट्टि-
 भो वि जो कट्ठपसल्लो सो वि णाणुणाभो अणुद्वए जाइ संज-
 इणं वसहिं आव्हिदायगो नाम निकारणे देह, गिहदह वा,
 परिस्सो न कपपे गणधरो प्राड्जियाणं [गहा] [उवत्सए] अणु-
 कागमभो नाम अं इमाहं कारणाहं मोक्खण जाहं काहं पुण ताहं
 कारणाहं उवत्सए य गेसएहं उवत्सभो संजयिणं संजयदि
 पडिलेहे तु दायव्वो तमुवत्सयं गणधरो दाउं वज्जेजा, निहोसो
 गिज्ञाणए अज्जाए श्रोसहो सउजपयणोयणं वा दाउं वव्वेज्जा
 उवविसिउं वा ; अज्ञा वा अगिला ; जयाए गिज्ञाणियाए संजइए
 बोह निज्जुत्तिगमए ण उवत्सए वा विनिमित्तिहंमंतरोए वसंतो
 निहोसो ; कयहो उवत्समेण संजइणं गणधरो उवत्समं पवत्तणी-
 य दाउं पक्खेजा संघपणुद्वए कुलधराइआ गया वट्ठिमंतो वा
 पव्वभो रायसेवागरे अमच्छेडिगणनायगामाभरुवड्ठोममा
 इप तज्जणनिमित्तं निज्जाएराहं परएववणुनिमित्तं विणिया वक्खेजा
 सेहड्डवणु वा वायुत्तो पव्वभो मोयपणुणोपदि निज्जुत्तायाहं
 कट्टिभो मा एपस्सि महिद्विये होउत्ति अमच्छाईण ममांतो
 कट्टिए ताहं आहावेति दवदवत्सए ताहं झतट्टाणिय वेज्जाए
 पसावेति, अस्स इवेज्जाए गेवइहनियदि काकण संजइणं पदिस्स-
 यमुयैति, ताहे तथ्य अमणुणुसंघामोए कजियाहंपरियाहणिय-
 सेयं काकण स्सहाभो भोसदंहे संति अइहाभो अखिं करंति ।
 जहा संजइ पदिस्सगति खरकम्महा अणयणं मा वोहं करंतिहा,
 पदिस्सहं करंति ; एवं नाइक्कमद वडिहिसिं वा गणधरो अंगसु-
 यल्लंउक्कपणं वक्खेजा समुहिसिउं अणुजाणिये वा वि वक्खेजा
 वरं खुट्टियादगोपेणं आयरियएण उद्विद्धंति काकण मंरुणे वा
 संजइण उपपण्येण गणधरो उवत्सामेउं वक्खेजा पवत्तणीं वा
 काज्ञगया तथ्य अणुत्सासणनिमित्तं, अणुं वा पवत्तणीं उवेउं
 वक्खेज्जा अणुपज्जए वा सिक्खेत्तज्जकमादए णय पुउज्जाणि-

मिर्षं शोसदं वा दादं वच्चेज्जा, अगणिकाय वा उद्धिभो संजरेषु उचस्सओ मा उज्झिहरे, उज्जे वा अन्न— उवस्सय्यं कादं वच्चेज्जा, आउत्तकाय वा नरेणुरिय उद्धिपुं जयणं उवकरणं संजरेओ वा मा उउच्चेज्जा, आउत्तकाय बालमाय वस्सिदं संजरेओ वच्चे वा दादं वच्चेज्जा, विचारभूमि वा पण- मन्ना उद्धा वा संजरेओ वच्चे वा दादं वच्चेज्जा, सुतो भाया वा अज्जाय पव्वहओ, सो य अणुदेसं गणुण पुव्वगए कालि- याणुओगे व निम्माओ आनाओ तं गणधरो घेत्तं वच्चेज्जा, सं- जेहं वा करेठकामो तथेव एसं दादं संजिहाय वा बोसिरणे बोसराय वा अणुसोद्धि दादं वच्चेज्जा, पसा विहं, तन्विष- रीया वविहं । १० सू० ।

अणुपा (वा) लयाणुक्क-अनुपालनाणुक्क-न० । प्रत्यावथा- ननेदे, आव० ।

कंतारे दुब्बिनक्वे, आयंके वा महइ समुप्ये ।

जे पालिअं न जग्गं, तं जाणुअणुपालनाणुक्कं ॥ ३१ ॥

कान्तारे अरतये, दुब्बिसे कावविअमं, आत्ते महति समुप्ये सति यपासितं न अमं तज्जानोअणुपालनाणुक्कमिति । " पथ उमामहोसा सोलंन, उण्णायणए वि दोसा सोल्लस, एसणाए दोसा इस्स, एए सव्वे बायालीसं दोसा निच्चपमिस्सिद्धा; एए कंनारदुब्बिक्खाइस्स न अंजजंति " इति गाथायैः ॥३३१॥ आव० ६ अ० । स्था० । आ० सू० ।

अणुपासिता-अनुपालय-अप्य० । यथा पूर्वेः पालितं तथा पश्चात्परिपाल्येत्यर्थे, कल्प० ।

अणुपालिय-अनुपालित-वि० । आत्मसंयमानुकूलतया पा- लिते, स्था० ८ ग० । दशा० ।

अणुपासमाण-अनुपश्यत्-वि० । भूयः पश्यति, " किं मे परो पासहं किं च अप्पा, किं वा ह्यु अलियं न विचउज्यामि । इव्वेव समं अणुपासमाणा, अणुपाणयं नो पदिअं व कुज्जा " वश० ३ सू० ।

अणुपिट्ठ-अनुपुट्ठ-न० । आनुपूर्व्याव, 'अणुपिठ्ठिकारं' सम० । अणुपुण्ड-अनुपूर्व-न० । कामं, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । स्था० ।

अनुपूर्व्ये-न० । मूलादिपरिपाठ्याम्, औ० । "अणुपुव्वसुजा- यीहलंशुओ" अनुपूर्व्येण परिपाठ्या सुट्ठु ज्ञात उतपयो यः सोऽणुपुव्विज्जातः । एवञ्चानुपुव्वित्तकात्कमजातो हि बलकपा- दिगुणयुक्तो भवति, स चासौ दीघेष्वाङ्गूलो दीघेपुव्वेति स तथा, अनुपूर्व्येण वा एव्वलसुदमसुदमतरलकण्ठेण सुजातं दीघेष्वा- ङ्गूलं वस्य स तथा । "अणुपुव्विज्जायिगलक्को, अणुपुव्वसुजाय- यीहलंशुओ" स्था० ४ उ० ४ उ० । "अणुपुव्वसुजायवदलव- द्ढभावपरिणया" आनुपूर्व्या मूलादिपरिपाठ्या सुट्ठु जानाः आ- नुपूर्वीसुजाताः, क्विचरः स्निग्धतया देदीप्यमानाच्चविमन्तः, तथा हृत्तजावपरिणुताः । किमुक्कं भवति-एवं नाम सर्वो- सु दिणु च शाकाभिन्नं प्रवृत्ता यथा वतुत्ताः संजाता इति । आनुपूर्वीसुजाताश्च ते क्विचरश्च आनुपूर्वीसुजातक्विचराः हृत्त- भावपरिणुताः । रा० । आ० । जी० । "अणुपुव्वसुजायवप- गम्भोरसीयलजलाओ" आनुपूर्व्येण क्रमेण नीचस्तरं भाव- रूपेण सुट्ठु अतिशयेन यो जातश्चमः केदारं, जलस्थानं तत्र गम्भोरसलम्भतलं शीलतं जलं यासु ताः आनुपूर्व्यसुजात- वप्रगमभीरशीतलजलाः । रा० । आ० । जी० । "अणुपुव्वसु-

संहयंगुलोए" आनुपूर्व्येण क्रमेण वच्चेमाना हीयमाना वा इति गम्यते । औ० जी० । पूर्वेत्या अणु, लघव इति गम्यते, अनुपूर्वाः । किमुक्कं भवति-पूर्वेस्था उत्तरोत्तरा नन्नं नखेन हीनाः, " गह शरेशु हीणउ " इति सामुद्रिकशास्त्रम्वचनते । अथवा-आनुपूर्व्येण परिपाठ्या वच्चेमाना हीयमाना वा इति गम्यते, सुसंहता क्विचरला अणुव्वः पादाप्रापयथा येषां ते तथा । आनुपूर्व्येति शिष्यशारदाकुलोत्तमहयं, तासांमव नन्नं, नखेन हानित्वाव । ज० २ वस्त० ।

अणुपुव्वसो-अनुपूर्वशस्-अप्य० । अनुक्रमेणेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अणुप्यय-अनुपतित-वि० । उड्ढिने, " आगामेऽणुप्ययओ ललियच्चलकुडलतिरीड्ढी " उच० ६ अ० ।

अणुप्यमथ-अणु (णु) प्रग्रन्थ-पुं० । अनुरूपतयौचित्येन विरतेः नत्ययुगोद्यदाव, अणुरागंता सूत्रोऽप्यन्योऽपि प्रमानं प्रमथो घनादियस्य यस्माद् वाऽसावपुत्रप्रमथः । अणुपूर्व्यन्तर्भू- तत्वाद्युप्रमथो वा । परिग्रहविरते, स्था० ६ उ० । अणुप्यस्य-अनुपुव्व-वि० । वचंसानसमयेऽपिचमाने, नि० सू० ५ उ० । अलस्ये, ग० १ अधि० । (' नमोकार ' शब्दे तदुत्पन्नानुपपन्नव द्योयिष्यते)

अणुप्यदादं-अनुयदातुम्-अप्य० । पुनःपुनर्दातुमिन्त्यर्थे, प्र- ति० । उपा० ।

अणुप्यदा (या) ण-अनुपदान-न० । पुनःपुनर्दाने, आव० ६ अ० । आचा० । परम्परकेण प्रदाने, व्य० २ उ० । गृह- स्थानां परतीर्थिकानां स्वयूच्यानां वा संयमोपघातके दाने, जेणुहं गिव्वेहे भिअस्सु, अणुपाणां नट्ठाविहं ।

अणुप्यपाणमोसं, तं विज्जं परिपाणिया ॥ आचा० १ श्रु० ९ अ० ।

(' धम्म ' शब्दे अस्या व्याख्या)

अणुपपनु-अनुप्रभु-पुं० । युवराजे, सेनापत्यादौ च । नि० सू० २ उ० ।

अणुपपाएत्ता-अनुप्रवाचयितु-वि० । पाठयितरि, ग० १ अधि० । स्था० । "आयरियवउभाए गणांसि समं अणुप्य- वायसा जग्गह" नृनीयं संग्रहस्थानम् । ग० १ अधि० ।

अणुपपाएमाण-अनुप्रवाचयत्-वि० । वर्णानुपूर्वाक्रमेण पठ- ति, ज० ३ वस्त० ।

अणुप्यवाय-अनुप्रवाद-पुं० । अनुप्रवदति साधनानुकूल्येन निदिप्रकरणं प्रवदतीति । न० । नवप्रवृत्ते, स्था० ९ ग० । विज्ञे० । आ० म० डि० । 'विद्याऽनुप्रवादम्' इत्यपरं नाम । म० । अपुण्यवसण-अनुप्रवेशन-न० । मनसि लथाऽऽस्वदीभवने, उच० ३ अ० ।

अणुप्यवेमेत्ता-अनुप्रवेश-अप्य० । "अन्नयरंति अन्नंति सित्तं सोयमंसि अणुप्यवेमेत्ता" नि० सू० १ उ० ।

अणुप्यस्य-अनुप्रसूत्-वि० । जाते, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अणुप्याइ (णु)-अनुपातिन-पुं० । अनुपतीतित्युपाती । अटमाने युत्पमाने, नि० सू० १ उ० ।

अणुपिप्य-अनुमिय-त्रि० । मियानुकूले, " अन्नस्स पायस्सि-
हलोह्यस्स, अणुपिप्ये भासति सेवमाणे" अनुमियं ज्ञाप्ते
यद्यस्य त्रियं तत्स्य वदन्तेऽनु पक्खाद् भावते अनुज्ञाप्ते ।
सुत्र० १०७ अ० ।

अणुपुष्टा-अनुप्रेक्षा-खि० । अनुप्रेक्षणमनुप्रेक्षा । चिन्तनि-
कायाम्, स्था० ५ त्रि० ३ इ० । अर्थचिन्तने, ध० ३ अर्थि० ।
प्रस्थापानुचिन्तने, ग० २ अर्थि० । 'सुभानचिन्तनिकायाम्'
उत्त० २ अ० । द्वा० । अनुप्रेक्षा स्वाध्यायविशेषः । स तु
मनसस्तत्रैव नियोजनाद् ज्ञायति । उत्त० २ए अ० । प्रथ० ।
अवधानं, प्रति० । तद् विधिरसी- " ज्ञिणवत्प्रययणपायद-
णयउण मुक्ययणभो सुणिययुव्वे । एगममणो धणिये, विसे
चित्तेइ सुयवियारे" ११॥ ध० २० ।
एतस्याः फलम्-

अणुपुष्टाएणं भंते ! जीवे किं ज्ञायइ ? अणुपुष्टाएणं
अनुप्रेक्षाओ सच्च कम्मपपर्ययीओ धणियेवंपणवक्का-
ओ सिद्धिबंधणवक्काओ पकरेइ, दीहकालद्धिइयाओ
हस्सकालद्धिइयाओ पकरेइ, तिक्वाणुभावाओ मंदाणुजा-
वाओ पकरेइ बहुपएसमाओ अपपएसमाओ पकरेइ, आ-
उं कम्मं सियवेषइ, मियनो वंधइ, अमायावेयण्णिजं च
णं कम्मं नो भुज्जेनो तुज्जां उवाचिणइ, अणुपुष्टाएणं च णं अण-
वदमं दीहमक्कं चाउरंतंसारकंतरं सियमेवे वीईवयइ ॥
हे जन्त ! स्वाभिन् ! अनुप्रेक्षया सूत्रार्थचिन्तनिकाया, जीवः
किं ज्ञायति ? । शुद्धाह-हे दिशण ! अनुप्रेक्षया कृत्वा जीवः
सप्त कर्मप्रकृतौ ज्ञानावरणदर्शनावरणवैदनीयमोहानियमनागोश्र-
मन्त्रावपणानां सत्तायां कर्मणां प्रकृतयः एककालचतुष्पञ्चाशत्प्र-
माणाः सप्तकर्मप्रकृतयस्ताः सप्तकर्मप्रकृतौ धैषिण्यवधनयुक्ताः
मादकचयनबद्धाः, निष्काचितबद्धाः, शिथिलबधनबद्धाः प्रकरोति ।
यतो हि अनुप्रेक्षा स्वाध्यायविशेषः, स तु मनसस्तत्रैव नियोज-
नाद्भवति, स चानुप्रेक्षा । स्वाध्यायो हि आरधयन्तं तपः, तप-
स्तु निष्काचितकर्माणि शिथिलीकर्तुं समर्थं प्रवर्त्येव । कथंभूनाः
सप्त कर्मप्रकृतौः, आयुर्वैजाः, प्रकृष्टभावहेतुत्वेन आयुर्वैज्यनिय-
त्यायुर्वैजाः । पुनर्हे शिष्य ! अनुप्रेक्षया कृत्वा, जीवस्तापव कर्मप्र-
कृतौ दीर्घकालस्थितिकाः शुभाध्यवसाययोगाद् स्थितिस्साद्ग-
नामपद्वारेण ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति । प्रसुरकालयोग्यानि
कर्माणि स्वल्पकालभोग्यानि करोतीत्यर्थः । पुनस्तीमानुभावाः
कर्मप्रकृतौ मन्दानुभावाः प्रकरोति, तीमाः प्रकरोऽनुभावा रसा
यासां तास्तीमानुभावाः, ईदृशीः कर्मप्रकृतौ मन्दां निर्बलाऽनुजा-
वां यासां ता मन्दानुभावाः प्रकरोति, तादृशीः प्रकरोणं विद्वधा-
ति, पुनर्बहुप्रदेशात्प्रम अल्पप्रदेशात्प्रमाः प्रकरोति । बहुप्रदेशाप्रं कर्म
पुनर्बहुप्रमाणं यासां ताः बहुप्रदेशात्प्रम, एतादृशीः कर्मप्रकृतौ
रल्पप्रदेशात्प्रमः प्रकरोति । इत्यनेन अनुप्रेक्षयाऽष्टमभ्यनुविधाऽपि
बन्धः-प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभावाबन्धः प्रदेशबन्धः अज्ञाने-
न परिणमतीत्यर्थः । अत्र च आयुर्वैज्यमित्युक्तम् । तत्प-एकस्मिन्
भवे सकृदेव अन्तर्मुहूर्त्तकोशे एव आयुर्जीवो भज्जाति । च पुनः
आयुःकर्मोऽपि स्याद् भज्जाति, स्याद्भज्जाति, संसारमध्ये ति-
ष्ठति चेत्तर्हि अष्टमभ्यायुर्न भज्जाति । जीवेन नृनो यमगमादिशुधा-
युक्तेन आयुःकर्म बध्पते, अन्धत्वात् भध्पते । तेन आयुःकर्मबन्धे
निश्चयो नाकः, इत्यनेन मुक्तिं प्राप्नोति तदा आयुर्न अष्टतीत्युक्तम् ।

पुनरनुप्रेक्षया कृत्वा जीवोऽप्रतावेदनीयं कम्मं शारीरादिदुःख-
हेतु च कर्मः । अथाध्याद्व्याख्याऽऽनुप्रकृतौ नो भूयो नृप कपचि-
नोति । अत्र भूयोजनोपग्रहणेन एवं हेतव्य-कश्चित्पतिः प्रमा-
स्थानिके प्रमाद् भजेत् तदा भज्जात्यपि इति हाईव । पुनरनुप्रेक्ष-
या कृत्वा जीवश्चातुरन्तसंसारकान्तरं क्षिप्रमेव (वीईवयइ
इति) व्यतिमज्जाति । कत्वाऽऽनुगतिस्तद्वृणा भन्ता प्रययथा यस्य
तत् चातुरन्तं, तदेव संसारकान्तरं संसारारण्यं, तत् श्रीश-
नुसुहृष्यति । कीदृशं संसारारण्यम् ? अनादिकम-आदिरभावा-
द् आदिरहितम् । पुनः कीदृशं संसारकान्तरम् ? अनवद्यप्रम-
नागच्छत् अत्रं परिमाणं यस्य तद् अनवद्यप्रमं, अनन्तमि-
त्यर्थः । प्रवाहापेक्षया अनाद्यनन्तम् । पुनः कीदृशम् ? दीर्घा-
ध्वं दीर्घकालं, 'दीर्घमक्कं' इत्यत्र अत्रको लाक्षणिकः प्राकृ-
त्यात् ॥ उत्त० २ए अ० । तत्रानुप्रेक्षा चिन्तनिका, तथा
प्रकृष्टशुभभावोत्पत्तिनिबन्धनतया आयुष्कवजाः सप्त कर्मप्रकृ-
तीः, (धणियं तिलं) वाटं बन्धनं श्लेषणं, तेन बद्धाः, निष्काचिता
इत्यर्थः शिथिलबधनबद्धाः प्रकरोति । कोऽर्थः ? अपवसं-
नादिकरणयोग्याः प्रकरोति, तपोरूपत्वाद्द्वयाः तपसश्च निष्का-
चितकर्मकृपणेऽपि कृतव्यात् । उक्तं हि-" तवसा उ निष्काइ-
याणं व चि" दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरो-
ति, शुभाध्यवसायवशात् । स्थितिस्साद्गनामपद्वारेणेत्येति भावः । ए-
तन्मैत्र्यं, सर्वकर्मणांमपि स्थितेरष्टमव्यात् । यत् उक्तम्-" स-
व्वासि पि डेतीथो, सुभासुभाणं पि होति अस्सुभाओ । माणुस-
तेरिच्छदेया-उयं च मोणुण ससामो" ११॥ तीमानुभावाऽऽनु-
स्थानिकारसत्वेन, मन्दानुभावस्थित्यानिष्कारसत्वाद्युपादानेन
प्रकरोति । इह चाष्टमभ्यनुप्रेक्षया एव युज्यते । शुभभावस्य
शुभासु तीमानुभावहेतुत्वात् । उक्तं हि-"सुभयदणं विसे-
हिपं तिक्वमसुभाणं संकिंजेसं ति" अत्र हि-"विसेहिपति" शु-
प्रजावेन तीमिसत्यनुगतां भज्जातीति प्रकृतम् । कश्चित् विद्वान्पि ह-
इयते-"बहुपएसमाओ पकरेति" ननु कर्माभिप्रायेणसप्तकर्मजाः
सत्तन्व्यभिधानम्, अणुपुष्क एव संयतस्य संभवात्सदैव चानुप्रे-
क्षा ताविकी । न च अष्टमजावेन अष्टमप्रकृतौ शिथिलतादिकरणं,
संक्षेपहेतुकत्वात् । अह-शुत्रायुर्वैजाऽप्यस्याः किंन फ-
लमुक्तम् । उच्यते-आयुष्कं च कर्म स्याद्भज्जाति, स्यात्प्र बध्पती ।
तस्य विभागादिशेषायुक्ततायामेव बध्पसंज्ञवान् । उक्तं हि-
"सिय तिमागतित्त्राणं" इत्यादि । ततस्तस्य कादाचित्कत्वेन
धिवत्कृतत्वात् । तद्वत्तत्कस्यचित् शुक्तिप्राप्तेः तद्बध्पाननिधान-
मिति भावः । अपरं आश्रयात्वेदनीयं शारीरादिदुःखहेतु कर्म ।
अश्रयाद्व्याख्याऽऽनुप्रकृतौ नो भूयो नृप उपचिनोति । भूयो-
भूयोपग्रहणं त्वन्यतमप्रमादत्तः, प्रमत्तस्यतनुगुणस्थानवसितार्थायं
तद्बध्पस्याऽपि उपचिनोति । अन्ये त्वेवं पठन्ति-" सायावेयणि-
उजं च णं कम्मं भुज्जां भुज्जां उवाचिणोति" इह च अष्टमप्रकृ-
तिसमुच्चयार्थेऽश्रयशब्दः, शेषं स्वपरम् । अनादिकर्मोद्वैरसंभ-
वात् । चः समुच्चयार्थो योच्यते । (अणुवदमं सत्) अन-
वद्यकृद्बध्पं परिमाणं यस्य सदाऽऽविशानन्तपरिमाण-
त्वेन साध्यमवधमोपग्रहणे इत्यर्थः, तम् । प्रवाहापेक्षे चैतन् ।
अत एव (दीर्घमक्कं) त्रिकापो लाक्षणिकः । दीर्घाध्वं दीर्घं
कालं, दीर्घां वाऽऽस्था तत्परिभ्रमणे तनुकर्मकपो मार्गो यस्मिन्स-
त्तथा । चत्वारः चतुर्णां तिलवृणा भन्ता अत्रवथा यस्मिन्सत्त्व-
नुरन्तम्, संसारकान्तरं क्षिप्रमेव (वीईवयइ इति) व्यतिमज्जाति,

अशुभेष्टा

विशेषशान्तिनामनि । किमुक्तं भवति-मुक्तिप्रदायामिति । उक्तं २६ अ० । अशु पश्चात्, प्रेक्षणप्रत्ययान् । धर्मध्यानादिः पश्चात्प्रत्ययान्-लोचने, अ० २६ श्लो० ८ उ० । अशु० । अशु० । उक्तं । " धर्मस्तस्य सं भागस्तस्य चकारि अशुभेष्टाश्च " इत्यादि धर्मध्यानादिशब्देभ्यश्च इत्ययम् । अशुभेष्टानां मुहुर्मुहुर्मुमुक्षुमरणं च । " अशुभेष्टाश्च बहुमासीय जामि काउस्तस्मिन् " अ० २ अशु० । अशु० । नत्वाथानुचित्नायाम्, ल० ।

अशुभेष्टायन्-अनुभेष्टित्यन्-त्रि० । अशुभेष्टान्वितविधना परिभाषणीय, पं० ए० १ सू० ।

अशुभान्-अनुभेष्टी-पुं० । अनुभावे, " लोहस्त्वेषशुफलासो, मन्त्रे अचययामवि " इश० ६ अ० ।

अशुभैष-अनुभेष्ट-पुं० । सातत्ये, स्था० ६ टा० । अनुभेष्टः संतानः प्रवाहोऽविक्लेद इत्यनर्थान्तरम् । यो० १ विय० । अत्यविक्लेदशुभपरम्परया देवभक्त्युज्ज्वलभक्त्युत्पाणपरम्परारूपे सन्ताने, यो० १३ वि० । तत्परिणामाविक्लेदतः प्रकृत्यापितायाम्, पञ्चा० १६ वि० ।

अशुभेष्टउक्त-अनुभेष्टउक्त-न० । प्रयोजनादिकरिसंबन्धान्मिथेयवस्तुषु, तच्च अन्धादावभिधानव्ययम् । अशु० १ अ० । अत्र कश्चिदाह-नर्थाधिगतशास्त्रार्थानां स्वयमेव प्रयोजनादिकरिसंबन्धे अभिष्यन्तीति निरर्थकं पर शास्त्रार्थप्रयोजनाद्युपन्यास इति चेत् । न । अन्तधिगतशास्त्रार्थानां प्रवृत्तिहेतुतया सफलत्वान् । अथ प्रेक्षावतां प्रवृत्तिनिश्चयपूर्विका भवन्ति । न च प्रयोजनाद्युक्तैः अनधिगतशास्त्रार्थानां तन्निश्चयोपर्यन्तः, वचनस्य बाह्यार्थे प्रति प्रामाण्याभावान् । न च संशयतः प्रवृत्तिपरपश्चात्, प्रेक्षावतां क्षान्तप्रसङ्गान्, ततः कथं सार्थकता अचिकृतप्रथेऽज्ञानाद्युपन्यासस्य ? तदेतदपरिनिर्दिष्टमित्यतः । वचनस्य बाह्यार्थे प्रति प्रामाण्याभावान्, अन्यथा सकलव्यवहारांश्च प्रत्येकः । विवृतिभेदे च्वात् प्रपञ्चते । धर्मसङ्गतीटीकादाविति ततः परिभाषणीयम् । अथ यदि वचनस्य बाह्यार्थे प्रति प्रामाण्यं तर्हीत एव सत्यमभिधेयादिरिषिज्ञानभावादिभिरर्थिका शान्ति प्रेक्षावतां प्रवृत्तः, फलाभावात् । प्रवृत्तौ हि फलमभिधेयादिरिषिज्ञानं, तच्चाचिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासत एव सिद्धमिति । तदेतद्बालशिशुवृत्तिभेदतः अचिकृतं हि प्रयोजनाद्युपन्यासेन प्रयोजनादीनामधिगतिसंभेदः । सामान्येन नाशेषविशेषपरिज्ञानपुरस्सरः, अचिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य सामान्येन प्रवृत्तत्वात् । सामान्येतिष्ठ हि वचः सामान्यं प्रतिपादयति, विशेषाद्युक्तं विशेषम् । अतो वचनप्रामाण्यदाचिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासवाक्यतः सामान्येन प्रयोजनादिकेऽधिगतं कथं तु तामास्माकमविशेषं सामान्यिकादिरिषिज्ञानं स्यादिति विशेषपरिहानाय भवति प्रेक्षावतां शान्ति प्रवृत्तिः । अन्वयश्च यदि वचनस्य न प्रामाण्यमनुपगम्यते तथापि न काश्चिद्विचिकृतार्थेऽस्ति । अ० म० प्र० ।

अशुभेष्टरूपेण-अनुभेष्टरूपेण-पुं० । अनुभेष्टं तिनन्तीति अनुभेष्टरूपेण-तदादिः । तिननुभेष्टनाऽऽपादनादीं कर्मरूपयोगी-पाय, " विलापं कर्मणं, विसर्गं चिद्य होह स्ववृत्ताभो वि । अशुभेष्टरूपेणार्थाई, सों उण एवं ति पायवे, " ॥१॥ पञ्चा० १६ वि० ।

अशुभेष्टभाव-अनुभेष्टभाव-पुं० । अनुभावस्य सत्तायाम्, पञ्चा० ५ वि० ।

अशुभेष्टजावविहि-अनुभेष्टजावविधि-पुं० । प्रत्याख्यातपरिणामाविक्लेदभावस्य विधाने, पञ्चा० ४ वि० ।

अशुभेष्टवचनेद-अनुभेष्टवचनेद-पुं० । अत्यन्तराम्भकाणामितरेषां च क्रमणां बन्धभावकारणं, शा० १५ टा० ।

अशुभेष्टमुक्तिजाव-अनुभेष्टमुक्तिद्विधाव-पुं० । सातत्येन कर्मकृत्यापशमनात्मनां निमित्तत्वसदुत्पाये, पञ्चा० ७ वि० ।

अशुभेष्टावशयण-अनुभेष्टावशयण-न० । अशुभजावज्ञानकर्म-नुभेष्टवचनेद, पञ्चा० १५ वि० ।

अशुभेष्टिभ्रं-देशी-दिकायाम्, देशं ना० १ वर्ग ।

अशुभेष्टि (न)-अनुभेष्टि-त्रि० । अनु-बन्ध-गिति । हेतौ, अ० २ अशु० । प्रकटाटकादीनां सातत्यविशिष्टे अननुभेष्टिदोपरहितं प्रतिनेत्वनं, स्था० ६ टा० ।

अशुभेष्ट-अनुभेष्ट-त्रि० । सदानुगतं, जी० ३ प्रति० । अ० म० । शूरीते, ति० चू० १ उ० । निम्नरमुपचिते, जी० ३ प्रति० । सतते, प्रश्न० १ सश्र० टा० । स्थो० । अव्यवच्छिन्नं, प्रश्न० १ आश्र० टा० । प्रतिबंधं, शा० २ अ० । श्यामं, शा० २ अ० । पूर्वोपाहितेऽव्यवच्छिन्नं, उ० ५ अ० ।

अशुभेष्टशुद्ध-अनुभेष्टशुद्ध-पुं० । सततशुद्धतायाम्, " अशुभेष्टशुद्धापरकर्मसंगतगह्वरेणानुभेष्टवृत्त्यविवरणमुद्दिष्टविवारि " प्रश्न० ३ आश्र० टा० ।

अशुभेष्टनिरन्तर-अनुभेष्टनिरन्तर-त्रि० । अत्यन्तनिरन्तरे, " अशुभेष्टनिरन्तरेणानुभेष्टवृत्तिरितिः अत्यन्तनिरन्तरवेदना येयुं न तथा । प्रश्न० ३ आश्र० टा० ।

अशुभेष्टनिश्चय-अनुभेष्टनिश्चय-त्रि० । अत्यविक्लेदाकार्थभावे, " अशुभेष्टनिश्चयेन, परंपर्यं येयण उद्गतिं " प्रश्न० ३ आश्र० टा० ।

अशुभेष्टधर्मकला-अनुभेष्टधर्मकला-त्रि० । अनुबद्धं सततं धर्मध्यानमाहाविनयादिकलां येषां तदनुभेष्टधर्मध्यानाः । सततप्रवृत्तधर्मध्याने, प्रश्न० १ सश्र० टा० ।

अशुभेष्टसंप्रप-अनुभेष्टसंप्रप-त्रि० । अनुबद्धः सततसत्यवच्छिन्ना रोम्यत्वं प्रसंगं विस्तारो यस्य सोऽनुभेष्टसंप्रपसरः । निम्नरमुक्ते, ग० ७ अशु० ।

अशुभेष्टविगह-अनुभेष्टविगह-त्रि० । सदा कलहशालि, पं० ए० ३ श्लो० ।

निश्चं विगहशीलो, काठज य नाशुतप्य पञ्चा । न य खामिपं पसीय, सपकपरपकयशो वा वि ॥

नियं सततं विगहशालिः कलहकरणमन्तनायः कृत्वा च कलहं नाशुतप्ये पश्चात् । यथाह-किं कृते अथा वापेनेति । तथा क्षमितोऽपि, क्षम्यतां ममायमपराधं इति भाषणोऽपि स्वपक्षपरपक्षकार्ये, न च नैव, प्रसीदति प्रसन्नतां नृजति, तौत्रकाया-व्यव्यान् । अत्र च स्वपक्षे माशुत्वास्वीकारं, परपक्षे गृहस्थवर्गः । एषोऽनुभेष्टविगह उच्यते । इ० ३ श्लो० ।

अशुभेष्टान्तर-अनुभेष्टान्तर-पुं० । सदां वेत्तव्यतायामादेशप्रती-

पङ्कतयाऽनुयायिनां वेद्यन्धरा अनुबेलंधराः । स्वनामख्या-
तेषु नागराजेषु, जी० ३ प्रति० ।

तद्दनेत्रा, तदावासपर्वनाश्च यथा—

कदि एं नंतै ! अणुबेलंधरणागरायाणो पल्लता ? । गो-
यमा ! चत्तारि अणुबेलंधरणागरायाणो पल्लता । तं जहा-
ककोटप, कदमप, कदलासे, अरुणपत्रे । एतेसि एं भंते !
चउएणं अणुबेलंधरणागराएणं कति आवासपर्वना प-
एणता ? । गोयमा ! चत्तारि आवासपर्वना पएणता । तं
जहा—ककोटप, कदमप, कदलासे, अरुणपत्रे । कदि एं भंते !
ककोटमगस अणुबेलंधरणागराएणं ककोटपएणं आवासप-
र्वना पल्लसे ? । गोयमा ! जंबुद्वीपे द्वीपे मंदरस्स पव्वयस्स
उत्तरपुरचिउमणं लवणसमुदं बायालीसे जोयणसयाई उ-
ग्गाट्टिका एयं पं ककोटयस्स णागरायास्स ककोटप पाप
आवासं पएणत्ते, सत्तरसएकवीसाई जोयणसयाई, तं चेव
पमाएणं गोयुजस्स, णवरिं सत्तरयएणप अच्चे जेव निर-
वनेमं जाव मीहाणमं सपरिवारं अच्चे म वहुं उप्पत्ताई
ककोटमगपाई, सेमं तं चेव, णवरिं ककोटमगपव्वनस्स
उत्तरपुरचिउमणं, एवं चेव मव्वं कदमगस्स वि सो चेव ग-
मओ अपरिमंथिओ, णवरिं दाहिणपूरचिउमणं आवासं
विज्जुजिउभावी रायहाणी, दाहिणपूरचिउमणं कति जा
सें वि एवं चेव, णवरिं दाहिणपूरचिउमणं कदलामा वि
रायहाणी, ताए चेव दिमाए अरुणपत्रे वि उत्तरपुरचिउ-
मणं गयट्टाणीं वि, ताए चेव दिमाए चत्तारि वि एणपमा-
णा सत्तरयणाणमाया य ।

(कदि शमित्यादि) कति मन्दत ! अणुबेलंधरराजा प्रह्लाताः ? ।
भगवानाह—गौतम ! अश्वारोऽनुबेलंधरराजाः प्रह्लाताः । तद्यथा-
ककोटकः, कदमकः, कैलासः अरुणप्रमथः (एणसि णमित्यादि)
एतेषां नन्दत ! अणुबेलंधरराजाणां कति आवासपर्वना-
ः प्रह्लाताः ? । भगवानाह—गौतम ! एकैकस्य एकैकमायं च-
त्वारोऽनुबेलंधरराजाणामावासपर्वनाः प्रह्लाताः । तद्यथा—कको-
टकः, विष्णुप्रमथः, कैलासः, अरुणप्रमथः । ककोटकस्य कको-
टकः, कदमस्य विष्णुप्रमथः, कैलासस्य कैलासः, अरुणप्रमथस्य अ-
रुणप्रमथ इत्यर्थः । ' कदि एं भंते ! ' इत्यादि प्रश्नस्य सुगमम् ।
भगवानाह—गौतम ! जम्बुद्वीपे ऽपि मन्दरस्य पर्वतस्थोत्तरपु-
र्वस्यां दिशि लवणसमुदं द्वाचरवारिंशतं योजनसहस्रायवगाहा,
अथ पूर्वदिशिभयवकाशं ककोटकस्य तु जोजनस्य तु जोगजस्य क-
कोटको नाम आवासपर्वनः प्रह्लातः । (सत्तरसएकवीसाई जोयण-
सयाई) इत्यादिका गाम्भूरस्यावासपर्वतस्य वा वक्तव्येने-
का, सर्वेहापि अहोनातिरिक्ता जगित्तथा । नवरं सर्वरत्नमय इति
वक्तव्यं नामानिमलकिंतायामपि, यस्माच्च नुद्वानु सुल्लिकानु
वापीनु, यावद् विलपङ्क्तिषु, बहुनि उपपल्लानि च यत्नं शतसहस्राप-
त्राणि ककोटप्रमाणि ककोटकाकाराणि ननस्मानि ककोटका-
मनि व्यवह्रियन्ते । तद्योगायुर्वेत्तोऽपि ककोटकः । तथा कको-
टकनामः । द्वैस्तरं पद्योपमस्थितिकः परिवसति । नतः ककोट-
कश्चासित्यात् । ककोटकः राज्ञायपि । ककोटकस्यावासपर्वन-

स्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंस्थेयान् द्वीपसमुद्धान् ध्याति-
मश्यावासिनं लवणसमुदं द्वादशयोजनसहस्रायवगाहा कको-
टकमिथाना राजधानी, विजया राजधानीव प्रतिपसव्या । एवं
कदमकैलामारुणप्रमथवक्तव्याऽपि भावनीया, सवरं जम्बुद्वीप
द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुदं दक्षिणपूर्वस्यां कदमकः,
दक्षिणपूर्वस्यां कैलाशः, अपरं चरत्वार्यारुणप्रमथः । नामनि-
मलचित्यायामपि यस्मान् कदमक आवासपर्वते उत्पन्नानि क-
दमप्रजाणि ततः कदमकः । भावना प्रागिव । अन्वयवकदमके धि-
सुप्रज्ञो नाम देवः पद्योपमस्थितिकः परिवसति, स च स्व-
जावाद् यज्ञकदममियः । यज्ञकदमे नाम कुहुमागुरुकर्क-
स्तुरिकाचन्दनमलापकः । उक्तं च— ' कुहुमागुरुकर्कस्तुरी-
चन्दनानि च । महासुगन्धमित्युक्तं-तामका यज्ञकदमः ' ॥ १ ॥
ततः प्राच्युयैण यज्ञकदमसंज्ञवाद्द्वीपे पुष्यपदोपे सत्यनामनिवर्-
कदम इत्युच्यते । कैलाशे कैलाशप्रमाणे उत्पल्लानि, कै-
लाशनामा च तत्र देवः पद्योपमस्थितिकः परिवसति, ततः कै-
लाशः । एषमरुणपत्रेऽपि वक्तव्यम् । कदमका राजधानी कद-
मकस्याऽऽवासपर्वतस्य दक्षिणपूर्वस्यां कैलाशा, कैलाशस्यावा-
सपर्वतस्य दक्षिणाऽऽवस्था अरुणप्रमा, अरुणप्रमथस्यावासपर्व-
तस्यापरोक्षस्यां तिर्यगसंस्थेयान् द्वीपसमुद्धान् ध्यातिमश्याव्य-
भिन्नं लवणसमुदं विजया राजधानीव वक्तव्या । जी० ३ प्रति० ।
अणुबेलंधर—अणुद्वीप—त्रि० । अनुरवण, जी० ३ प्रति० । अमि-
मानगदिते, उक्तं २ अ० ।

अणुबेलंधरस्य कुरिखि—अणुद्वीपप्रशस्तकुञ्जि—त्रि० । अनुद-
भटाऽनुरवणः प्रशस्तः प्रशस्तलक्षणः पानः कुञ्जियांतां ताः
अणुद्वीपप्रशस्तपानिकुञ्जयः । जी० ३ प्रति० ।

अणुबेलंधरे—अणुद्वीपत्रये—पु० । धिप्रज्ञोचितेनपथ्यधजिते
स च तृतीयश्रावकगुणविशिष्ट इति ।
संयवनुद्वैवप इति तृतीय जेदं प्रविक्तद्विगुणोपापवा-
रुमाह—

सहृदु पसंनो धम्मी, उच्यमनेमो न सुदुरो तस्म ।

(सहृदु इति) राजते शोभते, प्रशान्तः प्रशान्तवेद्यो, धर्मा धर्म-
वान् धार्मिको, प्रायश्चावक इत्यर्थः । अतः कारणदुष्टद्वैवपः पि-
रुजगोचितेनपथ्यः । " लक्ष्मस्य प परिहाण, गमस्य च श्रेयं न-
हियया गाढा । सिरवेदो दमणेण, वेसंमो ससि दमणान् ॥ १ ॥
तिहिण्णेण भग्गेदोसं, उग्गामो नाहिमेरुलं तहय । पासाय अरु-
पिहिया, कंखुयो एस्स वेसाणं " ॥२॥ इत्यादिरूपो न सुदुरो
नैव शोभाकारो तस्य धार्मिकस्य । स हि तेन सुतरामुपहास-
स्थानं स्यात् । " नाकामी मरुडमियेयं " इति लोकातिरिहलंके-
ऽपि कदोचिद्वचनार्थं प्राणुयाद्, वन्धुमीनीवत् । अन्ये पुनराहुः—
" संतलयं परिहाणं, जलं च चोद्यायं व मञ्जिमयं । सुसि-
लिउसुत्तरीयं, धम्मं लच्छि जसं कुण्हे ॥ १ ॥ परिहाणमणु-
ध्वरञ्जल-णुकाडिमउम्हाय मयुसरंते तु । परिहाणमकमनो,
कंखुयओ होइ सुसिल्लिओ " ॥२॥ इत्यादि । एतदपि संगतमेव ।
किन्तु कदोचिद्वचने कुले वा प्रदत्तः श्रावकास्तु नानादेशेषु च
संभवन्ति, तस्माद्देशकुलावहकां धेषांऽणुद्वीप इति व्याख्यानं
व्यापकमिह संगतमिति ।

वन्धुमीनीहानं त्वेचय—

अग्निह इह नामलित्ती, नयरी न अरीहँ कदवि परिभूता ।

अशुभभङ्गवैसरो, सिद्धी तत्प्राप्त्यै रक्षसरो ॥ १ ॥
 सारयससिम्मिलसी-लक्ष्मणुला शंभुला पिया तस्स ।
 ताणं धूया कया-इयुणद्धया शंभुमह नाम ॥ २ ॥
 सा पुण कंचणकूरुय-मंडियवाहा अलंकियसरीरा ।
 पार्यै उच्चमइय-सपरिगया विच्छेद स्या वि ॥ ३ ॥
 अशुभभङ्गवैस पिउया, भणिया वयायुर्गिं पयायपयणं दि ।
 एवं उच्चमइयसो, वच्छे ! पच्छे न सच्छाए ॥ ४ ॥

बद्धकर्म—

"कुलदेसाणु विहरो, येसो रओ वि कुणइ नहु सोइं ।
 वणियाणु विसेसेणं, विसेसओ ताण इत्थीणं ॥ ५ ॥
 अहरोसो अहतासो, अहहासो दुज्जणंदिं संवासो ।
 अइउभभनो य येसो, पंच वि गरुयं पि अहुयपति" ॥ ६ ॥
 अइउभभनो, पुवा वि न मणए इमा किपि ।
 विच्छेद तदेव निष्ठा, पिउयायपमायुद्धुणिया ॥ ७ ॥
 उरुयच्छासिणा वि-मलसिद्धिपुत्तेण शंभुदत्तेण ।
 सा गंतु तामिच्छि, महाविजुईदं परिच्छीया ॥ ८ ॥
 मुक्ख जणयजणं, शंभुमईदं शंभुपरिणसंभो ।
 जलहिम्म शंभुदत्तो, संवत्तिओ जाणयत्तेण ॥ ९ ॥
 जा किंवि त्तिमनागं, गच्छइ ता असुहकम्मउदएण ।
 परिक्खलपवणसहरो-पणुल्लियं जराहिम्मज्जम्मि ॥ १० ॥
 सत्थं य विणयदीणं, विणयलियसीले दिक्खुद्दणं व ।
 तं पवइयं विणुद्दं, धणुधणणदिगारणपरिणुणं ॥ ११ ॥
 सो कइकइमवि फलइ-ण तुत्तरं उत्तरं च नीरनिदिं ।
 जा विउदइ दिस्सिच्चको, ता तं निच्छेइ ससुरपुरं ॥ १२ ॥
 मो अय्यं जाणावइ, केण वि पुरिसेण निययससुरस्स ।
 तं सुणिय इा, किमयं ति, जपिरो उट्ठिओ सो वि ॥ १३ ॥
 अइउभभङ्गवैसलिये-सपरिणःकारासारभूयाए ।
 शंभुमईदं सहिओ, जा से पांसं स मलिपइ ॥ १४ ॥
 वररयणकणयच्छुय-विउत्तियं ताव रुइरकरजुयसं ।
 शंभुमईदं लिज्ज, केण वि जूयारचोरेण ॥ १५ ॥
 तसो सो आरंभिय-नीओ नासिनु उत्ति संपत्तो ।
 पइपरिसमवसलुत्ता-स्स शंभुदत्तस्स पासम्मि ॥ १६ ॥
 तंणं व पुत्तयाव, जितिय मिणमय वसकासं मे ।
 इय मुणु तस्स पांसं, करजुयसं तक्को नटो ॥ १७ ॥
 पच्छा गयतसवरनुत्तो-असवणवुत्तो सलुइओ पसो ।
 चोत्ति काउ तंदि, सुहाए भात्तं पक्खिओ ॥ १८ ॥
 अह रक्षसरो सिद्धी, नियपुत्तए निदुक्खु तमयथं ।
 बह कुरिक्खण पसो, जा जामाउयसमीवं पि ॥ १९ ॥
 ता सं सुत्तानिजं, सहसा पिक्खित्तं बहु व पञ्चविचा ।
 अंसुभरपुण्ययणो, सुहियो सं कुणइ मयाकं ॥ २० ॥
 इसो य सुजसन्तामा, चउत्ताथो तथ आगओ त थ ।
 नमिउं पसो सिद्धी, गुक्ख वि इय कहइ से घम्मं ॥ २१ ॥
 नेो भयिया ! उच्चमइय-सयउज्जं कुणइ चयइ परत्तिगारं ।
 वितह जयस्सं रुयं, जेण न पावेइ दुक्खाइं ॥ २२ ॥
 तो सोउं सविग्गो, सिद्धी पणमित्तं पुक्खए जयथं !
 मह जामाउयउट्ठिया-दिं किं कयं उक्खयं पुत्तिं ॥ २३ ॥
 भयाइ गुक्ख अग्गिगं, सां भामा वि इत्थिया पमा ।
 प्राप्ति अइदि व्व बहुनय-आससुया उमाया विहवा ॥ २४ ॥
 सा उयरकंदगापू-रणाथमीस्सगिहइ निष्ठा पि ।
 कम्मं करेइ पुत्तो, उ चारए वच्छक्खाए ॥ २५ ॥

सा उदिय भोयणं सि-कगम्मि पुट्टमकथा पसा ।
 कस्सइ शेहे कम्म-यमागओ तम्मि जामाऊ ॥ २६ ॥
 सा तस्स तएणणहा-यमाइकम्मसु निउत्तया पदमं ।
 पच्छा बंदणवीसल-रंथणदल्लणाइ कारिया ॥ २७ ॥
 आया मइदं येसा, तेण गिदत्थेण वाउलत्तयुओ ।
 नहु सा जिमाविया तो, तुक्खिच्चयत्तिसिया गया समिइं ॥ २८ ॥
 तं द्दु सुएण द्दुहा-इएण नणिया रुनिदुरं पसा ।
 किं तएण तुम विसा-सुहाए अं न बहु पसा ॥ २९ ॥
 तीह वि अणयधभरिया-इ जंपियं किकरा तुइं जिहा ।
 अं सिक्काउ गतिउ-ण नेयणं नेय तुत्तोसिं ॥ ३० ॥
 इय फलसवयणजाणियं, कम्मं दोहिं वि निकाइयं तेहिं ।
 अइनिविरज्जिमभवि-ण-नेव आलोइयं तं च ॥ ३१ ॥
 तेसिं द्वाणरथणं, संजमरहिय्याण मज्जिमगुणाणं ।
 किंवि सुइजायाणए, वट्टंणाणं गलियमाउं ॥ ३२ ॥
 तो सां बाओ जाओ, जामाऊ तुज्जु शंभुदत्त पि ।
 सा पुण कुमायनारी, शंभुमईदं तुह सुया जाया ॥ ३३ ॥
 भविणवया निओगा, विचित्तयाए य कम्मपणइं ।
 माया जाया जाया, पुत्तो भत्ता य संजाओ ॥ ३४ ॥
 तक्कमवियाणं, शंभुमई पाविया कस्सुयं ।
 पसो य शंभुदत्ता, सुलापिक्खववसणमिणं ॥ ३५ ॥
 इय सोउं रक्षसरो, सिद्धी संनयमरुयसंवेओ ।
 गिण्हिय गुणए पांसं, दिक्खं सुहभायणं जाओ ॥ ३६ ॥

इयुद्धं वैयमातिधयन्त्या,
 श्रुवा विपाकं खलु शत्रुभयाः ।
 भव्या जना निर्मलशीलनाज -
 स्तद्वत्त देशाथिचिद्वमेवम् ॥ ३७ ॥ ४० ॥

अशुभभङ्गवैस-अनुद-प्रापक-पु-० । मौलप्रामे भिस्त्रापिमाणशी-
 ले, शू १ उ-० ।

अशुभभङ्गवैस-अनुभ-पुं-० । अनु-भू-अप । स्मृतिभेदं ज्ञानं, वि-
 पयानुकपभवनान्नां बुद्धिदत्तैरनुभवत्यथ । अनुभवश्च-प्रत्यक्षानु-
 मानोपमानाश्चाभेदेन चतुर्विध इति नैयायिकादयः । वेदान्ति-
 नो भ्रामिंसकाश्च श्रुतौपपुन्यपलम्बिकपमधिकं त्रैदशयमूर्त्तौच-
 कुः । वैशेषिकाः सांगताश्च प्रायज्ञानुमानरूपमेवानुभवद्वयं स्थी-
 यकुः । श्रव्येषां स्वैयामनयारन्तभावात् । सांख्येयः प्रत्यक्षा-
 नुमानाश्चाह पयंति जेद्वर्थांमङ्गीयकुः । चार्वाकाः प्रत्यक्षमात्र-
 मिनि भेदं । वाच० । स्वसंयदेन, पञ्च० प । विव० । ४० ।
 आ४० । प्र४० ।

अनुभयलक्षणं च योगहृदिसमुच्चयानुसारं लिख्यते-
 यथाश्वस्तुस्वकरोपलम्बिपरभावात्सपत्यस्वकरोपमनन्दत्वा-
 दनैकत्वमनुभवः ।

तद्वचकम्—

संधेयं दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।
 बुधैरनुभवो दृग्, केवलाकारुणोदयः ॥ १ ॥
 व्यापारः सर्वशास्त्राणां, दिक्कददर्शानेव हि ।
 पारं तु प्रापयत्येकोऽ-नुभवो जववाग्धिः ॥ २ ॥
 अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुष्कानुभवं विना ।
 शास्त्रयुक्तिज्ञानेनापि, न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥ ३ ॥
 इयिणं हेतुवादेन, पदार्था ययतीन्द्रयाः ।

कासैतावतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥
 केषां न कल्पनादर्था, शास्त्रद्वाराभागाद्विना ।
 विरलास्तदुत्सास्वाद-विदोऽनुजवनिहया ॥ ५ ॥
 पश्यन्तु ब्रह्म निर्देहं, निर्देहानुभवं विना ।
 कथं लिपिमयीं दृष्टि-वार्कभययी वा मनोमयी ॥ ६ ॥
 न सुषुप्तिगमोत्त्वा-भापि च स्वापज्जागरी ।
 कल्पनाशिल्पविश्रान्ते-स्त्योर्वाऽनुजवां दृशा ॥ ७ ॥
 अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शश्वहशा मुनिः ।
 स्वसंवेद्यं परं ब्रह्माऽनुभवनाधिगच्छति ॥ ८ ॥
 अष्टं २६ अष्टं ० ।

स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकनां वेदने, विशेषे ॥
 अष्टमप्रश्ने-अनुजवन-नं ० । कर्माविपाकवेदनेऽनुजाव, आयं ०
 ४ अं ० ।

अष्टमभिवर्त्त-अष्टमभिवर्त्त-अष्टम ० । लोकमित्यर्थ, “ वेद्यणा
 अष्टमभिवर्त्त ज संसारमि भणतप” इत्यं १५ अं ० ।
 अष्टमभिवर्त्ता-अनुजव-अष्टम ० । अनुभवं ह्यव्यर्थे, प्रश्न १
 आश्रं द्वा ० ।

अष्टमनाग (व)-अनुजनाग(व)-पुं० । वैकिक्यकरणादिकायामभि-
 न्यायार्थो, स्यात् १ जा ३ उ ० ॥ ३० ॥ आ व ० चं प्र ० । माहात्म्ये,
 सूत्रं १ अं ० ५ अं ० १ उ ० । वर्णमयादिरुणे, विशेषे ० । शापाय-
 नुभवेऽपि सामर्थ्यं, प्रमाणं १ प्र ० । अनु पश्चाद् बंधोत्तर-
 कावं जजनं सेवनमनुजनय, अनुभागः । कर्म ० ६ कर्म ० । कर्मणां
 विपाक, सूत्रं १ अं ० ५ अं ० १ उ ० । उदये, रसे च । स्यात् ० ७
 प्र ० । दशो ० । तीर्थादिभेदे रसे, स ० ॥ “अनुभागो रसः प्राकः,
 प्रदशो दल्लसचयः” कर्म ० ५ कर्म ० । अनुभागः, रसः, अनुनाग
 इति पर्यायाः ।

अनुजनागस्य किञ्चित्सात्त्व स्वकमुच्यते-

इह गग्नीरापाय संसारस्वरिपतिमध्यविपरिन्तर्नी, रागादिसखि-
 यो जन्तुः पृथक्सिद्धिनामन्तजगयतिमिभरजव्येच्योऽनन्त-
 गुणैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्फन्धान प्रतिसमर्थं शक्यति ।
 तत्र च प्रतिपरमाणुकषायविशेषान् सर्वजीवान्तगुणान् अनुजा-
 गस्याविनागपलि (रि) च्छेदना करति । कदाचिप्रहया विद्यमानो
 यः परमाणुद्वेषोऽनुजनागोऽपि तस्मिन्तयावद्वदति सोऽपि जा-
 गतिश्चेद्वेद वचयते । उक्तं च-“सुकुडि विज्जामाणां, अष्टमभागं सो
 न द्वेद जा अद्वे । अविभागपश्चिञ्चोऽत्रा, सो इह अष्टमभागवर्त्तमि” ।
 तत्र वैकिककर्मैकप्रथमः स्वैज्जवययसः परमाणुः सोऽपि के-
 चिप्रिप्रहया विद्यमानः किल सर्वजीवेष्योऽनन्तगुणान् रसजगान्
 प्रपच्छति ; अन्यस्तु परमाणुः तानपिभागपश्चिच्छेदनाकाथिका-
 प्रपच्छति; अपरस्तु तानपि प्रपच्छिकात् ; अन्यस्तु तानपि चतुर-
 थिकाभिभ्यादिवृद्ध्या तावन्नयं वाचद्वय उच्छेदरसः परमाणुमिलि-
 राशोरनःतगुणानपि रसभागान् प्रपच्छति । अत्र च जघन्यरसा
 ये कचन परमाणुचस्तेषु सर्वजीवान्तगुणरसजगयुकेष्वप्य-
 स्तकदानया शतरसांशानां परिकल्प्यते । एतेषां च समुदायः
 सामानजालीयत्वादेका वर्णनेत्यभिधीयते । अन्येषां तेषां स-
 रसात्समागम्युक्तानामणानां समुदायं द्वितीया वर्णया । अपर-
 तां तु द्वयुत्तररातरसांशयुक्तानामणानां समुदायस्मृतीया वर्णया ।

अन्येषां तु अष्टमप्रश्नरातरसभागयुक्तानामणानां समुदायश्चतुर्थी
 वर्णया । एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धतामणानां समुदा-
 यरूपा वर्णया । किञ्चानामन्तभागोऽन्येष्योऽनन्तगुणा वा-
 च्याः । एतासां चैतावतीनां वर्णानां समुदायः स्पष्टकमित्य-
 भिधीयते । स्पष्टकं द्रवोत्तररससदृश्या परमाणुवर्णयाः । अ-
 त्रैति कृत्वा एताश्चात्मनोऽन्तानन्तप्रमाणानां । अथ सारकल्पयथा
 वद स्याप्यन्ते-

१०५	इदमेकं स्पष्टकम् । इत ऊर्ध्वमेकोत्तरया
१०६	वृद्ध्या, वृद्धो रसां न ह्यप्यते, किं तर्हि
१०७	गुणैरेव रसजागैर्गुणैश्चो ह्यभ्यते । इति तैनेव
१०८	ततस्तेनेव कर्मण तृतीयमित्यादि यावद्-
१०९	स्पष्टकानि उचित्तन्ते ।

तीव्रमन्दत्या द्विविधोऽनुभागः-

अयं चानुभागः शुभाशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीनां ती-
 प्रमन्दरूपनया द्विविधो भवति ।
 अतोऽशुभशुभप्रकृतीनां येन प्रत्यनयासौ तीव्रो
 स्यते, येन च मन्दः तत्किरूपणार्थमाह-

तिव्रो अष्टमसुहाणं, संकेसविसेदिसो विचज्जयथो ।
 मंदरसां गिरिपदिरय-जलेरहासरिकसाएहिं ॥६३॥

तत्र प्रथमं तावत्तीव्रमन्दस्वरूपमुच्यते पश्चाद्द्वययोः । इह घो-
 पातकाम्युत्तरमन्दःशुभभवनस्पतीनां सम्बन्धो सहसोऽर्थावर्त्त-
 द्विजागयासां भागत्रयावसंश्रयथाकर्म कटुकः कटुकतरः कटु-
 कतमोऽतिशयकटुकतमस्य; तथेष्टुतीरादिद्रव्याणां सम्बन्धी
 सहजोऽर्थावर्त्त द्विजागयासां जगत्रयावसंश्रयथा कदाचिदसंश्र-
 यथा मधुरा मधुरा मधुरा मधुराऽतिमधुरतमस्य रसा जघानसम्ब-
 न्धाद्यथा तीव्रो भवति तथैतयामिव पिबुमुन्मादीनां ह्रीरादीनां
 च द्रव्याणां सम्बन्धी सहजो रसो जलवत्तयिच्छेत्तुलुकुलु-
 कप्रत्ययऽजकिरककुम्भप्रयोगादिसंश्रयथाद्यथा बहुद्वये मन्-
 तरादिव प्रतिपश्ये तथा अर्थावर्त्तयोऽपि रसाः । यथा ज-
 जलवाद्दिसम्बन्धनामन्दमन्दतरमन्दतममिद्वित्यं प्रतिपद्यते तथै-
 वाशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां च रसास्तराशतदृशकषायवशा-
 र्थाभ्यं मन्दत्वं चातुर्विधप्रतीति । अत्रार्थाऽप्युना विवियते-
 तीव्रः रसा जवति । कासाभिभ्याह-(अष्टमसुहाणं ति) अष्टमभा-
 वशुभाशुभशुभः; तासामशुभशुभानाम्, अशुभप्रकृतीनां शुभ-
 प्रकृतीनां चेत्यर्थः । कथमिदं? संकेसविसेदिसो विचज्ज-
 श्रय विचिच्छिन्नं श्रेयशिविशुद्धी,ताभ्यां संश्रयशिविशुद्धिः; आद्ये-
 राकृतिगणत्वात् तत्प्रत्ययः । यथासंश्रयशुभप्रकृतीनां संश्र-
 येन शुभप्रकृतीनां विशुद्धेत्यर्थः । इदमत्र इदमत्र-अशुभप्रकृतीनां
 श्रेयशितिसंश्रयानं संश्रयशेन तीव्रकषायार्थेन तीव्रकटोरसां
 प्रधानं । सर्वशुभप्रकृतीनां तद्वधविधायिनां जन्तूनां मध्ये यो य
 उच्छुद्धसंश्रयो जन्तुः स स तीव्ररसं वचनातीत्यर्थः । शुभप्रकृती-
 नां विशुद्ध्या कषायविशुद्ध्या तीव्रोऽनुभागो भवति । शुभप्रकृति-
 बन्धकानां मध्ये यो यो विशुद्धकषायपरिणामः स स तासां
 तीव्रमनुभागं वचनातीत्यर्थः । उक्तस्तीव्ररसस्य बन्धप्रत्ययः ।
 सम्प्रति स एव मन्दरसस्याभिधीयते-(विचज्जयथो) । मंदरसां
 सत्) विपर्यय विपर्यय उक्तवैपर्ययिन् मन्दोऽनुकटोरसां
 प्रती । अयमर्थः-सर्वप्रकृतीनामणानां विशुद्ध्या मन्दा रसां
 जायते, शुभानां तु मन्दः संश्रयशेनेति । उक्तः संश्रयशिविशुद्धि-
 चशुभशुभप्रकृतीनां तीव्रो मन्दश्चानुभागः । (एकस्यावि-
 कादिकश्चतुर्विधोऽनुजावः । अयं वैकिकद्विविधःस्थानिकमेवा-

अष्टाध्याय

अभिधानराजेंद्रः ।

चतुर्था भवत्यत एकस्थानिकादिरसो यः प्रत्ययेयांसां प्रकृती-
नां प्रवति तदाह—(गिरिस्मिन्निय इत्यादि) गिरिस्मि, यथा
च पृथिवी, रजस वायुका, जले च पानीय, गिरिमहीरेजोऽस-
ानि, तेषु रेखाशब्दप्रत्ययानिः सशस्त्वन्त्यगिरिमहीरेजोऽस-
शस्त्व च ते कवायाश्च सप्रत्ययान्ते रम्यो भवतीति प्रक्रमः ६३ ।
काहं गित्याह—

चउणाणद् अमुहमुद्-अहा विण्देसपाइआवरणा ।

पुमसेजज्ञाणिगदृतिचउ-णारणा ससदुगमाह ॥ ६४ ॥

चतुःस्थानिक षाद्विर्यस्य रसस्य, त्रिस्थानिक द्विस्थानिक पञ्च-
स्थानिक परिग्रहः । स चतुःस्थानादिः । कासारामित्याह—(अमुम
रस) इह यद्युपेयं प्रथमा । ततः शुभानामगुणप्रकृतीनाम् । इयम-
थ भावना—इह रेखाशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् गिरिरेखाशब्देन
प्रयुक्तकाल्पपेदाश्वानितीप्रत्येकं कवायाणां प्रतिपाद्यततः तत्र गि-
रिरेखासदृशैः कवायैः, अनन्तानुबन्धसिद्धिर्नित्यः । येषां सामगुण-
प्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसबन्धो भवति । आतपशोपिनतदागम-
हीरेखासदृशैः कवायैरप्रत्याशयानावरणं नामगम्याद्विग्रहगुण-
प्रकृतीनां त्रिस्थानिकरसबन्धो भवति । वायुकारेखासदृशैः कवा-
यैः प्रायानानावरणं गुणप्रकृतीनां द्विस्थानिकरसबन्धः ।
जलेरेखासदृशैः कवायैरित्यनुभवेऽर्थः संत्यजनाभिधीयन्पञ्च-
काद्विग्रहमणससदृशाः शुभप्रकृतीनामेवैकस्थानिकरसबन्धो
जातिः, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामगुणप्रकृतीनामिति हि द्वयामा-
हकोऽशुभानां रसस्य बन्धप्रत्ययः । इदानीं शुभानां रसप्रत्यय-
विभागमाह—(सुहृदृशित्) शुभसदृशीनाम्—अश्याधिकेपरीत्या-
न हेतुविषयेषाम्भुःस्थानिकाद्विरसस्य बन्धो भवति । तत्र वा-
युकाजलेरेखासदृशैः कवायैश्चतुःस्थानिको रसबन्धो जयति ।
महीरेखासदृशैः कवायैश्चत्रिस्थानिको रसबन्धो जयति । गिरि-
रेखासदृशैः कवायैश्चद्विस्थानिको रसबन्धः शुभप्रकृतीनां जयति ।
शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिक रसस्य एव नास्तीति पुर्वमर्थान्तरम् ।
अथ यासां प्रकृतीनामेकैकैः त्रिचतुःस्थानिकजज्ञाणतुषिषोऽपि
रसबन्धः संजयति, यासां त्वेकस्थानिकयज्ञेऽपि विष्णोपेयं तद्वि-
नयज्ञाह—(विष्णुदेसपाइ आवरणा इत्यादि) विष्णानि दानज्ञान-
भोगोपभोगादीनां नराचेनानुवनरायाणि पञ्च । वेदशायाचरणा
देशशायाचारिकाः सप्त प्रकृतयः । तथा—मानिहानिभृदृशी-
नाथविज्ञानमनःपयोविज्ञानावरणाश्चतस्रः । चक्षुर्देशनाचक्षुर्देश-
नाद्यविदेशनाश्च षास्तिरसः, इत्येताः (पुम) शुभः । संत्यज-
नाश्चकारः क्रोचमानमायाशोभा, इत्येताः सप्तदश प्रकृतयः । कि-
मित्याह—(इगदृतिचउणारसत्) स्थानिकाद्वयस्य प्रत्येकं
सम्बन्धात् एकस्थानिकस्थानिरेखासत्त्वन्त्युपधाना रसा यासां
ता एकैकैश्चतुःस्थानिकरसाः । एताः सप्तदशापि प्रकृतयः ए-
कैकैश्चतुःस्थानिककेषु चतुर्विधापि रसेन संयुक्ता बन्ध-
न इति तात्पर्यम् । तथाचिन्त्युत्सादरे शुभस्थानि संकेष्येषु
भागेषु गतेष्व्यासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनामेकैकैः स्थानिको रसः
प्राप्यते, शेषस्थानिकारस्तु रसास्त्रयोऽप्यासां संसारस्थान ज्ञाना-
नाधिभ्य प्राप्यन्त इति । शयाः प्रकृतयस्माद् किंरूपा भवन्ती-
त्याह—(सेसतुगमाह) शेषाः ज्ञानसप्तदशप्रकृतिरस्य उद्गि-
ताः, सद्यैः ज्ञाना भूमाश्च प्रकृतयो वध्यन्ते । तुगमाह (सि) सूच-
नास्तुबन्धित् म्यायाद् द्विस्थानादिरसाः, आदिशब्दात् त्रिस्थान-
नरसाश्चत्तुःस्थानरसाश्च । शयाः प्रकृतयो द्विस्थानिकत्रिस्थान-
निकचतुःस्थानिकरसयुक्ता भवन्ति, न त्वेकस्थानिकरसयुक्ता
इति ज्ञावः । अथमथाद्याः-सप्तदशप्रकृतिर्व्येकैकैः स्थानिको रसो

वध्यते, न तु शयासु, यनाः शुभप्रकृतीनामेकैकैः स्थानिको रसो
यदि सज्यते तदाऽनित्युत्सादरे संकेष्येयनागोभ्यः परत एव । तत्र
च सप्तदश प्रकृतीर्वर्जित्या शेषाणामगुणप्रकृतीनां बन्ध एव
नामन्यः शेषाणामगुणानामेकैकैः स्थानिको रसो न जयति । तत्र-
ऽपि केवलज्ञानकेषु शेषदानावरणलक्षणैश्च छेद्वापि प्रकृती तेषु
बन्धते तथैवार्थः सिध्दघातयाद् द्विस्थानिक एव रसो निर्वर्धयेत,
नैकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वोत्सामयेकैकैः स्थानिको रसो
न भवति, यत इहासंकेष्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संक्षे-
प संक्षेपशरणागम्यारोहन्ति तेष्वेव विगुण्यमानोऽवतरन्ति,
तत्र च यथा प्रासादादमारोहतां वाग्निं सांपानस्थानान्यवतर-
तामपि तावन्त्येव तथाऽन्वपीति ज्ञावः । केवलं विगुण्यस्थानानि
विशेषाधिकानि । कथामिति चेदुच्यते—क्षुण्णो येष्वप्यवसाय-
स्थानं कषु क्षुण्णक्रेणिकामारोहन्ति न तेषु पुनरपि निर्वर्तते. नस्य
संक्षेपशरणागम्यात्, अनस्तानि विगुण्यस्थानान्येव जयन्ति न संक्षे-
पशरणागम्यानीति, तैरप्यवसायस्थानिविगुण्यस्थानान्यधिकानि ।
एवं च स्थितेऽप्यन्तर्विद्युत्तां यतमानः शुभप्रकृतीनां चतुः-
स्थानिकं रसमाभिनिर्वर्धयति । अत्यन्तसंकेष्येऽशुभप्रकृतीना-
नस्य शुभप्रकृतयो बन्ध एव नागच्छति । या अपि वैकियैरेव-
सकामिणायाः शुभा नरकप्रायोः सन्धिकेऽपि द्विस्थानिकमैव रसे वि-
द्युत्ताति । येषु तु मध्यमाध्यवसायस्थाप्ये शुभप्रकृतयो वध्यन्ते
तेषु तानां त्रिस्थानिकपर्यन्त एव रसो वध्यते नैकैकैः स्थानिकः,
मध्यमपरिणामागम्यादेवेति न कापि शुभप्रकृतीनामेकैकैः स्थानिक-
रससंभव इति कथं ननु त्विष्येति रसस्य प्रत्ययव्युत्पत्त्या ६४ ।
सम्प्रति शुभाः शुभप्रकृतीनामेवैकैः स्थानिकैः संक्षेप-
निबुच्छुद्धौ सद्गुणैः, सुविचरभागाद् द्विस्थानिकैः ।
ऽनार्ताद् द्वि अमुहं, अमुहणं मुहो मुहणं ॥ ६५ ॥
इहैवमस्तु चउणा—अशुभानामगुणप्रकृतीनां रसाः शुभः, अशु-
भाध्यवसायनिष्पन्नयत् । क इत्याह—निष्पन्नविष्णुमन्त्रवत् ।
चनुशब्दस्य लुप्तस्यैह प्रयोगो द्रष्टव्यः । तथा शुभानां शुभप्र-
कृतीनां रसाः शुभः, शुभाध्यवसायनिष्पन्नयत् । क इत्याह—इ-
च्छुवन् इच्छुवन् । तथा इमरकमगिन्यायाभिः सुचुरससाद्
एवमप्यवस्यते, यथा निम्बरस एव इच्छुरस एव सहाः स्वभा-
वस्य एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकैकैः स्थानिकैः त्रि-
चतुर्भागाश्च तेषु विविभिरेष्याथयेषु कार्यैतकभागान्ता द्वि-
स्थानिकादिवर्धयति । कोऽर्थः—द्वौ च अथश्च व्यत्यारश्च द्वित्रि-
वन्वारस्ते च भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागाः, द्वित्रिचतुर्भागाश्च
तेषु विविभिरेष्याथयेषु कथित्याश्च द्वित्रिचतुर्भागाकाधित-
रनेयमिक एकसंकेष्ये भागाः ऽनेऽवसाने यस्य सहजरेसस्य
स द्वित्रिचतुर्भागाकार्यैतकभागान्ता । स कामित्याह—एकैकै-
स्थानिकादिः आदिशब्दाद् द्विस्थानिकत्रिस्थानिकचतुःस्थानि-
कसपरिग्रहः । इत्येतराथः । भावाथैस्त्वयद्-इह यथा निर-
घोषानकाभृत्प्रतीनां कटुकद्रव्याणां सहजोऽधिपतः कटुको
रस एकैकैः स्थानिक उच्यते, स एव भागद्वयप्रमाणः स्थाल्यां
कथितोऽर्द्धावसितः कटुकतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्रि-
यप्रमाणः स्थाल्यां कथितोऽत्रिभागात्तः कटुकतमत्रिस्थानिकः,
स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभिरेष्येयानां कथितश्चतुर्भागा-
गान्तोऽनिककटुकतमत्रिस्थानिकः । तथा इच्छुशरीरानीं स-
हजो मयुररस एकैकैः स्थानिक उच्यते, स एव सहजो भागद्-

धरमाणः पृथग्भाजनं कथितोऽर्थावस्थितो मधुरतरौ द्विस्थानिकः, स एव भागत्रयप्रमाणः पृथक्स्थात्प्रां कथितत्विभागात्तौ मधुरतमत्विस्थानिकः, स एव भागचतुष्प्रमाणो विभक्त्या कथितत्विद्युत्पुष्पभागान्तोऽन्तिममधुरतमत्त्वःस्थानिकः । मधुमशुभात् प्रकृतौ तादृशतादृशकथाविन्यासः कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च । शुभप्रकृतौ मधुरा मधुरतरा मधुरतमाऽन्तिममधुरतमश्च रसा यथासंख्यमंकाद्विचिन्तुःस्थानिको भवति । एवं च रसोऽशुभप्रकृतौनामशुभः, शुभप्रकृतौनां शुभ इति । तुर्यशब्दा विशेषणे । स चैवं विशान्ति-ए-यथा समदशाऽशुभप्रकृतौनामेकस्थानिकरसस्पष्टकान्यसंख्येयपृथक्त्वकन्यादसंख्येयानि भवन्ति । तत्र च सर्वजघन्यस्पर्शकरसंख्येय निम्बाद्युपमा । तदनु चानन्तेषु रसपलिच्छेदेष्वनिक्रान्तेषु तदुत्तरं द्वितीयस्पर्शकं भवति । एषमुत्तरान्तरकमेतु प्रशुद्धदुःखतरसंयोजनां शेषस्पर्शकान्यपि भवति । एवं शेषाः शुभप्रकृतौनामपि द्विचिन्तुःस्थानिकरसस्पष्टकान्यसंख्येयपृथक्त्वकान्यकानि प्रत्येकमसंख्ययाऽन्तिमं भवन्ति । तान्यापि यथोत्तरमनन्तरसपलिच्छेदेषुपक्षत्वात् पश्यरमन्मगुणरसानि । अत उत्तरांशस्पर्शकान्यप्यनन्मगुणरसानि, किं पुनरशुभात् द्विचिन्तुःस्थानिकं रसा इति । तथाहि-अशुभात् निम्बापमवीर्यो य एकस्थानिको रसस्तस्मादनन्तगुणवीर्यो द्विस्थानिकस्ततोऽप्यनन्तगुणवीर्योऽर्थावस्थानिकस्तस्मादप्यनन्तगुणवीर्यश्चतुःस्थानिक इति परस्परं सुप्रतीतमवानन्तगुणरसवीर्यमिति । शुभप्रकृतौनां पुनरेकस्थानिको रस एव नास्ति । यश्च शुभप्रानामन्त्रयो रसाऽर्थावस्थानिकः स द्विस्थानिकरसस्य मधुजघन्यस्पर्शक एव इत्येव । सतुत्तरस्पर्शकं चानन्तगुणा रसा भवति । पतसर्वे पञ्चसंप्रहर्षाऽन्तिमयो व्याख्यानम् । एक-केशरज्ञानारणादिरूपणां सर्वेषामितिनां विधातिसंस्थानां प्रकृतौनां सर्वोद्योग्य रसस्पर्शकानि सर्वेषातीयेव । देशघातिनीनां पुनर्मिहान्तराण्युत्पत्तिर्द्विशिष्टप्रकृतौनां रसस्पष्टकानि कानिचिन्मधुघातीनि कानिचिद्देशघातीनि । तत्र यानि चतुःस्थानिकरसानि त्रिस्थानिकरसानि वा रसस्पष्टकानि तानि नियमतः सर्वेषातीनि, द्विस्थानिकरसानि पुनः कानिचिद्देशघातीनि कानिचिन्मधुघातीनि, एकस्थानिकानि तु सर्वोद्योग्य देशघातीयेव उक्तं च-रसस्पष्टकानि सकलमपि स्वधर्मां ज्ञानादिगुणं ध्वन्ति । तानि च स्वरूपेण तादृग्भाजनयास्त्रिद्वाराणां घृतामिवातिशयेन निम्बाध्यात्, छात्तान्त मनुप्रदेशोपचिन्तानि, स्फटिकाभ्रदृष्टबाहनीव निर्मलानि । उक्तं च-“जो धाएइ नियगुणं, मयत्रं मो होइ मयधार्दरसो । संनिच्छिदो निरुद्धो, तएथो फलिहोभरदविमज्जो ” ॥ १ ॥ यानि च देशघातीनि रसस्पष्टकानि तानि स्वधर्मां ज्ञानादिगुणं देशघातं ध्वन्ति, तद्वयेऽद्यद्वयं ज्ञातयोपशमंभवत् । तानि च स्वरूपेणानकविधौवचरसकुत्रानि । तथार्थ-कानिचिच्छेदयानिस्फुरद्विच्छातसंकुत्रानि, कानिचिच्छेदय इव मध्ययविशरगतसंकुत्रानि, कानिचिन्मगुणनिष्कमविशरीकरसंकुत्रानि, यथा धासोऽति । तथा तानि देशघातीनि रसस्पष्टकानि स्तो-कसंनर्दानं भवन्ति, वैमल्यरहितानि च । उक्तं च-“दसाविधा-दणगन्नां, इयां कदकयलं सुसंकासो । विभिहृष्टुद्विहृष्टरुद्धो, अपस्निग्धोऽत्र विमलं य ॥ १ ॥ ” इति प्रकृतिः सप्रपञ्चमनुनामशुभ इति । कर्मो ५ कर्मो ८ । (आद्यातिरसस्वरूपमभेदज्ञानो १०० पृष्ठे “अघादरस” शब्देऽभिहितम्)

इदानीं तु अनुभागः कस्य कस्यः कतिविध इत्यभि-धिसुग्राह—तत्रादी ज्ञानावरणीयस्य—नाणावरणज्जस एं भेते । कर्मस्य जीवेणं बद्धस्य पुष्टस्य बद्धकासपुष्टस्य संचितस्य चिचस्य उचचिचस्य आवापचस्य विवापचस्य फलचचस्य उदयचचस्य जीवेणं कयस्य जीवेणं निचचिचस्य जीवेणं परिणामि-यस्य सयं वा उदिरजस्य परेण वा उदीरियस्य तदुभयएण वा उदीरिजमाणस्य गतिं पपप टिडं पपप जवं पपप पो-गलपरिणामं पपप कतिविधे अणुनावे पपप ? । गोयमा । नाणावरणज्जस्य णं कर्मस्य जीवेणं बद्धस्य जाव पोग्-द्वपरिणामं पपप दनविधे अणुभावे पपपते । तं जहा—सोता-वरणे सोयविज्ञानावरणे नेतावरणे नेतविज्ञानावरणे धा-णावरणे धावविज्ञानावरणे रसावरणे रसविज्ञानावरणे फासावरणे फावविज्ञानावरणे जं वेदति पोमगले वा पो-गले वा पोमगलपरिणामं वा बीसमा पोमगलाणं परिणामं तेषिं वा उदएणं जाणियेवं न जाणः, जाणित कामे न जाणः, जाणितानि न जाणः, उच्छजनाणं।या वि चवति नाणावरणज्जस्य कर्मस्य उदएणं, एस एं गोयमा । नाणावरणज्जस्य कर्मस्य जीवेणं बद्धस्य जाव पोग्द्वपरिणामं पपप दस-विधे अणुभावे नाएते ॥

ज्ञानावरणीयस्य । कतिनि वाक्यनिर्द्धारणे । अन्तः । जीवेन बद्धस्य रागद्वेषपरिणामवशातः कर्मकथयथा परिणामियस्य स्पष्टस्यान्मप्रदेशेः सह संकेशामुपगतस्य (बद्धकासपुष्टस्येति) पुनरपि गादतरं बद्धस्यातीव स्पष्टेन स्पष्टस्य वा । किमुक्तं भवति—आवेदनपरिवेष्टनकथयथाऽतीव सापेक्षयागादतरं च बद्धस्येति संचितस्य आभाधाकालानिक्रमोत्तरकालवदमयो-म्यतया निरिक्तस्य चित्तस्य उत्तरांतरस्थितिषु प्रदेशहात्या र-सकृद्भावाऽवस्थापितस्य उपाचनस्य समानजातीयप्रकृत्यन्तर-द्वलिकर्मयोग्यत्वं नितस्य आपाकप्राप्तस्य ईष्यपाकमित्यु-क्तंभूतस्य विपाकप्राप्तस्य विशिष्टपाकमुपगतस्य, अत एव फलप्राप्तस्य फलं दातुमभियुक्तंभूतस्य ततः सामग्रीशुद्ध-द्वयप्राप्तस्याद्यः कर्मधर्मोः यथा आपाकफलस्य । तथाहि—आपा-फलं प्रथमत ईष्यपाकमित्युक्तं भवति, ततो विशिष्टे पाकमु-पागतं, तदनन्तरं त्विमप्रमोदादि फलं दातुमुच्यते, ततः साम-ग्रीशुद्धाद्युपयोगप्राप्तं भवति । एवं कर्मोऽपीति । ततः पुनर्जी-वेन कथं बद्धमित्यत्र आह—(जीवेण कयस्य) तयाहि—आपा-धनचक्षेनेति गम्यते । कृतस्य निष्पादितस्य जीवो ह्युपायोग-स्वभावस्ततोऽस्ती रागादिपरिणतो भवति, न शेषः, रागादिपरि-णान्तं सन् कर्म करोति । सा च रागादिपरिणतः कर्मव-धनच-कस्य भवति, न तद्वियोगः अन्यथा मुक्तानामप्यर्थातरागावप्रस-क्तः । ततः कर्मव-धनचक्षेने सता जीवेन कृतस्येति छद्मव्ययम् । उक्तं च—“जीवस्य कर्मव-धन-बद्धो बीरस्य भवततः कर्ता । संनत्या-नायं च, तद्विष्टकर्मोत्पन्नः कर्तुः” ॥१॥ तथा जीवेन निर्वातेत्य-द्वद व-धनसमय जीवः प्रथमतो विशिष्टतु कर्मयोगेणाऽन्तःपातितः

पुत्रलाभ पुत्रद्वय अनानोगिकेन वीर्येण तस्मिन्नेव बन्धसमये ज्ञानावरणीयद्वितया स्वयस्वधापेन तन्निर्वहन्तमित्युच्यते । तथा जीवेन परिष्णामितस्य विद्युत्प्रत्ययैः प्रवेष्टेनह्वावादिनिस्ततस्तनुत्तरोत्तरं परिष्णामेन प्रापितस्य स्वयं वा विपक्वप्राप्ततया परिष्णामेन ह्वाणीस्य उद्यमसाहस्य, परं च या उद्योतस्य उद्ययमुपनीतस्य, ननु ज्ञयेन स्वपरदेषोऽनयेन उद्ययिमाणस्य उद्ययमुपनीतस्य गाने प्राप्य किञ्चित्कर्म काञ्छेद् गाने प्राप्य तीक्ष्णानुभावं भवति । यथा नरकगतं प्राप्याऽस्ततवेदनीयम् अस्मान्दीव्यां हि यथा नारकाणां तीक्ष्णो भवति, न तथा तिर्यगादीनामिति । तथा स्थितिं प्राप्य सर्वोत्कृष्टानुभावमिति शेषः । सर्वोत्कृष्टां हि हिंस्रमित्युपगतमद्युतं कर्म तीक्ष्णानुभावं भवति । यथा मिथ्यायै अर्थं प्राप्य इह किमपि किञ्चित्प्रवृत्तमाश्रित्य स्वविपाकप्रदर्शनसमर्थम् । यथा निद्रा मनुष्यजनयति तथैव प्राप्यत्युक्तम् । एतावता किल स्वत उद्ययस्य कारणानि दृशितानि । कर्म हि तां तां स्थितिं स्थितिं जयं वा प्राप्य स्वयमुद्ययमागच्छतीति । सप्रति परत उद्ययमाह-पुत्रलं काष्ठलेपुष्कङ्गादिलङ्घये प्राप्य । तथा-हि-परं कृते काष्ठलेपुष्कङ्गादिकमासाद्य अत्यसातवेदनीयम् । क्रांतादीनामुद्ययस्या यत्प्रवृत्तपरिणामे प्राप्य इह किञ्चित्कर्म कमपि पुत्रलमाश्रित्य विपाकमाप्नोति । यथाऽऽर्यबहूतस्याऽऽहारस्याजोऽप्येवपरिष्णामिष्यत् अस्मान्दीवनीयम् ; ज्ञानावरणीयं तु सुरापानमिति । नतः पुत्रलपरिणामे प्राप्यत्युक्तम् । कतिविधोऽनुभावः प्रहसः, इत्येव प्रसन्नः अत्र नित्यं चन्द्रविष्णोऽनुभावः प्रहसः तत्रैव दशविधमनुभावः दृशयति-सांघावरणे इत्यादि इह श्रेष्ठशब्देन श्रेष्ठेन्द्रियविययः क्रयोपायः परिष्णामेन (सांघावरणावरणं इति) श्रेष्ठविज्ञानाभेदेन श्रेष्ठेन्द्रियोपयोगः, यच्च निर्वैशुपलङ्घनं उच्यते तत्र यद्दोषाङ्गं नाम नामकं निर्वैश्यं न ज्ञानावरणीयस्य इति, न श्रेष्ठसंस्थेन गृह्यते । एवं नैवावरणं इत्याद्यपि भावनीयम् । तैश्चैन्द्रियाणां रमनप्राणवस्तु-श्रेष्ठविययानां लक्ष्युपयोगानां प्राय आवरणम् । प्रायोऽग्रहणं च वक्तुंदादिव्यवच्छेदाद्यर्थम् । वक्तुंदादीनां हि यथाद्योने पञ्चानामपीन्द्रियाणां लक्ष्युपयोगाः फलतः स्वप्ता उपलभ्यन्ते । आगमे पि च प्राप्यन्ते-“पौंचदियां व्व बडलां, नरो व्व पंचिदिविअं-गासो । तह ति न जसस पंचि-दिअं चि दविदिया जावा” ॥ १ ॥ तथा-“अह सुद्धुमं भावेदिय-नाणं दविदियावरादे वि । द्य-स्तु य भावसि मि, भावस्यं पंचियादिणं” ॥ १ ॥ इति । नतः प्राय इत्युक्तम् । हिंन्द्रियाणां प्राणवस्तु-श्रेष्ठेन्द्रियविययानां लक्ष्युपयोगानां त्रौन्द्रियाणां वस्तु-श्रेष्ठविययानां वस्तुरिन्द्रियाणां श्रेष्ठेन्द्रियलक्ष्युपयोगावरणं स्वर्शेनैन्द्रियलक्ष्य-धयांशावरणं कुष्ठादिभ्यः । पत्रिकुपहन्वेदस्य उच्यते । पञ्चैन्द्रियाणांमपि ज्ञानावरणीयं पञ्चाहा क्रमध्वचिरोत्तमानं वस्तुरादीन्द्रियलक्ष्युपयोगावरणे भावनीयम् । कथममार्गैन्द्रियाणां च लक्ष्युपयोगावरणमिति चेत् ? उच्यते-स्वयमुदीर्णस्य परंण वा उदीरितस्य ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उच्यते । तथा चाह-“जं वेदहं” यद्भवत्येते परंण स्मिं काष्ठलेपुष्कङ्गादिलङ्घनं पुत्रलं तेषामिषानजननसमर्थेन (पुत्रले वा इति) यावत् बहू-न पुत्रगलाह काष्ठादिलङ्घनान् परंण कृत्वा न वेदयते, तेषामिषानजननसमर्थः पुत्रगलपरिणामसमर्थबहूनाहारपरिणामरूपं पानी परसादिकमनिष्कञ्जनकं वेदयते ; नेन वा ज्ञानपरंणमु-पननात् । तथा (दीससा वा पंचभाण परिष्णामिति) विस्-सया यन्पुत्रगलाहं परिणामे शीतोष्णतापादिकरूपं वेदयेत्

यदा तदा तत्रेन्द्रियोपघातजननङ्घरेण ज्ञानपरिष्ठावुपहतायै ज्ञानव्ययम् । एकेन्द्रियः किमपि सञ्चस्तु न जानाति, ज्ञानपरिष्ठा-तरुहृतस्यात् । प्रथं सांपेक उच्य उक्तः । निरपेकस्य तु विषये सुप्रसिद्धम्- (तसि वा उदयेण ति) ज्ञानावरणीयकर्मपुत्रगलाहं विपाकप्राप्तानामुद्ययं काश्चन्यं न जानाति । (जातिउत्कामे न जानह सि) ज्ञानपरिणामेन परिणाममुच्छिन्नश्चि ज्ञानपरिण-गुपघातान्न जानाति । (जाणसा वि न जायह सि) प्राग् ज्ञान्वाऽपि पञ्चाक्ष जानति, तेषामेव ज्ञानावरणीयकर्मपुत्रगला-नामुद्ययान् (उच्छिन्नानाणीयां वि जयह इत्यादि) ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छिन्नहा-र्यापि भवति । उच्छिन्नं च तज्जलं च उच्छिन्नज्ञानं, तदस्यास्तीति उच्छिन्नज्ञानं, सर्वधनादिपा-राभ्युपगमादिनिःपाद्यत् शाक्तप्रच्छादितज्ञानायापि भवतीत्यर्थः । “ एतं न गीयमा ! नाणावरणजं कम्मं ” इत्यादिपुपसंहाराद्यर्थं कथ्यम् । महा० । ३० ।

दर्शनावरणीयस्य-

दरिमाणारणजसस णं जंते । कम्मस जंविणं वक्कस जाव पोग्गलपरिणामं पप कतिविहे अणुजावे पप्पसे ? गोयमा ! तवविहे अणुजावे पप्पसे । तं जहा-निदा निदानिदा पयला पयहापयला र्थणक्कं । चक्कुदंस-णारिणो अचक्कुदंसणारिवं अं । हिदंसणारिवं केवलदंस-णारिवं जं वेदं पंगलं वा पोग्गलं वा युगलपरिणामं वा व ससा वा पंगलपरिणामं तेसि वा उदयणं पारिसय्वं वा न पासड, पासिउकामे न पामड, पामिचा वि न पामड, उच्छिन्नदंसणांथा वि जव्व दरिमाणारणजसस कम्मस उदणं, एस णं गोयमा ! दरिमाणारणजं कम्मं, एस णं गोयमा ! दरिसणारणजं कम्मस कम्मस जंविणं बद्धस जाव पोग्गलपरिणामं पप नवविहे अणुजावे पप्पसे । प्रअयुं पववत्त । निवन्वममाह-गंमम ! नवविमः प्रहसत नद्वय नयायिअयं हंयति-निदा इत्यादि । निदाशब्दाद्यर्थमथ व-ह्यामः । जावाथिस्ययम्-“सुहापिंविहा निदा, दुहापिंविहाय निदिनिदा य । पयला हाह त्रियस्सा, पयहापयहाय येकमस्रो” ॥ १ ॥ यीणजं पुण अस्स, किउच्छकम्मण धेयण हाह । मह-निदादि ण किंयिण-यावारपसाहणी पार्थ ” ॥ २ ॥ चसुदंशेना-वरणं चकुःसामाग्योपयोगावरणम् । एवं शोषेणपि जावनीयम् । (जं वेदह इत्यादि) यं वेदयते पुत्रगलाहपानीयादिकं (पुत्रले वा इति) यान् पुत्रज्ञानं बहून् सूद्रवाचनीयादीन् वेदयते पुत्रपरिणामे महिपदस्याभ्यवहनाहारपरिणाममित्यर्थः ; (श्री-ससा वा पोग्गलाण परिणाममिति) वर्षास्त्रजसंस्तननोरूपं, धाराभ्युनिपानरूपं वा यं वेदयते तेन निद्रादृष्ट्याज्ञापितो दर्श-नपरिणानुपघाते । एतावता परत उक्तः । सअमिं स्सत उद्य-माह-(तसि वा उदयेण त्त) तेषां वा दर्शनावरणीयकर्मपुत्रगला-नामुद्ययेन परिणानिःशियानेन दृष्टयं न पश्यति । तथा किञ्चिदर्श-नपरिणामेन परिणाममुच्छिन्नश्चि ज्ञानावरणादिना दर्शनपरिणानु-पघातान्न पश्यति-प्राग् दृष्टाऽपि पञ्चाक्ष पश्यति , दर्शना-वरणीयकर्मपुत्रगलानामुद्ययान् । किं बहूना ? दर्शनावरणीयस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छिन्नदश-र्यापि यावच्छक्तप्रच्छादित-दर्श्यापि जयति । “ एतं न गीयमा ! दरिसणारणजं कम्मं ” इत्यादिपुपसंहाराद्यर्थम् ।

सातासातावेदनीयस्य—

सातावेयण्णिजस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप कतिविहे अणुजावे पणत्ते ? ! गोयमा ! सायावेयण्णिजस्स कम्मस्स जीवेण वच्छस्स जाव अणुज विहे अणुजावे पणत्ते ! तं जहा—पणुन्ना फासा, मणुन्ना रू—हा, मणुन्ना गंधा, मणुन्ना रसा, मणुन्ना फासा, मणुंसु—हता, वयसुहता, कायसुहता । जं वेद्दं पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा बीससा वा पोग्गलायं परिणामं तेषिं वा उदएणं सातावेदण्णिजं कम्मं वेदेइ । एस एं गोयमा ! सातावेयण्णिजं कम्मं, एस एं गोयमा ! सायावेयण्णिजस्स जाव अणुजविहे अणुजावे पणत्ते । असयावेयण्णिजस्स एं जंतं ! कम्मस्स जीवेणं तंहेव पुच्छा, उत्तरं च, नवरं अमणुन्ना सदा जाव वयसुहता एस एं गोयमा ! असतावेयण्णिजस्स जाव अणुजविहे अणुजावे ।

प्रअसुं प्रभवत् । निर्वचनमाह—गौतम ! अणुविधोऽनुभावः प्रहसः । अणुविधोऽनुभावो दशोयति—(मणुजा सदा इत्याह) मनोहाः शब्दा आगन्तुका वेणुवर्णादि संबन्धिनः । अन्यं 'आमीया' इत्याह । तदशुक्लम् । आत्मं यशब्दानां वाक्यसुखं तस्य नैव गुणोन्नात्वात् । मनोहा रसा इहुरस्स प्रभृतयः ; मनोहा गन्धाः कर्पूरादिसुष्मन्धनः ; मनोहानि कर्णाणि स्वगतस्वस्त्रादिवादिगतानि । मनोहाः स्पर्शाः हंसतुल्यादिगतानः ; (मणुंसुहता इति) मनानि सुखं यस्यानौ मनःसुखस्तस्य भावो मनःसंखितान्, सुखिनं मन इत्यर्थः । वाचिं सुखं यस्यासौ वाकसुखस्तस्य जावा वाकसुखितान् । सर्वेषां आश्रमनःप्रणुदकारिणीं वागिति तात्पर्यार्थः । काये सुखं यस्यानौ कायसुखस्तद्भावः कायसुखितान् । इत्यर्थः काय इत्यर्थः । एते चापि पदार्थाः सातावेदनीयस्यादयन् प्राणिनामुपतिष्ठन्ते ।

मोहनीयस्य—

मोहण्णिजस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव कइविहे अणुजावे पाणत्ते ? ! गोयमा ! मोहण्णिजस्स कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव पंचविहे अणुजावे पाणत्ते । तं जहा—मम्मचवेयण्णिजं मिच्छत्तवेयण्णिजं मम्मामिच्छत्तवेयण्णिजं कसायवेयण्णिजे नो कसायवेयण्णिजे जं वेदेइ पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा बीससा वा पोग्गलपरिणामं तेषिं वा उदएणं मोहण्णिजं कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! मोहण्णिजकम्मं, एस एं गोयमा ! मोहण्णिजस्स जाव पंचविहे अणुजावे पाणत्ते ।

प्रअसुं प्रभवत् । निर्वचनम्—पञ्चविधोऽनुजावः प्रहसः । तदेव पञ्चविधत्वं दर्शयति—सम्यकत्ववेदनीयमित्यादि । सम्यकत्वपुण्ये यद्व्येयं तत्सम्यकत्ववेदनीयम् । एवं शेषपदेष्वपि प्रादुर्भावो जावनीयः । जावाधैर्यपुण्य—बहिहं वेद्यमानं प्रशमादिपरिणामं करोति तत्सम्यकत्ववेदनीयम्, यत् पुनरुदाहादिखुल्लेखितमित्थ्यात्त्ववेदनीयं मिथपरिणाममुत्तुः । सम्यकत्वपुण्यत्त्ववेदनीयं क्रोधादिपरिणामकारणम् । क्रवायवेदनीयं हास्यादिपरिणामकारणम् । नो कपायवेदनीयम् । (जं वेदेइ पुगलमि-

त्यादि) ये वेदयन्ते पुगलं विषयप्रतिमाविकं पुगलान् वा याव वेदयन्ते बहुहं प्रतिमादिः यं पुगलपरिणामं देशाद्यनुकपाहारपरिणामं कम्मं पुगलविधोपादानसमर्थं भवति, आहारपरिणामविशेषादपि कदाचित्कर्मपुगलविधोपा यथा—आहोषधाद्याहारपरिणामात्पुगलान् कर्मात्पुगलानां प्रतिविधिष्टः क्षयापहामः । उक्तञ्च—“उद्यकत्वयस्त्रयसो—वसमाविजयं च कम्मणो जणिया । दव्वं केत्तं कालं, अवं च भावं च संवपे” ॥१॥ विजससया वा यत् पुगलानां परिणाममन्नविकारादिकं यद्दशनादेवं विवेक उपजायते—“आयुः शरज्जत्रप्रभिनं नराणां, संपत्तयः कुसुमित्तुमसारतुल्याः । स्ववपानेजागहसा विषयोपजोगाः, संकल्पमात्ररमणीयमिदं हि सबम्” ॥१॥ इत्यादि । अन्यं वा प्रशमादिपरिणामनिबन्धनं ये वेदयन् तस्मात्प्रथ्यान्मोहनीयं सम्यकत्ववेदनीयादिकं वेदयन्ते, सम्यकत्ववेदनीयादिकं कर्मप्रशमादि वेदयन्ते इति जावः । एतावान् परत उद्य उक्तः । सप्रति स्वतस्तमाह—(तेषिं वा उदएणं ति) तेषां च सम्यकत्ववेदनीयादिकं पुगलानामुद्यन्ते प्रशमादि वेदयन्ते ‘एस एं’ इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

आयुः—

आउत्तयस्स एं भंते ! कम्मस्स जीवेणं तंहेव पुच्छा । गोययमा ! आउत्तयस्स एं कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव चउ—विहे अणुजावे पाणत्ते । तं जहा—नेरइयाउए निरियाउए मणुयाउए देवाउए जं वेदेइ, पोग्गले वा पोग्गले पोग्गलपरिणामं वा बीससा वा पोग्गलायं परिणामं वा, तेषिं वा उदएणं आउत्तयस्स कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! आउत्तयस्स कम्मस्स जाव चउविहे अणुजावे पाणत्ते ।

प्रअसुं प्रभवत् । निर्वचनम्—चतुर्विधोऽनुजावः प्रहसः । तदेव चतुर्विधत्वं दर्शयति—(नेरइयाउए इत्यादि) सुगमम् । ‘अं वे—एइ पुगलं वा’ इत्यादि, ये वेदयन्ते पुगलं शास्त्रादिकमायुपरवर्षनसमर्थं बद्धं पुगलान् शास्त्रादिकपाठं याव वेदयन्ते यं या पुद्गलपरिणामं विद्याप्रादिपरिणामरूपं विजससया वा यं पुगलपरिणामं शीतानादिकमेवायुपरवर्षनकर्म तेषांपुण्यमाननवायुपापयनेनाश्रारकथायुःकर्म वेदयन्ते । एतावता परत उद्येयमित्थितः । स्वत उद्यस्य सुत्रनिदम्—निम्ति वा उदएणं ति तेषां वा नारकायुःपुगलानामुद्यन्ते नारकाद्यायुर्वेदयन्ते, ‘एस एं’ इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

तत्र नामकम्—शुभनामकम्, अशुभनामकम् च । तत्र शुभनामकमोचित्युत्थं सुखमाह—

सुभणामस्स एं जंतं ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गोयमा ! सुभनामस्स एं कम्मस्स जीवेणं वच्छस्स जाव चउइसविहे अणुजावे पाणत्ते । तं जहा—इहा सदा इहा रूवा इहा गंधा इहा रसा इहा फासा इहा गर्इ इहा उिइ इहं लावन्नं इहा जसोकिचं । इहं उहण्णकम्मवल्लीरियपुसिक्कारपक्कं इहस्सरता कंससरता पियस्सरता मणुअसरता जं वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पुगलपरिणामं वा बीससा वा पोग्गलायं परिणामं तेषिं वा उदएणं सुजनामं कम्मं वेदेइ, एस एं गोयमा ! सुजनामकम्मं, एस एं गोयमा ! सुभनामस्स कम्मस्स जाव चउइसविहे अणुजावे पाणत्ते ॥

प्रश्नस्य प्राग्वत् । निर्वचनस्य-चतुर्दशविधोऽनुभावः । तदेव च-
 त्तुर्दशविधस्यं दर्शयति— (इहा सहा इत्यादि) येते शब्दादय
 आम्नाया यथ परिशुद्धन्ते, नामकर्मविपाकस्य चिन्त्यमानत्वात् ।
 तत्र वादिशाधुमादिता इत्येकः । तत्रपुत्रम् । तेषामन्यकर्मोदयनि-
 धाधत्वात् । इहा गतिमिच्छानापरानुकारिणो (शिविकापाया-हण-
 नइकोति एकः, इहा स्थितिः सहजा सिंहासनादीं च अन्ये, इए ला-
 षण्यं जायाविशेषलक्षणं बुद्धकुमाद्यनुलेपनजमिति क्षपरे, इहा य-
 शःकीर्तियेष्टसा युक्ता कीर्तिः । यशःकीर्त्योश्च-यं विशेषः-
 दानपुण्यकृता कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः, (इहे उद्गुणकम्म-
 बहवोरियपुरिसङ्कारपरिक्रम इति) उत्थानं देहसेष्टाविशेषः,
 कर्म रेचनसुमण्णादि, बन्धं शारीरस्वाम्यर्थदिविशेषः, धीर्यं जी-
 वप्रजनवः, स एव पुरुषाकारोऽभिमानविशेषः, स एव तिष्णा-
 दित्तस्वियपरपराक्रमः । इष्टस्वरता चञ्चलस्वरता । तत्र इहाः
 शब्दाः इति सामा-योकावियं विशेषोक्तिस्वरत्यव्यवृत्तत्वापेक्षा-
 उवागतत्वात् । कान्तस्वरतेति । कान्तः कमनीयः सामान्यना-
 ऽभिप्रायस्वीय इत्यर्थः । कान्तः स्वरो यस्य स तथा तद्भावः
 कान्तस्वरता । प्रियस्वरतेति । प्रियो भूयोऽभिप्रायः यः । प्रियः
 स्वरो यस्य स तथा तद्भावः प्रियस्वरता (मणुश्रमस्वरया
 इति) उपरतभाषोऽपि स्वाश्रमभनप्रतिजनको मनोः स स्वर-
 रो यस्य स मनोःकृत्वन्ता (ज वेद इत्यादि) यं वेदयन्ते पुत्र-
 सं वीणावर्णकमग्न्याम्बुशुपट्टशिविकाभिहासनकुडुमदानराज-
 योमगुलिकादिभक्षणम् । तथा च वीणादिस्वम्प्रादौ भवन्तीष्टाः
 शब्दादय इति परिभाषनीयमन्तव्यं सूत्रमपि मार्गोऽनुमिग्याय ।
 (पुमगं वा इति) यतो बहून् पुत्रान् न वेणुयुवादिवादिना वेदय-
 नो यं पुत्रश्रयपरिणामं ब्राह्मणाद्याहारपरिणामं विस्त्रया वा यं
 पुत्रदानं परिणामं श्रुजजलदादिकं तथा चोन्नानकजजस्रस्य-
 प्रजापतेषान्तथोक्तय प्रदंभमनसो गायन्ति मत्तयुवयया रेलुका-
 निष्टस्वचानित्यादि, तन्प्राभावात् पुत्रान् न वेणुयुवादिना श्रुजना-
 मकर्मकलमिष्टस्वत्वादिक्मनुभवतीति ज्ञावः । एतायना परत
 उक्तः । इहानीं स्वतस्त्वमाह— [तस्मिं वा उदण्णे ति] तेषां वा
 शुभानां कर्मपुत्रदानामुदयेन इहाशब्दादिकं वेदयन्ते " पसं गं
 गोयमा ! " इत्याद्युपसंहारवाक्यम् । उक्तोऽष्टविधनातवेदनीय-
 स्यानुज्ञाः । परतः सातवेदनीयस्योदयमुदयोदयति- [ज वेपद
 पुमगलमिर्यादि] यद् वेदयन्ते पुत्रं स कुरुकुमादि यान् वा
 वेदयन्ते पुत्रलात् बहून् अकुरुकुमादीन् यं वा वेदयन्ते पुत्रला-
 परिणामं देशकालवयोवस्थाऽनुकूलाहारपरिणामम् [वाससा वा
 पुमगलाण परिणामं] विस्त्रया वा यं पुत्रदानां परिणामकर्मोऽ
 ऽभिप्रायं शोतात्प्लादिवेदनाप्रतीकाररूपं तेन मनसः समाधान-
 सत्त्वाद्वात् सातवेदनीयं कर्मानुभवति । सातवेदनीयकर्मफलं
 सातं वेदयन्ते इत्यर्थः । उक्तः परत उदयः । सप्रति स्वत उदय-
 माह— [तस्मिं वा उदण्णे ति] तेषां वा सातवेदनीयपुत्रदानामुद-
 येन मनोःकलदादिव्यतिरेकणापि कर्मान्वितिसुखं वेदयन्ते, यथा न-
 र्यिकास्तीर्थकर्मजन्मादिकोले । " पमं न गोयमा ! " इत्याद्युपसंहा-
 रवाक्यम् । प्रश्नस्यं सुममं, निर्वचनं पूर्ववत् । तथा चाह— " तदेव
 पुत्रा, उलसं च, तवयं " इत्यादिना पूर्वमन्त्रादय विशेष्यमुपदंश्य-
 ति- [अमयुञ्ज सहा इत्यादि] अमानाहाः शब्दाः खराप्राभ्या-
 दिसम्बाधेन आगन्तुकाः, अमानाहा रसाः स्वस्याप्रतिमानिनो
 दुःखजनकाः, अमनेहा गन्था गोमहिषादिमन्तकलेरारदिएग्धाः,
 अमनोःहाति कर्पाणि स्वगन्धोमनादीनि, अमनोःहाः पशोः का-
 केशशब्दाः [मगोदुहया इति] दुःखितं मन इति । वयदुहिया

इति] अग्नया वागिति प्रावाधेः [कायदुहिया इति] काये
 दुःखं यस्यासौ कायदुःखस्तद्भावः कायदुःखिता, दुःखितं काय
 इत्यर्थः [ज वेपद इत्यादि] यं वेदयन्ते पुत्रं विषयशक्त्यु-
 कादि [पुमगलं वा इति] यान् वा पुत्रलात् बहून् विषयशक्त-
 कण्टकादीन् वेदयन्ते यं वेदयन्ते पुत्रश्रयपरिणाममत्याहारलक्षणं
 विस्त्रया वा यं वेदयन्ते पुत्रश्रयपरिणामकर्मोऽभिप्रायं
 शोतात्प्लादिवेदनाप्रतीकाररूपं तेन मनसोऽस्माधानसम्प्रादानत्वात् प्रसा-
 तवेदनीयं कर्मानुभवति । असातवेदनीयकर्मफलमसातं वेदय-
 त इति भावः । एतेन परत उदय उक्तः । सप्रति स्वत उदय-
 माह— [तस्मिं वा उदण्णे ति] तेषां वा असातवेदनीयकर्म-
 पुत्रदानामुदयेनासातं वेदयन्ते ' पसं न गोयमा ' इत्याद्यु-
 पसंहारवाक्यम् ।

अश्रुजानामः—

दुहनामस्त एं भेत । पुत्रा । गोयमा ! एवं चैव, नवरं अ-
 ण्डा सदा जाव ह । णस्सराता दीएस्सरता अण्डस्सरता
 अकंतस्सरता जं वेदेइ, सेसं तं चैव जाव चउदसविहं अ-
 षुचावे एणणे च ॥

प्रश्नस्यं प्राग्वत् । निर्वचनस्यं प्रागुक्तार्थवैपरीत्येन भावनीयम् ।
 गोत्रं द्विधा-उत्थेगोत्रं वा नैवित्थं वा । तत्रोत्थेगोत्रावययं
 स्वरमाह—

उवागोयस्य एं भेत । कम्मस्स जीवेणं पुत्रा । गोयमा !
 उवागोयस्य कम्मस्स जीवेणं वच्सस जाव अइविहे अ-
 षुजावे एणत्ते । तं जहा-जातिविमिहता कुलविमिहता
 बलविमिहता स्वविमिहता तवविमिहता सुयाविमिहता
 लानविमिहता इस्सरियविमिहता जं वेदे पोगलं वा
 पोगले वा पोगलपरिणामं वा वाससा वा पोगलाणं
 परिणामं तस्मिं वा उदण्णां जाव अइविहे अशुभावे
 एणणत्ते ॥

प्रश्नस्यं प्राग्वत् । निर्वचनस्यं—अष्टविधोऽनुभावः प्रज्ञः ।
 तदेवाष्टविधस्यं दर्शयति— [जादिविसिद्धया इत्यादि] जाया-
 दयः सुप्रज्ञताः । शब्दाथस्वेवमेव—जाया विशिष्टो जाति-
 विशिष्टस्तद्जातो जातिविशिष्टता इत्यादिकम् । वेदयन्ते पुत्रं
 बाह्यदृष्ट्यादिलक्षणम् । तथाहि-दृश्यसम्बन्धाच्चाजादिविशा-
 ट्पुरुषस्यम्परिव्रदाहा नौचजातिकुलोत्पत्तोऽपि जात्यादिस-
 म्यञ्च इव जनस्य मान्य उपजायते । चत्तविशिष्टताऽपि म-
 न्नानामिध लकुटिप्रमण्यवशाद् । कर्पाविशिष्टता प्रातिवाशिष्टव-
 क्षान्तुगसम्बन्धात् । तपोविशिष्टता गिरिकुटाद्याहारहणनाताप-
 नं कुवेनः । श्रुतविशिष्टता मनोःकुरुदेशसंक्त्वात् स्वाध्यायं कु-
 वेन । लानविशिष्टता प्रतिविशिष्टरत्नादियोगात् । ऐश्वर्यवि-
 शिष्टता धनकनकादिसम्बन्धाच्चादिति । (पुमगं वा इति) यान्
 बहून् पुत्रलात् वेदयन्ते पुत्रश्रयपरिणामं विषयफलाद्याहारपरिणा-
 मरूपं विस्त्रया वा यं पुत्रदानां परिणामकर्मसादाभिहितज-
 लशामसंवादादिलक्षणं तत्प्राभावात् दुष्टैर्गोत्रं वेदयन्ते उत्थेगो-
 कर्मफलं जातिविशिष्टवादिक् वेदयन्ते । एतेन परत उदय उ-
 क्तः । सप्रति स्वतस्त्वमाह— [तस्मिं वा उदण्णे ति] तेषां वा
 उच्चैर्गोत्रकर्मपुत्रदानामुदयेन जातिविशिष्टवादिक् भवति
 " पसं न गोयमा ! " इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

नीधोगोपस्स णं भंतं । पुच्छा । गोयमा । एवं चेष, नवरं
जातिविहीणता जाव इस्सयिविहीणता जं वेदंइ पा-
गसं वा भोगले वा पंगलापरिणामं वा वीससा वा पांग-
लाणं परिणामं तेषि वा उदएणं जाव अद्विविदं अणुभा-
वेषुत्तं ॥

प्रअश्रुत्तं प्राग्धत् । निर्वचनम्—अधविषोऽणुभाषः तमेवाधविधम-
नुभावं दर्शयति—(जाइविहीणया इत्यादि) सुप्रतीतम् । [जं
वेदंइ पुगलमिति] यं वेदयते पुद्वलं नीचकर्मसवमरूपं, नीच-
पुरुषसम्बन्धलक्षणं वा । तथाहि—उत्तमजातसम्पन्नोऽपि उ-
त्तमकुलोत्पन्नोऽपि यदि नीचेः कर्मवशात् यथा नीचकारूपमा-
सन्नेव, चापकाशां वा गच्छति तदा भवति चापकाशादिरिष जनस्य
निम्नः । बलहीनता, सुखरयनीयादिसम्बन्धात् । तथाविहीनता
प्राथम्यादिसंगतं, धृतिविहीनता विक्रमोपसप्तध्वानासादि-
संसर्गात्, लान्निविहीनता देशकालानुचितकुक्रियाणां संपर्कत्,
पेम्ब्यविहीनता कुग्रहकुक्लत्रादिसम्पर्क इति । [पुगले
वा इति] यान् बहून् पुद्वलान् वेदयते, यथा—पुद्वत्परिणामं
धृत्ताकाफलं ह्यन्यवहनकास्तृत्यानेन रूपविहीनतामापाद-
यतीत्यादि । विव्वसया वा पुद्वलानां परिणाममभिहतजलदाग-
मविस्वादाक्षणं वेदयते, तत्रमात्राद् नीचैःकर्म वेदयते, नी-
चैः कर्मफलं जात्यादिविहीनताकारं वेदयते इत्यर्थः । एतावता
परत उदय उक्तः । सस्यमि स्वत उदयमाह—(तेषि वा उद-
एणं ति) नेणं वा नीधोगोपसप्तहारवाक्यम् ।
हीनतामनुभवति । " एस णं गोयमा ! " इत्याणुपसंहारवाक्यम् ।

अन्तरायक्य-

अंतराइयस्स णं जंतं । कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गो-
यमा । अंतराइयस्स कम्मस्स जीवेणं बरूस्स जाव
पंचविदं अणुजावे पप्पत्तं । तं जहा-दणंतराए लाभं-
तराए भोगंतराए उवजोगंतराए वीरियंतराए जं वेदेति पां-
गसं वा जाव वीससा वा तेषि वा उदएणं अंतराइयं
कम्मं वेदंइ, एस णं गोयमा । अंतराइए कम्मं, एस णं गोय-
मा । जाव पंचविदं अणुभावं पप्पत्तं ।

प्रअश्रुत्तं प्राग्धत् । निर्वचनम्—पञ्चविषोऽणुजावः प्रहस्तः तदेव
पञ्चविधसंघं दर्शयति—(दानंतराए इत्यादि) दानस्वान्तरा-
यो विषवः दानान्तरायः । एवं स्यत्र आशनीयम् । तत्र दानान्-
तरायो दानान्तरायस्य कर्मणः फलस्य । दानान्तरायो दानान्तरा-
यदिकर्मणामिति । (जं वेदंइ पुगलं वा इत्यादि) यं वेदयते पु-
द्वलं विविधविशिष्टरन्त्यादिसम्बन्धात् इत्यने तद्विषये एव दानान्-
तरायोदयः स्तन्विषयेऽणुमुपकरणसम्बन्धाद्दानान्तरायकर्मो-
दयः, प्रतिविशिश्टहारसम्बन्धादिप्रार्थनार्थसम्बन्धाद्दानान्तरा-
योदयः । एवमुपभोगान्तरायकर्मोदयोऽपि जायतीत्यर्थः ।
तथा लकुटाधिपाताद् धीयान्तरायकर्मोदय इति । पुद्वगलान्
वा बहून् तथाविधाद् यान् पुद्वलान् वेदयते यं वा पुद्वलपरि-
णामं तथाविधाहारोपधादिपरिणामरूपम् । तथाहि—इत्यने
तथाविधाऽऽहारोपधपरिणामाद्भीक्ष्णान्तरायकर्मोदयः । मन्त्रो-
पसि कवासादिगन्धपुद्वलपरिणामाद् भोगान्तरायोदयः । यथा
सुबन्धुसन्धिबन्धु बिरससया वा पुद्वगलानां परिणामं विष्व ही-
दादिलक्षणम् । तथाहि—इत्यनेन ब्रह्मादिकं दातुकामा अवि

हीतादिनिपतस्तमशोक्य दानान्तरायोदयोदय तस्यादातरः,
इति तस्यभावात् एष परत उदय उक्तः । स्वतस्तमाह—(तेषि
इएणं ति) तेषां वा अन्तरायकर्मपुद्वलानामुदयेन अन्तरायक-
र्मफलं दानान्तरायोदिकं वेदयते । " एस णं " इत्याणुपसंहारवा-
क्यस्य । प्रह्ला० ३३ पद । " तस्या एपसिं कम्मणं, अणुजागे
बियादिए । एपसिं संबरे चेष, लणयं ज अप बुहं " ॥१॥ उक्त्वा०
३३ ३० कर्मणः स्वभावे, तदुक्तं कर्मप्रकृतिवर्णनी—"अणुभागो-
त्ति सहाओ" क० प्र० । (कर्मणां करणाणां बन्धसंक्रमणादीनामनु-
भागबन्धादिभेदाः बन्धादिदाम्बु उद्दयाः ।)

अणुजागअपावडुय-अनुभागालपवहुत्वं-न० । अनुभागं प्रत्य-
ल्पवहुत्वे . यथा " सत्वन्थायादं अणतगुणवृद्धिद्वाराणां असं-
केतगुणवृद्धिद्वाराणां असंखिजगुणाणां संखिजगुणवृद्धिद्वाराणां
असंखिजगुणाणां जाव अणतभागवृद्धिद्वाराणां असंखि-
जगुणाणां " अत्रेष्टादपवहुत्वं यथा—"अर्धहृद्यगस्त्य वा आउ-
यभागे योषो नामगोयाणं तुल्लो विस्साहिओ नाइदंसाणाव-
णंतरायाणं तुल्लो विस्साहिओ मोहस्स विस्साहिओ वेध-
णिजस्स विस्साहिओ सति " । इथा० ४ ज्ञा० २ उ० ।

अणुभागउदीरणोवकम्म-अनुजागोदीरणोपक्रम-पुं० । प्रासंययेन
रसेन सहाऽप्रासोदयस्य रसस्य वेदनाऽऽरम्भे, इथा० ४ ज्ञा० १ उ० ।
अणुजागकम्म-अनुजागकर्मणं -न० । अनुभागरूपं कर्मोन्भा-
गकर्मं । रसासिकं कर्मजेदं, भ० १ शो० ४ उ० ।

अणुजागमाणानिहन्ताउय-अनुगतानामनिषत्ताणु - न० ।
अनुजाग आणुकर्मद्रव्याणां तीव्रादिभेदो रसः । स एव तस्य वा
नाम परिणामोऽणुभागनाम, अधवा तस्य हीनतां नामकर्मणामनु-
जागबन्धरूपं भेदोऽणुजागनाम, तेन सह निषत्तमायुःअनुभा-
गनामनिषत्ताणुयुति । आणुबन्धनेदं, स० । ज्ञा० । इथा० ।

अणुभाग (व) बंध-अनुजाग (व) बन्ध-पुं० । अनुभागं
दिपाकस्तीव्रादिभेदो रस इत्यर्थः, तस्य बन्धोऽणुजागबन्धः । ब-
न्धनेदं, इथा० ४ ज्ञा० २ उ० । ('बंध' शब्देऽस्य व्याख्या)

अणुभागबंधपम्भवसायडाएण-अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान-
न० । कृष्णादिरेव्यापरिणामविशेषे, कर्म० १ कर्म० । सकया-
योद्वा हि कृष्णादिललायापरिणामविशेषाः अनुजागबन्धपदं हन्तव
इतिवचनात् । क० प्र० ।

अणुजाग (व) बंधद्वयाण-अनुजाग (व) बन्धस्थान-न० । तिष्ठ-
त्यस्मिन् जीव इति स्थानम्, अनुजागबन्धस्य स्थानमनुजागब-
न्धस्थानम् । एकेन कार्यादिकेणध्यवसायेन शुहीतानां कर्मपुद्व-
लानां विष्वक्लैकसत्यवधरमसमुदायपरिणामं ताधिपादकुरु
कषायोदयरूपेषु अथवसायविशेषेषु , प्रव० १६२ द्वा० ।

एसमययिमि श्रोए, सुदुमगाणजिया उ जे उ पावसंति ।
ते तुंतउसवल्लोय-पपसतुव्वा असंसेजजा ॥
ततो असंसगुणिया, अगणिकाया उ तेषिं कायतिई ।
ततो संजमअणुभा-गबंधद्वयाणसंवाणि वा ॥

शोके इह जगति एकस्मिन् समये पृथिवीकायिकादयो जीयाः
(सुदुमगाणजिया उ सति) सत्यमर्थव्याप्त्यमथाः, सुदमाक्किनी-

अणुभागवंध्यापण

अभिधानराजेन्द्रः ।

षेणु सूक्ष्मनामकर्मोत्पत्तिषु तेजस्क्यायिकजातेषु प्रविशन्ति च त्पद्यन्ते । संख्ययात्ममेवाह—असंख्यश्लोकः प्रदेशस्तुत्या असंख्ययश्लोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः । इह च विज्ञातीयजीवानां जित्कन्तस्तत्तोत्पत्तिः प्रदेश उच्यते । इत्थमेव प्रकृतेः प्रवेशनकशब्दाद्येष्वेव व्याख्यातव्यात् । तत्रने जीवा प्रपृथ्व्यादित्रयोऽष्कायेभ्यो भावतेजस्कः (येषुः सूक्ष्मतेजस्कस्यातयोत्पद्यन्ते, इह सूक्ष्मते, ये पुनः पूर्वमुत्पन्नाः तेजस्कायिकाः पुनर्मुत्पन्नाः तैरेव पर्यायेणात्पद्यन्ते च गृह्यन्ते, तेषां पूर्वमेव प्रविष्टव्यात् । ततः सर्वेस्तोका एकसमये ससुत्पन्नसुक्ष्माश्रिकायिकाः । (तत्तां ति) ततस्तेज्य एकसमयोत्पन्नसुक्ष्माश्रिकायिकयोऽसंख्ययगुणित्वा असंख्ययगुणा अभिनकाणाः बुद्धोत्पन्नाः सर्वेऽपि सूक्ष्मान्निकायिकजीवाः । कथमिति चेत् ? उच्यते—एकः सूक्ष्मान्निकायिको जीवः ससुत्पन्नोऽनमुत्पन्नं जीवन्ति, एतावन्नुत्पन्नोत्पन्नव्यात् । तेषां तस्मिन् इवान्तरमुत्पन्नं च समयास्तेषु प्रत्येकसमयेषु श्लोकाकाशप्रमाणाः सूक्ष्माश्रिकायिकाः ससुत्पद्यन्ते, अतः सिद्धमेकसमयोत्पन्नसुक्ष्माश्रिकायिकेषुः सर्वेषां पूर्वोत्पन्नसुक्ष्माश्रिकायिकानामसंख्ययगुणत्वम् । तेभ्योऽपि सर्वेसुक्ष्माश्रिकायिकेषुस्तेषामेव प्रत्येकं कार्यास्तिः पुनः पुनस्तेष्वेव ससुत्पन्नि तद्गुणा संख्यातगुणा एकैकस्यापि सूक्ष्मान्निकायिकेषु संख्ययोत्पत्तिगीप्रमाणायाः कार्यास्तिरेककर्तव्यः प्रतिपदिदन्त्वादिदि । तस्याश्रयि कार्यास्तिरेकः सकाशात् संयमस्थानायनुभागवंधस्थानानि च प्रत्येकसंख्ययगुणानि कार्यास्थानावसंख्ययानां स्थितिबन्धानां भावाद्देहिकैस्त्वैव स्थितिबन्धे असम्बन्धानामनुभागवंधस्थानानां सद्भावादिनि । संयमस्थानान्यप्यनुभागवंधस्थानैस्तनुद्यन्ते । तेषानुभागानां तन्वरूपं चाऽप्रवक्ष्यामः । अथाऽनुभागवंधस्थानानि किं काश्यायैः ? उच्यते । निष्ठुर्यस्मिन् जीव इति स्थानम् । अनुभागवंधस्य स्थानमनुभागवंधस्थानम् । एकेन कार्याधिकेणाध्यवसायेन सूहीतानां कर्मपुत्रलानां विवक्षितेकसमयव्यवहारेणससुत्पद्यपरिमाणमित्यर्थः । तानि चानुभागवंधस्थानान्यत्समयेयश्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तेषां चाऽनुभागवंधस्थानानां निष्पादकाः कर्माद्यवस्थाः अध्यवसायविशेषास्तेऽयनुभागवंधस्थानानीत्युच्यन्ते, कारणे कार्यावधारत्वात् । तेऽपि चानुभागवंधाध्यवसाया असंख्ययश्लोकाकाशप्रदेशप्रमाणा इति । प्रब० १६२ ड्रा० । क० प्र० । पं० सं० । “ अणुभागवंध्यापण अउजवसायद्व्यापण व पगडा ” पं० सं० ५ ड्रा० ।

अणुभाग (व) संकम-अनुभाग (व) संक्रम-पु० । अनुनागवियवय संक्रमभेदे, क० प्र० । तन्वरूपं च—
 “ तथऽदृश्यं त्वव-द्विया व भोवद्विया व अविजारा ।
 अणुनागसंक्रमो ए-स अक्षरगर्भे निषा वा वि ” ॥ १ ॥ स्ति ।
 (अदृश्यं ति) अनुभागसंक्रमसंवरूपनिर्कारणम् । (अविभाग स्ति) अनुभागः (निय स्ति) नीति इति । क० प्र० । पं० सं० । (‘संक्रम’ शब्दे चास्य विस्तृता व्याख्या)

अणुजागमेतकम्-अनुजागमकर्म-न० । अनुजागवियवयायां कर्मणः सत्त्वाधाम, क० प्र० । पं० सं० । (‘सत्त्वा’ प्रकरणेन व्याख्यास्यामि)

अणुजागृहीरणा-अनुभागोदीरणा-स्त्री० । प्रामोदधेन रसेन सद्भावात्तद्विषे वेद्यमाने रसे, स्था० ४ गा० २ उ० । क० प्र० । पं०

सं० । (‘ उदीरणा ’ शब्दे हिं० भा० ६४६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)
 अणुभागोदय-अनुजागोदय-पुं० । अनुभागवियवये कर्मणासु-
 दये, पं० सं० ४ ड्रा० । क० प्र० । (‘ उदय ’ शब्दे हिं० भा० ७७६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अणुभावं-अणुभाव-पुं० । शूनानां कर्मप्रकृतीनां प्रयोगकर्मणो-
 पाक्षानां प्रवृत्तिरितिप्रदेशशरुपाणां तीव्रमन्दागुभावतयाऽनुज-
 घने, आवा०? भु०२ प्र०१ उ० । सं० । अविन्यायां विक्रियकरणा-
 दिकायां शक्तौ च । स्था० ३ गा० ३ उ० । प्रभावे च । व्य० २ उ० ।

अणुजावकम्-अनुजागकर्म-न० । अनुभागतो वेद्यमाने क-
 र्मेणि, यस्य हि अनुभावो यथा बहुरसो वेद्यते । स्था० २ गा० ३ उ० ।

अणुजावण-अणुभावक-वि० । चिन्तापके, आ० म० हिं० ।

अणुनामण-अणुभाषण-न० । आचार्येणान्यायत्पश्चाद् द्रा-
 षणे, आचार्येण प्राविने पश्चात् न द्राषणं न पुनः प्रधानीजुया-
 वार्यभाषणादत्र प्रायेत । “ साष्टाणं अणुनामणं, आचार्येण तु
 प्राप्तिरिति संते । ” व्य० ३ उ० । आ० न्य० ।

अणुभासण (या) मुक्त-अणुनाषण (णा) मुक्त-न० ।
 मुक्तचारितस्य शनेः मुक्तोत्सारणरूपं भावविशुद्धिभेदे, आ०
 न्य० ६ अ० । अनुनाषणागुच्छं यथा-

“ अनुभासणं गुरुवयण, अक्षरवयवयुक्तेर्णहिं परिमुक्तं
 “ अनुभासणं अभिमुहो, ते जाणऽनुभासणागुच्छं ” ॥ १ ॥
 नवरं गुरुभेगिति- (वासिस्व स्ति) शिष्यस्त्वं- वासि-
 राम स्ति) स्था० ५ गा० ३ उ० । कुनकृतिकर्मप्रत्या-
 ख्यानं कुर्वन् अनुभावेन गुरुवचन लघुपरेण शब्देन भग-
 नीत्यर्थः । कथमनुभावेन ? अक्षरपद्व्यवर्जितः परिमुक्तमनना-
 नुजागयायत्नमाह । नवरं गुरुभेगिति- (वासिस्व स्ति) ‘ इमो वि भ-
 गति- (वासिराम स्ति) ससं गुरुभाषणसरिसं भाषण्येव ’ । कि-
 भूत स्तद् । कुनकजित्तरत्रिमुत्सृज्यज्जानोहि अनुभाषणागुच्छ-
 मिति । भाव० ६ अ० ।

अणुसूद-अणुजृति-स्त्री० । अनुजनवमनुजृतिः अनुजवे, विदो० ।
 आ० म० प्र० । दृश० ।

अणुमर्-अणुमति-स्त्री० । अनुमोदने, भाव० ४ अ० । सूच० ।
 तन्वरूपं च—“ काठं स्यं परिणने, अणुवारणअनुमतां हानि
 एवं अणति तुमं अणयो व अणुसम्भ वा रुधकम्मं करे-
 हिति” । आत्मव्यतिरिक्तस्य परस्यैव—“ इच्छम्स वा अणि-
 च्छम्स वा बहानिभ्रवा ह्यधकम्मं कारावयतो कारावणा
 जण्यति ” नि० न्य० १ उ० । अणुमुच्छं, प्रब० ६ ड्रा० ।

अणुमस्या-अणुमति-स्त्री० । उज्जान्यां देयलानुनस्य
 राक्षो न्रायावा अनुत्कलोचनाया शार्याव, आ० न्य० ११ उ० ।
 भाव० ।

अणुमणण-अणुमनन-न० अनुमोदने, प्रति० । (प्रव्यहनवा-
 नुमोदने साधोः कदपत इति ‘वेद्य’ शब्दे वदयते)

अणुमत् (य)-अणुमत्-वि० । अणोरपि मनसि, “ अणुम-
 यादं कुहादं प्रवति” अणुरपि सुतरकोऽपि मनो येषु सर्वसा-
 धुसधारणव्याप्तं सुयं दृष्ट्वा तिलकं कुर्वतीति । कदपत० ।

अणुमत-त्रि० । अजोष्टे, आ० म० द्वि० । दानमनुवाते, क-
 स्य० । अनु पश्चादपि मतोऽनुमतः ज्ञा० १ अ० विप्रियकरण-
 स्थापि (ज्ञा० १ अ०) वैश्वरूपशेनस्याऽपि (सो०) कार्यविधा-
 तस्य (ज्ञा० १ अ०) पश्चादपि मते, म० ३ श्र० १ उ० । अ-
 मिमते, श्र० १ उ० । अजिगमिते, पथे च । सौ० । अणुकृत्येन
 सम्मते, जी० १ प्रति० । बहुमते, पञ्चा० ६ विव० ।

अणुमहत्तर-अनुमहत्तर-पुं० । मूलमहत्तरभावे तत्कार्यका-
 रिणि, " मूलमहत्तरे असाणहिते जो पुच्छसिखिंओ सुरे जाय-
 तिस सो अणुमहत्तरः । नि० श्रु० ६ उ० । मूलमहत्तरं असाणिते
 यस्तत्र सर्वैरपि प्रच्यनियः, सुरि च प्रथमं तिष्ठति सोऽनु-
 महत्तरः । श्रु० २ उ० ।

अणुमाणा-अणुमान-पुं० । अणुश्चासौ मानः । स्तोकाद्वाङ्मते,
 सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । " अणुमाणं च मायं च तं परिष्काय पं-
 दिपि " चक्रवर्थादिना सत्कारादिना पूज्यमानिनागुरपि स्तोकां-
 ऽपि मानोऽहङ्गरो न विधेयः, किमुत महान् ! यदि बोधसमर-
 पोऽस्थितेनाप्रतपोनिपुत्रदेहेन वा, ' अहो ! अहमित्येवैक्यः'
 स्तोकांऽपि गवीं न विधेयः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणुमान-न० । अणु इति लिङ्गद्वैकैकसंभवात्स्मरणयोः प-
 श्चात्मानं ज्ञानमनुमानम् । स्या० ४ पा० ३ उ० । अविनाजाव-
 निह्वयासिद्धिःसिद्धिःसिद्धिः, आ० श्रु० १ अ० । न० । अणु
 पश्चाद्यसिद्धिःसिद्धिःसंभवात्स्मरणपरमाण्वन्तरं प्रीयते परिक्रियते
 देशकालस्यजावधिप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम् ।
 स्या० । ज्ञा० अनु० । "साध्यादिनापूतसिद्ध्यात्, साध्यनिश्चयायकं
 स्मृतम् । अनुमानं तद्वज्रान्तं, प्रमाणव्याप्त समकृतम् ॥१॥ इति
 ब्रह्मसंहिते प्रमाणभेदः, स्या० ४ पा० ३ उ० ॥ अनुमानस्य
 प्रामाण्यम् - अनुमानं न प्रमाणमिति सिन्धाप्रयियथा प्रत्यक्षस्यैवै-
 कस्य प्रामाण्यमङ्गीकृत्याद् अवांक इति 'भाता' शब्दे द्वितीय-
 जागे १२१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

साम्प्रतमकार्यावादिनां लौकायनिकानां मते सर्वोपमत्यादन्ते
 उपन्यस्यन् तन्मतमूढस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादि-
 प्रमाणान्तरानङ्गीकारे अकिञ्चित्करस्यप्रदर्शनेन
 तेषां प्रकायाः प्रमादादर्शयति—

विनाऽनुमानेन पराजिसंधि-
 मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।
 न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा,
 क्व दृष्टमात्रं च हृदा ! प्रमादः ॥ १२० ॥

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते आर्षाः । तत्र सनद्धते-अनु प-
 श्चाङ्गीकृतसिद्धिःसंभवात्स्मरणपरमाण्वन्तरं प्रीयते परिक्रियते देश-
 कालस्यजावधिप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम् । प्रस्ता-
 वान् स्वार्थानुमानम्, तेनानुमानेन कैकिकप्रमाणेन विना पराजिसं-
 धि पराजिसाधमसंविदानस्य सम्यक्ज्ञानानस्य, तुशब्दः पूर्ववाचि-
 भ्यो ज्ञेय्योतनाथः । पूर्वेषां वादिनामास्तिकतया विप्रतिपत्तिस्त्वाने-
 षु कौटः कृतः नास्तिकस्य तु वक्तुमपि शीघ्रितं, कुत एव तेन सह
 कौटः, इति तु शब्दाथः । नास्तिक परसोक्तः पुण्ये पापमिति धाम-
 न्तिस्य "नास्तिकनास्तिकैरेकम्" ॥६॥६॥६॥ इति वैश्वरूपेण निपा-
 दनाभास्तिकः । तस्य लौकायतिकस्य वक्तुमपि न साम्प्रतं, वचनम-

प्युच्चारयितुं नोचितम् । ततः तूर्णोभाष्यप्राशयेयाद्, इरे प्रमा-
 णिकपरिषदि प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोष्ठौ । अचनं हि परप्रत्यापना-
 य प्रतिपाद्यते, परेण चाप्रतिपत्तिरनर्थं प्रतिपाद्यकसौ स्तम्भ-
 चक्षेयवचनो न भवतीत्युभयस्य । ननु कथमिव तूर्णोक्तिवैभाष्यस्य
 श्रेयसी ? यावत्ता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यकस्याऽपि प्राथम्यमनुमान-
 युक्तरमेवानेन वचनोच्चारणमित्याशङ्क्याह— " क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं
 च " इति । किति बृहन्नन्दे, चेष्टा इति न पराजिसाधकत्वायानुपमस्य
 सिद्धम् । क्व च दृष्टमात्रमन्वयं न दृष्टं, जावे क्व, दृष्टमेव दृष्टमात्रम्, प्रत्य-
 क्षमात्रम्, तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रयुक्तत्वात् । अत एव दूरभ्रमन्तर-
 तयोः न हि प्रत्यक्षेणानीन्द्रियाः परचरोतुस्यः परिक्षान्तं शक्याः,
 तस्यैन्द्रियकत्वात् । सुक्ष्मप्रसादादिचेष्टया तु सिद्धभूतया पराऽ-
 जिप्रायस्य निश्चयेऽनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापांत-
 तम् । तथाहि— मन्वचनव्यवहारादिप्राथम्येन पुत्रवत्साहचर्यप्र-
 सादादिचेष्टाऽप्याऽऽनुपपत्तेरिति । अतएव ' हृदा प्रमादः ' हृदा
 इति चेदे, अहो ! तस्य प्रमादः प्रत्यक्षता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं
 प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारेणापन्नं । अत्र च संपूर्वस्यैव क्षेत्रकमेतस्य ए-
 यात्मनेपदम्, अत्र तु कर्माऽस्ति, तत्कथमनुमानम् ! अत्रोक्तस्य-अत्र
 संवेदितुं शकः सविदान इति कार्यम्, 'ययःशक्तिबोधि' ॥२॥२॥२॥
 इति शर्कौ शास्त्रविधानात् । ततश्चायमर्थोऽनुमानेन विना पराजि-
 सहितं सत्यस्येदितमनुशकस्येति । एवं परकृष्टिज्ञानाऽप्याऽऽनुपप-
 त्त्याऽयमनुमानं हठादङ्गीकारितः । तथा अनुमानन्तरेणानुपमस्य
 ङ्गीकारवित्यर्थः । तथाहि— आर्षाः काश्चिच्चकानन्यकीः संवादि-
 त्वेनाव्यनिचारिणीरुपस्येत्स्याऽप्याह विसंवादिद्वयेन व्यतिचा-
 रिणीः, पुनः कालान्तरे तादृशरीतानां ज्ञानव्यतीनामवश्यं
 प्रमाणन्तरेण द्यवस्थापयेत् । तथा अहोत्तरेणव्यतीनापथमना
 पूर्वापरपरामर्शस्य प्रत्यक्षं पूर्वापरकालप्राविनीनां ज्ञानव्यतीनां
 प्रामाणाप्रामाण्यव्यवस्थापकं निर्मितमनुपपन्नमित्युक्तम् ।
 न चायं स्वप्रतीतिगोचरणाप्रमिप ज्ञानव्यतीनां परं प्रति
 प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति । तस्माद्
 यथादृष्टज्ञानव्यतीनास्यद्वारेणेत्यतीनाज्ञानव्यतीनां प्रामा-
 ण्यप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमा-
 नरुपमुपासीत, परशोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः
 कर्तुम्, संनिदिनमाश्रयिवय्याचस्य । परशोकादिं चाप्रतिषिद्य
 नाऽयं सुखमास्ते ; प्रमाणान्तरं च नच्छतीति निरमर्देवाकः ।
 किञ्च— प्रत्यक्षस्याप्यर्थव्यभिचारादेव प्रामाण्यम् । कथमन्तरथा
 स्तानपानावगाहानाद्यर्थक्रियासमर्थं मरमर ! किंकिनिश्चयनुविधि
 जनज्ञानं न प्रामाण्यम् ? तत्त्वानुप्रतिषेधकलिङ्गशब्दद्वारा सन्तु-
 न्मज्जनोरनुमानात्प्रामाण्यव्यवस्थापकं विचारार्थं किं न्येत्ये ? व्य-
 जिचारिणोऽप्यन्येवैर्देशनादप्रामाण्यमिति चेत्, प्रत्यक्षस्याऽपि
 तिमिरादिशुभाकिशुशुभिर्निनाथयुगलावशुभिनोऽप्रमाणस्य दर्श-
 नात् सर्वत्रप्रामाण्यप्रसङ्गः । प्रत्यक्षज्ञानसं तदिति चेत्,
 इतरथापि तुदस्य, एतद्दृष्ट्यत्त पङ्कपातात् । तथा० ।
 ये तु तथागतः प्रामाण्यमूढस्य मोहाङ्गीकरे, सेषमशो-
 ष्यःप्यवपातकाऽऽपिरे । आः किमिदमकापकृष्णारक्ष-
 ङ्क्यरोदुममभिमोचयेत् ? । कथं हि तर्कप्रामाण्यानुपगम-
 मानेहामसमस्यसमापनीपथतः । मृदुत्, आश्चर्यामि-
 त्तिक, तर्कोपमाण्ये तावज्ज्ञानुमानस्य प्रायाः, प्रतिषेधप्र-
 तियस्युपायकायाः । तद्वाच्ये न प्रत्यक्षस्यापि । प्रत्यक्षे हि
 पदार्थान् प्रतिपद्य प्रमाता प्रवर्तमानः क्वचन संवादादिदं प्रमा-

अध्यायः

णमिति, अथ च तु विस्ववादादिद्विप्रमाणमिति व्यवस्थाप्रतिपादा-
 धीयान् । न खलुपक्षमाधेनेष प्रमाणप्रमाणविधेः कर्तुं शक्यः ;
 तद्वदशायामुभयोः सौख्यत्वात् । संवाद्यविस्ववादिपक्षायां च
 तन्निरूप्येति विहित एवानुमानोपनिपातः न चेदं प्रतिपक्षप्रतिप-
 क्षौ चकस्वकपोपायायावयुः अनुमानाभाव्यक्रमणानोयं च प्रमाण-
 कमाननसो कौतुस्कुती प्रमेयव्यवस्थाऽपौऽप्यायाना त्वदीयद्व-
 वस्येव सर्वेस्य शून्यता । साऽपि वा न प्राप्नोति, प्रमाणमन्तरण
 तस्या अपि प्रतिपक्षमशक्यत्वादिति । अदो ! महति प्रकट-
 कष्टसंकटे प्रविष्टोऽयं तपस्वी किं नाम कुर्यात् ? । अथ
 “धुमाधीनिहिविज्ञानं, धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भा-
 भ्या-मिति पञ्चनिरन्वयः ॥ १ ॥ ” निरूप्यते, अनुपलम्भोऽपि,
 प्रत्यक्षविशेषोऽपि प्रत्यक्षमेव व्यतितात्पर्योपयोज्ञोचनत्वात्तुयव्यं
 किं तर्कोपक्रममेति चेत् ? , न तु प्रत्यक्षं तावद्विद्यतधुमाग्नि-
 शोचरतया प्राक् प्रावृत्तः तद् यदि व्याप्तिपि तावन्माधिव
 स्यात्तदाऽनुमानमपि तत्रैव प्रवर्तेते कुतस्सं धुमानग्नी-
 धरकम्पराधिकरणशुष्कणिलक्षणं तद्वद्विद्वद्भूयान्पिकल्पः ।
 साधैर्वाकिं व्यतिपि पर्याप्तमिति निर्णयमिति चेत् , को नमिधे नामं-
 स ? तर्कविकल्पस्यापलाभानुपपन्नसस्मजव्येन स्वीकारान् ।
 किन्तु व्यतिपिनिषावयमेव प्रमाणं कर्तव्यः । अथ तथा
 प्रवर्तमानोऽयं प्राक् प्रवृत्तप्रत्यक्षव्यापारमेवाऽनुमुख्यनीति
 तद्वेव तत्र प्रमाणमिति चेत् । तन्ननुमानमपि द्विद्विद्विप्रत्यक्ष-
 स्यैव व्यापारमामुख्यनीति तदेव वैधान्येदेन प्रमाणं, नानु-
 मानमिति किं न स्यात् ? । अथ त्वमिधं यत्कुशकथमर् ? द्विद्विप्रत्यक्षं
 हि द्विज्ञानोचरमेव, अनुमानं तु साधनोचरमिति कथं तत्तद्
 व्यापारमामुख्येत् ? , न हि प्रत्यक्षपुराणित्वस्वरूपेणैव गुणगणमेव ।
 तर्कविकल्पानुसृत्य साध्यसाधनसामान्यव्यवशर्माणमिति कथं सोऽ
 पि तद्व्यापारमुदीपयेत् ? । अथ सामान्यमामान्यमेव असत्त्वादि-
 त्तं कथं तत्र प्रवर्तमानमननः प्रमाणं स्यादिति चेत्तनुमानम-
 पि कथं स्यात् ? , तस्याऽपि सामान्योचरत्वाऽव्यतिचारान् ।
 “ अथस्यामान्यरूपं सोऽनुमानस्य विषयः ” इति
 धर्मकीर्तिना कतिनात् । तस्वनेऽप्रमाणमेवेत्, व्यवहारणै-
 वास्य प्रमाणान्ताः सवे एवायमनुमानोपपद्यवहारां बुद्ध्या-
 कृतेन धर्मधर्मिन्यायेनेति वचनादिति चेत् , तर्कोऽपि तथा-
 ऽस्तु । अथ नाऽयं व्यवहारेणाऽपि प्रमाणं न, सर्वथा वस्तुसं-
 स्पर्शपरानुसन्धादिति चेत्, अनुमानमपि तथाऽस्तु । अवस्तुनि-
 संत्समपि परम्परया पदाथं प्रातिषेधान् प्रमाणमनुमानमिति
 चेत्, किं न तर्कोऽपि । अथस्तुत्रं च सामान्यस्याऽपि देश-
 किशोरवककोऽर्द्धप्राङ्गुकरणायामनमस्ति । सटशपरिणामरू-
 पस्यास्य प्रत्यहादिपरिच्छेदाद्यादिति तत्त्वतः ०यानुमानम् , त-
 र्कज्ञ प्रमाणं प्रत्यक्षव्यतिपि पाव, चरताः । ॥ ३ ॥

अत्रोदाहरणम् -

यथा यावान् कश्चिद्व्यमः स सर्वो वदौ मन्त्येव जवतीति
 तस्मिन्नसत्यो न जवत्येव ॥ ३ ॥
 अत्राद्यनुदाहरणमन्त्येवयथासौ, जितोयं तु व्यतिरेकव्यातायिति
 ॥॥। रता०३२००। सम्म०। (प्रमाणमनुमानानो न प्रहीतुं शक्य-
 म्, तस्य प्रमाणत्वाऽयं न्यादिति प्रमाणं शक्यं वस्तुनेपरलोकि-
 तावत्तनुमानप्रमाणव्यवशर्तनम्, अनुमानप्रमाणव्यवशर्तयः)
 अत्राद्यनुमानाननिरासञ्च सम्मत्तः एकणप्रथतोऽवसेवः)
 अथाऽनुमानस्य लक्षणार्थं तावत्प्रकारौ (स्वाधैपर्याप्तानुमाने)
 प्रकाशयति-

अनुमानं द्विपकारं, स्वाधै परार्थं च ॥ ६ ॥

नन्वनुमानस्याध्यक्षस्यैव सामान्यज्ञानमासाध्यैवैव कथमिति-
 त एव प्रकारकीर्तनमिति चेत् । तस्वने-परमार्थतः स्वाधैस्यैव-
 अनुमानस्य ज्ञात्व, स्वाधैस्यैव अनुमानं कारणं कार्योत्पत्त्यापरा-
 र्थं कथ्यते । यद्वदस्यति तत्रअर्थतः-“पक्षेहेतुवचनात्मकं परार्थ-
 मनुमानमुपचारात्” इति । न हि गोपचरितं गोवत्स्य च बाहो-
 कस्यैकं लक्षणमस्ति, यन्तुनः स्वाधैतुत्स्यकतयऽस्योपादानम्,
 तद्वदं शाल्क्यऽनेनेन व्यवहाराङ्गोक्तं च प्राधान्यापयो-
 गात्तद्व्यापारव्यवधानार्थम् । तत्र अनु हेतुप्रहणसंबन्धस्मरण-
 योः पक्षान्मियते परिच्छेद्यते ऽथाऽनेनेत्यनुमानम् । स्वधै प्र-
 मानुत्तानेन इदं, स्वस्य याऽऽनेनेति स्वाधै, स्वाधैस्यैव नि-
 श्चयमित्यर्थः । एवं परार्थमपि । अत्र चायोक्तव्येति-ना-
 ऽनुमानं प्रमाणम्, गौशब्दात् । गौणं ह्यनुमानम्, उपचरितप-
 क्षादिज्ञानत्वात् । तथाहि-“ज्ञातव्यं वृक्षधर्मैव, पक्षो धर्म-
 ॥ १ ॥ इति । अर्गो-दि प्रमाणं प्रतिक्रिय, प्रत्यक्षव्यतिपि । त-
 न्नायं वराकश्चायोक्तः स्वाकृदां शाल्क्यं सारूप्ययितं भीतम-
 नुकराति । गौणव्यादिति हि साधनमिदधानो प्रयं स्वीकृत-
 वानेनायमनुमानं प्रमाणमिति कथमेतद्वेद इत्येतत् । न च
 पक्षधर्मैव हेतुलक्षणमाचक्षते, येन तस्मिन्नेव साध्यधर्मविशि-
 ष्टे धर्मिणि प्रत्यक्षमपि पत्रत्वं धर्मिण्युपक्रमः अन्यथाऽनप-
 स्येकपक्षगत्यात् हेतोः । नापि व्याप्तिं पक्षेणैव समेत, येन तस्मि-
 न्नेव धर्मं तदार्थपरमार्थः साध्यधर्मैवैव तद्विधातात् । नचा-
 नुमानिकप्रतीति धर्मैर्विशिष्टे धर्मै, व्याप्ति तु धर्मः साध्यमित्य-
 निधायत्त इत्येकं गौणमेव साध्यव्यतिपि चेत् । मेवम् । अत्र
 च मुख्यतुल्यज्ञानज्ञानेन साध्यव्यस्य मुख्यव्यति । तस्मिन्क-
 ष्यं साधनीयम् ॥ स्वत्यम् । न हि व्याप्तिरपि परस्य प्रतीता, त-
 त्तःप्रतिपादनमे धर्मैर्विशिष्टे धर्मिण्यर्थं प्रयायनीय इत्यसि-
 र्गोणत्वम् । अथ नोपादीयत एव तस्मिन्को कोऽपि हेतुः । तर्हि कथ-
 मप्रमाणकाप्रमाणिकस्यैधर्मिकः स्यादिति, नानुमानप्रमातय-
 प्रतिपेयः साधोयस्तां दद्यात् । “नानुमानं प्रमेत्यत्र हेतुः स चेत्,
 कानुमानानात्पत्तं स्यात्त्वा ॥१॥” इति स्वदृश्लोक्तं । कथं वा प्रत्य-
 क्षस्य प्रमाणगणित्यर्थः यदि पुनरर्थक्रियास्ववादात्तत्र तन्निरूप्य-
 स्तर्हि कथं नानुमानप्रमाणत्वम् ? । प्रतीपेदास्य च-“ प्रत्येऽपि
 परेऽङ्गलज्ञानमेत-येन प्रमाणत्वात् ॥ १ ॥ ” इति ॥ १ ॥

तत्र स्वाधै व्यवस्थापयन्त-

तत्र हेतुप्रहणसंबन्धस्मरणकारकं साध्यनिज्ञानं स्वा-
 धैपिति ॥ १० ॥

हिदान्यन्मिधिनैर्गुजयवैवाद्यं यमयति परेऽङ्गधर्ममिति हेतुः,
 अनन्तरमेव निद्वैक्यमाणलक्षणस्य प्रहणं च प्रमाणं नि-
 षेयः । संबन्धस्मरणं च यथैव संबन्धो व्याप्तिनामा प्राक् तर्क-
 पानार्कं, तथैव परामर्शने कारणं यस्तु तत्तथा । साध्यस्याक्या-
 स्वमानस्य विशिष्टे संशयादिशुष्येन ज्ञानं स्वधैमनुमानं
 मन्त्यम् ॥ ३ ॥ रता० ३ २० ० ।

अथानु परार्थानुमानं प्रकथयन्त-

पक्षेहेतुवचनात्मकं परार्थानुमानमुपचारात् ॥ २३ ॥
 पक्षहेतुवचनात्मकत्वं च परार्थानुमानस्य व्युत्पन्नमिति प्रतिपा-

धापेक्षयाऽत्रोक्तमन्युपपन्नम् । अतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु धूमोऽत्र
 दृश्यते इत्यादि हेतुवचनमात्रमकमपि नञ्चनम् । बाहुल्येन त-
 द्प्रयोगाभावात् । तु नैतस्मात्तावत्त्वे सूत्रनम, उपलसितं तु द्र-
 द्यम्, मन्दमतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु दृष्टान्तादिवचनमकमपि
 तत्रागतं । यद्वच्यमानं— "मन्दमतींस्तु द्युत्पादितुं दृष्टान्ताप-
 नयविगमनात्यपि प्रयोज्याति" इति । पक्षहेतुवचनस्य च
 जडरूपतया मुख्यतः प्रामात्ययोगे सत्युपचारादित्युक्तम्,
 कार्योपचारादित्यर्थः । प्रतिपाद्यगतं हि यत् क्त्वात् तस्य
 कारणं पक्षादिवचनम्, कार्यं कारणोपचारात् । प्रतिपादक-
 गते हि यत्क्यायानुमानं तस्य कार्यं तद्वचनमिति ॥ २३ ॥
 संप्रति व्याप्तियुरस्सरं पक्षधर्मनोपसंहारं तत्पूर्विकां वा
 व्याप्तिमाचक्ष्णाणाम् भिन्नपक्षप्रयोगमङ्गीकारयितुमाह—

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिष्वन्विताप्रसिष्ये द्वेतांरूपसं-
 हारवचनवत्पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २४ ॥

यथा यत्र धूमस्तत्र धूमश्च इति हेतोः सामान्येनाऽधारप्र-
 तिपत्तावपि, पथेतादिविशिष्टधर्मिधर्मताऽपिगतये धूमश्चात्रे-
 त्येयरूपमुत्संहारवचनमवश्यमाश्रयिते सौगतैः । तथा साध्य-
 धर्मस्य नियतधर्मिधर्मतासिद्धये पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्र-
 यितव्य इति ॥ २४ ॥

अमुमेवार्थं सोपालम्भं समर्थयन्ते—

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विद्विधानः
 कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥ २५ ॥

त्रिविधं कार्यस्वभावाद्यनुपलम्भमेवात् । तस्य साधनस्य सम-
 र्थनमस्ति ज्ञानादिद्वयदानेन स्वभावात्साधनसामर्थ्योपदर्शनम् ।
 नह्यनमर्थनो हेतुः स, ध्यांसङ्ग इव, अनिप्रमङ्गत्वात् । ततः पक्षप्र-
 योगमङ्गीकुर्वन्ना तत्समर्थनरूपं हेतुवचनमधीयते तत्समर्थनं
 विशिष्यम्— "हन्त हेतुरिह जल्पन्त न चे-दन्तु कुत्र स समर्थ-
 नाविधाः । तर्हि पक्ष इह जल्पन्ते न चे-दन्तु कुत्र स समर्थ-
 नाविधाः" ॥१॥ प्राप्यते ननु विवादतः स्फुटं, पक्ष एव किमन-
 स्तदाख्यया । तर्हि हेतुरपि लभ्यते ततोऽनुक्त एव तदसौ स-
 मर्थ्यताम् ॥२॥ मन्दमतिमानं पत्तिनिमित्तं, सौगत । हेतुमथा-
 नदधीयात् । मन्दमतिप्रतिपत्तिनिमित्तं, तर्हि न किं परिज-
 नस्यै पक्षम् ? ॥३॥ ॥ २५ ॥ अस्मान् ३ परि० । तच्चानुमानं
 त्रिविधम्—पूर्ववत्, शेषवत्, अदृष्टसाध्यव्यवहेति-

से किं तं पुत्रवत् ? । पुत्रवत्—माया पुत्रं जहा नष्टं, जुवाणं पु-
 स्तारामयं । कां पञ्चाजिजाणैः, पुत्राजिणैः केषां ॥ १ ॥
 तं जहा—त्वत्तेषां वा वशेषां वा क्षेत्रेषां वा मेषेण वा
 तिष्ठणेषां वा, सेतं पुत्रवत् ॥

विशिष्टं पूर्वोपलक्ष्यं त्रिविधं पूर्वमुच्यते, तदेव निमित्तरूप-
 तया यस्यास्त तत्पूर्ववत्, तद्व्यतिरेकं गमकमनुमानं पूर्वव-
 दिति भावः । तथा चाह—"मायापुत्रं" इत्यादिश्लोकाः । यथा
 माना स्वकीये पुत्रं बाल्यावस्थायां नष्टं जुवानं मन्ते काला-
 न्तरेण पुत्रं कथमप्यगमं काचित्कथाविधिसंस्तुतिपाठयवती न सत्यां
 पूर्वदृष्टेन लिङ्गन केनचित् सानादिना प्रत्यभिजानी-
 यात्, मनुप्रांशयामिति अनुमिनुयादित्यर्थः केन पुत्रं लिङ्गैः न्याह-
 (लक्षणं वेत्यादि) । स्वदेहाद्भवमव क्तम्, आगतुकस्तु-द्वयद्वै-
 दिकतो म्रणः, साऽगममवतिलकास्तु प्रतीताः तद्वयमत्र प्रयोगा-

मनुप्रांशयम्, अन्वयसाधारणज्ञानादिलक्षणाविशिष्टं क्रौल-
 ष्ठे, इति स्वाधर्म्ये धर्म्येदृष्टान्तयोः सत्त्वेनाभावाद्ययमहेतुरिति
 ज्ञेयम् । हेतोः परमाधेनेकक्षणव्याप्तद्वन्द्वमेव गमकत्वाप-
 न्धोः उक्तं च न्यायवादिना पुरुषवन्द्रेण—अथयाऽनुपपन्नत्वमात्रं
 हेतोः स्वात्तक्षणम्, सत्त्वाऽसत्त्वे हि तद्वर्षमी । दृष्टान्तद्वयक्षणम् । न
 च धर्मिसत्तायां धर्म्याः सर्वेऽपि सर्वदा नवत्येव, पदादेः शुद्ध-
 स्वादिधर्मैर्व्यतिचारात् । ततो दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वधर्मो यथ-
 पि क्वचित् हेतौ न दृश्यते तथापि धर्मिसत्त्वकूपमप्याऽनुपपत्तं
 भविष्यतीति न काश्चिद्विरोध इति भावः । यत्रापि धूमसाधौ
 दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वं हेतोर्दृश्यते, तत्रापि साध्याप्याऽनुपप-
 न्नत्वस्यैव प्राधान्यात्, तस्यैवैकस्य हेतुत्वज्ञानताऽवसंथा । तथा
 चाह— "धूमार्थेयैवपि स्वार्ता, सत्त्वाऽसत्त्वं च लक्षणं । इत्यथाऽ-
 ऽनुपपन्नत्व—प्राधान्यात्तद्वैक्यता" ॥ २ ॥ किं च—यदि दृष्टान्तं
 सत्त्वाऽसत्त्वदर्शनात्केतुमेव कथ्यते, तथा सांदिग्ध्यं बद्धं, पाधि-
 यत्वात्काद्यादिवदित्यादेरपि गमकत्वं स्यात् । अन्वधायि च—
 "दृष्टान्तं सत्त्वसत्त्वायाः हेतुः सत्ययदीत्येता । सांदिग्ध्यं
 ज्ञेयद्वन्द्वं, पाधिप्रत्याद्वै इत्यादिवत्" ॥३॥ इति । यदि च पक्षध-
 र्मेवसंपक्षसत्त्वविपक्षाऽसत्त्वद्वयक्षणं हेतोर्लक्ष्यमनुपपन्त्यापि
 यथोक्तोपपन्नत्वात्साध्यं सहाय्याऽनुपपन्नत्वमन्वेषणीयं, तर्हि-
 तद्वैकं लक्षणमप्या यत्कुञ्चितस्य, किं पक्षत्रयेण । आह च—
 "इत्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् । साध्यथाऽनुपपन्नत्वं,
 यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥१॥ इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, म-
 न्यगहननाप्रसङ्गात्, अन्यत्र यन्नेतोकथावर्ति । आह—अन्वधायि-
 पयत्वादेवात्रानुमानप्रवृत्तिरयुक्ता । नैवम् । पुरुषपिण्डमात्रप्र-
 त्यक्षतायामपि मनुप्रांशवत् वा वाति ? संहिदाहं युक्तं पथाऽनुमानो-
 पन्यास इति कृतं प्रसङ्गम् ।

से किं तं सत्त्वं ? । सत्त्वं पंचविहं पक्षत्वं । तं जहा-
 कर्षणं कारणेण गुणेषु अवयवेषु आसम्पणं ॥

'से किं तं सेसत्वमित्यादि' पुरुषार्थोपयोगिनः पविजिज्ञाप्ति-
 तात्तुनुगमिध्यादिसां हेतुनादिरर्थः शेष इहोच्यते । स गम-
 कत्वेव यस्याऽस्ति तच्छेषवदनुमानम् ।

तच्च पञ्चविधम्, तद्यथा—
 से किं तं कर्षणं ? । कर्षणं तेषु सहेणं जेरि ताडिएणं
 वमत्तं दक्षिएणं मोरं किंकाडिएणं हयं हेसिएणं गयं
 गुगुलुप्राणं र्हं पणप्राणिएणं, सेतं कर्षणं ॥

(कर्षणम्यादि) तत्र कार्येणानुमानम् । यथा इयमक्षयं
 हेतितेन, अनुमितुने इत्यप्याहारः । हेतितस्य तत्कार्येण-
 यत्, तदाऽऽकरयं हयाऽश्रिति या प्रतीतिरुपपत्ते तर्हि कार्येण
 कार्यत्तरिणोत्पत्तं शेषवदनुमानमुच्यते इति भावः । क्वचित्तु
 प्रथमतः शङ्कराध्वनेत्यादि दृश्यते, तत्रोक्तानुसारतः सर्वो-
 दाहरणेषु भावना कार्या ॥

से किं तं कारणेणं ? । कारणेणं तंतयो परस्स कारणं, ण
 पयो तंतुकारणं, बीरणा कडस्स कारणं, ण कपो बी-
 रणाकारणं, मिथिंको परस्स कारणं, ण घनो मिथि-
 ककारणं, सेतं कारणेणं ॥

(से किं तं कारणेणमित्यादि) इह कारणेण कार्यमनुमा-
 नं । यथा विशिष्टमयोपपत्तिदर्शनात् काश्चित् लुपतनुमानं क-
 रति । यदाह— "रोऽस्त्वगवलव्याल-तमालमसिनितुमानं" । वृष्टि

अयुग्माणां

अभिधानराजेंद्रः नैवं प्रायाः पयोमुचः" ॥ १ ॥ इति । एवं चम्दा-
 द्याज्जलपेठेखिरनुमीयेते, कुमुदविकासः । मिश्रोद्याज्जलरह-
 प्रबाधः, धुकमधमोकः । तथाविधवर्षणास्तस्यव्यप्यसिः, ह-
 वीबलमनःप्रमोदभेत्वादि । तद्वं कारणमेवहानुमापकं साय-
 स्यमाकारणम् । तत्र कार्यकारणभाव एव कर्णोच्छिद्रप्रतिपत्ति
 पदर्थैस्तमेव तावन्नियतं दर्शयन्नाह-तन्त्वः पटस्य कारणम्, न तु
 पटस्तन्मनां कारणम् । पूर्वमनुपलब्धवस्य तदर्थेव तद्वाचं त-
 स्मात् । इतरेषां तु पटाभावेऽप्युपलम्भात् । अन्नाह-ननु यदा
 कश्चिन्नियुः पटनामेव संयुक्तानि तन्तु कमेण विद्यांजयति,
 तदा पटाऽपि तन्मनां कारणं ज्ञयत्येव । नैवम् । सर्वेतेनोपयोगाभा-
 वात् । यद्येव हि स्रष्टव्यसाक सत् स्वस्थिनिभावेन कार्यमुपकृते
 तदर्थे तस्य कारणत्वेनोपदिश्यते । यथाः मृत्पाकाः घटस्य । ये तु
 तन्मृत्विद्योत्पत्त्याऽभावीजवना पटेन तन्त्वः समुत्पद्यन्ते,तेषां कथं
 पटः कारणं निर्दिश्यते, न हि अत्राऽनावेन भवत आरोगिता-
 सुखस्य उच्चरः कारुण्यमिति शक्यते वक्तुम् । यद्येवं पटऽप्युत्पद्य-
 माने ततयोऽभावीजत्वमिति तेषां तत्कारणं न स्फुरिति चेत् ।
 नैवम् । तन्तुपरिणामरूप एव हि पटः, यदि च तन्वः सर्वथाऽ
 भावीजव्युत्पत्त्या मुद्गाद्यं घटस्यैव पटस्य सर्वथैवोपलब्धिने
 स्थान्त, तस्मात्पटकालेऽपि तन्वः सन्तीति सर्वेतेनोपयोगात्
 पटस्य कारणमुच्यते । पटविद्योत्पत्त्या त्वेकेकतन्मृत्स्यत्वायां
 पटो नोपपद्यते । अतस्तत्र सर्वेतेनोपयोगाभावात्साती तेषां कार-
 णम् । एवं चोत्पत्तिरपि प्रावना कार्या । तद्वं यद्यस्य
 कार्यस्य कारणत्वेन निश्चितं तत्तस्य यथासम्भवं गमकत्वेन
 वक्तव्यमिति ।

से किं तं गुणेषु ? गुणेषु-सुवायं निकसेणं, पुष्पं गंधेणं, ल-
 वर्णं रसेणं, भद्रं आसायणं, वर्यं फासिणं, सचं गुणेषु ॥

(से किं तं गुणेषामित्यादि) निकपः कपपट्टना कपितसुव-
 र्णरेखा, तेन सुवर्णेणमुसीयेत । यथाऽपञ्चदशदिवर्णकोपेनमिदं
 सुवर्णं, तथाविधनिकपापरम्भात्, पूर्वापञ्चोपनयसंज्ञतसुवर्ण-
 वत् । एवं शतपरिक्रादिपुष्पमत्र, तथाविधनान्धोपलम्भात्, पूर्वा-
 पञ्चपञ्चस्तुवत् । एवं ब्रह्मणं मदिवाचस्वाद्योऽपेक्षितेनैवसंभवतो-
 ऽनियतस्वरूपा अपि प्रतिनियततथाविधपरसास्यादस्पर्शादियु-
 षोपलम्भे, इति नियतस्वरूपाः साधयितव्याः ।

से किं तं अयवयेणं ? अयवयेणं-महिंसं सिंगेणं, कुक्कुं
 सिहाणं, हृत्वि विसाणं, वाराहं दाहाण, मोरं पिच्छं-
 णं, आसं खुरेणं, वग्मं नरेणं, चवरं बाह्मणं, दु-
 प्यं मणुस्सादि, चत्पयं गवमादि, बहुपयं गोमिआमादि,
 सीहं केसेरेणं, वसहं कुक्कुहेणं, महिला वल्यवाहाण । परि-
 अरवधेणं भर्तं, जाण्जा महिद्विभ्रं निवमणेणं । सित्येण-
 दाणपामं, कविं च एकाणं माहाण ॥१॥ सचं अयवयेणं ॥

(से किं तं अयवयेणमित्यादि) अयवयदर्शनेनावयवो अ-
 नुसीयेते । यथा महियोऽत्र, तद्विनाभृतशृङ्गापलम्भेः, पूर्वा-
 पञ्चोपनयसंज्ञतप्रदेशवत् । अयं च प्रयोगो वृत्तिवररुद्धकाद्य-
 न्निगन्त्यादप्रत्यक्ष पर्यायव्यतिनिष्ठः । तन्मृत्तनायामिच्य-
 क्षत एव तस्मिन्नेः, अनुमानवैयर्थ्यः प्रसङ्गादिवा । एवं शोषादाहर-
 णात्प्यपि भावनीयानि; नवरं हिपदं मनुष्मदीत्यादि । मनुष्मो-
 ऽयम्, तद्विनाभृतपदयोऽपलम्भात्, पूर्वदृष्टमनुष्मवत् । एवं

चतुष्पदबहुपद्व्यपि गोम्ही, कर्षुगुगाली । "परिवरबन्धेण
 भद्रं" इत्यादिगताया पूर्वं व्याख्यातेव । तदनुस्वारश्च भावा-
 योऽप्युक्ता इति ।

से किं तं आसएणं ? आसएणं-अग्निं भूयेणं, सन्निसं
 वज्ञाणं, बुद्धिं अन्नभेविकारेणं, कुसुपुचं सीहमायारेणं,
 सेचं आसएणं, सेचं सेसवं ॥

(से किं तं आसएणमित्यादि) आश्रयतीत्याश्रयो धूमबला-
 कादिमन्त्र धूमादम्यनुमानं प्रतीतमेव । आकारेऽङ्गितादिनि-
 क्षाप्यनुमानं भवति । तथा चोक्तम्-"आकरिदिकितेगत्या, से-
 ष्या भायणेन च । नेत्रवकविकारैश्च, लक्ष्यतेऽनगते मनः" ॥१॥
 अन्नाह-ननु धूमस्मद्भ्राण्यत्वात्, पूर्वोक्तकार्यानुमान एव गत-
 त्वातिकमिहापन्यासः ? सत्यम् । किन्त्वन्म्याश्रयत्वेनापि लोके
 तस्य रूढत्वाद्ब्राह्मण्युपन्यासः कृत इत्यदोषः । तदेतद् दृष्टव-
 दनुमानम् ।

से किं तं दिद्वसाहम्पवं दुविहं पञ्चत् ।
 तं जहा-साम्नादिद्वं च विसेसदिद्वं च ॥

[से किं तं दिद्वसाहम्पवमित्यादि] दृष्टेन पूर्वोपलब्धेनाद्येन
 सह साधर्म्ये दृष्टसाधर्म्ये, तद्व्यक्तत्वेन विद्येन यत्र तद् दृष्टसा-
 धर्म्यवत् । पूर्वदृष्टसाधर्म्येः कश्चित्सामान्यतः कश्चिन् विशेषतो
 दृष्टः स्यादस्मद्भ्राण्यत्वात् । त्विदं विविधम्-सामान्यतो दृष्टार्थयोगात्सा-
 मान्यदृष्टम्, विशेषतो दृष्टार्थयोगात्विशेषदृष्टम् ।

से किं तं सामएणदिद्वं ? सामएणदिद्वं-जहा एगो पुरिसो
 तहा बहवे पुरिसा, जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो,
 जहा एगो कग्मिमावणो तहा बहवे कग्मिमावणा, जहा बहवे
 करिमावणा तहा एगो करिमावणो, सचं सामएणदिद्वं ॥
 [से किं तं सामएणदिद्वमित्यादि] तत्र सामान्यद्वे यथा
 एकः पुरुषस्तथा बहवः पुरुषा इत्यादि । इदमुक्तं भवति-ना-
 लिकरुद्रोपादायातः कश्चित् तत्प्रथमतया सामान्यत एक कश्च-
 न पुरुषं दृष्ट्वाऽनुमानं करोति । यथा-अयमेकः परिदृश्यमानः
 पुरुष एतदाकारविशिष्टस्तथा बहवोऽत्रापरिदृश्यमाना अपि
 पुरुषा एतदाकारसम्पन्ना एव, पुरुषत्वाविशेषात्, अन्याकारत्वे
 पुरुषत्वहानिप्रसङ्गात्, गवादिवत् । बहुषु तु पुरुषेषु तत्प्रथमतो
 वीक्षित्वेनैवमनुमानोति-यथाऽम् । परिदृश्यमानाः पुरुषा एत-
 दाकारवन्तस्तथाऽपरोऽप्येकः कश्चित्पुरुषः एतदाकारवानेव,
 पुरुषत्वात्, अपरकारत्वे तर्कान्प्रसङ्गात्, अथवादिवत् । इत्येव
 कार्यापणादिव्यपि चारुचम् ।

विशोषतेन दृष्टमाह-

से किं तं विसेसदिद्वं ? विसेसदिद्वं से जहा साम केऽ
 पुरसे, बहुणं पुरिसाणं मजे पुवदिद्वं पञ्चिजाणो जा-
 अयं से पुरिसे बहणं करिमावणाणं मजे पुवदिद्वं करि-
 सावणं पञ्चिजाणो जा-अयं से करिमावणं ॥

(से जहा नाम इत्यादि) अथ पुरुषाः सामान्येन प्रतीता एव के
 वदं यदा कश्चित् कश्चित् कश्चित् पुरुषविशेषेण दृष्ट्वा तद्विना-
 लिकरुद्रोऽन्वयप्रतीतमेव; समयात्तरं बहुपुरुषसामान्यमेव त-
 मेव पुरुषविशेषमानीमनुमानार्थतयाः पूर्वं प्रयोगलम्भः
 स एवायं पुरुषः, तथैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, वसयान्निमनुष-

व्यवत् । इत्येतत् तदा विशेषदृष्टमानुमानमुच्येत, पुरुषविशेषविषयत्वात् । एवं कार्याणामिदृशेषि वाच्यम् ।

तस्यैवमानुमानस्य त्रैविध्यमुपदर्शय सांप्रतं तस्यैव कालत्रयविषयतां दर्शयन्नाह—

तस्स समासओ तिविहं गहणं जवइ । तं जहा—अतीयकालगगहणं, पदुप्यषकास्रगगहणं, अणायगकालगगहणं ॥

(तस्वेति) सामान्येनानुवर्तमानमानुमानमात्रं संबन्धेत, तस्याऽनुमानस्य त्रिविधं ग्रहणं भवति । तद्यथा—अतीतकालविषयग्रहणं प्राञ्चल्यं च्युतुनः परिक्रमेऽतीतकालग्रहणम् । प्रत्युत्पन्नेो वर्तमानः कालस्तद्विषयं ग्रहणं प्रत्युत्पन्नकालग्रहणम् । अनागतो भविष्यत्कालस्तद्विषयग्रहणमनागतकालग्रहणम् । कास्रयवचरिणोऽपि विषयस्थानुमानापरिक्रमेऽं जयतीत्यादिः ।

मे किं तं अतीयकालगगहणं ? अतीयकालगगहणं उत्प्लाणि वणाणि निप्यरं सव्वं वा मेइणि पुष्पाणि अ कुं-दरराण्डीदीहि आतहागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा सुवुड्डी आमी, सेचं अतीयकालगगहणं ॥

तत्र (उत्प्लाणंदि) उत्प्लाणं तेषु घनेषु नाति तथा । अयमत्र प्रयोगः—सुवृष्टिरिहाऽऽसन्द्, तुणवनिप्यरसस्यपु-र्वीतन्नजसपरिपुणं कुत्तादिजस्राशयप्रभृतीतत्कार्यदर्शनाद्, अ-तिमतदेशवन्, इत्यतीतस्य वृष्टिसंज्ञाविषयस्य परिक्रमेः ।

से किं तं पदुप्यषकालगगहणं ? पदुप्यषकालगगहणं साहूगोअरगगयं विच्छांरुयपउरभत्तपाणं पासित्ता, तेणं साहिज्जइ, जहा मुभिकसे वट्टइ । सेचं पदुप्यषकालगगहणं ॥

साधुं न गोचराग्रगन्तं भिक्षुप्रतिपद्य विशेषेण उर्दिमानि गृह-स्थैर्यत्सानि प्रयुक्तकणमानि यस्य स तथा तं ताहयं हृणा क-ञ्चित् साचयति । सुभिक्षुमिह चरते, साधूनां तज्जुकप्रयुक्त-कपानलामदर्शनात्, पूर्वदृष्टप्रदेशाचरति ।

से किं तं अणायगकालगगहणं ? अणायगकालगगहणम्-अ-म्भसप निम्भस्रचं, कसिणाय गिरं । सविज्जुआमेहा । यणि-अं वाउरुज्जायां, संभारत्ता पणिष्ठा य ॥ ? । वारुणं वा महिदं वा अणाययं वा पसस्यं उप्पायं पासित्ता तेणं साहि-ज्जइ, जहा सुवुड्डी भविस्सइ । सेचं अणायगकालगगहणं ॥

(अणस्रसत् निम्भस्रचं ति) गाथा सुगमा, नवरं स्तानि मेघ-गात्रिणं (वाउरुज्जायां स्ति) तथाविधो हृद्यव्यभिचारी प्र-द्विणं विष्णुं भ्रमन् प्रशस्तो यातः (वारुणं ति) आर्षाभूवादिन-कृतममयं माहेऽमुरोहिणीउप्येष्ठादिनकृतसम्भस्रम् । अत्यन्तरमु-ष्पातमुलकापातविश्वहादिकं प्रशस्तं वृष्ट्यव्यभिचारिणं हृष्टाऽनु-क्रीयते—यथा—सुवृष्टिरत्र भविष्यति, तद्व्यभिचारिणामनुमि-सत्यादीनां समुदितानामन्यतरस्य वा दर्शनाद्, यथाऽन्यथ-दिति । त्रिविधा ह्यत्र निम्भस्रत्वाद्वा यो वृष्टिं न व्यजिचरन्त्यतः प्रतिपत्नैवं तत्र निपुणेन भाव्यमिति ।

एषसि चैव विवज्जासं तिविहं गहणं भवइ । तं जहा अती-यकालगगहणं, पदुप्यषकालगगहणं, अणायगकालगगहणं । से किं तं अतीयकालगगहणं ? अतीयकालगगहणं निःप्लाणं

अनिप्यसं वा सव्वं वा मेइणि । सुक्काणि अ कुंढवरनदीहिष्वा-तहागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा कुवुड्डी आसीं । सेचं अतीयकालगगहणं । से किं तं पदुप्यषकालगगहणं ? पदुप्य-षकालगगहणं साहूगोअरगगयं जिकस्यं अन्नभमाणं पासित्ता तेणं साहज्जइ, जहा दुम्भिकसे वट्टइ । सेचं पदुप्यषकालगग-हणं । से किं तं अणायगकालगगहणं ? अणायगकालगग-हणम्—धमायंति दिसाओ, मंविअमेइणिअपकिवट्टा । वा-या नेरइआ खलु, कुवुट्टिमेवं निवेयंति ॥ ? ॥ अगगंयं वा वायव्यं वा अणाययं वा अणयमत्तं उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा कुवुड्डी भविस्सइ । सेचं अणायगकालगग-हणं, सेचं विमेसदिहं, सेचं दिह्साहम्भयं, सेचमणुमाये ।

(एषसि चैव विवज्जासं इत्यादि) एतेषामेवोष्णवनादीनाम-तीतवृष्टिप्रादिसाचकरोधेनोपन्यस्तानां हेतूनां व्यत्यसि व्यत्यधे सा-ध्यस्यापि ध्यत्ययः साधयितव्यः। यथा कुवुष्टिरिहाऽऽसि । अस्तुणवना-दिदर्शनादिव्यादिव्यत्ययः सुत्रसिद्धः । नवरम्—अनागतकाल-ग्रहणं माहेऽमुराकणपरिदारं पाषण्डयवायव्यात्पाता उपन्यस्ता, ते-यां वृष्टिविधातकत्वात्, इतरेषां सुवृष्टिहेतुः। वादिति । “सचं वि-ससदिह, सचं दिहसाहम्भयं” इत्येतांश्रगमनत्वं हृष्टसाधर्म्य-स्र-कृणानुमानानामेवद्वयस्य समर्थनानन्तरं युज्यते । यदि तु सर्व-व्याचनान्नात्रैव स्थाने इत्येतत् तदा हृष्टसाधर्म्यवन्तेऽपि सभेद-स्यानुमानाभिव्यक्तत्वात् कालत्रयविषयतां योजयामिष्ये । अतस्ता-मव्यभिधाय ततो निगमनद्वयमिदमकार्यति प्रतिपत्तव्यम् । तदे-तदनुमानमिति । अनु० ।

तत्र कश्चित्पञ्चाशदयनेन वाक्येन, कश्चिद्दशाश्वययेन वाक्येन परं प्रति दर्शयते—तत्र पञ्चाशदयथाः—“प्रतिहादिमुदाहरणापन-यनिगमनानां” । अथ च—“धम्मो मंगलमुक्किं, अहिंसा संजमो तयोः । देवा वि तं णमंमनि, उज्जस धम्मं सया मणो ” ॥१॥ इति श्लेषमापहृत्य निदर्शयते—

कत्थइ पंचायवयं, दसहा वा सव्वहा न पकिमिदं ।

न य पुण सव्वं जन्नइ, हंइ । सवियारपक्खायं ॥ ५ ? ॥

धोत्तरमेवाङ्गीकृत्य कश्चित्पञ्चाशदयनेन, दशधा वति—कश्चिद्-शाश्वययम् । सर्वथा गुरुश्रेयपक्ष्या न प्रतिपिचमुदाहरणाद्यभि-धानमिति वाक्यशेषः । यद्यपि च न प्रतिपिदं तथाऽप्यविशेषे-णैव च न पुनः सर्वे भगवते उदाहरणादि । किमिव्यत् आह- (हंइ) सांविचारमकत्वायं ति हंइ । न्युपपदशोचं । किमुपपदशोच-ति ? यस्मादिहाऽन्यथ शास्त्रास्त्रे संविचारं समप्रतिपदकामक्यात्-म, साकटयत् उदाहरणाद्यभिधानमिति गम्यते । अत्राश्वयथाह प्रतिहादयः । यथाकम्—“प्रतिहादिमुदाहरणोपनयनिगमनान्यव-यथा” । दश पुनः प्रतिहादिभसद्यथाः । वद्वयति च—“ते उ पदयणविभवां हेतुविनत्वां” इत्यादिप्रयोगाञ्छेतेषां लाघवा-र्थमिदंैव स्वस्थाने दर्शयिष्याम इति गाथायः । दश० ? अ० ।

दशाश्वययाः पुनरिदमथ—
प्रतिहादि १ विभक्तिः २ हेतुः ३ विभक्तिः ४ विषयः ५ प्रतिषेधः ६ हृष्टान्तः ७ आशाह्लात् ८ तत्प्रतिषेधः ९ निगमनम् १० । हृष्ट च दशाश्वययाः प्रतिहादिमुक्त्विमिति भवति । अथययं च

तच्छुद्धिमात्रविद्वन्वाक्यार्थोपकारकत्वेन प्रतिज्ञादीनामिष भा-
वनीयामस्य च बहु वक्तव्यं, तन्नु नोक्तयनं, गमनिकामाप्रत्यावरा-
रन्त्येवेति । इत्य० १ अ० । (प्रतिज्ञादीनां स्वरूपं संज्ञाहरणं
स्वरूपस्थाने इत्यर्थः)

अथोत्तमोऽपि बहुवचनरजजा इत्यवयवयैव वाक्येन
सर्वत्रयवयवेन व्याख्यातं निर्मुक्तिकारः—

ते च पक्षविभर्त्ता, हेतुऽवतर्त्ता विवरत्त परिस्रोदौ ।

विद्वेता आसंका, तपदिदेशो निगमयां च ॥ ४५ ॥

(तस्मिन्) अवयवयोः । तु पुनःशाब्दाद्येः । ते पुनरमी प्रतिज्ञादयोः ।
तत्र प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा, बहुवचनमात्रस्यरूपेणोऽप्यवयवः । तथा
विनञ्जनं विनञ्जिः, तस्या एव विषयविभागकथनमिति द्वितीयः ।
तथा द्विनोति गमयति जिज्ञासितपर्यविशिष्टानर्थान्यानि हेतुस्त्व-
तीयः । तथा विनञ्जनं विभक्तिरिति पूर्ववत्तुवर्त्तकः । तथा विसह-
काः तत्रो विपक्षः, साध्याद्विषयैश्च इति पञ्चमः । तथा प्रतिषेधनं
प्रतिषेधः, विपक्षस्येति गम्यत इत्यर्थे षष्ठः । तथा इष्टमयमन्तं
नयतीति इष्टान्त इति सप्तमः । तथा आशङ्कनमाशाङ्का, प्रकामाद्
इष्टान्तस्यैव इत्यष्टमः । तथा न्यग्रान्तवेषः, अशङ्कनाशङ्कान्ति-
वेष इति नवमः । तथा निश्चयनं गमनं निगमनम्, निश्चितोऽव-
साय इति दशमः । अशब्द उक्तसमुच्चयाद्यं इति गायत्र्यमासा-
र्थः । व्यासार्थे तु प्रत्ययवयवश्च इति ग्रन्थकार एव ॥ ४२ ॥

तथा चाह—

धर्मो मंगलमुक्तिर्द्वे—ति पञ्चा अत्रचवयवनिर्देशो ।

सो य इहेव जिगमश्, नऽश्चय पश्च पविजर्त्ता ॥ ४६ ॥

धर्मो मङ्गलमुक्त्यभिहितं पूर्ववाक्ये यतिहा । आह—कथं प्रतिज्ञा-
रूपव्यते । आसवचनानिर्देश इति । उक्तञ्च अत्रतारकः । अत्रतार-
कश्चातोपर्यायाधिकारवाक्यव्यतिहा । अत्र च— आगमां आसवच-
न—मासं शेषकृत्वाह्वितः । चीनारागोऽमुक्त वाक्ये, न श्याकंत्वसं-
नवान् ॥ ११ ॥ तस्य वचनमात्रवचनम्, तस्य निर्देश आसवचनानि-
र्देशाः आह—अवयवमात्रं इति । उच्यते—विप्रातपक्षसंप्रतिपत्ति-
निश्चयनस्यैव एव प्रतिज्ञेति नैव शब्दः । पाठान्तरं वा—साधवच-
ननिर्देशः इति । साधव इति साध्यम्, उच्यते इति वचनमर्थः
यस्मात्स एवोच्यते । साधे च तद्वचनं च साधवचनम्, साधा-
र्थ इत्यर्थः । तस्य निर्देशः प्रतिज्ञेत्युक्तः प्रथमोऽवयवः । अधुना
द्वितीय उच्यते—स वाचित्तो धर्मः किमिहैव जिनशासने अ-
स्मिन्नेव श्रौतान्ते प्रवचनं नात्यत्र कपिलादिप्रमाणे ? । तथाहि-
प्रवचनं यथापलज्यते तस्मात्प्रवचनप्रवृत्तौत्तौकात्पुनरोगोपपत्तिः ।
द्व्यधूनयः प्रासुपुमरे कुर्वाणाः, तत्रश्च कुतस्तेषु धर्मैः । इ-
त्याद्यत्र बहु बहुवचनं, तन्नु नोक्तयनं, प्र-अधिवन्तरभयाद्वाधि-
तत्वात्त्वेति प्रतिज्ञा प्रविभक्तिरयम्—इतिहाविषयविभाग-
कथनेति गायार्थः । उक्तो द्वितीयोऽवयवः ॥ ४६ ॥

अधुना तृतीय उच्यते । तत्र—

सुरपुरःशो नि हेऊ, धम्मांने त्रिया ल जं परमे ।

हेतुऽवतर्त्ता निरुवाहि—निवाण अवहेण य जियेति ॥ ४७ ॥

सुरा देवास्तैः पूजितः सुरपूजितः । सुरप्रहस्यनिद्रापुलक-
णम् । इति शब्द उपदेशेन । काश्रम्यं, हेतुः पूर्ववद् हेतव्यैस्त्व-
त्तु चैर् वाक्यम् । हेतुस्तु सुरप्रादिप्रतिमत्वादिभिः प्रवृत्तः ।
अशब्द विद्वानां दर्शयति—धर्मः पूर्ववद् । तिष्ठत्यास्मिन्निति स्था-
नं, धर्मैश्चालो स्थानं च धर्मस्थानम्, आनमालयः, तस्मिन्

स्मिताः । तुरवमेवकारार्थः, स चावधारणे, अयं शोपरिहात क्रिय-
या सह योर्यते । यद् यस्मात्, किञ्चते धर्मस्थाने, परमे प्रथाने,
किम्, सुरादिभिः पूज्यन्त एवेति वाक्यशेषः । इति तृतीयोऽव-
यवः । अधुना चतुर्थ उच्यते—हेतुविभक्तिरियं हेतुविषयविभाक्-
कथनम् । अथ क एते धर्मस्थाने स्मिता इत्याह—निरुपचयम्
उपार्हल्लुषा माया इत्यनर्थान्तरम् । अथ क कांशोऽपलकणम् ।
तत्रश्च निर्गतो उपध्याद्यः सर्वे एव कपाया येभ्यस्ते निरुपच-
यो विष्कपायाः, जीवानां पृथिवीकायिकादिनामवधवापिश्वाद्या,
अशब्दासपदरररादिना च हेतुभूतेन जीवन्ति प्राणान् धार-
यन्ति ये त एव धर्मस्थाने स्मिता नाम्ना इति गायार्थः ॥ ४७ ॥

उक्तवत्तुथोऽवयवः । अधुना पञ्चममभिधित्पुराह—

जिणवयवपुद्दु वे हु, समुदाश्च अयमरुहणो ॥ ४८ ॥

मंगलमुक्तिर्द्वे जयो, एणमद् आःशुविवक्त्सो ॥ ४९ ॥

इह विषयः पञ्चम इत्युक्तम् । स साययन्तिहायमकयोपिति ।
जिनास्तीर्थकारस्तयो वचनमागमलक्षणं तस्मिन् प्रदिष्टा अ-
धीता इति समासः, तात् । अविशुद्धाप्रदिष्टानपि । इ इत्यर्थे
निपातोऽवधारणार्थः । अस्थानप्रयुक्तश्च स्थानं च दर्शयिष्यामः-
इत्युक्तार्थः । इत्युक्तो लोकप्रसिद्धः—अविशुद्धाप्रदिष्टान-
परिग्रहः । न विद्यते धर्मं कश्चिद्यथा ते अद्यमरुचयस्तात् । अवि-
शुद्धाधर्मं कश्चिन्निपि । किम्, मङ्गलमुक्त्या मङ्गलप्रधानया धि-
या । मङ्गलमुक्त्यैव नाम मङ्गलमुक्त्यैवकारोऽवधारणः, योः किम् ?
जनो लोकः । प्रकृत्यु नमति प्रसन्निः—अविशुद्धाप्रदिष्टान-
अत्राद्यव्य प्रतिज्ञा नच्छुक्तिश्च । नम्य विपक्षः साध्यादेविषयय
इत्याद्याद्वयविपक्षः । तथाधर्मं कश्चिन्निपि मङ्गलमुक्त्या जनः प्रणम-
न्तमित्यनेन प्रतिज्ञाव्यतिपत्तमहेतोऽयमवधानेनैवार्थेनकाद् । जिनव-
चनप्रतिष्ठानप्राप्तयेन तु तच्छुद्धाप्रदिष्टानोऽपि इत्युक्त्याप्रयुक्त्वा
धर्मैस्सुदेरिति गायार्थः ॥ ४९ ॥

विद्युत्पुस्तं विवक्त्सो, सुहेहिं पुज्जति जणणजार्दं वि ।

बुक्त्सो इ वि सुनया, वृत्तं एणपपुक्त्सो ॥ ४९ ॥

द्वयोः पूरणं द्वितीयम्, द्वितीयं च तद्वयं च द्वितीयव्ययम्—हेतुस्त-
च्छुक्तिः, इत्वं च प्रागुक्तयापेक्षया द्वितीयमुच्यते । तस्यायं विषयः
इह सुरैः पूज्यन्ते यथायाजिनोऽपि । इयमत्र भावना—यथ-
याजिनो हि मङ्गलरूपा न भवन्ति, अथ च सुरैः पूज्यन्ते, तत्रश्च
सुरपूजितत्वंकारणमित्येव हेतुविषयः । तथा—अजातिरिक्त्याः
सोऽधयश्च परमं स्ते वन्ते, अतोऽनेनैव ग्रन्थेन धर्मस्थाने स्थि-
तः परम इत्यादिकाया हेतुविषयविषय विपक्ष उक्तो वदितव्य-
इति । उदाहरणं विपक्षमाधिक्याह—बुक्त्सो योऽप्यविशुद्धात्पु का-
पित्वाविपरिग्रहः । ते किम्, सुरनमा इवपूजिता उच्यन्ते ग्रन्थेन,
तन्मासप्रतिपत्तिरिति ज्ञातमपिपक्ष इति गायार्थः । आः—ननु इ-
ष्टान्तमुपरिहाद्वयत्यर्थं तत्रश्च तत्स्वरूपं उक्तं च तत्रैव विपक्ष-
स्तत्रातिपक्षश्च उक्तं युक्तं, तत् किमपि विपक्षस्तत्रातिपक्ष-
स्मिन्निधयेति ? उच्यते—विपक्षस्तत्राधिकृत एव विपक्षकारे सा-
ध्यायमजिघांसते, अथेधर्म इत्युक्तं इत्युक्तं इत्युक्तं तत्राति-
पक्षोऽपि शासनं प्राप्नोति, तथा च सति प्रथमीर्ये जायते । त-
स्मात्साध्यायमजिघांसयत्युक्तं आह—विद्वेता आसंका, नप्य-
न्तिहेतुः ॥ तत्रयथात तत्रश्च इष्टान्तमभिधाया पुनराशङ्कोऽन्य-
तिपेधं च बहुवचनं । तथाशब्द च तद्विपक्ष एव । तत्किमर्थमिह
दुनविपक्षप्रतिषेधाभिधीयते । । उच्यते—अन्यत्रपदपर्यायेन-

न दृष्टान्तवैविध्यव्यापनार्थम्, यः कश्चनन्तःपुत्रोऽपि परो ह-
 न्वाद्गमनस्यवाद्योऽभिधाति साधनायाऽस्य न भवति, तस्मात्स-
 द्ध्ये विपक्षसिद्धौ वाऽस्य उच्यते, स परंपरादृष्टान्तः । तथा च
 नाधिकारस्य वा साधयश्च द्वापि भिन्नवैतानुत्तरत्र दृष्टान्ताव-
 भिधास्येते । तत्र तीर्थकृद्गणं दृष्टान्तप्रतीकृत्यैव विपक्षप्रतिपे-
 चातुकी । साधुस्यैवदृष्टान्तस्यैवाऽऽज्ञातप्रतिपेचीं दृष्टीप्ये-
 ते इत्यर्थः । स्यान्मत्तं प्रागुक्तं विधानं साधयार्थमनुक्त एव
 दृष्टान्तः, उच्यतां काममिदं दृष्टान्तविपक्षस्तप्रतिपेचश्च स एव
 दृष्टान्तः, किमित्युक्तं भवति इत्येत, येन हेतुविभक्तकन्तरनिद्वैच न
 ज्ञायते ? । तथाहात्र दृष्टान्ते भवयमाने प्रतिहार्तीनामिषं श्लिषपस्या-
 पि दृष्टान्तस्याहेत्यानुत्तरणस्यैतादेव विपक्षस्तप्रतिपेचातुपपद्यते ।
 तत्रच साधुप्रकृतस्य दृष्टान्तस्याशङ्कः तस्मात्प्रतिपेचातुत्तरत्र न
 पृथक्सत्त्वयो भवति । तथा च सति प्रत्यक्षावयवं जायते । तथा प्रति-
 प्तिहेतुदाहरणरूपः सविशुद्धिकारणोऽप्यवयवाः कर्मणोका भ-
 वन्तीत्यर्थोच्यते-इहाऽभिधायमाने दृष्टान्तस्यैव प्रतिहार्तीनामपि
 प्रत्येकमाशङ्कतप्रतिपेचीं यकथी स्तः । तथा च सत्यवयवबहुत्वे
 दृष्टान्तस्य वा प्रतिहार्तीनामिषं विपक्षस्तप्रतिपेचायां पृथगा-
 शङ्कताप्रतिपेचीं न वक्तव्यी स्यात् । एवं सति दृशावयवा न
 प्राप्नुवन्ति । दृशावयवं चर्द् वाक्यं अकृत्यन्तरणं प्रतिपिपादायि-
 चित्तस्योऽपि न्यायस्य प्रदर्शनायैव एव यद्भक्तं साधुप्रकृतं
 दृष्टान्तस्याशङ्कतात्प्रतिपेचातुत्तरत्र न पृथग्वक्तव्यी स्यातामि-
 यादि, तत्रप्राक्कृतं वैरिन्तथमित्यलं प्रसंगः । एवं प्रतिहार्तीनां
 प्रत्येकं विपक्षोऽस्तिहितः ॥ १४६ ॥

अधुनाऽयमेव प्रतिहार्तिविपक्षः पञ्चमोऽवयवो बलंत इत्येतद-
 श्यायिदमाह—

एवं तु अवयवार्थो, चतुष्टयं पितृवस्तु पंचमोऽवयवो ।

एषो तद्व्येष्टवर्षो, विपक्षप्रतिपेचं हेतुं नोर्चं ॥ १४७ ॥

एषामित्ययमेवकार उपप्रदर्शने । तुरवधारणे । अयमेवावयववा-
 नां प्रमाणाऽहल लक्षणां अनुर्थी प्रतिहार्तीनां प्रतिपत्तो विपक्षः
 पञ्चमोऽवयव इति । आह-दृष्टान्तस्याप्यत्र विपक्ष उक्त एव, त-
 रिकर्मणो अनुर्थीमित्युक्तम् ? उच्यते । हेतोः सपक्षविपक्षाभ्याम-
 अनुत्तृचिन्त्यानुत्तरकपत्वेन दृष्टान्तधर्मत्वात्सिपक्ष एव वास्या-
 न्तर्भावाददोष इत्युक्तः पञ्चमोऽवयवः । अधुना षष्ठ उच्यते-
 तथा चाह-इत उत्तरत्र षष्ठोऽवयवो विपक्षप्रतिपेचसंतं वष्येभि-
 दस्य इति साधार्यः ॥ १४७ ॥

इत्थं सत्त्वान्वेनाभिधायतीनामाशङ्क्यावपक्षप्रतिपेचमभि-
 धातुकाम आह—

सायं सम्यक् पुमं, हासरई आठनामगोयसुहं ।

धम्मकणं आइडुगे, विपक्षत्वपरिसेइ मो एतो ॥ १४८ ॥

(सायं ति) सातवेदीनयं कर्म (सम्यक्तं ति) सम्यक्त्वं स-
 म्यग्भाषः सत्यत्वं मोहनीयं कर्मैव (पुमं ति) पुंवेदमोहनीयम् ।
 (हासं ति) हस्यतेऽनेनेति हासस्तत्प्रार्थो हास्यम्, हास्यमोहनी-
 यम् । रत्यतेऽनेनेति रतिः, कीडाहेतुं रतिमोहनीयं कर्मैव ॥ (आठ-
 नामगोयसुहं ति) अत्र शुभसम्पत्ः प्रत्येकमभिसिपक्षत्वे, अन्ते व-
 चनत् । तत्रच आयुःशुभं, नामशुभं, गोशुभं, तत्रायुःशुभं न ती-
 र्थकृत्त्वात्, नामगोशुभं अपि कर्मैवैवम् । तत्रैवमेव भवति ।
 तथाहि-यथोनामादि शुभं तीर्थकृत्त्वादीनामेव भवति । तथो-
 क्तीनां तदपि शुभं तेषामेवेति । (धम्मकणं ति) धर्मवत् फलं

धर्मफलम्; धर्मैव वा फलं धर्मफलम्, एतद्विहादेजिनोक्तस्यै-
 व धर्मस्य फलम् । अदिहादिना जिनांज्ञैव च धर्मैवैव फल-
 माप्यते । सर्वमेव चैतत् सुखहेतुत्वाद् हितम् । अतः
 स एव धर्मो मङ्गलः, न शब्दप्रादयः । तथाहि-मङ्गलो हितम-
 न्नेति मङ्गलम् । तत्र च यथोक्तधर्मैवैव मङ्गलत्वे नाम्येन, तस्मात्-
 सायं मङ्गलं, न जितवचनवाद्याः शब्दप्रादय इति श्लिष्यत ।
 आह-मङ्गलसुखोय जनः एषमतीत्युक्तं, तत्कथमित्युच्यते मङ्गल-
 सुखोऽपि गोप्राज्ञानाऽदिमोहतिमिरोपपत्तुकिंकोचमो जन्म-
 प्रथममपि न मङ्गलत्वनिष्ठायावाहम् । तथाहि न तैस्मिन्किञ्चि-
 द्गोपदर्शनं सत्वेनत्तं बहुष्पत्तां द्विचन्दाऽऽकारायाः प्रतीतेः प्रत्य-
 यतां प्रतिपद्यते । अतएव एव तद्व्याख्यारोपदृष्टेन तत्रप्रवृत्तिरिति ।
 (आशुगुमे ति) आशुप्रयं प्रागुक्तं, तस्मिन्प्राच्यविषयविपक्ष-
 प्रतिपेचः । मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः । एव इति यथा वचि-
 त इति गाथायाः । इत्यमराद्यवयविकप्रतिपेचः प्रतिपादितः । धम्म-
 संप्रति हेतुत्तुच्छोर्विपक्षप्रतिपेचप्रतिपिपादायिष्येदमाह—

अनिर्दिष्टयोषदित्या, वहागं भदं ते वि नाम पुज्जति ।
 अग्गी वि होज्जं सत्तां, हेइविज्जं तां ए पत्तिसेहो ॥ १४९ ॥

न जितानि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि यैस्ते तथोच्यन्ते । उपाधि-
 म्नाह मायेयनयोत्तरम् । अपिना सह वचन्ते इति सांप्रथयो
 मायायिनः, परमस्यैका इति यावत् । अथवा उपपत्तातीत्युपधि-
 योत्तरानेकद्वयः परिग्रहः । (वहागं ति) अर्थात् विषयाः प्रत्युप-
 र्देकतारः (अत्र ते वि नाम पुज्जति ति) यदीति पराभ्युपगम-
 संसृत्वकः, त इति यादिकाः । अविः संज्ञाधर्मः । नाम इति निपा-
 तो वाक्यालङ्कारार्थः । येऽजितेन्द्रियादीनिषुदृष्टा यहागंजितो
 वर्तन्ते, यदि तऽपि नाम पुज्यन्ते, एवं तस्मिन्निपि अवेच्छति । न
 च कदाचिदव्यतीतीतीति जवति । तथा यदीतीतीरत्ततोऽपि वाग्ध-
 योः स्वज्ञानात्माधीर्य, न अन्तर्भवति । यथैवमादिरत्यतोऽ-
 ज्ञावचनधर्मधीति भवन्ते । अथापि कान्तरीतुष्यात् कथां चर्द्-
 विवेकिना जनेन पुज्यन्ते, तथाऽपि तेषां न मङ्गलस्यसंप्रसिद्धिरे-
 कावतामन्तद्वैपि वस्तुनि तत्रप्राचारोपेण प्रवृत्तेः, तथाहालकह-
 धियामेव प्रवृत्तिवस्तुनस्तहसां गमयति । अतथाऽन्ते वस्तुनि
 तद्वृत्त्या तेषामप्रवृत्तेः । सुविशुद्धकृत्त्वात्पञ्चमोऽवयवोऽन्तर्भाषः,
 ते वादिंसादिलक्षणं धर्मस्य पुज्यन्ति, न यहायजिनः । तस्मा-
 दैवामन्द्यादिपुत्रित्वात्तस्मात्तस्मिन् एवात्तद्वै मङ्गलं, न यादिका इति
 श्लिष्यत । (हेऽविज्जतीं ति) एव हेतुत्तिभक्तयोः (पत्तिसेहो
 ति), विपक्षप्रतिपेचः । विपक्षशब्द इहाजितोऽपि प्रकरणात् साव-
 य इति गाथार्थः । एवं हेतुत्तुच्छोर्विपक्षप्रतिपेचीं दर्शितः ।

सांमत्तं दृष्टान्तविपक्षप्रतिपेचं दर्शयन्माह—

इच्छाई उवयारे, पुयाठाणं जिणा उ सज्जावं ।
 दिहेते पत्तिसेहो, छट्ठो एनां अवयवो उ ॥ १५० ॥

बुद्धाद्यः, आदिदृष्टात्कापिज्ञादिपरिग्रहः । उपचार इति
 सुपां सुपो प्रवन्तीति न्यायातुपचारेण किञ्चित्तीन्द्रियं कथय-
 न्तीति कृत्वा न वस्तुविधाय्या पुज्यायाः स्थानं पूजास्तथा । सत्वन्मा-
 जिनास्तु सज्जावं परमार्थमधिकृत्यैव वाक्यशेषः । सर्वमन्मा-
 ज्ञासाधारण्युपयुक्तत्वादि ति भावना । दृष्टान्तप्रतिपेच इति । वि-
 पक्षशब्दोपेण दृष्टान्तविपक्षप्रतिपेचः । किम् ? एव एवोऽवयवः ।
 सुविशोपेणार्थः । किं विशिर्वाहं ? सर्वोऽप्यवयवमन्वेदितः इति-

ह्रादिविपक्षप्रतिषेधः पञ्चप्रकारोऽप्येक एवेति गाथायः ॥१४०॥
पञ्चमवयवमभिधायार्थानां सप्तमे दृष्टान्तनामानमजि-
घातुकाम आह—

अरहंतं भगमागी, दिहंतो साहुणो वि समविचा ।

पागएसु गिहंतु भु, एसंतं अरहमाणा उ ॥ १५ ॥

पूजामहंतीति अहंन्तः । न रुहन्तीति वा अरहन्तः । किम ? दृष्टान्त इति सम्बन्धः । तथा मागेगामिन इति । प्रकामस्तुपदिष्टेन मार्गेण गन्तुं शीघ्रं वेधां तं एव यद्गच्छन्तः । के च ते ? इत्यत आह— साधवः । साधव्यति सम्बन्धशोभादियोगैरवयवमिति साधवः, तेषुपि दृष्टान्त इति योगः । किं तुलाः ? सम्बन्धिता रागद्वेषादित-
विष्ठा इत्यर्थः । किमिति तेषुपि दृष्टान्त इति ? इहिसादियुग-
युक्तत्वात् । आह च— पाकरतेष्वभिधायमेव पाकसंकेपु दुहेष्व-
गारतेष्वन्ये शेषेपयमिति विहरणपानमित्यथाहारः । किं कुर्यात्सा
कथन्त आह— (अवहमाणा उचि) न जन्तेऽन्तः । तुषधधा-
रण्याः । ततश्चाप्यन्त एव, आरम्भाकरणेन पीडामकुर्वाणा
इत्यर्थः । एवं द्विविधोऽपि दृष्टान्त उक्तः । दृष्टान्तवाक्यं च द्वम् ।
स तु संस्कृत्य कस्यैवोद्देहादिवदिति गाथायः ॥ १५१ ॥ उक्तः
सप्तमोऽवयवः ।

साम्प्रतमहमभिधित्सुराह-

तथ जवे आसंका, उदिरस जई वि कीरए पागो ।

तेण र विसमं नायं, वासतएणा तस्स पकिमेहे ॥ १५२ ॥

तत्र तस्मिन् दृष्टान्ते अथेदाशङ्का भवत्याक्षेपः । यथादिश्याऽङ्गीकृत्य यतानां प संयतानां । अयिशाश्वत्प्राप्त्याऽऽर्थाय । क्रियते निर्वर्त्येति पाकः । कैः ? सुहृदिर्मग्नित गम्यते । ततः किमित्यत आह— वेण करणेण । र इति निपातः किलशब्दात् । अत्र विषम-
तुल्यम्, ज्ञातमुदाहरणं वस्तुतः पाकां पञ्जीवित्वेन साधुनामानव-
च्छ्रयभावादिति ज्ञातिभवेत्येव पुनमित्युच्यतेऽवयवः । इदानीं
नवममभिधित्सुराह— यथानुत्ताने तस्य प्रतिषेध इत्येवमव च भाष्य-
कना प्राक्प्रपञ्चिनमेवेति न प्रतप्यत इति गाथायः ॥ १५२ ॥ उक्तः
नवमोऽवयवः ।

साम्प्रते चरममभिधित्सुराह--

तस्सा उ सुरनराणं, पुजजं भंगलं सया भम्मो ।

दसमो एस अवपयो, पक्केट्टे पुणो वयणं ॥ १५३ ॥

यस्मादेवं तस्मात् सुरनराणां देवमनुष्याणां पुण्यस्मद्भाव-
स्मत्त्वात् पुण्यत्वात्प्रसक्तं प्राप्तिरूपानुपपत्त्यां सदा सर्वकाले
यमं प्रागुक्तः । दशम एषोऽवयव इति संस्माकवचनम् । कि-
न्धिशाष्टोऽयमित्यत आह— प्रतिज्ञाहोस्वोः पुनर्वचनं पुनर्हेतुप्रति-
ज्ञावचनमिति गाथायः । उक्तं द्वितीयं दृश्यावयवम् । साधवता-
ऽङ्गना चावयवानां विनयाऽपेक्षया विग्रहप्रतिपत्तिजनकत्वेन
भावयन्तेत्युक्तोऽनुगामः ॥ १५३ ॥ दशमं ति ० ख ० ।

प्रासङ्गिकमनिधाय पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमिति प्रागुक्तं समर्थयन्ते—

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपक्षेण च दृष्टा-
न्तादिवचनम् ॥ १७ ॥

आदिशब्देनोपनयानिगमनादिप्रहः । एष च यत् व्याप्युपेतं
पक्षधर्मतोपसंहाररूपं सौगमिः, पक्षहेतुदृष्टान्तस्वरूपं भाह्यमा-
श्राककापिष्टेः, पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयानिगमनप्रकारं मेयाधि-
कषैरेषैपकाञ्चामनुमानमाज्ञायि । नन्वास्तम् । व्युपपन्नमतीत्यादि

पक्षहेतुवचनैरेषोपयोगात् ॥ १८ ॥

पक्षप्रयोगं प्रतिपद्यते हेतुप्रयोगप्रकारं दर्शयन्ति—

हेतुप्रयोगस्तथापपत्त्यन्याऽनुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः । १२॥

तथैव साध्यसम्बन्धप्रकारैरीशोपपत्तिस्तथापपत्तिः । अन्यथा सा-
ध्यानाः पक्षप्रकारैरानुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ २२ ॥

अम् एव स्वकल्पतां निरूपयन्ति—

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथापपत्तिः, असति साध्ये

हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ ३० ॥

निगद्व्याख्यायाम् ॥ ३० ॥

प्रयोगानोऽपि प्रकटयन्ति—

यथा कृशानुत्थानं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुत्थने धूम-
ववस्थोपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेरौ ॥ ३१ ॥

एतदपि तथैव ॥ ३२ ॥

अनुयोः प्रयोगो नियमयन्ति—

अनयोरन्यतरमयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयमयोगस्यै-
कत्राऽनुपयोगः ॥ ३३ ॥

अयमर्थः— प्रयोगमनुमेवैव वाक्यवित्यास एव विशिष्यते, नार्थः स
वाच्यतरप्रयोगेणैव प्रकटीय नृचैति किमपरप्रयोगं ? इति । ३३ ।
अथ यदुक्तं “ न दृष्टान्तादिवचनं परप्रतिपक्षेणम् ” इति
तत्र दृष्टान्तवचनं तावदाश्राविकीर्यवस्तान्किं किं परप्रतिपक्षस्यै
परं क्लीकियते ? किं वा हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णयने ? यथाऽ
विनाभावस्मृत्येते, इति विकलहेतुप्रथमं विकल्पं तावद्दृश्यन्ति—

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रजवति, तस्यां पक्षहेतुवच-
नयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३ ॥

प्रतिपक्षा आसिक्स्मृत्यसंबन्धस्य विग्रहानुगमनार्थं देशो धूमव-
स्थान्याऽनुपपत्तिरेवत्येवमवैव नभस्येव साध्यप्रतीतिरिति । ३३ ।

द्वितीयं विकल्पं परास्थिति—

न च हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णयते यथोक्तकर्मभाषादे-
व तदुपपत्तेः ॥ ३४ ॥

दृष्टान्तवचन प्रथमतीति योगः ॥ ३४ ॥

अश्रैषोपपत्त्यन्तरमुपवर्णयन्ति—

नियतैकविंशत्पक्षज्ञाने च दृष्टान्ते साकल्पेन व्याप्तेरयो-
गतां विप्रतिपत्तौ तदन्तराऽपेक्षायामनवास्थितेर्दुर्निवाः स-
मवतारः ॥ ३५ ॥

प्रतिनियतव्यक्तौ हि व्याप्तिनिश्चयः कर्तुमशक्यः । ततो व्य-
कथ्यन्तरं तु व्याप्यर्थं पुनर्दृष्टान्तान्तरं सूच्यम् । तस्याऽपि व्यक्त-
रूपत्वेनाऽपरदृष्टान्तोपज्ञायामनवस्थान् स्यात् ॥ ३५ ॥

तृतीयविकल्पं पराकुर्वन्ति—

नाऽप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपक्षप्रतिपत्त्यस्य व्युपपन्नमतेः

पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तत्परिष्केः ॥ ३६ ॥

दृष्टान्तवचन प्रथमतीति योगः ॥ ३६ ॥

अनुमेवार्थं समर्थयन्ते—

अन्तर्व्याप्त्या हेतुना साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्ताौ च ब-
द्ध्यैर्वास्तिरुक्तावनं व्यर्थम् ॥ ३७ ॥

अयमर्थः— अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशक्तौ, बाद्यव्याप्तेर्बर्धनेन

दन्त्यमेव । अस्तस्योसंः साध्यस्यसिद्धयगौ, बाह्यात्सिधेर्गर्भं ध-
 न्यमेव ॥१॥ मनुष्योऽयं बहिर्बन्धितः, एवं कपस्वरान्यथापुत्रपत्नेः, इ-
 त्यत्र बहिर्बन्धोऽयमात्रेऽपि गमकत्वस्य 'स इयाम्, तन्पुत्रत्वात्, इत-
 रन्पुत्रत्वत्, इत्यत्र तु तन्नापेक्ष्यगमकत्वस्योपलक्ष्यविति ॥ ३७॥
 रत्नां ३ परि०। (पश्मिणं साधयेत्कालत्यादी साधयेत्येवैष्यत्ये-
 क्ष्य न शक्नोति 'अणोर्नवाय' शब्दोऽत्रैव भोगवक्ष्यते) अणुवित्-
 सत्प्राप्त्याभूतहेतुजन्माः किंसाऽणुव्यवहार इहेतुः विशेषः, स्वा० ध० ० ३
 ७० । ननु शिक्षप्रहणं संभवस्मरणान्यामनुष्यमनुमानम्, शिक्षणं
 ज्ञानमूच्यते । कथं शिक्षमवयानुमानमिति चेत् १, सत्यम्,
 किन्तु कारणं कार्योपचारादप्यनुमानम् । यथा-प्रत्यक्षज्ञान-
 जनकाः घटाऽपि प्रत्यक्ष इति । विशेषः । दृष्टान्तं, आकाशपदानु-
 मानाद्वाऽनुमानशाब्दो दृष्टान्तवचनः । दशां १ अ० ।

अणुभाषाएसा-अणुमान्य-अणु० । अणुमानं कृत्ये, व्य० १
 ७० । अणुतरापरगधनिवेदनेन सृष्टयश्चादित्यमाचार्यस्याकल-
 यत्येव, यं ३ अ० ३ । अ० ।

अणुभाषापरक्रिय-अणुमाननिराकृत-वि० । अणुमानबाहो,
 यथा नित्यः शब्दः । वस्तुदेवविषये विशेषे, स्वा० १० जा० ।
 अणुभाषाणां नाम-अणुमानाभास-पुं० । पञ्चानासादिसमुत्थे ज्ञा-
 नेऽयथाधोऽनुमानं, रत्नां १ परि० ।

अणुभाषा-अणुभाषा-वि० । स्तेकमात्रे, दश० ५ अ० २ उ० ।

अणुमिद-अणुमिति-स्त्री० । अणु-मा-नि-त् । अणुमानेव्याप्तिवि-
 दित्वाद्ये पक्षधर्मेनाज्ञाना-प्रतिज्ञत्ववदेत्, अणुमोदने च । परि० ।

अणुमु (स्यु) क-अणुमुक्त-वि० । अभिमुखे, प्रश्न० भा० ३० ७० ।

अणुमोदय-अणुमोदित-वि० । अणु-मुत्-णिच् । कर्मणि कः । हता-
 ऽणुमोदने स्वानुमन्यज्ञापनेन प्रोत्साहिते, "अथना यद् व्यव-
 स्तिने तमे साव्युमोदितम् । प्राथमेनानोऽपिना यत्र, ह्यार्थो नव
 विद्यानिताः ॥१॥ दानकालेऽथवा तृष्णां, स्थितः सोऽर्थाणुमो-
 दितः" इति । वक्त० ५० च, बा० ० । यद् त्वया वापुह्ननादि-
 कार्ये भव्यं कृतमित्यादिवदने, आनु० ।

अणुमोयग-अणुमोदक-वि० । दानस्य ग्रहणपरिभोगाज्यां प्र-
 शंसक संप्रदाने, विशेष० ।

अणुमोयण (णा) -अणुमोदन (ना)-न०-स्त्री० । अ-
 नुमतिं, पञ्च० ७ विव० । आ० । अनुमानं, सूत्र० १ अ० ८
 ३० । अ० ० । आधाकर्मप्रभृतिकर्तृप्रशंसायाम्, अप्रतिपक्षेने
 च । अभिनिर्विक्रमनुमतिमिति विद्वत्प्रथादात् । पि० । "इत्यंते णा-
 ञ्जाणइ" धन्ते नानुजानाति । अणुमोदनेन तस्य वा दीयमा-
 नस्याप्रतिपक्षेनाप्रतिपिचमनुमतिमिति वचनात्कनप्रसङ्गजन-
 नाच्च । आह च-"कामं सत्यं न कुर्वइ, ज्ञातेनो पुण तथा वि त-
 माइ" । वदइ तपसं, अभिगइ मणोऽ उ वारइ" ॥१॥ स्वा० ७० ७० ।
 जिनपुजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसदिलक्षणायाऽनुमतिं, पञ्च० ७
 ६ विव० ।

अणुमोयणकम्मजोयणपसंसा-अणुमोदनकर्मजोयणप्रशंसा-
 स्त्री० । अणुमोदनादाधाकर्मभोजकप्रशंसायाम्, अकृतपुण्याः
 सुव्रतिका पते, ये इत्येसैवै लभन्ते यतेत्येवंकथा । पि० ।

अणुयत्तया-अणुवर्तना-स्त्री० । अणुकृत्याऽणुपद्यते, जं० १
 प्रति० । श्लाघोपचारं, ह० १ ७० । (श्लाघस्याऽणुवर्तना ' शि-
 लाण' शब्दे कृष्ट्या)

अणुयत्तयाऽणु त-अणुवर्तनादिपुक्त-वि० । अणुकृत्याऽणुय-
 धालसहिते, " अणुयत्तयाऽणुयो, पासायास्तु ता किते" जं०
 १ प्रति० ।

अणुयत्तयाण-अणुवर्तमान-वि० । अणुगच्छति, विशेषः । "सह-
 इह समन्धे ह य, कुण्ड ह करावेइ शुकजामिमिषं । उदमणुयत्त-
 माणां, शुकजाराहणं कुणइ ॥ १ ॥ आ० म० प्र० ।

अणुपरिय-अणुचरित-न० । आसेविते, ज्ञा० १ अ० १ अ० ।

अणुया-अणुका-स्त्री० । अणुमोदने, सूत्र० २ अ० १ अ० ।

अणुयास-अणुकाश-पुं० । विकासप्रसरे, ज्ञा० १ अ० १ अ० ।

अणुरंगा-अणुरङ्गा-स्त्री० । गन्ध्याम्, घंसिकायां च । "अ-
 णुरंगाइ जाणं" ह० १ उ० ।

अणुरजिपन्नय-अणुरजित-वि० । अणु-रज्ज-क । प्राकृते
 स्वार्थिक इङ्गकप्रत्ययः । संप्रदायकमरजिते, जं० ३ अ० ० ।

अणुरत्त-अणुरक्त-वि० । अणुरज्ये, औ० । आनु० । अत्यन्त-
 स्नेहनाजि, उत्त० १४ अ० । ज्ञा० । अनुरागवत्याम्, अ० १३
 श० ६ उ० । पतिरक्तार्यां भर्तारं प्रति रागवत्याम्, ज्ञा० १६
 अ० । स्थियाम्, " अणुरक्ता अणुरक्ता, इष्टे सहपरिसरसक्य-
 गये पंचविधे माणुस्सए काममोए परुणुञ्जवमानी विहर-
 ति" अणुरक्ताऽविरक्ता अणुरज्या भर्तारं प्रति कृतं सत्यम्, न
 विप्रियेऽपि विरक्तानं गतेत्यर्थः । औ० । वृषोर्बादिनि प्रतीकृत्के,
 " ... अणुयत्तनां विसंसेणोऽणुयत्तमपरितोऽणुयत्तं मयं
 लज्जति साधु" जं० तु अवाऽज्ञोना, ण कृतोऽणु जइ ममे ण वा पति ॥
 सो होति अणुरक्ता" ... यं जा० ।

अणुरत्तलोपणा-अणुरक्तलोचना-स्त्री० । उज्जयिनीपुरीश्व-
 रस्य देवशालुस्य राज्ञोऽप्रमोहत्याम्, आ० क० । भा० ० ।

अणुरसिय-अणुरसित-न० । शब्दायिते, ज्ञा० ६ अ० ।

अणुराग-अणुराग-पुं० । अणु-रज्ज-घञ् । प्रीतिविशेषे, आ०
 परस्परस्यात्यन्तिकार्यां प्रीतिमत्याम्, ह० १ उ० । (विवि-
 धोऽभिभवकूपः, तद्यथा-दृष्टयनुरागो, विषयाऽनुरागः, स्नेहा-
 नुरागश्चेति 'राग' शब्दे वक्ष्यते) विशेष० । यथावस्थितयणु-
 कर्तनेन तदनुकूपोपचारलक्षणे तीर्थेकरनामकर्मव्यकारणे,
 प्र० १० अ० ० ।

अणुरागय-अणुरागत-वि० । अणु आ-गम-क । ऐक आ-
 गमिकः । अणुरूपे आगमने, अ० २ श० १ उ० ।

अणुराहा-अणुराधा-स्त्री० । अनुगत राधां विशाखाम् ।
 वाच० । मित्रदेवताकं नक्षत्रमेतं, अणु० । जं० । दथा० ।
 " अणुराहाणकृत्ते चउतारं" पं० सं० । सू० प्र० । ज्यो० ।
 (' राकृत्त' शब्देऽस्यास्तत्त्वं व्याख्यास्यामः)

अणुरुर्भत-अणुरुभयमान-वि० । अणु-रु-य-क-शानच् ।
 प्राकृते " समनुपाद् रुधेः" ॥ना०। २४८ ॥ इति अनोः परस्य
 रुधेः कर्मभावे ज्यो वा । अपरस्यमाणे, प्रा० ।

अणुरूपिजंत-अणुरूपयमान-वि० । अणु-रु-य-क-शानच् ।
 अपरस्यमाणे, प्रा० ।

अणुरूप-अनुरूप-त्रि० । अविषये, स्था० ६ टा० । अनुकूलं, आ० म० प्र० । घटमानेऽर्थे, विशेषे० । सहरो, उत्त० १ अ० । उचिने, हा० १६ अ० । अनुरिति सादृश्यरूपमिति अव्ययी-भावः । स्वस्वभावसहरो, सम्प्र० ।

अणुलाव-अनुलाव-पुं० । पौनःपुन्यभावेण, "अनुलापो मुहुर्भाष्य" इति बचनतः । स्था० ७ टा० । हा० ।

अणुलिंग-अनुलिंग-न० । सकृद्विधमाया भूमः पुनर्लपने, प्रश्न० ३ सम्प्र० हा० ।

अणुलिप्त-अनुलिप्त-त्रि० । चन्द्रनादिना कृतानुलेपे, श्री० ।

अणुलितगत्-अनुलितगत-त्रि० । अन्विति अतिशयेन लिप्तं विलिप्तंरूपकृतं गात्रं शरीरं यस्य स तथा । कृतानुरूपशरीरे, तं० ।

अणुलिहंत-अनुलित्व-त्रि० । अभिलहयति, "गगणतलमणुलिहंतसिहरे" सू० प्र० १८ पाठु० । रा० । तं० । स० । जी० खं० प्र० ।

अणुलेपण-अनुलेपण-न० । श्रीखण्डादिविलेपने, स्था० ८ टा० । हा० । प्रव० । सकृद्विधस्य पुनः पुनरुपलपने, प्रश्न० २ पट्ट । अणुलेपणत-अनुलेपणत-न० । अणुलेपणप्रधाने तले, सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । पुनरुपलितसुमिकावाह, "मेयवसापूर्यधीपरमंसविश्विष्णुलिप्ताणुलेपणतला" प्रश्न० २ पट्ट ।

अणुलोम-अनुलोम-त्रि० । अविपरीते, पं० सू० । अनुकूलं, श्री० । सूत्र० । आचा० । हा० । अनुकूलतया वेद्यमाने, जं० २ वच० । मनोहारिणि, दृश० १ अ० । अनुलोमनाथद्रव्यानुयोगेऽनुलोमः । अनुलोमे, अनुकूलकरणापरस्य यो विधीयते यथा केमं भवतामित्यादिकरूपद्रव्यानुयोगभेदे, स्था० ६ टा० ।

अणुलोमइत्ता-अनुलोम्य-अव्य० । विवादाऽध्यतानसामनो-न्यानुलोमान् कृत्वा प्रतिपन्थिनमेव वा पूर्वं तत्पक्षाभ्युपगमेन अनुलोमं कृत्येत्यर्थे, "अणुलोमइत्ता पठे" स्था० ६ टा० । अणुलोमवाउवेग-अनुलोमवायुवेग-त्रि० । अनुलोमोऽनुकूलो वायुवेगः शरीरान्तर्वर्ती वातजवो यथा तेऽनुलोमवायुवेगाः । वायुशुल्करहितोऽद्रमध्यप्रदेशेषु, तं० । जी० । युगलमनुप्यादिवृ । आह च टीकाकारः उद्रमध्यप्रदेशे वायुशुल्को यथा ते तथा, तदभावात् तेषामनुलोमा भवति, वायुवेगा मिथुना-नास इति । जी० १ प्रति० ।

अणुलोमविलोम-अनुलोमविलोम-पुं० । गतेप्रत्यागमौ, पश्चा० १६ विव० ।

अणुश्रव-अनुश्रवक-पुं० । कन्दविशेषे, क्रीन्द्रियजीवभेदे च । उत्त० ३ अ० ।

अणुश्राव-अनुश्रावण-त्रि० । अगधिते, वृ० ३ उ० ।

अणुश्राव-अनुश्राव-पुं० । कुतिसने काकावर्णने, स्था० ३ टा० ।

अणुश्रीय-अनुश्रवक-पुं० । क्रीन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

अणुषडष्ट-अनुषदष्ट-त्रि० । आचात्यं परः पराजानते, "उ-स्तुसमणुषडष्टं नाम जं नो आपरियपरंपरागयं मुक्तव्याक-रुषवत्" । नि० सू० ११० उ० । व्य० ।

अणुवत्त-अनुवपुक्त-त्रि० । हेयोपादेयपरीक्षाविकले, अष्ट० १४ अष्ट० । उपयोगशुष्ये, नि० ।

अणुवत्स-अनुवदेश-पुं० । स्वजात्रे, निसर्गे स्वभावेऽनुप-देश इत्यनर्थान्तरम् । स्था० २ टा० १ उ० । नमः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितोपदेशे, श्यामवधातिथार्थानुशासने, पश्चा० १२ विव० ।

अणुवत्तोग-अनुवयोग-पुं० । अनर्थे, अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयो-गो निष्कारणतेति पर्यायाः । आच० ६ अ० । शक्योऽनुपयोजने अव्यापारणे, पश्चा० १४ विव० । उपयोजनमनुपयोगो जीवस्य बोधरूपो व्यापारः । स चेह विद्यकृताऽर्थे विस्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते, न विद्यते स यत्र सोऽनुपयोगः पदार्थः । उपयो-गाविषयः, "अणुवत्तोगो दव्ये" प्राचक्षन्त्यनार्था च । अनु० ।

अणुवत्कय-अनुपकृत-त्रि० । उपकृतमनुपकारो न विद्यते उपकृतं यथांते । अकृतोपकारिवृ, पं० ए विव० । परैरचितेषु, आच० ४ अ० ।

अणुवत्कयपराद्वेय-अनुपकृतपरहित-त्रि० । उपकृतमनुपकारः, न विद्यते उपकृतं यथांते इमेऽनुपकृताः, अकृतोपकारा इत्यर्थः । ते च ते पराअनेत्यां द्विते तस्मिन् रतोऽभिरतः प्रकृतोऽनुपकृतपरहितरतः । निष्कारणवत्सले, पं० ६ विव० ।

अणुवत्कृत-अनुपकृतान-त्रि० । अनिगृह्यते, श्री० ।

अणुवत्कृत-अनुपाख्य-त्रि० । यत्ताऽऽख्यातिके, वृ० १ उ० ।

अणुवत्कवच-अनुपकृत-त्रि० । अकृतोपरकारे, "उपकवचाय-अन्तरदहिमादिः । अणुवत्कवचास्येव परिधिषु" नि० सू० १ उ० ।

अणुवत्करण-अनुपकरण-न० । उपधेरनाथे, व्य० ७ उ० ।

अणुवत्चय-अनुपचय-पुं० । अनुपचयीमानतायाम्, अनुपादाने च । उच० १ अ० ।

अणुवत्चैन-अनुवत्त-त्रि० । अनु-वत्त-शतु । अनुगच्छति, मा० ।

अणुवत्जीवि (छ)-अनुवत्जीविन्-त्रि० । अनाजीविके, पश्चा० १५ विव० ।

अणुवत्ज-गम्-धा० । गमौ, ज्या० प० अनिट् । "गमेरेण इहच्छा-ऽणुवत्जवत्सतो- ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इत्यादिसूत्रेण गत्सवातो-र-णुवत्जादेशः । अणुवत्ज-गच्छति । प्रा० ।

अणुवत्जिअ-देशी-प्रतिजागरिते, दे० ना० १ वर्म ।

अणुवत्त-अनुवत्त-त्रि० । द्वितीयवारं प्रवृत्ते जितव्यवहारौ, "अणुवत्तो जो वृत्ता वित्तीयवारं" व्य० २ उ० ।

अणुवत्तय-अनुवर्तक-त्रि० । सर्वमनोऽनुवृत्तिकर्तरे, खं० ३ आधि० । भावाऽनुकूल्येन सम्यक्परिपालके, पं० व० १ टा० । शिष्याणां कृदाऽनुवर्तिते, वृ० ४ उ० । चित्रस्वनाशानां प्राणिनां गुणान्तराधामाधियाऽनुवृत्तिर्वाले, शिष्याणां अनुवर्तनया प्रमा-जनायोग्ये गुरौ, खं० ३ आधि० । "आगारदंनिगतिं, जानुं हियय-न्यितं उवर्तिहेति । गुरुवर्षेण अनुवर्तते, एतो अणुवत्तशो नाम" पं० व० २ टा० । अनुवर्तनमविपरीतमित्यर्थः । पं० सू० । (अनुवर्तकस्य व्याख्या द्वि० भा० ३०५ पृष्ठे 'आचरित्य' शब्दे बहवते) अणुवत्ताया-अनुवर्तना-स्त्री० । शिष्याणुपालनतायाम्, पं० व० १ टा० ।

अणुवृत्ति-अनुवृत्ति-श्री० । इतिनादिना गुरुत्विचं विहाय त-
हाऽऽनुकल्पेन प्रवृत्तौ, विशेषे । आ० म० द्वि० ।

अणुवृत्तोज्ज-अनुवृत्तोज्ज-श्री० । साधुनामुपभोग्युक्तयोष्ये, वृ०
३ उ० ।

अणुवृत्त-अनुवृत्त-श्री० । उपमासहिते, आवा० ५ अ० । न विद्यते
उपमा शरीरसंज्ञासहस्रीन्द्रयोर्दिनिर्मुक्तयस्य तदनुवृत्तम् । वी०
१५ विषय० ।

अणुवृत्तसिरिय-अनुवृत्तसिरी-श्री० । निरुपमवहकान्तिकल्पिते,
आ० म० प्र० ।

अणुवृत्तमा-अनुवृत्तमा-श्री० । आद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

अणुवृत्तमाण-अनुवृत्तमाण-श्री० । पश्चाद् वदति, " आरंभद्वी
अणुवृत्तमाणे हणपाने घायमाणे " (आवा० १ श्रु० ६ अ०
४ उ०) " असौत्रा अणुवृत्तमाणस्य वितिया " अनुवृत्तोऽऽ-
पश्चाद्भद्रः पृष्ठोऽपृष्ठोऽपवृत्तोऽप्येन वा मिथ्यादृष्टवादिना
कुर्गाला इत्येवमुक्तेऽनुवृत्तः पार्श्वस्थादः । आवा० १ श्रु० ६
अ० ४ उ० ।

अणुवृत्तपर-अनुवृत्तपर-श्री० । अविवर्ते, स्थः० २ टा० १ उ० ।
पापुपुष्टानेऽपेऽनिच्छते, आवा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अवि-
च्छिन्न, स० ।

अणुवृत्तपर्याय-अनुवृत्तपर्याय-श्री० । अनुवृत्त-
स्याविरतस्य साययत् मिथ्यादृष्टः सम्यग्दृष्टोऽप्येव कार्याक्रियोऽङ्क-
पादिलक्षण क्रमेवधनमनुवृत्तकार्याक्रिया । कार्याक्रियाः क्रियाया-
या भेदः, न० ३ श० ३ उ० ।

अणुवृत्तपरदृष्ट-अनुवृत्तपरदृष्ट-श्री० । मनोवाक्यायलक्षणदृष्टा,
द्विर्वर्ते, आवा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुवृत्तरोह-अनुवृत्तरोह-श्री० । अणुवृत्तरोह-श्री० । प्रायोऽस्याऽनुवृत्तरोधेन
दृश्यमानं तदुच्यते " । अग्रनिर्घे च, घ० १ अ० १० ।

अणुवृत्तलक्षि-अनुवृत्तलक्षि-श्री० । उप-लक्ष-लक्ष् । न० त० ।
सामाऽसांवा, प्रत्यङ्गाऽनावे च । वाच० ।

सा च—

दुविह्ला अणुवृत्तलक्षि । मध्ये अमत्रो य ।
स्वसंमस्य वितोया, सत्रो वि द्वाऽनावत्रोऽनिहिया ।
सुहमा सुक्तत्तणत्रो, कम्पाणुगप्यस जिवसम ॥ १ ॥

सा च अणुवृत्तलक्षिरेका असतो जयति, यथा—स्रष्टुश्रुत्स्य ।
द्विनाया तु सतोऽप्यर्थस्य भवति । कुत इत्याह— (द्वादिमा-
वादिनि) द्वात् स्रष्टुश्रुत्स्यो न दृश्यते, यथा—स्वर्गादिः १ । आ-
दिशब्दादितिसंनिकर्षादिनिर्वाह्यमनोऽनवस्थानादिन्द्रियाया-
दवाऽमनिमात्वाद्वाक्यपवादाविरादादिनिर्वाहसामान्यादनुपयो-
गादनुपयाद्विस्मृतेर्दुरागमाऽमोहात् विदेशनाद्विकारादक्रियानोऽ-
नधिगामात्कालविप्रकर्षात्स्वभावविप्रकर्षाच्च । तथाऽनिसर्जि-
कर्षात्संनिकर्षयोर्नोपलभ्यते । यथा—नेत्रदृष्टिकापह्मादिः २ । अति-
सौहृद्व्यापुपरमात्वादिः ३ । मनोऽनवस्थानात्सतोऽप्यनुवृत्तलक्षिः,
यथा नष्टवेत्सामाऽह इतिपाशटवात् किंचिद् बधिगद्गानाम् ।
मनिमात्तदनुवृत्तलक्षिः, सतामपि सूक्ष्मात्साधुविशेषाणाम्

६ । अशक्यत्वात्स्यकणश्रुत्काटिकात्मस्वकपृष्ठादीनाम् ७ । आचर-
णाद् यत्सादिश्रुत्गितलोचनायाः, कटुकुट्यावृत्तानां च ८ । अजिन-
वाप्रभुनमुरतेजसि शिवसे नाकणास ९ । सामान्यास्तुप्र-
कृतिस्यपि मायावैः समानजानीयमायादिशाश्रितानस्याऽप्र-
त्यभिहानात्सतोऽप्यनुवृत्तलक्षिः १० । अनुपयोनाहृषोपयुक्तस्य
शेषविषयाणाम् ११ । अनुपयावाक्याव्यादिष्यो गोमहिष्यादिष्य-
परमाणादिष्योः १२ । विस्मृतेः पूर्वोपलक्ष्यस्य १३ । दुरागमाद्
दुरुपदेशात्सन्निरूपकरीतिकारिष्यप्रलम्बितमतेः कनकादीनां
सतामप्यनुवृत्तलक्षिः १४ । माहात्मनामपि जीवाहितस्थानाम् १५ ।
विदेशनात्सवेधाऽऽप्यादीनाम् १६ । वाच्ययाद्वि विकाराद्बहुयाः
पूर्वोपलक्ष्यस्य सतोऽप्यनुवृत्तलक्षिः १७ । अक्रियानां भ्रुञ्जनना-
दिक्रियाऽनासाद् बुक्कमूलानीनामनुवृत्तलक्षिः १८ । अत्रिष्यमा-
त्कामाश्रयणात्तदर्थस्य सतोऽप्यनुवृत्तलक्षिः १९ । काश्रिष्यप्रका-
दनुमविष्यत्प्रथमद्वेषव्यानामनोऽर्थकरादीनामनुवृत्तलक्षिः २० ।
स्वभावविप्रकर्षाच्च निषाद्यादीनामनुवृत्तलक्षिः २१ । तद्वे-
त्सतामप्यध्यानामेकविश्रितिः २२ । अनुवृत्तलक्षिः । विशेषेण आ०
श्रिविधा सा, अयन्नात् सामान्याद्विस्मृतेर्ह—

अथैता समाथा, य विस्सुर्त्तौ होइ अणुवृत्तलक्षि । तु ।
अनुवृत्तलक्षिरेव त्रिधा भवति । तथाहा-अत्यन्तात्कात्तानांनुप-
लक्षिः । सामान्याद्विस्मृतेर्ह—

तत्र प्रथमतोऽत्यन्तानुवृत्तलक्षिमाह—

अत्यस्य दरिसणमि वि, लद्धी । एतंततो न भंभवद् ।
दृष्टुं पि न जाणंतो, बोद्धियंपदा फणमसच् ।
अर्थस्य दर्शनेऽपि कस्यचित्तदर्थेविषया लक्षिरेकान्ततो न
संभवति । तथा च योग्यैः पाहचमपिस्वतन्तो स्लेच्छः पन-
सं दृष्ट्वाऽपि 'पनस' इत्येव न जानते ; तेषां पनसस्याऽत्यन्त-
परकृत्यात् । न हि तद्देशे पनसः संभवति । तथा एषाः मधु-
गायसिनः सकृत् दृष्ट्वाऽपि 'सक्तयोऽमी' इति न जानते, तेषां हि
सक्तवोऽत्यन्तपराङ्काः । ततो न तद्देशेऽपि तद्वृत्तज्ञानम् ॥

संप्रति सामान्यतदनुवृत्तलक्षिमाह—

अत्यस्मृत्तगद्गमि वि, लद्धी । एतंततो न भंभवद् ।
सामान्ना बहुमज्जे, मासं परिपे जहा दृष्टुं ॥
अर्थस्यावच्छेद इत्यन्तदप्येव सामान्यात् सादृश्यादेका-
न्ततो लक्षिरेकलक्षिधनं संभवति । यथा बहुमज्जे पतिते
मापे दृष्ट्वाऽपि तद्वन्व्येन सामान्यात् तद्वत्तरं लभते ।

विस्मृतेरनुवृत्तलक्षिमाह—

अत्यस्यसऽपि तुवृत्तभे, अचवृत्तलक्षि । न होइ सव्वस्य ।
पुव्वविद्वत्तुपरथे, जसम उ नामं न संमरद् ॥
अर्थस्य पूर्वेषुपश्चात्सोपलक्ष्येऽपि सर्वस्याऽन्तरलक्षिस्वतद्विष-
याऽन्तरलक्षिधनं संभवति । कस्य न भवतीत्यत आह यस्यार्थे
विषयार्थविषयं पूर्वोपलक्ष्य नाम न संमरति । तद्वमुक्ता
त्रिविधाऽप्यनुवृत्तलक्षिः । वृ० १ उ० । विशेषेण—

सामान्यतदनुवृत्तलक्षि प्रकारः प्राहुः—

अनुवृत्तलक्षिरेपि द्वैरूप्यम्, अविरुद्धानुवृत्तलक्षिर्विरुद्धाऽनुप-
लक्षिरेव ॥ ६३ ॥
अविकल्पस्य प्रतिषेधनायेन सह विरोधमात्रस्यानुपलक्ष-
धिरेविरुद्धाऽनुवृत्तलक्षिः । एवं विरुद्धाऽनुवृत्तलक्षिरेपि । ६३ ॥

सम्प्रत्ययिच्छानुपलब्धेभिर्धेयसिद्धौ प्रकारसंख्यामाख्यानि-
तभाऽविरुद्धाऽनुपलब्धिप्रतिषेधाऽवबोधो सप्त प्रकाराः ॥६५॥

असूनेष प्रकारान् प्रकटयति-
प्रतिषेधेनाऽविरुद्धानां स्वजावयपकार्यकारणपूर्वचो-
षारचरसहचराणामुपलब्धिः ॥६५॥

एवं च स्वभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः,
कारणानुपलब्धिः, पूर्वचरानुपलब्धिः, उत्तरचरानुपलब्धिः,
सहचरानुपलब्धिश्चेति ॥ ६५ ॥

कमेयामूर्च्छाहरति—

स्वभावानुपलब्धिर्धेया-नास्त्यत्र नूतले कुम्भ उपल-
ब्धिज्ञानमाप्तस्य तत्स्वभावस्याऽनुपलम्भात् ॥६६॥

(उपलब्धिज्ञानमाप्तस्येति) उपलब्धिर्ज्ञानम; तस्य लक्षणाणि
कारणानि चञ्चुरादीनि, नैदुपलब्धिर्लक्ष्यते अन्यत इति या-
वत् । तानि प्राप्तः; जनाकृतेनोपलब्धिकारणत्वात्संभवात्स तथा
हृष्य इत्यर्थकस्याऽनुपलम्भात् ॥ ६६ ॥

व्यापकानुपलब्धिर्धेया-नास्त्यत्र प्रदेशे पनस; पादपाऽनु-
पलब्धेः ॥६७॥ कार्यानुपलब्धिर्धेया-नास्त्यत्राऽप्रतिहतश-
क्तिर्ब्रजमङ्कुराऽनवलोकनात् ॥६८॥

अप्रतिहतशक्तित्वं हि कार्यं प्रति अप्रतिषक्ततामर्थ्यं
कथ्यते । तेन बीजमात्रेण न व्यभिचार् ॥ ६८ ॥

कारणानुपलब्धिर्धेया-नास्त्यस्य प्रशमपभृतयो भावा-
स्तस्वार्थश्रद्धानाऽज्ञावात् ॥६९॥

(प्रशमप्रतययो भावा इति) प्रशमसंवेगनिर्वेदानुपलब्ध्याऽऽदि-
कथलक्षणज्ञेयपरिणामविशेषाः । तस्वार्थश्रद्धानां सम्बन्धेन
तस्याऽभावः । कुतोऽपि देवदत्तनृकण्ठः पापकर्मणः सका-
शान्तरिक्तस्तस्वार्थश्रद्धानकार्यं नृतानां प्रशमदानामभावं गम-
यति ॥ ६९ ॥

पूर्वचरानुपलब्धिर्धेया-नोद्गमिष्यति सुहृतांते स्वाति-
सत्र, चित्रोदयादर्शनात् ॥ १०० ॥ उत्तरचरानुपलब्धिर्धे-
या-नोद्गममत्पूर्वज रूपामुहूर्तिर्त्येवुत्तरज रूपोद्गमनाऽनवग-
मात् ॥ १०१ ॥ सहचरानुपलब्धिर्धेया-नास्त्यस्य सम्य-
ज्ञानं सम्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०२ ॥

इयं च स्वभावाऽप्यनुपलब्धिः साक्षाद्दुपलक्षणकारण परस्पर-
या पुनरेषा संनवन्त्येवन्नानावचीना । तथाहि-नास्त्यकार-
णानि तस्य, तत्र तस्मात्सकामानुपलब्धिर्धेयत्वात् कार्याव्याप-
कानुपलब्धिः, निरन्वयतत्त्वकार्यार्थकार्यावृत्तस्य यद् व्यापकं
कामाक्रमकं तस्यानुपलम्भनसद्भावात्, सा व्यापकानुपलब्धिर्धेय-
प्रदेशानीया । एवमस्या अपि यथासंभवमादेव विशति ॥१०२॥
विरुद्धाऽनुपलब्धि विधिभिर्द्वौ ज्ञेयता प्राप्नोते—

विरुद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पञ्चधा ॥ १०३ ॥

तानि च ज्ञेयानाहुः—

विरुद्धकार्यकारणस्वजावयपकसहचरानुपलम्भभेदा-
त् ॥ १०४ ॥

विधेयाऽप्येन विरुद्धानां कार्यकारणस्यभावव्यापकसहचरा-
णामनुपलम्भा अनुपलब्धयस्त्वैभेदा विशेषस्तस्मात् । ततश्च वि-

रुद्धकार्यानुपलब्धिः, विरुद्धकारणानुपलब्धिः, विरुद्धस्वजावयाऽनु-
पलब्धिः, विरुद्धव्यापकानुपलब्धिः, विरुद्धसहचरानुपलब्धि-
श्चेति ॥१०४॥

क्रमेणैतानामुद्धारणान्याहुः—

विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्धेयाऽत्र शरीरिणि रोगातिशयः
समिति, नौरव्यापाराऽनुपलब्धेः ॥ १०५ ॥

विधेयस्य हि रोगातिशयस्य विरुद्धमारोग्यम्, तस्य कार्यं वि-
शिष्टो ध्यापारः । तस्यानुपलब्धिरियम् ॥ १०५॥

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्धेया-विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्टमिष्ट-
संयोगाऽज्ञावात् ॥ १०६ ॥

अत्र विधेयं कष्ट, तद्विच्छेदं सुखम्, तस्य कारणमिष्टसंयोगः,
तस्यानुपलब्धिरेवा ॥ १०६॥

विरुद्धस्वजावानुपलब्धिर्धेया-वस्तुजातमेकान्तात्मक-
मेकान्तस्वभावाऽनुपलम्भात् ॥ १०७ ॥

वस्तुजातमन्तरङ्गं बहिरङ्गञ्च विश्ववर्षिपदाशसार्थः । अग्न-
ते गम्यते निष्पीयते इत्यनो धर्मः, न एकाऽनेकः अनकक्षासा-
यन्तभ्यानेकान्तः न चात्मा स्वजावो यस्य वस्तुजातस्य तदने-
कान्तात्मकम्; सद्व्युत्पद्यनेकधर्मात्मकमित्यर्थः । अत्र हेतुः एका-
न्तस्वभावस्य सद्व्युत्पद्यन्तर्धर्मावधारणस्वकपम्यानुपल-
म्भादिति । अत्र विधेयमेकान्तात्मकमेव सद विरुद्धः सदाये-
कान्तस्वभावः; तस्यानुपलब्धिरेवा ॥१०७॥

विरुद्धव्यापकानुपलब्धिर्धेया-अस्त्यत्र त्रया औपत्या-
ऽनुपलब्धेः ॥ १०८ ॥

त्रियथा ह्यत्रया विरुद्धस्तापः तद्व्यापकधर्मोऽयम्, तस्या-
ऽनुपलब्धिरियम् ॥ १०८ ॥

विरुद्धसहचरानुपलब्धिर्धेया-अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, स-
म्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०९ ॥

विधेयेन मिथ्याज्ञानेन विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं, तत्सहचरं सम्यग्-
दर्शनं, तस्याऽनुपलब्धिरेवा ॥१०९॥ रत्नां ३ परि० ।

अथाऽनुपलब्धेः प्रामाण्यविचारः—

यदापि— “प्रत्यक्षादेरनुपलब्धिः, प्रमाणमात्रं उच्यते ।
साऽमनोऽपरिणामां वा, शिक्षानं वाऽप्यवस्तुनि ” ॥ १ ॥

(सेति) प्रत्यक्षाणानुपलब्धिः आत्मनो घटादिप्राहकनया
परिणामाभावः प्रमत्तपक्षे । पर्युदासपक्षे पुनस्त्यसिद्धं घट-
विरुद्धाऽप्येव वस्तुत्वं नां घटां नान्तराणि विज्ञानमित्यव-
प्रमाणमभिधीयते । तदपि यथासंभवं प्रत्यक्षादृष्टतर्कमेव ।
तथाहि— “शुद्धाया वस्तुसङ्घातं, स्फुटत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नान्तिताज्ञानं, जायतेऽज्ञानपक्षया ॥१॥ ” इतीयमज्ञा-
वप्रमाणज्ञानिका साम्प्रदायं । तत्र च भूतसादिकं वस्तु प्रत्यक्षेण
घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टमसंसृष्टे वा शूरोतः । नाद्यः पक्षः
प्रतियोगिसंसृष्टस्य नूतनाद्यवस्तुनः प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षं तत्र प्रति-
योग्याद्यप्राहकत्वेनाऽभावप्रमाणस्य श्रुत्विचिरोपाह । प्रवृत्तो
वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगिनः संसृष्टेऽपि तत्र श्रुत्वेः द्वितीयेपेक्ष-
त्वमात्रप्रमाणधैर्यम्, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भानीनामभा-
वप्रतिपक्षेः । अथ न संसृष्टे नाऽप्यसंसृष्टे प्रतियोगिसिद्धेण-
दिवस्तु प्रत्यक्षेण शूरोते, वस्तुमानस्य तेन प्रद्वेषाद्युपगमा-
दिति चेत् ? तदपि दुष्टम् । संसृष्ट्याऽसंसृष्टस्योः परस्पर-
विदारित्वत्कल्पनेनैव अपरविधानस्य परिहृतेमशक्य-

स्थादिति । सदसद्रूपवस्तुप्रदणप्रपणने प्रत्यक्नेषाद्यं वेद्यते । क्वचित्तु तद्वचनं चूतलमिति स्मरणेन, तदेवेदमद्यतं भूतलमिति प्रत्यानिष्ठानेन, योऽभिमान् न अद्यति नासौ धूमवानिति तर्कस्य, मात्र धूमोऽननेरित्यनुमानेन, युक्तं गार्हो नास्ति ध्यायमंगमाभास्य प्रतीतेः, क्वाऽभास्यप्रमाणं प्रवर्ततेतस्मात् ॥ इत्याम० २ परि० ॥ अर्थ-स्यासत्सिद्धिरुच्येति सिद्धयर्थं प्रमाणान्तरप्रमाणप्रमाणभावत्वं वर्णयन्ति । तथाऽपरि-अभावाद्योऽपि प्रमाणाऽज्ञावो नास्तीति, अर्थस्यासत्सिद्धिरुच्येति वचनात् । अन्ये-पुनरभावात्कथं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति । प्रमाणपञ्चकाऽभास्यप्रमाणं प्रवर्ततेतस्मात् ॥ इत्याम० २ परि० ॥ प्रतिविध्यमानाद्वा, तद्व्यवहानमात्रा वा, विषयरूपेण तन्निवृत्त-स्वराज्य इत्यनेन च भावप्रमाणेन, प्रदेशादौ घटादितिप्रमाणो गम्यते । तदुक्तम्-

“प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपेण जायते । वस्तुसत्ताऽवधोधार्यं, तत्राऽज्ञायमाणता ॥ १ ॥ प्रत्यक्कारेणुत्पाद्यः, प्रमाणाभास उच्यते । सारमन्तऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽप्यवस्तुनि” ॥ २ ॥

न च प्रत्यक्नेषाभासोऽवशील्यते, तस्यानाद्यविषयत्वविरोधात् । भावोऽनेवेन्द्रियार्था संयोगात् । तदुक्तम्-“न तावदिन्द्रियेषाणा, नास्तीत्युपपद्यते मतिः । ज्ञावाशौनैव संवेद्या, योयत्वादिन्द्रियस्य हि” ॥ १ ॥ नाऽप्यनुमानेनासौ साध्यते, हेतुभावात् । न च प्रदे-श एव हेतुः, तस्य साध्यधर्मित्वेनाभ्युपगमात् । न चेवमपि हेतुः प्रतिज्ञा, अपौरुषेयकदेशानाप्तौः न च प्रदेशो विशेषो धर्मस्मन्तस्मात्साध्यहेतुः, तस्य घटाऽज्ञाव्यतिचारत्वात् । न हि सर्वत्र प्रदेशघटाऽज्ञावः शक्यः साध्यविशेष, सघटाद्यपि प्रदेशस्य संज्ञात्वात् । अथ घटाऽनुपपत्त्यया प्रदेशं धर्मिणि घटाभिवाः साध्यते । असदेतत् । साध्यसाधनयोः कस्याचित् संबंधस्याभावात्तस्माद्भावाद्योऽपि प्रमाणान्तरमेवा न चाऽभास्यस्य तद्विषयस्याभावाद्भासप्रमाणान्तरवैयर्थ्यम् । प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधस्य वस्तुरूपस्याऽज्ञावस्य भावात् । अन्यथा कारणदिविभागात् व्यवहारस्य लौकिकप्रतीत-स्याभावप्रसङ्गात् । “न च स्यात् व्यवहारोऽयं, कारणदिविभागतः प्रागभावादिभेदेन, नाऽज्ञावो यदि निश्चते” ॥ १ ॥ अज्ञावस्य च प्रागभावादिभेदाऽप्यथानुपपत्तेरर्थयाप्य वस्तुरूपताऽवशील्यते । तदुक्तम्-“न चावस्तुन पते स्तुः, सदा त्साऽप्य वस्तुना । कार्या-द्वं नामभावः स्या-दित्येकं कारणं विना” ॥ १ ॥ इति । अनुमानप्र-माणाऽवस्था वाऽभासवस्तु वस्तुरूपता । यदाहि “यद्वाऽनुपपत्त्ययावृ-त्ति-रुक्तिर्नाहो । यतस्वयम् ॥ तस्माद् गवादिबद्ध वस्तु, प्रमेयत्वाच्च शुभ्रानाम” ॥ १ ॥ अभावावस्य चतुर्धा व्यवस्था-प्रागभावाः, प्रवृत्तसा-भावः, इतरंतराभावः, अत्यन्ताभावश्चेति । तत्र-

“कीरे वृद्धादि यथास्ति, प्रागज्ञावः स उच्यते । साक्षितता पयसो दूजि, प्रवृत्तसाभावलक्षणस्य ॥ १ ॥ गवि योऽम्बाघाभावस्तु, साऽप्योऽप्यवस्था उच्यते । शिरसेऽव्ययवा निम्नाः, वृद्धिकाठिन्यर्जिताः ॥ २ ॥ शशो ह्युद्धादिकूपेण, सोऽप्यन्ताभाव उच्यते” । यद्वि चेतद्व्यवस्थापक्रमभावात्कथं प्रमाणं न भवेत्, तदा प्र-तिनियतवस्तुव्यवस्था दूरस्फारितैव स्यात् । तदुक्तम्-“ कीरे दधि नवेदेव, दूजि कीरे घटे पटः । शशो शुक्लं पृथिव्यादौ, सत्यं सृतिराम्नि ॥ १ ॥ अस्तु गन्धो रसश्चासौ, वायो रूपेण ती सत् । व्योमि तु स्पर्शता त्वं, न चेदस्य प्रमाणता” ॥ २ ॥

निरंशमाविकरूपवाहस्तुनस्तत्स्वरूपप्राप्तिनाऽप्यक्नेषु तस्य सर्वात्मना प्रदृशाद्गृहीतस्य चापरस्यासदंशस्य तत्राज्ञावात् कथं तद्व्यवस्थापनाय प्रवर्तमानप्रमाणावकथं प्रमाणं प्रामाण्यं नृत्तमस्तु इति वक्तव्यम्, यतः सदसत्त्वात्मकं वस्तुनि प्रत्यक्कादिना तत्र सदस्यप्रदणेऽप्यगृहीतस्य तदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमा-णाभासस्य प्रवर्तमानस्य न प्रामाण्यव्याहृतः । तदुक्तम्-“ स्वकूपरकथायां, नित्यं सदस्यत्वात्मकं । वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित्, रूपं कैश्चित् कदाचन ॥ १ ॥ यस्य यत्र यदाद्गृहीत-जिमिज्ञा चोपजायते । वंघतेऽनुभवस्तस्य, तेन च व्यपदिश्यते ॥ २ ॥ तस्योपकारकत्वेन, यतैतंऽशस्वेतरः । उभयोरपि संख्यो-दभयानुगमोऽस्ति तु ॥ ३ ॥ प्रत्यक्काघचकारस्तु, भावाशो शुभ्यते यदा । व्यापारस्तदनुपपत्तेरभावाद्यो जिपुक्तिः” ॥ ४ ॥ न च ज्ञावांशाद्भिन्नत्वाद् ज्ञावांशस्य तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह-इति; सदसदंशोऽर्थोऽपि भेदाऽप्यनुपपत्त्यात् । उक्तं च-“ ननु भावाद्भिन्नत्वात्, संयोगोऽस्ति तेन च । ननु अत्यन्तमेवोऽस्ति, कृपादिषु हिदापि न ॥ १ ॥ धर्मयोर्भेदं दृष्टोऽपि, धर्मं ज्ञेयोऽपि नः स्थिते । उद्धृजानित्वात्सत्त्वात्, ग्रहणं चावतिष्ठते” ॥ २ ॥ इत्यादि । तदेवमगृहीतप्रमेयाऽज्ञावप्राहकत्वात् प्रमाणज्ञावस्य प्रमा-ण्यत्वम्, प्रत्यक्कादिव्यनन्तर्जावात् । प्रमाणांतरत्वं च व्यव-स्थितम् । सम्म० । (सम्मतितकं ग्रन्थेऽस्मिन् विषये विशे-षोऽप्युच्यते)

अणुवलयकमाण-अनुपपत्त्ययमान-वि० । अग्रहयमाने, “अणु-वलयकमाणो वि सुहृदुक्त्वमादर्ये” दृश० १ अ० ।

अणुवलयकारक-अनुपपत्त्यकारक-वि० । अप समीपे पतने स्थानुपपत्त्यां इतिविषयेदेशावस्थानम्, तत्कारकस्तदनुपपत्त्यात् तद्विज्ञो गुणादेशादि भीत्या तद्व्यवहितंदेशस्यासिद्धिः गुर्कान्तं इतिवये स्थित्यकारकः, तस्मिन्, उच. १. अ. आदेश भयादूरं तिष्ठति । उच. १. अ.

अणुवसंत-अनुपशान्त-वि० । उपशान्तो जितकषायः, न उपशान्तोऽनुपशान्तः । रक्तवायु, उच० १ ए अ० । उपशाम-घाने, सूत्र० २ अ० २ अ० । निर्विषं, रथाप० ।

अणुवसंत-अनुपशामन्त-वि० । अनुपशामं कुर्वति, व्य० १ उ० ।

अणुवसु-अनुवसु-पुं० । वसु इत्यं तद्भूतः कषायकालिका-दिमलागमनाद् बीतराग इत्यर्थः । तद्विषयवर्षेणऽनुवसुः । सरागे, वसुः साधु, अनुवसुः श्रावकलम्नि, “वीतरागो वसुर्ज्ञेयो, जिने वा संयोगऽथवा । सरागोऽनुवसुः प्राक्नः, स्थाविः श्रावकाऽ-धया” ॥ १ ॥ “वसु वा अणुवसु वा जाणि तु धम्मं जहा तदा” अत्राच० १ अ० ६ अ० २ उ० ।

अणुवस्मियवहारकारि(ण)-अनुपपत्त्यव्यवहारकारिन्-वि० । निश्चा रागः, निश्चा संजाता अस्येति निश्चितः, न नि-श्चितोऽनिश्चितः, स चासौ व्यवहारश्च अनिश्चितव्यवहारः, त-त्करणशीला अनिश्चितव्यवहारकारिणः । रागेण व्यवहारकारि-णि, व्य० १ उ० ।

अणुवह-अनुपथ-अव्य० । पथः समीपे, । अनुपथमेवासम्भ-वस्यो भवतां वसंत । अत्राच० १ अ० ६ अ० २ उ० ।

अणुपथ-वि० । जावत उपचाऽणुक्ते, पं० सं० २ श्रा० ।

अणुपहृय-अणुपहृत-वि० । न० तं० । अण्पादिभिरविध्व-
स्ते, वि० ।

अणुपहृयविद्धि-अणुपहृतविधि-पुं० । अनुरूपप्रमुखाद्य हाने,
गुरुभिर्दत्तस्य अण्प्रत्यय गुरुननुवाच्य हाने वा । अणुपहृतविधि-
यैवतुप्रप्रमुखाद्य ददाति । अण्ये तु व्याचक्रते-यगुनस्तस्य गुरुभि-
र्येषं तत्सोऽण्यस्य गुरुननुवाच्य ददाति "अणुवहियं जं तस्स
उ, विद्धं तं देह सोऽ अण्प्रस्स" यत्स्य दत्त सोऽण्यस्यै गुरुन-
नुवाच्य ददाति । क्रमाभ्रमेणस्तुचयमिदं दत्तमित्येषोऽणुपहृतवि-
धिः । ४५० १ ७० ।

अणुपहृयास-अणुपहृयास-वि० । अविद्यमानोपहासे, पञ्जा० ६
विश० ।

अणुवह्नुआ-देशी०-नयवध्याय, दे० ना० १ बर्ग ।

अणुवाह(ष्)-अणुवाहित-वि० । अणुवत्तयनुसरतीत्येवं शीलः ।
स्वा० ६ श्रा० । योग्ये, " अणुवाह स्वयस्युत्सस्त" पं० य० २
श्रा० । अणुवहितं शीलमस्येत्यनुवाही । अणुवादशीले, मूत्र० १
श्लो० १२ श्ल० ।

अणुवापज-अणुवादेय-वि० । हेये अग्रहीतये, आ० मं० वि० ।

अणुवाणहृय-अणुवानत्क-वि० । न विद्यते उपानही यस्य
सोऽयमणुवानत्कः । उपानहोरुधारकं, पौ० १ विश० ।

अणुवाय-अणुताप-पुं० । संयोगे, अ० १२ श० ४ उ० ।

अणुवात-पुं० । अनुसरणे, प्रभा० १७ पद । अणुपतनमनु-
पातः । शब्दोच्चारणकालानुदरीनादी, उपा० १ अ० ।

अणुवात-पुं० । आश्रायकविचलिनपुरुषाणांमनुकूले घाते,
जं० १ वस० । रा० । अणुकूले घातो यत्र देये सोऽणुवातः ।
यस्माद् देशद् वायुरागच्छति तत्र, अ० १६ श० ६ उ० ।

अणुवाद-पुं० । विधिप्राप्तस्य वाक्याऽन्तरेण कथने, वाच० ।

"ब्राह्मणं मासाः संवत्सरोऽग्निरूपोऽग्निर्हिमस्य मेघजम्" इत्या-
दीनि तु वेदवाक्यान्वनुवादप्रधानानि, लोकप्रसिद्धस्यैवार्थ-
स्येतेष्वनुवादात् । विश० ।

अणुवायवाय-अणुवायवादे-पुं० । पथे मिथ्यात्ववादे, नयो० ।

अणुवालय-अणुपालक-पुं० । आजीविकोपासकमेदे, अ० २४
श० २० उ० ।

अणुवास-अणुवास-पुं० । वर्षावासं श्रुतवन्द्ये वा उपित्यापुन-
स्तत्रैव प्रभ्राद् वसने, अविधिविचारणेषु वृद्धादिवासो वा
वसने च । तत्र कल्याः—

..... अणुवा अणुवासपापकप्यं तु ।

बोच्छामि गुरुवेदेसा, अणुवामहदा सुविहियाणं ।

अणुवासस्मि तु कप्यो, पशवग पशुब बहुविधा अस्या ।

अणुवासण्य पगतं, सुच्छा य तद्वा अणुवादा य ॥

अणुवासत्वां बहुदा, उडवासे वण अहव असिवादि ।

बुद्धादी वासो वा, अहवा अणुवमणमणुवामो ॥

बसितं पुणो वि वसती, अणुवासिगवसतद्वैममर्गसण्णा ॥

तीवह्निगारो पत्यं, सा होञ्जा सुदुऽणुको वा ॥

पट्टीवसादीर्हि, वंसगकरणदिपिर्हि तद्दे वेव ।

होति अणुवा वसदी, मूसगुण उचरगुण्ये य तद्वा ॥

कालक्यातिरिचं, अविमुक्तासु च तासु वसमाणो ।

पावाति पायच्छिचं, भौतुणं कारणमिदं ॥

अग्निवे ओमोयरिण, रायदुडे भए व आगाटे ।

गेहएह उचमडे, चरिचमज्जातिए असती ॥

वादिं सव्वत्थ सिवं, तेण सया काडुवगुगम्भि ।

पुणो वि य णहु णिगुच्छे, अणुपच्छा जाव अणुवामी ॥

आह्ववणे विमुदं, सुच्छुत्तं परिहरं पयत्तणं ।

आसज्ज तु परिभोगं, भयणा पदिमेवसंकमणे ॥

अमिवादीर्हि वसते, सुद्धाए वमहीए वसे साहू ।

मुच्छासतीए जतनी, विमोहिकाभीए पुव्वं ति ॥

जयण्णी जं ज्ञासितं, पुव्वत्ताए तु जेतुं हे दोसा ।

ते ते पुव्वं सेवे, कम्मणो वी इमा जयणा ॥

अणुवाहं तु सेदं, जत्य गुणा तु भवेज्ज बहुतरगा ।

गच्छं गच्छंताणं व, तं चेव तर्हि करेज्जा तु ॥

असिवादिनिद्धिए पुण, अण्ववसेवेण मंकेम ततो ।

सत्यं तु पाकिच्छंते, जइ अण्ये तस्य मुच्छं तु ॥

एतं णयरिवृणं, अणुवासियं जेतु अगिबसे कपं ।

कालक्यावराहे, संवह्निमोऽवराहाणं ॥

संवह्निनावराहे, नवावठ्ठीं तदेव भूलं वा ॥

आधारपकप्यं ज-पमाशरणेण चरिचमि ॥

अणुवासियाए कप्यो, एमे सो वसितो समासेणं ॥ पं० जा० ।

इयाणि अणुवासकप्यो-तस्य(गाहा)अणुवासामि उअणुवासो
नाम वासावासो उवदे वा वसित्या तथेय अणुवसह, उवदे
मासबहु, वासे चउबहु । तस्य पुण बहुवाहा सुसन्धा । जहा पथे
व कप्ये त्रिए मासकप्यसुत्ते पथ पुण अहारा अणुवासिज-
तीति । अणुवासिया का पुण साः, वसही सुच्छा य, असुच्छा य ।
असुच्छा पटीचं सोवसमाकरणा वेणगणि (गाहा) [असिचं] अ-
सिवावसु कारणेसु असुच्छाए वि वसति णयदुट्टे काप्यपण्णं । वा
सोयाणि वा तस्य तथि जाणि बाहिरपदिं वेसांहि सजयाणि
दोसकरणाणि त्रए व बोधिमादिस्स गेसअउसिमडे चरिच इधि-
दोस पसणा दोसा असुच्छाए वा असुच्छा वा गुणाणं जं तमिं
वसुहए (गाहा) [अलचणं] एव आह्ववणविमुं ससुद्धए परि-
हरजा कुत्तणं परिभोगं पुण मासजगुणपरिवाहासि त्रणियं हेइह
त्रणिया पदिमेहसंकमणे गुणवृत्तिमिसं अणुच्छेजा न सक्का
अयं वसदिं सेचं वा पणुपुण कारणेसु विणासे अणुवासि-
यं परिवसह तस्स संघट्टियावराहे, एस अणुवासणाकप्यो ॥
पं० चू० ।

..... अणुवा बोच्छं अणुवासणाकप्यं ।

अणुवासामाकप्यो, वासावामो इमेसं तु ॥

जिणथेर अह्ववदे, परिहारितअज्जवामकप्यो तु ।

खेचे कालमुवस्सय-पिंडग्गहणे य एणएत्तं ॥
 एएसिं पंचएह वि, अयणोष्मस चउपदेहिं तु ।
 खंचादीहि विसेसो, जह तह बोच्छं समासेणं ॥
 एण्थि उ खेचं जिएक-पिय्याण उउबद्धपासकावो तु ।
 वासासुं चउमासो, वसही अममत्त अपरिकम्मा ॥
 पिंनो तु अलेवकदो, गहणं तु एसखा उवरियादि ।
 तत्थ वि काठमभिग्गह, पंचएहं अस्सतरियाए ॥
 थेराण आत्थि खेचं, तु उग्गहो जाव जोयणसकोसं ।
 णगरं पुण वसहीए, विकालउउबच्छमातो तु ॥
 उस्सग्गणं ज्ञाणओ, अत्रवाएणं तु होज्ज अहिओ वि ।
 एमेव य वासासु वि, चउमामो होज्ज अहिओ वि ॥
 अममत्त अपरिकम्मा, उवस्सओ एत्थ जंगचउरो तु ।
 उस्सग्गणं पदयो, तिण्णि उ सेसाउववादेयं ॥
 जत्तं क्षेत्रकरं वा, अक्षेवकरं वा वि ते तु गेएहंति ।
 मचहिं वि एसएहिं, सावेक्खो गच्छवासो च्चि ॥
 अहलं दियाण गच्छे, अप्पमिक्खण जह जिणायं तु ।
 एवरं कालविसेसो, उउवामे पणगचउपमासो ॥
 गच्छे पडिक्खणं, अहलंदिणं तु अह पुण विसेसो ।
 उगहो जो नेसिं नू, सो आयरियाण आत्तवति ॥
 एगवमहीए पणयं, उच्चिउ ववगाम कुञ्जोति ।
 दिवसे दिवसे आत्थं, अहंति विहो य पियमेणं ॥
 परिहारविमुच्छं, जहेव जिएकपिय्याण एवरं तु ।
 आयविंसें तु जत्तं, गेएहंति य वासकल्पं च ॥
 अज्जाण परिग्गहियाण, उग्गहो लोतु सोतु आयरिए ।
 कात्ते दो दो मामा, उउबच्छे तामि कपो तु ॥
 सेसं जह थेराणं, पिंनो य उवस्सओ य तह तासिं ।
 सो सव्वो वि य उविहो, जिएकपो थेरकपो य ॥
 जिएकपि अहासंदी, परिहारविसुच्छियाण जिएकपो ।
 थेराणं अज्जाण य, बोधव्वो थेरकपो तु ॥
 उविहो य मासकपो, जिएकपो खेव थेरकपो य ।
 णिरणुग्गहो जिणायं, थेराण अणुगहपवचो ।
 उउवासकालउतीते, जिएकपोणं तु गुर्या य ॥
 होति दिणम्मि दिणम्मि वि, थेराणं तेष्वि लहू तु ।
 तीसं पदाउराहे, पुटो अणुवासियं अणुवसंतो ॥
 णे तत्थ पदे दोसा, त तत्थ तगो समावधो ।
 पम्परउग्गमदोमा, दस एसखा एएं पुण वीसं ॥
 संयोगजादि पंचय, एते तीसं तु अवरहा ॥
 एतहिं दोमेदि, जदि असंपत्ति लगतो तह वि ।
 दिवसे दिवसे सो खमु, काहावातीते वसंतो तु ॥
 वासावासपमाणं, आयारो उप्पमाणितं कल्पं ।
 एयं अणुमांयतो, जाणु अणुवासकल्पं तु ॥

आयारपकल्पमी, जह जणियं तीत संवसंतो वि ।
 होति अणुवासकपो, तह संवसमाणदोसा तु ॥
 दुविहे विहारकाले, वासावासो तहेव उउबच्छे ।
 मासातीते अणुवादि, वासातीते जेव उवही ॥
 उउवदिएए अहसु, तीनेसुं वास तत्थ ए तु कपो ।
 पेत्तणं उवही खलु, वासातीतेसु कल्पति तु ॥
 वास उउ अहालंदे, इत्तिरिसाहाणं पुहत्ते य ।
 उग्गहमंकरणं वा, अमोणसकासहिज्जोतं ॥
 वासासु चउमामो, उउबच्छं मामलंद पंचहियाण ।
 इत्तिरिउ रक्खमूलं, वंसिमणद्धा वि ताणं तु ॥
 माहारणा तु एते, समहितयां वहुण गच्छाणं ।
 एक्रेण परिग्गहिया, सव्वं पाहंत्तिया होति ॥
 संकमणमन्नसय-स्स सकासे जदि तु ते अहोयंते ।
 सुत्तत्थ तदुजयादं, संये अहवा वि पडिपुच्छे ॥
 ते पुण मंफलियाए, आयारलियाए व तं तु गेएहो जा ।
 मंसलियमहिज्जोते, सच्चिचादी तु जो लातो ॥
 सो तु परंपएणं, संकमती ताव जाव संटाणं ।
 जहियं पुण आयारलिया, तदियं पुण अंतए जाति ॥
 तं पुण उतिएकाए, वसहीए अहव पुक्फकिष्साओ ।
 अहवा वि तु संकमणो, दव्वस्मिणमो विहो अस्सो ॥
 सुत्तत्थ तदुजयविमा-रथाण धोव अस्संतती भांए ।
 संकमणदव्वमंफलि-आयारलियाकल्पअणुवासे ॥
 पुव्वहितयाण खेचे, जदि अगणच्छेज्ज अस्सआयारिओ ।
 बहुसु य बहु अगमिओ, तस्स सगामम्मि जादि खेचो ॥
 किंचि अहिज्जेजाही, धोवं खेचं व तं जदि हव्वेजा ।
 ता ते अस्संघरता, दोष्णि वि साहू विभज्जोति ॥
 अस्सोस्सम मगासे, तेसिं पि य तत्थ पिज्जमाणेणं ।
 आयारवणा तह खेव य, जह जणियमयंतरे सुत्ते ॥
 एवं णिच्छयाते, मासचउमासतो उ थेराणं ।
 कपो कारणतो पुण, अणुवासो कारणं जाव ॥
 एस-उणुवासएकपो..... पं० जा० ।

इयानि अणुवासकपो-(गाहा)[जिएथेरे]सो पुण अणुवास-
 कपो जिएथेराहासंदि य परिहारविसुच्छि य अज्जाणोति एगे-
 गाओ एगस्स बहुं जणोहिं खेत्तकालउवस्सयपिंडग्गहणे य
 नाणत्तं जिएस्स ताव खेत्तं नत्थि काले उउबच्छे मासो वासा-
 रसे वाउस्मासो उवस्सओ अममत्तो अपनिकम्मो भिक्खा अ-
 लेयाडा खेत्तोग्गहो थेराणं अत्थि सक्कोसं जोयण नगरे वस-
 दि उग्गहो तेसिं काहओ मानं वा मासाएयं वा उउम्मि कारण-
 मकारणे वासासु वाउमासं वा निक्कारणे कारणं पुण कणाहिं
 उवस्स उ उस्सग्गण अयमत्तं अपरिकम्मो य अत्रवाएण सस-
 मत्तो सपरिकम्मो य पिंनो सेचामो अलेवकदो य अहासंदियाण
 गच्छे अपनिकच्छणं जहा जिणायं नवदि काले उउवामो गामो
 कोरए एगेमो जगो पंचदिवस जिएक्ख हिंमंति, तत्थेव वसंदि

वासाणु पदाथ्य चउम्मासो एवं परिहारियाणु वि जहा जिणाणं
 णवरि आर्यविज्ञेण मासो सव्वो वि दुविदो जिणुकण्यो धरक-
 ष्यो य, जिणअहाइंदिपरिहायिणुविदुयाणु जिणकण्यो अज्जाणं
 येराणु य येरकण्यो गच्छुपंभियेचअहाल्लेदिणं आर्यारं-
 यारणं चेष सो विञ्चिणोभारो संजयणगीरपरिभरिमाहियाणं
 अस्थि केत्तं सो आर्यरियाणं चेष जिणकण्यो निरुण्णमाहो
 अस्त्रियाधो कारणा नथिय धेरकण्यो साणुमहाो अस्त्रियाइहो
 कारणेसु कासाइए उउमि जिणाणु गुरुओ मासो दिणे दिणे
 येराणु इहोओ मासो विणे दिणे तमि खेत्तं अत्थेताणं चउम्मा-
 साइय जिणाणं तमि चेष खेत्तं दिणे दिणे चउगुरुं येराणु वि-
 णे दिणे चउलहुं (गाहा) [तोसपयाऽवगहं ति] सोलस उग-
 महोसा, संजोयणाइं पंचदस पसणा दोसा, सारुपरिवासीए
 पअस्स उग्गमहोसा पंच संजोयणमाइं तथ्य वृद्धा एसा वीसा
 दस पसणा दोसा एए हीसपयावरोदिं तेसिं अहवा दिवधं
 दिवस्य अवरारो तीस दिणा मासो जमि आयउजइ जयमाणां वि
 अथंत्तो (निक्कारेण तेण उग्गहं (गाहा) [वासावासपमाणं] वासावा-
 सपमाणं च एये आर्यारकण्ये भणियं तमि अरुक्केतो उग्गहकाले
 अणुवसंतस्स अणुवासिया जवइ (गाहा) [दुविहं विहारकाले]
 अइक्केत्तं अट्टदिं मान्हिं अट्टदिं धासं पस्सिचउजइ तथोवहो न
 चेणए वासो अइए चेणइ (गाहा) [वास उउ] एपमि त्रियाणं जइ
 बहुया एकांमिं खेत्तं त्रिया होउजा वासासु उउमि सा अहाइं-
 दिं पंच दिवसा जाव साइएणा पुहुत्ते वा र्हराएण वा रुक्खटेटा
 संकमणं एगो एगस्स सुत्ते इस वेयाहिंत्तं उउज्यारइ तस्स पुण
 दस वेयाहिंत्तं उउज्यारतस्स सूत्रं अरुहो उत्तरउज्यणाणि
 पट्ठं ज उउरउज्यणाएत्तो सत्तिचाइ इत्थइ तं दसं-
 याइयाइ तस्स देइ दोसो उत्तरउज्यणं उउज्यारइ तस्स
 सुत्ते अत्तो वंभचेर उउज्यारइ जाव विवागसुयं जहा-
 उत्तरापइया सटाणं चेष इइदसवेयाइयइएकस्स अथ्यपुण एगो
 एगस्स सुत्ते आवासगाहाओ पट्ठं अथो पुण आयम्मरुस्स
 अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वडिओ वा एगो दसवेयालिपस्स सुत्ते
 वाएइ एगो अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वडिओ एगो उत्तरउज्यणा
 वाएइ एगो अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वडिओ एवं जाव विवाग-
 सुयं सव्वत्थ अथो वडिओ एगो पअस्सि वाएइ एगो दसवेया-
 लियाइं जाव कयववहराणं अत्थं कहेइ, अत्थइत्तो वडिओ-
 एवं जाव विवागसुयं एगो कयववहरि कहेइ एगो दिठियाइसु-
 त्ते वाएइ सुत्तइत्तो वडिओ सव्वत्थ पुव्वययइत्तो वडिओ ज्जथ
 वा मंरुलो जिजइ हेइडिआणं तथ्य वावइ सत्त्विच्साइ ते पुण
 एगए बसहीए त्रिया पुण्फायाकिंवा वा (गाहा) [सुत्तत्थ] अहवा
 पगग्धिं गामे एगो खारिओ सुत्तत्थयिसारओ पुव्वदिओ तस्स
 अग्निं पसे पदेति, तं च खेत्तं थोयं अपज्जत्तं भणपाणे दां वि
 जणा पदेत्तथो वडुणं संजए विसज्जेति अणुणं खेत्तं माहे तेसिं
 अणुगामं गयाणं एगोएरस्स पदेत्तानं तदेव संकमणटाणं सचि-
 च्चाइ कहेव जाव आवलिया सटाणगग्धिं (गाहा) [एसो उ] काइ-
 कण्यो निववाघापण वासासु चाउम्मास्स उउमि अट्टमास्स कार-
 णे पुण येराणं जाइं अणुवासां जवइ जाव तं कारये समसं
 अस्त्रियाइ ताव अणुवासां ता वि जयंता सुत्ता, एस अणुवास-
 कण्यो । पं० सू० ।

अणुवासगं-अणुवासक-पुं० । न उपासकः आर्यकोऽणुवासकः ।
 मिथ्यादष्टी, स च हातकोऽहातकश्च, नायकोऽनायकश्चेति हि-

धा । "अणुवासो चो वि नायगमनाथगो य" एतस्य द्विविधस्या-
 ऽपि प्रमाणं चतुर्गुरु, अहाइयश्च दोषाः । नि० सू० ११ उ० ।
 उपासकः आर्यक इतरोऽणुवासकः । अश्रावके, नि० सू० ७ उ० ।
 अणुवासणो-अणुवासनां-खी० चर्मयज्ञप्रयोगेणाऽपानेन ज-
 नेर तैलविशेषप्रवेशनं, हा० १३ अ० । विषा० । व्यवस्थापना-
 याम, अावा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।
 अणुवि(वि)म-अणुद्विभ-वि० न० त० । प्रशान्ते, "चरं मइ-
 मणुविविभं, अविचिखेत्तं चेषसा" दशा० ५ अ० १ उ० । अणु-
 द्विभः क्षुधादिजयात् प्रशान्त इति । वृ० १ उ० ।
 अणुविरइ-अणुविरति-खी० । देशविरतौ, कर्म० १ कर्म० ।
 अणुवृइ-अणुविचिन्त्य-अथ० । अणु-वि-चिति-एय० । पर्या-
 लोच्येत्थे, प्रश्न० २ सम्भ० द्वा० । आलोच्येथे, दशा० ७ अ० ।
 केवलज्ञानेन ज्ञावेत्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।
 अणुवाच्य-अथ० । आनुकृत्यं वाचधित्येत्थे, सूत्र० १ श्रु० ४
 अ० १ उ० ।
 अणुवीइनामि(ण्)-अणुविचिन्त्यनापिण-पुं० । अणुविचि-
 न्त्य पर्यलोच्य आपते इत्येवंशोऽहोऽनुविचिन्त्यनापी । व्य० १
 उ० । स्वाज्ञोचितवक्तृरूपे वाचिकवियनयभेदे, दशा० १ अ० ।
 अणुवीइसमिजोग-अणुविचिन्त्यसमितियोग-पुं० । अणुवि-
 चिन्त्य पर्यलोच्य प्राणणरूपाः सःसमितिः सम्यक्प्रकृत्यः सा-
 उत्तविचिन्त्यसमितिस्तयोयोगः संबन्धमनृपो वा व्यापारं वाऽ-
 नुविचिन्त्य समित्यारः । भाषासामितियोगः, प्रश्न० २ सम्भ० द्वा० ।
 अणुवृहट्ण-अणुगुट्टन-न० । प्रशंसनं, कथ० १ ।
 अणुवृद्वेत्त-अणुवृद्वयत्-वि० । अणुमयति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।
 अणुवृढमाण-अणुवृढमाण-वि० । अणुयेकां कुर्वति, "घुणे उ-
 रालं अणुवृढमाणं, विवाणु सोयं अणवृढमाणं" सूत्र० १ अ० ।
 अणुवां-देशी-तथेत्थे, दे० ना० १ धर्ग ।
 अणुव्यय(अ)-अणुव्रत-न० । अणुनि लघुनि व्रतानि अणुव्र-
 तानि । लघुत्वं च महाव्रतयोक्त्वाऽणुविययव्यादिनेति प्रतीत-
 भवेति । उक्तं च- "सव्वगयं समत्तं, सुए चरिणेन पज्जवा
 सव्वे । देसविरइं पट्ठु, वंशह वि पमिस्सवणं कुज्जा" ॥११॥ इति ।
 अथवा सर्वविरताऽपेक्त्वाऽणुव्ययं लघुत्वेन व्रतान्यणुव्रतानि ।
 स्था० ५ अ० १ उ० ।
 अणुव्रत-न० । अणु महाव्रतस्य पश्चादप्रतिपत्तौ यानि व्रतानि
 कथ्यन्ते तान्यणुव्रतानि इति । उक्तं च- "जाइ धम्मस्स समथे,
 जुज्जइ नइसथे पि साहुणं । तइइगदोऽस्सनिवसं, फलेति का-
 याणकपट्टं" ॥११॥ इति । स्था० ५ अ० १ उ० । अणु० ।
 ध० । आर्यकथोपेत्यु देशविरतिकेपेयु सूत्रप्राणातिपाताविर-
 मणादिषु ;

तानि च-

पंचाणुव्यया पमत्ता । । तं जहा-एलाओ पाणाइवाओ
 वेरमणं, थुत्ताओ म्मावायाओ वेरमणं, थुत्ताओ अदिद्दा-
 दाणओ वेरमणं, सदरासंतेसं इच्चापरिमाणे ।

स्वसागारेणं महत्तरागारेणं स्वस्वसामाह्वितप्रसागारेणं वासिरामि " तत यथासागारविशेषोऽयतः कारयति, स्वस्वस्वादिपुत्रे भवतिविषयां च देशानां विषये । देशासागरारोपणविशेषेभ्यः । भवतिनिष्ठापस्वस्वभ्यः—अहं चंते ! तुम्हारां समीचे पूज्यां पाणा-इवायं संकल्प्यो निरवराहं पचकस्वामि जावज्जीवाय दु-विहं तिबिहेणं मण्येणं वायाय कायेणं न करेनि न कारयेमि, तस्स जंते ! पकिक्कामि निदामि गरिहामि अण्णाणं वासिरामि १ । अहं चंते ! तुम्हारां समीचे पूज्यां सुगन्धायां जीहा दे-आहरेणं कन्माइसीयादिं पंचाविहं पचकस्वामि द्विक्रमाह अवि-सण आचखीवाय पुविहमित्यादि २ । अहं चंते ! तुम्हारां समी-चे पूज्यां अदृसादायां वेत्तकयुवाह चोरंकारकरं रायनिगाहकरं सविष्ठाचिसवन्तुविसयं पचकस्वामि जावज्जीवाय दुविह-मित्यादि ३ । अहं चंते ! तुम्हारां समीचे चोरासिलियवउविषयभे-यं पूज्यां मेहुणं पचकस्वामि, तथ विदं दुविहं तिबिहेणं तेरिचं पयविहं तिबिहेणं मणुअहाराणहियभंगएणं, तस्स जंते ! पांर-क्कामि निदामितीत्यादि ४ । अहं चंते ! तुम्हारां समीचे अपरिमि-षपरिगाहं पचकस्वामि धणयकाएनवविहवत्पुविसयं इच्छाप-रिमाणं उचसंपत्तामि जावज्जीवाय अहाराणहियभंगएणं, तस्स जंते ! पकिक्कामीत्यादि ५ । एतानि प्रत्येकं नमस्कारपूर्वं वा स्वयमुच्चारणीयानि ।

“ अहं चंते ! तुम्हारां समीचे गुणव्ययतिप उक्ताहो तिरि-यमणुविसयं द्विसिपरिमाणं परिवज्जामि । उचभोगपरिभोग-वप भोगणञ्चो अणेतकायवहुवीयारभोगयणाइ परिहरामि । कम्मभोगं पचरसकम्मादाणाइ इंगालकम्माहयाइ बहुसाव-उजाइ चरकरज्जाइ रायनिमाणं च परिहरामि । अणुथदं अण-वउक्ताणाइ चउठिवहं अणुथदं जहासलीय परिहरामि । जावज्जीवाय अहाराणहियभंगएणं तस्स चंते इत्यादि ” ८

वीक्षणिय समुदितानि वारचयम् ।
“ अहं चंते ! तुम्हारां समीचे सामाहयं देसावगासियं पोसहोववासां अतिहिसिपिभागययं विभागतयं च जहासलीय पडिवज्जामि जावज्जीवाय अहाराणहियभंगएणं, तस्स चंते ! इत्यादि ” १२ जत्वायंयि समुदितानि वारचयम् ।

“ इच्छेयं संमत्तमूलं पंचाणुव्ययं सप्तसिक्खावहयं बुधा-लसाविहं सावगाधम्मं उचसंपरिजसायं विहरामि ” वा-रचयमिति ।

अधाराग्रतदादित्येच क्रमेण दर्शयाम्हा-

स्थूलहिंसादिक्रिति-व्रतभङ्गेन केनचित् ।

अणुव्रतानि पञ्चाहु-रहिंसादीनि संज्ञयः ॥२४॥

इह हिंसा प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपणरूपा । सा च-स्थू-सूक्ष्मा च । तत्र सूक्ष्मा-पृथिव्यादिविषया । स्थूला-भिष्ठाहृदी-मानवि हिंसायैव प्रसिद्धा वा । स्थूलानां वा प्रसामां हिंसा स्थूलहिंसा । आदिगात्रात् स्थूलसूक्ष्मवादाऽत्रत्वादानाऽप्रकार-प्रदानां परिग्रहः पच्यः स्थूलहिंसादिषु या विरतिनिष्ठा-वि-स्ताम् । (अहिंसादीनीति) “ अहिंसासूत्राऽस्तेय-अहर्षा-परि-ग्रहात् ” अणुि सायुज्जेत्ययः सकाशात्तच्चूनि, व्रतानि-वि-यमकराण्यि अणुव्रतानि, अणोर्वा यत्पेक्षया अणुगुणस्थानि-नो व्रतान्पुण्यव्रतानि । अथवा-अणु पञ्चाभ्याम्हाव्रतप्रकरणायि-क्या प्रकृषणीयम्हाव्रतानि अणुव्रतानि । एवं हि महाव्रतानि प्रकृत्ये तत्सम्भ्रतियसमयंस्थानुव्रतानि । यदाह— “ अ-

धम्मं असमत्थो, सुज्जह तदेसणं पि साहुं ति ” । तानि किय-न्तीत्याह— (पञ्चेति) पञ्चसंख्यानि, पञ्चाणुव्रतानीति बहुवचन-निर्देशोऽपि यद्विरतिमित्येकवचननिर्देशः स सर्वत्र विरतिसामा-न्योऽपेक्ष्यते । शंजवस्तीयंकराः, आहुः प्रतियतिवचनतः । क्रिमवि-शेषेण विरतिः, नेत्याह-वृत्तभङ्गेनेत्यादि । केनचित् द्विविधवि-धातीनामन्यतमेन व्रतभङ्गेन व्रतप्रकारेण वास्तुमेव हि आचकारां द्विविधविधिषादयः बनेय भङ्गाः संभवन्तीति तदाहिंसाङ्गज-प्रहणसुचित्वांमिति प्रायः तं च प्रकृत्य एवम्-आत्मा विरताः, अ-विरताश्च । तं सामान्येन द्विविधा अपि विशेषतोऽपि विधा भव-न्ति । यत् आवश्यकं—“साभिम्माहा य गिरिज-भगा य भोगेण सा-वया दुविहा । ते पुण विभज्जाम्हा, अट्टुविहा हुंति पायज्य” ॥१॥ साभिम्माहा विरता आनन्दादयः, अनजिप्रहा क्रियरताः कृष्णसा-त्यक्रियेणिकाय इति । अथविधास्तु द्विविधविधिषादिभङ्गेन-देन भवन्ति । तथाहि—

“ दुविह तिबिहेण पदमो, दुविहं दुविहेण वीचमो होइ ।
दुविहं एगविहेण, एगविहं चय तिपियं ॥ १ ॥
एगविहं दुविहेण, एगविहेण उट्टमो हांइ ।
उत्तरगुणससमञ्चो, अविभो वि चय अट्टमञ्चो ” ॥२॥

द्विविधम-कृतं कारितं च । त्रिविधेन-मनसा वचसा कायेन, यथा स्थूलहिंसादिकं न करोत्यात्मना, न कार्यायत्येनेनसा वचसा कायेनेत्यजिप्रहवाद् प्रथमोः अस्व धानुमतिः प्रतिपिठः, अपत्या-दिपरिग्रहसङ्घातः, वैदिंसादिकरणे तस्यानुमतिप्राप्तः अन्याथा परिग्रहापरिग्रहयोर्विशेषेण प्रव्रजिताऽप्रव्रजतयोरभेदापत्तेः । त्रिविधविधिषादयस्तु भङ्गा सुहिणामाश्रित्य प्रगवत्सत्ता अपि क्वाचित्कत्वाभेदाऽधुक्ताः; वाहुत्येन पञ्चिरेव विकल्पैस्तेषां प्र-त्याख्यानप्रसङ्गात्; वाहुट्यापेक्षया वाच्य सूक्ष्मप्रकृत्युः क्वा-ज-त्कत्वं तु तेषां विशेषपरिचयत्वात् । तथाहि यः किल प्रविभाज-युः पुत्रादिंसन्तिप्राप्तया प्रतिमाः प्रतिपद्यते, यो वा विदोपं स्वयं दूरमणादिगतं मन्यादिमांसं द्दितिदन्तात्रिकचक्रमादिकं स्थूलहिंसादिकं वा क्वचिद्वस्त्रेषाविशेषे प्रत्याख्याति, स एव त्रि-विधविधिषादिना करोतीत्यप्यविषयत्वात्प्रोच्यते ॥ तथा द्विवि-धं द्विविधेनेति द्वितीयो भङ्गः । अत्र चोत्तरमहात्तरयः तत्र द्वि-विधं स्थूलहिंसादिकं न करोति न कारयति द्विविधेन मन-सा वचसा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वाचा कायेनेति ३ । तत्र यदा मनसा वचसा न करोति न कारयति तदा मनसा-ऽ-भिसंविद्धित एव वाचाऽपि हिंसादिकमणुव्ययं च कायेन दुष्-छिनादि असंविद्धिकरोति १ । यदा तु मनसा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसाऽनिसंविद्धित एव कायेन दुष्छिनादि परिहरन्नेवाभामोगात्तत्रैव हनि घातयामि चेति ज्ञेयं २ । यदा तु वाचा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसा-वामिसंविद्धिमधिकृत्य कारति कारयति ३ । अनुमतिस्तु त्रि-विधेः सर्वैष्यास्ति । एवं दोषविकट्या अपि भावनीयाः ॥ द्विवि-धमेकविधेनेति तृतीयः । अत्राप्युत्तरमहात्तरयः । द्विविधे करणं कारणं च, एकविधेन मनसा, यद्वा-वचसा, यद्वा-कायेन ॥ एकविधं त्रिविधेनेति चतुर्थः । अत्र च द्वौ भङ्गो, एकविधं कर-णम्, यद्वा-करणं, त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन ॥ एकविधं द्विविधेनेति पञ्चमः । अत्रोत्तरभेदाः षट्, एकविधं करणं, यद्वा-कारणम्, द्विविधेन मनसा वाचा, यद्वा-मनसा कायेन, यद्वा-वाचा कायेन ॥ एकविधमेकविधेनेति षष्ठः । अत्रापि प्रतिग्रहः षट्, ए-

नीयमिति । स्या० ४ डा० ३ उ० । ' धर्मकथां कुर्वन्ति ' इत्य-
स्यायं, ४० १ उ० ।

अणुसमय-अणुसमय-अव्य० । समयं समयमनुहृत्कृत्येत्य-
णुसमयम् । वीत्सायामव्ययीनायः । कर्म० ५ कर्म० । सततमित्यर्थे, उच्य० ५ डा० । प्रतिस्मयमित्यर्थे, क० प्र० प्रति० । प्र-
तिक्रममित्यर्थे, चं० प्र० ६ पाठ० । "अणुसमयं अविहरित्यं निरं-
तरं चववञ्जति" । अणुसमयमित्यादिपदत्रयमेकाधर्मम् । अ० ४१
श० १ उ० ।

अणुसमययोवचित्र-अणुसमयवद्वनोपातिक-त्रि० । अ-
नुकृपा समाऽविषमा वदनोपपत्तिर्होषयता येथं ते तथा । अ-
नुलांसाविषमद्वारघटनाके, " सतिस्वरचक्षुस्क्षण-अणुसम-
ययोवचित्रमा " जं० ३ वङ्ग० ।

अणुसय-अणुशय-पुं० । गये, पश्चात्तयो च । अणु० । प्रअ० ।

अणुसएण-अणुस्मरण-न० । सद्सम्कृत्येप्रत्युत्तिहृत्युत्तेऽ-
णुत्तने, पञ्जा० १ विव० । " शाणानयाणुस्मरणं, पुव्यगय-
सुयाणुस्मरणं " भाव० ४ अ० । स्मृतौ, विश० ।

अणुसरियव्व-अणुसतीव्व-त्रि० । अणुगतव्ये, स्था० ५ डा० १ उ० ।
अणुसमनेव्य-त्रि० । अणुचिन्तनीय, " अणुसरियव्वो सुहेण
चिन्तेण एत्थं नमोक्ताया कयणुपं मज्जमाणं " भा० म० द्वि० ।

अणुसरिरं-अणुसदृश-त्रि० । अनुकृपे, "अणुसरि रंतात्स हो-
उववञ्जो" व्य० ३ उ० ।

अणुमार-अणुमार-पुं० । अणु-सू-भावे घञ् । अणुगमने, स-
द्विकल्पे च । वाच० । " विवसाणु अ लक्षणाणुस्मरणं " इ-
त्यादि । प्रा० । पारतन्त्र्ये, बिशे० ।

अणुस्वार-पुं० । स्वगाभ्येण उच्चार्यमाणे बिन्दुत्वेत्या व्यञ्ज-
माने अनुनासिके वर्णभेदे, वाच० । अनुस्वारेण विद्यतेऽस्येति अ-
नुनादिय्य इति मन्वर्थयोऽस्तु प्रत्ययः । अनुस्वारवर्त्तनेनाच्चार्यमा-
णेऽनकुर्यधुनविशेषे, भा० म० द्वि० । न० । " अणुस्वारं णाम
पमहृद् अच्चे सच्च वा संभरिते अत्रेण वा संभारिते जं अक्षस्व-
रविरहितं सद्दकरणं तमणुस्वारं प्रजति " । भा० सू० १ अ० ।
अणुमासंत-अणुशासत्-त्रि० । शिक्रयति-शिक्षां मयच्छति,
उच्य० ४ अ० ।

अणुमासण-अणुशासन-न० । अणुशासत्ये सन्मार्गेऽवतार्य-
न्ते सद्सद्विवक्तनः प्राणिनो येन तदणुशासनम् । धर्मदेशनस-
न्मार्गाऽवतारणं, " अणुशासनं पुट्टो पाणी, वसुमं पूयणासु ते "
सूत्र० १ सू० १ ५ अ० । जगद्वद्वाक्ये-आगमं च । " सांख्य
प्रवाद्याणुशासनं, सख्ये तथ्य करज्जुयकमं " सूत्र० १ सू० २
अ० ३ उ० । शासनमनु-अव्ययीनायः । यथागममित्यर्थे । सूत्रानु-
सारणेति यावत् । "अणुशासनमेव पक्षम, वीरिदिं समं पव्व-
धं " सूत्र० १ सू० २ अ० १ उ० । शिक्षायाम्, ज्ञा० १ ३ अ० ।
उच्य० । राजद्विष्टराज्ञोऽणुशासनं वक्ष्यामि । पञ्जा० ३
विब० । दुःस्थस्य सुस्थतासंपादने, स० । अनुकम्पायाम्, "अ-
णुकृपे चि वा अणुशासनं ति वा एगछा " पं० सू० । अणुशास-
नं प्रथमानं वा दृष्टे वा, किमुक्तं नपति १-सामाख्यरीतः प्रतिन-
त्रयमानात् कथञ्चिद् दृष्ट्यादणुशासति तदणुशासनम् । यदि वा
वां बाधोक्तकार्येऽपि सद् कथञ्चिन्न करुते, तत्कथञ्चिन्नकृणाम,

'एतत्तव कृत्यमिति' दृष्ट्यादणुशासति यदणुशासनम् । संभ-
वेदे, इय० ३ उ० । " अणुशासत्-अणुशासते । वृ० १ उ० ।

अणुशासणुविहि-अणुशासनविधि-पुं० । अणुशासतिविधानं,
पञ्जा० ६ विव० ।

अणुशासिज्जंत-अणुशास्यमान-त्रि० । तत्र तत्र बोधमाने,
" अणुशासिज्जंतो सुस्सुह " । दश० १ अ० ४ डा० । सूत्र० ।

अणुसामिय-अनुशासित-त्रि० । युक्तानि शिष्यमाणे कथञ्चि-
त् स्फालितादिषु गुणभिः परयोक्त्या शिक्षिते-गुणभिः कठोर व-
चनेस्सन्विते, उच्य० १ अ० । अभिहिते, सूत्र० १ सू० १ ५ अ० ।

अणुसिद्ध-अणुसिद्ध-त्रि० । शिक्षां गृहीते, " तत्तेण अणुसि-
द्धाते, अपदिअणु जाणया " सूत्र० १ सू० ३ अ० ३ उ० ।

अणुसिद्धी-अणुशिक्षि-स्त्री० । तदभाषकधनुरस्स्तरं प्रहाय-
नायाम्, वृ० १ उ० । ("अणुसिद्धी" शब्दप्रकरणे दृशितार्थे,)
शिक्षायाम्, उच्य० १० अ० ।

अणुमुत्त-देशी-अणुकूले, दे० ना० १ वर्णं ।

अणुभूयग-अणुसूचक-पुं० । नगराभ्यन्तरे चारुगुपलममाने,
सूचककथितं भुतं दृष्टे वा, स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकेभ्यः
कथयति, सामन्तराज्येषु वसन्तिकृतवृत्तिके क्रमात्सुपुत्रे,
तादृश्यां कृतवृत्तिकार्यां चैव महिलायाम्, "स्यग तहाऽणुसू-
यग-पडिसुयग सख्ययगा चैव । पुरित्ता कयार्त्तिया, वसति
सामंतनगरं सु ॥१॥ महिल्ला कयवर्त्तिया वसति सामंतण्य-
रं सु " व्य० १ उ० ।

अणुम् (स्तु) यत्ता-अणुस्युतत्व-न० । अपरगरीराश्रितता-
यां परिभाषाम्, " अर्चितेसु वा अणुस्युतवा थि उद्धृति "
सूत्र० २ सू० ३ अ० ।

अणुसोय-अणुभ्रोतस्-न० । प्रवृत्ते, "अणुसोयपटिप बडु,
णमिमि पडिसोयलख्येण । पडिसोयमेव अण्वा, दायव्वो
होउ कामेणं ॥१॥ अणुसोयसुहो लोगां, पडिसोत्रो आसमां
सुयिहियाणं । अणुसोत्रो संसारां, पडिसोत्रो तस्स उत्तां-
रा " ॥२॥ अट्ट० २ ३ अट्ट० । पं० सू० ।

अणुसोयचारि (ण)-अणुभ्रोतश्चारि-त्रि० । अणुभ्रोतसा
चरतीति अणुभ्रोतश्चारि । नद्यादिप्रवाहागामिनि मत्स्ये, एवं
मिखाके च । यो हि अभिमहविशेषाणुपाभयसमीपात् क्रमेण
कुलेषु मिच्छंते सोऽणुभ्रोतश्चारि । स्या० ४ डा० ४ उ० ।

अणुसोयपट्टिय-अणुभ्रोतःमस्थि-त्रि० । नदीपूज्याहपतित-
काष्ठवद् विषयकुमार्येद्रव्यक्रियानुकूल्येन प्रवृत्ते, "अणुसोय-
पट्टिय बडु, जणमिमि पडिसोयलख्येण । पडिसोयमेव अ-
ण्वा, दायव्वो होउ कामेणं " ॥१॥ दश० २ सू० ।

अणुसोयसुह-अणुभ्रोतःसुह-त्रि० । उक्कभिक्षामिसंपरणत्
प्रवृत्त्याऽणुकूलविषयादिसुहं, दश० १ अ० । "अणुसोयसुहो
लागां " दश० २ सू० ।

अणुसमग-अणुसर्गा-पुं० । अपरिख्यागे, दश० ।

अणुस्तरिता-अणुमृत्य-अव्य० । अणुस्तरं कृत्स्न्यर्थे, " अंघं च

अणुस्तरिता

अभियानराजेन्द्रः ।

अणोष्क (ग)

णेयारमणुस्तरिषा, पाणालि षेवं विविहितं मन्त्रां सूत्रं १ सु० ७ अ० ।

अणुस्तर-अनुश्रव-पुं० । अनुश्रवते गुह्यमुक्तादिव्यनुश्रवः । वेदे, इति ८ अ० ।

अणुस्मृत्य-अनुश्रुत-त्रि० । अथधारिते गुह्यजलकृष्यमाने, उच्यते ५ अ० । अथपचमायाते, सूत्रं १ सु० २ अ० २ उ० । भारतादीपूराणे सुत, सूत्रं १ सु० ३ अ० ४ उ० । न उत्सकोऽनुस्मृतः । सूत्रं १ सु० ९ अ० । औत्सुक्यरहितं, पं० सू० ४ उ० ।

अणुस्मृत्य-अनुस्मृत्य-न० । विषयसुखेऽनुस्मृतात्त्वे, "सुहृत्सापण अनुस्मृत्यसं जणयइ । उच्यते २ ए अ० ।

अणुहवसिध्-अनुनवसिध्-त्रि० । स्वसेवेदनप्रतीते, पञ्चो ३ विष० ।

अणुहविर्-अनुनूय-अन्य० । संवेद्येयर्थे, पञ्चो २ विष० ।

अणुदियासए-अन्वध्यासन-न० । अविचलकायनया सहने, जं० २ अ० ।

अणुद्वय-अनुनूत-त्रि० । अनु-भू-क । प्राकृते " के ह्रः " ॥ ८ ५ । ६४ ॥ भुवः के प्रत्यये ह्रादेशः । अनुनवविषयीकृतं, प्रा० ।

अणु-देवा-शास्त्रिनेद, दे० ना० १ खं ।

अणु-अनू-त्रि० । अनुगता अपो यत्र । ब० स० । अञ्ज-मा० । अत उत्सव । जलामाये स्थाने, धाव० । नद्यादिपानीयबहुले, पू० १ उ० । विशेष० । व्य० ।

अणुवदेम-अनुपदेश-पुं० । जलदेशे, व्य० ४ उ० ।

अणोष्क(ग)-अनेक-त्रि० । बहुव्ये, सूत्रं १ सु० १२ अ० । अनेकशब्दघटनप्रयोगा यथा- " अणोगणनायकदेवनायकारांस्तरतलवयमन्त्रविश्वकोर्मविश्वमतिमहामातिलगणकदायारिअअमन्त्र-चेरपिउमहनगरनिगमसद्विसेणावस्त्रधयायुदत्संश्रियालसर्तिसि संपरिभुम् " अनेके ये गणनायाकाद्यस्त्रेणो इन्द्रस्तनस्तेरह नृनां।याहृवचनभ्रापो ऋषयः (सर्त्ति ति) साईं सदैव्यर्थः ।

न कथलं न्मन्दिनश्चमेव, अपि तु तैः स्मार्ति समन्ताव परिभूतः परिवारित इति । आ० । " अणुगजाइजराभरणजाणिवयण- " अनेकजातिजराभरणप्रधानीयपु, वेदना यत्र स तथा । (संस्वार इति विशेष्यम्) औ० । " अणुगजातिजराभरणजाणिवसंसारकलंकलिभाषुपुण्यभयगभयवससहई।पर्वचसमश्केता-सासयमणागयसिद्धं " अनेकजातिजराभरणजेम्यजराशृणु-भियंश्च नासु यानिषु संसारः संसरणं तेन च यः कलङ्काल-भावः कदर्थ्यमानता यश्च दिव्यसुखमनुमानानामपि पुनभवे संसार गर्भेसर्वात्मपञ्चः , तौ समतिप्राप्तीते, अत एव शाश्वत-मनानेन काशं तिष्ठन्ति । (सिद्धा इति विशेष्यम्) प्रज्ञा० २ पद ।

अनेकजातिभेदादि विचित्रयम् । सर्वभाषानुध्यापितचन्द्र-पता । रा० । इह जातयो वर्णनीयवस्तुपुरुषयानानि । स० । " अणुगणककवगवियद्वभ्ररपवायपनरापरिदरपरदरे " अनेकानि नटादि कटकाश्च गणकदीला यत्र ८ तथा । विचाराणि, अथकराश्च निरकरशोधाः, प्रपानाश्च भ्रुवणः, प्राग्भागाश्च ईव-दधनाना गिरिदेशाः, शिखराणि च कूटादिनि, प्रभुवाणि यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः (पर्वत इति विशेष्यम्) ज्ञा० ४ अ० ।

" अणुगणकवामुत्पत्सारिव्यअणुगणकवामिविषयद्वन्द्वं " अनेकेनैरव्ययैः पुरुषव्ययैः सुप्रसारितैरप्राज्ञोऽप्रमयो घनो नि-बिन्ना विप्रज्ञो विस्तीर्णो वृषः स्फुतो यथा ते-अनेकमव्ययाम-सुप्रसारिताप्राज्ञघनविपुलस्फुटस्फुटाः श्रा० । ज्ञा० । " अणुगण-पूयभाबमविविषयद्वन्द्वं " अनेके भूता अतीता भावाः सत्याः प-रिणामा वा प्रव्याश्च भाविनो यस्य स तथा । इति शुकं प्रति-स्थापत्याशुब्रुः । स्था० १ उा० १ उ० । " अणुगमणिरयस्यविवि-हणित्तुत्तविविषयधराय " अनेकानि बहुनि प्रणिरन्तानि प्रती-तानि विधिधानि बहुप्रकाराणि नित्युक्तानि नियोजनानि येषु तानि नथा, तानि विधिधानि चिह्नानि गताः प्राप्ताः ये ते तथा । (सुपुरुषवर्णकः) औ० । प्रश्न० । " अनेगमणिरयणाविधि-हणुविरिधयनामाविधं " अनेकेमणिरन्तैर्विधिषं नामाप्रकारं सुविरचितं नाम चिह्नं निजनामवर्णं पङ्क्तिरुपे यत्र स तथा । जं० ३ अ० । " अणुगमणिकसुगमरयणाहकारपरिमैरिय-भागमत्तचित्तवित्ति उत्सगमणगुणजाणियपेक्षोलमाणवरललि-यकुरुशुउज्जयध्रियआजरणजाणियसोत्रे " अनेकमणिराजक-नकनिकरपरिमैरिदनामो जिकिचिरे विच्छिच्छित्तिचिरे विनिगु-के, कर्णयानिर्विशिंते गमनगुणेन गतिनामप्येन जनिने कृते प्रज्ञा-मनने चञ्चले ये वरललितकुरुलले तान्नायुज्जयानेनोहा।पेनाधि-कान्यामाजरणाव्यमुज्जयित्तापिकैर्योऽऽनरणेभ्यः कुरुल्लयगि-रितैर्जनिता शोभा यस्य स तथा । ज्ञा० १ अ० । " अणुगमरहमगद-जाणुजुगागिह्णोपतिवित्तिवियपरिमैरिणाणा " अनेकवा रथशकटा-दीनामधोविस्तीर्णवाव प्रतिमोचनं येषु ते तथाः रा० । " अणुग-यावरसहस्रकणुआयमभं " अनेकयो राजवराणां बहुमुकुटद्वारां सहस्रैरनुयातेऽनुगतो मार्गः पुष्टे यस्य स तथा । जं० ३ अ० । " अणुगवद्वाप " अनेकानि नृपानि परीयाराः यस्याः सा तथा सत्याः (पर्वदः) रा० । " अणुगवरनुरगमकुंजकरहपहकर (सहकर) स्यस्यमन्त्राणु।विश्वप्रजाजुगमा " अनेकैर्वैतुरगैरुगैःकुंजैः (रह-पहकरे) सि) रथानिकरैः (रहसहकरे) सि) रथानां सहकारिः सङ्गा-तैः शिविकभिः स्वन्दमानो।जिराक।र्णो व्यासा यानिनुभूश्च या सा तथा । आर्काणेशपद्व्य मथयनिपातः प्राकृतवावत् । अथवा अने-के वरनुरगाद्येय यस्यामाकीर्णानि च गुणयन्ति यानार्त्तानि यस्यो सा । अ० । " अणुगवरसहस्रकणुपुत्रमपसत्यसुहृदध्यापणद्वे " अने-कैर्वरलकृणैरुत्तमाः प्रशस्तः शुकयो रतिदाश्च रय्याः पाणिद्वेषा यस्य स तथा । औ० । " अणुगवायामजोमजगमणाग्रमहणमणु-रुकरणदि " अनेकानि यानि ध्यायामनिमित्तयोःपयार्त्तानि तानि तथातैः तत्र योग्या गुणानि का यलनमूलकानि ध्यामर्दने परस्पर-स्याङ्कामोटेन मन्त्रेयुद्धे प्रतीते कर्णानि चङ्कमङ्कवितोया मल्ल-शाश्वप्रसिद्धाः । औ० । ज्ञा० । " अणुगवासासयमा उयते " अनेकवर्षतायुष्मन्तः । प्रश्न० ४ आश्र० ४ । " अणुगसव-णिगमनिदुष्णपविधयिरे " अनेकशुकनिमित्तुनकानां प्रियचित्त-मितस्ततो गमने यत्र स तथा (प्रयानकुरपद) जं० ४ अ० । रा० । " अणुगमत्कुंजगसहस्रवितते " अनेकैः शुकप्रमाणीः कीलकसहस्रैर्महर्त्तुर्निर्दि कीलकैस्तस्मिन्प्रया मथ्यकाः संभव-न्ति । तथाकृतामाऽसंभवाद्तः शुकुप्रहणं, चित्तं चितानो कृतं तद्वितमिति भावः । रा० । जं० । " अणुगसत्याप " अनेकानि पुरुषाणां श्रुतानि संषया यस्याः सा अनेकश्रुतः, तस्याः । रा० । " अणुगसाप्यसाहविदिमा " अनेकशाखाप्राशाविद्यपयस्तान्-ध्यानाया बुद्धिविशारदो वा यथा तं (बुद्ध्याः) । औ० । ज्ञा० ।

अथोक्तायंतरसिद्धकेवललाण-अनेकान्तरसिद्धकेवललाण-
न० । आनिर्वाणिकज्ञानभेदे, यद्वा २ टा० १ उ० ।

अथोक्तंत्राय-अनेकाङ्गिक-पु० । अनेकपङ्क्तये, नि० चू० १ उ० ।
कन्धिकप्रस्तागमके संस्तरभेदे च । वय० २ उ० ।

अष्टोक्तंत्राय-अनेकान्त-त्रि० । एकान्तो नियमोऽव्यवस्थारि यत्र ।
अनियमे, अनिश्चितफलके च । याव० । अनिश्चये, विशे० । एकाम्ये,
प्रथ० ३ टा० ।

अष्टोक्तंत्रयपदागा-अनेकान्तत्रयपदाका-खी० । हरिजलसुरि-
विरचिते स्वनाम्नयथातन्त्रभेदे, यद्वा चिचिवरणं मुनिवेन्दुणा-
कारि । तदुपक्रमे "शेषमतातिशयानं, यस्यानेकान्तत्रयपदाका-
द । हर्तुमशुभ्या केनाऽपि वादिना नैःमित्ते तदीयं ॥१॥ कतिपयवि-
षयमद्वयतं, ध्वंस्यनेकान्तत्रयपदाकायाः । वृत्तेर्विचरणमहम-
ल्पवृत्तिवृत्तयै समासिन" ॥२॥ अनेकान्तत्रयपदाकायुतिविष० ।

अष्टोक्तंत्रय-अनेकान्तात्मक-अ० । अन्वयेते गम्यते निश्चायते
इत्यन्ते धमे । न एकोऽनेक । अनेकश्चास्वायतनश्चानेकान्तः ।
स आत्मा स्वभावा यस्य वस्तुज्ञानस्य तदनेकान्तात्मकम् । स्-
द्वन्द्ववाचनेकधर्माऽऽत्मके, एता० ३ परि० ।

अष्टोक्तंत्रय-अनेकान्तत्रय-पु० । स्याद्वादे, स च यथा युक्त-
तामश्नति, तथा स्याद्वाद्दमज्जयार्थिष्यन्धयेः संशुद्धांत ।

- (१) एकान्तवाद्द्वयपुरस्सरमेकान्तवाद्दमनम् ।
- (२) प्रत्यक्षोपपत्तमरणमयानेकान्तवाद्दयेऽव्यमन्यन्ते
तेषामुपमत्तनाऽऽविर्भावोवचनम् ।
- (३) उत्पादविनाशयोरेकान्तकाऽऽपुपगमनिषेधः ।
- (४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम् ।
- (५) वस्तुन एकान्तसदृक्त्वयै स्वीकृत्यैतः सांख्यमतस्य
परामते युक्तिः ।

- (६) काशयेकान्तवाद्दोऽपि मिथ्यामेवम् ।
- (७) साधर्म्येनो वैषम्येनस्य सत्यसिद्धिः ।
- (८) अनेकान्तवाद्द एव समागः ।
- (९) एकान्तवादिनोऽङ्गाः ।
- (१०) अनेकान्तवाद्दस्वोकाराऽऽस्वीकारयोः सम्बन्धमिथ्यात्वम् ।

(१) तत्रैकान्तवाद्द्वयपुरस्सरमेकान्तवाद्याह-

आदीपमाव्योम समस्तत्रयं,
स्याद्वाद्दमुष्ठाऽनन्तिते द्वे वस्तु ।

तद्विषयमेकमनित्यमन्य-
निश्चिते त्वेदाऽऽङ्गाद्विषतां प्रज्ञापाः ॥ १ ॥

आदीप दीपाद्विरम्य, आद्योम ध्योममर्यादां ह्यय, सर्वं वस्तु प-
दार्थस्वरूपं, समस्वभावक-समस्तुल्यः स्वभावः स्यत्कपयस्य त-
त्त्वता । किञ्च-वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति व्रमः ।
तथा च वाचकमुच्यते- "उत्पाद्व्यययुक्तस्य सत्" इति ।
समस्वभावत्वं कुतः ? इति विशयसङ्गारण्य हेतुमाह- (स्याद्वाद्-
मुष्ठाऽनन्तिते) स्याद्वित्यव्ययमनेकान्तधोनकम् । ततः स्याद्वा-
द्दमेकान्तवाद्दो नित्यानित्याधनेकधर्मशब्देकधर्मव्युत्पत्तयि
हितं यावत् । तस्य मुष्ठा मर्यादा तां नातिनिश्चितं नातिक्रमलीति
स्याद्वाद्दमुष्ठाऽनन्तितेति । यथाहि-व्यधिकवर्णिते राजान राज्य-
धियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुष्ठां नातिवर्तिमुशीशनं,
तदतिक्रमे तासां सर्वाधोदानिभावाद् । एवं विजायति निष्क-

एदके स्याद्वाद्दमहानरेन्द्रे तदीयमुष्ठां सर्वेऽपि पदायां नाति-
कामिनः । तदुष्ठांते तेषां स्वरूपव्ययस्याहातिप्रसङ्गः । सर्वे-
स्तुनां समस्वभावकधर्मे च पराभावेऽप्येकं वस्तु व्योमादि-
नित्यत्व, अन्यत्वं प्रदीपादि अनित्यत्वेति वादस्य प्रतिषेध-
नीजम् । सर्वे हि भावा द्रव्याधिक्यपर्याया नित्याः, पर्या-
याधिक्यनयादेशात् पुनरनित्याः । तत्रैकान्ताऽनित्यतया परै-
रक्रान्तस्य प्रदीपस्य तावन्नित्याऽनित्यत्वव्यवस्थापने दिक्तात्र-
मुच्यते । तथाहि-प्रदीपपर्यायाऽऽपकास्तेजसाः परमाणवः स्वर-
सनस्तेजसत्वाद्वाताभिघाताद्वा, ज्यातिःपर्यायं परिवर्त्य ततो-
रूपं पर्यायान्तरमासाद्व्यन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः, पुत्रलद्रव्य-
रूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम् । नश्चतावतेषाऽनित्यत्वं यावता
पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य स्रोत्पादः । न खलु सू-
द्रव्यं स्यात्सकशाशुकुल्लशिशुकघटाद्यवस्थाभन्तरस्याप्यधाम-
नम्येकान्ततो विनष्टम्, तेषु सूद्रव्यानुगमस्याऽऽबालगोपाल-
प्रतीनित्यात् । न च तमसः पौर्वात्मिकत्वमसिद्धम् ; चाक्षुषत्वाऽऽ-
न्यथाऽऽनुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत् । अथ यत्त्वाक्षुषं तत् सर्वं
स्यप्रतिभासे नान्येकमपक्षते, न वैधं तमः । तत् कथं चाक्षुषम-
नैवम् । उल्लुकार्द्विनामाश्लोकमन्तेण्यपि नत्वनिभासात् । यत्रस्व-
स्यादिभिन्नव्यवस्थाक्षुषं घटादिकमालोक विना नोपलभ्यते,
तैरपि निम्नरमालोकविष्यते, चिच्चिन्नव्याघ्राभावः । कथम-
न्यथा पतित्वेनार्थयोऽपि स्वयन्तुत्पत्तौ कलायाः आलोकापेक्षम-
नाः । प्रदीपचन्द्राद्वयस्तु प्रकाशाभन्तरिरेकज्ञाः इति सिद्धं तम-
साक्षुषं, रूपव्याघ्रं स्वशेषव्यभिचरिणेन, शतित्वस्योपलभ्यते-
नान्यत्वात् । यानि त्वानि स्वयं प्रत्ययवत्त्वमप्रतिष्ठातिव्यमनुद्वैतस्य-
विशेषव्ययमप्रतीयमानव्याघ्रव्यविकल्पविज्ञानव्यभिचारादिनि-
तमसः पौर्वात्मिकत्वनिषेधाय परैः साधनाऽनुपपेक्षानि, तानि
प्रदीपप्रभाहृदन्तैव प्रतिनिर्यायिनः तुल्ययोगकमेवम् । नञ्
वाच्यं नैजसाः । परमाणवः कथं तमस्येन परिणमते इति ? पु-
श्चानां लक्षणासाक्षात्सहकृतानां विनष्टशकार्योत्पादकत्वस्याऽपि
दर्शनात् । यद्वा ह्यद्वैतस्येयोगवशात्कास्वरूपस्याऽपि चङ्गर-
भास्वरूपधर्मरूपकार्योत्पादः इति सिद्धो नित्याऽनित्यः प्रदीपः ।
यदाऽपि निर्वाणादवर्तते देवोपमनां द्वापसन्दाऽपि तत्रनवपर्या-
योत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रतीपत्याम्ब्याद्यच्च नित्याऽनित्य
एव । एवं व्योमापि उत्पादव्यययोऽप्यमकत्वानित्याऽनित्यमेव ।
नशादि-अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहानोपग्रह एव
तन्लक्षणम्, "अवकाशुद्दमकाशांमिति" वचनात् । यदा
चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो विस्त्रमतां वा एक-
स्मात्प्रतःप्रदेशात्प्रदेशात्स्वरूपमुत्पन्नं, तदा तस्य ध्वोऽनित्य-
रवगाहकैः सममेकस्मिन् प्रदेशे विज्ञायाः, उत्तरस्मिन् प्रदेशे-
संधीमाः । संधीमाविज्ञायां च परस्परं विक्रमो धर्मो । सङ्घे चा-
वश्यं धीमतां जेदः । तथा चाहुः-"अयमेव हि भेदा भेदहेतुनां,
यद्विष्णुत्वमायासः कारणजद्वयं ॥" । तत्र च यदाकाशो पूर्व-
योनिमाश्लक्षणपरिणामापस्या विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादा-
स्यपरिणामोऽनुत्पन्नः । उतपर्यःऽऽकाशुद्दव्यत्वात्तुगन्त-
व्योत्पादव्यययोरेकाधिक्यपरिणामः । तथा च "यदप्रच्युतामुत्प-
त्तिकर्त्तव्यं नित्यम्" इति नित्यलक्षणवचनान् । तदापस्तम् । एवं
विषयकस्यैतद्विष्णुस्तुनोऽभावात् । "तद्वाचव्ययं नित्यम्" इति
सत्यं नित्यलक्षणम् । उत्पादविनाशयोः सङ्घावेऽपि तद्वाद्दव्य-
यिरुपाद्यत्वेन तन्नित्यत्व, इति नतर्धस्य घटमानत्वाद् । यदि हि
अप्रच्युताऽऽदि सङ्घं नित्यमिष्यते, तदाऽऽव्यययोरेकान्तरव-

भाविनश्च पर्यायास्त एवास्मात् सवर्णं यस्य तदन्तर्गतधर्मात्मकम् । एवकारः प्रकाशान्तरव्यवधानाद्योः अत एवाह—[अतोऽप्यथोत्सावि] अतोऽप्यथा उक्तप्रकारवैपरीत्येन, सर्वं वस्तुतत्त्वमस्युपपादम्—सुखानोपपाद्यते धर्मानां हिंस्रकर्मरतोऽप्यत इति सुपपादम्, न तथाऽप्युपपादः दुर्घटमित्यर्थः । अनेन साधनं दर्शितम् । तथा हि—सर्वमिति धर्मि, अज्ञानधर्मात्मकत्वं साधनो धर्मः, सत्त्वाऽप्यथाऽप्युपपादोपैरिति हेतुः, अथवाऽप्युपपादोऽप्युपपादोऽप्येव । अन्वयार्थोऽप्येव साध्यस्य भिक्त्वाद् इष्टान्नामिदमिदं प्रयोजनम् । यदनन्तधर्मात्मकं न भवति, तत्सदपि न प्रवति । यथा—विद्यदित्यविरम् । इति केव नवयतिरेकं हेतुः, साधनं च इष्टान्नामां पक्षकुम्भिकिन्निव्येनान्वाद्योपात्तः । अनन्तधर्मात्मकत्वं चाऽऽप्यनि तावत्—साकाराणांकारोपात्तोपात्ता, कर्तृत्वं, लोफकर्तृत्वं, प्रवेशादकमित्येतात्, अन्तर्धर्मसङ्घातान्प्रदेशात्मकता, अधित्यमित्यादयः सहजाधिनाधर्माः इर्वाविबाधयोगकसुखदुःखवदनन्तरकतिरेकवशात्पुस्तु क्तमप्राविनः । अर्थास्तिकायादि ध्वन्यसंख्येयप्रदेशात्मकत्वं गम्यानुपग्रहकारित्वं नयादिज्ञानाविषयत्वं । तत्सद्वच्छेदकावच्छेदात्मकवर्धित्यन्तमकध्वन्यमेकद्रव्यत्वं निष्कियरमित्यादयः । घटे पुनरामत्वं, पाकजककारित्वमर्थं, पृथुपुष्पोद्भवत्वं, कस्तुरीधर्मत्वं, जलादिधारणाऽऽहरणादिसामर्थ्यं, मत्स्यादिज्ञानहेतव्यं, नवद्वयं, पुराणत्वमित्यादयः । एवं सर्वेषुपदार्थेष्वपि अनानयमताभिन्नेन शास्त्रानाधर्माश्च पर्यायान् प्रतीत्यैव साध्यम् । अत्र चाऽऽतमशब्दानानन्तेष्वपि धर्मेष्वनुपदिक्त्वमन्वयि कृत्यं ध्वनितम् । ततश्च 'उपाद्व्ययधर्मोऽप्युक्तं सन्' इति व्यञ्जसिध्दयम् । एवं तावदर्थानु शब्धेष्वपि उदाहरितानुदासत्त्वात्तयिदुत्तसंभूतयोवदयोषताऽप्यप्रामाण्ये (मात्रुताय यस्तत्सदर्थप्रत्यायनानुपपाद्यत्वं यथावत्सयाः । अथय हेतोर्निस्सिद्धाऽऽनेकान्तिकत्वादि कण्ठकोटारः स्वपमन्पुत्रः । इत्येवमुक्तेऽशोऽशोर्धारणते तेष, प्रमाणानि न्यायोपपञ्जसाधनानुपपाद्यत्वात् । अत्रातो तावत्संज्ञाकृतद्रव्यपर्यायिनिकायो भवति, यावदेतात्पर्यि कृषार्थिकुरङ्गसंज्ञासर्वासिंहनादाः—कुषादिनः कुसितवादिन एकांशप्रादकननयाऽऽनुयायिनोऽपतीर्थिकाः, त एव संसारचलनगहनवसनव्यवसिन्त्रया कुरङ्गा मृगाः, तेषां सम्यक्प्रसासने सिंहनादा इव सिंहनादाः । यथा सिंहस्य नादप्रमत्प्याकप्ये कुरङ्गासंज्ञासमासुप्रयन्ति, तथा भवत्प्रणतिविषयप्रकारप्रमाणवचनाप्यि भुवना कुषादिनस्त्रासमभुवत्त, प्रतिवचनप्रदानकारतरतां सिन्धुनीति यावत् । एकैकं त्वदुपहं प्रमाणमन्ययोगव्ययच्छेदकमित्यर्थः । अत्र प्रमाणानि बहुवचनमेवंजातीयानां प्रमाणानां भवत्प्रसासने आनन्वयज्ञानाध्यायः ; एकैकस्य सुखस्य सर्वोत्पत्तिज्ञसस्यसंस्त्रिहासुकाऽऽन्तनुपाद्यत्वात्, तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया भवत्प्रतीत्यै । अथवा इत्यादि बहुवचनानां गणस्य संसुचका भवत्प्रतीति न्यायात्, इतिमन्वयेन प्रमाणुत्वाद्द्वयसुचनानुपाद्यत्वे एकमन्वयपि प्रमाणं उपपन्नत्वे उचितमेव बहुवचनमिति कार्यार्थः ॥ २२ ॥ (सतनह्रीं निरुपणं 'सत्समंगो' शब्दे बह्वन्ते) (उपाद्व्यययोर्लक्षिभ्यं स्वस्थाने)

(३) न चोपाद्व्ययानाशयोरैकान्तिकतत्पत्ताऽऽनुपगमे—मेकान्तवाद्यध्यातः ? , कथञ्चित्तयोस्तद्वत्ताऽऽनुपगमात् । तदाह—

तिषि वि उपायार्हं, अज्ञिज्ञकाला य जिज्ञासा य । अत्यन्तं अत्यर्थं—तरं च द्विवाहार्हं गायत्र्या ॥ १३३ ॥ अयोऽप्युपाद्वियगमसितिस्रभावाः, परस्परतोऽप्यकालाः । यतो

न पदादेरुपाद्व्यस्य एव विनाशः, तस्यानुपपत्तिप्रसक्तः । नापि ताद्विनाशसमयं तस्यैवोत्पत्तिः, अविनाशोत्पत्तिः । न च तत्राप्रानुपेक्षसमय एव तत्प्रतिनिः, स्वरूपेणैवाऽवस्थित्यन्तऽनवस्थाप्रसक्तिः प्रादुर्भावोपात्ता । न च रूपधरपदार्थान्तिकता तस्य विनाशः, तद्वत्प्रमाणवस्थितस्य विनाशश्च रूपव्यसंऽनुपपत्तिप्रसक्त एव युक्तः । तदन्तर्ध्यानामपि भिन्नकालत्वात्, तद्व्यवधानान्तरम् । नानासम्भावान्नेकान्तानामप्रसक्तिः । यतोऽभिन्नकालाभ्योत्पादादयः, न हि कुशुभविनाशघटोत्पादयोर्भिन्नकालता, अन्यथा विनाशात्काव्योत्पत्तिः स्यात् । घटापुत्रपर्यायानुपपत्तावपि प्राकृतनपर्यायव्यसंप्रसक्तश्च स्यात् । पूर्वोत्तरपर्यायविनाशात्पाद्विक्रियाया विघोरायोगात् । तदाधारभूतद्रव्यस्थितिरपि तदाऽप्युपपन्नत्वा । न च क्रियाकालमेव क्रियाः, तस्य प्रागसत्त्वात्, सर्वं वा क्रियायैकत्वात् । तदन्तर्ध्यानामपि भिन्नकालत्वाद् तद्व्यतिरिक्तं कृत्यमभिन्नं तथाजावघटात्पाद्विनाशापेक्षया भिन्नकालनयाधर्मान्तरव्यव, कुशलघटादिनाशोत्पादापेक्षया भिन्नकालनयाधर्मान्तरव्यवकालन इति वक्तव्यं कृत्यम् । द्रव्यस्य पूर्ववस्थायां निश्चासिन्नताया प्रतीयमानस्योत्तरावस्थायाामपि भिन्नाजिज्ञातैव प्रतीनेनेकान्तोऽप्याहतः । न चाबाधिताव्यङ्गादिप्रतिपत्तिविषयस्य नस्य विरोधापुद्गावचनं युक्तं सन्तम्, सर्वप्रमाणमन्यव्यवहारविशेषप्रसक्तम् । अत एवाधर्मान्तरमन्यान्तर चोत्पादादयः कृत्यवच्छेदावपौ वा तन्व्यसन्धेनि कृत्यम् । उच्यते, तथाभूतत्वाद्व्याहकत्वपरिणतताद्व्यञ्जकताप्रमाणानिदित्यपि इत्यान्वयम् । न हि तथाऽनुपगमनप्रसक्तः तथाऽतार्थमन्तरेणोपापकाः धूमध्वजमन्तरेण स येद्येन च । तथाऽतुप्रमाह्लाप्रार्थिककपनया उन्कान्तात्मकं स्वसंवेदनतः प्रमाणमिति न तद्वपहायः कर्तुं शक्यः, अन्यथाऽऽपिप्रसक्तम् । यद्वा—देशादिप्रत्येकश उपात्तिविनाशात्प्रतिस्वभावा निश्चाभिन्नकाला अर्थान्तरगतयोन्तरकया द्रव्यत्वाद्, द्रव्याद्द्रव्यातितत्त्वत्पदित्यर्थः । अन्वयार्थात्पाद्विनाशमावप्रसक्तः । तेषां वा द्रव्यमन्तरेणमन्योन्तरेण, द्रव्यत्वात् । प्रतिज्ञार्थैकदेशाना च हेतुनानुशुनीया, कृत्यविरोधे साधे द्रव्यसामान्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् ॥ ३३ ॥

अर्थार्थे प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरणमाह—

जो आर्तचणकातो, वेव पसारिस्स विजिणुतो । तसिं पुण पमिद्वची—विगमं कादन्तरं नत्थि ॥ ३३ ॥

य आहुःअनकालोऽनुपयादेर्द्रव्यस्य, स एव तद्वप्रसासन्धेन न युक्तः, भिन्नकालतयाऽऽहुःअप्रससारणयोः प्रमाणस्योभेदः । अन्वयार्थायोः स्वरूपाभावापत्तेरित्युक्तं तत्पर्यायार्थाभिन्नकालाद्विच्छेदवस्थापि न्यायिधत्वात्, तदपि भिन्नजन्युपगतत्वम् । अन्वयात् तदुपलभ्यमानात् । अविज्ञं च, तद्व्यवस्थास्तस्यैव प्रत्यङ्गज्ञानमानत्वात् । तयोः पुनस्त्याद्विनाशयोः प्रतिपत्तिश्च प्रादुर्भावो, विगमश्च विपत्तिः । यतिपत्तिविगमश्च, तत्रकाःकालान्तरं जिज्ञाकालत्वमहूनिच्छेदव्यस्य च नास्ति पूर्वपर्यायविनाशोत्तरपर्यायोत्पन्नकालिद्रव्योत्पत्तिस्थितानामभिन्नकालनाऽभिन्नरूपता च प्रतीयत । एकस्यैव तथाविधैर्तात्मकस्याप्युक्तं प्रतीतेः । अथवा काःकालान्तरान्स्वीत्युपाऽऽकारणत्वेनास्तत्त्वात्पादानात् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतैः काःकालान्तरं काःकालेद उपादादेर्द्रव्यस्य वाऽस्तीति कथञ्चिद्भेद इत्यर्थः । कथञ्चिद्भेदनापि प्रतिपत्तेनोत्पत्तिविनाशस्थितानां परस्पररूपपरित्यागमवृत्तप्रत्येकतात्मकैकपक्षेनपि वर्तमानपर्यायात्मकत्वेत्वातोऽतानागतकाःकालायाः सस्य, व-

माणुषु नियत्येवत इति अणुपगमादामपरमाणुसंयोगानाञ्च-
 ५२५परोऽतिशयो वाच्यः । तद्वच ए तत्र दृश्यम् । किञ्चासौ
 संयोगो अणुकादिनिबन्धकः किं परमाणुवाचाश्रितः, उत तस्मात्-
 श्रितः, आदांश्रितनाश्रित इति । यद्यथा पक्वः, तदा तदुपपात्ताभ्य
 उपपत्त्ये, न वेति । यद्युपपत्त, तदा परमाणुनामपि कार्यत्वप्रसक्तिः,
 तस्यैवोपपत्त । अथ नोपपत्त, तदा संयोगसद्व्यतिष्ठो न स्यात्,
 समवायस्याभावात् । तेषां च तं प्रत्यकारकत्वात् । तदकारकत्वे तु
 तत्र तस्य प्रागभावाविशुक्तोः, तद्व्युत्पान्तरस्यत् । ततस्तेषां कार्य-
 रूपतया परिणतिरनुपगन्तव्या । अथवा तदाश्रितत्वं संयोगस्य
 तस्माद्व्याश्रितत्वंऽपि पूर्वोक्तप्रसङ्गः । अनाश्रित्यपक्वः तु निहितु-
 कोत्यसिप्रसक्तिः । अथ संयोगो नोपपत्त इत्यणुपगमः, तदा
 बकत्यं किमसौ सन्ऽऽसन् ? यदि संस्तदा तत्रित्यव्यवप्रसक्तिः,
 सदाकारणव्यतिथिर्भवती प्रवतोऽणुपगमात् । तथा चासौ गुणो न
 भवेत् निवर्त्येनामाश्रितत्वात् । अनाश्रितस्य पातकयोगात्, अ-
 परतन्त्रस्य चागुणत्वात् । अथासंश्रितिपक्वः, तदा कार्योनुपपत्तिप्र-
 सङ्गः ; तदभावे प्राग्वद्विशिष्टपरिमाणोपेतकार्यरूप्यत्वस्यभा-
 वात् । तथा च जगत्ऽदृश्यताप्रसक्तिरिति संयोगिकन्यसं-
 षयापरिमाणमहत्त्वाद्येनकगुणानां तत्रोपपत्तिरनुपपेया, कार-
 णगुणपूर्वप्रक्रमेण कार्योत्पत्त्यणुगमादिभेदेनदिति चेत्, ननु
 तेषां क आश्रयः ? इति वक्तव्यम् । न तान्यु कार्यम्, तदुत्पत्तेः
 प्राक्त्वात्संभवत्, सर्वे चोपपत्तिविराजान् । न च प्रथमं प्रथमि-
 न्निगुणमेव कार्यगुणोत्पत्तेः प्रागस्तीति वक्तव्यम् । गुणसंबन्धत्वं स-
 चासंबन्धस्याप्युक्तं अत्राद्यः, तत्संस्वांसंभवत् । न चापेक्षि-
 त्वात्संबन्धयोरेककालतयाऽऽप्युक्तं एव संभवः, नदा रूपादिगु-
 णसमाध्याभावोऽनुपपत्तने तन्तत्सत्त्वात्संबन्धव्यवस्थापना-
 संभवत् । न हि सदिद्व्युत्पत्तिसम्भवेन तदा तस्य सत्त्वात्संबन्धः,
 सर्वे वा व्यवस्थापयितुं शक्यम् । न च महत्त्वादेशुण्डयण स-
 होपात्तत्वं उच्यते, तदुत्पत्त्येवा तदाऽऽप्युक्तः, अकारण-
 स्यादभ्यस्ययोगात् । न चैककालयोः कार्यकारणभावः सभ्येतर-
 गोविषययोरेव भवत्येवमुक्तं युक्तं, सन् न कार्ये तदाभ्यः आद्यण-
 वस्तदाभ्यां, तदिदं कार्यद्वयस्यापि त एवाभ्यस्येककारणयोः का-
 र्यगुणौ प्राप्तेः । तदनुपगमोऽपि नावद्युत्पत्तिस्वरूपोस्तयोः कुतश्च-
 द्दवदाभ्यांश्रयिभावः, अकार्यकारणप्रसङ्गात् । नायुनिमिद्धयोः,
 अयुतसिद्ध्याभ्याभ्यिनाशविराजोऽभात् । तथा हापुथकसिद्ध इत्येते-
 न भेदनिषेधः प्रतिपाद्यते, समवायाभावेऽप्यस्याथैक्यत्वात्संभवात् ।
 आधाराधेयभाव इत्येतेन चैकत्वनिषेधः क्रियत इति कथम-
 नयोरेकत्र सद्भावः । अथाप्यत्राधाराधेयभावः, तदिदं तेषां सव्य-
 नुतासंस्वामिति वक्तव्यम् ? यद्यथा पक्वः, तदा संयोगादिगुणा-
 कारपरमाणव एव तथाचूतकार्यमिति नैवपक्व एव समा-
 श्रितः स्यात् । द्वितीयपक्वः तु, सर्वानुपपत्तिप्रसक्तिः । यदि च
 परमाणवः स्वरूपापरित्यागतः कार्यद्रव्यमारभते स्वात्मनो
 व्यनिरिकम्, तदा कार्यद्रव्यानुपपत्तिप्रसक्तिः । न हि कार्यद्रव्य-
 परमाणुस्वरूपापरित्यागे स्फूर्त्तत्वं सद्भावः, तस्य तदभावात्म-
 कत्वात् । तस्मात्परमाणुपत्तापरित्यागेन सृष्ट्वात् स्फूर्त्त-
 कार्त्स्व्यरूपमासात्पत्तीति वक्तव्यत् पुत्रद्रव्यपरिणतः आदि-
 रन्तो वा न विद्यते, इति न कार्यद्रव्यं कारणेऽप्यो भिन्नम् । न चाधो-
 न्तरजावगमनं विनाशोऽयुक्तः, इति तदुपपरित्यागोपादानात्म-
 कत्विधित्वमाधस्य द्रव्यस्य वैकाल्ये नानुपपन्नम् । यथा च
 एकसंश्रयविभागादुपपरिमाणपरत्वात्मकत्वेन प्रादुर्भावात्परमा-
 णुवः कार्यद्रव्यत्, तयोपपत्ताऽणुपगन्तव्याः । कारणान्य-

यव्यतिरेकात्तुविधानोपलस्यत्वात् कार्यतायवस्थानिबन्धनस्याश्रा-
 तिस्त्रायात् ; इत्ययमर्थः (तसो वा) इत्यादिना गद्यपरिभाषासिद्ध-
 र्शितः ; तस्मात्कारपरिमाणत्वं उच्यतेऽभिमतः चिन्तायात्मकत्वेनो-
 त्पन्नः (अणुविति) अणुजातो भवति ; एतद्वचस्थायाः प्राक्-
 दसत्यात् । अथे वा इदानीमिध प्रागपि स्फूर्त्तरूपकार्योभा-
 वप्रसङ्गात् । इदानीं वा तदुपादिबिंशत्वात् प्राकनाश्रयत्वमिध स्यात्-
 । एव चतुर्विंशकार्यद्रव्याणुपगमे संगतः । न च य एव का-
 र्यद्रव्यात्मिकाः, परिकरविराजोऽभात् ; घटद्रव्यप्रागभावप्रसंभ-
 वाभावमृत्पिण्डरूपपालयत् । न च प्रागभावप्रसंभवायोऽधुपपत्त-
 वा मृत्पिण्डरूपरूपत्वमसिद्धम्, तुच्छरूपस्याभावस्याप्र-
 प्राणत्वात्सज्जनकत्वेन तदुपपत्त्यवतो व्यवस्थापयितुप्रसङ्ग-
 त्वादिति प्रतिपादनात् । न च कपालसंयोगाद् घटद्रव्यमु-
 पजापते, तदिदमागन्त विनश्यतीति मृत्पिण्डवत् घटद्रव्य-
 समवायिकारणत्वानुमानमथ कृत्वाश्रितकर्मिदेशान्तरप्रयुक्त-
 त्वेन कासात्प्रायार्थद्विधेः । न चापेक्षितपरिमाणतुप्रसंभवे महत्प-
 रिमाणं पदकार्यमुपलब्धमिति घटादिकर्म । तदुपपरिमाण-
 नेकारणप्रतयं कर्त्तव्यं युक्तम् ; विपर्ययणापि कल्पनायाः
 प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । अथ कृत्वाधस्तु नदितत्रापि समानः किञ्च ।
 परमाणुनां सर्वदं रूपमणुपगच्छन्नभावमेव तेषामणुपगच्छे-
 त् । अकारकत्वप्रसङ्गात् । तच्च प्रागजावपत्तेः सत्त्वाभावात्कल्प-
 त्वेनानाधेयानिदशयत्वात्, विद्यन्कसुमवत् । तदसंवे च का-
 र्यद्रव्यस्याप्यनाशः, तस्यासत्त्वात् । नदजाव च परापर्यादिप्र-
 त्ययादित्योगात् । कासादित्यस्यसंस्तुत्वात्स्यभाव इति संबोधाव-
 यत् । तथाहि न तावद्व्यते तत्र प्रविष्टोऽनेन व्यतिष्ठते, क-
 पात्रपत्तेनघटादिनाशोपलभते तस्य व्यापारोपलब्धः । नानुमा-
 नमपि ; प्रत्यङ्गप्रसृत्तौ तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः ; अथकृत्वापेक्षितं
 तस्य उपायणेनात् । प्रागमस्य आश्रयः अणुपयोगत् । परमा-
 णुपयोगे च विनाशो घटादिवत्सं न किञ्चिद्रूपपालभ्येत, पर-
 माणुतामहत्त्वयत्वेनाणुपगमात् । किञ्चिदनेन पार्कानिकितेन वा
 तेनानिकान्त इति चेत् । न । सर्वस्य पक्वोत्पत्त्यात् । अथयति-
 च किञ्चिदुपपत्त्यात् तस्य च निरवयवत्वात्प्रागवतदुत्पत्तिः ;
 परमाणुपु तदसंभवत् । पाकान्त्याऽणुपपत्त्या परमाणुपयत्तेना-
 विनाशः परिहृत्य इति चेत् । न । विशिष्टसामप्रविदा-
 श्रिष्टिप्रवृत्तेः घटादित्यस्य कयाञ्चिद् विनाशोऽप्युपपत्ति-
 संभवात् । परमाणुपयत्तेविनाशोऽणुपगमे च तदश्रयत-
 संस्थानावतत्परिमाणत्वात्पर्यवस्थापितकपर्यायताप्रत्यक्षोपल-
 भ्यत्वादीनि पद्यमानं घट न स्युः । मूच्यप्रविद्धघटनानि-
 कान्तः परिहृत एव ।

न च कपालाधी घटं मिथादापरिमाणत्वेन विनाशो नत-
 प्रतीतिवकृत्त्वात्प्रासाध्यणुपगन्तव्य इति प्रसक्त-
 मवाक्येपरिणोपसंहत्याचार्यैः-

बहुपाण एवसद्, जद् संयोगादिं हां उपायां ।
 एणु एवविभागमि वि, जुज्जद् बहुपाण उपायोः ? ११ ।

अणुकादीनां सति संयोगे यद्येकस्य अणुकादेः कार्यद्रव्ययो-
 त्पादो भवति, अन्यथैकानि वातमत्यव्यवहारयोगात् । नहि व-
 द्बुधेको घट उत्पन्न इत्यादिव्यवहारो युक्तः । नित्यस्य समायाम-
 कस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशोऽपि युज्यते एव बहुनां समानजा-
 तीयानां तत्कार्यद्रव्यविनाशात्मकानां प्रभूततया विभक्तानना-
 मुत्पाद इति । तथाहि घटविनाशोद् बहूनि कपालानि उत्प-

अद्योगंतवाय

कानौत्वेनकाभिधानमस्यव्यवहारेण युक्तः, अन्यथा तत्संभवात् । ततः प्रत्येकं इयामकाष्ठिकाभ्यात्पादादयो व्यवस्थिता इत्येवमनपर्यायान्मकमेकं कथयति; तत्त्वन्तरे काले भवत्वन्ननपर्यायान्मकमेकं द्वययम् । एकसमये तु कथं तत्तदात्मकमवसीयते ? । प्रदर्शितदिशा तदात्मकं तदवसीयतं क्त्वादि—

एगसमयस्मि एगद-विग्रहन् बहुया वि होति उप्पाया ।
उप्पायसमा विगमा, डिइ उ उस्समगो गियमा ॥? ३८॥

एकस्मिन्समये एकद्रव्यस्य बहुच उत्पादा भवन्ति, उत्पादस्मानसक्या विगमा अपि तस्यैव तदेवात्पद्यन्ते, विनाशमन्तरेणोत्पादस्यासंभवात् । न हि पूर्वपर्यायाविनाशे उत्तरपर्यायः प्रादुर्गमिवत्प्रमहति । प्रादुर्गमौ च वा सर्वस्य सर्वकार्यताप्रसङ्गः, तदकार्यत्वं वा कार्यान्तरस्य च स्यात् । स्मितरपि सामान्यरूपतया तथैव नियता; स्मितरहितस्त्वोत्पादस्याभावात् । भावे च शशशुद्धविरेच्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ॥ ३८ ॥

एतदेव दृष्टान्तद्वारेण समर्थयद्वाह-

कायम गवय गक्रिरिया-रुवाइ गई विनेसओ वा वि ।
भंनोगनेयओ जा-एणय यद्वियसन् उप्पाओ ॥? ३९॥

यदेवान्नतानन्नप्रदेशिका हावभावपरिणतपुरुषोपयोगोपजातशशर्याधिर्गान्दपरिणतवशात्सभेदभित्तिशरंस्मृष्ट्याधकाँपात्र-भावरपरिणतस्वरुमृष्टमतगदिभेदमिच्छावयवाम् तस्य कार्योत्पत्तिः, तदेवान्नतानन्नपरमात्पृथिविनमनोवर्णोपापरिणतिलभ्यमानं उपादादोऽपि, तदेव चतस्र्यापि कायानुष्ठानवर्णोत्पात्तिप्रान्त्येषामुत्पत्तकथात्वात्, तदेव च कार्यान्तराग्नोप्यानुप्रवेशाद्भिन्नमीदृशानसंस्थानात्प्रदेशे कार्योत्पत्तिः, तदेव च रुपादीनामपि प्रतिक्षोत्पत्तिविशेषराम्प्रमुत्पत्तिः, तदेव च मिथ्यात्वाऽधिरनिप्रमादृक्वादिपरिणतिसमुपादितकमेषध-निगित्तानामिति विशेषणात्मत्पत्तिः, तदेव चानुष्ठयमानोपादोप्रमानान्तरमाभावाद्यन्तपरमात्प्रयोगानिजगानामुत्पत्तिः यद्वा-यदेव शरोगरुद्रेद्रव्योत्पत्तिः, तदेव तत्रैकान्तगतसमस्तद्रव्यैः सह साक्षात् पारस्पर्येण वा संबन्धानामुत्पत्तिः, सर्वव्याप्त्यव्यवस्थानाकाशं धर्माधर्मादित्थत्यसंबन्धात्, तदेव च भाविस्वपरायपरमोक्षासर्वेषामन्तः कायेऽप्यनित्यमात्पत्तिः; शिरंगोत्राचरुच्युतत्रिपिटोत्तरचरणाद्यनेनकावयवामन्तविग्रह-शरकरणशीलानिमय, अन्यथा तत्र तत्सुत्तरकालानुत्पत्तिप्रमङ्गात् । उत्पादविनाशादिप्रमाणकाष्ठ प्रतिज्ञं भावाः प्रतिज्ञोत्पत्तिकार्यभेदेन । न च पुराणतया क्रमेणोपलब्धिः प्रतिज्ञं तत्प्राप्त्यन्तरेण संभवति । न चास्मदुत्पत्त्यर्थं निरवशेषधर्मात्मकवस्तुप्राहकं, येनान्तधर्मोपमाकदा वस्तुव्यप्रतिपत्तेरभाव इत्युच्यते; अनुमानतः प्रतिज्ञामन्तधर्मोपमात्मकस्य तस्य प्रदर्शितव्यायेन प्रतिपत्तेः । सकलत्रैलोक्यव्यावृत्तस्य वस्तुनोऽव्यक्तोप इदंनैव न ह्यभावुत्पत्तीनां पारमार्थिकनिरूपकतया । अन्यथा तस्य न ह्यभावुत्पत्त्योगान्, कथं नान्तधर्मोपमां वस्तुव्यव्यक्तोप प्रसजम् ? । (सम्भो)

अन्योन्यनिरपेक्षताऽऽश्रितस्य मिथ्यात्वा-

विनाशोपमेव इश्येद्वाह-

जे संतवापं दोषे, सकौद्युया व्यति संस्वाणं ।
संन्वाय अमगवाप, तेमिं सव्णेऽपि ते सव्वा ॥? ४६ ॥

येऽनैकान्तसद्वापेके द्वय्यास्तिकायाऽन्युपामपदार्थान्युपगमे शाक्यौलुक्या द्रोपाद्य वदन्ति, संख्यानां क्रियाशुणस्ययेदोषाल-ष्यादिसप्तसङ्गादित्थकुर्यात्, ते सर्वेऽपि तेषां सत्या इत्येवं संबन्धः कार्यः । ते च द्रोपा एवं सत्याः स्युः यद्यप्यनिरपेक्षतायाऽऽन्युपगपनपदार्थेतिपादकं तच्छब्दं न मिथ्या स्यात्, नाऽन्यथा प्रागपि कार्योवस्थित एकात्म्येन तस्यसंनिबन्धनत्वासेवा-त् । अन्यथा कथञ्चित्स्त्वैऽनेकान्तवत्त्वात्तदेवात्प्राभव एव स्यात् । सम्भो ।

(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम्-

अनन्तरे जगद्वर्शितस्यानेकान्तात्मना वस्तुनो बुधरूपवेषेतव्यमुक्तम् । अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गाप्ररूपेण न ह्युक्त्यनेयं स्यादिति साऽपि निकृतिना, तस्यां च विरुद्धधर्मोभ्यासितं वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽपुत्रकया विरोधमुद्गाहयन्ति । तेषां प्रमाणमामोच्यवन्नमाह-

उपाधिभेदोपाहितं विरुद्धं,
नार्येष्वसत्त्वं सद्वाच्यते च ।
इत्यप्रमुञ्छेव विरोधर्निताः,
अदास्तेदकान्तहताः पतन्ति ॥ ४६ ॥

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाऽवतेनत्त्वं नान्तित्वं च विरुद्धं न विरोधाद्यच्छब्दम्, अस्तित्वेन सह विरोधं नानुजवतीत्येताः । न केवलमसत्यं न विरुद्धं, किन्तु सद्वाच्यते च । सद्वाच्यत्वं च सद्वाच्यं, तयोर्मध्ये सद्वाच्यते, अस्तित्वात्कर्मत्वं इत्यर्थः । तेषु च विरुद्धं । तयोर्हि-अस्तित्वं नान्तित्वेन सह न विरुद्धते । अत्र कल्प्यत्वमपि विरुद्धं नैव पारम्यकमप्योपयं न विरुद्धते । अथवाऽव्यक्तत्वत्वं च तस्यव्यन्तैर्साकं न विरोधमुद्गाहति । अनन्तं च नास्तित्वाऽस्तित्वाद्यक्तत्वत्वकृत्वात्तत्र सत्कल्पेण सकलसप्तकृत्या निर्विशेषतोपलब्धताः । अमीयामेव त्रयाणां मुख्यस्याऽऽपेक्षकानां च संयोगव्यत्वेनामीप्व्यवन्तज्ञोवादिनि । तन्त्वेन धर्माः परस्परं विरुद्धाः, तत्कथमेकत्र वस्तुनोऽपि समावेशः संभवति । इति विशेषणद्वारेण हतुमाह- (उपाधिभेदोपाहितमिति) उपाधयोऽव्यक्तोद्वाकाभंशपकाराः, तेषां ज्ञेया नान्तित्वं, तेनोपाहितमित्येव । असत्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधिभेदोपाहितं सत्येष्वसत्त्वं न विरुद्धम् । सद्वाच्यत्वं च तन्नैजं देवकृत्वा यान्तीधम् । उपाधिभेदोपाहितं सन्नी सद्वाच्यते अपि न विरुद्धं । अयमभिप्रायः-परस्परनिहारणं येषु तयोः धर्मोत्पन्नत्वसत्त्वाऽन्यव्यवन्तल्लक्षणं विरोधः । नचावैधर्म्यं, सत्यासत्ययोरेतरेनरमिथ्यव्यवन्तिवन्तीनात् । न हि घटादीनि सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तन्ते, पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च तद्व्यापित्यकार्योत्तराणां नैरपेक्ष्यम्, नैव विरुद्धत्वात्तस्याध्यार्थीकरणात् सिद्धेः । न चासत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तन्ते स्वरूपेणाप्यसत्त्वप्राप्तेः । तथा च निरुपाधत्वात्त्वेन शून्यमिति; तदा हि विरोधः स्यादपेक्षोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात् । न चैवम्; यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं नैवैवात्सत्त्वमपि । किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम् । लक्षणं हि सत्त्वं, पररूपेण चासत्त्वम् । दृष्टं हि एकस्मिन् चित्रपटावयवविनिरन्योपाधिकं तु नीलत्वमन्योपाधिककाष्ठेनेन वर्णाः । मीढत्वं हि नीलोरागाुपाधिकम्, वर्णांस्तराणि च तस्य रज्ज्वनदर्योपाधिभित्ते । एवंमेव करकेऽपि तल्लक्षणपुत्रलांयाधिकं वैशिव्यमवसेसम् । न वैरिःदृष्टान्तेः सत्यासत्ययान्निर्देशत्वमिति; चित्रपटावयवविनि

वक्तव्यत्वं तत्रापि भिन्नदशास्वादिभिः । कर्थाश्च यस्तु दद्यान्ते
 धार्मिके च स्याद्भादिनां न तुल्येभ्यः । एवमप्यपरितोषोद्धृत्पुष्प-
 कम्, तत्रैकशेष्येयं सुसंस्तम् तत्तद्व्याधिनेव । तित्युत्पुष्पप्रवृत्तमातुल्य-
 भागिनेधर्माधिक्येन तुल्यवत्तानुत्पुष्पादिष्वभाषां परस्परवैकल्यानाम-
 पि प्रसिद्धिर्होमाय किं वाच्यम् ? । यवमवकथ्यतादयोऽपि वा
 कथाः । इत्युक्तप्रकारेणोपाधिभेदेन कथान्ये चिरोधाजामवमजु-
 धैवात्कालैव, एवकारोऽप्यकारणे । स च तेषां सम्प्रदानस्या-
 भाव एव, न पुनश्चेन्नोऽपि भाव इति व्यनक्ति । तनसं
 चिरोधर्मोताः—सत्त्वास्तत्त्वाधिक्यमोहा बहिर्भुज्योमुप्या संभा-
 वितो यो चिरोधः सहाभवस्थानादिः, तस्मान्द्रोतास्तमान-
 मनाः । अत एव अह्नास्तासिचकमयहेतोर्भावेऽपि तथाप्यप-
 यधुद्रोक्तत्वाभ्युक्तौः परधादिनस्तदोक्तान्तहताः, तेषां सत्यादि-
 धर्मोपां य एकास्त इतरधर्मोन्निषेधेन स्वाभिप्रैतधर्मव्यवस्थाप-
 ननिश्चयः, तेन हता इव हताः पतन्ति स्खलन्ति । पतिनाश्च
 सन्नसन्तं स्यायमागोक्तमयेनासम्पर्कां स्यायमागोक्तधर्मोनानां
 च सर्वोपस्थाकमर्गीयतां शान्तीति भावः । यद्वा—पतन्तीति प्र-
 सामागोतत्रव्यवन्ते । लोके हि सम्मार्गच्युतः पतित इति
 परिभाष्यते । अथवा—यथा वज्रादिप्रहारण हतः पतितो
 सूक्ष्मांमुद्रास्त्रासाध निकृद्वाक्प्रसरो भवति; एवं तेषां
 धारितः स्वाभिप्रेतकालवादेन युक्तिस्वरूपाननुरता वज्रा-
 शनिप्रारण निहताः सन्तः स्याद्भादिनां पुनरोऽकिञ्चित्करा
 वाह्यात्मनि नोन्वाचित्युमीशत इति । अत्र च विरोधस्योप-
 लक्षणस्यद्विधैयधरकथममवस्था सहजो ध्यतिक्तः संशयोऽप्र-
 तिपत्तिवैयर्थ्यव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि प्रोद्गादिनां दोषा अ-
 भ्यूह्याः । तथाहि—सामान्यविशेषात्मकं वस्तित्युत्पन्त्येते परे
 उपायव्यवहारो भवति । अत्र सामान्यविशेषयोर्विधिसंप्रतिषेध-
 कपर्यायोऽर्थधर्मोत्पत्तिश्च स्यात् । वस्तुन्यसंशयवच्छुतोऽप्यव-
 दिति विरोधः । न हि यदेव विशेष्यधरकथं तदेव प्रतिषेध-
 स्याधिकरणं भवितुमर्हति, एकरूपतापत्तेः । ततो वैयर्थ्यधरकथ-
 मपि भवति । अपरं च—येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन
 च विशेषस्य, तावप्यात्मानो एकैनेव स्वभावानधिकरति,
 ह्यभ्यां वा स्वभावान्तराभ्याम् । एकैनेव चेत्, तत्र पूर्ववाहिनोः ।
 ह्यभ्यां वा स्वभावान्तरा सामान्यविशेषास्यं स्वभावव्यवधि-
 करति, तदाऽनवस्था—तावपि स्वभावान्तराभ्यां, तावपि
 स्वभावान्तराभ्यामिति । येनाऽऽत्मना सामान्यस्याधिकरणं
 तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन
 विशेषस्य सामान्यस्य चेति सहस्यदोषः । येन स्वभावेन सा-
 मान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिक्र-
 मः । ततश्च वस्तुनोऽसाधारणकारणं निश्चेतुमशकं संशयः । तत-
 आप्रतिपत्तिः, ततश्च प्रमाणविषयव्यवस्थाहानिरिति । एते च
 दोषाः स्याद्भादस्य जात्यन्तरस्याधिक्यकारणा एव । अतः स्या-
 द्भादमर्थेद्विभिन्नकरणीयास्तत्तदुपपत्तिभिरिति, स्वतन्त्रतया
 निरेपेयोरैव सामान्यविशेषयोर्विधिसंप्रतिषेधकपर्यायत्वामव-
 काशात् । अथवा चिरोधशब्दोऽत्र प्रदोषवाची । यथा
 विक्रमवाचरन्तीति बुद्धिमत्तया । ततश्च चिरोधेऽप्यो विरोध-
 वैयर्थ्यधरकथादिदोषेऽप्यो मीता इति व्याख्येयम् । एवं च
 सामान्यशब्देन सर्वा अपि दोषव्यकयः संशुद्धा भवन्तीति
 काव्यार्थः ॥२४॥

धर्मानेकाननवाद्यस्य सर्वैक्यपर्यायत्वात्पिनेऽपि युक्तमेवाऽ-
 वेह्या चातुर्विध्यानिश्चानन्वयते भगवतस्तत्त्वामृतरसास्वा-

सौहित्यमुपवर्णयन्नाह-

स्यान्नाशि नित्यं सद्यो विकल्पं, वाच्यं न वाच्यं सद्सत्तद्वेद ।
 विपश्चिनां नाथ । निपीततत्त्व-पुत्रोद्गोद्गारपरम्परस्य ॥१॥

स्यादित्यव्ययमेतकालोक्तमोक्तमहात्मनि परं यो वाच्यम्, तदेवावि-
 कृतमवैक्यं वस्तु स्यात्कथञ्चिन्नाशि, विनशनाशोक्तमित्यमिच्छेः ।
 स्यात्किम्यमिनाशकर्मत्वर्थः । एतावता नित्यानित्यव्यवस्थामेक-
 विधानम् । तथा स्यात्सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपमात्राद्विरूप-
 विविधरूपं विसदृशपारणामात्मकं, व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्य-
 थैः अनेन सामान्यविशेषरूपं द्वितीयः प्रकारः । तथा स्याद्भादस्य
 वैकल्प्यम् । स्यादं न वाच्यमवैक्यमित्यर्थः । अत्र च समासेऽवाच्य-
 मिति युक्तम्, तावप्यवाच्यपदं योऽर्थात् कदाचित्प्रसंगतयापरि-
 हारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं अकार स्तुतिकारः । यतेशानि-
 लाप्यानिभाष्यव्यवस्थाकर्मतुः । यो जेदः । तथा स्यात्सद्विधमान-
 मस्तिकरूपमित्यर्थः । स्यादसत्तद्विज्ञानमिति । अनेन सद्सदा-
 क्था चतुर्थी विधा । हे विपश्चिनां नाथ ! स्वकथानां सुभ्यु ! इयम-
 नन्तरोक्ता निपाततत्त्वमुद्रोक्तोद्गारपरम्परा, तद्येति प्रकृत्यास्ता-
 माख्याऽह्य मन्थते । तत्र यथावत्त्ववस्तुस्वरूपपरिकल्पः, तदेव
 जगत्प्रमाणपदार्थित्वाद्भुवोपमेवोपस्थात्विमथावविधाभिरीना-
 करिषुत्वावातराद्वाक्कारित्वाच्च योऽर्थं तत्त्वमुद्रा । नितरामन्य-
 सामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वमुद्रा तस्या वृत्ता
 प्राङ्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा उद्गारभंगिरिवेत्यर्थः ।
 यथाहि—कल्पद्विकारणं पीयूषस्वसांसायं तदनुत्पत्तिमुद्गार-
 परम्परं मुञ्चति, तथा जगत्प्रमाणं जगत्प्रमाणपदार्थं तत्त्वमुद्रं
 स्वर्गमास्वायं तद्वस्तुनिविधाभिर्मां प्रस्तुतानेकाननवाद्यं चतु-
 र्द्वयैक्यज्ञानामुद्गारपरम्परां वृशानामुक्तोऽर्थो नित्यास्यः ।
 अथवा—यथावत्त्ववस्तुनिः सिध्यान्तरगतोऽनेनमिति जलितं,
 तेषां तत्तद्व्यवस्था उद्गारकारकाः प्राक् प्रदर्शिताः । येस्तु पञ्चभि-
 मप्राचीनपुण्यप्राग्गानानुशुद्दिनेऽनेनमुद्रं तदनुत्पत्तिः स्याद्वि तथा-
 मुने मनोहृत्य पानं तेषां विपश्चिनां यथाधर्मवदिवदुपां हे
 नाथ ! इयं पुत्रद्वेदशिरोऽनेनैक्यवस्था उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम् ।
 एते च अन्वयोऽपि वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिताः । तथा-
 हि—'आदीपमव्योमोर्नि' वृत्तं नित्याऽनित्यवाद् । 'अनेकमेकान्मक-
 मिति' काऽपि सामान्यविशेषवाद् । ममभक्त्यामभिसाध्यान्निशा-
 यवाद्यः, सद्सत्तद्वद्वद्वः इति न भुवः प्रयासः । इति काव्यार्थः ॥२४॥

इदानीं नित्यानित्यपदयोः परस्परद्वेषप्रकाराववकलकृतयो
 वैरायमाणयोर्निरतरोद्गारितरविधिधेनुहेतुसंनिपातसंज्ञान-
 विनिपातयोर्न्यायव्यतिरेकप्रतिपक्षमतिक्रमणं जगत्त्वज्ञानसत्त्वा-
 ज्यस्य सद्योक्त्यंमाह-

य एव दोषाः किञ्च नित्यवादे,
 विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
 परस्परसंघिसु कदाटकेषु,
 जपत्यधृष्टं जिन ! शासन्ते ते ॥ १६ ॥

किञ्चित् निश्चयः । य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अ-
 नित्यैकान्तवादिभिः प्रसजिताः कमयोगपञ्चायामपेक्षिताऽनु-
 पपरावाद्यस्त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि समा-
 स्तुत्या नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना अम्युदाधिकाः । तथाहि-
 नित्यवाद् । प्रमाणवति-स्यं नित्यं, सत्त्वम् । क्षणिकं सद्सत्काल-
 चोर्धिकाविधोऽन्यैक्यज्ञानं सत्यं नायस्यां वचनामिति । ततो

निवर्तमानमन्यशरत्नया नित्येवऽवतिष्ठते । तथाहि- कृणोकोऽयः सन् वा कार्यं कुर्याद्वसन् वा । मन्थनराभावात् । न तावदायः पक्वः, समसमयवर्तिनि व्यापारायोगात्, सकलजावानां परस्परं कार्यकारणभावमाख्याऽतिवस्तुक्त्वात् । नापि द्वितीयः पक्वः क्लेशं क्षमते । असतः कार्यकरणशक्तिविकल्पात् । अन्यथा शशविधायादृशेषु कार्यकरणेषुऽप्यस्त्वदेव, विशिष्याभावोदिति । अनित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति- 'सर्वं कृषिकं, सत्त्वात्, अकृषिकं क्रमयौगन्धार्ज्यामर्थक्रियाविरोधात्, अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात् । ततोऽर्थाक्रया व्यावर्तमाना स्वकर्मोद्दिष्टानां सत्तां व्यावर्तेयति हि कृणिकसिद्धिः । न हि नित्योऽर्थोऽपि क्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुन्मथते, पूर्वापि क्रियाकरण-स्वभावोपमर्दद्वारेणोत्सर्गक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः, अन्यथा पूर्वापि क्रियाकार्यायामप्रसङ्गात् । नन्वयथावप्रचयत्वं च नित्यता प्रवृत्तिः, अतादवस्थस्यनित्यतालक्षणत्वात् । अथ नित्योऽपि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थस्योद्दिष्टमाणस्तत्त्वदत्तोत्, पञ्चकमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत् । न । सहकारिकारणस्य नित्येऽपि कृणिकारणत्वात् ; अकिञ्चिन्कारणस्याऽपि प्रतिकृणाऽभावप्रसङ्गात् । नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थाक्रयां कुरुते, अथकृषिवरोधात् । तत्रैककालं सकलाः क्रियाः प्रारम्भणः कश्चिदुपलभ्यते, करोतु या, तथाऽप्याद्यकृण एव सकलक्रियापरिस्वमासेद्वितीयोद्दिष्टोपेक्ष्योपेक्षाणस्मान्निवृत्ता कश्चादीकते ; कारणाकरणयोर्कस्मिन् विरोधात् इति । तद्वैभेकास्तत्रय-ऽपि यं हेतवस्ते युक्तिमाय्याद् विरुद्धं न व्यञ्जितरन्तीत्यविचारनिरमनीयतया मुग्धजनस्त्व इत्यत्र चोत्प्राद्यन्तीति विरुद्धा इत्यभिचारिणो मेकांतिका इति । अथ च नित्यानित्यैकान्तपक्ष-प्रतिषेधं पर्येकः । उपजनक्षणात्वाच्च साम्यावविशेषाद्येकान्तत्वादा अपि मिथस्त्वयदोषनया विरुद्धा इत्यभिचारिण एव हेतुमुपस्था-नन्ति (तन्निष्पत्तौ) परस्परं विरुद्धं इत्याख्यायते- (परस्पर-त्यादि) एवं च कण्टकेषु कृच्छ्राद्येषु एकान्तादिषु परस्परत्वं-सिषु सन्तु परस्परस्मात् ध्वंसते, विनाशमुपया-तीत्येवंशिलाः, सुन्दोपसुन्दवदिति परस्परत्वंसिनः,तेषु,हे जिनः! तव,हासनं स्याद्वाद्प्रकपणनिरुपेणं द्वाद्दशाक्षरूपं प्रयत्नं परमिनायुक्तानां कण्टकानां स्वयमुच्छ्रम्भेनैवाभावाद्भ्रूणमपराभयनीयम् । 'श-काहं कृष्याहं' (५।४।३५) इति हेमसु-कृत्यविधानाद् धार्षिण्यमश-क्यं धार्षिण्यमहं वा, जयति स्वयोकृषणं धेतते । यथा कश्चिन्महा-रजसः पीबन्मुष्णपरं) वाकः परस्परं विरुद्धं स्वधर्मं कृणुमुपयि-त्सु द्विषन्तु अथानसिद्धिकण्टकत्वं समूकं राज्यमुपसृञ्जानः सर्वोच्छेदो जयत्येवं त्वञ्चासन्नमपतिं काव्यायः ॥ २६ ॥

अनन्तरकार्ये नित्यानित्योपेक्षाणस्तथाहं दोषसाम्यामर्थमिदित-म् । इदानीं कतिपयतद्विशेषोपेक्षायाहं दर्शयन्तत्प्रकृपा-रणमसद्गताद्भावकतयोद्घृत्तनवाधिविपुञ्जतज्जितोपेक्षाविवि-परिभ्राजुर्विरिजपतेस्विजगत्पतेः पुरतो लुब्धवन्नयं प्रत्युपकारका-रितामाविष्करेति-

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ ,
न पुण्यपापं न च बन्धभोगौ ।
तुनीतिवाद्द्वयसनासिनैवं ,
परिधिस्तुं जगदप्योषधम् ॥ २७ ॥

एकान्तवादे नित्याऽनित्यैकान्तपक्षान्युपमेयं, न सुखदुःखभो-

गौ घटते, न च पुण्यपापं घटते, न च बन्धभोगौ घटते । ननुः पुनःप्रश्नः प्रयोगोऽप्यन्तघटनतादर्शनायोः । तथाहि-एकान्त-नित्ये आत्मनि तावत् सुखदुःखभोगौ नोपपद्यते । नित्यस्य हि लक्ष-णम्-अप्रच्युतानुपपन्नविधेरैककत्वत्वम् । ततो यद्दऽस्या सुखम-नुभूय स्वकारणकलापमग्रीशवाद् बहुः अनुपपत्तुं, तदा स्वजा-नभवाद्नित्यत्वात्वा स्मिर्ककत्वतादाहिनिसम्बन्धः एवं तुःखम-नुभूय सुखमुपनुज्ञानस्थापि वक्यम् । अथावस्थाभेदादयं व्यवहारः । न चावस्थासु मिदममानास्थापि तदतो भेदः ; संप्रत्येव कुामज्ञाजैवाद्यवस्थासु इति चेत् । ननु तास्ततो व्यतिरेका अर्थव्यतिरेका वा ? व्यतिरेक तास्तस्येति संबन्धा-भावः, अतिप्रसङ्गात् । अर्थव्यतिरेके तु तद्वानेवैति तद्वद्विधैत-व्यतिरेकरूपतादाहिनः । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽप्यन्तार्थ-दोषपि जयति । किञ्च । सुखदुःखभोगौ पुण्यपापनिवृत्तौ, तत्रिधेनेन कार्यक्रिया, सा च कृतेऽभोगिन्यस्य क्रमत्याग-मेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रत्ययं । अत एवाकम्- (न पुण्य-पापं इति) पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनंय शुद्धं कर्म । पापं हि सा-दि क्रियासाध्यमद्युर्ध्वं कर्म । ते कृपि न घटते, प्रत्युत्कर्मातः । तथा न बन्धभोगौ । बन्धः कर्मपुञ्जैः सह प्रतिभ्रेशमात्मनो वल्लभ-यःपिण्डवदुदयोत्पत्त्येवः । मोक्षः कृत्कर्मकृत्यः तावत्प्यक्त-नित्ये न स्यात्तद् । बन्धो हि संयोगावशेषः, स चाप्राप्तानां प्रति-रिति लक्षणः प्राक्कालभावेन अप्राप्तिरनित्याऽप्यस्या । उक्तक-लापिनि प्रतिज्ञान्या । तदनयोरेव्यवस्थाभेदाद्यो दुस्तः । कथं वैककत्वत्वं सति तस्याकासिको बन्धनसंयोगः, 'बन्धनसंयोग-भावात् प्राक् किं नार्थं मुक्तं नभवत् ।' किञ्च । ननु बन्धनोत्सर्ग-वि-कृतिमनुभवति, न वा ? अनुभवति संबन्धादिवदन्तियः । नानु-भवति च्छिन्विंकारव्यं सता असता वा तेन मानस्येव न का-ऽप्यस्य विशेषः । इति बन्धवैकल्यान्नित्यस्युक्त एव स्यात् । त-तद्वच्च विद्यायां जगति बन्धमोक्षव्यवस्था । तथा च परमिन्- 'व-र्थापारम्भं किं व्योम्न-इवमेव्यास्त तयोः फलम् । चमोयमहं-सेऽनित्यः, अतुद्वेदवेदसत्यकः ॥ १ ॥' बन्धाद्युपपत्तौ मोक्ष-स्याऽप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तिशब्दशब्दोत्तरः । एव-मान्त्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखानुपपत्तौ । अनित्यं हि अन्य-न्तोच्छ्रद्धमं कर्म । तथा नूनं चास्मान् पुण्यापादानक्रियाकारि-णो निरन्वयं विनश्यत्वात् कस्य नाम तत्फलभूतानुपपत्तौ भवः ? एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवधवशात् कस्य दुःख-त्वेददमनसः ? एवं चाप्यः क्रियाकारो, अन्यश्च तत्फलभोक्ते-त्यसमञ्जसमापद्यते । अथ " यस्मिन्नेव हि सन्तानं, आदिता कर्मवासना । एवं तत्रैव संघत्तं, कपोसं रकता यथा ॥ १ ॥ इति वचनान्तासमञ्जसमित्यापि वाक्याश्रय, सन्तानवामनयोर्वास्त-वत्वेन प्रागेव निरालोचितत्वात् । तथा पुण्यपापं अपि न घटते । त-योर्धार्षिकिया सुखदुःखभोगोः । तद्व्युत्पत्तिस्त्वहवान्तत्वेभेदकः, ततोऽर्थक्रियाकार्यत्वाऽभावात्सयोरेककत्वमानत्वम् । किञ्च । अनित्यः कृणसाश्चार्थी, तर्हिभवेच्च कृण उत्पत्तिभावव्यवस्थात् तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियाऽज्जनम् ? । द्वितीयाहं कृणेषु चावस्थातुमेव न लभते, पुण्यपापोपादानक्रियानोश्च न पुण्यपापं कुतः ?, निर्मुक्तत्वात्; तदसत्त्वं च कुतस्तानः सुख-दुःखभोगः । आस्तां वा कश्चिच्छेदतत्, तथाऽपि पूर्वकृणस-द्वानोत्तरकृणन भवितव्यम्, सपादानाऽनुकल्पतादुपाहंशब्द । ततः पूर्वकृणाद् बुःखितादुत्तरकृणः कथं सुखितं सत्ययते ?, कथं च सुखितासतः स दुःखितः स्यात् ?, विलह्वानागतऽऽप्यतः ।

अणोरंतवाय

एवं पुरुषपापादावर्षि । तस्माद् यत्किञ्चिदेतत् । एवं बन्धमोक्षयो-
रप्यसंबन्धः । होक्तेऽपि हि य एव बन्धः स एव मुच्यते । निरवन्-
यनाशाशुभपुण्यं बन्धकारणशशास्त्रावाप्तस्तानस्य वायास्तनव-
त्वात् कुतस्संयोगः संभावनामात्रमपीति ? परिणामिनि चात्मनि
सर्वैर्कीर्त्यशाने सर्वे निर्बाधमुपपद्यते । "परिणामोऽवस्थाधन्तर-
नामने न च सर्वेषां ह्यवस्थानम । न च सर्वेषां विनाशः, परिणाम-
सन्निधिः" ॥११॥ इति बच्चनात् । पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह-
" अवस्थितस्य ह्यवस्थय पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परि-
णामः " इति । एवं सामान्यविशेषसद्विभक्त्याऽनजि-
लार्थिकान्तवादेऽपि सुखदुःखाः स्वधर्मनिवृत्तेरभ्युत्थाः ।
अधोत्तरार्कड्याश्वा—एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखमोगा-
तिव्यवहारे परैः परतीर्थिकैः, अथ च परमाधेतः शशुभिः, पर-
शश्वो हि शशुपर्षयोऽप्यन्विते (दुर्नीतियादव्यसनानिना) नी-
यते एकदेशशरीरोच्छेदनाशकित्युक्तव्यादिसिखासिः कृपाणः,
दुर्नीतियादव्यसनानिः । तेन दुर्नीतियादव्यसनानिना करणजु-
ते दुर्नयप्ररूपशेवाकलङ्घने । एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह ।
अपि शश्वस्य भिन्नकर्मत्वाद्दशोपमं जमाथैवित्तमपि ध्रलो-
क्षयम्, तात्स्थान्तद्वापदेश इति । त्रैलोक्यगतजन्तुजानं विलु-
प्तम्; सत्यज्ञानादि नावप्राणव्यपरोपणं व्यापारितम् । तत् ज्ञा-
यस्वेत्याशयः । सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गी-
र्षते । अत एव सिद्धेऽपि जीवजन्तुषु ॥ अन्यथा हि
जीवधानुः प्राणधारणाद्येऽभिधीयते । तेषां च दशविधप्राण-
धारणाभावाद्जीवत्वप्रतिनिः सा च विरुद्धा । तस्मात्संसा-
रिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाज्जीवाः, सिद्धाश्च ज्ञानादिभा-
वप्राणधारणादिति सिद्धम् । दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्यं व्याख्या-
स्यामः । इति काव्यार्थः ॥ १७ ॥ स्यात् ॥

वस्तुनोऽनियतसद्वत्त्वमनेकान्तजयपताकायां न्येक प्र-
त्ययादि परं तद्वृत्तस्यानिर्वाचितस्येन दूरवर्षाधन्यात्समप्रतिप्रभु-
तिप्रत्ययान्तरथाद्यास्मान्निर्वापेऽपि कृतम् । अनेकान्तजयपता का-
कुत्सि-७ ।

(४) एकान्तेन सर्वे वस्तु सतिपि साङ्गधर्मानं तु न युक्तम् ।
युक्तिभ्रान्त यत्तावदुच्यते सर्वथाऽभिप्रायेण—सर्वे सर्वात्मकम्; दे-
शकालाकारप्रतिबन्धात् न समानकारांशप्रतिबन्धितः । तद्व्युक्तम् ।
यतो नदेन सुखदुःखजीविनमण्डरदूरात्सन्नसुखमवाद्सुखमुकुरुवा-
दिकं संसारवैकल्यमप्यङ्गणानुच्यते । न च ह्येदमुपपन्नं नाम ।
न च सर्वे मिथ्येषुधुपपन्नं युज्यते, प्रतो ह्यहानिरदृष्टकल्पना च
पापीयते । किञ्च । सर्वैर्धर्मेषुऽनुपपन्नमयाने संसारमोक्षाजाव-
त्वा कृतनाशोऽहताज्यागमश्च बलाद्वापनति । यच्चैतस्सन्न-
स्तमसां साम्यायस्था प्रकृतिः प्रधानमित्येतत्सर्वस्य जगतः कार-
णं, तस्मिन्तराः सुहृद्ः प्रत्येव्येति, निर्मुक्तिकावात् । अपि च ।
संघेषां सर्वस्य वस्तुन एकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वरजस्तमसा-
मप्येकत्वं स्यात् । तज्ज्ञे च सर्वस्य भेद इति । तथा यद्व्युत्पत्ते-
नसर्वस्य व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्सकार्यवादाव्याचक मयूरासु-
करणे चञ्चुपि कञ्चान्नां सनामिवापादाऽनुपपन्नादसंज्ञुपपदे
आज्ञकजादीनामप्युपपन्नप्रसङ्गादित्येतद्वाङ्मात्रम् । तथाहि—यदि
सर्वेषां कारणे कार्यमस्ति न तदुत्पादः, निष्पन्नघटस्येव; अपि

च । मृत्पिण्डावस्थायां मिथ घटगताः कर्मगुणव्यपदेशा भवयुः । न
च भवति, ततो नास्ति कारणं कार्यम् । अथाऽनभिव्यक्तमस्तीति
चेत् । न । तर्हि सर्वोत्पन्ना विघ्नते नाऽप्येकान्तेनासत्कार्यवाद्
एव । तद्वावे हि ध्योमारविद्वाःनामप्यकारतनासतो मृत्पिण्डा-
देधेऽदार्देवोत्पत्तिः स्यात् । न चैतद् ह्यभिष्टे वा । अपि चैवं
सर्वस्य सर्वसमाप्त्युपत्तेः कार्यकारणजावामिथमः स्यात् । एवं
च न शाल्यकुराधी शालिभोजमवाऽऽद्यादपि तु यत्किञ्चिदेवेति
नियमेन च प्रकृत्वुवकारिणामुपादानकारणार्थो प्रवृत्तरतो ना-
सत्कार्यवाद् इति । तदेव सर्वपदार्थानां सर्वैक्यत्वमप्यव्यादिभि-
र्धर्मैः कथञ्चिद्वक्तव्यम्, तथा प्रतिनियताथकार्यतया यद्वार्थोक्ति-
याकारि तदेव परमार्थतः सतिपि कृत्य । कथञ्चिद्वेदं हतं सा-
मान्यविशेषात्मक वस्त्विति स्थितम् । अनेन च स्याद्विस्त, स्या-
न्नास्तीति भङ्गकथनेन शेषभङ्गात् अपि प्रुष्टव्याः । ततश्च सर्वे
वस्तु मत्तद्भङ्गस्त्वानाम । तु चान्नी—स्वच्छव्येकत्रकान्तावापेक-
या स्यादस्ति, परद्वयापेक्या स्यात्साम्नां । अनयोरेव धर्मयोर्ग-
पत्तयानांशानुमतशास्त्रवाद् स्यादवत्कथ्यम् । तथा कस्याविद्वाशस्य
स्वच्छव्यापेक्या विव्यक्तितान्, कस्यान्वचवांशास्य परद्वयाध-
पेक्या स्यात्, नास्ति वा, चतस्रं चेति । तथेकस्यांशस्य स्वच्छव्या-
धपेक्या परस्य तु सामस्येन स्वच्छव्याधपेक्या विव्यक्तित्वा-
त् । स्यादस्ति चावक्तव्यं चेति । तथेकांशस्य परद्वयाधपेक्या
स्यान्नास्ति चावक्तव्यं चेति । तथेकस्यांशस्य स्वच्छव्याधपेक्या-
या, परस्य तु परद्वयाधपेक्या, अम्यस्य तु धर्मगपधेन स्वपर-
द्वयाधपेक्या विव्यक्तित्वात् स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्त-
व्यम् । इय च मत्तमश्नो यथायागमुत्तरभाऽपि योजन्यार्थतः ।
सूत्र १ श्रु ० अ ॥

(६) कालाद्येकान्तवादाऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह—

कालो सद्वावर्ण्येऽपि, पुत्रकर्म्यं पुरिमकारणेतं ।
मिच्छन्ते तौ चेत्वा, ममापन्नां ह्यौ तं सम्मत्तं ॥ १४६ ॥
कालस्त्वभावमित्यनुपपन्नकारणरूपा एकात्मताः सर्वेऽपि
पयका मिथ्यात्वम् ; न एव समुदिताः परम्पराजहद्वृत्तयः स-
म्यक्वचपतां प्रतिपद्यन्ते इति नापर्यायेः ॥ १४६ ॥ (सम्यग्पठेः ०)
तत्र कालाद्येकान्ताः प्रमाणतः संबन्धनीनि तद्वाद्या मिथ्यात्व-
वाद् इति स्थिते त एषाऽप्योत्पन्नपेक्या नित्याद्यकान्तव्यपरो-
धैकानेकस्त्वभावाः कार्यनिर्निर्णयतः प्रमाणविषयतया परमा-
र्थतः सम्न इति तत्राप्रवादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति
तद्वाद्ः सत्यगुदातया व्यर्थत्वः । यथेते कालाद्येकान्ताः मि-
थ्यात्वमनुभवन्ति, स्याद्वावपप्रहासु त एव सम्यक्त्वं प्रति-
पद्यन्ते, तथाऽऽस्मात्कालान्तिनियमित्वात्सत्त्वाद्धर्मभासितो
मिथ्यात्वम् ; अनेकान्तरूपतया त्वन्मुपगम्यमानः सम्यक्त्वं
प्रतिपद्यत इत्याह—

रात्पि ण शिच्छो ए कृण्ड ,
कयं ए वेएऽ ण्पि ण्पि च्चवाणं ।
ण्पि य मोक्षेणोत्तमा ॥
इं मिच्छसन्त उवाग्गो ॥ १५० ॥
नास्यात्सा एकान्त इति सांभ्याः । अत एव प्राहुः—यः कर्त्तुं, स
न योक्तुं, प्रकृतियन्, कर्त्तुंभोक्तुंनानुपपत्तेः । यद्वा—येन कृतं
कर्म, नाऽसौ तद् युक्तं, कर्णकवात्, जिज्ञसन्तेतिरिति बौद्धः ।
अणिकत्याच तस्सन्तः कृतं न वेद्यत इति बौद्ध एवाह—कर्त्तुं

भोक्त चारमा किन्तु न मुच्यते, सचेतनखात्, अज्ञव्यवन्, रागादीनामात्मस्वरूपातिरेकात्, तद्वक्ष्ये नेमात्म्यकृत्यादिति शयिकः । निहेतुकं पयासौ मुच्यते, तन्ममावतन्व्यतिरेकेण परस्य तत्रोपायस्याजावादिति मारुती प्राह । यतानि बद्ध मित्यात्वस्य स्थानानि, यथात्म्येषां पदाणां मित्यात्वाधारतया व्यक्षयित्येः । तथाहि यतानि नास्तित्वादिविशेषणादीनि साध्यवर्तिविशेषणतयोपाधीयमानानि किं प्रतिपद्यन्तुःशान्तोपाधीयन्ते ? आहोस्मिन् कथंविषयसंग्रहणेत कल्पनाद्वयम् । प्रथमपक्षे-अव्यवहारिषः, स्वसंवेदनाप्यक्षतस्यैतन्व्यत्परमरूपस्य प्रतीतिः, कथञ्चित्तस्य परिष्णानित्यताप्रतीतिश्च, शरीरादिव्यापारतः कर्तृत्वोपलम्बश्च, स्वव्यापारनिर्वर्तितभक्तकृपादिभोक्तृत्वसंवेदनाश्च, पुरुषलक्षणतया, रागादिव्यकृतया च, शम-बुद्धरसावस्थायां कथञ्चित्तस्योपलम्बश्च । स्वोक्तपरन्तरमादिभावतो रागाद्युपपन्नतरममाद्यविधासिध्दस्य ज्ञानदर्शनेरुपलम्बान्मानतोऽपि विरोधः । तथाभूतज्ञानकार्यान्वयाऽनुपपत्तिवैतन्व्यलक्षणस्यात्मनः सािद्धिः प्रतीतिवत् कृपादिशुभनः ज्ञानस्वरूपशुभोपलम्भात् कथञ्चित्तमिदमस्याऽऽमलक्षणस्य शुभिनः सिद्धिर्गिति मानुमानविरोधः, इतरधर्मनिरपेक्षधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य नदाधारभूतस्य च विशेष्यस्याप्रसिद्धेः । अप्रसिद्धविशेषणत्वोपलम्बोपयार्थैर्दुष्टश्च पक्ष आरमेति बचनेन, तत्संसाऽभिधानं नास्त्येवेनेन च, तन्वतिपधमिधानपदयोः प्रतिज्ञावाक्यव्याघातो लोकाविरोधश्च । तथाभूतविशेषणविशिष्टतया धर्मिणो लोकं तद्व्यवहित्यमाणत्वात् स्वबचनविरोधश्च । तन्मतिपादकचचनस्येतरधर्मसापेक्षतया प्रवृत्तौ रतीतरनिरपेक्षकधर्मकरोऽसिद्धः, तथाभूतस्य तस्य क्वचिदनुपलम्बेः सर्वत्र तद्विपरीत एवाभावात् । विरुद्धश्च दृष्टान्तः, साधनधर्मोधिकरूपतया कस्यचिद्धर्मिणोऽप्रसिद्धः । तत्र प्रथमः पक्षः नापि द्वितीयः, स्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्, साधनवैफल्यपक्षे । तथाभूतस्यैकान्तकृतपतयाऽसाभिरभ्युपगममात् । तस्माद्व्यवस्थितमनेतेदेकान्तकृतपतया पश्यन्तानि । तद्व्यवस्थितपक्षेकान्तवादे तथैव तानीति दर्शयन्नाह-

अत्रिय अभिधानाधममा, करेऽपेइइ अत्रिय णिष्वाणं ।

अत्रिय प्र मोत्रलोवाभो, तं मिष्ठसम्प टाणां ॥११॥

अस्यामेति पक्षः पुराणदेवोर्दिनः स आविनाशार्थी, यथा प्रसिद्धा कलत्रमानुसारिणः । कर्त्तृजोक्तस्वभावाऽऽसिधिति मने ज-मिनेः । तथाभूत एवासौ ऊरुस्वरूप इत्युक्तापदकृष्णकमानु-सारिणः । अस्ति नियोगमस्ति च मोक्षापाय इत्यामन्वित नास्तिक-काष्ठीकत्वानिःकारः । पाषाणिरुत एते आर्युपगमाः एकान्तेन तद्विस्तारोदेरप्यक्तानुमानाज्यामप्रतीतेः । तथाऽभ्युपगमे च स्वास्तित्वेनेत्यायमावास्तावेनापि तस्य भावात् सधेजायसंकाशो-त्तरप्रसक्तः, स्वस्वरूपावयवस्थितेः आनुपपद्यत्सर्वमेव स्थान, इत्यादि, शुभणमसङ्गतं प्रतिपादितम् । तथाभूतस्यान्वाधश्च पूर्व-बद्धापि बाधवाः । चतुर्थपदात् न गाथायाः क्वचिद्व्यथा पठन्ति-सम्पत्सम्पत्सं जणाहे ति । अत्र नु पाठे इतरधर्मो जददृशुया प्रकर्मभावा एते वदं पक्षाः सम्प्रकथस्याधारात् प्रतिपद्यन्त इति इवाक्येयम् । न च स्यादकस्यात्मा निव्यादिप्रतिज्ञावाक्यमध्यका-दिना समानेन बाधयेत्, स्वपरजावास्तास्वकृष्णकृष्णमण्य-तिरेकेणान्यथाभूतस्याऽप्यङ्गादेरप्रतीतेः । तेनानुमानाभ्युपगमनात् स्वबचने लोकात्म्य व्यवहारविरोधोऽपि न, प्रतिज्ञाया अथ्यका-

विप्रमाणावसेये सत्सदात्मके वस्तुनि कस्याचिद्विरोधस्यासं-भवात् । न आसिद्धविशेषणः पक्षः शौकिककृषीकृष्टयाभू-तविशेषणस्यापि प्रतिपत्त्या सर्वत्र प्रतीतिव्यवस्था वा विशेषण-व्यवहारस्याऽऽपेक्षप्रसङ्गात् । अन्यथातस्य क्वचिद्व्यवस्था-व्यथाभूतविशेषणत्वात्कस्य धर्मिनः सर्वप्रतीतेनाप्रसिद्धविशेष-नादोषः । नाप्यप्रसिद्धोभयता बुधभयः, तथाभूतस्यैकत्वतिरेकेणा-न्यस्यासत्त्वतः प्रमाणविषयत्वहेतुरपि नाप्रसिद्धः ; तत्र तस्य स-त्वप्रतीतेः विपक्षे सत्यासंज्ञाभावि विरुद्धः । अनेकान्तिकताऽ-प्यत एवायुक्ता । दृष्टान्तदोषा अपि साध्यादिविकल्पत्वाद्यो नात्र संज्ञविमः, असिद्धत्वादिदोषव्यवस्था साधने तेषां जावात् । मानु-मानतोऽनेकत्वमं वस्तु तद्वादिभिः प्रतीयते । अथ्यकृतित्वात्-द्वस्तुप्रतिपत्तेरपि तत्सन्निवृत्ति विमतिपद्यते । न प्रति तत्संवेद-नेव न्यायेनानुमानोपलम्बेन विप्रतिपत्तिनिराकरणमात्रमेव वि-धीयत इति नाप्रसिद्धविशेषणत्वादिदोषस्यावकाशः । प्रतिज्ञ-णपरिणामपरमाणादीनां नृद्विकाराद्योऽभ्यागच्छेनाऽप्यथाऽ-नुपपत्त्यामनेनाप्यङ्गादिवाधाऽस्मदाद्यक्षस्य सव्योत्पत्ता वस्तु-प्रदृष्टासाभिमर्थ्यत्वं इफटिकादीं बाधोग्राहणपरिणामोपपन्नत्वं एवैकदा प्रतिपत्तेरनवस्थैयप्राद्व्यपक्षं प्रतिज्ञणपरिणामानुमेनेन विरुधेनः । अथ्य तदनुपपन्नत्वात्, कथञ्चित्तप्रतिज्ञणपरिणाम-स्य तत्प्रतीतवैधेयानुमानतोऽनिश्चयत्वात् ।

अनेकान्तव्यवच्छेदीकान्तात्वात्परिधर्मोधिकरणत्वेन धर्मिणो साधयंशकान्तवादात् । न साधयंस्तः साधयितुं प्रयुनापि वैधर्म्यं इति प्रतिपादयन्नाह-

[१] साधयंस्तो वैधर्म्यं तच्च साध्यसिद्धिः ।

साहम्यत्रो व्व अत्र्यं, साहिज परो विहम्यत्रो वा वि ।

अएणोसं पक्किञ्जुटा, दोसं वि एए असव्वाचा ॥ १५२ ॥

समानस्तस्यः साध्यसामान्यान्वितसाधनधर्मो यस्यासौ स-धर्मो, साधयंतेदृष्टान्तोऽप्यथा साधर्मो, तस्य भावः साधयंस्त, ततो वाऽर्थे साध्यधर्मोदिकरणतया धर्मिणो साधयंस्तः, अन्वयिहेतु-प्रदर्शनात् । साध्यधर्मिण विवक्षितं साध्यं यदि वैशेषिकदि सा-धयेत्, तदा तत्पुत्रव्यतिरेकपि धर्मकत्वं स्यात्; अन्यथाप्यस्य तथ-पि भावात् । अथ वैधर्म्यद्वय विगन्तव्याभूतसाध्यधर्मो ह्यस्मा-दसौ विधर्मो, तस्य भावो वैधर्म्यम्, ततो वा स्यतिरेकित्यो हेतोः प्रकृतं साध्यं साधयेत्, उभाभ्यां वा । वाऽश्वस्य समुच्छवाये-त्यात् । तथापि पुत्रव्यतिरेकं यमकत्वप्रसङ्गं इत्यामन्वाभियेव-तत्पुत्रवादेः, अन्वय गौरपुत्रे अजायात्, च भाव्यामपि तत्सन्धने । अत एव साध्यसिद्धिप्रसक्तः स्यात् । अथात्र कालात्यापविष्ट-त्वादिदोषसङ्गाद्यश्च साध्यसाधकताप्रसक्तः, असिद्धविरुद्धमै-कान्तिकहेत्वात्तासमन्तेरणपरहेत्वात्तासासंभवात् । न च त्रैक-व्यसङ्गणयोः । सिद्धत्वादिहेत्वाभासता कृतकत्वप्रतिपादि-त्यावसाधने संभवति । अस्ति च भवद्विप्रतीयं त्रैक्यं प्र-कृतहेताविति कुतोऽस्य हेत्वाभासता ? अथ भवत्येवं दोषः, येषां त्रैक्येऽविनाशजाव्यतिरेकमाभिः, नास्माकं च सङ्गणहेतु-वादिनाम्, प्रकरणसमन्वयं हेत्वाभासत्त्वोपपत्तेः त्रैलोक्य-स्वज्ञावैऽप्यपरस्यासत्प्रतिपत्त्यादेर्हेतुसङ्गणस्यासंभवे तदा-भासत्त्वसंज्ञावत्, 'यस्मात्प्रकरणचित्ता स प्रकरणसमः' इति प्रकरणसमस्य सङ्गणोपिधानात् । प्रकियेते साध्यत्वमिद्विधि-ने निश्चितो पक्षान्तिपक्षौ चैतौ प्रकरणम्, तस्य चिन्ता संशया-

म् प्रवृत्त्यनिच्छयादाहोचनस्वभावात् भवति । स एव तद्वि-
 क्षयार्थं प्रयुक्तः प्रकरणसमः, पक्षद्वयेऽपि तस्य समानत्वात् ।
 कल्पत्रयत्वादिस्वरूपात् । तथाहि तस्योदाहरणम्-अग्निधः
 शब्दः, नित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपलब्धमानानित्यधर्मकं घटाद्य-
 क्षित्यं दृष्टव्यं, यद्युपलब्धं न तदनुपलब्धं नमानानित्यधर्मकं यथा-
 ऽऽस्यादि । यद्यं किन्तासंबन्धिपुरुषेण नस्वाऽनुपलब्धेरेकदेश-
 षुभवा अन्यतरानुपलब्धेरेनित्यत्वात्सिद्धौ साधनत्वानोपपत्त्यासि
 सति द्वितीः। कश्चिन्तासंबन्धिपुरुष आह-यद्यनेन प्रकारेणानित्य-
 त्वं साध्यते तर्हि नित्यतासिद्धिरपि,अन्यतरानुपलब्धेस्तथापि स-
 ज्ञात्वात् । तथाहि-नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपल-
 ष्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टव्यमाह । पुनर्यत् न नित्यं तथाऽनु-
 पलब्धमानानित्यधर्मकं, यथा घटादि । एवमन्यतरानुपलब्धेस्तथा-
 चपक्षे साधारणत्वात् प्रकरणानतिशुद्धेहेत्वाभासत्वम् । न च नि-
 क्षिततयोः पक्षप्रतिपक्षपरिहारेऽधिकाराय कथं किन्तायुक्तं एवं सा-
 क्यमेवोपपत्त्यं विवक्ष्यदिति वक्तव्यम्, यतोऽयदा संज्ञेऽपि किन्ता-
 सत्त्वैकधर्मानुपलब्धेऽन्यतरानुपलब्धेः पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकानवगत-
 स्तद्वहात्स्वसाध्यं यदा निश्चिन्तितं, तदा द्वितीयस्तामव स्वसा-
 ध्यसाधनाय हेतुत्वमितिषेधे । यद्यनस्त्वप्युक्तासिद्धिरत एव मय-
 क्तसिद्धिः किं न भवेत् ?; वैकल्प्यस्य पक्षद्वयऽप्यत्र तुल्यत्वात् । अथ
 नित्यत्वानित्यत्वैकान्तविपर्ययेणाऽप्यस्याः प्रवृत्त्येनैकान्तिकता ।
 उच्यते। किञ्चिन्नैकान्तिकानं न प्रकरणसमः । न यत्र पक्षप्रवृत्तिव्यति-
 पात् तुल्यो धर्मो हेतुत्वमोपाद्दियते तत्र संशयहेतुताः साधारणत्वेन
 तस्य विवक्षित्येषानुपलब्धेः पक्षप्रवृत्तौ ननु प्रवृत्तौ यथाऽपि यतो नित्य-
 धर्मानुपलब्धेरेनित्य एव भावो न नित्ये, एवमनित्यधर्मानुपलब्धे-
 र्मित्य एव प्रावो नास्ति। एवं चात्र साध्यं विपक्षत्वात्पुक्तः प्रकर-
 णसमता, तद्वैकान्तिकता पक्षद्वयसिद्धये न तथा आयात् । न यद्ययं
 पक्षद्वयं तदा साधारणाऽनैकान्तिकः । अथ यत् नित्यं कथमयं पक्ष-
 द्वयसाध्यकः स्यात्, अतदुत्तरतत्साध्यकत्वात् । न पक्षद्वये प्रवृत्त-
 ये क्वच्यनुपगमता । तथाहि-कथं साधनकालेऽनित्यधर्मानुपल-
 ष्यधर्मते न नित्ये । यदाऽपि नित्यत्वं साध्यं तदाऽपि नित्यपक्ष-
 एवानित्यधर्मानुपलब्धधर्मते नाऽनित्ये । तत्रच सपक्षप्र-
 वृत्तौ प्रकरणसमस्य वृत्तः, सपक्षप्रवृत्तौ धर्मकालेऽनित्यकस्य साध्या-
 त्पक्षप्रवृत्तौ पक्षद्वयवहारः, नाऽप्यथा, तेन साध्यवृत्तयुक्तिरन्य-
 साध्यसपक्षप्रवृत्तौ प्रकरणसमो, न तु कदाचित्साध्यापेक्षा
 विपक्षवृत्तः । अनेकान्तिकस्तु-विपक्षवृत्तौ रपत्त्यसादस्य ज्ञेः ।
 न च रूपप्रययोऽप्यस्य हेतुत्वम्, समप्रतिपक्षत्वात् । यस्य तु क-
 दाचित्साध्यापेक्षाया विपक्षवृत्तिसिद्धयेकान्तित्वमर्थपरिसमाहितपत्र-
 योगे, तेन प्रकरणसमस्य नाहेतुत्वमुपदर्शयितुं शक्यम् । न
 चाऽप्य कालात्साध्यापेक्षित्वमर्थात्साध्यापेक्षयः । यथाहि प्रकर-
 णश्रित्ता तथोच्यं हेतुः । न च ततः संदिग्धत्वात् वाधामस्यो-
 पदर्शयितुं शक्यः । न च हेतुद्वयसन्निपातद्वयं चार्थिणि
 संशयोत्पत्तिसंज्ञानत्येनास्यानैकान्तिकताया तेन संशयहेतुताऽनै-
 कान्तिकत्वम्, इन्द्रियसंज्ञिकयोरेपि तथावप्रसक्तः । न च त-
 यानुपलब्धिनिर्देशोपस्तुत्यादिद्विध्याया संशयकारणम् न च तत्स-
 हितया अस्या हेतुत्वम् कथंसाया एव तत्वेनोपपत्त्यामात् । न च
 संदिग्धविषयज्ञान्तपुरुषेण निश्चयार्थमुपाद्दिधमानाया अस्याः
 संज्ञेहेतुता युक्ता । नतु यथा कथञ्चिदः संशयोत्पत्तिः, तथाऽप्य-
 नैकान्तिकतादस्य विषयता । स हि सपक्षप्रवृत्तयोः समानः,अयं तु
 तर्हिपरीतोः, साध्यवृत्तयुक्त्यात् प्रकरणसमः । न चासंभवः,
 अस्वेवंविधसाधनप्रयोगस्य ज्ञानैः सज्ञात्वात् । अथास्यासिद्धे-

रम्यभावाः अग्निध्यादिनां नित्यधर्मानुपलब्धेरितरस्य केतरध-
 र्मानुपलब्धेरसिद्धत्वात् । असदेतत् । यतश्चिन्तानोसंबन्धिपुरु-
 षेण समस्य हेतुत्वमोपपत्त्यासस्तस्य च तत्संबन्धिना सा कथ-
 मितरेणासिद्धताज्ञानेन विधानं शक्यम् । यथा ह्यनुपलब्धिनि-
 क्षित्यसंशयोत्पत्तौ शब्दं नित्यत्वात्सिद्धता, स कथमन्यतरानुपल-
 ष्ये हेतुप्रयोगेऽसिद्धतां ह्यायात् ? अत एव सन्नकारं च असाप्रकरण-
 किन्ता, इत्यासिद्धतादोषपरिहाराधेनुपलब्धम् । एवमनित्यः शब्दः
 सपक्षप्रवृत्तौ रम्यतरात् घटव्यति किन्तासाधारणतैवाश्व हेतोः
 केऽपरस्तरसंबन्ध्याश्वः शब्दः, पक्षसपक्षयो रम्यतरत्वादाकाश-
 वत् यदाह । तथा प्रकरणसम एव अत्र प्रययन्ति-पक्षसपक्षयो र-
 तरः पक्षः ? सपक्षो वा ? यदि पक्षः, तदा न हेतोः सपक्षवृत्तौ न
 न हि शब्दस्य धर्मान्तरं वृत्तः संबन्धित्यसाधारणतैवाश्व हेतोः
 स्यात् । अथ पक्षोऽप्यतरशब्दवाच्यस्तदा हेतोरसिद्धता ।
 सपक्षयोघटाकारयोः ह्याद्वैक्यधर्मिण्यप्रवृत्तिसिद्धेऽन्येते
 साध्यस्य न प्रकरणसमता न च पक्षसपक्षयो रम्यतरिकः कश्चिद-
 न्यतरशब्दवाच्यः, यस्य पक्षधर्मताऽव्यवत् भवेत्, तत्रायं हेतुः ।
 अत्र प्रतिविद्यमानि-भवेत्पक्षो यद्यदि पक्षयो रितिशब्दवाच्य-
 योर्हेतुत्वं विवक्षितं नवेत्, तन्न न; अन्यतरशब्दविधिस्यैव
 हेतुत्वेन विवक्षितत्वात् । स च पक्षसपक्षयो रम्यतरः, तस्यैव
 साधारणशब्दान्निधयत्वात् । यदि याऽनुगतो ह्ययो र्धर्मः कश्चिद-
 व्याच्यो न प्रवेत्तदा विशेषशब्दवद्व्यतरशब्दोऽपि न तत्र
 प्रवर्तते; नाऽपि तच्छब्दाद्युभयत्र प्रतीतिर्भवेत् । दृश्यते, तस्मा-
 न्पक्षानां सपक्षानां सासाधारण्यपर्येककल्पितयो र्परतप्युपपत्त्य-
 रशब्दो ह्ययो र्पि वाचकत्वेन योऽय । ततो या विशेषप्रतीतिः सा
 पुरुषविषयज्ञानिकभेदा । यदा हि साधनपर्येकता पक्षधर्मत्वस्य
 विवक्षति तदाऽप्यतरशब्दवाच्यः पक्षः सपक्षेऽनुगमाश्वोप-
 भिधायो र्स्यात् । यतोऽश्लोकव्यवहारेऽप्यत्रार्थसंबन्धोपपत्त्य-
 स्तत्र च पक्षोदस्य न सपक्षे प्रवृत्तः । नाऽपि सपक्षशब्दस्य
 पक्षः । यथा याऽनयोः सन्नेतादपि नात्यत्र प्रवृत्तेरेवमन्यतरशब्-
 दस्य सामाये सङ्कलितत्वेन विशेष एव वृत्तः । उभयार्थिधायकत्वे
 तु विवक्षावसानाऽप्यतरनियमः न चैवमपि विशेषे तस्य वृत्तौ
 दूषणम्, नदवस्थायामेवं दोषोऽज्ञानेन कस्यचित् सम्यग्हेतुत्वत्प-
 क्तकत्वादर्थापेक्षयाऽप्येवविषयज्ञानं विशेषोपपत्त्यादनुगमाज्ञा-
 यात् । सपक्षविशेषितस्य पक्षधर्मोऽप्योऽपि । अथ कृतकत्वमात्र-
 स्य हेतुत्वेन विवक्षातो न दोषः, नाहि तत्प्रवृत्तेऽपि तुल्यम्; अन्य-
 तरशब्दस्याप्यनुक्तानुविशेषस्य ह्यथाऽपि किञ्चानं सामर्थ्योप-
 पत्तेः । यत्नेन यदुक्तं न्यायवृत्तं अतः कदापि कथमन्यतरविशो-
 न लिङ्गात् तथा पक्ष एतयो र्पक्षमपक्षयो रम्यतर इत्यादि । तद-
 पि निरस्तम् । वैकल्प्यसज्ञावैषि प्रकरणसमत्वेनास्यागमकत्वात् ।
 प्रत्यज्ञागमभाषितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्साध्यापेक्षित्व-
 हेतुत्वानासाध्याऽनुपगमताः यथा-पकायैतत्प्राप्ताप्रफलाः, पक-
 शास्त्राप्रवन्धत्वात्, उपयुक्तत्वत्तत् । अस्य हि कथमर्थयोगिनोऽपि
 प्रत्यथाभाषितकालान्तरप्रयोगात् । अर्थादृष्टताप्रवृत्तये नित्यध-
 र्हेतोः काशाहुपक्षानानन्तरं प्रयोगः । प्रत्यज्ञादिविषयकस्य तुषक-
 र्मानन्तरं प्रयोगात्कृतकार्यथिकमेव प्रयोगः । तथाच काश-
 यापदिश्रशब्दान्निधयता हेत्वाभासता च । तदुक्तं न्यायभाष्यकृ-
 ता-“यत्तुल्यमानं प्रत्यज्ञागमविकृतं न्यायाभासः सः” इति ।
 नदेवं पक्षज्ञानार्थयोगिनि हेतायविकृतं न्यायपरिसरस्य । तस्युक्त-
 तादौ नु वैकल्प्येऽपि कालात्साध्यापेक्षित्वशब्दागमकत्वमिति नैवावि-
 काः । असदेतत् । असिद्धिरित्यतिरेकेण परस्य प्रकरणसमत्वेहे-

स्वाप्नास्यस्याऽयोगात् । यच्च प्रकरायसमस्यामित्युः शब्दोऽनुपपन्नस्य-
 आनानिष्यधर्मकत्वाद्दिशुत्प्रादरन्तुं प्रदासित्वात् । तद्व्यापकत्वात् । यतो-
 ऽनुपपन्नप्रयामानित्यधर्मकत्वं यदि न ततः सिद्धं तदा पक्षवृत्तितया-
 ऽप्यासिद्धिः कथं नासिद्धः ? अथ तत्र सिद्धं तदा किं साध्यधर्मि-
 त्वे धर्मिणो तन्निष्कम्पं इत तद्विक्रम इति च कल्पयेत् ? यदि तद्विधितं
 तदा साध्यधर्म्ये च धर्मिणो तत्पत्र सद्भावेत्युक्तं : कथमवयवकता ? न
 हि साध्यधर्ममन्तरेणाभिजननं विहायैव परे हेतोराविनाभावावयवं
 भवेत् । तस्मै स्वमस्ति कर्तव्यं न गमकताः । ऽविनाप्रायविधमन्तरेणाव-
 तस्याः । अथ तद्वि कालावसिक्तं तदा तत्र वर्तमानो हेतुः क-
 थं न विरुद्धः ? विपक्ष एव वर्तमानस्य विरुद्धत्वात् । जवति च
 धर्मविक्रम एव धर्मिणि वर्तमानो विपक्षवृत्तिः । अथ सदिग्ध-
 साध्यधर्मवति तत्तत्र वर्तते तदा सदिग्धविपक्षवृत्तावृत्तिकत्वा-
 द्भेदात्मिकः । अथ सामर्थ्यमतिरिक्त धर्म्यन्तरे यस्य साध्या-
 भाय एव दर्शनं स विरुद्धः । यस्य च तदभावेऽप्यसावर्तका-
 र्त्तिकः न । धर्मिणो एव विपक्षता; तस्य हि विपक्षत्वं सर्वस्य
 हेतोरेहेतुत्वप्रसक्तं । यतः साध्यधर्मासाध्यधर्मसद्व्यवसायध-
 र्त्वेन सर्वदा सदिग्ध एव साध्यसिद्धिः प्रागुच्यते साध्याभावे
 निश्चिते साध्याभावाविनिश्चयकेन प्रमाणेन बाधितत्वात्कालोपर-
 स्तरं स्यात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणेन च साध्यधर्मयुक्ततया धर्मिणो
 निश्चये हेतौर्धर्म्यप्रसक्तिः प्रत्यक्षादित एव हेतुसाध्यस्य सिद्धिः ।
 नस्तत्संदिग्धसाध्यधर्मो धर्मो हेतोराश्रयत्वमेव उच्यते इति ।
 यधैकात्मिकस्तत्र वर्तमानो हेतुः; भूमादिरपि नहि तथाविध
 एव स्यात् । तस्याप्येव सदिग्धवर्थावृत्तित्वान् । यदि हि विपक्ष-
 वृत्तित्वेन निश्चिनो यथा गमकत्वात् साध्यधर्मनिश्चययुक्तान-
 प्रामाण्यं प्रतिपत्तमेव भवेत् । नतोऽनुपपन्नव्यतिरिक्ते साध्यधर्म-
 वानि धर्मिणोः साध्याप्राये चार्थकारित्वात् हेतुः, साध्याभाववयं
 यावत्तत्तमानः पक्षधर्मस्य सति विरुद्ध इत्यनुपपन्नत्वमर्थः ।
 यत्र च विपक्षाद्भावात्तः सपक्षे वाऽनुगमः पक्षधर्मो निश्चिन्तः स
 स्वसाध्यं गमयति । प्रकृतम्नु यद्यपि विपक्षाद्भावात्तत्तथाऽपि
 न स्वसाध्यसाध्यकः, प्रतिपक्षस्य स्वसाध्याभावावयवत्वात् । तद-
 निश्चयश्च न विपक्षवृत्तित्वेन, किन्तु प्रकरणसमवेत, एकशास्त्रा-
 यमन्त्रादिसु कालाययथापदिष्टत्वेनेति । अस्येतेन । यतो यदि
 धर्मित्यतिरिक्तं धर्म्यन्तरे हेतोः स्वसाध्येन प्रतिपक्षत्वेऽप्युपगम्य-
 ते, तदा धर्मित्यप्राप्तियमानोऽपि हेतुः स्वसाध्योपस्थापको न
 स्यात् । साध्यधर्मिणि साध्यधर्ममन्तरेणापि हेतोः सद्भावाभ्युप-
 गमात्; तद्भावात्किं एव धर्म्यन्तरे तस्य साध्येन प्रतिपक्षमद-
 भात् । नन्वाप्यत्र स्वसाध्याविनाभावावयवत्वेन निश्चयतोऽप्यत्र सा-
 ध्यं गमयति । अनिप्रसक्तत्वात् । अथ यदि साध्यधर्म्यान्तरेन सा-
 ध्याधर्म्येयपि हेतुत्वं यमदशैककाल एव निश्चितस्तदा तद्विधेयं
 साध्यधर्मस्य धर्मिणो निश्चयान् पक्षधर्मताप्रदणस्य वैधर्म्यं च ।
 अस्येतेन । यतः प्रतिपक्षप्रसाधकं प्रमाणं सर्वोपसंहारेण
 साध्यधर्मसाध्यधर्मोभावे क्वचिदपि न भवति । सामान्ये-
 न प्रतिपक्षनिश्चये पक्षधर्मताप्रदणकाले तत्रैव धर्मिणुप-
 पन्नत्वं हेतुः, तत्रैव स्वसाध्यं निश्चययतीति पक्षधर्मताप्रदण-
 स्य विशेषविधयप्रतिपक्षनिश्चयवन्तान्वाणुमानस्य वैधर्म्यं ।
 नहि विशिष्टधर्मियुपपन्नत्वं हेतुत्वं तदा साध्यधर्म्यन्तरे-
 णोपपत्तमान् अस्य । अथया तस्य स्वसाध्यव्यवसायो-
 गान् । नर्त्तयं तत्र हेतुपत्रमेऽपि साध्यविधयसद्व्यवसायनिश्चयः,
 येन सदिग्धव्यतिरिक्ता हेतोः सर्वत्र भवेत्, निश्चितस्वसा-
 ध्याभिज्ञानं तद्विद्वान्जनस्यैव साध्यधर्मिणो साध्यप्रतिपक्षिणो

स्यात् । नहि तत्र तथाप्युक्तं हेतुनिश्चयात्परस्परस्वसाध्यप्रतिपक्ष-
 व्यापारः । अत एव निश्चयान्तराव्युत्पत्तौ हेतुत्वादेव धर्मिणि न
 विपरीतसाध्योपस्थापकस्य तद्वृत्तयोर्यागं हेतवन्तरस्य स-
 द्भावाः । तयोर्दोषोरपि स्वसाध्याविनाशतत्वाविश्रुत्यानित्यवयोधि-
 कत्रकान्तावयवित्वेन विरोधात्संशयः, तद्व्यवस्थापकहेतु-
 र्त्वं सर्वस्य न्ययप्राप्तत्वात् । संभव वा तयोः स्वसाध्याव्यव-
 नित्यत्वधर्मयुक्तत्वं धर्मतः स्यादिति कुतः प्रकरणसमस्या-
 गमकता । अन्यतरस्यात्र स्वसाध्याविनाशविकलता तर्हि तत्र
 एव तस्याऽगमकतति किमस्यप्रतिपक्षरूपप्रतिपादनप्रयत्न-
 न ? किञ्च नित्यधर्मोपपत्तित्वः प्रसज्यप्रतिपक्षरूप, पूर्ववृत्तिस-
 वा वा शब्दानित्यत्वं हेतुः ? न तावदाद्यः पक्षः अनुपपत्तिसामर्थ्य-
 तुल्यस्य साध्यासाधकत्वात् । अथ द्वितीयः, तदाऽपि स धर्मो
 पक्षविधेय इति प्रकृतं । यद्यसौ शब्दे सिद्धा, कथं नानित्यता सिद्धिः ?
 अथ चिन्तासंबन्धना पुत्रव्यवसाये प्रयुज्यत इति न तत्र निश्चिता,
 तर्हि कथं सदिग्धव्यतिरिक्ता हेतुत्वादेव प्रतिपक्षसाध्यव्यवसा-
 यकत्वासिद्ध एव ?, नित्यधर्मोपपत्तित्वः ? तत्र तस्य सिद्धिः ।
 यद्यप्युपपन्नमूलनिश्चयिनिश्चयना यदा द्वयोरापि चिन्ता, तदैकदेशा-
 पक्षधर्म्यतरणा हेतुत्वेनोपादानं कथं चिन्तासंबन्धयेन चिन्तितः
 तस्यासिद्धतां चक्रे चार्यमानास्याभिधानम् । तदप्यसकृतम् ।
 यतो यदि द्वितीयः संशयापक्षवाचसाध्यसिद्धतां नोद्भावायितुं
 समर्थः प्रथमोऽपि तर्हि कथं संशयाविव्याहृतस्य हेतुतामनिश्चय-
 संशयिर्मोर्षतत्र हेतुतामनिश्चयान्, तस्यैवसिद्धतामप्यभिद्वेष्या-
 तः श्रान्तरेभयत्राविश्रुयान् । यद्यपि साधनकाले नित्यधर्मोप-
 पत्तित्वेनित्यत्वं एव वर्तते न विपक्ष इत्यादिभिधानं तत्र संकृतम् ।
 विपक्षादकालतोऽस्य व्यावृत्तौ पक्षधर्मस्य च स्वसाध्यव्यवसा-
 यधर्म्य इत्याद्यवयवोपस्थापनात्मिकस्य चक्रेनेनापरत्र वृत्तित्व-
 ये गम्यन्तान्नाशयति । नहि योऽपिपक्ष एव वर्तमानो निश्चितो
 वस्तुधर्मः स तत्र साध्यव्यवसायको युक्तः । अथ द्वितीयोऽपि
 वस्तुधर्मस्तत्र तावन्निश्चिता न; परस्परविरुद्धधर्मद्वयोस्तदविना-
 शतयोर्वा एकत्र धर्मिण्ययोगात् । योगे वा नित्यत्वयोः शब्दा-
 र्थे धर्मिण्येकदा सद्भावाद्भेदकः तद्व्यवस्तुसद्भावेऽप्युपग-
 म्यात् । नमन्तरेण तत्रानोः स्वसाध्याविनाशतयोस्तत्रायोगात् ।
 धर्मिणो तयोर्कल्पविधेयं स्वसाध्यसाध्यकत्वमिति कुतस्तत्त-
 द्भावो परस्परविरुद्धव्यवस्थाः ? तत् प्रतिपक्षधर्मो हि तयोस्तद्व्य-
 द्भावोस्तत्राप्रवृत्तः सा च त्रैक्यव्यवसाये विरोधाव्युत्पन्नः
 भावाभावयोः परस्परविरोधात्स्थितलक्षणतया एकत्रायोगात् ।
 अथ द्वयोर्तन्मन्तरेणैकवृत्तयोरुपस्थापकत्वायोगात् नित्यधर्मोप-
 पत्तित्वेनित्यत्वधर्मोपपत्तये च बाधा । न । अनुमानस्याऽनुमाना-
 न्तरेण बाधायोगात् । तथाहि-तुल्यबलतयोर्वा तयोर्बाधक-
 भावोऽतुल्यबलतयोर्वा ? । न तावदाद्यः पक्षः । द्वयोस्तुल्यत्वे एक-
 कस्य बाधकत्वमपरस्य च बाधत्वमिति विशेषोपपत्तयः ।
 न च पक्षधर्मताप्रसाध्यादिरिकस्य विशेष-प्रतिपक्षज्युपगमात् ।
 अस्त्युपगमे वा तत्र एवैकस्य दुष्टत्वाच्च किञ्चिदनुमानबाधया ।
 तत्र पूर्वः पक्षः । नापि द्वितीयः । यतोऽतुल्यबलत्वं तयोः पक्ष-
 धर्मत्वादिभावकृतम्, अनुमानबाधाजनित वा ? । न तावदाद्यः
 पक्षः । तस्यानुपपत्तियोगात् । अस्त्युपगमे वाऽनुमानबाधाविधेय-
 प्रसक्तेः । नापि द्वितीयः । तस्याद्यापि विचारोऽस्यदत्त्वात् ।
 न हि द्वयोर्लक्षणाऽतुल्यत्वे एकस्य बाधत्वमपरस्य च बाध-
 कत्वमिति व्यवस्थापयितुं शक्यम् । तत्रानुमानबाधाकृतमप्य-
 नुत्तबलत्वम्; इतरेताप्यद्वयोपस्थापकः परिकृतत्वात् । एतेन प-

कल्पसामान्यतरत्वादेरपि प्रकरणासमस्य व्युत्पासः कृतो द्वयद्वयः ।
 स्यायस्य समानत्वात् । यद्यप्यत्रासाधारणत्वात्सिद्धयत्वाद्यद्वय-
 निरासार्थमन्यतरशब्दाभिधेयत्वं पक्षसपत्नयोः साधारणं हेतु-
 त्वेन विधासितम्, अन्यतरशब्दात् तथापिधापेक्षितप्रतिपक्षस्तस्य
 तत्र योग्यत्वादिर्व्याप्यमानम् । तदप्यसङ्गतम् । यतो यत्रानियमेन
 कल्पसंबन्धो विवक्षितो भवति तस्यै लोकान्यतरशब्दप्र-
 योगो ह्येहः । यथा-देवदत्तश्चन्द्रदत्तयोर्मन्तरं ज्ञेयमित्यत्रानिय-
 मेन देवदत्तो यश्चन्द्रो वा भोजनक्रियायां संबन्धते, इत्यन्यतर-
 शब्दप्रयोगः । नचैवं शब्दः पक्षसपत्नयोर्मन्तरः ; तस्य पक्ष-
 त्वेनान्यतरशब्दवाच्यत्वायोगात् । यद्यपि यदा पक्षधर्मत्वं प्र-
 बोद्धा विवक्षति, तदाऽऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्षसाधारणिव्याप्यमानम् ।
 तदप्यसङ्गतम् । एवं विवक्षयाभासस्य कल्पसामान्यतरमित्येव
 धैरूपतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः । नहि कल्पनिवारितस्यार्थत्वं, धै-
 रूप्यं बोधोपपत्तिम् ; अतिससङ्गात् । तत्त्वं वाऽप्यस्य गमकता-
 निबन्धनस्याऽभावत्वात् सम्यग्भूतत्वं स्यादित्युक्तं प्राक् काला-
 त्पचापदिष्टस्य तुल्यलक्षणमसङ्गतमेव । नहि प्रमाणप्रसिद्ध-
 रूप्यसङ्गावं हेतोर्विषयबाधा संभाषिनी, तथाविरोधात् । सा-
 ध्यसद्भावं पक्ष हेतोर्धर्मिण्ये सङ्गावर्षकूप्यम्, तद्भावं एव
 च तत्र तत्सङ्गावो बाधा, भावाभावायोर्लोकधैरूपस्य विरोधः । कि-
 चाप्युक्तमर्थः कुतो हेतुविषयबाधाकत्वमिति चक्रेव्यम । स्वा-
 योसंबन्धं तयोर्भावादिति चेत्-हेतावपि सति धैरूप्यं तत्समान-
 मित्यस्मावपि तयोर्विषयो बाधकः स्यात् । दृश्यते हि चन्द्रा-
 कविस्थैरप्राह्वयत्वं देशान्तराप्रसिद्धकूपमभवत्तदप्यनुमानेन
 बाध्यमानम् । अथ तत्स्थैरप्राह्वयत्वंस्यत्वात्प्रासास्यत्वाद्यत्वात्पथ्यं
 नलोकशास्त्रप्रभावादानुमानस्यापि नद्वान्नासत्त्वाद्वाप्यथमत्यम्-
 धुनुरनतस्यम् । नचैवमस्तिविति चक्रेव्यम, यतस्तस्मै तद्भासात्त्वं
 किमप्युक्त्वापत्त्यादुत्तं धैरूप्यकत्वम् । न तावदाहः पक्षः ।
 हस्तेतराभ्यर्थापसङ्गात्वात् । नदाभासत्वेऽप्युक्त्वाभावात्पथ्यं, तत्र
 तद्भासात्त्वमित्येकासिद्धयत्वंतराप्रसिद्धः । नापि द्वितीयः ।
 धैरूप्यसङ्गावस्य तत्र परेणाऽनुपगमाद् । अत्रऽनुपगमं वा तत्र
 पक्ष तस्यागमकत्वापत्तेरप्यस्तत्त्वाभावाऽऽनुपगमनिवैयर्थ्यात् । नचा-
 धिगतविषयसंज्ञं हेतुलक्षणमुपपन्नम्, धैरूप्यवशिक्षितस्यैव तस्य
 गमकाङ्ग-बोधोपपत्तेः । न च तस्य निश्चयः संभवति; स्वसंबन्धि-
 नोऽप्राधिपत्यनिश्चयस्य तत्काङ्गाजिनोऽस्तस्यगनुमानेऽपि स-
 साध्यावशिक्षितस्यैव तस्य गमकाङ्गत्वोपपत्तेः । न च तस्य निश्च-
 यः संभवति, स्वसंबन्धिनाऽप्राधिपत्यनिश्चयस्य तथाकालाजिनो-
 प्रसम्भवाभावादानुपगमनस्तत्त्वनिश्चयः । स्वसंबन्धनस्तस्य
 सिद्धत्वात् । प्रागमसंबन्धिनाऽनैककालान्तिकाश्रसंभवस्तनिश्चयः
 प्रागनुमानप्रवृत्तेः । तस्यासिद्धेऽनुमानोत्तरकालं तसिद्धत्वात्ऽनु-
 पगमं इतरेतराभ्यर्थापसंकेतः । तथा हि-अनुमानप्रवृत्तौ संवादा-
 निश्चयः, ततश्चाबाधितत्वावगमे अनुमाने प्रवृत्तिरिति वार-
 ष्कद्वयनितेतराभ्यर्थापसंकेतः । न चाविनाशम् निश्चयत्वात्प्राधिप-
 त्वविपर्ययनिश्चयः ; यतो बहुययोग्यविनाशोपनिश्चयसामानिदि-
 नाभावाधितविषयनिश्चयश्च अपिनाभावाधितविषयस्यैवासंभवात् ।
 अत्र च प्रत्यङ्गामगमविपर्ययनिर्देशानुगततत्प्रयुक्तस्यैव कालात्-
 ध्यापदिष्टत्वं, तर्हि युक्तोऽयं देवदत्तः, त्वनुपगमादुभयाभिमतान्य
 पुत्रवत्, इत्यस्यापि गमकता स्यात् । न हि सकलशास्त्राभावात्

नृत्य लिङ्गजनितानुमानबाधितविषयत्वमन्तरेणान्यदप्युक्त्वाधि-
 तविषयत्वं वा गमकतानिबन्धनमस्यास्तान् वाऽनुमानस्य तुद्वयव-
 लत्वात्तानुमानं प्रति बाधकता संज्ञाविहितव्यवस्थः निश्चितप्र-
 तिव्यभिहितमस्यस्यानुमानस्याविहितव्यवस्थेतिङ्गस्यस्य-
 नानुपयबलत्वात् । अत्र एव न साधर्म्यमात्रेणोक्तमेकः अपि त्वा-
 क्षिप्तपत्त्यनिकाल साधर्म्येतिशेयात् । नापि व्यतिरेकमात्रात् कि-
 म्बुद्धीकृतत्वमेवात् । तद्विद्योपास्येव च परस्परविद्योर्भेदमभावात् ।
 अपि तु परस्परस्वरूपताहृदयत्वात्साधर्म्येतिशेयत्वंकल्पत्वात् । न
 च प्रकृतहेतौ प्रतिबन्धनिरवकायकप्रमाणनिबन्धनं धैरूप्यं निश्चित-
 मिति । तदन्वावादेवाह्य हेतवानासत्त्वं, न पुनरस्तत्वादिपक्षत्वात्वा-
 धितविषयत्वापरकत्वविरोधात् । यदा च पक्षधर्मत्वाद्येनकास्ताव-
 रूपात्मकमेतं लिङ्गमभ्युपगमात्विषयः, तदा तत्तत्प्रभूतमेव वस्तु
 प्रसाधयतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः ? नच साध्याप्रधानयोः प-
 रस्परतो धर्मिणाश्चैककालमेव पक्षधर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमा-
 त्रं, संकथासिद्धेः । नच समवायादेः संबन्धस्य निषेधे एकाधिक-
 समवायादिः साध्याप्रधानयोर्धर्मिणाश्च संबन्धः संभवः । एका-
 स्तपक्ष तादात्म्यादेतदुत्पत्तिप्रसङ्गोऽप्यसावश्यक एवेति पक्षधर्म-
 स्य सपक्ष एव सत्त्वं, तदेव विपक्षतः सत्त्वं व्यावृत्तामिति
 चाच्यम ? ; अथव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सत्त्वा-
 तादात्म्यायोगात् । तस्य वा केवलान्यर्थो केवलत्वमिति-
 रेका वा सर्वो हेतुः स्यात्, न विकल्पत्वात् । व्यतिरेकस्य चाभा-
 वात्प्रायस्वरूपत्वाकेनोत्पत्तपरत्वंऽभावरूपा हेतुः स्यात् । नचाभा-
 वस्य तुच्छरूपत्वात् स्वसाध्यं धर्मिणा वा संबन्धोपपत्तिमा-
 त्रं । एवं विपक्षं सर्वत्रात्मस्वमेव हेतोः । स्वकीयं व्यतिरेकं प्र-
 तिनियस्य तत्रासंभवात् । अतस्तद्व्यतिरेकमन्तरेणैककल्पसंकेतं
 न तुच्छानायमात्रमिति चक्रेव्यम, यतो यदि सपक्ष एव सत्त्वं वि-
 पक्षादप्यनुपपत्त्यं न ततो विकल्पितं, तदा तस्य तदेव साध्याप्रार्थ-
 नापत्तिमत्त्वं, वस्तुनान्नासाध्याप्रार्थनेण प्रतिनियतस्य तत्रासंभ-
 वात् । अथ तत्सन्धर्म्यत्वंऽप्येवमन्तरेणैककल्पस्यानिकल्पमात्रकस्य हेतोः
 तथातस्तस्य साध्याप्रार्थनाजुत्येन निश्चितस्यानिकालात्प्रसङ्गवस्तुप्र-
 तिपादनात् कथं न परापत्त्यस्तहेतुता संभवो विकल्पनिकालेन
 ह्यास्तस्य । किञ्च हेतुः सामान्यरूपो बोधाहीनश्च परेऽपि, विद्यो-
 रको वा ? यदि सामान्यरूपः, तदा तद्विकल्पयोर्जिघ्रसामिभं वा ?
 न तावद्विषय इदं सामान्यम्, अर्थविद्योः अथ तद्वान्विति वस्तुन-
 बोधपरम्भानुपपत्तिप्रकारः । तथा च सामान्यरूपं भेदनाऽनुपगम-
 दाश्रयत्वात् । न च समवायशास्त्रपरस्परत्वेऽपि हेतुपपत्तिप्रकारः,
 यतः समवायस्यैव हेतुहेतुत्वमुपपत्तियते । न च भेदप्रहणमन्त-
 रेण हेतुत्वव्यतिरेकमिति बुद्धरूपत्वात्संभवः । किञ्च । तादात्म्यविरो-
 धाविरोधो बुद्धिरिति कारणदानात्सिद्धयत्वात् । न च सामान्य-
 निश्चयः संस्थानभेदावसायमन्तरेणापत्तये यतो ह्ये पराधी-
 स्वकमुपपत्तिमत्ततो मातृहीतसंस्थानजं-अश्वत्थाद्विस्त्रासाध-
 मुपपत्त्यु शक्योत् । न च संस्थानभेदावसायमन्तरेणापत्तये यतो ह्ये पराधी-
 स्वकमुपपत्तिमत्तये संभवतीति कथं नेतरेतराभ्यर्थावप्रसङ्गः । तथा-
 हि-पदाधिप्रहणं सति संस्थानभेदावसायमन्तरेणापत्तये यतो ह्ये पराधी-
 शोपायबोधः, तस्मिन्नश्च सति पदाधीस्वरूपावगतिरिति व्यकमित-
 तेतराभ्यर्थापसंकेतः, चक्रेव्यम । किञ्च । अश्वत्थादेः समवायेऽ-
 न्येव स्यादधिसंयोगतत्त्वैककल्पहेतुः येषु प्रथमतः मुपपत्त्याभा-
 नाया व्यतिरेकस्याविनाशान्तेन बोधो न भवेत् । व्यतिरेक्येषु देशे
 सामान्येऽप्येव स्वाधीयसंयोगतस्यानवस्थानात्, व्यकान्तरा-

द्वानामवस्थानाच्च । ततः स्वहेतवन्नुपगन्तव्यम्, एवं च कर्कादिभिरेव शाब्दश्रेयादिभिरपि तदभिप्रेयते । न च कर्कोद्यानामेव तदभिप्रेयकिसामर्थ्यं, न शाब्दश्रेयादीनामिति वाच्यम् । यतो यथा प्रत्यासराया ता एव तद्वात्मन्यवस्थापयन्ति तथैव ता एवाश्लोषव इत्येकाकारपरामर्शप्रत्ययानुपजनयिष्यन्ति । किमपरतदुभित्तसामान्यप्रकल्पनाच्च ? । न च स्वार्थप्रद्विषययोगात् प्राक् स्वज्ञानजनने अस्मर्थे सामर्थ्ये तदा परैरनाधेयतितशयं तमेपेक्ष्य स्वावभासिज्ञानं जनयति, प्राक्तनास्मर्थेस्वज्ञावापरिस्थागस्वज्ञानानुरानुपादे च तदयोगात् । तथाऽऽनुपगमे च कृषिकताप्रसक्तः न च स्वभावेनरस्योपजायमानस्य ततो भेदः, स्वैकधासिद्धित्तज्ञावैर्ष्यं प्राग्वत्तस्य स्वावभासिज्ञानजननायोगाच्च प्रतिप्राप्ताः स्यात् । तथा च सामान्यस्य व्यक्तित्वां नैदनाप्रतिभासमानस्यासिद्धत्वायेहेतुत्वम् । किञ्च । प्रतिव्यक्तिसामान्यस्य सत्योपमा परिस्मात्सामान्यानुपगमात् एकस्यां व्यक्तविविध, शतस्वरूपस्य तद्वैध व्यक्तयन्तरे वृत्त्यनुपपत्तेस्तद्वृत्तरूपप्रत्ययस्य तत्रासंनवाद् असाधारणता हतोः स्यात् । यदि चासाधारणरूपा व्यक्तयः स्वरूपतस्तदा परसामान्ययोगादपि न साधारणतां प्रतिपद्यन्ति इति व्यथा सामान्यप्रकल्पना; स्वतोऽसाधारण्यस्यान्ययोगादपि साधारणरूपत्वाद् व्यक्ययः, स्वरूपतस्तदा परसामान्ययोगादपि न साधारणता; अनुपपत्तः स्वतस्तद्वपत्वेऽपि निष्फला सामान्यप्रकल्पनेति व्यक्तियुतिरिक्तस्य सामान्यस्याभावादासिद्धस्वरूपज्ञानो हेतुरिति कथं ततः साध्यसिद्धिः ? । अथ व्यक्तव्यतिरिक्तं सामान्यं हेतुः । तदप्यसङ्गतमेव । व्यक्तव्यतिरिक्तस्य व्यक्तित्वरूपव्यवस्थान्तरानुपगमात् सामान्यरूपताऽऽनुपपत्तेः । व्यक्तयन्तरे साधारण्यैव वस्तुनः सामान्यमित्यभिधानात् । तस्यासाधारण्ये वा न तस्य व्यक्तित्वरूपव्यतिरिक्त्यमानमूर्तिता, सामान्यरूपतया भेदाव्यतिरिक्त्यमानस्वरूपस्य विरोधात् । तत्र व्यतिरिक्तमपि सामान्यं हेतुः, व्यक्तित्वरूपवत्साधारण्येन गमकत्वायोगात् । अत्र पृथ न व्यक्तिकरूपमपि हेतुः । नचोभयं परस्परानुबुद्धिं हेतुः, वभयोदोषप्रसंगात् । नाप्यनुपपत्तयम्, अन्त्यान्यव्यवच्छेदरूपानामिकाभावे द्वितीयविधानाद्भुमथस्यासात्वेन हेतुत्वायोगात् । बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यं वस्तुकरत्वात् साध्यनाप्रतिबद्धत्वादासिद्धत्वाच्च, न हेतुः । तस्मात्पदार्थान्तरानुपपत्त्यावृत्तसामान्यानि विभ्रदकमेव पदार्थस्वरूपं प्रतिपद्युभेदाभेदप्रत्ययस्युतिनिश्चयं हेतुत्वेनोपादीयमानं तथाभूतसाध्यसिद्धिनिश्चयमन्युपगन्तव्यम् । न च यद्वैध रूपं रूपान्तराद्भावेनैते तद्वैध कथमनुबुद्धिसामसादयति ?, तच्चानुबुद्धते, तत्कथं व्याख्याकृत्पतामत्साकारोतीति वरुण्ये ? , भेदाभेदरूपतयाऽध्यक्तः प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरोधासिद्धेरित्यसङ्घटोदोदितत्वात् । किञ्च । एकान्तवाद्युपपत्त्यस्ततोः किं सामान्यं साध्यम् ? , आहोस्विद्विशेषः, उतोभयं परस्परविक्रमम्, उतसिद्धनुभयमिति विकल्पाः ? । तत्र न तद्व्यक्तिसामान्यम्, केवलस्यासंभवात्, अर्थक्रियाकारिः यविकल्पनाच्च । नापि विशेषः, तस्याननुपादित्वेन साधयितुमशक्यत्वात् । नाप्यनुभयम्, उभयदोषानातिवृत्तेः । नाप्यनुभयम्, तस्यासतो हेतवस्थापत्वेन साध्यसातोभावात् । पतदोषाद्यथापञ्चाङ्गेनः अन्योन्यप्रतिकुष्टी प्रतिप्रतिस्ती ह्यव्यपेतेः सामान्यविशेषिकाः सावस्यज्ञाविति, इतरवित्तुक्तस्यैकस्य शशशङ्कादेरिव साधयितुमशक्यत्वात् ।

सामान्यविशेषयोः स्वरूपं परस्परविक्रमनृपा निराकुर्वन्नाह—
 दृञ्चट्टिय-वत्तवन्दे, सामग्रेण पञ्जवस्तय विसिसेमी ।
 एए ममोवृणीया, विजजजावय विसिसेमी ॥ १३ ॥
 दुःखास्तिसक्य वत्तवन्दे भाव्यं विशेषं निररोधेय सामान्यमात्रम्; पर्यायास्तिकस्य पुनरनुस्यूताकारविविक्तो विशेष एव वाच्यः । पत्तो च सामान्यविशेषावयव्यानिरोधो, एकैकरूपतया परस्परप्रधानेन एकत्रोपनीतो प्रदर्शितो, विजजवाद्मनेकान्तवादां स्तपथादस्वरूपमतिशयाने, अस्त्यरूपतया तत्तास्तवतिशयं उभये इति यावत् । विशेषे साध्येऽनुगमाभावात्; सामान्ये साध्ये सिद्धसाधनेवैफल्यतः, प्रथानेयमरूपे साध्ये उभयदोषापापित्तः, अनुभयरूपे साध्ये उभयमात्रम्; साधयव्यायोगात् । तस्माद्वाद्यत्वात्सद्भूतसामान्यविशेषप्रमात्मकसाध्यधर्माधारसाध्यधर्मिण्यन्योन्यानुबुद्धसाध्यधर्म्येधर्म्येस्वभावात्क्यामकहेतुमद्दर्शनतो नैकान्तवाद्पक्कोक्तोपायक्याः संज्ञाति । अत्र पृथ गथापञ्चाङ्गेनैतो सामान्यविशेषोऽपि समुपनीतो परस्परसम्बन्धतया स्याद्वाद्प्रयोगतो धर्मितयवस्थापितौ चिजजवाद्मनेकान्तवाद् विशेषयतो निराकृतः; अत एव थयोरतत्तज्ज्ञानेत् । अन्त्याऽऽनुमानवपवस्यैकत्वायेनास्तव्यदित्यपि दर्शयति ।

यत्रानुमानं विषयतयाऽनुपगमन्यमिति दर्शयन्नाह—
 हेतुविसमोवाणीयं, जह वयणिज्जं परो नियचं ।
 जडं तं जहा पुरिद्धो, दाई तो केण जिचंति ? ॥ १३ ॥
 हेतुविषयतयोपनीतनुपदर्शिनं साध्यधर्मिज्ञज्ञानं वस्तु पुष्येपञ्चाङ्गादिनः 'अनित्यः शब्दः' इत्येव यथा वचनयोः परो दृपणवादां नियतयति, सिद्धसाध्यनाऽऽनुपगमादौपच्युत्यासेनैकान्तवचनयोस्य तद्वचनचर्माऽऽनुपपत्तव्यविक्रमोदुपपत्तया नियतयितुं शक्यत्वात् । यदि तच्चा द्वितीयमामात्रं स्यात् शाब्दयोजनेन 'पुरिद्धः' पुष्येपञ्चाङ्गादां अदर्शयिष्यत्, ततोऽसौ नैव केनचिदुच्येत । ततश्चासौ तथायूतस्य साध्यधर्मिणः प्रदर्शनात् प्रदर्शितस्य कैकान्तरूपस्यासत्त्वात्, तत्प्रदर्शोऽस्तव्यदितया निप्रहाई इति ।

पतदेव दर्शयन्नाह—

एगतामन्नूयं, सन्नूयमणिच्छिपं च वयमाणो ।
 लाईपपिच्छियारणं, वयणिज्जपदे पदई वई ॥ १४ ॥

आस्तां नावधेकान्तेनासद्भूतमसत्यं, सद्भूतमप्यनिश्चिनं वद्ववादां लौकिकानां परीक्षकानां वचनीयमानं पतति । ततोऽनेकान्तात्मकास्तेनोः तथात्नमेव साध्यधर्मिणं साधयन् वदात् । सद्भावाः स्यादिति तथैव साधयित्वाभूतं हेतुधर्मिणित्तं प्रदर्शनीयम् । तद्वर्शने हेनेनः स्वपक्षविपक्षयोः सदस्त्वमवश्यं प्रदर्शनीयमिति यदुच्यते परैः । तद्व्यास्तं जवति । तावन्मात्रादेव साध्यमतिपत्तः । न च ततस्तत्प्रतिपत्तावपि विद्यमानत्वाद् रूपान्तरमपि तत्रावश्यं प्रदर्शनीयम्, ज्ञानत्वादेरपि तत्र प्रदर्शनप्रसक्तेः । अथ सामर्थ्यात् तत्रप्रतीयत इति न चवचने प्रदर्शने तद्विषयव्यतिरेकावपि तत एवावश्यं प्रदर्शनीयः; अत एव दृष्टान्तोऽपि नावश्यं वाच्यः । साध्यधर्म्येधर्म्यप्रदर्शनेनपरव्यावस्थोपपत्तयानमनवचनयोस्तु दुरापास्ताना, तद्वर्शनेप्रदर्शनासाधयित्वाभूतहेतुधर्मिणित्तमात्रं साध्यप्रतिपत्तुपत्तेस्तथा तदयोगात् । जिज्ञज्ञानहेतुप्रदर्शनवादान्तरनुनिर्गद्यस्वरूपानुपगमविरोधः; निरदोः प्रैकज्ञापयिरोधात् । परि-

कद्विपत्स्वरूपैकव्याभ्युपगमोऽप्यसंगतः । परिकल्पितस्य परमा-
 धैसत्त्वं तदधोगतमितिक्रमात्; प्रपरमार्थसत्त्वं तल्लक्षणशाखायादसतः
 सल्लक्षणवचिरोधात् । न च कल्पनाव्यवधापितल्लक्षणजेदाह-
 ष्यनेषु उपपत्तिमानिति शिक्ष्यन् निरंशसत्त्वानस्य किञ्चित्पं धा-
 ष्यम । न च साधनार्थाद्विषयतिरंकेण तस्य स्वरूपं प्रदर्शयितुं शक्यन्
 इति । तस्य निःस्वभावतासत्त्विकः । न चैकलक्षणहेतुत्वादिनादिसंय-
 क्तान्तात्मकवस्त्वभ्युपगमात् दर्शनव्याघात इति वाच्यम् । प्रयागै-
 गम एषैकलक्षणतो इत्युक्तिरिति व्यवस्थापितव्यात् । नचैकान्तवादिनीं
 प्रतिबन्धप्रहणमपि युक्तिसङ्गतम् । भवित्वालि तत्कं भ्राम्यन्ति ज्ञानपी
 र्थापर्याजावात् । प्रतिक्षणार्थसिन्धुपुन्यप्रहणाद्युत्पद्यैकचित्तन्याना-
 धात्वात् । कारणस्वरूपप्रादिणा हानेन कार्यस्य तन्स्वरूपप्रादिणा कार्य-
 कारणत्वाभावेभेदः; एकसंबन्धिस्यकल्पप्रहणोऽपि तदुपग्रहणप्रसक्तः ।
 न च तदभावेऽपि निश्चयाऽनुपपत्तयः, सविकल्पकल्पेन प्रथमा-
 क्रिसन्निपातजस्यार्थकस्य व्यवस्थापनात् । न च कार्योनुनवानन्त-
 रत्वादिना स्मरणेन कार्यकारणभावेऽनुसंधेयं इति यत्कल्प्यम् ;
 अनुनूत एव स्मरणप्रादुर्भावात् । न च प्रतिबन्ध- केनचिदनुभूतः;
 तस्योपपत्तिप्रवृत्तात्; उतस्य च पूर्वापरकालज्ञापन एवकान्प्र-
 हणात् । न च कार्योनुनवानन्तरत्वाभिः स्मरणस्य कार्यानुज्ञाया
 जनकः, तदन्तरं स्मरणस्याभावात् । न च कृणिकेकान्तवादे कार-
 यैकारणत्वात् उपपत्तिमानित्युक्तम् । न च स्तान्नादिकल्पनाऽप्य-
 त्तोपयोगिनी । न च स्मरणकालेऽतीततल्लिखयमात्रं प्रतीयते, अपि
 तु तदाऽनुभविताऽपि ब्रह्मेतन्निर्दिष्टमनुनूतत्वानित्यनुपपत्तिना धाराऽ-
 नुनूतविषयस्त्वुत्पद्यवसायादेकाधारे अनुजवस्मरणे अभ्युपग-
 मत्त्वं; तदभावे तथाऽप्यवसायानुपपत्तेः । नचातुर्वस्मरणयोग-
 रगतवैतन्यात्वात् तद्वन्ततया अनुभवस्मरणयोस्तद्वा प्रतिपत्ति-
 युक्तौ । नहि यत्प्रतिपत्तिकाले यथाहित, तत्कर्मतया प्रतिपत्तौ यु-
 क्तः; नोधाभावे प्राणाहादिकसंस्थित्वात्तन्मयापि संसृतः; अस्ति त-
 त्कर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तद्वि प्रतिपत्तिरिति कर्तव्यं कृणिकेका-
 लत्वात्; तत्र वा प्रतिबन्धनिश्चय इति ? । नचैकान्तवादिनः सामा-
 न्यादिकं साधयं संनवीति प्रतिपादितम्; नतमादनेकान्तात्मकं च-
 स्वरूपभ्युपगमत्वव्यम, धर्माद्यदः प्रमाणस्य तत्रातिपादकत्वेन प्रवृत्तेः ।

(८) स एव च सत्त्वाग्नां (अनेकानां एव सत्त्वाग्नां)

स्वरूपसंहरकाह—

द्वन्द्वं द्वेषिं कालं, जावं पञ्जायदेससंजोगे ।

भेदं च पदुच्च समा, भावाणं पञ्चदशपञ्जा ॥ १५५ ॥

ऊच्यतेऽनेकानां भेदोऽसंयोगात् । नरे चेत्यद्यै प्राधाना-
 भित्य वस्तुनां भेदे सति समा सर्ववस्तुविषयताः प्रतिज्ञाप्यरू-
 पायाः स्याद्वाद्कपायाः यथा पन्था मार्ग इति यावत् । तत्र द्वन्द्वं
 पृथिव्यादि, क्षेत्रं तद्वच्यवरूपं तदाभ्यं वा आकारा, कासं कु-
 षपदङ्गित्यर्थोऽङ्गलक्षणं कर्तव्यात्मकं वा, नवपुराणदिल्ल-
 क्त्वां भाषय, मृशाहुरादिप्रसन्नं पर्यायम्, क्पादिस्यत्राभवं देशम्, मृ-
 शाहुराकाराधिक्रमनादिविभागं संयोगं चूत्पत्तिप्रियेकं स-
 मुद्रात् इत्यपर्यायसङ्गणं भेदं, प्रनिष्कल्लश्रयाः संज्ञानामकं वा; जीया
 आदिमायानां प्रतीय- स्वमानतया तद्वत्त्वानामकत्वेन प्रकृापना-
 निकृपणा वा सा सत्यं इति नहि तद्वत्त्वानामकेकद्वयत्वादिनेदा-
 न्ये च ऋद्विषयाणां जीवादिप्रसन्नं विशेषं; यतो न प्रवृत्तेऽनेक-
 लभाभपर्यायद्वयसंयोगेऽर्थात्तं वस्तु कश्चित् प्रत्यक्षध्यानाप्य-
 त्तमप्रमाणं नावगन्तुं शक्यम् । न च प्रमाणाणां चरस्य सद्दृश्यवहा-

रगोचरणा संबन्धिनिति तद्वत्तादात्मकं तदभ्युपगमत्वव्यम । नल्लो-
 कान्तोऽनन्तात्मके ऋत्वादिभेदमित्थं व्यतिरिक्तकल्पं च प्रमाणं
 तन्निरूपयितुं शक्यम्, इत्यादिभ्यतिरिक्तस्य शशुभङ्गवत् कुत-
 क्षिप्रप्रमाणप्रतीतिः । नहि ततोऽसंवादीनां जेदेऽपि समवायसं-
 कचधशात् तत्संबन्धताप्रसङ्गः । सत्यार्थानेन तद्वद्विज्ञेयकल्पेन-
 द्रव्यानांतुल्यः । प्रथमविकल्पं समवायित्वात्प्रसक्तः । संवाधि-
 भेदतो जेदात् संयोगावदित्यव्यवसत्त्विकः । द्वितीयकल्पनाया-
 मपि संवाधिसङ्करप्रसक्तः । नचैवं छत्रवृद्धकुरादिसंब-
 न्धविशेषाद्विशेषादेव साधयं स समवायिनां जातिगुणत्वादे मे-
 नोपलब्धेः । नहि य एव द्वाद्देवदृश्योः संबन्धः स एव
 उवादिभिरपि, तत्संबन्धाविशेषणार्थोपपत्त्यप्रसक्तः । न विशेष-
 षणं विशेष्यं धर्मोन्तरा द्वयविज्ञापनात्मन्यनवस्थापयत् विशेष-
 णकर्ता प्रतिपन्नः । एवं समवायसंबन्धस्यार्थविशेषे ऋत्वादी-
 नामपि विशेषणानामविशेषात्त जीवाजीवादिद्रव्यव्यवच्छेद-
 तात्त्वादि स्यादिति समवायिसङ्करप्रसक्तः कथं नासज्येत ? । न च
 सप्रमायस्तद्वद्वाहकप्रमाणाभावात् संनवीति, तदभावे न वस्तुनां
 वस्तुत्वयोगो भवेदिति तद्वेकान्तात्मकेकल्पमभ्युपगमत्वव्यम ।
 नचैकानेकात्मकत्वं वस्तुनां विकल्प, प्रमाणप्रतिपत्ते वस्तुनि वि-
 रोधायोगात् । तथाहि—एकानेकात्मकमात्मादि वस्तु, प्रमेयत्वा-
 त्, चिप्रपत्तकल्पवत्, प्राणाहादिककारसंघित्करूपेकविज्ञानस्य प्रत्या-
 त्तसंवेदनीयत्वात् । न च धैरोधिकं प्रति चिप्रपत्तकल्पेकानेक-
 त्वमासिद्धम्, प्राक् प्रसापिद्यत्वात् । नापि प्राणाहादिकसंघित्क-
 ल्णरूपप्रथमकर्मके विज्ञानं बोधं प्रत्यसिद्धम्; तथाप्यनुभवा-
 नस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयस्य प्रतिपन्नप्रसक्तः । स्वाधकार्याधि-
 ज्ञानमभिनन्दनकल्पम्, विज्ञानस्य च वेद्यवत्कारोऽभिज्ञानात्मानं,
 कथञ्चिदनुभवगोचरपक्षे । एतन्न प्रतिपन्नस्यनयानेवद्वेदमुभव-
 द्धि न सर्वथा जेदवत् संवेदन इति संविदात्मनः स्वयंभिकस्य
 कर्मवर्त्येकानेकात्मकत्वं न विरोधमनुभवनांति कथमध्यक्रादिपि-
 रुद्धं निरन्वयविनाशिव्यमभ्युपगन्तुं युक्तम् । नहि कदाचित् क्वचि-
 त् कृणिकत्वमन्वेदोऽप्यङ्गतोऽनुनूयन्; नैव निर्णयानुपपत्ते-
 भेदात्मन एवात्तविज्ञानस्य षड्विधाद्वैकान्तिकस्य निश्चयात् । तथा
 नूतस्यानुभवस्य प्रानतिकल्पनायां न किञ्चिदध्यक्षमज्ञानल्ल-
 ष्यमागु भवेत् । न हि ज्ञानं वेद्यवत्काराद्यै स्पृशाकाराद्यत्मकं प-
 रमागुरुप वा घटादिकमेकं निरीक्षणमे, यतो बाह्याभ्यात्मिकं
 भेदाजेदकल्पतयाऽनुनूयमानं ज्ञानविज्ञानविषयतया व्यवस्थाप्य-
 त । अतो यथादर्शनमेवयमनुमेयव्यवस्थितः न पुनर्नधातव्यमि-
 त्येतद्विनिश्चिताथोनिश्चयः । नहि क्वचित् केनचित् प्रमाणेनै-
 कान्तकल्पं वस्तु नित्यमप्यं प्रतिपन्नवात्, यत एवं वद्वं शोभतः
 यथा वाऽप्यक्रियकत्वे निरंशज्ञानिकान्तस्ततो मातृमानमव्यव-
 प्रथतितुमुत्सहते, अप्यङ्गवाधितविषयत्वात् । तस्य तेन निरन्व-
 यविभ्रं वस्तु प्रतिक्षणमेवमेकमागोऽपि नावधारयतीति । ए-
 तदप्यसद्विज्ञानस्य । प्रतिक्षणं विशराकतया कुतश्चिद्व्यतीक-
 णात् । अत एव कृणिकत्वेकान्ते च स्वसादिहेतुत्वादीवमानः
 सर्वे एव विकटः, अनेकत एव तस्य संनवीत । तथादि—प्रथम-
 यालक्षणं संवेद्यं न चासौ तत्तत्तत्तत्प्रक्रमयोगपद्यन्तं संनवीत,
 यतो यस्मिन् संवेद्यं यद्वर्थात् तत्स्य कारणांमतिरिक्तं कार्यमिति
 कार्यकारणसत्त्वस्य । कृणिकं च कारणे सति यदि कार्योत्पत्तिर्न-
 वेत् तदा कार्यकारणयोः सहोत्पत्तेः किं कस्य कारणं वा किं कस्य
 कार्यं इत्यवस्थापितं । शैलो कस्य चिक कण्वतीता प्रसज्येत । व-
 दन्तरे यद्वर्थात् तस्यस्य कार्यम्, इतरत् कार्यामित्थं व्यथवा-

बां कारणाभिप्रेते वस्तुयसत्त्वं च भवतस्त्वन्मन्तरभाविष्यत्युत्प्रे-
 ष्टादिप्रतिबन्धादि च तस्य जायते जन्तु, तद्भावाविशेषात् । न
 चान्तरस्यापि कार्यात्प्राप्तकालमप्राप्य विनाशमनुजवत्तत्त्वात्ती-
 लस्येव कारणम् । यतोऽधिक्रिया कृणु कृषे न विक्रयेत् । प्राक्काल-
 प्राप्तिवन् कारणत्वं सर्वे प्रति सर्वस्य कारणत्वं प्रकल्पेयं, सर्व-
 वस्तुज्ञानात् विचक्षिन्कार्ये प्रति भाविष्याविशेषात् । तथा च-
 स्वरपरस्मान्तर्यवस्थाप्यनुपपन्नैव स्यात् । न च साहचर्यात्प्रका-
 षत्वा, सर्वथा साहचर्ये कार्यस्य कारणरूपताप्रसङ्गेकज्ञानमात्रं
 सन्तानः प्रत्ययेन । कथञ्चिदसाहचर्येकान्तपानप्रसक्तिः । न च
 साहचर्ये प्रवृत्तिमिषयाणां, सर्वत्र वैशङ्क्यताविशेषात् । अन्य-
 था स्वकृतात्मप्रकोपवत्प्रोक्तकृणिकैकान्तपानवर्तिनाऽप्यव्यतिरेक-
 प्रतिपत्तिः सन्तवतीति साध्यसाधनायास्त्रिकाभाविषयायाः साक-
 ष्येन म्यानेरिच्छेः । यत्सत्तत् सर्वे कृणिकं यथा शङ्खशब्द इत्याद्य-
 नुमानप्रवृत्तिः कथं न प्रवृत्ते ? अकारणस्य च प्रमाणविषयत्वम-
 न्युपगमसाध्यसाधनायास्त्रिकाभाविषयसिद्धिप्रदव्यस्य दूरतस्त्वा-
 रित्वात् । "नानुक्रुतात्मव्यतिरेके कारणं विषयाः" इति व-
 चनमनुमानोच्छेदकप्रसङ्गे महाप्रादिकारकात्किञ्चन, प्राहा-
 कारकथापि युगपदनेकार्थव्यभिचिनैवैक्यरूपता एकान्तवादि प्र-
 तिक्रियेति । एवं भ्रान्त्याऽऽत्ममग्नस्य स्वशून्यस्यान्वेषेद्विज्ञानं प्रान्त-
 क्रियेत् । एवं कथञ्चिदनुपपत्तयम् । अथवा कथं स्वसंबन्धा-
 न्यज्ञानात् तस्य भवेत् ? तद्भावे च कथं तत्स्वाभावसिद्धि-
 युक्ता ? कथं च भ्रान्तज्ञानं प्राणितरूपतायाऽऽत्मनमसंसिद्ध-
 ज्ञानरूपतया चावगच्छत्सर्वैशङ्क्यता नावगच्छत् । यतो
 भ्रान्तिकान्तरूपताऽऽप्युत्पन्नदशां भवेत्, कथं च भ्रान्तविक-
 लज्ञानयोः स्वसंबन्धनमज्ञानविकल्पके च याऽऽप्युपगच्छन्नेक-
 तां नान्युपगच्छेत् ? प्राहाप्रादिकवृत्त्याकारविकल्पसंबन्धे स्व-
 संबन्धेनैव संबन्धेन सं विदुषां वाऽऽनुवृत्तं कथं क्रमभाविनो-
 र्यिकल्पेन दारमनोरनुमानसंबन्धनात्मानमनुजनवप्रसङ्गे प्रतिक्रियेति ।
 ततः क्रमसहजाविनः परस्परविलक्षणान्वाजावान्वाऽन्यथा-
 रथित्यन्तर्गमनाया व्यानुवृत्तः सकललोकप्रतीतं स्वसंबन्धन-
 मनेकान्तस्वव्यवस्थापकमकान्तवादिप्रतिक्रिये प्रतिष्ठितमिति ।
 निरंशा कृणिकस्य कृणुमन्तर्बहिष्कामिभिनमपि संविचिद्विषयी-
 करोतीति कल्पनाऽऽयुक्तसंगतैव ; अग्रप्रागप्रसिद्धिकल्पनायाः
 सर्वत्र निरङ्कुशान्ता । सकलसंस्कृताकरंनमस्यकेनेहाकस्य
 सविचिः परस्यासंविचिः नाह वास्तवसंबन्धाभावे परिकल्पि-
 नस्य नियामकत्वं युक्तम्, इतिप्रसङ्गात् । न च वास्तवः संबन्धः
 परस्य सिद्ध इति तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावान् साध्यसाधनयोः
 प्रतिष्ठान्नियामाजायेऽनुमनमप्रवृत्तिसिद्धिरिति । अथ कृणि-
 काद् नियतेमानमर्थैक्यालक्षणस्य स्वयमकृणिके च स्वास्यतीनि
 नरंतेनेऽनात्मनकनस्तुसिद्धिः प्राकृणिकेऽपि, क्रमयोगप्राधान्यां
 तस्य विरोधात् । तथाहि न तावदकृणिकस्य क्रमवत्कार्यकारणं
 प्राकृणिकस्यमर्थस्याभिमतज्ञापनं तदकृणिकविरोधात्प्राकृ-
 ष्णसमर्थे पश्चादपि न तत्सामर्थ्यमर्थेरेणामिनोऽनाधेयतित्हाय-
 त्वात् । स्वाभावपरिचिन्विनाशाऽनुपगमेऽपि नित्यैकान्तवादिविरो-
 धात् । ततो व्यतिरेकस्यासिद्धयैव करणं सन्तिहास्यस्य प्राग्व-
 ष्णत्वादिपरिष्कारासंभवात् । सहकारिणोऽप्येहापि तस्याऽपुके-
 ष्णत्वात्सहायस्य प्रागकरणत्वावस्य पुनः सध्रीसहायस्य कार्य-
 करणं प्रवेत्, नहि सहकारिक्रमान्तिसामनकृती कुर्वतस्तदा
 पक्षोपरिचिन्वति तत्र क्रमेषुपरिणामी भावः कार्यं निवर्तयति,
 भापि र्वांगपद्येन कालान्तरे, तस्याकिञ्चिदकृत्येनान्युत्पत्त्यापत्तेः

अन्तर्भावावस्थाव्यतिरेकप्रसङ्गे । न च क्रमयोगपदव्यतिरेकं प्रकार-
 म्तरं संजनतीत्यर्थं क्रिया व्यापिका निवर्तमाना व्याप्यां सत्यो
 नित्याद्विधाया विवर्तते इति । यत् सत्त्वं सर्वमेकान्तात्मकं
 सिद्धम्, अन्यथा प्रसक्तविरोधाप्रसङ्गे । न हि भेदमत्कारण-
 काचित्कथं चैतन्प्रकृष्टादिभिः, इदंविद्ययाऽनेककारणविद्यो-
 त्मकस्यान्तर्भवेत्यस्य संबन्धान्यज्ञाते वर्णनेस्त्वानसदाद्यनेका-
 कारस्य स्थूलस्य सूक्ष्मपरस्मादपरिचयात्प्रादान्तर्यकस्य य-
 दादेर्बहिरेकस्यैक्यजगत्प्रकृतः संबन्धात् । सुखादिस्वरुपादिने-
 द्विकद्वया चैतन्प्रकृष्टादेः कदाचिदप्युपगमनांगवरत्वात्प्र-
 दासामाग्नस्यान्तरसामान्यस्य वा सर्वेयतासंबन्धतामोत-
 कता समवायस्य चानवस्थाद्यतः संबन्धेतराभावात् इ-
 व्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामव्याप्यं तत्त्ववृत्तेः तेष्ववृत्त-
 त्वस्यैवैतदर्थस्यैवप्रसक्तिः स्यात् । स्वत एव समवायस्य
 उभयदिषु वृत्ती समवायमन्तराणां पि द्रव्यात्वापि स्वाधारा-
 वृत्ति स्वत एव तस्मात्करिष्यन्तीति समवायकल्पनावै-
 रथ्यमसत्तत्त्वात्तद्वैदश्यादिप्रसङ्गात् । अग्रहीतस्वभाववै-
 द्युदात्तस्वभावस्य इत्यस्य आतद्वतां सामस्येन प्रदणसंज-
 वात् कथं तद्वत्त्वं तद्वत्प्रणं भवेत् ? अथासाविपत्तौ तदा-
 धेयस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः । सामान्याद्यंशेषु गृहीतेष्वपि सामा-
 न्यादेः वृत्तविकल्पविशेषाणामव्याप्यं तत्त्ववृत्तः तदाधे-
 यस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः । तदश्रमहणेऽपि च सामान्यस्य व्यापितः
 कदाचिद्व्यतिपत्तेः सद् द्रव्यमित्यादिप्रतिपत्तस्तत्त्वानुनकदा-
 चिन्नैवेत्, तदंशानां सामान्यादिरन्वन्तद्वत् । एवं द्रव्यादि-
 पदप्राथम्यव्यवस्थाऽप्यनुपगमा भवेत्, प्रतिभास्येवकारिणां
 सामान्यादंशानां पदाद्यन्तरताप्रसङ्गे । अथ निरंशं सामान्य-
 मनुपगम्यते इति नयं दायाः, तर्हि सकलस्वाध्यायप्रतिपत्तयभा-
 वितो मनावापि न सामान्यप्रतिपत्तिरिति सद् द्रव्यं पृथिवी-
 त्यादिप्रतिपत्तयिनिरामनायः स्यात् । तदंशानां सामान्याद्
 जेदभिरकल्पनान्यां द्रव्याद्य एव जेदभेदात्मकाः किं नाभ्यु-
 पगम्यन्ते ? इति सामान्यादिकल्पना दूरात्सारित्वेति कुन-
 स्तज्जैकान्तकल्पनाः ? ततः सामान्यविशयात्मकं सर्वं वदतु,
 सत्त्वात् । नहि विशेषरहितं सामान्यमात्रं सामान्यरहितं
 वा विशेषमात्रं संभवति तादृशः कश्चिदपि, वृत्तिविरोधात् ।
 वृत्त्या हि सर्वं व्याप्तं स्वलक्षणतास्मान्महात्वाद् वा
 तादृशाऽप्युत्तिवृत्त्वा निवर्तते एव, यतः कश्चिद् वृत्तिमतेऽपि
 स्वलक्षणस्य न देशान्तरवृत्तिः, नान्येन संयोगः, तत्संलग्नव्यव-
 ष्टिस्त्वस्यैवात्तरविरोहादिशेषविकलः, सामान्यत्वात् । एकस्य
 प्रतिबंधधर्मभाविषयाभ्युपगमविशेषाणां तत्त्वसहस्रं सा-
 मान्यलक्षणमेव स्यात् । न च विशेषरन्वदेशात्तैः अस्तु-
 स्वैकत्र तस्य वृत्तिः, अव्यवधानाविशेषात् । एवं च स्वभाव-
 विशेषाणां सामान्यरूपाः सर्वे एव भावाः विशेषरूपाश्च तत्र
 देशकालावस्थाविशेषानियतानां सर्वेषामपि सत्त्वं सामान्यरूप-
 कस्य, अव्यवधानात् । तस्य च त विशेषा एव, अनेके रूपम्, यत्-
 स्तद्वै सत्त्वं परिणामविशेषात्प्राप्त्या गोचरभाष्यतयादिलक्षणा
 जातिः, परिणामविशेषाश्च तदात्मका व्यवह्य इति । परस्पर-
 व्यावृत्तानेकपरिणामयोर्गादेकैकैकानेकपरिच्युत्तिकता संश-
 यज्ञानस्यैवाधिकृता व्यक्लियतिरिक्तस्य सामान्यस्योपलब्धि-
 लक्षणताप्रस्तापुपलब्धिः, शराऽप्यव्यवदसत्त्वात् । स्वस्वभावि-
 प्रत्ययः सामान्यविशेषात्मकव्यवस्थाऽऽवाधिनको न स्यात् ।
 न च अशुद्धादिः शुद्धी वर्णाकृष्टत्वाकारशून्यं सामान्यपर-

धा 'पुष्यव्यापस्तेजो वायुरिति तत्राति' इति न चकल्प्यत् । तत्र-
 धत्कृतत्वाऽभिधानस्य न दोषः, जात्यन्तरकल्पनाया एवा-
 धत्मानत्वात्, राशिद्वयेन सकलस्य जगतो व्याप्तत्वात्,
 तद्व्याप्तस्य स्रष्टाऽङ्गुत्पत्त्वात्, शब्दशब्दादिकान्तस्य च
 प्राक् प्रतिपिड्यत्वात् । अत्रापि तदुपपत्तिभासस्य तथाप्यु-
 त्तवस्तुव्यवस्थापकस्य प्रसाधितत्वादिषुऽपि दोषोऽयं न भवेत् ।
 द्वैतकल्पनायामपि त्रिव्यप्रसक्तः । बाह्यालम्बनभूतभाषापेक्षया
 विद्यात्वापत्तः । अन्याया निविषयत्वेनोपशान्तविशेषात् तत्रप्रति-
 भागस्याधत्मानत्वात् । न हि द्वयोर्निरात्मन्ये विषयैस्तापि-
 पर्यस्तज्ञानयोरेव विद्याऽविद्याऽभेदः । ततो नाह्ये वस्तुः नापि
 तद्व्यतिरिक्तमस्ति । अथाधवादीनामन्यत्रुपपत्तिः, राशिद्वयेन सक-
 लस्य व्याप्तत्वात् । न तत्रलेपां कथञ्चिद्भेदप्रतिपादनायैवात् ।
 अत्रयोरेव तथापरिख्यानयोः सकारणसंसारमुक्तिप्रतिपादन-
 परत्वात् । तथाऽभिधानस्यानेन वा क्रमेण तज्ज्ञानस्य मुक्तिस्तु-
 प्रदर्शनायैवात्, विमतिपत्तिनिरासार्थत्वात्, तद्वदभिधानस्यादु-
 प्रस्तात् । तथाहि—आश्रयति कर्म यतः स आश्रयः, कायवाक्मनो-
 भ्यपराः स च जीवाजीवाभ्यां कर्माङ्घ्रिकः, तथैव प्रतीतिवि-
 यत्यात् । अथ कथाजावे कथं तस्योपपत्तिः? प्राक्तन्मज्ञाये वा
 न तस्य कथं तनुता । न हि यथाह्निस्तुक्, तत्तद्भावेऽपि भवति,
 अतिप्रसङ्गात् । असन्देहत् । पूर्वोत्तराण्यङ्गान्योक्त्याकारण-
 भावनियमात् । नचेत्तरतत्राश्रयदोषः । प्रथापिङ्गयाऽनादित्वात् ।
 पुण्यापुण्यहेतुबन्धहेतुतया चास्ती द्विविधः । उपकीर्णकर्मभेदे-
 मानेकप्रकाराऽपि । दृग्गोचर्यादिभिर्वादिस्तस्याभेदमासाद्यत्
 कृतानुबन्धमनुबन्धिभेदत्वेऽनेकशब्दविशेषाद्यतयतामनुभवति ।
 एकाऽन्वादिता त्वयं नासम्भवतीति ; " कर्मजोगनिमित्तं "
 गार्थार्थं प्रदर्शयद्भिः प्राक् प्रतिपादितत्वात् । सम्भ० ।

(१०) अनेकान्वादिस्वीकाराऽस्वीकारयोः स्वयङ्गीमध्याये-
 " इव्यं गणितपरमं, निष्क इत्यङ्घ्रियायै नामयत् ।
 पञ्चापर्य अणकचं, निरुचानिच्यं च सियवादी ॥ ६२ ॥
 जो सियवायं मासति, पमाणनपपेससं गुणाधारं ।
 भावेऽ सं श्ण गसयं, सो हि पमाणं पवयणस्य ॥ ६३ ॥
 जो सियवायं निद्रति, पमाणनपपेससं गुणाधारं ।
 भावेण छुट्टभाषो, तसो पमाणं पवयणस्य ॥ ६४ ॥ ति० अ० ॥ १० ॥

अष्टमोऽंशः—अनेककोटि-वि० । अनेकाः कोटयोः छव्यसङ्ख्या-
 यां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेषां कटिः कोटिसङ्ख्याक-
 तु कौटुम्भ्यादिषु, ज्ञा० । "अणकानां कुटुम्भ्यादिसङ्ख्यसुहा०"
 अनेकाः कोटयोः छव्यसङ्ख्यायां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेषां
 ऽनेककोटयः, तैः कौटुम्भिकैः कुटुम्भिनः, आकीर्णां संकुलाया
 सा तथा, सा चास्ती निर्धृता च संतुष्टजनयोगासंशोषनीति
 कर्मधारयः । अत एव सा चास्ती सुखाय च वेति कर्म-
 धारयः ॥ ज्ञा० १ अ० । औ० । रा० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकाङ्कुरिक-न० । अनेकानि च तानि अङ्क-
 राणि तैर्निवृत्तमनेकाङ्कुरिकम् । अत्ररादिनिवृत्ते द्विनामनेदे,
 अणु० । "सं किं तं अणगणस्वरिण् ? । अणगणस्वरिण् कश्चा द्वाणा
 लता माला । संस्रं अणगणस्वरिण्" । अणु० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकखण्ड-खी० । अनेकेषां नहतयां नराणां
 मणेरुताः अष्टदशोऽष्टदशानि यस्यां साऽनेकखण्डाः । वि० ० १
 सु० ३ अ० । अनेकनदयस्तरनिर्गमपद्मारावां पुष्यम्, ज्ञा० १८ अ० ।
 १११

अष्टमोऽंशः—अनेकस्वभ्रशतसंज्ञिद्वि-वि० । ७
 त० । अनेकस्य स्वभ्रशतसु सञ्चिद्विद्वेः । ७ अ० । यत्र वा अने-
 कानि स्वभ्रशतानि सञ्चिद्विद्वानि । अ० ६ श० ३ ३ उ० । रा० ।
 वि० ० । " यं च शं महं नभयं करति अष्टमोऽंशस्यसञ्चि-
 विदं लीलछियसामंजियानं " ज्ञा० १ अ० । ज्ञा० ४० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकगुणज्ञायक-वि० । अनेकेषां गुणाना-
 मुपलक्षणत्वाद्दोषाणां च ज्ञायकः । बहुधायाणां ज्ञायकं, "अ-
 ष्टमगुणज्ञायकं यन्निप विद्विषु" जं ३ अ० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकचित्त-वि० । अनेकानि चित्तानि कृषिवाण-
 ज्यावृत्तानादीनि यस्य सोऽनेकचित्तः । कृष्यादिषु व्यापृत-
 चित्तं, अथा० १ सु० ३ अ० २ उ० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकजनम्-न० । अनन्तभये, पञ्चा० ८ वि० ० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकजीव-वि० । अनेके जीवायस्यति । बहुजीवा-
 जीवात्मकं द्वित्यादीं, "पुढवीचिचमंतमफ्नाया अष्टमोऽंशया पु-
 ढोससा" दश० ४ उ० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकयोगधर-पुं० । योगः क्रीडाधवादिदृष्टिच-
 कलापसंबन्धः, न धारयतीति अनेकयोगधराः । ज्ञानसंबन्धेः,
 सूत्र० १ सु० १ अ० १ उ० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकभय-वि० । विविधमरुदेषु मृदममत्य-
 खलमस्यादिषु, प्रश्न० १ ज्ञा० ३ ज्ञा० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकपर्वजुजाप्राह-वि० ।
 अनेकस्य मनुष्यस्य यः प्रवराः प्रलम्बा सुजा वाहयन्तेप्राहो-
 ऽपारम्येऽनेकनरपर्वजुजाप्राहाः । अनेकपुरुषव्यामैरप्रतिभे-
 यन्थीये वृक्षादौ, रा० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकनामन्-न० । अनेकपर्यायेषु, "अनेकपरि-
 यति वा अनेकपञ्जायति वा अनेकनामनेदंति वा परगढा"
 आ० चू० १ अ० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकनिर्गमद्वार-वि० । न विद्यन्ते नै-
 कानि बहुनि निर्गमद्वाराणि निःसरणमार्गाः यत्र, य० १ अष्टि० ।
 अनेकनामनायाराणुचरिय-अनेकनामनाचरानुचरित-वि० । अ-
 नेकं च ये नामनाः ताः नामनानेन प्रज्ञाकारिणः तैर्ननुचरित आ-
 सेवितो वा स तथा । औ० । नामविषेणकारिसेवितं, अ० ११
 श० ४ उ० । वि० ० । पुरादीं, ज्ञा० १ अ० । जं० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकदन्त-वि० । अनेके दन्ता येषां ते अनेक-
 दन्ताः । अष्टिदन्तेषु, तं० । प्रश्न० । अनेके दन्ता येषां ते अनेक-
 दन्ताः । अनेकदन्तयुक्तेषु, तं० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकछव्यस्कन्ध-पुं० । अनेकैः सञ्चित्साऽ-
 चित्तसङ्गणैर्छव्यैर्निष्पन्नः स्कन्धः अनेकद्वयस्कन्धः । विशिष्टै-
 कपरिणामपरिणामसंचेतनाऽचतनदशसमुदायाम्बक ह्यादि-
 स्कन्धे, विशेष० ।

अष्टमोऽंशः—अनेकप्रदेशता-खी० । निष्प्रदेशतायाम्, "नि-
 ष्प्रदेशता संवा-अनेकप्रदेशता हि या ।" निष्प्रदेशता सैव अनेक-
 प्रदेशस्वजातया निष्प्रदेशयोगेन तथा निष्प्रदेशकल्पनायाऽने-
 कप्रदेशयोग्यत्वमुच्यते, द्वया० १३ अथा० ।

अणोयालय-अनैयायिक-त्रि० । न्यायेन चरति नैयायिकः, न नैयायिक अनैयायिकः । असन्ध्यायकृतिके, "अपदिपुष्पे अणयात्राप असस्तुके" । सूत्र० ७ श्रु० २ श्र० ।

अणोलिस-अनैर्हश-त्रि० । नाऽन्यत्र ईदशमस्तंति अनैर्हशम् । आचा० १ श्रु० ६ श्र० १ उ० । अन-यसस्तं अतिरिच्ये, सूत्र० । "जे अथंमं सुकम्पनाति, पिपुष्पमणोलिस" । सूत्र० १ श्रु० ११ श्र० । अतुले, सूत्र० १ श्रु० ६ श्र० ।

अणवन्जय-अनवैजूत-त्रि० । एवमकारमनापणे, "अणवैजूयं पि वेयणं वेदति" यथा शब्दं कर्म नैवं जूताऽनेवैजूता अतस्त्नाम, अयन्ते श्लागमे-कर्मणः स्थितिघातादय इति । ज० ५ श्र० ५ उ० ।

अणोसणा-अनेषणा-स्त्री० । ईयदर्थे नम् । न एषणा अनेषणा । प्रमादावेषणायाम्, घ० ३ अ० पि० । "अणोसणाए पाणोसणाए पाणोत्रोवणाए बीयभोवणाए अणोसणाए" । इदमुक्तं जयति- "अणोसणाए अण-त्रेण दोसणं स्त्रीकता अणोसणाए तुट्टा महस्स सकारेण गदिता" आ०च्यु० ४ अ० । "से एसणं जाणमणसणं च" एषणां गवेषणाप्रदोषणपणादिकां जानन् सम्यगवगच्छअनेषणां चोद्गमदोषणादाकां तयारिहरं विषाकं च सम्यगवगच्छन् । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अणोसणिज्ज-अनेषणीय-त्रि० । एष्यत इवेषणीयं कल्पय, तन्निषेधादनेषणीयम् । ज० ५ श्र० ५ उ० । केमाचदोषेणोऽनुके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । उ०० । साधुनाऽप्राणं, उ०० २० अ० । एष्यते गण्यते उद्गमादिदोषविकलतया स्वाधुनिवैत तदेवणीयं कल्पय, तन्निषेधादनेषणीयम् । स्या० ३ ज० १ उ० । पि० । "पूये अणोसणिज्जे च, ते विज्जे परिजाणिया" । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अनेषणीयपरिहारमधिहत्याह—
 ज्याइं च सहारण्ण, तमुद्दिस्स य जं कुरुं ।
 तारिंमं तु ण गिहोहेज्जा, अणपाणं सुसंजए ॥ १ ॥

अभूद्व अचमि अविघ्न्यति च प्राणिमस्तापि जुतानि प्राणिनः समाप्य मरुत्तमसमाग्माग्मैरुपतापयित्वा ते सासुण्डिहय सवधैरे यत्कुरुं तदकल्पितमाहारोपकरणदिकं तादृशमाध्याकर्मदोषदृष्टं सुसंयतः सुनपस्वी तदक्षं पानके वा न भुञ्जीत । तुशब्दस्यकाराधिसौम्याभ्यवहरदेषं तेन मार्गोऽनुपाश्रितो भवति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अणोह-अनेहस-पुं० । काष्ठद्वये, द्वया० १२ अ०वा० ।

अणोउया-अनुत्का-स्त्री० । न विद्यते ऋतु रकरूपः, शाक-प्रसिद्धो वा यस्याः सा अनुत्का । अरज्जकायां स्त्रियाय, यस्या ऋतुकावे मसि मसि रक्तं न प्रस्रवति पतादशी स्त्री पुरुषेण सादृं गनं न धरते । स्या० ५ ज० १ ।

अणोकेत-अनुपकान्त-त्रि० । अतिरहते, श्रौ० ।

अणोग्गसिय-अनवपायित-न० । अय्य० स० । अघघर्षणम-वघर्षितं, भाषे चः प्रत्ययः ; तस्याऽभावोऽनवघर्षितम् । भूत्यादि-नाऽनिसिमाज्जे, जी० ३ प्रति० । रा० । "अणोय च (इ) सियाय-म्मज्ञाप ह्याएव स ततो वेय समणुवच्छ" । अनवघर्षितं निमंज्ञा तथा ह्यायथा समणुवच्छा युक्ताः । (आदेशकाः) जी० ३ प्रति० ।

अणोज्ज-अनवच्य-त्रि० । निर्दोषे, हा० ८ अ० ।

अणोज्जंगी-अनवचाङ्गी-स्त्री० । जगता महावीरस्वामिने लुहितरे जमालिशुद्धिव्याम, आ० म० हि० । आ० च्यु० ।

अणोज्जा-अनवचा-स्त्री० । महावीरस्य लुहितरे, कल्प० । आ० क० । आचा० ।

अणोत्तप्य-अनवत्राप्य-त्रि० । अविद्यमानमत्राप्यमवत्रपणं सज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्योऽप्रज्ञनीयः । अदिनसत्तोङ्कवे-नालज्जाकरे, प्रव० ६५ हा० । दशा० ।

अणोत्तप्या-अनवत्रप्या-स्त्री० । अज्ञानीयशरीरतायाम्, व्य० ६ उ० । (विद्योवायंस्तु 'अणवतप्या' शब्दोऽस्मिन्नेव भागे ३०२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

अणोर्कमिज्जमाण-अनुपव्वस्यमान-त्रि० । माहात्म्यादपात्य-मानं, श्रौ० ।

अणोप-अनवप-त्रि० । मिथ्यादर्शनाऽविश्रयदिविषय्यंस्ते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोपाणतर-अनवमानतर-त्रि० । अतिशयेनासङ्कोपे, ज० १३ श्रु० ५ उ० ।

अणोरपार-अनर्वाक्पार-त्रि० । अर्वाङ्मागपरभागवर्जिते, पक्षा० १५ विव० । अग्रप्राऽपरपर्यन्ते, स्या० । विस्मर्णे-स्वरूपे, प्रश्न० ३ आग्र० हा० । "अणोरपारं आगासं चैव निरालंभं" महस्वान्तर्वाक्पारम् । प्रश्न० ३ आग्र० हा० । "जहं समिआपमदं, सागरसल्लिजं अणोरपारमि ति" अणोर-पारमिति देशीयवचनं प्रचुराद्यैः उपचाराद् आराद् भागपरभाग-रहिते, आ० म० हि० ।

अणोत्रय-देशी-ङ्गणरहिते, निरवसे च । दे० ना० १ वर्गं ।

अणोत्रयिष्टिया-अनौपनिधिकी-स्त्री० । न विद्यते चङ्ग्यमा-नपूर्वांनुपूर्वांनुपूर्वाधिकमण विरचने प्रयोजनं यस्य अन्यनौप-पानिधिका । अन्यनौपूर्वावैनेदे, यस्यां चङ्ग्यमाणपूर्वांनुपूर्वादि-क्रमेण विरचनानां कियते साऽप्रादिपरमाणुनिषेककन्धविष-या आनुपूर्वा अनौपनिधि कीत्युच्यते । अणु० ।

अणोत्रय-अनुपम-त्रि० । न विद्यते उपमा यस्यासावुपमः । अणुत्रे, "अनुलुहसगरगया अत्रावाहं अणोत्रयं पत्ता" अं० । स० ।

अणोत्रयमर्शि (ण)-अनवमर्शिन्-पुं० । अवमं हीनं मि-थ्यादर्शनं, अविश्रयदिवि, तद्विषयैस्तमनवमं तद् ऊटुं शीलमस्ये-त्यनवमदर्शी । सम्प्रकृतदर्शोपचारिप्रवर्तनं, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । "अनेतेपासु अणोवमर्स्सी गिस्ससंयां पावेदि कम्मदि कोदहमाणं हणिया यं" । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोत्रयमर्शी-अ-अनुपमश्रीक-त्रि० । न० व० । निरुपमानशो-ने, "अणोवमसरीआ दासीदासपरिउहा" हा० ८ अ० ।

अणोत्रयमर्शु-अनुपमसुत्वि-न० । न विद्यते उपमा स्वभावावि-कात्यन्तिकत्येन सकलव्यावाचारहितत्वेन सर्वसुखातिशायि-त्वाद्यस्य तत्सुखमनस्वरूपं यस्मिस्तत् । मोक्षसुखे, "हाण-मणोत्रयमसुहसुवगयणं" इति । सत्तम० १ काण० ।

अणोत्रयमाण-अनवत्रत्-त्रि० । अनवत्ररति, "अणोत्रयमा-

बोहि उच्यति " आत्मा ० १ भू ० १ उ ० ।
 अणोवलेवय-अनुपलेपक-त्रि० । कर्मबन्धनरहिते, प्रश्न ० २
 आत्मा ० ३० ।
 अणोवसंवा-अनुपसहस्य-त्री० । संख्याने संख्या, परिच्छे-
 दः । उप सामीप्येन संख्या उपसंख्या । सत्यव्यथाऽपस्थित्या-
 ऽप्यपरिहानम् । नोपसंख्या अनुपसंख्या । अपरिहाने, " अणो-
 वसंख्या इति ते उदाह, अष्टे सभो जासह अष्ट पदं " सूत्र
 ० २ भू ० १ श ० ।
 अणोवहिय-अनुपपिक-त्रि० । कृत्यनो हिरण्यविक्रमावतो
 मायया रहिते, आत्मा ० १ भू ० ४ अ ० १ उ ० ।
 अणोसहित-अनोपधियात्-त्रि० । औषधिलरहिते, आत्मा ०
 ४ अ ० ।
 अणोसिय-अनुपिन-त्रि० । अन्वयवसिते, सूत्र ० १ भू ० १४ अ ० ।
 " अणोसियणं न करति गच्छा " अ ० ३ अत्रि० ।
 अणोहन्तर-अनोपन्तर-पुं० । न ओषेन्तरः । संसारोत्तरखं प्र-
 त्ययन्ते, " अणोहन्तरा एव, गृय श्रीहन्तरित्य " आत्मा ० १
 भू ० १ अ ० ३ उ ० ।
 अणोहृदय-अनुपपट्टक-त्रि० । अविद्यमानोऽपचट्टको यदृच्छया
 प्रथमैमानस्य हस्तप्रहादिना निर्णयको यस्य स तथा । हा ० ८
 अ ० । ब्रह्माहस्मादीं शूरीत्या निवारकेणाप्रतिवारिते स्वच्छन्दप्रवृ-
 त्त, विषा ० १ अ ० २ अ ० । " तद्वर्णं सा सुमहदा अज्ञा अणोह-
 र्दिया अणिवारिता सच्छुद्धमती " त्रि० ३ वयं ।
 अणोहारेमाण-अनुवधारयत्-त्रि० । अनुवधुच्यमाने, हा ० २६
 अष्ट ० ।
 अणोद्विया-अनोघिका-त्री० । अविद्यमानजलौघिकायाम्, म ०
 १५ श ० १ उ ० ।
 अणुद्वा-त्री० । अनिगहनत्वेनाविद्यमानोद्वायाम्, " एवं महं
 अणामियं अणोहियं जिष्वाययं दीहमहं " अ ० १५ श ० १ उ ० ।
 अणु (अ)-अणु-न ० । अनित्येन अणु-नत्वा अणु इति अणु-
 के वा । " अणुगणः " । १५ । २५ । इति सूत्रिर्देशात् अणुव्ययान्
 जतियः । आत्मा ० । अणुव्ययकारादिक, उक्त ० ११ अ ० । अणुने
 मोहकादिके भूयं, उक्त ० २ अ ० । आद्वयादिके, सूत्र ० १ भू ०
 ४ अ ० २ उ ० । भोजने, सूत्र ० १ भू ० २ अ ० । उक्त ० । श्री ० ।
 अणु-त्रि० । त्रिभे, सप्तसे च । आत्मा ० । ' अणु ' पृथ-
 नित्यर्थः । त्रि० नू ० १ उ ० । प्रश्न ० । प्रश्ना ० । स्वानि-
 रिके, हा ० २५ हा ० । प्रश्न ० । सर्वनामान् वास्य, ज ० २
 श ० ५ उ ० । " नो अणुद्वयं नो अणुद्वयं देवान् देवीमां अणुज्जैज्य
 अभिज्जैज्य परियारं " अ ० २ श ० ५ उ ० । " अणोद्वयं बहव्यं
 एवमादेषां " श्री ० । श ० । अ ० । सूत्र ० । अणुविक्रयः- " अणुणे
 कृकृत् पुण, तद्व्यमादेशो वाच्य " अणुव्यय नामादिव्यवधिषो
 निकेपस्वन्न नामस्थाने कृगणे, उच्यतेऽप्यत्र त्रिधा-तद्व्ययत्,
 अणुव्ययत्, आदेशऽप्यव्ययत्, उच्यतेऽप्यत्रैवमिति । स ० ।
 अणु-अ-न । अकारादौ वयं, गमनस्वताय, त्रि० । जते,
 न ० । उक्त ० ४ अ ० ।
 अणु-त्रि० । अणुयते उच्यते इति अणुयम् । प्रणिधेयं,

" तस्त्वितुर्वैर्यम् " इति । वश्यां वाक्यात्प्रकारेणैः, २
 आद्ये इत्याकारलोपः । ननुमतेन मायवीध्याख्या-त्रि० ग ० ।
 अणुद्वय-वैरी-तुसार्थं, दे ० ना ० १ वगै ।
 अणु (अ) इ (गि) लाय-अणुव्ययक-पुं० । अणुं भो-
 जनं विना नापयति अणुव्ययकः । अणुप्रहाविशेषात् प्रातरव
 हावात्प्रहृजि, श्री ० । प्रश्न ० । सूत्र ० ।
 रायगिहे जाव एवं बयासी-जावयं णं जंते ! अणुगि-
 द्वायप समणे निगमे कर्मं गिज्जरेति एवइयं कर्मं एर-
 एसु एरइयाण वासेणं वासेहिं वा वाससएण वा खर्वितिं
 णोऽणुद्वे समद्वे । जावयं णं जंते ! चउत्थभत्तिए समणे
 णिगमे कर्मं गिज्जरेति, एवइयं कर्मं एरएसु णो-
 रइया वाससएण वा वाससहेहिं वा वाससहस्सेण वा ख-
 वयतिं । णोऽणुद्वे समद्वे । जावइयं णं भंते ! उहजात्तिए
 समणे णिगमे कर्मं गिज्जरेति, एवइयं कर्मं एरएसु
 एरइया वाससहस्सेण वा वाससहस्सेहिं वा वाससह-
 स्सेण वा खवयतिं । णोऽणुद्वे समद्वे । जावइयं णं भंते !
 अट्टमथ चए समणे णिगमे कर्मं गिज्जरेद, एवइयं कर्मं
 एरएसु एरइया वाससहस्सेण वा वाससहस्सेहिं
 वा वासकोदीए वा खवयतिं । णोऽणुद्वे समद्वे । जावइयं
 भंते ! दसमत्तिए समणे णिगमे कर्मं गिज्जरेद, एव-
 इयं कर्मं एरएसु एरइया वासकोदीए वा वासकोदीहिं
 वा वासकोडाकोदीए वा खवयतिं । णोऽणुद्वे समद्वे । मे
 केणद्वे णं जंते ! एवं एवइयं जावइयं अणुगिलायप समणे
 णिगमे कर्मं गिज्जरेद, एवइयं कर्मं एरएसु एरइया
 वासेण वा वासेहिं वा वाससएण वा णो खवयति, जाव-
 इयं चउत्थभत्तिए एव तं चव पुव्वभत्तिये उच्यतेऽप्यं
 जाव वासकोडाकोदीए वा णो खवयतिं । गोयमा ! स
 जहा णामए केइ पुरिसे लुमे जराज्जरियेदं मिदिलतया
 बलितरंगसंविण्णक्कणे पविण्णपरिमिक्कियदंतसदं उहहा-
 जिहए तहहाजिए आतुरे कुंजंते विषागिपे डुल्लंते कि-
 लंते एणं महं कोसेवगंइयं तुक्कं जकिलं गंउिद्धं चिककं
 वाऽदं अपात्तियं तुक्कणे परसुणा अक्कमेज्जा तए णं मे
 पुरिसे महंताइं सहाइं करेइं, णो महंताइं महंताइं दलाइं
 अवंदासोइं, एवायंवे गोयमा ! एरइयाणं पावाइं कम्माइं
 गादीकयाइं चिकणीकयाइं एवं जहा ब्रह्मसए जाव णो
 महपज्जवसाणा भवति । से जहा णामए केइ पुरिसे अ-
 ह्तिगरणे आउत्तमाणे महंता जाव गोपज्जवसाणा जवति ।
 से जहा णामए केइ पुरिसे तएणं बववं जाव मेहादी णि-
 पुणसिण्णोवणए एणं महं सामग्गिगंइयं देहं अजहिंसे
 अग्गंउिद्धं चिककं अवाऽदं संपत्तियं अतितिकेणए पर-
 सुणा अक्कमेज्जा, तए णं से पुरिसे णो महंताइं महंताइं

सदाईं कौर, मंताईं मंताईं दलाईं अरवदांसे, एवामव
गोयमा । ममपाणं पिग्मंथाणं अहावादराईं कम्माईं सि-
दिलीकयाईं गिद्ध जाव खिप्पामेव परिक्खिक्खाईं भवेति,
जावस्यं तावदयं जाव पज्जवमाणा जवंति । से जहा वा
केह पुरित्ते सुक्के तएहट्ठयं जाव तेयमि पक्खिवेज्जा, एवं
जहा उभमए तहा अयोकवड्ढे जि जाव पज्जवमाणा जवं-
वंति, से तेणट्ठे णं गोयमा । एवं बुद्धे अस्सगि-
हायए समणे णिग्मंथे कम्मं सिउजरेह, ते वेव जाव को-
काकोटीए वा एो खवयंति ॥

(अन्नगिलायने सि) अन्नं विना ग्हायति ग्लानो भवतीति
अन्नमश्रायकः । प्रत्यन्नकृगदिनिष्पत्तिं यावद् बुद्धकानुत्तया प्रती-
कित्तकानुत्तयः यः पशुपित्तकृदि प्राग्नेययुक्ते, कृगकृगमाय-
द्वयर्थः । कृणंकारेण तुनिस्सुहन्वाद् " सोयकुरमाईं अंतपंता-
हारां सि " व्याख्यानम् । अथ कथमिदं प्रत्यक्ष्यम्, यदुक्तं नारको
महाकृपापन्नो मइनाऽपि कालेन तावकम्मं न कृपयति याथसाधु-
रन्यकृपापन्नोऽप्यकालेनेति ? उच्यते दृष्टान्ततः स्व चायम्- [मं
जहा नामए केह पुरित्ते सि] यथेति दृष्टान्ते, नामेति संज्ञावेने,
' प इत्येवङ्गरे । [सं सि] स कश्चिमुत्तयः । [तुष् सि] जंणो
हानिगतदेहः । स च कारणवशाद्बुद्धजावऽपि स्यादन्त आह-
वज्जिउर्यदेहं सि व्यक्तम् । अत एव (सिदिल्लया वलित्तग-
संपणइगते सि) शिथिलया स्वचा वलित्तगङ्गसंपिन्नं परि-
गन्तां गां देहां यस्स स तथा । (पांसिलपरिसिदियंत्तसेहं सि)
प्रवित्ताः कैवासंकेत्तुचच परिशट्ठाना दन्ता यस्यां सा तथा-
विधा अण्णित्तानामेवं यस्स स तथा । (आउरे सि) आनुरो
उत्तयः [कृणय सि] बुद्धत्तानः पुरित्तक इति टीकाकारः ।
(बुद्धवत्त) वलदोनः [किल्लेत्तं सि] मनःकम्मं गतः एवंरूपो
दि पुरुषश्चुद्धेन असमयो जयतीत्येवं विदोयितः (कोसंबंदि-
यंति) ' कोसवत्तं ' वृत्तविशेषः, तस्य गणिकका अण्डविशो-
पस्नाम् । (जंत्तं सि) जटावतीं वालितांक्षितामिति वृद्धाः ।
(गच्छिंत्तं सि) प्रान्थमतीम् । (चकणं सि) उद्धरणस्करान्थनिष्पत्तां
(वाहंत्तं सि) व्यादिग्धां विशिष्टद्वयोपदिग्धाम्, वक्त्रामिति वृद्धाः ।
(अयात्तं सि) अपात्रिकां अविद्यमानाधाराम्, एवभूता च ग-
पिकका दुग्धेया भवतीत्येवं विशोभिता, तथा परशुरापं मुण्डोऽ-
च्येदको भवतीति मुण्ड इति विशेषितः । शेषं तदृशकालं
वायव्यशुभ्रनवद्याख्ययामिति । ज० १६ श० ३ उ० ।

असृष्टत्त-अन्योक्त-त्रि० । अन्यैः अविश्वेकिनिः कथितं, श्री० ।
असृष्टात्तिय्य-अन्ययुधिक-पु० । अैनयूथादन्यद् यृथं सङ्गा-
न्तरं, तीथान्तरमित्यर्थः ; तद्वत्सं येषां तेष्ययुधिकाः । उपा० १
अ० अंतससकृपापिक्रयाऽन्येषु, श्री० चरकपरिभाषाज.क.शाक्याऽऽ-
जीवकवृद्धावकप्रभृतिषु, नि० सू० १३० । परतीर्थिकेषु, श्री० ।
हा० नि० सू० । आत्वा० स्वरजस्कादेषु, आत्वा० १ कु० १
अ० १ उ० । तीथान्तरियेषु कपिशार्देषु, हा० १० अ० ।

- (१) अन्ययुधिकाः कासोदायिप्रभृतयः ।
- (२) अन्ययुधिकाः सह विप्रतिपत्तिषु इहनिविकस्य पर-
भविकस्य वाऽऽयुषो विप्रतिपत्तिः ।
- (३) एकां जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषो प्रकरोतीत्यथ
अन्ययुधिकाः सह विवाहः ।

- (४) चलक्षमितिन्यादिकमोदेषु कुतीर्थिकैः सह विप्र-
तिपत्तिः ।
- (५) एकस्य जीवस्यैकस्मिन् समये क्रियाद्वयकरणेऽन्ययु-
धिकाः सह विप्रतिपत्तिः ।
- (६) अस्वादानादिक्रियाविषयेऽन्ययुधिकाः सह विप्रति-
पत्तिः ।
- (७) भ्रमणानां कृता क्रिया क्रियेन मत्वेत्तव विवाहः ।
- (८) प्राणातिपातादौ तद्विपरिमाणदौ च वर्तमानस्य जीवस्या-
न्यो जीवोऽन्यो जीवात्संति विप्रतिपत्तयः ।
- (९) परिचारणा कालगतस्य निरन्धस्य भवति न वेति वि-
वाहः ।
- (१०) बालशासपतिकृते अन्ययुधिकाः मतोक्तये तयोर्विवाहः ।
- (११) भावाविषयेऽन्ययुधिकाः मानोपन्यासः ।
- (१२) पञ्चयोजशशान्तिं अनुत्पन्नोक्तं अनुत्प्येवंहसमाकीर्णः ।
- (१३) सवें जीवाः अन्नचंचुतां वेदनां वेदयन्ते इत्यत्र विवाहः ।
- (१४) शालं श्रेयः, श्रुतिं श्रेय इत्यत्रान्ययुधिकाः सह विवाहः ।
- (१५) सवेंजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः ।
- (१६) राजशुद्धनगरस्य बाह्यैर्नगरपथैस्तथाःस्वस्य इदंस्व
विषये विप्रतिपत्तयः ।
- (१७) संसगेषु कापिलादिभिः सह न समाचरणीय
इत्यत्रागादवचनम् ।
- (१८) उक्त्वोष्णिगाऽन्ययुधिकाः सह न समाचरणीया ।
- (१९) तथाऽन्ययुधिकाकारणरचना ।
- (२०) तथा सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्ययुधिकां न कारयितव्यमिति
२१) तथा शिष्यकादिकोपकरणकारणम् ।
- (२२) अन्ययुधिकादिभिः सह गोचरवर्षाये न प्रविशेत् ।
- (२३) (दानम्) अन्ययुधिकाज्याऽश्नादि न द्येयम् ।
- (२४) तथा धानुप्रवेदनम् ।
- (२५) तथा पादानामाभेदेनप्रमाज्जसम् ।
- (२६) तथा पदमागोदि ।
- (२७) तथा भूतकर्मोदि मार्गप्रवेदनं च ।
- (२८) (याचना) अन्ययुधिकाः पात्रयिकतो गृह्णिणः सुख-
शीला या न प्रमाज्जनीयाः ।
- (२९) विचारणमोवेदारणमेवां निष्कमणम् ।
- (३०) विदारणः ।
- (३१) (शङ्का) अन्ययुधिकस्य वा गृहहस्य शिल्पादि-
शिकणम् ।
- (३२) अन्ययुधिकादिभिः सघाटीसंभवम् ।
- (३३) अन्ययुधिकादाभिः सह सभांगः ।
- (३४) अन्ययुधिकाः सृष्ट्युपकरणम् ।

(१) तत्र अन्ययुधिकाः कासोदायिप्रभृतयः—
तेषां काले णं तेषां समए तां रायगिहे नामं नयरे होत्था ।
वयणअं । गुणसिलए च्दए वणअं जाव पुदविसिलाप-
ट्टअं । तस्स णं गुणसिलएस्स चेदयस्स अदूरसामंते बह-
वे आणउत्तियया परिवमत्ति । तं जहा-कासोदाई, सेला-
दाई, सेवातोदाई, उदए, नाशुदए, नमुदए, अस्सवालए,
सेलवाए, संखवालए, सुहत्तां, गाहावई, तए णं तेषां
आणउत्तिययाणं अरणया कथाई एण . ओ सट्ठियाणं ससु-

वानपायं सखिषिद्धाणं संनिसएणाणं अयमेयाकरुं भिहो-
कहाससुद्धावे समुपग्नित्या । एवं खलु समये नायपुचे
पंचअत्थिकाए पएणवेइ धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थि-
कायं । तस्य एं समये नायपुचे चचारि अत्थिकाए अजी-
वकाए पयणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अहम्मत्थिकायं
आगासत्थिकायं पोमलत्थिकायं एग च एं समण नाय-
पुचे जीवत्थिकायं अरूविकायं जीवकायं पएणवेइ । तस्य
एं समये नायपुचे चचारि अत्थिकाए अरूविकाए पय-
वेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिका-
यं जीवत्थिकायं एग च एं समणे नायपुचे पांगलत्थिका-
यं रूवीकायं अजीवकायं पयवेइ । से कट्ठमेयं ?, मणे एवं ते-
एणं काले एं तेणं समएणं समणे जगवं महावीरं जाव० गुण-
सिस्सए चेइए समोसहे जाव परिसा पकिगया । ते एं काले एं
ते एं समएणं समएणस्स जमवओ पहावीरस्स जेट्ठे अंते-
षासी इंदेचुरीनामं अणगारे गोयमगोसेणं एवं जहा विंति-
ए सए नियंतुइसए जाव निक्खलापरियाए अरुमहाणं अ-
ट्टापज्जवं भत्तपाएणं पभिल्लानेमाणे २ रायगिहाओ जाव-
अतुरियमचवलं जाव चरियं सोदरेमाणे २ तेसिं अणउत्थि-
याणं अद्ररसामतेणं वीईवयइ, तए णं ते अष्टउत्थिया
भगवं गोयमं अद्ररसामतेणं वीईवयमाणं पासंति, पासइत्ता
अष्टमणं सहावेति, सदादेत्ता एवं वयासी-एवं खलु दे-
वाणुप्पिया ! अरुंइ इमा क्हा अविप्पकटा, अयं च एं
गोयमं अद्ररसामतेणं वीईवयइ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया !
अरुंइ गोयमं एयमंइ पुच्छित्तए तिकहु अष्टमसस्स अंतिए
एयमंइ पदिमुणंति, परिस्सुणंतिचा अणेव भगवं गोयमे तेणेव
उत्थागच्छंति, उवागच्छतिचा भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं
खलु गोयमा ! तव धम्मायिए धम्मोवएसए समणे नायपुचे
पंचअत्थिकाए पएणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव आ-
गासत्थिकायं तं चेव जाव रूवीकायं अजीवकायं पएण-
वेइ । से कट्ठमेयं गोयमा ! एवं ?, तए एं से भगवं गोयमे
ते अष्टउत्थियं एवं वयासी-नो खलु देवाणुप्पिया ! अ-
त्थिजावं नत्थि ति वयामो, नत्थिजावं अत्थि ति वयामो,
ओसे णं देवाणुप्पिया ! सव्वं अत्थिजावं अत्थि ति वया-
मो, सव्वं नत्थिजावं नत्थि ति वयामो, तं चेयसा खलु तु-
स्से देवाणुप्पिया ! एयमंइ समयेव प्पुचुवेक्खइ तिकहु ते
अहणत्थिया एवं वयासी-जेणेव गुणसिलए चेइए जे-
णेव समये भगवं महावीरं एवं जहा नियंतुइसए जाव ज-
त्तपाएणं पकिदेइइ, पकिदेसइत्ता समये भगवं महावीरं वंदइ
नमंसइ नच्चासएणे जाव पज्जुवावेइ ॥

(तेकभित्तादि) (एगओ समुपागयाचं ति) स्थानान्तरंज्व एका

स्थाने क्षमागतानामागत्य च (सखिषिद्धानं ति) । उपविष्टानाम्,
अपवेशनं चेत्कुट्टकत्वादिनाऽपि स्यादत आह-(सन्निभामं ति)
सङ्गतया नियणानां सुखासीनानामिति यावत् । (अत्थिकाए
ति) । प्रदेशराशीर (अजीवकाए ति) अजीवाश्च तेऽन्वयतना, का-
पाश्च राशयोः अजीवकायास्ताव । 'अजीवत्थिकायं' इत्येतस्य स्व-
रूपाविशेषणयाह-(अरूवकायं ति) अमूर्तमित्यर्थः । (जीवकायं ति)
जीवं जीवोः शानासुपयोगं, तत्प्रधानं कायो जीवकायां प्रसूतं
कैः शिञ्जीवास्तिकायां अडतया अभ्युपगम्यते, अतस्तन्मतस्युदाहा-
येऽमुक्तमिति । (से कट्ठमेयं मणे एवं ति) अथ कथमंतहस्तिकायव-
स्तु, मन्वे इति वित्तकार्यः । एवममुनाऽचेतनादियिज्ञानं अवतीति
तेषां समुहायः (इमा क्हा अविप्पकट्ठ ति) इयं कथा एषाऽस्ति-
कायवक्यताऽप्यानुकूल्येन प्रकृता प्रकान्ता । अथवा न विशेषेण
प्रकटा प्रतीता अविप्रकटा । 'अविक्कयकट्ठ ति' पाठान्तरम् ।
तत्र अविक्कयप्रकृता अविक्कप्रकृता, अथवा न विशेषत इत्याह-
व्यतन्न प्रकटा अन्वयकटा । (अयं च ति) अयं पुनः । (तं चेयसा-
इ ति) यस्मादेवं सर्वमस्तित्वायमेवास्तीति वदामः; तथाविध-
संवाहयोगेन प्रवतामपि प्रसिद्धमिदं तत्संस्मृतत्वात् अतसा
'वेदस्स ति' पाठान्तरं-ज्ञानेन प्रमाणावाचित्त्यसङ्गणेन (एयम-
इ ति) अमुमस्तित्वायस्वरूपलक्षणमपि स्वयमथ प्रत्युपेक्ष्यं
पर्यालोचयेतेति ।

ते णं काले एं ते णं समएणं समये भगवं महावीरं महा-
कट्टापविणएणे या वि होत्या । काडोदाई य तं देसं इत्थ-
माए कालोदाई ति समणे भगवं महावीरं कालोदाई एवं
वयासी-से नूणं ते कालोदाई अएणया कयाई एययओ
सदियाणं समुपागयाणं तहेव जाव मे कट्ठमेयं मणे एवं
से नूणं काडोदाई अट्ठे समट्ठे । इंता ! अत्थि । तं संवेणं
एवमट्ठे काडोदाई ! अइं पंच अत्थिकाए पएणवेमि, तं जहा-
धम्मत्थिकायं जाव पोंगलत्थिकायं तस्य णं अइं चत्तारि
अत्थिकाए अजीवकाए अजीवत्ताए पएणवेमि, तहेव जाव
एगं च एं अइं पोंगलत्थिकायं रूवीकायं पएणवेमि, त-
एणं से काडोदाई समणं जगवं महावीरं एवं वयासी-
एएसि एं जंते ! धम्मत्थिकायंसि अधमत्थिकायंसि
आगासत्थिकायंसि अरूवीकायंसि अजीवकायंसि चकि-
या केइ आसइत्तए वा चिइत्तए वा निरसिइत्तए वा सइ-
त्तए वा जाव तुयइत्तए वा ? नो इयणे समट्ठे । काडोदाइ !
एयंसि एं पोंगलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि
चकिया केइ आसइत्तए वा जाव तुयइत्तए वा । एयंसि णं
जंते ! पोंगलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि
जीवाणं पावाणं कम्पाणं पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?
एो इणट्ठे समट्ठे । कालोदाइ ! एयंसि एं जीवत्थिकायंसि
अरूवीकायंसि जीवाणं पावा कम्पा पावफलविवागसंजुत्ता
कज्जंति ? इंता ! कज्जंति । एत्य णं से काडोदाई संबुद्धे
समणं जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ । नमंसइत्ता एवं वयासी-
इच्छामि णं जंते । तुक्कं अंतियं धम्मं निसामेत्तए एवं जहा

संदर्भे तदेव पव्वइए तदेव एकारस्य अंगाणि० जाव विहरइ, तए णं समणे जगवं महावीरं अघया कयाई रायगिहाओ णय- राओ. गुणसिद्धाओ चंइयाओ पणि, निक्खमइ । पढिनिक्खा- मइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइते णं काले णं ते णं स- मए णं रायगिहे नामं नगरं गुणसिलए नामं वेइए होत्या । तए णं समणे जगवं महावीरं अघया कयाई जाव समोसहे जाव पढियाया, तए णं से कालोदाई अणुगारे अघया कयाई जेणेव समणे जगवं महावीरं तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं जगवं महावीरं बंदइ नमंसा । नमंसइत्ता एवं वयासं।—

(महाकहापदिचोत्ते) मदाकथाप्रथमं महाजनस्य त- स्वरचना (एपिसि णं ति) एतास्मिन्नुक्तस्य रूपे (च्छि- या केइ सि) शक्युयात्कश्चिन् । (एपिसि णं जंते ! पांगलंउरथकायंसीत्वादि) अयमस्य भावार्थः—जीवसंबन्धी- नि पापकर्मणि अद्युभस्वरूपफलरूपविपाककार्यानि पु- द्गलशक्ति कायंन भवन्ति, अचेतनचेतानुभववर्जितत्वात्तस्य, जावास्तिकायं एष च तानि तथा ज्वाति । अतुभवयुक्तत्वा- त्तस्येति प्राक्कालोदायिप्रअद्वारेण कर्मवक्तव्यतेत्ता । अद्युना तु तत्प्रअद्वारेणैव ताव्यं यथा पापफलविपाकादि न ज्वाति । तथोपदर्शयिषुः—

अत्थि णं जंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवाग- संजुत्ता कज्जंति ? । इत्ता ! अत्थि । कहं णं जंते ! जीवाणं पा- वा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुणं धालीपागसुद्धं अद्वारस- वंजणाल्लं विममिस्सं जोयणं जुंजेज्जा, तस्स जोयणस्स आवाए जइए जवइ, तन्नो पच्छा परिणममाणे २ दुक्क- बचाए दुग्गंभत्ताए जहा महस्सवए जाव नृज्जो ज्जुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणइवाए जाव मिच्छादंसणमग्गे तस्स णं आवाए जइए भवइ, तन्नो पच्छा परिणममाणे २ उरुक्कचाए ज्जुज्जो नृज्जो परि- णमइ, एवं ज्जुज्जो ज्जुज्जो कालोदाई ! जीवाणं पावा कम्मा पाव कज्जंति । अत्थि णं जंते ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा कट्ठाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । इत्ता अत्थि । कहं णं जंते ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा० जाव कज्जंति ? । कालो- दाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुणं धालीपागसुद्धं अद्वारसवंजणाल्लं आसहमिस्सं जोयणं जुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाए नो भइए जवइ, तन्नो पच्छा परिणम- माणे परिणममाणे सुक्कचाए सुक्कचाए जाव सुहत्ताए नो सुवत्तचाए ज्जुज्जो ज्जुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणइवायवेरमणे जाव परिगहवेरमणे कोह- विनेमे जाव मिच्छादंसणसहविनेमे तस्स णं आवाए नो जइए भवइ, तन्नो पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुक्क-

वत्ताए० जाव नो दुक्कचाए ज्जुज्जो नृज्जो परिणमइ । एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कट्ठाणकम्मा० जाव कज्जंति । दो जंते ! पुरिसे सरिसया जाव सरिसजंठयचावरणा अयमणोणं सुद्धं अगणिकायं समारंभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, एगे पुरिसे अगणिकायं नि- व्वावेइ । एएसि णं जंते ! दोएहं पुरिसाणं कयरे पुरिसे मट्टाकम्मतराए चैव महाकिरियतराए चैव महासवतराए चैव महावेयणतराए चैव?, कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए चैव जाव अप्पवेयणतराए चैव, जे वा से पुरिसे अगणि- कायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे मट्टाकम्मतराए चैव जाव महावेयणतराए चैव, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चैव० जाव अप्पवेयणतराए चैव । से केणट्ठे णं जंते ! एवं बुद्धः; तत्थ णं जे से पुरिसे जाव अप्पवेयणतराए चैव ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे बहुतरायं पुदबी- कायं समारंभइ, बहुतरायं आठकायं समारंजइ, अप्पतरायं तेउकायं समारंजइ, बहुतरायं वाउकायं समारंजइ, बहुत- रायं वणस्सइकायं समारंजइ, बहुतरायं तसकायं समारंभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पतरायं पुदविकायं समारंजइ, अप्पतरायं आठकायं स- मारंभइ, बहुतरायं तेउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वाउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वणस्सइकायं समारंजइ, अप्पतरायं तसकायं समारंजइ, से तेणट्ठे णं कालोदाई ! जाव अप्प- वेयणतराए चैव ॥

(अत्थि णमित्यादि) अस्तीदं वस्तु बहुत जीवानां पापानि कर्मणि, पापो यः कलरूपो विपाकः, तत्संयुक्तानि भवन्ती- त्यर्थः । (धालीपागसुद्धं ति) स्थाऽप्याम-उच्चार्या, पाको यस्य तत् स्थाऽलीपाकम्, अन्यत्र हि पकयमकं वाः न तथापि च स्थाऽरितीदं विवेचयणं ब्रुवं भक्तदोषवर्जितं ततः, कर्मधारयः । स्थाऽलीपाके- न वा शुद्धमिति विग्रहः । (आचारसवंजणाल्लं ति) अष्टादशभि- लोकरूपप्रतीत्यर्थज्जैः शालमकैः तकादिभिर्वा, आकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवाऽष्टादशभेदे च तदुद्वेगजनकत्वं चेति । अत्र भेदपदलोपेन समासः । अष्टादश जेदाश्चित्ते—“सुओ १ वणो २ जवणं ३, तिखि य मंसाई ६ गोवसो ७ जूसो ८ । अक्खा १ गुल्ल लावणिया १०, सुलफल ११ इरियणं १२ मागो १३ ॥ १ ॥ होय रत्साल्लु य १४ नदा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणमं वेध १७ । अद्वारसमो सागो १८, निक्खवहओ लोअओ पिंदो ॥ २ ॥ तत्र मांसत्रयं जलवहवादि सत्कं, जूयो सुदुगत-तुलजी रककुट्टभायदा- दिरसः, अद्याणि खपदकायादिनि, गुल्ललावणिया गुल्लपयं- टिका लोकरूपसिका, गुदधाना वा । सुलफलायं कर्मवपं पदं, हारितकं जीरकादि, डाको वास्तुकदिभाजिका, रत्साल्लु अजिका,

सङ्घर्षणं चेदं- (दो घयपला मङ्गु पलं, द्दहिससऽप्यादयं मिरियथी-
 । दस्य षड्गुसुपलाई, पसर रसायु निषेइजोगो" ॥११॥ पानं सुरा-
 दि, पानीयं जसं, पानकं छाङ्गापानकादि, शाकस्तफासिक इति ।
 (भावाय एति) आयातस्तप्रथमतया संसयः (मद्द एति) मयुर-
 स्वात्मनोहरः (तुक्रुयसाय एति) तुक्रुपतया देतुक्रुततया (जइ-
 मदासय एति) षष्ठरातस्य तृतीयोदशकां महाशयकस्तत्र यथेदं
 सूत्रं तथेदहाय्यधेयम् । (एवामेव एति) विपमिश्रभोजनयन्, "जा-
 बाणं पाणाश्वाय" इत्यादौ भवतीति शेषः । (नस्स णं ति) तस्य
 प्राणःतिपातादेः (तत्रो पञ्चु विपरिणममाणं) ततः पश्चा-
 द्वायातान्तरं निपारणमत् परिणामान्तराणि गच्छन् प्राणानि-
 पातादि, कार्यं कारणोपचारात् प्राणानिपातादिदेतुकं कम्मं (तुक्रु-
 यसाय एति) तुक्रुपताहेतुतया परिणमति, तुक्रुपतां करणीत्यर्थः ।
 (आसंइमिसं ति) औपथं महातिक्कपुत्तां । (एवामेव एति)
 औपथमिश्रभोजनवत् । (नस्स णं ति) प्राणानिपाताविरमणादेः
 (आवाय ए नो भद्व एतद एति) इन्द्रियमिन्द्रियान्वात् (परिण-
 ममाय एति) प्राणानिपाताविरमणाद्दृश्यं पुण्यकम्मं, परिणाम-
 मान्तराणि गच्छद् अनन्तर कर्माणि फलानि निरूपयति । अथ-
 क्रियाविशेषमाश्रय नरकतुषुपद्वयद्वारेण कर्मादेः। तामपत्यबहु
 ये निरूपयति--(दो जंतैः इत्यादि) (अगणिकार्यं समारंभति एति)
 तेजस्कार्यं समारंभते, उपपद्यतः तथैक उज्जवालनेन, अन्यस्तु
 विधापनन । तत्रोपपत्तये बहुतुरजसामुत्पादेऽप्यन्तराणां
 विनाशोऽप्यतिरिच्येदं दर्शनात् । अत उक्तम्--तथ णं एतं इत्या-
 दि (महाकम्मतराय चेव एति) अतिनायेन मद्द कम्मं ज्ञानावरणा-
 दिकं यस्य स तथा, चैयदाद्वः समुच्छेयं । यथ (महाकारियतराय
 चेव एति) स्वयं, क्रिया दाहकपा (महासमतराय चेव एति) दूहक-
 मेषयहेतुकः (महावैयणतराय चेव एति) महती वेदना जीवाणां
 परमास तथा । अनन्तरमाग्नवकल्पनात् ।

अस्थि णं जंतै । अचत्ता वि पोग्गला अजांमति, उज्जोवेति, तवेति, पवामंति ? इहा । अस्थि । कयं णं जंतै !
 अचत्ता वि पोग्गला अजांमति, जाव पनामंति ? कालो-
 दाई ! कुच्छस अगगामम्म तेयलेस्सा निमहा ममाणं दूरं
 गता दूरं निवतड, देसं गता देसं निवतड, जहिं २ च एं
 सा निवतड तहिं २ च एं त अचत्ता वि पोग्गला अजांसं-
 ति जाव पनामंति एए णं कात्तोदाई तं अचत्ता वि पोग्ग-
 ला अजांसंति । तए णं से कात्तोदाई अणगारे समणं
 भगवं महावीरं वृद्धं नमंमं बहुहिं च उयल्लड्डमं जाव
 अण्णाणं जावेमाणे जहा पदमए कालासंवासियपुत्ते जाव
 सव्वडुक्खपणींसे सेवं भंते ! जंतै ! ति ।

अग्निश्च सचेतनः सन्नवभासने, एवमचिन्ता अपि पुद्गलाः किम-
 वशास्तन इति प्रश्नयन्नाह- (अग्निश्च सगमियाद्) (अचिन्ता यि एति)
 सचेतनाग्नेरुत्कर्षादियत्काद्यः तावद् वनात्मन एवेयं पिशाच्चादीः ।
 (आंभासंति एति) प्रकाशा भवति (उज्जोवेति एति) वस्तु-
 शोभयति । तथेति एति । तापं कुप्यति (पनामंति एति) तथा-
 यिप्रवस्तुदाहकत्वेन प्रनावं ज्ञानेन कुच्छसे एति । विभक्तिविपरि-
 णामात् कुच्छेन दूरं गता (दूरं निवतड एति) दूरगमिनांति दूरं
 निपततीत्यर्थः । अथवा दूरं गत्या दूरे निपततीत्यर्थः । (देसं गता
 दसं निवतड एति) अग्निभिरस्य गन्तव्यस्य क्रमसादादेदो तद-

कादौ गमनस्त्वजावेऽनित्ये तदकादौ निपततीत्यर्थः । क्वा-
 प्रथयपक्कोऽप्येकमेव । (जाई जाई च एति) यत्र यत्र दूरं वा
 तदशे वा, सा तेजोऽज्ञया निपतति (ताई ताई) तत्र तत्र
 दूरं तदशे वा [तं एति] । तेजोऽज्ञया सम्भविनः । म० ७श०
 १० उ० ।

(२) अथान्यव्यूधकैः सह विप्रतिपत्तयः प्रदश्यन्ते, (आहुः)
 तत्र इह त्रिविकस्य परत्रत्रिविकस्य वाऽऽप्युतः समये विप्रतिपत्तिः-

भ्रमरउत्थिया एं भंते । एवामिदंस्वेति, एवं भार्मति, एवं
 पारणवेति, एवं पक्वेति-एवं स्वतु एगे जंवि एगे एं सम-
 एणं दो आउयाई पकरेइ । तं जहा-इहभविआउयं च परभ-
 वियाउयं च; जं समयं इहभविआउयं पकरेइ तं समयं परज-
 वियाउयं पकरेइ, जं समयं परत्रवियाउयं पकरेइ तं समयं
 इहत्रवियाउयं पकरेइ । इहभविआउयस्य पकरणया पर-
 भविआउयं पकरेइ, परभविआउयस्य पकरणया इहत्रवि-
 याउयं पकरेइ । एवं स्वतु एगे जंवि एगे णं समएणं दो आ-
 उयाई पकरेइ । तं जहा-इहत्रवियाउयं च परभविआउयं च ।
 मे कहमेयं भंते ? । एवं गोयमा ! जं णं तं अत्ताउत्थिया
 एवमाइस्वेति जाव परत्रवियाउयं च जेतै एवमाइसु, मि-
 च्छं तं एवमाइसु । अहं पुण गोयमा ! एवम, इमयांमं
 जाव परविवे-एवं स्वतु एगे जंवि एगे एं समएणं दो
 आउयं पकरेइ । तं जहा-इहत्रवियाउयं वा परभविआ-
 उयं वा । जं समयं इहत्रवियाउयं पकरेइ, णो तं समयं
 परत्रवियाउयं पकरेइ, जं समयं परभविआउयं पकरेइ, एो
 तं समयं इहत्रवियाउयं पकरेइ । इहत्रवियाउयस्य पकरण-
 याए णो परभविआउयं पकरेइ, परभविआउयस्य णो इह-
 त्रवियाउयं पकरेइ । एवं स्वतु एगे जंवि एगे एं समएणं
 एगं आउयं पकरेइ । तं जहा-इहत्रवियाउयं वा, परभविआ-
 उयं वा । मेवं भंते ! भंते ! ति; जगवं गोमेयं जाव विहरइ ॥

दशान्तरस्य विषयस्त्वनां दशंभवाइ- (अणवर्तन्त्य-
 र्यादि) अन्यव्यूधं विवक्षितस्वहृदपरः स्वहृः तदास्त्
 येयां तं अणव्यूधं सास्वर्थातिरंया इत्येयः । एवामिति
 च इयमाणं (अउकखति एति) आकखति सामान्यतः । (जा-
 संति एति) विशेषतः । (पणवति एति) उपपत्तिः । (पक-
 खति एति) भेदकथनमा इयोर्जीवरैकस्य वा समयभेदेनायु-
 त्त्यकरणे नास्ति विरोध इत्युक्तम् । (एगे जंवि इत्यादि) । (दो
 आउयाई पकरेइ एति) जीवो हि स्वयंप्रयासमूहात्मकः, स च
 यदैकमायुःपर्यायं करति तदाऽयमपि करति, स्वपर्यायत्वा-
 उद्धानस्यैकपर्यायवत्, स्वपर्यायकतैयं च जीवस्थाऽयुपगत-
 इयमेव । अन्यथा मिश्रव्याविपर्यायानामनुयायप्रसङ्ग इति ज्ञा-
 वः । उक्ताथैयं जावनाथेमाह- [जमियादि] विभक्तिविपरिणा-
 माथामिमस्यस्य, इदं भवो वर्तमानजवो यत्राऽऽयुयं विद्यते फल-
 तथा तदि इतयावृत्तेयं परव्यायुयं । अनन्त चेहतायुःकरणसमये
 परत्रावुःकरणं नियमितम् । अथ परत्रावुःकरणसमये इह-
 त्रवावुःकरणं नियमयन्नाइ- (जं समयं परभविआउयमित्यादि)

पथमेकसमवकाथसां इषोरस्त्रभिजायैकविकार्याकार्यतामाह—[इह-
भविष्याइयस्सेत्यादि] (पक्षययाप लि) करणं, एवं अ-
दिवर्यादि निगमनम् । (जरणं ते अणुस्र उत्थिया पथमाइकभं-
ति) कथापुत्राद्वाक्वस्यान्ते तत्त्वतीत्, न केवलमित्यर्थं वा-
क्यश्रेयो इदम् : । (जे ते पथमाहंसु मिच्छं ते पथमाहंसु लि) तत्र
[आस्रुत्थि] उक्तयन्तः, यथायं यत्नमानानिदंशऽपि कुरुतेऽती-
निदंशः स सर्वो यत्नमानः कालोऽतीतो भवतीत्यर्थस्य
ज्ञापनार्थः, मिथ्यायज्ञार्थयम्, एकैनाप्यवसायेन विकरुवोरा-
युगोक्त्यायोगात् । यच्चोच्यते—पर्यायान्तरकरणे पर्यायान्तरं
करानि, स्वपर्यायत्वाद्दिनि । तदनेकान्तिकम् । सिद्धय-
करणे संसारित्वाकरणादिनि । टीकाकारव्याख्यां ननु—इह
भवायुर्वेदा प्रकरोति वेद्यत इत्यर्थः, परम्भवायुस्त्वदा प्रक-
रोति प्रथमानीत्यर्थः, इह भवायुसुप्रभवेन परम्भवायुर्ब्रह्मजाती-
त्यर्थः । मिथ्या चैतत्परमत्तम् । यस्माज्जातमात्रो जीव इह भवायुर्वे-
द्यते, तदैव तेन यदि परम्भवायुर्बद्धं, तदा दानाध्ययनाद्दिनां
वैयर्थ्यं स्यादिति । एतन्भाव्युर्बन्धकालात्प्रभावसेयम् । अन्य-
थाऽऽयुर्बन्धकाले इह भवायुर्वेद्यते, परम्भवायुस्तु प्रकरोत्ये-
वेति । ॥० १ श्रु ६ उ० ।

(३) एको जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोतीत्यत्र
अन्ययुधिः सह विवादः—

अनन्तरं के लक्षणसमुदाहिकं त्वत्वं सम्यक्त्वानिप्रतिपादि-
तत्त्वानिष्पन्नाभानिप्रतिपादितं सत्यं स्वमर्थं स्यादिति दर्शयै-
स्त्वनीयौदेशकस्याद्भिधमिदमाह—

अस्र उत्थिया णं भंते । एवमाइकस्वेति, एवं जासेति, एवं
पसवति, एवं पक्वेति । से जहानामप जालगंठियाइ वा आयु-
पुल्लगंठिया अणंतरगंठिया परंपरगंठिया अस्रमस्रगंठिया
अस्रमस्रगुरुयत्ताए अस्रमस्रजारियत्ताए अस्रमस्रगुरुसंजा-
रियत्ताए अस्रमस्रधरत्ताए चिद्वेति; एवायेव बहूणं जीवानां
बहुसु आजाइसहस्सेसु बहूँ आउयतहस्साइं आयुपुचि-
गंठियाइं जाव चिद्वेति, एगे वि य णं जीवे एगंणं समएणं
दो आउयाइं पदिसंवेदयइ । तं जहा—इहज विषयाउयं च पर-
ज विषयाउयं च । जं समयं इहज विषयाउयं पदिसंवेदेइ, तं स-
मयं परज विषयाउयं पदिसंवेदेइ, जाव से कइमेयं भंते !
एवं ? । गोयमा ! जं णं ते अस्र उत्थिया । ते चेव जाव पर भवि-
ष्याउयं च जे ते एवमाहंसु ते विच्छइ ? । अहं पुण गोयमा ।
एवमाइकस्वामि-जाव अस्रमस्रधरत्ताए चिद्वेति, एवायेव एग-
मेगसस जीवस्स बहूँहि आजाइसहस्सेसिं बहूँहि आउसहस्सा-
इं आयुपुचिगंठियाइं जाव चिद्वेति, एगे वि य णं जीवे एगे-
णं समएणं एगं आउयं पदिसंवेदेइ । तं जहा—इह भविष्याउयं
वा पर भविष्याउयं वा, जं समयं इहज विषयाउयं पदिसंवे-
देइ नो तं समयं परज विषयाउयं पदिसंवेदेइ, जं समयं पर-
ज विषयाउयं पदिसंवेदेइ षो तं समयं इहज विषयाउयं पदिसं-
वेदेइ, इहज विषयाउयसस पदिसंवेदणयाए णो परज विषयाउ-
यसस पदिसंवेदहा, पर भविष्याउयसस पदिसंवेदणयाए णो इह-

भविष्याउयसस पदिसंवेदया । एवं खलु जीवे एगेणं सम-
एणं एगं आउयं पदिसंवेदेइ । तं जहा—इह भविष्याउयं वा
पर भविष्याउयं वा ।

[अस्र उत्थियायास्रमित्यादि] [जालगंठिय लि] जालं मत्स्यबन्धनं,
तस्यैव प्रथयो यस्यां सा जालप्रथिका । किंस्वरूपा सेत्याह—
[आयुपुचिगंठिय लि] आयुपूर्व्या परिपात्ता प्रथिता गुप्तिकता
आपुचितप्रमथीनामादौ विधानादस्तोचितानां च क्रमेणान्त एव
करणात् । एतदेव प्रपञ्चयथाह—[अणंतरगंठिय लि] प्रथमप्र-
मथीनामनन्तरव्यवस्थापितेप्रथिभिः सह प्रथिता अनन्तरप्र-
थिता । एवं परंपरेव्यं बहिः सह प्रथिता परस्परप्रथिता ।
किमुक्तं भवति—[अस्रमस्रगंठिय लि] अन्योऽयं परस्परत्वा ए-
केन प्रथिता सहान्यां प्रथियन्त्येन च सहान्य इत्येव प्रथिता
अन्योऽयंप्रथिता । एवं च [अस्रमस्रगंठियत्ताए लि] अन्योऽयनेन
प्रथनाद् गुप्तिका विस्तीर्णता, अन्योऽयं गुप्तिकता, तथा, [अस्र-
मस्रमारियत्ताए लि] अन्योऽयस्य शो भ्राः स विद्यते यत्र तद्-
न्योऽयमारिकं तद्भावस्तत्ता, तथा, एतस्यैव प्रत्येकालापर्य-
यस्य संयोगेन तयोरेव प्रकर्ममिधवायुमाह—[अस्रमस्र-
गुरुयसंभारियत्ताए लि] अन्योऽयने शुद्धं यत्समारिकं च
सत्तथा, तद्भावस्तत्ता, तथा [अस्रमस्रगंठियाए लि] अन्योऽ-
यं घटा समुदायत्तत्ता यत्र तदन्यांऽप्यधत्तं तद्भावस्तत्ता तथा;
[विद्वेति लि] आस्ते, इति दृष्टान्तः । अथ शार्दूलिक उच्यते—
[एवायेव लि] अनेयेव जीवानां बहुधा न्यायानां संवेद्योनि
[बहुस्तु आजाइसहस्सेसु लि] अनेकेषु देवादिजन्मसु प्र-
तिजीवं क्रमप्रवृत्तेश्चपिकरणत्वेषु बहुन्यायुक्तसहस्राणि त-
स्यामिजीवानामाजातीनां च बहुसहस्रसंख्यानत्वात् । आयु-
पूर्व्यां मीथानाभिर्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् । नवरारिह भारि-
कत्वं कर्मपुत्रलापेतया वाच्यम् । अथैतपामायुषां को वेद-
विधिरित्याह—[एगे वि ययादि] एकोऽपि जीवः आ-
स्तामनेक एकेन समयेनेत्यादि प्रथमशततथत् । अत्रोत्तरम्—
[जे ते एवमाहंसु इत्यादि] मिथ्यासं वैशामिधम—या—
नि हि बहूनां जीवानां बहुन्यायुषि जातप्रथिकावस्तिष्ठन्ति नाभि
यथास्वं जीवप्रदेशेषु संबन्धानि स्युरसंबन्धानि वा ? । यदि संब-
न्धानि, तदा कथं भिन्नान्नजजीव्यतानां तेषां जालप्रथिका
कल्पना कल्पानेतुं शक्यते, तथापि तत्करणेन जीवानामपि जात-
प्रथिकाकल्पत्यं स्यात्, तत्संबन्धत्वात् । तथा च सर्वे जीवानां सर्वा
युःसंबन्धेन संबन्धजनयनप्रसङ्ग इति । अथ जीवानामसंबन्धा-
न्यायुषि तदा तदुच्चादादिजन्मेति न स्यात्संबन्धादेवति । तद्धि-
कृतम्—एको जीव एकैन समयेन द्वे आयुषां वेद्यति । यद्यपि
मिथ्या । आयुर्द्वयसंबन्धेन पुनरपद्भवप्रसङ्गादिति । [अहं पुण
गोयमत्यादि] इह एकं जालप्रथिकासंकारितामायम् ।
[एगमेगससत्यादि] एकैकस्य जीवस्य न तु बहूनां, बहुष्वजा-
तिसहस्रेषु क्लृप्तसुखतीतकालेषु तत्कालापेक्षया सन्तु
बहुन्यायुस्सहस्राणि अतीतानि, यत्नमानजवातान्यभधिकम-
न्यभधिकन प्रतिबन्धनित्यर्थं सर्वोणि परस्परं प्रतिबन्धानि भव-
न्ति, न पुनरेकमेव एव बहूनि [इह भविष्याउयं व लि]
यत्नमानभवायुः [परभविष्याउयं व लि] परभवायुषोयं यत्न-
मानमेव निबद्धं तच्च परजवे गतो यदा वेद्यति, तदा व्यपदि-
ह्यते [परभविष्याउयं व लि] ॥ ० ६ श्रु ३ उ० ।

[४] [कर्म] चलत्कालित्वादिवाक्यमादिषु कुनीचिकैः सह विभक्तिविपर्ययः-

अथ उतरिया एणं जंते । एवमाइकखंति०, जाव परुवेति । एवं खलु चलमाणे अचलिए० जाव निज्जरिज्जमाणे अनिज्जि-
 ष्से दो परमाणुपोगला एगयओं न साहणंति, त, कम्हा दो
 परमाणुपोगलाएणं नत्थिय निणोहकाए०, दो परमाणुपोगला
 एगयओं न साहणंति, तिषि परमाणुपोगला एगयओं साह-
 णंति, कम्हा तिषिण परमाणुपोगला एगयओं साहणंति ।
 तिषि परमाणुपोगलाएणं अत्थिय सिणेहकाए, तम्हा तिषि-
 परमाणुपोगला एगयओं साहणंति । ते भिज्जमाणो बुद्धा वि
 तिहा वि कज्जंति, बुद्धा किज्जमाणो एगयओं दिवहे परमा-
 णुपोगले भवइ, एगयओं दिवहे परमाणुपोगले जवइ, तिहा
 कज्जमाणो तिषिण परमाणुपोगला इवंति, एव जाव
 चत्तारि पंच परमाणुपोगला एगयओं साहणंति, एगय-
 ओं साहणंति दुक्खत्ताए कज्जंति, पुक्खे वि य एणं से मा-
 सए सयामपियं उवाचज्जइयं अवचिज्जइयं पुक्खि जास-
 जासा जासिज्जमाणो जासा अजासा भासामयं विनि-
 क्तं च एणं जासिया भासा जा सा पुक्खं जासाजासा जा-
 मिज्जमाणो भासा अभासा भासासयं विनिक्तं च एणं
 जा। याजासा मा किं जासओ भासा । अजासओ भासा ।
 अजासओ एणं सा जासा, एणं खलु मा जासओ भासा, पु-
 ष्वि किरिया दुक्खा कज्जमाणो किरिया अदुक्खा किरि-
 या समयं विनिक्तं च एणं कदा किरिया दुक्खा जा सा
 पुक्खं किरिया दुक्खा कज्जमाणो किरिया अदुक्खा कि-
 रिया समयं विनिक्तं च एणं कदा किरिया दुक्खा सा किं क-
 रणओ दुक्खा अकरणओ दुक्खा, अकरणओ एणं सा दुक्खा,
 एणं खलु मा करणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिआ, आकूचं
 दुक्खं अकुपं दुक्खं अकज्जमाणकं दुक्खं अकट्टं अकट्ट-
 पाणज्जं जीवमत्तावेदणं वेदंति चि वत्तव्वं सिया, से कड-
 मयं भंते । एवं । गोयमा । जं णं ते अथ उतरिया एवमा-
 इक्खंति० जाव वेदणं वेदंति वत्तव्वं सिया, जे ते एवं
 आहंसु पिक्खंते ते एवं आहंसु । अहं पुण गोयमा । एवमाइ-
 कखंति०, एवं खलु चलमाणे अचलिए जाव निज्जरिज्जमाणे
 निज्जिणएणं दो परमाणुपोगला एगयओं साहणंति, क-
 म्हा दो परमाणुपोगला एगयओं साहणंति । दोहए पर-
 माणुपोगलाएणं अत्थिय निणोहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग-
 ला एगयओं साहणंति, ते भिज्जमाणो बुद्धा कज्जंति, बुद्धा
 कज्जमाणो वि परमाणुपोगले एगयओं पर-
 माणुपोगले जवइ । तिषि परमाणुपोगला एगयओं साह-
 णंति, कम्हा तिषिण परमाणुपोगला एगयओं साहणं-
 ति । तिषिण परमाणुपोगलाएणं अत्थिय सिणेहकाए, तम्हा

तिषि परमाणुपोगला एगयओं साहणंति, ते जिज्जमाणो
 बुद्धा वि तिहा वि कज्जंति, बुद्धा कज्जमाणो एगयओं पर-
 माणुपोगले एगयओं पुक्खेण एवमेव भवइ, तिहा कज्ज-
 णो तिषिण परमाणुपोगला भवंति, एके जाव चत्तारि
 पंच परमाणुपोगला एगयओं साहणंति, साहणंति
 खंत्ताए कज्जंति, खंत्ते वि य एणं से अजासए सया समयं
 उवाचिज्जइ य अवचिज्जइ य पुक्खि भासा अभासा भासि-
 ज्जमाणो जासाभासा भासासयं विनिक्तं च णं भा-
 सिया भासा अजासा, जा सा पुक्खि जासा अजासा
 भासिज्जमाणो भासाभासा जासासयं विनिक्तं च एणं
 जासिया भासा अभासा, मा किं जासओ जासा, अजा-
 सओ भासा । भासओ एणं जासा मा, एणं खलु मा अभा-
 सओ जासा । पुक्खि किरिया अदुक्खा जहा जासा तहा
 भाणियव्वा, किरिया वि जाव करणओ णं सा दुक्खा नो
 खलु सा अकरणओ दुक्खा सेवं वत्तव्वं सिया, किच्चं दु-
 क्खं कुसं दुक्खं कज्जमाणकं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणज्ज-
 जीवसत्तावेदणं वेदंति चि वत्तव्वं सिया ।

(चलमाणे अचलिए ति) चलकर्मोपचिते । चलता तेन चलित-
 कार्यकरणान्द वनेमानस्य चान्तान्तया व्यपदे प्रमशकयत्वान्दयम-
 न्यत्रापि वाच्यमिति । (एगयओं न साहणंति ति) पकए पकवेन
 पकस्सकपत्तयेत्यर्थः । न संद-येने न संहो मिज्जो स्याताम ।
 (नत्थिय सिणेहकाए ति) अहपथेवरादिनातिं न्दमत्वात्, अ-
 दियंगे तु रूपत्वान्दोऽस्ति । (दुक्खत्ताए कज्जंति ति) पक्खा-
 तुक्खाः संहये दुःखतया कर्मतया अित्ये त्रयवर्तित्यर्थः । (दु-
 क्खं वि य एणं ति) कर्मोप च (से ति) तत् शाश्वतमभारित्या-
 व । (सय ति) सर्वदा (नमिय ति) सम्यक्तपरिमाणं वा,
 चायने चयं याति, अयच्ययते अयचयं याति, तथा [पुव्व ति]
 भाषणप्रमाणं जासंति वाच्यसंहरति । [भास ति] सत्यादि-
 भाषा स्यात्कारणत्वात् विमङ्गलमित्येव याः तेषां मतमात्रे-
 तन्निरूपयित्वाकमुन्यस्यचनयत् । अने नेहोपरत्तरन्ते सर्वेषो-
 या । एवं सर्वत्रापि ति तथा [भासिज्जमाणो भासा अजास ति]
 निज्जयमानवाग्द्वयान्धभाषा, वर्तमानसमयस्यातिस्वमयेन व्य-
 धारान्दुक्खादिति । [जासासयमयिदिक्तं च णं ति] इदं क्त-
 प्रत्ययस्य भाषायेत्यात् विजति, विपरिणामाच्च भाषासमयव्यति-
 क्रम च । [भासिय ति] निज्जु सती भाषा अर्थात्, प्रतिपाद्य-
 स्याभिधये प्रत्ययेत्यादिकर्वादिनि । [अजासओ णं भास ति]
 अभाषमाणस्य भाषा, भाषणपूर्वे पक्खा तदनुपुपमात् । [नो
 खलु जासओ ति] भाष्यमाणायान्तस्य अनज्जुपगमादिति ।
 तथा [पुक्खि किरियेत्यादि] क्रिया कार्याख्याइका सा या-
 यन्न क्रियते तावत् [दुक्खं ति] दुःखहेतुः [कज्जमाण ति]
 क्रियमाणो क्रिया न दुःखान न दुःखहेतुः क्रियासमयव्यति-
 क्रान्तं च क्रियायाः क्रियमाणता, व्यतिक्रमे च कृता सती
 क्रिया दुःखान्ति । इदमपि लम्बतमात्रमेव निरूपयित्वा । अथवा
 पूर्वं क्रिया दुःखान्ध्यासात् क्रियमाणो क्रिया न दुःखान् अ-
 भासताम् कृता क्रिया दुःखानुपपत्ताप्रमादः [करणओ दु-
 क्खं ति] करणमाश्रय करणकाले कुर्वन् इत्यर्थः । [अक-

रणाश्रो दुष्कस्य सि] अकरण्यमाश्रय्य अकुर्वन् इति यावत् [नो
 बल्लु सो कस्यश्रो दुष्कस्य सि] आक्रियमाणस्य दुःखनया तस्या
 अभ्युपगमात् । [सेवं वक्तव्यं सिया] अथ एवं वृषीकं वस्तु
 यत्कथं स्थाप्युपभवादिदस्येति । आद्यन्वयुषिकान्तमतमाह-
 अकृत्यनमागतकालोपदेश्या अनिवर्तनीये जीवैरिति गम्यं,
 दुःखमसात् तकाराणां वा कर्म, तथा अकृत्यन्वयैदास्पृश्यम-
 कथनीयं तथा क्रियमाणं वर्तमानकाले कृतं, चातीतकाले
 तत्रिषेधादक्रियमाणकृत कालत्रयसिपि कर्मणा वन्धनिषेधात्-
 कृताऽकृताः आभीदस्ये द्विद्वेषं, दुःखमिति प्रकृतमेव । के
 इत्याह-प्राणभूतजीवसत्त्वाः । प्राणादिकमाण्यं वेदम-“ प्राणा
 द्वित्रिचतुःप्रांताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चन्द्रिया
 ह्याः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः” ॥१॥ [वेद्ययं ति] शुभाशुभक-
 र्मेवदोषां पीडां वा वेदयन्त्यनुभवन्ति । इत्यतद्वह्मस्यै स्थादभ्यै-
 वदुपपद्यमानत्वात् । यादृच्छिकं हि सर्वलोकं सुखदुःखमिति ।
 यदाह-“ अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःख-
 जातम् । काकृत्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र बु-
 धाऽभिमानः” ॥१॥ [से कहमेये नि] अथ कथमेतन् भवन्ति ।
 एवमन्ययुषिकोक्त्यायनेति प्रश्नः ? [जयं न अश्रुउत्थिये]
 इत्याद्युत्तरम् । व्याख्या चाभ्य प्राग्वत् । मित्या चेतद्वयं यदि
 चलेद्वेव प्रथमसमये चलिन्तं न भवेत्तदा त्रितोयादिष्वपि तद-
 चलिन्तमेवेति न कदाचनार्था चलेदत्र एव वर्तमानस्यापि चि-
 त्तया अतीतत्वं न विरुद्धम् । एतच्च प्राग्यं निर्णीतामिति न
 पुनुरुच्यते । यथाऽप्यने-वालितकार्याकरणादचलिन्तमेवेति । त-
 दयुक्तम् । यतः प्रतिज्ञानुपगमनानुप स्थानकशादिवस्तुव्य-
 न्त्यदणुभाविष्यन्तु आचरणं स्वकार्यं न करोत्येव, अस्त्यात्, अ-
 नाना यदन्यसमयचालितकार्यं विवक्षितं परेण तदाद्यसमय-
 चलिन्तं यदि न करोति तदा क इव दोषोऽत्र कारणानां स्व-
 स्वकार्यकरणस्वभावत्वादिनि । यच्चोक्तम्-द्वी परमाणु न सं-
 हर्षयन्, मृदमनया छिदाभावात् । तदयुक्तम् एकस्यापि परमाणोः
 अहसंभवात् । सार्द्धोऽनुकूलस्य संहर्षयन् नैरेवाभ्युपगमाच्च ।
 यत उक्तम्- [तिभि परमाणुप्रांगला पण्यशो साहणति, ते नि-
 उजमाणो दुहा वि तिहा वि करजति, दुहा कजमाणो पण्यशो
 दिवहति] अनेन हि सार्द्धोऽनुकूलस्य संहर्षयन् अभ्युपगमेन तस्य
 अहोऽभ्युपगमेन एवेत्यतः कथं परमाणोः अहोभावेन सङ्गा-
 तामाव इति । यच्चोक्तम्-एकतः सार्द्धं एकतः सार्द्धं इति । एत-
 दप्यच्चाह । परमाणोर्गर्दीकरणे परमाणुत्वामावप्रसङ्गात् ।
 तथा यदुक्तम्-पञ्च पुङ्गलाः संहताः कर्मतया भवन्ति । तद-
 प्यसङ्गतम् । कर्मणोऽनन्तरपरमाणुत्वाऽनन्तरकथंरूपत्वात्प-
 ञ्चणुकृत्ये व स्वरूपमात्रत्वात् । तथा कर्मजीवाचरणस्वभा-
 वमित्यन्तः, तच्च कथं पञ्चपरमाणुस्वरूपमात्ररूपं सदसङ्गतात्-
 प्रदेश्यात्मकं जीवमाणुष्यार्थमिति । तथा यदुक्तम्-कर्म व शा-
 र्वतम् । तदप्यसमीचीनम् । कर्मणः शाश्वतत्वे क्योपशमाद्य-
 भावेन शान्तादीनां हानिकर्तृत्वे च आभावप्रसङ्गात् । इत्येते च
 शान्तादिहानिवृद्धौ । तथा यदुक्तम्-कर्म सदा चीयेन अपची-
 यते चेति । तदप्येकान्तशाश्वतत्वे नोपपद्यते इति । यच्चोक्तम्-
 प्राणशारापूर्वं भाषा, तद्वन्तुत्याम् । तदयुक्तम् । औपचारिकत्वात् ।
 उपचारस्ये च तत्सतोऽवस्थुत्वात् । किञ्च उपचारस्तात्त्विके
 वस्तुनि सति भवतीति तारिष्यकी भाषाऽस्त्योति विद्वाह ।
 यच्चोक्तम्-भाष्यमाणा अभाषा, वर्त्तमानसमयस्यावस्था-
 रिकत्वात् । तदप्यसम्यक् । वर्त्तमानसमयस्यैवास्तित्वेन व्य-

हाराङ्गत्वादिनीतानागतयोश्च निवृत्तानुपपन्नया सत्त्वेन व्य-
 हारानङ्गत्वादिनि । यच्चोक्तम्-भाषासमयस्यादि । तदप्यसाधु ।
 भाष्यमाणनायाया अभावे भाषासमय इत्यस्यव्यतिरिक्तत्वा-
 भावप्रसङ्गात् । यच्च प्रतिपाद्यत्वाभिधेयं प्रत्ययोपादिकत्वा-
 दिनि हेतुः । सोऽत्रैकान्तिकः । करादिष्वेष्टानामभिधेयप्रतिपा-
 दकत्वं सत्यपि भाषासादाविति यतः काचित्सुखादिकृषेत् । तथा यदु-
 क्तम्-अत्रापकस्य प्राप्तिः । तदसङ्गतरम् । एवं हि सिद्धस्याचनेनस्य वा प्राणाप्राप्तिसङ्ग-
 इति । एवं क्रियाऽपि वर्त्तमानकाले एव युक्ता, तस्यैव सत्त्वा-
 दिनि । यश्चानन्यासाऽन्यासादिकं कारणमुत्तम् । तच्चानैकान-
 तिकम् । अनन्यसादाविति यतः काचित्सुखादिकृषेत् । तथा यदु-
 क्तम्-प्रकरणतः क्रिया दुःखेति । तदपि प्रतीतिषाचितम् । यतः
 करणकाम एव क्रिया दुःखा वा सुखा वा हृद्यते, न पुनः पूर्वं
 पश्चाच्च; तदसङ्गत्वादिनि । तथा यदुक्तम्-अक्रिषाः मित्यादि, यद-
 क्त्वादिमताश्रयत्वात् । तदप्यसङ्गत्वात् । यतो यथक्त्वादि व कर्म
 दुःखं सुखं वा स्यात्सदा विविधैर्हिकराणालोकाकानुष्ठानाभा-
 यप्रसङ्गः स्यात् । अन्वुपगतं च किञ्चित्पारमौकिकानुष्ठानं
 तैरपि चेति । एवमेतत्सर्वमहाज्ञानपञ्चमिकम् । उक्तं च बुद्धेः-
 “ परतिन्धियवत्तव्येव य, पदमनप हसमयमि वहेसे । विज्जे-
 रीणा देसा, मद्दभया या वि सा सथा ॥ १ ॥ सत्त्-
 यमसद्वपु, जंगा चत्तारि हौंति विधंमं । उममत्तयपरिसरं,
 तो अण्णं ति विहंमं ॥ २ ॥ ” सङ्गते परमाणौ असङ्गतरकौ-
 दि, असङ्गते सर्वगामग्नि सङ्गते चेतयं, सङ्गते परमाणौ सङ्ग-
 ते निष्पदेशाच्च, असङ्गते सर्वगामाग्नि असङ्गतरकत्वेवमिति च ।
 [अहं पुण गोवमा । एवमादकस्मान्मि] इत्यादि तु प्रतीत्यर्थमेवे-
 ति, नवरं । दोषं परमाणुप्रांगलायं क्वचित् सिद्धकाय [त]
 एकस्यापि परमाणोः शीतोष्णस्निग्धरूढप्रशान्तामन्वतरद्विद-
 र्कस्पर्शद्वयमैवर्थास्ति । ततो अत्रापि तयोः स्मर्यत्प्राभावात्
 स्नेहकायोऽस्यैव । ततश्च तौ विषमरहेहास्तेहय्येते । इदं च
 परमतानुवृत्त्योक्तम् । अन्यथा कृत्वापि कृत्यवैषम्यं सहय्येते ।
 एवं यदाह-“समनिद्वयाच्च बंधो, न होइ समलुक्कयाच्च वि न
 होइ । वेमायहुद्वानिष्कल-भणणं बंधो उ खंधाणं ” ॥ १ ॥ ति ।
 [अंधं यिय णं से असासए सि] उपचयापचयिकत्वाद् । अत
 पथाह-[सया समिमित्यादि] [पुर्विप भासा इभास [त] भा-
 ध्यत इति भाषा, भाषणञ्च पुर्वं नो भवत् इति न भायेति ।
 [भासिउजमाणौ भास [त] शश्यांयंयत्तः] भासिया अ-
 भास [त] शश्यांयंयिग्याम् । [पुर्विप किरिया अदुष्कस्य [त]
 करणार्पूर्वं] क्रियैव नास्तीत्यसत्त्वादेव च न इहा, सुखाऽपि
 नास्तावत्सत्त्वादेव, केयलं परमतानुवृत्त्या दुःखेन्युक्तम्, जहा भासं
 सिं वचनत् । [ऊजजमाणौ किरिया दुष्कसा] सत्त्वादिर्हापि
 यत्किथमाणा क्रिया दुःखेन्युक्तम्, नपरमतानुवृत्त्यैव । अन्यथा
 सुखाऽपि क्रियामार्गं च क्रिया । तथा [किरिया समयाचितिकं तं
 णमित्यादि] इत्यम् । [किञ्चं दुष्कसमित्यादि] अनेन च कर्मस-
 ताः वेदिता, प्रमाणसिद्धत्वात् इत्यतः । किञ्च-इह, यदु इयोरीहा श-
 श्वादिविषयसुखसाधनसमेतयोरेकस्य दुःखसङ्गणं फलमन्ये-
 तरत्, न तद्विधिदिष्टे तुमन्तरणं सम्जात्येन, कार्येभ्यान्तः घटयत् ।
 यथासौ विशिष्टो हेतुः स कर्मनि । आह च-“जे तुल्लसङ्गणत्वं,
 फलं विंसेमं कं सा विणा हेउं । कञ्चत्तणश्रो गोमयं । धमा
 व्व देक य से कम्मं ” ॥ १ ॥ ५० १ शो १० उ ० ।

[५] [क्रिया] एकस्य जीवस्य एकं समयेन क्रियाद्वयकरणे-

अस्य उत्थियं

पुनरुत्थययूथिकान्तरमत्समुपदशंयथाइ-

अएणउत्थिया एणं जंते । एवमाइकस्वंतिं जाव एवं खलु एणं जीवे एणेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । जं समयं इरियावहियं पकरेइ तं समयं संपराइयं पकरेइ. जं समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहियं पकरेइ । इरियावहियपकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खलु एणे जीवे एणेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा । जएणं ते अएणउत्थिया एवमाइकस्वंतिं तं चैव जायव । जे ते एवमाइसु मिच्छा ते एवमाइसु । अइहं पुण गोयमा । एवमाइकस्वामि ४-एवं खलु एणं जीवे एणं समएणं एकं किरियं पकरेइ, ससमयवत्तव्याए नेयस्वं जाव इरियावहियं संपराइयं वा ॥

[अएणउत्थिया णमिप्पादि] तत्र च [इरियावहियं नि] इयां गमने, तद्विषयः एथा मार्गे इयांयथस्तत्र भवा एथांयथिको, केवलकियायोगप्रत्ययः कर्मकथ इत्यर्थः । [संपराइं च चि] संपरैति परिणमति प्राणां जंवे धमिरिति संपरायाः कथावा, सत्तराया वा सा सासंपरायिको, कथायदंतुकाः कर्मकथ इत्यर्थः । [एउत्थियं वलउंवे णेयवन्ति] इह सुंयेइस्ययूथिकवत्तव्य स्वयमु-त्थाणीयं, अथगौरवअयंनोलीखितव्यात्सया । तत्कथम्- "जे समयं संपराइयं पकरेइ, तं समयं इरियावहियं पकरेइ, इरियावहिया-पकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरिया-वहियं पकरेइ, एवं खलु एणं जीवे एणेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च संपराइयं च । ससमयवत्त-व्याएणं शेषवत्" सुखमिति मय्यमः सा कथम्- "से कहमेयं जंते ! एवं ? गोयमा । जएणं ते अएणउत्थिया एवमाइकस्वंतिं ४ जाव । संपराइयं च जे ते एवमाइसु, मिच्छा ते एवमाइसु । अइहं पुण गोयमा । एवमाइकस्वामि ४-एवं खलु एणं जीवे एणेणं सम-एणं दो किरियं पकरेइ । तं जहा-इत्याइ पुंथोकात्सुसारांणा-भेयमिति । मिथ्यात्वं चास्थैवस्-पेर्यायथिको । क्रिया अकथाया-त्वप्रभवा, इतरा तु कथायोद्वयप्रभवेति, कथमकथैकता तयोः संतनवः ? । विरोधादिति । अ० १ श ० १० ० ।

अएणउत्थिया एणं जंते । एवमाइकस्वं, एवं जामेइ, एवं पअवेइ, एवं पकवेइ-एवं खलु एणे जीवे एणेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं च, मि-च्छत्तकिरियं च । जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियापकरण-याए मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एणे जीवे एणेणं स-मएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं, मिच्छत्तकिरियं वा । से कहमेयं जंते ! एवं ? । गोयमा । जंते ते अएणउत्थिया एवमाइकस्वंतिं, एवं जासंति, एवं पक्वति-

ति, एतं पक्वति-एवं खलु एणेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तद्वै जाव सम्मत्तकिरियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जे ते एवमाइसु तएणं मिच्छा । अइं पुण गोयमा । एवमाइकस्वामिं जाव पकवेपि-एवं खलु एणे जीवे एणेणं समएणं एणं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं वा, मिच्छत्तकिरियं वा । जे समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियाप-करणयाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापक-रणयाए नो सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एणे जीवे एणेणं समएणं एणं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं वा मि-च्छत्तकिरियं वा । सेचं तिरिकवलोणोति उदंनओ वीओ ॥

[अअउत्थिया सं जंते । इत्यादि] अन्ययूथिका अन्यतोथिकाः, भ-द्वन्-चरकादय एवमाचकृते सामान्येन एव भाषन्ते, स्वशिष्यान् भवन् प्रत्यभिमुखानवबुधु विस्तरण व्यक्त, कथयन्ति, एव प्रहाप-यन्ति प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति । यथा श्यामनेन व्यक्षिन्ते ज्ञानं तथा परे-ध्वन्मुपात्स्यन्ति, एव प्रकथयन्ति तत्र चिन्तायामसंदिग्धमेतदि-ति निरूपयन्ति-इह खल्वेको जायं पकेन समयेन युगपद् द्वे किये प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्क्रिया च सुन्दराध्यवसायसिकाम्, मिथ्यात्वक्रियां चासुन्दराध्यवसायसिकाम् । [जे समयं मिति] मि-च्छत्तक्रियात्त सतस्यर्थे द्वितीयायांस्मन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरो-ति [तं समयमिति] तस्मिन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरोति । अ-धोऽप्यसंनलेनोभयनियमप्रदर्शनायमाह-सम्यक्प्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वप्रकरणेन सम्यक्क्रियां प्रकरोति । तदुजयकरणस्वजास्य तत्क्रियाकरणात्, स्वोभयना प्रवृत्तेः । अन्यथा उक्रियायोगादिति । एव खल्वि-त्यादि-निगमने प्रतीतार्थम् । [से कहमेयं जंते ! इत्यादि] तत्कथमेतद् भद्वन् । एवमः । तद्वै गोतमेन प्रथे कृते सति भगवानाह-गोतम । यतः 'शु इति' वाक्यात्तद्गुरे । ते अन्ययूथिका अन्यतोथिका एव-माचकृते इत्यादि प्राग्वत् जायत । तन्मिथ्या त एवमाकथात्कव-न्तः । अहं पुनर्गौतम । एवमाचक्रे, एवं जामे, एवं प्रहापयामि, एवं प्रकथयामि-इह खल्वेको जीवे पकेन समयेन एणं कियं प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्प्रक्रियां वा, मिथ्यात्वक्रियां वा । अत एव यस्मिन् समये सम्यक्प्रक्रियां प्रकरोति तस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, यस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति तस्मिन् समये सम्यक्प्रक्रियां प्रकरोति । तस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्प्रक्रियां प्रकरोति; सम्यक्प्रक्रियाप्रक्रियां प्रकरोति; परस्परपरिहारात्सामान्यता-रमकथा जीवस्य तदुभयकरणस्वभावत्यायोगात् । अन्यथा स्वैवा भोक्ताभावप्रसक्तेः कदाचिदपि मिथ्यात्वानिश्चानात् । जौं ३ प्रलि० ।

(६) अक्षतत्वानादिक्रियाविषयेऽन्ययूथिकैः
सह विप्रतिपत्तिः-
ते एणं कास्से एणं ते णं समयं णं रायागेहं नयरे वणणओ ।

गुणसिद्धाए चैए वषाक्रा० जाव पुडवीसिद्धावद्भो तस्म
 यं गुणसिद्धयस्म यं चैयस्स अद्रसामते वद्दे अस्यउत्थिया
 पतिवसंति । ते यं समये यं समये जगवं महावीरं आदिगरे
 षाव समवसदे जाव पतिवा पतिगया । ते यं कासे यं ते यं
 समए यं समणस्स भगवओ महावीरस्स वद्दे अंतवासी
 थेरा जगवंतो जाइसंपणा कुलसंपणा जहा विइयतए० जाव
 जीवियासा मरणजयविप्युक्का समणस्स जगवओ महा-
 बीरस्स अद्रसामते उडुंजाणु अदो सिरा भाणकोट्टोव-
 वगया संजमणं तवसा अप्पायं भावेमाणा जाव विहरंति ।
 तए यं ते अएणउत्थिया जेएव थेरा भगवंतो तेणव उवा-
 गच्छंति । उवागच्छंतिना ते येरे भगवंते एव वयासी-तुज्जे
 यं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजयअविरयअप्पदिहय
 जहा सचमसए विइओ उरेसओ० जाव एगंतवालाया-
 वि जवह । तए यं ते थेरा भगवंतो ते अएणउत्थिए
 एव वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं ति-
 विहेणं असंजय अविरय० जाव एगंतवालाया वि भवामो ।
 तए यं ते अएणउत्थिया ते येरे जगवंते एव वयासी-
 तुज्जे यं अज्जो ! अदिएणं गिएहह , अदिएणं जुंजह,
 अदिएणं साइज्जह, तए यं ते तुज्जे अदिएणं गेयहमाणा,
 अदिएणं खंजापाणा, अदिएणं साइज्जमाणा, तिविहं तिवि-
 हेणं असंजय अविरय० जाव एगंतवालाया वि जवह । त-
 ए यं ते थेरा जगवंतो ते अएणउत्थिए एव वयासी-केणं
 कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिएणं गेयहामो, अदिएणं
 खंजापो, अदिएणं साइज्जामो, तए यं अम्हे अदिएणं
 गेयहमाणा० जाव अदिमं साइज्जमाणा, तिविहं तिविहेणं
 असंजय० जाव एगंतवालाया वि जवामो ? तए यं ते अण-
 उत्थिया ते येरे जगवंते एव वयासी-तुज्जे यं अज्जो !
 दिएणमाणे अदिएणे पतिगाहइज्जमाणे अपपिग्गहिए
 निसिंरिज्जमाणे आणिसिंहे, तुज्जे यं अज्जो ! दिएणमा-
 णं पदिग्गहणं असंपचं एत्थ यं अंतरा केइ अवहंरिज्जा
 गाहावइस्स यं तं अंते ! णो खलु तं तुज्जे तए यं तु-
 ज्जे अदिएणं गिएहह० जाव अदिएणं साइज्जह, तए यं
 तुज्जे अदिशं गिएहमाणा० जाव एगंतवालाया वि जवह ।
 तए यं ते थेरा जगवंतो ते अणउत्थिए एव वयासी-
 नो खलु अज्जो ! अम्हे अदिएणं गिएहामो, अदिएणं खं-
 जापो, अदिएणं साइज्जामो । अम्हे यं अज्जो ! दियणं
 गिएहामो, दिशं खंजापो, दिशं साइज्जामो । तए यं अ-
 म्हे दियणं गिएहमाणा, दियणं खंजापाणा, दियणं साइज्ज-
 षा तिविहं तिविहेणं संजयअविरयपदिहय जहा सचम-
 सए० जाव एगंतपिण्याया वि जवामो । तए यं ते अणउ-

त्थिया ते येरे जगवंतं एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो !
 तुज्जे दिशं गिएहह० जाव दिशं साइज्जह । तए यं तु-
 ज्ज दिशं गिएहमाणा० जाव दिशं साइज्जमाणा, एगंतपं-
 णियाया वि भवह । तए यं ते थेरा जगवंतो ते अणउत्थि-
 ए एव वयासी-अम्हे यं अज्जो ! दिज्जमाणे दिशे
 पतिगाहइज्जमाणे पदिग्गहिए निसिंरिज्जमाणे निसिंहे अ-
 म्हे यं अज्जो ! दिज्जमाणं पदिग्गहणं असंपचं, एत्थ
 यं अंतरा केइ अवहंरिज्जा अम्हे यं तं नो खलु गाहाव-
 इस्स तए यं अम्हे दियणं गिएहामो, दियणं खंजापो,
 दिशं साइज्जामो । तए यं अम्हे दिशं गिएहमाणा०
 जाव दिशं साइज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजय० जाव
 एगंतपिण्याया वि भवामो; तुज्जे यं अज्जो ! अप्पणा चेव
 तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंतवालाया वि भवह । तए
 यं ते अणउत्थिया ते येरे जगवंते एव वयासी-केणं कार-
 णेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं० जाव एगंतवालाया वि भ-
 वामो ? तए यं ते थेरा जगवंतो ते अणउत्थिए एव व-
 यासी-तुज्जे यं अज्जो ! अदिमं गिएहह ३, तए यं
 तुज्जे अदिमं गेयहमाणा० जाव एगंतवालाया वि भवह ।
 तए यं ते अणउत्थिया ते येरे भगवंते एव वयासी-केणं
 कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिशं गिएहामो० जाव एगंत-
 वालाया वि भवामो ? तए यं ते थेरा भगवंतो ते अणउ-
 त्थिए एव वयासी-तुज्जे यं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिशे
 तं चेव० जाव गाहावइस्स यं तं नो खलु तं तुज्जे तए
 यं तुज्जे अदिशं गिएहह । तं चेव० जाव एगंतवालाया
 वि जवह । तए यं ते अणउत्थिया येरे भगवंते एव वयासी-
 तुज्जे यं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंत-
 वालाया वि भवह । तए यं ते थेरा भगवंतो ते अणउत्थिए
 एव वयासी-केणं कारणेणं अम्हे तिविहं तिविहेणं० जाव
 एगंतवालाया वि जवामो ? तए यं ते अणउत्थिया ते येरे
 भगवंते एव वयासी-तुज्जे यं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पुडवी
 पेवेह, अभिइणह, वत्तेह, लेहेह, संयाएह, संयट्टेह, पतितावह,
 किंतामह, उवद्वह, तए यं तुज्जे पुडवीं पेचेमाणा अजिह-
 णमाणा० जाव उवद्वेमाणा तिविहं तिविहेणं असंजयअ-
 विरय० जाव एगंतवालाया वि भवह । तए यं ते थेरा
 जगवंतो ! ते अणउत्थिए एव वयासी-नो खलु अज्जो !
 अम्हे रीयं रीयमाणा पुडवीं पेचेमा अभिइणामो० जाव उव-
 द्वेमा ; अम्हे यं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं वा जागं वा
 रीयं वा पदुच्च देसं देसेणं वयामो, पदेसं पदेमेणं वयामो,
 तेणं अम्हे देसं देसेणं वयामाणा पदेसं पदेसेणं वयमाणा,
 नो पुडवीं पेचेमा अजिहणामो० जाव उवद्वेमा, तए यं

अस्य उ त्थिय

अम्हे पुर्वीं अपेचेमाणा अशाभिहतामगाणं जाव अणो-
 वणेमाणा, तिबिहं तिबिहं संजयं । जाव एगंतपदिपाया वि
 यवामो १, तुज्जे हं अज्जो । अप्पणा चेव तिबिहं तिबिहं
 अमवचणं जाव बत्ताया वि जवह । तए हं तं अस्यउत्थिया
 वेरं जगवंते एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो । अम्हे ति-
 बिहं तिबिहं एगंतवालाया वि जवामो ? । तए हं तं घेरा
 वनंतो अस्यउत्थिए एवं वयासी-तुज्जे हं अज्जो । रीयं
 रीयमाणा पुदवीं पेच्येहं । जाव उद्वेहं । तए हं तुज्जे उद्वीं
 पेच्येमाणां जाव उद्वेवेमाणा तिबिहं तिबिहं एगं जाव एगं-
 तवालाया वि जवह । तए हं तं अस्यउत्थिया वेरं जगवंते एवं
 वयासी-तुज्जे हं अज्जो । गयपाएणं अप्पणं बीडकमिज्जमायो
 अवीडकंते रायागिदं न्मरं संपाविउत्तमो असंपत्त, तए हं ते
 घेरा भवन्तो ते अस्यउत्थिए एवं वयासी-ना खल्लु अज्जो ।
 अम्हे गयपाएणं अग्गए वीडकमिज्जमायो अवीडकंते राय-
 गिहं नगरं । जाव असंपपचे अम्हे हं अज्जो । गयपाएणे गए
 वीडकमिज्जमायो वीडकंते रायागिहं नगरं संपाविउत्तमो संय-
 चो तुज्जु हं अप्पणा चेव गयपाणे अग्गए विडकमिज्ज-
 मायं वीडकंते रायागिदं नगरं । जाव अमपपचे तए हं ते घेरा
 भवन्तो अस्यउत्थिए एवं परिहंणंति । एवं परिहंणंता गइ-
 प्पयायनामं अज्जजयपं परणवइं ।

(लेखमित्यदि) तत्र [अज्जो सि] हे आर्याः ! [तिबिहं तिबिहं हं
 सि] तिबिहं करणादिकं योगमाध्यय तिबिहंति ममः प्रभृति-
 कारणेन [अदिगणं न्नाइड सि] अदृशं स्वयं अनुमन्यथ
 इत्यर्थः । [विडकमि ज्जमायो इत्यादि] इतिमानमद्रुचं इतिमा-
 नमय वीडकमिज्जमाया इत्यर्थः च अतीतकालवर्तिवत्त्वाद् वतंमा-
 नतीतयोइवामन्यन्तं मिश्रवादीयमानं दृशं न भवति । इत्यं
 इत्यमिति व्यपदिश्यते । एवं प्रतिशुभमाणादावपि । तत्र द्वाय-
 मानं दावकापेक्षया, प्रतिशुभमानं प्राहकापेक्षया, निम्नजयमानं
 किम्पमाणा पात्रापेक्षेयंति [अंतरे] सि अयस्वरं । अप्यमिमायाः-
 वधि इतिमानं प्राप्ति उपलितं सत्त्वं नयाति तद्वा तस्य इत्यस्य स-
 तः पात्रापतनसङ्घर्षं ग्रहणं कृतं जयति । यद्वा तु तद्वा यमानमय-
 च, तद्वा पात्रपतनसङ्घर्षं ग्रहणममद्रुचस्येति प्राप्तमिति । निम्नं-
 चत्त्वापेक्षेयं तु- [अम्हे हं अज्जो । डिअमणं दिणं] इत्यादि यत्तु-
 तत्र किंवाकासिगुणकालयोरेभेदाद् इतिमानतत्त्वार्थं दंतत्वादिस्मय-
 सेवमिति । अथ इतिमानमद्रुचमित्यादेवं व्यस्मनत्वाद् व्यमेवा-
 लंभतत्वादिगुणा इत्यादिवाच्यत्वात्पुनरुपिनाप्रति स्थितिः प्राहुः-
 (तुज्जे हं अज्जो । अप्पणा चेवेव्यादि) (रीयं रीयमाणा सि) इति
 गयपंतं, रीयमाणा गइहन्तो, गयपं कुवांणा इत्यर्थः । [पुदवी पेचं
 सि] पुदवीं आक्रामयथत्यर्थः । [अदिहणं सि] वादित्वायामिमु-
 क्कमेव हय [वच्येहं सि] पाणानिजातं मैव वन्यथ, इल्लहणंतं न-
 थव । [वच्येहं सि] इल्लेवयथ, सुज्जं शिल्लएत्तं कुत्थय । [संघा-
 एहं सि] संघातवथ, संइत्तए कुत्थय । [वच्येहं सि] संघ-
 एहं वस्सुएत्त । [परिनाथंदि] परिनापयथ, समन्नात्तासन्ता-
 पात्तं कुत्थय । [किलामेहं सि] क्लमयथ, मारणात्तिकसमुदात्तं
 वमयथ इत्यर्थः । [उद्वेहंदि] उद्वच्यथ, मारयथ इत्यर्थः ।

[कार्यं व सि] कार्यं शूरारं प्रतीत्योच्चचारदिकायकार्यमित्यर्थः ।
 [योगं व सि] योगं यमानवैवाच्यत्वादिभ्यपारं प्रतीत्यं [रीयं व
 पदुच्च सि] अतं सत्यं प्रतीत्याकायादिज्जोबसंरक्षणसङ्घर्षं सं-
 यममाभित्यर्थः । [विसं देसेणं वयामो] सि प्रयुतायाः पुष्टिग्या
 ये चिवक्षिता देशास्तेरंजायो नाविशेषणोयोसितिबरापणन्म
 खत्तनेदरापरिहरतोऽप्येतनेदरीशेभाम इत्यर्थः एवं (पदसं प-
 देकेणं वयामो) इत्यपि, नवरं देशो तुमंमहंनगरसु, पदेष्टुत्तु ल-
 पुनरमिति । अथांतुगुणयोगेना नाम्नाकमिवेपं गमवमस्तोत्य-
 मिप्रायतः स्थविरा य्यमेव पुष्टिग्याक्रमणादिनाऽसंयतत्या-
 दिगुणा इति प्रतिपादनायाऽन्ययुधिकात् प्रत्याहुः- [तुज्जे-
 हं अज्जो ! इत्यादि] अ ० ५ श ० ७ उ ० ।
 प्रागमनमाभित्य विचारः कृतोऽथ तदवशाभायाऽन्ययुध-
 कत्वमित्यंघतः स पयोऽयमे-

वे ए काले एं ते एं समए चं रायागिदं जाव पुदवीसि-
 लापट्टए तस्स एं गुणमिहस्स चेइयस्स अदूरमामंते बहव
 अस्यउत्थिया परिवसंति । तए हं ममए जगवं महावीरं जाव
 समोसहुं जाव परिस्सा पदिगया । ते एं काले एं ते एं समए
 हं ममएस्स जगवओ महावीरस्स जेहे अंतंवासी इदंहुं
 पायं अणगारे जाव उहुं जाणुं जाव विहरइं । तए हं ते
 अस्यउत्थिया जेएव भगवं गोयमे तेराव उवागच्छइं । उवाग-
 च्छइता भगवं गोयमं एवं वयासी-तुज्जे हं अज्जो । तिबिहं
 तिबिहं असंजयं जाव एगंतवालाया वि जवह । तए हं
 भगवं गोयमे तं अस्यउत्थिए एवं वयासी-ने केणं कारणे-
 णं अज्जो । अम्हे तिबिहं तिबिहं असंजयं जाव एगंत-
 वालाया वि भवामो ? । तए हं तं अस्यउत्थिया भगवं गोयमं
 एवं वयासी-तुज्जे हं अज्जो । रीयं रीयमाणा पाणं पेवेहं,
 अजिहएहं जाव उद्वेहं । तए हं तुज्जे पाणे पेच्येमाणा
 जाव उद्वेवेमाणा तिबिहं जाव एगंतवालाया वि जवह । तए
 हं जगवं गोयमे तं अस्यउत्थिए एवं वयासी-णा खल्लु
 अज्जो । अम्हे रीयं रीयमाणा पाणा पेच्येमां जाव उद-
 वेमां अम्हे हं अज्जो । रीयं रीयमाणा कार्यं च जोयं च
 रीयं च पदुच्च दिस्सा पेदेस्सा वयामो, तए हं अम्हे दि-
 र्ना २ वयमाणा परिस्सा २ वयमाणा एां पाणे पेच्येमां
 जाव एं उद्वेमां, तए हं अम्हे पाणे अपेच्येमाणा जाव
 अणो उद्वेमाणा तिबिहं तिबिहं जाव एगंतवालाया वि जाव
 भवामो, तुमे एं अज्जो । अप्पणे चेव तिबिहं तिबिहं जाव
 एगंतवालाया वि जवह । तए हं तं अस्यउत्थिया भगवं
 गोयमं एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे
 तिबिहं जाव वि जवामो ? । तए हं भगवं गोयमे तं
 अस्यउत्थिए एवं वयामो-तुमे एं अज्जो । रीयं रीयमाणा
 पाणे पेवेहं जाव उद्वेहं, तए हं तुमे पाणे पेच्येमाणा
 जाव उद्वेमाणा तिबिहं जाव एगंतवालाया वि जवह । तए
 हं जगवं गोयमे तं अस्यउत्थिए एवं परिहइइं । पदि-

इच्छाया जेषेव समथ जगवं महावीरे तेनेव उवागच्छद् ।
 उवागच्छद्वा समथं भगव महावीरं बदेद् णमंसद् णचवा-
 मधे जाव पञ्जुवासद् गोमयादि मण्ये भगवं महावीरे
 भगवं गोयमं एवं वयासी-सुद्ध ण तुम्ह गोयया ! ते अन्न-
 उत्थिय एवं वयासी-साहु णं तुमं गायया ! ते अन्नउ-
 त्थिय एवं वयासी-अत्थिय णं गोयया ! ममं बह्वे अंतवासी
 ममणा णिगंथा उउभयथा जे णं णो पजू एय बागरण् बा-
 गरत्तप जहा णं तुमं तं सुद्धु णं तुमं गायया ! व आणउ-
 त्थिय एवं वयासी-साहु णं तुमं गायया ! ते अन्नउत्थिय
 एवं वयासी ॥

[पेबेइ लि] आकासथ (कायं च लि) देहं प्रतीत्य प्रजास
 इति योनाः देहश्चेकमनसशो भवति, तदा प्रजासो नाम्यथा, अ-
 न्नशकटादित्यर्थः । योमं च स्यमव्यवहारं ज्ञानाणुपपन्नकर्म-
 प्रयोजनं जिज्ञाऽऽनानि च तं विनेत्यर्थः [रीयं च लि] गमनं च
 अन्तर्विदेशिकं गमनविशेषं प्रतीत्याश्रित्य कायमित्याह-[विस्सा
 विस्सा लि] दृष्टा दृष्टा । [पविस्सा पविस्सा लि] प्रवर्षण दृष्टा
 दृष्टा । (१० १८ श्लो ८ उ०)

(१७) अमणानां कृता क्रिया कियेत-
 न वा ? इत्यत्र विवाद -

अणउत्थिया णं जंते । एवमाइकस्वद, एवं भोमइ, एवं
 पचुवे-कहमं समणा णं निग्मोथा णं किरिया कज्जंते ? ।
 तत्थ जा मा कदा कज्जइ णो तं पुच्छंते ? । तत्थ जा सा
 कदा णो कज्जइ णो तं पुच्छंते ? । तत्थ जा सा अकदा
 कज्जइ तं पुच्छंति ? । तत्थ जा सा अकदा णो कज्जइ णो
 तं पुच्छंति ? । स एवं वत्तवं सिया अकिञ्चं दुवलं अकुत्तं
 दुवलं अकज्जमाणकं दुवलं अकट्टु अकट्टु पाणा जूया
 जीवा सत्तायेणणं वेपंति, वत्तवं जे ते एवमाहुंनु । ते मिच्छा ।
 अइं पुण एवमाऽस्सामि, एवं ज्ञासामि, एवं पचवेमि, एवं
 पचुवेमि-किञ्चं दुवलं किज्जमाणं कं दुवलं कट्टु कट्टु पाणा
 जूया जीवा सत्तायेणणं वेपंति ति वत्तवंसिया ॥

“अन्नउत्थियेत्यादि” प्रायः स्पष्टव, किन्त्वन्तीर्थिका इह ताप-
 सा बिजज्ञानवन्त एवं बह्व्यमाणप्रकारमावधानं सामान्यतो
 भावन्ते, विशेषतः क्रमेणतद्देव प्रहापयन्ति प्रकृपयन्तीति
 पर्यवहृत्पदद्वयेनोक्तमिते । अथवाऽऽवधानं-तोपज्ञापन्ते, व्यक्त-
 अथवा प्रहापयन्ति, उपपत्तिभिर्बोधयन्ति प्रकृपयन्ति प्रवेश-
 किञ्चनत इति । किं तद्विवाह-कथं केन प्रकारेण अमणानां
 निर्गमनानं वन्त इति शेषः । कियत् इति क्रिया कर्म, स
 कियते भवति दुःखायति विषयैति प्रश्नः । इह अन्तरो भङ्गाः
 नथथा-कृता कियते विहिते सत्कर्मं दुःखाय भवतीत्यर्थः ।
 एवं कृता न क्रियते २, अकृता कियते ३, अकृता च कियत
 इति ४ । एतेष्वनेन प्रश्नेन यो अहः प्रवृत्त्यन्तं शेषमङ्गि-
 राकरणपूर्वकमभिधानुमाह-(तथा लि) तेषु वतुषु भङ्गकेषु अ-
 र्थं प्रथमं द्वितीयं वतुषु च न पुच्छन्ति । एतन्नयस्वात्पत्तश्चेरि-

पयनथा तत्रग्रहणस्याप्यमवृत्तेरिति । तथाहि-वाऽसौ कृता क्रि-
 यते यत्कर्म कृतं न भवति नो तत् पुच्छन्ति, अत्यन्तविराधि-
 नासम्भवात् । तथाहि-कृतं चेत्कर्म कथं न भवतीति ? उच्यते ।
 न प्रवति चेत्कर्म कृतं तदिति, कृतस्य कर्मणोऽनवनावावा ।
 तत्र तेषु वाऽस्यापकृता यत्कृतं कर्म नो कियते न भवति
 नो तां पुच्छन्ति अकृतत्वात्सत्त्व कर्मणः अरिबोधकपत्त्या-
 दिति । अमुमेव च अङ्गर्थं निषेधमाश्रित्यास्य सूत्रस्य त्रिस्यान-
 कावतार इति संज्ञायते । नृतीयमङ्गकस्तु तत्सम्मत इति
 तं पुच्छन्ति । अत एवाह-तत्र यासावकृता कियते पचदकृतं पु-
 र्वंमिदितं कर्म भवति दुःखाय सम्पद्यते, तां पुच्छन्ति पूर्वका-
 लकृतस्यप्राप्त्यकृतयाऽसत्त्वेन दुःखानुपत्त्यैव प्रत्यकृतया स-
 र्वेनाकृतकर्मभवनपक्षस्यासम्भवात्तदिति । पुच्छतां चायमभि-
 प्रायः-यदि निषेधा अपि अहंतेव कर्म दुःखाय वेदितानं भव-
 तीति प्रतिपद्यन्ते, ततः सद्यु शोभनं अस्त्वमभयबोधोवादि ।
 शेषात् पुच्छन्तस्तृतीयमेव पुच्छन्तीति भावः । [स्तलि] अथ
 तेषामकृतकर्मण्युपपत्तयामर्थं यद्दृश्यमाणप्रकारं वचनमुद्घातः
 स्यात् । त एव वा एवमावधानं पराद् प्रति यदुत्त श्रेयं व-
 त्तव्यं प्रकृपणीयं तत्त्वयादिनां स्याद्देवतं, अकृते सति कर्म-
 णि दुःखानावात् । अकृत्यमकर्णायमवृत्तयोर्यमप्राप्तयमन-
 गे काले जीवात्तमित्यर्थः किं दुःखं ? दुःखइत्यादि । [अ-
 कुत्तं लि] अकृत्यं कर्मकृत्यादेव, तथा कियमाणं च वर्तमा-
 नकाले षड्यमाणं कृतं वाऽतीतकाले षडं कियमाणम् । इदं कृत्यं,
 कर्मधारयं वा । न कियमाणकृतमकियमाणकृतम् । किं दुः, दुःख-
 म् ? “अकिञ्चं दुष्कृतमित्यादि” एदर्थं [तथ जा सा अकदा
 कज्जइ] तं पुच्छन्तीत्यन्तीर्थिकाव्यतिरेककालत्रयान्भवना-
 श्रित्य त्रिस्यानकावतारोऽस्य उच्यते । किमुक्तं प्रवतीत्याह-
 अकृत्या अकृत्याः । प्राणा द्विन्द्रियादयः, जूतास्मरचः, जीवाः
 पचन्दिन्द्रियाः, सन्तः पचिन्द्रियादयः । यथोक्तम्-“ प्राणा त्रि-
 चतुःप्राकाः, भूतान्स्तु तरयः स्मृताः । जीवाः पचन्दिन्द्रिया
 शेषाः, शेषाः सस्वा इतीरिताः ” ॥ १ ॥ ४८८नां पंचां वेदयन्तीति व-
 क्तव्यमित्यर्थं तेषामुद्घातः । एतद्वा तं प्रहाणोपहणुकेषु ज्ञान-
 म्ते पराद् प्रति यदुत्त एवं वक्तव्यं स्यादिति प्रश्नः । पथमन्ती-
 र्थिकमतमुपदश्यं निराकुलंवाह-[जे ते इत्यादि] य एते अ-
 न्न्तीर्थिका पथमुक्तप्रकारमाहुः [मुत्ति] उक्तवन्तो मिथ्या अस्-
 त्वकृततेऽन्वतीर्थिका पथमुक्तवन्तः, अकृतयाः क्रियावानुपपत्तेः ।
 कियते इति क्रिया यस्यास्तु कथञ्चानपि करणं नास्ति स्य कथं
 कियते ? अकृतकमानुभवने इह वदमुक्तसुखिणःपुःजित्वादिनि-
 यत्यवहारानावप्रसङ्ग इति स्वमनमाविष्कृत्यवाह-[अह-
 मित्यादि] अहमित्येवमेव नास्तीर्थिकाः, पुनःशब्दा विधेय-
 णार्थः । स च पूर्ववत्तथायाद्यं सत्त्वावधारणं विवक्ष्यतुतामाह-
 [एवमाहकर्मणोऽप्यादि] पूर्ववत् । कृत्यं करणीयमनागतकालं
 दुःखं तत्केतुत्वात्, कर्म स्पृश्यं स्पृष्टतत्त्वावधारणयोर्मय, क्रि-
 यमाणं वर्तमानकाले कृतमतीतं अकृतं नास्ति कर्मणोऽकृत्य-
 नापीति भावः । स्वमनस्यैवमवाह-कृत्या कृता, कर्मैति गम्यते ।
 प्राणादयो वेदनां कर्मकृत्युपपत्त्यानुत्तिं वेदयन्त्यनुपपन्तीति
 वक्तव्यं, स्वात्सम्भवादिताम् । स्यात् ३ ३ ३ ३ ३ ।
 [जीवोवात्मानो] (तत्र जन्तीन्द्रियस्य जीवस्य सति ‘संयुक्त’
 शब्दे मरुहकः करिष्यते)

(८) प्राणातिपातादौ तद्विषयानादौ च वर्तमानस्याथो जी-
 वोऽप्यजीवात्मेति विप्रतिपत्तिः-

भ्रमरउत्थिया एणं भंते । एवमाइकस्वतिं जाव परकवति-
 एवं स्वष्टु पाणायाएव मुसावाए० जाव मिच्चादंसलससङ्गे
 बहमाणसस अखे जीवे भ्रमे जीवाया पाणाइयावेरमणं
 जाव परिगाइवेरमणे कोइविणे० जाव मिच्चादंसलससङ्ग-
 विनेगे बहमाणसस भ्रमे जीवे भ्रमे जीवाया उप्पत्तियाए०
 जाव पाणायाभियाए बहमाणसस अखे जीवे भ्रमे जीवाया
 उम्हाइ ईहा भवाए बहमाणसस० जाव जीवाया उड्ढाए०
 जाव परकमे बहमाणसस० जाव जीवाया खेरइयवे तिरे-
 कलवाणसस देववे बहमाणसस० जाव जीवाया खाणा-
 करणिजं० जाव अंतराइयं बहमाणसस० जाव जीवाया,
 एवं कण्डलेस्साए० जाव सुक्कसमाए० सम्माह्हीए ३,
 एवं चक्खुदंसए० ४ आभिणिवाहियणाए ५ एइआणा-
 णे ३ आहारसएणाए ४ एवं अौरालियसरीरे ५, एवं
 मणजोए ३, सागारावड्ढागे अण्णासागारावआगे बहमाणसस
 अएणे जीवे भ्रमे जीवाया, से कइमेयं जंते ! एवं ? ।
 गोयया । जएणं ते अएणउत्थिया एवमाइकस्वतिं जाव
 मिच्चं ते एवमाहंसुं । अइं पुण गोयया । एवमाइकस्वतिं
 जाव परकवेमि-एवं स्वष्टु पाणायाए० जाव मिच्चादंसलस-
 ङ्गे बहमाणसस सवेव जीवे सच्चेव जीवाया० जाव अणा-
 गारावड्ढागे बहमाणसस सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया ।

अन्ययूथिकप्रकमादेवैराम्हा— (भ्रमरउत्थिया नामिन्वादि)
 प्राणातिपातादिषु वधमानस्य देहिनेः (भ्रमे जीव ति) जी-
 वति प्राणात् धारयतीति जीवः, शरीरं प्रकृतिरित्येषः । स्त-
 न्त्वान्यो ध्यतिरिक्त अन्यो जीवस्य देहस्य सम्बन्धी आधिष्ठा-
 तुत्वात्प्राणा जीवात्मा, पुरुष इत्यर्थः । अन्यस्य च तयोः पुरुषा-
 बुद्धस्वभावत्वत्वात् । ततश्च शरीरस्य प्राणातिपातविषु वधमा-
 नस्य दहयमानत्वात् । शरीरमेव तत्कर्तुः न प्रयत्नमेत्येके । अ-
 न्ये तथाऽऽऽ-जीवतीति जीवो नाकारविधयाएव, जीवात्मा तु स्व-
 र्भेदानुगामि जीवइत्यं द्रव्यधराययोऽन्ना-परवध, तथाविधप-
 तिन्यासंभवेऽभिन्नश्चान्त्याय, घटघटादिवत् । तथाहि-इत्यमनुष्य-
 नाकारं बुद्धि जनयति, एवंप्राणस्वभूतगुणाकारमिति । अन्ये
 तथाऽऽऽ-अन्यो जीवोऽन्यथा जीवात्मा जीवस्यैव स्थकपामिति ।
 प्राणातिपातादिभिर्विधिविक्रियाभिधानं वेप स्वधावस्थासु जीवजी-
 वात्मनोऽभेदकथनापार्थमिति परब्रजत । स्वमतं तु- (सत्त्व जीवे
 स्वैव जीवाय ति) स एव जीवः शरीरं स एव जीवात्मा जीव
 इत्यर्थः, कथयिदिति गम्यते । नह्यनयोरेत्यतं भेदः, अत्यन्तजेदे
 वेहेन स्वरुद्रस्योऽभेदमपस्तथा देहदहतस्य च कर्मणो जन्मान्तरे
 वेदानुगामप्रसङ्गः । अयकृतस्वात्म्यसंबन्धे वाह्यतान्त्रागमप्रस-
 ङ्गोपरशब्दं, अजेदे च परलोकाभाव इति । इत्यपयथायथाक्या-
 वेपि न इत्यपर्यायोपरत्यन्तंजिवत्सधानुपसन्धेः । यद्य प्रति-
 पासयतो मासावायानिकजनेद्दहता, किन्तु पदार्थानामव तुल्या-
 नुद्वयपकृत इति आत्मा जीवस्वरूपस्य । इह तु व्याख्याने
 स्वकथने न स्वकथनमयन्तं भिन्नं, भेदे हि तिःस्वरूपता तस्य
 प्राणतोः । नच शब्दभेदे दहतो भेदेऽस्ति, शिलापुत्र-
 कस्य वपुर्द्वित्यादावपथेति । म० १७ श्लो २ उ० ।

(९) [परिचारण] परिचारणा कालमनस्य निश्रेयस्य—

भ्रमरउत्थिया एणं भंते । एवमाइकस्वतिं, परकवति,
 एवं स्वष्टु निधेउकालाएव समाणे देवकूपएणं अयाणएणं
 से पं तथ नो अण्णदेवे नो अखेसिं देवाणं देवीओ अ-
 भिजुंजिय अभिजुंजिय परिवारेइ, एणो अयाणिबियाओ
 देवीओ अजिजुंजिय अजिजुंजिय परिवारेइ, अयाणामेव
 अयाणं विजज्जिय ५ परिवारेइ; एगे वि य एण जीवे एगे-
 णं समएणं दो वेदे वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेयं च पुरिसवेयं
 च । एवं भ्रमरउत्थियवत्त्वया मेपस्वा० जाव इत्थिवेयं च
 पुरिसवेयं च स कइमेयं जंते ! एवं ? गोयया ! जंसं ते भ्रम-
 उत्थिया एवमाइकस्वतिं जाव इत्थिवेयं च पुरिसवेयं य ।
 जंते एवमाहंसु, मिच्चां ते एवमाहंसु । अइं पुण गोयया ।
 एवमाइकस्वामिं० जाव परकवेमि-एवं स्वष्टु निधेउ कालाए
 समाणे अयापरेइ देवलो, एसु देवताए उववत्तारो जवंति,
 महिहिएसु० जाव मडाण्णामेसु दुर्गतीसु चिरह्हीतीसु से नं
 तस्य देवे जइइ महिहिएए० जाव दस दिमाओ उज्जावेमाणं
 पत्तासेमाण० जाव पडिहुव, सेणं तस्य अएणे देवे अभासिं
 देवाणं देवीओ अजिजुंजिय २ परिवारेइ, अयाणिबि-
 याओ देवीओ अजिजुंजिय अभिजुंजिय परिवारेइ, नो
 अयाणामेव अयाणं वेउअन्वियं परिवारेइ, एगे वि य एणं जीवे
 एगेणं समएणं एणं वेदं वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेदं वा पुरि-
 सवेदं वा । जं समयं इत्थिवेदं वेदेइ तं समयं पुरिसवेदं
 वेदेइ, अं सत्त्वं कुरियेवत्तं वेदेइ, एगे जं सत्त्वं इत्थिवेयं
 वेदेइ । इत्थिवेयसस उदेषोणं नो पुरिसवेदं वेदेइ, पुरिसवेयसस-
 उदएणं नो इत्थिवेयं वेदेइ । एवं स्वष्टु एगे जीवे एगेणं सम-
 एणं एणं वेदं वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा ।
 इत्थी इत्थिवेयएणं उदेषेणं पुरिसं पन्धेइ, पुरिसां पुरिसं
 वेदेए उदेषेणं इत्थिवेयं । दो वेप अममयं पन्धेइ ।
 तं जहा-इत्थी वा पुरिसं, पुरिसा वा इत्थं ॥

(भ्रमरउत्थिय इत्यादि) (देवकूप भं ति) देवजनने आम्राना कार-
 एणुजनेन नो परिचारयतीति योगः (भं ति) । प्रसौ (मिश्रेण्डयेवस्त-
 र्देश्यशोके नो नैव (अय ति) अन्वाद्य आत्मन्वितिरिक्ताइ देवात्
 सुदान, तथा नो अन्वयं देवानां संवर्धनोर्धरेषोः (अजिजुंजिय
 ति) अभिवुज्य वशीहृत्य आत्मिष्य वा परिचारयति परियुक्ते
 (णा अयाणिबियाओ ति) आत्मीया (अयाणामेव अयाणं विज-
 थिय ति) कोपुत्रकथनया विवृत्य । एयं च इत्थेते (एगे वि च
 णामिन्वादि परउत्थियवत्त्वया मेयञ्ज ति) एयं च इत्थेते (एगे वि च
 अं समयं इत्थिवेयं वेदेइ तं समयं पुरिसवेयं वेदेइ, जं समयं
 पुरिसवेयं वेदेइ न समयं इत्थिवेयं वेदेइ, इत्थिवेयसस स-
 यणयाए पुरिसवेयं वेदेइ पुरिसवेयसस भयणयाए इत्थिवेयं
 वेदेइ, एवं सन्तु एगे वि णामिन्वादि" (मिन्वायं वैवामेवच-क्री-
 रूपकरणोऽपि तस्य देवस्य पुरुषस्यापुरुषपदस्यैवैकत्र समयं
 उदयो न स्त्रीवेदस्य, वेदपरिवृत्त्या वा स्त्रीवेदस्यैव न पुरुषवेद-
 स्यत्वयः परस्परवैकृत्यादिति । [वेदशेषोऽप्यु ति] देवजननु

मथे [उववस्तारो जयंति स्मि] प्राकृतशैल्या उपपत्ता भवती-
ति इत्ययम् । "महि(द्विप) इत्यत्र यावत् करणादिर्देहयम्- "मह-
उद्देप महाक्षे महाजसे महासोक्ष्मे महाशुभांगे इतरविदा-
यवर्षे कस्यनुक्रिययंभियभूए" । मुद्रिका बाहुद्विकिका [अंग-
यकुंमलमङ्गलकपोतधारं] अङ्गदानि शास्त्राभरणविशेषान्,
कुपडशास्त्रि कणुाभरणविशेषान्, मृश्रणदानि शौचि/खिलकपो-
लानि, कर्णपोडानि कर्णाभरणविशेषान्, धारयतीत्येवं शालो यः
स तथा । [विचित्रहृद्यानरणे विचित्रशास्त्राभक्षिमठेन] वि
चित्रमाला च क्लुमककु मैत्री मस्तके मुकुटं च यस्य स त-
था, इत्यादि यावत् । [रिक्ताए लुईए पजाए ग्रायाए अग्नीए ते-
ए एं हेस्साए दस दिस्वाओ उओएपमाणे स्मि] तत्र अद्विः परि-
वारदिका, युतिरिष्टार्थस्योमाः, प्रभा यानादिद्वांसिः, ज्ञया शोना,
धार्मिः शरीरस्वरुनदितेजोआशास्त्रे, तेजःशरीरराक्षि, लक्ष्या दे-
वध्वेषः, एकाधोवन्ते । उद्घोतयप्रकाशकण्ठेन [पानसिमाण
स्मि] प्रनासयद् शोनायत्र इह यावत्करणादिद् इहयम्- [पा-
साइए] सुपूर्ण विप्रमसादजनकः [इरस्सणिज्जे य] परयथमु-
क्कं आम्पयति [अभिरुवे] मनोङ्कपः [पदिरुवे स्मि] छुटारं प्र-
ष्टारं म्रिन्ति रूपं यस्य स तथेति । एकैनेकदा एक एव वेदा वेद्यन् ।
इह कारयमाह- [इत्थो इत्थोवेपणमित्यादि] अ० १ श० ७० ।

(१०) बाह्यपरिदत्तते—

अस्रउत्थिया एं जंते ! एवमाइकस्वन्ति० जाव परुवेति-से
ति-एवं खलु समया पंडिषा समणोजगसा बालपंडिया ।
जस्म एं एगपाखाए वि दंके आणिकिल्लत्ते, से एं एगंतवा-
हे स्मि वत्तव्वं मिया, से कहमेषं जंते ! एवं ? गोयमा ! जंणं
ते अस्रउत्थिया एवमाइकस्वन्ति० जाव वत्तं-सिया, जे ते
एवमाहंसु, मिच्छंते ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! ० जाव
परुवेमि-एवं खलु समणा पंडिया समणोवामगसा बाल-
पंडिया, जस्म एं एगपाण वि दंके णिकिल्लत्ते, से एं एो
एगंतबाले स्मि वत्तव्वं मिया ॥

एतत्किञ्च पक्रद्धयं जिनाजिमतेमेवानुवाद्परतयोक्त्वा टित्तीयप-
क्कं वृषयन्तस्ते उद्दं प्रहापयन्ति- (जस्स एं एगपाणाए वि दंके-
इत्यादि) [जस्स स्मि] येन वेदंदिना एकप्रमाणियकथापि जीव
सापराधादौ, पृथिवीकायिकादौ वा किं पुनर्बहुपु द्रवको वधः ।
[अणिकिल्लत्ते स्मि] अर्नाकिताऽनुजितेऽप्यत्याख्यातो भवति ।
स एकान्तबाल इति वक्तव्यः स्यात् । एवं च अमणोपासका एका-
न्तबाह्य एव न बाह्यपरिदत्ता, एकांतबाह्यस्यैवपदोतिवचनस्यास्ये-
प्राणिद्गदत्यागस्य भावाद् इति परमनय । स्वयन्ते तु-एकप्रमाणिय-
पि येन द्वापरिद्वारः कृतोऽसौ नैकात्मन बाह्यः, किं तदि ? बाह्य-
परिदत्तः विरयंशसंज्ञायंन मिअत्वात्तस्य । एतदेवाह- (जस्स ग-
मित्यादि) एतदेव बालस्यादिजीवादिषु निरुपयशाह- (जीवाप-
मित्यादि) प्राणुक्ताभं संयत्तादीनामिहाकारानं च परितदादीनां
वधपि शब्दत एव भवेत् नार्थतस्तथापि संयतत्वादिद्वयपदेशः
क्रियाभ्यपेक्षः, पयिडतत्त्वादिद्वयपदेशस्तु बाधविशेषापेक्ष इति ।
ज० १७ श० २ उ० ।

(११) जाथा—

रायगिहे० जाव एवं वयामी-अस्रउत्थियायां भंत ! एव-
माइकस्वन्ति० जाव परुवेति-ए- खलु केवली जक्खाए,सेणं
११५

आइस्सति । एवं खलु केवली जक्खाए,सेणं आइहे समाणे
आहव दो भासाओ भासइ । तं जहा-मोसं वा, सक्कामोसं
वा, से कहमेषं जंते ! एवं ? गोयमा ! जंणं ते अएणउ-
त्थिया० जाव जं एं एवमाहंसु, मिच्छंते ते एवमाहंसु । अहं पुण
गोयमा ! एवमाइकस्वामि० ए- एा खलु केवली जक्खाए,सेणं
आइस्सइ, एा खलु केवली जक्खाए,सेणं आइहे समाणे
आहव दो भासाओ भासइ । तं जहा-मोसं वा, सक्कामोसं
वा; केवली एं अमावज्जाओ अपरोवयाइयाओ आहव दो
भासाओ भासइ । तं जहा-सव्वं वा असक्कामोसं वा ॥

(जक्खाए,सेणं आइस्सइ स्मि) वैश्वेश्वरानादिवर्यनेऽपिष्टीयत
इति [नो खलु इत्यादि] नो खलु केवली यज्ञांश्वेश्वरानादिवर्यने
ऽनन्तवैश्वेत्यात्तस्य । (अस्रवादि स्मि)अस्रवादिष्ठेः परवशीकृतः स-
त्यादिभाषाद्वयं च जायमाणः केवली उपपिप्रहप्रहप्रणधानादिकं
विचित्रं वस्तु प्रापत इति । अ० १८ श० ७ उ० ।

(१२) [मनुच्योक्तः] पञ्चयोजनशतानि मनुष्यलोको
मनुष्यैर्बहुसमाकीर्णः—

अस्रउत्थिया एं जंते ! एवमाइकस्वन्ति० जाव परुवेति-से
जहा नामए लुबडं जुवाणं हत्थेणं हत्थं गेएहज्जा, चक्कस्स वा
नाभो अरगाउत्थासिया, एवामंत्र चत्तारि पंच जायणसयाइ
बहुसमाइएणं मशुयलोए माणुस्सेदिं,से कहमेषं भंत ! एवं ?
गोयमा ! जसं ते अस्रउत्थिया जाव माणुस्सेदिं जे एवमाहंसु,
मिच्छंते ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइकस्वामि० जाव-
एवामंत्र चत्तारि पंच जायणसयाइ बहुसमाइएणं नरयलोए
नेरइएदि ।

(अस्रउत्थियेत्यादि) (बहुसमाइनेति) अत्यन्तमाकीर्णम्,
मिथ्यात्वं च लक्ष्यनस्य विज्ञङ्गहानपूर्वकत्वात्सत्यमित्ति ॥ ज०
४ श० ६ उ० ।

(१३) [वेदना] सर्वे जीवा अनेवंभूतं वेदनां वेदयन्ते
इत्यत्र विवादः—

अस्रउत्थिया एं जंते ! एवमाइकस्वन्ति० जाव परुवेति-सन्वे
पाणा सन्वे ज्ञया सन्वे जीवा सन्वे सत्ता एवंजुयं वेयणं
वेदंति, से कहमेषं भंत ! एवं ? गोयमा ! जसं ते अस्रउ-
त्थिया एवमाइकस्वन्ति० जाव वेदंति; जे ते एवमाहंसु, मिच्छंते
ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! ए. माइकस्वामि० जाव परु-
वेमि-अत्यंगइया पाणा ज्ञया जीवा सत्ता एवंभूयं वेयणं
वेदंति, अत्यंगइया पाणा ज्ञया जीवा सत्ता अणवंपुयं वेय-
णं वेदंति । से केण्हे ए अत्यंगइया तं चेव उक्कारेव्वं ?
गोयमा ! जएण पाणा ज्ञया जीवा सत्ता जहा कदा कम्मा
तथा वेयणं वेदंति, तेण पाणा ज्ञया जीवा सत्ता एवंभूयं
वेयणं वेदंति, जेण पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कदा
कम्मा नो तथा वेयणं वेदंति. तरणं पाणा ज्ञया जीवा सत्ता
अत्यंगेजुयं वेयणं वेदंति, से तेण्हे एं तद्वेव ॥

(एवंभूयं वेद्यं ति) यथाविधं कर्म निबन्धमेव नूनामेवमका-
 एतयोपस्थां वेदनामसातादि कर्मोद्यं वेद्यन्त्यनुभवानि । मि-
 थ्यान्वैततद्वादिनामेवम-न हि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्मोऽनुभू-
 येत, आधुः कर्मणा व्यभिचारात् । तथाहि-दीर्घकाशानुभवनी-
 यस्तान्याधुःकर्मणोऽपि यसाऽपि कालेनानुज्ञां भवति, कथम-
 न्यथाऽन्यत्रयुव्यपदेशः सर्वजनप्रसिद्धः स्यात् । कथं वा महा-
 स्तुयागौर्जीविषहृत्ताणामप्येकैव स्तुयोरुपपत्तेरिति । [अथैव न्युयं
 पि सि] यथा बद्धं कर्म नैवमनूताऽनेवमनूता, अतस्तामः श्रूयते
 आगमे-कर्मणः स्थितिघातरसघाताद्य इति ॥ अ० ६ श० ५ उ० ।

अपणउत्थिया णं भंते । एवमाङ्कलंति० जाव परुर्वेति-
 एवं खलु सव्ये पाणा नृया जीवा सत्ता एगंतदुक्कलं वे-
 यणं वेयंति, से कद्दमेयं भंते । एवं ? गोयमा । जएणं ते
 अणउत्थिया० जाव मिच्छंते एवमाहुंमु । अहं पुण गोयमा ।
 एवमाङ्कलामि० जाव परुर्वेति-अत्यंगदया पाणा नृया
 जीवा सत्ता एगंतदुक्कलं वेयणं वेयंति । आहृच्च सायं अत्यं-
 गदया पाणा नृया जीवा सत्ता एगंतं सायं वेयणं वेयंति,
 आहृच्च असायं वेयणं वेयंति, अत्यंगदया पाणा ४ वेमाणाए
 वेयणं वेयंति, आहृच्च सायमसायं से केण्णे एं ? गोयमा ।
 नेरदयं एं एगंतदुक्कलं वेयणं वेयंति, आहृच्च सायं भवणव-
 बाणमंतजोडमवेमाणाया जाव एगंतं सायं वेयंति, आहृच्च असायं
 पुढाकिटाऽण० जाव मणुत्ता वेमाणाए वेयंति, आहृच्च
 सायमसायं , से तेण्णे एं ॥

(अश्वउत्थियेयादि) (आहृच्च सायं ति) कदाचित्सातां वे-
 दनाम । कथामिति ? उच्यते—“उववापण च सायं,नेरद्वो देवक-
 स्मुणा वा सि”।(आहृच्च असायं ति) देवा आहननंप्रियविप्रयो-
 गादिष्यसातां वेदनां वेद्यन्तीति । (वेमाणा य सि) विविधया
 मात्रया कदाचित्सातां, कदाचिदसातामित्यर्थः । ज० ६
 हा० १० उ० ।

(१४) [दीश्रम] शीशं भेयः , भुतं भेय इत्यत्रान्यथ्यूकैः
 सह विचारः—

रायमिहं० जाव एवं वयासी-अणउत्थिया णं भंते । एव-
 माङ्कलंति० जाव परुर्वेति-एवं खलु सीलं सेयं, सुयं सेयं,
 सुयं सीलं सेयं, से कद्दमेयं जंते । एवं ? गोयमा । जं जं ते
 अणउत्थिया एवमाङ्कलंति० जाव-जे ते एवमाहुंमु, मिच्छंते
 ते एवमाहुंमु । अहं पुण गोयमा । एवमाङ्कलामि०
 जाव परुर्वेति-एवं खलु म चत्तारि पुरिमपाणा पयसत्ता ।
 तं जद्दा-सीलसंपथे नाम एगे नो सुयसंपथे १ । सुयसंपथे
 नाम एगे नो शीशसंपथे २ । एगं सीलसंपथे त्रि सुयसंपथे
 बि ३ । एगे नो सीशसंपथे नो सुयसंपथे ४ । तत्थं जं से
 पदमे पुरिसजाए, से णं पुरिसे सीशसं द्रामुयवं उवरए
 अविषाययममे । एम णं गोयमा । मए पुरिसे देसाराहए पण-
 चे ? । तत्थं जं से दोषे पुरिसजाए, से णं पुरिसे अमी-

द्ववं सुतवं अणुवरए विण्णायधममे, एम णं गोयमा । मए
 पुरिसे देसविराहए पणचे २ । तत्थं जं से तेषे पुरिस-
 जाए से णं पुरिसे सीशसं सुतवं उवरए विण्णायधममे, एम
 णं गोयमा । मए पुरिसे सव्वाराहए पणचे ३ । तत्थं जं
 जे से चउत्थे पुरिसजाए, से णं पुरिसे असीशसं अमु-
 तवं अणुवरए अविषाययममे, एम णं गोयमा । मए-
 पुरिसे सव्वविराहए पणचे ।

अस्य श्रूयंतुसारेण व्याख्या-एवं लोकासिद्ध्यायेन खलु
 निश्चयेन इहाऽन्यथ्यूकैः कविक्रियायाभादेवाऽभीष्टाऽर्थसि-
 ष्चिद्व्यञ्जिते । न च किञ्चिदपि ज्ञानेन प्रयोजन, निश्चयःप्राप्तः
 घटादिकरणप्रसूतावाकाशाद्विपदाधैर्यतः । पठन्ते च-“कियेय
 फत्ता पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः खलु भ्रष्टयभोगको, न
 ज्ञानात्सुखितो भवेत्” । १ । तथा-“जडा खरं चंदएजारावाही,
 भारस्स जग्गी न हु चंदएरस्स । एवं खु नाणी वरणणहीणं,
 नाणस्स जग्गी न हु समंइए” । २ । अतस्ते प्रकृपयन्ति-शीलं भे-
 यः प्राणातिपातादिविरमध्यानाध्ययनादिरूपा कियेव भेयऽति-
 शयेन प्रशस्यं , श्रुष्यपुरुषार्थसाधकत्वाच्चैवं वा समाश्रयणीयं
 पुरुषार्थवशेषार्थिना । अन्ये तु ज्ञानदेवेष्टाद्यसिद्धिमिच्छन्ति, न
 क्रियातः, ज्ञानविकलस्य क्रियातोऽपि फलसिद्धिर्नास्तीति । अ-
 ध्यायन्ते च-“विक्षन्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्या-
 ज्ञानाप्रभु तस्य, फलसंवाडदर्शनात्” ॥ ३ ॥ तथा-“पदमं नात्तं
 तवोदया, एवं चिह्रद सव्यमंजया अस्सणी किं काहं किं वा, नाहो
 वेयपावयं” ॥ १ ॥ अतस्ते प्रकृपयन्ति-भूतं भेयः, भूतं पुनहा-
 नं तदेव धीलोऽतिप्रशस्यमाश्रयणीयं वा; पुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वा-
 द् ; न तु शीलमिति । अन्ये तु ज्ञानक्रियाभ्यामन्यांन्येनेपेक्षा-
 न्यां फलमिच्छन्ति । ज्ञानं क्रियाविकल्पमेवंपरसजनीयुक्तं वा
 फलदम् । क्रियाऽपि ज्ञानविकला लयमर्जनं । पुनहाता वा फलद-
 ति भावः । अणुगितं च-“किञ्चिद्वैदमं पापं, किंचत्पापं तपोम-
 यम् । आगमिष्यसि यन्पात्रं, तपयसे तारयिष्यति” ॥ १ ॥ अत-
 स्ते प्रकृपयन्ति-भूतं भेयः, तथा शीलं भेयः, ह्योर्गपि प्रत्येकं पुरु-
 षस्य पथिन्नानाविबन्धनवादिनि । अन्ये तु व्याचकृते-शीलं भे-
 यस्तावन्मुख्यवृत्त्या, तथा भूतं भेयः, भूतमपि भेयो, गौणवृत्त्या
 तदुपकारित्वादिन्यर्थः, इत्येकौयं मतम् । अन्येदीयमतं तु भूतं
 भेयस्तावत् । तथा शीलमपि भेयो, गौणवृत्त्या तदुपकारित्वादि-
 न्यर्थः । इयं चार्थे इह सूत्रे काकुत्थागाल्लस्यते । एतस्य च प्रथ-
 मव्याख्यानेऽन्यथ्यूकिकमतस्य मिथ्यात्वं, पुत्रां नपक्कयवस्सापि फ-
 लसिद्धिवाचनद्वयात्, समुदायपत्त्यर्थं च फलसिद्धिकारणत्वात् ।
 आहृच्च-“ नाणं पयामयसो, इत्थो नवो सज्जो य श्रुत्तिक्को ।
 तिएदं पि समाओंगं, मोक्खो जिणत्तासणं माणओ” ॥ १ ॥
 तप-संयमी च शीलमेव । तथा-“संजोगसिद्धिदं फलं व-
 येति, न हु एगचकणए रदो पयाड” । अथो य पंगु य वणे स-
 मिद्धा, ते संपउत्ता नयं पिट्ठा” ॥ ३ ॥ [श्रित्तिन्यव्याख्यान-
 पक्षेऽपि मिथ्यात्वं, संयोगतः फलसिद्धिहेतुत्वादेकस्य प्रधानत-
 रयिष्यताया अमहतत्वादिनि । अहं पुनर्गीतम् । एवमाश्रयामि,
 यावत्प्रकृपयामीत्यत्र भूतपुक्तं शीलं भेय इत्येवमात्रं वाक्यशेषो
 दृश्यः । अथ कस्मादेवमत्राच्यते- [एवमित्यादि] एव वयमत्रा-
 णन्यायेन [पुरिमजायं [त] पुरुषकारः । [सीशसं असुयर्थं ति]
 काशः ? उवरए अविषाययममे ति] उपरतो निवृत्तः खलुखला

पापात् अविज्ञानधर्माभावतोऽनधिगतभुतज्ञानो ब्राह्मणपत्नी-
रथ्यः । गीताश्रीमिथिनतपश्चरणनिरतो गीताश्री इत्यन्वये । [देसा
राहृत्त्] । देशं स्तोत्रकर्मशं मोक्षमार्गस्वाराधयतीत्यर्थः । स्वय-
म्भोऽर्घाहृतन्यासिकायापरन्यासोति । [अस्रोलवं सुयवे ति] कोऽर्थः ?
[अणुचरप विष्णोयधर्मत्] । पापाद्विभूतोः ब्राह्मणधर्मात् च अ-
विज्ञानस्वयम्भुदृष्टिरिति प्राबः । [देसविराहृत्त्] । देशं स्तोत्रकर्म-
शं हानाद्विचरूपस्थ मोक्षमार्गस्य तृतीयमागक्यं, चारित्र्यं वि-
राधयतीत्यर्थः ; प्राप्तस्य तस्याप्राप्तनादमास्यो [स्ववाराहृत्त्
त्ति] सर्वे प्रियकारमापि मोक्षमार्गमासाधयतीत्यर्थः ; भुतशब्देन
ज्ञानदर्शनयोः संयुद्धीतत्वात् । नदि मिथ्यादृष्टिर्विज्ञानधर्मात् तस्य-
नो भवतीति । एतेन समुदितयोः शीघ्रनयनोः ध्यस्वस्वमुकमि-
ति (स्ववाराहृत्त्) इत्युक्तम् । भ० ८ श० १० उ० ।

(१५) [सुख्य] सर्वजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः-

अस्र उत्थियाया एं जंते ! एवमाङ्कस्वति० जाव परूवेति-जा-
ब्दया गायगिहे खगरे जीवा, एवदयागं जंवाएणं नो च-
क्रिया केइ मुहं वा उहं वा० जाव कोलट्टिमायमावे निपा-
वामयायवे कलमयायमावे नामायायवे युगमायमावे जुयमा-
यमावे त्रिकयमायमावे अज्जिनिच्छेत्ते जा उवदंमिचए मे कटमंयं
जंते ! एव ? । गायमा ! जसंते अस्र उत्थियाका एवमाङ्कस्वति०
जाव मिच्छंते एवमाङ्कस्वत् । अहं पुण गायमा ! एवमाङ्कस्वामि०
जाव परूवेमि-मव्वलोए वि य एं मव्वज्जीवाणं नो चक्रिया
केइ मुहं वा ते चव० जाव उवदंमिचए मे केण्टे खो ? । गायमा !
अयणं जंजुद्वे दीवे० जाव विसेसाहिए परिकखेवेणं पस-
से । देवेणं माहिहिए० जाव महाणुजाणे एमं महं सविज्ञेयण-
गेयसमुगममं गहाय ते अवहाल्ले । अवराक्षेत्ता० जाव इणामिभ
कट्टे कवलरुपं जंजुदीते दीवं तिहिं अचछानिनाएहि तिप-
त्तात्तु को अप्पाएरायदितां णं इवमायच्छेजा, मे नूणं गो-
यमा ! से केवलरुपे जंजुदीते दीवे तिहिं पाणपोगमेहिं
कुने ? । इता ! कुडे, चक्रियाणं गायमा ! कइ तेसि पाणपे-
गज्जाणं कोलट्टिमायमावे० जाव उवदंमिचए खो इणट्टे मम-
ट्टे । से तेण्टे एं जाव उवदंमिचए जीवेणं जंते ! जीवे जी-
वे ! । गायमा ! जीवे ताव निपमा, जा वि जंवे वि निपमा जीव ।

(अस्र उत्थियायादि) (नो चक्रिय ति) न शक्युयात् ।
(जाव कोलट्टिमायमावे ति) आरानां बहु बहुतरं वा या-
वत्, कुवशास्त्रिकप्रभ्रमं, तत्र कुवलास्त्रिकं बररुक्कः, (नि-
प्याव ति) यत्नः, (कल ति) कलायः, (जुय ति) युकाः
" अयसामिवादि " दृष्टान्तोपनयः । एवं यथा गन्धपुक्कानामा-
मोत्सुक्यावेनामूत्सुक्यत्वात् कुवशास्त्रिकमात्रादिकं न दर्शयितुं
शक्यते । एवं सर्वजीवानां सुखस्य दुःखस्य चेति । भ० ६ श०
१० उ० ।

(१६) [हृदः] राजशुहनगरस्य बहिर्देशेनारपत्तयेत्याऽध-
रथस्य हृदस्य विषये विप्रतिपत्तयः-

अप्राण उत्थियाया एं भंते ! एवमाङ्कस्वति, जासंति, पाएण-
वति, परूवेति-एवं खलु रायगिहस्स नपरस्स बहिया वा वे-

जारस्स एवयस्स अहे एत्थ एं महं एगे हुरए अघे पससे ।
अपेगाइ जोगयाइं आयामविकखेजेणं नाणादुमखलंमंभ-
उहेसे सत्सिरीए० जाव पदिरुवे, तत्थ एं बहवे उदारा
वलाहया संसेयंति, समुच्छियंति, वासंति, तन्नतिरिचे वि य
एं सया समिञ्जं उतिसे अ्राउकाए अमिनिस्सवद, मे कट-
मं भंते ! एवं ! । गायमा ! जसंते अस्र उत्थियाया एवमाङ्-
कस्वति० जाव जे ते एवमाङ्कस्वति, मिच्छंते एवमाङ्कस्वति ।
अहं पुण गायमा ! एवमाङ्कस्वामि, जासेमि, पससेमि, परूवेमि-
एवं खलु रायगिहस्स गायरस्स बहिया वेभारपव्वयस्स अदूर-
सामंते एत्थ एं महातवोवतीरप्यनवे नाम पासवणे पससे ।
पंच धाणुसयाइं आयामविकखेजेणं नाणादुमखलंमंभडिउहेसे
सत्सिरीए पासादीए दुरिसिणजे अतिरुवे पदिरुवे, त-
त्थ एं बहवे उतिणोणिया जीवा यपोगला य उदगताए
वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उवचयंति, तन्नतिरिचे वि य
एं सया समियं उमिणे उमिणे अ्राउआए अज्जिनिस्सवद,
एम एं गायमा ! महातवोवतीरप्यनवे पासवणे, एस एं
गायमा ! महातवोवतीरप्यनवे पासवणस्स अट्टे पससे ।
सेवं जंते ! भंते ति जगवं गायम समणं जगवं महावीरं
वेदइ नममं ॥

(अस्र उत्थियेत्यादि) [पव्वयस्स अहे ति] अघस्तास्योपायं प-
वेत्त इत्यर्थः । (हुरए ति) हृदः [अघे ति] अघातिप्रानः । क्वचित्पु
(हुरए ति) न हृदयते, अघे हृदयस्य च स्थाने अघे च हृदयते, तत्र
च आन्यः अघो प्रभवः, हृद एव धेति (ओगल ति) विस्तीर्णः,
(वलाहय ति) मेघाः, (संसेयंति ति) स्वीकृत्यन्ति, उपादादि-
मुखो जवति (संमुच्छियंति ति) संसृजन्त्युपस्थाने (तन्नतिरिचे य
ति) हृदपुरणादतिरिक्तञ्च उन्मूलित इत्यर्थः । (आउयाए ति)
अपकायः [अमिनिस्सवद ति] अमिनिश्चयति कुरति [मिच्छंते
एवमाङ्कस्वति ति] मिथ्यात्वं चेतदाकथानस्य विज्ञानपूर्वक-
त्वात्प्रायः सर्वत्रवचनारुद्धत्वाद् व्यावहारिकप्रयत्नेण प्रायोऽन्य-
थोपगमनाच्चावगन्तव्यम् । [अदूरसामंते ति] नानिदूरे नात्यंति-
समीप इत्यर्थः । (एत्थ एं) प्रभाषणकनोपदेश्यम् (महात-
वोवतीरप्यनवे नाम पासवणे ति) आतप इव आतप उष्णता,
महाश्वासावातपश्चानि महातपो, महोऽऽन्यस्य उपनीरं नारि-
सूये प्रभव उत्पादो यस्यासी महातपोपतीरप्रभवः । प्रभवति
कुरतीति प्रभवणः, प्रभवन्त इत्यर्थः । (वक्कमंति) उत्पद्यन्ते,
(विउक्कमंति) विनश्यन्ति । एतदर्थ व्यययेनाह-अययन्ते
उत्पद्यन्ते चेति । उक्कमेवापि निगमयआह-एस शमिस्त्यादि)
एयोऽनन्तरोरुक्कः, एव वा अन्ययुधिकपरिकल्पिताप्यसं-
क्षेपे महातपोपतीरप्रभवः प्रभवण उच्यते । तथा एव यो-
ऽयमनन्तरोरुक्कः (उतिणोणिया इत्यादि) स महातपोपती-
रप्रभवस्य प्रभवणेत्याथोऽभिधानान्वयः प्रभवः । भ० २
श० ५ उ० ।

इति दर्शिता अन्ययुधिकैः सह विप्रतिपत्तयः । (अन्ययुधि-
कविशेषैः कापिलादिभिः सह विवादास्तु तत्तदुद्बन्धु, 'समा-
सरख' शब्दे च दर्शयिष्यन्ते)

(१७) संसर्गस्तु तैः [कापिश्राद्धभिः] सह न समाचरणाय पृथ [आगाढबचनम्] यथा-

अन्ययुधिकं वा गृहस्थं वा आगाढं वा वदति-

जे जिक्वू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वदः, वदंतं वा साइज्जइ । १८ ।

आगाढ इत्यादि ।

जे भिक्खू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वदः, वदंतं वा साइज्जइ । १७० जे जिक्वू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं फरुसं वदः, वदंतं वा साइज्जइ । १७१ ।

जे जिक्वू अणउत्थियं वा गारत्थियं वा अणययिणं अच्चा-सायणाए अच्चासादइ, अच्चासायंतं वा साइज्जइ । १७२ ।

आगाढगाहास्तुसं-

आगाढफरुसमीसग-दसमुदेसम्भ वसितं पुव्वं ।

गिहअण.त्थियएहिं, ते चेव य होति तेरसमे । १७५ ॥

जहा दसमुदेसं भदंतं प्रति आगाढफरुसमीसगमुत्ता भ-
षिता, तथा इह गिहस्थं अणउत्थियं प्रति वक्ष्या। इमेहिं जा-
निमात्तिपहिं गिहस्थं अणउत्थियं वा ऊणतरं परिभवतो आगाढं फरुसं वा भणति-

जातिकुलरूवभाभा-धणवत्तापाहणदाणपरिभागे ।

सत्तवयवुद्धिनागर-तकरभयकेयकम्मकरे । १७६ ॥

जादिं ताव मम्मपरिय-द्वितससं मुत्तिणो वि जायते मणुं ।

किं पुण गिहंण मणुं, न जाविस्सति मम्मविच्छो णं । १७७ ।

जातिकुलरूवजासा धणेषु बंधण पाहसुबधेण य एतेहिं दान-
णं प्रति अदाना संति वि धणेण, किमसंयेण अपरंजेगी हीनस्-
संवां वयसा अपहणेषु मंदबुद्धिः स्वतो नागरसं प्राभ्यं परि-
भवति । तं वा गिहस्थं अणउत्थियं वा तस्करप्रभृतककम्मकर-
जावे हिं छियं परिभवति । जादिं ताव कोहाणिमाहपरा वि
ज्जदि णो जानिमानिममेण छद्विया कण्ठंति, किं पुण गिहंणो
सुतरं कापं करिष्णत्तायथेः ।

सो य उण्णमंतं इमे कुज्जा-

खिप्यं मेरेज्ज मारे-ज्ज वि कुज्जाउगोहणा दाणिं ।

देमव्वा वंचकरे, संताउसेतेण पकिंसिधो । १७८ ॥

अणव्वा वा मणुष्णो मेरेज्ज, कुथितो वा साइं मारंजा, कट्टो
वा साइं रायकज्जादिणे नेसहायेज्जा, साणुणा वासांहाओ देस-
बागं करेज्ज, संतेण असंतेण वा प्रत्यभिधो पयं कुयादि । १७९
चू । १३ ७० ।

(१८) उदकवीणिका-

जे जिक्वू दगवीणियं अणउत्थियएहिं वा गारत्थियएहिं
वा कारंति, कारंतं वा साइज्जइ । १७९ ॥

पाणी तं दगं वीणिया वासोदगस्स वीणिया वि
कोवणाभिमितं णिज्जुत्तिकारां भणति-

बासाम्दगवीणिय, वसहीसंबक्क एतरं चेव ।

वसहीसंबक्का पुण, बहिया अंतो वरि तिथा णिब्ब । १८० ॥

वासाम्दगवीणिया कज्जति । सा दुविहा-वसहीए संबक्का,
इतरा असंबक्का । वसहीसंबक्का तिबिया विद्विता-बहिया, अंतो,
उवरि च । इमं निबिहाए वि विक्कणां णिब्ब-

परिगज्ज विद्विता उम्म-ज्जाण अंतो व ओदए वा वि ।

इम्मियतल्लमा वे, पणालाज्जिइ व उवरिष्णू । १८१ ॥

जा सा वसहीसंबक्का सा निब्ब परिगज्जो, जा सा अंतो
संबक्का सा जुमी उम्मिज्जति, सिरा वा उण्णिया वा-
सादं वा जिह्मिं पविट्टं, जा सा उवरि संबक्का सा इम्मियतले
इम्मतले भायाज्जो वा ममबिगाच्छादितमाले वा वासादं पथिं
जायले वा पणाइच्छिइ ।

वसही य असंबक्का, उदगागमगाणकदमे चेव ।

पढा वसहिणिमित्तं, मग्गणिमिं दुये इतरा । १८२ ॥

वसहो असंबक्का विविहा-उदगस्स आगमो उदगागमो, व-
सहिं नण आवाच्छति पविस्सति सि, अंणे वा जय्ज साहुणो
अच्छति तं नाण उदगं पति, णिमग्गणपहे वा उदगं पति, तथ्य
कदमं नयति, तथ्य पढमा जा वसही नेण पविस्सति सि, ते अ-
णतो दगवाहो कज्जति, मा वसहीणियामो प्रविस्सति, उयगसु
दुसु जा अणं पति, जा य णिमग्गणपहे, पना अणतो दगवीणिया क-
ज्जति, मा उदग ठादिं सि, न च संवज्जति, तथ्य अति नणं ताणं
तस्स पाणविग्राहया कज्जमो वा होहि सि मग्गणिमिं णाम
मा मग्गो कज्जिहिं सि. उदगेण कदमेण वा वसहिसयथासु वि
दगवीणिया कज्जति ।

एतं सामपातरं, दगवीणिय जा उ कारेवे जिक्वू ।

गिहअस त्थियण व, अयगोल्लमण आगाढा । १८३ ॥

अयं ज्ञोह, नम्म गोळो पिंसा, सो नत्तो समना वदति । पव
गिहअणित्थियं वा समंततो जांवेवघातो, तद्वा एतेहिं ण
कारवं ।

दगवीणियणपटिया एमे-

दगवीणिय दगवाहो, दगएरिमासो य होति एगट्टा ।

विणायति जम्हा तु दगं, दगवीणिय भाणते तम्हा । १८४ ॥

पुव्वके एगट्टिया, पच्छके दगवीणियं णिरुत्त । १८५ ॥

गिहअणित्थियपहिं दगवीणियं कारवंतस्स एमे दोसा-

आया तु हत्थपादं, इंदियजायं प च पच्छकम्मं वा ।

फाणुगमफाणुदंसं, सब्बिणाणिये लोहुराया । १८६ ॥

[आय धनि] आयधिराहणा-तथ्य हत्थं पादं वा लुंसेजा, इंदि-
याण अणतरं वा लुंसेजा, अहया इंदियजायमिति वैदियादिया,
ते विराहेज्जा, पच्छकम्मं वा कज्जजा, तथ्य फाणुपणं देसें मास-
इहुं, सव्ये चउलहुं, अफाणुपणं देसे, सव्ये वा चउलहुं, अण्णो
करंतस्स पते चेव दोसा ।

दगवीणियाए अकरणे इमे दोसा-

पणगादिहरित्तुच्छण-संजमआताअजीरगेदोषो ।

वहिता वि आयसंजय-उवथाणासं दुग्गया य । १८७ ॥

कारणेण करेज्ज वि दगवीणियं । किं कारणं ? इमे-

वसहोहिं हुज्जभाप, नायातज्जापे अहव पलियाय । १८८ ॥

एतेहिं कारणेहिं, कपति ताहे सयं करणं ॥१४० ॥
 पणयो उड्डी समुच्चर, अदिग्रहणतो वेदियादि समुच्चति,
 हरियकाओ उड्डीति, एसा संजमविराहणा । अयविराहणा
 स्तितभवसहाय भयं ज करति, ततो गमयं जायति, एते
 वसहिसंबहाय दगवीनियाय अकजमणीय होसा, वसदिभ-
 संबहाय बहिया एस दोसा-उदगामने जणे अनावरं बिसिच-
 से लुतिअयविराहणा संजमे पणया हरिता वेदिया वा उयहि-
 विणासा कहुमणे मसिणवासा उगुंविज्जजति । कारणे गिहिस-
 खतिरिथयिहिं वि कारविज्जति ।

वितियपदमण्डिउणे वा, सिउणे वा केणई भवे असहू ।
 वाधातो व साहुस्स, नरिकरणं कपती ताहे ॥ १४१ ॥
 पच्छाकडसानिमाह—गिरजिगमइणइय ए असएणी वा ।
 गिहिसासित्थिएण वा, गिहिसासि एतेर पच्छा ॥१४२॥
 दो वि पूर्ववत् कणता । नि० नू० १ उ० ।

(१९) [उपकरणरचना] अन्वयार्थकैः चिह्न-
 मिलिकादि कारयति—

जे निक्ख् मोत्तिये वा रउजुये वा चिन्नामिंति वा असउत्थि-
 एण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंते वा साइज्जइ?४॥
 सुत्तं सुत्तं भवा सोत्तिया, वक्कबवत्थादिका इत्यर्थः । रउजुए
 भवा रउजुआ, दोगकिं सि वुत्तं जवति ।

असवइणउपरणे, वामे उज्जकलणे जिओ एति ।
 उल्लवोहिं विरल्लेति व, अतो वहिं कसिए इतरं वा । १६३॥

जाव मंतभो ण परिट्टुविज्जति ताव पच्छुभं धरिज्जति, भकाणे
 वा जाव धंभिले न लज्जति ताव उदितो गमो बुज्जति , जओ
 उक्कलणो एति, ततो कदमचिह्निसिल्लो दिज्जति, वासासु वा
 उल्लवोहिं विरल्लेति दोरे जहासंखं अंत बहि कसिए इतरं वा ।
 पंचविधचिह्नमर्लोए, जो पुवं कपती गहणं ।

असतो पुवंकडाए, कपति ताहे सयं करणं ॥ १६३ ॥
 वितियपदमण्डिउणे वा, निउणे वा होज्जकेणई असहू ।

वाधातो व साहुस्स, नरिकरणं कपती ताहे ॥ १६४ ॥
 गाहा पूर्ववत् कणता । नि० नू० १ उ० ।
 (२०) सुचोप्रभृत्युपकरणान्वयव्युत्थिकेन वा गृहस्थेन
 वा कारयति—

जे निक्ख् सूचियस उत्तरकरणं अशउत्थिएण वा गार-
 त्थिएण वा कारेति, कारंते वा साइज्जइ ॥ १६५ ॥
 सूयोमार्दोयाणं, उत्तरकरणं तु जो तु कारेज्जा ।
 गिहिसासित्थिएण व, सो पावति अणामार्दीण ॥१६६॥
 उक्कगहिता सूया-दिया तु एककए गुरुस्तेव ।

गच्छं व समासज्जा, अणायसेकेके सेसेसु ॥ १६७ ॥
 सूवी पिप्लभो णइच्छेयणं कएणसोहणं उक्कगहितीय-
 करणं, एते य एकका गुरुस्स भवति । सेसा तेहिं केव कज्जं
 कारेति, महल्लगच्छं वा समासज्ज अणायसा अहोहमया सवस-
 सिगमयी वा सेससाहृणं एकका भवति । किं पुण उत्तर-
 करणं ? इमं—
 ११६

पासम मड्डिणिसीयण-पउजण रिउकरण ओसरणं ।
 सुहुयं पि जं तु कीरति, तदुत्तरं मूलोणव्वत्ते १६८ ॥
 पासमं विसंय डिज्जति, अएइकरणं मड्डिणिसीयणं गिसाये पज्ज-
 णं सोहकारागारे रिउ उज्जुकरयं ययं सव्वं उत्तरकरणं । अहवा
 सुअणिव्वत्ते उतरं सुहुयममं व जं कज्जति ते सव्वं उत्तरकरणं ।
 सूयोमार्दीयाणं, गिण्णिकरणं तु कपती गहणं ।
 असतो गिण्णिकरम्मं, कपति ताहे सयं करणं ॥ १६९ ॥
 नि० नू० १ उ० ॥

(२१) शिक्खाधिकोपकरणकारणम्—

जे भिक्ख् सिकंमं वा सिकगणंतेमं वा अशउत्थिएण
 वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंते वा साइज्जइ ॥ १७१ ॥
 जे भिक्ख् सिकरोत्पादि सिकंमं पसि जारिसं वा परिव्वायग-
 स्स सिकंमं अणतभो उपाणभो उक्कगणं भयति, जारिसं का-
 वसिस्स भेयणसुखियाणं, एस सुख्यो । इहासिं निउजुसि-
 त्थियो—

सिकगकरणं दुविधं, तसयावरजीवइहणिएणं ।
 अइगवाइम कीदज-होक्कवज्जादिगतेरस ॥ १७३ ॥
 जे निक्ख् पिप्लगमस उत्तरकरणं अणउत्थिएण वा
 गारत्थिएण वा कारे, कारंते वा साइज्जइ ॥ १६६ ॥

पिप्लगणहच्छेदण-सोषणए च व होंति एवं तु ।
 णवरं पुण साणत्तं, परिभोगे होंति सायव्वं ॥ १७३ ॥
 एवं पिप्लगणहच्छेयणसोहणं य एककं चउरो सुत्ता, भत्थो
 पूर्ववत् । परिभोगे विसेसा इमो—

वत्थं डिदिस्सामिति, जाइ उ पादद्विदं कुणति ।
 अशुवा वि पादद्विदं, काहितां डिदनी वत्थं ॥१७४॥
 एक्खं डिदिस्सामिति, जाइ उ कुणंति सल्लमुद्धरणं ॥
 अहवा सल्लुद्धरणं, काहितां डिदतो एक्खे ॥ १७५ ॥

पिप्लगणहच्छेयणां अपण्ये इमा विधी-
 यज्जे वा गेहिहा, हत्थे उपाणयम्मि वा काउं ।
 चुमीए व उवेत्तं, एस विधी हाति अपण्णणे ॥ १७६ ॥
 उभयतो धारणसंभवा मज्जे गेहिहज्जणं कप्येति । सेसं कंउं ॥
 कएणं मोधिस्सामिति, जाइं तु देवसोषणं कुणति ।
 अहवा वि देवसोषणं, काहितां सोहती कएणे ॥ १७७ ॥

लानाजानपरिच्छं, दुल्लभअचियत्तमहसअपण्णणे ।
 वारसमु वि सुषुभ्र अ, अवरपदा होंति णायवा । १७८ ॥
 जे भिक्ख् हाउथयायं वा दारुषां वा यट्ठियापायं वा
 चउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्ठीवेति धो, संउवेइ
 वा, जम्माइति वा, अन्नमपण्यो कारणयाए सुहुयममं णो
 कपइ, जाणमाणे सरमाणे अन्नमभस्स वि सरमाणे वियर-
 ति, वियरंते वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

(जे भिक्ख् हाउथयायं वा इयादि) दो श्लियकं बुधादिनं सू-
 मयं कपालकादि परिघट्टणं गिम्मंभणं संउवणं सुहादीयं
 जम्मायणं विसरमाणं समंकरणं अन्नं यज्जेतं सक्कंति, कप्यो
 काउं ति वुत्तं जवति, जाणइ जहा गहति, अशउत्थियगारत्थि-
 एहिं कारवत्तं जाणति वा, सुत्तं सरति, एस अहभोवदेसो प-

पिच्छं वा सन्द्, अथमथा गिहृत्वाऽस्य उतियया, ताण वितरति पय-
च्छति, कारयतीत्यर्थः । अद्वा युक्तः पृष्टः साधुभिवेद्या-युहस्था-
न्यसौर्धिका कारयामः । ततः प्रपञ्चते, अतुक्तो ददातीत्यर्थः ।
प्रणिधो सुसत्यां ॥ नि० सू० ५ ३० ।

पदमभितियाण करणं, सुहृममयी जो तु कारये भिक्व् ।
गिहृत्वाऽस्य उतियेण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १९९ ॥

पदमं हद् परिकम्मं, वितियं अयपरिकम्मं, सेसं कंठं । ज-
म्हा एते दोसा तम्हा—

य दृत्तसंठविते वा, पुण्वं जमिते य होति गहणं तु ।

असती पुण्वकदाए, कप्पति ताहे सय करणं ॥ १९० ॥

नि० सू० ५ ३० ।

जे जिक्व् दंरुयं वा लद्धियं वा अवलेहणियं वा विणु-
सुइयं वा अण्णउतियेण वा गारत्येण वा परिघटावे-
इ वा, जम्हाइइ वा, अलमपणो कारखयाए सुहुममवि
यां कप्पइ, जाएयाण सरमाए अथमअस्स वि सरमाए
वियरसि, वियरंते वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

पदमभितियाण करणं, सुहृममयी जो तु कारये भिक्व् ।
गिहृत्वाऽस्य उतियेण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १९९ ॥
घट्टितमंठविते वा, पुण्वं जमिते य होति गहणं तु ।

असती पुण्वकदाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १९१ ॥

वेसुमयी मन्वलययी, तुविषा मूयी समासतो होति ।

अउरंयुत्तयाणा, सामिच्छणसंधण्डाए ॥ १९० ॥

एकेका सा तिषिया, बहुपरिकम्मा य अपरिकम्माए ।

अपरीकम्मा य तहा, छातम्वा आणुपुन्वीए ॥ २१९ ॥

अरुंमुआपमाणं, परिज्जंतो होति सपरिकम्मा तु ।

अरुंमुलमंगं तु, उज्जंतो अयपरिकम्मं ॥ १९० ॥

आ पुण्वद्विता वा, पुण्वं संठविते तत्थ सा वा वि ।

लम्नति पमाणुत्ता, सा णायन्वा अथाकदगा ॥ १९१ ॥

पदमभितियाण करणं, सुहृममयी जो तु कारये भिक्व् ।

गिहृत्वाऽस्य उतियेण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १९९ ॥

घट्टितमंठविते वा, पुण्वं जमिते य होति गहणं तु ।

असती पुण्वकदाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १९३ ॥

माहा सन्वाओ पूर्ववत् । नि० सू० १ ३० ।

(२२) अय्यथिकादिभिः सह गोचरचर्यायै न प्रविशेत्-

जे भिक्व् गिहृत्वाण वा अण्णउतियाण वा सोआदग-
परिधोयणा वा हृत्थेण वा मत्थेण वा दाव्विण्ण वा जाय-
ण्ण वा असणं वा पाणं वा स्वाइमं वा साइमं वा पडिग्गा-
हेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १-८ ॥

इमे सुसत्थो-

गिहृत्वाऽस्य उतियेण व, धूयीमादीहितं तु मत्थे ।

जे जिक्व् असखादी, पदिच्छते आणमादीणि ॥ १९५ ॥

गिहृत्वा सोत्तियबंधमादि, अग्निधितिया परिख्यागादि, उद्ग-
परिभोगी मत्थो सुइ, अद्वा कोइ सुवेवादी तेण दहेज्जा, सो य
सोआदगपरिजोगी मत्थो उडुंकरमादि तेण नेएहंतस्स आ-
णादिया दासा, चउलुंढं च स पच्छुण्ण । इमे सीतोदगपरिजो-
रणो मत्था-

दगवारगवट्टणिया, उडुंकाऽऽयमाणिब्रह्मा वा पट्टगा ।

मपवारवट्टणमत्ता, सीआदयभोगिया एते ॥ १९३ ॥

दगवारगो गट्टुअरं आयमणो लोद्धिया कट्टमओ उडुंकओ
कट्टमओ वारओ वट्टुयं कप्पयंतं पि कट्टमयं । एतेसु नेएहंतस्स
इम दासा-

नियया पच्चाकम्मं, धोतो वि पुणो दगसस सो वत्थं ।

तं पि य सत्थं असणो-दगसस संसज्जते वाणं ॥ १९८ ॥

भिक्खण्णयाणोवलिंसं पच्चा पुवंतस्स पच्चाकम्मं स मत्थो
असणादिरसमाविभोअं उदगस्स सत्थं भवति, णो जवति वाः।
याचायं आह-सुणुण-

सीआदगजोइणं, पदिसिच्छं मा तु पच्चाकम्मं ति ।

किं होति पच्छकम्मं, किं व न होतिचित्ते सुणुणु ? १९९ ॥

जेण मत्थेण सच्चिंतदं परिभुंजति, तेण भिक्खण्णहणं पदि-
सिच्छं सीसो पुच्छुक्ति-कह पच्चाकम्मं भवति, णो जवति वाः।
याचायं आह-सुणुण-

संसद्धमंसहे, भावे मेमे य निरवसेसे य ।

हृत्थे मत्थे दवेत्ते, सुच्छ-मयुत्ते तिगट्टाए ॥ १९० ॥

संसद्धे इत्थे संसत्ते मत्थे साधसेसे दवेत्ते एतसु निसु एवेत्ते अट्ट
जंगा कायव्याविसमा सुखा, सम्या अत्तुआंजमेसु इमा गहणविकी-
पदमे गहणं सेसे-मु वि जत्थ सा सुइं वसु सेसं तु ।

अससु तहा गहणं, असवसुवसे वि वा गहणं ॥ १९४ ॥

(अत्तसु ति) संसत्ते जंगेसु आदि देयं इत्थं सुक्खं अवलेकं
सुक्खं मरुगकुम्भवितां गमं पच्चाकम्मस्स अभावात् विति-
यपदं ॥ १९४ ॥

अग्निधे ओमोयारिए, रायहुडे जए व गेलाहडे ।

अच्छाए रोहए वा, जयणा गहणे तु गीयत्था ॥ १९४ ॥

पुण्वत्थे अत्तसरणीया । नि० सू० १२ ३० ।

जे जिक्व् आण्णउतियेण वा गारत्येण वा असणं
वा पाणं वा स्वाइमं वा साइमं वा देइ, देयंतं वा साह-
ज्जइ ॥ १९८ ॥

जे जिक्व् असखादी, देज्जा गिहृत्वा अद्वा अग्नातिथीणं ।

सो आणा अणवत्थं, पिच्छवतिराहणं पावे ॥ २६८ ॥

तेसि अग्नातिथियगिहृत्वाणं दिंतो आणादी पावति, चउलुंढं
च ॥ २६८ ॥

सन्वे वि य खसु गिहिया, परपवादी य देमाविरता य ।

पडिसिच्छाणकरणे, जेण परलोमकंलीण ॥ २६९ ॥

एतेषु दानं शरीरसुखाकरणं अथवा दान एव करयं च-

परशोककाहरी भ्रमणः तस्यैतत् प्रतिषिद्धं, अहवा एतेषु दास्यं करणं किं परिषिद्धं जेष समगो परलोककंकषा । आह- क आह—

शुचमदाणमसीले, करुनामहभ्रो उ ह्योति समण इव ।

तस्स मज्जुसमदाणं चोदग ! सुण, कारणं तत्तय ॥२७० ॥

शुचं अथातिथियगिहंरधेषु अचिरतेसु चि काउं द्वाणं ए दि-
ज्जति, जो पुण देसविरतो सामाहयकरो तस्स जं द्वाणं परि-
सिज्जति, एयमज्जुसं, जेष सो समणदूतो ह्यनति । आचार्य
आह—हे चोदक ! एतत् कारणं सुणुसु—

रंधण-किमि-वाणिज्जं, पावति तस्स पुच्च विणिणउचं सो ।

कपसाभाइयमोमि वि, मूयस्स अपच्छुपाएणस्स ॥

जदि वि सो कयसीमहभ्रो उचस्स ए अथति, तदा वि तस्स पु-
च्चिज्जुसा आहिकरणजोगा पावति चि रंधणजोगो कृषिकरणजोगो
वाणिज्जजोगो य, एतेण कारणेण तस्स दाणमज्जुसं । चादक-
णए अणियं समगो इव सावधो । उच्यते-ओवस्मेण तु समणे ते
जेष सव्वविरती ण ह्यनति । अत्रो अणति—

सामाय्य पारेउं, ए णिगमो साधुवसहीए ।

अट्टिकरणं सातिज्जति, उता हु तं वोसरति सव्वं । १७२ ।

आयरियो सीसं पुच्चति-सामाहयं करेमि चि । साधुवसही वि
तो पत्तो सो आरुच्यं जाय सामाहयं पारिठणं न णिणमो साधु-
वसहीए पोसहसालाभो वा एयमि साइयकालो तस्स अ-
रंधकणजोगा पुच्चववत्ता कज्जति, तो सा किं सातिउज्जति,
उताहु ते वोसरति सव्वे । उच्यते-ए वोसरति साइउज्जति,
जदि साइउज्जति एवं भणुनस्स सव्वविरती लभमति ॥ १७२ ॥

दुविद्धनिविट्टे ए रुज्जति, अणुमसा तेण सा ए परिक्कटा ।

अणुओ ए सव्वविरतो, म समापति सव्वविरओ य । १७३ ।

पाणदिवायादियायं पंचणं अणुव्वत्तणं सो विरति क-
रेति । (दुविधं ति विधेण चि) दुविधेण करेति, ए कारवेति,
तिविधं मणेष चायाए कारणं नि । एतथ तेणं अणुमसो ए णि-
क्कटा, तेण कारणेण वडसामाति ता वि सो सव्वविरतो ए
लभमति, किं चाऽप्यत् ॥ १७३ ॥

कामी सपर-गणतो, मूलपट्ठसा स होइ द्ढव्वा ।

उपयणभेयणकरणे, उद्विहकनं च सो जुंजे ॥ १७४ ॥

एट्टेहितविसरिते, जिषे वा मरुलि ए व चोच्चे य ।

पच्छाकम्पवड्ढणा, धुयावणं वा तदद्दस्स म ॥ १७५ ॥

पंच विस्वया-कामेति चि कामी सशूद्वेण सशूहः अह्मता
ह्मी, सह अह्नना साह्ननः, मूलपट्ठसा, देसविरति चि जुसं भ-
वति । साधूणं सव्वविरतो वृक्षादिकुड्ढेदेन पृथिव्यादिभेदेन
प्रवृत्तः सामायिकभावाद्व्ययं जं च उद्विहकउं तं कडसामा-
भ्रमभो वि भुज्जति; एवं सो सव्वं ए भवति, एतेण कारणेण
तस्स ए कप्पति दाउं इमो । अहवा—

वितियपदे परदिग्गं, सेहट्ठाणं ए वेज्जमाहारे ।

अक्काण देसगलणे, असती पडिहारिते गट्ठणं ॥ १७६ ॥

एयस्स इमा विभासा कारणे । परतिथियाण अक्के अ-
क्कतो देज, सेहो उट्ठां एणत्थना देज्ज, गिही अथातिथी वा णिज्जं-

धेण मग्गोज्ज, तदा से दिज्जति, सेहो वा गिहिवेसितो
भावतो पव्वइओ तस्स देज्जा, सयेण वा पव्वहा अट्ठाणं साहु-
तिथ्यागिहियं तत्तत्कारणेहि गिहीण अट्ठाणं तं साधु गिहीण
पव्वजिणेज्जा, अथवा अट्ठाणं भंतिपतियमादिवाण देज्जा,
वेउज्जस्स वा गिशाण्णा अणायिस्स देज्जा, तं च जहा दि-
उज्जति तदा पुच्चभणियं जथ गिहीणं अथातिथियाण व
साधूणं य अंथियका ज उट्ठेण भत्तपाणदंशियमादिष्णा साहारं
ण दिशं तथ्ये ते गिही अथातिथिया विभज्जायय्यवा, अह
ते अणिक्का साधु भणुज्जा, अह वा ते पंता, तदि साधु विमज्ज-
ति, साहुणा विभयंतेषु सव्वेसि वि हु समममव चिनइयव्यं,
एयवदेसो ॥ १७६ ॥ नि० चू० १५ उ० ।

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा गाहाविकुलं जाव पवि-
सिंजुकां एणो अमउत्तियएण वा गारत्तियएण वा परि-
हारिउ वा अपरिहारिएण सकिं गाहावदकुलं पिहवापपिदि-
या पविसेज्ज वा, एिक्कवमेज्ज वा ।

(से भिक्खु वा इत्यदि) स जिक्खुयोवद् शूदपतिकुलं प्रवेष्टु-
काम एविहैक्कयमालोः सार्द्धं न प्रविशेत्, प्राक् प्रविष्टो वा नाति-
कामेदिति संबन्धः । यैः सह न प्रवेष्टव्यं तात् स्वनामग्राह-
माह-तत्रान्यतीर्थकाः स्वजस्काद्यो शूदस्थाः, पिरेदोपजं। विना
धिष्णातिप्रभृतयस्तेः सह प्रविशानामो दौषाः । तद्यथा-ने पृष्टनां
वा गच्छेयुरसतो वा, नेऽप्राप्तो न गच्छन्तः यदि साधुपुत्रुव्या वा गच्छं-
युस्मन्स्त्वत्कुलं ह्यौप्राप्यः कर्मभरणः, प्रवचनशासकं च, तेषां वा
स्वजात्यापुत्रकपं इति । अथ पुष्टनस्मन्स्त्वत्प्रवृत्तो, दातुर्वा अज-
कस्य शासं च, दाता संविभज्य दद्यात्तनामोदर्थ्यादौ। हुमिहा-
दौ प्राणवृत्तिर्न ह्यास, इत्येवमादयो दौषाः । तथा परिहारास्तेन
वराति परिहारिकः, पिण्डदोषपरिहरणादुपुत्रकविहारी, साधुरि-
त्यर्थः । स एवंगुणकलितः साधुरारिदरिंकेण पावैवैव्यावस-
न्नः कुरीलसं स कय पाच्छुदकं न प्रविशेत्, तेन सह अविष्टा-
नामनेपणीयजिह्वाप्रणप्रहणकृता दौषाः । तथाहि-अनेपणीयप्र-
दणे तत्प्रवृत्तिरनुज्ञाता अव्ययप्रहणे तैः सहऽऽसंक्षड्वाद्यो दौषाः ।
तत एताद् दौषाद् हास्या साधुशूदपतिकुलं पिण्डरूपातप्रतिह-
या तैः सह न प्रविष्टिर्शापि भिक्कामेदिति । आचा० २ भु० १
अ० १ उ० ॥

(२३) [दानम्] अन्पयधिकेच्योऽशनादि न वेषम्-

से जिक्खु वा भिक्खुणी वा० जाव पावेड्ढे समाणो एणो अम-
उत्तियस्स वा गारत्तियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहा-
रियस्स वा असणं वा पाणं वा त्वाइमं वा साइमं वा देउज
वा, अणुपदेउज वा ॥

माम्भन्तं तहानाथप्रतिपेयमाह-
(से भिक्खु इत्यदि) स भिक्षुयोवद् शूदपतिकुलं प्रविष्टः सन्तु-
पन्नगणः/वद्वाध्रयसा वा तेषांऽप्यनतीर्थकादिन्यो दौषसं-
नयादशनादिकं न दद्यात्, स्तेनो साधुपुत्रदोषपरंशु शूदस्था-
दिनेति । तथाहि-तेन्यो दौषमानं दद्यात् लोकाऽभिभयंते, एते
क्षयविधानामपि दक्षिणादाः । अपि च । तदुपुष्टनादसंयमप्रवृत्ते-
भाद्यो दौषा जायन्त इति । आचा० २ भु० १ अ० १ उ० ।

जे जिक्खु अष्टाण्डित्यएण वा गारत्तियएण वा परिहारि-
ओ वा अपरिहारिएण वा गाहावदकुलं पिहवापपिदिवा

अग्रणउत्थिय

अणुप्रापिसङ्ग वा, निक्खमङ्ग वा, अणुप्रापिसंतं वा निक्खमंतं वा साङ्गज्ज ॥ ३९ ॥

अन्यनभृत्काश्चरपरिवाजकशकाश्चाजीवकवृक्षआयकप्रभृतयः, गृहस्था मन्नादिभिक्षाभारपर, परिह्वारिभ्रो मूलुसरदासे परिह्वरति, अहया मूलुसरगुट्टो धरेति, आचरतीत्यर्थः । तत्प्रतिपङ्कभूतो अपरिह्वारी । ते य अणतिरिथिया गिहत्था ।

सुवच-

णो कण्पति निक्खुस्सा, गिहिया अथवा वि अणतिरिथी ॥ परिह्वारियस्स परिह्वारि-रिणण गंतुं वियाराप ॥३००॥

सर्कि समानं युगपत् एकत्र ब्राह्मकर्मं गाढापरिचयिक्राप सा-बज्जमनादिगोत्रार्थं करणार्थं च गाढापरिचयिकुलं । अस्य व्याख्या-गाहगिहं गाढा गेहं ति वा गिहं ति वा एगत्, तस्येति गृहस्थेति-प्रभुः स्वामी, गृहपरिचरित्यर्थः । इतरत्वादिस्समुदायं कुलं पिकां वा य परिचयाप (सा) इत्यथ व्याख्या-पिकां असणत् । गिहिया दीयमानस्य पिकास्य पात्रे पातः, अतया प्रकथा एव्यं विद्वतो जहा-बासं जुमपयणिवल्लं जं चसुं नाम परिभो । अयेण पुच्छियं-किणिमित्तं नाम परिचोसि ? भणानि-सुत्तपायपरिचयाप अग्रणपायपरिचयाप ति, तदेव पिचवायपरिचयाप ति । किंच-इदं सुत्रं लोकोत्तरतमयसंज्ञापरिचरकं किंचित् स्वयमयं संज्ञाप्रतिबन्ध जति, अणुप्रापिसि । अस्य व्याख्या चरगादि गाढा । अणु पश्चात्त्वं चरगादि-सु गियंत्सु पच्छा पागकरणकालतो वा पच्छा, एवं अनुशुभ्दः पश्चाद् योगं सिद्धः ।

एतो एगतरेणं, सहितो जो गच्छती वियाराप ।

सो आणा अणवच्छं, मिच्छत्तिविराहणं पाव ॥ ३०१ ॥

एतो एगतरेणं गिहत्थेण वा अणतिरिथ्येण वा समं पविसंतस्स आणादिथा दोसा । आयसंजमविराहणाभो ज्ञापणा । गाढा परंरगादिपुत्तं सर्कि हिंङ्गनस्स पवयणो भाषणा जयति, लोको वयति-पइरगादिपसायभो लभंतो, सयं न सभंतं, असारथचन-प्रयत्नवात् । अथवा लोगां वदान-अभ्रकिमता य परलोगे वा अदिअदाणा आत्मानं न विदति, गृहा इति । एतं परंरगादि शिष्यस्स मनुपगन्ता वसति, यत् एभिः सार्द्धं पयंत्तं, किंचान्यत् । अधिकरणगाहा, गिहो अयभोअसमाणो ण पट्ठति भणितुं, परिणिसीदतु बहववाहिं वा भणतो अधिकरणं गिहत्थो अइसी साइ लकी उव इणति, साइस्स अंतयं बह संजतो अलकीतो गिहत्थस्स अंतयं जेण समं हिंङ्गति, दातारस्स वा अचित्तं किंमया समं हिंससि ति, अधिकरणं च भवे, अक्खेज्जण पडुट्टो अयस्सयं अणोणुणा उइउज्ज, पंता वणाति वा करेज्ज, परास्स वा गाहणा गिहोणोण उ दोहए वि तेज्ज तं चव अंतयारयं अचियणत् संखंदा नीया य साहुस्स करेज्ज, दातारस्स वा करेज्ज, उयस्स वा कुज्जा, दोगाहना अट्टाणीणिय य परास्स देज्ज, साहुस्स गिहत्थस्स वा, तं चव अंतयारी दोसा । जतो अणानि-संजयप-दासणात् । संजयगिहो उभयदोस्स इति मत्ताभो । एवं अयोगाहा ह ति । अस्य व्याख्या-गुट्टे दुपुदे बडपपदे णवपप च, एतेसु चैव इत्तसु कथादिपसु वा वि सुमतिं (सु सायुगिहं वा एगंतं सं-केज्ज, उभयं वा किह पुणाति संकेज्ज, एते समणमाहसा प-रोत्परं विरुद्धा वि एगतो अइति, य एते ज वा ते वा सणुं एते चारा चोरिया वा, कामी वा बुपयादि वा अचहडामपरिहं ज-इहा एते दोसा, तन्हा गिहत्थपडतिरिथीहं समं भिक्षाप ए प-

वित्तियव्वं, वित्तियपदेण कारणे पविसंज्जा वि । जतो वित्तिय-पदगाहा । अर्चयं वुट्ठिकम्भं, एतेसु अर्चियदिपु एतोहं गिह-त्थपडतिरिथीहं समं भिक्षा लभति, अन्नदानं लभति; अतो तेहिं समाणं बडे, सो य जति अहा भदो णिमंनह वा, अहा भ-इएण पुय समाणं दो तिभिं धरा, अहहा ते चेवासंखकारी । रायडुट्टं सो रायवल्लो गिलाखस्स सह एय भोयणुदि, सो दव्वावाति, अहहा ण भवति, भिक्षापरियं वा वच्चंतस्स उ वि सरीरं तेण रक्खति, परिधीयसाणे वाचारेति; आदिसहातो गों-खुसुरातोप विपविंसातो पुण इमा विहो पुव्वगते गाहा/गिहत्थ-अभतिरिथ्येसु पुव्वपविट्टे पत्तं वा पुव्वपावट्टो अणभावे ति, परि-सं तापं इरिसंति जेण णज्जति, जहा एतेण समाणं हिंसंति, अ-ङ्कनस्स य इमो विहो पुव्वं पच्छा करमकरुपु तत्रो पच्छा क-रमण्णालीसुतो, तभो अइजहमरुपु तत्रो अहाअहमण्णालिगि-खा अहाअइए वि, एस चैव कमा । नि० चू० १ उ० ।

जे निक्खु आगंतारिं सु वा आरामागारिं सु वा गाढावडकु-लेसु वा परिचावसहेसु वा अणउत्थियं वा गारत्थियं वा अणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायात्, जायतं वा साइज्ज ॥ १ ॥ जे निक्खु आ-गंतारिं सु वा आरामागारिं सु वा गाढावडकुलेसु वा परिचाव-सहेसु वा अणउत्थीं सु वा अणसं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओजांमिय ओभासिय जायति, जायतं वा साइ-ज्ज ॥ २ ॥ जे निक्खु आगंतारिं सु वा आरामागारिं सु वा गाढावडकुलेसु वा परिचावसहेसु वा अणउत्थियणि वा गारत्थियणि वा अणसं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओजांमिय ओजांमिय जायति, जायतं वा साइज्ज ॥ ३ ॥

'जे निक्खु' पुर्ववत् आगंतारं-ज्जथ आगार आगंतुं विहरंति, तं आगंतारं, नामपरिसङ्घं ति बुद्धं भवति । अनुत्तुगानं वा कयं अगारं आगंतारं, अहिया वासो । त्त, आरामं अगारं आरा-मागारं, गिहस्स पतो गिहपतो, तस्स कुल गिहपतिकुल, अय्य-गृहमित्यर्थः । गिहपजायं मेत्तुं पव्वञ्ज परिचयाप जिता, तेसिं आचसदोः परिचावसदो, एतेसु जणसु छिन्त अणवत्थियं वा गारत्थियं वा अस्साह ओभासति, माइज्जति वा, तस्स मास-लहु । एस सुत्तथो । इमा सुत्तकसिया-

आगंतारादिं सुं, अणगादी जासनी तु जो भिक्खु । सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तिविराधणं पावे ॥ १ ॥

आगंतारादिं सु गिहत्थमभिनित्थियं वा जो भिक्खु अणगादि ओभासति सो पाणिं आणा, अणवत्थमिच्छत्तिविराधणं च ॥ २ ॥

आगमकयमागारं, आगंतुं जत्थ चिद्धति आगारा । परिगमणं पज्जाभो, सो चरगादी तु णोगविहो ॥ ३ ॥

आगमा रक्खा, गेहो कय अगारं आगंतुं जत्थ चिद्धति, अ-गारं तं आगंतारं परं समंता गारं गिहभासं गेत्थथोः णज्जा-यांपयज्जा, सो य चरगादिव्यायससकआजां वागमादि वेणविवो जइतरा ॥ ३ ॥

जइतरा तु दोमा, हवेज्ज ओभासिते अणणाम्मि । अर्चियथा भावणता, पंते जइ मेहोति ॥ ४ ॥

अद्वाष्वादिनो प्रांसिते पंतजहोसा । पंतस्स मन्विषन् भवति,
भोभासणता-अहो ! इमे अहोसा ।

जह आतरासि दीसइ, जह य विपग्गंति म अठाणम्मि ।
दंतैदिया तवस्सी, तं देमि ण भारितं कज्जं ॥५॥

अहा एवं स्वाहस्तातरो दीसति, जहा-अयं अद्वाण्डियं विम-
भन्ति-दंतैदिया तवस्सी तो देमि अहं एतेसि षूणं सं भारितं
कज्जं, आपरकल्पामित्यर्थः ॥ ५ ॥

सङ्घिण्हिं अणणत्तियं, करिञ्ज ओजासिए तु सो असते ।
उग्गमदोसेगतरं, खिप्पं से संजतट्ठाए ॥ ६ ॥

अटास्यास्तांति आच्छी, सो य गिही, अश्वत्थिण्यो वा, भोभा-
सिए समाणसे इति । स गिही अश्वत्थिण्यो वा खिप्पं तुरियं
सएहं उग्गमदोसाणं अश्वतरं करिञ्जा संजयता ॥ ६ ॥

एवं खमु त्रिण्णकप्पे, गच्छो णिक्कारणम्मि तह जेव ।
कप्पति य कारणम्मी, जतणा ओजासित्तं गच्छे ॥७॥

एवं ता त्रिण्णकप्पं प्रणियं गच्छ्यासिणो वि णिक्कारणे एवं
जेव कारणजाते पुण्ण कप्पति । धरकप्पियाणं भोभासित्तं कि
चिक्कारणं इम-

गेत्ताए रायट्टे, रोहण अच्चाण अंविने ओमे ॥
एतेहिं कारणेहिं, असती संभंति ओजासे ॥ ८ ॥

गिजाणउच्चाण य ट्टे वा रोहो वा अंतो अण्णता अंविने वा, अं-
चियणं पांम दासयंती, तथ अण्णो उ अंविआ उ ण वा णिण्णकप्पं,
णिण्णकप्पे वा ण अण्णति, ओमं दुर्मिक्कं, एवं अंचिए ओमे, दीर्घं
दुर्मिक्कमित्यर्थः । एतेहिं कारणेहिं अण्णन्ते ओजासेज्जा-

जिण्णं ममतिकंतो, पुच्चं जतिकण्ण पणगणणेहिं ॥
तो मांसिएसु पच्च वि, ओजासणमादिंसु असदो ॥ ९ ॥

इमा जयणा-पद्धं पणगदोसेण मेरइनि पच्छा इस पधरस
धीस भिषमासहांसेण य एवं पणगभेइहिं जाह जिधं समनि-
कंनो ताहं मांसि अद्वाणंसु भोभासणादिसु जतति, असदो । तथ
तु भोभासणे इमा जयणा-

तिगुणगतेहिं ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेइ ।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करंति जे सुत्तपकिट्ठे ॥ १० ॥

पद्धं धरे ओजासिज्जति अदिट्ठे, एवं तयो वा रायधरे गवसि-
षण्यो, तथ भज्जा ति णीया वसण्णा, तस्स आगयस्स कहेउज्ज-
साधू व सगासं आगया, कज्जणे धरं अदिट्ठे पच्छा आगंतारा-
दिसु दिट्ठस्स धरगमणादिं सव्वं कहेतु, तेण धांदिने अवेदिने वा
तेणैव पुट्ठं अपुट्ठा वा जे सुत्ते पदिसिक्कं तं कुव्वंति, ओजासांति
इत्यर्थः ।

जे जिकव् अगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकुले-
सु वा परियावसहेसु वा अश्वत्थियं वा गारत्थियं वा को-
उहड्डपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा स्वा-
इयं वा साइयं वा ओजासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा
साइज्जइ ॥ ४ ॥

एवं अश्वत्थिया वा गारत्थिया वा, एवं अश्वत्थिण्यो वा
वा गारत्थिण्यो वा ।

पद्धममी णो तु गमो, सुत्ते वितिए वि होति सो जेव ।
ततिय चउत्थे वि तहा, एगसपुहसंसुत्ते ॥ ११ ॥

पद्धं सुत्ते जो गमो, वितिए वि पुरिस्सोइत्थियसुत्ते सो जेव
गमो । ततियचउत्थेसु वि इत्थिसुत्तेसु सां जेव गमो ॥४॥

जे जिकव् अगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावडकु-
लेसु वा परियावसहेसु वा अश्वत्थियाए वा गारत्थियाए
वा कोउहड्डपडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा स्वाइयं
वा साइयं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ५ ॥ जे जिकव् अगंतारेसु वा आरामागारेसु वा
गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा अश्वत्थियाए वा
गारत्थियाए वा कोउहड्डपडियाए पडियागयं समाणं अ-
सणं वा पाणं वा स्वाइयं वा साइयं वा ओभासिय आभासिय
जायति, जायंतं वा माइज्जइ ॥६॥ जे जिकव् अगंतारेसु वा
आरामागारेसु वा गाहावडकुलेसु वा परियावसहेसु वा
अश्वत्थियाए वा गारत्थियाए वा कोउहड्डपडि-
याए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा स्वाइयं वा
साइयं वा ओजासिय ओजासिय जायति, जायंतं वा
साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे जिकव् अगंतारेसु वा इत्यादि कोकहलंति यावच्च, कौतु-
केनत्यर्थः ।

गाहावुत्थाणि-

अगंतारेसु, आरामागारे तह गिहा वसही ।
पुच्चट्ठिताए पच्छा, एज्ज गिह । अश्वत्थियं वा केइ ॥११॥

तमागते जे असणातीतो भासति, तस्स मासलहुं, धम्मं
सावधम्मं वा पेच्छामो । एसो गाहा-

अहजावेणं कोऊ-हल केइ वेदगणियिणं ।

पुच्छिस्सामो केइ, धम्मं उविधं व पेच्छामो ॥ १३ ॥

एगो एगतरणं, कारणजातेण अगंतं संते ॥

जो जिकव् ओभासति, असणादि तस्सिमा दोसा १४ ॥

तस्सिमं अहंपंतहोसा-

अगतपरांजासणता, अदिष्ठादिमे व तस्स अचियं ।

पुरिसो ज्ञासणदोसा, सविसेसवरा य इत्थीसु ॥१४॥

अलदे अप्यथो भोभासणा सुद्धा लभंति तिथि अविधे परस्स
ओभासणा किवणे सि, अविधे वा अचियं भवति, महायस-
मज्जे वा पणइ, तं देमि ति, पच्छा अचियं भवति, हाओ पुरि-
से ओभासणदोसा एव कवला, रत्थिअसु ओभासणदोसा,
सकादोसा य, आयपरसपुरथा य दोसा ।

जहो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छम अविहदादिणि ।

पंता पेलवगट्ठणं, पुण्णरावत्तिं तहा उविधं ॥१५॥

अहओ उग्गमेगतरदोसं कुज्जा, पच्छमाभिहं पगाडाभि-
हं वा अण्णजपंता साहुसु पेलवगट्ठणं करेज्ज-अहो इमे
अविधदण्णा, जो आगच्छति तमोभासंति, साहुसावधम्मं

बा पश्चिञ्जामि स्ति, भोजानसिञ्जो उद्बुद्धो पदिनियसो जाहे स्वावगो हादासि ताहे ण सुवहिति, जह पञ्चउज्ज चेप्यामां स्ति एगो विपरिणमति, तो मूळं दोसु णवमं तिसु चरिमं, जं च ते विपरिणया असंजमं काहिति तमावज्जति, अथवा शिणहएवसु वधंति जग्दा एते दोसा तग्दा ण भोभासियव्वां आगभो, एवं वि पच्छुत्तं परिहरियं आणा अणुपालिया, अणवत्था, मिच्छत्तं च परिहरियं, दुविहाविराहणा परिहरियत्ता कारणे पुण भोभास्वति । इमं य कारणे-

असिबे ओमोदरिए, रायहुडे जप व गेहएहे ।

अद्दाए राहए वा, जतणा ओजासितुं कपे ॥१६ ॥

तिगुणयोहेदि णा दिट्ठो, एणीया वुत्ता तु तस्स तु करहे ।

पुट्ठापुट्ठा व तनो, करेति जं नुत्तपडिक्कुं ॥ १७ ॥

एगंते जो तु गमां, णियमा पोहति धम्मि सो चव ।

एगंता तो दोसा, सविसेसतरा पुहत्तम्मि ॥ १८ ॥

असिबे जग्दा मासं पत्तो ताहे धरं गंतु भोजानसिञ्जति, अविट्ठे महिला से न्णयति-अपञ्चञ्जामि सावगस्स साधुणां द्दुष्पमा-
गता, ते आसिस्सो अविट्ठे य समीपे सोउ अहभावण वा आगतो सब्बं से धरगमणं कडिउज्जति, कारणं च ते हांविञ्जति, ततो जयणाए भोजानसिञ्जति, जग्द सो भणति, धरं पञ्जह, ताहे तेणव समं गंतव्वं, मा अग्निहंउ काहिति, असुक्क या एवं राय-
उत्थेतिस्ति एगलियसुत्ता तो पोहमित्थसु सविसेसतरा दोसा ॥

पुरिसाणं जो उ गमां, णियमा सो चव होइ इत्थीसु ।

आहारे जो उ गमां, णियमा सो चव उवधोम्मि ॥ १९ ॥

जो पुरिसाणं गमां दोसु सुत्तेसु इत्थीण वि मो वेधे दोसु सुत्तेसु वत्तव्वां, जो आहारे गमां सो चव आवंसेसि सो उवकरण इच्छवो ॥ १९ ॥

सुत्राणि चउरो-

जे नित्थक् आगतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कुत्तेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थिएण वा गारित्थिएण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिह्वं आहट्टु दि-
ज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणुविचितियं श्पारिवेट्टेयं श्परि-
जवेयं परिजवेयं ओजासियं ओभासियं जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खु आगतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कुत्तेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाउ वा गारित्थियाउ वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिह्वं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणु-
वित्थियं श्परिवेट्टेयं श्परिजवियं श् ओभासियं श् जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे नित्थक् आगतारेसु वा आ-
रामागारेसु वा गाहावड्कुत्तेसु वा परियावसहेसु वा अन्न-
उत्थियाणी वा गारित्थियाणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिह्वं आहट्टु दिज्जमाणं पदि-
सेहित्ता तमेव अणुवित्थियं श्परिवेट्टेयं श्परिजवियं श् ओजासियं श् जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे नित्थक् आगतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावड्कुत्तेसु

वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाउणी वा गारित्थियाउणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अजिह्वं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणुवित्थियं श्परिवेट्टेयं श्परि-
जवियं श् ओभासियं श् जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ आगतारागारसु द्वियाणं साहणं अणुवित्थियं गारित्थियं वा अजिह्वं-आभिसुत्थेयं इतं अजिह्वं, पारखादिसु कोइ सत्थी सयमेव आहट्टु दत्तपज्जति, पडिसेहेत्ता तमेव चित्तं, तं दायारं अ-
णुवित्थियं चित्तं, सत्तं पदाहं गंता परिचेद्वियं चित्तं, पुरतो पिट्ठतो पा-
सतो डिच्चा परिजवियं चित्तं परिजव्यं २ तुज्जकं हं रायं अ-
ग्निहं आशियं मा तुज्जकं अकलो परिस्समां भवतु, मा वा अशियं करेस्सह, तो गेहामो । एवं भोभासंतस्स मासलद्धं ।
सुद्धं वि अग्निहं पुण जेण अस्तुत्तं तमावज्जो ॥

अगतारागारेसुं, आरामागारे तह गिहा वसहो ।

गिह्विअसुत्थित्तिये वा, आणिज्जा अभिहं अमत्थियमारं ।

ओलज्जणमणुवयणं, परिवेट्टण पासि पुरउ गतुं वा ।

परिजवणं पुण जंपइ, गेहामो मा तुमं रुस्स ॥१२ ॥

अणुवइयं चित्तं ओलज्जितं अद्वयं चित्तं परिवेट्टणं पुरतो पास-
ओ वाउ परिजव्यं परिजव्यः ; इमं जंपइ-गेहामो, मा तुमं रुसिहासि ॥ १२ ॥

तं पदिसेवे नूणं, दोर्षं अणुवतियं गेहहती जो उ ।

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तचविराधणं पावे ॥ १३ ॥

एतेण उ वा तमापहड्डमेव पडिसेहेतं एकप्रतिपेधः, द्वितीयां प्रहा जो एवं गेहहति, तस्स आणादां दोसा, अहपंतदोसा य ।
आणाए भङ्गो अणवत्थया कत्ता, अणुहाकारं तेण मिच्छत्तं जणियं,
इमं संजमं विराहणा दोसा, अहपंतदोसां य ।

तेणं गेहहति भइउ, करे पमं अहाहियाउजित्ता ।

माइ कवदायारा, घेत्तव्वं जणणत्तं पंता ॥१३ ॥

भहा च्चिनेइ-एतेण उवाएण गेहहति, आहमे पुणो पसंमं करेति,
पंता पत्रवगहणं करे, भणेज्जा वा अशियं अणुत्तं, तस्मिं अशियं
अनिरया आशियंनिरया ण गेहदमां चित्तं जणिया पच्छागेहदं-
ति मायाधिणां, तथे वसहोएण गेहहति, इदं पदिःणियंतस्स
गेहहति, कवमं कृतकाचारे कवमेण स्वव्वं पवज्जे आयरंति, ण
एतेसिं काउ सपत्तावो अशियं, स्वभाधिणां माइ किरियाउत्तो कव-
दायारमाइ भणणति । एवं पंता वदति-अग्दा एते हासा तग्दा
ए पव वत्तव्वं, कारणे पुण संगहणं कुच्चति ॥ १३ ॥

अमिबे ओभायारंए, रायहुडे जप व गेहएहे ।

अक्खाए राहए वा, जतणा पदिसेवणा गहणं । २४ ।

पदिसेहे उ जतणाए गेहहति । का य जयणा, इमा-

जदि सब्बे गीतथा, गहणं तत्थियं व होति तु अलंजो वि ।

मीमे पुण वाइउणं, मा य पुणो तत्थ आणह ॥ २५ ॥

जाडे पणमाइजवणाए मासलद्धं पत्तो, ताहे जह सब्बे स्वाधु
गोवत्था, ताहे तथेव वसहोए गेहहति, पसं गणिवाणत्थं वा
अमति-अग्दं धरं गथाणं वेधं विउज्जति, तज्जाणिउज्जति, ताणि जण-
यित्त-अज्जेकं गेहह, ण पुणो अ शोमां ताहे धप्यति, अज्जंतित, अण्पा-

वंता अर्गायमीसे पुण अर्गायत्यं पुरतो पम्सेधेउं पञ्चसो तस्स अणुत्थिनकण भणति—मा पुण आणेइ, नन्धव अग्नेइ हिंरंता वदाम्, णिमेंतेउजा । अइवा उइ अस्यदोसवजिउंते जहपंत्तदोसा वा ण जन्धंति, तादे गेरहति, इमं च जन्धंति—

सुधे दुराहदं एरं, आदरेण सुमंमितं ।

सुद्वरणो य ते आसी, विवएणो तेण गेरिहमो ।२६।

सुधे दुराओ भासियं वेसवारइयाण सुसंमिधियं कयं तुज्ज पम्सेधिते सुद्वखओ विवखओ वि आसी, तेण गेरहामो, एवं जयणाए गेरहति, पसंगं णिवारितो अर्गाया य बंधिया आइइ प्र-
तिनिवृत्तनावासीकृतपवात्, एवं इत्थियासु वि, एवं सुद्वस सुत्से वि २६ ॥ नि० चू० ३ उ० ॥

(२४) धातुप्रवेदनम्—

जे निक्खु अएणउत्थियायाणं वा गारत्थियायाणं वा गारत्थियायाणिहिं वा धाउं पावेइ, पावेयंतं वा साइज्ज । २७ ।
जे निक्खु अस्यउत्थियायाणं वा गारत्थियायाणं वा गारत्थियायाणिहं वा धाउं पवेइ, पवेयंतं वा साइज्ज । २८ ।

यस्मिन् धर्म्यमाने सुवर्णं धत्ति, स धातुः ।

अएणयरागं धातुं, निहिं व आइक्खते तु जे भिक्खु ।

गिहिअस्यत्थियायाणं व सो पावति अएणमादीं ण । २९ ।

अस्यपरमहणतो बहुनेदा धातुणिधाणनिधीणिहितं स्थापितं, क्विणजागमित्यर्थः । तं जो महाकात्मतादिणा णाउं अक्खानि, तस्स आणादिया दोसा । इमे धातुनेदा—

तिविट्ठो य होति धातु, पासाण रमो य मट्ठिया च व ।

सो पुण सुवएण वृत्तं, वरतरकालायसदीखं ॥ ११ ॥

सपरिगहेतरं वि य, होइ निह्दी जलगअयं यथल्लो गे ।
कयाडकय होति सर्वो, अहिकतरं कायवट्ठो धातुम्मि । १६ ।

अथ पासाणे सुत्थिणो जुले वा धममाणे सुवखादि पन्ति, सो पासाणधातु, जेण धातुपाणिपण तंवादि आसंतं सुवएणा-
दि भवति, सो रत्तो जन्धति । जा मट्ठिया जंगजुत्ता अजुत्ता वा धममाणे सुवखादि भवति, सो धातुमट्ठिया, कालायसं लोहं आदिगमहणाओ मणिरयणोसत्थियपवालगरादिणिहासो इमं विणयो (सपरि)गाहा । सो णिहं मणुयववत्तं परिमह्तिता वा इज्ज, अयर जनेा वा सो जले वा होज्ज. थले वा, जो स थले, सो दुविधो-णिक्खतो वा अनिक्खओ वा, सव्यो च व णिसी-
इकवण उविधो-कयरुओ भकयरुओ वा, रुवगाभरणादि कय-
रुओ, क्कअरिदंदितां अकयरुओ । सं परिग्गे अचिकरता दोसा, कहेतस्स गिहाणगसासिसमीवातो धातुसिद्धिबंधस्यं साधु धा-
तुव्यायं कारयेति, पसो धातुदंसणे दोसा । इमं णिधाये मय-
रंकरंदिंते—

अधिकरणं जा करणं, निह्दिम्मि मक्कोमगहणादी ।

भोरिणवंडकियदीणा—रपिहियणिहिजाएण ते कहिया ।

दिछा ववहरमाणा, कओ तए परंपरागहणं ॥ १७ ॥

मयूरको णामराया, तेण मयूरकेण भंक्ता दीशारा, आहरणा-
दिया, महेि दीणारोइं णिहाणं उवियं, तम्मि उविते बहुकालो

गतो, तं केणइ णिमिसिणा गिहिलक्खणेण णायं, तं तोहे उक्खा-
यं, ते दीणारा चवहरंता रायपुरिसेदिं दिछा । सो वणिओ, तेहिं
रायपुरिसेदिं रायसमीवंणीतो । रखा पुज्जिओ—कतो एते तुम्भ
दीणारा ? तेण कहियं—अमुगसमीवातो । एवं परंपरेण ताव णायं,
जाव जोइ उक्खंतं, तोहे सो गदिता, दंभिया य, असंजयणिग्गहण
अधिकरणं णिह्दिओ, क्खणेण य णिसि जागरणं कायवं, अइवा
सिद्धिदंसणे णिह्दिओ, जागरणं णाम यजनकरणं उवाअयन-
धुवपुण्यावसिमादिकरणं अधिकरणमित्यर्थः । णिह्दिक्खणेण य
विभीसिणा—मक्कोमगादि सि संतुंदा भवति, तथ भायविराह—
णादि रायपुरिसेदिं य गहणं, तथ गेरहणकहुणादिया दोसा,
एथ इमं वितियपदं—

असिंवे ओमोयारिए, रायदुटे भए व गेल्ले ।

अच्छाए रोहकज्ज—इजातवादी पत्तावणादं सु ॥ १४ ॥

असिंवे वेजो आणितो, तस्स दंसिज्जति, धातुणिहाणं वा,
ओमे असंधरंता गिहिअस्यत्थियाए सहाए चेतुं धातुं करोति, णि-
हिं वा गेरहति, रायदुटे रएणो उवसमणत्ता सयमंभ, जो वा नं
उवसमेति, तस्स वा धाउं णिधाणं वा दंसंति, सोधिगादिजयतो
जो तापेति, तस्स दंसंति, गिहाणकज्जेसयं गिरहति, वेजस्स
वा दंसंति, अइयो जो णिधायेति, रोहगे असंधरंता सहायस-
हिता गेरहंति, अइवा जो रोहगे आघारजुतो, तस्स दंसंति, कु-
हाइकज्जे वा संजातिमादिणिमित्तं वा अक्खजेता वा उदा-
सीणगहणद्वा पवयणपभायणद्वा पूयादिकारणणिमित्तं सहाय-
सहितो गिहिअस्यत्थियाएदिं धातुं णिहाणं वा गेरहेज्ज ।
नि० चू० १३ उ० ।

(२५) वादानामामाजैनप्रमाणम्—

जे निक्खु अएणउत्थिययस्स वा गारत्थिययस्स वा पायं आ-
मजेज्ज वा, पमजेज्ज वा, आमजंतं वा पमजंतं वा साइज्ज ।
१ ? १ । जे भिक्खु अएणउत्थिययस्स वा गारत्थिययस्स वा पाए
संवाट्टेज्ज वा, पडिमदेज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमदंतं वा
साइज्ज ॥ ? १ । जे निक्खु अएणउत्थिययस्स वा गार-
त्थिययस्स वा पाए तेठ्ठेण वा घएण वा वसाएण वा एवसी-
एण वा मंखेज्ज वा, भिल्लिगेज्ज वा, मंखंतं वा निल्लिगंतं वा
साइज्ज ॥ ? २ । जे निक्खु अएणउत्थिययस्स वा गारत्थि-
यस्स वा पायं लोढेण वा ककेण वा पोउमसुणेण वा उट्ठोलो-
ज्ज वा, उवट्टेज्ज वा, उट्ठोअंतं वा उवट्टंतं वा साइज्ज । ? १ ।
जे भिक्खु अस्यउत्थिययस्स वा गारत्थिययस्स वा पायं सी-
आदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छोलोज्ज वा,
पधोएज्ज वा, उच्छोअंतं वा पधोयंतं वा साइज्ज ॥ ? २ ।
जे निक्खु अस्यउत्थिययस्स वा गारत्थिययस्स वा कायं आ-
मजेज्ज वा पमजेज्ज वा आमजंतं वा पमजंतं वा साइ-
ज्ज ॥ ? १ । जे निक्खु अस्यउत्थिययस्स वा गारत्थि-
यस्स वा कायं फूमेज्ज वा रएज्ज वा, जाव साइज्ज
॥ ? २ ॥ जे निक्खु अस्यउत्थिययस्स वा गारत्थिययस्स
वा कायं संवाट्टेज्ज वा, पडिमदेज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमदंतं

वा साइज्जइ ॥ १११ ॥ जे भिक्खु अश्वउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कार्यं तेह्णेण वा पण्येण वा बण्णेण वा वसाएण वा भंखिज्ज वा, जिलिंज्ज वा, भंखंतं वा जिलिंतं वा साइज्जइ ॥ ११२ ॥ जे भिक्खु अश्वउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कार्यं लोद्वेण वा कंकेण वा पोउमसुछेण वा उट्ठोसिज्ज वा, उव्वेट्ठेज्ज वा उट्ठोलंतं वा उव्वेट्तंतं वा साइज्जइ ॥ ११३ ॥ जे भिक्खु अणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कार्यं सोभोदगवियरुण वा ठसिणोदगवियदेण वा उच्छोद्वेज्ज वा, पधोयेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोयंतं वा साइज्जइ ॥ ११४ ॥ जे भिक्खु अणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कार्यं धूमंज्ज वा, रयेज्ज वा, भंखंज्ज वा, धूमंतं वा रयंतं वा भंखंतं वा साइज्जइ ॥ ११५ ॥ जे भिक्खु अणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कार्यं सिबर्णं आमणजेज्ज वा, पणजेज्ज वा, आमणजंतं वा पणजंतं वा साइज्जइ ॥ ११६ ॥

एवं जाव तइयो उदंसां गमो गेयस्वो , गवरं अश्वउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा अभिलत्तां जाव ।

जे भिक्खु गामाणुगामं वृज्जमाणे अश्वउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसट्ठवारिमं करेइ, करंतं वा साइज्जइ १६६ तुत्थिपोदकगमनिका सव्वारिणात्थियस्स कत्था यावत् । जे भिक्खु अश्वउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसट्ठवारियं कारत्तीत्थादि ॥

पायप मत्तगार्दी, सीसट्ठवारिदि जे करेज्जाई ।

गि ह्मत्ततित्थियाए व, मो पावति आणमार्दीणि । ३५ ।

अवशुंठं पायच्छिज्जं, आणदिया य दोसा भवति । मिच्छने थिदीकारणं सिहादियाण य तथ्य गमणं पययणस्स भोभावणं; जम्हा पने दोसा तम्हा पनेसि वेयावधं णो कायध्वं । कारणे पुण कायध्वं-

वितियपद्मएज्जे, करेज्ज अवि को वि ते व अण्णजे । जाणंते वा वि पुण्णो, परलिंणं सेहमार्दीसु ॥ ३६ ॥

कारणे परंनिगपवणो करेज्जा, सेहो वा अणलो विगिणियध्वो, कसिणि करेत्तो सुखो, तस्सगमो वा पच्चत्तणं करेत्तो सुखो ॥ नि० चू० ११ उ० ।

(२६) पदमार्गदि-

जे भिक्खु पदमार्गं वा संकमं वा अवलंबणं वा अश्वउत्थियएण वा गारत्थियएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १११ ॥

जे भिक्खु पुंघववा । पदं पदाण, नेसि मग्गो पदमग्गो, सो माणा संकमिज्जति, जेण सो संकमो णाउचारयेत्थयोः अवलंबिज्जति ति । जे तं अवलंबं सो पुण वेति, ता मत्तावलंबो वा, अगारो ससुभयवात्तं । एते अश्वत्थियएण वा गिरुधेण वा कारावति, तस्स मासगुत्तं, आणादिणा य । इदार्णी निज्जन्ती-

पदमार्गसंक्रमात्तं-बण वसहिसंबद्धमेतरो चेव ।

विसंमं कइमो दोर्षं, हरिते तसपाणजातिसु वा ॥ ११२ ॥

अस्य व्याख्या-

पदमार्गो सोवाणा, ते ते तज्जा व होज्ज इनेरे वा । तज्जाता पुदवीए, इहमार्गदी अतज्जा य ॥ ११३ ॥

पदानां मार्गः पदमार्गः, सो पुण मग्गो सोभाणा । ते दुविहा-तज्जाया, इतेर अतज्जाया । तस्मिं जाना तज्जाता, पुदवी चेष अणिज्जण कता, न तस्मिं अज्जाया अतज्जाया, इहमार्गसाणादिदि कता, एकेका वसहीए संबद्धा, एतरा अस्संबद्धा, अस्सहीए लम्भा जिता, अस्संबद्धा अंगणए अंगमपेवसदरे वा , तं पुण विसंमं कइमे वा उररे वा हरिणसु वा जानेसु तसपाणसु वा अण्णा-संससेसु करेति । इदार्णी संकमो ति ॥ ११२ ॥ १२३ ॥

अस्य व्याख्या-

दुविधो य संकमो खलु, अणंतरपइद्विगो य वेहासो । दब्बे एमभेणो, बलावत्तो चेव गायत्तो ॥ ११४ ॥

संकमिज्जति, जेण सो संकमो, सो दुविहो । खलु अवधारणे । अणंतरपइद्विगो-जो भूमिणं चेष पहादिगो, वेहासो-जो संभासु वा वेहासु वा पइद्विगो । पहेकां दुविहो-एमांगअो य अंगेमांगो य; एकानेकपट्टेकृत्येत्थोः । पुनरप्येकैको बलस्थिरविकल्पेन नेयः, तदपि विषयकदेशमादिषु कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अस्य व्याख्या-

आलंबणं तु दुविहं, जुर्यापि मंक्रमे व गायत्तं । दुइतां व एगतां वा, वि वेदिया सः तु गायत्ता ॥ ११५ ॥

एतस्स चेव संकमस्स अवलंबणे कज्जति, तं अवलंबणं दु-विहं भूमिणं वा संकमं वा भवति । भूमिणं विसंमं लम्माणसि-मित्तं कज्जति, सकमे वि लम्माणसिमित्तं कज्जति, सो पुण दुइत्तो एगत्तो वा भवति, सा पुण वेहय ति भवति, मत्तावलंबो वा ॥ १२५ ॥

एतंमामसत्तं, पदमार्गं जो तु कारप जिक्खं । गिह्मिअश्वत्थियएण व, मो पावति आणमार्दीणि ॥ ११६ ॥

एतेसि पयमग्गसंक्रमावलंबणोणमस्यरं जो भिक्खु गिरु-धेण वा अश्वत्थियएण वा कारावति, सो आणादीणि पावेति, इमे दोसा ॥ १२६ ॥

खणमाणे कायवधो, अवि ते वि य वणस्सतितसाण । खणणं तच्छ्रेणंण व, अहिदुरमादिआपाए ॥ ११७ ॥

तस्मिं गिरुधे अश्वत्थियए वा, अण्णेणं सुद्धं जीवनिक्कायाणं विराहणा भवति, जइ वि पुदवी अश्वत्था भवति, तथा वि वणस्सतितसाणं विराहणा । अइवा पुदवीअण्णेणो अहिं वदुं वा धापज्जा, कइं वा तच्छित्तोअभेतेर अहि उवुरं वा धापज्जा, एसा संजमविराहणा, आपाए हत्थं वा पादं वा लसुजेज्जा, अहिमार्दिणा वा अज्जेज्जा, जम्हा एते दोसा तम्हा स तेहिं कारवेज्जा, अवधारणए कारवेज्जा ति ॥ १२७ ॥

वपई । उड्ढभताए, वायातजुताए अणव सुलभाए । एतेहिं कारणेदिं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ ११८ ॥ उड्ढभा वज्जदी, मग्गतेदिं वि व लम्भति, अइवा सुलभा

बसही, किं तु वाधातज्जुसा लम्बति, ते य वाधायदध्यपडि-
बद्धा, भावपडिबद्धा, जोनिएडिबद्धा इत्यादि । पच्छदं कंडं ।

सयं करये ताव इमेरिखो साहू करति—

जितिदिभ्रो पिण्णि दक्खे; पुब्बं तक्कम्मभाविता ।

उपउत्तां जतीं कुज्जा, गंपत्थो वा अस्रामरं ॥११॥

इंधियजयमाखो जिहंदिभ्रो, जीवदयालु धिणी. अघोषकिरि-
याकरणे दक्खे, (पुव्वमिति) गिहत्थकाले तक्कम्मभाविता खाम
तक्कम्मभिन्नः । स च रहुकारधरणिपुत्रेयादि, यती प्रमज्जितः,
स च उपयुक्तः कुर्यात्, मा जीवोपघातो भविष्यति, एवं तावत्
क्कम्मभाविता गीयत्थो, तस्स अभावे अगीयत्थो, तक्कम्मभा-
विता तस्स भावे, तक्कम्मोऽभाविता तस्य अभावे गीयत्थो अ-
गीयत्थो य अयं तस्यं वि असागरं करेति । यदा तेहि प-
दमगलं कमांलंभेयाहिं कज्जं सम्मत्तं तदा इमा सामायारी-
कतकज्जं तु मा होज्जा, तन्नो जं विविराधणा ।

मोत्तुं तज्जायसामाणे, सेसे वि करणं करे ॥ १३० ॥

कति परिसंमत्ते कज्जे मा जीवविराहणा जवेत्, तन्नो तस्मात्
साधुपर्यागात् अतः तज्जाना सामाणं मोत्तुं संसे वि करणं
विणालसणं कुज्जा, तज्जाणस्य विणालसे स्ति, मा पुट्टाविकाइय-
विराहणा भविस्सति अववायं । उस्समं पसे अववाधा
अयति—

विनियपद्मण्डणो वा, णिण्णो वा केण्हे भवे असहू ।

वापअो उवहिस्सा, पक्खरणं कप्पती ताहे ॥ १३१ ॥

विनियपद्म अवघातो, तेण सयं करेति, गिहंसा कारयति, कडे?,
जस्यसि-सयं अणिण्णो णिण्णो वा केणय रोगानंकेण असहू
सहूणा वा वाघातो विचयेनं च आयरियंगिलणां नि पभोअणं
परं गिहत्थो जतो अण्णो पुव्वजिहियकारयानो अस्रमत्थो,
ताहे तेण कारावंचं कप्पते, तेसि गिहंत्थाय कारायणं इमा
कमा-

पच्छाकद साजिग्गह, थिराजिग्गह जइएण व असएणी ।

गिह्णिअणएतित्थिय वा, गिह्णिपुब्बं एतंरं पच्छा । १३२ ।

पच्छाकरो पुतापो पदमं ताव तेण कारावञ्जितं, तस्स
अभावे सानिग्गहो गिहंवाणुव्वतो सावगो, ततो निरजिग्गहो
इसणसावगो, तन्नो अथा अइएण अस्रणियगिहिया मिथ्याह-
थिना पच्छाकरादि परनिधया वि अउरं दक्खवा । यत्तेसि पुण
पुव्व गिहिया कारवयउरं, पच्छा परनिधया अपत्तरपच्छक्कम्म-
दास्तातो ॥ १३२ ॥ वि० सू० १ उ० ।

जे जिकखू अण्णउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अण्णो
पाए आमउजेज वा, पमउजेज वा, आमउज्जंत वा पमउजंत
वा साइज्जइ ॥ १३३ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियएण वा गार-
त्थियएण वा अण्णो पाए संवाइजेज वा, पलिमउजेज वा,
संवाइतं वा पडिमइतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू
अण्णउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अण्णो पाए त्थेण
वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंत्वेज्ज
वा, जिलिंगेज्ज वा, मंत्वंतं वा जिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जे भिक्खू अण्णउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अण्णो
पाए लोक्केण वा कक्केण वा एहाणेण वा पाउमचुसेण वा
सिएहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं वा
परियट्टंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियएण वा
गारत्थियएण वा अण्णो पाए सीओदगविययेण वा उसि-
खोदगविययेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधावेज्ज वा, उच्छालंतं
वा पधावंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियएण
वा गारत्थियएण वा अण्णो पाए पए फू उज वा, एएज्ज वा,
मंत्वेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंत्वंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे
भिक्खू अण्णउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अण्णो पायं
आमउजेज वा, पमउजेज वा, आमउजत वा पमउजंतं वा
साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियएण वा गारत्थियएण
वा अण्णो कायं संवाइजेज वा, पलिमइजेज वा, संवाइतं वा
पलिमइतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियएण वा
गारत्थियएण वा अण्णो कार्यं त्थेण वा घएण वा वसेण
वा वसाएण वा एवणीएण वा मंत्वेज्ज वा, भिंजिगेज्ज वा,
मंत्वंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥ जे भिक्खू अण्णउ-
त्थियएण वा गारत्थियएण वा अण्णो कार्यं लोक्केण वा
कक्केण वा एहाणेण वा पाउमचुसेण वा वसेण वा सिए-
हाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं परियट्टंतं वा
साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियएण वा गारत्थियएण वा
अण्णो कार्यं मोओदगविययेण वा उमिणोदगविययेण
वा उच्छोलेज्ज वा, पधावेज्ज वा, उच्छालंतं वा पधावंतं वा
साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियएण वा गारत्थिय-
एण वा अण्णो कार्यं फूमजेज वा, एएज्ज वा, मंत्वेज्ज वा,
फूमंतं वा रयंतं वा मंत्वंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू अण्ण-
उत्थियएण वा गारत्थियएण वा अण्णो कार्यसि वणं आ-
उजेज वा, पमउजेज वा, आमउजंतं वा पमउजंतं वा साइज्जइ
॥ २५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अ-
ण्णो कार्यसि वणं संवाइजेज वा, पलिमइजेज वा, संवाइतं वा
पडिमइतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियएण
वा गारत्थियएण वा अण्णो कार्यसि वणं त्थेण वा घएण
वा वसेण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंत्वेज्ज वा,
भिंजिगेज्ज वा, मंत्वंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥
जे भिक्खू अण्णउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अण्णो का-
यंसि वणं लोक्केण वा कक्केण वा एहाणेण वा पाउमचुसे-
ण वा सिएहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्व-
ट्टंतं वा परियट्टंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू अण्ण-
उत्थियएण वा गारत्थियएण वा अण्णो कार्यसि वणं सीओ-
दगविययेण वा उमिणोदगविययेण वा उच्छोलेज्ज वा,

पलिमदावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पन्निमदावंतं वा साइज्जइ । ५३ । जे भिक्खू अस्यउत्थियएण वा गार-
त्थियएण वा अप्पणो अट्ठे तेत्थेण वा घएण वा वसएण
वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिल्लिगा-
वेज्ज वा, मंखावंतं वा भिल्लिगावंतं वा साइज्जइ । ५४ । जे
भिक्खू अस्यउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठे
लोप्पेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुप्पेण वा वधे-
ण वा उट्ठोलावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा
उव्वट्ठावंतं वा साइज्जइ । ५५ । जे जिक्खू अस्यउत्थियएण वा
गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठे सीअोद्गविषयेण वा उमि-
णोद्गविषयेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पयोवाएज्ज वा, उच्छो-
लावंतं वा पयोवावंतं वा साइज्जइ । ५६ । जे भिक्खू असा-
उत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठे फूमवेज्ज वा,
रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमवंतं वा रयावंतं वा मंखा-
वंतं वा साइज्जइ । ५७ । जे जिक्खू अस्यउत्थियएण वा गार-
त्थियएण वा अप्पणो अट्ठेणि आमज्जावेज्ज वा, पमजा-
वेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ५८ । जे
भिक्खू अस्यउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो अ-
ट्ठेणि संवाहावेज्ज वा, परिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं वा
पलिमदावंतं वा साइज्जइ । ५९ । जे जिक्खू अस्यउत्थियएण
वा गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठेणि तेत्थेण वा घएण
वा वसएण वा वसाएण वा एवणीएण वा मंखावेज्ज
वा, भिल्लिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिल्लिगावंतं
वा साइज्जइ । ६० । जे जिक्खू अस्यउत्थियएण वा
गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठेणि लोप्पेण वा कक्केण
वा एहाणेण वा पउमचुप्पेण वा वसएण वा उट्ठो-
लावेज्ज वा, उव्वट्ठावेज्ज वा, उट्ठोलावंतं वा उव्वट्ठावंतं
वा साइज्जइ । ६१ । जे भिक्खू अस्यउत्थियएण वा गार-
त्थियएण वा अप्पणो अट्ठेणि सीअोद्गविषयेण वा
उमिणोद्गविषयेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पयोवावेज्ज वा,
उच्छोलावंतं वा पयोवावंतं वा साइज्जइ । ६२ । जे भिक्खू
अस्यउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठेणि
फूमवेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमवंतं वा रया-
वंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ६३ । जे जिक्खू
अस्यउत्थियएण वा गारत्थियएण वा अप्पणो अट्ठेनि
वा कएणमलं वा दंतमलं वा णट्ठमलं वा एहीहरावेज्ज,
एहीहरावंतं वा साइज्जइ । ६४ । जे जिक्खू अस्यउत्थिय-
एण वा गारत्थियएण वा अप्पणो कयाउभये वा जलं वा पं-
कं वा मल्लं वा णीहरावेज्ज वा, विमोहावेज्ज वा, णीहरा-
वंतं वा विमोहावंतं वा साइज्जइ । ६५ । जे भिक्खू गामाए-

गामं दुइज्जमाणं अएणउत्थियएण वा गारत्थियएण वा
अप्पणो सीसदुवारियं करेइ, करंतं वा साइज्जइ । ६६ ।
सुत्तयो जहा तनिउदंसने, तहा भणियव्वं, णवरे कस्यउत्थियएण
कारवेइ सि वसव्वं । एवं प्रलम्भाधिकारः समाप्तः ।

पादप्यमज्जणादी, सीसदुवारिदि जो करेज्जाहि ।

गिहिसस्यउत्थियएणं वै, सो पावति आणमादीणि । ५८ ।

तेहि अएणउत्थियएणं गारत्थियएण वा कारवेइत्तस्स खु किं
कज्जं ?, उच्यते-

कुज्जा व पच्छकम्मसे, से य मलादीहिं होज्ज व अयएणो ।

संपातमेव होज्जा, उच्छोलाणजावणे कुज्जा । २५६ ।

ते साहुस्स पादे पमज्जिता पच्छकम्मं करेइ, साहुस्स प्रस्सेवे
मसं वा द्दुं पायं वा लंलि अयाउठण अमुइ इति अथसं आसं-
ज्ज, अजयणाए वा पमज्जतां संपातमेव होज्ज, बहुणा वा द्द्वे
अजयणाए पोयंता उच्छोलाणदोसं करेइज्जा, जूमि ठिय वा
पाणो क्खावेज्ज, इमो मयवादां ॥ २५६ ॥

वितियपदमाणप्यज्जो, कारेज्जउवि कोवि ते वि अप्पज्जं ।

जाणते वा वि पुणो, परंदिगे सेहमादीणु ॥ २६० ॥

अस्यप्यमो कारवेज्जा, सेहो वा अजाणतो कारवेज्जा, कारणेण
वा परंदिगे गांइते परंदिगिभज्जाहिंमो कारवेज्जा, मेहो वा उव-
चित्तो जाय ण दिक्खिज्जाति तेण कारवेज्जा । २६० । किञ्चान्त्य-
पच्छकम्मादीहिं, विस्सामावेउ वादि उजातो ।

पणविज्ज भावितारं, सति देइ हत्यकप्पं तु ॥ २६१ ॥

साहुण अभावे पच्छकम्मसेण, आदिस्सहातो (गंही) साहुण्यएण
दंसणं, स्वाधेण वा परेदि विस्सामए, को विस्सामाविज्जा ?, वा-
दं वा अजाणतां वा उजातो आन्तः । जे भाविता ते पणवि-
ज्जंति । साधुतां पादरजः श्रेष्ठमाङ्गल्यं गिरसि धार्यते न दोषः ।
जे पुण अभाविता तेसि सति मयुरपवणविज्जमानं हत्यकप्पं
तेसि दिज्जति, मा पच्छकम्म करिस्स । नि० ५७० १६ उ० ।
('अस्यममकारिया' शब्दे संवाधानपरिमर्दनसूत्राणि बह्व्यन्ते)

(२७) भूतिकर्मादि-

जे भिक्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा जूइकम्मं
करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे जिक्खू अस्यउत्थिय-
याणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ
॥ १५ ॥ जे जिक्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा
पसिणापसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भि-
क्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं कहेइ,
कहंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे जिक्खू अस्यउत्थियाणं वा
गारत्थियाणं वा पमिणापविणं कोहेइ, काहंतं वा साइज्जइ
॥ १८ ॥ जे भिक्खू अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा
तीतनिमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिक्खू
अस्यउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पक्खिपुष्पं निमित्तं करेइ,
करंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे जिक्खू अस्यउत्थियाणं

वा गारत्थियाणं वा आगमं संनिमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥१३?॥ जे भिक्खु अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा लक्खणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खु अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मुषिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खु अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा विज्जं पडंजइ, पडंजंतं वा साइज्जइ ॥२४॥ जे भिक्खु अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मंतं पडंजइ, पडंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे जिक्खु अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा जोगं पडंजइ, पडंजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ नि० १० १३ उ० ।

मार्गपवेदनम्—

जे भिक्खु अस्य उत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा णट्ठाणं विपरियासियाणं मगं वा पवेदेइ, मंधि वा पवेदेइ, मग्गाणं वा संधिं पवेदेइ, संच्छिन्नो वा मगं पवेदेइ, पवेदेतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

इमो सुत्तन्थो—

नट्ठा पथि फिड्ढित्ता, मूढा उ दिसाविजाग मयुणंतं । तं वि य दिसं पदं वा, पवरेति विवज्जिया वन्नं ॥ ४८ ॥ पथि प्रनट्ठानं पन्थानं कथयति, अरुचीए या मूढाणं दिसिमानं अमुणताणं वि दिसि विभागणं पदं कहेति । जतो जेव आगता तं जेव दिसं गच्छेताणं विवज्जित्ता वण्णं सत्तभायं कहेति ॥४८॥

मग्गो खडु समरुपडो, पंथो वा त. न्ववज्जिता संधी ।

मो खडु दिग्भावंतागो, पवेषणा तस्स कट्ठाणओ ॥४९॥

संधी संसंख्ययो जतो गमिस्सति सो दिसाभागो, तं तसि मूढाणं पवेदेति, कथयतीत्यर्थः । समरुमग्गा उज्जुसंधिसंखेइयं पवेदेति, उज्जुसंधिसंखेइया वा समरुमग्गा पवेदेति, रुदयति ति बुधं भवति । इदं वा सत्थो जेव पहांमग्गा भयति, संधी पथं बोधयत्तं । इहवा पंडुमग्गो जेव संधी, पंथस्स वा संधी अनेरु कहेति, संधी उ वा जो वामत्थिस्सो पदो, नं कहेति ४९

गिड्ढिअस्य उत्थियाणं नु, मगं संधीं उ जो पवेदेति ।

मग्गातो वा संधिं, संधीतो वा पुणो मगं ॥५०॥

गताथो । तसि गिड्ढिअणत्थियाणं मग्गादि कहेतो इमं पावति—

सो आणा अणवन्थं, पिच्चउचविराहणं तद्दा बुविहं ।

पावति जग्गदा तेणं, एते उ वए विवज्जेज्जा ॥ ५१ ॥

बुविहा आचपरसंजमविराधणा, तसि सायुविधिं तेषुपदेणं गच्छेताणं इमे मग्गे दोसा—

उक्कायाण विराहण, साचय तेणोचहिं दि उविदेहिं ।

जं पावति जाता वा, पदोम तेमिं तर्हिउपेसिं ॥ ५२ ॥

जं ते गच्छता उक्काय विराहति, स विराधंतो तं गिण्णयं पावति, तेण वा पदेण गच्छेताणं ते साचयोवहवं सरीरोवहितेणोवहवं पावति, (जं पावति ति) जं वा ते गच्छता असेसि उवहवं करेति,

जतो वा ते अणिचिदिद्दातो स्वयं पावति, ततो ते तस्स पथविहंगस्स सायुस्स अरुक्ख वा सायुस्स पदोत्समावज्जेति, अरुप पडिणियक्खण एरिसयं बुद्धा, इमेणं पंतावणादि करेज्ज । अथवा दातो विवज्ज ॥

विंथियपदमण्यप्येको, पावे अवि को वि ते व अण्यज्जे ।

अप्पाए असि व अहिओ—गआतुरादीमु जाणमहि ३३॥

खित्तादिगो अणप्यज्जेको सेहो वा, अवि कोवि नो विधेज्ज, अण्यज्जे वि अट्ठाने वा सत्थस्स पदं अज्जाणंतस्स विधेज्ज । अस्सिचे गिलाण्यज्जे वा वेज्जस्स कल्पियारिस्स वा अणिज्जंतस्स पंथमुयदिसि ति । अविथोमो सि बहारातिणा हेसितो गदि ते एवमादिकरथोहिं जाणंतो वि कहेतो सुज्जां ॥ नि० १० १३ उ० ॥

(२८) [वाचवा] अन्ययुधिकाः पाश्चात्तरुणो गृहिणः सुकशीला वा न प्रमाज्जनीयाः—

जे भिक्खु अण्यणउत्थियं वा गारत्थियं वा वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खु अण्यणउत्थियं वा गारत्थियं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

जे भिक्खु पासत्थं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

जे भिक्खु पासत्थं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ २८ ॥

जे जिक्खु उसणं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे

भिक्खु ठसणं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३० ।

जे भिक्खु कुमीसियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३१ ।

जे भिक्खु कुमीसियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३२ । जे भिक्खु गितियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३३ । जे भिक्खु गितियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ, । ३४ । जे भिक्खु संसत्तं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३५ । जे भिक्खु संसत्तं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३६ ।

एवं पासत्थे दो सुत्ता, उसणे दो, कुसिले दो, संसत्तं दो, गितियं दो, पंतसि वायणं दति, पडिच्छति, जाक्खण वा संखेच्छु अट्ठाण्णद्वयजिज्ज सुचलहुं, इदं वा अथे व इदाग्गे चउरुगं, सुत्त अत्थं सु—

अमपपासंदिय गिद्दी, सुहमीदो वा वि जो उ पव्वज्जे ।

अहव पडिच्छति तेमिं, चाओस्स य साति पोरंसि ॥२५॥

(पोरंसि ति) सुत्तपोरंसि अथपोरंसि वा दंतस्स, तसि वा समीवातो पोरंसि करंतस्स, इहवा एको पोरंसि वाएतस्स, अणंगसु इमं—

मतरत्तं तवो होति, ततो वेदो पहावति ।

वेदेण जिमपपरिया, एतो मूलं ततो दुगं ॥ २५५ ॥

सखदिवसे चउरहुं तथो, ततो एक्के दिवसे चउरहुं वेदो, ततो एक्केकदिवसे मूलमणवट्ठा पारंखिया, इहवा तथो, तदव य चउरहुं, वेदो, सखदिवसे सेट्ठा, एक्केकके दिवसें अहवा तथो तदव । मुरु, च्चदो, सखदिवसे, तसा एक्केकके, इदं वा चउरहुंतो

वा सत्तद्विषये , ततो चउगुक्, ततो सत्तद्विषये, ततो गृह्यह
सत्तद्विषये, ततो गृगुक् सत्तद्विषये, ततो एते चैव, देवो
सत्त सत्त दिवसे, ततो भृशऽणवत्पर्यायिष्या एकक-
कृदियं, अथवा ते चैव चउखडुगारिगा सत्सत्तद्विषया, ततो
देवो, सद्गुपणगादिगा सत्तसत्तद्विषया सत्तसत्तद्विषयेणयव्वा,
जाव कृगुगुक्, ततो भृशऽणवत्पर्यायिष्या एकककृदिवसं ;
गिदिअक्षुत्थियपुष्पु इमे इंसो ।

मिच्छन्वाथिरीकरणं, तित्थस्सोत्तजावणा य गेएहं तु ।
देति पंचवणकरणं , तेषोवक्खेवकरणं च ॥ २६ ॥

कहं मिच्छन्त्तं पिरतरंती उच्यते-तं वहुंतेसि समीये गच्छं मिच्छ-
दिदी विनेति-इमे चेष पहाणतरा जाता, एते पि एतेसि समीये
सिक्खन्ति, सोमो वहुं भगानि, एतेसि अण्यो आगमो णरिय,
परं संति, माण्णि सिक्खन्ति, णिस्सरां पवणं नि सोभायणा, अह
तेसि देति, मा ते सव्हइत्थादिजातिना महाजणमण्ये च्हं चोरं
सुखा विनिवासणप करीसप पितुअप णि । एवमादि पंचवणं
करंति वहुहं च, अथवा तेषोवसिक्खकणप अक्खेवेति, चोयणं
करंजा, वृसेअ वा २२६ ॥

गिदिअक्षुत्थिययाणं, एए दोसा व देत गेएहेते ।
गहणपदिच्छण दोसा, पासत्थादीणि पुच्छन्ता ॥ २७ ॥

कंठा, णवरं पासत्थादिसु गहनपरिच्छणदोसा जे ते एणरस-
मे उदसगे बुत्ता, ते दृच्छवा, वंदणपसेसणादिया वा तेरस्स
जम्हा एते दोसा तदथा गिदिअक्षुत्थियया वा ण वापयवणा,
परपासलिलक्खणं जो अक्षुत्थं मिच्छन्त्तं कुव्वंते कुतित्थिय
वा एति, जिणवचणं वा णानिच्छन्ति, सो परपासंदी, जो पुण
गिही अणतित्थिअं वा इमेरिसो-

नाएचरणे परूचण, कुएति गिही अहव अएण पासंदी ॥
पयएहिं संपउत्तां, जिणवयमएणासमतीं जाति ॥ २७ ॥

साणद्वसचरिणाणि पक्खंते । जिणवक्खणोरो एति सो सं.
पासंदी चैव सो वाइअअह, अ तस्स जोगं ॥ २८ ॥

एते व विपपुक्को, गच्छति गति अएणतित्थीणं ।
पवञ्जाए अजिमुह, एति गिही अहव अणपासंदी ॥
उववायविहारं वा, पासन्था भोवणंतुकामं वा ॥ २९ ॥

जो अक्षुत्थिययाणुक्का गती, तं गच्छति, सेसं कंठं, जंवे कार-
णं वा पवञ्जा (पवञ्जआए) गाहा । गिदी अणपासंदी वा पवञ-
जानिमुहं स्वागं वा उज्जीवणियसि जाव सुत्तयो, अथतो जाव
पिइसपा, एस गिदत्थादिसु अथवादो, इमो पासत्थादिसु अथवा-
दो ति पि उवसंपदा उज्जयथिहारोणो उवसंपथां जो पासत्था-
दो सो । उववादिविहारद्वितो ते वा वापञ्ज, अहवा पासत्था दि-
सण जो संविग्गविहारं उवगंतुकामो, अणुत्थित्तकाम इत्यर्थः ।
तं वा पासत्थादिभावचितं चैव वापञ्जा जाव अणुत्थिति, पंच
वायवादिद्वा, तेसि समीवातो गहणं कहं दोज्जा? । उच्यते-

वित्थियपदसमुच्छेदो, दसाहि ते तदा पक्कंपति ।
अणस्स व असतीए, पदिक्कंते व जयणाए ॥ २३० ॥
अस्स जिक्खुस्स णिरुक्परिया उचिड्ढिति, णिरुक्परियायो लाम
११९

अस्स तिथि वरिसाणि पणियायस्स संपूरणि, तस्स य आया-
रपण्यो अविज्जयव्वो, आयरियाय कालगतो एसेव समुच्छेदो ।
अथवा कस्सइ सादुस्स आयरपण्यस्स देसण भणधीते स-
मुच्छेदो य जाया, एतेसि सव्वो आयरपण्यो पदमस्स वित्थि-
यस्स य देसं य अयस्सं अहिज्जयव्वो, सा कस्स पासे अहि-
ज्जयव्वो । उच्यते-

संविगपच्छाककदसि-कपुत्थसासुवि पदिक्कंते ।
अणुत्थित्ते अ असतीं, अण्णिच्छेसु तत्थ वति देसा वीति । ३१ ।

सगच्छे चैव जो गीथया, तेसि अस्सति परगच्छे संविग्गम-
णुक्कसगासे, तस्स अस्सति परगच्छे संविग्गमणुक्कस्स, ताइ अ-
क्खस्स वि अस्सति पाणि पणि, अण्णसंभोइवस्स वि अस्सति एति,
अण्णसंभोइयस्स वि असायणिआदि उक्कमेणं अस्सविग्गसु तेसु
वि णित्थियादिउत्ताओ आवकदाए पदिक्कमाविता, अण्णिज्ज
जाव अहिअह, ताव पदिक्कमाविता, तथा वि अण्णिच्छे तस्सेव
सगासे अहिअह, सव्वथ वंदणादीनि न हावइ । एसेवजयसा
तेसि अस्सतीए पच्छाकदादिसु पच्छाकदो ति, जेण चारिंत्तं प-
च्छाकइ अमिक्खत्तो भिक्खं हिइइ वा, न था सावयणं पुण
मुक्खिलवत्थपरिहिअं मुक्कसिइं थरेइ । अमज्जगो अय-
त्तादिसु जिक्खं हिइइ । अण्णे अण्णंति-पच्छाककदसिउत्ता
चैव जे अस्सिदा ने साकविगा, एएसि सगासे साकविगाइ प-
च्छाणुलोमयं अविज्जति, तेसु साकविगादिसु पडक्कंते अणु-
त्थि सि सामात्थियपदिक्कता वनारांपितो अणुत्थिओ, अथवा प-
च्छाकदादिसु पदिक्कंतेसु एते सव्वे पासत्थादि पच्छाकदा-
दिया य अयं केणं थउं पदिक्कमाविज्जति, (अण्णिच्छेसु तत्थ व-
तिदेसा वीति सि) । अस्य व्याख्या-

देसो मुत्तमहोयं, न तु अत्या अस्सितो व अस्सपत्ती ।
अस्सति मणुक्कमणुक्के, इयंरतरपक्खीयपक्खीयं ॥ ३२ ॥

पुण्यं कंठं । (अस्सति मणुक्कमणुक्के सि) पयं गच्छति (इतरे-
तर सि) अस्सति णित्थियाण इतरा ससत्ता, तेसि अस्सति इतरा
कदांला पयं णायव्वं, एसे वि अयो गंठा चैव लेसु सि पुण्यं
जेसि विग्गपरकएसु इमेरिसा , जे पच्छाकदादिया मुंनं वा
गा ते पच्छाकदादिया । जावउज्जीवाए पदिक्कमाविज्जति
जावउज्जीवमिच्छेसु जाव महिअति, तह वि अण्णिच्छेसु अदि ।

मुंनं व थरेमाणे, सिहं च फट्ठित्थियसिस्साह ।
लिगेस मसगारिण, ए वंदणादीणि होवेति ॥ ३३ ॥

(मुंनं थरे सि) तारयाहरणादि दृक्कविग्गं दिज्जति, जाव उडे-
सादीं करेइ, सा सहस्सपिसिहं फेन्तु । एमेव दृक्कविग्गं दिज्जति,
अण्णिच्छेसु दृक्कविग्गं वा जो इच्छति फेन्तु, तो स सिहस्सेव
पासे अविज्जत सविग्गे तिओ चैव असागारिण पएसेसु य
पूयात्ताओ वंदणाइ सव्वे न हावइ, तेण वि वारेयवं पच्छा-
कदयस्स पासत्थादिसुयस्स वा जस्स पासे अविज्जति, तत्थ
वेवावक्कं ण करे । इमो विदी-

आहार उयहि मेज्जा-एससादीसु होति जतियचवं ।
अणुमोयणकवावण, सिक्खति य पदम्मि सो सुक्को । ३४ ।
अदि तस्स आहारादिया अत्थिनो, पहाणं अह सुत्थिय, ताहे
सव्वं अण्यथा एसाणज्जे आहारादि उप्पाययव्वं, अण्यथा
असमय्यो-

चांदति से परिवारं, अकरेमाणे मणादिवास्तडे ।
 अचोः चिपिकरस्स ठ. सुयज्जंते ए कुण्डल पयं ॥३९ ॥
 दुविहाप्सति एतेसि, आहारार्दो करेति सव्वं तो ।
 पाणिहाणी व जयंते, असद्धा एवेमं गएहंतो ॥ ३६ ॥

जे तस्स परिवारो पासत्थादियाण वासो स परिवारो सहावि
 संताण करेति, असंता वा गतिथ सहा, एवं असनी एसो सि-
 क्कणो आहारवि सव्वं पणं परिहाणोति जयणा, ते तस्स
 विसोहिकोदीहिं सव्वं करेता सुज्जति, अप्पणो वि पमव पुव्वं
 पुव्वं गेगहति । असनि सुज्जस्स पच्छा विसोहिकोदीहिं गेगहंतो
 सिक्कति, अथवापदणं । विसुज्जहं । नि० न्णु० १९७ उ० ।

(९) विचारभूमेविहारभूमिं निष्कमणय-

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा बहिया विचारभूमिं वा विहा-
 रभूमिं वा णिकखममाणे वा पविममाणे वा णो असाउत्थिय-
 एण वा गारत्थिएण वा परिहारार्थो वा अपरिहारिणं
 सद्धिं बहिया विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिकखमेज्ज
 वा, पविसेज्ज वा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) स जिणुषेहिंविचारभूमिं संहायुत्सर्ग-
 भूमिं तथा विहारभूमिं स्वाध्यायभूमिं तैरन्यनीथिकादिभिः सह
 दोषसंनयान्न प्रविशेदिति संक्षेपः । तथाहि-विचारभूमौ प्राप्नु-
 कोदकस्वच्छवह्न्यनिर्गोपकृतोपधानसद्भावो विहारभूमौ वा सि-
 क्कान्तगलपविकथनजन्यतः, सेहारासोहिंशुक्लहसद्भावोऽथ
 साधुस्तु तैः सह न प्रविशेत्, नापि ततो निष्कामेदिति । आस्य० २
 सु० १ अ० १ उ० ।

जे जिक्खु अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ
 वा अपरिहारिणं वा सद्धिं बहिया विहारभूमिं वा विचार-
 भूमिं वा निक्खमएज्ज वा, पविसेज्ज वा, निक्खमंतं वा प-
 विसंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

(जे भिक्खु अणउत्थियेयादि) सणावोसिरणं विचारभूमि-
 असज्जाप सज्जायभूमिं जा साविहारभूमिं, सा उज्जामणोपारि-
 स। वि अथति णो कप्पति । “ एत्तो एगतरेणं ” गाहा कठा ।

वीयारभूमिदोसा-संका अपवत्तणं कुरुकुया वा ।
 दवअप्यकनुसमंभे, असती व करेज्ज उट्ठाइ ॥३०२ ॥
 वीयारभूमि असती, पकिणीए तेष सावए वा वि ।
 रायवुंठे रोधम, जयणाए कप्पते गुंतुं ॥ ३०३ ॥

वियारभूमिपे पुरीसा वा, तसज्जोए अ दोसासंका (अपन-
 त्तणं ति) अपवत्तं य सुत्तियारोहे नीणि सट्थादिप माहं-
 याए बहुद्वेषेण व कुरुकुया करयथा, पय उज्जोत्तणं अप्पली-
 कण्ठी दोसा । अइ कुरुकुयं ए करेति, उट्ठाइ अप्पेण वा द्येण
 कुरुत्तणं वा द्येण णिज्जयंतं वुं चउत्थरसियादिणा वा माधि-
 ज्ञेण अमावे वा वस्स अणुत्थिये जणुपुरोस उट्ठाइ करेज्ज,
 जसहा पते दोसा तमहा नेहिं सद्धिं णं गंतव, अथवापए जे
 उज्जअ । (वियार) गाहा । अणुत्थो वियारभूमिं असति जावे ते
 गिणुअणउत्थिया वदंति, ततो वएज्ज, जतो अणायाममं-
 सौम तभो इमे पठिणापएण सावयवाधिपतंतासा । अंतरे

तय वा धंदिने गतस्स, एतो गिहरेथाहिं समं गते, ते निवारिंते,
 रायवुंठे रायवुंठेण समाणं गममह, राहपवणा चेव सएणा-
 भूमिं परिसेहिं कारणेहिं जयणाए गमत्ति, सा य इमा जयण-
 पच्छाकडचदसण, अससिगिगिहिए तत्रो कुडिगीसु ।

पुव्वमसोयावादिस्स, पउरदवेमथिदियु व कुक्कया य । ३०४ ।
 पुव्वं पच्छाकरेत्तु गिहोयाणवपयु तेषु चेव संसणसावपसु
 ततो एसु चेव कुतित्थिएसु ततो अन्नसिगिगिहियेसु ततो कुलि-
 गिएसु असएणीसु सव्वसा सुव्वेसु पुव्वं असोयावादिस्सु पच्छा
 सांयावादिस्सु दूरं दूरं परं सुदो उव्व संववज्जित्तो पउरद्वयणं म-
 हियाए व कुक्कमं करेत्तो अ दोसां ।

एवमं विहारभूमिं, दोसा उट्ठंणमादिया बहुधा ।
 असनी पकिणीयादिदु, विंतियं आगादजागिस्स ॥३०५ ॥

विहारभूमिं वि प्रायश्चः एत एव दोषाः । उट्ठञ्जकाद्यन्त अ-
 धिकतरा बहवः । अन्ये उट्ठञ्जका कुडिद्रा उट्ठंति वा वेदनादिसु
 प्रत्यनीकादिक्रितियपदं पूर्ववत् । चांद्रको भगानि-जयंथिया
 दोसा तथा तदिं सामसं गंतुं विनियपदणं विसज्जाभां मा कौ-
 रउ । आयरिओ भणति-आगादजागिस्स उहससमुहसाए आ
 अयस्सं कायथा, उव्वस्सए व असव्भावेहिं पकिणीयादि, अतो
 तेण समाणं गंतुं करेत्तो सुद्धो । नि० न्णु० २ उ० ।

(३०) विदारः-

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणो णो
 अणएउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ अपरिहा-
 रिणं वा सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जएजा ॥ ४१ ॥

तथा (से भिक्खु वेत्यादि) स भिक्खुसामादं प्रामत्तरम, उप-
 कृणाधेयाअगरादिकमपि (वृज्जजमाणं ति) गच्छंभिरन्य-
 तीथिकादिभिः सह दोषसमवायं गच्छेत् । तथाहि-कायिकादि
 निरोधे सत्यामागिराधना, अयुक्तं व प्राप्नुकोप्राप्तुकप्रहासाव-
 पघातसंभयविराधने सवतः । एवं भोजनेभ्यो दोषसंभयो ज्ञा-
 नाय, सेहादिविप्रतराखादिदोषकोत्ते । आस्य० २ सु० १ अ० १ उ० ।

जे जिक्खु अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ
 वा अपरिहारिणं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जए, दूइज्जंतं वा
 साइज्जइ ॥ ४१ ॥

प्रामादन्तो प्रामो प्रामानुग्रामम शेषः पृथेसुधाधेयत् ॥४१ ॥
 णो कप्पति जिक्खुस्सा, परिहारस्सा उ अपरिहारिणं ।
 गिहिसिगिगिहियेण व, गामाणुगामं तु विहरिस्सा ॥३०६ ॥
 एत्तो एगतरेणं, संहितो दूइज्जती तु जे जिक्खु ।

सो आणुअणवत्तं, मिच्छविगाराहणं पाव । ३०७ ॥
 “ उट्ठुगनौ ” दूइज्जइ ति रीयति, गच्छनीत्यर्थः । रीयमाणो ति-
 थराणां आणं आणभिम जे अणवत्तं करेति, मिच्छत्तं अर्धेसि
 ज्ञयति, आयरिस्संजमविराहणं पावति । इमं च पुरिसवि-
 ज्ञाणेण पठिच्छं-

मासादीया गुरुगा, मासा आविमसियं चउट्ठाइ पि ।
 एवं सुत्तं पया-ए ह्वाति सट्ठाए पच्छं ॥ ३०८ ॥
 अगीयथानिक्खुणो गीयथानिक्खुणो उवज्जायस्स आयरिय-

स्व एतेति चउह वि मासादी चउगुरु मने, अहया माससहं
 केव तयकालविसिष्ये । अहया अविस्सिये वेव माससहं । चोद-
 ग-आह-कि णिमिस्सिमिह सुणे पुरिसिष्यभागेण पच्चिअं विषं ?
 आचार्य्य आह-सर्वसुप्रददोनाथेप । एवं सुणे २ पत्थाण सट्ठाण
 पच्चिअं दट्ठं । इमा संजमविराद्याण-

संजतगतीरं गमणं, ठाण्णिगतीण उ अट्ठणं वा वि ।
 वीसमणादि पन्निस्सुय-उच्चारार्दी अवीमत्या ॥ ३०९ ॥
 मासादीया गुरुणा, जिक्खु व समानिगेगआयरि ।
 मासो विसेमिअो वा, चउहट्ठवी चउमु सुतेपु ॥ ३१० ॥

जदा संजसो सिग्गतीया वा वच्चति, तदा गिरात्थो वि-
 तितो अचिकरणं भवति, तदा हुआप व परिताविज्जति,
 तथिप्यथं वीसमंतो य सच्चित्तुदविकाए उच्चाद्यं निसी-
 यणे तु अट्ठणं वा करेति, भसपाणादियाउ उच्चारपासवणेसु
 य सागारिअो भिकाअं अवीसत्थो साह्णिसिस्साए वा गच्छति ।
 तो फलादि आएज्जा, अहिकरणं साह् वा तस्स पूरआं विति-
 यपदेण गेहउज्जा । परितावणायिप्यथं पादपमज्जयादि वा
 य करेज्जा, तथ वि सचाणं अह करेति, उट्ठाहो ।

भाष्यकारैश्चैवायमर्थ उच्यते-

अत्यंतिलमेगने, ठाणादी खच्छवहि उट्ठाहो ।
 भरण्णिसग्गे वा तो-जयस्व दोसा पमज्जएण ॥ ३११ ॥
 साह्णिसिस्साए वा साह् अथंदिसे ठाएज्ज, क्खोदोवहिणा भारं
 दुट्ठुअंत्त उट्ठाहं करेति, धरुणिसग्गे वा वायकाइयसकाल
 उअयहा दोसो पमज्जंतस्स उट्ठाहो, अपमज्जंतं य विराहणा
 जहाण ग गच्छ ॥ ३१२ ॥

वितियपदं अच्चारणं, मूढमयाणांत दुट्ठाण्डे वा ।
 ठवहीपरोरतेणए-मावयजयदुल्लभपवंसे य ॥ ३१२ ॥

अच्चारणं सन्धिपर्यहं समं वच्चति पंथाउ वा मूढो विस्सतो वा
 मूढो, साह् जाव पंथ उअरेति पंथमयाणांतो वा जाणए गिहि
 स्वमं गच्छज्ज, रायदुट्ठे वा रायपुरिसिहां समं गच्छे, बोधिगा-
 दिभया णटो वा तेहि समाणं णिहांसो हेवज्ज, तेणगमप वा
 गच्छे, सावयमप वा अयम्मि वा णगरदेसरज्जे दुल्लभपवंसे
 तेहि समं पयिसेज्ज । अहहा ग लभमति । तथ्य पुण खगरा-
 वित्तु विहरंतो तथ्य अत्यंतो णितितो भवति, तेहि समाणं
 गच्छंतो इमा जयणा-

णिज्जणं पिट्ठउ गमणं, वीसमणादी पदा तु अस्सत्य ।
 सावयसरीरतेणए-जएणुतिट्ठाए जयणा तु ॥ ३१३ ॥
 णिज्जणं पिट्ठो गच्छति, पिट्ठो टिणा सव्वपमज्जणादि सा-
 मयारिं पंजंति, वीसमणसि पदा जदि असजतो थंदिअं करे-
 ति, तो संजया अणयंदिसे उअयेति, तेण सावयमथं जइ गिठ-
 तां, तो मज्जतो पुरतो वा गच्छंतं, मज्जे तप पुरतो पिट्ठो वा ग-
 च्छंति ॥ ३१३ ॥ नि० च्चु २ उ० ।

(३१) [शिक्ता] अन्वयार्थिकं वा शुद्धं वा शिन्वादि
 शिक्तायति-

जे जिक्खु अष्टाष्टतित्यं वा गारित्यं वा निर्यं वा नि-
 शोमं वा अट्ठापदं वा कक्कपं वा वुगाहं वा सलाहं वा

सलाहत्थयं वा सिक्खावेडं, सिक्खावंतं वा साइज्ज । ८ ।

(जे भिक्खु अष्टाष्टतित्यं वा इत्यादि) सिप्यं तुष्णादि, सि-
 शोगो वरणणा, अट्ठापदं जूतं, कक्कडगहंउ सुगाहा कडदां,
 सलाहा कक्ककण्णय्यभोगो । एस सुत्तयो । इमा णिज्जुत्ती-

सिप्पासिलोगादीहिं, सेसकलाभो वि मूडया होति ।
 गिहिअष्टाष्टतित्यं वा, सिक्खावंते तमाणादी ॥ २० ॥

सेसा उ गणियलक्कणसत्तणकयादिसुविधा ण गिहो अष-
 नित्थी वा सिक्खावेयव्या । जो सिक्खावेयंति, तस्स आणादिया
 य दोसा, अउसहुं च से पच्चिअं ॥ २० ॥

सिप्पासिलोगे अट्ठा-वप य कक्कमवुग्गहसलाहा ।

तुंगाण वष जूतो, हेतु कलहुत्तरा कच्चो ॥ २१ ॥

पुव्वकेण सुपसिद्धा गाहा, पक्कडेण जहासंभं तथ्य उअइरणं ।
 सिप्यं अं आयरिअोयवेसेण सिक्खिज्जति, जदा तुष्णां तुष्णा-
 दि, सिशोगो गुणवणेहिं वषणा, अंटापदं अउरगेहिं जूतं,
 अहया इमं अट्ठापदं-

अट्ठेण वि जाणामो, पुट्ठो अट्ठापयं इमं वेति ।

मुणगाविमालकूरं, पेच्छति पक्कजातम्मि । २२ ।

पुच्छितो अणुच्छितो वा अथति-अट्ठे णिमिअं ण सुटु जाणामो,
 पत्थियं पुण जाणामो, परंपरभावकाले दधि कूरं सुणगादिजाषो
 ण जवति, अणिआं वा भणितो विपासो घटवत्तु कृतविप्र-
 णासादयथं दोपा भवति । अहया कर्कटेहेतुसवनांविषयप्रति-
 पत्तिः । अत्राह-यथा दोपो मूर्ध्निमदसूचं स दुःखभेदतो आकाश-
 लभेदाच्च कारकनुतविशेषाच्च विदकं सर्वज्ञत्विक्यम् । अथ नैव,
 ततः प्रतिज्ञाहानिः । वुगहो रायादीणं अनुककाले कसहो भवि-
 स्सति । रम्यो वा जुअं सगममादिपण कइइ जयमादिसति । दो-
 पहां वा कलहं ताणं उ कस्स उअरं कहेति ? सलाह सि, कथा-
 सन्भावो कहेति । कथोहिं वा वारितो कथं करेति ? सलाह कइइ-
 णं ति, सव्वकालो तो सुचिततो भवति, ताण अणुतिथिमादां णि
 सिक्खावेति, अउलह, आणादी य संजमे दोसा । अचिकरअं
 उस्सगाववेसं य इमं वितियपदं-

असिंवे ओपोयरिप, रायदुट्ठे जए व गेहाणे ।

अदाण रोएण वा, सिक्खावणया उ जयणाए ॥ २३ ॥

रायादिमयं वा इस्सं सिक्खावेतो असिंवागहितो तपभावा
 ओट्टागादिसज्जति, ओमे वा पुव्वति सोआ रायदुट्ठे ताणं करेति ।
 वोहिं गदिअये ताणं करेति । गिहाणस्सया वा उअहातिपरिहं उव-
 गहं करिस्सति । अदाण रोट्टेणु वा उअभाहकारी जविस्सति ।
 एवमादिकारणं अवेविसज्जण इमाय जयणाए सिक्खावेति । २३ ।

संविगमसंविग्गो, धाविं नु सोहेज्ज पदमतोगीयं ।

विचरीयमणीए पुण, अणभिग्गहमाइ तेण परं ॥ २४ ॥

पणपरहाणोए जाहे अउअहुं पसा तेनु जतिअं ते से वि अ-
 संतरतो ताहे संविग्गो धाविअं गीअयं सिक्खावेति, पच्चा
 असंविग्गो धाविअं नीयत्थं, अगीअं च्चु विचरंयं कइइस्सति, ततो अ-
 संविग्गो धाविअं अगीअं, ततो संविग्गं अगीअं, अन्वयविपरीतक-
 रणाह हेतुमज्जयत्थं करिप्यति । संविषया अगीयाथेः । पक्कजा ग-
 हियाण्णवयं, ततो पक्कजा इंसणसायमे, ततो पक्कजा अदानइय,

अज्ञउत्थिय

ततो भिक्खुं अणुभिग्गाभाजिमाहियं । नि० ५० १३ उ० ॥

(३३) [संघाटीसीवनम्] अण्ययूथिकादिभिः संघाटी
स्वाधयेति—

जे निक्खुं अण्ययो संघानियं अणउत्थियण वा गार-
त्थियण वा सीवानेइ, सीवानंतं वा साइजजइ । ११ ।

अण्यणे अण्यणित्तं संघाटी णाम स्वदी सएहसति ति कार-
ण दोहै अंतेहि मज्जे व जदि अणउत्थियण स सरकमादिणा
गिहत्थेण तुष्ठागादिणा संसंजजेइ अण्यणे ॥ १२ ॥

णिक्कारणम्मि अण्यण, कारणे गिहि अण्यन अणउत्थियीहै ।
संघादि सीवाने, सो पावति अणएमादांणि १५ ॥

जदि णिक्कारणे अण्यणा स्वाधयेति, कारणे वा अणउत्थियवगार-
त्थियेदि सिक्खाधेति, तस्स मासवहुं, अणआदिवा इमे दोसा-
णिक्कारणम्मि लहुगो, गिग्गाण आरोवण्णा पविइम्मि ।

अणउत्थियेणजे, कारणेणुको खलु विधीए ॥ २६ ॥

विडे अण्येविराहणा अण्यनियवाअसंजजयधिराहणा, कारणे
विधीए सयं सिक्खेता सुद्धे । चोदण आह-पव्वमुदेसगे परकरणे
मासयुक्तं वधियं, इह कर्त्तं मासलहुं भवति । अण्यनिय आह-

कामं खलु परकरणे, गुहमासो तु वधिमं पुव्वं ।
कारणियं पुण सुचं, सयं वऽएणायते लहुओ ॥ १५७ ॥

खोगुणममुंचेते, पल्लिमंयो उग्गमो तु पदियत्थो ।
एगस वि अक्खंते, अवहारो हाति मव्वंसि ॥ १८ ॥

कामं अण्यनयत्थे, खलु पूरणे, पुव्वं पदमडेसर, इह तु कार-
णिय सुत्ते अण्यणो अण्यणाने परेण सीवानेतस्स मासलहुं,
स्वविये इमे दोसा । (खगुणे) गाहा । जदि बद्धं पाडेलेहेति
अण्यणरूपवृत्तुणुदोसा, अह वंधी मोनुं पाडिलहेति पुणो बंध-
यति, सुत्तयपल्लिमंयो भयति, पडियत्थो उग्गमो गेण्ण,

अक्खत्ते एगे वि सव्वंसि अपहारो भवति, अकारणे सि-
क्खणे य इमा दोसा—

मयदिउणम्मि विड्ढे, गिलाण आरोवण्णा तु सिव्वेसा ।
उज्जजति य संजमम्मि, सुत्तादी अकारणे इयं च ॥ २८ ॥

अण्यणो सिक्खेते सूरीपरिवज्जे ताहे गिलाणारोवण्णा सवि-
सेसा सपरिनाभवहातुकला अण्यनियवाअं अंजजमो भवति,
तथ्य लहुगो सुतःथपारसिं य कंति, जहासंयं सुत्तणासे इकं
अण्यं नासेइ, काइमं य परकारवणे दोसदंसयं ।

अविसुद्धतरा काया, पक्कोढण अण्यया य वा तीय ।
पच्छाकम्मं वमिया, उण्यति वेधो य हरणं च ॥ ३० ॥

अविसुद्धत्थं अनुदनीकायादियाणं उवर्त्तं ठयेति, कायवि-
राहया, पक्कोढणे अण्यया पडंति, वाउसंयट्ठणा य धाणावधि-
वत्तजिणएण देससव्वपद्दायं करेइ, अण्यया उवाअंधियं,
अण्यणो वा ऊरुयं विधिति, हरेइ वा तं संघाडे । इदाणि
अण्यणो सिक्खयकारणं भण्यति—

वितियं तु चट्टमुट्टारमा, य गेलाभविसमवत्थे य ।
एतेहै कारणीहै, संसिक्खयमण्णया कुज्जा ॥ ३१ ॥

बुद्धं तस्स इत्था वा पाया वा कंधंतेण, तरति पुणो रसं उवेउं;

अज्ञउत्थिय

अथवा उट्टारमा गिलाणो वा ण तरति, पुणो २ संजेवधं विस्-
मवन्धाणि वा एगं सविज्जाति, एतेहै सयं सीवेते सुद्धे, ज-
इअण तिणिय वेधा, पक्को दंसते, विसीधो पासंते, ततियो सज्जे
वि । तिक्खि उक्कोसेण उ भवति, कारणे अणउत्थियण सि-
क्खाधयेति ।

वितियपदपणित्ठणे वा, णित्तये वा होज्ज केण वी अणसु ॥
वापातो व सुट्ठसा, परकरणं कपपती ताहे ॥ ३१ ॥

अण्यणा अणित्ठो वा अणसु गिलाणवाघातो गिलाणाणि, पभो-
यणण वा वदी एवं एदेए कारवंतं कण्यति, इमाए जयणाए-
पच्छाकदसाभिग्गाह—णिर्जिग्गाह जहएण व अणसणी ।

गिट्ठिअणएणित्थियेहं, अणयंसोए गिही पुव्वं ॥ ३३ ॥
पच्छाकदी पुराणो पदमं तेण नतो अणुव्वयसंपणो सावओ
सामिग्गाओ; ततो सण्णो अहओ, असणयो अहओ, एते चउरो
गिहिज्जा । अणउत्थियं एव चउरो जेहा पक्के अणोयसोय
जेया कायव्वा, पुव्वं गिहीसु, पच्छा सोववादिषु, पच्छा अण-
त्थियेणसु । नि० ५० ५ इ० ।

जे भिक्खुं निग्गोधीणं संघाटी अणएणउत्थियण वा गार-
त्थियेण वा सिक्खावेइ, सिक्खावतं वा साइजजइ ॥ ७ ॥
अज्ञत्थियण गिहत्थेण सिक्खाधेति, तस्स चउलहु, अणआदि-
या य दोसा ।

संघाटीओ चउरो, तिपमाणा ता जवे दूविहा ।
एगमणेयं छम्मि, आट्टिकारोऽणोमसदीए ॥ ९ ॥

प्रायेण (संघडिज्जति ति) संघाटी गुणसंघायकारिणी वा, सं-
घाटी देसीभासातो वा पाउरणे संघाटी, नतो संक्खा, पमा-
णेण चउरो प्रमाणेण तिपमाणना एवा उट्टथा दीहा, उ-
ट्टथविग्गधारा सा उ उयस्सए अत्थमाणीय भवति, इतिगिहत्थ-
दीहा, निदग्गधियारया, तथेगा भिक्खायारियाए, वितिया विचारं
गच्छनी पाडणानि, चउहत्थ चउट्टथादीहा, चउहत्थयिपयारा,
पया सत्त्वा वि पासगलक्का पुणो एक्कक्का बुद्धाव । पच्छं
कंठं ॥

तं जो न संजतीणं, गिहीअ अट्टवा वि अणयत्थियाणं ।
सिक्खाधेती भिक्खु, सो पावति अणएमादांणि ॥ ११ ॥

तं संजती संजनेयं संघाडे ओ आयरतो गिहत्थेण अणयत्थि-
यण वा सिक्खाधेति, तस्स अणआदिणो दोसा ।

कुज्जा वा अजियोगं, परेण पुडे व संकि उट्टाहो ।
हीणहियं व कुज्जा, अणपण्णा सहंरिज्जा उ ॥ ५३ ॥

सो गिही अणउत्थियो वा तथ्य वसीकरणणयोयं करेज्ज, अ-
सेण वा पुट्टो—कस्स संतियं वार्यं । सो कधिज्ज संजनी—मंज-
तियं, ताडे तस्स संको भवति, उट्टाहं वा करेज्ज, नूणं को वि-
संभओ अणियेण एसे सिक्खेति, पमाणेण हीसमहीयं वा करेज्ज,
अण्ययातो उट्टेज्ज, मारेज्ज वा, तं वा संघादि करेज्ज, सिक्खेता
वा चिओ तथ्य परितावणादिनिपत्ते उक्कोसणादि वा पच्छा-
कम्मं कुज्जा, उट्टा एते दोसा तग्हा इमा विही—

विष्णपरिकम्मिंतं खलु, अणुज्जउवर्त्तं तु गणहरो देति ।
गुज्जोवर्त्तं तु गणियां, सिक्खेति जहादिहं मिणे तु। ५४ ॥
ज अतिपमाणं तं विदंति, व कुतिमादिणा परिकम्मियं अ-

गुणोपबन्धो विधि कृपा चउरो संघाडीतो पातं पार्थगज्जोभो य, एवं गणहरो परिकम्मत्तं देति, त्वेसो गुणोपबन्धो तं गणिणी सरी-
रपमासं सिग्धर सिग्धेति, कारणे गिहि अत्रातिरथीण वा सिग्धा-
वेति ॥ ४४ ॥

वितियपदमणित्ठो वा, निउणे वा होज्ज कण्णी अस्सह् ।
गणियण्णह्दर गच्छे वा, परकरखं कल्पतीं ताहे ॥ ४५ ॥

गणो उचउज्जो भो गणहरो आयरिओ, अओ वा गच्छे बुहो तक्को
वा बुहूसोभो, ते सिग्धेज्जा, अह ते अस्सह् होज्जा, गच्छे वा नत्थि
कुसओ, ताहे गिहि अत्रातिरथिणा वा सिग्धावेति ।

तत्थ इमो कयो—

पच्चाककसाणिगह—निरजिगद्धह्दए य व अमएणी ।
गिहि अत्रातिरथिएण व, गिहि पुव्वं एतेरो पच्चा ॥ ४६ ॥

पुव्वेव्व सिग्धावणे इमो विहो—

अगातोयं अस्सी, संठाणं गंतु सिग्धावे ।
पासाट्टिय अत्रेखिंतां, तो दोसे वेजना ण जायंति ॥ ४७ ॥

सो गिहएओ अत्रतिरथिओ वा साहुसमीयं अह पवलीए भा-
गनो सिग्धाविउज्जति । जदि अक्कासागतो ख अगज्जति, तो तस्स
अ संठाणं तं गंतु सिग्धाविउज्जति, जयणाए उएपदानो पुअं अत्रथ
संकाणिउज्जति, तस्स समीये अक्किओओ वि तो णिवओ वासा
व चिद्धति, जाव सिग्धियं, एवं पुव्वुत्ता दोसा ण ज्वंति ।

(३३) संयोगः—

जे भिक्खू अस्सणं वा पाणं वा स्वाइयं वा साइयं वा उ-
बहामं णिक्खिवड्ढ, णिक्खिवेवं वा साइउज्ज ॥ ३८ ॥ जे
भिक्खू अणएउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सदिं उंज्ज, उंजंते
वा साइउज्ज ॥ ३९ ॥ जे भिक्खू अणत्थिएण वा सदिं उंज्ज, उंजंते
वा साइउज्ज ॥ ४० ॥

असत्प्रत्यया तवसिधिया विभंभणा वेत्तिया गारत्था, तेहिं सदिं
पवभायणे ज्ञेयणं एगदुतिदिंसिदिपरसु आवेद्धिओ, स्ववदिसि
उितेसु परवेद्धिओ । अह वा आह मयादया वेदितः, विसि विदिसा-
सु विच्छिअद्धितेसु परिवेदितः । अह वा एगयंतोपसु आवेदितः,
दुगादिसु पंतंसु समंता परिवेदियान् परिवेदितो ।

गिहिअसत्प्रत्यिएणं व, सदिं परिवेदितो व तं मज्जे ।
जे भिक्खू असणादी, उंजेज्जा अणामादीणि ॥ १७३ ॥

असत्प्रत्यिएणं सदिं उंजति, अणउत्थिएण वा मज्जे उितो
परिवेदितो वा उंजति, तस्स आणादिया इत्सा । ओहओ अउ-
अहुं पक्किअं । विभागतो इमं—

पुव्वो पच्चा संयुव, असोयसोयवो व इहगुगा वा ।
चउरो वा जमसपदा, चरिमपदे दोहि वी गुग्गा ॥ ६७४ ॥

पुव्वं संयुवा असोयवारी व पच्चा संयुवा । (असोय सि) एतेसु
अउसु पयसु लहुगा (अउरो सि) (अमलपदं ति) कालतवेहिं
विसेसिउज्जति जाव चरिमपदं पच्चा संयुवो सोयवारी, तत्थ
अउसुगुगं कासतवेहिं वि गुकगं भवति ।

सुत्थीसु चउ गुग्गा, उहहुगुगा अणएतिरथीसु ।

परउत्थिएण उग्गुग्गा, पुक्कावरसमणसत्तचं ॥ ६७५ ॥

एयासु वेव सएथीसु पुएं पच्चा असोयसोयासु अउगुग्गा काल-
तवेहिं एसेसिता, एतेसु वेव अणतिरिथियपरिसेसु अउसु उह-
हुगा कालतवसिदिदा, एयासु वेव परतिरिथीणोसु उग्गुग्गा, उ-
व्वसयुयासु समणीसु वेदो, (अवर सि) पच्चा संयुतासु सम-
णीसु अहुमं ति मूलं । अयमपरः कयो—

अह वा वि एणसक्के, अणुण्वओवासाए व चउसहुगा ।
एसु वि य दोसु इत्थी—सुएणालवदे चउ गुग्गा ॥ ६७६ ॥

णालवदेणे पुरसेणे अणालवदेणे य गहिताणुवओवासणेख
एतेसु दोसु चउसहुगा, एयासं वि य दोसु इत्थीसु एणसक्के व य-
वियसम्महिदिमि एतेसु वि अउगुग्गा ।

अणालदंसणित्थिसु, उहउतु पुरिसे य दिद्ध—आमहे ।
दिद्धित्थि पुप अदिद्धे, मेहुणुओई य उग्गुग्गा ॥ ६७७ ॥

इत्थीसु अणालवदासु अवियसम्महिदिसु, दिट्ठानुहेसु पु-
रिसेसु, एतेसु दोसु वि उहहुगुगा, इत्थिसु विउमअउसु, पुरिसेसु अ-
दिट्ठानेउसु, (मेहुणि च) माउदोपिअव्यथाता (ओइय च) पु-
व्वभउज्जा, एतेसु चउसु वि उग्गुग्गा ।

अदिट्ठज्जपासु थोसु, संजोइयसंजतीए वेदो य ।
अमणुण्वसंजतीए, मूलं थो फामसंबंधो ॥ ६७८ ॥

इत्थीसु अदिट्ठानुहेसु संजोइयसंजतीसु य एयासु दोसु वि
उओ (अमणुण्व सि) अस्सओइयसंजतीसु मूलं, इत्थीहिं सड
भुंजंतस्स फासे संबंधो, आयपरोज्जदोपमा, वेहे संकारया य
दोसा, जदि संजति संति तो समुदोसो, नो अउलहुं, अथिकरणं च ।

पुव्वं पच्चाकम्मं, एगतरदुग्गुउहउहउहाओ ।
असासापयगहणं, स्वक्कगहणं य अचिंचं ॥ ६७९ ॥

पुंर कम्मं संजतेण सड भोत्तव्वं, इत्थपादादिसुइं करेइ, संजतो
भुंजित्सह । अथिगततं देधावेति, पच्छाकम्मं कोथि एसोति
सवेसं एहाणं करेउज्ज । पच्छिक्कं वा पडिउज्जे, संजतेण वा लुणे
अपहुण्यंते अथं पि रेपेज्जा । संजंतो गिही वा एगतरो दुग्गुं
करेउज्जा, विलिगभावेष वा उहुं करेउज्जा, अण्णेण दिंठे उउओ
भवति, कासादिरोमा वा संकमेउज्ज । अथिकतरं अउएण वा
अचियसं भवेउज्ज ।

एवं तु भुंजमाणे, तेहिं सदिं तु वसिता दोसा ।
परिवरितो जदि उंज्ज, तो चउ लहुं इप दोसा ॥ ६८० ॥
परिवारितमउज्जगते, स्ववपयारेण हौति चउ लहुगा ।
कुकुकुयकरणं दोसा, एमादिसु उग्गमा हौंति ॥ ६८१ ॥

मज्जे उितो जलस्स परिवारिओ जह भुंजइ, अहवा समंता
परिवारितो दोपेहं निरहं वा जह मउगओ भुंजति, स्ववप-
गरोहिं अउलहुं गिहिभायेष य ण भुंजियव्वं । तत्थ भुंजतो
अयात्राओ अस्सति । कंसिसु कंसपाएसु सिलोमो वा एयमुग्ग-
मादिसु भुंजंतस्स उउओ भवति, कं विव देवणे व उउओ, इयरेख
आउकायाविराहणा, बहुदवणे कुउकुकुयकारेणे उण्णि-
लावणादि दोसा, जम्हा पयमादो दोसा तम्हा एतेहिं सदिं
परिवारिपण वा न भुंजियव्वं ।

वितियपदसैहाहा-रणा य गेलक्ष रायजुचे य ।

आहार तेष अक्का-ए सहेए संज तत्थेव ॥ ६७५ ॥

पुर्वं संयुद्धो पक्का संयुद्धो वा पुर्वं एगभायको आसी, ल तस्य संयुद्धेण आगतो जइह भुंजति तो परिणमति, अतो सेवेह संमं भुंजति, परिक्कटितो चि तेषाणपसु मा तेषि संका भविससति-कि एस अण्यसागारियं समुदिससि ति, अग्ग्हे वा चि करेति मा बाहिरभावं गच्छपरिक्कटितो भुंजति । साहारथं वा लभं, तंए चेष भुंजियवं । अह कम्ममंकिओ तावे वेणुं तीरं भुंजति । अह दाया भदेति ताहे तेहिं चेष सहिस्सि परिबुद्धो वा भुंजति, गिलाणा वा घेजस्स पुरतो समुदिसिज्जा, जयणाए कुकुकुयं करेज्जा, रायवुद्धे रायपुरिसोहिं णि-उजंतो तेहिं परिक्कटितो भुंजेज्जा । आहारतेणगेषु तेषि पुरत्तो भुंजेज्जा, अद्धान तेष सावयभया सण्यस्स मग्गे चेष भुंजति । सेहानं सख्खेसि एकावसही होउज्जा, बाहिग्गामिमेए जणेष सह करदाणु अन्थाति । तथ तेषि पुरतो समुदिसिज्जा, अग्गे कहिं चि सत्ताकारे तत्थेव भुंजता ए लभमति, भायणेषु ए लभमति । तत्थेव भुंजेज्जा सामारिए एको परिक्कटियं करे, बहमाहसु संतरं संभुजति, णाउं दुविहेण द्देषे कुकुकुयं करेह । सव्वेसु ज्जासंनवं एसा जण्णा । नि० सू० १६ उ० ।

अणुप्रतिपद्यदेवय-अण्ययुधिकदेवत-न० ६ त० । परतीर्थिक-पुण्येय हरिहरादियु देवेषु, उपा० १ म० । औ० आ० लु० । प्रति० अणु प्रतिपद्य परिभादेय-अण्ययुधिकपरियुहीतं-नि० । तीर्थो-मदीयैः पूज्यत्वादिनाऽऽकृतैः ५ हर्षैस्त्वादी, उपा० १ अ० ।

अण्ययुधिकास्तद्वैतानि, तत्परियुहीतानि वा अर्हैस्त्वानि, भाष-क न यन्ते । तदुक्तं सम्यकृत्यं प्रतिपद्यमानेनाऽऽनन्देन-“ यो कलु जंत । कयह अउअपनिह अण्ययुधिका वा अणुप्रतिपद्य-देवयाणि वा अणुप्रतिपद्यपरिभादेयाणि वा अरिहंतं चैहयाहं कंदिसए वा णमंसिएए वा” उपा० १ अ० औ० । अण्ययुधि-कपरियुहीतानि वा अर्हैस्त्वानि अर्हैस्त्वितिमाकलणानि यथा औ-तपरियुहीतानि अरिभक्तमहाकासादीनि । उपा० १ अ० आ० लु० ।

अणुप्रज्ञो (जो) (दो)-अण्यतस्-अण्य० । अण्य-तसि लु । “ सो दो तसो वा ” ॥ म० १ ६० ॥ इति सूत्रेण तसः स्थाने सो दो इत्यादीशो, पक्षे दशोपपन्नः । प्रा० । “ नहु दाहामि ते निष्कं, निष्कं जायाहि अणुप्रज्ञो ” । न हु नैव दाहयामि ते तुज्यं भिक्षां याचस्व अण्यतोऽस्मदस्यतिरिक्तत् । उच० १ अ० ।

अणुप्रकास-अणुप्रकास-पुं० । सुचार्योक्त्युपकरणकं भिक्षाकाले, “अयं अणुप्रकास, पाणं पाणकाले” सूत्र० २ अ० । अ० ।

अणुप्रवसाण-अणुप्रवसान-न० । अण्यदेये, प्रा० म० प्र० ।

अणुगुण-अण्यगुण-नि० । चैनत्याद्वये गुणा येषां तन्वन्मगुणा-नि । अण्वतनेषु, “पंचवहंसंजोए, अणुगुणाणं चयेणाह गुणो” आचार्यादिभ्यगुणा पुथिवी । म० १ अ० । अ० । अ० । उ० ।

अण (ङ) गोत्तिय-अण्यगोत्रीय-पुं० प्री० । गांभं नाम तथाविधैकपुरुषप्रजयां बंधाः । अण्यन्वत् तद् गोभं चान्यगोभं तत्र तत्रा अण्यगोत्रीयाः । अतिचिरकालस्यअनवशेन मुदिनगो-प्रसंख्येषु, अ० १ अ० । “ वैवाहायमन्त्याग्रायैः, कुलशीलसमैः सप्तम् ” । अ० १ अ० ।

अण (ञ) माहण-अण्यमहण-न० । गानजाते मुखवि-कारे गान्धर्विके, । “ अणमहण सि रात्रगहस्त उभयो करणरंधेषु सरणीतो मरणातो सुवातमहदीयासु य आणह-यसं मुं अं तं हवेज्ज, अहया अणममाहं मधंविषो ति ” । नि० सू० १७ उ० ।

अणुजोग-अण्यजोग-पुं० । कार्योत्तरजनमसंबंधे, अनेकान्त-जयपताकावृत्तिसिव० ४ अ० ।

अणुजोगववच्छेद-अण्यजोगववच्छेद-पुं० । अण्यजोगस्य काव्योत्तरजनमसंबंधं चक्रणशयभावे, अनेकान्तजयपताका-वृत्तिसिव० ४ अ० ।

अणुजोगववच्छेदवर्चसिया-अण्यजोगववच्छेदवर्चसिका-स्त्री० । श्रीमहोपनिषदिविचितस्याद्यादमज्जर्वाण्यवृत्तिसिव-क्लिं अर्हमेवमन्तरिविहिते निःशेषदुर्वादिपरिवदधिष्णेप-दक्षे द्वात्रिंशत्पद्ययोः प्रथमे, श्रीहमचन्द्रसूरिणा जगन्प्रसिद्ध-असिक्खेसनेद्विकारविचित्रद्वात्रिंशत्कानुकारि श्रीवर्कमजिज-नस्तुतिरूपमयोऽण्यवच्छेदान्ययोऽण्यवच्छेदाभिधानं द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशत्कानुगतं विद्वज्जनमनस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं विद्धे । स्या० । (कुनधिंशैः श्रीवीरेण सह अण्ययोगाभित्तिः । यथा श्रीवीरो यथाअर्थादी तथा ऽण्येऽपि संगतादयो देवाः यथायां द्यानिस्तोयां ऽण्यवच्छेदो निषेधः अण्ययोगाभ्यवच्छेदः) । [स्वाह-वादमञ्जरीटिप्पणी]

अणुगोमिय-अण्यगोमित्-स्त्री० । परकीयकलत्रेषु, मनुष्या-णां देवानां तिरस्कां च परिणतसंयुहीतमं भूमिषेण कलत्रेषु, अ० २ अ० ।

अणु (ञ) (झ)-अण्योण्य-त्रि० । अण्यशब्दस्य कर्मण्य-तिहारे द्वित्वम्, पूर्वपदे सुब । “ सोतोऽद् वाऽऽप्योत्तम् ” । १ । १ । ५६ ॥ इत्यादि-सूत्रेण अन्वं वा । पररूपार्थे, प्रा० ।

अणु (ञ) त (य)-अण्यतर-त्रि० । अण्य-इतर । बहुनां मये एकतरं, औ० । “ अण्यरेणु आभियेमेसु देवतोणेषु देवताए उयज्जह ” अण्यरेणु केषुविद्वयर्थः । अ० १ हा० १ उ० । नि० लु० । “ अण्यरे वा दीहकासपंडिबधे पधं तस्स न भवह ” जं १ यज्ज० । नि० लु० । उत्त० । “ अण्यरेणु देवतोणेषु ” अण्यतरदेवानां मधे इत्यर्थः । स्या० १ उ० । प्रा० लु० ।

अणुतरक-अण्यतरक-पुं० । एकस्मिन्काले आत्मपरयोरेकस्यमन्-तरं तारयन्तीति अण्यतरकाः । अण्यतर-अणु । पूर्वोदादित्यच् ह्रस्वः, स्वायं क । तपवैयाकृत्यवियवकसामर्थ्याऽभावेन केष-हमज्ययं युगपत्कर्तुमशक्त्यन्वु एकस्मिन्काले आत्मपरयोरेकतरं तारयन्तु प्रायश्चित्ताहंपुस्येयु, ज्य० १ उ० ।

अणुतिथिय-अण्यतीर्थिक-पुं० । अरकपरिवाजकशास्त्रा-जीवकृच्छ्रावकप्रभृतिषु, नि० लु० १ उ० । जिष्णुसौतिका-दियु वा, अ० २ अ० । परदर्शनेकेषु, प्रा० ६ अ० ।

अणुतिथियवत्ताणुश्रीग-अण्यतीर्थिकवत्प्रवृत्तानुगोभ-पुं० । अण्यतीर्थिकभ्यः कापिशादित्यः सकाशात् । ऽक्षुः स्वकायात्त-रवस्तुनस्थमनयोगो विचारः, नत्करणार्थं शास्त्रसमं इत्यर्थः, सोऽप्यतीर्थिकप्रवृत्तानुयोग इति । पाण्डुराजेन्द्र, स २ ६ सप्त० ॥

असत्तजावणा-अन्यत्त्वजावणा-स्त्री० देहादेरात्मनो भेदद्वयी,
 " जीवः कायमपि व्याप्य बहो ! लोकात्तरं याति तत्
 भिन्नोऽसौ वपुषोऽपि कैव हि कथा त्रय्यादि वस्तु भजेत् ।
 तस्माद्विस्मयति यस्तनु मलयजयोर् इति दृग्बादिजि-
 र्थः पुष्पाति घनादि यच्च हरते तत्रापि साम्यं श्रयेत् ॥ १ ॥
 अन्यत्त्वजावनाभिधं, यः करोति महासतिः ।
 तस्य सर्वेश्वरशोभे, न शोकाश्रोमपि जायते ॥२॥ प्रथ० ६७
 द्वा० । घ० ।

असत्प्र-अन्यत्र-अव्य० । परिवर्जनं, यथा "अन्यत्र भीष्मघो-
 णाज्यां,सर्वे योधाः पराङ्मुखाः" । "असत्प्रऽप्राज्ञोमेणं सहसा
 गारणं" इत्यत्र अन्यत्र अनाभोगात्सहसाकाराण्यपत्तौ यजिय-
 त्येवर्थः । घ०२ अघि० । "अणत्थ कथंइ" अन्यत्र कुत्रचिद् व-
 स्तुनन्तरं, विधा० १ श्रु० २ अ० । अ० ७० । "अणत्थ क-
 थंइ मणं अकुच्रमाणं" अन्यत्र कुत्रचिन्मनोऽकुच्रन् । अतु० ।
 अन्यार्थ-पुं० । वा दुर्भावाः । भिन्नार्थे, अन्याऽर्थः अत्रिभेयं
 प्रयोजनं वाऽप्य । भिन्नाभिधेयवाचक शब्दे, भिन्नप्रयोजनक
 पदार्थे च । त्रि० । वाच० ।

अन्यर्थे-पुं० । अनुगतोऽर्थम् । अस्या० सं । अद्योतुगेन व्युत्प-
 लितुके शब्दे, वाच० । "त्रियमस्यते नयथातिरिपकलं" विवक्ति-
 त्तुके नूतकदारकारादिपद्माद्यन्व्यासावधेयान्यायो देवाधिपा-
 दिः सऽज्ञातस्मत्त यत्स्थितं नूतकदारकारादी तर्हि कथं वचनं ?,
 इत्याह-तदर्थनिरपेक्षं तस्येन्द्रादिनाम्नोऽप्येवमर्थः । परमिभ-
 योति, तस्य निरपेक्षं संकनमाश्रयेव तदर्थशुभ्यं नूतकदारकादी
 यननं इति पर्यायानभिधेयं स्थितमन्याये अन्येथे वा तदर्थ-
 निरपेक्षं यत् कचिद् नूतकदारकादी इन्द्राद्यनिधानं क्रियते
 तन्नामेतीह तावन्व्यायेः । विशेषः ।

असत्प्रमार्थ-अन्यत्रगत-वि० । उत्कस्यानद्वयवतिरिक्तस्या-
 नाभिने, भ० ७ श० ६ उ० । प्रहापकज्ञेयःइवस्वप्नाभापरत्र
 स्थिते, भ० ६ श० १७ उ० ।

असत्प्रयोजग-अन्यर्थयोग-पुं० । अनुगतशब्दशब्दार्थसंबन्धे,
 पञ्चा० १२ विव० ।

असत्प्रार्थ-अन्यर्था-स्त्री० । अर्थमनुगता या संज्ञा सा अन्य-
 र्था । अर्थमङ्गीकृत्य प्रयत्नमानायां संज्ञायाव, कथम्, इह यथा
 भास्करसंज्ञा अन्यर्था । कथमन्यथा ? भासं कगेनीति भास्कर
 इति यां प्रासनायांस्तमङ्गीकृत्य प्रवचत इत्यन्यथा । आ०
 चू० १ अ० ।

असत्प्रदसि (ए)-अन्यदर्शिन-वि० । अन्यद् द्रष्टृशीलम-
 स्यतन्म्यदर्शी । अयथावस्थितपदार्थरूपदर्श, आचा० १ श्रु०
 २ अ० ६ उ० ।

असत्प्रदत्त-अन्यदत्त-पुं० । अन्येन दत्तं हरतीति राजा-
 दिनाऽप्येवया वित्तीणस्यापास्तगल एव त्रेदकं, "अरण्यदत्त-
 हरे तणे, माई कन्तु हरे सदे" उच्य० ७ उ० ।

असत्प्रदाण-अन्यदान-न० । अशनादेत्यस्मै दाने, "नो ति-
 विहं निविहेणं, पञ्चकषाह अणदानकारणम्" पं० ७० २ द्वा० ।

असत्प्रधर्मिय-अन्यधार्मिक-पुं० । जैनधर्माद्व्यस्मिन्न धर्मे व-
 र्तेत इति, मिथ्यादृष्टी, आच० । परधार्मिके, वृ० ४ उ० । परती-

र्थिकं, वृ० ३ उ० । शाक्यादी, गृहस्थे च । स्या० ३ उ० ४ उ० ।
 असत्प्रपर-अन्यपर-त्रि० । अन्यरूपतया परस्मिन्न मन्वस्मिन्न,
 यथा एकाणुकाद् द्वाणुकव्युपादि, एवं द्वाणुकादेकाणुकव्य-
 युपादि । आचा० २ श्रु० १२ अ० ।
 असत्प्रपरिजोग-अन्यपरिजोग-पुं० । आद्यादिसंयने, पं०
 व० २ द्वा० ।

असत्प्रपुण-असत्पुण-न० । अस्मात्पुण्यमसत्पुण्यम् । प्राप्तायास-
 दानार्थं धेकरनामादिपुण्यप्रकृतिबन्धरूपं पुण्यजेद, स्या० ६ उ० ।
 असत्प्रपमत्त-असत्पमत्त-वि० । अकार्यं प्रमत्तः । नेजनेकरणा-
 सके, उच्य० १४ अ० ।

अन्यमपत्त-त्रि० । अन्ये सुहृत्स्वजनमाद्यस्तदर्थं प्रमत्तः । उच्य०
 १४ अ० । सुहृत्स्वजनमात्पुत्रपुत्रकलत्रपञ्चाशदादीनां कार्यंकरणा-
 सके, "अणव्यमत्ते धनमेसमाणं, पण्योति मच्चं पुरिसं
 जरं च" । उच्य० १४ अ० ।

असत्प्रवेलाचरक-अन्यवेलाचरक-पुं० । अन्यासं भोजनकासा-
 पेक्षया आद्यावसानकरायां वेलायां समये चरतीत्यादिकाला-
 निप्रहविशेषविशिष्टे निक्षौ, स्या० ५ उ० १ उ० ।

असत्प्रजोग-असत्भोग-पुं० । आद्यादिके जोग्यपदार्थे, "अ-
 एणमोगेहिं जेणमोगेहिं" श्रौ० ।

असत्प्रमस-अन्येन्य-त्रि० । अन्यशब्दानु कर्मेव्यतिहरे त्रिव्यं, सुअ
 "आतोऽज्ञाऽन्येव्यप्रकाशानोपशिरोऽविद्वानामनोहरसरोरुदे का-
 ङ्ग वः" । १ । १२६ ॥ इति सूत्रेण श्रोतः अस्त्वम् । मकार प्रागसिकः ।
 परस्परशब्दार्थे, द्वा० १ अ० । रा० । आ० म० प्र० । भ० । आ-
 चा० । उच्य० । चं० प्र० अतु० । स्या० । नृश्रु० । "असमस्य-
 म्पुण्यस्यया अणुसमणमणुष्यया अणुसमणुण्डाणुस्यया अ-
 णुसमणुस्यद्विचद्विच्यकारया असमसणुसु गिहंतु किच्वादे कर-
 शिञ्जादे पचचपुमवमाणा विहरंति ।" (जिनदत्तसागरदत्त-
 पुत्रयोर्मिथोऽनुरागवर्षकः) अन्योऽन्यमनुरक्तौ स्नेहवन्तौ, अत ए-
 वाऽन्योऽन्यमनुरजतः इत्युच्यन्ते, एवं अन्वत्तुवर्तकौ अत्रिमा-
 यानुवर्तितौ, एवं हृद्येप्लितकारकौ । (किञ्चादे कारणायादे) क-
 र्तेव्यनि प्रयोजनानीत्यर्थः । अथवा कृत्यानि नैविकारिणः, करणी-
 यानि कार्यानिक्त्वा, प्रयत्नमनुरक्तौ विद्वानौ । आ० २ अ० ।

"असमसं शिञ्जमणीषो विच" । परस्परं चतुषुऽऽङ्गोक्तनानो-
 वदोक्तनेन वं शेषाः संश्लेषास्तैः शिञ्जमाना इव । रा० । स्या० ॥
 "असमसं सेवमाणा" अन्योऽन्यस्य परस्परस्यासेवनयाः श्लो-
 अत्रिभोगेन क्वचित्पाठः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । "असमसं
 करेमाणं पारंचिद" अन्योऽन्यं परस्परं मुल्लापानुप्रयोगात्
 मैथुनं कुवेदं पुरुषपुत्रमिति शेषः । उच्यते- "असत्प्रपेस्य-
 सेषी, के ति मशुस्सा दुवेयणा हंति । तसिं लिं गविचवो ति" ।
 स्या० २ उ० ४ उ० । श्रौ० जीत० । ('पारंचिय' शब्देऽस्य व्याख्या)

असत्प्रस्यकिरिया-अन्येन्यक्रिया-स्त्री० । परस्परतः साधुना
 कृतप्रतिक्रियया विधेयायां रजःप्रमाजनादिकार्यां क्रियायाव,
 अन्योऽन्यं क्रियाञ्च अन्योऽन्यक्रियाः । सप्तके इतिता यथा-
 से भिवन् वा जिकसुण्णी वा असमस्यकिरियं अउक्त्-
 तिथयं संसदये णो तं सानिप षो तं गिगमे, से असत्प्रपेस्यो-

पापे आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, एणे तं सातिए एणं तं
निगम्ये, सेसं तं चेष, एवं खलु तस्स जिकखुस्स वा जिकखु-
णीए वा सापगियं सपभन्धो सत्तिकम्मो सम्मचो ॥

क्रिया रजःप्रमाजेनादिकास्ता अन्वयान्ये परस्परतः साधुना
कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येवं नेतव्याऽप्यन्वयक्रियास-
त्केक इति । आचा० २ सु० १३ अ०

जे भिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अएणउत्थिएए
वा गारत्थिएए वा आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं
वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ११६। जे जिकखू णिग्गंथे णि-
ग्गंथस्स पाए अएणउत्थिएए वा गारत्थिएए वा संवा-
हेज्ज वा, पस्सिमहेज्ज वा, संवाहंतं वा पस्सिमहंतं वा सा-
इज्जइ ॥१७। जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अएण-
उत्थिएए वा गारत्थिएए वा तद्धेण वा घएण वा बाएण
वा वसाएण वा खण्णीएण वा मंखेज्ज वा, जिलिंगेज्ज वा,
मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥१८॥ जे जिकखू णि-
ग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अएणउत्थिएए वा गारत्थिएए वा
लोद्वेण वा ककेण वा उट्ठाएण वा पउममुष्सेण वा वप्पेण
वा उट्ठोद्वेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उट्ठोद्वंतं वा उव्वट्टंतं वा साइ-
ज्जइ ॥१९॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अएणउ-
त्थिएए वा गारत्थिएए वा सीओदगवियेद्वेण वा उसि-
णोदगवियेद्वेण वा उच्छोद्वेज्ज वा, पधोपएज्ज वा, उच्छो-
द्वंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥२०॥ जे जिकखू णिग्गंथे
णिग्गंथस्स पाए अएणउत्थिएए वा गारत्थिएए वा फू-
पेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं
वा साइज्जइ ॥२१॥ जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं
अएणउत्थिएए वा गारत्थिएए वा आमज्जजावेज्ज वा, पम-
ज्जावेज्ज वा, आमज्जजावंतं वा पमज्जजावंतं वा साइज्जइ १२१।
जे भिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अएणउत्थिएए वा
गारत्थिएए वा संवाह्वेज्ज वा, पस्सिमहावेज्ज वा, संवा-
ह्वेज्जजावंतं वा पस्सिमहावेज्जजावंतं वा साइज्जइ १२३। जे भिकखू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अएणउत्थिएए वा गारत्थिएए
वा तद्धेण वा घएण वा बाएण वा वसाएण वा णवणी-
एण वा मंखावेज्ज वा, जिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा
जिलिंगावंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे जिकखू णिग्गंथे
णिग्गंथस्स कायं अएणउत्थिएए वा गारत्थिएए वा लो-
द्वेण वा ककेण वा ह्हाणिएण वा पउममुष्सेण वा बाएण
वा सिहाणिएण वा उव्वट्टावावेज्ज वा, परिवट्टावावेज्ज वा,
उव्वट्टावावंतं वा परिवट्टावावंतं वा साइज्जइ १२५। जे जिकखू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अएणउत्थिएए वा गारत्थिएए
वा सीओदगवियेद्वेण वा उसिणोदगवियेद्वेण वा उच्छो-
द्वेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोद्वेज्जजावंतं वा पधोवावंतं वा

साइज्जइ १२६। जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अ-
एणउत्थिएए वा गारत्थिएए वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज
वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा सा-
इज्जइ ॥२७॥ जे भिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म वणं
अएणउत्थिएए वा गारत्थिएए वा आमज्जजावेज्ज वा, पम-
ज्जावेज्ज वा, आमज्जजावंतं वा पमज्जजावंतं वा साइज्जइ १२८।
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म वणं अएणउत्थिए-
एण वा गारत्थिएए वा संवाह्विज्जावेज्ज वा, पस्सिमहावेज्ज
वा संवाह्विज्जावंतं वा पस्सिमहावंतं वा साइज्जइ १२९।
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म वणं अएणउत्थिए-
एण वा गारत्थिएए वा तद्धेण वा घएण वा वप्पेण वा
वसाएण वा खण्णीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा,
मंखावंतं वा जिलिंगावंतं वा साइज्जइ १३०। जे भिकखू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म वणं अएणउत्थिएए वा गार-
त्थिएए वा सोद्वेण वा ककेण वा एट्ठाएण वा पउममुष्सेण
वा वप्पेण वा सिहाणिएण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज
वा, उव्वट्टावंतं वा परिवट्टावंतं वा साइज्जइ १३१। जे भिकखू
णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म वणं अएणउत्थिएए वा
गारत्थिएए वा सीओदगवियेद्वेण वा उसिणोदगवियेद्वेण
वा उच्छोद्वेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोद्वेज्जजावंतं वा पधोवा-
वंतं वा साइज्जइ १३२। जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स का-
यं म वणं अएणउत्थिएए वा गारत्थिएए वा फूमावेज्ज वा,
रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं
वा साइज्जइ १३३। जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म
अएणउत्थिएए वा गारत्थिएए वा मंखं वा पस्सिमं वा
अरियं वा आमियं वा जग्गदं वा अस्सयंरेण वा तंखे-
एण वा सत्थजाएण वा अचिद्धावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज
वा अचिद्धावंतं वा विच्छिदावंतं वा साइज्जइ १३४।
जे जिकखू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं म अएणउत्थिएए
वा गारत्थिएए वा मंखं वा पस्सिमं वा अरियं वा अस्सियं
वा जग्गदं वा अस्सयंरेण वा तंखेण वा सत्थजाएण
वा अचिद्धावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं
वा णीहरावेज्ज वा, विमोहियाएज्ज वा, गिहरावंतं वा
विमोहियावंतं वा साइज्जइ १३५। जे जिकखू णिग्गंथे
णिग्गंथस्स कायं म अस्सियं वा गारत्थिएए वा मंखं
वा पस्सिमं वा अरियं वा अस्सियं वा जग्गदं वा अस्सयं-
रेण वा तंखेण वा सत्थजाएण अचिद्धावेज्ज वा, विच्छि-
दावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विमोहिया-
वेज्ज वा, सीओदगवियेद्वेण वा उसिणोदगवियेद्वेण वा
उच्छोद्वेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोद्वेज्जजावंतं वा पधोवावंतं वा

जिक्खु णिग्गंये णिग्गंयस्स अचिञ्चिण्णि अण्णत्तं गारत्थियं
 अमज्जावेज्ज वा , पमज्जावेज्ज वा , आमज्जावंतं वा
 पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥६३॥ जे भिक्खु णिग्गंये णिग्गं-
 यस्स अचिञ्चिणे अण्णत्तं वा गारत्थियण वा संवाहिया-
 वेज्ज वा,पमिषावेज्ज वा,संवाहियावंतं वा पमिषावंतं वा
 साइज्जइ ॥६४॥ जे जिक्खु णिग्गंये णिग्गंयस्स अचिञ्चिण्णि अ-
 ण्णत्तं गारत्थियं तेङ्गेण वा घण्ण वा बसाण्ण वा ख-
 ण्ण वा संवावेज्ज वा, जिलिगावेज्ज वा, संवावंतं वा
 भिलिगावंतं वा साइज्जइ ॥६५॥ जे जिक्खु णिग्गंये णिग्गंय-
 स्स अचिञ्चिण्णि लोक्केण वा ककेण वा एहाण्णेष वा पउमचुभे-
 ण वा वसेण वा उण्णोलावेज्ज वा, उण्णोलावेज्ज वा, उण्णोलावंतं
 वा उण्णोलावंतं वा साइज्जइ ॥६६॥ जे भिक्खु णिग्गंये णिग्गं-
 यस्स अचिञ्चिण्णि अण्णत्तं गारत्थियं सौमोदगवियडेण वा
 ठसिणोदगवियडेण वा उण्णोलावेज्ज वा, पषोवावेज्ज वा,
 उण्णोलावंतं वा पषोवावंतं वा साइज्जइ ॥६७॥ जे जिक्खु णि-
 ग्गंये णिग्गंयस्स अचिञ्चिण्णि अण्णत्तं गारत्थियं फुमावा-
 एज्ज वा, रयाएज्ज वा, संवावाएज्ज वा, फूसावावंतं वा रयावंतं
 वा संवावावंतं वा साइज्जइ ॥६८॥ जे जिक्खु णिग्गंये णिग्गं-
 यस्स अण्णत्तं गारत्थियं अचिञ्चिण्णं वा कएण्णं वा दंतमं
 वा हाहमं वा खीहरावेज्ज वा उ जाव साइज्जइ ॥६९॥ जे
 भिक्खु णिग्गंये णिग्गंयस्स कायाउमेयं वा जलं वा पंके
 वा मग्गं वा अण्णत्तं गारत्थियं णीहरावेज्ज वा, विसो-
 हावेज्ज वा उ जाव साइज्जइ ॥७०॥ जे भिक्खु णिग्गंये णि-
 ग्गंयस्स गामाणुगामं दुइज्जमाणे अण्णत्तं गारत्थियण वा गार-
 त्थियण वा सीमदुवारीयं करावेइ, करावंतं वा साइज्जइ ॥७१॥
 आमज्जनं सहुव, पुनः प्रमाज्जनं, (जा समणं) गहाह । आदि स-
 हाओ बंधसादिसुत्ता पंच, कायसुत्ता उ, वणसुत्ता कु, गंदसुत्ता
 उ, वासुकिमित्तुत्तं एहसिहारोमराइंमसुत्तुत्तं च, वनाणि वसरो-
 ह्णालिसागुत्तं च अचिञ्चिण्णमज्जणसुत्ता तिच्छि मुहसुत्तं स्वय-
 न्तं अभिसंभारसुत्तं, सांसज्जावियसुत्तं च । एते चसात्तासं
 सुत्ता तनिमोहेसगमगेण भासियवथा । तथ स्वयंकरणे इह पुण
 णिग्गंयथीयं समणस्स अण्णत्तं गारत्थियण वा गारत्थियण वा कारवेति
 सि; ससा इमं अचिञ्चिण्णसुत्तं भरणंति ।

समणान् संजतीहिं, असंजतीओ गिहयेहिं ।
 गुरुणा लट्ठगा चउ वा, तथ वि अण्णत्तादिदां दोसा ॥११॥
 संजतीओ अदि समणस्स पायपमज्जणादि करेति, तो चउगु-
 रुणा (असंजतीओ सि) गिहत्थिओ जइ करेति, तथ वि चउगुरुणा,
 गिहत्थपुरिसा अदि करेति, तो चउवलट्ठगा, आण्णत्तादि वा दोसा
 भवंति ॥११॥

मिच्चसे उट्ठाहो, विराहणा कासजावत्तंवेपे ।
 पणिमगणादी दोसा, नुत्ताजोगी य थापव्वा ॥ १२ ॥
 इत्थियाहिं कीरनं यानिसा कोह मिच्चसं गच्छेज्जा-पने-
 काव मेय । स, संजमविराहणा य, इत्थिफासे मोहोदियां, परा-

परमो वा फासेण भावसंबंधो इवेज्ज, ताहे पविशमसं वरण-
 तिथिधारी दोसा, अहवा फाल उज्जो वृत्तजोगी सा पुबवरयादि
 संभरिज्जा, अहवा चित्तिउज्ज-परिसो मम मोक्षयाप फासो परि-
 सी वा मम मोक्षा प्राप्ती, अण्णत्तमोहस्स इत्थिफासेण कोव-
 यादि विनासा-

दीहं व णीमसेज्जा, पुच्छा कदि एरिमेण कदि एणं ।
 मम जाइया एरिसी, सा वा बलणे बदे एवं ॥ १३ ॥

यो वा संजमो संजनीयाप पमज्जमाणीय हीहं णोसासिज्जा,
 जाहे सो पुच्छति-किमेयं दीहं ते मोसत्थियं ? । सो भणत्ति-कि
 परिसेण भणत्ति कदि एणं ति, निज्जंये करेइ, मम भाइया एरिसी
 तुमं वी सा वा बलणे पमज्जती दीहं णीमसेज्जा, पुच्छा कदं णं
 च एवं वेव एते संजतीहिं दोसा ॥ १३ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिं पच्छकम्मं च ।
 आतपरमोहूदीरउ, पाउसव हु सुत्तपरिहाणी ॥१४॥

गिहत्थीयु अतिरित्तदोसा पच्छकम्मं इत्ये सीतोइकेण प-
 च्छासंजा, पाइयामउज्जणादीहिं य उज्जलवेसस्स अण्णत्तं मोहो
 वयिज्जेजा-संजागमि वा अहं, कोमे परिसत्तामो ति सि धव्वो इ-
 वेज्ज, तं वा उज्जलवेसं इदं धव्वेसि इत्थियाणं मोहो उदिअज्ज,
 सरीरपाउसव च कनं जवति, आव तं करोति ताव सुत्तथप-
 लिमंओ ॥ १४ ॥

संपातिमादिपातो, विवज्जिओ जे च सोगपरिवाओ ।
 गिहिएहिं पच्छकम्मं, तन्हा समणेहिं कायव्वं ॥ १५ ॥

पमज्जणं संपातिमे अभिघाएज्ज अजवत्तणेण (विवज्जिते
 ति) साधुणा सिधुसापरिचिञ्चण होयव्वं । अण्णं च "विज्जसा
 इत्थिसंभमो" ति सिलोमो । यस्स (विधरिक्कणे अं भवे
 सोगपरिवादी य, आरिसं सयज्जमाहण एरिसेण च विवज्जितं भवि-
 त्तय्यम, एवमादि इत्थिसु दोसा । गिहत्थपुरिसेसु वि इत्थिफा-
 सादिया मोत्तं एते चेव दोसा, पच्छकम्मं च । इमे य दोसा-

अजयंते पफोदे, ते पाएण उणीत्थलं च संपाटी ।
 अतिपेण्णाम्म आता, फोहणं सय अहिजंगादी ॥ १६ ॥

संजमो अजयणाए पफोदेतो पाव अभिभेज्ज, बहुव वा इ-
 वेण धोवंतो तणे वणीमोवेज्ज वा, जिह्णुवेज्ज वा संयातिसा पने-
 उज्जह । एते संजमविराहणा । प्रायविराहणा इमा-भण विधिवा
 अनीय पण्णिओ पादो, तादे संघी वि केज्ज, फोहणे ति (विधरि-
 हहेज्जा, महादिवा वा अयं करंज, अर्हि वा जेजेज्ज ॥ १६ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिं पच्छकम्मं च ।
 गिहिएहिं पच्छकम्मं, पच्छा तमहा उ समणेहिं काय-
 व्वं ॥ १७ ॥

गतायां, किं विसेसे । पुव्वेकस गित्थी अणित्ता, पच्छकेण
 गिहत्था, वे वि पाए पफोदेते कुव्वं करंज, कुव्वेतो पच्छा-
 कम्मसजवो, जग्धा एते दोसा तमहा समणान् समणेहिं काय-
 व्वं, णो गिहत्था अण्णत्तियथा वा जेइवथा ॥ १७ ॥

विंतिपदमणणउम्मे, अण्णत्ताउव्वात अप्पओ उ करे ।
 पमज्जणादी तु पदे, जयाण्ण ए समयाहिं भिक्खु ॥१८॥
 अणणउम्मे कारवेज्जा, अणणउम्मेस वा कारविज्जति, अण्णत्तं
 पतिवण्णो वा अतीव उच्चा उण्णत्तज्जादी पदे कएप्पे वेव

अथवा पकरेज, अरण्यो असतो संजयर्हि कारवेज्ज ॥ १० ॥

असती य संजयाणं, पच्छाकनमादिर्एहि कारेज्ज ।

गिहिअसतिरित्थिएहि, गिहत्थि-परतित्थि-तिविहादिं । १६ ।

असनी संजयाणं पच्छाकनार्हि कारवेति, तस्मां साजिग्यपरिं, ततो गिरभिमाहेहि, ततो अहाअर्हएहि, ततो गियस्यपरिं मिच्छ-दिट्ठीहि, ततो अजिन्नाहियांअर्हट्ठीहि, ततो अश्वत्थिपरिं मिच्छ-दिट्ठीमादिपरिं, पुत्रं असोयवादीहि, पच्छा सोयवादीहि, ततो पच्छा गिहत्थिपरित्थिपरित्थिदिहादिं ति, ततो गिहत्थीहि णालब-च्छाहि अणालबच्छाहिं ति विधाहिं धेरमज्जिमनरुणीहिं, एवं पर-तिरिधएणहिं वि, संजयाहिं वि, एवं चेव, एस्तो वेव अतो विर्य-रतो अश्वनि, तस्मां पच्छा गिहत्थिपरित्थिपरित्थिदिहादिं ति । गिह-त्थी दुयिदा-णालबच्छा अणालबच्छा । ततो र्हेदि गिहत्थीहिं णालबच्छाहिं-

माताजगिणीधूया-अजिजणी अयिद्वियाण असतीए ।

अणियद्विय धेरिंदि, मज्जिमनरुणीहिं असतिरत्थीहिं ॥ २० ॥

माता भगिणी धूया अजिययाणुत्तरी य, एतंसि असतीए, एयाहिं वेव अणयतिरिधणीहिं, एतंसि असतीए अणालबच्छाहिं गिहत्थीहिं ति विधाहिं कमेण धेरमज्जिमनरुणीहिं, तस्मां एयाहिं वेव अणयतिरिधयाहिं ति ॥ २० ॥

तिविहाण वि एयाणं, असतीए संजतिमादिजगिणीहिं ।

अत्थि य जगिणी ण सती, तपच्छा उवसेसतिविहादिं ॥ २१ ॥

माताजगिणीधूया-अजिजयाण वि य ससतिविहा टु ।

एतांसि असतीए, ति विहा वि करेति जयण तु ॥ २२ ॥

अणालबच्छाणं धेरमज्जिमनरुणीहिं असति संजतीतो माता प्राणिणी धूया य अजिजयाण पञ्चमादिं ततो करंति, ततो पच्छा अ-सेलाओ अणालबच्छाओ ति विहाओ धेरमज्जिमनरुणीओ करा-वेति वा, एयस्मिं चेव अत्थे अणयावदिक इमा माथा-(माता-भगिणी) । (एतांसि असतीए स्ति) मायभगिणिमादिधाणं ति, सेवं ति विहाउ स्ति अणालबच्छाओ संजतिओ ति विधाओ धेरम-ज्जिमनरुणी य जयणा जहा फाउसेबच्छादि ण जयति, तदा कारवेति, करंति वा ॥ २१ ॥ २२ ॥

जे भिक्खु गिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जा-वंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । १७ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अश्वउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवा-हावेज्ज वा, पालिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पालिमहावंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा त्थेण वा घएण वा वएण वा वसाएण वा एवधीएण वा मंखेज्ज वा, जि-ल्लिगज्ज वा, मंखंतं वा जिल्लिगंतं वा साइज्जइ । १८ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा झोद्वेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउम-चुएणेण वा वएणेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परिवट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ । १९ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गारत्थि-

एण वा सीअोदगवियंकेण वा उसिणोदगवियंकेण वा उचो-लेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उचोलेंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ । १९ ॥

जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए पाए अएणउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा कुपेएज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखेएज्ज वा, कूमावंतं वा रयावंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ । २० ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गं-थीए काये अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जा-वेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । २० ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायं अएण-उत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पालिमहावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पारिमहावंतं वा साइज्जइ । २१ ॥ जे भिक्खु शि-ग्गंथे शिग्गंथीए कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा त्थेण वा घएण वा वसएण वा एवधीएण वा मंखेएज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखवंतं वा जिल्लिगावंतं वा साइज्जइ । २० ॥

जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोकेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउम-चुएण वा वएणेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टवंतं वा परिवट्टवंतं वा साइज्जइ । २१ ॥

जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीअोदगवियंकेण वा उसिणोदगवियंकेण वा उचोलेवेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उचोलेवंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ । २२ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गं-

थीए कायं कूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखेवेज्ज वा, कूमा-वंतं वा रयावंतं वा मंखवंतं वा साइज्जइ । २३ ॥ जे भि-क्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायंसि वणं अश्वउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आम-ज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । २४ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायंसि वणं अश्वउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा त्थेण वा घएण वा वसाएण वा एवधीएण वा मंखेवेज्ज वा, जिल्लिगावेज्ज वा, मंखवंतं वा जिल्लि-गावंतं वा साइज्जइ । २५ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथरस कायंसि वणं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा झोद्वेण वा ककेण वा एहाणेण वा पउमचुएणेण वा सिणोहाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टवंतं वा परिव-ट्टवंतं वा साइज्जइ । २६ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायंसि वणं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीअोदगवियंकेण वा उसिणोदगवियंकेण वा उचोला-वेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उचोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ । २७ ॥ जे भिक्खु शिग्गंथे शिग्गंथीए कायंसि वणं अश्वउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कूमावेज्ज वा, रया-

वेज्ज वा, मंखेवेज्ज वा, कूमावंतं वा रयावंतं वा

जे भिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा तैस्सेण वा पएण वा बएणेण वा बसाएण वा एवएणेण वा मंखाएज्ज वा, भिंलिगाएज्ज वा, मंखावंतं वा जिंलिगावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३३ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोक्केण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुएण वा ब-
 क्षेण वा उट्ठोत्तावेज्ज वा, उव्वहावेज्ज वा, उट्ठोत्तावंतं वा उव्वहावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३४ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा मीआदगवि-
 यदेण वा उस्सिणोदगवियदेण वा उच्चोत्तावेज्ज वा, प-
 धोवावेज्ज वा, उच्चोत्तावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३५ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखा-
 वेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३६ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए अचिउणि अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जं वा पमावेज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ११३७ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए अचिउणि अणएणत्थिएण वा गार-
 त्थिएण वा मंवाहावेज्ज वा, पलिमहावेज्ज वा, मंवाहावंतं वा पलिमहावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३८ ॥ जे जिक्वु णिग्गं-
 थे णिग्गंथीए अचिउणि अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा तैस्सेण वा पएण वा वाग्गएण वा बसाएण वा एवएणी-
 एण वा मंखावेज्ज वा, भिंलिगावेज्ज वा, मंखावंतं वा जि-
 लिगावंतं वा साइज्जइ ॥ ११३९ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गं-
 थीए अचिउणि अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा लो-
 क्केण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुएणेण वा बएणे-
 ण वा उट्ठोत्तावेज्ज वा, उव्वहावेज्ज वा, उट्ठोत्तावंतं वा उव्वहावंतं वा साइज्जइ ॥ ११४० ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णि-
 गंथीए अचिउणि अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीआदगवियदेण वा उस्सिणोदगवियदेण वा उच्चोत्ता-
 वेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्चोत्तावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥ ११४१ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए अ-
 चिउणि अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखा-
 वंतं वा साइज्जइ ॥ ११४२ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए कायाउ अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा सिध वा जज्ञे वा पंके वा मग्गं वा एहीट्टरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, पि-
 ट्टरावंतं वा विमोहावंतं वा साइज्जइ ॥ ११४३ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए मायाणुगामं दुइज्जमाणे अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीमदुवारियं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ ११४४ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथस्स

पाए अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइ-
 ज्जइ ॥ ११४५ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गंथीए का-
 याउ अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा अचिउमसं वा कणमलं वा दंतमसं वा णट्टमलं वा धीट्टरावेज्ज वा ० जाव साइज्जइ ॥ ११४६ ॥ एवं मव्वं मिग्गममिग्गमप्यसरिसं ऐ-
 यवं जाव जे णिग्गंथीए णिग्गंथस्स मायाणुगामं दुइज्जमाणे अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ, करावंतं वा साइज्जइ ॥ ११४७ ॥ जे जिक्वु णिग्गंथे णिग्गं-
 थीए पाए अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमावेज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइ-
 ज्जइ ॥ ११४८ ॥ एवं ते एतेण वा मएण सरिसा खेयव्वा जाव जे णिग्गंथी णिग्गंथीए मायाणुगामं दुइज्जमाणे अणएणत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ, करावंतं वा साइज्जइ ॥ २४५ ॥

सुत्ता एकवत्तालीसं ततिउदइसगमा जाव सीसदुवारियं सि सुत्तं; अन्थे पूर्ववत् ॥

एवंव गमां नियमा, णिग्गंथीणं पि होइ खायव्वो ।
 कारवण संतेहिं, पुव्व अवरम्मिय पदस्मीतु ॥ ११३० ॥
 संजमं गारत्थमादिपहिं संजनिणं पदे पमज्जणादि कारवेति,
 उत्तगणसु षंजवति, अजकखणएण वा संभवति । नि० सू०
 १७३० ।

असुप्तसखंतिअ-अन्योन्यप्रथितं-वि० । परस्परंकेन प्रथिन्या
 सहोऽन्यो प्रथिरन्येन च सहोऽन्य इत्येवं प्रथिते, अ० ५ श०
 ३ उ० ।

असुप्तसखरुचत्ता-अन्योन्यगुरुकता-त्वी० । अन्योन्येन प्रथ्य-
 नाद् विस्तीर्णतायाम्, ज० ५ श० ३ उ० ।

असुप्तसखरुचत्तं जातिरयत्ता-अन्योन्यगुरुकत्तंभारिकता-स्त्री० ।
 अन्योन्येन गुरुकत्तं यत्तं जातिकं च तत्तथा, तद्भाष्यत्तंत्ता । अन्यो-
 न्येन प्रथ्यनाद् विस्तारसंभारवत्त्वं, ज० ५ श० ३ उ० ।

असुप्तसखपट्टना-अन्योन्यपट्टता-स्त्री० । अन्योन्यं घट्टते सं-
 षण्णत्तंति अन्योन्यघटाः । ज० ३ प्रति० । अन्योन्यं घटाः
 समुदायरचना यत्र तद्व्योन्यघटाः । अन्यान्यं घटाः समु-
 दायां येषां तद्व्योन्यघटाः । परस्परसंषण्णतायाम्, ज० ५
 श० ३ उ० ।

असुप्तसखपट्ट-अन्योन्यपट्ट-वि० । स्पष्टीनभाषेण सिधः
 स्पष्टि, अ० १ श० ६ उ० । ज० ० ।

असुप्तसखपट्ट-अन्योन्यपट्ट-वि० । अन्योन्यं जीवाः पु-
 ञ्जानां, पुञ्जानां जीवानामित्येवमादिकूपेण गाढतत्संबन्धे,
 अ० १ श० ६ उ० ।

असुप्तसखवेह-अन्योन्यवेह-पुं० । अन्यस्याऽन्यस्य संबन्धे, नि०
 सू० २० उ० । "अणोत्तणवेहश्चा मत्ति ति" अन्योन्यस्य षण्णः सं-
 १२२

अष्टाणमस्येह

बन्धोऽप्येवमेवस्तस्मात् पञ्चदशाश्रायेण एकैकस्मिन् स्वापने
संयुज्यते इत्यर्थः । नि० सू० २० ब० ।

अष्टाणमन्तास-अन्योन्याभ्याम-पु० । अन्योन्यं परस्परम-
प्यासः । परस्परं गृह्णते, अयु० ।

अष्टाणमए गुणान्विता-अन्योन्यात्कारिता-स्त्री० । अयो-
न्यस्य आ या भासः स विद्यते यत्र तन्मन्यन्तारकं, तद्भाव-
स्तस्मात् परस्परं ज्ञायते, ज० ६ श० ३ उ० ।

अष्टाणमए गमपुगय-अन्योन्यानुगत-त्रि० । परस्परगनुवत्, न० ।

अष्टाणमए गमपुगय-अन्योन्यासंप्राप्त-त्रि० । परस्परमसंज्ञे,
जि० ३ प्रवि० ।

अष्टाणमए गुमंतास-अन्योन्यसंवाप्त-पुं० । परस्परमेकत्र सं-
वाप्ते, व्य० ३ उ० ।

अष्टममसिगोहपांशुचक्र-अन्योन्यसेहप्रतिबन्ध-त्रि० । प-
रस्परं खेहेन प्रतिबन्धे, अ० १ श० ५ उ० । यैकेस्मिन् चा-
स्यमाने शुभमणि वा परमार्थ चलनादिधर्मोपेतं भवति ।
जि० ३ प्रवि० ।

अष्टमपं-देशी-पुनरुक्तेऽर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अष्टालिग-अन्यलिङ्ग-न० । अन्यतीर्थिकानां नेपथ्ये, इ० २ उ० ।

अष्ट गतिगसिद्ध-अन्यसिद्धिभिन्-पुं० । परिवाजकादिसंब-
न्धिनि बल्लकफायादिवस्त्रादिरूपे द्रव्यलिङ्गे व्यवस्थिताः
सन्तो ये सिद्धास्तेऽप्यलिङ्गसिद्धाः । न० । परिवाजकादादि-
हसिद्धेषु, ल० । आ० ५ उ० ।

अष्टाणव-अर्णव-पुं० । अर्णोति सन्त्यसिद्ध । अर्णव-व । स-
लोपः । सयुद्धे, उदकयुक्ते, जलदागेति, सूर्ये, इन्द्रे च । वाच० ।
अर्णो जले विद्यते यत्रासार्णवः । “ अर्णसो लोपश्च ” इति
(वार्तिकेन) चमत्प्रत्ययः सकारलोपश्च । द्रव्यतो जलधो,
भावतश्च भवे, उक्त० ५ अ० ।

अष्टाणवसि महोर्धसि, एगे तिरएषे ढुरुत्तरे ।

जय एगे महापणे, इपं पाहृमुदाहरे ॥

एतस्मिन् कीदृशि ? (महोर्धसि त्ति) महानोधः प्रवाहो द्रव्य-
तो जलसंबन्धी, भावतस्तु भवपरम्पराम्बकः प्राणिनामत्यन्त-
माकुलीकरणेहेतुः, चरकादिस्मृतेषां वा यस्मिन् स महोर्धस-
स्मिन् । महूर्ध्वं चोभयत्रागायतवाऽष्टपरपरतया च मतव्य-
म् । तत्र किम् ? इत्याह- (एक इति) अस्वहायो रागद्वेषादिसह-
भावविरोहितो गौतमादिरित्यर्थः । तरति परं पापमार्गात्, त-
स्मात्प्राणेषु वा वर्तमाननिर्देशः (दुरुक्ते इति) विभक्तिव्यवस्था
दुरुक्ते दुःखेनात्तरीतुं शक्ये । दुरुक्तरमिति क्रियाविशेषणं वा ।
नहि यथाऽस्ती तरति तथा परंयुक्तमभिः सुखेन तीयेत, अत-
एव एक इति संख्यावचनो वा । एक एव जिनमतप्रतिपक्षः,
न तु चरकादिमताकुलितचेतसोऽन्ये, नया तरीतुमीशान इति ।
(तत्रति) गौतमादी तरणप्रवृत्ते (एक इति) । तथाविधनीर्धक-
रनामकमोदयादनुत्तरावाःसविभूतिरङ्गीत्यर्थः किमुक्तं नयति ?
तीर्थकरः सन्नोक्त एव भग्ने संबधतीति । महती निरावरल-
नया अष्टाणवणा प्रज्ञा केशलज्जानात्मिका संविद्येति महा-
प्रज्ञाः स किमित्याह- इममनन्तरव्यवसायं हृदि विपरिन्तमान-

प्रत्यक्षं प्रकामासंख्योपायं पठति । स्पष्टमसंदिग्धम् । पठ्यते च-
(परहं ति) पृच्छयते इति प्रश्नः । नं प्रकृत्यायैकपसुमुरते इति भूते
लिट् । तत् उदाहरेदुदाहृतवान् । पठ्यते च- “ अमघांसि महो-
र्धसि एगे तिषे दुरुत्तरे ” ति । अत्र तु प्रत्यये विशेष-त-
त्तत्त्वायैवमहोर्धात् दुरुत्तरान् तीर्थे इव तीर्थेस्तीरप्राप्त इति
योगः । एको धानिकर्मसाहित्यरहितः, (तत्रति) स देवमनु-
जयोः परिषदि एकोऽङ्गीनीयः, स च तीर्थेकृदेव । शयं प्राग्ब-
दिति सूत्रार्थः । उक्त० ५ अ० ।

अष्टाणव-अष्टाणवत्-त्रि० । सप्तविंशतितमे लोकोत्तरमुद्धते, जं०
७ वक्त० ।

अष्टाणवपदेश-अन्यव्यपदेश-पुं० । परस्य व्यपदेशे, इदं हि
शुभं किंदिशाद्व्यगडवृत्तप्रादिकं यद्वत्ससंबन्धीति व्रतिनः
श्लोकस्य डीकषेत्स्वत्पुत्रुत्वा, न च व्रतिनः स्वामिनाऽनुपज्ञाते
शुभतीति नियमाऽपि तेषां अत्र शुक्यादिकं च रासतमित्तं
तृतीयोऽतिचारः । प्रव० ७ भा० ।

अष्टाणवलय-आं पालक-पुं० । कालोदाय्यादिकं अन्यवृथिकं,
अ० ७ श० १० उ० ।

अष्टाणविति-अष्टाविति-पुं० । मूपकारकलायाम्, जं० २
वक्त० । म० । भा० । आ० ।

अष्टाणव-अन्यव-अध्य० । अहिं अहिं वीत्यायंऽप्यथी० । अष्ट-
समा० । प्रत्योमित्यर्थे, वाच० । निरन्तरमित्यर्थे, ध० १ अधि० ।

अष्टाण (व) (ह) इ-अन्यथा-अध्य० । अर्थेन प्रकारेणत्य-
र्थे, आचा० १ भू० ५ अ० ३ उ० । आ० म० । प० ५ उ० ।

अष्टाणविकाप-अन्यथाकाप-पुं० । पाददार्थ्ये, हा० ३ अष्टा० भा० ।

अष्टाणवऽनुपवृत्ति-अन्यथाऽनुपपत्ति-स्त्री० । अ-यथा अ-
न्यभावेन अनुपपत्तिः अस्मन्तः स्वाभावाप्रयोज्यसंभवे, अर्था-
पत्तिप्रमाणे च । तथाहि- पानो देवदत्ता दिया न वृद्धे, इत्यादी
दियाऽभोक्तुर्वेदसम्य पीतच रात्रिजाजन विनाऽनुपपश्य, इति
ज्ञानं रात्रिभाजनकर्तृत्विषोपनिषेन रात्रिभाजेन कल्प्यते ।
वाच० । माव्यऽभावकारिणानुपपत्तिः, अस्मिन् साधे हेतोरनु-
पपत्तिरवान्यथाऽनुपपत्तिः स्यात् । “ अन्यथाऽनुपपश्य, यत्र
तत्र श्रेण किम् ? ना-यथाऽनुपपश्य, यत्र तत्र श्रेण किम् ? ”
॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अष्टाणव-अन्यथाभाव-पुं० । अन्यथा अन्यरूपेण जावो-
यस्य । यथाक्रमुक्तिने ततोऽप्यथाकरणे भवने, वाच० । विपरिण-
मने, सू० ४ उ० ।

अष्टाणविति (ण)-अन्यथाविति-त्रि० । अमृतवाहिते,
“ अष्टाणवयपरगुणहरपरया जे (जणा जगत्पवरा जिअराग-
दोससंमोहा येऽऽपहावाधो नेण ” आ० ४ अ० ।

अष्टाणविति-अन्यथा-अध्य० । अन्यत्र “ अष्टाणविति ” च । १ ।
६ । इति वपप्रत्ययस्थाने ई ई तथा आदेशः । अन्यस्मिन्
स्थाने इत्यर्थे, प्रा० ।

अष्टाणव-अन्यथाभाव-पुं० । विपरिणमने, सू० ४ उ० ।

अष्टाणव-अन्यथावृत्ति-त्रि० । अस्मिन्वासे, जं० ५ श० १ उ० ।
पर्वशीलेने, अ० १ श० ६ उ० ।

असा (आ) इस-अन्यादृश-त्रि० अन्वाहशशब्दस्य "अन्या
इतोऽन्वाहसाववा इतो" । ७ । ४ । १३ । इति अर्षभ्रंशे अन्वाहस-
स्यदेशः । प्रकारान्तरतामापन्नं, प्रा० ।

आसाणसि (ष) -अज्ञातैषिन्-पुं० । जातिकुलसञ्चयनि-
रूप्यतादिनाऽपरोक्षिताऽज्ञातः, तादृशं गृहस्थमाहाराद्यभे-
षयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषि । उक्त० २ अ० । अज्ञातो जातिभुना-
दिनिर्भरमुप्यजति अर्थात् पिपादादिनि इत्यादि । उक्त० ३ अ० ।
अज्ञातस्तपस्विनादिनिर्गुणैरनवगत पश्यते प्रामादिकं गवेषय-
तीत्येवंशीलोऽज्ञातैषि । उक्त० १५ अ० । यत्र कुले तस्य साधो-
स्तपानियमादिगुणो न ज्ञातस्तत्र पश्यते प्रामादिकं गृहणी-
तुं चाभ्यत इत्येवंशीलोऽज्ञातैषि । उक्त० १५ अ० । विनिर्गुणैर-
ज्ञात एव भिन्नगणते, " अकामकामी असा (आ) एती परि-
व्यप स भिक्व् " उक्त० १५ उ० ।

असाण-अज्ञान-न० । न ज्ञानमज्ञानम् । सम्प्रत्यक्षानादितर-
स्मिन् ज्ञाने, आण० ।

असाणं परियाणामि, नाथं उदसंपज्जामि । आब० ७ अ० ।

(नाणे स्ति) ज्ञानिनः सम्प्रत्यक्षदृष्टयः, अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः ।
आह च-"अविलेसिया मद्दक्षिय, सम्मद्विट्ठिस्त ता मद्दण्णं ।
मद्दण्णं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एम्व " ॥ १ ॥ इति ।
अज्ञानता च मिथ्यादृष्टयोऽस्य, सदस्तद्विषयेषोपात् । तथा-
दि-सन्त्येवार्थो इह, तत्सत्यं कर्थाश्चिदिति विज्ञापित्वयं भवति,
स्वरूपेणेत्यर्थः । मिथ्यादृष्टिस्तु प्रत्यन्ते-सन्त्येविति, ततश्चा-
परकृपाणामि तेषां सत्यप्रसङ्गः । तथा न सत्यवर्था इह, तदस-
त्यं कर्थाश्चिदिति विज्ञापित्वयं भवति, परकृपेणेत्यर्थः । स तु-
न सन्त्येविति प्रत्यन्ते, तथा च तत्प्रतिषेधकचनस्याप्यनायः
प्रसज्यतीति । अथवा शशयविषयाणामो न सन्तीत्यतत्कथ-
ञ्चिदिति विज्ञापयामि, यतस्ते शशमस्तकादिसमवेततथैव
न सन्ति; न तु शशश्च विषाणं च, शशस्य वा विषाणं, ह्य-
पूर्वेनवप्रदणान्प्रकृया शशविषयाण्यत्र, तद्वपतयाऽपि न सन्तीति,
तदेव सदसतोः कथाश्चिद्वित्यस्य विज्ञापयत्याननुपपत्तमाह ।
तस्य ज्ञानमप्यवधार्यत्वेन कुस्तिरत्यादज्ञानमेव । आह च-
"जह दुव्वयणमवयणं, कुञ्चयसोअमसोअमसवेव । जण्णं त-
अण्णं पि ह्व, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं" ॥ १ ॥ इति । तथा मिथ्यादृष्टे-
रुच्यवसायो न ज्ञानम्, जवहत्तुत्वात्, मिथ्यात्वादिच्च । तथा
यद्वेत्तुपद्वेषधरुमस्तचसथाज्ञानफलस्य सत्किर्यालक्षणभावा-
दन्त्येव स्थहस्तगतरीपप्रकाशवदिति । आह च-"सदस-
विलेसणाथो, अवेदेक जदधिपश्रोत्तमभाओ । नाणफह्णाजा-
थो, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं" ॥ २ ॥ इति । स्था० २ ग०
५ उ० । ४० । आ० १० । "अज्ञानं जयंतमच्छपरिदृश्येणहृत्सिदि-
यमहमगरतुरियचरियकोल्लुभमानगणन्तचवसच्चैवल्लसंतपु-
मंतजलसमूहं " अज्ञानान्धुव अमंतो मत्त्याः (परिदृश्यं ति)
दृक्का यत्र स तथा । अग्निभूतान्यनुपशक्तानि यानिन्धियाणि
तान्येव महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि श्रीमिाणि चरितानि
वेष्टितानि तैः (कोल्लुभमाणे ति) पृथं कुञ्चयमाणो न्युत्थिव
नृत्यंश्च चालानां मध्यं चञ्चलश्चास्तिप्रत्येन कसंश्च स्थाना-
नगरमगनेन सृणंश्च आर्यन्द जलसमूहो जलसंघातः, अन्त्यत्र
जलसमूहो यत्र स तथा तं, संसारमिति भावः । श्री० ।
मञ्जुः कुस्त्याप्येत्वात् कुत्सितं ज्ञानमज्ञानमिति । अतु० । ज्ञाना-
वरणकर्मोदयजनितं, आण० ४ अ० । आसमपरिणामे, दर्श० ।

मिथ्यात्वमिरोपच्युतदृष्टेर्जीवस्य विपर्यस्ते बोधे, विशे० ।
उक्त० । अज्ञानमनवयोऽयः । उक्त० ३ अ० । मुदताकपे, आतु० । ज्ञाना-
भावे मिथ्यादृष्टिकुतीर्यिकापाम्बेस्थादिसंबन्धिशास्त्रावगाहाना-
त्मकं, दर्श० । उक्त० । स० । संशयविपर्ययविरूपे मिथ्याज्ञाने, ज्ञा०
२१ ज्ञा० । जीवाजीविवेकरहिते, अष्ट० २२ अष्ट० । सद्बोधा-
भावे, दर्श० । कुशास्त्रसंस्कारे, श्री० । कुत्सितत्वं च मिथ्यात्व-
संचालितत्वात् । उक्तं च-"आविलेसिया मद्दक्षिय, सम्मद्विट्ठिस्स
ता मद्दण्णं" । महमण्णाणं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुय पि एम्व " ॥
ज० ८ श० २ उ० ।

तश्च अज्ञानं मिथ्यावमिति उच्यते—
असाणो तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-देसऽएणाणो, सन्वऽ-
साणो, जावऽएणाणो ।

(असाणेत्यादि) ज्ञानं हि रूच्यपर्योषविषयो बोधः, तन्निषेधोऽ-
ज्ञानं, तत्र विवक्षितरूप्यं देशतो यदा न जानाति तदा देशाज्ञा-
नम्, अकारप्रत्येषात् । यदा च सर्वतो न जानाति तदा सर्वा-
ज्ञानम् । यदा विवक्षितपर्यायतो न जानाति तदा भायाज्ञानमि-
ति । अथवा देशादिज्ञानमपि मिथ्यात्वविशिष्टमज्ञानमेवेति ।
अकारप्रत्येषं विनाऽपि न दोष इति । स्था० ३ ग० ३ उ० ।

अएणाणं णं भंते । इहविहे पण्णत्ते । गोयमा । तिविहे
पण्णत्ते । तं जहा-मद्दण्णत्ते सुयअएणाणो विजंणनाणो ।
से किं तं मद्दण्णत्तेणो ? मद्दण्णत्तेणो चउविहे पण्णत्ते ।
तं जहा-उगहंते० जाव धारणा । से किं तं उगहंते । उगहंते
दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अत्थ्याग्गहे य वंजणोग्गहे य । एवं
जहेव आभिणिणोत्थिणोत्थिणं तदेव, एणंरं पण्णत्थिवज्जंजाव
नोदंदिपधाणा, सेत्त धारणा । सेत्त मद्दण्णत्ते । से किं तं
सुयअसाणो ? सुयअसाणं जं एमं असाणाणिहं मिच्छादि-
द्विपहंति जहा नंदिप जाव चचारि य वेदा संगोवंगा । सेत्तं
सुयअसाणाणो । मे किं तं विभंणनाणो ? विभंणनाणो अणे-
गविहे पण्णत्ते । तं जहा-गामसंतिपे नगरसंतिपे जाव ससि-
वेमसंतिपे दीवसंतिपे समुद्धंसंतिपे वाससंतिपे वामदरसं-
तिपे पव्वयसंतिपे रक्करसंतिपे सून्नसंतिपे ह्ययसंतिपे गय-
संतिपे नरसंतिपे किंनरसंतिपे किंपुरिससंतिपे महोरग-
संतिपे मंथुवसंतिपे उसमसंतिपे पधुमपयविहगवानरणा-
णासंठाणसंतिपे पण्णत्ते । ज० ८ श० ५ उ० ।

मोहविजुग्मंसे, सू० १ अ० ३ उ० । आचा० । ज्ञायते
सुत्समनेनति ज्ञाने भुताक्यम्, तद्भावात्ऽज्ञानम् । प्रथ० ७६
ज्ञा० । अज्ञाने-प्रकपे गवेः प्रज्ञाऽभावे दैन्यचित्तनमित्युभयथा ।
उक्त० २ अ० । अज्ञानभावाऽभावाभ्यां द्विधा सांध्यं एकवि-
शे परीद्वेदने अज्ञानपरीद्वेदश्च सांध्य एव, तं तु कर्मविकाक-
जादज्ञानादुज्जितं । आच० ४ अ० । तदुक्तम्-"विरमस्तपसां-
पेतः, ह्युग्रस्थाऽहं तथापि च । धर्मादि साक्षाद्वैवेके, मैत्रं
स्यात् क्रमकालविद" ॥ १ ॥ आच० १ अ० ।

एतदेव सूत्रकृत प्रपञ्चियुक्तावद्भावपकमङ्गीकृत्याह—
निरद्वगमि विरभो, मेहुणाओ सुसंयुदो ।

जो सकलं नाजिजाणामि, धर्मं कदापि पावमं ॥

अर्थः प्रयोजनं, तदभावे निरर्थं, तत्रैव निरर्थकं, तस्मिन् सति विरते निवृत्तः, कस्मात् ? , मिथुनस्य भावः कर्म वा भेषुनमत्रह्य, तस्मात् , आश्रयान्तरविरतावपि यदर्थोपादानं तस्यैवातिशु-
च्छिद्वेदुत्तया वृत्त्यजत्वात् । उक्तं हि— " इयोरवस्था कामा इमे " इत्यादि । सुदु संवृतः सुसंभूतः इत्यस्यसंज्ञेयं, यः साक्षादिति परिस्फुटं नाभिजातानि, धर्मं वस्तुस्वरूपं (कदापि न सि-
न्धुत्सोपात्कल्याणं शुभं, पापकं वा तद्विपरीतं कल्याणं गम्यमानत्वात् । यथा—धर्ममाचारं, कल्याण्यन्तरीककृतया मोक्षः । तमानयति प्रापयतीति कल्याणो भुक्तिहेतुः, तं, पापकं वा नरकादिहेतुः । अयमाशयः—यदि विरतेो कश्चिदर्थः सिद्ध्यर्थं समाह्वानं प्रवेत् । उच्यते ३ अ० । " अहानं खलु कष्टं, क्रोधादि न्योऽपि सर्वपापस्थः । अर्थं हितमदितं वा, न वेत्ति येनावृत्तो लोकः " ॥१॥ उच्यते २ अ० । आच० । आच० । दर्श० " नातः परमदं मन्यं, जगतीं ह्यः साकारणम् । यथाऽहानमहाशरीरं, वृत्तनः सर्वदेहिनाम् ॥१॥ आच० । १ भू० ३ अ० ३ इ० । " अज्ञानं वस्तु जहासु—नं सु-
हृत् कर्मदोषियत् । ज्ञानिनां ज्ञानमन्वीक्ष्य, यथैवेत्यप्या न तु " ॥१॥ आ० म० द्वि० । १० । " अज्ञानाणो रिपुः अज्ञानं, पाणिणं णव विज्ञति । एषोः सखिरियातीयं, अणत्या विस्सतो मुदा " ॥ १॥ प० सु० ५ सू० ।

कदाचिन्नामान्यचर्यैव न फलावाप्तिरत आह—

तवीवहाणमादाय, पकिमं पकिवज्ज उ ।

एवं पि विहरओ मे, उउमं न नियद्दु ॥

(पाईटीका)

तपो जद्रमहामहादि, उपधानमागमोपचाररूपमाचम्लादि, आ-
दाय स्वीकृत्य, चरिन्वति यावत् । प्रतिमां मांतिक्ष्यादि (निष्प्रति-
मां,) (पकिवज्ज उ उति हति प्रतिपथाङ्गो ह्यत् । पञ्चतं च— " पडिमं पडिपडिजितो सि " प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्याऽप्युपगच्छति । एवम-
पि विशेषचर्यायाऽपि, आस्तं सामान्यचर्येयस्यैवशाब्दायः । विह-
रतो निष्प्रतिपद्यन्वेनानियतं चिचरतः, उद्दपनीति उद्ध हाना-
चरणधिकारम्, न निवचते नपैतीति भिक्कुभिर्न (वल्लयविर्युस-
रेण संवच्यः । अज्ञानाभावापेक्षे तु समस्तशास्त्रार्थनिकषोपलक-
रुपतायामपि न दुर्पोऽऽज्ञातमानसो भवेत्, किंतु पूर्वपुरुषभि-
दानां विद्वानातिशयसागरानन्त्यं भुव्या सम्यतं पुरुषाः कथं
वच्युक्त्वा मन्थन्वति । परित्राण्यथर् विगलितावस्यैः सखेवं
भावयन्तं " निरद्वयं " सूत्रद्वयम् । अहङ्गरगमनिका सैव, नवरं (नि-
रुच्यमि सि) निरर्थकस्य प्रकारमाशङ्क्यं परंती, भेषुनात्सुसं-
भूतः सखिच्छन्मा, सत्योऽहं यः साक्षात्समकं नाभिजातानि,
धर्मं कस्यापि पापकं वा । अयमभिप्रायः " जे एवं जार्णति, से
सव्यं जार्णति, जे सव्यं जार्णइ, से एवं जार्णइ " इत्यऽऽगमात् ।
उच्यते ५६ मंक्रमपि धर्मं वस्तुस्वरूपं न तस्यतो वेष्टि, ततः सा-
क्षादायस्वसाधयत्रासि चेत् न विज्ञानमस्ति, किमनोऽपि मुकु-
लितवस्तुस्वरूपपरिज्ञानतोऽप्यलपेनेन भावः । तथा नप उपधा-
नादिभिरप्युपक्रमणदेतुभिरुपक्रमित्युपशये उच्यते दारुणं विरि-
ति निष्प्रतिपत्तिकाः किल ममाद्द्वारावसरं हति सुखद्वयायः ।

साम्प्रतमद्वेष्या पुनः सुखदात्मद्वीकृत्यं प्रकृतसुधोपहित-
मज्ञानसज्जायं उदाहरणमाह—

परिन्तो बायणार्णं, गंगाकुलेऽपि घयसमदाय ।

संवचरोहं हिचक्र, वारसयं असंखयज्जयणं ॥

(पाईटीका)

परितप्तः श्लिषो वाचनया गङ्गाकुलेऽपि ता वराकटा याः संवन्-
रैरुपतिं ह्यदशभिरसंस्कृतपद्यनामिति गाथाकारार्थः । भावार्थ-
स्तु वृत्तसंप्रदायादयस्यैः । स चायम—गङ्गातीरं श्रो भ्रातरं वैरा-
हाहं । कां श्रो । तथन्तो, तत्रैकां विद्वान् जातः, द्वितीयस्तु सूक्ष्मं । यो
विद्वान् श्रो । अनेकाशय्याध्यायनादिमां श्लिष एवं विलयति स्म-
श्रयो ! धन्यायं मे भ्राता यः सुखेन तिष्ठति, निद्रादिकमयसं-
कुर्वन्नस्ति । अहं तु शिष्याध्यायनादिकृष्टे पतितोऽस्मीति वि-
ल्लयन् काव्यमिदं वकार—

" भूयैवं हि सखे ! ममापि रुचिर्न तस्मिन् यदष्टौ गुणाः,
निश्चिन्तोऽपि वदुभोजनो २ऽवप्रमाना ३ नं कं । दिवा शायकः ४ ॥
कार्याकार्यविचारणोऽवधिगो ५ मत्तानामानि समः ६,
प्रायशोऽऽमयवर्जितो ७ उद्ववपु ८ सूक्ष्मः सुखजीवितं " ॥१॥

परं नेवं विनयति स्म—

" नानाशास्त्रसुभाषितान्मूनसैः श्रोत्रोत्सवं कुर्वन्तो,
नेवं यान्ति दिनांनं परिगतजनव्यायामाश्रितानामाह ।
तेषां जन्म च जायति च सफलं तैरेव भूभूषिता,
शेषैः किं पशुवद्विचरहितैर्भूमाभूतैरेव " ॥ २ ॥

एवं परिद्वन्तुगान् आचिन्तयन् सूक्ष्मगुणांश्चासतोऽपि विन-
यन् ज्ञानावगणयो कमे वद्धा दिवं गतः । नतद्व्युतो भरतसंज्ञ
आभीरपुत्रा जातः । क्रमण परिगोतः । तस्य पुत्रिका जाता ।
सा रूपयती । अन्त्या अनेक आभीरा घृतभृत्शकटाः कांश्चि-
गरे प्रति गच्छन्ति स्म, असावपि तस्मात् घृतभृत् शकटं सू-
हीत्या चलिन्तः । मांते सा पुत्री शकटयन्तं करानि स्म । नतस्य-
दप्यमाहं हेतुर्गर्भो पुत्रेः अथयं कोऽनानि शकटानि नाति
सर्वाणि भद्रानि । नादृशं संसारस्वरूपं दृष्ट्वा संजातवैराग्यः स
आभीरः तां पुत्रीमुद्राह दौर्ज्ञां जहाह । उचराययनयांगोऽह-
नायसरे अन्वययाऽध्ययनोद्देशे कृते तस्य आभीरप्रसोऽज्ञाना-
चरणोऽद्यो जातः, न तदध्ययनमायाति स्म, आचाभ्रान्यव क-
रोति, उच्चैःस्वरस्य नदध्ययननिर्घोषं करोति स्म । एवञ्च कुर्वन्त-
स्तस्य द्वादशयुवप्रान्तं अज्ञानपरीषहं सभ्यगपिसहमानस्य
केवलज्ञानं समुपगम्य । एवमज्ञानपरीषहं आभीरस्य पुत्रकथा ।
प्रतिपक्षे च भीमाद्वारम् । तथाऽप्यनल्पसूक्ष्मविमुदाहरणम्—

इमं च एरिपं तं च, तारिसं पेच्छ केरिसं जायं ? ।

इय भणुइ प्लनदी, सभाययवं गतो संतो ।

(पाईटीका)

इदं चेति द्रव्यम्, ईश्वरमिति स्मभूमूलस्थितमतिप्रभुत्वं
च, अतिशयज्ञानित्वेन तस्य हृदि विपरिवर्त्तमानतया द्रव्यस्य-
द्विमानेदृशः (नथेति) नस्याज्ञानतः परिभ्रमसं, तादृशमिति
विप्रकृतदुर्गवेशान्नपरिवर्त्तयस्य, कीदृशं कन सदृशं जातम् ? ।
न कनापि, नाहं कश्चिद्दु गृहे सति इत्येव द्रव्यार्थी बहि-
र्भ्रान्मनोति भावः । इतोऽप्येवं भणति स्थूलमद्रः स्वजातिवि-
ल्लजातिरस्यन्नुद्वृष्टदृष्टे गतः सन्निति गाथायः ।

संप्रदायश्चात्र—यस्य च हानाजोषं स्यात् तेनापि ज्ञानपरी-
षहो न मोहः । तत्रार्थे स्थूलमद्रकथा—
स्थूलमद्रकथामि विहरन् बालमिभ्रजिज्जयं गतः, तत्र तमद्वृ-

तज्जायौ पृथक्वाङ्-कते पतिगेतः?। सा प्राह-परदेशे धनाजनायै
 यमोऽस्ति । ततः स्वामी तदुग्रहस्तम्भमूलाश्वितं निधिं पर्यव-
 स्तम्भमभिमुखं हस्तं कृत्वा " इदमीश्वरम्, स च तादृशः " इति
 भणित्वा गतः । ततः कालान्तरे शुक्रागतस्य विप्रस्य तज्जायया
 शूलभद्रस्वामिचक्रो ज्ञापितम् । तेन परिउत्तरे ज्ञातव्य-अत्रा-
 बरयं किञ्चिदस्ति । ततः क्षान्तिः स्तम्भः लघो निधिः । एवं
 शूलभद्रेण ज्ञानपरांयहो न सोढः । शेषसाधुमिरपीहयं न
 कार्यम् । उक्तं ३ अ० । (विषयान्तरं 'परीसह' शब्दे वक्ष्यते)
 शूलभद्रकायनाटकादिलौकिकश्रुतरूपे पापशुभप्रसङ्गे, १५० =
 डा० । भावशुक्रप्रतिस्वाविशेषे, १५० । तत्त्वं च-

अश्वरपमाएणं, अंसंपउचत्स नो पउचत्स ।

इरियाइसु च्युत्ये, अश्वते एयमाणायं ॥

पञ्चानां प्रमादात्मन्यनेणापि प्रमादेनात्मन्युक्तस्वाक्रोमीकृत-
 स्यात् एव र्थादिविपु समतिपु नृताये न तत्त्वतां धर्तमानस्य यद्भ-
 वनमेतद्ज्ञानम् । १५० । ३० । कुशास्त्रसंस्कारे च, १०० ।
 निर्हाने (ज्ञानरहिते), वि० । अ० १ श० ६ उ० ।

अरणाणश्रुओ-अज्ञानतस्-अव्य० । ज्ञानावरणात्कटतयेत्यर्थे,
 दश० १ चू० ।

आरणाणकिरिया-अज्ञानक्रिया-श्री० । ५ त० । अज्ञानान्
 क्रियमाणयोश्चैष्टकमयोः, स्या० ३ ग्रा० ३ उ० । (असाध्य-
 किरिया तिबिहा ' किरिया ' शब्दे वक्ष्यते)

असाणणिविचि-अज्ञाननिर्दि-श्री० । अज्ञानस्य निर्वृत्ती, अ०
 " कश्चिदा शं भंने ! असाणणिवचनी पणुत्ता ? गोयमा ! तिबिहा
 अरणाणणिवचनी पणुत्ता । तं जहा-महअरणाणणिवचनी, सुयअ-
 रणाणणिवचनी, विनेयणाणणिवचनी । एवं जस्स जइ जाय धमा-
 णया " । ज० १६ श० ८ उ० ।

अरणाणणितग-अज्ञानत्रिक-न० । मन्त्राण्डः कुंसायां, मिथ्या-
 ज्ञानानामित्यर्थः । तेषां त्रिकं अज्ञानत्रिकम् । मिथ्याज्ञानादित्यर्थे,
 प० सं० १ डा० ।

आरणाणणदोम-अज्ञानदोष-पुं० । अज्ञानान्कुशास्त्रसंस्काराद् हिं-
 सादिवधमस्वरूपेषु नरकाधिकारणेषु धर्मेभुज्ज्ञानेऽनुदयायै या
 प्रवृत्तिसंज्ञकणो दोषोऽज्ञानदोषः । अथवा उक्तलक्षणमज्ञानमेव
 दोषोऽज्ञानदोष इति । स्या० ४ ग्रा० १ उ० । रीड्यानस्य
 लक्षणभेदे, अ० २५ श० ७ उ० । श्री० । प्रमाददोषं, आचा०
 १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ग० ।

असाणपरिसह-अज्ञानपरिषह-पुं० । " ज्ञानचारित्र्यकोऽस्मि,
 जघस्थोऽहं तथापि हि । इत्यज्ञानं विग्रहेन, ज्ञानस्य कमलो जनेत् " ।
 ॥ १ ॥ इति संख्येय परीषहभेदे, ४०३ अ० । प्रव० । (" असाध्य ")
 शब्देऽत्रैव भागे ४८८ पुष्टेऽस्य तत्प्रमावेदिनम् ।

असाणपरिसहविजय-अज्ञानपरिषहविजय-पुं० । अज्ञोऽयं
 पशुसमो नवेति किञ्चिद्विद्येयमधिकेपवचनं सम्यक् सहमान-
 स्य परमदुष्करतपोऽनुज्ञाननिरनस्य नित्यमप्रसक्तं तस्यो न मेऽ-
 ष्याऽपि ज्ञानानिशायाः समुपघाते इति चिन्तने, पञ्च० १३ विष० ।

असाणणफल-अज्ञानफल-श्री० । अज्ञानमनवबोधस्तत्फलानि,
 ज्ञानावरणकारणीत्यर्थः । धर्माचार्यगुरुशुभनिन्दारूपेषु ज्ञानावर-
 णकर्मसु, उक्तं २ अ० ।

असाणया-अज्ञानता-श्री० । अज्ञानो निर्हानस्तस्य भावो-
 ऽज्ञानता । स्वर्कणेषानुपक्रमे, अ० १ श० ६ उ० ।

अरणाणणकि-अज्ञानस्यवि-श्री० । आमानोऽज्ञानस्य ज्ञाना-
 ऽऽवरणीयोऽतो लानं, " असाणणस्यो नो जेतः कश्चिदा पणुत्ता
 ? गोयमा ! तिबिहा पणुत्ता । तं जहा-महअसाणणणलकी, सुयअसा-
 णणलकी, विनेयणाणणलकी " अ० ८ श० २ उ० ।

असाणणवाइ (ए)-अज्ञानवादिनं-त्रि० । सति मत्यादिके
 हेयोपादेयप्रदर्शके ज्ञानपञ्चके अज्ञानमेव भेद्य इत्येवं वदति
 अज्ञानिकं, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अरणाणणसत्य-अज्ञानशास्त्र-न० । भारतकाव्यनाटकादौ
 लौकिकश्रुते, स्या० ११ ग्रा० ।

अरणाणणि (ए)-अज्ञानिन्-त्रि० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विघते येषां
 तेऽज्ञानिनः । अज्ञानमेव भेद्य इति वदन्तु वादिभेदेषु,
 सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । ज्ञाननिवृत्तवादिषु, " असाणो असाणं वि-
 णइत्ता वणइत्तवादि " । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । न ज्ञानिनोऽ-
 ज्ञानिनः । ननुगृह्यः कुंसायाम् । मिथ्याज्ञानेषु, पं० सं० १ डा० ।
 " असाणो कम्मं अयांति वडुयाहिं वासकोमीहिं, तज्जाणो तिहिं
 शुचो खवेइ ऊत्तासमिण्ण " उक्तं १ अ० । अरणाणो किं काही,
 किवा पाही वेयपावण " इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

असा(त्रा)णिय-अज्ञानिन्-पुं० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विघते येषां
 तेऽज्ञानिनः । अज्ञानशब्दस्यांतरपदत्वाद्वा वा मत्वर्थीयः । यथा-गौ-
 रखरत्नद्वयमिति । प्राकृते स्वार्थिकः कः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।
 अज्ञानिक-पुं० । अज्ञानेन चरन्तीति अज्ञानिकाः । अज्ञानं
 वा प्रयोजनं येषां ते अज्ञानिकाः । अत्र० ६ अ० । सम्यग्ज्ञान-
 रहितेषु अज्ञानमेव भेद्य इत्येवं वादितु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । ३० ।

तन्मते चेत्यमुपायत्यसाइ सूत्रकत्-

अरणाणिया ता कुमदा वि संता ;

अमंथुया णो वितिभिउत्त तिन्ना ।

अकोविया अाहु अकोविपिहिं ;

अरणाणुविइत्तु मुंसं वपेति ॥ २ ॥

ते चाज्ञानिकाः किञ्च वयं कुशलाः, इत्येवं वादिनोऽपि
 स्वतोऽसंस्तुता अज्ञानमेव भेद्य इत्येवंवादिनया असंबन्धाः । असं-
 स्तुतत्वाच्च विचारिकसा विचविषुनिश्चितज्ञान्तिः संश्रिति-
 स्तां न तीर्णा नातिप्रामाः । तथाहि-ते ऊचुः य एते ज्ञानिनस्तं
 परस्परकिञ्चवादिताया असंबन्धा असंस्तुतत्वाच्च विचारिकसा,
 न यथाधेयवादिनां ज्ञानिन् । तथाहि-एके सर्वगतमात्मानं वदन्ति ।
 तथाऽन्ये असर्वगतम् । अपरं अज्ञानप्रवमात्रवः । किंचन हयामाक-
 तन्तुलमात्रम् । अन्ये सूर्तमूर्ते हृदयमभयवर्तिनं ललाटव्यवस्थि-
 तमित्याद्यात्मपदाथ एव सर्वपदाधिपुरःसरे तेषां निकटाकृत्या ।
 नचातिशयवादिनां किञ्चिदस्तीति यथाकथं प्रमाणिकियेत् । नचासौ
 विद्यमानोऽनुपपन्नस्यतेऽर्थादस्तिगः । " नासवेहः सर्वे ज्ञानाति " इति
 वचनात् । तज्जाणोक्कम् " सर्वज्ञोऽसावतिष्ठान्तत्पत्तालेऽपि
 बुजुत्तुज्जि । तज्जाणोक्किये ज्ञानान्-शुच्येविकायते कथम् ? " । न च
 तस्य सम्यक् तज्जायपरिज्ञानाभावात्संज्ञा, संज्ञाभावाच्चे-
 तरेतराभयत्वात् । तथाहि-न विविधपरिज्ञानमूले तद्व्याप्युप-

यपरिक्रान्तम्, उपायमन्तरेण न बोधयेत्यस्य विविधपरिक्रान्तस्याबा-
 सिरिति । न च ज्ञानं हेतुस्य स्वकथं परिक्रमेणुत्तमम् । तथाहि-
 गत्सिन्मन्युपलभ्यते, तस्यावागमप्रपञ्जतिर्भोग्यम् । तथावागमा-
 यत्स्य बोधलभ्यतेनैतद्योगः, तैवैव ध्यवाद्यतयात् । अर्थांशभागस्यापि
 भागत्रयकल्पनात् तत्सर्वातीत्यभागेपरिक्रान्ततया परमाणुपर्य-
 वसानता, परमाणोक्तस्यानायिकप्रकृष्टवाद्वाच्यं नैतिनां नो-
 पलम्बित्वेति । तद्वयं सर्वज्ञस्याभावात्सर्वज्ञत्वञ्च यथावस्थि-
 तसत्त्वव्यवस्थापरिक्रान्तत्वंवादिनां च परस्परविरोधेन पदा-
 स्वरूपानुपगमात् यथोत्तरपरिक्रानिनां प्रमाद्वत्तां बहुतरदा-
 वसंभवाद्यज्ञानमेव श्रेयः । तथाहि-यद्यज्ञानवाक् कथाञ्चिदादिन
 शिरसि सङ्गमन्त, तथापि चित्तशुद्धये तथाविधश्रोतानुपपन्नं स्वा-
 दित्येवमज्ञानिन पदंवादिनः सन्तोऽसंख्या नवेदविधां चित्त-
 विस्तृतिं वित्तापी इति । तत्रैवैवादिनस्ते ब्रह्मानिका अर्थाविदा
 आतिपुत्राः-सत्यप्रकृतिकानाधिकारा इत्यवगतव्याः । तथाहि-यस्यै-
 रिति तत्र-ज्ञानवादिनः परस्परविरोधश्चेत्तथावादिता न यथाशय-
 विन इति सन्नञ्चतु असंस्कृतप्रणीतागमाञ्जुपगमवादिनामयथा-
 येषादिति च । न चाञ्जुपगमवादा एव चाध्यायै प्रकटव्यन्ते, सर्वे-
 क्रमणौतागमाञ्जुपगमवादिनां तु न कचित्परस्परतो विरोधः, स-
 र्वज्ञस्याभ्यव्याञ्जुपगमेति । तथाहि-प्रकृताऽश्रोताऽऽवरणत्वा
 रागद्वेषमोहानामनुकारणानामत्रावाह तद्वक्तव्यमयथार्थमित्येवं
 तत्प्रणीतामप्रवृत्तां न चिरोधवादिमिति । मनु च स्यादित्य, य-
 द्दि सर्वज्ञः कश्चित्स्यात्, नचासौ संभवतीत्युक्तं प्राक् ।
 सत्यप्रकृतम्, अयुक्तं तुक्तम् । तथाहि-यत्तावद्युक्तम्-न चासौ
 विद्यमानोऽन्युपलभ्यतेऽप्यवशिष्टिभिः तदयुक्तम् । यतो यथापि
 परचेतोऽस्मीनां दुरवस्थायात्सरागा वनिरागा इव चेष्टन्ते,
 वीतरागाः सारागा इव, इत्यतः प्रत्येकानुपलभ्याः, तथापि
 संज्ञवानुमानस्य सन्नावात्तत्राप्रकप्रमाणभावाच्च तदस्त्व-
 मानिवायेव । संज्ञवानुमानं विद्वद्-व्याकरणादिना साक्षात्प्रा-
 सेन संस्कृत्यभावायाः प्रकृता ज्ञानातिशयो हेतुवगमं प्रत्यु-
 पलभ्यः, तदत्र कश्चित्प्राभूताऽप्यास्यशास्त्रसर्वज्ञोऽपि स्वा-
 दिति । न च तदज्ञावसाधकं प्रमाणमस्ति । तथाहि-न ता-
 वद्वाग्दर्शिनः प्रत्येकं सर्वज्ञानाच्च साधयितुं शक्यः । तस्य
 हि नञ्जानाहेत्यविक्रान्तशयनत्वात् । कश्चिन्मन्याञ्जुपगमं च सये-
 क्तवाऽऽपत्तिरिति । नाप्यनुमानं, तद्व्यञ्जिचारिलिङ्गजाया-
 दिति । नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः सात्थ्येन, तस्य साहचर्यबलेन
 प्रकृतेः । न च सर्वज्ञानाय सात्थ्यं तादृशेषु साहचर्यमस्ति,
 येनासौ सिध्यतीति । नाप्यधाराया, तस्याः अयज्ञादिप्रमा-
 णपूर्वकत्वेन प्रकृतेः । प्रत्यज्ञादीनां च तस्याधिकृत्येनाप्रयत्नेमा-
 नात् तस्याप्यप्रकृतिः । नाप्यागमेन, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि
 दर्शनात् । न प्रमाणवञ्चकाराभावेपेलाभावेन सर्वज्ञाभावः
 सिध्यति । तथाहि-सर्वत्र सर्वदा न संभवति, तद्व्याहकप्र-
 माणमित्येनदर्शान्दर्शिनो वक्तुं न युज्यते, तेन हि देवाकालविप्र-
 कृष्टानां पुरुषाणां याज्ञिकानं तस्य प्रदत्तमुशक्यमत्वात्, तद्व्यहण
 या तस्यैव सर्वज्ञत्वाऽऽपत्तेः । न चाद्योऽर्थिनां ज्ञानं निवर्तमानं
 सर्वज्ञाभावं भावयति, तस्याऽप्यपेक्यत्वात् । न चाध्यापकव्या-
 बूधा पदाध्याहृतिर्बुक्तिः । न च वस्तुस्मर्यावज्ञानरूपो भावः
 सर्वज्ञाभावसाधनावाहकः, वस्तुस्मर्यसर्वज्ञोयैरेकज्ञानसंसर्गो-
 नित्यभावात्वात् । तद्वयं सर्वज्ञाव्यक्तकामाभावात्संज्ञवानुमा-
 नस्य च प्रतिपादितत्वाद्दस्ति सर्वज्ञः, तद्व्यापकत्वाच्चान्युपगमा-
 ष्व मत्तमेदर्शोः दूरापासेव इति । तथाहि-तद्व्यापकतागमाञ्जु-

पगमवादिनामेकवाक्यतया शरीरमात्रस्यापि संसारोत्साऽस्ति,
 तत्रैव तद्व्यापकस्येः । इति इतरतःस्यदोषश्चात्र नावतरस्ये ।
 यतोऽन्यस्यमानायाः प्रकृता ज्ञानातिशयः स्वात्मव्यपि वृष्टो, न
 च इदंऽन्युपपत्तेर्नामिति । यद्व्यतिहितम्-तद्यथा न च ज्ञानं ज्ञे-
 यस्य स्वकारुषं परिच्छेद्युत्तमम्, सर्वत्रावागमिनेत्येवथामात्सर्वा-
 ऽऽपत्तेः।यभागस्य च परमाणुव्यवस्थातन्त्रियत्यादित्येतद्वि-
 वाहकमत्रमेव । यतः सर्वज्ञानस्य देहाकालस्वप्नव्यवहृतितामा-
 मपि प्रहणाश्रयित्वं व्यधानसंभवः । अत्रोद्वेगिज्ञानस्याव्यवधि-
 व्यहारेणाऽव्यविति प्रकृतोर्नास्ति व्यधानस्य । न ह्यव्यधी
 स्वायथैयैवधीयत इति युक्तिःसंगतम् । अपि च-अज्ञान-
 मेव श्रेय इत्यत्राऽज्ञानमिति किमयं पर्युदासः ? आहोऽस्ति-
 त्वसत्यप्रतिषेधः ? । तत्र यदि ज्ञानाद्व्यवहृताऽप्यस्ति, ततः
 पर्युदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव समाश्रितं स्यात्, नाज्ञानवाद्
 इति । अथ ज्ञानं न प्रवर्तयित्वा, तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः,
 स च सर्वसामर्थ्यरहित इति कथं श्रेयानिति ? अपि च-अज्ञानं
 श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधे न ज्ञानं श्रेयो प्रवर्ततीति क्रियाप्रतिषेध
 एव कृतः स्यात् । एतच्चाप्युक्तवाचितम्, यतः सत्यप्रमाणार्थे
 परिच्छिद्य प्रवृत्तमानोऽर्थोऽर्थार्थी न विसर्वाद्यत इति । किञ्च-
 ब्रह्मानप्रमाद्वद्विः यादेन शिरःस्पर्शेनेऽपि स्वव्यप्यापवतां प-
 रिच्छिद्येवाज्ञानं श्रेय इत्युपगमव्यपते । एवं च सति प्रत्येक एव
 स्यादञ्जुपगमविरोधो नातुमानं प्रमाणमिति । तथा तद्वयं
 सर्वेषां तदज्ञानवादिनाऽकारविदा अर्थापदेशं प्रत्यनिपुणाः, स्व-
 तोऽकारविद्येवैव स्वमिच्छित्तया, आहुः कथितवन्तः । आह-
 सत्यवैक्यवचनं सूत्रं कृतमिति । शोचया अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः ।
 अविज्ञापरिचितं कथं न यातोऽत्येवं यतस्तेऽञ्जुपगमवन्ति ।
 तथा ये च भागमसत्तुमादयोऽस्पष्टविज्ञाना प्रकल्पका इत्येव-
 मञ्जुपगमं कुर्वन्ति, ते सर्वेऽप्यकारविदा वृष्टव्या इति । तथाऽज्ञा-
 नपक्षसमाश्रयणात्तद्व्याप्यमित्येव ज्ञापनाभ्यां ते सदा वदन्ति,
 अनुविचिन्त्य भाषणे यतो ज्ञाने सति भवति, तस्युपेक्यावच
 सत्यवाद्स्थानो ज्ञानमञ्जुपगमद्विबुक्तिव्य भाषणाभावः, त-
 द्भावाच्च तेषां मृषावादिवमिति ॥ २ ॥ सूत्रं १ सु० १२ अ०
 इति दर्शिनं सद्गुणमज्ञानिनां मतम् । अथ कियत्तस्ते इति
 दर्शयति निरुक्तिरुत्त-

आणगाणिय सत्तद्धि

साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विधाकृतकार्यसिद्धिमिच्छतां
 ज्ञानं तु सदापि निष्कलम्, बहुतरात्म्यात्वेवमञ्जुपगमदनां
 ससपरिहरिनेनापानावगतव्याः-आवाज्जावाद्द्वि नथ पदाद्यर्थ-
 परिपाठ्या व्यवस्थाया तद्दोषमौ सप्तभङ्गकाः संस्कारा-सत्त्व,
 असत्त्व, सत्सत्त्व, अव्यक्तप्रपञ्च, सद्भवकव्यम्, अज्ञेयव्यक्तव्यम्,
 सद्भवकव्यमित्येति । अज्ञानात्प्रत्येक-सत्त्व-जीवः, को वेति ?
 किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥१॥ असत्त्व जीवः, को वेति ? किं वा तेन
 ज्ञातेन ? ॥२॥ सद्भव जीवः, को वेति ? किं वा तेन ज्ञातेन ?
 ॥३॥ अव्यक्तव्यो जीवः, को वेति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥४॥
 सद्भवकव्यो जीवः, को वेति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥५॥ असत्त्व-
 कव्यो जीवः, को वेति, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥६॥ सद्भवक-
 व्यो जीवः, को वेति, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥७॥ एवमजीवादिष्वपि
 सप्त भङ्गकाः । सर्वेषां मिलितास्त्रिधाः । तथाऽपरिच्छी क्वत्वां
 भङ्गकाः । तथाया-सती ज्ञापनाः, को वेति, किं वा तथा ज्ञात-
 या ? ॥१॥ असती भाषाव्यतिः, को वेति, किं वा तथा ज्ञातया ? ॥२॥
 सद्भवती भाषाव्यतिः, को वेति, किं वा तथा ज्ञातया ? ॥३॥ अव्यक्तव्य

भायोत्पत्तिः, को वेत्ति? किं वा तथा ज्ञातया । १४। सर्वेषु अपि सप्त-
षष्टिरित्युत्तरं भङ्गकत्रयमुपप्रमाणावधययोपेक्षामिह प्राबोत्पत्तौ न
संज्ञयतीति नोपम्यस्तम् । उक्तं च—“अहानिकवादिमतं, नव जी
वादीन् सदाद्विससविधात् । भावात्पत्तिः सद्सद्, द्वेषा याच्या
व को वेत्ति? ॥१॥ सू० १ ध्रु० २ अ० । पतञ्जलपुत्रप्रक्रोपाससप्त-
धर्तिर्वाति । तत्र सन्न जीव इति को वेत्ति? त्वस्यायमर्थः—न कस्यचि-
द्विशिष्टं ज्ञानमस्ति, योऽनीन्द्रियत्वात् जीवादीनवभोक्तव्यतः । न च
वैज्ञेयैः किञ्चिदफलमस्ति । तथाहि—यदि नित्यः सर्वगतोऽ-
मृतो ज्ञानाद्विद्युणोपेनः, पतद्गुणव्यतिरिक्तो वादि, ततः कतमस्य
पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति, तस्माद्ज्ञानमेव श्रेय इति । सू० १
ध्रु० १ अ० २ उ० । प्रव० । आवा० । सा० । आवा० । न० ।

साम्प्रतन्मानिमत्तं रूपयितुं दृष्टान्तमाह—

जविषो भिगा जहा संता, परित्राणेण वज्रिआ ।
असंकिपाई संकंति, संकिआई असंकिणो ॥ ६ ॥
परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।
अएणाणनयसंविग्गा, संपसिति तहिं तहिं ॥ ७ ॥
अहं तं पवेज्ज वज्जं, अहे वज्जस्स वा वए ।
सुवेज्ज पयपासाआं, तं तु मेदे ण देहई ॥ ८ ॥

(जविषो इत्यादि) यथा जविनो वेगवतः सन्तो मृगा आ-
रजयाः पशवः, परि समन्तात् आयते रत्नतीति परित्राणं, तेन
वज्रिणा रहिताः, परिआणुषिकत्वा इत्यर्थः । यदि वा परित्राणं
वागुरादिबन्धनं, तेन तर्जिता भयं गृहीताः सन्तो भयोद्भ्रान-
्तलोचनः सन् कुलीभृताः करण्यः सम्यक् विवेकविक्रमाः,
अशङ्कनीयानि कृत्पाशादिकरहितानि ज्ञानान्यशङ्काहोणि, ता-
न्येव शङ्कन्ते, अनयोपपत्तयेन गृहणन्ति । यानि पुनः शङ्कुऽ-
होणि, शङ्का संजाता येषु योग्यत्वात्तानि शङ्कितानि, शङ्काया-
प्यानि वागुरादीनि, तान्यशङ्कितस्तेषु शङ्कामकुषोपास्तत्र
तत्र पाशादिके संपर्ययन्ते इत्युच्यते संबन्धः ॥ ६ ॥

पुनरप्येतदेवाऽतिमेहाविष्करणायाह— [परिवाणीत्यादि]
परित्रायते इति परित्राणं तज्जातं येषु तानि, यथा परित्राणयु-
क्तान्येव शङ्कमाना अनिमृदत्वादिप्रयत्नयुक्तान्यपि भय-
मुत्पन्नमाणाः, पाशितानि पाशोपेतान्यनयोपादकानि, अशङ्कि-
नः, तेषु शङ्कामकुषोपाः सन्तोऽज्ञानानि भयं च [संविमं ति]
सम्यक् व्याप्ता वशीभूताः शङ्कनीयमशङ्कनीयं वा तत्राऽपरित्रा-
णोपेतं, पाशा घनयोपेतं वा, सत्यं कृतिविक्रमाऽज्ञानानाः, तत्र तत्र-
ाऽनर्थक्येन तेषु पाशावागुरादिके बन्धने, संपर्ययन्ते संसर्गमाये-
व, परित्राणानि, अयन्ते वासिते वा, गच्छन्तीत्युक्तं भवति । तदेवं
दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवादाद्येकान्ताऽज्ञानवादिनो दार्ष्टान्ति-
कत्वेनाऽऽवोच्यः । यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानकारणाभूताने-
केकान्तवादावज्ञिताः सर्वदोषविनिर्मुक्तं कालेश्वरकारणया-
दाऽपुनरगमेनाऽनाशङ्कनीयमेकान्तवादादमाशङ्कन्ति । शङ्कनीयं
च नियत्यज्ञानवादेकान्तं न शङ्कन्ते । तं एवंभूताः परित्रा-
णाईप्यनेकान्तवादे शङ्कां कुषोपा युक्तया घटमानकमनर्थ-
क्युल्लमेकान्तवादादशङ्कनीयत्वेन गृहणन्तोऽज्ञानावृत्तास्तेषु तेषु
कमन्धस्थानेषु संपर्ययन्ते ॥ ७ ॥

पूर्वदोषैरनुभवाचार्यो दोषान्तरवित्तस्या पुनरपि प्राक्तमह-
ष्टान्तमधिकृत्याह— [अहं तं पवेज्ज इत्यादि] अधानन्तरमसौ
मृगस्तत् [वज्रकर्मिति] वज्रं बन्धनाकारेण व्यवस्थितम् ।

वागुरादिकं वा बन्धनं, बन्धकत्वाद्बन्धमित्युच्यते । तदेवंभूतं
कृत्पाशादिकं बन्धनं यद्यसामुपरि प्लवत्-तद्बन्धस्तादृशक-
र्म्योपरि गच्छेत्, तस्य धर्मादेवंबन्धनस्याधो गच्छेत्त एवं
क्रियमाणोऽसौ मृगः, एते पाशः पदपाशा वागुरादिबन्धनं,
तस्मान्मुच्यन्ते । यदि वा पदं कृत्, पाशः प्रतीतः, ताच्यां मुच्यते ।
कथितं पदपाशादिति पठ्यते । आदिप्रहणाच्छताऽनमनाप्या-
दिकाः क्रिया गृह्यन्ते । एवं सन्तमपि तमनयोत्पादकं परिदर-
णोपायं मन्यो ज्ञोऽज्ञानावृत्तो न देहतीति न पश्यतीति ॥

कृत्पाशादिकं आपश्यन् यामवस्थाभाष्योति, तां दर्शयितुमाह-
अहिअप्पाऽहिचपएणाणे, विमभंतेणुवागते ।
स बन्धे पयपासेणं, तस्य पायं नियच्छइ ॥ ६ ॥
एवं तु समया एगे, भिच्छदिद्वि अणारिआ ।
असंकिआई संकंति, संकिआई असंकिणो ॥ १० ॥
असमपएणवण्णा जा सा, तं तु संकंति मूढमा ।
आरंजाई न संकंति, अविअत्ता अकोविआ ॥ ११ ॥
सव्वपणं विठकस्सं, सव्वं एणं विह्विअमा ।
अप्पात्तं अकम्मसे, पयमइ भिगे चुए ॥ १२ ॥

(अहीत्यादि) स मृगोऽहिताराम । तथाऽहितं प्रज्ञानं बोधो
यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । स चाहितप्रज्ञानः सन्न विषमानीन
कृत्पाशादियुक्तप्रदेशोपागतः । यदि वा विषमानीने कृत्पाशा-
दिके आत्मानमनुपातयेत् । तत्र बासी पतितो बद्ध तेन
कृत्पादिना कृत्पाशादानर्थक्येन हलान्तवशात्विशोच्यन् प्रातः, तत्र ब-
न्धने, घातं विनाशं, नियच्छानि प्राप्नोतीति ॥ ६ ॥

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्येत्सुत्रकार एव दार्ष्टान्तिकमज्ञानविषाकं
दर्शयितुमाह— (एवं तु इत्यादि) एषमिति यथा मृगा अ-
ज्ञानावृत्ता अनर्थमेकेशः प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे । एव-
मेव, अधमनाः केचित्, पाशगुरुविशेषाभिनः । एकं, न सर्वं ।
किं भूतास्ते इति दर्शयति—सिध्या विपरिता दृष्टियेषामज्ञानपा-
दिनां, नियतिवादिनां वा ते सिध्यादृष्टयः । तथा अनयोः
आराऽज्ञाताः सर्वदेयधर्मेषु इति आद्योः, न त्रायो ज्ञानयो
अज्ञानावृत्त्यादसदनुष्ठायिन इति यावत् । अज्ञानावृत्त्यं
च दर्शयति—अशङ्कितान्यशङ्कनीयानि सुधर्मोत्पन्नाऽनि,
शङ्कामाः, तथा शङ्कनीयान्यपयबहुलाभ्यान्तपक्षसमाभय-
णानि, अशङ्कितानि मृगा इव सुदृढसंस्तपशरामन्ते, यद्य-
दनर्थाय संपद्यन्ते इति ॥ १० ॥

शङ्कनीयाशङ्कनीयविषयोसमाह— (धम्मपएणवण्णेत्यादि) धर्मस्य
ज्ञान्यादिदृशकणोपेतस्य वा प्रज्ञापना प्रकृषणाः । तं निवृत्ति ।
तामेव शङ्कन्ते । असद्वर्मप्रकृषणपणमित्येवमव्यवस्थयन्ति । ये पुनः
पाशोपादानभूताः समारम्भान्साक्षात्कृन्ते किमिति । यतोऽप्येका
मुधाः सद्बन्धसिद्धिविक्रमाः, तथा अकोविदा अप्रजिताः
सच्चास्त्रावबोधरहिता इति ॥ ११ ॥

ते च अज्ञानावृत्ता यजानुचरिन्, तद्दर्शनायाह— (सव्वपण-
मित्यादि) सर्वत्रायाः यथासौ सत्त्वोक्तो लोभः, तं विधुय-
ति संबन्धः । तथा विविध उत्कर्षो गौं व्युत्कर्षो मान इत्यर्थः ।
तथा (एणं ति) माया, तां विधुय । तथा (अपत्तिसंति) कोषं
विधुय । कृपायविधुयन्ते च मोहनीयविधुयन्तमावोदत्तं भवति ।

तद्वपमाश्च दोषकर्माणाः प्रतिपादितो भवतीत्याह—[अकर्मा-
श्च इति] न विद्यते कर्माद्योऽस्त्येव्यकर्माद्याः । स च कर्माद्यो
विशिष्टकानाद् भवति, नान्नाशान्तिव्ये दृशीयति । एतन्मद्यो कर्मा-
भावलक्षणं, मृगः अज्ञानी (सुप/सि) त्यज्ज-। विज्ञाकेविपरिणा-
मन वा अस्मादेवंभूताद्योऽप्येव्येद्व्येद्व्येद्विदि ॥ १२ ॥

पुत्रोऽप्यज्ञानवादिनां शोभाभिधित्वाऽऽह-

जे एयं नाभिजाणति, मिच्छदिद्विं अणारिया ।

मिगा वा पासवच्छा ते, घायमेसतिऽगतसो ॥ १३ ॥

माहणा समणा एगे, सत्त्वे नाणं सयं वए ।

सत्त्वतोगे वि जे पाणा, न ते जाणंति किंचण ॥ १४ ॥

मिलक्खुं अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताऽणुभायए ।

खे हेउं से विजाणाइ, जामिअं अणुभायए ॥ १५ ॥

एवायसाधिया नाणं, वयंता वि सयं सयं ।

निच्छत्थं न जाणंति, मिन्नक्खुं च्च अयोहिया ॥ १६ ॥

(जे एयमित्यादि) ये अज्ञानपक्षे समाधिना एते कर्मरूपणोपाये
न जानन्ति । आत्मीयाऽसत्त्वमाहाऽऽप्रहप्रस्ता मिथ्याहृद्योऽनायो-
क्ते मृगा इव पाशावच्छा घाते विनाशमेव्यन्ति शास्त्रम्यन्त्येवयन्ति
वा, तयोपयक्रियाऽनुष्ठानात् । अज्ञानशो विच्छेदेत्येव्यज्ञानवादिनो
यताः ॥ १३ ॥ इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोद्दिनावधिषया स्वभाव-
यन्त्रिता वादिनो न चलिष्यन्तीति न-मनाविश्रामयाऽऽह—(मा-
हणा इत्यादि) एकं केचन, ब्राह्मणविशेषाः, तथा अयमणाः परिब्रा-
ह्मणविशेषाः, सर्वेऽप्येते, ज्ञान्येतेऽनेनेति ज्ञानम् । हेयोपायेद्योऽ-
ऽऽभिज्ञानं परस्परविरोधेन व्यभिचिन, स्वकर्ममयीषं, वदन्ति ।
न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वास्त्यानि । तस्मा-
दज्ञानमेव अयः, किं ज्ञानपरिकल्पनाया इत्येतदृशोयति-सर्वसं-
क्षयि होके, ये प्राणाः प्राणिनः, न ते किंचनापि सत्यगुणतवाचं
जानन्तीति विदन्तीति ॥ १४ ॥ यद्यपि तेषां शुरुपरम्पर्येण ज्ञानमा-
यातं, तदपि क्रिष्णसूत्रत्वादिवितयं न भवतीति हृष्टान्तद्वारेण ह-
रीयितुमाह—(मिलक्खुं अमिलक्खुस्सेत्यादि) यथा म्लेच्छ आये-
नावाऽऽनिज्ञाः, अस्तेचस्त्वायंस्ये म्लेच्छभावाऽऽनिज्ञस्य, यज्ञा-
चिन्, तदनुज्ञापते अनुवदति, केवलं न सत्यम् तदाप्रयाय वेचि-
यथाऽऽप्या विवक्षयाऽनेन भाविनमिति । न च हेतुं निमित्तं,
निश्चयनात्मी स्वेच्छस्तज्ञापितस्य ज्ञानाति, केवलं परमार्थसुख-
तज्ञापितमेयानुभायत इति ॥ १५ ॥ एवं हृष्टान्तं प्रदर्शयं शार्ङ्ग-
कोऽयं योजयितुमाह—(एवमित्यादि) यथा म्लेच्छाः, अस्तेच-
स्य परमार्थमज्ञानानः केवलं तज्ञापिताननुभायते, तथा अज्ञा-
नकाः सत्यमज्ञानरहिताः अमणा ब्राह्मणा वदन्ताऽपि स्वार्थं स्वो-
य ज्ञानं प्रमाण्येन परस्परविच्छाद्यं नापणात् । निश्चयार्थं न जान-
न्ति । तथापि-ने स्वकीयं तीर्थकं सर्वज्ञत्वेन निश्चयं तदुपदे-
शन क्रियासु प्रवर्तन्, न च सर्वज्ञविषया अर्थादशोनिना गहीतुं
शक्यते, " नासर्वज्ञः सर्वे जानातीति " न्यायात् । तथाचोक्तम्-
" सर्वज्ञोऽसामिति होत-सत्कालेऽपि बुधुःसुमिः । तज्ज्ञान-
कृत्यविज्ञान-रहितैरेग्यते कथम् ? " ॥ १ ॥ एवं परचेतोऽनुज्ञानं
दुरभ्यवत्तापददुरापरं यथावत्स्वविषयज्ञाया प्रहृष्टासंभवाऽऽवि-
कृत्यमज्ञानाना म्लेच्छवदपरोक्तम् अनुभायत एव । अर्थाधिका बो-
धरहिताः, केवलमियत्नाऽऽज्ञानमेव भावयति । एवं यावदावज्ञान-
नाऽयुगमस्नावत्सत्त्वद्वयत्तत्त्वात् । तथापि-योऽयगच्छन्
पादेन कश्चिन्मिः स्पृशति, तस्य मदानपरो भवति । य-

स्वनामोर्गेन स्पृशति तस्मै न कश्चिदपरत्पत्तीत्येवं आहानमेव
प्रधानभावमनुभवति, न तु ज्ञानमिति ॥ १६ ॥

एवमज्ञानवादिमतमनुपदेतानां तद्वदुपणयाह-

असाधियाणं वीमंसा, नाणे ण विनियच्छइ ।

अपणो य परं नासं, कुतो अन्नाणुसासिउं ? ॥ १७ ॥

वणे मूढे जहा जंतुं, मूढे णोयाणुगामिए ।

दो वि एए अकोविद्या, तिवंं सयं नियच्छइ ॥ १८ ॥

अंधो अंधं पइं णितो, दूरमपदाणु गच्छइ ।

आवज्जे उपपइं जंतुं, अदुवा पंयाणुगामिए ॥ १९ ॥

एवमेगे णियायइ, धम्मपाराइया वयं ।

अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥ २० ॥

(असाधियाणमित्यादि) न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञा-
निनः । अज्ञानशब्दसत्त्वरपदत्वाद् वा मत्वधीयः । यथा गौर-
व्वरवद्व्यति । यथा तेषामज्ञानिनामज्ञानमेव अयः, इत्ये-
वंवादिनां योऽयं विमर्शः पर्यलोचनात्मकः, मीमांसा वा
मातुं परिच्छेपुमिच्छा सा, अज्ञानेऽज्ञानावयवं (ण णियच्छइ)
न निश्चयं यच्छति नावतरति, न सुयुजं पर्यालोचनस्य ज्ञानक-
त्वादिति । येषां येषां मीमांसा, विमर्शो वा, किमेतज्ज्ञानं सत्य-
मुनाऽस्त्ययमिति ? यथा अज्ञानमेव अंधो, यथा यथा च ज्ञा-
नानिशयस्त्वया तथा च दोषानिरक इति, सोऽयमेवमूढो
विमर्शस्त्वो न बुध्यते । एवं नूनस्य पर्यालोचनस्य ज्ञानक-
त्वादिति । अपि च-तेऽज्ञानवादिन आत्मनोऽपि, परं प्रधानमज्ञान-
नवादिमिति, शास्त्रसुपरिच्छेदं, नालं न समर्थोः । तेषामज्ञानपक्ष-
माभयणेनाऽज्ञायादिति, कुतः पुनरेते स्वयमज्ञाः सन्तोऽप्यप-
दिश्यात्वेनोपगतानामज्ञानवादमुपदेष्टुमलं समर्थोः भवगुरिति ?
यद्व्युक्तम्-निश्चलत्वात् म्लेच्छानुभायणवत् सर्वमुपदेशादि-
कम् । तद्व्युक्तम् । यतोऽनुभायणमपि न ज्ञानमूढं कर्तुं शक्यते ।
तथा यद्व्युक्तम्-परचेतोऽनुज्ञानं दुःस्वभवात्तदज्ञानमेव अय इ-
ति । तद्व्युक्तम् । यतो भवतेवाज्ञानमेव अय इत्येवं परोपदेशदा-
नाऽप्युत्पन्नं परचेतोऽनुज्ञानस्याऽनुपगमः कृत इति । तथाऽऽ-
म्यैरप्यव्यथायि—"आकरिणिक्रैतेगत्या, अष्टप्रा भापितेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारिश्च, शुभ्रान्ऽनगतं मनः " ॥ १७ ॥ तद्वेत्तं त-
पस्विनाऽज्ञानिन आत्मनः परेषां च ज्ञानेन कर्तव्यं यथा
न समर्थस्तथा । हृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—(वणे इत्या-
दि) । वनेऽऽप्योः, यथा कश्चिन्मूढो जंतुः प्राणी, दिक्पारिच्छे-
दं कर्तुं समर्थः, स एवं नूनो यथा परं मूढमेव नेतारमनुच्छति,
तदा ह्यव्यक्तविकारो सत्यमज्ञानानुपूर्णा सन्ती, तीव्रसंज्ञा,
अज्ञानं गहनं, शोकं वा, नियच्छतो निश्चयं गच्छतः प्राणुतः,
अज्ञानानुभवति । एवं तेषामज्ञानवादिन आत्मार्थं मागे शोभन-
त्वेन निर्धारयन्तः परकीयं वाऽशोभनत्वेन जानानाः स्वयं
मूढाः सन्तः परानपि माहयन्तीति ॥ १८ ॥ "आसंक्षार्यो ह-
ष्टान्तान्तरमाह—(अंधो अंधमित्यादि) यथा अंधः स्व-
यमपरमं च पद्याने नयत्, दूरमपदानं विष्कित्तादुपध्वनः पर-
तरं गच्छति, तथाऽप्यमापद्यते अनुत्पद्यः । अथवा-परं प-
द्यानमनुगच्छेन्न विष्कित्तमेवाध्वानमनुयायादिति ॥ १९ ॥ एवं
हृष्टान्तं प्रसाय्य शार्ङ्गोऽनिकमर्थं दर्शयितुमाह—(एवमेगे निधा-
दि सि) । एवमिति पूर्वोक्तोऽप्युपदर्शने । एवं भावसूदा भा-
याऽप्योक्तेः आजीविकात्प, (नियायिदि सि) । नयोभोक्तः, सृ-

धर्मो वा, तदार्थिनस्तः किल वयं सधर्मात्तथा इत्येवं संशय प्रकृत्यायामुच्यतेः सन्तः पृथिव्यभ्युवनस्पर्शादिकथोपमद्वन्द्व । पवनपारब्धानादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तथासु स्वयमनुतिष्ठन्ति, अन्यथा चोपादिशक्ति, यथाभिप्रेतत्वात् साक्षात्तद्गृहयन्ति । अथ-वा तावन्मोक्षानावस्तयतेषु प्रवर्तमाना अधर्मे पापमापद्यन्तः ।

पुनरपि तद्वर्णानिधिस्ययाऽऽह—

एवमेव वियक्ताई, नो अन्नं पञ्चुवासीया ।
अपणो य वियक्ताई, अयमंशु द्वि दुर्मई ॥ २१ ॥
एवं तकाइ माहिंता, धम्माधम्ये अकोविया ।
दुरस्त्वं ते नाऽनुद्वैति, सत्तण्णी पंजरं जडा ॥ २२ ॥
सयं सयं परंयंता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तस्य विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥ २३ ॥

(एवमित्यादि) एवमन्तरोक्तया तांसा एके केचनाऽज्ञानिका वितर्कान्तर्मात्साभिः स्वोपार्थिकताविरस्तकल्पनाभिः, पिरमन्मार्हातादिक ज्ञानवादिने न पर्युपासते न भेद्यन्ते । स्वावन्पप्रहस्रस्ता वयमव तत्त्वज्ञानानिज्ञानपदाः कर्त्तव्यदित्येवं नाम्ये पर्युपासन्ते र्जात । तथाऽऽस्माथिर्दिकर्त्तव्यमभ्युपगमनमनो यथाऽऽपन्नवास्वदीयाऽज्ञानमव श्रेय श्रेय्यमागतकां मायाः । (अज्ञानि) निर्दोषावाद् व्यक्तः स्पष्टः परैस्तरस्कृतमशक्यः; अतुष्टयां प्रगुणाऽऽदित्तः, यथावस्थितायांनयाधियन्तः । किमिति एवमनिदधर्थात्— ईदृशेस्मादर्थे । यस्मात्स तुर्मनयो विपर्यस्तबुद्ध्य इत्यर्थः ॥ २१ ॥

सांप्रतमज्ञानवादिनां स्वप्रेमेवाऽनर्थाजिधिस्ययाऽऽह—(एवं तकाइ इत्यादि) एवं पूर्वोक्तस्यांत तर्कया स्वकीयविकल्पनया साधयन्तः प्रतिपाद्यमानो धर्मो ज्ञान्यादिकेऽधर्मे च जीवोपमदार्पादिने पापिऽर्थादिना अनिपुणा बुद्धमसत्तादयस्त्रकणं नद्वन्द्वं वा, मिथ्यास्यानुपचितकर्मबन्धन मातिप्रोत्पत्ति, अतिशयेननष्टवस्थितम् । तथा ते न प्रोत्पद्यन्वपन्यन्ताः अत्र दृष्टान्तमाह—यथा पञ्जरस्यः शकुनिः पञ्जरं प्रोत्पद्यतु पञ्जरबन्धनादात्मानं मोचयंतु तादृम् । एवमसावापि संसारपञ्जरादात्मानं मोचयंतु नाश्रमिन् ॥ २२ ॥

अनुता सामान्यैककान्तवादिमतद्रूपणार्थमाह—(सयं सयमित्यादि) स्वकं स्वकमात्मीयं च दर्शनमनुपगते प्रशोक्तेनो वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा , तथा गर्हमाणो निन्दन्तः परकीयां वाचम् । तथाहि—सौकर्याः संशयवार्त्तवार्त्तान्नावावदिनः सर्वे वस्तु कृणिकं निरन्वयं निरीक्ष्यते चेत्प्रादिवादिनां धोक्ताइ दुष्यन्ति । तेषु नित्यस्य क्रमयानुपायान्मार्थिक्याविरहात् सांभ्यात् । एवमन्यदपि कृष्टया इति । तद्वेचं य एकात्मवादिनः । दुष्यन्धारणं (निरकमन्त्र । तत्रैव तेष्वेवाऽसीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशांसं कुवाणाः परवाचं च विगर्हमाणो विशदयन्ते विद्वान्सद्वाऽऽवर्त्तन्ति । तेषु वा विशेषणोऽशक्ति स्वशास्त्रविषये विदिशये शुक्तिमात्तं वदन्ति । ते श्वेवं वादिनः संसारं चतुर्गतिर्नद्वन्द्वं संस्कारुपे विविधमनकप्रकारद्रुप्रावर्धयेन श्रिताः संभदाः तत्र वा ससारे उपिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा जन्तःतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

अज्ञापियवाइ (ए)—अज्ञानिकवादिन—पुं० । अज्ञानमज्युपगमद्वारेण यथासात् तदज्ञानिकास्त एव वादिनोऽज्ञानिकावादिनः । अज्ञानमव श्रेय इत्येवं प्रतिशब्द, स्वाधोऽत्तं ० ॥ २४ ॥

अज्ञात (य)—अज्ञात—वि० । अज्ञानिगतं सम्बन्धनधारिते, अ० ३ अत्रि० । अतुमानेनाऽविषयीकृते, । न० ३ श० ६ ० । इत्ययं स्वजनादिसंबन्धाऽऽकथनेन सुदृश्यगपिकान्तस्वभावादिभायं भिक्षो, प्रश्न० १ सख० ८० । यत्र प्रामादौ प्रतिमा प्रतिपन्ना, तथाऽऽदित्तः, प्रय० ६९ इति । जानिकुनसद्रुप्यादिनाऽपरिकृते, वस्त० २ अ० । राजादिप्रमजितत्वेनाविदित्त—स्य भैक्ष्ये, पञ्च० १०१ विव० । “अथायं नाम जडा, अचित्तकरो चित्तं कालेण ण जाणन्ति” अज्ञ्यात् अज्ञ्याविज्ञानत्वादित्यर्थः । नि० ७० १५ ० ॥

अज्ञात (य) उच्छ्र—अज्ञातोऽच्छ्र—न० । विश्वोपकरणप्रदणे, इश० १ ७० । परिचयाकरणे, दश० १ अ० ३ ० ॥

अज्ञातोऽच्छ्रं दुषिदं, दब्धे भावे य होइ नायस्वं ।
दव्वुंउं एणविदं, लोगांरदीणं मुणयस्वं ॥

अज्ञातोऽच्छ्रं द्विधियम् । तद्यथा—दब्धे भावे । तत्र द्रव्योऽन्मनकाविषं लोकमुपाणां तापमानां ज्ञातव्यम् ।

तद्वर्णनविषयं दब्धोऽच्छ्रमाह—
ठक्वल खलए दव्वं, दंइ संसासए य पोची य ।
आमे पके य तथा, दव्वंछे होः निकलेवो ॥

तापसा उच्छ्रवृत्तयः, उच्छ्रद्वन्द्वेति तेषु तन्नुत्पत्तये परिश्रुतितः शालितमुद्गलादयस्ताइ उचित्य रन्ध्रिनि । (खलए चि) खलं धान्यं मर्दिते संसृष्टं च यत् परिश्रुतितं तत् उचित्यन्ति । (दव्वं ति) धान्यराशेयंदकया दव्वं उपात्त्येन तद्गुरहन्ति । एवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं (दंइ चि) स्वार्थमनमनुज्ञाप्य यद् धान्यराशेरकया यथा उपात्त्येन तद्गुरहन्ति, एवमेवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं (सदासच चि) कृद्गुण्ये— शिनीभ्यां यद् गुरहन्ति शास्त्रादिकं नास्मान्वां प्रतिशुदं गुरहन्ति । यद्यपि बहुक पश्यन्ति शास्त्रादि, तथापि न मुष्टि भुत्वा गुरहन्ति । (पोची य चि) स्वार्थमनमुष्णाय धान्यराशौ पोचित्तिपत्ति, तत्र यत् पोसां लगति तद् गुरहन्ति । एवमन्यत्रापि । तथा आम, पक वा यश्चकादयो भिन्नाप्रविष्टा मृगयन्ते, एव भवति दृष्ट्याऽच्छ्रं निरूपे ।

संप्रति भावोऽच्छ्रमाह—
पमिपापमिचये ए- स जयवमज्ज किर एत्तिया द्दी ।
आदियति चि न नज्जइ, अज्ञातोऽच्छ्रं तवो जत्तियो ॥
प्रतिमाप्रतिपन्न एव भगवान् अथ किल पत्तावद् द्दीरावदत्त इति न ज्ञायते, तेन तस्य भगवतस्तपोऽज्ञातोऽच्छ्रं भवति ।
न्य० १० ० ।

अज्ञात (य) चरय—अज्ञातचरक—पुं० । अज्ञातोऽनुपदर्शित-सौजन्यादिभावः संश्रयति यः स तथा । औ० । अज्ञातेषु वा गृहेषु चरन्तीति अज्ञातः । अज्ञानगृहे वा चरामीत्यामभवत्, सूत्र० २ ७० २ अ० ।

अज्ञातपिंद—अज्ञातपिण्ड—पुं० । अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाज्ञातपिण्डः । अन्तर्गतं रूपे पिण्डे, अज्ञातेभ्यः पिण्डोऽज्ञातपिण्डः । अज्ञातेभ्यः पूर्वाऽपरस्तनुतेभ्य उच्छ्रवृत्त्या लक्ष्ये पिण्डे, “अज्ञातपिण्डेण हि पासपउजा, तां पूयां तवसा आबोहेज्जा ” सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ ० ॥

अज्ञादत्तहर—अन्यादत्तहर—त्रि० । अन्यैरदत्तमनिसुष्टं हरत्या-

अक्षरादत्तहर

दशे इत्यन्यादत्तहरः । प्रामनगरादिषु सौम्यैकृतिः, उक्त०७ अ० ।

अथा (वा) दि (रि) स-अन्यादत्त-त्रि० । अन्ये च ह-
इत्येते । अन्य-ह-क-अत्त्वम् ॥ " हरोः क्लिष्टकसकः "
भा० १४२ इति श्रुतो रिः । अन्यसदृशं, प्रा० ।

अणाय-अन्यादत्त-त्रि० । न्यायदपेते, सूत्र० १ अ० १३ अ० ।

अणायजासि (ण) -अन्यादत्तजासि-त्रि० । अन्यादत्तं भा-
षितुं शीघ्रमस्य सोऽन्यायजायो । यात्कञ्चन भाषिणि, अस्थान-
जायिणि, गुवांघाधिकेपकरे च । "ज विगमहीय अणाययभासो,
न से सभे होइ अज्जयम" सूत्र० १ अ० १३ अ० ।

अणायया-अज्ञानता-स्त्री० । तपसा यशःपूजाऽऽद्यर्थित्वेना-
प्रकाशयाम्निः करणं, स० ३२ सम० । कोऽर्थः ? पूर्वं परीपह-
समजातं यदुपधानं कियते, तद्यथा लोको न जानाति
तथा कर्तव्यम्, विज्ञातं वा कृतं न नयेत्, प्रच्छन्नं वा कृत न-
येत् । आच० ४ अ० ।

अभानाहारमाह-

कांसिं च अजिअमेणो, धम्मवसू धम्मपोप-धम्मज्जो ।

विणयजया विणयवर्धे, इहिविजूसीद परिक्कम्भे । ? ॥

कौशाभीत्यन्ति पुस्तत्रा-जिनसेनो महीपतिः ।
धारिणीत्यभिधा देवी, तत्र धर्मवस्तुगुरुः । ? ॥
धर्मयोषो धर्मयशा-स्तस्यान्तेवासिनाभुजो ।
आसीद्विनयवत्याम्बा, तत्र तेषां महतरा ॥२॥
तच्छिष्या विगतभया, विदधेऽन्तरे तपः ।
महाप्रभावनापूर्वे, सङ्गृह्णाति निर्यामयत् ॥ ३ ॥
तौ च धर्मयसाः शिष्यौ, कुतः परिकर्माणम् ।

इत्थ-

उज्जेशिऽन्तिबक्कण, पात्तय सुरद्ववद्दणो चैव ।

धारिणोऽन्तिभेखे, मणिण्णजो चञ्चगार्तीर ॥१॥

उज्जयिन्यस्ति पृभूभुत्, प्रद्योतस्तत्तुनाभुजो ।

आघाः पालकनामाऽभू-ल्लघुसोपालकः पुनः । ४ ॥

गोपालकः प्रवव्राज, पालको राज्यमासदत् ।

अवन्तिवधेनो राष्ट्र-वर्देनञ्चति तत्सुतो ॥२॥

तौ राज-युधराजौ च, कृत्वाऽयुपालको वती ।

धारिणीकुलिजोऽयन्ति-सेनोऽमुद् युधराजसू ॥६॥

भुभुजाऽभ्ययुकधानं, स्वेच्छुधेऽथाऽदृशौ धारिणी ।

कृच दृष्ट्वाऽपुरकृमानं, सा नेच्छुधुशर्मांलता ॥ ७ ॥

यथा भावन् साऽवाच-न्न भ्रातृपि सज्जसे ? ।

ततोऽसौ मारितस्तेन, स्थालं साऽथ गच्छितुम् ॥ ८ ॥

ययो साधेन कौशाभ्यो-मात्स्वभावरणोच्छया ।

भुभुजो यानशालायां, स्थिताः साध्वीनिरीच्य सा ॥६॥

धन्दिवा आविका साऽभूत्, कामाच्च व्रतमग्रहीत् ।

गर्भे न सन्तमप्याथ्यद्, व्रतलोभभयानुपुनः ॥१०॥

ज्ञानो महसरायाः स्वः, सद्गुरोऽथ निवदिनः ।

सुसुप्तं स्थापिता साऽथ, राजी पुत्रमर्जोजनत् ॥११॥

स्वमुद्राजगणाद्यैस्ते, तदैवाभूथ्य जुपतेः ।

सौभक्त्याणै स्थापयित्वा, प्रच्छुभ्रा स्वयमसिधत् ॥१२॥

पार्थिवोऽजितसनसेनं, दृष्ट्वाऽऽश्रुतलस्थितः ।

शुदीष्वाऽदात्पहराहया, अमुनायाः सुते जवात् ॥१३॥

पृष्टा साध्वीमिरास्यसा, मुनोऽज्जयुज्जितस्तेः ।

पट्टराहया समं चक्रे, साऽथ स्वथ्य गताऽऽमतेः ॥१४॥

मणिप्रभास्यस्तस्सुसुते राह्वोभवन्युतः ।

साध्याः स चातिरक्तोऽस्या, राजा चावन्तिवधेनः ॥१५॥

ज्ञाताऽस्मारे न साऽथाऽभूत्, पञ्चालपते पिडितः ।

राज्यं ज्ञानुसुतेऽवन्ति-सेने न्यस्याग्रहीद् व्रतम् ॥१६॥

सा कौशाभ्योऽनुयाहक-मयाचक्र स वसधाद् ।

धर्मयोषयनोरकः, प्रपेदऽनशनं यतिः ॥१७॥

भूयान्ममापि विगत-भयाया इव सङ्घातः ।

हेतोर्भाक्स्तु कौशाभ्यो-मयन्ती चातरा गिरौ ॥१८॥

शुदाया वसकान्तरं निरीहाऽनशनं व्यधाद् ।

इतश्चागत्य कौशाभ्यो, हरोऽथावन्तिसेनराज ॥१९॥

धर्मयोषान्तिके नागाद्, भयप्रस्तस्मतो जनः ।

स च चिन्तितमप्राप्ता, मुनो ह्येण विगतः ॥२०॥

न लज्यते तनः क्षिप्तो, शारोपरितलेन सः ।

साऽथ प्रवर्जिता दध्या, मा जृष्टुके जनेऽन्यः ॥२१॥

तनञ्चान्तपुरं गत्वाऽ-धोचक्ष्माणप्रजे रदः ।

ज्ञाता सद् कथं योक्त्ये, सोऽयुक् कथामिदं ततः ? ॥२२॥

सर्वे प्रबन्धमाचरन्त्ये, पृच्छाऽस्म्यो प्रत्ययो न चेत् ॥

पृष्ट्वाऽस्म्याऽऽभ्ययुकधावुसं, नाममुद्रामदर्शयत् ॥२३॥

राष्ट्रयन्तेनसत्कानि, स्वयोष्याभरणानि च ।

अथाच प्रसदृशन्ते, सोत्वे ते सोऽपि मोक्ष्येते ॥२४॥

इत्युक्त्वा सा विनिर्गत्या-ऽवन्तिसेनदऽऽगतम् ॥

उत्तमं जनाः सर्वेऽ-नान्तिसेनमुपेय ताम् ॥२५॥

अथयसिहागताऽस्या ते, हृष्टोऽप्यथप्रनाम ताम् ॥

मानोः ~~कौशाभ्योऽनुयाहक-मयाचक्र स वसधाद्~~
नेदथ त्व सोऽर्थो, मिलितौ तावयो मिधः ॥

स्थित्वैकमासे कौशाभ्यो, ह्यवपुज्जयिती गतौ ॥२७॥

नित्यं सगुरुकाऽभ्याऽपि, वत्सकान्तरपवने ।

तत्रारोहावरोहान्ते, कुर्वन्ते वीक्ष्य संयनाम् ॥२८॥

दृष्ट्वा तेऽप्यममन्ते, नृपो नत्वा मुनि जुदाः ।

चक्रतुर्हावापि स्थित्या, मरिमाने जनेः सद् ॥२९॥

एवं तस्याजने श्रेष्ठा-प्रनच्छनाऽपि हि सङ्घनिः ।

क्षिणीयस्येच्छतेऽप्यासी-न्न सः तत्रवोऽपि हि ॥३०॥

ततो धर्मयोषोऽवर्षिर्हि ततः काथ्यम् ॥ अ० क० ॥

अणायवर्षिविगे-अज्ञातेवाग्विबेक-पु० । शुक्राशुक्रयोषाऽ-

योषयधिवत्यादिक्रयो यसेन । आश्विन्यमहातवस्तु, ज्ञा० ।

" अज्ञानवाग्विबेकानां, पवित्रतया निमानिताम् ।

विषयं वनेते वाचि, मुलेनाशीविपस्य तत् " ॥ ज्ञा० ३ श्लो० ।

अणायपत्नी-अज्ञातज्ञो-ल-त्रि० । पवित्रैरप्यज्ञानस्वभावे,

अज्ञानशक्ति च । " तायां अणायवीलाण (नारीसु) " तासां नान-
रीणामज्ञानशीलानां पापदनेरप्यज्ञानस्वभावात्ताम् । यद्वा-न ज्ञा-
ते नाङ्गीकृत शक्तिं अज्ञानस्वरूपं यामिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम् ।

यद्वा-नञः कुस्माधेयात् कुस्मिन् ज्ञाते षोडसाध्वीनां याभिः

पतिवाजिकर्थागम्यादिभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम्, त० ।

अणायारंजघिचित्ति-अन्यारमज्जिनवृत्ति-स्त्री० । अणायार-
जघायां, " अणयारजघिचित्ति, अणयणा दिदृणं चैव " ।

पञ्च० ७ वि० ० ।

अण्णावस-अन्यापदेश-पुं० । अन्वस्य परस्य संबन्धीहं
 गुरुआजाद्वीत्यपदेशो व्याजोऽन्यापदेशः । परकीयमेतत्तेन
 साधुच्यो न दीयते इति साधुसमकं मरणे जानतु साधुबो
 यद्यस्यै तद् भकादिकं जनेश्वर कथमस्मज्ज न दद्यादिति
 साधुसंप्रत्ययार्थम् । अथ वा अस्मान्नात् ममाश्रयेः पुण्यम-
 स्थिति जगते च , एष क्तिथिसेविजगत्स्य पञ्चमोऽतिवारः ।
 ४० २ अथि० ।

अण्णिय-अन्वित-त्रि० युक्ते, सूत्र० १ सु० १ अ० अ० उच्यते ।

अण्णियाउत्त-अग्निकापुत्र-पुं० । जयसिंहनाम्नो वणिक्पुत्रस्य
 जातेः अग्निकायाः पुत्रे , ती० । कतमः स महासुनिः । तदनु
 जगद् वैमिलिकः-ध्वनां देव । उत्तरमधुरायां वास्तव्यां देवदत्ता-
 क्यो वशिष्क पुत्रो दिव्याचार्य द्वेक्षिणमधुरामगमत्, तत्र तस्य ज-
 यसिंहनाम्ना वणिक्पुत्रश्च स साक्षात्समभवत् । अन्वदा तदभूदं
 छुज्जानो ऽग्निफानाम्नीं तस्मात् स्थाने भोजनं परिवेष्य वातव्य-
 नं कुर्वती रस्यकपालालोकस्य तस्यामनुकृतः । द्वितोयद्विंशत्परकाद्
 प्राथ्य जयसिंहो देवदत्तमनयाऽऽविष्टस्यैवाह्वयमज्यपद्यद्-अदं तस्मा
 एव ददं स्वसारम, यो मद्युः। द् दुर् न भवति, प्रत्यहं तां च
 यथा पश्यामि, यावत्पश्यज्जम तावद्यदि अद्भुदं कथाना, तस्यै
 जयसिंहनाम्ना । देवदत्तोऽप्यामित्युक्त्या शुभेऽङ्गि तां पश्यै-
 धीत् । तथा सह जोगान् भुञ्जेत्स्तस्याद्यद् वितुभ्यां हेमः प्रेषितः,
 वाचयामनस्य नेत्रे वसितुमभु प्रवृष्टे , तत्तस्यया हेतुः पुष्टो
 वाचप्रावर्धते तत्तस्ययाऽऽह्वय लेखः स्वयं प्राचितः । पत्रे बहं
 त्स्त्रिभ्रमासः। द् गुरुध्याम-“यद् वस्य । आवां वृक्षैः निकटनि-
 धनौ, यदि नो जीवन्तौ विद्वद्भ्यः तदा द्वागामन्तव्यमिति” तदनु
 सा पतिमाश्वस्य श्रान्तं इगदयत्किञ्चिदुत्तरं सह प्रतस्थ
 चोत्तरमधुरां प्रति । सगमो कर्मागमो सनुम्लान्, मामास्य
 पितरौ करिष्यन् इति देवदत्तोके परिजनसमनेकमशिकापुत्र
 इत्युच्चारितनाम् । क्रमण देवदत्तोऽपि स्वपुरीं प्राप्य पितरौ प्रण-
 म्य च शिष्यं तयारापयत् । संघोरुण्यार्थ्य तौ नत्पुत्रकान्तौ तथा
 ऽप्यशिकापुत्र इत्येव प्रपद्ये । असौ बर्द्धमानश्च प्राप्ततारणयोऽपि
 जोगोऽम्युण्यवद्विभूय जयसिंहानायांपाद्वे द्वीकामप्रहीत् । गीता-
 धीरुतः प्राग्द्वार्यकम् । अन्वदा विद्वद् सगच्छेऽङ्के पुण्य-
 मनुपुः गङ्गानदस्थं प्राप । तत्र पुण्यकेतुर्नृपः । तद्वीथी पुण्यवती ।
 तयोर्नृमजो पुण्यचूडः पुण्यश्ला चरति पुत्रः पुत्री चाभूताम् । नौ
 च सह वद्वेमानौ क्रीरन्तौ परस्परं प्रीतिमन्तौ जातौ । राजा
 ध्यूथी-यद्यतौ विद्युज्यते, तदा नृनं न जीवतः । अहमप्यनयां विरहं
 सोऽमुनीश्वरः, नत्सामदनयारंश्च विवाहं करोमीति ध्यात्वा मन्त्रि-
 निर्षारपीरुद्वेमाऽपुच्छद्-नोः । यन्ममाऽन्तःपुर उत्पद्यते, तस्य कः
 प्रहृः ? त्रिंशत्सप्त-देव । अन्तःपुरात्पञ्चस्य किं वाप्यस्य, यद्देशम-
 ध्येऽप्युत्पद्यते रत्नं, तदाजाययच्छं विनिर्मुक्तं, कोऽत्र बाधः ? । त-
 क्कुट्या स्वाभिप्रायं निवेद्य देव्यां वारयन्त्यामापि तयोरेव संबन्ध-
 मप्यवन्नुपः । तौ दम्पती भोगान् ह्युक्तः स्म । राज्ञी तु पत्युपमान-
 वैराग्याद् व्रतमादाय स्वर्गं देवतोऽनूत् । अन्वदा पुण्यकेतो कथादोषे
 पुण्यचूला राजाऽनूत् । स च देशप्रयुक्तावधितयोरकृत्यं ज्ञात्वा
 स्वनेतु पुण्यचूलाय नरकादशोभय, तद्दुःखमिति च । सा च प्रमु-
 क्त मीना च पत्युः सत्यमावेदयत् । सोऽपि शान्तिमञ्चिकरत् । स
 च देवः अग्निशं नरकात्स्यस्या अद्भुतयत् । राजा तु सर्वोत्ती-
 र्थिकानाह्वय प्रपन्न-कीदृशा नरकाः स्फुरिति ? कैश्चि कृत्यासम्,
 कैरपि शत्रुक्षयम् , अपरेः पारतन्त्र्यमिति तैरेवका आचर्षाङ्करे,

राज्ञी तु मुञ्चं मोदयिष्या तान्, विसंवादिष्यदसौ व्यङ्ग्याङ्गीत् । अथ
 नृपोऽशिकापुत्राचार्यमाचार्यं तदेवाप्राङ्गीत् । तेन तु यादृशान्
 देव्यपहयद् वैदृशा एषोक्ता नरकाः । राज्ञी प्रोच-भगवद् । नव-
 ङ्गिरपि किं स्वर्गं हृष्टः ? । कथमन्ययोः स्थि । सुरिवरवद्-अद्रे !
 जिनागमनैःसमवगम्यतेः पुण्यचूलाशोचद्-जगवद्-केन कर्मणा
 ते प्राप्यते ? । गुरुगुणाद्-अभे ! महारजनपरिमिद्विद्वेऽमुस्त्यनीकतया
 पञ्चोऽपि यथाभ्यासादारभ्य तेष्यङ्गिनः पतति । क्रमेण स सुरि-
 वस्तस्यै स्वर्गोऽन्यत् स्वर्गं । राहृया तथैव पाश्चात्तनः पूधानपि
 व्यनित्वाचार्यवाचो विभुस्य नृपस्तमेवाचार्यं स्वर्गस्वकप्रममाङ्गीत् ।
 तेनापि यथावत्तत्रोदिते स्वर्गोवातिकारणमप्युच्छद् राज्ञी । ततः
 सम्यक्स्वर्गलौ युधिथितमर्वादिशद् मुनीशः प्रतिबुद्धा च सा
 सद्युक्तो नृपमनुग्राहयति स्म प्रजयत्येव । सोऽप्युच्यते स मद्भुद्
 एव भिक्षामादस्ते तदा प्रजज्जतयोरीकृते नृपवचसि सा सोऽस्व-
 मभूत्सयावाप्यस्य शिष्या, गीतायां च । अन्वदा च दुर्मिक् कु-
 तोपयोगाद् ज्ञात्वा सुरिचञ्चुं देशान्तरं प्रैषीत् । स्वयं तु परीक्ष-
 णजङ्गालक्षस्तत्रोदितः, नत्पततां च पुण्यचूलाऽपिःपुरादानीं
 गुरवेऽदात् । क्रमासस्या गुरुभूष्यामभिवनाप्रकायो ह्यककेभ्यव्या-
 रोदात्सकत्वात्पुण्ये । तथाऽपि गुरुवैवाभुष्यात्स विवृता, या-
 वद्वि गुरुणा न ह्यापते केचञ्चैति नावत्पुत्रं प्रयुक्तं विनयं केवस्यपि
 नास्ति । साऽपि यद् यद् गुरोराश्रितं, रुचिरं च तस्यैवाह्वि स-
 पादिनवती । अन्वदा तु वर्यथ्ये स पापिदमहाहृद् । गुरुभि-
 रभिहितम-वस्येः श्रुत्वाऽऽस, किमिति वृष्टौ त्वया नीताः पिपदा
 इति ? साऽप्याह-नग वन् । यथावति अत्रकायोऽवित्त एवा-
 सीसैनैवायासिपमपुनः । कुतः प्रायश्चित्ताऽऽपत्तिः ? गुरोराऽ-अ-
 ष्यः कथमेतद्भूदं ? । तयोच-केतनं ममास्ति । ततो मिथ्या न प्रकृतं
 केवदयाशातेनेति भुवश्चपुच्छतां गच्छाधिपः-किमहं सेस्यमि
 नवति ? । केवस्यैवा- नृपवचमृषितः, महासुचरतां चो ज्ञापिष्यति
 केवलम् । ततो गङ्गापुरसुरीतं लोकैः सहा नावमारोहत् सुरिः ।
 यत्र यत्र स भवर्षिऽत्सप नौमैकुमारने , तदनु मप्यदेशासीने
 मुनी सर्वोऽपि नौमैकुं ज्ञाना । ततो लोकैः सुरिजेवै क्षितः । तु-
 र्भंगीकराशिवाख्या प्राग्भवपत्न्या व्यन्तरीभूतयाऽत्तजवं श्रुते
 निहितः । शूलप्रतोऽयमप्युक्तापञ्जीवितारनामैव शोचयत्साऽऽम-
 पोर्न, सपकभस्यां रुदोऽन्तकृतकेवलीभूय सितः । आसक्तः सुरे-
 स्तस्य निर्वाणमहिमा चक्रे । त पव तर्थायै प्रयाग इति जगति प्रप्र-
 धे । प्रकृष्टो याग-पुञ्जाऽप्रेति प्रयागः । ती० ३६ कल्प० संधा० ।
 आच० । १० ।

असु-अङ्ग-त्रि० । स्वजायविभावाविबेचके , “ मज्जत्यङ्गः
 किज्ञाने , विद्यायामिव सूकरः । ज्ञानीति मज्जति ज्ञाने , मरह
 इव मानस ” ॥ १ १० १६ विव० ।

अण्णानु-सु (अ)-अन्योन्य-त्रि० । अन्यशब्दस्य कमवति-
 हारे द्विवच, पूर्वबेदे सुख । “स्रोतोऽज्ञाऽन्योऽन्य०” ॥ ८ १ १६ ।
 इत्यादिस्वस्य वैकल्पिकत्वेनौतः तयोऽङ्गवे संशोभादित्येव
 हूत्वे तथाकथम् । प्रा० । ह्रस्वाभावे “अणोर्ण” । प्रा०ण० । पिग० वृ० ।

अस्येसाणा-अनेपसाणा-खी० । मागणावाम् , ञा० म० द्वि० ।
 प्राथंभार्यां च, आचा० १ शु० उ अ० ८ उ० । स्व० । आ० म० ।

अयोसि (१)—अन्वेषिन्—त्रि० । अन्वेषुं शीघ्रमस्येति अन्वेषी । मार्गणाशीघ्रं, आचा० १ सु० २ अ० ६ उ० ।

अयोस्यंतिरि अंशुसिन्ध—अन्योन्यान्तरिताद्युल्लिख—त्रि० । अन्योन्यं परस्परअन्तरिता अङ्गुलयां पयोस्तावन्यांअन्यान्तरिताङ्गुलयाः । इशं० । अन्वयवहितकरशाकाकेषु, पञ्चा० ३ विव० ।

अयोस्योपकार—अन्योन्यकार— पुं० । परस्परं वैयाहृत्यकरणं, सु० ३ उ० ।

अयोस्यगमण—अन्योन्यगमन—त्रि० । परस्परानिगमनीये, प्रश्न० २ सन्ध० द्वा० ।

अयोस्यजणिय—अन्योन्यजनित—त्रि० । परस्परकृते, “ अयोस्यजणियं च होजज हासं, अयोस्यगमणं च होज कम्म” । प्रश्न० ३ सन्ध० द्वा० ।

अयोस्यपक्वपतिवक्त्रजाव—अन्योन्यपक्वप्रतिपक्षजाव— पुं० । अन्योन्यं परस्परं यः पक्वप्रतिपक्षभावः पक्वप्रतिपक्षव्यमन्योन्यपक्वप्रतिपक्षभावः । परस्परं पक्वविरोधे, तथाहि—य एव मीमांसकानां नित्यः शब्दः इति पक्षः, स एव सौगतानां प्रातपक्षः; तन्मते शब्दस्यानित्यत्वात् । य एव सौगतानामनित्यः शब्द इति पक्षः स एव मीमांसकानां प्रतिपक्षः एवं सर्वयोगेषु योग्यम् । स्यात् ।

अयोस्यगमणियत्—अन्योन्यप्रशुद्धीतत्व— न० । परस्परं पदानां वाक्यानां वा स्तंभकतायाम्, स० ३५ सम० । सप्तदशे सत्यवचनातिशये, रा० ।

अयोस्यमृदुदुष्टातिकरण—अन्योन्यमृदुदुष्टातिकरण—न० । अन्योन्यस्य मृदुस्य दुष्टस्य च यदतिकरणं तथाविधक्रियासु पौनःपुन्यपूर्वांस्तत्सथा, ततोऽन्योन्यमृदुदुष्टातिकरणम् । परस्परं मृदुदुष्टयोः क्रियासु प्रवर्तने, तत्राभ्यांअन्योन्यातिकरणं परस्परं पुरुषयोर्विद्विकारकरणं मृदातिकरणं पञ्चमिन्द्रायशिववैश्वानरं । दुष्टातिकरणं तु द्विविधम्—कषायतो विषयतश्च । तत्र स्वपक्षे कषायतो लिङ्गघातः । विषयतस्तु लिङ्गिनि प्रतिस्थाः । परपक्षे तु कषायतो राजवधः, विषयतस्तु राजद्वान्सेवेति । अथवा “अन्योन्यमृदुदुष्टादिकरणतः” इति व्याख्येयम् । तत्र चादिशब्दासौधकाराद्याशातनाकरणपरिषदः । अस्माद् विषयपाराञ्चिक भवति । पञ्चा० १६ विव० ।

अयोस्यसमागुवृत्त—अन्योन्यसमागुवृत्त—त्रि० । परस्परानुगते, “ अयोस्यसमागुवृत्तं, गिच्छत्यतो भयविसिषयं तु ” पञ्चा० ६ विव० ।

अयोस्यतमगुवृत्त—अन्योन्यसमगुवृत्त— त्रि० । परस्परं सन्धी, सु० ६ उ० ।

अयोस्यसमाधि—अन्योन्यसमाधि—पुं० । परस्परं समाधौ, “ अयोस्यसमाधी एव षण् विदंरति ” यो यस्य गच्छान्तर्गतः समाधिरिहितस्तद्यथा समाधिं गच्छवासिनां निगच्छन्ति-गतेनां द्वयोर्महः पञ्चसु अभिग्रहः इत्यनेन । इहरन्ति । आचा० २ सु० १ अ० ११ उ० ।

अयोस्यवप—अन्योन्यवप—पुं० । आहरणतद्देशाक्योदाहरणभेदे, अयोस्यवपस्यो ना—द्विवर्षादेर्जीमं नप्यि जीवो उ ।

दाणाङ्कतं तसिं, न विज्जई चउह तरोसं ॥ ७९ ॥

अन्योपदेशतः अन्योपदेशेन नास्तिकवादी शोकायतो वक्तव्यः इति शेषः । अदो । विक्रष्टे येषां वादिनां नास्तिकत्वात् एव, न विद्यते आमेव, दानादिकफलं वा तेषां न विद्यते, दानहोमथागतपःसमाध्यादिकत्रं स्वगपवगादि तेषां वादिनां न विद्यते, नास्तीत्यर्थः । कदाचिद्वेत्तुत्वेवं श्रुत्वा प्रयत्न, का नो हानिः ? नह्यनुपपत्त्या एव बाधये प्रवर्तनीति । ततश्च सर्ववैकल्यान्वयाऽनुपपत्तयस्तस्ते संप्रतिपत्तिमानेतव्याः, इत्यलं विस्तरं । गमनिकामात्रमेतदुदाहरणंदेशाना चरणकरणाद्युपात्तुसारंण भावनीयति । गतं निश्चाहारम् । इशं० १ अ० ।

अयोस्योमिन्द्र—देशी—इति कान्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अग्रह—जुज—धा०, पालनाऽग्रहवहारयोः, रुधादि०, पाहने ५०, स०, अदि । अग्रहवहारं त्रौते, धाम्०, स०, अदि । प्राहते—“ भुजो भुज्जाजिमजमकम्माएहसमागमवमद्वचुः ” । उ ४ । ११० । इति वृत्तरादेशः । अग्रह—उक्त्वा । प्रा० ।

अग्रहयंती—जुजाना—स्त्री० । भोजनं कुर्वन्त्याम्, तं० स्त्री० ।

अग्रहय—आश्रव—पुं० । आश्रुणोत्यादस्ते कर्म यैस्ते आश्रवाः । पा० । अग्निविधिना श्रौति अश्रानि कर्म येष्यन्ते आश्रवाः । कर्मोपादानभूतेषु प्राणातिपातादिषु पञ्चसु, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । (आश्रवचक्यतना प्रश्रव्याकर्षणेषु आदावेव कृता, सा च प्राणानिपातादिषु शब्देष्वेव इत्या)

“ जंबू । इगमो अग्रहय—स्वरा—विगिच्छत्यं वयणमस्य । गिच्छत्यं वोच्छ्राम्, गिच्छत्यन्थं सुभाम्गियन्थं महंसीहि ” । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । स्या० । उक्तं । “ पचविहो पञ्चमो, जिगहि इह अग्रहयं अग्रादीयो । हिंसा १ मांस २ मदिक् ३, अश्रमं ४ परिग्रहो चैव ४ ” ॥ ११ ॥ प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अग्रहयकर—आश्रवकर—पुं० । आश्रवः कर्मोपादान, तत्करणशाल आश्रवकरः । प्राणानिपाताद्याश्रवजनकेऽग्रहसमनो-विनयभेदे, स्या० ७ टा० । अश्रुभक्तमाश्रवकारिणि, ग० १ अग्रि० । स्त्री० । आचा० ।

अग्रहयज्ञावशा—आश्रवयज्ञावशा—स्त्री० । सप्तम्यां भावनयात्, अथाश्रवभावना—

“ मनोवचोवपुर्योगाः, कर्म येनाशुभं शुभम् । भविनामाश्रवन्त्येन, प्राक्कास्तेनाश्रवा जिने ॥ १ ॥ प्रैश्या सर्वेषु सत्त्वेषु, प्रमोदेन गुणार्थकं । मध्यस्थेष्वविनीतेषु, कृपाया दुःखतेषु च ॥ २ ॥ तं तथा धारितं स्वान्तं, कस्यचिन्पुण्यशालिनः । विदधाति शुभं कर्म, द्विचत्वारिंशद्वारमकम् ॥ ३ ॥ रोक्षास्येयान्मिथ्यान्व—कषायविषयमेतः । आकान्तमशुभं कर्म, विदधाति द्व्यशीतिधा ॥ ४ ॥ सर्वेष्वुपशान्तान्त—संघसदुपशुण्यवर्णेनम् । कृतं हितं च घचनं, कर्म सर्वाच्युतं शुभम् ॥ ५ ॥ भीसङ्गुपुरुसवर्ष—धर्मधार्मिकदुष्कर्म । उन्मार्गदशुवचन—मशुभं कर्म चत्पार्थः । ६ ॥ देवास्त्रेणुपुष्पास्त—साधुविश्रामणादिकम् । वितन्वतां सुगुप्ता च, तनुर्विन्तुते शुभम् ॥ ७ ॥

मांसाशनसुरापान-जन्तुघातनचौरिकाः ।
पारदाप्यंदि कुर्वाण-मशुनं कुठने वपुः ॥३॥
एतामाश्रवभावनामविरतं या भावयद्वायत-
स्तस्यानर्थपरम्परैकजनकाद् दुष्टाऽऽश्रवौघात्प्रभनः ।
व्यावृथ्याऽखिलदुःखदायजलदे निःशेषार्थमौवलो-
निर्माण्यप्रवणै शुभाश्रवणयै नित्यं रतिः पुष्पात् ॥ १४ ॥
प्रब० ६७ ॥ ० ।

अएटाण्य-अस्मानक-न० । शरीरमञ्जनाकरणे, भ० १ श० १ उ० । श्रौ० । स्था० ।

अत-अतु-पुं० । अत्ति भजने जगदिति सृष्टिसंहारकत्वान् । अ-
क्षपादसम्मते शिष्ये, उक्तं च-“अक्षपादमते देवः, सृष्टिसंहारक-
च्छिवः । विभुर्निर्यैकसर्वज्ञो, नित्यबुद्धिसमाश्रयः ” ॥ १ ॥
“ धियां यो नः प्रचोदयाऽन् ” अर्नाति सानत्येन गच्छति ‘ ग-
त्यर्थो ज्ञानार्थः ’ इति वचनान् अयमच्छरीरिणि षन्त् स्व-
वर्णः; धियां यो नः प्रचोदयाऽन्-इत्यत्र बौद्धैस्तथा व्याख्या-
नात् । ३० गा० । (परमेतादृक् शब्दः प्राकृतं न प्रयोक्तव्यः)

अतंत-अतन्त्र-त्रि० । न तन्त्रं कारणं, तद्दर्शना विषया वा
यस्य । कारणानर्थोने अनायत्ते, अन० वृत्त० विव० ।

अतक्कागिज्ज-अनर्कणीय-त्रि० । अनभिलषणीये, वृ० १ उ० ।

अतकिञ्चोऽद्विद्य-अतकिंनोपस्थित-न० । अनभिसन्धिपूर्वि-
कायामर्थप्राप्ति यदच्छायायाम्, यथा-काकनालीयम्, अजाकृ-
पाणीयम्, आनुरभेषजीयम्, अन्धकण्ठकौयमित्यादि ।
आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

“ अतकिंनोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजात-
कम् । काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वाऽत्र बुधाऽ-
भिमानः ॥ १ ॥ ” अ० १ श० १ उ० ।

अतकिञ्चोऽद्वि-अनकिंनोपधि-पुं० । अतर्कणीये उपर्यै, यमु-
पधि न कोऽपि तर्कयति विशेषतः परिभावयति । व्य० ८ उ० ।

अतज्ञाय-अतज्ञात-त्रि० । अनुन्यजातीयै, प्राव० ४ अ० ।

अतज्ञाय-अतज्ञाता-स्त्री० । अनुन्यजातीयै क्रियमाणायाम्
परिष्ठापनिकायाम्, आव ४ अ० ।

अतह-अतह-पुं० । अर्द्धयै तदं, “अतदुववातो सां चैव मभो” ।
वृ० १ उ० ।

अतणु-अतणु-त्रि० । न विघने तदुः शरारं येषां तेषनवः ।
सिंजबु, प्रब० २१४ ॥ ० ।

अतत्त्वेदत्-अतत्त्वेदित्व-न० । साक्षादेव वस्तुत्वमहातुं
शोभस्य पुरुषावेशेषस्य । अर्वाभाषीनि, ष० १ अ० ।

अतत्त्वेद्वैवाय-अतत्त्वेद्विदाद्-पुं० । अतत्त्वेद्विनः साक्षादेव
वस्तुत्वमहातुं शोभस्य पुरुषावेशेषस्यार्वावर्शिन इत्यर्थः ।
वाग्ने वस्तुप्रणयनमत्त्ववेद्विवाद् । साक्षाद्वर्वाभ्यामारेण हि
प्रमात्रा प्रोक्ते वस्तुप्रणयनेनातत्त्वेद्विवाद्यः सम्यग्वाद् इति ।
ष० १ अ० ।

अतत्त्वाय-अतात्स्विक-त्रि० । अथास्तये तात्स्विकाज्ञाये, ॥ ०
१६ ॥ ० ।

अतत्त्वाय-पुं० । अणहिल्लपाटनदुग्धमञ्जके हरियल्लप्रामवै-
१२४

स्यशेटके चौलुक्यवंशीयमीमदेवनरेन्द्रसमकाशने तुलकमहारे
राक्षि, ती० ४१ कटप ।

अतर-अतर-पुं० । न तरीतुं शक्यते इत्यतरः । रत्नाकरे, वृ० १
उ० । सागरे, प्रब० १ ॥ ० । अतिमहस्यादुधिवत्सरीमुत्सारापारं
नेतुं न शक्यते इत्यतराणि । सागरोपमकाशेषु, कर्म० १ कर्म० ।
असमर्थे, नि० चू० १ उ० । श्राने, वृ० १ उ० ।
अतरंत-अतरंत-त्रि० । असहै. नि० चू० १ उ० । व्य० । ग्ला-
ने, ष० ३ अ० ।

अतव-अतवस्-त्रि० । ६ व० । तपसा विहीने, “अतवो न होनि
भोगां ” वृ० ४ उ० । न० त० । तपसामजाये, लुक्त० २३ अ० ।

अतमी-अतसी-स्त्री० । (अवसी-नीसी) कुमायाम्, ग० २
अधि० । अतसी वलकलप्रधाने वनस्पतिः, यस्त्वं मासवादिदश
प्रसिद्धः । अनु० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।

अतह-अतथा-तन्त्र-तन्त्र-कथ च । मिथ्याचूतेऽर्थे, सूत्र० १
श्रु० १ अ० १ उ० ।

अतधत्-न० । असदर्थोभिधायिण्ये, “अणवज्जमतहं नेसि,
ण ते संयुद्धारिणो” सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अविश-
माने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । वितथेऽसवृचूते,
आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अतद्वैवाय-अतदाज्ञान-न० । न विघने यथा वस्तु तथा ज्ञानं
यस्य तत्तथा । मिथ्यादृष्टिर्जायद्व्यर्थे. तस्य वितथज्ञानत्वात् ।
नास्ति यथैव ज्ञानमवबोधः प्रतीतिर्यस्मिंस्तत्तथा । अज्ञातच्छब्दे
वा, वक्तव्याऽऽभ्यासमाने एकात्मवाद्यत्पुणने वा वस्तुनि,
तथाहि-एकानेन नित्यमानित्ये वा वस्तुनेरनुपपत्तेः, प्रतिभाति च
तत् परिणामित्येति तद्वत्तथाज्ञानानि । एष दशमो छव्यानु-
योगः । व्या० १० टा० । यथा प्रच्छन्नीयार्थे प्रष्टव्यस्य ज्ञानं तथैव
प्रच्छकस्यापि ज्ञानं यत्र प्रश्ने स तथाज्ञाने जानन्नश्च इत्यर्थः ।
एतद्विषयीतस्त्वन्तथाज्ञानः । अज्ञानप्रश्ने, भ० ६ श० ८ उ० ।

अतार-अतार-त्रि० । ६ व० । तर्गीतुमशक्ये, नदीप्रवाहादौ
यस्य हि तरणं नास्ति । “अथाहमनारमपारिस्तीये सौत्रो-
गमि अण्यणं मुयंति ” ॥ १ ॥ ० ।

अतारिम्-अतारिम्-त्रि० । अनतिरङ्गनीये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ०
२ उ० ।

अतारि (लि) स-अतादृश-त्रि० । न० स० । अतस्सदो, “अना-
रिन्मं मुणी ओहंतेरे” । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । उक्त० ।
अतिउट्ट-अतिट्ट-त्रि० । अतिक्रान्ते वृत्तादतिवृत्तः । वृत्तम-
जानति, सूत्र० । “जसौ गुहाय जलणं उतिउट्टे, अविजाणओ रुज्जह,
लुत्तपणो” । उवज्जनेऽप्यावतिवृत्तां वेदनानिपुत्तत्वाद् स्वकृत-
दुश्चरितमजानन्नं सुतप्रज्ञां गतप्रज्ञाविषेको दन्दहात । सूत्र० १
श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अतितिण-अतिन्तिन-त्रि० । न० त० । अलाभेऽपि ईवद्यत्
किञ्चनाभाषिणि, दश० १ अ० । सक्तुकिञ्चिदुक्ते, चूयो-
न्याऽस्ययाऽवक्तव्ये । दश० १ अ० ।

अतिवस्तुंतुं-अतीदृणुतुण्-त्रि० । अनयन्तमेदकुमुके, प-
ञ्जा० १६ विव० ।

अतिक्रमेयवर्षी-अतीरङ्गा (नैऋ) (हृत्पृथु) वैतरणी-स्त्री० । परमाधार्मिकविकृतनरकनद्यास, तं० ।

अतिहृत्पृथु-अहृत्पृथु-वि० । पूर्वमष्टमष्टपुर्वम, वेशाभ्यां त-कारणनिष्पत्तिः । प्रथममेव हृष्टे, "परिसं अतिहृत्पुर्व" । प्रा० ।

अतिष्ठ-अतस्त-वि० । न० त० । असन्तुष्टे, उक्त० " एवं अद-शाधि समापयंतो. भाये अतिष्ठो ङ्हिभो अग्निस्सो" उक्त० १४ अ० । "अतिष्ठा कामायं" । प्रश्न० ४ अ० ३० ।

अतिष्ठप-अतस्तान्-वि० । सानिजाये, षो० ४ वि० ।

अतिष्ठज्ञान-अतस्तान्-पुं० । ६ त० । तपेणं कृतं, कृमिरिति यावत् । तस्य लाभस्तुतलानः, न तथाऽतुतलानः सन्तोयाऽप्रा-प्तौ, उक्त० ३२ अ० ।

अतिष्ठि-अतुमि-स्त्री० । असन्तुष्टौ, उक्त० ३४ अ० । सा च चि-तीयं अज्ञातकणम ।

संप्रत्युत्तिस्वरूपं द्वितीयमतिष्ठित्पुराह-

तिष्ठि न चैव विंदेह, मरुत्ताजोगेण नाणचरणेषु ।

वेयावपतवाऽसु, जटविरियं जावभो जवइ ॥ ६४ ॥

तुमि सेतोपं कृत्तव्योऽश्चेतावतवेत्यं रूप, (नवेति) चशब्दस्य पुराणावशेष विन्दति शान्तेति, अज्ञायां योगेन संबन्धेन ज्ञान-बन्धनयोर्विषये ज्ञाने पठिते यावत् । अज्ञानानुष्ठानं निर्वहन्ति नि-संबन्धे न तद्विषये प्रमाद्यति, किं तर्हि नवनवकुलवैशेष्युक्तो-विशेषतः सेतोवाहो भवति । तथा चोक्तम्-

" जइ जइ सुयमवगाहइ, अइलवरसपसरसंनुयमउअं । तइ तइ पइहाइ सुगुणो, नवनवसंबेगसकाए" ॥ १ ॥

तथा-

"अथो जइल जिह्वुसमेहिं भलिभो जायमिभ मोहककए, बइ गोयममाइएहि सुमहाबुद्धीं ज सुतओ । संबेगइगुणाण बुद्धिजगणं नित्येयनमावहं, कायइवं विदिहा सया नवनवं नाणस्स संपजणं" ॥ १ ॥

तथा आरिषविषये विशुद्धविशुद्धरस्यमस्थानावाप्तये सज्ञाव-सासारं सर्वमनुष्ठानमुपयुक्तमेवाऽनुष्ठिति, यस्मादप्रमादकृताः स-र्वेऽपि साधुष्यापारा उक्तोरस्वरस्यमकतृकारोहणेन केवज्ञहा-मलाभाय भयन्ति । तथा चांगमः-

"जोगे जोगे जिणत्ता-सणमि दुक्कककया पंडंअंत । इक्ककमि अणता, वइता केवलीं जाया" ॥ १ ॥

तथा वैयाच्यतयस्यी प्रीति, आदिशब्दात्पुर्वेक्षणप्रमाण-कादिपरिग्रहः । तेषु यथा नीयं सामर्थ्यानुपेक्षं जायतः सज्ञाव-सासारं यतंत प्रयत्नवान् प्रयति । ष० २० ।

अतिष्ठिलाभ-अतुतिलाज-पुं० । ६ त० । तुमिप्राप्त्यभाये, "संज्ञेगकात्रे य अतित्तलाभे" उक्त० ३४ अ० ।

अतिष्ठि-अतीर्थ-शब्द० । तीर्थस्याऽभावेऽतीर्थम् । तीर्थस्या-नुत्पादे, (अवांतरात्) व्यबच्छेदे च । प्रहा० १ प२ ।

अतिष्ठयगरसिद्ध-अतीर्थेकरसिद्ध-पुं० । न तीर्थेकराः सन्तः सिद्धाः । सामान्यकेवलसु सन्तु गौतमादिवत् सिद्धेषु, प्रहा० १ प२ । ल० । पा० । अ० । स्या० । न० ।

अतिष्ठसिद्ध-अतीर्थेसिद्ध-पुं० । तीर्थस्याभावेऽतीर्थेव, ती-र्थस्याज्ञानानुत्पादोऽपान्तरात्ते व्यबच्छेदो वा, तस्मिन्नेव सि-द्धास्तेऽतीर्थसिद्धाः । न० । तीर्थान्तरसिद्धेषु, अ० । तीर्थान्तरे साधुव्यबच्छेदे आतिस्मरणादिना प्राप्तायवर्गमागौ मरुदेवी-वत् सिद्धाः । स्या० १ उ० १ उ० । नहि मरुदेव्यादिसिद्धिगम-नकाले तीर्थमुत्पन्नमासीत् । न० । घ० । तथा तीर्थेस्य व्यब-च्छेदश्चन्द्रमस्वामिसुविद्युविश्वाम्यपान्तरात्ते । तत्र ये आति-स्मरणादिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धास्ते तीर्थव्यबच्छेदसिद्धाः । प्रहा० १ प२ । स्या० ।

अतिष्ठायवापा-अतिष्ठायवापा-स्त्री० । उडुक्कनयावा, पं० सं० ४ अ० ।

अतिष्ठुक्त्व-अतिदुःख-न० । अतिदुःखे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अतिष्ठुक्त्वधम्म-अतिदुःखधर्म-वि० । अतीव दुःखमशातावेद-नीयं धर्मः स्वनामो यस्य तत्तथा । अकिमिमेयमात्रमपि कालं न यत्र दुःखस्य विश्रामः । ताश्चो नरकादिस्थानं, सूत्र० "सथ य कलुण पुण धम्मठाणं, गढोवणांयं अतिष्ठुक्कधम्मं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अतिष्ठुत्त-अतिष्ठुत्त-वि० । अतीव पुनमष्टकारं कर्म यस्य स्याऽतिष्ठुत्तः । प्रचतुर्कर्मणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अतिष्ठुत्त-वि० । बहुलकर्मणि, "अथ पुरिसं अतिष्ठुत्तं अइ-अरइसे" सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अतिष्ठाप-अतिष्ठाप-पुं० । परेषु तेषु अत्युत्तमप्रसिधेयां ज्ञाने समश्रो तीर्थकरे, सं० ८४ सम० ।

अतिष्ठापया-अतिष्ठाप-स्त्री० । स्वदेलाज्ञानुजलकरणकारण-परिवर्जने, पा० । घ० ।

अतिष्ठुत्त-अतिष्ठुत्त-वि० । अत्यन्तमूर्च्छितोऽतिष्ठुत्तः । विषयदेवदर्शनं प्रत्यभिमुदतामुपने, प्रश्न० ४ अ० ३० ।

अतिष्ठुत्त-अतैल-न० । सर्वथा तैलांशुरहिते, तं० ।

अतिष्ठुत्त-अतिष्ठुत्त-वि० । अतिशयेन प्रजति गच्छतीति, अति-मज-शत् । बाहुल्येन गच्छति, ज० ३ प्रति० ।

अतिविज्ञ-अतिविद्य-पुं० । जातिवृद्धसुखः अश्रुनादतीव वि-द्या तत्पारिच्छत्री यथाऽप्रायवतिविद्यः । जातनिषेदे तत्सह, "तद्भाऽतिविज्ञं परमंति नबा, आयंकरइसी क करइ पायं" । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अतिविद्वत्-पुं० । विशिष्टमह, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अतीरंगम-अतीरङ्गम-वि० । तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमाः (अन्वप्रयः) । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः । तीरं गन्तुमसमर्थेषु, आचा० ।

अतीरंगमा एए, पा य तीरंगमित्तए । अतीरंगमा एए, णाय पारंगमित्तए ॥ १ ॥

(अतीरंगमा इत्यादि) तीरं गच्छन्तीति तीरंगमाः, पूर्व-वत् अन्वप्रयर्थात्कम् । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः (एते इति)नात् प्रत्यङ्गावन्मपनात् कुनीयिकात्वी, इत्येयति । न च

अतीरंगम

ते तीरङ्गमनायेद्यता अपि तीरं गन्तुमसम, सर्वहोपदिष्टस्वाम्यागो-
 भावादिनि भावः तथा (अपारंगमा इत्यादि)पारस्तटः, परकुलं,
 तच्छुक्लतीति पारंगमाः, न पारकुमा अपारकुमाः॥(एत इति)पु-
 षोकाः, पारंगतोपदेशामृते पारकुमनायेद्यता अपि पारं गन्तुमसम । न
 च ते पारंगतोपदेशामृते पारकुमनायेद्यता अपि पारं गन्तुमसम ।
 अथथा गमने गमः, पारव्य पारे वा गमः पारगमः ।
 नृषे त्वनुस्वारोऽज्ञाकृषिकः । न पारगमोऽज्ञाकृषिकमस्तस्मात् अपा-
 रगमनाय । असमर्थेसमासोऽप्यय । तेनायमर्थः—पारगमनाय ते
 न भवन्तीत्युक्तं प्रबन्धि । नन्वात्मनमपि संसारं संसारान्तर्वेतिन
 न्वात्मने, यद्यपि पारगमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वहोपदे-
 शयिकस्तः स्वकचित्परचिततस्मात्पुत्रयो वैश संसारपारं गन्तु-
 मसम । आच्ञ० १ श्रु० २ श्रु० ३ उ० ।

अनुच्छेदजात्र-अनुच्छेदजात्र-त्रि० । अकार्षण्ये, पं० ष० ४ द्वा०
 उद्गाराय, पञ्च० ६ विद्य० ।

अनुरिय-अन्वविरित-त्रि० । स्तिमिते, घ० ३ अघि० । उल्ल०
 विधा० । "अनुरियमचलमसंभंताए अविश्रंविवाए रायहंसस-
 र्स्तीए गदैए" । अन्वविरितया मानसैस्तुक्त्परहितया । कल्प० ।
 देहमनश्चापत्यरहितं यथाभवत्येवम् । अ०१२श०११ उ० । रा० ।

अनुरियगइ-अन्वविरितगति-त्रि० । भायया सोकावर्जनाय
 मन्द्गामिनि, कु० १ उ० ।

अनुरियमासि [ए]-अन्वविरितजापिन-त्रि० । विवेकभावि-
 णि, आच्ञ० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अनुत्त-अनुत्त-त्रि० । तुलामतिक्रान्ते, संधा० । असाधारणे,
 स० ३० सम० । निरुधमे, प्रश्न० १ आश्च० द्वा० ।

अत्त-अत्त-त्रि० । आ-दा-क । युहीते, उक्त० १७ उ० । क-
 रतसपरिपृहीते, द्वा० १ अ० । भीमो भीमसेन इति न्यायात्
 आसो युहीतेः सूत्राद्यो यस्ते आत्ताः । गीतायुध, सु० १
 उ० । स्था० ।

अत्तान्-उ० । स्वस्मिन्, उक्त० ३२ अ० । जीवे, आच्ञ० १ श्रु०
 ६ अ० १ उ० । पञ्च० । स्वनाये, नं० ।

अत्र-त्रि० आ अत्रिभिधित्ना त्रयते दुःखासंस्कृति सुखं चो-
 त्पाद्यतीति आत्रः । दुःखेन सुखसाधके, "गेरहवाचं जंते ! कि
 क्वात्पापेगमला अणत्पापेगमला या ?" ज०१४ श०९ उ० । स्था० ।

अत्रा-त्रि० । आते, उक्त० १२ अ० । अतीव सुदुपरिकर्मते, सु०
 २२० पाहु० । चं० प्र० । स्था० । आतिर्हि रागद्वेषमोहानामैका-
 न्तिक आयत्निकश्च क्रयः, सा यस्याऽस्तित्व संश्रानः अस्मादि-
 स्वात्मस्वधीयोऽप्रत्ययः । स्या० । यथार्थेदशानिगुणयुक्ते पु-
 क्य, नं० १ द्वा० । रागादिप्रमुक्ते, सुव० १ श्रु० ६ अ० ।
 जी० । अप्रतारके, अप्रतारकश्च (प्रकीणदेशः सर्वज्ञः) प्रशेषयो-
 षकृपाद्य भवतीति । उक्तं च—"आगमोऽस्मात्सवचन-मार्तं देशकृपा-
 विदुः । बीतरागोऽपुतं वाक्यं, न प्रयाकेत्यसंभवात्" ॥ १ ॥
 द्वा० १ अ० । स्य० ।

नाणमादशीणि अत्राणि, जेण अत्रो ल सो जवे ।

रानहोसपट्ठीणो वा, जे ष द्वा वा सोधिष ॥ १ ॥

हानादिनि हानदशीचरित्रिणी येनामानि स अन्वयासः ।
 हानादिनिअपत्ये स आत्र इति श्रुत्यसंस्तरम् । ये वा यमज्ञे-

वप्रहीणः स आसः । यदि वा (इहा) इहाः, सोषो शोधिषिचये
 आसाः ॥ ५ ॥ स्य० १० उ० ।

आतस्वरूपं प्ररूपवन्ति-

अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानति, यथाज्ञानं च-
 जियते सं आत्तः ॥ ४ ॥

आप्यते प्राप्यते अर्थोऽस्माद्विप्यासः । यद्वा-आसिः रागादिदो-
 षस्य, सा विधेयं यस्येत्यर्थे आदित्वादि आसः । जानन्नापि
 हि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदाथेन कथयेत्, तद्व्यवच्छि-
 ष्ये यथाज्ञानमिति । तदुक्तम्— "आगमो ह्यातसवचन-आसि
 दोषक्यं विदुः । क्रीणदोषांजुनं वाक्यं, न प्रयाकेत्यसंभवात्" ॥ १ ॥
 अनिधानं च ध्वनेः परस्परयाऽप्यत्र रूपवन्तः । तेनाह-
 वितेस्वन्तद्वारं, अहृकोपदेशेनमुक्तेन, करपद्यव्यादिवेद्याविशो-
 षशेने वा शब्दस्मरणाद्यः परोक्तयोविषये विज्ञानं चर-
 त्यादयति. सोऽप्यास इत्युक्तं नवति । स च स्मर्यमाणः शब्दः
 आगम इति ॥४॥

कस्मात्सूदृशस्यैवाप्यतथाभिप्याहः—

तस्य द्वि वचनमविसंवादि जवति ॥ ५ ॥

यो हि यथावच्छिन्नाभिधेयवादी परिक्रान्तुसारंण तदुपदेश-
 कुगप्रश्न भवति. नस्यैव यस्माद्वचनं विसंवाद्यशब्दं संजायते ।
 सूदृश्यञ्चकवचने विसंवाद्यदर्शनात् । ततो वा यस्माद्यञ्चकः
 स तस्यात इति श्रुत्यायमेव चरसाधारणं बुद्धानामासत्कल्पम-
 नूदितं नवति ॥ ५ ॥

आतमेदी व्योयन्ति-

स च द्वेषा-लौकिको, लोकोचरश्च ॥ ६ ॥

लोकं सामान्यजनरूपे भवे लौकिकः । लोकादुत्तरः प्रधान-
 मोक्तृमार्गोपदेशकवाङ्मोकोत्तरः ॥ ६ ॥

तावेव चद्विति-

लौकिको अनकादिलोकोचरस्तु तीर्थकरादिः ॥ ७ ॥

प्रथमाऽऽदिशब्देन जनस्यादिप्रतः । त्रितीयाऽऽदिशब्देन तु
 गणुचरदिप्रदशब्द ॥ ७ ॥ रत्ना० ४ परि० ।

न च वाच्यमाणः क्रीणसर्वदोषः, तथाविधं चासत्वं कस्यापि
 नास्तीति । यतो रागादयः कस्यचिदत्यन्तनुचिद्व्यपन्ते, आसदा-
 दिषु तदुच्छेदकप्रकार्योपलम्भमात्, सुधायाचारकजसदपट-
 सवत् । तथा चाहः—"देशतो माग्निं भावाः, इहा तिमिलनम्भ-
 राः भेजपकुपाद्या यद्देवं रागाद्या मताः" ॥१॥ इति । यस्य च
 निरवयवतयते विश्वानाः स एवातो जगत्वाद् सर्वज्ञः । अथाना-
 दित्वाद्भागदिनां कथं प्रकथ इति चेत् ? । उपायतस्तद्गवा-
 त्, अनादेरपि सुवर्षमलस्य हारमृष्टुटपाकादिना विलयोपल-
 म्भमात् । तद्वदेवानादीनामपि रागादिदोषाणां प्रतिपक्षरूपरत्न-
 यान्वासनं विप्रयोपपत्तेः, क्रीणदोषोपपत्तेः च केवसहानाम्यनि-
 चारान् सर्वज्ञत्वम् । तस्मिन्दिस्तु-ज्ञानतास्त्वयं कश्चिद्विभ्रान्तं, ता-
 रतमभ्युत्थितः, आकाशपरिमाणतास्त्वयं च । तथा-सुखमात्तरि-
 तद्वाराद्योः, कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, कितिचरकन्धरा-
 धिकरणभूमयजवत् । एवं चरुस्योपरगादिषुचकयं गित्तिहो-
 नाविसंवाद्यान्वायानुपपत्तिप्रसूतोऽपि हेतवः वा । स्याः ॥ १० ॥
 सच० । सायुषी शोधिषिचये इष्टे प्रायश्चित्तं, स्य० १० उ० । मोक्षे,
 सुख० १ श्रु० १० अ० । एकात्तद्विहिते, वि० । अ० १४ श० ६ उ० ।

आर्त्त-त्रि० । म्गानीजूते, भ० ३६ श० १ ३० । दुष्कारे, स्वः०
७ ग्रा० । “कम्मया दुष्मया वेध, इच्छादं सुपुटो जणा” पूर्वा-
चरितेः कर्मभिराप्तौः पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदि
वा कर्मनिः कृष्यादिभिरातोस्तकत्तुमसमर्थः । सूत्र० १ श्रु० ३
अ० १ उ० ।

अत्तउवप्पास-आत्मोपन्यास-पुं० । आत्मान एव उपन्यासो
निवेदनं यस्मिन्तद्वत्तमोपन्यासम् । उदाहरणे, दोष, उपन्यास-
नेदं च । इश० ।

इदानीमात्मोपन्यासद्वारं विकृत्ववशाह-

अत्तउवप्पासमि य, तलागजेवामि पिण्डो यवई ।

आत्मान एवापन्यासो निवेदनं यस्मिन् तद्वत्तमोपन्यासम्, तत्र
च तद्भागेभ्यो द्विपङ्कः स्वपतिरुदाहरणमित्युक्तायः । जावार्थः
कथानकगम्यः स चायम्-“इह एगस्स रत्तो तलागं सव्वरज्ज-
स्स सारुइ, तं च तलागं वरिस्स वरिस्स भगियं निज्जइ । तारुइ
राया जणइ-को सो उवाओ होजा, जेण तं न भिज्जेजा ? । तथ
एगोः कविल्लओ मणुप्पो जणति-जदि तवरं मढाराय ! अक्खिपि-
गुत्तो, कथिल्लियाओ से दाडियाओ, सिरं से कथिल्लियं, सो जाव-
तो च्वे जम्मि टाणं भिज्जति तस्मिं टाणं णिक्खमति, तो जणवं
सु भिज्जति । एवञ्च कुमारासंखण भणियं-मढाराय ! एसो च्वे
एरिसो, जारिसियं जणति, एरिसो नग्धि अओ । एवञ्च सो तथेव
मारिस्सो कथिल्लिसो । एवं एरिस्सो माणियथं जं ऊण्यव-
टाए भवइ ” । इदं लौकिकम् । अनेन लोकोत्तरमपि सूचि-
तम् । एवमप्रदणं तज्जातीयमदणान्तरं चरुकरणात्तुयुगेनेवं
ब्रूयद् यदुत-“ लादयधम्माम्मो वि हू, जे एवमद्दा णगढा ते
उ । कइ द्दव्वसोपरदिथा, धम्मस्साराहया होति ” ॥ १ ॥
इत्यादि । इत्यनुयोगे पुनरंकेन्द्रिया जीवाः, व्यकाञ्चस-
निवेदासादिजीवल्लिङ्गमाद्याः, घटतुः इह ये जीवा न भव-
न्ति न तेषु व्यकाञ्चसनिःश्वासादिजीवलिङ्गसद्भावः, यथा
घटे, न च तथैतेष्वसद्भाव इति तस्माज्जीवा पथेन इत्यत्राम-
नोऽपि ननुपपत्त्याऽऽप्तोपन्यासस्य भावनीयमिति । उदाहर-
णदोषना चास्याऽऽप्तोपन्यासजनकत्वेन प्रकटार्थवति न ज्ञायते ।
ततमात्मोपन्यासद्वारम् । दृश० १ अ० ।

अत्तकद-आत्तकृत्-त्रि० । आत्मायं कृते स्वशुद्ध्यर्थमेव स्या-
पिते, ह० १ उ० ।

अत्तकम्म-आत्मकर्म-न० । ६ त० । स्वदुष्कारिते, “ निच्छु-
न्निग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मोहिं दुम्मई ” द्वा० ६ अ० २ उ० ।
आत्मा अष्टपरकारकमेणाऽऽयतकणकारणामोदनादिनिर्लिप्यते
तदात्मकम् । दृश० । यथाचक्रादिसम्बन्धि कर्म पाकादिलक्षणं,
ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा, तदात्मनः सम्बन्धि क्रियतेऽनेनेत्या-
त्मकम् । ह० ६ उ० । आत्माकर्मशुद्ध्याय, पिं० निक्खेपाऽय्य-तद्द्वयमु-
क्त्वात्मस्य नाम । सम्प्रत्यात्मकम्मनाम्नोऽवसरः । तदपि चात्मक-
मं चतुर्धा । तद्यथा-नामात्मकं, स्यापनाऽश्चर्यकं, कृष्यात्म-
कं, भावात्मकं वा । इदं चात्माकर्मैव तावद्भावनीयम्, याव-
त्तथागतो जन्मशरीरं कृष्यात्मकम् ।

ह्रारीरत्तमवशरीरव्यतिरिक्तं तु कृष्यात्मकं प्रतिपाद्यति-

द्व्वम्मि अत्तकम्मं, जं जो ङ मयाए भवे द्व्वं ।

यः पुरुषो यद्गुण्यादिकं कृष्यं ममायते-मेमेति प्रतिपद्यते । तन्म-

मेति प्रतिपादनं, तस्य पुरुषस्य (द्व्वम्मि अत्तकम्मं ति) ह्रा-
रीरजन्मशरीरव्यतिरिक्तम् । इदं च द्व्वयविषयं, आत्मकम्
भवति । आत्मसंबन्धित्वेन कर्मकणमात्मकं, इति व्युत्पत्त्याऽऽ-
त्मश्रयणात् । ज्ञावात्मकं च द्विधा । तद्यथा-आगतम्, नो-
आगतम् । तत्र आगतं आत्मकं शब्दाधिज्ञाना चोपयुक्तः ।
नो आगतम्ः पुनराह-

भावं आशुपरिणओ, परकम्म अपणे कुणइ ।

अशुपरिणतोऽशुमेन प्रस्तावादाऽध्याकर्मप्रदणकपण भावेन
परिणतः परस्परपाचकाद्यैः संबन्धे यत्कर्म पच्यताम्बनादिजनितं
ज्ञानावरणीयादि, तदात्मनः संबन्धि करोति । तच्च परसंबन्धिनः
कर्मण आत्मायत्वेन करणे, जावे भावत आत्मकं, नो आगतं
भावात्मकं-यथेः । भावेन परिणामविशेषेण परकीयस्यासं-
बन्धित्वेन कर्मकरणं भावात्मकमेति व्युत्पत्तेः ।

एतदेव सार्द्धंवा गाथया भावयति-

आहाकम्परिणओ, फासुयमवि सिकं द्विडुपरिणामो ।

आयपमाणां वज्जइ, तं जाणसु अत्तकम्मं ति ॥ १ ॥

परकम्म अत्तकम्मा, करेइ तं जो गिगिहत्तुं जुंजे ॥

प्राप्तुकम्बेनतद्गुरुणेतदपणार्थं च स्वरूपेण भक्तादिकम् ।
आस्तनामाचक्रैर्यापशुद्धार्थः । संक्षिप्तपरिणामः सखायाकर्म
प्रदणपरिणतः सन्नादसं युगइन् यथाऽऽहर्तदोयेन व्याख्यान-
लक्ष्यमाह, मद्गुणाश्चासाधारणविश्लसादिकथाः, स्वस्थं भाव-
नमिव कुञ्ज कुञ्ज न वा प्रसन्नमधिरोहति । ततो मद्गुणावर्जितं
एव सोऽपि लोकाः पक्खा पाचयिथा च महाभिष्टमिदमाह-
नादिकं प्रयच्छतीत्यादि, स इत्थमाहदानः साक्षादारम्भकतैव
ज्ञानावरणीयादिकमेणा चष्यते । ततस्सज्जानावरणायादिकं
बन्धनमात्मकं जानाई । इयमत्र भावेन-आध्याकर्म, यद्वा-
स्वरूपेण अन्त्याकर्मोपि जन्मवशातो मद्दमेनोत्पत्त्यादिनास्या-
धाकर्मप्रदणपरिणतो यदा युगहाति तदा स साक्षादारम्भक-
तैव स्वपरिणामविशेषतो ज्ञानावरणीयादिकमेणा चष्यते, यदि
पुनरं युगहात्यात्तर्हि न चष्यते । तत आध्याकर्मप्राहणा यत्पर-
स्य पाचकादः कर्म तद्ऽऽप्तोपन्यासं क्रियत इति परकम्म आ-
त्मकं करोति चष्यते । एतदेव रूपं व्यनक्ति- (परकम्म-
त्यादि) तत आधाकर्मं यदा साधुर्हेतुत्वा भुङ्क्ते स परस्परं
पाचकाद्यैर्यत्कर्म तदात्मकं करोति, आत्मनोऽपि संबन्धि
करोताति भावाधे ।

अमुं च भावार्थमेव याकयव्याजानामः परो जात-
संशयः प्रकथयति-

तथ जेव परिकिरिया, कहे तु अण्णय संकम्प ।
तत्र परकम्म आत्मकं करोतीत्यत्र वाक्यं जन्वत् परस्य वक्त-
व्यम् । यथा-कथं पराधिपय परस्य सक्तं ज्ञानावरणीयादि कर्म,
अन्यत्र आधाकर्ममेतज्जः साधी संक्रामतीति भावः न खलु जा-
तुच्छिदपरिपकृतं कम्म अण्णय संक्रामति । यदि पुनरन्यथापि संक-
मसहिं कृपकभेणमधिकुदः कृपापरीतयेताः सकसजगज्जनुक-
र्मनिर्मुत्तनापादनसमर्थेः सर्वेषामपि जन्मनां कर्म ज्ञानामपि संक-
मय कृपयते । तथा च सति सर्वेषामेककालं सुकिरुप जायेत ? न
जायेत, तस्मात्प्रेव परकृतकर्मणामन्यत्र संक्रामः उक्तं च-कृपकभे-
शिपरिगतः समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म कृपायित्वा भवेत् कृपापरी-
तात्मकः यदि कर्मसंकमः स्यात्परकृतस्य । परकृतकर्मणो यत्समा-

आकामति संक्रामो विजगो वा, तस्मात् सत्वानो कर्म यस्य संपन्नं तेन तद्भवति । तत्कथमुच्यते परकर्म आत्मकर्मकिरोतीति ? इदं च वाक्यं पुराणनगमम् । अथथाऽपि केचित्परमार्थमज्ञानाया व्याख्यानयन्ति । ततस्तत्प्रत्ययकृतुमुपपन्नसमाहकुरुष्वभाषे कर्तुं, परप्पञ्चे वि विंति द्वां चो चि ।

केचित् स्वपुत्र्या एव प्रथमरहस्यमज्ञानाः कृतोपमायाः कृतदृष्टान्तेन, भुवने-परप्रयुक्तोऽपि परेण पात्रादिना निष्पादितेऽप्योदानादौ साधोस्तद्वाहकस्य भवति बन्धः । एतदुक्तं जयति-यथा व्याघ्रं कृते स्थापितं मृगस्यैव बन्धो, न व्याघ्रस्य, तथा गृहस्थेन पाकादौ कृते तद्वाहकस्य साधोर्बन्धः, न पाककृतुः । ततः परस्य यत्कर्म ज्ञानावरणोपादि संजयति, तदाधाकर्मप्रदा। स्वस्थेय संबन्धि करोतीत्युच्यते । तदेतदुक्तमपि । जिनवचनविरुक्तव्यात् । तथाहि-परस्थापि साक्षादहरन्कुरुतेत्येव नियमतः कर्मबन्धसंज्ञकस्ततः कथमुच्यते तदुप्राहकस्य साधोर्बन्धो, न पाककृतुः ? । न च मृगस्यापि परप्रयुक्तिसाधोर्बन्धः, किन्तु स्वस्मादेव प्रमादादिदोषात्; एवं साधोरपि ।

तथा चैतदेव नियुक्तिद्वारा-

जगद् य गुरु पमचो, वज्रज्ज कूडे अद्रक्सो य ।
 एमेव जावकूडे, वज्रज्जो असुभजावपरिणामो ॥१॥
 तद्वा उ असुजजापो. वज्रयन्वो..... ।

भणति प्रतिपाद्यति, चः पुनरपि । पुनरर्थव्यायम्-एकः केचन स्वस्य गुरुवरणपशुपासनाविकस्रतया यथाऽवस्थितं तस्मिन्वेदितारोऽन्तरिकं भुवने-गुरुः पुनरगवान् श्रीयशोभद्रसुरिरेवमाह । यत्नेतदावेयिन-जिनवचनमवितथं, जिज्ञासुना नियमतः प्रज्ञानाऽपि स्वस्यगुरुवरणकमलपशुपासनासाध्यं, अन्यथा प्रज्ञया अवेयनयानुपपन्नः । तदुक्तं च-"तत्तदुपेन्द्रयमाणानां, पुगणैरगमिंशान् । अनुपासितवृत्तानां, प्रज्ञा नातिप्रसीदति"॥१॥ गुरुवरणेमेव दर्शयति-मृगोऽपि क्लृप्तः स बध्यते यः प्रमत्तोऽदृक्त्वम जयति । यस्वरममचो दक्षश्च कदाचनपि न बध्यते । तथाहि-अप्रमत्तो मृगः प्रथमतः एव कूटेदेशं परिहरति । अथ कथमपि प्रमादवशात् कूटेदेशमपि प्राप्ता भवति तदाऽपि एव साक्षापि बन्धः पतति, तावद्दक्षतया जगति तद्विषयादपस्यति । यस्तु प्रमत्तो दक्षताराहृतस्व, स बध्यते एव । तस्मान् मृगोऽपि बध्यते । परमाधीतः स्वप्रमादद्विक्रियावशतो, न परप्रयुक्तिसमाहत् । (एयमेव) अनेनेव मृगदृष्टान्तोक्तप्रकारेण (जावकूटे) संयमरूपजानेवचनया कूटेमिष कूटमाधाकर्म, तत्र स बध्यते, ज्ञानावरणोपादि कर्मणा युज्यते, योऽसुभभाचपरिणाम आहारमाचरते, आधाकर्मप्रदातात्मकाश्चुभाभावपरिणामां, न दोषः न क्लवाधाकर्मण कृतोऽपि यो न तद् गृहदाति, नापि भुङ्क्ते, स ज्ञानावरणोपादद्विना पापेन बध्यते । नदि कूटे स्थापितं यो मृगस्त्वेधा एव नायति, आयातोऽपि यत्नतस्तेदं परिहरति, स कूटे बन्धमाप्नोति । तत्र परयुक्तिसाधो बन्धो येन परोक्तोत्पत्तय परहृतकर्मण आत्मकर्मोत्पन्नमुपपद्यते, किरत्यग्माध्वस्यसायज्ञावतः । तस्माद्दृश्यो भो भ्रातृ आधाकर्मप्रहरणरूपः साधुना प्रयत्नेन वर्जयितव्यः । परकर्म करोतीत्येव वाक्यं प्रायः प्रागेव दर्शितः । यथा-परस्य पात्रादर्थोऽकर्म तदारमकर्मो करोति, किमुक्तं जहाति ?-नतामस्यापि कर्म करोतीति, ततो न कश्चिद्वापः । परक-
 १२६

मैणश्चात्मकर्मोत्पन्नमाधाकर्मणो प्रहणे प्रोजने वा स्ति भवति यथा, तत उपचारात्पात्राकर्म आत्मकर्मत्युच्यते । न तु तदाऽध्याकर्म, यदा स्वयं करोति, अन्येन वा कारयति, कृतं वाऽनुमोदते, तदा भेददोषोऽयदा तु स्वयं न करोति, नापि कारयति, नाप्यनुमोदते, तदा कस्तस्य प्रहणं दोष इति ?

अत्राह-

कामं सयं न कुव्वद्, जायतो पुण तद्वा वि तग्गाइ ।
 वहुइ तपसंगं, अगिगएग्गाणो उ वारेइ ॥ १ ॥

कामं सम्मतमत्तद्, यथापि स्वयं न करोत्याधाकर्म, उपलक्षणमेतद्, न वारयति, तथापि मद्दमेतत्प्रियादिति जानानो यदि आधाकर्म गृहदाति तर्हि तद्प्रादं । तत्रसंगं-आधाकर्मप्रहरणसङ्कषेयाता । तथाहि-यदा स साधुराधाकर्म जानानो गृहदाति, तदाऽप्येतां साधूनां हापकानां च पशुवृत्तिरुपजायते-नाधाकर्म प्रोजने कश्चनापि दोषः; कथमन्यथा स साधुजानानोऽपि गृहदातवाम् ? इति । तत एते तेषां शुक्रपुत्राद् संतत्या साधूनामाधाकर्मभोजने दोषेकालं वदंतीति वाचकायविघातः, स परमार्थतस्तेन प्रव्यते । यस्तु न गृह्णाति स तथाभूतप्रसङ्गवृत्तिं निवारयति; प्रवृत्तेरयोभावात् । तथा चाह-(अगिगएग्गाणो उ वारेइ) ततोऽतिप्रसङ्गदोषमथाकृतकारितदोषरहितमपि नाधाकर्म भुञ्जीत । अन्यथ तदाधाकर्मं जानानोऽपि नृजानानो नियमतोऽनुमोदते । अनुमोदना हि नाम-अप्रतिषेधनम् । अप्रतिषेधनमुमोदनमिति विदित्यथादाह । तत आधाकर्मोऽजने नियमतोऽनुमोदनदोषोऽनिवारितप्रसरः अपि च-वयमाधाकर्मप्रोजने कदाचिन्मनोहाहारप्रोजनविषयतया स्वयमपि पचेत् पाचयेद्वा । तस्माच्च सर्वथा आधाकर्मं ज्ञोक्तव्यामिति स्थितम् । तदेवमुक्तमात्मकर्मिति नाम ॥ १ ॥ नि० चू० ।

असग-आत्मग-त्रि० । आत्मनि गच्छतीति आत्मगः । आन्तेर, "विच्छाण अस्मं मोय" सूत्र० १ श्रु० ए० छ० ।

असगवेमण-आसंगवेषण-न० । अस्याद्यापस्तु, आसैस्य, उपलक्षणमेतद् । आनासैस्य वा, गवेषणं तुल्यभद्रस्यसंपादानादिरूपमासंगवेषणम् । औपचारिकविनयभेद, व्य० १ उ० ।

असगवेसणया-आसंगवेषणता-अ० । अर्था भ्यामीमूतं गवेषयति भेषयद्वादिना योऽन्त्यावर्तगवेषणः तदुभाव आसंगवेषणता । भ० २५ श० ५ उ० । आर्थास्य तुःशान्तस्य गवेषणमौपधादित्वात्संगवेषणम्; तदेवातंगवेषणतिति । पीकितस्योपकार इत्यर्थः । स्या० ७ उ० ।

आत्म (सु) गवेषणता-अ० । आत्मना, आत्मेन वा तुल्य गवेषणं सुस्थदुःस्थतयोःवेयलं कार्यमिति । लोकोपचारविनयभेद, स्या० ७ उ० । अ० ।

साप्रतमासंगवेषणरूपविनयप्रतिपादनार्थमाह-

द्ववावःमासुं, अचमपणे गोवेसं कुणइ ।
 अद्यापि तुल्यभद्रस्यसंपत्तौ च । तथा च भवति केतुचिद्देशोयवस्यादिषु दुर्बंभे घृतादिद्रव्यामिदं । आदिशब्दात् के-
 त्रापदादिपरिभ्रदः । तत्र केत्रापिदं कामारादिपत्तने, कात्रापिदं दुर्बिके, भावापिदं गाढाज्ञानेन । आसैस्य पीकितस्य अत्यन्त-
 हिष्युतया, आनासैस्य वा यथाहासिः यद् गवेषणं करोति तुल्य-
 भद्रव्यासिसंपादयति, स आसंगवेषणविनयः । व्य० १ उ० ।

असृष्टगवेषय

असृष्टगवेषय-आत्मगवेषक-पुं० । आत्मानं चारित्र्यात्मानं गवेषयतीति आत्मगवेषकः । कथमर्थं मम स्वादिति संपन्नजीवमार्थगतिरात्, "तिगिरच्छं नाभिर्भेदेजा, संविक्लेशस्तगवेषय । एवं श्रुत् तस्स सामर्थं, जत्र कुञ्जा न करेजः" ॥१॥ उक्त० २ उ० ।

नो ताहिं विहृषेजा, च करेजस्तगवेषय ।

आत्मानं गवेषयन्, कथं मयाऽऽत्मा भवतिनस्तारणीय इत्यन्येषयते । " आत्मगवेषकस्त्रिंशः स्वकृपापातः " इति वचनात् । त्रिंशोऽऽत्मा । ततः कथं मयाऽऽत्मा स्वादिश्वन्येषक आत्मगवेषकः । यथा आत्मानमेव गवेषयन् इत्यात्मगवेषकः । किमुक्तं भवति-स्वत्रालङ्कारशालिनोरपि स्वियोऽवश्लेष्य तदृष्टिद्व्यासस्य वृष्टताऽवगमात् फट्टिति ताज्यो वृष्टुपसंहारत आत्मानं श्लेषेय ज्ञात । उक्त० ३ अ० ।

असृष्टगामि (ष्)-आप्त (स्य) गामिन-पुं० । आप्तं(मांक्तं) गच्छति तच्छ्रीशः । मांक्तगमनशील आत्माइतिगामिनि, सर्वज्ञोपदिष्टमार्गगामिनि वा मुनौ, " मुसं न कृया मुनिं असृष्टगामि " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

असृष्टगुण-आत्मगुण-पुं० । बुद्धिसुखलुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारेषु जीवगुणेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

असृष्टित्त-आत्मचिन्तक-पुं० । आत्मानमेव चिन्तयतीति । परकार्यमनोपेक्षैवात्मानं चिन्तयति गणधारणायोऽप्ये, इयं ।

असृष्टज्ञयमेगपरं, पदिवज्जिस्तंति असृष्टिंती० ।

जो वि गणे वि वसंतो, न वदति तर्त्ती तु अज्ञेति ॥१॥

य आत्मानमेव केवलं चिन्तयन्त्यने-यथाऽऽत्मगुणयुजं जिनकथं यथा लङ्कहपानामांकरं प्रतिपत्त्ये इति आत्मचिन्तकः । योऽपि गणेऽपि गच्छेऽप्य,यसन्न तिष्ठन्न न वदति न करोति, त्वमित्येव साधुनां सोऽप्यात्मचिन्तकः । एतौ चाप्यात्मचिन्तकावन्तौ । इयं ३ उ० ।

असृष्टत-आत्मपट्ट-पुं० । आत्मा पट्ट इति । पञ्जानं ज्ञानामात्मा पट्टः प्रतिपाद्यत इत्यर्थे पञ्जमं सूत्रकृताङ्कस्य प्रथमेदृशकस्य अर्थांश इति, सूत्र० ।

सांभ्रतमानमपट्टवादिमनं पुर्वेषकृयितुमाह-

मंति पंच मट्टवृया, इह मेगंति आदित्या ।

आयच्छो पुणे आह, आया लोगे य सामे ॥१॥

(संनोत्यादि) सन्ति विद्यन्म, यञ्ज महात्तनाति प्रुषय्याद्विनि, इहास्मिस्तंसांरे, एकेयां वेदवादिनां सांख्याःनां शैवाधिकारिणां च, एतद्वाक्यात्मा आख्यानाति च त्तानि ते च सांदिन एवमाहुर्वेषवामानातवन्तः-यथा आत्मपट्टानि आत्मा पट्टो येषां तानि आत्मपट्टानि, त्तानि, विद्यन्त इति । एतानि चात्मपट्टानि ज्ञानानि यथाऽप्येयां वादिनामित्यानि तथा नामीचामिति दर्शयति-आत्मा, शोकश्च पुंश्रुष्यदिरूपः शाश्वतोऽविनाशः । तत्रात्मनः सर्वव्यापित्वात्तदने-स्वाकाकाशस्येव शाश्वतत्वम्, पृथिव्यादीनां च तत्प्राप्रच्युत्तरांशवन्ध्याविति ॥ १५ ॥

शाश्वतत्वमेव ज्ञयः प्रतिपादयितुमाह-

हुहओ ण विणुस्संति, नो य उपज्जे अस्सं ।

सत्थे वि सक्कहा भाया, निरत्तीभायामागया ॥ १६ ॥

(बुद्धश्चो ण विणुस्संतंतीयादि) ते आत्मपट्टाः पृथिव्याऽयः

पदार्थाः(उजयत इति)निर्हेतुकसहेतुकविनाशप्रयत्ने न विनश्यन्ति । यथा बौद्धानां स्वत एव निर्हेतुको विनाशः । तथा च ते कस्युः-" जातिव्यं हि ज्ञायाव, विनाशो देहतिरुप्यते । यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्यत्यश्चात्स केन च? " ॥ १ ॥ तथा च हेतुशेषिकाणां बहुतादिकरणसांनिध्यं विनाशः सहेतुकः । तेनाजयरूपेणापि विनाशेन शोकामनोने विनाश इति तात्पर्याथः । यदि वा (हुहओ ण)द्विकृपायात्मनः स्वभावाच्चेतनचेतनरूपज्ञविनश्यतीति । तथादि-पृथिव्यन्तजोवाय्याकाशानि रूपापरित्यागनया नित्यानि ; न कदाचिदनीदृशं जगदिति कृत्या आत्माऽपि नित्य एव, कृतकत्वादिष्यो हेतुषु ॥१॥ एवं च कृत्या चोक्तम्-" नैनें जिम्हन्ति शाखाणि, नैनें ददति पावकः । न चैनं क्रुदयन्त्यापि, न शोषयति मातः ॥१॥ अच्येयोऽयमदाहोऽय-सर्विकार्योऽयमुच्यते । नित्यः सर्वगतः स्वाधु-रच्छलोऽयं समानतः" ॥ २ ॥ एवं च कृत्या मानद्वयगतः, सर्वस्य सर्वज्ञ सद्भावान् । अस्यति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवादः । यदि वा असद्वयगतं, अरदिप्राणादिरप्युत्पातः स्वादिशः । तथा चोक्तम्-"अस्वदकरणदापदा-नदणतसर्वस्यभवानावान् ।शकस्य शषयकरणात्, कारणभावात्च सत्कार्यम्" ॥१॥ एवं च कृत्या मूर्तिपदेऽपि घटोऽस्ति, तदर्थिनो मूर्तिपदेऽपिपादानान् । यदि वा असद्वयगतं, ततो यतः कृत्यश्चदेव स्यात्प्रवश्यमेतदर्थिनो मूर्तिपदेऽपिपादानमेव क्रियते, इत्यतः सर्वे चकारणे कार्यमुत्पद्यते इति । एवं च कृत्या सर्वेऽपि ज्ञायाः पृथिव्यादय आत्मपट्टानित्यानिनित्यं नित्यत्वमागतानि, नामापरूपताम् । अत्रभूयां च भायकपतां प्रतिपद्यते । अर्थाविर्भावान्तात्रावमात्वात्पुनरासतिनाशयोपरि । तथा चविहितम्-" नामेनां जायते भावो, नाशायो जायते सत " । इत्यादि । अस्यासर्वं नियुक्तदृहाह-" को वेप " इत्यादि प्राक्-स्येव गाथा । सर्वेपदार्थानित्यत्वात्पुनरागमं कर्तुं-वर्षिणामो न स्वात्, ततश्चात्मानोऽकर्मण्येव कर्मणात्प्रायात्तद्भावाच्च को वेदयति, न कश्चिन्मुल्लटः स्वादिकर्तुनुभवतीत्यर्थः । एवं च सति कृतनाशः स्यात् । तथा असत्प्रोत्यादाजाये येयं मया आत्मनः पुंभावापरित्यागनापरतावत्पत्तिरुक्त्या पञ्जया गतिरुच्यते, सानस्यात् । ततश्च मांक्तगतेरजावादीः कृादिक्रियाऽनुष्ठानमनर्थकमापद्यते । तथाऽप्रकृत्याऽनुष्ठानार्थस्यैकस्वजादव्येन त्वात्मनो देवमानुष्यमात्यागती, तथा विस्मृतेरजावाद् जानिभ्रमणार्थिकं वा न प्राप्नोति । यत्कोक्तम्-सदेवापद्यते । तदत्यसन् । यतो यदि सर्वथा सदेव, कथमुत्पादीः। तपश्चेत्, तर्हि सर्वेऽऽत्मादितातो चोक्तम्- "कर्ममुत्पाप्येदेशः, प्रागुत्पत्तेर्न सति । यत्कामाः । कायैस्सदिकृत्यै, क्रियावृत्तेश्च कर्तुं गामः" । तस्मान्नसर्वपदार्थानां कथं-चिद्विषयत्वं सर्वसत्कार्यवादश्चेत्यवधार्यम् । तथा चाभिहितम्-" सर्वद्विकृपु नित्यते, कृणे कृणोऽप्यवयमद्य च न विशेषः । सत्यश्चिन्त्यपचित्यो-नाकृतिजातिव्यवस्थानान्" ॥१॥इति । तथा-"नाय्यः स हि भेदव्या-क भेदोऽवयववृत्तितः । मुष्टद्वयस्यसंभो-यसिजात्यन्तरं घटः" ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० १ उ० ।

असृष्ट-आत्मस्य-त्रि० । आत्मानं तिष्ठतीति आत्मस्यः । जीवस्य, "आत्मस्य श्लेशेय-प्रकाशकं निर्विकल्प परानन्त्या" । नीतादिपरिच्छेदक-मत्र ध्रुये चिति समयज्ञाः " ॥१॥ धा० १५ विव० ।

आत्माधी-त्रि० । आत्मनोर्गाथं स्वभावाय, श्रु० २ अर्थ० ।

आत्मनोऽर्थः आत्माथः । अर्थममानया स्वर्गादी, आत्मनोर्थ आत्माथः । आत्मव्यतिरिक्तं, मोक्तं च । उक्त० । "इह कामनिर्वृत्तस्य, असृष्टे नाऽपरऽस्मद्" उक्त० ८ अ० । हा० ।

असत्करणजुक्त-आत्मार्थिकरणयुक्त-त्रि० । आत्महितार्थकर-
रणयुक्ते, पं० चू० ।

असत्तद्गुरु-आत्मार्थिगुरु-त्रि० । आत्मनः स्वस्य अर्थेः प्रयोजनं
गुरुवत्स्य स आत्मार्थिगुरुः । उक्तं ३३ अ० । आत्मार्थे एव
अचयनो गुरुः पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थिगुरुः । दश० १
अ० । स्वप्रयोजननिष्ठं, “ चित्तोद्दिष्टं परितावद बाले, पीडितं
असत्तद्गुरु किलते ” उक्तं ३२ अ० ।

असत्तद्द्विचिंतन-आत्मार्थीचिन्तक-पुं० । आत्मन एव केवलस्यार्थं
भक्त्यादिकरणं चिन्तयति, न बाह्यादीनाम्, तथाकल्पसामाचा-
रादित्यात्मार्थचिन्तकः । यज्ञा-आत्मार्थो नाम भतीचारमलि-
नस्यात्मनो यथाकेन प्रायश्चित्तविधिना निरतिचारकरणं वि-
शेषाध्यायस्यार्थः । चिन्तयन्तीत्यात्मार्थचिन्तकः । परिहारतपः प्र-
तिपक्षत्वेनाऽऽत्माध्यायचिन्तकः, व्यव १ उ० ।

असत्तद्विषय-आत्मार्थिक-त्रि० । आत्मार्थं भवमात्मार्थिकम् । आत्म-
नोऽर्थं आत्मार्थस्तस्मिन् जवमात्मार्थिकम् । आत्मन एवार्थे, “ उ-
वक्षस्व नैरण्य मादणानं, असादित्यं सिद्धमोदगपक्षम् ” ॥ ब्राह्म-
णानामात्मनोऽर्थं आत्मार्थस्तस्मिन् जवमात्मार्थिकम्, ब्राह्मणैर-
प्यात्मनैव ज्ञेयम्, नचाऽन्यस्मै देयम् । उक्तं १२ अ० ।

असत्ता-आत्मता-स्त्री० । आत्मनो जाव आत्मता । जीवास्ति-
तायाम्, स्ववृत्तकर्मपरिणतां च । “ इह खलु असताप तदि-
तेदि कुलेदि अनिस्परण सनुता ” आत्मा० १ अ० ६ अ० १ उ० ।

असत्ताण-आत्मताण-न० । ६ त० । आत्मरक्षायाम्, सूत्र० १
अ० ११ अ० ।

असत्तासंभुत-आत्मान्मंभुत-त्रि० । आत्मन्यात्मना संभुतस्य
प्रतिसंज्ञानं, ज० ३ श० ३ उ० ।

असत्तुक्कारिण-आत्मतुक्कारिण-त्रि० । स्वपापवि-
धायिनः, “ संपरादय णियच्छंति, असत्तुक्कारिणां ” सूत्र०
१ अ० ८ अ० ।

असत्तोम-आत्मतोष-पुं० । ६ त० । आत्मपाराधं, स्यात्त० ज० ।

असत्तोमोवसंहार-आत्मतोषोपसंहार-पुं० । ६ त० । स्वकी-
यदोषस्य निरोधलक्षणं एकविंशं योगसंप्रदेशं, स० ३३ सम० ।

असत्तोमोवसंहार-
वारवइ अरिहमिचे, अणुत्तरौ चैव तद्द य जिणदेव ।
नेगस्स य उप्पत्ती, पदिंसदो अणुत्संहारे ॥ १ ॥

आसत्त्व्या महापुरुषोर्माहंमित्रो वणिग्वरः ।
अनुत्तरौ प्रिया तस्य, जिनदेवश्च तत्सुतः ॥ १ ॥
दोमस्तदपान्द्रोप्राप्त्यं, शाक्येन न चिकिरिस्तुम् ।
आहुवैद्या कजोऽनुच्य, निवृत्तिर्मसभकृणाम् ॥ २ ॥
स्वजनाः पितरौ चाप्य, सर्वे प्रेम्णा भजन्ति तम् ।
सोऽवदत्त नैव भोष्येऽहं, सुखिरं रक्षितं ज्ञानम् ॥ ३ ॥
मृत्युं स्वहृदयं सायद्यं, प्रत्याचक्षवी विचक्षणः ।
ह्युजनाभ्यवसायेन, स्वात्मदोषोपसंहृतेः ॥ ४ ॥
अथाप्यं कथलहानं, सिक्तिसौधं जगाम सः ।
आ० क० । आ० १ । आ० चू० ।

असत्तुक्कारिण-आत्मतुक्कारिण-त्रि० । स्वपापवि-
धायिनः, “ संपरादय णियच्छंति, असत्तुक्कारिणां ” सूत्र०
१ अ० ८ अ० ।

असत्तोम-आत्मतोष-पुं० । ६ त० । आत्मपाराधं, स्यात्त० ज० ।

असत्तोमोवसंहार-आत्मतोषोपसंहार-पुं० । ६ त० । स्वकी-
यदोषस्य निरोधलक्षणं एकविंशं योगसंप्रदेशं, स० ३३ सम० ।

त्वादिभवणतो शुडीलामातो वा ददोकाकपरलोकयोः सद्बु-
धरुपतया दितां प्रज्ञामात्मनोऽप्येषां वा बुक्कुत्तकंम्याकुलीक-
रणतो इतिय स आसत्प्रज्ञा, आसत्प्रज्ञाहा वा । स्वस्य परेषां च
तत्त्वबुद्धिरिति पापअभये, उक्तं १७ अ० ।

असत्तपणोसि (ए)-आत्मप्रज्ञान्वेपिन-पुं० । आत्मनः प्रज्ञा
ज्ञानमात्मप्रज्ञा, तामन्वेष्टुं शीलं यस्य स आत्मप्रज्ञान्वेषी । आ-
त्मज्ञानाऽन्वेपिणि आत्महितान्वेपिणि, सूत्र० १ अ० ६ अ० ।

आत्मप्रज्ञान्वेपिन-पुं० । आतो रागादिषोषविषयमुक्तं, तस्य प्रज्ञा
केवलज्ञानाभ्या, तामन्वेष्टुं शीलं यस्य स आत्मप्रज्ञान्वेषी ।
सर्वैकाकान्वेषिणि, “ वीराजं अत्तपणोसि, धितमिंता जिदं-
दिआ ” । सूत्र० १ अ० ९ अ० ।

असत्तपणदृढ (ए)-आत्मप्रअदृढ-पुं० । आत्मनि प्रअ आत्मप्र-
अस्तं हन्यात्मप्रअदृढं । केनाचिकृतस्य प्रअस्य वज्रके पापअ-
मोत्तं, यथा-यदि कश्चित्परः पुच्छेत्, किं भवात्तरयादीं अयमा-
त्त, उत नेति ? । ततस्तमेव प्रअमानवाचाज्ञतया हन्ति, यथा-
नास्त्यात्मा, प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनुपलभ्यत्वात्; ततोऽयुक्तोऽप्ये
प्रअः; सति हि अर्थिणि धर्माश्चिन्त्यन्त इति । उक्तं १७ अ० ।

असत्तपसाणोस्तेस-आत्मप्रसन्नलोश्य-त्रि० । आत्मनो जीवस्य
प्रसन्ना मनोराण्यकसुधा पीताण्यतरा लेश्या यस्मिंस्तदात्मप्र-
सन्नलेश्यम् । उक्तं १२ अ० ।

आत्मप्रसन्नलोश्य-त्रि० । आत्ता प्राणिनामिदं परत्र च हिता प्राप्ता
वा तैरेव प्रसन्ना लेश्योत्कृष्या यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्यम् ।
आत्मनिर्मलत्वकारणेन तेजःपद्मशुक्लादिलेश्यात्रयेण सहितं,
“ धर्मे हरप बभे, संति तित्ये अणाविले । असत्तपसाण-
लेस्ते, ” उक्तं १२ अ० ।

असत्तजाव-आत्मतजाव-पुं० । स्वार्जिमायं, सूत्र० १ अ० १३ अ० ।

असत्तमद-आसत्तमि-त्रि० । आसत् आसत्प्रधाने मतिर्येषां ते आसत्-
मतयः । आसत्प्रधानोपयुक्तेषु, आनु० ।

असत्तमाण-आवर्त्तमान-त्रि० । आ-वृत्त-शानच् । “ यावत्ता-
व जीवितोऽस्यते मानवप्रमाथारकदेवकुलेभ्येवैवः ” ॥ २२ ॥ ७१ ॥
इति वस्य लुक् । संयोगादित्वाद् द्वयः । अश्वस्यमाने, प्रा० ।

असत्तमुक्त्व-आत्ममुख्य-पुं० । आत्मेपु मध्ये मुख्यमिव सर्वोक्त-
ताप्रधानत्वेन मुख्यं “ शास्त्रादेयं ” ॥ ७१ ॥ ११४ ॥ इति द्वैम-
सूत्रेण तुल्ये यः प्रत्ययः आसत्प्रधानं केवलज्ञानिनि, तं ।

असत्तय-आत्मय-पुं०-स्त्री० । आत्मनः पितृशरीराज्जात इत्या-
त्मजः । अङ्गजे पुत्रे, तादृश्यां पुत्र्यां च । यथा भरतस्याऽऽदि-
त्यश्याः । स्यात् १० ज० । ज्ञा० । विपा० ।

असत्तल्लिय-आत्मललाधिक्य-पुं० । यः आत्मन एव ल-
त्का लक्षिभक्तदिलाभो यस्योऽऽसावात्मललक्षिकः । स्वल-
लक्षिकं, पंचा० १२ विध० ।

असत्तव-आर्त्तव-त्रि० । अतुरस्य प्राप्तः, अणु । अतुभवे पुष्पा-
दौ, “ आसत्तवःपुत्रनुजाना, पुष्पाणि च फलाणि च ” रजसि
च, बाळ० । नि० चू० । (अस्य इत्यत्रा ‘ गम्य ’ शब्दे वक्ष्यते)
असत्त्रयणशिद्देस-आत्मवचननिर्देश-पुं० । आत्मस्य अप्रपत्तर-

असत्तपणदृढ (ए)-आसत्तपणदृढ-पुं० । आत्मनि प्रअ आत्मप्र-

कस्य बचनमासवचनं, तस्य निर्देश आसवचननिर्देशः । सर्व-
लोकानाम्, "धर्मो मंगलयुक्तिं ति पश्चात् अक्षययथाहिरेस" ।
६४० १ अ० ।

अक्ष (एष) संजोग-आत्मसंयोग-पुं० । आत्मनः संयोगो क्षो-
परात्मिकादिभिर्भावैर्जावितस्य सम्बन्धरूपे संयोगभेदे, अक्ष० १
अ० । ("संजोग" शब्दे वैष्य विशेषतो दृशयिष्यते)

अक्षसंपरिग्रहिय-आत्मसंपरिग्रहीत-त्रि० । आत्मेव संप-
ग्रहीतः-सम्बद्ध प्रकर्षेण ग्रहीतो येनाहं विनीतः सुसाधुरित्ये-
वमादिना स तथा । आत्मोत्कर्षप्रधानं, द्वा० ६ अ० ४ ड० ।

अक्षसक्विय-आत्मसाक्षिक-त्रि० । आत्मा एव साक्षिको
वर्षति आत्मसाक्षिकः । स्वसाक्षिके, " आत्मसाक्षिकस्य-
मे-सिद्धौ किं लोकयात्रया ? " । अक्ष० २३ अक्ष० ।

अक्षसप्त-आत्मसप्त-त्रि० । आत्मसप्तये, ६४० १० अ० ।

अक्षसमाहि-आत्मसमाधि-पुं० । ६ त० । स्वयङ्कसिद्धौ, मा-
ध्यस्थवचमादिना पराजुपधाते च । सूत्र० १ श्लो३ उ० ३ अ० ।

अक्षसमाहिय-आत्मसमाधिक-पुं० । चित्तस्वास्थ्यवति, सू-
त्र० १ श्लो३ अ० ३ ड० ।

अक्षसमाहित-त्रि० । आत्मना समाहित आत्मसमाहितः । ज्ञा-
नदृष्टानचारिभोपयोगे सदापयुक्ते, आचा० १ श्लो ४ अ० ३ उ० ।
आत्मा समाहितोऽप्येत्यात्मसमाहितः । आहितभ्यादिदर्श-
नादापर्यव्याह वा निष्ठाभ्रतस्य परनिपातः । यद्वा-प्राकृते पूर्वोत्त-
रनिपातोऽप्येवः । समाहितमित्यर्थः । शुभव्यापारवति, आचा०
१ श्लो ४ अ० ३ ड० ।

अक्षसुभ-आत्सुभ-त्रि० । आत्सो क्षीतरागस्तरस्य वाक्यं
सिद्धान्तसेन शून्यं वार्जितमासुभयमिति मध्यपदसोपौ समा-
सः । आसुभाक्येन शून्यमासुभयं स्वमत्या असंभविने विर-
क्तस्य शोके प्रथमोर्वाहसिते, (देवसेन परतःप्रपञ्चनमचीकरत्)
द्रव्या० ६ अथा० ।

अक्ष (आय) हिय-आत्माहिङ्-न० । ६ त० । आत्मापका-
रके, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वा० । विशे० । आत्माहितं दुःखेनाऽसुमना
संसारं पर्यटताऽकृतधर्मोनुष्ठानेन ह्यभ्यते अथाप्यत इति । त-
थाहि- " न पुनरिदमतिदुर्लभं-मगाधसंसारजन्धिष्विष्येत् ।
मानुष्यं ज्योतिषं-तन्निद्राताबलसितप्रतिमम् " ॥१॥ सूत्र०
१ श्लो ६ अ० २ ड० ।

अक्षा-नेशो-जनन्याय, पिनुष्वसति, श्वश्राय, बबस्यायं च ।
दंजा० १ वर्गं ।

अक्षागम-आत्मागम-पुं० । अपीक्षेये आगमे, " वयणेण का-
वजोगा, भवेत्थ य सो अणादिसुखस्स । गदणमि य नो हेऊ,
सायं अक्षागमो कहे षू " ॥१॥ उक्त० २ अ० ।

अक्षाण-अक्ष्राण-त्रि० । ६ ब० स० । अनर्थप्रतिघातकवर्जिते,
प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । शरणविरहिते, आ० म० द्वि० ।
स्कन्ध-यस्त्रस्रगुदश्रीनीये देशान्तरे गच्छति, कार्पाटिके च । १० ।
चिकित्सायुग्मेऽथं चिदृच्छाविधिः-

अक्षाण चौर भेया, वरगुर मोनिय पलाइणो रडिका ।
पडिचरगा य सहाया, गमणागमणम्मि नायक्या ॥

(अक्षाण णि) संयता आत्मेनैव चौरादिसहायविग्रहिता ग-
च्छन्ति । एष चूष्णोऽभिप्रायः । निशीथचूष्णोऽभिप्रायस्तु- (अक्षा-
ण णि) अक्ष्राणां नाम स्कन्धन्यस्तलमुदचित्ताया ये देशान्तरे
गच्छन्ति, कार्पाटिका वा । ६० १ उ० । आत्मसाध्यस्य तुनीयेक-
वचनेऽपि 'अक्षाण णि' इयं भवति । " अक्षाण ऋत्विग्माहिया
करेति " आत्मना अनिग्रहीता, अनिग्रहीतात्मन इत्यर्थः । प्र-
श्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अक्षाहिङि-आत्माधिक-त्रि० । आत्मलक्षिके, च० ३ अक्षि० ।

अक्षि-आक्षि-कां० । उपलभ्यो, द्वा० १० द्वा० । रागद्वेषमोहा-
नामैकान्तिके आत्यन्तिके च कृपे, स्या० ।

अक्षिज [य]-आक्षेत्र्य-पुं० । अक्षिवश्ये श्रेयो, " जीणे प्रो-
जनमात्रेयः " का० १० । ('संखेव ' शब्दे कथा इत्यथा)

अक्षीकरण-आत्मीकरण-न० । अनात्मन आत्मत्वेन करणं आ-
त्मीकरणम् । आत्मसात करणे, पि० । स्ववशीकरणे, नि० वू० ।
तच्च राजार्दानो संयतेन करणीयम् । तदुक्तम्-

जे भिक्खु रायं अक्षीकरेइ, अक्षीकरंते वा साऽज्जइ । नि० वू० ।
अक्षीकरणे रमो, सान्नायियं कडंते चं मायुस्वं ।

पुञ्जावरसंबन्धे, पञ्चस्य परोक्तस्येकैकं ॥ १ ॥

ते पुण पञ्चीकरणं दुविधं-सान्नायिय, कडंतिवये च । साभा-
वियं संतं सत्तं चेत्तमां, तस्स मयाणज्जइ, कंतंते पुण अक्षियं ।
ते पुणो एकेके दुविधे-पुण्वं संवृता वा (अवग्रभितं) पञ्जा सवन्ते ।
ते पुणो दुविध-एवकत्तं, परोक्त्तं च । पञ्चकत्तं सयंमं करंते,
परोक्त्तं श्रेण्यं कार्पाटिं । अदवा राइः समकं प्रयत्तम्, अ-
न्याया परोक्षं भवति । संते पञ्चकत्तपरोक्त्तं इमं भवति-
रायभरणीम्म कुलघर-गताएँ जितो मि अक्खियाएँ वा ।
निव्वामियपुत्तोवमि, अमुगच्छगएण जानो वा ॥३॥

रायाएँ मंते देवी आवसुसत्ता कुलघर गया, नांमे अइं पुक्कां,
जहा-सुडुगकुमारां । अक्खियाएँ य जहा-पुलमवतीएँ करकंठू-
कोरियरायपुत्तो शिच्छंइं । अएण्थ गतेणं तेणाहं जानो, जहा-
अमयकुमारां । अमुगच्छगएण रणएँ अइं जानो, यथा-वसुदे-
वेषेण जरकुमारां, वत्तरमहुरवणिएण वा अयं णियपुत्तो संते प-
रकरयं कहे संनवति ।

दुष्टमपवेमलजा-श्लो० य एपेवअम्यचमादीहि ।

पञ्चकत्तपरोक्त्तं वा, करेज वा संयंते को वि ॥ ४ ॥

तस्य रायकुले दुष्टमो पवेसो, सज्जालुमां वा, सो साधु अण-
णो असत्तो, असत्तीकरयं कामं, ताइं अम्यचमादीहिं कार्पाटिं,
एमव गदणायां असत्तं संवरकति । एते चैव कुलधरादिंकारणा
जडवज्जणतो पञ्चकत्तं परोक्त्तं संयंते करेज, अम्यचमा-
दीहिं वा कारवेज ।

एषो एगतेरेणं, अक्षीकरणं तु संतं-असंतेणं ।

अक्षीकरंते रायं, लहुमा वा आर्यामादीणि ॥ ५ ॥

संते पञ्चकत्तं परोक्त्तं वा मासहइं, असंते पञ्चकत्तं परो-
क्त्तं वा चवसहुं, आणादिणो य हांसा, अणुजोमे पडिभोमे वा
उचसगो कएज्ज ।

रागा रायसुद्धी वा, रायामिक्का अमित्तदुद्धिो वा ।

जिक्खुस्स व संबंधी, संबंधिमुद्धी व तं सोभा ॥ ६ ॥
 सयमेव राधाः राहः सुहृदः, ते पुनः स्वजना मित्राणि वा, राधो
 अमित्राः; ते स्वजना दायदाः, अस्वजनाः केनचित्कारणेन नि-
 कृताः । अमित्राण्य वा जे सुहृदो, साधुस्स वा जे संबंधीषो,
 ताण्य वा संबंधीण्य जे सुहृदी, तत् सोभा दुबिंह उवसण्णं करेज्ज ।
 संजमविण्यकरे वा, सरीरवाहाकरे व भिक्खुस्स ।

अणुलोमे पडिलोमे, कुज्जा कुबिषे व उवसण्णो ॥ ७ ॥
 संजमविण्यकरे वा उवसण्णे सरीरवाहाकारके वा करेज्ज, जे
 संजमविण्यकरा तं अणुकूला इतरे पडिकूला । एते दुबिहे उव-
 सण्णं करेज्ज ॥ ७ ॥

तरिधमे अणुकूला-

साइज्जणु रज्जसिरिं, अुरारायचं व गेएहसु व भोगे ।
 इति राय तस्सुह्हीसु वि, उच्चैज्जितरे व तं घेणुं ॥ ८ ॥
 राधा अणुति-रज्जसिरिं साइज्जणु, अयं ते पयच्छामि
 अुरारायचं, विविद्धे वा भोगे गेएहसु । इति उपपर्युत्थे । राधा
 पय । तस्य सुहृदः, तेऽप्येवमेवाः ॥ (इतरे ऋि) जे राधो पडिणी-
 या, पडिणीयाण वा जे सुहृदो, ते तं उपपव्यावेउ घेणुं वि उ-
 त्थणं करेज्जा, उदुमरं करेतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सुहृदो व तस्स विरिय-परकमे एाउ साहते राधो ।
 तो सेही एस णिवं, अम्हे तु ए मुठु पणणेइ ॥ ९ ॥
 जे पुण भिक्खु, ते तस्स साइज्जणु विरियवत्तरिकाणा ण-
 उ उपपव्यावैति, साहेति वा, राधो सो तं अप्पव्यावेइ, ते पुण
 किं अप्पव्यावैति, एस रायाणं तो सेहिति णि । अम्हे राया ण्य
 मुठु पणणेइ ॥ ९ ॥

इमे सरीरवाहाकरा पडिकूला उवसण्णा-

ओजासितु पिम्मं-किएण कुज्जा व रज्जविषे ये ।
 एपेव सुहृदि दरिमिते, णियपपोसितरे मारे ॥ १० ॥
 राधा भयति-अहो ! इमेण समणेषु महापण्णमज्जे ओभासिओ
 पिण्णु मुएडितेन उरात्मना य एवं भावते, अहवा एव भोगा-
 भिलाषी मम परिसं भिदिउं रज्जविण्णं करेज्ज, तं सो राधा
 हणुएज्ज वा, बंधएज्ज वा, मारंएज्ज वा, राधो जे सुहृदी, तेहिं अणुओ
 राधो इरिसिते, राधा तहं पडिकूलं उवसण्णं करेज्ज ।
 इतरे णाम जे राधो अमित्रा, अमित्रसुहृदो वा, ते राधो पडि-
 णीयताए तं मारंएज्ज, भिक्खुस्स णीया वा पडिलोमे उवसण्णं
 करेज्ज ॥ १० ॥

उद्धंसिणमो लोणं-सि भागहारी व होहि वा माणे ।
 इति दायिगादिणीता, करेज्ज पडिलोमवसण्णो ॥ ११ ॥
 उद्धंसिय णि ओभासिया-अम्हे एतण्य लोणं मज्जे ओभा-
 सिआ वा एस अम्हे भागहारी होहि णि, मा वा अम्हे अधि-
 क तरो एतथ रायकुले होहि णि, बुध्वयस्ययाए बंधाहपरिं उसा-
 वेति वा, जम्हा एते दोसा तम्हा ए कण्यति एणो अत्तीकरणं
 काउं, कारये पुण्य कण्यति ॥ ११ ॥

गेलाएण रायपुट्ठे, अवरज्जविककरोहणञ्जाणे ।

शिलोमज्जावण्य सासण-णिकलमणुधेदसकजेणु ॥ १२ ॥
 गिलाएणस्स वेजेण उवविद्धं-वसतेणं कल्लाणययं तिसणं, महा-
 तिसणं वा, कलमसालिओयणो वा, तण्णि परं एणो इहेज्ज,
 माहं जयथाए अत्तीकरणं करेति ॥ १२ ॥

इमा जयथा-

एणमादिमतिकेतो, परोक्कं ताहे संतऽसंतेणं ।
 एमेव य पचकल्लं, जावे णाणं तु चउयजुओ ॥ १३ ॥

पण्यपरिदणीयाए जाहे मासलहुं पत्तो ताहे संतं परोक्कं
 राधो व भावो आणियण्णो, म्रियाणियेति, जो य रयखउज्जुत्तो
 यो दण्णोत्तो; तेअत्ती वा स अत्तीकरणं करेति, रायपुठे
 वा उवसमण्यठा वेरज्जे वा आत्मसंरक्षणायं विवदरज्जे वा
 संकमणटा रोहणे वा णिणामणठा अयमता वा मणहु
 राधो वा सद्धि अय्यं गच्छता बहुसु षण्यसियसु कारणेसु
 एमेवम अणुपुंत्ती जसहुटा, वादकासे वा पवयणअज्जयणठा,
 परिणीयस्स वा सासणहु अत्तीकतो वा जे णिक्कमज्ज, तव-
 हुटा धम्मं वा पडिवज्जिउकामस्स धम्मोवदसदाणठा कुलगणा-
 दिकजेसु वा अणणेसु ।

एतोहं कारणेहिं, अत्तीकराणं तु होति कायवर्णं ।
 रायारक्खियणामार-एणम सच्चं वि एस गणो ॥

एतेहिं उक्तराणेहिं वा राधो अत्तीकरणं करेज्ज, रायाणं जो रक्क-
 ति सो रायारक्खिओ-राजशरिंररक्कः । तस्य वि सो वेव लुगरं
 रक्कति ओ सो णगररक्खिओ-कोट्टयासमं । सत्वपणहंओ जो
 रक्कति सो णियमारक्खिओ-सो सेठं । हेत्तो विसमं, तं जो र-
 क्कति सो देसारक्खिओ-वोरंउररणिः । एताणि सव्वाणि जो
 रक्कति सो सव्वारक्खिओ । एतेषु सर्वकार्येष्वपुच्छनीयः स च,
 महाभासाधिकनयेत्यर्थः । एतेसि पंचगहं सुत्ताणं इमं पच्छं अ-
 हंसें करेति, रायारक्खियणागरणंमे सच्चं । अणिकाव्हाइसा-
 रक्किंओ द्रष्टव्यः । एतेसु वि एसेव उवसण्णाऽववायगमो हच्छंमो ।
 नि० चू० ४ उ० ।

सुत्रपाउस्सेवम-

जे भिक्खु रायारक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइ-
 ज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खु रायारक्खियं वा अत्तीकरेइ,
 अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खु णियमर-
 क्तियं वा अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥
 जे भिक्खु सव्वारक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइ-
 ज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खु गामरक्खियं अत्तीकरेइ, अत्ती-
 करंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खु देसरक्खियं अ-
 त्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खु
 सीमरक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥
 जे जिक्खु राधो रक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ
 ॥ १५ ॥ नि० चू० ४ उ० ।

अणुक्कुरिस-आत्तोत्कर्ष-पुं० । पञ्चमे गौयमोहननीयमैसि, स०
 ५२ सम० । अहमेव सिक्कात्यायेधेयं मापरः कश्चिन्मनुष्योऽ-
 स्तीत्येयंरूपप्रभिमाने, "ण करेति दुक्कमोक्कं, उज्जममाणो वि
 संजमतेवसु । तम्हा अणुक्कुरिसं, यजेयण्णो अजिजणेणं" ॥११॥
 ख० १ सु० १३ अ० ।

अणुक्कोसिय-आत्तोत्कर्षिक-पुं० । आत्तोत्कर्षोऽस्ति वेषां ते
 आत्तोत्कर्षिकाः । गर्वप्रधानेषु वामप्रस्थेषु, झी० ।
 अत्तोवणीय-आत्तोपनीत-न० । आत्तोपनीतस्तथा निवेदि-
 तो निवोजितो यस्मिन्स्तथा । परमतद्वृषणयोषासे सति आत्म-

अत्रोक्तधीय

मत्स्यैव दृष्टतयोपनायकं ज्ञानं, यथा पिङ्गलेनाऽऽत्मा । तधादि-
 कथामिदं तदागममेदं भविष्यतीति राज्ञा पुष्टः । पिङ्गलाभिधानः
 स्वपतिरस्योक्त-नेदस्थाने कपिशविष्णुं पुरुषं तिष्ठति स्मानीति ।
 अस्मार्थेन तु स एव तत्र तदनुपस्थाशिक्षात् इति । तत्र आमेव नि-
 युक्तः स्ववचनदोषात् । तदर्थेवंचिय आत्मेपनीतमिति । अत्रोदाहरणं
 यथा— “सर्वे तसत्वा न हस्तव्याः” इत्यस्य पक्षस्य दूषणाय क-
 षिदाह-अन्यधर्मस्थिता इतव्या विष्णुस्य दानवाः । इत्ये-
 वेवादिनामात्मा इत्यन्यनपनीतो धर्मन्तरस्थितपुरुषाणामिति,
 तदोपेता तु प्रतीतैवास्त्येति । स्या० ४ उ० ३ उ० ।

अत्य-आद्ये-पु० । अर्थनमर्थः । अहृष्टेऽपि बलयादी भ्रुवा तद-
 भिप्रायमात्रे, दृश० १ अ० । विद्यापुर्वे घनाज्ञे, आ० म० द्वि० ।
 अर्थेनेऽपिगम्यतेऽर्थेते वा याक्यते बुद्धुःसुतिरत्यर्थः । व्याख्या-
 ने, “जो सुखाभिप्रायो, सो अर्थो अत्रउप य जम्ह ति” । स्या० २
 उ० १ उ० । विशेष० । श्री० । “अर्थस्य रमे अणुश्रींशो ति वा
 ति श्रींशो ति वा भासति वा विभासति वा घस्यति वा एगदा”
 आ० ष० १ अ० । अर्थेऽस्त्विधा-सुखाभिप्रायः, दुःखिप्रायः, अन-
 विगमश्च भोतारं प्रति भिद्यते । तत्र सुखाभिप्रायो यथा च-कुष्म-
 त्तिकश्चर्मनिपुणस्य रूपसक्तिः । दुःखिगमस्तु-अनिपुणस्य । अन-
 विगमस्तु-अन्यस्य । तत्रानविगमरूपोऽवस्थेव । सुखाभिप्राय-
 स्तु-विविक्तस्ताविषय एव न जयति । दुःखिगमस्तु-देशका-
 स्त्वभावाविप्रकृतविविक्तस्तागोचरीभवति । आ० १० ४
 अ० ३ उ० । अ-गौ, अर्थेते गम्यते, ज्ञायत इत्यर्थः विशेष० । सूत्रा-
 निधिंय, उक्ता०, आ० प्रवा० नि० षु०, आ० म० प्र० । पं० य० ।
 दृशा० नं० । ज्ञानाचारविषयमेदं यथायं पक्षाः करणाय, न-
 त्वेतिभेदः दृशा० १ अ० । “(णा)गवात्” शब्दे विशेषो वक्ष्यते।प०
 ष० नि० षु० । सूत्रतात्पर्यं, ४०४ अर्थि० । अर्थेते प्रार्थते इत्यर्थः ।
 स्वर्गापवर्गप्राप्तिकारणयुते, उक्त० १८ अ० । इत्ये, आव० ४ अ० ।
 भागिकककदा, कथय० । शुद्धादेर्विषयभावेन परिणते इत्यस-
 यूह, विशेष० । राजलक्ष्म्यादी, स्या० ३ उ० ३ उ० । आचू० ।
 “स्थानचतुर्थोयं वा” । उ० । ३३ । इति सक्तिःस्यार्थज्ञास्य
 उक्तं प्रयोजने एव जयति । धनं तु ‘अर्थो’ प्रा० । अर्थेते गम्यते,
 साध्यत इत्यर्थः । सूत्रस्यभिप्राये, “जो सुखाभिप्रायो, सो अ-
 र्थो अत्रउप जम्हा” विशेष० । अ० प्र० । सूत्र० । य० । आ० ।

अधुना त्वाध्यायस्तेष्वमहा-

(धर्मो एमुवइहा), अत्यस्य च उचिर्वहो उ निरलेवो ।
 आदेण उचिर्वहोऽत्यो, चउसइविहो विजागण ॥११॥
 अर्थस्य चतुर्विधस्तु निक्षेपो नामादिभेदात् । तत्रैवेन सामा-
 न्यतः षड्विधोऽर्थः । आगमनेआगमभ्यनिरिक्तो ह्यर्थः चतु-
 षड्विधिवो विभागेन विशेषणैति गाथासमुद्धार्यार्थः ।

अथवार्थं त्वाह—

धर्माणि रयण यावर-दुपय चउप्यय तहेव कुविअं च ।
 आदेण उचिर्वहोऽत्यो, एसो धीरोहं पन्नतो ॥ १६ ॥
 धान्यानि यथादीनि, रमे सुवर्णं, स्यावरं वृमिगृहादि, द्वि-
 पदं गन्धमादि, चतुष्पदं गमादि, तथैव कुण्डं च तात्रकलशाद्यंन-
 कविष्य । आंशेन षड्विधोऽर्थः, एषाऽन्तर्गतविन, धीरेस्तीर्थ-
 करणधरेः, प्रह्लासः प्रकृति इति गाथायः ॥ १६ ॥

एतमेव विभागात्प्राग्भिषम्भराह—

चउर्वासा चउर्वासा, तिग दुग दग्हा अणेगविह एव ।

स्वर्सेसि पि इमेसि, विभागमहयं पवस्त्वामि ॥ १७ ॥

(चतुर्विधतचित्तुविशतीति) चतुर्विधतविधो धान्यायो, र-
 त्नाथेअ (अत्रिदशधत्) त्रिविधः स्यात्तथायः, त्रिविधो
 द्विपदायः, दृशविषयभनुपदायः । अनेकविषय एतयेनकविषय-
 कुप्यायः स्वर्षेनामप्यर्थोयं चतुर्विधतचित्तुविशतीति चतुर्विधासादिंसंख्याजि-
 हिनानां धान्यादीनां विभागं विशेषय, अधानन्तरं प्रवक्ष्यामी-
 त्यर्थः ॥ १७ ॥ दृश० ६ अ० । (धान्यादीनां व्याख्या स्वस्थान-
 ने दृशोपस्थितं) “अर्थात्तामज्ञेते तु-समज्ञितानां च रक्तेषु ।
 आद्यं दृक् स्वयं दुःखं, विद्ययं दुःकारणम्” ॥ १ ॥ स्या०
 ३ उ० ३ उ० । ‘धिरुद्यं दुःखद्वयंनम्’ । दृश० १ अ० । ‘धिययो-
 ऽनर्थनाजन्म’ इति वा पाठान्तरम् । घ० ३ अर्थि० ।

इदानीमर्थे इति तृतीयं भेदं प्रकटयिषुराह—

सयज्ञाणत्युत्पत्तिपत्ति, आयासाकिस्तेसकारणमसारं ।
 नाऊण एणं धीमं नहु लुन्दं ताम्पि तणुयामि ॥६३॥
 इह धने ज्ञात्वा तत्र न सुद्यन्तीति योगः । किं विशेषं चरम-
 सफलानर्थनिमित्तं समस्तदुःखनिवन्धनम् । आयासाश्चसंबंदः ।

यथा—

“राजा रोन्वति किं तु मे हनयहो दुग्धा किमेतकमे,
 किं धाम्मं प्रतविण्यः कृतीनेन लास्यन्वदा गोत्रिकाः ।
 मांविप्यन्ति न स्वयः किमु तथा नथा निम्बानं वृवि,
 ध्यायन्नेमहादर्थं धनयुतोऽप्यास्तेनतो दुग्धिनः” ॥ १ ॥
 तथा क्रेशः शरीरपरिभ्रमस्तयोः कारणं निवन्धनम् । तथादि-
 “अर्थायं नरकचक्रकुलजलनिवयं केचिदुद्धारणंति,
 प्राधुष्णुष्णानिप्रातेतिथितिशिकणक ज्यमन्ये विशानि,
 धीनोष्णाम्भसमीरस्यमिततनुजनाः श्रेष्ठिकां कुयेतेऽभ्ये,
 शिष्टे चान्तल्पेदं विदुप्रीति च परे नाटकां च केचित्” ॥२॥
 तथा असारं, सारफलांशपानात् । यदाह-

“ध्याधोश्रो निदलादि मृत्युजननयानि-कृयेन क्रमं,
 नेष्टाऽनिष्टवियोगायोगहानिकम्प्यह न च प्रत्ये च ।
 विन्तावन्पुत्रिणीचवधेनवधप्रासाऽऽप्यदं प्रायशो,
 विचं विचाविचक्षणः तसामपि त्सावहं नेक्षते” ॥ ३ ॥
 इत्थं भूतं धनं ज्ञात्वा, न लुप्यति नैव गृह्यति, धीमान् बुद्धि-
 माय, ताम्भ्ये द्रव्ये, चारुदक्षवत तनुकाम्यं स्तोकरामि आस्मानं
 बह्वित्येपरर्थः । भावभावको हि नान्यायेन तदुपाजनाय
 प्रवर्तते, नाप्युपाजितं तुष्णावान् भवति, किं तदिह-

“आयाददं निरुज्जात, धर्मं समर्थिके ततः ।
 शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमहेकम्” ॥ १ ॥
 इति विमृशन् यथायोगं तत्समवेद्योऽयं व्यवतीति । घ० २० ।
 अर्थ्येते परिच्छिद्यते इति अर्थः । पदायं, “सदेव सत् स्यात्स-
 दिति त्रिधाऽर्थो, मांयेत दुर्नीतनयप्रमासोः” । स्या० । अर्थ्येते
 इत्यर्थः । द्रव्ये, गुणे च, “अर्थो दर्वे गुणे वा वि” उक्त० १ अ० ।
 पुरुषार्थभेद, यतो हि सधेयमोजनासक्तिः । घ० १ अर्थि० । प्रयो-
 जने, “स्थानचतुर्थोयं वा” ॥२॥ ३॥ इति [हिसम्भ] उक्त्वामार्थं
 कदाचिन्न भवति । “अणुगहर्षं सुविहितयास्य” इत्येव प्रयो-
 जनायं कर्त्येनैवाऽर्थशब्दस्य व्याख्यानात् । आ० १ । अय० । घ० ।
 “अर्था ति वा हे उ ति वा कारण ति वा एगदं” निष्क० २० उ० ।

अत्य

साम्प्रतं धर्मादीनामेव संप्रजतासंपन्नते अभिधित्पुराह-
धम्भो अत्यो कामो, भिन्ने ते पिठिया पटिसवसा ।

जिणवययं ठत्तिष्ठा, अद्रवसा हांति नायव्वा ॥११॥

धर्मोऽर्थः कामः, यत्र एते पिण्डता युगपरसंपातेन प्रति-
सप्तलाः परस्परविरोधिनः, लोकैः कुप्रवचनेषु च । यथो-
क्तम् "अर्थस्य मूलं निवृत्तिः समा च, कामस्य चिन्तं च बहुषे-
वन्न । धर्मस्य दानं च दया दमन्न, मोक्षस्य सर्वोपरमः
क्रियायुः" ॥ १ ॥ इत्यादि । एते च परस्परविरोधिनोऽपि सन्तो
जिनप्रवचनमयतीर्थाः, ततः कुशलाशययोगतो व्यवहारेण
धर्मादितत्त्वस्यकपतो वा निश्चयेन असप्तलाः परस्परविरोधि-
नो न भवन्ति, ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

तत्र व्यवहारेणाधिगेधमाह-

जिणवययमि परिणप, अनत्यविह्विआणुआणो धम्मो ।
सच्छाऽऽयप्ययोगा, अत्यो वीसंभमो कामो ॥ १० ॥

जिनवचने यथावत् परिणये सति अयस्योचितविहितानुष्ठा-
नात् स्वयोग्यतामपेक्ष्य दर्शनादिभावकप्रतिमाङ्गान्कारण-
निरतिचारपालनाद्भवति धर्मः । स्वच्छाऽऽयप्रयोगाद्विशि-
ष्टलोकनः पुण्यपालाच्छायाः विश्रमन्त उचितकलाङ्गीकर-
णताऽपेक्षा विषम्येण काम इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अधुना निश्चयेनाविरोधमाह-

धम्मसम फसं भोक्खो, सामपमउलं सिवं अणावाहं ।
तमधिप्येया माहू, तम्हा धम्मऽत्यकाम चि ॥ ३१ ॥

धर्मस्य निरतिचारस्य, फलं मोक्षो निर्वाणम् किं विशिष्टम् ?
इत्याह-श्रावते नित्यम्, अधुनामन्यतुल्यम्, शिवं पवित्रम्, अ-
नावायं वापावर्जितमेतदेशार्थः ॥ धर्मोऽर्थो मोक्षमभिप्रेताः काम-
यन्तः साधवो यस्मान्प्रस्माजर्मार्थकामा इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥
एतदेव हृदयवाह-

परसोगमुत्तिमगो, नत्थि हु मोक्खो चि र्विंति अविहिन्नु ।
सो अत्थि अविहो जिण-मयमि पवरो न अन्नत्था ॥ ३२ ॥

परसोकां जन्मान्तरलक्षणो, मुक्तिमार्गो, ज्ञानदर्शनचरित्राणि
नास्त्येव मोक्षः सर्वकर्मफलक्षण इत्येवं भ्रुते च विधिज्ञा-
न्यायमार्गाप्रवेदिनः । अत्रोच्यते-स परसोकादिः अस्यैवा-
वितथः सत्यो, जिनमते चीनरागवचने प्रवः पूर्वोपारविरो-
धेन; नाथयैकान्तानिवादी, हिंसादिविरोधादिति गाथार्थः
॥ ३३ ॥ दश० ६ अ० ।

अस्त-पुं० मेरी, यतस्तेनान्तरितो रावेरसंगत इति स्वपदि-
श्यते । सं० ३१ सम० । निरस्ते अविद्यमाने, चि० हा० १३ अ० ।

अन्न-न० । अस्यते क्षिप्यते । अन्न-द्रव्यं । ज्ञेयो शरादी, वाच० ।
धनुरादिषु, च० २ अत्रि० । रिपुषेणसामने साधने,
प्रहरणमात्रे अहगावाचयि, वाच० ।

अत्यअवमम-अर्थोऽवमम-पुं० ६१ त० । अर्थपरिच्छेदे, दश० १ अ० ।

अत्यंगय-अस्तंनत-चि० । अस्तनपर्वते प्राप्ते, दश० ४ अ० ।

अत्येतर-अर्थान्तर-न० । वस्तुवत्तरे, यो १६ विब० । पृथग्युते,
दश० । नामाध्यामिदृशानोऽस्तस्यभेदे, च० १ अत्रि० । न्यायमते
हृदयस्यस्यै प्रयुक्तस्यसामर्थ्यादनुद्वेगसिद्धयल्लक्षणे बुद्ध-
साधनवाक्ये, वाच० ।

अत्यंतकृपावाशा-अर्थान्तरादिभावना-की० । अतीकृपावच-
भेदे, यथेश्वरादिः कर्त्ता समस्तस्यास्य जगतः क्रोधादिक-
वायाऽऽभ्यातवेतसः प्रकृत्यवपापस्य । दश० ।

अत्यकृत्विय-अर्थकहाइति-चि० । काह्ना घृष्टिः, आसक्तिरित्य-
र्थः । अर्थे द्रव्ये काह्ना अर्थकह्ना, सा संज्ञता अत्येति अर्थका-
ह्निः । म० १ अ० ७ उ० । प्रातेऽप्यर्थे अविच्छिद्येच्छे, म० १३
दश० ६ उ० ।

अत्यकृत्प्य-अर्थकृत्पि-पुं० । भावश्चक्यादिश्रुतमशोतवति, पुं०
अर्थकृत्पिकमाह-

अत्यसस कपिभो लुहु, अत्रवसगमादि जाव स्यमर्गं ।
पोषुणं ज्येसुवं, जेण अरीयं तदत्यस ॥

आवश्यकमादि कृत्वा यावत् सुप्रकृतमङ्गं तावत्, यद् येना-
धीतं स तस्यार्थस्य कल्पिको भवति । सुप्रकृतानुष्ठापेपि जे-
दक्षुतं मुक्त्वा यद् येनाधीतं सूर्त्तं स तस्य सुप्रसन्न सत्यतत्त्व-
प्यर्थस्य कल्पिको भवति । जेसुणणि पुणः पठितानपि याव-
दुपरिणतं, तावन्न आश्रयते, यदा तु परिणतं भवति तदा क-
ल्पिकः ॥ ७ ॥ वृ० १ उ० ।

अत्यकृत्प-अर्थकृत्प-की० । अर्थार्थे, " आसगणानं च अत्यकृत्प"
दश० ६ अ० ।

अत्यकर-अर्थकर-पुं० । अर्थस्य करस्तकरणशीलोऽर्थकरः ।
प्रशस्तविचित्रकर्मकृत्योपशामातिभोवतो विद्यापूर्वे धनार्जनकर-
णशीले, धा० म० हि० ।

अत्यकहा-अर्थकृया-की० । अर्थस्य कथा लक्ष्म्या उपायप्रति-
पादनपरे वाक्प्रमथनात्मके कथाभेदे, उक्तं च-" सामादि-
धातुवादादि-कृत्वादिप्रतिपादिका । अप्रौपादानपरमा, कथाऽर्थ-
स्य प्रकीर्तिता" ॥ १ ॥ तथा-" अर्थोऽर्थः पुष्पाश्रयं, प्रधानः
प्रतिभासते । नृणावपि लघुं लोके, धिगर्थोऽर्थात्तरं नरम्" ॥ इति
एतदेव विस्तरत उक्तम् ।

अधुनाऽर्थकथामाह-

विज्जासिप्पमुवाओ, अण्णियो संचओ य दक्खत्तं ।
सामं दंदो भेओ, उवप्यपानं च अत्यकहा ॥ १६५ ॥

विद्या शिल्पमुपायोऽनियेदः संख्येन्न दक्षत्वं साम इत्ये-
भेद उपमदानं आर्थकथा, अर्थप्रधानत्वादित्यङ्गारयोः । प्राव-
येस्तु बुद्धिबन्धनादवसंयः । तदर्थम्-" विज्जा पदुक्खअथक-
दा; जो विज्जाए अर्थे उवउपयति; जहा-पणेण विज्जा सा-
हिया, सा तस्स पंचयं पइपजायं देह । जहा वा-सव्वइस्स
विज्जाइरक्खक्खइस्स विज्जापजायेण प्रोमा उवणया । सव्वइ-
स्स उव्वत्तो जहा य सङ्कुल्ले वत्थियो, जहा य भेइस्सो नामं
कयं । एवं निरवत्तं जहाऽऽवस्सए जोगसंघंहेहु, तहा भाणिय-
वं । विज्जा सि गयं । इयाणि सिप्पे सि । सिप्पेणऽथो वञ्जि-
याइ सि । एत्थ उवाहरणं कौक्कासो जहाऽऽवस्सए । सव्वइ-
स्सए यि अक्कजाणयं जहाऽऽवस्सए तहा भाणिययवं । उवाच सि
गयं । इयाणि आण्णिये संखए व प्कय्येव उवाहरणं-अमणय-
णिओ । सो यि जहाऽऽवस्सए, तहा भाणिययवं" (अप्रतनं तु
"बुक्खा" शब्दे वच्यते) दश० ३ अ० । विद्यादिभिरभ्यस्तप्रयाणा
कथा अर्थकथा । सदस्तस्यकर्म बन्तुसर्वकृपामिति पर्या-
संचिन्त्या वर्तव्याम्, स्या० ॥

अत्यकामय-अर्थकाम-नि० । अर्थं इत्ये कामो वाङ्मार्गं च-
क्याऽसावर्थकामः । इत्ययं वाङ्मके, ज० १ श० ७ उ० ।

अत्यक्रियया-अर्थक्रिया-शी० । सुकृतःशोपनोमे, क्या० ।

अत्यक्रियाकारि [ञ]-अर्थक्रियाकारिन्-नि० । अर्थक्रि-
याकरवशीहे, भा० म० द्वि० ॥

अत्यकुसल-अर्थकुशल-रुं० मर्षोपाजंनं इस्तन्नाघवाविप-
रित्यागेन कुर्वति, दृश० ५ अ० ४० १० ।

सम्बन्धयंकुशल इति द्वितीयं भेदं व्याचिख्यासुगीयापूर्वादेव्य
द्वितीयं पादमाह-

....., सुप्रहृ तयत्वं तद्वा सुमित्यस्मि ।

क्षुणोत्याकर्णयति, तदर्थं सूत्रार्थं, तथा तेनैव प्रकारेण स्वर्-
मिकौचित्यरूपेण, सुगीयं सुकृतमूलं । यत आह-

“तिर्ये सुत्तार्थार्थं, गदहं विदिणा उ इत्य तिर्यमिणं ।

उभयन्तुं खेव गृक, विदिभो विद्ययाह भोविष्तो” ॥१॥ इत्यादि ।

अन्यमाशय-आविमदपुत्रवत् संविष्णोतायं गुरुसमीपभ-
वनसमुपपन्नप्रवचनाथेकौशलेन प्राधभावकंण भाव्यमिति ।

आविमदपुत्रकथा चैवम-

“इत्येव अंबुदीवे, भारद्वाजस्तस्व मज्जिमे खंने ।

अन्ति पुटी आलभिया, न कथा वि अरीहि आलभिया ॥१॥

सुगुरुपसायसहस्यसि-विमलबहुवचनअत्यकोसज्जो ।

इतिभद्रपुत्रनामो, सङ्को तप्यासि सुवियुक्तो ॥ २ ॥

अत्रे वि तथ्य नियसे-ति सावया प्रायया सुदृढधम्मा ।

इतिनद्रुश्रो करया, वि तेहि मिलिप्येहि इय पुत्रो ॥ ३ ॥

जो भो देवात्पुपिया । देवान् तिरे कहेसु अग्रहाण ।

सो वि तु पवयणमणिय-पयस्यसुकुसलो वि इय जण्ण ॥ ४ ॥

असुरां नामा २ विजु, ३ सुवज्जुप अमरी उ वा उ दयाणिया उ या

उदही उ वीव ६ विसा वि य, १० वसहा इह हुंति नवणवर्षे ॥५॥

पिसाय १ लूया २ अक्क्या य, ३ एकलस ४ किनरा य ५ किपुरिसा ६ ।

महोरणा य उ गंधष्ठा उ, अट्टविहा वाणमंतरिया ॥६॥

सालं र वि २ गह ३ नक्कला, तारा ५ जोरसिय पंअहा देवा ।

वेमाणिया य दुविहा, कपण्या कण्ण उतीया य ॥ ७ ॥

तत्र कल्पगताः-

सोदमी-१-स्याण ३ सण-कुमार ३ माहिद् ४ पुंजन ५ संतगया ६ ।

सुक ७ अहस्ताकाणय, ८ गणय १० आरय ११ अकृष्णपञ्जा १२ ।

कल्यातीतास्त्रिये-

सुवतरिण १ सुपुबबं ३, मणोरं ३ स्ववभ ५ सुविसां ५ ।

सोमसुं ६ सोमाणस ७, पीडकरं खेव ८ नेदिकरं ९ ॥ ६ ॥

विजयं १० वेजयंतं, २ जयंतं ३ अपराजियं ४ सवठं ५ ।

यपसु अ गया ते, कप्पारिया गुणयव्वा ॥ १० ॥

अमरवीज अवर अदिथं, विचहुपलियं तु लेसजन्माणं ।

आर्द्धं दो हेसुणं, तारापलियं वणयराणं ॥ ११ ॥

सालियं वासरसकं, वाससदस्सं च पलिय मत्तं च ।

खडमागो य कामेणं, ससिरपिगइरिक्कलात्ताणं ॥ १२ ॥

दो १ सादि २ सत ३ सादिथ ४, ५ ध ६ ख उ ७ ८ सत ९ अयर जा सुकोर

पक्किआ १ रितगदुवरी-तितीस अणुपारेसु परं ॥ १३ ॥

इसवरिससहस्सारे, नवणवर्षेसुं तिरे अइआओ ।

पलखउप्रागो चंवा-इखरु तारेसु अरमागो ॥ १४ ॥
पलियं १ सादिथ २ दो अवर ३, सादिथा ४ सत ५ सव ६ खडस ७ ।
सतरस उ अ सदस्सारे, तवुवरी इग अरयुत्ति ति ॥ १५ ॥

मौह अणुकोसठिरे, अयरा तितीस हुंति सवठे ।

एतो परेण देवा, देवाण तिरे य किञ्चिद्धं ॥ १६ ॥

इतिनद्रपुत्रकथियं इणमठं, सुदुट्टियं पि ते सक्का ।

सव्वे असाइत्ता, नियनियगेहेसु संपत्ता ॥ १७ ॥

सुपभूयभिसिआह-अपवरपुट्टयवहसमुदमज्जो ।

अह तथ्य वीरसामी, सामीयरसमपहो पत्तो ॥ १८ ॥

सिरिपवयणउत्थप्यण-पुव्वं अयता य पायमणत्थं ।

इतिनद्रपुत्रसहिदा, ते सव्वे सावया पत्ता ॥ १९ ॥

काठं पवाहि गतिं, सुभसिजुत्ता नमिउ ते सामि ।

निसियंति उचियेसे, इय धम्मं कइइ नुवणगुक् ॥ २० ॥

भो जणिया । अइजुल्लं, नरजम्मं लहिय उअमह सव्वे ।

अन्नायु इणणत्थं, पवयणमणियथकासङ्गं ॥ २१ ॥

इय आर्यभियधम्मं, ते सङ्गा विनवंति अयपइणो ।

तं देवधिरेविससे, सव्वं इतिभइसुयकथियं ॥ २२ ॥

तो संसइ संसवरे-पुपुउदरणे समीरणो सामि ।

भो अहा । देवठिरे, पमेव अहं वि जणेमि ॥ २३ ॥

इय सोतं ते सङ्गा, इतिनद्रसुयं सुयत्थकुसलकाइ ।

आमितु नमितु एहं ते, संपत्ता नियनियगिरेसु ॥ २४ ॥

इयरो वि चंदिंय जिणं, पुत्तिउयविस्साहं सगिहसपुत्तो ।

वरकमसुव्वं पइ वि उ, अन्नायु सुयासए भाएण ॥ २५ ॥

सम्म इतिभइपुत्ता, विरकालं पालिऊण गिहियम्मं ।

कयमासमसयाओ, जाओ सोहम्मसमगुरो ॥ २६ ॥

अरुणां भं विमाणो, चउपलियायं तइ सुहं उणुणु ।

चविय विदेहं पवयण-कुसलां दोउं सिचं गमिइ ॥ २७ ॥

एवं निशम्य सस्यं, अय्याः ॥ आविमदपुत्रसुचरिप्रम ।

अवत प्रवतापुत्रकथा, कुशलधियाः प्रवचनार्थेयु ॥ २८ ॥

इति आविमदपुत्रकथा । अत्युक्तः प्रवचनकुशलकस्य अर्थकुशल

इति द्वितीयो भेदः । ध० २० ।

अत्यक्त-अक्काएद-म० । प्राकृते-“गोणात्थः” ॥ टा २ उ ४ ॥

इति अथक्कादेवाः । अनवसरे, मा० ६० मा० ।

अत्यक्तजाया-अक्काएदयाच्वा-शी० । अकालप्रार्थनायाम् ,

वृ० ३ उ० ।

अत्यगवेसि (ञ)-अर्थगवेसिन्-नि० । कस्यान्वेवणकृति,

म० १५ श० १ उ० ।

अत्यग्गहा-अर्थग्रहण-म० । अर्थपरिहाने, व्य० ७ उ० ।

अर्थनिश्चयकरणे,

अर्थार्थग्रहणद्वारे विवरीपुराह-

सुत्तस्मि य गरियस्मि, दिद्धतो गोए-सासिकरणेणं ।

उवभोगफलासादी, सुचं पुण अत्यकरणेणं ॥ १ ॥

सूत्रे ष्ठीते सति अथयं सत्थार्यं श्रोतथ्यः । किं कारणमिति

चेदुच्यते-दृष्टान्तोऽन गवा बहोवदंन, गामिकेप्रेण । तत्र गोहृद-

न्तो यथा-कश्चिद्धली ॥ बदेः सकलमपि विवचं वाहयिवा इलाह-

कषट्टाम्मुकः सन् सुन्दरामसुन्दरां वा वारि यां प्राप्नोति, तां स-

वांमनात्स्यवद् चरन्त्येव । पश्चाद् प्रातः सन् उच्यतेव्य प्राक् वीर्ये

रोमन्धाभ्यते, रोमन्धावयमानश्च तदास्वाद्दसुपलजते । ततोऽसौ नीरस्सं कचचरं परित्यजति । एवमयमार्थं गृहवासात्कचङ्कामुक्तः प्रथमं परिक्रमपि सूत्रं चारिकरुपं गुरुसकाशाद्दधिगच्छति, तत्सन्धेयथास्वाद्दवाविरहितं गृह्णाति, ततः सूत्रं गृह्णीते अर्थप्रदणं करोति । यदि पुनरर्थं न गृह्णीयात् तदा तत्सूत्रं निरास्वाद्दमेव संजायते; अर्थे तु श्रुते सत्यक्त्वं तदर्थमवबुध्यमानः सन्नसौ यथावद्व्यधारयत्युपदेशं, परिहरति बिन्दुमात्रनिर्वादिदोषदुष्टान् कचचरकल्पनाजिज्ञासामिति । शास्त्रिकरणदृष्टान्तः पुनरयम । यथा-कथं कः शास्त्रीं महता परिश्रमेण निष्पाद्य ततो लयनमसन्नपवनाद्विप्रक्रियपुरस्सरं काष्ठाम्बो प्रक्रियेति यदि तैः शास्त्रिनः साधुपयादीनामुपजागं न करोति, ततः शास्त्रिसंप्रदः तस्याफलः संपद्यते । अथासौ करोति तैः शास्त्रिमियथावामुपजागं ततः शास्त्रिसंप्रदः सफलः जायते । एवं द्वादशवर्षाधिकं सूत्राध्ययने परिश्रमे कृतेऽपि यदि तदीयमर्थं न शृणुयात्तदा स सर्वोऽपि परिश्रमो निष्फल एव भवेत् । अर्थे तु श्रुते सत्यगवधारिते च सफलः स्यात्, अत एवाह-उपभोगफलताः शालयः, सूत्रं पुनरर्थं कणफलम् । अरणकरणादिरूपमन्त्रार्थचरणान्दिरूपस्तदयो चरणफलं, तच्च सूत्रोक्तार्थाचरणं श्रुत एवार्थं भवति, नात्यथा ।

अतः-

जडं वारमवासार्थं, मुचं महिषं सुणाहि से अहृणो ।

वारस चैव समाद्रां, अत्यं तो नादिसि नवा एं ॥३॥

यदि द्वादशवर्षाणि त्वया सूत्रं गृहीतम्, अतस्तस्य सूत्रार्थं मधुना द्वादशैव समा वर्षाणि शृणु । ततोऽपि शृणुवद् स्वज्ञानाकारकमन्त्रयोपशमानुसारंणं ज्ञान्मयसि वा, न वा (श्रुमिति) तं विचक्षितमर्थम् (वृ०) किंच-सन्नाम्नादीन्मन्त्रकविधानं सति । इत्यमनेकधा सूत्राणां संभवे तदर्थेअवयमन्तराणं न शक्यते कीदृशमिति विवेकं कर्तुम्, इति कर्तव्यमर्थप्रहणम् । अथ ते शिष्या ब्रूयुः-यः कण्ठतः सूत्रं निबद्धोऽर्थस्यनैव वयं गृह्णां, किमस्माकं दुरधिगमत्वाद्द्विगुणपरिक्लेशेन " मज्जण णिसणज्ज अकम्भा " इत्यादिप्रक्रियापुरस्सरमर्थप्रहणप्रयासेनेति । एते इत्थं ब्रुवाणाः प्रभाषयितव्याः । कथमित्याह-

जे सुचगुणा खलु ल-क्वणामि कट्टिया उ सुत्तमार्इ य ।

अत्यग्हाह्यमराज्ञा, तेहि चिय पप्पविज्जंति ॥

पीठिकायां लक्षणद्वारे ये सूत्रस्य गुणाः ' निदोसं सारवंतं च ' इत्यादिना कथिताः यद्वा-(सुत्तमार्इ य णि) " सुत्तं तु सुत्तमेव च " इत्यादिना प्रतिपादिताः, तैरेव हेतुभिर्द्वयप्रहणं मराला अल्लसाः शिष्याः प्रहाष्यन्ते । यथा-भो अहः! निर्दोष-सारवद्विभक्तोमुखाद्यः सूत्रस्य गुणा भवन्ति, ते च यथाविधि गुरुमुखादर्थं क्षयमाण एव प्रकटीभवन्ति । किंच-यथा-द्वास्तसति कलापरिच्छितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन्न किञ्चित्सासां कलामां जानीयते । एवं सूत्रमप्यर्थमाश्रितं सुममिष द्रष्टव्यम् । विचित्रार्थनिबद्धानि सांप्रसारणानि च सूत्राणि भवन्ति । अतो गुरुसंप्रदायादेव यथावत्त्वत्संयत्ते न यतस्तत इत्थं युक्ति-युक्तैर्बोभिः प्रभाषितास्ते विनयाः प्रतिपद्यन्ते-गुरुणा मुपदेशं शृण्वन्ति द्वादशवर्षाणि विधिबध्दयः । इति मतमर्थप्रहण-द्वारम् ॥ वृ० १ उ० ।

अत्यज्ञाय-अर्थज्ञान-न० । द्रव्यप्रकारे, पञ्च० १० चिब० ।

अत्यजुत्ति-अर्थयुक्ति-स्त्री० । हेयंतरकूपार्थोऽज्ञानायाम्, दश० ५ अ० १ उ० ।

अत्यजोषि-अर्थयोनि-स्त्री० । अर्थस्य योनिरर्थयोनिः । राजलक्ष्यादिरूपार्थं, " तिबिहा अत्यजोषी पक्खा । तं जहा-सामे, दंडे, भेप " सामदण्डादीनामन्वय स्वकल्पम् । स्थानं ३ टा० ३ उ० ।

अत्यज्ञा-अर्थेन-न० । ज्ञानार्थं परस्याऽऽवार्थस्य पार्थेऽवस्थायां ज्ञानादियुगाजने, उक्त० २६ अ० ।

अत्यज्ञाय-अर्थेनय-पुं० । अर्थेनिरूपणप्रवृत्तत्वाद्धेनयः स्यात् । रत्ना० । मुख्यवृत्त्या जीवाद्यर्थसमाभयत्वात् । आ० म० वृ० । यथाकथाच्छब्दा एव प्रधानमित्यभ्युपगमपरत्वाद्धेनयः । अनु० । यो ह्यर्थमाश्रित्य वस्तुस्थसंप्रदह्यवहारसुभाष्यप्रत्ययः प्रादुर्भवति सांश्र्थेनयः । अर्थवशेन तदुत्पत्तेः । अर्थप्रधानतयाऽऽसौ व्यक्त्वापयतीति । सम्म० । अर्थमेव प्राधान्येन शब्दोपसर्जनमिच्छति । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अत्युपवरं सद्दो, सद्दोए वत्युज्जुत्तंता ॥

अजुनुशान्ताभ्यन्तारो नया वस्तु भवते प्रतिपाद्यन्ति । कथं भूतम् ? इत्याह-अर्थप्रवरं शब्दोपसर्जनम् । अथवा अर्थप्रवरं-प्रधानभूतो मुख्योऽर्थो यत्र तदर्थप्रवरम् । शब्द उपसर्जनमप्रधानभूतो गौणो यत्र तच्छब्दोपसर्जनम् । शेषास्तु शब्दाद्यस्त्वयो व्यस्यमिच्छन्ति । विशे० ।

अतश्शाण-अर्थज्ञान-पुं० । अर्थमधिवाचकोष, पञ्च० १२ चिब० ॥

अत्यणिऊर-अर्थेनि (कुर) पूर-न० । चतुरशीतिलसंगुणितेऽर्थेनिरूङ्क, अनु० ।

अत्यणिऊरंग-अर्थेनिरूङ्क (निरूङ्क)-न० । चतुरशीतिलसंगुणिते नालिने, अनु० । स्थानं जी० ।

अत्यणिजावणा-अर्थनिर्यापणा-स्त्री० । अर्थः सूत्रमधिधेयं वस्तु, तस्य निरिति भूशे, यापना निर्वारणा, पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्यथा च कथनतो निर्गमतो निर्यापणा । वाचनासंपदभेदे, उक्त० १ अ० ।

अर्थस्य निर्यापणामाह-

निज्जवगो अत्यस्स य, जो उ वियाणाइ अत्य सुत्तस्स ।

अत्येण वि निव्वट्टति, अत्यं पि कट्टेइ जं जणियं ॥

अर्थस्य निर्यापक इति यद्वाणितं तस्यायमर्थः-यो नाम सूत्र-स्थार्थं कथ्यमानं विज्ञानाति । यदि वा-अर्थेन निर्वहति-अर्थो-वधारणबलेन सूत्रपाठे निर्वहमुपयाति, तस्यायमर्थं कथयति, आस्तां सूत्रं ददातीत्यपिशब्दाद्यैः । व्य० १० उ० । अत्याणियय-अर्थेनियत-वि० । अर्थेनियतने, सम्म० ॥

अत्यत्यिअ-अर्थार्थिन-वि० । अर्थेमर्थयते इति अर्थार्थी । द्रव्यप्रयोजने, अ० १५ श्रु० १ उ० । औ० । ज्ञा० । जं० ।

अत्यदं-अर्थदृश्य-पुं० । शरीरार्थदृश्ये, प्रअ० ५ सम्ब० द्वा० ।

अत्यदाधि (ष)-अर्थदायिन-वि० । सूत्रमधिधेयवदायितर,

“ काठं पणमं च अत्यदायिस्त्व परजुष्यकमासमणस्त्व ”
नि० कू० १ उ० ।

अत्यधर्मकजासासुवयेत्-अर्थधर्मात्प्रासानपेतत्वं-न०। अ-
र्थधर्मप्रतिबन्धताकृते सत्यबन्धनातिशये, क्री०। रा०।

अत्यधर-अर्थधर-पुं० । अर्थधरोक्ति, स्यात्० ४ ता० १ उ०।
“ सुदधरता अत्यधरो, अत्यधरात्मा होह तज्जयधरो ”
शा० म० प्र० ।

अत्यधरजप-अर्थधर्याय-पुं० । अर्थकदेशप्रतिपादकेषु पर्या-
येषु, अर्थकषेषु पर्यायेषु च। विशेष०। अर्थविषयं पर्येत्यवगच्छ-
ति यः सोऽर्थपर्यायः। इहानुतापेऽप्राहकत्वे, सम्म०।

अत्यधरिवाचि-अर्थप्रतिपात्ति-क्री०। अर्थावबोधे, “ नि-
याभास्तार्थं जन्ते, समाणस। इति अत्यधरिवाचि ”। विशेष०।

अत्यधर्य-अर्थपद-न०। उत्पादक्यप्रतीत्ययुक्तं, सादित्यादिवद-
र्थप्रधाने पदे, विशेष०।

अत्यधर्यासिय-अर्थपिपासित-त्रि०। पिपासेय पिपासा- प्रा-
प्तेऽर्थेऽनुतिः। अर्थे अर्थस्य वा पिपासा संज्ञाना अर्थस्येति
अर्थपिपासितः। तं०। अभास्तार्थविययसञ्ज्ञातन्पणे, म० १५
श० १ उ०।

अत्यधुरिस-अर्थपुरुष-पुं०। अर्थाज्जनव्यापारपरे पुरुषभेदे, यथा-
ममनयाणिक। क्रा० म० द्वि०। क्रा० कू०।

अत्यधुदत्त-अर्थपुण्यदत्त-न०। “ अर्थो सुखस्त्व विषयो, तत्तां
जिज्ञं सुयं पुरुषं ति ” अर्थेः किमुच्यते?, इत्याह-अनस्य विषयो
विषयः, तस्मात्कार्यार्थकथाऽद्भुत् निभत्वात्पुं पृथगुच्यते। प्रा-
कृतत्वात्तदेव पृथकत्वम्। सुभाषितश्लाघाभयपदे श्रुतान्तं अ-
र्थस्य पृथकत्वम्। श्रुतज्ञाने तस्य अर्थपृथकत्वसंज्ञितत्वात्।
“ अत्यात्मा य बुद्धसं, जस्त्व तत्रा वा पुरुषसो जस्त्व ” अर्था-
त्पृथकत्वं कथञ्चिद् भेदो यस्य तदर्थपृथकत्वम्। स चार्थः पृ-
थकत्वः पार्थक्येन भेदेन वर्तते यस्य तदर्थपृथकत्वम्। श्रुत-
ज्ञाने, “ ते धंविठण सिरसस, अत्यधुदत्तस्त्व नेहि काहियस्त्व।
सुवणाणस्त्व भवसो, णिउत्तं कित्तस्त्वसामि ” विशेष०।
क्रा० म०।

अत्यधुदत्त-अर्थपुण्यदत्त-न०। “ अर्थस्य व पितृभायो, पुहुत्त-
मर्थस्य विचरन्ते ति ” पृथु सामान्येन विस्तीर्णमुच्यते, तस्य
भावः पुण्यत्वम्। अर्थस्य पुण्यत्वमर्थपुण्यत्वम्। जीवार्थायविस्तर-
रात्मकं श्रुतज्ञानं, श्रुतज्ञानमात्रं च। सत्त्वार्थपुण्यत्वसंज्ञितत्वात्।
“ जं वा अत्येण पुहु, अत्यधुदत्तं ति तभाभा ” अर्थेन पुण्य
विस्तीर्णमर्थपुण्यं। तदुभायोऽर्थपूर्वाज्जायः-अर्थपुण्यत्वम्; ध-
र्मधर्मिणोरभेदापत्कारात्। श्रुतज्ञानं, “ अत्यधुदत्तस्त्व तेहि
काहियस्त्व ”। विशेष०।

अत्यधोरिस-अर्थधोरि-क्री०। अर्थप्रतिबन्धायां धो-
रूपाम्, ध० ३ अर्थि०। “ अत्यधोरिसि ण नरेति, मात्सलहु ”
नि० कू० १ उ०।

अत्यधर-अर्थधर-त्रि०। अर्थः प्रवरो यत्र तदर्थप्रवरम्।
सुवचार्थकं वस्तुनि, यस्य (ह वस्तुनेऽप्येव प्रथान नूनः। विशेष०।
अत्यधरुत्त-अर्थधरुत्त-त्रि०। अर्थो बहुलो यस्मिन्सतर्धबहु-

स्य “ कश्चित्पुत्रिः कश्चिदपुत्रिः, कश्चिद् विजाया कश्चिदपुत्रे-
व। विधेविधानं बहुधा समीह्य, चतुर्विधं बाहुल्यं कथंति ” ॥१॥
“ अत्यधरुत्तं महत्त्वं, इतिविधानाद्यसम्भारार्थं ” दशा० ३ अ०।
अत्यधेय-अर्थधे-पुं०। आत्मपराधैस्याध्यापारिकल्पनं,
ज्जीत०। “ धार्वातेके धार्वाती होगामि विष्णुयमुसंति ” इ-
त्यत्र आकारस्यैवावन्तः केचन लोकेऽस्मिन् पाश्चात्तिकाके वि-
परासुश्रुतीत्यर्थविधायाभिधाने, अत्यतीजनापदे कथां रज्जुं
वातात् कूपे पतितं लोकाः स्फुरतीत्यन्यथायित्याऽऽह। अ०
१ उ०। ध०। दशा०। रा०।

अत्येति द्वारं-

वंजणमजिदमाद्ये, अत्येतिमादीण अत्यगुरुो तु ।
जां अयोऽणुवार्द्धं, एणादित्रिराहणा। अवरि ॥११॥

वंजणं सुत्तं, अणुहाकरत्तं जेदं, ण जिदमाद्यो अतिदमाद्यो,
अतिपासंती ति अर्थेन हतिं। तेषु चैव वंजणसु अभिषेसु
अर्थं अर्थं विकल्पयति। कदं?, जहा- (अतिमादीणां ति) अर्थतिकं
यावंती लोगं, समणा य माहणा य (विष्णुयमुसंति ति) अत्यती
णामं जणवन्ना, क्वचित् रज्जुदे ति शााम, पनिया कूचं लोयंति
णाया। जहा-कृत् कथा परिता, ततो धावति समणा भिष्णुमाह
माहणा विज्जायेया। ते समणा माहणा कूचं उयारिउं णणियमज्जे
विचिउं परासुसंति। आदिस्सहानो अर्थं पि सुत्तं एवं कप्यति।
अर्थति अर्थात् अर्थं कल्पयति, एवं अर्थं अर्थात् कल्पियं सुत्तं ह।
अत्ये गुरुना उ। अत्यस्त्व अगणाणि वंजणाणि करेन्तस्त्व मास्त्व-
गुरु। अह अर्थं अर्थं करेति, तो चउगुरुणा। (जां अर्थात्) अर्था-
तो अगणिनां अर्था सो य अर्थात् अर्थात् अर्थात्, (अणु-
पाति ति) अणुपतनीत्यनुपाती, घटमानो उययमान इत्यर्थे ।
न अणुपतनी अननुपानी, अघटमान इत्यर्थः। तमघटमानमर्थ
सुत्तं जाजयतो (आणादिविराहणं ति) णाणं अर्थात् जसि ता-
णिमाणि एणादीणि। आदिस्सहानो इत्येवचरिस्ता; ते य विराह-
ति, विराहणा खरुणा अजणा य एगाहा। (अवरि ति) इह पर-
लोगगुणपावणसुदरास्यं अवरिसहो पठन्तो, विराहापद्य केव-
लेत्यर्थः। अर्थेति द्वारं गयम्। नि० कू० १ उ०।

अत्येनोमपरिविज्जय-अर्थधोमपरिविज्जित-क्री०। प्रत्येण
जोमैभ्वरहितं, प्रअ० ३ अथा० ह्रा०।

अत्यमरुती-अर्थपरहृती-क्री०। अतीयायां धोरूप्याम्, आचा-
र्याः सृष्ट्यां प्रहरीपयानि, शिष्याश्च गुरुभक्तान्त्येवकपायात्मर्थे-
रूप्याम्, ध० ३ अर्थि०। १। (एतद्विधिः “ उच्यतेसंवा ” शब्दे
द्वितीयमाने १८३ पृष्ठे समप्रथं कृत्वाः)

अत्यमय-अस्तमय-न०। स्यादादृश्यस्य सतोऽदृश्योभवेन,
म० २ श० १ उ०।

अत्यमहृत्वाणि-अर्थमहृत्वाणि-पुं०। नाराऽजिधेया अर्थां,
विजाया-(वार्तिक) अजिधेया महार्थाः, तेवामर्थमहार्थाणां आनि-
रिच अर्थमहार्थाणां निः। आनाथार्थिकरूपानुयोगविधावनिपटी-
यसि, “अत्यमहृत्वाणि सुसमयवकसागकहसाणिशाणि” न०।
अत्यमहुर-अत्यमहुर-त्रि०। परलोकात्तुगुणां, “ वयनाहं
अत्यमहुराहं ” पं० ४ ह्रा०।

अत्यमाद्य-आसीन-त्रि०। हमसानादायास्थीयमाने, “ तस्य स्वे
अत्यमाणस्त्व, उच्यमानानिचारय ” उच्य० २ अ०।

अत्यमिश्र-अस्तमित-त्रि० । अस्तमितस्तंगते, प्रा० ४ अ० ।

अत्यमिश्रादिय-अस्तमितोदित-त्रि० । अस्तमितव्यासी हीन-
दुःखोत्पत्तिरुद्गमस्वगतस्वादिना, उदितश्च समृद्धिक्रीतिसुग-
तिनामिदमेतत् अस्तमितोदितः । प्रथमावस्थायाम् हीन पञ्चाद्य
सिद्धिं प्राप्ते पुनश्चजाते, स्वा० । यथा हरिकेशवलाभिधानोऽनगरः ।
स हि अन्त्यान्तरोपपन्नमीश्वरोन्मत्तकमेषात्प्रवातहरिकेशाभिधान-
वाच्यसङ्कुलतया, दुर्भगनतया हरिकुलतया च पूर्वमस्तमितवित्त
इवानुपदिश्वत्त्वात् अस्तमितः, पञ्चाग्रप्रतिपक्षप्रमज्ज्यो निष्कल्प-
चरश्चशुभावाञ्जितवदकृतसाक्षिप्यतया प्राप्तसिद्धितया सुगति-
गततया च उदित इति । स्वा० ४ प्रा० ३ उ० ।

अत्यमित्यमित्य-अस्तमितस्तमित-पुं० । अस्तमितव्यासी सूर्य
इव दुष्कृततया, दुष्कर्मकरितया च क्रीतिसिद्धिसङ्गतेजो-
विधाञ्जितवत्त्वात्, अस्तमितवत्, अस्तमितवत्तु दुर्भगनिमानादित्यस्तमितस्तमितः ।
पौर्वापर्येण दुर्भगते, स्वा० । यथा काशान्निधानः सौकरिकः । स हि
नृकरश्चरति मृगयां करोतीति यथायैः सौकरिक एव दुष्कृत-
संपन्नः । अतिदिने महिषपञ्चाशतीव्यापादक इति पृथगस्तमितः,
पञ्चादपि मृगया समनन्तरकपुयिषी गत इति अस्तमित पवति ।
स्वा० ४ प्रा० ३ उ० ।

अत्ययारिया-देशी-संख्यायाम्, दे० भा० १ वर्ग ।

अत्यरय-आस्तरक-न० । आच्छादके, भा० म० प्र० । जी० रा० ।
अस्तरजस्-त्रि० । निर्भेदे, “ अत्यरयमित्तसूर्यगोत्थय ”
आस्तरकेण प्रतीतेन मृतुमसूरकेण च, अधवास्तरजसा निर्भे-
लेन मृतुमसूरकेण अवस्तुनमाच्छादितं यत्तत्तथा । न० ११
शु० ११ उ० ।

अत्यनुक्त-अर्थलुब्ध-त्रि० । ऊव्यासास्ते, म० १५ श० १ उ० ।

अत्यवं-अर्थवत्-त्रि० । पञ्चाविरो मुहूर्ते, कल्प० ।

अत्यवति-अर्थपति-पुं० । धनपती, व्य० ७ उ० ।

अत्यवाय-अर्थवाद्-पुं० । अर्थस्य लक्षणया स्तुत्यर्थस्य नि-
र्वाहस्य वा वाद् । अ-करणे घञ् । प्रशंसनीयगुणवाचके,
निन्दनीयदोषवाचके च शब्दविशेषः । भावे घञि तत्कथने,
वाच० । अर्थवाद्स्तु विधा-स्तुत्यर्थेवाद्ये निर्व्यायेवाद्वा । तत्र
“पुनश्च एवम्” इत्यादिकस्तुत्यर्थेवाद् । तथा तत्र “स-
सर्वाद्यस्यैवा महिमा तु विष्ये ऋणपुरे शेष म्योभ्यारमा सुप्रतिष्ठि-
तवप्रसङ्गे बेष्पतेऽप्य यस्तु स लवेक्षः सर्ववित्सर्वैर्भाविबे-
शु” इति । तथा “यकया पूर्णाहुत्या सर्वोद्द कामानघान्मोनि”
इत्यादिकञ्च सर्वोऽपि स्तुत्यर्थेवाद् । “यकया पूर्णया” इत्यादि
विधिवाद्योऽपि कस्माच्च अत्रतीति चेत् । उच्यते । शेषस्याग्निहो-
वाद्यनुष्ठानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । “यद्य वाच प्रथमो बहो योऽ-
ग्निहोमः योऽग्निहोमोऽग्नेन यजते स गर्भमन्यतसत्” अत्र पद्य-
मेधादीनां प्रथमकरणे निन्दित इत्ययं निन्दार्थवाद् । “ ह्यदश
भासाः संवत्सरोऽग्निहोमोऽग्निहोमस्य अथजम् ” इत्यादीनि तु
वेद्याक्यान्यनुवाद्प्रधानानि, शोकमसिद्धस्यैवाद्यर्थेऽप्येतन्ननुवा-
दादिति । विश० । प्रा० म० ।

अत्यविगम्यणा-अर्थैविकल्पना-ञी० । अर्थेनैवोपदर्शने, प्रा०
म० द्वि० ।

अत्यविद्युय-अर्थैविविनय-पुं० । विनयशब्दे बहुवचनार्थके
चिनयभेदे, दश० ७ अ० ।

अत्यविद्युय-अर्थैविविनय-पुं० । अयापरकके कथ्यावाचके
च अर्थावितयमाने, “ पुच्छिञ्जस्यवित्तिञ्चम् ” । दश० ७ अ० ।

अत्याविद्याणा-अर्थविक्रान-न० । ३ त० । ऊदायोहयोगा-
न्मोदसन्ने हविष्यप्यासुव्यादाने ज्ञानरूपे बुद्धिगुणे, घ० १ प्रा० १० ।
अत्यविदूण-अर्थैविविहीन-त्रि० । अप्रीतायै, व्य० ३ उ० ।

अत्यसंपयाण-अर्थैसंपदान-न० । अर्थदाने, “ अत्यसंपयाणं
दक्षयशांल ” । अर्थदानं करोतीत्यर्थः । विपा० १ मृ० १ अ० ।

अत्यसत्य-अर्थज्ञान-न० । अर्थानामभिज्ञे चालम्भशालम्भः ।
प्रा० म० प्र० । अर्थोपायव्युत्पादनप्रभे कौटिल्यराजनीत्यादौ ।
प्रा० १ अ० । प्रश्न० म० । “ अत्यसत्यकौसल्यमयी तथा उच-
यशां ” भा० व्य० १ अ० । प्रा० म० द्वि० । (उदाहरणमस्य “ वेणु-
हया ” शब्दे प्रच्यते)

अत्यमत्यकुलन-अर्थशास्त्रकुलन-त्रि० । ७ त० । नीतिशास्त्रा-
दिषु कुलने, जे ३ वक्ता ।

अत्यसार-अर्थसार-पुं० । ध्यनसत्ते, प्रा० म० द्वि० ।

अत्यसिद्ध-अर्थसिद्ध-पुं० । अर्थो धनं स इत्तास्ताधारणो
यस्य सोऽर्थसिद्धः । मम्मणवणिगवत् सिद्धनेत्रे, घ० २ प्रा० १० ।
“ पञ्चरथो अथापरा-श्च मम्मणो अथासिद्धो च ” प्रचुरार्थः
प्रनूनायैः, अर्थेपरोऽर्थनिष्ठः, अर्थसिद्धोऽतिशययोगात्म्यमणव-
गिन्वादिनि गाधादलायैः । प्रा० म० द्वि० । भावार्थेतु कथा-
नकावसंयः (स च ‘ मम्मण ’ शब्दे बह्यते) शोकचररीत्या दृशते
अर्थसिद्धे, जे ७ वक्ता । परवते प्राविष्यति पञ्चमे तीर्थके, ति० ।

अत्यसुएण-अर्थज्ञान-न० । दिग्पादिकेऽर्थेहीने परे, स्वा० १
प्रा० १ उ० ।

अत्या-आस्या-ञी० । स्वपक्षागामैरुक्ते तीर्थे बहुमानात्ते,
जीवा० १ प्रा० १० ।

अत्याण-अस्थान-न० । अविष्ये, प्रा० १५ अ० ।

अत्यादा(या)ण-अर्थदान-न० । प्रत्योपादानकरणे महद्दान-
निमित्तं, स्वा० ३ प्रा० ४ उ० । (अस्मिन्ने भागे ३१८ पुष्टे ‘ अणव-
द्वय ’ शब्दे व्याकथयतमेत्)

अत्याम-अस्थाम-त्रि० । सामान्यतः शक्तिविकले, ज० ७ अ०
ए उ० । शारीरिकबलविकले, प्रा० १ अ० । विपा० ।

अत्यारिय-अस्तातिक-पुं० । मृत्युप्रदानेना शालिलसमाच-
क्षेपे क्रियमाणे कर्मकरे, व्य० ६ उ० ।

अत्यारो-देशी-साहाय्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्याल्लण-अर्थोल्लम्बन-न०-पुं० । अर्थो वाक्यस्य भावा-
यैः । आल्लम्बनं वाच्ये पदार्थे अर्थवस्वकपे उपयोगस्यैकत्वम् ।
अर्थञ्च आल्लम्बनं वार्थोल्लम्बने अर्थे, आल्लम्बने च । अर्थोल-
म्बनयोश्चैवत्यन्वयादौ चित्राकल्पम् । अष्ट० २७ अष्ट० ।

अर्थालिय-अर्थालीक-न० । ऊव्यार्थेयसत्तले, प्रश्न० १ अ-
अ० प्रा० ।

अभ्यासोपय—अर्थालोचन—न० । अर्थस्य सामान्येन प्रहणे,
आ० सू० १ अ० ।

अष्टावगह—अर्थविग्रह—पुं० अष्टप्रहणमप्रहः, अर्थस्यावग्रहो-
ऽधीकप्रहः । अग्निदेहासामान्यमकरुणाराधेप्रहस्ये, आह ख न-
न्यध्वनतचूर्णितम्— सामरुचवाहविससणरदियस्त अवग्रह
ति” । प्रहो० ५ पदं । अभा० ।

अष्टावलि—अर्थापत्ति—की० अर्थस्य अनुक्तार्थस्य, आपत्तिः सि-
क्किः । वाच० । “प्रमाणपरुक्त्विकातो, यत्रार्थो नान्यथा जयेत् । अष्ट-
कल्पपर्यन्तं, साऽर्थापत्तिरदाहना” ॥ १ ॥ इत्युक्तप्रकणे प्रमाणभेद,
रत्ना० २ परि० अनुच० ह्यः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा, नोपपद्यते इति अष्टा-
र्थकल्पने, सम्प्रोक्तानां प्रमाणचतुष्टयैर्वादिनोऽनुमानस्तत्रावयन्ति, त-
स्याः प्रमाणभेदोऽनुमानेऽन्तर्भूतत्वात् । तथाहि—दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽ-
न्यथा नोपपद्यते इत्यष्टावर्थकल्पनाऽर्थापत्तिः । न चासाध्योऽन्यथाऽ-
नुपपद्यमानत्वं ज्ञानवगमे अष्टावर्थपरिकल्पनातिमितम् । अर्थथा स-
येन विनोपपद्यमानत्वेन निश्चिनस्तरूपि परिकल्पयेत्, येन विना
नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्; अनवगतस्यान्यथाऽनुपपद्यन्तेना-
र्थापरुक्त्वापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सत्यप्यष्टावर्थो-
परिकल्पकत्वात्संभवात् । संभवं वा शिक्कस्याप्यनिश्चितनियमस्य
परोक्ताधनुमापकत्वे स्यादिति, तदपि नार्थापरुक्त्वापकत्वाद्य-
द्भिद्येन । स चाप्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः; तस्यार्थस्य न भूयो-
द्विपरिमितिः सपक्षे । अन्यथा लोहलेशस्य वज्रे, पार्थिवत्वात्,
काष्ठवदित्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात् । नापि विपक्षे तस्यानुपल-
म्भनिमित्तोऽस्ती । व्यतिरेकनिश्चयप्रमाणत्वेनानुपलम्भनस्य पूर्वमे-
व निश्चिद्यत्वात्; किं तु विषये तद्वापकप्रमाणनिमित्तम् ।
तच्च वाचकं प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेवाऽनुपपद्यमानस्यार्थ-
स्य तत्र प्रवृत्तिमदनुपगतत्वमम् । अन्यथाऽर्थापत्त्या तस्याऽ-
न्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽनुपपद्यमाने यावत्तस्याऽन्यथाऽ-
नुपपद्यमानत्वं नावगमनम्, न तावत्प्रार्थापत्तिप्रवृत्तिः । वाचक-
न तत्रप्रवृत्तिः, न तावदर्थपरुक्त्वापकस्यार्थस्याऽन्यथाऽनुपप-
द्यमानत्वावगम इतीतरंतराभ्यन्तवाचार्थापत्तिप्रवृत्तिः ।

अत एव यदुक्तम्—

“ अविनाभावित्वा चात्र, तदर्थे परियुह्यते ।
न प्रागवगतत्वेयं, स्ववर्ष्या न कारणम् ॥ १ ॥
नेन संबन्धेत्वायां, संबन्धमन्तरो भूयस ।
अर्थापर्येष मन्तव्यः; पश्चादस्वनुमानता ॥ २ ॥ इत्यादि ।
तन्निरस्तम् । एवमनुपपद्यमाने अर्थापत्तेरनुमानस्य प्रतिपा-
दितत्वात् । स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः किं
दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः ? आहोस्त्वित्त्वसाध्यधर्मि-
प्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः ? इति । तत्र यदाहः पक्षः । तदाऽर्थाप-
त्तिवक्तव्यम् । किं तु दृष्टान्तधर्मिण प्रवृत्तं प्रमाणं साध्यधर्मि-
व्यपि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चययति, आहो-
स्त्वित् दृष्टान्तधर्मिण्येव । तत्र यदाहः पक्षः; तदाऽर्थापरुक्त्वा-
पकस्यार्थस्य, शिक्कस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादनवापारं प्रति न
कमिच्छिदोषः । अथ द्वितीयः स न युक्तः । न हि दृष्टान्तधर्मिणि
निश्चिनस्त्वसाध्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थोऽवत्र साध्यधर्मिणि
तथा जयति । न च तथायेनानिश्चिनः स साध्यधर्मिणि स्वसा-
ध्यं परिकल्पयतीति युक्तम्, अतिपरुक्त्वात् । अथ शिक्कस्य दृष्टान-
तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणत्वमशान्त्वं सर्वोपसंहारण स्वसाध्यनियत्येत-
निश्चयः अर्थापरुक्त्वापकस्य त्वदर्थस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्ता-

त्प्रमाणान्त्वोपसंहारेण दृष्टान्तध्याऽनुपपद्यमानत्वनिश्चय इ-
ति शिक्काध्यापरुक्त्वापकयोर्भेदः । नासाद्वादार्थापत्तेरनुमानं
भेदमासादयति । अनुमानोऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव विषयथा-
केतुव्यावर्तकत्वेन प्रवृत्तं प्रमाणं सर्वोपसंहारण स्वसाध्यनिय-
त्यनिश्चयकामभ्युपगतम् । अन्वथा सर्वमेकान्तात्मकं, स-
त्वादित्यस्य हेतोः पक्षोऽनुपपद्यत्वेतिरेकेण दृष्टान्तधर्मिणोऽभा-
वाकथं तत्र प्रवर्तमानं बाधकं प्रमाणमेकान्तात्मकत्वमित्यत-
त्त्वमवगमयेत् सत्यस्य । न च साध्यधर्मिणि दृष्टान्तधर्मिणि च
प्रवर्तमानेन प्रमाणेनार्थापरुक्त्वापकस्यार्थस्य शिक्कस्य च यथा-
क्रमं प्रतिबन्धां गृह्यत इत्येतावन्मार्गेषुार्थापरुक्त्वापरुक्त्वाभेदोऽ-
न्युपपद्यते युक्तः । अन्यथा पक्षधर्मस्य संहितेहेतुमस्युत्पाद्यनुमा-
नात्संज्ञितहेतुसमुद्भवमनुमानं प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाण-
परुक्त्वादे विचार्येन । नियमयतो शिक्कापरोक्ताधर्मिण्यपत्तार-
धोवाप्रा तत्तत्तद्भ्रामिन्त्यभ्युपगमे, स्वसाध्याविनाशुत्पाद्यार्थ-
प्रतिपत्तेरविशेषाद्यनुमानादार्थापत्तेः कथं नाभेदः । सम्प्र-
अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम्, यतस्तस्या लक्षणम्—दृष्टः श्रुतो
वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यष्टावर्थकल्पनम् ।

कुमारिणोऽन्येतेषु ज्ञानवचनं विभज्यताह—

“प्रमाणपद्विज्ञानतो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।
अष्टकल्पपर्यन्तं, साऽर्थापत्तिरदाहना ॥ १ ॥

दृष्टा पश्चात्परुक्त्वात्, भेदोना न भूनाद्वावा ।
प्रमाणप्रादिकोऽभ्य, यस्मान्पूर्वोविचक्षणम् ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादितिः पत्तिः प्रमाणाः प्रमित्यां योऽर्थः स येन विना
नोपपद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनमर्थापत्तिः । यथाऽग्नेर्दाहकत्वम्,
तत्र तत्रस्यतुर्पक्षिकाऽर्थापत्तिः यथाऽग्नेः प्रत्यक्षोऽग्नेः प्रमाणस्य
दाहकशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्पते । न हि शक्तिरुप-
पत्त्याः नाप्यनुमानादिनमर्थवगम्याः प्रत्यक्षेणाप्येन शक्तिरुत्प्रे-
क्षकस्यचिदर्थस्य मन्त्रार्थापत्तिः । यतुमार्थापत्तिः । यतुमार्थापत्ति-
याऽदित्यस्य दशान्तरप्राप्या देवदत्तस्यैव गत्वनुमानम् । ततो
गमनशक्तियोगोऽर्थापत्त्याऽवर्जयति । उपपत्तिपूर्विकात्प्रार्थापत्ति-
या-गवयवद् गौरित्युत्तरयोर्वाहरेदहादिशक्तिरयोगमन्त्रयाः प्रती-
यते, अन्वथा गाल्वस्यैवार्थापत्त्या । शब्दपूर्विकाऽर्थापत्तिर्या-श-
ब्दार्थप्रतीतेः शब्दस्यार्थेन संबन्धात्सिद्धः । अर्थापत्तिपूर्विकाऽ-
र्थापत्तिर्यथाऽर्थकप्रकारेण शब्दस्यार्थेन संबन्धात्साध्यधर्मिन्य-
सिद्धिः, पौरुषेयत्वे शब्दस्य संबन्धयोगात् । अनावपूर्विकाऽ-
र्थापत्तिर्यथा-जीवो देवदत्तस्य शब्दप्रशान्दाद्यद् बहिर्भावः ।
अत्र चतुर्भिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते । पश्चात्तं नि-
वृत्ता । पक्षानं गृह्यत बहिर्भूतो देवदत्त एव साध्यते । इत्येवं
पदमन्त्राऽर्थापत्तिः । अन्ये तु-भूतानुपपत्तिमन्त्रयोर्वाहरे-
‘पानो देवदत्तो दिवा न लुक्ते’ इति वाक्यभ्रयणाद् शान्ति-
जनवाक्यप्रतिपात्तेः भूतार्थापत्त्याः । गवयोपमिताया गान्तेऽहो-
मन्त्रात्शक्तिरुपपत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिः ।

तदुक्तम्—

सत्र प्रकृतो ज्ञानात्, तदा दृढनशक्तिः ।
बह्वरनुमाना सर्वे, यानात्तच्चर्जायोगिना ॥ १ ॥
पानो दिवा न लुक्ते इत्येवं प्रतिबन्धः श्रुती ।
शान्तिजनविक्रान्तं, भूतार्थापत्तिरुच्यते ॥ २ ॥
गवयोपमिताया गान्तेऽहोमन्त्रात्साध्यार्थापत्त्या ।
अभिधानमस्यस्यार्थमर्थापत्त्याऽवबोधितात् ॥ ३ ॥

शब्दे शाकसामर्थ्यात्, तन्नित्यत्वप्रमेयता ।
प्रमाणाभावात्निर्णीत-वेत्ताभावात्विशेषितत्वात् ॥ ४ ॥
येहादृशैर्बहिर्नाभसिद्धिर्था विवक्षिता ।
नामज्जावोत्थितामन्वा-मर्थापिषुमुदाहरत् ॥ ५ ॥ इत्यादि ।

इयं च षट्प्रकाराऽप्यर्थापत्तिर्नाभस्य, अतीन्द्रियशक्यत्वाद्यर्थ-
विषयत्वात् । अत एव नातुमायम् । इत्यथावगतमतिबद्धसिद्धमभ-
धनेन तस्योपपत्तौनायत् ; अर्थापत्तिर्नाभस्यार्थस्य कदाचिद्व्य-
पत्तौकावस्थात्वात् । तेन सहायार्थपरमुत्थापकस्यार्थस्य संबन्धाप्र-
तिपत्तेः ; तद्विवाधोपस्था तनस्तस्य प्रकल्पना । सम्म० ।

अत्यावतिदोस-अर्थापत्तिदोष-पुं० । सूत्रदोषनेदे, यथार्था-
पत्त्यानिष्टमात्रापति तथाऽर्थापत्तिदोषः । यथा-“शूद्रकुण्डो न
हस्तस्यः” इत्युक्ते अर्थापत्त्या शेषघातोऽदृष्ट इत्यापत्ति । विशेषः ।
अनु० । यथा-“ब्राह्मणो न हस्तस्यः” इत्युक्तोद्ब्राह्मणघातात् । आ०
म० द्वि० । वृ० ।

अत्याह-अस्ताध-(घ) षि० । अगाधे, अस्ते निरस्तमवि-
धमानमभक्षते प्रतिष्ठाने यस्य तदस्ताधः । स्ताधो वा प्रति-
ष्ठाने, तद्भावाद्स्ताधम । ज्ञा० १४ अ० । पि० । अत्र नास्ति-
का न लुडति तत् स्ताधम, यत्र तु नास्ति का लुडति तदस्ता-
धम । वृ० ४ अ० । पञ्चदशे ज्ञारतानीतजने, प्रथ० ६ द्वा० ।

अत्याह्रिगम-अर्थाधिगम-पुं० । अभिधेयावगमे, पञ्चा० ४ विच० ।

अत्याह्रिगार-अर्थाधिकार-पुं० । ६ तं० । यो यस्य सामायिका-
ध्ययनस्यात्सर्मायोऽप्यस्तुत्कर्तितंनविषयके ऋकमभेदे, “से किं
नं अत्याह्रिगारेः । अत्याह्रिगारे औं अस्तु अरुभयनस्तस्य अत्या-
ह्रिगारे । तं जहाः” सावज्ञास्यगिरिरे, ब्रह्मिष्ठनगुणपथोयपदिब-
धः । आनियस्तस्य मिदधावयन-निमित्तचरुणधारणा चैव ॥ १ ॥
सेचं अर्थाह्रिगारेः । अनु० । आचा० ।

अत्यि-अस्ति-अव्य० । “स्तस्य धोऽसमस्तस्तस्मै” ॥ ७१२१४५ ॥
इतिभूवेण स्तमागस्य धः । प्र० । अस्तीति तिङ्गन्तक्रियावचनप्र-
तिरूपको निपातः । औं० जीवा० । बह्वर्थे, सूत्र० १ भु० १ अ० १ उ० ।
निपातस्याऽप्यव्यवेने, अव्ययस्य “सहस्र श्रियु सिद्धेभु, सर्वस्य
व्य विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु, यश्च व्यति तद्व्ययमिति” ॥ १ ॥
बहुत्वप्रतिपादनात् । औं० । “अर्थगद्वया बुद्धसाधनः” सन्त्येक-
काः द्वाहानिनः । औं० ३ प्रती० अस्तिशब्दशब्दायं निपातसिक्काल-
विषयः । आचा० १ भु० ४ अ० ४ अ० । त्रिकालवर्तिषु विद्यमानेषु
अर्थेषु, अस्तुवत् प्रवृत्ति भाविव्यति च इति प्रत्ययवस्तु,
स्था० ३ डा० १ उ० । “अत्यि णं नंतं । जीवाणं पाणाहवायणं
रुचिरिया कञ्जह” म० १ दा० १ उ० । आचा० । “अत्यि य १ निष्ठा
२ कुण्ठे, ३ कथं च वेदेरेह अत्यि निष्ठाव्यं ५ । अत्यि य मोक्षका-
भावाद्, ६ अः सम्मत्तस्त ज्ञानार्हः” ॥ १ ॥ प्रथ० १ भु० १ डा० । येन येन
यदा यदा प्रयोक्तवन् तत् तत्तदा तदाऽस्ति भवति जायते इति ।
अस्य आनन्दहेतुत्वात् सुखनेदं च, स्था० १ डा० १ उ० । प्रदेशे,
स्था० १ डा० । अनु० । उच्यते । अस्तीति निपातः सर्व-
सिद्धयचनोभिधिति । अनु० ।

अत्यि- (क्)-अर्थिन्-वि० । अर्थशब्दात् अस्त्यर्थे “अर्थाच्चाऽस-
त्तिहेति” इति धातौकेन इतिः । याचके, याच० । यः परस्मान्त्यर्थे
अभ्यमिति याचते । इय० १ उ० । अर्थवति ईश्वरे, पञ्चा० १०
१ अर्थ

विच० । स्वामिनि, विशेष० ।

अत्यि-अ-अस्त्विक-पुं० । बहुवीजकवृत्तियेषे, प्रज्ञा० १
पद० । तत्फले, न० । आचा० १ भु० १ अ० ५ अ० ।

अर्थिन्-वि० । याचके, स्वामिनि च । “अर्था अत्यिषो” प्रा० ।

आस्तिक-पुं० । अस्तीति मतिरस्येति भास्तिकः । तत्त्वात्तर-
अवधेऽपि जिनाकतास्यविषये निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिमति, अ० ।

यदाह-

“ममूह तमेव सत्त्वम्, निरसकं औं जिणेहि” पद्यत्तं ।
सुहपरिणामो स्वप्नं, कलाह वि सुप्ति आरोहसां” ॥ ५ ॥

यथाप्यस्य मोहदशाकचन संशयो ज्ञानेन, तत्राप्यप्रतिहेतय-
मर्गज्ञा श्रीजिनभक्तगणिकुमाभ्रमणादिना-

“कथं य मरुदुप्यन्तं, नित्यं च आत्यरिषिरहसो वा वि ।
भेन्नगदणत्तणं य, नाशावगोदप्यं च ॥ १ ॥
हेकदाहरणासं-नवे अ स ह सुदु जं न बुद्धेज्जा ।

सत्यभूमयमविगहं, तथा धि तं चित्तं म इमं ॥ ३ ॥
अणुषकयपराणुमह-परायणां जे जिणा जगत्पथरा ।

जिमरागदोसमेहा, यऽनसहा वाइयो तेणं ॥ ३ ॥

यथा वा सूत्राकस्यैकस्याप्यरोचनादृक्कस्य प्रवृत्ति नरो मि-
थ्याहः । सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनानिर्दिष्टमिति । ध० २ अर्थि० ।

“भास्तिकमतमाग्यायाः, नित्यानित्यात्मकानव पदायाः । काल-
नियतित्वनावे-इतरात्मकताः स्वप्राप्तस्थाः ॥ १ ॥ कालय-
ज्ज्ञानियतेइतरस्वभावात्मनश्चतुरशीतिः ॥ स्था० ४ डा० ४
उ० । आचा० । जीवा० । चावोकादिभिर्दृश्यन्स्वोक्तर्ति
च । न० । तं० ॥

अत्यिकाय-अस्तिकाय-पुं० । अस्तित्वयं त्रिकालवचनो नि-
पातः । अर्भुवत् अर्थानि प्रविशन्ति चेति प्राचना । अतो-
ऽस्ति च तं प्रदेशानां कायाश्च राशय इति अस्तिकायं प्र-
देशप्रदेशाः कालव्युत्पन्ने, ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः ।
स्था० ४ डा० १ उ० । अवयविदृश्येषु धर्मास्तिकायादिषु,
अ० २ श० १० अ० । दर्श० । आ० चू० ।

ते च-

चत्तारि अत्यिकाया अजीवकाया पञ्चता । तं जहा-
धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोमल-
त्थिकाए । चत्तारि अत्यिकाया अरुक्विकाया पञ्चता । तं
जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए,
जीवत्थिकाए ।

अजीवकाया अवेतन्त्वाद्दिति अस्तिकाया मूर्त्ताऽमूर्तां प्रवन्ती-
त्यमूर्त्तप्रतिपादनाय अरुक्वस्तिकायवृत्तम । रूपं सूक्तिवर्णा-
दिसत्त्वं, तदस्ति येषां तं रूपिणः, तत्पुंदासादरूपिणाऽमूर्त्ता
इति । स्था० ४ डा० ४ अ० । जी० । क्यत्वा० ।

यत्ते प्रदेशाग्रेण तुल्याः-

चत्तारि परसमगेषु तुम्हा पञ्चता । तं जहा-धम्मत्थिकाए,
अधम्मत्थिकाए, लोमागसे, एगे जीवे ।

प्रदेशाग्रेण प्रदेशप्रमाणेनितुल्याः समानाः सर्वेषामेयामसं-
ख्यातप्रदेशत्वात् । स्था० ४ डा० ३ अ० ।

साम्प्रतमत्तिकायद्वारमाह -

एरसि एं भंते ! धम्मत्तिकायअधम्मत्तिकायअग्गास-
त्तिकायजीवात्तिकायपोगलत्तिकायअक्कासमया एं दब्ब-
द्वयाए कयरे कयरेहिंतो अया वा बहुया वा तुट्ठा वा विसेसा-
द्विया वा ? गोयमा ! धम्मत्तिकाय अधम्मत्तिकाय अग्गास-
त्तिकाय, एर सित्थि वि तुट्ठा दब्बद्वयाए सच्चत्थोवा, जीव-
त्तिकाय दब्बद्वयाए अणंतगुणे, पोगलत्तिकाय दब्बद्वयाए
अणंतगुणे, अक्कासमए दब्बद्वयाए अणंतगुणे ।।

(एरसि एं भंते ! धम्मत्तिकायेत्यदि) धर्मास्तिकायोऽधर्मा-
स्तिकाय आकाशास्तिकायः । एते धर्मोऽपि इत्याधेतया इत्येव-
मर्थो इत्याधेतस्य भावो इत्याधेतया, तथा इत्येवकृतया इत्य-
र्थः । तुल्याः समानाः, प्रत्येकमसंस्कृताकाशात् । अत एव सर्वे
स्तोकाः, तेषां जीवास्तिकायां इत्याधेतयाऽनन्तगुणः । जीवानां
प्रत्येकं तद्व्यवस्था, तेषां च जीवास्तिकायाऽनन्तत्वात् । तस्मादपि
पुद्गलास्तिकायां इत्याधेतयाऽनन्तगुणः । कथमर्थः, इति चेत् ।
उच्यते-इह परमाणुद्विप्रदेशकादिनि पृथक् इ द्वयाणि, तानि
च सामान्यतस्त्रिधा । तद्यथा-प्रयोगपरिणामनि, मिश्रपरिणत-
नि, विभ्रसपरिणतानि च । तत्र प्रयोगपरिणतान्यपि तावज्ज्ञाव-
ध्वोऽनन्तगुणानि, एकैकस्य जीवस्थानतैः प्रत्येकं ज्ञानपरिण-
तपरिणतसु पुद्गलस्कन्धैरावेधितत्वात् । किं पुनः शेषानि ? ततः
प्रयोगपरिणतस्यो मिश्रपरिणतान्यनन्तगुणानि । तेषोऽपि विभ्र-
सापरिणतान्यनन्तगुणानि । तथा चोक्तं प्रकृतौ-“ सव्याधोवा
पुद्गला पद्मोपरिणतया मीसपरिणया अनन्तगुणा, बीससापरि-
णया अनन्तगुणाः ” इति । ततोऽत्रयति जीवास्तिकायात् पुद्गलास्तिका-
यां इत्याधेतया अनन्तगुणः । तस्मादप्युद्गासमया द्रव्याधे-
तया अनन्तगुणः । कथमर्थः, इति चेत् । उच्यते-इहैकस्थेव परमा-
णोरनागते काले तच्च द्विप्रदेशकमिप्रदेशकयावहृशमप्रदेशकसंख्या-
तप्रदेशकप्रसंख्यतमप्रदेशकानन्तप्रदेशकसंख्यानतः परिणामित-
या अन्नता भाविनः संयोगाः पृथक् पृथक् काशाः केवलदेशोप-
लब्धाः । यथा कैकस्य परमाणोस्तया सर्वेषां प्रत्येकं द्विप्रदेश-
काद्विस्कन्धानां च अन्नताः संयोगाः पुरस्कृताः पृथक् पृथक्
काला उपलब्धाः । सर्वेषामपि मनुष्येकज्ञानवर्धिततया परिण-
मसंभवात् । तथा ज्ञेयतोऽप्यर्थं परमाणुरमुष्मिन् आकाशप्रदेशे
अभूमिष्य काले भवगाद्विद्यते, इत्येवमन्नता एकस्य परमाणो-
न्तयाः संयोगा यथैकस्य परमाणोस्तया सर्वेषां परमाणूनां,
तथा द्विप्रदेशकादीनामपि स्कन्धानामनन्तप्रदेशकसंख्यधेतानां
प्रत्येकं तद्व्यवस्थाव्यवहारमर्थतोऽभिभ्रमिभ्रकाशा अन्नता भा-
विनः संयोगाः । तथा काशातोऽप्यर्थं परमाणुमुष्मिन् आकाशप्रदे-
शे एकसमयस्थितिकः, इत्येवमेकस्यापि परमाणोरेकसिद्धाका-
शप्रदेशेऽसंख्यया भाविनः संयोगाः । एवं सर्वेव्यवस्थाका-
शप्रदेशेषु प्रत्येकमसंख्यया भाविनः संयोगाः । ततो भूयो
भूयन्नताऽऽकाशप्रदेशेषु परमाणूनां कालस्थानतयावन्नताः
काशातो भाविनः संयोगाः । यथा कैकस्य परमाणोस्तया सर्वेषां
परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्विप्रदेशकादीनां स्कन्धानां, तथा
भावतोऽप्यर्थं परमाणुमुष्मिन् काले एकगुणकाशाको भवती-
त्येवमेकस्यापि परमाणोऽभिभ्रमिभ्रकाशाः अन्नताः संयोगाः ।
यथा कैकस्य परमाणोस्तया परमाणूनां च सर्वेषां च द्विप्र-
देशादीनां स्कन्धानां पृथक् पृथक् अन्नता भावनः पुरस्कृताः

संयोगाः । तदेवमेकस्यापि परमाणोरेक्येककालभावाविशेष-
संबन्धवशाद्भवन्ता जाविनः समया उपलब्धाः । यथैकस्य
परमाणोस्तया सर्वेषां परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्वि-
प्रदेशानां स्कन्धानाम् । न ज्ञेयपरिणामकाशवस्तुव्यतिरेक-
परिणामिपुद्गलास्तिकायादिव्यतिरेके चोपपद्यते । ततः सर्वमिदं
च ताविकमवसेयम् । उक्तं च-“ संयोगपुरस्कारक, नाम
भाविनि हि युज्यते काले । न हि संयोगपुरस्कारो, अस्तौ केषां
चिदुपपन्नः ” ॥१॥ इति यथा च सर्वेषां परमाणूनां च द्विप्रदेशका-
दीनां स्कन्धानां प्रत्येकं इत्येककालजावविशेषसंबन्धवशाद्भव-
न्ता जाविनोऽस्मासमयाः, तथा अतीता अपीति, सिद्धः पुद्गलास्तिका-
यादनन्तगुणोऽस्मासमयो इत्याधेतयेति । उक्तं इत्याधेतया
परस्परमद्वयवृत्तमिति ।

इदानींमतेषामेव प्रदेशार्थतया तदाह-

एरसि एं भंते ! धम्मत्तिकाय अधम्मत्तिकाय अग्गास-
त्तिकाय जीवत्तिकाय पोगलत्तिकाय अक्कासमया एं पदे-
सद्वयाए कयरे कयरेहिंतो अया वा बहुया वा तुट्ठा वा विसेसा-
द्विया वा ? गोयमा ! धम्मत्तिकाय अधम्मत्तिकाय अग्गास-
त्तिकाय, एर सि एं दो वि तुट्ठा पदेसद्वयाए सच्चत्थोवा,
जीवत्तिकाय पदेसद्वयाए अणंतगुणा, पोगलत्तिकाय प-
देसद्वयाए अणंतगुणा, अक्कासमए पदेसद्वयाए अणंतगुणा,
अग्गासत्तिकाय पदेसद्वयाए अणंतगुणा ।।

(एरसि एं भंते ! धम्मत्तिकायेत्यदि) धर्मास्तिकायोऽध-
र्मास्तिकायः, एतौ द्वौपि परस्परं प्रदेशार्थतया तुल्यौ, उभयो-
रपि लोकाकाशप्रदेशात्पत् । शुषास्तिकायाऽक्काससमयापुद्गला-
य च सर्वेस्तोको । तेषां जीवास्तिकायाः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः,
जीवास्तिकायां जीवात्तानमनन्तत्वात् । एकैकस्य च जीवस्य लो-
काकाशप्रदेशपरिणामप्रदेशत्वात् । तस्मादपि पुद्गलास्तिकायाः
प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः । कथमिति ? उच्यते-इह कर्मस्कन्ध-
प्रदेशा अपि तावत्सर्वं जीवप्रदेशेषोऽनन्तगुणाः एकैकस्य च जी-
वप्रदेशस्थानान्नान्तैः कर्मपरमाणुभिर्वाधेतिपरिधेतिनत्वात् ।
किं पुनः सकलपुद्गलास्तिकायप्रदेशस्ततो भवति ? जीवास्तिका-
यात्पुद्गलास्तिकायाः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, तस्मादप्युद्गास-
मयाः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः ; एकैकस्य पुद्गलास्तिकायप्रदेशस्य
प्रागुक्तकमेण तसद्व्यवस्थाकालजावविशेषसंबन्धजावतोऽन-
न्तानामतोऽस्मासमयानामन्नतासमयानामन्नतासमयानां भावात् ।
तस्मादाकाशास्तिकायप्रदेशार्थतया अनन्तगुणः ; अत्रोक्तस्य
सर्वतोऽप्यनन्तताभावात् । गते प्रदेशार्थतयाऽप्यद्वयवृत्तयम् ।

इदानीं प्रत्येकं इत्याधेतयाऽप्यर्थं इत्येवहृशमाह-

एरसि एं भंते ! धम्मत्तिकायस दब्बद्वयाए पदेसद्वयाए
कयरे कयरेहिंतो अया वा बहुया वा तुट्ठा वा विसेसाद्वि-
या वा ? गोयमा ! सच्चत्थोवा एगे धम्मत्तिकाय दब्बद्वयाए,
सो वेव पदेसद्वयाए अससिज्जगुणा । एरसि एं भंते ! अध-
म्मत्तिकायस दब्बद्वयपदेसद्वयाए कयरे कयरेहिंतो अया
वा बहुया वा तुट्ठा वा विसेसाद्विया वा ? गोयमा ! सच्चत्थोवे
एगे अधम्मत्तिकाय दब्बद्वयाए, सो वेव पदेसद्वयाए अस-
सिज्जगुणे । एतसस एं भंते ! आगासत्तिकायस दब्बद्वयपदे-

सङ्घाय कयरे कयरेहिंतो अप्पा बाधु । गोयमा । सञ्चत्योवे एगे आगासत्थिकाए दब्बङ्घयाए, सो चेव पदेसत्थयाए अणं-तगुणा । एतस्स णं जंते ! जीवत्थिकायस्स दब्बङ्घपदेसङ्घ-याए कयरे कयरेहिंतो अप्पा बाधु । गोयमा । सञ्चत्यो-वे जीवत्थिकाए दब्बङ्घयाए, सो चेव पदेसङ्घयाए असंस्ति-ज्जगुणा । एतस्स णं जंते ! पोमलत्थिकायस्स दब्बङ्घपदे-सङ्घयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा बाधु ? गोयमा । सञ्चत्यो-वा पोमलत्थिकाए दब्बङ्घयाए, सो चेव पदेसङ्घयाए अ-संस्तिज्जगुणा, अक्कासमए ण पुच्छिज्जइ, पदेसाजावा ।

सर्वस्तोको धर्मास्तिकायो इत्याथेतया, एकात्थात् । प्रदेशार्थ-तया असंख्येयगुणः, श्लोकाशाश्रमदेशपरिमाणश्रमत्वात् । एवमधर्मास्तिकायसंख्यमपि भावनेत्यर्थः । आकाशास्तिकायो इत्याथेतया सर्वस्तोकाः, एकत्वात् । प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, अपरिमितत्वात् । जीवास्तिकायो इत्याथेतया सर्वस्तोकाः, प्रदे-शाथेतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवं श्लोकाशाश्रमदेशभावात् । तथा-सर्वस्तोकाः पुद्गलास्तिकायो इत्याथेतया, इत्याणां सर्वेषा-पि स्तोकात्वात् । स एव पुद्गलास्तिकायस्तद्वृत्त्यापेक्षया प्रदेशार्थ-तया चिन्त्यमानोऽसंख्येयगुणः । ननु बहवः शतु उगलनन्तप्रदेश-का अपि स्कन्धा विद्यन्ते, ततोऽनन्तगुणः कस्मान्न भवन्ति ? तदुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह हि स्वधया अनन्तप्रदेशकाः स्कन्धाः ; परमाण्वाद्यवस्थतिबन्धवः । तथा वक्ष्यति सूत्रम्-“स-ञ्चत्योव अणंतपपसिया खंधा दब्बत्थयाए, परमाण्णोपोमला द-ब्बत्थयाए अनंतगुणा । संखेज्जपपसिया खंधा दब्बत्थयाए अ-संखेज्जगुणा, असंखेज्जपपसियाए खन्धा दब्बत्थयाए असंखेज्ज-गुणा” इति । ततो यदा सर्वे एव पुद्गलास्तिकायाः प्रदेशार्थतया चिन्त्यन्ते तदा अनन्तप्रदेशकानां स्कन्धानामितिलोकात्वात् पर-माण्णां चानिबद्ध्यत्वेनां च पृथक् इत्यन्त्यात् असंख्येयप्रदे-शकानां च स्कन्धानां परमाण्वपेक्षया असंख्येयगुणत्वात्संख्येय-गुण एवोपपद्यते, नामान्तागुणः । (अक्कासमए ण पुच्छिज्जइ सि) अक्कासमयो इत्याथेप्रदेशार्थतया न पृच्छन्ते । कुतः ? , इ-त्याइ-प्रदेशाभावात् । आह-कायमक्कासमयानां इत्याथेतानि-यमः ; यावता प्रदेशार्थतासि तेषां विद्यते एव । तथाहि-यथा अ-नन्तानां परमाण्णां समुदायस्कन्धा भव्यते, स च इत्यर्थे, तद्व-यथाशब्द प्रदेशाः तथेहापि एककाः कालो इत्यर्थे, तद्वयथाशब्द स-मयाः प्रदेशा इति । तदुक्तम् । इहान्तदार्थान्तिकविषयत्वात्, परमा-ण्णां समुदायः तदा स्कन्धो भवति, यदा ते परस्परसापेक्षतया परिणमन्ते, परस्परानिर्पेक्षाणां केवलपरमाण्णामिषे स्कन्धत्वा-योगात् । अक्कासमयास्तु परस्परं निरपेक्षा एव, यत्तैमानसमय-जावे पूर्वापरसमययोरजावात् । ततो न स्कन्धत्वपरिणामः । तदाभावात् नाक्कासमयाः प्रदेशाः, किं तु पृथक् इत्याथेवेति ।

सम्पत्पूर्वा धर्मास्तिकायादीनां सर्वेषां गुणपद इत्याथेप्र-देशार्थतयाऽप्यवहुत्वमाह-

एस्सि णं जंते ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय आगासत्थि-काय जीवत्थिकाय पोमलत्थिकाय अद्दासमया णं दब्बङ्घयाए पदेसङ्घयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बुद्धा वा तुद्धा वा बिसेसाहिया वा ? गोयमा ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय

आगासत्थिकाए य, एए णं तिथि वि तुद्धा, दब्बङ्घयाए स-ञ्चत्योवा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए य, एए णं दोधि वि तुद्धा पदेसङ्घयाए असंस्तिज्जगुणा, जीवत्थिकाए दब्ब-ङ्घयाए अणंतगुणे, सो चेव पदेसङ्घयाए असंस्तिज्जगुणे, पोमलत्थिकाए दब्बङ्घयाए अणंतगुणे, सो चेव परसङ्घ-याए असंस्तिज्जगुणे, अद्दासमए दब्बङ्घपदेसङ्घयाए अणं-तगुणे, आगासत्थिकाए पदेसत्थयाए अणंतगुणा ॥

(एएसि णं प्रते ! इत्यादि) धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः, एते त्रयोऽपि इत्याथेतया तुल्याः, सर्वस्तो-काश्च प्रत्येकमेकसंख्याकत्वात् ३ । तेष्वो धर्मास्तिकायोऽधर्मा-स्तिकायः, एतौ द्वावपि प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणौ, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यौ ॥ सार्थाय जीवास्तिकायो इत्याथेतया अनन्तगु-णः, अनन्तानां जीवइत्याणां भावात् ३ । स एव जीवा-स्तिकायः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवमसंख्येयानां प्र-देशानां जावात् ३ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया जीवास्तिकाया-स्तुद्गलास्तिकायो इत्याथेतया अनन्तगुणः, प्रतिजीवप्रदेशं हा-मावरणीयादि कर्मपुद्गलस्कन्धानामन्यनन्तानां भावात् ३ । स एव पुद्गलास्तिकायः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, अत्र भावना प्राणिब ६ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया पुद्गलास्तिकायात् अक्कासमया इत्याथेतया अनन्तगुणः, अत्रापि भावना प्राणिब १० । तस्मादप्या-काशास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, प्रातिव्यपि विदु वि-दिषु तस्यान्तर्भावात्, अक्कासमयस्य च मनुष्यक्षेत्रमात्रभावात् ११ । गतमस्तिकायम् । प्रज्ञा ३ पद । “ सडहिं अत्यिकायाहिं शोमे फुदे पन्नसे । तं जहा-धम्मत्थिकायाणं अधम्मत्थिकायाणं जीवात्थिकायाणं पोमलत्थिकायाणं ” का० ४ उा० ३ उ० ॥

प्रथवा—

कइ णं भंते ! अत्यिकाया पएखात्ता ? गोयमा ! एंव अत्यिकाया पसत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थि-काए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोमलत्थिकाए ।

धर्मास्तिकायादीनां चोपन्यासेऽयमेव क्रमः । तथाहि-धर्मा-स्तिकायादिपदस्य मात्रालिकत्वाद् धर्मास्तिकाय आदावुक्तः, तदनन्तरं च तद्विपकत्वाद् अधर्मास्तिकायः । अतश्च तदाधारत्वाद् आ-काशास्तिकायः । ततोऽनन्तत्वाद् धूर्त्तत्वसाधर्म्योर्जीवास्तिकाय-यः, ततस्तदुपसमकत्वात् पुद्गलास्तिकाय इति ॥ ४० २ श० १० उ० । तेषामितित्वम् । अत्र च जीवपुद्गलानां गत्यन्यथाऽनुपपत्ते-र्धर्मास्तिकायस्य तेभानिव स्थित्यन्यथाऽनुपपत्तेरधर्मास्तिकायस्य सर्वं प्रतिपत्तव्यम् । न च वक्तव्यं तद्विस्थितौ च भविष्यतः, धर्माधर्मास्तिकाये च न भविष्यत इति । प्रतिबन्धाज्जावादे-कान्तिकतेति । तावन्तरेणापि तदुभयानुल्लोकेऽपि तत्रसङ्गातः । यदि त्वल्लोकेऽपि तद्वत् स्थितिस्तीत्यां, तदाऽ, तदाऽल्लोकास्त्यनन्त-त्वाद्दोकाशिन्येव जीवपुद्गलानां तत्र प्रवेशादेकद्विधादिजावपु-द्गलपृथः सर्वथा तच्छब्दो वा कर्वाविच्छोकाः स्यादः, तैतद् इहामिहं वेत्याद्यन्यदपि रूपवजासम्यपत्ति, नोच्यते इत्यविस्तरभया-दिति । आकाशं तु जीवादिपदाद्यनामाचारः, अन्याऽनुपपत्ते-रस्तीति अद्वयम् । न च धर्माधर्मास्तिकायायेव तदाधारी जविष्यत इति वक्तव्यम् । तयोस्तद्विस्थितिस्त्वाचक्येनोक्तत्वात् । न चाप्यसाध्यं कार्यमयः प्रसाधयति, अप्रसङ्गात् । इति षट्दधि-

इत्यनुभवश्च प्रतिप्रामाण्यसंबन्धेन न सिद्धत्वात् । स्त्रीबन्ध्यास्तित्वमव-
गतव्ययः । न च सुयित्तमन्तरात् प्रवृत्तत्वात् युक्ता, अतिप्रसङ्गात् ।
न च देहं पचास्य शुणी सुवृत्ते, यतो ह्यनमस्त्वं चिद्रूपं लब्धे, इ-
न्द्रियगोचरासीत्वादिधर्मापेक्षितम्, अतः सत्त्वानुसृष्ट एव कश्चिद्
शुणी स्वाम्येकपीथः स च जीव एव, च तु देहः, विपरितन्वात् ।
यदि पुनरनुसृष्टोऽपि शुभानां शुणी कल्प्यते, तत्रैव न च । कपादि-
शुभानामप्याकारादेव शुणित्येकव्यपनाप्रसङ्गादिति । पुनस्तस्मिन्का-
वन्धे तु धर्मादिकार्यान्वयाऽनुपपत्तः, प्रायश्चित्वाच्च सर्वं प्रति-
तमेवेति । अणुः ।

अस्ति काषानामस्ति कावत्यम्—

एते जन्ते । धम्मत्थिकावत्पदेसे धम्मत्थिकाए चि वत्त-
व्वं सिया ? गोयमा । गो इण्ठे सम्भे, एवं दोभि वि तिभि
वि चचारि एव ङ सच अट्ट नव दस संसेजा असंसेजा
अंते । धम्मत्थिकयपपदेसा धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सि-
या ? गोयमा । गो इण्ठे सम्भे, एगपदेसूणे वि य एवं
धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया ? । गो इण्ठे सम्भे,
से केण्ठेणं भंते । एवं बुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायपपदेसे नां
धम्मत्थिकावो चि वत्तव्वं सिया, जाव एगपदेसूणे वि य एवं
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । से एणां
गोयमा । त्वं चक्के सगले चक्के ? जगवं ? नो त्वं चक्के स-
गले चक्के । एवं उच्ये धम्मे देसे एसे आउठे गोयए । से
तेण्ठणं गोयमा । एवं बुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायपपदेसे नां
धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । जाव एगपदेसूणे वि य एवं
धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । से किं
खाइएणं जंते । धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । गोयमा ।
असंसेजेजा धम्मत्थिकायपपेसा, तं सव्वे कसिणा पटि-
पुष्पा निरवसेसा एकगहणगहिद्या । एस एणं गोयमा ।
धम्मत्थिकाए चि वत्तव्वं सिया । एवं अट्टमत्थिकाए चि ।
आगमासत्थिकायजोवित्थिकायपोमगलत्थिकाए चि एवं चेव,
नवरं तियइं पि एपसा अण्यंता जाणियन्वा, सेसं तं चेव ।

(कंठे चक्के इत्यादि) यथा अण्वे चर्कं चर्कं न भवति, अणु-
चक्रमित्येवं तस्य व्यपदेश्यमानत्वात्, अपि तु सकलमेव चर्कं
चर्कं जगति । एवं धर्मास्तिकायः प्रदेशानाम्पूनां तं धर्मास्तिकाय
इति वचनम् : क्यादा । एतच्च तिस्र्यन्वयवर्णनम् । व्यवहारप्रय-
त्ने तु एकदेशानामपि वस्तु वस्त्वेव । यथा अण्वोऽपि घटो घट
एव, क्षिप्रकषोऽपि भ्या भ्येव । अणति च—“एकदेशविकृतमन-
व्यवहितम्” । (से किं खाइए चि) अथ किं पुनरित्यर्थः । (सव्वं
चि) समस्तान्ते च देशोपेक्षयाऽपि नवमिन्, प्रकारकास्त्येऽपि
सर्वेष्वभ्यप्रवृत्तः । इत्यत आह—(कसिण चि) कृत्वा न तु
तद्वक्ष्येऽपेक्षया सर्वं इत्यर्थः । ते च स्वस्वजायचरहिता अपि भव-
न्तीत्यत आह—अतिपुणों आत्मस्वकपेक्षाविक्रमाः, ते च प्रदेशा-
न्तरायेक्या स्वस्वजावन्मृता अपि तयोऽप्यन्ते इत्याह—(गिरव-
केस चि) प्रदेशान्तरनोऽपि स्वस्वभावेनामपूनाः । तथा—(एगमह-
वाहादि चि) एकग्रहयोगैकशाब्देन धर्मास्तिकाय इत्येवं अक-
मेव शुद्धीना ये ते तथा, एकशाब्दाभिधेया इत्यर्थः । एकाशांको-

ते शाब्दाः । (एवसा अण्यंता भाणियव्वं चि) धर्माधर्मयोरे-
सम्बन्धोः प्रदेशा उक्ताः आकाशादीनां पुनः प्रदेशा जनता वा-
क्याः ; अन्तन्तमदेशकत्वात्प्रमाणमपीति । उपयागोप्यो जीवा-
स्तिकायः प्रवर्णितः । प्र० २ श० १० उ० ।

प्रदेशानिवृत्तम्—

एयंसि एवं भंते ! धम्मत्थिकायअट्टमत्थिकाएआमा-
सत्थिकायंसि चकिया केइ आसइत्तए वा सुत्तए वा सि-
द्धित्तए वा गिसंयत्तए वा, तुयइत्तए वा ! । गो इण्ठे सम्भे,
अण्यंता पुण तत्थ जीवा अणगाढा । से केण्ठेणं भंते । एवं
वुच्चइ—एयंसि एवं धम्मत्थि० नाव आगमासत्थिकायंसि नो च-
किया केइ आसइत्तए वा० जाव आगाढा । गोयमा । से जहा
एामए कूपागारसाला सिया इहुअं सित्ता गुत्ता गुत्तदुवाग
जहा रायपसेण० उजे० नाव दुवारवयाणाइं पिहंति । दुवार०
तंभे य कूपागारसालाए बहुमज्जेसेजए जट्ठेणं एकां
वा दो वा तिभि वा । उक्कामेणं पदावसेहससं पत्ताविजा,
से खणं गोयमा । ताअो पदावसेहसाअो अणमणसंभ-
क्काअो अणमणसुपुद्धाअो० जाव अणमणसपवत्ताए चिद्धंति,
इंता चकिया एवं गोयमा । केइ तासु पदावसेहसासु आसइ
त्तए वा० जाव तुयइत्तए वा । जगवं । गो इण्ठे सम्भे ।
अण्यंता पुण तत्थ जीवा आगाढा । से नेण्ठेणं गोयमा !
एवं बुच्चइ० जाव आगाढा ॥

एतस्मिन् णमित्ति वाक्यालङ्कारे (चकिया चि) शब्दनुयात् ।
कश्चित्पुरुषः । प्र० १३ श० ४ उ० ।

प्रमाणम्—

धम्मत्थिकाए नं जंते ! केमहाइए एणसे ? । गोयमा !
लोए लोयमेसे डोयपपामे लोयकुडे डोयं चेव एुमिचा
एणं चिट्ठइ । एवं अट्टमत्थिकाए लोयाकामे जीवत्थिकाए
पोमगलत्थिकाएकाजिज्ञावा ॥

(केमहाइए चि) सुसनाथप्रत्ययव्याख्यदेशस्य, किं महत्वं
यस्यासौ किमहत्त्वं । (लोए चि) लोकां लोकप्रमितित्वात्,
लोकव्यपदेशज्ञा, उच्यते च—“पंचम्यिकायमयं लोयमित्यादि”
लोकं चासौ बतते । इह चाप्रहितवमप्युक्तम् । शिष्यहितवादा-
चार्यस्येति । लोकामात्रं लोकपरिमाणं, स च किञ्चन्युनाऽपि
व्यवहारतः स्यादित्यत आह—(लोयकुडे चि) लोकप्रमाणां
लोकप्रदेशप्रमाणत्वात्प्रदेशानाम् । स चाप्युभयानुबन्धेन स्थित
इत्येतदेवाह—(लोयकुडे चि) लोकं लोककारेण सक्तस्य-
प्रदेशः स्पृष्टा लोकस्पृष्टः । तथा लोकमेव च सकलस्वप्रदेशः
स्पृष्टा तिष्ठतीति पुराणास्तिकायां लोकं स्पृष्ट्वा तिष्ठतीत्यन्तर-
कमितेति । प्र० २ श० १० उ० ।

एयं ग-धरत्तादिः—

धम्मत्थिकाए एणं कति वधे, कति भंथे, कति रसे, कति
फासे ? । गोयमा ! अत्रथे अणं अरसे अफासे अरुवी
अर्जावे सामए अवडिणं लोएदव्वे, ते समासअो पंचवि-
पणसे । तं महा-दव्वअो त्वचओ कालअो भावअो गु-

णञो । दन्वञो णं धम्मत्थिकाए एगे दन्वे, लेखञो णो-
प्यमाणमेते, कालञो न कयाइ न आसि न कयाइ न-
त्थि जाव निबे, भावञो अवबे अंगथे अरसे अफासे,
गुणञो गणगुणे । अण्धम्मत्थिकाए वि एवं चेत, नवरं गु-
णञो ठाणगुणे । आगामत्थिकाए वि एवं चेत, नवरं ले-
खञो एं आगामत्थिकाए होयाहोयप्यमाणमेते अणंते
चेव जाव गुणञो अवगाहगुणे । जीवत्थिकाए णं भंते !
कइ वण्णे, कइ गेधे, कइ रसे, कइ फासे । गोयमा ! अवबे
जाव अरुवी जीव सासए अवह्दिए लोगदन्वे, स समासञो
पंचविहे पएण्णे । तं जहा-दन्वञो ० जाव गुणञो । दन्व-
ञो णं जीवत्थिकाए अणंताई जीवदन्वाई, लेखञो णो-
प्यमाणमेते, कालञो न कयाइ न आसि ० जाव निबे,
जावञो गुण अवबे अंगथे अरसफासे, गुणञो उव-
ञोगुणे । पांगलत्थिकाए णं भंते ! कइ वण्णे, कइ गं-
धरसफासे । गोयमा ! पंचवबे पंचरसे चुगंधे अहफासे
रुवी अजीवे मासए अवह्दिए लोगदन्वे । से समासञो पं-
चविहे पएण्णे । तं जहा-दन्वञो लेखञो कालञो भाव-
ञो गुणञो । दन्वञो णं पांगलत्थिकाए अणंताई दन्वाई,
लेखञो लोयप्यमाणमेते, कालञो न कयाइ न आसि ०
जाव निबे, जावञो उवधमेतं गंधरसफासमेते, गुणञो ग-
हणगुणे ॥

(अवधे इत्यादि) यत् पचायणादित्त्वं पचाकूपी ध्रुमूर्धः, न तु
निःस्वभावः, नभः पर्युदासवृत्तित्वात् । शाश्वतां ह्यन्यतोऽव-
स्थितः प्रदेशतः (लागदन्वे चि) होकस्य पञ्चस्तिकायात्म-
कस्यांशुर्न ह्यन्यं लोकद्वयम् । भावत इति पर्यायतः (गुण-
ञो चि) कार्यतः [गणगुणे चि] जीवबुद्धानां गतिपरिण-
तानां गत्युपग्रहहेतुः, मास्थानां जलामिधेति । [ठाणगुणे चि] जी-
वबुद्धानां स्थितिपरिणतानां स्थित्युपग्रहहेतुः, मन्वानां स्थल-
मिधेति । [अवगाहणगुणे चि] जीवादीनामवकाशहेतुः, धरुदरानां
कुरममिधे । [उवञोगुणे चि] उपयोगश्चेत्यर्थं साकारानाका-
रमेतद् । [गहणगुणे चि] प्रत्येकं परस्परं सम्बन्धनं जीबान
षा, भौदार्गिकादिभिः प्रकीरति । अ० २ श० १० उ० ।

अवगाहनादयः-

धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमाहाए पएण्णे ? गोयमा !
होए होयमेते लोयप्यमाणे होयकुरे लोयं वेय ठमाहि-
क्काए चिट्ठवि, एवं जाव पांगलत्थिकाए । अहे होए णं
जंते ! धम्मत्थिकायस्स केवइयं अंगोढे । गोयमा ! साइरं
अण्धं अंगोढे, एवं एएणं अजिलावेणं जहा वियइएणं
जाव ईसिप्यणारानं । जंते ! पुडवीहोयागासस्स किं सं-
खेज्जजानं अंगोढा पुच्छा । गोयमा ! णो संखेज्जजानं
अंगोढा, असंखेज्जजानं अंगोढा, णो संखेज्जजाने
अंगोढा, णो असंखेज्जजाने अंगोढा, णो सचवं लो-
यं अंगोढा, सेसं तं चेव ।

“धम्मत्थिकाएणं भंते !” इत्यादिवाक्याणः; तत्र च नवरं
केवलं “लोयं वेय कुसित्थानं चिट्ठं चि” । एतस्य स्थान-
“लोयं वेव अंगोहिक्काणं चिट्ठं” इत्ययमिहायो वदय इति ।
अ० २ श० २ उ० ॥

(अस्तिकायानां विषयेऽप्यधिकैः सह विप्रतिपत्तयः ‘अयणु-
त्थिय’ शब्देऽस्मिन्नेव जागे ४५६ पृष्ठे दर्शिताः)

अथप्रदेशाः-

कइ णं जंते ! धम्मत्थिकायस्स मज्झप्यदेसा पएण्णा ? ।
गोयमा ! अह्धम्मत्थिकायस्स मज्झप्यदेसा पएण्णा ? ।
कइ णं जंते ! अह्धम्मत्थिकायस्स मज्झप्यदेसा पएण्णा ? ।
गोयमा ! एवं केव । कइ णं जंते ! आगामत्थिकायस्स मज्झ-
प्यदेसा पएणा ? । गोयमा ! एवं चेव । कइ णं जंते ! जीवत्थि-
कायस्स मज्झप्यदेसा पएणा ? । गोयमा ! अण्धं जीवत्थिकाय-
स्स मज्झप्यदेसा पएण्णा । एएसि णं जंते ! अह्धं जीव-
त्थिकायस्स मज्झप्यदेसा कइएणं आगामपदेसेण अंगोढा
हूँति ? । गोयमा ! जहएणं एकंस्सि वा दोहिं वा तिहिं
वा चउहिं वा पंचहिं वा व्हिं वा उकोसेणं अह्धुणं णां
वेव णं मत्तसु । सेवं भंते ! भंते ! चि ॥

प्रत्येकं जीवानामित्यर्थः । ते च सर्वस्वामवगाहनायां मत्त्य-
जाग एव जन्वन्ति इत्यप्रदेशा उच्यन्ते । जहणेणं एकंस्सि वे-
त्यादि । सङ्घाविकाराशब्दमन्वयत्वेनापि । (उकोसेणं अह्धु-
त्थि) एकैकस्मिन्नेव तेषामवगाहनात् । (नो वेण एं सत्तसु ति)
वस्तुस्वभावाविति । अ० २ श० ४ उ० इत्या० । (अस्तिका-
यविषये काशोदायिसंवादः ‘अणउत्थिय’ शब्देऽस्मिन्नेव मा-
गे ४५६ पृष्ठे दर्शितः)

अतिथिकायधम्म-अस्तिकायधर्म-पुं० । अस्तयः प्रदेशास्तेषां
कायो राशिरस्तिकायः । स एव (संख्या) धर्मो गतिपर्याये जीव-
बुद्धानयोर्परिणादित्यस्तिकायधर्मः । इथा० १० उ० । गत्युप-
ग्रहमलक्षणधर्मास्तिकायनामके ह्यन्यधर्म, इथा० १ उ० ३ उ० ॥

अतिथिक्-अस्तिकय-न० । अस्तित्वात् अतिरस्वेदवास्तिकाः ।
तस्य जावः कर्म वा वास्तिकयः । तस्याम्परअण्णऽऽवि जिन्तो-
कनस्यविषये निराकाङ्क्षायं प्रतिपत्तौ, अ० २ अधि० । अस्तिका-
यादिविषयस्तिकाअध्यायाम्, वरी० । स्तिति च्छुत्तु जिन्तो-
पदिष्टा अतीत्त्विका जीवपरत्तोकाद्ययो जावा इति । परिणामे,
अ० २ अधि० । संधा० ॥

अतिथिक् (न) तिथिपचाय-अस्तित्वास्तिप्रवाद-न० । यद्यो-
के यथाऽस्ति यथा वा नास्ति; अथवा स्यात्वाजानिमायत-
स्तदेवास्ति, तदेव नास्तीत्येवं प्रवदन्तीति । स० । यद्वस्तु लो-
केऽस्ति धर्मास्तिकायादि, यच्च नास्ति अरुणुत्तुदि, तत्रवदन्ती-
ति । अथवा सर्वं वस्तु स्वकल्पेनास्ति, परकल्पेन नास्तीति प्रव-
दन्तीति, अस्तित्वास्तिप्रवादम् । चतुर्थे पृथुत्ते, न० । तस्य पदपरि-
माणं पश्चिपद्यत्तसहस्राणि । स० । “अतिथिक्त्थिप्यमाणपुण-
स्स णं अणारस्स वत्थुत्तस वृत्तिया वत्थुत्तस” । न० ।

अतिथिक्-अस्तित्त्व-न० । अस्ति-अथ वा । विद्यमानत्वे, दशा०
१ अ० । अर्थोक्त्याकारित्वे, “वद्वार्थोक्त्याकारित्वे तदेव परमाथं

सत्" इति वक्ष्यामः । आ० म० छि० । ['आणियवाह' शब्देऽस्य उपपत्तिरुच्यते] गुणभेदे, "तथाऽस्तित्वं परिक्रयं, सद्भूतत्व-गुणः पुनः" । तत्र इदं परिक्रय-सत्तया यो जगति यस्मात्सद्भूततया व्यवहारो जायते, स चास्तित्वगुणः । उच्यते ०११ अथा० । धर्मधर्मिणोरभेदात् सद्भूतत्वमिति, अ० ।

वस्तु वस्तुनो यथैवास्तित्वं तथैव ज्ञापयता तथैकरेण प्रकृतमिति विश्वेद्येषुर्थावद् वस्तुपरिणामं दर्शयन्नाह—

से गुण्यं भंते ! अत्यिच्छं अत्यिच्छं परिणमद्, आत्यिच्छं आत्यिच्छं परिणमद् । हंता गोयमा !० जाव परिणमद् ॥

(से गुणमित्यादि) [अत्यिच्छं अत्यिच्छं परिणमद् इति] अस्तित्वमङ्गुल्यादेरङ्गुल्यादिज्ञानेन सत्त्वम् । उक्तं च— "स-वैमलसि स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च । अन्वया सर्वभावात्ता-मेकरत्वं संग्रसज्यते" ॥ १ ॥ तत्रेह ऋतुव्यादिपर्यायरूपमव-सेवेत्तः, अङ्गुल्यादिकृत्यास्तित्वस्य कथं विदुःश्रुत्यादिपर्यायाव-तिरिक्तत्वात् । अस्तित्वेऽङ्गुल्यादेर्याङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वं ब्रह्मत्वादिपर्याय इत्यर्थः । परिणामात्-तथा भवति । इदमुक्तं भवति—द्रव्यस्य प्रकारान्तरेण सत्ता प्रकारान्तरसत्तायां व-र्तते । यथा—सूक्ष्मस्य पित्तप्रकारेण सत्ता घटप्रकारसत्ताया-मिति । (नित्यत्वं नित्यत्वे परिणमद् इति) नास्तित्वमङ्गु-ल्यादेरङ्गुल्यादिज्ञानेनासत्त्वम्, तच्चाङ्गुल्यादिज्ञान एव । तत-श्चाङ्गुल्यादेर्नास्तित्वमङ्गुल्यादिपर्यायमङ्गुल्यादेर्नास्तित्वेऽङ्गु-ल्यादेः पर्यायान्तरेणास्तित्वरूपे परिणमति । यथा—सूक्ष्मे नास्तित्वे तन्वापिकरं सूक्ष्मास्तित्वरूपे घटे इति, अथवा अस्तित्वमिति धर्मधर्मिणोरभेदास्तित्वरूपेण घटे इति, परिणमति । सत्त्वेदेव भवति, नात्यम्भं विनाशो स्यात् । विनाशास्य पर्यायान्तरत्वं-मनमात्ररूपत्वात् । इति पादि विनाशास्येति तस्मिन्नादिकेपतया परिणामात् । तथा नास्तित्वमन्यतानात्रिकरूपं चत्वरविद्या-यादि, तस्मास्तित्वेऽन्यतानात्र एव वर्तते । नात्यन्तमसतः सत्त्वमस्ति, अरविषाणस्येत्येति । उक्तं च— "नासतो जायते भावो, नात्रावो जायते सतः" । अथवा अस्तित्वमिति धर्म-भेदास्तित्वे सत्त्वं वर्तते । यथा—पटः पटत्वं एव । नास्तित्वं चाह—नास्तित्वे सत्त्वं वर्तते, यथाऽपटोऽपटत्वं एवेति ।

अथ परिणामदेतदुद्देशोवाहा—

जं तं भंते ! अत्यिच्छं अत्यिच्छं परिणमद्, आत्यिच्छं आत्यिच्छं परिणमद्, तं किं पद्मोगसा, वीससा ! गोयमा ! प-द्मोगसा वि तं वीससा वि तं ॥

(जं तमित्यादि) (अत्यिच्छं अत्यिच्छं परिणमद् इति) पर्यायः पर्यायान्तरतां यातीत्यर्थः । (आत्यिच्छं अत्यिच्छं परिणमद् इति) व-स्तुवस्तुत्वं पर्यायः-तत्पर्यायान्तरतां यातीत्यर्थः । (पद्मोगसा इति) सकारक्याऽऽगमिकत्वात्प्रयोगेण जीवव्यापारेण । (वीससा इति) यद्यपि लोकं विस्मयनाशब्दोऽत्रापर्यायतया क्लृप्तत्वात्पि स्वभा-वात्परोद्देशः इह प्राकृतत्वाद् 'वीससा' इति वाक्ये धीसत्सेत्युक्त-मिति । अत्रोत्तरम्—(पद्मोगसा वि तं ति) प्रयोगेणापि तदस्ति-त्वादि, यथा—कुलालत्वात्पाराद् मृत्पिण्डो घटतया परिणमति, अङ्गुलिभङ्गुल्या वा वक्तव्येति । अपिः समुत्पद्ये । (वीससा इति-तं) यथा—शुद्धाश्रममुखाश्रमता । नास्तित्वस्यापि नास्तित्व-परिणामं प्रयोगविज्ञसंयोरन्त्येवोदाहरणानि । वस्तुवस्तुत्वेक-

या मृत्पिण्डादेरस्तित्वस्य नास्तित्वात् । सत्त्वेदेव स्यादिति व्या-ख्यानान्तरेऽप्येतान्येवोदाहरणानि, पुरोत्तरावस्थयोः सद्भूतत्वा-दिति । यद्व्यवज्ञावऽज्ञाव एव स्यादिति व्याख्यातम्, तद्यपि प्र-योगेणापि तथा विज्ञसत्त्वाऽपि अज्ञातो भाव एव स्यात्, न प्र-योगादेः साफल्यमिति व्याकथयामिति । ज० ।

अप्योक्तस्वरूपस्यैवायं सत्यत्वेन प्रज्ञापनीयतां दर्शयितुमाह—
से गुण्यं जंते ! अत्यिच्छं अत्यिच्छं गमणिक्रं जहा परि-
णमद् दो आलावगा, तद्वा गमणिक्रं वि दां आलावगा
जाणियच्चा, जाव तहा मे अत्यिच्छं अत्यिच्छं गमणिक्रं, जहा
ते जंते ! इत्थं गमणिक्रं, तहा ते इह गमणिक्रं, जहा
ते इह गमणिक्रं तहा ते इत्थं गमणिक्रं । हंता गोयमा !
जहा मे इत्थं गमणिक्रं तहा मे इह गमणिक्रं ॥

अस्तित्वमस्तित्वे गमनीयं सद्भूतत्वसत्त्वेनैव प्रज्ञापनीयमित्य-
र्थः । (दो आलावगा इति) से गुण्यं जंते । अत्यिच्छं अत्यिच्छं गमणि-
क्रमित्यादि । 'पद्मोगसा वि तं वीससा वि तं' इत्येतदन्त एकः,
परिणामभेदाभिधानात् । 'जहा ते जंते ! अत्यिच्छं अत्यिच्छं
गमणीयं गमणीयं गमणिक्रं' तदा 'मे अत्यिच्छं अत्यिच्छं गमणिक्रं'
इत्येतदन्तस्तु द्वितीयोऽस्तित्वनास्तित्वपरिणामयोः समता-
मिधाधीनि । एवं वस्तुप्रकृत्याविषयं समभाषणं प्रगतयोऽ-
भिधायैव प्रियविषयं तां दर्शयन्नाह—जहा ते इत्यादि । यथा
स्वकीयपरकीयताऽन्येषुतया समवेन विहितमिति प्रकृत्या उप-
पकारबुद्ध्या वा ते तव भदन्त ! [एत्थं इति] एतस्मिन्-
सि सङ्गिते स्वस्थिते गमनीयं वस्तुप्रज्ञापनीयम् । तथा तमेव
समतासङ्गप्रकारेण उपकारयित्वा वा [इहं इति] इहास्म-
द् मृदिपात्कापिकरादौ जने गमनीयं वस्तुप्रज्ञापनीयमिति प्रकृत्या
अथवा [एत्थं इति] स्वामिनि यथा गमनीयं सुखाभियत्यादि, तथा
इह परात्मनि । अथवा यथा प्रत्यक्षाधिकरक्षाद्यतया एत्थमि-
त्येतच्छब्दरूपमिति गमनीयम्, तथा इह इत्थमित्येतच्छब्दरू-
पमिति, समानार्थत्वाच्चोदरपीति । ज० १ श० ३ उ० ॥

अत्यिभाव-अस्ति जाव-पुं० । विद्यमानभावे, "अत्यिभावां सि
वा विद्यमानभावां सि वा पराद्वा" आ० शू० १ अ० ।

अत्यि (यि) इ-अत्यिर-त्वि० । न० त० । प्राकृते— "सद्यश्च-
भाम्" ८ । १ । ७७ । इति ध्वयं प्राप्तमपि इत्थं प्राथिकत्वात्
जवति । प्रा० । अह्ने, अत्रो० अन्ते, नि० शू० २ उ० । घृति
संज्ञानां नत्वेन बलदांनि, व्यं २ उ० । बल्ले ३ अ० । २० अ० ।
अपरिचिन्ते, "अतिरस्तु पुत्र्याहियस्व वसन्ता जं इह धि-
रीकरणं" पञ्जा० १२ वि०० । जर्षे, आवा० २ शू० ३ अ० २ उ० ।
अस्थास्तुद्रयं, ज० ।

अस्तिरं प्रकटति स्थिरं वा प्रकटति इति चिन्तयन्नाह—
से गुण्यं जंते ! अत्यिरे पत्तोद्द, नो थिरे पत्तोद्द, अ-
त्यिरे जज्जद, नो थिरे जज्जद, सासए बासए बालियत्तं
असासयं मासए पंडिह पंडियत्तं असासयं । हंता गोयमा !
अत्यिरे पत्तोद्दयद् ० जाव पंडियत्तं असासयं, सेवं जंते !
जंते ! ति० जाव विहरद् ।

(अत्यिरे इति) अस्त्वस्तु द्रव्यं लोष्टादि, प्रकटति परिचयते, अ-

ध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म तस्य जीवप्रदेशोऽयः प्रतिसमयबन्धनेनस्थिरत्वात् प्रबोधयति, बभोधयतिअर्थाद्विपरिणामैः परिचयते, स्थिरं शिलादि । अर्थात्मचिन्तायां ह्युस्थिरो जीवः, कर्मकृत्येऽपि तस्य अवस्थितत्वात्शाली प्रबोधयति, उपयोगप्रकृत्यास्वभावात् परिचयते । तथा अस्थिरं ज्ञानरत्नमात्रं नृणादि प्रकल्पे विदलयति । अर्थात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म तद्व्यवस्थेः स्वयति । तथा स्थिरमभङ्गुरमयःश्लाकादि ब प्रकल्पे, अर्थात्मचिन्तायां स्थिरो जीवः, स च न भङ्गते, शाश्वतत्वादि । जीवप्रस्ताभादिदमाह—(सासप बाहय वि) बाह्यकं व्यवहारतः शिष्टुः, निश्चयतोऽस्यतो जीवः, स च शाश्वतः, द्रव्यत्वात् । (बाहियश्च ति) बहु कल्पयत्यस्यार्थिकाह्लासत्वम्, व्यवहारतः शिशुमयम्, निश्चयतस्त्वस्यतत्त्वम् । तच्छाशाश्वतम्, पर्यायत्वादिति । एवं परिकृतसूत्रमपि, नवरं परिकृतं व्यवहाररेण ह्लाक्को जीवः, निश्चयतस्तु च्यत इति । अ० १ हा० ए ७० । अन्त्ये च, स्थिरा नाम यत् तत्रैव धृदाहि, अस्थिरा येनाभ्यव्यव धृदाहि । वृ० १ उ० ।

अस्थि (वि) रज्जु-अस्थिरश्चट्-न० । अस्थिराश्चुभङ्गमेगदुःस्वराभावाद्वाऽयशःकारिणिकृपे नामकमेज्ज्चट्के, कर्म० १ कर्म० ।

अस्थि (वि) रराम (ए)-अस्थियामन्-न० । यद्दयात्कर्मण्जिह्वावयववा अस्थिराक्षयत्वा प्रवृत्ति, तस्मिन् नामकमेज्ज्के, कर्म० १ कर्म० ।

अस्थि (वि) रतिग-अस्थिरश्चिक्-न० । अस्थिराऽञ्जुजाऽयशःकारित्संके कर्मधिके, कर्म० ४ कर्म० ।

अस्थि (वि) रदुग-अस्थिरश्चिक्-न० । अस्थिराश्चुजाये कर्मधिके, कर्म० २ कर्म० ।

अस्थि (वि) रव्य-अस्थिरश्चत्-ञि० । अस्थिराणि धृष्टीतमुक्तना बलानि प्रतापस्येत्यौस्थरश्चत् । कदाचिद् मतं शुभ्रहाति कदाचिद् मुञ्चति । उच० २० अ० ।

अस्थि (वि) नाय-अस्तिवाद्-पु० । स्वतं वस्तुनां स्वकाभ्युपगमं, यथा—“ अस्थि य शिषोः कुण्डे, क्यं च येयद् अस्थि जिगम्यः । अस्थि य मोक्षोवाभोः । सम्प्रसस्वत् उणाह” ॥१२॥ प्र० १४४ हा० । एतमेवास्तिवाद् सभ्यसदृशे प्रगर्वास्तीर्थकृत् आशयानि । शी० । लोकार्दीनां वस्तुतः सतामस्तित्वमङ्गीकार्येमेवाभ्युपधा त्वनाचार इति ।

संशय्यथादिमतिनासेन लोकार्हाणोः प्रविभागोनास्तित्वं प्रतिपादयितुमाह आह-

एति लोए अलोए वा, एवं सभं निवेशए ।
 अस्थि लोए अलोए वा, एवं सभं निवेशए ॥ १३ ॥
 यदि वा सर्वेभ धीयेमस्ति, नास्ति सर्वेभ धीयेम, इत्यनेन लाम्प्येन वस्तुस्तिायमुक्तम् । तथाहि-सर्वेभ वस्तुनो धीं शुकित्वादिप्रक्रियासामर्थ्यं मनसः स्वविषयज्ञानोपादानम्, तथैकान्तनाश्वताभ्यावाद्युच्छ्रयिषाणद्वारेणवस्तुत्वत्वं संज्ञां न निवेशयते, सर्वेभ धीये नास्तीति नो एवं संज्ञां निवेशयति । अनेनावाशिष्टं वस्तुस्तिवं प्रसाधितम् । धर्मानां तस्यैव वस्तुन इवद्विदो-वित्तयेन लोकार्हाणोःकृत्यतयाऽस्तित्वं प्रसाधयन्नाह—(अस्थि लोए

अलोए इत्यादि) लोकार्हाणोःशरज्यात्मको धर्माधर्माकाराद्विपञ्चालित्वात्कामको वा स नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयति । तथाऽऽकारादित्वात्प्रकल्पेः, स च न विद्यत एवेत्येवं संज्ञां नो निवेशयति । तद्भाषयतिपिनिबन्धनं त्विदम् । तदुपधा-प्रतिभासमानं वस्तुव्यवहारेण वा प्रतिभासते, प्रव्यवहारेण वा । तत्र न तावद्व्यवहारेण प्रतिभासन्नमुत्पद्यते, निरुपधामाणुनां प्रतिभासमानासभासवर्तीत्याज्यागत्य परमा-एवात्मकत्वात्, तेषां च ह्युपस्थितिविज्ञानेन ह्युपशब्दावत्त्वात् । तथा चोक्तम्—“यावत् इयं परस्ताव-ज्ञानः स एव इत्यते । निरुपस्थे च जागत्य, नास्ति उपस्थेरीनम्” ॥१॥ इत्यादिः नाप्यव्यवहारेण विकल्पमानस्यावयविन एवाभावात् । तथाहि-अस्ती स्वावयवेषु प्रत्येकं सामस्येन वा वृत्तात्, अर्थाभावेन वा । सामस्येनाप्यवयवेषु ह्यवयवेषु प्रत्येकं नाप्येन, एवंविधकथानात्मकानां नवस्थाप्रसङ्गात् । नाप्येन, एवंविधकथानात्मकानां नवस्थाप्रसङ्गात् । तस्मात्सर्वेषां न कथंविधस्यात्मकं भावं लभते । अतस्तत्सर्वमेवैतन्मायास्वप्नेऽलक्ष्मकर्मरीचिकाविविज्ञानसदृशम् । तथा चोक्तम्—“यथा यथाऽर्थोऽन्यत्वे, विद्विष्यते तथा तथा । यद्येते स्वयमर्थिन्यो, रोचन्ते तत्र के वयम् ?” ॥१॥ इत्यादि । तद्वै वस्तुनाये तद्विषयलोकार्हाणोः सिक एवेत्यं नो संज्ञां निवेशयेत्, किन्त्यास्ति लोकार्हाणोः वस्तुव्यवहारेणैवासाक्षात्प्रव्यवहारेणैव तद्विषयस्वरूपमुपस्थेयः, पञ्चास्तिकायात्मको वा । तद्विषयित्वात्तद्विषयकोऽप्यस्ति, स्वविषयव्यवहारेणैव तद्विषयव्यवहारेणैव तद्विषयः । युक्तिसिद्धेर्वै सर्वे नास्ति, तत्र सत्त्वात्प्रातिव्याप्त्यविषयोकोऽपि नास्ति, इत्यतस्तद्भावात् प्रतिषेधाभावाद्येव सति परमायैवते वस्तुनि मायास्वप्नेऽलक्ष्मैवैव्यवहारेण । अर्थात् किमाश्रित्य, को वा मायादिकं व्यवस्थापयतु ? इति । अर्थात्—“सर्वाज्ञावो यथाभीष्टे, पुनवयान् न सिध्यति । सास्तिवैस्त्वैव नस्त ये, तस्मिन् सर्वेषु वस्तु सत्” ॥१॥ इत्यादि । यद्व्यवहारेणैव विविभागकल्पनाया इष्टमभिधीयते, तद्व्याहृतमताजिह्वेन । तस्मत्तं वैद्यन्तम् । तदुपधा-नैकास्तितावयववा एव, नाप्यवयवेषु वेत्यतः स्वाह्लादाभ्यमानपुर्वोक्तविकल्पद्वेषानुपपत्तिरित्यतः कथंविधोकोऽस्त्वैवमलोकोऽपीति स्थितम् ॥१३॥

तद्वै लोकार्हाणोःकारितावं प्रतिपाद्युना तद्विषयभूतयो-र्जीवाजीवयोःरस्तित्वप्रतिपादनायाह-

एति जीवा अजीवा वा, एवं सभं निवेशए ।
 अस्थि जीवा अजीवा वा, एवं सभं निवेशए ॥ १३ ॥
 (लुपि जीवा अजीवा वेत्यादि) जीवा उपयोगलक्षणाः संसारिणो मुक्ता वा, तेन विद्यन्ते-तथा अजीवाश्च, धर्माधर्माकाराशुभ्रलक्षणात्मका गतिस्थित्यवस्थाइदंनच्छ्रयात्तयोपेताद्विषयतेनलक्षणा न विद्यन्ते इत्येवं संज्ञां परिज्ञानं नो निवेशयते, नास्तिव्यवहारेणैव त्विदम्, प्रत्यङ्गानुपलभ्यमानत्वात् । जीवा न विद्यन्ते, कायाकारपरिणयतानि ज्ञानाद्येव चावन्वयनानादिकर्माकारां कुर्वन्तीति । तथाऽऽमार्हातथाद्यतमिमांशेण—“पुरुष एवेह सर्वे यजन्तं यथा आत्मम्” इत्यामतात् । तथा अजीवा न विद्यन्ते, सर्वेभ्यो वेतनावेतनस्वामयानिवातिवैत्यात्, नो एवं संज्ञां निवेशयन्तु । किं त्वस्ति जीवः सर्वस्यास्य सुखदुःखद्वैनिबन्धनतः स्व-संविधासिद्धिःऽऽमर्थयथाह्लाः तथा तद्विषयिका धर्माधर्माकाराशुभ्रलक्षणाश्च विद्यन्ते । सकलप्रमाणस्येष्टेन प्रथकोणाशुभ्रमान-त्वात् । तदुपानां दूतकैःप्रत्ययैः वाच्यः । किं तानि अर्थात्प्र-मेतानि ज्ञानमि नित्यमि, अहं अस्मित्यादि । यदि किञ्चित्, तद्विषय-

धनुतानुप्रासिधिरैकस्वभावत्वात् कायाकारपरिणतेऽप्युपगमः । नापि प्राग्विद्यमानस्य चैतन्यमुत्पद्यते, आद्योद्विग्नविद्यमाने तावद्विषयनागम्ये, अतिप्रसङ्गात्, धन्युत्पादेनागमत्वाद्वा । अथ विद्यमानमेव सिद्धं तर्हि जीवस्य तथाऽस्माद्धैतवाद्यपि वाच्यः । यदि तु कथमात्रमेवेदं सर्वम्, कथं यदपरादिषु चैतन्यं नोपलभ्यते ? तथा तद्वैकल्पिकव्यवधानात् एकहेतुदृष्टान्तानामभावात्सायस्यस्यक्त्याभावः तस्मात्काम्येन जीवार्थोपचारात्, अपि तु सर्वपदार्थानां स्वाह्लादाभयनाञ्जीवः स्यादजीवः, अजीवोऽपि च स्याञ्जीवः । इत्येतच्च स्यादाह्लादभयनं जीवपदवृत्तयोरन्योन्यानुगतयोः शरीरस्य प्रत्यक्षतयाऽप्यवैक्येवोपसम्नाह्वयमिति ॥ १३ ॥

जीवास्तित्त्वे च सिद्धे न विद्यमानयोः स्वसत्कित्याहाराऽऽप्यतपोधर्मोऽर्थमयोस्तित्त्वप्रतिपादानाद्वा—

तस्थि धम्मे अपध्मे वा, ऐवं ससं निवसए ।
अतिथि धम्मे अपध्मे वा, एवं ससं निवसए ॥ १४ ॥

(तस्थि धम्मे अपध्मे वेत्यादि) धर्मः श्रुतचारित्राख्यात्मको जीवस्यायमपरिणामः कर्मकृत्यकारणमात्मपरिणामः, एवमधर्मोऽपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकवाययोगरूपः कर्मबन्धकारणमात्मपरिणाम एव । तावैक्येऽपि धर्मोऽधर्मौ कालस्वज्ञानवियती-श्वरादिप्रतेन न विद्यते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । कालादय एवास्य सर्वस्य जगद्विषयस्य धर्मोऽधर्मव्यतिरेकेणकालतः कारणमित्येवमभिप्रायं कुर्यात्, यतः त एवैकका न करणम्, कारणतिसमुदितौ एवेति । तथा चोक्तम्—“ न हि कालादीहितो, केवलोदितो जायए किञ्चि । इह समुत्तं धनाऽ चि, ता सन्ने समुदिया हेज् ” ॥१॥ इत्यादि । यतो धर्मोऽधर्मन्तरेण संसार-वैश्वस्यं न घटामियति, इत्येतोऽस्ति धर्मः सम्यग्दर्शनादिकः, अधर्मश्च मिथ्यात्वादिक इत्येव संज्ञां नो निवेशयेदिति ॥१४॥

सतोश्च धर्मोऽधर्मयोर्बन्धमोक्षसद्भाव इत्येतद्वर्णयितुमाह—
एतिथि बंधे व मोक्त्वे वा, ऐवं ससं निवसए ।
अतिथि बंधे व मोक्त्वे वा, एवं ससं निवसए ॥ १५ ॥

[तस्थि बंधे व मोक्त्वे वा इत्यादि] बन्धः प्रकृतिस्वियजुभावाप्र-दृशात्मकतया कर्मपदवृत्तानां जीवेन स्वव्यापारनः स्वीकरणम् । स चासूक्ष्मस्यात्मनो गगनस्थे च विद्यत इत्येवं नो संज्ञां निवे-शयेत् । तथा तदभावाच्च मोक्षस्याप्यभाव इत्येवमर्थं संज्ञां नो निवेशयेत् । कथं तर्हि संज्ञां निवेशयेत् ? इत्युक्तान्तं दर्शयति-अस्ति बन्धः कर्मपदवृत्तौ जीवस्य, इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति । य-क्तव्यते—मूषेऽस्यामूर्ध्वमेता संबन्धो न उपपत्त इति । तदुक्तम् । आकाशस्य सर्वव्यापितया पुद्गलैः संबन्धो नुनिवार्यः, तदभावे तज्ज्ञापित्येव न स्याद । अन्यथास्य विज्ञानस्य ह्यपूरमदिरा-दित्वा विकारः सत्पुलभ्यते, न चास्ती संबन्धमूर्ते । अतो यत्कि-ञ्चिदत् । अपि च—संसारिणामसुमुत्तं सदा तेजसजगत्प्रश-रीरसंज्ञावादात्यन्तिकमसूक्ष्मत्वं न भवतीति । तथा तद् प्रति-ष्कृतौ मोक्षोऽप्यस्ति, तज्ज्ञेय बन्धस्याप्यवजावः स्यात्, इत्येतोऽशे-वन्धनापगमस्त्वभावां मोक्षोऽस्तित्वेवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥१५॥

बन्धसंज्ञाये चावदयंभावी पुण्यपापसंज्ञाव इत्यतस्तज्ज्ञाव-निवेशयार्थाह—

तस्थि पुण्ये व पात्रे वा, ऐवं ससं निवसए ।
अतिथि पुण्ये व पात्रे वा, एवं ससं निवसए ॥ १६ ॥

नास्ति न विद्यते पुण्यं श्रुतकर्मप्रकृतिब्रह्मणम्, तथा पापं तद्वि-पर्ययलक्षणं नास्ति न विद्यते इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् । तदभा-वप्रतिपत्तिनिबन्धनं त्विदम्-तत्र केषां चिन्नास्ति पुण्यं, पापमेव श्रुतकर्षावस्यं सत्सुखदुःखान्तिबन्धनम् । तथा-परंवाचं पापं नास्ति, पुण्यमेव श्रुतकर्षायमानं पापं कुर्यादिति । अन्येऽपि तुमवयपि नास्ति । संसारवैश्वस्यं तु नियतिस्वभावादिप्रकृतम् । तदेवदुष्क-म् । यतः पुण्यपापश्री संबन्धिश्रद्धैः, संबन्धिश्रद्धानामेकस्य सत्ता परस्वसामान्तरियकता, नेतरस्य सत्ता । ताप्युत्पात्ताभावः शक्यते बलुम्, निबन्धनस्य जगद्वैश्वस्यस्याभावात् । न हि कारणमन्तरेण क्वचित्कार्यस्यापत्तिदृष्टा । नियतिस्वभावादिवा-दस्तु नष्टोत्तराणां पादप्रसारिकाणां पादप्रसारिकाप्रायः । अपि च—तज्ज्ञेयऽप्युत्पाद्यमाने सकलकिमप्यवैयर्थ्यं, तत एव सकल-कार्योत्पत्तिः । इत्येतोऽस्ति पुण्यं पापं ज्ञेयं संज्ञां निवेशयेत् । पुण्यपापे वैवं रूपः, तथाथा—“ पुद्गलकर्मज्जुनं व-त्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् । यदनुजमथ तथापि-मिति भवति सर्वैक-निर्दिष्टम् ” इति ॥ १६ ॥

न कारणमन्तरेण कार्यस्योपपत्तरतः पुण्यपापयोः प्रायु-क्तयोः कारणभूताभावसंबन्धौ तत्रप्रतिषेधकारणं दर्शयितु-काम आह—

तस्थि आसवे संबरे वा, ऐवं ससं निवसए ।
अतिथि आगो संबरे वा, एवं ससं निवसए ॥१७॥

(तस्थि आसवे संबरे वेत्यादि) आश्रयति प्रविशति कर्म येन स प्राणानिपातादिकृप आश्रयः कर्मोपादानकारणम् । तथा-तश्चिरोधः संबरः एतौ ज्ञापयि न स्त इत्येवं संज्ञां नो निवेश-येत् । तदभावात्प्रतिपत्त्या शङ्कराकारणं त्विदम्, कायथाऽननःकर्म-योगः स आश्रय इति श्रेयमुक्तं तथेदमप्युक्तम्—“ उच्चा-लियमि पाए इत्यादि ” ततश्च कार्यादित्यापारेण कर्मवन्धो न भवतीति । श्रुतिरपि-किमयमाश्रय आत्मनो भिन्नः उताऽभि-न्नः ? । यदि भिन्नो नामासावाश्रयो घटादिवद्भेदोऽपि नाश-वन्त्वम्, सिद्धात्मनामपि आश्रयप्रसङ्गात् । तदभावे च नश्चिरो-धक्षणास्य संबरस्याप्यभावः सिद्ध एव । इत्येवमात्मकमप्यध-सायं न कुर्यात् । यतो यत्तदैनैकान्तिकत्वं कायव्यापारस्य “ उच्चालयमि पाए ” इत्यादिनां क, तदस्माकमपि सम्मतमेव । यतोऽयमस्माभिरप्युपयुक्तकर्मबन्धोऽप्युत्पाद्यते । निरुपयुक्तस्य कर्मबन्धः, तथा भेदभिदात्मसपक्षसमाश्रयणात्तदकृत्वाभि-तदोषाभावः । इत्यस्याश्रयसंज्ञावः, तश्चिरोधश्च संबर इति । उक्तं च—“ योगः श्रुत्यः पुण्या-ध्वस्तु पापस्य तद्विपर्यासः । वाङ्मायमेतुगिति-निराश्रयः संबरस्तुक्तः ” ॥१॥ इत्येतोऽस्या-श्रयस्तथा संबरज्ञेयं संज्ञां निवेशयेदिति ॥१७॥

आश्रयसंबरसद्भावे चावदयंभावी वेदान्तिजैरासद्भावे इत्यतस्तं प्रतिषेधकारणाह—

तस्थि वेयणा णिज्जरा वा, ऐवं ससं निवसए ।
अतिथि वेयणा णिज्जरा वा, एवं ससं निवसए ॥१८॥

(तस्थि वेयणेत्यादि) वेदान्ता कर्मोत्पन्नलक्षणा, तथा-निजैरा क-र्मपुत्रशाशानलक्षणा । एते द्वे अपि न विद्यते, इत्येवं नो संज्ञां नि-वेशयेत् । तदभावं प्रत्याशङ्कारणमिदम् । तथाथा—“ पण्योपम-सागरोपमशतानुभवमर्थं कर्मोत्पन्नं नैवैव ह्ययमुत्पादति ” इत्य-म्युपगमात् । तदुक्तम्—“ जं अयासी कम्मं, खेदं बहुर्यापि ” ह्य-

कोडीहं । तथाची तिदि शुभो, अवेद ऊसासमितेभं" ॥ १ ॥ इत्यादि । तथा क्षपकभेष्यां कं ऋतित्देव कर्मणो अस्माकर-
 खाद्य, यथाक्रमबद्धस्य आनुभवनाभावे वेदनाया अभावस्तद्-
 मावाचक्ष निजेराया अप्रतीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् । किमिति ?
 यतः कस्याचिदेव कर्मण एवमनन्तोऽरकया मीत्या क्षपणास-
 पत्या प्रवेष्टानुभवेन आपरपसा पुर्याद्विरक्षाभ्यामुपभवन्मि-
 त्यतोऽस्ति वेदना । यत आगमोऽप्येवंभूत एव । तद्यथा—“ पु-
 षिब बुष्णिषाणं, पुष्पदिकनाण कम्पार्णं । वेष्टा मोक्षकां क्षुत्थि
 अवेष्टा" ॥ इत्यादि वेदनासिद्धौ कं निजेराऽपि सिद्धैत्य-
 तोऽस्ति वेदना निजेरा वेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १८ ॥

वेदाननिजेरे कं क्रियाऽक्रियेत्ये ततस्तद्भावप्रतिषेधनिषेध-
 र्भक्त इष्टयितुमाह—

एत्थि किरिया अक्रिरिया वा, एवेवं सन्नं निवेशेप ।
 अत्थि किरिया अक्रिरिया वा, एवं सन्नं निवेशेप ॥ १९ ॥

(एत्थि किरिया अक्रिरिया वा इत्यादि) क्रिया परिस्पन्-
 लक्षणा , तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया, ते द्वे अप्रति न स्तो न विद्येते ।
 तथाहि—सांस्थानां सर्वव्यापित्वादात्मन आकाशस्येव परि-
 निस्पन्दिका क्रिया न विद्येते । शाक्यानां तु ज्ञापिकत्वा-
 त्सर्वपदार्थानां प्रतिक्षणमन्यथा वाऽन्यथोत्पत्तेः पदार्थस-
 नैव, न तद्धानिरिक्षा काञ्चिक्रियाऽस्ति । तथा चोक्तम्—“भू-
 तिन्येषां क्रिया सैव, कारकस्यैव चोच्यते ।” इत्यादि । तथा
 सर्वपदार्थानां प्रतिक्षणमन्यथाऽन्तरात्मनाऽक्रियात्वम्, अतो न
 क्रिया विद्यते इत्येवं संज्ञा नो निवेशयेत् । किं तर्हि—अ-
 स्ति क्रिया अक्रिया वेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । तथाहि—शरी-
 रात्मनोऽंशोऽंशोऽन्तरात्मानिमिन्मिता परिस्पन्द्यात्मिकः क्रिया प्र-
 त्यक्षणेनोपमात्र्यते, सर्वथा निष्क्रियत्वं चात्मनोऽनुपगम्यमा-
 न गमनस्येव बन्धमाज्ञापयामः ; स च दृष्टेष्टबाधितः । तथा
 शाक्यानामापि प्रत्यक्षणात्पक्षिच क्रियेत्यतः कथं क्रियाया अजा-
 बः । अप्रिच-एकान्तेन क्रियाऽभावे संसारमाज्ञाभावः स्यात् ।
 इत्यतोऽस्ति क्रिया, तद्विषयकृता चाक्रिया, इत्येवं संज्ञां
 निवेशयेदिति ॥ १९ ॥

तदेवं सांक्रियात्मनि सति कौधाविसङ्गाव इत्येतद्वशीयितुमाह—

एत्थि कोहे व माणे वा, एवेवं सन्नं निवेशेप ।
 अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेशेप ॥ २० ॥

स्वपरात्मनोऽप्रीतिरूपकः क्रोधः, स आत्मनातुभन्धप्रत्याख्या-
 नावयत्संवलनभेदेन चतुर्थोऽऽगम पश्यते । तथैतावज्ज्ञेद एव
 मानो यथैः । एतौ द्वाषधि, न स्तो न विद्येते । तथाहि—क्रो-
 धोऽभिन्नेन मानांश एव, अप्रिमानप्रदृष्टहीतस्य तन्कृतावत्यन्त-
 कौधोऽयद्वशीनात् । तथा क्रियात्मनोऽपि क्रोधोऽप्यनुपगमात् ।
 तथा क्रियायामाधर्मः, आहोस्त्विभक्तमणः, उताप्यसेयति ? तथा-
 त्पधर्मत्वे सिद्धानामपि क्रोधोऽप्यनुपगमात् । अथ कर्मणः, ततस्तद्व-
 न्धकार्याद्येऽपि ननु द्वयमसङ्गात् । मूर्तेत्याह कर्मणो हि घटस्ये-
 ब तदाकारोपलब्धिः स्यात् । अन्यधर्मत्वे त्वांकिञ्चिद्व्यक्तस्य । अतो
 नास्ति क्रोध इत्येवं मानाभावाद्ये वाध्य इत्येवं संज्ञां नो निवे-
 शयेत् । यतः कथायाः कर्मोऽप्यवती दृष्टेष्टतन्मुकुटीनको रक्तव-
 शो गल्लस्येद्वि-बुसमाकुलः क्रोधाजातः समुपकृत्यते । न चा-
 लो अनात्मा, तत्कार्योत्पत्त्या, तथा परनिमित्तोत्पात्तिसाधे-
 ति । तथा जीवधर्मकर्मणोऽवधारण्येवं धर्मस्तद्वर्मेत्येन प्रत्ये-
 १३१

कविचक्षुषोऽनुपगमात्, अमभ्युपगमात् । संसारात्सर्वाकर्म-
 ना सार्कं पृथग्भवनाभावात्सुभयस्य च न नरसिद्धिबद्धस्त्वन्तर-
 त्वात् । इत्यतोऽस्ति क्रोधो मानकोऽेवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २० ॥

साम्प्रतं मायाश्लोभयोरस्तिव्ये दर्शयितुमाह—

एत्थि माया व शोने वा, एवेवं सन्नं निवेशेप ।
 अत्थि माया व शोने वा, एवं सन्नं निवेशेप ॥ २१ ॥

(एत्थि माया व शोभेत्यादि) अत्रापि प्राग्भवनाभावेऽन्तरा-
 चादीनां निराकृत्यास्तित्वं प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥

साम्प्रतं तेषां कं क्रोधादीनां समासनास्तित्वं प्रतिपादयिमाह—

एत्थि पेजे व दोने वा, एवेवं सन्नं निवेशेप ।
 अत्थि पेजे व दोने वा, एवं सन्नं निवेशेप ॥ २२ ॥

(एत्थि पेजेवत्यादि) प्रीतिरूपकं प्रेम पुत्रकस्यधनधान्याद्या-
 त्म्येऽपि रामः, तद्विपरीतस्वात्मियोपवायकारिण इत्यत्र, तावती
 द्वाषधि न विद्येते । तथाहि—क्रोधाच्चिद्विभ्रमायः । यद्यत्—मा-
 याश्लोभावेऽप्यवशी विद्येते, न तत्समुदायकोऽप्यवस्थिति ।
 तथा क्रोधमानावेय स्तः, न तत्समुदायकोऽप्यवशी इत्ये ।
 तथा श्लेषवन्म्यो यथाभिज्ञोऽप्यवशी तर्हि तद्वन्दास एव
 नास्ती । अथ जिज्ञः, पृथगुपग्रभः स्यात्, घटपटवत् । इती-
 त्येवमसिद्धिकल्पमूढतया नो संज्ञां निवेशयेत् । यतोऽव्यवा-
 यविनोः कर्मोऽज्ज्ञेद इत्येवं नेदानेदाकृत्यतीयपकसमाश्रय-
 णाप्रत्येकपक्षाश्रित्यानुपगमात् । इत्येवं चास्ति प्रीतिरूपकं
 प्रेम, अप्रितीतिरूपकं द्वे इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २२ ॥

साम्प्रतं कथायसङ्गावे सिक्तं सति तत्कार्येऽज्ञोऽप्रद्वेषभावी
 संसारसङ्गाव इत्येतत्प्रतिषेधनिषेधद्वारेण प्रतिपादयितुमाह—

एत्थि चाउरते संसारे, एवेवं सन्नं निवेशेप ।
 अत्थि चाउरते संसारे, एवं सन्नं निवेशेप ॥ २३ ॥

एत्थि देवो व देवो वा, एवेवं सन्नं निवेशेप ।
 अत्थि देवो व देवो वा, एवं सन्नं निवेशेप ॥ २४ ॥

(एत्थि चाउरते संसारे) अत्यारोऽन्ता गतिभवाः नरकतिथेः कुन-
 रामरत्नकृणा यथे संसारस्यासौ चतुरतः संसार एव कान्ता-
 रः, भयैकदेतुत्वात् । स च चतुर्विधोऽपि न विद्यते; अपि तु सर्वेषां
 संसृतिरूपत्वात्कर्मबन्धात्मकतया च दुःखैकदेतुत्वात् । अथथा
 नारकदेवयोरनुपलक्ष्यमानत्वात्संज्ञमनुप्योरेव सुखदुःखोः क-
 र्थेऽतथा तद्व्यवस्थान्नात् । द्विविधः संसारः, पर्यायनाश्रयाणात् । त्वेन
 कविधः, अतन्नातुर्विधं न कर्थाच्च घटत इत्येवं संज्ञां नो निवेशये-
 त् । अपि त्वस्ति चतुरतः संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । यत्क-
 म्-एकविधः संसारः, तत्रोपपद्यते । यतोऽप्येव्यथैव तिर्येकमुप्यव्यो-
 भेदः समुपलक्ष्यते । न चासायकविधोऽस्तः संसारस्य घटते । तथा
 संभवानुमानेन नारकदेवानामप्यस्तिव्याभ्युपगमाद् द्वैविध्यमपि
 न विद्यते । संभवानुमानं तु पुत्रप्रापयोः प्रकृष्टप्रभुजस्तम्भ-
 च्यकस्युज्जा योऽतिथं च प्रत्यक्षणेऽपि दृष्टानत् । अथ तद्विमान-
 नामुपग्रभः, एवमपि तद्विद्युत्पत्तिः कैश्चिद्व्यवितयमित्यनुपमा-
 नेन गम्यते । प्रदृष्टहीतव्यप्रद्वानादिना च तद्वस्तिव्यानुमान-
 मिति । तद्वस्तिव्यं तु प्रकृष्टपुत्रफलतुज इव प्रकृष्टपापकृ-
 त्तिप्रतिप्राप्तमित्यतोऽस्ति चातुर्विध्यम् । संसारस्य पर्याय-
 नवाश्रयेण तु यदनेकविधमनुपगम्यते । तद्व्युक्तम् । यतः सत

अस्थियाय

पुष्टिष्वाश्रिताः अपि नारकाः समाजजातीयाभ्युत्पादेकप्रकारा
 एव । तथा तिष्येऽपि पुष्टिष्वायः स्वावरा, तथा त्रिभिःपु-
 ष्येन्द्रियाभ्यः त्रिभिःपुष्टिःशुक्रमणाः सर्वेऽप्येकविधा एव ।
 तथा मनुष्या अपि कर्मभूमिसाऽकर्मभूमिजातत्तद्विषयसंयुक्त-
 मजातकजन्मनाहृदयैकविधायैवाश्रिताः । तथा देवा अपि न-
 वनपतिव्यवहृतयोक्तिकैवमाश्रितजन्म मित्रा एकविधायैव यु-
 क्ताः । तदेवं सामान्यविशेषाभ्युत्पाद्युभिर्वा संसारस्य व्य-
 स्थितम्; नैकविधत्वम्, संसारैकियत्वं शब्दात् । मायनेकविध-
 त्वम्, सर्वेषां नारकादीनां स्वजात्यन्तिकमादिति ॥ २३ ॥ २५ ॥
 सर्वेषामानां सप्रतिपक्षत्वान्सासदात्वात् सति भ्रष्टव्यं त-
 द्बहिष्कृतिकृष्णवा सिद्धत्वात् इति त्रिविधत्वमित्यतोऽपुना सप्रति-
 पक्षां सिद्धिं दशोचितुम्—

णत्थि सिद्धी अस्तिद्धी वा, एवंप्रं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी अस्तिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥२५॥

(णत्थि सिद्धीत्यदि) सिद्धिरशुक्रमन्वुतिरुक्ता, तद्विषयेस्त-
 वासिद्धिर्नोस्तीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, अपि त्वसिद्धिः संसार-
 बहिष्कृष्णवात्पुष्टिभ्यनानन्तरमेव प्रसाधतया अविद्यानि नास्ति
 अस्तिद्धिः, तद्विषयेषु सिद्धेऽप्यस्तिप्रमाविचारोत्तमित्यतोऽ-
 स्तिसिद्धिरस्तिद्धिःसर्वेभ्यः संज्ञां निवेशयेदिति स्थितम् । इदमुक्तं
 प्रवृत्ति-सत्यशैवज्ञानवादिप्रामाण्यकस्य सोमसामैस्य सदायां-
 कर्मयस्य च, पीडयतादिमाऽप्येकैव दर्शनात् प्रतः कस्यचिद्वा-
 न्तिगतकर्मदानसिद्धिरस्ति सिद्धिरिति । तथा चोक्तम्—“योया-
 वरज्योर्द्वौनि-निःशेषास्त्यतिहायिनी । क्वचिद्यथा स्वद्वेषुज्यो-
 बहिरन्तमैतन्नृच” ॥ १ ॥ इत्यादि । सर्वज्ञसन्नायोऽपि संनवानुमा-
 नाद् दृष्टव्यः । तथा हि-अभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया व्याकरणदिग्धा
 साःस्वसंस्कारोत्तरात्तद्वृत्ता प्रज्ञायाः दृष्टव्यः । तत्र क-
 र्मास्यदयम्प्राप्तिश्रायसोः सर्वज्ञत्वस्यादिति संनवानुमानेन चैत-
 द्वाशङ्कनीयम् । तथा-ताप्यमानुष्युदकमरुतौष्णतामियाप्रामि-
 स्वात्तुत् । तथा—इश्वरहृत्मान्तरं व्याभिन, यो नामोत्प्लुत्य गच्छ-
 ति । न योजनमसौ गन्तु, साकाऽप्यासतैरपि” ॥ १ ॥ इति दृष्टान्त-
 दृष्टान्तिकयोरसाम्यात् । तथाहि-ताप्यमानं जडं प्रतिक्षणं सत्यं
 गच्छेत्, प्रज्ञा तु विषयैः । यदि वा प्लोपोपलम्बेरव्याहृतमभि-
 रम्भे । तथा पञ्चभोगविषयेषु पूर्वमर्थानुया अन्तिकमाधोऽ-
 जनेत्तत्रयानावस्तत्परित्यागं चोत्तरात् तद्वृत्ताः प्रज्ञाकर्षणम-
 नवधोऽजनामपि गच्छेत्, इत्यतो दृष्टान्तदृष्टान्तिकयोरसा-
 म्यात्तद्वं नाहाक्कनीयमित्ति स्थितम् । इद्वृत्तेऽत्र बाधकप्रमा-
 न्नाभावाद्द्विस्त सर्वज्ञत्वमासिरेति । यदि वाऽजन्तुसन्तुसुक्र-
 दृष्टान्तं जीवाकुलत्वाज्जगतो हिमात्वा पुनियारत्यासिद्ध्यात्-
 वा । तथा चोक्तम्—“जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवमा-
 स्तिनां । जीवमाधोऽऽह्नेः साके, कथं जिह्वारहितसः ?” ॥ १ ॥
 इत्यादि । तदेवं सर्वस्यैव हिंसकत्वानसिद्ध्यात् इति । तदेतद्-
 युक्तम् । तथाहि—सद्वोषकस्य विहितश्रवणस्य पञ्चसामिति-
 सतिस्तस्य जिह्वानुसृतस्य सर्वथा निरवस्थातुनायुतानां त्रिकवा-
 दिदद्वारद्विर्नमिहापुत्र ईर्वांसतिस्तस्य कदाचिद्भव्यतः प्राणि-
 स्वयवगणेषुऽपि सत्तत्कणाभावात्; सर्वेषां तस्यानवघटयत्वात् ।
 तथा चोक्तम्—“उवाञ्जियस्मि पाप” इत्यपि प्रगतोऽन्त, तदेवं कर्म-
 बन्धानावाप्तिकेः सन्नायोऽप्याहतः; सामान्यभावाद्सिद्धि-
 द्वावोऽपि ॥ २५ ॥

साम्प्रतं सिद्धानां स्थाननिष्पणयाह—

णत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवंप्रं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥ २६ ॥

सिद्धेरशुक्रमन्वुतिमकृष्णया निजं स्थानमीप्यमाग्रास्यं व्य-
 वहरतः, निष्कथतस्तु तद्वपरि योजनकोशायद्वसागस्तप्रतिपा-
 कप्रमाणात्प्राप्तस्य नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतो बाधक-
 प्रमाणात्प्राप्तस्य बाधकस्य बाधकस्य सन्नायात् तत्तसा पुनिय-
 ति । अपि च-अपगतशेषकस्यमार्गो सिद्धानां केनचिद्विशिष्ट-
 स्थानेन भाव्यम्, तच्चतुरश्ररज्यात्मकस्य शोकस्यप्राप्तुत्वं दृष्ट-
 व्यम् । न च बाधकते बहुमाकाशत्वस्यैवमितिः (सिद्धा इति ।
 यतो शोकाशोकव्याप्याकारम् । मन्वाःशोकं परद्रव्यास्वाकाराम-
 त्रकृत्वात् शोकमात्रव्याप्यत्वमपि नास्ति, यिकस्यापुत्रपणः । त-
 दादि-सिद्धावस्थायां तेषां व्यापित्वमप्युपगतम्; उत प्रागपि? न
 तावन्नित्वावस्थायात्, तद्व्यपित्वमवने निमित्ताभावात् । नापि
 प्रागवस्थायात्, तद्भावे सर्वेसंसारिणं प्रति नियतसुखतुःआनु-
 प्रयो न स्यात् । न च परराश्रीहरविधानमवस्थानमस्ति, तस्य-
 शान्तिचरनप्रमाणस्याभावात् । अतः सर्वेव्यापित्वं विचार्यमाणं
 न कदाश्चिद् घटते । तदुभावे च शोकाप्रमेव सिद्धानां स्थानम् । त-
 द्दुहित्वं कर्मविमुक्तस्यैव गतिरिति । तथा चोक्तम्—“लाभो पर-
 कृते, अगो धूमं चत्, पणुविमुक्तः । गह पुत्रवभोगेण, एवं सि-
 द्धाण वि गच्छेत्” ॥ १ ॥ इत्यादि । तदेवमास्ति सिद्धिः, तस्या-
 निजं स्थानमित्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ २६ ॥

साम्प्रतं सिद्धेः साधकानां तत्रप्रतिपक्षभूतानामसाधूनां चार्हि-
 त्वं प्रतिविपाद्यित्युः पूर्वपक्षमाह—

णत्थि साहू असाहू वा, एवंप्रं सन्नं निवेसए ।

अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २७ ॥

नास्ति न विद्यते हावद्वेषोचार्हिःकर्मयोगेनो भोक्तामगव्यस्थि-
 तः सायुःसंपूर्णस्य रत्नत्रयानुष्ठानस्याभावात्, तदभावाच्च तत्र-
 निपकनूनस्थासाधोरस्यभावः, परस्परारोकित्वात् । एतच्च-
 स्थानस्येकतरात्राये द्वितीयावस्थाप्राप्तेः ततो नो निवेशये-
 त्, अपि त्वस्ति सायुःसिद्धेः प्राक्साधितत्वात् । सिद्धिसाधन-
 साधुमन्तरेण । अतः सायुसिद्धिस्तत्रानिपकनूनस्य याऽसाधेरि-
 ति । यच्च संपूर्णरत्नत्रयानुष्ठानमावः प्रागाशङ्कितः, स सिद्धान्ता-
 भिप्रायमभुवैव । तथाहि-सत्यवदृष्टकपुत्रकृत्स्य याऽसाधेरि-
 त्वं संयमघतः कुनासारेणाऽऽहारदिकं सुखबुद्ध्या शूयदतः क-
 र्त्विहानानेधनर्षयमदहनसंज्ञेषु सततोऽप्युक्ततया संपूर्णमि-
 रत्नत्रयानुष्ठानमिति । यच्च प्रवृथमिदं चाभयम्, गम्यमिदं चा-
 नयम्, प्रासुकमिषणायमिदमिदं च विवरतीमित्येवं गम्येसंभ-
 वेन समनम्यकस्य सामायिकस्याजावः कैश्चिद्वचोपेत, तेषां च
 बोधनमिषणायमिदमिदं । तथाहि-न तेषां सामायिककृतौ
 साधूनां रामद्वेषतया प्रवृथानुप्रादिविषयकोऽपि तु प्रथममो-
 क्तस्य सत्त्वात्तस्य साधनार्थमापि चोपकाराकारयोः सम-
 भावतया सामायिकम्, न पुनर्नद्वयावस्थयोः समभावन्ये-
 ति ॥ २७ ॥

तदेवं मुक्तिमार्गभूतस्य साधुत्वम्, इतरस्य वासाधुत्वं, प्र-
 वृथोपुना च सामान्येन कस्याणवापयतोः सन्नावं प्रतिषेधनिषे-
 चशरीणाह—

णत्थि कृष्णाणवापे वा, एवंप्रं सन्नं निवेसए ।

अत्थि कृष्णाणवापे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २८ ॥

(पत्थि कल्याणपाये वेत्यादि) यद्येष्ट्यायकलसम्प्राप्तिः कल्याणः, तत्र विद्यते, सर्वाङ्गुचित्वाया निरात्मकत्वात् । सर्वपदार्थानां बीजाजिप्रायेण, तथा तद्भावे कल्याणार्थेन न कश्चिद्विद्यते, तथाऽऽनृतन्यायप्रियायेण पुरुष एवेवं सर्वमिति ह्यथा पापं पाप-बाध् वा न कश्चिद्विद्यते, तत्रैवमुद्योतरत्न्यायः । तथा चोक्तम्—
“ विधाविनयसंपन्न, ब्राह्मणे गात्रं हस्तिति । शुनि वैष ह्य-पाके च, परिदताः समदर्शिनः ॥ १ ॥ इत्येवंमेव कल्याणपाप-काजावरणं संज्ञां नो निवेशयेत् । अपि त्वस्ति कल्याणं, कल्याण-बीजं विद्यते, तद्विपर्ययेत् पापं तद्विपर्ययं विद्यते, इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । तथाहि—नैकात्नेन कल्याणानां यो बाँकैरभि-द्वितः, सर्वपदार्थानामङ्गुचित्वासंभवात्, सर्वाङ्गुचित्वे च बुद्ध-आप्यङ्गुचित्वाप्रतिः । मापि निरात्मनः स्वदुष्कृत्तकान्नानावेक्या सर्वपदार्थानां विद्यमानत्वात्परकल्याणद्विजन्तः न विद्यन्ते, स्व-स-वात्मकत्वाद्गुणतुः । तदुक्तम्—स्वपरसत्सद्भ्युदासोपादानात्पाद्यं हि वस्तुनां वस्तुत्वमिति । तथाऽऽनाद्वैतमायाजात्यापा-भावोऽपि नास्ति, प्रकृतभावे हि सुखी दुःखी सरागां नीरागाः सुरुषः कुरुषो दुर्भगः सुजगोऽर्थवान् दारुः, तथाऽध्यत्मिकतोऽपि तु दर्शनात् इत्येवमादिको जगद्वैचित्र्यभावाङ्गुचित्वोऽपि न स्वात् । यच्च समदर्शित्युच्यते ब्राह्मणत्वात्तद्विद्यते, तदपि स्वानर्थात्प्रत्याप्तनो द्रष्टव्यम्; न पुनः कर्मोपादि तथैचिद्यजा-योऽपि तेषां ब्राह्मणत्वात्तद्विद्यमानमस्तीति । तदेवं कथञ्चित्कल्या-णमस्ति, तद्विपर्ययेत् तु पापकर्मिति । न विकल्पनं कल्याणमेव, यतः केवलानां प्रक्रीणघनघातिकांश्चतुष्टयानां सातासातोद्य-सङ्गत्वात् । तथा नाकल्याणमपि प्रक्रीणघनघातिकांश्चतुष्टयानां विद्व-ज्ञावानैकान्तेन नैरपि पापवन्त इति । तस्मात्कथञ्चित्कल्याणं कथं चिरपापमिति स्थितम् ॥ २८ ॥

तदेवं कल्याणपापयोरेकात्मत्वरूपं प्रसाधैकान्तं
दृश्यितुमाह—

कल्याणे पावप वा वि, बवहारो ण विज्झ ।

जं वेरं ते न जाणंति, समया बालपटिया ॥२९॥

(कल्याणे पावप इत्यादि) कथं सुखमारोगं भोजनत्वं वा, तदणानी कल्याणम्, तद्व्यापस्तीति कल्याणः “ अश्रेयं आ-दित्येऽञ्च ॥ ५ । २ । २९७ ॥ इत्यनेन पापिणीयसुत्रेण मत्सर्था-याऽन्यत्पयान्तः; कल्याणवर्णिते पावत् । पापकारणाऽपि मत्सर्थायाऽन्यत्पयान्तो द्रष्टव्यः, तदेवं सर्वेषां कल्याणवा-नेवायम्, तथा पापवनिवायमित्येवमूतो भयबहोरो न विद्यते । नदेकान्ततुत्यायैस्यैवाजाभात् । तद्व्यापक्यं च सर्ववस्तुनामे-कान्ताभ्युपेन प्राक्प्रसाधितं स्वीयिति । एतच्च एवबहोराभावा-भयं सर्वत्र प्रागपि योजनीयम् । तद्यथा—सर्वत्र धर्म्यमस्ति नास्ति वा सर्वत्र धर्म्यमित्येवमूत एकान्तिको व्यवहारो न विद्यते । तथा नास्ति सांकोऽलोको वा, तथा स्मित जीवा अजी-वा इति वेत्येवं मूतो भयबहोरो न विद्यते । तथा चैरं वज्रं तद्राज्यं वैरं, विरोधो वा वैरम्, तथेन परोपातापादिकान्तपक्षसमाभ्युपेण वा भवति, तत्रे अमसा-स्तीयिका बाला इव बाला रागद्वेषकक्षिताः परिदतभिमानिनः शूद्रकनकदुर्षाभ्याता न जानन्ति, परमाद्वैततत्त्वविज्ञानकृत्यय धर्मस्यानेकान्तपक्षस्य वाऽनाश्रयणादिति । यदि वा यद्वैरं तत्रे भ्रमणा बालाः परिदता वा न जानन्तीत्येवं वाचं न निरुज्जेष्यु-च्छर्ये संन्यतः । किमिति न निरुज्जेत् ? । यतस्ते किञ्चिज्जान-

स्येव । अपि व-नेषां तस्मिन्सकालोपात्तौ सर्वेष्वेवमूतं वचस्तत्र वाच्यम् । यत उक्तम्—“अप्यसिधं जेण सिया, भासु कुप्यिञ्ज वा परो । सव्वसो ते ण भासेज्जा, ज्ञासं ब्राहियेणामिति ॥ ३१ ॥ इत्यादि ॥ २९ ॥

अपरमपि बाहूसंयममधिकृत्याऽऽह—

असेसं अकखं वा वि, सव्वदुक्खे ति वा पुणो ।
वृञ्जा पाणा न वृञ्जान्ति, इति वार्यं न वीरेत् ॥३०॥

(असेसमित्यादि) अश्रेयं कृत्स्नं तत्साद्व्यथाप्रियायेण कृतं नित्यमि-त्येवं न भूयात्, प्रत्यर्थं प्रतिसमये चाप्यथाप्यथाभावेदर्शनात् । स एवायमित्येवंभूतस्यैकत्वसाधकस्य प्रत्यजिज्ञानमस्य क्लृप्तं पुन-जातेषु केचनस्वादिष्यापि प्रदर्शनात्, तथापि शब्दादिशब्दानेन कृष्णकृष्णमित्येवमपि वाचं न निरुज्जेत्, सर्वथा कृष्णकत्वे पुष्येस्य सर्वथा विनह्यतावृत्तस्य मिद्वैतुक्त उपायः स्यात् । तथा च सति “जगत्सं सत्यमसत्त्वं वा, हेतोरेवमप्येकत्वान् ॥” इति । तथा च “असत्त्वं जगत्सं सत्यमित्येवमपि न भूयात् । सुखात्मकस्यापि सम्प्रगद्वर्शानामिवावेन दर्शनात् । तथा चोक्तम्—“तणलंधार-नित्सेसो, वि मुणिवरो प्रहृगारात्तयोदो । जं पावह मुत्थि सुदं, कसो तं वज्जवद्दी वि ॥ १ ॥ तथा—वध्याञ्छोरपारदारिकादयः, अथवा वा, तत्कर्ममतिप्रवृत्तानात्, इत्येवंभूतानां वाचं स्वातुष्टानप-रायणः साधुः परव्यापारनिरपेक्षो न निरुज्जेत् । तथाहि—सिंह-व्याभ्यामाजाराद्विं परसद्व्यापानप्रपरायणत्वात् हृद्य माप्येष्ट्यम-वल्लभ्यते । तथा चोक्तम्—“मैत्रीवदोत्कादयमाध्यस्थावै-सि सन्धुगुणाधिकविलम्ब्यमानविनयेषु ॥” इति । एवमयोऽपि वा-क्संयमो ऽच्छेद्यः । तद्यथा—अमी गवादीयो बाह्या न बाह्याः, त-थाऽमी वृक्षाद्यन्धेष्ट्या न ह्येष्ट्या वेत्यादिकं वचो न वाच्यं साधु-मेति ॥ ३० ॥

अयमपरो बाहूसंयमप्रकारोऽन्तःकरणशुद्धि—
समाभितः प्रदर्श्यते—

दीसंति समियाचारा, जिक्खुणा साहुजोविणो ।

ए ए मिच्छोवजीवंति, इति दिहं न धारए ॥ ३१ ॥

इत्यनेन समुपपन्नयने स्वशास्त्रोक्तेन विधिना निभूतः संखत आत्मा येषां ते निरुतात्मानः । कश्चित्प्राप्तः—(समियाचारं सि) । सम्यक् स्वशास्त्राविधिना सुष्ठानाद्विपरिणो आचारोऽनुष्ठानो येषां ते सम्यगाचाराः, सम्यग्वा येषां स्व्यभक्षितं प्राचारात् येषां ते समिताचाराः । के ते ?, भिक्षणशिला जिज्ञासात्रयस्यः । तथा साधुना विधिना जीवितुं शीघ्रं येषां ते साधुजीविणः । तथाहि- ते न कस्यचिपुपरोधिघातेन जीवन्ति । तथा ह्यान्ता ह्यन्तं जितकोधाः सत्यस्या हृदयता युगान्तरमात्रद्वयः परिपूर्णा-कपायिनो मौनिनः सदा ताविना विविधैकान्तध्यानाध्यासि-नाऽकोकृत्या, तातेष्वभूतानवधारं अपि सरागा अपि वीतरा-गा इव वेधन्ते, इति मत्स्येति मिथ्यात्वोपाजीविन इत्येवं इहं न धारयेष्वैवं लुप्तमन्धवसायं कुर्वन्तु, नात्येवंभूतां वाचं निरुज्जेत्-यथेति मिथ्योपवापवृत्त्या मायाविन इति, कृष्णस्येन ह्यार्वादीर्वा-नैवजुतस्य मिश्रयस्य कर्तुमशक्यः वादित्यभिप्रायः । ते च स्त-पृथ्या वा अवेद्युस्तीयांतीया वा; ताजुनावपि न वक्ष्यती सा-धुता । यत उक्तम्—“ वाक्परगुणपदो—वकीतोते इनापूने मनो भवति । तावह्वरं विबुद्धो ध्याने ह्येतं मनः कर्तुम् ॥ १ ॥ इत्यादि ॥ ३१ ॥

विज्ञाऽन्यत्-

दक्खिखाए पमीलंभो, अत्थि वा एत्थि वा पुत्थो ॥
ए विषागरेज्जे वेदाही, संति मग्गं च वूहए ॥ ३१ ॥

(दक्खिखाए इत्यादि) दानं वक्षिणा, तस्याः प्रतिलम्बः प्राप्तिः, स दानमज्ञोऽस्मान्दृष्ट्यादेः सकाराद्यदिन मास्ति वेत्थेवं न व्यापुयीयात्, मेधावी मयोदाव्यवस्थितः । यदि वा स्वययस्य तीर्थोन्तरीयस्य वा दानं प्रहृषं वा प्रतिलाम्बः स एकास्तेनास्ति संभवति, नास्ति वेत्थेवं न हूयात्, एकान्तेन तद्दानप्रदणानिषधं दोषोपाससंज्ञवात् । तथाहि-तद्दाननिषधेऽन्तरायसंज्ञः, तद्विषयं वा तद्दानानुमत्ताव्यधिकरणोद्भव इत्यन्तेऽस्ति दानं न येत्येवम- एकान्तेन न हूयात् । कथं तर्हि हूयात् ? इति दर्शयति-शान्तिमो- क्षः, तस्य प्रागेः सस्यम्बरीनाहानचारिभ्रातृभ्यः, तसुपुद्द्वैय- धेवेत् । यथा मोक्षमार्गानिबुद्धिमेवति तथा द्रव्यादिऽन्यथैः । पत- तुक्तं भवति-पृष्ठः केनादिप्रतिप्रतिचमन्तरेण देयप्रतिमाहक- विषयं निरवधमेवं हूयादित्येवमादिकमन्यदापि ॥ ३२ ॥

साम्प्रतमव्ययवार्थमुपसंक्षिप्तञ्चुराह—

इधेएहिं ठाणेहिं, जिणदिहेहिं संजए ।
धारयंते उ अण्णाणं, अयायोक्खाए पत्थिपुञ्ज ॥ ३३ ॥ चि वेमि ।

इत्येतेरेकान्तनिषेधद्वारेणानेकात्तविषयाभिभिः स्थानिर्वाक्यस्य- मप्रधानैः समस्ताध्ययनोक्तैः काणखेरहितेतिनेहेरेकपलघनेन स्म- र्मानेनिकेषोत्थापितैः संवयः सन् इत्यमथानात्मानं धारयन्नेभि- र्विषयधर्मदेशानावसरे वाच्यम् । तथा चोक्तम्—“सावज्जणव- ज्जाण, वयणाणं जं ण ज्ञाणं विवसें” इत्यादिस्थानेरात्मानं वते परममाहायाविकर्मज्ञेयार्थं मोक्षं यात्यपरि समन्तसंयमानु- ध्याने ब्रह्मः, गच्छेत्स्वमिति विषयव्योपदेशः इति परिसमाप्त्य- थै । ब्रह्मिमांति पुषवत् ॥ ३३ ॥

अर्थीकरण—अर्थीकरण—न० । अर्थयते अर्थी वा करोति अ- र्थं जनयते इत्यर्थीकरणम् । राजादीनां प्राथमे, तैर्वाऽऽत्मनः प्राथमाकारणे, नि० चू० ।

जे जिक्खु रायं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥
जे भिक्खु रायरकित्तयं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥
जे जिक्खु एगगरकित्तयं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥
जे जिक्खु गमगरकित्तयं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥
जे जिक्खु देसरकित्तयं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥
जे जिक्खु संभारकित्तयं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥
जे जिक्खु विगमरकित्तयं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥
जे जिक्खु सम्भारकित्तयं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

अत्ययते अत्थी वा, करेइ अर्थं च अणयते ञम्हा ।
अर्थीकराणं तम्हा, विज्जादिणिमिचमादीहिं ॥ ११ ॥

साहू रायायं अर्थयति प्राथयते, साधू वा तदा करोति जहा- षो राया तस्स साहुस्स अर्थीजनयति, प्राथयतीत्यर्थः । साधुर्वा

तस्य राहः अर्थं जनयति । जम्हा एवं करोति तम्हा अर्थीकर- णं जणयति । साधू रायाणं जणयति-मम अर्थि विज्ञा, निमित्तं वा तीतारण्यतं । ताहे सो राया अर्थीजनयति । आदिहसहाते रसायणादिज्ञोमा । इमे अर्थीकरणे ।

धातुनिषाएदरिसणे, जणयंतं तत्थ हेति सट्ठाणं ।

अर्थी अर्थी अर्थे-ए संत-उसंतेण लहु लटुया ॥२३॥

धातुवादेण वा से अर्थं करोति, महाकालमेतेष वा से णिदि हरिसेति । एवं अर्थं जनयते सट्ठाणपच्छिणं, उक्ताया चउत्तु लटुया । सीदावशोयणेण गनेऽन्यथैः पुनरुच्यते-उत्थी, अर्थी, अर्थी, अर्थी, एतेसु मंतसु मासहं, असंतं चउलहु ।

एके एगगरेणं, अर्थीकरणेण जो तु रायाणं ।

अर्थीकरोति भिक्खु, सो पावति अणमार्दीणि ॥२४॥

राया भिक्खुस्स संजम अणुणेलख एनेहिं राया चउत्तरि माहाअं जाव एतेहिं । नि० चू० ४ उ० ।

अत्यु (त्योत्र) गह-अर्थीसमूह-पुं० अर्थयते इत्यर्थः । अर्थेस्था- वप्रहणमर्थावप्रहः । सकलरूपादिविशेषनिरेखापानदेश्यस्ता- मान्यमात्ररूपायैप्रहणलक्षणं मतिज्ञानभेदाऽवप्रहभेदे, नं० । स० कर्म० अ० स्था० प्रह्ना० “सामप्रहकारं विमलस्यारि- ह्यस्य अनिदसस्व” अवप्रहणमवप्रह इति । न० प्रव० अर्थय- तेऽभिगम्यते, अर्थयते वाऽन्यिचय इति अर्थः । तस्य सामान्य- रूपायैः परिनिरेखाभिर्निर्देश्य रूपादेशवप्रहणं प्रथमपरिच्छेद- नमर्थावप्रह इति निर्विकल्पक ज्ञानं दर्शानंमिति यदुच्यते इत्य- थै । स नैक्यधिकोयः स सामायिकः यस्तु व्यावहारिकः शब्दोऽप्यमित्यापुच्छेखान् सोऽन्तर्माहिक इति । अयं प्रश्नान्द्र- यमनःसंन्यतः पादा इति स्थानं ३ दा० ३० । (अर्थीसमूह- स्य सोपपत्तकः स्वरूपाववेकः उगह शब्दे द्वितीयभागे ६६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः) स च मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात्वा- दा । प्रव० २१६ दा० ।

तथा च सूचय—

अर्थोवगगहे णं जंते ? कतिविहे पससे ? । गोयमा !
खन्दिहे पससे । तं जहा-सोऽदीय अर्थोवगगहे ? । चाखिं-
दिय अर्थोवगगहे १, धाणिदिय अर्थोवगगहे ३, निजिज-
दिय अर्थोवगगहे ४, फासिदिय अर्थोवगगहे ५, नोहिदि-
य अर्थोवगगहे ६ ॥ प्रह्ना० १५ पद । स्था० ।

अथ कोऽयमर्थावप्रहः ? । सुरिराह-अर्थोवप्रहः बहिष्प-
प्रहतः । तद्यथा-भोगेन्द्रियायैवमह इत्यादि । भोगेन्द्रि-
येणोर्थावप्रहो ऽप्यज्ञानावप्रहान्तरकालमेकसांमायिकम-
निर्देश्यसामान्यरूपायैवप्रहणं भोगेन्द्रियायैवप्रहः । एवं प्रा-
णजिह्वास्पर्शनेन्द्रियायैवप्रहैश्चपि वाच्यम् । चतुर्मेनसोऽनु-
व्यञ्जनावप्रहो न भवति । नतस्तयोः प्रथमेवैक रूपद्रव्यगुण-
क्रियाविकल्पनऽतीतमनिर्देश्य सामान्यमात्ररूपायैवप्रह-
मर्थावप्रहोऽवस्येव । तत्र- (नोर्दिब अर्थोवगगहे सि) नो-
इन्द्रिय मनः । तत्र जिह्वा-द्रव्यरूपं, वाच्यरूपं च । तत्र मनः-
पर्याप्तिसामकर्म्योदयतो यमनःप्रायोग्यवर्गवास्तिकानादाव-
मनस्त्वेन परिचयति, तद्रूपरूपं मनः । तथाचाह चूर्णिकत्-

“मणुष्यस्य त्वि नामकम्भोदयस्यो जोगो मयोद्वये चेत्तु मणुष्येण परिणामिया दम्बमयो मयः” तथा द्रव्यमनोऽपचम्भेन जीवस्य यो मननपरिणामः स भावमनः । तथा चाह ऋषि-कार एव “ जीवो युष्मणुष्यपरिणामकिरियापक्षो भावमयो । किं भवितुं होह ?-अणुदम्बाहंभयो जीवस्व मणवाचरो भावमयो भवत्यः । तत्रेह भावमनसा प्रयोजनम्, तदुद्ग्रहणे षड्वयं दम्बमनसोऽपि ग्रहणं भवति ; द्रव्यमनोऽन्तरेण भावमनसोऽसम्भवात् । भावमनो विनाऽपि च द्रव्यमनो भवति ; यथा भवत्येकेश्वरिनः ; तत उच्यते भावमनसह प्रयोजनम् । तत्र नोहन्दिष्ये भावमनसोऽर्थावग्रहो लब्धेन्द्रियव्यापारनिरपेक्षो घटाद्यर्थलक्षपरिभाषनाऽभिमुखः प्रथममेकसामायिकी कृपायदाकाराद्विभेदविभक्त्याविकसो निर्देह्यसामान्यमात्रचिन्ताप्रमको बोधो नोहन्दिष्यार्थवग्रहः । नं । अयं च नैकविक एकसामायिकः । व्यावहारिकस्वात्मनोऽहृत्किकः स्यात् ०६ टा० अत्पु (त्यो) ग्राहण-अर्थवग्रहण-० । फलनिश्चये, मं ११ सु ११ उ० ।

अत्पुद-देशी-व्यौ, दे० ना० १ वगं ।

अत्पुत्पत्ति-अर्थोत्पत्ति-स्त्री० उत्पद्यते यस्मादिति उत्पत्तिः । अर्थस्योत्पत्तिव्यवहार उच्यते अर्थोत्पत्तिः । करणव्यवहार, व्य० १ उ० ।

अत्पेर-अस्यैर्य-न० । अस्तिरत्वे, अष्ट० ४ अष्ट० ।

अत्पेत्प्रापण-अर्थोत्पानन-० ल्यप्ताऽवर्जने, प्रव० २, ५६ टा० । अत्पेत्प्रापण-अस्तोत्रक-न० । न० ७० । स्तोत्रकहिते गुणवत्पुत्रे, अनु० । “यव व इकारो हृत्ति अ-कारणार्थं योजनया ह्रुति” तत वै हाऽसिद्धिभ्रूतीनामकारणग्रहेपाः स्तोत्रकः । तद्रहितमस्तोत्रकम् । वृ० १ उ० । विरो० ।

अत्पेत्प्रापण-अर्थवर्ण-पुं० अर्थवर्धने, “ जाव अद्यव्ययकुसलेया वि होत्या” विपा० १ पु० ५ वगं ।

अत्-अत्-अ० । आर्ध्वे, “ धियो सो नः प्रचोदयाऽन्” अदिति आर्ध्वेकपलत्कारणेऽनिकृत्वान्, ततश्च हे अत् ! “ विरामे व” ॥ १ । ३ । ५ । ११ इति इत्ये तः । साङ्ख्यार्थप्रमाणं गा० ५ वा-क्या । जे० गा० । एतादृशाः प्रयोगाः प्राकृते न प्रयुज्यते ।

अत्द-अत्द-पुं० । प्रशस्तयोगप्रये, अदिसामाभे च । “ एगे अदरे” स० १ सप्त० ।

अत्दक (को) दंदिम-अददकुदुदितदम-वि० । दृक्कलत्रं द्रव्यं दृक् दृक् एव । कुवर्धनेन विवृणं द्रव्यं कुवर्धनम्, तत्पास्ति यत्र तत्तथा । दृक्कलत्रद्वयान्मशुक्लान्कृते नगरादौ, तत्र दृक्को-ऽपराधानुसारेण राजप्राभं द्रव्यम् ; कुदृक्कल-कारिणकानां प्रजापराधमहत्पराधिनोऽपराधेऽन्यं राजप्राभं द्रव्यमिति । “ उद-पुत्रं उदरं उदके उदिकं अमेजं अमदन्पवेत्सं अदकको-हृदिमे अर्धरेमे गणियाचरनामइजालियं ” (पुरीषर्षणः) ज० ११ टा० ११ उ० । ज्ञा० । जे० । कद० ।

अदत्तवण-अदत्तवण-वि० । दत्तपाषाणरहिते, अदत्तपाषाणो धर्मो बोरमहापद्मयोस्तीऽनुज्ञातः । स्या० १६ टा० ।

अदत्तम-अदत्तक-वि० । बन्नाऽनुगतवक्त्राविरहिते, व्य० ३ उ० । १३२

अदं (हं) सण-अददर्शन-न० । न० १० । प्राकृते-“समासे वा” ॥ १० । १७ । इति इत्ये वा द्विवचनं । प्रा० । साङ्ख्यज्ञानभावे, न विद्यते दर्शने ह्य यत्स्येत्दर्शनः । अन्धे, स्यङ्किर्दिनिकोद्वयतत्त्वात् । ग० १ अवि० । न विद्यते दर्शने सत्यकत्वमस्येति व्युत्पत्तेः । अयं च दीकृतः सद् विकलतया यत्र तत्र वा संखरद् यद्वायाद् विरा-थयेत्त्रिभक्तकौलककण्टकादिषु च पतेत् । स्थानार्दिस्तु प्रविष्टो गृहिणां साधूनां च मारुत्यादि कुर्यात् । प्रव० १०९ टा० ७० ।

“अविदो अदंसणो अह्नु, ज्ञाति उवचाततो य पाषाण्यो । अघघातो पुण तिविहा, चाहीसघघातंजंजाणपाए ॥१॥ संगेणं विय अघरो, धीणज्जीओ मुणयस्यो । एतेसि सो हे इमा, अहकमेणं सुणयस्यो ॥२॥ अचियण्येणं तह से-सखसु धीणज्जितो तु कमसो तु । अणुक् चउरुक् चरिमे, दोसा तदिं दिण्णित्ते इणमो ॥३॥ उकायविरउमणत्ता, अघरुणं आणु कंटमादीसु । धम्मिअप्रपदिहेहा, अंघस्स न कप्पतो विक्खा ॥४॥ अघवहति य महादोसं, दंसणकम्मोदघण धीणज्जी । एगमेणय व से, जं चाही तं तु आघजे ” ॥ ५ ॥ पं० मा० । वीर, दे० ना० १ वगं ।

अदक्सु-अदृष्ट-वि० । न० ७० । अर्वागदर्शने, सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अदक्ष-वि० । अनिपुणे, सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अपर्य-वि० । पश्यतीति पर्यः, न परयोऽपर्यः । अन्धे, सूत्र० १ सु० ३ अ० ३ उ० । आहःकीत् इत्यस्यापि ‘अदक्सु’ इति रूपम् । प्रति० । भ० ।

अदक्सुदंसण-अदसदर्शन-वि० । असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिनि, सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अदष्टदर्शन-वि० । असर्वज्ञोक्तशासनाऽनुयायिनि, सूत्र० १ सु० २ अ० ३ उ० ।

अपश्यकदर्शन-वि० । अपश्यकस्यापि सर्वज्ञस्यानुपगतं दर्शनं येनाऽसावपश्यकदर्शनः । स्वतोऽर्वागदर्शिन, सूत्र० ।

अदक्सुव दक्सुवाह्रियं, सदहसु अदक्सुदंसणा । इदि ह्यु सुनिरुद्धंसरणे, मोहणिज्जेण कमेण कम्पुणा ? ?

(अदक्सुचेत्यादि) पश्यतीति पर्यः, न परयोऽपरयो-ऽन्धः, तेन तुल्यं कार्याकार्याविवेकिवादापरहयत् । तस्याऽऽ-मन्त्रणं हे अपश्यवत् । अन्धसदहा । अन्धकस्यैविकस्या-ऽनुपगमेन कार्याकार्यानिर्ज्ञा !, परयेन सर्वज्ञेन, व्याहृतनु-कं सर्वज्ञागमे, अदस्व प्रमाणकुक, प्रत्यक्षस्यैविकस्याऽऽनुप-गमेन समस्तव्यवहारविलोपेन हंत ! इतोऽसि,पितुनिबन्धनस्या-ऽपि व्यवहारक्याऽस्तिरिति । तथाऽपश्यकस्याऽपि असर्वज्ञस्याऽ-भ्युपगतं दर्शनं येनासावपश्यकदर्शनः ; तस्याऽऽमन्त्रणं वा हे अपश्यकदर्शनं । स्वतोऽर्वागदर्शी भर्वास्तथाविधदर्शनप्रमाणश्च सद् कार्याकार्याविवेकितयाऽऽपश्यदं भविष्यत् यदि सर्वज्ञानु-पगतं नाऽस्तिरिष्यत् । यदि वाऽदृक्त्वा वा अनिपुणो वा यादरा-स्तादृशो वाऽचक्षुर्दीनमस्याऽसावचक्षुर्दीनः केवलदर्शनः सर्वज्ञस्तस्मादघद्याप्यते हितं तत् अदस्व । इदमुक्तं जवति-अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनात्कं हितं अज्ञातव्यम् । यदि वा हे अदृष्ट ! हे अर्वागदर्शन ! दृष्टाऽऽज्ञातव्यवहितसू-

ह्ययवर्धाईर्वासा यद्वाहूनमजिहितमागमः, तं अकस्व । हे अह-
 एरसेन !, अदकसुवसं । इति वा, अस्वसंकोकसासलानुपायिन् !
 तन्मार्गो यमाग्रहं "रिपुस्य स्वर्गोके मार्गं अहानं कुर्वति ता-
 न्ययोः । किमिति स्वर्गोके मार्गं अहानमनुभव करति ये-
 नैवमुपदिश्यते । तस्मिन्मार्गाह-इत्यर्थेन शुद्धाण । दुःखान्दा वा-
 कपालहारं, सुखं प्रतिशयेन विक्रममावृत्तं श्येनं स्वयं अह-
 बोधकं यस्य सः । केनेत्याह-मोहयतीति मोहनीयम्, मिथ्या-
 दर्शनादि; हानावरणीयादिकं वा, तेन कृतेन कर्मणा निकरदर्शनः
 प्राणो स्वर्गोके मार्गेन अकस्ते । अतस्तन्मार्गभ्रमार्त्तं प्रति चोद्यत
 इति । सूत्रं १ सूत्रं २ अ० २ उ० ।

अदकसुव-अपश्यवन्-वि० । अपश्योऽभ्यः, तेन तुल्यं काव्या-
 कार्याविवेचिसिन्धुपद्मवद् । अभ्यसहो कार्याकार्यानिज्ञे,
 सूत्रं १ सूत्रं २ अ० ३ उ० ।

अदह-अहट-वि० । तुषेते, स्य० ङ उ० । आचा० ।

अदहर्षि-अदहृष्टि-वि० । धृतिरहिते, नि० चू० १ उ० । असम-
 र्त्तं, नि० चू० १ उ० ।

अदण-अदन-न० । अद-स्युद । नोजने, ह्० १ उ० ।

अदश-अदत्त-वि० । आकुलीभूते, ह्० १ उ० । विवादिक्ते, "तेषु
 वि य गिलाणेषु तं अदशा " नि० चू० १ उ० ।

अदत्त (दिशु)-अदत्त-वि० । न० तत् । अवितीर्णे, प्रश्न० ३ आ-
 अ० द्वा० । अ० । अदत्तद्रव्यग्रहणकृते तृतीयं आश्रयभेदे, प्रश्न० १
 आ० द्वा० । " हितामोसमदिशुभपरिम्ये " प्रश्न० १ द्वा० ।

अदत्त (दिशु) हारि (शू)-अदत्तहारिन्-वि० । अदत्तमप-
 ह्नुं शीलमस्याऽऽसाददत्तहारी । परद्रव्यापहारके, "जे लस्य
 हार अदत्तहारी, ख सिक्कती से य वियस्त किचि" सूत्रं १
 सूत्रं ३ अ० १ उ० ।

अदत्ता (दिशा) दाण-अदत्तादान-न० । अदत्तस्य स्वा-
 मिजीवतीथेकरगुरुभिरवितोषेस्थाननुद्धातस्य सखिसाचि-
 सार्त्तमभेदस्य वस्तुन आदानं प्रहणमदत्तादानम् । तच्च वि-
 विधापाधिबशादनेकविधम् । " एग अदिशादाणुं " स्या० १
 उ० १ उ० । सूत्रं १ । चौर इति व्यपदेशनिबधने, उपा० १
 उ० । परस्वापहारं, अ० ६ अ० । आ० चू० ।

यथा च तददत्तादानं प्रश्न० ३ अधमद्वारं यादक-१ यथाम-
 २ यथा च कृते ३ यत्कलं द्वाति ४ ये च कुर्वन्ति ५ इति प-
 ञ्चमिद्वारैः कर्मण प्रकल्पितं, तथैवह प्रकल्पितं-

- (१) याहशमदत्तादानस्वरूपं तदप्रतिपादनम् ।
- (२) अदत्तादानस्य नामानि ।
- (३) (यथा च कृते) ये वादत्तादानं कुर्वन्ति तन्निरूपणम् ।
- (४) अदत्तादानं यत्कलं द्वाति तन्निरूपणम् ।
- (५) आचार्योपाध्यायादिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम् ।
- (६) लघुस्वरूपमदत्तं शृणाति ।
- (७) तपस्तेत्यादि न कुर्वीत ।

(१) तत्र याहशमदत्तादानस्वरूपं तदप्रतिपाद-
 नंस्तत्तद्वदह-

जैवु ! तनियं च अदिशादाणं ह्रदहमरणजयकसुसता-
 सणपरंतीनगिज्ज्योनेजपूलकासावेमसंसितं अहोऽचि-
 छततहपत्याणपत्वाइमयं अकिचिकरं अणजं जिह-

यंतरविपुरवसणमगणुवस्समवपमपसपुत्तवचणाऽऽसि-
 वणपायणपरापिदुयपरिणापमकरजणबहुमयं अकलुणं रा-
 यपुरिसरविसयं सया साहुरगहजिज्जं पियजणमित्तजयभे-
 दविप्यातिकारकं रागदोसबहुलं पुणां य उणुरसमरसंगाव-
 हमरकसिलकलहवकरणं दुग्गतिविधिवायवहुणं जवपुत्तव-
 वकरं चिरपरिचियं अणुणायं दुर्तं तहयं अपभ्यदात्तं ॥

हे जन्मः ! तृतां पुनराश्रयद्वाराणां किमदस्य भगवदेरा-
 दानं प्रहणमदत्तादानम् ? " हर वक्ष " इत्येते हरणराहयोः पर-
 प्रवनाथी शब्दो, हरणवदपर्यायो वा क्लृप्तसाविति । तौ च
 मरणं च मृत्युः, अयं च भीतिरेता एव क्लृप्तं पातकं, तेन त्रा-
 सनं त्रासजनकं च रूपं यत्तथा । तच्च तत् तथा (परसंत-
 गत्ति) परसत्के धने यो शुक्लोभो तौद्रध्यानाभ्यां सुकृत्वां,
 स मूलं नियन्धनं यस्यादत्तादानस्य तत्तथा । तच्चानि कर्मधार-
 यः कालाभ्यं प्रतिविधियः, विषयकं पूर्वनादिदुग्गं, तैः संबन्ध-
 ताः । कालाभ्यं तैः हि प्रायः तत्कारिभिराश्रयत इति । अ-
 होक्लिद्यतहपत्याणपत्वाइमयं (ति) अथः अधोगती, अ-
 चिच्छपुच्छाणां अमुत्तितवाच्छानां, यत् प्रस्थानं यात्रा, तत्र प्र-
 स्तान्ती प्रस्ताविका प्रवर्तिका मनिर्दुष्टिर्पस्मिस्तथा । अर्का-
 तिकरणमनर्थम्; एते व्यक्ते । तथा छिद्रं प्रवशाहारम्, अन्तर-
 मयसः, विपुरमपायः, व्यसनं राजादिदत्तापः, एतेषां
 मार्गणम्; उत्सवेषु मत्तानां च प्रमत्तानां च प्रसुत्तानां च वञ्चनं
 च प्रतारणम्, आक्षेपणं च विचय्यप्रताऽऽस्मिदन्तम्, शान्तं च
 मारणम्, इति द्रव्यः । तत्र एतदन्तर एतन्नशोऽनिभृताऽनुप-
 शान्तः परिणामो यस्यासीत् छिद्रान्तगविपुरव्यसनमार्गान्त-
 वममप्रमत्तप्रसुत्तान्शान्तोपशान्तोपशान्तपरान्तगपरिणामः । स
 वासी तस्करजनः, तस्य बहुमतं यत्तथा । भूयनाभनेरं त्विदम-
 भं पञ्चने- " जिहविसमाययोग्यादि " जिहविसमायणकं च तित्थे
 जिहविसमयोः संबन्धादे पापमित्यर्थः । अन्यथाऽऽहन्त्यायं
 प्रायः कर्तुमशक्यमिति भावः अनिभृत्परिणामसंज्ञितं तस्कर-
 जनबहुमने चेति । अकरुणं निर्दय, राजपुत्ररक्षितम्, तैर्निवारि-
 त्तमित्यर्थः । सदा साधुगृहणीयं, प्रतीतम् । प्रियजनमिज्जतजानं
 नेदं विवोजनं विप्रार्ति विप्रियं करोति यत्तथा । रागद्वेषबहु-
 लं, प्रतीतम् । पुनश्च पुनरपि (उणुर (ति) जपुणुणं प्रापुणुणं
 स्मर्यां जनमकयुक्तो यः संश्रामो रणुः स उणुरसमरसंगामः,
 स च क्रूरं भोत्यापलायने, कौलिकहृदयं रादिकं, " हर-
 रनिकलहः । यथशानुदायः, एतेषां करणं कारणं यत्तथा ।
 दुर्गेतिविनिपातवञ्चनं, प्रतीतम् । अयं संसारं, पुनर्भवात् पुनर-
 त्पादानं करोतीत्यर्थं शालं यत्तथा । चिरं परिव्रितम्, प्रमुग-
 मव्युच्छिन्नतयाऽऽनुत्तं, इति वृष्टवसानं विधाकाणक्त्वात्
 तृतीयमधमद्वारं पापोपाय इति

(१) अथ यथामेवनिधातुमाह-

तत्स य नामाणि गोणाए ह्ति तौसे । जंहा-चोरिकं
 १ परहदं २ अदत्तं ३ कुरिकं ४ परस्ताभो ५ असंभो
 ६ परधम्मि मेहं ७ सोलिका ८ तकरत्तयं ९ ति य
 ऊबहारं १० इत्यल्लुत्तणं ११ पावकम्मकराणं १२ ते-
 णिको १३ हरणविण्णसो १४ आदियया १५ सुंणपा
 पणायं १६ अप्पवमो १७ आदिको १८ अन्तेवो १९

कसेवो २० विकसेवो २? कृत्वा २२ कुसमसं । य ३ कंसा
 २४ लालाप्यपरशया २५ (अससयाव) बसपं २६ इच्छा
 मुच्छा य २७ तलहा गेही य २८ नियदकर्म २९ अबरो-
 च्छा चि विय ३० । तस्स एयाणि एवमादिणि नामधेयाणि
 हुंति तानि अदिश्यादाणस्त पावकक्षिकसुसकम्पवदुसस्त
 अणेगां ।

"तस्सेत्यादि" सुगमया तद्यथेत्युपदर्शयार्थः (चोरिकं ति) चोर-
 षं चोरिका, कैव वैतिक्यम् १, परस्मात् सकाशात् हुतं परहुतम्
 २, अक्षयम्-अवियार्थम् ३, (चुरिकं ति) चुरं चिचं, चुरं वा
 पादजनां येषामस्ति ते चुरिणस्तैः हुतमनुष्ठितं यत्तद्यथा । क्वचित्तु
 "कुरुं कुरुमिति" इत्येते । तत्र कुरुण्टुकाः काकटुकबीजप्रयाया
 अर्थाः इत्यः सत्पुष्पाणामिति ४, परलभः परलभः परलभः ५,
 अस्सयम् ६, परधने घृत्तिः ७, (लौकिकं चि) लौकिकम् ८, तस्कर-
 न्यामिति ९, अपहारः १०, (इत्यलसत्तं ति) परधनहरणकुर्वन्तो
 इहोने यस्यास्ति स हस्तस्तः, नजोवो हस्तलस्यम् । पाठास्तैरेण-
 "इस्तस्यस्युपामिति" ११, पापकर्मकरणं १२, (तेणिकं चि) तैरेण-
 कलेयम् १३, हरणेन भोग्येन विप्रणशः परद्वयस्य, हरणं
 च तद् विप्रणशः १४, (आदिशेष ति) आदानं, परधनस्येति
 गम्यते १५, ज्ञेयेन अत्रच्येदनें धनानां द्रव्याणां, परस्येति ग-
 म्यते १६, अत्रययकारणवशादप्रत्ययः १७, अवधीनं परेशामि-
 त्यवधीनः १८, भाक्षेपः, परद्वयस्येति गम्यते १९, ज्ञेयः परद-
 स्ताद् द्रव्यस्य प्रणाम २०, एवं विक्रयेऽपि २१, कृत्वा तुला-
 दीनामन्यथात्वेन २२, कुलमयी वा कुलमालिग्येहतिरिति ह्यथा
 २३, काष्ठेका, परद्वय इति गम्यते २४, (आप्यणपत्यण चि)
 लालपनस्य गार्हिनलालपनस्य प्राधेनेव प्राधनां लालपनमार्थानां,
 श्रीयं हि कुर्वन् गार्हिनलपनानि तदपलापक्याणि, श्विनवचनरूपा-
 णि वा प्राधेयति च, तत्र हि कृते तावद्वयं धकस्यानि प्रयन्ती-
 ति भावः २५, व्यवसं व्यसन्नेतुत्वात् । पाठास्तैरेण-"असा-
 सनाय वस्यं" आशंसनाय विनादाय व्यसन्नेमिति २६,
 प्रच्छा च परधनं प्रत्यभिलाषा, मूच्छां तत्रैव गाढानिच्छकृत्वा,
 तदनुकृत्वाद्दत्तप्रदशस्येति इच्छा मूच्छां ननुच्यते २७, तु-
 ष्या च प्रासद्वयस्याव्ययत्वात्, शुद्धिआगतस्य प्रातिपत्त्या,
 तत्कृतुं काश्चादादानमिति तुष्या शुद्धिर्भावयत इति २८,
 निहन्तेर्भायायाः कर्म निहृत्कर्म २९, अविद्यमानानि परे-
 शाणां चि उच्यतेत्याद्यत्र तदपरोक्षम्, अविद्यमानस्यैः । इतिः
 रूपप्रदर्शनं, अपिचेति समुच्चये ३० । इह च कानिचित्पदानि
 सुगमत्वात्क व्याख्याताभिः । (तस्स ति) यस्य स्वयं भावार्थितं
 तस्मात्सादानस्येति संबन्धः । यताम्यनन्तोलोचनानि त्रिश्रुयति
 भोगः । व्यमार्थिकानि पंचमकाराणि व्याज्येकानि ति सम्बन्धः ।
 अनेकानि ति द्विवच इत्येते । नामधेयानि नामानि जवन्ति । किं
 भूतस्य अद्वैतादानस्य १, पापमपुण्यकर्मरूपेण कलिना च युजेन
 कलुषाणि मलीमसानि यानि क्रमाणि मित्रकांटादिव्यापाररूपा-
 णि, वैभूतं प्रचुरं यस्मान्नि वा बहुलानि बहुलि यत्र तत्तथा, तस्य ।

(३) अथ येऽत्रसादानं कुर्वन्ति तागाह—

तं पुण करेति चोरियं तस्करा परद्वयहरा जेषा कपकरणस-
 ष्टकससा साहसिया ह्युस्तसा अतिमहच्छलोजगत्याद्-
 र आर्वालाका य मिक्षिया अहिमरा अणभञ्जका जगसंघि-
 या रायकुञ्जरी य विसयनिच्छासकवक्त्रा उदहकाम-

पायकपुरयापकपथयाकथादीवकित्थजेया कहुद्वयसं-
 पत्रया लूकया संवरकसत्वं।चोरपुरितचोरसंक्षिप्या य मं-
 त्रिजेदका परशयहरणलोभायद्द्वारअस्सेवी इकारकानि-
 म्मरगगुदचोरमोचोरअसचोरकदासिचोरा य एकचोरा य
 ओकृष्टकसंपदायकओठिफसत्यपायकविलकोलीकारका य
 निग्गाहविष्णुपुंगवा बट्टिनिहतेणिकृद्वारखुन्दी, एते अथं य
 एवमादी परस्स दन्वाहे जे अविशया ॥

विपुलबलपरिगहा य बहुवो रायाणां परधनमि गिच्छा
 मए दव्ये असंतुष्टा परविसेप अहिद्वृणति मुच्छा परधनस्य
 कजे, चउरंगमचलसमग्गा निच्छिबवरजोहुण्टस्यथा
 य अहमहमिति दपिएहिं सेनेहिं संपरिखुका पठमसगकमू-
 ष्चकसागरमरुतबुद्वादिर्हि अणीएहिं उच्छरता आभयुय
 हरंति परधणां । अवरं रलीसलच्छलनत्वा संगमं अति-
 वयंति, सयणच्छबच्छपरिहरताभियचिंधपदमहिद्याऽऽ-
 उहपहरणा मादिवरम्म्युंभिया आविच्छालिका कवयकं-
 दया उरिसमुहबदकंउतोणा, पाइयवरफलकावियपह-
 करसरजसवरचाकरकराचियनुसितसरविसवककरकमु-
 यंतयणचंरुवेगचारनिवायमग्गे अणेगप्रथुंमदलगसंधि-
 तउच्छ्रियमनिकिणगवापकरगहियसेडगानिम्यमनिक्कल-
 म्गपहरंत कुंतोतोरचकमया परमुसुललोगसुललउमधि—
 षिपालनस्यषट्टिमचमधेद्वयमोहिदियमोरवरफक्षिहेजंनप-
 स्वरउदणतोणकुवेपीपीडाकालिए इलीपहरणमिक्षिभि-
 लितिसिपंतविजुज्जलविरचितसमपहनहत्ते फुकुपहर-
 ये महारणसंभेविरत्रत्परपररुपहहादयनिनायगंभीरण-
 दितपक्कुभियविपुलयोसे इयगयरजोहतिरियसतिरिय-
 युक्ततमंभकारबहुसे कायरननयणद्वियथाउलकरे विलु-
 लियकडवरमउमकिरिचकोमडोहुदायाऽऽभोवियपकव-
 दामउच्छिषयपवेजवंतिवाचपरचंततद्वचंउभकारांयं हि इय-
 हेसियहतिरिगुलगुलाः परद्वयपणयाइपपाः कहरहराइयअ-
 फोदियसिहेनायच्छिषियविपुहुकुडकंउकमपजंमिगविजए
 सयरापहसंतसंतककसकरवे अमुणियययणरुहजंमिदस-
 षाधरोहगाददसप्यहारकरणुज्यकरो अमरिसवस. तन्वर-
 चानिहारितऽच्छिचेरिदिकुद्वेधियविवलीकुडिभगुहिक-
 यमसासे वषपरिणयनरसहसविक्रमविषंजियलो वमंतु-
 रंवरहपहावियसमरभदावादिपच्छेयसाधवपहारसाधिस-
 भूरसवियपाहुण्यललुक्कट्टहासपुक्तंनोसवदुसे कलक-
 ल्गाफलफलगावरशगोद्वियगयवरपर्यंतदियचमल्लपरां-
 प्यपसमगुच्छमविवयविसतत्तरासिरोसुतुरियथअजिउत्प-
 हंततियणकरिकरविमियकरो अथइद्विपुच्छजिषया-
 शिषयगलिययहियकपयकर्मपाकेसल्लहो कुदिदलि-

यगच्छितनिज्जेलितंतकुरफुरंतविगममममहयविगयगाढदिस-
 पहराहृष्टिभितरुतंतविज्जलविनायककुण्डे दुषजोहजमततु-
 रगउदाभमचकुंनरपरिसंक्षिपजणत्थिम्मुक्यत्रणदयथ—
 मारहृषरनहसिरकरिकलेवराकियणपादेषाहृणविकिन्ना-
 न्नरखजुमिजागे नम्बतकंभपठरे भयंकरवायसपरिलिच-
 गिष्कभेदलभमंतडांरडसकारगंभरे,बनुदुभविकंपितव्व पक्-
 कत्तपिउत्तर्ण परमकवीहृष्टांमं दुषवसतरं अजिवादि-
 ति संग्मासंककं पणपणमहंता, अचरे पाइकचोरसंया
 सेणावदचोरचंदपागहिका य अचदिसेउम्यवासो। काहाह-
 रितरत्तपितसुक्किअणेगसयचिपपट्वंभर परविसए अभि-
 हृष्टांति सुक्कां वणस कजे,रयणागरसागरं च उम्मीसहस्स-
 मालाऽऽकुलविगपगतकज्ञतकलितं पातासकलससह-
 स्सवायवसवेगससिलउष्कम्पमाणदगरपरयंरडकारं वरफेय-
 पवरभवसपुल्लपुल्लसुडियाहृष्टांमं मारुयविकसुञ्जभाणपा-
 णियजलमालुपलहृष्टियं तं पि य समंतो वसुजियसुलि-
 तसोऽनुभमाणपक्कसियचलियविपुलजलचकवालमहान-
 दीविगतुरियआपूरमाणा गभीरविपुलआवचचंचलजमयाण-
 शुपणमाअब्भसंतपषोणियंतपाणियपधावितरफरुसपयंवा-
 जलियससिसफुटंतवीचिकडोसंतकुलं महामगरमच्छकच-
 भोहारगहृष्टिमिसुसमारसावयसमाहत्तसुष्कायमाणयपूरयो-
 रपउरं कायरजणदिययकंणं घोरमारसंतं महन्नयं भ-
 यंकरं पतिजयं उतामणं अणोरपरं अगासं चैव निरवज्ञं
 उपाइयपवणपणियणोष्ठिययववरुवितरंगदरियअतिवेगच-
 क्सुपहमेच्छरंतं कथइ गंभीररत्तलगजिययुंजियनिग्याय-
 रुयनिवतिसुदीहीहारिदूरसुवंतंजीरखुगुगंतिमई पि-
 पदहंमंतजक्करक्कमकहंरुपिसायरसियतज्जायउवमग्ग —
 सहस्ससंतकुलं वहुपाइयत्तयं विरचितचलिदोमपूउवचारदि-
 हारहृषरअच्छाकराणपयतजोरापयचरियं परिंयतजुंजका-
 सक्कापोवमं दूरंतमहानइवइमहज्जांमदरिसिणज्जं वुरणुचं
 विसमपवेसं दुक्कुषारं कुरामयं लवणससिलपुणं
 अतिसासियससुच्छिययोगिं हृत्पत्तरेकेहिं बाहणेहिं अतिवइ-
 चा समुहमज्जे हृष्टांति, गंणु जणस्स पोचे परद-
 व्वहरा नरा निरखुंका, निरवेक्खा गामागरनगरसे-
 इक्कवदमंरदपोहपट्टासासमभिगमजणवयं ते य धणस-
 पियेहं हंति, धिरदियपच्छिअब्भज्जा वंदिगह गोसाहा य
 मेणइंति,दाक्कमतिनिक्किवा णियं हंति छिंदिति गेहसंधि-
 निक्खिवाणिय य हंति,पणधणदण्डआपाणिय जणवयकु-
 लाणं निगियमदी परदव्वहिं जे अबिरया, तदेव केरं
 अदिखादायं गवेस्माणा कासाकालेसु संचरता चित्तग-
 पज्जलियसरसदरदहृष्टिपक्केवेवरे कहरिसिषवदणअकस्य-
 खादियपीतमहणियजमतजयकरं जंबुयाविसिक्खियंतं पूपकय-

घोरमदे वेयालुडिपथिष्कहहठंतपहासितवीरण—
 निरनिरामे अतिनिचउडुभिभंगंभदरिसिणज्जे सुसासे-
 वणे सुधपरलेणअंतरावणगिरिकंदरविसमसावयसमाकुल्लसु
 वसाहृष्टि किलिस्संता सीतातवमांसियसरीरा दहृच्छविनि-
 रयातिरियजवसंककदुक्कसंजांरवदपिज्जाणिय पावकम्माश
 संचिणंता तुल्लजत्तवणपाणभोयणपिवासाया कुंठिया
 किंज्ञंता मंमकुणिमकंदमूले जं किंचि कयाहारा उच्चिग्ग-
 उणुया असरणा अरुवीवासं उवेति, बाससतसंकणीयं
 अयसकरा तकरा जयंकरा कस्स ह्रामांति अउज दव्वं इति
 समापंतं करेति, गुज्जं बहुयस्स जणस्स कज्जकराणेषु
 विग्घकरा मत्तपयत्तपुत्तवीसत्तव्यिद्विघाती वणणम्भुदपसु
 हरणुष्कुत्ती विग्घव कहरिमट्टिया परिततिनररत्तज्जायय-
 तिक्कंता सज्जणजणुदुग्गंठिया सकम्मेहिं पावकम्मकरी अ-
 सुजपरिणया य दुक्कभागी निचचाउलदुहमंतिव्नुउमणा इह
 लोके चैव किलिस्संता परदव्वहरा नरा वसणसयमावसा।

(तं पुण्येति) तत् पुनः कुर्वन्ति चौर्यं तस्कराः, तदेव चौर्यं कुर्वन्तीरयेथेयंशोभाः तस्कराः परद्रव्यहराः, प्रतीति, उक्ता निपुणाः, कृतकरणा बहुशो विदितचौरानुष्ठानाः, ते च लब्धल-
 काश्च अवसरहाः कृतकरणाश्चक्षुःकाः, सादृशिकाः धैर्यवन्तः, लघुस्यकाश्च तुच्छात्मानाः, अतिमदेव्याश्च शोत्रप्रस्ताश्रिते समासः।
 [दहरं ओवीश्रया य कि] दहरं पण गतददृष्टेण, वचनाशोनेत्यर्थः।
 अयमोदयन्ति गोपायन्त्यामस्वकपं पं विलज्जीकुर्वन्ति य ते
 दहरं परभौशिकाः, मुणन्ति हि शताम्भानः-तथाविधं वचनाकृ-
 पप्रकटितस्वभावं मुग्धजनमिति । अथवा-दहरं गोपवीर्यन्ति जातमन्वाथं कुर्वन्तीति दहरं गोपवीरिकाः, ते च शुक्ति कुर्वन्ती-
 ति शुक्तिकाः । अभिमुखाः परं मारयन्ति ये तऽजिमराः । श्रुणं
 देवं हृदयं भञ्जन्ति न ददति ये ते श्रुणज्जकाः । भन्नाः
 शोपिताः स्त्रियः विप्रतिपत्ती संस्था यैस्ते भन्सन्धिकः । नतः
 पदद्वयस्य कर्मधारयः राजउत्तं कोशहरणाधिकं कुर्वन्ति ये
 ते तथा । विषयान्मण्डइसात् (निच्छुद्धति) निर्द्वारिता ये ते,
 तथा शोकबाधा जनबादिकृताः, ततः कर्मधारयः । सद्कोहो-
 काश्च घातकाः, उहंकाकाश्च वा अठव्यादिवहकाः, प्राग्घातका-
 श्च पुराणकाश्च पथि धातकाश्च शुद्धपिप्रदीपनकरकाः तीर्थ-
 भेदाश्च तीर्थमोचका इति द्वन्द्वः । लघुहस्तेन हस्तस्राघवेन संग्रभु-
 का ये ते । तथा (ज्यकरे पि) हृत्कराः, कापमरकाः शुक्क-
 पाशाः, कोह्याला वा, स्थियाः सकाशात् स्वभियं कावयन्ति,
 कीरुपा वा ये चौरास्ते श्रीचौराः, अर्थात् चौराश्चकाराः इत्यर्थः । सन्ध-
 य्कुटाः क्षात्रभानकाः, अर्थात् द्वन्द्वः । ततस्त्वे च अग्निभेदका
 इति वक्तव्यम् । परधने हरन्ति ये ते तथा परधमद्वारिणः । शो-
 मान्यधरन्ति ये ते शोमाधरकाः । निःशुक्तया भवेन परप्रणा-
 न्विनाशैश्च मुष्णन्ति ये ते शोमावहरा इत्यर्थः । आक्षिपन्ति
 वशीकरणादिरा ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः । अर्थात् द्व-
 न्द्वः । [हरकरा य कि] हजेन कुर्वन्ति ये ते हृत्कारकाः । पानान्त-
 रेण—परधनहारतादाहराचक्षुर्वहिरुकारक पि” सर्वेऽप्ये-
 ते चौरविशेषाः । निरुत्तरं मर्ययन्ति ये ते शिमेहेकाः । शुचीचौराः
 प्रच्छकचौराः, गावीराः, अश्वचोरकाः, हासीबीरश्च प्रतीताः।

पतेषो इन्द्रः । अतस्ते ए एकचौरा ये एकाकिनः सन्तो हरन्ती-
ति । [क्रोक्वृत्ति] अपकर्षका ये मेदावृ प्रहणं निष्कासय-
न्ति चौरायाकायै परपुद्गाभि मोषयन्ति, चौरपुत्रुवहा वा । संप्र-
धाकाभोरुषाणं जलकादि प्रयच्छन्ति । (क्रोक्विपत्ति) अत्र-
विद्यमानाभोरविशेषा एव । सार्येवात्काः । सार्येवात् । विलकोली-
कारकाः परव्यामोहवाय विषसर्वरवचनवादिनो, विषसर्वरवच-
नकारिणो वा । पतेषां इन्द्रः । ते च निप्रहाइन्द्राणामिन्द्रा रा-
जादिवा पुद्गाता इत्यर्थः । ते चैते विप्रसोपकाभेति समासः ।
बहुविधेन (तेषिष्क वि) स्तेन्येन इत्येव बुद्धियैवं ते- 'बहुविह-
तेषिष्कहरणबुद्धी' । पात्रान्तरेण- (बहुविधतहाऽवहरणबुद्धि-
ति) बहुविधा तथा तेन प्रकारेणापइत्ये बुद्धियैवं ते तथा ।
एते कर्कशास्तेः, कर्षाव-परस्य कर्षाये अवित्रता प्रनिवृत्ताः ॥
इति ये अत्रसादानं कुर्वन्ति ते उक्ताः ॥

अधुना त एव यथा तत् कुर्वन्ति तदुच्यते-विपुलं बलं सा-
मर्थ्ये परिग्रहश्च परिचारा येषां ते तथा । ते च बहवो रा-
जानः पराधने युक्ताः । इदमर्थिकं वाचनात्परे परत्रयम् । तथा
सकं इत्ये असंतुष्टाः परविषयान् परदेशानभिप्रन्ति सुखाः,
धनस्य हन इत्यर्थः । अत्रमिरस्त्रैर्विक्रमसाते वा यद्दसै र्थ-
न तेन समग्रा युक्ता ये ते तथा । निजिर्ज्ञानैश्चयवज्जिवरयोधिः
स्य इत्यसंभ्रामस्त्रश्च संजाता येषां ते तथा, त च ते
अहमित्येवं दीपताश्च इपवन्त इति समासः । तैरेवंविधैः भूत्यैः
पदातिभिः । काचसैत्यैरिति पठन्ते । संपरिवृताः समासाः, तथा
पद्मशास्त्र्याचकसागरागदम्बुशरैः । इह ब्यूहशब्दः प्र-
त्येक संवचनः । तत्र पद्मकारो ब्यूहः पद्मशब्दः, परवानामभि-
भवनीयसैन्यविन्यासविशेषः । एवमन्येऽपि पद्मः । एते रवि-
तानि यानि तानि तथा तैः कैः, अनैः सैन्यैः । अथवा-पद्मा-
दिब्यूहा आदिषुषां सोम्युष्कायूहादीनां ते तथा । तैरुपकल्पितैः,
कैः, अनैकैः । (उच्छुरंत ति) अथएवन्त आच्छाद्यन्तः, परा-
नीकानिति गम्यम् । अग्निभूय (जित्वा, तान्येव हरन्ति, परध-
नानोति व्यकम् । अगरे सैन्यांतेभ्यो नृपेभ्योऽन्ये स्वयं यो-
द्धारो राजानो रणशरीरं संग्रामशिरसि प्रकराण्ये लघ्वं लक्ष्यं
यस्ते तथा । ' संगामं ति ' द्वितीया सप्तम्यर्थेनिकृत्वा संग्रामे
रणे अतिपतन्ति स्वयमेव प्रविशन्ति, न सैन्यमेव यो-
धयन्ति । किभूताः । सखदाः सखदादिनां कृतसखाहाः, बहः प-
रिकाः कवचैः यैस्ते तथा । उपादितानां गात्रबद्धश्चिह्नपदो मे-
प्रादिचिचिवात्मको मस्तके यैस्ते तथा । शूरीतान्यायुधानि श-
स्त्राणि प्रहरानि यैस्ते तथा । अथवा-आयुप्रहरणानां स-
व्यालेभ्येन कृतो विशेषः ततः सखदादीनां कर्मधारयः । पूर्वा-
कमेव विशेषणं प्रपञ्चपद्माह- 'आर्दी' तनुबाणविशेषः, तेन बर-
वर्मा वा च प्रधानतनुबाणविशेषेणैव युज्यताः प्रेरिता ये ते
मादीवरवर्मेयुज्यताः । पाठान्तरेण- (बम्मदिवम्मगुडिता)
तत्र ' गुडा ' तनुबाणविशेष एव; अन्यत् तथैव । आविद्धा परि-
रिता आलिका साहकम्बुको यैस्ते तथा । कचवेन तनुबाण-
विशेषेणैव कपटकिताः कृतकवचा ये ते तथा । उरसा बलसा
सह शिरामुक्ता ऊर्ध्वमुक्ता बद्धा यन्निताः कपटे गले तोषा-
स्त्रणीरा शरधयो यैस्ते उरःशिरौ बुरखश्चकवततोलाः ।
तथा [पातिय सति] हस्तपाशितानि हस्तकलाणि प्रधानक-
लफानि यैस्ते तथा । तेषां सत्को रचितो रणोचितवचनाधिरोपे-
ण परप्रवृत्तहरणप्रहारप्रतिघाताय कृतः [पृहक र्ति] सयु-

वाधो यैस्ते तथा । ततः पूर्वपदेन सह कर्मधारयः । अतस्तेः
सरमसैः सहयैः अरवापकैः निवृण्णकोद्वहस्यैः, धातुर्कैरि-
त्यर्थः । ये करामित्याः कराहृताः सुनिश्चिता अतिनिश्चिताः
शरा बाणास्तेषां यो वर्षवदकरको बुद्धिचित्तारो (सुयंत सि)
मुच्यमानः स एव सस्य वचस्य अइवंगानां धारायां नि-
पातः तस्य मार्गो यः स तथा । तत्र ' मते सि ' पाठान्तरं च । तत्र
मत्प्रत्ययान्तत्वात्पातवति संग्रामेऽतिपतन्तीति प्रकम्पः ।
तथा अनेकानि धनुषि च मण्डलाप्राणिव च अइविशेषाः, तथा
सन्धिताः लेपणयोर्धर्मा उच्यन्ति उर्द्ध्वगताः शूचविशेषाः, नि-
शूलरुपाः, कनकाश्च बाणाः, तथा चाभकरपुद्गीतानि केट-
कानि च फलकानि, निर्मला निकृताः अङ्गाश्च उज्ज्वलवि-
कोशीकृनकरवालाः । तथा वरपन्ति प्रहाप्रवृत्तानि कुन्तानि
च शूकविशेषाः, तोमराश्च बाणविशेषाः, बकाणिव च भ्रारानि,
गदाश्च दण्डविशेषाः, परशुश्च कुठाराः, मुशलानि च प्रती-
तानि, लाङ्कलानि च हस्तानि, शूकानि च, सयुद्धाश्च प्रतीताः । नि-
न्दिपालाश्च शूकविशेषाः । शबलाश्च भङ्गाः । पट्टिशास्त्राश्च-
विशेषाः, चर्मेषाश्च अर्धमण्डपावालाः, घनाश्च युद्धविशेषाः, मि-
ष्टिकाश्च मुष्टिप्रमाणापावालाः, मुद्राश्च प्रतीताः, बरपरिघाश्च
प्रवलांगलाः, यन्त्रप्रस्ताश्च गोफणादिपावालाः, दुषणाश्च इ-
कराः, तोणाश्च शरधयः, कुषेयश्च रुदिगम्याः, पीठानि च
आसनानीतिर्निष्कः । एभिः प्रतीताप्रतीतैः प्रहरणविशेषैः कलि-
तो युक्तो यः स तथा । तत्र इतीभिः करवालाविशेषैः प्रहरैश्च
(मिलिमिश्रित सि) चिकचिकारयाभिः (मिलंत सि) क्लिप्य-
माणैः विद्यतः कृष्णप्रभाया उज्ज्वलाया निर्मलाया विरचिता वि-
हिता समा स्फुटं प्रमा दीत्येव तद तथा । तदेवंविधं न-
भस्तलं यत्र स तथा ; तत्र संग्रामे तथा स्फुटप्रहरणे स्फुटानि
ध्वनानि प्रहरणानि यत्र स तथा तत्र संग्रामे, तथा मद्दाराण्यै-
संबन्धीनि यानि शूकानि, नेरी च दुन्दुभिः, वरतूर्ये च लोकप्रत्ये-
स्य, तेषां प्रसुराणां पद्भ्यां स्फुटप्रतीतां पट्टानां च पट्टकानामा-
हतानामास्फालितानां निनादेन ध्वनिना गम्भीरेण बहलेन ये न-
न्दिताः हृष्टाः, अमुभिताश्च प्रीतास्तेषां विपुत्रो विस्तोर्लो घोषो
यत्र स तथा तत्र । इयज्जत्यर्थेऽर्थः सकाशात् स्वरितं शी-
घ्रं प्रसृतं प्रसरमुपगतं यद्दजो धूलौ तदेवोद्धतमन्वका-
रमतिदायं प्रबलं तमिच्छं तेन बहुलो यः स तथा तत्र, तथा का-
तरनानां नयनयोर्द्वयस्य च (वाश्रि सति) व्याकुलत्वं क्लानं
करोतीत्येवंशीलो यः स तथा तत्र । विलुङ्गितानि शि-
थिलत्वा च अङ्गानि यान्मुक्तवरणयुक्तप्रवरानि मुकुटानि
मस्तकाभरणविशेषानि किरीटानि च सान्येव शिखरभयोपेता-
नि, कुण्डलानि च कर्णाभरणानि, उदुद्गमानि च नक्तप्रमासाभि-
धानान्रणविशेषाः । तथाभाटयोः स्फाता सा विघ्नं यत्र स
विलुलितोक्तवरमुकुटकिरीटकुण्डलोद्दुग्माटोपति इति । तथा
प्रकटा याः पताकाः, चञ्चिताश्च ऊर्ध्वकिना ये गजवाक्यादिव्यजाः,
वैजयन्त्यश्च विजयसुचिकाः पताका एव चाभरानि चरन्ति उ-
प्राणिव च तेषां सन्धिश्च यद्दधकारं तेन गम्भीरोऽलक्ष्यमर्थो
यः स तथा कर्मधारयः, तत्सन्धः हवानां यद्देवितं शब्दविशे-
षः, हस्तानां यद् गुग्गुणायतिं शब्दविशेष एव, तथा रथानां यद्
(वणध्वजाय सि) वणधणेत्येवंकपस्य शब्दस्य करणम्, तथा (पा-
द्वह सि) पद्मानीं यद् (हरहराद्य सि) हरहरतिशब्द-
कर्म, आस्फोटितं च कारस्फोटकं सिहनाश्च सिहस्येव
शब्दकरणम्, (मिलिय सि) सगटितं सीम्कारकरणम्, विपुत्रं च

विक्रययोगकरणे, उत्कृष्ट उतकृष्टनादः । आनन्दमहाश्वनिरित्यर्थः ।
 कणउत्कृष्टताम्बुध, तथाविधो गान्धर्वः, त एव भीमराजितं
 मेघध्वनिवैद्यं स तथा तत्र । एकल्लेया हस्तान् कृपतां वा कनि-
 लकृपानो यत्र यत्र स तथा तत्र । तथा अशुनितेनैतदशुभ्रकृतेन व-
 द्मेनय ये रीशू प्रीयमाणस्ते तथा । तथा जौर्मनं यथा जवतीत्येवं दश-
 नैरपराष्टो गाढं दृष्टी येः स तथा । ततः कर्मधारयः ततस्तेषां जदानां
 साहाय्येण सुसु प्रवृत्तकरणे उपनाः प्रयत्नप्रवृत्ताः करा यत्र स
 तथा तत्र । तथा अमर्षवशेन कोपवशेन भीममन्यर्थं रक्त लाहिते
 निवृत्तिरिते विस्फारिते, क्षान्तिं खिन्नाये यत्र स तथा । वैरप्रधाना
 दधिर्वैरपाटः, नक्षत्रैर्दृष्टया वैरवृद्धे वैरजायने ये क्रुद्धाभ-
 क्षिन्नाश्च ते । शिबर्षी कुटिला वलिषया वेका झुकुटिनंयनल-
 हाव्यकारविशेषकृता ललाटे यत्र स तथा तत्र । तथा वध-
 परिधानानां भारणः स्वसाययतान् नरसहस्राणां विक्रमेण पुन-
 षाकारविशेषेण विवृण्मिन्ते विस्फुरितं बलं शरीरसामर्थ्यं यत्र
 स तथा तत्र । तथा बहुगनुरक्षः रथेभ्यः प्रधापिता वेगेन प्रवृत्ता
 ये समरमदाः संग्रामयोश्चास्ते तथा । आपतिता योऽनुमुयुनाः,
 त्रैका दृक्ता लामभवहारेण दृक्तामप्युक्त्यानेन साधिता निर्मिता
 यैस्ते तथा (समुद्रसन्धिष्ये स्ये) समुद्रिन्ते हर्षातिरेकादुद्धाङ्कितं
 बाहुयुगलं यत्र स तथा, तथाया भवतीत्येवं मुक्तादृहात्मानाः कृत-
 महदाहासध्वनयः । (पुष्कन्ते स्ये) पुष्कर्वनेन पुष्कारं कुर्वाणाः,
 ततः कर्मधारयः । ततस्तेषां यो बालः कलकशः स बहुश्रो
 यत्र स तथा तत्र । तथा (फलगावरणगतिष्ये स्ये) स्फाराश्च
 फलकानि च आशरणानि च सफादा गृहीतानि यैस्ते यथा
 (शयवपरपथेत् स्ये) गजवग्नं रिपुमनङ्गजान् प्राशयेयमाना
 हनुमानोऽथो वाऽभिलक्षमाणस्तत्र शकास्त्रेणाह्वा वा ये ते त-
 था । ततः कर्मधारयः । ततस्ते च ते हतमट्टललाभ द्यनियो-
 च्छुद्रा इति समासः । ते च ते परस्परप्रलम्बाश्च, अन्येयं यो-
 कुमररक्षा इत्यर्थः । ते च ते युद्धयोर्योनाश्च योपनकलाविधान-
 गर्विताः, ते च ते विकीर्षितवरासिभिः निष्कपितेवरकरवात्रैः, रा-
 वेण कोपेन त्वरितं शीघ्रम्, अभिमुखमानिसुखेन प्रहरद्भिष्प्राः
 करिकरा यैस्ते तथा । ते चेति समासः । तेषां (विगिये स्ये)
 व्यकुमिताः क्षरितुताः करा यत्र स तथा तत्र । तथा (अयवदृ
 क्षि) अप्रविदास्मोभारदिना सम्पन्निदाः निशुचमिषाः स्फाटि-
 ताश्च श्वदारिता येः, तेषो यस्मिन्ने कश्चरं तेन कृतो नृमी
 यः कर्मस्तेन चिषिष्णुया विज्ञानाः पन्थानां यत्र स तथा
 तत्र । तथा कुक्षौ दारिताः कुक्षिरारिताः मालितं कश्चरं क्ष्वन्ति
 क्क्षन्ति वा नृमी लुण्ठिते, निम्बेलिनिानि कुक्षितो बहिर्दृष्टानि अ-
 न्तरा उदरमध्यावयवविशेषा येषां ते तथा । [फुरफुरताविवल
 स्ये] फुरफुरायमाणश्च विकलाश्च विरुक्तेन्द्रियवृत्तयो ये ते ।
 तथा मर्मणि हता मर्महानाः, विकृतो गाढो यत्र दक्षः प्रहरो येषां
 ते तथा । अत एव मूर्च्छितः सन्तो नृमी लुण्ठनः विह्वलाश्च नि-
 स्सहाङ्गाः ये ते तथा । तथा कुक्षिराशिरिदानानां कर्मधारयः ।
 ततस्तेषां विज्ञापः शब्दविशेषः करुणा दयाऽऽस्पृश्यं यत्र स तथा
 तत्र, तथा हता विनाशिता योषाः श्रवणाराहादयो येषां ते तथा ।
 तत्र ते वदहत्या संग्राममन्तरुग्माश्च वदाममसकुञ्जराश्च परि-
 शक्तिजनाश्च भीमजनाः (निम्बुक्षुद्रिभारिये स्ये) निम्बुलाः शिषाः
 केतवा मन्ना दक्षिता दधकराश्च यत्र स तथा । नष्टशिराभि-
 ष्टिममन्थकाः करिकलेवरेः दूनिशरं देराकाणां व्यासाः । पानित-
 मरुत्वा दधवन्तपुत्राः, विकीर्णमरणा विहिततद्भार्याः, रूमेभोगा

देशा यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः तत्र । तथा नृन्यति क-
 वन्थानि शिगोरदितकक्षेत्राणि प्रचुराणि यत्र स तथा । जयक-
 वायसानां (परिशिक्षणिक स्ये) परिशो बयाम्नामुद्धानां कर्माकर्त-
 वकवाले प्राम्थतः संकरतस्तस्य या ग्राह्या तया यद्वन्धकारं तेन ग-
 र्जनीरो यः स तथा । तत्र संग्रामे, श्वपरे राजानः परध्वंशकाः, भ-
 तितपन्तानि प्रकृतम् । अथ पूर्वोक्तमप्यायं संक्षिप्तरेण वाक्येनाह-
 वसवो देवाः, वसुधा च पृथिवी, विक्रमिता यैस्ते तथा । तत्र इव रा-
 जना इति प्रकृतः । प्रत्यक्षमिष साक्षाद्विष तद्वज्रयोगात् पितृव्येन
 जमशानं प्रत्यक्षापिपुनवम् (परमरुक्वोऽहसुगं ति) श्रत्यर्थद्वारुणं भ-
 यानकं दुष्यवेशतरं करप्रयुग्मशायं, सामान्यजनस्येति गन्धर्व्यं भ-
 तितपन्तं प्रविशन्ति संग्रामसंकटे संशामसगाहनं, परधनं परकृष्यं
 (महंत स्ये) इच्छन्त इति । तथा अपरे राजन्या अग्नये (पादकृ-
 रन्धेभ्यः) पदातिरुष्यशौरसमूहाः, तथा सेनापतयः किं स्वकपाः,
 चौरवृन्दप्रकषकाश्च, तत्रपक्षक इत्यर्थः । अष्टादिशो यानि दुर्गा-
 नि जलस्थद्वन्द्वयुक्ताणि तेषु वसन्ति ये स तथा । कालहारेतर-
 कपीतशुष्काणः, पञ्चवर्णा इति यावत् । क्रमेकशतसंख्याक्षिप-
 ट्वा बद्धा यैस्ते तथा । परविषयानभिष्मन्ति; क्षुधा इति व्यक्त्व ।
 धनस्य कार्यं धनकृते इत्यर्थः । तथा अर्थाकरभूतो यः सागरः,
 तथा नै चानिपत्यानिष्पत्ति, जनस्यापानानि त सम्बन्धः ।
 उर्मयो वीच्यवस्तस्तहस्राणां शालः पञ्चयस्नाभिर्गुहो यः स
 तथा । आक्रुला जराभानेन व्याकुलितस्त्रिषा य च तोयपाताः
 विगतजलशयनपाताः सांयाभिकाः (कलकशन्ते स्ये) कलक-
 लायमाना इल्लेभालं कुर्वाणस्तेः कश्चितो यः स तथा । अनेता-
 स्थायजलत्वमुक्तम् । अथवा-जामिहसहस्रमालानानिकुलोऽऽनि-
 व्याकुलो यः स तथा । तथा विगतयोऽपि गतसंस्वन्धनयोर्द्विभेदः
 कलकलं कुञ्जिः कश्चितो यः स तथा । ततः कर्मधारयः तथा
 तम् । तथा पाताश्राः पाताश्रकलशान्तेषां यानि सहस्राणि तेषां
 वशाङ्गेन यस्संश्लिष्टं जलविजयम् (उदस्यमाणं ति) जलपानानां
 तस्य यद्दकरजस्तेयोरुत्सन्देव रजोऽप्यकारं धूलीनाश्च यत्र स
 तथा तम् । वरः फेनो मिर्च्छीरः प्रचुरो धवशः (पुत्रे लुण्ठि स्ये) अन-
 वरते यः समुत्थितो जातः स पवाद्गुहोनां यत्र । वरफेन एव वा
 प्रचुरादिविशेषणोऽद्गुहोनां यत्र स तथा तम् । मारुन्ते विक्रान्त्य-
 माण पानीये यत्र स तथाः जलमार्शानां जलकल्लोत्राणां यत्र स
 समुहः (हृदिये स्ये) दाशो यत्र स तथा, ततः कर्मधार-
 योऽस्तप । अप्रियेति समुद्येय । तथा समन्तः सर्वेनः क्षुमिषवा-
 युग्मभूतमित्योऽकृलितं हृदितं तीरमुद्येय लुण्ठितं (शोषस्वभ्रमना-
 स्ये) महामन्थ्यादिभिर्भूतं व्याकुलं । क्रयमाणं, प्रस्फालितं नि-
 ष्यन्तयेतादिस्वक्षितं, चक्षितं स्वस्वजनगमनप्रपञ्चं, विपुले विस्ती-
 र्णं, जलचक्रवाले तोयमण्डलं यत्र स तथा । तथा महाशब्दविभे-
 द्वाऽऽदिभिन्नाजवैः स्वरितं यथा जवतीत्येवमाप्युयमाणो यः स
 तथा । मन्त्रीरा अन्नकषयान्ताः, विपुला विस्तीर्णश्च ये भास्वर्ण
 जलमणस्थानरूपान्तेषु चञ्चलं यथा भवतीत्येवं भ्रमन्ति
 संवरन्ति, सुप्यन्ति व्याकुलोऽनवन्ति, उषन्तेति उच्छलन्ति वा
 उच्छेदुस्त्वानि चक्षन्ति प्रत्यर्थनवृत्तानि याऽऽप्यतिनाति पानीया
 नि प्राप्यन्ते वा यत्र स तथा । अथवा जलचक्रवालानि नदीनां
 विशेषणमाप्युयमाणेति चाचक्षोनामिति । तथा यथाविता विना-
 नतयः स्वरपरया श्रानिकर्तुः प्रचाकाः रीडाः व्याकुलिनस-
 लिला विज्ञानितजनाः स्फुटन्तो विद्वान्मार्गा ये वीक्षितपाः
 कल्लोत्राः, ननु वायुरुपः कल्लोत्राः तेः सङ्गुलो यः स तथा । त-
 तः कर्मधारयोऽस्तस्यम् । तथा महामकरमन्थककच्छपाश्च (सहा-

र सि] जलजन्तुविशेषाः, ते च प्रादितिमिश्रमुमारावश्च ते । इन्द्रः ।
 तेषां समाहृताश्च परस्परणेपहनाः [समुद्रायमाण य सि]
 समुद्राकन्तश्च प्रहाराय समुत्पिष्टन्तो ये पुराः संघाः घोरा दौ-
 कात्ते च प्रचुरा यत्र स तथा तम् । कातनरद्वयकम्पमिति
 प्रतीतम् । घोरे रौद्रं यथा भवतीत्येवमारम्भेन शम्भारामानं, महाभ-
 यतीश्वंकार्यानि । [अगोरेपारं सि] अनर्वाक्यपारमिष महत्त्वा-
 दनर्वाक्यपारम, आकाशमिष निरालम्बम्, न हि तत्र पततद्भिः
 किञ्चिदालम्बनमवाप्यते इति भावः । औत्प्रातिकपवनेनोत्पा-
 तजनितायानुना [प्राययि सि] अस्यर्थः, येन [णोऽङ्गिय सि] नोदिताः
 प्रेरिता उपयुपरि निरन्तरं तरङ्गाः कङ्कोलास्ते, इत इव अति-
 वेगोऽतिक्रान्तः शेषवेगं यो वेगस्तेन, लुप्तवृत्तिकचचनदर्शना-
 त् । अणुःपथं दृष्टे मार्गे [मोक्षुर्दन्ते क्यश्च सि] कान्चिदेशे गम्भी-
 रं विधुलगत्यन्ते मधस्त्वय ध्वनिमुग्धितं च, गुञ्जाललणा-
 तोयं च निर्घातश्च गगने ध्वन्तरङ्कतो महाध्वनिः, गुरुकनि-
 पतितं च विधुदाविगुरुकद्रव्यनिपातजनिताध्वनियैश्च स तथा ।
 सुवीर्यानिर्हादी अहस्वमतिरवो [दूरसुचन्त सि] दूरं भूय-
 मणो गम्भीरो धुगाधुमित्येवकूपश्च शम्भो यत्र स तथा कर्म-
 धारयः । ततस्तम् । पथि मार्गे [रमन्त सि] रुग्धानाः संच-
 रिष्णुतां मार्गं स्वल्पयन्तां ये यस्मिन्सकृष्णायदृशियाश्च ध्व-
 न्तरविशेषाः; तेषां यत्रगर्जितं, उपसर्गसहस्राणि च । पाठा-
 न्तरेण- [रुसियत्तजायउवसमासहस्त सि] तत्र यकादयश्च
 रूप्यताः, तज्जातोपसर्गसहस्राणि, तैः सङ्कलो यः स तथा तम् ।
 बह्वनि च औत्प्रातिकानि उत्पाताद् भूताः प्राप्ता यः स तथा । वा-
 चनान्तरे-उपद्रवेणाम्भूतो यः स उपद्रवणाम्भूतः । ततः प्र-
 तिप्राप्त्याना कर्मधारयः । अतस्तम् । तथा विरचितो बलिना
 उपहारेण होमिनाम्रकारिकाया धूमन उपचारे देवतापूजा यै-
 स्ते तथा । दत्तं वितर्णो कथितं यत्र तत्तथा, तच्च तद्वचनाक-
 रणं च देवतापूजनं च तत्र प्रयत्ना ये ते तथा । योगेषु प्रब-
 धञ्चितव्यापारेषु प्रयत्ना ये ते तथा । ततो विरचितव्यादीना
 कर्मधारयः । अतस्तैः सांयात्रिकैरिति गम्यते । अरितः सेवि-
 तो यः स तथा तम् । पर्यन्तयुगस्य सकलयुगातिमयुगस्य यो-
 ऽन्यकालः ज्ञयकालस्तेन कल्पया कल्पनाया उपमा रौद्रत्या-
 घस्य स तथा । दुरस्ते दुत्तवसानं महानदीनां गङ्गादीनां
 जेतारासां पतिः प्रभुर्यैः स तथा । महाभीमो इत्यन्ते यः स
 तथा । कर्मधारयः । अतस्तम् । दुःखेनानुबन्धे सेव्यते यः स
 तथा । विपमप्रवेशे दुःख्येयो, दुःखोत्सारमिति च प्रतीतम् ।
 दुःखेनामोहस्य इति दुराधस्ये, सधचक्षुषिपूर्वमिति व्ययम् ।
 अस्तिताः कृष्णाः, सिताः सितपटाः, सधुच्छिन्ना उद्धीकृता येषु
 तान्यसितसितसमुच्छिन्नानि तैः; औत्प्रेयदृशेषु कृष्णा एव
 सितपटाः क्रियन्ते, दूराद्गुणलक्षणैरुत्तरित्वासेतुत्युक्तम् ।
 [हयपतेकेहि सि] सांयात्रिकयानप्राप्त्यैः सकाशाद्दक्षत-
 रैर्वेगवद्भिरित्यर्थः । बाहूनिः प्रथमैरुत्तरितस्य पूर्वोक्तविशेष-
 यं सागरं प्रविश्य समुद्रमप्ये प्रानि, गत्वा जनस्य सांया-
 त्रिकलोकाश्च, पाताम् यानप्राप्त्यै, परद्रम्यहरणे ये निरनु-
 कम्पा निःशुकास्ते तथा । वाचनान्तरे-दूराद्गुणलक्षणा नरा निर-
 नुकम्पाः [निरयेक सि] परलोकां प्रति निरयकाङ्क्षा निर-
 पेक्षाः प्राप्ते जनपदाभिः साक्षिण्यविशेषः; आक्रो लब्धयापु-
 त्यसिष्णाम्, शक्रः अक्रयतिशोकाः अन्तर्धुश्याकारः, कर्षतं
 कुनगरं, मण्डयं सर्वतोऽनासन्नसन्निवेशान्तरं, द्रोणेषु जल-
 स्थलप्रापेत्, पचनं जलपथयुक्तं, स्थलपथयुक्तं वा, रत्नभूमि-

रित्यन्तेः आश्रमस्तापस्यचिन्तयाः; निगमो ब्रह्मिजननिधासः,
 जनपदां देशः । इति इन्द्रः । अतस्तैश्च धनसमृद्धात् प्रान्ति । तथा
 खिरद्वयाः तत्राप्ये निष्कल्लविचाङ्गुललक्ष्माश्च ये ते तथा ।
 वन्दिप्रहरोमहाश्च सुवृन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा-शरणमतयः
 निष्कणा विप्रान्ति, निन्दन्ति गेहसन्धिप्रतिताम् । निक्षिप्तानि
 स्वस्थावनक्यानि हरति, धनधान्यद्वयजानाम् चतुर्धनस्य-
 प्रकारान् । केवाम् ? इत्याह-जनपदकुक्षानां लोकगृहाणां, निवृणम-
 तयः परस्य द्रव्याद्यैरविरताः, तथा । तथैव पूर्वोक्तकारणेण
 क्विद्वत्सादानमवतीर्णं क्वयं गवेषयन्तः काङ्क्षाकलयोः सञ्च-
 रणस्योन्वितायुचितरूपयोः सञ्चरन्तो भ्रमन्तः, (चियय सि)
 चित्तियु प्रतीतासु प्रज्वलितानि बहिर्गीतानि सरसानि इन्ध-
 नादियुक्तानि दरद्वस्त्रानि इषद्वस्त्राणिकानि कृष्णानि कश्चानि तथा
 विधयप्रयोजनानिः कक्षेकराणि मृतशरीराणि यत्र तत्तथा, तत्र
 इमशाने । क्रियमाना अटवीवाससुपयन्तीति संबन्धः । पुनः किं
 युते ? कथितसिद्धवदनानि अक्रान्ति समप्राप्तिः, मुक्तानि इति
 गम्यते । आदितानि त्रिक्रितानि, पीतानि च शोणितानिपूज्या, यका-
 भिस्तास्तथा, नाभिश्च कान्भिः शाकिनीः भ्रमन्तीभिः तत्र
 सञ्चरन्तीभिः भयङ्करं यत्र तं कथिरभिसवदनात्कृतादितपीत-
 नाकिनीभ्रमङ्गद्वयम् । क्विद्वत्कृत इत्येतस्य स्थाने-“ अद्वरत”
 इति पठ्यते । तत्र आभिर्भयिभिरिति व्याख्येयम् । [जंबुवसि-
 क्थियंति सि] क्विन्तः । तिस्रम्यायमानः श्रुत्याः, ततः कर्मधारयः
 अतस्तत्र । तथा धुकृतघोरशब्दे कौशिकविदितरौद्रध्वाने, वेता-
 लेभ्यः विकृतविशोकेभ्य उचितं समुपजातं विशुक्तं शब्दात्त-
 रामिभं (कहकथिति सि) कहकहायमानं यत्सहस्ते तेन (यी-
 हणमंति) भयानकम् । अत एव निरिगमः वा रम्भायं यत्र
 तत्तथा । तथा तत्र, अतिबीजन्तसुरजिगन्धे इति व्यक्तम् । पाठा-
 न्तरेण-प्रतिपुर्भिमगन्धोभ्रमसदृशोयं इति । कस्मिन्नेवंयुते ? इ-
 त्याह-इमशाने शिवुवने, तथा वने कानने यानि शून्यगृहाणि प्रतीतानि,
 सयनानि पिशुमयगन्धि, अन्तरेऽप्राद्वीनामशमम्, औदनामोनां पानानां
 च मद्यजलादीनां भोजनं प्राशनं येषां ते तथा । अत एव पिपा-
 सिता जानतुयः, (कुंठिय सि) बुद्धिक्रिताः ज्ञान्ता म्भानि-
 ज्ञानाः, मांसं प्रतीतम् (कुण्ठिमंति) कुण्ठयः शवः; कन्धसूक्ष्मि-
 प्रतीतानि, यतिक्रिञ्च यथावातवस्तु । इति इन्द्रः । अतस्तैश्चि-
 हित आदारां जोजनं यैस्ते तथा । उद्धिन्ना उद्धेगवन्त उल्लुक्ता उ-
 ल्लुकाः, अशरणाः अजाणाः । किस् ? इत्याह-अदवीबासमरस्यभ-
 सनमुपयन्ति । किं नृतम् ? व्यालघातशङ्कान्ये भुञ्जगादिभिर्भय-
 ङ्करमित्यर्थः । तथा अयशक्कराः तस्करा भयङ्कराः, यतानि पतानि
 व्यक्तानि । कस्य हारामश्चोरवामः, इति इन्द्रं, विभक्तिमतः । भया-
 सिम्रहमि, इन्द्रं विकथय, इति इन्द्रं, समासबन्ध कुर्वन्ति, शुभं
 रहस्त्वस्य, तथा बहुकस्य जनस्य, कार्यं करणेण प्रयोजनविधानेन,
 विद्वन्ना क, अन्तरपथाकराः, मत्तप्रथमसुखविश्ववस्ताम् जिद्वि-
 ष्वसरे प्रन्तीत्येवंशीला ये ते तथा । व्यसनाच्युदयेषु हरणबुद्ध

शति व्यक्तम् । किञ्च—(विगण्य वृत्ता इव नाकाराविधेया इव, (वहिरुत्पत्तिं (ति) शोधितेन्द्रवः (परितोषि) परिपन्ति सत्यतो प्र-
 मन्ति । पुनः कार्यभूताः, अरपतिप्रयोज्यात्मिकास्त इति प्रतीतम् । सञ्जनजनने विशिष्टलोकेन, जुगुप्सिता निम्बिता ये तेषां, स्व-
 कर्मनिर्हेतुभूतैः, पापकर्मकारिणः पापाजुगुप्सिनाः, अज्ञपरिण-
 तात्माजुगुपरिणामाः, बुद्धजाभिन् इति प्रतीतम् । (निष्काविल्ल
 [उल्ल] बुद्धनिष्पन्नस्य (पि) नित्यं सखा आदिल्लमं सकाक्षुष्यमा-
 ङ्गं वा दुःखं प्राणिनां दुःखहेतुः, अन्निर्भूतं स्वास्व्यरहितं मनो
 वेणं तं तथा । इह लोक एव क्रिश्यमाना स्वसनद्यतसमाप्ताः,
 यतानि यदानीं स्वकामिनि ।

(४) अथ तदेवेत्यर्थात् परचणहरणे कलहारमुच्यते-

येषु केऽपि पुत्रस्य दुष्यं गवेसमाया गहिया य हता य बद्धा
 क्त्वा य सन्निवेदं अतिभाविष्या पुरचरं समप्लिया चारमगह-
 चारमगहचरुकरणा तोहोँ य कल्पकपहारनिरयाऽऽरविश्य-
 चारकससपयणतज्जगलगतत्यङ्गउत्थलाणाँ विषया चारग-
 बसहिँ पविषिया नियवसहिँसरिसं तद्य वि गोम्मिकप-
 हाररुमुष्या निजन्चणरुमुसपयणभेसलण(जय)आभिज्ञया
 अविस्वचसिखसणा मणिणदं कित्ठंनसणा, उकोनाभंचन-
 पासुभगणपरायणोहिँ गोम्मिगजनेहिँ विविहेहिँ बंधणेहिँ,
 किं ते हिनियननालरज्जुपकुंदंगवरत्तोहंसंकल्लहयंठ-
 यवकणपदामकणिकोदोहोँ अयोहिँ य एवमादिएहिँ गो-
 म्मिकयंकोवगरणोहिँ उक्खसमुदरखोहिँ संकोठणमां मणेहिँ
 वज्जंति मंदपुष्पा संपुटकवात्तोहंपजरज्जुमियरनिरोद्धुव-
 चारगकल्लगज्जुपक्कविततबंधणत्वंजान्नेउत्थलणयबंधण-
 विहंमणाहिँ य विहेदिंयंता अहकोठगगाठउरंसरवच्छउच्छू-
 रिय(यैत)कुंरंतउरकंठगमोणयोहिँ संबक्का य नीसंता सीसा-
 वेदउरूयात्तवप्पदसंविबंधणत्तसलामगसूदआकोठगण वि त-
 चणविमाणणाणि य स्वाकडुयतित्तनावणजायणकारण-
 सयाणि बहुयाणि पाविंयंता, उरपोकाँदिष्णग्दोषेणअ-
 ङ्किंसंजग्गसंपुसुलिया गल्लकाल्लोहदंठउरउदरवत्थिपि-
 ङ्किपरिपीलिया मच्छंताहिययसंभुसुखियंगुणा अस्सचिकिकरे-
 हिँ; के य अविराहियेरेएहिँ जमपुसिसंनिभेहिँ पइया ते तत्य
 मंदपुष्पा चढंनला वज्जपट्टपोरा इति वा कसल्लचरत्वेत्तप-
 हसत्तताभियंगुणां किंवाणा लंबंतवम्मवणवेयणविमुहियम-
 णा थणकोहिँमानियसजुयलसंकोठियमोदिया य कीरंति, निरु-
 च्छारा एया अच्चा य एवमादीओ वेणयाओ पावा पावंति, अदंति
 दिया बमद्धा बहुमोहमोहिँवा परणपथिम बुद्धा फासिंदियविम-
 यतिव्वनिष्ठा इत्थियमक्कवसरंसग्गइंटरतिपाहियजोगत्तवहा-
 इया य षणतोसमा गहिया य जे नरगणा पुणरवि ते कम्म-
 दुब्बियइया उवणीया रायकिकराणं तैत्तिं षसत्थमपाठयाणं
 विल्लउत्तीकारकाणं लंचसमंगवहूयाणं कूडकवडमायाणिय-
 दिआपरणपणिहिँवचणविआरायाणं बहुविहअस्सियसयंपं-

काणं परलोकपरमुहाणं निरयगीतगामिण्यं तेषु य आपच-
 जा(जी) यदंदा तुरियं उगधाटिया पुरचरोहिँ सिंघाभगतिवचउ-
 क्चचरमहपहपहेसु वैचदंनलउरमकल्लेहपत्थरपणालियय-
 णाँमिमुहिल्लवपादपियहिँजाणोकोप्परपहारसंजग्गमथितगसा
 अह्दारसकम्मकारिणा पाविंयंगुणां कलुष्णा मुकोहंठंग-
 लताह्जिन्ना जायंता पाणिंयं विगयर्जीविआसा तएहइया
 वरागा तं पिय न लहेति, वज्जपुरिसेहिँ थाधिंयंता तथ य
 खरफरसपट्टहपट्टितकूडगह्गादरुद्धनिंसइपरामह्वज्जकर-
 कुंविद्युयनिवसिया सुरत्तकखवाँरगहिविद्युकुलकंठेगुण-
 वज्जदत्तआविष्कमह्गायमरणजुयुप्पसमयमायातएहिँउन्नु-
 प्पियकल्लिखगता बुग्गुंभियसरं(रयरे)भरियकेता कुमं-
 नजुक्किमुच्युवा जिञ्जंनिंविआसा धुणंता वज्जपाणपीया
 तिल्लं तिल्लं चैव जिञ्जमाणा मरीरविकललोहिँअंजलिचका-
 गणियंसाणि स्वायिंयंता पावा खरकरमएहिँ तामिञ्जमाण-
 देहा वातिकरनरारिसंपारिवुधा पिच्छज्जंता य नागरज-
 णेण वक्कन्तवत्थिया पण्णिजंति एगमयज्जेण किंवाणक-
 सुणा अत्ताणा असरणा अणाहा अंबंधेवा संपुविपरहिँ-
 णा विपिक्खंता दिंसो दिंमिं भरएणजुपिक्खमा आधा-
 यणपरिंदुवारसंपाविष्या अथएणा सुल्लगाविल्लमाजिभयेद्दा
 ते य तथ कीरंति, परिकपियंगुणा उग्गविज्जंति रुक्खसा-
 दोहिँ केड कलुष्णा विन्नवमाणा। अत्ररे चउरंगपीणयबद्धा प-
 च्चयकटगा पक्कचेते दूपातबहुविंसयपत्थरसह। असं य ग-
 यचलणमहाणनिम्मदिआ कीरंति, पावकर्ता अह्दारसवंदिया
 य कीरंति मुंठपरिसुहिँ। केड उक्खत्तककोठान्नासा उप्पादि-
 यनयएदसणवमणा जिञ्जिदियांचिया जिञ्जकखसरा प-
 ण्णिजंति जिञ्जंति य अग्गिणा निम्बिसया जिञ्जहत्थपाया य
 प्पुसुंति, जाव जीवबंधणय कीरंति। केड परद्वन्वरणमुद्धा
 कारगल्लानियलजुयलरुक्का चारगाए इतसारा मयणविष्-
 मुक्का भित्तजननिरक्या निरासा बहुजग(भकारमरलजा-
 इया अलजा अणुपक्कसुहापरक्कसिउत्थलएहवेयाणहु-
 यध्वाइयिविबहुमुहभिविया विहलमल्लउत्थव्वा किलंता
 कासंता बाहिया य आयाजिचयुगता परूदन्तकेसमममु-
 रोमा मल्लुत्तमिणियगमिं सुवा तयेव मया अकामका
 बंधिऊण पाए सुकहिया स्वाइयाए हूडा, तथ य वगुणाय-
 सियाअकोठमंजारवंदंसमंतुंमपकिलवाणविबिहुमुहसय-
 विबुत्तगता कयविदंता। केड किमिणाइ कुधितदेहा अग्नि-
 ह्वयणोहिँ सपमाणा सुह्म कयं जंमओ चिं पावो तुहेण ज-
 णेण इएमाणा मज्जावणका य हंति सयणस्स वि य ही-
 दुकालं मया संता पुणो परलोमसमावच्चा नरो गच्छंति।
 निरिभारामे अंगारपञ्चिककल्प अक्षयसीयवेयाऽऽसा-

यपोदिषसततबुक्खसयसमजिजूए ततो वि उव्वट्टिया सया-
णा पुणो वि पवज्जंति तिरियजोगिं, तहिं पि निरओवमं अ-
णुजवंति वेयणं ते, अणंतकाणेण जति एयम कहिं वि मणुय-
जावं ल्हिंति एगेहिं गिरियगतिगमणनिरियजवसयसहस्स-
परियट्टएहिं तत्थ वि य जवंताऽणारिया नीचकुल्लसमुपणा
खोयवज्जा तिरिक्खजूया य अकुमला कामभोगतिंसिया
जहिं निबंधंति निरयवत्तणि जवप्पवंचकरणपणोस्सि पुणो वि
संसारवत्तणेममुझे धम्मसुहविवज्जिया अणज्जा कुरा मिच्छ-
त्तमुत्तिपत्तया य हुंति, एगंतदरुहणो वेदंता कोसिकारकीमो
व्व अप्पमं अट्टकम्मंतंतुपयबंधणं, एवं नरगतिरियनर अ-
मरणमणपेरंतत्तकवांसं जम्मजरामरणकरणजंजरिदुक्खप-
क्खुभियपठरसन्निसं संजोगवियोगवं । विचिंत्तापसंगपसारिय
वहबंधमट्टएविपुलकडोलकुणुणविज्ञावित्तोजनकलकलंत-
बोलवहूंसं अबमाणणफेण तिव्वल्लिसयाणुल्लपुत्तप्पयुरोगे-
यणपरभवविंणिवायकफसपरिसणसमावादिपकट्टिएकम्म-
पत्थरतरंगरिं गंतनिच्चमच्चुभयतोयपट्ठं कसायपायासं-
कुल्लं भवसयसहस्सजन्मसंचयं अणंतं उव्वेजणयं अपोर-
पारं मट्टज्जयं जयंकरं पट्ठजं अपपरिमिपहिच्छककुसमति-
वाउवेगं उक्कम्मयाणाऽऽसापिवासापायासकामरतिरागदो-
सबंधणवदुविहंसकण्वि उल्लदगरयरयंऽपकारमोहभावत्त-
भोगजममाणुपुणमाणुच्छलंतवहुहणजवासपच्चोणियत्तपा-
णिपथावियवमाणसमावरणकरणं चंरुमाह्यसमाहयमणुसुव्व-
व । वाकुल्लिजंगकफुट्टंतनिट्टकडोल्लंमकुसजन्मं पमादवहुचंरु-
ट्टसावयममाहय उक्कयामाणपूरयो विदुसंसाण्त्थऽण्त्थवहु-
सं अण्णाण नयंतमच्चपरिदक्खअनिहुंतिं दियमहापमरतुरिय-
चरियखेक्खुव्वभमाणं सताव निच्चयचलंतचवत्तचंत्त अत्ता-
णासरणपुव्वकम्मसंचयोदिषवज्जेवेदिज्जमाणवहुसयावि —
वागघुणंतजन्मसमुहं इहिरमसायमारवोहारगहियकम्मपहि-
बद्धसचकट्टिज्जमाणानियत्तसमुत्तसएणं विमस्यवहुसुअरति-
रतिभयवित्तायसोगमिच्छत्तसेलंसंकरं अण्णुसंताणकम्मबं-
धणजेसचिक्खिल्लदुट्टचारं अमरनरतिरियगतिगमणकुंदि-
लपरियचविपुलवेसं हिंसाऽऽसियअदत्तादाणमहेणपरिग-
हारंभकरणकारवणाणुभोयण अट्टविहअणिट्टकम्मपिदंतगु-
रुजाराकंतडुगजलोपदूरनिचोलिज्जमाणुल्लमगानिमगदु-
ल्लहत्तसं सरीरमणोपयाणि बुक्कवाणि उप्पंतंता सतासा-
यपरितावणमययं उव्वुक्खुनिव्वुक्खयं करंति । चउरंतमहत्तमपय-
मं रुदं संसारसागरं अट्टियअणालंबणपतिट्टाणमप्पमेयं
सुल्लंसाऽणिसवसहस्समुगुविसं अणान्नो कबंधकारं अणंत-
कालं जाव णिच्छं उचत्थमुखाभयसएणसंपत्तता संसारसा-
गरं वसंति उभिगमगावासवससिं, जहिं जहिं आउयं निबंधंति
पावकम्मकारिणो बंधवजणसयाणभियपरिवज्जिया अणि-

ट्टा जवंति । अण्णादिज्जुव्विण्णीथा कुट्टाणासणसेज्जाकु-
भोयणा असुयणो कुंसंहयणकुण्णमाणकुंसंठिया कुक्खा
बहुकांहमाणमायादोभा बहुमोहा धम्मसस्यस्यत्तपज्जटा
दारिद्रावदवाजिजूया निबंधं परकम्मकारिणो जं। वणत्थरहिं-
या किवणा परिपिदत्तकिंका दुक्खलद्धाहारा परिद्विसकारं भोयणविसेस-
समुदयविहिं विदंता अप्पकं, कयंतं च परवचयता, इह य पुरे
कडाईं कम्माईं पावगाईं विमणसो सोएण रुज्जमाण परि-
ज्जा हुंति, सत्तपरिवज्जिया य टोमा मिप्पकन्नासमदसत्तप-
रिवज्जिया जहाजायपसुज्जा अविचत्ता निच्चं नीयकम्मोव-
जीविणो सोयकुञ्जिण्णा मोहमाणोरहंनिरासवहुसुं आसा-
पासपीदक्कपाणा अत्थोप्याणयकामसोक्खे य सोयसारे
हुंति । अफलवंतगा य सुट्टु अवि अ उज्जवंत्ता तद्विचसुज्जु-
त्तकम्मकयदुक्खसंतंठियसिंत्थापिदंसंचयपरा स्वीणदव्वसा-
रा णिच्चं अपुवपणएणकोसपरिजोगविवाज्जिया रहिय-
कामभोगपरिभोगसव्वसोक्खा परमिरिभोगोवभोगनस्ता-
णमग्गाएपायणा वरागा अकामिकाए त्रिणियंति कुक्खं,
एव सुहं, एव णिच्चुतिं, उवलंजंति, अयंतंविपुलुत्तुक्खस-
यंसंपत्तिचा परद्वंविं हि अविरिया । एसो सो अदिखादाण-
स्स फलविवागो इहलोपर परसोए अ अपपट्टो बहुउक्खो
मट्टज्जयो बहुयण्णगदो दारुणो ककसो असाओ वास-
सहस्सेहिं सुव्वति न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खे त्ति ए-
वमाहंमु नायकुल्लंतदणो महया णिणो उव्वंरिनामभेयो क-
हेसंयं अदिखादाणस्स फलविवागं, एव तं ततियं पि अ-
दिखादाणं हरदहमरणजयकट्टुमतासणपरसंतिकी-
ज्जत्तोजनमुहं, एवं जाव चिरपरिगयमणुगयं उरंतं ततियं
अट्टम्मदारं सम्भत्तं त्ति वेमि ।

(तहवेत्थादि) तथैव यथापुत्रेमाहितेताः, केचिकेचन, परस्य
द्रव्यं गवेयन्त इति प्रतीतम् । गृहाताश्च राजपुत्रैः, हाताश्च य-
ष्टधादिभिः, बहो कृताश्च राज्यादिभिः संयमितः, इतराकादिनि-
कृताश्च (नुरियं ति) त्वरितं शीघ्रं, अतिघ्राटिता अस्मिता क-
तिवर्तिता वा, अस्मिता एव पुत्रवरं नगरं समर्पिता दौकितः, शौ-
रग्राहाश्च चारमटाश्च चाटुकाराश्च ये ते तथा । तैश्च चौरग्राह-
चारमटचाटुकारैः, चारकवसातिं प्रयशिता इति सम्बन्धः । कपे-
टप्रहाराश्च लकुटाकारवालितचौरैस्त्वानाः, निर्दया निष्कृणा
ये चारकैः कास्तेषां संबन्धिनि यानि अएकवचवचानि अतिक-
केशभणितानि, तज्जनानि च वचनविशेषाः (गल्लयल्ल (सि)
गल्लप्रहणं, तथा (उत्थल्लय (ति) अपवर्तना, अपप्रेरणा इत्ये-
धः । तास्तथा, तानि चेति पदचतुष्टयस्य द्रव्यः । तानिः विमत्तसो
विषयकेनसः सन्तः चारकवसातिं मुसिगृहं प्रवेशिताः । किं यू-
ताम् ?, निरयकसतिस्वाराश्रमिति व्युत्पन्नः । तत्रापि चारकवसा-
(गाम्मिक (सि)) गौत्सिकस्य सुसिपासस्य संबन्धिना ये प्र-
हारा घाताः (डुम्मण (सि)) दवनाभि उपतापानि, निर्भेसंतानि

आक्रोशविशेषः, कठुकवचनानि च कठुकवचनेषु भीषणकानि च भयजनमानि, तैरभिज्ञता ये ते तथा । पात्रान्तरेण उपन्यायं यद् भयं तेनाभिज्ञता ये ते तथा । आक्षिप्तविषयनाः आरुण्यपरिपन्थनाः, अक्षिप्तं द्विविधात्परुषं वसप्तं वक्ष्यं येथं ते तथा । उक्तोचालज्जायेध्वेष्यबहुव्यतरस्तादिभित्तौकं प्रति तन्नेष्यः पाथ्वे-
 दु सुविभक्तस्वभावाद्, उन्माद्यो यं याच्यते, तत्परायात्सन्नशिष्टा ये ते तथा, शैः, गीष्मिकसैः कर्तुभिः, विविधैर्बन्धनैः करणभूतेर्विधे-
 यस्त इति संक्षेपः [किंते सि] तथा- [हृदि सि] काष्ठविशेषः, निगमानि होहमयानि, कालज्जाया यादिवालमयी रज्जुः, कुद-
 र्पकं काष्ठमथं मान्ते रज्जुपायं, परत्रा चर्यमयी महारज्जुः, हो-
 इक्षुल्लता प्रतीता, इस्तायजकं होहादिमथं हस्तयन्त्रेषु, चप्यपह-
 क्षमपट्टिका, श्यामक रज्जुमप्याद् संयमानं, निष्कांतं च बन्धनविशेष-
 यः इति ह्यहः । तत्तन्त्रेष्येच्छात्सव्यतिरिक्तैरवमादिरेवंप्रका-
 रैर्वा त्स्मिकजायेवपकर्णात्स्मिकपरिच्छदविशेषः दुःखसमुदा-
 रणैरेवमुक्तव्यसकैः । तथा संकोचना गात्रसङ्कुचनम्, मोचना च
 गात्रभङ्गना, ताभ्याम्; किम् ? इत्याह- बन्धनम् । के ? इत्याह-
 मन्वयुण्याः तथा स्तुपेत् काष्ठमथं, कथादं प्रतीतम् । लोहज्ज्वलेन
 द्रुमिशृदे च यो निर्यायः प्रवेशानं स तथा । कृपेऽन्धकृपाहिः, चा-
 रकः सुमिश्रं, कीरकः प्रतीताः, युष्मं युष्मं, चकं रथाकं,
 चित्तवत्प्रथमं प्रतिदिताहुज्ज्वलितस्तः संयन्त्रमथं, [चंमाले-
 प] स्तम्भागतलं, स्तम्भान्नगात्रमिच्छेयः । उर्ध्वं चरणस्य
 यद्ग्रन्थनं तस्यथा । एतेषां ह्रदः । तत्र एभिषो विधेमणाः
 कथ्येनास्तास्तथा, ताविश्व [निवेदियते नि] विदेध्यमाना
 बाधमालाः, संकोचिता मोहिताः क्रियन्त इति सम्भवः ।
 अनेकेन कौट्या प्रोचथायाः कृपेनयनयनं, वादं गाढं, उरानि
 यतिर्यत्किञ्चिदपि चिन्तयति चिन्तयति च ।

तथा । (मयंतं सि) मध्यमानं हृदयं येथं ते तथा । हृद्
 धकारस्य हृकारादेरुच्चार्यत्वात् । तथा संकुचितशक्ती-
 पात्रात्किंते समासः । आक्षिप्तिकर्तुः यथाऽऽहकारिणः, किं-
 कुर्वासी ? । केचित् केषचन, प्राविश्राधिता एवाऽनपराद्या एव, वै-
 रिका ये ते तथा तैः, यत्पुरुषसन्निधेः, प्रहृता इति प्रकृतम् । इ
 अक्षरहालाः । तत्र चरकान्तं मन्वयुण्या निमोम्याः, चरुपेक्षा
 चपटा, चरुपट्टः चरुविशेषपाटिका, पारा इति होहकुशी-
 विशेषः, कपक्षमथपटिका, शलाकं च, परत्रा चरुमयी महारज्जुः,
 येषां जलवशाः, एभिर्वे प्रहारस्तेषां यानि शतानि तैस्ता-
 दितान्यहोपाङ्गानि येथं ते तथा. इषणाः दुष्ठाः, सम्भ्राम-
 यस्यानि यानि व्रणानि कृतानि, तेषु या येदना पीना, तथा विष्णु-
 श्रद्धेतं चौर्याद्विराजितं मनो येथं ते तथा । धनुकुट्टेन घन-
 तानेन निवृत्तं घनकुट्टिमम्, तेन निगमयुक्तैरेव प्रतीतम्, का-
 र्तिनाः सङ्गीचनाः, मोहिताश्च तन्नाङ्गाः, ये ते तथा । ते च क्षिप्-
 यते विद्योयन्ते, आह्निकिकुर्वातिरि प्रकृतम् । किं भूताः ? । निर-
 क्षारानिरुद्धपुरीयांसनोः, अविद्यमानसम्बन्धा नष्टव्यसनैश्चका-
 र्या याः एता इन्ध्याश्च एवमाहंकायं प्राप्यकाः वेदनाः पापाः
 पापकञ्चुताः, पापकारिणो वा प्राणुयन्ति । अद्वान्तिकिथाः,
 शुक्तिप्रदाने विषयवारतन्त्रेषु श्रुताः पीकित्ता वशातोः, चतुर्मा-
 हमाहंताः, परधने लुब्धा इति प्रतीतम् । स्वशरीरेन्द्रियेषु
 यं श्लिष्येत्परादी, नानिमस्यं, शुद्धा अन्नयुत्पाका ये ते तथा ।
 श्लोमना ये कृपशस्वरसमाभ्यास्तेषु एवास्तिमता या रातिः, तथा
 श्लोमान एव महितो घातिनो यः श्लोमोमां नियुचनं, तेन या
 तुण्या आकाङ्क्षा, तथा आदित्ता बाधिया ये ते तथा । ते च
 धनेन तथ्यतीति चरुतांयकाः, शुद्धीनामा राज्ञुष्यैरिति गच्छम् ।

विहृषयारिष्य विदिरियात् आक्रोशमथं च बलैराविषय-
 इव्ये, शिरसि च मस्तके, यथास्तास्तथा । ते च ऊर्ध्वपुरीयाः
 भ्वास्वपुरीयाः कृपायाः उर्ध्वो वा विधानाः, ध्रुव्या पुरीयाः पात्रा-
 म्न्तरे [उच्चपुरियंतं सि] ऊर्ध्वपुरीयाः उर्ध्वमनाः, स्फुरदुष्प्र-
 कण्टकाश्च, कम्पमानवक्रस्रक्षः, इति ह्यहः । तेषां सनां यमोदं
 मयंनं, आंशुमथं वा, विपर्यस्तं । करणं या. ते तथा । ताभ्यां विद्विष्य-
 माना इति प्रकृतम् । अथवा- स्फुरदुष्प्रकण्टका इह प्रथमाश्चुव-
 चनलोपो इद्वयः । ततश्चामोदनां प्रदनात्प्रामिष्येनदुस्वरं योऽप-
 धे । तथा च बद्धः सन्तः निवृत्तसतो गिः श्वासास्त्रियुञ्जनाः,
 शीर्षाविद्यनं च चरकादिना शिरोविद्यनं, [उच्यते सि] ऊर्ध्वोर्ज-
 श्वादीये शरस्य, अक्षौं वा उरस्यः, यः स तथा स च । पात्रा-
 म्न्तरेण [उच्यतेव ल सि] उच्यते योरायतने उरुकायतः । अथ-
 र्कानां काष्ठयवविशेषाणां, सन्निप्यु ज्ञानुक्पादिपु, बन्धनं य-
 क्तसन्निध्वन्नयं, तथा ततानां हांसाकानां कीलकपाणां, सर्वनीनां
 मूढबुजीङ्गाप्रानाणां, याम्यकुट्टनानि कुट्टनोक्षं प्रवेदानानि, यानि
 तथा । तानि वेति चन्द्रः । तानि प्राश्यमाना इति सम्भवः । त-
 क्षणानि च वास्ये काष्ठस्येव, विमाननानि च कद्रुपर्नानि, तानि
 च तथा, कांराणि निःश्वाराणि, कठुकानि मरीचादीनि, तिकानि
 निम्बादीनि, तैश्च [नायन सि] तस्य तथा तदादि यानना-
 काण्यतानि कद्रुधेनामोदतानि, तानि बद्धकानि विषयमाणाः ।
 तथा उरसि वक्षसि, [चांसि सि] महाकाष्ठं, तस्या इत्यावा
 चितानोयाः, निवेदितास्तथा इत्यथे । यज्ञाद्विप्रमथं तंमांसिकानि
 ब्रह्मणि सन्मन्मिं [सपांमुल्लव सि] सपावर्धव्यानि येथं ते
 तथा । मज्ञ इव बलमिदमिदं घातकमथेन यः स गजः, स चाम्यी
 कालकलोहद्वयमक्ष कालायन्यारुषः, तेन सरानि वक्षसि, उर-
 के च उरुरे च, वस्त्रो च शुभ्रवरे, पुष्टौ च पूष्टे, परिपकित्ता ये न

अथकहोमां पुरुकुत्सम् । चौरानरसमुद्रः, (पुनरावि सि) यथादा ते गौ-
 र्ये कवतं नरु- अन्तरिकाः क्रियन्त स्त्रुक्-
 तिम्बकत्वाणां सम्यगितिः तेषां क्रियन्त स्त्रुक्-
 म, मतः सन्थः सकाराद्यन्तं पुनरपि ते कर्मदुविद्विधाः, कर्मपापीनां
 यासु विषये फलपरिहांसे प्रति विहाः, उपनीताः शैकितानां राज-
 षालोकाविधानाम ? । तस्मिं सि ये निर्वृत्तविषयमेवस्ते-
 किंराशीकाविधानाम ? । तस्मिं सि ये निर्वृत्तविषयमेवस्ते-
 तया यथशास्त्रकपाकाकानां इति व्यक्तः । शिबुवशीका-
 कानां निविष्टपोहकृत्पाणां विमोक्ताकारकानां वा, लज्जायाम्ना-
 दकाणां, तत्र लज्जा उक्तां चाविशेषः तथा कृतं मावद्विनिश्रयथा
 करण, कपट्येवमावविपरिभयकं, मत्वा प्रतारणतुकिः, निश्चि-
 वञ्जनाक्रिया, तथायोः प्रचक्रदार्थं मथयति, चतानां विहाव-
 यं प्रमं विना एवाप्रकृशन्तमथानमथयन्ते, प्रणयीनां वा शिष्टुर्-
 यार्णां यद्रजनतथ, तत्र विहास्तदाः वार्तिकाने ये ते तथा । तेषां बह-
 विधाऽशीकणजलकानां, परलो करणकुम्भकानां, आह्निकमदिधे, जानं कु-
 मिकानामिति व्यक्तम् । तेषां राजककुकैः, आह्निकमदिधे, जानं कु-
 मदिधिविषयमाचरन्तं, दृग्वक्ष्यं यानि, इति तद्वयो वा कथ्येधम्, ।
 शेषदार्ढ्यां चा जीवितनप्रहलकृणे, येषां ते तथा । त्वरि-
 शिन्मृतादिताः प्रकादिनाः, पुत्र्येव मृत्काटिकादिपु, तत्र शुकटं
 किकटिकाचक्रिकोपस्थानोमिच्छेत् । किं रथ्यथाय- लिभ-
 मन्धनमथनम्, चतुर्कं रथ्यायतुक्तमीलनस्यमथनम्, अथयमनकच्छ्या-
 पननस्यमथनम्, चतुर्मुखं शंभुकिंकारि, महापथो राजमयोः, तथा
 सामान्यमानं, किंविधाः सन्तः प्रकादिनाः ? । रथ्याय- अथयधो
 लकृष्टं, काष्ठं, श्रेष्ठं, प्रलस्रकं, प्रसिद्धाः । (पणालि सि) प्रहृष्ट
 माली शरीरप्रमाणा दीक्षितरा यथाः, (पणालि सि) प्रमाणीनां ज्ञा-
 तद्वपः, मृष्टिनेसा पादपाणिनां ज्ञानुक्पादं यथा-यपिप्रसत्या-
 नि । यान्येव प्रहारस्तैः सभगाभ्यामिदितिनि यथानानि विभोतिस्ता

नि गात्राद्यि येषां ते तथा । अष्टादश कर्मकारणाः-अष्टादश चौरम-
स्तुतिहेतवः । तत्र चौरस्य, तत्प्रस्वीनां च लक्षणमिवम्

“चौरः १ चौरापको २ मन्थी, ३ जेन्द्राः ४ काणककयी ५ ।

अश्वदः ६ स्थानदशैव, ७ चौरः सस्यविधः स्तुतः” ॥११ ॥

अत्र काणककयी बहुवचनमपि अवयवस्येन चौराकर्म काणकं
हीनं कृत्वा क्रीयातीत्यर्थशीलः ।

“भूलनं १ कुशांशं ३ तज्जो ३, राजनागो ४ ऽवशोकनम् ५ ।

अमागं दर्शनं ६ शय्या ७, पद्मभङ्गस्तथैव च ८ ॥ १ ॥

विश्रामः ९ पादपतनं १०-आसनं ११ शोपनं तथा १२ ।

अथरुस्य आदनं चैव १३, तथाऽप्यम्बोदराजिकम् १४ ॥ २ ॥

पथा १५-मयु १६-दक १७ रज्ज्वानं, १८ प्रदानं हानपूर्वकम् ।

यथाः प्रस्तुत्या क्रियाः, अष्टादश मनीषिभिः” ॥ ३ ॥

तत्र भूलनम्-न लेखनं नवता ५६मेव बह्विधेयं जलियामीत्या-
दिवाक्यैश्चैवैविविषयं प्रोत्साहनम् १ । कुशांशम्-मिलितानां सुख-
दुःखतत्त्वानांशम् २ । तज्जो-हस्तादिना चौर्यं प्रति प्रवृत्तादिस्त्रा-
करणम् ३ । राजनागो-राजभास्वद्रूपयापह्वः ४ । अवशोकनम्-हरतां
चौरानामुपेक्षाशुद्धां दर्शनम् ५ । अमागं दर्शनम्-चौरमार्गे प्रच्छे-
कानां मार्गान्तरकथनेन तदपह्नानम् ६ । शय्या-शयनीयसम्पन्ना-
दि ७ । पद्मभङ्गः-पद्माभ्युपपद्मकारादिद्वारेण च । विश्रामः-स्वय-
हृत्पथ वासकायानुष्ठानं ८ । पादपतनम्-प्रणामादौ चौरस्य १० । आ-
सनम्-विष्टरदानम् ११ । शोपनम्-चौरापह्वम् १२ । अथरुसादन-
म्-अथरुकादिनकप्रयोगः १३ । मोहार्जिनं शोभप्रसिद्धम् १४ ।
पथामयुद्रकररज्ज्वानं प्रधानमिदं प्रज्ञानाभ्यङ्गान्यां दूरमायोग-
मजनिनाश्रयामनोनाश्रितत्वेन पादेष्विहा हितं पद्यमुष्णजलेलादि तस्य
१५, पाकाद्यर्थं आसनः १६, पानाद्यर्थं च शीतोदकस्य १७, चौर-
ादनम्नुपग्रहादिबन्धनार्थं च रज्जवाक् १८, पदानं विवरणम् । हाना
शुचयेवं नानि सर्वत्र यंत्यम्, अहानपूर्वकस्य निरपराधन्यादिनि ।

तथा पानिनाङ्गोपाङ्गः कर्धनिनाङ्गोपाङ्गः, तैः राहः किङ्करीरि-
ति प्रकृतम् । कथनाः, शुभकोष्ठकण्डगत्रताशुजिह्वाः, यच्चामानाः
पानीयम्, विगतजीविनाशाः, नृणांर्दिताः, वराका इति स्फुटम् ।

(तं पि च) तदपि पानीयमपि न ज्ञानेन, वष्येभु नियुक्ताये
पुरुषाः-ते वष्यपुरुषाः, तैर्वाध्यमानाः प्रेष्यमाणाः । तत्र च धानेन,
अथरुपथाऽप्येवकठिनो यः पददकं शिपिक्रमकः, तेन प्रचक्ष्णार्थं
पुष्टदंशं घट्टिताः प्रेरिताः ये ते तथा । क्रूरप्रहः कटिप्रहः, तेन च
मादच्छेनेऽस्त्रमध्यर्थं परामुष्णः शुद्धीनाः ये ते तथा । ततः कर्म-
धारयः । वधानां सम्मिषि यत् करकुटोयुगं वक्ष्यविशेषपुगलं
तत्तथा, तन्निवसिताः परिर्दिताः । पादान्तर-व्याघ्रक कुच्छो-
हृत्नलक्षणः, तयोः युगं युगं, निवसिताश्च ये ते तथा । सुर-
कैः कर्णवैरिः कुसुमविशेषैः, प्रथिनं मुष्णितं, विपुकुलं विकसि-
तं, कण्ठे गुण इव कण्ठे गुणं, कण्ठस्वस्वदशशर्मिधयोः । बध्यदूत
इव बध्यदूतः, बध्यविश्लिष्यते । आश्विदं परिर्दितं, माध्यह्या-
म कुसुममात्रा, येषां तं तथा, मरणभयादुपशो यः स्त्रेहः तेनायत-
मायमदत्तं यथा भवतीत्येवं स्त्रेहं ननुपिपिनामीव स्तनापीतामीव
हिंस्रानि चार्द्रैरुतानि गात्राणि येषां ते तथा । भूर्णोनाङ्गरादी-
नां मुष्णितं शरीरं, कुसुमरजसा बातोत्थातेन रेषुणा च धूर्जी-
कणेण भरिताश्च नृताः कथा येषां ते तथा । कुसुमकेन राम-
विशेषेण उत्कीर्णं मुष्णितां सूईजा येषां ते तथा । जिअजीवि-
ताशा इति प्रतीतम् । भूर्णोमानाः, जविक्रवत्वात् । वष्यश्च ह-
स्तथाः प्राणमौनाश्च वक्ष्यास्वदिप्राणप्रियाः, प्राणपीता वा त्रिक्रि-
तमथा ये ते तथा । पादान्तरण- (बेजयणमीय रि) वष-

कैच्योः प्रीता इत्यर्थः । ‘तिष्ठं तिरं चैव श्लिङ्गमाणा’ इति इवकम् ।
शरीराङ्घ्रिकृत्तानि जिह्वानि शोर्दितावस्त्रिस्तानि यानि काकणामा-
स्तानि ऋङ्गणवस्त्रपशितानि तानि तथा, वाद्यमानाः, पापा-
पापिनः, अरकरशतैः ऋङ्गणापाणजुतैः, चर्मकोष्ठकविशेषशतैः,
स्फुटितवशाशैः ताश्चामनाद्वाशः, वातिकनलारिंस्पर्षिबुताः
बातो येवामस्ति ते वातिकार्ता, वातिका इव वातिकाः, अत्रयतिता
इत्यर्थः । तैर्नैर्नारीनिष्ठसमन्वत्यरिवृता ये ते तथा । प्रवृत्तमा-
णाश्च, नागरजनेनेत व्यक्तम् । बध्यन्तेपथ्यं संजातं येषां ते वष्य-
नेपथ्यताः । प्रणीयन्ते नीयन्ते नगरप्रभयेन सन्निवेशामध्यमानेन,
कृपणानां मध्ये कथनाः कृपणकथनाः, अत्यन्तकथना इत्यर्थः । अ-
श्रानाः, अनर्थप्रतिघातकाराणां । अशरणाः, अर्थप्रापकाणां । अ-
श्रानायाः, योगक्षेमकारिभेदरहितत्वात् । अश्रानश्रयाः, श्रापश्चामान-
नर्थकत्वात् । अश्रुविप्रद्विशाः, श्रापैः परित्यक्तत्वात् । विप्रेक्षमा-
णाः पश्यन्तः । विस्तो विंस् ति) यकस्या दिशोऽप्यां दिगं, पुनस्त-
स्या अस्यां दिशमित्यर्थः । मरणभयेनेति शिखा ये ते तथा । (आ-
श्रायण (त्) आघातनं च धप्यचूमिमरुदलस्य प्रतिज्ञानम् । ह्यार-
मेव संप्रपिता नीया ये ते तथा । अश्रयाः, श्लाघो घृत्वाका-
न्ते विज्ञोऽप्रस्थितो निश्चो विचारिनो देहो येषां ते तथा ।

ते च, तत्र आघातने, क्रियन्ते विधीयन्ते । तथा परिकल्पिता-
ङ्गोपाङ्गः जिह्वावयवाः, वक्ष्यन्त्येन वृत्ताशान्निभिः । केवि-
त् कदशाणि, वक्ष्यानीनि गम्यन्ते; विलसन्त इति । तथा
अपरे चतुर्भङ्गेषु हस्तपादलक्षणेषु (घणियं) गाढं ब्रजा ये
ते तथा । पर्वतकटकान्द्रुगं, प्रमुच्यन्ते क्षिप्यन्ते, दूरात्पातः
पतनं च, बहुवियमस्मरन्तश्च अत्यन्तासम्पन्नाणेषु, सहन्ते ये ते
तथा । तथाऽप्ये वाऽपरे गजवन्तमलनेन निर्मादंता दलित्वा ये
ते तथा । ते क्रियन्ते । कैः, इत्याह-सुपरुपरशुनिः कुण्टकुण्टरैः ।

तीक्ष्णैरिदं तैर्मात्यन्तं वेदन्तोद्यत इति विशयणमिति । तथा
केचिन् अन्त्ये, उत्क्रिप्तकर्णोष्णनास्त्रिभ्रञ्जवर्णदशनच्छद्रा-
णाः, वरपाटितनयनदशानवृषणा इति प्रतीतम् । शिखा रसना,
आश्रिता आङ्घ्र, जिह्वै कर्णै, शिरश्च, नयनाद्याः येषां ते
तथा । प्रणीयन्ते, आघातस्थानमिति गम्यते । क्षिप्यन्ते च अथरु-
न्ते, अस्तिना षङ्गेन, तथा निर्विषया देशाद् निष्कामिनाः । जिह्वा-
हस्तपादाश्च, प्रमुच्यन्ते राजकिङ्कैः सयज्यन्ते, म्रिहाहस्तपादा-
देशाक्षिकास्यन्त इति भावः । तथा यावज्जीवबन्धनाश्च क्रि-
यन्ते, केविद्वदे, कैः, इत्याह-परकथ्येदरणसुव्या इति प्रती-
तम् । काराग्रेया चारकपरिचेन, निगदयुगलेश्च कदा निव्यभिता
ये ते तथा । ते कः, इत्याह-‘ चारयाप (त्) चारकं मुशितं, किं
विधाः स्मन्तः ।, इत्याह-हस्तसारा अथहस्तकथ्याः, स्वजनविप्रमुका
मिचजननिराकराः निराशाश्चेति प्रतीतम् । बहुजनाधिषकारशा-
भ्येन सञ्जायिताः प्राप्तसञ्जाः ये ते तथा । अत्रञ्जा विगतलञ्जाः,
अनुबद्धेषुधा सततयुक्ताया, प्रत्यर्थाभिज्ञता अपराधा वा ये ते
तथा । शीतोष्णनृणावेदनया दुर्घटया द्रुतलञ्जद्वयया, घट्टिताः
स्पृष्टा ये ते तथा । विषयं मुष्णं, विकृपा च ङिः शरीरवत्क, येषां
ते विवर्णेमुष्णविकृपाश्च । ततोऽनुबद्धेयत्वादिपदानां कर्मधार-
यः । तथा विकृता अत्रातिश्चिन्तार्थः, मशिता मश्रीमसाः, दुर्बलाः
श्लसमर्था ये ते तथा । ज्ञानान् यज्ञानाः, तथा कास्मना रोगवि-
शेषात्कुत्सिनशर्मं कुर्वणाः, व्याधिताश्च सज्जातकुष्ठारिभोगाः,
आमैनापकरसेनानिन्दनानि गात्राद्यङ्गानि येषां ते तथा । प्रक-
हानि वृद्धिभुवगतानि, वृद्धत्वेनास्तस्काराद् नयकश्चरमभुरामाभि

अदस्तादाग

येषां ते तथा । तत्र केयाः शिरोजा, इत्युच्यते कूर्चरोमाणि, रोषा-
 षि तु रोषाणीति । (मञ्जुवचनमि शि) शुरीरयमूय निजके, (लुप्त सि)
 निम्नगाः, तेष्वे चारककथने खलुः, अकामुकाः मरत्येऽभिजायाः,
 तत्र च बहु पादयोराक्याः आतिकायां [वृद्ध सि] किताः,
 तत्र तु आतिकायां, शत्रुघ्नकथयागडकोपमजोरकुन्दस्य संशु-
 कापदेः परिकल्पयत् च विविधमुक्त्वातोऽभिहितानि गात्राणि येषां
 ते तथा । इति विदित्वा कथादिभिरेव [विहंग सि] विभागाः,
 कथयन् कथा इत्यर्थः । केचिद्वच्ये- [किमिषा सि] कुमिव-
 ज्ञाने, कुचितदेहा इति श्रुतम् । अतिदृढचक्षुः शय्यमाना
 आकोशयमानाः । कथयन्, इत्याह-सुतु कृतं, ततः कर्षणमि-
 ति गम्यते । केचित्ति यस्मात् कथयन्मूलतः पाप इति । अथवा
 सुतु कृतं इत्युच्यते, बहुवच एव पाप इति । तथा तुष्टेन जने-
 न वृत्तमानाः, इन्द्रोमाययन्ति प्राययन्तीति इन्द्रोपानास्त एव
 कुत्सित्वाः सजापनकाः, सज्जाहवा इत्यर्थः । ते च प्रवर्ति-
 जाते, न केचिद्वचनेषां, स्वजनकाले च दौकालोक्तं यावदिति त-
 दा मूलाः सप्तः, पुनर्मर्यादाकर्तारं, परलोकासमापन्ताः जन्मात्पर-
 क्षमापन्ताः, निरपे गच्छन्ति, कथयन्ते ।, निरभिरामे । अङ्गाराह च
 प्रतीताः । प्रदीप्तं च प्रदीपनकं च तत्कल्पस्तुपयो योऽप्यर्थ शी-
 तवेदेनासात्तेन कर्मणा उद्दीपनीं उद्दीरितानि, सततानि अ-
 विच्छिन्नानि यानि दुःखशतानि तेः समभिप्रूतो यः स तथा तत्र ।
 ततस्ततोऽपि नरकात्तुच्छ्रायाः सन्तः पुनः सपद्यन्ते तिर्यग्योनि-
 म्, तथापि निरयोपमाभामनुजयन्ति बधनाम, ते अनन्तोदिता-
 द्वासाहियाः, अनन्तकालेन प्रवृत्ति नाम कथञ्चिन्मनुजभावं ज-
 नन्ते इति व्यङ्ग्यम् । कथय ? इत्याह-नैकेषु बहुषु, निरयगतौ यानि
 मममानि तिरिहकां च ये भवास्तेषां ये शस्तसहस्रसंख्यापरिव-
 तोक्तं तथा तेषु, अतिक्रान्तेषु सतिवृत्ति गम्यते । तत्रादि च, म-
 नुजजन्तानि प्रवर्ति जायन्तेऽन्याः शक्यमनवच्यत्तयः । किं
 नृताः ?, नीचकुलसमुत्पन्नाः, तथा कार्यजनेऽपि मयाधादौ समु-
 त्पन्ना इति शेषः । लोकाभागा जनवर्जनीयाः, भवन्तीति गम्यत् । ति-
 र्येभूताश्च, पञ्चकल्पा इत्यर्थः । कथम् ? इत्याह-अकुशलास्तत्त्वं
 निष्पन्नाः, काममोगे लुपिता इति व्यक्तम् । [जहि ति] यत्र नरकादि-
 प्रवृत्तौ, न तु मनुजत्वं ज्ञप्तम्, यत्र निष्पन्नति (निरयवत्तणि सि)
 निरयवर्तिन्यां नरकमार्गे, प्रवप्रपञ्चकरणेन जन्मप्राप्त्युपकरणेन,
 [पणोक्ति सि] प्रणोदीनि तत्प्रवर्तकाणि, तेषां जीवानामिति हृदयमा-
 यानि तानि तथा । अत्र द्वितीयावबहुवचनसोपा द्रष्टव्यः । पुन-
 रिति प्राक्त्वा संसारा जने (केम सि) मूलं येषां तथा, दुःखा-
 वीति श्राव्यः । तेषां यानि मूलानि तानि तथा, कर्माणीत्यर्थः ।
 तानि निष्पन्नतीति प्रकृतम् । इह च मूला इति वाच्ये मूल इ-
 त्युक्तं प्राक्कृत्येन सिद्धव्यव्याधितिः । कथास्ते मनुजत्वे वन-
 माना भवन्ति ? , इत्याह-धर्मभुतिविवर्जिताः धर्मशास्त्राधिकारा
 इत्यर्थः । अनायां आर्यंतराः, भ्राताः, जीवोपघातोपदेशकात्वात् ।
 कुत्राः, तथा मिथ्यात्वप्रधाना विपरितत्सोपदेशकाः श्रुतिसि-
 कात्परतां प्रथमा अच्युतपताः, तथा ते च भवन्तीति । एकात्त-
 दाज्जन्तव्यः, सर्वथा हिसनभ्रका इत्यर्थः । वेधयन्ते कोशिकाकार-
 कट इव, आत्मानमिति प्रतीतम् । अष्टकनिष्ठैस्तनुमिष्येदं
 बन्धनम् । तथा एवमनेन आत्मनः कर्मनिर्देशनद्वयप्रकारेण
 नरकनिर्येकनरामेत्तु यद्गमनं तदेव पर्येतनकत्वात् बाह्यपरि-
 वेद्येभ्य संसृतां स तथा तन, संसारसंगमं बसन्तीति सम्बन्धः । किं नृ-
 तम् ? , इत्याह-जन्मजातमरणव्येव कथानि साधनानि तस्य
 तद्यथा, तच्च गर्भारिदुःखं च, तदेव प्रकृतितं सञ्जातितं प्रचुरं

सञ्चितं यत्र स तथा तम् । संयोगवियोगा एव बीजवस्तरङ्गा
 यत्र स तथा । किताप्रसङ्गः किनास्वतः, तदेव प्रवृत्तं प्रसरो
 यस्य स तथा । वधा हनानि, बन्धाः संव्यमानि, सान्धय म-
 हान्तो दीर्घवधा, विपुलाश्च विस्मरणतया, कष्टोहा महोर्भ-
 यो यत्र स तथा; करणविशेषिते लोभ एव कलकथायमानो यो
 बोलो ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा । ततः संयोगादिप्रदानं
 कर्मधारयः अतस्तम् । अवयवानेभ्योपपुञ्जमेव, केनां यत्र स तथा ।
 तीव्रसिक्तं वाऽप्यर्थनिन्दा पुलपुत्रप्रत्ता अनवधरोत्पृत्ता वा
 रोगवेदनास्ताश्च परिभविनिपातश्च पराजिन्यसम्पत्के, प-
 रघपेणानि च निदुरवचननिर्भस्तितानि, समापातानि स माप-
 प्राणि, येन्यस्तानि तथा तानि च तानि कश्चिन्नानि कर्कशाणि,
 दुर्नेदान्तीत्यर्थः । कर्माणि च हानाचरणानीनि, किंवा वा, ये प्रस्त-
 राः पापानां, तैः हृत्वा तदङ्कुरिङ्कुरं बीजविभङ्गसङ्गं, तिन्यं भूयं,
 मृत्युश्च भयं केचित् त एव वा तोयपुत्रं जलोपरितनमागो यत्र
 स तथा । ततः कर्मधारयः । अथवा-अपमानेन केनेन, केनामिति
 तोयपुत्रश्च विशेषणम् । अतो बहुमीदरेव अतस्तम् । कथाया एव
 पातालाः पातालकलाशस्तेः संकुलो यः स तथा तम् । प्रथसदका-
 श्येव जलसन्वयस्तोयसहस्रो यत्र स तथा तम् । एवं जननादि-
 जन्मदुःखस्य सतिस्तोका, इह तु प्रथमां जननादिधर्मवतां
 जलविशेषसमुदायानेकेति न पुनचकत्वम् । अतस्तप्रकृत्यं, उभेज-
 नकमुद्गकरणम्, अनवोक्त्वापरं-विस्तीर्णत्वकथम्, मदाजयादि-
 शेषमथमेकापुम् । अपरिमिता अपरिमिता ये महत्कथाभू-
 दलिताया लोकास्तेषां कष्टुषाऽविशुद्धा या मतिः सा एव
 वायुगन्तेन (उच्छ्रम्भणा सि) उपात्तमानं यत्तत्तथा । इत्य
 माशा अमतास्येव सम्भावनाः, पिपासाश्च प्रासायकाङ्गाः, त एव
 पातालाः पातालकलाशः, पातालां वा समुद्रजलतलं, तैश्चैतस्सा-
 लोकाः इति शब्दः शब्दादिष्वभिरिति, रागद्वेषवचनेन च बहुविधसं-
 कल्पाविति इत्यर्थः । लोकास्तेषां बहुविधस्यैव उदकरणो-
 यो रयो वेगस्तेनान्धकारो यः स तथा तम् । कष्टुषमवितानोऽऽ-
 शादिपातालापुषाधमानकामरत्यामुक्त्वाजोरयोऽप्यकाराभि-
 न्यर्थः । मोह एव महावर्णो मोहमहावर्तः, तत्र भोगा एव कामा
 एव, स्राम्यन्तो मयमलेन सञ्चरन्तो, गृह्यन्तो व्याकुलो भवन्त
 उद्वलन्त उच्छ्रान्तो, बहवः प्रचुराः । गेनेवासे मध्यमगावितरे,
 प्रत्ययनिष्कृताश्च स्वत्यस निपातितः, प्राणिनो जन्त तन्मूलाः ।
 तथा प्रधावितानि इतस्ततः प्रकृषेण गतानि यानि व्यसनानि तानि
 समापन्नाः प्रासा ये तथा । पाठान्तर-पातितः पीडिता ये व्यसन-
 समापन्ना व्यसनिनः, तेषां हृदयं यत्प्रति तदेव अष्टमाकृत-
 स्तेन समाहृतममनोर्भो बीजिव्याकुलितं जन्मरस्त्यैः, स्फुटद वि-
 दलव, अनिष्टैः कष्टोर्भेर्महोमिनिः संकुलं च जलं तोयं यत्र स
 तथा । मोहापसेभोगरूपम्याशादिविशेषप्रमाणिकं व्यस-
 नमापन्नदितलङ्कणदधमरुतसमाहतादि विशेषेण जलं यत्रत्ये-
 यः प्रमादा म्याशाश्च स्वत्यस निपातितः, प्राणिनो जन्त तन्मूलाः । म्या-
 पादा व्याघ्रादयः, तैः समाहता अभिनृता ये (उच्छ्रायमाण सि)
 उच्छ्रित्यन्तो (विविधचेष्टासु) समुद्रपक्षे मस्त्यादयः, संसारपक्षे
 पुण्यादयः, तेषां यः पूरः समूहस्तस्य ये योरा रौद्रा बिम्बसनायां
 विनाशालङ्कणा, अनयो अपायः, तैश्च ह्युलो यत्र स तथा । अ-
 नानान्येव ज्ञप्ततो मस्त्याः (परिष्वक्त सि) दृक्का यत्र स तथा ते ।
 अनिभृताऽपुपशान्तानि यानि शिष्टियाणि, अनिभृतेभ्य वा ये
 देहिन्स्ताम्येव, तेषां यः पूरः समूहस्तस्य ये योरा रौद्रा बिम्बसनायां
 शिष्टियाणि, अरितानि चेष्टानि, तैरेव (ओक्त्वाभनमाण सि) शृङ्गशृङ्ग-

भाषो यः स तथा । सन्तापः, एकत्र शोकाविह्वलः, अन्वयं वाम-
वाक्छिन्नो नित्यं यत्र स सन्तापनित्यकः तथा चलद् अप्रसन्न-
द्वयः स तथा, अतिवपन्न इत्यर्थः । स च अत्राणाममशरणानां
पूर्वकृतकर्मसंश्रयानां, प्राणिनामिति गम्यम् । यदुप) भी गर्भे
पापं तस्य यो यद्यमानो दुःखशतकुर्यो विपापः स च पूर्वोद्भव
नम्रं जलसमुद्रो यत्र स तथा । ततोऽहानादिपदानां कर्मधार-
यः । अतस्त्वंम् । अह्निरससातन्नरूपानि यानि गौरवाण्युभाभ्या-
वसायाविशेषाः, त एवापहारा जलचरविशेषाः, तैर्गृहीता ये क-
र्मसंनिबद्धाः सन्ताः, संसारपके ज्ञानावरणादिबद्धाः, समुद्रपके
विचित्रचेष्टाप्रसक्ताः । (कञ्जिजमाण सित्) आरुध्यमाणान् नरक
एव तलं पातालं (दुर्लं तित्) तदभिमुखं सन्ना इति सन्तकाः
सिन्नाः, विपत्तौणाह्व शोकात् । तैर्बहुशो यः स तथा । अरतिरगि-
भयानि प्रतीतानि । विनाशो वैश्वं, शोकस्त्वेवै चक्राणवस्थम् । वि-
ध्यायं विषयांसः, एतान्येव शैत्राः पर्वतस्तैः सङ्कोटो यः स तथा ।
अनादिसन्तानो यस्य कर्मबन्धनस्य तत्तथा, तच्च त्रेशाब्ध रा-
गाद्यस्तद्वृत्तानं यत् विचिन्तं कर्ममस्तेन ऋषु दुरुत्तारो यः स
तथा । ततः स ऋषीत्यादिपदानां कर्मधारयः, अतस्त्वंम् । अमर-
नरतिथेश्वरानो यक्रमं सैव कुटिलपरिवर्तनं चक्रपरिवर्तनां, विपु-
ला विस्तीर्णा, वेला जलवृत्तन्नरूपा, यत्र स तथा तम् । हिंसाऽहो-
कादसादानंमैयुपरिप्रदक्षणायां अस्मान्द्रव्यापाराः, तथा यानि
करुणकारणानुमोदनानि तैरद्वेषधमनिर्दयं यक्रमं पिहितं सांख्य-
त, तदेव मुक्तमस्तेनाकाशनां ये तेषां, तद्गोपयैव व्यसनान्येव
यो ज्ञोमस्तन दूरमत्यर्थे, निचोत्समनैः निमग्नमनैः, (उत्समगनि-
मगं तित्) उन्मग्ननिगमैरुद्धं योजलकर्मगमानि कुर्वन्तैः, दु-
र्लं तलं प्रतिष्ठानं यस्य स तथा तम् । शरीरमस्मानमयानि दु-
स्त्वानि उरिपबन्ना आसाद्यन्तः, सातं च सुखम्, असातपरिना-
पन च दुःखजननोपतापः, एतन्वयमेतन्नरामकश्च, (उत्सुङ्गुनिवु-
द्यं तित्) उन्मग्ननिमग्नं कुर्वन्तः । तत्र सातमुन्मग्नवमिव,
असातपरितापनं निमग्नवमिवेति । चतुरन्तं चतुर्दिभागं दि-
ग्भेदगतिभेदाभ्यां महान्तं प्रतीतम्, कर्मधारयस्यैव इत्यर्थः । अन-
वदधमनन्तं, रुद्धं विस्तीर्णं, संसारसागरमिति प्रतीतम् । कि-
भूतम् ? इत्याह-अस्थितानां संयमान्यवस्थितानामविद्यमान-
मालम्बनं प्रतिष्ठानं च त्राणकारणं यत्र स तथा तम्, अग्रमेय-
मसर्बवेदिनाऽपरिच्छेद्यं, चतुरशीतियोनिशतसहस्रमुपलम्बं,
तत्र योनयो जीवानामुत्पत्तिस्थानानि, तेषां चासंख्यातस्यैपि
समवर्णगन्धरसस्पर्शानुभवकविवक्त्राणुत्सुकसंख्याया अवि-
रोचितं ब्रह्मव्यम् । तत्र गाथा- "पुष्टि ७ द्रग ७ अगल ७
मायु ७, एकैके सप्त जोषिलकषाभो । बणपत्तेय १० अण्य-
त १५, दस चोहस जोषिलकषाभो ॥" विगादिदिपसु द्वां दो,
चउरो चउरो नारयसुरेसु । तिरिपसु ह्ति चउरो, चोहस ल-
कषा च मणुपसु ॥ २ ॥ इति । अनालोकानामविद्यमानधकारो
यः स तथा तम् । अनन्तकालमपर्यवसितकालं यावत्, नित्यं
सर्वदा, उन्नस्ता उद्गतभासाः, शून्याः इतिकैव्यतामूदाः,
भयनं संज्ञाभिन्न आहारमैधुनपरिग्रहादिभिः, संप्रयुक्ता युक्ताः
ततः कर्मधारयः । बसन्तं अत्र्यासते, संसारसागरमिति प्रह-
तम् । इह च बसेर्निरुपसर्गस्यापि कर्मणं संसारस्य, ह्यन्वदध-
दिति । किं भूतं संसारम् ? उन्मग्नानां बासस्य वसनस्य वस-
नस्थानं यः स तथा तम् । तथा यत्र यत्र मामकुलादीं अयुर्निव-
धन्ति पापकारिण्युधोर्विधायावित्तः, तत्र तत्रति वसन्ति । वा-
न्वयजनादिविचिन्ता भवन्तीति क्रियासम्बन्धः । बान्धवजनन
१३५

ज्ञानादिना, स्वजनन पुत्रादिना, मिश्रैश्च सुहृद्भिः परिवर्जिता
ये ते तथा । अनिष्टाः, जनस्येति गम्यते, भवन्ति जायन्ते । अना-
देयदुर्बिनीता इति प्रतीतम् । कुस्थानानसशय्याश्च ते, कुमोजन-
श्चेति समासः । (असुप्तोपेति) अशुचयोऽशुचयः, कुसहनाः
बहुवच्यं सहननयुक्ताः, कुप्रमाणा अतिदीर्घा आतस्य वा,
कुसंस्थिता हुएडादिशय्यानाः इति पदप्रत्यय कर्मधारयः । कु-
रुपाः कुनिस्नवर्णाः, बहुकोधमानानायालोभा इति प्रतीतम् ।
बहुमोहा अतिकामा अत्यथाहाना वा, धर्मसंज्ञाया धर्मबुद्धेः,
सम्यक्त्वाच्च ये परिच्छासते तथा । द्वारिद्रोषोपद्रवामिभूताः,
नित्यं परकर्मकारिण इति प्रतीतम् । जीव्यते येनाथेन ह्येयेण
नद्रव्यरहिता ये ते तथा । कृपणा नृणाः, परपरिचरतः पर-
द्वेषभोजनगणवेषकाः, कुःखलप्याहारा इति व्यक्तम् । अरसेन
हिक्त्वादिभिरसंस्कृतेन, विरसेन पुराणादिना, तुच्छं चालेपन,
भोजनेनेति गम्यते । कृतकुसिपूरा येस्तं तथा । तथा परस्य सं-
बन्धिनं प्रत्ययमणोः । पश्यन्ति किम् ? इत्याह-श्रुतिः सम्भव,
सत्कारः पूजा, भोजनमशनम्, एतेषां ये विशेषाः प्रकाराः, तेषां
यः समुद्राः, उदयवर्तिनं तथा । द्वारिद्रोषोपद्रवामिभूताः,
स तथा तम् । ततश्च निन्दन्ता जुगुप्समानाः, (अप्यकं तित्) आ-
त्मानं, कृतान्तं च वैवं, तथा परिवर्तनां निन्दन्तः, कानि ? इत्याह-
इह यं पुरं कडाई कर्माई पावगाई तित्) इहैवमत्तरघटना-
पुत्राकृतानि च जन्मान्तरकृतानि कर्मोपि इह जन्मनि पाप-
कान्यशुभानि । कञ्चिन्वापकारिण इति पाठः । विमनसो
दीनाः, शोकन दक्षामानाः, परिभूता भवन्तीति स्वेषु संबन्ध-
नीयम् । तथा सत्यपरिवर्जिताश्च [छोमं तित्] निसेहायाः
सोमयोथा वा, शिल्पचित्रादिकला धनुर्वेदिः, समयशास्त्र-
म-जनैश्चौद्विदिसिद्धान्तशास्त्रम्, एभिः परिवर्जिता ये ते
तथा । यथाज्ञानपशुपुत्राः शिक्षाऽऽमरणास्त्वर्जितवर्षोवर्षोदि-
सदृशाः, निर्विज्ञानव्यवसाधर्म्यातः । (अविद्यज्ञ सित्) अप्रती-
त्युदाकाः, नित्यं सदा, सौख्यधमजनास्त्वानि, कानि अयुजोव-
न्ति तैर्वै सित् कुर्वन्ति ये ते तथा । लोककुत्सनीया इति प्रतीतम् ।
मोहाद् ये मनोधा अजिज्ञापासनेषां ये निरासाः कृपासर्तैर्बहुला
ये ते तथा । अद्यथा-मोघमनोरथा निष्फलमनोरथाः, निराशु-
बहुलाश्च आशऽप्रायश्चरुये ये ते तथा । आशा इच्छाविशेषः, सैव
पाशो बन्धन तेन प्रतिबद्धाः संरुद्धाः, निर्यन्त इति गम्यम् । प्राणा
येषां ते तथा । यथोपादानं ह्यत्याज्जनं, कामसौख्यं प्रतीतम्, तत्र
च लोकसारे लोकप्रधानं भवन्ति जायन्तः, (अफलवन्तगा य सित्)
अफलवतः अप्रसादा इत्यर्थः । लोकसारता च तथाः प्र-
तीता । यथाहुः- "यस्यार्थस्तस्य मित्राणि, यस्यार्थस्तस्य बा-
न्धवाः । यस्याथः स पुर्मोहोके, यस्याथः स च परिमत् ॥ १ ॥
इति । तथा- "गण्डे सारं बहुधा, बहुधरगारां पुरं पुरं सौघम् ।
सौधं तद्वत् नदो, वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥ १ ॥ इति । किं कृताः ?
अपत्याह-सुषुपि च (वज्रञ्चत सित्) अत्यर्थमपि च प्रयतमानाः ।
उक्तं च- "यद्यथाजने कर्म, मरो दुष्कर्मसंवेद्यात् । तत्तद्विक्रम-
तां यानि, यथा बीजं महोपरं ॥ १ ॥ तद्विषयं प्रतिनिधु-
पुसैरुधनैः सद्भिः कर्मणो व्यापारेण कृतेन यो दुःखेन कष्टेन सं-
स्थापितो मीलितः सिक्थानां पिण्डस्तस्यापि सन्धये पराः प्र-
धाना ये ते तथा । कृपाण्डव्यसारा इति व्यक्तम् । नित्यं सदा
अध्रुवा अस्थिराः, धनानामिगमादीनां, धान्यानां शाल्यादीनां,
क्षेत्रा आश्रया येषां निधिरत्यपि तथार्थभोगमं वञ्चिताश्च ये ते
तथा । रहितं त्वक्तं कामयोः शब्दकर्मणोः जोगामां च गन्धर-

स्वयम्भोर्ना परिजोमे आसेवने यत्तत् सर्वस्वीक्यमानम्ना वैस्ते तथा । परेषां यौ श्रियाः भोगोपरजोर्गो तयोर्विक्रिभाशुं निभाः । तस्य आरंभोपरराधायां गवेषणपराः सि भोगो । तत्र भोगोपरजो- गयोपरं विद्योषा-“ सप्त सुज्जर सि भोगो, सो पुण आहारपु- प्फमादेशो । उवभोगो उ पुणो पुण, उवउज्जर वधानिज्ञयाह ” ॥ २ ॥ इति । बराकास्त्रपरस्वित्त अकाशिकया कनिच्छया, विन- यन्ति प्रेरयन्ति, अतिवाहयन्तीत्यर्थः । किं तस्य ? इत्याह-कु- लमनुजो, नैव सुखं, नैव मिश्रितं स्वास्थ्यमुपपन्नय प्राप्नुवन्ति, प्रत्यन्तविपुलदुःखमृतसंश्रद्धाः परस्य कस्येषु ये अविरता भव- त्ति, ते नैव सुखं अन्नम इति प्रस्तुतम्, तदेव याहवा फलं द्वा- ति तादृशमिहितम् । अमुनाऽन्यवेषोपहारार्थमाह-(यसो सो) इत्यादि स्वयं वृषैवत । प्रस्तु ३ आशु ३० । (पञ्चमं ये च कुक्ष्यन्तीति हारं नृतीयकारेण सहैषोऽकमिति न पृथयुक्तम् ।)

(अद्वादादाशस्य कस्येकत्रालनाभेदाः “अद्वादाशवेरमण” शब्देऽनुपदमेव बह्वन्ते)

(५) आचार्योपाध्यायविरचितोऽद्वादादाननिरूपणम-
जे भिक्षुः आयरियस्यवक्रापार्थि अवादिपं गिरं आइ-
यति, आइयंतं वा साइजइ ॥ २४ ॥

गिर सि वाणी वयनं, तं पुण सुखे चरणे वा जानं आयरियउय-
ज्जपार्थि अइयं गेरइति, तस्य सुणे एकं, आये दे, चरणमसुत्त-
रणेणु सु अयेगविदं पच्छित्तं ।

द्विविधमद्वा उ गिरा, सणे आयेते तदेव चारिचे ।
सुचत्थेसु सुयम्भी, भासा दोसे चरिचामि ॥ २५ ॥
एति शियमारवेषं, बहुसुचमतेण अस्सतो वा वि ।
गंतं अणुचमणाणं, उजयं अस्सावदेसेणं ॥ २६ ॥

जा सुखे गिरा, सा पुनिषा-सुते, प्राये वा । चरणे सा स्वायज्ज-
दोससुत्ता प्रासा । कहे पुण सोदिशं आयायिं ? वचयंतं-एति
गियमाहा । तस्स किंचि सुचत्तयं संदिट्ठो, सो सव्यं एति णिउइति
कस्ये २५ ण पुच्छति , सीसत्तं वा न करे , बहुसुचो
निपुणाः, कामि २५ पुच्छिस्सं ? , एवमादिगारवद्विंतो अस्सो
प्रवृत्तो, न तु मनुजत्वं क-
रिष्यन्तिस्मां त्वकमाणे, नवविशेषेण अणु सुत्तं अस्थाणि वा
मारयणं २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥
बाइह नणामि कइमि २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥
वि गु गच्छति, गतो वा न पुच्छति, २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥ २५ ॥
इइमं तस्य सिद्धिमिच्छिक्कं कइतरिओ वा वि अवादिसे २५ ॥
वा गतागतं करंतो सुणेति, उअयं वि अग्गवस्सणं ॥

एसा सुच अद्वादा, होति चरिचामि जा स सावजा ।
गारत्थियजासा वा, देइह पलिओ वि सा वा वि ॥ २७ ॥
चारिसे इट्टरं ससरं करेति, अलोयणकाले पलिओ, सेति क-
नाकते वा अत्थि पलिओ वि सि, संसं कं ॥

वितिओ वि य आइसो, तवतेणादसिण पंच तु पदाणि ।
जे निक्खं आदिपती, सो सपओ आम भोणं वा ॥ २८ ॥

तवतेणे ववतेणे रूपतेणे य जे नरे आयरिमावतेणे य कुज्जर
देवकिंभिसं, एतेहि इमा विभासा, (समभो) माहा-से नावउज्ज-
वो भिक्खमागओ, अयाध वा पुच्छिओ सो-नुमं समभो सि
अनं !, ताडे सो भणाति-आमं, भोगण वा अत्थयति । अहया भना-
ति-को अनोसु समणं पुच्छवइं, तणे चि तुमं, सो अम्मकदीओ
हणे मिच्छिओ गणी वायणो वा ।

पच्छ वि जणानि आमं, तुयहीको वा वि पुच्छति जतीणं ।
धम्मं कट्ठिवादिदयणे, रुवे पीयसु पदिमाए ॥ २९ ॥

भणाति कवे-नुमं अइह सत्थोअसि, अहवा तुमं सो पदिमं
पदिक्खमासी, एवेथ तदेव तुण्हकादि अत्थयति ।

बाहिरउवाखवलिओ, परपच्चयकारणा उ आयारे ।
मातुक्काहरणं तहिं, सावे गोधिदपम्भजा ॥ ३० ॥

आयारतेणे महुराकोदेइहा उवाहरसं, ते भायसुधा पक्य-
त्तिगिमितं बाहिरकिरिया सुदुउज्जका अते आवातेषा । भाव-
तेणो जहा-गोधिदवायगं वादि गिज्जाओ, सिक्तंहरणचयाए
पवयमज्जुकवगते पच्छा सम्भवं पच्छिक्खणां । एवमादि गिराणं
अदिस्ताणं णो महुरा कायवं, पच्छंता वयणमंसो कते
भवति । मुसावादिद्या य दरममंसदोसा-

एतेसापमद्यते, गिरं अदत्तं तु आदिद्या जे तु ।
सो आया अणवत्तयं, मिच्छकवारिहाणं पावे ॥ ३१ ॥

कंथा । प्रायश्चसट्ठणं ण पच्छित्तं, ते अदत्तं पि आदिपज्ज ।
वितियपदमण्यजे, अदिदं अवि को वि ते व अप्यजे ।
उद्दाइ संमट्टा, वृद्धनदन्त्येण उजाणता ॥ ३२ ॥

जेतादिचित्तो वा आरपज्ज, सदेहो वा अजासतो (उद्दाह सि)
उवसंपयाण वि न देह, तस्स उवसंपयां अणुवसपयो वा
अथ गुणैह, वक्खणाणं वा, कस्स वि तस्य कुट्टारिओ सुणेति,
गयागयं वा करंतो संजमं हेउं वात् । अग्रितो कइमियादिद-
दि, गुच्छमं विट्ठो वि न दिट्ठि, अणेजा अजय वा संजयनासा ते
प्रासिक्खमाणा सामारिणा संजयमासां गेरदेज्जा, तस्य अवि-
दिधा ते गारत्थिगभासाए भासेज्जा । आयरियस्ये गिहाणस्स
वा, सयपाणि वा, सहस्सपाणे वा, दुग्गुभरिध्मेण कज्जं तद्दा-
णमिसं पउजेज्ज । अयं वा किंचि संयववयसं जणेज्ज । तद्दावय
तेणादि वा पवत्तं अणेजा नि ० ७ ० १ ६ ७ ० । “अदिदादापं
सुद्धमं, भादरं च । तस्य सुद्धं तणमगसज्जामग्गगादीणं गहणे ।
भादरं विरस्यसुवथादि ” । महा ० ३ अ ।

स्वाग्दमद्वादि-
स्वामिजीवतीयेकरमुधेदसभेदेनात्तं अनुविषयम् । तत्र स्वाग्द-
दत्तं नृणांपलकाष्टादिकम्, तत्र स्वामिना दक्षम् ? जीवाद्दत्तं
यास्वामिना दक्षमपि जीवनादक्षम्, यथा प्रज्ज्यापरिणामविक-
स्वामिनां प्रोत्सादिदुकरणां दीयते ३ । तौषेकार्दत्तं यदी-
तां प्रोत्सादिदुकरणां दीयते ३ । गुणदत्तं नाम स्वामि-
दक्षमाथाकर्मोद्दिशेवगहितं शुक्लननुज्ञायं यद्दु श्रुणु ५ । इति
चतुर्विधस्यायत्र परिहाः- इत्युक्तं नृणां व्रतम् । ४० ३ अथि ।

चित्तमंतयाचितं वा, अण्यं वा जइ वा बहु ।
दंतसोहणमिसं पि, उमाहंमि अजाइया ॥ ३३ ॥

चित्तवद श्रियहादि, अचित्तवकिरत्थिदिःअण्यं वा-सूदयतः, प्रमा-
णतश्च । यदि वा बहु-सूदयमाणाऽन्वामेव । किं बहुना ?-वत्तयो-
धनमात्रमपि तथाविधं नृणादि अवयदे दस्य तत्तमवाचिक्वा
न पृह्वन्ति सायधः, कदाचनेति नृनायः । दश ० ६ अ ० ।

(६) लघुस्वकमदत्तं शुक्ति-
जे भिक्षुः लघुवयं अदत्तं आदिदयति, आदिदयंतं वा
साइजइ ॥ ३४ ॥

साहू घोषं, अदत्तं तेन, आदित्यं ग्रहं, सारजज्या अ-
धुमेयथा, माससङ्गु पच्छिं ।

तं अदत्तं दम्बादि वडम्भिहं-

द्वेषे लोके काले, भावे लहुसंगं अदत्तं तु ।

एतेसिं खाण्यं, बोध्यादि अहाऽऽणुपुर्वी ॥ ७१ ॥

द्वेषोत्तकालानं ग्रहं, सारजज्या अणुमोक्षया, माससङ्गु
पच्छिं, तं अदित्यं दम्बादिदि वडम्भिहं ।

द्वेषोत्तकालायां इमं वक्ष्याम-

द्वेषे कनुसादिपु, लोके उच्चारणमिमादीनु ।

कासे इचरिचमवी, अन्धाऽ तु चिह्नमादीनु ॥ ७२ ॥

बहुरस्तिभेभो इहनामदीनीं पसिन्धो, कटनो बंलो, आदि-
दम्बाद्यो अक्षेहद्विषया, दारुद्वेषापद्रुणमादि, एते अण-
युष्मते गेहहति । अस्तभो अदित्यं गेहहति उच्चारणमि, आदि-
दम्बाद्यो पासवणदायो अणुद्वेषणद्रुमीय अणुयुष्मविषा इ-
च्छारादी आचरइ । अस्तभो अदित्यं गतं । काले इत्वरं एतोकं
अणुयुष्मं चिह्नमिति । अिच्छादि हिन्दो जाय वासं वसति चितिकं
वा पच्छिन्वति, अन्धायं वा अणुयुष्मेषा रन्ध्राहद्वारासु चिह्नति
निसीयति, तुयइति वा, दम्बासु वि माससङ्गु ॥

इदानीं प्रावे अदत्तं-

भावे पात्रोगस्ता, अणुयुष्मवणा तु त्पदमतया ।

उपते लहुद्वेषे, वासायां वुहवासे य ॥ ७३ ॥

उदुषके वासासु वा, वुहवासे वा, त्पदमनया पात्रोगाऽ-
णुयुष्मणजावण परिच्छयस्त दम्बादिषु लोभ भावभो लहु अद-
त्तं, अद्रुवा सादु वुह्वेसु जं जेसु जं जोमां पात्रमां नयति ।

लहुसमदत्तं गेहहतेस्त को दोसो?, इमो-

पतेसापमत्तरं, लहुसमदत्तं तु जो तु आदिपय ।

सो आणा अणुवत्तं, मिच्छन्तविराहणं पावे ॥ ७४ ॥

कारणतो गेहदत्तो अणुपच्छिन्वी, अदोसो य ।

अच्छाण गेलाये ओ-यऽल्लिसे गामाणुगामिमितिवेहा ।

तेणासावयममगा, सीतं वासं हुरहियासं ॥ ७५ ॥

अच्छाणाओ गिगता परिसंता गामं वियाले पसा, ताहे अ-
णुअचितं इहनादि गेहहेऽज । बसदीय वि अणुअविषाए
उपऽज, आगाइगेलाके नुरियकउओ विण्यमेव अणुअचितं
गेहहेऽज, ओमांदरियाय जसादि अदित्यं लयमेव गेहहेऽज । अ-
सिचवादिहणायं लो को वि हेइ, ताहे अदित्यं संधारणादि गे-
हहेऽज । गामाणुगामं हुरजजमाणा वियाले गामं पसा । अय य
बसदीय लम्भति, ताहे बाहिं वसंतु, वा अदत्तं गेहहेतु । अह
बादी दुबिहा-तेणासिवातिवासावायामसगेहि वा अिच्छिज्ज-
ति, सीये वा हुरहियासं, अहा उलरायहे अणववर्तं वा सं
पदति ।

एतेहिं कारणेहिं, पुण्यउ घेणु पच्छऽणुयुष्मणा ।

अच्छाण गिगतादीं, दिच्छमिहेइ इमं होति ॥ ७६ ॥

एतेहिं तेणादिकारणेहिं बसहिसामीय दिठे अणुपणवणा, अ-
दिठे अक्षाण गिगतादीं, लयणसमोसिगाहिं अणुअघेणुं घरसा-

मिणा अदित्यं घेणुं घरसामिपमणुवणवेति इमेव वि-
हायेव-

पदिसेहणुऽणुयुष्मणा, अणुओपाणकफसहा व अहियासो ।

अदित्येच्छविदायणणि-गमाये वा दुविभेदो य ॥ ७७ ॥

पदिसेहे ति । अस्त्यं व्याख्या-

अच्छनासत्यं गंतु-ए पुच्छया हूरपचिमा जतया ।

तरिसमेवपच्छिच्छाण-पच्छमि कहिति सच्छाव ॥ ७८ ॥

सो घरसामी अदि केचं अलतं वा गते अदि अस्मासतो
गंतु अणुयुष्मविज्जति । अह हूरं गतो ताहे संधारभो नाम विघे-
उआहि । आगयेउं तं दिस्सं अदत्तं गंतु पच्छिच्छति आइ साहू समी-
वं पसो ताहे अणुलोमवयणहिं पच्छिज्जति ॥

अणुयासायं सजाती, म जाति मणुस्स सि तह वि तु अहंते ।

अच्छिच्छमणिमिच्छं वा, बंधयणा से य बवहारां ॥ ७९ ॥

अहा गोजातिमेरुल्लयुओ गोजातिमेव जाति, आसये वि णो
महिस्साविसु तिति करंति । एवं वयं पि माणुसा माणुसमेव जा-
मो । अदि तह वि ण देनि, कऱसाणि वा भणति, ताहे सो कऱसं
ण भणति, अथियासिच्छः । अह तह वि पिच्छभेज्ज, ततो विच्छाप,
युओहिं वा बली कज्जति, मिमिसय वा आउंटाविज्जति । तस्स
असति रक्खमादिषु बाहिं वसंतु, मा य तेणु समाणं कअहेतु । अ-
ह वाहिं दुविहमेओ-आयसंजमणं उ कऱणसरीरायं वा संज-
मवरिणां वा पणवयं व अतिरिच्छं, लहवत इमेयो । ताहे अ-
द्यति-अन्धे सहामो, ज एस आगतमं सो एस राययुषो व
साहस्सति, एस वा सहस्सजोओ, सो वि कयकरणां किंच कर-
णं वपति, अहाति । अहा-विस्सन्तुतिणा पुच्छिच्छाण लंअम्मि
कविह्ण पच्छिया एस हायसा, तह वि अद्ययमाणे बंधिउं उवेति,
आव पजायं सो य अह रायकुसं गच्छति, तथ तेणु समाणं व-
वहारा कज्जति, कारविषायं आगतं भणति-अन्धेहिं राययिं
आविठतेहिं मुसिसा सावपहिं वा कज्जं वा, सो रओ अमिहिंयं-
अयसो य भवंतो परकृतमिषयाअ तपस्विनः, रायरक्खियाणि
य तपोवणाणि, व हांसे ति । (नि० मू० २ उ०) लहुकादत्तं
पुनः-अननुकापितत्तुणेपुकारमज्जकालिककुहादिच्छायाविअम-
णादिविषय ॥ ३० ॥

(७) वृहादौ तपसैत्यादि न कुर्वीत-

तवतेयो वपतेयो, रुवतेयो अ जे नरे ।

आपावभावतेयो अ, कुर्वन् देवाकिन्विसं ॥ ४६ ॥

तपस्तेनः बाक्स्तेनः, रुपस्तेनस्तु यो नरः कश्चिद्, आचारभा-
वस्तेनश्च पाशयपि कियं तथा भावदोषात्किंचिद्वयं करोति
किंचिदं किं कमे निवृत्तेयतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम कृपककृपक-
तुल्यः कश्चिकेनचित् पुष्टस्वयमी कृपक इति । स पूजाघर्षमा-
ह-अहम् । अथवा अक्षि-साभाव एव कृपकाः तूर्णां वाऽऽस्ते-
। एवं बाक्स्तेनो धर्मकयकादितुल्यरूपः कश्चिकेनचित्पुष्ट इति ।
एवं रुपस्तेनो राजपुत्रादितुल्यरूपः । एवमाचारस्तेनो विशिष्टा-
आचरतुल्यरूप इति । भावस्तेनस्तु-परोपमेकितं कथञ्चिद् कि-
ञ्चित् भूत्वा स्वयमनुमेकितमपि मयेतत्पञ्चअंनं अक्षितमिहेति
सुभार्थः ।

अयं वेद्यंनूनः-

सच्छु वि देवचं, उवउभो देवाकिन्विसं ।

अदत्तादाय

तथा वि से न जाणइ, किन्ने किंसा इयं फलं ॥४७॥
 लक्ष्मणादि देवत्वं तथ्यायिषिक्रियापात्रनवनान् उपपन्नो देवाकि-
 द्विषे देवाकिद्विषकाये तन्नायसौ न जानात्यविशुक्काधिना
 कि मम कृत्वा इदं फलं किद्विषिकदेवत्वमिति सूत्राः ।

अथैव दोग्धानराज-
 तत्तो वि से चत्ता णं, लखिन्ही एलमुय्यं ।

नगं तिरकलजोणिं वा, बोही जत्य सुदुग्गहा ॥ ४८ ॥

ततोऽपि दिवसोकादसौ व्युत्वा लप्यत पलसूक्तमजमा-
 वाऽनुकारित्वं मानुषत्वे, तथा नरकं, तिर्यग्योनिं वा. पारउपयोग
 लप्यते । बोधिरेव सुदुग्गमः । सकलसम्पत्तिबन्धना यत्र जिन-
 धर्मप्राप्तिर्दुरापा । इह च प्रामाण्यलसूक्तमिति वाच्ये अस-
 कृद्वायप्राप्तिस्थापनाय लप्यत इति जचित्यत्कालनिर्देशः । इति
 सूत्रार्थः । ४७० ५ अ० २ ७० । (अदत्तादानस्य क्षयिका क-
 ल्पिका च प्रतिस्था स्वस्थान पच वक्ष्यते) (शुद्धादिविषयशुद्धी
 अदत्तादानमापतितमिति उक्तं ३२ अध्यायेन दक्षितमन्त्र
 पक्ष्यते) (साधिकादित्स्वैतं " अग्रवचप " शब्देऽस्मिन्नैव
 भागे २७९ पृष्ठे दर्शितम्)

अदत्ता (दिष्टा) दाणकिरिया-अदत्तादानक्रिया-स्त्री० ।
 आत्माद्यधर्मदत्तग्रहणे, स्था० ४ ग० २ २० । स्वाभिजीवशुक्ती-
 थंकरादत्तग्रहणे, ध० ३ अधि० ।

अदत्ता (दिष्टा) दाणवचित्य-अदत्तादानप्रत्ययिक-पुं० ।
 न० । अदत्तस्य परकीयस्यादानं स्वकीयणमदत्तादानं स्तेयं,
 तत्प्रत्ययिका दृष्टाः । एतच्च सत्तमे क्रियास्थाने, सूत्र० ।

आहावेर सत्तमे किरियाठाणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आ-
 हिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आग्रहेहं वा० (एाइइउं
 वा अमारहेउं वा) जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिन्ने आदि-
 यइ, अन्नेणं वि अदिन्नं आदियावेति, अदिन्ने आदियंते अन्नं
 समणुजाणइ, एवं खलु तसपत्तियं सवज्जं ति आहिउजइ,
 सत्तमे किरियागणे अदिन्नादाणवत्तिएत्ति आहिए ।

एतदपि प्राग्बद्धं हेयम् । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुष आत्मनिमित्तं
 (कृतिनिमित्तम्, अगारनिमित्तं) यावत्परिवागनिमित्तं परद्रव्य-
 मदत्तम्च शुद्धीयात्, अपरं च प्राग्रह्यत्, शुद्धनमप्यपरं समनु-
 जानीयादित्येवं तस्यादत्तादानमप्यधिकं कर्म संबध्यते । इति
 सत्तमे क्रियास्थानमाख्यातमिति । सूत्र० २ ४७० २ उ० । अ०
 चू० । प्र० ष० । स्था० ।

अदत्ता (दिष्टा) दाणविरइ-अदत्तादानविरति-स्त्री० । प-
 रद्रव्यहरणविरतैः, महा० ७ अ० ।

अदत्ता (दिष्टा) दाणवरमाण-अदत्तादानवरमाण-न० ।
 अदत्तादानाद् विरमणमदत्तादानविरमणम् । स्वाभ्याप्यउ-
 क्तानं प्रत्याख्यामीति स्तेयविरतिकूपे मतभेदे, प्रश्न० ३ सम्भ०
 ३०० । तत्र स्थूलकाऽदत्तप्रत्याख्यानं तृतीयमख्यतं, सर्वाऽद-
 त्तप्रत्याख्यानं तृतीयं महाव्रतमिति ।

तत्र स्थूलकादत्तविरमणमित्यर्थम्—

" तदाऽनन्तरं च णं धूलगं अदिष्टादाणं उक्त्वास्वामी दुविहं ति-
 विहेणं ण करंमि, ण कारवेमि मणुत्ता वयसा कायसा " ।
 स्थूलकमदत्तादानं चौर इति व्यपदेशनिबन्धनम् । उपा० १ अ० ।

धूलगमदत्तादायं समणोवासओ पक्खवाइ,से अदिष्टादा-
 णे दुविहे पण्णे तं जहा-सत्तित्तादादाए, अचित्ता-
 दत्तादाए अ ॥

अदत्तादानं द्विविधम्—स्थूलं, सूक्ष्मं च । तत्र परिस्थूल-
 विषये चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमिति दुष्प्राप्त्यवसायपूर्वकं
 स्थूलम्, विपरीतमितरत्, स्थूलमेव स्थूलकं, स्थूलकं च तन्
 अदत्तादानं चेति समासः । तच्छ्रमणोपासकः प्रत्याख्यानीति
 पूर्ववत् । 'से' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तच्छ्रुत्वाः ।
 तच्चादत्तादानं द्विविधं प्रहङ्गम्, तीर्थहरणप्रेरितप्रकारं प्रकृति-
 मित्यर्थः । तद्यथेति पूर्ववत् । सह चिन्तन सचिन्त-क्षिपदादिब-
 ह्जनं वस्तु, तस्य ज्ञेयादी सुव्यस्त-सुव्यस्तविस्मृतस्य स्वामिना
 अदत्तस्य चौर्यबुद्ध्या आदानं सचित्तादत्तादानम् । आदानमिति
 प्रहङ्गम् । अचित्तं बन्धनकरणादि, तस्यापि ज्ञेयादी सुव्यस्त-
 दुव्यस्तविस्मृतस्य स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽदत्तादानमचित्ता-
 दत्तादानमिति ।

अदत्तादाणे को दोमो ?, अकज्जेते वा के गुणा ?, एत्थ
 इयं एगं चेव उदाहरणं । जहा-एगा गोद्धी सावगो जतीए
 गोद्धीए एगत्यपगरणं वट्टइ, जाणगते मांदिद्विण्हिं घरं पेद्धि-
 येरिंए पक्केको मोगपुत्तेण पाए पन्नीए अंकिआपनाए
 य रत्तो निवड्यं । राया जणइ-कहंते जाणियन्वा । ? येनी
 जणइ-एते पादेसु अंकिया नगरसमागमे दिट्ठा, दो वि
 तिक्खि चचारि सव्वा गोद्धिगहिया । एगं सावगो जणइ-न
 हगमि, न झंझिओ । तहं वि जणियं । न एस हउइ । तेहिं वि-
 मुक्को । इयेरे सागिया अत्रि व सावगेण गांही न पविमि-
 यव्वं । जइ कहं वि पओयोगेण पविमइ, ताओ हारगं हिं-
 सादि न देइ, न य त्सेि आओगट्ठाणेसु ठाः । आव० ६ अ० ।
 तस्यानिवाराः-

तयाऽण्तरं च णं धूलगअदिष्टादाणस्स पंच अदयारा
 जाणियन्वा, न समायरियन्वा । तं जहा-तेनाहडे, तकरप-
 ओगं, विरुकरजाडकं, कुरुकुत्ताकुक्रमणे, तपनिरुवग-
 ववहारं । उपा० १ अ० ।

एतानि समाचरन्निजान्ति, तृतीयानुव्रत इति । " दोसा पुण-
 तेनाहमगंदियं राया वि जणुत्ता, सामी वा पच्चमिजणोत्ता,
 ततो मारउज वा, दंनेउज वा " इत्यादयः शेषेभ्योपि वक्तव्याः ।
 उक्तं सातिचारं तृतीययाणुव्रतम् । अव० ६ अ० । पा० । ७०
 र० । ४० ।

सर्वस्वमादत्तादानाद् विरमणं तिव्यर्थम्—

आहावेर तथे जंते ! महव्वए अदिष्टादाणाओ वेरमाणं ।
 सव्वं भंते ! अदिष्टादाणं पक्खवापि । से गामे वा नगरे वा रत्ते
 वा अय्यं वा वहु वा अणु वा धूलं वा चित्तमेतं वा अचित्त-
 मंतं वा नवमेयं आदिन्नं गिण्हिज्जा, नेव उन्नेहिं अदिन्नं गि-
 एहाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अश्रे नेव समणुजाणामि जाव-
 ज्जीवाए ति विहंते ति विहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि,
 न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते !

पतिक्रमामि निंदासि गराहामि अप्याणं बोमिरामि, तच्चे जंते । महव्वए उवच्चिओ मि सव्वाओ अदिआदाणाओ वेरमाणं ॥ ३ ॥

अथापरिस्सिन्तीये भवन्त । महाभते अदत्तादानाहिरमणम । सर्वे भवन्त । अदत्तादानं प्रत्याख्यामि ति पूर्ववत् । तद्यथा-प्राप्तं वा नगरे वा अरण्यां वेत्यनेन क्षेत्रपरिग्रहः । तत्र प्रसति बुद्धादीन् गुणान् इति प्राप्तः तस्मिन् । नास्मिन् करों विद्यत इति नकरम् । अरण्यां काननादि । अरण्यं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा विस्तवद्वा अस्मिन् वस्त्वनेन तु कृत्यपरिग्रहः । तत्रानां सूक्ष्म परएककाष्ठादि, बहु-वज्रादि । अणु प्रमाणतो वज्रादि । सूक्ष्मरेतरकाष्ठादि । एतच्च विस्तवद्वाऽस्मिन् वस्त्विति, चेतनाजेतनमित्यर्थः । (णव सयं अदिदं गिएहज्जा त्ति) मेव स्वयमदं गृह्णामि , त्रैयापिपदसं आइयामि, अदत्तं गृह्णोऽप्यन्यात् न समगुणानामित्येतथाव्यक्तिवमित्यादि च नावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । विशेषस्वयम-अदत्तादानं चतुर्विधम्-कृत्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । कृत्यतोऽद्वयार्थे, क्षेत्रतो प्रासादार्थे, कालतो राधवर्द्धां, भावतो रागद्वेषाद्याम् । कृत्यादिवचनैस्त्री त्वयम्-“द्वयंभो नाममे अदिआदाणं णो भावओ ? । भावओ नाममे नो द्वयओ । एतं द्वयंभो वि भावओ वि ३ । एगे णो द्वयंभो नो जावओ । तस्य अरत्तऽउ-द्वस्स साधुओ । कइं वि अणुणुपवेकण तणार मोइओ द्वयंभो अदिआदाणं नो जावओ, हरामीत अउहज्जयस्स तदसंपकीए भावओ नो द्वयओ । एवं जेव संपसाए जावओ द्वयंभो वि चरिममंओ पुण सुखे । ” इयं ४ अं ।

अदावरं तच्चं महव्वये पच्चाइक्खामि सर्वं अदिआदाणं, से गामे वा खगरो वा अरम्ये वा अप्पे वा बहु वा अणु वा भूञ्जे वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एव सयं अदिदं गिएहज्जा, एव उभाई अदिदणं गिएहज्जा, अणं पि अदिदणं गियहंतं ण समणुजाणजा जावज्जावाए जाव बोमिरामि । तस्सिमाओ पंच जावणाओ जवंति-तत्थिमा पदमा जावणा-अणुवीइमि उगहं जाइ मे णिग्गंथं णो अणुणुवीइमि उगहं जाइ से णिग्गंथं । केवली ब्या-अण-एणुवीइमितेगहं जाति, मे णिग्गंथे अदिदणं गियहंज्जा, अणुवीइमि उगहं जाति से णिग्गंथे णो अणुवीइमितेगहं जाइ त्ति पदमा जावणा ॥ १ ॥ अदावरा दोच्चा जावणा-अणुएणविय पाणजोयणभोई से णिग्गंथं णो अणुएणविय पाणजोयणभोई । केवली ब्या-अणुएणविय पाणभोई से णिग्गंथे अदिदणं ज्जेज्जा । तम्हा अणुएणविय पाणजोयणभोई से णिग्गंथं णो अणुएणविय पाणजोयणभोई त्ति दोच्चा जावणा ॥ २ ॥ अदावरा तथा जावणा-णिग्गंथेणं उगहंमि उगहंमिंसे ए-त्तावता व उगहणसीलए सिया । केवली ब्या-णिग्गंथेणं उगहंमि उगहंमिंसे उगहंमिंसे एत्तावता व अणोगहणसीले अदिदं उगिहंज्जा णिग्गंथेणं उगहंमिंसे एत्तावता व उगहणसीलए सिति तथा जावणा ॥ ३ ॥

अदावरा चउत्था जावणा-णिग्गंथेणं उगहंमि उगहंमिंसे अचिकलणं उ उगहणसीले सिया । केवली ब्या-णिग्गंथेणं उगहंमि उगहंमिंसे अचिकलणं उ अणोगहणसीले अदिदणं गियहंज्जा, णिग्गंथे उगहंमि उगहंमिंसे अचिकलणं उ उगहणसीले सिति चउत्था भावणा ॥ ४ ॥ अदावरा पंचमा जावणा-अणुवीइमितेगहं जाइ से णिग्गंथे साहम्मिपसु णो अणुणुवीइमि उगहं जाति । केवली ब्या-अणुवीइमि उगहं जाति से णिग्गंथे साहम्मिपसु अदिदं उगिहंज्जा । से अणुवीइमि उगहं जाति से णिग्गंथे साहम्मिपसु णो अणुणुवीइमि उगहं त्ति पंचमा भावणा ॥ ५ ॥ एत्तावता महव्वए सम्मं जाव आणाए आराहितं आविजवइ तच्चं जंते । महव्वए । आणां उ अणुं ? अणुं ॥

तस्य जेमे अतीचाराः-

एवं तृतीयेऽस्तस्य, नृणादेर्ब्रह्मणोऽणुः ।
क्रोधादिभिर्वादोऽन्य-मचित्ताद्यपहरतः ॥ ५० ॥

एवं पूर्वोक्तरीत्या सूक्ष्मवादेर्नन्देन द्विविध इत्यर्थः । तृतीयेऽन्तेयव्रते प्रकामादितिचारो भवतीति शेषः । तत्र अणुः सूक्ष्मः, अदत्तस्य स्वार्थादिनाऽननुद्गतस्य नृणादेर्ब्रह्मणोऽणोः नामोऽङ्गकारणाद्भवति, तत्र नृणु अचिकम् । आदिशब्दाद् रुगल-कङ्गामलकज्जादृषादिनाम् । अनाभोगेन नृणादि गृह्णोऽन्तिकारो जयति, आभोगेन त्वनाचार इति शेषः । तथा-क्रोधादिभिः कषायेत्यर्थेणं स्वाधिमकणां चक्रकादीनां गृहस्थानां वा संबन्धि सत्त्विकादि सत्त्विकाचिकामिअश्नुत्, तस्यऽपहरतोऽपहरणपरिणामाद् वादोऽन्तिकारो भवतीति संबन्धः । यतः “तदश्मिन् वि एमेव थ, बुधितो अणु पस्स होइ विसेओ । नणरनालगायम-हण, अविदिसं गिएहओ पदमं ” ॥ १ ॥ अनाभोगेनेति तत्त्वलि-लेखः । “ साहम्मि अणुसाह-मि अणुणुगिहं अणणकंइमा-हं । सत्त्वित्ताह अवरहओ, परिणामो होइ वीओ ” ॥ २ ॥ साधमिकारो साधुसाध्वीनाम्, अणुसधमंणो चक्रकादीनामित्ति तत्त्वलिस्त्युक्तः । नृनीभवतातिचाराः । अं ३ अचिं । एतदेव सयंस्माद्दत्तादानांवरमणं दत्ताऽनुद्गतसंबन्धानां स्वरूपोप-दर्शनपूर्वकं सभावनाकं प्रअव्यकरणेण तृतीयसंबन्धारेऽभि-हितम् । तस्य चेतसादिमं सूत्रम्-

जेवुं । दत्तमणुएणायमंवरं नाम होइ ततिथं, सुव्वप । महव्वंथं गुणव्वंथं परदव्वहरणपभिविरइकरणुत्तं अपरिमियमाणं त-तहामणुयमणहिक्रमणवयणकत्तुसआयाणुनिग्गहिथं सु-संजमियमणहत्थपायनिहूयं निग्गंथं निट्ठिकं निरुत्तं निरासवं निरुत्तं विद्वुत्तं उत्तननरत्तभपवरत्तवगणुविहितजणसम्भतं परमसाधुधम्मचरंणं जत्थ य गामागरनगरनिगमत्तेककवरु-मेरुवदोणमुहसेवापट्टणासमयं च किंचिद्वंभ-मणिसुत्तसि-ह्लपवाअकंसदूससयवरकएणस्यणमादि पापिंयं परम्हं विप-णंठे न कप्पति करसति कइवं वा, गेएहेत्तं वा, अदिरिषधुव-

अदत्तादायवेरमथ

एणकेण सपत्तकं चणाणं अपरिमाहसंबुदेण ळागमिं विह-
रियथ्यं, अं पि यं ह्वाज्जाहिं दुव्वजातं खलगतं खलगतं रथ-
भेतरायं च किंचि, पुणफलतयपपवाइकं दुल्लुतणकहसकं-
खइं अप्पयं च बहुं च आप्पा वा सुवगं त्तं न कप्पयात्ति उग्गइं अदि-
खय्मिंथ मेलेदेठं , जे इहिणं इणं उग्गइं अप्पमावियं गेहिह-
यन्तं वञ्जयन्तं य सव्वकाइं अविचत्तपरप्येसो अवि-
चत्तचत्तयां अविचत्तपदधिफलसंज्ञासंथारगवत्तपायकं-
कलदंमरपोहरणानिजेअंकासपदमुहपोत्तियपादपुंछणा -
दि भायएजंमोक्षेइठककरणं परंपरायां पस्स दोसो
परक्कपसेण तं च गिएहेतित पस्स नासेइ अं च सुकयं दाए-
स्स च अंतराह्वं दाएस्स विष्णुणं पेषुएणं च व मन्ड-
रिचं च । जे वि य पीडकणसंज्ञासंथारगवत्तपायकं बल-
दंमरपोहरणानिजेअंकासपदमुहपोत्तियपायपुंछणादि भा-
यएजंमोक्षेइठककरणं अमं विजागी अंसंगहइं तववतयेण
य रुवतेणे य अप्पारो च व भावतेणे य सक्करो जेठकरे
कलहकरे वेरकरे विकहकरे असमाहिकारके सया अप्प-
माएभोई सततं अणुवद्धेवं य निव्वारंसां, स तारिमए
नाराहए वषमिणं ॥

(अबु इत्यादि) तत्र अर्चुरित्यामन्त्रणम् । (ब्रह्ममूलआयसंबरो-
नाम चि) इत्तं च विनीतमसाधिक्यम्, अनुज्ञातं च प्रातिहा-
रिकपीठककादिप्राह्ममिति गम्यते । इत्येवंरूपः संबरो वृत्ता-
नुज्ञातकरण इत्येवं नामकं अर्थात् तृतीयं, सम्यक्कारिणिति ग-
म्यते । हे सुवन्त ! जन्तूनामनः महाविजयिने, तथा गुणानामिद-
कासुधिमिकापकाराणां कारणभूतं व्रतं गुणमनम् । किं स्वरूपमि-
दम् ? इत्याह-परच्छस्यहरणप्रतिविरातिकरणयुक्तम्, तथा अपरि-
मिता अपरिमाहस्यव्यवस्था, अनन्ता वाऽरूपा, या तुष्णा विघ-
मानद्रव्यान्वययुक्ता, तथा यदनुगतं मदेच्छं वा अविघ्नमानन्द-
व्याविवये मर्द्दाभिलाषं यमनो मानसं, बलजं च वाक्, ताभ्यां
यत्कष्ट्यं परप्रेमविषयत्वेन पापकामादातं प्रदणं तत्सुपुं निरुही-
तं नियमिन यत्र तत्तथा । तथा सुसयमितमनसा संवृत्तन चित्त-
खा हेतुना हस्तौ च पादौ च निरुतौ परधनादातव्यापारादुपर-
तौ यत्र तव सुसंयमितमनोहस्ताद्यदिनुमम् । अनेन च विरो-
धणद्वयेन मनोवाङ्मयनिरोधः परधनं सर्वं दृशितः । तथा नि-
र्ग्रन्थं निगेतथाऽन्यत्प्रत्यक्षधर्मः शौष्ठिकं प्रत्यक्षधर्मपर्यन्त-
र्भिः निरारामुक्तं सर्वहैरूपादेयतथेति निरुक्तम्, अथ्यभिरचरि-
तं धा; निराध्वं कामदानादितिभूतं; निर्धयमधिद्यमानराजादिभ्य-
मन्तः विमुक्तं शोभनप्रत्यक्षधर्मः उत्सन्नतज्ज्वभानां (पवय
सवग चि) प्रधानव्रतवतां च सुविहिततन्मन्त्रं च सुसाधुतो-
कस्य सम्मतमनिमतं यत्तथा । परमसाधुनां धर्मवरणं धर्मानुष्ठानं
वक्षतथा । यत्र च तृतीये सम्भरे, प्रमाकनगरनिगमकलेटक-
षेधपरपदप्रसूमुखसंवाहणस्यमनंतं च, 'गमादिव्याख्या पु-
बंधवत् । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वकषं उच्यं रिचयम् । तद्वाह-मणिमौ-
क्तिलामवात्सकात्युत्पन्नवरकनकलादिकाक्रियाह । पति-
तं व्रतं (पमहुं चि) विस्मृतं, विप्रणष्टं स्वामिकेवैवयद्विरपि-
तं प्रापे । न कल्पते न युज्यते, कथञ्चित् अत्यंतस्य संयनस्य वा,
कथयितुं वा प्रति याद्वियुक्तं, अथैवप्रहणमवसेन मा वृद्धितकृत्वा,

गृहीतुं वाऽऽरातुं, तखिलुत्तव्यात् साओः । यतः साधुर्नैवंजनेन वि-
हतेष्वमित्यत्र आह-दिरव्यं रजतं, सुवर्णं च इमं, तं विघेते वर्य
दिरव्यसुवर्णकः, तन्निधेयनादिरव्यसुवर्णकः, तेन, समे तुल्ये
उपेक्षणयनया लेपुकाश्चनेन वर्य स तथा । तेन अपरिमाहं ध-
नादिरहितः संवृतकाङ्क्षित्यसंबरणं यः मोऽपिप्रहसंभुतः । ते-
न लोके विहतेष्वमासितव्यं संवर्णितव्यं वा, साधुनाति गम्यते ।
यदपि च जनेदं उच्यजातं उच्यप्रकारं, अलगतं धार्यमलकक्षा-
नाभितं, केषुगतं कर्षणनिमित्तभितं, (रथभंतरणयं च चि) अ-
र्यमप्यवगतम् । धानानान्तरं-जलयलगयं अलमतरणयं च चि'
दृश्यते । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वकषं, पुणफलत्वकप्रयासकवदूततृण-
काष्ठशरकरादि प्रतीतम् । अलमं वा दूतयतां, बहु वा तथैव;
अणु वा स्तोकां प्रमाणातः, स्थूलकं वा तथैव, न कल्पते न यु-
ज्यते । अवग्रहं प्रदश्यैरुत्साहिकरूपे, अदत्तं स्वामिनाऽनुजुहोति,
प्रदोतुमाशुतुं, 'जे' इति निपातप्रदशेण निषेधे उक्तः । अनुभू-
तद्विग्रहाह- (इति ह्येण चि) अहम्यहमि, प्रतिदिनमित्यर्थः ।
अथग्रहमनुज्ञाप्य, यथेह भवद्वयैवप्रदहं इवम्, ईक्षं च साधुप्र-
योग्य इत्यं प्रहोभ्यामि इति पूष्टेन तत्स्वामिना एवं कुर्वते इत्य-
नुमते सनीयर्थो गृहीतव्यमाहृतव्यं, वर्जयितव्यञ्च सर्वकार-
(अविचत्त चि) साधुं प्राति अप्रीतिमतेो यद् गृहं तत्र धः
प्रवेशः स तथा । (अविचत्त चि) अप्रीतिकारिणः संबन्धि यद्-
कथान तत्तथा, तद्वर्जयितव्यमिति प्रकृतम्; तथा-अविचत्तपीठ-
कप्रकाराभ्यांस्मारककल्पनायककस्तद्वर्जयितव्यमिति प्रतीतमेव । किमर्थविध-
योऽप्युक्तमुत्तरात्सिद्धात्प्रदणमाह प्रतीतमेव । किमर्थविध-
नेदम् ? इत्याह-ज्ञानं पार्थ, शार्वकं च तद्रेव श्रमयतं, उचिति-
इव चरसादितं, पूते योपकरण्युक्तिमि समासतद्वर्जयितव्यमिति
प्रकृतम् । अदत्तमेतन् स्वामिनाऽनुज्ञानमितिशुभा । तथा-पर-
त्रिवाद्यो विकथनेन वर्जयितव्यमिति । तथा-परस्य दोषो दुषणं,
दुषणं वा वर्जयितव्यः, परिश्रमयानेन दुषणं च तथांकरशु-
ज्यं । तयोऽनुज्ञानेनानन्दसङ्गद्यथादिति । अदत्तश्रमण इदिस-
'साम्रीजोवाद्वाक्, तित्ययंशं तदस्य य गुरु, हे' ति । तथा-पर-
स्यान्वयभेदानादेव्यंपदेशेन व्यञ्जनं च यच्च गृहदानी आक्षेप-
याद्युक्त्यकारिण्येव्येन च वर्जयितव्यम्, आचार्यव्येनैव द्याव-
दत्तव्यादिति तथा-परस्य परमर्थात्तु नाशुयति अस्वगत्पह्नुते,
यच्च सुकृतं सर्वप्रमुपकारं वा तत् सुकृतं तस्य नाशने वर्जयितव्यो
तथा-दानस्य आतराधिकं विद्वान्दानविस्रणोऽो दत्तापहापः, तथा
विद्युषं चैव विद्युनकम मत्सरित्येवं च परगुणानामाग्रहणं, नार्थक्यं च पी-
ठकप्रकाराभ्यांस्मारायामिति । तथा-(जे वि येत्यादि) बोऽपि च पी-
ठकप्रकाराभ्यांस्मारायामिति प्रकृतम् । आहकर जोहरणानिपटा-
योऽप्युक्तमुत्तरात्सिद्धात्प्रदणमाह प्राज्ञानमाशोऽप्युपकरणं प्र-
तीतिरुक्तं गम्यते । असंविधागौ आवायेशानादिनामिषणगुणाव्या-
हित्विद्वेषं सख विजज्ञते, अस्मै नाशयति अस्मिन्निति संकथं; तथा
[अंसंगहइ चि] गम्भोपप्रहकरस्य पीडादिकस्योपकरणस्यैव-
भादौपयिमुक्तस्य इत्यमानस्यात्प्रभरित्येन न विधेते संग्रहं व-
च्यं यस्यास्य संग्रहकथिः । (तवयतेणय चि) तपश्च चाक्षु
च सपोथावी, तयोः स्तेनसचौरः-नपोथाकृत्स्तेनः । ततः स्वभावसो-
धुर्बलाङ्गमनगरभवशौक्यं कोऽपि किञ्चन व्याकरोति । तथा जोः
साधोः । सत्यम्, यः स्थितं तत्र गच्छं मास कृत्वा; एवं पूष्टे यो । विच-
लितकूपकोऽप्रकथ्याह-एवमेतत् । अथवा धूर्ततया कृतं-कथं अ-
व्याः । साधवः कृपाका एव अर्थात् । आहकृत्स्म ग्मन्ते-कथं स्व-
यमात्मानमनं जहारकः कृपकतया निस्तूहत्यात् प्रकाशयति । ।

दतिहृदयैविधिभाम्यौक्यपरिहारपरं सकलसुखासाधारणं व-
चनभाविष्कारोति, इत्यतः स एवायं वो मया विचक्षितः । शब्धेभ-
वपरसंबन्धि नप भ्राम्यन्ति परप्रतिपत्तिः सम्पार्थ्यैस्तपस्तेन उच्य-
ते । एवं प्रगवद् ! स त्वं वाम्यौ ? इत्यादिभाषयत्या परसंबन्धिनीं
वाच्यमाम्नि तथैव सम्पार्थ्यत्वं वाक्यतेन उच्यते । तथा (कवते-
लेष व ति) एवं रूपवत्तमुपपन्नस्य स त्वं कृपायानित्यादि भाषय-
त्या रूपस्तेनः रूपं च त्रिधा—शारीरसुन्दरता, सुविहितलक्ष्णै-
पथ्यं च । तत्र साधुनपथ्यं यथा—”वृहदागम-उ-मन्, जलं जलं न
कासियं श्रंगं । मणिषा य चोत्तरपद्मं, शौचि य पाया समकक्षाया”
॥१॥ तत्र सुविहिताकाररजनीं च जनमुपजीवितुकामः सुविहितः,
सुविहिताकाराचारं रूपस्तेनः (आचारं खेव लि/आचारं साधु-
सामाचार्योद्विषिये स्तेनां यथा—स त्वं यः क्रियाकर्मिः शूयते, इ-
त्यादिभाषका । तथैव [भाषणेण य लि] ज्ञानस्य बुतानामादि-
दृश्यस्थ स्तेनां प्रायस्तेनः । यथा—कर्मणि कस्यापि कृतांविशेषस्य
व्याख्यानविशेषमन्यते । बहुभुतायुक्त्यु प्रतिपाद्यति, यथा. ५५
मया पूर्वभूतपथोऽप्युदिता नाम्य एवमप्युदितुं प्रवृत्तिरिति ।
तथा—शब्दकरो राशौ महता शब्धेनोद्गायः स्वावायादिकारको-
दृश्यस्थ स्तेनां भाषका वा । तथा—कर्मण्यकरो येन येन गणस्य भेदो
प्रबलि तत्तत्कारो, येन गणस्य मनोऽन्वमुपपद्ये तद्गात्री ।
तथा—कलहकः कलहंतेनुत्कलतेत्यकारो । तथा—वैरकरः, प्र-
लीनः विकथकारो—स्त्र्यादिकथाकारो । असमाधिकारकालि-
खास्यास्थ्यकर्ता स्वस्थ, परस्थ वा । तथा—सद् अग्रमाणभोजी-
द्विश्रायकयलाधिकारहाजोका । सतनमनुष्यवैरथ्य सततम-
नुष्यं सदाप्यमित्यर्थः, वैरं वैरिकर्मं येन स तथा । नित्य-
वर्णः प्राथकारः (से तारिसे लि) स तारिसे । पुनःकलवर्णः ।
(नाराहण वयमिणं लि) नाराहयनि न निरतिकरं करोति, व्रतं
महातमम्, इदम्—अद्वैतादानविरतिस्वरूपं, स्वाभ्यादिविरलनु-
ज्ञानकारित्वात्तस्येति ।

अद्व कैरिसए पुणार्द्ध आराहए वयमिणं, जे से उर्वहिं
भत्तपाण्णादाणसंगहणकुमले अन्वेतवालद्वन्वज्जिग्राण-
नुत्तुमासखवणे पवत्तिआपरियउत्तवञ्जाए सेहे साहम्मिए
तववत्ति कुलणसंपयच्छेयणं य निजार्द्धं वयावचं चण्णि-
स्सियं दसविद्धं बहुविहं करेद, न य अत्रियत्तस्स घरं पवि-
सद, न य अत्रियत्तस्स भत्तपाणं गिएहद, न य अत्रियत्त-
स्स सेवद् पीढफलमसंजासंधारगवत्तपायकंबलदेहरओ-
द्वरणनिसे जाचोन्नपट्टहुदपोत्तियपायपुण्णाए भायणभंनोव-
हिउत्तपाणं, न य पारिवायं परस्स जंपति, न यावि दोसे प-
रस्स गेएहति, परववपसेए वि न किंचि गेएहति, ए य वि-
परिणामेति कंचि जणं, ख यात्रि णामेति दिएणसुकयं
दाऊण य काऊण य ए होइ पच्चाताविते, संविभाग-
संझे संगहोक्कगहकुसले, से तारिसेए आराहति वयमिणं ॥

अथ प्रश्नार्थः कीदृशः पुनः, “आर्हं” इति अज्ञहृये, आराध्यति
व्रतमिदम् ? इह प्रश्नोक्तमहाह—(जे से इत्यादि) यः साधुवप-
थिकरूपानादानं च मंत्रग्रहणं च तयोः कुशलो विधिहो यः स
ननु । आह—अथैविति समाहाराह—। ततोऽप्यन्यं यद्वाप्तुं च्छंभरा-
नकृत्वात्प्रज्ञाकं न तथा । तत्र विषयं वैद्यावत्तं करंतीति योराः ।
तथा—प्रवृत्त्यावायोपाध्याये, इह हृदयैकवात् प्रवृत्त्यादिषु । तत्र

प्रवृत्तिसत्त्वज्ञानमिदम्—”तत्त्वज्ञमजोगेणु, ओ ओगा ज्ञत्यं तं
पवसेह । अससुं व तियचोई, गणतसिद्धा यवचोई” ॥१॥ इतरी प्र-
तीती । तथा—(संहे लि) शैले अत्रिनवप्रजिते, साधर्मिके समा-
नधर्मिके, लिङ्गप्रवचनाभ्यां तपरिविनि वतुप्रेजकादिकारिणि,
तथा कुलं गच्छसमुदायकपं चम्पादिकं, गणः कुलसमुदायः
कोटिकादिकः, सङ्कस्तत्समुदायकप, कैत्यानि जिनप्रतिभा, ए-
तास्तां वोऽर्थेः प्रयोजनं स तथा । तत्र च जिज्ञारथाः कर्मज्ञयकाम,
वैद्यावृत्तं इत्यावृत्तकर्मरूपमुपपन्नमित्यर्थेः । अनिश्चितं कीर्त्त्यो-
द्विरनेपेकं, दृशविषं दशप्रकारम् । आह च—

“ वेयावचं वावक-भावे इह धम्मसाहणगिमिसं ।
अन्नाइयाण विदिणा, संपायेणमेस भावयोः ॥ १ ॥

आपरिय १ उचज्जाए २, धेर ३ तवस्स ४ गिणाण ५ सेहाण ६
साहम्मिय ७ कुल उ गण ८ सं-व ९ संगयं तमिह कायव्वं” ॥२॥
इति । बहुविधं नृकपानादिदानमेवेनामैकमकारं, करोतीति ।
तथा—न च नैव च (अत्रियत्तस्स लि) अम्रीतिकारिणे
शुद्धं प्रविशति । न च नैव च [अत्रियत्तस्स लि] अम्रीति-
कारिणः सत्कं शुद्धति यद् नृकपानम् । न वा [अत्रियत्तस्स लि]
अम्रीतिकर्तुः सत्कं सेवते भजते, पीठफलकशय्यासंस्तारकवल्-
पात्रकम्भ इदृएकरजोहरणनिपद्याचोहपद्मकुसुमपौष्पिकापाद-
शोभनादि प्राजनमाद्योप्युपकरणम् । तथा—न च परिवायं
परस्य जल्पति, न चापि दोग्याद् परस्य शुद्धति । तथा—परव्य-
पधेर्नापि यस्मान्निरेव्यजानापि, न किञ्चिद् शुद्धति, न च विपरि-
णमयति दानादिधर्मोद्दिमुक्तीकरोति, किञ्चिदपि जनम् । न
चापि नाशपति अग्रहव्यवहारं वृत्तसुद्धं वितरणकं सुचरितं
परसंबन्धि, तथा—इत्था च देयं, कृत्या वैद्यावृत्त्यादिकार्यं, न
भवति पश्चात्तवायम् । तथा—सविभागशालः लघुभक्त्यादिसं-
विभागकारो । तथा संग्रहे शिष्यादिसंग्रहणे, उपग्रहे च तेषामेव
नृकभुतादिदानेनोपपन्नमे नः कुशलाः स तथा । (से तारिसे
लि) स तारिसे आराध्यति व्रतमिदमन्वत्तानाविरतिलक्षणम् ।

इमं च परद्वन्द्वहरणवेरमणपरिरक्तलण्ड्याए पवयणं
जगत्तया मुकट्टियं अचलियं पेष्वाजाविकं आगमेसिं भद्
सुक्कं नयाउयं अकुडिसिं अनुत्तरं सव्ववुक्कलपाणाणं विउ-
समाणं ॥

(इमं चेत्यादि) इमं च प्रत्यङ्कं प्रवचनमिति संबन्धः । परद्व-
न्द्वहरणपरिमणस्य परिरक्षणं पालनं स एवार्थः, तज्जावत्तम् ।
तस्यैव प्रवचनं शास्त्रनामित्यादि श्यकम् ।

अथ पञ्च भावना—

तस्स इमा पंच जावणाओ तातियस्स वयस्स हुंति परद्वन्-
द्वरुक्कलमूलआरायकंदराऽऽनगरागिरिगुहकम्पंतुजाणजाण-
साअकुवियसालमंदवसुस्यवरसुपाणलेण आत्रणे अशुम्भिय य
एवमादियस्सिम् दगमद्वियस्सीजहृरिततसपाणअसंसचे अहा-
कने फामुए विजिते पसचे उवस्सए होइ विद्विरियं ।
आहाकम्भवद्दुजे य जे से आसियसम्पंज्ज ओसित्तोसोदिय-
द्याएतुमएक्षिपणअणुत्तिपाणजलएजंनं चालणं अंतोवादिं
मजे च अंतंजमो जत्य दट्टति संजयाणं अद्धा वजेणव्वे हु

उपस्सए से शारिसए सुचपरिकुडे । एवं विवित्तवासवसहि-
समित्तियोगेण जावितो भवति अंतरपपा निचं अहिकरण-
करणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुष्पायउमगहकुर्ये ॥ १ ॥

(पठमं ति) प्रथमं भावनायवस्तु विविकवसतिवासे नाम ।
तथाऽऽह-देवकुलं प्रतीतम्, सन्म महाजनस्थानम्, प्रया जल-
दानस्थानम्, आयवस्थः परित्राजकस्थानम्, वृक्षसूत्रं प्रतीतम्,
आरासां माधवीलतापुत्रेणो दम्पतिरमणाश्रयोः वनविशेषः,
कन्वरा दूरी, आकरो होहापुरासिस्थानम्, गिरिशुद्धा प्रतीतः ।
कर्मांतो यत्र सुधादि परिकर्म्यते, उद्यानं पुष्पादिमदृक्संकुल-
मुत्सवादी बहुजननोद्यम, यानशाशा रथादिगृहम्, कुपितशासा
तुल्यादिगृहोपस्कारशाला, मरणं यथादिमरणम्; श्वेतगृहं,
श्वशानं च प्रतीतम् । अयनं शैलगृहम्, आपणः पायस्थानस,
एतेषां समाहारः उक्तः । ततश्च, अन्यस्मिंश्चैवमादिके एवप्रकार,
उपाश्रये, जवति विहसंस्थमिति संभवधः । किंचूतः?, इकमुद्रकम्,
सृष्टिका पुथिबीकायः, बीजानि शय्यादीनि, हरितं दूर्वादिचन-
स्वतिः, वस्त्राणां इतिव्याद्यः; नैऋतसंका यः स तथा, तथा । त-
थाकृते गृहसंज्ञे स्वार्थे निर्वाहं, (फासुर एत्) पुष्पोक्तगुणयोगादेय
प्राप्तुके निर्वाहे, विधिके रुपादिदोषगदिते, अत एव प्रशस्ते, उपा-
श्रये वसती, अर्वाति विहृत्संस्थमासितव्यम् । यादृशे पुनर्वासितव्यं
तथाऽसावुच्यते- (आहाकम्मवृद्धे य सि) आधया साधूनां स-
कस्याधानेन साधूनांश्रित्यर्थः, यत्कर्म पृथिव्याश्रामभूमिकया,
तदाधकर्मम् । आह च- " हियमिमां समाहं, परममंगलं च गार्हमं
जं । वडुणं करइ द्याया, कायाण तमाहकर्मसु ॥ १ ॥ " नेन वडुणं
ः प्रभुः, तद् वा बहुसं यत्र स तथा । [जे से सि] य एवंविधः स व-
जीयव्यय एषोपाश्रय इति संभवः । अनेन सल्लगुणाः शुद्धस्य
प्रचिहार उपदिष्टाः स तथा [आसिय सि] आसिकमासकन-
मीवदुद्रकच्छटक इत्यर्थः । [सम्मासिय सि] सम्मासेन शशाका-
इस्तेन कचवरशोऽधनम्, उत्सिकमायधे जलाभिषेचनम्, [सोहिय
सि] शोभने वन्दनमालाचतुष्कुरणादिना शोभाकरणम्, [छाद-
ण सि] गार्हं द्नादिदिपलकरणम्, [दुमण सि] संहिकया धव-
लनम्, [सिपण सि] उगणादिना जूमः प्रथमतो जेपनम्, [अणु-
हियण सि] सङ्गतिमाया भूमिः पुगलेपनम्, [जलण सि]
शैत्यापनोद्वाय वैश्वानरस्य उपवनम्, शोऽधनार्थं या प्रकाशकरण-
या वा शीपप्रशोधनम् । (अणुचालण सि) भाणकादीनां पिउर-
कादीनां, पण्णादीनां वा तत्र गृहस्थधर्मातिवानां साध्वर्थं चालनं
रुतान्नास्तरव्यापनम् । एतथां समाहारः अन्तःश्रितः विप्रकिरणोपलब्ध इत्यर्थः ॥
तथा आसिकाद्रिकः अन्तर्बहिष्क पापधायव्यय, मर्थं मर्थं च,
असंयमो जीवयिराधना, यत्र यस्मिन्-उपाश्रये, वसने जवति,
सयतानां साधूनाम्, अर्थोय इत्येव, [वज्जप्रवेने वृ सि] वज्जयित-
इय एव उपाश्रयो वसतिः, स तादृशः, सूत्रप्रतिपद्यः-आगमनिय-
ञ्जः प्रथमनावनागिमनायाऽऽह-य वस्तुकेनाउष्ठानकारेण, विवि-
कां लोकाद्वायाभ्रतदोषपरिजितः, विविकानां वा निर्दोषाणां वा-
सो निवासो यस्यां सा विविकयासयसतिः, तद्विषया या स-
मितिः सम्पन्नप्रवृत्तिः तथा यो यानाः संभवः, तेन जावितो जव-
स्यन्तरात्मा । किंविधः?, इत्याह- निम्मे सदा, अभिकियतेऽधि-
कारिकियते, दुर्गतावात्सा येन तद् उचितकरणं दूरउष्ठानं, तस्य
यत्करणं कारापणं च तदेव पापकर्मपापोपाश्रमाकिया, ततो वि-
रतो यः स तथा । इत्थानुष्ठानत्वे चोऽप्यप्रहोऽप्रवहणीयं वस्तु
तत्र कश्चित्स्य स तथेति ।

वितियं आरामुज्जाणकाणवणपदेसजागे में किंचि इ-
कर्मं वा कदियणं वा जंतुणं वा परमेरुकुत्तकुसइमण्यला-
लसूयमवद्वयपुष्पफलतयपालकदमूलतणकटसकरां ये-
एद्वति सेज्जावादिस्स अटा न कप्पए, उमगहे अदिखम्भि
गेएद्वठं जे द्वाण्णि द्वाण्णि उमगहं अणुणावियि गेएद्वठव्वं ।
एवं उमगहसमित्तियोगेण जावितो जवति अंतरपपा णिचं
अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुष्पायउमगह-
कुर्ये ॥ २ ॥

(वितियं ति) द्वितीयं ज्ञानावस्तु अनुष्ठानसंस्कारग्रहणं नाम ।
तत्रैवस-आरामो दम्पतिरमणभूतमाधवीलतागृहादियुक्तः,
उद्यानं पुष्पमुद्रकसंकुलमुत्सवादी बहुजननोद्यम, कानने सा-
मान्यवृक्षोपेत, आरासो च; वने नगरादियद्वृष्टस, पानेव प्र-
देशकयो या जगः स तथा तत्र । यतिकश्चिदिति सामान्येनाव-
प्रदर्शनीय वस्तु । तदेव विशेषणह- " इकर्मं वा " इदमस्यसत्त्वं तुष्प-
विशेष एव । कठिनके जन्तुके च जलाशयजं विशेषणमेवम्, प-
र्णोत्सवः । तथा परा तुष्पविशेष, मेरा तु मुञ्जसिरका, कुचो यंन
तुष्पविशेषेण कुचिन्द्राः कुच कुचैन्ति, कुदाद नैयाराकारकृतो विशेष-
यः, पलालं कक्ष्यादीनाम्, सूयकां मेदुपाद्रासिकानुष्पविशेषः ।
वल्गुः तुष्पविशेषः, पुष्पफलवृक्षप्रबलकर्ममूलतणकाट-
शर्कराः प्रतीताः; नतः परादीनां द्रव्यः पुनस्ता आदिधर्म्य तस्य
था । तद् गृह्णाति आर्वादि विक्रमधे ? शय्यापधेः संस्मारकरुप-
स्यापधेः अधया संस्मारकस्यापधोऽर्थाद्यो हेतव इह तदिनां शोभा
इत्यर्थः, नतस्ते, न कल्प्यते न युज्यते । आश्रये उपाश्रयान्निर्वाहं-
ति अश्रयार्थं वस्तुनि, अदत्तजन्तुज्ञाने शय्यादागिना [गितिहं
जे सि] गृहीतमादात्तं, ' जे ' इति निपातः । अश्रयमिमाश्रयः-उपा-
श्रयमनुष्ठायन् नन्मथयगतं तुष्पाद्यपि तु हायनीयम्, अश्रय-
था तद्राहा स्वादिति । एतदेवाह- इणि हाणि सि] अश्र-
ति इहानि प्रतिविद्यसम् । अश्रयमिमाश्रयः-उपाश्रयानुष्ठान-
दिने उपश्रयानि अश्रयार्थमाहिकडादिः अनुष्ठायन् प्रहीतव्यमिति ।
एषमित्यादिनिगमन प्रथमभावनावदवस्यम्, नवरमवप्रह-
समितियोगेन अश्रयप्रहणीयुपादिविषयसम्पन्नप्रवृत्तिसत्त-
न्निधनेत्यर्थः ।

ततियं पीउफलगसेज्जासंधारगद्वयाए स्वस्वमा न च्छिदि-
यव्वा, न य छेयणजेयणेण य सेज्जा कारियव्वा, जस्सेव
उवस्सए वसेज्जा, मेज्जे तरेव्य गवेसेज्जा, न य विममे क-
रेज्जा, न य नित्तायपपायउस्सुगुचं, न रंसपसगेसु क्वमुभि-
यव्वं, अग्गिभूयो य न कायव्वो, एव्वं मेजववहुं मेव्वरव-
हुंसे मंतुक्वठुले समाहिववहुंसे धोरो काएण फासयंते सययं
अज्जपुज्जाणुसे समीए, एवं एमे चरेज्ज धम्मं, एवं सि-
ज्जासमित्तियोगेण जावितो भवेइ अंतरपपा णिचं अहिकर-
णकरणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुष्पायउमगहकुर्ये । ३ ॥

इदं तु तृतीयं भावनावस्तु शुश्यापत्तकर्मवर्जनं नाम । तत्रैवस-
पीउफलकशय्यासंस्कारकार्यमात्रे बुद्धा स कुत्सव्याः । स च इ-
दनेन तद्भूम्याश्रितवृत्तादीनां कर्तनं, भवेन्न च, तेषां पापा-
दादीनां वा शय्या शयनीयं कारयितव्यम् । तथा-यस्यैव गृह-

पतेरुपभावे नित्ये चलेत-निवासं करोति, शय्यां शयनीयं तत्र गच्छेयन्मृगयन्त । न च विषयं सतीं समां कुर्वते । न विधातप्रधातेस्तु कत्वं, कुर्वाविति वर्तते । न च दंशप्रशङ्केषु विषयेषु कुम्भितव्यम्-सोमः कार्यः । अतश्च दंशापनयनार्थमग्निर्धूमो वा न कर्तव्यः । एषमुक्तप्रकारेण संयमबहुलः पृथिव्यादित्यंस्वरूपप्रभुरः । संवरबहुलः प्राणितयात्वात्प्रब्रह्महारनिरोधप्रभुरः । संवृतबहुलः कषायैर्निग्रयसंवृतप्रभुरः । समाधिबहुलमित्येवास्त्वप्रभुरः । धीरो बुद्धिमानसोमो वा, परीचेष्टेण कायेन स्पृशन् न मनोरथमात्रेण मृतीयसंवरमिति प्रक्रमगम्यथ । सततमध्यात्मनि आत्मानमाहित्येन आत्मात्मन्नेन, ध्यानं चित्तनिरोधलेन युक्तो यः स तथा । तत्रात्मध्यानं 'अमुगधेह, अमुगकुले, अमुगसित्से, अमुगस्यदाण्डिप, न अतश्चिराद्देह' इत्यादिरूपम् । (समीपं) समितः समितिः । एकैः ससहायोऽपि रागाधमाभात् । चरन्मुनिष्ठः, धर्मं चारिष्यत् । अथ मृतीयभावनानिगमनायाह-एवमन्तरोदितन्यायेन शय्यासमितियोगेन शयनीयविषयसम्यक्प्रवृत्तियोगेन, शेषं पूर्ववत् ।

चठर्थं साधारणपिडवायलजे सह भोक्तव्यं संजर्ण समितं, न सायसूपादिकं, न रक्षु धनं, न वियं, न तुरियं, न चवले, न साद्वसं, न य परस्म पीलाकरं सावर्जं, तद्द भोक्तव्यं अह से ततियं वयं न सीयति साधारणपिडवायलाजे सुदुभे अदिष्टादाखनयनियमेवरेमणे, एवं साधारणपिडवायलाजे समितिनिगेण जाविभो जवति अंतरप्या णिच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्भविरेते दत्तमणुष्पायजगमहर्षयः ॥४॥

इह चतुर्थे भायनावस्तु अनुभवातभकारिभोजनलक्षणम् । तत्रैव्य-साधारण्यः सङ्गादि साधार्मिकस्य सामान्यो यः पिपडः, तस्य भकादेः, पात्रस्य पतदुप्रहलक्षणस्य, उपलक्षणस्यानुपपन्नस्य च, पात्रे वाऽधिकरण, सामो हायकात्सकाश्यात् प्राप्तिः स साधारण्येणैवात्राप्रलाभः, तत्र सति, भोक्तव्यमभ्यवहतेत्ययम् । परिभोक्तव्यं च केन कथम् ? इत्याह-संयतेन साधुना, (सामियं ति) सम्यक्, यथाऽन्त्यादानं भवतीत्यर्थः । शाक्यमुपाधिके भागे अयुजमाने सङ्गादिके साधोरमीतिरूपयते । ततस्तद्वचं भवति । तथा-न खलु धनं प्रभुरः, प्रभुरभोजनेऽप्यमीतिरेव, प्रभुरभोजनता च साधारण्ये पिण्डे भोजकान्तरापेक्षया धनं अयुजमाने भवतीति । तच्छिष्यायाह-न वेगितं, प्रासस्य गिलने वेगवत् । न त्वरितं मुखकूपे, न चपसं हस्वपीयादिव्यकथयत्तनवत् । न साहस्यवित्तकितम्, अत एव न च परस्य पीमाकरं च तत्सावधं चेति परस्य पीमाकरं सावधम्, किं बहुनाचमत्, तथा भोक्तव्यं संयतेन नित्यं यथा (सि) तस्य संयतस्य, तद्द, मृतीयवत् न स्वीदति प्रवृत्ति । उपीकं वेधं, सूत्रमत्वाद । इत्यत आह-साधारण्यपिण्डपात्रे ज्ञाने विषयभूते सुखं सुनिजुजमितिरकृणीयत्वाद्दुःखमपि तदित्येव-अज्ञादाणविरमणस्य लक्षणं भवेन यथियममममममो नियन्त्रणं तत्तथा । पात्रांतरेण-अज्ञादाणाद् अतमित्तं बुद्ध्या नियमेनावधयतया यदित्यमं निजुत्तित्तत्तथा । यतकिमयग्रहाह-एवमुक्त्यायेन साधारण्यपिण्डपात्राज्ञाने विषयभूते समितियोगेन सम्यक्प्रवृत्तिसंयमं भाविते प्रवृत्ततरामा । किभूतः, इत्याह-निष्कमित्यादि' तथैव ।

पंचमं साहस्रिण्यसु विण्यो पंजियन्वो । उचपरख-पारणासु विण्यो पंजियन्वो, वायणपरियेहणासु विण्यो पंजियन्वो, दाणमहासुपुष्पाणासु विण्यो पंजियन्वो, निस्त्वमणपसेसणासु विण्यो पंजियन्वो, अणेषु य एवमाशु बहुषु कारखतसु विण्यो पंजियन्वो, विण्यो वि तयो, तदु वि धम्यो, तन्द्दा विण्यो पंजियन्वो गस्तु साहसु तवस्सीसु य, एवं विण्येण जाविभो जवति अंतरप्या निष् अहिकरणकरणकारावणपावकम्भविरेते दत्तमणुष्पायजगमहर्षयः ॥५॥

[पंचमं नि] पञ्चमं ज्ञाववस्तु । किं तदित्याह-साधर्मिकेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । एतद्वच विषयभेदेनाह-(अचपरखपारणासु वि) आत्मनोऽप्येव वा उचपरको ग्लानाघवस्यायामन्येनोपकारकरणम्, तत्र पात्रे ये तुलस्तस्याद्विभुस्य पात्रमन्त्रम्, उपकरणपात्रे, तयोः विनयः प्रयोक्तव्यो, विनयभेदेनाकारादिदानेन ब्रह्माकारपरिहारादिहण एवत्र, अन्त्यत्र च गुर्वनुकथा भोजनादिविषयकरणलक्षणः । तथा-वाचन सूत्रग्रहणं, परिषेधना तस्यैव गुणमत्र, तयोर्विषयः प्रयोक्तव्यो ब्रह्मनादिवानलक्षणः । तथा-दानं ह्यवस्थाकादिभोजनानिचनो वितरणं, ग्रहणं तु तस्यैव परेण हीयमानस्यादानम्, प्रच्यन विस्मृतसूत्राद्येप्रभः, एतासु विनयः प्रयोक्तव्यः । तत्र दानग्रहणयोर्गुर्वनुकूलतायः । प्रच्यनार्थं वा ब्रह्मनादिविनयः । तथा-निष्कमणप्रशुनायसु भावविषयकीचिष्यादिकरणम् । अथवा इत्सप्रसारणपूर्वकं प्रसाजनामन्तरं पाद्विज्ञेपलक्षणः । किं बहुना प्रत्येक विषयभयनेत्यत आह-अन्येषु वैभमादिकेषु कारणयतेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । कस्माद्वैभमित्याह-(विनयोऽपि) न केवलमममनादितयः, अपि तु विनयोऽपि तयो वर्तते, आन्त्यतरणोभेदेषु पठितव्याक्तयो । यद्येवं ततः किम् ? अत आह-तपाऽपि धर्मः, न केवलं संयमो धर्मः, नतोऽपि धर्मो धनेत, चारिष्योशात्सास्य । यत एवं तस्माद्द्विनयः प्रयोक्तव्यः । केषु ? इत्याह-गुरुषु साधुषु नपस्विषु च अहमादिकारिषु ; विनयप्रयोगे हि तीर्थेकराणुत्सवकापादात्सात्नविरमणं परिपालितं जवतीति पञ्चमभावनानिगमनार्थमाह-एवमुक्त्यायेन जाविभो जवत्यन्तराम् । किभूतः- 'नित्यामित्यादि' पूर्ववत् ॥

एवमिणं संवस्स दारं समं चारियं होइ सुपण्हियं इ-मोहं पंचादि वि कारणेहि मणवणणकापरिवित्तसिंहिं निष् आमरणंतं च एस जोगो नेवयो धिइमया मइमया अण्णासवो अकल्लसो अच्छिरो अपपरिस्ताइ असंकिमिडो सुप्पो सव्वजिणमणुष्पाभो, एवं तदयं संवददारं फासियं पातियं सोहियं तिरियं किटियं समं आराहियं आणाए अणुपासियं भवति, एवं नायमुणीणा भगवया पण्हियं एक्कवियं तसिच्छं सिक्खिरसासणमिणं आणवियं मुदेसियं पसत्तं पतियं संवददारं सम्यं ति वेमि ।

इहं च निगमनसुं पुस्तकेषु किञ्चित् साक्षादेव यावत्करणेन च हृदितम् । व्याख्या चास्य प्रथमसम्भारोप्ययनवृत्तसेयेति समाप्तमहाऽप्ययनविवरणम् । प्रश्न ३ सम्प्र ० ह् ० । अज्ञा (दिव्या) लोचण-अदत्तालोचन-५० । अज्ञा

तथापि नेवमभ्यन्तरे लेख्यः समुक्लिप्तमते न तैरिहाधिकारः। कि-
 न्वाहिककुमारानिवागारासमुत्थितमत्तरेतेषु इहाधिकार इ-
 ति कल्पना तद्वक्तव्यताऽभिधीयते । एतदेव नियुक्तिद्वाराहं [अ-
 द्भुतर इत्यादि] अस्याः समासनामयथोः-आर्द्रकपुरं नगरे आ-
 र्द्रको नाम राजा , तस्मिन् ५५५१८कजातिनामः कुमारः, तद्वंशजाः
 किल सर्वेऽप्याहं कामिनामा एव जयन्तीति कथ्यते । स खानगारः
 संभूतः । तस्य च श्रीमत्सहाधिरार्षकैनाम्बलिसमस्रसरेषु गो-
 शालकेन सार्वे हस्तितापसेहव वादोऽभूत् । तेन च ते एत-
 द्भ्ययनायोपन्यासेन पराजिताः, अत इदमभिधीयते । ततस्त-
 स्माहं कास्समुत्थितमिदमभ्ययनमार्षकोयामिति गाथासमा-
 सार्थः । अथासार्थं तु स्वत एव नियुक्तिद्वाराहं कपूर्वमभोपन्यासं-
 मोक्षरव कथयिष्यतीति ।

ननु च शास्त्रमिदं द्वादशश्लो, गाणपितृकमार्द्रकधानकं तु
 श्रीवर्केमानतीर्थोवसरं, तत्कथमस्य शाश्वतत्वमित्याशङ्क्याह-

कं दुवालसंयं, जिणुवयं सारसं महाजार्गं ।
 तत्पञ्चयुषाहं तदा, सप्तनक्षत्रसांभवाञ्चो य ॥ १ ॥

(काममित्यादि) काममित्येतद्व्युपगमे, इष्टमेयेतदस्माकं य
 तथा-द्वादशाक्षमपि जिनवचनं शाश्वतं नित्यं महाभागं महा-
 न्नुभाषमामर्यैपन्धादिभ्यस्त्वमित्यत्र केवलमिदं, सर्वोत्प-
 प्यभ्यनार्यं च ज्ञातामि, तथा सर्वोक्षरस्मिन्नात्मा मेलापका
 द्व्यर्थोदेशा नित्या एवेति ॥ ५ ॥

ननु च मताजुहा नाम निमदक्षानं भवत इत्याशङ्क्याह-
 तु बि य कोरि अत्यो, उणपञ्जति तमि समयमि ।
 सुवमपिण्णो अणुणत्तं, इति एसिजासि ए जहा ॥ ६ ॥
 (तु बि य इत्यादि) यथापि सर्वमपौडं उपायंतेः शाश्वतं, तथा-
 पि कोऽप्यथेस्तस्मिन्समये तथा केचन च कुलभिद्वाहकादः सका-
 शार्द्रकभिर्भोषमारुक्त्वि, स तेन स्वपदिकथते । तथा-एवमप्य-
 सावधोऽप्यमुद्दिश्येकोऽनुमततश्च ज्ञातः, अविर्भाषितेभूत्सरा-
 प्ययनादिषु यथेति ।

साम्रते विशिष्टरमभ्ययनोग्थानमाह-

अद्भुतगण गोसा-लनिषुखुञ्जवतिदिदमीणं ।
 जह हन्थितावसाणं, कद्वियं इणुमो तदा षोडशं ॥ ७ ॥

(अद्भुतगणोत्यादि) आर्द्रकेण समवसरणामिषुखमुक्षलि-
 नेन गोशासकजिकोस्तथा अम्रमनिनां त्रिद्विदिनां यथा इ-
 दिनतातासामां च कथितमिदमभ्यनार्यंजातं तथा वदये मृगं-
 ति । सूत्रं २ अ ० ६ अ ० ।

अद्भु-आर्द्रक-नं । अर्धेयति रोगान् । अर्धे-अन्तर्गत्यर्थे रक्त,
 दीर्घं, संसर्गां कन् । आर्द्रायां जूरी जातं वा बुद्धि । आर्द्र-
 यति जिह्वाय, आर्द्र-मिच्छ-बुद्धि वा । मूलप्रधाने बुद्धिने, आर्द्र-
 काऽप्यत्र । श्लो । वाचं ० । शुद्धिने, आर्द्रां ० २ अ ० १ अ ० ३ ० ।
 (आर्द्रकशब्दाद्यो नगरभेदादिकं च 'अर्ध' शब्दे समुक्तम्) ।

अद्भु (य) कुमार-आर्द्रककुमार-पुं० । आर्द्रकनामधेये कु-
 मारे, स्था० २ अ ० ६ अ ० ।

अथाहं ककुमारस्य निरवशेषा वक्तव्यता-

- (१) नियुक्तिमताभिप्रायेण संक्षिप्तमार्द्रककुमारकथानकम् ।
- (२) आर्द्रककुमारेण सव विषयमात्रस्य गोशासकस्य तीर्थ-
 कृत्विषयऽस्तु ५५५१८कप्रकरणम् ।

- (३) तत्रार्द्रककुमारस्य समाधानम् ।
- (४) अथगतरागद्वेषस्य प्रत्यक्षमात्रस्यापि दोषाभावः ।
- (५) बीजाणुपयोगिनां न भ्रमणव्यपदेशमात्रः ।
- (६) समवसरणानुपयोगवशतोऽपि भगवतां न कर्मवन्धः ।
- (७) केवलं भावशुक्तिमै मन्मथानस्य बौद्धस्य काण्डनम् ।
- (८) हित्यामनराऽपि मित्तो न प्रकृषीयः ।
- (९) आर्द्रककुमारेण सव द्वाणानामां विधातः ।
- (१०) एकदशदिनिः सहार्द्रककुमारस्योत्सवप्रत्युत्तराणि ।
- (११) तथा हस्तितापसेः सहोक्तिप्रत्युत्तराणि ।

(१) तत्र तावत्पूर्वमवसरमन्त्रिण आर्द्रककथानकं
 गाथाभिरव नियुक्तिद्वाराहं-

गामे वसंतपुरये, सामयिभो वरणिस्तद्धिो निरखंतो ।
 जिक्खाऽऽपरिया दिट्ठा, ओहासिय जचयेहानं ॥ ८ ॥
 सेवगमावसे, माई जचं चडनु दिगलोए ।
 चउळणं अरपुरे, अहमुओ अरुअं नाञ्चो ॥ ९ ॥
 पीती य दोएह वतो, पुचउणमजयस पचउ वेसो उ ।
 तेणावि सम्पादिट्ठि-सि होउज पदिमाउरहम्मि गअओ ॥ १० ॥
 दुईं सवुच्छो र-किवओ य रायाण वाहणपलाओ ।
 पव्वावंतो धारंतो, रउजं न करंति को अओ ॥ ११ ॥
 अगणिंतो निरखंतो, विरहं पदिमाउ दारिमा चओ ।
 सुवरणवमुहाराओ, रओ कहणं च देवोए ॥ १२ ॥
 वरआइ पिता तंसे, पुचउण कहणं च वरण दोवारं ।
 जाणइ पावविवं, अगमणं कहण निग्गमणं ॥ १३ ॥
 पदिमागए समंवे, सपरिवारा वि जिक्कुणुवचयणं ।
 जोग सुतो पुचउण सु-चंषंष पुत्तं य निग्गमणं ॥ १४ ॥
 रायं, गहाणम चोरा, रायचया कहण तेसि दिक्खयाया ।
 मांसालजिक्कुवंषं-|सिदं कियातावसेदिं महवादा ॥ १५ ॥
 बादे पराडयचं, सव्हे वि य समणमउवुगतताओ ।
 अद्भुतसइया सव्हे, जिणुवीरवामिनिखंतो ॥ १६ ॥

(गामे इत्यादि गाथायुक्तम्) आसां आर्थः कथानकावशेषः ।
 तद्वदस-भगवज्जनयदे वसन्तपुरमात्रं, तत्र सामयिको नाम कुटु-
 म्बी प्रतिवसति स्म । स च संसारभयोद्देशो धर्मयोगाचार्यैतिक
 धर्म श्रुत्वा सप्तमीकः प्रव्रजितः । स च सदाचारतः संक्षिप्तः
 सायुजिः सार्वे विहरति स्म, इतरा सार्वभिवः सदेति । कदाचि-
 क्वासायिकस्मिन्नगरे जिह्वाधर्मदर्शनं दृष्ट्वा तामसी तथाविधक-
 र्मोदयापूर्वैरानुस्मरणेन तस्यामभ्युपगमः, तेन खालीयोऽस्मि-
 न्नापि चित्तोवस्थ साधोर्नवेदितः, मेनापि चैतत् प्रवर्तितया, त-
 याऽपि चाजिह्मन-न मम देशात्तरं एकाकिन्या गमनं वुच्यते । न
 चासौ तत्राप्यनुभवं त्यक्त्वतीत्यतो ममास्मिन्नवसरं अत्रकथा-
 कथानमेव श्रेयः, न पुनश्चेतिजोपनम् । इत्यतस्तया अत्रकथा-
 कथानपूर्वकमामोहव्यनमकारि, मृता साऽगाव च वंशलोकात् ।
 बुध्वा चैनं ध्वनिकरमसी संवगनुपगतः । चिन्तितं च तेन-तथा
 प्रतमद्भुतादिदमनुष्ठितम्, मम स्वसो संजात एवेत्यतोऽद्भु-
 तं अत्रकथाकथानं करोमीत्याचार्यदस्मानिचिदं च आर्याभो, पर-
 मसेवगापन्नोऽसायपि जकं प्रयाकथाय दिवं गतः । ततोऽपि च

प्रत्यागत्याऽऽशुभे नगरे आर्द्रककुल आर्द्रकभिधानो जातः साऽपि च देवशोकाच्चतुःशतानां वस्तुनूपुरे नगरे भेष्टिकुत्रे वारिका जाता । इतरोत्प्रेषि च परमप्रसङ्गेषु यौवनस्थः संवृत्तः । अन्वदाऽसावार्द्रकपिता राजपुत्रनगरे भेष्टिकस्य राक्षः स्नेहाविष्करणाद्यै परमप्राप्तुर्व्येते महत्समं प्रेषयति स्म । आर्द्रककुलमारेणासी पृष्टः यथा-कस्तानि महाहृदयैष्यन्मुनिं प्राभूतानि मन्वित्रा प्रेषितानि वास्तव्यतीति । असायकपयत्-यथा-आर्द्रदेशे तव पितुः परमामित्रं भेषिको महाराजः, तस्यैतानीति । आर्द्रककुलमारेणाम्याणि-किं तस्यादित कश्चिद्योग्यः पुत्रः ? । अस्तीत्याह । यद्येवं, प्रमहहितानि प्राभूतानि नवता तस्य समेषु यामीति ज्ञपित्वा, महाहृदि प्राभूतानि समर्थो विदितम्-अकशयोऽसी महत्तनाद्यथाऽऽर्द्रककुलमारुक्त्वयि स्थिन्नानीति । स च महत्समो गृहो तोत्रययानुतो राजपुत्रहम्यात् । गन्वा च राजद्राग्यानिवेषितो राक्षकुलं प्रविष्टः । इष्टञ्च भेषिकः । प्रणामपूर्वं निवेशितानि प्राभूतानि । कथितं च यथा स्तंदिष्टम् । तेनाप्यासाशानताम्यूलादिना यथाहृदप्रतिपत्त्या संमानितः । द्वितीयं चाण्डार्द्रककुलमारुक्तानि प्राभूतान्यमयकुमारस्य समर्पितानि; कथितानि च तपोशुभ्रपाद्कानि तत्संदिष्टयचनानि । अनयकुमारेणापि परिणामिकययुद्ध्या परिणामिनमनूतमसौ श्रव्यः समासप्रसूकियमनञ्च, तेन मया सार्द्धं प्रतिनिश्चरतीति । तदिदमत्र प्राप्तकालम्-यदादिनोर्धेरुप्रप्रतिकरप्रनिर्मासंश्रयेनेन नशयानुप्रदः कियते, इति मत्वा तथैव कृतम् । महाहृदि च प्रेषितानि प्राभूतानीति । उक्तञ्च महत्समः-यथामप्रदेव प्राभूतमेतदकान्ते निरूपणीयम् । तेनापि तथैव प्रतिपन्नम् । गन्वासावार्द्रकपुरम् । समर्पितं च प्राभूतं राक्षः, द्वितीयं चाण्डार्द्रककुलमरुत्तानि । कथितं च यथासंदिष्टम् । तेनाप्येकान्ते स्थित्वा निरूपिता प्रतिमा । तां च निरूपयत् कडाऽपादविमश्रयेनेन समुत्पन्नं ज्ञानिसमर्थम् । चिन्तितं च तेन-यथामयनयकुमारेण महानुपकारोऽकारि स र्द्धमप्रतिबोधत इति । ततोऽसावार्द्रकः संजातार्द्रकस्य प्रसूकोऽस्ति न्ययम् । अयम् अम देवशोकभोगैर्यथाऽप्यनं मयद्यमानैस्तुसिर्नाचुत्तस्यामीस्तुष्टौमोनुषैः स्वल्पकाशानिः काममोषैस्तुतिर्निर्विषयीति कुतस्त्यम् ? । इत्येनपरिगमयत् निर्विषकाममोषो यथाचिन्तोगमकुर्वेत् राक्षः संजातमयन च क्वचिद्यायादित्यतः पञ्चमिः शतेः राजपुत्राणां रक्षयिनुमारेण । आर्द्रककुलारोऽप्यश्ववाहनिकाया विनिर्गतः, प्रधानाश्चन प्रपन्नस्थितः । ततश्च प्रमयां गृहद्वर्ष देवतायां सांपन्नमेव जतोऽद्यापि भगिन्वा निवारितोऽप्यसावार्द्रको राज्यं तावन्न करति स्म । कोऽप्ययो मां विहाय प्रसयां प्रहरीष्यतीत्यजिज्ञासायां तौ देवतामवाचयत्ययं प्रमजिनः । विहरन्नयत्-ऽस्तत्प्रतर्मानमाप्रतिपत्तः कायोत्सर्गव्यवस्थितो वस्तनूपुरे तथा देवलोकामुनया भेष्टिकुद्विन्ना परदारिकामभ्यगतया 'भारतमोषमम भर्ता' इत्येभ्यस्तुकेस्त्यनसुरमेव नरसिंहिलदेव तथाऽर्द्धत्रयोदशकोटिप्रतिमाया 'शोभनं भ्रतमवधति' भणित्वा हिरयययुष्टिमुक्ता । तां च हिरयययुष्टिं राजा गृहद्वर्ष देवतया सर्पोद्युत्थानतो विवृत्तः । अस्मिन्निर्तं च तया-यथेतद् द्विरत्यं ज्ञातमद्यथा दारिकायाः, नान्यस्य कस्यचिदित्यतस्तत्पित्रा सर्वै संगोपितम् । आर्द्रककुलारोऽप्यनुकूलोपसर्ग इति मत्वाऽभ्यनान्यत्र गतः । गच्छति च काले दारिकायाः वरकाः समागच्छन्ति स्म । पृष्टी च विनरी तथा-किमेवा मामगमनप्रयोजनम् ? । कथितं च तापुत्रा-यथैते तव वरका इति । ततस्तपोकम्-तात ! सन्नकन्याः प्रदीयन्ते मानेकशः । दत्ता आहं तस्मै यस्मन्बन्धि द्विदपयजानं नवजिह्वुर्हीतम् । ततः सा पित्राऽजापि-किञ्च तं ज्ञानी-

ये ? तयोक्तम्-तयादगता निहान्तनो ज्ञानामाति । तत्रेवमसौ तत्परिह्वामथै स्वपेक्ष भिक्षाधनो निर्नां दायपितुं निरूपिता । ततो ब्राह्मणशिक्षेर्गतेः कदाचिन्नासी प्रचितव्यतामियोगेन तत्रैव विहरन्त्यायातः; प्रत्यभिज्ञातञ्च तथा तयादाचिह्वुश्रुतः । ततोऽसौ दारिका सपरिवारा तत्पुत्रो जगाम । आर्द्रककुमारोऽपि देवताचनं स्मरन्त्यायादिभक्तो मयाश्चर्यं प्रचितव्यतामियोगेन च प्रतिभन्नस्तया सार्द्धं हृदकित् स्म नोगात् । पुत्रभोत्पन्नः । पुनरार्द्रककुलमारेणासावभद्रिता-साभ्रतं ते पुत्रां द्वितीयः, अहं स्वकार्यमनुलिङ्गामि । तथा सुतशुभ्रपादनार्थं कार्यासकसंनमारुक्चम् । पुत्रा चासीः बालकेन-किमश्च-एतन्नस्तया प्राम्थमितरजनाभरितम् ? ततोऽसावेषोचद्-यथा तव पिता प्रमजितुकामः, त्वं आद्यापि शिशुरसमर्थोऽर्थांजेने, ततोऽहमनाया श्रीजनेनचित्तेनानिन्देन विहान्तऽस्तानं जन्मत् । किञ्च पार्श्वीष्यामात्येनदाशोभ्येदमारुक्त्वमिति । तेनापि बासकंगोत्पन्नप्रतिभया नत्कतितसुषेणिव 'कायं महद्व्यो धास्यतीति' तन्मनोऽनुकूलभाषिणापिष्टि यवासी पिता परिवेशितः । तेनापि चिन्तितम्-याचनोऽस्मि बासककुलबेधनतन्तवस्तावन्पेव वर्णाणि मया गृहं स्थातव्यमिति । निरूपिताश्च तततो याचद्रादशा, नावन्पेव वर्णाण्यसीः गृहदासे व्यवस्थितः । पुण्युद्गाद्यशसुसंस्वसंरु गृहाङ्गितः, प्रमजिनश्चेति । ततोऽसौ सुचार्यनिष्पन्न एकाकिविहरणं विहरणं राजगृहामिभुलं प्रस्थितः । तदन्तराज्ञे च तद्रक्षणार्थं यानि प्राक् पित्रा कथितानि पञ्च राजपुत्रशान्ति, तस्मिन्मन्त्रे सृष्टे राजभयाद्विलयद्याय न राजानिकं जन्मु । अत्राटवीडुर्गो वीर्यशुष्टि कल्पितवन्तः । तैश्चासी दृष्टः प्रत्यजिज्ञानश्च । तं च तेन पृष्टाः-किमिति निर्दिष्टवन्तं कर्माभ्रितम् ? । तैश्च सर्वै राजभयाद्विलयजिनः । तथाऽर्द्रककुलमरुदशनादेव हस्तं चण्डनाशिनः । ते च हस्तितापसाद्यै अस्तिनादिकथाज्ञिना जिनवीरसमयसरणे निष्कान्ताः । राज्ञा च विदितवृत्तानेन महाकुटुहलापूरितमहद्वयं पृष्टः-अगवन् । कथं त्वद्दर्शनतो इस्तीं निरीकोः संवृत्तः ? , इति महाद जगवतः प्रभाव इति । एवमभिरहितः सन्नार्द्रककुमारोऽस्मिन्नवमगायथांस्तर-ए दुकरं वारणपासमोयणं, गयसस मत्सस वणमि रायं ! । जहा उ तत्यावनिष्पृण संतुणा, सुदुकरं मे परिहाइ मोयणं । ? १ । (न दुक्कमियादां) न दुक्कमेतन्नप्रादीरैवमत्तवारण्यविमोचनं वने, राजन् । एतन्म मे प्रतिभानि दुक्करम्-यच्च तत्रावलिनेन तन्मुना बहस्य मम प्रतिभोचनमिति । स्नेहस्तन्वति द्वि जन्तुनां दुक्कच्छेदा भवन्तीति भावः । गतमार्द्रककथानकम् । इति दृष्टितं समासतो नियुक्तिरुताऽऽर्द्रककथानकम् । अथ तद्वै सुषुहृत् स्वांसन दशयथाद-

(१) यथा च गोशालकेन सार्द्धं यानोऽनूदाऽर्द्रककुलमारुक् तथाऽनेनाप्ययनेनोपदिश्यते-

पुरा कर्त्तुं अहं ! इमं सुषुहे-मगतयारी समये पुराऽऽसी । से भिनसुणो उवणेत्ता अण्णेगे, अद्भक्तवति हई पुढो वित्थरेण ॥ १ ॥ सा जीविष्या पद्भिताऽ. चरेणं ,

सत्रागमो गणभो जिक्वमुपजे ।

आद्दकवभाणो बहुजनमप्यं ,
न संघपाती अत्ररेण पुवं ॥ १ ॥

संघराजपुत्रकमारककुमारं प्रत्येकबुद्धं भगवन्मर्मपमागच्छन्तं
गोशालकःऽजवील-यथा ह आद्दकः । यद्दं ब्रवीमि तन्बुणु ।
पुरा पूव, यदनेन जघत्सीधकृता कृतं तेष्वमिति दशयति-
कामते जनरहिते प्रदेशे चरिषु शीलमस्येत्येकान्तपत्नी, तथा
आम्यतीति अमणः, पुराऽऽसीत्पद्मरत्नोपुकः, सान्निर्तुषीस्तप-
द्मरत्नविशेषैर्मिर्मस्तितो मां विहाय देवादिप्रथगतोऽसी धर्म
किल कथयति, तथा भिक्षुः बहुतुर्माय प्रतुनशिवापरिकरं
कृत्वा भवद्विधानां मुण्डजनामिमांसां पुच्छकं पृथग्, विस्तरणाचष्टे
धर्ममिति शेषः ॥ १ ॥ पुनरपि गोशालक एव 'सा जीविया'
इत्याद्याह-धेय बहुजनमभ्यगतेन धर्मदेशना युष्मद्गुणा-
ऽऽख्या सा जीविका प्रकृतैश्च स्थापिता प्रस्थापिता, एका-
की विहरत् लौकिकैः परिचर्युयन इति मन्वा लोकगङ्गनि-
मित्तं मद्वाह परिकरः कृतः । तथा चोच्यते- "छत्रं ज्ञानं पात्रं,
वस्त्रं यष्टि च चचेयति जिह्वः । येपेण परिकरेण च । किय-
ताऽपि विना न जिहाऽपि " ॥१॥ तदनेन द्धनप्रदानेन जीवि-
काधर्मिद्वयमारब्धय । किं दूतेन ? अस्मिन्नेण, एवं मया सात्-
क्येकच्युतप्रान्ताशनेन शून्याराभेदयकुलादौ वृत्ति कल्पितवान् ;
नच तथाज्ञानमुच्छ्रान्तं (नकनाकवस्त्रांभिरस्वाहं यत्तुऽऽवी-
कन्तुं नम, अतो मां विहायायं बहुव शिष्यन् प्रनयैवंज्ञानरु-
द्रादोपेन विहरन्तीत्यतः कस्येऽप्यस्मिन्प्रत्ययः, एवं चर्यापित्या-
गोनापरकवपसमाभयत् । एतेदेव दशयति-समायां गतः
स्वेदमनुजपयैद्दं व्यवास्थितो (गणकां चि) गणशो बहुरा,
अनकश इति यावत् । भिक्षुणां मया गतो व्यवास्थितः, आचक्रा-
वो बहुजनय्यो हितो बहुजनयोऽप्येस्तमपि बहुजनहित कथयति
विहरन् । एतन्वास्मानुच्छ्रान्तं पुत्रोपगणे न संघेसे न क्षणाद्-यदि
सांमयीयं वृत्तं प्राकारथयं सिंहासनाशोकवृत्तकामाजलसाम-
रादिकं मोक्षाङ्गमभाविष्यत्ततो या प्राचम्येकचर्यां क्रुदायहुला
नता कृत्वा सा कलशाय केवलमस्येति, अथ कर्मनिर्करणहेतुका
परमार्थानुना सतः साप्रतारवस्था परप्रतारकन्याद् वृम्भकह्यो-
स्यतः पूर्वोत्तरयोरनुष्ठानयोर्मौलव्रतिकधर्मदेशनारूपयोः परस्पर-
रतो विरोध इति ॥ २ ॥

भाष च —

एगंतमेवं अद्दश वि इपिद्द,
दोद्दगमन्ने न समेति जम्हा ।

(पणतमित्यादि) यद्येकान्तचारित्रमेव शोभनं, पूर्वमाश्रितत्वा-
पत्तः स्वदेशप्रयत्निर, कैल्लदेव कसत्तयध । अथ च साभ्यन्तं महा-
परिवारवृत्तं सायु म्प्यते, नतस्तेदेवादावप्याचरणं याम्नात् ।
अपि च-के अय्येत्तं दाय्याऽऽतपवद्व्यन्तांभिराचर्यां वृत्तं नैकं स-
मायं गच्छन्तः तथादि-यदि मौनेन धर्मस्ततः किमपि महता प्र-
सन्नं धर्मदेशना ? अथः नयेव धर्मस्ततः किमिति पूर्वं मौलव्रत-
माललाप ? यस्मादेवं तस्मात्पूर्वोत्तरव्याहतिः ।

(३) तत्रेवं गोशालकेन पथेनुयुक्त आर्द्रककुमारः बहुधा-
आर्द्रकोत्तरदानायाह —

पुर्वि च इभि च अत्रागतं वा,
एगंतमेवं पदि संघपाति ॥ ३ ॥

(पुर्वि चेत्यादि) पूर्व पूर्वस्मिन्काले, यस्मिन्काले, या
वैकचर्या, तच्छास्त्रस्थावाद् धानिकमचतुष्यकार्यम । सान्नि-
यमहा जनपरिवृतस्य धर्मदेशनाधिधानं, तत् प्राग्बद्धभाषा-
दि कर्मचतुष्टयकृपागतस्य विशयनस्तोषंकरामागो यदनायंय,
अपरासां चोर्षेणोत्रश्रुत्यानुनामादीनां श्रुमप्रकृतौ भाविति । यदि
चा पूर्वं साभ्यन्तमनागतं च कालरागद्वेषरहितव्यादेकत्वभावनाऽ-
नतिकमस्यच्छैक्यमेवयानुपचरति अगनाशश्रुतमहितं धर्म-
कथयन् प्रतिस्पर्धाति । न तस्य पूर्वोत्तरयोरवस्थयोरांतररहित-
त्वाद्भेदोऽस्ति, अतो यदुच्यते भयना पूर्वोत्तरयोरवस्थयोरासा-
ह्यं, तत् प्लवत इति ॥ ३ ॥

एतकर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो
भवत्युत नति ? भवतीत्याह —

समिच्च लोमं तसयावराणं,
स्वमंकर समोणे माहणे वा ।
आद्दकवभाणो वि मद्दस्सपज्जे,
एगंतं सारयतो तद्द्वं ॥ ४ ॥

सम्ययथावधिगतं लोकं परद्वय्यात्मकं मत्वाऽवगम्य केवल-
लोकेन परिचिद्य, प्रत्यन्तति तत्रास्मत्सनामकमोद्यात्, द्विष्टिया
द्वयः, तथा निष्ठुन्तति स्यावरा, स्यावरनामकमोद्यात्, स्यावः
पृथिव्यादयः, तथा मुग्धेयापि जन्तुनां, कर्म शान्तिः-रक्षा, तत्कर-
णशीलः क्रमकः । आभ्यन्तंति अमणः-आद्दशप्रकाशपानिपुण-
देवः । तथा- 'मा हण' इति प्रयुक्तं यस्यासौ माहक, ब्राह्मणा-
वा, स एवंमता निर्ममो रागद्वेषरहितः, प्राणिहितार्थं न ला-
भपूजाकात्यायं धर्ममाचक्षणापि, प्राग्बन्तं सुदृग्भावावस्थायां
मौलव्रतिक इव वाक्पस्यत उत्पन्नविद्यमानवाङ्मयागुण-
दोषाविवेकज्ञतया भाषणेनैव गुणावाते, अनुपन्नविद्यमानस्य तु
मौलव्रतिकत्वेनति । तथा- 'यथासुरानरनित्येकमहकमभ्येऽपि-
वस्थितः, पद्माऽपि पद्मजवत्, नदावस्थात्तद्भाषायाः' अमन्वा-
रंहाद्देवादावकलत्राद्देवान्तमेवमांसां सारयति-प्रक्याति
नयति, साधयतीति यावत् । ननु चैकार्द्रकपरिकरोपेतावस्थया-
रस्ति विशेषः, प्रत्यंतसेवेपलस्यमानवात् । तस्यमतिन । विशेषो
बाह्यतो, तत्त्वान्तरतोऽपि तं दशयति-तथा प्राच्यन्, अत्रो लश्या
शुक्रध्यानाख्या यस्य स तथाचः योऽदेवाऽको शरंतः, तच्च प्राग्ब-
दस्य स तथाचः-तथाह-इत्सवशोकाद्यधर्मातिहायोपेतापि मो-
स्तेकं यानि, नापि शरीरं संस्काराय स विदुधाति । स हि अन्वा-
नात्यन्तिकरागद्वेषप्रहाणादेकाक्यपि जनपरिवृतो, जनपरि-
वृतोऽप्येकाको, न तस्य तयारवस्थयोः कश्चिद्देशोऽस्ति । तथा चो-
क्तम्- "रागद्वेषो विनिश्चित्य, किमरणं करिष्यति ? अथ तो नि-
र्जिनायैतौ, किमरणं करिष्यति ॥ " ॥१॥ इत्यतो बाह्यन्तं गम-
नान्तरमेव कथयज्यादिकं प्रधानं कारणाति चिह्नम ॥ ४ ॥

(५) अगणतरागद्वेषस्य प्रभाषमाणस्यापि दोषायां
दशयितुमाह —

धम्मं कहेतस उ पत्थि दासा,
स्वतस्स देतस्स जित्तिदियस्स ।
भायाय दोसे य विवज्जसस्स,
गुणे य भायाय पिसेवसस्स ॥ ५ ॥

तस्य भगवतोऽपगतधनव्रतिककलङ्करोपमसकलपदार्थो-

विभोबन्धानस्य जगद्भ्युदरस्यकृत्स्नस्यैकान्तपरहितमबुक्तस्य
 क्कार्येतिरेषस्य धर्मैकधर्मोऽपि, तुशुभस्य अपिशुभाथैत्याद-
 नास्ति कश्चिदोपः कश्चिन्तस्य, इत्याह-ज्ञानितसंपन्नस्य, अनेन
 को धनिरासमाह । तथा-ज्ञानितस्योपशान्तस्य, अनेन मन्युद्वा-
 समाह । तथा-ज्ञितानि स्वविययप्रवृत्तितिवेधेनेन्द्रियाण्यु येन
 स जितन्द्रियः, अनेन तु लोभनिरासमाह । मायायास्तु लोभ-
 निरासायेव निरासो द्रष्टव्यः, तन्मूलत्वात्तस्याः । भाषादोषाः-
 असत्यसत्याभूषककेशाऽसभ्यशब्दाभारणाद्यः; तद्विषयैकस्य
 तत्परिद्वर्तुः । तथा-भाषाया ये शुक्ला-हितमितदेशकालासंदि-
 ग्धभाषणाद्यः । तद्विषयकस्य सतां भुवतोऽपि नास्ति दोषः ।
 उच्यते हि बाहुल्येन मौनप्रवृत्तये भयः, समुत्पन्नकेवलस्य तु
 भाषणमपि शुष्यायेति ॥ ५ ॥

किन्तु धर्ममसौ कथयति । इत्याह-

यद्वन् ए पंच अणुवन् ए य,
 तदेव पंचासन संचरे य ।
 विरति इह सामाण्यमि पजे,
 लवावसर्पौ समये चि भवि ॥ ६ ॥

महाति च तानि व्रतानि प्राणातिपातविरमणादीनि, तानि च
 साधुनां प्रक्षापितवान् पञ्चापि । तद्वेषस्यऽणुनि लघूनि व्रतानि
 पञ्चैव, तानि भावकानुद्दिश्य प्रक्षापितवान् । तथैव पञ्चाभवाव
 प्राणातिपातादिकृपात् कर्मणः प्रवेशद्वारभूतान्; तत्संबन्धे च स-
 मदशप्रकारं संयमे प्रतिपादितवान् । संबन्धतो हि विरतिमेष-
 त्यतो विरति च प्रतिपादितवान् । चशब्दात्कल्पभूती निजैरामो-
 क्षो च । इदमित्त्वं प्रथमेन, सोके वा, अमणस्य प्रावः भ्रमपद-सं-
 पूर्णः संयमः, तस्मिन् वा विधेये शुभशुणान् महाव्रताणुत्तकृपात्,
 तथा-वस्तुशुणान् महाव्रताणुत्तकृपात्, कृत्स्ने संयमे विधानस्ये ।
 प्राक् ऽपि कश्चित्पाठः । प्रकाने तत्प्रतिपादितयानिति । किन्तु-
 ऽसौ ।, सव कर्म, तस्मात् (अवसर्पौ ति) अवसर्पणशीलोऽवस-
 र्पौ, भ्रमवर्तीति भ्रमणः तपश्चरणयुक्तः, सत्येत्तद् ब्रवीमि । स्वय-
 मेव च भगवानप्यज्ञमहाव्रतोपपन्न इन्द्रियमोहन्द्रियगुतो विरत-
 न्नासौ ब्रह्मावसर्पी सन् स्वतोऽन्येषामपि तथान्तमुपदेशं दत्त-
 वान्, एतेषु ब्रवीमि । यदि चाऽऽनककुमारवचनमाकर्षयो-
 ऽसौ गोशासकस्यप्रतिपकञ्चतं वक्तुकाम इदमाह-इत्येतद्दृश्य-
 माद्यं बर्द्धं ब्रवीमि तच्चणुत्य त्वम, इति ॥ ६ ॥

यद्यप्यतिहातमबाह गोशासकः-

सीमोदं मेवञ्च वीयकायं,
 आहायकर्म तद् इत्यियाओ ।
 एतंत्वारिस्सिद्दं ब्रह्म धर्मं,
 तवसिमणो णाजिसमेति पवं ॥ ७ ॥

अनेनदुष्प्रसाहेनम-परार्थं प्रवृत्तस्यावाकोद्देशितहायपरि-
 ग्रहः, तथा शिक्षाद्विपरिकरा, धर्मदेशना च, न बोधायति यथा,
 तथाऽस्माकमपि सिद्धान्ते भवेत्तद्व्ययमायं, तन्म बोधायति ।
 शीतं च तद्वृद्धं च शीमोदकप्रामुख्योद्देशकः; तत्सत्त्वेन परि-
 भागं करंतु, तथा-वीजकायोपनाम, भाषकर्मभाषणं, शीघ्र-
 सङ्घं च विद्वातु, अनेन च स्वपरोपकारः कृतो जयतीति ।
 अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्य एकान्तचारिण आरामोधानादि-
 ष्वेकाकिंवाद्योद्यतस्य वपस्वित्तो नाभिसमेति-नाभिसंभष्यु-

पयाति; पापमशुभकर्मैति । इदमुक्तं जवति-एतानि शीतोदकादी-
 नि यद्यपीत्तकर्मवन्ध्याय, तथापि धर्मोधारं शरीरं प्रतिपाद्यत
 एकान्तचारिणस्तपस्विभ्यो बन्धाय न भवन्तीति ॥ ७ ॥

(५) वीजाद्युपयोगिनो न भ्रमणस्यपद्विहाजः-

सीतोदं वा तद् वीयकायं,
 आहायकर्म तद् इत्यियाओ ।
 एयाई जाणं पद्विभयाणा,
 अगारिणो अस्समया भवंति ॥ ८ ॥

एतत्परिद्वर्तुकाम आह-एतानि प्राणुप-वस्तानि अमाहोक्-
 कपरिभोगादीनि प्रतिषेधयन्तोऽगारिणो गृहस्थास्ते भवन्त्यभ-
 मयाभ्याममजितास्त्रैव जानीहि । यतः- "अहिंसा सत्यमस्ते-
 ये, अह्मरूपमवस्थता " इत्येतत्कर्ममन्त्रस्यैव वैभवं शीतोदक-
 वीजाधकर्मक्षीपरिभोगवतो नास्तीत्यतस्ते मामाकाराचर्यां
 भ्रमणाः, न परमाद्योद्धानत इति ॥ ८ ॥

पुनर्याद्रेक एवेतद्वृत्तयाथाह-

सिया य वीमोदगइत्थियाओ,
 पदिमवमयाणा समया भवंतु ।
 अगारिणो वि य समया जवंतु,
 सर्वेति कंतं वि तद्वपगारं ॥ ९ ॥

स्यादेतद्वृद्धं यत्, यथा ते एकान्तचारिणः क्षुत्तिपासाह्निप्र-
 धानतपश्चरणपक्रिताह तन्कथं ते न तपस्विनः ।, इत्येतद्वि-
 कृत्याऽऽनक (वीमोदग इति) यदि वीजाद्युपयोगिना-
 ऽपि भ्रमणा इत्येवं प्रवताऽभ्युपगम्यते, एवं तद्व्यागारिणोऽपि
 गृहस्थाः भ्रमणा भवन्तु, तथापिपि देशिकावन्ध्यायामांसावता-
 माप निश्चिन्तनतयैकाकिंविहारित्वं, क्षुत्तिपासाह्निपदं च
 संभाव्यते । अत आह-(सर्वेति क) तुरवधारणं, सेवस्थं, ते-
 ऽपि गृहस्थाः । तथाप्रकारमेकाकिंविहारिकमिति ॥ ९ ॥

पुनर्याद्रेको वीजोद्देशिभोजिनो बोधानिजिससयाऽऽह-

जे यावि वीमोदगजोति निक्खु,
 भिक्खं वि हिंदोति य जीविपड्ढी ।
 ते णातिसंजोगमनिपुण्णाय,
 कायोवगाऽणंतकरा भवंति ॥ १० ॥

वे चापि निक्खुः प्रव्रजिताः, वीजोद्देशिभोजिनः सन्तो कृत्यतो अ-
 चारिणाऽपि भिक्षां चाऽऽन्ति जीवितायिनः, ते तथातूताः, ज्ञानिसं-
 योगं स्वजनसंबन्धं, विप्रहाय त्यक्त्वा कायाकांयेषु बोधगच्छ-
 न्तीति कायोपगाः, तदुपमर्हकारमप्रवृत्तत्वात्, संसारस्यात्मना-
 कर भवन्तीति । इदमुक्तं भवति-कथंश्च क्षीपरिभोग एव तैः परि-
 त्यक्तोऽसावपि कृत्यतः । शेषेण तु वीजोद्देश्युपयोगेन गृहस्थ-
 कृत्या एव ते । यत् जिज्ञाऽऽनगदिकमुपन्यस्तं तेषां, तद् गृह-
 स्थानामपि केषांचित्संभाव्यते, नैतावता भ्रमणजज्ञ इति ॥ १० ॥
 अपुनित्वाकपयं गोशासकोऽपरमुपदे दानुत्तमस्योऽवतीति-
 कांस्तहायत्त विद्याय सोद्गणमसारं बकुकाय आह-

इमं वयं तुं तुम पाउकुच्चं,
 पावार्थो गरिहसि सव्व एव ।

पाषाण्यो बुद्धो किद्वयंता,

सयं सयं दिदि किंरति पाठ ॥ ११ ॥

इमां पुत्रांशं, वाचय । तुशब्दे विशेषणार्थः, त्वं प्रादुर्भूय-
म्भकावायव, सर्वानपि प्राकार्द्वन्द्वान्, गहरेति जुगुप्सते, यस्मात्सर्वेऽपि
तीर्थिका बीजोद्भवकादिजिज्ञोऽपि संसारादिषु सये प्रवर्तन्ते, ते तु
भूता भाग्युपगम्यन्ते । ते तु प्राधातुकाः पृथक् स्व र्वाणां
स्वीयां हृदि प्रत्येकं स्वर्वाणाम् क्रीतेयन्तः, प्रादुर्भूयन्ति प्रकाशा-
यन्ति । यदि वा श्लोकपञ्चाङ्गमाहङ्कुरमार आह-सर्वे प्राधातुका य-
न्ते स्वदर्शनं प्रादुर्भूयन्ति, तन्प्राधातुकाश्च यथमपि स्वद-
र्शनं कुर्वन्तः कुर्मः । तद्यथा-अप्राधातुके बीजोद्भवकादिपरिजोगि-
तमिच्छन् एव केवलं, न संसाराद्व्येह इतीदमस्मद्दर्शनं दर्शयन् ।
यत्वं स्वभाविते काऽत्र परकिन्दः?, को भाऽस्मत्कल्पः? इति ॥११॥

किञ्च—

ते अन्नपन्नस्त विगर्हमाणा,

अकस्मिं उ सतमा माहणा य ।

सयो य अत्वी असतो य एत्वी,

गर्हाम दिदि ण गर्हाम किचि ॥ १२ ॥

ते प्राधातुकाः, अयोन्य एव परस्परं तु, स्वदर्शनप्रतिष्ठाऽप्राशया पर-
दर्शनं गर्हमाणाः स्वदर्शनगुणानाचक्रते । तुदाभ्यापरस्परतो व्या-
हृतमनुष्ठानं चानुतिष्ठति । ते च अमणा निम्नधाद्योः, प्राहणा द्वि-
ज्ञातयाः, सर्वेऽप्येते स्वकं पक्वं समर्थयन्ति, परकीयं च दूषयन्ति ।
तदेव पञ्चाङ्गेन दर्शयति- (सतो षि) स्वत इति स्वकीयं पक्वं
स्वाभ्युपगमप्रति पुष्य, तत्कार्यं च स्वगोपयगौदिकमास्ति । अस्व-
तः पराभ्युपगमश्च नास्ति पुष्यादिकमित्येवं सर्वेऽपि तीर्थिकाः
परस्परव्याघातेन प्रभूताः; अतो यथमपि यथावस्थिततत्प्रकृ-
ष्यतो मुक्तिफलत्वादेकान्तदर्शि गार्होमे जुगुप्सामः, नहसत्वे-
कान्तो यथावस्थिततत्त्वाधिभावको भवतीत्येवं व्ययदिष्टे त-
त्स्वस्वरूपं यथमाचक्षाणा न किञ्चिद्गर्हाम, काणकुण्डोद्भवनादि-
प्रकारेण केवलं स्वपरस्वरूपाधिभावेन कुर्मः; न च अस्तुस्वरूपा-
धिभावेन परापवादः । तथा चोक्तम्—

“ नैवेतिरोह्य विषकण्टककोटसर्पाञ्ज,

सम्यक् पथा प्रज्जत ताण्णरिह्वं सर्वान् ।

कुहानकुभितकुमागंकुदरिहोपाय,

सम्यगिबचारयति कोऽत्र परापवादः ? ” ॥ ११ ॥ इत्यादि ।

बहि कैकान्तवादिनामेवास्त्येव नाक्येव वाऽभ्युपगमवतामयं पर-
स्परगर्हाण्यो दोषो नास्माकमेकान्तवादिनां, सर्वेऽप्यापि
सन्तः कथञ्चिदभ्युपगमात् । एतदेव श्लोकपञ्चाङ्गेन दर्श-
यति—(स्वत इति) स्वद्रव्यत्वेत्प्रकाशाभावैरिति । तथा—(परत
इति) परद्रव्यादिभिर्नास्तोत्येवं पराभ्युपगमं दूषयन्तो गार्हा-
भ्योऽप्यनैकान्तवादिनः । तत्स्वरूपनिर्गुणतस्तु रागद्वेषवि-
रहाश्च किञ्चिद्गर्हाम इति सिद्धम् ॥१२॥

एतदेव स्पष्टतरमाह—

ए किचि रुवेणऽनिधारयायो,

सादिद्विगमं तु करेमि पावं ।

मगं इमे किद्विर्णं आरिर्णदि,

अणुणरे मणुरितेहिं अणु ॥ १३ ॥

न कञ्चन अमयं, ब्राह्मणं वा; स्वरूपेण ह्युपस्थिताङ्गायवो-

दूषद्वेनेन आत्मा तद्विज्ञप्रहणोद्भवद्वेनेन वाऽभिधारयायो गर्ह-
णाऽद्वोद्भवत्यामः, केवलं स्वदर्शिमार्गं तदभ्युपगतं दर्शनं
प्रादुर्भूतः प्रकाशयामः । तद्यथा—

“ ब्रह्मा लूशिवा इतिर्दोषि सरुण व्यालुत्तशिभो हरः,
द्यौऽप्युज्ज्वलितोऽनलोऽप्यज्वलितुपसोमः कलद्वाङ्कितः ।
स्वर्नायोऽपि विस्संशुलः क्वलु धपुःस्वर्धैरपरः क्लृतः;
सन्मार्गस्वर्गलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि ” ॥ ११ ॥

इत्यादि । एतच्च तैरेव स्वगमे पठ्यते, चयं तु भोतातः केष-
लमिति । आर्देककुमार एष परपत्वं दूषयित्वा स्वकृत्साध-
नार्थं श्लोकपञ्चाङ्गेनाह—(मगो षि) अयं मार्गः पन्थाः सम्य-
दर्शनादिकः कीर्तितो व्यावर्णितः । कैः?, आर्यैः, सर्वैरेव स्व्या-
द्यधर्मदूरतिभिः । किभूतो धर्मः?, नासादुत्तरः प्रधानो वि-
द्वान इत्युत्तरः, पूर्वापरव्याहृतत्वाद्, यथावस्थितजोषादिप-
दायंस्वरूपनिर्गुणात्त्वच । किभूतैरार्यैः?, सन्तश्च ते पुरुषाश्च
सत्पुरुषास्तेऽस्तुऽस्मिन्निशययोग्येते राविर्भूतसमस्तपदार्थाधि-
भावकदिव्यज्ञानिः किभूतो मार्गः?, अणु व्यक्तः-निर्दोषत्वा-
त्प्रकटः, अणुर्वा; वक्त्रेकान्तपरित्यागाद् कुटिल इति ॥१३॥

पुनरपि स्वस्वधर्मस्वरूपनिरूपणात्पात्वाऽह—

उहं अह्वेवं तिरियं दिसालु,

तसा य जं धान्न जं य पाणा ।

ज्यादिसंकाजितुगुंमुंभाणा,

णो गरहती बुसिमं किचि लोण ॥ १४ ॥

उर्ध्वमधस्तिर्येत्वेवं सर्वोस्वपि दिक्षु प्रकारापेक्षया, भावदि-
गोपसया वा, तालु ये त्रसाः, ये च स्यावराः प्राणिनः । चशब्दो
स्वगतानेकभेदसंज्ञको । भूने सद्भूतं तथ्यं, तन्प्राणिशब्दया
तथ्यनिर्णयेन प्राणानिपतादिकं पातकं जुगुप्समानो गर्हमाणः;
यदि वा भूतामिश्रशब्दा सर्वसंज्ञकमनुष्ठानं जुगुप्समानो नैव पर-
लोका कञ्चन गर्हति निन्दति (भुसिमं ति) सयमघर्णितः । तदेव
रागद्वेषविषयुक्तस्व धस्तुस्वरूपाधिभावेन, न कर्त्तव्यं इति । अथ
तन्प्राणि गर्हा भवति, तर्हि न ह्यण्योऽर्थः, शीतभुवकं, विषं मारणा
त्मकमित्येवमादि किञ्चिदस्तुस्वरूपमाधिभावेनियमिति ॥१४॥
स एवं गोत्रालकमिच्छानुसारी वैराशिको निराकृतोऽपि
पुनरन्येन प्रकारेणऽह—

अगर्तगारे आरामगारे,

ममणे उ जंते ण उवेति वासं ।

द्वत्वा तु संते बहो मणुस्सा,

उणाऽतिरिषा य लत्वाऽलत्वा य ॥ १५ ॥

स विप्रतिपक्षः सत्कार्देकमेवाह—योऽसौ अमत्सर्वन्धी तीर्थ-
करः स रागद्वेषभययुक्तः । तथाहि-असावाम्नुकामं कार्पेटि-
कार्दीनामगारमागन्तगारं, तथाऽऽरामेऽगारमागमाद्यत् त-
न्नासौ अमणो भवर्थाधिकरः । तुशब्द एवकारार्थः । भीत एवासौ
तपोध्वंसनयात्तन्नागन्तागारी न वासमुपैत, न तन्नासन्नन्वा-
नयायादिकाः क्रियाः कुर्वते । किं तत्र त्रयकारणम्?, इति चेत्स-
दाह—इहा निपुणाः प्रभूतशास्त्रविशारदाः । इशब्दो यस्माद्-
र्थः । यस्माद्दहवः सन्ति मनुष्याः, तस्माद्दसौ तर्ज्जितो न वासं त-
न समुपैत न तत्र समातिष्ठत । किञ्चुताः, मूयः स्वतोऽवभा

हीनाः, ज्ञात्याद्यनिरिका वा, ताज्यां पराजितस्य महौंशिकायाश्चर्य इति । तानव विशिभ्ये-ल्लपन्तीति लपा वाबाज्ञाः, धोपितान-कतर्कौवचिन्नदृष्टकाः । तथा न लपा मौलमतिक्रमा निष्ठितयोगाः, गुटिकादियुक्ता वा, यद्वाशादभिधेयविषया योग्य न प्रवच्यते । त-तस्तत्रयन्मासौ पुष्पार्थीकुरुद्वगतागारादौ नैव प्रजतीति ॥१५॥

पुनरपि गोशालक यवाऽऽह-

मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमता ,
सुषोहोँ अत्थोहोँ य णिच्छयन्ना ।
पुच्छिसुमाणे अणगार अण्ण,
इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥ १६ ॥

मेघा विघते येयांते मेघाविनो प्रहृष्टधारसुसमर्थाः, तथाऽऽचा-
र्यादेः समीपे शिक्षां प्राहिताः शिक्षिताः, तथाप्यसिक्खादिबलतुवि-
बलुत्तुपुनरा बुद्धिमन्तः, तथा-सुसंयत्तं सुवचिष्यऽप्यं विनिश्चयज्ञाः,
यथावास्थतसुवार्थोवादिन इत्यर्थः । ते खैवंभूताः सुवार्थोविषयं मां
प्रश्नमाच्यते; अन्वयेभगारा एके कंचन, इत्येवमसौ शङ्कमानस्तेषां
विषयत्र तत्र तन्मध्ये उपैत्युपगच्छतीति । ततश्च न अज्ञुमार्गं
इति, अययुक्तत्वात्तस्य । तथा-संलक्ष्यविषयं गत्या न कदाचि-
रुर्मदेशनां च करोति, आर्यं देशेऽपि न सर्वत्र । अपि तु कुत्र-
चिद्विद्वत्तयो विषयमर्हतिवाक्त्रागद्वेषवत्यंसाविति ॥ १६ ॥

एतद् गोशालकमनं परिदत्तुकाम आर्द्रक आह-

एोऽकामकिच्चा ण य बालकिच्चा ,
रायाभिन्नोगेण कुओ जएणं ? ।
विवागेरजा पसिणं न वा वि,
सकापिकिच्चं णिह्द आरियाणं ॥ १७ ॥

स हि अगवाभ्रेङ्गापुत्रैकारितया नाकामहयो भवति, कमनं
काम इच्छा; न कामोऽकामस्तेन कृत्यं कर्त्तव्यं यस्यासावकामहृ-
त्यः; स एवेततो न भवति, अग्निच्छाकारो न भवतीत्यर्थः । यो हृ-
न्मेषापुत्रैकारितया बतते, सोऽग्निहृत्पति स्वपारामनो निरर्थक-
पति इत्यं कुर्वीत । अगवास्तु-सर्वेहः सर्वेदशीं परहितैरकतः कथं
स्वपारामनोर्निरुपकारकमयं कुर्यात् ? । तथा च-बालस्येव कृत्यं
यस्य स बालहृत्पः, न चासौ बालवदनांशोविक्रमोर्न परानु-
रोधाप्रापि गौरवाकर्मदेशनादिकं विधत्ते । अपि तु यदि कस्यचि-
द्भद्रसत्सत्स्योपकाराय तद्भाषितं भवति, ततः प्रवृत्तिर्भवति, नात्य-
या । न राजाभियोगेमासौ धर्मदेशनादौ कथञ्चित्प्रवर्तते, ततः
कुनस्तस्य नयेन प्रवृत्तिः स्यादित्येवं व्यवहसते कर्माचित्कवित्संश-
यकृते प्रश्नं व्याशुणीयाद्, यदि तस्योपकारो नवत्युपकारमन्तरेण
न च नैव व्याशुणीयाद्, यदि वाऽनुत्तरसुराणां मनःपर्यायज्ञानिनां
च कल्पमनसैव तस्मिन्नेवसंभावाद्यो न व्याशुणीयादित्युच्यते ।
यद्युच्यते भवता-यदि धीतराणोऽसौ किमिति धर्मैकधां क-
रानाति चेदित्याशङ्क्याह-स्यकामहृत्पेन स्वेच्छाचारितयाऽसा-
धपि तीर्थेच्छाकामकर्मणः कृपणाय न यथाकथञ्चिद्वदोऽसावभ्रान्तः,
इहास्मिंसंसारं आर्यैकैत्रे चोपकारयोभ्ये आर्याणां हि सर्वेदेष-
धर्मदूरवीचनानं तदुपकाराय धर्मदेशानां व्याशुणीयादास्तविति ।

किष्काऽन्यत्-

गंता च तस्या अदुना अगंता ,
विवागेरजा समियाऽऽनुपणं ।
११६

अरारिया दंसणओ परिचा,
इति संकमाणा ण उवेति तत्थ ॥ १८ ॥

स हि जगत्वा परहितैरकरोतो गत्याऽपि विनयासकम्, अथवा-
ऽप्यगत्वा यथा भव्यसत्स्योपकारो नवति तथा भगवन्तोऽर्हन्तो
धर्मदेशानां विद्वत्पति । उपकारं इति अन्वयःपि कथयन्ति, अस्मि
तु स्थिता अपि न कथयन्ति । अतो न तथां रागद्वेषसंज्ञय इति ।
केवलमाद्युग्रहः सर्वहः समतया समदृष्टितया चकचसिद्धमका-
दित्तु पृष्टो वा धर्मं व्याशुणीयात्; " जहा पुष्पस्स कथं च तदा
तुच्छस्स कत्थं " इति वचनात् । इत्यतो न रागद्वेषसंज्ञावस्तस्ये-
ति । यदुनरनाधर्मदेशमसौ न प्रजति तत्रेदमाह-अनायाः कुत्रभा-
षाकर्मनिर्बद्धेच्छताः, दर्शनतोऽपि परि समन्तादिता गताः, प्रश्ना
इति यावत् । नद्वयमसौ न गवाभित्येतत् तेषु सत्यर्थानामत्रनधि
कथञ्चिन्न जवाति इत्याशङ्कामनस्तत्र न प्रजतीति । यदि वा विप-
रीतव्योनिनां भवत्यनयोः शक्यवनाद्युः, ते हि वृत्तमानसु-
कर्मैकमरुगीकृत्य प्रवर्तन्ते न पारलौकिकमहनीकुवेत्यतः स-
कर्मपरास्सुषुषु तेषु भगवाण्ण यति, न पुनस्तद्व्यादित्तु इति । य-
दप्युच्यते त्वया-यथाऽनेकशास्त्रविशारदशुटिकासकविद्यासि-
काद्वितीर्थिकपराभवमयं न तत्समाजे गच्छतीति । एतदपि बाल-
प्रलपिनप्रायम् । यतः सर्वेहस्य जगत्वाः समस्तैरपि प्रावाङ्म-
सुंक्षमप्यवशोकयितुं न शक्यते, यादस्तु दुरोत्सारिणं एषेत्यतः
कुनस्तस्य पराजयः ? भगवोस्तु केवलज्ञानेन येषु स्वपरोपका-
रं पश्यति तत्रैव अन्वयऽपि धर्मदेशानां विषय इति ॥ १८ ॥

पुनरन्येन प्रकारेण गोशालक आह-

पणं जहा वणिए उदयह्दी, आयस्स हेउं पगेरि संगं ।
तओवेमे समणे नायपुत्ते, इवेवं मे होति मत्तां वियक्कां ॥ १९ ॥

यथा वणिक् कश्चिद्दृश्याथं पापं व्यवहारयोत्सं जातं कर्-
रागदकस्मृतिअम्भरादिकं देशान्तरं गत्वा विक्रीणानि, तथा
आयस्य लाजस्य हेतोः कारत्यामहाजनसङ्घं विधत्ते, तदुपमोऽन्य-
मपि भवत्यर्थेकरः अमणो ज्ञातपुत्र इत्येवं मे प्रम मतिर्भवति,
वितर्को मीमांसा वेति ॥ १९ ॥

पयमुक्तो गोशालकेनार्द्रक आह-

नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं,
चिवाऽमदं ताई स आह एव ।
पन्नावया बंनवंति ति बुत्ता,
तस्मोदयह्दीं । समणे ति बेमि ॥ २० ॥

योऽयं नवता दृष्टान्तः प्रदर्शितः, स किं सर्वेसाधर्म्येण, तत दे-
शतः ?; यदि देशतन्तो न नः ज्ञातिर्भावहनि । यतो वणिक्त्वं
यथैवोपचवं पश्यति । तत्रैव क्रियां व्यापारयति, न यथाकथञ्चि-
दित्यतावता साधर्म्यैकस्येव । अथ सर्वेसाधर्म्येणिति । तत्र
युज्यते । यतो भगवाद् विदित्वेदेषतया सावद्यानुष्ठानरहितो नवं
प्रत्यर्द्र कर्म न कुर्यात् । तथा-विद्युनवत्यपनयति पुरातनं यद्र-
बोपप्रादिकर्म भवत् । तथा-त्यक्त्वा अस्मति विमति, आर्यां जग-
वान् सर्वेस्य परित्राणशीलः, विमतिपरित्यागेन चैवंचत एव न-
वतीति भावः । तावी वा मोक्षं प्रति । अन्व-अप-अप-अप-अप-तप-
णय गतावित्यस्य रूपम् । स एव भगवानेकाऽऽह-यथा विमति-
परित्यागेन चैवंभूत एव भवतीत्यतावता च सर्वेनेण ब्रह्मणो
मोक्षस्य, अतं ब्रह्मवनाभित्येतदुक्तम् । तस्मिंश्चोके, तदर्थं वाऽनु-

अहङ्कमार

ज्ञाने कियमाणे तस्याद्याधी क्षणम् इति ब्रवीत्यहमिति ॥२॥
 नचैवं नृता बणिज इत्येतदार्कङ्कमारो दशैवितुमाह—
 समारजंते बणिजा च्युपगमं,
 परिग्रहं चैव ममायमाणं ।
 ते एषातिसंजोगमाविष्यन्त,
 आयस्ये ह्येवं परंरिति संगं ॥ १? ॥

ते हि बणिजः, चतुर्दशमकारमपि चतुस्रमं जन्तुसमूहं, समार-
 मन्ते तदुपमार्गिकाः क्रियाः प्रवर्तयन्ति, कथयिष्यन्ति शक्यताया-
 नवाह्नोद्गमत्कालिकादिभिरनुष्ठानैरिति । तथा-परिग्रहं चिपद्-
 चतुस्रपदधनधान्यादिकं मन्त्राकुर्वन्ति अमेदमित्येवं व्यवस्था-
 पयन्ति । ते हि बणिजो ज्ञातिभिः स्वजनैः सहयः संयोगस्त्वम-
 विप्रहासपरिग्रहः, आयस्ये लाभस्य हेतोर्निमित्तादप्येव सार्कं
 सङ्घं संवर्धं प्रकुर्वन्ति । भगवान्स्तु बहूनां बरहाणोरप्येवमहस्य-
 कस्तज्जन्तुकः सर्वेषामितिषकां धर्मार्थमन्येष्वयम् गवाऽपि धर्म-
 देशानां विधेयं, अतो भगवतो बणिगिभिः सार्कं न सर्वसाध-
 र्थ्यमस्तीति ॥२॥

पुनरपि बणिजां शंषणुद्गावयन्नाह-

विशेषिणो मेऽस्यसेपगाढा,
 ते ज्ञोपगह्वा बणिजा वयंति ।
 वयं तु कामेसु अश्लाघवन्ना,
 अणारिया पेमरसेषु गच्छे ॥ २१ ॥

विशं प्रपद्ये तदन्वेषुं शोऽं येनां ते विश्लेषिणः । तथा-मैथुने श्लि-
 संपकं, सम्यगदा अशुभपक्षाः । तथा-ने ते योत्तनार्थमाहारार्थं, व-
 णिज इतश्चेतश्च मज्जन्ति, यदन्ति वा । तांस्तु बणिजां सवयेषु मम-
 बधेते कामेषुच्युपवन्ना शूद्राः, अनायकमकारिभ्यान्नाथो रसेषु च
 सातागौरवादिषु शूद्रा मुञ्चन्ताः, नन्येषंभूता भगवन्तोऽहे-
 न्यः, कथं तेषां तेः सह साधर्म्यमिति ?, इत्येत एव निरस्तैषा
 कथेति ॥ २२ ॥

किञ्चान्यत्-

आरंभं चैव परिग्रहं च,
 अविउ. स्नया णिस्सिय आयदंदा ।
 तेसिं च से उदए च वपास ।
 चउरंतऽणताय लुहाय ऐह ॥१३॥

आरम्भं साधनानुष्ठानं च, तथा-परिग्रहं चाऽऽयुक्त्यापरिहस्य,
 तस्मिन्प्रकारेण कथयिष्येपचमनायनादिकं, तथा-परिग्रहे च
 चत्तुस्रपदधनधान्यादिकं, निश्चयेन अन्ता बद्धा
 निमित्ताः, बणिजः अमन्ति, तथाऽऽमैव धर्मज्ञः, दृश्यन्तीति
 बाकोः, येषां ते जयत्याम्बुदस्ताः, असहाय्याः प्रवृत्तेरिति । ज्ञाये-
 र्पि चैवा बणिजां परिग्रहार्जनत्वात् स उदयाः साभो यदर्थं ते
 प्रवृत्ताः, यं च त्वं लामं वषट्, स तेषां चतुस्त्वन्धनुर्गतिः । यः
 संसाराऽऽनन्तस्त्वमे तदर्थं नवतीति । न च दासावेकान्तेन तत्र-
 ह्यस्त्वापि नवतीति ॥ २३ ॥

पतव्यं दशैवितुमाह—

पोगंत एऽवन्तिप उदर्यं, वयंति ते दो वि गुणोदयस्मि ।
 से उदए मादि म ५ न पत, तदुदयं मादयः ताऽ णारि ॥२४॥

एकान्तेन नवतीत्यैकान्तिकः, तथा ननुत्ताभाभौ प्रवृत्तस्य विषये-
 यस्यापि दर्शनात् । तथा-नात्यात्यन्तिकः सर्वैकालजायं, तत्रयद-
 शान्ताः, स तेषामुदयो लामो नैकान्तिको नात्यन्तिकश्चेत्येवं तद्विदो
 वर्तन्ति । तौ च ह्यपि ज्ञातौ विगतगुणोत्तमो भवतः । एतदुक्तं
 भवति-किं तेनोदयेन ज्ञानरूपेण यो नैकान्तिकः, नात्यन्तिकश्च,
 पञ्चादन्तर्धायिति । यच्च भगवतः (से) तस्य द्वियज्ञानप्राप्तिल-
 क्ण उदयो लामो यो वा धर्मदेशनाऽयामविज्ञेराऽऽकृणः, स च
 सादिरन्तश्च । तमेवंभूतमुदयं प्रातो भगवानन्येषामपि तथा-
 नुत्तमोदयं साधयति कथयति, श्लाघते वा । किभूतो भगवा-
 न्?, तयो । अय-वय-मय-पय-वय-तय-णय-गताभित्यस्य
 वारकधातोर्लुभित्यर्थे रूपय, मोक्तं प्रति गमनशील इत्यर्थः ।
 प्रायी वा, प्रासन्नजन्त्यानां प्राणकरणार्त् । तथा-ज्ञाती, ज्ञानां क्रि-
 या, ज्ञान वा चस्तुज्ञाने विद्यते यस्य स ज्ञाती; विदितसमस्तयेषु
 इत्यर्थः । तद्वेवंभूत भगवता तेषां बणिजां निर्विवेकिनां कथं
 सर्वेषां कर्ममिति ? ॥ २४ ॥

(६) अंतं कृतदेवसमवसरणपचायश्रीदेवचन्द्रकसिंहासनापु-
 वनेषु कुर्वन्त्याध्याकर्मज्ञवसन्तिनेषुकसायुधकः तदनुम-
 तिहृजेन कर्मणाऽतो न सिष्यते?, इत्येतदोशाकर्मतमाहृषाऽऽह-

अद्विसयं सव्यपयाणुकपी,
 धम्मे त्रिपे कम्मविवेगेदुं ।
 तमायदेदंहें ममायरेता,
 अत्रोदिए-ते पदिरुसभेयं ॥ २५ ॥

अतौ भगवान् समवसरणापुत्रभोगं कुर्वन्त्याऽऽमकः सन्पु-
 षेण करोति । एतदुक्तं भवति-नहि तत्र भगवतो मनागव्या-
 शंसा, प्रतिबन्धो वा विद्यते, समनुममाणुमुकालोपिकाञ्जनतया
 तदुपजेनां प्रति प्रवृत्तेशेवानामपि प्रवचनोद्दिभाविषयिणां कथं
 नु नाम ज्ञ्यानां धर्माभिमुखं प्रवृत्तिं यथा स्वार्थान्येषामंमाम-
 लाभाभौ च प्रवर्तनात्, अतो जगवामहिसकः । तथा-सर्वेषां
 प्रजायन् इति प्रजा जनयः, तदनुकम्पी च, तान्संसारं पर्यट-
 तोऽनुकम्पयेते तच्छुंलश्च । तमेवंकथं धर्मपरमार्थरूपे इयव-
 स्यितं कर्मविवेकहेतुभूतं जर्षात्रिया आत्मदपदैः समाचरन्त
 आत्मकल्पं कुर्वन्ति, यणिगादिभिस्तरदारणैः । एनभाषोवर्तज्ञान-
 स्य प्रतिकथं वर्तते । एकं तावदिदमज्ञानं यस्त्वयः कुमारोप्रवर्तनम् ।
 द्वितीयं चैतत्प्रतिकथमज्ञानं यद्भवनामपि जगद्दधानां सर्वोत्ति-
 श्यनिधानानुनामामितैः समत्यापाद्वर्तते ॥ २६ ॥

साऽऽमृतमार्कङ्कमारमपहस्तिनगोशालकं ततोभगवदजिमुक्तं
 गच्छन्ते इह्वाऽयान्तराः प्राःकथयुवीया निज्जव इदमुच्युर्देनहृजि-
 न्दहान्तदुपेण बाह्यननुष्ठानं सुविन, तच्छोऽनन्तं कृतं जवता; यतो-
 ऽनिकतमुप्रायं बाह्यननुष्ठानम्, आन्तरमेव त्वनुष्ठानं ससामोऽन्याः
 प्रधानाङ्गम्, अस्मत्सिद्धान्ते नैतदेव व्यावर्तते । इत्येतदार्कङ्क-
 मार । जो राजपुत्र । त्यमवहितः श्रुणु, श्रुत्वा वाच्यकरयति भणि-
 त्या ते निज्जुका आन्तरानुष्ठानसमर्थे कमारोयसिद्धान्ताऽऽविर्ना-
 धनायदमाहः-

पिन्नामपिंमिावि विष्कसुले,
 केरि पएजा पुरिने रेमे सि ।
 अन्नायं वा वि कुमारए चि,
 स त्रिपती पाणिवहेण अम्हं ॥ २६ ॥

पिष्याकः अलः, तस्य पिषिङ्गिणसकं, तद्व्येतनमपि सत् कस्मिं-
 क्षित्संज्ञमे सूक्तगादिविषये केनचित्साधनात् प्रावरणं अज्ञोपरि हितं,
 तच्च सूक्तेनात्येव प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति तस्या, अज्ञापिएड्या सह
 गृहीतव, ततोऽस्ती भवेच्छं वरुणयैतानां त्वमपिपथी पुरुषबु-
 द्धा शूले शोनां पावकेऽपचत् । तथा-अज्ञातुक् तुम्भकं कुमारोऽ-
 धमिति मत्वाऽप्रावच पपाच, स वैचं पिसत्स्य बुद्ध्याथाविष-
 यजनितेन पातकेन युज्यते, अम्मित्सद्धान्ते विचमूलस्यान्दुभा-
 युजनस्यथस्य, इत्येवं तावद्कुशलविश्राममायात्कुर्वन्प्रपि प्राणा-
 तिवानयतिघातफलेन युज्यते ॥ २६ ॥

अमुमेव हृष्टान्तं वैपरित्येनाऽऽह-

अह्ना वि विष्णु मितवत्तु मुमे,
 पिष्णागबुद्धीर् नरं पज्ञा ।
 कुमारं वा वि अज्ञाबुयं ति ,
 न लिप्सर् पाणिवदेषु अम् ॥१७॥

अथवाऽपि सत्यपुरुषं अलबुद्ध्या काश्चित्प्रलेच्छः शूलप्रोतमग्नौ
 पचेत्, तथा-कुमारकं धानं, तुम्भकबुद्ध्याऽप्रावेच पचेत् । नैवम-
 वासी प्राणवधजनितेन पातकेन लिप्येत्ऽस्माकमिति ॥ २७ ॥
 किञ्चाऽभ्यत-

पुरिमं च विष्णु कुमारं वा,
 सूक्ष्मि केर्दे पज्ञायतेप ।

पिष्णायपिनीं सतीभास्तेता,
 बुध्या तं कपति पारणा ॥१८॥

पुरुषं वा, कुमारं वा, विद्वान् शूले काश्चित्पेज्जानतजम्पय्यावा-
 क्त्वा अलापिरोपयामिति मत्वा सती शोभनां तदेतद्बुद्धानामपि
 पारणाय भोजनाय कल्पते योग्यं भवति ; किमुनापरेषाम् ? ।
 एवं सर्वोत्सवत्वात्कश्चित्तिनं मनसाऽसंकलितं कर्मस्यं नाग-
 चन्द्रयस्मात्सद्धान्ते । तदुक्तम्-“अविज्ञानोपचितं विपरिज्ञानोप-
 विनमीयोपाधिकं स्वप्नान्निकं जेति कर्मोपचयं न याति” ॥२८॥

पुरनरपि शाक्य एव दानफलमधिकृत्याऽऽह-

सिष्णापगायां तु दुवे सहस्ते,
 जे जोयर् गितिए भिक्खुयाणं ।
 ते पुअत्वं सुमहं जिणिया ,
 जवंति आरोप्य महंसत्ता ॥१९॥

स्नातका बोधिसत्वाः । तुशब्दात्पञ्चशिखापदिकादिपरिग्रहः ।
 तेषां सिष्णुकाणः सहस्राह्वयं, ये निजे शाक्यपुत्रोये धर्मं व्यथसिताः
 केचिदुपासकाः पचनपाचनाद्यपि कृत्वा भोजयेयुः समांसगुह-
 वृत्तिमनेधेन भोजनेन, ते पुरुषा महासत्वाः अज्ञातवः पुरय-
 स्कन्धे महान्तं समावर्ज्यं, तेन च पुरयस्कन्धेनारोप्याख्या देवा
 भवन्त्याकाशोपगाः, सर्वोत्समां देवगतिं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

(७) तदेवं बुद्धेन दानमूलः, शीलमूलश्च धर्मः प्रवेक्षितः, त-
 देज्ञागच्छ, बोधसिद्धान्तं प्रतिपद्यस्वेत्येवं सिष्णुकैरहितः
 सन्नाहंकोऽमाकुलया दृष्टया तात्परीषयोवाचोर्दे वष्यमास्य-
 मित्याह-

अजोगरूवं इह संजयाणं,
 पावं तु पाशाण पसञ्ज कानं ।
 आरोग्हिए दोएहं वि तं अमाहु,

वयति जे पावि पडिस्सुपति ॥ ३० ॥

इहासिम्भवदीये शाक्यमतने, संयतानां भिक्षुणां, यत्तुक्तं प्राक्,
 तदत्यन्तेनायोयत्पचमचदमानकम् । तथादि-अर्हिसार्यमथितस्य
 त्रियुगित्तुस्य पञ्चसमितिसमितस्य सतः प्रव्रजितस्य सम्यग्-
 ज्ञानपूर्विकां क्रियां कुर्वतो भावद्युतिः फलवती भवति, तत्रियर्-
 स्तमते स्वव्याधानावुनस्य महामोहाकुलीकृतातरात्मतया अष्टु-
 कयोर्विक्रमजनतः कुतस्तथा भावद्युतिः । अत्यन्तसमाप्तमते-
 तद् बुद्धमतानुसारिणाव, यत्कलबुद्ध्या पुरुषस्य शूले प्राननप-
 चनादिकम् । तथा बुद्धस्येवाअबुद्ध्या पिशितमभ्यासानुमत्यादिक-
 मिति । एतदेव श्येयानि-प्राणानामिन्द्रियाणामपगमेन तुशब्द-
 ल्यैवकारार्थेत्वात् पापमेव कृत्वा भावद्युतिः । अत्यन्तसमाप्तमते-
 भावं व्यावर्णयति । एतच्च तेषां पापाभावव्यावर्णनमवोद्ये अर्था-
 धिष्ठाभाये तयोर्द्वयोरपि संपद्यते, अतोऽसाचनत् । कायोर्द्वयोः,
 इत्याह-ये वदन्ति विष्याकबुद्ध्या पुरुषपाकेऽपि पातकाज्ञावं, ये
 च तेन्यः शूरवन्त्येतयोर्द्वयोरपि भावद्युतिः । अत्यन्तसमाप्तमते-
 नाहानावुतसूत्रजननावद्युक्ता बुद्धिर्भवति । र्थाद च स्वात्, संसा-
 रमोचकाद्नामपि तर्हि कर्मविशेषः स्यात् । तथा-अभद्युष्टिमेष
 केचिन्नामनुपगच्छन्तां भवतां शिरस्तुपदमुपनयिरेत्पातादिकं,
 कैत्यकस्मादिकं- वानुष्ठानमनयेत्कमापद्यते, तस्मात्तैर्वधवथा जा-
 वद्युद्ध्या बुद्धिरुपजायते इति स्थितम् ॥ ३० ॥

परपक्वं वृषवित्याऽऽद्रेकः स्वपक्षाऽविज्ञेयनायाऽऽह-

उहं अहेयं तिरियं दिमासु,
 विष्णाय द्विगं तसयावराणं ।
 युयाजिसंकाइ तुगंछमाणा,
 वदं करेजाव कुभो विहऽरिये ॥ ३१ ॥

ऊर्ध्वमधस्तिन्यंशु या दिशः प्रहृषणपदिकास्तासु सर्वास्त्वपि
 दिक्षु, बसतां, स्थावरार्थां च जन्तूनां यक्षसंस्थावरत्येव जीव-
 सिद्धं चक्षनस्पन्दनाङ्कुरोद्धवच्छेदमनादिकं, तद्विज्ञाय युताभि-
 शङ्कया जीवोपमदोऽत्र भविष्यतीत्येवंबुद्ध्या सर्वमनुष्ठानं जुगु-
 प्तमानस्तदुपमर्षं परिहरन् वदेत् । (कुनोऽपि) भतः कुतोऽस्तीहा-
 स्लिषेचं नृतेऽनुष्ठाने कियमाणे प्रोच्यमाने वाऽस्मर्येकं बुध्वादापा-
 दितो दोष इति ? ॥ ३१ ॥

अपुना पिषयाके पुरुषबुद्ध्यासमजवमेव र्थायितुमाह-

पुरितं पि विषति न एवमथि ,
 अणारिए से सुरिसिं तदा हु ।
 को संजवो पिष्णार्पिभियाए ? ,
 वाया वि एस बुद्धया असत्ता ॥ ३२ ॥

तस्यां पिष्याकबुद्ध्यां पुरुषोऽयमियेत्प्रत्यजतजडस्यापि विज्ञसि-
 रेव नास्ति, तस्माद्य एवं वक्ति सोऽप्यन्तोऽपुरुषः । तथाऽभ्युपगमेन,
 बुद्ध्याल्यैवकारार्थेत्वेनायं पदासी यः पुरुषमेव अज्ञोऽयमिति
 मत्वा इत्तऽपि नास्ति दोष इत्येवं वदेत् । तथादि-कः संभवः
 पिएड्यां पुरुषबुद्धेः ? , इत्यतो धगपीयमीहगसत्येति, स्वोपग्रा-
 तत्वात् । तन्वा निःशङ्कमहायेनानोचको निर्वियेकतया बधुपते,
 तस्मात् पिएयाककाष्ठाद्वापि प्रवर्तमानेन जीवोपमर्षेनोक्ता
 साशङ्केन पश्चात्तयमिति ॥ ३२ ॥

किञ्चिन्त्या-

बायायिनयोगेण अयावहेजा,
यो तारिमं बायमुदाहरिजा ।
अह्याणमेयं वयाणं गुणाणं,
यो दिक्खिए वूय ऽनुदाहमेयं ॥ ३३ ॥

बाबाऽभियोगो बाग्नियोगः, तेनापि यद्यस्मात्, अयहेतु पापं कर्म, ततो विवेकी प्राणगुणदोषज्ञो, न तार्दवीं प्राणामु-
दाहरेन्नाभिदृश्यात् । यत एवं ततोऽस्याभेतद्वचनं गुणानाम्,
नहि प्रमजितो यथावस्थितानां निश्चास्येतदुदारमस्तुष्टु परिरूपं
निःसारं निरुपपत्तिकं वचनं ब्रूयात् । तद्यथा-पिययाकाऽपि
पुरुषः; पुरुषोऽपि पिण्याकः । तथाऽस्लाबुकमेव बालकः, बाइक
पुत्राऽस्लाबुकमिति ॥ ३३ ॥

साम्प्रतमार्कककुमार ३३ तं भिक्षुकं युक्तिपराजितं सन्तं

सोव्वसुतं विभणिपुराह-

लक्खे अइहे अहो एव तुम्भे,
जोवाणुभागे सुविचिंति प ।
पुव्वं समुद्धे अवरं च पुद्धे,
ओलोऽए पाणितले त्रिप वा ॥ ३४ ॥

अहो ! चुस्मानिः, अधानन्तये वा, एवंजुताऽप्युपगमे सति लब्धा-
धो विज्ञाने यथावस्थितं तस्मिन्मिति तथायगतः सुविचिन्तितो भव-
न्निज्ञीवानामनुभागः कर्मविपाकफलप्रेक्षिते, तथैवजुनेन विज्ञानेन
भवतां यथाः पूर्वसमुद्रमपरं च पुष्टे गतमित्यर्थः तथा भवन्नि-
रेवविचिन्तितानावशोकनेनावशोकितः पाणिनस्तथ इवायं लोक
इति; अहो ! जवतां विज्ञानानिश्चयः, यदुत प्रवन्तः पिण्याक-
पुरुषयोर्बालाऽस्लाबुकयोर्वा विधोषानभिज्ञया पापस्य कर्मणो
यथैतज्जायाभावं प्राक्कल्पितवन्त इति ॥ ३४ ॥

तदेवं परपरकं दूषयित्वा स्वपङ्कशथापनायाऽऽह-

जोवाणुजागं सुविचिंतयेता,
आहारिया अन्नविद्धे प साहिं ।
न वियागरे लन्नपओपजीवी,
एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ३५ ॥

सौनीःऽश्वस्तनप्रतिपश्चाः सर्वेऽहङ्गकुमारोऽनुसुरिको जीवात्मा-
मनुजगणवयस्याविशेषं, तदुपमर्द्धेन पीडो वा, सुष्टु विचिन्तयन्तः
पर्यलोचयन्तोऽप्रविधौ शुक्तिमाहृतवन्तः स्वीकृतवन्तः, द्विषन्त-
विशदोषरहितेन, शुंकेनाहारेणाहारं कृतवन्तो न तु यथा भवतां
पिशितानपि पात्रपतिनं न दद्यायन्ति । तथा-उन्नप्रांपजीवी सा-
स्त्वान्नापजीवी सन्न न दद्यात्कुर्यात् । एषोऽन्नतरंको, अन्न पञ्चा-
खमोऽनुपमर्द्धेनीयकरानुष्ठानादानन्तरं जवतीत्यमुना विद्यायते ।
इहास्मिन्न जगति, प्रवचने वा, साम्ययतानां सन्स्थापूनां न तु पुन-
रेवंविधविभिक्षामिति । यथा भयन्निर्वादेनैव प्राणयङ्कस-
मानया हेतुनूनया मांसादिसाहचर्यं चो धत्ते, तद्विज्ञाय शो-
कीर्थांतरांयमतम् । तथाहि-प्राणयङ्कत्वेन तुल्येऽपि किञ्चिन्मांसं
किञ्चिन्वामांसमित्येवं व्यवहितं । तथा-गोऽङ्गीरकधिरादेर्न-
जान्यत्रव्यवस्थितिः, तथा-स्मान्नापि स्त्रीत्ये जायंइवश्राद्धौ ग-
व्यागतव्यवस्थितिर्नास्ति । तथा-युष्मन्कथयथा यो प्राणायङ्कना-
दिति हेतुर्भयतोऽप्यस्यते । तद्यथा-“नङ्कणायं भवेन्मांसं, प्रा-

णयङ्कत्वेन हेतुना । ओदनदिद्यदित्येवं, कश्चिदादेति तार्किकः”
॥ १ ॥ साऽस्मिन्नैककान्तिकविकरुदोषदुष्टासाहपकर्मणीयः ।
तथाहि-निर्गन्थाद्य यस्तुनस्तदोषं मांसं, तदेव च प्राण्याङ्क-
मिति प्रतिज्ञार्थकदेशादसिक्तः । तद्यथा-नित्यः शक्नो नित्यस्या-
त् । अथ भिक्षं प्राणयङ्कं, ततः सुतरामसिक्तः, व्यधिकरस्यत्वात् ।
यथा-येवदस्य गृहं, काकस्य कापर्यं । तथा-जैकान्तिकार्थपि,
श्यादिमांसस्याभङ्गस्यात्वात् । अथ तदपि क्वचित्कर्थाधिकर्पावि-
ङ्कयमिति चेत्, एवं च सायन्नादेरभङ्गयात्वाद्देवकान्तिकत्वम् ।
तथा-विकरुद्वर्थाभकार्यपि, यथाऽयं हेतुर्मांसस्य महत्त्वयं साधय-
ति, एवं बुद्धानामपूजयमपि । तथा-लोकधिराधनी चेयं प्रति-
ज्ञा । मांसोदनयोरसाम्याद्दृष्टान्नाविरोधभेदेयं व्यवस्थितं यदुक्तं
प्राण-यथा बुद्धानामपि पारश्याय कल्पत एतदिति, तदसाध्विति
स्थितम् ॥ ३५ ॥

अयदपि निष्कौकलमार्कककुमारोऽनुद्य दूषयितुमाह-

सियापयाणं तु दुवे सहमे,
जे जोयप णितिए निक्खुयाणं ।
असंजए लोहितपणिणे से ऊ,
णियच्छते गरिहम्मिहेव लोण ॥ ३६ ॥

स्वतकानां बोधिसत्वकल्पानां निष्कणां नित्यं यः सदस्रद्यं
नेोजयतिऽयुक्तं प्राक् । तद् दूषयति-अस्यतः मन् कथंकिञ्चिन्प्रा-
णिरनायं इव गहो नित्यं जुगुप्सापद्यती सापुजनामिह लोक
एव निश्चयन गच्छति, परशोकं वाऽनार्यगम्यां गतिं यातीति ।
एवं तावन्सावद्योऽनुष्ठानानुमन्तृणामप्राप्तानां यद्गानं तत्क-
र्मैकधायेत्युक्तम् ॥ ३६ ॥

किञ्चिन्त्या-

धुंनं उररुजं इह मारिया णं,
उदिह्ठमसं च पणपडना ।
तं ज्ञाणतेल्लेण उवकवडेत्ता,
सपिप्पज्जायं पगरंति मेसं ॥ ३७ ॥

शार्द्रककुमार एव तस्मत्मायिष्कुर्येभिदमाह-रुधुलं वृहत्काय-
मुपचितमांसशोणितम्, उन्नमुरग्यकम्, इह शाक्यशासनं,
भिक्षुकसंशोधेन व्यापाद्य घातयित्वा, तथोदिहभक्तं च प्रक-
ल्पयित्वा, तदुत्तरमांसं लवणतैलाभ्यामुपसंस्कृत्य पाच-
यित्वा, सपिप्पलीकमपरच्छ्वसमन्वितं प्रकुर्येण भक्षययांयं
मांसं कुर्वन्तीति ॥ ३७ ॥

संस्कृत्य च धक्कुर्वन्ति तर्हाशयितुमाह-

त जुंजमाणा पिमितं वयंत्तं,
ण आंभसिपामो पयं रएणं ।
इवेवमाहंसु अणुअणधम्मं,
अणारिया वास रमेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥

तन्पशितं शुक्रशोणितसंभूतमनार्या इव सुहजाना अपि प्र-
भूते तद्रजसा पापेन कर्मणा न वयमुपलिय्यामः, इत्येवं ध्या-
एषोपेनाः प्राबुःअनार्याणामिह धर्मैः स्वभावो येषां त तथाऽ-
नार्थकैर्मकरियावादनार्याः, बाला इव बाला विवेकरहितत्वाद्-
सेषु च मांसादिकेषु रूक्षा अणुपपन्नाः ॥ ३८ ॥

पतञ्च तेषां महतेऽर्जायेति दर्शयति—

जे यावि भुंजति तद्दृग्गारं ,
सेवेति वे पावप्रजाणमाशा ।
यथां न एषं कुसला करेदी ,
बाया वि एता बुध्या व भिच्छा ॥ ३९ ॥

ये चापि रसयोरवधुःशाः शक्योपदेशचार्त्तनः, तथाप्रकारं
बुध्लोरग्रं संस्कृतं घृतलवणमरिचविसंस्कृतं पिशितं च, शुद्ध-
तन्मन्त्रित, तेऽनायोः, पापं कर्मणश्च, अज्ञानाना निर्विचिकिनः,
सेवन्ते आददते । तथा चोक्तम्—

“हिंसाभूलभयभयमास्वपदमलं ध्यानस्य रौद्रस्य यद् ,
धीमत्सं अधिराषिलं क्रमिष्टं दुर्गन्धपूपाधिकम् ।
शुक्लाक्षप्रमथं नितान्तमलिनं सार्जः सदा निमित्तं ,
को भुङ्क्ते नरकाय राक्षसमनो मांसं तदात्महृद्दः ? ” ॥ १ ॥

अपि च—

“मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहावृष्यहयम् ।
पतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः ” ॥ २ ॥

तथा—

“योऽस्ति यस्य च तन्मांस-मुयोः पश्यतान्तरम् ।
एकस्य साक्षिका नृत्ति-रम्यः प्राक्षेर्विजुज्यते ” ॥ ३ ॥
तदर्थं महादोषं मांसादानमिति मत्वा यत्रिधेयं तदहरयति-
प्लतेदेवंतुं मांसादानमिहाकूपं मनोऽन्तःकरणं, कुशला नि-
पुशा मांसाशित्वविषाकाकेचिन्स्नानविभूतिसुगुणमिहाक, न कु-
शन्ति, तदमिलाधादात्मनो निवर्तयन्तीत्यर्थः । अस्मात् तावद्भ-
क्षणं, बागप्येवा यथा मांसमस्योऽदोष इत्यादिका भारत्यस्मि-
हितोक्ता भिध्या । तुशब्दान्मनोऽपि तदनुमत्यादौ न विधेय-
मिति । तन्निवृत्तौ वैदधानुपमा स्थाया, अमुत्र च स्वर्गोपवर्ग-
गमनमिति । तथा चोक्तम्—

“भुत्वा तुःअपरम्परामितिपुणां मांसाशिनोऽनुर्गतिं,
वे कुर्वन्ति शुभोद्भयेन विरतिं मांसाद्य दानस्यादरात् ।
तदीर्घायुरद्वयितं गदकजा संभाव्य दान्यन्ति ते,
मस्यैवद्भ्रटभोगधर्ममतिपु स्वर्गोपवर्गेषु च ” ॥ ३३ ॥ इत्यादि ।
न केवलं मांसादानमेव परिह्राव्यमम्यदपि समुच्चर्णां परि-
हृत्स्वमित्येति दर्शयितुमाह—

सन्वेमि जीवाण दृग्दृष्याए ,
सावज्जदोसं परिवर्जयता ।
तस्मांकिणो इमिणो नायपुना ,
चद्विद्वज्जवं परिवर्जयति ॥ ४० ॥

सर्वेषां जीवानां प्राणार्थिनां, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति स-
र्वेभ्यश्च । दयार्थतया दयानिमित्तं सावधमारम्भं महानयं दोष
इत्यर्थं मत्वा तत्परिवर्जयन्तः सावधः । तच्छब्दो दोषशब्देन
अन्वयो महासुनयो ज्ञातपुत्रीयाः श्रीमन्महाधीरवर्द्धमानशिष्याः,
चद्विद्वं दानाय परिकल्पितं यद्वक्तव्यानि, तत्परिवर्जयन्ति । ४०।

किञ्च—

पूयानिसंकारं पुर्णदमाशा ,
सन्वेसि पाणाय विहाय दंर्कं ॥
तन्मा ए नृजति तद्दृग्गारं,
१४०

एसोऽणुधम्मो इह संजायं ॥ ४१ ॥

भूतानां जीवानाम्, उपमर्दाद्वासा सावधमनुष्ठानं जुगुप्समाना
परिहरन्तः, तथा-सर्वेषां प्राणिनां दृष्टव्यतीति दृष्टवः समुपता-
पस्त, विहाय परित्यज्य, सस्यगुणित्याः सस्यधवो यतस्ततो न
दृष्टव्ये, तथाप्रकारमाहारमशुद्धजातीयमेषोऽनुधर्मः, इहास्मिन्भव-
न्ने, संयतानां यतीनां तार्थक्यकरणान्त्, अतुपकाश्चर्यत इत्यनुना
विशेष्यते । यद्यि चात्रोपति स्तोत्रोक्त्यतिचारणं वा बाध्यते
विशेषपुण्यमिव सुकुमार इत्यतोऽणुना विशेष्यत इति ॥ ४१ ॥

किञ्चाप्यत्र—

निगम्यधम्ममि इमं समाहिं ,
अस्सिं सुट्ठिवा अण्णिहो चरेजा ।
बुद्धे पुणों सीलपुणोवेषे ,
अश्चत्थं पाउण्यती सि भोगे ॥ ४२ ॥

अस्मिन्मौनीन्धर्मं बाह्याभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति नि-
ग्रन्थः, स चालौ धर्मश्च निग्रन्थधर्मः, स च भुतचारित्राण्यः,
कान्यादिको वा सर्वज्ञोक्तः, नस्मिन्नेवंधर्मं धर्मं व्यवहिते, इमं पुर्वो-
क्तं समाधिमनुप्राप्तः, अस्मिन्भावात्कारपरिहाररूपे समाधौ, सुदृ-
अतिशयेन स्थित्वा, अनिहोऽसायः अभया-निहृष्यत इति निहः,
न निहोऽनिहः, परीर्षेहरयोऽहितः । यद्यि वा-निहृष्यते, स्मिह
इति स्नेहकूपधनरदितः संयममनुष्ठानं खरेव । तथा-बु-
कोऽवगततस्य, मुनिः कोलभयवेदी, शीलान कोधापुपुशमरु-
पेण, शुभेभ्य म्भोऽस्वरगुणैरुत्तरेयतो युक्त इत्येवंगुणकलि-
तोऽस्यथेनां स्वैशुगुणितार्थिनां स्वैशुगुणोपरमकृपां संतोषारि-
कां रूप्यां प्रवेसां लोके लोकोत्तरे वाऽऽप्नोति ।

तथा चोक्तम्—

“राजानं तूणतुल्यमेव मनुते शकेऽपि वेदादरे ,
यित्तोपाजैनरक्षणव्ययकृताः प्राप्नोति नो वेदनाः ।
संसारान्तरव्यप्यपीह लभते संसुकवभिर्नेयः ,
संतोपातपुत्रोऽमृतत्वमचिराद्यास्तुरेन्द्रार्चितं ” ॥ १ ॥ इत्यादि ।

(६) तद्व्यमार्द्धकुमारं निराकृतगोशालकाजीवकबौद्धमतम-
भिसर्माव्य साम्प्रतं द्विजातयः प्रोबुः । तच्छया-जो भार्द्धकुमार ।
शोभनमकारि भवता, यदेतं वेदबाह्ये द्वे अपि मते निरन्ते,
तस्मात्प्रतमप्यार्हेतं वेदबाह्यमेव, अतस्तदपि नाभ्ययणाह भवद्वि-
धानाम् । तथाहि-नवाद् कनियवरः कनियवाणां च सर्वेषां समा-
ब्राह्मणा एवोपास्थाः, न शुद्धाः, अतोऽथागादिधिना ब्राह्मणसे-
वैव युक्तिमतीत्येतत्प्रतिपादनायाऽह—

सिणायगार्णां तु छुवे सहस्से ,
जे जोयए णिणिए माहणार्णां ।
ते पुणत्वेण सुमहज्जणिता ,
जवंति देवा इति वेयवाञ्छो ॥ ४३ ॥

तुशब्दो विशेषार्थाः पदकर्मभिरता वेदाप्यापकाः शौचासा-
रपरतया नित्यं स्नायिनां ब्राह्मचारिणः स्नातकाः, तेषां सहस्रद्वयं
नित्यं ये भोजयेयुः कामिकाहारेण ते समुपाजितपुण्यस्कन्धाः
सन्तो देवाः स्वर्गनिवासिनो प्रवन्तीत्येवंभूतो वेदवाद् इति ॥ ४३ ॥

अथुनाऽऽर्द्धकुमार पतञ्च दृषयितुमाह—

सिणायगार्णां तु छुवे सहस्से ,

जे नोपए णितिए कुसासपायां ।

से गच्छती सोडुवसपमादे,

तिन्वाभितारं अरगानिसेवै ॥ ४४ ॥

जातकानां सहस्रद्वयमपि नित्यं ये भोजयन्ति । किञ्चूतानाम् १, कुलानि पुराणि, भामिवाश्वेष्येणार्थिनो नित्यं ये ऽऽर्पिते ते कुलाटा भार्गवाः, कुलाटा इव कुलाटा ब्राह्मणाः । यदि वा-कुलानि ऋषि-वादिपुत्राणि तानि नित्यं विप्ररूपातन्त्रेषिणां परतकुलाणामाद्यो येषां ते कुलाण्यस्ते । निष्पञ्जविष्कापगतानामिषं प्रूतानां यो सहस्रद्वयं भोजयेत्सः सत्याश्रितिक्रियदानो गच्छति बहुयेदनापु मतिषु । किञ्चूतः सद् १, सोऽपिरामिषपरिः पूजेः रससागान्तरकापु-पपथेः । जिह्मिन्दिबधनामैः संग्रहादो व्यासः । यदि वा-किञ्चूते नरके याति, सोऽपिरामिषपुञ्जभिरसुमन्त्रिणांस्तो यो नरकस्तास्मिन्नि-ति । किञ्चूतध्यासी वाता १, नरकानिधारी प्रवति । तदशीयति-तीक्ष्णोऽसह्यो योऽभितापः कृकचपाटनकुम्पायाकलसत्रपुण्यशा-नमन्त्राणि कृन्नादिकपः, स विद्यते यस्मात्सोऽमीमाभितारपी । इषंयंन्-तवेदनाभितसस्यविश्वशास्त्रगुरोपमानि यावद्प्रतिष्ठाननरकाधि-वासी प्रवर्तति ॥ ४४ ॥

दयावरं धम्म बुगंरमाणा,

बहावर्हं धम्म परंरमाणा ।

एगं वि जे नोययती असीलं,

खिम्भो णिसं जाति कुम्भोऽपुरोहिं ? ॥ ४५ ॥

दया प्राणिषु कृपा, तथा वरः प्रयानो यो धर्मस्तेष्वेव धर्मैः, जुगुप्स-मानो निन्दद्, तथा-यथं प्राणुयुष्मद्भावदनाति वधावहस्ते त-थाजुते धर्मैः, प्रशंसन् स्तुयन्, एकमन्वयशीलं निवृत्तं, यज्जिज्ञासा-योपमर्देन यो नोऽब्रूयत्, किं पुनः प्रजूताद् ॥ नृपो राज्ञो वा वाः कश्चिन्मृतमतिथौमिकमायानं न्यमानः स वराको विशेषे नि-त्यान्धकारत्वाशिशा नरकज्ज्मिस्तां याति, कुतस्तस्यासुरेष्वप्य-धमदेवेष्वपि प्राप्तिरिति ? तथा-कर्मवद्व्युत्पत्त्यां विचित्रजाति-गमनाज्जिनैरदाभ्यतन्त्रम्, अतो न जातिमर्षा विषये इति । यदपि कैश्चिदुच्यते यथा-ब्राह्मणा ब्रह्मणो मुक्ताज्जिनिस्ताः, बाहुभ्यां ऋषि-याः, ऊकभ्यां वैश्याः, पञ्चर्षां शूद्राः, इति । एतदप्यप्रमाणत्वादति-फलमायम् । तद्वच्युष्मत्संभे न विदोषो वर्णानां स्यात् । एकस्मात्प्र-सूतेषु प्रयाजाप्रतिष्ठात्वात्प्रनूतनत्वेऽप्यन्वयत्वात्कलवद् ब्राह्मणो वा मुक्ताद्वारयवतानां चातुषेर्ष्यायातिः स्यात्, न चैतदिष्यते भवञ्जिः । तथा-यदि ब्राह्मणार्थानां ब्रह्मणो मुक्तादेवजन्तवः, सास्मत्तं किं न जायते ॥ अथ युगाद्दोषेतिदित्येवं सति, दृष्टान्तिरदृष्टकल्पना स्या-दिति । तथा यदि कैश्चिद्व्यथापि स्वर्गज्ञानियवसंनं, तद्यथा-स्वर्गद्वारेणोऽनीताः काशः, कालत्वात्तमेनाकाशवत् । एवं च सत्ये-तदापि राक्षसे वक्रमुद्य-यथा नातीतः कालो ब्रह्ममुक्तादिविनिर्ग-मेष्वप्यसम्भवितः, कालत्वाद्गतमेनाकाशवत् । भवति च विशेषे-णानुत्पत्तेः, इहामन्वयेऽप्युत्पत्तेः प्रतिज्ञार्थं केशसिद्धिना माशु-पङ्कतेन सति । अन्वयस्यैव पुष्पात्सकालत एवाजिहितम् । तद्यथा-नीयति । जालकैः । अन्वये यः स पुरीषो दृष्टते इत्यादिना । तथा-शूनाशां वा एव जन्तुः । शूनाशां श्रवणन च । अन्वये शूनीनव-ति, ब्राह्मणः शौरविकारी ॥ १ ॥ इत्यादिलोके श्राव्यस्येवाभी-जातिपातः । यत् लोकम् ॥ काव्यैः कर्मणां दोषै-याति दद्या-वर्तनां नरः । धाचिकैः पाङ्कशुभान्, नरसैरस्यजातिताम् ॥ १ ॥ इत्यादिगुरोरेष्वेवंविधैर्न ब्राह्मण्यं युज्यते । तद्यथा- १ ' ए-

द शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मज्जमेऽइति । अश्वमेधस्य न-चनान्, स्युषानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ १ ॥ इत्यादि वेशोकन्वाख्यायं होप इति चेत् । नमिन्द्रमजितमितेव- १ न हि स्यात्सर्वां प्रू-ताभि ॥ इत्यतः पूर्वोत्तरविशेषः । तथा- ॥ आततायिनमाया-स्त-मपि वेदान्तं रणे । जिघांसन्तं जिघांसोऽपि-अ तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ १ ॥ तथा- ॥ शूद्रं इत्या प्राणापामं जपेत्, प्रपदसितं वा कुप्यति, यत्किञ्चिद्वा द्याय, तथा- ॥ नादिपञ्चतूनां शुकटमरं मारयित्वा ब्राह्मणं नोऽजयेत् ॥ इत्येवमादिका देशना विद्वज्जन-मर्षांसि न रक्षयतीत्यतोऽत्यर्थमस्मत्सज्जमिष्य सहस्रतं पुष्प-द्वयं नमिति ॥ ४४ ॥

(१०) तदेवमादेककुमारं निराकृतब्राह्मणयिवावं भगवदमित-कं गच्छन्तं दृष्ट्वा एकद्विगमन-रत्नते पश्यन्तुः । तद्यथा-नो-आदेककुमार । शेननं कृतं भवता यदेतं सर्वान्ममश्रुता पुरस्थाः शम्भुदिविषयपरायणाः विशिताचनेन राजसकल्पया द्विजातयो निराकृताः नसांभ्रमस्यसिद्धयानं श्रुत्वा मुक्ता वाच-धारय । तद्यथा-सत्वरजस्तमसां साभ्यावस्था प्रकृतिः, 'प्रकृतेर्न-हीस्ततोऽहङ्कार-स्तस्माद्राणश्च बोधराजः । तस्मादपि बोधरुक्का-त्पञ्च- (तन्मात्राणि ते) ज्यः पञ्च नूतानि ॥ १ ॥ तथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । एतत्त्वादे तैरप्याभ्रतमत्तः पञ्चविंशतितत्त्व-परिह्वानादेव मोक्षावर्तिव्यतोऽस्मत्सिद्धात् एव भेदाद्यापर इति । तथा न पुष्पात्सकालेऽतिद्वेषण मियते इति ।

एतदशीयनुमाह-

उहञ्जो वि धम्माम्म ससुद्धियापो,
अस्सि सुठिच्चा तह एसकालं ।
आयारसंझे बुद्धएऽह नारणं,
एा संपरायम्मि विसेसतमयि ॥ ४६ ॥

योऽयमस्मत्कर्म, भवदीयाकाहान्तः, स उतररूपोऽपि कश्चिन्स-मानः । तथाहि-पुष्पाकर्मपि जीवास्तिव्ये सति पुष्यपापकथ-मोक्तस्तद्भावः, न लोकायतिकात्मानिव तदनावे प्रवृत्तः, नापि बौ-द्धानामिव सर्वाधारभूतस्यान्वयान्तरम् एवाभावात्तथाऽस्माकम-पि पञ्च पद्म आदिसादयः जन्वतं च त एव पञ्च महाभूतकथान-तथेन्द्रियानोऽन्दिनियमोऽप्यावयोस्तुल्य एव । तदेवमुज्ज्वल-श्रपि धर्मं बहुसमानं सस्ययुष्मात्तांथानां युयं, वयं च, तस्माद्दोस्म-न् धर्मं सुष्ठु सिधताः, पूर्वेस्मिन् काले जन्माने, एष्ये च, यथापुद्गीत-प्रतिज्ञानिर्वादात्तः न पुनर्ये यथा श्रेष्ठ्यन्वयार्थाधिनेन प्रपञ्चां मुकयन्तो, मुञ्चन्ति, मोक्षयन्ति चेति । तथाऽऽचारप्रधानं हीलसुष्पां यमिनमसकृष्णं न फल्युच्यते कुदकार्ज्यत्वनकपद, अथानस्तर-ज्ञानं च मोक्षाकृतयामिदिति, तच्च बुद्धज्ञाने, केवलस्य च, यथा-स्वभावार्थोऽशीने प्रसिद्धम् । तथा-संपर्यन्ते स्वकर्मनिष्ठांस्ते प्राणिनो यस्मिन्स संपरायः संसारः, तस्मिन्ब्रह्माकाशेन विशेषोऽस्ति । तथाहि-यथा जवतां कारणे कार्ये हेतौतेनास्तुपुपधने, अस्मा-कर्मपि तथैव, इत्यतस्तथा नियत्यं भवञ्जिरेव्याक्लिमेव । तथा-त्पादविनाशावापि पुष्पात्सिद्धयै, आर्वाभवादितीक्षाभयवा-दस्यकर्मपति ॥ ४६ ॥

पुनरपि तथैवैकद्विगमः सांसारिकजी-
वपदाथेसाभ्यापादयत्साऽऽहुः-
अश्वत्तरूपं पुरिसं महंतं,

सथागतं अत्रस्वयमभ्यर्षं च ।

सव्येसु वृतेषु वि सव्यतो ते ,

चंदो ष्व ताराहोँ सप्तत्यथे ॥ ४९ ॥

पुरि शयनात्युत्तरो जीवाः, तं यथा भवन्तोऽज्युपगतवस्तथा
बधमपि । तत्रैव विद्युनिधि-असृष्टत्वाद्यर्थकं कृपमस्यासाध्य-
ककपः, तथा करब्रह्मशिरोप्रीबाधवयवतया स्वन्तोऽवस्थाना-
त् । तथा-महात्मं शोकव्यापिनं, तथा-सनातनं शाश्वतं, कृपायंत-
या निर्वं, नानाविधगतिसंभवंऽपि वैत्थल्यकृपात्मककृपस्याम-
भ्युत्थेः । तथा-अज्ञं केनचित्प्रदेशानां अरुदशः कर्तुमशक्यत्वा-
त् । तथा-अव्ययम्, अनन्तनापि काहेनैकस्यापि तत्रप्रदेशस्य व्यथा-
भावात् । तथा-सर्वेष्वपि वृतेषु कायाकारपरिजतेषु प्रतिशरीरं
सर्वतः सामस्यान्निराशत्वाद् साक्षात्सा भवति । क इह !, अन्धः इव
शरीर, ताराशिरिविद्युनिधिः किञ्चैवैषा समलक्ष्यः संपूर्णैः सं-
कल्पमुपयात्येवमसापि आत्मा प्रत्येकं शरीरैः सह संपूर्णैः सं-
भ्यमुपयाति, तत्रैवमद्भुतिनिर्देशेन साम्यापादनं सामबादपु-
षैकं स्वदेशीनारायणाद्योमाद्रुकुमुमारोपभित्तः, यत्रैतानि संपूर्णो-
नि निरुपचरितानि पूर्वोक्तानि विशेषणानि धर्मसंसारोर्विद्यन्ते,
स एव पक्षः समुत्तिष्ठेन समाभवितव्यो जयति । एतानि चास्म-
द्गीय एव दर्शने यद्योक्तानि सन्ति नादृते, अतो जयताऽप्यस्म-
द्गीर्नमेवाश्रयमुपगतव्यमित्ति ॥ ४९ ॥

तदेवमभिहितः सत्प्राक्ककुमारस्तदुत्तरदानायाऽह—

एवं ष मिज्जति ए संसरति ,

न माहृणा स्वचिय वसपेस्ता ।

कीदा य एकत्वं य सरोसिवा य,

नरा य सर्वं तह देवलोए ॥ ५० ॥

यद्विवा प्राकनयेकः “अव्ययकथं” इत्यादिकां वेदग्नवाद्या-
स्याद्विगतमेतन् व्याख्यातव्यं । तथाहि-ते एकमेवाव्यकं पुरुषमात्मानं
महात्मानकाशमिच सर्वव्यापिनं सनातनमनन्तमक्षयमव्ययं
सर्वेष्वपि भूतेषु चेतनाचेतनेषु सर्वतः सर्वात्मतथाऽसौ भ्यव-
दिद्यत इत्येवमज्युपगतवन्तः । यथा-सर्वोत्थपि तारास्वैक एव अ-
न्धः संभवमुपयात्येवं चासापि, इत्यस्य चोत्तरदानाबाह-
(एव-
मित्यादि) एवमित्ति । तथा-अवतां दर्शने एकात्मैव नित्योऽवि-
कार्यात्माऽज्युपगतमेतद् इत्येवं पदार्थोः सर्वेऽपि नित्याः । तथा च
सति कुतो बधमाक्रसत्प्रावः ! । बधनाजाबाह न नारकतियं कुनरा-
मरलक्षणभ्रतुमेतिकः संसारः । मोक्षाजाबाह निरर्थकं मतप्रहणं
जवतां, एवब्रह्मोपदिष्टमनियमविपत्तिनिश्चयेवं च शब्दव्यते
जवता यथाऽऽवयोऽस्तुवो धर्म इति । तद्वयुक्तमुक्तम् । तथा-सं-
सारान्तर्गततां च पदार्थानां न साम्यम् । तथाहि-अवतां द्रव्यै-
कत्ववादिनां सर्वस्य प्रधानादिनिष्पत्ताकारणमेवास्ति, कार्यं च
कारणादिनिष्पत्तासर्वोत्थमा न विद्यते । अस्माकं च द्रव्यपयायो-
जयवादिनां कारणे कार्यं द्रव्यात्मतया विद्यते, न पर्यायात्मकत-
या । अत्र च-अस्माकमुपादेव्ययब्रौव्ययुकमेव सवित्युच्यते;
जवतां तु ध्रौव्यं युक्तमेव सविति । यावन्वाविर्भावितोऽभावौ
अवतोऽवन्ते, तावपि नोत्पाद्विनाशवन्तरेषु अविद्युत्सदेते ।
तद्व्यमैहिकामुष्मकचिन्तायामावचोर्मे कथञ्चित्सात्म्यम् । किंच-
सर्वव्यापित्वे सर्वामेवमाधिकारित्वे चात्माहेते चाभ्युपगम्य-
माने नारकतियं कुनरा मरीचेदेन बालकुमारकृष्णभृङ्गभाऽऽ-
ह्वरित्वादिदेवेन वा न प्रीत्येव परिक्रमेरेत्, नापि स्वर्गमन्चो-

दित्ता नागागतिषु संस्रान्ति, सर्वव्यापित्वेदेकत्वाद्वा । तथा-न ब्रा-
ह्मणाः, न क्षत्रियाः, न वैश्याः, न शूद्राः, न वेत्याः, न प्रेत्याः नापि कीटपक्षि-
सरीसृपाश्च भवेयुः । तथा-नराश्च सर्वेऽपि देवलोकास्त्रेत्येवं नागा-
गतिभेदेनो जिधेरन् । अतो न सर्वव्यापी चात्मा, नाप्यात्माहेतवा-
दोऽव्यायति, अतः प्रत्येकं सुखदुःखानुभवः समुपगतज्यते । तथा-
शरीरत्वकृत्यन्तस्तत्र एवात्मा, तत्रैव तद्वृत्तविकारोपलम्भेरिति
स्थितम् ॥ ४८ ॥

तदेवं व्यवस्थिते युष्मदागमो यथाधीभिर्धायी न भवति, अ-
सर्वैर्हृप्रणीतत्वात्, असर्वैर्हृप्रणीतत्वं वैकान्तपक्षसमाभ्युपयादि-
त्येवमसर्वैर्हृस्य मार्गोद्भावने दोषमाविर्भावव्यक्त्वाह—

ह्योयं अयापिचिद् केवलेषां ,

कहंति ते धम्मपण्ड्यामाणा ।

यांसिन्ति अयाए परं च एह्यदा ,

संसारधोरम्मि अणोरपरं ॥ ५१ ॥

लोकं अर्जुंदशरज्ज्वात्मकं, चराचरं वा शोकम्, अज्ञात्वा केवलेन
दिव्यज्ञानायमानेनेहस्मिन् जगति, ये तीर्थिका भ्रज्जानाना अवि-
ज्ञासो धर्मं दुर्गतितममममार्गस्वार्थज्ञानं, कथयन्ति प्रतिपाद्यन्ति,
ते स्वतो मूढ अणोरनपि नो ज्ञान्येते । कः, धोरं प्रयायकं संसार-
सागरं (अणोरपरं चि) अयांशुभागपरजागव्यजितं ज्ञानानन्व इत्ये-
वं ज्ञते संसारार्थेव आत्मानं प्रकृतिवन्तीति यावत् ॥ ४९ ॥

साम्प्रते सत्यकान्तवतोऽमुपदेष्टुणां शुणानाविर्भावव्यक्त्वाह—

ह्योयं विनायातिह केवलेषां ,

पुष्पेण नारोएण समाहित्यता ।

धम्मं समत्तं च कहंति जे ऊ,

तारंति अयाण परं च तिस्रा ॥ ५० ॥

लोकं अर्जुंदशरज्ज्वात्मकं केवलाशोकेन केवलिनो विविच-
मनेकप्रकारं जानन्ति विद्वन्तीहास्मिन् जगति प्रकषेण जाना-
ति प्रज्ञः, पुरयदेतुन्धात् पुष्पम् । तेन तथाज्ञेन ज्ञानेन स्वमा-
धिना च युक्ताः, समस्तं धर्मं भुनक्तिरिच्छते, ये तु पराहेतैषिणः,
कथयन्ति प्रतिपाद्यन्ति, ते महापुरुषास्ततः संसारसागरं तीर्णाः,
एव च तारयन्ति सतुपदेशदानत इति केषलिनं शोकं जानन्ती-
त्युक् यत्तुनज्ञानेनैत्युक्तं तद् बीडमतोच्छेदेन ज्ञानाधार आत्मा
अस्तीति प्रतिपादनार्थमिति । एतदुक्तं प्रवति-यथाऽऽदेशिकः
सत्यकृष्णार्हः आत्मानं परं च तदुपदेशवर्तिनं महाकात्ताराद्वि-
चकित्तेश्चप्रयायनेन निस्तारयत्येवं केवलिनोऽप्यात्मानं परं च
संसारकात्तारात्निस्तारयन्तीति ॥ ५० ॥

पुनरप्यार्ककुकुमार एवाह—

जे गरहियं ठाणमिहावसंति ,

जे यावि होए चरणोववेया ।

उदाहदंते तु समं यदए ,

अहाउसो ! विपरियासमेवं ॥ ५१ ॥

असर्वैर्हृप्रणमेवं ज्ञतं भवति । तथा-ये केचित्संसारान्-
धैर्तिनोऽसुभकर्मणेपेता समन्वितस्वच्छिपाकहाथाः, गर्हितं नि-
न्दितं सुमुपसितं निर्विधेकजनाचरितं, स्थानं परं कर्ममुद्धानकप-
मिहास्मिन् जगति, आसवन्ते जीविकां चतुमाभ्ययन्ति, तथा च-
सतुपदेशवर्तिनो लोकेऽस्मिन् अरुणेन विरतिपारिणामकणेपोपेताः
समन्विताः, तेपामुपयेवामपि, अर्जुनानां शोभनाशोभनत्वकवय-

पि सद्यः तद्वत्सङ्घैरवौच्यतेऽभिः समं सद्यः तु न्यमुदाहृतमुप्यन्त-
स्तं, स्वमत्या स्वाभिप्रायेण, न पुन्यैवावस्थितपर्यायैर्निरूपणेन ।
अथवा-आयुष्यम् । हे एकदशदिग्दः । विपरीतमेव विपरीतमेवो-
दाहरेदस्यको यद्युद्योभनं तन्नोभनत्येव, इतरस्वितरयेति ।
यदि का(विपयस्य इति)मप्येवमस्यप्रपञ्चवित्युक्तं प्रवर्ततीति ॥१॥

(११) तदेवमेकदशदिग्दो निराहृत्याङ्गकुमारो याद्यद् ज-
गत्सदन्तिकं ज्ञाति तावद् इस्तितापसाः परिहृत्य तस्युरियं च
प्रोक्षुरित्याह—

संस्वच्छेरेणात्रि य एगमेभं,
बाणेण मारंत्तं महाभयं तु ।
सेसाण जीवाण द्यङ्घपाप,
दासं वयं विधि पक्वपयसो ॥ १२ ॥

इस्तिनं व्यापाद्यात्मनो वृष्टि कल्पयन्तीति इस्तितापसाः, तेषां
अप्ये कानिहृद्भूतम प्लतनुवाचा । तथा-ओ आग्नेककुमारः । सद्भु-
तिकेन सदाऽऽन्यवहुत्वमलोकान्नीयय, तत्र ये अग्नी तापसाः
कन्दमूलकलाशिमस्ते बहुनां सत्त्वानां स्थावरानां तदाश्रितानां
बोद्धुम्भारादिषु जङ्गमानामुपघाते वर्तन्ते । येऽपि च भ्रैष्येणात्मानं
वर्तयन्ति तेऽप्यायंसाद्योषद्विधा इतश्चेतश्चाटाष्टप्रमानाः पिपी-
लिकादिजन्तूनां उपघाते वर्तन्ते । वयं तु संस्वच्छेरेणापि, अपि-
शब्दात् एगमासेन यैकैकं इस्तिनं महाकायं बाणप्रदारेण
व्यापाद्य शेपस्त्वानां द्यायैवात्मनो वृष्टिं वर्तनं तदाश्रितेषु वयै-
मेकं वायकल्पयामः । तदेवं वयमेकसन्धेवोपघातेन प्रजृततर-
सत्त्वानां रक्षां कुर्म इति ॥ १२ ॥

साम्प्रतमेतदेवाऽऽग्नेककुमारो इस्तितापसमतं
दृषयितुमाह—

संस्वच्छेरेणात्रि य एगमेभं,
पाणं हृणंता अण्णियचदासा ।
सेसाण जीवाण वहेऽसगा य,
सिया य थोवं गिदिणो वि तम्हा ॥ १३ ॥

संस्वच्छेरेणैकैकं प्राणिनं प्रतोऽपि प्राणातिपातादनिवृत्तदोषा-
स्तं भवति । आशंसाद्योषश्च भवतां पञ्चान्द्रियमहाकायसत्त्व-
धधरपरयज्ञानामतिदुष्टो भवति । साधूनां तु-सूर्यरश्मिप्रका-
शितबीजेषु युगमात्रच्छया गच्छतामीमांसमितिसिद्धानां
द्विचत्वारिंशदोषपरहितमाहारमन्धेशयतां लाभालाभसम्बु-
द्धीनां कुतस्व आशंसाद्योषः ? । पिपीलिकादिसन्धेवोपघातो
वेत्यर्थः । स्तोक्सन्धेवोपघातेनैवभूतेन दोषाभाषो भवताऽभ्युप-
गम्यते, तथा च सति गृहस्था अपि स्वारम्भदेशवर्तिन एव प्रा-
णिनो प्रवर्तन्ति शूराणां च जन्तूनां श्रेयकालम्यवहितानां भव-
दभिप्रायेण वधेन प्रवृत्ता यन एवं तस्मान्कारणास्थान्याद्येवं स्तो-
कमतिस्वयं यस्माद् ज्ञानितं ततस्तेऽपि दोषरहितता इति ॥१३॥

साम्प्रतमार्ककुमारो इस्तितापसान्प्रवित्वा
तद्पदेष्टारं दृषयितुमाह—

संस्वच्छेरेणात्रि य एगमेभं,
सत्त्व-ता समणज्वयेषु ।
पाणं हृणंते पुरिसे अण्णजे,
आयाऽहिए-ओ नर्बन्ति ॥ १४ ॥
छ तारिने केवामो

अमणानां यतीनां व्रतानि अमणव्रतानि, तेष्वपि ध्यवस्थि-
ताः सन्त एकैकं संवत्सरेणापि ये ज्ञानि, ये चोपविष्टानि,
तेऽप्यायाः, अस्तकामोद्युधित्वात् । तथा-आत्मानं परेषां चा-
हितास्ते दुःखाः । बहुवचनमावृत्त्यात् । न तादृशः केवलिनो भ-
वन्ति । तथादि-यत्स्य प्राणिनः संवत्सरेणापि घाते येऽप्ये पि-
श्रिताश्रितास्तसंस्कारे च क्रियमाणे स्थावरजङ्गमा विनाश-
मुपयान्ति, ते ते प्राणिवघोपदेष्टृभिर्न दृष्टाः । न च तैरिद्व-
योपायां मायुक्त्या हुत्वा यो भवति स दृष्टः, अतस्तेन केवल-
मेकेषलिनो विशिष्टवियेकरहिताश्चेति ।

तदेवं इस्तितापसाश्चिराद्दृश्य भगवदन्तिकं गच्छन्तमार्क-
कुमारं महना कलकलेन लोकनाभिभूयमानं तं समु-
पलभ्य अभिनवधुरीतः संपूर्णलक्षणसंपूर्णो हस्ती ससु-
त्यस्त्वयाविधिवियेकचित्तं यद् यथाऽऽग्नेककुमारोऽयमवक-
ताशेपार्थिकं निष्पत्युद् संवत्सरेणात्पञ्चान्तिकं चन्दनाय
जज्ञति, तथाऽहमपि यद्यप्यपगतशेषवन्दनः स्यां तत एनं
महागुरुषुमार्ककुमारं प्रतिबुद्धतरकरपञ्चशतोत्पेतं, तथा-
प्रतिपाधितानेकवादिगणसमर्थितं परमया भक्त्यैतदन्तिकं
गन्वा चन्द्रामोत्येवं यावत्सौ हस्ती कुतस्तकल्पस्तावद्द-
ष्टदिति नृदितसमस्तबन्धनः सन्मार्ककुमाराभिमुखं प्रद-
त्तकण्ठलास्तयोर्धर्मसारिनदीर्घकरः प्रधाधितः, तदनन्तरं
लोकेन कुतहाहारवगमंकलकलेन पृच्छतम् । यथा-
कष्टं हनोऽयमार्ककुमारो महाप्रेमहायुक्तः । तदेवं प्रलप-
न्तो लोका इतश्चेतश्च प्रपलायमानाः, अस्वर्षापि वनहस्ती स-
मागत्याऽऽग्नेककुमारसमीपं भिक्षुसंभ्रमननाभ्रमागोसमभ्रं
निवृत्तकरीतलः विः प्रक्षिप्तकृत्येनित्तिप्रशरणीतस्वद्व्याभ्र-
भागः स्पृष्टकराप्रतञ्चरणयुगलः सुप्रसिंहतमनाः प्रसिणपत्य म-
हर्षियनाभिमुखं यथाधितः । तदेवमार्ककुमारतपांसुभावा-
द्दृष्टान्मुमुक्षुं महागजमुपलभ्य स पौरजजन्पदः भ्रंणकरास्त-
मार्ककुमारं महर्षि तपःप्रभावं चाभिनन्दनान्धय च प्रा-
धाच-भगवन् । आश्चर्यमिदं, यत्सौ वनहस्ती तावद्गविधाच्छ-
क्राच्छेधाच्छुद्धावधनानुपुष्पपःप्रजावाग्युक्त इत्येतद्विदुष्कर-
मित्येवमभिहितं, मार्ककुमारः प्रत्याह-ओः भ्रंणकः महाराज !
नैतद्दुष्करं यदसौ वनहस्ती बन्धनाःसुक्तः । प्रापि त्येतदुष्करं य-
त्त्वेहपाशमोचनं, एतच्च प्राङ्मुक्तिमाधया प्रदर्शितम् । सा. वेद्यम्-
"युद्धं वारणापासमोयणं, गयस्व मत्सस्व वण्यिमि रायं ॥ जहा
उ तत्याऽऽश्विणप तंतुणा, सुदुष्करं मे परिहाह भोयस्य ॥ १॥
एवमार्ककुमारो राजानं प्रक्षिप्य त्रीधेरप्रतिभक्तं गत्याऽ-
प्रिवन्ध च जगवन् भक्तिभरनिर्भर आसाञ्जकः । भगवानपि
तानि पञ्चापि शतानि प्रजाञ्च तच्छिष्यत्वंनोपनिष्य इति ॥१४॥

साम्प्रतं सप्तमनाथ्यनाथोपसंहारार्थमाह—

बुष्स्त आणार्पे इमं समाहिं,
अस्सिं मुटिच्चा ति विरेइ ताई ।
तरिउं समुहं च महाभयोवं,
आयाणवंतं समुदाहरेज्जा ॥ १५ ॥ स्ति वेमि ।

बुकोऽवगततस्तः सर्वेहो वीर्यदीमानस्वामी, तस्य, आह्वया तदा
ऽऽगमेन, इमं समाधिं स्वर्कमावितिलक्षणमवाप्यास्मिन्न समाधी
सुष्ठु श्लिवा मनोबाक्याथैश्च प्रसिंहितगिन्द्रोः न मिथ्याचक्षिमनुम-
न्यत, केवलं तदाचरणजुगुप्सां श्रिविधेनापि करणेन न विषेन ।
स एवंजुत आत्मनः परेषां च भाणयतिः, ताद्यै वा गमनशीलो

भोजं प्रति, स एव भूतस्तरतीरुमतिस्त्रक्ष्य समुद्रमयि दुस्तरं म-
हाभयैव मोक्षाधर्मार्थीयान इत्यादाने सम्यक्शोभज्ञानधारित्ररु-
पं तन्निघते यस्यासावादानादौ सासु; स च सम्यग्दर्शनेन स्त-
ता परतार्थिकतपःसम्पन्नाद्दर्शनेन मौनीन्द्राद्रीनाथ प्रक्य-
बन्; समस्तपञ्चानेन तु यथावस्थितवस्तुप्रकषणतः समस्तपञ्चा-
ङ्गकवादिनिराकरणेनापरेण यथावस्थितमोक्षमार्गाभाविर्भावय-
तांति; सत्यकृत्चारित्र्येण तु समस्तनूतनभर्मिदेषुभा निरुक्ताभव-
द्भारः सन् तपोविशेषाच्चानेकभावोपार्जितं कर्म निजेरयति । स्व-
तोऽप्यर्थं 'अहंप्रकारमेवमेवमुपाहरेच्छाशुणीयाः' इत्यर्थः । इतिः
परिसामान्यार्थे, श्रवीमाति ॥ ४५ ॥ सूत्रं २ श्लो ७ अ० ॥

अष्टाङ्ग (य) पुर-आर्द्धकपुर-न० । नगरनेद्रे, यत्र आर्द्धककु-
मार वसतः । सूत्रं २ श्लो ६ अ० ।

अष्टचंद्राण-आर्द्धचन्द्रन-न० । सरसचन्द्रे, औ० । " अ-
ष्टचंद्राणुलित्तगता इति(सिंहिषुपुच्छप्लगासादं सुहृमादं
रुसंकिलिच्छादं श्रव्यादं वरपरिदहिया " इति । आर्द्धेण सरसे-
न चन्द्रेणाऽऽश्रितं मात्रं येषां त्रे आर्द्धचन्द्रानानुसितगताः ।
(सुपुरुषवर्णकः) औ० ।

अष्टाण-अर्द्धन-३० । अर्द्धे-लुद्ध । यतौ, पीडायां, बधे, याचने
च । याच० । स्थनामकृताने राजनि च, येन पञ्चावर्तां प्राधेयित्वा
माणिक्यदेवप्रतिमाऽऽनीता । त० ४ : कल्प ।

अष्टाणो (एणो)-दश-रु कुत्रे, दे० ना० १ दशं ।

अष्टव-अर्द्ध-वि० । निगालितं, आश० ६ अ० ।

अष्टव्य-अर्द्धव्य-न० । कृष्याणुचित्तप्याभाये, पञ्चा० ३ विष० ।

अष्टवृहण-आर्द्धवृहण-न० । आ-रुह-मांघे । युद् । वक्राधनेन, करणे
न्युद् । त्र्यपाकाथानानुत्थाप्यमाने उदकतैःसार्द्ध, उपा० ३ अ ।

अष्टा-आर्द्धा-न्यौ० । रुद्रदेवताके नक्षत्रेणैव, अयु० । " ओ अ-
ष्टाश्रो " स्या० २ डा० ३ उ० । " अष्टा क्लृत् नक्षत्रे " सू०
प्र० १० पाठु० । " अष्टा णक्त्वन्ते पयानरे " पं० सं० १ श्रार ।

अष्टाद्-आर्द्धा-न्यौ० । आर्द्धशोभेन पवित्रीकृते, सू० १ उ० ।

अष्टाश्रो-दश-वर्षेण, दे० ना० १ वर्ग ।

अष्टाहम-आर्द्धश-पु० । दपणे, स० ।

अष्टार्यां पेहमाणे माणुसं किं अष्टार्यं पेहति, अत्राणं
पेहति, पलिजागं पेहति ? गोयमा । णां अष्टार्यं पेहति,
णो अत्राणं, पलिजागं पेहति । एवं पतेणं अजित्तावेणं
अस्ति माणं वृत्रं पाणं तेषां फणियरसं ।

(अष्टार्यमिति) आर्द्धं (पेहमाणे णि) प्रेक्ष्यमाणो मनुष्यः
किमार्द्धं प्रेक्षते? आर्द्धोऽस्विदाहमामयः । अत्राणशब्देन शरीर-
मभिरुह्यते । उन पलिजागमिति ? प्रतिजागं प्रतिबिम्बम् । भगवा-
नाह-आर्द्धो तावयं कृत एव, तस्य स्फुटस्वकपस्य यथायास्थि-
तयथा तेनोपलभ्यते । आहमानं आहमशरीरं पुनर्न पश्य न, त-
स्य तत्राभावात् । स्वशरीरं हि आहमिति व्यवस्थितं नादर्द्धं,
ततः कथमहमशरीरं तत्र च पश्येत् इति ? प्रतिजागं स्वशरीर-
स्य प्रतिबिम्बं पश्यति । अथ किमाहमकः प्रतिबिम्बः ? उच्यते-छा-
या पुरगणामकम् । तथाहि-सर्वमेतद्व्ययं वस्तु स्वयं चयापचय-
१५१

धर्मकं, रश्मिबन्धः रश्मय इति त्रयापुद्गला व्यवहितम् । ते च
त्रयापुद्गलाः प्रत्यक्षत एव सिद्धाः । सर्वेष्वपि स्फुल्लवस्तुन-
श्रयायाथ श्रयः ॥ प्रतिप्राप्तिप्रतीतेः । अन्वयच-यद् स्फुल्लव-
स्तु व्यवहिततया, बुरस्थिततया वा नादर्शोद्विष्ववगाढारश्मिर्भ-
वति, ततो न तस्मात्तद् दृश्यते, तस्मात्तद्वर्तयते-सति च-
यापुद्गला इति । ते च चयापुद्गलाश्चलत्सामर्थीशक्तिशक्ति-
परिणममस्वभावाः । तथाहि-ने त्रयापुद्गला दिवा वस्तु-व-
प्रास्वरप्रतिगतः समस्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमा विज्ञानाः इया-
मरूपतया परिणमन्ते, निशि तु कृष्णाः; पतञ्च प्रसरति
दिवसे सूर्यकरनिकरम्, निशि तु कच्छोद्योतं प्रत्यक्षत एव
सिद्धः । त एव चयापरमाणव आदर्शादिभास्वरद्रव्यप्रतिभा-
ताः मन्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमाधधाना यादृशगुणाः स्वसंब-
न्धिं कृष्ये कृष्णो, नीलो, सितो वा, सितः, पीतो वा, मन्तः परिणमन्ते ।
एतद्रव्यादर्शादिविष्वक्कृतः सिद्धम् । ततोऽधिकृतसुत्रेऽपि वे म-
नुष्यस्य त्रयापरमाणव आदर्शादिकमपसंक्रय स्पष्टेहगण-
भतया, स्पष्टेहाकारतया च परिणमन्ते, तथा तत्रोपलभ्यते श-
रीरस्य, ते च प्रतिबिम्बशब्दाध्याः । अत्र उच्यं न शरीरं पश्य-
ति, किन्तु प्रतिभागमिति । नैवैतत्स्वमनीयिकाविकृतिभूतम् ।
यत उक्तं आगम-
" भासा उ दिवा छाया, अभासुरगता निशि तु कालाभा ।
सा चैव भासुरगया, मनेहवशा मृण्यथा ॥ १ ॥
जे आदर्शे स तसा, देहावयवा हवति संकता ।
तेसि तस्य प्रयसत्, पमासयोगा न हवरेसि ॥ २ ॥

एतन्मूर्तीकाकारोऽप्याह-यस्मान्स्वयंयद् हि ऐन्द्रिकं कृष्-
णं कृष्यं चयापचयधर्मकं, रश्मिबन्ध भवति, यतश्चादर्शोद्विषु
त्रया स्फुल्लस्य दृश्यतेऽवगाढारश्मिनः । न चादर्शं अनवगाढर-
श्मिनः स्फुल्लस्यस्य कस्यार्थदर्शनं भवति । नचास्तरितं दृश्यते
किञ्चित्, अतिदूरस्थं वा इति ।

पलिभागे प्रतिभागं (पेहति) पश्यति । एवमसिन्ध्यादिविष-
याप्यपि यद् सूत्राप्यपि भावनीयानि । सूत्रपाठोऽप्येवम्-" अ-
सिं देहमाणं मणुसं किं असिं देहह, अत्राणं देहह, पलिजागं
देहह " इत्यादि । प्रश्न० १५ पदं स्या० । स्फाटिकविमलौ,
नि० सू० १३ उ० । " अणायार " हाद्रेऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे
आदर्शं सुखप्रसोकतप्रस्तावेऽप्येतदुक्तम्

अष्टागपान्ण (न)-आर्द्धशश्रु-पु० । प्रअधियाभेदे, यथा आ-
दर्शं देवनाञ्जनाः क्रियते । एतद्वृत्कस्यतामिन्बक प्रअध्याकर-
णानामष्टमेऽप्ययने च । परमिदानीं प्रअध्याकरणेषु एतद्व्ययं
न दृश्यते । स्या० १० डा० ।

अष्टागविज्ञा-आर्द्धश वया-श्री० । विधा/विशेषे, यथाऽऽतुर
आदर्शं प्रतिबिम्बितोपमृज्यमानः प्रगुणो जायते । वय० ५ उ० ।

अष्टागसमाण-आर्द्धशसमान-पु० । आर्द्धशेन समाप्तस्तुल्य इति
अष्टगोपासकनेद्रे, स्या० । यो हि साधुः प्रकृष्यमानानुत्तमगीप-
वादादीनागामकान् भावाद् यथावत्प्रतिपद्यते सन्नै हनायोनाद-
शकवत्, स आर्द्धशसमानः । स्या० ४ डा० ३ उ० ।

अष्टामलग्न-आर्द्धपित्तक-न० । पित्तकसंबन्धिनि मधुरे, (इति
संप्रदायः) च० २ अर्थ० । पञ्चा० । " अष्टामलग्नपयमा स-
न्धिषुपुडविकायां गार्द्धति " नि० सू० १ उ० । शश्वृकसंबन्धिनि
मधुरे, प्रच० ४ डा० ।

अप्राहित्—अप्राहित्-पुं० । कोमलकाके, भा० म० प्र० ।
 अप्रिय—अप्रिये—वि० । पीडिते, ४०० १० उ० ।
 अशोडि (श)—अशोद्विन्—वि० । कस्याप्यव्यञ्जके, ४० ३ अथि० ।
 अश्व—अश्वे—न० । “अश्वैर्धूर्वाऽप्येते वा” । ८। २। ४१ । इति
 सूत्रेण संयुक्तस्य इत्यवि कल्पनाकारः इः प्रा० । समप्रविनागे, एक-
 देशे वा । विशि० । “अश्वऽगुलसोविका जेदुष्यमाणां असी भवि-
 श्यो” । जं० ३ वृह० ।
 अश्वतो—श्वी—पर्यन्ते , दे० भा० १ वने ।
 अश्व (श्व)—अश्वन्—पुं० । प्राकृते—“पुंस्यन श्राणो राज-
 वष” । ८। ३। ४६ । इति सूत्रेण अश्वः स्वाने वा श्राण्य इत्यादेशः ।
 प्रा० । पथि , को० । मार्गे , हा० १४ अ० । नि० चू० ।
 अश्वार्थं पि य द्रुविहं, पंथो भग्गो य होइ नायव्यो ॥
 अश्व्या द्विविधाः, सद्यथा-अश्व्याः, मार्गश्वः । अश्व्या नाम यश्च भ्रान्त-
 मरपट्टीमजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नास्ति । यत्र पुनर्मामानुश्राम-
 मरपर्यादाऽवसितं भयति स प्रामे मार्ग उच्यते । ४०० १ उ० ।
 प्रयाणके, विपा० १ सु० ३ अ० ।
 अश्व (श्वान) कश्य—अश्वकश्य—पुं० । अश्वनि शुद्धमाणे
 कश्ये कश्मनांय आहारि, ४०० १ उ० । ('विदार' शब्दे यत्तद्वि-
 चित्रद्वयः)
 अश्वकरिस—अश्वकर्ष—पुं० । पशुस्याऽप्येतावो, अनु० ।
 अश्वकविह—अश्वकपिरथ—पुं० । अश्वकपिरथाकारवति , “ अ-
 श्वकविहृत्संघाणसंज्ञयं ” वसानीकृतमर्कमात्रं कपिरथस्यैव यन्
 संस्थानं तेन संस्थितमर्ककपिरथसंस्थानसंस्थितम् । सु० प्र०
 १८ पाठु० ।
 अश्वकुल (श्व)—अश्वकुल (श्व)—पुं० । मगधदेशमासिके
 धान्यमानविशेषे , रा० ।
 अश्वकौस—अश्वकौश—पुं० । धनुःसहस्रे, जं० ४ वृह० ।
 अश्वकखर्ण—श्वी—मतीकृणे , दे० ना० १ वर्ग ।
 अश्वकिलभं—श्वी—सकारण्ये , दे० ना० १ वर्ग ।
 अश्वकिल (चित्) कश्चल—अश्वकिलकृत्—न० । अश्वे तिर्यग्-
 स्तिनमक्षि येषु कटाक्षकंपेषु चोद्यन्ते । अश्वकटाक्षे, “अश्व-
 ऽकिलकश्चकिलिषुहैर्दृसेमाणा उच्यते” जी० ३ प्रति ।
 अश्वक वलय—अश्वकिलक—वि० । अश्वकिलकलोचने, महा० ३ अ० ।
 अश्वकलहा—अश्वकलहा—स्त्री० । अश्वजङ्गं ज्ञापयन्त्याकारायां अ-
 यौ , ४०० ३ उ० ।
 अश्वकन्द—अश्वकन्द—पुं० । अश्वकन्दाकारे सोपाने, हा० १ अ० ।
 स० । सौधमेकत्वोऽश्वकन्दसंस्थाभसंस्थितः । रा० ।
 अश्वकवकाल—अश्वकवकाल—न० । गतिःशेषे, स्या० ७ उ० ।
 अश्वकवकाला—अश्वकवकाला—स्त्री० । अश्वकलयाकारायां अ-
 यौ , स्या० ७ उ० ।
 अश्वकन्द—अश्वकन्द—वि० । सार्क्ये पञ्चतु, भा० म० प्र० ।
 अश्वकन्या—श्वी—मांषकाभ्यप्राधान्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अश्वजिम्—अश्वजिम्—वि० । जीर्णोऽजीर्णे, भा० म० द्वि० ।
 अश्वजोषण—अश्वजोषण—न० । योजनस्थानेऽर्क्योऽजोषण ।
 गम्युतौ, ४० ४ उ० ।
 अश्वकद्वय—अश्वकद्वय—वि० । अश्वमद्यमे येषां तान्यर्क्योऽहमनि । सा-
 दसससु, हा० १ अ० । “अश्वकमाण य राश्विविवाणं व विशिक्ततायं”
 स्या० १ उ० । सार्क्यसताहारात्राधिक्येनु-अतोत्पे, कर्म० १ कर्म० ।
 अश्वकणाराय—अश्वकणाराय—न० । अश्वे नाराचमुनयो मर्कटव-
 न्थो यत्र तद्वर्धनाराचम् । अश्वकैकेदेशाचमद्वितीयापार्थकी-
 लिकासंबन्धकये चतुर्थसंहनने, स० । यत्र हि एकपार्थके मर्कट-
 कण्यो द्वितीयं च पार्थके कालिका भवति । जी० १ प्रति० । कल्प० ।
 पं० सं० । कर्म० । तं० । स्व० ।
 अश्वकुला—अश्वकुला—स्त्री० । तुश्रप्रमाणस्वादे, अनु० ।
 अश्वक—अश्वक—न० । चतुर्तांगे, ४० ३ उ० ।
 अश्वक्या—अश्वक्या—स्त्री० । अश्वया अश्व अश्वशा । शिव-
 सस्य रजन्था वा एकदेशे प्रहरादौ , स्या० १० उ० ।
 अश्वक्यामस्य—अश्वक्यामस्य—न० । अश्वक्याविवयं मिश्रकं स-
 त्याऽस्यमकाशमिभ्रकम् । सत्यम्याभेदे, यथा कश्चिकश्चि-
 म्-अश्वयोजने प्रहारात् एव भवत्याहमित्वाह । स्या० १० उ० ।
 अश्वपंचमपुहुत्—अश्वपञ्चमपुहुत्—पुं० । अश्वपञ्चमाश्व ते सु-
 हृतांश्च अश्वपञ्चमहृताः । नवसु घटिकासु अश्वपञ्चमा मुहूर्तां
 यस्य । ६ व० । नवघटिकापरिमिते, “जयायं मने । उक्तो-
 सिया अश्वपञ्चमपुहुत्सा दिवससु राश्वे वा पोरिसी जयश्”
 म० ११ श० ११ उ० ।
 अश्वपल—अश्वपल—न० । कर्षद्वये, अनु० ।
 अश्वपपति अंका—अश्वपपति (न्य) कु—स्त्री० । ऊरुपेकपाद्विभे-
 शानलक्षणयां लक्षणायाम्, स्या० ५ उ० । ७ उ० ।
 अश्वपेडा—अश्वपेडा—स्त्री० । पेडाया अश्वमर्कपेडा । पेडायाः
 समलाने । अश्वपेडाकपेडा । पेडाकंसमानगमनज्ञकणे गांशर-
 जेदे, पञ्चा० १८ वि० । ४ उ० । “अश्वपेडा कर्मायं सेव अश्व-
 संज्ञिया घरपरिवादी” पं० व० २ उ० । अश्वपेडाऽप्येवमेव, नव-
 रमर्कपेडासदृशं स्थानयोर्द्विगुणं सवचयोर्द्विगुणं योरव पयेट-
 ति, ४०० १ उ० । स्या० । वृत्त० । घ० । म० ।
 अश्वपरट—अश्वपरट—पुं० । जतस्यार्क्यमर्क्यभरतम् । भरतादौ,
 “अश्वभरहस्य सामिका धीराकिति पुरिसा” प्रश्न० ४ अश्व० ४ उ० ।
 अश्वपरहृत्—अश्वपरहृत्—पुं० । अश्वपरहृत्प्राणमात्र—वि० । अश्वजत-
 स्य यद्वर्माणं तदेव मात्रा प्रमाणं यस्य स तथा । सातिरेकवि-
 षट्पाधिकयोजनरातद्वयमिते , “अश्वजतहृत्प्राणमंशं यौर्वि-
 विसेणं विसपरिणयं विसद्वर्माणं करेत्” (शुद्धिक आशी-
 विषो वा) स्या० ४ उ० ४ उ० ।
 अश्वप्रागद्—अश्वप्रागद्—न० । मगधाऽविषयमाशानिबद्धे, क-
 ष्टदेशदेशानाशानियते च । नि० चू० ११ उ० ।
 अश्वप्रागद्दी—अश्वप्रागद्दी—स्त्री० । “रसोसंघौ” (८। ५। २५०)
 मागध्यामित्यादिमागधीभाषाज्ञकणेनापरिवृत्तायां प्राकृतभाषा-

अक्षयवहुवायां भाषायाम्, औ० । प्राकृतादीनां चषणां भाषाविशेषाणां मध्ये वा मायवी नाम भाषा " रसालियां " भागवत्यामिवादिषु चषायती, सा असमाहितस्वकीयसमलक्षणाऽऽभागाधीत्युच्यते । "अगमं च यं अब्जभागहीय भासाय चम्पमादपच्यते " इति भाषिणो बुभारितयः । स० ३५ सम० । विप० ३५ भा० । रा० । आ० । आ० म० । "अब्जभागही भासा भाषित्वाभाषी चित्सिद्धः " भाषा किल षड्विधा भवति, यद्वाह- "प्राकृतसंस्कृतमागच-पिशाचभाषा च चौरसेनी च । चडोऽत्र मूरिमेवां, देशविशेषादपसंशः " ॥१॥ म० ५ श० ५७० ।

अब्जभास-अर्कभास-पुं० । अर्थं भासस्य । एकदेशे० त० स० । पञ्चदश्याहामकं भासव्याऽर्कये पलायकं काले, प्रत्य० सं० १०० द्वा० ।
अब्जभासिय-अर्थभासि, क-नि० । पाणिने, " अब्जभासिय कचरिमुं दे सि " यदि कर्तव्यां कारयति तदा पक्षे पक्षे श्रुतं कारणीयम्, चुरकतव्यांश्च लोके प्रायश्चित्तम् । कट्य० ।

अब्जचक्रकालसमय-अर्धरात्रकालसमय-पुं० । समयः समाचारोऽपि भवतीति कालेन विशेषितः । कालरूपः समयः कालसमयः । स चाऽअर्धरात्ररूपोऽपि भवतीत्यतोऽर्धरात्रकालसमयः । निशेये रात्रेमेध्यकाले, " अब्जचक्रकालसमयं स्युज्जागरा श्रीहीरमायी श्रीहीरमायी " इत्यादि । म० ११ श० ११ उ० ।

अब्जधनु-अर्थलव-पुं० । लवस्य समेऽधे, ज्ये० १ पापु० ।
अब्जध्वित्रारं-दशो-मण्डने, दे० ना० १ वर्ग ।

अब्जध्वेयाली-अर्थवैताली-स्त्री० । वैतालन्या विद्याया उपशामकविद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अब्जध्वंकासिया-अर्थमाङ्गादियुक्ता-स्त्री० । देवलसुनराजस्य प्रजावितस्य प्रभजितायामेव देव्यासुतपुत्रायां पुत्र्याम्, आच० ५ अ० । आ० श्रु० ('सर्वकामविरचया' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अब्जध्वसम-अर्थसम-म० । एकतरसमे ब्रूते, यत्र पादा अलराणि वा समासि, अथवा यत्र प्रथमश्रुतीययोर्वितीयचतुर्थयोश्च समत्वम् । (न सर्वत्र) स्या० ७ डा० ।

अब्जध्वहार-अर्थद्वार-पुं० । नवसरिकं कषठाभरणमेवे, रा० । आ० । जी० । वि० । जं० । जीवा० । आ० । म० । औ० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । जी० ३ प्रति० । तत्रार्द्धहारद्वीपे, अर्द्धहारभद्रार्द्धहारमहाद्वीपे द्वेषी अर्द्धहारसमुद्रे अर्द्धहारभद्रार्द्धहारमहाद्वीपे " जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारजद-अर्थहारजद-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधिपती द्वेषे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारमहाभ-अर्थधारमहाजद-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधिपती द्वेषे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारमहाद्वार-अर्थधारमहाद्वार-पुं० । अर्द्धहारसमुद्राधिपता द्वेषे, अर्द्धहारचरसमुद्राधिपती द्वेषे च । जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारवर-अर्थधारवर-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समुद्रेभे च । तत्र अर्द्धहारभद्रार्द्धहारमहाद्वीपे च द्वेषी वसतः । जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारवरभ-अर्थधारवरभ-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधिपती द्वेषे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारवरमहाद्वार-अर्थधारवरमहाद्वार-पुं० । अर्द्धहारसमुद्राधिपती द्वेषे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारवरसमुद्राधिपती द्वेषे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारवास-अर्थधारवास-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समुद्रेभे च । तत्र अर्द्धहारवाससे द्वीपे अर्द्धहारवाससम्राज्येऽर्द्धहारवाससमहाद्वीपे, अर्द्धहारवाससे समुद्रे अर्द्धहारवाससम्राज्येऽर्द्धहारवाससमहाद्वीपे द्वेषी वसतः । जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारोभासजद-अर्थधारवासजद-पुं० । अर्द्धहारवाससद्वीपाधिपती द्वेषे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारोभाममहाभद-अर्थधारवासमहाद्वार-पुं० । अर्द्धहारवाससद्वीपाधिपती द्वेषे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारोभासमहाद्वार-अर्थधारवासमहाद्वार-पुं० । अर्द्धहारवासससमुद्राधिपती द्वेषे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जध्वारोभासवर-अर्थधारवासवर-पुं० । अर्द्धहारवासससमुद्राधिपती द्वेषे, जी० ३ प्रति० ।

अब्जधा-अर्थधा-स्त्री० । समयादिषु कालभेदेषु, संकेतादिष्वचकोऽप्यस्ति । ज० ११ श० ११ उ० । अनु० । अब्जधिज्ञानाऽव्यवहारायशमलामरुपायां लक्ष्मी, विदे० । अद्वा क्विचिन्ना-मतीताद्वा, वर्तमानाद्वा, भ्रमागनाद्वा च । कर्म० ५ कर्म० ।

अब्जधाण्य-अर्थधाण्य-न० । अद्वा कालस्तत्प्रधानमायुः कर्मविशेषोऽद्यायुः । भवायथेऽपि काशात्यथेऽपि कालान्तराणुगामिनि, स्या० ३ जा० ३ उ० । कायस्थितिकपे आयुष्कर्मभेदे, स्या० ३ डा० ५ उ० । यथा-मनुष्यायुः कस्याऽपि जन्मायथ एव नागच्छति । "देशं अद्या उप वक्षते । तं जडा-मनुस्साथं चैव पविदियतिरिक्कजोणियाथं चैव " स्या० २ डा० ३ उ० ।

अब्जधाकाल-अर्थधाकाल-पुं० । अद्यासमयादयो विशेषाः, तद्व्यथाऽऽकालः । अन्वस्युर्वीरिदियाविशिष्टेऽर्जुनीयसमुद्रान्तर्वर्तिनि समयादौः कालभेदे, ज० ११ श० ११ उ० । विदे० । आ० म० । आ० श्रु० ।

अब्जाकालस्वरूपोपदर्शनाय विशेषवक्ष्यकाम्याये
आह-

सूरकिरिया विसिष्ठो, गोदोहाइकिरियायु निरेवकवो ।
अब्जाकाशो भर्षुर्, समयक्लेचन्मि समायाई ॥ ४ ॥

सूरो भास्करः, तस्य क्रिया मरोऽन्नतस्युच्यति विष्णु मद्रक्षिणतोऽन्नं प्रमणश्रयाः सूरस्योपलक्षणं यथाऽऽकमहनक्षत्रतारापामर्षाः चतुसा क्रिया गृह्णते, तथा सूर्यादिक्रियया विशिष्टो विज्ञेयितो ध्यक्ताः कृतोऽर्जुनीयद्वीपसमुद्रलक्षणे समयभेदे चः समयाशक्तकारिद्वेः प्रवर्तते, न परतः, सूर्यादिक्रियाऽऽयावत्, सोऽद्याकाशे ज्ञप्यते । किंच परिचामवती काशोऽन्वस्युः शान्तं कालमनुभवते, तमतस्यवच्छेदायार्धमाह-गोदोहादिक्रियासु निर-

पेक्षः, न कालु यथोक्तद्वाराकालः क्रियां गोत्रोद्धार्यात्मिकामपेक्ष्य प्रवर्त्तते, किं तु सूर्योदितम । तथाहि-यावदावःक्रेञ्चं स्वक्रि-
 योर्दिनकारभ्रमर घातयते तद् दिवस उच्यते, परतस्तु रात्रिः ।
 तस्य च दिवसस्य परमनिष्ठोऽपेक्ष्यमेव जागः समयः । ते
 कासंभयेथा आबलिका इत्यादि । एवं च प्रवृत्तस्यास्य कासस्य
 सूर्योदितिक्रियां विद्युत् काऽस्य गोत्रोद्धारिक्रियापेक्षेति । के
 पुनस्तु समयार्थोऽब्जाकालभेदा इत्याह नियुक्तिकारः-“सम-
 यावतियमुत्पत्ता, दिवससहोत्पत्तपक्षमासा य । सवच्छरगुण-
 क्षिया, सागरवस्सपिपरियद्वा ॥” विरो० ।

पतदेव सूत्रकदाह—

से किं तं अब्जाकाले ?। अब्जाकाले अणोर्गाविते पण्येते । तं
 जहा-समयद्वयाए आबलियद्वयाए०जाव उस्सपिण्णिय-
 याए । एस खं सुदंसणा अब्जादोहारच्छेयणेणं सिज्जिमा-
 णा जाहे विभागं णो हव्वमागच्छेद,सेत्तं समए । समयद्व-
 याए असंवेज्जाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमणं एगा
 आबलिय ति वुच्चद, संवेज्जाओ आबलियाओ जहा सा-
 द्विउदसए०जाव तं सागरोवमस एगसस भवे परिमाणे ॥

(से किं तं अब्जाकाले इत्यादि। अब्जाकालोऽनेकविध प्रकृतः ।
 तद् यथा- (समयद्वयाए नि) समयद्वयाऽथः समयार्थस्मद्भाव-
 स्तत्ता , तथा, समयज्ञानेन इत्यर्थः । एवमत्र्यापि । यावत् कर-
 णान् “सुदुत्तद्वयाए” इत्यादि दृश्यमिति । अधानन्तरेःकस्य स-
 यादिकासस्य स्वरूपमिधातुमाह- एस णमियादि) एषाऽ-
 नन्तरोक्तोत्पिण्यादिका (अब्जादोहारच्छेयणेण नि) द्वौ हा-
 रौ भागी यत्र च्छेदने, द्विधा वा कारः करणं यत्र तद्, द्विद्वारं द्वि-
 धाकारं वा, तेन । (जाहं सि) । यदा, समय इति शेषः । “संत्त-
 मित्यादि” निगमनम् । (असंवेज्जाणमियादि) असंख्यातानां
 समयानां संबन्धनां ये समुदया वृत्तानि तेषां यः समितया
 मलिनानि तासां यः समागमः सयोगः समुदयसमितिसमागम-
 स्तेन, यत्कालमामं भवतीति गम्यते; यैकालिकेति गोच्यत ।
 (साद्विउदसए ति) षष्ठशतस्य सप्तमोदेशकः ॥०११११०११३०।

अब्जाखिएण-अध्वरखिन्न-वि० । पधि बहुचलनेन परिभ्राम्ने,
 “ जो पुण अब्जाखिन्न, आत्तिहि पूयहं तं दान् ।” वि० ।

अव्वाप्रेय-अव्वाचउदे-पुं० । अव्वाचिकदिके, क०म०।पं०सं० ।

अव्वापडय-अव्वाडिक-पुं०। मगधदेशस्यबन्धितमानविशेषे, श्री०।

अव्वापण-अध्वन-पुं० । पधि, “ पुंस्यन आणो राजवचच ”
 ॥ ८ । ३ । ५६ । इत्यनः स्थाने आणेत्यादेशः । प्रा० ।

अध्वान-न० । प्रयाणकं, “ अब्जाणं हि सुदेहिं पातरासंदि जेणव
 मालानवो चोरणहो तेणव उवागच्छ ” विवा० १ शु०३ अ० ।

अव्वाणकण्य-अव्वाकण्य-पुं० । मार्गविहरणविधौ, (स च यथा
 वद् विहार शब्दे दर्शयिष्यत) लशतस्वत्र-

.....अद्दुणा अच्चाणकण्य थोच्चाणि ।
 जेहिं च कारणेहिं, अब्जा थो गमस्ते एण्णो ॥ १ ॥
 असिबे ओमोदरिए, रायदुहे जए व आगादे ।
 देसुण्णे अपर-कमे य ऊसाएतो पण्णं ॥ २ ॥

उद्दरे सु भक्त्ते, अब्जाण पवज्जणं च दण्णं ।
 दिवसादौ चत लहुगा, चत गुग्गा कालगा होति ॥३॥
 ठम्मपउपादणए-सण्णो जे खलु विराहिते ठाणे ।
 तं पिण्णएणं तस्स उ, पायच्छिन्नं तु दायच्चं ॥ ४ ॥
 पुदवं आऊ तेऊ, वाऊ वयास्सति तसा य आणंता ।
 इयेसु परिसेसु य, जं जौहं आरोवणा जणित्ता ॥५॥
 लहुआं गुरुओ इहु गुरु, चत्तारि उच्च लहुया य ।
 छगुरु वेदो मूलं, अणवट्टणोवपारं च ॥ ६ ॥
 असिबे ओमोदरिए, रायदुहे जए व आगादे ।
 गीयत्या मज्झत्या, सत्थस्स गवेसणं कुज्जा ॥ ७ ॥
 कालमकालं जेतुं, एणाण य उद्विचिते अणुएणवणा ।
 जिच्चू मिच्छादिहं, धम्मकहा एणमेत्ते य ॥ ८ ॥
 सत्थयसमिपे खंनि-परिच्छेण खलु त्तेव पोम्मलिए ।
 धम्मकहणमित्तणं, वमहं पुण दव्वल्लिगेण ॥ ९ ॥
 संघे पंघे तेणे, पंचविहो उग्गहो य दव्वयाणं ।
 सुण्णाम्मा वेद्व-मगहणं जयणाणं गीयत्या ॥ १० ॥
 तुयं फले य पंचे, मां महिसं सुचरा य दव्वथी य ।
 अणवमणात्ते वि य, जयणाए जाणगे गहणं ॥ ११ ॥
 पिण्णगमूति आरिग-एकववणतद्विय पुद्गपत्ते य ।
 कत्तिय कत्तिय मिकग-मंविदुं लाउ चव वत्ती य ॥ १२ ॥
 पत्तिय सेंजिय गुत्तिगा-अं अणमदमत्थकंसि य ।
 जं चाहु व गूदकरं, गेहहइ अच्चाणकण्यमि ॥ १३ ॥
 सीहाण्णा य पुरतो, वसजाणुमग्गतां समएणेति ।
 पंघे तं पि य जेता, पंरंति जा अप्पज्जत्ती ॥ १४ ॥
 दंरिय मिच्छदिहं, ममुदाण णिवारणं चणिविसए ।
 मारुविसएण जद्द-वमजा पुण दव्वल्लिगेण ॥ १५ ॥
 उवकरणचरित्ताणं, विदोयणा सरंरदोयणागादे ।
 धम्मकहणमित्तणं, पुत्ताणकज्जेण आगादे ॥ १६ ॥
 अस्मिवादिकारणेहिं, अब्जाण पवज्जणं अणुएणाते ।
 उवकरणपुव्वपणिले-दिएण मत्थेण गंतच्चं ॥ १७ ॥
 वचंताणं अमह, को तं ए तरेज्ज गंधपादेहिं ? ।
 अवरकमो तु तादं, तदिहं तु इमे वि भग्गजा ॥ १८ ॥
 एगखुरएं दुवत्तरं, दुपिण अणुवंधि तह य अणुरंगा ।
 अह जएवा वि जायति, अमतं। अणुसाट्टिमादिहिं ॥ १९ ॥
 एगखुरा आसादी, हुखुरा उदादि हुपिय जह्वादी ।
 अणुबंधो सकमादी, अणुरंगपिसी तु बांधववा ॥ २० ॥
 एएमु पुव्ववट्ट-वखुरादिजाति तु सिक्खुत्तादी ।
 अमतं। य खुट्टाओ वा, सिंगावनेगण कहुति तु ॥ २१ ॥
 आवासियम्मि सत्थे, तस्सं व तं पि अण्णिणंति पुणो ।
 अह जणाति गता संता, अणेज्जाह वि ममं एयं ॥ २२ ॥
 तादं य उक्कदादं, चारेदं। तेति असतिपे सुखो ।

लिंगविभेगं काउं, चारेती जा गतात्पानं ॥ २३ ॥
 एवं दुसुरादीसु वि, जयणा जा ज्यथ सा तु कायन्वा ।
 सुष्ठवजाणयणं, अष्टाषवदुयं तु सायव्यं ॥ २४ ॥
 एतेसामएणतरं, अत्रवादा षो गिसेवेञ्जा ।
 तद्वाणवावराहे, संवदियमाऽवरादाणं ॥ २५ ॥
 संबद्वियाऽवराहे, तवोवत्य दो तहेव मूलं वा ।
 आयावदकृप्यं जं, पमाणणिम्माणुचरिमम्मि ॥ २६ ॥
 अष्टाणकृप्य एसा, ॥ ५० जा० ।

अस्य शृणुः—अष्टाणकृप्यामि तिष्ठि परित्ताओ कीरित, स्त्रीह-
 परित्सा पुत्रअं, वसतपरित्सा मज्जंमा मिगा य मज्जे, वसजा भं-
 ने । जाहे उंत्तत्ता अष्टाणं ताध न परिउवेत्त; अष्टाणकृप्यं जाध
 अष्टपञ्चत्तो, सो पुण सत्थवाहो मिच्छादिष्ठी समुवाणं वा नि-
 चारेजा धम्मकहाइ पणवणा, साठवियसत्तमएहि वा पक-
 येत्ति । अह वसमा दवबलिंगं काकण पणयेत्ति वा णं । गाहा-
 (उचकरणेति)सो पुण मिच्छादिष्ठीओ उवचारणं वा विलोवेञ्जा,
 चांसससारमाहं वा पक्खा धम्मकहाइ पुलाकाज्जं करेत्ति, आ-
 गाहे कंठं पुण गन्धस्यंदि विरे, अह कांठं न तरहं बहिं च अत-
 रंता । गाहा-(पराश्वरु रंति) पक्खा वहुत्तुरं ममात्ति, सिद्धपुत्तसा-
 वंशे वा णं कहुइ, अससं खुदुओ लिंगविभेगेणं आवासिप पथा-
 व्विपणंति । अह भणञ्जा-तत्थ गथा पक्कविण्णउत्ताह, ताहे लिंग-
 विभेगेणं खुदुं उच्चारंइ । एवं गोशोऽवि दुत्पियेओ नाम यथी-
 अयुरंता, सकन्असुत्तंभी, पयंसंता, एवं अष्टाषवदुयं नाकण ।
 गाहा सिद्धं जाव पमाणणिम्माणुचरिमम्मि । एत अष्टाण-
 कृप्या । ५० चू० ॥

अष्टापाणमणु—अध्वगमन—न० । पथि विहरणे, "गणत्थ अ-
 द्धानमणेणो कप्वह, सयमं वा जाव संदमानियं वा दुक्कहि-
 ताणं गच्छिस्तए " श्री० । १था० ।

अष्टापाणिगमय—अध्वनिर्गत—त्रि० । मार्गनिगते, व्य०८ उ० ।

अष्टापाणदिक्क—अध्वप्रतिपन्न—त्रि० । मार्गप्रतिपन्ने, ज०२ श०
 १ उ० (अन्तरापथे वर्तमाने) विहारं वा कुर्वन्ति, बृ० । अस्य प्रथो
 भेदाः तद्यथा— "वृणादिरेविहारी, तं विं यं हीती सपदि-
 वक्त्वा " बृ० ४ उ० ।

अष्टापाणवाणया—अध्ववाचना—स्त्री० । अध्वनि मार्गे सूचार्थ-
 प्रदानं, व्य० १ उ० ।

अष्टापाणिसय—अध्वशीर्षिक—न० । कान्तापदिनिर्गमरूपे प्र-
 वेशरूपे, पिं० । ततः परं समुदायेन साधकेन सह गन्तव्यम् ।
 तस्मिन्, व्य० ४ उ० । विंयमार्गान्ते, बृ०३ उ० ।

अष्टापाणिय—आध्वनिक—त्रि० । पथिके, बृ० ४ उ० ।

अष्टापापञ्चकत्वाण—अष्टाप्रत्याख्यान—न० । कालाख्यामका-
 माभित्य वारुण्यदिकालमणे, आ०० ६ अ० ।

पतञ्ज दशमं प्राथमिकमित्यं प्रतिपादितम्—

अष्टापञ्चकत्वाणं, जं तं कालपमागुण्येणं ।
 पुरिमकपोरिसीए, मुहुत्तमासऽवसासिहिं ॥ १७ ॥

अष्टाकाले प्रत्याख्यानं यद्, तत्कालप्रमाणेन्द्रेण भवति पुरि-
 १५२

मान्द्यैषाख्यैःश्र्यां मुहुत्तमासासकालैरिति गाथासंज्ञेयायः ॥१७
 आ० चू० ६ अ० ।

भवयवार्थः पुनः—

अष्टया कालो तस्य य, पमाण्यव्यं तु जं नवे तमिह ।
 अष्टयापञ्चकत्वाणं, दसम तं पुण इमे जाणियं ॥१॥

अष्टाशब्देन कालस्तावदभिधीयते, तस्य च कालस्य मुहुत्तं पौ-
 र्यादिकं प्रमाणमप्युपकारात् । (अर्थं ति) अष्टां बद्दन्तीति
 शेषः । मुहुत्तं अप्यर्थो भिन्नकमत्र यथास्थानं योजित एव ।
 ततो ऽष्टापरिमाणपरिकल्पेन यत्प्रत्याख्याने जनेत् तद्विह कदा-
 प्रत्याख्यानं दशमं पूर्वोक्तानवयान्प्रत्याख्यानाद्भिर्नां चरयामि-
 त्यर्थः । तस्पुरनिरिद्धं वक्ष्यमाणं भणितं गणयैरिति ॥ १ ॥

तद्वाह—

नवकारपोरिसीए, पुरिमदुमानपगठाणे च ।
 आर्यविलुडनपुहं, चरिमे य क्रमिगुहे विमिहं ॥ २ ॥

अत्र भीमसेनन्यायेन नमस्कारशब्दात् परतः सहितशब्दो
 दुष्टव्यः । ततो नमस्कारश्च, कौशेयैः-नमस्कारसहितं च पौरुष्यं
 च नमस्कारपौरुष्यं, तस्मिन्, नमस्कारविषये, पौरुष्याविषये वेत्य-
 र्थः । पूर्वोक्तं च, एकत्वात् न च, एकत्वात् न चेत समाहारं कृतव्यं-
 क्तवत्त्वेन, पूर्वोक्तविषये एकानवयवेषु एकस्थानविषये च । तथा
 आचामासं च अत्रकार्यैश्च आचामासत्वात्कार्यैः, तत्र, आचामा-
 सत्वाविषये उपपासविषये च । तथा-चरिमे चरमवयवेषु । तथा-
 अजिग्रहं अजिग्रहविषये । तथा-(विग्रहं च) विहृतिविषये; सस-
 न्येकवचनेन सुप्रसन्नं दुष्टव्यमिति । दशमं द्वादशमासप्रत्याख्यानम् ।
 नयेकालसाधिविप्रत्याख्यानं कथमकाशप्रत्याख्यानम्, तत्र का-
 लनियमः श्रूयते ? । सत्यम् । अष्टाप्रत्याख्यानपूर्वाणि प्राथम्येणैका-
 सनाद्भिनि किरणते इत्यष्टाप्रत्याख्यानत्वेन भ्रमयन्त इति ॥ २ ॥
 प्रथ० ४ अ० ।

अष्टापापजाय—अष्टापापर्याय—दु० । कालहृतपथं, स्या०७ जा० ।

अष्टापापरिविचि—अष्टापापरिवृत्ति—स्त्री० । कालपरावृत्तौ, "अ-
 द्धापरिविचिञ्चो, पमत्त इयंरं सदस्सतो किञ्चा । " क० प्र० ।
 अष्टधामीभय—अष्टधामिभ्रक—न० । काशविषये सत्यमुवाजेद,
 यथा कस्मिंश्चित्प्रयोजने सहार्थीभ्यवर्यद् परिणतप्राये वासर
 एव रजनी वर्तते इति प्रचतीति । १था० १० जा० ।

अष्टधामीसिया—अष्टधामिश्रिता—स्त्री० । अष्टा कालः, स वेह
 प्रस्तावाद् द्विवसं रात्रिवो परिशुभो, संमिभित्तो यया साऽका-
 मिभित्तः । सत्यमुवाजावानेद, यथा-द्विवसे वर्तमाने एव यदति-
 उल्लिप्त रात्रिर्जाति, रात्रौ वा वर्तमानायामुल्लिष्टोद्गतः सुव्यं
 इति । प्रह्ण० ११ वद ।

अष्टापरुव—अष्टारूप—त्रि० । अष्टा कालः, सैव रूपं सत्राचो
 यस्य तद्दकारूपम् । काशस्वभावे, पञ्च० ५ विष० ।

अष्टापावकति—अष्टापकान्ति—स्त्री० । अष्टस्य समप्रविजागरुप-
 स्य एकदेशस्य वा एकादिविहात्मकस्यापकमणमवस्थानं, शेष-
 स्य तु अष्टादिपदसंघातस्यैकदेशस्यैव गमनं यस्यां रचनायां
 साऽकावकान्तिः । (समयपरिज्ञापया) पदव्ययमथादेकदेशाऽ-
 पकान्तिः, विश० ।

अष्टाममय—अष्टासमय—पुं० । अष्टा कालः, तन्नृकणः समयः
 कृणोऽकासमयः ॥२०२ श०१०३० । अष्टायाः समयो निर्विभाशो

सायथातुल्यमानैव बहनाङ्कननिर्माड्यनादिना कर्मणा कृत्स्वित्तं
कस्यचद् कुर्वाणो विहरति, हा० १८ प्र० १०। विपा० ।
४० । आश्व० । बोधो गौणात्प्राणायुषं च, तस्याऽनारिक्त्वप-
त्वात् । प्रश्न० ४ प्रश्न० ४० ।

अध (इ) म्पक्खाइ-अधर्मस्याति-नि० । अधर्मण क्याति-
रैव । रा० । न धर्मोद् कयातिर्वस्येति च । म० १३ श० २ उ० ।
अभिधमानधर्मोऽप्यसिद्धं प्रसिद्धिः, विपा० १ प्र० १ प्र० ।

अध (इ) म्पक्खाइ (ए) -अधर्मोऽस्त्याय यन्-नि० । अ-
धर्ममाख्यातुं शीलं यस्व स तथा । हा० १८ प्र० । न धर्ममाख्या-
तीत्यंशोऽर्थो वा । ज० ३ श० ७ उ० । अधर्मप्रतिपादके, विपा०
१ प्र० १ प्र० ।

अध (इ) म्पक्खाइ-अधर्मयुक्त-न० । ३ तौ पापसंबन्धे सहोषोदाह-
रणनेदं, स्या० । पादं उदाहरणं कस्यचिदर्थस्य साधनायोपादी-
यते केवलं पायाज्ञानानुकरणेन चोक्तं प्रतिपाद्यधर्मव्युक्तिरु-
च्यजायते, नदधर्मयुक्ततायाः उपायेन कार्याणि कुर्यात्, काल-
कालतदाभवत् । तथाहि-पुत्रलादकर्मकांडकर्मणोपलब्धये चि-
त्तानामशेषमकांडकालां तस्यजलस्य विशं प्रकृपणत्वं मारण-
शुभेन रोज्ञतांचक्षत्राणकथावस्थापितेन चौरप्रादे नलजामा-
भियथाकुर्यादेतद् वैर्यसदकारितात्सल्लगोपायेन विद्यवासिना
मिर्मलताश्रीना विषयमभ्योजनदानेनः सर्वे स्थापयिता इति ।
आहरणं ह्यप्यात्ता चास्याधर्मयुक्तत्वात्विधधेनुपधर्मयुक्त-
नकन्याशोर्न, अनयनेवविधधेनुप्रादहनैवं यतिनक्ति । स्या० ४ ज्ञा-
३ उ० । इदं च नलद. म. कुचिन्दिदाहरणं शौकिकम् । तथय-
॥ चाणकेण णेदे उच्चापय चधनुषेण रायाय च ठविप एवं स-
त्वं चाणक्या जहा सिक्कणाय, तथा णेदंमतिपरिहं मयुस्सेहिं
सह चोरमाहोमिस्सिभो णयरं मुसह । चाणको वि ष्रं चो-
रमाहं च ठविडकामो तिदंमं गदऊण परिचायगवेसेण णयरं
पविट्टो, गभो णलदामकोलियसालं, उयविट्टो बणयसालाय
अरय, तस्स दारओ मक्कोदपरिहं आहमो, तेण कालेण
विशं चाणक्या दृष्टो । ताहं चाणकेण जयद-किं एप रुहसिं ?,
कोसिभो मणुह-उह एप समुत्तज्जाण ण चउत्तइच्छंति, नो
पुरो वि आहंसंति । ताहं चाणकेण चिन्दि-यस मय लदे
चाणमाहो, एव णंदनेणया समुत्तया उरुसिस्सिद्विह । चोर-
माहो को, नेण तिदंमिया विदंसंजिया-अग्गेहं समिंलिया
धुसामो सि । तेहिं ष्रं वि अक्कया-जे तस्य मुलगा बहुया,
सुहदरगं मुसामो सि । नेहिं ष्रं वि अक्कया । ताहं ते तेण
चोरमाहं वि मिस्सिण सस्यं वि मारिया । एवं अहम्मज्जं
च अविषयं, य ए कायंति । इदं सायुक्तीककम् । अनेन सांका-
त्तरमि चरणकरणाणयोगं कुर्यानुयोगं चाधिहृत्य सुचित्तम-
गतस्य, एकप्रहणाच्छान्तिधमदण्यमिति स्थापय । तस्य
यककटणाणयोगं-॥ योषं अहम्मज्जं, कायं वि वि जाणद-
वं वा । योयुणं बहुदोसं, विसेसओ णणपेणं ॥ १ ॥ त-
म्हा सो ष्रंविपि पि आलंभयं होहं ॥ कुर्याणुणो तु-॥ वाद-
स्मि तथा उये, विजाय बणेण पवणंणाय । कुत्ता साजजं वि
हु, उह मोरीण उल्लिमादीसु ॥ १ ॥ सो परिचायगो विलक्की-
कमो सि ॥ औदाहरणंयथा चास्याधर्मयुक्तत्वाद्येव भावनी-
तेति । गतमधर्मयुक्तत्वात् । दशा० १ प्र० १ प्र० ।

अध (इ) म्पक्खाइ-अधर्मसिद्धाव-पुं० । न कस्यचित्

गतिपरिणताद्यपि जीवपुद्गलस्तत्त्वमाश्रयता नाऽवस्थापय-
ति, स्थित्युपपन्नकथास्येति अधमः, स चासौ अस्तिकाव-
श्च । उल० ३५ प्र० कर्म० । जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणाम-
परिणतानां तत्परिणामोपपन्नकेऽस्तुतेऽवस्थापयताप्रदेशसंघा-
तामकं द्रव्यविशेषं, प्रज्ञा० पदं । अनु० । स्या । सात् ।
द्रव्या० । (सिद्धिरस्य ' अस्तिकाय ' शब्दे अस्तिशेषं नाम
५१३ पुष्टं कथिता)

तत्त्वं च—

अहम्मत्थिकाए णं जंतं । जीवाणं किं पवत्तं ? गो-
यमा । अहम्मत्थिकाए णं जीवाणं णाणणिसीयणुयुट्ठणं,
मणुसस्य प एगीभावकरं यः जे यावपे तहप्यपारा थि-
रसजावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तं णाणलक्ख-
णं अहम्मत्थिकाए ।

(णाणणिसीयणुयुट्ठणं सि) कायेममंगोसनयुगानि, प्रथ-
ममाहवचनलोपदेशेनात् । तथा मनस्य अन्तःपश्यत्यस्य
मयनमकथोनायस्तस्य यत्करणं तस्यथा । ज० १३ श० ४ उ० ।
अधम्मत्थिकाय वनानि—

अहम्मत्थिकायस्स णं जंतं । केवया अज्ञिवयणा पण-
त्ता ? गोयमा । अणोणा अज्ञिवयणा पणत्ता । जं जहा-
अधम्मंति वा अधम्मत्थिकाएति वा, पाणातिवाय० अज-
विच्छादंससंज्ञोति वा उरिया अमति वा ॥ जाव उच्चापा-
सवण० जाव पाट्टिडावगिया असायंति । ता वा मगअमुचो-
ति वा वदं अगतंति वा काय अमुचंति वा, जे यावपे तह-
प्यपारा सव्वे ते अहम्मत्थिकाएस्स अज्ञिवयणा । ज०
१० श० १ उ० ।

' अहं अहम्मत्थिकायमज्जकपयस्ता पणत्ता ' । ते च रुचककथा
इति । स्या० ८ उ० ।

अधर्मोऽस्तिनास्तिकायः-अधर्मोऽधर्मोऽस्तिनास्तिकायः, स्थितिः स्याधं
गतिनिवृत्तिरित्यर्थः । तल्लक्षणमस्येति स्थानलक्षणः । स हि स्थि-
तिपरिजननां ज्ञाप्युत्पन्नानां स्थितिज्ञानकार्यं प्रत्ययैकाकारण-
त्वेन स्थापयितुं शक्यं, नैव ह्येतत् इत्युच्यते । अनेनऽप्यनुमान-
मेव सूचितम् । ननु ह्ययत्तत्कार्यं तद्व्यवहाराण्युत्पत्त्या-व-
टादि कार्यम् । तथा चासौ स्थितिः, यच्च तद्व्यवहाराणं तदधर्मो-
स्तिकाय इति । अथ च त्रैधायिकायाः सौमतां वा वदंत-नास्त्य-
धर्मोस्तिकायः, अनुपसंभ्रयमानात्, शशविषाणवत् । ननु यद्दि-
नेयायिकः, तदाऽसौ वाच्यः-कथं जवनंऽपि दिगाद्यः सति ?
अथ दिगादिप्रत्ययसंज्ञकार्यदर्शनाद्भवति हि कार्याकारणानु-
मानम्, एवं सति स्थितिसंज्ञकार्यदर्शनाद्ययत्तत्त्वात् किं न
गम्यते ? । अथ तत्र दिगादिप्रत्ययकार्यस्थानयोः संभ्रयकारण-
रणभूतात् दिगादीन् अनुमीमहे इति भित्तिरिहाप्याकार्यादीना-
मवगाहमादिस्वरूपकार्यध्यापनत्वेन ततोऽसंज्ञानात्, अधर्मा-
स्तिकायस्यैव स्थितिसंज्ञानं कार्यमिति किं नानुमीयते ? । अथा-
सो न कदाचिद् दृष्टः, एतद्दिगादिचिपि समागतः । अथ सौमताः,
साय्येवं चकनन्, यथा-यथाः कथं वाच्येयं सति ? । नदि-
कराचिदसौ प्रत्यङ्गोचरः, साकारज्ञानादिभिः सदा तदाकार-
स्यैव संवेदनात् । तथा च तस्यायत्तुल्यप्रमाणत्वाद्भावो यत् ।
अथाकारसंबन्धेऽपि तत्कारिणमथ परिकल्पते, धूमज्ञान इवा-

भिः । एवं स्थितिदृशोनेऽपि किं न तत्कारणस्याधर्मोस्तिकायः स्व निश्चयः । अध्यायमप्यभिप्रेतान्-न कदाचिदसौ तत्कारण-त्वेनेकेन इति । ननु बाह्यार्थेऽपि तुल्यमेतन्न । न हि सोऽपि त-दाकारतया कदाचिद्वर्णयितः । अध मन्स्कारस्य चित्रवना-धर्मस्य व्यापारः, न तु नियन्ताकारस्य, अन्तस्तथा च कारणं क-रुयते, एवं तर्हि जीवपुद्गलपरिणाममात्र एव कारणं, स्थितिप-रिणते पुनरधर्मास्तिकायापेक्षाकारणत्वं व्याप्तियत इ न किं न कल्पते ? । अध्यासौ सर्वदा सर्वस्य स्मिहित इत्यनियमेन स्थितिकारणं भवत् । ननु एवमर्थोऽपि किं न स्मिहित इत्यं-व स्थाकारमप्यति । अध्य चकुरादिव्यापारमयमेकते, अधर्म-स्तिकायाऽपि तर्हि स्वपरगतौ विश्रसाप्रयोगानपेकन इति नाम-कोविशेषमुपस्थापामः । तथा-ज्ञानमन्यायः स्वैरुपस्थापानां जीवादी-नां नम बाह्यारम्भ, अन्वगाहोऽवकाशास्तद्गुणमस्येव-वगाहप्रक-णम्, तद्गुणवगाहं प्रवृत्तानामाह-वनाभवति, अन्वगाहो इकाण्य-स्वमाकाशस्योक्तम् । न चास्य तत्कारणव्यभिचय, यतो यद-दन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत् कार्याय, यथा-नकुराद्य-व्यत्य-तिरेकानुविधायि कृपादिचिह्नानाम्, आकाशाव्यत्यतिरेकानुवि-धायी चावगाहः । तथादि-सुपरिपक्वमाकाशं, तेषु चावगा-हः, न तु तद्विपरिते पुद्गलादी । अथैवमज्ञाकाकाशांशोप कथं नावगाहः ? उच्यते-ऽयादर्थं यद्धि काल्पद्व्यगदिना भवेत् । तत्र तु धर्मोस्तिकायस्य जीवादीनां चामस्येन तस्यैवाभाय-क्षितिसम्पत्तेः, समस्तु-ही तन्व्यधमपानं न तिसिद्धिः, देहाणिसत्त्वात्, तद्विसिद्धिश्चाव्यायात्वात् ; सति हि तस्मिन् अवयव-व्ययः । न च नतस्वस्तिरिस्तित्, अन्वयानाव च व्यत्यतिरेकस्याप्यासिद्धिरस्ती-ति । वस्तु २० अ० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मदान-न० अधर्मकारणव्याप्ती दानं च. अधर्मवोधकः वा दानमधर्मदानम् । दानमेवे, यथा-“ हिंसाजन-चार्योद्यत-परपरिग्रहप्रसक्त्यः । यद्येति हि देवां, तज्ज्ञान-यादधर्माय ” ॥ २ ॥ इति । स्थाः १० ज्ञा० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मदान-न० । आश्रयहारः, “पदमं अहम्म-दाहं सम्मत्तं ति वेमि ” प्रश्न १ आश्र ८० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मदान-३० । अनुपदान्मस्येन, “अ-मपक्वस्स चित्रगे एवमाहिपः तस्स जं इमाहं तिखि तेवदाह पावदुपसयाहं जवंतीनि माक्ख्वाहं । तं जहा-किरियावाहं, अकिरियावाहं, अजाणियियाहं, येणइयवाहं, ” सूत्र २ भु० २ अ० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मदान-त्रि० । अधर्मं जनयतीति अ-धर्मजननः । लोकानामप्यधर्मोत्पादकं, १० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मदान-स्त्री० । अधर्मविषया प्रतिमा । अध्वनारिवाविषयायां प्रतिज्ञायाम्, अधर्मप्रधाना वा प्रतिमा अधर्मप्रतिमा । अधर्मप्रधानं शरीरं, “ यथा अथ (ह) इन्द्राण-मा, जं सि (से) आया परिकिलेस ति ” एका अधर्मप्रतिमा, सर्वस्य पितृन्दाकारणतयैकरूपत्वात् । अत एवाह- (जं से इत्या-दि) यद्यस्मात्, से तस्याः । स्थाव्यात्मा जीवः अधर्वा- (सिं सिं) पाण्डुरधर्म । सोऽधर्मप्रतिमावात्मायाः परिच्छिद्यते । ततश्च माहृतत्वेन लिङ्गव्यययाद् यस्यामधर्मप्रतिमायां सरवात्माया परिच्छिद्यते सा एकेति । स्थाः ०१ ज्ञा १ ८० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मदान-त्रि० । न धर्मं प्रत्यन्ते अध्वनितं वे ने । ज्ञाः २२ ग २ उ० अधर्मप्रायेषु कर्मसु प्रक-

वैण रत्यते इत्यधर्मप्रजनः । रहस्यैरिचमिति ह्यवा रेफस्थाने ह्यकारः । ज्ञा० १ अ० । अधर्मरागिण, विपा० १ भु० १ अ० ।

अध (ह) इन्द्राण (ह) अधर्मरागिण-त्रि० । न धर्ममुपवे-यतया प्रकोकयति यः सोऽधर्मप्रकोकः । ज्ञा० १२ श २ उ० । अध-र्ममेव प्रकोकयितुं शीलं यस्यासाधधर्मप्रकोकः । ज्ञा० १८ अ० अधर्मस्यैव अथादेयतया प्रकोकं [परिद्रावके], विपा० १ भु० १ अ० । अध (ह) इन्द्राण (ह) अधर्मरागिण-त्रि० । अधर्मं एव रागो यस्य सोऽधर्मरागो । दृश० १६ अ० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मरह-च-त्रि० । न विद्यते धर्मं कश्चिद्यथा ते अधर्मोच्यः । दृश० १ अ० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मसमुदाचार-त्रि० । न धर्मैकव्य-रिचात्मकः समुदाचारः समाचारः सममार्गो वाऽऽत्मको यस्य स तथा । ज्ञा० १२ श २ उ० । वारिच्यकलं दुराचारं, विपा० १ भु० १ अ० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मशालसमुदाचार-त्रि० । अधर्मं एव शालं स्वशावः समुदाचारश्च यत्किञ्चनगुणं यस्य स तथा । स्वभावतश्चेद्यथा चाऽधर्मिके, ज्ञा० १८ अ० । विपा० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मानुग-त्रि० । धर्मं भुनक्तुमनुगत्, नै-ति धर्मोऽनुगः, न धर्मोऽनुगोऽधर्मोऽनुगः । अ० १२ श २ उ० । भुनक्तुमनुगत्तयमनुगते, विपा० १ भु० १ अ० । अधर्मं कर्त्तव्यं-ऽनुगोऽनुगोऽनुगते यस्यासाधधर्मोऽनुगः । ज्ञा० १८ अ० । अधर्मोऽनु-गायके, विपा० १ भु० १ अ० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मधर्मोपा-पुं० । निमित्तवशीकर-यादिप्रयोगं, स० ३० सम० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मिष्ठ-त्रि० । अतिशयेन धर्मो धर्मिष्ठः, न धर्मिष्ठोऽधर्मिष्ठः । अ० १२ श २ उ० । अतिशयेन नि-धर्मं निश्चिन्तकमकारित्वादिशयेन धर्मवजिते, ज्ञा० १८ अ० । विपा० । रा० । स्व० ।

अधर्मिष्ठ-त्रि० । अधर्मिष्ठां वल्लभे, अ० १२ श २ उ० ।

अधर्मिष्ठ-त्रि० । धर्मः भुतचारिप्रकयः एवेष्टः पूजितो वा यस्य स धर्मिष्ठः । न धर्मोऽधर्मिष्ठः । अधर्मं एव इष्टो वल्लभः पू-जितो वा यस्य स तथा । अधर्मिष्ठके, अधर्मसमाजके च । अ० १२ श २ उ० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मिष्ठ-त्रि० । न धार्मिकोऽधार्मिकः । धर्म-ण भुनक्तुमनुगत्तयमनुगते न चरतीति धार्मिकः (तथा न) अ० १२ श २ उ० । अधर्मण चरतीति अधार्मिकः । ज्ञा० १८ अ० । पाणिनि, विपा० १ भु० ३ अ० । अस्मयंते, अ० । धर्मं भवे, धर्मो वा प्रयोगजनमस्येति धार्मिकम्, (तथा न) न० । धार्मिकवपयंस्ते, अ० १८ अ० । अध (ह) २-अधर्म-पुं० । न भ्रियते । घृह-अर्थः । न० । वाच० । अधस्तनदृशन्वच्छेदे, जं २ वत्त० । न० । उपा० । प्रश्न० । आत्यन्तिके कारणे, ए० ३ उ० ।

अध (ह) इन्द्राण-अधर्मगमन-न० । अधर्मगतियमनकारणे, “ तदा गवातीकं च गदयं भणति अध (ह) रगमणं ” प्रश्न १ आश्र ८० ।

अध [इ] रिप-अधरिम-त्रि० । अधिघमानं धरिमसूय-
द्रव्यं यद्विस्तृतथा । ज्ञा० १ अ० । विपा० । उत्तमशोधमशोध्यां
परस्परं तद्व्याप्यं न विषवनीयं, किन्तु अस्मत्पार्श्वं पुत्रं शु-
हीत्या श्रुणुमुक्त्वालीनयमिति राजाज्ञाविशिष्टे नगरादौ, जं० ३
ब० । विपा० ।

अध [इ] री-अधरी-स्त्री० । पेषयशिलायाम्, “ अध-
(ह) रीसंटाणसंठिया दो वि तस्स पाया ” उपा० १ अ० ।

अध [इ] रीसोड-अधरीसोड-पुं० । शिलायुक्ते, “ अध-
रीसोडसंटाणसंठिआओ पायसु अंगुलीओ ” उपा० १ अ० ।

अध [इ] रुड-अधरोड-न० । इ० स० । इव्यः संयोगे दी-
र्घस्य” । ८ । १ । ८ । इति वृत्तेण भ्रोतो इव्यः प्रा० । उपरि-
स्थावः श्लोडुयुमे, प्रस० ३ प्रा० ३० । अधस्तनन्तच्छ-
दे, “ ओयवियसिलपलाविषफलसधियाऽपचटा ” न० ।

अध [इ] व [वा]-अधवा-अव्य० । विकल्पे, नि० वृ०
१० उ० ।

अधाराणिज-अधाराणीय-त्रि० । अधिघमानो धारणीयोऽध-
मणौ यस्मिंस्ततथा । ज्ञा० १ अ० । अधिघमानाधमणौ पुरादे,
विपा० १ वृ० ३ अ० । आत्मनो धारवितुमशक्ये, अ० उ
श० ६ उ० । अयापनीये, यापनां कर्तुमात्मनोऽशक्ये च । ज्ञा०
८ अ० । विपा० । जं० ।

अधि [हि]-अधि-अव्य० । आधिक्ये, अ० १ श० १ उ० ।

अधि [हि] इ-अधृति-स्त्री० । धृतेरभावे, “ तो तुमे पिया एवं
बसणं पाविओ तस्स अधिइ जाया सुणित्तओ खेव उद्धाया-
लंहइइइग्गाह य वियहाणि भंजमि ” भाव० ४ अ० ।

अधि [हि] ग-अधिक-त्रि० । अत्यये, वृ० १ उ० ।

अधि (हि) गय-अधिगम-पुं० । अधिगम्यते परिच्छिद्यन्ते
पदार्था येन स्वोऽधिगमः । भाव० ३ अ० । गुरुपदेशजे यथा-
ऽवस्थितपदार्थेपरिच्छेदे, एव सम्यक्त्वस्य हेतुविशेषः । नि-
सर्गादेषाऽधिगमनो जायते । तच्च पञ्चाना-श्रौचशमिकं १ सायिकं
२ क्रायोपशमिकं ३ वेदकं ४ सास्वादानं च ५ । ध० २ अधि० ।
“ जुगयं वि समुपपन्नं, सम्मत्तं अधिगमं विसोदेइ ” भाव० ३ अ० ।
“ गुरुपदेशमालम्ब्य, सर्वेषामपि देदिनात् । यत्तु सम्यक् भद्-
धानं तव, स्यादधिगमजं परम् ” १ । “ जीवादीणमधि-
गमां, निच्छस्स खअंवावसमभाषे । अधिगमसम्मं जीवो,
वावेह विसुक्कपरिणामो ” । ध० २ अधि० ।

अधि [भि] [हि] गमरुइ-अधि [भि] गमरुचि-पुं० स्त्री० ।
अधितमो विशिष्टं परिक्रान्तं, तेन रुचिः जिनप्रणीतस्तन्नाजिमावकथा
यस्यासावधिगमरुचिः । प्रव० १४४ ज्ञा० । सरागदर्शनार्थभेदे,
प्रज्ञा० १ पद ।

तत्स्वरूपं च-

सो होइ अजिगमरुइ, सुअनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाई, पइक्का दिट्ठिआओ य ॥

यस्य मुनहानमयतो इष्टं, किमुक्तं सद्यति?, येन मुनहानस्वा-
धोऽधिगतो जवतीति । किं पुनस्तच्छुनहानम्? इत्याह-(पञ्जा-
रस अंगारं ति) एकादशाङ्गानि आचारान्नादीनि, प्रकीर्णकान्यु-
१४३

सराययननन्वाध्वनादीनि, इष्टिषादः परिकर्मसूत्राचक्रवृषि
पृथगुपादानमस्य आधाव्यवस्थापनायंश्च । अहाद्यापुपाङ्गानि शी-
पपातिकादीनि, स त्रवत्याधिगमरुचिः । प्रव० १४९ ज्ञा० १ स्था०
अहैतः सकलसूत्रविषयिष्यां रुचौ, ध० २ अधि० ।

अधि [भि] गमसम्पदसण-अधिगमसम्पददर्शन-न० । इत० ।
गुरुपदेशजिज्ज्ये सम्यग्दर्शनभेदे, यथा भरतस्य । “ अनिगम-
सम्पदसणे, दुविहे पणुत्तं । प्रमिवाइं खेव, अपदिवाइं खेव । ”
प्रतिपत्तनं शिंश्च प्रतिपत्तं, सम्यग्दर्शनमौपशमिकं, ज्ञायोपशमि-
कं वा । अप्रतिपत्तिं ज्ञायिकम् । स्था० २ ज्ञा० १ उ० ।

अधि (हि) गय-अधिकृत-न० । अधि-इ-नांव-क । अधि-
कारे, इश० १ अ० ।

अधिगत-त्रि० । प्राप्ते, उच० १० अ० । विज्ञाते, व्य०
३ उ० । पञ्जा० ।

अधि (हि) गण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽस्मिन्नि-
ति अधिकरणम् । आधारे, यथा चक्रमस्तके घटः । नि० वृ०
१ उ० । अधिक्रियते नरकगतियोग्यतां प्राप्यते आत्माऽनेनेत्य-
धिकरणम् । कलहं, प्राभृते च । वृ० १ उ० । स० ।

- (१) अधिकरणनिरुक्तानि समानार्थकानि च ।
- (२) अधिकरणनिक्रयेः ।
- (३) अधिकरणं न करणीयम् ।
- (४) कृत्वा तु व्युत्पन्ननीयम् ।
- (५) अधिकरणार्थात्कारणानि ।
- (६) उत्पन्ने च व्युत्पन्नमनीयमेव नोपेक्षणनीयम् ।
- (७) प्रायनिक्रयेः ।
- (८) अधिकरणं कृत्वाऽप्यगन्तव्यं कर्तव्यम् ।
- (९) गच्छदनिर्गतस्याधिकरणे समुपपन्नं विधिः ।
- (१०) अरपरुषाणि मणित्वा गच्छादनिर्गतो विधिः ।
- (११) गृहस्थैः सह अधिकरणं कृत्वाऽप्यपशमम्य विहङ्गम-
हादि न कारयेत् ।
- (१२) अनुरपन्नमधिकरणमुत्पादयति ।
- (१३) कारणे सन्मुत्पादयति ।
- (१४) पुराणान्यधिकरणानि क्वात्तव्युत्पन्नानि तां पुनरुद्दि-
रणम् ।
- (१५) निर्गन्धैर्व्यतिक्रममधिकरणं नोपशमनीयम् ।
- (१६) निर्गन्धां निर्गन्धैर्विक्रममधिकरणं व्युत्पन्नमनीयम् ।
- (१७) साधिकरणेनाकृतप्रायश्चित्तेन सह न संयोगः कर्तव्यः ।
- (१८) अधिकरण्यधिकरणनिरूपणम् ।

(१) इमे अधिकरणनिरुक्ता, यानि य-
अदिकरणमहोकरणं, अहरगतीं गार्हं अहोतरंश्च ।
अदिकरणं च तदा, अहरीकरणं च अदिकरणं ॥ १६९ ॥

आधाधिकरणं कर्म बन्धकारणमित्यर्थः अधधा-अधिकं अति-
रिक्तं तत्सूत्रं करणं अधिकरणम् । अधो अधस्तात् आत्मनः क-
रणम् । अधरा अधमं अधन्या गतिस्तामात्मन प्राहयतीति । अ-
धो अधस्ताद्वनारुत्सिं शूडनिधेयानि वा । न धृतिरतरतिरित्यर्थः,
अस्याः करणम् । अधोऽस्त्व असत्त्वतः करणं अधिकरणम् ।
अधधा-अधीः अशुक्तिमाह पुरुषः स तं कराति, इत्यधिकरणम् ।
सो अधिकरणो दुविधो, सपक्वपरपक्वतो य नापन्नो ।

एकेको वि य दुविधो, गच्छगतो गिगगतो चैव ॥ १६६ ॥
 साधिकरणे साधु दुविधेन अधिकरणेन जवति, न चिमं दुविध-
 र्थ-सपक्वसाधिकरण, परपक्वसाधिकरणं च । सपक्वसाधिकरण-
 कारी गच्छगतो, गच्छगिगगतो वा , एवं परपक्वसाधिकरणे
 वि दुविधं ॥ नू० १० व० ॥

(२) अथ नित्केपसिक्वस्थं निर्घृतेकद्रहाह-

नामं उक्त्वा द्विषे, भावे य चउत्तुर्विहं तु अहिगरणं ।
 द्वव्यम्भि जंतमादौ , जावे उद्वञ्चो कसायाणं ॥

नामाधिकरणं, स्थापनाधिकरणं, उच्यथाधिकरणं, न्यायाधिकरणं
 चेति चतुष्पाधिकरणम् । तत्र नामस्थापने गताये, उच्यथाधिक-
 रणम्-आगमते, नो आगमतेत्यर्थः । आगमते-अधिकरणशब्दार्थं
 निकृष्यस्तु प्रयुक्तं यत्ना, नो आगमते इत्यर्थोऽयमर्थोऽधिकरण-
 निरूपणम् । उच्यथाधिकरणे यन्नाश्रितं उच्यते, यन्त्रं नाम दलनयन्त्रा-
 दि । भावे जावाधिकरणे कथायाणां कथायादीनां उदये विज्ञेयः ।

तत्र उच्यथाधिकरणं व्याख्यानयति-

द्वव्यम्भि उ अधिकरणं, चउत्तुर्विहं होइ आणुपुक्वीए ।
 नित्वत्तथ निक्वत्तरेण, मंजोयण निसिरणे य तदा ॥

उच्ये उच्यविययमधिकरणं चतुर्विधं त्रययानुपूर्व्यां परिपा-
 टिका । तद्यथा-निर्यसनाधिकरणं, नित्केपसाधिकरणं, सयोजना-
 धिकरणं, निसजनाधिकरणं च ॥ नू० १० ॥

गिन्वत्तणे अधिकरणं दुविधं-मूलकरणं, उत्तरकरणं च ।
 तथ मूलशिक्वत्तणाधिकरणं अत्रिहं भमानि-
 पदमे पंच सरीरा, मंयादणसाराणे य उज्जणं वा ।

पदिद्वेहणा पमज्ञाण, अरुणग अविधी य गिात्रिक्वत्तणा ॥ २३५
 (पदमे त्वा) गिन्वत्तणाधिकरणं पंच सरीरा ओगात्रिक्वत्तणा,
 संघानकरणं साङ्गनकरणं च । एवं अद्विहं मूलकरणं ॥ २३५ ॥

पुनः शिक्वत्तणाधिकरणसकृदं जमनि-

गिन्वत्तणा य दुविहा, मूलगुणं वा वि उज्जणगुणे य ।
 मूले पंच सरीरा, दोसु ते संघानणा एण्यि ॥ २३७ ॥

गिन्वत्तणाधिकरणं दुविधं-मूलगुणगिन्वत्तणाधिकरणं, उत्त-
 रगुणगिन्वत्तणाधिकरणं च । मूले ओगात्रिक्वत्तणा पंच सरीरा
 दृश्यते । दोसु य तेषकमपसु सव्ये काले संघानणा ण्ठिय,
 अनाद्यरवात् ॥ २३७ ॥

मंघानणा य पारिसा-दणाय उजयं व जाव आहारं ।
 उजयसस आणियततिनी, आदीं अत्रे य समअं तु ॥ २३८ ॥

त्रिकं त्रिच्यपि संबधति, उभयं संघानपरिसादौ, तस्स तिनो
 भणियता, त्रिकादिस्मयसंभवत् । संघाने आयाताए सव्ये-
 पारिसादौ, अंतं पये पयसमयता ॥ २३८ ॥

सर्वसंघानप्रदशोधार्थमाह-

द्विषुप्रओ कम्मगारं, द्विट्टेता होति तिसु सरिरेसु ।
 करणे य स्वधकरणे, उत्तरकरणं तु संघदणा ॥ २३९ ॥

हविषितं, तस्य चो एतो पश्चान्तिं सा द्विषुप्रओ सां य ययुगो ज-
 ष्यति । संघायसंधाने पक्वत्तणे पदमसमप्ये पयसंनेन प्रयमहण क-
 रति, बितिआदिसमपसु गद्ग मुंचति य, कम्मकारं शोधकारो,

नेण जहा तेषितमायसं जले पक्वत्तं, पदमसमप्ये पयसंनेण आ-
 लातयं करोति, बितिआदिसमपसु गद्ग मुंचय य । एवं तिसु
 ओरालियत्रिसरारेसु पदमसमप्ये गद्गमयेय करोति, बितिआदि-
 समपसु सघानपरिसादौ, तेषकमपसु सव्यकारो न सघानप-
 रिसादौ, अनाद्यरवात् ॥ पंचसहं विज्जते सव्यकारो । अथवा ति-
 एह ओरालियत्रिसराराहारगामं मूलाङ्गकरणं आ-सिरो, उरं,
 उदरं, पुटी, दां बाहाओ, दाणिं य ऊक, सेसं उत्तरकरणं । अथवा
 तिसु आद्वेहसु ओरालादी, उत्तरकरणं उज्जण, स्वधकरणं त्रिक्-
 वत्तणादिना वधकरणं । अथवा इमं चउत्तुर्विहं सव्यकरणं
 संघायकरणं परिसादणकरणं ॥ २३९ ॥

संघाय परिसादणा, य पोसे तदे व पदिस्सेह ।
 पदसंखणएणादौ, उट्टनि ग्ठियाणुकरणं तु ॥ २४० ॥

परिसादणकरणं, तस्य ओरालिय एमीदियाव पंचविधं, त-
 ज्जोएा पाहुदादिना । जहा तिसुस्सेणाचारियणे उच्यते कता,
 जहा एवम आचारियणे सोसस्स उच्यते उज्जो जोगो जहा महि-
 सो भवति, तं च सुयं आचारियस्स माधणज्जणे, मां य गिदस्सा
 उ ण्ठियत्तौ मरिहं उच्यते उं सोचारियणे ह्ये विक्कणं । आच-
 रियणे सुय, तस्य गतो भणानि-किं ते ० पयं १, अहं ते रयणजोमं
 पयच्छामि । द्व्ये आहारहा । ते य आहरिता आचारियणे सजो-
 नित्ता, एवमेणिवत्तत्ता भणितो-गात्तण कालेण ओक्कणं उज्जहि,
 अहं गच्छामि । तेण उक्कणतो विहायिसे मंयो जानो । मां तेण
 मांसो, अधिकरणं च्छेअं, मां वि सप्यो अतो मुदुत्तं मअं ।
 एवं जो गिन्वत्तं सरीरं तं अधिकरणं ३३. जतो सुत्ते भणियं-
 'जायिं जेने । ओरालियसरीरं गिन्वत्तं मां किं अधिकरणं । अ-
 धिकरणं जवा, अधिकरणी सरीरं, अधिकरणं शिक्वत्तणाधि-
 करणं ॥ गिन्वत्तणाधिकरणं गत ॥ नू० १० ॥

नित्केपणाधिकरणं द्विधा-लौकिकं, लोकोत्तरिकं च । तत्र यस्मि-
 न्प्रवृत्तार्थं गलनामा शोधकण्टको कृत्तं वा सुव्याप्तानां प्र-
 णाय जालं वा, लावकादीनामर्थं य निक्कियते शब्दार्थादीनि धर-
 ष्टादीनि वा यन्त्राणि स्थाप्यन्ते, तदेतल्लौकिकं नित्केपणाधि-
 करणम् । यस्मिं लोकोत्तरिकं तत्र पदावधम-यत्र पायाणुपकरणं
 निक्कियति तत्र न प्रत्युपेक्षितं न प्रमाजयति १, न प्रत्युपेक्षितं प्रमाज-
 यति २, प्रत्युपेक्षितं न प्रमाजयति ३, यत्तु प्रत्युपेक्षितं प्रमाजयति
 तद्-प्रत्युपेक्षितं ४, उ प्रत्युपेक्षितं सुप्रमाजितम् ५, सुप्रत्यु-
 क्षितं सुप्रमाजितं ६ करोति । एवमेते पक्वत्तं नित्केपणाधि-
 करणम् । यस्मिं सप्तमो भङ्गः सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमाजितं कर्तव्यं
 तल्लक्षणं, न नाधिकरणं शुच्यत्वात् । यद्वा-यद् नुक्तं पानकं वा
 अयावुत्तं स्थापयति तत्रिक्वत्तणाधिकरणम् ॥ नू० १० ॥
 द्याणि सजोयणा, मा दुविहा-शोदया, सोउत्तरिया य ।

शोदया अनेकविधा-

विसमगमादीं लोण, लोउत्तरं भवोविधिपादिमि ।
 अंनो वहि आहारे, विदियविद्या सिक्खणा उक्वथी ॥ २४१ ॥
 कंदादिलोअणिसिरण-ओत्तरणा पमादणा जोगे ।
 मूलादि जाव चरिमं, अथवा वी जं जहि क्कमति ॥ २४२ ॥
 नि० नू० १० व० ॥

सयोजनाधिकरणम् द्विविधम्-लौकिकं, लोकोत्तरिकं भे-
 दान् । तत्र लौकिकं रोगाणुपपत्तिकारणं; विषयशास्त्रि-
 ण्ठित्तिवन्धनं वा उच्यते संयोजनम् । लोकोत्तरिकं तु

भक्तोपदिश्यादधिषयसंयोजनम् । ७० १ उ० ।
 इयाणि गिसिरणा ड्रविधा-ओरया, सोउररिया, (लोइया)
 गिसिरण्ये ति विधा-सहसा पमापण; अणानेगेण य, पुव्या-
 ड्रेण जोगेण । किंचि सहसा गिसरिहा पंचविधपमापणनरेण
 पमसंगिसरति, एतं विस्सति अणामंगो तेण गिसरति ।
 ति० ७० ५ उ० ।

निस जेनाधिकरणमपि लौकिकम्-शरशक्तिचक्रपापाणीनां
 निसजेनम् । लोकाकारिकं तु सहसाकारिनाः यत्कटककह-
 रादीनां भक्तपानान्तःपतितानां निसजेनम् । ७० १ उ० ।

इयाणि गिन्वत्तणारिसु पाञ्चसं, तथा गिन्वत्तणे मूलदि
 पञ्चसं । एगिदियादी गिन्वत्तयं तस्स अभिक्खमयं दूष्य पढमवा-
 राए मूळं, विनियवाराए अमाय्य गिसरिहाए पार्मवचं, अथवा
 जं जाह कमति संघट्टादिक्कं आचिद्विहाएणादिगिण्यं वा ।

एगिदियमार्दीसु तु, मूलं अथवा वि होति सट्ठाणं ।

कुमिरंतरनिपप्यं, उत्तरकरणमि पुवुत्तुं ॥ २४४ ॥

एगिदियं जाव पंचिदियं गिन्वत्ते, तस्स मूळं, अहया वि होति
 सट्ठाणं ति "उक्कायचउसु" गाहा । परिसे गिन्वत्तति चउसुदु,
 अणने चउसुदु, वेदंदिपदि उ लहु,नेदंदिप उमूह, च उरिदियहि
 देदां, पनेदिप मूलं, उत्तरकरणं कुमिराकुसमिण्यं पुवुत्तु,
 इहय पढमुदुंत्तय पढममुत्तुं गिक्खवसजोगणिसिरणेसु इम
 पाञ्चसं-

निय मासिय निग पाण, गिक्खिवत्तसंजोगगुरुलहमा वा ।

कुसिरंतरनंतरगिरं-तरं य वुत्तं गिररणमि ॥ २४५ ॥

स तजंगाए पढमवोनियततिपणु भंगेसु मासलहुं, चउसुयंन-
 मञ्चमु पणायं, चारंमां मुदुं । तथकाअनिसिंतिनां कायवां । आ-
 हाए उवकरणं वा एगे चउसुकां, हांसु चउसुदुगं । अहवा-सा-
 मभेणेण आहाए चउसुका, उवकरणं लहुंमां, गिसिरणं कुमिरा
 अउकुमिरं य गंतरगिरंतरं तु वुत्तं पाञ्चसं पढममुत्तुं । दव्यादि-
 करणं गयं । ति० ७० ५ उ० ।

अथ भावाधिकरणमाह-

अह्ठ निरिय उह्ठकरणं, वंशण निवत्तणा य निक्खिवणं ।

उवमयवएण उह्ठं, उदपण भवे अदीगरणं ॥

इह कांपादीनामुदयो भावाधिकरणमित्युक्तम् । अतस्तेषामेवा-
 धलत्तयंपदुद्धकरणं अयोगानिनयनं ति यमंतिनयने ऊह्ठमतिनयनं
 च स्वूप घक्तयम् । ७० १ उ० ।

(३) अधिकरणं च न करणं यम-

अहिगरणकडस्स निक्खुण्णो, वयपाणस्स पसज्ज दाण्णं ।

अह्ठे परिहायतीं बहू, अट्टिररणं न करिज्ज पदिए ॥ १९ ॥

अधिकरणं कडहः, तत्करोति तच्छब्दलक्ष्यधिकरणकरः । त-
 दर्थयं तु तस्य विहोः, तथाऽधिकरणकरं दाण्णं नयानक्तं वा प्र-
 सहा प्रकटनेय, वाचं भुवनः सतांशोऽभोज्ञः, तत्करणतते वा सं-
 यमः । स बाहु परिहायते भ्यंसमुपयाति । इदमुक्तं भवति-बहुना
 कालेन यदाजितं विप्रकट्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कडहं कुर्वतः प-
 रोपाध्यानी च वाचं भुवनस्तत्कालमेव भ्यंसमुपयाति । तथाहि-
 " जं आजियं समोक्ख-सुत्तपिहं तवजियमेवममरपिहं । माणुनयं
 कज्जहंन, कुट्टु अह सागयपिदि " इत्येवं मत्वा मनाग्याधिकरणं
 न कुर्वान् परिहतः सदसिद्धिंवेकोति । सूत्र० १ अ० २ अ० १ उ० ।

(४) कृत्वा तु व्युपशमनीयम्-

जिक्खु य अहिगरणं कडुत्तं अहिगरणं विवसमिन्ना वि
 ओसइयपाहुने; इच्छाए परं आहाइजा, [इच्छाए परं नो
 आहाइज्जा,] इच्छाए परं अक्खुहेज्जा, [इच्छाए परं नो अ-
 क्खुहेज्जा,] इच्छाए परं वंदिजा, इच्छाए परं नो वंदि-
 जा, इच्छाए परं संजुंजेजा, इच्छाए परं नो संजुंजेजा,
 इच्छाए परं संवसिजा, इच्छाए परं नो संवसिजा,
 इच्छाए परं उवमिज्जा; ओ उवसमइ तस्स आरिय आराइणां,
 जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराइणां । तम्हा अप्पणां सेव
 उवसमियेवं स किपाहु-जंते ! ; उवसमसारं सामभं ॥

भिक्खुः सामान्यः साधुः । चशब्दस्यानुकूलमुपस्थाधेत्वादाचार्यो-
 पाध्यायावपि गृह्यते । अर्थिकयत्ने नरकगतिसमनयोभ्यतां प्रा-
 प्यते आत्मा अनेनैत्यधिकरणम्, कडहः प्रानुत्तमित्येकार्थोः त-
 त्तया । तथापि तस्यैवैवादि साविभ्यां पदुद्धेत्कथायाः मोहनी-
 योदयो द्वितीयसाधुना सह विधायः ततः स्वयमन्योपदेशेन वा
 परिमितेन तस्यैहिकामुप्यकाभयबहुलं तां तदधिकरणं विवि-
 धमनैः प्रकारैः स्थापयप्रतिपात्तपुरस्सरं मिथ्याउच्छ्रतप्रदानं-
 न तां व्युपशमस्य उपशमं नित्या नतो विधेयेणवसायितमन-
 यमानं नीते प्रानुत्तं कज्जहा येनाप्यवसायितप्रानुत्तं व्युत्पृक्क-
 द्वाहो प्रषभं । किमुक्तं अर्थानः गुरुमकाशं स्वउच्चरितमालोक्य,
 ननुप्रस्तप्रार्थयिञ्चत च यथावदप्रतिपद्य, न्युवसकटणयापुत्तु-
 सिष्ठेन । आह-येन सह तदधिकरणमुत्तुत्तं स व्युत्पृक्कमनो-
 ऽपि नोपशम्यति ततः का विधिः, इत्याह-"इच्छाए परं आहा-
 इज्जा" इत्यादि सूत्रम् । इच्छाया यथा स्वकृत्यापारमाश्रित्य,
 प्रागेव संभाषणादिभिरादरं कुर्याद्वा न वेति भावः । एवमिच्छ-
 या परस्तमप्युत्तुत्तुम् । इच्छया परं न साधुना सह संजुंजेति,
 एकमण्डल्या भोजनं दातुप्रहणसंभोगं वा कुर्यात् । इच्छया परं
 न संजुंजेति । इच्छया परस्तेन साधुना सह संवसेत्, समेकी-
 ल्यैकत्रोपाश्रये वसेत्, इच्छया परं न संवसेत् । इच्छया परं
 उपशम्येत् । परं य उपशम्यति कथयत्पापापगमेन निवृत्तो
 भवति तस्यास्ति सम्पश्यंतीनादीनामारोचना, यस्तु नोपशम्य-
 ति तस्य नास्ति नेवामारोचना, तस्मादेवं विचिन्त्यात्मनैवोप-
 शान्तव्यमुपशमः कर्तव्यः । शिष्यः प्राह-[स किमाहु-भंते !]
 अथ किमत्र कारणमाहु-भेदन्तं । परमकृत्यायोगिनस्तस्मिन्वी-
 कदायः ? । स्मिराह-उपशमसारं ध्रामण्यं, तस्मिन्हीनस्य निष्फ-
 लतयाभिधानात् । उक्ते च दशवैकालिकानियुक्तौ-"सामभम-
 चुचरत-स्म कलाया जस्स उकडा होति । मज्जां उच्छुपुक्कं,
 च निष्कलं तस्स सामभं " १ ॥ इति सूत्रार्थः ।

अथ विषमपदानि भाष्यकृद् विवृणोति-
 पेपंति चसईणं, आयरिया जिक्खुणीओ अ ।
 अहया जिक्खुगाहणा, गहाणं सत्तु हाइ सव्वेसिं ॥
 इह सूत्रे भिक्खुश्चेति यच्चशब्दः, नेन गणी, उपाध्यायः, तथा
 आचार्यो, भिक्खुप्यस्य गृह्यन्ते । अथवा-भिक्खुपदोपादानात् स्व-
 चामप्याचार्योदीनां प्रहणं तज्जातीयानां सर्वेषां प्रहणमिति
 वचनात् ।

स्वामिय विनासिय विणा-सियं च स्ववियं च होइ एगडा ।
 पाहुण पदेण पाणयण, एगडा ते उ निरयस्ता ॥

शामितं विनाशमितं, विनाशितं सपितमिति च एकार्थानि पवन्ति । तथा-प्राभृतं प्रहेणकं प्रयेणनमिति वा श्रीरय-वेकाधीनि । तानि तु प्राभृतानीनि नरकस्य मन्थव्यानि । यत एतदधिकरणं नरकस्य सामन्तकादेशप्राभृतमुच्यते । एवं प्र-हेणकप्रयेणनपदे अभिज्ञानवीये ।

इच्छा न गिण्णदेशो, आदा उ ए आदरो जहापुञ्जि ।
जुंजण बास मणुषे, सेस मणुषे च इतरे वा ॥

इच्छा नाम जिनादेशस्तीर्थकृततामुपदेशोऽयमिति कृत्वा नाद-रादीनि पदानि करोति, किं त्वसच्छब्धेन । तथा आदा नाम आदरकं यथा पूर्वमुचितालापादिभिः कृतवस्तथा कुयोद्वा न वा; शेषाणि त्वमुत्थानादीनि सुगमानीति कृत्वा भाष्यकृता न व्याख्यातानि । अत्र च संभोजनसंवासनपदे मनोबिषु संभो-गिकेषु भवतः, शेषाणि त्वाद्राभ्युत्थानवन्दनोपशमनपदानि मनोबिषु वा संभोगिकेषु, इतरेषु वा असंभोगिकेषु भवेयुः । कृता भाष्यकृता विषमपदव्याख्या । ६० १ उ० ।

(k) अधिकरणोपसिद्धिकारणानि—

अथ कथं तदुत्पद्यते ? इत्याशङ्क्याकाशमलोलोक्य तदु-त्थानकारणानि दर्शयति—

सच्चिचे य अचिच, मीसवभोगयपरिहारदेसकहा ।
सम्मं खाउट्टचे, अदिगरणमभो समुपपज्जे ॥

सच्चिचे शैशादौ, अचिचे वरुणाप्रादौ, मित्रके खमाण्डमा-त्रकोपकरौः शिवादौ, अनासत्त्वं अपरंणं गृहमाणं, तथा वचोंगतं व्यत्याग्रेडितादि । तत्र चाविधीयमाने परिहारः स्था-पना, तदुपलक्षितानि यानि कुर्वन्ति तेषु प्रवेशे क्रियमाणे दे-शकथायां वा विधीयमानायां एतेषु आनेषु प्रतिनोदितो यदि स्वम्यह मावर्तते न प्रतिपद्यते; अतोऽधिकरणमुत्पद्यत इति नियुक्तिगाथासमासायः ।

अधेनामेव विबुधोति—

आजव्वमदेमाणे, गिण्णदेशं तहव मग्गमाये य ।
सच्चित्तेतरमीसे, वितहपभिवत्तिओ कलहो ॥

आभाव्यं नाम शौचं, शैतः कस्याप्याचार्यस्योपेतस्ये, प्रमज्यां गृह्यमिति । तमुपस्थितं मत्वा विपरिणम्य पर-कश्चाद्वाच्यो गृह्यति । ततो मूलाच्चायो प्रधीति-किमिति मशीयमाभाव्यं गृ-ह्णासि ? पूर्वगृह्योतं वा शैशादिकं यचित्तो मदीयमाभाव्यं कि-न प्रयच्छुवतीति ? । एथमाभाव्यं सचित्तमचित्तं मिश्रं वा तत्का-लगृह्यमाणं पूर्वगृहीतं वा मार्थ्यमाणमपि यदा चित्तधर्मातिप-सितो न ददाति तदा सकलहो भवति । चित्तधर्मातिपसितोम परस्याभाव्यमपि शैशादिकमनाभाव्यतया प्रतिपद्यते ।

वचोगतद्वारमाह—

वेश्मालेण सुत्ते, देसोभासा पर्वचणे चेव ।
अरम्मि य वचव्वे, हीणाहियअकररे चेव ॥

सूत्रं सूत्रविषये, व्यत्याग्रेरना अपरापरोदेशकाप्ययनभूतस्क-न्धेषु धत्ताऽऽसापकन्धोकादीनां योजना । यथा—“सर्वे ज्ञीवा वि इच्छति, जीविउं न मरिञ्जिउं ” इत्यग्रेदमालापकपदं धत्ते-ति “ सर्वे पाण्यिया उ ” इत्यादि । तथाभूतं सूत्रं परावर्तयद् किमेवं सूत्रं व्यत्याग्रेरयमीति प्रतिनोदितो यदि न प्रतिपद्यते तदाऽधिकरणं भवति । देशीभाषा नाम मन्थान्नमदाराष्ट्रादिदे-

शानां प्रापातोऽन्यत्र देशान्तरे भाषमाण उपहस्यते, उपहस्यमा-नश्च संखदं करोति । यद्वा-प्रपञ्चनं वचनामुत्पत्तेयं वा करोति, ततः प्रपञ्च्यमानः साधुना सहाधिकरणमुत्पद्यते । अन्वस्मिन्न वा बलव्यं कोऽप्यन्वयः । यद्वा-हीनाकरमथिकाकरं वा पदं व-क्ति । तत्र हीनाकरं आस्कर इति वक्तव्यं भास्कर इति वक्ति । अ-थिकाकरं सुवर्णमिति वक्तव्यं सुसुवर्णमिति प्रधीति ।

परिहारकहारमाह—

परिहारियमउचिते, ठवियमण्डापे णिविसंते वा ।
कुञ्जयकुले य पविसइ, वा जइ णाउट्टणे कलहो ।

गुहलानबाशादीनां यत्र प्रायेण्यं लभ्यते तानि कुर्वन्ति परि-हारिकायुच्यन्ते, एकं गीताधंसपाटकं मुकुत्था शेषसंघाट-कानां परिहारमन्थीनि व्युत्पत्तेः । तानि यदि न स्थापयन्ति, स्थापितानि वा अनर्थे निष्कारणं निश्चिन्ति, प्रविशन्तीत्यर्थः । यद्वा-पारिहारिकाणि नाम कुसितानि जासादिस्तुमुसितानिमांति भावः । तेषु कुत्रेषु प्रविशन्ति । एतेषु स्थानेषु यदि नावसन्ते न वा तेषु प्रवेशादुपरमते ततः कलहो भवति ।

देशकथा—

देसकहा परिकहणे, एके एके व देसरगम्मि ।
सोरद्धेदेस एंगं, दादिण वीयम्मि अदिगरणं ।

न वचनं साधुनामीदृशी कथां कथायनुमु । स प्राह-कोऽसि त्वं ? येनेव मां वारयसि । तथाऽप्यस्थिते अनुपरने सत्यधिक-रणं भवति । यथा—(एकैकं व देसरगम्मि स्ति) एकः साधुः सु-राष्ट्रं वधयति, यथा रमणोः सुराष्ट्रं विषयः । द्वितीयेः प्राह-कृपमगदुक ! त्वं किं जानासि ?, वृक्षिणापय एव प्रबानो देशः । पर्वमेकदेशरागणोत्तराप्युत्तरिकं कुर्वाण्येराधिकरणं भवति । ६० १ उ० । नि० ५० ।

(६) उपन्धे च व्युत्पद्यमानेयमेव नोपेक्षणीयम्—

एवमप्यत्र अधिकरणं किं कस्यैवम् ? इत्याह—
जो जम्म उ उवसभर्दे, विउम्भवणं तम्म तेण कायच्यं ।
जो उ उवेहं कुज्जा, आरवज्जइ मासियं लहुगं ॥

यः साधुष्येव साधोः प्रहापनया उपशाम्यति तस्य तेन सा-धुना विद्यापनं नोपामिनिर्वापणं कर्तव्यम् । यः पुनः साधुष्ये-कां कुर्यात् स आपद्यते मासिकं स्रुचकम् ।

लहुओ उ उवेहाए, गुक्का सो चेव उवहसत्तसस ।
उच्छुयमाणो सहुण, महायगणे सरिसदोसा ॥

उपेकां कुर्वाणस्य लघुकां नामः; उपहसत एकं गल्लो सुह-कः । अथ उमाधव्येन तुल्यं चोपेक्षन्तं करोति, विशुधत उ-त्तेजयतीत्यर्थः । ततश्चमार्गी लघुकाः । अथ कलहं कुर्वतेः सहा-यकत्वं साहाय्यं करोति, ततोऽसावधिकरणकृता सह सहश-दोय इति कृत्वा सहस्यं प्रायाश्चसमापद्यते, चतुर्गुरुकमित्यर्थः ।

तथा चाऽह—

चउरो चउगुरु अहुथा, विमंसिया होति भिककुपार्हाणं ।
अहवा चउगुस्मादी, हवंति उच्छेदनिदुवणण ॥

जिबुव्वभोपाध्यायाकायाणांमाधिकरणं कुर्वतो प्रयेकं चतुर्गु-रुकम्, ततश्चात्वारभतुर्गुरुका भवति । अथवा त एव चतुर्गुरुकाः,

सप्तकाशविशेषिता भवन्ति । तद्यथा-जिज्ञोष्यन्तुमुक्तं तपसा, कल्पे च ज्ञानमुक्तम् । वृषभस्य तदेष कालतुष्टकम् । उपाध्यायस्य तपोमुक्तम् । आचार्यस्य तपसा काशेन च मुक्तम् । भयथा वतुमुक्तकारण्ये देहं निष्ठापना कसंत्वा । तद्यथा-जिज्ञोष्यधिकरणं करोति चेत् वतुमुक्तम् । वृषभस्य पदलघुमुक्तम् । उपाध्यायस्य पदलघुमुक्तम् । आचार्यस्याधिकरणं कुशाणस्य देहं इति । यथा वाऽधिकरणकरणे आदेशश्लेषे प्रायश्चित्तमुक्तम्, तथा साहाय्यकरणेऽपि कष्टव्यम्; समानदेशवत्वात् ।

अधोपेक्षाव्याख्यानमाह-

परपत्तया न किरिया, मोक्ष परद्वं च जयम् आयुष्टे ।
अवि य उवंहा वुत्ता, गुणो वि दोसो ह्वरि एवं ॥

इहाधिकरणं कुर्यते दृष्ट्वा मध्यस्थमायेन निष्ठितं, नान्येषामप्युपदेशं प्रयच्छति । यतः परप्रत्यया वा क्रिया कर्मसंबन्धः सा अस्माकं न ज्ञवति, परकृतस्य कर्मण आत्मानं संकमाभावात् । तथा यद्येतादधिकरणानुपशान्त्येते, ततः पराधेहतां ज्ञवति । तं च परार्थं मुक्ता यदि मोक्षाधिस्तत आरमाधं पथ स्वाध्यायदिके यतश्चं यत्नं कृतम् ; अपि चेत्पुन्युत्थयं । आध्यायिकेन्द्राऽप्युपेक्षा संयमाङ्गनया प्रोक्ता-“ उवेदा संजमो वुत्ता ” इति वचनान् । यदा-त्रैयंप्रमोदकारणमाध्यस्थ्यानि सस्वर्णणाधिकारिः इयमात्राविनेषु अभ्ये स्वापयन् वा उपेक्षा प्रोक्ता ततः तेषु साधुनां कर्ममुचितेति ज्ञावः । अत्र सुरिराह- (गुणो वि दोसो ह्वरि) यद्विदमविनेषु माध्यस्थ्यमुपदिष्टं तत् संयतापेक्षया, न पुनः संयतानुहित्यः, यस्मात्संयतेश्चियमुपेक्षा क्रियमाणा शुभः, संयतं च क्रियमाना महान्, दोषो तस्य वि । उक्तं चौचनियुक्तार्थाप-“ संजयमिदचोयथाचोयेष य वावार उवेहा ।

अथ 'परपत्तया न किरिय त्त' एवं भाषयति-

जद परो पदिसेविका, पाविंयं पदिसेवणं ।
मज्ज मोणं चरंतसम्, के अष्टे परिहायई ॥

यदि पर आत्मव्यतिरिक्तः पापिकामकशासकमोपाधिकरणार्थिका प्रतिसेवनां प्रतिसेवते ततो मम औनमाचरतः का नाम ज्ञानार्थिनां सध्यादर्थः परिहीयते ? न कोऽपीत्यर्थः ॥

अथ 'मोक्ष परद्वं च जयम् आयुष्टे' इति पदं व्याचष्टे-

आयुष्टे उवउत्ता, मा परयद वावमा होह ।
इदि परद्वोत्ता, आयुष्टविणासगा होति ॥

आरमाधो नाम ज्ञानदर्शनचारिस्वरूपं पारमार्थिकं स्वकार्यम्, तत्राप्युक्ता ज्ञयन । मा परकार्ये आधिकरणोपशमनार्थं व्यापृता ज्ञयन । इंद्रीति हेतुपददर्शने, यस्मात्परार्थायुक्त आरमाधे-विनाशाकाः स्वाध्यायध्यानाद्यत्मकार्यपरिमथकारिणां भवन्ति ।

अधोपेक्षमोक्षेजनाद्वारे युगार्ह व्याचष्टे-

एसो वि ताव दमयतु, इसह च तस्सोययाएँ ओहमणा ।
उत्तरदाणं तह मो-सरादि अह होह उक्तअणा ॥

द्वयोरधिकरणं कुर्यतेतेरकर्मिभूत् संदिष्टि सति आचार्योऽप्यो वा ज्ञवति-एवंप्रियं तावद्वान्तपुष्टं; इत्यसामिदानीमनेन, यदि वा तत्राद्यमतायाः, पश्चात्कथमे इत्यर्थः ; स्वयमहोत्सवपदइति, वलदुपइसममुच्यते । तथा तयोर्भेदाद्यः सीदति तस्मोत्तरदा-

नय-अमुक्तममुक्तं च ह्येव शिक्शापणय, यद्वा-मा अमुष्पाह-पस्य रत्वं, इदीपुय तया ह्यग यथा न तेन पराधीयसे । अथैवा उक्तेजनाऽजिर्षयते ॥

अथ साहाय्यकरणं व्याख्यानयति-

चायाए ह्युवेदि, पाएदि हं दंतउक्तमादीदि ।
जो कुणइ सहायसं, सहासादोसं तयं वंति ॥

द्वयोः कलहायमानयोर्भेदाधिकार्ये पक्षे तूत्वा यः कोऽपि वाचा हस्नाज्यां वा पदयो वा दम्नोऽपि लघुमादिभिर्वा साहाय्यं करोति, तं तेनाधिकरणकारिणा सह समानदोषं तीर्थकरादयो भवते ।

अथाचार्याणामुपेक्षां कुर्वानां सामान्येन वा अधिकरणे अनुपशान्त्यमानं द्वायद्वेदानीभिर्मनुहाह्वणमुच्यते-

अरसमज्जे एगं सवतो वणमंदमोहोयं महंतं सरं अत्थि ।

तत्य य बहुएि जलचरयत्नचरखद्वचरसाणि अत्थंति ।
तत्य एगं मट्ठं हत्थिजुहं परिवसह, अक्षया य गिएहकाले तं हत्थिजुहं पाणियं पाठं शहाउत्तिसं मज्जएहदेसकाले संयत्तस्वखवायाए सुहं सुदेणं चिहइ । तत्य य अदूदेसे दो सरका भोऽउमारसह । वणदेवयाए अदि दट्ठुं सव्वेसि सजासाए आयोसियं-

“नागाः वा जलवासीयाः । सुणंहे तसयावरा ! ।

सरका जत्य भेदंति, अजातो पाणियत्त” ॥ ? ॥

ता मा एतं सरदे उवेखद, वारंह तुप्पे । एवं जणिया वि वे जलचरा ऽणो चित्तेति-किं अइए एतं सरका जेदंता काहिति? तत्य य एगो सरदो तो पिष्ठितो सो थारिज्जंतो सुहयमुत्तस एगसम जूहाहिवसम विलं ति काउं नासापुदं पविट्ठो । विदंओ वि तस्स पिष्ठंओ चव पविट्ठो; तिसरकपाले लुक्कं संपलग्गा । तस्स इत्यिस्स महती अइई जाया । तज्जा वेयण्हे मट्ठए अ-समाहःए वट्टमाणा उट्टेत्ता तं वणमंदं चूइ । बहवे तत्य वि-संता गाइया, जलं च आदोहित्तेण जसचरा पाइया, तज्जाग-पाल्ता य जंइया, तदागं विण्णं, ताहं जसचरा मच्चे वि एट्ठा ।

नो नागा हस्तिनः ! जलवासिनो मत्स्यकच्छपाद्यः । अपरे च ये त्रसाः सुगणशुभकिप्रभृतयोः । श्यावराक्ष सहकारादयो वृक्षाः, एते सर्वेऽपि युयं शृणुत मदीये वचनम्-यत्र सरसि सरदो भागम्-कनहं कुरुतः; तस्याज्ञावः परिवर्तते, विनाशः संभाव्यत इति भावः ।

अमुमेवार्थमाह-

वाणसंदमरे जलथल-खद्वचरईमिणए देवयाकहयं ।
वारंइ सरदुवेकवण, धारण गयनास चरणया ॥

वनजएरमिते सरसि जलयसज्जचरणां विभ्रमणं, तत्र सरदजल-मं दृष्ट्वा चनेदयथा, नागा वा जलवासिः । इत्यपि श्लोककथनं कृत्वा वारयत सरदो कलहायमानावित्युपदिष्टम् । तत्रच तैनागार्थिभिः सरदयोर्भेदकण कृतम्, पक्षस्य च सरदस्य द्वितीयं धारणं कृतं, ततोऽप्यो पाठ्यमानो गजनासापुदं प्रायश्चयात् । तत्पुष्टोऽहतीयोऽ-

पि प्रविष्टः, तयोश्च युक्ते लक्ष्णेऽसद्व्येदनात्सैनं हस्तिना वनचरस्य
 पूर्णं कृतमिति, एष हृद्यन्तः । अयमर्थोपनयः—यथा तेषामुपेक्ष-
 माणानां तत्पक्षतरः सर्वेषामप्याश्रयभूतं विनष्टं, तस्मिंश्च विन-
 दयमाने तेषां विनष्टाः, एवमप्याश्रयार्थादानामुपेक्षमाणाणां
 महान् दोष उपजायते । कथमिति चेत्, उच्यते—इदं तावधि-
 करणकारिणाषुपेक्षितौ परस्परं सुप्तमुष्टि वा दण्डादधिक वा
 मुष्येतां, तन्मन्त्र परस्परया राजकुले ज्ञाते सति महान् दोषः, यतः
 स राजादिस्तेषां साधूनां वन्दनं वा, प्रामन्यपदादिनिष्कासनं
 वा, कष्टकमर्दनं वा कुर्यात् ।

किञ्चान्यत्—
 तावो भेदो अयसो, हाणी दंसलचरित्तनाणाण्यं ।
 साधुपदासो संवा-रवङ्गो साहिकरगस्त ॥

तापां, भेदो, अयसो, हादिदेशैर्नहानचरित्राणां, तथा-साधुप-
 द्वेषः संसारवर्द्धनो जयति, एते साधिकरणस्य दोषा भवन्तीति
 समासायः ।

अथैनमिव गाथां विवृणोति—
 अग्निशयि अजगिण्य वा, तावो जेदो उ जीवचरणायं ।
 रुवसरिसं न सोसं, जिम्हं मषे अयम एव ॥

तापो द्विया-प्रशस्तेऽप्रशस्तश्च । तत्रानिर्माणेन सति चिन्त्य-
 नि-धिक्त्वा मां येन तदानीं स साधुर्बुद्धिर्जिपरसद्व्यवस्थानिर्भ्या-
 चयात्-ररथमित्यं चाकष्टः, एष प्रशस्तस्ताप उच्यते । अथाभगिने
 न यथाविधि तस्य मुक्ते जगिने, तत्रजिन्त्ययति—हा । मन्त्रनाम्यो
 विस्मरणाद्योऽहं कर्मया तद्व्यं ज्ञात्वादिर्ममानिकुरम्यं न प्रका-
 शिते, एष अग्रशस्तस्तापो मनस्यः । तथा कलदं कृत्वा जीवि-
 तनेदं चरुजेतं वा कुर्युः, पञ्चानापासवचतसो विहायभार्त-
 मरणमभ्युपगच्छेयुः, अशिक्षमण वा कुर्युरिति ज्ञावः । सोकाऽपि
 भ्रष्टारः अहो ! अर्मांषां धमणानां रूपसदृशो वादः प्रशान्तकारं रूप-
 मवसोऽक्यते, तादृशं शोभं मनःप्रानिधानं नास्ति । यद्वा-रकच ?
 मय्ये जिह्वा लज्जनीयं किमप्यनेन कृतं, येनैवं प्रशान्तवदनां ह-
 र्बन्धने, एवमादिकमयशः समुच्चञ्जति ।

आकुट्ट तातिण्य वा, पक्वोपकिक्व कज्जहम्मि गणभेदो ।
 अग्नय स्युएपिँ व, रायादि सिद्धे महणार्हा । ॥

जकारमकारादि(जिबन्धनैराकृते, तास्मिने वा च्येदाटादण्कादि-
 भिरादने सति, पक्षापकि परस्परपक्षपरिभेदण साधूनां कलदं
 जाते सति गणजनेो जयति, तथा-तयोः पक्षधर्मव्यापकतस्यकृण
 राजकुलं गत्या शिष्टे कथिने सति, सुचकेदां राजपुत्रव्यवधेः
 राजादीनां ज्ञापिते प्रहणार्णकर्यणादयो दोषा जयन्ति ।

वचकलहो वि न पडो-हा वचजलत्तं यदंमणे ह्यामी ।
 जह कोडाडविषही, तह हाणो होसि चरणे वि ॥

वृत्तकलदाऽपि कज्जहकणोत्तरकलायपि कपायकमुषिनः प-
 ष्चासापतसमाननो वा यत्रपत्रति, तेन ज्ञानपरिहाणिः, साधौ प्रवे-
 शिते साधार्मिकवात्सल्यं विगाथितं भवति, अयत्सत्यं च दशान-
 परिहायो, यथा च कथादादीनां कथायां बुद्धिस्तथा चरणे-
 ऽपि चारिभस्य परिहाणनेभति, विष्कलस्यमथस्थानप्रति-
 ष्ठातेनानिष्कलस्यमथस्थोपु गमनं भवतीत्यर्थः । एतन्न व्य-
 हाप्याभित्योक्तम् ।

निश्चयतस्तु—
 अकसायं खु चरिचं, कसायसहितो न संजओ होइ ।
 सादुण पदेसेण य, संसारं सो विवेहेड ।
 खुशुश्वस्यैवकारार्थेऽयादकपायमेव कथायपिरहितमेव चारिचं
 भवतिः प्रकृतम्, अतो निश्चययानिमायेण कथायसहितः स्वयत्
 एव न भवति, चारिचशुश्वत् । तथा साधूनामुपरि यः प्रवे-
 षतेनास्मी संसारं बद्धयति, दीधेतरं करोति । यत् एते बोधा-
 स्तत उपेक्षा न विधेया ।

किं पुनस्तदि कर्तव्यम् ? इत्याह—
 आगादे अदिगणणे, उवसम अवकण्णया य शुक्कयणं ।
 उवममहं कुणइ जायं, जइणया सायपेहिइ ॥
 आगादे कर्कशे. अघिकरणे उच्यते इत्युपपशमः कर्कश्यः ।
 कथमियाह-कण्णहायमानयोस्तयोः पार्श्वार्थयैः साधुजिप-
 कर्णमपसाण कर्तव्यम्, गुरुभिक्षोपशमनाद्यैर्महं वचनमभि-
 धातव्यम्-आयोः । उपशाभ्यतापशाभ्यत । अमुपशातानां कुणः
 संयमः ? कुनो वा स्याऽथायः ? तस्मादुपपदार्थं कृत्वा स्याऽथायं
 कुनः । किमं क्कमकयत् कनकरस्य शाकपयः कुदेना परित्यागं
 कुरुषु ? । कः पुनरय इमकः ? उच्यते-

जरा-एगो परिव्वायगो दमपुगुरिमं चिंताभोगसागराव-
 गादं पासति । पुच्छति य-किमेवं चिंतापरो ? तेण स सज्जा-
 वो कहित्तो, दारिद्रानिज्जतो भि सि । तेण जइहो सो-इस्सरं
 तुपं करमि, जतो मीतानववातपरिससमं अगणंतेहिं
 तिमामुखोवयणं सहंतेहिं वंनचारीहिं अचिचकटंमूलपत्त-
 पुफफकज्जहारोहिं समीपणुपुएपिँ ज्ञायतो अरुसमाण-
 हिं धंत्तवो । एम मे उवचारो । तेण दमणेण सो कणगरसो
 उवचारणं गहिंते, तुंवर्यं भरितं । ततो णिमगतो तेण परि-
 व्वायगेण भणियं-गुरुच्छेण वि तुमे एस सागपत्तेण ण छां-
 यव्वो । ततो सो पारिव्वायगो गच्छतो दमपुगुरिमं पुणो उ-
 भणति-मम पजाविण ईसरो जविम्मसि । सं य पुणो २
 वज्जमाणो रुट्ठो भणति-जे तुवक्क पमाएण इस्सरच्छे, तेण
 ये न कज्जं. तं कणगरसं सागपत्तेण उच्छेति । ताह परिव्वा-
 यगेण जणियं-हा हा दुगत्पन । किमियं तुमे कयं ? ।

जं अज्जियं ममीव-अणपिँ तवनियमबंजमइपिँ ।
 तं दाणिं पच्च नादिह, उठ्ठतो सागपेहिइ ॥

यद्विजं शमोसबन्धनमिः अल्लकैः पत्रपुट्टेस्तपोनियममल्ल-
 युक्तैः तदिदानीं शाकपयैः परित्यजन् पञ्चात्परित्यगाकाला-
 दूर्द्धमुपरि तं ज्ञायामि, यथा-दुग्धु मया कृतं, यच्चिरसन्धिनः
 कनकरसः शाकपयैरुत्सिद्यत्य परित्यक्तः । एवं परिमाज्जकेण
 द्रमक उपासय । अथाचार्यस्तावधिकरणकारिणोत्पुपासभते ।
 अथां यच्चारिचं कनकरसन्धानीयं तपोनियममल्लचर्यमयैः श-
 र्माअल्लकैरजितं परिपहोसागपदिधमं न गणयति, विद्वत्कथं
 कथमाप मोक्षितं तदिदानीं शाकपत्रसदृशैः कषायैः परित्यजन्तः
 पञ्चात्परित्यग्यानामनाः स्वयमेव ज्ञानयति । यथा-हा । बहुक-
 हापाजितेन संयमजनकव्येन मुद्रकस्थानीयं स्वजोवबहुचूर्णै

व्ययकवेज्ञायाम् । एवं चतुरो वारानैकैस्मिद् दिने मोदते, तच्चाधिकरणं प्रभाते प्रतिक्रान्तां स्वाध्याये प्रस्थापिते ।

एवमादौ कारणे तदुत्पत्तेः-

सुष्यद्विज्ञोहियमादिषु, नोदिरे सभ्यं अपदिबज्जचे ।

एा वि पट्टवेति उवसम-काज्ञो एा सुष्कांजिये वाऽस्ती ॥

दुष्पस्थुपेक्षितं कुर्वद्, आदिसंभारप्रवेक्षणान्, अस्माकाचार्यो वा प्रस्तुयेक्षमाणो नोदितः सभ्यम् यदि न प्रतिपद्यते, ततो अधिकरणं भवेत् । उपलब्धे चाधिकरणे यदि स्वाध्यायेऽप्रस्थापिते स्वयमेवांपाशान्तस्ततः सुन्दरम् । अथ नोपशाऽन्तस्ततो यः प्रस्थापनाद्यमुपनिष्ठते स वारणायः । यथा-तद्वदु तावद् यावद् सवै पि नो मिलिताः, तन आगंनपु सर्वेषु सूर्यां भुवने-आर्याः ! वषयत इमे साधयः स्वाध्यायं न प्रस्थापयन्ति । ते चेटोस्तरं प्रवृत्तञ्ज्यावर्ष-कालो न शुक्रः, पराजितं तेषां साधुनां सुभ-ज्जत, ततो न स्थापयन्ति । एवं भणतो मासगुरु, साधवश्च सवैऽपि प्रस्थापयन्ति स्वाध्यायं च कुर्वन्ति ।

काले प्रतिक्रान्ते जिज्ञासुंलायां जातयाभिद्विमाचार्यां प्रणयन्ते-

द्योतरण अजत्तद्धी, ण व वेज्ञा अनेज्जाऽज्जथे ।

ण य पदिक्कमंति उवसम, थिरतायारा तु पच्छाऽऽसु ॥

अथ । साधवस्म्यर्थायेनातुपशामनेन भिक्षां नायचरन्ति, तन उपशम कुंते । स चेटोस्तर प्राह-नूयमभक्तार्थिनो, न वा जिज्ञासुंला, एवमुक्ते सवैऽप्यवतरन्ति, नस्यामुपशास्तस्य जिज्ञायां मासगुरुः । जिज्ञानिष्ठेषु साधुषु गुरुषां जर्णान-आर्य ! साधुषां न सुज्जता । स प्राह-नूनं साधुनां न जर्णाम् । एवमुक्ते सवैऽपि समु-दिन्ता सुज्जते, नस्य पुनस्तुनांयं मासगुरु । ज्ञयेऽपि प्रतिक्रमणवे-लायां भणन्ति-आर्य ! साधुषां न प्रतिक्रामन्ति, उपशम कुंते । स चेटोस्तरं प्रत्याह-तुरिति विनयेकं, संभाव्याम्यहं निरतां चाराः कमाणस्तंन च प्रतिक्रामन्ति, एवमुक्ते सवैऽपि प्रतिक्रामन्ति । नस्य पुनश्चतुर्गुरुकम् । एवं प्रभातकाले अधिकरण उपलब्धे विधिरुक्तः ।

अत्राम् वि काज्ञम्यी, पदंतं हिंदंतं मंदेहाऽवस्मे ।

तिभि वि दोगिषि व मामा, ह्योतिं पदिक्कंतं गुरुगा उ ॥

अध्याप्यास्मिद् काले अधिकरणमुपशम, कदत्याह-पठनां इतिना-धिकारिपठने, भिक्षां दिष्टममानामां, मरुत्तयां वा समुद्दिशानामा-वश्यके वा । तत्र यदि द्वितीयावकाशायामधिकरणमुपलब्धं तदा कपो गुरुमासाः, चतुर्थवलायामुपलब्धं अष्टपुत्रान्त्ये द्वौ गुरुमा-सौ, एवं विनाया कसंख्या । अथ प्रतिक्रान्ते प्रतिक्रमणे हुने-ऽपि नोपशाऽन्तस्तत्तत्तत्तुर्गुरुकाः ।

एवं दिवसे दिवसे, चाउकाले तु सारणा तसम ।

नाति वारे ण सारेति, गुरुण गुरुगो तु तति वारे ॥

एवमनुपशास्तस्य दिवसे दिवसे चतुर्काले स्वाध्यायप्रस्था-पनादिसमयकपे, नस्य सारणा कसंख्या । यदि यायतो वारद्व आचार्यो न सारयति तावतो वारद्व मासगुरुकाणि भवन्ति ।

एवं तु अगीतत्पे, गीतत्पे सारिरे गुरु सुद्धो ।

नाति तं गुरु ण सारं, आबवी होइ दीएहं पि ।

एवं दिने दिने सारणाविधिनांताधैर्य कर्तव्यं; यस्तु गीताधैः द्विंनं स्वाध्यापनिक्रान्तकार्यनावश्यककक्षेपु चतुषु स यथा- च्छा परतस्तमसारवक्षति गुरुः सुद्धः, यदि पुन- स्थानेषु सांस्तव-

स्नअगीताधै गीताधै वा गुरुनं सारयति ततो द्वयोपर्यायाभ-वत्यानुपशास्तस्य तत्र प्रायश्चित्तस्थापितः । अन्ये भुवने-अगीताधै-वत्यानुपशास्तस्योऽपि नास्ति प्रायश्चित्तं, यस्तु गुरुगीताधै न नोदयति, तस्य प्रायश्चित्तम् ।

गच्छो य दोगिषि मांसे, पक्खे पक्खे इमं परिहवइ ।

जत्तचणसज्जायं, वंदणं खावं ततो परंए ॥

एवमनुपशास्तस्य तच्छो द्वौ मामौ सारयन्ति, एवं पुनः पक्के पक्के परिहापयति । तद्यथा-अनुपशास्तस्य पक्के गते गच्छे तेन सार्द्धं भक्तापेनं न करोति, न गृह्णाति वा, न वा किमपि तस्य ददातीत्यर्थः । द्वितीयं पक्के गते स्वाध्यायं तेन समं न करोति, तृतीयं पक्के गते वन्दनं न करोति, चतुर्थोऽपि पक्का यथा गतो भ-वति ततः परमाज्ञापमपि तेन सार्द्धं पर्यज्यति ।

आयरिय चउर मामे, सेज्जुंजति चउर देइ सज्जायं ।

वंदाणंखावे चउरो, तथा परं मूलनिच्छुज्जणा ॥

आचार्यः पुनश्चतुरां मामाद् सर्वेरापि प्रकरीस्तेन समं संहृ-क्षे, ततः पर चतुरां मामाद् जकापेनं वर्जयति, स्वाध्यायं तु ददाति । ततश्चतुरां मामाद् स्वाध्यायं परिहृत्य वन्दनालापी द-दाति, ततः परं वर्षे पुणं सांख्यसंस्कारिके प्रतिक्रान्तेऽनुपशास्तस्य गणाः प्रष्कासने कर्तव्यम् ।

एवं वारसमासे, दोमु तवां सेसए जेव वेदो ।

परिहोयमाण ताव्-से तव मूलं पदिक्कंते ॥

एवं द्वादशमास्यामप्यनुपशास्त्योद्विंशोऽधिकमासये, वर्षाद्य-च्छेज्ज विस्दिज्जित्तनात्तपः प्रायश्चित्तस्यपि, शेषेषु दशसु मासेषु उपचाराधिदिषु वेदो यावत्सांख्यसंस्कारिकम्, एवं प्राप्तं भवन्ति-पट्टे-षणाराराधौ प्रतिक्रान्ताधिकरण उपलब्धे पथ विधिरुक्तः । (प-रिहोयमाण नदिवस स) पशुषणापारणकदिमादिकदिद्वेसने परिहोयता, तावत्तयं यावत्तद्विदसं, पशुषणादिवस एषां अधिकरण उपलब्धे तत्र तपो मूल वा भवति नच्छेदः । अथ प्रतिक्रमणं कु-र्वन्तामुपलब्धं ततः सांख्यसंस्कारिके कार्यात्मने हुते मूलं च कवच भवति ।

एतदेव सुव्यकमाह-

एवं एकैकदिणे, हुंनु उवणादिणे वि एमेव ।

चेऽयवंदणसारे, तम्मि वि काज्ञे तिपामगुरु ॥

भाद्रपदशुक्लपञ्चम्यामनुदिते आदित्ये यथाधिकरणमुत्पद्यते ततः पशुषणाध्यामप्यनुपशास्तस्य संवत्सरो जयति । बहुधासुपलब्धे एकदिवसे न संवत्सरः । सप्तम्यां दिवसत्रयम् । एवमेकैकं दिनं हापयित्वा तावत्तयं यावत् प्रस्थापनादिवस पशुषणादिवसः तत्र वाऽनुदिते रवौ कसंखे उपलब्धे एवमेव नोद्वया कर्तव्या । प्रथमं स्वाध्यायप्रस्थापन कर्तुं कामिः सारणीयम्, ततश्चैतस्य चन्मनायं गन्तुकामाः सारयेयुः । तत्राप्यनुपशास्तं प्रतिक्रमणवेलायां सार-यन्ति । एवं तस्मिन्नेपि पशुषणाकालदिवसे त्रिषु स्वाध्यायप्रस्था-पनादिषु स्थानेषु नोदितस्वाध्यायप्रस्थास्य त्रीणि मासगुरु-काणि भवन्ति ।

पदिक्कंते पुण मूलं, पदिक्कंते व होज्ज अधिकरणं ।

संवच्छरमुस्समगे, कयम्मि मूलं न सेसाइ ॥

पशुषणादिने सर्वेवामाधिकरणानां व्यवच्छिन्नः कर्त्तव्यतिष्ठ-

त्वा प्रतिष्ठाते समाते आचर्यके एधि भोपद्यान्तः, ततो मूढत्वं ।
(परिक्रमंते च सि)अथ प्रतिष्ठाप्ये आचर्ये वाच्ये सांभस्वरिको
महाकापोरसर्गः, तावदधिकरणे कृते मूढमेव कथयन्, न शोचापि
प्रायश्चित्ताणि ।

संवच्छरं च रुद्धं, आयरिमो रकसए पयणेणं ।

जदि एणम उवत्तपेज्जा, पन्वपराइसरिसरातो ॥

एवमन्वार्थस्त्वं रुद्धं संवत्सरं वाच्यत् प्रयत्नेन रक्षति । किमर्थम् ?
इत्याह-यदि माम कथञ्चिदुपयाम्येत । अथ संवत्सरेणापि
भोपद्यान्ति, ततः पर्वतराजीसदृशरोपः स मन्वत्सः ।

तस्य वर्षोपवर्ष्यं को विधिः ? इत्याह-

अथे दो आयरिया, एकेकं बरिसमुपेयसस ।

वेण वरं गिद्धिए सो, बितियपदे रापपव्वइए ॥

तं वर्षोपवर्ष्यं मूढाचार्यसमीपाङ्गितमन्वी ह्यावाचार्यौ क्रमेणैकै-
कं वर्षमेतरेण विधिया प्रवत्तेन चरुक्तः, तन्मन्वाद्येभोपयामित-
स्तैस्विधायौ शिष्याः । ततः परं वर्षपद्यावर्ष्यमेव वृद्धीक्रियते, सङ्घ-
स्तदीयं लिङ्गमपाकरोतीत्यर्थः । इतीत्यपदे राजप्रमजितस्य
लिङ्गं प्रस्तारदोपनयाच ह्वियते । एवं निष्कोपकम् ।

एवम गणायरिए, गच्छमि तवो उ तिमि पकसाइं ।

दो पक्त्वा आयरिए, पुच्छइ उ कुभारदिद्धो ॥

एवमेव गणिन आचार्येभ्यश्च मन्वत्सः । नवरमुपाध्यायस्या-
नुपशाम्यतो गच्छे वसतस्त्रीत्यर्क्षेऽस्तवः प्रायश्चित्तम्, परतस्त्रे-
दः । आचार्येभ्यः अनुपशाम्यतो दौ पक्ते तपः, परतस्त्रेदः । शिष्यः
पूच्छति-किं सदृशपरापराधे विषमं प्रायश्चित्तं प्रयच्छथ ? इति-
पुच्छति । आचार्यः । आचार्यः-कुमारवृद्धोऽपि न प्रवति । स
बोचरन्नाभिधास्यते । इतिपाध्यायस्य अर्थः पक्तास्ते दिवसीकृताः
पञ्चनव्यारिंशदिवसा जवन्ति ॥

ततः-

पणयासिदिए मणियाँ, चठहा काऊल साहिइएकारो ।

नचठण-सज्जाए, बंदणालो स इाबेति ॥

गणिनः संवत्स्रिनः पञ्चनव्यारिंशदिवसाः ऋतुर्द्धा क्रियन्ते । च-
तुर्भागं च, साधिकः सपादा एकादश दिवसा जवन्ति । तत्र
गच्छे उपपायान्ति सममेकादश दिनानि अकथनं करोति । एवं
स्वाध्यायवन्दनाहापनापि प्रत्येकमेकादश दिनानि यथाक्रमं क-
रोति, परतस्तु परिह्रापयति । पञ्चनव्यारिंशदिवसानन्तरं
बोपाध्यायस्य दशकच्छेदः । आचार्येस्तथैवावपाध्यायमपि ऋतु-
मिच्छन्मिमांसैभंकार्यादिति परिह्रापयति संवत्सरं सारयति ।
आचार्येभ्यश्च द्वौ पक्षौ दिवसीकृती विश्राह्विसा जवन्ति ।

ततः-

दीसदिणा आयरिए, अरुद्धदिणा उ हावया तस्य ।

गच्छेय चउपदेहिं, गिच्छेय लुगती छेदे ॥

विश्राह्विसासाध्वर्ष्यभागेन चिजका अर्द्धाहमदिवसा भवन्ति ।
तत्र गच्छे आचार्येण सदाह्विद्वानि दिवसानि अकथनं करोति ।
एवं स्वाध्यायवन्दनाहापनमपि यथाक्रममर्द्धमैह्विसैः प्रत्येकं
ह्रापयति । ततः परं गच्छेन ऋतुमिदपि प्रकाशेनाभिदिमिः पक्षेनि-
ष्कालित आचार्यः पञ्चदशके जेदे लगति ।

ततः-

संकतो अएणगणं, सगणेण पवजितो चउपदेहिं ॥

आयरिमो पुण्य वरित्तं, बंदणालावेहि सारेइ ॥

स्वगणेन जकार्येनादिभिश्चतुर्भिः पक्षैश्च बर्जितः, लदा अन्व-
गणं संक्रान्तः, पुनरन्वगणस्याव्याचार्यो केवलं कल्पनाहापाच्यं
हाच्यं पद्याच्यं संछुद्रामः सारयति यावद्धर्मम् ।

सज्जायमाइएहिं, दिणे दिणे सारणा परगणे वि ।

नवरं पुण नाएत्तं, तवो गुल्लसेपरं वेदो ॥

परगणेऽपि संक्रान्तस्य आचार्यस्य स्वाध्यायादिभिः पक्षैर्दि-
दिने सारणा क्रियते । नवरं परगणोपसंक्रान्तस्येवं गानात्वं विना-
यः । अन्वगणसकलस्य गुणेरसारयतस्तपः प्रायश्चित्तम्, इतरस्य
पुनरधिकरणकारित्य आचार्येभ्यःस्तुप्राप्तस्य ज्ञेयः । अथ परः
प्राह-रागद्वेषिणो युयव्-आचार्ये शीर्षं जेदं जेदं पदाप्यायः, उपाध्यायं
बहुतरेण, मिच्छं ततोऽपि चिन्तरेण । एवं निष्कृताध्यायैर्वाभेवर्ता
रागः, आचार्यं वेचः । अत्र सूचिः आगुहिदं कुमारवृद्धानमहा-

सरिसावराधर्दो, जुवरभो भोगहरण्यंधादी ।

मज्जिम बंधवहादी, अन्वचे कण्ठसि स चि ॥

“यसास्स रथो तिञ्चि पुत्ता-जेठो, मज्जिमो, कण्ठिमो । तेहि च
रिदिं हि समन्थियं-पितरं मारिसा रमंजं तिहा चिप्रमाणं, तं च
काया शायं, तथ जेठो जुवरया, तुमं प्पान्नुभो कीस एवं क-
सि सि ?, तस्स भोगहरण्यंधवतामादिषा सन्वे बंदणगारा
कया । मज्जिमो रायपहाणो । सि काठं तस्स भोगहरणं न कथं,
बंधवहादिया कया । अन्वसो कण्ठेऽपि एतेहिं विचारिंभो सि काठं
तस्स कण्ठियमो कण्ठेदो । जिसा इं दं च कथं, न भोगहरणाइयं”
अङ्गरामनिका-सद्योऽप्यपराधे जुवरराजस्य भोगहरण्यंधना-
दिको महाद्ददः कृतः । मध्यमस्य बन्धवधादिको, न भोग-
रणम्, अशकः कनिष्ठस्तस्य कर्णामेटनादिकः, जिसा च कृता ।
अयमर्थोपनयः । यथा-लोकैल्लोकाचरं ऽप्युक्लमध्यमजघन्येषु
पुरुषवस्तुषु वृद्धस्यो लघुर्लघुतरश्च यथाक्रमं ददः क्रियते ।
प्रमाणभूतं च पुरुषे अक्रियातु वर्तमाने एते हांयाः-

अप्यन्वय वीसत्य-त्तणं च जोगे गरहा दुरिगमो ।

आणाय प परिभुवो, खंभ भयं तो तिहा दंदो ॥

एत एवाचार्यो जगन्नि, अकथार्यं चारित्रं भवति, स्वयं पुनरि-
त्तं रुच्यन्ति । एवं सर्वेषु शिष्यप्रत्ययो भवति । शिष्यासङ्गनाम-
पि कथायकरणे विभ्रान्तता भवति, लोको वा गही कुर्यात् । प्र-
धान एवामीषं कथं करोतीति, रोषशब्द युक्तः शिष्याणां प्रती-
च्छकानां च दुरधिगमो भवति, रोषणस्य चाहो शिष्याः परिज-
वन्ति, न च अयं तेषां भवति, अतो वस्तुविशेषेण विधा
ददः कृतः ।

गच्छमि प हृवए, जम्मि पदे निगतो वितियं ।

जिक्खुगणायरियाणं, मूलं अएवड-पारं चो ॥

गच्छे यस्मिन् पदे प्रकाशिते निगंतस्ततो ह्रितौयं पदं परगणे
संक्रान्तः प्रामोति, तद् यथा-तपसि प्रकाशिते यद्वि निगंतस्त-
त्तद् प्रामोति, जेदे प्रकाशिते निगंतस्ततो मूढत्वं, एवं जिक्कोक-
गणाच्येदकस्यानवस्थाप्ये आचार्येभ्यश्च पारश्चिके पक्षेभ्यश्च ।

अधिवाराय

अथवा येन प्रकाशयन्नादिना पदेन गच्छाभिर्गतः, ततो द्वितीयपद-
मन्वगण्ये गतस्य प्रारब्धते । यथा-गच्छाङ्गकार्येन पदेन निर्गतः,
ततोऽन्ये गम्यं गतेन तेन सप्तम्यां न घृङ्गे, स्वाध्यायं पुनः करो-
ति । एवं स्वाध्यायपदेन विगतस्य घञ्भूतं करोति । घञ्भूतपदेन
निर्गतस्याक्षरं करोति । आद्यापपदेन निर्गतस्य परान्छ-
ञ्चतुर्भिरपि पदैः परिहारं करोति । ' भिस्सुगणायारियानि '
इत्यादिना तु भ्रयाणामन्यस्यप्रायश्चित्तानि शूहातानि ५० x
७० । नि० ५० । (द्वितीयपदं कारणं सत्युत्पादमन्दियधि-
कारेऽनुपदमेव धत्तयेत)

(१०) अरपरुषाणि भविष्या गच्छाभिर्गच्छतो विधिः—
यद्यधिकरूपं कृत्वा प्रश्नापितोऽपि नोपशाम्यति,
स किं करोति?, इत्याह—

स्वरकृत्सनिद्गुहं, अहं सो भणितं अत्राणियव्वाङं ।
निगमण्य कल्लुसद्विषयं, सगणे अष्टा परगणे य ॥

अथौषी अरपरुषानितुराणि अभ्युत्तव्यानि ध्वजमानि भ-
विष्या कल्लुनितहृदयाः स्वगच्छाभिर्गमनं करोति, ततोऽनितस्य
तस्य स्वगणे परगणे च प्रत्येकमष्टौ स्पर्शकानि ध्वजमाणा-
नि भवन्ति ।

अरपरुषानितुरपदानि व्याख्याति—

उर्ध्वं सरोसं भणियं, द्विसंग-मन्मवयणं त्वरं तं तु ।
अक्कोसं शिकवचारिं, तमसच्चं गिहुरं ह्येति ॥

उर्ध्वं महताः क्येरेण सरोपं यद्गमिनं—दिसकं प्रमद्यद्गमवचनं
वा, तेषु अरं मन्तव्यम् । जकारमकारादिकं यदाक्कोशवचनं यथा
निरुपचारि विनयोपचारिदरं तस्यरुषम् । यद्दस्यं सभाया अ-
धोग्यं, कस्तवमित्यादिकं तद् निदूरं भवत्येत ।

इहशानि भविष्या गच्छाभिर्गतस्याचार्यः प्रायश्चित्तवि-
भागं दर्शयितुकाम इदमाह—

अद्दऽद्दुअरुफमासा, मासा ह्यौतऽद्दुअद्दमु परागो ।

वासामु अ संचरन्, ण चैव इपरे वि पेसंति ॥

ये गणे याग्याचार्यस्तत्काल्यष्टौ स्पर्शकानि, तेषु पक्षे अरपरा-
परस्मिन् स्पर्शके संचरतो अष्टावर्षमासा भवन्ति । परगण-
मध्येऽप्यष्टसु स्पर्शकेषु पक्षे पक्षे संचरतो अष्टावर्षमासाः ।
पवमुअयेऽपि मौलित्वा अष्टौ मासा भवन्ति, अष्टसु च अतु-
बज्जमासेषु साधूनां प्रचारां विहारो भवतीति कृत्वा अष्टप्रहस्य
कृतम् । येषामु चतुरो मासान् तत्पथिकरक्षकारिणः साधोः
संचरणं नास्ति वर्षाकाल इति कृत्वा इतरेऽपि येनां स्पर्शकेषु
संक्रान्तस्तेऽपि ते प्रह्राण्यवर्षावास्त इति कृत्वा यतो गणुदात्त-
स्तत्र न प्रेषयन्ति, तत्र यानि स्वगणे अष्टौ स्पर्शकानि, तेषु
संक्रान्तस्यै तैः स्वाध्यायभिक्षाभोजनप्रतिष्ठापणेषु वा प्रत्येकं
सारया कर्तव्या । ' आर्ये । उपशमं कुर्व' यद्येवं सारयन्ति
ततो मासशुद्धकम् ।

तस्य पुनरनुपशाम्यत इदं प्रायश्चित्तम्—

सगणमि पंच राई—दियाणि दस परगणे भाणुओसुं ।
अओसुं होई पसरस, वीसा तु गयस ओमसा ॥

स्वगणे स्पर्शकेषु संक्रान्तस्यानुपशाम्यतो विचक्षे दिवसे प-
ञ्चरात्रिदिवस्त्रेदः, परगणे मनोबोधे सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य
दशरात्रिदिवः; अन्यसांभोगिकेषु संक्रान्तस्य दशरात्रिदिवः,
अन्यसांभोगेषु पञ्चदशरात्रिदिवः । अत्रसंज्ञेषु गतस्य विभ-
तिरात्रिदिवस्त्रेदः । एवं भिक्षोकृतम् ।

अधोपाध्यायाचार्योपस्थमते—

एवमेव ङोइ गणी, दसदिवसादी भिण्मासंते ।
पसरमादी तु गुरु, चरसु वि ठाणेषु मासंते ॥

एवमेव गणिन उपाध्यायस्यापि आधिकरूपं कृत्वा परगण-
संक्रान्तस्य मन्तव्यम् । नवरं दशरात्रिदिवसादी कृत्वा भिक्ष-
मासान्तस्तस्य च्छेदः । एवमेव शुरोपस्थाचार्येण चतुषु स्व-
व्यपराणेषु सांभोगिकाम्यासांभोगिकावसंज्ञेषु पञ्चदशरात्रि-
दिविको मासिकान्तस्त्रेदः । पततुक्वाणां स्वगणादिविधान-
विभागेन प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

अथ तथैव स्थानेषु पुनरुपविभागेन प्रायश्चित्तमाह—

सगणमि पंचराई—दियाई जिकसुस तदिवेम ठेदो ।
दस होई अहोरत्ता, गणिआरिपे व पसरसा ॥

स्वगणे संक्रान्तस्य भिक्षान्तद्विसादारभ्य दिने दिने पञ्च-
रात्रिदिवस्त्रेदः । गणिन उपाध्यायस्य दशरात्रिदिवः । आचा-
र्यस्य पञ्चदशरात्रिदिवः ।

अष्टगणे भिक्षुसुस य, दस राईदिया जवे ठेदो ।
पसरस अहोरत्ता, गणिआरिपे भवे वीसा ॥

अन्यगणे सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य भिक्षादशरात्रिदिवस्त्रेदः ।
उपाध्यायस्य पञ्चदशरात्रिदिवः । आचार्यस्य त्रिशतरात्रिदिवः ।
एवमन्यसांभोगिकेषु अत्रसंज्ञेषु च प्रागुक्तात्सारणं नयम् ।
५० x ७० ।

एवं एकैकदिनां, हृत्वेनु उवणा दिणे वि एमेव ।
चैद्वयं देणुसारिपे, तामि व काले तिमासगुरु ॥१२०८॥
पासत्यादिगपसस य, वोसं राईदियाई जिकसुसम् ।

एगवीस उवञ्जाए, गणिआरिपे जवे मासो ॥१२०९॥
गणन्य गणे वा आचार्यः, अथवा—गणित्वमाचार्यव्यं च
यस्यास्तस्यो गणुआरिपेआ । नि० ५० । १० ७० ।

आधैवं प्रतिदिने त्रियमने पर्यायं पक्षेण कियन्तो मासा अ-
मीयां त्रियन्ते ? इति जिज्ञासार्थां छेदसंज्ञपनामाह—
अद्दुाज्जा मासा, अद्दुई मासा इवन्ति वीमं त् ।
पंच उ मासा पक्खे, अद्दुई चत्ता उ जिकसुसम् ।

स्वगणसंक्रान्तस्य भिक्षोः प्रतिदिने पञ्चकच्छेदेन त्रि-
घमानस्य पर्यायस्य पक्षेणाहृतनीया मासाः त्रियन्ते ।
तथाहि—पक्षे पञ्चदश दिनानि भवन्ति, तैः पञ्च मुषयन्ते,
जाता पञ्चसप्ततिः ; तस्या मासान्तयनाय त्रिशता ज्ञाते
हृत्वे अर्चतुनीयमासा लभ्यन्ते, स्वगणे चाष्टौ स्पर्शकानि, तेषु
पक्षे पक्षे सचरन्ः पञ्चकच्छेदेन त्रिशनमासांभियन्ते । तथाहि-
पञ्चदशाधनिर्मुणित्वा ज्ञाने त्रिशोचरं शनम् । तदपि पञ्चभि-
र्मुणितं ज्ञानानि यदशानानि । तेषां त्रिशता भागे हृत्वे त्रिशानमासा-

लक्ष्यते । एवमुत्तराभिः शुणकारमाहारप्रयोगेषु स्वबुद्धोप-
सृज्य मासा आनतस्याः । परगणे संक्रान्तस्य जिहोर्देशकन जे-
देन त्रिघमानस्य पर्यायस्य पक्षेण पञ्च मासाभिः प्रयत्ने, दशकै-
श्च द्वेनाद्यभिः पक्षैश्चत्वारिंशत्मासाभिः कल्पते, एव भिन्नोक्तम् ।

उपस्थाप्यस्य पुनरिदम्-

पंच ठ मासा पक्वते, अष्टाद्विं मासा हवंति चत्वारः ।

अष्टोत्तरमास पक्वते, अष्टाद्विं सद्धी जवे गण्डिणो ।।

उपस्थाप्यस्यापि स्वगणे दशकेन जेदेन पक्षेण पञ्च मासाः,
अष्टाद्विंशतिमासाश्चत्वारिंशत्मासाः त्रिघमने, तस्यैव परगणेषु प-
ञ्चदशकेन जेदेनाष्टोत्तरमासाः पक्षेण त्रिघमने । परगणे त-
पस्थाप्यभिः पक्षैर्गणितानाः षड्विंशतिमासा गणितविघ्नघमने ।

अष्टोत्तरमास पक्वते, अष्टाद्विं मासा हवंति सद्धी तु ।

दस मासा पक्वते, अष्टाद्विंशतिमासा उ आयरिपे ।।

आचार्यस्य स्वगणे संक्रान्तस्य पञ्चदशकेन जेदेन त्रिघमाने प-
र्याये पक्षेणोष्णमासाः अष्टाद्विं पक्षैर्गणितानाः षड्विंशतिमासाभिः क-
ल्पते । तस्यैव परगणसंक्रान्तस्य विशेन जेदेन पक्षेण दश मासा
अष्टाद्विं पक्षैर्गणितानाः त्रिघमने । एवं स्वगणे परगण च सां-
ज्ञानिकेषु संक्रान्तस्य जेदसंबलनाथमिदित्वा । अन्यसंज्ञानिकेषु
श्रवसंश्लेषु च संक्रान्तस्य जिहोर्देशापास्याचार्यस्य वाऽन्यैव
दिशा जेदसंकलना कर्तव्या ।

एता विद्वांसो षड्विंशतिमासा, सगणे चत्वारि मास उक्ताः ।

चत्वारि परगणम्भी, तेषां परं मूल निच्युजणं ।।

एष विप्रेन्द्राभिर्गणितस्योक्तः । अथ च स्वगणे अष्टसु स्पर्क-
केषु पक्षे पक्षैः संचरनश्चत्वारो मासा उक्तवन्तो भवन्ति । परग-
णस्यैव चत्वारो मासाः । एवमप्येवमपि चत्वारो मासाः । ततः
परं यद्युपशान्तस्वतो मूलम् । अथ नोपशान्तस्वता निष्कालसं
कनेव्यम्, लिङ्गमपुढरणीयमित्यर्थः ।

चोपुद् रागदोमे, सगणे योषं इमं तु नाणसं ।

पंतावण निच्युजणं, परकुञ्जयवर्णितं ग गया ।।

शिव्यः प्रेरयति-गगद्वेषिणो यूय, यत् स्वगणे स्नोकं क्षेप्रा-
श्विनं दक्षम्, परगणे तु प्रभूयम् । एवं स्वगणे जयनां रागः, पर-
गणे द्वेषः । गुरुदाह-दं जेदेनाभाव्यं कुर्वतां वयं न रागद्वेषिणः ।

तथा जात्र दृष्टान्तः-

एगस्त गिद्विणो चठरो भञ्जाओ । ततो य ते ग कम्पिद् एगे
सरिसे अवराहे कते पंतैतां पाण्डपम गिदाओ चि निच्यु-
दा, तस्येगा कम्पिद् इयरधरम्प गया, विद्या कुञ्जवरं, ततिया
जसुला एगसररो धोदिओ चि वयंसो, तस्य घरं गया,
चठरथी निच्युधंती वि बारसदाए ळगाहस्यमाया वि न
गन्जइ, जणइ य-कतो ए वच्योभि ?, नरिय ये अओ
गद्विसओ, जइ वि मारिइ तदा वि तुपं चैव गतो सरणं
चि तस्येव त्रिया ।

केनापि शुद्धिणा चतसृणां भार्याणां मनापनं कुडनं कृत्वा
शुद्धाभिः फासनं कृतं तत्रैकापरपृथक्, द्वितीया कुलपृथक्,

द्वितीया धोटिका भिन्नं, तद्वदं गता, चतुर्थी तु न कापि गता ।

तत्रो वृद्धेण चठरथी परसामिणी कया । तस्याय धोर्षिय-
धरं जंतो ए सो चैव अणुवचितो विगतरोसेण खरंठिता, आ-
धीता य । वितियाए कुञ्जवरं जंतीए जं पिउगिहवजं गहिंभं
गादतरं रुद्धेण अओहिं जणिएरिं वि गतरोसेण खरंठिता, दं-
दिया य । पदमा दूरे एण्डेचि न ताए किंवि पओगणं, महंते-
ण वा पच्छिपदं देण दंडिंठं आणिउजइ । एवं परसंज्ञाणिया
ओसन्ना, कुञ्जवरसंज्ञाणिया अन्नसंज्ञोऽया, धोदियसमा
संज्ञोऽया, अनिगमं सधरसमा गच्छे जाव दूरं तरं ताव
महत्तरा रंभो जवइ । वृ० ५३० ।

(११) गृहस्थैः सहाधिकरणं कृत्वाऽन्यवशमव्यम विपश्च-

प्रहणानि न काच्येयम्-

विष्कलू य अदिकरणं कहुचं अदिकरणं अविओस-
मिता ना से कण्ठे गाहावडकुञ्जं जचाए वा पाणाए वा
निक्खामिणए वा पविस्सिचए वा, बहिया विचारज्जिं वा
विहारज्जिं वा निक्खामिणए वा, पविस्सिचए वा, गामाण-
गामं वा दूइज्जत्तए गगानां वा गोकं संकमिचए वा, वासा-
गमं वा वत्थुं, जत्थे व अप्पणाऽऽपरियजवभङ्गायं पा-
सेजा, वहुसुसुयं वज्जागमं तस्संतिए आलोइजा, पक्कमि-
जा, निदिजा, गरदिजा, विगुड्ढेजा, विसेंइजा, अकरणयाए
अन्धुदेजा, अडांरिं ततोऽकं पायं चिचं पंक्कवजेजा, से
य सुएण पडविणए आदिंत्तव्णे मिया, से य सुएण नो पड-
विणए नो आदिंत्तव्णे सिया, से य सुएण पड्वेज्जपाए
नो आद्या स निच्युद्वियव्वं सिया ।।

अस्य संबन्धमाह-

केण कयं कीस कयं, निच्युजओ एसं किं इहाणेति ? ।

एसो वि गिहं तुदितो, करेज्ज कदाहं असहमाणां ।।

केनेधं बहसं काण्णनयनं कृतं, कसादेतत्त कृतं, निष्कासितोऽ-
प्येव किमर्थमिहानयति, एवमादिभिर्बोधोभिरुद्दिष्टा तुदितो
व्यथितः कश्चिदसहमानः कलहं कुर्वति । अत इदमधिकरणयु-
क्तमवश्यम् । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-सिद्धिः प्रागु-
क्ताः, अशब्दाद्युपाध्यायविपरिग्रहः । अधिकरणं कलहं कृत्वा
नो कल्पते तस्य तदधिकरणमध्यवशमव्य गृहपतिकुलं भ-
क्ताय वा पानाय वा निष्कसितुं वा, प्रवेधं वा, प्रामादप्रामं वा
गन्तुं विहर्तुं, गणान्नां गोकं संकमितुं, वप्यावासं वा वत्थुं, किंतु
बधैवात्मन आचार्याणां पार्यायं परम्येत्, कथं भूतम्, बहुसुतं क्षेप-
मन्नादिकुशलम् । बह्मण्यं अथेतः यभूतागमय, तत्र तस्यान्तिके
आस्नात्तव्यत्स्वपराधं वधसा प्रकटयेत् । प्रतिफलं नि-
ध्यादुःकृतं तद्विषये दद्यात् । निष्कालः आत्मसात्तिकं सुगु-
प्येत, महंतं गुरुसात्तिकं निन्द्यात् । इह व निन्दनं गर्हणं वा
तात्तिकं तदा भवति यदा तत्कारणम् प्रतिनिवर्तते । तत-
आह-व्यायतेन तस्मादपराधपराश्रयनेन, ध्यातुसाचार्य कृता-

त्यापचदा मुच्यते, यदात्यन्तो विशेष्यैर्बधति । तत आह-आ-
 त्मानं विशेष्यचेत् पापमसस्फोटनतो निमैलीकुर्यात् । विद्युः
 पुनः पुनः कर्णुतायास्तुपपद्यते । ततस्त्वामि. ५. ५४-अकरण्यता
 अकरीयता, तथा अन्त्युत्थित । पुनरकरण्यतया अन्त्युत्था-
 न्नेऽपि विद्योधिः प्रायश्चित्तप्रार्थनया भवति । तत आह-य-
 चाहं यथायोग्यं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते । तच्च प्रायश्चि-
 त्तमाचार्येण भुतेन बुतातुसारं यदपि प्रस्थापितं प्रदत्तं तदा
 आदातव्यं प्राज्ञं स्यान्नृत्तम् । अथ भुतेन न प्रस्थापितं तदा
 नादातव्यं स्याद । स चाऽऽलोचको यदि भुतेन प्रस्थाप्यमान-
 मपि तस्याप्रायश्चित्तं नादादति न प्रतिपद्यते ततः स निच्छु-
 तव्यः, अन्यत्र शोधितं कुरुष्येति निषेधनीयः स्यात् । इति
 सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः—

अविद्यय कुम्भपनेते, अङ्गुमि अणेसपिण्डपडिसेहे ।

अवहारमंगलुत्तर-सनाथअविद्ययमिच्छते ॥

अविद्ययमिच्छाने कथमधिकरणमुत्पन्नम् ? इत्यस्यां जिज्ञा-
 सायामविधीयते-कस्मिंश्चित् कुम्भे साधवः प्रपिण्डोष्ठीतिक-
 रास्तत्राजानतमनाजोगाहा प्रवेष्टो यदपि राकोबोह, वा हन्यात्, वा
 साधुत्पत्सहमानः प्रथमाशोधः ततोऽधिकरणमुत्पद्यते । ए-
 धमतिभूमिं प्रविष्टे अनेकपीयभिक्षाया वा प्रतिषेधे, शौकस्य वा
 सङ्गतकस्यापहारे, यात्राप्रस्थितस्य वा गृहिणः साधुं दृष्ट्वा
 अमकजमिति प्रतिपत्तौ समर्थविचारं वा प्रत्युत्तरं दातुमस-
 मर्थो गृहस्थस्यमाचन वा कृपि साधो (अविद्ययं) मनिष्टे
 हरे अभिप्रदमिष्यादरेषां सामान्यतः साधावयलोकिते प्राय-
 कणमुत्पद्यते ।

पडिसेधे पडिसेधो, भिक्वुवियारे विहार गामे व ।
दोसा मा हांज बहु, तम्हा आलोयणा मोर्षी ॥

अभयजिः प्रतिषिद्धं न वर्तते साधुनामधिकरणं कर्तुम्, एवं
 विधिप्रातरेषु भूयः प्रतिषेधः क्रियते । कदाचित्साधुधिकरणे
 गृहिणा समं कृतं जनेषु, कृत्वा च तस्मिन्पुनश्चाग्निं भिक्षायां न
 द्विवदनीयम्, विचारजुमो विहारभूमौ वा न गमनव्यम्, प्रामानु-
 प्रामं न विदुस्तव्यम् । कुतः ? इत्याह-मा बहुवो अन्यनकण्टक-
 प्रवेवाद्वांशो दोषा भवेयुः । तस्मान्नं गृहस्थमुपशम्य गुरुणाम-
 स्तिके आलोचना दातव्या । ततः शोधः प्रतीच्छनीया ।

इदमेव भाषयति—

अदिकरण गिदत्येहिं, ओसारण कण्ठया व चागमार्थं ।
आलोयण पत्यवर्णं, अपेसणे होंति चठ सङ्गुमा ॥

गृहस्थैः सममधिकरणे उपलभे द्वितीयेन साधुना तस्य साधोरप-
 सारणे कर्त्तव्यम् । अथ नापसरति ततो बाहो गृहीत्या आक-
 र्णवीयः । इदं च अचरन्मम-न वर्तते मम त्वया साधिकरणेन
 समं भिक्षामदितुम् । अतिप्रतिषेधे परिनिषर्त्तौहे । पद्यमुक्त
 प्रतिष्ठायागस्य गुरुणामालोचनीयम् । ततो शुभमिच्छामार्थं
 वृषमास्तस्य गृहस्थस्य मूले प्रेषणीयाः । यदि न प्रेषयति त-
 दा वतुल्लेपु ।

आचादिषो य दोसा, वंधणपिच्छुभणकरगमादाय ।
दुग्गाहय सत्वेणं, अगणुवकरणं विसं बरं ॥

आहायव्यक्ष दोषाः । स च गृहस्थो येन साधुना सहाधिक-
 रणं कृतं तस्यानेकेषां वा साधुनां कथं निष्कासनं वा कुर्यात् ।
 कटकमादाय सर्वानपि साधुन् कौऽपि व्यपरपयेत् । म्युदुमाह-
 र्थं वा लोकस्य कुर्यात् । नास्त्यमीषां दूषे परलोकफलम्, व-
 द्वाऽमी संहां म्युत्सुय विकिरन्ति, न च निषेधयन्ति, अङ्गादिना
 वा शक्येन साधुना दद्यात् । अतिक्रियेन वा प्रतिश्रयं ददेत् ।
 उपकरणं वा अपदरेद, विषं गर्यादिकं वा दद्यात्, भिक्षां वा
 वारयेत् ।

तच्च वारयमेतेषु स्थानेषु कारयेद-

रज्जे देसे गामे, शिन्वेसणे गिद्वे निवारणं कुणाति ।

जा तेण विणा हाणी, कुलगणसंधे य पच्छारो ॥

राज्ये सकलेऽपि निवारणं कारयेत् । एतेषां भक्त्युपधि वस-
 ति वा मा दद्यात् । एवं देवो, भ्रामे, निवेशने, गृहे वा, निवारणं
 करोति । ततो वा तेन भक्तदिना विना परिहाणन्तं वृषजानमे-
 षयम् गुरुः प्रार्थति । अथवा यः प्रभवति स कुलस्य गणस्य सङ्घ-
 स्य वा प्रस्तारं विस्तरणं विनाशं कुर्यात् ।

एयस्य एत्थि दोसो, अपरिक्खय दिक्खगसस अह दोसो ।

पनु कुज्जा पच्छारं, अपपुत्त वा कारणे पणुणा ॥

गृहस्थः जित्तयति-एतस्य साधोनांस्ति दोषः, किं तु य एत-
 मपरिद्वयं दीक्षितवान् तस्याऽयं दोषः । अतस्तमेव धानयामी-
 ति विधि-न्यः प्रष्टुः स्वयमेव प्रस्तारं कुर्यात् । अपरुह्यं ए-
 व्यं राजकुले दत्त्वा प्रष्टुणा कारयेत् ।

यत एते दोषाः-

तम्हा खलु पट्टवणं, पुर्वि वसजा समं च वसजेहिं ।

अणुलोमण पेच्छामो, गिंति अण्णिच्छंति ते वसजा ॥

तस्माच्चूषमाणं तत्र स्थापनं कर्त्तव्यम् । (पुर्वि ति) येन साधुना
 अधिकरणं कृतं तावत् प्रेषयन्ति यायचूषजात् पूर्वं प्रहापयन्ति ।
 किं कारणम् ? उच्यते-स गृहस्थः तं दृष्ट्वा कदाचिद्दृष्टव्यात् ।
 अथ ज्ञायते न हनिष्यति ततो वृषमैः समं तत्रपि प्रेषयन्ति । तत्र
 गताश्चानुकूत्रवचोभिरनुलेमं प्रणुणोकरं तस्य कुर्वन्ति । अ-
 थासौ गृहस्थो ज्ञेयान्-अनयत तावत् कलहकारिणं येनैकवारं
 पश्यामः, पश्चात् क्र मयेत् । नच ततो वृषजान्मदमिषय ज्ञात्वा
 तं साधुं गृहिणः समीपमानयति । अथासौ साधुनेच्छति ततो
 बलादिपि वृषजालं तत्र नयति ।

ते च वृषमा ईदृशगुणकणः प्रस्थाप्यन्ते-

तस्संबंधिं मुही वा, पणया ओपस्सिणां गहियवक्का ।

तस्संब मुहीसहिद्या, गमैति वसभा तगं पुच्चं ॥

तस्य गृहिणः, संयतस्य वा संबन्धिनाः सुद्वेदो वा ते अथेषुः प्र-
 गता लोकप्रसिद्धाः, श्रोत्रस्थिनो बहोर्षांसः, गृहीतवाक्या आ-
 देयवचसः, ईदृशा वृषजा, तस्यैव गृहिणः सुद्विष्टः सदितः तर्क
 गृहसं पूर्वं गमयन्ति ।

कथम् ? इत्याह-

सो निच्छुम्भति साह, आयरिए तं च जुज्जसि गमेत्तुं ।

नाऊण वत्थुजावं, तस्स जदी गिंति गिहिसहिद्या ।

येन साधुना त्वया सह कसदितं स साधुचार्यैः साम्ब्रं

निष्कास्थते, अस्मदीयं च वक्तो गुरवो न सुदुष्ट भूयवान्ति; अत आचार्याणां गर्भयितुं त्वं पुत्रस्य-पुक्तो भवसि । एवमुक्ते यथा-चार्यं गमयति-कामयति ततो बहवः । अथ कृते-पद्भ्यामस्तावचं कलहकारिणम् । ततो ज्ञात्वा बहवो नो गृहस्थस्य भावं किमयं हन्तुकामस्तमानाययति, उत कामयितुकामः ? एवमभिप्रायं ज्ञात्वा तस्याचं सुदुष्ट, अतस्ते असाहिता एव तं साधुं तत्र नयन्ति ।

अथासौ गृही तीमकथायतया नोपशाम्यति ततस्तस्य
साधोर्गच्छस्य च रक्षार्थमयं विधिः-

बीजं उवस्सए वा, उवैति पेसेति कङ्कपतिणो वा ।
देति सहाए सत्त्वे, वि षोति गिद्विणो अणुवसंते ॥

विष्णवग्न्यदिग्गन्धुपाश्रये तं साधुं स्थापयति, अग्न्यग्न्यामे वा यः स्पर्शकपतिस्तस्यार्चितकं प्रेषयति, निगच्छेच्छब्द तस्य सहायात् इदति । अय मासकल्पः पूर्यस्ततः सर्वेऽपि नियान्ति निर्गच्छन्ति । एष गृहस्थेऽनुपशान्ते विधिः ।

अथ गृहस्थ उपशाम्यति न साधुस्तदा तस्येवं प्रायश्चित्तम्-
अविओसियमि लहुगा, भिस्वविचारो य वसद्विगामे य ।
गणसंक्रमणे भएणति, इहं पि तत्येव वच्चाहि ॥

अधिकरणे अथवशमिते यदि भिक्षां हिरकन्ते, विचारज्जमि वा गच्छति, वसतेमिगत्यापरसाधुसति गच्छति; प्रामातुप्राम विदरति; सर्वेषु अतुल्लेषु । अथापरं गणं संक्रामति, ततस्तेरभ्यगणसाधुभिर्भेषयते-इहापि गृहस्थः कोधना- संत, ततस्तत्रैव व्रज ।

इदमेव सुव्यकमाह-

इह वि गिर्हा अवि सहाणा, ण य वोच्छिखा इहं तुह कसाया ।
अओसि अगामं, जणइस्ससि वच्च तत्येव ॥

इहापि ग्रामे गृह्णो अविषदणः कोधनाः, न चेह समागतस्थ नव कथाया भ्यवाञ्छनाः अतोऽन्येषामन्यस्मद्दादीनामायासं जनयिष्येत्स, तस्मात्तत्रैव व्रज ।

सिद्धिमि न संगिज्जति, संकेतमि उ अप्रेसओ लहुगा ।
गुरुगा अजयणकहणे, एगानरदोसतो जं वा ॥

अनुपशान्ते साधो गणान्तरं संक्रान्ते मूलाचार्येण साधुसंघाटकस्तत्र प्रेषणीयः, तेन च संघाटकेन विष्टे कथिते सति द्वितीयाचार्यो न संशुद्धीयात्, अथ मूलाचार्यः संघाटकं न प्रेषयति, तदा अतुल्लेषु । संघाटको यद्यतनया कथयति ततश्चतुर्गुहं । अयनकथयं नाम-बहुजनमध्ये गच्छेत् गत्वा भूयति-एष निर्धर्मो गृह्णिमिः सममधिकरणं कृत्वा समायातः, सकलेनापि गच्छेन्न नोपशान्तः । एवमथतनया कथितेन साधुरे-कतरस्य गृह्णिणः साधुसंघाटकस्य मूलाचार्यस्य वा प्रेषयेतो वक्तरीत्यति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

तस्मात्वं विधिः-

उवसामितो गिहृत्यो, तुमं पि त्वामेहि एहि वच्चापो ।
दोसा ह्य अणुवसंते, ण य सुज्झइ तुज्ज सामय्यं ॥

पूर्वं गुरुकामेकान्ते कथयित्वा ततः स्वमेकान्तेन अयत्ते, उपशामितः स गृहस्थः, एहि व्रजाम, त्वमपि तं गृहस्थं क्वा-

अथ, अनुपशान्तस्येह परत्र च बहवो दोषाः, समभायः सामायिकम् । तत्रैवं सकथायस्य भवतो न शुद्धं भवति । एषमेकान्ते भणितो यदि नोपशाम्यति ततो गणमध्येष्वेवमेव भवन्तीयः । ततोऽपि चकोपशाम्यति अत्युत वेतसि चिन्तयेत्-तस्य गृह्णो निमित्तेनहायवकार्यं न लभे ।

ततः-

तमभिरपफलज्जुतो, पावं चित्ते दीहसंसारी ।
पावं ववसिउकामो, पच्छिचे वगणा हाति ॥

कृष्णचतुर्दशीरजन्त्यां प्रव्याभावस्तम उच्यते । तस्यामेव च राशौ यदा रजो धूमधूमिका भवति तदा तमस्तिमिरं भवत्येते । यदा पुनस्तस्यामेव रजन्त्यां रजःप्रभुत्वो मेघदुर्दिनं च भवति तदा तमस्तिमिरपटलमभिधीयते । यथा तत्रैवान्यकारं पुरुषः किञ्चिदपि न पश्यति, एवं यस्मिन्मनोमनस्तेन कथायादयनानिभूतो भवत्येते, तमःशब्दस्येहोपमार्थवाचकत्वात् । एवं भूतशब्दपरवाच हे तमपश्यन्तर्दोषसंसारी तस्य गृहस्थस्योपरि पापमैश्वर्यो जीवितान्ना श्रेयार्थस्यातीति रूपं चिन्तयति । एवं च पाप कर्तुं व्यवसिते तस्मिन्नियं प्रायश्चित्ते मा-गीया भवति ।

वच्चापि वच्चमाणो, चउरो लहुगा य हाँति गुरुगा य ।

उगिगच्छमि य छेदो, पहरण मूलं च जं तत्य ॥

व्रजामि तं गृहस्थं अवरुपेयामीति संकल्पे अतुल्लेषवः । पद्भेदावारभ्य पथि व्रजतश्चतुर्गुरवः । यदि यदिलोष्टादिकं प्रहरणं मार्गेयति तदा यत्तुल्लेषवः । प्रहरणे लभ्ये गृह्णोते च परशुवचः । उच्यते प्रहारि छेदः । प्रहारि पतिते यदि न विद्यते ततः छेद एव । अथ मृतस्ततो मूलम् । यत् स्वयं परितापनादिकं संभवति तत्तत्र वक्तव्यम् ।

एते वापरे दोषाः-

तं चेव गिह्वेती, वंषणणिच्छुजणकरुगमरो य ।

आयिरि ए गच्छमि य, कुलगणेषु य पत्यारे ॥

स गृहस्थस्तं संयतं वधार्थमागतं दह्या कदाचिच्चतैव निष्ठापयति-व्यापाद्यति, तं प्रामनगरदिषो निहोत्यति; कटकमदैनं वा शुद्धति । अथवा कटकमदो रुष्ट एतस्य सर्वमपि गच्छं व्यापाद्यति; यथा-पालकस्यकाचार्यगच्छम् । अथवा बन्धननिष्कासननादिकाचार्यस्य अवरुगच्छस्य वा करोति । तथा कुलसमवायं कृत्वा कुलस्य बन्धादिकं कुर्वीत । एवं गणस्य वा, संघस्य वा एष प्रस्तारः । एवमेकाकिनो व्रजत आरौपया दोषाश्च भणितः ।

अथ सहायसहितस्याऽऽरौपणमाह-

संजतगणो गिहृगणो, गामे नगरे व देसरज्जे य ।

अद्विषतिरायकुलमि य, जा जीहं आरौवणा जणिया ॥

बहवः संयताः संयतगणः, तं सहायं शुद्धति, एवं शृदणं वा सहायं शुद्धति । स च शृदणो प्रामं वा नगरे वा देशं वा राज्यं वा अवेह; प्रामादिवास्तव्यजनसुवरा इत्यर्थः । एतेषां चासंयतादीनां, येऽपिपतयः तान् वा सहायत्वेन शुद्धा-ति । अग्न्याह राजकुलं गृहीत्वा गच्छति । यथा-कालिकाचार्यं त्रिकराजवृन्दम्; तत्र कैकाकिनो या यत्र सकल्पादेवारापण्य भणितः सा चहापि द्रव्या ।

एतदेव व्याचष्टे-

संयतगणो तदधिषो, मिही तु गाम्पुरदेसरजे वा ।
एतेति चिप अहिना, एततरजुसो उभयता वा ॥

संयतगणः प्रतीतः; तेषां संयतनामधिपस्त्वदधिपः, प्राचार्य इत्यर्थः । वे रुद्रिणः स्वामामुदेष्टाराजवास्तव्याः, एतेषामधिपतया वा भवेयुः, तत्र प्रामाधिपतिः, त्रेणिकाधिपतिः, पुराधिपतिः, अष्टा, कौटुपासो, देशाधिपतिदेशरक्तो देशव्यापृतको वा, राज्याधिपतिमहामन्त्रो, राजा वा; एतेषामिकतरणोत्थयेन वा युक्तो मज्जति, तत्रैवं प्राथञ्चित्तमार्गेषा-

सहि बर्षेव गुरुणा, दोसु तु उह्नुग गहण उगुरुणा ।

उगिण्णपरहरण उदेवि, मूलं जं जस्य वा पथं ॥

संयतगणैः तदधिपेन वा उजयेन वा सहार्हं प्रजाप्नोति संकल्पे चतुर्गुणैः । पदेन्दुमादी कृत्वा तत्र मज्जतच्छत्रुं क, प्रहरणस्य मार्गणायां दृष्टेने च उभारवि परस्त्रुः, प्रहरणस्य प्रदने परशुः । उकोऽपि प्रहरणं नेत्रः । प्रहारे दृक् सूक्ष्मः । यद्वा-परितपनादिकं पृथिव्यादिबिनाशानं यत्र पथं प्रामे वा करेति तत्रिष्यन्मपि मन्तव्यम् । तथा गृहस्वयंसेपि प्रामेण वा, प्रामाधिपतिना वायद् रात्रयेन वा, राज्याधिपतिना वा, उभयेन वा, सह प्रजाप्नोति संकल्पे चतुर्गुणैः । पथि गच्छन् प्रहरणं च गृह्णतः परस्त्रुः, पृष्टोति परशुः, शेषं प्रायश्च । एवं सिद्धोः प्रायञ्चित्तमुक्तम् ।

एसव गमो नियमा, गणियायारिये य होड गायव्वो ।

एवरं पुख णाणत्तं, अणवट्टणो य पारंची ॥

एष एव गमो नियमाक्रिण उपाध्यायस्याचार्यस्य, बहस्यः क्रियाचोद्विक्तस्य वा मन्तव्यः । एवरं पुनरथनान्यत्रमप्यस्ताद्विकरणस्येन यत्र भिक्षोर्मुल, तत्रोपाध्यायस्याऽनवस्थाप्यम्, आचार्यस्य पाराञ्चिक्यम् ।

तपोऽहं च प्रायञ्चित्तमिच्छं विरोधवित्तम्यम-

जिक्खुस्स दोहि लहुगा, गणबच्छं गुफम एगमेणं ।

उवजाए आरारिए, दोहि च गुरुमं च गाणत्तं ॥

भिक्षोरनेति प्रायञ्चित्तानि द्वाभ्यामपि तपःकालान्यां अणुकानि, गणावच्छेदिकस्यैकतरण-तपसा कालेन वा गुरुकानि, उपाध्यायस्याचार्यस्य च द्वाभ्यामपि-तपःकालान्यां गुरुकानि, एतन्नानायं विशेषः ।

काठ्या अकाठ्ठण च, उवमंत उवविद्यसस पच्छिचं ।

सुच्छेण उ पट्ठणा, अमुत्त रगो व दोमो वा ॥

गृहस्वस्य प्रहारादिकमपकारं कृत्याऽहृत्वा वा यद्युपशान्तो निवृत्तः प्रायञ्चित्तमपिपथये वाऽऽस्तां चनाधिपानपूषकममुनःकरणमोर्द्विहतत्तदा प्रायञ्चित्तं दातव्यम् । कथम्, इत्याह-सुच्छेण प्रायञ्चित्तं प्रस्थापनोपम, अमुत्तपदेणेन तु प्रस्थापयतो रगो वा द्वेषो वा भवतु । प्रवृत्तमापणस्य स्वल्पदानं रागः । स्तोत्रमापणस्य प्रभूतयोः द्वेषः ।

एवं तारोद्विष्याभ्यां प्रायञ्चित्तद्वेने दोषमात्रे-

धोयं वात आयसो, अतरिगें दांत तस्स तं होति ।

सुच्छेण उ पट्ठणा, सुच्छपःणच्छंति निज्जुहणा ॥

स्तोत्रं प्रायञ्चित्तमापणस्यैव यावद् व्यतिरिक्तं ददाति, ततो

यावता अधिचं तावत्तस्य प्रायञ्चित्तदातुः प्रायञ्चित्तस्य, आहा-
दयञ्च दोषाः । अधोऽं ददाति ततो यावता न पुयेते तावदात्म-
ना प्राप्नोति । ज्ञानः सूत्रेण प्रस्थापना कर्त्तव्या । यस्तु सुत्रोक्तं
प्रायञ्चित्तं नेच्छति, स चकल्पः-अन्वयश्च शोधि कुकृत्य । एषा नि-
स्यूतणा जग्यते ।

अस्या एव पुवारिं व्याचष्टे-

जेणऽहियं ऊणं वा, ददाति तावतिपमप्पणो पावे ।

अद्वा सुत्तादेना, पावति चउरो अणुग्घाया ।

यत् यावता अधिचकम्पं ददाति तावदात्मना प्राप्नोति । अथवा
स्युवेष्टाद्वैतान्तरिकं ददानच्छत्रुराभ्युद्वान्नाम्नासाह्यं प्राप्नोति ।

तथेवं विरोधशयोदेत्कान्तर्गतसूत्रय-

जे जिक्खु उग्घाएए अणुग्घाएयं देद, अणुग्घाएए उग्घाएयं

वा देद, देते वा साज्जइ ॥१६॥

(तस्य चतुर्गुणं प्रायञ्चित्तमित्यर्थः)

अथ द्वितीयपदमाह-

वितियं उप्पाएणं, सामएपेते अत्तज्ज पंच पया ।

आगाहं करणम्भी, रायसंसारिए जतथा ॥

द्वितीयपदनाम अधिचकरणमुत्पाद्येदपि शास्त्रव्याप्तः प्रयत्न-
प्रयत्नीकोऽसाध्यश्च न यथा, तथा शास्त्रसु शक्यते; नतस्तेन सम-
भधिकरणमुत्पाद शिक्लं कर्त्तव्यम् । तत्र च स्वयमसामर्थ्यः सं-
यतप्रामनगरदेशराज्यलक्षणानि पञ्चापि पदानि सदायतया
गृह्णीयात् । आगाहं कारणं राजा-संसारिका राजा-प्रस्थापना,
तमापि यतनया कुर्यात् । तथाहि-अदि राजा प्रतीव प्रस्थवप्रमा-
त्तोऽनुशियादिभिरनुक्लेशोपयेनं उपस्थासिद्धि, ततस्ते राजानं
स्फेटयित्वा तद्वहाज्जमयवेशजं वा अट्ठकं राजानं स्थापयेत् ।

यच्च तं स्फेटयति स ईद्वययुक्तो जयति-

विज्जाओरस्सवली, तेपमलत्तं । सहापलदी वा ।

उप्पादेणं सासति, अतिपंतं कात्तगज्जो व्व ॥

यो विद्याभजेन युक्तः, यथा-आर्यस्त्रयुः । औरसेन वा बहने युक्तः,
यथा-बाहुयसो । तज्जेऽरिक्खा वा ससन्धिक्कः, यथा-अणुदक्कः । स्-
सूतमये सहायज्ञिययुक्तः, यथा-हरिकेशवणः । ईहसोऽधिकरण-
मुत्पादानिप्रान्तमन्तोऽप्यवचनप्रत्ययं कं शास्त्रिण, काश्चिकाचार्ये इव ।
यथा कालिकाचार्यो गर्दभिल्लराजानं शास्त्रितवाद् । ५७५ उ० ।

कथानकं चेत्यर्थ-

को व गद्दभिल्लो ? को वा कात्तगजो ? कस्मि काले सासितो ? ।
प्रपणति-उज्जेणो णाम खुरगो, तस्य य गद्दभिल्लो णाम राधा,
तस्य कालगजो णाम आधरिया जोतिसाणं भनयियाया, णाम
त्रिणो । कपवतो । पदेन ययसि चट्टमण गद्दभिल्लं ग सद्दया, अंतपुरे
नुद्धा, अज्जकालगा विण्णेतो; संघेण य विण्णत्तो ग मच्चति । ता-
हं रुद्धो अज्जकामणो पदसं करेति-अहं गद्दभिल्लं रायाणं च-
आओण उम्मुल्लंमि तो पवयणसंजसोवधायणाणं तुमुवेक्कगण-
ण य गतिं गच्छामि । तादे कालगजो कयणेण उम्मुत्तलीज्जेना
तिगच्च उक्कचरमहाजणंणोणं सु इमं पल्लवतो दिरुति-अहं गद्दभि-
ल्लो राया. तो किमत. परम् । जह वा अंतपुरे रम्मो. तो किमतः परम् ।
वियसो जह वा रम्मो. तो किमतः परम् । सुणिवेत्ता पुणं जह, तो
किमतः परम् । जह वा जणो सुवेतो. तो किमतः परम् । जह वा दि-
रामि वां विक्कवं. तो किमतः परम् । जह सुयुं देवकुजे व सामि. तो

किमतः परम्? एवं ज्ञामेव सो कालगज्जो वारसकुञ्जं मनो, तत्पथ
 एवो साहिं त्वि राया न्रथाति, ते समझ्णोणा निमिसादिपिदि हियं
 भाउड्ढोति, अथवा तस्स साहायुसादिणा परमसाभिणा कम्मि वि
 कारणे भट्टेण कटारिणा सहदें पेलिया, सीस जिदिदिं त्वि । तं
 आकोपमाणं अयातं पण्डित्ठेण सो व विमणो संजातो, अण्पा-
 नं मारिउं ववसिओं । ताद्द कालगज्जेण भण्णो-मा अण्पाणं
 मारोहो । साहिणा जणियं-परमसाभिणा कट्टुणपथ अत्थिउं वा
 तीरह । कालगज्जेण जणियं-पदि हिदुगदेस वधामो । रवणा
 वसिसुयं । तसुव्लणा व अण्णसि पि पंचाण संतीव सादिणा
 सुभं, केण कटारियाओं सहदे पेलियाओं । तेण पुव्विद्वलेण
 वुया पेलिया, मा अण्पाणं मारोह । पदि वधामो हिदुगदेसं । ते
 कलओं पि सुवदमागया, काओं व खवपाउसं वद्ध । तासिंसे
 काले जे तीरह गंतुं तथं मइडाइं कया वि विमिसिण्णं अं कालग-
 जो समझ्णोणा सो तथं अधिवा राया उवियो, ताह सगवंसो
 उण्पायां, वसे व वरिसाकाले कालगज्जेण जणियां-गदनिद्धं रा-
 बाण रोदोमो , ताह लाका रायाणो अं गदनिद्धेण अन्वमाणिता
 ते मेळिआ अथे य, ननो उड्ढेणं । रोदितानस्स व गदनिद्धेस प-
 का विउजा गद्दिक्काचारिणां अणि, सा व परागंम अट्टासणे पर-
 वलाभिमुहा उविया, ताह परमे अयकपे गदमिओं राया अउम-
 न्त्रोवयासी ते अवयारेह, ताहे सा गद्धीं भइनेण सहेण ग-
 दि । निरिसां मनुओं वा जो परवअट्टोओं सहं सुणेति स लब्धो
 कहिरं वमनो अयावभलांण उण्मेयो धरणिनेसं निवदह । कालग-
 ज्जो व गदनिद्धं अउमन्त्रोवयासिणं सव्वयिधाणुवक्काणं
 अउमनं उाहण निक्केति, आह पल गद्धीं मुह विदंसेनि
 जाव व सद्धे व करंति ताव जमयसमवपण सुइं पुरेज्जा ।
 तेहिं पुरिसोहेहिं तहेव कयं, ताहे सा वाणमंतरो तस्स गद-
 मिहाम्पस उदरं हंगरं मुत्तं वं भइदीयं कयं, तादं सो वि गद-
 मिहो अथओं उम्मूअिओं, गदिथा उड्ढेणं, भगिणी पुणरवि सं-
 जमं उविया । नि० अ० उ० ॥

(१२) अनुपक्रमधिकरणमुत्पादयति -

जे जिक्खु एवाडं अणुण्णखाडं अट्टिगरखाडं उण्पाएडं,
 उण्पायंतं वा ताडुज्जइ ॥ २७ ॥
 नवं यत्पुगतमं न भवति, अणुण्णखा संयपकाओ अविउज्जमाणा
 आधिकं करणं, संयमयोणातिरिक्तमित्यर्थः । नि० अ० ५ उ० ।

(१३) कारणे सत्पुपादयत् -

वितियपदमणुण्णज्जो, उण्पादे वि काविते व अणुण्णज्जो ।
 नाणं ते वा वि पुणो, विगिंचणहा व उण्पाए ॥ २८ ॥
 अणुण्णज्जो अकोवितो वा रोहो वा अण्णरिहो कारणे पक्खा-
 चित्तं कनो, कारणे सो अधिक्करणं काडं विगिंचयथो ॥ नि०
 अ० ५ उ० ।

कारणान्तरमाह -

सेखादिउकोविओ वा, अनलाविनेगुहा व जाणं पि ।
 अट्टिगरणं तु करेत्ता, करेज्ज संवणाणि पि यापणि ॥
 किंसाविओ, आदिशम्पाद्द हमाविओ, वहाविओ वा, अनाम-
 वयान्ताधिकरणं कुर्यात् । अकोविओ वा अण्णप्यपरिणजिन-
 वधनः शीका, स अहत्थावधिकरणं विदुप्याह । यद्वा-जाण-
 पि गीतापौषीत्यर्थः । अनलस्य-प्रकथयथा अयोप्यस्य जपुस-

कान्दे : कारणे दीक्षितस्य तत्कारणपरिसमाप्ते विवेचनायै
 परिगृह्यमात्रेण तेन सहाधिकरणं करति, कृत्वा आधिकरणं
 सर्वोपपन्नान्तरादीनि पदानि कुर्यात् ।
 एषद्वारं भाषयति—

कारणं अनले दिक्खा, सम्पसे उणुसद्धि तेण कलहो वि ।
 कारणे सट्ठिता णं, कलहो अओंख तेण वा ॥

कारणे अनलस्यायंथम्य दीक्षा दत्ता, समते च तस्मिन्
 कारणे तस्यानुसिद्धिः कियते । तथाऽप्यनिगच्छता तेन सत्तं
 कलहोऽपि कर्तव्यः कारणे वा शब्दप्रतिबन्धायां वसने किंताः,
 ततोऽन्योन्व्यं तेन शब्दकारिणा सत्तं कलहः कियते चेत्त श-
 ब्दो न भूयते । ३० ५ उ० ।

(१४) पुराणाम्यधिकरणाणि ज्ञानतत्पुण्यमितानि-
 पुनवदीरयति -

जे जिक्खु पोराणाडं अट्टिगरणाडं सामियविउसमियाडं
 पुणो उदीरेडं, उदरंते वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

पोराणा पूर्वं उण्पा, अधिक्करणं पुर्व्वत् । दोसावगमो ज्ञाना,
 तं च क्षामियं भवति । विधिअं क्षोसमियं विउसमियं मिच्छा-
 दुक्कपदाण । अहुवा-क्षामियं वायाए, मणसा विउसमियं, न्यु-
 त्थुदं, ताणि ओं पुणो उदरंटे उण्पाययति तस्स मासलहुं ।

सामियविउसमियाडं, अधिक्करणाडं तु जे य उण्पाए ।
 पाबाण । तथ विंसे, तुक्कणुज्जुत्तं पक्खणा इणमो ॥ २५ ॥
 पाबाणा, साधुधर्मं व्यवधिगता इत्यर्थः । कडं उण्पायति?, कति
 साहुयो पुण्यं कलाहिता, तामं व क्षामियाविसमते तथेयो भ-
 णानि-अदं जाणं मुं नहा एवं भणितो, आसी ण ज्जुण तुज्जु; वयरो
 पदिनजातं-अहं पि ते किं जणितो ? । इतरो जयाति-इयाधि
 किं ते सुयासि , वदं उण्पायति ।
 स उण्पायगो-

उण्पादगमुण्णणं, संबन्धो कस्सदे य पाह्यं ।
 आविहणा य पुच्छण, समुयतोऽति घायणे वेवा ॥ २५ २ ॥

पुणो ते वि कलुसिया उण्पायगा, जेहिं उण्णं, संबंभं जाण-वा-
 थाए परोप्यरं संमउमारुडा, कक्कदं जाण, पासडितेहिं वि ओ-
 ससिउज्जमाणा वि षोवसमति, (पाहुअं ति) रोसवलेण वडेअले
 उज्जं लम्मा, आणवट्टणा-पगो णिओ, जो सो णिहितो सो पु-
 च्चितो । मारणं तियसमुयवापण समाहृतं, अतिघायणा मारुहं ।
 एतेसु णवसु गणेषु उण्पायगस्स इमं पच्छि-
 लतुओ लहुमा गुरुमा, उम्मासा होंति लहुगुरुगा य ।
 उदो मूलं च तहा, अणुणवट्टणो य पावंवी ॥ २५ ३ ॥
 वितियादिसु अललहुगादी पच्छिन्ना, उण्पायवपरं ण भवति
 चि काडं ।

तारो भेदो अयसो, हाणो दंसणवचित्तयाणायाडं ।
 साधुपदोसो संसा-रवहुणादी उदीरंते ॥ २५ ४ ॥
 वितियपदमणुण्णज्जो, ओदरं वि कोविते व अणुण्णे ।
 नाणं ते वा वि पुणो, विगिंचणहा उदीरेजा ॥ २५ ५ ॥
 पूर्व्ववत् । नि० अ० ५ उ० ।

आधिगणय

(१५) निर्भे-शैवेतिक्रमचिकरणं गोपशाम्नायम्-
नो कप्यद निम्नाधानं धितिविगिद्धां पाहुणार्दं विडसमि-
चप ॥ १० ॥

अस्य संकल्पमाह-

विविगिद्धा समयानां, अन्विनिगिष्टा य होइ समयीयां ।
या पाहुणं वि पदं, संबज्ज सुचस्स आरंजेत्त ॥

व्यतिक्रष्ट अमकामां दिग्मयति, अत्यतिक्रष्ट अमथीनामिग्म-
न्वत्सुवृथयेमंशितिनयं । तत्राकपयं मा प्राभुतमप्ययं भवे-
दित्येवदधिक्रुतसुवृथारम्भः । अस्त्य व्याक्यानां कल्पते निर्भे-
न्यानां व्यतिक्रष्टानि क्रमविक्रष्टानि, प्राहुणानि कलहानित्य-
यः । विडसमितुपुपशामयितुम्, किं तु यत्रोत्पन्नं न तत्रोपशाम-
यितुं कल्पते । इत्येष सुवाक्यारथः ।

अथ प्राथम्यप्रश्नः-

सेवजासखातिरिचे, इत्यादीं घट्ट भायणाभेदे ।
बंदंतयबंदंतै, उपपज्जद पाहुणं पवे ॥

शुक्वासनातिरिक्ते, किमुक्तं नवति-अतिरिक्तां शय्यामतिरिक्ता-
नि आऽऽसनानि, परिग्रहे कुर्वति धार्यमाणे, यदि या इत्यादि ह-
स्तगदावाहिकं पादेन संघट्ट्याऽऽकम्प्य क्रमवित्था प्रजति, यद्वा
कथमप्यनुपयोगतो जाजन्मजेदं, अथवा पूर्व बन्धमाने पक्षा-
बन्धने प्राभुतं नाम कलहस्तदेवमुत्पदते ।

अधिगणयमुपपत्ती, जा वुत्ता पारिहारियकुलम्भि ।
सम्मयणाउट्टंतै, अधिक्कख ततो समुपपज्जेत्त ॥
उपपत्तिंसंभवं सति ततः सम्भगनायसमानं अधिकरणं समु-
त्पद्यते ।

अधिगणये उपपन्नं, अविनायवियम्भि निग्मयं समणं ।
अऽऽसाइज्जइ जुंजइ, मासा चत्तारि जारिया ॥
अधिकरणं उत्पन्नं सति यैः स्वहादिकरणमवृषादि, तस्मिन्न-
चित्तोचिते नियतं श्रमणं च आत्मावयति प्रतिशुद्धाति स्तसत्ता-
मात्रेण, यद्य तेन खड्गं चूडुत्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासाः
भारिका गुरवः ।

समणं परगणं वा वि, संकंतमवित्तोसिते ।
वेदादि वणिया सोही, नाणत्तं तु इमं भवे ॥
येन सहाधिकरणमुपजातं तस्मिन्नचित्तोचिते स्वगणं परगणं वा,
संक्रान्तमधिकृत्य वा वेदादिका शोधिः पूर्वं कल्पाप्यनेन क-
र्षिता साऽत्रापि तथैव दत्तमया; नवरमय वक्षानासवं तदेवं य-
ज्यमाणं प्रवति ।

तदेवाऽह-
मा देहं हाणमेयस्स, पसेण जइ तौ गुरु ।

चत्तारु ततो तस्स, कट्ठंतै वि चत्तारु ॥
अप्यत्र गतस्य यथाकार्यैः साधुसंघातैः, संश्रयं वा प्रेषयति, य-
थेवाधिकरणं कृत्वा समागतो भवते, तस्मादेतस्य स्थानं मा
वेदि इति; तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुस्रुत्तं । ततः श्रवणात्मन्तरं
अस्य पार्श्वे सोऽप्यत्र गतस्तस्य स प्रेषितो यदि कथयति तदा
तस्मिन्नपि प्रायश्चित्तं चतुस्रुत्तं ।

यतस्त्वयं दोषाः-

आहोवार्थं व बेहानं, पदोगा जं तु कार्हाति ।

मूलं आहोवार्थं होइ, वेहाते चरमं पवे ॥
यद् यस्मान्प्रयेण, कथने वा; प्रवेधावध्यायानं करिष्यति । वेहा-
वसं वा, वेहावसं नामोक्तं दत्तम् । तथाप्यथापने तेन कृते
सति प्रेषांगुः कथयितुर्वा मूलं प्रायश्चित्तम्; वेहावसे चरमं
पाराऽऽकर्मति ।

अन्वयः-

तन्वऽऽन्वयं न वा मं-पदेति मे न वि य नंदभाणं ।
नंदंति ते खलु मए, इति कलुसऽप्या करे पावं ॥

मम तत्रात्म्यवसनीपे अन्वयैवेहागतस्य जग्मात्तरवैराद्या स
न संबद्धति, नापि च मयि नन्दति ते नन्दति, महाप्रवेधयोऽप्युक्त-
मायात् । ततो न जग्मान्तरवैरिणः ते मम दृष्टं सुखान्तंति वि-
चिन्त्य कलुषात्मा पापं कुर्यात् ।

किं तत् ? इत्याह-

आदीवेज्ज व वराहिं, गुरुणां अन्नससं घाय मणं वा ।
कंरुच्छारिउं हस्यप-सहितो सय्युरस्स बलवं तु ॥

कपूरुच्छारिओ नाम प्राप्नो, प्राभाधिपतिवै; लूका वा सहाया-
स्तेन सहितः, स्वयं वा शौरसो बलवान्, वसतिमादीपयन्;
गुरोरप्यस्य वा घातं, मारणं वा कुर्यात् ।

किं तत् ? इत्याह-

जट्ट जामइ गणमउज्जे, अवपयोगा व तत्थ गंतुण ।
अविताममिप एत्था-गतां चित्तं येयं ते दोसा ॥

यः प्रेषितो, यद्वा-अवपयोगात् अन्वयेन कार्येण तत्र गत्वा गण-
मध्ये सकलगणसमूहे यदि प्राप्नो, यथा-गणोऽधिकरणं कृत्वा
येन सहायकतया मूलं सहायतां पतेन आगतं भवति, ते इति) त-
स्यापि त एव प्राक्कृतं दोषाः ।

जग्गा एए दोसा, अविद्धां पेमणे य कट्ठंयं य ।
तद्वा इमेज विहाणा, पसेण कट्ठणं तु कापज्जं ॥

यस्मादधिधना प्रेषणे, कथने च एतेऽन्तरोदिता दोषाः, तस्मा-
दनेन वक्ष्यमाणं विधिना प्रेषणे कथनं च कथञ्चम् ।

तमेव विधिमाह-

गणिणो अतिये निग्मये, गट्ठंतै विव्वं पित्तो ।
गमांति तं रइ वेचं, नेउत्तं महम्मइं खु त्तो ॥

अन्वयेन प्रयोजनं प्रेषितैः सस्वरहिते विधिके प्रवेशे, अथ
निर्भेदं तदाधिकरणरहस्यं गणिन आचार्यस्य समयति कथयति
क्रमणाचार्यस्तं कृत्वाधिकरणं रहस्येव गमयति । यथा-तथमित्य-
मित्यमधिकरणं कृत्वाऽत्र समागतं, न च न उपसमिति इति ।
पथमुक्तं यदि स नेउत्तं यथा-अहं नाधिकरणं कृत्वा समागतः,
वास्त्यदं इते तेन सहायं (सु) नाऽऽकर्मति ।

गुरुसमकथं गमितां, तथापि जइ नेउत्तइ ।
ताहं वि गणपज्जाम्भि, जासितं मत्तिंनट्टं ॥

एवं तस्याधिकृत्यायं स प्रवेज्जान्तरव्याज्जेन प्रेषितो रहति
गुरुसमकथमधिकरणं कथञ्चमपि तदासममुपविश्य कथय-
ति, यथा रोपं न विवृषति । तथा-निर्मतोऽपि यदि वेकञ्चति

ततः प्रहरद्विकसाद्यात्मकेण प्रस्तावात्तरदारभ्यव्य गद्यमध्ये तं भाषते, परं नातिनिवृत्तरम् ।

कथं तं ज्ञापते ? इत्याह—

गणस्य गणिकां चैव, युग्मस्मी निगते तया ।

अधितिं मद्गतीं आसी, सो विवक्षस्ये य तद्विजते ॥

तदा तस्मिन्कासे स्वयि अधिकरणं कृत्वा निगते समस्तव्यापि गणस्य, गणिनश्चात्कार्यस्य मद्गतीं अक्षुत्तिरासीत् । येन च सह कथाधिकरणमप्युक्तं सोऽपि विपक्षो गणिना गणेन च तर्जितः ।

गणेषु गणिका चैव, सारेऽत्र मन्वर्तयिणी ।

साहि अत्रावदेतेण, विवेको से विद्विज्जइ ॥

एवमुक्त्वात्तरं तत्रायैव गणेन गणिना च सह सम्बद्धं सारणीयः शिखर्यायाः, येन स्वद्वारे प्रलियत् तत्र गन्वा विपक्षं क्रमयति । अथ सह तया सार्यमाधोऽप्येकस्मिन्ने नोपशमनं नीतोऽप्युक्त्वात्तरतोऽप्यावदेशेन तस्य विवेकः परित्यागो विधीयते ।

केनोपदेशेन ? इत्याह—

मद्गजयां इमो अम्भं, खेवं पि न लुप्यति ।

वर्द्धीं संक्षरुच्छा वा, वयपत्ता नि नत्थियेणो ॥

अयं साधुसाधोऽल्लक्षणो मद्गज जनोऽस्मककमेतावनां न चैतत् क्रमं अयति, संकीर्णोऽसात् । यदि वा वसतिः सखिच्छा संकटा वर्तेते, तत एतावन्तः साधयोऽत्र न मास्ति, अथवा ब्रह्मपात्रायस्माकं संमति न सस्ति । अपिशुभ्रंश्चान्न तथाविधः शुभोऽप्यस्ति, साधयोऽप्येतेऽतीक्षासहजानः, नस्मात् युयमन्यत्र कापि गच्छतः । यदि पुनः सह सांसारिणो उपशममधिगच्छन्ति, ततः सह वक्ष्यमाणेन विधिर्नोपशमयितव्यः ।

तत्र प्रथमतोऽधिकरणोपशमनस्थानमाह—

सर्गाणपरगणिका, समणुषेपरंण वा ।

रहस्सादि व उष्षं, जं जिहं तं तदि खेवं ॥

स्वगणसत्तेन परगणसत्तेन चा नेनापि समनोऽनेन सांभोगिकेने-तरणे वा सह रहसि वा, आदिशाब्दाद्वहसि वा; यतो यथाधिकरणमुत्पन्नं तत्सत्र रूपयेऽपशमयेत् ।

तथापशमनविधिमाह—

एको वा दो व निगम, उष्षं मत्थ तत्थ बोममणं ।

गामे गच्छ दु गच्छे, कुलगगसंये य विश्यपयं ॥

एको वा, द्वौ वा, याः साद्भाषयो वा, चत्वारो वा, येऽधिकरणं कृत्वा निगतास्ते यत्र प्रथमं अगरेऽधिकरणमुत्पन्नं तत्राकीर्यते, आनीय यैः सहाधिकरणमनुस्रैः सह व्युपशमनं क्रामणं कार्यम् । तदनुवर्तकण्यमेकस्मिन् गच्छे, यदि वा चयोर्गच्छंवां, अथवा कुले, यदि वा गणे, यदि वा संघे, समुत्पन्नं स्यात्, (विद्व-यप्यमिति ।) अत्रापि द्वितीयव्यवस्थाप्यम् । ततो बह्व्यम्ना-याकारोर्बिहृदमपि प्रावृत्तं वितापयेत् । ततश्च वितोऽप्यगमं प्रथमविव्यते ।

सागप्रतमधिकरणमुत्पन्नं यथोपशमयितव्यं तथा चाऽऽह—

तं जालपरिहं दिदं, तेविषयेषाण मलाणं काठं ।

नि ह्याग व साहूण व, पुरगोऽजिय दोवि स्वादिमि ॥

तदधिकरणमुत्पन्नं यावत्परिहृदस्यैः संवर्तको हृदं ताचम्नाया-

यां गृहस्थानां साधुनां च मीलनं कृत्वा तेषां पुरतोऽत्राधिपि पर-रूपं क्रमयतः । कुलादिसमवाये यद्युत्पन्नं ततः कुलादिसमवायं कृत्वा क्रमयतः । किं कारणम् ? । यायम्नात्रियुक्तिः संघर्षैर्वा कृत्वा तानानां मीलनं कृत्वा परस्परं क्रमयतः, तत्राऽऽह—

नवणीयतुद्विहयया, साहृ एवं गिदिणो उ नादिमि ।

न व ्रंनजया साहृ, कादिनि तत्थ बोममणं ॥

नवनीतनुद्वयद्वयाः साधवः, एवं गृहिणः, तुशुभ्रादभिनवशै-काद्वयश्च हास्यनि । न च दृष्टद्वयसाधवोऽधिकरणे स-मुत्पन्ने व्युपशमनं करिष्यन्ति, किं तु कर्मरूपणाय, एवं हास्य-न्ति, एवंकथा च प्रतिपात्तः शुभोदयपरिप्यदाहंतुः अतस्तावतां मीलनं कृत्वा परस्परं तौ क्रमयतः ।

संमतिं वतुर्कं विद्वयपयांमतिं तत्प्राप्यथागामेय इ—

वि तयपदे त्रितिगिद्रे, वितोऽस्येऽजा उषद्धिते बहसो ।

विद्वतो जइ न उवसमे, गतो य सो अजदसेसु ॥

द्वितीयपदे म्यतिकृष्टमपि प्राभूत्वा वितापयेदुपशमयेत् । कथम् ? इत्याह—नेन सहाधिकरणं बहुशो बहून्चारदां कृतं, त-स्योपदिष्टतन्त्रं क्रमयति, स च क्रम्यमाणो द्वितीय उपशम्यति । यदि नोपशमत् अतुपशम्यच्छ गतोऽप्यं देशं ततः—

कासेण च उवमतो, वज्जिज्जतो व अणम्मन्निहं ।

खीरादिमलकोण व, देवय गेन्नन् पुठो वा ॥

तस्याः यदेतौ नमस्य बहूना कासेन गनेन तस्य कथायाः प्र-स्तम्भोऽभवत्, तन उपशमनः । अथवा-अयोम्यैः साधुभिः कृता-धिकरणं यत्र हनि स्थानविषयमेवान् एवं स्थानेन संकथयति-यथा कथावदेषेणाहं स्थाने स्थाने विवक्षयमानः, नस्माद्दं कथा-योर्नो पुनराचरिः, अथवा खीरादिमलकोणं खीराशुभ्रादि-लज्जोऽनामुपदेशतः समदुपगनवान् ब्रूवन्तया शिक्कितः, यदि वा स्थानत्वेन पृष्टस्तनश्च्यतयति—यदि कथमपि साधारणोऽभि-योऽहं ततः सापराधिको भवामि, तस्मात्तं गांवां उपशमयामि ।

एवं ज्ञातपुनरावृत्तिना यत्कर्तव्यं तदाह—

गंतुं स्वापेयन्तो, अहव न गच्छेज्जोमोहं दोत्ताहं ।

नीयद्दग उवसगो, तादर्थं वा तस्स होज्जंतं ॥

नेन ज्ञातपुनरावृत्तिना यथोपशमनधिकरणं तत्र गन्वा शुभसि-तव्यः । अथवा-यदेवैद्यमायोर्दोर्वेस्तत्र न गच्छेज्जोमोहं उपशम-करणम् । केदोर्थः ? इत्यत आह—निजकाः स्वजनाः तस्य तत्र विद्यन्त, ततस्तत्र गतस्य तैरुपसर्गः क्रियत ।

तथा—

गामो टड्डिउ हुजा, अंतर वा जणवतो नियहवणयी ।

अन्नं गतो न तरहं, अहवा गेल्लण पांनचरहं ॥

यत्र प्रथमोऽधिकरणमुत्पन्नं स प्रथमं अर्थितं उद्वशीभूतं, अथवा अन्तराज्जनादुत्थितं, यदि वा येन समन्वधिकरणमजायत स निहृयगणं प्रविष्टवान् । अन्यत्र गत इतरो वा यतानां ज्ञातस्त-तो गच्छन्तुं न शक्नोमि । अथवा ग्लानं प्रतिवर्तत ।

अतुच्छय पत्तिवच, भिक्खादि अल्लं अंतरं ताहं वा ।

अभिगण्य

रायपुत्रं श्रोमं, आसवं वा अंतरं तद्धिं वा ॥

अथवा सोऽधिकृतः सम्ययितुमया मरुत्पुत्रं विहारं प्रतिपत्तु-
कामो ह्यस्य प्रत्यासम्भं ततो गन्तुं न शक्नोति । अथवा-अन्ते-
पत्ते तत्र वा यथाधिकरणमुत्पन्नं, भिक्षाया अत्रानो, यदि धाऽन्त्य-
रत्नान वा राजाह्वयमवमौर्ध्वमश्रियं वा ।

सबरपुलिदादिभयं, अंतरं तद्धिं च अद्भं तुजाहिं ।

एषणं कारणेण, वधतं कपिं अप्पाहे ॥

अन्तरं तत्र वा शबरमयं पुलिन्दभयम्, अदिशम्पात् स्तेनस्ते-
ष्यविजयपरिग्रहः । भवेत्, त एतैः कारणैस्तत्र गन्तुमशक्नुवद् वा
कोऽप्यन्वः आचको वा, सिक्पुत्रो वा, मिथ्यादृष्टिः, तत्र जन्-
को ज्ञाति, तं संदेहयति । यथाऽहमयुनोपशान्तं यैश्च कार्त्त-
रागन्तुमशकः, तस्मात्स्वभ्रातृस्य भया सह क्रमणं कुरु ।

ततः संदेहो कथितमो न यत्कत्तैश्च तदा—

मंतुषो सो वि तद्धिं, सपत्न्यपरपत्न्यमेव भेलिचा ।

सामेदो सो वि कर्जं, व दीहए अगतो जेण ॥

यस्य संदेहाः कथापितः स तत्र गत्वा यैस्त्वंदधिकरणं ज्ञातं
स्वपक्षं परपक्षं च भेलयिष्या तं क्रमयति; सोऽपि च ह्यभ्यमाणां
येन कारणेणागतस्तत्कारणं तस्य साहायं कुर्याति कथयति ।

अहं नरियको वि वधंतो, ताहे उवसमाति अण्णाया ।

सामेदं जत्य मिलतो, अदिहेदं गुणयति कांउं ॥

अथ नास्तिकोऽपि तत्र मज्जवं यस्य संदेहाः कथंते तर्हि आ-
त्मना स्वयमुपशाम्यति, सर्वथा मनसोऽधिकरणमुपशमयरायण-
तया स्फुटयति, ततो यत्र मिलति तत्र क्रमयति । इयं न कान्ति-
पि मिश्रति, ततस्त्वात्स्वमच्छेदे गुणशामानिकं कुर्या वा न कान्ति-
कृत्य क्षामणं करोति । ४२० ७ ३० । ('वसहो' शब्दे साधुसा-
ध्विकलहे यतना 'पकथगमा' प्रस्तावं द्रष्टव्यम्)

(१९) निर्गम्योभिर्व्यतिरुहपमव्यधिकरणं-

भ्युपशामनीयम् —

कृप्यं निर्गम्यीणं वितीगुहाइं गालुकाइं वितोसऽत्तए ॥
कवन्ते निर्गम्यीणां व्यतिक्रानि कलहन् वितोषवितुमुपशम-
वितुमित्येव सूत्राकारांशः ।

संमतं माध्यमशब्दः—

निर्गम्यीणं पाहुद, वितोसवितुवन् वितिगुहं ।
किह पुण होअ ठप्पसं । चेइयपरंदपाणीणं ॥
चेइयपुत्रीण जण्ये, उाहे उ अगतो बहि अच्चांति ।
परितावियाय भाणियं, काइलसदाहं तुभाहे ॥

निर्गम्यीणां प्रानुनं विनोपयितव्यमुपशामयितव्यं भवति व्यतिक्र-
ान्ते । शिरयः प्राह-कथं केन प्रकारेण पुनस्तास्माधिकरणमुत्पन्नं
स्यात् । सुराह-काश्चानाऽऽयिकारणायत्तनाय चैत्यगृहं ग-
ताः, तस्मिन् चैत्यगृहे षड्भिर्भुजमशरुपादिभि न समास्ति; ततश्च-
रवशुहमभवत्किताक्षैव्यानि बन्धन्ते, तासां च बन्धमानानां प्र-
थमस्तुतेरादृश्याऽप्याः काश्चान् संयत्यः समागताः, ताश्च मध्ये
अवकाशां नास्तीति बहिरुपे स्थिताः । ततो विस्त्रंण वे-
त्यस्तुनीनां नपन्ते ता बहिः स्थिताः उष्यन् परिताप्यमाना बद्-

न्ति-युष्मन्तिः कोंकलाशास्त्राभिर्धणियमतिशयेन बयं परित्ता-
वितः । तथा—

नमंत्रोति नादनारं, कलंऽपि कलाभाण्णीए तुम्हाण ।
विष्पगते जत्तोएणं, जायंते जयं नरवत्तोतो ॥

युष्माकं कलनामानानां तु स्वल्पेनाज्ञानानानां पुरतः कलाभयि
मनागपि नाटकानि नाहन्ति, ततो भवतीनां विप्रकृते कारणम-
जानानामास्माकं जयं नरपतितो यद् यूयं नाटकं प्रकल्पेभ्यः ।

इति असद्वय उच्यते-मञ्जुभत्या तौ समंति तत्येव ।
अमुगुणाम सत्त्वगणजं-कथे व गुरुसिद्धिमा मेरा ॥

इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेणासहनाभियो बधेजिताः कोपं अ-
हिदानां ग्रन्थस्थाः सत्यस्तत्तैव शमयन्ति । न च तास्तेषां भा-
एतं कस्यापि अचित्तवत्याः । अथ कस्यो वा द्वी गणधरो तदधि-
वतो वेलावशाहा सर्वगणस्य भयदहनभूतं तादौ सर्वगणमपह-
ने स्वस्वगुणशेषं कल्पेभ्यः । ततस्तापुपशमयतः । अथ लज्जानां
जयतो वा न स्वस्वगुणेभिर्बद्धितं तद्धिं तत्रेयं मर्यादा ।

एतदेव ३५६—

गणहरगमणं एगा-ऽऽयिरियस न दोषि वा वग्गा ।

आसभागम दूरे, च पेसगां तं च त्रितियपरं ॥

समस्तस्थापि गणस्य जगत्सने गते आग्नीवत्यस्य समोप गमनम्,
अथवा एकस्याचार्यस्य संबन्धिनां तौ द्वावपि संयतवर्षौ, तत्र
पक्षस्य समीपं गच्छतः, ततः स पक्षतो वा द्वी गणधरो तदधि-
करणं यत्र चैत्यगृहस्य चोत्पन्नं तत्र द्वावपि वर्षौ नीत्वा उप-
शमयतः । अथ लज्जानां स्वस्वगुणैर्निर्बद्धितेकेतरपक्षं पक्षो
निर्गतः, तत्र प्राह- (आसभेयार्थे) यथासंज्ञं मनोऽनन्तराद्यं
च निर्नेयं ततः स आनाच्यते, अथ सायायं तर्हि तानां
गणपर आगच्छति, आगत्य क्रमणं करोति । अथ दूरे गतस्तर्हि
वृषजानां प्रयेण कल्पेभ्यः, ततो वृषभाः समेय ताः संयन्तिः
क्रमयन्ति । अथ द्वितीयपक्षो नोपशान्तस्त्वः पुनरागतौ जाना-
यां पुत्रोक्तवदेवं प्रागुक्तं द्वितीयं पदमवसातव्यम्; यत्र मिश्रन्ति
तथैव क्रमयन्ति । अमिलने गुणशामिकं इति ।

एतदेव सूत्रतः सावस्तरं वित्तावयिपुरिद्रमाह-

चेइयपरं नऽत्ता, जत्तुप्पणं च तथं विञ्जक्कणं ॥

सज्ज भया व आसिद्धं, दुवेगतरनिगम इयं तु ॥

स्वस्वगुणेभ्यश्च ह्येते तौ द्वावपि गुणसंयतोयगृह्यमपि कै-
त्यगृहं नीत्वा, अथवा यत्रायथोपक्षमाधिकरणं तत्र नीत्वाऽधि-
करणस्य विन्यायनं कुरुतः । अथ लज्जया जयाहा गुणशामयि-
एतन्नवत । इत्येव पक्षयोर्मध्ये एकतरस्य पक्षस्य निर्गम-
स्तत इदं कल्पेभ्यः—

आसन्नमणायए, अगावणं वा से गणहरा गमम् ।

ज गनाय अनिवसायल, आणाविञ्जऽच्चाहिं वा वि !

यथासन्नं निर्मेयं च ततस्त्वा निर्गेताः संवत्यः स्वगण्येन सह
आनाच्यन्ते । अथ सायायं तनन्तासां गणधर आगच्छति, तत-
स्ताः संयत्य आनीताः, गणधरो वा एकः आगतो यत्र ज्ञानात्
नयदहनयुव, तत्रानाच्यते । अन्यथा वा आगत्य परस्पर-
निर्गमणं कार्भम् । अथ दूरे गतास्त्वाहं वृषजाः समागत्य संयतीः
क्रमयन्ति । ४२० ७ ३० ।

व्यय-

साहिगरण्यं निगम्यं निगम्यं गिहहमाद्ये वा अधिगण्यमाद्ये वा नातिक्रम्य ॥

अस्य व्याख्या प्राग्बन्धु ।

अत्र भाष्यम्—

उपपत्तेः अहिगणने, औसमर्थां सुबिहऽतिक्रमं ददुं ।

अणुसासणभासनिर्ण-जना य जो तौर्णे पकिन्नकस्यो ॥

संख्या गृहस्थेन समप्रधिकरणे उपपत्तेः द्विविधमतिक्रमं दृष्ट्वा तद्व्याधिकरणस्य व्यवसायमत्र कर्तव्यम् । किमुक्तं प्रवृत्तिरिति—स गृहस्थोऽनुपपत्तः सन् तस्याः संख्यायाः संयमभेदं, जीवित-भेदं चिति द्विविधमतिक्रमं कुर्यात् । तत्र उपपत्तितत्प्रमधिकरण-द्वयम् । कथम् ? इत्यह—यस्तस्याः संख्यायाः प्रतिपक्षो गृहस्थस्तस्य प्रथमः । कायत्वचनैःतुशासनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिक्रमि-जापयं तापयं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिक्रमयोः निकृन्मयं, यस्य वा कश्चित्तेन तथा विचारणं कर्तव्यम् । ६०६ उ ३० ।

(१७) साधिकरणेनाऽऽहृतप्रायश्चित्तेन सह न संयोगः काव्ये-जे भिक्खु सादिगरण्यं अविओसमियपाहुदुं अकदप-च्छित्तं परं तिरायामो विष्कासियं अविष्कासियं संह्वंजइ, संजुंजंतं वा साऽज्जइ । १५ ।

अदि गिहसे, भिक्खु पुत्रवधिनो सहाधिकरणः कथायाभा-वश्च भ्रमाधिकरणसहित इत्यर्थः । विविधं विविधैर्हि वा पगा-रैर्हि विवस्त्रमियं उवसासियं । किं तं ? पाहुदुं, कलहमित्यर्थः । य विओसामियं अविओसामियं, पाहुदुं, तस्मि पाहुदुकरणे जं प-किउत्तं जेण सां कदपपच्छसो । " भ्रमानोनाः प्रतिषेधे " न कृतं प्रायश्चित्तं अहृतप्रायश्चित्तं, जो तं संजुंजणसंभोएण सं-च्छुजति, एगमंभोए, संजुंजइ । (सि तुत्तं जयति, अहवादाण्यमादेव संभोएण भुंजति तस्स चउगुणगा भाणादिणा व हांसा । नि० सु० ४ उ० ।

(१८) अप ध्यमककमेणाऽधिकरण्यधिकरणद्वयमिरूप-णायाऽऽह—

जीवे षं भंते ! अदिगरणी, अदिगरणं ? । गोयमा ! जीवे अधिगणरणी वि, अधिगणरणी वि । से केणहणं भंते ! एवं बु-बह-जंवि अधिगणरणी वि, अधिगणरणी वि ? । गोयमा ! अ-विररति पदुच्च से तेणहणं जाव अधिगणरणी वि अधिगणरणी वि । खेरहणं भंते ! किं अधिगणरणी, अधिगणरणी ? । गोयमा ! अधिगणरणी वि, अधिगणरणी वि । एवं जडेव जीवे तदेव धोरहणं वि, एवं खिररंरं जाव वेयाणिए ।

(जीवे षमित्थादि) । (अदिगरणी वि सि) अधिकरणं दुर्गतिनिमित्तं बन्तु, तथा विवहृवा शरीरमिन्द्रियानि च, त-था बाह्यो हलगन्धवादिपरिहृ, तद्व्यस्त्यातीत्यधिकरणो जीवः । (अदिगरणं वि सि) शरीराद्यधिकरणेभ्यः कथञ्चिद्व्यतिरि-क्तत्वादधिकरणं जीवः । एतच्च ह्यं जीवस्याविररति प्रती-त्योच्यते; तेन यो विरतिमानसः शरीरादिस्वाभेदेर्धि नाधिकर-णी, नाप्यधिकरणम्, अविररतिकुस्यैव शरीरादेरधिकरणत्वा-दिति । एतच्च चतुषिगतित्दकके दूर्यादिति—नेरह्य इत्यादि) अधिकरण्यो जीव इति प्रागुक्तम् । स च दूर्यादित्ताऽप्यधिकर-णेन खान्, यथा—गोमाद् । स्थानः पुच्छति-

जीवे षं भंते ! किं सादिगरणी, गिरहिरगणी ? । गोयमा ! सादिगरणी, यो गिरहिरगणी । से केणहणं बुच्छा ? । गोय-मा ! अविररति पदुच्च से तेणहणं जाव यो गिरदि-गरणी । एवं जाव वेयाणिए ॥

(सादिगरण्यं सि) सह सहमायिनाधिकरणेन शरीरादिना बन्धत इति स्वासात्सन्धिविधेः साधिकरणी । संसारिजीवस्य शरीरेन्द्रियरूपधिकरणस्य सर्वेद्वे सहचरितत्वात्साधिकरणा-त्वमुपदिश्यते । शुक्लाद्यधिकरणेषु च तु स्वस्वामिमात्रस्य तद्विररितरूपस्य सह वर्तित्वाद्बोधः साधिकरणीत्युच्यते । अत एव बह्वयति—(अविररं पदुच्च सि) अत एव संयतामां शरीरा-दिसङ्गाधेऽप्यविररतजावात् साधिकरणीत्वम् । (निरदिगरणि सि) निर्गतमधिकरणमस्मादिति निरदिगरणी । स्वासात्तत्रिभे-रधिकरणदूर्यादित्तादितिः । स च न भवति, अविररतिरधिकरण-दूर्यावा अदूर्यादित्तादिति । अथवा—सहाधिकरणिभिः पुत्रमि-त्रादिभिरितेत इति साधिकरणी । कस्यापि जीवस्य पुत्रादीनाम-भावेऽपि तद्विषयविररतेरजावात्साधिकरणमवश्यमेव संयम् । अत एव नो निरदिगरणीत्यपि भवत्यस्मिन्नि ।

अधिगणयाधिकारादेवेदमाह—

जीवे षं भंते ! किं आयादिगरणी, परादिगरणी, तदु-जयादिगरणी ? । गोयमा ! आयादिगरणी वि, परादिगरणी वि, तदुजयादिगरणी वि । से केणहणं भंते ! एवं बुबह-जाव तदुजयादिगरणी वि ? । गोयमा ! अविररति पदुच्च से तेणहणं जाव तदुजयादिगरणी वि । एवं जाव वेया-णिए ।

(आयादिगरणी सि) अधिकरण्यो कृष्णादिमान्, आत्मनाधि-करण्यो आत्माधिकरणी । ननु यस्य कृष्णादिनास्तं स कथमधि-करण्यो ? इत्यत्रोच्यते—अविररत्ययंकथा, इत्यत्र एवाऽविररति प्रतीत्ये-ति बह्वयति । (परादिगरणी सि) परतः परेषामधिकरणं प्रवर्तने-नधिकरणी पराधिकरणी, (तदुजयादिगरणी सि) तयोपारम्-परयोद्धमयं तदुजयं, ततोऽधिकरणी यः स तथेति ।

अथाधिकरणत्वेव हेतुप्रकृत्याऽऽह—

जीवे षं भंते ! अधिगणरणी किं आपपभोगणिव्वसिण, परपभोगणिव्वसिण, तदुजयपभोगणिव्वसिण ? । गोयमा ! आपपभोगणिव्वसिण वि, परपभोगणिव्वसिण वि, तदु-जयपभोगणिव्वसिण वि । से केणहणं भंते ! एवं बुबह ? । गोयमा ! अविररति पदुच्च से तेणहणं जाव तदुजयपभोग-णिव्वसिण वि । एवं जाव वेयाणियाणं ।

(आपपभोगणिव्वसिण सि) आत्मनः प्रयोगेण मनःप्रवृत्ति-व्यापारेण निर्देशितं निष्पादितं यत्तथा । एवमन्वयं वि द्रव्यम् । न-नु यस्य बन्धनादियपरमवर्त्तनवस्तु नास्तं तस्य कथं परपभोगि-नैर्तितादि भवित्यति । इत्याह—तदुजयपद्वये परहरहाह—(से केण-मित्यादि) अधिगणरत्येकथा (आधिगणमप्यस्तीति आत्रणीयमिति । अथ शरीराद्यभिन्द्रियानां योगानां च निर्देशितार्था जीवादे-रधिकरण्यत्वादिप्रकृत्याऽऽह—

जीवे षं भंते ! ओरालियसररिं गिण्वसिण्येमाये किं अधि-

अधिगण्य

करणी, अधिगण्यः। गोयमा । अधिगण्यं पि । अधिगण्यं पि ।
 सै केन्द्रं भंते । एवं बुद्ध-अधिगण्यं वि, अधिगण्यं पि।
 गोयमा । अधिगण्यं पदुच से तेण्डुणं जाव अधिगण्यं वि, अधि-
 गण्यं पि । पुढीकाण्डए एं चंते । आरोसियसरीं एण्व-
 गिण्योये किं अधिगण्यं, अधिगण्यं । एवं चेव, एवं जाव
 मणुस्से । एवं वेउअियसरीं पि, एवर् जस्स अत्थि । जीवे एं
 भंते। आहारगसरीं गिण्यंतिपमाणे किं अधिगण्यं पुच्छा।
 गोयमा । अधिगण्यं वि, अधिगण्यं पि । से केण्डुणं जाव
 अधिगण्यं पि । गोयमा । पमादं पदुच से तेण्डुणं जाव
 अधिगण्यं पि । एवं मणुस्से पि । तेया सरीं जहा आरोसियं,
 एवर् सञ्जीवाणं जाणियच्चं । एवं कम्मगसरीं पि ।

(अधिगण्यं वि अधिगण्यं पि) पुर्व्वत् । (एवं चेव (त्त)
 अनेन जीवसुखानिहायः पृथिवीकायिकत्वेन समस्तो वाच्य इति
 दृष्टितम् । (एवं वेउअीयादि) व्यक्तम् । (नवरं जस्स अधि-
 ग्ण्यं) इह तस्य जीवपदस्य वाच्यमित्यर्थः । तत्र नारकदेया-
 नां बायोः पञ्चेन्द्रियतिथिभ्रान्त्यानां च तदस्ताति हेयम् ।
 (पमादं पदुच चि) इहाहारकशरीरं संयमयनामिव भ-
 वति । तत्र खादित्तरंअपि प्रमादादधिकरणित्वमवसे-
 वत । इण्डकचित्त्यायं आहारकं मनुष्यस्यैव भवतीत्यत
 क्लृप्तम्- (एवं मणुस्से वि चि) ।

जीवे एं भंते । सोईदियं शिण्वत्तिपमाणे किं अधिगण-
 यं, अधिगण्यं । एवं जहं आरोसियसरीं तदेव सांदि-
 यं पि जाणियच्चं, एवर् जस्स अत्थि सोईदियं । एवं सोई-
 दियं चर्वित्तदियं घाण्णियजि,डेनदियफासिदिया,ए वि
 जाणियच्चं, जस्स न अत्थि । जीवे एं भंते । मणुजे,गे
 शिण्वत्तेमा गे किं अधिगण्यं, अधिगण्यं । एवं जहं सा-
 ईदियं तदेव शिण्वत्तेसे । वज्जांगं एवं चेव, एवर् एगिदिय-
 वज्जाणं । एवं कायजोगे वि, एवर् सञ्जीवाणं जाव वे-
 याणिए । सेवं जंते । भंते । चि । ज० २६ श० १ उ० ॥
 अधिगण्यते प्राणियुगन्तावनेनेति अधिगण्यम् । दानिना-
 उस्यतस्य सामर्थ्येवापणतः पावारम्भप्रयत्ने, हा० २७
 अ० ॥ आधारे, व्याकरणाशुक्ले- " कर्तृकर्मव्यवहृता-म-
 वात्तात्कारधत्तुं क्रियायाम् । उपकुर्वन् क्रियासिद्धौ, शास्त्रे-
 धिगण्यत् स्मृतम् " ॥ १ ॥ इति हरिपरिभाषिते अधिग-
 ण्यत्संबन्धे कर्तृकर्मद्वाराः क्रियाभ्ये कारकं, यथा-महं स्वात्या-
 मन्नं पचतीत्यादौ गृहस्य कर्तृद्वारा, स्थाल्याश्च कर्मद्वारा,
 परस्परया पाकक्रियाभ्यन्तवाद् युद्धानेः । वाच० ।

अधि (द्वि) गण्यक्रिया-अधिकरण्य-की० । अधि-
 करण्यविक्रिया क्रिया अधिकरण्यक्रिया । कलहविषयके व्या-
 पारे, अधिकरण्यक्रिया द्विबधा-निर्व्वेत्नाधिकरण्यक्रिया, सं-
 योजनधिकरण्यक्रिया च । तत्राद्या-अज्ञानां तन्मुद्रादां
 निर्व्वेत्नसत्त्व्या । द्वितीया तु-तथाभवत्त्वदानां संयोजनसत्-
 त्वेति । अथवा प्राणिनां दुर्बलस्थितिपरिचरणाये, क्रियाभाम् च
 " अधिगण्यक्रियापचन्या बह्विधं अन्तर् अन्नं अन्नमहं
 अण्वणो परस्स य करेति " प्रअ० २ आअ० ह्रां० ।

अ (आ) धि (द्वि) गरण्य-अधिगण्य-की० ।
 अधिगण्यते स्थाप्यते मरकादिभ्याम् यान् तदधिकरण्यमु-
 द्दानविशेषो बाह्यं वस्तु चकलङ्कारितं, तत्र भवा, तत्र वा नि-
 बृत्ता, अधिगण्यकी । प्रअ० २ ए० । व । अज्ञानानिर्व्वेत्नस-
 त्वे क्रियाभेदं, स० ७ सम० स्या० ।

अथवा भेदाः—

अधिगण्यया एं जंते । किरिया कविहा पचसा ।
 मदिपयसा । वुट्टिटा पचसा । तं जहा-संजोययाहिरण-
 किरिया य, निव्वत्तणाहिरण्यकिरिया य ॥

(संजोयणाहिरण्यकिरिया य चि) संयोजनं हलगण्यवि-
 कृत्यन्नाद्यज्ञानां पूर्व्वनिर्व्वेत्तानां मीलनं, तदेवाधिकरण्यक्रिया
 संयोजनधिकरण्यक्रिया । शिख्यत्तवाहिरण्यकिरिया य (चि)
 निर्व्वेत्नमलिखितोत्तरादां निष्पादां, तदेवाधिकरण्यक्रिया
 निर्व्वेत्ननाधिकरण्यक्रिया । अ० ३ हा० ३ उ० । अधिगण्यक्रिया
 द्विधा-अधिकरण्यप्रयत्नेना, अधिकरणनिर्व्वेत्नेना च । तत्र निर्व्वे-
 त्नेनाधिकरण्यक्रिया द्विबधा-मूलगुणनिर्व्वेत्ननाधिकर-
 ण्य, उत्तरगुणनिर्व्वेत्ननाधिकरण्यक्रिया च । तत्र मूलगुणनिर्व्वे-
 त्नाधिकरण्यक्रिया-पञ्चानां शरीरकार्यां निर्व्वेत्नेन । उत्तरगु-
 णनिर्व्वेत्ननाधिकरण्यक्रिया-हस्तपादाङ्गोपाङ्गानां निर्व्वेत्नेन ।
 अथवा मूलगुणनिर्व्वेत्ननाधिकरण्यक्रिया-असिखितसिखि-
 तपालादां निर्व्वेत्नेन । संयोजनधिकरण्यक्रिया-तेषां यिगु-
 ङ्गानां संयोजनमिति । अथवा संयोगः विषयहलकूटध-
 युत्पन्नादां, निर्व्वेत्ननाधिकरण्यक्रिया शर्व्वलके कालकृतमु-
 द्दानां । कृत्याशांनिर्व्वेत्त क्रियाभेदं च । अ० ५ उ० ३ अ०

अधि (द्वि) गण्य-अधिकरण्य-की० । कमारंगपरकण्यदोषं,
 यत्र सोदकारा अयोयनेन सोहाजि कुट्टयन्त । अ० ६ श० १ उ० ॥

तेषां कालेषां तेषां सपणं रायमिहे० जाव पञ्जुयासमाणं
 एवं वया-नी-अत्थिय एं जंते । अधिकरण्यमि वाउयाए वृ-
 क्कम् ? इवा अत्थिय । से जंते । किं पुडे उदाइ, अणुडे उ-
 दाइ ? गोयमा । पुडे उदाइ, गो अणुडे उदाइ । से जंते ।
 किं स-नीरि शिवत्तम्, असरीरि शिवत्तम् ? । एवं जहा
 खंदए जाव से तेण्डुणं जाव गो असरीरि । शिवत्तम् ।

(अधि चि) अस्ययं पक्कः, (अधिगण्यमिति) आधिगण-
 यं, (वाउयाए (चि) वायुकायः, (यद्वक्कम् चि) व्यक्कामिति
 अयोघनाभिघातेनाप्युत्पन्ने, अयञ्चकान्नसजयत्वेनादावपचन-
 तयाप्यभापि पक्कात् स चेतनीजयन्ति । संसायत इति । उ-
 प-
 अश्च सव जियत इति प्रअयसाह- " से भंते " इत्यादि । (पुटे चि)
 स्पृष्टः स्वकायशक्तादिना सशरीरश्च कलेशराशिक्षामासि काम-
 भाण्यकृया औदृत्तिकाद्येक्यात्शरीरांति । अ० ६ श० १ उ० ॥

अधि (द्वि) गार-अधिकार-गुं० । अधि-ह-घ-त्त । अघतः
 प्रअप्रसन्नाच्च, " अधिगारं पुञ्जुत्तां, चरविदो विदयन्तुलिय-
 उन्नयणं " दश० १ अ० । प्रयाजने, " अधिगारो इह मुमे एणं " ॥
 व्य० ९ उ० । नि० ५ उ० । व्यापारे, " अधिगारो तस्स वि-
 जयणं " आआ० १ सु० २ अ० १ उ० ।

अधि (द्वि) हंत-अधिपित्तु-वि० । निवसति, नि० ५ उ० १ उ० ॥

अधि (हि) द्वावण-अधिस्थापन-न० । संनिघटावेहित एव रजोहरणायकपयशानं, " अं निष्कृत् रथहरणं अहिच्छेत्, अहिच्छंतं वा साहस्रम् " नि० चू० ४ ड० ।

अधि (हि) द्वेष्टा-अधिष्ठाप-अव्य० । ममेदमिति पृथी-न्तव्यं, नि० चू० १२ ड० ।

अधि (हि) मासग-अधिमासक-पुं० । अविर्वदितवर्षद्वा-वशाभांगं, " यस्य अनियक्षियस्वरिसवारसमागो अधिमासगो । ओ पुण्यं ससिद्धगतिविसैलनिष्पत्तौ अधिमासगो अ वणतसं विष्णा विसंतिमागो व वसोसं भवति " नि० चू० २० उ० ।

अधि (हि) मुञ्चि-अधिमुञ्चि-अ० । शास्त्रभ्रष्टावति, द्वा० २३ द्वा० ।

अधि (हि) वद (ति)-अधिपति-पुं० । प्रजागामतीव सु-रक्षके, एव० १ उ० ।

अधीमहि-अधीमहि-अव्य० । अस्थापत्य इ-कामः । तस्य मन्त्रः कामिन्यः, ता अधिभूय-अधीमहि । शिष्याधिभूयत्यर्थे, " भगो दे वस्यधीमहि " गायत्री । वसनीनि वसो विष्पत्यर्थे रूपम् । कु वसि, इत्याकाङ्गायामाह-अधीमहि, अ० । तद्ग्र-मानं कुर्यायसात्मनोत्याशयः । अ० गा० ।

अधीरपुरिस-अधीरपुर-पुं० । अदुद्धिमति पुरुषे, उच० ए अ० ।

अधुव-अधुव-पुं० । यः पुनरापत्यं कदाचिद्भवत्येवं प्राप्य-नि स भव्यसंबन्धी वा कथः स अधुवन्धः । क० ४ क० ।

अधे (इ) कम्म-अधधेय-न० । अधोगतिनिबन्धनं कर्म अधःकर्म । आधाकर्मणि, तथादि-भवति साधुनामाधकर्ममु-ञ्जानानामधोगतिः, तन्नबन्धनप्राप्त्यातिपातादाश्रयेण प्रवृत्तेः । अस्य निरूपण-अधःकर्म अनुक्तं । तथाया-नामाधःकर्म, स्था-पनाधःकर्म, उच्चाधःकर्म, नाधाधःकर्म च । एतन्नाधाकर्म-वशाद्यद्वयं यावन्नोन्नागमतो भव्यशरीररूपं उच्चाधःकर्म । शरीरभयशरीरव्यतिरिक्तं तु उच्चाधःकर्मं निशुक्तिद्वहा-न्नं दत्त्वं उदगाप्तु, दृढमहे वयइ नं च जारेण । ईरिरे रज्जुपृथ व, श्रोत्रेणं दत्त्वं उ० कर्मम् ॥ ६६ ॥

यतिकर्मणि कल्पमुपलदिकमुद्रकादिषु उदकद्रव्यादिषु मध्ये स्थितं सत् भारेण स्वस्य मुक्तया अधो ब्रजति तथा (जं चेत) क्लं (सीरिपि) मिश्रेण्य उच्चा वा अथतर्णं पुरुषादेः कृपा-दौ, मालादेर्वां नृषि, तद् अधोऽधोव्रजनमवतरणं वा उच्चाधःकर्म । दृढस्थोपलदेरुप० उ० स्तोत्रकर्मरूपमवतरणरूपं वा कर्म द्रव्याधःकर्मैति व्युत्पत्तेः ।

संप्रति ज्ञावाधःकर्मणोऽवसरः, तच्च द्विधा-भागमतो, नोभाग-मतश्च । तत्र भागमतोऽधःकर्मं शब्दाधेयान्तात् । तत्र बोप-सुचो नोभागमत आह-

संजमप्राणार्णं कं-दगाण्य लेसाउर्द्विनेसाणं ।
जावं अहे करेइ, तद्गता तं भाव उहेकर्मम् ॥ ६७ ॥
संयमस्थानानां वधममानानां कण्डकानां संख्यातीतसंयम-स्थानवृद्धयकपाणानां, उपलक्ष्यमेतत्तु वदस्थानकानां संयमभे-देभ्यः । तथा लेखानां, तथा सातवेदनीयादिकपुत्रप्रकृतीनां १४४

संबन्धनां स्थितिविशेषाणां च संबन्धिषु विद्युक्तेषु विशुक्त-रेषु स्थानेषु वर्तमानं सन्तं मित्रं आबन्धयवसायं धरमादाधा-कर्मं मुञ्जानः साधुधः करोति, इतिषु दीनतरेषु स्थानेषु वि-षसः । तस्मात्प्राधाकर्मं भाशाःकर्मं प्रावश्य परिणास्य सं-यमादिसंबन्धिषु शुभेषु शुननरेषु स्थानेषु वर्तमानस्य; अथः अ-धस्तनेषु इतिषु हानतरेषु स्थानेषु कर्मं क्रिया यस्मात्प्राधा-कर्मैति व्युत्पत्तेः ।

एतामेव गाथां भाष्यरुद्रं गाथात्रयेण व्याख्यातयति-
तस्याणोता चारि-चापउजवा ह्येति संयमद्वानं ।
संसाःयाणि च ता-णि कंयं होइ नायकं ॥ ६८ ॥
संसाईयाणि च कं-दगाणि उदगाण्यं विणिदिदं ।
द्वद्गाणा च अदंसा, संयमदंदां मुणोयन्ता ॥ ६९ ॥
किंएहाइया उ लेमा, उकोसविमुञ्चिउर्विसंसा ठ ।
एपसि वि मुञ्चाणं, अप्यं तमागो कुणइ ॥ ७० ॥

इह सर्वोक्तद्वयं देशविरतिविद्युक्त्वात् उच्यते अथ सं-वेविरतिविद्युक्त्वात्माननतमुणता च सर्वत्रापि वदस्थानकवि-स्तायां सर्वेजीवानन्कप्रमाणेन गुणकारेण रूपव्या । इयं गाथा प्रावना-उच्यते सर्वविरतिविद्युक्त्वात् केवलप्रकाशकृद्दे-केन विद्यते, इतिवा च निर्विनागा भागाः सर्वसंकलनया परिव्राव्यमानाः सर्वोक्तदेशविरतिविद्युक्त्वात्माननता नि-र्विनागा भागाः सर्वेजीवानन्कप्रमाणेन गुणकारेण गुणयमाना यामनो जायन्ते तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते । अत्राप्यर्थे भावार्थः-इह किल अयमकल्पनया सर्वोक्तद्वयं देशविरतिविद्युक्त्वात्माननस्य निर्विनागा प्रागाः १०००० दशलक्षकाणं, सर्वेजी-वानन्कप्रमाणेन चारिः शतम् । तन्तस्तेन शतसंख्येन स-वेजीवानन्कप्रमाणेन राशिना दृशस्तद्वसंख्याः सर्वोक्त-देशविरतिविद्युक्त्वात्माननता निर्विनागा जागा गुणवन्ते, आ-तानि १०००००० दशलक्षाणि । एतावन्तः किल सर्वेजघन्य-स्थापि सर्वविरतिविद्युक्त्वात्माननस्य निर्विनागा जागा जवन्ति । संप्रति सूत्रमनुष्यते-तत्र तेषु संयमस्थानादिषु वक्तव्येण, प्रथ-मतः संयमस्थानमुच्यते इति शयः अन्तः अतन्तसंख्याः पाश्चा-त्यसंकल्पनया दशलक्षप्रमाणाः, ये चारित्रयोःवाः सर्वजघन्यथा-रिचलसंकलिमुक्त्वात्माननता निर्विनागा भागास्ते समुदितः सं-यमस्थानम्, अर्थात्सर्वेजघन्यत्रावं प्राप्नुवन्ति । तस्मान्नितरं यद् द्वितीयं संयमस्थानं तत् पुण्यस्वाप्नन्भागवृत्तम् । किमुक्तं अ-वति ?-प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विनागाभागापेक्षया द्वितीयसंय-मस्थाने निर्विनागा भागा अतन्तमेव भागेनाधिकं भवन्तीति । तस्मादपि यद् अतन्तं नृनीयं तत्ततोऽतन्तभागवृत्तम् । एवं पुण्य-स्मात्पुत्रोत्तराणि अतन्तमेव जायेन वृद्धानि निरन्तरं संय-मस्थानानि तादृशकल्पानि यावद्दुःखमात्रप्रेक्षासंख्येयजगत्त-प्रदेशरीतिप्रमाणानि भवन्ति । एतावन्ति च समुदितानि स्था-नानि कण्डकमित्युच्यन्ते । तथा चाऽऽह-संख्यातीतानि असंख्ये-यानि । तुः पुनरर्थः । तानि संयमस्थानानि, कण्डकं जवति इत-व्यम् । कण्डकं नाम समयपरिभाषया अद्भुलमात्रप्रेक्षासंख्येय-भागतत्प्रदेशरीतिप्रमाणानां संख्या विधायते ।

तथा च भाष्ये उक्तम्-
" कंइति हय अन्नर, अंऽलमागो वसंकोजो " ।

अस्माकं कण्ठकापरतो यद्भ्यन्तरं संयमस्थानं जघति तत् पूर्वंस्मात्संख्येयमागाधिकम् । एतच्छब्दो भवति-पाश्चात्यकण्ठका-स्फक्चरमसंयमस्थानमिति निर्दिशामागाये कण्ठकादन्तरे संयमस्थानं निर्दिशामागा आगा असंख्येयतमं प्रागेनाधिकाः प्राप्यन्ते, ततः परानि पुनरपि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि यद्योत्तरमन्तत्रागवृद्धानि भवन्ति । ततः पुनरेकसंख्येयमागा-धिर्कं संयमस्थानं, ततो ज्योऽपि, ततः परानि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि यद्योत्तरमन्तत्रागवृद्धानि जघति । ततः पुन-रप्येकमसंख्येयमागाधिकं संयमस्थानम्; एवमन्तत्रागाधिकैः कण्ठकमात्राणिः संयमस्थानैर्बद्धिनामि असंख्येयमागाधिकानि संयमस्थानानि तावच्छब्धानि यावत्तप्ये कण्ठकमात्राणि भवन्ति । ततश्चादृशसंख्येयमागाधिकसंयमस्थानात्परानि यद्योत्तरमन्तत्रागवृद्धानि कण्ठकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति । ततः परमिकं संख्येयमागाधिकं संयमस्थानम्, ततो ज्योत्तराभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिकान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमेणादियाय पुनरप्येक संख्येयमागाधिकं संयमस्थानं वक्ष्यमः । इदं द्वितीयं संख्येयमागाधिकं संयम-स्थानम् । ततोऽनेनैव क्रमेण तृतीयं वक्ष्यमः । अस्मिन् चतु-संख्येयमागाधिकानि स्थानानि तावद् वक्ष्यमः । यावत्क-ण्ठकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तमेव भूयोऽपि संख्येयमा-गाधिकसंयमस्थानप्रसंगे संख्येयमागाधिकमेकं संयमस्थानं वक्ष्यमः । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिकानि नाथान्तं भूयोऽपि तथैव वक्ष्यमः । ततः पुन-रप्येकं संख्येयमागाधिकं संयमस्थानं वक्ष्यमः । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति जघन्ति संयमस्थानानि तावन्ति तथैव वक्ष्यमः । ततः पुनरप्येकं संख्येयमागाधिकं संयमस्थानं वक्ष्यमः । अस्मदप्येकं संख्येयमागाधिकानि संयमस्थानानि तावच्छब्धानि यावत्कण्ठकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तमेव पुनरपि संख्येयमागाधिकसंयमस्थानप्रसंगे अन्तरेयमागा-धिर्कं संयमस्थानं वक्ष्यमः । ततः पुनरपि मूलादारभ्य या-वन्ति संयमस्थानानि प्रागतिकान्तानि तावन्ति तेनैव क्र-मेण भूयोऽपि वक्ष्यमः । ततः पुनरप्येकसंख्येयमागा-धिकं संयमस्थानं वक्ष्यमः । ततो ज्योऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्ष्यमः । ततः पुनरप्येकसंख्येयमागा-धिकसंयमस्थानं वक्ष्यमः । यावन्ति अस्मिन् चैव संख्येयमागा-धिकसंयमस्थानानि तावन्त्यसंख्येयमागाधिकसंयमस्थाना-नि तावच्छब्धानि यावत्कण्ठकमात्राणि भवन्ति । ततः पू-र्वपरिपाठ्या पुनरप्येकसंख्येयमागाधिकसंयमस्थानप्रसंगे अ-मन्तत्रागाधिकं संयमस्थानं वक्ष्यमः । ततः पुनरपि मूलादा-रभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिकान्तानि तावन्ति त-थैव क्रमेण भूयोऽपि वक्ष्यमः । ततः पुनरप्येकमन्तत्रागा-धिकं संयमस्थानं वक्ष्यमः । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य ताव-न्ति संयमस्थानानि तथैव वक्ष्यमः । ततः पुनरप्येकमन्त-त्रागाधिकं संयमस्थानं वक्ष्यमः । एवमन्तत्रागाधिकानि संयमस्थानानि तावच्छब्धानि यावत्कण्ठकमात्राणि जघन्ति । ततो ज्योऽपि तेनामुपरि पञ्चभूजात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वक्ष्यमः । यद्यन्तत्रागवृद्धिसंयमं तत्र प्राप्यन्ते, वदस्थानस्य परिसमाप्तयात् । इत्यंजुनात्यसंख्ये-यानि कुरन्ति न समुचितानि वदस्थानं न जघति ।

तथा च ५५६ नाप्यहृत्—

“संख्येयानि उक्तं-द्वानि लुटानाम् विणिङ्ङि” गुणमय । अस्मिन्क वदस्थानेकं बोधा रुद्धिः । तद्यथा-अन्तत्रागा-वृद्धिः, असंख्येयतमागवृद्धिः, संख्यातमागवृद्धिः, संख्येयगुण-वृद्धिः; असंख्येयगुणवृद्धिः, अन्तत्रगुणवृद्धिः । तत्र यादृशोऽ-नन्तमो प्रागेऽसंख्येयतमः संख्येयतमो वा शुभे; ; यादृशस्तु संख्येयोऽसंख्येयोऽन्ततो वा गुणकारः स निरूप्यते-तत्र यद्य-क्त्वा अन्तत्रागवृद्धिता तस्य सर्वज्ञोवस्यप्रामाणेन राशिना भागो द्वियते, इतं च प्रागे द्वियः सोऽनन्ततमो भागः । तेषाधि-कमुत्तरं संयमस्थानम् । किमुक्तं जघति-? प्रथमस्य संयमस्था-नस्य ये निर्दिशामागास्तेषां सर्वज्ञोवसंख्याप्रामाणेन राशिना भागे इते सति ये अन्तरे ते तावत्प्रामाणैर्निर्दिशामागाः (वि-तोये संयमस्थाने निर्दिशामागा अधिकाः प्राप्यन्ते, द्वितीयस्य संयमस्थानस्य ये निर्दिशामागास्तेषां सर्वज्ञोवसंख्याप्रामाणेन रा-शिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्दिशामागाः प्राप्यन्ते । एवं यद् यत् संयमस्थानमन्तत्रागवृद्धमुत्पद्यते तत्तत् पाश्चात्य-संयमस्थानस्य सर्वज्ञोवसंख्याप्रामाणेन राशिना भागे इते सति यद् यद्भ्यन्ते तावत्प्रामाणान्तरमेतन् भागेनाधिकप्रवगन्तव्यम् । असंख्येयमागाधिकानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसं-यमस्थानस्य सान्त्वानं निर्दिशामागाः तावत्संख्येयत्वं (काशा-प्रदेशप्रामाणेन राशिना प्रागे इते सति यद् यद्भ्यन्ते सोऽसं-ख्येयतमो भागः, अन्तरेऽसंख्येयतमेन तानानाधिकानि अत्य-ख्येयमागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयमागाधि-कानि चैवम्-पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य उक्तानि संख्येय-प्रागे इते सति यद् यद्भ्यन्ते स संख्येयतमो भागः । ततस्त-नेन संख्येयतमेन भागेनाधिकानि संख्येयमागाधिकानि स्थान-ानि वेदितव्यानि । संख्येयगुणवृद्धिकानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसंयमस्थानस्य ये ये निर्दिशामागा प्रागे इते त उक्तानि संख्येयप्रामाणेन राशिना गुण्यन्ते ; गुणितं च सति यावन्तो यावन्तो जघन्ति तावत्प्रामाणानि संख्येयमागाधिकानि स्थानानि वदस्थानानि । एवमसंख्येयगुणवृद्धानि, अन्तत्रगुणवृद्धानि च भावनीयानि; नवरमसंख्येयगुणवृद्धौ पाश्चात्यस्य पाश्चात्य-स्य संयमस्थानस्य निर्दिशामागा असंख्येयशोकाकाशा-प्रदेशप्रामाणेनासंख्येयेन गुण्यन्ते । अन्तत्रगुणवृद्धौ तु सर्वज्ञोव-प्रामाणानन्तेन । इत्थं च प्रागेऽन्तत्रगुणकारकत्वं न अस्मन्ती-पिकशिलकल्पितं मस्या । यत् उक्तं कर्मप्रकृतिसंश्लेष्यां पदस्थानकगतत्रागेऽन्तत्रगुणकारिकायाः पाश्चात्यिकाः” सख्येय-गुणमन्त्र-ज्ञा प्रागेऽसंख्येयस्य जेदुस्य । आगो तिस्रु गुण-शा नित्तु,” इति । प्रथमस्य वद-स्थानकारुच्येमुक्तमेतदेव द्वितीयं वदस्थानकमुनिष्ठानि, एवमेव तृतीयम् । एवं वदस्थानकान्यापि तावद्वाच्यानि यादृशसंख्येयलो-काकाशाप्रदेशप्रामाणानि भवन्ति । उक्तं च-“उद्गाणमश्वसाण, अश्वं उद्गाणं यं पुणो अश्वं । एवमसंखा लोगा, उद्गाणायं मुण्य-व्या” । इत्थं तृतीयं च असंख्येयलोकाकाशाप्रदेशप्रामाणानि वद-स्थानकानि संयमस्थानरूप्यन्ते । तथा च ५५६—“उद्गाणो च अश्व-सा, अश्वमसंखी मुण्यव्या” । तथा (हे स त्ति) कृष्णाश्चो हेःश्याः स्थितिर्विशेषाः, उक्तानां सप्योक्तानां सातवेत्तनीयमभूतानां विजुद्धप्रतीनां संघिनो विजुद्धाः स्थितिर्विशेषा वेदि-

तस्याः । तत एतेषां संयमस्यान्नादीनां संबन्धिषु शुभेषु स्या-
नेषु बर्त्मानस्तद्ग्राहक आधाकर्मग्राहकः । अत्रानमेतेषां
संयमस्यान्नादीनां विशुद्धानामधोऽधस्तात्करोति ।

यदि नाम संयमस्यान्नादीनामधस्तात्प्रानामाधाकर्मग्राही-
करोति ततः किं कृष्यं तस्यापतितम् ? अत आह-
भावावधारमाह—उपपन्ने किंचित्पूज्यकरणम् ।
आहाकर्मग्राही, अहो अहो नेद अप्याणं ? ॥

प्रानामां संबन्धस्यान्नादिरूपाणां विशुद्धानामधस्तात् हीनेषु ही-
नतरेषु अप्यवसायेष्ववसारमवलम्ब्यमात्मन्याधाय कृत्वा किञ्चि-
न्पूज्यकरणम् इति । इह अरयेनामः प्रथमस्वरूपाः स च नि-
श्चयव्यवसायेषुवा कृत्वा कृपावादिरेकवापरवारितः परिगृह्यते ।
न च तस्य प्रमादसंबन्धापि होष्यते, एकस्मिन् होषादिमाहो-
ष्यत् विनाशात् । ततो न तस्याधाकर्मग्रहसंबन्धः, इति किञ्चि-
न्पूज्यकरणम् । किञ्चिन्पूज्येन चरेनामः प्रानामः किञ्चिन्पूज्य-
रूपाः स च परमाधस्त उपग्राममोहं उच्यते । प्रतिशुष्यथा-
पमायै चैतन्नृकम् । ततोऽयमर्थः-किञ्चिन्पूज्यरूपाणांऽपि याव-
त्, ब्रह्मात् प्रमत्तसंयमादिरिति । आधाकर्मग्राही भयोऽधो रज-
ज्जमान्दिरकदाही नयत्यात्मनः, एतद्दूषणमाधाकर्मग्राहियः ।
एतदेव जावयति-

बंधं अहंभातं, पकोदं अहोमुहोर्हं कम्मादं ।

यःशरणं तिवेगं उ, ज्ञेयं च श्रौचयः शय व ॥ १॥

आधाकर्मग्राही विशुदेष्ट्यः संयमाद्विद्येनोऽवनीये अ-
धोऽधोऽधस्तः हीनेषु हीनतरेषु प्रपञ्चे बर्त्मानतोऽधोऽधस्तस्य
रत्नप्रमादिराकरकस्य जवस्य संबन्धिषु आशुकेनामि । शेषा-
वधि कर्माणि गण्यशोभि आधोमुहोर्हं अशोचयिभूमिनामि,
अशोचयिनयनतीशोचयः । प्रकरोति प्रकरोत् दुस्तदकडु-
कीप्रानुजावकृत्वा करोति भजानि । भजानो च सतामाधा-
कर्मविषयवर्तिमांससामन्त्यशुचितो निस्तरमुपजायमानेन ती-
क्ष्णेण तीक्ष्णरेच भावेन परिश्रमेन घनकरणे यथायोगं विभक्त-
रूपतया निष्काशनाकपतया वा व्यवस्थापनम् । तथा प्रतिज्ञ-
मन्याभ्युपकूलप्रहणेन च उपपच्यते । तत्र स्तोत्रकतरा बुद्धि-
शयः, प्रभून्तरा वादुहवचयः । एतेन च व्याकथाप्रकाशसु-
माचार्येणानुवासेनम् । तथा च व्याकथाप्रस्तावनापः—
“ आहाकर्मोऽहं लुज्जमानं समये निगमांशु आहकर्मपदमीशो
बधः ; अदे बंधं, अदं विगद, अदे बंधां बंधम् ” इत्यादि ।
तत एते स्तिति—

वैसिं गुरुणमुदए—ए अपयं दुर्माहर्षं पवर्तं ।

न वए विधारेउं, अहुरगतिं निंति कम्माहं ॥ ३ ॥

तेषामधोऽधस्तात्पुण्यत्वां कर्मेषां गुरुणामधोऽधस्तात्तिसनस्यभावा-
तया गुरुणीव गुरुणि तेषामुदयेन विपाकवेदनाजुज्वलकपेन, विपा-
कवेदनाजुज्वलकपाद् यवशादित्यर्थः । बुधेति प्रपत्तसात्मानं वि-
धारेषुति निचारेषुतुमाधाकर्मग्राहं न शक्नोति । यतः कर्माणि
अधोऽधस्तात्पुण्यत्वादिनि उद्यमसात्मानं बलाद्दधरयति नरकादि-
कृत्वा । न च कर्मणः काऽपि बलीयात्, अन्वधा न कोऽपि नरकं
यावत्, न वा कोऽपि दुःखानुभवत् । तस्मात्साधाकर्म्य आ-
धागतिनिचारेषुतिस्यः कर्मैरुपपत्ते । तदेवमुक्तमधःकर्मैति
नाम । वि० ।

अधो (हो) हि—अधोऽधिति—पुं० । परमावधेरधोवत्येवधियेष्य
साऽधोऽधितिः । परमावधेरधोवत्येवधियुक्ते जीवे, “अधोदि
नमोऽयं चैव अन्वयणेन आया अहोहायं जायद् ” इथा० २
जा० ३ उ० ।

अन्तर—अन्तर—न० । “यमेऽन्यो वा” पा० १३० । इति सुत्रेणानु-
स्वारवैकल्पिकत्वम् । इयुधाने, प्रा० ।

अन्तर्नी—स्त्री०—अन्तर्—न० । उच्यन्त्यावयवे, “वाह विसर्गी
अन्तर्नी तिर दहसिउं बंधस्तु ” प्रा० ॥

अन्नाह—अन्यादह—वि० । “अन्यादहोऽन्नाहसावराहसौ” न ।
पा० १३१ इति अन्त्यादहशब्दस्य अन्नाहसत्याहोऽहः । अन्त्यसद्वतो,
अन्त्यप्रकारे च । प्रा० ।

अप—अप—स्त्री० । व० ॥ जले, “पुण्यापोचया नक्षत्रे किं
देवयाप पचसे ? अपदेवयाप ” सू० प्रा० १० पाठ० ।

अप, एष दृष्ट्या—अपतिष्ठान—पुं० । न विद्यते प्रतिष्ठानमोदा-
रिकरारोदेः कर्मणो वा यत्र साऽप्रतिष्ठानः । मोहे, आचा०
१ श्रु० ६ श्रु० ६ उ० । स्वस्त्यं नरकपुण्यभ्यां पञ्चानां काशादीनां
नरकापालानां मध्यवर्तिनं नरकापालं, इथा० ४ हा० ३ उ० ।
सूत्र० । तस्येन्द्रे च । ज्ञो ३ प्रनि० । “अप्यदृष्टानं नरए पं
जायणसदसहस्रं आयावविक्रमंयं ” पं० सं० १ हा० ॥

अप (ए) दृष्टिय—अपतिष्ठान—वि० । न० । प्रतिष्ठानरहितं, आ०
४ हा० १ उ० । क्विदप्रतिष्ठेत्, अशरारिणं च । आचा० २ कु०

अप (ए) इष्यपसरियत्—अपकीर्णप्रस्तुत्वर—न० । सुसंन्य-
स्य सतः प्रसरणे, अन्त्यधोऽधितिनिचित्यविस्तारयोर्भाषे
सम्भवन्नतिशये, स० ३१ मम० । औ० ।

अपपञ्च—अपक—वि० । अग्निना संस्कृते, पञ्चा० १ विच० ।

अपपस—अपदेश—वि० । न० । प्रदेशरहितत्वे, कथा० १०
अध्या० । अयवभाभावाद् निरले, म० २० हा० ६ उ० । निर-
न्वये, विशे० । इथा० । तत्रः कुतानर्थ्याद्भाक्तीणकत्वेनाशि-
ष्टजनकायोग्येन वा कुस्तिने प्रदेशे, पञ्चा० ७ विच० । (जी-
वानां समप्रदेशत्वाद्प्रदेशत्वमित्या ‘पपस’ शब्दं बद्धते)

अपप्रास—अपट्टेय—पुं० । अन्त्यस्तरे माध्यस्थे, पञ्चा० ३ विच० ।

अपपदिय—अपपट्टेय—पुं० । सद्बुद्धिरहिते, वृ० १ उ० ।

अपपक—अपक—वि० । अन्त्यादिनाऽसंस्कृते शालिगोधूमौषधौ,
प्र० ७ हा० । वाक्यप्रतिपत्ते, प्र० ५ सन्ध० हा० ।

अपकोसद्विजबलगाया—अपकोषधिभक्षणगाता—स्त्री० । अपकाव,
अग्निनाऽसंस्कृताया बोधः शास्त्रादिकाया भक्षणता मौजनम-
पकोषधिनकृणता । ज्ञोजनत उपजोगपरिभोगप्रतासिचारेनेदं,
उपा० १ उ० ।

अपपसगाही (ए)—अपकृप्राहिन्—वि० । न पूर्वं गृह्यानीश्वय-
कृप्राही । शास्त्राधितपकाप्रदणशाले, इथा० १ उ० ।

अपपंगं—अपपाह—अपपंगं गयं दौषो यस्यात्पनयद्भव ।
विदोषे, उक्कफेने च । सूत्र० १ श्रु० ६ उ० ।

अपडिवाइभक्त

अप (ए) दिव्यभक्त-अप्रतिबन्धमान-त्रि० । कर्मकर्तृत्वस्य प्रयोगः । क्वचिदपि प्रतिबन्धमुत्सृज्य, २० २ उ० ।

अप (ए) दिव्यभक्त-अप्रतिबन्ध-त्रि० । प्रतिबन्धपरहिते, अतिबन्धकरहिते, प्रय० १०४ डा० । " अपदिबन्धो अनलो व्य " प्रश्न० ५ सप्रश्न० द्वा० महा० । पञ्चा० । अप्रतिबन्धितेऽनुपहते, पा० ६ विव० ।

अप (ए) दिव्यक्या-अप्रतिबन्धकता-स्त्री० । मनसि निरतिबन्धकतायाम्, मीरोगावे, उक्त० ३० अ० । तत्फलम्—

अप्यदिव्यक्याए णं जंते ! जंवे किं जगय्ये ? । अप्यदिव्यक्याए णं निस्संगत्तं जणय्ये, निस्संगत्तेणं जीवे एणे एगमाचिचे दिया य राओ य असज्जमाणे अप्यदिव्यकं यावि विहरइ ।

अप्रतिबन्धकतया मनसि निरतिबन्धकतया निःसङ्गत्वं बहिः सङ्गामात् जगयति, निःसङ्गत्वेन जीव एकां रागादिविकलतया तत्र एवैकाग्रचित्तो धर्मैकतात्मना एकप्रतानिवन्ध रहत्यभावं दिवा च रात्रौ वाऽसज्ज, कोऽर्थः ?—सर्वदा बहिः सङ्गं त्यजन् अप्रतिबन्धकारिणं विहरति । कांऽभिप्रायः ?—विशेषतः प्रतिबन्धविकलो मासकल्पदिनोपनिषद्विहारेण पश्यति । उक्त० २९ अ० ।

अप (ए) दिव्यक्या-विहार-अप्रतिबन्ध-विहार-पु० । अप्रतिबन्धस्य विदारोऽप्रतिबन्धविहारः । उच्यतेऽपि सर्वभावेषु अभिबन्धहरहितैरेकसाधनस्थाने, प्रय० । अप्रतिबन्धकं सदा सर्वकालमभिबन्धकरहित इत्यर्थः शुक्लपदेशन हेतुभूतेन । कः ? इत्याह-सर्वभावेषु उच्यतेऽपि । तत्र कस्यै भावकादौ, क्वेने निर्वातवस-त्यादौ, काले शरदौ, भावे शरीरपरिव्यादौ, अप्रतिबन्धः । किंमित्याह-मासादि विहारेण सिद्धान्तप्रसङ्गेन विहारेद्विहारकुर्यात् । यद्योचितं संहननाद्यौचित्येन नियमावश्यमाद्य इति । पतञ्जले ज्ञेयानि-उच्यतेऽपि प्रतिबन्धः सुखलिप्सुनया तावदेकत्र न तिष्ठेत्, किं तर्हि, पुणालम्बनेन मासकल्पदिना, विहारोऽपि च प्रव्याप्यप्रतिबन्धस्यैव सफलः । यदि पुनरमुकं नगरादिकं गत्वा तत्र महर्षिकान् भाषकानुपाज्जयामि, तथा च करोमि, यथा मां विहायापरस्य ते प्रकाम भवन्तीत्यादिद्वयप्रतिबन्धेन, तथा-निवातवसत्यादिजनितरस्युपादिकममुकं क्वचिदं तु न तथाविधमित्यादि क्लेशप्रतिबन्धेन, तथा-परिपक्वतृजनालयादिसत्यश्रीनादिरक्षणोपायोऽयं विहरता शरत्कालादिरित्यादिका-ल्लिबन्धेन, तथा-स्निग्धमधुरादाहादादिलाभेन तत्र गतस्य मम शरीरपृष्ठपादिसुखं भविष्यत्यथ न तत्र संपद्यते । अपरं कै-वलयुक्तविहारं च विहरन् मामेवोपनिषत्तं कालं माण्ड्यन्यममुकं तु शिशिमिन्त्यादिनावप्रतिबन्धेन च मासकल्पदिना विहरति, तदाऽस्मीं विहागोऽपि कार्यासाध्यक एव । तस्मादवस्थानं विदारो वा उच्यतेऽप्रतिबन्धस्यैव साधक इति । प्रय० १०४ डा० ।

अप (ए) दिव्यभक्तान-अप्रतिबन्धमान-त्रि० । शब्दान्तराण्यनवधारयति, अ० ६ श्र० ३३ उ० ।

अप्रतिबन्धमान-त्रि० । वैरागतात्मनसत्याद्वयद्विधमानमानसे, ज० ६ श्र० ३३ उ० । ओ० ।

अप (ए) नियार-अमतोकार-पुं० । व्यसनापरिधाणे, प-ञ्चा० २ विव० । आ० ।

अप (ए) दिव्य-अप्रतिरूप-त्रि० । अपराणुवृत्त्यात्मके वि-

नये, दश० ६ अ० १ व० ।
अप (ए) दिव्य-अप्रतिबन्ध-त्रि० । न० त० । असंजाते, हा० १ अ० ।

अप (ए) क्लृप्तसमस्तरयणपहिलंज-अप्रतिबन्धसम्यक्त्वरत्नप्रतिलम्भ-त्रि० । असंजातवपुस्तुल्यसुमुद्रे, हा० १ अ० ।

अप (ए) दिलेस्म-अप्रतिस्तरय-त्रि० । अतुल्यमनादृष्टिषु, " अल्पदिलेस्मासु सामगणरया द्वाता हृत्तमेव शिवाभं पाथयणं पुरभां काउ विहरति " श्री० ।

अप (ए) दिलेहण-अप्रत्युपेक्षण-न० । न प्रत्युपेक्षणप्रत्युपेक्षणम् । गोचरपक्षस्य शब्दादेः चक्षुषाऽनिराकरणं, भाष० ६ अ० ।

अप (ए) दिशेहणसौल-अप्रतिशेखनाज्ञ-त्रि० । हृष्टया प्रमाज्जनशीले, कल्प० ।

अप (ए) दिलिहिय-अप्रतिजोषि-(प्रत्युपेक्षि) त-त्रि० । ज्वरहायं चक्षुषाऽनिराकिते, उपा० १ अ० ।

अप (ए) दिलेहियदुप्यदिलेहियेति ज्ञासंघारय-अप्रत्युपेक्षितदुप्यदुप्युपेक्षितोच्चारणश्रवणनृमि-स्त्री० । अप्रत्युपेक्षिता जीवरत्नं चक्षुषा न निरालिप्ता दुप्युपेक्षिताऽस्यस्य निरालिप्ता उच्चारः पुरीयः प्रभवणं सूत्रं तयोर्निमित्तं भूमिः स्थगि इतमप्रत्युपेक्षितदुप्युपेक्षितोच्चारणश्रवणभूमिः । पापधोपवासस्य तुनोयानिचारभेद, उपा० १ अ० । ध० । आ० चू० ।

अप (ए) दिलेहियदुप्यदिलेहियेति ज्ञासंघारय-अप्रत्युपेक्षितदुप्यदुप्युपेक्षितशय्यामंस्तारक-पुं० । अप्रत्युपेक्षितो जीवरत्नं चक्षुषा न निरालिप्ता उच्चारणचोत्पन्नितयाऽस्यस्य निरालिप्ता शय्या शयनं तदर्थं सस्तराकः । कुशकम्बलफल-कादिः शय्यामंस्तारकः । ततः पदत्रयस्य कर्मधारयं भवत्यप्रत्युपेक्षितदुप्यदुप्युपेक्षितशय्यामंस्तारकः । पापधोपवासस्य प्रथमातिचारभेद, अतिचारत्वं चास्य उपधोगस्यातिचारहे-तुत्वात् । उपा० १ अ० । आ० चू० । पञ्चा० ।

अप (ए) दिलेहियपण्य-अप्रतिशेखितपञ्चक-न० । दू-ली ? आलिङ्गनिका २ मस्तकोपधानं ३ गल्लमस्तरका ४ आस-नक्रिया ५ पञ्चकं, जित० ।

अप (ए) दिशोमया-अप्रतिज्ञोमता स्त्री० । आनुकूले, अ० २४ श्र० ७ उ० । आ० ।

अप (ए) दिवाइ (ए)-अप्रतिपाति-त्रि० । प्रतिपन्नशोभं प्रतिपाति, तं प्रतिपाति अप्रतिपाति । सदाऽव्यभायिनि, न० । अतुल्य-रत्नसमाय, ध० ३ आधि० । आरणात्मन्भाविनि, आ० म० प्र० । आकेशलोपत्तेः श्विरे, कल्प० । म्या० । केवलज्ञानादवागं श्र-शममुपयाति अवावैश्वानरविशेषं, न० । विश० । आ० म० ।

से किं तं अपादिनाः नं औदिनाणं । अपाडिवाइ औदिना-णं जेणं अज्ञोसस्य एगमावि आगासपपमं जाणइ, पामइ, तेणे परं अपाडिवाइ औदिनाणं । सेत्तं अपडिवाइए ओ-दिनाणं ॥६॥

(ईरुचिः नमिन्त्यादि) अथ किं नदप्रतिपात्यवशिष्टानाम् । स्मृति-

राह-अप्रतिपात्यवधिज्ञानं, येनावधिज्ञानेनालोकास्य संबन्धि-
 ममकमप्याकाशप्रदेशम्, आस्तां बहूनाकाशप्रदेशानित्यपि श-
 ब्दायः । यथयेत् । एतच्च सामर्थ्यमात्रमुपवर्णयते नत्सलोके कि-
 श्चिदप्यवधिज्ञानस्य द्रष्टव्यमस्ति, एतच्च प्राग्वोक्तम् । तत आ-
 रब्ध्याऽऽप्रतिपात्या केवलप्रसिद्धविज्ञानम् । अयमत्र भावार्थः-
 एतावति ज्ञेयव्यशमे संप्राप्ते सत्यात्मा विनिहितप्रधानप्रतिपक्ष-
 बोधसंघातपरनपरिचय न भूयः कर्मशुभ्रुषा परिभूयते, किन्तु
 समासादितैतावदशक्तोक्तव्याप्रतिनिवृत्तः श्रेयमपि कर्मशुभ्रु-
 संघातं विनिर्जित्य प्राप्नोति केवलराज्यअभ्यमिति, तदेतदप्रति-
 पात्यवधिज्ञानम् । तदेवमुक्ताः षडप्यवधिज्ञानस्य भेदाः ।

सम्प्रति ङव्याद्यपेक्षयाऽवधिज्ञानस्य भेदात् विन्ययति-

तं समासञ्चो चरन्विद्दं पक्षं तं जहा-द्व्यञ्चो, खचञ्चो,
 काज्ञञ्चो, भावञ्चो । तस्य द्व्यञ्चो एं ओहिनाणं । जह-
 ञ्चोऽं अणंताई रुविद्वन्वाई जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं सव्वाई
 ङ्गद्वन्वाई जाणइ, पासइ । खचञ्चो णं ओहिनाणी जह-
 ञ्चोऽं अणुद्वस्स अस्संखिज्जाई भागं जाणइ, पासइ । उक्को-
 सेणं अस्संखिज्जाई अल्लोगे लोगप्यमाणिसिचाई खंकाई जा-
 णइ, पासइ । काज्ञञ्चो एं ओहिनाणीं जहञ्चेणं आवसि-
 याए अस्सखिज्जाई भागं जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं अस्संखि-
 ज्जाओ उस्सपण्णाओ अस्सपण्णाओ अइयमणाययं च
 कालं जाणइ पासइ । भावञ्चो एं ओहिनाणं । जहञ्चेणं
 अण्णते जावे जाणइ पासइ । उक्कोसेणं वि अण्णते भावे
 जाणइ, पासइ । सव्वभावाणमणंताज्जाणं जाणइ, पासइ ॥

“ओहीजवपक्कइओ, गुणपक्कइओ य वणिसुं उविदो ।

तस्स य बहू विगप्पा, द्वव्वं खंचे य काओ य ॥१॥

नेरइय-तिरइयकारा, ओहिस्स बाहिइरा हुंति ।

पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति ” ॥ २ ॥

मेचं ओहिनाणं ॥ नं ।

(टीकाचास्य ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १४१ पृष्ठे अवधि-
 ज्ञानप्रकरणेन गतायां सुगमाय च नेहाप्यस्येति)

अप (प्य) सिंसंज्ञीए-अप्रतिसंलीन-त्रिं० । अकुरालेन्द्रि-
 षकपायाद्यनिरोधके, २था० ।

तस्य च बाणि सुत्राणि-

चचारि अपदिमंलीया पसुत्ता । तं जहा-कोहअपदिसं-
 ङ्गीणे, माणअपदिसंङ्गीणे, मायाअपदिसंङ्गीणे, लोभ-
 अपदिमंसंलीणि ॥

पुनः-

चचारि अपदिमंलीया पसुत्ता । तं जहा-माणअपदिमं-
 ङ्गीणे, बइअपदिमंसंलीणि, कायअपदिमंसंलीणे, इदिय-
 अपदिमंसंलीणि ॥ २था० ४ था० २ ठ० ।

(टीकाचास्य प्रतिसंलीनस्येव भावनीया)

पंच अपदिमंसंलीया षण्णचा । तं जहा-सोईदियअपाकि-

संलीणे, जाव फासिंदियअपदिमंसंलीणि । २था० ५था० २ठ० ।

अप (प्य) दिगुणेचा-अप्रतिश्रुत्य-अन्य० । प्रतिअधएणमक-
 स्येत्यर्थं, आच० ४ अ० ।

अपदिसेट्ट-अप्रतिपध-पुं० । अनिचारणे, पञ्चा० ६ विष० ।

अपदिस्सावि (ण्)-अप्रतिस्साविन-त्रिं० । पाषाणायांयभ-
 ज्जं च प्रतिस्सवति । प्रतिस्सवपरहिते, ६थं० ।

अप (प्य) दिदुरु-अप्रतिदुत्य-अन्य० । मर्षणमकस्येत्यर्थं, ६० ३३० ।

अप (प्य) दिदुणंत-अप्रतिदुत्र-त्रिं० । तद्वचनमभिकुट्टयति,
 ६० १ ठ० ।

अप (प्य) दिहए-अप्रतिहत-त्रिं० । अप्रतिघातरहिते अकपितने,
 ६० १६ अ० कटकुष्पापयंतादिभिरस्खलिते, स० १ स० ० ।
 अविस्वादेके, अंता० अ० केमाप अनिवाते, उच० ११ अ० ।
 अन्येअ अकपितुमशक्ये, उच० ११ अ० ।

अप (प्य) दिदुयगई-अप्रतिहतमति-त्रिं० । अप्रतिहताविहारे,
 “अपदिहयगई गामे गामे य यदरायं णगरे णगरे पंचरायं
 वृञ्जेने य जिइदिप” प्रअ० ५ स० ० ६० । संयमे गतिः प्रवृ-
 त्तिर्न इत्येतेऽस्य कर्थाच्छब्दित् भावः । २था० ६ ठा० ।

अप (प्य) दिदुयपक्कसलायापत्तकम-अप्रतिहृतमयाऽप्यापता-
 प्पकमेत्त-त्रिं० । प्रतिहने निगकृतमर्तातकालकुने, निन्द्यादिकर-
 णेन प्रत्याख्यातं च वर्जितमनागतकालविषयं पापकर्म प्राणान्ति-
 पानादि येन स प्रतिहृतमयास्थानपापकर्म, तज्जिहायाप्रति-
 हृतप्रत्याख्यातपापकर्म । अनिपिदत्तात्तानागतपापकर्मणि, ज०
 १ श० १ उ० ।

अप (प्य) दिदुयवल-अप्रतिहृतवल-त्रिं० । अप्रतिहतं केना-
 प्यनिवारितं बंधं यस्य स अप्रतिहतबलः (उच०) अप्रतिह-
 तमन्वैअ लकुचितुमशक्यं बलं सामर्थ्यमस्येति अप्रतिहृतबलम् ॥
 सहजसामर्थ्यवति, उच० ११ अ० ।

अप (प्य) डिदुयवरणाणदंमणयरे-अप्रतिहृतवरहानदर्शनपर-
 पुं० । अप्रतिहिते कटकुष्पादिभिरस्खलिते, अविस्वादेके वा । अन
 एव क्वायिकत्वाद्वा यरे प्रधाने ज्ञानदर्शनं केवलस्य विशेष-
 सामान्यबाधात्मकं धारयति यः स तथा । अज्ञेयज्ञानदर्शनाप-
 पयुक्ते जिने, अ० १ श० १ उ० । स० १ औ० ।

अप (प्य) दिदुयसासण-अप्रतिहृतशासन-त्रिं० । ६ ब० । अक-
 रिताङ्के, “अपदिहयसासणे अ इजेवई” ६० १६ अ० ।

अप (प्य) दिदुयरेय-अप्रतिहारक-पुं० । न० । प्रत्यपेणायोग्ये
 शक्यासंस्तरके, आका० २ छु० २ अ० ३ ठ० ।

अप (प्य) ङांकार-अप्रतीकार-त्रिं० । स्विकर्मादिरहिते, “किं ते
 संलघहतएहसुहवेयणअपदं।कारअभविजम्मया षिअअउ-
 विअवासजगामं” प्रअ० १ अ० ३ ठा० ।

अप (प्य) कुप्पण-अप्रत्युत्पन्न-त्रिं० । अनागमिके प्रतिपत्त्यकुश-
 ले, “अपकुप्पणं य तदिं, कहेइं तल्लुदित्तो अण्णं” ६० ६
 उ० । नि० ७० ।

अपठन-अप्रथम-त्रिं० । न० त० । प्रथमताधर्मरहिते प्रनावी,

अपटम

अ० १८ वा० १ व० । (जीवादीनामधैर्नां प्रथमत्वादिचिचार्ः 'षडम' शब्दे इतीचिच्यते)

अपटमसगद्-अप्रथमसगति-स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ , कर्म० ५ कर्म० ।

अपटमसमय-अप्रथमसमय-पुं० । द्वितीयादिके समये, स्था० २ ग्रा० ३ व० ।

अपटमसमयउववणण-अप्रथमसमयोववणक-पुं० । न० त० । प्रथमसमयोववणक्यतिरिक्तेषु नैरन्यकारिषु वैमानिकपर्यन्तेषु, "येरइया दुविहा पणणत्ताः । तं जहा-पटमसमयोववणणगा वेव, अपटमसमयोववणगा वेव० जाव वेमाणिया" स्था० ३ ग्रा० २ व० ।

अपटमसमयउवसंतकसायवीरारागसंजम-अप्रथमसमयोपशा-न्तकसायवीरारागसंजम-पुं० । क०स० । न प्रथमः समयः प्रातो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकसायवीरारागसंजमश्च तथा । उपशामभ्रैणप्रतिपन्नवीरारागसंजमभेदे, स्था० ८ ग्रा० ।

अपटमसमयएगिदिद्य-अप्रथमसमयैकेन्द्रिय-पुं० । प्रथमसमयैकेन्द्रियजिज्ञे, यस्यैकेन्द्रियस्यैकेन्द्रियत्वे प्रथमः समयो ना-दस्ति । स्था० १० ग्रा० ।

अपटमसमयकसीएकसायवीरारागसंजम-अप्रथमसमयकृष्ण-कायवीरारागसंजम-पुं० । न प्रथमः समयः प्रातो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकसायवीरारागसंजमश्च तथा । उपशामभ्रैणप्रतिपन्नवीरारागसंजमभेदे, स्था० ८ ग्रा० ।

अपटमसमयसजोगिजन्त्य-अप्रथमसमयसयोगिभवस्थ-पं० । अप्रथमो ज्ञादिः समयो यस्य सयोगित्वे स तथा, स चासौ भवस्थेति अप्रथमसमयसयोगिभवस्थः । सयोगिजन्त्यभेदे, स्था० २ ग्रा० १ व० ।

अपटमसमयसिद्ध-अप्रथमसमयसिद्ध-पुं० । न प्रथमसमयसिद्धोऽप्रथमसमयसिद्धः । परप्रथमसिद्धविशेषणप्रथमसमयवर्ति-नि, सिद्धत्वसमयाद् द्वितीयसमयवर्तिनि सिद्धविशेष, प्रज्ञा० १ पद । ध्रा० । स्था० ।

अपटमसमयसुहुमसंपर्यसंजम-अप्रथमसमयसुहुमसंपर्यासं-यम-पुं० । न प्रथमः समयः प्रातो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ सुहुमः किट्टकृतः संपरायः कषायः संज्वसनशोभनकृणो विद्यमानो यस्मिन्स तथा । सरागसंजमभेदे, स्था० ८ ग्रा० ।

अपत्-अपत्तापित-त्रि० । प्रज्ञापनामप्रापिते, "सो य से-ज्ञानरो अपत्तयिञ्जा पन्तविशो वा घरे भणाति" नि० चू० ३ व० ।

अपत्-अपत्त्रि-त्रि० । अयोधे, वृ० १ व० । अभाजने, नि० चू० १ ए व० ।

अप्राप्त-त्रि० । परयोयणोपस्थापनाभूमिमनधिगते, ध० ३ अर्थि० । अनधिगते, व्य० ४ उ० । वि० । पुष्यमशुते, द्वा० १५ व० ।

अप्राप्तजात अप्ःजात-त्रि० । न विद्येन पत्रजातं पक्रोद्-घो यस्यासावपत्रजातः । अत्रातपक्रोद्घो पक्रिजाते, "जहा द्विया पोत्तमपत्रजातं, सायासगा पांबउ मन्नामणं" सूत्र० १ वृ० १४ व० ॥

अपत्तजोवराणा-अप्राप्तयौवना-स्त्री० । यौवनावस्थाप्रसायाय, सा च वर्गे न धरति प्राय ज्ञादाद्यशय्यकादातवाभावात् । स्था० ३ टा० २ व० ।

अपत्तजमिग-(य)-अप्राप्तजमिक-पुं० । न प्राप्ता भूमिका येन सोऽप्राप्तभूमिकः । दूरस्थत्वेनदूरस्थानमप्राप्ते "जोयणमादि अपत्तभूमिआ वारसआ जाव" (नि० चू०) "जे जो-यणमादीसु जोगेसु जाव वारस जोयणा ते सव्वे अपत्तभूमिया भवति" नि० चू० १ उ० ।

अपत्तविसय-अप्राप्तविषय-त्रि० । अप्राप्तोऽसंबद्धोऽसंक्रिष्टो विषयो ग्राह्यस्तुक्रुपां यस्य तदप्राप्तविषयं लोचनम् । अप्राप्तकारिणि इन्द्रियजाते, "लोचनमपत्तविसयं, मनो व्व जमः सुभ-हाह सुर्णाति" वि० १ शृ० २ व० ।

अपत्तिय-अपत्तिक-त्रि० । अविद्यमानाधरो, भ० १६ शृ० ३ व० । अप्ःतिका-स्त्री० । अप्ःमिण्, पञ्चा० ७ वि० ० ।

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्यप्या-अप्राप्तयेन-न० । अजिज्ञास्यत्वाकारणे, वच० ३२ व० । अपत्त्य-अप्राप्तियत-त्रि० । क्रमनोरधगोचरकृते, ज० ३ व० ० ।

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्यप्या-अप्राप्तयेन-न० । अजिज्ञास्यत्वाकारणे, वच० ३२ व० । अपत्त्य-अप्राप्तियत-त्रि० । क्रमनोरधगोचरकृते, ज० ३ व० ० ।

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अपत्त्य-अपत्त्य-त्रि० । अदिते, "अपत्त्यं ऊगम सुष्वा, राया रज्जे तु हारए" वच० ७ व० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ वि० ० ॥

अप (प) मज्जिय-अपमार्जित-त्रि० । रजोहरणयस्त्राञ्जलादि-
नाऽविकोचिते, प्र० ६ द्वा० ।

अप (प) मज्जियचारि(ण्)-अपमार्जितचारि(ण्)-पुं० । अपमा-
ञ्जिते, अपस्थाननिर्षोद्धनशान्तिनकारणनिकेपाचारोद्विपरिष्ठापनं
च कुर्वति, "अपमज्जियचारीया वि नवद्," इति षष्ठे समाधि-
स्थानम् । द्वा० १ । प्र० १ । अं०

अप (प) मज्जियदुष्पमज्जियउत्थारपासवण्णुमि-अपमार्जित-
दुष्पमार्जितोत्थारप्रवण्णुमि-स्त्री० । पोषधोषयासस्वाति-
चारभेदे, उपा० १ अ० । द्वा० १ ।

अप (प) मज्जियदुष्पमज्जियसिजासंस्थार-अपमार्जितदुष्पमा-
र्जितशुश्यान्संस्थार-पुं० । पोषधोषयासस्वातिचारि, इदं प्रमां-
नं शुश्यात्। सेषनकाले वस्त्रोपान्तादिनेति दुष्प्रमभिधिना प्रमां-
नं दुष्प्रमाञ्जेभ्यः । द्वा० ६ अ० । उपा० १ ।

अप (प) मत्-अपमत्-त्रि० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः । यद्वा-नास्ति
प्रमत्तस्येत्यप्रमत्तः । पं० सं० १८० । आ० १० । अज्ञानानि-
द्याविकथादिवद्यप्रमादरहिते, ग० २ आधि० । द्वा० १ । ते च
प्रायः त्रिनकलिक-परिहारोद्युक्तिक-यथालम्बकलिक-प्रति-
माप्रतिपन्नाः, तेषां सन्तोषयोगसम्भवात् । नं० । स० । न वि-
द्यते प्रमत्तः प्रमादो मधविययकषायविक्रमाप्रमादाक्यां यस्य ।
अप्रमादिति, "अदो य राश्रा य अप्पमत्तञ्चुंति" प्र० १
५ सम्भ० द्वा० । निद्रादिप्रमादरहिते, "अप्यमत्ते समाहिण
ज्जाह" आ० १ श्लो ९ अ० २ उ० । "अप्यमत्ते सया
परिक्रमजा" आ० १ श्लो ४ अ० १ उ० । "अप्यमत्ते जय
थिञ्च" (दश०) । "सुस्तस्य आयरियमप्यमत्तं" (दश०)
प्रत्ययवाचि च । "अप्यमत्तो अहिंसत्रे" । दश० १ अ० ।

अप (प) मत्संज्ञय-अप्रमत्संज्ञयत-पुं० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः,
नास्ति वा प्रमत्तस्यासाद्यप्रमत्तः; स चासीत् संज्ञयत्प्रमत्त-
संज्ञयतः । कर्म० ३ कर्म० प्रव० । सवंप्रमादरहिते सप्तमगुणस्था-
नकवर्तिनि, स० १४ सम० ।

स च-

अप्यमत्तो बुविहो-कसायअप्यमत्तो य, जोगअप्यमत्तो
य । तस्य कनायअप्यमत्तो बुविहो-त्वं।णकसाओ, निग्मह-
परो य । एत्थ निग्महपरेण अहिहारो कइं तस्य अप्य-
मत्तञ्च भवति । कोहोद्वयनिरोहो वा, उदयपत्तस वा विफ-
लीकरणे, एवं जाव लोभो चि । जोगअप्यमत्तो मणवयण्णुका-
यजोगेदं तिहिं व गुत्ते । अइवा अकुसलमणानिरोहो,
कुसलमणउदरिणं वा मणसो वा पयसो जावकरणं ।
एवं वइए वि, एवं काए वि, तइा इदिणसु सोरंदिणविसय-
पयारनिरोहो वा । सोरंदिणविसयए तेषु वा अत्येसु
रागदांसविण्णमहो, एस अप्यमत्तो । द्वा० १५ अ० ।

तस्य कासः-

अप्यमत्तमंजयसस एं भंते । अप्यमत्तसंजमे वट्टमाणसस
सम्भावि यं अप्यमत्तक्कात्ताओ केव विरं होइ । मंदिण ।

एगं जीवंपहुच्च जइएणेणं भंता मुहुत्तं उक्कोमिणं पुव्वकोटो
देसुणा पाणा जीवंपहुच्च सव्वच्छं; सेवं जंते । जंते । ति ।

(अहंकेणं भंता मुहुत्तं ति) किलाप्रमत्ताक्यां नर्तमान-
स्थानमुद्गृह्यते मध्ये स्मृत्युने मवर्तनि; चूर्णिकारमते तु प्रमत्तसं-
यतवजः सर्वोऽपि सवेतिरनेऽप्रमत्तं उच्यते, प्रमादाभावात् ।
स बोधशमभेणीं प्रतिपद्यमानो मुहुत्तस्वयन्तरे कालं कुन्त जघ-
म्यकासो लज्जन् इति; देशानपुयकोटो तु केवशिनमाश्चितेति ।
(नाणा जीवंपहुच्च सव्वच्छं) इत्युक्तम् । अथ सर्वोक्ताभावि-
भायान्तरप्रकृपाण्योऽहंभंते । भंते । ति इत्यादि । अ० ३ श्लो ३
उ० । पञ्जा० । नं० ।

अप (प) मत्संज्ञयगुणुद्वाण-अप्यमत्संज्ञयगुणस्थान-न० ।
सप्तमे गुणस्थानके, प्रव० १२४ द्वा० ।

अप (प) माय-अप्रमाण-न० । प्रमाणतिरिक्ते, षु० ३ उ० । यथा
सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उकोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात् स्वादु
शेभिन अथिकमाहारं करोति, तदाऽप्रमाणां द्वितीयं भादारदोषः।
उच० २४ प्र० । ('पमाणं शब्दोऽस्य विवृतिः) प्रामाण्यविरक्ते, रक्षा० ।
प्रसङ्गान्तरप्रमाणायकपमणिय धर्मं प्रकटयन्ति-

सदितत्त्वप्रामाण्यमिति ।। ११ ।।

तस्मात्प्रमेयाव्यभिचारित्वाहितरत्त प्रमेयव्यभिचारित्वमप्रा-
मायं प्रत्येयम् । प्रमेयव्यभिचारित्वं च ज्ञानस्य स्वभावातिरि-
क-प्राप्तापेक्षेय लक्षणोपेयम्, स्वस्थान व्यभिचारस्यासंभवात् ।
तेन सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम् ।
बहिरर्थोपेक्षया तु किञ्चित्प्रमाणमेव, किञ्चित्प्रमाणाभासम् ।
रत्ना० १ परि० ।

अप (प) माणजोड (ण्)-अप्रमाणभोजिन्-त्रि० । आभिषत्-
कषलायिकाहारजोकारि, प्र० ३ सम्भ० द्वा० ।

अप (प) माय-अप्रमाद-पुं० । न प्रमादोऽप्रमादः । प्रमाद-
वर्जनलक्षणे षड्दशयोगसंप्रहं, स० ३२ सम्भ० ।

तत्र दशहरणम्-

रायगिह मगहुंदरि-मगदुमिरं। कुमुमसत्यपक्त्वेभो ।
परिहरिअ अप्रमत्ता, नट्टंणी । अन्नवीं जुक्का ।। ? ।।
पुरे राजगृहं ज्वास्ती-असरासन्धो महात्तुपः ।
गाथक्यौ तस्य मगध-सुंदरौ मगधभियौ ।। १ ।।
वेआवीं स्वाचवेकाऽहं, राजा च स्वादृशे मम ।
मगधभिल्लतो जुट्ठा, तस्या नाठ्यस्य आसंरं ।। २ ।।
विषभाविनसीवणं कसरायित्तुत्तिनिः ।
संचलितेः कणिंकारिः, रक्कोत्सुह मपुजयत् ।। ३ ।।
अक्का मगधसुन्दर्या, विभोक्वाभ्युहने स्य तात् ।।
किमिणु कणिंकारु, न लीयन्ते मधुत्तराः ।। ४ ।।
सदोषाणि रुक्कंटं पुष्पा-प्येतान्पत्र च वेदहृत् ।
द्रुह्ये योग्यांन नाचोया, भाविताभि विषेण वा ।। ५ ।।
प्राण्यता स्यान्म तन-स्तदुपायेन बोधेण ।
अत्रान्तरेऽवतीर्णां च, रक्के मगधसुन्दराः ।। ६ ।।
मङ्कडे गीयमानेऽक्का, प्राणायत्तान्ति कामिमास- ।
पत्ते वसंतयासे, एकाओ अपमोइअम्मि वुट्टम्मि ।
मूत्तुण कप्पिआरुणं, भमरा सेवतिं च्चुअकुमुसाइं ।। १ ।।
शुवा गीतियपूर्वां तं, जहे मगधसुन्दरौ ।

कर्णिकारणि बुधानि, तन्परीहारतस्तया ॥ ७ ॥
 गीते नृत्तं च साक्रेषु, छिन्नता नामप्रमार्तः ।
 कर्तव्या साधुनाऽप्येव, सर्वदाऽप्रमादादिना ॥ ८ ॥
 श्रोत० क० । श्राव० चू० । प्रश्न० । प्रमादाजने, आवा०
 १ श्रु० क० अ० ४ उ० । अपटु स्थानेषु अप्रमादव्यतो भवितव्यम् ।

प्रमादां न कारयेः—

अद्वैतं त्राणेहिं सम्यं संवाचयन् जडयन् परक्रमियन्,
 अस्ति च एवं अद्वैते नोपपद्यते जडः, असुयातां धर्माणां सम्यं
 सुखणयाएव अच्युतयन्, सुयातां धर्माणां आगिहयाएव
 अविहाराणयाएव अच्युतयन् जडः, तेषां कर्माणां संज-
 येणं अकरणायाएव अच्युतयन् जडः, पौराणानां कर्माणां
 तवमा विगिचणयाएव विनोहणयाएव अच्युतयन् जडः,
 असंगिहयपरिजनस्य संगिहयाएव अच्युतयन् जडः,
 सेहं आचारगोचरं गृहणयाएव अच्युतयन् जडः, गिलाण-
 स्स अगिह्याएव वेयावचं करणयाएव अच्युतयन् भवः, सा-
 द्दाम्भियाणां अगिहिरागसि उपपत्तिं तस्य अगिहिसिआन-
 स्तिप अपकस्वामाद्गी भवःकृत्यजावच्युप कद्दामु साद्दाम्भिया
 अपपसाद्द अपपत्तिका अपपतुभतुमा उपसाणयाएव अच्युते-
 यन् भवः ।

कावच्यम् । नवरमरासु स्थानेषु वस्तुषु सम्यग्यतिव्यम्-अप्राप्तये
 योः कार्यः यतितत्पथ-प्राप्तये तद् (विशेषार्थं यतः कार्यः) पराक-
 मित्वयथ-शक्तिरूपेण ति तत्पालने परात्मना यतः कार्यः कर्म विभं-
 यः किं बहुना ?-यतस्त्रिषष्ट्यानकलकृत्य वःकृत्यमाणेऽथे न प्रमाद-
 नीयम्-न प्रमादः कार्यो भवति । अधुना तानाकार्णितानां धर्माणां
 भुतभेदानां सम्यक् भ्रवणतथै वाऽऽनुयातव्यम्-पुनरुक्तं नृ-
 पतः । एवं भुजानां ओषधिरुपविषयो कृतानामवग्रहसाधये मनो-
 विषयीकरणतयोपधारणतथै अविच्युतिस्त्वितिवात्मना विपरी-
 करणवित्यर्थः । (विगिचणयाएव स्ति) विवेचना निजैरत्य-
 र्थैः तस्यै । अत एव आत्मनो विद्युक्तिविशोधना, अकल-
 ह्वयम्; तस्यै इति । असैशुहीतस्यानाभितस्य, परिजनस्य
 शिष्यस्यैत्येति । (सेहं) विमर्कपरिणामाच्छैक्य-
 रूपाजिनघप्रसन्नितस्य, (आचारगोचरं ति) आचारः साधुप-
 मारादरस्य गोचरो विषयो प्रत्यक्षद्वारिवाचारगोचरः । अ-
 धवा-आचारश्च इनादिविषयः पञ्चधा, गोचरश्च त्रिका-
 चयेयाचारगोचरम् । इह विनक्तिपरिणामाचारगोचर-
 स्य प्रहणतया शिष्टेषु शैक्यमाचारगोचरं प्रादिवितुमित्यर्थः ।
 (अविहाराएव स्ति) अप्राप्तया अस्तेदन्त्यर्थः । वि-
 यावृत्तं प्रतीतिः एव । (अविहाराणिव स्ति) वि-
 रोधः, तत्र साधर्मिकेषु निमित्तं गणः, उपाश्रितं ह्येव । अधवा-
 तिसमाहारादिलिप्सा, उपाश्रितं शिष्यकुलाद्येका । नद्वैतित्ये-
 यः सोऽविश्रितोपाश्रितः । न परं शास्त्राधितं शुद्धानित्यपकृष्टाद्गी ।
 अत एव मध्यस्थतावं भूतः तायाः यः स तथा । स भवेदिति
 शेषः । तेन च तथाभूतेन कथं तु केन प्रकारेण साधर्मिकः
 साधर्यः, अदृशशब्दा शिवतरादीं महाशिवनयः, अपटुजन्मा विग-
 ततथाविधप्रकीर्णवचनाः, अदृशयुक्तो विगतक्रीडना वि-
 कारविशेषाः नविष्पन्तीति ज्ञाययतुपशमतायाधिकरणस्था-
 भ्युदातयत् नवनीति । स्थानं ८ उ० ।

किञ्च—

अणुप्रमये नाणी, एते पमाए कयाऽ वि ।
 आययुचे सया धीरं, जायमायाएँ जावए ।
 “अणुप्रमये” इत्याद्यनुपु । न विद्यते अन्त्यः परमः प्रधा-
 नोऽस्मादित्यनन्तरः संयमः; तं ज्ञानं परमाधिवित्तं नो प्रमाद-
 येत्, तस्य प्रमादं न कुर्वतेऽकादृशदिपि । यथा चाप्रमादपत्ता
 भवति तथा दर्शयितुमाह— (आययुच इत्यादि) इन्द्रियमेव-
 न्दियात्मना गुप्त आत्मगुप्तः । सदा सर्वकालम्, यत्रा स्यम-
 यात्रा, तस्यां मात्रा यात्रामात्रा । मात्रा च—अव्याहारेण तु सहै-
 इत्यादि, तथाऽऽत्मनं यापयेत्, यथा विषयानुद्विंरणेन दांशकाल-
 तं संयमाचरदेहद्वयतिपात्रने भवति तथा कुर्वते । आवा० २
 श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अपरं च—

उदाहृ वीरे अप्रमादो महामोहे अलं कुलस्स पमा-
 एणं संति मरणं संपेहाए जिअरधम्मं संपेहाए ॥

(उदाहृ इत्यादि) उदाहरण्येन आहोत्वात् । कोऽसौ ? वीरः,
 अप्रगतसंसारभयः, तथैकदिव्यः । किमुकाव ?, तदेव, पुत्रो-
 कं वा दर्शयति-अप्रमादः कलेशः । कः, महामोहं भङ्गनाभि-
 च्यक् एव महामोहकारणः यान्महामोहः तत्र, प्रमादवृत्ता न
 जायते । आह—(अलंमित्यादि) अलं पर्याप्तम् । कस्य ? कुश-
 लस्य (विपुणस्य-सुष्ठुमंकिणः । केनालम् ?, मयाविषयकपायनिष्ठा-
 विकाराकूपेण पञ्चाबिन्दुपि प्रमादं न, यतः प्रमादो दुःस्वादि-
 भिगमानयोक्त इति शब्दात् । किमाश्रय्य प्रमादंनोक्तम् ?, इत्युच्यते ।
 (संति इत्यादि) शमनं शान्तिप्रयोजकमपगतम्, कृतो मोक एव
 शान्तिरिति । श्रियते प्राणितः पौनःपुन्येन यत्र चतुर्गतेक सं-
 सारे स मरणः संसारः शान्तिश्च मरणश्च शान्तिमरणं, समा-
 हारकृत्वा तत्संप्रत्य पर्यालोच्य, प्रमादवृत्तः संसारानुपगमस्तप-
 र्थिनामात्रं मोक इत्यन्यत्रार्थेति इदमर्थः । स चाकुशलाः प्र-
 कृत्य विषयरूपायप्रमादं न विद्विधात् । अथ च सामान्या उपाश-
 मेन मरणं मरणावधिः, यावत्सिद्धतेः यत्कलं भवति तत्पर्यालो-
 च्य प्रमादं न कुर्वतेति । किञ्च— (भिरउ इत्यादि) प्रमादो । इ-
 विषयाभिप्लवङ्कयः शरीराधिष्ठानस्य च शरीरं मिदुधर्मं स्थ-
 त एव तिष्ठत इति । निदुधं स एव धर्मः स्वभावां यस्य तद्वि-
 तुधर्मः । एतन्मूर्खत्वं पृथगांशुक प्रमादं न कुर्वतेति संयम-
 आवा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । प्रमादवृत्तकृत्याय, ४० गोपा-
 हिंसायाम्, प्रश्न० १ मन्त्र० ६०० यन्नातिशये, १० व० १० ।
 उपयोगपुर्वकरणिकाध्यायम्, तं चू० १ उ० ।

सर्वकियासप्रमादं धनं चतुर्थं साधुकिङ्कम-
 सुगइनिमित्तं चरणं, तं पुणु छ्कायंभजो चैव ।
 सो पाश्रितं न रीरुद, विगहाऽपमाययुचोहं ॥ ११० ॥
 शोभना गतिः सुगतिः सिद्धिरिव, तस्या निमित्तं कारणं, चर-
 णं यातिधर्मः । तुलुक्तम्—“नो भवहा वि सिद्धी, पाविज्जइ अं तन्हा
 इमाए वि ॥ एसां चैव उवायो, आरंजावदुमाणो उ ” ॥ १ ॥

नथा—

“ विहरितरकारामं वादृष्टमैः प्रचरामं,
 कथमपि जलगाशौ धीयथा लङ्घयन्ति ।
 न तु कथमपि सिद्धिः साप्यने शीलद्वैतेः,
 एदप्यति यतिधर्मं चित्तमेवं विद्विधाः ” ॥ १ ॥

तत्पुनश्चरणे षड्नायसंयम एव, पृथ्वीसहज्यसमपवनवनस्पति-
प्रसक्त्यजीवरक्षेव । किमुक्तं भवति? एतेषु पदजीवनिकापेभ्येक-
मपि जीवनिकायं विराधयन् जगद्भूतं राक्षाविशेषकारित्वाद्वा-
रिञ्चं संसारपरिषर्द्धकम् ॥

तथाऽन्नाहुः प्रतिदत्तसकलश्रमाभोदत्तमिच्छाः भीधर्मदासगणि-
मिच्छाः-

“सन्ध्याभोगे जह को-इ भ्रमभो नरवहस्स चिन्त्ये ।
आणाहरणे पावह, वहबंधणे दग्धहरणे वा ॥ १ ॥
वह ङ्गणायमइवय-सन्ध्याविचिञ्चिह विगिहकण जहे ।
योगवि विराहंतो, भ्रमचरन्तो इहह वोहि ॥ २ ॥
तो इयधोही पच्छा, कयावराहाणुस्सरिस्सिममियं ।
पुण वि जयोहिदिक्खिभो, भमह जरामरणडुग्गामि ॥ ३ ॥

किञ्च-

अग्नीषत्विकायमह-व्ययाप्य परिपालयाह जहधमो ।
जह पुण ताई न रक्कह, जगहि को नाम धो चम्मो ? ॥ ४ ॥
अग्नीवनिकायदया-विद्यञ्जिभो नेव दिषिक्खभो न गिही ।
जहधमभो पुक्को, बुक्कह गिहिदाणधम्मभो” ॥५॥ इत्यादि ।
स पुनः संयमः पालयितुं वर्धयितुं (न तीरहं सि) न शक्यते;
विकथा विरुद्धाः कथा राजकथाया रोहिणीकथायां सप्रपञ्चं
प्रकृतिना; आदिशुद्धाद्विषयकवायद्विप्रहः, तल्लक्षणः प्रमा-
दा विकथादिप्रमादाः तल्लक्षणं संयमः प्रतिपालयितुं न शक्यते ।
अतः सुसाधुनिर्गमो न विषय इति ।

प्रमादस्यैव विशेषणोऽप्यावहेतुतामाह-

पव्वञ्जं विञ्जं वि व, साहंतो होइ जो पमाइळो ।
तस्म न सिज्जइ एसा, करेइ गरुयं च भवयरं ॥ १ ? १ ॥

प्रयज्यां जिनदीक्षां विद्यामिव स्वीदेवताधिष्ठितामिव साध-
यन् नयति यः (पमाइळुं सि) प्रमादवान् । “आलिवहलीहलाल-
बंन-मंतंत्तमणाः मनोः” ॥ ८ । २ । १५९ ॥ इति (हैम-
शास्त्रं) वचनात् । तस्य प्रमादवतो न सिद्धाति-न फल-
दानाय संपद्यते, एषा पारमेष्ठरी हीक्षा, विधेयः चकारस्य
मिन्नकमत्वात् । करोति च गुणं महान्तमपकारमनर्थमिति ।
भावायः पुनरयम्-यथा अत्र प्रमादवतः साधकस्य विद्या
फलदा न भवति, प्रहंसकमात्रिकमनर्थं च संपदायति, तथा
शान्तलविहारिणो जिनदीक्षाऽपि न केवलं सुगतिस्पर्शये
न भवति, किन्तु दुर्गमनिर्दिष्टेभ्यस्वसंग्रहापायं च विदधाति,
आयंमङ्गारिव । उक्तं च-

“ स्तीयलविहारभ्रो बलु, भगवतासायणा-निश्रोगय ।
तसो भवो सुदोहो, किलेसवहुजो जग्गो भणियं ॥ १ ॥

निव्ययरपवयणसुमं, आयरियं गणहं महिद्धियं ।
आलायंतो बहुसो, प्रणंतसंसारिभो भणिञ्चो” ॥२॥ सि ।
तस्मात्प्रमादिना साधुना भवितव्यमिति । ४० २० । (आ-
यंमङ्गकथा च “अज्जमग्गु” शब्देऽस्मिन्नेव जागे २११ पृष्ठे
दक्षिणा) सत्यकःवपराक्रमाद्ये एकोनत्रिंशो उच्यारथ्यते,
सं ३५ सप्तमं ।

अप (२५) मायपदिनेहा-अप्रमादप्रत्युपेक्षणा-स्त्री० । प-
द्विधा अप्रमादेन प्रमादविषयेष्वप्येव प्रत्युपेक्षणा अप्रमादप्रत्यु-

पेक्षणा । अप्रमादेन प्रत्युपेक्षायाम्, “ कृषिवाहा अप्रमायपरि-
हेहा पयत्ता । तं जहा-” अप्रकृच्छावियं अचलितं, अग्राणु-
बंधीममोर्त्सांश्च खेव । ङ् पुग्निमा णव कोडा, पाशीपायुस्वि-
हणी” ॥ २४० ६ टा० । (‘ अप्रकृच्छावियं ’ शब्दादीनां
व्याख्याऽस्मिन् भागे ४८२ पृष्ठे ‘ अप्रकृच्छावियं ’ शब्दे, तथा
च स्वस्वशब्देषु ङ्ठव्या)

अप (२५) मायजावणा-अप्रमादजावना-स्त्री० । मघादि-
प्रमादानामनासेचने, आचा० २ भू० १५ अ० ।

अप (२५) माषुष्ठिषण्णगत्तण-अप्रमादशुद्धिजनकत्व-ने० ।
अप्रमत्तताप्रकर्षोत्पादकत्वे, पञ्जा० ५ विच० ।

अप (२५) मायपदिसेवणा-अप्रमादप्रतिसेवना-स्त्री० । अप्रम-
त्तकल्पप्रतिसेवायाम्, नि० चू० १ ङ० ।

अप (२५) मेय-अप्रमेय-त्रि० । न० त० । प्रमाणनपरिच्छे-
दे, प्रश्न० ४ आश्र० ट्ठा० । “अत्यन्तम्परेभयविषयसम्बन्धरत-
चक्रवर्ती नमोऽगुते त् अरहंतो सि कहुं बंधं” अप्रमयः, तद्व-
शुणानां परैरप्रमेयत्वात् । आ० म० प० । प्राकृतजनापरिच्छेपे
मेहि, ४० १ अधि० । अशरीरजीवस्वरूपस्य कृष्यस्यैहङ्ग-
कुमशक्यत्वादिति । पा० ।

अप्रयमाण-अप्रचमान-पुं० । न विद्यते पचमानाः पावका
यवासी अप्रचमानः । पाककामिनिर्वतकाऽप्येविते, पचते इति
पचमानः न पचमानोऽपचमानः । पाकमकुर्वति, “ जं मए द-
मस्स धम्मस्स कवलपञ्चनस्स (इत्यादि) अप्रयमाणस्स
(इत्यादि) पंचमहव्ययलुत्तस्स ” ४० ३ अधि० ।

अप्रया-अप्रजा-स्त्री० । अपत्यविकलायां स्त्रियाम्, वृ० १ ङ० ।

अपर-अपर-पुं० । न विद्यते परः प्रधानोऽस्मादित्यपरः ।
संयमे, आचा० १ भू० ३ अ० ३ उ० । पूर्वोक्तान्यस्मिन्, “अ-
परा खाम जा सा पुत्तिय भणित्ता ततो जा अण्णा सा अपरा”
नि० चू० २० उ० ।

अपरक्रम-अपराक्रम-त्रि० । न विद्यते पराक्रमः सामर्थ्यम-
स्मिन्नित्यपराक्रमम् । जहाबलपरिक्षीणे, आचा० १ भू० ८
अ० १ ङ० ।

अपरक्रमपरण-अपराक्रमपरण-न० । न विद्यते पराक्रमः
सामर्थ्यमस्मिन्नित्यपराक्रमम् । सामर्थ्ये नष्टे मरणे, किं तन्म-
रणम् ?, तच्च यथा-जहाबलपरिक्षीणानमुद्यतानामुद्यतानामर्थ्यस्य
मुद्राणामपराक्रमं मरणमभूत् । अयमादेशाद् दृष्टान्तो, बुद्ध-
वादादायता इति । आचा० १ भू० ८ अ० १ ङ० । (आस्मिन्ने-
व जागे २१६ पृष्ठे “ अज्जसमुह ” शब्दे विशेषोऽस्य ङ्ठव्यः)

अपरपरिमाहिय-अपरपरिगृहीत-त्रि० । अनर्थवत्त्वामिना परि-
गृहीते अन्वयाकृते, न पराऽपरस्तेन परिगृहीतमपरपरिगृहीतम् ।
द्वितीयैरपरैः साधुभिः परिगृहीते, “अव्योगइसु अपरपरिमा-
हेसु० अपरपरिमाहियसु” वृ० ३ उ० । “उत्तमा” शब्दे द्वितीय-
भागे ७०८ पृष्ठे चतुर्विधा व्यत्यासास्य बहयते)

अपराइत् (२५) -अपराजित-त्रि० । न० त० । पराजयमप्रोते,
वाच० । अन्याजिते, सुत्र० १ भू० २ अ० २ उ० । अपरिच्युते, प्रश्न०
४ आश्र० ट्ठा० । आस्ततितमे महाप्रहे, पु० । “ अपराजिता ?

स्था० २ ग्रा० ३ व०। (पतञ्जल्यु पवाऽयमुपलज्जते। चन्द्रप्रकृती
 ध्वनसंभ्रमगाथासु तु न हस्यते ।) अपरिच्छेदभ्युदयविभ्रंशु-
 भिरजिता भवति युता अपराजिताः । उच्य० ३६ अ० । अनुस-
 रोपपतिकर्तव्यविशेषेषु, प्रका० १ पृ० । तद्विमाने च, ज्योति-
 र्मते० । स्था० । सप्तमे प्रतिवाहुरेव, ती० १ कल्प० । जम्ब-
 ह्रीपर्यव चतुर्थे, लघ्वस्यमुक्तस्य घातकीकल्पस्य पुष्करांश-
 क्यमुक्तस्य काशोदस्य समुद्रस्य च चरे, ज्योति० ३ प्रति० ॥
 (जम्बुद्वीपादिशब्देषु विद्युत्तरस्य ह्रदय्या) अश्रुपमव्यामि-
 तीं विधातमे पुत्र, कल्प० । स्वनामक्याते चतुर्दशपृथेधरे
 आचार्ये च, नन्दिनः नन्दिमित्रः अपराजितः गोवर्धनो जह-
 बाहुक्रेति पञ्च शतकथासङ्गः । ज्योति० ३० । मेरोरुत्तरे दचकपर्ध-
 सस्य कूटभेदे, म० । स्था० २ ग्रा० ।

अपराहृत्या—अपरा(जता-की०) । महायासानिधानविजयकेत्रे
 वर्तमाने पुराणुभे, “ दोअपराहृत्त्राभे० । (स्था०) यमकाव-
 तीविजयकेत्रे वर्तमाने पुराणुगले च । “ दो अपराहृत्याभे० ”
 स्था० २ ग्रा० ३ व० । अपराजिता राजधानी, धैर्यमणकूटो
 शीम वक्रस्काराद्रिः । जं० पृथक् । दशमराश्री, जं० ७ वक्र० ।
 कपर्ण० अजनाडी, उत्तरदिक्स्थानां पुष्करिण्याम, ती० ३ कल्प० ।
 द्वि० । अङ्गारस्य महाप्रहृष्ट्याममहिष्याम, स्था० ४ ग्रा० २ उ० । प-
 र्धं सर्वेषां महादानीं चतुर्थी अग्रमदीशी अपराजिता । जी० ३ प्रति० ।
 कथञ्चवासिन्यामधर्म्यां दिक्कुमारीमहेश्वरिकायाम्, जं० ५ वक्र० ।
 भा० म० । स्था० । आ० ७ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ ।
 अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ । अ० ३ ।

अपराहृत्यविधेयं—अपराहृत्यविधेयं (श-न०) । स्वनामक्याते
 अनुमानवर्षे, अपराहृत्यविधेयं यथा । अन्तियशाब्दः कृतक-
 त्वादिति । अत्र हि शब्दस्यान्तियत्ये सार्धं, प्राधान्यात् पृथ-
 क्त्वेनैवमपि न तु समासे गुणोत्पत्त्यात्पुष्कलत्वात् । पृथक्-
 त्वेनैवमपि पूर्वमनुषाद्यशब्दस्य निदेशः शस्यतरः, समाप्ताधि-
 करणतायां तदनुविधेयस्यान्तियत्वस्याऽलक्ष्यत्वात् तस्य
 विधातुमशक्यत्वात् । रत्ना० २ प० । ति० ।

अपरिभादत्त—अपर्व्यादाय—अर्थ० । अनुवर्तित्वेयर्थे, अ० २५
 श० ७ व० ।

अपरिभाविष—अपरितापित्—वि० । स्वतः परतो वाऽनुपजात-
 कायमनःपरितापे, भाव० ।

अपरिक्रम—अपरिकर्मन्—वि० । साधुनिमित्तमाक्षेपनादपरि-
 कर्मवर्जितं, पं० प० ४ श्लो० । ति० ७ ।

अपरिक्रम—अपराक्रम—वि० । न० तं । पराक्रमरहिते, “ नपृथुं
 तुमं मेदाहृत्ये (इत्यादि) अग्र्यामे अक्षरे अपरिक्रमे ” अपरा-
 क्रमे । निष्पादितत्वकप्रतिनिमानविशेषादित्यात्, अचङ्गमपातो
 वा । श्लो० १ श्लो० ।

अपरिकल्प—द्वि—अपरीक्ष्यदृष्ट—वि० । अविमृश्यांके, “ अप-
 रिकल्पदं ग तु यत् सिद्धं ” लघु० १ श्लो० ५ श्लो० ।

अपरीक्षित्व—अपरीक्षित्—वि० । अकृतपरोक्षे उपस्थापनायोग्ये,
 पं० ३ श्लो० । “ अपरीक्षित्प्रो माप्रय नितेवमाणं इति अपरि-
 क्तं ” पं० ३ श्लो० । अपरीक्षितो गुण्यर्थे अपरिक्लृप्तं ” अना-

लोच्य भाष्ये शत्रुः प्रतिभिरत्यर्थे । व्ययो ह्यव्ययत्वात् । ते च
 भावकथं अनालोचने पठित्वेवमात्रेण स्वपरिकल्पनित्येवमा
 नवतीत्यर्थे । अपरिच्छ (ति गते । ति० ७ श्लो० १ व० ।
 अपरिच्छय—अर्थ० । अनालोच्येत्यर्थे, ति० ७ श्लो० १ व० ।

अपरिच्छेदित—अपरिच्छेदितत्—न० । अनायाससम्भवात्के
 चतुर्विधो बुद्धयचनातिशये, शी० ।

अपरिग्रह—अपरिग्रह—पुं० । न विद्यते धर्मोपकरणाद्ये शरी-
 रोग्रोगाद्य स्वल्पेऽपि परिग्रहे यस्य स तथा । प्रत्याख्यातपरि-
 ग्रहे स्वार्थे, लघु० १ श्लो० १ श्लो० ४ उ० । “ अपरिग्रहा अणारण-
 प्रा, भिक्षुं नाथे परित्यज्य ” लघु० १ श्लो० १ श्लो० ४ उ० । आचार्य० ।
 न विद्यते परिग्रहस्त्याज्ये स्वार्थे गृह्णात इति परिग्रहः यस्यास्त्या-
 ज्यपरिग्रहः । लघु० १ श्लो० ४ उ० २ उ० । घनादिरहितं, प्रश्न० ३
 सम्ब० श्लो० ।

अपरिग्रहमनु—अपरिग्रहमनुत्—वि० । क० स० । घनादिर-
 हिते इन्द्रियसंबन्धे च संयुते, प्रश्न० ३ सम्ब० श्लो० ।

अपरिग्रहा—अपरिग्रहा—की० । न विद्यते परिग्रहः कस्यापि य-
 स्यः साऽपरिग्रहा । श्लो० ६ व० । साधारणक्रियाय, “ अपरिग्रहा
 गियाय, सेवगपुरिसो उ कांरं कालसो । ” व्य० ३ श्लो० ।

अपरिग्रहा—अपरिग्रहा—की० । वेद्यायामन्यसत्कारां गृही-
 ताभित्तुलाङ्गनायाम्, अनायायाम्, आ० । प० २० । उच्य० ।
 भाव० । विषयायाम्, प० २ श्लो० । देवपुत्रिकायां, घटदा-
 स्यां च । “ अपरिग्रहाद्या नाम ज्ञे माताद्विं प परिग्रहाद्या,
 अवि कुलटा य सा । अथे पुण भगति-देवपुत्रिया घटदासी
 वा-यवमादि.सो पुण भादीय वा अमादीय गच्छति, ज्ञे ज्ञादीय
 गच्छति, तस्य ज्ञे अरण्ये पदमे भादी.दिक्षो सा प घट-
 ति परनियतस्म गंतुं, जा पुण अनादीय गच्छति, सा जह
 अथेथे जणिञ्जा-अज अदं तुमय समं सुविस्सामि ; ताप य
 पुच्छिणं तस्य ण च ति अंतराद्वरं काउं ” आ० ७ श्लो० ५ उ० ।

अपरिग्रहायामण—अपरिग्रहायामण—न० । अपरिग्रही-
 तायां गमनपरिग्रहीतागमनम् । अपरिग्रहीताय सह भिक्षुन-
 कस्यस्वक्ये अस्वदारसत्तोषाव्यचतुषां गृह्णातातिचारजेदे, अ-
 तिचारताऽस्य अतिक्रमादिति । उपा० १ श्लो० । परदारत्वेन
 कृत्वात् । घ० २० । भाव० ।

अपरिच्छकामनोग—अपरित्यक्तकामनोग—पुं० । न परित्यक्ताः
 कामनोगा येन । गृहीतकामनोगे, कामी च शब्दक्ये, श्रोगा
 गन्धरसस्पर्शाः, कामनोगाः । अथवा-काम्यत्वे इति कामाः,
 मनोहा इत्यर्थः । ते च ते हृदयन्ते इति भोगाश्च शब्दादय इति
 कामनोगाः । न परित्यक्ताः कामनोगा येन स तथा । स्था० २
 ग्रा० ५ व० ।

अपरिच्छ—अपरीक्ष—पि० । युक्तपरीक्षाधिकते, व्य० १० श्लो० ।

अपरिच्छय—अपरिच्छय—वि० । परिच्छुदरहिते, व्य० ३ व० ।
 परिचाररहिते, व्य० १ उ० ।

अपरिच्छय—अपरीक्ष—वि० । उत्सर्गापवाद्योरव्यव्याह-
 नासोच्य प्रतिसेवमाने, अति० ।

अपरिणय—अपरिणत—वि० । न परिणतं कपालरत्नमपन्नमपरिणतम् । स्वरूपेणावस्थिते परिणाममप्राप्ते, यथा बुधं बुधजाय पश्चादवस्थितं दधिमावभमनापन्नमपरिणतम् । पि० । देवं इन्द्रं मिश्रमन्त्रित्वेन परिणमनादपरिणतम् । ध० ३ अत्रि० । अम्रासुकभीर्ते वैशङ्क्ये, तदानीं द्यावतति सप्तमे एषणादोषे च, न० । ध० ३ अत्रि० । प्रब० । अपरिणतमिति यद्द्वयं न स्वयग्विशीभूतं दातृमाहृद्योर्था न स्वयग्वयोपेतम् । आका० २ बु० । ३०७ उ० । यदा इन्द्रेण अपरिणतमाहारं ज्ञावोभय, उभयोः पुरुषयोरमाहारं वतते, तन्मध्ये एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति, एकस्य च नास्ति, तदाहारमपरिणतदोषयुक्तं स्यात्, अपरिणतदोष—आहारः ।

तथापरिणतहारमाह—

अपरिणयं पि य दुविहं, दत्त्वे ज्ञावे य दुविह्मिकेकं ।

द्वन्मि होइ ठकं, भावमि य होइ सङ्गलगा ॥

अपरिणतमपि द्विविधं, तद्यथा—इत्ये इत्यविषयं, भाव जावविषयं, इत्येकमपरिणतं, भावैकमपरिणतं चेत्यर्थः । पुनरप्येकैकं दातृगृहीतृसंभवाद् द्विधा । तद्यथा—द्रव्यापरिणतं, दातृसक्तं च । एवं ज्ञावापरिणतमपि ।

तद् द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह—

जीवनन्मि अविगए, अपरिणयं गए जीत दिह्त्तेतो ।

दुद्धदहंइ अम्रच्छं, अपरिणयं परिणयं जच्छं ॥

जीवत्ये सचेतनत्वे अविगते अस्मद् पृथिवीकायादिकं इत्यमपरिणतमुच्यते, गते तु जीवे परिणतम् । अत्र दृष्टान्तो दुग्धदहनं । यथा हि—दुग्धाभ्यात्परिणतं दधिभावमाप्नोति परिणतमुच्यते, दुग्धजावे चाऽस्ति न अपरिणतम्, एवं पृथिवीकायादिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वात्परिणतमपरिणतमुच्यते । जीवेन च विद्यमुक्तं परिणतमिति । तच्च यदा दातुः सक्त्यां वतते तदा दातृसक्तम्, यदा तु गृहीतुः सक्त्यां तदा गृहीतृसक्तमिति ॥

संमति दालुविषयं भावापरिणतवत्—

दुग्माईसामभे, जइ परिणमइ उ तत्य एगसस ।

देमि चि न सेसाणं, अपरिणयं जावओ एयं ।

एवं द्विकादिसामान्ये आत्राद्विकृतिव्यापारणे देवधस्तुनि यदृकस्य कस्यचिद् ददामीत्येवंभावः परिणमति, शेषाणामेतद् प्रावतोऽपरिणतम्, न आवाविक्रया देवधया परिणतमित्यर्थः । अथ साधारणानिद्रुषस्य दातृभावापरिणतस्य च कः परस्परं प्रति विशेषः ? । उच्यते—साधारणानिद्रुषं दायकपरोक्तत्वे, दातृ-ज्ज्ञावापरिणतं तु दायकसक्तत्वे इति ।

संमति गृहीतृविषयं भावापरिणतमाह—

एगेण वा वि तेसिं, मग्ममि परिणाधियं न इयरेण ।

तं पि हु होइ अगोएम्मं, सज्जलगा सामि—साहू वा ॥

एकेनापि केनचित् अनेतेन पात्रात्प्रेषण वा एषधीयमिति मनसि परिणमति, न इतरेण द्वितीयेन, स्वपि भावतोऽपरिणतमपि कृत्वा साधुनामप्राप्तम्, शकितत्वात्, कलहादिविदोषसंभवाच्च । संमति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह— (सज्जल- १५१)

गोत्यादि) तत्र दातृविषयं ज्ञावापरिणतं आतृविषयं स्वाभिविषयं च । गृहीतृविषयं ज्ञावापरिणतं साधुविषयम् । उक्तमपरिणतहारम् । पि० । एतच्च साधुनामकल्पम्, शकितत्वात्, कलहादिविदोषसंभवाच्च । ध० ३ प्रति० । ग० । “ अपरिणय इत्ये मासलङ्घनउल्लङ्घन इह सद्रूपपरिच्छेदं ” य० चू० (अपरिणतमहाणमिषेधः ‘ पाख्य ’ शब्धे बह्व्यते)

अपरिणतकालीयधिमहत्त्वम्—

से भिक्षु वा जिक्खुणी वा जाव पविसमाणे से आगं-तारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परिव्याब-सहेसु वा अस्सगंधाणि वा पाख्यगंधाणि वा सुरजिगंधाणि वा अग्घाय से तत्य आसापवदियाए मुच्छिए गिच्छे ग-दिए अज्जोववसे अहो ! गंधो अहो ! गंधो णो गंधमाया-एज्जा । से जिक्खू वा भिक्षुणी वा जाव समाणे सेज्जं पु-ण जाणेज्जा, मात्तुयं वा विरालियं वा सासवणासियं वा अस्सतरं वा तहृप्पगारं आमं अस्तत्यपरिणयं अफासुयं जाव लाभे संते णो पटिगाहेज्जा ।

(से जिक्खू वेत्यादि) (आगतारेसु वे सि) परतनाद् बहिर्गृहेषु तेषु आगत्यागत्य पथिकाद्यस्तिष्ठन्तीति । तथाऽऽगत्यगृहेषु वा पर्यावसथेष्विति, भिक्षुकादिमठेषु चेत्येवमादिष्वन्यपानगत्याद् सुरभीनाश्राय स भिक्षुस्तेष्वस्वादान्नप्रतिग्राह्य मूर्च्छितोऽप्युप-पन्नः सन् अहो ! गन्धः, अहो ! गन्ध इत्येवमाह्वरवाक् गन्धं जि-घृक्षेदिति । पुनरप्याहारमधिकृत्याह—से जिक्खू वेत्यादि सुगमम् । साधुकामिति कण्डको जलजः । वराक्षियमिति कन्ध एव स्थ-लजः । (सासवनासियं) ति सत्येकमन्वय इति ।

किञ्च—

से जिक्खू वा भिक्षुणी वा जाव पविहे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, पिप्पलिं वा पिप्पल्लिचुछं वा मिरियं वा भि-रियचुछं वा सिंगवेरं वा सिंगवेरचुछं वा अस्सतरं वा तह-प्पगारं आमं अस्तत्यपरिणयं अफासुयं लाभे संते जाव णो पटिगाहेज्जा । से भिक्षू वा जिक्खुणी वा जाव पविहे समाणे सेज्जं पुण पल्लंगजातं जाणेज्जा । तं जहा—अंबपल्लंभं वा अंबादगपल्लंभं वा तालपल्लंभं वा किञ्जिरपल्लंभं वा सु-रभिपल्लंभं वा सद्दइपल्लंभं वा अस्सतरं वा तहृप्पगारं पल्लं-बजातं आगं अस्तत्यपरिणयं अफासुयं अणोसणिज्जं जाव ह्याभे संते णो पटिगाहेज्जा । से जिक्खू वा जिक्खुणी वा जाव पविहे समाणे सेज्जं पुण पवालज्जातं जाणेज्जा । तं जहा—आसो-त्थपवालं वा एग्गोहपवालं वा पिलकपुवालं वा पीरुप-वालं वा सद्दइपवालं वा अण्णयरं वा तहृप्पगारं पवाल-जायं आगं अस्तत्यपरिणयं अफासुयं अणोसणिज्जं जाव णो पटिगाहेज्जा । से जिक्खू वा भिक्षुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण सरकुयजायं जाणेज्जा । तं जहा—अंबसरकुयं वा कविद्धसरकुयं वा दालिसरकुयं वा विद्धमरकुयं वा अस्सतरं वा तहृप्पगारं सरकुयजायं आमं

असत्यपरिणयं अफासुयं० जाव णो पदिगाहेजा । से जिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव पविडे समाणे सेजं पुण मंधुजायं जाणेजा । तं जहा-उंवरयंयुं वा णग्गोहयंयुं वा पिलकसुयंयुं वा आसोत्तयंयुं वा अणणयरं वा तह-प्पगारं मंधुजायं आययं दुक्कं सासुणीयं अफासुयं जाव णो पदिगाहेजा ।

“ से भिक्खु वेत्यादि)”एवम, णवरं (मंधु णि) लुणंय । (डुक्कं ति) ईशत्थिद्यम । (सासुणीयं ति) अविष्वक्लपयानिर्वाजमिति ॥

से भिक्खु वा भिक्खुणी । वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, आमदगं वा प्रतिपिण्णायं वा महं वा मज्जं वा सत्थिं वा खोलं वा पुरायं एत्थ पाणा अणुप्पम्या एत्थ पाणा भाया एत्थ पाणा संतुह्हा एत्थ पाणा अमुक्कंता एत्थ पाणा अपरिणया एत्थ पाणा अविष्वक्ता णो पदिगाहेजा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) से भिणुयंयुं पुनरेवं जानीयात्तच्छाया- (आमयानं वे णि) आमयपं अरणिक्कतदुडीयकादि । तन्नाउप-कमपकं वा, (सुतिपिण्णायं ति) कथितसन्नम । मधुमये प्रतीते, सत्थिंयुंत्तम, खोलं मद्याधःकरंम; एताभि पुराणानि न प्राहा-सि । यत् एनेषु प्राणिने भ्रुतमसूता जाता, संवृक्षाः, अम्युक्कान्ताः, अपरिणताः, अविष्वक्ता नानादेशाजिनियानुग्रहायंमका-धिक्कान्धैतानि, किञ्चिन्नराहा भेदः ।

से भिक्खु वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, उच्छुमेरं वा अंककरेलुयं वा कसेरुं वा ति-यादगं वा पुतिआलुगं वा अणयरं वा तहप्पगारं आममं असत्यपरिणयं जाव णो पदिगाहेजा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) (उच्छुमेरं वे णि) अपनीमत्थिण्णुग-गिरुका (अंककरेलुयं वे णि) एवमाम्दन्वन्वस्पतिविशेषाद् जसजा-द् । अम्यद्वा तथाप्रकारमात्ममशक्नोपहंतं न प्रतिशुद्धीयादिति ॥

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा सेजं पुण जाणेजा, उप्प-लं वा उप्पन्नगालं वा जिसें वा जिसमणालं वा पोक्खलं वा पोक्खलविजामं वा अणयरं वा तहप्पगारं जाव णो पदिगाहेजा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) से भिणुयंयुं पुनरेवं जानीयात्तच्छाया- उप्पलं मीळोत्पल्लादि, काळं तस्यैवाचारः । भिमं पथकन्वमूलं, जिसमणालं पथकन्वपरिचालिनी वता, पोक्खलं पथकेसरं, पो-क्खविजामं पथकम् । अम्यद्वा तथाप्रकारमात्ममशक्नोपहंतं न प्रतिशुद्धीयादिति ॥

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, अमग्गीयाणि वा मूलग्गीयाणि वा खंभग्गीयाणि वा पोर्बग्गीयाणि वा अमग्गजायाणि वा मूलजायाणि वा खंभजा-याणि वा पोर्जायाणि वा यथ्यत्त त्कालंमत्थएण वा त्क-सिसंसेण वा णासिण्णमत्थएण वा लज्जूरमत्थएण वा ता-हममत्थएण वा अणयरं वा तहप्पगारं आममं असत्यपरि-णयं जाव णो पदिगाहेजा ।

(से भिक्खु वेत्यादि) से जिणुयंयुंनरेवं जानीयात्तच्छाया-अम-ग्गीजानि अपाकुसुमादीनि, मूलग्गीजानि जायादीनि, स्कन्धचं-जानि शङ्खवादीनि, पर्वग्गीजानि इहवादीनि । तथा अमग्ग-जानि मूलजातानि स्कन्धजातानि पर्वजातानीति । (ख्यत्थ णि) नान्यस्साहमादेरानीयात्थयत्र प्रसदितानि, किन्तु तत्रैवाभासो जा-तानि, तथा (त्कालंमत्थएण वा) त्कलीय ममिति वाक्यात्कहारे । तस्मस्तकं तस्यप्यवर्ती गर्भः । तथा कन्वग्गीयैकन्वग्गीस्तथ-कः । एवं नालिकेरादेरपि च्छममिति । अथवा कन्वव्यादिम-स्तकेन सद्यश्मन्वाद्यच्छिन्वाऽमनतमेव च्छंससुपयाति, तद् तथाप्रकारमन्वदाममशक्नपरिणतं न प्रतिशुद्धीयादिति ॥

से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, उच्छुं वा काणं अंगारियं सम्भिसं विपद्दिसं वेचमं वा कंदत्तोळसुयं वा अणयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव णो पदिगाहेजा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) से जिणुयंयुंनरेवं जानीयात्, तच्छाया-इ-च्छुं वा (काणं नि) व्याधिविशेषान्भिसिद्धं, तथा-अङ्गारिकं वि-षणीयुतं, तथा-सम्भिसं स्फुटितत्वकं (विपद्दिसं ति) वृक्षैः शृ-गावैर्वा ईषज्जितं, न शोनावता रम्यपुष्पच्छेण तस्यासुक्तं जयती-नि सूत्रेपन्यासः । तथा वेध्रात्रं (कन्वग्गीसुयं वे णि) कन्वली-मयं तथाऽम्यद्व्येवंप्रकारमात्ममशक्नोपहंतं न प्रतिशुद्धीयादिति ॥

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, उच्छुणं वा लसुणपत्तं वा लसुणणालं वा लसुणकं-दं वा लसुणचोयं वा अणणयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव णो पदिगाहेजा ॥

असुणसुं सुगमम् । णवरं (चोयं ति) केशककारा असुण-स्य बाहावकः । सा च यावत्सार्दा तावत्सभितेति ॥

से भिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, अत्थियं वा कुंजिपकं तिंतुं वा वेसुयं वा प-ल्लं वा कासवणासियं वा अणयरं वा आमं असत्यपरि-णयं जाव णो पदिगाहेजा ॥ से जिक्खु वा जिक्खुणी वा जाव समाणे सेजं पुण जाणेजा, कणं वा कणकुंदं वा कणपूयं वा चाठलं वा चाउल्लापत्तं वा तिसं वा तिलपिट्ठं वा तिसपपदगं वा अणयरं वा तहप्पगारं आमं असत्यपरिणयं जाव णो पदिगाहेजा ॥

(से भिक्खु वेत्यादि) (अत्थियं ति) वृक्षविशेषफलम् । (तेसुं अं ति) टेम्बकयम, (बिल्लुं णि) बिल्वं, (कासवणसियं) अं पिणीकलं, कुज्जं पकशब्दः प्रायेकमजिसंभयते । एतदुक्तं न-वधित-यद्व्यकफफलादि गर्तोदावप्रासपकालमेव वदतायाक-भानीयते तन्नाममपरिणतं न प्रतिशुद्धीयादिति । (से इत्यादि) कणमिति शाब्दार्थः कणिकास्तत्र कदाचिन्नाभिः संभवेत् । कण-ककुएडं कणिकाभिर्मिथः कुक्कुसाः, (कणपूयं लं ति) क-णिकाभिः पूषलिका, अत्रापि मन्वपकादौ नाभिः संजाव्यते । शेषं सुगमम् । आचा० २ लो १ ब्र० ८ उ० । स्वभायवर्गे, नि० लो १७ उ० । रसकधिरादिधातुत्वेन परिणाममयमे, पञ्चा० ३ विष० ।

अपरिणाम-अपरिणामक-पुं० । न विद्यते परिणामो यद्-
कथं परिणामं कथं स तथा । व्य० १ ड० । अस्तैकैकवचो युक्तं,
न० । जी० १ प्रति० ।

अपरिणामकमाह—

नो दम्बस्त्रिककयका-ज्ञानाय भं जहा जिणकस्यां ।
तं तद् अस्वदंते, जाण अपरिणामयं साहुं ॥

यो प्रथमकालजायकृतं तद् न अद्वाधति तं तथा अद्वाधतं
जानाहि अपरिणामकं साधुम् । वृ० १ ड० । पं० व० ।
(' परिणाम ' शब्दव्याख्यानायसरे इतिपरिणामकव्यापि
वाक्याऽन्यथावि, तथैवास्यापि शब्दस्य व्याख्या दृष्टान्तश्च
कल्प्यः)

अपरिणित्वाण-अपरिनिर्वाण-न० । परि समन्ताद् निर्बाणं सु-
खं परिनिर्वाणं, न परिनिर्वाणमपरिनिर्वाणम् । समन्तात् शरीर-
मनःपीडाकरे, " सम्बन्धि सत्ताणं असायं अपरिनिर्वाणं
महम्मयं युक्तं " आवा० १ सु० १ अ० ६ व० ।

अपरिणित्त-अपरिज्ञप्त-त्रि० । अज्ञापिते, कल्प० ।

अपरिणाय-अपरिज्ञात-त्रि० । ऋषिरूपया स्वपनोऽनवगते,
प्रत्याकपालपरिक्रया चाप्रत्याकपाले, आ० ५ अ० २७० । आवा० १

अपरित्त-अपरितान्त-त्रि० । अपरितान्ते परिधममगच्छति,
न० । प्रश्न० । पं० मा० । "अपरितान्ते सुसत्य-तदुभयपल्लु" पं० वृ० ।

अपरित्तजोगि (ए)-अपरितान्तयोगिन-त्रि० । अपरितान्त-
नोऽविद्यान्ते योगः समाधिष्यस्य सोऽपरितान्तयोगः । स्वायं-
कथंमत्वाभापरितान्तयोगी । अन्त० ७ वर्ग । परिअन्तसमा-
धौ, आ० ३ वर्ग । अपरितान्त आत्मना योगा मनःप्रभूयः स-
वृत्तानेषु यच्च स तथा ; तत अपरिअन्तसंयमे प्रवृत्ते, प्रश्न०
१ सख्य० द्वा० ।

अपरितावलाया-अपरितापनता-स्त्री० । शरीरपरितापातु-
त्यादने, म० ५ श० ए ३० । परितापातुत्यादने, व० ३ अधि० ।
समन्ताच्चरितसन्तापपरिहारे, वा० ।

अपरिताविय-अपरितावित-त्रि० । स्वतः परतो वाऽनुजात-
कथमनःपरिताव, जी० ३ प्रति० ।

अपरिच-अपरिच-पुं० । न० त० । साधारणशरीरे, स्था० ३
जा० २ उ० । अनन्तसंसारो वा जीवो, म० ६ श० ३ ड० ।

अपरिचे बुद्धिं पश्यते । तं जहा-कायअपरिचे य, संसा-
रअपरिते य ॥

कायापरीतोऽनन्तकायिकः ; संसारापरीतः सम्बुद्ध्यादिनाऽ
कृतपरिमितसंसारः । प्रश्न० १ ड० पद् । कायापरीतः साधारणः,
संसारापरीतः कृष्णप्राज्ञिकः । जी० ३ प्रति० ।

तत्र—

संसारअपरिचे बुद्धिं पश्यते । तं जहा-अद्यादिप अ-
पञ्चसिप, अणाऽप सपञ्चसिप ॥

संसारापरीतो द्विधा-अनाद्यपर्यवसितो यो न कदाचनपि
संसारव्यवहारे करिष्यति, यस्तु करिष्यति सोऽनादिसपर्य-

वसितः । प्रश्न० १ न पद् । अनादिकोऽपर्यवसितो येन आनु-
चिदपि सिद्धिं गन्ता, अनादिको वा सापर्यवसितो भवतिशेषः ।
जी० २ प्रति० । (कायापरीतादिवाक्यानां ' अंतर ' शब्देऽ-
स्मिन्नैव भागे ७७ पृष्ठे दृश्यते)

अपरिचय-अपरिचय-त्रि० । अपरिचयनीये, स्था० ७ जा० ।
अपरिचोम-अपरिचोम-पुं० । परिचोमाभावे, स्था० क डा० २
ड० । नि० वृ० ।

अपरिमाण-अपरिमाण-त्रि० । न विद्यते परिमाणं यच्च स/
तथा । क्षेत्रतः कालतो वा इत्यन्तारहिते, "अपरिमाणं वि आ-
णाह, इहमेगस्तमादिचं" सूत्र० १ सु० १ अ० ४ ड० । नि० वृ० ।

अपरिमिय-अपरिमित-त्रि० । अपरिमाणे, न परिमितोऽपरि-
मितः । अणु० । परिमाखरहिते, " अपरिमियमदिच्छककुलसम-
तिवाञ्चवगच्छम्ममाणं " अपरिमिता अपरिमाणा ये महेश्चा
बृहद्भिन्नाया अविता शोकास्तेषां कथुकाऽविद्युक्ता मतिः स-
पव वायुवेगस्तेन उत्पाद्यमानं यत्तथा । प्रश्न० ३ सख्य०
द्वा० । आवा० । "अपरिमियनाणदस्यधरिदि" (तार्थच्छ्रुतिः)
प्रश्न० १ सख्य० द्वा० । वृ० । दृशे० । अनन्ते, श्री० । बृहति,
"अपरिमियं स वसत्ये, कथं गच्छति नायव्यं" दृशे० २ अ० ।

अपरिमियपरिग्रह-अपरिमितपरिग्रह-पुं० । अपरिमितज्ञा-
सौ परिग्रहणं परिग्रहः । परिमाणरहितपरिग्रहे, आवा० ६ अ० ।
अपरिमियत्र-अपरिमितवृद्ध-त्रि० । अपरिमितं बलं यच्च
सोऽपरिमितवृद्धः । निर्विद्यवचोयान्तरायकृपादम्बुबलशालि-
नि, " ततो बला बलमद्, अपरिमियवला जिणवरिदा " वि-
शे० । सूत्र० । " अपरिमियवद्वारिचयुक्तं " अपरिमितानि
बलात्नि, तैवोक्तो यः स तथा । उपा० ३ अ० ।

अपरिमियमणततपृष्ठा-अपरिमितान्ततृष्णा-स्त्री० । अपरि-
माणरूपविषया अनन्ता वाऽकृपा या तृष्णाऽविद्यमानकृष्णाऽऽ-
वृष्ट्या । अपरिमितवाञ्छायाध, प्रश्न० ३ सख्य० द्वा० ।

अपरिमियसचयुक्त-अपरिमितमचयुक्त-त्रि० । अपरिमित-
मियन्तारहितं यस्सर्वं धृतिबलं तेन युक्तः । अपरिमितैतैर्व्ये,
वृ० ३ उ० ।

अपरियचमाणा-अपरिवर्तमाना-स्त्री० । न परावर्तमाना अप-
रावर्तमाना, पं० सं० ३ द्वा० । परावर्तमानप्रकृतिभिन्नासु कर्म-
प्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वा० । (सूत्रअच्छानां कथादिप्रस्ताव
' कम्म ' शब्दे लुनीयभागे २९१ पृष्ठे दृशोविष्यन्त पताः)

अपरियाइचा-अपर्यादाय-अव्य० । परितः समन्ताद्बुद्धीत्ये-
त्यर्थे, आ० २ डा० १ ड० । सामस्येनापृहृते, आ० १ डा० १ ड० ।

अपरियागिष्ठा-अपरिज्ञाय-अव्य० । ऋषिरूपयाऽज्ञाया प्रत्या-
कथनपरिक्रया चाप्रत्याकथ्यायेत्यर्थे, स्था० २ डा० १ ड० ।

अपरियार-अपरिचार-त्रि० । न० व० । प्रविच्छन्नमायुनोप-
संवारहितं, अमविचारे, प्रश्न० ३६ पद् ।

अपरिविडिय-अमतिपतित-त्रि० । स्थिरे, पञ्चा० ७ विव० ।
अपरिसा (रसा) इ (वि) (ए)-अपरिज्जाविन्-पुं० ।
परिज्जाविन् शीलमस्य परिक्रावी । न परिक्रावी अपरिज्जावी ।
द्वयतः स्वावहितं युष्मकादी, भावतः शुवायंहरणाकारकऽ-
नुयोगदानयोग्ये, वृ० ।

एतत्स्वरूपं सप्रतिपक्षं निष्केपद्वयानुपदर्शनपूर्वकमुच्यते-
अपरिसाहविज्ञानसाह—

परिसाह अपरिसाहं, द्रव्ये जावे य लोम-उत्तरि ए ।
एकेको वि य दुविहो, अयश्च-ननुर्षे दिहो ॥

परिसाहितं शीलमस्येति परिसाहः । तद्विपरितोऽपरिसाही ।
अभाषिणं द्विविधौ-द्रव्ये, भावे च । तत्र च्यवतः परिसाही घ-
टाविः, अपरिसाही तुम्बकादिः । भावतः परिसाही । एकै-
कोऽपि द्विविधः, तद्यथा- (लोम सि) लौकिकः । (उत्तरि ए सि)
पैकदेशे पदसमुदायेष्वप्यारोह लोकात्तरिकः । तत्र लौकिकं
भावतः परिसाहिविधिं अमात्यद्वयान्तः ।

स चायम—

“ एगो राया, तस्स कन्ना गहनस्स जारिसा, सो निचवं भो-
लाए अमुक्कियाए अरुधइ । सो अग्रया अमक्केण एगंते
पुच्छिओ-किं तुम्बे ज्जाहारयपादा सोत्ताए आबटियाए अ-
क्कइ, न कस्सइ सीमं कन्ना य एरिसेह ? । एत्ता सग्गोयो कहि-
ओ; भणियं च-मा एहस्समअयं काहिसि सि । तेण अगंभीर-
याए तं एहस्सं अप्पहियासमाणेण अरुधियं गंतुं कक्ककोरुंरे मुंइ
होवुण्ण भणियं-वाहनकनो राया । राया तं कक्क अन्नेण कण-
ह उंनुं वादिसं कयं, जयियय्ययासेण य तं रघयो पुरओ
एदमं आयंतवज्जे तं भणइ-गहनकनो राया । एत्ता अम-
क्को पुच्छिओ-तुंमं परं एयं एहस्सं नाय, कस्स ते कहियं ? ।
अमक्केण जहावचं सिट्ठुं । एस सोइओ एरिसाही । सोऽत्तरिओ
अप्यहियासमाणो पुच्छिओ वा अप्पुच्छिओ वा अपरिणयाणं
अववायपयाणि कहेइ ” ।

ईदृशस्य परिसाहिविधुः स्वयं यो द्वाति तस्य चत्वारो लघवः ।
अर्थं द्वाति तस्य चत्वारो गुरुवः । यत् एवं ततो अपरिणयानिणा
शतव्यम् । सोऽपि द्विधा-लौकिकः, लोकात्तरिकश्च । तत्र लौ-
किके परिसाहिविधिं बटुक्याः दद्यातः ।

स चायम—

“ राया सिठी अमक्को आरभिसओ मूलदेवो य एकाए
पुरोहियजजाए वडुवणीए अरुधइवंसिणीए अज्जेवयन्ना । ताए
सम्भेसि संकेअओऽजितो, ते आगया तुवारे जिया । ताए अमंति-
जइ महिलारहस्सं जाणेह तो पविसहइ । ते जणंति-ए जाणामो,
मूलदेवण भणियं-अहं जाणामि । ताए भणियं-पविमहइ, पविट्ठो
पुच्छिओ-किं महिलारहस्सं? । तेण भणियं-मारजितोहं वि अरुधस्स
न कइवण्ण । ” एवं विदग्धः कासुकः ” इति तुदाए सव्वरंति रामिओ ।
पनाए एत्ता पुच्छिओ मूलदेवो-किं महिलारहस्सो? । मूलदेवो जगइ-
अदं एयं उल्लाषं वि न जाणामि । एत्ताणं अयत्तइ सि वज्जे
आगइ-तइ वि न कहेइ, ताहे थिज्जाएणीए आगंतुं रन्नेपुरोतो
कहियं-जहा एयं जेव महिलारहस्सं, जं सरीरच्छाए वि न क-
स्सइ सीहइ सि । एस सोइओ अपरिसाही । सोऽत्तरिओ पुण
ओ जेअसुअस्स रहसिययाणि अपवायपयाणि सुणिता उ-
ट्ठिओ, तओ जइ कोइ अपरिणयो पुच्छइ-किं एयं कहिज्जइ? ।
अणइ-अणककरणं साण्णं वनिज्जइ ” । ईदृशास्यापरिसाहिविधो
विद्यं स्वयं न द्वाति तदा अतुर्भेपु । अर्थं न द्वाति तदा अतुर्भुज ।
५० ३ ७० । परिणयति आश्रयति कर्म वज्जानातीत्ययं शीलः
परिसाही, तन्निषेधात्परिसाही । अयन्बके निरुक्त्यांगे, अ-
यं च पञ्चमः क्वातकभेदः । उत्तरावयनेषु त्वेदं जिनः केव-
लीत्ययं पञ्चमो भेद उक्तः; अपरिसाहीवति तु नाधीतम् । ज० २५

श० ६ ७० । स्थानं । न परिणयति नाशोचकदोषानुपसृत्या-
न्यस्मै प्रतिपाद्यति य एवं दालः सोऽपरिसाही । आशोचक-
दोषाऽप्रक्यापते अलोचनार्थं प्रयोक्तुक्यं, “ ओ अन्वयस्स उ
दोस्से न कहेइ अपरिसाहं सो होइ ” ७५० ७ ७० । पञ्चा० ।
५० । ७५० । यो न परिणयति परिकथितामगुञ्जजसमित्ययं
शीलाऽपरिसाही । आशोचनाभाशित्य आचारार्त्ताकमृगोयम-
ङ्गतुदय इत्ययं । श० १ अथि० ।

अपरिसादि-अपरिसादि-पुं० । परिशाटियाजैते, प्रश्न० १ आ-
श० ७० । शय्यासंस्तारके, नि० चू० २ ७० । फलकारिमये,
वृ० ३ ७० । अन्वयवर्षाज्जते च, “ अपरिसादि अक्कसायंजप-
वणाणुल्लवणभूयंति ” भ० ७ श० १ ७० ।

अपरिसादिप-अपरिसादिप-^{त्रि०} । परिशाटरहिते, उत्त०
१ अ० ।

अपरिसुच्छ-अपरिसुच्छ-^{त्रि०} । सदोषे, पञ्चा० ३ विष० । अयु-
क्तियुक्ते, श्राव० ४ अ० ।

अपरिसेस-अपरिशेष-^{त्रि०} । निशेषे, प्रश्न० २ आश० ७० ।

अपरिहारिय-अपरिहारिक-^{पुं०} । न परिहारिकोऽपरिहारिकः ।
पार्श्वस्थावसंनकुवां।ससंकथयाच्छन्दरूपे, आचा० १ भु० १
अ० १ ७० । मूर्धोत्तरगुणदोषाणामपरिहारिक, मूर्धोत्तरगुणानां
वाऽपारके, अन्यन्तार्थिकगृह्येवे वा । नि० चू० २ ७० ।

अप्रोवेताव-अप्रोपताप-^{पुं०} । परीरप्तापरिहारिक, पं०सु० २ सु० ।
अप्रोवेतावि (न)-अप्रोपतापिन् पुं० । साधुनां वषंवादि-
नि, पं० चू० ।

अपलिअ-अपक्-^{त्रि०} । अग्निनाऽसंस्कृते, घ० २ अथि० ।

अपलिंउंचाए-अपतिकुञ्चयत्-^{त्रि०} । अगोपयति, आचा० २
भु० ५ अ० १ ७० ।

अपलिंउंचि-अपरिकुञ्चिन-^{त्रि०} । अभाषाविनि, ७५० १ ७० ।

अपलिंउंचिय-अप्रति (परि) कुञ्चय-^{त्रि०} । न परिकु-
ञ्चयमपरिकुञ्चयम् । अकौटिल्यं, ७५० १ ७० ।

अप्रति (परि)-कुञ्चय-^{अप्य०} । मायामन्त्रवैद्येयं, ७५० १
७० । नि० चू० ।

अपलिच्छन्न-अपरिच्छन्न-^{त्रि०} । परिकुञ्जदहिते, ७५० ३ ७० ।

अपलिंमंथ-अपरिमन्थ-^{पुं०} । परिमन्थः स्वाध्यायादिक्रितिलेस्तद-
न्नावोऽपरिमन्थः (उच०) स्वाध्यायादौ निरालस्ये, उच० २ १ अ० ।

अप (ए) लीण-अपहीन-^{त्रि०} । असंबके, सूत्र० १ भु०
१ अ० ।

अपवगम-अपवर्ग-^{पुं०} । जन्ममरणप्रबन्धोच्चेत्तया सर्वैःकुः-
प्रहाणलक्षणं मोक्षं, सूत्र० १ भु० २ ३ अ० संथा० । “अवर्णवप-
वर्गं इति” तस्य रागादिकृष्यस्य भावे सकललोकात्मोक्तिलोका-
णालिनीः केवलज्ञानदशैयंनयंलक्ष्यौ सत्यां निस्तर्षिभक्षण-
वस्य सतो जन्तोःपरवर्ग उक्ते निरुक्तं उच्यतेति । किं लक्षणः?,
इत्याह- “ स आश्रयति को दुःखविमम इतीति ” सं०ऽपवर्गः,
अन्यन्तं सकलदुःखशक्तिनिर्मूलनेन भवतीति आश्रयति

दुःखविगमः । सर्वशरीरमानसाशर्मविरहः । सर्वजीवलोकसाधारणानन्दानुभवश्चेति । अ० १ अधि० ।

अपवन्मगीय-अपवन्गीज-न० । सोमस्य कारणे, यो० ६ विष० ।

अप (प) वचन-अपवर्तन-न० । अपवृत्तौ, पञ्च० ४ विष० ।

अपवाय-अपवाद-पुं० । द्वितीयपदे, नि० सू० २० उ० ।

अप (प) विच-अपवृत्ति-स्त्री० । तत्त्वतो ध्यावृत्ते, पञ्च० १४ विष० ।

अप (प) विसि-अपवृत्ति-स्त्री० । गाढं मनोवाक्कायानामनवतारे, अ० १ अधि० ।

अप (प) संसाणजि-अप्रशंसनीय-त्रि० । सायुजैः प्रशंसं कर्तुमयोग्यं, न० ।

अप (प) सवर्द्ध-अप्रसङ्ग-त्रि० । अप्रभृष्ये, व्य० ७ उ० ।

अप (प) सज्जपुरिसाणुग-अप्रसङ्गपुत्रानुग-त्रि० । अमृष्टदुःखानुसारिणं, (व्य०) "गणिणी गुणसंपत्त्याऽपसज्जपुरिसाणुगा ।" व्य० ३ उ० ।

अप (प) सत्य-अप्रशस्त-त्रि० । न० त० । अशोभने, "अपसत्ये संज्ञमे चयह" भाव० ४ अ० । विश० । अ० । व्य० । अभ्यर्थे, अनादये, स्था० ३ उ० ३ उ० । बलवर्णादिनिमित्तं प्रतिसेविनि, व्य० १० उ० ।

अप (प) सत्येवेच-अप्रशस्तद्वेष-न० । शरीरादिद्वेषे, नि० सू० १० उ० ।

अपसत्यद्वेष-अप्रशस्तद्वेष-न० । अस्वध्यादि । अशोभनद्वेषे, नि० सू० ११ उ० ।

अपमत्यक्षेप्सा-अप्रशस्तलेख्या-स्त्री० । कृष्णनीलकापोतास्तु तिसृषु लेख्यास्तु, वच० ३४ अ० ।

अपसत्यविद्वग्गतिनाम-अप्रशस्तविद्वग्गतिनामन्-न० । विद्वद्योगतिनामनेदे, यद्वद्व्याप्तुनप्रशस्ता गतिर्भवति, यथा खदि-रादीनां तदप्रशस्तविद्वद्योगतिनाम । कर्म० ६ कर्म० ।

अपसारिया-अपसारिका-स्त्री० । पटासिकायाम्, वृ० २ उ० ।

अपयु-अपयु-पुं० । न० ब० । द्विपदचतुष्पदादि (परिग्रह) र-हितं, "समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपयु पदत्तजोगे" आवा० ३ सू० ७ अ० १ उ० ॥

अपसममाण-अपर्यत्-त्रि० । अनौक्यमाणे, "अपस्समाणे प-स्सामि, देवे जकंभे य गुज्जगे" स० ३० सम० ।

अपहिङ्-अमृष्ट-त्रि० । अहसति, दशा० ५ अ० १ उ० ।

अमृष्ट-अमृष्ट-पुं० । भूतकादौ, अ० ३ अधि० ।

अमृष्टन्वत्-अमृष्टन्वत्-त्रि० । अप्राभाषति, व्य० १० उ० ।

अपाद्या-अपात्रिका-स्त्री० । पात्ररहितायास् (निर्भ्रन्ध्याम्), निर्भ्रन्ध्या पात्ररहितया न भवितव्यम्—

नो कप्ये निगंथीए अपाद्याए हंतए ।

नो कल्पते निर्भ्रन्ध्या अपात्रिकायाः पात्ररहिताया भवितुमिति सूत्राद्यः ।

अथ ज्ञापयम्—

गोष्णे साष्णे च वने, श्रोभावाए विंसणा कुम्भये य ।
पासङ्क इहय लज्जा, सुहाए होति दिट्ठेती ॥

पात्रकमन्तरेण यथ तत्र समुद्देशनीयम् । ततो लोका इत्याद्यथा-गायथैव चारिं प्राप्नोति तत्रैवाश्लेषा चरति । यथा वा भ्रान्ति यथैव स्वप्नमप्याहारं लज्जेत तथैव निरुपया सुक्ते । एवमेता अपि गोभ्रान्त-सदृश्या यथैव प्राप्नुवन्ति तत्रैव भुज्जेत । तथा सोमस्य पुरतः समु-द्विशन्ति-अहो ! अभिमोत्रतं भ्रान्तयत वा प्रतिपन्नं, एवं न प्रवज्जना जवति । (किंस्वया कुलघरे य स्ति) तास्तथा लज्जना इच्छा तदीयकुलपदे गन्वा लोकः सिन्धां कुप्यन् । यथा-युष्मदीया दुहितरः स्तुया वा याः पूर्वे च-रन्त्यैकिरैतैर्यस्पृष्टगात्राणाः साम्प्रतं सर्वैलोकपुरतो गाव इव चरन्त्यां द्विजान्ते । एवमुक्ते ते नृत्यन्तः स्वगृहमावयन्ति । 'नासद्वं' अस्त्ये च खादिति भ्रूणं लोकस्य पुरतः सर्वासु कुर्वतीषु लोका इत्यात्-अहो ! बहुभङ्गकाः, अस्ति स्त्रीणां च लज्जा विपुल्या, सा वैतान्तासीं नास्तीति । अथ च लज्जायां स्तुया इच्छान्तो जवति । स च द्विधा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च ।
प्रशस्ते तावदाह—

उष्वासणमि सुहाए, ए शिसीयइ एावि जासए उब् ।

एावि पमासे जुंजइ, गिाहइ वि य ए णाम अप्पाएणं ॥

यथा-स्तुया वधुर्केश्वरासने न निर्धाति, नाप्येव मदता श-ब्देन भाषते, न च प्रकाशे नृभागे लङ्के, आत्मीयं च नाम न शुद्धानि न प्रकटयति, एव संयत्नानिराधं भवितव्यम् ।

अप्रशस्तस्तुपादष्टान्तः पुनरयम्—

अद्ववा महापयाणि, सुहाइ समुरे य इकेकेस्स ।

द्लपाणेण विणामं, लज्जानानेण पावन्ति ॥

अथवा प्रकारान्तरं स्तुपादष्टान्तः कियते-महापदानि वि-कृष्टतराणि पदानि, स्तुया इव शूरकैकेकस्य, परस्परं प्रयच्छन्तो, यथा लज्जानादान विनाशं प्राप्नुवन्, तथा संयत्यां पत्निलज्जा विनश्यतीत्युक्तराशः । नावायेस्त्वयथ-परास्व पिच्छा इयस्व भ-ञ्जाए मयाए पुत्तेण मे अट्टिया शिमारासिका शोभगनीया-ण्यु इथेरेदि सुहाइभसुरेदि हासविशुद्धयं करेतेदि निवृज्जण-शं निस्संणिणा खरिहता अनिघायपुत्तवर्गं विगिच्छतरादि पयाइ देतेदि पक्केकेस्स सामाणियं पटुण्णाय हो वि विणणाण, एवं निवृज्जए विणासे दुज्जा ।

द्वितीयपदमाह—

पायस्स वि तेणहिए, भाणियेणं ह्ये व सावयभए वा ।

बोहिभए तित्ता इव, अपाद्या हुज्जा विट्ठपए ॥

पात्रस्याभावे स्तेनकतया ह्येन अभिनवात्वा भ्रान्तिरिति दकपू-रेण किये पात्रे श्वापदजने बोधिकभये वा शीघ्रे पात्राणि परिरि-ज्य नष्टा सर्तां किञ्चिन्ना वा, आदिशब्दाद्यस्त्राविष्टा वा अपा-त्रिका पात्ररहिता द्वितीयपदे जवते । वृ० ४ उ० ।

अपात्रम्-अप्रावृत्-त्रि० । न विद्यते प्रावृत्तं प्राचरणं यस्ते-त्यप्रावृत्तः । स्था० ४ उ० १ उ० । औपत्रिकाद्युपरिततोपक-रणरहिते, वृ० ५ उ० ।

अपाणय-अपानक-त्रि० । जालवजिते, जं० २ वृ० । चतु-

अपाययः

विधाहाररहिते, पञ्चा० १८ विध० ॥ " लुचणं भक्षणं अपाय-
रणं " अ० २ वक्र० । पानकसंश्लेषेण शीतलत्वेन दाहोपशमने-
स्तुष्टु स्थालीपाणकादिषु, शोलाकसम्भतपदाधेयुषु च । म० १५
श० १ उ० । (नम्रदंशेन गोस्ताहक शब्दे करिष्यामि) पानकाहार-
वर्जिते, ज० ४ वक्र० । पानीयपानपरिहारवति, स्या० ६ ग्रा० ।
पकान्तरपचाने, ध० ३ अर्थ० ।

अपाय-अपाद-त्रि० । विशिष्टवृन्दोत्तनायोगोत्पादवर्जिते,
दश० १ म० । लुच० ।

अपायचिह्न-अपादचिह्न-त्रि० । अचिह्नचरणे, नि० वृ०
१४ उ० ।

अपार-अपार-त्रि० । अनन्ते, स० ।

अपारंगम-अपारङ्गम-त्रि० । पारस्तः परकूलं तद् गच्छती-
ति पारङ्गमः, न पारङ्गमोऽपारङ्गमः । पारगतोपदेशाभावाद्-
पारंगमे, "अपारंगमा एत, ण च पारंगमित्ये" । एते कुनीयिका
व्यः अपारङ्गमा स्यादि । पारस्तटः परकूलं तद् गच्छतीति पार-
रङ्गमः, न पारङ्गमा अपारङ्गमा; एत इति पूर्वोक्तः । पारगतोप-
देशाभावाद् पारङ्गता इति भावनीयम् । न च ते पारगतोपदेश-
भूते पारङ्गमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमसम । अथवा गमनं
पमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः । सूत्रं त्वनुस्वारोऽस्तात्-
णिकः, न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपारगमाय । असमर्थस-
मावोऽयम् । तेनायमर्थः-पारगमनाय ते न भवन्तीत्युक्तं भ-
वति । ततश्चानन्तमपि संसारात्पथं न एवासने । यद्यपि पार-
गमनायोद्यमथिते तथापि ते स्वर्गोपादेशविकलाः स्वर्गार्थविर-
चितनाशकवृत्तयो मैव संसारपारे गन्तुमसम । आचा० १
शु० २ अ० ३ उ० ।

अपारग-अपारग-त्रि० । अतीरं गामिनः, सूत्र० १ शु० ३ अ० ३ उ० ।
अपारगमो-देशी-विधामे, दे० ना० १ वगं ।

अपाव-अपाव-त्रि० । अपगतोऽपकमकलेहं, सूत्र० १ शु० १ अ०
३ उ० ।

अपावभाव-अपावजाव-त्रि० । सव्याद्यपेक्षारहिततया शुद्ध-
चित्ते, दश० ६ अ० १ उ० ।

अपावमाण-अपावभू-त्रि० । अनासादयति, श्लोच० ।

अपाव्य-अपावक-पुं० । शुभचिन्ताकूपे प्रयत्नमनोविनये, स्वा०
७ टा० । अपावकप्रवृत्तनरूपे वाग्भिनये, ज० २५ श० ७ उ० ।

अपावा-अपावा-स्त्री० । अपापाऽनराभ्यां पुत्र्याम्, वध भीम-
दावीरः स्वामी निरुक्तः । स्वा० ।

अपास-अपास-पुं० । अक्षयने, आचा० १ शु० १ अ० ३ उ० ।

अपास्तथा-अपार्वस्थता-स्त्री० । न पार्वस्थोऽपार्वस्थ-
स्तस्य भावस्तथा । पार्वस्थतापरिहारे, अनया चागमिथ्यद्भ्र-
ताकारणानं कुर्वता आशासाम्रथानां न विषये । स्या० १० टा० ।

अपासित्वा-अट्ट-अर्थ० । अनालोचनेत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अपि (वि)-अपि-सम्ब० । सम्भावने, उक्त० ४ उ० । स्या० ।
वाद्यते, रा० ।

अपिहृत्वा-अपिहृता-स्त्री० । यदुपादितामनपरिहारे, म० ७
श० ६ अ० ।

अपिय-अपिय-त्रि० । अप्रतिकरे, ज० ६ श० ३ उ० । अपि-
यदशने, जी० १ प्रति० । अप्रतिक्ते, "अपियत्तं वि वा अपिय-
त्तं नि वा पगडुं " एव० १ उ० ।

अपिविजोदक-अपानीयोदक-पुं० । अपातव्यजले भेदे, ज०
७ श० ६ उ० ।

अपिसुण-अपिसुन-त्रि० । छेदनमेदनयोरकर्तारि, दश० ११ अ०
३ उ० ।

अपीकार-अप्रीतिकार-त्रि० । अमनोहे, स्या० ३ टा० १ उ० ।

अपीडगराडिय-अपीतिकरहित-त्रि० । अप्रीतिवर्जिते, पञ्चा०
७ विध० ।

अपीडतर-अप्रीतितर-त्रि० । अमनोहते, विपा० १ शु० १ अ० ।

अपीडाल-अपीडनता-स्त्री० । पादाद्यनवादेने, पा० ४० ।

अपीडिय-अपीडित-त्रि० । संवतनप्राक्तियया आश्विनरोघाऽ-
नशान्तिरूपतया पीडयाऽदुःखिते, पं० सू० ४ सू० ।

अपुच्छिय-अपुष्ट-त्रि० । पुच्छामगने, " अपुच्छिप्रो न भासि-
यता, नासमणस्त अंतरा । पिट्टिमंसं न खादन्ना, मायामोसं
विविजय ॥ " दश० ८ अ० ।

अपुज्ज-अपुज्य-त्रि० । न० त० । अश्वदन्तीये, श्राव० ३ अ० ।

अपुष्ट-अपुष्ट-त्रि० । दुर्बले, वृ० ३ उ० । अपुष्कले, सूत्र० १
शु० १४ अ० ।

अपुष्ट-त्रि० । अहीमन्ति, म० ३ श० १ उ० ।

अपुष्टधम-अपुष्टधर्म-पुं० । अपुष्टपुष्कलेः सम्यगपरिज्ञानेन
धमः अनचाि श्रान्त्यां दुर्गतिप्रसूतजन्युत्पन्नस्वभावेः येनासाव-
पुष्टधर्मा । अगनीये, "एवं नु संते वि अपुष्टधमं, धमं न जा-
याद् अपुष्टकमायं " सम्यगपरिगतधर्मपरमार्थे, सूत्र० १ शु०
१४ अ० ।

अपुष्टज्ञापेय-अपुष्टज्ञापिक-पं० । न पृथलानिकोऽपुष्टज्ञापि-
कः । हे साधो ! किं ते दीयते ? इत्यादिप्रश्नमन्त्रेण भिक्षां लभ-
माने भिक्षावरकभेदे, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारार्थं भिक्षावर्या
भेदे च । श्री० ।

अपुष्टवागार-अपुष्टवाकरण-न० । अपुष्ट मति प्रतिपादने,
" एवं स्वर्थं अपुष्टवागारं नेवर्थ " म० ३ श० १ उ० ।

अपुष्टाज्ञवप-अपुष्टाज्ञम्बन-न० । अरदापादाकारणे, प्रथ०
५ टा० ।

अपुष्टाकरणसंगय-अपुनःकरणसंगत-त्रि० । पुनरिदं मिथ्याचर-
णं न करिष्यामिष्येति निश्चयान्विते, पञ्चा० ११ विध० ।

अपुष्टचव-अपुनःचव-पुं० । न पुनश्च्यवने चवयोऽपुनश्चवः,
देवभ्यश्च्युत्या निर्यगादिभूत्पत्यभाये, उक्त० ३ अ० ।

अपुनर्बन्धय-अपुनर्बन्धक-पुं० । न पुनरपि बन्धो मोहनीय-
कर्मोत्कृष्टमितेबन्धने यस्य स अपुनर्बन्धकः । पञ्चा० ३ विध० ।
भाष्यसरे चमोषिकारभेदे, यं० वि० । यस्तु तां तेषु क्लृप-
यद् प्रस्थिभदेशामागतः पुनते तां भङ्गति जेत्यति च प्रस्थि

साऽपुनर्बंधक इच्यते । " पावं ण तिष्यन्नावा कुणइ " इति बचनत् । अ० ३ ब्रध्नि० ।

एतद्वक्तव्यं यथा—

पावं ण तिष्यन्नावा, कुणइ ण बहुमर्द्ध भवं धोरं ।
उचिअहिंइं च सेवइ, सन्नत्थ पि अापुण्यबंधो पि ॥

पापयुक्तं कर्म, तत्कारणत्वात्किंसाऽऽपि पापम् । तद् नैव तीव्रतायाद् गाढसंक्रियपरिणामाकरेति । प्रस्थन्तोत्कट-
निष्ठ्यात्वादि क्रयोपशमने ब्रह्माऽऽभ्रमेतद्विधेश्चत्वात्सौमिति वि-
शेषणत्वात्पापम्- अतीव्रतावात्कारणत्वात्, तथा विधकर्मशोभात् । त-
था न बहु मन्यते न बहुमानविषयोकरेति, प्रयं संसारं, धोरं
वीर्यं, धोरंशयागमात् । तथा-उचित्येति ननु कृपप्रतिपात्रं, च
दानं; समुच्चये । सेवते भजेते । कर्मसाधनासंश्रयापि, आस्थानिक-
प्रद्वेषकालावस्थापेक्षया समस्तेष्वपि देवातिथिमातापितृमभृ-
तिषु मार्गानुसारितानिमुक्तयेन मयूरशिखरदृष्टान्तादपुनर्बंधकः,
उत्तमिदं चना जीव इत्यर्थविधकिपात्रिका भवतीत्यलं प्रस-
ङ्गेन । अ० ३ ब्रध्नि० ॥ ३० ।

प्रकारान्तरेण-

जवानिचन्द्रिदोषाणां, प्रतिपक्वगुणैर्युतैः ।
वर्धमानगुणप्रायो, अपुनर्बंधको मतः ॥ १७० ॥

भवाभिनन्दिदोषाणां बुद्धो लोभरनिर्दोषो मन्सरी इत्यादिना
प्रयोगात्कामां, प्रतिपक्वगुणैर्युतानि लोभान्दिभियुतानं, वर्धमान-
गुणप्रायो वर्धमानाः शुक्रपञ्जकृपापनिमगलमिच प्रतिपक्व-
गुणान्तरेण गुणा श्रीदार्थादिग्याद्यः, प्रायो बाहुदन्त्येन यद्य
स तथा । अपुनर्बंधको धर्माधिकारी मतोऽस्मिन्नतः ।

अस्यैवा मुखवरूपा स्वात्, पूर्वमेवा यथोदित ।
कस्याणाशययोगेन, शेषस्यापुनर्भारतः ॥ १७६ ॥

अस्यापुनर्बंधकस्यैवा प्रागुक्तमुच्यरूपा निरुपचरिता, स्याद्भ-
वेत् । पूर्वमेवा देवादिपञ्जरूपा, यथोदितानि यत्रकारा निरूपिता
प्राक् । कस्याणाशययोगेन अगु, मुख्यनुकूलशुभाभवसंबन्धेन,
शेषस्यापूर्वबंधकारपक्षया प्रमादप्रत्यक्षसहस्रबंधकः, उपचारत
की, पवारिकी पूर्वमेवा स्यात्, अद्यापि तथाविधभववैराग्या-
भावात्सत्य ॥ १७६ ॥

इह किंचमार्गपतितमार्गोभिमुक्तावपि शेषश्रद्धेनाहुः । तत्र
न युज्यते, अपुनर्बंधकावस्थाविशेषकरत्वात्तथापुनर्बंधकप्र-
हर्षनिध गतत्वात् । यतो ललितविस्तरायां मार्गलक्षणमित्यमु-
क्तम्-इह मार्गोक्ततयाऽप्युक्तममं, तु अत्रमालिकाऽऽयामनुक्तयो
विशिष्टगुणस्थानातिप्रगुणः स्वस्वभावाद् क्रयोपशमविशेष
इति । तत्र प्रविष्टो मार्गपतितः मार्गप्रवेशशयंस्वभावात्पापो मार्गा-
भिमुक्तः, एवं च नैतावपुनर्बंधकावस्थायाः परपरततावस्था-
भाजो वक्तुमुचितौ, प्रगवद्विज्ञावगमयोग्यताय पञ्चवृत्तकवृत्ताव-
नयाकरत्वात् । यथाक्त तत्र-इयं च भागवती सदाहा सर्वथा-
ऽपुनर्बंधकादिगम्या । अपुनर्बंधकाद्यो य सस्या उक्तं क-
र्मस्थितिं तथाऽपुनर्बंधकत्वेन कृपायन्ति ते क्वचपुनर्बंधकाः ।
आदिशब्दात्मार्गापतितमार्गोभिमुक्ताद्यः परि युक्ताने, इदप्रति-
क्षाशोचनद्विगम्यलिङ्गाः । एतद्व्यर्थं न संसाराजिमन्दिगम्येति ।
संसाराऽभिनिन्दनञ्चापुनर्बंधकप्रगवस्थानाजो जीवा इति ।

नपुनरितं वस्येव न भवति, तत् कथमुपचारतः शेषस्य पू-
र्वमेवा स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

कृतवास्या उपन्यासः, शेषापसोऽपि कार्यतः ।

नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्या-दन्वयैतत्पददर्शकः ॥ १७० ॥

कृतञ्च कृतः पुनरिह अस्याः पूर्वमेवास्याः उपन्यासः प्रहाय-
नाकयः शेषापसोऽपि अपुनर्बंधकानावाससङ्घातानाभित्य,
कार्यतो भाषितौ प्राचरूपां पूर्वमेवामोक्ष्य ननुलोदकं पाट-
रोग इत्यादिदृष्टान्तात् । यतः, न नेवाऽऽपुनर्बंधोऽपि समापवत्यैव,
जीवोऽस्यापुनर्बंधकभावस्य, किं पुनरयमेवेत्यपिशङ्कायाः । बा-
हुद्वाराभ्यामपुनर्बंधाऽपुनर्बंधाचारविलक्षणो वर्तते इत्येतस्या-
र्थस्य प्रदर्शको व्यापकः । न हि सुस्वप्नादिदिक्काम कर्तव्यं
घटादेवोक्त्येन वैलक्षण्यमनुभवद् इत्येते, किन्तु कथञ्चित्तु-
स्यकृपतामिति ।

भ्रमेवाधिकृत्याह-

शुश्रुद्धोके यथा रत्नं, ज्ञाप्यं काञ्चनमेव वा ।

गुणैः संयुज्यते चित्रै-स्तद्दृष्टत्माऽपि इत्येताम् ॥ १७१ ॥

शुश्रुद्धकुञ्जितमनुभवत् त्वास्तुयुटपाकादिसंयोगेन, लोके स्थ-
वहाराहेजनमध्ये यथा रत्नं पद्मरागादि, जात्यमकृत्रिमं, का-
ञ्चनमेव वा चामांकरं वा, गुणैः कल्प्यादिभिः, संयुज्यते सं-
श्लिष्यति, चित्रैर्नानाविधैस्तदुच्यते; तद्वद् रत्नकाञ्चनवत्, आ-
स्ताऽपि जीवः शुश्रुद्धैर्किं पुना रत्नकाञ्चने । इत्यपिशङ्कायाः ।
इत्येताम्-कहापांहाचलुषाऽवलोकयन्तामिति ।

अत्रैव मत्तान्तरमाह-

तत्पुण्यैव शेषस्य, केचिदत्रो मपक्षते ।

आलोचनाद्यज्ञानेन, तथाऽनाज्ञोगसङ्गताम् ॥ १७२ ॥

ना बह्व्यमाणविशेषणानुक्तया वा प्रकृतिः स्वभावस्तथा शेषस्य
सहस्रबंधकाने, केचिन् शान्करा एनां पूर्वमेवा, प्रकृतनेव्या-
कुर्वते, न पुनः सर्वे । कोऽदोमै, इत्याह- आशोचनतायभावेन
आलोचनस्योद्देश्य, आदिशब्दात्पांहास्य, निर्णयस्य, मार्गविषय-
स्याभावेन, तथाऽनाभोगसंगतां, तथा तत्प्रकारः, कथञ्चिदपि
अवस्वरूपाऽनिर्णयको योऽनाज्ञोग उपयागभावेनसंगतां
पूर्वकारणभावेनोपचारितत्वमुक्तमत्र ज्ञानाभोगाद्वारेणिति ॥

एतदेव समर्थयमान आह-

युज्यते चैतदप्येवं, तत्रैव मत्तविषे न यत् ।

तदावेगो भवासङ्ग-स्तस्योर्बैधिनिरिते ॥ १७३ ॥

युज्यते च घटन प्येतदप्यनन्तरं क्व वस्तु, किं पुनः परस्परोक्त-
म् ? इत्यपिशङ्कायाः । एवं यथा केचिन्नप्रकृतने मत्र हेतुः-नोऽस्थ-
न्तमुक्ते, मत्तविषे कर्मबन्धयोम्यतासङ्गणे, न नैव, यद्यस्मात्,
तदावेगो मत्तविषयायः । किंपुनः ? इत्याह-जनासङ्गः संसार-
प्रतिबन्धः, तस्य शेषजीवस्य, उच्चैरन्यत्नं, विलिखन्ते, मनार्गाप
हि तन्निवृत्तौ तस्यापुनर्बंधकत्वमेव स्यात् इत्यपिपारिषद्यैः,
शेषस्य पूर्वस्यैवेति स्थितम् ॥

अथ यां प्रकृतिमाश्रित्य पूर्वमेवा स्यात्तां, तद्विषयं वाऽऽह-
संक्रियायोगतो ज्ञाप, कस्याप्याङ्कतया च यत् ।

तास्विकी प्रकृतिज्ञेया, तदस्या त्पचारतः ॥ १७४ ॥

संज्ञकाऽयोगतो भूयः पुनरपि, तीव्रसंज्ञाप्रयोगेन कल्याणा-
 कृतया च उत्तरोत्तरमववैराग्यादिकद्वयाननिमित्तभावेन वा ।
 यद्यस्याद् वर्तते वा सा तस्यासात्त्विकी वास्तवरूपा, प्रकृतिः
 स्वभावलक्षणं धर्माऽऽजीवस्य ज्ञेया; तदन्या तु तस्या भ-
 न्याः पुनः प्रकृतिरूपधारत उपचारैतरूपा तात्त्विकप्रकृति-
 विभक्त्युत्पात्तस्याः ।

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु, व्यवहारः प्रवर्तते ।

ततश्चाधिकृते वस्तु, नान्यथेति स्थितं ब्रह्मः ॥ १८५ ॥

एनां चैनामिष तात्त्विकीं प्रकृतिं चाभिव्यापेक्ष्य, शास्त्रेषु यो-
 गप्रतिबद्धेषु, व्यवहारः पूर्वसंवादिः, प्रवर्तते प्रह्लापभोयनामिति ।
 तत्तच्च तस्मादेव हेतोर्नाधिकृतं पूर्वसंवालाक्षणं वस्तु तात्त्विकं,
 नान्यथा पुनर्बन्धकं व्यतिरिच्य इति स्थितं प्रतिष्ठितं, हि स्फु-
 टम्, ब्रह्म पतत् ।

तथा-

शान्तोदात्तत्वमप्रैव, शुक्रानुष्ठानसाधनम् ।

सूत्रमज्ञावाहसंयुक्तं, तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥ १८६ ॥

शान्तस्तथाधिभेद्विद्वयकपायविकारविकलः, उदात्त लघोः
 तरायाचक्षुस्थितिबद्धचित्तः । ततः शान्तश्चासावुदात्तश्च
 शान्तोदात्तः, तस्य ज्ञावस्तत्त्वम् । अथैव प्रोक्तप्रकृतौ सत्यां, जा-
 येतं शुक्राऽनुष्ठानसाधनं निरवघातचरस्यकारणम् । तथा-सूत्रम-
 ज्ञावाहसंयुक्तं बन्धमाह्लादिनिपुणभाषयथासौचनयुतम् । अत
 एव तत्त्वसंवेदनानुगं तत्त्वसंवेदनासंज्ञितज्ञानविशेषसमन्वितस्य
 ततः-

शान्तोदात्तः प्रकृतेर्ह, शुत्रज्ञावाश्रयो मतः ।

धन्यो जोगमुखस्यैव, विज्ञातव्यो रूपवान् पुत्रा ॥ १८७ ॥

शान्तोदात्त उक्तः रूपः, प्रकृत्या स्वभावेनेदं जने, शुभभाषाश्रयः
 परिशुद्धचित्तपरिणामस्थानं, मनो जन्तुः । अत्र दृष्टान्तमाह-
 धन्यः सौभाग्यादेवतादिना धनार्हो भोगसुखसंयुक्तं शब्दरूपरस-
 गंधधराशंसवालक्षणस्य यथाऽऽभव्यः, विज्ञातव्यो विभवनायकः,
 रूपवान् शुभशरीरसंस्थानः, युवा तदणः पुमाद् ।

एतदेव व्यतिरेकत आह-

अनीदृश्यस्य च यथा, न भोगमुखसुखस्यम् ।

अशान्तोदात्तस्या शुष्कं, नानुष्ठानं कदाचन ॥ १८८ ॥

अनीदृश्यस्य च धन्यादिविशेषणविकलस्य पुनर्यथा न जोगसु-
 खं शब्दादिविषयानुभवलक्षणम्, उक्तं प्रकृतम्, अशान्तोदृशा-
 तस्तस्यादात्तस्य च । तथा जोगसुखवत्, शुष्कं निर्वाणवन्त्यो-
 जकरूपं नानुष्ठानं देशपुत्रमादि, कदाचन कदाचपि काले ।

तर्हि किं स्यात् १, इत्याशङ्क्याऽऽह-

पिप्याविकल्परूपं तु, द्वयोर्द्वयमपि स्थितम् ।

स्वबुक्तिकल्पनाशिदिव-निर्मितं न तु तत्त्वतः ॥ १८९ ॥

पिप्याविकल्परूपं तु मरुत्तरीचिकादिषु मुग्धस्यगादीनां जला-
 दिप्रतिभासाकारं, पुनर्द्वयोक्तविभक्त्युत्पाद्योर्भोगधामिकयोर्द्वय-
 भाषि भोगसुखानुष्ठानरूपं, किं पुनरैकैकमित्यपिशब्दार्थः । स्थितं

प्रतिष्ठितम् । किमुक्तं प्रथति ?-स्वबुद्धिकल्पनाश्रित्यानिर्मितम् ।
 स्वबुक्तिकल्पना स्वच्छन्दमतिविकल्पकया, सैव शिद्री वैज्ञानि-
 कस्तन निर्मितं घटितम् ; न तु न पुनस्तत्त्वतः परमार्थतत्त्व-
 ज्ञोगसुखं धर्मानुष्ठानं चेति ।

तद्वाच्यनाऽर्थमाह-

जोगाङ्गशक्तिवैकल्यं, द्रिद्रायावौचनस्थयोः ।

सुरूपरागाशङ्के च, कुरुपस्य स्वयंपिति ॥ १९० ॥

इह जोगाङ्गनि रूपादीनि । यदाद वास्तयानः-“ रूपवयोवै-
 क्यरूपसौजात्यमाधुर्वैश्वर्याणि भोगसाधनम् ” इति । तत्रापि कृपा-
 यवोविताङ्गत्वानि प्रधानाणि । एतदेव अत्रयमपेक्षयाऽऽह-
 “ भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं ” भोगाङ्गानां रूपादीनां, शक्येभोगसं-
 नलक्षणाया वैकल्यमत्रावः, द्रिद्रायावौचनस्थयोर्द्विरूपस्य भोगा-
 ङ्गविरदोऽवौचनस्थस्य त्वशक्तिरिति । सुरूपरागाशङ्के च सुरूपं
 प्रांतुमारब्धे स्वगते सुन्दरं संस्थानं रागाऽभिप्रेक्ष्यतिरेकः,
 आशङ्का च श्रौतानुरागवदेहकृपा तस्मिन्, ततः सुरूपरागाश-
 ङ्का च सुरूपरागाशङ्के, पुनः कुरुपस्य तु पुंसः स्वयंपिति
 स्वश्रियामिति ।

ततश्च-

अजिमानमुत्वाभावे, तथा क्रिष्टानुन्तरात्मनः ।

अप्रायशक्तियोगाच्च, नहीन्यं भोगिनः सुखम् ॥ १९१ ॥

अजिमानमुत्वाभावे अदं सुखीत्येव चित्तप्रतिपातरूपलक्षण-
 स्थाजिमानसुखस्याभावे स्मिन्, तथेति विशेषणसमुच्चये । क्रिष्टा-
 न्तरात्मनोऽप्युपयोगेऽप्येन साध्याश्रित्यव्यापयशक्तिः योगाभा-
 वापयस्य निवाहशरीरव्यवच्छेदकस्य वांदायावौचनस्थयोः कुरु-
 पस्य वा रुचिमत्तच्छीटिनाद्यादनादीनां शक्तिसंभवात्, तस्या या-
 गसंभवात्, चः समुच्चयः । कियं, इत्याह-वदि नैवेधमनाश्र-
 वादिशिशिष्टस्य भोगिनः सुखं जोगज यद्विचक्षणं सुभ्यत घट ।
 यथा च तद्भोगसुखमनुष्ठानं च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन
 स्यातां तथाऽऽह-

अतोऽन्यस्य तु धन्यादे-रिदमन्यनसुखस्यम् ।

यथा तथैव शान्तोदः, शुक्रानुष्ठानमित्यपि ॥ १९२ ॥

अतः प्रायुकाङ्क्षागिनः सकाशात्, अन्यस्य तु भन्यप्रकार-
 भाजः, पुनः धन्यादेरुक्तकल्पस्य भोगिन इदं भोगसुखमन्यन-
 सुखम्, शेषजोगसुखान्तराश्रयि यथा स्यात्तथैव, शान्तोदः शान्तो-
 दात्तप्रकृतेरनुष्ठानं प्रस्तुर्नमित्यपेक्षयापेक्ष्यम् ।

एवं सति यन्मत्सदाहा-

क्रोधाद्यबाधिनः शान्तः, उदात्तस्तु महाशयः ।

शुभानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टप्राप्तिसंगतः ॥ १९३ ॥

क्रोधाद्यबाधिनः शान्तः, उदात्तस्तु उदात्तः, पुनर्महाशयो
 गाम्भीर्यादिशुणोपेतवैचन महाचानोः, शुभानुबन्धिपुण्याच्च पु-
 ण्यानुबन्धिनः पुण्यतत्त्वकाश्यायानुबन्धिष्टमतिवस्यतो मार्गा-
 नुत्सारप्रौढप्रह्लातुगतः मन ।

किमित्याह-

ऊढतेऽयमतः प्रायो, नवर्षीनादिगोचरम् ।

कान्ताऽऽदिगतमेयाऽऽदि, तथा भोगीव सुन्दरम् ॥ १९४ ॥

ऊहते वितर्कयति, अयमपुनर्बन्धकः, अतो विशिष्टमतिसा-
गत्यात् प्रायो बहुल्येन । कथम् ? इत्याह—भवषीजादिगोचरं भ-
वषीजं भवकारणम्; आदिशब्दाद्भवस्वरूपं भवफलं च पृथक् ।
यथा—“एस जे अण्णाइजिबे अण्णाइजीवस्स भवत्तं अण्णाइकम्म-
संयोगानिब्बत्तिपे तुक्ककवे तुक्कफले तुक्कआणुअधिंति ” ततो
भवषीजादिगोचरं यत्र तत्तथा, किंवाविशेषणमतत् । अथवा
भवषीजादिगोचरो विषय ऊहरीयतया भवषीजादिगोचरत्त्वम् ।
अत्र दृष्टान्तः—कान्तादिगतगोयादि । कान्ता वट्टमा, आदिश-
ब्दात्तद्व्यग्यायनादिप्रदः । तत्रतं तत्प्रतिबन्धं यद् गेयं गीतम् ।
आदिशब्दाद्गुरुसादिशेषेन्द्रियविषयप्रदः । तथा तत्प्रकारो गे-
यादृशयोग्यां जोगी, स इव सुन्दरं मनोहरदीप्तिव्यविषयस्थान-
मागतमिति । यथा विचक्षणो जोगी सुन्दरं कान्तादिगतगोयादि
ऊहते तथाऽयं भवषीजादिफलमिति भावः ।

यद्योहते तर्थाऽऽह—

प्रकृतेर्भेदयोगेन, नामयो नाम आत्मनः ।

हेत्वजेदादिदं चारु, न्यायमुच्चाऽनुसारतः ॥ १९५ ॥

प्रकृतेः परपरिकल्पितायाः स्वस्वरूपमोक्षोपायाः, स्वप्रक्रिया-
याश्च ज्ञानाश्चरणादिलक्षणायाः, भेदयोगेनैकान्तेनैव भेदेनत्यर्थः ।
न भेदात्समो विसदृशो, नामः परिणामश्चेतन्यक्षानोमीलनादि-
कः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यमानः, आत्मनो जीवस्य स्यात्, किन्तु स-
र्वजीवानां सर्वदैव सम एव प्राप्नोति । कुतः ? इत्याह—हेत्यंभे-
दात् । हेतोः प्रकृतिभेदलक्षणस्याभेदाद् नानात्वात् । नह्य-
भिर्भेदे ही क्वचिदपि फलभेद उपपद्यत इति कृत्वा इदमेकान्-
तेनैव प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामवैधेर्यासाङ्ग्यलक्षणं
वस्तु चारु संगतं वर्तते । कुतः ? इत्याह—न्यायमुच्चाऽनुसा-
रतः, न्यायस्य मुद्रा कृतप्रत्येरेपि परैरनुलक्षणीयत्वाद् राजा-
दिमुद्रावत्, नस्या अनुसारनेऽनुवर्तनात् । तथाहि—यदि प्रकृ-
तिभेदे सत्यापि परिणामनानात्वमात्मन इत्येत, तथा मुक्ताना-
मपि प्राप्नोति, संसारीणां मुक्तानामपि च प्रकृतिभेदाविशेषात् ।

एवं च सर्वस्तथांगा—द्रयमात्मा तथा तथा ।

भवे भवेदतः सर्वे—पास्त्रिस्यारविरोधिनी ॥ १९६ ॥

एवं च प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामनानात्वसाङ्ग्ये सति पुनः
किं स्यादित्याह—सर्वेः निरव्येष्टेप, तद्योगाप्रकृतिभेदात्साङ्ग्य-
अद्वैतक्यापत्तिलक्षणात्, अथय—अपुण्यबंधकथावस्थामा-
भात्सा जीव, तथा तथा नरनरकादिपरिषोभाकार्त्तव भवे सं-
सार, भवेत्स्यात् । अतस्तथा तथा भवेत्सा सर्वप्राप्तिः संसार-
यवर्गवस्थात्सामभरुपाऽस्यात्मनोविरोधिनी अविषयदमना सं-
पद्यते । प्रकृतियोगात्सर्व संसारावस्था, विप्रयोगात् मुक्ता-
वस्थेति भावः ।

सांसिद्धिकमल्लाह यद्वा, न हेतोस्ति सिद्धता ।

तत्रिन्नं पदभेदेऽपि, तत्कामादिभिर्भेदतः ॥ १९७ ॥

सांसिद्धिकमल्लाह आत्मनः परिणामनानात्वसाङ्ग्ये सति पुनः
सांसिद्धिकमल्लं परिहृत्येत्यर्थः । यदेति ऊहस्यैव पदान्तरसू-
चकः । 'न' नैव, हेतोस्त्वस्येभ्रानुरूपेणैव परिणामविभ्रतायां
सांसार्यां सिद्धता प्रमाणप्रतिष्ठिता । ईश्वरं हि अतिस्वकलित-
वैराग्यमान् । यतः पठ्यते—“ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जग-
त्पतेः । येभ्यर्वै सैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ” ॥ १ ॥
१५३

ततः कथमसौ कञ्चानुपुण्यं याश्चिपुण्यं याश्चा? किञ्चासौ योग्याना-
मपेक्ष्य प्रवर्तते, इतरथा वेति द्वयी गतिः । किं चातः? । यदि
प्रथमः पक्षः, तथा सैव योग्याता हेतुः, किञ्चिद्व्यभिचारप्रति-
भ्याम् ? । अथेतरथा, तदा सार्वभौमिकवाचानुपुण्यमिदं प्रह्री स्यात्
न तु विभोगेन, न वा क्वचित्, निमित्तसाभावात् । यतः पठ्यते—
“नित्यं सत्प्रससत्वं वा, हेतोर्गत्यानपेक्षणात् ॥

अपेक्षानो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंसर्गः ” ॥ १ ॥ इति ॥

सांसिद्धिकमल्लमेवात्मनो परिणामवैधेर्यद्वैत इतुः ।
तत्सांसिद्धिकमल्लं, निश्चिं नानारूपम्, यद्यस्मात्कारणात् ।
अभेदेऽपि कथञ्चित्सामान्यरूपतया । एतदपि कुतः ? इत्याह—
तत्कालादिविभेदतः ते शास्त्रान्तरप्रसिद्धा ये कालादयः काल-
स्वभावानियतिपूर्वकतुपुरुषकारलक्षणा इतवः सर्वजनाकार्यज-
नकाः, तेषां विभेदतो वैसदृशात् । इदमुक्तं भवति—कादाचित्के-
दात्सांसिद्धिकं मल्लमात्मना सह जेदाभेदवृत्तिं सद्यतो ना-
नावृत्तं रूपं वर्तते, ततस्तद्वशादेव परिणामवैधिर्यमात्मना-
नुपचरितमेवोपपद्यते, न पुनरीश्वरानुभावात् । प्रागुक्तमुक्तथा
तस्य निराकृतनत्वात्; इति वा विन्ययस्यासिद्धिः ॥

इदमेव समर्थयति—

विरोधिण्यापि चैवं स्या—तथा लोकेऽपि दृश्यते ।

स्वरूपेतरहेतुत्वात्, भेदादेः फलचित्रता ॥ १९८ ॥

विरोधिण्यापि च विद्यतमनैव च सर्वार्थपरिमित्यनुवर्तते, न
पुनः कथञ्चिदपि विरोधिनाः, एवं सांसिद्धिकमल्लाह्येव हेत्वनु-
पगमे सति, स्याद्भवेत् । यथा च विरोधिनी सर्वे प्राप्तिः, तथाऽ-
नन्तरमेव दृश्येति । तथैतं हेतुधन्यत्वात् लोकेऽपि, शास्त्रे
तावद्दृश्येतेषां पश्यादर्थः । दृश्यते विज्ञेयत्वेन । स्वरूपेतरहेतु-
त्वात् स्वरूपेतरहेतुः परिणामिकारणम् । यथा—सुदृग्घटस्य, इतः
पुनर्निर्मितसुहेतुयथा-तस्यैव चकचीवरादि, ताभ्यां तावाश्रित्येत्य-
र्थः । जेदादेभेदाद्वैध, यथायोगं कालस्यैव हेतुमपेक्षया-
भेदात्, इतरापेक्षया च भेदात् । किमित्याह—फलचित्रता कार्या-
णां नानारूपता । यदि हि सृष्टमात्रक एव घटः स्यात्तदा सर्वैष-
यानां सृष्टमयत्याविशेषादेकाकारत्वे स्यात् । तथा बाह्यमात्र-
निमित्तत्वं परिणामिकारणविरुद्धं कुर्मोमादिर्न च कस्यचि-
त्कार्यास्यापत्तिः स्यादिति । स्वरूपेतरहेतु समाश्रित्याभेदवृ-
त्त्या भेदवृत्त्या च कार्यमुपपद्यमानं चित्ररूपतां प्रतिपद्यते । एवं
च सांसिद्धिके मले सर्वजीवानां परिणामिकारणे सति तत्का-
लादिबाह्यकारणस्यैव प्रकृत्यायां चित्रकर्मैक्यधनानां नानापरि-
णामप्राप्त्या सर्वो लोकः शास्त्रप्रसिद्धो नरनरकादिपर्यायः,
तदुपप्रासात् पुनरनुपबन्धकत्वादि यावत्सर्वैकलक्षणप्रमाणलक्षणा
मुक्तिरिति सर्वमनुपचरितमुपपद्यत इत्युच्यते इति ॥

ततः किमित्याह—

एवमूरप्रधानस्य, प्रायो मार्गानुसारिणः ।

एतद्वियोगविषयोऽ—प्येव सम्पक् प्रवर्तते ॥ १९९ ॥

एवमुक्तकरणेण ऊहप्रधानस्य वितर्कसारस्य, प्रायो बहुल्येन,
मार्गानुसारिणो निर्वाणेषुनाकुलस्यापुनर्बन्धकत्वेन क्वचिद-
न्यायाऽपि प्रमुत्तरस्य स्यादिति प्रायो प्रह्वमम् । एतद्वियो-
गविषयोऽपि आत्मना सह प्रकृतिविद्यतनोचकः, किं पुनर्भे-
दवर्षीजादिगोचर इत्यपिशब्दाः । एव ऊहः, सत्यगूहनार्थार्थ-

अपुण्यबंधय

अपिभारः, प्रवर्तते समुन्मीलति । इदमुक्तं भवति-यथा भवथी-
आदिगोचरमतिनिपुणमुदने, तथा कर्मणोत्तमः कर्मणा वियो-
गो घटत एवमन्यूहृत इति ।

एवं सति यत्सिद्धं तदाह-

एवंलक्षणयुक्तस्य, प्रारम्भादेव चापरेः ।

योग लुक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥३००॥

एवंलक्षणयुक्तस्य पूर्वोक्तोह्युणसमन्वितस्य, प्रारम्भादेव प्रा-
रम्भमेव, पूर्वसेवाभक्षणमाश्रित्य, अपरेऽस्तीर्थांतररथियोगो व-
ह्यमाननिरुक्तः, उक्तोऽस्यापुनर्वन्धकस्य, विद्वद्विचिचक्षणैः,
गोपेन्द्रेण योगशास्त्रकृता, यथादितं यत्प्रकारमिदं वस्तु, तथो-
दितमिति । योऽविं० ॥

पुनरपि—

शुद्धप्रप्रेन्दुवत्प्रायो, वर्द्धमानगुणः स्मृतः ।

जवाभिनन्दितोषाणा—मपुनर्वन्धको व्यये ॥ १ ॥

अस्यैव पूर्वस्यैवोक्ता, मुख्योऽन्यस्योपचारतः ।

अस्यावशान्तरं मार्गपतितामिमुन्मी पुनः ॥ ३ ॥

(शुक्लतेति) शुक्लप्रप्रेन्दुवत्पुण्यवत्पुण्यवत्पुण्यवत्, प्रायो बाहुल्येन,
वर्द्धमानाः प्रतिकलमुल्लसन्तो, गुणा श्रीदार्पदाङ्गियादयो य-
स्य भवामिनन्दितोषाणां प्रागुक्तानां सुदृग्वादीनां व्ययऽपगमे
सत्यपुनर्वन्धकः स्मृतः ॥ १ ॥ (अस्यैवति) अस्यैवापुनर्वन्धक-
स्यैवाक्ता शुर्वीपूजालक्षणया पूर्वसेवा, मुख्यया कल्याणशाययो-
गेन विनियत्रिता, अन्यस्यापुनर्वन्धकानिरुक्तस्य सकृदन्धका-
देः, पुनरुपचारतः सा, तथा विप्रवचैराभावात् । मार्गपति-
तमार्गामिमुन्मी पुनरस्यापुनर्वन्धकस्य, अवशान्तरं दशाविशो-
रूपतः, मार्गो हि चेतसोऽप्यकर्ममन् नृजङ्गमनङ्किस्यात्पमनुल्यो
विशिष्टगुणस्थानावामिमुणः स्वस्ववादी कृत्योपशमविशेषः
तत्र प्रविष्टो मार्गपतिनेः मार्गप्रवेशयोग्यभवत्प्रेपपन्धम मार्गो-
न्मिमुक्त्वा इति । नक्षयमेतावपुनर्वन्धकावस्थयाः परन्तवावस्थाजो,
भवदाहावगमयोग्यतया पञ्चत्वकृत्वात्वनयोःरुक्तात्वात् ।

अपुनर्वन्धकस्यैवापुण्येण युक्तम्—

योग्यत्वेऽपि व्यवहितौ, परे त्वेतौ पुण्य जगुः ।

अपुनत्राप्युपचारस्तु, सामीप्ये वहजेदतः ॥ ३ ॥

[योग्यत्वेऽपीति] परे त्वेतौ मार्गपतितमार्गामिमुन्मी योग्यत्वेऽ-
पि अर्वाह्नितावपुनर्वन्धकाङ्कया दूरभावयित्वा, पुण्यगुणवन्ध-
काङ्कितौ जगुः । अन्यत्रापि सकृदन्धकादावपि उपचारस्तु पु-
नर्वन्धकायाः सामीप्येऽपुनर्वन्धकस्थिधानरक्षणमिति, बह्वभेदाना-
सिनेदभावात् ॥ ३ ॥ द्वा० १४ द्वा० १० सू० । बीजाधाना-
सिपुण्यवन्धकस्य । नवावस्थायि फुल्लपरायनेः संसारः (त्र०) न
ह्यसंभवन्तीति महत्साध्यक इति अभ्योऽप्येतद्वालङ्कित्वाऽपुनर्वन्धक
इति तं प्रमुण्येऽसाफल्येनानिबृत्ताधिकारायां प्रकृत्यावेवभूत
इति कापिलाः । न तथा पुनर्वन्धकाङ्कया इति च सीमताः । अपुन-
र्वन्धकास्त्येवन्तुता इति जैनाः । तच्चोऽन्यमेतद्विद्वद्रेण परिभा-
वनीयम् ॥ ल० ॥

अपुण्यवन्ध-अपुनर्जव-त्रि० । न० ब० । पुनर्नवसम्प्रवरहिते,
यतः पुनर्जम न जवति, “सिद्धिसाहायिण्यं सासय-भवत्वाहा-
अपुण्यवन्धं पस्यं सोमं” (अष्टावर्ष्ये), ततः पुनर्नवसम्प्रवा-
जात्वात् । प्रअ० १ आध० ८० ।

अपुण्यवन्ध-अपुनर्जव-त्रि० । अपुनस्तथाजायमाने, “अपु-
ण्यवन्धस्य सिया” अपुनर्जावं स्यात् कर्म, पुनस्तथाऽन्धकत्वेन ।
पं० सं० १ द्वा० ॥

अपुण्यवन्ध-अपुनर्जव-त्रि० । अपुनस्तथाजायमाने, “अपु-
ण्यवन्धस्य सिया” अपुनर्जावं स्यात् कर्म, पुनस्तथाऽन्धकत्वेन ।
पं० सं० १ द्वा० ॥

अपुण्यवन्ध-अपुनर्जव-त्रि० । अपुनस्तथाजायमाने, “अपु-
ण्यवन्धस्य सिया” अपुनर्जावं स्यात् कर्म, पुनस्तथाऽन्धकत्वेन ।
पं० सं० १ द्वा० ॥

अपुण्यवन्ध-अपुनर्जव-त्रि० । अपुनस्तथाजायमाने, “अपु-
ण्यवन्धस्य सिया” अपुनर्जावं स्यात् कर्म, पुनस्तथाऽन्धकत्वेन ।
पं० सं० १ द्वा० ॥

“अपुण्यवन्धः परित्यजेत पुनः, स्यं प्रयातः पुनरोति च मन्दाः ।
गतं गतं नैव तु संनिवर्तेत, जलं वदानी च नृणां च जीवितम् ॥ १ ॥
पं० सं० ४ सू० ।

“दग्धे बीजे यथा-ऽप्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः
कर्मबीजं तथा दग्धे, न रोइति भवाङ्कुरः” ॥ १ ॥ ल० ॥

अपुण्यवन्ध-अपुनर्जव-त्रि० । न० तं । पुनरुक्तिदोषरहिते,

“अपुण्यवन्धो महाविच्छेदोऽस्युच्छेदः” । रा० । जं० । भा० मं० ।

“अनुदानादरवीत्मा-भृशार्थविनिर्माणेदं त्वस्यासु ।

ईपसंभ्रमविस्मय-गणनास्वरणेष्वपुनरुक्तम् ॥ १ ॥ दृशं० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । अविद्यमानपुण्ये, विपा० १

शु० ७ अ० । तीव्रसानोदये वर्तमाने, “सामा णेरुद्याण, प-

वसयती अपुण्यणा” । सूत्र० १ शु० ५ अ० १ उ० । अनार्ये

पापाचारं, भावा० १ शु० ६ अ० १ उ० ।

अपुण्यवन्ध-त्रि० । पूर्वव्यतिरिक्तं, “अदृष्टं अध्याया अपुण्यं”

अपुण्यवन्धः, अपुण्यमनोरथत्वात् । विपा० १ शु० ७ अ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्यवन्ध-अपुण्यवन्ध-त्रि० । न० ब० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुरिसङ्कारपरकम-अपुरुषाकारपाङ्कम-त्रि० । न० ब० । पुरुषकाः पराकामक्य न विद्येते यस्य सोऽपुरुषकारपरकमः । अनिष्ठादितप्रयोजनन निष्ठादितप्रयोजनन वा पौषधामिमानेन रहितेन, विपा० १ भु० ३ अ० ३ । म० ।

अपुरिसवाय-अपुरुषवाद्-(ञ्)-पुं० । स्त्री० । अपुरुषो नपुंसक-स्तुद्धवाः; चाश्वा । वृ० ६ उ० । नपुंसकोऽप्यित्येवचालोपाम्, "अपुरिसवाये वयमाणे, दासवाये वयमाणे, इबेह कल्पस्त" द्वितीयः प्रस्तारः । (व्याख्याऽप्यथ) । स्या० ६ उ० ।

अपुरोहित्य-अपुरोहित-त्रि० । नास्ति पुरोहितो यत्र । शास्तिक-मंकारिरहिते, यत्र तथाधिप्रयोजनमाभावात् पुरोहितो नास्ति । मं० ३ हा० १ उ० ।

अपूर्व-अपूर्वे-त्रि० । न० । अजिनवे मन्यसदृशे, प्रव० ३२४ हा० । प्रति० । अपूर्वपूर्वे, आ० म० द्वि० । अपूर्वकरणे, आ० ब० ४ आ० हा० ॥

अपूर्वकरण-अपूर्वकरण-न० । अपूर्वामपूर्वा कियं गच्छती-तुपूर्वकरणम् । तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघात-गुणभेदगुणसकमाः, अन्यच्च स्थितिकेचनः, इत्येते पञ्चाप्यधिकारा यौगपदेन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम् । आ० ब० १ भु० ७ आ० १ उ० । अप्राप्तं पूर्वमपूर्वम्, स्थितिघात-रसघातात्पूर्वार्थनिवर्तनं वा । अपूर्वत्वं तत्करणं च अपूर्वकरणम् । मथानां सस्यकृत्वाद्यनुगुणं विद्वद्भवत्परिणामविशेषे, आ० म० प्र० । पञ्चा० । वु० । पो० । ('करण'शब्दे तृतीय-जागे ३५६ एव स्थित्यास्यते चैतत्) अपूर्वमजिनवत् प्रथममित्यर्थः । करणे स्थितिघातरसघातगुणभेदगुणसंक्रमस्थिति-रचनायां पञ्चानामर्थानां निर्वर्तनं यस्मात्सात्पूर्वकरणः ।

अष्टमगुणस्थानकं प्रतिपक्षे जीवे, कर्म० । तथादि-बृहत्प्रमाणत्वात् ज्ञानावरणायादिकर्मस्थितेरपवर्तनाकरणेन खगमनमष्टीकरणं स्थितिघात उच्यते । रमस्यापि प्रचुरीभूतस्य स्वनेऽपवर्तनाकरणेन खगमनमष्टीकरणं रसघात उच्यते । एते

हात्पि पूर्वगुणस्थानेषु विगुणेरल्पव्यादृग्वाये कृतवान् । अप्र-पुनर्विद्युत्-प्रकृष्टत्वाद् बृहत्प्रमाणत्वात् अपूर्वाविर्मा करति । तथा अपरितनस्थितेर्विगुण-विशदत्पवर्तनाकरणेनावतरतितस्य दलिकस्यान्तमुहनेप्रमाणमुद्वयस्यतादुपरि क्विप्रतरकृपणाय प्र-तिक्रममन्त्रं यगुणवृद्ध्या विरचनं गुणभोगः । स्थापना- * एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविगुणस्यात् काहतेः जातीयसी दक्षिकर-चनमाभिख्याप्रधीयसीमन्यदलिकस्यापवर्तनाह्वितरचितवान् । इह तु तामेव विगुणस्यादपूर्वा कालतो ह्यस्वतरां दलिकरचनमाभि-त्युत्तुः पुनरतां बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद् विरचयतीति । तथा वद्यमानशुभप्रकृतिपञ्चव्यमानाशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्रम-मसंख्ययगुणवृद्ध्या विगुणिकेशशक्यं गुणसंक्रमः । तमप्यसा-विहापूर्वं करोति । तथा स्थितिं कर्मणामशुद्धत्वात् प्राग्दुष्ठी-यसी बह्वान्, इह तु तामपूर्वा विगुणस्याद्वेह ह्यस्यसी ब-ध्नातीति (स्थितिकेचनः) । अयं चापूर्वकरणो विधा-कृपकाः उपशमकम् । कृपणोपशमनाहंत्वात्तच्चैवमुच्यते, राज्याहंकुमा-राजचत् । न पुनरसौ कृपयन्मुपशमयति वा । कर्म० २ कर्म० । प्रव० । पं० सं० । दश० । अष्ट० । आवा० ।

अपूर्वकरणगुणद्विगुण-अपूर्वकरणगुणस्थानक-न० । अपूर्-वकरणस्य गुणस्थानकमपूर्वकरणगुणस्थानकम् । अष्टमगुण-

स्थानके, प्रव० २२४ हा० । एतच्च गुणस्थानकं प्रपञ्चानां का-लत्रयवर्तिनो नानाजीवानोर्द्वय सामान्यतोऽसंख्येयत्वाकाकाश-प्रदेशप्रमाणान्यप्यवसायस्थानानि भवन्ति । कथं पुनस्तानि नच-तीति विन्येजानुमुहार्थं द्विशेषतोऽपि प्रकल्पते-इह ताव-दिदं गुणस्थानकमन्तुः इहैतकालप्रमाणं भवति । तत्र च प्रथम-समयऽपि वे प्रपञ्चाः, प्रपच्छन्ते, प्रप्रस्थन्ते, च तदपेक्षया जघ-न्यादीन्सुकृष्टान्तास्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणायवसाय-स्थानानि लक्ष्यन्ते, प्रतिपक्षेषु च बृहत्त्वाद्ध्यवसायानां च विवि-त्रत्वादिति भावनीयम् । ननु यदि कालत्रयापेक्षा कियते तदे-तद् गुणस्थानकं प्रतिपञ्चानामन्तान्यप्यवसायस्थानानि कस्माञ्च भवन्ति । अन्तर्जावैरस्य प्रतिपक्षत्वाद्दन्तस्यैरेव च प्रतिपक्ष्यमा-नत्वादिति । सत्यम् । स्यादेवं यदि तदप्रतिपक्षणां सर्वेषां पृथक् पृथक् भिन्नान्येवाध्यवसायस्थानानि स्युः, तत्र नास्ति, बृहत्ताभिर्का-ध्यवसायस्थानवार्तितादापिति । ततो द्वितीयसमये तद्व्यान्-धिकतरापेक्ष्यवसायस्थानानि लक्ष्यन्ते । तृतीयसमये तद्व्यान्-न्यधिकतराणि । चतुर्थसमये तद्व्यान्धिकतराणीत्येवं तावन्ने-यं यावच्चरमसमयः । एतानि च स्थानमानानि विषमचतुर्लकं क्षेत्रमभिध्यान्तुवन्ति । तद्यथा-४००००००० अत्र प्रथमसमयजघ-न्याध्यवसायस्थानात्प्रथमसमयोक्तद्वयमध्यवसायस्थानमन्त-गुणविशुद्धम्, तस्माच्च द्वितीयसमयजघ-नमन्तगुणविशुद्धम्, ततोऽपि त्रितीय-३०००००० समयजघन्यात्तदुक्तद्वयमन्तगु-णविशुद्धम्, तस्माच्च-तृतीय-२००००० समयजघनमन्तगु-णविशुद्धम् । ततोऽपि तदुक्तद्व-१०००० मन्तगुणविशुद्धमि-त्येवं तावन्नयं यावद्ब्रह्मचरमसमयतद्व्यात् चरमसमय-जघन्यमन्तगुणविशुद्धम् ; ततोऽपि तदुक्तद्वयमन्तगुणविशुद्ध-मिति । एकसमयगतानि चास्युध्यवसायस्थानानि परस्परम-ननागवृद्धयसङ्घातताभागवृत्तिकसङ्घातजागवृत्तिसंख्येयगुणवृ-ष्ट्यासंख्यगुणवृद्धयन्तगुणवृत्तिकपदस्थानकपतितानि । युग-पदेनद् गुणस्थानमिद्वितीयं च परस्परमध्यवसायस्थानव्यावृ-त्तलक्षणा निवृत्तिरत्यस्तांति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते । अ-त एवोक्तं मुने-" निवृत्तिं अनियदृश्यादि" । कर्म० ३ कर्म० । प्रव० ।

अपूर्वज्ञानागुणगृहण-अपूर्वज्ञानग्रहण-न० । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणमपूर्वज्ञानग्रहणम् । तत्राप्येदं तीर्थकरनामकर्म-बन्धकारणम् । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणे, आ० म० प्र० । प्रव० ।

अपु (एषु) प्रपु-अपुतोत्पु-त्रि० । अविमनसके, आवा० २ भु० ३ अ० २ उ० ।

अपुहत्त-अपुहत्त्व-त्रि० । अविद्यमानं पृथक्त्व प्रस्तावात्सं-यमयोनेज्यो विमुक्तवत्स्वरूपं यस्मात्सावपुथकत्वः । सहा संयम-योगवति, (सत्त्वं) संयमयोनेज्योऽभिधे, (सत्त्वं) "अपुहत्त्वे तुप्यनिहिप विहरद्" उक्तं ३६ अ० ।

अपुहत्तापुत्राग-अपुहत्त्वानुयोग-पुं० । अनुयोगमन्दे, यत्रैकसि-धेयं सूत्रं सर्वं एव चरशाद्यः प्रकृत्यते, अन्तःतागमपर्यायत्वात् सूत्रस्य । दश० १ अ० ।

अपूर्वा-अपूर्वा-स्त्री० । पूजाभावे, " पूयाऽपूर्वा विद्याऽऽहा " स्था० ५ उ० ३ उ० ।

अपूर्ते-अपूर्त-त्रि० । अनाचरति, अ० म० द्वि० ।

अप्येय

अप्येय-अप्येय-त्रि० । मधमसंस्तरादिके (यातुमनर्द्धे), नि०
बू० २ अ० ।

अप्येयचक्रल-अप्येतचक्रुष-त्रि० । शोचनरहिते, बू० १ उ० ।

अप्येद्वय-अप्येद्वक-त्रि० । अप्येकिण्यि, निरुपेयकिरिमेहयापे-
कक इति । भा० ४ अ० ।

अप्येगाल-अप्येद्वल-पुं० । न विद्यते पुत्रला येनां तेषुद्वलाः
सिखाः । पुत्रलरहिते, स्था० ७ ज० १ उ० ।

अप्येरितिय-अप्येरुषिक-त्रि० । पुरुषः प्रमातृमन्येति पौक्यि-
कम् ; तन्निषेधात्पौक्यिकम् । पुरुषप्रमाणभ्यधिकेऽभाजसा-
दै, 'अथाहमपोरिसियं पत्निलयज्ञा' हा० ५ अ० ।

अप्येरिसी-अप्येरिये-त्रि० । पुरुषः परिमाणं वरुष तपो-
रथेय, तन्निषेधात्पौक्येयम् । पुरुषप्रमाणभ्यधिकेऽभाजे जनार्दी
" अथाहमतामपोरिसियं ति " हा० १४ अ० । पुरुषणात्त-
क्येन, अर्धेयकेन चैव, वेदाकारणभ्याश्रयमाख्यात् । स्था० १०
ज० । हा० । पं० ७ । न० । (वेदान्तपौक्येयवाचिमर्शः 'आगम'
शब्दे द्वितीयभागे ३३ पुष्टे प्रतिपाद्यमिथं)

अप्येह-अप्येह-पुं० । अप्येहनमपोहः । निष्क्ये, "होह अप्येहो
वासे" । अप्येहस्तावत् किमुच्यते ? इत्याह-अपोहो अथत्य-
पायः । योऽथमपोहः स नमिहाननुर्यायमर्दोऽप्याय इत्यर्थः ।
विदो० । न० । उकिमुक्यथां विरुद्धाद्यौ हिमादिकात्
प्रत्ययाभ्यासनेने । विद्यासहान्, (घ०) एष यथो बुकिमुपा ।
घ० १ अथि० । पुष्पाभ्ये, तस्सक्यायां प्रतिश्लेखनायां च तथा
नङ्गुषा निष्पद्यति यदि नच सस्त्रस्मनयो भवति, तत उद्धार-
कराति स्त्रानामन्यसोमे स्ति, स चापोहः प्रतिश्लेखना नप्रति ।
आपोहः । षोडशमित्तम आद्यधिके, तथाहि-अपोहवादिना बु-
द्ध्याकारो बाह्यरूपस्या गृहीतः दान्यार्थे इतीधने । यथा-
कम्- " तद्व्याऽऽरोपणयाऽप्ये-व्यावृत्त्यधिकानेः पुनः । शब्दा-
र्थोऽर्थः स एवति, वचनेन-विकल्पत " ॥ १ ॥ इति । लम्ब० २ ।
कात्तः । (विशेषस्तु शब्दार्थानिरूपणावसरं 'सदृश्य' शब्देऽपोह
विचारो कृत्यः)

अप्ये-अत्य-त्रि० । स्तोके, सूत्र० १ शु० ५ अ० २ अ० । प्रा-
चा० । पि० । प्रहा० । औ० । प्रश्न० । आवा० । स्था० । चं० प्र०
नि० बू० । हा० बू० । इमांवे, आचा० १ शु० ७ अ० ६ उ० ।
उत्त० । अनु० । हा० म० । रा० । अत्येवशब्दा भाववाचकः ।
स्था० ७ ज० । शु० ।

अप्ये (सु)-आत्यन्-पुं० । अत साताययमेव । अतति सतते ग-
च्छति विशुद्धिसंस्कारात्मकपरिणामात्तराणीत्यात्मा । उत्त० १ अ० ।
आ० बू० । अत् अनित्यं, शाङ्गते- "अस्मात्सतेः यो वा " ॥ १ ॥
५ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य वा यः । प्रा० । जीवे, धर्मे, मन-
सि, बुद्धौ, बुद्धौ, अर्के, वस्त्रौ, वायौ, स्वर्गेषु च । "अप्या चव
इदरे" आत्मना स्वयमेव । अ० १, हा० ३ उ० । "अप्या अ-
प्यं कर्मफलं करिष्ये " आत्मनाऽऽत्मनः कर्मफलं कर्तुमिति ।
हा० ५ अ० । हा० चा० । " अप्यानां भासाय परिश्रामं "
स्वभावापरिणामेनेत्यर्थः । उत्त० २ अ० । " अप्या ण् ई वर-
णी, अप्या मे कृतसामन्ती " उत्त० २० अ० । ईदं, आत्मन आ-
धारभूतयात् । उत्त० ३ अ० । (आस्मिन्नेव भागे 'अवाह'
शब्दे ३२५ पुष्टे वृत्त्यात्मनेत्यर्थे)

अप्येउद्वदुप्यउद्वुत्तुप्युत्तुवसवण्य-अप्येद्वदुप्यउद्वुत्तुवसवण्य-
न० । अप्येकं अनिना संस्कृतं, दुष्कं चार्द्धस्विकं तुष्कं च नि-
सारमिति द्रष्टः । तेषां, धान्यानामिति गम्यम् । अङ्गमस-
नं नदेव स्वाधिकं कल्पये सति अप्येकद्वुप्यउद्वुत्तुवसवण्यकम् ।
भोगपरिमोयोगनेनानुसृष्टातिवादे, पञ्चा० १ विव० ॥

अप्येआय-अप्येयोजन-न० । अप्येयोजने निष्कारणतायाम्,
अनर्थोऽप्येयोजनमनुययोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । भाव०
६ अ० ।

अप्येद-अप्येयाद-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्येद्वय-अप्येद्वय-त्रि० । अत्ययव्याप्ति क्रीटादीनां यत्र
तद्व्यापकम् । अप्येयशब्दोऽन्ताभवे वनेत । अप्येकरहिते,
भावा० १ शु० ८ अ० ६ उ० ॥

जा पुण जहुत्तदोसे-दिदं वजिया कारिया सअट्ठाए ।
परिकम्पविप्यसुका, मा वसही अप्यकिरियाओ ।
या पुनयेधोक्कदेयेः काज्ञानिकान्दालिक्कवेजित्त । केवत्त
स्वस्यामेनाऽथोय कारिता परिकमेवा च विप्रमुका; स्वस्वपि
परिकमेयः स्वत एवाप प्रवसित्त्वाव, सा वसतिस्वरूपाया
वेदित्तया ।

सम्यति यत्तनां दशयित्तुका म इमाह-
हिद्विहा उवरिहा-दिदं बाहिया न उ लज्जति पाहम् ।
पुत्थाण्णासजिण्णेषु, चउभय पच्छिमाऽभिनवा ॥
अथस्मय उपपत्तान्निबोधन्ते, बाधिताश्च स्वतो मनु मेव, सज्जे-
ते प्राधान्यम् । इयमत्र भावना-नवाऽपि वसतयः क्रमणं स्थापयन्ते
त आर्यत्वात् निर्दोष्यति प्रथमम् । तद्यथा-अप्यकिरिया, कात्वाति,
क्रान्ता, उपस्थाना, धर्मिकात्ता, अनधिकान्ता, पर्याया, महाशब्दा,
सावया, महासावया च । अत्राश्रयन्ती अप्यकिरिया, अस्यां यद्दि

आतिरिक्तं काष्ठं तिष्ठति ततः सा काष्ठातिक्रान्ता, या बाध्यते सा काष्ठातिक्रान्ता भवतीति ज्ञायम् । काष्ठातिक्रान्तामपि यदि प्रागजिहितस्वकां काष्ठमर्यादां विभूषां विभूषामपरीक्ष्योपासकच्छति, ततः सा उपस्थानया बाध्यते, उपस्थाना भवतीति भावः । एवं यथासंभवमुपयुज्य चकलयम् । (पुष्पापुष्प लि) आसौ सं नधानां शय्यानां मध्ये काष्ठातिक्रान्ता पूर्वा सा अनुकान्ता, अल्पकियाया अकान्ता सा आश्रयणीया इति ज्ञायः । तस्या अप्यभावे शेषार्थानां पूर्वा उपस्थाना सा अनुकान्ता, एवं या या पूर्वा सा सा अनुकान्ता तावद्वक्तव्या यावत् सावधायाः महासावधायाः पूर्वा सा अनुकान्ता । एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या अज्ञाने उत्तरस्या उत्तरस्या अनुकान्ता वेदितव्या । अग्निचं (चरसु भयत्सि) अतस्त्वु वसन्तिपु, अग्निचंति शोषः संशय्यते । अग्निचं वेद्यं नृज विकलय, कदाचिन्नवति कदाचिन्न भवतीति ज्ञानं । ईत्यर्थः । अत्रापीये प्रावना-भवतिक्षात्तायामपीरुजुकेति कृत्या चित्कानायामप्यग्निचंवेद्यो ज्ञयति । यद्यपिद्विपु पुनर्यं अपरिजुकास्तासु नाग्निचंवेद्यः । एवा भजना परिष्मा । (अग्निचं लि) परिष्मा नाम महासाव-धोपाध्यः, तस्मिन् अग्निचंवेद्ये वा चिरकृते वा अपरिजुके वा अग्निचंवेद्यो भवन्ति, एकपक्षनिर्देशरणात् । एतैर्भूषणुणा-दिद्वैपैर्यः परिदृष्टं जानाति, स प्रहृष्टं कल्पिकः ।

कथं पुनर्जानाति परिदृष्टं ? इति चेद्, आह-

उगमउप्यायणए-मणादिं सुदं गवेमए वसहिं ।

तिविहं तिहिं विमुक्कं, परिहर नत्रगेण जेदेणं ॥

उगमन, उप्यायनया, एषणया, शुद्धां वसतिं गवेययति । तत्र अयाणां पदानामप्यौ अज्ञाः । सेपु कोपरिननेपु ससुसु अहृष्यशुजां परिदृष्टं यो जानाति स प्रहृष्टं कल्पिकः । कथंभूनां वसन्तिमु-द्रादिद्विष्ठां गधेषयति ? इत्यत्र आह-त्रिविधां क्षातादिनेदन्-स्त्रिप्रकारात् । तथा-त्रिभिर्भेदसा वाचा कायेन च, विमुक्कां गवेययति । तथा-क्ष्मात्सु । स्त्रिष्ठां उप वसतिं । रुद्रमाद्य शुद्धा नत्रकेन भेदेन परिदृष्टति । तद्यथा-मनसा न शुद्धाति, नापि प्राहयति, नापि शुद्धमनुजानाति । एवं वाचा कायेन च वक्तव्यमिति ।

पटियसुयगुणियधारिय, उवउचो जो जणो परिहरति ।

आज्ञोयणमारियए, आयरिउ निसोहिकारो से ॥

अस्या व्याख्या प्राग्बन्तु । उक्तः शय्याकल्पिकः । वृ० १ उ० ।

इदानीमल्पकियाऽभिधानमधिकृत्याऽह-

इह स्वसु पाईयां वा धु जाव ते रोयमाणहिं अप्यणो मयचा-
ह तस्य तस्य अगाराहिं अगाराइं चेइयाइं भवति, तं आ-
एमणाणि वा० जाव गिहाणि वा मइया पुडविकायसमारं-
जेणं जाव अगणिकाए वा उज्जालिपुण्ठेव जवति । जे जयं-
तरो तहप्पमाराइं आपमणाणि वा० जाव गिहाणि वा उ-
वागच्छंति, इतरा इतरेदिं पाहुदेहिं एगपक्कं ते कम्म सेवेति,
अयमाउसो अप्यसावज्जना किरिया वि जवति । एवं स्वसु
दसस भिक्खुसस वा जिक्खुणी वा सामगिर्यं ।

इहेत्यादि सुगममः नवरं अलशब्दोऽभावधावन्ति । एत-
त्स्य निजोः स्वामय्यं संपूर्णो भिक्खुणश्च इति । " काष्ठा-
१५४

कुंतुवघाणा अभिक्रता चेव अप्यभिक्रता य वया प महावज्जा
सावउजमहृष्यकरिया य " एताश्च नव वसतयो यथाक्रमं नव-
भिरनन्तरसूत्रैः प्रतिपादिताः । आसा च अभिक्रान्ताऽल्पकिये
योग्यं, शेषास्त्वयोग्या इति । भाषा० २ पु० २ अ० २ उ० ॥

वसतिपरिकर्मेन्द्रादयत्नेषामिदं-

से य णो सुदनेणे फासुए उंजे अइसेणिजे णो य खल्लु
सुक्के इमंदिं पाहुदेहिं तं आअणओ सेवणओ, संघारउ-
चारापिहुणाओ पिंदवातेसणओ ॥

इहानन्तरसूत्रे अल्पकिया शुद्धा वसतिरभिहितः, इहाप्यादि-
सूत्रेण तत्रिपरीतीं द्वायेतुमाह-(से इत्यादि) अत्र च कदा-
चिन्म कश्चित्सायुवेसत्यन्वयणार्थे महापार्ये वा एदपतिकुंभं
प्रथियः सन् कश्चिन्कुम्बोत्प्रेषणार्थे महापार्ये । यद्यथा-प्रसूताप-
पानोऽयं धामः, अतोऽत्र भवतो वसतिं प्रतिशुद्धं स्यात्तं युक्तम्
इत्ययमितिदः सखवमाचक्रौत-न कवत्तं पिपदपातः प्रासुको
कुम्भेनस्तद् वासावपि यथासौ भुज्यते स च प्रासुक आधाकम्माहि-
रहितः प्रतिश्रयो दुर्लभः । (उक्ते लि) आहनापुत्तरगुणोपर-
हितः । एतदेव द्वायेति (अहसंणिज्ज लि) यथाऽसौ मूलोत्तर-
गुणोपरहितत्वेनेषणीयां भवति, तथाऽसौ दुर्लभ इति ।

ते चामी सूक्ष्मरगुणाः-

" पट्टी वेसो दो धा-रणाह चत्तारिं मूहेभहिओ ।

सुलमुणोर्दं विमुक्का, एसा य अरागडा वसहो ॥ १ ॥

वेसगकडणो कएण-अयणवेवणहुवारत्तमी य ।

परिकम्मविप्यमुक्का, एसा सुलत्तरमुणु ॥ २ ॥

दुमियधुमियवासिय-उज्जविय वलि कडा अरवसा य ।

सिप्पा सम्मघा वि य, विंसोहिकोमी गयी वसहो ॥ ३ ॥

अत्र च प्राशयः सर्वत्र संभवितापुत्तरगुणानाम्, तावैव दर्शो-
यति । न चासौ शुद्धो भवत्यमीभिः कर्मोपादानकर्मभिः । त-
द्यथा-गान्धनो दर्शोदिना, जेपनतो गोमयादिना, संस्तारक-
मपवर्तकमाभित्य, तथा द्वारमाभित्य वृहत्सुत्वापादनतः,
तथा द्वारस्वगनं कपाटमाभित्य, तथा पिण्डपातैषणमाभित्य ।
तथादि-कस्मिंश्चित्प्रतिश्रये प्रतिवसतः साधुत्वं शय्यानरपि-
रगनोपनिमन्त्रयेत्, तद्गृहं निर्धिकाचरणं, अग्रहं तत्रग्रेवादि सं-
प्रवः । इत्यादिजिक्खरगुणैः शुद्धः प्रतिश्रयो दुःपातः शुद्धे च प्रति-
श्रये साधुना स्थानादि विधेयम् । यत् उक्तम्-" सुलत्तरगुणसुं,
धीपसुंउज्जवियज्जं वसहिं । सेवज्ज सव्वकासं, विवज्जए
होति दाम्माओ ॥ १ ॥ सूक्ष्मरगुणशुद्धावासावपि स्वाध्या-
यादिभूमिसमन्विता विविकं दुःपात इति । भाषा० २ पु० २
अ० ३ उ० ।

अप्यकिलंत-अल्पकान्त-त्रि० । अल्पं स्तोत्रं कान्तं ह्रमो येषां ते
द्वल्पकान्ताः । अप्यवेवनेपु, य० २ अधि० । " अणवजो भे कतामो
अप्यकिलंताणं बहुसुभेण दिवसे वरकन्ते ॥ आच० ३ अ० ।

अप्यकुक्कुट्ठय-अल्पकौकुच्य-त्रि० । ६ व० । अल्पसम्पन्ने,
करादिनिरल्पमेव चक्षति, अल्पशब्दोऽनायवाची, अल्पमसत्,
" कुक्कुट्यं कौकुच्यं करचरणासूत्रमणादसत्प्राप्तमकस्येत्तल्पकौ-
कुच्यः । हस्तपादशिरःप्रसूक्षशरीराशययानपुन्यामि, " मिलि-
एज्जऽप्यकुक्कुट्ठय " । उक्त० १ उ० ॥

अप्यकौउहृष्ट-अल्पकौद्वल-त्रि० । ६ व० । स्त्रीरूपदर्शो-

नविषु अविद्यमानकौतूहले, अल्पशब्दस्यहाविद्यमानार्थेत्वात् । वृ० ३ उ० ।

अप्यकोह-अल्पकोध-पुं० । अविद्यमानकथायमेवे, प्राचाय-मोदरिकां प्रतिपन्न, औ० ।

अप्यकस्वर-अप्याकृर-न० । अत्याव्यङ्ग्याणि यस्मिन्सद्व्या-कृतम् । औ० । मितार्क, गुणार्थात् स्व, यथा सामायिकसूत्रम् । अप्रनूनाकारे, विशेष० । औ० । अत्रु० । आ० म० । " अप्यकस्वरं महत्त्वं अणुभाहृत्यं सुविहिषाणं " ओष० ।

अप्यकस्वरं महत्त्वं, महकस्वरऽप्यस्य दासु वि महत्त्वं । दासु वि अप्यं च तथा, जणियं सत्यं चउत्रियण्यो?३॥

अत्र च चतुर्भेदिका-अप्यकस्वरं नि। अद्याव्यङ्ग्याणि यस्मिन् नद-व्याकारं, स्तोत्राकारमित्यर्थः । (महत्त्वं चि) महात्त्वं यस्मिन् नत महति, प्रनूनामित्यर्थः । तत्रैकं शास्त्रं अत्याकरं जवति महात्त्वं च, प्रथमो नङ्कः । अद्याव्यङ्ग्यकृतं भवति ? (महकस्वरऽप्यस्य) महाकरं, प्रनूनाकरं भवतीति इत्यर्थः । अद्याव्यं, स्वराद्य-मित्ति इत्ययं, चित्तीयो नङ्कः । अद्याव्यङ्ग्यकृतं भवति ? (दासु वि महत्त्वं) इत्यारपीति अकारार्थयोः धनव्यादकारार्थो-प्रयं परिपुष्टाने । एतदुक्तं भवति-प्रनूनाकरं प्रनूनायं च, तुनी-यो नङ्कः । तथाऽप्यत् किञ्चतं जवति ?, इत्याह- (दासु वि अप्यं च तथा) इत्येवमि अप्यम, अकारार्थयोः । एतदुक्तं भवति-अप्याक-रमवर्थायै चेति । तथ्यति-तेन आगमोक्तप्रकारेण, जणितमुक्त, शास्त्रं, चतुर्विकल्पं चउत्रियधिमिष्यतेः ।

अधुना चतुर्णामपि ज्ञिकानामुदाहरणदर्शनाधीमियं गाथा-सामायारि। आह, शापयन्मया य दिह्निवाश्रयं य । लोह्य कथानादि अणु-कमाय पकरेति कारणा चउरो? ४।

अप्यनामाकारं प्रथमभङ्गके उदाहरणं भवति । ततः प्रनूना कृतमन्वर्थे चेति द्वितीयकमः । आनाथयनादिप्राक् प्रथम-भुनक्तस्ये तेषु कथानकायुच्यते । ततः प्रनूनाकृतत्वमप्यार्थं चेति द्वितीयनङ्कके आनाथयनायुदाहरणम् । चशब्दाद्व्यञ्ज्य यदस्यां कौटौ व्यवस्थितमहाद्वियादश्च तुनीयभङ्गके उदाहरणम् । यतोऽसौ प्रनूनाकारः प्रनूनायंश्च, चशब्दात्तद्वेदशोऽपि । चतु-र्भेदादाहरणप्रतिपादनायमाह- (लोह्य कथानादि चि) शौकिकं चतुर्भेदादाहरणम्, किञ्चतं ?, कथामावि । आदिशब्दाच्छिव-मद्वादिप्रहः । (अणुक्रम चि) अनुक्रमार्थेति । अनुक्रमेण परिपा-ठ्यं तुनीयायै पञ्चमी । कारकाणि कुर्वन्तीति कारकायुदाह-रान्मुच्यन्ते । चत्वारिती । यथासं-धेनैवेति । ओष० ।

अप्यम-आत्मनु-पुं० । स्वस्मिद्, " जह् अप्यं न साहयामि तो कर्हं अन्नं विणिमतां नगराश्रो " । आ० ४ प्र० । आचा० । सूत्र० । प्रश्न० ।

अप्यगास-अप्रकाशा-पुं० । अन्धकारे, नि० चू० १ उ० ।

अप्यगुत्ता-देशी-कपकच्युताम, दे० ना० १ वर्मं ।

अप्यचित्तय-आत्मचित्तक-पुं० । अभ्युद्यतमार्गं वा प्रतिपत्तुं निश्चिते, स्व० १० उ० ।

अप्यउदय-अल्पचन्द्रमति-त्रि० । आत्मचन्द्रा अत्मावसा मानस्येस्य कायेष्वसायात्मचन्द्रमतिः । स्वानिप्रायकार्यकारिणि, "कस्ल न होहो। घमो, अणव्युद्यगतो निरुवगरी य । अप्यचन्द्र-दमई तो, पट्टियतो गुंतुकामो य " । आ० म० प्र० । विश० ।

अप्यउज-पू-आत्मक-त्रि० । आत्मानं जानातीति आत्मकः । "हो अः" ८। १८३ । इति सूत्रेण अस्य वा सुक्त । याथास्थान-तन्तत्त्वज्ञानति, प्रा० । अपरावचने, नि० चू० १ उ० ।

अप्यजोह-आत्मज्योतिष्-पुं० । आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽयमा-त्मज्योतिः । आनात्मके पुरुषे, वेदे ह्ययं पुरुष आत्मज्योतिष्कृता-भिधीयते ।

अत्यमिप आरात्रे, चदे संतासु अग्निवायासु । किं जोहर्यं पुरिसां ?, अप्यजोह चि णिहोहो ॥

अस्तमिते आदित्ये, चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नी, शान्तार्थां वाचि याहवल्क्य- " किं ज्योतिरेवाय पुरुषः ?, आत्मज्योतिः सन्न-मिति होवाच " । ज्योतिरिति ज्ञानमाह, आदित्यास्तमयाह । किं ज्योतिः ? इत्याह-अयं पुरुष इति, पुरुष आत्मार्थः । अयं च कथंभूतः ? इत्याह- (अप्यजोह चि) आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽय-मात्मज्योतिः, आनात्मक इति इत्ययम् । निर्विष्टा वेदविद्वान्मः कथितः, ततो न ज्ञानं भूतधमे इत्यर्थः । विशेष० ॥

अप्यउजो-देशी-आत्मवशे, दे० ना० १ वर्मं ॥

अप्यजोह-अप्यजोह-त्रि० । विगततथाविगमिप्रकर्णवचने, आ० ८ प्र० । न० । आवायमोदरिकां प्रतिपन्न, रा० ।

अप्यकिनेटय-अप्रतिक्राटक-त्रि० । न विद्यते प्रतिमङ्कः कण्टको यत्र तदप्रतिकण्टकम् । अप्रतिमङ्क, रा० ॥

अप्यदिवरिय-अप्रतिवृत्त-पुं० । आशौचिके काले, "अप्यदिव-रियं कालं घेत्सुण य चयप " प्राशौचिककालं यथा साधवः प्र-तिज्ञागरितं शुक्लानि । वृ० १ उ० ।

अप्यण-आन्याय-त्रि० । अपयज्ञे, " शीघ्रादीनां बहिह्लाद्यः " ८ । ४ । ४२२ । इति सूत्रेण आत्मोयस्य 'अप्यण' इत्यादेशः स्वकीये, " फोर्मेति जोह अत्रु उ अप्यणं " । प्रा० । स्वस्मिन्, उच० १ अ० । प्रश्न० । च० प्र० । शरीरे, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

अप्यणाउन्द-आत्मचन्द्र-त्रि० । स्वतन्त्रे, " बहि एतत् तं घरु क-हि किं च नदं जेत्सु कुटुंबेत् अप्यण-उन्दं " । प्रा० ।

अप्यणाहु-आत्मार्थ-त्रि० । अनेन मे जीविका भविष्यतीति । स्वायं, दर्श० ।

अप्यारय-आन्याय-त्रि० । प्राहते- " इयस्मान्मे णयः " । ८ । २ । १५३ । इति सूत्रेण आत्मनः परस्य यस्य अय इत्यादेशः । स्वकीये, प्रा० ।

अप्यणाण-आत्मज्ञान-न० । ६ त० । वादाद्विद्यापारकस्त्रे किममुं प्रतिवादिनं जेतुं मम शक्तिरस्ति नयेति आलाचनकपे प्रयोगमतिपञ्जरे, उच० १५ अ० । आत्मपरिज्ञानमित्यप्यत्र । ध० २० ।

अप्यणिज-आन्याय-त्रि० । स्वकीये, "अप्यणिज्जिवाप महि-लाप " । आ० म० त्रि० । नि० चू० । दशा० ।

अप्यणो-स्वयम्-अणु० । स्वयमित्यवयवार्थे, "स्वयमोऽयं अप्य-णो न या " । ८ । २ । २०६ । इति सूत्रेण स्वयमित्यवयवार्थे 'अ-प्यणो' इत्यस्य वा प्रयोगः । " विसयं विज्जसंति अप्यणा कम-लसरा " । पञ्ज- 'सयं चैव मुणसि करणिजो' । प्रा० । "अप्यणो

सेसयाहं ति" आत्मन आत्मीयानि । विपा० १ सु० २ अ० ।
अप्यतर-अन्यतर-त्रि० । अतिशयिते स्तोके, " अप्यतराय से
पाये कर्मै कज्जह" । अ० १ अ० ६ उ० । आचा० । सु० ० ।

अप्यतरबंध-अप्यतरबन्ध-पुं० । अप्यत्वे कर्मणो बन्धे, यदा त्व-
यधिधादिबहुबन्धको भूत्वा पुनरपि समविधात्पत्यतरबन्धको
भवति स एव प्रथमसमय एवावपत्यतरबन्धः (कर्म०) ।
यदा तु प्रमुताः प्रकृतोबंधन परिणामविशेषतः स्तोकां बहुमा-
रजते यथाऽष्टौ बन्धा सत बध्नन्ति; सत वा बन्धा परं वा बन्धा
एकां, तदानीं स बन्धोऽप्यतरः । तथा आऽऽह-" एवावकल्प-
बिद्भ्या" एकान्दिभिरकस्त्रिधादिभिः प्रकृतिरूपाने बन्धे चित्तो-
यप्रकारः, अवपनर इत्यर्थः । कर्म० ५ कर्म० ।

अप्यतुभन्तुम-अप्यतुभन्तुम-त्रि० । विगतक्रोधमनेविकाराविशेषे,
आ० ८ ज० ।

अप्यत्-अप्यत्त्व-न० । तुच्छत्वे, पं० घ० ४ द्वा० ।

अप्यत्तिय-अप्रीतिक-न० । अप्यत्वान्तपाकपम । अप्रमिति, अ० ७
दृ० १ उ० । घ० । आ० म० । दृश० । अप्रीतिस्त्वभावे, अ० १३
दृ० १ उ० । मनसः पीडायात्, आचा० २ सु० ७ अ० २ उ० ।
क्रोधे, सु० १ सु० १ अ० २ उ० । अपकरणे, नि० चू० १ उ० ।

अप्यत्थाम-अप्यत्थाम्-त्रि० । अल्पसामर्थ्ये, सु० १ सु० २
अ० ३ उ० ।

अप्यपथ-अप्यपथ-त्रि० । अल्पमूल्ये, " महाघणे अप्यघणे
व वत्ये, मुचिञ्जनी जो अविचिन्भावे" वृ० ३ उ० ।

अप्यपत्सग-अप्यपदेशक-त्रि० । अपयं स्तोकां प्रदेशार्थं कर्म
दक्षिकपरमाणं यन्त्यसः । स्तोकाप्रदेशार्थकं कर्मणि, प्र० १
श० १ उ० ।

अप्यपजवजाय-अप्यपत्र्यायजात-न० । अल्पे तुचादौ त्व-
जनये, घ० ३ अचि० ।

अप्यपणियति-आत्मपरनिवृत्ति-स्त्री० । आत्मनः परेषां च प-
रेभ्यो निवृत्तौ, आलोचनाप्रदानः स्वयमात्मनो दोषेभ्यो निवृ-
त्तः, कृतानां तद् दृष्ट्वाऽप्यन्ते आलोचनामिमुखा भवन्तीत्यप्येवा-
र्मपि दोषेभ्यो नियन्तमिति ॥ अ० १ उ० ॥

अप्यपरिग्रह-अप्यपरिग्रह-पुं० । अल्पधनधन्यादिस्वीकारे, स्त्री० ।

अप्यपरिस्त्राय-अप्यपरित्याग-पुं० । स्ववत्तरगुणपरिहारं,
पञ्जा० १८ विव० ।

अप्यप्राण-अप्यप्राण-त्रि० । अल्पशब्दाऽभाषाभिषाषी तथे-
हापि, सूत्रेणन मन्वर्धीयश्लेषान् प्राणः प्राणिनः, अल्पा अविद्य-
मानाः प्राणिनो यस्मिन्स्वदृष्टप्राणमेतं, अत्रस्थितागन्तुकर्त्त-
विवरहिते उपाधयार्थे, उक्त० १ अ० । अल्पः प्राणः प्राणन-
क्रिया यस्मिन् । यद्येनेदं, यन्मोक्षारणे अल्पप्राणवाच्योव्यापारस्त-
स्मिन्, स च शिहावास्तुक्तः-"अमुष्मा वर्गयमगाः यथास्वास्त-
वः स्तुताः" इति । तथा च वर्गेषु प्रथममूर्तीयपञ्चमवर्गोः य-
मगा बवर्लाम्ब अल्पसवः । नादशवर्णोच्चारणशास्त्रप्रत्यये,
बाह्यवर्गस्तु एकदशधा-विचारः संवारः आसौ नादो घोषो-
ऽयोर्वाऽप्यप्रयोगो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति ।
अल्पः प्राणः प्राणहेतुकं सलमस्य । अल्पवर्गं, त्रि० । वाच० ।

अप्यपापासि (ष)-अप्यपापान्-शिन-त्रि० । अल्पं पापमधि-

तुं शोभमस्यासावल्पपापानी । यत्किञ्चन पापपातरे, सु० १
सु० ८ म० ।

अप्यपिदामि (ष)-अप्यपिएका शिन-त्रि० । अल्पं स्तोके
पिण्डमग्निषु शौलमस्यासावल्पपिडारी । यत्किञ्चनशिभि,
तथा च आगमः-"हे जन्तवः! आनीय, अथ तस्य वसुधैवकु-
र्यान्निहा । जेण व तेण व संतु-इ परिमुणिआ सिते अण्णा" ॥१॥
सु० १ सु० ६ अ० ।

अप्यपविरि (ष)-अप्यपज्जिन-त्रि० । स्तोकाहारकारिण्ये,
उक्त० १५ अ० ।

अप्यपव-अप्यपव-पुं० । परितसांसारिकत्वे, प्रति० ।

अप्यपनासि (ष)-अप्यपाजिन-त्रि० । कारणे परिमितव-
र्कत, दृश० ८ अ० । " अप्यं भासिञ्च सुख्यं" । तथा सुमनः
साधुरत्वे परिमितं हितं च भावेन, स्वधेदा विकथारहितं भवे-
दित्यर्थः । सु० १ सु० ९ अ० ।

अप्यप्यू-अप्यप्यू-त्रि० । अल्पसत्त्वे, स्था० ४ ज० १ उ० ।

अप्यप्यह-अप्यप्यति-त्रि० । अल्पवृद्धौ, क० प्र० ।

अप्यपट्ट्याजरण-अप्यपट्ट्याजरण-त्रि० । अल्पानि स्तोके-
भारवन्ति महाघांभरपानि बहुमूल्यवद्बुधपणानि यस्यासौ तत्त-
था । अल्पभारवद्द्रुममूल्यनृपयुके, " यदाय सुदुष्पयसाहं
अप्यमहग्घानरण्णा सास्रो गिहासो पदिनिक्कमह" उपा० १ अ० ।

अप्यपर-अप्यपर-त्रि० । अल्पमिति अविद्यमानं रतमिति की-
रितं मोहनीयकर्मोदयजनितमस्थेति अप्यपरः। कीर्त्ताविरहिते इ-
वसतमादौ, उक्त० १ अ० । कयद्रुपरिगते कयद्रुयनकदपरतर-
हिते, दृश० ९ अ० ५ उ० ।

अप्यपरजस-त्रि० । रजोरहिते, उक्त० २ अ० । प्रतनुबन्धमानक-
र्मणि, " सिक्के वा इवह सासय देवे वा अप्यपर महिद्धिये"
उक्त० १ अ० ।

अप्यलाल्लदि-अप्यलाल्लदि-पुं० । अल्पा तुच्चा वक्ष्यपा-
त्रादिलानि लभियेस्य सोऽप्यलाल्लनिभिः । क्रोधेन वक्ष्यप्राप्ता-
त्पदके, वृ० १ उ० ।

अप्यल्लोण-अप्यल्लोण-त्रि० । असंबन्धे तीर्थिकेषु गृहभेषु पाशं-
खादियु संस्तेपमकुर्वन्ति, " अशुक्रस्ते अप्यल्लोण, मज्जेण मुखि
जावप" सु० १ सु० १ अ० ४ उ० ।

अप्यल्लोण-अप्यल्लोण-त्रि० । कामेषु मातापित्रादिके
वा लोके न प्रलीयमाना अमलीयमानाः । अनभिषते, आचा०
१ सु० ६ अ० २ उ० ।

अप्यल्लोव-अप्यल्लोव-त्रि० । ६ अ० । अल्पशब्दोऽत्राववाचकः ।
पृथुकादौ निर्वेषे, आच० ४ अ० । वल्लचणकादौ नीरसे, घ०
३ अचि० ।

अप्यदोवा-अप्यदोवा-स्त्री० । निर्वेषे पृथुकादि शूकतस्मत्पुत्र्या
पिण्डेणपायात्, आच० ४ अ० । घ० । आचा० । पञ्जा० । सु० ।
" जस्स विज्जमाणुइवस्स पिण्णावचरुण्णादिस्स लेणो ण भव-
ति सा अप्यलेवा" नि० चू० १६ उ० । आ० चू० । अल्पपरि-
क्ताऽप्यत्र, स्था० ७ ज० । स्तोकोऽल्पः पञ्चादकर्मोद्विजनितः

अप्यक्षेपा

कर्मकर्मो यस्मान्साध्यक्षेपा । कर्मकर्मो विरैवणायाम्, तथा
साध्यक्षेपाङ्गम्—“अस्ति कालु परिष्कारिणसि अप्ये पच्छाकर्म
अप्यपञ्चजाय ” अ० ३ प्रा० ३ ।

अप्यवस—आत्मवशा—वि० । स्ववशे, ग० २ प्रा० १ ।

अप्यवसा—आत्मवशा—स्त्री० । नाथस्य, तस्या निरुद्धात्वेन स्व-
च्छन्दात्वात् । प्रा० को० ।

अप्यवश (ष)—आत्मवादिन्—पुं० । 'पुत्रव पवदं सधंभिला-
दि ' प्रतिपक्षे वादिनि, न० ।

अप्यवीर्य—अट्पवीज—त्रि० । अविद्यमानानि बीजानि शास्त्रा-
दीनि नीचार्ज्यामाकाहीनां यस्मिन्तत् अल्पबीजम् । बीजस्योप-
लक्षणत्वात् एकैक्यादिरहिते, उच्य० १ अ० । आच्चा० ।

अप्यवृद्धि—अल्पवृद्धि—स्त्री० । भासारे, प्रा० को० ।

अप्यवृत्तिकाय—अल्पवृत्तिकाय—पुं० । अल्पः स्तोकोऽविद्यमानो
वा, वर्षणं वृष्टिप्रधानं वृष्टिप्रधानः कायाः निकायोऽल्पवृष्टि-
कायः । वर्षणपरमयुक्तं च उक्तं वृष्टिः, तस्याः कायाः राशिर्गुण-
कायः । अल्पश्चासौ वृष्टिकायाश्चाल्पवृष्टिकायः । स्तोके न्योमानि
पतत्पक्ष्ये, स्या० ।

अद्वयवृष्टश्च त्रीणि कारणाणि—

तिदिं ठाणेदिं अप्यवृद्धिकाय मिया । तं जहा—तेसि च एं
देसंसि वा पएसंसि वा णो बहवे उदगजोणिया जीवा य
पोगला य उदगत्ताए वकमति विउकमंति चयेति उवव-
जंति देवा नागा जवला एो सम्ममाराडिया भवेति ।
तत्थ समुद्धिये उदगपोगलं परिणये वसिउकामं अर्थं देसं
साट्ठरंति, अन्ननव्वलंगं च णं समुद्धिये परिणये वसिउ-
कामं बाउयाए विहूयेडं । इषेपदिं तिदिं ठाणेदिं अप्यवृ-
द्धियाए सिया ।

(तेसि ति)प्रगवादी, अशुद्धोऽल्पवृष्टिकारणात्तरसमुच्चयाथै।
णमित्यलङ्कारे । देशे जनपदे, प्रदेशे तस्यै एकदेशरूपे, वाशब्दौ
विकल्पार्थौ । उदकस्य योनयः परिणामकारणभूता उदकयोनयः
त एवादकयैतिका उदकजननस्थतावाः, व्युत्क्रामन्ति उत्पद्यन्ते,
व्युत्क्रामन्ति, व्यवपन्ते, पतन्ते च यथासां पर्यायं आचष्टे-इत्यन्ते,
उत्पद्यन्ते, क्षेत्रव्यवभावादित्येकम् । तथा देवा धैमानिका ज्योति-
ष्काः, नागा मागकुमारः, प्रथमपुरुषजकणभेतन् । यज्ञा भूता
इति वयन्तरोपलक्षणम् । अथवा देवा इति सामान्यम् । नागादृ-
ष्टं विशेषम्, पतद्भ्रमहणं च प्राय एषामर्बन्ध कर्मणो प्रवृत्तिरि-
ति ज्ञापनाय; विचित्रत्वाच्चा सुवर्णवर्णिते; नोः सम्यगाराधना
प्रवन्ति । अविनयकरणाज्ञानधैरिति गम्यते । ततश्च तत्र मग-
वादी देशे प्रदेशे वा तस्यैव समुत्थितसुपन्नम्-उदकप्रधानं पौ-
द्गलं पुद्गलसमूहो, मेघ इत्यर्थः । उदकपौद्गलं तथा परिणतमुद-
कदायकावस्थां प्राप्तम् । अत एव विपुद्गादिकाणात्तु वर्तितुकामं
सदृश्यं देशं मगवादिर्क,संहर्तन्त नवतीति द्वितीयम् । अत्रा-
दिभि मेघास्तेष्वेदंलकं तुद्वितीयम्, अत्रवर्तलकम् । (बाउयाए (ष)
बायुकायः प्रचपडतातो विजुण्णति विध्वंसयतीति तृतीयम् ।
“ इच्छ ” इत्यादि निगमनमिति । स्या० ३ उ० ३ इ० । अल्प-
शब्दस्यानावयवचनशब्दं मविद्यमानवर्षे, “ अक्षया कयादं पदमं

सरदकालसमयसि अप्यवृष्टिकायंसि ” प्र० १५ श० १ उ० ।
अप्यसंतचित्त—अग्रशान्तचित्त—त्रि० । उक्तकोषाधिदृष्टित-
प्राव, पञ्चा० २ विव० ।

अप्यसंतमद्—अग्रशान्तमति—त्रि० । अपरिणतशिष्ये, “ अग्र-
शान्तमती शास्त्र-सुखभावप्रतिपादनम् । शोषायाभिनवोद्दीर्घ-
शमनोऽयमिव उच्ये ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ सु० १४ अ० ।

अप्यस-वित्य—आत्मसाहिकं—न० । आत्मा स्वजायिः, स स्व-
संविद्यत्युक्तविरतिपरिणामपरिणतः साक्षी यत्र तदात्मसाहिक-
कम् । स्वच्छुट्टकंऽनुष्ठाने, “ साहुसकिस्त्रयं देवसकिस्त्रयं अल्प-
सकिस्त्रयं ” पा० ।

अप्यसत्तचित्त—अट्पसवचित्त—वि० । आपत्सववैक्यकरम-
प्यवसानकरं च सत्समुक्तम् । ततश्चात्पत्तुच्छं सत्त्वं यत्र तद्-
न्यसत्त्वं, तस्मिन् यस्य सोऽल्पसत्त्वचित्तः । चेतसा विकल्पे,
“ य इ अप्यसत्त्वित्तो धम्महिगारो जसो होए ” । पञ्चा०
२ विव० ।

अप्यसत्तम—आत्मसत्तम—त्रि० । आत्मना सममः । सत्तानां पू-
रणः । आत्मा वा सत्तमो यस्यासावात्मसत्तमः । अन्वैः परमिः
सह विद्यमानः, “ मल्लोयं अरहा अप्यसत्तमं मुंने भविता ”
स्या० ७ उ० ।

अप्यसत्तिय—अल्पसत्तिय—त्रि० । निसारे, “सुसम्पथा वऽस-
मथा, करीरि अप्यसत्तिया पुरिमा । धीमंति सुरवादी,णारी-
वलगा य ते वृरा ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ सु० ४ अ० १ उ० ।

अप्यसद्—अल्पशब्द—पुं० । विगनराट्ठ्यां ध्वनी, स्या० ८
उ० । राट्ठ्यादावस्ययनजागरणमयान् । न० २५ श० ७ उ० ।
अट्पकन्नदं, कलटक्रोधकायं, औ० ।

अप्यनरपक्षल—अल्पसरजस्क—न० । अट्पे तृणादौ, आच्चा० २
शु० १ अ० ५ उ० ।

अप्यसार—अल्पमार—न० । अल्पं च तत्सारं चेत्यल्पसारम् ।
प्रमाणतोऽल्पे वस्तुनः सारं, ज्ञा० १ अ० । “ अप्यसारं तुर्यं-
ति जीवा बंधणे ” आ० म० प्र० । “अप्यसारिये खेवं उबधर-
ति ” नि० चू० १ उ० ।

अप्यसावजिकिरिया—अट्पसावध क्रिया—स्त्री० । शुक्राणां वसती,
आच्चा० २ शु० २ अ० २ उ० । (‘वसही’ शब्देऽस्याः सूत्रम्)

अप्यसुयु—अल्पसुत्र त्रि० । अनधीनागमे, ज्ञा० १६ ज्ञा० ।

अप्यसुह—अल्पसुख—वि० । ए० ५ उ० । प्रागसुखलवसम्पा-
दकं, अविद्यमानसुखे च । प्रश्न० १ अभा० ज्ञा० ।

अप्यहोरोय—अल्पहरित—त्रि० । अल्पानि हरितानि दूर्वाप्रवासा-
दीनि यत्र तत्तथा । दूर्वादिरहिते, आच्चा० २ शु० १ अ०
६ उ० ।

अप्यर्हिंसा—अट्पर्हिंसा—स्त्री० । अल्पशब्दोऽज्ञावधाच्ची । अ-
ल्पानामेव प्राणिनां हिंसायाय, अ० १ उ० ॥

अप्या—आत्मन्—पुं० । अनति सातन्त्रेण गच्छन्नि नैस्ताम् ज्ञान-
दर्शनसुखादिपर्यायानियात्पात्सादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसंनधा-
त् । आ० म० जि० । जीवे, उच्य० २ अ० । (आत्मसिद्ध्यादि-
कल्पता ‘आना’ शब्दे द्वितीयजाग० १९७ पृष्ठ ऊपर्य)

अप्पाइय-अप्पायित-वि०।मनोहाहारेः स्वस्थीमृते, इ०१७०।

अप्पाउअ-अल्पायुष्क-वि०।स्तोकजीविते, प्र३०१।आ३०७०।

अप्पाउअत्ता-अल्पायुष्कता-त्री०। अल्पमायुर्मेस्तायावत्यायुष्कः, तद्भावस्तथा। अल्पायुष्कतायाम्, म० ५ शृ० ६ इ०। अल्पमायुर्जीवितं यद् तद्व्यायुः, तद् भावस्तथा। जघन्यायुष्टे, स्था० ३ डा० १ इ०। (अल्पायुः कारणं 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे ११ पृष्ठे बह्यते)

अप्पाउअ-अमाहृत-पुं०। प्रावरणवर्जके अभिमहविशेषमाहके, सूत्र० २ धृ० ३ अ०।

अप्पाउअण-अमावरण-न०। प्रावरणनिषेधाच्छिषयोऽभिप्रदोऽप्यप्रवचणम्। पञ्जा० ६ वि००। प्रावरणत्यागकपेभिप्रदोऽप्याव्याननेदे, प्रव० ४ धृ०। अत्र पञ्ज आकाराः— "अभिगतेस्तु अप्याउरणं कोइ पञ्चक्याह, तस्त्वं पंच (आगारा) अक्षत्यऽप्याभोगं, सइसानारे, चोत्तपट्टागारे, महत्तरागारे सव्यसमाहिवसियागारे य" ।

तथा च सूत्रम्—

अप्पाउरणं पक्विज्जति अक्षत्यऽप्याउजोगेणं, सहसाराणं, चोत्तपट्टागारं, महत्तरागारं, सव्यसमाहिवसियागारं चोत्तपट्टागारं, महत्तरागारं, सव्यसमाहिवसियागारं च । आउ० ६ अ०।

चोत्तपट्टादन्त्यत्र सागारिकप्रदर्शने चोत्तपट्टके शृङ्खामाणेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः। प्रव० ४ धृ०।

अप्पाउअ-आत्मन-पुं०। स्वहिन्दु, प्र३०२। आ३०७० धृ०। "पुंस्त्वन भागो राजवच्च" । ०। ३। ५६। पुंस्त्रिंशे वर्तमानस्यानन्तस्य स्थाने भाग इत्यादेशो वा भवति; पक्षे यथादर्शने राजवत्कारे प्रवतिः आणानदेशे च "अतः सर्वैः" (८।३।२) इत्यादेशः प्रवसन्ते । पक्षे तु राजः "जस्-शस्-ऊसि-ऊसां यो" (८।३।५०) "दो णा" (८।३।२४) "इणममामा" (८।३।५३) इति प्रवर्तते। अप्याणो । अप्याणा । अप्याणं । अप्याणे । अप्याणेषु । अप्याणहिं । अप्याणाञ्च । अप्याणासुन्तो । अप्याणस्स । अप्याणाण । अप्याणम्मि । अप्याणेषु । अप्याण-कञ् । पक्षे राजवत् । अप्या । अप्यो । हे अप्या । हे अप्य । अप्याणो च्छ्रुति । अप्याणो पेषञ् । अप्याण । अप्येहिं । अप्याणोः अप्याणः । अप्याउ । अप्याइ । अप्याहिन्ते । अप्या । अप्यासुन्तो । अप्याणो धणं । अप्याण । अप्ये । अप्येषु । प्रा० । (य आत्मानमाद्ग्राही पश्यति इति 'अयायार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे दर्शितम्) । लनावे, न० । स्था० ३ डा० २ इ० ।

अप्पाउअरक्खि (ष्)-आत्परक्खिन्-वि०। आत्मानं रक्षति पापेभ्यः कुमतिगमनादिभ्य इत्येवंशील आत्परक्खी । आत्मनः पापेभ्यो निवारके, उच० ४ अ०।

अप्पाउआर-अटपाधार-पुं०। अल्पस्य सूत्रस्य इत्येव वा आधातोऽटपाधारः । सूत्रार्थनैपुण्यवचिके, इय० १ इ०।

अप्पावहुय(ग)-अटपबहुत्व-न०। अटपं च स्तोके बहु च प्रचुरतमप्यबहु, तद्भावोऽनप्यबहुत्वम् । दीर्घत्वात्संयुक्त्वे च प्राकृतत्वात्प्रवृत्तिः । स्था० ४ डा० २ उ० । मत्स्यविक्रमप्राचीयास्थाभादीनां परस्परस्तोकच्युयस्ते, कर्म० ४ कर्म० ।

- (१) अटपबहुत्वस्य चातुर्विधमिदं रूपम् ।
- (२) इत्यसंघटः ।
- (३) पूर्वप्राकायादीनां जघन्यायवाहनाहनाऽनप्यबहुत्वम् ।
- (४) कल्पस्थानाभायुषामनप्यबहुत्वम् ।
- (५) आहारपदारे आहारकानाहारकजीवानामनप्यबहुत्वम् ।
- (६) सेन्द्रिकाणां परस्परमनप्यबहुत्वम् ।
- (७) उर्वर्तनापवर्तनयोरनप्यबहुत्वम् ।
- (८) उपयोगदारे साकारानाकारोपयुक्तानामनप्यबहुत्वम् ।
- (९) कपायद्वारे कोषकपायादीनामनप्यबहुत्वम् ।
- (१०) कायिकदारे सकाशिकानामनप्यबहुत्वम् ।
- (११) क्षेत्रदारे जीवाः कस्मिन् क्षेत्रे स्तोकाः कस्मिन् बहु इत्यादिनिरूपणम् ।
- (१२) गतिद्वारे चतुःपञ्चाष्टयतिसमासेनानप्यबहुत्वम् ।
- (१३) चरमद्वारे चरमाचरमाणामनप्यबहुत्वम् ।
- (१४) जीवद्वारे जीवपुत्रत्वादीनामनप्यबहुत्वम् ।
- (१५) ज्ञानद्वारे ज्ञानिप्रमुक्ताणामनप्यबहुत्वम् ।
- (१६) दर्शनद्वारे दर्शनिनामनप्यबहुत्वम् ।
- (१७) विश्वद्वारे दिग्गजुपानेन जीवानामनप्यबहुत्वम् ।
- (१८) परीतद्वारे परीतापरीतनोपरितानामनप्यबहुत्वम् ।
- (१९) पर्याप्तद्वारे पर्याप्तापरोक्षनोपर्याप्तानामनप्यबहुत्वम् ।
- (२०) पुत्रलक्षणम् ।
- (२१) बन्धद्वारे आयुःकर्मबन्धकादीनामनप्यबहुत्वम् ।
- (२२) भवसिद्धिकक्षणम् ।
- (२३) भाषकक्षणम् ।
- (२४) महादण्डकक्षणम् ।
- (२५) योगद्वारे चतुर्देशविधस्य संसारसमापन्नजीवस्य योगानामनप्यबहुत्वम् ।
- (२६) योनिक्षणम् ।
- (२७) लेखयादारे सलेख्यानामनप्यबहुत्वम् ।
- (२८) वेदक्षणम् ।
- (२९) शरीरद्वारे आहारकादिशरीरियामनप्यबहुत्वम् ।

(१) तच्चतुर्विधम्—

चउत्विहे अप्पावहुए पप्सोत्तं तं जहा-पगइ-अप्पावहुए, तिइ-आणुभाउ-पप्स-अप्पावहुए ।

प्रकृतविषयमनप्यबहुत्वं बन्धापेक्षया, यथा-सर्वस्तोकप्रकृतिबन्धक उपशान्तिमोहादिकेविधबन्धकः, उपशमकादिस्वहमसंपरायः यद्बिधबन्धकः, बहुतरबन्धकः सप्तविधबन्धकः, ततोऽष्टविधबन्धक इति । स्थितिविषयमनप्यबहुत्वं यथा— "सम्बन्धोयोः संजयस्तस्य अहङ्गमो त्रिप्रबंधो एगिदियथायरपज्जनगस्तस्य अहङ्गमो त्रिप्रबंधो असंखिज्जगुणो" इत्यादि । अनुज्राणं प्रत्यनप्यबहुत्वं यथा— "सव्यत्यानारे अणंतगुणकुट्टिणाण्यि असंखेज्जगुणकुट्टिणाण्यि, असंखिज्जगुणाण्यि संखिज्जगुणकुट्टिणाण्यि असंखिज्जगुणोदारे जाव अणंतभागुणकुट्टिणाण्यि असंखिज्जगुणाण्यि" । प्रदेशात्प्यबहुत्वं यथा-अट्टविहबधगस्त

ब आबपभागे योयो नामयोग्यां तुको विसैसाहिभो नाण-
इंसाणावरणंतरायाणं तुको विसैसाहिभो मोहस्स विसैसाहि-
भां वेयाणिअस्स विसैसाहिवा ति" । स्या० ४ जा० २ व० ।

(१) तत्र आरसेप्रदगाथाचयस्—

दिसिगाईदिपकाए, जोए वेए कसापञ्जेसा भो ।

सम्पचणाणुदंसण-संजमववआगआहारे ॥ १ ॥

भायणपरिचपज्ज-त्तिसुहुमसुणो जवडत्थि से चरिये ।

जीवपेँ सेवचं बंधे, पुगअ-महददए वेव ॥ २ ॥

प्रथमं विश्वारम्भ १, तदनन्तरं गतिद्वारम्भ ४, तत इन्द्रियद्वारम्भ
३, ततः कायद्वारम्भ ४, ततो योगद्वारम्भ ५, तदनन्तरं धेवद्वारम्भ
६, ततः कर्माद्यद्वारम्भ ७, ततो क्षेत्राद्याद्वारम्भ ८, ततः सत्यकथ्यद्वार-
म्भ ९, तदनन्तरं ज्ञानद्वारम्भ १०, ततो दशमद्वारम्भ ११, ततः
संयमद्वारम्भ १२, तत उपयोगद्वारम्भ १३, तत आहारद्वारम्भ १४,
ततो नासकद्वारम्भ १५, ततः (परिच हाति) परीताः प्रत्येकशरी-
रिणः द्युक्तापक्रिकाब्धः तद्वारम्भ १६, तदनन्तरं पर्याप्तिसिद्धारम्भ १७,
ततः सूक्ष्मद्वारम्भ १८, तदनन्तरं संक्षिप्तद्वारम्भ १९, ततो (अव-
ल) अवलोकितद्वारम्भ २०, ततोऽस्तित्ति-अस्तिकायद्वारम्भ २१,
ततश्चन्द्रद्वारम्भ २२, तदनन्तरं जीवद्वारम्भ २३, ततः क्षेत्रद्वारम्भ
२४, ततो मध्यद्वारम्भ २५, ततः पुत्रलद्वारम्भ २६, ततो मदादयक
२७, इति सर्वसंभवया सप्तविंशतिद्वार्याणि । प्रका० ३ पृ ० ।

(तत्र गायोपन्यस्तकममनाद्यप्राकराजकमतेो द्वाराणि निरूप-
यिष्यन्ते, तथा मध्येऽन्ततः कित्त्वित् संसृहीतं प्रक्षिप्य प्रक-
पयिष्यतेऽप्यबहुत्वम्) (अनुजागव्यवस्थानाममप्यबहुत्वं 'बध'
शब्दे द्रष्टव्यम्)

(३) [अवनगाहना] पृथ्वीकायादीनां जघन्याद्यवगाहन-
याऽप्यबहुत्वम्—

एषमि णं जेते । पुढवीकाइयाणं आऊ-तेऊ-बाऊ-
बणास्सइ-काइयाणं सुहुमाणं बादराखं पज्जत्तगाणं अप-
ज्जत्तगाणं जहुमुकोमिया ओगाहणाए कयरे कयरेहिती०
जाव विमैसाहिवा वा ? गोपमा ! सन्नय्योवा सुहुमणिगो-
यस्स अपज्जत्तगस्स जहसिया ओगाहणा ? । सुहुपवा-
ऊकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहसिया ओगाहणा अ-
संसेल्लेजगुणा २ । सुहुमतेऊ० अपज्जत्तगस्स जहसिया ओ-
गाहणा असंसेल्लेजगुणा ३ । सुहुआऊ० अपज्जत्तगस्स जह-
सिया ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ४ । सुहुपुढवी० अपज्ज-
त्तगस्स जहसिया ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ५ । बादरवा-
ऊकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहसिया ओगाहणा असंसे-
ल्लेजगुणा ६ । बादरतेऊ० अपज्जत्तगस्स जहसिया ओगाहणा
असंसेल्लेजगुणा ७ । बादरआऊ० अपज्जत्तगस्स जहसिया
ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ८ । बादरपुढवी० अपज्जत्तगस्स
जहसिया ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ९ । पत्तेयसरीरबा-
दरचयस्सइकाइयस्स बादरनिओयस्स, एषसि णं अपज्ज-

त्तगाणं जहसिया ओगाहणा दोएइ वि तुआ असंसेल्लेज-
गुणा १० । ? । सुहुपनिओयस्स पज्जत्तगस्स जहसिया
ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ११ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स
उकोसिया ओगाहणा विमैसाहिवा ? । तस्स चेव पज्जत्तग-
स्स उकोसिया ओगाहणा विसैसाहिवा ? ४ । सुहुपवाउकाइ-
यस्स पज्जत्तगस्स जहसिया ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा १५ ।
तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उकोमिया विसैसाहिवा ? ६ । तस्स
चेव पज्जत्तगस्स उकोसिया ओगाहणा विसैसाहिवा १७ ।
एवं सुहुमतेऊकाइयस्स वि ? ८ । १६ । १७ । एवं सुहुप-
आउकाइयस्स वि ११ । १२ । १३ । एवं सुहुपुढविका-
इयस्स वि । १४ । १५ । १६ । एवं बादरवाउकाइयस्स
वि २७ । २८ । २९ । एवं बादरतेऊकाइयस्स वि ३० ।
३१ । ३२ । एवं बादरआउकाइयस्स वि ३६ । ३७ । ३८ । ३९ ।
एवं बादरपुढविकाइयस्स वि ३६ । ३७ । ३८ । सर्वोसिं
तिविहेणं गमेणं भाणियव्वं बादरनिओयस्स जहसिया
ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ३९ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स
उकोसिया ओगाहणा विसैसाहिवा ४० । तस्स चेव प-
ज्जत्तगस्स उकोसिया ओगाहणा विसैसाहिवा ४१ ।
पत्तेयसरीरबादरचयस्सइकाइयस्स जहसिया ओगाहणा
असंसेल्लेजगुणा ४२ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उकोसिया
ओगाहणा असंसेल्लेजगुणा ४३ । तस्स चेव पज्जत्तगस्स
उकोसिया असंसेल्लेजगुणा ४४ ।

इह किल पृथिव्यतेजोवासुनिगोदाः ५ प्रत्येकं सूक्ष्मबादर-
भेदाः । पवमेते दश; एकादश च प्रत्येकं वनस्पतिः । एते च प्रत्येकं
पर्योताकापर्योतकभेदाः २२ । तेषां जघन्याऊकाइयावगाहनाः, इत्येषं
चतुश्चत्वारिंशत् जीवभेदेषु स्तोकादिपदव्यासेनावगाहना इवा-
कुर्यात् । स्थापना चैवम्—पृथ्वीकायस्याऽथः सूक्ष्मबादरपदे,
तयोरथः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तपदे, तेषामथः प्रत्येकं ऊघन्याऊ-
काइयावगाहनेति । एवमप्यायादयोऽपि स्थाप्याः । अथकत्तन-
स्पतेश्चाथः पर्याप्तापर्याप्तपदद्वयम्, तयोरथः प्रत्येकं जघन्यो-
क्ता चावगाहनेति । इह च पृथिव्यादीनाममहुतासंस्थेयजा-
गमाभावगाहनत्वेऽप्यसंस्थेयनदत्त्वात्कृत्वासंस्थेयभोगस्थेतेर-
नप्रापक्याऽसंस्थेयगुणत्वं न विरुध्यते, प्रत्येकशरीरवतनपती-
नां चांक्त्वायः ना योजनसहस्रं समधिकमेव गन्तव्येति । प्र०
११ शृ० ३ व० ।

(अस्तिकायद्वारे धर्मोस्तिकायादीनां उभयार्थताप्यबहु-
त्वम् ' अस्थिकाय ' शब्दस्मिन्नैव भागे १२४ पृष्ठे समुक्तम्)

(अस्मानमप्यबहुत्वम् ' आता ' शब्दे द्वितीयत्रये १३० पृष्ठे
वर्तते)

(४) [आयुः] द्रव्यस्थानाद्यायुगामप्यबहुत्वम्—

एषसि णं जेतेः दवड्याणायसस लेत्तडाणायसस ओ-

गाहण्ड्याण्ययस्स जावहाण्ययस्स कयरे कयरेहितोप
आव विसेमादिषा । गोपा । सत्त्व्यावे वेचट्टाणाणए
ओगाहण्यण्ययस्स असंसेज्जगुणे, दव्वहाण्यणए असंसे-
ज्जगुणे भावट्टाणाणए असंसेज्जगुणे, “ खोत्तोगाहण्यदव्वे,
जावहाण्यण्ययस्स व अण्यबहुं । खेवे सव्वत्थेवे, सेसट्टाणा
असंसेज्जा ” ॥ १ ॥

(एयस्स थं अंते । दव्वहाण्ययस्स वि) इत्थं पुक्कलद्रव्यं,
तस्य स्थानं भेदः परमाणुद्विप्रदेशकादि, तस्यायुः स्थितिः ।
अथवा द्रव्यस्याणुत्वादिनाभेन यत् स्थानमथस्थानं, तद्रूपमायुः,
द्रव्यस्थानाद्यः, तस्य; (खेचट्टाणाण्ययस्स वि) क्षेत्रस्याका-
शात्, स्थानं भेदः पुक्कलावगाहकत्वं, तस्यायुः-स्थितिः । अथवा
क्षेत्रे एकप्रदेशादौ, स्थानं यत्पुक्कलानामथस्थानं, तद्रूपमायुः, क्षेत्र-
स्थानायुः । एवमथवाहनास्थानायुःसंघस्थानायुः; नवरमथवाह-
नानियतपरिमाणेषुभावागाहित्वं पुक्कलानाम् । भावस्तु काश्च-
त्वादितः । ननु क्षेत्रस्यावगाहनायासं भेदः ? उच्यते-क्षेत्रम-
वगाहमेव । अथवाहना तु-विचलितसोत्राद्यन्वापि पुक्कलानां
सर्परिमाणवगाहित्वमित्ति । “ कथरे ” इत्यादि कण्ठ्यम् । एषां
च परस्परिमाणवद्वयव्याख्या गाथाऽनुसारेण कार्या । तास्मेमा-
“ खेत्तोगाहण्यदव्वे, भावट्टाणाउ अण्यबहुयये ।

धावा असंजगुणिया, निजि व सेसा कइ मेया । ॥ १ ॥
केत्ताऽमुत्तसाधो, तेण समं बंधयण्यवाभावा ।
तो पोमालाण धावे, केत्तावट्टाणकालो उ ॥ २ ॥
अयर्थः-क्षेत्रस्याऽमुत्तसंवेन क्षेत्रेण सद् पुक्कलानां विशिष्ट-
धर्मप्रत्ययस्य स्नेहादेरजाबाहिकस्य ते चिरं तिष्ठन्तीति शेषः । य-
स्मादथं तत् इत्यादि व्युत्पत्त्यम् ।

प्रधावगाहनायुषो बहुत्वं भाव्यते-
“ अत्रं क्षेत्रगयस्स वि, तं चियमयं चिरं वि संधरइ ।
ओगाहण्यनासे पुण, केत्ताऽअत्तं कुमं होइ ” ॥ ३ ॥
इदं पृथोर्ध्वेन क्षेत्राकाश्या अधिकाऽवगाहनाकेत्युक्तम् । उक्त-
वर्धेन तु अवगाहनाकाशो नापिका क्षेत्रादेति ।

कथमेतद्वचसः ? इत्युच्यते-
“ ओगाहण्यवचसत्ता, केत्तत्ता अक्रिया व बद्धा य ।
न उ ओगाहण्यकालो, केत्तत्तामसंसेवको ” ॥ ४ ॥
अथवाहनायामगमनक्रियायां च नियता क्षेत्रात्ता विधाकृता,
अथवाहनासञ्ज्ञाय एवाकियासञ्ज्ञायः । एषं च तस्या-भावाद्भू-
त्वात्तरेके चाजावात् । अथवाहना तु-न क्षेत्रमात्रनियता, क्षेत्रा-
काश्या अभावेऽपि तस्या अभावादिति ।

अथ निगमनम्-
“ जम्हा तत्थऽअत्थ य, सव्वे ओगाहणा जवे केत्ते ।
तम्हा केत्तत्ताओ-ऽवगाहण्यत्ता असंजगुणा ” ॥ ५ ॥

अथ द्रव्यायुषो बहुत्वं भाव्यते-
“ संकोयविकोपण व, उवरमियापऽवगाहणाए वि ।
तत्थियमेत्तायं चिय, चिरं वि दव्वणऽअस्थानं ” ॥ ६ ॥
संकोषेन, विकोषेन वा उपरतायामप्यवगाहनायां यावन्ति
रूपयामि पृथंमासंस्तावतामेव चिरमपि तेषामवस्थानं संभवति ।
अनेनावगाहनानिधुत्वावपि इत्थं न निवर्तत इत्युक्तम् ।
अथ द्रव्यनिवृत्तिविशेषऽवगाहना नियतं पवेत्युच्यते-

“ संघायमेयसो वा, दव्वोचरमे पुणाइ सक्खिणे ।
नियमा तदव्वोगा-इयाइ मासो न संवेहो ” ॥ ७ ॥
सङ्घातन, पुक्कलानां भेदेन वा तेषामेव वः संकृतः स्तोकाव-
गाहनः स्फःथो न तु प्राक्तनावगाहनः, तत्र यो कव्योपरमेो क-
व्याप्त्यात्, तत्र सति, न च सङ्घातन न संकृतः स्फःथो भवति,
तत्र सति पुक्कलतरत्वेनापि तस्परिणतेः अथवाह् नियमात्तेषां
द्रव्याणामवगाहनायाः नाशो भवति ।

कस्यादेवम् ? इत्यत उच्यते-

“ ओगाहत्ता दव्वे, संकोयविकोपयो व अथवत्ता ।
न उ दव्वं संकोयण-विकोपयमेत्तमि संवच्च ” ॥ ८ ॥
अथवाहनात् कव्येऽवबद्धा नियतत्वेन संबद्धा । कथम् ? सङ्को-
षादिकावाच्, सङ्कोषादि परिहृत्येयैः । अथवाहनादिदव्वे
सङ्कोषविकोपयोभावे सति भवति, तत्सञ्ज्ञाये च न प्रवर्ती-
त्येवं कव्येऽवगाहना नियतत्वेन संबद्धेऽप्युच्यते । इत्यामे चदिर-
त्वाभिवेति । उच्यतिपयैयमाह-न पुनद्रव्यं सङ्कोषविकोपयमां
सत्यप्यवगाहनायां नियतत्वेन संबद्धं सङ्कोषविकोपयान्वाव-
गाहनानिवृत्तावपि द्रव्यं न निवेत्त इत्यवगाहनायां तत्त्वित-
त्वेनासंबद्धमित्युच्यते, अदिरत्वे इत्यवबद्धेति ।

अथ निगमनम्-

“ जम्हा तत्थऽअत्थ य, दव्वं ओगाहणाइ तं चेष ।
इत्थत्ता संजगुणा, तम्हा ओगाहण्यत्ताओ ” ॥ ९ ॥

अथ भावायुषेऽवत्वं भाव्यते-

“ संघायमेयसो वा, दव्वोचरमे वि पञ्जवा संति ।
तं कसिल्लगुणविरामे, पुणाइ दव्वं न ओगाहो ” ॥ १० ॥
सङ्घातादिना उक्तोपरमेऽपि पयथाः सन्ति, यथा-चुष्टुटे च-
ट्टादिगुणाः । सत्कलगुणापरमे तु न तद्रव्यं, न भावागाहनाऽनु-
वर्तते । अनेन पर्येवाणां चिरं स्थानं, इत्यस्य स्वचिरमित्युक्तम् ।

अथ कस्यादेवम् ? इत्युच्यते-

“ संघायमेयसंघा-पुण्यसिधो जिण्णवमेव दव्वत्ता ।
न उ गुणकालो संघा-पयेयमत्तऽकसंबद्धो ” ॥ ११ ॥
सङ्घातमेदत्तङ्गान्ध्यां धर्मान्यां यो वयसः संभवत्तदनु-
सिनी तदनुसारिणी, सङ्घाताद्यमथ एव कव्याकाश्याः सञ्ज्ञावात्,
तद्भावं चाजावात् ; नपुनगुणकालः, सङ्घातमेदमावकाससंबद्धः
सङ्घातादिनावेऽपि गुणानामनुवर्तनादिति ।

अथ निगमनम्-

“ जम्हा तत्थऽअत्थ य, दव्वे केत्तावगाहण्यत्तां व ।
तं चेष पञ्जवा सं-ति वा तदत्ता असंजगुणा ” ॥ १२ ॥
“ अहा अनेगंतो थं, दव्वोचरमे गुणाण उवत्थानं ।
गुणविप्परिणाममि व, दव्वविसेसो व उणेगंतो ” ॥ १३ ॥

कव्यविशेषो कव्यपरिणामः ।

“ विप्परिणयमि दव्वे, कसिल्ल गुणपरिणइ अवे ज्ञानं ।
कमि विपुत्तदवधंथे, वि होइ गुणविप्परिणामो ” ॥ १४ ॥

“ जम्हा सत्तं किं पुण, गुणावाह्त्ता न सत्तपुण्यमासो ।
दव्वस्स तद्वत्ते, वि बहुत्तरायां गुणाण तिरे ” ॥ १५ ॥ सि ०
५ श ० ७ ३० ।

(वैयक्तिकाद्युपसर्गवद्बहुत्वम्—“ आक ” शब्दे द्वितीयभागे ११-१२ पृष्ठे दृशेयिष्यते) (जातिनामनिष्ठायापुरादीनां त्रैधाः ' आउबन्ध ' शब्दे द्वितीयभागे ३३ पृष्ठे वचयन्ते)

(४) (आहारकारम्) आहारकानाहारकजीवानामव्यबहुत्वम्-एरसिं यं भंते ! जीवाणं आहारमाणं अणुहारमाणं य कपरे कपरोर्हितो अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणुहारमाण आहारका असंसिज्जगुणा ।

सर्वस्तोका जीवा अनाहारकाः, विअहारण्यपण्णादीनामेवानाहारकत्वात् । उद्धं व—“ विआहण्णमावणा, केवलिणो समुदया अजोगी य। सिअय वअणाहार,सेसा आहारका जीवा”॥१॥ तेअय आहारका असंज्ञेअयगुणाः । ननु वनस्पतिकायिकानां सिद्धेअप्यनन्तत्वात् तेषां आहारकत्वात्पि लज्जमानत्वात् कथमनन्तगुणा न भवन्ति । तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिहानात् । इह सुद्धमिगोदाः सर्वेसंज्ञयथाऽप्यवहृत्त्वयाः, तथाप्यतुद्धेअसमयराशितुव्याः सुद्धमिगोदाः सर्वकालविगुंढ वसंमाना लज्जयन्ते । ततोऽनाहारका अव्यतिबहवः सकलजीवराश्यसंशयेयमागतुव्या इति तेअय आहारका असंज्ञेअयगुणाः, ते च नामस्तगुणाः । गतमाहाण्णकारम् । प्रह्णो ३ वेद । जी० कर्म० । (इन्द्रियाणामवगान्नाहनाऽप्यवहृत्त्वम्, तेषां कर्कशाविगुणाश्च ' ईन्दिया ' शब्दे द्वितीयभागे ४४४ पृष्ठे वचयन्ते)

(६) (इन्द्रियद्वारम्) संन्द्रियाणां परस्परमव्यबहुत्वम्-एरसिं यं जंते ! सद्दियाणां एग्गिदियाणं बेद्दियाणं तेद्दियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अणोंदियाणं य कपरे कपरोर्हितो अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया चउरिंदिया विसैसाहिया, तेद्दिया विसैसाहिया, बेद्दिया विसैसाहिया, अणुदिया अणंतगुणा, एग्गिदिया अणं० । सद्दिया वि० । सर्वस्तोकाः पञ्चिन्द्रियाः संश्वेयाः, दशयोजनकोटाकांदिप्रमाणविष्कम्मसूचीप्रतिप्रतरसंश्वेयभागवत्संश्वेयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेअयभतुरिन्द्रिया विशेषाधिकारः, विष्कम्मसूच्यास्तेषां प्रभूतसंश्वेययोजनकोटाकांदिप्रमाणत्वात् । तेअयोऽपि चिन्द्रिया विशेषाधिकारः, तेषां विष्कम्मसूच्याः प्रभूततरसंश्वेययोजनकोटाकांदिप्रमाणत्वात् । तेअयोऽपि त्रिन्द्रिया विशेषाधिकारः, तेषां विष्कम्मसूच्याः प्रभूततरसंश्वेययोजनकोटाकांदिप्रमाणत्वात् । तेअयोऽपि एकैन्द्रिया अन्नगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेअप्यनन्तगुणात् । तेअयोऽपि संन्द्रिया विशेषाधिकारः, त्रिन्द्रियादीनामपि तत्र प्रह्णेपात् । तद्देवमुक्तमेकमौघिकानामव्यबहुत्वम् । प्रह्णो ३ वेद । जी० । अर्थेतत्त्वेअय—“ एण १ चउ २ ति ३ दुय ४ अणुदिया ५, एग्गिदिया ६ सव्वदिया कमा हुंति । योवा १ तिअि य आहिया ४, दोअंतगुणा ६ विसैसाहिया ” ॥ १ ॥ अ० २५ अ० ३०० । जी० ।

इदानीमेतेषामेवापर्यासानां द्वितीयमव्यबहुत्वमाह-एरसिं यं भंते ! सद्दियाणं एग्गिदियाणं बेद्दियाणं तेद्दियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अपज्जत्ताणं कपरे कपरोर्हितो अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया अपज्जत्ता, चउरिंदिया

अपज्जत्ता विसैसाहिया, तेद्दिया अपज्जत्ता विसैसाहिया, एग्गिदिया अपज्जत्ता अणंतगुणा, सद्दिया अपज्जत्ता विसैसाहिया ।

सर्वस्तोकाः पञ्चैन्द्रिया अणयोःसाः एकस्मिन्प्रतरे वाधन्यदुक्कलसंश्वेयभागमात्राणि क्खत्ताति तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तअयभतुरिन्द्रिया अणयोःसा विशेषाधिकारः, प्रभूतदुक्कलसंश्वेयभागक्खत्प्रमाणत्वात् । तेअयोऽपि त्रिन्द्रिया अणयोःसा विशेषाधिकारः, प्रभूततरप्रतरादुक्कलसंश्वेयभागक्खत्प्रमाणत्वात् । तेअयोऽपि त्रिन्द्रिया अणयोःसा विशेषाधिकारः, प्रभूततमादुक्कलसंश्वेयभागक्खत्प्रमाणत्वात् । तेअयोऽपि संन्द्रिया अणयोःसा विशेषाधिकारः, द्विन्द्रियाद्युपसर्गानामपि तत्र प्रह्णेपात् । गंतं द्वितीयमव्यबहुत्वम् । प्रह्णो ३ वेद । जी० ।

अचुनेतेषामिव पर्यासापर्यासगतमव्यबहुत्वमाह—

एरसिं यं जंते ! सद्दियाणं एग्गिदियाणं बेद्दियाणं तेद्दियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्ताणं कपरे कपरोर्हितो अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा पज्जत्ता चउरिंदिया पंचिंदिया पज्जत्ता विसैसाहिया, तेद्दिया पज्जत्ता विसैसाहिया, बेद्दिया पज्जत्ता विसैसाहिया, एग्गिदिया पज्जत्ता अणंतगुणा, सद्दिया पज्जत्ता सर्वज्जगुणा ।

सर्वस्तोकाभतुरिन्द्रियाः पर्यासाः, यतोऽप्यायुपभतुरिन्द्रियाः, ततः प्रभूतकात्मवस्थानामाभावात् । पृच्छासमयं स्तोका अप्रिप्रतरे वाधन्यदुक्कलसंश्वेयभागमात्राणि क्खत्ताति तावत्प्रमाणवा वेदिन्य्याः । तेअय पञ्चैन्द्रियापर्यासा विशेषाधिकारः, प्रभूतदुक्कलसंश्वेयभागक्खत्प्रमाणत्वात् । तेअयोऽपि त्रिन्द्रियाः पर्यासा विशेषाधिकारः, स्वभावत एव तेषां प्रभूततरप्रतरादुक्कलसंश्वेयभागक्खत्प्रमाणत्वात् । तेअय एकैन्द्रियाः पर्यासा अन्नगुणाः, वनस्पतिकायिकानां पर्यासानामनन्तत्वात् । तेअयोःसांन्द्रियाः पर्यासा विशेषाधिकारः, द्विन्द्रियादीनामपि पर्यासानां तत्र प्रह्णेपात् । गंतं तृतीयमव्यबहुत्वम् । सम्प्रत्येषामिव संन्द्रियाणां पर्यासापर्यासगतमव्यबहुत्वमाह—

एरसिं यं भंते ! सद्दियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कपरे कपरोर्हितो अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा सद्दिया अणज्जत्ता पज्जत्ता सद्दिया विसैसाहिया । एरसिं यं भंते ! एग्गिदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कपरे कपरोर्हितो अप्या वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा एग्गिदिया पज्जत्ता एग्गिदिया अपज्जत्ता असं० । एरसिं यं भंते ! बेद्दियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कपरे कपरोर्हितो अप्या वा ४ ? गोयमा ! सव्वत्थोवा बेद्दिया पज्जत्ता अपज्जत्ता असं—

खेज्जगुणा । एरसि णं जंते ! तेइदियाणं पज्जत्तापज्जत्ता-
 णं कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थो-
 वा तेइदिया पज्जत्ता, तेइदिया अपज्जत्ता अस्सेखेज्जगु-
 णा । एरसि णं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ता
 कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ५ । गोयमा ! सव्वत्थोवा
 चउरिंदिया पज्जत्ता, चउरिंदिया अपज्जत्ता अस्सेखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः सेन्द्रिया अपर्यासाः, इह सेन्द्रिया एव बहव-
 सत्रापि सूहमाः, तेषां सर्वशोकापत्त्यादः । सूहमाभापर्यासाः
 सर्वस्तोकाः पर्यासाः संख्येयगुणा इति । सेन्द्रिया अपर्यासाः स-
 र्वस्तोकाः पर्यासाः संख्येयगुणाः । एवमेकेन्द्रिया अपर्यासाः
 सर्वस्तोकाः पर्यासाः संख्येयगुणा भावनीयाः । तथा सर्वस्तो-
 का इन्द्रियाः पर्यासाः, वाचनं प्रतेरऽहुस्तस्य असंख्येयभाग-
 माशाणि अरुदानी तावत्प्रमाणत्वात् तथाम् । तेषांऽपर्यासा
 असंख्येयगुणाः, प्रतरगताङ्गुलासंख्येयभागखण्डमश्रत्वात् ।
 एषं त्रिचतुरिन्द्रियात्पत्त्यन्यपि वक्ष्येयानि । गतं पठत्यवहु-
 त्वात्मकं चतुर्थमवबहुत्वम् ।

सम्प्रत्येतापं सेन्द्रियादीनां समुदितानां पर्यासापर्यासानामव्य-
 वद्वयमाह—

एरसि णं भंते ! सइदियाणं एरिंदियाणं वेइदियाणं
 तेइदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं
 कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ५ । गोयमा ! सव्वत्थोवा
 चउरिंदिया पज्जत्ता, पंचिंदिया पज्जत्ता विसेसाहिया,
 वेइदिया पज्जत्ता विसेसाहिया, तेइदिया पज्जत्ता विसे-
 साहिया, पंचिंदिया अपज्जत्ता अस्सेखेज्जगुणा, चउरिं-
 दिया अपज्जत्ता विसेसाहिया, तेइदिया अपज्जत्ता विसे-
 साहिया, एरिंदिया पज्जत्ता संखेज्जगुणा, सइदिया पज्ज-
 त्ता विसेसाहिया, सइदिया विसेसाहिया ।

इदं प्रागुक्तद्वितीयमूलोपाख्यवद्वयभाववानुसारिणा ख्यं ज्ञा-
 वनीयम्, तत्रवते भाषितं न्यात् । गतमिन्द्रियद्वयम् ॥ प्रज्ञा० ३५४ ।
 जी० । अ०० । (इन्द्रियोपयोगाऽत्राविषयमवबहुत्वम्-ईदियव-
 वभागत्वा' शब्दे द्वितीयभागे ४६८ पृष्ठं प्रकृत्यवित्ते)

(७) [उद्धतेनाऽपवर्तनयोरव्यवहृत्यम्] सम्प्रति ह्योरपि
 उद्धतेनापवर्तनयोरव्यवहृत्यं सूत्रकृत्यं प्रतिपादयति-
 योचं परपसुगुहाणि अत्रेते दुसु जहन्निनिकेसवो ।
 क्रमसो अग्रोत्तुण्णिओ, दुसु वि अत्र्यावणो तुह्णा ॥२२२॥
 बाधाएणऽणुभाग-कंडगमकाववगणाऽणुणं ।
 १५६

ठकिडो निरुवेवो, ससंतबंधो य सविसेसो । ३३३ ॥

एकस्यां दिशि स्थित्यै यानि स्वर्णकानि तानि क्रमशः श्या-
 प्यन्ते । तथावा-सर्वेज्जन्तं स्वस्वदेवकामदौ, ततो विशेषाधि-
 करसं द्वितीयेषु, ततो विशेषाधिकरसं तृतीयेषु । एवं तावत्स-
 र्वोक्तपरसमन्ते । तथाऽऽविस्वर्णकदाहारभ्योक्तोत्तरस्वर्णकानि
 प्रदेशेषुस्य विशेषादीनां, अन्तिमस्वर्णकदाहारभ्युत्तरयोऽस्य
 क्रमेण प्रदेशेषुस्य (विशेषाधिकारि, तेषां मध्ये एकस्मिन् द्विगु-
 णबृहत्त्वान्तरं द्विगुणाह्वान्यन्तरे वा यत्स्वर्णकं यति तत् सर्वस्तो-
 कम् । मथवा ज्ञेहमत्यस्य स्वर्णकस्य अनुभाग्द्विगुणबृहत्त्वान्तरं,
 द्विगुणाह्वान्यन्तरे वा यत्तुजागपटसं तत्सर्वस्तोकान्येव प्राप्यन्ते ।
 अन्तिमस्थितेषु प्रयुजानि, इति स्वर्णकसंख्यापेक्षया ह्येतेरपि नि-
 सेपस्तुल्यः । एवमतिरिच्यपनायामुक्तद्विनिषेपोऽपि च भावनीयम् ।
 क्रमश इति च सकलमाशाऽप्येषु यांजनीयम् । ततो ह्योरपर्यासि-
 न्त्वापना व्याघातबाह्या भनन्तगुणा, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्या ।
 ततो 'बाधाएणयथादि' व्याघातं तत्र यत् उक्तं अनुभागात्कण्डकम-
 कया घर्गणया एकसमयमाश्रित्यतिगतस्वर्णकसंहतिरूपया ऊ-
 नय, एषा उक्तद्वानुभागात्कण्डकस्य याऽनिष्ठापना, सा भनन्तगुणा ।
 तत उद्धतेनापवर्तनेयानुक्तद्वे निषेपो विशेषाधिकः, स्वस्थाने तु
 परस्परं तुल्यः । ततः (ससंतबंधो य सविसेसो) पृथेबद्धोक्त-
 दृशित्यतिक्रान्तनागेन सह उक्तदृशित्यनुभागावन्धो विशेषा-
 धिकः । क० प्र० ॥

(८) [उपयोगद्वयम्] साकाराऽनाकारो-
 पयुक्तानामवबहुत्वम्—

एरसि णं जंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताणं अण्णागारोव-
 उत्ताण य कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थो-
 वा जीवा अण्णागारोवउत्ता सागारोवउत्ता मंसिखज्जगुणा ॥

इहानाकारोपयोगः कालः सर्वस्तोकाः, साकारोपयोगकालस्तु
 संख्येयगुणः । ततो जीवा अप्यनाकारोपयोगोपयुक्ताः सर्व-
 स्तोकाः, पृच्छासमयं तेषां स्तोकाभिव्याप्यमानत्वात् ।
 तेभ्यः साकारोपयोगोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, साकारोपयोगका-
 लस्य दीधेतया तेषां पृच्छासमयं बहुनां प्राप्यमाणत्वात् । गतसु-
 पयोगद्वयम् । प्रज्ञा० ३५४ । जी० । कर्म० पं० सं० । क० प्र० ५० ।
 (कति सञ्चितानां कति असञ्चितानामवबहुत्वकसञ्चितानां पट-
 कसमञ्जितानां यावन्नुरर्हातिसमञ्जितानां, कर्मप्रदेशाऽप्राप्या-
 मन्ववद्वयं 'बंध' शब्दे प्रदेशाव्यापयन्तं बह्यते)

(९) [कथायद्वयम्] कोधकथायादीनामवबहुत्वम्—

एरसि णं जंते ! जीवाणं सकसाईणं कोहकसाईणं
 माणकसाईणं मायाकसाईणं भोजकसाईणं अक्रमाईणं
 य कयरे कयरेहिंता अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा
 जीवा अक्रसाई, माणकसाई अणुत्तुणा, कोहकसाई विसे-
 साहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, भोजकसाई विसेसाहि-
 या, सकसाई विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका अक्षयाधिः, सिद्धानां कतिपयानां च मनुष्याणाम-
 कथायत्वात् । तेभ्यः मानकथायिणो मानकथायपरिणामाभवतोऽन्न-
 नगुणाः, पदस्यपि जीवनिर्कायेषु मानकथायपरिणामाव्याप्यमान-
 त्वात् । तेभ्यः कोधकथायिणो विशेषाधिकः, तेभ्यो मायाकथायि-
 षो विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि लोभकथायिणो विशेषाधिकाः, मा-

मकपायपरिणामकालपेक्षया क्रोधादिकपायपरिणामकालस्य
 यथोत्तरं विशेषाधिकतया क्रोधादिकपायपरिणामपि यथोत्तरं
 विशेषाधिकत्वभावात् । लोभकपायविद्मः सामान्यतः सकपाय-
 विधां विशेषाधिकाः, मानादिकपायानामपि तत्र प्रकेपात् ।
 सकपायिणं प्रत्यक्षैव स्मृत्याऽपि-कपायशब्देन कपायोदयः परि-
 पूर्यते, तथा च लोकैः व्यवहारः-सकपायोऽयं, कपायोदयवानि-
 र्थायः । सह कपायेण कपायोदयेन वदन्ते सकपायोदयाः वि-
 पाकावस्थायां प्राप्ताः स्वोदयमुपदेशयन्तः कपायकर्मपरिमाणव-
 न्तस्तेषु सत्सु जीवस्वावयवैः कपायोदयसंभवात् । सकपाया वि-
 घ्नन्ते येषां ते सकपायिणः, कपायोदयसंहिता इति तात्पर्यार्थः ।
 यां कपायद्वारम् । प्रज्ञां ३ पद् । जी० । कर्म० । सकपायि-
 षामकपायिणां चादृश्येदृश्यां चन्त्यायं, सर्वस्तोका अकपायि-
 षुः, सकपायिणांऽनन्तगुणाः । जी० ८ प्रति० । (काम-
 भोगविवयमदृश्यबहुत्वं 'कामभोगं' शब्दे बद्धयते)

(१०) [कायद्वारम्] सकाधिकानामदृश्यबहुत्वम्—

एस्मि णं जेते ! सकाद्याणं पुढविकाद्याणं आउकाइया-
 णाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसका-
 इयाणं अकाइयाणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोय-
 मा ! सव्वत्थोवा तसकाइया, तेउकाइया असंखेज्जगुणा,
 पुढविकाइया विसेसाइया, आउकाइया विसेसाइया, वा-
 उकाइया विसेसाइया, अउकाइया अणंतगुणा, वणस्सइ-
 काइया अणंतगुणा, सकाइया विसेसाइया वा ॥

सर्वस्तोकाकामकपायिकाः, श्रद्धाधिकारानामेव प्रसकपायिका-
 स्यात्; तेन च श्रेयकपायपेक्षया अयत्नत्वात् । तेज्यस्तेजसकपायिका
 असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेज्यः
 पुषिर्वाकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाका-
 शप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्याऽकपायिका विशेषाधिकाः, प्रभू-
 ततरासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यां वायुकायिका
 विशेषाधिकाः, प्रभूततमसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् ।
 तेज्याऽकपायिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेज्या
 वनस्पतिकपायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाण-
 मन्वात् । तेज्यः सकपायिका विशेषाधिकाः, पुषिर्वाकायिकादी-
 नामापि तत्र प्रकेपात् । सकपायिकानामदृश्यबहुत्वम् । प्रज्ञां ३
 पद् । जी० । अर्थतत्रैवम्—“तस-तेउ-पुढवि-जल-वा-उकाय-अ-
 काय-वणस्सइसकाया ८ । योवा ? ऽसखगुणाइयि २, तिउिउ
 ६ शोऽनंतगुणा ७ इरहिय” स्ति । ज० २५ हा० ३ ङो० १०६० ।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमदृश्यबहुत्वमाह—

एस्मि णं जेते ! सकाद्याणं पुढविकाद्याणं आउकाइया-
 णं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइ-
 याणं य अपजजत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोय-
 मा ! सव्वत्थोवा तसकाइया अपजजत्ता, तेउकाइया अप-
 जजत्ता असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया अपजजत्ता वि-
 सेसाइया, आउकाइया अपजजत्ता विसेसाइया, वाउका-
 इया अपजजत्ता विसेसाइया, वणस्सइकाइया अपजज-

त्ता अणंतगुणा । सकाइया अपजजत्ता विसेसाइया ।
 प्रज्ञां ३ पद् । (टीका चारुय सुगमाऽतां न प्रत्यन्ते)

साम्प्रतमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमदृश्यबहुत्वमाह—

एस्मि णं जेते ! सकाद्याणं पुढविकाद्याणं आउकाइयाणं
 तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं
 य पजजत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
 सव्वत्थोवा तसकाइया पजजत्ता, तेउकाइया पजजत्ता
 असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया पजजत्ता विसेसाइया,
 आउकाइया पजजत्ता विसेसाइया, वाउकाइया पजज-
 त्ता विसेसाइया, वणस्सइकाइया पजजत्ता अणंतगुणा,
 सकाइया पजजत्ता विसेसाइया । प्रज्ञां ३ पद् ।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकाधिकानां प्रत्येकं पर्याप्तपर्या-

प्तानामदृश्यबहुत्वमाह—

एस्मि णं जेते ! सकाद्याणं पजजत्तापजजत्ताणं कयरे
 कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा तुट्ठा वा विसेसाइया
 वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सकाइया अपजजत्ता, सका-
 इया पजजत्ता संखेज्जगुणा । एस्मि णं जेते ! पुढविकाइयाणं
 पजजत्तापजजत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्पा वा बहुया वा
 तुट्ठा वा विसेसाइया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढ-
 विकाइया अपजजत्ता, पुढविकाइया पजजत्ता संखिज्ज-
 गुणा । एस्मि णं जेते ! आउकाइयाणं पजजत्तापजजत्ताणं
 कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
 आउकाइया अपजजत्ता, आउकाइया पजजत्ता संखि-
 ज्जगुणा । एस्मि णं जेते ! तेउकाइयाणं पजजत्तापजजत्ताणं
 कयरे कयरेहिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा
 तेउकाइया अपजजत्ता, तेउकाइया पजजत्ता संखेज्जगुणा ।
 एस्मि णं जेते ! वाउकाइयाणं पजजत्तापजजत्ताणं कयरे कयरे-
 हिंते अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वाउकाइया
 अपजजत्ता, वाउकाइया पजजत्ता संखेज्जगुणा । एस्मि णं
 जेते ! वणस्सइकाइयाणं पजजत्तापजजत्ताणं कयरे कयरेहिंते
 अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया अप-
 जजत्ता, वणस्सइकाइया पजजत्ता संखेज्जगुणा । एस्मि णं
 जेते ! तसकाइयाणं पजजत्तापजजत्ताणं कयरे कयरेहिंते
 अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया पजजत्ता-
 गा, तसकाइया अपजजत्ता असंखेज्जगुणा । प्रज्ञां ३ पद् ।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकाधिकानां समुचितानां
 पर्याप्तपर्याप्तानामदृश्यबहुत्वं पञ्चममाह—

एप्सि णं जेते ! सकाइयाणं पुडविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहितो अप्पा वा० ४ ? । गो-यमा ! मन्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्ता, तसकाइया अपज्जत्ता अपसंखेज्जगुणा, तेउकाइया अपज्जत्ता अपसंखेज्जगुणा, पुडविकाइया अपज्जत्ता विसेसाहिया, आउकाइया अपज्जत्ता विसेसाहिया, वाउकाइया अपज्जत्ता विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अपज्जत्ता विसेसाहिया, तसकाइया अपज्जत्ता विसेसाहिया, तसकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अपज्जत्ता अपतगुणा, वणस्सइकाइया पज्जत्ता अपज्जत्ता संखेज्जगुणा, सकाइया अपज्जत्ता विसेसाहिया, सकाइया पज्जत्ता संखेज्जगुणा, सकाइया विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः स्वस्तोकाः पर्यासाः, तेष्वस्वस्तोकाः एवाऽपर्यासाः असंख्येयगुणाः; द्विन्द्वीयाः त्रिन्द्वीयाः पर्यासाः पर्यासाः द्विन्द्वीयाः त्रिन्द्वीयाः असंख्येयगुणत्वात् । ततस्तेजस्काः अपर्यासाः असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाः काशाप्रदेशप्रमाणत्वात् । ततः पृथिव्यभूतवायवोऽपर्यासाः क्रमेण विशेषाधिकाः । ततस्तेजस्काः पर्यासाः स्वधर्मगुणाः, स्वधर्मपर्यासाः पर्यासानां संख्येयगुणत्वात् । ततः पृथिव्यभूतवायवोः पर्यासाः क्रमेण विशेषाधिकाः ततो वनस्पतयोऽपर्यासाः अनन्तगुणाः पर्यासाः स्वधर्मगुणाः । तदेवं कायज्ञारं सामान्येन पञ्चस्राणि प्रतिपादितानि ॥

सम्प्रत्यक्षमन्त्रेण द्वारे स्तूत्रमन्त्रादराभिदेन पञ्चदश स्राण्याह—

एप्सि णं भेते ! मुहुमाणं मुहुमपुडविकाइयाणं मुहुमआउकाइयाणं मुहुमतेउकाइयाणं मुहुमवाउकाइयाणं मुहुमवणस्सइकाइयाणं मुहुमपिआओयाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मन्वत्थोवा मुहुमतेउकाइया मुहुमपुडविकाइया विसेसाहिया, मुहुमआउकाइया विसेसाहिया, मुहुमवाउकाइया विसेसाहिया, मुहुमनिगोदा अपसंखेज्जगुणा, मुहुमवणस्सइकाइया अपतगुणा, मुहुमा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः स्वस्तोकाः स्वस्तोकाः असंख्येयलोकाः काशाप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्यः स्वधर्मपृथिवीकाः विशेषाधिकाः, प्रभूताः स्वधर्मपृथिवीलोकाः काशाप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्यः स्वधर्मपृथिवीकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाः काशाप्रमाणत्वात् । तेज्यः स्वधर्मवायुकाः विशेषाधिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाः काशाप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्यः स्वधर्मनिगोदा असंख्येयगुणाः । स्वधर्मप्रहणं वादव्ययच्छेदार्थम् । द्विदिधा द्वि निगोदाः—स्वधर्माः, वादराः । तत्र वादराः सूरसु कन्द्यादिषु, स्वधर्माः सर्वलोकापणाः, ते च प्रतिगोलकमसङ्ख्येया इति स्वधर्मवायुकाधिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः । तेज्यः स्वधर्मवन्स्पतिकाः अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमन्तानां प्रावृत्ताः । तेज्यः सामानिकाः स्वधर्मजीवा विशेषाधिकाः, स्वधर्मपृथिवीकाः काशादीनामपि तत्र प्रहेपात् । यतमीधिकाः नामिदमन्त्रबहुत्वम् ।

इदामिमेतयामेवाऽपर्यासानामाह—

एप्सि णं भेते ! मुहुमपज्जत्ताणं मुहुमपुडविकाइयाणं अपज्जत्ताणं मुहुमआउकाइया अपज्जत्ताणं मुहुमतेउकाइया अपज्जत्ताणं मुहुमवाउकाइया अपज्जत्ताणं मुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्ताणं मुहुमनिगोदा अपज्जत्ताणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मन्वत्थोवा मुहुमतेउकाइया अपज्जत्ता, मुहुमपुडविकाइया अपज्जत्ता विसेसाहिया, मुहुमआउकाइया अपज्जत्ता विसेसाहिया, मुहुमवाउकाइया अपज्जत्ता विसेसाहिया, मुहुमनिगोदा अपज्जत्ता अपसंखेज्जगुणा, मुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्ता अपतगुणा, मुहुमा अपज्जत्ता विसेसाहिया ॥

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव आवनीयम् ।

सम्प्रत्येतेयामेव पर्यासानां तृतीयमन्त्रबहुत्वमाह—

एप्सि णं जेते ! मुहुमपज्जत्ताणं मुहुमपुडविकाइयापज्जत्ताणं मुहुमआउकाइयापज्जत्ताणं मुहुमतेउकाइयापज्जत्ताणं मुहुमवाउकाइयापज्जत्ताणं, मुहुमवणस्सइकाइयापज्जत्ताणं मुहुमनिगोदापज्जत्ताणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! मन्वत्थोवा मुहुमतेउकाइया पज्जत्ता, मुहुमपुडविकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया । मुहुमआउकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया, मुहुमवाउकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया, मुहुमनिगोदा पज्जत्ता अपसंखेज्जगुणा, मुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्ता अपतगुणा, मुहुमा पज्जत्ता विसेसाहिया ।

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव आवनीयम् । प्रश्ना० ३ एव ।

पृथिव्यभूतवायवुवनस्पतिर्ब्रह्मिन्द्वीयचतुरिन्द्वीयपञ्चिन्द्रियाणां नवानामन्त्रबहुत्वचिन्तायामाह—

अप्पाबहुमा मन्वत्थोवा पर्विंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तदेदिंया विसेसाहिया, वेदंदिंया विसेसाहिया, तेउकाइया अपसंखेज्जगुणा, पुदावि० आउ० वाउ० विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अपतगुणा ।

सर्वस्तोकाः पञ्चिन्द्रियाः, संख्येययोऽजनकोटीकोटिप्रमाणविष्कम्भसुधीप्रमितराश्यसंख्येयजागवत्ये संख्येयभोगिताकाशाप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यः चतुरिन्द्वीया विशेषाधिकाः, विष्कम्भसुध्यास्तेषां प्रभूतसंख्येययोऽजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि ब्रह्मिन्द्वीया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसुध्याः प्रभूततरसंख्येययोऽजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेज्योऽपि ब्रह्मिन्द्वीया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसुध्याः प्रभूततरसंख्येययोऽजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेज्यस्तेजस्काः असंख्येयलोकाः काशाप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेज्यः पृथिवीकाः विशेषाधिकाः, प्रभूतासंख्येयलोकाः काशाप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्युकाः विशेषाधिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाः काशाप्रदेशप्रमाण-

त्यात् । तेज्यो वायुकायिका विशेषाधिकारः, प्रजलतमासंख्येय-
लोकः काराशरेश्वरप्रमाणत्वात् । तेज्यो धनस्पतिकायिका धनस्त-
गुणाः, अनन्तलोककाराशरेश्वरप्रमाणत्वात् । जी० ६ प्रलि० ।
सम्प्रति पतेषामिवात्मिकियमहितानां दशानामदप्यवहृयत्वमाह-
एषसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं अप्पज्जाइयाणं तेउ०,
वाउ०, वणफ्फत्ति०, वेइदियाणं तेइदियाणं चउरिदियाणं पंचि-
दियाणं अण्णिदियाणं य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० जाव
विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचेदिया, चउरिदिया
विसेसाहिया, तेइदिया विसेसाहिया, वेइदिया वि०, तउकाइ-
या असंखेज्जगुणा । पुढविकाइया वि०, अप्पज्जाइया वि०,
वाउकाइया वि०, अण्णिदिया अप्पत्तगुणा, वणफ्फत्तिइया
अण्णत्तगुणा ॥

सर्वस्नोकाः पञ्चन्द्रियाः, चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकारः, त्रीन्दि-
या विशेषाधिकारः, द्वीन्द्रिया विशेषाधिकारः, तेजस्कयिका
असंख्येयगुणाः, पृथिवीकायिकाः विशेषाधिकारः, अकायिका
विशेषाधिकारः, वायुकायिका विशेषाधिकारः, अग्निद्विया अन-
न्तगुणाः, धनस्पतिकायिका धनस्तगुणाः । जी० १० प्रलि० ।

अप्युनाऽमीषामेव सूक्ष्मादीनां प्रत्येकं पर्यायगता—
त्यव्यवहृत्त्वान्याह—

एषि णं जंते ! सुहुमाणं प्पज्जत्ताऽपपज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमा अप्पज्ज-
त्तगा, सुहुमा प्पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एषि णं भंते !
सुहुमपुढविकाइयाणं प्पज्जत्ताऽपपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो
अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमपुढविकाइया
अपपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया प्पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।

इह बाहरेषु पर्यायित्तयोऽपर्याया असंख्येयगुणाः, एकैकपर्या-
यित्तियथा असंख्येयानामपर्यायानामुत्पादात् । तथा चोक्तं प्राक्
प्रथमे प्रज्ञापनाख्ये पदे—“ पञ्चत्तनिसन्माए अप्पज्जत्तगा
वक्कमंति, जत्थ पर्याे तत्थ नियमा असंखेज्ज ” इति । सूक्ष्मेषु
दुननावं क्रमः । पर्यायाश्चापर्यायापेक्षया चिरकालावस्थायिन
इति । सदैव ते बहवो लभ्यन्ते । तत्र उक्तम्—सर्वस्नोकाः सूक्ष्मा
अपर्यायाः, तेज्यः सूक्ष्माः पर्यायिताः संख्येयगुणाः, एवं पृ-
थिवीकायिकादिष्वपि प्रत्येकं आवश्यकम् । गतं चतुर्थमख्यव-
हृत्वम् ।

इदानीं सर्वेषां सत्प्रतिज्ञानात् पर्यायापर्यायगतं पञ्चममदप्यवहृ-
त्वमाह—

एषि णं भंते ! सुहुमअप्पज्जाइयाणं प्पज्जत्ताऽपपज्जत्ताणं
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा सु-
हुमअप्पज्जाइया अप्पज्जत्तया, सुहुमअप्पज्जाइया प्पज्जत्तगा
संखेज्जगुणा । एषि णं भंते ! सुहुमतउकाइयाणं प्पज्जत्ता-
पपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्व-
त्थोवा सुहुमतउकाइया अप्पज्जत्तया, सुहुमतउकाइया प-
पज्जत्तया संखेज्जगुणा । एषि णं जंते ! सुहुमवाउकाइयाणं

पज्जत्तापपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गो-
यमा ! सव्वत्थोवा सुहुमवाउकाइया अप्पज्जत्तया, सुहुमवा-
उकाइया पपज्जत्तया संखेज्जगुणा । एषि णं जंते !
सुहुमवणस्सइकाइयाणं पपज्जत्तापपज्जत्ताणं कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा० ४ । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहु-
मवणस्सइकाइया अप्पज्जत्तया, सुहुमवणस्सइकाइया पपज्ज-
त्तया संखेज्जगुणा । एषि णं भंते ! सुहुमनिगोदाणं
पपज्जत्तापपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमनिगोदा अप्पज्जत्तया सुहुमनि-
गोदा पपज्जत्तया संखेज्जगुणा । एषि णं भंते ! सुहुमाणं
सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमअप्पज्जाइयाणं सुहुमतउकाइयाणं
सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं
य पपज्जत्तापपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतउकाइया अप्पज्जत्तया, सुहुमपुढ-
विकाइया अप्पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमअप्पज्जाइया अप्प-
ज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अप्पज्जत्तया विसे-
साहिया, सुहुमतउकाइया पपज्जत्तया संखेज्जगुणा, सुहुमपुढवि-
काइया पपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमअप्पज्जाइया पपज्जत्तया
विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अप्पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुम-
निगोदा अप्पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पपज्जत्त-
या संखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अप्पज्जत्तया अण्णत्तगुणा,
सुहुमा अप्पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमा वणस्सइकाइया
पपज्जत्तया संखेज्जगुणा, सुहुमा पपज्जत्तया विसेसाहिया ॥

सर्वस्नोकाः सूक्ष्मास्तेजस्कयिका अपर्यायाः कारणं प्रागेवा-
क्तम् । तेभ्यः सूक्ष्माः पृथिवीकायिका अपर्याया विशेषाधिकारः ।
तेज्यः सूक्ष्माकायिका अपर्याया विशेषाधिकारः । तेज्यः सूक्ष्मवा-
युकायिका अपर्याया विशेषाधिकारः । अत्रापि कारणं प्रागेवाक्तम् ।
तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कयिकाः पर्यायाः संख्येयगुणाः । अपर्यायि-
भ्यां हि पर्यायाः संख्येयगुणाः । इत्यन्तरं भावितम् । तत्र
सर्वस्नोकाः सूक्ष्मतेजस्कयिका अपर्याया उक्ताः । इतरे व सू-
क्ष्मपर्यायाः पृथिवीकायिकाद्या विशेषाधिकारः विशेषाधिकारत्वं च
मनाभाविकत्वम्, न द्विगुणत्वं न त्रिगुणत्वं वा । तत्र सूक्ष्मते-
जस्कयिकेभ्योऽपर्यायित्तयः पर्यायाः सूक्ष्मतेजस्कयिकाः संख्ये-
यगुणाः सन्तः सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्यायित्तयोऽपि असंख्येयगु-
णा अस्ति । तेज्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याया विशेषाधिकारः ।
तेज्यः सूक्ष्माकायिकाः पर्यायाः विशेषाधिकारः । तेज्योऽपि सू-
क्ष्मवायुकायिकाः पर्याया विशेषाधिकारः । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा
अपर्याया असंख्येयगुणाः, तेभ्यामिन्द्रियाद्युक्तैः । तेज्यः सूक्ष्मनि-
गोदाः पर्यायाः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मवणस्सइकाइयाः पर्यायाः मनाभा-
वितः संख्येयगुणात्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मधनस्पतिकायिका अपर्या-
या अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमन्तानां तेषां भावात् । तेभ्यः
सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्यायिताः विशेषाधिकारः, सूक्ष्मपृथिवी-
कायिकादीनामपि तत्र प्रकोषात् । तेज्यः सूक्ष्मधनस्पतिकायि-

काः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः। स्वैयुषं हि अपर्यतिन्यः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः। यथायान्तरात् विशेषाधिकर्यं तदस्पमिति न संख्येयगुणत्वव्याघातः। तेन्यः स्वैयुषपर्याप्तका विशेषाधिककाः, स्वैयुषपर्याप्तकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रकृष्यात् । तेभ्यः न्यूनता विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रकृष्यात् ॥ १५ ॥ तदर्थमुक्तानि स्वैयुषाभितानि पञ्चसुधाणि ।

स्मरति बादराभितानि पञ्चोक्तक्रमेणानिधित्सुराह—

एषसि एं नंते । बादरगाणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरिर्बादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ?। गोयमा । स्वन्त्योवा बादरतसकाइया, बादरतेउकाइया असंखेजगुणा, पत्तेयसरिर्बादरवणस्सइकाइया असंखेजगुणा, बादरनिगोदा असंखेजगुणा, बादरपुढविकाइया असंखेजगुणा, बादरआउकाइया असंखेजगुणा, बादरवाउकाइया असंखेजगुणा, बादरवणस्सइकाइया अणंतगुणा, बादरा विसैसाहिया ॥

सर्वस्तोका बादरअसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव बादरअसत्वात्, तथा च शेषकायिच्योऽप्यन्वात् । तेन्यो बादरतेजस्कायिका असंखेयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेश—प्रमाणत्वात् । तेन्योऽपि प्रत्येकशरीरबादरवणस्सविकायिका असंखेयगुणाः, स्थानस्यासंख्येयगुणत्वात् । बादरतेजस्कायिका हि मनुष्येभ्य एव भवन्ति । तथा चोक्तं द्वितीयस्थानस्ये पदे—“कहिं एं नंते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तयाणं ठाणा पक्खत्ता ?। गोयमा । सत्तणेणं अंतो मणुस्सखिप्पे अद्धान्जंसे ढीवस्सुदेसु निव्वाघाएणं पन्नस्सकम्मभूमिस्सु वाघाएणं पंचसु महाविदेहेसु पथं नं बायरतेउकाइयाणं पज्जत्तयाणं ठाणा पक्खत्ता, तत्थेव बायरतेउकाइयाणमपज्जत्तयाणं ठाणा पक्खत्ता” इति ।

बादरवणस्सविकाइयाणं पज्जत्तयाणं तत्थेव बायरवणस्सविकाइयाणं अपज्जत्तयाणं ठाणा पक्खत्ता” इति । ततः क्रमस्यासंख्येयगुणत्वात्पुपचत्ते बादरतेजस्कायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः प्रत्येकशरीरबादरवणस्सविकायिकाः । तेन्यो बादरनिगोदा असंख्येयगुणाः, तेभामत्यन्तसूक्ष्ममावगाहनत्वात्, जलेषु सरवेत्त्रापे च ज्ञात्वात् । पनकीचाश्रावयो हि जले अथयं भावित्तेव च बादरानन्तकायिका इति । तेभ्योऽपि बादरपुढि-

वीकायिका असंख्येयगुणाः, अहसु पृथिवीषु सर्वेषु विमानभवनपर्येतादिषु भावात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा बादरकायिकाः, समुदेषु जलमामृत्यात् । तेन्यो बादरवायुकायिका असंख्येयगुणाः, सुधिरं सर्वत्र वायुसंजत्वात् । तेभ्यो बादरवणस्सविकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात् । तेन्यः सामान्यतां बादरा जीवा विशेषाधिकाः, बादरअसकायिकादीनामपि तत्र प्रकृष्यात् । गतमेकमीधिकानां बादरानामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह—

एषसि एं भंते । बादरा पज्जत्तयाणं बादरपुढविकाइया अपज्जत्तयाणं बादरआउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरतेउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरवाउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं पत्तेयसरिर्बावणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तयाणं बादरतसकाइया अपज्जत्तयाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ?। गोयमा । स्वन्त्योवा बादरतसकाइया अपज्जत्तया, बादरतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेजगुणा, पत्तेयसरिर्बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेजगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तया असंखेजगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तया असंखेजगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तया असंखेजगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेजगुणा, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया अणंतगुणा, बादरअपज्जत्तया विसैसाहिया ॥ सर्वस्तोका बादरअसकायिका अपर्याप्तकाः, युक्तिरत्र प्रागुक्तैव । तेन्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । इत्यं प्रागुक्तक्रमेणमप्यबहुत्वं भावनीयम् । गतं द्वितीयमप्यबहुत्वम् ।

इदानीमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमप्यबहुत्वमाह—

एषसि एं भंते ! बादरपज्जत्तयाणं बादरपुढविकाइया पज्जत्तयाणं बादरआउकाइया पज्जत्तयाणं बादरतेउकाइया पज्जत्तयाणं बादरवाउकाइया पज्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तयाणं पत्तेयसरिर्बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तयाणं बादरनिगोदपज्जत्तयाणं बादरतसकाइया पज्जत्तयाणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विसैसाहिया वा ?। गोयमा । स्वन्त्योवा बादरतेउकाइया पज्जत्तया, बादरतसकाइया पज्जत्तया असंखेजगुणा, पत्तेयसरिर्बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया असंखेजगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तया असंखेजगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तया असंखेजगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखेजगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तया असंखेजगुणा, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा, बादरअपज्जत्तया विसैसाहिया ॥ ३ ॥

सर्वस्वोका बादरतेजस्कायिकाः पर्यासाः, आधुनिकासमयव-
 रोच्य कतिपयसमयान्यनैराधुनिकासमर्थेयुषितस्य याबाद्
 समयराशिमिथैवति तावत्प्रमाणत्वं तेषाम् । उक्तं च—“ आधुनिक-
 यो व कुणा-वलिप्य युषिषो इव यावरा तेजः ” इति । तेभ्यो
 बादरतसकायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यहु-
 लासंख्येयजागमाभाषि अण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्साधेयाम् । ते-
 भ्यः प्रत्येकशरीरबादरवमनस्पतिकायिकाः पर्यासा असंख्ये-
 यगुणाः, प्रतरे यावन्त्यहुलासंख्येयभागमात्राणि अण्डानि ता-
 वत्प्रमाणत्वात्साधेयम् । उक्तं च—“ पत्तयेयपञ्चवणका-इया उपवरं
 हरति होमस्व । अंगुलमसंख्यमाने-ण आधुनिकिति ” । तेभ्यो
 बादरनिगोदाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्माव-
 गाहनत्वाद्, जलाशयेषु च सर्वत्र प्राधात् । तेभ्यो बादरपृ-
 थिवीकायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतसंख्येयप्र-
 ताहुलासंख्येयभागवदमानत्वात् । तेभ्योऽपि बादरपाका-
 यिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूततरसंख्येयप्रताराहु-
 लासंख्येयभागवदसंख्यत्वात् । तेभ्यो बादरयायुकायिकाः
 पर्यासा असंख्येयगुणाः, घनीकृतस्य लोकस्यासंख्येषु प्र-
 तेरेषु संख्याततमजागवसिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्ताधम-
 माण्वात्साधेयम् । तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिकाः पर्यासा
 अन्त्यगुणाः, प्रतिबादरेकैकनिगोदमन्तानां जीधानां भावात् ।
 तेभ्यः सामान्यतो बादरपर्यासा विशेषायिकाः, बादरतेज-
 स्कायिकानामपि पर्यासानां तत्र प्रक्षेपात् । गतं चतुर्थमल्प-
 बहुत्वम् ॥ ३ ॥

इहानीमेतेषामेव पर्यासापर्यासानां चतुर्थमल्पबहुत्वमाह—

एषुसि णं जंते । बादराण्ये पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कय-
 रंहितो अप्या वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा । गोय-
 मा । सन्वत्थोवा बादरा पञ्जत्तगा, बादरा अपञ्जत्तगा असं-
 ख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते । बादरपुढविकाइयाणं पञ्जत्ता-
 पञ्जत्ताणं कपरे कयरेंहितो अप्या वा० ४ । गोयमा । सन्व-
 त्थोवा बादरपुढविकाइया पञ्जत्तगा, बादरपुढविकाइया अ-
 पञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते । बादरआउकाइ-
 याणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेंहितो अप्या वा० ४ । गोय-
 मा । सन्वत्थोवा बादरआउकाइया पञ्जत्तगा, बादर-
 आउकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते ।
 बादरतेउकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेंहितो
 अप्या वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ।
 सन्वत्थोवा बादरतेउकाइया पञ्जत्तगा, बादरतेउकाइया
 अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते । बादरवाउका-
 इयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेंहितो अप्या वा० ४ ।
 गोयमा । सन्वत्थोवा बादरवाउकाइया पञ्जत्तगा, बादर-
 वाउकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते ।
 बादरवणस्सइकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेंहितो
 अप्या वा० ४ । गोयमा । सन्वत्थोवा बादरवणस्सइकाइया
 पञ्जत्तगा, बादरवणस्सइकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा ।
 एषुसि णं जंते । पत्तयेयशरीरबादरवणस्सइकाइयाणं पञ्जत्ता-

पञ्जत्ताणं कपरे कयरेंहितो अप्या वा० ४ । गोयमा । सन्व-
 त्थोवा पत्तयेयशरीरबादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तगा, पत्तयेयशरी-
 रबादरवणस्सइकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि
 णं जंते । बादरनिगोदाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेंहितो
 अप्या वा० ४ । गोयमा । सन्वत्थोवा बादरनिगोदा पञ्जत्तगा
 बादरनिगोदा अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । एषुसि णं जंते ।
 बादरतसकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेंहितो
 अप्या वा० ४ । गोयमा । सन्वत्थोवा बादरतसकाइया
 पञ्जत्तगा, बादरतसकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा ॥ ४ ॥

इह बादरेकैकपर्यासनिभ्या असंख्येया बादरा अपयासा
 उच्यथन्ते । “ पञ्जत्तगानिस्तोए अपञ्जत्तगता वक्कमति जत्थ
 एगो तथ विषयका अण्डोउजा ” इति वचनात् । ततः संख्येय प-
 र्यासिभ्योऽप्येतासा असंख्येयगुणा वक्कम्याः । प्रसर्गायकत्वं
 प्रागुक्त्युक्त्या प्रावनीयम् । गतं चतुर्थमल्पबहुत्वम् । ४ ।

सम्प्रत्येतेषामेव समुद्धानां पर्यासापर्यासानां पञ्चममल्प-
 बहुत्वमाह—

एषुसि णं जंते । बादराण्ये बादरपुढविकाइयाणं बादरआउ-
 काइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवण-
 स्सइकाइयाणं पत्तयेयशरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनि-
 गोदाणं बादरतसकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कपरे कयरेंहितो
 अप्या वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ।
 सन्वत्थोवा बादरतेउकाइया पञ्जत्तगा, बादरतसकाइया
 पञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा, बादरतसकाइया अपञ्ज-
 तगा असंख्येज्जगुणा, बादरपत्तयेयवणस्सइकाइया पञ्ज-
 तगा असंख्येज्जगुणा, बादरनिगोदा पञ्जत्तगा असंख्ये-
 ज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा,
 बादरआउकाइया पञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा, बादरवाउका-
 इया पञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा, बादरतेउकाइया अप-
 ज्जत्तगा असंख्येज्जगुणा, पत्तयेयशरीरबादरवणस्सइका-
 इया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा, बादरनिगोदा अपञ्जत्तगा
 असंख्येज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्ज-
 गुणा, बादरआउकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा,
 बादरवाउकाइया अपञ्जत्तगा असंख्येज्जगुणा । बादर-
 वणस्सइकाइया पञ्जत्तगा अणंतगुणा, बादरा पञ्जत्तगा
 विसेसाहिया, बादरवणस्सइकाइया अपञ्जत्तगा असं-
 ख्येज्जगुणा, बादरा अपञ्जत्तगा विसेसाहिया, बादरा
 विसेसाहिया ॥

सर्वस्वोका बादरतेजस्कायिकाः पर्यासाः । तेभ्यो बादरवस-
 कायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरवसकायिका
 मपर्यासा असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरमत्येकवमस्विका-
 यिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्यासा
 असंख्येयगुणाः । तेभ्यो बादरपृथिवीकायिकाः पर्यासा

असंख्येयगुणाः । तेषां बाद्राप्याक्याः पर्यासा असंख्येयगुणाः । तेषां बाद्रवायुकायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः । एतेषु प-
 षेडु युक्तिः प्रागुक्ता अस्तुसंपीषा ॥ तेजो बाद्रेतज्जकायिका
 अपयोस्ता असंख्येयगुणाः, यतो बाद्रवायुकायिकाः पर्यासाः
 संख्येयेषु अत्रेत्यु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्प्रमाणाः, बाद्र-
 तेज्जकायिकाश्च पर्यासा असंख्येययोः काशप्रदेशप्रमाणाः,
 तयो अभन्वसंख्येयगुणाः । ततः प्रत्येकशरीरबाद्रेयव्यतिकार-
 यिकाः, बाद्रनिगोदाः, बाद्रपृथिवीकायिकाः, बाद्राप्याक्या-
 यिकाः, बाद्रवायुकायिका अपयोस्ता यद्योत्तरमसंख्येयगुणा व-
 क्तव्याः । यद्यपि चैत प्रत्येकमसंख्येययोः काशप्रदेशप्रमाणास्त-
 याऽप्यसंख्यातस्यासंख्यातभेदभिरभावादित्यं यद्योत्तरमसंख्ये-
 यगुणान्वं न विरुध्यते । तेजो बाद्रेयव्यतिकारयिका ज्ञायाः
 पर्यासा भ्रान्तगुणाः, प्रतिबाद्रेकैकनिगोदभ्रान्तानां जीवानां
 प्राधात् । तेजः सामान्यतो बाद्राः पर्यासा विशेषाधिकाः,
 बाद्रेतज्जकायिकादीनामपि पर्यासां तत्र प्रहेषात् । तेषां
 बाद्रेयव्यतिकारयिका अपर्यासा असंख्येयगुणा एकैकपर्यासा-
 बाद्रेयव्यतिकारयिकनिगोदभिरभावाः, असंख्येयानामपयो-
 बाद्रेयव्यतिकारयिकनिगोदानामुपयाद्वात् । तेजः सामान्यतो
 बाद्रा अपर्यासा विशेषाधिकाः, बाद्रेतज्जकायिकादीनामप्य-
 पर्यासां तत्र प्रहेषात् । तेभ्यः पर्यासापर्यासाविशेषणरहिताः
 सामान्यतो बाद्रा विशेषाधिकाः, बाद्रेपर्यासतेज्जकायिकादी-
 नामापि तत्र प्रहेषात् । यतानि बाद्राव्यतिरिक्तपि पञ्च सूत्रानि ।

सम्प्रति सूत्रबाद्रेरनुष्ठापणगतं पञ्चसूत्रीमितिष्ठुः प्रथमम
 औचित्यं सूत्रबाद्रेरनुष्ठापण-

एरसि णं भेते । सुहुमाणं सुहुमपुडविकाइषाणं सुहुम-
 आठकाइषाणं सुहुमतेठकाइषाणं सुहुमवाउकाइषाणं सु-
 हुमवणस्सइकाइषाणं सुहुमनिगोदायां बादरायां बादरपुडवि-
 काइषाणं बादरवाउकाइषाणं बादरेठकाइषाणं बादरवाउ-
 काइषाणं बादरवणस्सइकाइषाणं पचेयसर्रीबाद्रेवणस्स-
 इकाइषाणं बादरनिगोदायां बादरतसकाइषाणं य कपरे कय-
 रेद्वितो अप्पा वा०पु । गोयमा । सन्वयोवा बादरतसका-
 इषा ?, बादरेठकाइषा असंखेज्जगुणा १, पचेयसर्रीबाद्रे-
 वणस्सइकाइषा असंखेज्जगुणा २, बादरनिगोदा अ-
 संखेज्जगुणा ४, बादरपुडविकाइषा असंखेज्जगुणा ५,
 बादरवाउकाइषा असंखेज्जगुणा ६, बादरवाउकाइषा
 असंखेज्जगुणा ७, सुहुमतेठकाइषा असंखेज्जगुणा ८,
 सुहुमपुडविकाइषा विसैसाहिया ए, सुहुमआठकाइषा
 विसैसाहिया ?०, सुहुमवाउकाइषा विसैसाहिया ??,
 सुहुमनिगोदा असंखेज्जगुणा ?१, बादरवणस्सइकाइषा
 णं०गुणा ?२, बादरा विसैसाहिया ?४, सुहुमवणस्स-
 इकाइषा असंखेज्जगुणा ?५, सुहुमा विसैसाहिया ?६ ॥

(एरसि णं भेते । इत्यादि) इह प्रथमं बाद्रेगमनस्यबहुत्वं
 बाद्रेरनुष्ठापं यत्प्रथमं सूत्रं तद्वत्प्रधानीयं यावत्बाद्रेवायुकायिक-
 पद्यम् । तदनन्तरं यत्सूत्रमगमनस्यबहुत्वं । ततः सूत्रमप-
 ष्यसूत्रं यत्प्रथमं सूत्रं तद्वत्, तावथाप्यसूत्रमग्निगोदविभ्रान्तः ।

तदनन्तरं बाद्रेयव्यतिकारयिका भ्रान्तगुणाः, प्रतिबा-
 द्रेयव्यतिकारयिका ज्ञायाः प्राधात् । तेजः सामान्यतो बाद्राः
 विशेषाधिकाः, सूत्रमतेज्जकायिकादीनामपि तत्र प्रहेषात् । तेषां
 सूत्रमतेज्जकायिका अपयोस्ता यद्योत्तरमसंख्येयगुणा व-
 क्तव्याः । यद्यपि चैत प्रत्येकमसंख्येययोः काशप्रदेशप्रमाणास्त-
 याऽप्यसंख्यातस्यासंख्यातभेदभिरभावादित्यं यद्योत्तरमसंख्ये-
 यगुणान्वं न विरुध्यते । तेजो बाद्रेयव्यतिकारयिका ज्ञायाः
 पर्यासा भ्रान्तगुणाः, प्रतिबाद्रेकैकनिगोदभ्रान्तानां जीवानां
 प्राधात् । तेजः सामान्यतो बाद्राः पर्यासा विशेषाधिकाः,
 बाद्रेतज्जकायिकादीनामपि पर्यासां तत्र प्रहेषात् । तेषां
 बाद्रेयव्यतिकारयिका अपर्यासा असंख्येयगुणा एकैकपर्यासा-
 बाद्रेयव्यतिकारयिकनिगोदभिरभावाः, असंख्येयानामपयो-
 बाद्रेयव्यतिकारयिकनिगोदानामुपयाद्वात् । तेजः सामान्यतो
 बाद्रा अपर्यासा विशेषाधिकाः, बाद्रेतज्जकायिकादीनामप्य-
 पर्यासां तत्र प्रहेषात् । तेभ्यः पर्यासापर्यासाविशेषणरहिताः
 सामान्यतो बाद्रा विशेषाधिकाः, बाद्रेपर्यासतेज्जकायिकादी-
 नामापि तत्र प्रहेषात् । यतानि बाद्राव्यतिरिक्तपि पञ्च सूत्रानि ।

इतानिभेतेषामेवापर्यासां तानि द्वितीयमाह-

एरसि णं जंते । सुहुमअपज्जत्तयाणं सुहुमपुडविकाइषाणं
 अपज्जत्तयाणं सुहुमआठकाइषाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमते-
 ठकाइषाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमवाउकाइषाणं अपज्जत्त-
 याणं सुहुमवणस्सइकाइषाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमनिगोदा
 अपज्जत्तयाणं बादरा अपज्जत्तयाणं बादरपुडविकाइषाया
 अपज्जत्तयाणं बादरआठकाइषाया अपज्जत्तयाणं बादरेठ-
 काइषाया अपज्जत्तयाणं बादरवाउकाइषाया अपज्जत्तयाणं वा-
 द्रेवणस्सइकाइषाया अपज्जत्तयाणं पचेयसर्रीबाद्रेवणस्स-
 इकाइषाया अपज्जत्तयाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तयाणं बाद-
 रतसकाइषाया अपज्जत्तयाणं य कपरे कयरेद्वितो अप्पा वा०
 पु । गोयमा । सन्वयोवा बादरतसकाइषाया अपज्जत्तया ?,
 बादरेठकाइषाया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा २, पचेयस-
 र्रीबाद्रेवणस्सइकाइषाया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ३,
 बादरनिगोदा अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ४, बादरपुड-
 विकाइषाया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ५, बादरआठका-
 इषाया अपज्जत्तया असंखे ० ६, बादरवाउकाइषाया अपज्ज-
 तया असंखेज्जगुणा ७, सुहुमतेठकाइषाया अपज्जत्तया
 असंखेज्जगुणा ८, सुहुमपुडविकाइषाया अपज्जत्तया विसैसा-
 हिया ए, सुहुमआठकाइषाया अपज्जत्तया विसैसाहिया ?
 ०, सुहुमवाउकाइषाया अपज्जत्तया विसैसाहिया ??,
 सुहुमनिगोदा अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ?१, बादरव-
 णस्सइकाइषाया अपज्जत्तया अणं०गुणा ?२, बादरा अ-
 पज्जत्तया विसैसाहिया ?४, सुहुमवणस्सइकाइषाया अपज्जत्तया
 असंखेज्जगुणा ?५, सुहुमा अपज्जत्तया विसैसाहिया ?६ ॥

सर्वेस्तोका बाद्रेरतज्जकायिका अपर्यासाः ततो बाद्रेतज्जका-
 यिका बाद्रेप्रत्येकयव्यतिकारयिकबाद्रेयव्यतिकारयिकोत्तरपृथिवी-
 कायिकबाद्रेवायुकायिकबाद्रेवायुकायिका अपर्यासाः क्रमेण य-
 थोत्तरमसंख्येयगुणाः । अत्र भावना बाद्रेपञ्चसूत्रं यद् द्विती-
 यमपयोस्तकस्यं तद्वत्कस्यं । ततो बाद्रेवायुकायिकेभ्योऽ-
 संख्येयगुणाः सूत्रमतेज्जकायिका अपर्यासाः, अतिसमूहतासंख्ये-
 ययोः काशप्रदेशप्रमाणास्ताः । तेभ्यः सूत्रमपृथिवीकायिकाः
 सूत्रमाप्याक्याः सूत्रमवायुकायिकाः सूत्रमनिगोदा अप-
 योस्ता यद्योत्तरमसंख्येयगुणाः । अत्र प्राधाना सूत्रमपञ्चसूत्रं
 यद् द्वितीयं सूत्रं तद्वत् । तेजः सूत्रमनिगोदाऽप्योत्तरयो वा-
 द्रेयव्यतिकारयिकर जीवा अपर्यासा भ्रान्तगुणाः, प्रति-

बादरैकैकनिगोदमनस्तानां सद्भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्थासका विशेषाधिकाः, बादरत्रसकाधिकापर्यासादीनामपि तत्र प्रकृतेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवचनस्पतिकाधिका अपर्थासता असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्यासिभ्यः सूक्ष्मनिगोदापर्यासानामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माअपर्यासता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कधिकापर्यासादीनामपि तत्र प्रकृतेपात् । गतं द्वितीयमव्यवहृयम् ॥ प्रश्ना० ३ पद ॥ जी० ।

अपुनितेषामिभ पर्यासानां तृतीयमव्यवहृयमभार-

एषसि णं भेते ! सुहुमपञ्जत्तयाणं सुहुमपुढविकाइयपञ्जत्तयाणं सुहुमआउकाइयपञ्जत्तयाणं सुहुमतेउकाइयपञ्जत्तयाणं सुहुमवाउकाइयपञ्जत्तयाणं सुहुमवणस्सइकाइयपञ्जत्तयाणं सुहुमनिगोपपञ्जत्तयाणं बादरपञ्जत्तयाणं बादरपुढविकाइयपञ्जत्तयाणं बादरआउकाइयपञ्जत्तयाणं बादरत्रसकाइयपञ्जत्तयाणं बादरवाउकाइयपञ्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइयपञ्जत्तयाणं पत्तयसरीरबादरवणस्सइकाइयपञ्जत्तयाणं बादरनिगोदपञ्जत्तयाणं बादरतसकाइयपञ्जत्तयाणं य कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पञ्जत्तया बादरतसकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, पत्तयसरीरबादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरनिगोदा पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पञ्जत्तया असं०, बादरआउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पञ्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पञ्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पञ्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तया अणंतगुणा, बादरा पञ्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमा पञ्जत्तया विसेसाहिया ।

(सुहुमपञ्जत्तयाणमित्यादि) । ससंस्तेका बादरतेजस्कधिकाः पर्यासाः, तेभ्यो बादरत्रसकाधिकाः, बादरप्रत्येकवचनस्पतिकाधिकाः, बादरनिगोदाः, बादरपृथिवीकाधिकाः, बादराधिकाः, बादरवायुकाधिकाः पर्यासा यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । अत्र ज्ञातव्यं बादरपञ्जत्तयाणं षट् तृतीयं पर्याससूत्रं तत्रकृतंतेषां । बादरपर्यासायुकाधिकेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कधिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, बादरवायुकाधिका इ असंख्येयप्रतरप्रदेशराशिप्रमाणाः, सूक्ष्मतेजस्कधिकास्तु पर्यासा असंख्येयलांकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, ततोऽसंख्येयगुणाः । ततः सूक्ष्मपृथिवीकाधिकाः सूक्ष्माधिकाः सूक्ष्मवायुकाधिकाः पर्यासाः क्रमेण यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततः सूक्ष्मवायुकाधिकाः पर्यासिभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्यासका असंख्येयगुणाः, तेषामितिप्रतयता प्रतिगोलात् भावात् । तेभ्यो बादरवचनस्पतिकाधिका जीयाः पर्यासका अनन्तराणां, अतिबादरैकैकनिगोदमनस्तानां भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्यासका विशेष-

धाधिकाः, बादरतेजस्कधिकादीनामपि पर्यासानां तत्र प्रकृतेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवचनस्पतिकाधिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्यासिभ्यः सूक्ष्मनिगोदपर्यासानामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्यासा विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कधिकादीनामपि पर्यासानां तत्र प्रकृतेपात् ॥ गतं तृतीयमव्यवहृयम् ॥ प्रश्ना० ३ पद ॥ जी० ।

इदानीमेतेषामिभ सुहुमबादरादीनां प्रत्येकं पर्यासापर्यासानां पृथक् २ अव्यवहृयमभार-

एषसि णं जंते ! सुहुमायं बादराणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरा पञ्जत्तया, बादरा अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमा अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमा पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा । एषसि णं जंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं बादरपुढविकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पञ्जत्तया, बादरपुढविकाइया अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, एषसि णं जंते ! सुहुमआउकाइयाणं बादरआउकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरआउकाइया पञ्जत्तया, बादरआउकाइयाणं पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरआउकाइया पञ्जत्तया बादरआउकाइया अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमआउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमआउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा । एषसि णं जंते ! सुहुमतेउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पञ्जत्तया, बादरतेउकाइया अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, एषसि णं जंते ! सुहुमवाउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवाउकाइया पञ्जत्तया, बादरवाउकाइया अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमवाउकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा । एषसि णं जंते ! सुहुमवणस्सइकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवणस्सइकाइया पञ्जत्तया, बादरवणस्सइकाइया अपञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया पञ्जत्तया असंखिज्जगुणा । एषसि णं जंते ! सुहुमनिगोदाणं बादरनिगोदाणं य पञ्जत्तापञ्जत्ताणं कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरनिगोदा पञ्जत्तया, बादरनिगोदा अप-

वज्रतया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा अपज्जतया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जतया संखेज्जगुणा ॥

सर्वथेयं आयत्ता-सर्वस्वोका बादराः पर्यासाः, परिमितक्रेववर्ति-त्वात् । तेषां बादरा अपयोसा असंख्येयगुणाः, एकैकबादरपर्यासिन्नधया असंख्येयानां बादरपर्यासानामुत्पात्वात् । तेषाः सु-ह्वासा अपयोसा असंख्येयगुणाः, सर्वस्वोकाप्योचिता तेषां हेतु-क्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सुहमाः पर्यासकाः संख्येयगुणाः, खि-रकालावस्थायितया तेषां रुदैव संख्येयगुणतयाऽप्यव्यमानत्वा-त् । गते चतुर्थमदपबहुत्वम् ॥

इदानीमितेषामेव सुहमपृथिवीकायिकादीनां बादरपृथिवीका-यिकादीनां च प्रत्येकं पर्यासापर्यासाभां च ससुधायेन पञ्चममदप-बहुत्वमाह-

एपसिं चं जेतं । सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सहमआ-उकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवण-स्तइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्तइकाइयाणं पत्तयसरिबादरवणस्तइकाइयाणं बादरानिगोदाणं बादरतलुकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्तायं कयरे कयरेत्ता अप्या वा ० ४ । गोयमा । सव्वद्वोवा बा-दरतेउकाइया पज्जतया १, बादरतलुकाइया पज्जत-या अर्थात्पज्जगुणा २, बादरतलुकाइया अपपज्जतया अ-संखिज्जगुणा ३, पत्तयसरिबादरवणस्तइकाइया पज्ज-तया असंखिज्जगुणा ४, बादरनिगोदा पज्जतया अ-संखिज्जगुणा ५, वायरपुढविकाइया पज्जतया असंखे-ज्जगुणा ६, बादरआउकाइया पज्जतया असंखेज्जगुणा ७, बादरवाउकाइया पज्जतया असंखेज्जगुणा ८, बादरते-उकाइया अपपज्जतया असंखिज्जगुणा ९, पत्तयसरिबा-दरवणस्तइकाइया अपपज्जतया असंखेज्जगुणा १०, बादर-निगोदा अपपज्जतया असंखे ११, बादरपुढविकाइया अपपज्जतया असंखे १२, बादरआउकाइया अपपज्जतया असंखे १३, बादरवाउकाइया अपपज्जतया असंखे १४, सुहुमतेउकाइया अपपज्जतया असंखेज्जगुणा १५, सु-हुमपुढविकाइया अपपज्जतया विससाहिया १६, सुहुम-आउकाइया अपपज्जतया विससाहिया १७, सुहुमवाउका-इया अपपज्जतया विससाहिया १८, सुहुमवणस्तइकाइया पज्ज-तया संखि १९, सुहुमपुढविकाइया पज्जतया विने-साहिया २०, सुहुमआउकाइया पज्जतया विससाहिया २१, सुहुमवाउकाइया पज्जतया विससाहिया २२, सुहु-मनिगोदा अपपज्जतया असंखे २३, सुहुमनिगोदा पज्जतया संखे २४, बादरवणस्तइकाइया पज्जतया अणंतगुणा २५, बादरा पज्जता विससाहिया २६, बादरवणस्तइकाइया अप-ज्जतया असंखिज्जगुणा २७, बादरा अपज्जतया विससाहिया २८, बादरा विससाहिया २९, सुहुमवणस्तइकाइया अपज्ज-

तया असंखि ३०, सुहुमा अपज्जतया विससाहिया ३१, सुहुमवणस्तइकाइया पज्जतया असंखे ३२, सु-हुमा पज्जतया विससाहिया ३३, सुहुमा विससाहिया ३४ ।

(एपसिं चं जेतं । सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणमित्या-दि) सर्वस्वोका बादरतेज्जकायिकाः पर्यासाः, आचलिक-कासमयवर्गकतिपयसमयन्यूनैराचलिकासमयैर्गुणेने वावाह समयाश्रित्वावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् १ । तेज्यां बादरवसका-यिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, प्रतरे वाधम्यहुलासंख्येयभा-गमात्राणि अणदानीं ताद्यप्रमाणात्वात्तेषाम् २ । तेज्यां बादरव-सकायिका अपयोसा असंख्येयगुणाः, प्रतरे वाधम्यहुलासं-ख्येयजगमात्राणि अणदानीं ताद्यप्रमाणात्वात्तेषाम् ३ । ततः प्र-त्येकशरीरबादरवसवतिकायिका ६ बादरनिगोद ६ बादरपृथ्वी-कायिक ६ बादरप्यायिक ७ बादरवायुकायिकः ८ पर्यासा यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । यद्यप्यने प्रायिकं प्रतरे वाधम्यहुला-संख्येयभागमात्राणि अणदानीं ताद्यप्रमाणात्वात्तद्युह्लासंख्ये-यभागस्यासंख्येयमद्भिन्नबाहिरिथ यथोत्तरमसखेयगुणत्व-मभिधीयमानं न विदुष्यते । येनज्ये वादरतेज्जकायिका अपयो-सा असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणात् ६ ततः प्रत्येकशरीरबादरवसवतिकायिक १० बादरनिगोद ११ बा-दरपृथिवीकायिक १२ बादरप्यायिक १३ बादरवायुकायिका अपयोसा यथोत्तरमसंख्येयगुणाः १४, ततः बादरवायुकायि-कभ्याऽपयसिभ्यः सुहमतेज्जकायिका अपयोसा असंख्येयगुणाः १५, ततः सुहमपृथिवीकायिक १६ सुहमाप्यायिक १७ सुहमवायुका-यिका अपयोसा यथोत्तरं विशेषाधिकः १८ । ततः सुहमतेज-जकायिकाः पर्यासाः संख्यातगुणाः १९, सुहमव्यपयोसिभ्यः पर्यासा-माघत एव संख्येयगुणत्वात् २० । ततः सुहमपृथिवीकायिक-२० सुहमाप्यायिक २१, सुहमवायुकायिकाः पर्यासा यथोत्तरं वि-शेषाधिकाः २२ । तेज्यः सुहमनिगोदा अपयोसा असंख्येयगुणाः, तेषामतिप्राभूयंन सर्वशोकेषु आभात् २३ । तेभ्यः सुहमनि-गोदाः पर्यासकाः संख्येयगुणाः, सुहमव्यपयसिभ्यः पर्यासा-माघन एव सदा संख्येयगुणत्वात् । एतं च बादरा पर्यासितेज्जका-यिकाइयः पर्याससुहमनिगोदपर्यवसनाः पौंडश बह्वीषो यद्य-प्यव्यवविशेषणसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणात्तया सहजायते, तथाप्यसंख्येयस्यासंख्येयमद्भिन्नत्वादिधमसंख्येयगुणत्वं वि-शेषाधिकत्वं संख्येयगुणत्वं प्रतिपादयान न विरोधाभासितं २४ । तेभ्यः पर्याससुहमनिगोदभ्यो बादरवसवतिकायिकाः पर्यासा अनन्तगुणाः, प्रतिबाहिरैकैकनिगोदप्रमाणानां जावानां भावात् २५ । तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्यासा विशेषाधिकाः, बादरव्यपय-सिभ्योतेज्जकायिकादीनामप्यपर्यासानां तत्र प्रक्षेपात् २६ । तेज्यां बादरव-सवतिकायिका अपयोसका असंख्येयगुणाः, एकैकपर्यासाबा-दरनिगोदनिधया असंख्येयानां बादरनिगोदपर्यासानामुत्पात्वात् २७ । तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपयोसा विशेषाधिकाः, बादर-तेज्जकायिकादीनामप्यपर्यासानां तत्र प्रक्षेपात् २८ । तेभ्यः साम-ान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, पर्यासनामपि तत्र प्रक्षेपात् २९ । तेभ्यः सुहमवसवतिकायिका अपयोसा असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदभ्यः सुहमनिगोदानामप्यपर्यासानामप्यसंख्येयगु-णत्वात् ३० । ततः सामान्यतः सुहमा अपयोसका विशेषाधिकाः, सुहमपृथिवीकायिकादीनामप्यपर्यासानां तत्र प्रक्षेपात् ३१ । तेभ्यः सुहमवसवतिकायिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः, सुहम-वसवतिकायिकापर्यासिभ्यो हि सुहमवसवतिकायिकपर्यासां-

कथ्येयगुणाः सूक्ष्मेच्छेद्योऽप्यामिभ्यः पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वात् । ततः सूक्ष्मापर्याप्तोऽप्यसंख्येयगुणाः, विशेषाधिकत्वस्य संख्येयगुणत्वभाषणार्थोऽप्यात् ३२ । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाधिकानामपि तत्र प्रक्षेपात् ३३ । ततः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहिता विशेषाधिकाः, अप्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ३४ । गतं सूक्ष्मकारणसमुदायागतं पञ्चमालम्बहृत्सुत्वं, तत्रतो समर्थितानि पञ्चदशाऽपि स्त्राणि । इति गतं कायद्वारम् । प्रश्ना० ३ पद । नोसूक्ष्मनोबादरकाद्यादानामपबहुत्वम् । जी० ३ प्रति० ३ ।

(आरम्भिकव्याङ्कित्वाणामल्पबहुत्वं ' किरिबा' शब्दे बह्यते)

(११) [क्षेत्रद्वारम्] कस्मिन्क्षेत्रे जीवाः स्तोकाः कस्मिन् वा बह्वः ?, इति चिन्त्यन्ते-

विचाण्णवापणं सन्वय्यावा जीवा उह्लोत्पातिरियोलोए अद्दोहोपतिरियोलोए विनेसाद्दिया, तिरियदोए अमंखि- गुणा, तेलुके अमंखेज्जगुणा, उह्लोदोए अमंखेज्जगुणा, अद्दोहोहो विसंसादिया ।

क्षेत्रस्यानुयातोऽनुसारः क्षेत्रानुपातस्तेन, विचिन्त्यमाना जीवा सर्वस्तोका उह्ल्लोकातिरियग्लोके, इह उह्ल्लोकास्य यद्दृश्यन्तमाकाशप्रदेशप्रतरेण यच्च सर्वेतिरियग्लोकेस्य संयोपरितनमाकाशप्रदेशप्रतरेण उर्ध्वलोकप्रतरे, तथा प्रवचने प्रसिक्तः । इयमेव भावना-इह सामस्येण चतुर्दशरज्यन्मको लोकः । स च त्रिधा भिद्यते । तथा-ऊर्ध्वलोकः, तिरियग्लोकः, अधोलोकश्च । रुचकास्तेषां विभागाः तथाहि-रुचकस्याधस्तात्प्रत्ययो-जनशतानि, रुचकस्योपरिच्छाद्ययोजनशतानि (तिरियग्लोकः, तिरियग्लोकस्याधस्तात्धोलोकः, उपरिच्छाद्यूर्ध्वलोकः, देशानसम्प- उन्नुप्रमाण ऊर्ध्वलोकः, समधिकसम्पज्जुप्रमाणोऽधोलोकः, मध्येऽद्दशयोजनशतोच्छ्रयस्तिरियग्लोकः । तत्र रुचकसमानाद् भूतस्त- भाग्यवयोजनशतानि गत्वा यज्जयो(तिष्ठकस्योपरितनं तिरियग्लो- कनिर्वाण्य पक्षप्रादेशिकमाकाशप्रतरे तत्तिरियग्लोकप्रतरेण । तस्य चोपरि यदेकप्रादेशिकमाकाशप्रतरे तदूर्ध्वलोकप्रतरेण । एते च द्वे अपूर्ध्वलोकानिरियग्लोके इति व्यवहियेते । तथाऽनादिप्रवचन- परिभाषाप्रसिक्तः । तत्र वर्तमाना जीवाः सर्वस्तोकाः । कथम् ?, इति चेत् । उच्यते-इह ये ऊर्ध्वलोकानिर्वाण्यग्लोके तिरियग्लोका- दूर्ध्वलोकं समुपघमाना विवक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ये च तत्र- द्या एव केचन तत्रतरद्वयाध्यासिनां वर्तन्ते ते किल विवक्षितं प्रतरद्वयं वर्तन्ते नान्ये; ये पुनरूर्ध्वलोकोऽधोलोकं समुपघमान- नास्तत्प्रतरद्वयं स्पृशन्ति ते न गणयन्ते, तेषां सूक्ष्मन्तरवियव- स्वात् । ततः स्तोका एवाधिकृतप्रतरद्वयवर्तिनो जीवाः । ननुध्व- लोकागतानामपि सर्वेजीवानामसंख्येयभागोऽनवरतं त्रियमा- णोऽप्यन्ते, ते च तिरियग्लोके समुपघमाना विवक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्तीति कथमधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शिनः स्तोकाः ? । तद्यु- क्तम्, बहून्तस्वापरिधानात् । तथाहि-यद्यपि नाम उर्ध्वलोक- गतानां सर्वजीवलोकानामसंख्येयो भागोऽनवरतं त्रियमा- णोऽप्यन्ते तथापि न ते सर्वे एव तिरियग्लोके समुपघन्ते, प्र- तुतराणामधोलोके ऊर्ध्वलोकं च समुपघ्नात् । ततोऽधिकृतप्रत- रद्वयवर्तिनः सर्वस्तोका एव । । सर्वस्तोका एव । । तिरियग्लोके तिरियग्लोके विशेषाधिकाः इह यद्दूर्ध्वलोकस्योपरितनमेकप्रादेशिकमाकाशाप्रदे-

शापतरे यच्च तिरियग्लोकस्य सर्वाधस्तनमेकप्रादेशिकमाकाश- प्रदेशप्रतरेतद्वहृयव्यधोलोकातिरियग्लोके इत्युच्यते, तथा प्रवचनप्रसिद्धेः । तत्र ये विप्रद्वयं प्रतरद्वयतया वा वर्तन्ते ते विशेषाधिकाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह ये अधोलोकात्ति- रियग्लोके तिरियग्लोकाऽधोलोके ईलिकागत्या समुपघमाना अविद्वन्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति; ये च तत्रत्या एव केचन तद्व- प्रतरद्वयमध्यासीना वर्तन्ते ते विवक्षितप्रतरद्वयवर्तिनः, ये पुनरूर्ध्वलोकोऽध्वलोकं समुपघमानास्तत्प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ते न परिगृह्यन्ते, तेषां सूक्ष्मन्तरवियवयात् । केवलमूर्ध्वलोकोऽधो- लोको विशेषाधिकः, इत्यधोलोकात्तिरियग्लोके ईलिकागत्या स- मुपघमाना ऊर्ध्वलोकापि तया विशेषाधिका भवाप्यन्ते; ततो वि- शेषाधिकाः । । तत्रयस्तिरियग्लोकातिरियग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, उक्तक्षेत्र- द्विकान्तिरियग्लोके क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । । तत्रयस्तिरियग्लोके तिरियग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, इह ये केवल ऊर्ध्वलोकं अधो- लोके तिरियग्लोके वा वर्तन्ते, ये च विप्रद्वयतया उर्ध्वलोकानिरियग्लो- को स्पृशन्ति ते न गणयन्ते, किन्तु ये विप्रद्वयतया अधोलोकात्ति- रियग्लोके स्पृशन्ति ते परिगृह्याः, सूक्ष्म विशेषवियवयात् । ते च तिरियग्लोकातिरियग्लोकेऽसंख्येयगुणा एव । कथमिति चेत् ? उच्यते-इह बहवः प्रतिस्मयसूच्यलोकं अधोलोके च सूक्ष्म- निगोदा उह्लनेने, ये तु तिरियग्लोकातिरियग्लोकेऽसंख्येयगुणा उह्ल- नेने, तेऽधोऽधोलोके ऊर्ध्वलोकं वा केचित्सास्मिन्नेव वा तिरि- यग्लोके समुपघन्ते, ततो न ते शोकाद्यसंस्पर्शिन इति नाधि- कृतस्वविषयाः तत्रार्ध्वलोकाधोलोकागतानां सूक्ष्मनिगोदाना- मुह्रतमानानां मध्ये केचित्स्वस्थान एव ऊर्ध्वलोकं अधोलोके वा समुपघन्ते, केचित् तिरियग्लोके, तेभ्योऽसंख्येयगुणा अधो- लोकागता ऊर्ध्वलोकं, ऊर्ध्वलोकगताना अधोलोके समुपघन्ते । ते च तयोपघमानास्तीतिरियग्लोकात् स्पृशन्तीत्यसंख्येयगुणाः । कथं पुनरुह्ललोकानि यदुत एवप्रमाणा बहवो जीवाः सदा विप्र- द्वयापत्रा लभ्यन्ते ?, इति चेत् । उच्यते-युक्तिवशात् । तथा- हि-प्रागुक्तमिदमेव सूत्रं पर्यायधिका-“ स्ववधाया जीवा नो पज्जसा नो अपज्जसा, अपज्जसा अनेतगुणा, पज्जसा सल्लेज्ज- गुणा ” इति । तत एवेन. मापयासाः बहवो ये नेतभ्यः पर्यासाः संख्येयगुणा एव नासंख्येयगुणाः ; नाप्यनन्तगुणास्ते चापयासा बहवोऽनन्तरगतौ वर्तमाना लभ्यन्ते इति तेन ऊर्ध्वलोकं ऊर्ध्वलोकावस्थिता असंख्येयगुणाः; उपपातक्षेत्रस्यातिबहुत्वा- त् । असंख्येयानां च प्रागानामुह्रतनायाश्च संज्ञवात् । तयोऽ- धोलोकेऽधोलोकातिरियग्लोके विशेषाधिकाः, ऊर्ध्वलोकं ऊर्ध्वलोक- लोकात्क्षेत्रस्य विशेषाधिकत्वात् । तदर्थं सामान्यनो जीवानां क्षेत्रानुपातनालम्बहृत्सुक्तम् ।

इदानीं चतुर्निर्दिष्टकक्रमेण तद्विधितुः प्रथमतो नैरथिकाप्यामद्-

स्वेत्ताण्णवाएणं सन्वय्यावा नेरइया तेलुके अद्दोहोतोति- रियलोगे अमंखेज्ज०, अद्दोहोए अमंखेज्जगुणा ॥

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारं नैरथिकाचिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः त्रैलोक्ये लोकाद्यसंस्पर्शिनः । कथं लोकाद्यसंस्पर्शिनो नैरथि- काः ?, कथं वा ते सर्वस्तोकाः ? इति चेत्, उच्यते-इह ये मेरु- शिखरं अज्जन्दपिमुक्कपवेत्तिशिखरादिषु वा वापीषु वर्तमाना मन्स्याद्यां नारकवृत्तिस्तव ईलिकागत्या प्रदेशाद् विक्रिपान्ति, ते किल त्रैलोक्यस्पर्शिनः स्पृशन्ति, नारकव्यपदेशं च लभन्ते, त-

कारणमेष नरकेषुत्येष नारकायुक्तप्रतिसेवेदनात् । ते चेत्यनूताः कतिपय इति सर्वेस्तोकाः । अन्ये तु व्याचक्षते-नारका एष बधोक्तवधशुचि तिर्यक्पञ्चद्वित्रियतयोत्पद्यमानाः समुद्रात्तवशतो वा क्रान्तजिह्वात्मप्रदेशद्वाराः परिगृह्यन्ते । ते हि किञ्च तदा नारका एष निवेद्याद् तदायुक्तप्रतिसेवेदनात् वैशोक्येयसंस्पर्शिनश्च यथोक्तवापीयोबदात्मप्रदेशद्वारास्य विक्रान्तत्वादिति । तेषामधोभोक्तोक्तानिजात्मप्रदेशद्वाराः प्रागुक्ततरद्वयस्य संस्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः, यतो बहवोऽसंख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु पञ्चद्वित्रियतिर्यग्यो निका नरकेषुत्पद्यमाना यथाकप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो भवन्ति पूर्वोक्तैः भयोऽसंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्यातगुणत्वात् । मन्दादिक्षेत्रादसंख्येयद्वीपसमुद्रात्मकं क्षेत्रमसंख्येयगुणमित्येतो भवत्यसंख्येयगुणाः । अन्ये त्वभिदधति-नारका एवासंख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु तिर्यक्पञ्चद्वित्रियतयोत्पद्यमाना मरणकालसमुद्रातेन विक्रान्तजिह्वात्मप्रदेशद्वाराद् दृश्यताः । ते हि नारकाःप्रतिसेवेदनात् नारका उद्भूतेमाना अन्यसंख्येयाः प्राप्यन्ते, इति प्रागुक्तैः भयोऽसंख्येयगुणाः, तेषामधोभोक्तोक्तसंख्येयगुणाः, तस्य तेषां स्वभावत्वात् । उक्तं नारकानिमधिकृत्य क्षेत्रानुपातेनाऽल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तिर्यग्गतितमपञ्चमऽऽह-

स्वेत्ताणुवापणं सन्नत्योवा तिरिकखनोणिया उहुल्लोय-
तिरियलोए अद्दोलोयतिरियलोए विमसोऽहुया तिरियलोए
असंखेजगुणा, तेषुके असंखेजगुणा, उहुल्लोए असंखि-
ज्ज०, अद्दोलोए विमसाहिया ॥

इदं सर्वमपि सामान्यतः जीवस्वमिच भावनीयम् । तदपि
तिरिच पद्य सूक्ष्मनिगोदानधिकृत्य भावितम् ।

अधुना तिर्यग्योनिकस्त्रीविषयमव्यवहृत्यमाह—

स्वेत्ताणुवापणं सन्नत्योवा तिरिकखनोणियाओ उहु-
लोयतिरियलोए असंखेज०, तेषुके असंखेज्ज०, अद्दो-
लोयतिरियलोए संखिज्जगुणाओ, अद्दोलोए संखेज्जगु-
णाओ, तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ।

क्षेत्रानुपातेन तिर्यग्योनिकाः स्त्रियस्त्रियमानाः सर्वेस्तोका ऊर्ध्व-
स्तोकाः, इह मन्दादिवापीप्रभृतिष्वपि हि पञ्चद्वित्रियतियग्यो
निकाः स्त्रियो भवन्ति, ताश्च क्षेत्रस्याऽप्यव्याप्तं सर्वेस्तोकाः ।
तास्य ऊर्ध्वलोक्तितिर्यग्योक्तसंके प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येय-
गुणाः । कथमिति चेत् ? उच्यते-बावत्सहस्रारद्वेषलोक्तस्ता-
वद्वाः अपि गर्भेषुत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चद्वित्रियतियग्योनिर्मुत्पद्यन्ते, कि
पुनः शेषकायाः ? ते हि यथासंभवमुपरिवर्तिनोऽपि तत्रो-
त्पद्यन्ते ; ततो ये सहस्रारान्ना देवा अन्येऽपि च शेषकाया
ऊर्ध्वलोक्तान्तिर्यक्पञ्चद्वित्रियत्स्त्रीत्वेन तदायुःप्रतिसेवेदयमाना
उत्पद्यन्ते, याः तिर्यग्योक्तान्तिर्यक्पञ्चद्वित्रियतियग्योनिर्मुत्पद्यन्ते, कि
पुनः शेषकायत्वेन शोच्यमाना भारुणान्तिकसमुद्रघाते-
नात्पद्यन्ते निजनिजात्मप्रदेशद्वाराद् विक्रान्ति, ता यथाकप्र-
तरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्च ताः ततोऽसंख्येयगु-
णाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणात् । ताभ्युल्लोक्तस्य संख्येयगुणाः,
यस्मात्ततोऽपि कदाचननिवृत्त्यनारकाः शेषकाया अपि यो-
र्ध्वोक्तोऽपि तिर्यक्पञ्चद्वित्रियत्स्त्रीत्वेनोत्पद्यन्ते । ऊर्ध्वलोक्तादेवा-
भ्योऽप्युक्तोक्तः च ते सम्यहता निजनिजात्मप्रदेशद्वारेऽस्त्री-
मपि लोकात् स्पृशन्ति । प्रभूततः ते तथा तिर्यग्योनिकरूपायुः-

प्रतिसेवेदनात् । तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्च ताः संख्येयगुणाः । ३ ।
ताभ्योऽधोलोक्तितिर्यग्योक्तसंके प्रतरद्वये वर्तमानाः संख्येय-
गुणाः, बहवो हि नारकादयः समुद्रघातमन्तराऽपि तिर्यग्यो-
क्तोक्तं तिर्यक्पञ्चद्वित्रियत्स्त्रीत्वेनोत्पद्यन्ते । तिर्यग्योक्तवर्तिनश्च
जावास्तिर्यग्योनिकस्त्रीत्वेनाऽधोलोक्तिकप्रामेय्यपि च ते च
तयोत्पद्यमाना यथाकं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिकस्या-
युःप्रतिसेवेदनात् तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽपि तथाऽधोभोक्तोक्त-
प्राप्ता योजनसदृशावाहाः पर्यन्तेऽर्वाक् कान्तिद्वये नवयोजन-
शतावगाहा अपि तत्र काश्चित्तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽवस्थानेनाऽपि
यथाकप्रतरद्वयाव्याप्तिसौ वर्तन्ते, ततो भवन्ति पूर्वोक्तैः
संख्येयगुणाः । ४ । ताभ्योऽधोलोक्तं संख्येयगुणाः, यतोऽधोभो-
क्तोक्तप्राप्ताः सर्वेऽपि च समुद्रा योजनसदृशावागाहाः, ततो
नवयोजनशतानामवस्थादात्वा वर्तन्ते मर्त्याः प्रभृतिकाः तिर्य-
ग्योनिकस्त्रियस्ताः स्वस्थानवात् प्रजुना इति संख्येयगुणाः,
क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात् । ताभ्युत्तिर्यग्योक्तोक्तं संख्येयगुणाः ।
उक्तं तिर्यग्यगतितमपञ्चद्वित्रियत्पद्यत्वम् ।

इदानीं मनुष्यगतिविषयमाह—

स्वेत्ताणुवापणं सन्नत्योवा प्रणुसा तेषुके उहुलोयति-
रियलोए असंखेज्जगुणा, अद्दोलोयतिरियलोए संखिज्ज
गुणा, अद्दोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखिज्जगुणा ।

क्षेत्रानुपातेन मनुष्यास्त्रियमानाः वैशोक्ये वैशोक्यसंस्पर्शिनः
सर्वेस्तोकाः, यतो ये ऊर्ध्वलोक्ताधोभोक्तोक्तिकप्रामेय्योऽपि समुत्पित्तवो
भारुणान्तिकसमुद्रघातेन समवदता जन्वन्ति, ते केचित्समुद्रघा-
तवशाद्द्वितिसंकेः स्वात्मप्रदेशोक्तानि लोकात् स्पृशन्ति, तेऽपि च
वैशिक्यसमुद्रघातमाहारकसमुद्रघातं वा गताः तथाविधप्रमथवि-
शेषाद्दतरमुद्राऽधोविक्रान्तात्मप्रदेशाः, ये च केचनसमुद्रघातत-
ताऽपि श्रीपि लोकात् स्पृशन्ति । तंस्तोकाश्चि खर्वेस्तोकाः, ते-
स्य ऊर्ध्वलोक्तितिर्यग्योक्तोक्तं ऊर्ध्वलोक्तितिर्यग्योक्तसंके प्रतरद्वयसं-
स्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः, यत इह वैमानिकदेवाः शेषकायाश्च यथा-
संभवमूर्ध्वलोक्तान्तिर्यग्योक्तोक्तं मनुष्यत्वेन समुत्पद्यमाना यथा-
कप्रतरद्वयसंस्पर्शिनो भवन्ति । विद्याधराणामपि च मन्दादि-
षु गमनं, तेषां च ह्यकधिरादिषु क्लेशं समुत्क्षिप्तमनुष्याणामु-
त्पाद्य इति, तं विद्याधरा कधिरादिषु क्लेशं भवगच्छन्ति ।
तथा समुत्क्षिप्तमनुष्या अपि यथाकप्रतरद्वयसंस्पर्शेन उच्यते-
न्ते, ते वातिरद्वयत्वे संख्येयगुणाः, तेषामधोभोक्तोक्तितिर्यग्योक्तोक्तं अ-
धोभोक्तोक्तितिर्यग्योक्तसंके प्रतरद्वयसंख्येयगुणाः, यतोऽधोभोक्तोक्त-
प्राप्तेषु स्वभावत एव बहवो मनुष्याः, ततो ये तिर्यग्योक्तान्तिर्यग्यो-
क्तं समुत्क्षिप्तमनुष्यत्वेन वा समुत्पित्तवो ये वाऽधोभोक्तोक्त-
धोभोक्तोक्तिकप्रामेय्यत्वात् शेषाद्वा मनुष्यभ्यः शेषकायभ्यो वा ति-
र्यग्योक्तोक्तमनुष्यत्वेन वा समुत्क्षिप्तमनुष्यत्वेन वा समुत्पित्तवो
समुत्पित्तवो यथाकं किल प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, बहुतरा-
श्च ते तथा स्वस्थानतोऽपि केचिदधोभोक्तोक्तिकप्रामेय्यं यथाकप्र-
तरद्वयसंस्पर्शिन इति प्रागुक्तैः भयोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्य ऊर्ध्वलोक्त-
संख्येयगुणाः, सौमनसादिषु कौडार्थं वैत्यवन्दननिमित्तं वा
प्रजतत्तयाणां विद्याधरवासुमीनां ज्ञात्वात् । तेषां च यथायोनं
कधिरादिषु क्लेशगतः समुत्क्षिप्तमनुष्यसंजवात् । तेषामधो-
भोक्तोक्तं संख्येयगुणाः, स्वस्थानत्वेन बहुत्वत्वात् । तेषां तिर्यग्यो-
क्तोक्तं संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणात्प्राप्त्यवस्थानत्वात् च ।

पि मारुतियसमुष्णायणं समोद्वर्णति, समोद्वर्णित्वा तत्रो पच्यन्ववज्जइति" स्वभावायुःप्रतिसंघेदनाच्च ते भवन्वभिन पव सभ्यन्ते । ते इत्येभूता उर्यासदेशे विक्रिस्ताम्रप्रदेशद्वयमास्नया ऊर्ध्वशोकेष्वभवागमनस्तत्प्रतद्वयप्रत्यासक्तक्रीडास्थानज्ज य-
धोको प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ततः प्रागुक्तैःज्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्य-
ल्लोकांष्वे त्रैशोकेष्वसंस्थाः संख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वशोके
नियेक्युत्तरेणैवा भवन्परित्येनोत्पत्कुरामाः । ये च स्वस्थाने
वैकियसमुद्धानि मारुतान्तकप्रथमसमुद्धानि वा तथाविधतां प्र-
प्रयत्नविशेषण समवहृतास्ते त्रैशोकेष्वसंस्थाः इति संख्ये-
यगुणाः । परस्थानसमवहृतेभ्यः स्वस्थानसमवहृतानां सं-
ख्येयगुणवात् । तेज्योऽधोशोकेतिर्येग्लोकोः अधोशोकेतिर्ये-
ग्लोकोसंज्ञे प्रतरद्वयेऽसंख्येयगुणाः; स्वस्थानप्रत्यसन्नतया ति-
र्येग्लोको गमनागमनभावतः स्वस्थानस्थितशोकाविस्समुद्घात-
गमनतश्च बहुनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शाभावात् । तेज्यः ति-
र्येग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, समवसरणादौ बध्नन्निमित्त क्रीपामिषु च
रमणीयेषु क्रीडानिमित्तमागमसम्भवाद्वागतानां च शिरकालम-
पवस्थानात् । तेभ्योऽधोशोकेऽसंख्येयगुणाः, भवन्वासिनाम-
धोलोकस्य स्वस्थानत्वात् । एवं भवन्वासिन्द्वीगतमल्पबहुत्वं
भावनीयम् ।

सम्प्रति व्यन्तरानमल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवा जोडसिया देवा उह्लोए, उह्लो-
यतिरियलोए अमंखिज्ज०, तेषुके संखेज्जगुणा, अहोशो-
यतिरियलोए अमंखिज्जगुणा, अहोशोए संखेज्जगुणा, ति-
रियलोए अमंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवा जो-
डसियाओ देवीओ उह्लोए, उह्लोयतिरियलोए अमंखे-
ज्जगुणाओ, तेषुके संखेज्जगुणाओ, अहोशोयतिरियलोए
अमंखेज्ज०, अहोलोए संखि०, तिरियलोए अमंखे० ॥

केत्रानुपातेन उयोतिष्काश्चिन्त्यमानाः सर्वेस्तोकाः ऊर्ध्वशोके,
केत्राश्चिद्वे मन्दरे तीर्थेकरज्जमहासंघासन्निभस, अज्जनव-
धिमुख्यप्रहिकानिमित्तम्, अपरेषां केप्रोऽन्वद्व मन्दरादिषु क्री-
डांनिमित्तं गमनसंभवात् । तेज्य ऊर्ध्वशोकेतिर्येग्लोके प्रत-
रद्वयकेऽसंख्येयगुणाः, तत्रि प्रतरद्वयं केचित्स्वस्थान स्थिता
अपि स्पृशन्ति, प्रत्यासन्नत्वात् । अतः वैकियसमुद्घातसमव-
हृताः, अथे ऊर्ध्वशोके गमनागमनभावस्ततोऽधिहतप्रतर-
द्वयस्थानिः पुर्वाकेज्योऽसंख्येयगुणाः । तेभ्यल्लोकांष्वे त्रैशोकेष्व-
संस्थाः संख्येयगुणाः । ये हि उद्योतिष्कास्तथाविधतां प्रय-
त्नवैकियसमुद्धानि समवहृतास्तेन बह्वृत्त्वाऽधोशोका उयो-
नित्ते स्वभावात्सोऽन्वितबह्व इति पुर्वाकेज्यः संख्येयगुणाः । ते-
ज्योऽधोशोकेतिर्येग्लोके प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येयगुणाः, यतो
बहवोऽधोशोकेकियमेतु समवसरणादिनिमित्तम्, अधोशोके
क्रीडास्थाने गमनागमनभावो बह्वृत्त्वाऽधोशोका उयो-
नित्त्वु समुपचयाना यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो
घटन्ते पुर्वोक्तैःज्योऽसंख्येयगुणाः, तेज्यः संख्येयगुणाः, अधो-
शोके, बहुनामधोलोके क्रीडानिमित्तमधोशोकेकियमेतु सम-
वसरणादिषु शिरकास्रमवस्थानात् । तेज्योऽसंख्येयगुणा-
स्तिर्येग्लोके, तिर्येग्लोकेस्व तेषां स्वस्थानत्वात् । एवं उयोति-
ष्कदेश्वस्त्रमपि भावनीयम् ।

सम्प्रति वैमानिकेष्वियमल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवा वेमाणिया देवा उह्लोयतिरि-
यलोए, तेषुके संखेज्ज०, अहोशोयतिरियलोए संखिज्ज०,
अहोशोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्ज०, उह्लोए
अमंखिज्ज० । खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवाओ वेमाणिया-
ओ देवीओ उह्लोयतिरियलोए, तेषुके संखेज्जगुणाओ,
अहोशोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०,
तिरियलोए संखेज्ज०, उह्लोए अमंखे० ॥

केत्रानुपातेन केत्रानुसारं चिन्त्यमाना वैमानिका देवाः सर्वे-
स्तोका ऊर्ध्वशोकेतिर्येग्लोकेसंज्ञे प्रतरद्वये, यतो ये अधो-
शोके तिर्येग्लोके वा वर्तमाना जीवा वैमानिकेष्वप्यधने, ये च
निर्येग्लोके वैमानिका गमनागमनं कुर्वन्ति, ये च विव-
क्लितप्रतरद्वयाभ्यासिनः क्रीडास्थानं संश्रिताः, ये च निर्येग्लोके
स्थिता एव वैकियसमुद्घातमारुतान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वन्-
नास्तथाविधप्रयत्नविशेषणार्थं वैमानिकप्रदेशद्वयं निर्युज्जति, ते
विवक्लिंते प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ते चास्य इति सर्वेस्तोकाः । तेभ्य-
ल्लोकांष्वे संख्येयगुणाः कथमिति चेत् ? उच्यते-इह येऽधोशो-
केकियमेतु समवसरणादिनिमित्तमधोलोके वा क्रीडानिमित्त-
मताः सन्तो वैकियसमुद्घातं मारुतान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वन्ना-
स्तथाविधप्रयत्नविशेषणं दूरतरमूर्ध्वविक्षिस्ताम्रप्रदेशद्वयमाः,
ये च वैमानिकमार्धाङ्गिकारण्या उच्यमाना अधोशोकेकिया-
मेतु समुपचयन्ते, न किल त्रीनिपि लोकात् स्पृशन्ति । बहवश्च
पुर्वोक्तैः संख्येयगुणाः । तेभ्योऽपि अधोशोकेतिर्येग्लोके
प्रतरद्वयसंज्ञे संख्येयगुणाः, अधोशोकेकियमेतु समवसरणादौ
गमनागमनभावात् । विवक्लितप्रतरद्वयाभ्यासिनः समवसरणादौ
वाऽवस्थानतो बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शाभावात् । ते-
ज्योऽधोशोके संख्येयगुणाः, अधोशोकेकियमेतु बहूनां सम-
वसरणादावस्थानाभावात् । तेभ्यस्तिर्येग्लोके संख्येयगुणाः,
बहुषु समवसरणेषु बहुषु च क्रीडास्थानेषु बहुनामवस्थाना-
भावात् । तेज्य ऊर्ध्वशोकेऽसंख्येयगुणाः, ऊर्ध्वशोकेस्य स्वस्था-
नत्वात्, तत्र च सत्रैव बहून्तरभावात् । एवं वैमानिकदेश्विषय-
स्त्रमपि भावनीयम् ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियादिगतमल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवा एग्दिद्या जीवा उह्लोय-
तिरियलोए, अहोशोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरिय-
लोए अमंखेज्जगुणा, तेषुके अमं०, उह्लोए अमंखेज्ज-
गुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव-
न्त्योवा एग्दिद्या जीवा अपजत्तगा उह्लोयतिरियलोए,
अहोशोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए अमंखे-
ज्जगुणा, तेषुके अमंखेज्जगुणा, उह्लोए अमंखिज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सवन्त्योवा ए-
ग्दिद्या जीवा पजत्तगा उह्लोयतिरियलोए, अहोशोय-
तिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए अमंखेज्जगुणा,
तेषुके असंखेज्जगुणा, उह्लोए अमंखेज्जगुणा, अहोलोए
विसेसाहिया ॥

क्षेत्रानुपालेन विन्ययमाना एकैन्द्रिया जीवाः सर्वस्तेका ऊर्ध्व-
लोकातिर्यग्गोके ऊर्ध्वलोकातिर्यग्गोकेसङ्गे प्रतरद्भ्यः, यतो ये तत्र
स्था एव केचन ये चोर्ध्वलोकातिर्यग्गोके,तिर्यग्गोकाद्वा ऊर्ध्व-
लोके समुत्पिरसवः कृतमारणान्तिकसमुद्रात्तास्ते किल विद्य-
क्षिप्रतद्भ्यः स्पृशन्ति, स्वत्याद्वा ते इति सर्वैस्तेकाः यतोऽप-
धोऽञ्जोकातिर्यग्गोके विशेषाधिकान्, यतो ये अधोलोकातिर्यग्गो-
के, तिर्यग्गोकाद्वाऽधोलोके ईदृशिकागत्या समुत्पद्यमाना विष-
क्षितप्रतरद्भ्यः स्पृशन्ति, तत्रस्थाश्च ऊर्ध्वलोकाधाधोलोको
विशेषाधिकः, ततो बहवोऽधोलोकातिर्यग्गोके समुत्पद्यमाना
अवाप्यन्ते, इति विशेषाधिकाः । तेष्वस्तिर्यग्गोके असंख्ययु-
गाः, उक्तप्रतरद्भिकक्षेत्रातिर्यग्गोकेऽसंख्ययुगाःऽसंख्ययुगाः।
तेष्वस्तेलोकात्संख्ययुगाः, बहवो हि ऊर्ध्वलोकाधोलोके अध-
धोलोकाद्वा ऊर्ध्वगोके समुत्पद्यन्ते । तथा च मध्ये बहवो मार-
णान्तिकसमुद्रात्तदशाद्विक्रितात्मप्रदेशादृक्तासीनपि लोकान्
स्पृशन्ति,ततो भवन्त्यसंख्ययुगाः । तेषु ऊर्ध्वगोके असंख्य-
युगाः, उपपातक्षेत्रस्याऽतिबृहदात् । तेषुऽधोलोके विशे-
षाधिकाः, ऊर्ध्वलोकात्तदधोलोकात्तदस्य विशेषाधिकत्वात् ।
एवमपयोसविषयं पर्यासविषयं च सूत्रं जाययितव्यम् ।

अनुना द्वीन्द्रियादिविषयमल्पबहुत्वमाह—

स्वेषाणुवाएणं सन्वत्योवा वैदंदिद्या उच्छलोए, उच्छलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असं०, अहोलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । स्वेषाणुवाएणं सन्वत्योवा वैदंदिद्या अपज्ज-
त्तया उच्छलोए, उच्छलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा, तेलुके
असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए संखे०, तिरियलोए संखे० । स्वेषाणुवाएणं
सन्वत्योवा वैदंदिद्या पज्जत्तया उच्छोए, उच्छलोयतिरिय-
लोए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा,अहोलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा,तिरियलोए
संखेज्जगुणा । स्वेषाणुवाएणं सन्वत्योवा तदंदिद्या उच्छलोए,
उच्छलोयतिरियलोए असं०,तेलुके असंखेज्जगुणा,अधोलोए
संखेज्जगुणा,तिरियलोए संखेज्जगुणा । स्वेषाणुवाएणं सन्-
वत्योवा तदंदिद्या अपज्जत्तया उच्छोए,उच्छलोयतिरियलोए
असंखिज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरिय-
लोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखेज्जगुणा । स्वेषाणुवाएणं सन्वत्योवा तदंदिद्या पज्जत्तया
उच्छोए,उच्छलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा,तेलुके असंखि-
ज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए
संखिज्जगुणा, तिरियलोए संखिज्जगुणा । स्वेषाणुवाएणं
सन्वत्योवा चउरिंदिया जीवा उच्छोए,उच्छलोयतिरिय-
लोए असंखिज्जगुणा, तेलुके असंखिज्जगुणा, अहोलो-
यतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा,
तिरियलोए संखेज्जगुणा । स्वेषाणुवाएणं सन्वत्योवा चउ-
रिंदिया जीवा अपज्जत्तया उच्छोए, उच्छलोयतिरियलो-

ए असंखेज्जगुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा,अहोलोयतिरिय-
लोए असंखिज्जगुणा,अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए
संखिज्जगुणा । स्वेषाणुवाएणं सन्वत्योवा चउरिंदिया
जीवा पज्जत्तया उच्छोए, उच्छलोयतिरियलोए असंखेज्ज-
गुणा, तेलुके असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असं-
खेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखे० ।

क्षेत्रानुपालेन क्षेत्रानुसारेण विन्ययमाना द्वीन्द्रियाः सर्वैस्तेकाः
ऊर्ध्वलोके,ऊर्ध्वलोकात्सङ्गे तेषां संभवत् । तेषु ऊर्ध्व-
लोकातिर्यग्गोके प्रतरद्भ्यः असंखेयुगाः, यतो ये ऊर्ध्वलोकात्
तिर्यग्गोके तिर्यग्गोकाद्वा ऊर्ध्वगोके द्वीन्द्रियत्वेन समुत्पन्तुका-
मानदायुरनुभवन्त ईदृशिकागत्या समुत्पद्यन्ते । ये च द्विन्द्रिया
एव तिर्यग्गोकात्ऊर्ध्वगोके ऊर्ध्वगोकाद्वा तिर्यग्गोके द्वीन्द्रियत्वे-
नान्यत्वेन वा समुत्पन्तुकाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्रात्ता-
सा हन्त एव द्वीन्द्रियायुःप्रतिसंबद्धयमानाः समुद्रात्तदवशात्
दूरतरविक्षिप्तानिजात्मप्रदेशादृक्ताः, ये च प्रतरद्भ्याऽप्यासित-
क्षेत्रसमासीनास्ते यथाकप्रतरद्भ्यःपरिधौ बहवश्चेति पूर्वोके-
ऽधोलोकात्संखेयुगाः। तेषुऽधोलोकात्संखेयुगाः, यतो द्वीन्द्रि-
याणां प्रासुर्येणान्त्यस्तिस्थानान्यधोलोके तस्मात्पतिप्रभृत्तनि
तिर्यग्गोके, तत्र ये द्वीन्द्रिया अधोलोकात्ऊर्ध्वगोके द्वीन्द्रियत्वेना-
न्यत्वेन वा समुत्पन्तुकाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्रात्ताः
समुद्रात्तदवशात्प्रासुर्यप्रदेशं यावद्विक्षिप्तानिजात्मप्रदेशादृक्ताः
द्वीन्द्रियायुःप्रतिसंबद्धयमानाः, ये चोर्ध्वलोकात्धोलोके द्वीन्द्रि-
याः शेषकया यावद्द्वीन्द्रियत्वेन समुत्पद्यमाना द्विन्द्रियायुरनु-
भवन्ति, त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः ते च पूर्वोकेऽधोलोकात्संखेयुगाः, त-
त्र्योऽधोलोकातिर्यग्गोकेऽसंखेयुगाः । यतो ये द्वीन्द्रिया अध-
धोलोकात्तिर्यग्गोके ये च द्वीन्द्रियाः कृतप्रथममारणान्तिकसमु-
द्रात्ता द्वीन्द्रियायुरनुभवन्तः समुद्रात्तदवशात्प्रासुर्यप्रदेशं याव-
द्विक्षिप्तानिजात्मप्रदेशादृक्तास्ते यथाक प्रतरद्भ्यः स्पृशन्ति । प्रभूता-
श्चेति पूर्वोकेऽधोलोकात्संखेयुगाःस्तेषुऽधोलोके संखेयुगाः,
तत्रोर्ध्वलोकात्तदधोलोकात्तदस्य विशेषाधिकत्वात् । तेषुऽपि तिर्यग्गो-
के संखेयुगाः, अतिप्रचुरतराणां यानिस्थानानां तत्र भावत् ।
यद्यद्माधिकं द्वीन्द्रियसूत्रं तथा पर्यासाऽपयोसद्वीन्द्रियसूत्रौषि-
कद्वीन्द्रियपर्यासापयोसद्वीन्द्रियपर्यासाऽपयोसद्वीन्द्रिय-
नि भावनीयानि ।

साम्प्रतमौघिकपञ्चेन्द्रियविषयमल्पबहुत्वमाह—

स्वेषाणुवाएणं सन्वत्योवा पंचैदिद्या तेलुके, उच्छलोयतिरि-
यलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा,
उच्छोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा,तिरियलोए
असंखेज्जगुणा । स्वेषाणुवाएणं सन्वत्योवा पंचैदिद्या अपज्ज-
त्तया तेलुके,उच्छलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा,अहोलो-
यतिरियलोए संखेज्जगुणा, उच्छोए संखेज्जगुणा,अहोलो-
लोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा,॥

क्षेत्रानुपालेन विन्ययमानाः पञ्चेन्द्रियाः सर्वैस्तेकाः त्रैलोक्ये
त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः, यतो येऽधोलोकात्ऊर्ध्वगोके ऊर्ध्वलोकाद्वा-
ऽधोलोके शेषकयाः पञ्चेन्द्रियायुरनुभवन्त ईदृशिकागत्या समु-

त्यपने ये च पञ्चेन्द्रिया ऊर्ध्वशोकाद्घोलाके अधोलोका-
ऊर्ध्वशोके शेषकावयेन पञ्चेन्द्रियवयेन चोत्तिरस्यः कृतमार-
णान्तकयमुद्रधानाः समुद्रानवशात्प्राप्तसिद्धं यावद् विक्रि-
स्ताम्प्रदेशपङ्कः पञ्चेन्द्रियायुक्ताप्यनुभवानि, ते श्लो-
क्यसंस्पर्शिनः, ते चाप्ये इति सर्वस्तोकाः । तेषु ऊर्ध्वलोका-
तिथेशोके प्रतरह्यरूपेऽसंख्ययगुणाः, प्रमुत्तराणामुपपातेन
समुद्रधातेन वा यथोक्तप्रतरह्यसंस्पर्शसंभवात् । तेषुऽधो-
लोकातिथेशोके संख्ययगुणाः, अतिप्रवृत्तराणामुपपातसमुद्र-
धानान्यामधोलोकातिथेशोकेऽन्यप्रतरह्यसंस्पर्शभावात् । ते-
षु ऊर्ध्वलोके संख्ययगुणाः, वैमानिकानामवस्थानभावात् ।
तेषुऽधोलोके संख्ययगुणाः, वैमानिकवेद्यैः संख्ययगुणानां
नैरयिकाणां तत्र भावात् । तेषुस्तियेशोकेऽसंख्ययगुणाः, स-
मुच्छिन्नप्रज्ञवश्वरादीनां व्यन्तरज्योतिष्काणां सम्मुच्छिन्नम-
नुष्याणां च तत्र भावात् । एवं पञ्चेन्द्रियायप्राप्तसम्प्रभय भाव-
नायम् ।

पञ्चेन्द्रियपर्याप्तसम्प्रभय-

स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा पंचिदिया पञ्जाता उद्दहोए,
उद्दहोयतिरियज्ञोए असं०, तेषुके असं०, अहोहोयतिरि-
यलोए संखेज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए अमं-
खेज्जगुणा ।

कृत्रानुपातेन विन्यमानाः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्ताः सर्वस्तोकाः
ऊर्ध्वशोके, प्रायो वैमानिकानामेव तत्र प्रावात् । तेषु ऊर्ध्वशोका-
तिथेशोके प्रतरह्यरूपेऽसंख्ययगुणाः, विवाकृतप्रतरह्यप्रत्या-
सत्रायाप्राप्त्याणां तद्व्याप्तित्तैः श्लाभितप्रतरह्ययैः पञ्चेन्द्रिया-
णां वैमानिकव्यन्तरज्योतिष्काविधापरवारणमुनितियैकपञ्चेन्द्रि-
याऊर्ध्वशोके तियेशोके च गमनागमने कृतनामधिभूतप्रतर-
ह्यसंस्पर्शात् । तेषु ऊर्ध्वशोके त्रिशोके संस्पर्शिनः असंख्ययगुणाः ।
कथमिति चेत् ? यतो ये भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका
विधाधरा वा अधोलोकास्थाः कृतवैक्यसमुद्रधानास्तथाविधप्र-
त्यलविशेषादुर्ध्वशोकेऽविक्रान्ताम्प्रदेशपङ्कस्य व्रानिप-
शोकाद् द्युशान्ताति संख्ययगुणाः । तेषुऽधोलोकातिथेशोके प्र-
तरह्यरूपे संख्ययगुणाः, बहवो हि व्यन्तरः स्वस्थानप्रत्यासक्त-
तया भवनपत्यस्तिथेशोके ऊर्ध्वशोके वा व्यन्तरज्योतिष्कवै-
मानिका देवा अधोलौकिकगमामेव समवसरणादावधोशोके
क्रीडादिनिमित्तं च गमनागमनकरणात्, तथा समुद्रेषु केचित्प-
तिव्यैकपञ्चेन्द्रियाः स्वस्थाः प्रत्यासक्ततया, अपरे तद्व्यासि-
ततत्राभितत्या यथोक्तं प्रतरह्यं द्युशान्ति, ततः संख्ययगु-
णाः । तेषुऽधोलोके संख्ययगुणाः, नैरयिकाणां भवनपतीनां च
तत्रावस्थानात् । तेषुस्तियेशोकेऽसंख्ययगुणाः, तियैकपञ्चे-
न्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्काणामवस्थानात् । तद्वदमुक्तं पञ्चे-
न्द्रियाणामवस्थदुत्तयम् ।

इदानीमेकेन्द्रियजेदानीं पृथिवीकाथिकादीनां पञ्चानामौषिक-
पर्याप्तायप्राप्तभेदेन प्रत्येकं त्रीणि श्रीरयत्पबहुत्वान्वाह-

स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा पुदविकाइया उह्लोयतिरि-
यलोए, अहोहोयतिरियज्ञोए विसेसाहिया, तिरियलोए
असंखेज्जगुणा, तेषुके असंसिज्जगुणा, उह्लोए असंखे-
ज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं मन्व-

त्योवा पुदविकाइया अपपञ्जचया उह्लोयतिरियलोए,
अहोलोयतिरियज्ञोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्ज-
गुणा, तेषुके असंखेज्जगुणा, उह्लोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा
पुदविकाइया पञ्जचया उह्लोयतिरियज्ञोए, तिरियलोए-
अहोलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेषुके
असंखेज्जगुणा, उह्लोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसा-
हिया । स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा आउकाइया उह्लोयति-
रियज्ञोए, अहोहोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए
असंखेज्जगुणा, तेषुके असंखेज्जगुणा, उह्लोए असंखेज्ज-
गुणा, अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा
आउकाइया अपपञ्जचया उह्लोयतिरियलोए, अहो-
लोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखे-
ज्जगुणा, तेषुके असंखेज्जगुणा, उद्दहोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा आ-
उकाइया पञ्जचया उद्दहोयतिरियलोए, अहोहोयतिरि-
यज्ञोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेषुके अ-
संखेज्जगुणा, उद्दहोए असंखेज्जगुणा, अहोहोए विसे-
साहिया । स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा तउकाइया उह्लोय-
तिरियज्ञोए, अहोलोयतिरियज्ञोए विसेसाहिया, तिरियलोए
असंखेज्जगुणा, तेषुके असंखेज्जगुणा, उद्दहोए असंखेज्ज-
गुणा, अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा
तउकाइया अपपञ्जचया उद्दहोयतिरियज्ञोए, अहोहोयति-
रियज्ञोए विसेसाहिया, तिरियज्ञोए असंखेज्जगुणा, तेषुके
असंखेज्जगुणा, उद्दहोए असंखेज्जगुणा, अहोहोए वि-
सेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा तउकाइया पञ्जच-
या उद्दहोयतिरियज्ञोए, अहोहोयतिरियलोए विसेसाहि-
या, तिरियज्ञोए असंखेज्जगुणा, तेषुके असंखेज्जगुणा, उ-
द्दहोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । स्वे-
चाणुवाएणं मन्वत्योवा बाउकाइया उद्दहोयतिरियज्ञोए,
अहोहोयतिरियज्ञोए विसेसाहिया, तिरियज्ञोए असंखेज्ज-
गुणा, तेषुके असंसिज्जगुणा, उद्दहोए असंखेज्जगुणा,
अहोलोए विसेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा बाउ-
काइया अपपञ्जचया उद्दहोयतिरियलोए, अहोहोयतिरि-
यज्ञोए विसेसाहिया, तिरियज्ञोए असंखेज्जगुणा, तेषुके
असंखेज्जगुणा, उद्दहोए असंसिज्जगुणा, अहोलोए वि-
सेसाहिया । स्वेचाणुवाएणं मन्वत्योवा बाउकाइया पञ्ज-
चया उद्दहोयतिरियलोए, अहोहोयतिरियज्ञोए विसेसा-
हिया, तिरियज्ञोए असंखेज्जगुणा, तेषुके असंखेज्जगुणा,
उद्दहोए असंखेज्जगुणा, अहोहोए विसेसाहिया । स्वेचाणु-
वाएणं मन्वत्योवा वगसइकाइया उद्दहोयतिरियलोए,

अप्याबहुय (ग)

अप्याबहुय (ग)

अहोक्षोयतिरियलोए विसेसाहिया, तेलुके असंखेजगुणा, उरुदक्षोए असंखेजगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खे-
चाणुवाएणं सन्वत्थोवा वणस्सइकाइया अपजजचाया उरुद-
लोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, ति-
रियलोए असंखेजगुणा, तेलुके असंखेजगुणा, उरुद-
लोए असंखेजगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेचाणु-
वाएणं सन्वत्थोवा वणस्सइकाइया पजजचाया उरुदक्षोयति-
रियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए
असंखेजगुणा, तेलुके असंखेजगुणा, उरुदलोए असंखे-
जगुणा, अहोक्षोए विसेसाहिया ॥

इमानि पञ्चदशाणि म्वाणि प्राणुकैरुक्थिपसूत्रवद्भावनीयानि ।
सम्प्रतमौघिकसकयपर्याप्तपार्यसकयसूत्रायाह —

खेचाणुवाएणं सन्वत्थोवा तसकाइया तेलुके, उरुदलोयति-
रियलोए असंखेजगुणा, अहोक्षोयतिरियलोए असंखे-
जगुणा, उरुदलोए संखेजगुणा, अहोलोए संखेजगुणा-
या, तिरियलोए असंखेजगुणा । खेचाणुवाएणं सन्व-
त्थोवा तसकाइया अपजजचाया तेलुके, उरुदक्षोयतिरियलोए
असंखेजगुणा, अहोक्षोयतिरियलोए असंखेजगुणा, उरुद-
क्षोए संखेजगुणा, अहोक्षोए संखेजगुणा, तिरियलोए
असंखेजगुणा । खेचाणुवाएणं सन्वत्थोवा तसकाइया प-
जजचाया तेलुके, उरुदलोयतिरियलोए असंखेजगुणा, अ-
होक्षोयतिरियलोए असंखेजगुणा, उरुदलोए संखेजगुणा-
या, अहोक्षोए संखेजगुणा, तिरियलोए असंखेजगुणा ।

इमानि पञ्चदशसूत्रवद्भावनीयानि । गते क्लेशराम । प्रह्ला० ३२ पद ।

(१२) [गनिद्वारम्] चतुर्गणिसमासेन पञ्चगणिसमासेनाण-
तिसमासेन धाऽप्यबहुत्वम् —

पतेसि ञं जंतै । णेरइयाणं० जाव देवाण य कपरे कपरेहितो०
जाव विसेसाहिया । गोयया । सन्वत्थोवा मणुस्सा, ने-
रइया असंखेजगुणा, देवा असंखेजजा, तिरिया अणंतया ।
प्रवत्संखं पाठसिद्धम् । भगवानाह—गौतम । सर्वस्वोक्तः मनु-
ष्याः, अथसंख्येयजगवर्तिवज्रप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यो
नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रज्ञप्रदेशराशेर्यत् प्रथ-
मं वगमूलं तद् द्वितीयं त्रयमङ्गुलं गुण्यं, गुणितं च
सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणात् अणुपु यावन्न
आकाशप्रदेशस्तावत्प्रमाणात्वात् । तेयाम् । तेभ्यो देवा असंख्ये-
यगुणाः, ध्यन्तराणां ज्योतिष्काणां नैरयिकेभ्योऽप्यसंख्येयगुण-
तया महादृषडके पठित्वात् । तेज्योऽपि तिर्यक्षोऽसम्माः,
वनस्पतिर्जोधानामनन्तत्वात् । जी० ४ प्रवि० । पं० सं० ।

पञ्चगणिसमासेनाप्यबहुत्वम् ।

एस्सि ञं जंतै । णेरइयाणं निरिक्खजोगियाणं मनु-
स्साणं देवाणं सिक्खाए प पंचादसमासेणं कपरे कपरे-

हितो अप्या वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा । ।
गोयया । सन्वत्थोवा मणुस्सा, णेरइया असंखेजगुणा
देवा असंखेजगुणा, सिक्खा अणंतया, तिरिक्खजोगिया
अणंतया ।

सर्वस्वोक्ता मनुष्याः । षण्णवतिच्छेदनकच्छेधराशिप्रमाणत्वा-
त् । स च षण्णवतिच्छेदनकच्छेधराशिरत्र ('सरि' शब्धे'
दर्शयिष्यते । तेज्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रज्ञ-
प्रदेशराशेः संख्येयगुणाः, ध्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च प्रथमं
यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणात् घनोक्तपत्र लोकास्थेक-
प्रदेशिकापु अणुपु यावन्तो ज्ञःप्रदेशरान्तावत्प्रमाणात् । तेभ्यो देवा
असंख्येयगुणाः, ध्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च प्रथमं
प्रतरासंख्येयमागवर्तिअणुगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ते-
भ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः, अत्रत्येभ्योऽप्यनन्तगुत्वात् । तेभ्यो-
स्तिर्येभ्योनिक्का अनन्तगुणाः, वनस्पतिर्जायिकानां सिद्धेभ्योऽ-
प्यनन्तगुणत्वात् । तदेवं नैरयिकान्त्येभ्योनिक्कामनुष्येदेवसिक्खे-
पाणं पञ्चानामप्यबहुत्वमुक्तम् । प्रह्ला० ३२ पद ।

एतच्चैवमर्थेनो गाथा—

“म-नेरइया देवा, सिद्धा तिरिया कमण इह होति ।
थोय असंखे असंखा, अणंतगुणिया अणंतगुणा ॥” ११३२०५
श० ३ वे० ॥

साम्प्रतं नैरयिकान्त्येभ्योनिक्कान्त्येभ्योनिक्कामनुष्यमातुर्षुर्देव-
देवीलक्षणानां सप्तानामप्यबहुत्वमिच्छन्त्याह —

अप्याबहुयं सन्वत्थोवा मणुस्साओ, मणुस्सा असंखे ज-
गुणा, नेरइया असंखेजगुणा, तिरिक्खजोगियाओ असं-
खेजगुणाओ, देवा संखेजगुणा, देवाओ संखेजगुणाओ,
तिरिक्खजोगिया अणंतगुणा ।

प्रअस्तं सुगमम् । जगयानाह—सर्वस्वोक्ता मनुष्यः कतिपयकाटी-
काटिप्रमाणत्वात् । ताप्यो मनुष्या असंख्येयगुणाः, संख्येयम-
नुष्याणां अणुपुसंख्येयजगवर्तिवज्रप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्यो नैरयि-
का असंख्येयगुणाः । तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, अणुपुसंख्येयगुणाः,
प्रतरासंख्येयमागवर्तिअणुपुसंख्येयजगवर्तिवज्रप्रदेशराशिप्रमाणात् । ताभ्यो देवाः
संख्येयगुणाः, यावन्तरज्योतिष्काणामप्यङ्गुलवर्तिर्येभ्यो
निक्काभ्यः संख्येयगुणतया महादृषडके पठित्वात् । तेज्यो देव्यः
संख्येयगुणाः, अणुपुसंख्येयगुणाः । “वचःसगुणा बहोसकृवभहिया
उ होति देवाणं देवांश्च” इति वचनात् । ताज्यस्त्येभ्योनिक्का
अनन्तगुणाः, वनस्पतिर्जायिकानामनन्तत्वात् । जी० ७ प्रवि० ।

इदानीमंशुभामेव सिद्धसहितानामप्यबहुत्वमाह —

एस्सि ञं जंतै । णेरइयाणं तिरिक्खजोगियाणं तिरि-
क्खजोगियाणं मणुस्साणं मणुस्साणं देवाणं सिद्धाए प
अद्वगणिसमासेणं कपरे कपरेहितो रूप्या वा बहुया वा
तुल्ला वा विसेसाहिया वा । । गोयया । सन्वत्थोवा मणु-
स्साओ, मणुस्सा असंखेजगुणा, णेरइया असंखेजगुणा,
तिरिक्खजोगियाओ असंखेजगुणाओ, देवा असंखेज-
गुणा, देवाओ संखेजगुणाओ, सिक्खा अणंतया,
तिरिक्खजोगिया अणंतया ।

सर्वस्तोकाः मनुष्यो मनुष्यस्त्रियाः, संख्येयकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । ताःचो मनुष्या असंख्येयगुणाः, इह मनुष्याः संसृ-
जन्तान्ना इपि गृह्णन्ते, वेदस्त्वाविवक्षणात् । त च संसृच्छू-
नजाः बान्ताविवृणु मगरतिरेकमानत्वेतु जायमाना असंख्येयाः प्रा-
प्यन्ते । तेऽप्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, मनुष्या ह्युकृष्टपदेऽपि
श्रेयससंख्येयजागमप्रदेशराशिप्रमाणा ह्यच्यन्ते । नैरयिकास्त्व-
ह्युलमात्रेण प्रदेशराशिसःकश्चित्तीयवर्गसूक्ष्मगुणप्रथमवर्गसू-
लप्रमाणश्रेणितानाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः । ततो भवन्त्यसंख्ये-
यगुणाः, तेऽप्यस्तियैर्योगिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासं-
ख्येयजागवत्येसंख्येयश्रेणितमःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताऽप्या-
ऽपि देवा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवत्येसंख्येयश्रेणित-
मप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्योऽपि देव्यः संख्येयगुणाः, ब्राह्मिहा-
दुलत्वात् । ताऽप्योऽपि सिद्धा अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तिर्य-
योनिका अनन्तगुणाः । अथ युक्तिः प्रागेवोक्ता । प्रमा० ३ पृ ६ ।

अर्थतत्त्वैवं गाथा-

“ नारी नर नरइया, तिरिगिध सुख देवि सिद्ध तिरिया य ।
योऽव असंख्यगुणा चड, संख्यगुणाऽणंतगुण वर्तसि ॥ २ ॥
अ० २६ शो ३ उ० ।

अथ(समासेन)प्रथमप्रथमसमयिशेषेण गतिस्वरूपबहुत्वप्र-
अप्याबहु-एतोसि णं भंते ! पदमसमयणेरुद्दयाणं० जाव पद-
मसमयदेवाणं कयरे कयरेऽहितो० जाव विसेसाहिद्या वा ? ।
गोयमा ! सन्वत्योवा पदमसमयमणुस्सा, पदमसमयणेरुद्दया
असंखेजगुणा, पदमसमयदेवा असंखेजगुणा, पदमसमयति-
रिक्त्वजोगिया असंखेजगुणा । एतसि णं भंते ! अपदमसम-
यनेरुद्दयाणं जाव० अपदमसमयदेवाणं कयरे कयरेऽहितो०
जाव विसेसाहिद्या वा ? । गोयमा ! एवं चैव;नवरि अपदमस-
मयतिरिक्त्वजोगिया अणंतगुणा । एतसि णं जंते ! पदमस-
मयणेरुद्दयाणं अपदमसमयणेरुद्दयाणं कयरे कयरेऽहितो० जाव
विसेसाहिद्या वा ? । गोयमा ! सन्वत्योवा पदमसमयणेरुद्दया,
अपदमसमयणेरुद्दया असंखेजगुणा, एवं चैव तिरिक्त्व-
जोगिया, नवरं अपदमसमयतिरिक्त्वजोगिया अणंत-
गुणा । मणुयदेवाणं अप्याबहुयं जडा नरइया । एतसि णं
भंते ! पदमसमयणेरुद्दयाणं० जाव अपदमसमयतिरिक्त्वजो-
गियाणं कयरे कयरेऽहितो० जाव विसेसाहिद्या वा ? ।

गोयमा ! सन्वत्योवा पदमसमयमणुस्सा, अपदमसमयमणुस्सा
असंखेजगुणा, पदमसमयणेरुद्दया असंखेजगुणा, पदमसमय-
देवा असंखेजगुणा, पदमसमयतिरिक्त्वजोगिया असंखेज-
गुणा, अपदमसमयणेरुद्दया असंखेजगुणा, अपदमसमयदेवा
असंखेजगुणा, अपदमसमयतिरिक्त्वजोगिया अणंतगुणा ।
प्रअसृषं सुगमम् । जगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमय-
मनुष्याः, श्रेयससंख्येयभागमाश्रत्वात् । तेऽप्यः प्रथमसमयनैरयि-
का असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतानामेकस्मिन् समये उत्पादसंभ-
वात् । तेऽप्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तरज्योतिष्का-
णामतिप्रभूततराणामेकस्मिन् समये उत्पादसंभवात् । तेऽप्यः
प्रथमसमयतिर्येऽसंखेजगुणाः, इह यं नारकादिगति-
प्रदायित्वं तिर्येऽप्रथमसमये वर्तन्ते ते प्रथमसमयतिर्येऽसंखे, न
शोभाः, ततो यद्यपि प्रतिनिगोदसंख्येयभागाः सद् विप्रहृगति-
१६०

प्रथमसमयवर्षां ह्यन्वते, तथापि निगोदानामपि तिर्येकत्वात् न ते
प्रथमसमयतिर्येऽसंखेः, एऽप्यः संख्येयगुणा एव । साऽस्मत्तमेतदेवैव
चतुर्णामप्रथमसमयानां परस्परमल्पबहुत्वमाह-“एतसि श्रामि-
त्यादि” प्रअसृषं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वेस्तो-
का अथमसमयमनुष्याः, श्रेयससंख्येयभागमाश्रत्वात् । ते-
ऽप्योऽप्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अहुलमात्रेण
प्रदेशराशेः प्रथमवर्गसूक्ष्मे हितेयिने वरीमुल्लेन गुणिते यावान्
प्रदेशराशिः तावत्प्रमाणासु श्रेणित्वावन्त आकाशप्रदेशस्ता-
वत्प्रमाणात्वात् । तेऽप्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्य-
न्तरज्योतिष्काणामतिप्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्येऽसं-
ख्येयानुष्याः, वनस्पतीनामनन्तत्वात् । साऽस्मत्तमेतदेवैव
नैरयिकादीनां प्रत्येकं प्रथमसमयाप्रथमसमयगतमल्पबहुत्व-
माह-“एतसि णं जंते !” इत्यादि प्रअसृषं सुगमम् । जगवा-
नाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, एकस्मिन्
समये संख्यातीतानामपि स्तोकाणामेवोत्पादात् । तेऽप्योऽप्रथ-
मसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, चिकीडावस्त्रादीनां तथा(म-
न्योऽप्योत्पादेनातिप्रभूतत्वात्) । एवं तिर्येऽनिकमनुष्यदेव-
सुश्रायपि वक्तव्यानि, नवरं तिर्येऽनिकत्वेऽप्रथमसमयति-
र्येऽनिका अनन्तगुणा वक्तव्याः, वनस्पतिजीवानामनन्त-
त्वात् । साऽस्मत्तमेतदेवैव प्रथमसमयप्रथमसमयानां समु-
दायेन परस्परमल्पबहुत्वमाह-“ एतसि श्रामित्यादि” प्रअ-
सृषं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमय-
मनुष्याः, एकस्मिन् समये संख्यातीतानामपि स्तोकाणामे-
वोत्पादात् । तेऽप्योऽप्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, चिर-
कालावस्थाश्रितया अतिप्रान्त्येन सत्यमाश्रत्वात् । तेऽप्यः प्रथ-
मसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूततराणामेकस्मिन्
समये उत्पादसंभवात् । तेऽप्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः,
व्यन्तरज्योतिष्काणामेकस्मिन् समये अतिप्रान्त्येण कदा-
चिदुत्पादात् । तेभ्यः प्रथमसमयतिर्येऽनिका असंख्येयगुणाः,
नारकजैगतित्रयादप्युत्पादसंभवात् । तेभ्योऽप्रथमसमयनैर-
यिका असंख्येयगुणाः, अहुलमात्रेण प्रदेशराशेः प्रथमव-
र्गसूक्ष्मे हितेयिवर्गमुल्लेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमा-
णासु श्रेणित्वावन्त आकाशप्रदेशस्तावत्प्रमाणात्वात् । तेऽप्योऽ-
प्रथमसमयदेवाः असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयजागवतिश्रेयया-
काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेऽप्योऽप्रथमसमयतिर्येऽनिका
अनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । जी० - प्र० ।

अत्र (व्यासेन) सन्वत्येऽप्यबहुत्वानि, तथा-
सिद्धेण जंते ! सिध्दि चि कालतो केव चिरं हाति ?
गोयमा ! सादिप अपज्जवमिप । (जी०)

तत्र प्रथममिदम्-

एतसि णं जंते ! पदमसमयनेरुद्दयाणं पदमसमयतिरिक्त्व-
जोगियाणं पदमसमयमणुस्साणं पदमसमयदेवा ण कयरे०
जाव विसेसाहिद्या ? । गोयमा ! सन्वत्योवा पदमसमयमणु-
स्सा, पदमसमयणेरुद्दया असंखेजगुणा, पदमसमयदेवा अ-
संखेजगुणा, पदमसमयतिरिक्त्वजोगिया असंखेजगुणा ।
सर्वेस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः । तेऽप्यः प्रथमसमयनैरयिका
असंख्येयगुणाः । तेऽप्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः । तेभ्यः
प्रथमसमयतिर्येऽनिका असंख्येयगुणा, नारकादिशपगतित्र-

वादागतानामेव प्रथमसमये यत्मानानां प्रथमसमयातिथ्यो-
मिकत्वात् ।

द्वितीयमेवम्—

एत्सि णं जंते ! अपढमसमयणेइयाणं अपढमसमय-
तिरिक्खजोगियाणं अपढमसमयपणूसाणं अपढमसमयदेवा-
ण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
सम्बत्थोवा अपढमसमयणूसा, अपढमसमयणेइया अप-
संखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, अपढम-
मयतिरिक्खजोगिया अणंतगुणा ।

सर्वेस्तोकाः अप्रथमसमयमुत्थाः, तेन्योऽप्रथमसमयनैरयिका
असंखेयगुणाः, तेन्योऽप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, ते-
भ्योऽप्रथमसमयतिथ्योमिका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानाम-
नन्तत्वात् ।

तृतीयमेवम्—

एत्सि णं पढममयणेइयाणं अपढमसमयणेइयाणं कयरे
कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढ-
मसमयणेइया, अपढमसमयणेइया असंखेज्जगुणा । एत्-
सि णं जंते ! पढममयतिरिक्खजोगियाणं अपढमसमयति-
रिक्खजोगियाणं कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढममयतिरिक्खजोगिया, अपढमस-
मयतिरिक्खजोगिया अणंतगुणा । मणुपदेवाणं अप्याबहुयं
अहा नेइया ।

सर्वेस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथमसमयनैरयिका
असंखेयगुणाः, तत्र प्रथमसमयतिथ्योमिकाः सर्वेस्तोकाः, अ-
प्रथमसमयतिथ्योमिका अनन्तगुणाः, तथा सर्वेस्तोकाः प्रथम-
समयमुत्था, अप्रथमसमयमुत्थाः असंखेयगुणाः । तथा स-
र्वेस्तोकाः प्रथमसमयदेवाः, अप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः ।
सर्वसमुदायगतं चतुर्थमेवम्—

एत्सि णं जंते ! पढममयणेइयाणं अपढमसमयणेइ-
याणं पढममयतिरिक्खजोगियाणं अपढमसमयतिरिक्ख-
जोगियाणं पढमसमयणूसाणं अपढमसमयपणूसाणं पढम-
समयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं सिद्धाण य कयरे कयरेहिं-
ते० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमय-
णूसा, अपढमसमयणूसा असंखेज्जगुणा, पढमसमयणे-
इया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसम-
यतिरिक्खजोगिया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयणेइया
असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा
अणंतगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोगिया अणंतगुणा ।

सर्वेस्तोकाः प्रथमसमयमुत्थाः, अप्रथमसमयमुत्था अ-
संखेयगुणाः, तेन्यः प्रथमसमयनैरयिका असंखेयगुणाः, तेभ्यो
ऽपि प्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, तेभ्योऽपि प्रथमसमयति-
थ्योऽसंखेयगुणाः, तेन्योऽपि प्रथमसमयनैरयिका असंखे-
यगुणाः, तेन्योऽप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, तेभ्यः सि-
द्धा अनन्तगुणाः । तेन्योऽप्रथमसमयतिथ्योमिका अनन्त-
गुणाः । जी० ६ प्रति० ।

प्रथमसमयाप्रथमसमयजेनेम भिन्नानां नैरयिकतिथ्योमिकम-
नुष्यदेवसिद्धानां दृशानामप्यबहुत्वात्पञ्चापि चत्वारि ।

तत्र प्रथममिदम्—

एतोसि णं भंते ! पढममयणेइयाणं पढमसमयतिरिक्ख-
जोगियाणं पढममयणूसाणं पढमसमयदेवाणं पढमसमय-
सिद्धाण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढममयतिरिक्खजोगियाणं पढमसमयणूसा
असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेइया असंखेज्जगुणा, पढम-
समयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोगिया अ-
संखेज्जगुणा ॥

सर्वेस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अष्टोत्तरशतावृत्तममावात् ।
तेभ्यः प्रथमसमयमुत्था असंखेयगुणाः, तेन्यः प्रथमसमयनै-
रयिकाः असंखेयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयदेवाः असंखेय-
गुणाः, तेन्यः प्रथमसमयतिथ्योऽसंखेयगुणाः ।

द्वितीयमिदम्—

एतोसि णं जंते ! अपढमसमयणेइयाणं अपढममयति-
रिक्खजोगियाणं अपढममयणूसाणं अपढमसमयदेवाणं
अपढमसमयसिद्धाण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसा-
हिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अपढमसमयणूसा, अप-
ढमसमयणेइया असंखेज्जगुणा, अपढममयदेवा असं-
खेज्जगुणा, अपढममयतिरिक्खजोगिया अणंतगुणा, अपढमसमय-
तिरिक्खजोगिया अणंतगुणा ।

सर्वेस्तोका अप्रथमसमयमुत्था, अप्रथमसमयनैरयिका अ-
संखेयगुणाः, अप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, अप्रथमस-
मयसिद्धा अनन्तगुणाः, अप्रथमसमयतिथ्योऽनन्तगुणाः ।

तृतीयम्—

एत्सि णं जंते ! पढममयणेइयाणं य अपढममयणेइइ-
याण य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा पढममयणेइया, अपढममयणेइया असं-
खेज्जगुणा । एतोसि णं जंते ! पढममयतिरिक्खजोगि-
याणं अपढमसमयतिरिक्खजोगियाणं य कयरे कयरेहिंते०
जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढम-
मयतिरिक्खजोगिया, अपढमसमयतिरिक्खजोगिया अणं-
तगुणा । एत्सि णं जंते ! पढमसमयणूसाणं अपढम-
मयणूसाणं य कयरे कयरेहिंते० जाव विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयणूसा, अपढममयणूसा
असंखेज्जगुणा । अहा मणूसा नटा देवा वि । एतोसि णं जं-
ते ! पढमसमयसिद्धाणं अपढमसमयसिद्धाण य कयरे कयरे-
हिंते० अप्या वा बहुया वा तुद्धा वा विसेसाहिया वा ? ।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा, अपढमसमयसि-
द्धा अणंतगुणा ।

प्रत्येकमाविरैरयिकतिथ्यक्रममुत्पद्येवानां पूर्ववत् । सिद्धानामेवं
सर्वेस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अप्रथमसमयसिद्धा अनन्त-
गुणाः ।

समुदायगतं अतुयंमेषम्-

एप्सि णं भंते । पदमसमयणेरइयाणं अपदमसमयणेरइयाणं पदमसमयतिरिक्त्वजोगियाणं अपदमसमयतिरिक्त्वजोगियाणं पदमसमयमणूसाणं अपदमसमयमणूसाणं पदमसमयदेवाणां अपदमसमयदेवाणां पदमसमयसिष्ठाणं अपदमसमयसिष्ठाणं कयरे कयरेहिंतो अप्या वा बहुया वा तुष्ठा वा विसैसाहिया वा ? । गोयया । सव्वत्थोवा पदमसमयसिष्ठा, पदमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, अपदमसमयमणूसा असंखिज्जगुणा, पदमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, पदमसमयदेवा असंखिज्जगुणा, पदमसमयतिरिक्त्वजोगियाणं असंखिज्जगुणा, अपदमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, अपदमसमयदेवा असंखिज्जगुणा, अपदमसमयसिष्ठा अणंतगुणा, अपदमसमयतिरिक्त्वजोगियाणं अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिष्ठाः, तेज्यः प्रथमसमयमणूसा असंखेयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयमणूसा असंखेयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयैरयिका असंखेयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, तेज्यः प्रथमसमयतिरिक्त्वजोगियाणं असंखेयगुणाः, तेज्योऽप्रथमसमयैरयिका अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयदेवा असंखेयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयसिष्ठा अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयतिरिक्त्वजोगियाणं अनन्तगुणाः । भायना सर्वत्रापि प्राग्वत् । नवरं सूत्रे संक्षेप इति । जी० १० प्रति० ।

संप्रति गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामप्यवहृत्वमाह-
(पण दो खीण दू जोगी, ऽणुदीरग अजोगीयोन उवसंता ।
संखगुण खीण सुदुमा, नियहिअपुप्प सभा अहिया । ६३)

(योव उवसंत चि) स्तोका उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो जीवाः, यतस्तं प्रतिपद्यमाना उक्तेनाऽपि अतुप्यञ्जाशयमाणा एव प्राप्यन्त इति । तेज्यः सकाशात् क्लीणमोहाः संखेयगुणाः, यतस्तं प्रतिपद्यमानका एकस्मिन् समयेऽप्योत्तरशतप्रमाणं अपि लज्यन्ते । यतश्चोत्कृष्टपदापेक्षयाकर्म । अन्यथा कदाचिद्विपर्ययोऽपि रूप्यः । स्तोकाः क्लीणमोहाः, बहवस्तु तेज्य उपशान्तमोहाः, तथा तेज्यः क्लीणमोहेभ्यः सकाशात् सुहृत्संपर्याया निष्ठासिद्धाद्वारपर्येकरथा विशेषाधिकारः, स्वस्थाने पुनरेतं चिन्त्यमानास्त्रयोऽपि समास्तुदया इति ॥ ६३ ॥

जोगि अपमच इयरे, संखगुणा देससासणा मीसा ।
अविरय अजोगि मिच्छा, असंख चउमो दुवेऽणंता । ६३ ।

तेज्यः सुव्यादिचयः सयोगिकेवलिनः संख्यातगुणाः, तेषां कोटिवृथकत्वेन लज्यमानत्वात् । तेभ्योऽप्रमत्ताः संखेयगुणाः, काटिसहस्ररूपकैश्च प्राप्यमानत्वात् । तेभ्य (इयर चि) अप्रमत्तप्रतियोगिनः प्रमत्ताः संखेयगुणाः, प्रमादज्ञो हि बहुनां बहुकालं च लज्यन्ते, विपर्ययेण स्वप्रमाद इति न यथाकसंख्याव्याघातः । (देसेयादि) देशविरतसाव्याधनमिआविरतलक्षणाश्चाद्यो यथोत्तरमसंखेयगुणाः, सयोगिमिच्छाद्विद्वज्जगौ च द्वी यथोत्तरमन्तगुणी, तत्र प्रमत्तयो देशविरता असंखेयगुणाः, विरच्छामन्यसंख्यातानां देशविरतेनात्वात् ।

सास्वादान्तु कदाचित्सवैधेय न भवति, यदा भवति तदा उच्यतेनैको द्वी वा, उक्तेतस्तु देशविरतेभ्योऽप्यसंखेयगुणाः, तेज्यो मिआ असंखेयगुणाः, सास्वादाकाया उक्तेततोऽपि यदाभित्तिमात्रतया स्तोकात्वात् । मिआकायाः पुनरन्तःसुहृत्प्रमासुतया प्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्यसंखेयगुणाः अविरतसम्यग्रहयः, तेषां गतिअतुष्टयेऽपि प्रभूततया सर्वकालसंभवात् । तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवत्यामवधकमेद्विआ अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽप्यनन्तगुणा मिच्छाद्वयः, साधानचनस्थानीं सिच्छेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेषां च मिच्छाद्विच्छादिति । तद्व्यमजिहिते गुणस्थानवर्तिनां जीवानामप्यवहृत्वम् । कर्म० ५ कर्म० । पं० खं० ।

(१३) [वरमहाारथ] चरमाचरमाणमवहृत्वम्-

एप्सि णं जंते । जीवाणं चरिमाणं अचरिमाणं च कयरे कयरेहिंतो अप्या वा बहुया वा० ? । गोयया । सव्वत्थोवा जीवा अचरिमा, चरिमा अणंतगुणा ।

इह येषां चरिमा अचरिमा चोद्यतयाप्रति ते चरमा उच्यन्ते । ते चाद्योद्व अयाः, इत्येभ्यश्चरमा अमप्याः सिद्धाश्च, उनेयचामपि चरमाचरमजावात् । तत्र सर्वस्तोका अचरमाः, अमप्यानां सिद्धानां च समुदितानामप्यजस्योत्कृष्टगुणानन्तपरिमाणत्वात् । तेभ्योऽनन्तगुणाश्चरमाः, अजस्योत्कृष्टानन्तानन्तपरिमाणत्वात् । गतं चरमाद्वारम् । प्रका० १ पद । (रत्नप्रभादीनां चरमाश्चरगतमवहृत्वम्, सङ्घातप्रयश्च सङ्घातपदेनाश्चगद्वस्व परिमरुतादेश्चरमादिषियमवहृत्वम् च 'चरस' शब्दे एव दशोच्यन्ते)

(१४) [जीवद्वारथ] जीवपुङ्गवसमयद्रव्यप्रदेशार्थोवायाणमवहृत्वम्-

एप्सि णं जंते । जीवाणं पोग्गसाणं अक्कासमयाणं सव्वद्वत्थाणं सव्वपप्साणं सव्वपज्जवाणं च कयरे कयरेहिंतो अप्या वा० ५ ? । गोयया । सव्वत्थोवा जीवा पोग्गसा अणंतगुणा, अक्कासमया अणंतगुणा, सव्वद्वत्था विसेसाहिया, सव्वपप्सा अणंतगुणा, सव्वपज्जवा अणंतगुणा । प्रका० ३ पद ।

तद्व्यमर्षतः-

'जीवा १०गगल ३ समया ३, हव्वपप्सा य ५ पज्जवा ६ खेव ।
योवाऽणंताऽणता, विसेसअहिया कुवेऽणंता ॥ १ ॥
इह भावना-यतो जीवाः प्रत्येकमनन्तान्तैः पुद्गलैर्बैकः प्रायो भवन्ति, पुद्गलास्तु जीवैः संबन्धा असंबन्धाश्च भवन्तीत्यतः स्तोकाः पुद्गलेभ्यो जीवाः ।

यदाह-

" अं पोग्गसावचका, जीवा पाएण हंति तो योवा ।
जीवेहि विरहियाऽविर-हिया च पुण पोग्गसा संति " ॥ १ ॥
जीवेभ्योऽनन्तगुणाः पुद्गलाः कथमं, यथैज्जसादिशरीरं येन जीवेन परिपृहीते तस्यतो जीवापुद्गलपरिणामाप्रमाणं अन्नन्तगुणं भवति, तथा-तैजसशरीरात्पर्येतोऽनन्तगुणं कार्यमन्, एवं च ते जीवप्रतिबन्धेऽनन्तगुणे जीवियुक्ते च ते साध्यामनन्तगुणं प्रभवन्, शेषशरीरचिन्ता त्विद न कृता, यस्मात्तानि मुक्काम्यपि के सं स्थाने तयोरेतन्तजाने वतन्ते, तदेवमिदं तैजसशरीरपुद्ग-

ला भवि जीवेऽप्येऽनन्तगुणाः, किं पुनः कार्मण्यविपुल्लता-
दिसंहिताः । तथा पञ्चदशविधप्रयोगपरिणताः पुत्रकृताः स्तोत्राः
किं, तेषां मिश्रपरिणताः अनन्तगुणाः, तेषांऽपि विभ्रसाप-
रिणता अनन्तगुणाः, त्रिविधा एव च पुत्रकृताः सर्वे एव भव-
न्ति । जीवाश्च सर्वेऽपि प्रयोगपरिणतपुत्रकृतां प्रत्युक्तेऽनन्त-
भागे वर्तन्ते यस्मादेवं तस्माज्जीवियः सकाशात् पुत्रकृताः बहु-
निरतस्याऽनन्तकैरुचिताः सिद्धा इति ।

आह व-

“ अ जेण परिभाहियं, तेयादिजिपण देहमेकेकं ।
तसो तमखेतगुणं, पोमग्नपरिजामओ होरि ॥ १ ॥
तेयाओ पुण कम्मग-मणुंतगुणियं जओ विणिहइहं ।
एवं ता बद्धाई, तेयगकम्माइ जीवेहि ॥ २ ॥
एसोऽणंतगुणाई, तेसिं चिय जाणि होति मुक्काई ।
इइ पुण धोवसाओ, अगमयं सेसदेवाणं ॥ ३ ॥
अं तेसिं मुक्काई, पि होति सचाण णंतमगम्मि ।
तेण तद्गगाइणमिहं, बक(बद्धा)ण होणइ पि ॥ ४ ॥
इइ पुणतेयसरीरग-बद्धं चिय पोमला अणंतगुणा ।
जीवेहिं तो किं पुण, सहिया अचससरासीइं ॥ ५ ॥
धोवा भणिया सुत्तं, पन्नरसविइपोमग्नयाओमा ।
तसो मीसपरिणया-ऽणंतगुणा पोमग्ला त्रणिया ॥ ६ ॥
ते मीससा परिणया, तसो भणिया अणंतसंगुणिया ।
एवं तिविहपरिणया, सब्बे चिय योमग्ला होए ॥ ७ ॥
अं जीवा सब्बे चिय य, पक्कमि पमोगपरिणयाय पि ।
बहंति पोमलाणं, अणंतमगम्मि तणुयम्मि ॥ ८ ॥
बहुएइं अणंताणं, सइं तेषु सुणिया जिणंइतो ।
सिद्धा भवंति सब्बे, चि पोमग्ला सब्बलोमम्मि ॥ ९ ॥

ननु पुत्रकृत्याऽनन्तगुणाः समया इति यदुक्तम् । तन्न संगतम् । ते-
ष्वन्तेषां स्तोत्रत्वात् । स्तोत्रत्वं च मनुष्यैकत्रमात्रवर्तित्वात्सम-
धानां पुत्रकृतानां च सकललोकवर्तित्वादिति । अत्रोच्यते-सम-
यकृते यः केचन द्रव्यपर्यायाः सन्ति, तेषामेकैकस्मिन् साग्रत-
समया वर्तन्ते । एवं च साग्रतं समयो यस्मात्समयकृतेऽद्रव्यपर्य-
यगुणो भवति तस्मादनन्ताः समया एकैकस्मिन् समये
प्रवर्तन्तीति । आह व-

“ होति य अणंतगुणिया, अइदासमया उ पोमजेहितो ।
गणु धोवा ते नख-चमेसवत्तणाओ चि ॥ १ ॥
जणणइ समयकल्लेअ-मिं सेति जे केइ इवपज्जाया ।
बहइ संपयसमओ, तेसिं पेशेमेकेकं ॥ २ ॥
एवं संपयसमओ, जे समयकेसपज्जवत्तणयो ।
तेणणंता समया, भवंति एकेकसमयमिं ॥ ३ ॥
एवं च वर्तमानोऽपि समयः पुत्रकृत्याऽनन्तगुणो प्रवर्तित-
एकद्रव्यत्वाऽपि पर्यायात्सामन्तस्तादा । किं च । केवलमियं
पुत्रकृत्याऽप्यनन्तगुणाः समयाः सर्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्याये-
ऽप्यनन्तगुणास्ते संजवन्ति । तथाहि-यत्समस्तलोकद्र-
व्यप्रदेशपर्यवरागोः समयकृतेऽद्रव्यप्रदेशपर्यवराशिना भक्ता-
व्यभूयते । एतद्भावना चैवं किल-असद्भावकल्पवत्कथाः सङ्गो
लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराणां तस्य समयतेऽद्रव्यप्रदेशपर्यवराशि-
ना कल्पवत्तया सहस्रमानेन भगि इते शनं ब्रह्मम्, तद्वच-
किल तांश्विकसमयशते गते लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवत्कथा तु-
द्दया समयकृतेऽद्रव्यप्रदेशपर्यवत्कल्पसमयसंख्या लज्यते । स-
मयकृतापेक्षया असंख्यतगुणलोकस्य कल्पनया शतगुण-

त्वात् । तथाऽप्येष्वपि तावत्सु तांश्विकसमयेषु गतेषु ताव-
त्त पर्योपचारिकसमया प्रवर्तनीयेष्वमसंख्यातेषु कल्पनया श-
तमानेषु तांश्विकसमयेषु योःपुन्येन गतेष्वनन्तमायां कल्प-
नया सहस्रतमानां वेषुणां गता भवन्ति । तांश्विकसमया
लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवरागोः कल्पनया सङ्गप्रमाणाः, एवं चैके-
करिमेस्तांश्विकसमयेऽनन्तानामोपचारिकसमयानां भावात्स-
र्वैलोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराशिरेपि समया अनन्तगुणाः प्रादुर्भवंति,
किं पुनः पुत्रकृत्याः ? इति ।

यदाह-

“ अं जेसल्लोगद्वय-पपसपज्जवगएस्स प्रचयस्स ।
अन्नइ समयकल्लेअ-पपसपज्जवायपिडेण ॥ १ ॥
एवइसमएइं गएहिं, लोणपज्जवसम्मा समयसंक्का ।
लम्भइ अणेहिं पि य, तणियमेसहिं तावदया ॥ २ ॥
एवमसंखेऽजेहिं, समएइं गणेहिंता गयार्हिं ति ।
समयाओ लोणद्वय-पपसपज्जवसंक्का ॥ ३ ॥
इय सब्बलोगपज्जव-रासीओ चि समया अणंतगुणा ।
पावंति गणोऽजंता, किं पुण ता पोमजेहिंते ? ” ४ ॥

अयस्सु प्रेत्यति-उत्पद्यतेऽपि एणमासमात्रमेव सिद्धिगते-
रन्तरं भवति. तेन च सत्स्यद्वयः सिद्धयोरपि च जीवेऽपि-
ऽसंख्यातगुणा एव समया जवन्ति । किं पुनः ? सर्वजीवेऽप्य-
ऽनन्तगुणा भवियन्तीति इहाऽप्योपचारिकसमयापेक्षया स-
मानामानन्तगुणत्वं वाच्यमिति । अथ समयेऽप्यो द्रव्याणि
विशेषाधिकानीति कथम् ? । अत्रोच्यते-यस्मात्सर्वे समयाः प्र-
त्येकं द्रव्याणि, शेषाणि च जीवपुत्रकृतधर्मास्तिकायादीनि ते-
ष्वेव क्लृप्तानीत्यन-कथंज्ञेयः समयेऽप्यः सकाशात् समस्तद्रव्या-
णि विशेषाधिकानीति भवन्ति, न सख्यातगुणादीनि, समयद-
व्यापेक्षया जीवादिद्रव्याणामवयवत्वादि ।

वक्तं च-

“ एसो समएइंते, होति विसेमाहिंयाईं दव्याईं ।
अं भया सब्बे चिय, समया दव्याइं पसेय ॥ १ ॥
सेसाईं जीवोमगल-धम्माधम्मं वराईं हुदाईं ।
दव्यट्टयापं समप-सु तेषु दव्या विसेसाहिंया ॥ २ ॥

मन्वद्वासमयानां कस्माद्द्रव्यत्वमेवधत्ते ? , समयस्कन्धापेक्षया
प्रदेशाधेत्यस्यापि तेषां युज्यमानत्वात् । तथाहि-यथा स्कन्धो
द्रव्यं सिद्धं, स्कन्धापेक्षया अयि यथाप्रदेशाः सिद्धाः, एवं सम-
यस्कन्धवर्तिनः समया भवन्ति, प्रदेशाश्च द्रव्यं वर्तते । अत्रोच्यते-
परमाणुनाम्नोऽप्यसद्व्यपेक्षान्वेन स्कन्धत्वं युक्तम्, अइदासम-
यानां पुनरप्योऽप्यावपित्ता नास्ति । यतः कालसमयाः प्रत्येक-
न्ये च कालपरिक्रमस्कन्धजाते च वर्गमानाः प्रत्येककृत्तय एव, त-
त्त्वभावेत्वात्समासेऽप्यनिरपेक्षाः, अन्योऽप्यनिरपेक्षत्वात्
न ते वास्तवस्कन्धनिष्पादकाः, तद्वत्त्वं तेषां प्रदेशार्थतेति ।

उक्तं चात्र आह-“अइदासमयाणं किंपुण दव्यद्वयव निधयेणं ।
तेसिं पपसत्ता विहु, जुजइ वंथं समासज्ज ॥ १ ॥
सिद्धं खंथो दव्यं, तद्वचयया चि जहा पपसत्ति ।
इय तव्वनी समया, होति पपसा य दव्यं च ॥ २ ॥
अणणइ परमाणुणं, अणोणमवेक्क खंथया सिद्धा ।
अइदासमयाणं पुण, अणोणमवेक्कया नयि च ॥ ३ ॥
अइदासमया जम्मा, पत्तं पेशेयखंजावे चि ।
पशेयवत्तिणां चिय, ते तेषांअणनिरवेक्का ” ४ ॥

अथ इत्येभ्यः प्रदेशा अनन्तगुणा इति । एतत्कथम् ? इत्यनेन-
 आकाशसम्यङ्कथ्येभ्यः आकाशप्रदेशानामनन्तगुणत्वात् । ननु केष-
 प्रदेशानां काशसमयानां च समानेऽप्यनन्तत्वं किं कारणमा-
 भित्त्वाकाशप्रदेशा अनन्तगुणाः, काशसम्यङ्कथ्येभ्यस्तन्माग-
 वतिन इति ? इत्यनेन-कल्पनासमाधयसंवितायामाकाशप्रदे-
 शभेषामिकेकप्रदेशेनतुसारत्स्वरेणैवायतधेर्णानां कल्पनेन ता-
 न्नुपेक्षितैकप्रदेशानुसारत्वेणोपस्थापयतायतधेर्णविरचनेन
 आकाशप्रदेशघनेन निष्पद्यते, काशसमयभेदेषु तु सैव भेदी
 भवति, न पुनसंभवः, ततः काशसमयाः स्तोका भवन्तीति ।

इदं गथा-

“ एषो सव्यपयसा-ऽणेतगुणा खल्वप्यसऽणेतत् ।
 स-यामासमयतः, जेण जिणंदिह पणसं ॥ १ ॥
 आह समेऽणेतत्—मिं खेतकात्ताणं किं पुण निमित्तं ? ।
 भयियं खमनतगुणं, काओ-यमणत्तमागमिं ॥ २ ॥
 भज्जइ नभसेट्ठीए, अणाइयाए अणउज्जवसियाए ।
 निष्कउज्ज खमिं घणो, न उ काले तेण सां धावो ॥ ३ ॥
 प्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः कथाया इत्येतद्भावनायां गथा-
 “ एषो य अनंतगुणा, पउज्याया जेण नहपपसमिं ।
 पक्कमिं भणनां, अणुउज्जउ पउजवा अणिया ॥ १ ॥ इति ।
 म० २४ श० ३ उ० । गतं जीवद्धारम् ।

(१५) [ज्ञानद्वारम्] ज्ञानिनामदपबहृद्यत्वम्-

एषमिं एं भंते ! जीवाणं आजिणिबोहियणारणीणं सुय-
 णारणीणं ओहियाणीणं मणपज्जवणारणीणं केवलणार-
 णीण य कयरे कयरेहिनो अप्पा वा ४ ? । गोयमा ! स-
 व्वरयोवा मणपज्जवणाखीं, ओहियाणी अमं०, आजिणि-
 बोहियणारणीं सुयणारणीं दोवि तुह्णा विसेसाहिया, केवल-
 नारणीं अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवहानिनः, संयतानमिवाभारणीपर्याविह-
 ङ्गिप्राप्तानां मनःपर्यवहानिसंज्ञात् । तेभ्योऽसंकेयगुणा अय-
 विज्ञानिनः, वैरयिकतियेकपञ्चैन्द्रियमनुष्यद्वन्द्वानामप्यविविज्ञान-
 संज्ञात् । तेभ्य आजिनिबोधिक्ज्ञानिनः भुतज्ञानिनश्च विशे-
 षाधिकानः, संकितियेकपञ्चैन्द्रियमनुष्याणामिवाविधिज्ञानविक्राना-
 मार्षणं कयातिश्रुतिभिर्बोधिक्भुतज्ञानभावान् । स्वस्थाने तुल्ये
 ऽपि परस्परं तुल्याः । “ जथ मइइभाणं तथ्य सुथसुय-
 नाणं तथ्य मइइनाणं ” इति वचनात् । तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्त-
 गुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । उक्तं हि ज्ञानिनामदपबहृद्यत्वम् ।

इदानीं प्रतिपक्षभूतानामज्ञानिनामदपबहृद्यत्वमाह-

एषमिं एं भंते ! जीवाणं मइइआणारणीं सुयअशाणीणं
 विजंगनारणीण य कयरे कयरेहिनो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा !
 सव्वरयोवा जीवा विभंगनारणी, मइइआणी सुयअशाणी ।
 दोवि तुह्णा अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका विभङ्गज्ञानिनः, कतिपयानामेव वैरयिकदेवतियेक-
 पञ्चैन्द्रियमनुष्याणां विभङ्गभावात् । तेभ्यो मल्लज्ञानिनः भुताज्ञा-
 निनोऽनन्तगुणाः, वनस्वतीनामपि मल्लज्ञानिभुतज्ञानभावात् ।
 स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । “ जथ मइइभाणं तथ्य सुथअ-
 णाणं, जथ सुयअणाणं तथ्य मइइआणं ” इति वचनात् ।
 १६ ।

संप्रभुभयेषां ज्ञानाज्ञानिनामदपबहृद्यत्वमाह-

एषमिं एं भंते ! जीवाणं आजिनिबोहियणारणीणं सु-
 यणारणीणं ओहियाणीणं मणपज्जवणारणीणं केवलणार-
 णीणं मतिअशाणीणं सुयअशाणीणं विभंगनारणीणं य-
 कयरे कयरेहिनो अप्पा वा ० ४ ? । गोयमा ! सव्वरयोवा
 जीवा मणपज्जवणारणी, ओ हुनाणी अंसंखिजगुणा,
 आजिनिबोहियणारणीं सुयणारणीं य दोवि तुह्णा विसेसाहि-
 या, विजंगनारणीं अमसंखजं०, केवलज्ञानारणीं अणंतगुणा,
 मइइअरणीं सुयअशाणी य दोवि तुह्णा अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवहानिनः, संयतानमिवाभारणीपर्यावा वृद्धि-
 प्राप्तानां मनःपर्यवहानिसंज्ञात् । तेभ्योऽसंकेयगुणा अयविज्ञानि-
 नः, तेभ्य आजिनिबोधिक्ज्ञानिनः भुतज्ञानिनश्च विशेषाधि-
 काः, स्वस्थानं तु ह्यावपि परस्परं तुल्याः । अत्र ज्ञानना प्रागे-
 धोक्ता । तेभ्योऽसंकेयगुणा तथ्यमङ्गलानिनाः तथ्यसाहचर्यात्
 निरयमती च सव्यवहृद्येभ्यो मिथ्याहृद्येभ्योऽसंकेयगुणाः पठ्य-
 न्तं, देयवैरयिकाश्च सव्यवहृद्येभ्योऽविधिज्ञानिनो मिथ्याहृद्येभ्यो
 विजङ्गज्ञानिन इत्यसंकेयगुणाः, तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्तगु-
 णः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो मल्लज्ञानिनः भुताज्ञानिन-
 भानन्तगुणाः, वनस्वतिकाधिकारानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् ;
 तेषां च मल्लज्ञानिभूतानाज्ञानिभावत् । स्वस्थाने तु ह्यावपि परस्परं
 तुल्याः । गते ज्ञानद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पदं । म० । जी० । कर्म० ।

इदानीं प्रत्येतिष्कणामदपबहृद्यत्वमाह-

एतेमिं एं भंते ! चंदिमस्मिंअमइइणवसत्तताराकूवाणं
 कयरे कयरेहिनो अप्पा वा बहुणा वा तुह्णा वा विसे-
 साहिया वा ? । गोयमा ! चंदिमस्मिंअ दूवे तुह्णा मच्च-
 त्थोवा, एकत्त्वा संखेजगुणा, मइइ संखेजगुणा, ता-
 राकूवा संखेजगुणा ॥

(एतेमि णमित्थादि) एतेषामनन्तरोक्तानां, प्रत्येकप्रमाणगोचराणां
 वा, भदन्तं । चन्द्रस्य प्रहलक्षत्रताराकूपाणां कतरे कतरेभ्योऽप्येवा
 स्तोकाः । वाऽत्र विकल्पसमुच्चयेण । कतरे कतरेभ्यो बहुका वा
 कतरेभ्यस्तुल्या वा, अत्र यमकित्तिर्णामेन तुतीया व्याख्याया ।
 कतरे कतरेभ्यो विशेषावेति ? गोमते ! चन्द्रस्योपे येन द्वयैऽपि
 परस्परं तुल्याः, प्रतिद्विषे प्रतिसमुद्रे चन्द्रस्योपां समसंख्या-
 कत्वात् । शेषेभ्यो प्रदाह्रियेः सर्वैऽपि स्तोकाः, तेभ्यो नक्षत्राणि
 संखेयगुणानि, अष्टाविंशतिगुणान्यात् । तेभ्योऽपि ताराकूपानि संखे-
 यगुणाः, सारिरेकत्रियुगान्यात् । तेभ्योऽपि ताराकूपानि संखे-
 यगुणानि, प्रज्ञतकोटाकारिण्युगान्यादिति । ज०७ वस० । ज्ञानप-
 र्यायानामदपबहृद्यत्वम् । ज०८ श० ३ उ० । “ सव्वरयोवा नारणी,
 अणारणी अणंतगुणा ” । जी० १ प्रति० । तस्येधावरसोवसने-
 स्थावरानामदपबहृद्यत्वम्-“ अय्याण्णु सव्वरयोवा तसा, सोतसा
 सोथावरं अणंतगुणा ” । जी० १ प्रति० । (निरंथ्यानां पुलाकादी-
 नामदपबहृद्ये ‘ जिग्मंथ ’ शब्दे चष्यते)

(१६) [दर्शनद्वारम्] इशानिनामदपबहृद्यत्वम्-

एषमिं एं जंते ! जीवाणं चकखुदंसणीणं अचकखुदंस-
 णीणं ओहिट्ठंमणीणं केवलदंसणीणं य कयरे कयरेहिनो

तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा । सवत्थोवा जीवा ओ-
ह्रदंमर्णा, चरकुदुंमर्णा असंख्यजगुणा, केवलदंमर्णा
अणुतगुणा, अचरकुदंमर्णा अणुतगुणा ॥

सर्वस्त्वाका अर्थादिशोभिनः देवनेरधिकारो कतिपयानां च
संक्षिप्तश्रेन्द्रियतिर्यगमुत्पत्त्यामवधिदशानभावात् । तेभ्योऽप्यु-
द्देशोभिनोऽसंख्येयगुणाः, सर्वानां देवनेरधिकारोऽजमनुत्पत्त्याणां सं-
क्षितिर्यक्श्रेन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च असंक्षितिर्यक्श्रे-
न्द्रियाणां चतुर्युद्देशानभावात् । तेषुः केवलदशोभिनोऽनन्तगुणाः,
सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽप्युद्देशोभिनोऽनन्तगुणाः, वनस्प-
तिकाधिकारानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् । गते दर्शनद्वारेण । प्रज्ञा०
३ पदं । कर्म० । अ।० ।

(१७) [दिग्धारक्य] दिगनुत्पातेन जीवानामल्पबहुत्वम् —

दिगनुत्पातेण सवत्थोवा जीवा पञ्चच्छ्रेणेषु, पुरच्छि-
त्रेण विसेसाहिया, दाहिणेषु विसेमाहिया, उत्तरेण विसे-
साहिया ।

इह दिशः प्रथमे आचारक्येऽङ्के अनेकप्रकारा व्यावर्णिताः,
नेत्रह क्षेत्रादिशः प्रतिपक्षध्याः, नासां नियतत्वात् । इतर्गमां च
प्रायोऽनवस्थितत्वाद्गुणयोगित्वाच्च, क्षेत्रादिशां च प्रभवस्थित्य-
श्लोकमध्यगतादृष्टप्रेषाकाद् रुचकात् । यत् उक्तम् — "अहुपपसे
रुयगां, तिरियल्लेयस्य दम्भियाणरिमि । एस पमयो विसारां,
यस्वेव भवे अणुविसारां" ॥ ११ ॥ इति दिशामनुत्पातो दिगनुत्पा-
रणं, तेषां दिशोऽपिहृद्यतेति तात्पर्यार्थः । सर्वस्त्वाका जीवाः
पश्चिममे पश्चिमायां दिशि । कथामिति चेत् ?, उच्यते — इदं ह्यनुप-
पत्तये आदराभिहित्वत्त्वं उच्यते, न सुदृग्भाषां, सर्वश्लोकापञ्चानां
प्रायः सर्वत्राऽपि समरथात् । आदररथपि मध्ये सर्वेवहथो वन-
स्पतिकायिकाः, अजन्तसंख्यायानां तेषां प्राप्यमागतत्वात् । ततो
यत्र ते बहवः तत्र बहुत्वं जीवानां, यत्र त्वत्ते तत्राल्पत्वम् । वन-
स्पतयश्च तत्र बहवो यत्र प्रच्युता अपाः — "ज्यथ जज्ञं तन्थ वष" ।
इति वचनात् । तत्रावश्यं पनकरीशालादीनां भावात् । ते च
पनकरीशालादयो आदरनामकमोदये वनेमाना अपि अत्य-
तसुदुर्भावादानवसादितिप्रभूपिपुषीभावाच्च सर्वे सन्तोऽपि
न चक्षुषा प्राज्ञाः । तथा चोक्तमनुयोगादंगु — "तेणं बाल-
गा सुदुर्भयगजोवस्स सरीराणाणाणादिंते अमंखजगुणा" ।
इति । ततो यथापि भेदे दृश्यन्ते तत्रापि ते सन्तोति प्रतिप-
क्षध्याः प्राह च भूमेद्रीकाराः — इह सवत्थोवा वनस्प-
तय इतिकृत्या यत्र ते सन्ति तत्र बहुत्वं जीवानां, तेषां च बहु-
त्वम् "ज्यथ आउओतो तन्थ नियमा वणुससदकाया" इति ।
"पणवणुसवालददाई बायग वि शीति, सुदुन्ना अणुगिउम्हा न-
खकलणा" इति । उदकं च प्रवृत्तं समुद्रेषु पृथङ्गुणवि-
ष्कम्भात् । तेषापि च समुद्रेषु प्रत्येकं प्राचीप्रतीचीदिशोऽपि
याने चन्द्रसूर्येर्द्वीपाः, यावति च प्रदेशे चन्द्रसूर्येर्द्वीपा अवगाढा-
स्तास्युदकभावाच्च, उदकाभावाच्च वनस्पतिकायिकाभावाच्च, के-
वलं प्रतीच्यां दिशि लवणसमुद्राधिपसुखितनामदेवावाचभूतो
गौतमद्वीपे लवणसमुद्राधिपकायिका भवेत्, तत्र च उदकामा-
वाहानुस्पतिकायिकानामभावात् । सर्वश्लोका जीवाः पश्चिमायां
दिशि, तेभ्यो विरोधायिकाः पूर्वस्थां दिशि, तत्र हि गौतमद्वीपे
न विद्यते, ततस्तथापि विरोधनायिका भवन्त्यातिरिच्यन्ते, ते
प्योऽपि दक्षिणस्थां दिशि विरोधायिकाः, यत्तत्र चन्द्रसूर्येर्द्वीपा

न विद्यन्ते, न च भावात्तत्रोदकं प्रवृत्तं, तथाऽप्युत्पत्त्याच्च वनस्पतिका-
यिका अपि प्रवृत्ता इति विशेषायिकाः, तेभ्योऽप्युद्देशीक्यां दिशि
विरोधायिकाः । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते — उदीच्यां (इ
दिशि संख्येययोजनेषु द्वीपेषु मध्ये कश्चिदभिन्नद्वीपे प्रायामवि-
ष्कम्भात्प्रायं संख्येययोजनकोटाकांठिप्रमाण आनसं नमः सः स-
मस्ति, ततो दक्षिणदिगेषुलया अस्यां प्रवृत्तमुदकम्, उदककाण्ड-
त्वाच्च प्रभूता वनस्पतयः, प्रभूता द्वीन्द्रियाः शङ्खादयः, प्रभूता-
रुत्तन्नशङ्खादिफलेश्वाभिताः शोचिदयः (पिपोलिदयः, प्र-
भूताः पक्षादिषु चतुरिन्द्रिया प्रमरादयः, प्रभूताः पञ्चोन्द्रिया
मत्स्यादयः, इति विशेषायिकाः ॥

इदानीं विशेषेण तदाह —

दिमाणुवाएणं सवत्थोवा पुढाविकाइया दाहिणेणं, उत्त-
रेणं विसेसाहिया, पुरिच्छिमेणं विसेसाहिया, पञ्चच्छिमेणं
विसेसाहिया । दिमाणुवाएणं सवत्थोवा आउकाइया पञ्च-
च्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहि-
या, उत्तरेणं विसेसाहिया । दिमाणुवाएणं सवत्थोवा तेउ-
काइया दाहिणुत्तरेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, पञ्चच्छिमेणं
विसेसाहिया । दिमाणुवाएणं सवत्थोवा वाउकाइया पुर-
च्छिमेणं, पञ्चच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया,
उत्तरेणं विसेसाहिया ॥

दिगनुत्पातेन दिगनुत्पातेण, दिशोऽपिहृद्यतेति । पृथिवी-
कायिकाभिन्नमयानाः सर्वस्त्वाकाः दक्षिणस्थां दिशि । कथमिति
चेत् ?, उच्यते — ६६ यत्र घने तत्र बहवः पृथिवीकायिकाः,
यत्र सुषिरं तत्र स्तोकाः । दक्षिणस्थां दिशि बहूनि यवनवर्तानां भ-
वर्तानां, बहवो नरकायासास्त्रतः सुषिरप्रान्त्यसंभवात्, सर्वे-
स्त्वाका दक्षिणस्थां दिशि पृथिवीकायिकाः । तत्र च उत्तरस्थां दि-
शि विशेषायिकाः, यत्र उत्तरस्थां दिशि दक्षिणदिगेषुलया
स्तोकानि जयवर्तानि, स्तोका नरकायासास्त्रतो घनप्राचुर्यस-
भवाद् बहवः पृथिवीकायिका इति विशेषायिकाः । तेभ्योऽपि
पूर्वस्थां दिशि विशेषायिकाः, रश्मिशिष्टीपालां तत्र भावात् ।
तेभ्योऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषायिकाः । किं कारणमिति चेत् ?,
उच्यते — यावन्तं रश्मिशिष्टीपालाः पूर्वस्थां दिशि तावन्तः पश्चि-
मायामिति, तत्र एव तावत् साध्यम् । परं ह्यणुसमुद्रेण गौत-
मनामा द्वीपः पश्चिमायामधिकोऽस्ति, तेन विशेषायिकाः । अत्र
परं आह — तनु यथा पश्चिमायां दिशि गौतमद्वीपोऽप्यधिकः
समस्ति, तथा तस्यां पश्चिमायां दिशि अशोभायिकाकप्रामा अपि
योजनसदृशभावात्तः स्तितः, ततः स्वातपुरितन्त्याने तस्युत्पत्त्या
एव पृथिवीकायिकाः प्राप्नुवन्ति, न विशेषायिकाः । नैतदेवम् ।
यनाऽधालीकप्रामाधवाहा योजनसदृशं, गौतमद्वीपस्य पुनः
पदसत्यधिकं योजनसदृशमुत्सवं, निष्कम्पस्तस्य द्वादशां-
योजनसदृशत्वात्, यथा शरीरारुत्पत्त्याधालीकप्रामाभ्योऽधोऽ-
हीनत्वं हीनतरत्वं तस्युत्पत्त्यामपि दिशि प्रवृत्तगतादिसंख्याच्च
समानम् । ततो यथाधालीकप्रामादिच्छेपु बुद्ध्या गौतमद्वीपः
प्रतिपत्त्ये, तथापि समधिक एव प्राप्यते, न तुल्य इति । तेन स-
मधिकं विशेषायिकाः पश्चिमायां दिशि पृथिवीकायिकाः । उक्तं
दिगनुत्पातेन पृथिवीकायिकानामल्पबहुत्वम् । इदानीमप्यवि-
कानामल्पबहुत्वमाह — दिमाणुवाएणं सवत्थोवा आउकाइया

इत्यादि) सर्वस्तोका अप्कायिकाः पश्चिमायां दिशि, गौ-
तमश्रीपर्वाने तेषामभावात् । तेभ्योऽपि विशेषाधिकाः
पूर्वस्थां दिशि, तेभ्योऽपि विशेषाधिका दक्षिणस्थां दिशि,
चन्द्रसूर्यश्रीपालायात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्थां दिशि विदेशाधिकाः,
मानसरःसद्भावात् । तेजस्कायिकानामल्पबहुत्वम्—(दिसा-
गुवाएणं सव्वत्थोवा तेजस्काइया इत्यादि) तथा दक्षिणस्यामुत्तर-
स्थां च दिशि सर्वस्तोकाः तेजस्कायिकाः, यतो मनुष्यक्लेत्रे
एव बाद्गस्तैजस्कायिका नाम्प्रश्नः तथापि यत्र बहवो मनुष्याः
तत्र ते बहवां बाहुल्येन पाकारम्मसज्जवात्, यत्र त्वल्पे तत्र
स्तोकाः । तत्र दक्षिणस्थां दिशि पञ्चसु उत्तरस्थां, उत्तरस्थां दिशि
पञ्चसव्वैरावतेषु क्लेत्रस्यास्फवात् स्तोका मनुष्याः । तेषां स्तो-
कत्वेन तेजस्कायिका अपि स्तोकाः; अल्पपाकारम्मसज्जवात् ।
तत्रः सर्वस्तोका दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः तेजस्कायिकाः; संधाने
तु प्रायः समाः । तेभ्यः पूर्वस्थां दिशि सर्वथेयगुणाः; क्लेत्रस्य
संक्षेपयुगलत्वात् । ततोऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः,
अधौलीकिकप्रामेसु मनुष्यबाहुल्यत्वात् । इदानीं यायुकायिकाना-
मल्पबहुत्वम्—(दिसागुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पुर-
च्छिमेणमित्यादि) । इह यत्र श्रुतिर तत्र वायुर्व्यं च धनं तत्र
चात्यभायः । तत्र पूर्वस्थां दिशि प्रजुतं धनमित्यवधा वायवः,
पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधौलीकिकप्रामेसु सम्भवात् ।
उत्तरस्थां दिशि विशेषाधिकाः, मयननरकावासबाहुल्येन शृण-
वहाइत्यात् । ततोऽपि दक्षिणस्थां दिशि विशेषाधिकाः, उत्तर-
दिगयज्ञया दक्षिणस्थां दिशि भवनानां नरकावासानां चाति-
प्रजुतत्वात् ।

तथा यत्र प्रभूता आपस्त्र प्रभूताः पनकाद्योऽननकायि-
कायनस्त्रयाः, प्रभूताः शङ्खाद्योऽङ्गिन्द्रियाः, प्रभूताः पिषन्दी-
भूतशैवात्मादायिकाः कृत्वाद्यः शोऽन्द्रियाः, प्रभूताः पद्-
मायाभिता ज्मराद्यश्चतुरिन्द्रिया इति ।

इदानीं वनस्पत्यादीनामल्पबहुत्वम्—

दिसागुवाएणं मव्वत्थोवा वणस्सकाइया पचच्छिमेणं,
पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरे-
णं विसेसाहिया । दिसागुवाएणं सव्वत्थोवा वेऽदिया पच-
च्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया,
उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसागुवाएणं सव्वत्थोवा तेऽदिया
पचच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसा-
हिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । एवं चउरिदिया वि ॥

यनस्पत्यादिसृत्राणि चतुरिन्द्रियसर्वेष्वनतानि अप्कायिक-
स्त्रवज्जावनीयानि ।

नैरयिकाणामल्पबहुत्वम्—

दिसागुवाएणं सव्वत्थोवा ऐरइया पुरच्छिमपचच्छिमेणं, उ-
त्तरदाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसागुवाएणं सव्वत्थोवा
रयण्णजा एवविणेरइया पुरच्छिमपचच्छिमेणं, उत्तरेणं
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसागुवाएणं सव्वत्थोवा सक्कर-
प्यजा एवविणेरइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं अ-
संखेज्जगुणा । दिसागुवाएणं सव्वत्थोवा ऐरइया बाहुणप्यजा

पुदविपुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।
दिसागुवाएणं सव्वत्थोवा पंक्कपजा पुदविऐरइया पुरच्छिम-
पचच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसागुवाएणं
सव्वत्थोवा धूमपजा पुदविनेरइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं,
दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसागुवाएणं सव्वत्थोवा तमपया
पुदविनेरइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखे-
ज्जगुणा । दिसागुवाएणं सव्वत्थोवा अहेसत्तमा पुदविने-
रइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

नैरयिकसूत्रे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्गुणानि नैर-
यिकाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां चावाहनत्वात्, बहूनां प्रायः
संक्षेपयोजनाविस्तृतत्वाच्च । तेभ्यो दक्षिणदिग्गुणानि विभाविनो
संक्षेपयुगाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां तत्र बाहुल्यात्, तेषां
च प्रायोऽसंख्येयोजनाविस्तृतत्वात्, कृष्णपाक्षिकाणां तस्यां
दिशि प्राच्येणोपादात्तत्वाच्च । तथाहि—द्विविधा जन्यवः, शुक्रपा-
क्षिकाः, कृष्णपाक्षिकाश्च । तेषां लक्षणमिदम्—किञ्चिदनुपल्ल-
परायनोऽर्धमात्रसंसारस्ते शुक्रपाक्षिकाः, अधिकतरसंसारजाजि-
नस्तुकृष्णपाक्षिकाः; उक्तञ्च—जेसिमवृद्धो पुमल्ल-परियट्ठो सेस-
ओ य संसारो । ते सुकृष्णपक्षियाः खलु, अर्धदिं पुण कएहपक्खी-
ओ ॥ १ ॥ अथ एव च स्तोकाः शुक्रपाक्षिकाः, अल्पसंसतिरि-
णां स्तोकास्ताः । अथः कृष्णपाक्षिकाः, प्रजुतसंसारिणामितिप्र-
चुरत्वात् । कृष्णपाक्षिकाश्च प्राच्येण्ये दक्षिणस्थां दिशि समुत्प-
द्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभावात् । तच्च तथास्वाभावं
पूर्वोच्चार्यैरनुक्तिभिर्पश्यन्ते । तथाधा-कृष्णपाक्षिका द्वांशतरसं-
सारजाजिन उच्यन्ते । द्वांशतरसंसारजाजिनश्च बहुपापोद्या-
ज्जयन्ति, बहुपापोद्याश्च कूरकमांयः; कूरकमांयश्च प्रायस्तथा-
स्वान्नायात् । तत्रचसिद्धिका अपि दक्षिणस्थां दिशि समुत्प-
द्यन्ते, न शेषासु दिक्षु । यत्र उक्तम्—“पायमिह कूरकमा, भवसि-
द्धिया वि दाहिणल्लेसु । नेरइयतिरियमशुया, सुराइडाणसु
गच्छन्ति ॥” ॥ ततो दक्षिणस्थां दिशि बहूनां कृष्णपाक्षिका-
णामुत्पादसंभवात्, पूर्वोत्तराण्यथाश्च सम्जनयन् पूर्वोत्तरप-
श्चिमदिग्गुणविभयो दाहिणान्त्या असंक्षेपयुगाः । यथा च सा-
मान्यतो नैरयिकाणां दिग्गुणानेवमल्पबहुत्वमुक्तम् प्रति-
पृथिव्यपि वक्तव्यम्, युक्तः सर्वत्रापि समानयात् । तद्वं प्रति-
पृथिव्यपि दिग्गुणानेवमल्पबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं सप्तपि पृथिवीरधिष्ठल दिग्गुणानेवमल्पबहुत्वमाह—

दाहिणेहितो अहेसत्तमा पुदविनेरइएहितो छ्द्वैए त-
माए पुद्वीए नेरइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं असंखे-
ज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणद्वेहितो तमा-
पुदविनेरइएहितो पंचमा धूमपभाए पुद्वीए नेरइया पुर-
च्छिमपचच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असं-
खेज्जगुणा । दाहिणद्वेहितो धूमपजा पुदविनेरइहितो
चउत्थिए पंक्कपजाए पुद्वीए ऐरइया पुरच्छिमपचच्छि-
मउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।
दाहिणद्वेहितो पंक्कपजापुद्वीवेणेरइएहितो तइयाए वा-
लुणप्यजाए पुदविनेरइया पुरच्छिमपचच्छिमउत्तरेणं अ-

अप्यामहुय (ग)

संस्वेज्जगुणा, दाहिणेषां असंस्वेज्जगुणा । दाहिणोद्धेतो
बाह्यपपत्तापुदाविणेरुदृष्टिर्हिता बंयाए रुक्कुरपज्ञाए पु-
द्वीए खरुदया पुरच्छिमपष्वाच्छिमउत्तराणं असंस्वेज्जगुणा,
दाहिणेषां असंस्वेज्जगुणा । दाहिणोद्धेतो रुक्कुरपमा
पुद्वीखरुदृष्टिर्हिता इमां से रयणपज्ञाए पुद्वीए खरुदया
पुरच्छिमपष्वाच्छिमउत्तराणं असंस्वेज्जगुणा, दाहिणेषां
असंस्वेज्जगुणा ।

सप्तमपृथिव्यां पूर्वोत्तरपाश्चिमदिश्विभाविभ्यो नैरधिकेऽप्यो ये
मसमपृथिव्यामेव दार्किन्यास्त्यन्तेऽसंस्वेयगुणाः । तेऽप्यः षष्ठपृ-
थिव्यां तमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपाश्चिमदिश्विभावित्रयो-
ऽसंस्वेयगुणाः । कथमिति वेत्ते ? उच्यते-नेह सर्वोक्तपृ-
थिकादिशुः संक्षिपन्वेन्द्रियतिथिं समनुप्याः । सप्तमनरकपृथिव्या-
मृणालेः । किञ्चिदीनहीनतपस्वप्रापकमकारिणश्च षष्ठयादिषु
पृथिवीषु सर्वोक्तपृथिवापकमकारिणश्च सर्वेस्तेऽकाः बहवश्च य-
थोत्तरं किञ्चिदीनतरादिवापकमकारिणः । ततो युक्तमसंस्वेय-
गुणत्वं सप्तमपृथिवीदार्किन्यान्वयकारिण्य षष्ठपृथिव्यां पूर्वो-
त्तरपाश्चिमनारकाणां । एवमुत्तरोत्तरपृथिवीरप्यधिकृत्य भाव-
यितव्यम् । तेऽप्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दक्षिणेश्यां दिशि
नारका असंस्वेयगुणाः । युक्तिरत्र प्राग्योक्तः । तेऽप्योऽपि षष्ठमपृ-
थिव्यां युक्तमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपाश्चिमदिश्विभाविभ्योऽसंस्वेय-
गुणाः । तेऽप्योऽपि तस्यामेव षष्ठमपृथिव्यां दार्किन्यात्या असं-
स्वेयगुणाः । एवं सर्वोक्तापि क्रमेण वाच्यम् ।

पञ्चमिका नामपबहुत्वमाह—

दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा पंविदियतिरिक्खमार्गाणिया प-
ष्वाच्छिमेषेणं, पुरच्छिमेषेणं विमेसाहििया, दाहिणेणं विसेमा-
हििया, उत्तरेणं विमेसाहििया ।

इदं च तिस्यैकपञ्चन्द्रियसुखमक्कायसूत्रवत् ।

मनुष्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा मणुस्सा दाहिणउत्तराणं, पु-
रच्छिमेषेणं संवेज्जगुणा, पष्वाच्छिमेषेणं विसेसाहििया ।
सर्वेस्तेका मनुष्या दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च, पञ्चानां नरनृ-
शाणां पञ्चानिवेगानृकनृशाणामत्यदवपन्नात् । तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि
संवेयज्जगुणाः । क्रैत्रश्च संस्वेयगुणवात् । तेभ्योऽपि पश्चिमार्धां
दिशि विशेषपाथिकाः, स्वभावात् एवाधोत्तरादिकप्रामुख्ये मनुष्य-
बाहुद्वयभावात् ।

अवनवासिनामल्पबहुत्वमाह—

दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा जवणवासां देवा पुरच्छिम-
पष्वाच्छिमेषेणं, उत्तरेणं असंस्वेज्जगुणा, दाहिणेणं असंस्वे-
ज्जगुणा ॥

सर्वेस्तेका जवनवासिना देवाः । पूर्वस्यां पश्चिमार्धां च दिशि
तत्र अवनानामल्पवत्त्वात् । तेभ्य उत्तरदिश्विभाविभ्योऽसंस्वेयगुणाः,
स्वस्थानमया । तत्र अवनानां बाहुद्वयत्वात् । तेऽप्योऽपि दक्षिणदिश्वि-
भाविभ्योऽसंस्वेयगुणास्तत्र अवनानामनीच बाहुद्वयत्वात् । तथाहि-
निकांऽसंस्वेयवर्त्तमानैव अवनानाम्महोदराग्र्यानिच्यन्ते, कृ-
ष्यावाक्किाश्च बहवस्ततोऽप्युच्यन्ते, ततो नजन्त्यसंस्वेयगुणा ।

अवन्तराणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा वापमंतरा देवा पुरच्छिमेषेणं,
पष्वाच्छिमेषेणं विसेसाहििया, उत्तरेणं विसेसाहििया, दाहिणेणं
विसेसाहििया ।

अवन्तरस्यै जवान्वा-यत्र शुषिरं तत्र अवनराः प्रचरन्ति, यत्र
घन तत्र ना । ततः पूर्वस्यां दिशि अवनत्वात् स्तोका अवन्तराः । ते-
ऽप्योऽपरस्यां दिशि विशेषपाथिकाः । अधोनैरधिकप्रामुख्ये शुषिर-
सम्भवत्वात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषपाथिकाः, स्वस्था-
नमया नगरावात्मबाहुद्वयत्वात् । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि वि-
शेषपाथिकाः, अग्निप्रभूतनगारावात्मबाहुद्वयत्वात् ।

ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा जोऽवििया देवा पुरच्छिमपष्-
च्छिमेषेणं, दाहिणेणं विसेसाहििया, उत्तरेणं विसेसाहििया ॥
तथा सर्वेस्तेका ज्योतिष्काः । पूर्वस्यां पश्चिमार्धां च दिशि
बन्धुद्वित्वाद्दिश्विभूत्वात्कल्पेण कृत्वापयामामेव तेषां भावात् । ते-
ऽप्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषपाथिकाः । विमानबाहुद्वयत्वात्, कृ-
ष्णपाथिकाणां दक्षिणदिश्विभाविवात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि
विशेषपाथिकाः । यतो मानसे स्वरसि बहवो ज्योतिष्काः क्रौंदा-
स्थानमिति क्रौंदिनध्यपूर्णा नित्यमासते । मानसस्वरसि च ये स-
स्त्याद्यां जलखरान्ते आसताविमानदर्शनानः समुत्पन्नजातिकार-
णान् किञ्चिद्भूतं प्रतिपद्यन्तऽतन्नामि च हृदया कृतानन्दानाम्मना-
त्पद्यन्ते । ततो नजन्त्येऽतस्माद्दार्किन्यात्येव विशेषपाथिकाः ।

धैर्यानिष्काणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा देवा सोऽहमे कएणं पुरच्छिम-
पष्वाच्छिमेषेणं, उत्तरेणं असंस्वेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसा-
हििया । दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा देवा ईसाणे कएणं पु-
रच्छिमपच्छिच्छिमेषेणं, उत्तरेणं अमंस्वेज्जगुणा, दाहिणेणं
विसेसाहििया । दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा देवा सणकुमारं
कएणं पुरच्छिमपच्छिच्छिमेषेणं, उत्तरेणं असंस्वेज्जगुणा, दाहि-
णेणं विसेसाहििया । दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा देवा माहिदे
कएणं पुरच्छिमेषेणं पच्छिच्छिमेषेणं, उत्तरेणं अमंस्वेज्जगुणा,
दाहिणेणं विसेसाहििया । दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा बंज-
लाए कएणं देवा पुरच्छिमपच्छिच्छिमउत्तराणं, दाहिणेणं अ-
संस्वेज्जगुणा । दिसाण्वुवाएणं दोप कएणं देवा पुरच्छिमप-
च्छिच्छिमउत्तराणं, दाहिणेणं असंस्वेज्जगुणा । दिसाण्वुवाएणं
सवन्त्थोवा देवा महामुके कएणं पुरच्छिमपच्छिच्छिमउत्तराणं,
दाहिणेणं असंस्वेज्जगुणा । दिसाण्वुवाएणं सवन्त्थोवा
देवा सहस्मारे कएणं पुरच्छिमपष्वाच्छिमउत्तराणं, दाहिणेणं
असंस्वेज्जगुणा । तेषु च बहुमर्षोऽवबन्ना समपाउओ ।

तथा सौधमे कल्पे सर्वेस्तेकाः पूर्वस्यां पश्चिमार्धां च दिशि
धैर्यानिष्का देवाः । यतो यावत्साधत्तिकाः प्रविष्टानि विमानानि तानि
च तस्यैव दिशि तुल्यानि, तानि पुनः पुष्पावकांति तानि
प्रभूतानि अमंस्वेयवर्त्तमानैस्तुतानि, तानि च दक्षिणस्यामुत्त-
रस्यां दिशि, नाप्यत्र, ततः सर्वेस्तेकाः पूर्वस्यां पश्चिमार्धां च
दिशि । तेऽप्य उत्तरस्यां दिशि अमंस्वेयगुणाः । पुष्पावकांति-च-

मानानां बाहुरथात्संख्येयोजनविस्तृतत्वाच्च । तेज्योऽपि द-
क्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, हृष्यपाक्षिकाणां प्राञ्चुर्ध्वे तत्र
गमनात् । एषमीशानसप्तकुमारमहिन्द्रकल्पसुत्रादपि भाष-
नायानि । अहलोककल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्नावि-
मो देवानां, यन्मो बहवः कृष्णपाक्षिकास्तिर्यग्भ्यामथो दक्षिणस्यां
दिशि ससुपचन्ते । शुक्रपाक्षिकाः पुनः पूर्वोत्तरपश्चिमासु,
शुक्रपाक्षिकाश्च स्तोका इति पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनः सर्व-
स्तोकाः । तेभ्यो दक्षिणस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, हृष्यपा-
क्षिकाणां बहूनां तत्रोपादात् । एवं सातकशुक्रसहस्रारसुवा-
सुपति ज्ञावनीधानि । आनताद्विपु पुनर्मनुष्या एषोत्पचन्ते, तेन
प्रतिकल्पे प्रतिप्रैष्यकं प्रत्यनुत्तरदिमानं चतसृषु दिक्षु
प्रायो बहुसमा वेदितव्याः । तथा वा०५५६—“तद्य परं बहु-
समावधमग्रा समणाउसो” इति ॥

इदानीं लिखानामल्पबहृत्वमह-

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सिक्का दाहिणउत्तरेणं, पुर-
च्छिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चाच्छिमेणं विसेमाहिद्या ॥

सर्वस्तोकाः सिद्धाः दक्षिणस्यामुत्तरस्थां च दिशि । कथमि-
ति चेत् ? उच्यते—इह मनुष्या एव सिद्धान्ति नाम्ने, मनुष्या
अपि सिद्धान्तो येषांकाशप्रदेशोऽपि चरन्समये अथगदास्त-
थेयाकाशप्रदेशोऽप्युर्वमपि गच्छन्ति, तेष्वेव सोपयैर्धान्ते, न
मनापि चकं गच्छन्ति, सिद्धान्ति च, तत्र दक्षिणस्यां दिशि
पञ्चसु भरतेऽनुत्तरस्थां दिशि पञ्चसैरावतेषु मनुष्या अल्पाः,
अल्पव्याद्विवात् । सुवमसुव्याद्विवा च सिद्धेराभावात् ।
तरुर्हमसुव्याः सर्वस्तोकाः, तेष्वः पूर्वस्थां दिशि संख्येयगुणाः,
पूर्वादिदेशानां जगत्प्राचक्षेत्रेभ्यः संख्येयगुणतया तद्गतमनु-
ष्याणामपि संख्येयगुणत्वात्, तथा च सर्वैकान्ति सिद्धिजावात् ।
तेभ्यः पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अप्रभोक्षिककामेषु मनु-
ष्यवाहृत्वात् । प्रज्ञा ० ३ पद ।

जय्येदवादीनाम—

एपमि णं भंते ! जवियदव्वेदेवाणं णरदेवाणं जाव जाव-
द्वेवाणं य कयरे कयरेहिंते ० जाव विसेमाहिद्या वा ? गोयमा !
सव्वत्थोवा णरदेवा, देवाहिदेवा संखेज्जगुणा, धम्मदेवा
संखेज्जगुणा, जवियदव्वेदेवा असंखेज्जगुणा, भावदेवा
असंखेज्जगुणा ॥

भरतैरवतेषु प्रत्येकं द्वादशानामेव तेषामुत्पत्तेर्विजयेषु च धातु-
द्वेषसम्भवात्, सर्वेष्वेकाऽनुत्पत्तेरिति । (देवाहिदेवा संखेज्ज-
गुणं चि) भरताद्विपु प्रत्येकं तेषां चकवार्तिभ्यो द्विगुणतयोत्पत्ते-
र्विजयेषु च धातुद्वेषोपेतेष्वुत्पत्तेरिति । (धम्मदेवा संखेज्जगुण-
सि) साधुनामेकदापि कौटिसहस्रपृथक्त्वसङ्गावाविति । (भ-
वियदव्वेदेवा असंखेज्जगुणं चि) देशवित्तादीनां द्वेषगतिमा-
मिनामसंख्यातत्वात् । (भावदेवा असंखेज्जगुणं चि) स्वकपे-
थेव तेषामतिबहुत्वमिति ।

अथ ज्ञावदेवविशेषाणां भवतव्यादीनामल्पबहृत्वप्रकृपणायाह-
एपमि णं जंतं ! जावदेवाणं जवणवासिणं वाएणंमत्ताणं
जोहसियाणं वेमाथियाणं सोहम्ममाणं, जाव अच्चुपयाणं
गेवेज्जाणं अणुत्तरोववाहाएणं य कयरे कयरेहिंते ० जाव
विसेमाहिद्या वा ? गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववाहायां जा-

वदेवा, उवरीमगेवेज्जा भावेदेवा संखेज्जगुणा, माज्जेमगेवे-
ज्जा संखेज्जगुणा, हेहिंमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, अच्चुपय-
कपे देवा संखेज्जगुणा, जाव अणुत्तरकपे भावदेवा । एवं महा
जीवाभिगमे तिविह देवपुरित्तअप्यावहृत्ये ० जाव जोहसिया
जावदेवा असंखेज्जगुणा ॥

(जहा जीवाभिगमे तिविहे इत्यादि) इह च “तिविहे चि” त्रि-
विधजीवाधिकार इत्यर्थः । देवपुरुषाणामल्पबहृत्वमुक्तं तथेहापि
शाक्यम् । म० १२ श० ६ उ० । (तत्र २८ अक्षिकारि वेपुहारे बहव-
ते) (निगोद्वियकं ‘निगोद’ शब्दे दर्शयिष्यते) (कायादिपरि-
वारकाणामल्पबहृत्वं ‘परिचारणा’ शब्दे निकपयिष्यते)

(१०) [परीतज्जंत्थं] परीतापरीतनोपरीतानामल्पबहृत्वम्—
एपमि णं जंतं ! जीवाणं परिचाणं अपरिचाणं नोप-
रिचाणं नोअपरिचाणं य कयरे कयरेहिंते ० कप्पा वा ० ४
? गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा परिचा, नोपरिचा नो-
अपरिचा अणंतगुणा, अपरिचा अणंतगुणा ।

इह परीता द्विविधाः—मघपरीताः, कायपरीताश्च । तत्र मघ-
परीता येषां किञ्चिद्वासाप्याहुः पुत्रपरवर्तमानसंसारः ; कायप-
रिताः प्रत्येकशरीरिणः, तत्र उज्यर्शप परीताः सर्वस्तोकाः,
शुक्रपाक्षिकाणां प्रत्येकशरीरिणां च शेषजीवापेक्षयाऽतिरिक्तो-
क्तत्वात् । ततो नोपरीता नोअपरीता अनन्तगुणाः, उभयप्रति-
पधशुचाश्च सिक्काः, ते चानन्ता इति । तेज्योऽपरीता अनन्तगुणाः,
हृष्यपाक्षिकाणां साधारणजनस्वपतीनां वा सिद्धेभ्योऽप्यनन्त-
गुणत्वात् । गतं परीतद्वारम् ।

(११) [पर्याप्तद्वारम्] पर्याप्तपर्याप्तनोपर्याप्तानाम-
ल्पबहृत्वम्—

एपमि णं जंतं जीवाणं पज्जात्ताणं अपज्जात्ताणं नोपज्ज-
त्ताणं नोअपज्जात्ताणं य कयरे कयरेहिंते ० कप्पा वा ० ४ ?
गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा नोपज्जात्ता नोअपज्जात्ता,
अपज्जात्ता अणंतगुणा, पज्जात्ता संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका नोपर्याप्तका नोअपर्याप्तकाः, उभयप्रतिपधवर्तिनां
हि सिक्काः, ते चापर्याप्तकादिभ्यः सर्वस्तोका इति । तेज्यो-
ऽपर्याप्तका अनन्तगुणाः, साधारणजनस्वपतिनाकामिनां सिद्धे-
ज्योऽनन्तगुणानां सर्वैकालमपर्याप्तत्वेन ब्रह्मयमानत्वात् । तेष्वः
पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इह सर्वैकद्वयो जीवाः सुहमाः, सुहमाश्च
सर्वैकालमपर्याप्तिन्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इति संख्येयगुणा
उक्ताः । गतं पर्याप्तद्वारम् । प्रज्ञा ० ३ पद ।

(२०) [पुत्रलद्वारम्] पुत्रलानां केषुत्तप्रापतादि-

भिरल्पबहृत्वमह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पोम्मसा तेषुके, उह्णोसोपतिरि-
यलोए अणंतगुणा, अह्णोसोपतिरियलोए विसेमाहिद्या,
तिरियसोए असंखेज्जगुणा, उह्णोसोए असंखेज्जगुणा, अह्णो-
लोए विसेमाहिद्या ॥

इदमल्पबहृत्वं पुत्रलानां कृप्यार्थवमज्ञीकृत्य व्याख्येयम्, तथा-
सम्प्रदायात् । तत्र केषुत्तप्रापतेन केषुत्तानुसारेण चिन्त्यमानाः पु-
त्रज्ञाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः सर्वस्तोकाः, सर्वस्तोकाश्च
त्रैलोक्यव्यापीनि त पुत्रलद्वार्याणीति भावः । यस्मिन्महाहर्ष-
श्चा एव त्रैलोक्यस्यापिपत्तेन चालता इति । तस्य ऊह्णोसोक्ति-

पश्लोके अन्नमन्तगुणाः, यत्सहितं यंत्रोक्तस्य यत्प्रायपरितममेकप्र-
 देशिकं प्रतरं यत्प्रायश्चित्तोक्तस्य सर्वोपशस्तममेकप्रदेशिकं प्रतर-
 मने दे अपि प्रतरं ऊर्ध्वश्लोकनियंत्रोक्त उच्यते । ते आऽऽन्ताः
 संक्षेपप्रदेशिकाः, अन्तस्ता असंक्षेपप्रदेशिकाः, अन्तः अन्नमन्त-
 प्रदेशिकाः, स्वस्थाः स्वगुणानां विद्वद्वायाः । अन्नमन्तगुणाः ते-
 श्चोऽधोश्लोकनियंत्रोक्ते प्रागुक्तप्रकारेण प्रतरङ्गक्येषु विशेषाधि-
 काः, क्षेत्रस्य आत्माविवेकभक्त्या ज्ञानं च विशेषाधिकार्याः ।
 तेभ्यस्तिसर्वश्लोके असंक्षेपगुणाः, क्षेत्रस्याऽसंक्षेपगुणत्वात् ।
 तेभ्य ऊर्ध्वश्लोके असंक्षेपगुणाः, यत्सहितं यंत्रोक्तस्य सर्वोपश-
 स्तममेकप्रदेशिकमिति । तेभ्योऽधोश्लोके विशेषाधिकाः, ऊर्ध्व-
 श्लोकादधोश्लोकस्य विशेषाधिकार्यात् । देशानसत्तत्रपु-
 न्याणो ह्यर्ध्वश्लोकः, समधिकसत्तत्रपुन्याणस्य श्लोकाः ।

संमति दिगनुपातेनादपहृद्यमाह—

दिसागुणार्णं सव्यस्योवा पागंशा उद्दिताए, अर्धादि-
 साए विसमाहिया, उत्तरपुरिच्छमेण दाहिएणपचच्छिमेण
 य दाहिए तुष्टा असंसेवजगुणां, दाहिएपुरिच्छमेणं उत्तर-
 पचच्छिमेणं य दांवि तुष्टा विसमाहिया, पुरिच्छमेणं अ-
 संसेवजगुणा, पचच्छिमेणं विमसाहिया, दाहिएण विम-
 साहिया, उत्तरं विसमाहिया ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्मयमानाः ऋक्षाः सर्वस्तोका
 ऊर्ध्वदिशि, इह स्तन्यमात्मनुमितलमेभ्यश्च अह्वयविशिकां
 उचरन्तस्मादिनिर्मितान्तःप्रदेशाः, ऊर्ध्वं दिक् यावच्छाकान्तः ।
 तनस्तत्र सर्वस्तोकाः पुङ्गवाः, तेभ्योऽधोदिशि विशेषाधिकाः,
 अधोदिगपि रुचकाचैव प्रभवति । जनुःप्रदेश यावच्छाकान्त-
 स्तनस्तस्याविशेषाधिकार्यात् । तत्र पुङ्गवा विशेषाधिकाः, तेभ्य
 उत्तरपुरिच्छमेणं दक्षिणपश्चिमायां च प्रत्येकसंक्षेपगुणाः, स्व-
 स्थाने तु परस्परं तुल्याः समस्तैश्च अपि दिशो रुचकादिनिर्गते
 मुकावलिस्थिते तिसर्वश्लोकात्मषोडशोकात्मसुर्वश्लोकात् इत्य-
 वसिते, तेन क्षेत्रस्याऽसंक्षेपगुणायाश्च त्र पुङ्गवा असंक्षेपगुणाः,
 क्षेत्रं तु स्वस्थाने सममिति । अन्तः अपि स्वस्थाने तुल्याः, ते-
 भ्योऽपि दक्षिणपूर्वस्यानुत्तरपश्चिमायां च प्रत्येक विशेषाधि-
 काः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । कथं विशेषाधिका इति चेत्, ?
 उच्यते—इह सौमनसगणध्यानेन तु सत् स्वकूटानि, विद्युत्प्रभमा-
 लयनेनेव न्त, तेषु च कूटेषु धूमिकावध्यायादिसुदमपुङ्गवाः
 प्रनूताः संभवन्ति, ततो विशेषाधिकाः । स्वस्थाने तु क्षेत्रस्य प-
 र्यन्तैश्च समाप्त्यापद्यत्वा तेष्यः पूर्वस्यां दिशि असंक्षेपगुणाः,
 क्षेत्रस्यासंक्षेपगुणत्वात् । तेभ्यः पश्चिमायां विशेषाधिकाः,
 अधोलौकिकप्रामेयुं शुचिप्रभावतो बहूनां पुङ्गवानामवस्थान-
 प्रावात् । तेभ्यो दक्षिणस्यां विशेषाधिकाः, बहुभवन्शुचिप्रभा-
 वात् । तेभ्य उत्तरस्यां विशेषाधिकाः, तत्र उत्तरस्यामायाम-
 विष्वक्स्याऽस्यां संक्षेपयोजनाकाटीकादिप्रमाणं मानसं सरः, तत्र
 ये अलवराः, पनकेश्याःशालादयश्च स्वस्थाने आतिहृद्य इति तेषां
 ये जलकामेणपुङ्गवास्तैः प्राधिकाः प्राप्यन्ते, इति पृथक्लिप्यो
 विशेषाधिकाः । तदेषं पुङ्गवविषयमदपहृद्यः यमुक्तम् ॥

इदानीं सामान्यतो द्व्यपविषये क्षेत्रानुपातेनाऽऽह—

सैषाणुवाएणं मन्वस्योवाद् दग्वाइं तेषुके, उहुलोयतिरि-
 प्शोए अर्धांतगुणाई, अर्धोतोयतिरियज्ञोए विमसाहियाई,

उहुलाए अससकज्ज०, अर्धोतोए अर्धांतगुणाई, तिरियज्ञो-
 ए सविजगुणाई ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्मयमानां चिन्मयानि सर्वस्तोकानि त्रैश्लोक्यस-
 र्वशीति, यतो धर्मोस्तिकायाऽधर्मोस्तिकायाऽस्काशास्तिकायाक-
 म्याणि पुङ्गवास्तिकायाश्च महास्वक्त्वाऽर्धास्तिकायाश्च भारणा-
 न्तिकसमुद्घातेनात् । यसमयदत्ता जीवाविकीर्णस्यव्यापिनः तेषु शब्दे
 इति सर्वस्तोकानि । तेभ्य ऊर्ध्वलोकातिर्यश्लोके प्रागुक्तस्यकथमप्र-
 त्द्ययामेकं अनन्तगुणि, अनन्तैः पुङ्गवद्रव्यैरनन्तैर्जीवद्रव्यैः त-
 स्य संस्पर्शान्वातेभ्योऽधोश्लोकनियंत्रोक्ते विशेषाधिकानि, ऊर्ध्व-
 श्लोकनियंत्रोक्ताधोश्लोकनियंत्रोक्तस्य मन्मां विशोपाधिकार्या-
 त् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंक्षेपगुणानि, क्षेत्रस्याऽसंक्षेपगुणत्वात् ।
 तेभ्योऽधोलोके अनन्तगुणानि । कथमिति चेत्, ? उच्यते—इ-
 दधोभौकिकप्रामेयुं काशोऽस्ति, तस्य च कालस्य तत्सात्प्रमाणसु-
 क्षेप्याऽसंक्षेप्यान्नमन्तप्रदेशिकरुच्येकैश्चक्रात्प्रापयस्यसंक्षेप्य-
 शास्त्रप्रतिपरवादिदृष्यमन्नमन्तः, ततो भवन्मषोडशोकाऽऽन्नम-
 न्गुणानि, तेभ्यस्तिसर्वश्लोकेऽसंक्षेपगुणानि, अधोलौकिकप्राम-
 मप्रमाणानां क्षणकानां मनुष्यश्लोके काश्चिद्व्यवहारचतुस् संक्षे-
 पानामवाप्यमानत्वात् ।

माश्चते दिगनुपातेन सामान्यतो चिन्मयानामदपहृद्यमाह—
 दिसागुणाः । सव्यस्योवाद् दग्वाइं अहेदिताए, उहु-
 दिसाए अर्धांतगुणाई, उत्तरपुरिच्छमेणं दाहिएणपचच्छि-
 मेणं दांवि तुष्टाई असंसेवजगुणां, दाहिएपुरिच्छमेणं
 उत्तरपचच्छिमेणं य दांवि तुष्टाई विसमाहियाई, पु-
 रिच्छमेणं असंसेवजगुणाई, पचच्छिमेणं विसमाहियाई,
 दाहिएणं विमसाहियाई, उत्तरं विसमाहियाई ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्मयमानां सामान्यतो द्व्यपधि
 सर्वस्तोकानि अर्धोददिशि प्राध्यायाणि तस्वकथायामा नन्व ऊर्ध्व-
 दिग्बयननगुणानि । किं कारणमिति चेत्, ? उच्यते—इह ऊर्ध्वश्लो-
 के मेरोः पञ्चोऽजगतश्चैकं स्वष्टिकमयं कारणं, तत्र स्वर्गाद्व्यप्र-
 नाऽनुप्रवेशाद् चिन्मयां कृष्णादि काश्चित् प्रागाऽऽस्ति, कालस्य च
 प्रागुक्तनीत्या प्रतिपरमाणवादिदृष्यमानत्वात् । तेभ्योऽन्नगु-
 णानि, तेभ्य उत्तरपुरिच्छमेणं शाण्यां, दक्षिणपश्चिमायां, नैऋतका-
 ल्ये दृश्यते । असंक्षेपानि, क्षेत्रस्यासंक्षेपगुणत्वात् । स्वस्थाने
 तु तुल्यापि परस्परं तुल्यानि, समानेकत्वात् । तेभ्यो दक्षिण-
 पूर्वस्याप्रान्तेव्यारं, उत्तरपश्चिमायां, वायव्यकाणे इति भाषः ।
 विशेषाधिकानि, विद्युत्प्रभामालयवन्तकूटाभिनामां धूमिकावध्या-
 यादिसुदमपुङ्गवपुङ्गवानां बहूनां सन्तत्वात् । तस्यः पूर्वस्यां
 दिशो असंक्षेपगुणानि, क्षेत्रस्यासंक्षेपगुणत्वात् । तेभ्यः
 पश्चिमायां विशेषाधिकानि, अधोलौकिकप्रामेयुं शुचिप्रभावतो
 बहूनां पुङ्गवचिन्मयानामवस्थानात् । ततो दक्षिणस्यां दिशि वि-
 शोपाधिकानि, बहुभवन्शुचिप्रभावात् । तत्र उत्तरस्यां विशेषा-
 धिकानि, तत्र मानससत्ते जीवद्रव्याणां तद्दिक्षितानां तैजस-
 कर्मेषु पुङ्गवस्वच्छिद्यार्णां च नृपसां भावात् ।

सम्यति परमाणुपुङ्गवानां संक्षेपप्रदेशानामसंक्षेपप्रदेशाना-
 मन्नमन्तप्रदेशानां परस्परमन्वदपहृद्यमाह—

एएति षं भे । परमाणुगुणम्लाणं संसेवपदेसियाणं
 असंसेवपदेसियाणं अर्धांतपदेसियाए यत्संधां दग्वाइं—

याए पदसद्वयाए दन्वद्वपदेसद्वयाए कपरे कपरंहितो अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा अणंतपदेसिया लंथा दन्वद्वयाए, परमाणुपोगमला दन्वद्वयाए अणंतगुणा, संखेजपदेसिया लंथा दन्वद्वयाए संखेजगुणा, असंखेजपदेसिया लंथा दन्वद्वयाए असंखेजगुणा, पदेसद्वयाए सन्वत्थोवा अणंतपदेसिया लंथा, पदेसद्वयाए परमाणुपोगमला अणंतगुणा, संखेजपदेसिया लंथा पदेसद्वयाए संखेजगुणा, असंखेजपदेसिया लंथा पदेसद्वयाए असंखेजगुणा, दन्वद्वपदेसद्वयाए सन्वत्थोवा अणंतपदेसिया लंथा, दन्वद्वयाए ते चैव, पदेसद्वयाए अणंतगुणा, परमाणुपोगमला दन्वद्वपदेसद्वयाए अणंतगुणा, संखेजपदेसिया लंथा दन्वद्वयाए संखेजगुणा, ते चैव य पदेसद्वयाए संखेजगुणा, असंखेजपदेसिया लंथा दन्वद्वयाए असंखेजगुणा, ते चैव पदेसद्वयाए असंखेजगुणा ॥

व्याख्यालं पाठिसिद्धम् । नवरमन्वापदव्युत्थत्वात्तन्वायां लघ्वत्र तथास्त्यानाम्बे कारणेण वाच्यम् ।

संश्रयेतेषामिभ क्षेत्रप्राधान्येनादप्यवहुयस्यमाह—

एसि णं जंते । एगपसोगादाणं संखेजपदेसोगादाणं असंखेजपदेसोगादाणं य पोगमलाए दन्वद्वयाए पदेसद्वयाए दन्वद्वपदेसद्वयाए कपरे कपरंहितो अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा एगपदेसोवागादा पुगमला दन्वद्वयाए, संखेजपदेसोवागादा पुगमला दन्वद्वयाए संखेजगुणा, असंखेजपदेसोवागादा पोगमला दन्वद्वयाए असंखेजगुणा; पदेसद्वयाए सन्वत्थोवा एगपदेसोवागादा पोगमला, पदेसद्वयाए संखेजपदेसोवागादा पोगमला, पदेसद्वयाए संखेजगुणा, असंखेजपदेसोवागादा पोगमला पदेसद्वयाए असंखेजगुणा, दन्वद्वपदेसद्वयाए सन्वत्थोवा एगपदेसोवागादा पोगमला, दन्वद्वपदेसद्वयाए संखेजपदेसोवागादा पोगमला दन्वद्वयाए संखेजगुणा, ते चैव पदसद्वयाए असंखेजगुणा । एसि णं जंते । एगसमयद्वितीयाए संखेजसमयद्वितीयाएणं असंखेजसमयद्वितीयाए य पोगमलाए दन्वद्वयाए पदेसद्वयाए दन्वद्वपदेसद्वयाए कपरे कपरंहितो अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! सन्वत्थोवा एगसमयद्वितीया पोगमला दन्वद्वयाए, संखेजसमयद्वितीया पोगमला दन्वद्वयाए संखेजगुणा, असंखेजसमयद्वितीया पोगमला दन्वद्वयाए असंखेजगुणा, पदेसद्वयाए सन्वत्थोवा एगसमयद्वितीया पोगमला, पदेसद्वयाए संखेजसमयद्वितीया पोगमला, पदेसद्वयाए संखेजगुणा, असंखेजसमयद्वितीया पोग-

मला पदेसद्वयाए असंखेजगुणा, दन्वद्वपदेसद्वयाए सन्वत्थोवा एगसमयद्वितीया पोगमला, दन्वद्वपदेसद्वयाए संखेजसमयद्वितीया पोगमला दन्वद्वयाए संखेजगुणा, ते चैव पदेसद्वयाए संखेजगुणा, असंखेजसमयद्वितीया पोगमला दन्वद्वयाए असंखेजगुणा, ते चैव पदेसद्वयाए असंखेजगुणा । एसि णं जंते । एगगुणकसंज्ञाणां संखेजगुणकालगाणं असंखेजगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाणं य पोगमलाए दन्वद्वयाए पदेसद्वयाए दन्वद्वपदेसद्वयाए कपरे कपरंहितो अप्या वा० ४ ? । गोयमा ! जह परमाणुपोगमला तथा जाणियन्वा । एवं संखेजगुणकालगाणं वि । एवं सेसाणं वि वणपरसंघा जाणियन्वा, फासाणं कवलमउपगुरुयलहुयाणं जहा एगपदेसोवागादाए जणियं तथा जाणियन्वे, अवेसेसा फासा जहा वणणा भणिया तथा जाणियन्वा ॥

इह क्षेत्राधिकारतः क्षेत्रस्य प्राधान्यात्परमाणुकाद्यन्ताणुकाः स्कन्धा अपि विचिन्तितकप्रदेशावगाढा आधायाधेययोरभेदोपकारादिकद्रव्यत्वेन व्यवहियन्ते । ते शब्धभूता एकप्रदेशावगाढाः पुगमलाः पुगलद्रव्याणि सर्वलोकाणि, श्लोकाः काशप्रदेशप्रमाणान्तीत्यर्थः । नाहं स कश्चिदेवंभूत आकाशप्रदेशोऽस्ति य एकप्रदेशावगाहनपरिभासपरिणतानां परमाणुवाहानामवकाशप्रदाहानपरिणामेन परिणतो न वर्तते इति । तत्र्यः संख्येयप्रदेशावगाढाः पुगमला द्रव्याधेतया संख्येयगुणाः । कथमिति चेत्, उच्यते— इहापि क्षेत्रस्य प्राधान्यात् ज्ञानुकाद्यन्ताणुकास्तथा हिमप्रदेशावगाढा एकद्रव्यत्वेन विवच्यन्ते, तानि च तथाभूतानि पुगलद्रव्याणि पूर्वोक्तैः संख्येयगुणाणि । तथापि-सर्वे लोकादेशावगाढास्तन्तोऽसंख्येया अपि असंस्कल्पयन्त्या दश परिकल्पयन्ते, ते च मध्येकविन्तायां दर्शयन्ति दश एकप्रदेशावगाढानि पुगलद्रव्याणि ज्ञापयन्ति, तेष्वेव दशसु प्रदेशेष्वन्यत्रहणन्यमित्वाणहारेण बहवो हिकसंयोगा लज्यन्ते, इति भवत्येकप्रदेशावगाढेऽप्यो हिमप्रदेशावगाढानि पुगलद्रव्याणि संख्येयगुणाणि । एवं तथाऽपि हिमप्रदेशावगाढानि । एवमुत्तरांतरं यावदुक्तदृष्टसंख्येयप्रदेशावगाढानि । ततः स्थितमेतद-एकप्रदेशावगाढेऽप्यः संख्येयप्रदेशावगाढपुगला द्रव्याधेतया संख्येयगुणा इति । एवं तेषांऽसंख्येयप्रदेशावगाढाः पुगला द्रव्याधेतयाऽसंख्येयगुणाः, असंख्येयत्वात् संख्येयत्वात्भेदभिन्नत्वात् । प्रदेशार्थतासुं द्रव्याधेययोवाधेत्यासुं च सुगुणत्वात् स्वयं भावनीयम् । कालनामस्तुत्वात्पि सुगुणत्वात्स्वयंजायतिव्ययानि, नवरं “ जहा परमाणुपोगमला तथा भाणियन्वा ” इति । तथा प्राक् सामान्यतः पुगला उक्त्वा-स्तथा एकगुणकालगादायोऽपि बहव्यताः । ते वैधर्म्यं— सन्वत्थोवा अर्धतपदेसिया लंथा एगगुणकालगा परमाणुपोगमला दन्वद्वयाए अणंतगुणा, संखेजपदेसिया लंथा एगगुणकालगा संखेजगुणा, असंखेजपदेसिया लंथा एगगुणकालगा असंखेजगुणा, पदेसद्वयाए सन्वत्थोवा अणंतपदेसिया लंथा एगगुणकालगा एगगुणकालगा अणंतगुणा इत्यादि । एवं संख्येयगुणकालगात्तान्कन्वगुणकालगात्तानि वाच्यम् । एवं शेषसंख्येयगुणरस्ता अपि बहव्यताः । कर्क-शमृदुगुणरश्चः स्वर्धा यथा एकप्रदेशावगाढा भवितस्तक

अप्यावहुय (ग)

बह्व्याः । ते वैश्व-“सर्वथोवा एतपसोमादा एतगुणक-
कत्सदा दब्ध्याए संखेजपसोमादा एतगुणकत्सदा-
कासा दब्ध्याए संखेजगुणा” इति । एवं संखेजगुणक-
स्यथा श्रुतं असंखेजगुणकस्यथा श्रुतं वाच्यः । एवं मूढगुणक-
थय अवशेषाच्चत्वारः शीलत्वात् स्वथ्यां, यथा वर्णाय उक्ता-
स्त्वा बह्व्याः । तत्र पाठोऽनुक्तानुसारंण सुगमत्वात् स्वयं
भावनीयः । ब्रह्म० ३ प १ ।

एरसि णं जेतै । परमाणुपोगमलाणं दुपदेसियाण य खं-
धाण य दब्ध्याए कयरे कयरेहिंत्तो अप्या वा बहुया वा
तुष्ठा वा विससाहिया वा ? । गोयमा ! दुपदेसिएहिंत्तो खं-
धेहिंत्तो परमाणुपोगमला दब्ध्याए बहुया । एरसि णं भंतै ।
दुपदेमियाणं तिपदेमियाण य खंधाणं दब्ध्याए कयरे
कयरेहिंत्तो बहुया० । गोयमा ! तिपदेसिएहिंत्तो खंधेहिंत्तो
दुपदेसिया खंधा दब्ध्याए बहुया । एवं एरणं गमपणं जाव
दसपदेसिएहिंत्तो एतपदेसिया खंधा दब्ध्याए बहुया ।
एरसि णं जेतै । दसपएसा पुच्छा ? । गोयमा ! दसपदेसिए-
हिंत्तो खंधेहिंत्तो संखेजपएसिया खंधा दब्ध्याए बहुया ।
एरसि णं भंतै ! संखेजजा पुच्छा ? । गोयमा ! संखेजपए-
सिएहिंत्तो खंधेहिंत्तो अमंखेजपदेमिया खंधा दब्ध्याए
बहुया । एरमि णं जेतै ! असंखेजपदेमिया पुच्छा ? । गोयमा !
अमंखेजपदेसिएहिंत्तो खंधेहिंत्तो अणंतपदेमिया खंधा द-
ब्ध्याए बहुया । एरसि णं भंतै ! परमाणुपोगमलाणं दुप-
देसियाण य खंधाणं पदेसट्टयाए कयरे कयरेहिंत्तो बहुया ? ।
गोयमा ! परमाणुपोगमेहिंत्तो दुपदेमिया खंधा पदेसट्टयाए
बहुया । एवं एरणं गमपणं जाव एतपएसिएहिंत्तो खंधे-
हिंत्तो दसपएसिया खंधा पदेसट्टयाए बहुया । एवं सव्वत्य
पुच्छिव्वे । दसपएसिएहिंत्तो खंधेहिंत्तो संखेजपएसिया
खंधा पदेसट्टयाए बहुया, संखेजपएसिएहिंत्तो खंधेहिंत्तो
असंखेजपएसिया खंधा पदेसट्टयाए बहुया । एरमि णं भंतै !
असंखेजपएसियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! अणंतपएसिएहिंत्तो
खंधेहिंत्तो अमंखेजपएमिया खंधा पदेसट्टयाए बहुया । ए-
रसि णं जेतै । एतपएसोमादाणं दुपदेसोमादाणं य पोग-
मला य दब्ध्याए कयरे कयरेहिंत्तो विससाहिया वा ? । गो-
यमा ! दुपदेसोमादेहिंत्तो पोगमेहिंत्तो एतपदेसोमादा पोगम-
ला दब्ध्याए विससाहिया । एवं एरणं गमपणं तिपदेसो-
मादेहिंत्तो पोगमेहिंत्तो दुपदेसोमादा पोगमला दब्ध्याए
विससाहिया जाव दसपएसोमादेहिंत्तो पोगमेहिंत्तो एत
पदेसोमादा पोगमला दब्ध्याए विससाहिया । एरसि
णं जेतै । दसपएसा पुच्छा ? । गोयमा ! दसपदेसोमादेहिंत्तो
पोगमेहिंत्तो संखेजपएसोमादा पोगमला दब्ध्याए बहुया,
संखेजपएसोमादेहिंत्तो पोगमेहिंत्तो असंखेजपएसोमादा
पोगमला दब्ध्याए बहुया । एवं पुच्छा सव्वत्य जाणिव्वे ।

एरसि णं जेतै । एतपएसोमादाणं दुपदेसोमादाणं पोगमला
दब्ध्याए कयरे कयरेहिंत्तो जाव विससाहिया वा ? । गोयमा !
एतपदेसोमादाहेहिंत्तो पोगमेहिंत्तो दुपदेसोमादा
पोगमला पदेसट्टयाए विससाहिया । एवं जाव एतपदेसोमा-
दाहेहिंत्तो पोगमेहिंत्तो दसपएसोमादा पोगमला पदेसट्टया-
ए विससाहिया । दसपएसोमादाहेहिंत्तो पोगमेहिंत्तो संखेज-
पएसोमादा पोगमला पदेसट्टयाए बहुया । संखेजपएसोमा-
दाहेहिंत्तो पोगमेहिंत्तो असंखेजपदेसोमादा पोगमला पदेस-
ट्टयाए बहुया । एरसि णं जेतै ! एतपएसिएहिंत्तो दुस-
मयट्टियेण य पोगमलाणं दब्ध्याए जहा आंगाह-
णा वत्तव्याया, एवं त्तिवौ वि । एरसि णं जेतै ! एतगु-
णकात्रयाणं दुगुणकात्रयाणं य पोगमलाणं दब्ध्याए ।
एरसि णं जहा परमाणुपोगमलादीणं तदेव वत्तव्याया जि-
त्तमेसा, एवं सव्वेमि वरणंघरसाणं । एरमि णं भंतै !
एतगुणकत्सदाणं दुगुणकत्सदाणं य पोगमलाणं दब्ध्या-
ए कयरे कयरेहिंत्तो जाव विससाहिया वा ? । गोयमा !
एतगुणकत्सदाहिंत्तो पोगमेहिंत्तो दुगुणकत्सदा पोगमला
दब्ध्याए विससाहिया, एवं जाव एतगुणकत्सदाहिंत्तो
पोगमेहिंत्तो दसगुणकत्सदा पोगमला दब्ध्याए विस-
साहिया, दसगुणकत्सदाहिंत्तो पोगमेहिंत्तो संखेजगुण-
कत्सदा पोगमला दब्ध्याए बहुया । संखेजगुणक-
त्सदाहेहिंत्तो पोगमेहिंत्तो असंखेजगुणकत्सदा पोग-
मला दब्ध्याए बहुया । अमंखेजगुणकत्सदाहेहिंत्तो पोग-
मेहिंत्तो अणंतगुणकत्सदा पोगमला दब्ध्याए बहुया ।
एवं पदेसट्टयाए सव्वत्य पुच्छा भाणिव्वे, जहा कत्सदा ।
एवं मउयगुरयदहिया वि सोयसिणएणदुत्तुक्का जहा
बएणा । एरमि णं भंतै ! परमाणुपोगमलाणं संखेजपए-
सियाणं असंखेजपएसियाणं अणंतपएमियाणं खंधाणं द-
ब्ध्याए पदेसट्टयाए दब्ध्याएदसपएसाए कयरे कयरेहिंत्तो
जाव विससाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्योवा अणंतप-
देसिया खंधा पदेसट्टयाए, परमाणुपोगमला दब्ध्याए
अणंतगुणा, संखेजपएसिया खंधा दब्ध्याए संखेजगुणा,
असंखेजपएसिया खंधा दब्ध्याए असंखेजगुणा, पदे-
सट्टयाए सव्वत्योवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसट्टयाए
परमाणुपोगमला, अणंतगुणा, संखेजपदे-
सिया खंधा पदेसट्टयाए संखेजगुणा, असंखेजपएसिया
खंधा पदेसट्टयाए असंखेजगुणा, दब्ध्याएदसपएसाए स-
व्वत्योवा अणंतपदेसिया, दब्ध्याए ते वेच, पदेसट्टयाए
अणंतगुणा, परमाणुपोगमला दब्ध्याए अणंतगुणाए
अणंतगुणा, संखेजपएसिया खंधा दब्ध्याए संखेजगु-
णा, ते वेच पदेसट्टयाए संखेजगुणा, असंखेजपएसिया

स्वधा दन्वड्याए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए असंखेज्जगुणा । एएसिं णं भंते ! एगपदेसोगाढाणं संखेज्जपदेसोगाढाणं असंखेज्जपदेसोगाढाणं पोमगडाणं दन्वड्याए पएसड्याए दन्वड्यपएसड्याए कयरे कयरेहितो ण जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सन्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोमगला दन्वड्याए, संखेज्जपदेसोगाढा पोमगला दन्वड्याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसोगाढा पोमगला दन्वड्याए असंखेज्जगुणा, पएसड्याए सन्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोमगला, पएसड्याए संखेज्जपदेसोगाढा पोमगला, पदेसड्याए असंखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसोगाढा पोमगला पदेसड्याए असंखेज्जगुणा, दन्वड्यपएसड्याए सन्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोमगला, दन्वड्यपएसड्याए संखेज्जपदेसोगाढा पोमगला, दन्वड्याए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए संखेज्जगुणा । असंखेज्जपदेसोगाढा पोमगला दन्वड्याए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए असंखेज्जगुणा । एएसिं णं जंते ! एगसमयद्धित्तीयाणं संखेज्जसमयद्धित्तीयाणं असंखेज्जसमयद्धित्तीयाण य पोमगलाणं जहा ओगाहणाए तथा त्रित्तीए वि जाणियव्वं अप्पबहुणं । एएसिं णं जंते ! एगमुणकालगाणं संखेज्जगुणकालगाणं असंखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाणं य पोमगडाणं दन्वड्याए पदेसड्याए दन्वड्यपएसड्याए एएसिं जहा परमाणुपोमगलाणं अप्पाबहुणं तद्वा एएसिं पि अप्पाबहुणं । एवं संसाण वि बहण्णंभरमाणं । एएसिं णं भंते ! एगगुणकस्वदाणं संखेज्जगुणकस्वदाणं असंखेज्जगुणकस्वदाणं अणंतगुणकस्वदाणं य पोमगडाणं य दन्वड्याए पदेसड्याए दन्वड्यपदेसड्याए कयरे कयरेहितो ण जाव विसेसाहिया वा ? गोयमा ! सन्वत्थोवा एगगुणकस्वदा पोमगला दन्वड्याए, संखेज्जगुणकस्वदा पोमगला दन्वड्याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुणकस्वदा पोमगला दन्वड्याए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणकस्वदा पोमगला दन्वड्याए अणंतगुणा, पदेसड्याए एवं चेव । एवरं संखेज्जगुणकस्वदा पोमगला पदेसड्याए असंखेज्जगुणा । सेमं तं चेव । दन्वड्यपदेसड्याए सन्वत्थोवा एगगुणकस्वदा पोमगला, दन्वड्यपदेसड्याए संखेज्जगुणकस्वदा पोमगला दन्वड्याए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुणकस्वदा दन्वड्याए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसड्याए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणकस्वदा दन्वड्याए अणंतगुणा, ते चेव पदेसड्याए असंखेज्जगुणा । एवं मउयगुणपल्लुया वि अप्पाबहुणं । सीयउसिणणिल्लुकस्वदाणं जहा बएणाणं त्हेव ॥

दीका सुग्गा मआणनायाणेन गताधी चेति नेहोप-व्यत्थे ।

नं २५ हां ४ उं ।

(प्रयोगादिपरिणतानामस्यबहुत्वं 'परिणाम' शब्दे बह्व्यते) (आहारायाऽस्तुत्रयमानानामनास्वाद्यमानानां च पुत्रलानां परस्परमलयबहुत्वं- 'आहार' शब्दे द्वितीयभावे ५०? पृष्ठ प्रतिपाद्यिष्यते) (प्रत्याख्यानविषयमलयबहुत्वं 'पचबकस्वदा' शब्दे बह्व्यते) (प्रवेशनकमाश्रित्य 'पवसण' शब्दे निरूपयिष्यते))

(२१) [बन्धद्वार] आयुःकर्मबन्धकादीनामलयबहुत्वं-

एएसिं णं जंते ! जीवाणं आउत्स कम्मस बंधगाणं अबंधगाणं अपज्जत्ताणं पज्जत्ताणं सुत्ताणं नागराणं समोहयाणं असमोहयाणं सातावेदगाणं अमातावेदगाणं इंदियउवउत्ताणं एओंदियउवउत्ताणं मागारावउत्ताणं अणगारावउत्ताणं य कयरे कयरेहितो अप्पा वा बहुया वा तुब्धा वा विमेसाहिया वा ? गोयमा ! सन्वत्थोवा जीवा आउत्स कम्मस बंधगा, अपज्जत्ताय संखिज्जगुणा, सुत्ता संखिज्जगुणा, समोहया संखिज्जगुणा, सातावेदगा संखिज्जगुणा, इंदियउवउत्ता संखिज्जगुणा, अणगारावउत्ता संखिज्जगुणा, मागारावउत्ता संखिज्जगुणा, नाओंदियउवउत्ता विसेसाहिया, अमातावेदगा विसेसाहिया, असमोहिया विसेसाहिया, जागरा विसेसाहिया, पज्जत्ता विसेसाहिया, आउत्स कम्मस अबंधगा विमेसाहिया ॥

इहायुःकर्मबन्धकाबन्धकानां पर्याप्तपर्याप्तानां सुजसाप्रतौ समवहनासमवहतानां सातायेदकासातायेदकानाम, इन्द्रियोपयुक्तनोद्विष्योपयुक्तानां साकारोपयुक्तानां साकारोपयुक्तानां समुदायेनाऽल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । तत्र प्रत्येकं तावद् भ्रमः-येन समुदाये सुखेन तद्व्यगम्यते । तत्र सर्वेस्तोका आशुयां बन्धकाः, अ-बन्धकाः संख्येयगुणा, यतोऽनुभूयमानजवायुगपि त्रिभागाव-शेषपारमविक्रमयुजीवा बन्धनि, त्रिभागात्रभागावशेषोप-या, ततोऽत्र त्रिभागावबन्धकाल एकं त्रिभागा बन्धकाल इति बन्धकेभ्योऽबन्धकाः संख्येयगुणाः । तथा सर्वेस्तोका अ-पर्याप्तकाः, पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । एतच्च सूक्ष्मजीवानधि-कृत्य वेदितव्यम् । सूक्ष्मेपि हि बाह्योऽव्याधासो न भवति, ततस्तद-प्रावाह्यद्वानं निष्पत्तिः, स्तोकाणामेव चानिष्पत्तिः । तथा सर्वे-स्तोकाः सुप्ताः, जागराः संख्येयगुणाः, पन्थाप सूक्ष्ममेकनि-यानधिहृत्य वेदितव्यम्, यस्मादपर्याप्ताः सुप्ता एव लभन्ते, जागरा अपि । उक्तं मूलटीकायाम्- 'जहा अपज्जत्ता, सुत्ता ल-भन्ति केह अपज्जत्ता जासिं संखिज्जा समय अतीता ते य थोवा, इयरं वि थोयगा वेव, सत्ता जागरा पज्जत्ता संखिज-गुणा' इति । जागरा पर्याप्तास्तेन संख्येयगुणा इति । तथा स-मवहताः सर्वेस्तोकाः, यत इह समवहता मारणान्तिकसमुद्घा-तेन परिगृह्यन्ते, मारणान्तिके समुद्घातेन मरणकाले, न शो-काले, तथाऽपि न सर्वेपर्याप्ति सर्वेस्तोकाः । तेभ्योऽसमवहताः संख्येयगुणाः, जीवनकालस्यतिबहुत्वात् । तथा सर्वेस्तोकाः सातबंधकाः, यत इह बहवः साध, रणशरीरा अल्पे प्रत्येकश-रीरिणः, साधारणशरीराश्च बहुषोऽसातबंधकाः, स्वल्पाः सा-तबंधिनः, प्रत्येकशरीरिणस्तु नृयांसः सातबंधकाः, स्तोका असातबंधिनः, ततः स्तोकाः सातबंधकाः, तेभ्योऽसातबंधकाः

रिच्छेदबुद्ध्या यद्वैमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा यतीकृतशोकाकाराश्रेणरससंघेयभागप्रदेशराशिप्रभाया धर्मेणा वाच्यताः ।

एताश्चैतावत्सोऽप्यसकलपमया पदं स्थापयन्ते—

१५	१५	१५
१५	१५	१५
१३	१३	१३
१२	१२	१२
११	११	११
१०	१०	१०

तत्र जघन्यधर्मेणार्था जीवप्रदेशा असंख्येयवीर्यनागान्विताः । अथ सकलपमया त्रयस्त्रयः स्थापयन्ते, एताश्चैतावत्सुः समुदिता एकै वीर्येस्पकैकमित्युच्यते । अथ स्पष्टं इति कः शब्दार्थः ? उच्यते—एकैकैस्त्रयोधांयगवृक्षा परस्परं स्पष्टेन वर्गाया यत्र तन् । तत्र ऊर्ध्वमेकन द्व्यादिभिर्वा वीर्यापैर-

कत्रै रथिका जीवप्रदेशान् प्राप्यन्ते । किं तर्हि ? प्रथमस्पष्टकचरमवर्णार्था जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्येपरिच्छेदास्तेभ्योऽसंख्येयशोकाकाराश्रेणप्रमाणैरेव वीर्येपरिच्छेदैरथिका जीवप्रदेशाः, अनस्तथापि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पष्टकस्याद्यवर्णा । तत्र एकैक वीर्यभागैराथिकानां समुदायो द्वितीयवर्गेण । एवमेकैस्त्रयैकैकमित्येता अपि श्रेयससंख्येयभागैरिप्रदेशराशिमाना वाच्यताः । एतासामपि समुदायो द्वितीय स्पष्टकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकैकमुत्प्रेक्ष्यते भवत्येता । किं तर्हि—असंख्येयशोकाकाराश्रेणप्रदेशानुदैरेव वीर्यभागैरथिकास्तप्रदेशाः प्राप्यन्ते, अनस्तनैव क्रमेण तृतीयस्पष्टकार्जयेते । पुनस्तनैव क्रमेण चतुर्थः, पुनः पञ्चममित्येवमेतान्यपि वीर्येस्पष्टकानि श्रेयससंख्येयभागैरिप्रदेशराशिप्रमाणैरानि वाचयानि । एताश्चैतावत् स्पष्टकानां समुदाय एकै योगस्थानकमुच्यते । इदं तावदेकस्य स्पष्टमनिगोदस्य भवाद्यसमये सर्वे जघन्यवीर्यस्य योगस्थानकमाभिहितं, तद्व्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोः, अनेनैव क्रमेण द्वितीय योगस्थानकमुत्पद्यते । तद्व्यस्य तु तनैव क्रमेण तृतीयम्, तद्व्यस्य तु तनैव क्रमेण चतुर्थम् । इत्येवम क्रमेणैतान्यपि योगस्थानानि नानाजीवानां काश्रमेदैर्नैकैर्जावस्य वा श्रेणरससंघेयभागवर्तिनम् प्रदेशराशिप्रमाणैरानि भवन्ति । ननु जीवानामन्वन्त्याश्च ज्ञेयाद्योगस्थानान्यन्वन्तानि कस्याञ्च भवन्ति ? नैतद्वचमयत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽनन्तताः स्थावरजीवा यन्ते, ब्रह्मस्वयैकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽसंख्याता यन्ते, तेषां च तदेकैकमेव विवक्षितमते । विसदृशानि यद्योक्तमानान्येव योगस्थानकानि भवन्ति । तथाऽप्येताः सर्वेऽप्येकस्मिन् योगस्थानकैः एकसमयमथतिष्ठन्ते । ततः परमसंख्येयगुणवृद्धेषु प्रतिस्मयमन्त्यायोगस्थानकेषु स्फुरामिन्, पर्यास्तास्तु सर्वेऽपि स्वरासायने सर्वे जघन्ययोगस्थानकैः जघन्यतः समयमुत्कृष्टतश्चतुः समयेषु यावद्दन्ते, ततः परमपयोगस्थानकमुपजायते, स्वप्रायोगोत्कृष्टयोगस्थानकैः तु जघन्यतः समयतः, उत्कृष्टतस्तु द्वौ समययोः, मायमेषु जघन्यतः समयतः, उत्कृष्टतस्तु क्वचित् चतुरः, क्वचिपञ्च, क्वचित् षट्, क्वचित् सप्त, क्वचिद्विंशोः । समयान् यावद्दन्ते इति । अयं चैतावानपि योगोः सप्तप्रभृतिस्वकारिकाकरणवशात्सहित्य सत्यमनोयोगः १, असत्यमृषामनोयोगः ३, असत्याधृषामनोयोगः ४, सत्यधार्मयोगः १, असत्यधार्मयोगः २, सत्यमृषाधार्मयोगः ३, असत्याधृषाधार्मयोगः ४ । औद्दरिककाययोगः १,

औद्दरिकमिभकाययोगः २, वैक्रियकाययोगः ३, वैक्रियमिभकाययोगः ४, आहारककाययोगः ५, आहारकमिभकाययोगः ६, कामेणकाययोगजैदतः पञ्चदशधा श्रोक्त इत्यसं प्रसंगेन । एतेष्वप्यस्य योगस्थानेभ्योऽसंख्येयगुणाः असंख्यातगुणिताः । (पयदि ति) भेदशब्दस्य प्रायिकं संख्यातप्रकृतिभेदात् स्थितिभेदाच्च ज्ञानावरणादीनां भेदाः । असंख्यगुणं चि " पदमनुमागन्धस्थानानि यावत्सर्वेषु यीजनीयम् । इयमत्र भावना—इह तावदावश्यकादिष्वधिधिज्ञानदर्शनयोः सद्योपशमवैचित्र्यादसंख्यातास्तावद्देहा भवन्ति । ततश्च तदावरणबन्धस्यापि तावत्प्रमाणजैदाः संगच्छन्ते, वैचित्र्यस्य च्चस्येव विचित्रकृत्योपशमोपपत्तिरिति । कथं पुनः सद्योपशमवैचित्र्येऽप्यसंख्येयभेदात् प्रतीयेते ? इति चेत् । उच्यते—कृत्रतारतम्येनेति । तथाहि—विसमयादारकसुहृत्पमनकस्यवागादानमानं जघन्यवमधिद्विकस्य क्षेत्रं परिकल्पेयत्येकम् । यदाह सकलभुतपरदृश्या विष्वातुप्रदकार्मया विहितानेकशास्त्रसंर्भो भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी— " जावइय तिसमयाहा—रगस्य सुदुमस्य पणगजीवस्त । शोगाइया इहया, श्रोही।सिक्तं जइध तु " ॥ १ ॥ उत्कण्ठं तु सर्वबहुतेजस्कायैकजन्तूनां शुचिः सर्वतो भ्रमिना यावन्मात्रं क्षेत्रं स्पृशति तावन्मात्रं तस्य प्रमाणं भवति । यदाहुः श्रीरादारारथपादाः— "सब-बहुमणिजीवा, निरंतरं जसियं भरिउजंस्तु । सित्वं सव्यद्विसग, परमोहो। सिक्तनिदिहो " ॥ २ ॥ इति । तत्र जघन्यान् कृत्रादारारण्य प्रदेशद्विहो प्रवृत्तौऽहृष्टकृत्रविषयस्य सत्यसंख्येयभेदत्वमवधिद्विकस्य कृत्रतारतम्येन जवति । अनस्तदावारकस्यावधिद्विकस्यापि नानाजीवानां शेषाणामप्यावरणानां तेषांऽप्यासामपि सर्वतो मूलप्रकृतानामुत्तरप्रकृतानां च तेषांदिन्देन बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्यादासंख्येयगुणवृद्धयम् । अयं नानाजीवानाभिर्य मतिज्ञानावरणादीनां शेषाणामप्यावरणानां तथाऽप्यासामपि सर्वतो मूलप्रकृतानामुत्तरप्रकृतानां च तेषांदिन्देन बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्यादासंख्याता भेदाः संपद्यन्त इति ।

शक्तं च—

" जह्वा च ओहिविसन्नो, उकोसे सव्वबहुयसिदिह्स्इ ।
असिपमिक्तं कुसरे, तसिपमिक्तप्यससम ॥ १ ॥
तत्तारतम्येभया, जेषु बहू हुति आहारजगिया ।
तेणासंख्यगुणं, यदर्शनं जोगन्नो जाण " ॥ २ ॥

चतस्रामानुपूर्वीणां बन्धोदयवैचित्र्येणासंख्याता जेदाः, ते च लोकस्यासंख्येयभागवतिप्रदेशराशिगुणव्या इति बृहच्छतकच्युक्तिकारोका विशेषाः । ननु जीवानामन्वन्त्यासंख्येयवैचित्र्येणासंख्याता अपि प्रकृतिजेदाः कस्माच्च भवन्ति ? नैतद्वचम, सदृशानां बन्धोदयानामेकमेव विवक्षितव्यासिदसदृशास्वेतावत् एव तद्देहा भवन्ति । ते च जेदाः प्रकृतिजैद्व्याप्रकृतस्य द्रव्युच्यन्ते । ततश्च योगस्थानेऽसंख्यातागुणाः प्रकृतस्य, यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानेनानाजीवैः कालभेदादिकजीवेन वा सर्वा भ्रम्यन्तेः प्रकृतयोः धारयन्त इति । तथा तेऽप्यः प्रकृतिभेदेषुः स्थितिभेदाः स्थितिभेदाः अन्तर्मुक्तसमयापिकान्तर्मुक्तत्रिसमयापिकान्तर्मुक्तसंख्येयगुणवृद्धयः । असंख्येयगुणा भवन्ति । एकैकस्यः प्रकृतेरसंख्येयैः स्थितिविशेषाव्यमानत्वादेकमेव हि प्रकृतिजेदं क्वचित्जोऽप्येव स्थितिविशेषेषु भवति, स एव च तं कदाचिद्व्यन्येन, कदाचिद्व्यन्तरेण, कदाचिद्व्यन्तरेणेत्येवमेकं प्रकृतिजेदमेकं जीवमाभ्यासिच्छक्यताः स्थितिजे-

दा भवति, किं पुनः सर्वैरकृतौः सर्वजीवानाभिव्य प्रकृतिभेदे-
ज्यः ? , स्थितिनिदानान्मन्व्यवसायान्मन्व्यः प्रकृतिभेदे—
ज्यः स्थितिभेदाः असंख्यातगुणा भवन्तीति ; तथा स्थि-
त्यभेदाः सकाशात् स्थितिव्यवसायवसायाः एवैकदेशे एव-
समुदायोपचारात् स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यातगु-
णानि । तत्र स्थानं स्थितिः ? कर्मयोग्यवसायान्, तस्या बन्धः स्थि-
तिबन्धः । अण्व्यवसानान्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीव-
परिणामविशेषाः तिष्ठन्ति जीवा पश्चित् स्थानानि, अण्व्यवसा-
या एव स्थानान्यवसायस्थानानि ; स्थितिबन्धस्य कारणभू-
तान्यवसायस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि, तानि स्थि-
तिभेदेभ्योऽसंख्येयगुणानि, यतः सर्वज्ञघन्योऽपि स्थितिविशो-
योऽसंख्येयलोकाकाशाप्रदेशप्रमाणे रच्यवसायस्थानैर्जन्यते । उ-
च्यते तु स्थितिविशेषास्तेरेव यद्योत्तरं विशेषबुद्धैर्जन्यन्ते ;
अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यात-
गुणानि सिद्धानि ज्ञवन्ति । तथा (अणुभागदणु सि) एवै-
कदेशे एव समुदायोपचाराद्गुणभागस्थानान्यगुणभागव्याप्यव-
सायस्थानानि । तत्रानु यथाह्योत्तरकालं भवत्यं सेव्यतेऽनुभू-
यत इत्यनुजातो रसः, तस्य बन्धोऽनुजागमनः, अण्व्यवसानान्य-
वसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः । ति-
ष्ठन्ति जीवा पश्चेति स्थानानि, अण्व्यवसाया एव स्थानान्यव-
सायस्थानानि, अनुभागवन्तस्य कारणज्ञताप्यवसायस्था-
नान्यनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिबन्धाध्यवसायस्था-
नान्यस्तान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं
होवैकर्ममनुष्ठितप्रमाणमुक्तम् । अनुजागवन्धाध्यवसायस्थानं
सर्वैकं उच्यन्तेः सामाग्येऽनु, उक्तुदन्तस्त्वप्यसामाग्यस्थानमेवो-
क्तम् । एकास्मिन्नापि नारकवपे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने त-
द्वन्तर्गा नगरान्तर्गतैर्भौतियेभ्यश्चकष्यात् । नानाजीवान् काल-
भेदेनैकजीवान् कालभेदेनैकजीवेषु वा समाभ्रयसंख्येयलो-
काकाशाप्रदेशप्रमाणान्यनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति ।
तथापि-ज्ञघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्था-
नानां मध्ये यदाहं सर्वलघुस्थितिकं बन्धाध्यवसायस्थानं
तस्मिन्नापि देशकालभावजीवभेदान्संख्येयलोकाकाशाप्र-
देशप्रमाणान्यनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते । द्विती-
यादिषु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि परमाग्यभिर्युक्ताः ज्ञ घ-
न्येवपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेषु भावनाः कार्याः । अतः स्थि-
तिबन्धाध्यवसायस्थानैर्भ्याऽनुजागवन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्ये-
यगुणानि ।

ततो कर्मपणसा, अणंतगुणिया तत्रो रमच्छेया ।

ततस्तेभ्योऽनुभागवन्धाध्यवसायस्थानैर्ज्यः, कर्मप्रदेशाः कर्म-
रूपज्ञा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः- प्रत्येकम-
भ्रमन्मानसगुणैः सिद्धमन्तजगवर्तिभिः परमाग्यभिर्युक्ताः ज्ञ-
घन्यतन्तगुणानिद स्कन्धान् मिथ्यावादिभिर्हंतुनिः प्रतिसमयं जी-
घां शुद्धांतित्युक्तम् । अनुभागवन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाद्य-
प्यसंख्येयलोकाकाशाप्रदेशप्रमाणान्यवसायस्थानानि, अतोऽनुभाग-
वन्धाध्यवसायस्थानैः यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणः सिद्धा भवन्ति ।
तथा(तत्रो रसच्छेय सि) ततस्त्वस्यः कर्मप्रदेशोभ्यः, रसच्छेदा अ-
नन्तगुणा प्रयन्ति । तथाहि-इह ह्यि रसिम्बरास्यधिमयैरिवा-
नुभागवन्धाध्यवसायस्थानैस्तद्गुणैर्विष्य कर्मगुणैषु रसो ज-
न्यते, स वैकस्यापि परमाणोः संख्येयो वैबहिरप्रज्ञया विद्यमानः

सर्वजीवानन्तगुणानिविभागपरिच्छेदान् प्रयच्छति । यस्माद्भाग-
वपि सुखमत्याम्नो भागो नोपिच्छति साऽविभागपरिच्छेद उ-
च्यते । एवं भूताद्भागवत्विभागपरिच्छेदा रसपर्यायाः स-
र्वैकर्मैकश्रेणु प्रतिपरमाणुसर्वजीवानन्तगुणाः संजायन्ते । यतः-

“गहनसमयमि जीवो, उपापएह व गुणे सपक्षयश्चो ।
सर्वजियाणंतगुणे, कर्मपणसेसु सव्येसु ॥”

गुणाश्चेनेहाविभागपरिच्छेदा उच्यन्ते । होषं दुगमम् । क-
र्मप्रदेशाः पुनः प्रतिस्कन्धं सर्वेऽपि सिद्धानामप्यन्तभाग एव
घटन्ते । अतः कर्मप्रदेशोभ्य रसच्छेदा अनन्तगुणाः सिद्धा भ-
वन्तीति । कर्मोऽ कर्मोऽ । (भोदरिकादिशरीरव्यवसायान्मन्व्य-
द्वयं तु ' शरीर ' शब्द एव दृश्यम्)

(२२) [भवसिद्धिकारणम्] भवसिद्धिकारणमाह—

एप्सि एं जंते ! जीवाणं जवसिद्धियाणं अनवसिद्धि-
याणं नोजवसिद्धियाणं नोअभवसिद्धियाण य कयरे कयरे-
दितो अण्पा वा० पु । गोयमा । सवन्त्योवा अभवसिद्धिया,
नोजवसिद्धिया नोअजवसिद्धिया अणंतगुणा, भवसिद्धिया
अणंतगुणा ॥

सर्वेस्तोका अनवसिद्धिकाः भवन्त्याः, उच्यन्त्युक्तानन्तकपरि-
माणान्वात् । उक्तं चानुयोगदण्डपु—“ उक्तोस ए परिमाणतकवे
एकिञ्चत्त जहन्नयुत्साणं तय होह अभवसिद्धिया वि तत्तिया
जेव कि ” तेषां नोभवसिद्धिका नोअभवसिद्धिका अनन्तगुणाः,
यत उअयप्रतिषेधव्युत्थः सिद्धान्ते चाजघन्योऽकृष्टगुणानन्तक-
परिमाण इत्यन्तगुणुः । तेषां भवसिद्धिका अनन्तगुणाः,
यतो जघन्यनिगोदस्यैकस्यानन्तभागकल्याः सिद्धा जन्तव्यवरा-
न्निगोदाध्यासस्येया लोका इति । यतं भवसिद्धिकारणम् ॥
प्रहा० ३ पद ॥

(२३) [भापकण्डारम्] भापकानापकालपबहुत्वमाह—

एप्सि एं भंते ! जीवाणं जासगाणं अजासगाण य
कयरे कयरेदितो अण्पा वा बहुया वा तुद्धा वा विमैसा-
दिया वा । गोयमा । सवन्त्योवा जीवा जासगा, अजासगा
अणंतगुणा ॥

सर्वेस्तोका भापका भापालविघंसंपकाः, द्वीन्द्रियादीनामेवं
भापकान्वात् । अभापका जायालविघर्हिना अस्तगुणाः, वन-
स्पतिकायिकानामनन्तवान् । प्रहा० ३ पद । सत्यादिजंजंन
जाणामपबहुत्वम् । प्रहा० ११ पद । (जायालव्याणं अण्डा-
दिभिर्देभिद्यमानानामपबहुत्वं च ' नासा ' शब्दं बहवते)

(२४) [महादवरकण्डारम्] सर्वजीवालपबहुत्वम्—

अह भंते ! सव्वजोवपहुं महादंरुयं बत्तइस्सामि, सव्व-
त्थोवा गन्धवक्कंतयमाणुस्सा, मणुस्सीओ संसेजगुणाओ,
वादरेतेउकाइया । पजत्तया असंसिजजगुणा, अणुत्तरोबवा-
इया देवा असंसेजगुणा, उवरिमगेवजजा देवा संसेजगु-
णा, मज्जिमगेवजजा देवा संसेजगुणा, हेइइमगेवजजा,
देवा संसेजगुणा, अणुत्त कप्पे देवा संसेजगुणा, आरुप्पे क-

प्ये देवा संखेज्जगुणा, पाणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, आणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा; अद्देसत्तमाए पुदवीए ऐरइया असंखेज्जगुणा, उट्ठीए तमाए पुदवीए नेरइया असं०, सहस्सारे कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, पंचमाए धूमपमाए पुदवीए ऐरइया असं०, लंतए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; चउत्थीए पंकपमाए पुदवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, बंधओए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा, त्थाए बाणुयप्पजाए पुदवीए ऐरइया असंखेज्जगुणा, माहिं देवा असंखेज्जगुणा, सणकुमारे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; दोबाए मकरप्पमाए पुदवीए ऐरइया असं०, संसुं च्चमणएस्सा असंखेज्ज०, ईसाणे कप्पे देवा असं०, ईसाणे कप्पे देवा असं०, सोहम्मे कप्पे देवा संखेज्ज०, सोहम्मे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा-असं०, जवणवासीदा असंखेज्जगुणा, जवणवासिणीअसं० देवा असंखेज्जगुणाअसं०, इभीसे रयणप्पजाए पुदवीए ऐरइया असंखिज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणी-असं० संखिज्जगुणाओ, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणी-असं० संखिज्जगुणाअसं०, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया पुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणीअसं० संखिज्जगुणाअसं०, बाणमंतग देवा संखेज्जगुणा, बाणमंतरी-असं० देवा असंखेज्ज०, जोइसिया देवा संखेज्जगुणा, जो-इसिणीअसं० देवा असंखेज्जगुणाअसं०, खहयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया नपुंसया संखिज्ज०, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया नपुंसया संखेज्ज०, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोगिणिया नपुंसया संखे०, चउठरिंदिया पज्जत्तया संखेज्ज०, पंचिंदिया पज्जत्ता विसेसाहिया, बेइंदिया पज्जत्ता विसे०, पंचिंदिया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, चउठरिंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, बेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, पत्तेयसरीरबादरवणस्स-इकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरपुडविकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरतउकाइ-या अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्स-इकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तया संखिज्जगुणा, बादरुडविकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमुपुडवि-

काइया अपज्जत्तया विसेसाहिया; सुहुमआउकाइया अप-ज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तया असंखिज्ज०, सुहुमपुडविकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमणिगोदा अपज्जत्तया असंखे०, सुहुमणिगोदा पज्जत्तया संखिज्जगुणा, अन्नवसिक्खिया अणंतगुणा, पटिवत्तियम्मदिहं अणंतगुणा, सिक्खा अणंतगुणा; बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा, बादरपज्जत्तया विसेसाहिया, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरअपज्जत्तया विसेसाहिया, बादरा विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया संखेज्ज०, सुहुमपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमा विसेसाहिया, जवसिद्धिया विसेसाहिया, निगोदा जीवा विसेसाहिया, वणस्सइजांवा विसेसाहिया, एभिंदिया विसेसाहिया, तिरिक्खजोगिणिया विसेसाहिया, पच्छदट्ठी विसेसाहिया, अ-विरया विसेसाहिया, छमत्तया विसेसाहिया, सजोगी विसेसाहिया, संसारत्तया विसेसाहिया, सज्वजीवा विसेसाहिया ॥ इदानीं महाद्वयज्जं विषयसुखमपुच्छति—(अहं जीतं । इत्यादि) अथ जदन्त । सर्वजीवायवहुत्वं सर्वजीवायवहुत्वं-वक्ष्यन्त्यात्कः महाद्वयज्जं वदन्तिपिण्यात्, रव्यापिण्यात्मित तात्पर्यार्थः । अन्नं एतत् ज्ञापयति—नीधेकरानुक्तामात्रसापेक्षं पञ्च भगवद् गणधरः सुधरचक्रं प्रति प्रयतन्ते, न पुनः भूताभ्यास-पुरस्सरमिति । यद्वैतज्ञापयति—कुशांशेऽपि कर्मण विनेयेन गुरुमनापुच्छन् न प्रधातिवत्, किन्तु तद्गुणपुरस्सरप, अन्यथा विनेयस्यायोगात् । विनेयस्य हि लक्षणमिदम्—“गुरोर्निर्वि-तात्मा यां, गुरुभावावुत्तकं । सुखं वर्धं खण्टं नित्यं, स विनेयः प्रकीर्तितः” ॥ १ ॥ गुरुर्पि याः प्रचरन्तीयः स एवं रूपः—“धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मप्रवर्तकः । सर्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देश-कां गुरुकथ्यते” ॥ १ ॥ इति महाद्वयज्जं वदन्तिपिण्यात्पुरुकम् । ततः प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति—(सर्वत्रयोवा गम्भयज्जं विसमणु-स्सत्यादि) सर्वस्वोका गम्भयुक्ताः स्यात्कामा मनुष्याः, सर्वेष्वको-टीकोटिप्रमाणत्वात् १ । तेभ्यो मानुष्यो मनुजस्त्रिया—संशय-यगुणा; सप्तविंशतिगुणत्वात् । उक्तं च—“सत्तथोन्मगुणा पुण, मणुष्याणं तद्विहा चैव” इति २ । तादृशो बादरतउकाइविका-काः पर्याप्तं सर्वस्येयगुणाः, कतिपयवर्गान्युनावतिज्ञानसम-यप्रमाणत्वात् ३ । तेभ्योऽनुत्तरोपपत्तिनो देवा असस्येयगुणाः, क्षेत्रपदयोपमासंख्येयभागवतिनमःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ४ । तेभ्य उचिततन्मैत्रेयकतिकदेवाः संखेयगुणाः, बृहत्तरत्वेनपदयोप-मासंख्येयभागवतिनमःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । एतद्विपि कथ-मखसेयम्, इति चेत् । उच्यते—विमानवाहुत्वात् । तथाहि—अनुत्तर-देवानां पञ्च विमानानि विमानशतं तुर्यं रतन्मैत्रेयकतिकदेवानां प्रतिविमानं चाऽसंख्येया देवा यथा यथा चापोवर्षानि विमानानि तथा तथा देवा अपि प्राकृत्येण ब्रह्मन्ते, ततोऽवर्षाव्यते-अनुत्तरो-पत्तिदेवेभ्यो बृहत्तरक्षेत्रपदयोपमासंख्येयजागवत्योकाशपदेशरा-शिप्रमाणा उपरितन्मैत्रेयकतिकदेवाः । पचमुत्तर एपि ज्ञानवा

कार्या, यावदान्तकल्पः ५ । तेष्वोऽप्युपरित्तमैवेयकत्रिकदे-
 वेभ्यो मयमभैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः ६ । तेष्वोऽप्य-
 धस्तमैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः ७ । तेष्वोऽप्युत्क-
 ल्पदेवाः संख्येयगुणाः ८, तेष्वोऽप्यारणकल्पदेवाः संख्येय-
 गुणाः । पद्यपारणाक्युत्कल्पयो समभेदौ, समाविमान-
 संस्कारौ च, तथाऽपि कृष्णाप्राक्तित्वास्त्राभाभ्यात् प्रा-
 नुयेण दक्षिणस्यां त्रिंशु समुपचन्ते, नोत्तरस्यां, बहवश्च
 कृष्णाप्राक्तिकाः, स्तोत्राः शुक्रप्राक्तिकाः, ततोऽप्युत्कल्पदेवापे-
 क्रया आरणकल्पे देवाः संख्येयगुणाः ९ । तेष्वोऽपि प्राणत-
 कल्पे देवाः संख्येयगुणाः १० । तेष्वोऽप्यानतकल्पे देवाः सं-
 ख्येयगुणाः, भावना आरणकल्पवक्तृत्या ११ । तेष्वोऽप्यःस-
 त्प्रमरकरूपधियां नैरयिका असंख्येयगुणाः, श्रेयसंख्येयभा-
 गवतममःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १२ । तेष्वः पृथुपुधियां
 नैरयिका असंख्येयगुणाः, पतञ्जल प्रागेव विद्युत्प्राणैत नैरयिका-
 रूपबहुत्वान्तिवायां प्रावितम् १३ । तेष्वोऽपि सप्तकारकल्पदेवा
 असंख्येयगुणाः, पृथुपुधियां नैरयिकपरिणामहेतोभयसंख्येयजा-
 गापेक्षया सहकारकल्पेवपरिणामहेतोः श्रेयसंख्येयनाग-
 स्वासंख्येयगुणात्वात् १४ । तेष्वो महागुरु कल्पे देवा असं-
 ख्येयगुणाः, विमालबाहुत्वात् । तथापि परहस्त्राणि विमा-
 लानां सहकारकल्पे, ज्वारांशुसहस्राणि महाशुक्रं, अत्यश-
 क्तयोविमानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोत्रस्तोत्रात्प्राप्तोप-
 रितनोपरितमविमानवासिनः, ततः सहस्रारंवेभ्यो महाशुक्र-
 कल्पे देवा असंख्येयगुणाः १५ । तेष्वोऽपि पञ्चमधूमप्रजाभि-
 धाननकरूपधियां नैरयिका असंख्येयगुणाः, बृहस्पतश्रेयसं-
 ख्येयमागवर्तितनयःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १६ । तेष्वोऽपि
 झान्तके कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, अतिबृहस्पतश्रेयसंख्ये-
 यमागवतममःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १७ । तेष्वोऽपि च-
 नुत्प्यां बृहस्पतजायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, युकिः
 प्रागुक्तैव भावनीया १८ । तेष्वोऽपि ब्रह्मलोक कल्पे देवा
 असंख्येयगुणाः, युकिः प्रागुक्तैव १९ । तेष्वोऽपि तृतीयस्यां
 बालुकप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाः संख्येयगुणाः २० । ते-
 ष्वोऽपि प्राग्ग्रेहकल्पे देवा असंख्येयगुणाः २१ । तेष्वोऽपि सन-
 त्कुमारकल्पे देवा असंख्येयगुणाः, युकिः सर्वत्रापि प्रागुक्तैव २२ ।
 तेष्वो द्वितीयस्यां शुकप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगु-
 णाः । पते च सप्तमपृथिवीवाराकादयो द्वितीयपृथिवीमरकपयं-
 न्ताः प्रत्येकं स्वस्थाने विन्ययमानाः सर्वेऽपि घनीकुललोकश्रेयस-
 संख्येयमागवर्तितनयःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् प्रकृष्टाः, केवलं श्रेयसं-
 ख्येयमागोऽसंख्येयमेद्भिन्नः, तत इन्द्रमसंख्येयगुणतया अटप-
 बृहस्पतमजिषीयमानान् च विरुध्यति २३ । तेष्वो द्वितीयनरक-
 पृथिवीभारकेभ्यः समृद्धिममत्रुष्या असंख्येयगुणाः, ते दि अङ्ग-
 लमाज्ञेप्रदेशराशेः संबन्धिनि तृतीयधर्ममूलेन गुणिते प्र-
 थमवर्गमूले यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानि स्यदन्ति, या-
 वन्त्येकस्यामेव प्रादेशिष्यां श्रेणी भवति तावत्प्रमाणाः २४ ।
 तेभ्य ईशान कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, यतोऽङ्गुलमात्रज्ञेप्र-
 देशराशोः संबन्धिनि द्वितीये वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते
 यावान् प्रदेशराशिमेवति तावत्प्रमाणास्तु घनीहृतस्य लोकेत्ये-
 कप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नमःप्रदेशास्तावत्प्रमाणो भवप-
 तिवेदेभ्यो देवर्षीः समुदायस्तत्रात्किञ्चिद्वनद्वाभिशसमागक-
 ष्या ईशानदेवाः, ततो देवाः समृद्धिममत्रुष्योऽसंख्येयगुणाः
 २५ । तेष्व ईशानकल्पे देव्योऽसंख्येयगुणाः, द्वाभिशसुगु-

त्वात् । " बर्षीसगुणा बर्षीसकृचद्विधयो होति देवीभ्यो " इति
 षष्चनात् २६ । ताभ्यः सौधर्मकल्पे देवाः संख्येयगुणाः,
 तत्र विमानबाहुत्वात् । तथापि-तत्र द्वाभिशसुगुणतसहस्राणि
 विमानानामद्वाभिशसुगुणतसहस्राणि ईशान कल्पे, अपि च-
 क्षिणदिव्यती सौधर्मकल्पे, ईशानकल्पसूक्तदिव्यती, दक्षिण-
 स्यां च दिशि बहवः कृष्णाप्राक्तिकाः समुपचन्ते । ततः ईशा-
 नदेवेभ्यः सौधर्मदेवाः संख्येयगुणाः । नन्विषं युकिःमार्हेन्द्रस-
 नत्कुमारकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र प्रादेशिक्यपेक्षया सनत्कु-
 मारकल्पदेवा असंख्येयगुणा षष्णाः, इह तु सौधर्मकल्पे सं-
 ख्येयगुणाः । तदेव तत्कथम् ? उच्यते-यवनप्रामाण्यत्वात् । न चात्र
 पाठग्रन्थः, यतोऽप्यत्राप्युक्तम् " ईशानेय सव्यथ वि, बर्षीस-
 गुणा षड्विंशति देवीभ्यो " । संखेऽज्ञा सोमहेतु, तन्नो असंका भवोषा-
 सी" ॥१॥ इति १२ । तेष्वोऽपि तस्मिन्नेव सौधर्मकल्पे देव्यः संख्ये-
 यगुणाः, द्वाभिशसुगुणात्वात् । " सव्यथ वि बर्षीसगुणाश्चो हो-
 ति देवीभ्यो " इति षष्चनात् २७ । ताभ्योऽप्यसंख्येयगुणा
 भवन्वासिनः । कथम् ? इति चेत् । इह अङ्गुलमात्रज्ञेप्रदेशरा-
 शोः सम्बन्धिनि प्रथमे वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते या-
 वान् प्रदेशराशिमेवति तावत्प्रमाणायुघनीहृतस्य लोकेत्येक-
 प्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नमःप्रदेशास्तावत्प्रमाणो भवप-
 तिवेदेभ्योऽसुदायः, तत्रात्किञ्चिद्वनद्वाभिशसुगुणतसहस्राणि भव-
 पतयो देवाः, ततो घटन्ते सौधर्मदेवीभ्यस्तःऽसंख्येयगुणाः २८ ।
 तेष्वो भवन्वासिनो देव्यः संख्येयगुणाः, द्वाभिशसुगुणात्वात् ३० ।
 ताभ्योऽप्यस्यां सप्तमजायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः,
 ब्रह्मलमात्रज्ञेप्रदेशराशोः सम्बन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन
 वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानि आंशुषु
 यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् ३१ । तेष्वोऽपि अ-
 चरपञ्चिन्द्रियतियंभ्योनिःकाः पुरुषाः असंख्येयगुणाः, अतारासंख्ये-
 यमागवत्संख्येयश्रेणिगतःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३२ । ते-
 ष्वोऽपि अचरपञ्चिन्द्रियास्तियंभ्योनिःकाः श्रियः संख्येयगुणाः,
 त्रिगुणात्वात् । " त्रिगुणा तिरुचभद्विवा, तिरियान् इत्थया
 मुणयन्मा " इति षष्चनात् ३३ । ताभ्यः स्थलचरपञ्चिन्द्रियास्ति-
 यंभ्योनिःकाः पुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहस्पतरासंख्येयमागव-
 त्संख्येयश्रेणिगताःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३४ । तेष्वः स्थ-
 लचरपञ्चिन्द्रियतियंभ्योनिःकाः श्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणात्वात्
 ३५ । ताभ्यो जलचरपञ्चिन्द्रियतियंभ्योनिःकाः पुरुषाः संख्ये-
 यगुणाः, बृहस्पतमरासंख्येयमागवत्संख्येयश्रेणिगताःप्रमा-
 नत्प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३६ । तेष्वो जलचरपञ्चिन्द्रियतियंभ्यो-
 निःकाः श्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणात्वात् ३७ । ताभ्यो व्यन्तरा-
 देवाः पुवेदेदधिनः संख्येयगुणाः, यतः संख्येययाज्ञकोटा-
 कोटिप्रमाणानि सूचीरूपाणि ऋजुद्वानि यावन्त्येकस्मिन् प्रते
 भवन्ति तावन्तः सामान्येन व्यन्तराः, केवशमिष्ट पुरुषा विष-
 कृता इति सकलसमुदायपेक्षया किञ्चिद्वनद्वाभिशसुगुणतसह-
 स्राणि भवन्ति । ततो घटन्ते जलचरपञ्चिन्द्रियः संख्येयगुणाः
 ३८ । तेष्वो व्यन्तरः संख्येयगुणाः, द्वाभिशसुगुणात्वात् ३९ ।
 ताभ्यो ज्योतिष्कदेवाः संख्येयगुणाः, ते हि सामान्यतः पद्यज्ञा-
 शद्विचित्रतत्रयङ्गुलप्रमाणानि सूचीरूपाणि ऋजुद्वानि याव-
 न्त्येकस्मिन् प्रते भवन्ति तावत्प्रमाणानि ; परमिष्ट पुरुषा विष-
 कृता इति ते सकलसमुदायपेक्षया किञ्चिद्वनद्वाभिशसुगुणतसह-
 स्राणि भवन्ति । ततो घटन्ते जलचरपञ्चिन्द्रियः संख्येयगु-
 णाः ४० । तेष्वो ज्योतिष्कदेव्यः संख्येयगुणाः, द्वाभिशसुगु-
 णत्वात् ४१ । ताभ्यः अचरपञ्चिन्द्रियतियंभ्योनिःका ननुसुक्तिः

संख्येयगुणाः। कश्चिद् 'असंख्येयगुणाः, इति पाठः; स न समी-
चीनः, यत इत ऊर्ध्वे ये पर्याप्तचतुरिन्द्रिया बह्व्येते ऽपि ज्यो-
तिष्कदेशेयैक्यया संख्येयगुणा एवावपच्यन्ते । तथाहि-बर्धपञ्चा-
शत्थिकरातद्व्याहृत्प्रमाणानि सूचीरूपाणि अएरानि यावन्त्येक-
कस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा ज्योतिष्काः। अर्द्ध-“अप्य-
काशेयमूल सूत्रपरसिद्धे ज्ञाद्याया पयः। ज्योतिषीर्हि हीरदृ” इति।
अङ्गसंख्येयभागमात्राणि च सूचीरूपाणि अएरानि यावन्त्येक-
स्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाः। अतुरिन्द्रियाः। उक्तं च-“पञ्चता-
पञ्चत्वारिंशति च्छ्र असंखिणां अचहृतिः। अंगुलसंज्ञाऽसंख-
प्य-एवमहयं पृथो पयरे”। अङ्गुलसंख्येयनागापेक्षया बर्धपञ्चाशद-
धिकमङ्गलरातद्वयं सङ्ख्येयगुणं, ततो ज्योतिष्कदेशेयैक्यया परि-
भाष्यमानाः। पर्याप्तचतुरिन्द्रिया अपि सङ्ख्येयगुणा एव घटन्ते,
किं पुनः पर्याप्तचतुरिन्द्रियापेक्षया सङ्ख्येयभागमात्राचरपञ्चे-
न्द्रियमनुसंज्ञा इति ४२ । तेभ्योऽपि स्थलचरपञ्चेन्द्रियमनु-
संज्ञाः संख्येयगुणाः ४३ । तेभ्योऽपि जलचरपञ्चेन्द्रियमनुसं-
ज्ञाः संख्येयगुणाः ४४ । तेभ्योऽपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः संख्ये-
यगुणाः ४५ । तेभ्योऽपि पर्यासाः संख्येयसंज्ञिभक्ष्याः पञ्चे-
न्द्रिया विशेषाधिकाः ४६ । तेभ्योऽपि पर्यासा इन्द्रिया त्रि-
शेषाधिकाः ४७ । तेभ्योऽपि पर्यासाइन्द्रिया विशेषाधिकाः
४८ । यद्यपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियादीनां पर्याप्तरीन्द्रियपर्यन्तानां
प्रत्येकमङ्गलासंख्येयनागाभाणि सूचीरूपाणि अएरानि याव-
न्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणत्वमविशेषेणाम्यत्र बह्व्येते,
न तथाप्यङ्गसंख्येयनागास्य संख्येयमेद्भिन्नत्वादिभ्यं विशेषाधि-
कत्वमुपयमानं न विरुद्धम् । उक्तं चेत्यमल्पबर्धपञ्चाशत्त्रयि-“ततो
नृत्संकहदयसंज्ञे ज्ञा पश्चयजलचरपञ्चका चतुरिन्द्रिया ततो
पणुषिति पञ्चत्वा किञ्चइहिय स” ४८ । तेभ्योऽपि पर्याप्तरीन्द्रिये-
भ्योऽप्यासाः पञ्चेन्द्रिया असंख्येयगुणाः, अङ्गुलासंख्येयनाग-
मात्राणि अएरानि सूचीरूपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे ज्वन्ति
तावत्प्रमाणत्वात् ४९ । तेभ्योऽपि चतुरिन्द्रिया अपर्यासा विशेषाधि-
का ५० । तेभ्योऽपि त्रिन्द्रिया अपर्यासा विशेषाधिकाः ५१ । तेभ्यो
इन्द्रिया अपर्यासा विशेषाधिकाः, यद्यपि चापर्यासाः अतुरिन्द्रि-
याद्योऽपर्याप्तइन्द्रियपर्यन्ताः प्रत्येकमङ्गलासंख्येयनागाभा-
णि अएरानि सूचीरूपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्र-
माणा अभ्यन्त्राविशेषेणांकाः, तथाप्यङ्गसंख्येयनागास्य सिचिन्न-
त्वादिभ्यं विशेषाधिकत्वमुपयमानं न विरोधमास्तकस्मृति ५२ ।
तेभ्योऽपि इन्द्रियापर्याप्तभ्यः प्रत्येकवत्चरवस्तुतिकाधिकाः
पर्यासा असंख्येयगुणाः, यद्यपि चापर्याप्तइन्द्रियादिषुत् पर्या-
प्तबाह्वनस्पतिकारिका अप्यङ्गसंख्येयनागाभाणि सूचीरू-
पाणि अएरानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे ज्वन्ति तावत्प्रमाणा
अन्यत्रोक्तः, तथाप्यङ्गसंख्येयनागास्यसंख्येयमेद्भिन्नत्वात् बा-
ह्वर्पर्याप्तत्वैकवस्तुपरिममाणुत्वायामङ्गसंख्येयनागो-
ऽसंख्येयगुणहीनः परिगृह्यते, ततो न काश्चिद्द्वयोः ५३ । ते-
भ्यो बाह्वर्निगोदा अनन्तकारिकाशरीररूपाः पर्यासा असंख्ये-
यगुणाः ५४ । तेभ्योऽपि बाह्वर्पृथिवीकारिकायाः पर्यासा असं-
ख्येयगुणाः ५५ । तेभ्योऽपि पर्याप्तबाह्वर्कारिकाया असंख्येय-
गुणाः, यद्यपि च पर्याप्तबाह्वर्प्रत्येकवस्तुतिकाधिकाःऽप्याधिकाः
काः प्रत्येकमङ्गलासंख्येयनागाभाणि सूचीरूपाणि अएरानि
यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अभ्यन्त्राविशेषेयो-
क्ताः, तथाप्यङ्गसंख्येयनागास्यसंख्येयमेद्भिन्नत्वादिभ्यमसं-
ख्येयगुणात्त्वादिभ्यमनिषाने न काश्चिद्वयोः ५६ । तेभ्यो बाह्वर्प-

र्यासात्कारिकेभ्यो बाह्वर्कारिकाधिकाः पर्यासा असंख्येयगुणाः,
घनीकृतलोकसंख्येयनागास्यसंख्येयप्रतरगतमजः। अक्षेरशरीरशि-
प्रमाणत्वात् ५७ । तेभ्यो बाह्वर्तेजस्कारिका अपर्यासा असं-
ख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशाप्रदेशशरीरप्रमाणत्वात् ५८ ।
तेभ्यः प्रत्येकशरीरबाह्वर्चरवस्तुतिकाधिका अपर्यासा असंख्ये-
यगुणाः ५९ । तेभ्योऽपि बाह्वर्निगोदा अपर्यासाका असंख्येय-
गुणाः ६० । तेभ्यो बाह्वर्पृथिवीकारिका अपर्यासाका असंख्ये-
यगुणाः ६१ । तेभ्यो बाह्वर्कारिका अपर्यासा असंख्येयगुणाः
६२ । तेभ्यो बाह्वर्वायुकारिका अपर्यासा असंख्येयगुणाः ६३ ।
तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कारिका अपर्यासा असंख्येयगुणाः ६४ ।
तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकारिका अपर्यासा विशेषाधिकाः ६५ ।
तेभ्यः सूक्ष्माकाधिका अपर्यासा विशेषाधिकाः ६६ । तेभ्यः सूक्ष्म-
तेजस्कारिकाः पर्यासाका असंख्येयगुणाः, अपर्याप्तकस्मृतेभ्यः
पर्याप्तसूक्ष्माणो र्वनान्तव य प्राक्चुयंन भावात् । तथा बाह
अस्यामेव प्रज्ञापनायां संग्रहणीकारः-“ जीवानमपञ्चत्वा, बहु-
तरगा बाधराण विधेया । सुदुमाण य पञ्चत्वा, भोर्देण व केच-
ली विति ” । ६८ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मपृथिवीकारिकाः पर्यासा
विशेषाधिकाः ६९ । तेभ्योऽपि सूक्ष्माकाधिकाः पर्यासा विभे-
षाधिकाः ७० । तेभ्योऽपि सूक्ष्मवायुकारिकाः पर्यासा विभे-
षाधिकाः ७१ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मनिगोदा अपर्यासाका असंख्येय-
गुणाः ७२ । तेभ्योऽपि पर्यासाः सूक्ष्मनिगोदाः संख्येयगुणाः,
यद्यपि च पर्याप्ततेजस्कारिकाः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यन्ता
अविशेषेणाम्यत्राऽसंख्येयलोकाकाशाप्रदेशशरीरप्रमाणे उक्ताः,
तथाऽपि लोकासंख्येयत्वत्वाऽसंख्येयमेद्भिन्नत्वादिभ्यमप्य-
बहुत्वमभिधीयमानमुपपन्नं द्रष्टव्यम् ७३ । तेभ्योऽमबसि-
द्धिका अनन्तगुणाः, जलचरपञ्चानन्तकमण्यत्वात् ७४ ।
तेभ्यः प्रतिपत्तिसम्यग्बह्वर्द्योऽनन्तगुणाः ७५ । तेभ्यः सिद्धा
अनन्तगुणाः ७६ । तेभ्योऽपि बाह्वर्चरवस्तुतिकाधिकाः पर्यासा
अनन्तगुणाः ७७ । तेभ्योऽपि सामान्यतो बाह्वर्पर्यासा विभे-
षाधिकाः, बाह्वर्पर्याप्तपृथिवीकारिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ।
७८ । तेभ्यो बाह्वर्पर्याप्तवस्तुतिकाधिका असंख्येयगुणाः, ए
कैकबाह्वर्निगोदपर्याप्तानभ्यासंख्येयगुणानां बाह्वर्पर्याप्तनिगो-
दानां संभवात् ७९ । तेभ्यः सामान्यतो बाह्वर्पर्यासा विभे-
षाधिकाः, बाह्वर्पर्याप्तपृथिवीकारिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ८० ।
तेभ्यः सामान्यतो बाह्वर् विशेषाधिकाः, पर्याप्तपर्याप्तानां तत्र
प्रज्ञेपात् ८१ । तेभ्यः सूक्ष्मवस्तुतिकाधिका अपर्यासा असं-
ख्येयगुणाः ८२ । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्यासा विशेषा-
धिकाः, सूक्ष्मापर्याप्तपृथिवीकारिणादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात्
८३ । तेभ्यः सूक्ष्मवस्तुतिकाधिकाः पर्यासाकाः संख्येयगुणाः,
पर्याप्तसूक्ष्माणामपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः स्वभावात् सवि संख्येय-
गुणतया प्राप्यमाणत्वात्, तथा केवलबेहसोऽनुपलब्धेः ८४ ।
तेभ्योऽपि सामान्यतः सूक्ष्माः पर्यासा विशेषाधिकाः, पर्याप्त-
सूक्ष्मपृथिवीकारिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ८५ । तेभ्यः
पर्यासाऽपर्याप्तविशेषणरहितानाः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अप-
र्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकारिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ८६ । तेभ्योऽपि
पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकारिकादीनामपि तत्र प्रज्ञेपात् ८७ । तेभ्योऽपि
अवसिद्धिका ‘ भवे सिसिद्धिर्वा ते भव-
सिद्धिकाः । भव्या विशेषाधिकाः, जलचरपञ्चानन्तकमाभाः प्र-
योद्वीजा विभेषाधिकाः, इह भव्याभयाः। अतिसूक्ष्मेण
बाह्वर्सूक्ष्मनिगोदजीवाधाराविव प्राप्यते, नाम्ब्र, इन्मेषां सूक्ष्-

भासपि मिलितानामसंख्येयशोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । अत्रभ्याश्च युक्तान्तकसंख्यामात्रपरिमाणुस्ततो ज्ञेयपिक्त्वात् तै किञ्चिन्मात्रा भव्याश्च प्रागभ्यपरिदारेण खितिताः । इदानीं तु बादरसुहृमनिगोदाचित्वात्प्रायः तेषु प्रकृत्यन्त इति विशेषाधिकाः ८८ । तेभ्यः सामान्यतो वनस्पतिजोषा विशेषाधिकाः, अत्येकधारीरिणामपि वनस्पतिजोषानां तत्र प्रमेपात् ७९ । तेभ्यः सामान्यतः एकैन्द्रिया विशेषाधिकाः, बादरसुहृमपुथिषीकायिकादीनामपि तत्र प्रमेपात् ९० । तेभ्यः सामान्यतः द्वैतैश्वर्योनिःकाः विशेषाधिकाः, पर्यासापर्यातद्विचतुःरिन्दियतिर्येकपञ्चैन्द्रियाणामपि तत्र प्रमेपात् ९१ । तेभ्यश्चतुर्गतिभाविनो मिथ्यादृष्टयो विशेषाधिकाः, इह कतिपयाविरतसम्यग्दृष्ट्यादिसंक्षिप्यतिरेकेण शेषाः सर्वेऽपि तिर्यञ्चो मिथ्यादृष्टिचिन्तायां वाससंख्येयानकाद्यस्तत्र प्रकृत्यन्ते । ततस्वैयुजोषाद्वयप्रमेपात् चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयभित्तमाना विशेषाधिकाः ९२ । तेभ्योऽप्यविरता विशेषाधिकाः, अविरतिसम्यग्दृष्ट्यामपि तत्र प्रमेपात् ९३ । तेभ्यः सकपायिणो विशेषाधिकाः, देशविरतादीनामपि तत्र प्रमेपात् ९४ । तेभ्यश्चन्द्राख्या विशेषाधिकाः, उपधातमोद्गादीनामपि तत्र प्रमेपात् ९५ । तेभ्यः सयोगिनो विशेषाधिकाः, सयोगिकेवलिनानामपि तत्र प्रमेपात् ९६ । तेभ्यः संसाररथा विशेषाधिकाः, अयोगिकेवलिनानामपि तत्र प्रमेपात् ९७ । तेभ्यः सर्वजीवा विशेषाधिकाः, सिक्तानामपि तत्र प्रमेपात् ९८ । गतं महादण्डकक्षायम् । अक्षो ३ पद । पं सं० ।

(२५) [योगश्रारम्भ] चतुर्दशविधस्य संसारसमापण-
औष्वस्य योगानामप्यबहुत्वम्—

एस्सि खं भंते ! चउदसविहाणं संमारममावष्णगाणं जीवाणं जट्टाणुकोसगमस जोगस्स कयेरं कयेरंहेतो० जाव विसमाट्ठिपा वा १ । गोयमा ! सञ्जथावा सुहुमस्स अपज्जत्तगमस जट्टएणए जोए २, बादरस्स अपज्जत्तगमस जट्टएण जोए असंखेज्जगुण ३, वेइदियस्स अपज्जत्तगमस जट्टएण जोए असंखे ४, एवं तेंइदियस्स ५, एवं चउरिंदियस्स ६, असएणिपंचिंदियस्स अपज्जत्तगमस जट्टएण जोए असंखेज्जगुण ६, सएणिपंचिंदियस्स अपज्जत्तगमस जट्टएण जोए असंखे ७, सुहुमपज्जत्तगमस जट्टएण जोए असंखेज्जगुण ८, बादरस्स पज्जत्तगमस जट्टएण जोए असंखेज्जगुण ९, सुहुमस अपज्जत्तगम उकोसए जोए असंखेज्जगुण १०, बादरस्स अपज्जत्तगम उकोसए जोए असंखे ११, सुहुमस पज्जत्तगमस उकोसए जोए असंखे १२, बादरस्स पज्जत्तगमस उकोसए जोए असंखे १३, वेइदियस्स पज्जत्तगमस जट्टएण जोए असंखे १४, एवं तेंइदियस्स वि १५, एवं जाव सखिपंचिंदियस्स पज्जत्तगमस जट्टएण जोए असंखे १६, वेइदियस्स अपज्जत्तगमस उकोसए जोए असंखे १७, एवं तेंइदियस्स वि १८, एवं चउरिंदियस्स वि १९, एवं जाव सखिपंचिंदियस्स अपज्जत्तगमस उकोसए जोए असंखे २०, एवं चउरिंदियस्स वि २१, एवं जाव सखिपंचिंदियस्स पज्जत्तगमस उकोसए जोए असंखेज्जगुण २२ ।

(जहन्नुक्खोसगसस जोगस्स ति) जघण्यो निकुटः काञ्चिद्विकिमाभियस एव च व्यक्तवत्परिपुष्योः कर्षे उन्हेतो जघण्योत्कर्षः, तस्य योगस्य बीजोपगमस्योपायशमादिसमुत्थकायादिपरिस्पन्दस्य पतस्य च योगस्य चतुर्दशैश्वर्यादानसम्बन्धाज्ञधर्योत्कर्षेनमाहाविश्रुतिविषयसापत्न्यवृत्त्यादिजीवस्थानकविशेषाज्ञयति, तत्र (सव्यःशोषेत्वादि) सुहृमस्य पुथिष्यादिः सुहृमत्वात्परीरस्य तस्याप्युपधातकत्वेनासत्पुण्येनासत्प्रापि जघण्यस्य विकसितत्वात्सर्वेषां योष्यमाणेषां योगस्यः सकाशात् स्तोकाः सर्वस्तोका भवति, जघण्यो योगः स पुनर्वैदिककाम्मरीदारिकपुद्गलप्रहणप्रथमसमयवर्षा, तदन्तरञ्च समव्यवृत्त्याजघण्योत्कृष्टो यावत्सर्वोत्कृष्ट न प्रयति । (वायुरस्सेत्यादि) बादरजोषस्य पुथिष्यादियुपधातकत्वात्तद्विषय जघण्यो योगः पूर्वोपापेक्याऽसक्यात्पुण्योऽसंख्यातगुणवृत्तौ बादरत्वादेवति । एवमुत्तरभाष्यसंख्यातगुणेषु वृत्तयः । इह च यद्यपि पर्यासकरीन्द्रयोत्कृष्टकायापेक्या पर्यासात्तद्विद्वानासत्पिङ्गामसफित्तानां च पञ्चैन्द्रियाणासकृष्टः कायः संख्यातगुणो जयति, संख्यातजोषप्रमाणात्वात्, तथापीह योगस्य परिरिस्पन्दस्य विवक्षितत्वात्तस्य च ज्ञेयोपशमाविशेषसामर्थ्याधोक्तमसंख्यातगुणस्य न विकल्पते, न शब्दकामस्यैव पक्ष स्थान्यो भवति, महाकायस्य वा महानिव, अत्यथेनापि तस्य दशैन्द्रियानि । अ० २४ शू० १ उ० ।

पतस्यैव योगावपबहुत्वस्य व्याख्यायिका गाथा—
सुहुमनिगोदाइरण—ऽपज्जोगवायविलगल असएणामण । अपज्ज लहुपदमहुगुर, पज्जइस्सिरसो अमंखगुणो ॥ १ ३ ॥
तत्र सुहृमनिगोदस्य सुहृमसाधारणस्य लक्ष्यपयांसकस्य सर्वजघण्यवीर्येस्तेति च स्तोत्रार्थोऽहं वृत्तयः । तस्यैव सर्वजघण्ययोगस्य प्राच्यमाणत्वादादिकृष्णः प्रथमोऽप्यसि सभयः सुहृमनिगोदादिकृष्णः, तत्र सत्येकवचनलोपाश्च प्रकृतत्वात् । किम्, १, इत्याह— (अपज्जोग ति) इत्यपः सर्वस्तोकां योगां वीर्यव्यापार इति यावत् । ततो बादरस्य विगतत्वात् । अस्सएण ति) अस्मिन्निः 'अपज्ज ति' प्रत्येकं सन्ध्यात्सुहृमनिगोदाबादरञ्चकृष्णस्य गुरुत्कृष्टो योगो सर्वेषुगुणो वाच्यः । ततः प्रथमद्विकस्य (पज्जइस्सिरसो असंखगुण ति) पर्यासस्य इत्यो जघण्य इतर सन्ध्यायोगो यथाक्रममसंख्येयगुणो वाच्य इति गाथाकारार्थः । भावार्थस्तवयम—सुहृमनिगोदस्य स्रव्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वसंमानस्य जघण्यो योगः सर्वस्तोकाः १ । ततो बादरैकोऽप्यस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वसंमानस्य जघण्यो योगोऽसंख्येयगुणः २ । ततो द्वीन्द्रियस्य स्रव्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वसंमानस्य जघण्यो योगोऽसंख्येयगुणः ३ । ततोऽसंख्येयस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वसंमानस्य जघण्यो योगोऽसंख्येयगुणः ४ । ततोऽसंख्येयस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वसंमानस्य जघण्यो योगोऽसंख्येयगुणः ५ । ततोऽसंख्येयस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वसंमानस्य जघण्यो योगोऽसंख्येयगुणः ६ । ततोऽसंख्येयस्य लक्ष्यपर्यासकस्य प्रथमसमये वसंमानस्य जघण्यो योगोऽसंख्येयगुणः ७ । ततो बादरैकैन्द्रियस्य पर्यासस्य जघण्यो योगोऽसंख्येयगुणः ८ । ततो बादरैकैन्द्रियस्य पर्यासस्य जघण्यो योगोऽसंख्येयगुणः ९ । ततो सुहृमनिगोदस्य लक्ष्यपर्यासकत्वात् योगोऽसंख्येयगुणः १० । ततो बादरैकैन्द्रियस्य पर्यासस्य जघण्यो योगोऽसंख्येयगुणः ११ । ततो सुहृमनिगोदस्य पर्यासकत्वात् योगोऽसंख्येयगुणः १२ । ततो बादरैकैन्द्रियस्य पर्यासकत्वात् योगोऽसंख्येयगुणः १३ ॥
असत्तत्तमुक्त्वा, पज्जजहृशियरि एव विट्ठारण ।

यसरीरस्त जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ५, कम्मग-
सरीरस्त उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ६, आहारग-
भीसगस्त जहएणए जोमे असंखेज्जगुणे ७, आहा-
रगपीसगस्त उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ८, ओरासि-
यपीसगस्त वेउन्वियपीसगस्त । एएसिं ए उक्कोसए
जोए दांएह वि तुद्धे असंखेज्जगुणे ९, असन्नामोस-
यणजोगस्त जहएणए जोए असंखेज्जगुणे १०, आ-
हारगस्त सररीरस्त जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ११,
तिविहस्त मणयांगस्त चउन्विहस्त वडजोगस्त एएमि
ए सचएह वि तुद्धे जहएणए जोए असंखेज्जगुणे १२,
आहारगसरीरस्त उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १३,
ओरासियसरीरस्त वेउन्वियसरीरस्त चउन्विहस्त य म-
खजोगस्त चउन्विहस्त य वडजोगस्त । एएसिं ए दस-
एह वि तुद्धे उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १४ ।
टीका सुगमा । भ० २५ श० १ उ० ।

मनोयोण्यादीनामन्यबहुत्वम्-

एएसिं णं जंते । जीवाणं सजोगीणं मणजोगीणं वय-
जोगिणं कायजोगीणं अजोगीण य कपरे कपरेहितो
अप्या वा बहुया वा तुक्का वा विभेसाहिया वा ? । गो-
यया ! सवन्त्योवा जीवा मणजोगी, वयजोगी असंखे-
ज्जगुणा, अजोगी अणंतगुणा, कायजोगी अणंतगुणा,
सजोगी विसेसाहिया ।

सर्वस्तोका मनोयोगिनः, संख्यसंक्षिपयथा एव हि मनोयोगि-
नः, ते च स्तोका इति; तेषां चार्यागिनोऽसंख्येयगुणाः, द्वि-
यादीनां चार्यागिनां संख्येयोऽसंख्यतगुणत्वात् । तेषांऽर्थागि-
नोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेष्यः काययोगिनोऽनन्ताः,
वनस्पतीनामनन्तत्वात् । यद्यपि निर्गोदजीवानामनन्तानामेकं
शरीरं तथापि तेनैकेन शरीरेण सर्वेऽप्यारहादिप्रदणं कुर्वन्ती-
नि सर्वेषामपि काययोगिभावान्नन्तगुणत्वव्याघातः । तेष्यः
सामान्यतः सयोगिनो विशेषाधिकाः, द्विऽद्वियादीनामपि चार्यो-
यादीनां तत्र प्रक्षेपात् । गते योगिचार्ये । प्रश्नो ३ पद । कर्मो
जी० । १० सं० ।

(२६) [योगिद्वारम्] शीतान्तिकेनिकानाम्-

एतेसिं एं भंते । जीवाणं सीतजोगीणयाणं उसिणजोगीयाणं
सीतोसिणजोगीयाणं अजोगीयाण य कपरे कपरेहितो
अप्या वा० ४ ? । गोयया ! सवन्त्योवा जीवा सीतोसिणजो-
गिया, उसिणजोगिया असंखेज्जगुणा, अजोगिया अणंत-
गुणा, सीतजोगिया अणंतगुणा ।

अन्यबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः शीतोष्णयोनयः शीतोष्णो-
प्रययोनिकाः, प्रवनवासिगमैजातयैकपञ्चिन्दिगमजमनुष्य-
वन्तःउपोतैकपैवैमैनिकानामेवोजययोनिकत्वात् । तेषांऽसं-
ख्येयगुणा उष्णयोनिकाः, सर्वेषां सूक्ष्मकारभेदभिराणां नैज-
स्कायिकानां प्रभूततराणां नैरिकाणां कतिपयानां पृथिव्यव्या-
पुप्रत्येकवनस्पतीनां चोऽर्थायिकत्वात् । अर्थायिका अनन्तगुणाः

सिद्धानामनन्तत्वात् । तेष्यः शीतयोमिका अनन्तगुणाः, अनन्त-
कायिकानां सर्वेषामपि शीतयोमिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽ-
प्यनन्तगुणत्वात् ।

सचिचत्तचिचिभ्योयोनिकानाम्-

एतेसिं एं जंते । जीवाणं सचिचजोगीणं अचिचजो-
जोगीणं मीसजोगीणं अजोर्णं। ए य कपरे कपरेहितो
अप्या वा० ४ ? । गोयया ! सवन्त्योवा जीवा मीसजोगी-
या, अचिचजोगीया असंखिजगुणा, अजोर्णिया अणं-
तगुणा, सचिचजोगीया अणंतगुणा ।

अन्यबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका जीवा मिश्रयोमिका, गर्भेष्-
त्कान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्णाणामेव मिश्रयोनिकत्वात् । त-
भ्योऽचिचयोमिका असंखेयगुणाः, नैरयिकदेवानां कतिपयानां च
प्रत्येकं पृथिव्यप्लेतोवायुप्रत्येकवनस्पतिद्विचिचतुरिन्द्रियसंभू-
त्विमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंभूत्विममनुष्णाणामचिचयोमिकत्वात् ।
तेषांऽप्ययोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । त-
ेष्यः सचिचयोमिका अनन्तगुणाः, निर्गोदजीवानां सचिचयो-
निकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।

संभुतविवृतयोमिकानाम्-

एतेसिं एं जंते । जीवाणं संभुजोगीयाणं विवृजोगीयाण
य संभुजविवृजोगीयाणं अजोगीयाण य कपरे कपरेहितो
अप्या वा० ४ ? । गोयया ! सवन्त्योवा संभुजविवृजोगीया,
विवृजोगीया असंखेज्जगुणा, अजोगीया अणंतगुणा,
संभुजोगीया अणंतगुणा ।

अन्यबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः संभुतविवृतयोमिकाः, गर्भेष्-
त्कान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्णाणामेव संभुतविवृतयोमिकत्वा-
त् । तेषां विवृतयोमिकाः संखेयगुणाः, द्विऽद्वियादीनां चतुरि-
न्द्रिययययययययय संभुत्विमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंभूत्विममनुष्णाणां
च विवृतयोमिकत्वात् । तेषांऽप्ययोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानाम-
नन्तत्वात् । तेष्यः संभुतयोमिका अनन्तगुणाः, वनस्पतीनां संभु-
तयोमिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रश्नो ८ पद ।

(२७) [अर्थाद्वारम्] सल्लययानामन्यबहुत्वम्-
तत्र सल्लययाऽल्लययानामन्यबहुत्वचिन्तायां- "सवन्त्योवा
अल्लेस्ता, सल्लेस्ता अणंतगुणा" इति १ प्रति० ।

सप्रति सल्लयदीनामन्यबहुत्वमाह-

एएमिं एं भंते । जीवाणं सल्लेसाणं कएहल्लेसाणं नील-
लेसाणं काउल्लेसाणं तेउल्लेसाणं पम्हलेसाणं सुकलेसाणं
अल्लेसाणं य कपरे कपरेहितो अप्या वा० ४ ? । गोयया !
सवन्त्योवा जीवा सुकलेस्ता, पम्हलेस्ता संखिज्जगुणा, तेउ-
लेस्ता संखिज्ज, अल्लेस्ता अणंतगुणा, काउलेस्ता अणंत-
गुणा, नीललेस्ता विभेसाहिया, कएहल्लेस्ता विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः शुक्लेश्याः, लालकाविष्णोवायुसरपथेवसानेषु
वैमानिकेषु रेवेयु कतिपयेषु च गर्भेष्पुन्युक्तिकेषु कर्मभूमिकेषु
संख्येयययययययययु मनुष्णेषु तिर्यक्पुन्युक्तिकेषु कतिपयेषु सं-
ख्येययययययययु तस्याः संजन्ता । नेज्यः पण्णेश्याकाः संखेय-
गुणाः, सा हि सन्नुमारमादेनुद्वाराणां कवयवसिपु संवेयु-
नथा प्रभूतेषु गर्भेष्पुन्युक्तिकेषु कर्मभूमिषु संख्येयययययुक्ते-

पु मनुष्यस्त्रीपुनपुंसकेषु नया गर्भमुत्कान्तिकतिर्यम्योनिकस्त्री-
पुनपुंसकेषु असंख्येयवर्षेषुपुष्पेष्वप्यावत्ते, सनत्कुमारादिदेवाद्य-
श्च समुदिता क्षान्तकादिदेवादिभ्यः संख्येयगुणाः, इति प्रवर्तिता
शुक्लश्रेयाकाः पञ्चलश्रेयाकाः संख्येयगुणाः, तेज्यस्तेजोऽह-
श्वाकाः संख्येयगुणाः, सर्वेषां सौभ्रमंगलज्योतिष्कदेवानां क-
तिपदानां च भवत्परतिपत्तराग्रेभ्योत्कान्तिकतिर्यम्योन्दि-
य-मनुष्याणां बादराऽपरातिकेन्द्रियाणां च तेजोऽश्रेयाभावात् ।
अन्वसंख्येयगुणाः कस्माच्च भवन्ति, कथं च भवन्ति इ, इति ।
वेत् । उच्यते-इह ज्योतिष्का प्रवर्तमानास्तस्योऽप्यसंख्येयगुणाः,
किं पुनः सनत्कुमारादिदेवैः; ते च ज्योतिष्कास्तेजोऽश्रेयाका-
स्तथा सौभ्रमंगलकल्पदेवाश्च ततः प्राप्नुवन्त्यसंख्येयगुणाः । तद-
वुक्तम् । चस्तुतरापरिहानात् । श्रेयास्ये हि गर्भमुत्कान्तिकति-
र्यम्योनिकानां संसृष्टिमप्यन्दिगतियतिर्यम्योनिकानां च कृष्ण-
श्रेयास्यपद्मबहुते स्वै बह्वपि- "सर्वशेषो वा गम्भवत्कतिपतिरि-
क्काजोगिया सुकलेस्सा, तिरिक्काजोगियाशां संखेजगुणाभो, प-
म्हलेस्सा गम्भवत्कतिपतिरिक्काजोगिया संखेजगुणा, तिरिक्काजो-
गियाभो संखेजगुणाभो, तसलेस्सा गम्भवत्कतिरिक्काजोगिया
संखेजगुणा, तसलेस्साभो तिरिक्काजोगियाभो संखेजगुणाभो"
इति मद्वादयम्के च तिर्यम्योनिकस्त्रीभ्यो व्यन्तरज्योतिष्काश्च
संख्येयगुणा बह्वन्ते । ततो यद्यपि भवनवासित्योऽप्यसंख्येयगुणा
ज्योतिष्काः, तथापि पञ्चलश्रेयाकेभ्यस्तेजोऽश्रेयाकाः संख्येयगुणा
एव । इदमत्र नाप्यर्थः-यदि केवलम्-देवानेव पञ्चलश्रेयान-
धिकृत्य देवा एव तेजोऽश्रेयाकाः किन्तु ततो भवन्त्यसंख्येय-
गुणाः, यावता तिर्यसंभिन्ना पञ्चलश्रेयाकेभ्यस्तिर्यसंभिन्ना
एव तेजोऽश्रेयाकाः किन्तु ततो, तिर्यश्च पञ्चलश्रेया अपि प्रति-
बहवस्त्वः संख्येयगुणा इति । तेभ्यः श्रेयेश्रेया अन्नन्तगुणाः,
सिद्धानामन्नन्तवात् । तेभ्यः कापोतश्रेया अन्नन्तगुणाः, वनस्प-
निकायिकानामपि कापोतश्रेयायाः संज्ञात्, वनस्पतिकायिक-
कायां च सिन्धेभ्योऽप्यन्नन्तगुणात् । तेभ्योऽपि नीलश्रेया
विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां नीलश्रेयासंभवात् । तेभ्योऽपि
कृष्णश्रेयाका विशेषाधिकाः, प्रभूतानां कृष्णश्रेयाकत्वात् ।
सामान्यतः सलश्रेया विशेषाधिकाः, नीलश्रेयाकादीनामपि तत्र
प्रकेषात् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० ।

तद्वं सामान्यतोऽप्यवहुत्वं जितिततः संप्रति नैरपिकेषु
तश्चित्तयच्चाह-

एतेसि णं भंते । नरैर्याणं कण्ठलेस्साणं नीललेस्साणं
काउलेस्साण य कपरे कपरेरहितो अप्पा वा बहुया वा तुष्ठा
वा विसंसाहिया वा ? । गोयमा । सन्वत्थोवा नरैर्या
कण्ठलेस्सा, नीललेस्सा असंखेजगुणा, काउलेस्सा अ-
संखेजगुणा ।

नैरिकाणां हि तिको श्रेयाः । तच्छा-कृष्णश्रेया, नीलश्रेया,
कापोतश्रेया । उक्तञ्च- "काउपदोस्तु तथया-ए मोसिया नीलि-
या चउत्थीए । पंचमियाए मिरस्सा, कएहा ततो पदमकएहा ।"
॥ १ ॥ ततः त्रयाणामेव पदानां परस्परमध्यपद्मबन्धित्वा, तत्र
सर्वेस्तोकाः कृष्णश्रेया नैरिकाका, कतिपयपञ्चमपृथिवीगतन-
रकायासेषु चतुर्णां समस्त्यां नैरिकाणां कण्ठश्रेयासंज्ञात्वात् ।
ततोऽसंख्येयगुणा नीलश्रेयाः, कतिपयेषु स्त्रीयपृथिवीगतन-
रकायासेषु चतुर्थ्यां समस्त्याणां पृथिव्यां कतिपयेषु पञ्चमपृथि-
वीगतनरकायासेषु नैरिकाणां पूर्वोक्तयोऽसंख्येयगुणाणां नी-

लश्रेयाभावात् । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः कापोतश्रेयाः, प्रथम-
द्वितीयपृथिव्योस्त्वतीयपृथिवीगतेषु च कतिपयेषु नरकायासेषु
नारकायामन्तरोक्तयोऽसंख्येयगुणाणां कापोतश्रेयासंज्ञा-
वात् ।

अधुना तिर्यम्योन्दिपदपद्मबहुत्वमाह-

एसि णं भंते । तिरिक्कजोगियाणं कएहलेस्साणं०
जाव सुकलेस्साण य कपरे कपरेरहितो अप्पा वा बहुया वा
तुष्ठा वा विसंसाहिया वा ? । गोयमा । सन्वत्थोवा तिरिक्क-
जोगिया सुकलेस्सा, एवं जहा भोहिया, नवरं अलेस्सज्जा ।
(एवं जहा भोहिया इति) एवमुपरचितेन प्रकारेण प्राग्भू-
तश्रौतिकास्तथा चकम्पाः, नवरंमलेश्यावर्जोस्तिरिक्कामश्रेयाना-
मसंभवात् । ते श्वस्य-सर्वस्तोकास्तियेगुणाधिकाः शुक्लश्रेया-
स्ते च अन्नन्तदेवं संख्याता ब्रह्मण्यः १, तेभ्योऽसंख्येयगुणाः प-
ञ्चलश्रेयाः २, तेभ्योऽपि संख्येयगुणास्तेजोऽश्रेयाः ३, तेभ्यो-
ऽप्यन्नन्तगुणाः कापोतश्रेयाः ४, तेभ्योऽपि नीलश्रेया वि-
शेषाधिकाः ५, तेभ्योऽपि कृष्णश्रेया विशेषाधिकाः ६, ते-
भ्योऽपि सलश्रेया विशेषाधिकाः ७ ।

साम्यतमेकन्दिपदपद्मबहुत्वमाह-

एतेसि णं जंते । एग्मिदियाणं कएहलेस्साणं० जाव तेउ-
लेस्साण य कपरे कपरेरहितो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा । म-
न्वत्थोवा एग्मिदिया तेउलेस्सा, काउलेस्सा अणंतगुणा,
नीललेस्सा विसंसाहिया, कएहलेस्सा विसंसाहिया ॥
सर्वस्तोका एकन्दिपदपद्मश्रेयाः, कतिपयेषु बादरपृथिव्य-
पृथिवीकवनस्पतिकन्दिपदपद्मश्रेयायां तस्याः संज्ञात्वात् ।
तेभ्यः कापोतश्रेया अन्नन्तगुणाः, अन्नन्तानां सुकमबाह्वरिगो-
द्वजीवानां कापोतश्रेयासंज्ञात्वात् । तेभ्योऽपि नीलश्रेया वि-
शेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णश्रेया विशेषाधिकाः । अत्र भाव-
ना प्रागेवोक्ता ।

सम्प्रति पृथिवीकायिकादिविषयमप्यवहुत्वं चकम्प्यम् । तत्र पृ-
थिव्यवहनस्पतिकायानां चतस्रो श्रेयाः, तेजोवायुकायानां तिस्र
इति तथैव सूत्रमाह-

एतेसि णं जंते । पुडवीकाइयाणं कएहलेस्साणं० जाव
तेउलेस्साण य कपरे कपरेरहितो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ।
जहा भोहिया एग्मिदिया, नवरं काउलेस्सा असंखिज-
गुणा, एवं अत्राउकाइयाण वि । एतेसि णं जंते । तेउ-
काइयाणं कएहलेस्साणं नीलकाउलेस्साण य कपरे कपरे-
रहितो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा । सन्वत्थोवा तेउकाइया
काउलेस्सा, नीललेस्सा विसंसाहिया, कएहलेस्सा विसं-
साहिया, एवं वाउकाइयाण वि । एतेसि णं जंते । वणस्स-
इकाइयाणं कएहलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य जहा ए-
ग्मिदियाणं वेरुदियतेरुदियचउरिदियाणं जहा तेउकाइया-
णं । एतेसि णं भंते । पंचिदियमिरिक्कजोगियाणं कएह-
लेस्साणं० जाव सुकलेस्साण य कपरे कपरेरहितो अप्पा वा
बहुया वा तुष्ठा वा विसंसाहिया वा ? । गोयमा । जहा भो-
हियाणं तिरिक्कजोगियाणं, नवरं काउलेस्सा असंखि-

अनगुणा ? , संमुच्छिन्नपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं जहा ते-
उकाइयाणं २ , गम्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं
जहा क्रोःइयाणं , तिरिक्त्वजोषियाणं नवरं काउलेस्सा सं-
खिज्जगुणा ३ , एवं तिरिक्त्वजोषियाणं वि ४ ।

‘पुब्वीकार्याणमित्यादि’ सुगमम् । द्विचिन्नुदिन्द्रियविषयमपि
पञ्चिन्द्रियतियर्थानुगतिसुत्रे कापोतलेहया अस्संख्यानगुणा नव-
नन्तगुणाः , पञ्चिन्द्रियतिरिक्त्वा सर्वसंख्यायाऽप्यसंख्यातत्वात् ।
संमुखिन्नुमपञ्चिन्द्रियतिरिक्त्वा यथा तेजस्कायिकानामुक्तं तथा व-
कस्यम् । तेजस्कायिकानामिह तेषामप्याद्यलेहयाययमात्रसङ्गा-
त्वात् । गन्धव्युत्क्रान्तिकपञ्चिन्द्रियतियर्थानुगतिसुत्रम्-तेजोलेहया-
प्यः कापोतलेहयाः संख्येयगुणा वकस्यम् , तावतामिह तेषां केव-
लवैत्सोपसन्नधत्वात् , शेषमौचितिसुत्रं वकस्यम् । एवं तियर्थानु-
गतिकानामपि सुत्रं वकस्यम् । तथाचाऽऽह-(एवं तिरिक्त्व-
जोषियाणं चि) ।

अथुना संसूचिन्नुमगन्धव्युत्क्रान्तिकतियर्थकपञ्चिन्द्रियत्वीविषयं
द्वेषमाह-

एतेसि खं भंते ! संमुच्छिन्नपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं
गम्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणकएहलेस्साणं० जाव
सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा गम्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाण सुक-
लेस्सा , पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा , तेउलेस्सा संखिज्जगुणा ,
काउलेस्सा संखेज्जगुणा , नीललेस्सा विमसाहिया , क-
एहलेस्सा विससाहिया , काउलेस्सा संमुच्छिन्नपंचिदियति-
रिक्त्वजोषिया अस्संखिज्जगुणा , नीललेस्सा विससाहिया ,
कएहलेस्सा विससाहिया । एतेसि पंचं भंते ! संमु-
च्छिन्नपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं तिरिक्त्वजोषियाणं य
कएहलेस्साणं० जाव सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अ-
प्पा वा० ४ ? । गोयमा ! जद्देव पंचमं तद्दा इमं पि उट्ठं जा-
णियव्वं ॥

एतच्च प्राग्वज्ञायनीयम् । इदं किञ्च पञ्चिन्द्रियतियर्थानुगतिकाधि-
कारे षष्ठं सूत्रम्,अनन्तरंके च षष्ठमम् । अत उक्तम्-(अदेव
पंचमं तद्दा इमं उट्ठं भाणियव्वं)

अथुना गन्धव्युत्क्रान्तिकतियर्थकपञ्चिन्द्रियतियर्थकत्वीविषयं
सप्तमं सूत्रमाह-

एतेसि पंचं भंते ! गम्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं
तिरिक्त्वजोषियाणं य कएहलेस्साणः० जाव सुकलेस्साण य
कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा गम्भ-
वकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाण सुकलेस्सा , सुकलेस्सा-
ओ तिरिक्त्वजोषियाणो संखेज्जगुणाओ , पम्हलेस्सा ग-
म्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाण संखेज्जगुणा , पम्ह-
लेस्साओ तिरिक्त्वजोषियाणोओ संखेज्जगुणाओ , तेउ-
लेस्सा संखेज्जगुणा , तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ ,
काउलेस्सा संखेज्जगुणा , नीललेस्सा विससाहिया ,

कएहलेस्सा विससाहिया , काउलेस्साओ संखिज्जगुणा-
ओ , नीललेस्साओ विससाहियाओ , कएहलेस्साओ वि-
सेसाहियाओ ॥

“ एतसि खं भंते ! ” इत्यादि सुगमम् । नवरं सर्वोत्त्वपि लेहया-
सु खियः प्रवृत्ताः , सर्वसंख्यायाऽपि च तियर्थकपुण्येन्यास्तियर्थक-
खियसिगुणाः , “ तियुणाप्रतिकारिकाया , तिरियाओ इतियथा सुण-
यव्वा ” इति वचनात् । ततः संख्यातगुणा उक्ताः , नपुंसका-
स्तु गन्धव्युत्क्रान्तिकाः कतियथ इति न ते वयोक्तमद्वयबहुत्वं
व्याच्यन्ति ॥

सम्प्रति संसूचिन्नुमपञ्चिन्द्रियतियर्थानुगतिकगन्धव्युत्क्रान्तिकपञ्च-
िन्द्रियतियर्थानुगतिकतियर्थकत्वीविषयमद्यम् , तथा सामान्यतः पञ्च-
िन्द्रियतियर्थानुगतिकतियर्थकत्वीविषयं नवमं , तथाच सामान्यत-
स्तियर्थानुगतिकतियर्थकत्वीविषयं दशमं सूत्रमाह-

एतेसि खं भंते ! संमुच्छिन्नपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं
गम्भवकंतियपंचिदियतिरिक्त्वजोषियाणं तिरिक्त्वजो-
षियाणं य कएहलेस्साणं० जाव सुकलेस्साण य कयरे
कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा गम्भवक-
तियतिरिक्त्वजोषियाण सुकलेस्सा , सुकलेस्सा उ चि संखि-
ज्जगुणाओ , पम्हलेस्साओ संखिज्जगुणाओ , तेउलेस्साओ
गम्भ चि संखेज्जगुणा , तेउलेस्सा उ चि संखेज्जगुणा , का-
उलेस्सा उ चि संखेज्जगुणा , नीललेस्सा विमसाहिया ,
कएहलेस्सा विससाहिया , काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ ,
नीललेस्साओ विससाहियाओ , कएहलेस्साओ विमसा-
हियाओ , काउलेस्साओ संमुच्छिन्नपंचिदियतिरिक्त्वजो-
षिया अस्संखिज्जगुणा , नीललेस्सा विससाहिया , कएह-
लेस्सा विससाहिया उ । एतसि पंचं भंते ! पंचिदियतिरि-
क्त्वजोषियाणं तिरिक्त्वजोषियाणं य कएहलेस्साणं० जाव
सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा !
सव्वत्थोवा पंचिदियतिरिक्त्वजोषियाण सुकलेस्सा , सुकले-
स्साओ संखिज्जगुणाओ , पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा , पम्ह-
लेस्साओ संखिज्जगुणाओ , तेउलेस्सा संखेज्जगुणा ,
तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ , काउलेस्सा संखेज्जगुणा ,
नीललेस्सा विमसाहिया , कएहलेस्सा विससाहिया ,
काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ , नीललेस्साओ विससा-
हियाओ , कएहलेस्साओ विससाहियाओ ए । एतेसि खं
भंते ! तिरिक्त्वजोषियाणं तिरिक्त्वजोषियाणं य कएह-
लेस्साणं० जाव सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा-
वा० ४ ? । गोयमा ! जद्देव एवमं अप्पाबहुमं , तद्दा इमं पि ,
नवरं काउलेस्सा तिरिक्त्वजोषियाण अणंमगुणा । एवं
एते दस अप्पाबहुना तिरिक्त्वजोषियाणं ० । एवं मणु-
स्साणं वि अप्पाबहुना जाणियव्वन्वा ; नवरं पञ्चमगं अ-
प्पाबहुमं णत्थि ॥

आवना प्रागुक्तानुसारेण कर्षव्या । विष्वान्कविपयां सूत्र-
सकलनामाह—“एवमेते वृक्ष अप्यावहृया तिरिक्कसोऽधिया-
षमिति” सुगमम्; नवररामहेमे पूर्वाचार्यप्रदर्शिते संग्रहशीलमय-
“सोऽधियपयं १ संसु-स्त्रिया य २ म्मभ ३ इतिरिक्कसुत्तीओऽ
संमुकडगभतिरिया, ४ मुकडतिरिक्की य ६ गनम् ७ ॥ १ ॥
संमुकडगभसुत्ती, ८ परिणितिःतिरिग्गिध्याओ ६ इत्थी उ १० ।
वृक्ष अप्यावहृगभेया, तिरियाणं हौति खायव्वा ॥ २ ॥
यथा तिरिक्कामस्यहृवाभ्यान्मुकानि तथा मनुष्याणामपि वक्-
ष्यानि; नवरं पश्चिमे दशममन्वषडुत्वं नास्ति, मनुष्याणा-
मन्वत्तवाजावात्; तदभावं “काऽहंससा अर्धतगुणा” इति-
पदांसंभवात् ।

अप्युवा देवविषयमन्वषडुत्वमाह—

एतमि एं भेते । देवाणं काऽहलंस्माणं० जाव मुकलेस्सा-
ण य कयरे कयरेऽहितो अप्या वा० ४ १ । गोयमा । मन्वत्तोवा
देवा मुकलेस्सा, पम्हलेस्सा अर्धस्विजगुणा, काउलेस्सा
अर्धस्विजगुणा, नीललेस्सा विसेमाहिया, काऽहलेस्सा
विसेमाहिया, तेउलेस्सा मंस्विजगुणा ॥

सर्वस्तोका देवाः शुक्लेश्याः, लातकादिदेवद्वौकेष्वेव तेषां स-
द्भावात् । तेज्य. पक्षमश्या अस्वययगुणाः, जवनपतिव्यन्तरदे-
वेषु सनन्नुमारादिदेवेष्वोऽस्वययगुणेषु कापोतलेश्यासद्भावा-
त् । तेभ्योऽपि नीलेश्या विशेषाधिकाः, प्रजूनतराणां भवन-
पतिव्यन्तराणां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या वि-
शेषाधिकाः, प्रजूनतराणां तेषां कृष्णलेश्याकत्वात् । तेभ्योऽपि
तेजोऽधियाः स्वययगुणाः, कतिपयानां जवनपतिव्यन्तराणां स-
मस्तानां ज्योतिष्कसौधमेशानदेवानां तेजोऽधियाजावात् ।

अप्युवा देवीविषयं सूत्रमाह—

एपमि एं भेते । देवीणं काऽहलंस्माणं० जाव तेउलेस्साण
य कयरे कयरेऽहितो अप्या वा बहुया वा तुह्वा वा विने-
साहिया वा १ । गोयमा । मन्वत्तोवाओ देवीओ काऽहलेस्सा-
ओ, नीलेश्याओ विसेमाहियाओ, काऽहलेस्साओ विसे-
माहियाओ, तेउलेस्साओ संस्वेजगुणाओ ॥

(एपमि ण जंते । देवीणमित्यादि) देव्यक्ष सौधमेशानान्ता
एव न परत इति तासां चतस्र एव श्रेष्यास्तनस्तद्विषयमेया-
द्वषडुत्वमिति धत्तुना “जाव तेउलेस्साण य” इत्युक्तम् । सर्व-
स्तोका देव्यः कापोतलेश्याः, कतिपयानां जवनपतिव्यन्तरदेवा-
नां कापोतलेश्याभावात् । तेभ्यो विशेषाधिका नीलेश्याः, प्र-
जूनानां भवनपतिव्यन्तरदेवानां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि
कृष्णलेश्या विद्याधिकाः, प्रजूनानां तासां कृष्णलेश्याकत्वात् ।
ताभ्यस्तजोऽधियाः स्वययगुणाः, ज्योतिष्कसौधमेशानदेवाना-
मपि समस्तानां तेजोऽधियाकत्वात् ।

समर्थन देवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एतमि एं जंते । देवाणं देवीण य काऽहलेस्साणं० जाव
मुकलेस्साण य कयरे कयरेऽहितो अप्या वा० ४ १ । गोयमा ।
मन्वत्तोवा देवा मुकलेस्सा, पम्हलेस्सा अर्धस्विजगुणा,
काउलेस्सा अर्धस्विजगुणा, नीललेस्सा विसेमाहिया,
काऽहलेस्सा विसेमाहिया, काउलेस्साओ देवीओ संस्वेज-
१६६

गुणाओ, नीलेश्याओ विसेमाहियाओ, काऽहलेस्साओ
विसेमाहियाओ, तेउलेस्सा देवा संस्वेजगुणा, तेउलेस्सा-
ओ देवीओ संस्वेजगुणाओ ।

सर्वस्तोका देवाः शुक्लेश्याः, तेभ्योऽस्वययगुणाः पक्षलेश्याः,
तेभ्योऽप्यस्वययगुणाः कापोतलेश्याः, तेभ्यो नीलेश्या विशेष-
ाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, पतासप्रागण
भाविताम् । तेभ्योऽपि कापोतलेश्याका देव्यः स्वययगुणाः; ताश्च
भवनपतिव्यन्तरनिकापोतान्तेषां वेदितव्याः, अन्यत्र देवीनां का-
पोतलेश्याया मसम्भवात् । देव्यश्च देवभ्यः सामान्यतः प्रनिनि-
कायं ह्यभिश्रुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यां देवीभ्यः कापोतलेश्याया
अस्वययत् । देव्यश्च देवभ्यः सामान्यतः प्रनिकायं ह्यभिश्र-
दुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यां देवीभ्यः कापोतलेश्या देव्यः स्वय-
यगुणा अपि घटन्ते, ताभ्यां नीलेश्या विशेषाधिकाः, ताभ्यः
कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः अप्यापि प्राग्भूद् भावना । तेभ्योऽपि
तेजोऽधिया देवाः स्वययगुणाः, कतिपयानां जवनपतिव्यन्तरा-
णां समस्तानां ज्योतिष्कसौधमेशानदेवानां तेजोऽधियाकत्वात् ।
तेभ्योऽपि तेजोऽधियाका देव्यः स्वययगुणाः, ह्यभिश्रुदुत्यात् ।

समर्थन भवनवासिणं देवाणं सूत्रमाह—

एतमि एं भेते । जवनवासिणं देवाणं काऽहलेस्साणं०
जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेऽहितो अप्या वा० ४ १ ।
गोयमा । मन्वत्तोवा जवणवासी देवा तेउलेस्सा, काउ-
लेस्सा अर्धस्वेजगुणा, नीललेस्सा विसेमाहिया, काऽह-
लेस्सा विसेमाहिया ।

(एपमि ण भेते । इत्यादि) सर्वस्तोकास्तेजोऽधियाः, मर्ह-
यो हि तेजोऽधियाका जवनानः मर्हयोश्चादरे, इति सर्वस्तोकाः ।
तेभ्योऽस्वययगुणाः कापोतलेश्याः, अनिरयेन प्रभूतानां का-
पोतलेश्यासंज्ञवात् । तेभ्यो नीलेश्या विशेषाधिकाः, अनि-
प्रभूतनराणां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषा-
धिकाः, अनिप्रभूतनराणां कृष्णलेश्याजावात् । एवं जवनपति-
देवीविषयमपि सूत्रं ज्ञानवितम् ।

तच्च—

एतमि एं जंते । जवणवासिणं देवाणं काऽहलेस्सा-
णं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेऽहितो अप्या वा० ४ १ ।
गोयमा । एवं चेत ।

अप्युवा भवनपतिदेवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एपमि णं जंते । भवणवासीणं देवाणं देवीण य काऽह-
लेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेऽहितो अप्या वा०
४ १ । गोयमा । मन्वत्तोवा भवणवासी देवा तेउलेस्सा, भ-
वणवासीणो तेउलेस्साओ संस्विजगुणाओ, काउले-
स्सा भवणवासी अर्धस्विजगुणा, नीललेस्सा विसेमा-
हिया, काऽहलेस्सा विसेमाहिया, काउलेस्साओ जवण-
वासिणीओ संस्वेजगुणाओ, नीललेस्साओ विसेमाहिया-
ओ, काऽहलेस्साओ विसेमाहियाओ, एवं वाणमंतराण वि-
तिशेव अप्यावहृया जवणवासीणं तद्वैव भाणियवत् ।

(एपसि णमित्यादि) सर्वस्तेका प्रवणवासिनो देवास्तेजो-
 श्रेयाकाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्यस्तेजोश्रेयाका भवणवा-
 सिन्यो देव्यः संख्येयगुणाः, देवयो हि देव्यः सामान्यतः प्र-
 तिनिकायं ह्यग्निशुद्धास्तपोपपद्यन्ते संख्येयगुणत्वमिति । ते-
 ष्यः कापोतश्रेया भवणवासिनो देवा असंख्येयगुणाः, तेभ्यो-
 पि नीलश्रेया विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णश्रेया विशेषा-
 धिकाः । युक्तिरत्र प्रागुक्ताऽनुसरणीया । तेभ्यः कापोतश्रेया भव-
 णवासिनो देव्यः संख्येयगुणाः, भावना प्रागुक्तभावनानुसरणेण
 भावनीया । ताभ्यो नीलश्रेया विशेषाधिकाः, ताभ्यः कृष्णले-
 श्या विशेषाधिकाः, एवं बाणमन्तरविषयमपि सूत्रत्रयं भाव-
 नीयम् ।

उपोत्कृष्णविषयसूत्रम्—

एतेमि णं जंते । जोऽसियाणं देवाणं देवीण य तेउले-
 स्साणं कयरे कयरेहिंतो अप्या वा० ५ । गोयमा । मन्वत्थो-
 वा जोऽसियदेवा तेउलेस्सा, जोऽसियाणीं देवीभो तेउले-
 स्साभो संखिजगुणाओ ।

ज्योत्कृष्णविषयमेकमेव सूत्रं, तन्निकायतेजोश्रेयाकाश्चतिरेकेण
 श्रेयायन्तरासम्भवात्, पृथग् देवदेवीविषयसूत्रद्वयासम्भवात् ।

वैमानिकदेवविषयं सूत्रमाह—

एतेसि णं जंते । वेमाणियाणं देवाणं तेउलेस्साणं पम्ह-
 शेस्साणं सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्या वा० ५ ।
 गोयमा । सन्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा
 असंखिजगुणा, तेउलेस्सा देवा असंखिजगुणा ॥

सर्वस्तेकाः शुक्लश्रेयाः, क्षान्तकादिदेवानामेव शुक्लश्रेयास-
 म्भवात् । तेषां चोत्तरकर्षेणोऽपि भेदयसंख्येयभागगतप्रदेशराशि-
 मानत्वात् । तेभ्यः पम्हलेश्या असंख्येयगुणाः, सनत्कुमारभा-
 र्हेन्द्रकृष्णश्लोककल्पवासिनो सर्वैर्यामपि देवानां पम्हलेश्यासंभ-
 वात् । तेषां चातिबृहत्तमभेदयसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशि-
 प्रमाणात्त्वात् । क्षान्तकादिदेवपरिमाणहेतुभेदयसंख्येयभागा-
 यकृया ह्यर्थाभि परिमाणहेतुभेदयसंख्येयभागोप्रसंख्येयगुणः, ते-
 ष्योऽपि तेजालेश्या असंख्येयगुणाः, तेजालेश्या हि सौधर्मेशा-
 नदेवानाम्, ईशानदेवाश्चाङ्गुलमात्रेकप्रदेशराशिसम्बन्धिनि
 द्वितीयवर्गसूत्रे मूर्तौयवर्गमूलेन गृह्यन्ते यावान् प्रदेशराशिभेद-
 तितावप्रमाणास्तु तृतीयवर्गसूत्रे होकस्य एकप्रदेशशिक्षीषु भेदियु
 यावन्तो नभःप्रदेशाः तावत्प्रमाणाः, ईशानकल्पगतदक्षसमु-
 दायस्तदगतकिञ्चिदुन्नह्याभिशक्तसमागतकल्पः, तेभ्योऽपि सौध-
 र्मकल्पदेवाः संख्येयगुणाः स्वतो जयन्ति, पम्हलेश्वर्यस्तेजोश्रेया
 असंख्येयगुणाः, हेव्यश्च सौधर्मेशानकल्पयोरेव, तत्र च कवहा ते-
 जोश्रेया, तेजालेश्यान्तरासम्भवात् ; न तन्नियं पृथक्कृतमत्रतः ।

एपसि णं जंते । वेमाणियाणं देवाणं देवीण य तेउले-
 स्साणं पम्हलेस्साण य सुकलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो
 अप्या वा० ५ । गोयमा । मन्वत्थोवा वेमाणिया देवा सु-
 कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखेजगुणा, तेउलेस्सा असंखिज-
 गुणा, तेउलेस्साभो वेमाणियाणीं देवीभो संखेज्जाभो ।
 'एपसि णं जंते ।' इत्यादि ह्युगमम, नवरं 'तेउलेस्साभो वेमाणि-
 णोभो देवीभो संखेज्जगुणाभो' देवयो देवानां ह्यग्निशुद्धत्वात् ।

अधुना भवणपतिव्यवन्तरज्योतिष्कवैमानिकाविषयं सूत्रमाह—
 एपसि णं जंते । भवणवासीणं देवाणं बाणमंतराणं जो-
 इमियाणं वेमाणियाणं देवाण य कएहलेस्साणं० जाव सु-
 कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्या वा० ५ । गोयमा । स-
 न्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखि-
 जगुणा, तेउलेस्सा भर्त्सखिजगुणा, तेउलेस्सा जवणवा-
 सी देवा असंखिजगुणा, काउलेस्सा असंखिजगुणा,
 नीलशेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा विसेसाहिया,
 तेउलेस्सा वाणमंतरा देवा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा अ-
 संखिजगुणा, नीलशेस्सा विसेसाहिया, कएहलेस्सा वि-
 सेसाहिया, तेउलेस्सा जोऽसिया देवा संखेज्जगुणा । एतेमि
 णं जंते । जवणवामिणीणं बाणमंतराणं जोऽमिणीणं
 वेमाणियाण य कएहलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे
 कयरेहिंतो अप्या वा० ? । गोयमा । सन्वत्थोवाभो दे-
 वीभो वेमाणियाणीभो तेउलेस्साभो, जवणवासीणी-
 भो तेउलेस्साभो असंखेज्जगुणाभो, काउलेस्साभो
 असंखेज्जगुणाभो, नीलशेस्साभो विसेसाहियाभो, कएह-
 लेस्साभो विसेसाहियाभो, तेउलेस्साभो बाणमंतरादेवी-
 भो असंखेज्जगुणाभो, काउलेस्साभो असंखेज्जगुणाभो,
 नीलशेस्साभो विसेसाहियाभो, कएहलेस्साभो विसेसाहिया-
 भो, तेउलेस्साभो जोऽसियाभो देवीभो संखेज्जगुणाभो ।

(एपसि णं जंते । भवणवासीणमित्यादि) तत्र सर्वस्तेका वैमा-
 निका देवाः शुक्लश्रेयाः, पम्हलेश्या असंख्येयगुणाः, तेजालेश्या
 असंख्येयगुणाः, इत्यत्र जावनाजननमेव कृताः । तेभ्योऽपि भव-
 णवासिनो देवास्तेजोश्रेयाका असंख्येयगुणाः कथमिति चेत् ?,
 उच्यते—अङ्गुलमात्रसप्तप्रदेशराशेः संख्येयगुणाः प्रथमयवर्ग-
 सेन गृह्यन्ते यावान् प्रदेशराशिभेदनि तावत्प्रमाणास्तु घनीकृ-
 तस्य लोकास्य एकप्रदेशशिक्षीषु भेदियु यावान् प्रदेशराशिस्ता-
 वत्प्रमाणां भवणपतिदेवीसमुदायः, तत्रतककिञ्चिदुन्नह्याभिशक्तस-
 मागतकल्पः, तेभ्योऽपि सौधर्मकल्पदेवाः संख्येयगुणाः स्वतो जयन्ति
 इमे प्रभृता इति ह्युगमम । तेभ्योऽपि बाणमन्तरास्तेजोश्रेयाका असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?,
 उच्यते—इहासंख्येययाजनकटीकादिप्रमाणानि सूचीरुपाणि
 ब-
 र्गानि यावन्त्येकस्मिन् प्रनरेभवन्ति तावान् व्यन्तरदेवदेवीस-
 मुदायः, तत्रतककिञ्चिदुन्नह्याभिशक्तसमागतकल्पः इत्यन्तरदेवाः, तत्र
 इमे भवणपतिभ्योऽपि तत्रभूततमा इत्युपपद्यन्ते । कृष्णश्रेयभ्यो भ-
 वणपतिभ्यो बाणमन्तरास्तेजोश्रेयाका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि
 बाणमन्तरा एव कापोतश्रेयाका असंख्येयगुणाः, अदर्याकिताना-
 मपि कापोतश्रेय यानावात् । तेभ्योऽपि शायमन्तरा नीलश्रेया वि-
 शेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णश्रेया विशेषाधिकाः, अत्रापि युक्तिः
 प्रागुक्ताऽनुसरणीया । तेजालेश्या उपोत्कृष्णिका देवाः संख्येयगुणाः,
 यतः पृथक्प्रदेशाधिकाङ्गुलमन्त्रद्वयप्रमाणानि स्थूचीरुपाणि बाव-

लित् कएडाडि एकस्मिन् प्रनरे भवन्ति ताद्यप्रमाणां ज्योतिष्कदेवदेवीसमुदायः, तन्नकाक्षिद्वन्द्वानां शिशुसमजागकदया ज्योतिष्कदेवाः, ततः कृष्णश्रेयं ज्यो वाणमन्तरंभ्यः संख्येयगुणा एव षट्मते ज्योतिष्कदेवाः, न त्वसंख्येयगुणाः, सूचीरूपलखप्रमाणावहेतोः संख्येयजानकाटीकाट्यपेक्षया षट्पञ्चाशदधिकानुसंशतद्वयसंख्येयजागमाप्रवर्षित्वात् ।

सम्प्रति भवनवास्यादिदेवदेवीविषयं, तदनन्तरं जवनवास्यादिदेवदेवीसमुदायविषयं सूत्रमाह—

एतासि षं जंते । जवणवासीणं जाव वेमाणियाणं देवाण य देवीण य काहलेस्साणं जाव सुकलेस्साण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा०५ । गोयमा । सवत्थोवा वेमाणिया देवा सुकलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउल्लेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउल्लेस्साओ देवीओ वेमाणियाओ संखेज्जगुणाओ, तेउल्लेस्सा भवणवादीदेवा असं०, तेउल्लेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, काउल्लेस्सा जवणवासी असं०, नील्लेस्सा विसमाहिया, कएह्लेस्सा विसेसाहिया, काउल्लेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, नील्लेस्साओ विसेसाहियाओ, कएह्लेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउल्लेस्साओ वाणमंतरा असं०, तेउल्लेस्साओ वाणमंतराओ संखे०, काउल्लेस्सा वाणमंतरा असं०, नील्लेस्सा विसेसाहिया, कएह्लेस्सा विसेसाहिया, काउल्लेस्साओ वाणमंतराओ संखे०, नील्लेस्साओ विसेसाहियाओ, कएह्लेस्सा विसेसाहिया, तेउल्लेस्सा जोडसिया संखे०, तेउल्लेस्साओ जोडसियाओ संखेज्जगुणाओ ।

पलख सूत्रव्ययमाप प्रागुक्तभावनाऽनुसारेण भावनीयम् । प्रहा० १७ पद । (इश्याःस्थानानामल्पबहुत्वं तु 'लेस्सा' शब्द बध्वते) (बर्गणया अल्पबहुत्वं बन्धप्रकरणवाचसरे बध्वते)

(२८) इदानीं वेदद्वारमाह—

एषि षं जंते । जीवाणं सवेदगाणं इत्थीवेदगाणं पुरिसवेदगाणं नपुंसगवेदगाणं अवेदगाण य कयरे कयरेहितो अप्पा वा०५ । गोयमा । सवत्थोवा जीवा पुरिसवेदगा, इत्थीवेदगा संखेज्जगुणा, अवेदगा अणंतगुणा, नपुंसगवेदगा अणंतगुणा, सवेदगा विसेसाहिया ।

सर्वेस्तोकाः पुरुषवेदाः, संहिनामेव तिर्यकमनुष्णाणां देवानां च पुरुषवेदभावात् । तेष्वः स्त्रीवेदाः संख्येयगुणाः, यत्र उक्तं जीवाभिगमे—'तिरिक्खजोणियपुरिसंहितो तिरिक्खजोणियइत्थीओ तिमृणाओ तिरुवाहियाओ य तथा मणुस्सपुरिसंहितो मणुस्सइत्थीओ सत्ताथीसगुणाओ सत्ताथीसरुक्कुराओ य तथा देवपुरिसंहितो देवत्थीओ वत्तासगुणाओ वत्तासरुक्कुराओ च " इति । बुद्धाचार्यैरुक्तम्—

" तिमृणा तिरुवभहिया, तिरियाण इत्थिया मुणेयव्वा । सत्ताथीसगुणा पुण, मणुयाणं तदाहिया चेव ॥ १ ॥ वत्तासगुणा वत्ता—सरुवभहिया य तद व देवानं । देवाओ पण्णात्ता, जिणेहि जियराओसेहि " ३ ॥

अवेदकाः अनन्तगुणाः, सिद्धानामानन्तत्वात् । तेषु नपुंसकवेदा अनन्तगुणाः, धनरूपतिकायिकानां सिद्धेऽप्यनन्तगुणत्वात् । सामान्यतः सवेदका विशेषाधिकाः, स्त्रीबेदकपुरुषवेदकानामपि तत्र प्रकृष्यात् । प्रहा० ३ पद ३।० ।
सवेदकानामल्पबहुत्वविन्यायम्—

अप्यावहृद्यं—सवत्थोवा अवेदगा, सवेदगा अणंतगुणा । एवं सकमाती चेव अकसाती चेव जहा सवेया य तदेव जाणियव्वा । जी०? प्रति० । भ० ।

अथ वेदविशेषयतां स्त्रीपुंसपुंसकानां प्रात्येकमल्पबहुत्वम्—तत्र स्त्रीणां पञ्चान्पबहुत्वानि । तद्यथा—प्रथमं सामान्येनाल्पबहुत्वम्, विशेषविन्यायां द्वितीयं त्रिविधतयैकक्रीणाम्, तृतीयां त्रिविधमनुष्प्यस्त्रीणाम्, चतुर्थे चतुर्विधैकक्रीणाम्, पञ्चमं मिश्रस्त्रीणाम् । तत्र प्रथममल्पबहुत्वमभिधिसुराह—

एतासि षं भंते । तिरिक्खजोणित्थियाणं मणुस्मित्थियाणं देवित्थियाणं कयरा कयराहितो अप्पा वा बहुया वा तुष्ठा वा विसेसाहिया वा ? गोयमा । सवत्थोवाओ मणुस्मित्थियाओ, तिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

(एतासि षं भंते । इत्यादि) सर्वेस्तोका मनुष्प्यस्त्रियाः, संख्यातकाटाकाट्यप्रमाणत्वात् । नत्प्राप्तिसंख्येयसिद्धाः स्त्रियाऽसंख्येयगुणाः, प्रतिज्ञापि प्रतिममुद्ध तिर्यकस्त्रीणामिति बहुतया संभवात्, हीपसमुद्धानां वाऽसंख्येयत्वात् । तत्ताभ्यांऽपि देवस्त्रियाऽसंख्येयगुणाः, भवनवासिध्वन्तज्योतिष्कसौषधेशानदेवीनां प्रात्येकमसंख्येयगुणाकाशप्रदर्शनादिप्रमाणत्वात् । १ ।

द्वितीयमल्पबहुत्वमाह—

एतासि षं भंते । तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरीणं धक्षयरीणं खहयरीण य कयरा कयराहितो अप्पाओ वा बहुयाओ वा तुष्ठाओ वा विसेसाहियाओ वा ? गोयमा । सवत्थोवाओ खहयरतिरिक्खजोणियाओ, धक्षयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वेस्तोकाः लक्षरतिर्येयोनिकास्त्रियाः, ताम्बः स्थलचरतिर्येयोनिकास्त्रियाः संख्येयगुणाः, लक्षराभ्यः स्थलचराणां स्वभावत एव प्राचुर्येण जावात् । ताभ्यो जलचरस्त्रियाः संख्येयगुणाः, लवणे कालादि स्वयंनूरमणे च समुद्रे मत्स्यानामिति प्राचुर्येण जावात् । स्वयंभूरमणसमुद्रस्य च शेषसमस्तद्वीपसमुद्रपेक्षयाऽतिप्रतृत्वत्वात् ।

अधुना तृतीयमाह—

एतासि षं भंते । मणुस्सित्थियाणं कम्मचूमियाणं अकम्मचूमियाणं अंतरदीवियाण य कयरा कयराहितो अप्पा वा०५ । गोयमा । सवत्थोवाओ अतरदीवग अकम्मचूमगणुस्सित्थियाओ, देवकुलउत्तरकुलअकम्मचूमगणुस्सित्थियाओ दो वि तुष्ठाओ संखेज्जगुणाओ, हरिनाससम्मगवास अकम्मचूमगणुस्सित्थियाओ दो वि तुष्ठाओ संखेज्जगुणाओ, देववहिरणवयवास अकम्मचूमगणुस्सित्थियाओ दो वि तुष्ठाओ

संखेजगुणाभो, जंहरवयवासकम्भूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुआओ संखेजगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्म-
 जूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुआओ संखेजगुणाओ ।
 सर्वेस्तोका अन्नरहीपकाऽकमंजूमकमनुष्यस्त्रियः, क्केत्रव्याएप-
 त्वात्ताभ्यो देवकुक्कुरकुठोस्त्रियः संखेयगुणाः, क्केत्रस्य संखे-
 यगुणत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, समानप्रमाण-
 क्षेत्रत्वात् । ताभ्यो हरिर्बर्षेऽप्यकवयां कर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः सं-
 खेयगुणाः, देवकुक्कुरकुठोक्षेत्रेणैक्या इति वर्षेऽप्यकक्षेत्रस्यातिप्र-
 चुरत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य समानत्वा-
 त् । ताभ्योऽपि हेमवतहेरस्य यथाकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः संखे-
 यगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽपि अल्पस्तिर्यातकतया गृह्णां तत्र तासां
 समवात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि
 भरतेरवतकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः संखेयगुणाः, कर्मरामिन-
 या स्वभावत एव तत्र प्राणुयेंण संभवत् । स्वस्थानेऽपि द्वयो-
 रपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकम्म-
 जूमकमनुष्यस्त्रियः संखेयगुणाः, क्षेत्रमाहृदस्याद्विजन्तस्त्रिय-
 काले ष्व ख स्वभावत एव तत्र प्राणुयेंण जायात् । स्वस्थानेऽपि
 द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । उक्तं नृनीजमस्यबहुत्वम् ॥

एतासि णं जंते । देवनिग्रियाणं जवणवासीएणं वाणमंतीएणं
 ओढियाणं वेमाणियाणं ए य कयरा कयराहिंतां अप्या वा ० ४
 ? । गोयमा । सचन्त्योवाओ वेमाणियदं वित्थियाओ, जवणवा-
 सीदं वित्थियाओ असंखेजगुणाओ, वाणमंतीदं वित्थियाओ
 असंखेजगुणाओ, जोढिसियदं वित्थियाओ संखेजगुणाओ ।
 सर्वेस्तोका वैमानिकदं विस्रयः, अङ्गुलमात्रेण प्रदेशराशयंद्
 द्वितीयां वगंमूले तस्मिन् नृनीयेन वगंमूलेन गुणिते यावत्
 प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणसु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशि-
 कीषु श्रेणियु यावन्तो नभःप्रदेशा द्वात्रिंशत्तमजागर्हानास्तावत्
 प्रमाणात्वात् । प्रत्येकं सौधमेशान्देवस्त्रीणां ताभ्यो भवनवासि-
 देवस्त्रियाऽसंखेयगुणाः, अङ्गुलमात्रेण प्रदेशराशयंत् प्रथमं
 वगंमूले तस्मिन् द्वितीयेन वगंमूलेन गुणिते यावत्प्रदेशरा-
 शितावत्प्रमाणसु श्रेणियु यावत् प्रदेशराशिर्द्वात्रिंशत्तमजाग-
 र्हानास्तावत्प्रमाणात्वात् । ताभ्यो व्यनरदेशयिओऽसंखेयगुणाः,
 संखेययोजनप्रमाणीकप्रादेशिकक्षेत्रेणमात्राणि खाकानि यावन्त्ये-
 कस्मिन् प्रतरे जवन्ति, तेज्योऽपि द्वात्रिंशत्तमजागंऽपीति यज्ज-
 यमवतिष्ठते तावत्प्रमाणात्वात् तासां । ताभ्यः संखेयगुणा
 योऽपिष्कदं विस्रयः, यज्जयादधिकशतकलाप्रमाणीकप्रा-
 देशिकक्षेत्रेणमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे जवन्ति
 ताभ्यो द्वात्रिंशत्तमं भागेऽपस्परितेन यावत्प्रदेशराशिभेवति
 तावत्प्रमाणात्वात् । उक्तं चतुर्थमस्यबहुत्वम् ॥

इदानीं समस्तस्त्रीविषयं पञ्चमस्यबहुत्वमाह-
 एतासि णं जंते । तिरिक्खजोगियाए जजयरीएणं ख-
 लयरीएणं खहयरीएणं मणुस्सित्थियाएणं कम्मभूमियाणं
 अकम्मजूमियाणं अन्नरहीविषयाणं देविस्त्रियाएणं जवणवा-
 तिणीएणं वाणमंतीएणं जोढिसियाणं वेमाणियाएणं य क-
 यरा कयराहिंतां अप्या वा ० ४ ? । गोयमा । सचन्त्यो-

वा अंतरदीवगअकम्मजूमगणुस्सित्थियाओ, देवकुक्क-
 उचरकुक्कुरकम्मजूमगणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज-
 गुणाओ, हरिवासरम्भवासअकम्मजूमगणुस्सित्थिया-
 ओ दो वि संखेजगुणाओ, हेमवतहेरस्यवासअकम्मजूमग-
 णुस्सित्थियाओ दो वि असंखेजगुणाओ, जंहरवयवा-
 सकम्मजूमगणुस्सित्थियाओ दो वि संखेजगुणाओ, पुव्व-
 विदेहअवरविदेहवासकम्मजूमगणुस्सित्थियाओ दो वि सं-
 खेजगुणाओ, वेमाणियदं वित्थियाओ असंखेजगुणाओ,
 जवणवाभिदं वित्थियाओ असंखेजगुणाओ, खहयराति-
 रिक्वजोगित्थियाओ असंखेजगुणाओ, खजयरातिरिक्खजो-
 क्वजोगित्थियाओ संखेजगुणाओ, वाणमंतगदं वित्थियाओ संखे-
 जगुणाओ, जोढिसियदं वित्थियाओ संखेजगुणाओ ।
 सर्वेस्तोका अन्नरहीपकाऽकमंजूमकमनुष्यस्त्रियः, ताभ्यो देवकु-
 कुरकुक्कैकर्मजूमकमनुष्यस्त्रियः संखेयगुणाः, ताभ्योऽपि हरि-
 वर्षेऽप्यकक्षियः संखेयगुणाः, ताभ्योऽपि हेमवतहेरस्य-
 वतस्त्रियः संखेयगुणाः, ताभ्योऽपि भरतेरवतकर्मजूमकमनु-
 ष्यस्त्रियः संखेयगुणाः, ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहमनु-
 ष्यस्त्रियः संखेयगुणाः । अत्र भावना प्राप्तवत् । ताभ्यो
 वैमानिकदं विस्रयाऽसंखेयगुणाः, अमस्येयध्रंश्याकाशप्रदे-
 शराशिप्रमाणत्वात्तासां । ताभ्यो जवनवासिदं विस्रयाऽसं-
 खयगुणाः । अत्र व्यक्तं प्रागेवोक्ता । ताभ्यः स्वकारित्ये-
 म्योऽपिष्कदं विस्रयः संखेयगुणाः, प्रनारासंखेयजनागव्येसंखेय-
 श्रेणियगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासां । ताभ्यः स्वध-
 वरनित्येभ्योऽपिष्कदं विस्रयः संखेयगुणाः, बृहत्तरजरासंखेयजनाग-
 व्येसंखेयश्रेणियगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो जल-
 वरनित्येभ्योऽपिष्कदं विस्रयः संखेयगुणाः, बृहत्तरजरासंखेयजना-
 गव्येसंखेयश्रेणियगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो वाण-
 मन्तरदेशयिस्त्रियः संखेयगुणाः, संखेययोजनकाऽकाऽद्विजन्तस्यैक-
 प्रादेशिकक्षेत्रेणमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे जवन्ति ते-
 ज्योऽपिष्कदं विस्रयः संखेयगुणाः, संखेययोजनकाऽकाऽद्विजन्तस्यैक-
 प्रादेशिकक्षेत्रेणमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे जवन्ति
 ताभ्यो द्वात्रिंशत्तमं भागेऽपिष्कदं विस्रयः संखेयगुणाः । एतन्न प्रा-
 गेव भावितम् । उक्तं तिस्रिष्कां पञ्चात्पत्तद्विबहुत्वम् । जी० ०२२ति०
 सायम्पते नपुंसकानामुच्यते—

एतंसि णं भंते । नरेइयनपुंसकाएणं तिरिक्खजोगियन-
 पुंसकाएणं मणुस्सनपुंसकाएणं य कतरे कतरेहिंतां ० जाव विसं-
 साहिंया वा ? । गोयमा । सचन्त्योवा मणुस्सनपुंसका, ने-
 रइयनपुंसका असंखेजगुणा, तिरिक्खजोगियनपुंसका
 अणंतगुणा ।

प्रश्नत्वं सुगमम् । जगत्ताहा-मौतमः । सर्वेस्तोका मनुष्यन-
 पुंसकाः, श्रेण्यसंखेयमावर्तिप्रदेशराशिप्रमाणात्वात् । तेभ्यो-
 ऽपि नैरायकनपुंसका असंखेयगुणाः, अङ्गुलमात्रेण प्रदेशरा-
 शौ तद्वत्प्रथमवगंमूले गुणिते यावत् प्रदेशराशौ भवेति ता-
 वत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकासु श्रेणियु
 यावन्तो नजःप्रदेशास्तावत्प्रमाणात्वात्तासां । तेज्यस्त्रियेभ्यो-
 निकनपुंसका अणंतगुणाः, निभाद्विजावामानमन्तवत् ।

सम्प्रति तैरियनपुंसकविषयमल्पहृत्त्वमाह—

एतेसि णं जंते ! नेरइयनपुंसकाणं० जाव अहेसत्तमपुद्द-
विनेरइयनपुंसकाण य कयरे कयरेदित्तो० जाव विसेसाहिया
वा ! गोयया ! सन्तयोवा अहेमत्तमपुद्दविनेरइयनपुंसका, छ-
द्वपुद्दविणरइयपुंसका असंखेजजगुणा० जाव दाब्बा, पुद्दवि-
नेरइयनपुंसका असंखेजजगुणा, इमो ! सेरयणपुद्दविण
नेरइयनपुंसका अमंखेजजगुणा ॥

(एवासि णमित्थादि) सर्वस्तोका अथःसत्तमपुद्दविणैरियक-
नपुंसकाः, अल्पतरभेद्यसंखेयजासवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाण-
त्वात् । तेभ्योऽपि षष्ठ्यपुद्दविणैरियकनपुंसका असंखेयगुणाः, ते-
भ्योऽपि षड्मपुद्दविणैरियकनपुंसका असंखेयगुणाः, ते-
भ्योऽपि चतुर्थपुद्दविणैरियकनपुंसका असंखेयगुणाः, तेभ्यो-
ऽपि तृतीयपुद्दविणैरियकनपुंसका असंखेयगुणाः, तेभ्योऽपि
द्वितीयपुद्दविणैरियकनपुंसका असंखेयगुणाः, सर्वेषामप्येतेषां
पूर्वपूर्वैरियकपरिमाणं तु भेद्यसंखेयजागोपकया असंखेय-
गुणाः, संखेयगुणभेद्यसंखेयजागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमा-
णत्वात् । ितीयपुद्दविणैरियकनपुंसकभ्योऽभ्यो रत्नप्रमायां
पुद्दविणो तैरियका असंखेयगुणाः, अद्भुतमात्रकृतप्रदेशराशौ
नतुगामप्रथमवर्गमूलगुणितं यावान् प्रदेशराशिरस्तावत्प्रमाणा-
सु घनोक्तस्य लोकस्य एकप्रादेशिकेषु भेदिषु यावन्न हा-
काशाप्रदेशरस्तावत्प्रमाणात्वात् । प्रतिपुद्दविणं च पूर्वोत्तरपश्चि-
मदिग्माभिना तैरियकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो दक्षिणदिग्माभिना-
संखेयगुणाः, पूर्वपूर्वपुद्दविणोत्तरदिग्माभिनासंखेयगुणाः, पूर्वोत्तर-
पश्चिमदिग्माभिनासंखेयगुणाः पूर्वोत्तरपश्चिमदि-
ग्माभिना इत्यादि ॥

सम्प्रति तिरयभ्योनिकनपुंसकविषयमल्पहृत्त्वमाह—

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं एर्मादिय-
तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं पुद्दविणोऽपि एर्मादियपुंसका-
णं० जाव वनससइकाडयएर्मादियतिरिक्खजोणियनपुंसका-
णं बेदंदिद्यतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं तंदिद्यचउरिंदिद्य-
पंचेदिद्यतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलपरधजपरव्हय-
राण य कयरे कयरेदित्तो० जाव विसेसाहिया वा ! गोयया !
मवःत्थावा ख इयरातिरिक्खजोणियणपुंसका, क्षयरातिरि-
क्खजोणियनपुंसका संखेजजगुणा, जत्थरातिरिक्खजोणि-
यनपुंसका संखेजजगुणा, चतुरिंदिद्यतिरिक्खजोणियनपुंस-
का विनेसाहिया, तेदंदिद्या विनेसाहिया, बेदंदिद्या विनेसा-
हिया, तेउकाडयएर्मादियतिरिक्खा असंखेजजगुणा, पुद्द-
विकाडयएर्मादियतिरिक्खजोणिया विनेसाहिया, एवं
आउवाउ०, वणससइकाडयएर्मादियतिरिक्खजोणियणपुंस-
का अणंतगुणा ॥

(एवासि णमित्थादि) सर्वस्तोकाः लक्षरपञ्चद्वित्येभ्यो-
पुंसकाः, प्रतरासंखेयजागवर्त्यसंखेयभेदिगताकाशाप्रदेशरा-
शिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः स्वल्पतरतियेभ्योनिकनपुंसकाः संखे-
यगुणाः, वृहत्तरतरासंखेयजागवर्त्यसंखेयभेदिगतागतभःप्र-
१६७

देशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि जलक्षरतियेभ्योनिकनपुंसकाः
संखेयगुणाः, वृहत्तरतरासंखेयजागवर्त्यसंखेयभेदिगताका-
शाप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि चतुरिंदिद्यतियेभ्योनिकन-
पुंसका विशेषाधिकः, असंखेयकोटीकादिप्रमाणत्वात् । विशेष-
राशिप्रमाणासु घनोक्तस्य लोकस्य एकप्रादेशिकेषु भेदिषु
यावन्नो नभःप्रदेशस्तावत्प्रमाणात्वात् । तेचस्त्रीद्वित्येभ्यो-
निकनपुंसका विशेषाधिकः, प्रभूततरभेदिगताकाशाप्रदेशराशि-
प्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि द्वौद्वित्येभ्योनिकनपुंसका विशेषा-
धिकः, प्रभूततरभेदिगताकाशाप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः त-
जस्कृतिकैन्द्रियतियेभ्योनिकनपुंसका असंखेयगुणाः, वृहत्त-
मात्रमंडलप्रमाणं तेषामसंखेयजागवर्त्यसंखेयभेदिगताकाशाप्रदेश-
प्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिकैन्द्रियतियेभ्योनिकनपुंसका विशेषाधि-
काः, प्रभूततरासंखेयलोककाशाप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि
यिकैन्द्रियतियेभ्योनिकनपुंसका विशेषाधिकः, प्रभूततर-
संखेयलोककाशाप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि वायुकायिकै-
न्द्रियतियेभ्योनिकनपुंसका विशेषाधिकः, प्रभूततरासंखेय-
लोककाशाप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि धनस्वतिकायिकै-
न्द्रियतियेभ्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, अनन्तलोककाशा-
प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ।

अधुना मनुष्यनपुंसकविषयमल्पहृत्त्वमाह—

एतेसि णं भंते ! मणुस्सणपुंसकाणं कम्मजुमिकाणं अकम्म-
जुमिकाणपुंसकाणं अंतरदीवकाण य कयरे कयरेदित्तो० इप्पा
वा० पु ! गोयया ! मवत्तयोवा अंतरदीवकाऽकम्मजुमणु-
स्सणपुंसका, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मजुमणा दां वि संखेज-
जगुणा, एवं जाव पुद्दविणदेइअरवदिदेइकम्मजुमणुस्स-
णपुंसका दां वि संखेजजगुणा ॥

सर्वेस्तोकाः अनन्तदीपजमनुष्यनपुंसकाः, एते च समुद्धैजजा
द्रष्टव्याः, गर्भेश्युक्तामितकमनुष्यनपुंसकां तत्रासंभवत्, स
हृतासु कम्मजुमिकाणस्तत्र भवेयुरपि । तेभ्यो देवकुरुउत्तरकुरु-
कम्मजुमणुस्सणपुंसकाः संखेयगुणाः, तद्व्यतयर्भजमुत्था-
का, अनन्तदीपजगर्भजमुत्थेभ्यः संखेयगुणात्वात् । गर्भजमुत्थ-
प्राकाराद्याभ्यंजनं च समुद्धैजजमनुष्यगोमुत्थादात् । स्वस्थाने
तु द्वेयसि परस्परं तुल्याः । एवं तेभ्यो हरिवर्षेभ्येकवर्षा-
कम्मजुमणुस्सणपुंसकाः संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वेयसि
परस्परं तुल्याः । हेमवर्षेदेवरायवर्षाकम्मजुमणुस्सणपुंसकाः
संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वेयसि परस्परं तुल्याः । तेभ्यो
भरतैरवतयर्भजमुत्थनपुंसकाः संखेयगुणाः, स्व-
स्थाने तु द्वेयसि परस्परं तुल्याः । तेभ्यः पूर्वाभिद्विपर-
विदेहकम्मजुमणुस्सणपुंसकाः संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु
द्वेयसि परस्परं तुल्याः युक्तिः संधंत्रापि तथैवास्तसंध्या ॥

संप्रति तैरियकनपुंसकविषयमल्पहृत्त्वमाह—

एतेसि णं जंते ! नेरइयनपुंसकाणं रयाणपुद्दविणरइयनपुं-
सकाणं० जाव अहेसत्तमपुद्दविनेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजो-
णियनपुंसकाणं एर्मादियतिरिक्खजोणियाण पुद्दविकाडय-
एर्मादियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं० जाव वणससइकाडय-
एर्मादियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं बेदंदिद्येतोऽदियचउरिंदिद्यपंचेदिद्यतिरि-

अप्यावहृय (ग)

स्वजोऽणियणपुंसकाणं जलवराणं चलयराणं स्वडयराणं म-
 ल्लुस्मणपुंसकाणं कम्पन्नामकाणं अकम्पन्नामिकाणं अंतर-
 दीवकाण ए कयरे कयरेहिंते अप्या वा० ४ ?। गोयमा ।
 सव्वरयोवा इहोसत्तमपुडीविनरइयनपुंसका, उडुवडविनरउ-
 यनपुंसका असंखेज्जगुणा०जाव दोषा, पुडविनरइयनपुंसका
 असंखेज्जगुणा, अंतरदीवगणमएस्सणपुंसका असंखेज्जगु-
 णा,देवकुरुत्तरकुरुअकम्पन्नामिका दो वि मंखेज्जगुणा,०जाव
 पुवविदेहअवरविदेहकम्पन्नामकाणपुंसका दो वि सं-
 खेज्जगुणा, रयणपभापुडविनरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा,
 खट्टयरंघंदि यतिरिस्वजोणियणपुंसका असंखेज्जगुणा,
 खड्दयरा संखेज्जगुणा, जल्यरा संखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरि-
 स्वजोणियणपुंसका विसेसाहिया,तेदंदि यनपुसगा विमेसाहि-
 या,वेदंदि यनपुसगा विसेसाहिया, तउक्काइयएग्दि यनपुसगा
 असंखेज्जगुणा, पुडविकाइयएग्दि यनपुसगा विसेसाहिया,
 आउक्काइयनपुंसगा विसेसाहिया, वउक्काइया विमेसाहिया, व-
 णस्सुक्काइयएग्दि यतिरिस्वजोणियणपुंसका अणतंगुणा ।

सर्वेस्तेका अथःसत्तमपुडिवाँनैरियिकनपुसका,तेअः यधपअ-
 मचतुणंतीयाडिंतार्यापुडवाँनैरियिकनपुसका यथाःत्तससखे-
 यगुणाः,डिंतार्यापुडवाँनैरियिकनपुसकाय्अअतरडीपजमनुयन-
 पुंसका असंखेयगुणाः, एतदसंखेयगुणान्खे संअंनजमनुयन्पा-
 र्हेत्तं, तेनपुंसकाव्दा, एतावतां च तत्र संमूळुनसभनान् । तेभ-
 यो देवकुरुत्तरकुरुवेकमंजमकमुपधनपुसका हेमवतेरएयव-
 ताकमंभूमकमनुयनपुंसका अरंतेरवतकमंजमकमनुयनपुं-
 सकाः पुर्वविदेहापरविदेहकमंजमकमुपधनपुसका यथाःत्तरं
 संखेयगुणाः, स्वध्यानाञ्जिनार्या तु कयरे एस्सवं तुय्याः, पू-
 विदेहापरविदेहकमंजमकमुपधनपुसकाय्अएव्यां प्रत्यकृत उ-
 परपथ्यमानार्या रत्तप्रमार्यां पृथिव्यां नैरियिकनपुसका असंखे-
 यगुणाः, तेअः खचरपअंदि यतियेयोानिकनपुसकाः असंखे-
 यगुणाः, तेअः स्थलचरपअंदि यतियेयोानिकनपुंसका जल-
 चरपअंदि यतियेयोानिकनपुंसका यथाःत्तरं संखेयगुणाः, ज-
 लचरपअंदि यनपुंसकाय्अतुरिंदियतिरिस्वजोणियणपुंसका
 यथाःत्तरं विशेषात्रिकाः, इदि यतियेयोानिकनपुसका-
 ञ्ज्यस्तेज्जकायिहेकंदि यतियेयोानिकनपुंसका असंखेयगुणाः,
 तेअः पृथ्वयस्त्वुवायिनपुसंयोानिकनपुंसका यथाःत्तरं विशेषा-
 त्रिकाः, वाय्वेकेःइयतियेयोानिकनपुंसकाय्अ वनस्पतिकायि-
 कैकिःइयतिरेयोानिकनपुंसका अन्नगुणाः । शुक्तिः सर्वेश-
 ऽपि प्रागुक्तानुसारेण स्वय भावनीया । इत्युक्तानि पञ्च तनुंस-
 कानामपि अल्लवहृत्ताजि । जा० ३ प्रति० ।

सामप्रतं पुरुषाणामुच्यन्ते-नामि च पञ्च । तद्यथा-प्रथमं सामा-
 म्याल्लवडुम १. टिनियं शिवियानियं कूपुसवाधेयम २, तुतीनं
 श्रिविधमनुयपुरुषविषयम ३, अतुतीं काःअियेधवपुरुषविषयम
 ४, पञ्चमं मिअपुरुषविषयम ४ ।

तत्र प्रथमं तावदभिधिसुस्तरा—

(एतमि यं जंते । देवपुरिमाणं जगवाशामीणं बाणमंत-
 राणं ओरिसियाणं वेमाणियाण ए कयरे कयरेहिंते अप्या

वा बहुया वा तुष्ठा वा विसेसाहिवा वा ?। गोयमा । सख-
 त्थोवा वेमाणियेदेवपुरिमा, जगवावेदेवपुरिमा असंखे-
 ज्जगणा, बाणमंतरेदेवपुरिमा असंखेज्जगुणा, जोहमिय-
 देवपुरिमा संखेज्जगुणा ।)

(एयसि चं अते । इत्यादि) सर्वेस्तेका मनुस्वपुरुषाः, संखेयको-
 ट्रीकोडिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः तियेयोानिकपुरुषा असंखेयगु-
 णाः । प्रतरासंखेयभागवत्संखेयअंणिगताकादाप्रदेशराशि-
 प्रमाणत्वात्सवाय । तेभ्यो देवपुरुषाः संखेयगुणाः, बूहत्तरप्रतरा-
 संखेयभागवत्संखेयअंणिगताकादाप्रदेशराशितुल्यत्वात् ।
 तियेयोानिकपुरुषाणां यथा तियेयोानिकक्षोणां मनुपुरुषाणां ।
 यथा मनुपुरुषाणामल्लवहृत्त्वं वक्तव्यम् । समतिं देवपुरुषाणाम-
 ल्लवहृत्त्वमाह-सर्वेस्तेका अतुत्तरापातिक्केवपुरुषाः, क्लेवप-
 एयोयमासंखेयभागवत्यांकादाप्रदेशराशाप्रमाणत्वात् । तेभ्य
 उपरितनभेयकदेवपुरुषाः संखेयगुणाः, बूहत्तरसखेययगुमा-
 संखेयभागवतिनभ-अदेशराशाप्रमाणत्वात् । कथंमत्तदवस्य-
 मिति चेत् । उच्यते-विमानवाहुरत्वात् । तथाहि-अतुत्तरदेवानां
 पञ्च विमानानि, विमानशतं तूपारितनभेयकप्रस्तदे,प्रतिविमानं
 चासख्यया देवाः, यथाऽअपुडयोऽपयोऽप्यनुवर्तिनि विमानानि तथा
 तथा देवा अपि प्राचुयेण लभ्यन्ते; ततोऽवस्यते-अतुत्तरवि-
 मानवासिदेवपुसणान्पन्था बुहत्तरक्लेवपुसपोयमासंखेयभागव-
 तिनभ-अदेशराशाप्रमाणा उपरितनभेयकप्रस्तदे देवपुसगाः,
 एवमुत्तरत्रापि भावना विधेया । तेभ्यो मध्यमत्रेयकप्रस्तदे
 देवपुसगाः संखेयगुणाः, तेभ्योऽप्यध्ननभेयकप्रस्तदे देवपु-
 रुषाः संखेयगुणाः, तेभ्योऽप्युच्यतकल्पदेवपुसगाः संखेयगुणाः,
 यद्यप्यारणाञ्जुतकल्ये ममअंत्रोणीकं समवैमानसख्योका च
 तथापि कृष्णपात्रिकास्तथास्वाभाव्यान् प्राचुयेण दक्षिणयंत्रं
 दिशि समुपपद्यते । अथ केते कृष्णपात्रिकाः ? उच्यन्ते-इह इ-
 ये जोवाः, तथाया-कृष्णपात्रिकाः, शुक्लपात्रिकाश्च । तत्र येषां
 किञ्चिदुनोपारुपुननपरावतः संसारंते शुक्लपात्रिकाः, इतरे
 दीधेसंसारमाजिनः कृष्णपात्रिकाः । उक्तं च-” जेसिमवडु।
 पे.गमत्र-परियुडो संसथां य संमारो । ते सुक्कापिन्थया अलु,
 आहिए पुण कएडपक्खीओ” ॥१॥ अत्र पेव स्तोकाः शुक्लपा-
 त्रिकाः, अल्लयंसारोणां स्तोकाणामेव भावात् । यदवः कृ-
 ष्णपात्रिकाः, दीधेसंसारणामनननां भावात् । अथ कथंमंत-
 दवसात्मर्यं कृष्णपात्रिकाः प्राचयेण दक्षिणस्थां दिशि समुपु-
 पद्यते ? उच्यन्ते-तथास्वाभाव्यात् । तत्र तथास्वाभाव्यात्वं पृ-
 वोच्यंतेयुकिंनियमपुदिंतिम, कृष्णपात्रिकाः अलु दीधेसंसारभा-
 ञ्जिन उच्यन्ते, दीधेसंसारमाजिनश्च बहूपापोदयात्, बहूपा-
 पोदयाश्च कूरकर्मणाः, कूरकर्मणाश्च प्रायस्त्वास्वाभाव्यात् ।
 तद्व्यवसिदिक्का अपि दक्षिणस्थां दिशि समुपुपद्यते,यत उक्तम्-
 ” पारमिइ कूरकम्म, भयासिदिवा वि दादिणिद्वेसु । नेरइ-
 तिरियमएणुथा, सुरा य गणंउ गच्छंति ” ॥१॥ ततो दक्षिण-
 स्थां दिशि प्राचयेण कृष्णपात्रिकाणां संभवानुपपद्यतेऽञ्जु-
 तकल्पदेवपुसगापेक्षया आरणकल्पदेवपुसगाः संखेयगुणाः, ते-
 भ्योऽपि प्राणतकल्पदेवपुसगाः संखेयगुणाः, तेभ्योऽप्यान्त-
 कल्पदेवपुसगाः संखेयगुणाः, अत्रापि प्राणतकल्पदेवपुसगा सं-
 खेयगुणत्वं, कृष्णपात्रिकाणां दक्षिणस्थां दिशि प्राचुयेण भा-
 वात् । एते च सर्वेऽप्यनुत्तरविमानवास्वाश्रय आनतकल्पवा-
 सिएपंनदेवपुसगाः पर्यंके क्लेवपुसगासंखेयभागवतिनभ-

भेदशैरशिप्रमाणं कृत्वाः । "आणयपाणयमार्दं पक्षस्ताडसं-
 खमाणा उ" इति वचनोद । कथंलमसंख्येषां भागो विचित्र-
 इति परस्परं यथोक्तं संख्येयगुणत्वं न विरुध्यते । आनतकल्प-
 देवपुरुषेभ्यः सहस्रकारकल्पवासिदेवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः ।
 धर्मीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्रियाः भेगेण संख्येयतमे भागे
 यत्नस्य आकाशप्रदेशात्प्रमाणात्त्वात्त्वात्त्वं प्रथमं तेषां पि महाशु-
 क्रकल्पवासिदेवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः । वृहत्तरभ्रैयसंख्येयमा-
 गाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । कथमेतत् प्रत्ययमिति चेत् ?
 उच्यते-विमानबाहुद्वयात् । तथाहि-बृहत्सहस्राणि विमानानां
 सहस्रकारकल्पं, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्रं, अन्यथाधोवि-
 मानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकास्तोकातरा उपरितनवि-
 मानवासिनः । तत उपपद्यते सहस्रकारकल्पदेवपुरुषेभ्यो महाशु-
 क्रकल्पवासिदेवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः, तेषोऽपि लान्तककल्प-
 देवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः, वृहत्तरभ्रैयसंख्येयमागतवासिनोमा-
 गप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेषोऽपि ब्रह्मलोककल्पवासिनो
 देवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः । द्रयोवृहत्सहस्रभ्रैयसंख्येयनागतयो-
 क्काशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेषोऽपि माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषा
 अस्संख्येयगुणाः, ज्येष्ठतरवृहत्सहस्रभ्रैयसंख्येयमागताकाशप्रदे-
 शमान्तात् । तेषः सनत्कुमारकल्पदेवा अस्संख्येयगुणाः, विमा-
 नबाहुद्वयात् । तथाहि-द्व्यंशशतसहस्राणि सनत्कुमारकल्पे वि-
 मानानाम्, अष्टौ शतसहस्राणि माहेन्द्रकल्पे, अन्यत्र दक्षिणदि-
 शानामनी सनत्कुमारकल्पो, माहेन्द्रकल्पे त्रयोऽक्षरादिचर्मा, दक्षिण-
 स्यां च दिशि बहवः समुत्पद्यन्ते कृष्णपात्रिकाः, तत उपपद्यन्ते
 माहेन्द्रकल्पान्तनत्कुमारकल्पदेवा अस्संख्येयगुणाः । एते च सर्वेऽपि
 सहस्रकारकल्पवासिदेवाद्यः सनत्कुमारकल्पवासिदेवपुरुषान्ताः
 प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमाना यानिज्ञानज्ञोक्तैः संख्येयनागा-
 गताकाशप्रदेशराशिप्रमाणा रूपाः । केषुं भ्रैयसंख्येयमा-
 गोऽसंख्येयभेदस्तन इत्यमसंख्येयगुणतया अल्पबहुत्वमनिधी-
 यमानं न विरोधभाक् । सनत्कुमारकल्पदेवपुरुषेभ्य ईशानकल्प-
 देवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः, अक्रुल्लमन्त्रलेत्रप्रदेशराशोः संबन्धि-
 नि द्वितीयवर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशि-
 स्तावसंख्याकास्तु धर्मीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीस्तु धेनी-
 यु यावन्तान्नः प्रदेशास्तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावन्प्र-
 माणात्त्वात् । तेषः सौधमकल्पवासिदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः,
 विमानबाहुद्वयात् । तथाहि-अष्टाविंशतिः शतसहस्राणि विमाना-
 नामीशानकल्पे, द्वात्रिंशच्च शतसहस्राणि सौधमकल्पे, अर्था च
 चत्वारिंशत्सहस्राणि सौधमकल्पः, ईशानकल्पश्चोत्तरदिशतः, दक्षिण-
 स्यां च दिशि बहवः कृष्णपात्रिका उत्पद्यन्ते । तत ईशानकल्प-
 वासिदेवपुरुषेभ्यः सौधमकल्पवासिदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः ।
 नान्वयं युक्तिः सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पे पारप्युक्ता, परं तत्र माहे-
 न्द्रकल्पपञ्चगा सनत्कुमारकल्पदेवा अस्संख्येयगुणा ध्यायाः, हृत्
 तु सौधमकल्पे संख्येयगुणाः, तत्कथं च ? उच्यते-तथाचस्तु-
 स्वाभावात् । एतन्नाचस्रीयते प्रभापनादौ, सर्वत्र तथा भ्रयानात् ।
 तेषोऽपि भवनवासिदेवपुरुषा अस्संख्येयगुणाः, अक्रुल्लमन्त्र-
 लेत्रप्रदेशराशोः संबन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गु-
 णिते यावान् प्रदेशराशिप्रमाणं तत शतसंख्याकास्तु धर्मीकृतस्य
 लोकस्य एकप्रादेशिकीस्तु धेनिषु यावन्तान्नः प्रदेशास्तेषां या-
 वान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावन्प्रमाणत्वात् । तेषां व्यन्तरदेवपु-
 रुषाः संख्येयगुणाः, संख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणैकप्रादेशि-
 क्रभेण्युमात्राणि ज्ञान्तिना यावन्तस्मिन् प्रत्येकं भवन्ति, तेषां

यावद् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावन्प्रमाणत्वात् । तेभ्यः संख्येय-
 गुणा उपोतिष्ठा देवपुरुषाः, यत्पञ्चाशच्चधिकशतद्वयः कुलप्रमा-
 नैकप्रादेशिकभेण्युमात्राणि ज्ञान्तिना यावन्तैकस्मिन् प्रत्येकं भव-
 न्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावन्प्रमाणत्वात् । जी० २
 प्रति० । इति चत्वार्येवबहुत्वान्युक्ताणि । (६६७) अत्र टीका-
 कारस्याप्यादेशः पाठः सम्यक्त इदानींतनमिति तु अन्याद्य
 इति शब्दो ज्ञेय आभाति, अथैतस्तु न प्रदेः)

सम्प्रति पञ्चममन्वपबहुत्वमाह—

एतेसि एं भंते । तिरिक्स्त्रजोणियपुरिसाणं जलपराखं
 यज्ञयराणं खद्वयराणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मज्जगणं अ-
 कम्मज्जगणं अंतरदीवणाणं देवपुरिसाणं जवणवासीणं
 वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाणं सोधममाणं जव
 सन्धुसिक्खाणां य कयरे कयरेहितो ज्ञा विसेसाहिया ।
 गोयमा । सत्त्वयोवा अंतरदीवणमणुस्सपुरिसा, देवकुक्कउत्तर-
 रकुल्लअकम्मचमणमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, इ-
 रिवासरम्मवासअकम्मज्जगणमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्ज-
 गुणा, हेमवतहेरखवतवासअकम्मज्जगणमणुस्सपुरिसा दो
 वि संखेज्जगुणा, जरहेरवयवासअकम्मज्जगणमणुस्सपुरि-
 सा दो वि संखेज्जगुणा, पुम्भिविदेहअवरविदेहअकम्मच-
 मणमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, अणुचरोवना-
 तिदेवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, उरिसणवेजेज्जगोदेवपुरिसा सं-
 खेज्जगुणा, मज्जिणगेवेजेदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, द्वि-
 द्विमगेजेजेदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, अच्युते कप्पे देवपु-
 रिसा संखेज्जगुणा, आरणाकप्पे देवपुरिसा संखेज्ज-
 गुणा, पाणयकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, आणतकप्पे
 देवपुरिसा संखेज्जगुणा, सहस्रारकप्पे देवपुरिसा अ-
 संखेज्जगुणा, महासुककप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा
 जाव मादिदे कप्पे देवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, सण्कुमार-
 कप्पे देवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, ईसाणकप्पे देवपुरिसा अस्सं-
 खेज्जगुणा, सोधमे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, भ्रवणवा-
 सिदेवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, खद्वयतिरिक्स्त्रजो-
 णियपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, धलपरातिरिक्स्त्रजोणियपु-
 रिसा अस्संखेज्जगुणा, जयपरातिरिक्स्त्रजोणियपुरिसा संखे-
 ज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोतिसिय-
 देवपुरिसा संखेज्जगुणा ।

सर्वेस्तोका अन्तरद्वीपमणुप्युक्ताः, क्षेत्रस्य स्तोकात्वात् ।
 तेषां देवकुक्कउत्तरकुलमणुप्युक्ताः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य बाहु-
 द्वयात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेषोऽपि हि-
 षेरेभ्यकथमोक्तं मूकमणुप्युक्ताः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्या-
 तिबहुत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य
 समानत्वात् । तेषोऽपि हेमवतहेरपथताकर्मभूमकमणु-
 प्युक्ताः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यापत्येऽपत्यस्य स्थितकतया प्रा-
 कुयेण लभ्यमानत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः ।

तेभ्योऽपि जरतिवत्तर्ककर्मज्ञमक्रमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, अजितस्वामिकाश्च उक्त्युपदे स्वभावात् एव जरतिवत्तु च मनुष्यपुरुषाणामितिप्राप्तये संभवात् । स्वस्थाने च द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्लेशश्च मुख्यत्वात् । तेऽप्योऽपि पुत्रिविदेहापर- विदेहादिकर्मज्ञमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षत्रबाहुद्वयात् । अजितस्वामिकाश्च इव स्वभावात् एव मनुष्यपुरुषाणां प्राप्नुयैष संजगत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽप्यनु- खरोपपातिदेवपुरुषा अस्ख्येयगुणाः, क्षेत्रफलयापमानंख्येयनाग- बल्यांकाशुप्रदंशप्रमाणात्वात् । तदन्तर्मुपारिजनमेवयकप्रस्त- देवपुरुषा अच्युतकल्पदेवपुरुषा आरणकल्पदेवपुरुषाः प्राणत- कल्पदेवपुरुषा आनतकल्पदेवपुरुषा यद्योत्तरं संख्येयगुणाः । नाशना प्रागिय । तदन्तर्नरं सख्यारकल्पदेवपुरुषा आनतकल्प- देवपुरुषा ब्रह्महोतकल्पदेवपुरुषा मोहोत्कल्पदेवपुरुषाः सनकु- मारकल्पदेवपुरुषा देशानकल्पदेवपुरुषा यद्योत्तरं संख्येयगु- णाः, सौधमकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, सौधमकल्पदेवपु- र्खेभ्यो भयनवासिदेवपुरुषा अस्ख्येयगुणाः । भावना संघ- त्नापि प्रागिव । तेऽप्यः स्वधरतिर्येयोनिकपुरुषा अस्ख्येयगुणाः, प्रनरासंख्येयनागवयसंख्येयश्रेणितकाशुप्रदंशप्रमाणां शिप्रमाणा - त्वात् । तेभ्यः स्थलधरतिर्येयोनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्यो- ऽपि जलधरतिर्येयोनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः युक्तित्वापि प्रा- गिव । तेभ्योऽपि वायुमन्तरं देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, संख्ये- योजनकोटीकोटिप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिकामात्राणि क्षात्रानि वायव्येकस्मिन् प्रनरे जवति तेषां यावान् द्विविश्रान्तो भाग- न्वात्प्रमाणात्वात् । तेभ्यो ज्योतिष्कदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः युक्तिः प्रागेवोका । जी० २ प्रति० । इति प्रतिपादितानि खो- पुनपुंसकानां प्रत्येकमष्टवहृत्यानि ।

इदानीं समुदितानामुच्यन्ते-नामि चाष्ट । तत्र-प्रथमं सामान्येन तिर्यक्योपुनपुंसकप्रतिबन्धकं, परममन्तरे च मनुष्यप्रतिबन्धकं द्वि- तीयं, देवलोपुनपुंसकप्रतिबन्धकं तृतीयं, सकलस- मिश्रं चतुर्थं, जलचर्यादिविजागतः पञ्चमं, कर्मज्ञादि- मनुष्यादिविजागतः षष्ठं, जलचर्यादिविदेव्या द्विजागतः सप्तमं, जलचर्यादिविजातव्यवकृत्यापकमष्टमं ॥

तत्र प्रथममभिधन्तुराह—

एतेसि षं भंते ! तिरिक्खजोग्गित्थीणं तिरिक्खजोग्गि- यपुरिसाणं तिरिक्खजोग्गियणपुंसकाणं य कपरे कपरेहि- तो० जाव विमैसाहिवा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्ख- जोग्गियपुरिसा, तिरिक्खजोग्गियणपुंसकां संखेजजगुणाओ, तिरिक्खजोग्गियणपुंसका अणेतगुणा ।

सर्वस्तोकास्तिर्येयपुरुषाः, तेभ्यरित्येयकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्जस्तिर्येयपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजी- षानामनन्तत्वात् ।

संप्रति द्वितीयमष्टवहृत्यामह—

एतेसि षं भंते ! मणुस्मित्थीणं मणुस्सपुरिसाणं मणु- र्णयपुंसकाणं कपरे कपरेहिंते० अप्पा ६० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेजजगुणा- ओ, मणुस्सयपुंसका अस्खेजजगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, कोटीकोटिप्रमाणात्वात् । तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणात्वात् । तेऽप्यो

मनुष्यपुंसकाश्च संख्येयगुणाः, अयसंख्येयनागतमत्तद्वहारा- शिप्रमाणात्वात् ।

संप्रति तृतीयमष्टवहृत्यामह—

एतेसि षं भंते ! देवित्थीणं देवपुरिसाणं णेरऽयनपुंसकाणं य कपरे कपरेहिंते० जाव विमैसाहिवा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा णेरऽयनपुंसका, देवपुरिसा अस्खेजजगुणा, देवित्थीओ संखेजजगुणाओ ।

सर्वस्तोका तैर्यिकपुंसकाः, अहुत्तमात्रक्षेत्रप्रदेशशारी स्वप्र- यमर्गमूलन गुणिते यावान् प्रदेशशारीभवेति तावत्प्रमाणात्सु घनीकृतस्य होकस्य एकप्रादेशिकोऽपि श्रेणिषु यावन्तो नमःप्र- देशास्त्वावत्प्रमाणात्वात् । तेभ्यो देवपुरुषा अस्ख्येयगुणाः, अ- संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणायां शुको यावन्तो नमःप्रदेशा- स्त्वावत्प्रमाणात्सु घनीकृतस्य होकस्य एकप्रादेशिकोऽपि श्रेणिषु यावन्त आक्राशुप्रदंशस्त्वावत्प्रमाणात्वात् । तेभ्यो देवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्विविशद्वहृत्यात्वात् ।

संप्रति सकलमभिधं चतुर्थमष्टवहृत्यामह—

एतेसि षं भंते ! तिरिक्खजोग्गित्थीणं तिरिक्खजोग्गियपुरि- साणं तिरिक्खजोग्गियणपुंसकाणं मणुस्मित्थीणं मणु- स्सपुरिसाणं मणुस्सयपुंसकाणं देवित्थीणं देवपुरिसाणं णे- रऽयनपुंसकाणं य कपरे कपरेहिंते० ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज- गुणाओ, मणुस्सयपुंसका अस्खेजजगुणा, णेरऽयणपुं- सका अस्खेजजगुणा, तिरिक्खजोग्गियपुरिसा अस्- खेजजगुणा, तिरिक्खजोग्गित्थीयाओ संखेजजगुणाओ, देव- पुरिसा अस्खेजजगुणा, देवित्थीयाओ संखेजजगुणाओ, तिरिक्खजोग्गियणपुंसका अणेतगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः । तेऽप्यो मनुष्यपुंसकाः अस्ख्येयगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागुक्ता । ते- भ्यो तैर्यिकपुंसका अस्ख्येयगुणाः, अस्ख्येयधराकाशप्रदे- शराशिप्रमाणात्वात् । नेष्वस्त्रियेयोनिकपुरुषा अस्ख्येयगुणाः, तेऽप्यस्त्रियेयोनिकस्त्रियः सख्यातगुणाः, त्रिगुणात्वात् । ताऽप्यो देवपुरुषाः संख्येयगुणाः प्रभुतत्प्रनरासंख्येयभागवयसंख्येय- श्रेणितकाशुप्रदंशराशिप्रमाणात्वात् । तेभ्यो देवस्त्रियः सख्ये- यगुणाः, द्विविशद्वहृत्यात्वात् । ताऽप्यसंख्येयोनिकपुंसका अनन्त- गुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् ।

संप्रति जलचर्यादिविजागतः पञ्चममष्टवहृत्यामह—

एतामि षं भंते ! तिरिक्खजोग्गित्थीणं जलधरीणं थऽ. धरीणं स्वधरीणं तिरिक्खजोग्गियपुरिसाणं जलधराणं थलधराणं स्वधराणं तिरिक्खजोग्गियणपुंसकाणं एगिदियतिरिक्खजो- ग्गियणपुंसकाणं पुटनिकादयश्चार्थीदियतिरिक्खजोग्गियणपुंसका- णं वेदियतिरिक्खजोग्गियणपुंसकाणं, तेदंदिचत्तुर्दिचप- च्चेदियतिरिक्खजोग्गियणपुंसकाणं जलधराणं थलधराणं स्व- धराणं कपरे कपरेहिंते० जाव विमैसाहिवा वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा स्वधरीणतिरिक्खजोग्गियपुरिसा, स्वधरीणतिरि-

कल्पजाणित्यियाओ संखेज्जगुणाओ, थदयरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेज्जगुणा, थदयरतिरिक्खजाणित्थीओ संखेज्जगुणाओ, जदयरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेज्जगुणा, जदयरतिरिक्खजाणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, खदयरपंचेदियतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेज्जगुणा, थदयरपंचेदियतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेज्जगुणा, चउरिदियतिरिक्खजाणियपुसिसा विसेसाहिद्या, तेउदियणपुसिसा विसेसाहिद्या, बउदियणपुसिसा विसेसाहिद्या, तउकाइयपणिदियतिरिक्खजाणियपुसिसा अमंखेज्जगुणा, पुदविनपुसिसा विसेसाहिद्या, आउओ विसेसाहिद्या, बाउओ विमिसाहिद्या, वणकत्तिएदिणपुसिसा अणेतगुणा ।

संखेयकाः खचरपञ्चिन्द्रियतिरिक्खजाणियपुसिसा । तेज्यः खचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः स्थलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयगुणाः । तेज्यः स्थलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः जलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयगुणाः । तेज्यः जलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताज्यः जलचरपञ्चिन्द्रियतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयगुणाः । तेज्यः स्थलचरतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयगुणाः । ततत्रिगुणत्वात् । ताज्यः जलचरपञ्चिन्द्रियतिरिक्खजाणियपुसिसा संखेयगुणाः । ततः पूर्वपञ्चमनुवायुकायिकैर्कन्दियतिरिक्खजाणियपुसिसा यथोत्तरं विशेषाधिकारः । ततो वनस्पतिकायिकैर्कन्दियतिरिक्खजाणियपुसिसा अन्नमगुणाः ।

संप्रति कर्मभूमिजादिमनुष्यरूपादिविभागतः पद्यम-
लपचहृत्वमाह-

एयामि णं भंते ! मणुस्सत्थेणं कम्मज्जुमियाणं अकम्मज्जुमियाणं अंतरदं । वियाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मज्जुमिकाणं अकम्मज्जुमिकाणं अंतरदं । विकाणं मणुस्सपुसिसाणं कम्मज्जुमिकाणं अकम्मज्जुमिकाणं अंतरदं । विकाणय कयंरं कयंरं हिंतां अप्पा वाओ । गोयमा । अंतरदं । वकअकम्मज्जुमकणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य एतेसि णं दांमि वि तुब्बा सवत्थोवा, देवकुरु उचरकुरु अकम्मज्जुमकणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसाओ एतेणं दांमि वि तुब्बा संखेज्जगुणा; हरिबासरम्मकवासअकम्मभूमकणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य एते णं दांमि वि तुब्बा संखेज्जगुणा, हेमवत हेराणवते अकम्मभूमकणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य दो वि तुब्बा संखेज्जगुणा, जरहेरवतकम्मज्जुमगणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, चरहेरवतकम्मज्जुमगणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमकणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मज्जुमगणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, अंतरदं । वकअकम्मज्जुमगणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, देवकुरु उचरकुरु अ-

कम्मज्जुमगणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, एवं तदेवओ जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मज्जुमकणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा ।

स्ववेत्तोका अतत्तद्वीपकमनुष्यत्थियाओ अन्तरद्वीपकमनुष्यपुरियाओ; पंत व द्वयऽपि परस्परं तुल्याः । तत्रत्यत्थोपुसिसां युगलपमोपेतत्वात् । तेज्या इधकुरुत्तरकुर्वकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ मनुष्यपुरियाः संखेयगुणाः । युक्त्तर प्रागेवोका । स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । एवं हरिखरैरभ्यकमनुष्यपुरियात्थियाओ हेमवतहेरवतमनुष्यपुरियात्थियाओ यथोत्तरं संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ततो जरतिरवतकम्मभूमकमनुष्या द्वय संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्या भरतिरवतकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ द्वयोऽपि संखेयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताज्यः पूर्वविदेहापरविदेहकम्मभूमकमनुष्यपुरिया द्वयोऽपि संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यः पूर्वविदेहापरविदेहाकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ द्वयोऽपि संखेयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताज्योऽन्तरद्वीपकमनुष्यत्थियाओ अस्संखेयगुणाः, अण्यसंखेयभागानाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेज्या देवकुरुत्तरकुर्वकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ चयेऽपि संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो हरिखरैरभ्यकमनुष्यत्थियाओ चयेऽपि संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो हरिखरैरभ्यकमनुष्यत्थियाओ चयेऽपि संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो देवकुरुत्तरकुर्वकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ चयेऽपि संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो जरतिरवतकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ द्वयोऽपि संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो जरतिरवतकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ द्वयोऽपि संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकम्मभूमकमनुष्यत्थियाओ चयेऽपि संखेयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ।

संप्रति जयनवास्यादिदेव्यादिविभागतः सप्तममदपचहृत्वमाह-
एतामि णं जंते । देवित्थीणं जवणवामीणं वाणमंतीरिणं जोइमीणं वेमाणिणीयं देवपुरिसाणं भवणवासीणंओ जाव वेमाणिणियाणं सोपममकाणंओ जाव गविज्जकाणं अणुत्तरोवाइयाणं एरइयनपुसिसाणां रयणपभापुदविनेरइयनपुसिसाणंओ जाव अहेसत्तमापुदविनेरइयनपुसिसाणां कयंरं कयंरं हितो जाव विमेसाहिद्या वा । गोयमा । सवत्थोवा अणुत्तरोवाइया देवपुरिसा, उवरिमगेवत्तजा देवपुरिसा संखेज्जगुणा, तदेवओ जाव आणतकप्यं देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमापुदवीए नेरइयनपुसिसा अस्संखेज्जगुणा, उट्टीए पुदवीए नेरइयनपुसिसा अस्संखेज्जगुणा, महत्सारे कप्यं देवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, महासुकु कप्यं देवा अस्संखेज्जगुणा, पंचमाए पुदवीए नेरइयनपुसिसा अस्संखेज्जगुणा, लंतए कप्यं असंखेज्जगुणा, चउत्थीए पुदवीए नेरइया अस्संखेज्जगुणा, बंभलोए कप्यं देवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, तथाए पुदवीए नेरइया अस्संखेज्जगुणा, माहिंदे कप्यं देवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, सणहुमारं कप्यं देवपुरिसा अस्संखेज्जगुणा, दोच्चाए पुदवीए नेरइया अस्संखेज्जगुणा,

अप्यावहृय (ग)

ईसाणे कल्पे देवपुरिसा असंखेजगुणा, ईसाणे कल्पे देवित्थियाओ संखेजगुणाओ, सोधम्मं कल्पे देवपुरिसा संखेज्जा, सोधम्मं कल्पे देवित्थियाओ संखे०, जवन-वासिदेवपुरिसा अमंखेज्जगुणा, जवणवासिदेवित्थियाओ संखे०, इमी मे रथणपज्जापुढवीनेरइया असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा. बाणमंतरदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, जोतिसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ॥

सर्वस्मांका अनुत्तरोपातिकदेवपुरियाः, तत उपरितनम्रैवेय-कल्पयथैवेयकाधस्तनम्रैवेयकाच्युतारणप्राणतानतकल्पदेवपुरिया यथोत्तरं संख्ययगुणाः । ततोऽथःसप्तमषष्ठपृथिवीनैर्यिकन-पुंसकसदञ्चारसहाश्रुककल्पदेवपुरियपञ्चमपृथिवीनैर्यिकनपुंसकलातकल्पदेवपुरियचतुर्थपृथिवीनैर्यिकनपुंसकसहाश्रुक कल्पदेवपुरयुत्तीथपृथिवीनैर्यिकनपुंसकमादंष्ट्रसत्तकुमारक-लदेवपुरयद्वितीयपृथिवीनैर्यिकनपुंसका यद्योऽस्रमसंख्येय-गुणाः । तत ईशानकल्पदेवपुरया अमंखेयगुणाः, तेज्य ई-शानकल्पदेवत्वियः संख्येयगुणाः, आश्रिदादुगुणत्वात् । ततः सोधम्मकल्पे देवपुरयाः संख्येयगुणाः, तेज्यः सोधम्मकल्पे देव-त्वियः संख्येयगुणाः, आश्रिदादुगुणत्वात् । ताभ्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैर-यिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यो वाणमन्तरदेवपुरया अ-मंखेयगुणाः, तेभ्यो वाणमन्तरदेवत्वियः संख्येयगुणाः, ताभ्यां ज्योतिष्कदेवपुरयाः संख्येयगुणाः, तेभ्यो ज्योतिष्कदेवत्वियः संख्येयगुणाः, आश्रिदादुगुणत्वात् ॥

सम्प्रति विजातीयत्वक्रियायकमप्रममदवबहुत्वमाह—
एवाणि एं भेते । तिरिक्खजोणित्थीयं जलयरीयं थलयरीयं खड्दयरीयं तिरिक्खजोणियपुंसकाणं एगिंदियतिरि-क्खजोणियनपुंसकाणं पुढवीकाइयएगिंदियतिरिक्खजो-णियनपुंसकाणं आठकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंस-काणं ० जाव वणस्सकाइयएगिंदियातिरिक्खजोणियणपुंस-काणं वेदंदियातिरिक्खजोणियणपुंसकाणं तेदंदियतिरिक्ख-जोणियणपुंसकाणं चउरंदियातिरिक्खजोणियणपुंसकाणं पंचेदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थड्यराणं खड्दयराणं मणुस्सपुंसकीयणं कम्मनुभियाणं अकम्मज्जी-वियाणं अंतरदीवयाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मनुभियाणं अ-कम्मभूतिकाणं अंतरदीविकाणं मणुस्सनपुंसकाणं कम्मज्जी-विकाणं अकम्मज्जीविकाणं अंतरदीविकाणं देवित्थीयं भव-णवाग्निषीणं वाणमंतराणं जोतिसिणीयं वेमाणिणीयं देवपु-रिसाणं भवणवाग्नीयं वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणि-याणं सोधम्मकाणं ० जाव गेविज्जकाणं अणुत्तरांवाद्यायाणं नेरइयनपुंसकाणं रथण्यजपुढवीनेरइयनपुंसकाणं ० जाव अहेसत्तमापुढवीनेरइयनपुंसकाण य करे कयोइहो अप्या

वा० ४१। गोपमा । सव्वत्थोवा अंतरदीवकअकम्मज्जीमिकम-णुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य एतेणं दो वि तुट्ठा सव्व-त्थोवा, देवकुरुत्तकुरुअकम्मज्जीमणुस्सित्थीओ मणु-स्सपुरिसा य एतेणं दो वि तुट्ठा संखेज्जगुणा; एवं हरिसासम्मवासि, एवं हेमवत हेरण्णवते, जरहेरवतवासि-कम्मज्जीमणुस्सपुरिसा दो वि संखे०, जरहेरवकम्मज्जीम-णुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरवि-देहकम्मज्जीमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेह-अवरविदेहकम्मज्जीमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्ज-गुणाओ, अणुत्तरांवावतिवदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा ; उवनिमोवेज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा० जाव आणतकल्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइयणपुंस-का असंखेज्जगुणा, छट्ठीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, महेस्सारे कल्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, महा-सुक्क कल्पे असंखेज्जगुणा, पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुंस-का असंखेज्जगुणा, लंतए कल्पे देवपुरिसा असंखेज्जगु-णा, चउत्थीए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, बंधणोए कल्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, तवाए पुढवी-ए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिदे कल्पे अमंखेज्जगुणा, सणकुमार कल्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, दोषाए पु-ढवीए एणइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, अंतरदीवयअक-म्मज्जीमणुस्सपुरिसा असंखेज्जगुणा । देवकुरुत्तकुरु-अकम्मज्जीमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, एवं ० जाव विदेहो । ति । ईसाणकल्पे देवपुरिया असंखेज्जगुणा, ईसाण-कल्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मं कल्पे देवपु-रिसा संखेज्जगुणा, सोधम्मं कल्पे देवित्थियाओ संखेज्ज-गुणाओ, जवणवासिदेवपुरिसा असंखे०, भवणवाग्निदे-वित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ; इमी मे रथणपज्जापु-ढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, खड्दयतिरिक्खजो-णियपुरिसा संखेज्जगुणा, खड्दयतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे०, जलयरतिरिक्खजोणि-त्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगु-णा, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोइसिय-देवपुरिसा संखेज्ज०, जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगु-णाओ । खड्दयपंचेदियतिरिक्खजोणियपुंसका असंखेज्ज-गुणा, थड्यरनपुंसका संखे०, जलयरनपुंसका संखे०, चतुरंदियणपुंसका विमेमाइया, तेदंदिवा विमेसाइया, वे-दिवा विमेसाइया, तेठकाइयएगिंदियातिरिक्खजोणिय-नपुंसका असंखे०, पुढवी० विमेमाइया, आठ० विसाहि-

या, वा०० चित्तेसाद्विया, बणल्पाकाइयर्पिदिद्यतिरि-
कन्त्ये।गियसपुंसका अणंतमुणा ॥

सर्वेस्तोकाः अन्तरह्योपकमनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषाश्च, स्व-
स्थानं तु द्वयेऽपि तुल्याः, युक्तचर्मोपेतत्वात् । एवं देवकुक्क-
रकृष्यकर्मजुमकइरिचर्षम्पकवर्षाकर्मजुमकइमवतहैरपय-
वताकर्मजुमकमनुष्यस्त्रीपुण्या यथोत्तरं संक्षेपयमुणाः, स्व-
स्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेज्यो भरतैरखतकर्मजुमकमनुष्यपु-
रुषा द्वयेऽपि संक्षेपयमुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ते-
ज्यो सरतैरखतकर्मजुमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संक्षेपयमुणाः,
स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तान्यः पूर्वविदेहापरविदेहक-
र्मजुमकमनुष्यपुण्या द्वयेऽपि संक्षेपयमुणाः, स्वस्थानं तु पर-
स्परं तुल्याः । तेज्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मजुमकमनु-
ष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संक्षेपयमुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्व-
स्थाने तु परस्परं तुल्याः । तत्राद्योऽनुत्तरापोपातिकोपरितनश्चैवक-
मभयमश्रैयकाधस्तनश्चैवकः।फुत्तराणः।प्राणनामकद्वेषपु-
रुषाः यथोत्तरं संक्षेपयमुणाः; ततोऽधःसप्तमपष्टपुंधर्वाभैरिय-
कसहस्रारकल्पद्वेषपुरुषा महाशुक्लकल्पद्वेषपुरुषाः पञ्चमपुण्यि-
यैरायकालान्तरकल्पद्वेषपुरुषाश्चतुर्थपुण्यिभैरियकनपुंसक-
मश्रैयककल्पद्वेषपुरुषतृतीयपुण्यिभैरियकनपुंसकमाहन्द्रकल्प-
मन्त्रकमारकद्वेषपुरुषद्वितीयपुण्यिभैरियकनपुंसकान्तरह्यो-
पनपुंसका यथोत्तरमसंक्षेपयमुणाः । ततो देवकुक्कुरकृष्यकर्म-
जुमकइरिचर्षय्यकवर्षाकर्मजुमकहैमवतहैरपयवताकर्मजुमक-
मरितखतकर्मजुमकपुंड्रविभेदार्थविदेहकर्मजुमकमनुष्यनपुंस-
काः यथोत्तरं संक्षेपयमुणाः, स्वस्थाने तु द्वये परस्परं तुल्याः ।
तत ईशानकन्दरद्वेषपुरुषा असंक्षेपयमुणाः, तत ईशानकल्प-
देवप्रियः संक्षेपः । ताभ्यः सौभ्रमैकल्पे देवपुरुषस्त्रियः संक्षेपः । ते-
भ्यो भयनवाभिमदेवपुरुषा असंक्षेपयमुणाः, तेभ्यो जन्मवांसिद-
वार्त्तव्यः संक्षेपयमुणाः । ताभ्योऽस्य रत्नप्रभायो पृथिव्यां भैर-
ियकनपुंसका असंक्षेपयमुणाः । ततः अचरतिथ्यभौतिकपुरुषाः
अचरतिथ्यभौतिकस्त्रियः स्थप्रचरतिथ्यभौतिकपुरुषाः स्थलचर-
तिथ्यभौतिकस्त्रियः जलचरतिथ्यभौतिकपुरुषाः जलचरतिथ्यभौ-
तिकस्त्रियो वायुमन्तरद्वेषपुरुषाः वायुमन्तरद्वेषस्त्रियो ज्योति-
रकल्पद्वेषपुरुषाः ज्यातिरकल्पद्वेषस्त्रियो यथोत्तरं संक्षेपयमुणाः ।
ततः अचरपञ्चेन्द्रियतिथ्यभौतिकनपुंसका असंक्षेपयमुणाः ।
ततः स्थलचरजलचरपञ्चेन्द्रियतिथ्यभौतिकनपुंसकाः कर्मण
संक्षेपयमुणाः, ततश्चतुर्दिन्द्रियवत्रादिन्द्रियतिथ्यभौतिक-
नपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततस्त्वेतज्जाधिकैकैन्द्रिय-
तिथ्यभौतिकनपुंसका असंक्षेपयमुणाः, ततः पुण्यिध्यायुका-
यिकतिथ्यभौतिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । घनस्प-
तिकार्थिकैकैन्द्रियतिथ्यभौतिकनपुंसका अन्ततमुणाः, निर्गो-
द्यानामनन्तत्वात् । जी० २ प्रति० ॥

शरीरमाश्रित्य सशरीरशरीराद्वेषबहुत्वविधिव्याप्याम्—
“सम्बन्धोवा ससरिरी, असरिरी अणंतमुणा ”

(२७०) [शरीरद्वारम्] आहारकादिसारीरिणाम्—

अप्पावहृ-सम्बन्धोवा आहारगसरिरी, वेडविषयसरिरी
असंसेज्जमुणा, ओरासियसरिरी असंसेज्जमुणा, अ-
सरिरी अणंतमुणा, तयाकम्पासरिरी दो वि तुष्ठा अ-
णंतमुणा ।

सर्वेस्तोकाः आहारकशारीरिणः, वक्तृभवेऽपि सहस्रपुण्यकल्पेण
प्राप्तमाणत्वात् । तेभ्यो वैक्रियशरीरिणोऽसंक्षेपयमुणाः, देवना-
काणां कतिपयमजैजतिर्युक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यवायुकायिकानां च वै-
क्रियशरीरत्वात् । तेज्यो श्रौदारिकशरीरिणाः।संक्षेपयमुणाः, इहा-
नन्तानामपि जीवानां यस्मादकर्मौदारिकं शरीरं ततः स एक-
ौदारिकशरीरी परिगृह्यते, ततोऽसंक्षेपयमुणा एषौदारिकशरी-
रिणां नानलगुणाः। आहः व शुद्धीकाकारः।श्रौदारिकशरीरिण्या-
शारीरा अन्ततमुणाः, सिदानामनन्तत्वात्, श्रौदारिकशरीरिणां
च शरीरापेक्षया असंक्षेपयत्वादिनि' । तेज्योऽशरीरिणां।अन-
सुणाः, सिदानामनन्तत्वात् । तेज्यः तैजसशरीरिणः कार्मणश-
रीरिणः अन्ततमुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तै-
जसकार्मणयोः परस्परविनाजाविश्वत्वात्, इह तैजसशरीरं कार्-
मणशरीरं च निर्गोद्वेषपि प्रतिजीवं विद्यते, इति सिद्ध्याऽऽप्य-
नन्तगुणत्वम् । जी० ६ प्रति० । (श्रौदारिकशरीरिणाणां बाल्यब-
हुत्वं 'सरिरी' शब्दे वक्ष्यते) (सकमविषयमल्पबहुत्वं 'सकम'
शब्दे द्रष्टव्यम्) (समुदातविषयमल्पबहुत्वं 'समुदाय' शब्दे
प्रकपविध्यते)

[संक्षिप्रारम्भ] संक्षेपसंक्षिनोसंक्षिनाअसंक्षिनामल्पबहुत्वम् -

एस्मि णं भेते । जीवाणं सर्वाणं असर्वाणं नोसन्निणं
नोअसर्वाण व कपरे कपरेहितो अप्पा वा० ४ ? । गोय-
मा । सम्बन्धोवा सस्री, नोसस्री नोअसस्री अणंतमुणा,
असस्री अणंतमुणा ।

सर्वेस्तोकाः संक्षिना, समनस्कानामेव संक्षित्वात् । तेज्यो नोसं-
क्षिनो नोऽसंक्षिनोऽनन्तमुणा, उभयप्रतिषेधकत्वा हि सिद्धाः, तेच
संक्षिभ्योऽनन्तमुणा एवेति । तेभ्योऽसंक्षिनोऽनन्तमुणा, घनस्पती-
नां सिद्धेज्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रहा० ३ पद । (आहारविंशो-
पयुक्तानां भैरियकादीनामल्पबहुत्वं 'सर्वा' शब्दे वक्ष्यते) (सा-
मायिकविदेस्यतविषयमल्पबहुत्वं 'संजय' शब्दे एव द्रष्टव्यम्)
(संक्षेपस्थानामल्पबहुत्वं 'संजमट्टण' शब्दे भावयिष्यते)

[संक्षेपान्तरम्] संयतानामसंयतानां नोसंयत-
नोअसंयतानामल्पबहुत्वम्—

एस्मि णं जंते । जीवाणं संजयाणं असंजयाणं संजयासं-
जयाणं नोसंजयाणं नोअसंजयाण व कपरे कपरेहितो अप्पा
वा० ४ । गोयमा । सम्बन्धोवा जीवा संजया, संजयासंजया
असंसेज्जमुणा, नोसंजया नोअसंजया अणंतमुणा, अ-
संजया अणंतमुणा ।

सर्वेस्तोकाः संयताः, वक्तृपदेषुऽपि तेषां कौटिल्यदृष्टपुण्यकल्प-
प्राणतया लक्ष्यमानत्वात् । “कौटिल्यहस्त्यस्युद्धं मण्डयल्लोप-
संजयाणं” इति वचनात् । तेज्यः संयतासंयता देशविरता असं-
क्षेपयमुणाः, तिथ्येकपञ्चेन्द्रियाणामसंख्यातानां देशविरतिसङ्गा-
त्वात् । तेज्यो नोसंयता नोअसंयता अन्ततमुणाः, प्रतिषेध-
ब्रह्मत्वा हि सिद्धाः, ते चान्ता इति । तेज्योऽनन्तत्वात् अन्त-
मुणाः, घनस्पतीनां सिद्धेज्योऽप्यनन्तत्वात् । प्रहा० ३ पद ।

संक्षानानामल्पबहुत्वम्—

एस्मि णं जंते । परिमंल्लवदृष्टउरसंतसंजयात अणित्यंत्वा-
यां संजापाणं दन्वडुपाय पदेसदुपाय दन्वडुपदेसदुपाय कय-

अप्यावहृय (ग)

रे कपरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ? । गोयया ! सव्वत्थोवा परिमंढसमंठाणा दव्वहयाए, बढासंठाणा दव्वहयाए संखेज्जगुणा, चउरंसा संठाणा दव्वहयाए संखेज्जगुणा, तेसा संठाणा दव्वहयाए संखेज्जगुणा, आयतसंठाणा दव्वहयाए संखेज्जगुणा, अणित्थंथा संठाणा दव्वहयाए अ-संखेज्जगुणा । पदेसहयाए सव्वत्थोवा परिमंढला संठाणा, बढासंठाणा पदेसहयाए संखेज्जगुणा । जहा दव्वहयाए तहा पदेसहयाए वि० जाव अणित्थंथा संठाणा पदेसहयाए असंखेज्जगुणा । दव्वहपदेसहयाए सव्वत्थोवा परिमंढ-संठाणा, दव्वहयाए सो वेव गमो भाणियब्बो जाव अणित्थंथा संठाणा दव्वहयाए असंखेज्जगुणा, अयोत्थंथ्ये-हिंतो संठाणेहिंतो दव्वहयाएहिंतो परिमंढला पदेसहयाए असंखेज्जगुणा, बढासंठाणा पदेसहयाए असंखेज्जगुणा, सो वेव पदेसहयाए गमओ जाणियब्बो जाव अणित्थंथा सं-ठाणापदेसहयाए असंखेज्जगुणा । ज० ५५ श० ३७० ।

(पदकसमर्जितानां यावच्चतुरशीतिसमर्जितानामव्यवहृत्यं 'वषयाय' शब्दे द्वितीयभाग १६२ पृष्ठ निकृष्यवर्षते)

[सम्यक्त्वद्वारम् । सम्यग्मिथ्याहृष्टिसम्यक्मिथ्या-हृष्टीनामव्यवहृत्यम् -

एसिं सं भंते । जीवाणं सम्मादिह्दीणं मिच्छादिह्दीणं मग्गामिच्छादिह्दीणं च कपरे कपरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयया ! सव्वत्थोवा जीवा सम्मामिच्छादिह्दी, सम्मादिह्दी अणंतगुणा, मिच्छादिह्दी अणंतगुणा ।

सर्वलोकाः सम्यग्मिथ्याहृष्टयः, सम्यग्मिथ्याहृष्टिपरिणाम-कालस्याप्तमुहूर्तप्रमासुतयासित्स्तोकत्वेन तेषां पुच्छासमये स्तो-कानामिव हृच्यन्त्यात् । तेभ्यः सम्यग्हृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धा-नामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्याहृष्टयोऽनन्तगुणाः, वनस्पति-कायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणात्, तेषां च मिथ्याहृष्टि-त्वात् । प्रहा० ३ पद ।

सम्यक्त्वद्वारं सात्त्विकसम्यग्हृष्टयः स्तोकाः, औपशमिकस-म्यक्त्वात्कांशेव प्रचयमानानां सात्त्विकत्वात् । तेभ्य औ-पशमिकसम्यग्हृष्टयः सङ्घातगुणाः ।

मीसा संत्ता वेयग-असंखणण सइय मिच्छं तु अणंता । संनियर घोवडणंता-आहार घोवेयर असंत्ता ॥ ४४ ॥

तेभ्य औपशमिकसम्यग्हृष्टयो मिश्राः संख्यातगुणाः, तेभ्यो (वेयग ति) क्षाद्योपशमिकसम्यग्हृष्टयोऽसंख्यातगुणाः । तेभ्यः क्षाधिकसम्यग्हृष्टयोऽनन्तगुणाः, क्षाधिकसम्यक्त्ववर्णां सिद्धा-नामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्याहृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धेभ्योऽ-पि वनस्पतिजीवानामनन्तगुणात्, तेषां च मिथ्याहृष्टिवादि-ति । कर्म० ४ कर्म० ।

[सिद्धिविषयकम्] सिद्धासिद्धयोःप्रवहृत्यम् -

एसिं सं भंते । सिद्धाणं असिक्काणं य कपरे कपरे-हिंतो जाव विसेसाहिया वा ? । गोयया ! सव्वत्थोवा सिद्धा, असिक्का अणंतगुणा ।

“पपारिणमित्यादि” प्रअसूचं सुगमम् । जगवाताह-गीतम् ! सव्वेस्तेकाः सिक्काः, असिक्का अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामति-प्रभूतत्वात् ।

(सुक्कादारम्) सुखभावरत्नोसुखमेवादादराणामल्पबहुत्वम् - एसिं सं भंते ! सुहुमाणं बादराणं नोसुहुमाणं नोबा-दराणं य कपरे कपरेहिंतो अप्पा वा० ४ । गोयया ! सव्व-त्थोवा जीवा नोसुहुमा नोबादरा, बादरा अणंतगुणा, सु-हुमा असंखेज्जगुणा ।

सर्वेस्तेकाः जीवा नोसुहुमा नोबादराः, सिद्धा इत्यर्थः ; तेषां सुखमेवादादराशब्दोऽत्र जीवराशेभ्योऽनन्तगुणात् । तेभ्यो ना-दरा अनन्तगुणाः, बादरनिगोदजीवानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणात् । तेभ्यः सुहुमा असंखेयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सुहुमानिगो-दानामसंखेयगुणात् । गानं सुहुसङ्घारम् । प्रहा० ३ पद । कर्म० क० प्र० । प० सं० । (सिद्धिबन्धानामद्वयबहुत्वं 'वष' शब्दे कृष्टव्यम्)

अप्याभिणिवेस-आत्माजिनिवेश-पुं० । पुत्रावृत्तकलवादिव्या-त्मीयाभिनिवेशे, वैरातयावगतौ आत्माजिनिवेशः । नं० ।

अप्यायंके-अप्यातङ्क-वि० । अल्पशब्दोऽभावाच्च । अल्पः सर्वथाऽविद्यमान भावद्वो उच्यतेऽप्यस्याऽसावल्पतात् । जी० ३ प्रति० । रा० । अनातङ्के जीरेण, प्र० १४ श० १ उ० । अरा-गिणं, आत्वा० २ भू० ३ अ० ६ उ० । पाण० । रांगमुत्तं, घ० ३ अघि० । आघ० ।

अप्यारंभे-अप्यारम्भ-वि० । कर्मादिकं पुष्टिव्यादिजीवोपम-द्वै एव कुवांण, औ० ।

अप्यावय-अप्यावृत्-वि० । अस्त्विति, सु० १ भू० ५ अ० ३ उ० ।

अप्यावयवृत्तार-अप्यावृत्तार-पुं० । अप्यावृत्तमर्थगतं ह्यं शू-र-मुचं यस्य सोऽप्यावृत्तारः । हृदसम्यक्त्वं, यस्य दिष्टं प्रविश्य परतान्धिकोऽपि यद्यत् कथयति तदसौ कथयति, तस्य परिज-नोऽप्यन्यथा भावयितुं सम्यक्त्वाच्छावयितुं शक्यते इति यावत् । सु० २ भू० ६ अ० ।

अप्याह-संदिश-धा० । सम-विज्ञ-तुदा० । वार्ताकथने, प्राहने-“सदिशेरत्पादः” ॥ ८० ॥ इति सूत्रेण संपुष्टकस्य दिशेरत्पादादेव । प्रा० ४ पाद । अप्याहति संदिशति व्य० १ उ० । अप्याहति संदेशं कथयति, यथा-मया ह्येतोऽमुकस्य समापे कायात्सर्ग इति । व्य० ४ उ० ।

अप्याहृण-अप्राधान्य-न० । अप्राधान्ये, पञ्जा० १ विव० ।

अप्याहार-अप्याहृ-पुं० । अल्पशक्तौ आहारश्च अन्धा-हारः । स्तोकाहारः, अल्प आहारो यस्य सोऽप्याहारः । स्तो-कमाहारमाहार्यति साऽत्रै, अ० ।

अङ्ककुंभ-अंगणपमाणमेते कवले आहारमाहारेमाणे अप्याहार ।

कुक्कुटप्रकस्य यत्प्रमाणं माने तत्परिमार्णं मानं वेयं ते तथा । अथवा कुटीय कुटीरकमिष जीवस्याभयत्वात् कुटी शरीरं, कुटिनता अङ्गव्याप्यत्वात् कुटी कुकुटी, तथा अप्रक-

मिवाएककुमुदरपुरकवादाहारः कुकुट्यपदकम, तस्य प्रमाणतो मात्रा द्व्यभिशासमाश्रुया येषां ते कुकुट्यपदकप्रमाणमात्राः । अस्त्येनामस्यभिप्रायः-व्याता यस्य पुरुषस्याहारस्य द्वात्रिंशससो भागस्तत्पुरुषापेक्षया कवलः । इदमेव कवलमानमा-भित्य प्रसिद्धकवसञ्चतुःषष्ट्यादिमानाहारस्यापि पुरुषस्य द्वात्रिंशता कवस्यैः प्रमाणप्रसतोपपन्नं स्यात्, नहि स्वनोजनस्या-हं ह्यकवतः प्रमाणमास्यवयुपपन्नं । प्रथमस्याह्वान्यं तु प्रा-पिक्यक्रमवगतव्यमिति । (अप्याहारः सि) अल्पाहारः, साधु-भंशतीति गम्यम् । अथवाऽष्टौ कुकुट्यपदकप्रमाणमात्रान् कव-सानाहारमाहारयति कुर्वति साधौ अल्पाहारः स्तोकाहारः, आहारचतुर्धाकाकपन्थास्त्ये । अ० ७ हा० १ उ० । व्या० । आत्मा० । (अल्पाहारस्य इन्द्रियाणि विषयेषु न वर्तन्त इति 'जिणक-प्यिय' शब्दे वक्ष्यते)

अप्याहिरगण-अल्पाधिकरण-पुं० । अल्पमविद्यमानमधिक-रणं स्वपक्षरपक्षाविषयो यस्य तत्तथा । आ० ६ टा० १० उ० । निष्कसहे, स्था० ८ टा० ।

अपिपेचन्-अद्वेषेचन्-त्रि० । अल्पा स्तोका धर्मोपकरणप्राप्ति-मात्रविषयत्वेन, न तु सत्कारादिकामितया महती, अल्पशब्द-स्याभाववाचित्वेनाविद्यमाना दृष्टा वाग्ना व्यत्यल्पेच्छुः । उक्तं ३ अ० । अमदंष्ट्रं, औ० । धर्मोपकरणमावाधारणं, उक्तं २ अ० । न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागिनि, दश० ८ अ० । अ-ल्पाः स्तोकाः परिग्रहार्थमेवियच्छुः। अन्तःकणप्रवृत्तयेषां ते तथा । सूत्र० २ ध्रु० २ अ० । मणिकणकादिविषयप्रतिबन्धरहिते, जिते ३ प्रति० । न० । जं० ।

अपिप्य-अपिप्य-अ० । प्रियस्याभावोऽपिप्यम् । चित्तदुःखासिका-याम्, सूत्र० १ अ० ४ अ० १ उ० । न प्रियमपिप्यम् । अर्पतिहे-ती, म० १ श० ५ उ० । चण० । द्वेष्ये, स० । यद्धि दर्शनाया-तकात्रेऽपि न प्रियमुक्तिमुत्पादयति । जी० ३ प्रति० । प्रेमावि-षये, स्था० ८ टा० । "अणिट्टा अकंता अपिप्या अमण्यसा अ-मणा एकटा" विषा० १ अ० १ अ० । "कोह असत्तं कुविज्जा, धारिज्जा (पयमप्यियं) ।" अपिप्यमपि कणककुतया तदनि-ष्टमपि, गुरुवचनमिति गम्यते । उक्तं १ अ० ।

अपित्त-त्रि० । प्राक्कृतसुहृतेन हार्तिकेन, उक्तं ३ अ० । प्रा-हिते, न० ५ हा० ७ उ० । दौर्गतिकेन, विषा० १ श्रु० २ अ० । विशेषिते, स्था० १० उ० । "अपियमयं विसेसो, सामग्रमण्य-वलयस्स" विशेषे । "जहा वियमपियं तं तहव" यद् ह-व्यमर्पितं प्रतिपादयितुमर्थम् । सम्म० १ काण्ड० ॥

अपिपय-त्रि० । अदत्तं कियते स्म, अदत्त-कृतार्थे णिच्, कर्मणि कः । अल्पीकृते, "शुचा न चकंसद्विपकल्पयादाः" वाच० ।

अपिप्यकारिण-अपिप्यकारिण-स्त्री० । ओतुष्टेननिवेदनादि-कृत्वाभावायाम्, "अपिप्यकारिणं च भासं न ज्ञासिज्जा सया सपुज्जो" दश० ६ अ० ३ उ० ।

अपिपयण्य-अपिपिनय-पुं० । अर्पते विशेष्यते इत्यर्पितो वि-शेषः, तद्वाही नयोऽपिपिनयः । विशेष्य पदास्ति न सामा-न्यमिति समयप्रसिद्धे मये, विशेषे । अस्म० ।

अपिपयता-अपिपयता-स्त्री० । अस्मैमेहेतुतायाम्, म० ६ हा० ३ उ० ।

अपिपयवहार-अपिपिन्यवहार-पुं० । अपिपित् इति व्यवहारो १६६

यस्मिन् सोऽयमर्पितव्यवहारः । मयूष्यंसकादित्यात्, सामासः । अपिपितानामस्यविद्यवाः । स्वाधारे भाववर्ति, ज्ञाताऽय-मित्यादिकेण ज्ञानमस्त्यादिकेपेक्ष्य वचनव्यापारं वक्ष्या-स्थापिते व्यवहारे, उक्तं १ अ० ।

अपिपयवह-अपिपयव-त्रि० । अपिपयं तुःश्चकारणं तद् प्रतीति-अपिपयवधाः । तुःकहेतुनिवारके, "सव्ये पाणापियाया सुह-साया दुष्कषयदिकूला अपिपयवहा" आचा० १ अ० २ अ० ३ उ० । अपिपयस्सर-अपिपयस्वर-त्रि० । प्रमांसविषयस्वर, स्था० ८ टा० ।

अपिप्याणिरपिय-अपिपितानर्पित-न० । द्रव्यं ह्यर्पितं विशेषितं यथा जीवद्वयम्, किञ्चिदम्, संसारीति, संसारेयि असकृपं, त्र-सरूपमपि पश्वेन्द्रियम्, तदपि नररूपमित्यादि । अनर्पितमविशे-षितमेव यथा जीवद्रव्यमिति । ततश्चार्पितं च तदनर्पितं चेत्य-र्पितानर्पितं रूपं त्रवतीति समाप्त्यविशेषकथनरूपं द्रव्यानुयो-गभेदं, स्था० १० उ० ।

अप्रीकय-आत्मीकृत-त्रि० । आत्मना गाढतरमाहृति, "पुहं रेणुं च तण्णुमि बद्धमण्यीकर्यं" विशेषे । आत्मप्रदेशेस्तनुज्ञ-तोयवद् मिथीकृतम् । आ० म० १ टि० ।

अपुण्ड्राइ (षु) अल्पोत्थायिन्-त्रि० । अल्पमुत्थातौ शीतम-स्येयल्पोत्थायी । प्रयोजनार्थे अणुन-पुनरुत्थानशोभे, उक्तं १ अ० । "अणुण्ड्राइ तिरुद्धादि निसीपण्ड्राइऽप्यकुकुप" उक्तं १ अ० ।

अपुसिगपण्यगदगमट्टियामकसंताण-अल्पोसिद्धनपकोदक-मृत्तिकापकटसन्नान-त्रि० । उक्तं नपकोदकमृत्तिकापकटस-न्नानगर्हिते, तत्रोसिद्धः पिपिलिकसन्नानकः, ननको च्छुम्यादा-वृद्धिविशेषः, उदकमृत्तिका अचिरात्पायाहृता मृत्तिका, म-कटसन्नानको वृत्तान्तनुजालम् । आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । अपुपुदय-अल्पोदक-त्रि० । मौलान्तरिकोदकरहिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अपुण्ण-आत्मीय-त्रि० । आत्मनि भवम् । "वहस्वः संयोगे" ॥८।१।८५॥ "अस्मान्मनोः पो वा" ॥८।२।५७॥ इति तस्यपः । "अनादौ" ॥८।२।६६॥ इति प्यः । "उल्लकुल्लो भवे" ॥८।२।६३॥ इति सूत्रेण "उल्ल" प्रत्ययः । आत्मनि नवे, प्रा० १ पा० ।

अपुपुस्तुय-अल्पोस्तुय-त्रि० । औस्तुयवर्जितं, औ० न० । अनु-स्तुके, हा० १ अ० । अपिमनस्के, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । अपुपो-देशी-पुं० । पितरि, हे० ना० १ वगं ।

अपुपोल्लंभ-आप्तोपाह्वम्-पुं० । आत्मेन हितेन, गुरुण्यर्थः । उपाह्वम्मेव विनयेत्यादिहितविधायिन आत्तोपाह्वम् । अवि-धिप्रशुक्तस्य शिष्यस्य गुरुणा प्राणं स्थापनाय उपाह्वम्मे, (तौषेकता) "अपुपोल्लंजनिमित्तं पदमस्स जाण्यज्जण्यस्स अयमपे पण्णत्तं चिं भेमि" हा० १ अ० ।

अपुपोल्ल-देशी-त्रि० । दृढवदनाद्बुधिर, "अपुपोल्लं मिद्धप-यहं च, पतिपुणं हत्यपूरिसं" श्रु० ३ उ० । नि० चू० ।

अपुपोवगणसंधारण-अल्पोपकल्पसंधारण-न० । अल्पमेवोप-करणे संधारणीये, पो० १ विव० ।

अपुपोवदित्त-अल्पोपधिस्व-न० । अनुस्वरणयुक्तस्तोकोपधिस्व-वित्त्वे, दश० २ श्रु० ।

अपुपोव-अल्पोवश्याय-त्रि० । अश्वस्तनोपतिनाशश्यायधिमु-रुवाजितं, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अप्योसहिर्मंतवत्

अप्योसहिर्मंतवत्-अष्टपौषधिमन्त्रवत्-वि० । अल्पं स्नाकमी-
पधिमन्त्रवत् यस्य स तथा । स्नाकेनौषधिमन्त्रवत्तत्र युते,
‘अप्योसहिर्मंतवत्तां नहु अप्पाणं तिगिच्छिद्विदि’ आब-५ अ०
अप्पालिण-आस्फालन-न० । हस्तेनाऽऽतारुने उल्लेखने,
भौ० । दशा० । भग्नाहोरभ्माणं वादनमास्फालनमिति प्र-
सिद्धम् । रा० । आ० श्लु० ।

अप्पालिजंत-आस्फालयमान-वि० । हस्तेनाऽऽनाख्यमाने,
“ अप्पालिजंतवीणं भंभाणं होरंभाणं ” रा० ।

अप्फा (फा) लिय-आस्फालित-वि० । आ समन्तास्फारं
प्रापिते, व्य० १ उ० ।

अप्फिङ्-अस्तुष्ट-वि० । स्पृहाविरहिते “ उपसर्गानिनिष्टेष्टा-
न्नकोऽमीरस्पृहः क्षमेत ” आ० म० छि० ।

अप्फुदिय-अस्फुटित-वि० । अजजंरं, ज० २ वक्र० । “ अखं-
डप्फुदिआ कायव्या ” अस्तुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन,
दश० ६ अ० ।

अप्फुदियदंत-अस्फुटितदंत-वि० । अस्फुटिता अजजंरा ज-
राहिता दन्ता येषां तेऽस्फुटितदन्ताः । जी० ३ प्रति० । अजजं-
रदन्तेषु, ज० २ वक्र० भौ० राजिरहितदन्तेषु, तंन्य० काश्य० ।

अप्फुपु-आक्रान्त-वि० । आ-काम-क० । “ कनापुसाद्युधः ”
८ । ४ । २५८ । इति कविशिष्टस्याऽऽन्तःतशस्यस्यापुसादेशः ।
अ० ४ पाद् । ध्याते, “ अप्फुष्या समाणं । ” नि० । अप्फुष्य स्त्रि,
प्रास्तुष्य ध्याता, आक्रान्ता इति ध्यायत् । अ० । ज० । रा० ।

अप्फोआ (या)-अफोया-स्त्री० । वनस्पतिविशेषं, जी० ३
प्रति० । व्य० । ज० । महा० ।

अप्फोडिभ (ड्)-आस्फोटित-न० करास्फोटे, ज० ३ वक्र० ।
प्रश्र० । न० । ह्रा० । क्लृ० ।

अप्फो (फो) व-अफोव-पुं० । वृक्षाकारिणं, अफोव इति
किमुक्तं भवति-आस्त्रीणं वृक्षगुणमुन्नमनासंज्ञक इत्यर्थः, इति
बुधाः । उल्ल० १८ अ० ।

अफोवमंरुव-अफो (फो) वमरुप-पुं० । अफोवश्चासौ म-
वडवः । नागश्लोत्काङ्गादिभिर्विद्ये स्थानं, “ अफोवमंरुवमि,
ज्ज्यायइ क्खविधासवे ” उल्ल० १ अ० ।

अफरुम-अफरुप-न० । अनिष्टुरं, मनःप्रवृद्धादकं, व्य० ३ उ० ।

अफरुमज्रासि (ए)-अफरुमभा(पिन)-वि० । अफरुमनिष्पृरं
तद्ग्राहणशोलेऽपुरुषभाष्ये । वाग्भिनयिषोर्षं प्रतिपन्न, व्य० ० उ० ।

अफरुवादि (ए)-अफरुवादिन्-पुं० । न विद्यते कस्याश्चि-
त् क्रियायाः फलमित्येवंवादिनि, सुश्र० १ श्रु० अ० ३ । अफ-
लवादिनश्चाऽक्रियावादिन इति तत्रैवेतन्मत उपपत्त्यस्य दृष्टितम् ।
सौधांस्त्रीयाणामफलवादिशब्दम्—

अगारमावसंता वि, अरएणा वा वि पवन्त्या ।
इमं दरिसापमावष्ठा, सव्वहुत्तुत्ता विमुचुई ॥ १ ए ॥
जे ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंटराहिया ॥ २ ० ॥
ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपाग्गा ॥ २ १ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते गन्धस्स पारग्गा ॥ २२ ॥
ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारग्गा ॥ २३ ॥
ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारग्गा ॥ २४ ॥
ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविभ्रो जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारग्गा ॥ २५ ॥

सामन्तं पञ्चतन्माऽऽततज्जीवतच्छरीराकारकाम्यष्टकणि-
कपञ्चस्कंधवादिनामफलवादिवं वजुकामः मृचकारस्तपं स-
दशनकत्राभ्युपगमं दर्शयितुमाह- (अगारस्यादि) अगारं गृहं
तदावसन्तस्तस्मिन्निष्ठतो गृहस्था इत्यर्थः । आराधया वा ता-
पसाद्यः, प्रव्रजिताश्च शाक्यादयः । अप्रियः सम्भाषणे । इदं न
संभावयन्ति-यथेदमसदीर्घं दर्शानमापन्ना आश्रिताः सवे-
ल्लु-क्षत्रयो विमुच्यन्ते । आर्यत्वादेकवचने सूत्रं कृतम् । तथाहि-
पञ्चतन्तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशयः-यथेदमसदीर्घं दर्श-
नं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः सन्तः सर्वेऽन्यः शिरस्त्रिगुणमगुणमन-
दृष्टकाजिनजटाकापायकीवारधारणकेशलुञ्जमभान्यस्तपश्चर-
णस्यार्थेऽशक्येत्या दुःश्रेष्ठो मुच्यन्ते । तथाहुः- “तपसां यत-
नाश्चिधाः, सयमो जोगवञ्जन्म । आश्रित्वादिक् बभू,पालकीमेव
सच्यते ” ॥ १ ॥ इति । सांख्यवादयस्तु-मोक्षवादिन एवं संभा-
षयन्ति-यथा येऽसदीर्घं दर्शानमक संभाषयन्ति-संभाषण-
दिप्रतिपादकमापन्नाः प्रव्रजितास्तपसाऽतन्तं व्रजताऽनातोदयकंपन्त्या दुः-
श्रेष्ठो विमुच्यन्ते । सकलजन्तुर्वागिर्मोक्षं मोक्षमास्फुटन्निन्मु-
क्तं भवति ॥ १६ ॥ इदानीं तेषामेवाऽफलवादित्वाविधेरुपमा-
याह- (ते णावोऽयादि) ते पञ्चतन्वाद्याणाः, नापि नैव, सन्धि-
वृद्धिं विवरं, स च कल्पनायमेदाद् श्रेष्ठा-तश्च कल्पमन्धिः
कुक्ष्यादिः, त्रावमन्धिर्ज्ञानावरणादिवचनरूपः, तमहात्वा ते
प्रवृत्ताः । गर्भनि वाक्यलक्षणे । यथा-आमकमंणोः स-
न्धिर्दिग्धा भावयत्सुणो जवति, तथा अनुधा इव ते वराक
दुःखसंशयोधमज्जुत्तना इत्यर्थः । यथा न पंचतन्वास्या प्रति-
पादिने, लक्षणः प्रतिपाद्यपिपत्ते च । यदि वा संघानं सन्धि-
रुत्तरोत्तरपदयोपरिज्ञानं, तदज्ञाया प्रवृत्ता इति । यतश्चेदम-
तन्तं न समग्रधम्मपरिच्छेदं कर्तव्यं मत्सुत्ता निपुणाः, जनाः प-
ञ्चतन्वास्तित्वादिवादिनो शोका इति । तथाहि-क्याय्यादिको द-
शविधो धमेस्समकालेवियत्तथा च धम्मं प्रतिपाद्यपिपत्तं । यत्कल्पा-
भावाच्च तेषामफलवादिन्ते तदुत्तरग्रन्थोद्देशकपरिसमाप्य-
वसानेन दर्शयति-ये ते विवादि । तुलाब्दइत्यर्थवाद्याः । ये इत्यस्या-
नन्तरं प्रयुज्यन्ते । ये च ते एवमन्तन्नेरकप्रकारवादिनो नास्ति-
काद्यः, छांवा भवेद्यः संसारः, तत्तदपश्यात्सन्ते न भवन्तीति
श्लोकार्थः ॥ २० ॥ तथा न ते वादिनः ससागरमज्जन्तु-क्ष-
रादिपारगा भवन्तीति । २१ । २२ । २३ । २४ । २५ ।

नाणाविहदार्हं दुक्खार्हं, अणुहंति पुणो पुणो ॥
संसारचक्रालम्भि, मच्छुवादिजगत्कुले ॥ २६ ॥
उच्चावयाणि गच्छंता, गच्छमेस्संति-अणुतमो ।
नायपुत्ते महाविरे, एवमाह जिणाचये ॥ २७ ॥

बन्तुनस्ते प्राप्नुवन्ति तद्दशोयित्नाह- (माणाविहाइ ह्स्वादि)
 नानाविधानि बहुप्रकारानि दुःखान्प्रसातोदयलक्षणम्पुन्यजयति
 पुनः पुनः । तथाहि-नरकेषु करपत्रद्वाराण-कुम्भीपाक-तसाय-
 शास्त्रमल्लसमालिङ्गनादीनि, तिर्यङ्गु च शीतोष्णाविदमनाहृताह-
 नातिस्वारारोपणकुसुमादीनि, मनुष्येषु हृद्यवियोगानिस्त्रयस्योण-
 शोकाकन्दनादीनि, देवेषु बामियोगार्थोक्तिविकल्पव्यवना-
 दीन्यनकप्रकारानि दुःखानि, ये एवंभूता वादिनस्ते पौनःपुन्येन
 समनुभवन्ति । एतच्च श्लोकार्कं सर्वेषुनरश्लोकार्केषु योजयम् ।
 शेषं सुगमं यावदुद्देशकसमाप्तिरिति ॥ २६ ॥ नवरमुष्वावचा-
 नीनि-अधमोक्षमानि नानाप्रकाराणि वासस्थानानि गच्छन्तीति
 गच्छन्तो भ्रमन्तो गतीभ्रमेभ्यस्ति वासस्थाननलशो निर्बिच्छेद-
 मिति प्रवामीति । सुधर्मस्त्वामि जम्बूस्थामिन् प्रत्याह-प्रवामीत्यहं
 नीधुङ्गाङ्गा न स्वधर्मीयिकया, स चाहं प्रवामी, येन मया ती-
 थैरुसकाशाच्छ्रुतम् । एतेन च त्रिणिकादिनिवासो कृष्टयम् ।
 । २७ । सूत्र० १ भू० १ म० १ उ० ।

अफास-अस्पृशी-त्रि० । न विद्यते स्पर्शोऽष्टप्रकारो सूदुककै-
 शादिरित्येत्यर्थः । शं० १६ विव० । अङ्गनस्पर्शे पक्वान्तेऽङ्गनी-
 ये, सूत्र० १ भू० ५ अ० १ उ० ।

अफामुय-अमामुक-न० । न प्रगता असत्त्वोऽसुमन्तो यस्मात्त-
 द्प्रामुकम् । सजोवे, म० ५ श० ६ उ० । सचिचे, आच्चा० १
 भू० १ अ० १ उ० । सूत्र० ५ अ० १ उ० ।

अफामुयपादेसंबि (र्ण)-अमामुकप्रतिसंबिन्-त्रि० । अमामु-
 कं सचिचे प्रतिसंबितुं शीघ्रमस्य स अमयामुसुकप्रतिसंबी ।
 सचेननजज्ञादिवस्तुप्रतिसंबनशीले, "अफामुयपदिसंबिय, णामं
 लुञ्जो यं सीलयादीं यं ।" सूत्र० १ भू० ७ अ० ।

अफुन-अस्पृश्य-त्रि० । स्पृश्ययोग्यं, "अफुसं दुष्कम्" अ-
 स्पृश्य कर्माकृतत्वादेव । स्था० ३ उ० २ उ० ।

अफुनमागाण्ड-अस्पृशद्गति-उ० । अस्पृशन्ती सिञ्चन्त-
 गलप्रदेशान् गतिर्यस्य साऽस्पृशद्गतिः । अस्तारालप्रदेशाना-
 मस्पर्शनैवेवोच्यं गच्छति सिञ्चे, औ० ।

लज्जुनदीपारिवन्ने अफुसमागाण्डे उहं एकसमपरां अ-
 विमोहृणं लहुं गता सागारोवउत्ते सिञ्जिह्वे हि चि ।

अनगलप्रदेशस्पर्शो हि नैकेन समवेन सिञ्चिः, स्थिते च त-
 त्रक एव समयः, य एव चापुष्पाधिकर्मणां क्षवसमयः स एव
 निर्वाणसमयोऽतोऽनराले समयानिरस्याभावाद्दन्तरालप्र-
 देशानामसंस्पर्शो नमिति सूत्रमभ्यायमर्थः कवलिंगम्यां प्रा-
 वन इति । औ० ॥ "अफुसमागणानां निरुपेति समर्थं न फुसति,
 अदवा जसु अवगाढो ज य फुसति लज्जुमविगच्छमाणो तसि ए
 वेव आगासपदेने फुसमाणो गच्छति ।" आ० कू० ३ अ० ।

अपङ्क्तु-अदन्त्य-त्रि० । न वन्त्यस्यवन्ध्यम् । अवश्यकार्यकार-
 रिति, सूत्र० । अवन्ध्यमेकादशं पूर्वम्, वन्त्यं नाम निष्फलं, न
 विद्यते वन्ध्यं यत्र तद्वन्ध्यम्, सफलमित्यर्थः । तत्र हि-सर्वे-
 ऽपि काननप-संयमयोगाः अमफलेन लक्ष्णा वधेयन्ते, अप्रशस्ता-
 ङ्ग प्रमादादिकाः सर्वे अशुनफला वधेयन्तेऽतोऽदन्त्यम्, तस्य
 च परिमाणं यद्विशतिपदकोटयः । स० । "अवन्ध्यस्यस्य णं
 वारस वन्त्यं पराण्त्वा ।" न० । स० । अवश्यकार्यकर्तारि, सूत्र०
 २ भू० १ अ० ।

अबंघ-अबन्ध-पुं० । बन्धामावे, पं० सं० ५ अ० ।

अबंघग-अबन्धक-पुं० । निरुक्तयोगे, म० २ श० ६ उ० । आ०
 म० द्वि० ।

अबंघव-अवान्धव-त्रि० । स्वजनसम्गाद्यकार्यरहिते, प्रश्न०
 १ आ० ३ अ० ।

अब्जंज-अब्जक्षन्-न० । अकृशसे कर्मणि, तच्च मैपुने विवक्षितम्,
 अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । प्रश्न० ४ अ० ३ अ० ।

तत्त्वाष्टादशाध-

अष्टारसविधे अब्जंजे आरौद्धिभं च दिव्यं, मणवयकाए-
 ण जोएण अणुमांअणुकारावणकरणेणऽष्टारसा बंधं ॥

इह मूलतो द्विधा प्रह्ला जवति-श्रीदारिकं तिर्यक्मनुष्याणां, दि-
 व्यं च जवतवास्यादीनां, खशाष्टस्य व्यवहितः संबन्धः । मनो-
 वाह्यायाः कारणं, त्रिधा योगेन त्रिविधेनेत्युक्तोऽनकारणकरणेन
 निकृपिते, पञ्चासु पूर्वोपन्यासः अष्टाष्टादशाधः प्रवति । इयं
 प्राधान-श्रीदारिकं स्वयं न करति मनसा वाचा कायेन, मान्येन
 कारयति मनसा वाचा कायेन, कुर्वन्ते नातुमोक्षते मनसा वाचा
 कायेन । एवं वैकियमपि । आख० ४ अ० । एतच्च प्रश्नव्याकरणानां
 चतुर्थेऽध्याये यथा यादशादिद्वारपञ्चकेन । द्वारपञ्चकं चेदम्-
 "आरिश्वाभे । रजनामा २, जह य कश्चो ३ आरिस्ते फलं विंतिष्ठ ।
 जे वि य करंते पावा ५, पाणवहं ते निसामिह" ॥ १ ॥
 प्रश्न० ५ आ० ३ अ० ।

तत्र यादशमश्लोकेन चारार्थप्रतिपादनायेंदं सूत्रम्-

जंबु । अब्जं च चउत्यं सदेवमाणुयातरुस्र ह्योयसस प-
 त्यणिजं पंकपाणपणामाज्जयं । इत्थीपुरिसनपुंसगवेदाचि-
 एहं तवमजयभेचरविगं भेदायणवचतुपदामूलं कारणका-
 पुरिससेवियं सुपराणएवज्जणिजं उहंनरयतिरियान्तो-
 क्कपहृष्टाणं जरापरलरोमोगवहल्लं वधेभंधविषयएद्विषयायं
 दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं चिरपरिचयमाणययं दुरंतं
 चउत्यं अहम्मदरं ॥

(जंबु । इत्यादि) जम्बु । इति शिष्यामन्त्रणम् । अष्टह अकृशसं
 कर्म, तच्चेह मैपुने विवक्षितम्, अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । आह च-
 "नो किंचि अणुअयं, पत्तिसिं वं वा वि जिगबरीदिहि । मुनें प्रहृष्ट-
 मंगं, न जं विणा रागदोसंही" ॥१॥ चकारः पुरनर्येः चतुर्थेऽस्य-
 क्त्वापेक्षया सहदेवमनुजसुरयो लोकाः स तथा, तस्य प्राथेनी-
 यमनिज्ञषणीयम् यतः "हरिहरहरियगभं-प्रमुञ्जे भुवनेन को-
 ऽप्यस्यो धुरः । कुसुमबेशिखस्य विशिखा-नस्वलययो जिनाह-
 न्यः" ॥१॥ पङ्क्तौ महाह कर्दमः, पनकः स एव प्रतलः, सूहमः
 पारो बन्धनविशेषः, जाहं मत्स्यबन्धनम् । एतद्भूयतेमत्तुपमं
 कश्चिनिमित्तत्वेन तुमोखनत्वेन च साधर्म्यात् । उक्तं च-

"सन्मगो तावद्दस्ते प्रभवति पुरुवस्तावदेवेन्द्रियाणां,
 लज्जां तावद्विषते विनयमपि समात्मस्वते तावदेव ।
 भ्रुवापाकृष्टमुक्ताः भ्रवणपथजुषो नीलपङ्कमाण पते,
 थावक्षीलावतीनां न हृदि धूमिसुषो हृष्टिषाणाः पतन्ति" ॥१॥
 तथा स्त्रीपुरुषननुसकवेदानां चिह्नं लक्षणं यत्तत्तथा । तगः सं-
 यमप्रह्लाचर्योवप्रमिति व्यक्तम् । तथा भेदस्व चारित्र्योप-
 विनाशस्थायतः मान्याभ्या य बहवः प्रमादा मद्यविकथाद्य-

अर्थज

स्तेषां मूलं कारणं यत्तत्तथा । आह च- "किं किं न कुण्ड किं किं, न भास्व खित्तव्य किं किं । पुरिसो विसयासो, विह- लो धासिउ ब्व मञ्जेय" ॥ कातरः परिहमीरव; अत एव कापु- रुषाः कुस्तितरास्तेः सेवितं यत्तत्तथा । सुजनानां स्वयोपावि- रतानां यो जनसमुद्गस्तस्य वचनीयं परिदरणीयं यत्तत्तथा । उच्यते च उर्ध्वलोको नरकश्चाधोलोकस्तिर्यस्तोक्त यत्तत्तत्तथा यत्रैलोकेषु तत्र प्रतिष्ठानं स्वय तत्तथा । जगत्संसारंग- शोकबहुल, तत्रान्वय च जगति जगत्संसारविकारखण्डान् । उच्यते च- "ओ सेवह किं क्वम्भ, " इति (गाहा) वध- स्तान्नं, क्वम्भः संवचनं, विधातो आरण्यम्, परिर्णप्य युक्तरां विधातो वस्व तद्वचनम्विधाताहुविधातम् । गाहरोगाणां हि महापद्यम्ब्रह्मक्षया नोपाश्रयति । आह च-

"द्वयः कायः क्वः भवणरहितः पुण्ड्रविक्रमः, बुधाहामो जीणः पितरककपालापितनतः । प्रथेः पुष्यद्विभ्रैः कुम्भिलचितैरावितननुः, गुणोन्मन्वाति आ दनमपि च हन्तेव मदनः" ॥ १ ॥ दशोभचारिभमोहस्य हेतुमूतं तन्निमित्तम् । ननु चारिभमोह- स्य हेतुमूतमिति प्रतीतम् । वदाह- "तिव्यकामात्रो बहुमो-दप- रिणनो रागदोससंज्ञुषो । बंधव चरित्तमोहं, युवदे पि चरित्र- गुणघाह" ॥ १ ॥ द्विविधे कथयनोक्तव्यमोहो न्येद्रानुः । यत् पुन- र्दशोभमोहस्य हेतुमूतमिति, तत्र प्रतिपद्यामहे, तत्रेतुवनाम- यनात् । तथाहि- तत्रेतुप्रतिपात्रिका गार्थेयं श्रूयते- "अरहत्सिक्- केवय- तवसुयगुरुकाहुसंघपदशीर्षा । बंधव हंसगमोहं, अणत- संसारीक जण" ॥ १ ॥ भवतीह वाक्चमशेषः । सत्यम्, किन्तु स्व- पन्नाह्मसंखनेन वा संघपरयत्नोक्तिः, तथा दशोभमोहं वचनात्-ऽ- ब्रह्मचर्यं दशोभमोहहेतुनां न व्यभिचरति । अर्थयते न स्वपलात्र- क्षसेवकस्य मिषायावचनम्, अन्यथा कथं कुलजबाधिरसाव- मितिनः ॥ आह च- "संज्ञरचउत्पमोहे, सेवहव्येव य पव- यधुद्वाहे । रिंसिघाये य चउत्पे, मलग्नी बोहिलाजसस्" ॥ १ ॥ इति । चिरं परिचित्तमनाहिकालासंबितम् । चिरपरिगतं वा पात्रः । अनुगतं अनवच्छिन्नं दुर्लभं बुद्धफलं बुधैर्मयममहद्वारमा- अष्टद्वारमिति अष्टद्वारमकपुण्यम् ।

अथ तर्ककार्यकङ्कारमाह-

तस्म य गायापि गोपाणि एमापि हुति तीमं । तं जहा- ऋवंभ १ मेहण २ चरत ३ संमार्गी ४ सवणाहिकारो ५ संकुर्या ६ वाहणा पदाणु ७ द्रवा ८ मोहो ९ मणसेलो- धो १० अष्टिगमो ११ विगोहो १२ विधाधो १३ वि- धांगो १४ विचक्रमो १५ अहम्भो १६ असीमया १७ गाम- धम्मतत्ती १८ रती १९ रागविता २० कामजोगमारो २१ वरं २२ रदस्स २३ गुक्कं २४ बहुमाणा २५ बंजवर- विग्यो २६ वावलि २७ विराहणा २८ पसंगो २९ का- मण्यो चि ३० वि य । तस्म एपापि एवभादपि नामधे- जापि हुति तीमं ॥

"तस्तेत्यादि" दृगमम् । अष्टद्वारकुराजानुष्ठानं १, मेषुनं मियुनस्य गुणस्य कर्म २, बुधैर्मयममहद्वारमिति गम्भ्यते पात्रान्वरण । 'चरत' चि' चरत् विचरं ध्यानुवन् ३ संसारीः समर्कः, ततः स्त्री- पुंसंसंमिशेषकपत्वात् संसंगमत्वात्संसर्गायुक्तयते । आह च- "मागमपि स्त्रीति संज्ञादि; विकारोत्पेव मानसम् । किं पुनर्दे-

शेनं तस्याः, विलासोह्लासितबुधः" ॥ १ ॥ ४ । सेवनां चोद्योवि- प्रतिसेवनाप्रधिकारो नियागः सेवनाधिकारः; अष्टद्वारमुक्तो हि चोद्याद्यनयसेवास्वयधिकृतो प्रवति । आह च- "सर्वेऽनयो विधीयन्ते, नरेरर्थकालासेः । अयेस्तु प्राप्यते प्रायः, प्रेषसो- प्रमकामिभिः" ॥ १ ॥ इति ५ । संकुर्या विकल्पः; तवभवत्वात्स्व संकल्प इत्युक्तम् । उक्तं च- "कामं जानामि ते रूपे, संकल्पान- र्त्तिकं जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भवि- ष्यति" ॥ १ ॥ इति ६ । बाधना बाधहेतुत्वात् । केवाम् १ इत्या- ह-पदानां संव्यवस्थानानां प्रजायां वा लोकानाम् । आह च- "यवह लोकेष्वपरं नराणा- मुपपद्यते तुःकर्मसहायगम् । विक- शिनीलोत्पलचाक्रेणः, सुकन्धा स्थिरस्तत्र न हेतुरप्यः" ॥ १ ॥ इति ७ । दृषो देहहतता, तज्ज्वलत्वाद्बध्वे दृषे इत्युच्यते । आह च- "रसा पयामं न निसोव्यवत्वा, परं रसा द्विसिक्करा ह्यवति । द्विच च कामा समनित्वंति, दुर्मं जहा साकफलं तु पुष्कळी" ॥ १ ॥

अथवा द्रपं सौराग्याद्यभिमानस्तस्य भवं चेदं न हि प्रशमादौ- त्वाद्वा पुत्रवत्यत्र प्रभुतिः सम्भवति । तं पूर्वाश्रयत् । तत्तुक्- "प्रशान्तवाहिचित्तस्य, संभवत्यङ्गित्वाः क्रियाः प्रियुक्तमनिरिके- र्णो, यद्द्वि रागं न मेधुनम्" ॥ इति ८ । मोहो मोहनं वेदकूपमोहो नो- द्ययसंवाद्यत्वाद्द्वैतज्ञानरूपत्वाद्वा मोह इत्युच्यते । आह च- "हृदयं वस्तु परं न पश्यति जगत्सम्भः पुरीऽश्रयित, रागात्स्य वदस्ति तत् परिदरन् यथास्त तत्पच्यति । कुन्दैर्वारपुष्पवृक्षकक्षशोभमृगतपुष्पब,

रपो नोऽह्लासाशिपु म्रियतमात्रापु न यमाहृतं" ॥ १ ॥ ९ । मनःसंज्ञाभिः चिरचित्तम्, तद्विद्वेन न जायते इति । उच्यते च- " त्किन्दकवृक्षकन्द-प्यदारनिष्कजजगसप्राहा । ज- हर्वासि जो वा जुवई-ण ज निसेवति रागवद्वः" ॥ १ ॥ १० । अनिप्रदोऽनियेषो मनसो विषयेषु, प्रवर्तन्मन्विति गार्थयते । पतप्रमथावास्त्वास्त्वातिवद् इत्युक्तम् ११ । (विहृद्वा) षि) विग्रहः क्लेशः तत्तनुत्वाद्स्य विग्रह इत्युच्यते । उक्तं च- " ये रामरावधानां, संभ्रामप्रस्तमानवाः । श्रयन्ते क्तिनि- मिनेन तेषु कामो तिक्नधनम्" ॥ १ ॥ अथवा (जगहो चि) वि- ग्रहो विपरीतोऽभिनिवेशस्तत्प्रमथावाद्स्य तथैवंच्यते । यतः कामिनामिहं स्वकूपम्- "कुन्धामकेपु विषयेषु सुखातिमानः, सै- ष्यात्सकेषु नियमादितु कुःकृवुक्तिः । कर्णविषयेषु पदाङ्कुरिवा- न्यरूपं, सारूप्यमेति विपरीतव्यापारो" ॥ १ ॥ इति । विधानो गुणानामिति गार्थयते । यदाह-जय वा योः साधाद्यध २३ । वि- भङ्गो विराधता गुणानामिव १५ । विद्यमानं श्रान्तमन्यमुपादयेष्यपि विषयेषु परमार्थतुल्या प्रवन्तनात्, विद्यमानां मद्दन्विकाराणा- भाशयत्वात्विद्यमान इति १५ । अर्थयः, अचारिभ्रकपत्वात् १६ । अशीलना चारित्र्यजितित्यम् १७ । प्रामथ्याः शब्दद्वयः काम- गुणास्तेषां तस्मिन्विषयेषु पालनं च कामधर्ममिति, अष्टद्वारोहि- तं कुर्वन्तीति अष्टद्वारपि तथोच्यते १८ । रतिः रतः, निष्पुनर्नि- त्यः १९ । रागो रामानुत्पृत्तिरूपत्वाद्स्य, क्रियेवद्रागचित्तंति पात्रः २० । कामभोगैः सह मारो मद्दन्ं मरयं वा कामभोग- प्राः २१ । वैरं वैरहेतुत्वात् २२ । रदस्सकेतान्कृत्यत्वात् २३ । गुह्य गोपनीयत्वात् २४ । बहुमानः बहुनां सत्त्वात् २५ । अह- व्यत् मैथुनभिरमथं, नस्य विद्यो व्यापारो वाः स तथा २६ । व्यापतिः श्रयोः, गुणानामिति गम्भ्यते २७ एवं विराधता २८ । प्र- सङ्गकामेषु प्रसजमनामिषुः २९ । कामगुणो मकरकेतुकार्थः । ३० इती रूपमशने । अर्थयेति सगुण्यत । तस्यामहाय पक्षा-

नि उपर्युक्तस्वरूपाणि, एवमादीनि एवंप्रकाराणि, नामधेया-
नि त्रिशुद्धानि । काण्डऽऽप्येवं प्रकारान्तरं पुनरन्यान्वयि
भवन्तानि भावः । उक्तं यन्नामेति द्वारम् ।

अथ ये तत्कुर्वन्ति तद् द्वारमुच्यते—

तं च पुण निसेविति सुरगणा अचक्रुरा मोहमोहित-
मतीं द्वारम् ? नृपय २ गरुड ३ विज्जुजलखण्डावलद-
द्विदिसिषवणथाणिय १० अणुपभियपणुपभियइसिबाइय
नृपयादियकंदियमहाकंदियकूढं रूपयंगदेवा पिसायनृपयज-
क्वखक्वसकिण्णरकिपुरिसमहोरगगंधव्वतिरियजोइसवि-
माणवासिमणुयगणा जलयरथलयरखदचरा य मोहं-
पक्विचच्चिंता भवित्तथा कापजोगतिनिसिया गं तएहाए
बलवईए महईए समानिजूया गतिंया य अतिमुच्छिन्ना य
अचंजे ओसएणा तामसेण भावेण अणुमुक्का दंसणचरिभ-
मोहस्म पंजरं पि व कर्णेति अस्मएणं सेवमाणा, जुज्जां २
असुरसुरतिरियमणुयजोगरतिविहारमंपञ्चत्ता य चक्रवट्टी-
सुरनरवतिसक्या सुरवर व्व देवलोए जरहनगगरनिगम-
जणवयपुरवरदोणमुहखेनकचक्रममंभवंवावपट्टणसहस्समं-
चियं थिमियमेयणियं एगच्छंत्तं मसागरं जुज्जुण वसुहं न-
रसहा नरवतिनरिंदा नरवसट्टा मरुयवसजकप्पा अरुज-
दियं रायतेयलच्छीए दीप्यमाणा सोमा रायवंमतिलगा र-
विममितेखवरचक्रमोत्थियपफाग जवमच्छकुम्भरहरजगर —
भवणविमाणसुरगंतरागोपुरमणिरयणनेदियावचमुमल-
लंगलसुरयवरकपस्सकमिगवतिभ्रामाणसुच्छुपुजवरमउ-
रुमरियकुट्टाफलकुंजरवरवमपतीवर्मदरगरुलउभयईदकेउ-
दप्पणअट्टावयचाववाणनकस्सचमेहेमेल्लवीणाजुगच्छत्त-
दापदामिणिकमंरुलुकमलघंटावरपोतमुचीसागरकुमुदागर-
मगरहारागागरनेउरणगगरवइरकिएणमयूरवररायहंम-
सासचक्रोरचक्रोवागमिहूणचामरवेरुगवव्वीमगविपंचि-
वरातालयंटीमरियाभिसेयमेयणिस्रग्मंकुमावियइकलमार्जि-
गारवक्काणगपसत्थउत्तमविज्जवरपुरसलकम्बणधरा व-
क्कीसरायवरसहस्साणुजायमग्गा चउसद्धिसहस्मपवरजु-
तांणयणन्ता रत्ताभा पउमपमहकोरंटागमचंपगसुतत्त-
वरकणकनिकमवएणा सुजायमवंगसुंदरंगा महग्गवर-
पट्टणुग्गयविचिचारागपणीपणीनिन्मियदुगुव्ववरचीणप-
ट्टकोसेज्जनाणासुत्तकविस्मियेयंगा वरदुरविभंगधवरसुएणया-
सवरकुमुमजरियमिरया कपिपंचेययायियमुकयरइदमाल-
करुमयणुक्कियवक्कुमणपिणच्छेद्देहा एकावलिंकेउरुइयव-
उत्तपलंबपलंबमाणमुकयपमउत्तरिज्जुदियापिणगल्लुञ्जि—
या उज्जलनेवरण्यच्चिग्गविरायमाणया तेणए दिवाकरो
व्व दिवा सारयनवरथणियमहुंगमंभरिनिच्छयोमा उण्णए-
समत्तरयणचक्रयगपट्टाया नवनिहिएणया समिक्कांसा

चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमानमग्गा तुरंग-
पतीगयपतीरइपतीनरपतीविपुलकुञ्जवीसुयजसा सारयससि-
सकलोस्मवयणा नुरा तिलोकिन्मगयपावलच्छसहा
समत्तजरहाहिंवा हरिंदा ससेल्लवणकाणयं च द्विमवतुसा-
गरंतं धीरा भोत्तृण जरहवांसं जियसत्तपवरयासीहा
पुव्वकरुतवप्यजावा निविट्टसंचियमुहा अणंगवासासयमा-
उव्वंता जजाहिय जणवयपट्टाणाहिं हाडियंता अतुलस-
एरिसरसरुवंगंधेय अणुजविता ते वि उवणमंति मरणधम्मं
अवितिचा कामाणं, जुज्जां बलदेवा वासुदेवा य, पवरपुरिसा
महावन्नपक्कमा महाधणुवियहका म्हासत्तसागगा हुदुरा
धणुधरा नरवज्जा राभकंसेवा भायरो सपरिसा वसुदेवस-
सुद्विजयमादिदमाराराणं पज्जुएणपथिवसंवअनिरुक्कनिम-
दठम्मयसारणयसुमुहउत्तमुहार्हाणं जायवाणं अमुह्हाणं वि-
कुमारकोदीणं हिययदइया देवीं ए रोहिणीं ए देवीं ए देवईए
य ियाणंदीहयद्वानंदेणकरा सोलसरायवरसहस्सणं जा-
यमग्गा सोलसदेवीसहस्सवरणयणहिययदइया णाणाम-
णिकणगरयणमोत्थियपवाह्मधणुधयसंचिया रिक्किसिद्धिक्कां-
सा हयगवरहहस्ससामी गामागरणगरवेदकव्वममंभवंदा-
णमुहपट्टणामसंसेवाहसहसमार्थमियनिन्नुयप्युद्धितजण--
विविहमस्सेयनिन्पज्जमाणयेणं सरसरियतलागसेज्जका—
णणआरामुजाणमणुआभिरामपरिमंडियस दहिणह्वेवयह-
गिरिविजत्तम्म झवणजलपरिगहस्म उव्वहकानुगुणकम-
जुत्तम्म अद्धनरहस्म मामिका धीरंकिचिपुरिसा ओहवत्ता अ-
तिवत्ता अनिहया अपराजियमत्तमहणा रिउमहस्समानमहणा
साणुक्कांसा अमच्छरं । अचवला अचंका मियंमुज्जपत्तावा
हसियगंभीरमहुरजणिया अरुजवगवचल्ला सरसा ज-
क्वणवंजणुगुणोवंववा माणुग्गामपमाणापकिपुरेणुएणुजायस-
व्वंगमुदरंता ससिमोमाकारकंता पियदंसणा अमस्सजा प-
यंरुदंरुप्यपारगंजीरदूरिसिजा ताडयजयउव्विक्कगुलकेउ-
वन्नवगजंतदरितदप्यमुद्धियचाणुरचुरगा रिट्टवसमया-
तं। केसरीमुहविष्काग्गा दरियजागदप्पमहणा जमलउजुष्ण-
धंजमा महामउणुयुएणुरिपु कंसमउरुमोटगा जरासंधमाण-
महणा तदि य अविस्समसमद्वियचंदमंरुलसमप्यजेहिं सु-
रमरीयकवयचिणियुवेतेहिं सपपिदंरंहेहिं आयवचोहिं ध-
रिज्जंतेहिं विगयंता ताहि य पवरगिरिकुहरविहरणस-
मुक्कियाहिं निरुवहयचमरिपिच्छमसरिंसांजायाहिं अम-
इलसियकमज्ञविमुकुलुज्जहितरयतिगिरिसहरविमज्जसासिक्कि-
रणसिसकज्जहायनिम्मल्लाहिं पवणाहयचवन्नचलिययसलि-
लियनन्धियवींथिपमरियस्तीरदुग्गपवरसागरूपुरचवत्ताहिं भा-
णससरपमरपरचियावात्सविसियावेसाहिं कणमगिरिबिहरसं-
मियाहिं ओवाउण्णयचवन्नचियमिन्धवेगाहिं हंसवधुयाहिं

अवंबं

चैव कश्चिदा नागामणिकलगमहरिद्वत्तवाण्डुज्जलविचित्त-
 दंकाहिं सल्लिख्याहिं नरवदंसिरिसमुद्रपक्कासणकराहिं
 बरपट्टणयाहिं समिद्धरायकुलसेत्रियाहिं काञ्चगुरुपक्कंदुंरु-
 क्तुगुरुधुववासविमिद्वग्गुधुव्याजिगामाहिं चिद्विषयाहिं उ-
 ज्जयो पासं पि चामगाहिं उक्खिलप्पमाणाहिं सुहसंसीयलवारय-
 षीवियंमा अजिता अजियरहा इत्थमुत्तन्नकलगणाणी संखच-
 कायसचिणंदगथरा पक्कज्जसमुक्कयविमल्लकोधुनकिरीद-
 धारी कुंडलउज्जाविघाणणा पुंरुदीयणया एगावन्निकेउर-
 यवच्छा मिरिबच्छमुल्लक्षणा वरजसा सव्वाउयसुरजिक्कु-
 मुवरइयपलंबमेहिंदं तवियसेतविचित्तवणमालरइयवच्छा अ-
 द्दामयविज्जत्तन्नकलगणपमत्थसुंदराविरादंयंगुंगं मत्तगयव-
 रिंदन्नसियविक्रमविलसियगंतं कदिमुत्तकनीलपीयकोमे-
 ज्जावाससा एवरदत्तवेया सारयवथणियिमधुरमंतीराणि-
 ऋयोत्ता नरसीहा संहिविक्रमणी अत्यमिषा-एवरराय-
 सीहा सोम्मा वारव्यिपुएणचंदा पुक्कययत्तवप्पजावा नि-
 विद्विसचियसुहा अण्णेगवामसयमाउवंतो ज्जाहा इ यण-
 यवप्पहाणाहिं भासियंतं अतुलसद्वफरंमरसत्तुवग्गंथे य
 अणुज्जित्ता ते वि उवणमंति मरुत्तलसम्भं अविंत्ता का-
 माणं, जुत्ता मंदसियएवरवरिंदा मच्चन्ना मअंतेउरा मपरिसा
 सधुरोदिया अमच्चंडणयाकसेणवतिमंतिणं।तिकुसला
 खाणमणिरयणाविमुत्तन्नकलगणंनंचयनिद्विसमिद्धकोमा र-
 ज्जामिरिविपुत्तमणुज्जित्ता विकोसंता वत्तेण मत्ता ते वि
 उवणमंति मरणथम्मं अविंत्ता कामाणं, जुत्ता उत्तक्कु-
 रंदंवरुक्कणविरवारपायचारिणो नरगणा भोगुत्तमा जोगल-
 क्लणथरा जांगमस्किरीया पसत्त्वसोमपडिपुणरुवदरि-
 मणिउत्ता मुजायमल्लंगमुंदरंगा रत्तुप्पलत्तकत्तकरचरण-
 कोमलत्तन्ना सुपइद्वियकुम्भवाचरुत्तणा आणुपुक्कमुसुदइयंगु-
 णीया उष्णतणुत्तनचिन्तत्ता मंउयमुत्तिसिद्धहत्तंभांफा एणी-
 कुलविंदावत्तवट्टापुप्पवजंथा सउत्तगामिणमगुत्तजाणु गयगम-
 णमुजायसेनि नोक्खवरारणमत्तुत्तन्नविक्रमविद्यासियगनी व-
 रत्तुगुरुजायमुत्तंइदेसा आयण्णयो व्व निरुक्खवेवा पमुइयवरत्तु-
 रयसं इअइरगवद्वियकनी गंगावत्तमादाहियावत्तंरं गजगुर-
 विकिरखावोहिंयविकोसायेत्तपम्हग्गंभीरविपडनाभी साहयमा-
 णंदमुसुदइयणनिगारियक्कणगउत्तरसिंसरवदंरवद्वियम-
 उत्ता उक्कमसममंइयज्जवत्तणुक्कसिणनिच्छादिज्जलरहसु-
 कुमालमत्तवर्णमारी जमविंदगमुजायपीणकुत्तं भूभोद-
 रा महविषवत्तणाभी संनयपासा संगतपासा सुंदरपासा मु-
 जायपासा मितमाइयपीणरइयपासा अकरंमुक्कणरुक्कयगानि-
 म्मत्तमुजायनिरुक्कयदेहधारी कणमसिन्नात्तन्नपसत्त्वसमव-
 द्दउवइयवित्तिगणविहुलवच्छा जुयमसिभा पीणइयपीवर-
 पउत्तंउयिसिद्धविसिद्धसुण्णिचियणयणियमुक्कवग्गंभी

पुरवरफलिद्वयचुजा नूप्पमरविपुलभोगआयाखफलि-
 इउत्तुहददीहवाहरत्तलोवइयमत्तंमसंजुजायन्नक्खलपस-
 त्थअच्छिद्वजात्राणी पीवरमुजायकोमत्तवग्गुत्तनी तंनंत्तण-
 सुइरुत्तन्ननइणत्ता निद्वयापिण्डेहा चंटापाणिल्लहा सूयपाणि-
 षेहा संवणपाणिण्डेहा चक्काणिण्डेहा दिसामोवत्थियपाणिण्डेहा
 रविससिंसंखवरचकादिसामोवत्थियविभत्तसुरइयपाणिण्डेहा व-
 रमइसवगाइसीहसद्वल्लरिमहनागवरारुपिप्पुसविउत्तलंथा चउ-
 रंगुलीप्पमाएकंशुवरसरिमगीवा अवंद्वियमुविज्जत्तचित्तसमं-
 सुउव चियमंत्तन्नपमत्थसद्वत्तुत्तन्नहृया उवचित्तिलत्त-
 वात्तविवत्तलसिन्नात्ताउत्तराद्वा पंदुरसमित्तकवत्तमत्तसंखो-
 खीरफेणकुंदनरयमुत्तालियावत्तलदंत्तमेदी अत्तंरदंत्ता अ-
 पुत्तियदंत्ता अरिउत्तंदात्ता सुण्णदंत्ता मुजातदंत्ता एगदंत्त-
 सेदी व्व अण्णेगदंत्ता हुत्तवइनिदंत्तं थोत्तत्तत्तवार्णज्जत्तत्त-
 ताउत्तमीहा गरुत्तायत्तत्तत्तुंगानामा अवंदालियपुंरुपीयण-
 या विकोसियवत्तवत्तच्छा आणाणियचिचवत्तलकिण्ह-
 वनरा यमंत्तियसंगयायत्तमुजायज्जमगा अग्गणपमाणुत्त-
 सवगा युस्मवणा पीणमंत्तन्नकवोलेदसभागा अचिरुगय-
 वाञ्चचंदत्तंउयमद्वानिन्नाहा उदुपत्तिपण्णमुत्तसंमवयणा उ-
 च्चागारुत्तमंत्तसा घट्टनिचियसुवत्तन्नक्खणुण्यक्कण्णार-
 निधिपिंदिग्गमार्गसा हुत्तवइनिदंत्तंथोत्तत्तवत्तवार्णज्जत्तत्त-
 तंकेमज्जयी सामत्तियोत्तयणनिचियत्तलोत्तंर्यामत्तवियम-
 त्थमुत्तन्नक्कवणमुग्गंमुंदर जुयमोयग्गंभिनंत्तन्नक्कज्जलपदि-
 द्धमरणत्तल्लिच्छुनिउत्तंरनिचियत्तुत्तियपायाहियावत्तमुद्द-
 सिरया मुजायमुविभत्तमंयंगं झक्कवत्तवज्जणमुत्तवैया पस-
 त्थवत्तनीसद्वक्कवणथरा इत्तस्सरा कोंचस्सरा बुंदुद्विस्सरा सीइ-
 स्सरा मेयस्सरा आयस्सरा सुस्सरा युस्सरनिष्पोमा वज्जि-
 रसभनारायसंयणा समचउत्तंसंत्ताणसंठिया त्ताया उज्जाव-
 यंगमंगा पमत्थउत्तं निरात्तंका कंकगहाणा क्योत्तवर्णिणाया
 सउत्तिणामपिद्वत्तन्नरुपरिणया पउत्तमुत्तन्नमिंसंभमसमु-
 रविभयथा अग्गोत्तावाउत्तंवा अवंत्तवत्तच्छात्ता विग्ग-
 इउष्णयकुच्छं अमयत्तफलाहारी निगउत्तयमुत्तच्छया तिप-
 लिओवमद्वितीया तिण्णि यत्तत्तत्तंवात्तं परमाउत्तंत्ताइत्ता ते
 वि उवणमंति मरणथम्मं अविंत्ता कामाणं,पमदा वि येत्तंसे
 हुंति सोमा मुजायसव्वंगमुंदरंभा पहाणमद्विज्ञागुणेहिं जुत्ता
 अत्तिकंत्तविसंयणमयउत्तुत्तात्तकुम्भमंत्तियसिलिद्वत्तलगा
 उउत्तुमत्तयपीवरमुत्तंइत्तुत्तुत्तं आ अत्तुत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्त-
 वपुइरनिच्छत्ता रोमरइयवत्तंत्तियअज्जत्तुत्तत्तत्तत्तत्तत्त-
 णअक्केत्तत्तत्तत्तत्तत्ता सुण्णिम्मित्तुत्तुत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्त-
 सुवत्तत्तंभी कयत्तंत्तंभांइरगंत्तियत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्तत्त-
 मलअविरत्ता मत्तसंहितवत्तपीवरनिंत्तंरोक्क अद्दावयवीतिपद्व-
 मंत्तियपसत्तवित्तिवत्तयविद्विद्वत्तंभी वद्वणायामपमाणुत्तुगु-

णियविनासमसंज्ञसुबद्धजहणवरधरीओ वज्राविराडयपस-
 रथस्रच्छणनिरोद्रीओ तिवालिवसिततणुनमितमम्भभाओ
 उज्जुयसमसद्वियजचतणुफामिणुनिष्ओदेजलरुहसुकुमा-
 झमउत्तुविभचरोभराई गंगावत्तदादिणावचत्तरंगभे-
 नरविक्किराणतकणवेगद्वित्तओकोसातितपउत्तमंगजौरि वधनाभी
 अणुज्जदपसत्थसुजायपणुणुक्की समतपासा सभयपासा
 सुजायपासा मियमापिनपणरायियपासा अकरंहुयकणगक-
 यगनिम्मलसुजायनिरुवहयगयायलई कंचणकलसप्पमाण-
 समसं हितलइजुचुयओमिन्नगजमललुयल्लवद्वियपओहरा सुयं-
 गअणुपुण्वतणुयगोपुच्छवहसमसहितानिम्मियआदेजलरुह-
 वाहा तंथनहा मंसल्लागहत्था कोमल्लपीवंगुदीया णिष्-
 पाणिलेहा ससिमुसंखचकनरसोत्थियविभचत्तुविरइयपा-
 णिलेहा पीणुणयकक्खवत्थियप्पेदसपकिपुण्णककपोला चउ-
 रंमुलसुप्पमाणवंबुवरमरिमगीवा मंसलमंठियपसत्थहणुया
 दासिणमुप्पफकासपीवपेक्षेकौचियवरधरा सुंदरोचरइहा
 दद्विदगयकुंदचंदवासंतिमउत्तअट्टिद्वियमल्लदसणा रत्तुप्प-
 लरचउत्तमपचसुकुमालतालुनींदा कणथीरमउत्तकुदिलअ-
 र्नुणुणयउत्तनुगनासा सारदननकमन्नकुमुपकुवलयदलनिग-
 रमरिमलवखणपमत्थनिम्मन्नंतनयण आनामियचावरु-
 लक्किरहगःसंगयसुजायनणुकामिणुनिष्कूमगा अट्टीण-
 पमाणजुत्तमवणा सुस्ववणा पीणमल्लगंरुहहा चउरंमुल-
 विसासामनिदाला कोमुदिरयाणिकरविमल्लपकिपुण्णमोभव-
 यणा उचुणुणयउत्तमंगा अकविलसुमिणिष्कटीदिरिया उ-
 चउत्तुयजुवभूजदामाणकमंरुक्कससवाविसोत्थियपढागज-
 वमच्छउत्तमरहवरमयउत्तयअकथाअअकुमअहावियमुपतिह-
 अमरसिरिया भंसयतोरणमोपिणुणुणुद्वियवरपवरभवणगिरि-
 वरवरापंसमुल्लिअियगयवसभनीहा चामपरमत्थवर्चासल्लवत्त-
 णधरीओ हंससरिच्छगतीओ कोइलमहुपरिगिराओ
 कंता सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवदीपसियवंगवुवस्रवाहि-
 दोजगमोयमुक्काओ उच्चेण य नरयोवृणमुसियाओ सिं-
 गारागारचारुवेना सुंदरयण नइणवयणकरचल्लणयणा सा-
 वासुरुवजोव्वणुणुगोववेया मंदणवणविवरचारिणीओ अ-
 च्छराओ उचरकुसमाणसच्छराओ अच्चेरगयेच्छियिया-
 ओ तिण्ण पिलिओवमाई परमाउं पालविष्णाओ वि उवण-
 मंति मरणधम्मं अतिचा कामाणं, मेहुणससणपदिदा य मोहभ-
 रिया सरोदेहि हणंति एकमेकं विसयं विमउदीरएहि अचरे
 परदरोदेहि हणंति त्रिसुणिया धनगासं मयखाविष्णणामं च
 पाउणंति, परस्स दाराओ इ अत्रियया मेहुणमसमंपणि-
 क्खा य मोहभरिया अस्सा इदी गथा य महिता मिया य मा-
 रिंति एकमेकं मणुयगणा बानरा य पक्खी य विरुक्कंति
 मिचाणु सिख्यं जवंति, सणु समयधम्मगणे व जिंदंति

पारदारी धम्मणुणरया य बंजयारी त्थेण उलाहयचरि-
 चाओ जसमंतो सुव्वया य पावंति अयसकिचि रोमणा वाहि-
 ता वृवंति रोयवाही, दुवे य होवदुराराहा जवंति, इहओए
 चव परलोए परस्स दाराओ जे अत्रियया तदेव केइ परस्स
 दारं गंवेसमाणो गहिंया य हया य वच्छरुद्धा य एवं जाव
 गच्छंति विपुत्तओहारांजियससय मेहुणपूर्वं स पुणोए तत्थ
 तत्थ वत्तपुव्वा संगमाा जणक्खयकरा सीताए दोवतीए य
 कए रूपिणीए पठमावतीए ताराए कंचणाए रत्तसुजदाए
 अट्टिण्णयाए सुवसणुगुलियाए किन्नरिए य सुक्खविज्जमती-
 ए रांदिणीए य अणुसु य एवमाऽसु नहवे महिलाकए
 सुव्वति अतिकंता संगमाा गामधम्मपूजा, इह लोए ताव
 नडा परलोए य नडा महया मोहतिपरंयकारे धारे तस-
 थावरसुहुमवायारंसु पज्ज चमपज्ज चकसाहायणसरीरपणयसरी-
 रंसु य अंरु नयोयजजराउजरस नसंसेइमसंमुच्छिमउच्चिज्जठ-
 ववाऽएसु य नरगतियियदेवमाणुसेमु जरामरणरोगमोग-
 हुले पत्तिओवममागरोवमाई मणादीयं अणुवदगं दीहमद-
 चाउरंतंसारकंतां अणुपरियदंति जीना महाभोगवसमंनि-
 विद्धा; एसां सो अवंनस्स फल्लविवागो इह लोइओ परतोऽ-
 ओ य अणुसुहो बहुदुक्खलो मदउत्तओ बहुरयप्पगादो दारुणो
 ककमो अमाओ वासमहस्सेहिं सुवंति न य अवंयइत्ता
 अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु नायकुत्तनंदणो महप्पा
 जिणो वरवीरनामधेजो कहेसी य अवंभस्स फल्लविवागो,
 एयं तं अवंचं पि चउत्तं पि सदेवणुणुयामुस्स लोणस्स
 पत्थाणज्ज एवं चिरपरिचिपणुणयं दूरं तं चउत्तं अहम्म-
 दारं सम्मचं त्ति वेमि ।

(तं च पुण निसेविति च) तत्त्व पुनरग्रह निवेवन्ते सु-
 रगणा वैमानिकदेवसमुदाः सात्वरसः सदेवीकाः, देव्योऽपि
 सेवन्त इत्यर्थः (इत्यादि) काऽऽनुपयोगिनी महती चेत्युपप्लिता)
 प्रश्न ० ४ आश्र ० ४ ।

शेषद्वारत्वं मध्य पद्यायतम् । अग्रह मेषुनमिति पर्यायै ।
 (मेषुनशब्देन चोद्यमानो विषयो ' मेहुण ' शब्द एव वक्ष्यते)
 " अवंभचारिय चोरं, परमायं चुरहिदियं । ताचरंति मुणो होय,
 भेवापणविबज्जणं " ॥१॥ द्वा ० ६ अ ० ।

अवंभउत्तजण-अग्रहवर्जनं-न० । दिवा रात्रौ वा पत्न्याद्याभि-
 त्य मेषुनत्यगकुर्यायां षड्वायुवासकप्रतिमायाव, तत्त्वरूपं
 चैवम्- " एवोदियगुणजुत्तो, विससओ विजयमोहणिज्जा य " १
 प्रश्न ० १ आश्र ० ४ । (उवाचपपदिमा ' शब्दं जित्तीयमगो
 ११०५ पृष्ठे व्याख्याऽस्य द्रष्टव्या)

अवउत्त-अवधु-वि० । वधमर्हति यत् । न० त० । वधानई,
 " अवमाणयं बज्जाणं " अकारलोपे ' बज्जणं ' इति भवति ।
 तत्र अवचानां वधानहोलापम विद्विषयिचनतो वधत्वेन स्था-
 पितानां सुन्दरीसुत्तानादीनामिच देवनामातिहरव्यतो निराकृत-
 वधत्वेनोपायम् । संघा ० ।

अवाध्य-वि० । पैर्बांधितुमशक्ये, स्यात् ।

अवजगसिर्दत्त-अवाध्यसिद्धान्त-पुं० । अवाध्यः पैर्बांधितुमशक्यः सिद्धान्तः स्याद्वावभुतलक्षणोऽस्य तथा । कुतोर्थाधिकोपस्थलकुहेतुसमुहाशक्यबाधस्तथाद्वावरुपसिद्धान्तप्रणयनमगनाद् वचनातिशयसंपन्नं तार्थिकं, " अवाध्यसिद्धान्तममर्थपूज्यम् " स्यात् ।

अवज्जा-अवाध्या-स्त्री० । अयोध्यायाम्, जं० ४ वक्र० १० । गन्धिलाख्यायिजयकेत्रयुगले पुरीयुगले, " दो अवग्भाओ " स्यात् २ आ० ३ उ० ।

अवच्छ-अवच्छ-न० । पदगद्यबन्धनरहिते ग्रन्थे, आ० म० ङि० ।

अवच्छद्विय-अवच्छाद्वियक-न० । अवच्छमस्थि यस्य तद्वच्छाद्विकम् । अनिष्पन्नं फलं, " जिने य बद्धद्वि ए वि एव एमेव य ह्योनि बहुबाँए " विशेष० । आ० म० । अवाप्यवद्वर्बाजे अनिष्पन्ने, सू० १ उ० ।

अवच्छसुय-अवच्छभुत-न० । गद्यरामके भुने, विशेष० । आ० म० । (' करण ' शब्दे व्याख्या)

अवच्छिय-अवच्छिक-पुं० । स्पृष्टं जीवेन कर्म न स्काण्यबन्धकमुमचदबन्, तद्व्यामस्तीत्यवच्छिकः । " अतोऽनकस्वयान् " ३।२।६ इति दैमसूत्राय इक्षप्रत्ययः । स्पृष्टकर्मविपाकप्रकृतकेषु निह्वयभेदेषु, स्यात् ७ डा० । आ० म० । विशेष० ।

यथा चावच्छिकानां दृष्टिगोष्ठ्यामहिलाहारापुरनगरं समुत्पन्ना
तथार्थान्धित्सुपग-

पंचसया चुलनीया, तस्या मिच्छि गयस वीरस्य ।

तो अवच्छियदिष्टी, दसउरनपरे समुत्पन्ना ॥

पञ्च वर्षशतानि चतुरशीत्यधिकानि (४०४) तदा निच्छि गनस्य महावीरस्य, ततोऽप्यधिकनिह्वयदिष्टं शपुरनगरं समुत्पन्नेति ।

कथं पुनरियमुत्पन्ना १, इत्याह-

दसउरनगरकचूचुरे, अज्जरकित्वयपूसमिचितियं च ।

गोष्ट्यामाहिलेनवम-चमेसु पुच्छा य विच्छिःस ॥

(एतद्भावार्थस्तु आर्यरक्षितवक्यमतानोऽस्येवो यो वावद् गोष्ट्यामाहिलानिह्वयो जातः कथा च 'अज्जरकित्वय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २।५ पृष्ठ समुक्ता) गोष्ट्यामाहिलो मधुरत भागव्य पृथ-गुणाग्रय स्थितः । विशेष० । विशेष० ।

दुर्बलिकापुष्पामिन्द्रोपवाद्द्विप्रदानदिना स्युत्प्राहयति साधुञ्च च स्युत्प्राहयितुं शक्नोति, दुर्बलिकापुष्पामिन्द्रः समापे चाभिमानतो न किञ्चिच्छुणोति, किन्तु व्याख्यानमसुरलिकापस्थितस्य स्थितिकां कुर्वन्त विन्ध्यस्यातिके समारकणयति । अन्वयाच्चाप्रमनवमपुत्रयोः कर्मप्रत्याख्यानविचारेऽजिनविशेशाद्विप्रति-पन्नो वक्ष्यमाणनीत्या निह्वयो जात इति । अथ प्रकृत-("सो ज्ञाय कालधर्मं, गुरुणा गच्छन्नि पूयमित्त च" इत्यादि) गुरुणाऽक्षरायोऽधुनीयते-कालो मरणं तज्जगुणा धर्मः पयोयः कालधर्मः, तं गुरोरार्यरक्षितस्य भ्रुवा तथा पुष्पामिन्द्रं च गच्छेऽधिपतिं स्थापितमाकथं गोष्ट्यामाहिलः संजातमरसराध्यवसायः किलेद् चकार-

किमित्याह-

वीसुं वसहीँ टिओ, विरऽभेसणपरो य स कयाए ।

विंजस्स सुणइ पासे-ऽणुजासमाणस्स वक्खलाँ ॥

विद्यमस्यतो स्थितः छिद्रान्त्वयणपरः स गोष्ट्यामाहिलः कदाचिद्विन्ध्यस्थानुत्पानमणस्य चिन्त्यनिका कुर्वन्तः पाष्ये व्याख्याने शृणोतीति । विशेष० ।

(कर्मविषया विप्रतिपत्तिः) ततः किम् ?, इत्याह-

कम्पपवायपुज्वे, बष्णं पुट्टं निकायं कम्मं ।

जीवपरसेहिँ समं, सूकक्षावोक्खमाणुत्त ॥

उन्वट्टणाँकुरो, मंगोभो खवणमुजुजो वा वि ।

अणिकायमि कम्मं, निकाडए पायमणुजवणं ।

सो ऊ जणइ सदांसं, वक्खलाणमिं ति पावइ जओ ने ।

मोक्खजाजां जीव-पपसकम्माविजाणुत्त ॥

इह कर्मप्रदानाभ्यन्तरे पुत्रे कर्मनिचारे प्रस्तुते दुर्बलिकापुष्पमित्र एव व्याख्यानयति । तद्यथा-जीवप्रदेशैः सह बद्धं बद्धमात्रमेव कर्म नवति । यथा-अक्रयाण्यस्योपाधप्रत्ययं कर्म, तच्च कालान्तरनिश्चयिप्रत्यायव जीवप्रदेशोपाधो विघटने, शुक्लदुष्कृत्वापतितचूर्णमष्टिवादिति । अयत्सु (पुष्टे ति) बद्धमित्यत्रापि संबन्धेन, तन्नञ्च बद्धं स्पृष्टं चेत्यर्थः । तत्र बद्धं जीवेन सह संयोगमात्रमात्रः स्पृष्ट तु जीवप्रदेशगामीकृतम् । एतच्चयं बद्धं सत्कालान्तरं विघटने आर्द्धसंपुष्टकृत् सन्नहचूर्णयति । (निकायं ति) बद्धं स्पृष्टं चेत्यत्रापि संबन्धेन । तन्नञ्च अपरं किमपि कर्म बद्धं स्पृष्टं निकाचितं भवतीत्यर्थः । तत्र संबन्धे बद्धस्पृष्टं गाढनारध्यवसायेन बद्धव्यादपवनेनादिकरणायां-स्थितां नीलं निकाचितमुच्यते । इदं च कालान्तरंऽपि विपाकतोऽनुभवमन्तरेषु प्रायेणापगच्छति, गाढतरबद्धव्याद्, बाहो-कुच्छनेऽपि न विविधभेत्काहस्तकवदिति । अथ च त्रिविधाऽपि बन्धः सूचीकलापोपमानाद्भवतीत्यर्थः । तद्यथा-गुणाघेदिष्टसूचीकलापोपमं बद्धमुच्यते, सोढपट्टबद्धसूचीसंघातमश्रुतं तु बद्धस्पृष्टमभिधीयते, बद्धस्पृष्टनिकाचितं व्यङ्गितसंघनां निकादि-कृतसूचीनिचयसामिभं भावनीयमिति । नन्यानिकाचितस्य कर्मणः का विशेषः ?, इत्याह-(उच्चरणेत्यादि) इह कर्मविषया-एयथै करणानि भवन्ति । उक्तं च-"बंधस्यनकमऽणुव-ट्टणा य उच्चट्टणा उदरेण्या । उवसादणा निवर्त्ती, निकायासा वंशकरणाइ" ॥११॥ तत्र निकाचितं कर्मणि स्थित्यादिक्रमगुणरुपा (उव-ट्टणत्ति) उपवनेना प्रवर्त्तते । तथा-(उक्करो ति)स्थित्यादिक्रमरूप उक्को च उदरेणा । तथा-(संज्ञो भो ति) असानादः सानादौ केपणरूपः संक्रमः । तथा-(खवणो ति) अकृत्यन्तरसंक्रामितस्य कर्मणः प्रदेशोदयन विभ्रंरं कृणाम् । तथा-(अणुभवां ति) स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकतो वेदनमनुभवः । इदं चोपलक्षणमुद्धारणादीनां, तद्देहात्पणवनेनादीनि सधोऽप्यदि-कान्ति कर्मणि प्रवर्त्तन्ते । निकाचिते तु प्राये विपाकानानु-भवमेव प्रवर्त्तते, न पुनरपवनेनादीनां त्वनयोर्विशेषः । समाची-णिकृष्टतपसामुक्तारध्यवसायबद्धं ' तवना व निकायाणं पीति ' वचनांनिकाचितेऽपि कर्मप्रत्यायवनेनादिकरणप्रवृत्ति-भवेतीति प्रायेप्रणमम् । तद्वद् व्याख्यानं क्षीरनीरव्यायंन घृष्टितमागोलेकन्योयन वा जीवप्रदेशैः सह कर्मं संबद्ध-

मिति पर्यवसितम् । विन्ध्यसमीपं युवा तथाविधकर्मोद्वाद्भि-
निवेशेन विप्रतिपन्नो गोष्ठामाहितः प्रतिपाद्यति-ननु सदाप-
मिहं व्याख्यातय-यस्मादेवं व्याख्यायमाने भवतां मोहाभावः
प्राप्नोति, जीवप्रदेशैः सह कर्मणांमविभागेन तादात्म्येनाव-
स्थानादिति ।

अमुनेवार्यं प्रमाणः साधयन्नाह-

न हि कर्म जीवाद्भो, अत्र अविभागोऽप्यसौ च्च ।
तद्व्यवसायप्रसङ्गो, लुप्तमिणं तेषु वक्ष्याणं ॥

न हि नैव कर्म जीवादेवैतीति प्रतिज्ञा । अविभागोऽप्यसौ च्च
गोलकस्यायतो जीवेन सह तादात्म्यादित्यर्थः, एव हेतुः ।
(पपसां च्च ति) जीवप्रदेशांशवदित्यर्थः, एव ह्यतः ।
इह यद्येन सदाविभागेन व्यवस्थितं न तत्ततो विद्युज्यते, यथा
जीवात्तत्प्रदेशानिहिकुरवन्म । इत्येते चाविभागो जीवकर्मणो-
भेदमिरिति न तस्माद्विद्युज्यते, ततस्तदपगमात्सत्य कर्मणो-
जादानपगमाद्विवांगान्त्वर्थदेव जीवानां सकर्मकत्वान्माहा-
न्याः, तेन तस्माद्विद्विद मर्त्यां व्याख्यानं कर्तुं युक्तमिति ।

तदित्याह—

पुट्टो जहा अवधोः, कंचुइणं कंचुओ समभेइ ।
एवं पुट्टमवधं, जीवं कर्मं समभेइ ॥

यथा स्पृष्टः स्वर्शेनमात्रेण संयुक्तोऽवधः कृत्रिण्ययायद्ग्लोही-
जुन एव कंचुको विषयपरनिर्माकः कंचुकुंन विषयं समन्वति
समनुगच्छति, एवं कर्माणि स्पृष्टं संपंकचुकवस्वशेनमात्र-
णैव संयुक्तमवधं वदधयःपिरहाद्विन्यायादल्लोभूतमेव जीवं
समन्वति, एवमेव मोक्षोपसंस्तरिति । विशे ॥ "यतो यज्ञस्त्य-
तं तेन, स्पृष्टमात्रं तद्विध्यताम् । कंचुकी कंचुकनेध, कर्म
मेवस्यति चात्मानः" ॥ १ ॥ प्रयोगः-यद्येन भविष्यत्पृथग्भावः,
तत्तेन स्पृष्टमात्रं, यथा कंचुकः कंचुकिना, भविष्यत्पृथग्भावं
च कर्म जीवेन । उक्तं ३ अ० ।

[प्रत्याख्यानविषया विप्रतिपत्तिः]

तद्वयं कर्मविचारं विप्रतिपत्तिमुपपदयद्दानीं प्रत्याख्यानविष-
यां विप्रतिपत्तिमुपपदयद्दानीं प्रत्याख्यानविष-

सोऽहं भ्रममाणं, पक्षकलाणं पुणो नवमपुत्रे ।
सो जावजीव विविहयं, तिविहं तिविद्रेण सादृणं ॥

स गोष्ठामाहितः कर्मविचारं विप्रतिपन्नः ननु स्पृष्टा नभम-
पूर्वं " करमि भते । सामास्यं सर्वं सावजं जागं पक्षकलाभि-
जावजीवाव " इत्यादि । यावज्जीवावधिपक्षं साधूनां संबन्ध-
प्रत्याख्यानं सपथमानं विन्ध्यसमीपे विचार्यमाणं श्रुयति ।

तद्वे कृत्वा किं करोति ? इत्याह-

अंपइ पचवक्साणं, अपरीमाणो होइ सेयं तु ।
जेसि तु परीमाणं, तं दुट्ठं भासैमा होइ ॥

गोष्ठामाहितो जल्पति-ननु प्रत्याख्यानं सर्वमपि अपरिमाण-
तया अविचारहितमेव क्रियमाणं श्रेयोहेतुत्वाच्छ्रेयः शोभनं
भवति, येषां तु व्याख्यानं प्रत्याख्यानस्य यावज्जीवावधिपरिमाण-
अवधिर्विधीयते तेषामनेन तत्प्रत्याख्यानमात्रंसादावजुष्टवात्
कृष्टं सदापं प्राप्नोति ।

अथ भाष्यम्-

आसंसा जा पुणे, सेविस्सामि ति दूंसियं तीए ।

जेण सुयम्मि वि जणियं, परिणामाओ अमुत्तुं तु ॥

आशांसातः प्रत्याख्यानं दुष्टमित्युक्तम् । तत्राशांसा का ? इ-
त्याह-(अंश) या एवंविधपरिणामरूपा । कथंभूतः परिणामः?,
इत्याह-पूर्वं प्रत्याख्यानं देवलोकादीं सुराङ्गनासंभोगादिभो-
गानाहं सेविष्ये, इत्येवंभूतपरिणामरूपा च या आशांसा. तथा
प्रत्याख्यानं दूषितं भवति । कुतः ? इत्याह-येन कुतः ५ व्यागमे-
ऽपि भणितं, दुष्टपरिणामाद्युक्तं प्रत्याख्यानमद्युक्तं भवति ।
तथा चागमः-" सोऽही सहइणा जा-णणा व विणएऽण्णभा-
सणा चेव । अण्णयासणा विस्सोही, भावविस्सोही भवे जण " ॥
तत्र "पचवक्खाणं तव्वसुंदेसियं" इत्यादिना अद्वानादिषु व्या-
ख्यातेषु भावविद्युदेयं व्याख्यानं तत्रकुतोपायोगंति इत्येते ।
"रागेण च दोसंणं, परिणामेण च न दूंसियं जंतु । तं वदु पच-
क्खाणं, भावविस्सुजं सुणेयव्वं" ॥१॥ इति । विशे ॥ (एते विप्र-
तिपत्ती २६६ पृष्ठ 'कम्म' शब्दं, 'पचवक्खाणं' शब्दं च वदन्ते)
एवं युक्तिभिः प्रभाषितेऽपि यावद्दसौ न किञ्चित्प्रतिपद्यते ततः
किं संजातम् ? इत्याह-

इयं एणविओ वि न सो, जाहे सहइइ पुसापिणेण ।

अण्णामण्णोरोइ य, काउं तो संयं.सवायं ॥

आहूय देवयं वेइ जाणमाणो वि पचयणिमिंभं ।

वचच जिणंदिं पुच्छसु, गयागया सा परिकहेइ ॥

संयो सम्मावाइ, गुरुपुरोगां ति जिणवरो जणइ ।

इयो भिच्छावाइ, मत्तमओ निहइओऽयं ति ॥

एइमं सामत्थं, कत्तां गुंतं जिणंदिमुत्तामि ।

वेइ कटपूयाणए, संयेण तत्रो कओ वउओ ॥

वत्सृणामन्यासामकरार्यः सुगम एव । ज्ञावार्थस्तु कथानक-
शेवादवसेयः । तन्नेदम्-एवं युक्तिभिः प्रहायमानो यावद्दसौ न
किमपि अरुक्तं तावत्पुष्पमिन्नाचार्यैरन्यगच्छगतभूतसंस्थावि-
राणामनिकं नीतः, ततस्तेरप्युक्तोऽसौ-यादशो सूरयः प्रकपय-
न्त्याधैरक्षितविरिपरि तादृशमेव प्रकपयन्, स हीमाधकम्, ततो
गोष्ठामाहितेनोक्तम्-किं यूपश्रुययो जानीध ? , तीर्थकरेस्तादृशमेव
प्रकपितं यादृशमेव प्रकपयामि । ततः स्थावरेरुक्तम्-मिध्यामि-
निविष्टो मा कार्थिंस्तीर्थकराशातनाम्, न किमपि त्वं जानासि ।
ततः सर्वविप्रतिपत्तेः तस्मिन् सर्वैरपि तैः संघसमावायः कृतः ।
संघेणापि च संघेन देवताद्वानार्थं कायोत्सर्गो विहितः । ततो ज-
दिका काश्चिदेवता समागता । सा वदति स्म-संदिशथ किं क-
रोमि ? । ततः संघः प्रस्तुतमर्थं जानन्नपि सर्वजन्मप्रयत्नमिच्छं
प्रवृत्ति-महाविदेहं गत्वा तीर्थकरमापूज्यस्व, किं दुर्बलकपु-
ष्पमिन्मप्रमुक्तः संघो यज्ञयति तस्सत्यमुत यज्ञं गोष्ठामाहितो वद-
ति ? । ततस्तथा प्रोक्तम्-मम मदाविदेहं गमनागमनं कुर्वन्थाः
प्रत्युहानुयातार्थमनुग्रहं कृत्वा कार्यात्सर्गं कुतः, येनाहं गच्छा-
मि । ततस्तदेव कृतं संघेन । गता च सा । पुष्ट्वा च भगवन्तं प्र-
त्यागता कथयति स्म-यदुन तीर्थकरः समादिशति-दुर्बलिका-
पुष्पमिन्मपुष्पस्संघः सम्यग्वादी । गोष्ठामाहितस्तु मिथ्या-
वादी ; सत्सम्भायं निहव हति, तद्वत्सुकृत्वा गोष्ठामाहितो
प्रवृत्ति-नववपदिकेयं वराको, का तमित्तयाः कटपुतना-

अवकिय

वास्तीर्थकरान्तिके गमनशक्तिर्येवमपि यावत्सौ न किञ्चिन्मन्यते तावत्संशयोद्भात्य बाह्यः कृतोऽनासोऽस्तिप्रतिकारतश्च कालं गतः ॥ ४४२ ॥ विशे० ॥

अवदन्तुञ्ज-अवदन्नाय-त्रि० । न० ब० । प्रागभ्यास-“ न्य-राय-क-र-आं ष्यः ” । ८ । ४ । २६३ ॥ इति सूत्रेण पयस्थाने डिकृतो ष्यः । प्रा० ४ पाठः । अहयपयस्थे, अर्थाऽऽ० अण्वयी०, त० वा । अहयपयान्ते, वाच० ।

अवल-अवल-न० । न बले सामर्थ्यमुक्तयो वा । अभावे न०त० बलामाये, वाच० । शरीरबलवर्जिते, त्रि० । विपा० १ भू० ३ अ० । सूत्र० । अ० । विषमपादाद्गौ गन्तुमसमर्थे, ज्ञात्वा वादुमसमर्थे च । सूत्र० १ भू० २ अ० ३ उ० । ज० । ज्ञा० ।

अवलत्व-अवदन्तुञ्ज-न० । अवलस्य जावोऽवलत्वम् । बलाभावे, इ० ६ उ० ।

अवल्ला-अवल्ला-स्त्री० । महिलायाम्, को० । अकिञ्चित्करायाम्, इ० १ उ० ।

अवदित्त-अवदित्त-न० । आकारगोपने, वाच० । मैथुने, सूत्र० १ भू० ६ अ० ।

अवदित्तम्पण-अवदित्तर्मनस-त्रि० । न विद्यते बहिर्मनो यस्यासावबहिर्मनाः । सर्वभोऽपदेशवर्तिनि, आचा० १ भू० ४ अ० ५ उ० ।

अवदित्तोत्स-अवदित्तोत्स-त्रि० । अविद्यमाना बहिः संयमाद् बहिस्तालोभया मनोवृत्तिर्यस्यासावबहिल्लेऽयः । अ० २ श० १ उ० । प्रअ० । स्त्री० ।

अवदुवादि (ण)-अवदुवादिन्-त्रि० । असकृदव्याकुर्वाणे, आचा० १ भू० ६ अ० ४ उ० ।

अवदुस्सुय (त)-अवदुस्सुत-पुं० । बहु भुंते यस्य स बहुभुजः, न बहुभुजोऽवदुस्सुतः । अन्नधीतनिशोधाभ्युपेने, अशुभानुपधनन-भूते च । नि० सू० १ उ० । अवदुस्सुतं नाम येनचारक्रमकणो निशोधाभ्युपेननामकः सूत्रेणोऽर्थेनञ्च नाधीतः । व्य० ३ उ० । बहुभुजस्वरूपं च तद्विषयेपरिच्छिन्नं तद्विचिकं सुखेनैव ज्ञायत इत्यवदुस्सुतस्वरूपमाह—

जे यावि होइ निचिउजे, यके जुदे अणिगढे ।
अजिकखणं उल्लवडे, आविणीए उवदुस्सुए ॥ ३ ॥

(जे यावि स्ति) यः कश्चित्, चापिशय्दौ भिन्नक्रमत्वाद् उल्ल-रत्र योऽर्थेन, भवति ज्ञायते, निर्मनो विधायाः सम्यक्शान्ता-वगमरूपया निर्विद्योऽपि यस्तत्तोऽहोहारी, लुब्धो रसादिपु-द्भिन्नान्, न विद्यते विग्रह इन्विषयनियमनात्मकाऽस्यत्यनिमिहोऽधीवर्णं पुनःपुनरुपपन्नोऽन्येनासंभवात्प्रापित्वादिपुणे ज्ञायति यकि उल्लुपति । अविनीतञ्च विनयविरहितो (अवदुस्सुए स्ति) य-पदोर्निर्त्याजिसंभवात् सोऽवदुस्सुत उच्यते इति शेषः । सवि-षयस्याऽप्यवदुस्सुतम्, बहुभुजनकत्वान्नावादिनि भावनीयम् । एत-द्विपरितस्त्वयोऽहोहारी इति सूत्रार्थः ।

कृतः पुनरीदशमबहुभुजतत्त्वं लभ्यते, इति तत्कारणमाह-
अह पंवादि माणेहिं, जेहिं सिक्त्वा न लभ्मडे ।

यथा कोट्टा प्पाएणं, रोगेणालसएण य ॥ ३ ॥

अथेऽनुपयासार्थः । पञ्चभिः पञ्चसंख्येतिष्ठण्येषु कर्मभयशया जन्तव इति स्थानान्ति, वैरिति वक्ष्यमाणोर्हेतुभिः शिक्तं शि-क्ता, प्रहणसंयत्नात्मिका न लज्यते नावाप्यते, तैरीदशमबहुभु-जत्वमाप्यत इति शेषः । कैः पुनः सा न लभ्यते ? इत्याह-स्वभावाद् मानात्, कोपात् कोपात्, प्रमादेन मयविषयादिना, रोगेण गलतदुष्पादिना, आलस्येनानुत्साहात्मना, शिक्षा न ल-ज्यत इति । क्रमञ्च समस्तानां स्वस्तानां च हेतुवैभवं चात-यतीति । उक्त० ११ अ० ।

अवालुया-अवालुका-स्त्री० । अथासुरशब्दार्थे चिह्नएव-दार्थे, तं० ।

अवाहा-अवाधा-स्त्री० । बाधु-लोभने, बाधत इति बाधा, कर्मण उदयः । न बाधाऽबाधा । कर्मणा वप्यस्योदयस्य चात्तरं, अ० ६ श० ३ उ० । स० । ज० । बाधा परस्पर संसृपतः पीडनं, न बाधाऽबाधा । अ० १४ श० ८ उ० । व्यवधानोपक्षयात्तरं, स० ४२ सम० । वि० । अ० । सू० । अबाधया अन्तरम्-‘अंतर’ शब्देऽस्मिन्नेव जगो ७८ पृष्ठ उक्तम् ।

मंदरस्स एं जंते । पन्थयस्स केव्वाए अवाहाए जोइसं चारं चरइ । गोयमा । इकारमेहिं इकवीमेहिं जेयणसएहिं अवाहाए जोइसं चारं चरइ । लोंगंताओ एं जंते । केव्वाए अवाहाए जोए जोइमे पसुत्ते । गोयमा । एकारमेहिं एकारमेहिं जो-अणमएहिं अवाहाए जोइमे पपत्ते । धरणपल्लाओ एं जंते । सत्तहिं एणएहिं जोअणसएहिं जोइसं चारं चरइ । एवं सुरविमाणे अट्टहिं सएहिं चंदविमाणे अट्टहिं अ-संएहिं उवारेल्ले ताराकूवे खवहिं जोअणमएहिं चारं चरइ । जोइसम्म एं जंते । हेडिद्धाओ तलाओ केव्वाए अवाहाए सुरविमाणे चारं चरइ । गोयमा । दमहिं जो-अणहिं अवाहाए चारं चरइ । एवं चंदविमाणे णउणहिं जोअणहिं चारं चरइ । उवारेल्ले ताराकूवे दसुत्ते जोअ-णसए चारं चरइ, सुरविमाणोओ चंदविमाणे अमीए जो-अणोहिं चारं चरइ, सुरविमाणोओ जोअणसए उवारेल्ले ताराकूवे चारं चरइ, चंदविमाणोओ वीसाए जोअणोहिं उवारेल्ले ताराकूवे चारं चरइ ।

(मंदरस्स एं मंत ! इत्यादि) मन्दरस्य भद्रन्त ! एवंतस्व कियत्था अबाधयाऽपान्तगलेन ज्योतिश्चक्रं चारं चरति ? । ज-गदानाह—गौतम ! जगत्स्यमायादेकादशानिर्गमकविश्वत्याधिके-यो जतशुनिरित्येवंरूपयाऽबाधया ज्योतिं चारं चरति । कि-मुक्तं ज्वरति?—भक्तञ्चक्रवालेन एकविश्व्याधिकाम्यकादशयोज-नशतानि मुकुटं चक्रं ज्योतिश्चक्रं ताराकूपं चारं चरति, प्र-क्रमाज्जम्बुद्वापगतमवसेयम् । अन्त्या लवणसमुद्रादिज्योति-श्चक्रस्य भक्तो हृद्यतिवे प्रमाणाभभवः । एवं तु सूयच-न्द्रवत्कवनाऽपिचक्र अबाधाद्वारं सूयचन्द्रवारेव भक्तोऽबाधा बन्धा, साम्प्रते तारापट्टस्य, इति न पुर्योपरारेवरे इति । अथ स्थिरं ज्योतिश्चक्रमलोकनः कियत्था अबाधया ऋषीं अवाति-ष्ठत इति िष्णुचिद्वपुश्चतुर्ध्वं द्वारमाह—(लोंगंताओ जामित्यादि)

सांकायतः भलोकादिदोऽर्वाकृ कियथा अर्वाधया प्रकमाद विधरं ज्योतिष्ककं प्रहस्यम् ? । भगवानाह—गौतम ! जगत्-स्वजावाद् एकादशभिरेकादशाधिकैर्भोजनशतैराधया ज्यो-
 निवर् प्रकृतं, प्रकमात् स्थिरं बोधयम्, चरज्योतिष्ककस्य नत्रा-
 भावादिति । अथ यश्चमदितं पृच्छति- 'धरज्योतिष्ककस्य षुं जंते !
 इत्यनेन तत्पृष्टेकदेशे परित्पृष्टे प्रहस्यन्त बोधयम् । तत्पच-
 'धरज्योतिष्ककस्य षुं जंते ! उक्तुं उच्यतेषा केचिदत्राप्य अर्वाहाए
 दिष्टिष्ठे जोहसे चारं चरति ? । गोयमा ! " इत्यनेन वरुवक-
 हेरास्य वरुतस्कधरमारकत्वनिर्णयत् । तत्रायमर्थः-धर-
 षित्वाहा समयप्रसिद्धत्वं समभूतलज्जागादूर्ध्वमुत्पत्य कि-
 यत्याऽर्वाधया अघस्तनं ज्योतिषं तारापटलं चारं चरति ? । भ-
 गवानाह—गौतम ! सप्तभिन्वदधधिकैर्भोजनशतैरित्येवंकपया
 अर्वाधया अघस्तनं ज्योतिष्ककं चारं चरति । अथ सूर्यादिवि-
 परभावात्सकणं संक्षिप्य भगवान् स्वयमेवाह—(एवं सूर-
 विमाने भद्राई सपदि चंद०) इत्यादि । एवमुक्त्यायेन
 यथासमभूमिजागादृघस्तनं ज्योतिष्ककं नवत्यधिकसप्तयोजन-
 शतैस्तथा समभूमिजागादेव सूर्यविमानमभियोजनशतैश्च-
 न्द्रविमानमभियधिकैरष्टभिर्भोजनशतैरुपरितनं ताराकं नव-
 मियोजनशतैश्चारं चरति । अथ ज्योतिष्ककचारंकेत्राण्येकया अ-
 र्वाध्याप्रश्नमाह—(जोहसेसस षमित्यादि) ज्योतिष्ककस्य द-
 शांशारज्योजनशतबहुत्यस्याघस्तनलान् कियथा अर्वा-
 धया सूर्यविमानं चारं चरति ? । गौतम ! दशानियोजनैरित्येवं-
 रूपया अर्वाधया सूर्यविमानं चारं चरति । अत्र च सूर्यसमभू-
 जगादूर्ध्वं नवत्यधिकसप्तयोजनशतैकमन् ज्योतिष्ककबाहुल्य-
 मूलतः नृप आकाशप्रदेशप्रतरः सोऽप्यधिर्मन्तव्यः । एवं चन्द्रा-
 रित्तुवर्षति । एवं चन्द्रविमानं नवत्या योजनैरित्येवंरूपया
 अर्वाधया चारं चरति । तथा चोपरितनं ताराकं दशाधिके
 योजनगतं ज्योतिष्ककबाहुल्यप्रान्तं इत्यर्थः, चारं चरति ।
 अथ गताधर्माप शिष्यव्युत्पादानार्थमाह—सूर्यादीनां परस्पर-
 भन्तरं सूत्रकृदाह—(सूर्यविमानाश्चो इत्यादि) सूर्यविमानात्
 चन्द्रविमानं अशीनियोजनैश्चारं चरति । सूर्यविमानात् योज-
 नशतैस्तैकान्ते उपरितनं तारापटलं चारं चरति । चन्द्रविमानात्
 विशाल्या योजनैरुपरितनं तारापटलं चारं चरति । अत्र सूत्रनामा-
 त्रव्यात् सूत्रेऽनुक्ताऽपि प्रहाणां नक्षत्राणां च केत्राणां च क्षेत्रवि-
 ज्ञातव्यवस्था भवानन्तराभ्रता संप्रदक्षिणवृत्त्यादी दक्षिता ह्यिक्तये-

“ शाननि सप्त गतोर्ध्वं, योजनानां छुवस्तलात् ।
 नवनि च स्थितास्ताराः, सर्वाऽप्यस्ताऽन्यस्तले ॥ १ ॥
 तारकापटला इत्या, योजनानि दशोपरि ।
 सुराणां पटलं तस्मा-दशीति शीतरोचिषः ॥ २ ॥
 चत्वारि तु ततो गत्या, नक्षत्रपटलं स्थिनम् ।
 गत्या ततोऽपि चत्वारि, बुधानां पटलं भवेत् ॥ ३ ॥
 शुक्राणां च गुरुणां च, शीमानां भूदसंक्षिप्तम् ।
 ब्रह्मि ब्रह्मि च गन्धोर्ध्वं, क्रमेण पटलं स्थितम् ॥ ४ ॥ इति ।
 जं० ७ वक्ष० ।

(मन्दरस्य षमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । मन्दरस्य
 पर्वतस्य जम्बूद्वीपगतस्य सकृत्तित्येवशोकमन्यवर्तनः कि-
 योत्तं प्रमाधया सर्वतः कृत्वा चारं चरति ? । भगवानाह—
 (ता यद्वारंसेत्यादि) ता इति पूर्ववत् । एकादश योजनघाता-
 दिर्कादशत्यधिकानि अर्वाधया कृत्वा चारं चरति । किमुक्तं भ-

वति?, मेराः सर्वतः एकादश योजनशतान्येकविंशत्यधिकानि सुकु-
 तनन्तरं अर्वाहास्तथा ज्योतिष्ककं चारं चरति । (ता कोयं-
 ताश्चो षमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । सांकायताद्वर्वाकृ,
 षमिति वाक्याद्वाहारे । किञ्चैत्रमर्वाधया कृत्वा ज्योतिष्क-
 कं प्रहस्यम् ? । जगवानाह—(एकादसेत्यादि) एकादश योजनघाता-
 नि एकादशत्यधिकानि अर्वाधया कृत्वा अपाम्तरान्तं विधा-
 य ज्योतिष्कं प्रहस्यम् । (ता जंबूद्वीपे षं द्वाषि कयरे नक्षत्रे)
 इत्यादि सुगमम् । नवरसमिञ्जिक्कणं सद्योऽप्यनरं नक्षत्र-
 मयसमपेक्ष्य, एवं सूशरीर्ष्यपि सर्वबाह्यादीनि वेदितव्यानि ।
 (ता चंदविमाणं षमित्यादि) संस्थानविषयं प्रश्नार्थः सुगमम् ।
 भगवानाह—(ता अद्भकविद्युतोत्यादि) अद्भकविद्युत्सुखानीकृत-
 मद्भक्यां कविष्यं तस्यैव यत् संस्थानं तदप्यः संस्थानमद्भकवि-
 प्यसंस्थानसंस्थितम् । आह—यदि चन्द्रविमानमद्भक्यात्रकविष्य-
 कणसंस्थानसंस्थितं तत्र उदकविषयं कृत्स्नमकालं यदि वा
 तिर्यक्परिभ्रमन्तु पौर्णमास्यां कलात्तद्वर्कविषयकफकारं नो-
 पलभ्यन्ते, काम शिरस उपरि घतेमानं घतुलमुपसृज्यते अद्भक-
 विष्यस्य शिरस उपरि दूरमवस्थापितस्य परजागदशनतो
 घतुलतथा इत्यथामानत्वात् । उच्यते-इहाहकालः पक्षला-
 कारं चन्द्रविमानं न सामस्येन प्रतिपलस्यम्, किन्तु तस्य
 चन्द्रविमानस्य पीठं, तस्य च पीठस्योपरि चन्द्रवृत्त्यस्य ज्योति-
 श्चक्राजस्य प्रासादः, तथा कथञ्चनपि व्यवस्थितो यथा पीठेन
 सौ भूयात् वतुषु आकारो जवति, स च दूरवाकालः पक्षान-
 रतः समभुलतया जनानां प्रतिभासते, ततो न कविचद्द दोषः ।
 नचैतत् स्वमनीर्काया कृत्रिमत् । यदेतद्व जिनजन्मगाणिक-
 माभ्रमनेन विशेषणव्यामाकेणुप स्वरजुक्तम्-

“ अद्भकविद्युद्गारा, उदयऽधममणि कहां न दीसति ॥
 ससिसूरा विमाण, तिरियकणसंस्थिणां च ? ॥ १ ॥
 उषाणऽकविधा-गारं पीठं तदुपरि पासाश्चो ।
 यथा लेखेण तश्चो, समवदं दूरभावाश्चो ॥ २ ॥

तथा सर्वे निगवेशेणं स्फटिकमयं स्फटिकविशेषमणिमयं, तथा
 अभ्युक्ता आभिर्मयनेन सर्वतो विनिर्गता उन्मत्ता प्रथमतया
 सर्वसु दिशु प्रसृता या प्रभा दीसन्त्या सितं बृहत्समभ्युक्ता-
 च्युत्प्रभासितं, तथा विशिधा मलेकप्रकारा मलेकप्रकारान्या-
 द्या रत्नानि कूकनवादीनि तेषां भक्तयो विच्छिन्नाविशेषाः ता-
 मिच्छिन्नमनेकरूपवत्, आश्रयंयथा विशिधमणिरत्नविश्रयः; तथा
 घातोद्भूता वासुकुम्भिता विजयोऽप्युदयस्तसंसुचिका वैजय-
 न्यभिधाना याः पताकाः । अथवा विजया इति वैजयन्तानां पा-
 श्चकणिका उच्यते, तस्यधाना वैजयन्त्या विजयवैजयन्त्याः पता-
 कारता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्याः, उत्रातिच्छत्राणि च उप-
 र्धुपरि स्थितानपवाशि तैः कश्चित्, ततो यानोद्भूतविजयवैजयन्ती-
 पताकाश्चत्रातिच्छत्रकश्चित्, तुङ्गपुष्पम्, घत एव (गगनतसम-
 क्षिप्तं सिहरं ति) गगनतसमभ्युदयतसमनुक्षिप्तं, प्रसिद्धवृक्षपिच्छ-
 रं यस्य तद् गगनतलानुसिञ्चिच्छरम् । तथा जालानि जात्रका-
 नि तानि च भवनभित्तुषु लोके प्रतीतानि, नदन्तरेषु विवि-
 दशानिर्निमित्तं रत्नानि यसद् जात्रान्तररत्नम्, सूत्रे चात्र प्रथमै-
 कवचनलोपां इत्यर्थः । तथा पञ्जराऽऽभीर्निर्निमित्तं बहिष्कृतमिष-
 पञ्जरोन्मीलितमित् । यथा हि किञ्च किमपि वस्तु पञ्जराद्
 वेश्यादिमप्यञ्जराद्विनिवेशाद् बहिष्कृतमस्यन्तवन्निष्कृतञ्जान्वा-
 त् शोभने, एवं तदपि विमानमिति भावः । तथा-मिजयनकानां

अबादा

संबन्धिनी क्तुयिका शिखरं यस्य तद् भविकनकस्तुयिकाकम् ।
 तथा विकसितानि शतलतपत्राणि पुष्पद्वरीकाणि शारावौ प्रतिह-
 तित्थाने स्थितानि तिष्ठकाश्च भिस्त्रादिषु कन्धाणि रत्नमयाहवा-
 र्द्वैच्छन्दारप्रादिषु तैश्चित्रं विकसितम् , अतपनपुष्पद्वरीक-
 तिलकाकैचन्द्रविभ्रम् । तथा-अनर्थादेश्च ऋषेण मण्यु-
 मित्यर्थः । तथा-तपनीयं सुवर्णेशोषोपस्त-मय्या बालुकायाः
 सिकतायाः प्रकटः प्रतरः यत्र तस्यथा ; तपनीयंबालुका
 प्रकटतया सुधर्मस्पर्शं ह्यभस्पर्शं वा । तथा सभ्रीकाणि
 सभ्रीजानि क्पाणि नरमुय्यादीनि क्पाणि तत्र तत् सभ्रीक-
 रूपम् । प्रासादीयं मनःप्रसादहेतुः । अत एव दर्शनीयं द्रष्टुं यो-
 र्थं, तद्दर्शनेन सुतरसंज्ञवात् । तथा-प्रतिपिशिष्टमसाधारणं रूपं
 यदस्य तस्यथा । (एषं सुरविमाने धीत्यादि) यथा चन्द्रविमान-
 स्वकपमुकमेवं सूर्यविमानं ताराविमानं च सकल्पं, प्रायः सर्व-
 धामाणि ज्योतिर्विमानाभ्येकरूपवात् । तथा चोक्तं समवायाङ्गि-
 " केचइया णुं भंतं जोरसियायासा पञ्चत्ता ! गोयमा ! इमो-
 ले रयणुपयाय पुटवीय बहुसमरमणैजाश्रो त्तिमिणाश्रो स-
 लनउयाई जौयणुसयाई उद्धं उपपत्ता दसुतरजौयणुस-
 लयाइङ्ग तिरियमसंभजे जौरसियाय सौरसियाणं देवाणं
 असंभजेजा जोइसिया विमानावासा पञ्चत्ता ; तेषु जोइसि-
 यविमानावासा अणुत्तमा पमुसियपहसिया विविहमणिरय-
 वानसिचित्ता तं केवड जाव पासार्था दरिसाण्जा पम्किचा" ।
 ७० प्र० १० पाठुाने न बाधा अबाधा । अनाकर्मणः, रा० । जी०
 स्या० । औ० ॥

अबाहिरिय-अबाहिरिक-त्रि० । बहिर्भवा बाहिरिका । " अ-
 ध्यत्समादिभ्य इकण्" । ३ । ३ । ७ । इति हेमसूत्रेण इकण्प्रत्ययः ।
 प्राकारबहिर्पठिनो गृहपक तिरियर्थः । न विद्यते बाहिरिका
 यत्र तत्रबाहिरिकम् । यस्य प्राकाराद् बहिरुद्देशि न सन्ति
 तस्मिन् स्थाने, वृ० १ उ० ॥
 अबाद्-त्रि० । प्रामस्यात्यन्तबहिर्भूते, " अबाहिरप कण्पइ
 हेमंतगिदालु मासं वयथय" इय० १ उ० ।

अबाधिगिया-अबाधोनिका-स्त्री० । अबाधया उकलङ्गणया
 ऊनिका अबाधोनिका । न० ६ शृ० ३ उ० । अबाधाकालप-
 रिहीनायाम्, "अबाधुणिया कम्मठिई पणलत्ता" । जी० २ प्र० ।
 अबिद्ध-अबिद्ध-त्रि० । बंधरहिते, व्य० ८ उ० । १० ।

अविष्कृत्वा-अविष्कृत्वा-पुं० । स्वनामक्यते तथिष्कमेते,
 यत्रपि गजतुरगस्यम्बदादिव्यतिरिक्तानिमित्तप्रजवः संख्याप्र-
 त्ययः, गजादिप्रत्ययविलक्षणत्वाद्, वरुचमेकम्बले नीलप्रत्य-
 यवदिति संख्याप्रसिद्धप्रत्यये अविष्कृत्वाकं प्रमाणम् । तद्द्रु-
 कम् । गजादिभ्यतिरिक्तसकनादिप्रभवमेतेषांत्वात् सिद्धसाध-
 नादेषांत्वात् । सख्म० ३ कापर ।

अवीय-अद्वितीय-त्रि० । केनचिदपरेण सहयत्तमेने, यथाहि
 श्वनरहवनसहस्रहया राक्षां सार्द्धं, मल्लिपार्वी त्रिजिम्भिः
 शतैः, बासुपुत्र्याः पद्मत्त्या, रोषाश्च सहस्रैः सह प्रयजितास्तथा
 भगवता न केनाप्यताऽपिचतैः । कव्य० ।

अबुष्क-अबुद्-त्रि० । अविपरिचितं, दश० २ न० । अविषेकि-
 नि, सूत्र० १ सु० ११ अ० ।

अबुद्धनिन्दा-

३ अबुद्धा महाभागा, बीराऽऽऽम्भक्तर्दसिणी ।

अमुष्कं तसि परकीतं, सफसं होइ सव्वसा ॥ ३२ ॥

ये केचनाऽबुक्ता धर्मं प्रापयिहान्तपरमार्थां व्याकरणदुष्कृतका-
 विपरिहानेन जातावलेपाः पारिस्तमानिनेऽपि परमाधरतु-
 स्थानवेषाध्यादबुक्ता इत्युक्तम् । नच व्याकरणपरिहानमात्रेण
 सभ्यकष्यव्यतिरेकेण तसावयोधो भवतीति । तथा बोक्त-
 " शाखाव्यादाइ परमिज्जघनतत्पराऽपि,
 वैवाऽपुधः समजिज्जाकति वस्तुतत्त्वम् ।
 नानाप्रकाररसज्ञावयताऽपि दर्धी,
 स्वादं रसस्य सुविजादपि नैव बोक्ते" ॥ १ ॥

यदि वा अबुद्धा इव बलवीर्यवन्तः, तथा महान्दहने
 भागाऽहं महाभागाः । भागश्चन्द्रः पूजावचनः । तत्तच्च म-
 हापुत्र्या इत्यर्थः । शोकाविभूता इति । तथा वीरोः पराङ्गी-
 कनेदिनः सुभटा इति । इदमुक्तं जयति-पणित्ता अपि त्या-
 गादिनिगुणैकपुत्र्याः । अपि च-तथा सुभट्टवाद् वर-
 न्तोऽपि सव्यकस्यपरिज्ञानविकलाः केचन जन्मतीति दर्श-
 यानि न सम्यग् असम्यक्, तद्भाषोऽसम्यकम् । तद् ऊट्टु
 शीर्षं येषां तं तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः । तेषां च बालानां य-
 किमापि तपोदानाध्ययनमनियमादिषु पराकान्तमुद्यम-
 स्तद्बुद्धमविशुद्धकारि, प्रत्युत कर्मबन्धाय, भावोपहतत्वान्,
 सनिदानान्वाटंति, कुतश्चिकित्सावद्विपरीताऽनुभवतीति । तच्च
 तेषां पराकान्तं सह फलेन कर्मबन्धेन यतेन इति संकल्पम् । सर्वेश
 इति । सर्वाऽपि तर्किका तपोऽनुष्ठानार्थिका कर्मकथायैवेति
 ॥ २२ ॥ सूत्र० १ सु० ८ अ० । बोधाविषयं, वाच० ।

अबुद्धजागरिया-अबुद्धजागरिका-स्त्री० । उग्रमध्यज्ञानवर्तं
 जागरिकायाम्, अ० । " अबुद्धा अग्रुद्धजागरिय जागरति चि" ।
 अबुद्धाः केवलज्ञानाभावेन यथासंभवं शेषज्ञानसद्भावाच्च बु-
 द्धसहस्राः ते च, अबुद्धानां उग्रमध्यज्ञानवर्तं या जागरिका सा
 तथा तां जाग्रति । न० १२ शृ० १ उ० ।

अबुद्धसिरी-देशी-मनेरयाधिकफलमासी, दे० ना० १ वगं ।

अबुद्धिअ-अबुद्धिअ-त्रि० । तत्त्वज्ञानरहिते, ग० १ अ० । अ-
 हानिनि, पं० वृ० । बुद्धिरहिते, सूत्र० १ सु० २ अ० १ उ० ।
 अबुद्ध-अबुध-पुं० । विरोधे, अप्राशस्त्ये वा । न० त० । बु-
 धभिन्ने सुबलं, अपुष्कान्ते च । बाच० । अज्ञानाने, सूत्र० १ सु० २
 अ० १ उ० । बाहिस्रे, प्रह्न० १ अ० अ० ७ । तत्त्वपरिहान-
 यिकते, वृ० १ उ० ।

अबुद्धजाय-अबुद्धजन-त्रि० । अबुद्धोऽविषयिजनः परिजनो व-
 स्य न्न अबुद्धजनः । अकल्याणमित्रपरिजनं, " विसयसुहृदु प-
 सत्थं, अबुद्धजणुकारागपारिबद्धं" दश० २ अ० ॥

अबोद्ध-अबोध-पुं० । न० त० । अनवगमे, घ० १ अ० ।

अबोहंत-अबोधयत्-त्रि० । अज्ञागरयति, उच० २६ अ० ।

अबोधि-अबोधि-स्त्री० । न० त० । अज्ञाने, सूत्र० २ सु० ६ अ० ।
 जिनधर्मानवगामी, औत्पत्त्यादिदुष्प्रभावे च । अ० १ शृ० ६ उ० ।
 मिथ्यात्वकार्यं ज्ञानं, "अबोधि (हिं) परिपार्यामि बोधिं उच-
 संपज्जामि" भाव० ४ अ० ।

कस्याबोधिनैर्यति १, इति प्रश्नस्योत्तरमाह-
 पिच्छादसंपरया, सनिदाया कियहल्लेसमेंगावा ।

इह जे मरति जीवा, तेसि छुसहा जवे बोही ॥

मिथ्यादर्शनं विपर्यस्तदर्शनं, मिथ्यात्वं तु मिथ्याक्रियाद्यभिलाषक-
रूपं, तत्र रत्नाः, तथा सह नित्यानेन देवत्व्यादिप्रार्थनारूपेण वर्तन्त
इति सिद्धिर्नामः । तथा कृष्णां सखीयमैक्यां श्रेयशां जीवपरिणाम-
रूपामवगाढाः प्राप्ता इहास्मिन् जगति एवविधा ये जीवा
स्त्रियन्ते तेषां दुःखेभ्यो भयं दुःखं बोधिः । आनु ॥

अबोधिकलुप्त-अबोधिकलुप्त-प्रि० । मिथ्यादृष्टी, दश० ४ म० ।
अबोदिवीज-अबोधिवीज-न० । अर्धधोर्जन्मान्तरे जिनधर्मोऽ-
प्राप्तौ बांजमिय बांजं हेतुरबोधिबीजम् । पञ्चा० ४ विष० । स-
म्यदर्शनाज्ञावहेतो, पञ्चा० ७ विष० ।

अबोधि-अबोधिक-न० । अर्धांजा० अत्रय्यी० स० । मिथ्यात्व-
फले (अज्ञाने), दश० ६ अ० । न विद्यते बोधिर्यस्य साऽबो-
धिः । बोधिरदंतः, " निष्प्रमथं न ज्ञायति, मिश्रकृत्वु व्य अ-
बोधिया " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ व० । अविद्यमानबोधिक, औ० ।
अविद्यमानो बोधोऽस्मात् । जवात्तराप्रामथ्यजिनधर्मताभाप्रति-
जागरेणेह, " अण्येषां य अबोधिप, महामोहं पकुवइ " ।
सं० ३० सम० ।

अव्युय-अवुद्-पुं० । स्वनामख्यते (आन्) पर्यन्ते, ती० ।

नक्षत्रा वैषम-

अर्धनौ प्रतिपत्त्याऽहं, श्रीमन्नाशनैमिनौ ।
महाच्छरबुद्धास्यस्य, कल्पं जगामि असातः ॥ १ ॥
देव्याः श्रीमान्कल्पसि-मादां वक्ष्ये यथाश्रमम् ।
यदधिष्ठानतोः होष, प्रख्यातोः सुवि पर्यन्तः ॥ २ ॥

श्रीरत्नमन्त्रनगरं, राजाऽभूच्छरतेश्वरः ।

श्रीऽनपयनया दूमः, प्रैर्बोच्छाकुनिकान् बहिः ॥ ३ ॥

शिरस्थां काष्ठमारिण्या-स्तं दुर्गां दुर्गतक्रियाः ।

बोध्यं व्यज्जहपन् राज्ञः, नाव्यस्यास्वयंपदे सुतः ॥ ४ ॥

राज्ञाऽऽदिधा मगमैव, सा हन्तु तन्नरैर्गौरीशः ।

गर्भे क्षिप्ता कायचिन्ता-न्याजात् तस्माद् बहिनिरैत् ॥ ५ ॥

साऽवृत्तं ह्यनुमत्याऽऽर्त्ता, क्षात्रं वरानाम्नेरऽमुचत् ।

गर्भे चाऽऽनीयं तदूत्ता-नमिच्छसैरघानि सा ॥ ६ ॥

पुरापरितर्भे स्तन्यं चा-पीप्यत् सन्याह्वये मृगी ।

प्रबुधैर्ऽसिद्धशास्त्रा-महालक्ष्याः पुरोऽन्यदा ॥ ७ ॥

मृग्याश्चतुर्णां पादाना-मथो नूतननाणकम् ।

जानं श्रुत्वा शिशुरूपं, लोकं वातोऽप्यनुभूत ॥ ८ ॥

नभ्यो नृपोऽनृत्यं कोऽपीति, श्रुत्वा प्रैर्दुः अटान्नुषः ।

तद्व्यापाद्यं न दृष्ट्वा, सायं ते पुरागोपुरं ॥ ९ ॥

बालहस्यानियामुञ्चत्, गोमृग्यस्यायतः पथि ।

नक्षत्रैव स्थिते भाष्या-देकस्मृत्का पुरोऽजयत् ॥ १० ॥

तम्रयं च चतुष्पादा-न्तराले तं शिशुं न्यधात् ।

तच्छ्रुत्वा मन्त्रिवाक्यात्, राजाऽमस्तोरसं मुदा ॥ ११ ॥

श्रीपुत्रजायः क्रमात्सोऽनृद्, नृपस्तस्थाऽभवत्सुता ।

श्रीमाता रूपसंपत्ता, केवलं श्रवणानमा ॥ १२ ॥

तद्वैराव्यांश्रिविषया, जानु जालिस्मरा पितुः ।

न्वैवद्यत् प्रागभवत् स्वं, यदाऽहं वानरी पुरा ॥ १३ ॥

संचरन्त्युदं शाश्व-शास्त्रां तासुनि केनचित् ।

विद्या वृक्षाश्च दधन् मे, कुण्डेऽपत्यत् तरोरथः ॥ १४ ॥

तस्य कामिनोर्धस्य, माहात्म्याद् नूतनमैम ।

मस्तकं तु तथैवास्ते-ऽध्याप्यतः कपिसुखहम् ॥ १५ ॥

श्रीपुत्रोऽप्येवश्रुत्वा, कुण्डे मेष्य निजान् नराह ।

तनः सा नमुषी जहं, तपस्वी चाबुदे गिरी ॥ १६ ॥

ध्यामगामन्यादा योगी, दृष्ट्वा तां रूपमोहितः ॥

साऽपुत्तोर्यालपत् प्रेम्णा, मां कथं वृष्टुषं शुभे ? ॥ १७ ॥

सांख्यस्यादाद्याधामो, रात्रस्तावतः परम् ।

ताश्चक्षुःकृतान्वाक्यं, कथाचिद्विद्यया यद् ॥ १८ ॥

शैलऽत्र कुर्वे हृष्टाः, पद्यां श्लाशं तद्विदम् ॥

वरः स्या इति चैट्रैस्वै-र्द्वियाम्याऽवीकरस्तः ताः ॥ १९ ॥

स्वशक्या कुक्कुटरैः, कृतक कारिते तथा ।

निषिक्तोऽपि विवाहाय, नास्त्वास्तकैतव विद्म् ॥ २० ॥

सरिर्शरिऽधं तं स्वका, कृतवीवाहस्त्रुतिम् ।

सांख्यं शिशुलमुत्सृज्य, विद्यां तु संनिधिं मे ॥ २१ ॥

तथाहृत्वांगामतस्य, पादयोर्विकृताद् धुनः ।

नियोऽय साऽऽस्य शोभन, हृद्यश्रेण वयं व्यधात् ॥ २२ ॥

इत्याजन्माखण्डशोभन, जन्म नीत्वा स्वराय सा ।

श्रीपुत्रः शिखरं तत्र, तत्रासात्तमवीकरत् ॥ २३ ॥

परमासात्सेऽशुद्धाव्योऽस्या-ऽधोभागेऽऽकलयत्किः ।

ततो विकम्पस्तासव्यः, प्रासादशिखरं विना ॥ २४ ॥

श्रीकिकास्वाहः-

तन्निवर्धनं कर्णामात्, प्राक् शैलाऽयं हिमाकिजः ।

कास्वनाभुन्दनाशधि-ष्ठानात्सवुद् इत्यनृत् ॥ २५ ॥

वसन्ति श्लाशं प्रामाः, अथोपरि धनात्पुत्राः ।

तपस्थिनो गौगाशिकाः, राष्ट्रिकाश्च सहस्रशः ॥ २६ ॥

न सः सुतो न सा वल्ली, न तत्पुत्रं न तत्फलम् ।

न सः स्कन्धो न साशाखा, या नैवाप निरीकृत्यते ॥ २७ ॥

प्रदीपमन्दीपध्यां, जात्यश्रयत्र शत्रिभू ।

सुरभीणि रसाश्चानि, यनानि विविधान्यापि ॥ २८ ॥

स्वच्छन्दोऽश्रद्धच्छर्मि-स्तैरद्रुकुसुमाप्यिता ।

पिपासुनताऽऽनन्दऽपि, प्राति मन्दाकिनी धुमि ॥ २९ ॥

वकासत्यस्य शिखरा-पयुक्त्वाणि सहस्रशः ।

परिस्खलन्ति सुधेस्य, येपु रथ्या अपि क्रणम् ॥ ३० ॥

चरुकाशोवर्जितमभ-कन्दाद्याः कन्दजातयः ।

दृश्यन्ते च प्रतिपदं, तत्सकार्यप्रसाधिकः ॥ ३१ ॥

प्रदेशाः पेशलाः कुसुद-स्तत्साध्यकारिभिः ।

अस्य धानखनीजिञ्च, मित्रैर्ऽशामुतोदकैः ॥ ३२ ॥

काक्यिते कृते चोक्षै-र्द्रांशोऽक्यितकुपिहतः ।

प्राडुर्भवति वाःपुरः, कुर्वन् ललहलारयम् ॥ ३३ ॥

श्रीमाताऽऽच्छेत्स्वस्य, वाशिष्ठान्म पथ च ।

अत्रापि लौकिकास्तीर्थोः, मन्दाकिन्याद्योऽपि च ॥ ३४ ॥

महादृश्यं नेतारः, परमारनेरहवराः ।

पुरी चन्दावती तेषां, राजधानी निधिः श्रियाम् ॥ ३५ ॥

कलयन् विमलं बुक्तिं, विमलोऽं दूरनयकः ।

चैत्यमभर्षजस्थाधात, पेशसप्रतिमान्वितम् ॥ ३६ ॥

शाराधवाभ्रं जगवती, पुत्रसंपदपस्पृहः ।

तीर्थस्थापनप्रत्यर्थ्य, चरुपकद्रुमसिद्धि ॥ ३७ ॥

पुण्यक्षन्नामकचिदं, दृष्ट्वा गोमयगोमुखम् ।

तत्राप्रदीद् भुवं दण्डन्, श्रीमातुमेकनाम्निके ॥ ३८ ॥ (सुमम्)

राजानकं धोऽधान्युके, कुक्कु ओमुजेरहवरम् ।

प्रसाद भक्त्या तं चिञ्च-कूटाशानाय तर्करा ॥ ३९ ॥

धैकमे वसुचस्वाशा १०००, मितेऽन्दे भूरिरेव्यथात् ।

अव्यय

सत्यासाद् सुविमल-वसत्याह व्यधापयत् ॥ ४० ॥
 यात्रोपनम्रसंघस्या-निप्रविष्टविद्योतनम् ।
 कुर्वतेऽप्राग्भिका वृषी, पूजिता बहुनिविधे ॥ ४१ ॥
 युगादिद्वैतैस्त्वस्य, पुरस्तात् च चाहमनः ।
 एकरात्रेण घटितः, शिल्पिना तुक्तोऽसमः ॥ ४२ ॥
 वैक्रमे वसुवन्वक १२८, मित्रेऽप्ये नेमिसन्निभम् ।
 विमर्मे लुण्णिगवस-त्याह्वयं सचिवेऽनुना ॥ ४३ ॥
 कपोलमयं शिष्यं, श्रोतैःजःपालमन्त्रिराट् ।
 तत्र न्यास्यत् स्वस्मतीधे, निष्पद्यं हृत्सुधाऽऽजनम् ॥ ४४ ॥
 मूर्तीः स्वपूर्ववैद्यनां, हस्तिशालं च तत्र सः ।
 म्यवीविशद्विश्रां पत्युः, श्रीसोमस्य निद्रेदानः ॥ ४५ ॥
 आहो ! शोभनदेवस्य, सुधधाराशरोमणः ।
 तक्ष्मयरञ्जनाशिरुषा-द्राम ह्येन यथाधेनाम् ॥ ४६ ॥
 वज्रान्शतः समुत्थेन, मैनाकाऽस्त्यनुक्तो गिरः ।
 समुत्थान्तोऽप्यनेन, दूषेत्तु मन्त्रीहवरं भवान् ॥ ४७ ॥
 तीर्थेऽपि तन्नेऽसिद्ध, दैवान् सुकृतेः प्रचक्रतुः ।
 अस्यांशारं ह्यौ दाकाद्ये, यद्विषदाकंसमिते १२४३ ॥ ४८ ॥
 तत्राद्यतीर्थस्यांघर्ता, लक्ष्मो महर्षिसिद्धयुः ।
 पीथमस्त्वितरस्याभूदुक्तो, वण्डांसिद्धजः ॥ ४९ ॥
 कुमारपालभूपाल-ध्ववीलुक्पकुलचन्द्रमाः ।
 श्रीवीरवैत्म्यस्योक्तः, शिखरं निरमीमपत् ॥ ५० ॥
 तसन्कौमुदलाकीर्ण, तसुहोपाविबभुरम् ।
 भव्याः पश्यन्मय्युर्वारि, नैकमोऽप्यविभ्रमम् ॥ ५१ ॥
 हृद्यः श्रोत्रसुधाकल्पः, श्रीजिनमस्तस्मिनिः ।
 श्रीमदुर्वुद्कल्पोऽयं, चतुरः परिवीर्यताम् ॥ ५२ ॥
 इति श्रीशबुद्दाचक्रकल्पः समाप्तः ॥ १०० ८ कल्प ।

अ०भू-अ०भू-न०। अ०यो विभर्त्सति अ०भूम् । मेधे, रा०। अ०पञ्च-
 दो- " लिङ्गमनन्तम् " ॥ ८० ५। ४५४५ ॥ इति सूत्रेण पुंस्यय् ।
 "अभ्या लग्ना मीगरिर्हि, पहिह रुडनं च जाह । जो पहा गिरि-
 निग्नण-मपु, सो कि षणहि धनाह" ॥। प्रा० ४ पाद् । अ०प्राणि-
 सन्त्यसिन्धियञ्चम् । "अभ्यादिभ्यः" । ७२।४६ इति हैमसूत्रेण म-
 त्वधीयांऽप्रात्ययः । आकारो, " अ०भूभहलए विउरवृह " । अ०
 यानि बादैलकानि तानि विकुर्वन्ति, आकारं मेघान् विकुर्वन्ती-
 त्यर्थः । रा०। स्वा०। आ० म० ।

अ०जंग-अ०च्यङ्-पुं० । अ०जि-अ०ज-भावे चञ् । कृत्यम् ।
 स्तोकेन तैसादिना मर्दने, एकवारं तैलमर्दने च । नि०चू०३३०।

अ०जंगला-अ०च्यञ्जन-न० । घृतवशादिना (प्रअ० ४ मन्व०
 ह्य०) सहजपाकतैलादिनिर्वा (आचा० १ ध्रु० ६ आ० ४ उ०)
 प्रकृते, कल्प० ३ कृण । स्वा० । नि०चू०। आ० म०। ३० । प्रव० ।
 साधुनामच्यञ्जनं न कार्यम्—

नो कपटं निर्मांयाण वा निर्मांषीण वा परिव्रासिएण
 तेक्ष्णेण वा पृष्ण वा नवर्णीएण वा वसाप वा गचं अ०नं-
 गित्त्वा वा पक्वित्त्वा वा नभत्य आगादिर्हि रोगार्थकेर्हि ।

अभ्य सम्बन्धमाह-

मसिणेहो असिणेहो, दिज्जइ पक्वित्तु वा तगं दिंति ।
 सन्नो वि वणो झिण्णइ, दुहा वा म कवण्णा भूपा ॥

आलेपः सकेहोऽस्मिहो वा क्षीयते, ततो यथा कोऽनं प्रकृतं क्रियते,
 नवा, तथाऽनेनाऽभिधीयते । यद्वाः प्रण प्रकृत्या तक्रमनन्तस्योक्त
 मात्रेपे प्रयच्छन्तिः त वा सद्योऽपि प्रण आहोष्यन्ते । शिधा वा अङ्क-
 णा भूयान्ः कृतो जणोऽपि प्रव्यते, आत्रेयोऽपि प्रकृतितु क्षीयत इति
 ज्ञाप्यः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पने परिव्रासि-
 तेन वा तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा गात्रमच्य-
 ङ्कितुं वा, यदुत्तरेन तैसादिना प्रकृतितु वा स्वल्पेन तैसादिना, नात्यत्र
 गाढगाढेभ्यो रोगान्कृष्ये, तान्मुक्तान् न कल्पते इत्यर्थः । दोषाश्चात्र
 न एव स्वचयादयो मन्तव्याः ।

आह-यद्येवं परिव्रासितेन न कल्पते प्रकृतितु, ततस्तस्मिन्वसानी-
 तेन कल्पिष्यते ।

सुरिराह-

तद्विममकत्वणम्मी, लट्ठ्यां मासो उ ह्योऽपि बोधव्यो ।
 आणायाणा विराड्ण, धूलि सरक्तो य तसपाणा ॥

तद्विमसानीनेनापि यद्वि प्रकृतयति तदा लघुमासः, आन्नाद्यकञ्च
 दोषाः, विराधना च संयतस्य भवति । तथाहि-अन्तते गात्र
 धूलिस्त्रेगतिः सरजस्को वा सचिस्त्रजोऽरुपो वा तनोक्तो लग-
 ति, तेन चैवर्गण मन्तिनीक्रियते, तेषां धावने संयमाविधाना,
 स्नेहगन्धेन वा ये त्रसप्राणिनो जगन्ति तेषां विराधना भवेत् ।

धुवणाधुवणं दोमा, निंसि भत्ते उऽपिप्रावणं चैव ।
 चनसच म इड तलिया, उव्वट्टणमाड पडिमधो ॥

स्नेहेन मन्तिनीकृतानां चैवराणां गात्राणां च धावनाधावनेयोर-
 रुमयोऽपि दोषाः । तथाहि-यदि न धावत्येते तदा निशि भक्तम्,
 अथ धावत्येते ततः प्राणिनामुत्पन्नान् भवेत् । उपकरत्-
 उगीरयोर्वा कृशत्ये च जवति । (न मइ लि)स एव हेवाक्को ल-
 गति, प्रकृते च गात्राद्यदोषां श्रुतेः सांगत्यानि इति कृत्यां मन्ति-
 काऽपि नह्यति, तत्र मयो निर्मादयेनमादयो दोषाः । यावन्म्य-
 गात्रस्याङ्गनेनादिक करोति तावत्सुवार्थपरिमत्तो भवति ।

तद्विममकत्वणं उ, दिट्ठा टोमा जहा उ पक्वित्त्वा ।
 अद्वाणिणुव्वाए-ऽपवाए अरुकुत्तुजयणांश्रं ॥

तद्विमसङ्कणेन जनिता एते दोषा इष्टाः । द्वितीयपदे यथा
 प्रकृतये तथाऽभिधीयते-अव्यगमनेनाभारंजान्तः, परिव्रान्नां वा,
 तेन वा कटी शुहीना, अकृषेण तद्धारणं जानं कच्चु पामा,
 तथा वा कोऽपि गृहीतस्तने यतनया प्रस्येदपि ।

तामवाह-

मस्मार्इकयकजो, धुवितं परंयत् उ अत्यय् अने ।
 परिपीय गोपयां-उव्वट्टा धोवणं जयणा ॥

सङ्गा गमनम्, आर्इशब्दात् गमनादिक च कायकृते कृतकार्यो, न
 संपाद्यकृतकार्ये, स्वर्गाण्य विदियमनकार्याणि समाप्यत्यर्थः ।
 स यावन्मात्रे प्रकृत्यायै तावन्मात्रेव प्राविश्या प्रकृत्या ततो
 प्रकृतयति, प्रकृतियत्वा च प्रतिप्रयस्यान्तस्तावदास्ते यावत्सेन
 गात्रेण तन् तैसात्कप्रकृतेण परिपीत भवति । ततो गोमया-
 दिना तस्याङ्गनेन कृत्वा यतनया यथा प्राणिनां प्लावनानं भव-
 ति तथा धावने कार्यम् ।

जह कारण तद्विममं, तु कर्पणं नह जयेज्ज इयंरं पि ।
 आयपरियावाहि वसभे-र्हिं पुष्पिअ वेज्ज संदेसो ॥
 यथा कारणं तद्विमसानीं तं प्रकृते कल्पते, न धेनरदपि परिव्रा-

सितं झक्तुं कारणे कल्पते । कथमिति चेत् ? अत आह—आम्ब-
येस्य कोऽपि स्याद्विद्वत्प्रवृत्तते लुप्तमे वैधः पृथोक्तविधिना
प्रष्टव्यः, तेन च संदेश उपदेशो वृत्तो भवेत्, यथा—शतपा-
कादीनि तैलानि यदि भवन्ति ततः श्लिक्तस्ता कियते ।

ततः किं कर्तव्यम् ? इत्याह—

सयपाग महस्सं वा, सयमाहस्सं व इंसमरुतेञ्च ।

वृत्ता उ र्णीय असर्दे, परिवामिजा जयं धीरे ॥

शतपाकं नाम तैलं तद्बुद्धये-यदीयधानां शतेन पच्यते । यद्वा-
एकेनाप्यौषधेन शतवार एकं परिवारस्येत् । एष सहस्रपाक
शतसहस्रपाकं च मतव्यम् । इंसपाकं तागइंसन औषधस-
मागम्भूतंन यदेतसैलं पच्यते । मरुतलं मरुदो पर्वतादुत्पद्यते ।
एषांयधानि दुर्लभद्रव्याणि प्रथमं तद्वैचसिकानि मागंणीया-
नि, अथ दिने दिने न लभ्यन्ते ततः पच्यकरिहायया चतु-
सुधुप्राप्तौ दुरादप्यात्राय धीरां गीतायो यतनया श्रयत्सामारि-
के स्थाने अय्यं चोरेण वेष्टयित्वा परिवारस्येत् ।

इदमेव सुव्यकत्माह—

एपाणि मक्खवाट्टा, पाणट्टा पदिग्धिं ण लंभेजा ।

पणहाणीए जइत्तं, चउगुरु पत्तो अरोमोत्तं ॥

पतानि शतपाकादीनि झक्तुं यानाथै वा प्रतिदिने यदि न
लभ्यन्ते ततः पञ्चकारिहागया यतित्वा चतुसुधुक्तं, यदा प्राप्तो
भवति तदा परिवारस्येकप्यदंनो न प्रायश्चित्तमाकं । वृ० ३० ।
स्व०—“मेने परा कायं तेल्लेण वा घण्ण वा यसाए वा मक्खेञ्च
वा अरंभेज्ज वा णां तं सानिए यां तं णियमे ” आच० २
अ० १३ अ० । “ जे भिक्खू अंगदासुं तेल्लेण वा घण्ण वा ण-
धणाएण वा यसाए वा अरंभेज्ज वा मक्खेज्ज वा अरंभेजं
वा मंळंनं वा साइज्ज ” नि० चू० १०० । (‘ अंगदाणं
’ शब्दोऽस्मिन्नेव भागं ३० पृष्ठे व्याख्यातमेतत्) । अरंभेगण
विहापरिमाण करं ” उपा० १ अ० । (‘ आरंभे’ शब्दे द्वितीय-
भागं १०९ पृष्ठे दर्शयिष्यते स्वयम्)

अभ्रभंगणपुत्रय-अच्यङ्कित-त्रि० । स्नेहाभ्यकशरीरे, वृ० १३० ।
पि० । आ० म० । ओघ० ।

अभ्रभंगि (गे) ता-अच्यङ्कित-अच्य० । तैलादिना अच्यङ्क
कृत्येभ्यर्थे, ष्ठा० ३ उा० १ उ० । आचा० ।

अभ्रभंगिय-अच्यङ्कित-त्रि० । स्नेहत मर्दिते, पि० ।

अभ्रभं (भिं) तर-अच्यङ्कित-त्रि० । पुत्रकलत्रादिवत्
प्रत्यासन्नं, स्था० ८ उा० ।

आभ्रभन्तर-त्रि० । अभ्रभन्तरे भवमाभ्रभन्तरम् । मध्यस्थे, स्था०
२ उा० १ उ० । पि० । विपा० । ज्ञा० । अभ्रभन्तरभागवर्तिनि,
रा० । जी० । “ सत्रभ्रभन्तराण्तरं मंजलं जयसकमिस्ता चारं
चरद ” जं० ७ वक्त्त० ।

अभ्रभं (भिं) तरओसचित्तकम्प-अच्यङ्कित-त्रि० । मध्ये
चित्रकमेरुमणयो, कर्म० २ कर्म० । कल्प० ।

अभ्रभं (भिं) तरकरण-अच्यङ्कितकरण-न० । भावसंप्रसह-
भेद, अ० । नञ्-अभ्रभन्तरकरणं नाम द्वयोः साध्वोर्गण्येभ्योऽभ्रभ-
न्तरेण कृत्वादिकार्यमिति परस्परमुष्णपतोऽस्तुतीयस्या-

पशुश्रुगोर्बहिःकरणे, अथवाऽपवृष्टिः सन्नभ्रभन्तरे गत्वा तद् ग-
च्छादिप्रयोजनं भवेत्, एतद्भ्रभन्तरकरणम् । यदि वा तेन सह
ये बाह्यभावं मध्यन्ते तानपि तथाऽस्तुव्यसंयति यथा तं तेजस्विन-
मभिमम्यन्ते, एतद्भ्रभन्तरकरणम् (व्य०) ।

पृष्ण जहा गुरुणां, अभ्रभंतर दोएहमुष्णवंतारणं ।

तयं कुण्ठी बह्दिद्या, वेद गुरुणं च तं पिच्छे ॥

पूजनं यथाक्रमं गुरुणामभ्रभन्तरकरणं यद्भ्रभन्तरे द्वयोःरूपतो-
स्तुनीयमुष्णभूयं बहिः करोति, यदि वा तद् गच्छादिप्रयोजनं
पृष्ठः सन्नभ्रभन्तरे गत्वा गुरुणां श्लेते कथयति । व्य० ३ उ० ।

अभ्रभं (भिं) तरत-आच्यङ्कित-त्रि० । आसन्नमन्त्रिप्रभृती,
विपा० १ भू० ३ अ० । स्था० ।

अभ्रभं (भिं) तरटाणिज्ज-अच्यङ्कितस्यानीय-पुं० । आ-
भ्रभन्तरनामसु प्रेष्यवुपेयुः, “ अर्धितरटाणिज्जं वुरिसे सहा-
वेह ” ज्ञा० १३ अ० ।

अभ्रभं (भिं) तरतव-अच्यङ्कितरत्पस्-न० । अभ्रभन्तरमन्-
रस्यैव शरीरस्य तापनात्मस्यगृह्णिरेव तत्पत्तया प्रतीयमान-
स्याच्च, नञ् तत्पञ्चोनि अच्यङ्कितरत्पः । औ० । शौकिरैरनविज-
ह्यस्याच्च तन्प्रान्तराथैश्च परमार्थेनोऽनासेव्यमानस्यात् मो-
क्षुप्राप्यन्तररत्पः । आच्यङ्कितरत्पः । स्था० ६ उा० । स० । प०
व० । पञ्चा० । ग० । म० । स० । अभ्रभन्तरस्यैव शरीरस्य
कामेशुभ्रक्षणस्य तापकत्वाद्भ्रभन्तरत्पः । प्रश्न० ५ सन्न० ज्ञा० ।
प्रायश्चित्तादीं तयोर्भेदे, औ० । “ प्रायश्चित्तं ध्यानं, वैयानुषं
विनयमध्यासताः । स्वाध्याय इति तपः षट्-प्रकारमाभ्रभन्तरे
नवति ” ॥ १ ॥ प० १ अचि० । ग० । उ० । “ क्विञ्चिद् अभ्रभं-
तरि ए तये पशते । तं जहा-पायचित्तं विगुश्रो वेयायच्च स-
उक्ताओ भाणं वि रत्ससंगो ” स्था० ६ उा० ।

अभ्रभं (भिं) तरता-अच्यङ्कितरत्पस्-अच्य० । सत्समर्थे त-
सिद्धे । अभ्रभन्तरे मध्ये इत्यर्थे, “ सत्सहं पयमीणं, अभ्रभन्तर-
तो च कोकिकोडीए ” आ० म० प्र० ।

अभ्रभं (भिं) तरदेवसिय-अच्यङ्कितरदेवभिक-ग० । दिव-
साभ्रभन्तरसम्भवेऽनिकां च, “ अस्तुद्विओमि अभ्रभं-तरदेवसियं
वा खामिं ” इति । घ० २ अचि० ।

अभ्रभं (भिं) तरपरिस-अच्यङ्कितरपरिषत्-पुं० । स्त्री० । य-
स्यमनाकलीस्थानीयायां परममित्रसहचर्यां समित्यपरनिमि-
कायां देवेन्द्राणां पयैदि, रा० । स्था० ।

अभ्रभं (भिं) तरपाणीय-अच्यङ्कितरपाणीय-वि० । अभ्रभन्तरे
पानीयं यस्य स तथा । मध्यस्थजलयुक्ते चौरपहत्यादायर्थे,
ज्ञा० १८ अ० ।

अभ्रभं (भिं) तरपुष्करक-अच्यङ्कितपुष्करादि-न० । मा-
नुषोत्तरपर्वतादीर्वाग्भवे पुष्करगर्दोपस्थार्थे, जी० ३ प्रति० । सु०
प्र० । (नामनिर्गमन्यादि ‘पुष्करगर्दोप’ शब्दे व्याख्यास्यते)

अभ्रभं (भिं) तरपुष्कफल-अच्यङ्कितरपुष्कफल-त्रि० । अ-
भ्रभन्तराणि अभ्रभन्तरभागवर्तिनि पुष्पाणि च फलानि च पु-
ष्पफलानि येषाम् । पञ्चाक्षरत्वाद् बहिरदस्तरपुष्पफलके वृक्षे, रा० ।

अभ्रभं (भिं) तरबाहिरिय-अच्यङ्कितबाहिरिक-त्रि० । सहा-

अभ्यन्तरवाहिरय

पयस्त्रेण नगरमध्यभागेन बाहिरिका नगरबहिर्भागे यत्र त-
सथा । नगरमध्ये बाहिरिकाया विद्यमानत्वे, दशा० १० अ० ।

अवजं (विजं) तरय- आच्यन्तर-पुं० । राजानमतिप्रत्या-
सञ्जीभूयाचलगतं, द्य० १ ७० ।

अवभं (विजं) तरहृदि-आच्यन्तरलविध-स्त्री० । अच्यन्त-
राधेः प्राप्ती, तथास्योक्तं 'सूर्णी'- 'तथ अवभंतरलकी नाम
जयथ से त्रियस्स भोहिनाणं समुपपयं ततो ढाणाआ इार-
रन्त सा भोहिणाणी निरंतरसंबद्धं संखेज्ज वा असंखेज्ज
वा खित्तसो भोहिणा जाणं पालस एस अभिन्तरलकि ति'
विशे० । "अभिन्तरलकी सा, जयथ पइयपन्न व्व सव्वसो । सं-
बद्धसोहिनाणं, अभिन्तरसोऽवहोनाणो" ॥७५३॥ विशे० ।

अवभं (विजं) तरसंबुका-अच्यन्तरशम्बुका-स्त्री० । अव्यन्त-
राद्ध मध्यजगात् शम्बुतगतया जिहामानस्य बहिर्निस्सरणे
अवन्त्यां गोचरयुती, १० ३ अधि० । यस्यां क्षेत्रबाहिरांगोच्च-
ङ्गुत्तपनगत्याऽऽत्त क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽव्यन्तरशम्बुका
स्था० ६ ज्ञा० ।

अवभं (विजं) तरमगडुक्किया-अच्यन्तरशकटोक्किका-स्त्री० ।
अडुष्टीं शीलयित्वा विस्तार्ये पाष्णीं तु बाह्यान्तस्तच्छयुत्सर्गं,
एष भूतिताऽव्यन्तरशकटोक्किकादोष इति । कायोत्सर्गस्यो-
क्किकादोषनेदं, प्र० ५ द्वा० । आ० १ ।

अवन्नं (विभं) तरोहि-अच्यन्तरवाधिपुं० । अवधिभेदे, अयं
हाच्यन्तरवाधिः प्रदीपप्रभापटलवद्वयविद्यमाना जयिन्न सद् सव-
नां नैरन्यथेण सम्बद्धोऽस्माद्धं देशरहित एकस्वकपोऽत पवा-
यं स्वयच्छाविर्देशावधिश्चाद्येयं । विशे० ।

अवन्नं (विन्नं) तरिया-आच्यन्तरिकी-स्त्री० । अव्यन्तरभाग-
वर्तिन्यां ज्वलनिकायाम्, ज्ञा० १ अ० ।

अवभक्वज्ज-अच्यारुयात्तव्य-त्रि० । (अव्यारुपानाद्ये,)
अव्यारुपानं नामाऽसदभियोगः, यथा चौरं चौरमित्याह । आचा०
१ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अवभक्खण-देशी-अकर्तौ, दे० ना० १ रगे ।

अवभक्खण-अच्यारुपान-न० । आभिमुख्येन आख्यानं दो-
षाधिकरूपव्यवस्थायाम् । ज० ५ द्वा० ६ उ० । श्रौ० प्रक-
टमसदावारोपेण, प्रज्ञा० २२ पद । प्रअ० । आव० । अस-
दृष्टपानभियाने, प्रअ० २ आश्र० ७० । अभियस्यन्ते, असद्व्या-
रोपणे च । आव० ५ अ० । परस्याभिसुक्तं दुषणवचने, प्रअ० २
आश्र० ७० । प्रष० । असदभियोगे, यथा चौरं चौरमित्याह ।
आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । श्रौ० । सु० । " एषो अव्यन्-
क्खणं " स्था० १ ज्ञा० १ उ० ।

अधिकरत्नाधिकमवमरत्नाधिकोऽज्याक्याति-

दो साहम्पिया एगतो विहरंति, तर्हि एगे तथ असायं
आकचद्दाएणं पकिसेवीचा अस्सोऽज्जा-अहं ए भंते !
अमुएणं साहुणा सकिं इमियम्म कारणम्म मेहुणप-
किसेवी । पवयट्टेणं च सयं पकिसेवियं ज्ञाएणित्ति । तथ
पुच्छियव्वे-किं पकिसेवी ?, अपकिसेवी ? । से य वएज्ज-

पकिसेवी परिहारपत्ते । ने य वएज्जा-णो पकिसेवी, णो
परिहारपत्ते । जे से पमाएणं वदति से य पमाणाउ घेतत्तं
मिया । से किमाहु भंते !, सच्चपड्ढा ववहारा ॥ २३ ॥

द्वौ साधर्मिकौ सांभौगिकौ, एकत एकन संघाटकेन विहरतः, तत्र
तयोर्द्वयोर्मध्ये एक इतरसाध्याक्यात्प्रदानाभिमतमयत्तरद्
'अवियसं' अव्युपगच्छति, न परस्वैव क्वचनस्याभ्याख्यानां
द्वानि, तत आह- (पचय्येद उ चेयादि) परेषामाचार्याणां-
मन्येषां च साधुनामैव सवर्दानं, अन्यथा को नामान्मानं प्रति सं-
वितमभियन्वत इति प्रत्ययां विश्वासः स्यादिति देताः स्वयमपि
च प्रतिसेवितमिति भगति । एवमुक्त्वा यस्याभ्याख्यानामदायां
स प्रत्ययः-कि वा प्रान्तुं प्रतिसेवी, न वा ? । तत्र यदि स
वदेत्-प्रतिसेवी, ततः स परिहारपोभाक् क्रियते, उपलक्ष-
णमेतव । छुद्वदिप्रार्थित्तभागप क्रियते इति द्रष्टव्यः । अथ स
वदेत्-नाह प्रतिसेवीः तर्हि परिहारः प्राप्नः स्यात् । न परिहार-
तःप्रभृति प्रायश्चित्तभाक् क्रियते इति भयः । स च प्रतिसेवी
वा यद्द्व्याक्यानादताः " से " तस्य प्रतिसेवनायां प्रमाणं चर-
कादि वक्तिः तस्मात्प्रमाणाद्दृष्टीनिव्यां निश्चिन्त्यः सः । अथ किं
कस्मात्कारणोदेनमाहुवन्तः ? इ जदन्तः ! सुविहार-सत्यप्रति-
ज्ञय्यवद्वारास्मीधकैर्देहितास्तेन न यथाकथंश्च प्रतिसे-
वि अतिसेवी वा क्रियते । एव स्वाकृत्राहः ।

अधुना विभुक्तिभाष्याक्षन्तरः । तत्र भिक्काचार्याव्यारजूमि-
गमनां वहरादिषु यो रत्नाधिकरतः कुनश्चिदोपादयमानः जातः
स तमवधारादिको धैः कारणीरभ्याख्येन कृषयति तानि
प्रतिपाद्यविषुग्राह-

रयाणादिपयायएणं, खलियामिन्नियपेष्णाणं उदएणं ।
देव उल्ल मेहुणम्मिय म, अवभक्खणं कुर्मेगम्म ॥

रत्नाधिकवानेन रत्नाधिकोऽइमिति गयेण अव्यमरत्नाधिकं द-
शाविधचक्रवाहसामाचार्यामरक्षितमपि कथायादयन तर्जय-
ति । यथा-हे छुए ! देत ! स्खलितोऽस्मीति । तथा पर्यायिकी
प्रतिहृत्य प्रथममेव परावर्तयन्ते, यदि वा अभिमतपदं पदेन
विच्छिन्नं सूत्रमुच्चारयन्ते हा छुए ! शैक ! मिहितमुच्चारय-
स्तीति नयेयति । तथा (पेल्लण वि) अन्येः साधुभिर्वोमा-
णोऽपि कथायादयनः स्वहस्तेन प्रेरयति तर्जयति । ततः सो-
ऽव्यमरत्नाधिकः कथायिनः सन् विन्ययानि-परं रत्नाधिक-
वानेनेत्यं बहुजनसमूहं तर्जयति, अथैव सामाचार्यो, रत्ना-
धिकस्य स्वैः कृतव्यमिति, ततस्त्वा कर्माणि यथैव मम
सुघुकां भवति । एव चिन्तयित्वा तौ त्रायपि भिक्काचार्यायै ग-
तौ, तत्र च तृपितौ बुद्धुत्तौ चेत्येवं चिन्तयन्ती-आस्मिन्प्राया-
देवकुले बुद्धुत्तौ यथा वा प्रथमाभिकां हत्वा पानोयं पारुयाम हानि,
एव चिन्तयित्वा तौ तदभिसुक्तं प्रस्थितौ, अथात्तरं अव्यमरत्ना-
धिकः परिप्राजिकामेकां तदभिसुक्तं गच्छन्तीं इष्ट्वा स्थितः,
उपलभ्य एष इदानीमिति चिन्तयित्वा न रत्नाधिकं वदति-अ-
हो ! अथ ज्येष्ठयैः कुरु त्वं प्रथमाभिकां, पानोयं वा पिब, अहं
पुनः संहां व्युत्सुहयामि, एवमुक्त्वा त्वारितं मेपुनं अभाक्यानां
दातुं वसतावात्तलांश्चयति ।

तथा दशयति-

जेह्ज्जएण अकज्जं, सज्जे अजाधारे कयं अज्जं ।
उवज्जाविनोऽज्ज नंते !, मए वि संसद्धकप्यो व्व ॥

ज्येष्ठार्येण सद्य इदानीमार्याद्ये हृतमकार्यं मैथुनाजिसे-
षाङ्गकार्यं, ततो अर्द्धतः तत्संस्मरगतो मयाऽपि संसृष्टकृत्यो मै-
थुनमित्तसेवा, अत्रास्मिन्प्रस्तावे उपजीवितः ॥

अइवा उच्चारगतो, कुर्णगार्हाङ्गिद्वयेदसमि ।

वेती कयं अकर्मजं, जेड्ज्जं सह एष वि ॥

अथवेत्यभ्याक्यानस्य प्रकारान्तरप्रदर्शने। कुर्णद्वादी कविल्लये-
शे महानप्रदेशे उच्चारणय वनस्तत्र च ज्येष्ठार्येण सह मयापि कु-
तमकार्यमिति । तस्माद् व्रतानि मम सास्त्रप्रमाणोपपत्तयः ।
पद्यमुक्तं सुरिनिः स एव वक्तव्यः—

तस्मागते वयाई, दाहामो देति वाऽऽउरतस्स ।

ज्युत्थे पुण नाए, कालियानिभिसं न म्हेत्तं तु ॥

योऽसौ त्वया अज्याक्यातः स यदा आगतो भविष्यति तदा
तस्मिन्नागते व्रतानि दास्यामः । अथ स स्वप्राणो भूत-भग-
वन् । कुशाग्रस्थितवाताहतजलस्फुरिवातिवज्रसं जिवितमि-
ति न शक्यते क्षणमात्रमप्यनतेन भ्रातृषु, इत्यनुवैषम्यमाराप्यतां
व्रतार्थानिति । तस्यैव स्वरमाणस्य इदं व्रतानि, यादृशो
धिकदृशः । तत्र पुनर्देतायां गवेषणीयः, किमयं सत्यं भूत,
उत्तमोऽकर्म ? तत्र यथा ज्ञतायां गवेषणीयस्तथाऽनन्तरमेव व-
क्तव्यं । ज्ञतार्ये च ज्ञानं युज्यते, तथा इत्येवार्थं सूत्रं दीयते ।
अध्यात्मिकम, ततोऽयोऽन्याक्यातः स गुरुः, इतरस्य स्वभ्या-
क्यातुमुत्रं न दीयते, किन्तुश्लोकानिमित्तं स्यावावृत्त्यर्थं अतु-
मुक्तं प्रायश्चित्तमिति ।

सम्प्रति यथा ज्ञतायां ज्ञायते तथा प्रतिपिपाद्य-
विषुद्धान्गाधामाह—

चरियापुच्छणोपमाण, कावाहिय तवसंघो य जं जणुइ ।

चउजंय निरिक्खता देव्याय तहियं विट्ठीं एसां ॥

तत्र ज्ञतार्ये ज्ञानमेव एष विधिः—चरिका पात्राजिकता, तस्याः
प्रच्छन्नाय वृथभासो प्रेषणं स चेत्सत्यवादी न मग्यते तन्नस्तौ
ऽावपि पृथगाभये प्रदय तत्र वृथभाः तत्तत्स्वरूपगोपयेणाय का-
पात्रिकरूपेण प्रेष्यते । कापात्रिकप्रदणमुपसङ्गणय, तेन सरज-
स्कादिरूपेणापीत्यपि द्रष्टव्यम् । एवमपि ज्ञतार्यनिर्णये (तयो
श्च) तथाः स्वकार्योत्सर्गेण देवतामाकल्प्य पृच्छति । एतस्यापि
प्रकारस्थानाये संघो मेलन्याया पृच्छनीयः, तेन च निरीक्षणो
निरीक्षणमधिकृत्य अनुभङ्गी—कथञ्चत्वात् तदानीमेव पश्य-
न्तीत्यादिकथा पश्यन्त्याया प्रकल्पते । गाथायां पुंसर्वं प्राकृतया-
त् । सा च अनुभङ्गी नद्रामात्देवता अभिन्त्य संभवति । एष
एतस्यायासंज्ञकार्यः ।

सास्त्रमेनामेव गाथां विवरिपुराह—

आहोऽयमि तउणो, कज्जे मे सीसए तयं सव्वं ।

पदिसिक्खिमि य इयरो, भणोइ वीयं पि ने नात्ये ॥

अभ्याक्यातः साधुरागतः सद् आलोचयति—प्रथमार्हाङ्गो या-
धमन ज्ञानानि द्वितीयः संघाटकः कापि गत इति कवसोऽइममा-
गतोऽस्मि । तत आचार्यां भूयते—सम्यगालोचय । ततः स स्मृ-
त्वा आलोचयति, यावत्सम्मिप्रापि मृतीये वारे तदास्त्रोच्यते ।
नतस्मिगुणं (अःकृत्य आलोचयति यदि न प्रतिस्वितमित्या होचय-
ति, ततो येन कारणेन त्रिंश वारान् आलोचयितस्तत्कार्यं कारणं
सर्वं तस्य विषयत कथ्यते, यथा-स एष तव संघाटकस्यथा सह
१९३

किञ्चिन्नात्रं हि विरुन्वा समागतो भूते-ज्येष्ठार्येण आर्याद्येह वृत्त-
विषये च कविप्रदेशे हृतप्रकाशयं, तत्संस्मरगतो मयाऽपि सं-
सृष्टकृत्य उपजीवित इति । ततोऽभ्याक्यातसाधुर्ददिति-
न मया प्रतिस्वितम् । एवं तेन प्रतिस्वितं प्रतिस्वयेन इतरोऽभ्या-
क्यानप्रवृत्ता भवति—अहो ! ज्येष्ठार्य ! त्वं द्वितीयमपि मत्तं
नास्ति, आस्तां चतुर्थमित्यपिपद्यथाः ।

दोएइ पि अणुमुच्छं, चरिया वसहे पुच्छणपमाणं ।

अभन्त्य वसह तुप्पे, जा कुण्णिमां देव उस्समं ॥

एवं द्व्योरपि विषयक्षेत्रेवमुच्यते—चरिका पृच्छन्तां यस्त
वदथति तत्प्रमाणयिष्यते । पद्यमुक्ते यद् तौ हावप्यनुमन्यते,
ततो द्व्योरनुमतेन, संमत्या इत्यर्थः । वृथभाङ्गरिको प्रदुं प्रेष्य-
न्ते, ते च तत्र गताः प्रथमनाङ्गरिकां प्रश्नापरयति, प्रश्नाय पुच्छ-
न्ति—किमत्र सत्यम्, अस्लीकं वा ? एवं वृथभाङ्गरिका पृष्टा सती
यद् भूते तत्प्रमाणं कथयन्ति । तत्र अरिक्खताकम्-भगवन् । अभ्य-
क्यानं तेन द्वितीयं तस्यै इत्थमिति । एतन्नोक्तं वृथभा वस-
तायागस्य गुरवं निवेद्यमिति । यथावस्थितं निवेद्यते यद्यन्व-
तरो वदति—यद्यथि चरिका न सम्यक्वदथति । तदा गुरवो
द्वावपि भवते युयमन्यत्र वसति याचयित्वा तत्र वसथ, या-
वद्य रात्रौ देवताराधनाय कार्यात्सर्गं कुर्मः । किमुक्तं प्रव-
ति ?—कार्यात्सर्गेण देवतामाकल्प्य पृच्छामः—कोऽत्र
वार्दी, को वाऽस्लीकवार्दी ? इति ।

पद्यमुक्तं तौ द्वावपि वसत्यन्तरे गते यद्
भवति तदभिधित्तुराह—

आट्टिगमादो वसभा, पुच्छिं पच्छा वज्जति निमि सुण्णा ।

आवस्सग आउट्टण, सवभावे वा अस्सवभावे ॥

अस्थिकाः कापालिकाः, आदिशस्त्रास्त्रजस्कादिपरिग्रहः, त-
द्वाः मन्तः । किमुक्तं जवति ?—कापालिकं वंशं सरजकवेषं
कृत्वा यस्यां वसती द्वावपि जनीं तिष्ठन्तत्र पूर्वं वृथभा गच्छ-
न्ति । यदि वा तयोर्गतेयोः पश्चात्तत्र च गन्वा रात्रौ मातृस्थान
सुप्ता इव तिष्ठन्ति, तथापि तयोः परस्परमुल्लाषं शूरवन्ति ।
तयोऽभ्यावश्यं कर्तुंमायगोयोऽसाववमरजाधिकोऽभ्याक्यान-
दातः, स इतरं प्रति मिथ्यादुच्छ्रितानोपस्थित एतद्वदति—त्वं मया
असता अभ्याक्यानाभ्याक्यातोऽनेन मिथ्यादुच्छ्रितमिति ।
ततो रत्नाधिको द्वेन—किं नाम तवोपसर्गं मया, यनासद्दन्त्या-
क्यानं मे दत्तमिति ? । अथमरनाधिको भावते—त्वं नित्य-
मेव यत्र तत्र वा कार्यं सत्यम् प्रवक्ष्यमानमपि दे ह्युह ! शैल-
कः इति तज्जयसि, तेन मया त्वमसत्त्वभ्याक्यानानाभ्याक्यातः ।
एवमावश्यकं आवश्यक्येलायाभावत्संभावित्वात्त्येन अ-
स्लीकाभ्याक्यानं सद्भावो ज्ञायते । अथ न परस्परसंभाषणतः
सद्भावो ज्ञायते, तदा सद्भावपरिभाषाभावे तपस्वो प्रष्टव्य
इति शेषः ।

तथाचाऽऽह—

सदो त्तिं मे ज्ञासमि निचचयेव,

वहूण मउक्कमि म त्तो कहेमि ।

अभासमाणाए परोप्परं वा,

देवाण—मुस्समं तवस्सि कुज्जा ॥

नित्यमेव सर्वकालमेव यद् दे शतौ ? दौक्क ! इति मां भाष-
से, तेन त्वमसताऽभ्याक्यानानाभ्याक्यातः । अथ स रत्नाधिक-

अभ्रमन्त्राण्य

हस्तमधमरत्नाधिकं श्रुत्वा—यदि मया कदापि युवत्या सह कृत-
 मकार्यं ततः किं स्वया बहुना मध्ये अदमेवमन्त्राख्यातः—अनेन
 कृता प्रतिसेवन्ते । किन्त्वदमेवैकान्ते वक्तव्यो भवामि । यथा
 ङ्गु कृतमालोचनानं युवाणु शुक्लामनितक इति । मम रंषेण स्वयाः
 पदावता ॥ १ ॥
 “ आहस्वम आउद्गुण, सभावेयं ” इति व्याख्यातम् । इदा-
 नीमसद्भावे इति व्याख्यानयति—“ अभासमाणाण परापरं
 वा ” इति । अथ कदाचिस्त्री रोपतः परस्परं न संलपतः, तदा
 तयोः परस्परमभासमाणयोर्भूताद्यैरिहानानात्रावे तपस्वी रूपको
 वधताप्यानाद्यं कायोत्सवी कुर्वता । कायोत्सवेण च देवतामाक-
 ष्य च्छति—कोऽनयोर्द्वयोर्मध्ये सत्यग्वार्या, का वा मिथ्या-
 वार्तिता ? । तत्र यद्वेचता श्ले तत्प्रमाणम् । तेन तप इति द्वारं
 व्याख्यातम् ।

अधुना सङ्गहार्थं व्याखियासुरिद्विद्मह—

किंचि तद्वाऽतद्द दीसद्, चउभगे पंत देवया जदा ।
 असीकरेइ मूलं, इयरे सख्यपतिमात्रां ॥

सर्वप्रकारेणाहायमानं भूतायै संघसमवायं कृत्वा तस्मै आये-
 दन्ते—रत्नाधिकां वदति नाहं कृतवाग्प्रतिसेवनायः । इतरां श्ले
 द्वावपि प्रतिसेवितवन्ताविति, तत्र किं कसेव्यमिति ? । एवमा-
 दिना कृते ये संघमध्ये गोतापोस्ते वदन्ति—किञ्चित्थाभावं तथा
 भावेन दृश्यते; किञ्चित्थाभासमन्वथाभावेनः किञ्चिद्व्यथाभा-
 वं तथाभास्यं; किञ्चिद्व्यथाभासमन्वथाभावेनः एवा चतुर्भङ्गः ।
 अस्यां चतुर्भङ्गाय प्रथमो भङ्गः प्रतीतः । द्वितीयभङ्गभावना त्व-
 वध—कोऽपि क्वापि वनप्रदेशे गच्छति । तत्र केचिद्विरासुकाः अ-
 पगतकृमा अस्मिन्प्रदृष्टता वलगन्ति । ततः कदाचिद्वेचता भि-
 क्तसम्यायैव पुरुष इति तं दूरान्तरि दशयति । तृतीय-
 भङ्गः—अगवतो वक्ष्यमानस्वामिनः सागारिकमकवायितं सङ्-
 ग्रहः कथायितं दशयति । चतुर्थभङ्गः—कस्याञ्चिद्विद्विदासं
 राजा कारितराजनेपथ्ये विनश्यन्तं दृष्ट्वा कदाचिद्वेचता
 तदनुकम्पया श्लिषं दशयति । एवं प्रान्ता भट्टा च देवता
 अन्वथा जूतं यद्वस्तु अन्वथा करोति—अन्वथा भूतं दशयति,
 ततो दृष्ट्वापि तावदप्रमाणमत्र । ननु ज्ञायते—किमपि दृष्टमवम-
 रत्नाधिकं, अथ च सत्यप्रतिज्ञां व्यवहारास्तीषेकः ङ्गुपदिष्टा-
 स्तस्माद्यद् रत्नाधिकां श्ले न मया प्रतिसेवितमिति तत्र-
 प्रागतः शुद्ध एव न प्रायश्चित्तभागिति । यदपि चावमरत्नाधि-
 कां भिक्त—मया प्रतिसेवितमिति, तदपि प्रमाणमतस्तस्य मूलं
 प्रायश्चित्तमिति । १५० श. उ० ।

अञ्जकङ्कण—अञ्जकङ्कण—वि० । मेघाजुते, वृ० १ उ० ।

अञ्जद—देशी—प्रसिद्धशब्दः । अनुवजने, “ अमन्त्रबंधित उ
 पर्यहं, पेम्मु निश्चल उ जायं । सत्यासण—रिच—संभव—दो, कर
 परिअत्ता तावै ” । प्रा० । प्रेमशब्देन प्रिया वाच्यता, अनेदोप-
 चास्त । यथा प्रेमयनाऽव्युत्थेन, तथा प्रेमापीत्युत्थेन । प्रिया
 प्रियमिति शेषः । प्रियम्, (अमन्त्रबंधित इति) अनुवज्य
 मुक्तालाव्य यावद् द्वौ पादौ निवर्त्तते तावत् सर्वोशनरिपु-
 संसवस्य चन्द्रस्य कनाः किण्ठाः परिवृताः, प्रसूता इत्यर्थः ।
 सर्वमशानीति ‘नन्द्यादि०’ ॥ ५ । ॥ ५२ ॥ इत्यनः प्रत्ययः ।
 सर्वशानोऽभिः, तस्य रिपुऽश्लं, तसंभवशब्दः । अनुवजने रते
 ‘अमन्त्र’ इति ‘बंध कस्याप्र०’ बंधयने लोकात् ‘स्वराणां०’
 ॥ ७ । ५ । २३६ ॥ अमन्त्रबंधित ॥ दु० ५ पाद ॥

अञ्जणुष्ठा—अन्यनुष्ठा—खी० । कसेव्यानुमतिदाने, स्या० ।

अथात्र अगवतो महावीरस्याऽन्यनुष्ठातानि प्रवक्ष्यन्ते—

पंच ठाणाईं समणेणं भगवया महावीरेणं समणार्णे नि-
 भंयाणं णिबं वधिषयाईं शिबं किंचियाईं णिचं बुधयाईं
 णिबं पत्तयाईं निचममणुष्ठायाईं भवंति । तं जहा—खंतं
 पांचां अज्जेव मदेवं लायिंवे । पंच ठाणाईं समणार्णे० जाव
 अमणुष्ठायाईं भवंति । तं जहा—सबे संजये तवे चियाए
 वंभेचरवामे । पंच ठाणाईं समणार्णे० जाव अमणुष्ठायाईं
 जवंति । तं जहा—उकिखचरए णिक्खिचरए अंतचरए
 पंतचरए सुहचरए । पंच ठाणाईं० जाव अञ्जणुष्ठायाईं भवं-
 ति । तं जहा—अजायचरए अज्जेवल्लचरए मोणचरए संमहक-
 णिपे तजायमंमहकणिपे । पंच ठाणाईं० जाव अमणुष्ठायाईं
 जवंति । तं जहा—उवनिहिए सुदेसणिपे संस्वादिपे दिट्ठसा-
 भिए पुट्ठाभिए । पंच ठाणाईं० जाव अञ्जणुष्ठायाईं ज-
 वंति । तं जहा—आयंविन्नए निव्विए पुरिमहिपे परिमिय-
 पिंकाइए जिअपिंकाइए । पंच ठाणाईं० जाव अमणुष्ठा-
 याईं जवंति । तं जहा—अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे
 पंताहारे बुधाहारे । पंच ठाणाईं० जाव भवंति । तं जहा—
 अरसजीवी विरसजीवी अंतजीवी पंतजीवी सहजीवी । पंच
 ठाणाईं० जाव भवंति । तं जहा—ठाणाइए उक्कुमुआमणिपे
 पदिमट्ठाइवीरामणिपे ऐसजिए । पंच ठाणाईं० जाव ज-
 वंति । तं जहा—दंडावए लंगदसाईं आयावए अवाउटए
 अकंकुपए ॥

नित्यं सदा वर्णितानि फलनः कीर्तितानि संश्रुतानि, ना-
 मतः (बुद्ध्याइ ति) व्यक्तावाक्कानि, स्वरूपनः प्रशान्तानि
 प्रशान्तानि स्थापितानि, शंशु स्तुतानि वचनात् । अन्त्यनु-
 ङ्गतानि कर्त्तव्यतया अनुमतानि भवन्ति । अथ च सुत्रांकेपः
 प्रतिख्ये वैद्यावृत्त्युत्थं यावत् दृश्यत इति । स्या० १५० उ० ।
 (स्तान्वादिनां व्याख्या स्वस्थाने वक्ष्यते)

अस्तयाऽन्याख्यानं कुर्वतः क्रिया—

जे णं जेतै ! परं अक्षिणं अमन्त्रणं अभ्रमन्त्राणेणं
 अञ्जकवाइ, तस्य णं कट्ठप्यगारा कम्मा कज्जातिं ! गोयमा !
 जे णं परं अक्षिणं अमन्त्रणं अभ्रमन्त्राणेणं अञ्जकवाइ,
 तस्य णं तहप्यगारा चं व कम्मा कज्जातिं, जत्थेव णं अग्नि-
 म्मागच्छइ तन्थेव णं पदिमंवेदइ । तस्से पे च्छा वेदइ
 सेवं जेतै ! भंते ! चि !

अशोकन जूतनिह्वरूपेण पाणितप्रह्वरस्य साविष्येऽपि
 नानेन ब्रह्मचर्यमनुपालितमित्यादिष्वेषु (असमूचेण ति)
 अमूर्तोद्भवत्वेन अश्वैरेऽपि बौरोऽपिस्त्यादिना । अथवा
 अशोकन अस्त्येन तच्च द्रव्यतोऽपि भवति, लुब्धकादिना युगा-
 दीन्वृषस्य ज्ञानतोऽपि नाहं ज्ञानमि द्यायिदि । अत आह—अस्-

अज्ञेन बुधमिसिन्धिष्व्वादेशोभनकपोषाचौरिऽपि चौराऽयमिस्वा-
दिना (अन्नप्रकाशणेण ति) आग्निमुच्येनाश्यान् देवायिष्कर-
णमभ्याश्यान्, तेन अभ्याश्याति शूने । (कहेत्पगार स्ति)
कथंप्रकाराणि ? किंप्रकाराणीत्यर्थः । (तदल्पगार स्ति) अभ्या-
श्यानफलानाणीत्यर्थः । (जन्थेय णमित्यादि) यत्रैव मानुषवादा-
यमिसमागच्छति तद्यत्पते तत्रैव प्रान्तसंबेदयभ्याश्यानफलं
कर्म, ततः पश्चाद्द्वयति निजैर्यतीतीत्यर्थः ॥ ज० ५ श्र० ७ उ० ।
अभ्रभ्रगुहाय-अभ्रयनुज्ञात-त्रि० । कतंभव्यतयाऽनुमते, स्या० ५
ज० १ उ० ।

अभ्रभ्रत्य-अभ्रयस्त-त्रि० । अभ्रि-अस्-कः । पौनःपुन्यैतिकजा-
नीयैक्याकर्मणि पुनःपुनराश्रयिते . " शैशवेऽप्यस्तविद्यानां
यौवने विद्ययौवणम् " । " उभे अयस्तम् " ॥ ६ । १ । ५ ॥ उ-
कथयः कृतादित्ययोःकजयोः धातुभागायोः । " नाम्यस्ताच्-
नुः " ॥ ७ । १ । ७० ॥ "अभ्रयस्तस्य च" ॥ १ । १ । ३ ॥ वाच० ।
शुणिते, विशे० । आ० म० । पं० च० ।

अन्नजन्तुणा-अन्नार्थना-स्त्री० । परस्परप्रवर्तनार्थां 'त्वं ममेदं
कार्यममुष्य वा कुरु' इत्येवं कृपायाम्, पश्चा० ११ विव० । " जह
अन्नश्च अत्रे, कारणज्ञानं करंज्ज स्यां कां वि । नथ वि इच्छा-
कारेण, न कप्यइ वज्ञामिभोगांशे " ॥ १॥ आ० म० ॥ इ० । (अभ्य-
र्थनायां मठकदृष्टान्तः " इच्छकार " शब्दे द्वितीयाभागे ५७५
पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अन्नभ्रपटल-अन्नपटल-न० । मेघवृन्दे, पृथिवीकायपरिणाम-
निर्देशे च । (अन्नक-तत्त्वकः) " अन्नपटलपिण्डमुज्जङ्गम् " (उत्रे-
ण) अन्नपटलमिव मेघवृन्दमिव बृहच्छूयादित्युवाच अन्नप-
टलं, पिण्डं च कपिशं सुवर्णकण्डिकाभिमित्त्यात् उज्ज्वलं नि-
र्मलं यत्नयात् । अथवा अन्नप्रसूक पृथिवीकायपरिणामविशेष-
स्तपटलमिव पिण्डं चोऽज्यलं च तस्यथा । तेन । औ० । सूत्र० ।
जि० । प्रहा० ।

अन्नभ्रपिसाय-देशा-राहो, दे० ना० १ वर्ग ।

अन्नभ्रायुया-अन्नवायुका-स्त्री० । अन्नपटलमिभ्रवायुकाकूपे क-
रवाद्दर्पुथिवीकायते, प्रहा० १ पद । जि० । सूत्र० ।

अन्नभ्रद्विय-अन्नयहित-त्रि० । राजात्माद्यिषुषे गौरविके,
(ह०) राजमान्यं, ह० १ उ० । जि० चू० ।

अन्नभ्रगार-अन्नगार-पुं० । सायं सूर्यंकरयोगाद् मेघानां नात-
वणं मेघं, प्रहा० १ उ० पद ।

अन्नभ्रकस्व-अन्नवृत्-पुं० । अन्नप्रकम्पे घृष्टोऽन्नवृत्कः । अ० ३
श० ६ उ० । वृत्ताकारेण परिणतेऽन्ने, जी० ३ प्रति० । अत्रु० ।
अन्नभ्रवल्लय-अन्नवादीक्षक-न० । अन्नरूपं वारो जलस्य दलकं
कारणमन्नवादीक्षकम् । मेघे, अ० १५ श० १ उ० । अन्ने आकाश-
वर्षादीक्षकमन्नवादीक्षकम् । ननोगतमेघे, " अन्नभ्रद्वलयादि वि-
उज्ज्वह" आ० म० प्र० । अत्राग्नि मेघास्त्वैवादीक्षकम् । मेघैः कृते,
स्या० ३ ज० ३ उ० । रा० ।

अन्नभ्रमंभा-अन्नप्रमथ्या-स्त्री० । सन्ध्याकाले बीलाद्यन्नपरिण-
तो, जी० ३ प्रति० ।

अन्नभ्रमंथक-अन्नप्रसंस्तुत-न० । नैवेद्यकाराच्छादने, स्या० ४
ज० ४ उ० ।

अन्नसप्त-अन्नयसन-न० । अग्नि-अस्-त्युद् । अस्यास्ते, पौनः
पुन्यैकैकियाकरेण पुनःपुनराश्रयते, वाच० । " अन्नभ्रमंति ति
वा गुणं ति वा परगा " इति १ । अ० ।

अन्नसप्तिय-अन्नयस्य-अय० । अन्नयासिःकृत्येयर्थे, इत्या०
६ अध्या० ।

अन्नभ्रहिय-अन्नयधिक-त्रि० । अत्यर्थे, प्रथ० ५ आश० इति ।
ज० । " अन्नहियसोमभेरवपगारेण " । अन्नयधिकं यथा भ-
वत्येवं त्रीमभेरवोऽतिमंशो रश्मिकारो यस्य स तथा तेन
(वन्द्वेन) इति १ अ० । प्रहा० । " अन्नहियं सोमिनु-
मादता " इति म० प्र० । " अन्नहियरायतेयलच्छापी-
कवपे ३ इत्ये ।

अन्नद्वियतरग-अन्नयधिकतम्क-त्रि० । विपुलतरे (विस्ती-
र्णे,) न० ।

अन्नभाग्य-अन्नयागम-पुं० । आग्निमुच्येनागम्यतेऽन्न । अग्नि-
आ-गम्-क-अप । युक्, कर्मणि अप् । अतिके, कर्तुरे अप् । विरो-
धे, भावे अप् । अभ्युत्थानं, अभिघाते च अभिमुखगमने, वाच० ।
प्र० । भासन्नवासं, ति० चू० १ उ० ।

अन्नभाग्यपि-अन्नयागमिक-पुं० । आगन्तुकेषु, सूत्र० १ सु० २
अ० ३ उ० ।

अन्नभाग्य-अन्नयागत-पुं० । अग्नि-आ-गम-कः । जिह्वाम्रांणे
शूलं गतेऽतिथौ, वाच० । " तिथियथोऽसवाः सर्वे, येन त्यक्ता
महात्मना । अतिथिं ते विजानीया-ऽन्नेभ्यमन्नयागते विदुः " ॥ १॥
इत्यनयोर्भेदोऽस्य । आत्मा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अन्नजागामिय-अन्नवाकेशिक-न० । सहकारादेर्भूमाधोमा-
गवर्तिनि प्रतिश्रये, श्रु० २ उ० ।

अन्नभाग्य-अन्नयाम (श्)-पुं० । अन्नयसनमज्यासः । अशुभ-
द्वयावित्यश्यात्रिपुंस्य घञ् । कर्म० ५ कर्म० । हेवाके,
स्या० ४ ज० ४ उ० । परिचये, वा० १ विव० । गुणने,
अनु० । जावनायाम्, " अन्नमान स्ति वा भावण स्ति वा " (प-
कार्थम्) श्रु० १ उ० । अन्नयासाद्वे हि सर्वैकियासु सुखा-
शलमुन्मीलति, अनुजर्वासु च्छेदं लिखनपटनसंख्यानगा-
ननुयादिसर्वकलाविज्ञानेषु सर्वेषाम् । उक्तमपि- " अन्ना-
सेन क्रियाः सर्वाः, अन्नासास्यकलाः कलाः । अन्नासाऽन्ना-
नमौनादि, किमन्नासस्य दुष्करम् ? " ॥ १ ॥ इत्यन्तरं विर-
तिपरिणामान्यासे च प्रत्यापि तदनुज्ञतिः स्यात् । यत उक्तम्-
" अन्नं अन्नासाद् जायते, गुणं च दासं च पृथक् जन्ममिदम् । तं वा-
वद् परलोपे, तेषु य अन्नासाजोपणं " । घ० २ अधि० । अन्नद्व-
न्तः-कालिन्नपटनद्वजोतं तर्णकमुत्किप्य गवातिकं नपस्यान-
याति वा ततोऽत्याचनेनैव क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि घस्तमु-
त्तिपन्नयासस्यथाद् द्विहायव त्रिहायणमप्युत्किप्येण सापु-
प्यन्नासात् शनैः शनैः परीवहोपसंगमये विघ्न इति । स्र० १
१ श्रु० ११ अ० । प्यानं, एकाग्रलम्बनेन मनःसंरप्यं च । विशे० ।

" तत्रान्यासः स्थितौ अमः " तत्रान्यासः स्थितौ वृत्तरहित-
स्य विसृज्य स्वकृपनिष्ठ परिणामे अमो वतः पुनःपुनस्तथा-
त्वेन चेतसि निवेशनकृपः । तदाह- " तत्र स्थितौ यन्मन्त्र-
स इति । " स च चिरं चिरकालं नैरन्तरेणाद्वरेण आश्रितो ह-
दभूमिः स्थितो भवति । तदाह- " स तु द्वापैकालनैरन्तरेण-
कारसंश्रितो हदभूमिरिति " इति ११ अ० ।

अभ्यास

शुकोऽप्यासः-

अप्यासोऽपि प्रायः, प्रचूतजनमानुगो जवति शुक्रः ।
कुलयोग्यादीनामिह, तन्पूलाधानयुक्तानाम् ॥ १३ ॥

(अभ्यासोऽपीत्यादि) अभ्यासोऽपि परिचयोऽपि, प्रायो वा-
द्वयने, प्रचूतजनानुगोऽनेकजन्मानुगते, भवति जायते. शुद्धो
निर्घोषः, कुलयोग्यादीनां गोत्रयोगविगतिकानां कुलयोगिप्र-
कृतचक्रप्रभृतीनामिह प्रक्रमे, तासां शिष्यादीनां मुलाधानं मू-
लस्थायनं बीजप्यासस्तत्पुक्तानाम् । कुलयोगिसङ्गं वेदम् - "य-
योगिनां कुलं जाता-स्तद्वर्गमानुगतान्भवते । कुलयोगिन उच्यन्ते,
गोत्रवर्णोऽपि नापरे" ॥ १ ॥ गोत्रयोगिनश्च - "सामान्येनोत्तमा
जप्याः, सर्वशक्तिविशेषश्च ते । दयालवो विनीताश्च, बोधधन्वो जि-
नन्दिन्याः" ॥ १ ॥ इत्याद्याभिधानम् ॥ १३ ॥

कस्य पुनरयमभ्यासः शुको भवति ? इत्याह-

अविराधनया यतते, यस्तस्यायामिह सिद्धिमुपयाति ।
गुरुविनयः धृतगर्भो, मूलं चास्या अपि हेयः ॥ १४ ॥

(अविराधनयेत्यादि) विराधना अर्वाध्यासेन, तक्षिणेषाद्-
विगधनया हेतुचूतया, यतते प्रयत्नं विधेयं, यः पुरुषस्तस्य
प्रयतमानस्यायमभ्यासः, इह प्रस्तुते. सिद्धिमुपयाति सिद्धिभाग
जवति । गुरुविनयः प्रागुक्तः, धृतगर्भे आगमगर्भो, मूलं च का-
रण चास्या अर्वाविराधनया. हेयोऽज्ञातव्यः । पां० १२ वि० ० ।

अथाऽप्यासजिन्द्रः-

अग्ने जएति त्तिविदं, सययविसयनावजोगत्रो एवरं ।
अग्नेमि अणुद्वारणं, जहृत्तरपदाणुरुचं तु ॥ १ ॥
अग्नें च ए जचित्समं, एिच्छयएयजोगत्रो जओ विसए ।
भावेण य परिद्वारिणं, धम्माणुद्वारणो किदृणु ॥ २ ॥
ववद्वारओ ठ जुजद, नदा तहा अप्रुएबंभगार्सु ॥ इति ॥

पतदधो यथा-अग्ने आचार्यां भुचते-विधिषं त्रिप्रकारं सतत-
विषयद्रावयोगतः, योगशुद्धस्य प्रत्येकमभिसंरुधात् सतता-
द्विपदानां सतताऽप्यासादीं लाक्षणिकत्वात्सतताऽप्यास-विषया-
भ्यास-भावाऽप्यासयोगादित्यर्थः । नवरं केवलं धर्मोऽनुष्ठानं य-
थास्तरं प्रधानरूपम्, तुरेवकारणः । यदुत्तरं तदेव सततं प्राधान-
मित्यर्थः । तत्र सतताऽप्यासो-नियमेव मातापितृविनयादिवृत्तिः ।
विषयाभ्यासो-मोक्षमार्गनायकंऽहंशुक्रणं पौनःपुन्येन पूजना-
दिप्रवृत्तिः प्राथाभ्यासो-भाषाणां सम्यग्दर्शनादीनां भयोद्वेगन
भूयोभूयः परिशीलनम् । घतश्च द्विविधमनुष्ठानं न युक्तिक्रमं ना-
पर्पास्तसहं, निश्चयनययोगेन निश्चयनयाभिप्रायेण, यतो-माना-
पित्रादिविनयस्त्वनाथे सतताभ्यासे सम्यग्दर्शनाधानराधनाकृपे
धर्मोऽनुष्ठानं दूरापास्तमेव । विषय इत्यनन्तराभिप्रेत्यः विषय-
ऽपि अहंदादिपूजालक्षण विषयाभ्यासेऽपि । भावेन भवेयैराप्या-
दिना परिद्वारिणं धर्मोऽनुष्ठानं कथं नुन कथाश्चिदित्यर्थः । आकारः
प्राकृतत्वात् । परमार्थो योगरूपस्याहंमोऽनुष्ठानस्य निश्चयनयम-
ने भावाऽप्यास एव धर्मोऽनुष्ठानम्, नान्यद्व्यर्थ्यामिते निगमं । व्य-
हारात्तु व्यबहारनायादेशानु युज्यते इयमपि तथा तथा नेन
नेन प्रकारेण अपुनर्बन्धकादिषु अपुनर्बन्धकप्रवृत्तिषु । तथापुनर्ब-
न्धकः भाषं न तीव्रतायाःकर्तव्यतायास्तक्षणः । आदिशुद्धादुप-
लब्धेयकस्यैव विशिष्टोत्तरावस्थाविशेषप्राज्ञी सामान्निमुख्यमागं-
पतिवो, अचित्तसम्पदकष्याद्यश्च शूद्रतः इति । अ-१ अधि० ।

अभ्यासकरण-अप्यासकरण-न० । पार्थस्येति धर्माऽव्युत्-
स्य पुनस्त्रैव संस्थानलक्षणे संयोगभेदे, स० ए० सम० १५० ।
ये अभ्यासगतास्तेषामात्मसमीपवर्तिवकरणे, व्य० ३ उ० ।

अभ्यासग-अप्यासक-पुं० लिकोप, " शिष्यकथां व्यापनाभ्या-
सक इत्यनर्थान्तरम् " आ० सू० १ अ० ।

अज्ञासगुण-अप्यासगुण-पुं० । गुणभेदं, स च भोजनादि-
विषयः । तथा-नद्वहजोतबाज्ञकोऽपि प्रजात्तराप्यासात् स-
नादिकं मुख एव प्रक्षिपति, उपरतद्वितश्च भवति । यदि वाऽ-
भ्यासश्चरागतसमस्येपि कथलादेस्तुष्टिविपरप्रकेपाद् व्याकुलित-
चेतसोऽपि च तुदकावकहृदयनमिति । आचा० १५० २ अ० १ उ० ।
अज्ञासजगियपस-अप्यासजनिपस-त्रि० । आसेयनाद्-
भूतवेगं, पं० च० १ द्वा० ।

अभ्यासत्य-अप्याशस्य-त्रि० । निकटार्थसिनि, व्य० ६ उ० ।
अभ्यासवत्तिअ-अप्याशवत्तित्व-न० । अभ्यासो गौरव्यस्य
समीपं तत्र वर्तिन्तु शीलमस्येव्याप्याशवर्णा, तद्भावाऽभ्याशवर्ति-
त्वम् ॥ अ० २५ श० ७ उ० । गुरुपादुपाठिकाप्रत्यासन्नवत्तित्व-
लक्षणं लोकोपचारविनयं, व्य० १ उ० । आ० १ स्था० । ग० ।

अप्यासप्रत्यय-पुं० । अभ्यासो देवाका वर्णनीयासद्यता या
प्रत्ययो निर्मितं यत्र दीयते तदप्यासप्रत्ययम् । देवाकेन
वर्णनीयासन्नतया या प्राकाशनादौ, पनेन सनां गुणाद् दा-
पयानि । इदयन्ते हाप्यासांश्रिविषयाऽपि निष्कणाऽपि च प्र-
वृत्तिः, सांनिदस्य च प्रायेण गुणानामेव प्रदणमिति । स्था०
४ उ० ४ उ० । नि० चू० ।

अप्यासमीतिक-न० । अप्यासे प्राक्तिकं प्रेम अस्यासमीति-
कम् । लोकोपचारविनयभेदे, भ० २ श० ५ उ० ।

अभ्यामविति-अप्याशवृत्ति-त्री० । नरेऽदीनां समीपऽव-
स्थानं, दश० ६ अ० १ उ० ।

अभ्यासाऽसय-अप्यासातिशय-पुं० । अभ्यासप्रकये, पां०
१० वि० ० ।

अज्ञासासण-अप्याशासन-न० । उपवर्णोयस्यातिकेऽध-
स्थानं, स० २१ सम० ।

अज्जामिय-अजापित-त्रि० । अविदादिदशोद्भवे, वृ० ३ उ० ।

अकिभग्-अयय-पुं० । स्नेहेन, हा० १० अ० । पञ्चाऽनुमन्ने-
दशा० ६ अ० ।

अज्जिगिय-अप्याज्जित-त्रि० । अययः क्रियते स्य बन्ध ।
तस्मिन्, हा० १ अ० ।

अज्जिन-सम-गाम-धातुः । मेनेन, " समा अग्निभः " । उ ।
५ । १६धा इति लुङेण सत्ता युक्तस्य गमेरग्निभः आदेशः । अ-
ग्निभरु-संगच्छन् । प्रा० ४ पाद् ।

अज्जिज-अजिज-त्रि० । अविद्यते, च० २ अधि० ।

अयुक्त्वाणीया-अयुक्ताणीया-त्री० । पवनेपरितासु उदकक-
णिकासु, वृ० १ उ० ।

अनुगुगम-अनुगुगम-पुं० । इदये, द्वा० १ वृ० १५ अ० ।

अभ्युगम्य-अप्रयुक्त-त्रि० । अभिसुखमुद्रतोऽप्युक्तः । उत्पा-
दिने, श्री० । अभिसुखयेन सर्वतो विनिर्गते, चं० श० ११ पा० ३० ।
अभ्युक्तुपुत्रेण वार्द्धिं प्रवृत्ते, उक्तते च । शा० १ अ० १ जं० ।
विषा० । अभिमभागे मनागुक्ते, रा० १ जं० । अभ्युक्ते, रा० ।
जी० । भूद्वयमप्यता विनिर्गते, जं० २ वक्र० । अति-
रमणीयतया द्रष्टव्यं प्रत्यभिमुखमुद्रावस्थेन स्थिते, रा० १० ।
अभ्युद्गायम उलमल्लिख्यार्थमत्राधवल्लवत् । अभ्युद्गातमु-
कुञ्जा आयतकुम्भहा ये मल्लिकाविचकिलास्तद्वत् विमलौ व-
नौ यस्य । अथवा प्राकृत्यात् मदिञ्जकामुकुञ्जवद्भ्युद्गाता-
वृक्षौ विमलश्ववहदन्तौ यस्य तद्वद्भ्युद्गातमुकुञ्जमल्लिकावि-
मलश्ववहदन्तम् । हस्तिनम् । उपा० २ अ० । "अभ्युगम्यमव-
लमल्लिखाधवलसरिससंग्रणे" अभ्युद्गातावृक्षतानि मुकुञ्जम-
ल्लिकेय कोरकावस्थाविकिलकुमुभवद् धवलाणि तथा स-
दृशं सप्त संस्थासु येषां तानि । जं० ७ वक्र० । "अभ्युगम्य-
सुकयवद्वेरेयनोरणवररश्म्यस्रीसद्वियसालिभंजियागं" अ-
प्रयुद्गते अचिन्ते सुकृतवज्रवैदिकियाः सम्बन्धिते तोरणवरे
रचिता शैलास्थिताः शालत्रिजका यस्यां सा तथा, ताम् ।
(शिबिकायम्) म० १ श० ३३ उ० । श्रा० म० । इ० । १० ।
अहुरवज्रपत्रे च, ज्ञा० १ अ० ।

अभ्योद्गत-त्रि० । उक्ते, म० १ श० ५ उ० ।

अभ्युगम्यभिगार-अप्रयुक्तनुक्कार-अभ्युक्ताऽभिमुखमुक्त उत्पा-
दितां भूक्षारां यस्य स तथा । तथाप्येते महाभागे, श्री० । म० दशा० ।
अभ्युगम्यमुसिय-अप्रयुक्तो । क्तोऽच्युत-त्रि० । अभ्युद्गतश्चासा-
नुच्यतश्चेत्प्रयुद्गतोऽच्युतः । अथयैमुक्ते, म० । "अभ्युगम्यमुसि-
यपत्सिया" अभ्युद्गततमप्रुद्गातं वा यथा भवत्येवमुच्चि-
रन्त्येव्युद्गतोऽच्युतः । अथयैमुक्ते इत्यपि । प्रथमिकवच-
नसंज्ञापश्चात् दृश्यः । तथा प्रदक्षिण इव प्राणपटलपरिगततया
प्रदक्षिणः । प्रभया वा सितः शुक्लः, संयद्धो वा प्रभासित
इति । म० २ श० ८ उ० । स० । जं० । जी० ।

अभ्युज्जय-अप्रयुद्यत-त्रि० । वार्द्धिं प्रवृत्ते, " अभ्युगम्यसु
अभ्युज्जयसु अभ्युर्दिपत्सु " (मेघवे) शा० १ अ० । सोधमे,
ज्ञा० ५ अ० । रघतेविहारिणि, व्यं० ४ उ० । "अभ्युज्जयं वृषि-
अभ्युज्जयमरणेण, अभ्युज्जयविहारेण वा " । नि० चू० १६ उ० ।

अप्रयुद्यतविहारमरणयोः स्वरूपमाह—

मिण-मुद्क-जहासंदे, तिविदो अभ्युज्जयो अह विहारो ।
अभ्युज्जयमरणं पुण, पाठवगमर्षाणिगणपरिशा ॥
त्रिनकरपः, शुक्रपरिहारकलेषु, यथालम्बकरभेदोति त्रिविधो-
ऽप्रयुद्यतः । अथैष विहारो मतव्यः । अभ्युद्यतमरणं पुनस्त्रि-
विधम-पादयोपगमनाभिङ्गनामरणं, परिक्रिते अल्पप्रकाश्यानम,
बुद्धिभ्याःयेतेषु अभ्युद्यतरूपतया भवेत्सौ ।

अतः कतरनयोः प्रतिपत्तव्यम् ? उच्यते—

मयमेव आउकालं, नाउं पेञ्चि वा बहुं सेसं ।
सुबहुमुण्डानिकरं, विहारमभ्युज्जयं जवइ ॥
स्वयमेवायुःकालं सातिशयभुतोपायोगाइहू दीधं शेषमवशि-
ष्यमाणं ज्ञात्वा दृष्ट्वा वाऽप्यं अताद्यतिशययुक्तमात्रायां बहु शेष-
१७४

मवबुध्यः ततः सुबहुगुणलाभकाः। सक् विहारमभ्युद्यते भवति,
प्रतिपद्यत इत्यर्थः । वृ० १ उ० । (जिणकप्येव " शब्देऽप्ये विधिः)
अभ्युज्जयमरण-अभ्युद्यतमरण-न० । अभ्युद्यतस्य मरणे, तलि-
पिदमिति अनन्तरमुक्तम् । वृ० १ उ० । नि० चू० । पं० व० ।
संथा० । (पादयोपगमनादिषु वक्तव्याऽप्ये)

अभ्युज्जयविहार-अप्रयुद्यतविहार-पुं० । अभ्युद्यतानां जिन-
कल्पिकादीनां विहारः, पं० व० ४ श्रा० । वृ० । (स च त्रिविध
इति ' अष्टरूप्ये " शब्दे उक्तम्)

अभ्युद्गाण-अप्रयुत्थान-न० । अभिसुखेनोत्थानमुद्गमन-
मभ्युत्थानम् । ग० २ अर्थि० । उक्त० । तदुचितस्यात्यन्तस्य अ-
भिसुखमुत्थाने, पश्चा० १७ विष० । दश० । श्रा० । विनयाहि-
स्य दर्शनादेवाऽऽसन्नजनने, स्था० ७ डा० । ससन्नममासन-
माचने, उक्त० ३ अ० । व्यं० । प्रव० ।
एष दर्शनविनयभेद इत्ये समाचरणीयाः-

अभ्युद्गाणे लक्षणा, पातस्थादक्षतित्थिणीं ।
मंजइणीं पुणं तह, संजइवगे य गुरुगा छ ॥
साधुभिः साधूनामैवाऽप्रयुत्थानं विधेयं न गृहस्थादीनां, त-
न्नापि संविज्ञानाभेव न पाह्वस्थादीनाम् । अथ पाह्वस्थादीना-
मन्यतोऽधिकानां गृहस्थां वाऽप्रयुत्थानं करोति तदा चत्वारो ल-
घवः । तथा संस्थादीनामन्यतोऽधिकानां संयतधर्मस्य अभ्यु-
त्थाने चतुर्गुणवः ।

अथात्रैव दोषानुपदर्शयति-

उद्वेद इत्थि जह एम चिति, धम्मं त्रिआं नाम न एस साहू ।
दक्खिन्नपत्ता वसमेइ चेवं, मिच्छत्तदोसा य कुल्लिगिणीसु ॥
संयतं कत्था अपि त्थिया अच्युत्तिष्ठत्तं दृष्ट्वा अथावदिद्विच-
न्तयेत्-यथैष साधुः स्त्रियमायान्तं दृष्ट्वा अच्युत्तिष्ठति । तथा
नामेति संभावनायाम् । संभावयाद्दह नप सम्भयधम्मं सुतत्त-
रिआत्मके स्थितः, अन्यथा किमेव एनामभ्युत्तिष्ठत् । अपि
च-एवं त्थिया अच्युत्तिष्ठत् दांसिण्यञ्चान् जवति । दांसिण्यप-
एत्ये तस्या यशमायत्ततामुपैति । ततश्च ब्रह्मचर्यविराचनाद्-
यो दोषाः । यास्तु कुलिङ्गमस्तः परिआज्जकाप्रभृतयः, तासु
अच्युत्थीयमानासु यथा भद्रकादीनां मिथ्यात्वगमनादयो
दोषा भवन्ति ।

अन्यतोऽधिकेषु पुनरिमे दोषाः-

अज्ञातवाणा पवणणे, कृतित्यउत्पात्तवा अज्ञोही य ।
स्विसिज्जति य तप-किवपइदि गिदिसुव्वया वलियं ॥
भो भागवत ! सौगतदीनामन्यतोऽधिकानामच्युत्थाने प्रथम-
चरममहती अपप्राजना भवति-अहो ! निस्सारं प्रवचनमर्मा-
पां यदेवमन्यदर्शेनानामच्युत्थानं विद्धान्ति, तदीयस्य च
कुर्नास्येन्द्रावचना प्रभावना जवति-एतेदेव दर्शने शोभन्तव
यदेवं जैना अत्यंतप्रतिपत्तश्चानच्युत्तिष्ठन्ति । (अज्ञोही य-
त्) प्रवचनलाघवप्रत्ययं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्मोपाचित्य भ-
वाद्यौ परिस्रमन बोधिभलां मासादयन्ति । ये च गृहिणः सु-
प्रनाः शोभनाद्युत्तधारकाः, शुभावका इत्यर्थः, तेषांप्रति-
शुक्त्याद्विपक्षपातिभिरुपासकैः, यत्किमस्यर्थं लिख्यन्त-अस्मा-
कमेव दर्शने सर्वोत्तमं, भवदीयमुक्तामपि गौरवाहंत्वात् ।
एष चैव य दोसा, सविसेसरउच्चित्तिवगीं पुि ।

लाघवमप्युज्जयन्, तद्गमयाणं अग्रवणो य ॥

एते एव दोषाः प्रवक्ष्यामि। अज्ञानदोषोऽप्यतीर्थीक्यापि प्रव-
न्ति, नवरं सविशेषतराः शङ्कादिभिर्दोषैः समधिकतरा मन्त्र-
व्याः । शुद्धिणामन्तीर्थोकादीनां चान्युत्थाने सामान्यत इमं
दोषाः । तद्यथा-लाघवमेतेन्याऽप्ययं हीन इत्येवं लक्षणो लघु-
भाय उपजायते । अग्नुज्जयन् वराकल्पप्रवर्तिर्न भवति ।
तथाहि-लोकं ह्येतद् अहो । अज्ञानादानाः श्वान इव वरा-
का अमी यदेवमाहारादिभिन्नसमवितरकाणामपि आहूनि
कुर्वन्ति । तथा तेन यथावस्थिततपसाप्यौषधसाम्प्रदानेन प्रकारेण
गतं हानमर्था तथायाताः, सद्गतार्थवेदिनस्तीर्थेकरा गणधरा इ
त्यर्थः । तेनाभवणंवादा भवति । यथा-नामी सम्पत्प्रोहमार्गं
दृश्यन्तः ।

अथ संयतीनामन्युत्थाने दोषाश्च विशेषतो दर्शयन्नाह—
पायं तवस्मिण्। ओ, करौंति किङ्कर्म भो मुनिवृद्धिपाणं ।
एमुत्तिष्ठइ वतिभि, जयिष्यन् करणेणेत्य ॥
संयतीमन्युत्तिष्ठन्तं दृष्ट्वा कश्चिद्विभिनवधर्मो विन्तयेत्-प्राय-
स्नपन्सन्धः संयत्यः स्तुवहितानां कृत्तिकर्म कुर्वन्ति । 'मो'
इति पादपूर्वण । एष पुनर्मतिर्नोमुत्तिष्ठति, तद्भवितव्यमत्र का-
र्येणेति । एवं शङ्कायां चतुर्गुरु, निशङ्किते स्तूलम्, यत एते
दोषास्ततो नैषामन्युत्थानं विषयम् ॥

अथ येवामन्युत्थानव्यं तद्वन्युत्थानाकरणे प्रायश्चि-
त्समिधोषस्तुराह—

आचारिणं अभिसंगे, जिक्तुभिर्म तद्देव ह्यो सुष्टे य ।
गुरुगा सद्गुगा लद्गुगो, जिभे पत्तिभोमवितिएणं ॥

आचार्ये अभिषेके भिक्षो तथैव सुक्ष्मः आचार्यादीन् प्राप्नु-
यित्वा यथाकाममन्युत्तिष्ठति । गुरुका लघुका लघुका भि-
क्षमासांभ्वति प्रायश्चित्तानि । जिनोयादेशेन इदमेव प्रायश्चित्तं
प्रतिशोभं प्रतीपकमेषाचार्यादीनां वक्तव्यम् । आचार्यस्य
निष्क्रमासः, अभिषेकस्य लघुमासः, भिक्षोः चतुर्लघवः, कु-
क्षकस्य चतुर्गुरुव इति भावः । एवं संप्रहाराधासमासायः ।

अथेनामेव विवृणोति—
आचारियस्सापरिये, अणुद्वयंतस्स चउगुरु ह्यौति ।
वसने जिक्तुक्तुष्टु, सद्गुगा सद्गुगो य भिक्षो य ॥
आचार्यस्य आचार्ये प्रापूर्णकमायात्तमनुत्तिष्ठत्तुर्गुरोर्वा भ-
वन्ति, वृषभमनुत्तिष्ठतः चतुर्लघुकाः, सुक्ष्ममनुत्तिष्ठतं लघुका,
निष्ठुमनुत्तिष्ठतो जिभयासः । एवमआचार्यस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

शेषाणामतिदिशति—
सद्गाणपरहाणो, एमेव वसजजिक्तुस्तुष्टाणं ।
जं परताणो पाण्ड, तं चैव य सोवि सद्गाणो ॥
एवमेव वृषभमिच्छुष्टुकाणामपि स्थानपरस्थाने प्रायश्चित्तं
वक्तव्यम्, स्थानं नाम वृषभस्य वृषभस्थानं, वृषभस्थाचार्यो भि-
क्षस्थानम् । एवं भिक्षुकुक्षकयोरपि स्वस्थानपरस्थानभावना कर्त-
व्या । अत्र च यत्परस्थाने आचार्यैः प्राप्नोति तदस्वावपि वृषभादिः
स्वस्थाने प्राप्नोति । किमुक्तं भवति-वृषभस्य प्रापूर्णकमाचार्यम-
न्युत्तिष्ठत्तुर्गुरोर्वा, वृषभस्थानमन्युत्थाने चतुर्लघवः, भिक्षो-
रनन्युत्थाने मासलघु, कुक्षकस्थानमन्युत्थाने निष्क्रमासः । एवं

भिक्षुकुक्षकयोरपि मन्त्रव्यम् । अत्र परस्थानमाचार्यस्य वृषभा-
द्यः, तेनामन्युत्थानं यथाऽस्ती चतुर्लघुकादिकमापचवान् तथा
वृषभाद्योऽपि स्वस्थानमन्युत्तिष्ठन्तस्तेषु प्राप्नुवन्ति ।

अथतदेव प्रायश्चित्तं तपःकालाभ्यां विशेषयन्नाह—
दोहौं वि गुरुगा एते, आचारियस्य तवेक्ष काहेण ।
तवगुरुगा कान्तगुरु, दोहि वि सद्गुगा य सुष्टुस्त ॥

आचार्यस्यैतानि चतुर्गुरुकादीनि प्रायश्चित्तानि, ज्ञानप्राप्तपि
गुरुकार्ण कर्तव्यानि । तद्यथा-तपसा, काहेन च वृषभस्य तपो-
गुरुकार्णः । भिक्षोः कालगुरुकार्णः, कुक्षकस्य ज्ञान्याप्रापि तपः
कालाभ्यां लघुकार्णः ।

अद्वा आविसिट्टं चिय, पाहुणपागंतुए गुरुगाम्दी ।
पावेत्ति अणुष्टिता, चउगुरु लहुगा सद्गुगजिचं ॥

अथवेति प्रायश्चित्तस्य प्रकारान्तरताद्योक्तः । आचार्यैः प्रथमा-
चार्यादिभिर्दोषैर्विरहितं प्रापूर्णकमागन्तुकमनुत्तिष्ठतो गुभा-
द्य आचार्यप्रभृत्यां यथाकामं चतुर्गुरुकमनुत्तिष्ठतो लघुमास-
निष्क्रमासात् प्राप्नुवन्ति । तद्यथा-आचार्यस्य यं वा तं वा प्रापूर्णक-
मागतमनन्युत्तिष्ठतश्चतुर्गुरु, वृषभस्य चतुर्लघु, भिक्षोश्चतुर्मा-
सः, कुक्षकस्य भिन्नमास इति ।

अद्वा जं वा तं वा, पाहुणगे गुरुमणुष्टिहं पावे ।
जिचं वसजो मुक्तं, जिक्तु लद् सुष्टु चउगुरुगा ॥

अथवा यं वा तं वा प्रापूर्णकमनुत्तिष्ठतं गुरुगाचार्यो भिन्नमासं
प्राप्नोति, वृषभः सुक्ष्मासं, लघुमासमिस्यर्थः । भिक्षुश्चतुर्लघुकाम,
कुक्षकः चतुर्गुरुकश्च । एतेन " पाडिभोमवितिएणं ति " एवं
व्याख्यातम् ।

अथ किमर्थमयं चितीयादेशः प्रवृत्तः ?, इत्याह—

वायणवापारणुध-म्वहणुणुत्तयचित्तल्लात् च ।
वाउहिए आचारिण, विद्यादेशो ल जिभ्राइ ॥

इहाचार्यस्थानेकथा व्याक्षेपकः । तद्यथा-आचानामनुयोगः ।
सा विनियामां दातव्या । व्यापारणुत्तयसाधुना वैद्यावृत्त्यादिषु यथा-
योग्यं विचिन्त्यम् । आज्ञानां धर्मकथनं विधातव्यम् । भूयस्स्त्रा-
यं बोधिशिन्तनामुपेक्षाः कर्तव्याः । एवमादिषु कार्येषु निरन्तरमा-
चार्यो व्याकुशितो भवति । वृषभस्य चतुर्लघु तथा व्याकुशा इ-
त्येतोऽहं भिन्नमासादिर्द्वितीय आदेशः प्रवृत्तः । इयमत्र भाव-
ना-आचार्यां बहुव्याकुशतया प्रायश्चित्तमागच्छन्तं दृष्ट्वाऽपि ना-
भ्युत्थाने पारयेत् ; अतस्तस्य स्वल्पतरं प्रायश्चित्तम् । वृषभ-
मिच्छुष्टुकास्तु यथाकाममहात्पत्तराएततमन्यात्तयोः, ततो लघु-
मासादीनि प्रभूतप्रभूततरप्रभूततन्नानि तेषां प्रायश्चित्तानांति ।

अथ कुक्षकस्य गुरुतमप्रायश्चित्तदाने विशेषकारणमाह—
वेसइए लहुमुष्टुइ, धूम्रधवलो असंफुको सुष्टो ।
इति तस्स हीति गुरुगा, पाहोइ हु चवत्तं द्दो ॥

कुक्षको बालः स लघुशरीरनथा सुखेन उपविशति, उत्ति-
ष्ठति वा; कीदन्तपीलतया च प्रायेण धूम्रधवलो रजोगुरिह-
तदेह; असंस्कृतदेहासंबुतोऽस्ती भवति । अतो यद्यसावपि
प्रायश्चित्तमागन्तुं चिच्छति तद्देहवृषभमागन्तुं । अत एतस्य चतु-
र्गुरुकः प्रायश्चित्तम् । किञ्च-यद्वहणुधः स्वमावाचयणोऽपि

अन् गुवादीनां माभ्युत्थितिः, तं द्रव्यः प्रायश्चित्तवृत्तयोर् दीप-
मानः प्राप्तयति, चञ्चलत्वमपनयतीत्यर्थः ।

अपि च—

अइ ता दंरुत्याणं, पावइ बालो वि पयकुए दोसे ।

इणु दाणि अक्खसंणं, पपाइरं रक्खसा सेसे ॥

बालत्वेऽपि गुरुके प्रायश्चित्तके इत्येवमिति शेषसाधकविरहव्यत्ययेषु-
वाङ् तावदर्थं बालोऽपि प्राचूर्णके अनन्यव्यायनात्तत्र वृत्तये प्रभु-
के स्वल्पेऽप्यपराधे एवैव द्रव्यस्थानं प्राप्नोति । (इणु दाणे ति)
तत्र इदानीमस्माकं प्रभुमन्युत्थाने प्रमादं कर्तुमकमनुचित-
मिति शेषसाधुचर्मण्यापि रक्षयं कर्म भवति । आह—अन्यव्या-
यनात्तत्राप्रत्ययसंयमयोस्तावत्कश्चिदपि विराधना नास्ति
ततः किकारणमेवमेव प्रायश्चित्तं दीयते ।

उच्यते—

दिहंठो बुवत्तरए, अभ्युत्थितोहं अह गुणो पचो ।

तन्हा उहंठय्वां, पाणुण्णो गच्छ आयरिओ ॥

इह प्राचूर्णकमाचार्यैर्मनुत्थितं भगवतामाहात्मिकात्मितिः । तथा-
च्चात्र द्व्यङ्करकेण दासेन दृष्टान्तः—“ एषां राया, से केणइ तुअ-
क्खसंणं आरादिओ । रखा से पइ बांधउ पहानं रज्जं विणं । तथ
इरंरुदभोइयाइणो अ तुअक्करं ति काठं परिजावेत्तं तस्स ग-
हउछणाइयंन करेति । ताहे तेषु ते अणुत्थितो दंरुत्याणं, मादिवा
य । जे विणीया ते अणुत्थितिं, तेसिं तेषु परिनुत्थेण रज्जसंवि-
भागो दिओ ” । अथाद्योपनयः—यथा तेऽभ्युत्थितश्चिदहं लोकं
गुहं परतः तथा साधवोऽपि प्राचूर्णकमाचार्यैर्मनुत्थितं
इह प्रायश्चित्तं च गुणानासाद्यन्ति, तस्मात्प्राचूर्णक आचार्यैः सक-
लेनापि गच्छेनान्युत्थातव्यः ।

अमुमेव अत्रारदृष्टान्तं व्याख्यानयति—

आरादितां रज्जं सपट्टबंधं, कासीं य राया उ च्चुवत्तरस्स ।

पसासमाणं मुकुटं । णुमादीं, नार्दति तं तेषु य ते विणीया ॥

आराधितः केनापि गुणविशेषेण परितोषं प्रापितः सन् राजा
द्व्यङ्करकेय सपट्टबंधं राज्यकार्येण, पट्टबन्धमुपति तं चिदि-
तवाग्निं भावः । ततः तं द्व्यङ्करकाजं राज्यं प्रशासतं कु-
लानाद्यो नाचिन्त्यते, यं कुलानाः, अयं तु हीनकुलोत्पन्नः ।
आदिशब्दात् इयं प्रधानपुरुषाः, अयं पुनः कर्मकर इत्यादि
परिभवबुद्ध्या नान्युत्थानादिकमादरं तस्य कुर्वन्ति, ततः ते तेन
राजा विनोताः शिष्टां प्रापिताः, ‘विनयः शिष्टाप्रणयोः’
इति वचनात् ।

कयं शिकिताः ?, इत्याह—

सव्वसं हाऊणं, निज्जुहा मारिया य विवदंता ।

जेगेहोईं संविज्जाया, अणुक्खअणुक्खणा जे उ ॥

सर्वस्वमपहृत्य ते स्वभगवत्पुत्रिभ्यो निष्काशिताः, ये च तत्र
निष्काश्यमावा विवदन्ति—किमस्माभिरपराबंधं यो द्व्यङ्करको
मविष्यति तस्य तस्य किं वयमन्युत्थानं करिष्यामः ?, इत्यादि
कथंश्रुत्वा, ते विवदन्त्या मारियाः । ये तु तत्रानुक्कला अभ्यु-
त्थानादिकारिणोऽनुवृत्त्या अगर्षितास्ते भोगैः संविमक्ताः, रा-
ज्यभोगसंविभागस्तोषं कृतः । एव दृष्टान्तः ।

अथमद्योपनयः—

अहिराया तित्थयरो, इयरो उ गुरु उ होइ नायव्वो ।

साहू जहा व दंरिय, पसत्थपसत्त्वगा होति ॥

यथा अहिराजो मीक्षपृथिवीपतिः, तथा तीर्थंकरः, यथा इतरो
द्व्यङ्करकराजः, तथा तीर्थंकराधिराजेनैवात्तुजाताचार्यः पदपट्ट-
बंधमहिततणमधिपत्यराज्यं मुकराचार्यो ज्ञातव्यो प्रवर्तते ।
यथा च ते प्रकृष्टतमप्रकृष्टकथा इतिप्रकृष्टकथा साधवोऽप्यनुत्थ-
नजाया भवन्ति ।

तत्र—

अह ते अणुत्थितंता, दियसव्वस्सा उ च्चुवत्त्वमाजागी ।

इय छाणे आयरियं, अणुत्थितंताण बोच्छेदो ॥

यथा ते द्रव्यजन्तभोजिकादयो द्व्यङ्करकमुत्पत्तिमनुत्थित्तुतो ह-
तसंबंधा येहिकस्य दुःखस्याभागिनः संजाताः । इत्येवमा-
चार्यैर्मनुत्थितानां दुर्निर्नितासाधुनां कर्म, उपलक्ष्यत्वाद्देशकना-
दिरत्रयोश्च स्वबन्धुवो भवति । ततश्चान्येकेषां जन्मजन्मरणा-
दिदुःखानामाज्ञानिगन्तरो संजायन्ते, एषोऽप्रशस्तोपनयः ।

अथ प्रशस्तोपनयः—

उट्टासिज्जासणमाएण्हिं, गुरुस्स जे होति सयाऽणुक्का ।

नारं विणीए अह ते गुरु उ, संगाएहरे दइ य तोसिं सुच्चं ॥

उत्थानं—गुरुमागच्छन्तं दृष्ट्वा ऊर्ध्वं भयनं, शय्या सुन्दराव-
कायो गुरुणां संस्तारकरचनय, आसनमुपवेशनयोभ्यनियठा-
दिरचनय । यद्वाः (संज्ञासर्णं ति) गुरुणां शय्याया आसनाश्च
नीचतरशय्यासनयोरभयणय । आदिशब्दाद्भक्तिप्रसङ्गादि
परिग्रहः । एवमादिभिर्बिम्बिजयेद्वै शिष्याः सदैव गुरोरनुकूला
प्रवर्तन्ति तान् विनीतान् ज्ञात्वा, प्रधानन्तरं गुरुः सशुद्धानं ।
मयैते सम्यक्पालनीया इत्येवं संग्रहबुद्ध्या स्वीकरोति, स्वै च
तेषां प्रयच्छति, ततश्च ते इह परत्र च कल्याणपरम्परानाजं
जायन्ते ।

अथ प्रशस्तोपनयं विशेषतो प्राचयन्त्याह—

पज्जायजार्इसुतत्रो य वुद्धा, जचभिआ सीसिसमिक्किमंता ।

कुव्वंतज्रबंधं अह ते गणाउ, निज्जुहो नो य ददाइ सुत्तं ॥

पर्यायतो ये बुद्धास्ते अथमराशिकाशयमिति बुद्ध्या, जातिम-
धिकृत्य ये बुद्धाः, परिश्रेयजन्मपर्याया इत्यर्थः, तं बालकोऽध्यामि-
ति बुद्ध्या, भुततश्च तत्राधिकृत्य ये बुद्धास्तेऽप्यनुत्थानोऽयमिति ह-
त्वा, ज्ञात्याश्रिता विशिष्टजातिसंज्ञता हीनज्ञात्युद्भवोऽयमिति
मत्या, शिष्यसमृद्धिमन्तः परिवारसंपदुपेता अश्रयापरिवारोऽय-
मिति बुद्ध्या, गुरोरवज्ञानमन्युत्थानसङ्घर्षं कुर्वन्ति । अथैवमव-
ज्ञाकरणानन्तरं गुरुस्तान् स्वगच्छन्मगराशिश्रेयसि । ये च ब-
हुगणिकत्वादिभिः कारणैर्निर्वृहयतुं न शक्यन्ते, तेषां भोग-
संविज्ञानागकल्पस्वयं भूतं न प्रयच्छति । एवं तावत्प्राचूर्णकमा-
चर्यैर्मङ्गीकृत्याभ्युत्थानान्मन्युत्थानवैर्गुणदोषा उपयन्तिनाः ।

अथ सामान्यतो गच्छन्मये स्थितस्यैवाचार्यस्थानन्युत्थाने

द्वोषमाह—

मउरुत्थ येरिसीए, लेषे पमिहेह आइयण पम्मे ।

पयत्त गिलाणे तह उ—चपट्ट सव्वेसिं उट्टाणं ॥

आचार्यमागच्छन्तं दृष्ट्वा गच्छसाधवो मयस्थितिस्तुष्टिन्, ततः

पूर्वोक्तमेव प्रायश्चित्तम् । सुत्रार्थवीरुषी लेपप्रदानं प्रतिबन्धनम् (आद्यर्थेति) 'आदानं' समुद्रमानं धर्मैकधा वा विधयानाः प्र-
बलगायमाना वा नान्युत्तिष्ठन्ति । अत्रापि तदेव ह्युभयविधयम्
प्रायश्चित्तम् । ग्लानो वा उच्यतेऽप्यत्रापौ वा शक्नोति सत्यां यदि
नास्ति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तम् । यत् एवमतः सर्वेषामनु-
भवात् । इदमत्र हृदयम-आचार्याणां मनश्चरुथाने सुत्रवी-
रुषीकरणादीनि कदाचलम्भानि, यथा समायमात्पाकाऽऽ-
पिचिता वतन्ते, ज्ञेयो वा पात्रके नाद्यापि परिपूर्णं दत्तः, प्रति-
बन्धनादिकं वा सम्प्रति कुर्यादस्मिन् ग्लानो वा कृतमन्त्रप्रत्या-
ख्यानो वा इहमस्मात्, किन्तु सर्वैरपि सुत्राध्ययनादिव्या-
पारं परिहृत्याऽनुष्ठानात्तद्व्ययम्, एवं तावदुपाश्रयं विधिपरिमितम् ।

अथाप्यत्र गृहादौ रथ्यादिषु वा यत्र हृदयेते तत्राय विधिः-
द्रागयमुद्वेदं, अग्निनिर्गन्तुं नमति एं सत्वे ।
दंडमहृषं च मोक्षुं, दिष्टे उड्डाणमप्रत्ये ।
दुरादाचार्यमागतं दृष्ट्वा आभिमुख्येन निर्गये सर्वेऽपि साधवो
(श्रुति) एवमाचार्ये नमन्ति शिरसा यन्दन्ते, यदा च गुरव
उपाश्रयं प्रयिच्छन्ति तदा द्वाडकप्रहणमपि कर्षयन्त, अन्त्यत्र तु
गृहादौ दृष्टे गुरौ द्वाडकप्रहणं मुक्त्वा अन्त्युधानमेव कर्षयन्त ।
एवमभ्युत्थाने के गुणाः ? इत्याह--

परपक्वो य सपक्वो, होइ अन्नमत्तां च उट्टाण्ये ।
सुयपुयणा थिरत्तं, पभावाव जिज्ञेरा चैव ॥
परपक्वः परपाक्वादिभ्यः, स्वपक्वः पाश्वर्यथादिभ्यः, नयोः रगम्य-
त्यमनभिवचनाया गुरोरनुत्थानं भवति, तथा गुरवो ब-
हुभूता भवन्तीति श्रुतपुत्रनमपि कृतं स्यात् । अन्त्यपामभ्यु-
त्थानादौ विनये सीदतां थिरत्वमनुष्ठितं भवति । प्रभावना च
शासनस्यैव कृता मयुद-अर्था । शोभनमित्येव मन्वन्तं यथैवविधौ
विनये विधीयन्ते, निज्ञेरा च कर्मकुर्यात् विपुला जवति,
विनयस्याभ्यन्तरनपामेद्व्यात् तस्य च निज्ञेरा निबन्धन-
तया सुप्रतीतव्यात् ।

आह-यः प्रमज्जतः सर्वेषां परतस्तस्य किं नाम
विनयंनं कार्यम् ? इति उच्यते--
अकारणा नित्यह कज्जामिच्छं,
नयाऽणुवाएण उ वैति तएणा ।
द्वयायवं कारणापपत्तो,
कज्जाणि साट्टे पपत्तवं च ॥
अकारणा कार्यस्य सिद्धिरिहास्मिन् जगति नास्ति, यद्यस्य
कार्यस्योपादानं कारणं तत्तत्र विना न सिध्यतीत्यर्थः । यथा
मृत्पारकं विना घट इति । कारणसन्नाद्यऽपि नच मैव, अनु-
पाद्यन उपायामावेन कार्यं भवतीति तज्ज्ञः कार्यसिद्धिदिना
वदन्ति । यथा मृत्पारकसन्नाद्येऽपि चक्रबीजवरोहकगुणाय-
मन्त्रेण घटो न सिद्धति; यः पुनः उपायवान् कारणसंयुक्त-
प्रयत्नवान् भवति स साधयति, यथा कुम्भकारो मृत्पिण्डमासा-
द्य चक्रबीजगुणायसाविद्यजनितापघ्नः स्यदस्तव्यापार-
णरूपं प्रयत्नं कुर्वेद घटं निर्माति ।

आह-यद्येवमुपायकारणस्युक्तः कार्येण साधयति
ततस्तु न किमायातम् ? इत्याह--
धम्मस्स मूडं विण्णं वयंति,

धम्मो य मूडं खलु सोगईए ।
सा सोगई जत्य अवाहाया उ,
तम्हा निसेवो विण्णयो तदद्दा ॥

धम्मस्य अन्तःकारित्रकणस्य मूडं प्रथममुत्पत्तिकारणं विनयम-
भ्युत्थानादिकं वदन्ति, तीर्थकरादय इति गम्यते । स च धर्मः,
अधुरवधारणः सुगनेमूलं कारणं मनस्यम् । दुर्गतौ प्रपत्तम्
प्राणिनं धारयति सुगतौ च स्वाययीति निश्चितसिक्कात्, तस्येति भावः । अथ सुगतिः कीदृशी गृह्यते ? इत्याह--सा
सुगतिरभिधीयते-यत्राभाषना, क्षुत्पिपासांरोगशोकादीनां श-
रीरमानसानां बाधानामत्रावसिस्तिरिच्येः । यत् एतं तस्मात्तदर्थं
सुगतिनिमित्तं विनये निवेद्यः । इदमत्र हृदयम-इह कार्यं
तावद्व्यावायुखलत्तयो मोक्षः, तस्य च कारणं सुतवारिभ-
यः सर्वज्ञभाषिता धर्मः सद्गुणानुत्थानवन्दनाद्विनयमङ्ग-
णमुपायमन्त्रेण न साधयितुं शक्यते । अतः परमत्रया मोक्ष-
कारणमेवायमिति मन्वा तदर्थं विनये आसन्धत इति ।
आह-युक्तं पौरुषीज्ञेपप्रदानादिकारणाद्भ्युत्थानम्, ग्लान-
नात्समाधेप्रतिपन्नस्योक्तं किमर्थमनुत्थानम् ? उच्यते-
मंगलसञ्ज्ञाजणम्, विरियायारो न हासिआं चैव ।
एपीहं काराणं, अतन्तपरिषुउट्टाणं ॥

अतस्मिन् ग्लानः (परिःनत्) मनुप्रययलोपांम् परिहावाक्
मनश्नोति, एतया गुरुणामभ्युत्थाने मङ्गलं जवति, ततश्च ग्लान-
स्याचिरादेव प्रशुभोभवत्, कृतमन्त्रप्रयाग्यानस्य तु निबन्ध-
मुत्समाधेसाधनं स्यात् । यथा ग्लानपरिहा भवति तथा गुरुम-
भ्युत्तिष्ठति, शोषाणामनुत्थानं अद्याजानं विदितं, यद्योऽप्येव
गुरुमनुत्तिष्ठति, ततोऽस्मात्तः सुतरामभ्युत्थानव्ययम् । अपि
च-एव कुर्वेता ग्लानं परिहायानं च यीयाचारो न हासिपता
भवति, अत एतैः कारणैरनाद्यामनुत्थानव्ययम् ।

(अनुत्थानाकरणं प्रायश्चित्तम्)
प्रकारान्तरं प्रायश्चित्तमुपदेश्य आह-
चंक्रमणे पासवणे, वीयारे साहु संजई सच्चं ।
सन्धिणि नाइ अमत्तचे, संपे वा रायमहिप वा ॥
एणं च भिन्नमासो, मासो लहुगो य होइ गुरुगो य ।
चत्तारि उट्ट लहु गुरु, वेदो मूडं तह उणं च ॥

इह प्रथमगाथायाः द्वितीयगाथायाश्च पदानां यथासंभवेन
योजना । तद्यथा-आचार्यं चक्रकर्मण कुर्यात् दृष्ट्वा नानुत्तिष्ठति
पञ्चकं पञ्च रार्थिदयानि प्रायश्चित्तम्, प्रथममभ्युत्थानागतं ना-
नुत्तिष्ठति भिन्नमासः-विचारसंज्ञां कृत्वा समागतस्याननुत्थान-
ने मासगुरु, मयनीनिः सार्कमागतस्यानुत्थाने मनुज्ञेषु, सङ्गि-
नः श्रावकाः, तैः समायातमनुत्तिष्ठतभ्युत्तुं, असंज्ञिभिः
समायातमस्याननुत्थाने परलक्ष्यु, संज्ञिनोऽनिरसंज्ञिनोऽभि-
संज्ञिभिः समायातमनुत्तिष्ठतः परगुरुः । वादिना सार्कमा-
याने अनभ्युत्थितं कृत्वा, अमात्येन सार्कमागते मूलम्, संघेन
साडे समायाते अनुत्थितं अतवस्थाप्यम्, राज्ञा सहितं सू-
रमागतमनुत्तिष्ठतः पाराञ्चिकमा ।

अथ किमर्थं सन्धिः समागतयो गुरुतं प्रायश्चित्तम् ?
उच्यते-
पूर्वनि पूड्यं इ-स्तियात्ता पाएण ताउ लहुमत्ता ।

एषण कारणेणं, पुरिसेणं इत्येया एत्ये ॥

इह क्रियः प्रायेण पुजितं एज्यन्ति, येमेवात्वार्यदिकं साधु-
भाषकादिभिरभ्युत्थायित्वा पुर्यमानं पश्यन्ति तस्यैव पूजां वि-
धत्ति, ताश्च क्रियः प्रायेण लघुसत्त्वाच्छाया भावन्ति । ततः
साधुभिरभ्युत्थीयमानान्त्वार्यं गाढतरं परिज्वलुद्धा पश्य-
न्ति, न किमप्येष आचार्यो जानाति, न भाष्यं विशिष्टगुणवान्-
सप्रायेण, अन्यथा किमेते साधवो नाभ्युत्तिष्ठन्ति, पश्यन्तेन कार-
णेन पुरुषेषु साधुभाषकादिविषु पूर्व लघुतरप्रायश्चित्तमुक्त्वा
पश्चात् क्रियेऽधिकृत्य गुरुतरमुक्तम् ।

अथ राक्षा सार्कं समागतस्यानभ्युत्थाने किं कारणं
पाराञ्चिकम् ? इत्याह-

पारुणिद्धा रंति महायोगेण समं कर्ति दोसो गच्छइ एपसु
सागु वि गज्जं वकं होज्ज कं वा परिज्जं वेदुज्जं वा कु-
न्धियवेसम्मि मणुस्से व्हा ॥

राजाश्रय आक्रिमन्तः प्रायेण बाहुल्येन महाजनेन सामन्तमन्त्रिम-
द्वसमादीनां महत्त्वा समवायेन समं समागच्छन्ति, तत एतेषु तनु-
राप स्वस्वोऽपि अनन्युत्थानमात्रसङ्कणो दोषः स्फूर्ति गच्छति,
सर्वत्र विसरन्तीति भावः । अपि च-साधुभिरनन्युत्थीयमानं आ-
चार्यः परिभूतो भवति, परिभवपदमुपगच्छतीत्यर्थः । परिभूत-
स्य च वाक्य सूचन कथं नाम राजादीनां प्राज्ञमुपादेयं भवेत्?,
वेदुयमिव रत्नं कुतिसत्वेण कार्पाटकवधवारिण मनुष्यं धनेमान
यथा तद्वीर्यं हुत्से स्थितं सन्दन्धमपि तत्र जनस्वोपादेयम्, एवं
गुरुणामपि धर्म कथावाक्यं गात्रजीर्याभाषुर्गुणैरनर्थमपि परिभू-
ततया न राजादीनामुपादेयं भवति । तदनुपादेयतायां च तेषां
सम्बन्धशून्यादिप्रतिपत्तिरपि न प्रयति, अतो राक्षा सार्कं समा-
गते अनभ्युत्थीयमानं पाराञ्चिकम् ।

परः प्राह-युक्तं प्रश्रवणभूयसादेरागतस्याभ्युत्थानम्, यत्तु च-
ङ्कमण कुर्वतोऽभ्युत्थानं तत्रास्माकं युक्तित्तमं प्रतिभाति ।

यतः-

अवस्सकिरियामोमं, वट्ठेत्ते साहुपूजया ।

परिफग्गुत्तं तु पामामो, संकमेत्तं वि उट्ठाणं ॥

विचारविहारादिको योऽवबन्धकत्वैः क्रियायोगस्तत्र वने-
मानो वदा समागच्छति तदा साध्वी अयसी तस्य पूजया ।
यथा तु चङ्कमणं करोति तदा निरर्थको योगो वर्तते । अतश्च-
ङ्कमण्यपि गुणो यदुत्थानं तत्परिफग्गुत्तं निम्बुसमेव पश्यामः । यत-
उक्तं प्रगवत्याम्-“ जायं च णं सं जीये आरंजे वट्ठे सारंमे वट्ठ-
इ तांश्च णं तस्स जीवस्स अंतकिरिया न जवइ ” ॥

अथ सूत्रप्रतिविधानमाह-

कामं तु एषमाणो, अरंजईमु वट्ठे जीवो ।

सो उ अणट्ठी णट्ठी, अवि बाहणं पि उक्खोवे ॥

काममनुमत्तं यदेष जीव एज्जमान अरन्धमादिविषु कर्मबन्धकार-
णेणु वर्तते, स तु स पुनः परस्परद्वेषधर्मी निष्कारणं नेधो नाभि-
मन्ति । अपि बाह्वाङ्गक्षेपे बाहृत्क्षेपमात्रेऽपि, किं पुनः चङ्कमण-
गादिभिरपिपश्याथैः । अथोदाहरणं-यः सार्थकः चङ्कमणगा-
दिभ्यां पारः स इष्ट एवेति ।

अथ सार्थकोऽपि व्यापारः कथमित्? इत्यस्यां जिह्वासायां यथा
१७५

योगत्रयेऽपि व्यापार्यमाणे दोषा यथा च गुणा भवन्ति तदेतत् प्र-
तिपादयति-

मणो य वाया काभो अ, ति विहो जोगसंगहो ।

ते अनुत्तस्स दोसाय, अनुत्तस्स य गुणावट्ठा ॥

मनोयोगो वायुयोगः काययोगश्चेति त्रिविधो योगसंग्रहो मव-
ति, संक्षेपतत्त्रिधायोगो जयतीत्यर्थः । ते मनोवाकाययोगा
अनुत्तस्य अनुत्तस्य दोषाय कर्मबन्धाय प्रवर्ति, युक्तस्य तु
त एव गुणावट्ठकर्मनिर्जकारिणः संपन्नते ।

इदमेव ज्ञापयति-

जह् गुत्तरियई, न होंति दोसा त्ठेव समियस्स ।

गुचींठियप्पमायं, रंभइ समिई सचेहत्तस्स ॥

यथा किञ्च मनोवाकायगुप्तस्य ईयादिप्रत्यया अनुत्तस्युक्तगम-
नादिक्रिया समुत्था दोषा न भवन्ति, तथैव समित्तस्यापि च-
ङ्कमणं कुर्वत ईयादिप्रत्यया दोषा न प्रभवन्त्येव । किं कारणम्?,
इत्याह-यदा किञ्च गुत्तिसु मनोगुप्त्यादिविषु स्थितो जयति तदा
योऽगुत्तिस्य प्रमादस्ते निरुणक्ति, तस्मिन्प्रायश्चित्तप्रत्ययकर्मणि
न भवति, यस्तु समित्तैः स्थितः सचेष्टस्य यः प्रमादा यश्च तत्प्र-
त्ययः कर्मबन्धस्त्वोत्तिरोधं विधादति ।

परः प्राह-यो गुप्तः स समित्तो जवत्युत्त नेति ?, यो वा समित्तः
स गुप्तो भवत्युत्त नेति ?, ।

अशोच्यते-

समित्तो नियमा गुत्तो, गुत्तं समियत्तणमि भइअण्वो ।

कुमलवट्ठमुदीरंती, जं वट्ठसमित्तो वि गुत्तो वि ॥

इह समित्तयः प्रतीत्यारूपा इत्यन्ते, गुप्तयस्तु प्रतीत्यारूप-
तीत्यारोमयकरुणाः प्रतीत्यारो नाम कार्यको वाचको व्यापारः,
तो वाः समित्तः सम्यग्गमनज्ञापनादिच्छेद्यो प्रवृत्तः, स नि-
यमाद् गुप्तो गुप्तियुक्तो मन्तव्यः । यत्र गुप्तः समित्तव भक्तव्यो
विकल्पनाय, तत्र समित्तः कथं नियमाद् गुप्तः?, इत्याह-कुशलो
निरवद्यतादिगुणोपेतं वाचमुदीरयन्ध वस्माद्वाक्यसमित्तोऽपि गु-
प्तोऽपि । किमुक्तं भवति?-यः सम्यगनुविचिन्त्य निरवद्यतां भाषां
प्रापते स ज्ञाप्यासमित्तोऽपि वाग्गुप्तोऽपि च भवति, गुप्तैरपि
तीत्यारूपतयाऽप्यभिधानानात् । अतः समित्तो नियमाद् गुप्त इति ।

गुप्तः समित्तवै कथं प्रजनीत् ? इत्याह-

जो पुण कायवईओ, निरुज्ज कुसलं मण उदीरिइ ।

विट्ठइ एक्कमण्णा, सो खलु गुत्तो न समित्तो उ ॥

यः पुनः कायवाची निरुध कुशलं गुंज मन उदीरयन् एका-
ग्रमना धर्मध्यानपुण्ययुक्तचित्तः तिष्ठति स खलु गुप्त उच्यते, न
समित्तः, प्रतीत्यारूपतयात् । यस्तु कायवाची सम्यक् प्रयुक्ते
स गुप्तोऽपि समित्तोऽपि मन्तव्यः ।

अथ समित्तगुप्तीनां परस्परमवतारं दर्शयन्नाह-

वायगसमिई विट्ठया, तइया पुण माणुमी भवे समिई ।

सेसा उ काइया उ, मणो उ सव्वासु अविहक्को ।

वाचिकसमित्तो, सा क्षीलाया वाग्गुप्तीमन्तव्या । यदा कि-
ल भाषासमित्तो भवति तदा यथा यथा भाषाया असमित्तप्र-
त्ययकर्मवत्त्वं निरुणक्ति तथा वाग्गुत्तिस्यप्रत्ययमपि कर्मबन्ध नि-
रुणक्ति, एवं भाषासमित्तित्वागुत्थ्यारोक्तव्यम् । तुतांयं पुनरेष-

शाक्या समितिर्मानसी मानसिकापयोशानिष्यका । किमुक्तं भवति ? यदा साधुप्रेषणासमितिः भवति, तदा श्रोत्रादिभिर्मिन्द्रियैस्त्वमनकथाधानादिस्वप्नेषु शब्दादिस्वप्नुष्यते । अत एवास्या मनोगुप्तैकत्वम्, शेषास्तु समितय ईयांश्चादानिके-पांश्चादिपारिष्ठापनिकाश्याः काविकथः-कायचेष्टानिष्पन्नाः । अत एवासां तिसृणामपि कायगुप्त्या सहैकत्वम् । (मनो उ स-वाप्तु अत्रिकटां त्ति) मानसिक उपधायाः सद्योसु पञ्चैवापि स-मितिष्वविरुद्धः, समितिष्वप्येकस्यस्तीति भावः । अत एव म-नोगुप्तस्य सर्वासां समितिनां मनोगुप्त्या सहैकत्वम्-मन्तव्यम् । आह-भिन्नाधे शुभद्वारे स्थितस्य तत्राद्यादीनि कल्पनीया-नि मार्गयतः श्रोत्रादिकरूपयुक्तस्य भाषासमितिमनोगुप्त्य-पणासमितिनां तिसृणामपि समयो दृश्यते । अतः किमासा-मकल्पमुत्तान्त्वयम् ? इत्याशङ्क्याऽह-

व्यनमितो ब्रिय जायद, आहारादीणि कर्षणजागि ।
एनायाउवश्रोगे पुण, सोयति मागर्सी जवड ॥

शुद्धितस्त्रिजिनादिवशशोपरदिने मया प्राहामित्येषामामिति-भावस्युक्तो यदा साधुप्रेषणादीनि कल्पनीयानि मार्गयति तदा वाक्कर्मनि एवासां जायते, न पुनमनोगुप्तः इत्येवकारा-यः । यदा तु श्रोत्रादिभिरपेणयामुपयोग करानि तदा मानसी नाम गुप्तिर्भवति, मनोगुप्तिरित्यर्थः । न पुनयोगभाषामितिः । इदमेव तापर्थम्-आपासमितिः, मनोगुप्तस्येति द्वे समित्युक्ती युगापत्र भवतः । किन्तु भिन्नकाले, यथापि च "लणो य सद्योसु अविरुद्धो त्ति" वचनाद् भाषासमित्यापि मानसिकोपयोगः समित्ये, तथापि गौणत्वात्सां समिति न विवक्ष्यते इति ।

अपि च-

जो वि य उदियम चेद्वा, इत्यादीनां तु भोग्यासां ।
सो वि य इत्यासामिनी, न कवधे चकर्मतेस ॥

न केवलं चक्षुरमत्तश्चक्षुःकर्मण कुर्वते एव ईयांसमितिः किन्तु स्मितस्य गमनागमनक्रियामकुर्वते आङ्गकारिद्वेषु जङ्घवह्लसगम-सहल्लादिभ्रूनेषु परावनेमानेषु जङ्गकारिचमा यथाऽपि हस्तादी-नां चेष्टा साऽपि परिस्पन्दरूपत्वाद् ईयांसमितिः प्रतिपत्सव्या । यच्च परेषां प्राणुक्तं चक्षुःकर्मण निरर्थकमित्यादि तत्परहराराय चक्षुःकर्मणुष्णानुपदर्थवति-

वाप्यां सद्वाणं, वयंति कुविद्या उ मंनिरौहेण ।
लापवमिगपकुचुं, परिस्ममजश्रं अचकर्मतो ॥

अनुयोगदानादिनिमित्त यन्निश्चयैकस्यानेपवेशनलक्षणः सं-प्रिरोधः तेन कुपिताः स्वस्थानावास्तानां ये वातादये धातवस्ते चक्षुःमनो नृपः स्वस्थाने प्रजतिः । लापव शरीरं त्रुणुजाप उपजा-यते । आङ्गिपटुत्वं जाडगानतपत्वात् च भवति । यस्तु व्याख्याना-दिजनितः परिश्रमः नस्य जयः कृतो जवति । एते चक्षुःकर्मनो गु-णा प्रवर्तन्ति, श्रोतं न निरर्थकं चक्षुःकर्मणम् ।

आह यथेवं ततः किमवश्यं तत्राभ्युत्थाने कर्तव्यमुन न ?
इत्यथोच्यते—

चंक्रमणे पुण जय्यं, मा पलिमयो गुरुवितिश्रमि ।
पणियावचदं पुण, काऊण सई जहाजगं ॥
पुनःशब्दो विशेषणे । स चैतद्दिशिनष्टि-प्रभवणविचाररूपम्यादे-रागतस्य गुरोः कर्तव्यमेवाभ्युत्थानम् । चक्षुःकर्मण पुनमंके वि-

कल्पितम् । कथम् ? इत्यत आह-मा सूषार्थपरवर्तनायाः परिम-न्यो भ्याघातो भवतिवति कृत्वा यदि गुरुवो न अभ्युत्थानं विनर-नि तदा न अभ्युत्थानव्यम् । परमथं गुरुभविनीणे सति सहदेक-धारमन्युत्थान विधाय प्रतिपालन्यन्तःशिरःप्रशामसङ्गणं कृत्वा भगवद् अनुज्ञानाध्वमिति भणित्वा यथायोगं यथेष्टितं सूषा-धंगुणनादिकं ज्ञानार्थं कुर्यात् । अथवा गुरुवो न धारयन्ति ततो नियमाद् अभ्युत्थानव्यम् ।

पुनर्गाप परः प्रेरयति-यदि चक्षुःकर्मणाभ्युत्थाने सूषार्थपरिम-न्यदोषो भवति तत इदमस्माभिरुच्यते-

अद्रुमुद्रुमिदं वृषदं, जं चंक्रमणे वि ह्वा उउपाणं ।
एवमकारिज्जोतं, जहगभोई व मा कुजा ॥

अत्रिसुपुतीव प्रमुदुडं, नोचनोमिदं भवार्जुकरुच्यते-यच्चक्षुःकर्मणेऽ-व्युत्थाने कर्तव्यं भवति । सूरिराह-एवं चक्षुःकर्मण्यपिपयमन्यु-त्थानमकार्यमाणा भद्रकर्मोत्तकस्त्वय प्रसङ्गतो मा होपमर्थाव-नय कार्पुर्गतिरुत्वा चक्षुःकर्मणेऽपि अभ्युत्थाने कार्यते । अथ का-ऽय भद्रकर्मोत्तकः, इत्युच्यते । "जहा-पो भोईव नत्सर का-मुधेण गाममरुद्धं पमामणे दिक्के । सो तस्य गते, ताहे ते गाभि-ल्लया तदा भदभां सामी बजे त्ति (श्रुजुरित्यर्थः) तत्रां ते जो-इय विवर्धेते-अहे तव पुनाणुपुत्तय तिवा जाया, ना अम्हे चिन्तणिज्ज काठ कर पुत्रपरिमाणांशो भोयन्ते करेहि, ज्ञा-इएण अद्रुमुवयद । अत्रया ज ज ते विवर्धेति नो त सो भद-श्रो-नेत्ति गाभिल्लयाण अद्रुमगह करे । अत्रांशोत्पत्तयेण ल-इवसरा ते जहारहे गिलय भिनउमाइत्ता । ततो भोइएण रुडेण क्कामोसुपुत्तया दत्तिया, कउ उइतिया" एते विद्वन्तो । अ-यदायोवश्रोभां-कस्येण अणुत्तुट्टाणं, मसं पि विताय प-रिदविउज्ज, ततो क्कामोसुपुत्तया पाच्छकं दविउज्जा, ज य तस्य अन्तेतायराह्णिणे ते गच्छन्तो निरुत्तुत्तुट्टाणं, तिणयमकारिज्जता य ते इह लोए पात्रोण य परिच्यत्ता जयंति । आयरिशोय-सरगामुवमयाण नेत्ति न मरेदवणकारो भवद, भद्रा चं-क्रमणे वि ते अद्रुत्तुट्टाण कारिज्जति" ।

अपि च-

वसजाण हौति इहुगा, असाएणे मारणे अपचिच्छता ।
ते वि य पुरिमा तुविदा, पंनरजगा अजिमुट्टा य ॥

ये ते गुरुचक्षुःकर्मणादिपुनान्यासिर्घातनाय यदि वृषभा न मार-यन्ति-कस्मादाचार्योन्मात्रुसिष्टथ ? ततो वृषजाणां चतुल्लेघयः । अथ वृषभैः प्रतिनोदिताः पर ते न प्रतिश्रुयन्ति, ततः सारण कुंते सति वृषभा अप्रायश्चित्ताः, इतरे प्रायश्चित्तमापद्यन्ते । अ-नभ्युत्थाने असारणार्थां चामो दोषा जवन्ति-ये प्रतिपच्छका उ-पसंप्रतिपत्स्यंभोयाताः ते द्विविधा पुरुषा भवन्ति-पञ्जर-जज्ञाः, स्वयमाजिमुवमयाण । तत्र गच्छं वसन्तं यदाचार्योपाया-यवचंके, त्वयिगामावच्छुदिकाक्यपदस्यपञ्चकस्य पारतस्यं यावत् परम्परं प्रतिनादताः, एतत् पञ्जरमस्यते, एतस्मात् प-ञ्जराज्ञा निन्दताः । पञ्जरमज्ञाः स्वयमाजिमुवमयाण-पार्श्वस्था-उपवयमश्रावहारिगच्छाचारिभ्रान्तिलपानात्कविभ्रगच्छं प्रोपु-कामाः तत्र ये पञ्जरभना भ्रान्तान्भेयानामभ्युत्थानविषयाः । मुत्पस्यतु पार्श्वस्थाप्रतिनोदनां ह्युपा चिन्तयति-जगा कटं अजुटा-पोरा देउ अजुट्टाणं सोही । अनिगोट्टा वातो, हाडिं जे इत्थं चिद्दामो ॥

अस्माकं पूर्वस्मिन् गच्छे वसनामाचार्यस्य चक्रकमलादिषु वारं वारं अभ्युत्थानेन कदा जग्मा, आचार्यो नाप्युत्थीयते तदा शार्ङ्गि प्रायश्चित्तं प्रयच्छति, गाढं च खरपरशैः खरपटयति, अस्मिन्तु गच्छे न प्रायश्चित्तं, न च खरपटना, अतोऽनिराधोऽसिन्- यन्त्रणा, तेन सुखं सुखदायी वासोऽयं 'थ' अस्माकं त्रिविध्यति, तिष्ठामो वयमत्रैति कृत्वा तत्रैव तिष्ठेयुः, न भूयः स्वगच्छं गच्छेयुः।

जे पुण उज्जयचरणा, पंजरभगो न रोपए ते उ ।
अस्मत्थ वि सद्धरत्तं, न लम्भई एति तत्त्वेव ॥

ये पुनरुत्थानचरणाः स्वल्पेऽप्यनप्युत्थानादावपराधे सम्यक्-प्रतिनादमाकारिणः तान् पञ्जरजग्मा न रोचयन्ते, न क्विपथं प्रापयति । विन्ययति च-अन्यत्रापि गच्छन्तरे स्वैरिव स्वातन्त्र्यं न लम्भयति इति चिन्त्य तत्रैव स्वगच्छे एति समागच्छति । अत्र संयमानिमुखोऽसौ समागतस्ततः किम् ? इत्याह-
चरणोदासीने पुण, जो विपज्जहाय आगतो मणो ।
सो तेसु पावेममाणो, सद्धं वहेइ आंजअं वि ॥

यः पुनः भ्रमणक्षरणोदासीनान् पार्श्वस्वादीन् सुखदालिशिरा-रिणो विप्रहाय संयमानिमुखः समागतः स तेषु गच्छान्त-र्येषु साधुषु प्रविशद् उभयवामिप साधूनां श्रुतं वर्कयति । तथाह-यत्र गच्छे असौ प्रविशति तद्वायाः साधवः चिन्तय-न्ति-एयं 'सुन्दरा अमी' इति परित्रायास्माकं मध्ये प्रविशति, अतः सुन्दरतरं कुमेते । यस्मादपि गच्छादायातः लदीया अपि विन्ययन्ति-अस्माद् सुखश्रानिर्मानं विहायैव गच्छान्तरं गच्छ-ति, अत्रा वयमुत्थाना भवाम इति ।

अथासौ संयमानिसुखस्त्रापि सामाख्यारोहापने प्रतिनोदना-बा अत्रायं च पश्यति, तत्रश्चिन्तयति-

एव्य वि मंगाहाणी, एते वि ह् सारवारणायुक्ता ।
अन्ने वयः अतिमुद्दो, तपच्चयनिजराहाणी ॥

अत्रापि गच्छे, न केवलं पूर्वस्मिन्प्रायापशुध्वार्यः । मर्यादाया अभ्युत्थानादिसामाख्यार्यो हानिरवलोभयते, एतेऽपि च साधवः सारणवारणया युक्ताः परिरुद्धे प्राक्तनगच्छमाश्रय इव नि-रगताः समीचयन्ते, अतः कां नामामीयां समीपे स्थास्यतीति मत्वा स संयमानिमुखः साधुरभ्याद् गच्छान्तरियाद् सा-धूद् ब्रजति प्रविशति । प्रविशतु नाम गच्छान्तरं, का नो हानि-रिति चेत् ? अत आह-तत्रप्रत्यया-तस्य साधोः संयमानुपलभो-पष्टम्भकारणहेतुका या निजरा, नत्वा हानिः प्राप्नोति, सा न भवतीत्यर्थः ।

आह-किं कारणमसौ तेषु तत्र विशति ? इत्याह-
जहि नतिय सारणा वा-रणा य पहिवायणा य गच्छम्मि ।
सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तवो ॥

विस्मृते क्वचित् कर्तव्ये भवतेत् न कृतमित्येवंरूपा स्मारणा स्मरणाय, अकर्तव्यनिषेधो वारणा, उपलक्षणत्वादप्यथा कलेव्य-प्रनामेनादिना अप्यथा कुर्वतः सम्यक् कथनेना प्रेरणा, चारित-स्याप पुनः पुनः प्रवर्तमानस्य आरपठवोक्तिभिः शिक्लं प्रति-नोदनाः एताः सारणादयो यत्र गच्छे न सन्ति स गच्छो गच्छ-कायिकरणादयो मन्तव्यः । अत एव संयमकाशिना संयमा-

भिमुखेन साधुना मोक्तव्योऽसौ, नाश्रयणीय इति भावः । गा-धारां प्राकृतत्वाविकारस्य हीनेत्यम् ।

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमभिधित्तुः प्रस्तावनामाह—
अयमपरो उ विकल्पे, पुष्वावरवाहय चि ते बुद्धी ।
लोए वि अणोएगविई, नणु भेसज मां रुजोवसमे ॥

अयमत्रेणमाधारायं बह्वयमणोऽपरः प्रायश्चित्तस्य विकल्पः प्र-कारः । अत्र परः प्राह-पूर्वापरव्याहतिमिदम्, पूर्वमप्याहशं प्राय-श्चित्तमुक्त्वा यदिदानीमप्याहशमभिधीयते तदेतत् पुत्रापरवि-रुद्धमिति ते तव बुद्धिः स्यात् । तत्रोच्यते-ननु लोकेऽपि रजोपश-मे विधातव्ये यथा त्रिकलात्रिकटुकादिभेदादनेकविधे त्रिपत्रं, 'मा' इति पादपूर्वः । प्रयुज्यमाने हृद्येव, एवमत्राप्येकस्यै-वानभ्युत्थानस्य तथा क्लृप्तमाजनादिजन्मानेकविधं प्रायश्चित्त-मभिधीयमानं न विकल्प्यते ।

इयं परानिजुत्तं परिहृत्य प्रायश्चित्तमाह—
वीर्यारमाहुमंजड-निगमपत्रसंघरायसहिते तु ।
सहगो लहुगा गुरुगा, उम्भामा छेदमूत्तुमे ॥

आचार्यं विचारभूमेरगतं नाभ्युत्तिष्ठन्ति मासलघु, साधुभिः सममायानमनन्युत्तिष्ठतां चतुलेषवः, संयतीनिः समं चतुष्टय-वः, निगमेः पौरवाण्यविशेषः समं परलघवः, घटया महतरा-दिगोष्ठीपुरुषसमवायविक्रान्त्या समं क्लृप्तः, मधेन समं मलम्, राक्षस समप्रभवस्थाप्यम् । (सहिए स्थि) संघमहितेन राक्ष-समायानमनभ्युत्तिष्ठतां पराश्रिकम् । गतमन्युत्थानम् । ६० ३ उ० । (यत्रावसंरे यैतो काणैरभ्युत्थानं त कर्तव्यं तदे-तम् सर्वं 'अदसेस' शब्देऽस्मिन्नय भागे ५४ पृष्ठे दर्शितम्) पुनरैतन्करिष्यामीत्यन्युत्थानम्, स्था० ३ जा० ३ उ० । प्रयत्नं, स्था० २ जा० १ उ० । आसन्त्यागप्ये, संभोगासंभोगस्थाने यथा पाहवेस्थादिरेव्युत्थानं कुर्वन्सङ्गमभाष्यः स० १२ स० । प्रव० । आ० । आ० च्चु० । गुरुनागतान् दृष्ट्वा स्वकीय-स्थानादूर्ध्वभयने, उ० ३३ अ० । (अभ्युत्थाने दृष्टकः 'सङ्कार' शब्दे दर्शयिष्यते) (त्रिभिः स्थानैरेवा अभ्युत्तिष्ठ-युरिति 'मणुस्सल्लय' शब्दे दर्शयिष्यते) ।

अभ्युत्तिष्ठेत्-अभ्युत्थातुम्-अव्य० । अभ्युपगन्तुमित्यर्थे, स्था० २ डा० १ उ० ।

अभ्युत्तिष्ठेत्-अभ्युत्थिते-त्रि० । कृतोद्यमे, 'अभ्युत्थियं गद्यरि-क्षि, पव्यज्ञातागमुत्तमे' उ० ९ अ० । "अभ्युत्थियसु मेरेसु" प्रवेष्टवणाय कृतोद्यमेषु, ज्ञा० १ अ० । प्रारब्धे, ध० ३ अधि० । अभ्युत्तिष्ठे, उ० ६ अ० । सं० ।

अनुत्तिष्ठेत्-अभ्युत्थात्-त्रि० । अभ्युपगन्तव्यं, स्था० ५ डा० १ उ० ।

अनुत्तिष्ठेत्-अभ्युत्थातव्यं-त्रि० । अभ्युपगन्तव्ये, स्था० ०८ जा० ।

अनुत्थिष्यत्-अनुत्थानं-त्रि० । उन्नतिमति, ज्ञा० १ अ० ।
"अभ्युत्थय रथयनीलनेलनसुदनिजन्मना" अभ्युत्थता रतिदाः सुखदाः, अथवा पवित्रा इव रजितानः, तस्मिन्नाः प्रव्रजः, ताव्वा आरक्तानः शुचयः पवित्राः, स्निग्धाः कान्ताः, लला यथां त तथा । प्रश्न० ४ आश्व० ब्रा० । "अभ्युत्थयणीगामद्वयसंघियपसोहर" अभ्युत्थनावुषो पानौ स्थूलौ रतिदौ सुखप्रदौ संस्थितौ विशिष्ट-

संस्थानकन्तौ पयोःपरी स्तनौ यस्याः सा तथा । (चरतल्पी)
श्री० ३ प्रति० । हा० । अत्युत्कटे, आ० म० प्र० । ज० । रा० ।

अनुसूत्-स्ना-धा०, पर०, सदा० । शौके, " स्नातेरनुसूत्ः "
। ऽ । ४ । १४ । इति सूत्रेण धातोः ' अनुसूत् ' इत्यादेशः ।
अनुसूत्-स्नाति । आ० ४ धा० । प्र-दीर्घ-धा०, दिवा० ।
आत्मप्रकारो, " प्रदीपस्तेअव-संक्रमसंयुक्ताः स्नाः " ८ । ४ ।
। १२ । इति सूत्रेण प्रदीप्यतेः ' अनुसूत् ' आदेशः । अनुसू-
त्-स्ना-प्रदीप्यते । आ० ४ धा० ।

अनुसूद्य-अनुसूद्य-पुं० । राजलक्ष्यादिलाभे, हा० २ अ० । अ-
नुसूद्यो यद्येह राज्यानिषेकादिशीतये भवति तथा स्वर्गोपवने-
प्राप्तिहेतुत्वात्स्य संस्कारकस्य, अत एवऽनुसूद्युदयः । संघा० ।

अनुसूद्यफल-अनुसूद्यफल-त्रि० । अनुसूद्यनिवर्तके, पां०
९ वि० ।

अनुसूद्यहेह-अनुसूद्यहेतु-पुं० । कल्याणनिमित्ते, पञ्जा० ८
वि० ।

अनुसूद्यावृत्ति-अनुसूद्यावृत्ति-स्त्री० । स्वर्गोदरव्य-
वच्छेदे सन्ततौ, पां० ६ वि० ।

अनुसूय-अनुसूत्-त्रि० । सकलवृत्तनातिशयिनि भुतशिल्प-
त्यागपदशौचकामादिकेः अपूर्वे वस्तुनि, उपचारात् तद्दर्श-
नअवधारित्यो जाते विस्मयरूपे रसविशेषे, पुं० अनु० ।
अनुसूतरसं स्वरूपतोः सकलगतश्चाऽऽह-

विम्हयकरो अनुसूयो, अनुसूतुअनुसूयो च श्री रमो होइ ।
हरिसविमाओल्पन्ती-सकलपाण अ अनुसूओ नाम ॥ ६ ॥

अनुसूओ रसो जहा-

अनुसूअतरमिह एत्तो, अन्नं किं अत्यि जीवलोगमिम् ।
जं निपावयणे अत्या, निकालजुत्ता मुणिज्जंति ।

कस्मिंश्चिदनुभूते वस्तुनि दृष्टे विस्मयं करोति, विस्मयोत्कर्ष-
रूपो वा रसो नवति सांशुल्लुतो नामेति संतदुः । कथंभूतः ? ,
अपूर्वोऽनुभूतपूर्वो वा । अनुभूतपूर्वः किञ्चक्षणः ? , इत्याह-
दृष्यविषादात्पश्चिन्नक्षणः, ह्यं वस्तुम्यदृष्टते दृष्टे हर्षजननल-
क्षणः, अनुभूते तु विषादजननलक्षण इत्यर्थः । उदाहरणमाह "अ-
नुसूय"-गाथा । इह जीवलोकेऽनुभूततरं इतो जिनवचनत्वं कि-
मन्यद्विदित, नास्तीत्यर्थः । कुतः ? , इत्याह-यद्यस्मान्जिनवचने-
नाथां जीवाद्यः सूक्ष्मव्यवहिततिराहिताऽऽनन्दिष्यामूर्ताद्वि-
स्वरूपा अनीनामाततवर्तमानरूपाः त्रिकालयुक्ता अपि ज्ञायन्त
इति । अनु० । " अनुसूय नापि अनुसूय वापर अनुसूय नष्टे " अ-
नुसूतमाश्चर्यकारि । रा० ।

अनुसूवगम-अनुसूवगम-पुं० । अङ्गीकरणे, स्था० २ ग्रा० ४ अ० ।

अनुसूवगमसिद्धत-अनुसूवगमसिद्धान्त-पुं० । सिक्कतभेदे, हा०

स च-

जं अनुसूविषय कीरठे, मेच्छापे कहा स अनुसूवगमो उ ।
सीतो बन्दी गयजू-ह तगमो मगुत्तरसिमा ॥

यत् अनुसूयेत्येवच्छ्रया अनुसूवगम्ये वादकथा क्रियते । यथा-
श्रीतोऽपि नः, राजसूयं तुषामे, मन्त्रेजलकाकस्य, सरस्य च शुक्ल-

य, इत्येवोऽनुसूवगमसिद्धान्तः । हा० १ उ० । अपरीकृतार्थोऽनुसू-
वगमाश्चिरोपरीकृतमनुसूवगमसिद्धान्तः । तद्यथा-किंशब्दः ? ,
इति विचारो कश्चिदाह-अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽ-
द्यानित्य इत्येवं विचारः । सूत्र० १ सु० १२ अ० ।

अनुसूवगम-अनुसूवगम-त्रि० । अजि आभिमुख्येनोपगतः ।
आवा० २ सु० ३ हा० १ उ० । अनुसूवगमवति, स्व० ७ उ० ।
संप्राप्ते, पा० । अतसंपदोपसंपन्न, आ० म० प्र० । अङ्गीकृते,
पां० ७ १ शार ।

अनुसूवगमिया-अनुसूवगमिकी-स्त्री० । अनुसूवगमेनाङ्गीक-
रणेन निवृत्ता तत्र भवा वाऽऽनुसूवगमिकी । स्वयमनुसूवगमतायां
(वेदनायाम्) । स्था० २ ग्रा० ४ अ० । या हि स्वयमनुसूवगमन्येन
यथा-सायुजिः प्रवृत्त्याप्रतिपत्तिनो ब्रह्मचर्येऽनुसूवगमकतो-
ऽनुसूवगमतापनादितिः शरीरपीडाऽनुसूवगममम् । ज० १ हा० ४
उ० । " तुविहा वेदेषु पशुता । न जहा-अनुसूवगमिया य
उवक्कमिया य " प्रहा० ३४ पद ।

अभगम-अभगम-त्रि० । न भग्नाऽऽनम् । सर्वथाप्रविनाशिते,
" यवमादिपहि आगारोदे भग्नामो अविवाहिओ हुक्क मे काड-
स्समां " । आध० ५ अ० । घ० । ल० । आ० च० ।

अभगसेण-अभगमेन-पुं० । विजयाजिघ्रसन्चौरसेनापति-
पुत्रे, विघा० । तत्कथानकं चंदम-

तत्सम उक्त्सेवो एवं खलु-जंजू । तेणं कालेणं तेणं
समएणं पुरिमतालगामं एयरं होन्त्या, रिच्छिं तस्म एं
पुरिमतालस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ एं अ-
मोहदंसी उज्जाणे, तत्थ एं अमोहदंमिस्स जक्खस्स
जक्खायतणे होन्त्या, तत्थ एं पुरिमताले मट्ठन्वले
णामं राया होन्त्या, तत्थ एं पुरिमतालस्स एयरस्स
उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए देसपंते अरुवीं संसया । एत्थ
एं सालाढवीं एणं चोरपट्ठीं होन्त्या, विसमगिरिं-
दरकोलंबमणिएविहा वंसीकल्लेकपागपरिक्खिता त्रि-
एणं सेहाविमपवपायफरिहोवयूहा अग्नितरपाएया सु-
दुद्धभजनेपरेता अणेगखंडं । विदितजगदिएणनिगम-
पपेसाया मुक्खदुयस्स विकविजयस्स जएस्स दुप्पवेसाया
वि होन्त्या । तत्थ एं सालाढवीए चोरपट्ठीं विजए
णामं चोरसेणावड परिवसदं, अहम्मिणं जाव हो-
दियपाणं बहुणयरखिमगजसे सूरे ददपट्टारे साहास्सिणए
सरवेही अस्सिक्खिणममट्ठे, सं एं तत्थ सालाढवीं चोर-
पट्ठीं ए पंचएहं चोरसेयाणं आदिहवंबं जाव विहरइ । तए एं
से विजए चोरसेणावड बहुणं चोराणं य पारदारियाण
य गंतिच्छेयाण य संविज्जेयाण य संवपट्टाण य अएणे-
सिं च बहुणं त्रिएणभिएणवाहिडाऽऽहियाणं कुर्केया वि
होन्त्या । तएणं विजयचोरसेणावडपुरिमतालस्स एयरस्स
उत्तरपुरिच्छिभिणं जएवयं बहुहिं गामपाएहि य एयर-

घाएहि य गोमहणेहि य बंदिग्गहणेहि य पंयकोट्टेहि य खलखणणेहि य उर्वाक्षेमाणे उर्वालेमाणे विद्धंसेमाणे विद्धंसेमाणे तज्जमाणे तज्जमाणे ताक्षेमाणे तालेमाणे शिथ्थाणे निष्कणे शिष्कणे करेमाणे विहरइ, मह-
 ब्वल्लस रएणो अजिक्खणं २ कप्पाइ गिएहइ, तत्थ एं विजयस्स चोरसेणावडस्स खंभसिरी एांमं जारिया होत्था । अहीणं तत्थ एं विजयचोरसेणावडस्स पुत्ते खंभसिरीए भारियाए अचए अजग्गसेणं एांमं दारए होत्था अही-
 णं । तेणं काक्षेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरं पुरिमतालएांमं एयरे जेएव अपोहदंती लज्जाणे तेणेव समोसंठे परिसा राया निग्गओ,धम्मो कहिओ,परिसा राया विग्गओ, तेणं काक्षेणं तेणं समएणं समणस्स जगवओ महावीरस्स जेट्टे अन्तेवासी गोयंमं जाव रायभग्गं सभो-
 वगाइ तत्थ एं बहवे इत्थं पासइ, तए एं तं पुरिसं राया पुरिसा पदमंसि चच्चरंमि शिसियाविंति, शिसियाविंतित्ता अट्टचुद्धविउए अभग्गयाएइ कसप्पहारेहि ताक्षेमाणे २ कट्ठणं काकणिमंसाइ खावइ,खावइत्ता रुहरिपाणं च पाय-
 ति । तयाएतंरं च एं दोंबं पि चच्चरंसि अट्टलहुमाउयाओ अग्गमा घाएयति, घाएयतित्ता एवं तथेच अट्टमहापिउए, चउत्थेच अट्टमहामाठए, पंचं पुत्ता, छट्ठे सुएहा, सत्तमं जामाउया, अट्टमं धूयाओ, णवमं णत्तुया,दसमं णत्तुयओ, एकारसे णत्तुयावइ, बारसमे णइसीओ,तेयारसमे उस्सिय-
 पतिया, चउहसमे पिठस्सियाओ, पण्णारसमे मासियाओ पइ-
 याओ, मोहसमे मासियाओ ०,सत्तरसमे मासियाओ,अट्टा-
 रसमे अवसेसं मिचणाईणयगसयणसंबंधिपरिजणं अग्ग-
 ओ धार्यति,प्रार्थत्तत्ता कसप्पहारेहि ताक्षेमाणे ३ कट्ठणं का-
 कणिमंसाइ खावेइ रुहरिपाणं च पाएइ । तए एं से भगवं गो-
 यंमे तं पुरिसं पासइ, पासइत्ता अयंमेयारूवे अज्जवत्थिये ५ समुपएसं जाव तंहेव शिग्गए एवं वयासी-एवं खलु अहं
 अंतं ।स एं जंते । पुरिसे पुव्वभवे क आसीं ० जाव विहरइ ।
 एवं खलु गोयमा ! तयं कालणं तयं समएणं इहेव जंजुइ वि
 जारहेवासे पुरिमतासे णांमं णयेरे इत्था,रिष्ि ० ३ तत्थ एं
 पुरिमताले उदये णांमं राया होत्था,मट्टया तत्थ एं पुरिमताले
 निन्नए णांमं अंरुयवाणियए होत्था,अहं ० जाव अपरिभूए
 अहंमिअए ० जाव तुप्पकियाएणंदे तस्स एं शिणिएणयस्स अं-
 टपवाणियस्स बहवे पुरिसा दिक्खज्जचउवेयणा कल्लाकल्लि
 कोहालियाओ य पत्थियाए पकिए गेएहइ, गेएहइत्ता पुरि-
 मताहस्स एयरस्स परिपेरेतं सुबहुकाकअंरुए य धूतिअंरु-
 ए य पारेवडेट्टेहिजन्मभूमिपुकिकुडिअंरुए य अएणेसिं
 चैव बहूणं जलयरथलयरत्तदयरमाईणं अंरुइ गेएह-

इ, गेएहइत्ता पत्थियपकिणइ जरेइ, जरेइत्ता जेणं व
 निएणए अंरुवाणियए तेयेव उवागअंरुइ, उवागअंरुइत्ता
 णिएणयस्स अंरुवाणियस्स उवणेइ, तए एं तस्स
 शिणिएणयस्स अंरुवाणियस्स बहवे पुरिसा दिएणअए
 बहवे कायअंरुए यंजाव कुकुअंरुए य अएणेसिं च बहूणं
 जस्यअस्सैवमाईणं अंरुए तएयसु य कंरुएयसु य जउज-
 णएयसु य इंगाक्षेसु य तलिति जज्जति सोद्धितं, तद्धितं
 जज्जंता सोद्धिता य रायभग्गं अंतरावणंसि अंरुवपणियणं
 विंति कल्पेमाणे विहरइ, अएणो वि य एं से निएणए
 अंरुवाणियए तेमिं बहुहि कायअंरुएहि य ० जाव कुकुडि-
 अंरुएहि य सोद्धितं तद्धि भजे सुखं च ५ आसाए ५
 विहरइ, तए एं से शिणिएणए अंरुए एयकम्मं ४ सुबहुपायं
 समाज्जिचाएणं वासहस्सं परमांठं पालइ,पालइत्ता कालमासे
 कालंठवत्ताए पुडवीए उकोसमत्तसागरोवमट्ठीएयसु एरइ-
 एसु एरइयत्ताए उववसे, से एं ताओ अणंतरं उव्वट्ठिा
 इहेव सालादवीए चोरपट्ठीए विजयस्स चोरसेणावडस्स खं-
 दसिरीए भारियाए कुच्छिसि पुत्तएाए उववसे, तए एं से
 खंदसिरीजारियाए अलया कयाइं तिएई मासाणं बहुपकि-
 पुसाणं इमेयारूवे दोहसे पाउअणुए-धम्माओ एं ताओ अम्म-
 याओ ५ जाणं बहुहि मिच्छाईणियमसयणसंबंधिपरियण-
 माहिसाएहि अमोहि य चोरमाहिसाई सक्किं संपेरिउका
 एहायां जाव पायच्छित्ता सव्वाअंकारचुत्तिया विउलं
 असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणे ५ विह-
 रइ । निमियसुत्तरागयाओ पुरिमयेवत्थिया समाइ ० जाव
 पट्टराणावरणाभरिएहि य फलएहि शिष्किइहि असीहि
 अंसागएहि तोणेहि सर्जंवेहिं थणुहि समुक्खिचेहि सरोहिं
 समुद्धान्वेलियाइ य दामाहि लंबियाहि उसायाहिं
 उरुपट्टाहिं डिप्पत्तरेणं विज्जमाणं विज्जमाणे महया २
 उक्किं ० जाव समुत्तरवचूयं विव करेमाणीओ सासाइ-
 वीए चोरपट्ठीए सव्वओ समंताओ होएमाणीओ ३ अ-
 हिंरुमाणीओ ३, दोहलं वि शिणितं-तं जइ अइं अहं पि
 बहुहिं णाईणियमसयणसंबंधिपरियणमाहिसाई असेहिं सा-
 साइवीए चोरपट्ठीए सव्वओ समंताओ होएमाणीओ ३
 आहिंरुमाणीओ ३ दोहलं विणिज्जामिं चि कडु तंसि
 दोहलंसि अविणिज्जमाणंसिं जाव जिज्यामिं तए एं से
 विजए चोरसेणावइ खंदसिरीजारियं उहयं जाव पासइ
 एवं वयासी-कियहं तुमं देवा ऊहयं जाव जिज्यासिं,
 तए एं सा खंदसिरी भारिया विजयं एवं वयासी-एवं
 खलु देवाणुप्पिया ! मं तिएई मासाणं ० जाव जिज्यामिं, तए
 एं से विजये चोरसेणावइ खंदसिरीजारियाए अंतियं
 एयमइ मोच्चा शिसम्म खंदसिरीभारियं एवं वयासी-

अहासुहं देवाणुपिप । एयमहं पकिमुण्डे, पदिणेइत्ता तया-
 णंरत्तं सा खंदेसिरी जारिया विजयणं चोरसेणावइत्ता अन्न-
 सुष्वाया समाणी हट्टुहवहुहिं विषाणं जाव अषेहि यवहुहिं
 चोरपदिज्ञाहिं सद्धिं परिवुका एहाया० जाव विपुसिया विपुसं
 असणं पाणं स्वाइमं साइमं सुरं च ५ आमाएमाणी ४ विहरइ ।
 जिमियजुचुरागया पुरिसणवइत्ता सख्खच्छेणं जाव आ-
 हिंदिमाणं । दोहलं वि विंति, तए णं सा खंदेसिरी जारिया
 संपुष्पदोहइत्ता समाणीयदोहइत्ता विणियदोहइत्ता बोच्चि-
 एणदोहइत्ता संपुएणदोहइत्ता तं गम्भं सुहं सुहणं परिवहरइ,
 तए णं सा खंदेसिरी चोरसेणावइत्ता एतएहं मासाणं व-
 हुपभिपुष्माणं दारयं पयाया । तए णं से विजयचोरसेणा-
 वइ तस्स दारगस्स इद्धिसकारसमुदएण दसरत्ताइइपदिंयं
 करइ, तए णं से विजयचोरसेणावइ तस्स दारगस्स ए-
 कारसमे दिवसे विपुलं असणं पाणं स्वाइमं साइमं उवक्ख-
 णावेइ, उवक्खणविता भित्तएणं आभं तए, आमं तएत्ता०
 जाव तस्सेव मित्ताणपुरआए एवं वयासी-जम्हा णं अम्मं
 इमांसि दारांसि गम्भयंमि ममाणंसि इमेया रुचे दोहइत्ते
 पाठञ्जए तम्हा णं होउं मयं दारए अभंगसेणणामेणं,
 तए णं से अजंगसेणकुमारे पंचवाइ० जाव परिचायइ, तए
 णं से अजंगसेणे णामं कुमारे उम्मुकुत्तलु जावं यावि हो-
 र्वा, अइ दारियाओ० जाव अइआं दाआ उप्पिं लुंजइ ।
 तए णं से विजए चोरसेणावइ अएणया कयाइ कात्तवम्मु-
 षा संजुचे, तए णं से अजंगसेणकुमारे पंचहिं चोरसएहिं
 सद्धिं संपरिवुमे रोयमाणे विजयस्स चोरसेणावइस्स महाया
 इद्धिसकारसमुदएणं एहिइरणं करइ, करइत्ता वहुहिं होइयाइं
 मयकिवाइं करइ, करइत्ता कात्तेणं अप्पए जाए यावि होत्था,
 तए णं से अजंगसेणकुमारे चोरसेणावइ जाए अहम्मिए०,
 जाव कएयाइं गेएहइ, गेएहइत्ता तए णं ते जाणवया पुरिसा
 अजंगसेणचोरसेणावइत्ता बहुगाम्भयावणहिं ताविया स-
 माणा अक्षमसं सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु
 देवाणुपिपया । अजंगसेणचोरसेणावइत्ता पुरिमताजे णयरे
 पुरिमताज्ञाणयस्स उत्तरिद्धं जणवयं वहुहिं मामयापहिं०
 जाव गिच्छणं करमाणे विहरइ, तं मयं खलु देवाणुपिपया ।
 महक्खस्स रस्से एयमहं विएणुवित्तए तए णं जाणवया
 पुरिसा एयमहं अएणमएणं पमिसुणं, पमिसुणेइत्ता महत्तं
 महत्तं महरिहं रायरिहं पाहुं गिएहइ, गेएहइत्ता जेणव पु-
 रिमताजे णयरे तेषव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता जेणव म-
 हक्खले राया तेषव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता महक्खलस्स
 एणो तं महत्तं० जाव पाहुं उवसेइं करयस्सअज-
 ङ्गि कहु महक्खलं रायं एवं वयासी-तुवुं बाहुच्छा-
 या परिमदिया निजया विरावेगा सुहं सुहणं प-

रिबसित्तए मालादवीचोरपद्धिए अजंगसेणे चोरसेणा-
 वइ अम्मं बहुहिं मामयापहिं ५० जाव पिदुणे करं-
 माणे विहरइ, तं इच्छापि णं सार्वा । तुवुं बाहुच्छया परि-
 ग्गहिया पिच्छया निक्खिग्गा सुहं सुहणं परिवसित्तए णि
 कहु पायवकीया पंजिउत्ता मइम्महरायं एयमहं विएणवत्ता
 तए णं से महक्खले राया तसिं जणवयाणं पुरिसाणं अ-
 तिए एयमहं साक्षा एिसम्म आरुसुणे० जाव मिसिमिसे-
 माणे ति बलियं भिज्जामिं पिज्जामे साहइ दंढं सदावेइ, सदा-
 वेइत्ता एवं वयासी-गच्छइ णं तुवुं देवाणुपिपया । सास-
 कविचोरपद्धिं विपुलपहिं अभंगसेणचोरसेणावइं जीवग्गाहिं
 गिएइत्ता मयं उमणंहि, तए णं से दंढं ते दहं चि
 एयमहं पमिसुणेइ, पमिसुणेइत्ता तए णं से दंढं बहुहिं पुरि-
 सेहिं सख्खच्छेणं जाव पहरणेहिं सद्धिं संपरिवुमे मगाइपहिं
 कएणमि० जाव पिपत्तेरिं वज्जमाणं महाया ठाकिट्टणायं
 करमाणे पुरिमताजे णयरे मउकं मउक्केणं निग्गच्छइ, नि-
 गच्छइत्ता जेणव सालादवी चोरपद्धिं तेषव पट्टारत्त्यग-
 मणाए तए णं तस्स अभंगसेणावइस्स चोरपुरिसे इधी ते
 कटाए सक्खे म्माणे जेणव सान्नादवी चोरपद्धिं जेणव अ-
 भंगसेणावइ तेषव उवागया करयल० जाव एवं वयासी-
 एवं खलु देवाणुपिपया । पुरिमताजे णयरे महक्खलेणं र-
 षा महाया भक्खकरणं परिवारेणं दंढं आणए-गच्छइ णं
 तुमं देवाणुपिपया । सालादवीचोरपद्धिं विपुलपहिं, अभं-
 गसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहिं गिएइत्ता, गिएइत्ता मयं
 उवमोहं । तए णं से दंढं महाया भक्खकरणं जेणव सा-
 लानवी चोरपद्धिं तेषव पट्टारत्त्य गमणाए तए णं से अजं-
 गसेणचोरसेणावइ तसिं चोरपुरिसाणं अतिए एयमहं मोक्षा
 एिसम्म पंचचोरसयाइं सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-एवं
 खलु देवाणुपिपया । पुरिमताजे णयरे महक्खल० जाव तेषव
 पट्टारत्त्य गमणाए आणए, तए णं से अभंगसेणे ताइं पंच
 चोरसयाइं एवं वयासी-तं मे च खलु देवाणुपिपया । अम्मं
 तं दंढं मालाकवि चोरपद्धिं अमं पचं अंतरा चेव पमिनेहि-
 चए, तए णं ताइं पंच चोरसयाइं अजंगसेणस्स तहं लि०
 जाव पमिसुणेइ, पमिसुणेइत्ता तए णं से अभंगसेणे चोर-
 सेणावइं विपुलं असणं पाणं स्वाइमं साइमं उवक्खवावेइ, उ-
 वक्खवावेत्ता पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं एहाए० जाव पायपि-
 जे ज्ञायणमं ववत्ति तं विपुलं असणं पाणं स्वाइमं साइमं सुरं
 च ५, आमाएमाणं ४ विहरइ । जिमियजुचुरागए वि य
 णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुइए पंचहिं चोरसएहिं
 सद्धिं अलं चमं उरुइइ, उरुइइत्ता सख्खं० जाव पहरणे
 मगाइ तंदिं० जाव रवेणं पञ्चावरइत्ता कालसमयांसि साला-
 दवी चोरपद्धिया ओ पिग्गच्छइ, पिग्गच्छइत्ता विसम-

मगहणं त्रिप गद्वियजचपाणिए तं दंके पकिन्नासेमाणे चि-
 छइ, तए णं से दंके जेणव अभंगसेणे चोरसेणावइए तेणे-
 व उवागच्छइ, उवागच्छइया अजंगसेणेणं चोरसेणावइइया
 सदिं संपल्लगेया वि शेत्या । तए णं से अभंगसेणे चोर-
 सेणावइ तं दंके स्वियमेव हयमाहियं जाव पकिंतइति,
 तए णं से दंके अभंगसेणे चोरसेणावइ हयं जाव प-
 किनेहिए समाणे अत्यामे अचले अवीरिए अपुरिसका-
 रपरकमे आधाराणिएमि ति कइ जेणव पुरिमतासे ण-
 थरे जेणव महब्बसे राया तेणव उवागच्छइ, उवागच्छइया
 करयलं एवं वयासी-एवं खलु सामी ! अभंगसेणचोरसे-
 णावइ विभमदुग्गमगदणं त्रिप गद्वियजचपाणिए एणे ख-
 लु से सक्का केणइ सुवहुएण वि आमवलेण वा इतियवले
 स बा जेहवसेण वा रहवसेण वा बाठारंगिणं पि उरं
 उरे ए गिएहचए, ताडे सामेण य भेदेण य उवपदाणेण य
 चींनजमाणे उपत्तेयावि हेत्या । जे दंकेण य वियसे अ-
 ण्ठितरगा सीमगममाभित्ताइणियसयणसंभियपरियणं च
 विपुल्लेणं धणकणगरयणसंतसारमाचए अणं भिदइ अज-
 गसेणसय चोरसेणावइ अनिकलणं अनिकलणं महत्याइं
 महग्गाइं महरिदाइं पाहुदाइं पेनेत्ता अजंगसेणं च चोरसे-
 णावइ वीसंजमाणे, तए णं से महब्बसे राया अण्णया
 कयाइ पुरिमतासे णथरे एगं महं महइ महालियं कूढागार-
 मालं करइ, अणेगसंभयपाता थ, तए णं महब्बले राया
 अण्णया पुरिमताले णथरे उस्सुकें जाव दसरचं पमोयं उ-
 म्पासावेइ, उन्पोसावेइत्ता कोकुंविपपुरिसे सदावेइ, सदावेइत्ता
 एवं वयासी-गच्छइ णं तुम्भं देवाणुप्पिया ! सान्नाकवीए
 चोरपक्षीए तत्थ णं तुम्भे अजंगसेणं चोरसेणावइणं कर-
 यलं जाव वयइ-एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमतां
 महब्बसस रखां उस्सुकें जाव दसरचं पमोउन्पोसिए
 तं किञ्चं देवाणुप्पिया ! विपुलं अमणं पाणं स्वाइं साइं
 पुक्कवत्थगंमण्णालंकारं य इइं हव्वभाणिज्ज उदाहु सयमेव
 गच्छिन्ना तए णं कोकुंविपपुरिसे महब्बलस रखां करयलं
 जाव पकिन्ने, पकिन्नेत्ता पुरिमतालाओ णथराओ
 पकिं पकिं एाइविकडेइं अक्खाणेइं सुहेइ पातरासेहिं
 जेणव सान्नाकवी चोरपक्षी तेणव उवागच्छइ, उवागच्छइया
 अजंगसेणं करयलं जाव एवं वयासी-एवं खलु देवा-
 णुप्पिया ! पुरिमतालं महब्बलस रखां उस्सुकें जाव
 उदाहु सममेव गच्छिन्ना, तए णं से अभंगसेणे ते कोकुं-
 विपपुरिसे एवं वयासी-अहं णं देवाणुप्पिया ! पुरि-
 मतां सयमेव गच्छामिए कोकुंविपपुरिसे सकारेइ, सकारे-
 इत्ता पकिंविस्सेइ । तए णं से अभंगसें बहुहिं मिचं
 जाव परिउमे, एहाएणं जाव पायच्छिणे सवालंकारविज्-

सिए सालाकवी चोरपक्षीओ पकिणिकलवइ, पकिणिकल-
 मात्ता जेणव पुरिमतां जेणव महब्बसे राया तेणव
 करयलपरिग्गाहियं महब्बलं रायं जएणं विजएणं बदावेइ,
 व चोवेइत्ता महत्थं जाव पाहुइं उवसेइ, तए णं से महं
 अजंगसेणसस चोरसस तं महत्थं जाव पकिच्छइ, अजग्ग-
 सेणचोरसें सकारेइ संमाणेइ, संमाणेइत्ता विस्सेइ कू-
 ढागारसान्नावणे आवासएहिं दल्लयइ । तए णं से अजग्ग-
 सेणे चोरसेणावइ महब्बलेणं रखा विस्सेणिए समाणे जेणव
 कूढागारसान्ना तेणव उवागच्छइ, उवागच्छइया तए णं से
 महं कोकुंविपपुरिसे सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-ग-
 च्छइ णं तुम्भे देवाणुप्पिया ! विपुलं अमणं पाणं स्वाइं
 साइं उवक्कवावेइ, उवक्कवावेइत्ता तं विपुलं अमणं पाणं
 स्वाइं साइं मुरं च पुवहुपुक्कगंधमण्णालंकारं च अभं-
 गसेणसस चोरसें कूढागारसान्नाए उवसेइ । तए णं ते
 कोकुंविपपुरिसा करयलं जाव उवसेइ, तए णं से अजग्ग-
 सेणं बहुहिं मिचसिं संपारिउमे एहाएणं जाव सवालंकार-
 विज्जिएणं तं विपुलं अमणं पाणं स्वाइं साइं मुरं च आ-
 साएमाणे च पमत्ते विहरइ । तए णं से महं कोकुंविपपुरिसे
 सदावेइ, सदावेइत्ता एवं वयासी-गच्छइ णं तुम्भे देवाणु-
 प्पिया ! पुरिमतालसस णयसस दुवारारं पिहिंति, पिहिंतिचा
 अजंगसेण चोरसेणावइ जीक्काइं गएइति, गेहइतिचा मह-
 ब्बसस रखां ते उवसेइ, तए णं महं अभंगसेण चोरो एते
 णं विहाणेणं वज्जं आणवेइ, एवं खलु गोयमा ! अभंगसेण
 चोणं पुरां जाव विहरइ । अहं गच्छिणं जेते ! चोरसे-
 णावइ कालमासे काइं किञ्चा कइं गच्छिणं किहिं उवव-
 जिइति ? । गोयमा ! अभंगसेणचोरसें सचावीसं वासाइं
 परमाइं पाञ्चिचा अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे सुलीं जिष्ण-
 कए समाणे कालमासे काइं किञ्चा इभीसे रयणप्पभाउ उक्का-
 सेणं णेरइएमु उववजिइति, स णं ताओ अण्णतं उवहिंत्ता
 एवं संसारो जहा पदमे जाव पुटवीं, तओ उवहिंत्ता वाणा-
 रसीए णथरीए सुयरात्ताए पक्खाहिंति, से णं मच्छसंयारि-
 एहिं जीवियाओ विवरोणिए समाणे उ तरेव वाणारसीए
 णथरीए सेह्हुळंसे पुचत्ताए पक्खाहिंति, से णं तत्थ उम्मुक्क-
 बाह्णजेए एवं जहा पदमे जाव अंतकाहिं ति णिकसेवो ।

(एवं खलु ति) एवं वच्यमाणप्रकारेणार्थः प्रकृतः खलु वाक्या-
 लङ्कारे । (अंभु ति) आत्मन्ने, (देसप्ये ति) मयउलप्रान्तं
 (विसमगिरिकंदरे कालंबसंनिविद्धा) विषयं यंकरेः कन्दर-
 कूहरं तस्य यः कालम्बः प्रान्तः तस्य सन्निविष्टा सन्निविष्टता
 या सा तथा । कोलम्बो हि लोके प्रयतनं वृक्षशालाप्रमुच्यते ।
 इहोपचारतः कन्दरं प्रासः कोलम्बो व्यक्त्यातः । विषाणं ३ लु०
 ३ अ० । (स्वयधिक्रीका सुयमेति न युदीता) चारतपुरराजनि,
 आ० वू० ६ अ० ।

अजजिजय-अभय-वि० । अभयविते अभिराधिते, आचा० १ शु० १ अ० १ उ० ।

अजदप्येसा-अभयप्रवेशा-क्री० । अविद्यमानो भटानां राजा-हादयानां पुरुषाणां प्रवेशः कुटुम्बपहेषु यस्यां सा तथा । यत्र राजाणां दत्तु भटाः प्रवेशः न शक्नुवन्ति तादृशानां पुरुषांश्च, अ० १२ शु० ४ अ० १ ज० । आ० । वि० ।

अजतद्व-अभयकार्य-पुं० । भवेन भोजननार्थः प्रयोजनं भका-र्थः, न भकाथोऽनकार्यः । अथवा न विद्यते भकाथो यस्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे साऽभकार्यः । उपवासे, ध० २ अ० १० ।

अत्र पञ्चाकाराः, तथा च सूत्रम्—

सुरे उगए अभयतद्वं पवकवाइ, चउत्विहं पि आहारं अभयं पाणं स्वाइमं माइमं अन्नत्याखाभोगेणं सहसागारेणं पारिष्ठावधियामारेणं महत्तरामारेणं सब्वसमाहिविचिपागा-रेणं बोसिरहं ।

अस्यार्थः—(सुरे उगए) सुवोऽन्नाहारजय, अनेन भोजनानन्तरं प्रत्याख्यानस्य निषेध इति कृतं । भवेन भोजननार्थः प्रबोजनं भकार्यः, न भकाथोऽभकार्यः । अथवा-न विद्यते भकाथो यस्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे साऽभकार्यः, उपवास इत्यर्थः । आका-राः पूर्ववत् । नवरं पारिष्ठापनिकाकारं विशेषः, यदि त्रिविधा-हारस्य प्रत्याख्याति तदा पारिष्ठापनिकं कल्प्यते, यदि तु चतु-र्विधाहारस्य प्रत्याख्याति पानकं च नास्ति तदा न कल्प्यते, पानकं नृक्षरिते कल्प्यते एव । (बोसिरहं) भकार्यमशनादि वस्तु व्युत्पन्नति । प्रब० ४ द्वार । ध० । भाव० । आ० नृ० । ल० प्र० । पंचा० ।

अजतद्विय-अभयकार्यिक-पुं० । उपवासिके, शोष० । द्वितीयेऽ-ङ्गि भोक्ति, पं० व० २ द्वार ।

अभयपाण-अभयपान-न० । प्रकपानालाजे, ध्य० ७ उ० ।

अजय-अभय-न० । न० त० । विशिष्टे आत्मनः स्वास्थ्ये निभे-यस्यभ्रमृमिकानिबन्धनजृतायां भूतो, ल० । रा० । “ अभयं परिधया सुखं, अजयदाया भवाहं च ” । वस० १८ अ० । प्रा-णिरस्तायाम्, सूत्र० १ शु० ६ अ० । अविद्यमानं जयमस्मिन् स-त्वानामिजयः । ससद्वशाधिषे संयमे, आचा० १ शु० १ अ० ५ उ० । ससकारकभयरहिते, वि० । सूत्र० १ शु० ६ अ० । श्रेणि-कपुत्रे अजयकुमारे, पुं० । आ० नृ० १ अ० । आ० म० । ध० ।

अभयकर-अजयकर-वि० । अजयं प्राणिनां प्राणरक्षाकर-अज-तः परतस्वसुपदेशदानात् करोतीत्यजयकरः । स्वतो हिंसानि-वृत्तत्वेन परतस्व हिंसां मा कार्षीत्युपदेशदानेन प्राणिनामनु-कल्पकं, “ अजयंकरे वीरक्षणतचकम् ” सूत्र० १ शु० ६ अ० । निभयकरे, तं० ।

अभयकरण-अभयकरण-न० । जीवानामभयकरणे, (पं० व०)

मुत्तूण अजयकरणं, परोवयारो वि नत्थि अणो ति । इमिगितेणगवाय्यां, न य गिहिवसे अविगलं तं । ११ ॥

मुक्त्वाऽजयकरणमिहलोकपरबोक्तयाः परोपकारोऽपि नास्व-म्य इति । अत्र हृदयान्माह-मायेकस्तीनेककालमात्रं हृदय-म् । न च पृथ्वसे अभिक्तं तद्व-अभयकरणमिति गाथाार्थः ॥ पं० व० १ द्वार ।

अभयकुमार-अजयकुमार-पुं० । श्रेणिकस्य राहः नन्दादेव्यासु-त्यत्र पुत्र, हा० ।

तद्वचनव्यता-

पदमस्य य तां भंते । अज्जयणसस के अइहे पद्यते ? । एवं खसु जंभु ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहव जम्बुदी-वे दीवें जारहेवास दादिहणुहजरहे रायगिहे णामं नभरे ह्दत्था । वद्यओ-गुणसिलए चेईए वद्यओ-तत्प ए रायगिहे एयरं सेणए णामं राया होत्था । महिमाहिवं-तवणओ-तत्स णं सेणियसस रओ नंदा नामं देवं होत्था, सुकुभासाणियापाया वएणओ-तत्स णं सेणियसस पुचा नंदाए देवीए अत्तए अन्नं नामं कुपारं होत्था । अ० ण० जाव सुखे सभमजयदेकउवपयाणणीतिलुप्यठ च-नयविहिन्नुं ह्दएः मगएगवेससं अत्यसत्यमई विसारए उय चयाए वेणइयाए कमयाए परिणामियाए चउत्विहाए बुक्किए उववए, सेणियसस गणां बहुसु कउजेसु य कुटुंबे-सु य मंतसु य गउभंसु य रहस्मएसु य निच्छएसु य आ-पुच्छियज्जे पमिपुच्छियज्जे मदीपमाणे आहारं आलंबणे चक्खुमेदीज्जे पमाणए आहारज्जे आहंवाणज्जे चक्खु-सवकज्जेसु मन्वन्नमियासु झएकपवण विट्ठणवियारं २ रउज्जपुरचिते यावि होत्था, सणियमस गणाणां इज्जे च रउं च कोमं च कोट्टिगां च वदं च वाहाणं च पुरं च अं-तेउरं च समयेव समुपेकखमाणं समुपेकरुमाणं विहरति । एवमित्यादि सुगमं, नवरभ-वर्चमिति वदयमाणप्रकाशं । प्रहम इति प्रकमः । अलुवाक्यालुवारं । जम्बूद्वीप्यामरणं । इहंवेति । देशतः प्रत्यासन्न पुनरसंख्ययत्वात् जम्बूद्वीपानामसंख्येति-भावः । (इत्यादिटीका सुगमा नोपपन्नस्येने) हा० १ अ० न० । नि० स्था० विशेष० आ० म० ध० र० । (' भद्रकुमार ' शब्द-ऽपूर्वसाङ्केतिकदेवमलनं वदयने)

अभयकुमारकथा जयम्-

अस्ति स्वस्तिकवत् पुत्र्याः, पुत्र्याः संपदं भास्वपदम् । सुचक्षुमङ्गलव्यास, पुर राजगृहामिभयम् ॥ १ ॥ प्रकटप्रौढमिष्यात्व-काननेकपरभयः । सुधोऽज्वलसुगणोऽभयः, श्रेणिकस्तत्र पार्थिवः ॥ २ ॥ आगमार्थपरिज्ञान-विरफूजदुर्लुकाकनपुत्रः । तस्याजयकुमारार्थां, नन्दनां विश्वनन्दनः ॥ ३ ॥ आगच्छद्वन्द्यात् तत्र, सुनिपञ्जराशियुतः । प्रकटीकृतसद्वर्मा, सुधर्मो गणभृशरः ॥ ४ ॥ र्वावतु तत्पदमन्त्रं, सर्वद्वीं श्रेणिकां नृपः । शासनासर्पणामिच्छ-प्रगच्छसपरिच्छदः ॥ ५ ॥ नानायानसमाकट-स्तथाऽन्याऽपि पुरीज्जतः । त्रिकसंभारसंजात-रोमाञ्जलसिन्तां गतः ॥ ६ ॥ एवं प्रजावनां प्रेष्य, तत्रैकः काष्ठमारिकः । गत्वा प्रकथा शुक्रकथा-ऽश्रीर्षदमिसिंमं वथा ॥ ७ ॥ जन्तुघातो भृषाऽस्त्येय-मम्रस्य च परिग्रहः । भो भो जप्याः ! विमुच्यन्तां, पञ्चने पापहेनवः ॥ ८ ॥

इत्याकथं नरेन्द्राद्या, पर्यक्तवा गृहेऽगमत् ।
 कर्मकः स तु तत्रैव, स्वाध्यायी तस्मिन्निधाय स्थिरः ॥ १४ ॥
 गुरुस्तमुचं विसन्न-भ्रितितं ब्रूहि । सोऽप्रधीत् ।
 आनामि यद्दि वः पाद्व्यं, बन्दिस्वयामि सर्वदा ॥ १० ॥
 ततः प्रमाज्य ते सद्यो, गुरवः कृतयोनिगम ।
 अर्पयामसुराचारं, शिष्ययामसुराशु ते ॥ ११ ॥
 तं गीताधेयुतं भिक्त्वा-अर्पयामस्यदा गतम् ।
 प्रागवस्थाविद् पीराः, प्रेष्य प्रादुरहंयवः ॥ १२ ॥
 अहो ! महकैस्वकाऽयं, महासस्यं महामुनिः ।
 इति यत्कोक्तः विद्मै-परहास्यत सोऽवहम् ॥ १३ ॥
 ततोऽसौ शैककत्वात्, वरीपहमसासदिः ।
 सुप्रमस्वामिना प्रोच-ऽनुचानेन वचस्विना ॥ १४ ॥
 संयमे किं समधान-मस्ति तं सुपु सोऽभ्यधात् ।
 भस्ति युष्मत्प्रसादेन, बिहारीऽप्यत्र चेद् भवेत् ॥ १५ ॥
 विधास्यते समाभित्तेन, धत्स्वत्युक्ता गुरुस्ततः ।
 अभयस्वागतस्याख्या-द्विदारी नो भविष्यति ॥ १६ ॥
 अभयः स्माह नः कस्मा-दकस्मादीहवाः प्रजे ! ।
 अग्रसाहोऽथ तेऽश्रो-मुनेरस्य परीपहम् ॥ १७ ॥
 अत्रोप्यभ्यधादकं, विवस्व स्थायतां प्रभो ! ।
 निवसंत न चेदेष, न स्थातस्यं ततः परम् ॥ १८ ॥
 भोमिरत्युके, मुनीन्द्रेण, निस्त्रन्दः शासनोऽप्रतो ।
 जगाम धाम सद्दम्-धामधामाऽभयस्ततः ॥ १९ ॥
 रत्नामसपत्न्यां, रत्ननाजिषिषोऽङ्गणे ।
 कांठित्रीयां समाकृत्य, राशिप्रथमवीकवत् ॥ २० ॥
 तुष्टो राजा दद्यान्त्यथै-रत्नकांठित्रीयां जनाः ! ।
 गृह्णतैनां यथेष्टं हि, पर्यंतेत्यघोषयत् ॥ २१ ॥
 ततोऽमिलद् नृतं सोकां, सोऽनुपः सोऽभयेन तु ।
 बभारं गृह्णानामेषा, रत्नकांठित्रीयां मुधा ॥ २२ ॥
 बुष्पाभिः स्वगृहं गन्वा-ऽनया किन्तु गृहीतवा ।
 यावज्जीवं विमोक्तस्य, जलमोनि त्रियस्तथा ॥ २३ ॥
 इत्याकथयं जनास्त्वृण-सुकर्णांस्तस्मिन्निष्कृतवः ।
 बिच्यतेन निश्चलास्तस्युः, सिंहनादं गृगा इव ॥ २४ ॥
 अजयः प्राह भोः ! कस्मा-दिदम्भस्तेऽप्यदोऽवहम् ।
 लोकोत्तरमिवं लोकः, किं क्तिक्तकुतुमीश्वरः ? ॥ २५ ॥
 सोऽशार्दी-मुनिना तेन, तस्यैव अथमप्यदः ।
 तत्कुतो हसतेवं त-मतिवृष्कारकारकम् ? ॥ २६ ॥
 न जानामी वयं स्वार्थि-स्तस्यवयः सवर्माह्वम् ।
 तस्मिन्मचायिष्याम-स्तदिदानीं महामते ॥ २७ ॥
 अभयेन समं गत्वा, भीमनस्ते प्रणम्य तम् ।
 महायं क्लामयामासुः, स्वापरार्थं सुदुर्महुः ॥ २८ ॥
 इत्येवमजयो जैन-शासनाधीविशारदः ।
 अतिष्ठिपज्जनं मुग्धं, बिरे धर्मं जिनादिते ॥ २९ ॥
 इत्यथैव हतपापकर्मज्ञं,
 सज्जना अभयवृत्तमुन्वयहम् ।
 शिकृपन्तु कृतधर्ममङ्गलं,
 संततं प्रवचनार्थकौशलम् ॥ ३० ॥ ४० ॥ २० ॥

अभयघोष-अभयघोष-पुं० । स्वनामस्वाते वैद्ये, ४० ० ।

अजयघोषकथा वेद्यम्-

भासीन् पूर्वविदेहेषु, शशुसंहतिवुञ्जे ।

१७७

वत्सावत्याकथयिजेय, प्रवर पूः प्रभङ्करा ॥ १ ॥
 तस्यां सुविधिवैधस्य, सुतुः सत्कर्मकर्मतः ।
 आभीदभयघोषाकथं, वैचविद्यार्थशारदः ॥ २ ॥
 नरेन्द्रमन्त्रिस्वादेश-नगरअभिज्ञां सुताः ।
 प्रशस्याः सद्गुणुभययो, वयस्वास्तस्य जीहरे ॥ ३ ॥
 मिलितानामयामिवा-मन्यपूर्वैद्यमन्दि ।
 बागादनगरवृत्तः, साधुमार्थुकीरं चरत् ॥ ४ ॥
 तं पूर्वपालभूपाल-पुत्रे नाम्ना गुणाकरम् ।
 निहृष्टकुष्ठं ते वृष्टा, मोचिरे वैधानन्यम् ॥ ५ ॥
 सदाऽप्येहाभिषेधवायव्, भवद्भिर्नयते जनः ।
 न कस्यचित्पयस्याद्-भित्कत्वा कियते किल ॥ ६ ॥
 जगाद् वैधजन्माऽपि, चिकित्स्वोऽयं मुनिमेवा ।
 भो मद्राः ! निश्चितं किन्तु, भेषजानि न सन्ति मे ॥ ७ ॥
 तेऽप्युत्तुर्ब्रूहे मृत्यं, शाधि सावौषधानि नः ।
 वचाय सोऽपि गोशीर्षे-चन्दनं रत्नकम्बलम् ॥ ८ ॥
 सङ्कल्पेन तव क्रेयं, तृतीयं तु मवोकसि ।
 विद्यतं लक्ष्मणाकथं, तैलं तद् गृह्णतां द्रुतम् ॥ ९ ॥
 सचन्द्रयं गृहीत्वाऽपि, गन्वा ते कृषिकापणम् ।
 अयाचन्तौषधे तौत्तु, भेषुषुचं किं प्रयेजन्म ? ॥ १० ॥
 तेऽवोचन् कृष्टिनः साधो-भित्कत्वाऽऽऽर्थां विधास्वते ।
 आकर्षयं तद्वचः श्रेष्ठो, जेतस्वैवमचित्तयत् ॥ ११ ॥
 ध्वेषां प्रमादशुद्धि-काननं वीचनं ह्यदः ।
 विवेकबभुरा बुद्धिः, क्व च्येयं वापिचोकिता ? ॥ १२ ॥
 मादृशामिहंशं योग्यं, जराजरेरवर्षमाम् ।
 यद् कुर्वन्त्यापि तद्दो !, धन्येभोरोऽप्यमुञ्जेते ॥ १३ ॥
 पर्यं विचिन्त्य स श्रेष्ठो, ते समर्प्यैष्ये मुधा ।
 भावितारमा प्रवमाज, वमाज व महोदयम् ॥ १४ ॥
 कृत्वा समप्रसामर्शं, तस्मिन्ना ज्ञानिशाशिलाय ।
 समं वैद्ययरेण्येन, प्रयसुः साधुसचिषौ ॥ १५ ॥
 नवाऽनुकाप्यै तैसेन, सर्वज्ञं ब्रह्मिणः स तैः ।
 वेष्टिनः कम्बलेनाथ, निरीयुः कृमयस्ततः ॥ १६ ॥
 शीतत्वापत्रं ते लग्नाः, निर्यङ्गिस्तेः प्रपङ्कितः ।
 लिप्तश्च चन्दनेनाशु, स्वास्वयमाप मुनिः कृणात् ॥ १७ ॥
 विरेवमाद्यवलायां, निर्ययुः कृमयस्त्ववः ।
 मांसगास्तु द्वितीयस्यां, तृतीयास्यां च तेऽस्थिगाः ॥ १८ ॥
 तान् कर्मास्ते द्यावन्त-शिविषिपुगोकसेवरे ।
 संरोहया च ते साधुः, सद्यः सद्यः प्रवाचिरे ॥ १९ ॥
 कृमयित्वा च नवा च, गत्वाऽन्येनगरं ततः ।
 चैत्यं चकृरच विक्रीय, तेऽर्द्धमूर्ध्वेन कम्बलम् ॥ २० ॥
 गृहीत्या गृहिधर्मं च, परचात् कृत्वा च संयमम् ।
 तं पञ्चाप्यव्युत्तेऽभूच-किन्द्रसामानिकाः सुराः ॥ २१ ॥
 तत्रश्चपुस्वा विदेहेषु, नृत्वा पञ्चापि साहराः ।
 ते प्रमज्य च सर्वार्थे-सिक्तेऽन्यत्र सुरोत्तमाः ॥ २२ ॥
 ततोऽप्यभयघोषस्य, जीवश्चपुस्वाऽत्र भारते ।
 बहव ज्ञन्यसंदाह-बाधनः प्रथमो जिनः ॥ २३ ॥
 शोषस्तु भरतो बाहु-बलिमोहो च सुन्दरी ।
 अङ्किरे तत्पत्यानि, प्रापुस्व परमं पद्मम् ॥ २४ ॥

पवं निशम्याऽभयघोषवृत्तं,

मुद्रा मुक्तां गुणराजिनाजाम् ।

इति सहाऽप्यौषधप्रपञ्चादेः,

कृतोद्यमा भवजना भवन्तु ॥ २५ ॥ ४० ॥ २० ॥

अज्ञयपदा-अभयनन्दा-खी० । बुद्धिनिधाने, अष्ट० १ वर्ग ।
 अभयपद-अभयद(क)य-पुं० । अभयं विशिष्टमात्मनः स्वास्व-
 य, निःश्रेयसधर्मीकचमभूता परमा कृतिरितिज्ञावः । तत अभयं
 द्वातीति अज्ञयः । जी० ३ प्रति० । ख० । तद्विन्द्यतमभयं
 शुभप्रकषेयोगाद्दिव्यशक्तिकृत्वात् । सर्वथा परार्थकारित्वा-
 द्वा नगवत् एव द्वातीति ॥ ५० १ अर्थ० । रा० । न ज्ञयं व-
 यते द्वाति प्रायापरपरालेकेऽप्युपसर्गकारिप्राणिनीत्यज्ञय-
 यः । अथवा-सर्वप्राणिजगपरिहारवती द्वाऽप्युक्त्या यस्य सो-
 ऽभयदयः । अर्द्धसाया निवृत्ते, उपदेशदानतो नियतं च ।
 अ० १ श० १ उ० । औ० । ५० । भवानभिमानो ज्ञयस्याज्ञयो
 ऽभयं, तद्वाचकः । तीर्थकरे, कथ० १ ५० ।

अज्ञयपदा[य-अज्ञयपदान-न० । दानमेव, ग० ।
 “यः स्वज्ञानासुखैविन्दो, दूतेषु योति तस्य ।
 अभयं दुःखभीतेभ्यो-ऽभयवत् तदुच्यते” ॥१॥ ग० १ अर्थ० ।
 नदि नृपस्तमो धर्म-स्तस्मात्सोऽस्ति तूलले ।
 प्राणिनो मखजीताना-मन्यं यत्प्रवीयते ॥ ५१ ॥
 इन्द्रधनुषधरादीनां, दातारः सुलना ऋषिः ।
 तूर्जनः पुण्यो लोकं, यः प्राश्निष्वजयप्रदः ॥ ५२ ॥
 महातामपि दानानां, कावेन क्रीयते फलम् ।
 भीतानजयदानस्य, ह्यय एव न विफलम् ॥ ५३ ॥
 इन्द्रमिदं तपस्तर्हं, तीर्थेभ्य तथा अग्रम् ।
 सर्वाश्वजयपालस्य, कर्त्ता नर्दति पांडहाडी ॥ ५४ ॥
 एकतः कृतवः सर्वे, समग्रपरदक्षिणाः ।
 एकतो अभयवीर्यं, प्राणिनः प्रापन्त्यपि ॥ ५५ ॥
 सर्वे वंदा न तत्कुप्युः, सर्वे यथा यथोद्विताः ।
 सर्वे तीर्थोभिषेकाश्च, तत्कुपोऽप्राणिनां द्या ॥ ५६ ॥ ५० १० ।
 अज्ञयदेव-अज्ञयदेव-पुं० । नवाङ्गुष्ठचिकारकं स्वनामक्यातं
 आचार्यं, स्थान० ।

(१) तच्चरित्रं त्वेवमास्थित्य-

धारापुच्छं नगयो महो धरस्व श्रेष्ठो धनदेव्यो नाम भार्याया-
 मजयकुमारो नाम पुत्ररत्नं उग्रं । स च धारयांमेव समवसुत-
 स्व वक्ष्यमानसुरिशिष्यजिनेश्वररिषोऽस्तिकं प्रवभाज । ततः प्र-
 क्रातिशयात्प्रकृशचपेजम्पर्योयः कुमारारवश्च एव वक्ष्यमानसु-
 रियाऽप्यनुज्ञातो विक्रमायसं० १०८८ मिते वर्षे आचार्यपदम-
 ध्यतिष्ठत् । तदानीं बुधकासादिभिस्त्रयन्नेलेखनादिषु विद्वान्-
 गामानां वृत्तयो म्युच्छिन्नप्राया आसन्, इत्येकदा निशि सुप्रध्या-
 नाऽवस्थितं तमजयदेवसुरि शासनवंधताऽवोचत्-भगवन् !
 पुष्योर्चायैकादशस्यैषु ऋषु टीका कृताः, तास्तु त्रे एवावशिष्टे,
 शेषा म्युच्छिन्ना इति संज्ञितः ततः पुनरुज्जीव्य सहोऽनुप्राज्ञ इति
 आचार्योक्तम्-शासनाऽधोऽभारः मातः ! अल्पसुखिरेहमत्तद्
 गहमं कर्त्तुं कथं शक्नुयाम् १, यतस्तत्र यदि किञ्चिदप्यु-
 स्मन्ं स्यात्सन्महेऽनधर्याय संसारं तावत् भवेदिति । ततो देव-
 तपोकम्-भगवन् ! त्वामहं समममेव भवाऽवोचम् । यश्च च
 त्वं संशयस्यसे तत्र तत्सुखमेवाहं स्वसंत्या, अहं च महावि-
 द्वाहं गात्वा तत्र श्रीमत्परमस्वामिने पुष्टा त्वां । यद्वायोमीत न कि-
 ञ्चिदनुपपन्नं ज्ञियन्ति, इति प्रवचनदेव्योःसादि तस्तत्कार्यं प्रा-
 र्थम् । समाप्तः पूर्वमेव भावात्सप्ततपसा निशि जागरवीश
 धानुप्रकाशं विकृतसंधिः समजायत । तदा छिद्यलोकैः सह-
 र्षं प्रावाचत-यदयमभयदेव उत्सुं व्याख्याति स्मेति, कुपिता

शासनदेवी शस्य त्वरीरे कुशरोगमुदपाद्यत् । तमपवाद्यमा-
 कर्षयं दुःखितमाचार्ये राजावागत्य धरत्येकस्त्रं रुधिररंगं
 व्याशाद्यत् । प्रकथयस्व-स्वभजनमापार्थं प्रसिद्धिमाद्यस्तदे
 पुमिन्मथे श्रीपार्श्वनाथप्रतिमाऽस्ति, यस्याः प्रसादात् नारा-
 युंजन रससिद्धिरासाः, तौ प्रकटय तत्र महातीर्थं प्रवर्त्तय,
 ततस्त्वं विभूताऽपकीर्तिमिच्छसि । ततस्तथाऽनयदेवसुरिया
 ‘जय तितुअश’ इत्यादि इतिशुद्धान्यायसकं स्तोत्रमुद्गीर्ण्ये
 सहस्रसहस्रं सा प्रतिमा प्रकटायिता, तस्मात्सत्याचार्यस्य महद-
 शः सवेव प्रोद्व्यहत् । पश्चात्करणेन्द्रवचसा तस्य स्तोत्रस्य द्वे
 गाथे विद्योम्य विशुद्धान्यायसकमेव प्राचीकटय, तादृशमेवापापि
 वपलभ्यते । सा च प्रतिमा ‘ब्रह्मात्’ नगरेऽप्यापि पुण्यमाना
 यत्किञ्चिच्छुभं च मेनिनाथशासनसमेवे २२२२ वर्षं कृतति तत्प्र-
 तिमाया आसनपूजे कृतमित्तं, पश्चाद् नवाशुभं वृत्तिः । पश्चा-
 शकादिटीकाश्च निमोय कवेदेवोऽननगरे वि०सं० ११३५
 मिते देवलोके गतः । ५० १० । इत्येकोऽभयदेवकथुः ।

अनेन चामहत्प्रभवधेयं च स्वपरिचयोऽपि—
 श्रीमजयदेवसुरिनाम्ना मया महावीरजनराजसन्तानवर्षि-
 ना महाराजवंशजन्मनेव संविम्बुनिवर्गप्रवरश्रीमस्मिन्बन्दा-
 चार्यानेवासिद्योऽदेवगणिनामधेयसाधोरुत्तरसाधकस्यैव वि-
 द्याकियाप्रधानस्य साहाय्येन समाप्यतम्, तदेवं सिद्धमहाधि-
 धानस्यैव समापिताधिकृतानुदेवगणस्य मम मङ्गलार्थं पुण्यपूजा-
 नामः भवते वर्तमानतीर्थनाथाय श्रीममहार्थीराय, नमः प्रति-
 पन्थिस्तोत्रप्रमथनाय श्रीपार्श्वनाथाय, नमः प्रवचनप्रवाधिकार्ये
 श्रीप्रवचनदेवतायै । नमः प्रस्तुतानुयोगशाधिकार्ये श्रीदोणा-
 चार्थप्रमुखपण्डितपर्यदं, नमःभक्तुवर्षाय श्रीभक्तुवर्षाका-
 येति । एवं च निजवंशयसलराजसन्तानेऽस्म्येव ममासना-
 भिममायासमानिसफलतां नयतो राजवंशया इव ब्रह्मना-
 जिनसन्तानवर्तिनः स्थितुंयन्तु, यथाचित्तोऽपेऽपेजातमनुति-
 ष्टानु सुष्टुचिन्तुकरार्थसिद्धियुगपुत्रतां च योग्येय इति ।

किञ्च—

संतस्प्रदायहीनवा-त्सदृहस्य विद्योगतः ।
 सर्वस्वपरशास्त्राणां-महेश्चस्मृन्तश्च मे ॥ १ ॥
 पाचनानामनकन्यात्, पुस्तकानामसुखित्तं ।
 सुभाषामतिभाभीयो-न्मतिभेदाश्च कुञ्चिन्तु ॥ २ ॥
 कुषाणि संजवन्तीह, क्वचनं सुविषयकिञ्चिः ।
 सिद्धानानुगतो योऽर्थः, सोऽस्माद्भ्रामो न चेतः ॥ ३ ॥
 शोथं चेतःजिने जने-मांसपर्जन्यदेवार्यः ।
 संसारकारणाद् योरा-दृष्याद्विद्वन्देशनात् ॥ ४ ॥
 कार्या न वा क्षमाऽस्मात्, यतोऽस्माभिरनर्प्रदः ॥
 एतन्नमिकाभार-मुपकारेति शोचिन्तु ॥ ५ ॥
 तथा सोमार्थं सिद्धान्नाद्, बाध्यं मध्यस्थया चिया ।
 द्रोणाचार्यार्थिभिः प्राङ्-रत्नेकेराहंतं यतः ॥ ६ ॥
 जैनप्रवर्थासुद्रुमवनाऽधिकृतं बाधभ्रमं,
 सद्वात्थानकयायुर्नि मयका स्थानाङ्गसद्भाजेन ।
 संस्थाप्यापदितानि युगान्तरप्रायेयं ह्यव्याधिना,
 श्रीप्रस्तुतुविजैरतः परमसावेव प्रमाप्यहृत्कृतां ॥ ७ ॥
 श्रीधिकमार्दिरसनेरुक्काता-
 च्छनेन विशयाधिकेन युगे ।
 समासहृष्टेऽस्तिगते । (वि०सं० ११२०) विवक्ष
 स्थानाङ्गटीकाऽप्याविशोऽपि गम्या ॥ ८ ॥ ५० १० ज्ञ० ।

तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मन्वन्वद्विप्रतिस्पर्दिनः ,
 तद्वचन्योरपि बुद्धिसागर इति क्वातस्य सूत्रेषुपि ।
 उन्वोऽभयनिबन्धवन्पुरुषचःशुद्धादिसङ्गमणः,
 श्रीसिंहप्रविहारिणः भुतनिषेधार्त्तचक्रामिषः ॥ ८ ॥
 शिष्येणाभयदेवाय-सूरिणा विबुधितः कृता ।
 क्राताधर्मकथाकृत्य, भुतभक्षणा समासतः ॥ ९ ॥ (युग्मय)
 निवृत्तिककुलनभस्तत्र-चन्द्रगुणायक्यसूरियुक्तेन ।
 परिहृतगणने गुणव-तिष्येण संशोधिता विषयः ॥ १० ॥
 एकादशसु शतेष्वय,विद्वान्धिकेषु विक्रमसमानाम् (सं०११२०)
 अर्णाह्रिषपाटकनगर,विजयवशाभ्यां च लिख्येयम् । ११ ॥ का०२ भु०
 यस्मिन्नतीते भुतसंयमभिया-
 वप्रान्दुष्यत्य परं तथाविधम् ।
 क्लयाभ्यं संवस्रतोऽभितु किते,
 भौवकमानः स वतीऽभ्याऽभवत् ॥ १ ॥
 शिष्योऽभयस्य स्वनिष्कारः,सूरिः कृत्वा निष्पविचित्रशास्त्रः ।
 स्या निरात्मविहारवती, चन्द्रप्रभञ्जद्रकुलाम्बरस्य ॥ २ ॥
 अन्वोऽपि विद्वां भुवि बुद्धिसागरः,पाणिद्वयत्पारिभ्रगुणैरनुपमैः ।
 शब्दादिष्वप्रप्रतिपादान्कानध-प्रथप्रयोगतो प्रवरः क्लमावताम् ॥ ३ ॥
 तयोर्निर्मां शिष्यवस्व चाक्यादु,
 बुधि व्यधात् श्रीजिनचक्रसूरः ।
 शिष्यस्तयोरेष विमुग्धबुद्धि-
 र्म-शार्धभोषेऽभयदेवसूरिः ॥ ४ ॥
 बोधो न शास्त्रार्थगतोऽस्मि नादशो,
 न तादृशो वाक्पदुत्ताऽस्ति मे तथा ।
 न चास्ति टीके न वृत्तनिर्मिता,
 हेतुः परं मेऽत्र हतो विमोक्षकः ॥ ५ ॥
 योऽहं किमपि हन्मं बुद्धिमान्दादु विवर्द्धे,
 मयि विहितरुपास्तऽभितः शोधयन्तु ।
 त्विषुलमनिमनोऽपि प्रायशः सानुतेः स्या-
 न्नाहं न मतिविमोहः किं पुनःतुदृष्टाशयः ॥ ६ ॥
 चतुर्गधिकविशतियुते,वर्षसहस्रे शते (सं०११२४) च लिख्येयम् ।
 धवलकपुर् प्रसत्ये, धनपस्यांबकुलचन्द्रिकयोः ॥ ७ ॥
 अर्णाह्रिषपाटकनगर. संघचरैरेतेमानुषुभुसुधैः ।
 श्रीद्रोणाचार्याथै-विद्विज्ञिः शोधिता चेति ॥८॥ पञ्जा०१.६बिच०
 “ अविस्सं दे तयवयो, जिणुनाहो पणसयाद वरिसाणं ।
 तस्यं धरणादनिमिअ-सत्तिज्जो विअरुअुअसां ॥ ५५ ॥
 त्विअन्नयद्वसूरी, द्वाकवद्विअरोमसधो ॥
 पयदं तिरथं काही, अहीणमाहोप्यद्विप्यंतं ॥ ५६ ॥ ती०६ कणप ।
 (२) राजगण्डीये प्रमुन्नसूरिदिशये. येन वाहमहाणिवो नाम
 ग्रन्थो विरचितः, 'न्यायवमसिंह' इति च विरुद्धं लेजे । वि०सं०
 १२७६ वर्षे पाश्चात्थ्यचरित्रनाम्ने ग्रन्थस्य कर्त्ता माणिक्यचन्द्रसू-
 रिणा तत्र सिद्धिनम-यद् वादमहाणवकृतोऽन्यदेवसूरेरन्व नमो-
 ऽस्मीति । अभयदेवसूरंयं शिष्यः धनेश्वरसूरिमुज्जराजस्य मायां
 गुरगार्सिदिति तस्मयमोऽनुमातुं शक्यते । अनेनैव अभयदेवसूरि
 णा तत्रैवोऽपविधायिनो नाम सम्मतिटीका विरचितेतिता जै०२०।
 एतन्न स्फुटमेव प्रतिज्ञाति ग्रन्थसमाप्तौ-
 "इति कतिपयसुत्राभ्याख्या यन्मयाऽस्मै,
 कुशलमतुलमसाःसम्पत्तेःज्येष्ठसाः ॥
 प्रथममज्जिभूय प्राप्यतां हानगर्भे,
 विमलमज्जयदेवस्थानमिन्द्रसारदा ॥ १ ॥
 पुण्यद्वान्मनयाद्विद्विद्वदघनचक्राकुत्तधीकुम्भपीठ-

प्रथमोद् नृतमुकाफस्यविशयद्वोराशिनिर्धेया नृणाम् ।
 गन्तुं दिव्यन्तिदन्तच्छानिदितपदं ध्येयं पर्येतन्नागान्,
 स्ववपमहापद्मभारोदरनिविडतरोपिदिरितैः संप्रत्यक्ष ॥२॥
 प्रमुन्नसूरः शिष्यश्च, तत्त्वबोधविधायिनो ।
 तस्वैवाऽभयदेवेन, सम्पत्तेर्विद्वितः कृता ॥३॥ सम्म०३ काय६ ।
 इत्ययं द्वितीयाऽभयदेवसूरिः ॥
 (३) हर्षपुरीयगण्डीयमेव मल्लधारीत्वपरनामके सूरौ, स च
 कोटिकगण्ठस्य मध्यमशाखायां प्रभवादनकुलसंभूतः स्फुल्लजक-
 स्वामिनो वंशः । एकादा हर्षपुराद् विहरन् अर्णाह्रिषपट्टननगर
 बहिःप्रदेशे सपरिवारः स्थितः, अन्वदा श्रीजबसिंहदेवेनने-
 न्द्रेण गजस्कन्धाकडेन राजवाटिकाऽऽगतेन दृष्टो मल्लजिनवल्क-
 देहः, राधा च गजस्कन्धाध्वतीर्यं दुष्करकारक इति दत्तं तस्य
 “ मल्लधारी ” इति नामेति । जै० ६० ।
 तथा च विविधतीर्थकल्पे जिनप्रमसुरिः--
 “सिरिपण्णवाडणकुलसंनृषो हरिसुपुण्यगच्छाङ्कारसूरि-
 षो अभयदेवसुरी हरिसन्धो रामो एगवा गामाळुगामं विहरं-
 तो सिरिअर्णाह्रिषवाडवपट्टणमागभो, त्रिभो बादिं पण्ये सप-
 रिवारो,अण्वाया सिरिजयीनिहदेवनरिद्वेष गयबंकाकडेण रायवा-
 डियागपण दिणो मल्लमल्लिणबन्धुदो, रापण्ण गयबंकाधामो अ-
 रिण्णु दुष्करकारो षि दिणं 'मल्लधारी' षि नामं, अन्नतियण्ण
 नयरमज्जे नीभो रथा, दिणो उवक्कसभो वयवसहीसरीपे,तथ
 दिमा सूरियो" ती०४० कल्प । अस्य शुभजबसिंहसूरिनामाऽस्तिव,
 हेमचन्द्रसूरिनामा च शिष्योऽभवत् । येन विसं० ११७० वर्षे 'ज-
 वभावना ' नाम ग्रन्थो व्यरचि, येनैकसहस्रं ब्राह्मणा जैनीकृताः,
 यदुपदेशादजयमेरुनगराद्दुर्बलिति 'मेरुता' ग्रामं प्रसिद्धं
 तजिनमन्दिरे कारितम् । किञ्च-अस्यैव अभयदेवसूरंरुपदेशाद्
 बुधनपालराजेन जिनमन्दिरे पुजाकुलद्वैयः कर्ता मीरितः । अ-
 जयमेरुराजेन अयसिंदेनापि तदुपदेशान्मास्यस्य द्व्यारोहस्योर्द्व-
 योऽभ्यतुर्दशोः कृत्तुपञ्चम्यां च स्वराज्ये प्राणिकात्रययोः निवा-
 रितः । शाकम्भरीराजेन पृथ्वीराजेन च तदुपदेशाद् रणस्तम्भ-
 पूरे स्वर्णकनशोपयमितं जिनमन्दिरे कारितम् । यदा च सो-
 ऽभयदेवसूरिनशननेन देवलोके गनस्तदा तस्य शवं चन्दनमय-
 रथं निधायानिघ्नस्कारः कृतः, तस्य च शवरस्यस्य पश्चात् सखे
 चय नागरो लोको जयसिंहराजस्य पृष्ठतोऽनुजगाम । इयं च
 तदुजस्य रोगोपचक्रनाशकमिति मत्वा सर्वलोका वसिष्ठुः ।
 इत्येतत्सर्वं रणस्तम्भपुरीयजिनमन्दिरे शिलायां सिद्धितमुपल-
 भ्यते । इत्ययं तृतीयाऽभयदेवसूरिः । जै० ६० ।
 (४) जट्टेश्वरसूरिशिष्ये सं० १२४८ वर्षे विवेकमञ्जल्याः
 कारकस्य आसस्यस्य गुरौ, अनेन च अरुवाहुकृतसामुद्रिकशा-
 ङ्गापरि टीका कृता । कंचिदेन श्रीशान्ताचार्यशिष्यं मन्यन्ते ।
 इत्ययं चतुर्थोऽन्यदेवसूरिः । जै० ६० ।
 (५) रुद्रपाणीयगण्डीयमेव विजयेन्द्रसूरिशिष्ये देवजङ्गसूरि-
 गुरौ, अनेन काशिराजाद् ' धादिंसिंह ' इति विरुद्धं लेजे । ' ज-
 यन्तविजयं ' नाम महाकाव्यं च वि०सं० १२७८ वर्षे निर्ममे ।
 इत्ययं पञ्चमोऽन्यदेवसूरिः । जै० ६० ।
 (६) गुणाकरसूरिसहवासिनि, येन वि०सं० ११४६ वर्षे
 सरस्वतीपाटननगरे जकामकसोऽष्टीका कृता, १४५१ वर्षे 'तिज-
 यदुत्स' नामकं स्तोत्रं च निर्मितम् । जै० ६० ।

अभयपदाद्य

अभयपदाद्य-अभयप्रदान-न० । दानभेदे, " दानाण स्रष्टे अ
भयपदाद्यं " तथा स्वपरानुग्रहाधर्मिणे क्षीयते इति दानम-
नेकजा. तेषां मध्ये जीवानी जीवितार्थिनं प्राणकारित्वादन-
दानं भेद्यम् । तदुक्तम्- " दीनते प्रियमाणस्व, काटि जीवित-
मेव वा । घनकोटि न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति " ॥१॥
गोपालकान्नादीनां दद्यात्पचारेषां कृषीं सुखनाराहतीति ।
अतोऽभयप्रदानप्राधान्यक्यापनायं कथानकप्रदम्-

" बसन्तपुरे नगरे अरिद्रमनां नाम राजा । स च कदाचिन्तुर्बु-
धूसमतेः बातावनस्थः क्रीडावमानस्तिष्ठति । तेन कदाचिन्तुरो
रककबीरकृतमुष्मन्नाभो रक्षपरिधानो रक्षचन्द्रनोपलिसस्र
प्रहतवर्षादिधरुमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन हृष्टः ।
हृष्टा च तस्मिन् पृष्टम्-किमनेनाकारिती ? तासांकेन राज-
पुरुषेणऽऽवेदितम्-यथा-पद्मद्वयपारण राजविरुक्तमिति ।
तत एकया राजा लिङ्गस-बधा यो भवता मम प्राग् वरः प्रति-
पन्नः सोऽपुना दीयताम, यथाऽमस्त्यपकारोमि किञ्चित् । रा-
ष्ट्रायि प्रतिपद्यं, ततस्तया स्नानादिहपुरःसरमलङ्कारेणाऽऽकृते
दीनारसहस्रव्ययेन पञ्चाविधान शम्भुर्दिव विषयान्कमद- प्रा-
पितः । पुनर्द्वितीयाऽपि तेष्व द्वितीयमदोः दीनारशतसहस्र-
व्ययेन लालितः । ततस्तृतीयाय तृतीयमदोः दीनारकोटिव्ययेन
सत्कारितः । चतुर्थ्यां तु राजानुमत्या मरणाद्विज्ञतोऽभयप्रदा-
नेन । ततोऽसावन्याभिर्दक्षिता, नास्व त्वया किञ्चिद्वृत्तमिति ।
तदेवं तासां परस्परं बहूपकारविषये विवादो जाते राजाऽसा-
वेव चौरः समाहूय पृष्टः, यथा केन तव बहूपकृतमिति ? । तेना
ऽप्यर्भाण-यथा न मया मरणमदाभयभोगेन किञ्चित् स्नाना-
दिकं सुखं विश्रायति । अभयप्रदानाकर्णेनेन पुनर्जन्मानसिवा-
त्मानमवेमिति । अनः सर्वदानानामभयप्रदानं भेद्यमिति स्मि-
त् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ० ।

अभयसेण-अभयसेन-पुं० । वारतकपुरराजिन, पि० । जाय० ।

अभया-अभया-स्त्री० । दधिवादननृपस्य स्वनामक्यातायां
राक्षस्य, ती० ३५ कदप । तं० । इरीतकषाय, नि० क्यू० १५
उ० । घ० । आचा० ।

अनयारिष्ट-अनयारिष्ट-न० । स्वनामक्याते मयविशेषे, सूत्र०
१ श्रु० ८ अ० ।

अनवसिक्तिय-अनवसिक्तिक-पुं० । न भवसिक्तिकोऽभव-
सिक्तिकः । अनव्ये, स्था० १ टा० १ उ० । न० । " जेहया द्र-
विहा पयसा । तं जहा-भवसिक्तिया चेष, अनवसिक्तिया चेष०
जाव येमाणिया " स्था० २ टा० २ उ० ।

अनविय (व्व)-अनव्य-पुं० । न० न० । तथाविधानाः दिपा-
रिणामिकभावात् (कदाचान्नाऽपि) सिद्धिगमनामयोर् जीव,
कर्म० ३ कर्म० । कुतो नात्रयः सिद्धिं गच्छति । आद-ननु
जीवस्वसाक्षेऽप्यर्थे अभयः, अयं चात्रव्य इति किं ह्यतोऽप्यविशे-
षः ? । नच वक्तव्यं यथा जीवेषु समानेऽपि नारकनिर्वाहादयो
विशेषास्तथा जन्मोऽभवत्यविशेषोऽपि भविष्यतीति, यतः
कर्मजज्ञातः एव नारकादिविशेषाः, न तु स्वानाविकाः ; जन्मो-
ऽभवत्यविशेषोऽपि यदि कर्मजनितस्तदः प्रवृत्त, को निवा-
रयिता ?, न चिद्वत् । इत्येतदेवाऽऽह-

होतु ब जइ कम्मकम्मो, न विरोहो नारागाहजेदु व्व ।
जहदु भव्वाजव्वा, सजावभो तेण संदेहो ॥
प्रवतु वा यदि कर्मकृतो नभयानव्यत्वाविशेषो जीवानामभिपत्ते,

नात्र कश्चिद्विरोधः, नारकादिव्यवृत्त । नचैतद्वस्ति, यतो भव्याऽ-
भव्याः स्वभावत एव जीवाः, न तु कर्मत इति यूयं जगथा; त-
नासाकं संदेह इति, परंप्रेषयुक्तो सतीत्याह-

द्वन्नाऽचे तुहं, जीवनहाणं सहावभो भयो ।
जीवाजीवाद्गमो, जह तह जन्व्येपरविससो ॥

यथा जीवनजसोकेऽव्यत्यन्तप्रमेयत्वहेतव्यादौ तुह्येऽपि जी-
वाजीवत्यन्तनाचनतःवादिस्वभावाभेदेः, तथा जीवानामपि
जीवत्वसास्त्रेऽपि यदि भव्याऽऽन्यवृत्तो विशेषः स्वात्सर्हि को
दोषः ?, इति ।

इत्थं संबोधितो भव्यत्वादिविशेषमन्युपगम्य ह्यथात्तरमाह-
एवं पि जन्वयावो, जीवंच पि न सभावजाश्चो
पावदु नोत्तं ताम्य य, तदन्त्ये न्तिय निव्वणं ॥

नान्वयमपि जन्मभावो निव्योऽविनाशी प्राप्नोति, स्वभावजाती-
यत्वात्स्वाभाविकत्वात्जीवत्ववत् । भवत्येवमिति चेत्तदनुसुक्तम् ।
यतस्त्वस्मिन् प्रत्यभावं तद्वस्थं नित्यावस्थांमिति नास्ति नि-
र्वाणम्, 'सिको न भव्भो नाप्यभ्यः' इति वचनादिति ।

नैवम, कुतः ?, इत्याह-
जह पदपुव्वाजावो-ऽनाऽसहावो वि संनिहाणेवं ।
जइ भव्वाभावां, जवेज्ज किरियाएं को दोसो ॥

यथा घटस्य प्रागनावोऽनादिस्वभावजातोऽपि घटोत्पत्तेः स-
प्रधानं विनश्चरो हृष्टः, एव भव्यत्वस्यापि ज्ञानतः सत्त्ववचन-
क्रियापायतोऽभावः स्वात्सर्हि को दापोः संपपते, त कश्चिदिति ।

आज्ञेपयदिगौ प्राऽऽह-
अनुदाहरणमभावो, सरसिगं पि व मई न तं जम्हा ।
भावो चिच्य स विंसेट्ठो, कुंजाणुपाण्चिमेपेण ॥

स्यामिति परस्य तत्तु-अनुदाहरणमभो प्रागभावः, ज्ञास्वरूप-
वैवावस्तुत्वात्, अराव्याणवत् । तत्र, यस्मान्नाव एवासौ घटप्रा-
गभावस्तत्कारणभूतानादिकान्मवृत्तपुद्गलसंघातकः, केवलं
घटानुत्पत्तिमात्रेव विशिष्ट इति, भवतु तदि घटप्रागभाववृत्त्य-
त्वस्य विनाशः केवलतः, इत्थं सति द्वावनेन प्रसज्जति, किम्, ?
इत्याह-

एवं भव्वुत्तेओ, कोट्टागारसम अवचउत्तव ति ।
ते नाणेतत्तण्णो-ऽणागथकोट्टेगाराणं व ॥

नन्वेव सति जन्मोत्पेदो भव्यत्रैविः ससारः धुव्यः प्राप्नोति,
अपवसात् । कस्य यथा समुत्पेदः, इत्याह-स्तोकलोकाऽऽहृष्य-
माणुधान्यस्य ज्ञानकोट्टागारस्य । इदमुक्तं भवति-काजस्वान-
नन्वात्यगमासपयेने चावश्यमकस्य प्रत्यस्य जीवस्य सिक्तिय-
मनात्कोमेणायवीयमानस्य धाम्यकोट्टागारस्येव सर्वेस्वार्पि
मन्वराशकच्छेदः प्राप्नोतीति । अत्रोत्तरमाह-तदेतन्न, अनन्त-
त्वाद्भव्यराशोः, भनागतकाज्ञाकाशवदिति । इह बहू बहुदन्तकेना-
ऽनन्तलोकास्तोकाऽप्यवियमानमपि नाच्छेद्यन्ते, यथा-प्रतिस्स-
मबंधं वनेमानतास्ताऽप्यवियमानोऽवनागतकाज्ञममयरशिः,
प्रतिस्समयं बुद्ध्या प्रदेशपहारंणापचोवमानः खवनमः श्वेदशरा-
शिर्वा, इति न प्रत्यच्छेदः ।

कुतः?, इत्याह-
जं वातीयाणगय-काला तुह्मा जमो य संसिक्को ।

एको अणंतभागो, जन्वाणमर्षयकालेषु ॥
एस्सेण तत्तिओ च्चिय, जुत्तो जंतो वि सव्वजन्वाण ।
जुत्तो न समुच्छेओ, होज्ज मई कइमिणं तिष्णं ।
जन्वाणमणंतत्तण-मणंतजगो व कइ विमुक्कोसि ।
कालादओ मं भंभिय !, मह वयणाओ वि पक्विज्जा ।

यस्माच्चारीतानागतकालीं तुन्यावेव, यत्तन्नातीतेनानन्तेनापि का-
शेनैक एव निगोदानन्ततमो भागोऽद्यापि ज्ञव्यानां सिद्धः, एष्यता-
ऽपि भविष्यत्कालेन तावन्मात्र एव भव्यानन्तभागः सिद्धिं गच्छन्
युक्तो घटमानकान् ईनाधिकः, भविष्यतोऽपि कालस्याती-
ततुल्यस्यात् । तत एवमापि सति न सर्वभव्यानामुच्छेदो युक्तः,
सर्वेषामपि काशेन तदनन्तभागस्यैव सिद्धिर्गमनसंभवांपददर्शना-
त् । अथ एरस्य मतिभेदेत्-कथामिदं सर्वभक्त्वं-यदुतानन्ता
ज्ञव्याः, तदनन्तभागश्च सर्वेषु कालेन सत्यति ? इति ।
अभयत्न-कालाकारादय इवानन्तकालाद्यद्गत्याः, तदनन्तभा-
गस्य च मुक्तिगमनात्कालाकाशयोरेव न सर्वेषामुच्छेद इति
प्रतिपद्यस्व । मद्ब्रह्मनाम्नैरिदं कः सर्वमेतच्छुद्धेदीति । विद्यो ।
पञ्चा० । हा० कर्म० । आ० । नं० । वृ० । दशा० ।

अज्ञारिय-अभाये-पुं० । अयजोके, कल्प० ।

“ पश्चावती च समुवाच विना वधुतीं,
शोभा न काचन नरस्य भवाय्यवश्यम् ।
नो कथलस्य पुरुषस्य करांत कोऽपि,
विश्वासमेव विद एव जवेदभायः ” ॥ १ ॥ कल्प० १ कृ० ।

अभावा-अभावा-पुं० । अद्यभावाये, उच्य० १ अ० । जीवाद्यः
पदार्था अन्त्यापेक्षया अभावाः । निषेधे, भ० ४२ श० १ उ० ।
विनाश, वृ० १ उ० । असम्भवं, दृश० १ उ० । असत्तायात्,
पञ्चा० २ विव० । स० (अभावप्रामाण्यम्) यदपि—

“ प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणभावा उच्यते ।
साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञान वाप्यव्यवस्तुनि ” ॥ १ ॥

(सति) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः, आत्मनो घटादिप्राहकनया परिणा-
मानयाः प्रसज्यपक्षे, पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घटविचिकीत्ये
वस्तुनि अभावे घटो नास्तीति विज्ञानम्, इत्यभावप्रमाण-
मभिधीयते । तदपि, यथासंभवं प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव । तथा हि—

“ गृहीत्वा वस्तुसङ्गाव, स्तृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तित्वा ज्ञानं, जायतेऽङ्गानपेक्षया ” ॥ १ ॥

इयमभावप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतलादिकं वस्तु
प्रत्यक्षेण घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टम्, असंसृष्टं वा गृह्ये-
त् ? । नायः पक्षः । प्रतियोगिसंसृष्टस्य भूतलादिवस्तुनः
प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रतियोग्यभावप्राहकत्वेनाज्ञावप्रमास्य-
स्य प्रवृत्तोरुचोरात् । प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगि-
नः सत्त्वंऽपि तत्प्रवृत्तौ । द्वितीयपक्षे तु-अभावप्रमाणवैयर्थ्यं,
प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामज्ञावप्रतिपत्तेः । अथ न
संसृष्टे मायसंसृष्टे प्रतियोगिभिर्भूतलादि वस्तु प्रत्यक्षेण गृह्यते,
चस्तुप्राप्तस्य तेन ग्रहणाभ्युपगमादिति चेत् । तदपि बुद्धम् ।
संसृष्टस्यासंसृष्टवयोः परस्परपरिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिषेधे-
ऽपरिधानस्य परिहर्तुमशक्यत्वात्, इति सर्वसद्व्यवस्तुप्रह-
रणवपन्न प्रत्यक्षेणैवापि वेद्यते । क्वचिन्तु-तदघटं चूतलमिति
स्मरणेन, तद्वेद्यमघटं भूतलमिति प्रत्याभिधानेन, योऽभिधात
१७८

अथति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमो नाग्निरित्यनुमानेन,
गृहे गगो नास्तीत्यागमेनाभावस्य प्रतीतिः क्वाऽभावप्रमाणं प्रव-
र्तताम् ? । रत्ना० २ परि० ।

अस्यैव प्रकारानाह—

स चतुर्था-प्रागभावः प्रध्वंसाज्ञाव इतरेतराभावोऽप्य-
न्ताज्ञावश्च ॥ ५८ ॥

प्राक् पूर्वं वस्तुपक्षेतरभावः, प्रध्वंसश्चासावभावश्च, इतरस्ये-
तरस्मिन्नभावः, अस्यन्तं सर्वदाऽभावः । विधिप्रकारास्तु प्रा-
कनैर्नोचिरे । अतः सूत्रकृद्भिरपि नाभिधचिरे ॥ ५८ ॥

तत्र प्रागभावभावविर्भाववन्ति—

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागजा-
वः ॥ ५९ ॥

यस्य पदार्थस्य निवृत्तावेव सत्यां, न पुनरनिवृत्तावपि ; अ-
तिव्याप्तिप्रसक्तेः । अन्धकारस्यापि निवृत्तौ कथावद् ज्ञानोत्प-
त्तिदर्शनादन्धकारस्यापि ज्ञानप्रागभावत्वप्रसङ्गात् । नैवेद्यमपि
रूपज्ञानं तन्नित्यत्वाद्येवोपघटत इति तत्रापि तस्य तत्त्वप्रसक्ति-
रिति याच्यम् । अतीन्द्रियदृशिनि मर्कटकारदौ च तद्भावोऽपि
तद्भावात् । (स इति) पदार्थः, (अस्येति) कार्यस्य ॥ ५९ ॥

अत्रोदाहरति—

यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पि-
ण्डः ॥ ६० ॥

प्रध्वंसाभावं प्राहुः—

यदुत्पत्तौ कार्यस्यावरयं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाज्ञा-
वः ॥ ६१ ॥

यस्य पदार्थस्योत्पत्तौ सत्यां प्रागुत्पन्नकार्यस्यावश्यं नियमेन,
अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । विपत्तिविघटने, साऽस्य कार्यस्य प्रध्वं-
साज्ञावोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

बदाहरति—

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य क-
लशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

इतरेतराभावं वर्णयन्ति—

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराज्ञावः ॥ ६३ ॥
स्वभावान्तरात्पुनः स्वस्वरूपादेव तस्याभावप्रसक्तेः, स्व-
रूपव्यावृत्तिः स्वस्वभावव्यवच्छेद इतरेतराभावोऽप्यावधानमा
निगद्यते ॥ ६३ ॥

बदाहरणमाहुः—

यथा स्तम्भस्वजावाल्कुम्भस्वजावव्यावृत्तिः ॥ ६४ ॥
अन्यन्ताभावमुपदिशन्ति—

कालत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ता-
भावः ॥ ६५ ॥

अतीतानागतवर्तमानकृष्णकालत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरि-
णामनिवृत्तिरकत्वपरिणितिव्यावृत्तिः, सोऽस्यन्ताज्ञावोऽभिधी-
यते ॥ ६५ ॥

अज्ञात्

निर्दशयन्ति-

यथा चेतनाचेतनयोः ॥ ६६ ॥

न खलु चेतनमात्मतत्त्वमचेतनपुत्रात्मकतामचकलय, कल-
यति, कलयिष्यति वा; तच्चैतन्यविरोधात् । नाप्यचेतनं पुत्र-
लतत्त्वं चेतनस्वरूपताम्; अचेतनकविरोधात् ॥ रक्षा० ३
परि० । नं० । सस्म० । अज्ञात्वात्तुर्विषयं चावश्यमाभ्यवर्णीयम् ।
तदुक्तम्- " कार्यद्रव्यमानादिः स्यात्, प्राग्ज्ञावस्य निह्वे ।
प्रध्वंसस्य त्वभावस्य, प्रध्वयेऽनन्ततां ब्रह्मेत् ॥ १ ॥ सर्वानकं
तदेकं स्या-द्व्याप्योहृदयतिक्रमे " इत्यादि । सूत्र० १०० ॥ अ० १
उ० । (सम्भवादिप्रन्थभ्यो विशेषोऽवगन्तव्यः) परिचाराज्ञावो
द्विधेः-विद्यमानाज्ञावोऽविद्यमानाभावश्च । विद्यमानः सन्
अज्ञावोऽसन् वैवाक्यादेरकरणाद् विद्यमानाज्ञावः । अवि-
द्यमानः सन्नभावोऽविद्यमानाभावः । श्य० २० ॥ १ ॥

अज्ञातिय-अज्ञातित-त्रि० । असंसर्गप्रसे प्राप्तसंसर्गं वा ब-
ज्जन-दुःखकल्पे, अयोग्ये च । " अज्ञातिय-अज्ञातित-त्रि०
अर्थम् ॥ श्या० १० ॥ १० ॥

अज्ञातियत्वेत्त-अज्ञातितत्वेत्त-न० । क० स० । संविद्यमानु-
विषयश्रद्धाविकल्पे, पार्श्वस्थादिभाषिते च क्लेपे, वृ० ३ उ० ।
अज्ञातुम्-अज्ञातुक्-न० । न० । न० । बेलुकादिरूपभानुकावि-
रक्षणं चक्षनादीं, पं० व० ३ ॥ १० ॥ श्राव० ।

अभासग-अज्ञापक-पुं० । ज्ञावाऽप्यर्थोऽपि अयोगिसिद्धे, एके-
न्द्रिये च । श्या० २ ॥ १० ॥ ३ उ० । अज्ञो० चं० प्र० । " भासग "
शब्दे इत्येकाऽस्य वक्ष्यते)

अज्ञासा-अज्ञापा-स्त्री० । श्रुताभाषणाय, सत्यामृतायां च ।
म० १५ श० ३ उ० ।

अभाषितिय-अभाषितक-त्रि० । अदीप्तमित भूत्यादिके इत्ये,
नि० चू० १३ उ० ।

अभि-अभि-अभ्य० । अभिमुष्ये, अनु० । आचा० । विपा० ।
संभूषे, मं० । विकल्पे, पदार्थसंज्ञान्वये च । नि० चू० १ उ० । क-
ञ्चिप्रकारं प्राप्तस्य द्रोतेन, अभिमुष्ये, अभिज्ञाय, वीर्यायां,
लक्षणै, सप्रन्तादर्थे च । बाच० ।

अभिभावम्-अज्ञापक-त्रि० । अभिमुखं समापने, सूत्र० १
शु० ४ अ० ३ उ० ।

अभि (भी)-अभिजित्-न० । अष्टदेवताके नक्षत्रभेदे, श्या०
२ ॥ १० ॥ ३ उ० । अनु० । " दो अर्भर्भ " श्या० २ ॥ १० ॥ ३ उ० ।
ज० । तच्च उत्तराषाढानक्षत्रस्य शेषचतुर्थांशसहितअवधननक्ष-
त्राटकज्ञाचतुष्कल्पम् । शब्द० । " अर्भर्भणकञ्चत् तितारं "
पं० सं० २ ॥ १० ॥ नक्षत्रस्य सहाऽस्य योगस्तत्रैव । ज्यो० ६ पाहु० ।
वीनमयनगराजस्योदायनस्य प्रजावत्प्रां देव्यामुत्पन्नं पुत्र, अ०
स च प्रव्रजता स्वपिशा तद्भागित्ये किञ्चिदुत्तराश्रमण राज्य-
धिष्ठापिते द्विष्टः सन् संश्लेषनया सूतः सखसुरकुमारदेवत्वनेने-
त्पन्नः । म० १३ श० ६ उ० । श्या० ।

तर् पं तस्य अर्भर्भकुमारस्य अक्षया कयाऽ पुञ्जरत्ता-
वत्तकालसमयांसि कुटुंबनगरिणं जागरमाणस्य अभ्येया-

रुके अज्जसिप जाव समुप्यजित्या, एवं खलु अहं उदा-
यक्षस पुत्ते पञ्जावइए देवीए अज्जसिप । तर् पं से उदायणे
राया मयं अज्जसिप शियं भायसिज्जं कंसीकुमारं रज्जे ठा-
वेत्ता समएस्स भगवओ महावीरस्स जाव पञ्चइएत्त । इ-
मेणं एयारुवेणं महत्ता अपत्तिएणं मणोमाणसीएणं दुक्खेणं
अजिज्जए समाणे अतेउरपरियाहससंपरिउत्ते सज्जमणोव-
रणमायाय वीइभयाओ गयराओ गिगच्छइ, गिगच्छ-
इत्ता पुञ्जाएपुत्तिं चरमाणे गापाणुगायं दूइजमाणे जेणोव
सुंणा एणमी, जेणोव कूणिए राया,तेणव उवागच्छइ, उवा-
गच्छणं कूणिए एणमी उवसंपजिजाणं विहरइ । तत्थ वि-
णं से विठलभोगसमितिसमएणं एणमी यावि होएत्था । तर् पं
से अर्भर्भकुमारं समणोवासए यावि होएत्थिः । अर्भगयणं जाव
विहरइ । उदायणसिम्प रायरिसिग्गिम समएणवच्छरे यावि हो-
एत्था । तेषं काक्षेणं तेषं समएणं इमीसे रयणपञ्जाए पुदवीए
एणमीपरिसामंतेसु चोपइअसुत्तुमारवाससयसपुत्ता प-
सुत्ता एणं से अर्भर्भकुमारे बहुइं वामादं मणोवाससं
परियायं पाठणइ, वीइएत्ता अज्जमासियाए संश्लेषणए
तीसं भूत्ताइं अणसणं ३ तस्सोणस्स अणोहोइयपानकेते
कात्तमाने कात्तं किञ्चा इमीसे रयणभाए पुदवीए एण-
यपरिसामंतेसु चोपइए आतावा० जाक्खस्सेसु अणय-
रंसि आयावा अणुरकुमारारावामंसि आतावासे अणुर-
कुमारदेवत्ताए उववसो, तत्थ एणं अत्येगइयापं अणुरसु-
राणं एणं पणं पित्तं अणवमइइं पसत्ता । तस एणं अर्भर्भस्स देवस्स
एणं पल्लिअणवमं विइं पसत्ता । मेणं अर्भर्भइदेवे तांओ देव-
लोगाओ आउक्खएणं ३ अण्येतरं उच्चइत्ता कहं गच्छि-
इत्तिं, कहं उववज्जिइत्तिं । गोयमा । महाविदेहे वामं
मिज्जिइत्तिं जाव अंतं काइत्तिं, सेवं जंते । जंतं ! ति ॥
(अणुत्तिएणं मणोमाणसिएणं दुक्खेणं ति) अर्भर्भकेना-
प्रीतिस्वभावेन मनसो विकारो मानसिकं, मनसं मानसिकं, न
बहिरुपस्थमप्यविकारं यत्तन्मनोमानसिकं, तेन केनैवाविचि-
न ? , इत्याह-दुःखेन । (सम्भ्रमत्तवावरणमायाय ति) स्वयं
स्वकीयां भारुमात्रं माजनरूपपरिच्छेदमुत्पन्नं च शय्या-
दि, गृहीत्येत्यर्थः । अथवा-सह माधुमात्रया यत्पुत्तकरणं त-
सया, तदावाय (समएणवच्छेरे ति) अणुवच्छिच्छेरेराजावः ।
(निरयपरिसामंतेसु ति) नरकपरियाश्रयः (वासंतीए आ-
यावा अणुरकुमारारावासेसु ति) इह " आयाव ति " अणुर-
कुमारविशेषाः, विशेषतस्तु नावगम्यन्त इति । म० १३ श० ६ उ० ।
लोकोत्तरदीत्या शब्दो दिवसे, कल्प० ६ क० । अणुिकस्य धारिण्यो
आते पुत्रे, अणु० । स च वीर्यान्तिके प्रवृत्त पञ्च वर्षाणि आभयं
परिपाल्य विजय विमाने उत्पन्न इति अनुत्तरापयातिकदशा-
नां १ वर्षे ० अथयने सुचिन्त । अणु० १ वर्गं । अभि-
मुखीचूय जयति शत्रुं, अभि-त्रि-क्विप । शत्रुजयि-
नि, यात्रानुकूलसम्भवे, पञ्चदशयाम विभक्तविवस्थाभेदे भा-
ग, स्मृतिप्रसक्तं कृतपकालं च । बाच० । १० प० ।

अभिभंजिय-अभियुज्य-अभ्य० । सम्बन्धमुपागत्य प्रतिस्पर्द्धे, स्थाने ३ ज्ञा०४ ड० । वशीकृत्यास्त्रिष्व वा इत्येतेषामर्थे, वशा० १० झ० ।

अभिभोग-अभियोग-पूर्व० । अभियुज्यमानतायाश्च, स द्विविधो-द्वैवो मालुपिकश्च । व्य० उ ङ० । (स च 'उवसमापत्' शब्दे द्वितीययोगे १०२६ पृष्ठे व्याख्यास्यते) अभियोजनमभियोगः । राजाजिनयोगादिकं अनिच्छतोऽपि व्यापारणे, घ० २ अघि० । आदेशकमेति, झी० । प्रश्न० । आज्ञायाम्, स्थाने १० डा० । वशीकरणे, नि० चू० २ ङ० । अभिनये, विघ० ५ झ० । वृ० । सूत्र० । गवे, आ० ५ झ० । अभियोजनं, आध्यात्मशास्त्रादिभिः परेषां वशीकरणयारिजियोगः । स च च्छि० । यदाह-

दुविहो खलु अभिभोगो, दम्बे भावे य होइ नायव्वो ।
दम्बम्मि होति जोगा, विजामंताइ भावम्मि ॥

इदानीम् (अभिभोगोऽपि) व्याख्यानयन्नाह-(दुविहो खलु अभिभोगोऽपि) इह द्विविधो अभियोगः-प्रव्याजिनयोग, जावाजिनयोगश्च ज्ञातव्यः । तत्र दम्बे योगो छत्रयोगश्चूर्णम्, तन्मिश्रः पिरदो द्रव्याभियोगविषयः, स च परित्यजनीयः भावाभियोगश्च विद्यया मन्त्रेण वा पिरदं द्वाति स च भावाभियोगः पिण्डः । स च परिष्ठापनीय इति । अत्र अगार्यां दृष्टान्तः— 'यगा अविरह्या, सा अणिष्ठा पश्चो, ताप परिव्याहया अ-भ्यतिष्ठा-किञ्चि मतेण अभिमंतिऊण मम देहि, जेण पई मे वसां होइ, तादे ताए अभिमंतिऊण कुरो दिअं । अवि-रह्याए अितिय-मा पसां दिअो मरेअ, तअो ताए अणुक्क-पाए उअउअडियाए अडिअो, सो गहडेण आअअ, सो रसि अरुअं खादिअमारको, ताए निग्गयाणि ज्ञाअ पच्छंति ग-हडेण खादिअं, सा अविरह्या प्रअह-किमयि सि ? , ताए स-म्भायो काहिअो, तादे वि सा चरिया दंकाविया, सए दासां, एवं ताव जइ तिरियाणं पसा अक्खया होइ, माणुसस्स पुण सुइयं होइ, अअमा एरिसो पिअो न घेअव्वो ॥'

अमुमेवार्थं गाथानिरुपसंहरन्नाह-

विजाएँ हो अगारी, अविचया सा य पुच्छए चरियं ।
आभिमंतणोदणसम उ,अणुक्कपत्तणयुससंघं च खरे ॥६०४॥

विद्याजिमन्त्रेण पिरदे अगारीदृष्टान्तः-सा अमूर्तस्वायत्ता न रो-चते । सा च चरिकां पापमाजिकां पुच्छति पर्युवशीकरणाथम् । नया अजिमन्त्रणमोदनस्य कृत्वा दत्तं, तथाऽपि अगार्यां पर्युमे-रणाणुक्कण्या न दत्तः स धांदनः, किन्तु उत्सन्नः, परित्यागः कृतः । स च खरेण मज्जित इति ।

वारसस पिट्टणम्मि य, पुच्छण कएणं च हो अगारीण् ।
मेडे चरिआ दंरु, एवं दोमा इहिं पि सया ॥

स च गर्देन अगाल्य हारं पिद्वति मन्त्रवशीकृतः सन्, शेषं सुगमम् । एवं भावाभियोगे दृष्टान्त उक्तः ।

इदानीं द्रव्याभियोगे सूक्ष्मवशीकरणविषयः, स उक्त्यते-
'यगा अविरह्या, सा य गुरुस्स जिक्खुणो अण्णोववया अणुएता, ताहे सा तं परयेइ, अणिच्छंतस्स बुध्धाभियोगेण संजोएउ भिक्खं पडिसेसिय घरे काऊए द्वाविये ताए, जअो येव तस्स साहुस्स पदिमाहे पडियं तअो येव तस्स साहुस्स तअो मणो हीरइ, तेण य णायं, तादे गियद्वति, सिध्दो आय-

रियाणं पडिमाहं काउं काइयभूमिं वचवइ, जाव आयरियाणं पि तअो हुत्तो ज्ञाओ हीरति, ताहे सो वीसो आगंतुं अणोएउ, मम पि अविध भावो, न एत्थं संजोगकुषेण कअो पिको अत्थि, ताहे परिच्छजइ, जा विहिं परिच्छव, जा गुरुअं सा उअरं अग्घाहि सि' । एवमेव विसयं पि । 'यगा अगारी' साहुणो अण्णोव-वया, सो य णो इच्छति, ताए अणुए विसेण मिस्सा जिक्खा दिअ। तस्स य दिअमेत्ताणं येव सिरोवेयणा जाया, परिण-यट्ठा गुरुणो सम्मपेऊण काणं परिच्छव, जा गुरुअं वि स्वी-सवेयणा जाया, तं च गुरुणा गंधेण णायं, जहा इमं विसमि-स्सं, अहवा तय लवकया जिक्खा पडिया, तादे तं विसं अणिसइ । एवं णाते परिद्विजज्जाति ॥

इदानीममुमेवार्थं गाथानिरुपसंहरन्नाह-

जोगम्मि उ अविरेइया, अण्णोवया सुव्वजिक्खुम्मि ।
कएयोगिमणिच्छंत्त-स्स देइ जिक्खं अमुहजावो ॥६०६॥
योगे अविरतिकागुरुस्सुधैरान्तः-अभ्युपपत्ता रक्का सुकूपं भि-क्षौ, अणिच्छित्तस्वत्समकर्तुः कृतयोगां भिक्षां, भिक्षापित्तं ददाति । पुनश्च तस्य साधोर्भ्रंशानन्तरमेव अद्वयमभावां जातः ।

तदजिमुक्कं चिन्तयति-

संकाए स नियट्ठो, दाऊण गुरुस्स काइयं विसेरे ।
तेसिं पि अमुहजावो, पुच्छा य ममं पि उस्सयणा ॥६०७॥
नया च शङ्कया योगकृतभिक्षाशङ्कया निवृत्तः निष्ठापरिष्क्रम-णात् । शेषं सुगमम् ।

एवैव संकियम्मि वि, दाऊण गुरुस्स काइए विसेरे ।
गंधाई विषाए, उस्समअविहो सियालवहे ॥ ए ॥

एवमेव विषयकृतोऽपि दृष्टान्तः-गुरोर्देव्या समर्थयित्वा कायिकं व्युत्पन्नति, तेन गुरुणा गन्धादिना विष्वात्मम् । आदिप्रदणत् तत्तस्य उत्सर्जनं परित्यागः कियते, तत्र विधिना परिष्ठापने कस्त्वयम्, नानाविधिना अविधिपरिष्ठापने सति शृगालादिवधो भवति । श्रौ० । वृ० ।

अजिभोगी-अजियोगी-खी० । आ समन्तादाजिमुष्येन यु-ज्यन्ते प्रप्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः किङ्करस्थानी-या देवविशेषास्तेषामभियोगाभियोगी । जावनायाम्, वृ० ।

अथाभियोगीमाह-

कोउअ-जूई-पसिणं, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।
रिहिरससायगुरुअं, अजिभोगोभावणं कुणइ ॥
अकिरससायगुरुकः सन् कौतुकाजीवो भूतिकर्माजीवो,
प्रभाजीवो, अश्रप्रभाजीवो, निमित्ताजीवो च ऋचति एवाविध
आजियोगीभावनं करोतीति ॥ (वृ०)

अथ अकिरससातगुरुक इति पदव्याख्यानाथमाह-

एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो अजिभोगियं वंधए ।
वीथं गारवट्ठाइओ, कुव्वं आराह गुत्तं च ।

एतानि कौतुकादीनि अकिरससातगौरवार्थं कुर्वाणः प्रयुज्जा-नः सजानियोगिकं देवादिप्रप्यकर्मव्यापारफलं कं भज्जाति । द्वितीयमपवादपदम् अर्थात्-गौरवराहितः सज्जितसयज्ञाने सति निस्पृहदृष्ट्या प्रयत्नमभावनाधेनप्रदाने कौतुकादीनि कु-र्व्वेसाराधकं जयति, उच्चैर्गोत्रं च कर्म भज्जाति, तीर्थोत्थित-

करणादिति । गता अभिव्यंगिकी भावना । ह्र० १ ङ० ।
भ० । स्थान० । औ० ।

अभिभोग्येण-अभियोजन-न० । परेषां विद्यामन्त्रादिभिर्भोगी-
करणे, प्रह्ला० १० पद । आच० ।

अभिकंठमाण-अभिकाङ्क्ष-त्रि० । कर्तुमिच्छति, दश० ६
अ० ३ उ० ।

अभिकंठा-अभिकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाष, सूत्र० १ छु० २
अ० २ उ० । आच० ।

अभिकेन-अभिक्रान्त-त्रि० । अतिशक्ति, आचा० १ छु० ४
अ० ५ उ० । भाव निष्ठाप्रत्ययः । अभिक्रमणे, दश० ४ अ० ।

अभिकेतिकिरिया-अभिक्रान्तक्रिया-स्त्री० । चरकादिभिर-
नवसंतिपूर्वायां वसन्तै, आचा० १ छु० २ अ० २ उ० ॥

अभिकेतकूरकम्म-अभिक्रान्तकूरकम्म-त्रि० । हिंसादिक्रिया-
प्रवृत्ते, सूत्र० २ छु० २ अ० । आच० ।

अभिकेतवय-अभिक्रान्तवयस्-न० । जराप्रतिमृत्युं वाप्तिक्रान्त-
न्त, प्राचययोऽथानि क्रमं जरानिमुक्ते चयानि, बालादीनां स्वयोप-
चययत्त्वस्था-तामभिसुखमाक्रान्त, आचा० १ छु० २ अ० ३ उ० ।

अभिक्रमाण-अभिक्रमण-न० । अभिमुक्त क्रमणे, आचा० १
छु० ७ अ० ८ उ० ।

अभिक्रममाण-अभिक्रममाण-त्रि० । गच्छति, आचा० १ छु०
१ अ० २ उ० ।

अभिक्रम्य-अभिक्रम्य-अव्य० । अभिमुक्तेन कान्तवत्यर्थे, सूत्र०
१ छु० १ अ० ३ उ० ।

अभिकवर्ण-अज्ञीक्षण-अव्य० । अनवस्ते, आ० म० प्र० ।
ज्ञ० । प्रअ० । विशेष । सूत्र० । आचा० । पुनःशब्दार्थे, स्थान० ५
ग्रा० १ उ० । "एगं समुपप्लेज्जा अभिषक्षणं अभिषक्खण इतिथ-
कहं भलकहं" स्थान० २ ग्रा० ४ उ० । अर्भीदृष्टं पुनःपुनः विशेष ।
ह्र० । नि० चू० । दश० । स० । जूवाभूयः । दश० १० अ० ।
रा० । धारंवारम् । कल्प० ६ ह्र० । उक्त० । असकृत् । दश० २
अ० । भूशम् । स० ३० सम० । "अभिषक्खणमोधारणं भा-
सह" आच० ४ अ० ।

अभिकवणसेवण-अज्ञीक्षणनिषेवण-न० । अभिषणप्रतिसे-
वने, व्य० ३ उ० ।

अभिकवमाइण-अज्ञीक्षणमायिन-त्रि० । बहुरो मायादिनि,
व्य० ३ उ० ।

अभिकवसेवा-अभीक्षणसेवा-स्त्री० । प्रमाणाधिकसेवायाम्,
नि० चू० १ उ० ।

अभिकवाज्ञाभिय-अभिज्ञाज्ञाजिक-पुं० । अनुच्छानवन्धानप्रा-
हकं भिन्नावर्थाविषयकानिप्रहविशेषधारकं स्त्रीषी, औ० । सूत्र० ।

अभिकवासेवणा-अभीक्षणसेवना-स्त्री० । असहृदासेवना-
याम्, नि० चू० १ उ० ।

अभिकजंन-अभिकर्त-न० । घनधनिमुञ्चने, उपा० २ अ० ।

अभिकग-अभिकग-पुं० । सम्यग्धर्मप्रतिपत्तौ, पा० । ध० । दश० ।

अभिगमाः—

धेरे भगवते पंचविदेष्टेण अभिगमेण अभिगच्छति । तं जहा-
सचित्ताणं दन्वाणं विउसरयापर, अभिचित्ताणं दन्वाणं
अविउसरयापर, एगमादिष्टेण उत्तरसंगकरणेण, चक्खु-
प्यामिअंनिद्विपगहेण, मणसा पगणीकरणेण ॥

(अभिगमेण ति) प्रतिपत्त्या अभिगच्छन्ति समीपं गच्छन्ति ।
(सचित्ताणं ति) पुपुताम्बुलादीनां (विउसरणयापर ति)
व्यवसजेनया त्यागेन, (सचित्ताणं ति) वक्खमुत्तिहादीनां, (अ-
विउसरणयापर ति) अत्यागेन, (एगमादिष्टेण ति) अनेका-
क्षरीयशाटकानां निषेधाधेमुक्तम् । (उत्तरसंगकरणेण ति)
उत्तरासङ्ग उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषः, चक्खुःस्पृशे हृदिपाते,
(एगसंकरणेण ति) अनेकत्वस्यानेकालम्बनत्वस्य एकत्वं
करणे एकालम्बनत्वकरणे एकत्वोक्तिः, तेन । भ० २ अ० ५ उ० ।
दश० । सूत्र० । वस्तुनः परिच्छेदे प्राप्ते अभिगम्यते प्रसिद्धित्य-
भिगमः, इति व्युत्पत्त्या वस्तुपरिच्छेदाधिकरणे, दश० ४ अ० ।

अभिगमाण-अभिगमण-न० । अभिमुक्तगमने, दश० १० अ० ।
ध० । ज्ञा० । नि० । सूत्र० । सर्वबाह्यमागल्लदभ्यन्तरप्रियंशेन,
सु० प्र० १३ पाठु० । " अभिगमणत्थाय " अवगमनज्ञायाया-
र्याथेत्यर्थः । ज्ञा० १२ अ० ।

अभिगमाणजोग-अभिगमणयोग-त्रि० । अभिमुक्तगमनयो-
चिते, रा० ।

अभिगमरुद-अभिगमरुद्वि-पुं० । अभिगमे विशिष्टं परिज्ञानं,
तेन रुचियेस्यासौ अभिगमरुद्विः । सम्यक्त्वभेदं, तद्वति च ।
प्रव० १४ए द्वार ।

सो होइ अनिगमरुदं, सुयनाणं अस्स अत्यत्रो दिट्ठं ।
एकारस अंग्गए, पदमगा दिट्ठिवाअ य ।

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो हृष्टमेकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकमित्यत्र जा-
तावेकवचनम् । ततोऽयमर्थ-प्रकीर्णानि उत्तराध्ययनादीनि,
हृष्टिवादः, अशब्दादुपाङ्गानि च, स भवत्यधिगमरुद्विः । प्रह्ला०
१ पद । उक्त० ।

अभिगमसह-अभिगमभ्राह्म-पुं० । प्रतिपञ्चाष्टमते, ध० ३ अधि० ।

अभिगमसम्मत्त-अभिगमसम्यक्त्व-न० । जीवाजीवपुष्यपा-
पाश्र्वसम्बन्धनिर्वाच-धर्मोक्तुषु परीक्षितनवपदार्थाभिगमप्रत्य-
यिके सम्यक्त्वभेदे, आ० सू० ४ अ० । " अभिगमसम्मत्तंसण
पुविहे पञ्चत्तं । तं जहा-पदिवादि चेष, अपदिवादि चेष " ।
स्था० २ ग्रा० ३ उ० ।

अभिगय-अभिगत-पुं० । न० । अभिमुक्तेन गतः । प्राचिष्टे,
ह्र० १ उ० ।

अभिगवभू-अभिगृह-अव्य० । अङ्गीकृत्य अभिसुक्तीत्यर्थे,
स्था० २ ग्रा० १ उ० ।

अभिगिज्जत-अभिगृह्यत्-त्रि० । अभिमुक्तेन लुञ्ज्यमानं
लौभचशर्माभवेन, सूत्र० २ सु० ५ उ० ।

अभिगह-अभिग्रह-पुं० । अभिमुक्तेन प्रहोडनिग्रहः । नि० चू०
२ उ० । अभिश्रुतं द्यामिग्रहः । प्रतिज्ञावशेषे, आच० ६ अ० ।

साध्याचारविशेषे, यद्येत्साहाय्यादिकममीयां कल्पते, इत्थं च
न कल्पते । ६० १ उ० । स च द्रव्याविशेषवभेदात्समुत्थिषः ।
५० ३ अधि० । तत्र कल्याभिप्रदो लेपकृदादिकल्पविषयः,
केशाभिप्रदः स्वभाषपरमादिविषयः, कालाभिप्रदः पुर्वा-
परादिविषयः, भावाभिप्रदस्तु गानहसनादिप्रवृत्तपुरुषादि-
विषयः । श्लो० । प्रव० ।

द्विरिति तत्रो पच्छ, अद्भुच्छिया एसाणए उवत्था ।
द्व्यादभिगमहजुआ, भोक्कट्टा सव्वजावेणं ॥ ६७ ॥

द्विरिति अदन्ति ततः पश्चाद्, विधिनिर्णयमानान्तरमित्यर्थः ।
अमूर्तिना आदारादौ मूर्त्तान् कुर्वन्तः, एषणायां प्रहणविषया-
यात्, उपयुक्तास्तवपराः, उच्यन्त्याभिप्रदयुता यथ्यमाणद्रव्याप-
भिप्रदावेनाः, मोक्षार्थं तदर्थं विहितानुष्ठानत्याद्य, भिक्कान्तस्य
सर्वभावेन सर्वभावाभिप्रदधिना तद्वैद्यावृत्त्यादिरपि मोक्षार्थ-
त्वाद् इति गाथायैः ।

तत्र कल्याभिप्रदानाह—

लेवमनेवजुअं वा, अमुगं दव्वं व अज्ज यिच्छामि ।
अमुगं च दव्वेणं, अइ दव्वाभिगमहो चेव ॥ ६८ ॥

लेपवजुगार्थादि, तन्मिथं वा, अलेपवद्वा तद्विपरितीत, अमुकं
द्रव्यं वा मरुत्कारि, अथ प्रहोप्यामि अमुकं वा रुच्येण दर्वो-
कुन्तदिना, अथायं कल्याभिप्रदां नाम साध्याचरणविशेष
इति गाथायैः ।

क्षेत्राभिप्रदमाह—

अट्टउ गोअरज्ज्मिं, एतुगाविवखंभयेचगहणं व ।
मग्गापपरग्गाभे, एवइअ गिहाण खेतम्मि ॥ ६९ ॥

अष्टौ गोचरद्रव्यमा यव्यमाणसकृत्णा, तथा एतुक्विष्कम्भ-
मात्रप्रदं च, यथाकम्भ-पशुक्विष्कम्भइत्यादि । तथा स्वभाषपर-
माप्येतेनायन्त्रिच व गृहण क्लेश इति; स क्लेशविषयाऽभिप्रद
इति गाथायैः । ५० व० २ इतर ।

कालाभिप्रदमाह—

कात्ते अभिगमहो पुण, आई मज्जे तदेव अवसाणे ।
अप्पत्ते सइ कात्ते, आई विइओ अ चरिमम्मि ॥

काले कालविषयोऽभिप्रदः पुनरयम्—आदौ मध्ये तथैवावसाने
निष्पत्त्याद्याः एतदेव व्याचष्टे—अत्राप्तं त्रिकाकाले यत्पर्यन्तं
स प्रथमोऽभिप्रदः । यस्तु सति प्राप्ते भिक्षाकाले चरति स
द्वितीयो मध्यविषयोऽभिप्रदः । यस्तु कालरमेऽतिक्रान्ते भिक्षाकाले
स पर्यन्तं सोऽवसानार्थवचयोऽभिप्रदः ।

कालवचोऽपि तु गुणदोषाभाह—

द्वित्तगपदिच्छगणं, द्विजिज सुहुमं पि भा हु अवियत्तं ।
इय अप्पत्ते अइय, पवत्तणं मा ततो मज्जे ॥

द्विप्रतीच्छक्योरिति—त्रिकादातुस्मरिणो भिक्षाप्रतीच्छकस्य
च वर्नीपकादमीं जल सुहममप्याययचमप्रीतिकम, इत्यस्माकंते-
दप्रसङ्गोति च—त्रिकाकालेऽन्ते भय इति गम्यते । (पवत्तणं मा
ततो मज्जेति) इमारे अतीते वा पर्यन्ततः प्रवर्त्तनं पुःकर्मपश्चा-
त्कर्मोदमीं मूत्, तत पर्यन्तं हेतुना मध्येनते त्रिकाकाले पर्यन्तता ॥

अथ भावाभिप्रदमाह—

अविस्सत्ताभाचरगा, भावजुया खलु अभिगमहा होति ।
१७६

गायीतो व रूदती, जं देइ निमग्घमादीया ॥

उत्क्रिप्तं पाकपितृत्वात्पूर्वमेव दायकेनोद्भूतं तद्दे चरानि गवे-
यन्ति ते उत्क्रिप्तचरकाः आदिशशदाहं निजिप्तचरकाः, संख्या-
दत्तिकाः, इष्टलाभिकाः, पृष्टलाभिका इत्यादयो गृह्यन्ते । त एते
शुणगुणिनोः कथंविद्भेदाद्भावायुताः क्लवभिप्रदा प्रथिनं,
भावाभिप्रदा इति प्रायः । यद्वा—गायतुं यद्वि द्वास्थ्यति तदा मया
प्रहीतव्यम्, एवं कन्द वा, निवशादिषो, आदिप्रहणादुत्थितः, सं-
प्रस्थितश्च यद्वा इति तद्विषयो योऽभिप्रदः स सर्वोऽपि जावा-
भिप्रद उच्यते ।

तथा—

आोस्मकणअहिसकण, परंमूहालंकिप य इयोरो वा ।
जावऽअयरोणु जुओ, अइ जावाभिगमहो नाम ॥

अवष्वकनपसरणं कुर्वन्, अजिष्वक्कन् संसुक्कमागच्छन्, परा-
रुमुक्कः प्रतीतः, अरुहकृतः कटककपूरादिभिः, इतरा वा अरुहक-
कृतः पुरुषो यद्वि द्वास्थ्यति तदा प्राह्मामित्येतेषां भावानामन्यत-
रणं भावेन युतः, अथायं भावाभिप्रदा नामिति । ६० १ उ० ।
आचा० । “तए णं समणे जगवं महाद्योये गम्भत्येचव धमेवा
रुवे अभिगमहं अजिण्णहह—नो खलु मे कप्पइ अम्मापिउडिं
जीवेंतेडिं मुंमे प्रविशा अगाराभो अणुगारिचं पव्वइसए ” ।

कल्प० ५ कृ० । आर्वाचः पश्चाभिप्रदानंभिशुद्धास्थिकप्रामं प्रति
प्रस्थितः । अभिप्रदाभैते—प्राप्तोतिमदृष्टे वासः १, स्थयं प्रतिम-
या सदा २ । नो गहि विनयः कार्यः ३, मोन ४ पाणी च भोजनम् ५ ॥
॥॥ कल्प० ५ कृ० । प्रत्याख्यानभेदे, “पंच चउरो अभिगमहं ” ।

पञ्च चत्वारश्चाभिप्रदे आकाराः—“अभिगमहेतु अण्वाउरणं कोइ
पच्चक्काइ, तस्स पंच (आगारा, अण्णयउगाभेते) सहसा-
गारे चोलपट्टागारे मरुत्तरागारे सेसेसु चोलपट्टागारे वेणिय
विगएण अट्ट मय व भागारा” आण० ६ ब्र० । ५० । ल० प्र० ।
इदंमव दशैने शोभनं नाम्यदित्येवंरूपे कुमतरपरिग्रहे, स्था० २
उ० । १ उ० । गुरुनियोगकरणाजिसत्तौ, हा० २ ए ॥ ॥ एव
कायिकविनयभेदः व्य० १ उ० । दश० । ५० सं० प्रकाशकरणं,
अभियोगं, अभिमुख्येनोद्यमे गौरवान्विते च । वाच० ।

अभिगमहियसिज्जासाणिय—अभिगृहीतशश्यासनिक—पुं० ।
शश्यासनाभिप्रदयुते साध्याचारे, कल्प० ।

नो कल्पइ निर्गंथाण वा निर्गंथीण वा अण्णनिगमहिय-
सिज्जासाणिएण हुत्तप ॥

नां कल्पने साधुनां, साधुनां च (अभिगमहियसि) न
अभिगृहीते शश्यासनं येन स अत्राभिगृहीतशश्यासनः, अत्र-
भिशुहीतशश्यासन एव अत्राभिगृहीतशश्यासनिकः । स्वाथो
इकए प्रत्ययः । तथाविधेन साधुना (हुत्तपसि) जवितुं न क-
ल्पते । यथासौ मणिकुट्टिमे पीठफलकादिप्रहणवैभवे प्राच्यम्,
अन्यथा शीतलायां भूमौ शयने उपवेशने च कुण्ड्यादिचिराथ-
नोत्पत्तेः । कल्प० ९ ल० ।

अभिगमहिया—अभिगृहीता—स्त्री० । अत्रिप्रहवत्याभेपणायाव,
प्रव० । अत्रिप्रहवेष्यव—तासां सत्तानामरणानां मध्ये आद्ययो-
रुद्योतरप्रदं, पञ्चसु प्रदं, पुनरपि विचक्रितदिवसे अत्रत्यानां
पञ्चानां मध्ये इत्योरभिप्रदः प्र० ६ हा० । “अभिमाहरहिया प-
त्तणा जिण्णकियपयानं” ति० क्ल० ४ उ० । प्रतिनियतवधारणं,
यथा इदमिदानीं कर्तव्यमिदं नति । प्रज्ञा० ११ पद ।

अभिघट्टिञ्जमाण-अभिघट्टयमान-वि० । बेगेन गच्छति, रा० ।

अभिघाय-अभिघात-पुं० । अभिहनने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।
लकुटादिग्रहारे, जीत० । नि० चू० । " गोकपधलुमा-
दिश्रमिघातो " गोकपा च द्वरकमयी प्रसिद्धा-तथा, धनुषत्रु-
तिनिर्वां श्लुकमुपलं वा शरप्रक्षयति, एषाऽअभिघात उच्यते ।

अपथा-

विद्वन्वण्यंतकुसादी-सिण्णैश्चउद्गादि आवीरसणं तु ।

काश्मां तु विषसत्ये, खारो तु कश्चिन्मादीर्हि ॥

विशुचनं बीजनकं, खनकं वरुं, कुशो दर्मस्तप्रभृतिभिर्बीज-
यन् यस्मिन्नां अभिहितं, एष वा अभिघात उच्यते, कही नाम
उदकेन, आदिशब्दाद् घृतेन तैलेन वा, आश्रवणं करति । कायो
नाम शिष्यदार्शनो विष्मन्, प्रतिक्रमिष्यत्येव । शृ० ४ उ० ।

अभिचंद-अभिचन्द-पुं० । अश्वसर्पिलयां भरतक्रेत्रे जाते प-
ञ्चदशानां दशमे, सप्तानां चतुर्थे वा कुलकरे, जं० २ बङ्ग० ।
" अभिचंदेण कुलगरं प्रथमसुखाय उद्धं उच्यतेसुं होथा "।
स्था० २ रा० १ उ० । आ० क० । आ० म० । कल्प० । (पत्या-
दयः ' कुलकर ' शब्दे वक्ष्यन्ते) दशार्हपुरुषभेदे, अन्० १
वर्गं । दिवसस्य षष्ठे सुहृते, चन्द० १० पाहु० । स० । ज्यो० ।

अभिज्ञप-अभिज्ञप-पुं० । शब्दार्थैकिकरणे, सन्म० । अन्ये तु (सौ-
नाविशेषाः) शब्द एवाभिज्ञप्यमागतः शब्दार्थ इति । स आ-
भिज्ञपः शब्द एवार्थ इत्येव शब्देऽर्थस्य निवेशनम्, सोऽय-
मित्यभिज्ञसंबन्धः । तस्माच्छा शब्दस्यार्थेन सहैकात्वं रूपं जवति
तथा तं स्वीकृताधोकारं शब्दमभिज्ञपयिष्याद् । सम्म० १ का-
एकः । (एषां अयमन्मं आगमं शब्दे द्वितीयाभागे ७४ पुंष्टे वक्ष्यते)

अभिज्ञाः-अभिज्ञाति-स्त्री० । कुलीनतायाम्, उच्य० ११ अ० ।

अभिज्ञाणमात्र-अभिज्ञानत-त्रि० । आसेवनापरिक्रयाऽऽसे-
वमाने, भाचा० १ शृ० २ अ० ४ उ० ।

अभिज्ञाय-अभिज्ञात-त्रि० । अभि प्रशस्तं जातं जन्म यस्य
सः कुलीने, वाच० । जं० । कुलीनलक्षणम्-

" प्रदानं प्रकृष्टं गृहमुपगते संभ्रमविधिः ।
मित्रं कृत्वा मीनं सदस्ति कथनं चाप्युपहृतः ।
अनुवसेको लक्ष्म्या निरजिनवसाराः परकथाः,
भुने चासन्तोषः कथमनाभिजात निवसन्ति" । १ । अ० १ अ० १ ।

लोकोत्तरतीत्या दिवसनेत्रे, चं० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

अभिज्ञात-अभिज्ञात-न० । चक्रुः प्रणिवाद्यस्यैव त्रि-
कानुसारितायां सत्यवचनातिशयकषायाम्, स० ३५ सम्म० ।

अभिज्ञायमद्-अभिज्ञातश्रु-त्रि० । उत्पन्नतत्त्वचौ, उच्य०
१४ अ० ।

अभिज्ञुंजिता-अभिनयोक्तु-अव्य० । विधादिसामर्थ्यतस्ते-
नुप्रवेशना व्यापारयितुम् । अ० ३ शृ० ५ उ० ।

अभिज्ञुंजिय-अभिज्ञुजय-अव्य० । बशीरुत्य, आनिरुष्य, अ० २
शृ० ५ उ० । व्यापार्य, स्मारयित्वा-एषामर्थे, सूत्र० १ शृ० ५
अ० २ उ० ।

अभिनयोक्तु-अव्य० । विधादिसामर्थ्यतस्त्वनुप्रवेशने व्या-
पारयितुमित्यर्थे, प्रति० ।

अभिज्ञुत-अभियुक्त-त्रि० । परिहृते, नं० । संपादितवृषणे, हा०
१४ अ० । स्या० ।

अभिज्ञा-अभिध्या-स्त्री० । अभिध्यानमजिष्या । स० ५२ सम्म० ।
धनादिध्वस्तोषे परिग्रहे, हा० १३ अ० ६ द्वा० । तद्व्याप्तके गौ-
खमोहनोपकर्मणि, स० ५२ सम्म० ।

अभिद्वेष-अभिद्वेष-त्रि० । अभिमिषुष्येन स्तुतोऽभिद्वेषः । आ-
व० २ अ० । स्वनामजिः कीर्तिते, ल० । अत्रु० ।

अभिद्वेष-अभिद्वेष-त्रि० । अश्ववसायरूपेण ध्याते, गर्जाघा-
नादिदुःखैः पीडिते, सूत्र० १ शृ० २ अ० ३ उ० ।

अभिर्णंद-अभिर्णन्द-पुं० । अस्यामवसर्पिययां जाते भरत-
क्षेत्रीये चतुर्थे तीर्थकरे, (आ० म०) तथा अभिनन्दते देवे-द्वादि-
भित्तिर्यजिनन्दनः । सर्वे एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इत्येतौ
विशेषदेतुप्रतिपादनायाह-"अभिर्णंद अभिनंदात्वा तेन" शक्रो
गर्जादिरभ्यार्भादेण प्रतिकृणं यमभिचन्दितवार्नाति अभिनन्दनः ।
इह दुःखमिति वचनात् कर्मण्ययत् । तथा च बृहस्पतिः-
"यमभ्यजिद् अभिस्वकं सकेण अभिर्विद्या इतो तेसु सां अ-
भिर्नंदां ति नामं यत्" आ० म० टि० । ध० । स० । आ०
वृ० । आ० क० । "अभिर्नंदो अ भरहे, परयप संदिसेजजिण-
चंदे" । (सं समकालमुपपत्तौ) ती० ६ कल्प । स्या० । प्रथ० ।
लोकोत्तरतीत्या श्रावणमासे, सू० प्र० १० पाहु० ।

अभिर्णंदत-अभिर्णन्दयत्-त्रि० । राजानं समृद्धिमन्तमाचक्रा-
ण, आं० । जय जीवेत्यादिजननतोऽभिर्बृद्धिमाचक्राण, अ० ८
शृ० ८ उ० । प्रीति कुर्वति, संधा० ।

अभिर्णंदमात्र-अभिर्णन्दयत्-त्रि० । समृद्धिमन्तमाचक्राण,
कल्प० ५ उ० ।

अभिर्णंदिजमाण-अभिर्णन्दयमान-त्रि० । जनमनःसमृद्धैः स-
मृक्तमुपनीयमाने जय जीव नन्देत्यादिपर्याहोचनान्त् । औ० ।
सस्तुयमाने, स्या० ११ पा० ।

अभिर्णंदिय-अभिर्णन्दित-पुं० । लोकोत्तरतीत्या श्रावणे मासि,
ज्यो० ४ पाहु० ।

अभिर्णय-अभिर्णय-पुं० । अभिर्-नी-करणे अञ्च । इह्रतभाव-
व्यञ्जक शरीरचेशदौ, भावे अञ्चि-अभिर्णयपदार्थस्य शरीरच-
ष्टाभायणादिभिरनुकरणे, अभिनयति बोधव्यर्थमत्र-आयोर-
अञ्च । शरीरचष्टादिभिरनुपदार्थज्ञापक रूपकादौ उदयकाव्यं,
वाच० । "च उच्यते अभिर्णय एषोः । ते जहा-दिद्वैतप, पारस्युप,
सामंतोषणिणं लोणमक्रवासिप" स्या० ४ पा० ४ उ० । अन्व-
ककाक्षनुर्वैधमभिनयमभिनयति । तथा-वार्थान्तिक, याति-
भुक्ति, सामान्यतो चिनिपातिकं, लोकाक्षयवसानिकमिति । एते
नाट्यविधयाऽभिर्णयविधयश्च प्रस्ताविज्ञाततथास्वच्छाऽऽ-
सेयाः । आ० म० प्र० । रा० ।

अभिर्णय-अभिर्णय-त्रि० । प्रथमे अजीर्णे, पो० ५ विद्य० ।
विशिष्टवर्णादियुगोपेन, जी० ३ प्रति० ।

अभिर्णयधम्-अभिर्णयधर्म-पुं० । अधुनैव गृहीतप्रमज्ये, वृ० ४ उ० ।

एको व द्रुवे होजा, बहुया उ कं समवाववा ॥

पृथ्विस्मिन् कल्पे नाक्षि अथ्येयं भिक्करप्रमत्तो जन्तैः परमक-
ल्याणयोगिभिर्हृषवर्णितः, ततः कथं परिहारतपःप्रायश्चित्ताऽऽप-
त्त्येनः परिहारिका जन्धेयुः? अपि च-एको द्वौ वा परिहारत-
प आप्रथयामास, एकस्य एकाक्षिणांशानां द्वयोस्तस्मात्कल्पयत्वा-
पानां संभवात् । ये च बहुवस्ते च समासकल्पकल्पयत्वात्
परस्परं रक्षयुपरायणाः कथं परिहारिकत्व समापना इति ?
अत्राचार्ये ब्राह्म—

चोपग । बहुउत्पत्तीं, जोहा व जहा तहा समणजोहा ।

द्वेषच्छन्नणे जोहा, भावच्छलणे समणजोहा ॥

हे चोत्क ! परीवहागामसहनेन श्रेष्ठेन्द्रियादिविषयोधिष्टानि-
धेषु रागद्वेषादिमानेन परिहारतपःप्रायश्चित्तस्थानापत्त्या बहु-
र्ना परिहारिकाणामुत्पत्तिं विरुद्धा । अथवा-यथा योधाः स-
स्रज्वद्वक्त्रकवा अपि रणे प्रविष्टाः प्रतिपथियुद्धैस्तथाविधं
कल्प्यवसत्रमाप्युद्देशतः, सर्वतो वा क्लृप्यन्ते, तथा अमण-
योधा अपि मूलगुणोत्तरगुणव्यत्यन्तमप्रमत्ततया यतमाना अपि
छलनामाप्नुयन्ति । सा च छद्मना द्विधा-द्वयन्ते, भावत-
इव । द्रव्यनच्छन्नना च्छादितिः । भावतः परीपदोपसर्गैः ।
तत्र द्रव्यच्छन्नने द्रव्यनस्रज्वलनवियथाः, योधा रणे प्रविष्टा भटाः,
भावच्छन्नने प्रायच्छलनवियथाः अमणयोधाः ।

सम्प्रति यदुक्तं यथा योधास्तथा अमणयोधा इति तद् व्याख्या-
नयति-

आवरिया वि रणमुद्दे, जहा उद्विज्जति अल्पमत्ता वि ।

उत्तणा वि होइ पुविण, जिवंतकरी य इयरी य ॥

यथा योधा आवृत्ता अपि स्रज्वलनाद्वा अपि अमणसा अपि
च रणमुद्दे प्रविष्टाः प्रतिनिद्वैष्टव्यन्ते । सा च छद्मना द्विधा-
जीवितान्तकरी, इतरा च । तत्र यथा जीवनाद् व्यपरोप्यते
सा जीवितान्तकरी, यथा तु परितप्याऽऽप्रापद्यते नापञ्चयणं
सा इतरा ।

मूलगुणउत्तरगुणे, जयमाणा वि हु तहा उद्विज्जति ।

भावच्छन्नणा य पुणो, सा वि य देमे य मन्वे य ॥

तथा यतया रागादिप्रतिपक्षभाषनासहास्रस्रज्वा यथा-
गमं मूलगुणोत्तरगुणेषु चात्यप्रमत्ततया यतमाना अपि 'हु'
निधित, भावच्छलनया परीपदोपसर्गादिभिः समागच्छायव-
नपया क्लृप्यन्ते । साऽपि च प्रायच्छन्नना द्विधा-देशता, सर्वतश्च
तत्र यथा तयोऽर्हं प्रायश्चित्तमापद्यते-सा देशतो जावच्छन्नना ।
यथा मूलमार्गेत-सा सर्वतः ।

एवं परिहारीया-उपरिहारीया व होजा बहुया तो ।

ते एगंत निसीहिय-मजिसिजं वा वि चेएजा ॥

यतो रणे प्रविष्टा योधा इव अमणयोधा अपि परीपदादि-
निम्नव्यत्यन्ते, तत एवमुक्तेन प्रकारेण, बहुवः परिहारिका अप्रा-
रिहारिकाश्च जन्धेयुः । तदेवं परिहारिकापरिहारिकश्चन्द्रव्युत्प-
पाचायुना स्वाभावयथाद् द्वाविमयासुराह-ते एगंत इत्यादि) ते
बहुवः परिहारिका अप्रपरिहारिका वा एकाःतत एकान्ते विवि-
क्ते प्रदेशे प्रत्यासन्न इतरतः वा नैर्धकीमिशरयो वाऽपि अग्नि-
निषाद्यापि चेत्येगुणोत्तरे, गन्तुमिच्छन्त्येः ।
तत्र का नैर्धकी, का वा अग्निशय्या इ, इति व्याख्यानयति-
द्राणं निसीहि य ति य, एगदं जय ठाणमेवेगं ।

चेतेति निमि दिया वा, सुतय निसीहिया सा ठ ॥

सउभ्यां काऊणं, निसीहिया तो निसिं विष्य उवेति ।

अग्निवसिउं जय निसिं, उवेति पातो तदं सेजा ॥

तिष्ठन्ति स्वाध्यायध्यायुताः अस्मिन्निति स्थानम् । निषेधेन
स्वाध्यायव्यतिरिक्तश्रेयसापावप्रतिषेधेन निष्ठुता नैर्धकी ।
ततः स्थानमिति वा, नैर्धकीति वा (एगदुक्ति) एकार्थम् ;
द्राव्येतेता तुल्यार्थाविति भावः व्युत्पन्नस्येभ्य इषोरिष्यतिश्र-
त्वात् । यत्र स्थानमेवं स्वाध्यायनिमित्तमेकं, न तु ऊर्ध्वस्थानं
अभावकेनस्थानं वा चेतयन्ति । निशि रात्री दिवा वा सा
सुत्रार्थहेतुत्वा नैर्धकी । एतेनास्मिन् वा नैर्धधिक्यु-
का सा सुत्रार्थेप्रायणा नैर्धकी प्रतिपत्तया, तनु काल-
करणप्रायण्या नैर्धकी प्रतिपत्तया । किमुक्तं भवति ?
यस्यां नैर्धिक्यां दिवा स्वाध्यायं कृत्वा दिवेन, यदि वा
निशि च स्वाध्यायं कृत्वा निश्येव निशायामवश्यं नैर्ध-
की घसन्तिमुपयन्ति सा अभिनिषेधकी । यस्यां पुनर्नैर्धिक्यर्था
दिवा निशार्था वा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुपित्या प्रातश्चरन्तिमु-
पयन्ति (तर्हि इति) तदा अग्निशय्या अभिनिषेधोति जायः ।

अथ स्थविरा अप्रपृष्टा अपि यदा न भ्रुवन्ति, तदा किं
कल्पेन, न वा ? इत्याशुश्राव्याभाह— (येरा गृहमित्यादि)
स्थविरा आचार्यादियः, चशब्दो वाक्यभेदः, एहमिति
वाक्यालङ्कारः, सतेयो परिहारिकाणामपरिहारिकाणां वा वि-
तन्त्युरजानीनैर्धकीमात्रशयो वा गन्तुं, एवममुना प्रका-
रणेण, एहमिति पुषेयत्, कल्पते आश्रय्यामात्रनिषेधार्था वा
(चेत तए इति) गन्तुम् । (येरा एहमित्यादि) स्थविराः, एह-
मिति प्राभवत् । नो नैव, तेपार् विन्तैर्युरेवममुना प्रकाणं नो
कल्पते एकाःततोऽभिनिषेधामभिनैर्धकी वा गन्तुम् । (जे ल-
मित्यादि) यः पुनर्भमिति वाक्यालङ्कारो, स्थविराः रात्रौणाऽन-
नुकताः सन् एकान्ततो अभिनिषेधामभिनैर्धकी वा (चेतः)
गच्छन्ति, ततः (स) तस्य स्वान्तगतं स्वकृतमन्तरं स्वान्तरं
तस्मान्, यावत् मिलति यावद्वा स्वाध्यायभूमिर्नाच्छ्रितं ता-
वद् यद् विचारं तत् अन्तरं तस्मात्स्वहृतादनन्तत् तदेवं वा
पञ्चरात्रिन्द्यादिकः, परिहारा वा परिहारादन्तगतं तदेवं वा
कादिः । एष सुत्रार्थः ॥

अधुना निर्गुणकविवस्तरः—

निकारणमि गुरुमा, कजे लहुया अणुच्छणे ह्युहो ।

परिसेहमि य ह्युहया, गुरुमणे हौतऽणुच्छयाया ॥

यदि निकारणे कारणाभावे अग्निशय्यामभिनैर्धकी वा
गच्छन्ति, ततस्तेषां प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चारां गुरुमासाः । अथ
कार्यं समुपग्रे गच्छन्ति, तत्र प्रायश्चित्तं लघुकाश्चारां लघु-
मासाः । कार्यमुपग्रे द्वा वर्णयिष्यते । यदि पुनः कार्यं समुपग्रे
अनापृच्छ्य गच्छन्ति, तदा अणुच्छन्ते लघुको मानलघुः ।
पुच्छायामपि कृत्यायं यदि स्थार्थेः प्रतिषेधे गच्छन्ति ततो
लघुकाश्चारां लघुमासाः । (गुरुमणो इत्यादि) गुरुकाचार्यः
स यदि गच्छत्यभिशाश्यामभिनैर्धकी वा ततस्तरस्य भवत्य-
दुद्घान्तगुयकाश्चारां गुरुमासाः ॥

ये पुनर्भमितिपासाः ससर्थां निक्षयन्ते यदीच्छन्ति ततस्तेषामि-
मे दोषाः—

ते गाऽऽदेमगिलाणे, कामणस्तीनपुंसमुच्छा वा

ऊणषणोष दोसा, ह्वंति एष उ बहदीए ।

ये वसतिपात्रासैर्वसतेःकन्येव हीनस्ये एते गाथापुर्णोक्ता दोषा भवन्ति । तद्यथा-स्तेनाभ्योरास्ते । गताः साधवां वसतेः । इति ज्ञात्वा वसतावापतेषु; आदेशा आपूर्णेकास्ते वा समागच्छेयुः, तेषां च समागतानामविश्रामादिप्रसक्तिः, सम्यक्साधनावा-
वात् । (गिज्ञाने चि) म्लानो वा, तेनाभामाये व्याधिपीडितो समाधिमाप्नुयात् । (कामचि) दाहो वा प्रदीपनकेन वस-
तेःशुवाद । तथा स्तोकाः साधवो वसतो तिष्ठन्तीति श्रियो नपुंसका वा कामविद्वलाः समागच्छेयुः । तथापरमोभयस-
मुन्या दायाः । तथा मूर्धो कस्यापि पिशाचविश्रमो भूयात् । तदेवं यतो वसतिपात्रानामिमं विनिर्गमं दोषास्त्वस्माच्चैरपि शक्यादियु न गन्तव्यमित्येष द्वारगाथासंक्षेपायैः ।

व्यासार्थं तु भाष्यकृदाह-

द्विद्वाऽनहार सोही, एषणधातो व जा य परिहाणी ।

आएसर्मावस्सापण-परितावणया य एकतरे ॥

स्तैरपहारे द्विबिधः । तद्यथा-साध्वपहारः, उपप्यपहारश्च। तस्मिन् द्विबिधेऽप्यपहारे शोधिः प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-यद्येकं साधुमपहरति स्तेनास्तदा वसतिपालानां प्रायश्चित्तं मूलम् । अथ द्वापपहरेन्नित ततोऽभवत्स्यम् । त्रिप्रभृतीनामपहरणे पारा-
श्चित्तम् । तथा अधन्योपपहारे पश्चात्तन्निवृत्त्यम् । मध्यमो-
पपहारे मासलघु । उक्तशेषोपपहारे चतुर्मुक्तम् । तथा एष-
णया घ्रातः प्रेरणमेषणघ्रातः, स च स्वात् । तथादि-अवस्तु-
परिपात्रादिकमन्तरेण एषणाघ्रातः, तत एषणाप्रेरणे यस्माय-
श्चित्तं नदापद्यते तेषां वसतिपालानामिति । तथा (जा य परि-
हाणि चि) या च परिहाणित्येति विभक्त्येन हीनादिवाचित-
स्य, तद्वेषणप्रयतमानस्य वा, सुभाष्यस्य च श्रेशः, तन्निमित्तकम-
पि समापद्यते प्रायश्चित्तम् । तत्र सूचीरुष्या अकरणे मासलघु । अर्धपौरुष्या अकरणे मासगुरु । अर्धनाशने चतुर्गुरु । तथा तेषु वसतिपात्रेषु साधुष्वभिध्यादिगतेषु आदेशानामापूर्णेकानां समागतानामप्यपरिभ्रातानामविश्रामेण वा अनागादा परि-
रितापनेपजायते, तन्निष्पन्नमपि नेषामापद्यते प्रायश्चित्तम् । (एकतरे चि) तेषु वसतिपालेष्वभिध्यादिगतेषु यो मुक्त एकतरो वसतिपालः, स एको द्वौ बहवो वा, 'यथागच्छन्ति प्राच्यैकाः ते सर्वेऽपि नियततो विश्रमयितव्याः' इति जिनप्रवच-
नमुद्रकात् । बहूनापूर्णेकात् विश्रामयन्त्येव नानागादमागं वा परि-
रितापनामप्राप्तिं तन्निमित्तकमपि समापद्यति तेषां प्रायश्चित्तम् ।
साम्प्रतमस्या एष गाथायाः पञ्चार्थं व्याख्यास्यति-

आदेशमविस्सामण-परितावण तेऽऽवच्छल्लर्ष च ।

गुरुकरणे षि य दोसा, ह्वंति परितावण्णदीया ॥

आदेशानां प्रापूर्णेकानामविश्रामेण, 'गाथायां मकारोऽप्राप्तिक-
णः' एषमन्यथापि कृत्वम्यम् । अर्धोऽप्यपरिभ्रमतो यदनागादमा-
गादं वा परितापनं; तथा तेष्वदेशेषु समागतेषु अहस्तसन्त्यम-
हास्तसन्त्यकणं तन्निष्पन्नं तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्त्यश्च वसति-
पालेष्वपि शक्यादिगतेषु प्रापूर्णेकानां समागतानामन्यथाभावे
गुरुः स्वयं वास्तव्यं करोति, गुरुकरणेऽपि च दोषा ज्वलति परि-
रितापनाद्यः । तथाहि-गुरोः स्वयं करणे लुक्कारुत्या अनागादमा-
गादं वा परितापनं स्वात्, परितापनाच्च योगसमागमः, रोगसमा-
१८०

गमे च बहूनां स्वगच्छपरगच्छीयानां स्वार्थेहादिभिः, आधकारिणां धर्मदेशनाभयव्यापारः, लोके आचर्यवाद् । यथा-दुष्प्रिणीता एते शिष्या इति । गतामदश्वद्वारम् ।

अधुना म्लानद्वारमाह-

सयकरणमकरणे वा, गिज्ञापपरितावणया यद्विद्वो वि ।

बालोवहीण दाहो, तदृचमषो व आदिषे ॥

वसतिपालेष्वभिध्यादिगतेषु, द्विधा ज्ञाप्यमपि प्रकाराभ्यां म्लानस्य परितापना । तद्यथा--स्वयंकरणे, अकरणे वा । तथाहि-म्लानो यदि स्वयमुद्धतनादिकं करोति, तदापि तस्याऽ-
नागादादिपरितापनासंभवः । अथ न करोति, तथापि परित-
ापनासंभवः, ततस्तन्निमित्त आपद्यते तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्त्यश्च यः पञ्चाम्युक्तो वसतिपालः स यथा प्रपद्यते म्लानस्य ज्ञानानां वा कर्तव्यं करोति, तदा सोऽपि परितापनमनागादमागादं वा-
ऽऽपद्यते ; ततस्तद्विषयकमपि प्रायश्चित्तम् । गतं म्लानद्वारम् । अधुना कामणद्वारमाह- बालोवहीणमित्यादि । तेषु समर्थेषु वसतिपालेषु बाहं वसतिपालं मुक्त्वा अभिध्यायामिनेषेधि-
कीं वा गतेषु अन्तिकयेन प्रदीपे उपाश्वये बालानामुपधीनां च दाहो भवेत् । तत्र यद्येकोऽपि साधुःश्रियते तदा अरमं पाराश्रि-
कं प्रायश्चित्तम् । अथ न श्रियते किन्तु दाहमागादमागादं वा परितापनमाप्रापति तदा तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अयोपधिर्घ-
न्यं मध्यम उक्तशेषा वा दह्यते ततस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । (तदृचमषो व चि) तदर्थं बालमिस्तारणाधर्म, उपधिस्तारणा-
धर्म वा अन्त्यः प्रविशेत्, तदा कदाचित्सोऽपि बालो दह्येत अन्त्यश्च प्रविशेत्; ततस्तदुभयमिति सत्प्रपद्यते प्रायश्चित्तम्, सोके च महान् अवधेयवाद् । गतमभिध्यायम् ।

अधुना हीनपुंसकद्वारमाह--

इत्थीनपुंसगा वि य, भ्रामपत्तणभ्रो तिद्वा भवे दोसा ।

अर्जघाय पिप्ततो वा, पुच्छा अंतो व वादिं च ॥

श्रियो नपुंसको वा, अवमत्वेन हीनत्वेन, 'स्तोकाः साधवो वसतो तिष्ठन्ति, परित्यक्तमत्तःशान्त्यत्र गता वसन्ते' इति ज्ञात्वा समागच्छेयुस्तद्गामने च त्रिधा आत्मपरित्यजनमुच्यन्ते दोषाः स्युः । तथादि-यत् रुष्यादिकमुपलभ्य स्वयं कोममुप-
न्ति साधवः, एष आत्मसमुद्यो दोषः । यत्पुनः स्वयममुच्यतेः साधून् बलात् रुष्यादिकं कोमयति, एष परसमुद्यः । यदा तु स्वयमपि बुज्यन्ति, रुष्यादिकमपि च कोमयति, तदा अन्त्य-
समुद्य इति ॥ मूर्धोद्वारमाह- (अर्जघातेत्यादि) वस-
तेरन्तःस्थितस्य वसतिपालस्य कथमपि अराजर्जित्वादिना पनन्यां वसतो काष्ठादिभिः शरीरस्थोपरि निपतन्निर्ब-
हिषो वसतेः स्थितस्य कथमपि घातादिना पाप्यमानेन तद्यथा, तस्यान्वाया वा अग्निघातेन मूर्धो भवेत् । उ-
पश्लगमेतत्-अनागादा आगादा वा परितापना स्यात् । यदि वा वसतेरन्तर्बहिषो व्यवस्थितस्यापि ततः पिप्तप्रकोपतो मूर्-
धो नयेत् । तत एकस्यः सतस्तस्य को मूर्धोपशमयेत् । ततस्तन्निष्पन्नप्रायश्चित्तसंभवः, प्रभूतश्च जनापवादः । तदेवं प-
ञ्चाम्युक्तानां वसतिपालानां दोषा अभिधिताः ।

सम्प्रति ये अभिध्यादिगतास्तेषां दोषानमिधित्पुंरिदमाह-

जय वि य ते वयंति, अभिसेजं वा निर्साहियं वा वि ।

तत्त्व वि य इमे दोसा, द्वौनि गयाणं मुणेषव्वा ॥

यत्रापि च विधिके अंशे ते निष्कारणगामिनो अभिशय्या-
मभिधेयधिकी वा ज्ञानिन्, तत्रापि तेषां गतनामिमे चक्षमा-
णा दोषा भवन्ति ज्ञातव्याः ।

तानेवाऽभिधिसुद्धारणाध्यामाह-

वीरारतेण आर- -स्वित्तिरिक्त्वा इत्यिन्द्रो ननुसा य ।
सविसंसतरा दोसा, दम्पयाणं ह्यवैते ॥

कथमप्यकालगमने विचारे विचारभूमावप्रत्युपेक्षितायां,
तथा स्तेनाशङ्कायां । [आर/स्वित्ति] आर/स्वित्तिशङ्कायां वा, तथा
तिरस्कां चतुष्पदादीनां संज्ञे, तथा स्त्रियां वा दत्तसंकेतास्त्वत्र
तिष्ठन्ति, ननुसका वा दत्तसंकेतास्त्वत्र तिष्ठन्ति-इत्याद्याशङ्का-
सामिने बह्व्यमाणाः सविशेषतरा दोषा दृष्टगतानां निष्कारण-
गतानां प्रवृत्तिः ।

तदेव सविशेषतरस्य दोषाणां प्रतिचारमभिधिसुः प्रथमतो
विचारद्वारमाधिकृत्याऽह-

अप्यफिलेह्रियदोसा, अविदिष्ये वा हृत्ति उजयन्मि ।
वसहीवाघाएण य, एतमणंते य दोसा उ ॥

यदि नाम तं दर्पहताः कथमप्यचक्षुर्विषयवैलायां गता भव-
येयुः, ततः संस्कारकोषारप्रभवणादिषु भूमिष्वप्रत्युपेक्षितासु ये
दोषा अभिधिसुद्धी सविस्तरमास्थितास्ते सव्यप्यत्रापि यत्क-
र्त्वा । तथा विकलावैलायां गमने यदि कथमपि शय्यातर उ
ष्यारप्रभणप्रायगमचकारां न विनयेत् ततोऽप्यतिरिक्तप्रत्युपेक्षितं
अवकाशे उजयन्मिन् उष्यारप्रभणवत्तुण्ण जयन्ति दोषाः तथादि-
यि अमनुकृते अवकाशे उच्चारं प्रभवणं वा कुर्वन्ति तदा कदा-
चिद् शय्यातरस्तेषामेव वसत्यादित्यवच्छेदं कुर्यात्, यदि वा
स्तेनामप्येन दर्शनस्योपरि विक्षेपतः सर्वेषामपि साधुनामिनि अथ-
वा कथमप्यशङ्कानिकतया वस्तरनिशय्याकृपाया व्याघाताः प्र-
भवन्ति, ततो राशिं मूत्रवसन्तिमानाच्छनं तेषां श्वापद्विभिरात्मवि-
राधना । अथ नायान्ति वसन्ति तदा अभिशय्यायाः समीपे अप-
स्युपेक्षितस्थानाश्रयणतः संयमविराधना । गतं विचारद्वारम् ।

अथुना स्तेनद्वारमारक्षिकद्वारं च युगपदभिधिसुद्धारह-

सुष्पाईं गेहाईं उवैति तेषां,
आरक्षितया ताणि य संचरन्ति ।
तेषां चि एसो पुररक्षित्तो वा,
अशोक्षसंकार्णं अतिवापय्जा ॥

शुश्रूषाणि शुद्धाणि, स्तेनाः विधत्तान्तुष्टे प्रवेशनाय वेलां प्रती-
कनामाः, आरक्षिकदिभ्यस्तो वा उपयन्ति । तानि च शुश्रूषाणि
शुश्रूषाणि आरक्षिकाः पुररक्षिकाः 'मा कार्ष्णिद्वत्र प्रविष्टरक्षीरो जू-
वाण' इति संबन्धि प्रविशन्ति । एवमुपयेषां प्रवेशसंभवे अन्या-
ऽन्याशङ्काया आरक्षिकाः अभिशय्यायामेव प्रविष्टं साधुमुपभय
स्तेन एष व्यवतिष्ठन् इति, स्तेना अत्रे प्रविष्टास्त्वत्र प्रविशन्तं
साधुं हृष्टां पुररक्षक एष प्रविशतीत्येवंप्रकारेण, स्तेना आरक्षिका
वा अतिपातयेयुः व्यापादयेयुः । गतं स्तेनारक्षिकद्वारम् ।

सम्प्रति तिर्यग्शुद्धारमाह-

दुग्मुचिन्त्रया वा अदुग्मुजिया वा,

दिवा अदिच्चा व तद्धिं तिरिक्त्वा ॥
चतुष्पिया वालसरीसिवा वा,
एगो व दो तिष्ठि व जय्य दोसा ॥

तत्र अभिशय्यायामभिधेयधिकीयां वा चतुष्पदाः तिर्यग्शुद्धिषा
भवेयुः । तद्यथा-जुगुप्सिता नाम निन्दिताः, ते च गर्वधी/पृथुत्वमे
तद्विपरीता अजुगुप्सिताः, गोमहिष्यादयः । एकैके द्विधाः, तद्य-
था-हस्ताश्च द्रुपञ्जानाः, तद्विपरीता अहस्ताः, न केवलमिच्छ-
भूताश्चतुष्पदा भवेयुः, किन्तु व्याधा लुजङ्गादयः, सरीसृषा वा-
शुहगांधिकादयः, इत्थन्नुत्तेषु च तिर्यग्शु चतुष्पदेषु व्याधसरी-
सृषेषु, एको द्वौ त्रयो वा दोषा भवेयुः । तत्र एकः-आत्माविरा-
धनादीनामन्यतमः, द्वौ साधुत्वेदेनामाविराधनासंयमविराधने,
त्रयः-कस्याप्यामाविराधना, कस्यापि संयमविराधना, कस्या-
प्युस्यविराधनेति । अत्र चतुर्भङ्गी-कस्याप्यामाविराधना, न
संयमविराधना १, कस्यापि संयमविराधना, नामविराधना २,
कस्याप्यामाविराधनाऽपि संयमविराधना ३, कस्यापि ना-
भयविराधनेति ४ । उपलक्षणमेतत्-जुगुप्सितान्तिर्यक्चतुष्पदसं-
भवे विरुपाऽशङ्कासंभवतः प्रवचनोद्गारोऽपि स्यादिति ।
गतं तिर्यग्द्वारम् ।

अथुना खीनपुंसकद्वारे युगपदभिधिसुद्धारह-

संगारादिन्ना व उवैति तत्त्व,
ओहा पदिच्छन्ति निलिच्छमाणा ।
इत्यीं ननुसा व करेज्ज दोसें,
तस्सेवण्डाए उवैति जे उ ॥

अतोः सक्तः स दतो धैस्ते संगारद्वारा, निष्ठानस्य धर-
निपातः प्राकृतत्वात्, सुखदिदर्शनाच्चा । दत्तसंकेता इत्यर्थः ।
इत्थम्भूताः सन्तस्तत्राभिधिशय्यादिषु उपयन्ति गच्छन्ति, एवं
लोकानामाशङ्का भवेत् । अथवा तत्र गतेषु ज्ञानामिभ-
माशङ्का समुपजायते । तथा स्त्रियां नपुंसका वा ओषा इति ।
तन्मुखान् निरीक्षमाणः प्रतीकन्ते, ततोऽस्मी गताः । यदि वा
तासां खीणां ननुसकानां वा सेवनार्थे ये तत्रोपयन्ति पुरुषास्ते
'अस्मत्कृपादिसंयमार्थमेतदुच्य संयतः समागतः' इति दोषान्
अभिधानाऽवर्णवादादीन् कुर्युः ।

तदेवं यस्मादकारणे निगनानामिमे दोषास्तस्माच्च निष्कारणे
गन्तव्यं, कारणे पुनर्गतव्यम् । तथाचाऽह-

कप्पे उ कारणाईं, अज्जिमेज्जं गंतुमज्जिनिसां हिं वा ।
लहुणा उ अगमएम्मं, ताणि य कज्जाशिमिां तु ॥

कल्पने पुनः कारणेस्वाध्यायदिब्रह्मण्यैवैष्यमाणेभिशय्या-
माभितेयधिकी वा प्रमुक्तशब्दायां गन्तुं, यदि पुनर्मे चच्छन्ति
ततो लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः प्रायश्चित्तम् । तानि पुनः
कार्याण्ये कारणानि इमानि यद्व्ययमाणाणि ॥ तान्येवाऽह-

अमजाऽयपाटुणए, संसडे तुड्ढिकाययुपरहसे ।

पटमचरमे ष्णं तु, सेमेसु य होई अभिसेजा ॥

यसनावस्थाध्यायः, प्राश्रुणका वा बहवः समागताः, वसतिश्च
संकटा, ततः स्वाध्यायैः, प्राश्रुणैकसमागताः, तथा संसत्ते प्रा-
णिजानिभिरुपाध्यायैः, तथा बुद्धिकार्ये निपतति गलन्त्यां वसन्ती,
तथा भुतरहस्ये उवथुतादीं व्याख्यायुषुपकान्ते, अभिशय्या,

अभिनेयधिकी वा गन्तव्या । तत्र (पदमचरने दुर्गतं इति) प्रथमे सूत्रक्रमप्रामाण्यादस्वाध्याये, चरने अन्तरहस्ये, द्विक्रमभिशब्द्याभिनेयधिकीलक्षणं यथावयव्यं गन्तव्यं, तेषु च प्रापूर्णेकसंस्कृष्टिकायकल्पेण, भवत्यज्ञिशब्द्या गन्तव्या ।

तत्रास्थानानुपूर्व्येति ध्यायक्याया इति ध्यायक्यापनार्थं प्रथमतः अन्तरहस्यामिति चरमद्वारं विद्यारण्युरिदमाह-

येषमुपविज्जमता, पाहुन्नि अक्षयीय महिमिदृष्टिता ।
इदं दोसा चरमपण, पदमपण पोरिसिंभंगो ॥

येदं धनानि प्रकल्पव्यवहारादीनि, तानि वसतो अपरिणामकांतिपरिणामको वा शृणुयात्, तथा विद्यामन्त्राश्च वसतौ कस्यापि दीयमानान् अभिगीतो निजैर्मनोऽष्टुष्यात्, प्राप्नुत वा यानि प्राप्नुतादिकं वसतो व्याख्यायमानम्, अभिगीतः कथमपि शृणुयात् । तच्छ्रवणे च महात् दोषः । तथाचान् महिषद्वेषतः "क्याहं ज्ञोषिष्याहमे वक्ष्यामि ज्ञानं एषेण आयरियाद्येषु अधिस्वमाणेषु निरुद्धेण सुयं । जहा-अयमद्वेषसंज्ञेण महिसो संमुच्युहः न सोऽं सो उत्थायिभंगो गतो अश्रमि गणे, तस्य महिसे द्वेषसंज्ञेण समुच्छ्रवित्वा सागारियदस्ये स विंक्षणः, न आयरिया कर्हमवि जाणिसा तस्य आगया, उदं तो सं पुच्छितो, तेण सज्जावो कदिभ्रां । आयरिया भणति-अथ सुदरसुवचरणयजुत्तादि गेपह । तेण अजमुन्नयं । ततो आयरिपदं भणियं-अमुगाणि दव्याणि य तिरिफलसंज्ञोपज्जासि ततो पणुयिण सुवचरणयाणं भविसंस्ति । तेण तहा कथं, समुच्यते दिष्टाविसो सण्यो, तेण विद्धो मनो" । ततोऽज्ञिशब्द्याऽभिनेयधिकी वा गन्तव्या । तथा प्रथमपदमस्वाध्यायवसतुषु, तत्र दोषः पौरुषाभङ्गः । इयमत्र जावना-अस्वाध्याये वसतानुपूर्वात् स्वाध्यायकणामभिव्यथयमज्ञिशब्द्याभिनेयधिकीया वा गन्तव्यम्, अन्यथा सूत्रवीरुष्या अर्थपौरुष्या वा भङ्गः । तद्वृत्तं च तत्रिणप्रप्रायश्चित्तापत्तिः । गतं चरमद्वारमस्वाध्याययज्ञां च ।

सम्प्रति प्रापूर्णेकादिद्वारत्रिनयमाह—

अभिसेयते हृत्या-दियदृष्टं जगणे आजस्यार्दी ।
दोषु असंजमदोसा, जगण अद्वोवर्हीया वा ॥

कदाचिद्व्यसथाविषयसत्यालाभे नापचः संकटायां वसतौ वियता जयेयुः, प्रापूर्णेकाश्च साधवो भूयसिः समागताः, तत्र दिवसे यथा तथा वा तिष्ठन्ति, रात्रौ खृगणु अपूर्वमाणासु यथ-भिशब्दा न व्रजन्ति तदा तस्मिन्नुपाश्रये अतिशयेन संघट्टः परस्परं संहननाभिसंकटतया सोऽभिसंघट्टः, तस्मिन्नेव स्थितानां परस्परं इहन्तपादादीनां घट्टेन जयेय, तज्जावै च कलहा-समाध्यादिदोषसंज्ञवः । अथेतद्दोषजयादुपविषा एष तिष्ठन्ति, ततो जागरणे रात्रौ जाग्रतामजाणीदिदोषसंज्ञवः । अजाणी-माहारस्याजरणं, तज्जावै च रोगोत्पत्तिः । रोगे च चिकित्साया अकरणे अस्वमाधिः, क्रियमाणयां च चिकित्सायां पदकाय-व्यापत्तिः । इति गतं प्रापूर्णेकद्वारम् ॥ अमुना संसकद्वारं चाह- (दोषु असंजमेत्यादि) धनोः-संसके उपाश्रये वृष्टिकाये च निपत्यति, असंयमाविराधनाकपी द्वावी । तथाहि-संसकत्वं दु-ष्पत्युपेक्षणीया वसतिरिति, तत्रावस्थाने स्फुटा संयमाविरा-धना । तथा वृष्टिकायेष्वपि निपतितेषु क्वचिद्व्यसंशु वसतिम-

लतीति तत्रापि संयमाविराधना, अस्वाध्याविराधनासंज्ञवात् । अन्यथ वृष्टिकाये निपत्यति उपशिका येन स्त्रीभ्यते, स्त्रीस्मितेन चोपाधिता शरीरसम्भेन रात्रौ तिष्ठा नायाति, तिष्ठाया अजाव च अजाणीदोषः । तस्मात् संसकतायां वसतौ वृष्टिकाये च नि-पत्यति नियमनो गन्तव्या अज्ञिशब्द्यति । तदेवमुक्तं गन्तव्यकार-णम् । तथा चाऽऽह-

दिष्टे कारणमगं, जइ य गुरु वचच प तत्रो गुरुगा ।
आराल्दृष्टियेक्षण, सफा पथ्यथिया दोसा ॥

दृष्टमुपसम्भं जगवदुपदेशतः पूर्वसुरिभिः, कारणे अस्वाध्या-यादिलक्षणेऽभिश्ययायां गमने, तत्र यद्येव दृष्टे कारणमगमे गुरुरभिश्ययाभिनेयधिकी वा मज्जेत् ततस्तस्य प्रायश्च-त्तं गुरुकाश्चकारो गुरुमासाः । को दोषो गुरुगमे इति चेत् ? अत आह- (आरालेत्यादि) आचार्यः प्राय उदारशरीरेर भवेत्, सहाया अपि च कथमपि तस्य स्तोका अभ्युदः । ततः काश्चन स्त्रियः सहायार्थं स्वप्रायिव्याऽस्य हृदयार्थिना प्ररयेयुः । अन्यच्च-अस्थितारदीनां शब्दा समुपजायते, तथाहि-किं वसता-याचार्यो नोपिनः, नृममगरीं प्रतिसेविषुं गत इति । यदि वा प्रत्यर्थिका प्रत्यनीकाः प्रतिवाद्याद्योऽप्यसहायमुपसम्भं विना-श्यायाऽऽयुः । तत एवमाचार्ये गमने दोषाः, तस्मात्तन न गन्तव्य-मिति, न केवलमाचार्येण न गन्तव्यं किन्त्येतैरपि न गन्तव्यम् ।

के ते एते ?, इत्याह-

गुरुकरणे पडियारी, भएण बलवं करेज्ज जे रक्कं ।
कंदपविग्गही वा, अभियतो गणवुद्धो वा ॥

गुरोराचार्योः करणे करणविषये ये प्रतिचारिणः प्रतिचार-काः कार्याकामत्रादिसमर्पका विश्रामकाश्च, तेन गन्तव्यं, तेषां गमने गुरोः सीदनात् । तथा भयेन पश्चात्सत्ताया-तराले-ऽभिशाभ्यायां वा तस्कारादिभयेन समुत्थितेन सर्वैरपि साधुभि-न गन्तव्यम्, आत्मसंयमविराधनादौ प्रसङ्गात् । तथा यो ब्रह्मण्यं गुरोर्दीनां तस्कारादिभ्यो रक्तां करानि, तेनापि न गन्तव्यं, तन्मने गुरोर्दीनामपायसंभवत् । तथा यः कल्पः कन्दपेशीलः, यश्च विप्रहो, तथाचाऽऽराटिकरणशीलः, यो वा यत्र गम्यते तत्र शब्दानरादीनां कौश्ल्येण कारणेः पूर्वैरारादिभिः (अविषयतां इति) अप्रीतो, यश्च स्थानघट्टः, पुरादिघट्टः, पतैरपि सर्वैरे गन्तव्यम्, प्रवचनोद्गातामात्मविषयानादिदोषप्रसङ्गात् । यदि कथमपि न गच्छन्ति ततो बलादाचार्यादिभिरोगयितव्या इति ।

अथ कारणे समुपसंभे तेषां गच्छतां कौनायकः
प्रवर्तयितव्यः ?, उच्यते-

गंतुं गणावृत्ते-दुपवतीसंयगीयभिक्यू य ।
एपसि असतीए, अगीयए मेरकहणं तु ॥

कारणे अस्वाध्यायादिलक्षणे समुपसंभे सति शेषसाधुभिर्ग-न्तव्यमभिश्ययादि, तेषां च गच्छतां नायकः प्रवर्तनीयां गणाव-च्छेदको वक्ष्यमाणस्वरूपः । तदभावे प्रवर्तनी, सोऽपि वक्ष्यमाण-स्वरूपः, तदभावे स्थविरः, तस्याप्यभावे गीतभिक्षुगीताथः सामायवर्तनी । एतेषामसति अभावेऽपीनायोर्धर्मि माध्यस्थ्यदि-शुण्युक्तः प्रवर्तनी । केवलं तस्मिन्मताथे (मेरकहणं तु इति) मर्यादायाः सामाचार्योः कथनम्-यथा साधुनामावश्यकं आलेखनार्थां प्रायश्चित्तं दयिते, तन्मस्कारपौरुष्यादिकं च

प्रत्याख्यायने यस्यै दातव्यमित्येवमादि सर्वे कथ्यते इति भाषः ।
कथं किंस्वरूपः सोऽप्रीताथो नायकः स्थायीयः?, इत्यत आह-

मरुज्जोष्कदप्पी, जो दोमे लिहइ सेहओ चव ।
केसु उ ते सीएज्जा, दोसेसु ते एमे गुणसु ॥

मरुज्जोष्क-रागद्वेषविरहितः, अकन्दर्पा-कन्दर्पोद्दीपनभाषिता-
दिविषयः, एवंभूतो नायकः स्थायीयः । तेन च साधयोऽ
समाचारी समाचरन्तः शिक्कणीयाः, शिक्कमाणश्च यदि कथ-
येयुः, यथा-यदि वयमेवं कुर्मस्ततस्तव किम् ?, कस्त्वय ?,
इत्यादि, तथा स (लेहओ चव णि) लोचकवत् तेषां सर्वेषां
साधुनां हांवाह अविस्मरणनिमित्तं मनसि लिखति, सम्पगव-
धारयतीत्यर्थः । अथ कसु ते साधवः सीवेषु, याद् स स्व-
चंगलं धारयति ? । सुरिराह—तान्द्यायानिमाद् बहयमाणा-
न् शृणुत ।

तत्र यदुक्तं “एपसि अस्ततीव” इत्यादि, तद्व्याख्यानाध्याह-
रपरिचिन्नीयाया-ऽनतए मेरकहंतदसंगित्ये ।

भयगोरवं च जस्स उ, करंति सयसुज्जतो जो य ॥

स्वविरस्य, प्रवर्तिनः, उपसङ्गणमेतत्-गणावच्छेदस्य च, तथा
गीतस्य गीताधेय्ये मिहोरसति अभावे अग्रीताथोऽपि प्रेषणी-
यः, तस्मिन्नाग्रीताथे प्रेष्यमाणं (मेर णि) मर्यादां सामाचारी
यथाकस्वरूपं कथयन्ति, किमिशिष्टः सोऽप्रीताथः प्रेष्यः ?,
आह—(भयगीरवमित्यादि) यस्य भयं साधवः कुर्वन्ति, यस्य
वानुवर्तना गुणतो भयतो गौरवं यथोक्तिं कुर्वन्ति । यश्च स्व-
भामाना सम्युक्तोऽप्रमादी, सोऽप्रीताथो नायकः प्रवर्तनीयः ।
किं कारणादिति चेत् ?, उच्यते-असमाचारीरूपदोषप्रतिषे-
धनायम् ।

अथ के ते असमाचारीरूपा होवाः ?, अत आह—

फलिहेहणुसउभाए, आबस्सगदंरुविसायराइत्थी ।
तेरिच्छवाणमंतर-पेहा नहवीणकंदप्पे ॥

प्रतिशेखनायामस्थाप्याये आबहयकदएदं, उपलक्षणमेतत्-द्वय-
कादौ विषये, तथा विनये वन्दनकादौ, तथा रात्रि, स्त्रियां, तिर्यंशु
हस्त्यादिषु, बाणमन्तरे वाणमन्तरप्रतिमार्थं विपांशुप रथेन ग-
द्वयंशोऽप्रेक्षणं काऽप्रमाणादौ, (नहवीण णि) जन्वाणीणकार्यां, क्र-
वृषं वा समाचारीरूपाः दोषाः । एष चारणाप्यालंकारयोः । एतेन
यदुक्तं प्रागुक्तानिमाद् दोषान् शृणुतेति तद्वाक्यान्मुपकात-
मिति ऊच्यते ।

तत्र प्रतिशेखनाद्वारमस्याप्यायद्वारं वा विवरीवुवाह—

फलिहेहणुसउभाए, न करंति हेहिणाहियं च विवरीयं ।
सेजोवहिंसंयारय-दंरुवउभाएदीसु ॥

प्रतिशेखनां स्वापयायं वा मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा ही-
नमधिकं विपरीतं वा विपरेस्तकर्मं कुर्वन्ति । तत्र येषु स्थानेषु
प्रतिशेखना संभवति, तानि स्थानेषु पदसंघति-शब्दोपधिस्त-
स्तारकदएककांभारदिषु । इयमत्र भावना-शुश्र्या वसतिः, त-
स्याः प्रत्युपकरणं मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं
वा कुर्वन्ति, अथवा यः शक्याय । प्रत्युपसङ्गाकालस्त्वस्मिद् न
कुर्वन्ति, किन्तु कालानतिक्रमेण । एवमुपपन्नः संस्तराकथय, दृष्टका-
देष्य भावनीयम् । तथा उभाहारादिभूमि न प्रत्युपकरणे, हीनम-
धिकं वा, यदि वा कालातिक्रमेण प्रत्युपकरणे इति । स्वाध्याय-

मपि मूलत एव न कुर्वन्ति । यदि वा अस्मादपिति कुर्वन्ति ।
यदि वाऽकालिकेत्साम्यामुक्तशिक्षिकेत्यानां वा कुर्वन्ति ।

सम्प्रति आबश्यकादिद्वारप्रतिपमाह-

न करंती आबस्मं, हीणाहियनिविट्टपाउपयनिससा ।
दंरुवहणादि विणयं, रायणियादो न करंति ॥

आबश्यकं मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं वा, कायो-
त्सर्गाणां हीनकरणतः कुर्वन्ति, अधिकं वाऽप्युपेक्षार्थं कायोत्सर्गा-
णामेव विरकाकरणतः कुर्वन्ति । यदि वा निविष्टा उपविष्टाः,
प्राश्रुताः श्रितादिभयतः, कल्पादिकप्राथरणप्राश्रुता निप-
द्यास्त्वयवश्वत्तेन निपातताः प्रकथन्ति । गतमावश्यकद्वारम् ।
(दंरुवहणादि णि) दयदप्रहादौ, दृष्टप्रदणं आरुमात्रकादी-
नामुपसङ्गणम्, दयदकादीनां प्रहादौ प्रहण्ये, निक्षेपे च, न प्रत्युपक-
णं, नापि प्रमाज्जेन, दुष्प्रत्युपेक्षतादि वा कुर्वन्ति । गतं दयदका-
रम् । विनयद्वारमाह—(विणयं णि) विनयं रत्नाधिकारीनामा-
चार्यादीनां यथा रत्नाधिकं न कुर्वन्ति । गतं विनयद्वारम् ।

राजादिद्वारकदम्बकमाह-

रायं इत्थि तह अ-स्समादि वंतर रहे य पेहंति ।
तह नखखवीणिपादां, कंदप्पादी वि कुर्वन्ति ॥

राजानं निर्गच्छन्तं वा, स्त्रियं वा सुकृपांमिति विशिष्टाभरण-
लङ्कनामागच्छन्ती वा, तथा “निगच्छ” इत्यस्य व्याख्यानम-
प्रश्वादिप्रमथं वा हस्तितं वा राजवाहनमतिप्रभूतगुणाकार्णं,
प्यन्तरं तथात्सविद्युत्वा विपणियांशुप गच्छतः प्रत्यागच्छन्ते वा
प्रेतन्ते । एतेन राजस्त्रीतिर्यग्याणमन्तरद्वाराणि द्वाक्यातामि ।
तद्येयुक्तसमुच्चयाथोः, स चेदमुक्तं समन्वितो-निकाशप्रत्यु-
पकरणं न कुर्वन्ति, न वा काशं प्रतिजागरति । गतं प्रेताद्वारम् ।
तथा नखवीणिगादिर्कं नखवीणावाद्गमनम् । आदिशब्दाद् नखानां
परस्परं घर्षणमित्यादिपरिग्रहः । तथा कन्दर्पादि कन्दर्पकौ-
कुचवकायुकादि कुर्वन्ति ॥

एपसु बट्टमाणे, अट्टिएं फरिसहेए इमा मेरा ।
हियए करेइ दोसे, गुएए कइणं स देइ ते सोहिं ॥

एतेष्वनन्तरदिनेषु दोषेषु वर्तमानाद्, चारयनीति कियाप्या-
हारः । शोतेऽपि चारणे यदि ते न तिष्ठन्ति, प्रतिषेधयन्ति वा-यद्
वयमेवं कुर्मस्तनः किं त्वे ?, को वा त्वम् ?, इत्यादि । ततो-
ऽस्थिते, प्रतिषेधिते वा नायकः इयमन्तरमुच्चयमाना (मेर णि)
मर्यादा सामाचारी । तामेवाह-इदये तान् दोषान् करंति, कृत्वा
च गुण्ये कथयति, स च गुण्येददति तेषां शोषं प्राय-
श्चित्तमिति ।

सम्प्रति वष्यमाणार्थसंग्रहाय द्वारगाथाामाह—

अतिबहुयं पच्छिउं, आदिण वाहे य रायकजा य ।
उणाऽसति पाहुणए, न उ गमणं मास कक्करणे ॥

खेदकवचनम्-अतिबहुकं प्रायश्चित्तं गुह्यमासादि न दातव्यम्,
तद्दानं व्रतपरिपासाभ्यापि हानिप्रसक्तः । अत्र गुह्यवचनम्-“ जो
अत्तिपण सुउक्कर” इत्यादि वक्ष्यमाणं, यः पुनरात्मानप्र-
दानेन प्रायश्चित्तलक्षणं दात्ये नोत्तरति-तस्मिन्नदत्तं अदत्ता-
लोचने व्याधो हृष्टमनः । यः पुनराप्यायः शिष्यस्य प्रायश्चित्त-
स्थानापापं जानन्नापि न शोषं ददाति, तस्मिन्नदत्तं अदत्तप्र-

यश्चित् गुरो दृष्टान्तो राजकन्या । पैकदेशेन राजकन्याऽन्त-
पुरयात्कः । तथा—“डायाऽसति” इत्यादि । स्कटायां वसती
प्रापूर्णेक समागते सति स्थानस्थ योग्यभूमिप्रदेशस्थ असति-
(भाष्यधानाऽयं निर्देशः) अविधमानत्वे, उस्सगतो नतु नैव
गमनं, किन्तु यतना वक्ष्यमाणा कार्या, तस्यां च यतनार्था
कर्तुमशक्यमानायांमिश्रस्थितेषु प्रथममाणा यदि केचन
करकारयन्ते—यथा—अस्रक्षयाय प्रापूर्णेकाः समागताः, यद् गन्त-
व्यमस्माभिरभिशक्यादित्तु, कृत्यं च रामो जागरणमिति,
तदा तेषां कर्करेण प्रायश्चित्तं मासलषु देवमिति द्वारगाथा-
संक्षेपार्थः ।

साभ्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतोऽतिबहुकं प्रा-
यश्चित्तमिति व्याख्यानयति—

अतिबहुयं वेदिज्जइ, भंते । मा हू दुस्वेदओ भवेज्ज ।

पच्छिन्तहि अयंके, निहयदिमिहं जज्जेजा ॥

जन्तः । परकल्याणयोगिन् । गुरोर्वादि प्रलूतं युक्तमासादि प्रा-
यश्चित्तं पदं द्वायते, ततः स प्रायश्चित्तं सः समनतोऽतिशयेन
वेद्यन्ते अतिवेद्यन्तेः सन्, मा निषेधे, ‘हु’ निश्चितं, दुस्वेदको न्या-
यान्-ऽन्वयनस्य प्रायश्चित्तं-भ्य उद्वेष्टनं स्यात्, अतिप्रलूतेषु हि
गुरुषु प्रायश्चित्तेषु पदे द्वायमानेषु कदाऽऽमानमुद्वेष्टयिष्यतीति
भावः । अर्पि च-अकार्यं यत् तत्र चापदे पदे निर्दयेः साङ्गु-
ष्माभिर्दत्तेः प्रायश्चित्तैः स जयेत-भनपरिणामो भूयति ।
तथा च सति महती इतिः ।

तस्मात्—

तं दिज्जउ पच्छिन्नं, जं सती सा य कीरऊ भेरा ।

जा तीरइ परिहरिउं, मोसादि अपच्चओ इहरा ॥

तप्रायश्चित्तं दीयतां यस्मिन् शक्नोति कर्तुं, सा च क्रियतां
‘मरा’ मर्यादा या परिहर्तुं शक्यते । पाठान्तरं वा-‘परिवहउभि-
ति’ तत्र या पवित्रोद्देशक्यते इति व्याख्येयम् । उन्नयन्नाय्यं
भावाध्यायं परिपालयितुं शक्यते इति । मासादि (अपच-
ओ इहरा इति) इतरथा प्रलूतं प्रायश्चित्तं दत्ते श्रुषादाय उन्न-
यारंय समुपजायते । तत्र गुरोर्मात्राधिककप्रायश्चित्तदानान्,
इतरस्य तु ज्ञानपरिणामतया तथा परिपालनायोगान् । अन्य-
च्च-अनिमात्रे प्रायश्चित्तं दत्ते युष्माभिरपि पूर्वमाशानमादाय
उज्जायितः । अत्रत्ययत्नं शिष्यस्योपजायते, यथा-अतिप्रलूतमा-
चार्पाः प्रायश्चित्तं द्दाति, लभैवरूपं प्रायश्चित्तं जिनाः प्रक-
र्षयन्तः । सकलजगज्जन्तुर्द्विषिततया तेषामतिकंशप्राय-
श्चित्तोपदेशदानायोगात् । तस्मात्, स्वैर्भिर्दत्तं स्वमतिपरिकल्पि-
तमसदिति । एवं बोद्धकनोके गुहराह—

जो जत्तिपण सुजइइ, अमराहो तस्म तत्तियं देइ ।

पुण्वपियं परिकरियं, घमपकगाइपिहं नाएहि ॥

बोद्धक आह—अथा सर्वमिदमयुक्तमुच्यते, यतो देशकालसं-
हनताद्येकया योऽपराधो यावन्मात्रेण प्रायश्चित्तं शुद्धयति त-
स्यापराधस्य शोधानाय तावन्मात्रमेव स्मृतिः प्रायश्चित्तं द्दाति,
नाधिकं, नापि हीनम्, एतच्च पूर्वमेव घटपटादिभिर्भोक्तृदा-
हरणैः “जज्ञनिष्ठेषणकुम्प” इत्यादिना ग्रन्थेन परिकथितं,
तस्मात्क्षेपार्थः ॥

साभ्रतमदत्तालोचने व्यो व्याघ्रहृष्टान्त

उपम्यस्तसत् भावयति—

कंटगमादिपविडे, नोच्छरई सयं न भोइए कइइ ।

१८१

कमठीजूए वणगए, आगलणं खोजिया मरणं ॥

इह किल व्याधा घने संचरन्त उपानहौ पादेषु नोपनह्यन्ति,
मा हस्तिन उपानहाः शब्दानश्लेषुरिति । तत्रैकस्य व्याधस्या-
न्यदा घने उपानहौ विना परिष्मन्तो द्वयोरपि पादयोः कण्ट-
काद्यः प्रविष्टाः, आदिशब्दात् श्लक्ष्णकित्वादिपरिप्रदः । ता-
न्प्रविष्टान् कण्टकादीन् स्वयं नोच्छरति, नापि नोञ्जिकायै निज-
भार्यायै व्याधे कथयति । ततः स तैः पादतलमार्घ्यैः कण्टका-
दिभिः परिहितः सन् वनगतो हस्तित्वा पृष्ठतो धावता प्रयेमाणा
धावन् कमठीभूतः—स्थले कमठ इव मन्दगतिरन्तु । ततः प्रा-
प्तो हस्ती प्रत्यासन्नं देशम् इति जानन् लुब्धवा क्लान्तं गन्वा, (आ-
गलणमिति) वैकल्प्ये प्राप्ताः ततो मरणम् । एष गाथाऽङ्गराजः ।
जावायंस्वयम्—“पयो वाहो” उवाहृणाणां विष्णा वणे गतो, तस्स
पायतला कंटगादिणं भरिया, ते कंटगाद्या नो स्वयमुकरिया,
नो पि य वाहीए उद्धारविधा, अन्वया वणे संचरतो हस्तिष्णा
दिष्टो, तां तस्स धावन्तस्स कंटगाद्या दूरतं मसे पविट्टा, ता-
हे अतिबुद्धेण अहितं महापायवो इयं विष्णुमूला हस्तिजप-
ण वेद्येणभूतो पंडितो, हस्तिष्णा विष्णासितो” ।

वितिए सयमुक्करती, आणुट्टिए जोडयाएँ नीहरइ ।

परिमहणदंतेमझा—दिग्गए वणगयपझातो ॥

अन्यो द्वितीयो व्याध उपानहौ विना घने गतः, तस्य घने
संचरतः कण्टकाद्यः पादतले प्रविष्टास्तान् स्वयमुकरति, ये
च स्वयमुद्धर्तुं न शक्यास्तान् अगुडतात् नोञ्जिकया निजभार्यायै
व्याध्या नीहरयति—निष्काशयति, तदन्तरं तेषां कण्टका-
दिवधस्थानानामहृष्टादिना परिमर्दनं, तदनन्तरं दन्तमलादि-
ना-आदिशब्दात् कर्ममलादिपरिप्रदः । पूरणे कण्टकादिब-
धानाम् । ततोऽन्यदा घनं गतः सन् हस्तित्वा हृष्टोऽपि पहा-
यितो जातिवित्यसुखानामाज्जायः । एष पाठः ।

साभ्रतं दार्ष्टान्तिकयोःजानामाह—

वाहृत्थाणी साहू, वाहिगुरु कंटकादि अवराराहा ।

सोहं य आमहाइ, पसत्यनाएणुवणओ जो ऊ ॥

व्याधस्थानीयाः साधवः, व्याधीस्थानीयो गुरुः, कण्टकादिस्था-
नीया अमराहा, औषधीनि दन्तमलादीनि, तत्स्थानीया शोधिः
अन्नं हौ व्याघ्रहृष्टान्ती, तत्र प्रशस्तेऽप्रशस्तञ्च । आध्याऽप्रशस्ते,
द्वितीयः प्रशस्तः । तत्र प्रशस्तेन ज्ञानेन दृष्टान्तोपनयः कर्त-
व्यः । आच्चार्याऽपि यदि तान् उपसते, ततः कण्टकादीनामुप-
सक्तो व्याध इव सोऽपि दुस्तरामापदमाग्रेति ॥

तथाचाऽऽह—

पडिमेवत उवेक्खइ, न य अपि ओवीइए अकुवन्तो ।

संसारहस्तिहृत्थं, पावइ विवरीयमिपरो वि ॥

इतरोऽपि आच्चार्याऽपि, तुशब्धाऽपिप्रशब्दाः, यः प्रतिसेव-
मानान् उपेक्षते, न तु निषयति; न वाऽकुर्वन्तोऽकुर्वानान् प्राय-
श्चित्तमुत्प्रेक्षयति-न भूयः प्रायश्चित्तदानदृष्टेन ताडयन् (प्रा-
यश्चित्तं) कारयति, स विवरीतम्, आचार्यपदस्य हि यथाक-
नीत्या परिपालनफलमिच्छतात् भोग्यमनं, तद्विपरीतं संसार
एव हस्तिहस्तं प्राप्नोति, हृत्तरं संसारमागच्छतीति जावः ।

उपसंहारमाह—

आलोयमाहोयण, गुणा य दोसा य वक्षिया एए ।

अयमप्यो दिद्वेत्तो, सोहिमदिते य दिते य ॥

एते मनस्वरोद्दिता प्रातोचनार्था गुणाः, अनाशोचनार्था देव्या वर्णिताः । सम्प्रति यः प्रायश्चित्तं व्रतति तस्मिन् शोधिमद्दाने, व्रतने च, अथं बहयमाणो राजकन्यान्तःपुरपालककृत्योपयोग्यो दृष्टान्तः ।

तमेवार्ध-

निज्जूहादिपक्षोयण, अवारण पसंगमगदारादि ।

सुचपलायण निवकह-ए ददणं अन्नदवणं च ॥

"एगो कर्त्तव्येउरपाह्नो, सो गोखलपण कन्धाषो पलोपंनीषो न वारेह, ततो नाशो अग्गदारेण निफिडिउमडसा, ततो वि न वारेह, तादे ततो अनिबारिज्जमाणीषो कयाह धुणेदिं समं पलायाशं, एवं सव्वमवारणादि केणइ उओ कहियं, ततो रया तस्स सव्वस्वहरणं कयं, विणासितो य, अथा कथंउरपाह्नां डविनी" । अङ्गरगमनिका-निर्दुषो गवाक्षः । गोखलक इत्यर्थः । आदिशब्दात्सद्व्यथाविधिमद्रशपरिग्रहः । तेन निर्दुहादिना प्रक्षोकेन अवारणं कृतवान्, ततोऽग्रहारादिष्वपि प्रसङ्गः अग्र-हारे अयत्र वा यथास्वेच्छं तासां कन्यानां प्रसङ्गः । ततोऽप्यदा धूर्तैः सह पलायनम् । एतस्य च स्वदेव्यापि वृत्तान्तस्य नृपस्य पुरतः कथने, ततो राजा तस्य कन्यान्तःपुरपालकस्य दण्ड-नक्ष, अन्यस्य कन्यान्तःपुरपालकस्य धामानं चाकार्षीत् ।

निज्जूहगयं ददुं, वि तिओ कभाठ बाहरिचा णं ।
विणयं करेइ तीसे, मेसभयं पुण्या रत्ता ॥

अग्नौ द्वितीयः कन्यान्तःपुरपालको निर्दुहगतो गवाक्षगतामे-
कां कन्यां दृष्ट्वा (बाहरिचा णं सि) एतां व्याहृत्य आचार्ये विनयं
शिक्षां तस्याः करोति, ततः शेषाणां कन्यानामुद्वपादि भयं,
तेनैव काऽपि शुद्धारादित्तु नावतिष्ठते, न च धूर्तरपहरणम्,
ततः सम्यक्कन्यान्तःपुरपालकेन कृतवानिति राज्ञा पृजना
कृता । एव दृष्टान्तः ।

अयमर्धोपनयः-

राया इव तित्यपरा, महतरय गुरु उ साहु कणाओ ।

आलोयण अवाहा, अपसन्त्यपसत्यगोवन्त्रो ॥

राजा इव राजस्थानीयास्तीर्थकराः, महत्तरः कन्यान्तःपुरपालकः, तदस्थानीया गुरुवः, साधवः कन्यास्थानीयाः, अचलोकन-
मपराधः । अत्राग्रहोत्सवेन कन्यान्तःपुरपालकेन, प्राक्षेनेन चोप-
नयः कर्तव्यः । तद्यथा-आचार्यः प्रमादिनः शिष्यान् न धारय-
ति, न च प्रायश्चित्तं व्रतति, स विनव्रतति, यथा प्रथमः कन्या-
न्तःपुरपालकः । यस्तु प्रमाद्यतः शिष्यान् धारयति, प्रायश्चित्तं
च यथाधराधं प्रयच्छति, स इह होके प्रशंसदित्तुजां प्राप्नोति,
परलोके च सम्यक्शिष्यमिस्तराणतो निधोमविरोदानुया-
दिति ।

सम्प्रति यदुक्तं प्राचुर्यकसमागमे रंसके उपाश्रये वृष्टिकाये
च निपतति अग्निशय्या गन्तव्येति तद्विषयमपवादं क्रमेण-
जिधिल्लुराह-

असक्कार्ण असेते, ठाणाऽनति पाहुणागमे वेव ।

अन्नत्थ न गंतव्वं, गमणे गुरुगा उ पुव्वुत्ता ॥

अस्वाध्यायिके असति अविद्यमाने, प्राचुर्यकानामगमे वाऽ-

सति स्थानस्य-संस्कारकथोप्यमूलिकरणस्य मसति, अपि-
शब्दाऽत्र सामर्थ्यादिवगम्यते । असत्यपि, भावप्रधानोऽयं निर्दे-
शाः । इत्यजाचेरपि, अन्यत्राग्निशय्यादेौ न गन्तव्यम्, किन्तु यतना
कर्तव्या । यदि तथा अन्यत्र गमनं कुर्वति, ततो गमने पूर्वोक्ता
शुक्काश्चत्वारोः गुरुमासाः प्रायश्चित्तम् ।

का पुनर्यतना ? , तामाह-

वत्यन्वा चारंवा-रणं जग्गंतो मा य वचंतु ।

एमेव य पाहुणए, जग्गाए गादं अणुच्चाए ॥

वास्तव्या चारचारणं जाग्रतु । जयमत्र भावना-वास्तव्यानां मध्ये
यो थावन्मात्रमर्क्यामादिकं जागरितुं शक्नोति, तावन्मात्रं जाग-
रति, तदन्तरं जागरितमशक्नुवन्न अयं साधुमुद्यथायति, सोऽ-
पि सज्जानरणवेक्षतिःकर्मऽप्यम्, एवं चारेण चारेण जाग्रतु । यदि
पुनर्यावस्थायाः समस्ता अपि रात्रिं चारेण जागरितुं न शक्नुव-
न्ति, ततो यदि गादं न परिभ्रान्ताः प्राचुर्यकाः, ततः प्राचुर्यके
(अणुच्चाए इति) अपरिभ्रान्ते, एवमेव-चारेण जागरणं स-
मर्पेणायं, मा पुनः, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, प्रसन्नव्यभिश्चाम्याय-
दि पुनर्वस्तव्याः प्राचुर्यकाश्च न चारेण जागरितुं शक्नुवन्ति,
तदाऽग्निशय्या गन्तव्येति ।

एमेव असंसचे, देसे अगदंतए प मन्वत्थ ।

अम्हवहा पाहुणगा, उवेति रिक्खा उ ककरणा ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, संसके उपाश्रये यो देवाः प्रदंशोऽ-
संसकस्तस्मिन्नसंसके देशे, तथा वृष्टिकाये निपतति यः प्रदं-
शो न गलति तस्मिन् प्रदेशे, यतना कर्तव्या । तद्यथा-संसका-
यो वसन्ती येष्वाकाशेषु संसक्तित्वाद् परिहृत्य शेषेष्ववकाशेषु
संसक्तिरहितेषु पूर्वप्रकारेण जागरणयतना कर्तव्या । ततो
वृष्टिकायेऽपि निपतति येष्वाकाशेषु यन्मतिः निर्मूलति ततव-
काशान्परिहृत्य शेषेष्ववकाशेषु यतना पूर्ववत्कर्तव्येति ।
(सव्वत्थ सि) यदि पुनः संसकं संसकां, सचेन्न वा गर्तानि,
तदाऽग्निशय्या गन्तव्येति । यदुक्तं "मासो उ ककरणे" इति, तत्र
ककरणे व्याख्यानयति-एते रिक्काः प्राचुर्यका अस्मद्व्याय
उपर्यति समागच्छन्ति । एवमादिमायस ककरणेति ।

सम्प्रति यद्वार्त्ता-आचार्येण न गन्तव्यम्, अनापुच्छया वा
(साधुनिः) न गन्तव्यमिति, तद्विषयमपवादमाह-

वितियपयं आचारिणं, निर्दोमे दूरगमणं ऽणापुच्छा ।
पदिसेदियगमणममं, तो तं वसन्ना वलं नेति ॥

द्वितीयमपवादपदमाचार्यविषये, कः सति ? इत्यत आह-निर्दे-
श्यादिदोषाणामभावे, यदि वा निर्गतो दोषा यस्मात्सह निर्दो-
क्षे, तस्मिन्, तथा हरे अग्निशय्या, ततस्तत्र दूरगमने अनापुच्छाः
तथा प्रतिवेधिनस्य गमने द्वितीयपदमिदम्- (तो सि) तस्मादेवं
संकादिविधानात्परतो यदा धुवना बहस्ययति, तदा प्रतिवेधितः
प्रतिपुच्छामन्तरेणापि गच्छतीति । एव गत्यासंकेपायुः ।

साम्प्रतमानभव गाथां विचरीषुः प्रथमतः "आचारिणं
निर्दोसं" इति व्याख्यायति-

जत्य गणी न वि नज्जइ, जहेसु प जथ नत्थि ते दोसा ।
तत्य वयेतो सुच्छे, इयरे वि वयंति जयणाए ॥

यत्र गणी आचार्यो न ज्ञायते, अपिशुष्वाश्च च तथाविधो-
दारशरीरो, तापि केनचिदपि सह वादोऽनजवत् । यत्र स्वभावत

एव भद्रेष्वनुकटरागद्वेषेषु लोकेषु प्रागुक्ताः रुषादिसमुत्था
दोषा न सन्ति, तत्राभिषिषायांमपि गच्छन्नाचार्याः शुद्धः, इतरे-
ऽपि वै भनापुच्छया गच्छन्ति, येऽपि च प्रतिषिधितास्तेऽपि च
यननया गच्छन्ति ।

का यतना ? इति चेदत आह—

वसतीर्षं असज्जाप, सन्नादिगतां य पाहुषो दुर्दु ।
सांयं व असज्जायं, वमहिं उर्वेति जगइ अमे ॥

वसतावस्वाध्यायां जातो, गुरुवक्ष संज्ञानुस्यविषु गताः, ततोऽ-
स्वाध्याये, तथा स्वयं (संज्ञादिगतः) संज्ञानुमिम, प्राविशद्वादन्य-
द्वा स्थानं प्रयोजनेन गतः सन् प्राघूषणकान् समागच्छतो ष्टु
नूनमस्मां वसतिः संकटा प्राघूषणकाम् बद्धः समागताः, तता
न सव्यां संस्कारकयोम्यत्प्रमिरवाप्यते इति विचिन्त्य, तथा पूर्वं
वसतावस्वाध्यायो नाज्ञानु संज्ञादिगतेन च तेन श्रुतं, यथा-जा-
तो वसतावस्वाध्यायस्ततोऽस्वाध्यायं च श्रुत्वा यावद् गुरुणां
प्रयं वसतावागच्छन्ति तावद् रात्रिः समापयति, दूरे खाजि-
शय्या, रात्रौ च गच्छतामारकमयं, ततोऽनुपुच्छयैव ततः
स्थानाद्भिषय्यां गच्छन्ति, केवलं येऽन्वे साधवो वसतिमुप-
यन्ति, ताद् भयति-प्रतिपादयति, संदिशतीत्यर्थः ।

किं तद् ? इत्याह—

दीवेह गुरुण इमं, दूरे वसही इमो विकालो य ।
संधारकाज्ञकाइय-जूमिपेहृह एमेव ॥

दीपयत प्रकाशयत-कथयत्येति यावत् । गुरुणां, यथा-दूरे वस-
निरभिषय्याः । अयं च प्रत्यक्ष उच्यमानो विकालः समा-
पयितः, तत एवमेव भनापुच्छयैव गुप्तान्, संस्कारकभूमेः काल-
ज्ञानानां कायिकीज्ञानानां (कायिकां संज्ञा) अथलक्षणमेतत्-प्र-
धनज्ञानानां च प्रेक्षाधेमभिषय्यां गत इति । एवमनापुच्छायाम-
पवाद् उक्तः ।

सम्प्रति प्रतिषिद्धेऽपवादमाह—

एमेव य पदिभिद्धे, सध्यादिगयसं कंचि पदिपुच्छे ।
तं पि य होदा असमि-विखऊण पदिमेहितो जम्हा ॥

कस्यापि साधोरभिषय्यादिगमने गुरुणा प्रतिषिद्धे, संज्ञादिग-
तस्य कायिक्यादिगतस्य कायिक्यादिज्ञानमिगतस्य सत एवमेव-
मनन्तरोक्तं प्रकारेण, गुरुन् प्रति संदेशकधनं ज्ञातव्यम् । कथ-
म् ? इत्याह— (कंचि पदिपुच्छे ति) कमपि वृषमं प्रतिपुच्छे-
त्-यथा न मम किमपि गमनप्रतिषेधकारणमज्ञत, केवल-
मेवमेव गुरुणा प्रसिद्धः, अथ च अथा स्वाध्यायः कर्तव्यः,
वसतो वा स्वाध्यायादिकमुपजातमतः किं करोमि?, यामि वस-
ति, मतिपुच्छामि गुरुमिति । एवमुक्ते तं वृषमाद्योऽभिषय्यां गनु-
क्तामाः कालस्य स्तोकात्वाद् यावद् वसतो गत्वा गुरुन् प्रतिपु-
च्छेत्प्रत्येव गच्छन्ति तावद् रात्रिः पततीति तं प्रत्येवमुद्दी-
रन्ति । (तं पि येत्यादि) तदपि गुरुणां प्रतिपुच्छनं (होदा
इति) देशीपदमेतत् । दृष्टमेव, कृतमेवत्यर्थः । यस्माद्समी-
ज्यापर्यलोच्य, भनाभोगत एवेत्यर्थः । त्वं प्रतिषेधितः, ततो य-
त्त्र किमपि गुरुयो वचयन्ते तत्र वयं प्रत्याख्यामा-यथैव न
किमपि गमनप्रतिषेधकारणं कृतवान्, प्रतिपुच्छायै चागच्छन्
अस्मान्निर्धारितः, तावकालस्येवप्राप्त्यमाणात्वात् । एवमुक्त्वा ब-
ह्नादपि तं वृषमा नयति. संऽऽपि च बह्नाजीयमानत्विन्त्यति-
बध्ना नास्ति मम कश्चिदोषः?, किं न गच्छामिति । स च तत्र ग-

च्छद्, वृषमाक्ष येऽन्वे साधवो वसतिमुपयान्ति, तेषां संदेशं
प्रयच्छन्ति ।

अथासमीक्ष्य प्रतिषिद्ध इति वृषमाः कथं जानन्तीत्यत आह—

जाणति व तं वसजा, अहवा वसजाण तेण सज्जावो ।
कहिणो न मेऽस्तिय दोसो, तो णं वसजा बद्धा निति ॥

जानन्ति स्वयमेव तं वृषजाः, यथा-निर्दोष एवाऽकारणे गुण्णा
प्रतिषिद्धः, अस्मत्समकमेवास्त्य प्रायोऽवस्थानाम् । अथथा नेन
वृषजाणां सङ्गावः कथितः-यथा न मे कश्चन दोष इति । तत
एतद् ज्ञात्वा गुरुनापुच्छयैव यथोक्तप्रकारेण वृषजा बह्नाभय-
न्ति । योऽपि ज्ञात्वायैव्य प्रतिबलायैव्य प्रतिबारी पूर्वं प्रतिषिद्धः
सोऽपि, तत्कतैव्यं यद् वृषमैः सम्पादितं भवति? इति ज्ञात्वा
ततो गच्छत्यभिषय्यामिति न कश्चिदोषः ।

संप्रति अभिषय्याया नैषधिकाया जेदनाहाह—

अभिसेजमजिनिसीहिय, एकैका दुविह होऽ नापय्वा ।
एगवगडाए अंतो, बहिया संवक्ऽसंबक्का ॥

या गन्तव्या अभिषय्या, अभिनेपेधिका वा, सा एकैका द्विवि-
धा भवति । तद्यथा-सापुष्टसतेः (एगवगडाए इति) एककुत्ति-
परिक्रोपायान्तर्बहिष्क । इयमत्र जावना-द्विविधा अभिषय्या,
एका वसन्तरेककुत्तिपरिक्रोपाया अन्तः, अपरा बहिः । एवं नैपे-
धिकापि द्विविधा भावनीया । तत्र एकैकाऽभिषय्या द्विविधा ।
तद्यथा-संबक्का, असंबक्का च । तत्र यस्या अनुजिषय्याया वसन्ते-
क्ष एव पृष्ठंशः सा संबक्का । यस्याः पुनः पृथक् पृष्ठंशः
सा असंबक्का । अथैककुत्तिपरिक्रोपायान्तरभिषय्या द्विविधाऽपि
यथोक्तप्रकारा घटते, या संवक्कापरिक्रोपस्य बहिः सा नूनम-
संबक्का स्यात्, तस्याः सुप्रतीत्यात् । या पुनः संबक्का, सा
कथमुपपद्यते ?, उच्यते-यस्या अभिषय्याया कुत्तिपरिक्रो-
पस्य बहिर्भूत्याः, वसन्तेक्ष तद्वन्नायाः पृष्ठंशोऽपान्तरालं च
भित्तिः, सा बहिर्भूताऽपि संबक्काति । नैषधिका पुनरन्तर्बोह-
र्वा नियमादसंबद्धे च । हस्तशतश्याच्यन्तरतोऽस्वाध्यायिके
समुत्पन्ने स्वाध्यायासंभवात् ।

तथा चाऽऽह—

जा सा उ अभिनेसीहिय, सा नियमा होउ ऊ अंसंबक्का ।
संवक्कपसंबक्का, अभिसेज्जा होति नायव्वा ॥

अत्र येति-अवगते, तेनिय-यदुक्तं तदोपायावोपक्रमप्रदर्शनाद्यैमि-
त्यदुष्टम् । याऽस्य अभिनेपेधिका, सा नियमानुबन्धसंबक्का ।
कारणमनन्तरमेवोक्तम्, या त्वजिषय्या सा संबक्का असंबक्का
च भवति ज्ञातव्या ।

अथ कस्यां वेलायां तत्र गन्तव्यम् ?, तत्र आह—

अरमाण चिचय सूरे, संधाराचचारकाज्ञजूमिंभां ।
पदिलेहियऽणुसुविण, वसहोहं वयंतिमं वेलं ॥

योऽसावभिषय्यायाः शय्यातत्सं वृषमा अनुज्ञापयन्ति, यथा-
स्वाध्यायमिच्छं वयमत्र वस्त्वम इति । तत एव वृषभैरनुज्ञा-
पिते शय्यातरे, अरमाण एव अनस्तांमरे एव सूर्ये, तथाजिष-
य्यायां संस्कारकोत्तारकालभूमीः प्रत्युपेक्ष्य सूर्यो वसतावाम्
इमां वेलांमिति “ कावाच्यवेत्तव्येति ” ॥ १. २. २४ ॥ इति
(हैम) सप्तम्यं द्वितीया । अस्यामनन्तरं वच्यमानायां
वेलायां व्रजन्ति ।

कस्यां वेलायात् ? इत्यत आह—

आवस्सयं तु काठं, निष्वापाएण ढोइ गंतव्वं ।
वापाएण उ भयणा, देसं सव्वं अकाऊराण ॥

व्याघातस्य स्नेनादिप्रतिबन्धस्याभावात् निर्व्याघातः, तेन निर्व्याघातेन भवति गन्तव्यं वसन्तवासार्थैः समभावव्यक्तं कृत्या । व्याघ्रातेन पुनर्दुःसुप्ततेन भजना विकल्पना । सर्वं भजना ? इत्यत आह—देशं वा आवश्यकस्याह्नात् । का वाऽवश्यकमकृत्या ।

सम्प्रति यैः कारणैः प्रतिबन्धस्ताद्युपदर्शयन्ति—

तेषां सावय—वाला, गुम्भियआरक्खित्तवणपक्खिणीए ।
इत्थिनपुंसगसंभ—त्तवासचिक्खिल्लकंटे य ॥

स्नेनाद्योरास्ने संव्यासमये अन्धकारकल्पिते संचरन्ति, इवापदानि वा दुष्टानि भूयांसि तदा उद्धर्मानि हिररुन्ते; व्याला वा ह्युद्धर्मादयो वातदिपानाय भूयांसि सचरन्ति; तथा गुम्भेन समुद्रायेन संचरन्तीति गौळिमका आरक्षिकाणामनुप्युरि स्थायिनो द्विष्टकाः, आरक्षकाः पुररुकाः, ते अकाले हिररुमानाद् युद्धन्ति । तथा (उद्यण चि) क्वचिद्देशे एवका स्थापना क्रियते । यथा—अस्तमिते सूर्ये रथ्यादियु सर्वथा न संचरणियमिति ; प्रत्यनीका वा काऽप्यन्तरादिघातकरणाद्यं निष्पन्नं यत्नेतः स्त्रियों नपुंसका वा कामवहुलास्तदा उपसंगेययुः, संसक्तो वा प्राणनाशिनिरपान्तराले मागेः, ततोऽप्यकारणेषांपिथिका न युक्तवन्ति । सर्वे वा पतन् संभाव्यते, (चिक्खिल्लं चि) कर्दमो वा पथि नुयानसि, ततो रात्रौ पादवज्राः कर्दमः कथं क्रियते ? (कंटे चि) कण्टका वा मागेऽस्तिकहाः, ते रात्रौ पश्चिक्खुत्तु न शक्यन्ते । पत्तैर्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशतः संवेतो वाऽऽवश्यकमकृत्या गच्छन्ति ।

तत्र देशतः कथमकृत्येव्यत आह—

पुतिमंगल कितिकम्मं, काउस्समगे यं तिविहं कियिक्कम्मं ।
ततो यं पक्खिण्णं, आलोपयाणोएँ कितिकम्मो ॥

स्तुतिमङ्गलमकृत्या, स्तुतिमङ्गलकारणे चायं विधिः—आवश्यकं समाप्तं चै स्तुती उपायं तृतीयं स्तुतिमकृत्या अभिशय्यां गच्छन्ति । तत्र च गत्या पर्योपिथिकां प्रतिक्रम्य तृतीयं स्तुतिं ददाति । अथवा आवश्यकं समाप्तं एकां स्तुतिं कृत्वा द्वे स्तुती अभिशय्यां गत्वा पूर्वविधिनाश्चरन्ति । अथवा समाप्तं आवश्यकं अभिशय्यां गत्वा तत्र निश्चः स्तुतीर्ददाति । अथवा स्तुतिन्यायं यद् वक्ति, तद् कृत्वा स्तुतिं, तस्मिन्नकृते तेषु अभिशय्यां गत्वा तत्रेयोपिथिकां प्रतिक्रम्य मुववास्त्रिकां च प्रभुपृथग् कृतिकम्मं कृत्वा स्तुतीर्ददाति । (काउस्समगे यं तिविहं चि) शिविधे कायांसंगे क्रमेणाकृते, तद्यथा—संभकार्यासंगे मकृत्या अभिशय्यां गत्वा तत्र चरमकायोरसंगदिकं कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कायोःसंगौ चरमावकृत्या, यदि वा त्रीनपि कायोःसंगौ अकृत्या, अथवा कायोःसंगौ श्याऽव्यक्तं यद् कृतिकम्मं तस्मिन्नकृतेः उपलक्षणमतवन्ततोऽप्यव्यक्तं सामग्रे, यदि वा ततोऽप्यव्यक्तं कृतिकम्मं शि अकृते, अथवा ततोऽप्यव्यक्तं प्रतिक्रमणे अकृते, यदि वा ततोऽप्यव्यक्तं भासोचने अकृते, अथवा ततोऽप्यव्यक्तं कृतिकर्मणि अकृते, अतिशय्यामुपगम्य तत्र तदाद्यवश्यकं कर्तव्यमिति । एवमाद्यवश्यकं देशतोऽकरणमुक्तम् ।

इदानीं सर्वस्याऽकरणमाह—

काउस्समगमकाठं, कितिकम्मालोपयाणं जह्णेषाणं ।
गमणम्मि एस विहं, आगमणम्मि विहं वोच्छं ॥

यो वैयसिकानि वाराजुपेक्षायां प्रथमः कायोःसंगौ, तमप्यकृत्या । किमुक्तं भवति—सर्वमावश्यकमकृत्याऽभिशय्यां गच्छन्ति, किमवश्यं गच्छन्ति, उतास्ति कश्चन विधिः ? उच्यते—अस्तीति ब्रूमः । तथा वाऽऽह— (कितिकम्मालोपयाणं जह्णेषाणं ति) जघन्येन जघन्यपदे सर्वमावश्यकमकृत्या, सर्वे गुरुकृत्या वन्दनकृत्या, यद्भवत्येवमो ज्येष्ठः स आलोच्य, तदनन्तरमभिशय्यां गत्वा सर्वमावश्यकमहानि कुर्वन्ति । एषांऽभिशय्यायां गमने । अभिशय्यातः प्रत्यागमने पुनर्यो विधिस्तमिदानीं बध्धे ।

प्रतिज्ञानमथ निषाहयन्ति—

आवस्सगं अकाठं, निष्वापाएण ढोइ आगमणं ।
वापाय्यंभं उ जयणा, देसं सव्वं च काऊणं ॥

यदि कश्चनपि व्याघ्रानो न भवति ततो निर्व्याघातेन व्याघ्रातानायेनाऽऽवश्यकमकृत्याऽभिशय्यातो वसन्तवासगमने भवति । आगत्य च गुरुभिः सहायश्यकं कुर्वन्ति । व्याघ्रातं तु भजना । का पुनर्भजना ? इत्यत आह—देशमावश्यकस्य कृत्या, सर्वे वा आवश्यकं कृत्या ।

तत्र देशतः आवश्यकस्य करणमाह—

काउस्समगं काठं, कितिकम्मालोपयाणं पक्खिण्णं ।
क्कंक्कम्मं तिविहं वा, काउस्समगं परिणा य ॥

कायोःसंगमाद्यं कृत्या वसन्तवासगत्य शेषे गुरुभिः सह कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कायोःसंगौ कृत्या, यदि वा त्रीन् कायोःसंगौ कृत्या, अथवा कायोःसंगेनागमने यत् कृतिकम्मं नकृत्या, अथवा तदनन्तरमाहोचनामपि कृत्या, यदि वा तत्पर यद्यन्तिक्रमणं तदपि कृत्या, अथवा तदनन्तरं यत्कृतिकम्मं चिन्दे, तत् सामणाद्व्यक्तं, परं चेत्पथः, तदपि कृत्या । वाताग्नयम्—“ तिविहं ने वि ” मूलकृतिकम्मोपयत्तया शिविधे वा कृतिकम्मं कृत्या । अथवा कायोःसंगे चरमे पागमासिकं कृत्या, परिज्ञा प्रत्यागमनं, तामपि वा कृत्या । अत्रायं विधिः—सर्वे माधवअरमकायोःसंगे वसन्तवासगत्य गुरुसमीपे वन्दनं कृत्या, सर्वोत्तमश्च ज्येष्ठ आलोच्य, सर्वे प्रत्यागमनं गच्छन्ति । अथवा—सर्वे माधवअरमकायोःसंगे वन्दनं कृत्या, पञ्च च स्तुतिं दत्त्वा, शेषे चै स्तुती कृत्या, शेषे गुरुसकाठं कुर्वन्ति । तद्वयुक्तं देशतः आवश्यकस्य करणम् ।

अनुशा सन्तः करणमाह—

एति मंगलं च काठं, आगमणं होति आर्षानिनिजातो ।

विधिपदे जयाणा ऊ, गिज्ञाणमादं उ कायन्वा ॥

अथवा प्रत्यागमनं, तदनन्तरं स्तुतिं, मङ्गलं च स्तुतित्रयाकार्पणकपं तत्र कृत्या अभिशय्यात आगमनं जयति । तत्रेयं सामाचारी—गुरुसमीपे ज्येष्ठ एव का यतोःचरति, आलोच्य प्रत्यागमनं गच्छन्ति, शेषेः ज्येष्ठस्य पुरत आलोचना । प्रत्यागमनं च कृतं, वन्दनं च सर्वे ददाति, कामगं च । द्वितीयपदे अपवापदे ग्लानादिषु प्रयाजेनेषु भजना कर्तव्या । किमुक्तं भवति—ग्लानादिकं प्रयाजनमुद्दिश्य वसन्तो नागच्छेजुपरिति ।

ग्लानादीयेषु प्रयाजेनान्याह—

ग्लाना वाप पट्टिआ, पट्टु अंतरेरे निवे अगणी ।

अद्विगरहृत्पिञ्ज-भेदेषु निवेयणा नवरिं ॥

भ्रान्त्यभेदकस्य बहूनां वा स्वाधुनां तत्राभवद्यतः सर्वेऽपि स्वाध्वस्तत्र व्यापुर्नाभूता इति न वसतावागमनम् । अथवा बर्हि पतिनुमात्तमम् । महिका वा पतिनुं लान्ना । यद्वा- (पतुष्टि) प्र-
द्विष्टः कोऽभ्यन्तरा विकरकरजाय तिष्ठति । अन्तःपुरं वा तदानीं निर्गन्तुमारब्धं, तत्र च राज्ञा बहूषोषितम्-यथा पुरुषेण न केनापि रथ्यासु संचारितव्यम् । राजा वा तदा निर्गच्छति, तत्र इयथाजपुरुषादीनां संसर्गः । अग्निकायो वाऽपान्तराले महान् इति यतः । अग्निकराय वा शुद्धस्येन समं कथमपि जातं बृ-
हद्, बृहज्जास्तदुपशमयितुं लगनाः इत्सिसंज्ञमो वा जातः । किमु-
क्तं भवति?-इत्सी कथमप्यालानस्मभं भक्त्वा शय्यासनः खे-
च्छया तदा परिश्रमति । एतेषु कारणेषु नागच्छेयुरपि वसतिम् । नवरमेतेषु कारणेषु मध्ये भ्रान्त्यभेदो विशेषः ; यदि भ्रान्त्यभेदा-
गदमुपजातमकस्य बहूनां वा, तदा शुक्लां निवेदना कस्येत्यति ।
समाप्ता प्राक्तनसूत्रस्य निवेशेना व्याख्या । व्य० १ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अभिधिचिना निर्गताः

सटास्तद्वयवक्रपाः, केदारिकरुचसटा वा यस्य तदभिनि-
स्तम् । बहिरभिनिगतावयवे, अ० १५ श्लो १ उ० ।
अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । बहिर्मांगानिमुखं निष्टे,
जो ३ प्रति० । रा० ।

अभिधिसिद्धि-अभिनेषेयिकी-त्री० । निषेधः-स्वाध्याय-
व्यतिरेकेण सकलव्यापारप्रतिषेधः; तेन निर्वृत्ता नैषेयिकी ।
अभि अभिमुख्येन संयतप्रयोग्यतया नैषेयिकी अभिनेषेयिकी ।
दिशा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ प्रतिगन्तव्यायां वसतौ, व्य० १
उ० । (नक्षत्रवक्रकयताऽनन्तरमेव 'अभिधिसिद्ध' शब्दे ७५५
पृष्ठे दर्शिता)

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । बहिराभिनिगते, "बहिया
अभिनिस्तमो पमासेति" । अ० १५ श्लो १ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । आभिमुख्येन कर्मणा माय-
या वा कृते, "अभिमुख्येन कर्मणि" मुच्छिप, तिष्ठं से कर्मणि
किञ्चतौ" । सूत्र० १ श्लो २ अ० १ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अविशीर्षे, शपो २ अ० । भिन्नश-
ब्दार्थविरुद्धे, श्लो ३ उ० । नि० चू० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अविशीर्षे, शपो २ अ० । भिन्नश-
ब्दार्थविरुद्धे, श्लो ३ उ० । नि० चू० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अविशीर्षे, शपो २ अ० । भिन्नश-
ब्दार्थविरुद्धे, श्लो ३ उ० । नि० चू० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अविशीर्षे, शपो २ अ० । भिन्नश-
ब्दार्थविरुद्धे, श्लो ३ उ० । नि० चू० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अविशीर्षे, शपो २ अ० । भिन्नश-
ब्दार्थविरुद्धे, श्लो ३ उ० । नि० चू० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अविशीर्षे, शपो २ अ० । भिन्नश-
ब्दार्थविरुद्धे, श्लो ३ उ० । नि० चू० ।

भिन्नाचारः । (व्य०) जायोपजीवनादिपरिहरति, व्य० ३ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अभिना अभिमुख्येन सन्तपिते,
सूत्र० १ श्लो ४ अ० १ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । कदर्थ्यमाने, सूत्र० १ श्लो
४ अ० १ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । तापान्निमुक्ते, आचा० १ श्लो ६
अ० ४ उ० । क्रकचपाटनकुम्भीपाकतत्रप्रदानशालम्यालि-
ङ्गनादिके सन्तापे, सूत्र० २ श्लो ६ अ० । दादि, सूत्र० १
श्लो ५ अ० १ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । विशिष्टगुणोत्कीर्तनेन व्याचरिते,
संघा० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । संस्तुषति, स्या० ६ श्लो १
अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अभिनन्दमाने संस्तुषति, स्या० ६ श्लो १
कल्प० । आ० म० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । कुर्मोशात्मव्यादौ, (सूत्र०) अति-
विषये, सूत्र० १ श्लो ४ अ० २ उ० । अभिस्थाने, सूत्र० १ श्लो
४ अ० १ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अत्यवसायरूपेण व्याप्ते, सूत्र० १ श्लो
३ अ० ३ उ० । गर्भोचानादिः-कैः पीडिते, सूत्र० १ श्लो ३ अ० ३ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । प्रव्याप्येमाचार्यादेर्भेनसा
संकल्पने, तत्र द्विधा-अभिनिष्टं, निर्दिष्टं च । अभिनिष्टं नाम
अभिधारक्येन कर्मव्याचाराय विशेष्यते न निर्दिष्टेति । स च अ-
भिधारको द्विधा-संज्ञी, असंज्ञी च । पुनरैकेकां द्विधा-पृष्टीत-
द्विधाः, अष्टहोतद्विधाः । (शु०) मनसि करणे, श्लो ३ उ० । व्य० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अर्थे शब्दाद्यर्थे, यथा घटशब्देन
घटोऽभिधीयते । विशेषः । नि० चू० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । कृतवर्षे, "वासावासे अभि-
पवुं बहवे पाणा" । आचा० २ श्लो ३ अ० १ उ० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अभिमायिकानाम्-न० । अभिमायतः कि-
यमाणे नामनि, अत्रु० ।

से किं तं अभिप्रायइयणाम् ? अभिप्रायइयणाम् अन्वय-
निवृत्ते वक्तुलए पलातए सियाए पीडुए करीरए । सेचं अ-
भिप्रायइयणाम् ॥

इह यदुक्तादियु प्रसिद्धम् 'अन्वय-अभिप्राय' इत्यादि नाम देश-
कृत्या स्वाभिप्रायानुरोधेन गुणानिरेपेक्षं पुरुषेषु व्यवस्थाप्यते,
तदभिप्रायिकं स्थापनानामिति । प्रावार्थः-तदन्वयस्थापनाम-
मायानिपेक्षं ससविधं नामिति । अत्रु० ।

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । अन्वयकल्पे, विशेषः । बुद्धि-
पर्यये, आ० म० श्लो । बुद्धिपर्यवसाये, आ० म० प्र० । चेत-
प्रवृत्तौ, आचा० १ श्लो ४ अ० १ उ० । अभिप्रायश्चतुर्विधः-श्री-
त्यसिका, वैयथिकी, कर्मजा, पारिधामिकीत्यादिना । आ० चू० ।
संविदानमवयगमे प्रावोऽभिप्राय इत्यन्योक्तं नरम् । आ० म०
प्र० । (अस्व च ' बुद्धि' शब्दे व्याख्या कृष्टया)

अभिधिसिद्ध-अभिनिस्त-त्रि० । बुद्धिसिद्धे, आ० म० ।

अभिप्रायसिद्ध

अभिधानराजन्ः ।

अभिहाव

साभ्यतमत्रिमासिद्धं प्रतिपाद्यथाह—

विपुला विमला सुदृष्या, जस्य दर्शं जो चञ्चिन्दाह वा ।
बुद्धीए संपन्नो, स मुक्तिसिद्धो ज्ञा सा य ॥

विपुला विस्तारवती, एकपदेनानेकपदानुसारिणीति भावः ।
विमला संशयविपर्ययात्प्रवृत्तसायमलरहिता, सुमहा अगिदुरव-
शेषशुद्धमव्यथहिताशेषपरिच्छेदसमर्था, यस्य मतिः स बु-
द्धिसिद्धः । यदि वा—यत्प्रतिपत्त्या औपत्यस्तिप्रादिभेदभिन्नया
बुद्ध्या संपन्नः स बुद्धिसिद्धः । ज्ञा० म० द्वि० । ज्ञा० चू० ।
(अस्य कथा 'अप्यस्तिया' शब्दे द्वितीयभागे ८२५ पृष्ठे कृष्टव्या)

अभिप्रेय—अभिप्रेत—वि० । मनोऽर्थकल्पिते, विशेषे । ज्ञाचा०
कामयति, दृश० ६ अ० । अत्रिभिप्रतिप्रेयं, संयोगे च । उल्ल० १
श्र० । ('संयोग' शब्दे अत्रिभिप्रतिप्रेयः)

अभिप्रय—अभिप्रय—पुं० । अभिप्रयेत्, आच० ७ अ० । पराजये,
ज्ञाचा० १ सु० २ अ० २ उ० । ज्ञा० चू० । अभिप्रयं नामादिभेद-
तश्चेष्टया । प्रवृत्तानिप्रयो रिपुसिमादिपराजयः, अहित्येनेत्रया
वा सन्नुद्भवद्वन्वविज्ञेऽभिप्रयः । भावाजिनवस्तु-परीपदा-
पसर्गानीकज्यायद्वा ह्यवर्धनात्परणमोहात्तारायकर्मनिर्द्शनं, प-
रीपदोपसर्गादिसिन्वायिजयाजिन्मलं चरणं, चरणशुद्धेर्ज्ञानावर-
णादिकर्मण्येव, तत्तुल्यविरावरणमप्रहितमशेषेऽप्यग्राह्यं केव
समुपजायते । इदमुक्तं अचति-परीपदापसर्गाज्ञानदर्शनात्पर्याय-
मोहात्तारायपर्यायभिर्यु केवलमुपायं तैरुपलभ्यमिति । ज्ञाचा०
१ सु० १ अ० ४ उ० ।

अभिप्रायि—अभिप्रायि—अव्य० । जित्वेत्यर्थे, प्र० १ श० ३३ उ० ।

अभिप्रायि—अभिप्रायि—अव्य० । अभिमुख्येन पान्तियत्यर्थे,
सूत्र० २ सु० १ अ० । जित्वेत्यर्थे, प्र० २ अ० ३ उ० । परा-
जित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ सु० ६ अ० । दृश० । तिरस्कृत्येत्यर्थे च । ज्ञा
चा० १ सु० ४ अ० ६ उ० ।

अभिप्रायि—वि० । स्थिते, ज्ञे २ वक्त० । तिराहितव्यभ्यापारे
च । ज्ञाचा० १ सु० ३ अ० १ उ० ।

अभिप्रायिणा—अभिप्रायिणानि—पुं० । अभिप्रय
पराजित्य भ्रम्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्भनेन ज्ञानं केवला-
र्यं तेन ज्ञानेन ज्ञानी । केवलानि, सूत्र० १ सु० ६ उ० ।

अभिप्रितिकार—अभिप्रितिय—अभिप्रयन्त्य—अव्य० । मन्त्र-
पाठेन संस्कृत्येत्यर्थे, "रायणो जे संज्ञा, अच्यति ते अभिप्र-
तिय आगासेन उपाद्या" ज्ञा० म० द्वि० । नि० चू० ।

अभिप्रयन्तु—अभिप्रयन्त्य—अव्य० । "व्ययोजे" ८ । ४ । ३०५ ।
इति वैशाख्यां न्ययैः स्थाने ऽज्ञो जातः । अतुनस्य सुभद्रायां
आते पुत्रे, प्रा० ४ पाद ।

अभिप्रय—अभिप्रय—वि० । दृष्टे, सूत्र० २ सु० ४ अ० । विज्ञे० ।

अभिप्रयद्—अभिप्रयार्थ—पुं० । प्रवधारितार्थे, ज्ञा० १ अ० ।

अभिप्राय—अभिप्राय—पुं० । अभि-प्र-य-भाव घञ् । आत्मन्-
स्वपरीरोपे, मिथ्यागत्ये, अर्थादिद्वये, ज्ञाने, प्रकथे, हिंसायां च ।
ज्ञाच० । "अभिमत्यो मात्तो प्रणति" । नि० चू० १ उ० ।
('इन्द्र' शब्दे, द्वितीयभागे '४५ पृष्ठे तदभिमतानां कृष्टव्या)

अभिप्रायवृत्—अभिप्रायवृत्—वि० । अभिमानात्प्रवे, सूत्र० १
सु० १३ उ० ।

अभिप्राय—अभिप्राय—पुं० । विशेषतोऽभिजनके वृत्तविशेषे,
वृत्त० ३ उ० ।

अभिप्राय—अभिप्राय—वि० । अभि भगवते गृह्यीकृत्य सुभ-
मर्थति अभिमुखः । भगवतः सुमुखे, रा० । कृतोच्ये, प्रा० ।
ज्ञे० प्र० । ज्ञा० । स्था० । ज्ञान्० । सु० प्र० । ज्ञी० ।

अभिप्रेद—अभिप्रेद—पुं० । महाबलस्य राज्ञः स्वनामक्याते
प्रियवयस्ये, ज्ञा० ७ अ० ।

अभिप्रायवृत्—अभिप्रायवृत्—वि० । अभिमुख्येन नागतुकृत्ये-
नाऽऽपन्नं व्यवस्थितः । सावधानुष्ठानेन प्रतिषेधे, सूत्र० १ सु०
४ अ० २ उ० ।

अभिप्रे—अभिप्रेत—वि० । लोकेऽर्थादिष्व आदिमुख्येन रती,
विज्ञे० ।

अभिप्रेत—अभिप्रेत—वि० । अभिप्रयते इति कुर्वाणोने-
रममाणा तुहा" प्रश्ने १ आश्र० ज्ञा० ।

अभिप्राय—अभिप्राय—वि० । रम्येति, ज्ञा० १३ अ० । अभिप्र-
यण्येति, सं० प्र० २० पाठु० । विपा० । रति० । अ० । म० ।
मनोऽज्ञे, ज्ञा० १७ अ० । मनोऽज्ञे, कथ्य० १ अ० ।

अभिप्रेत—अभिप्रेत—वि० । स्वादुनावाभिप्रेतयेत, म० ६
श० ३३ उ० ।

अभिप्रेत—अभिप्रेत—वि० । अभि अभिमुख्येन सदावस्थितानि
कुर्याण राजहंसचक्रवाकसारसदादीनि गजमहासमुपार्थानि
वा जलान्मनोमानी करिष्यकरादीनि वा अस्मैस्त्वस्मिन्कुर्यामिति ।
सूत्र० २ सु० १ अ० । अभिप्रेतुं प्रति प्रत्येकमभिमुख्येनानि
चनेहादिवाक् रूपमाकारा यस्य स अभिप्रेतः । रा० । अभि
सर्वेषां कृपुणां मनःप्रसादानुक्रान्तया अभिमुख्येन रूपं यस्य तन्
अभिप्रेतः । अत्यन्तकमनीये, तं । जी० । प्रज्ञा० । स्था० ।
अभिमतकपे, विपा० १ सु० २ अ० । ज्ञे० । छष्टारं छष्टारं प्र-
त्यभिमुखं न कस्यचिद्विरागहेतुरुपमाकारा यस्य संऽभिप्रेतः ।
रा० । अभिमुख्येनानिवाक् रूपमाकारा यस्य सः । सु० प्र० १
पाठु० । मनोऽज्ञे, ज्ञा० १ अ० । उपा० श्री० । म० । अभि
प्रतिपन्नं नवं नवमिव रूपं यस्य तदभिप्रेतः । ज्ञा० म० प्र० ।
अनुसमयमहायमानकपे, सं० । "अभिप्रेतं अभिप्रेतं पदिकं
पडिकं पासादीयं पासादीयं" प्राचा० १ सु० ४ अ० २ उ० ।

अभिप्रेत—अभिप्रेत—वि० । कथनयोग्ये, प्रज्ञापयोग्ये,
ज्ञा० म० प्र० । सूत्र० । "जे पुण अभिलप्ता ते दुःखहा भवे-
ति । ते जहा-पणवणिज्जा, अपणवणिज्जा च । तस्य जे ते
अपणवणिज्जा तेसु वि सु चेव अहितानो अविप ति । जे पुण
पणवणिज्जा भावा ते केवलणणोणे पासिकण तित्थसणे ति-
रथकरनामकम्मोपपण सव्वसत्ताणं अनुत्थाहिमिअंमं नाति" ।
ज्ञा० चू० १ अ० ।

अभिप्रेत—अभिप्रेत—पुं० । अभिप्रेतयेत अभिमुख्येन ध्वक्-
मुख्येन क्रमेणैव इत्यभिप्रायः । वाचकं शब्दे, तद्विषये संयोगे
च । उल्ल० १ अ० । ज्ञा० म० । विज्ञे० । प्रज्ञा० ॥

अजिलाषावपाविद्युद्-अभिलाषावपाविद्युत्-पुं० । शब्दसंस्कृष्टये, कर्म० ६ कर्म० ।

अजिलाषावपुरिम-अभिलाषावपुरि-पुं० । अभिलष्यतेऽनेनेति अभिलाषः शब्दः, स एव पुरुषः पुलिङ्गतयाऽभिधानात् । पुरुषत्वम्, यथा-घटः कुटे वेति । आह च-“अजिलाषा पुलिङ्गानिहायमेतं घटो ऽयं” । स्या० ३ डा० १ उ० । आ० चू० । बिश० । आ० म० ।

अभिलास-अभिलाष-पुं० । इच्छायाम्, स्या० ५ डा० २ उ० । इच्छेऽप्यधिकतरस्य वाच्छायाम्, स्या० ४ डा० ३ उ० । यदि-दमहं प्रामोमि ततो ज्वयं भवतीत्याक्षरात्तनुबिद्ययां प्रार्थना-याम्, न० । ममेवैरुपं वस्तु पुष्टिकारि, तद्यदीदमवाप्यते ततः समीचीनं जवतीत्येवं शब्दाद्योद्ध्वानुत्पत्त्ये स्वपुष्टिमिन्नत-प्रतिनियनवस्तुप्राप्त्यप्यवस्थापि, न० । आ० म० । इष्टेषु शब्दादिषु जोगेच्छायाम्, हा० ए आ० ।

अजिवाङ्घ्रि-अभिवाङ्घ्रि-त्रि० । मासजेदे, संवत्सरजेदे च । स्या० । तत्र एकत्रिंशद्दिनानि, एकत्रिंशत्पुत्रशतं चतुर्विंशत्पुत्रशत-प्रमाणानामिदं किंमासः । पंचाधिकेन मासेन द्वादशप्रमाणोऽ-निवर्द्धितसंवत्सरः । स च प्रमाणेन त्रीणि शतान्याहं श्यशी-त्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च त्रिंशद्विंशति-३६३ । ४४ । ६३ । स्या० ५ डा० ३ उ० । वृ० कल्प० । स० । चं० प्र० । अ० । यस्मिन् संवत्सरे अधिकमाससंभवेन त्रयोदश ऋच्छमासा भवन्ति, सोऽ-निवर्द्धितसंवत्सरः । उक्तं च-“तेरस य च्छमासा, एतो अमिवाङ्घ्रिश्चो न जयन्वा” जं० २ ब० ।

ता एषि पंच पंचदशं संवत्सराणं पंचमस अभिविद्यि-यमं च्छरस अभिविद्युपासे तिमतीमुदुत्तेणं अद्दोरत्तेणं गणित्जगाम केवद्वयराइदिगमेणं आदिहृ । ता एकतीसं राइदिपाइं एगुपतीसं च मुहुत्सा सत्सरसवावद्विभोगे मुहुत्सस राइदियमेणं आदिहेति वदेजा । ता से णं केवद्व ए मुहुत्समे-णं आदिता ? ता णव एगुणसठे मुहुत्ससते सत्सरस यवाव-द्विजगे मुहुत्सस मुहुत्समेणं आदिता । ता एतेसि णं अच्चा दुवालमसुत्तकडा अनिवद्वीए संवत्सरे । ता से णं केवद्व राइदियमेणं आदिता ति वदेजा ? ता तिधि तेसं ए रा-इंदियमते एकवीसं च मुहुत्से अद्दारसवावद्विभोगे मुहुत्स-स राइदियमेणं आदिहा ति वदेजा । ता से णं केव-तियमुहुत्समेणं आदिता ति वदेजा ? । ता एकारमुहुत्सस-हत्सा पंच एकारे मुहुत्से सते अद्दारस य वावद्विजगे मुहुत्सस मुहुत्समेणं आदिता ति वदेजा ॥

* ता एषि णं, इत्यादि पञ्चमानिवर्द्धितसंवत्सरविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवतानाह—(एकतीसमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । एकत्रिंशद् रात्रिन्दिवानि, एकान्त्रिंशच्च मुहुत्ताः, एकस्य च मुहुत्सस्य सप्तदश द्वापष्टिमाया रात्रिन्दि-वाप्रेणोक्त्याता इति वदेत् । तथाहि—त्रयोदशनिष्पन्नमासै-रनिवर्द्धितसंवत्सरः । ऋद्रमासस्य च परिमाणेनकान्त्रि-ंशद् रात्रिन्दिवानि, एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वात्रिंशद् द्वा-पष्टिमायाः । २६ । ३ । पतत त्रयोदशभिगुप्यते, ततो यथा-संज्ञं च द्वापष्टिमायाः रात्रिन्दिवेषु कृतेषु जातमिदं त्रीण्येहो-

रात्रशतानि श्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वापष्टिमाया अहोरात्रस्य-३७ । ३ । ४४ । पतदभिषङ्गितसंवत्सरपरिमाणा-म् । तत्र प्रयाणं अहोरात्रशतानां श्यशीत्यधिकानां द्वात्रिंशदि-भोगे हतं लब्धा एकत्रिंशद्द्वयोत्रायाः शेषास्तिष्ठत्येकादश । ते मुहुत्सकरणार्थं ६२ त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि ३३० । येऽपि च चतुश्चत्वारिंशद्दवापष्टिमाया रात्रिन्दिवस्य, तेऽपि मुहुत्सकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदशशतानि त्रिंशत्त्यधिकानि १३२० । तेषां द्वापष्टया जागो ह्यियते, अथा एकत्रिंशदिमुहुत्ताः शेषास्तिष्ठत्येकादश । तत्रै-कत्रिंशदिमुहुत्ता मुहुत्सराजो प्रसिष्यन्ते, जातानि मुहुत्सतां त्रीणि शतान्येकत्रिंशदधिकानि ३६३ । एतेषां द्वादश-भिर्भागे ह्यियते, लब्धा एकान्त्रिंशदमुहुत्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयः । ते द्वापष्टिमायाकरणार्थं द्वापष्टया गुण्यन्ते, जातं पन्नीत्यधिकं शतम् १६६ । ततः प्रागुक्ताः शेषीभूता मु-हुत्स्वाद्यादश द्वापष्टिमायाः प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शतं चतु-रुत्तरं २०४ । तयोर्द्वादशभिर्भागे ह्यियते, अथा मुहुत्सस्य सप्तदश द्वापष्टिमायाः । (ता से णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । सोऽनिवर्द्धितमासः कियद् मुहुत्तां त्रिंशदाख्यात इति वदेत् । भगवतानाह—(ता नैवत्यादि) नव मुहुत्सशतानि एकान्त्रिंशदधि-कानि ९५६ । सप्तदश च मुहुत्सस्य द्वापष्टिमायाः । तथाहि—एकत्रिंशद्वयोत्रायाः त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि त्रिंशदधिकानि मुहुत्तानाम् । तत उपरितना एकान्त्रिंशत्सु-तोस्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहुत्तानामेकान्त्रिंशदधिकानि नव-शतानि । (ता एषि णमित्यादि) प्राग्द्व्यव्यायेयम् । (ता से णमित्यादि) रात्रिन्दिवचप्रश्नसूत्रं सुगमम् । जगवतानाह—(ता तिष्णित्यादि) त्रीणि रात्रिन्दिवशतानि श्यशीत्यधिकानि एक-त्रिंशदिमुहुत्ता एकस्य च मुहुत्सस्याद्यादश द्वापष्टिमाया रात्रि-न्दिवानिमाख्याता इति वदेत् । तथाहि—एकत्रिंशद् अहोरात्रा द्वा-दशभिर्गुप्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि त्रिंशत्संवत्सराधिकानि रा-त्रिन्दिवानाम् ३७२ । तत एकान्त्रिंशत् मुहुत्ता द्वादशत्रिगुप्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ३६७ । तेषा-महोरात्रकरणार्थं त्रिंशता भागां ह्यियते, अथा एकदश अहोरा-त्राः, अष्टादश तिष्ठन्ति । येऽपि च सप्तदश द्वापष्टिमायाः मुहुत्स-स्य, तेऽपि द्वादशभिर्गुप्यन्ते, जाते द्वे शतं चतुरसरे ३०४ । ततो द्वापष्टया भागां ह्यियते, अथासप्तयो मुहुत्ताः, ते प्राक्तेषु अष्टादशसु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकत्रिंशदिमुहुत्ताः । शेषा-स्तिष्ठत्येकादश द्वापष्टिमाया मुहुत्सस्य । (ता से णमित्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवतानाह—(एकारसत्यादि) एकादश मुहुत्ससहस्राणि पञ्च मुहुत्सशतानि एकादशाधिकानि अष्टा-दश च द्वापष्टिमाया मुहुत्सस्येति मुहुत्तां त्रिंशदनिवर्द्धितसंवत्सर आख्यात इति वदेत् । तथाहि—अनिवर्द्धितसंवत्सरस्य परिमाणं त्रीण्यहोरात्रशतानि श्यशीत्यधिकानि एकत्रिंशदिमुहुत्ताः, एक-स्य च मुहुत्सस्याद्यादश द्वापष्टिमायास्तत्र एकैकस्मिन् रात्रि-न्दिवे त्रिंशद् मुहुत्सं इति त्रीण्यहोरात्रशतानि श्यशीत्यधिकानि त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितना एकत्रिंशदिमुहुत्ता-स्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो यथोक्ता मुहुत्ससंख्या भवतीति । चं० प्र० १२ पाठु० । नि० चू० । ज्यो० । जं० । (अथशेषा व-कन्यता मास ' संवत्सर ' शब्दयोः कतिरप्यते)

अभिवद्भेमाण-अभिवर्द्धयत्-त्रि० अभिवृत्तिं कुर्वीत, चं० ७७ ब० ।

अभिवायय-अभिवादन-न० । बाह्यनस्कारे, दशा० २ सू० ।
उक्त० । पादयोः प्रणिपतने, तं० । कायेन प्रणिपते, संधा० ।
आच्चा० ।

अभिवाययमाण-अभिवाद्यत-वि० । अभिवादनं कुर्वाणे, मा-
च्चा० १ भू० ६ अ० १ उ० ।

अभिवाहुरणा-अभिवाहुरणा-क्री० । संशब्दनायाम्, पञ्चा०
२ विष० ।

अभिवाहार-अभिवाहार-पुं० । अभिवाहारमभिवाहारः ।
कालिकादिभूतविषये षडैशस्तमुद्देशादौ, आहोचनादियु अष्टमे
नये, विद्ये० । आ० म०

अधुना चरमशरं व्याख्यासुराह-

अभिवाहारो कालिय-सुपस्स सुतत्पतदुजर्णं ति ।
दन्वगुणपज्जबोहँ य, दिघीवायपिं बोधन्वे ॥

अभिवाहारयो शिष्याचार्ययोः बचनप्रतिबचनं अभिवाहारः ।
स च कालिकभूते जाचारादौ, (सुत्तधतदुभयणं ति) सुत्रतो
ऽधेतः, तदुभयतश्च । इयमत्र भावना-शिष्येण इच्छाकारिणुदम-
क्काणुदिसास्त्वयुके स्तति इच्छापुस्सरमाचार्यबचनम्-“अहमस्य
साधारित्वमङ्गमध्ययनमुद्देशं वा उद्दिशामि” वदातीत्यर्थः । आतो-
पदेशपारस्पर्यवस्थापनायै क्रमाश्रमणानां हस्तेन सौत्त्रिक्या सुत्र-
तोऽधेतस्तदुभयतो वापिसिद्धं कास्त्रिकभूते । अथोक्त्यास्त्रिके हृदिवाद्
कामय । इत्यत आह-द्रव्यगुणपर्यायैश्च हृदिवादे बोधव्योऽभि-
वाहारः । एतच्चक्रं भवति-शिष्यबचनानन्तरमाचार्यबचनम्-“ह-
दुसुद्दिशामि सुत्रतोऽधेतस्तदुभयतो द्रव्यगुणपर्यायैरन्तरम-
ङ्गस्त्रिकैरिति” । एवं गुरुणा समादिष्टमभिवाहारे शिष्याजिव्या-
हारः । शिष्यो ब्रवीति-“उद्दिशस्त्वयं मम, इच्छाम्यनुशासनं क्रि-
यमाणं पुर्येति । एवमभिवाहारद्वारमहत्तमं नीतिविशेषनये ।
आ० म० प्र० ।

अभिवाहि-अभिविधि-पुं० । सामरूप्ये, पञ्चा० १५ विष० ।
आ० म० ।

अभिवृद्धि-अभिवृद्धि-पुं० । अहिवृद्धान्तरनामके उत्तरभाद्रप-
दनक्षेत्रे, जं० ७ बह्ना० ।

अभिवृद्धिचा-अभिवर्धय-अव्य० । अभिवृद्धिं कारयित्वात्थेयं,
सु० प्र० १ पाठ० ।

अभिर्वज्ज-अभिर्वज्जन-न० । स्वरूपतः प्रकाशने, सुत्र० १
भू० १ अ० १ उ० ॥

अभिसंका-अभिज्ञान-क्री० । तथ्यानिर्णये, सुत्र० २ भू० ६
अ० । इथा० । “भूयाभिसंकाहं कुर्वन्नुमाणे, ण णिव्वेदे मतप-
वेण गेयं” नृतेषु प्राणिषु अभिज्ञानो उपमर्शोऽहो, तथाऽऽशो-
वाद् सावयं, सुगुप्तां वा न ब्रूवात् । सुत्र० १ भू० १४ अ० ।

अभिंसंकि (ण्)-अभिज्ञान्-वि० । “ उज्ज् माराभिंसं-
की मरणा पमुच्चति ” । मरणं मारः, तदभिज्ञानो मरणा-
दुद्धिनस्तत्करति येन मरणात् प्रमुच्चति । आच्चा० १ भू० ३
अ० १ उ० ।

अभिसं (स्सं) ग-अभिज्ञान्-पुं० । भावरामे, विद्ये० । अण्यु-
पपत्तो, इथा० ३ उ० ४ उ० ।

अभिसंजाय-अभिसंजात-वि० । पर्यौ वायुतुप्ये, आच्चा०
१ भू० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंधारण-अभिसंधारण-न० । पर्याहोचने, आच्चा० १
भू० १ अ० १ उ० ।

अभिसंधिय-अभिसंधित-वि० । शृष्टीते, माच्चा० १ भू० ४
अ० २ उ० ।

अभिसंनूय-अभिसंनूत-वि० । यावत्कलं तावदभिसंनूतः ।
आच्चा० १ भू० ६ अ० १ उ० । प्रादुर्भूते, आच्चा० २ भू० ३ अ० १ उ० ।

अभिसंवह-अभिसंवह-वि० । धर्मभयणयोग्यावस्थायां वर्तमाने,
आच्चा० १ भू० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंनुह-अभिसंनुह-वि० । धर्मकथादिकं निमित्तमासापो-
पल्लव्युष्यावापतया ज्ञाते, आच्चा० १ भू० ६ अ० १ उ० ।

अभिसमन्वाय-अभिसमन्वागत-वि० । अभिरानिसुष्येन स-
म्यगिष्टानिष्टावधारणतया अन्विति शब्दादिवृत्तकृपापगमात् प-
द्मादागतो ज्ञातः परिच्छिन्नः । आच्चा० १ भू० ३ अ० १ उ० । प्रज्ञा०
अभिसुष्येन व्यवहारितं, सुत्र० २ भू० १ अ० । आच्चा० । परिभा-
गत उपजोमं प्राप्ते, ज्ञा० २ भू० । विशेषतः परिच्छिन्नं, भ० १ श०
४ उ० । मिश्रिते, ज० १५ भू० १ उ० । अभिविधिना, सर्वासांत्त्य-
र्थे । समन्वागतानि संज्ञानानि बोधेन रसानुज्ञं समाश्रिय
(ज० १२ श० ४ उ०) उदावर्तकालकामागतये, ज० १३ श० ७
उ० । भोग्यावस्थां तांते, इथा० ६ उ० ३ उ० ॥

अभिसमागम-अभिसमागम-पुं० । अत्रार्थोऽभिसुष्येन न तु
विषय्यंस्वरूपतया समिति सम्यक् न संशयतया तथा आ-म-
व्याद्वा गमनमभिसमागमः । वस्तुपारच्छेदः, इथा० ।

तिविहे अभिसमागमे पक्वते । तं जटा-उहं अहं तिरिये ।
जया एं तदा स्वरूप समणस्स वा माहणस्स वा अइस्से
णाणदंसणे समुपज्जइ, से णं तपपदमयाए उह्माजिसमेद,
तन्ना तिरियं, तन्ना पच्चा, अहं अहासोणं दुह-
जिगमे पक्वते समणउसो ! ॥

(अइस्सेस सि) शेषाणि उपासकानात्यन्तिकान्तमतिशेषं ज्ञान
दर्शनं, तच्च परमावधिकपरमितं सम्भाव्यते, केवलस्य न क्रमे-
णोपयोगः ; येन-तत्रप्रथमतयेत्यादि सुत्रमनवधं स्वादिति । तस्य
ज्ञानादिक्यादस्य प्रथमतया तत्रप्रथमता, तस्याः (उक्तं ति) कर्त्त-
व्यलोकमभिसंमति-समाभिगच्छति जागति । तस्मिन्स्वर्गमिति ति-
येयांक्, तत्स्मृत्यै स्थानं अथ इत्यधोऽलोकमभिसंमति । एषं च
सामर्थ्यात्सामधोलोको दुरभिगमः, क्रमेण पर्यन्ताभिगम्यत्वा-
दिति । इह अगणानुपमः । इति गीतमाम्भारणमिति । इथा० ३
उ० ४ उ० ।

अभिसमागम-अभिसमागम्य-अव्य० । अभिरानिसुष्ये, स-
मेकीजाये, आह-मयादाभिविध्याः । गल्ल-वृत्त्-गती, सर्वं एव
गत्यर्थां ज्ञानार्थी हेयाः । अभिसुष्ये सम्यग्ज्ञात्वैत्यर्थे, “ एषं
अभिसमागम-चित्तमादाय आउसो ” दशा० ५ अथा० ।
आच्चा० ॥

अभिसमेध-अभिसमेत्य-अव्य० । आनिमुष्येन सम्यगित्वा
ज्ञात्वा । आच्चा० १ भू० ३ अ० ३ उ० । आनिमुष्येन सम्यक्

परिविष्टं पृथक् प्रवेदितं वा । आत्मा० १ ब्र० ४ अ० २ उ० ।
अवगम्यत्यर्थं, स्थानं ५ अ० । आत्मा० । समधिगम्य अवबु-
ध्यन्त्येते, अभिसमेष्ट धर्म यावत्केवलमित्युपाद्यन्ते । “धर्मोपा-
द्यन्ते इति, संज्ञातेच्छेऽत्र भावतः । इदं स्वशक्तिमात्रोच्य,
प्रत्येकं संप्रवर्तते ” ॥११॥ स्थानं २ अ० १ उ० ।

अभिसरण-अभिसरण-अ० । आपेक्षिकसंयुक्ताभिगमने, प्रश्न०
१ आश्र० ब्रा० ।

अभिसरित-अभिसरित-वि० । रत्यर्थे सङ्केतस्थलं प्रापिते,
आत्मा० १ ब्र० ३ अ० ५ उ० ॥

अभिसव-अभिषव-पुं० । अनेककृत्यसन्ध्यागतिपञ्चसुरासौबी-
रकादौ मांसप्रकारकण्ठादौ सुराम्प्याद्यभिष्यन्दिद्रव्ये, कृत्यो-
पयोगे च । अयं च सावधानाहारवैकल्यानाभोगातिक्रमादि-
माऽतिचारः । प्रब० ६ ब्रा० ।

अभिसिक्त-अभिसिक्त-वि० । कृतान्निषेके जातान्निषेके, “अ-
ण्येण अमयकक्षसेण अजिसिक्तो अमभ्रिदं सोमिनुमादत्ता”
आ० म० प्र० ।

अभिसिग-अभिसिग-पुं० । शुक्रशोणितानिषेकादिक्रमे, आत्मा०
१ ब्र० ६ अ० १ उ० । सर्वोपधिसमुपकृतताप्योदकेः राज्याधिष्ठा-
तृवादिप्रत्यर्थे मन्त्राभ्यारणपूर्वकं तद्योग्यशिरसाऽभ्युक्तशुभ ।
संघा० ।

तत्रेन्द्राणामभिषेक इत्यर्थः-

जणामेव अभिषेयसभा तेषामेव उवागच्छति, उवागच्छि-
त्ता अभिषेयमत्रं अणुपयाहिणं करेमाणे पुरच्छिभिष्णेण
दारिणं अणुपविसति, अणुपविसिता जणेषु सीहासणे तेषु-
व उवागच्छति, तेषु उवागच्छिता सीहासणवरगते पुर-
च्छाभिमुहं सारिणसण्ये । तए एं तस्म विजयस्स देवस्स
सामाणियपरिसोवबाणया देवा आभिआंमं । ए देवे सदावे-
ति, सदावेत्ता एवं वयामी-खिण्यामेव जो देवाणुपिया । तुम्हे
विजयस्स देवस्स मइत्थं महग्गं महरिहं विपुलं इंदाजिसेव
उवइवेह । तए णं ते आजिआंगिया देवा सामाणियपरिसो-
ववणुएहिं देवेहिं एवं उता समया इहं जा मियया कर-
त्तपरिंमग्गहिंयं सिरसावचं मत्थए । आजाहिं कटुं ‘एवं देवा तह
हिं’ आणाए विणएणं वयणं परिसुण्णेति, परिसुणेत्ता उच-
रपुरच्छिंयं दिसीजागं अवकमंति, अवकामिता वेउव्वियसमु-
ग्घाएणं समोहणंति, समोहणोत्ता संखिज्जाइं जयण्णाइं कं-
णिसंरति, णिसरिन्ता तावइयाइं पोमल्लाइं गेहइ । तं जहा-
रणाए० जाव रिट्ठाएणं अहा बायंरे पोमल्ल परिसाकेति, परि-
सादिता अहा मुहमे पोमल्ले परिचार्यंति, परिचार्यत्ता दीवं पि
विउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणोत्ता अहसयं सोव-
सियाणं कलसाणं, अहसतं रूपमयाणं कलसाणं, अहसयं
मणिमयाणं कलसाणं, अहसयं सुवस्यरूपमयाणं कलसाणं,
अहसयं सुवस्यरूपमयाणं कलसाणं, अहसयं रूपमयाणं
कलसाणं, अहसयं सुवस्यरूपमयाणं कलसाणं, अह-

सयं रूमिपाणं कलसाणं, अहसयं जिगाराणं कलसाणं,
एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं चि-
त्ताणं रयणकरंहाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमह-
त्यचंगेरीणं पुप्फपदङ्गाणं० जाव लोमहत्त्यपदङ्गाणं अ-
हसयं सीहासणाणं उवाणं चामराणं अश्वपदगाणं बट्ट-
काणं सिप्पीणं खोरकाणं पीणगाणं तेहससुग्घाणं अहस-
हस्सं धूवककुत्त्यकाणं विउव्वंति । तेमा भावियए विउव्विए
य कल्ले य० जाव धूवककुत्त्यए य गेहइंति, गेहिहत्ता विज-
याओ रायहाणीओ पकिनिकमंति, पकिनिकमत्ता ताए
उकिट्ठाए० जाव उक्त्ताए दिव्वाए देवगतीए तिरियमसेखे-
ज्जाएणं दीवमसुहाएणं मज्जं मज्जेणं वीर्यावयमाणा वीर्याव-
यमाणा जणेषु खीरोदं समुहे तेषु उवागच्छंति, तेषु उवा-
गच्छत्ता खीरोदं गेहइंति, खीरोदं गेहिहत्ता जाइं तत्थ
उप्पल्लाइं जाव सयसहस्सपचाइं गेहइंति, ताइं गेहिहत्ता
जणेषु पुक्खरादं समुहं तेषु उवागच्छंति, उवागच्छत्ता
पुक्खरादं गेहइंति, पुक्खरादं गेहिहत्ता जाइं तत्थ
उप्पल्लाइं जाव सतसहस्सपचाइं गेहइंति, ताइं गेहिहत्ता
जणेषु समयस्सेते जणेषु भरेहेरवयाइवासाइं जणेषु मा-
गधवरदामप्पमासाइं तित्थाइं तेषु उवागच्छंति, तेषु उ-
वागच्छत्ता तित्थादं गेहइंति, तित्थादं गेहिहत्ता ति-
त्थमहिंयं गेहइंति, तित्थमहिंयं गेहिहत्ता जणेषु गंगाभिगुर-
चवतीओ सखिज्जाओ तेषु उवागच्छंति, तेषु उवाग-
च्छिता सरितोदं गेहइंति, सरितोदं गेहिहत्ता उचयो
तटमहिंयं गेहइंति, तटमहिंयं गेहिहत्ता जणेषु खुट्ठाहिमवतं-
सिहरिवासपव्वत्ता तेषु उवागच्छंति, तेषु उवागच्छत्ता
सव्वतुवरं य सव्वपुप्फं य सव्वमंथं य सव्वमद्वं य सव्वंसाहिं
सिक्खत्थए य गेहइंति, गेहिहत्ता जणेषु पउमहइं पुरुरियइहा
तेषु उवागच्छंति, उवागच्छत्ता दहोदं गेहइंति, दहो-
दं गेहिहत्ता जाइं तत्थ उप्पल्लाइं जाव सतसहस्सपचाइं
गेहइंति, ताइं गेहिहत्ता जणेषु हेमवतेरखवयाइं वासाइं जणेषु
रोहिंया रोहिंयातेसा मुवस्यकूखरूपकलाओ तेषु उवाग-
च्छंति, तेषु उवागच्छत्ता सखिज्जादं गेहइंति, सखिज्जादं
गेहिहत्ता उचयो तटमहिंयं गेहइंति, उचयो तटमहिंयं गे-
हिहत्ता जणेषु सदावतिवियमावतिमालवंतपरियागवट्ट-
वेयवृपव्वत्ता तेषु उवागच्छंति, तेषु उवागच्छत्ता सव्वतु-
वरं य० जाव सव्वंसाहिंसिद्धत्थए य गेहइंति, सिक्खत्थए
गेहिहत्ता जणेषु महाहिमवंतरूपपवासहपव्वत्ते तेषु उवाग-
च्छंति, तेषु उवागच्छत्ता सव्वपुप्फं तं च० जणेषु महापउ-
महइमहापुंरुरियइहा तेषु उवागच्छंति, तेषु उवागच्छत्ता
जाइं तत्थ उप्पल्लाइं तं च० जणेषु हरिवासरम्मगवासाइं जे-
णेषु हरिकानाओ मखिज्जाओ नरगंताओ तेषु उवागच्छंति,

तेष्वेव उवागच्छिता सल्लोदोगं गेहंति, सल्लोदोगं गे-
हितिहत्ता तं चैव० जेषेव वियडावतिगेषावति० वृद्धेयवृष्टपव्यया
तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता सव्वपुष्पे य तं चैव०
जेषेव णिसद्वगं। सव्वतवासाद्वरपव्वत्ता तेष्वेव उवागच्छति,
तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरं य तं चैव० जेषेव तिगिच्छि-
हईं केमरिहईं तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता द-
हादमं गेहंति, दहादमं गेहिहत्ता तं चैव० जेषेव पुव्ववि-
देहअवरविदेहवासाणि जेषेव सीयाम्। ओयामहानईंओ
जहा नईंमु जेषेव सव्वक्कववहिजिया जेषेव विदेहावरवि-
देहवासाईं जेषेव सव्वक्कववहारदायपासाईं नित्याईं जेषेव
सव्वनरणदीओ० सल्लोदोगं गेहंति, सल्लोदोगं गेहिहत्ता
तं चैव० जेषेव सव्वक्कववहारपव्वग्गा० सव्वतुवरं य तं चैव०
जेषेव मंदेरं पव्वर जेषेव जहमात्तनेषे तेष्वेव उवागच्छति,
तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरं य० जाव सव्वोसाहिभिद्धत्वए
य गेहंति, गेहिहत्ता जेषेव नंदएणए तेष्वेव उवागच्छति,
तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरं य० जाव सव्वोसाहिभिद्धत्वए
य सरमं च गोमीसचंदणं गेहंति, गेहिहत्ता जेषेव सांमए०
सव्वए तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरं
य० जाव सव्वोसाहिभिद्धत्वए य सरमं च गोमीसचंदणं दिव्वं
च सुमएदामं गेहंति, सुमएदामं गेहिहत्ता जेषेव पंगुववणे
तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता सव्वतुवरं य० जाव
सव्वोसाहिभिद्धत्वए य सरमं च गोमीसचंदणं दिव्वं च
सुमएदामं दहममज्जयसुगंणिगधिए य गंधे गेहंति, गेहिहत्ता
एगतो भिलंति, एगता मिज्जिता जंबूदीवस्स पुरच्छिमिज्जेणं
दारिणं णिगच्छति, पुरच्छिमिज्जेणं दारिणं णिगच्छिता
ताए उकिट्टाए० जाव दिव्वए देवगताए। तिरियममंसेज्जाणं
दीवससुहाए मज्जं मज्जेणं वीतीवयमाणा जेषेव विजया
रायहाणी तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छिता विजयं रा-
यहाणि अणुपययादिणं करेमाणे करेमाणे जेषेव अनिसंयस-
जा जेषेव विजयदेवे तेष्वेव उवागच्छति, तेष्वेव उवागच्छि-
त्ता करयत्तपरिगाहिणं सिरसावचं मत्तए अंजलि कट्ट जण-
णं विजएणं बद्धावेति, बद्धाविता विजयस्स देवस्स तं
महयं महयं महरिहं विपुलं अभिसंय उव्वंति ।।

टीका पाठसद्धा। ज० ३ प्रति० । रा० ज० १० । अवा-
येणदेअजिक्को यः सोऽजिष्कः । नि० सू० १९ उ० । सुचार्य-
तदुभयोपेने आचार्ये, ३०० १ उ० । आचार्यणंरुक्थापनाईं, ७०
३ उ० । अणवधायं, जीत० । गणावच्छेदकं, नि० सू० १५ उ० ।

अभिनेगजलपूयप (ण) -अभिष्कजलपूयाम्-पु० । अ-
भिष्कतो जनेन पवित्रित भाभा येस्तं तथा । तथाविधज-
लचोत्पन्नं यानमस्पृश्ये, श्री० ।
अभिसेमपदे -अभिष्कपीउ -पु०। न० । अभिष्केमयदयान्तमेते
अभिष्कसिहास्तनाधिष्ठाने पीउ, जं ३ ब३० ।

अभिसेग (य) भं-अभिष्केभाए-न० । अभिष्केयोमे
उपस्करं, रा० ज० १० ॥

अभिसेग (य) सभा-अभिष्केमजा-स्त्री० । अभिष्के-
थैलभायाम्, यस्यां राज्याभिष्केणाभिषिष्यते । स्थानं ५
उ० ३ उ० ।

अभिसेगभिला-अभिष्केशिला-स्त्री० । तीर्थकराणामभिष्के-
कार्यशिलायाम्, स्थानं ।

जंबू । मंदरपव्वयपंगुववणे चचारि अभिसेगसिद्धाओ
एएणत्ताओ । तं जहा-पंगुकेवलसिद्धा, अतिपंगुकेवलसिद्धा,
रत्तकेवलसिद्धा, अतिरत्तकेवलसिद्धा ।

अभिष्कशिला चूलिकायाः पूर्वदक्षिणपश्चिमदिक्षु क्रमे-
णव्यवस्थिता इति । स्थानं ४ उ० २ उ० ।

अभिसेगा-अभिष्केका-स्त्री० । गच्छमहत्तरिकायाश्च, नि० सू० ३
उ० । प्रवर्तिनी आगमपरिभाषयाऽभिष्केयुच्यते, ४० ३ अधि० ।
जिह्वक्यां च । नि० सू० १५ उ० ।

अभिसेजा-अभिष्कशुभा-स्त्री० । अभिनिषेधायाम्, ७७० १
उ० । यस्यां नैवेद्यक्यां दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा
रात्रिसुषुप्त्वा प्रातस्संतिसुषुप्तिम् । ७७० १ उ० ।

अभिसेसंग-अभिष्कङ्क-पु० । गेहादिष्वभिष्के, ५०७० ।

जो एत्य अभिसेसंगो, संतासंनेषु पावेहोत्ति ।।
अट्टच्छाणविक्षापो, ।।

श्लोकऽभिष्कङ्को मूर्च्छालक्षणः सद्यस्सु गेहादिषु पापहेतुरि-
ति पापकारणमात्पथानविकल्पः । अत्रुक्तप्रथानभेदाऽभिष्कङ्कः ।
पं० न० १ उ० । पञ्चाः ० ।

अभिष्कट्ट-अभिष्कृत्य-अव्य० बलात्कृत्येण्ये, “ सेवं वदंत-
स्स परो अभिष्कट्टु अतो पकिमाईसि षडुअचिंय मसं पारिभाए-
त्ता गिट्टु दलपज्जा ” आचार्य २ श्रु० १ श्रु० १० उ० ॥

अभिष्कट्ट-अभिष्कृत-न० । अभि-सावजिमुक्क हतमातीतं स्थान-
नातरादभिष्कृतम् । अभ्युदहनं, पञ्चाः ० २ ३ विष० । साधुदानाय
स्वप्राप्त्यात्परिप्राप्तम् वा समानीते यथादशोत्तमशत्रुदुष्टं, ५० ।

अथाव्याहृतत्तरमाह-

आइल्लमणायइं, निसेहीमनिमं। हयं अभिहृदं वा ।
तस्य निसेहीदानीयं, उणं बोच्छामि नोनिसेहीं तु ॥

अथाव्याहृतं द्विविधम् । तथाया-आकोणंम्, अनाकीणं च । तत्राना-
कीणं द्विधा । तथाया-निशीथाञ्चयाहृतं, नोनिशीथाञ्चयाहृतं च । तत्र
निशीथमदरात्रं, तत्रानीतं किल प्रचयं नवति, यत्र साधुना-
मपि यद्विदितमभ्याहृतं तत्रनिशीथाञ्चयाहृतम् । तद्विपरीतं नो-
निशीथाञ्चयाहृतम्-यत्साधुनामभ्याहृतमिति विदितं भवति ।
तत्र निशीथाञ्चयाहृतं स्थायम् । अत्रैवव्यत इति भावः । सं-
व्रति पुनर्वक्ष्यामि नोनिशीथाञ्चयाहृतमिति ।

प्रतिज्ञातमेव निवाह्यति-

सगामपरगामे, संदेमपरदेसमेव बोधयं ।
दुहिदं तु परगामे, जलयत्त नावाइजंयाए ॥

मोनिशीथाभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वप्राप्ते स्वप्राप्तविययं, परप्राप्ते परप्राप्तविययम् । तत्र यस्मिन् प्राप्ते साधुनिवसति स क्लृप्त स्वप्राप्तः । शिवस्तु परप्राप्तः । तत्र परप्राप्ते परप्राप्तविय-यमन्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वदेशं परदेशं च । स्वदेशं स्व-प्राप्ताभ्याहृतं, परदेशं परप्राप्ताभ्याहृतं चेति । तत्र स्वदेशो य-त्र देशमयत्नले साधुवर्तते, शिवस्तु परदेशः । एतद् द्विविधम-पि प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-(जलध्वज सि) सुचनान्स्वभिमिति कृ-त्वा जलपथेनाभ्याहृतं, स्थलपथेनाभ्याहृतं च । तत्र जलपथे-नाभ्याहृतं द्विधा-नाया, उदुपेन च । उपलक्षणमेतत् । तेन स्नोक्जलसंभाषनायां जङ्घान्यामपि । तत्र नीस्तारिका, उडुपं तरणकाष्ठम् । नुम्बकादि बाहुपरिग्रहणेन गृहीतं कृष्यम् । स्थलपथेनाभ्याहृतं द्विधा । तद्यथा-जङ्घा, पट्ट्याम् । उप-लक्षणमेतत् । तेन गन्ध्यादिना च ।

तत्रामूनेव जलस्थलान्याहृतमेवान् समग्रं विज्ञावयन्
दोषान् प्रदर्शयति-

जंघाबाहुरीए, जले थले खंधअरसुरनिबद्धा ।
संज्ञमत्रायविराहण, तदियं पुण संज्ञमे काया ॥
अत्र्याह्ण ग्राहणंका, मगरोहारा जले अवायाओ ।
कंठाहितेणसावय, थलम्पि एए जवे दोसा ॥

तत्र जज्ञमार्गे स्नोक्संभाषनायां जङ्घान्याम्, अस्नोक्संज्ञावनायां याडृन्त्याम्, यदि वा तरिकया । उपलक्षणमेतत् । उदुपेन याडृन्त्या-हृत संभवति । स्थलमार्गे तु रुक्स्थेन, यद्वा (अरसुरनिबद्ध सि) अत्र तुर्तायाथे प्रथमा । ततोऽयमर्थः-अरकनिबद्धा गन्त्री, तथा । सुरनिपटा रासजबलीवदोद्यः, नैः। क्त्र च दोषः संयमविरा-धना, आरामविराधना च । तत्र संयमात्मविराधनामध्ये संयम-वियया विराधना जज्ञमार्गे स्थलमार्गे च-काया अत्कायादयो विराध्यमाना कृष्टयाः । जज्ञमार्गे आरामविराधनामाह-(अत्र्या-हण्यादि) अत्र प्राकृतत्वात् कर्भावत् विभक्तिद्वयः, क्वचित् वि-भक्तिविराधनामश्च । ततोऽयमर्थः-अस्ताथे पादादिभिरज्ञभ्य-मानेऽधोभूमौ च अधोनिमज्जनसंज्ञायां भवति । तथा प्राहेन्यां जज्ञचरविशेषेभ्यः, यद्वा पङ्क्तः कर्दमरूपायः ; अ-थवा मकन्त्यः, यद्वा-(उहारे सि) कच्छपेभ्यः । उ-पलक्षणमेतत्-अन्येभ्यश्च पादबन्धकजन्वादिभ्योऽप्याया विना-शाद्यो दोषाः संभवन्ति । स्थलमार्गे आरामविराधनामाह-(अथेत्यादि) कण्ठकेभ्यो, यदि वा अङ्गिभ्यो, यद्वा स्तेनेभ्यः, कंठयाभ्योपदेश्यः । उपलक्षणमेतत्-उपर्याधुपाद्यकपरिभ्रमेभ्यश्च स्थले स्थलमार्गे, एतेऽप्यायकया दोषाः प्रतिपत्तव्याः । उक्त-मनाचीर्णे परप्राप्ताभ्याहृतं मोनिशीथम् ।

संप्रति तदेव स्वप्राप्ताभ्याहृतं मोनिशीथं गाथाद्वयेनाह-

सगामे वि य दुविहं, धरंतरं नोधरंतरं चैव ।
तिधरतरा परेणं, धरंतरं तत्तु नायव्वं ॥
नोधरतरऽगेगविहं, बाहगसाहं निवेसणदिहेसु ।
कापोयखंयमिम्पय-कैसेण व तं तु आणेजा ॥

स्वप्राप्तविययमप्यन्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-गृहान्तरं, नो-गृहान्तरं च । तत्र गृहान्तरात्परेषु-श्रीणि गृहान्तरान्तरं कृत्वा परतो यदानीतं तद् गृहान्तरम् । एवं च सति किमुक्तं भवति । यद् गृहयवमभ्यादानीयते, उपयोश्च तत्र संभवति, तद् अचीर्णसं-

धस्यम् । नोगृहान्तरमेनकावियम्, तच्च वाटकादिविययम् । तत्र वाटका-प्रतिक्रमः प्रतिनियतः सन्नियतः । साही-वर्तनी, सैव-का अपान्तराले विधाते, न तु गृहान्तरमित्येधेः । निवेशनम्-एक-निष्क्रमणवशात्नि आदिगृहान्तरम् । गृहं-केवलं मन्दिरम् । एतच्च सकलमपि वाटकादिविययमनाचीर्णमनुपयोग्यमेतन्नवेदितव्यम् । तदपि च गृहान्तरात्परं च मोनिशीथं स्वप्राप्ताभ्याहृतं प्रतिसामयितुमीप्सितस्य साधोरुपाध्ययनमेव-कापोत्वा, यदि वा रुक्स्थेन । उपलक्षणमेतत्-तेन करादिना च, यदि वा गृह्यमेन प्राजनने, यद्वा कान्स्थेन ।

संप्रत्यस्यैव स्वप्राप्तविययिणो मोनिशीथाभ्याहृतस्य संभवमाह-

सुभं च अमदकासो, पगयं च परेणं च पायुसा ।

इय एइ काय पेत्तुं, दवेइ य कारणं तं तु ॥

इह साधुभिक्षामदन् क्वापि गृहे प्रविष्टः, परं तदानीं गृह-यं बहिनर्गितमानुषमासीत् । यद्वा-अर्थापि तत्र राध्यते, इत्यसन् अ-विद्यमानो भिक्षाकाशः । यदि वा तत्र प्रकृतं गौरवादिस्वजनना-जनादिकं धनंते, ततो न तदानीं साधवे भिक्षा दातुं प्रपरिता, यदि वा विहृत्य साधोगतस्य पश्चात्प्रेरणकं स्रेणकमागतं, त-थोक्तुष्टवात् किल साधवे दातव्यम् । अथवा तदा आदिक्वा प्रसुधा-शयिता आसीत्, ततः साधवे भिक्षा न दत्ता । इति एतेः कारणैः, काचित् भ्रातिका तद्गृहाद् गृहीत्वा साधोरुपाध्यय-नमेव, तन्वाजनयस्य कारणं 'तदा शूच्यं गृहमासीत्' इत्यादिकं-पैयति प्रकाशयति । तत् एवं मोनिशीथाभ्याहृतस्य सं-भवः । नदेवमुक्तं स्वप्राप्तपरप्राप्तभेदभिन्न मोनिशीथाभ्याहृतम् ।

अथ स्वप्राप्तपरप्राप्तभेदभिन्नमोनिशीथाभ्याहृतमपि देशेनाह-
एवम कपो नियमा, निर्सोहमभिहूटे वि होइ णायव्वो ।
अविइयदापगजावं, निर्सोहअजिहूटं तु नायव्वं ॥

य एव क्रमः स्वप्राप्तपरप्राप्तादिको मोनिशीथाभ्याहृते उक्तः, स एव निशीथाभ्याहृते नियमाद् ज्ञातव्यः । संप्रति निशीथा-भ्याहृतस्वरूपे कथयति-"अविइय" इत्यादितः । यतिना न धि-ह्नातो दायकस्याभ्याहृतदानपरिणामो यत्र, तेन अविइयत्दाय-कभावं निशीथाभ्याहृतमवगतव्यम् । किमुक्तं भवति ।-संबन्धा साधुना अभ्याहृतत्वेन यद् अपरिहृतं तन्नशिशाभ्याहृतमिति परप्राप्ताभ्याहृत उक्तः ।

स एव निशीथस्याभिहेदो गाथाचतुष्टयेनोच्यते-

अहूर जज्ञंतरिया, कम्मासंकाएं ठान पेच्छंति ।
आणंति संसहीओ, सट्ठा सट्ठा व पच्छंति ।
निग्गम देहस दाणं, दियाएं सक्काइनिग्गए दाणं ।
सिट्ठम्मि सेसगमणं, दित्तञ्जे वारयत्तञ्जे ।
जुंजण अजोरपुव्व-हृगाइ अच्चंति चुचसेसं वा ॥
आगम निर्सोहिगाई, न भुंजेइ सावगासंका ।
ठविस्वत्तं निक्खित्तं, आगमयं सट्ठगम्मि पासमका ।
स्वामितु गया सट्ठा, ते वि य मुह्हा अमदभावा ॥

क्वचित् प्राप्ते धनावदममुक्ता बहवः भ्रातव्यः, धनवन्निभूत-यश्च भ्रातिकाः, एते वाप्येककुटुम्बकीर्तनः । अन्यथा तेषामासस्ये विवाहः समर्पणं, बुधे च तस्मिन् प्रसूत्स्मादि काशुद्धरितम्, तत-स्तैरखन्ति-यथैतत् साधुचर्यो दीयतां, येन महत्पुण्यमस्माकं

जायते । अथ च केचित् साधवोऽनिरूपेऽवतिष्ठन्ते, केचित् पुनः प्रत्यासन्नाः, परमत्परास्ते नदी विद्यन्ते, ततस्तेष्वकल्पेषु विराधनाभावयन्तो नागमिष्यन्ति, अगता अपि च प्रचुरभोः काविकम-
 चोत्थेषु कथयमानमपि शुद्धमाध्यात्मशुद्धया न प्रदीप्यन्ति । ततो यत्र प्राप्ते साधवो निवसन्ति तेषाम् प्रच्छन्नं शुद्धीत्वा व्रजाम-
 ष्ति । तथैव च कृतम् । नतो भूयोऽपि चिन्तयन्ति—यदि साधू-
 नाह्वय द्वास्थामस्ततोऽस्तु क्वासाह्वयं ते न प्रदीप्यन्ति । तस्मात्
 तद् द्विजादिभ्योऽपि किमपि वृष्याः, तच्च तथादीयमानमपि यदि
 साधवो न प्रेषयन्ते ततस्त्वं वस्थैव तेषामशुद्धाऽऽशुद्धा जन्विष्यति ।
 ततो यत्रोच्चारदिकार्यार्थं निर्गताः सन्तः साधवः प्रेषयन्ते तत्र दक्ष
 इति । एवं च चिन्तयित्वा विवक्षितं कर्मभिन्नं प्रदंश कस्याचिद्
 देवकुलस्य बहिर्भागे द्विजादेभ्यः स्नोकं स्नोकं शत्रुमारम्भम् ,
 तत उक्त्वादि कार्यार्थं चिन्तयेत् । कचन साधवो ह्यः, ततस्ते
 नमिष्यन्ति । यथा भोः साधवः ! अस्माकमुखात्ते मोदकादिकं
 प्रचुरमवाप्सिष्ठं ततो यदि युष्माकं किमप्युक्तं तत् तदिति प्रति-
 शुद्धयामिनि । साधवोऽपि शुद्धमिष्येवमप्य प्रत्यशुद्धम् । तेषु
 साधुभिः शेषाणामपि साधूनाम् आदेशि—यथाऽस्तु कस्मिन् प्रदेशे
 प्रचुरमेव दीयमशनाद् लभ्यत । ततस्तेऽपि तद्दृष्ट्वाय समाज-
 स्तु । तत्र तेषु आवकाः प्रचुरमादकादिकं प्रयच्छन्ति । अथ च
 मातृस्थानतो (मायाविशयान्) निवारयन्ति—यथैव तावही-
 यतां मासिधकं, शयमस्माकं भोजनया भविवर्धनम् । अन्ये पुनस्तान-
 नेव निवारयन्तः प्रतिप्रेषयन्तः । यथा—न कऽप्यस्माकं भावयन्तः,
 सर्वेऽपि प्रायो लुकाः, ततः स्नोकमात्रेण किञ्चिद्द्वन्द्वेन
 प्रयोजनं, तस्माद् यथच्छे साधुभ्यो दीयन्तमिति । साधवश्च
 ये नमस्कृत्य नदिप्रत्यावत्मानं लुकाः, ये चापौरुषीप्रत्या-
 वत्मानं लुक्जाना वर्तन्ते । ये चाज्ञोर्णवन्तः पुत्रोद्धारिणी-
 व्यमाणा वर्तन्ते ते नाद्यापि व्रजन्ते । आवकाश्च चिन्तयामसु-
 यदवर्तनी साधवो लुका जन्विष्यन्ति, ततो वन्दित्वा नि-
 जस्थानं व्रजाम ईत । एवं च चिन्तयित्वा समाधिकप्र-
 हरवत्तायां साधुभ्यो वसन्त्यागत्य नैर्वायक्यादिकां सफ-
 लामपि आवकाः कुर्यां कृतवन्तः । ततो ज्ञानं यथाऽस्मि आव-
 काः परमविचारिणो ज्ञातारश्च परम्परया विवक्षितप्रामाण्य-
 स्त्वयाः, ततः सख्यधिमहयोद्भाविनम्-जूनमस्माकमिस्मत्तनन्-
 स्वप्रामाद्व्याहृतमिति, ततो ये लुका नैर्लुकेभ्यः, ये त्वापि पुत्रो-
 द्धारिणीप्रोद्भवमाणा न लुहेत, तेषु लुका, येऽपि च भुञ्जन्ता
 अचतिष्ठन्ते, तैरपि यः कथल उक्तिम् च भाजने मुच्यते, यस्तु
 मुखे प्रकृतं नाद्यापि मिसितं, तद् मुखद्द निःसायं समापस्था-
 पिते मल्लिके प्रतिक्लियन् । शेषं तु नाजतगतं सर्वमपि परिष्का-
 रितम् । श्रावकश्राविकावगोष्ठे सर्वोऽपि क्षमायित्वा स्वस्थानं ज-
 गात् । तत्र ये भुक्ता ये वाऽन्ते लुकास्तेऽपि सर्वेऽप्यशुभवा इति
 शुद्धाः । सर्वे सुगमम् । कवत्रं (अक्षरं जज्ञेतरिय लि) के-
 चित् आंतदूरं, केचित् न चत्तरिताः । उक्तं परमामभ्याहृतं
 निशुदीयम् ।

अथ स्वप्रामाभ्याहृतं तदेव गाथाह्वयनाह—
 लक्षं पहेणगं मे, अमुमात्यगयाएँ संलदीए वा ।
 बंदणगहपविह्ता, देइ तयं पड्डिय—नियसा ॥
 नोंपं पदणं मे, नियगयाँ नचिउयं च तं तेहिं ।
 सागरियसज्जिभया वा, पारिकुट्टा संखमे रुडा ॥
 इह काचिद्व्याहृतशुद्धानिबुद्धर्थं किमपि शुद्धं प्रति प्रस्तौता-

तो निबृत्ता सती साधोः प्रतिज्ञामनायोपाभयं प्रविश्य साधुसंभु-
 कमेवमाह—नगघन । प्रहणकमिदममुकसिद्धं शुद्धं गतया रुद्रमथ ।
 यथा—वर्षापि संयत्सम्प्रति यत्तन्नाथंमहं भवित्वा, तत्राद्यं प्रतिहं,
 ततो यदि युष्माकमिदमुपकरोति तदि प्रतिशुद्धतामिति तत् ज्ञा-
 नोत्तं ददाति । यद्वा यद्यमाह—निजकानां स्वजनानामर्थाय प्रह-
 णकं मया स्वशुद्धाकीर्णं, परं तैर्नोच्छ्रुतं ततस्त्वं शुद्धात् प्रतिनि-
 शुक्तं वन्दन्नाथंमहागतं, ततस्त्वंनाथंमहं भवित्वा, तत्राद्यं का-
 चिद्व्याहृतमानीय सागारिकां शर्यातरां, यद्वा—सज्जितं
 वसतिप्रतिवेशनीं पुत्रशुद्धीतसंकरां, यथा साधवः शृणुव-
 न्ति तथा प्रयच्छन्—शुद्धेणद् प्रहणकमिति । तथा च मातृस्थानतः
 प्रतिपिच्छम् । यथा—त्वयाऽप्यमुकस्मिन् दिने मदीयं प्रदेशकं न
 जशुहं, ततोऽहमपि त्वदीयं न शुद्धीष्यामीत्येवं निषिद्धम् । नतः
 साऽपि मातृस्थानतः किञ्चिदपरं प्रत्युक्तवर्णं । द्वितीयोऽपि तथै-
 व भावित्, न एवं परम्परं सखकं कलेहं सति सा प्रदेशकनेत्री
 रुद्रा शयवती यदानीं यदानीं प्रवर्तन्ति, ततोऽनन्तरं लुक्-
 न्तानं कथयित्वा तदानींतं ददाति । उक्तं स्वप्रामाद्व्याहृतमपि
 निशुदीयम् ।

संप्रत्यनाचोर्णं निगमयज्ञानोर्णस्य जेदाहाह—

एयं तु अज्ञासं, दुविदं पि य अहाइं समवत्सायं ।
 आइन्न पि य दुविदं, देने तह दसदेये य ॥

एतत् एतेन मन्वाहृतं निशुदीय-नोनिशुदीयदेदाह, यदवा-स्व-
 प्रामपरशमभेदाद् द्विविधमव्याख्यातान्नाचोर्णमकल्पनीयम् ।
 सप्रत्याचोर्णं वदये । नदीपि द्विविधम्, तद्यथा—देशे, देशदेशे च ।

संप्रति देशश्च देशदेशश्च च स्वल्पमाह—

इत्यसयं खदु देसां, आरंशं होइ देसदेसां य ।
 आइन्ने तिन्नि गिहा, ते वि य उवभापुव्वग्गा ॥

हस्तशने हस्तशतप्रामेने जेभो देसाः । हस्तशतादारात् हस्त-
 शतमर्थं इत्यर्थः, देशदेशः । अथ हस्तशतप्रमाणं आचोर्णं यदि
 शुद्धाणि प्राणि जवन्ति, नाधिकानि, ततः कल्पन्ते । तावन्पि चेद्
 शुद्धाणि उपयोगपूर्वकानि जवन्ति । उपयोगस्तत्र दातुं शक्यते
 इत्यर्थः । ततः कल्पन्ते, नाव्यर्थंति ।

सप्रति शुद्धव्यव्यतिरेकेण हस्तशतादिसंभवं
 तद्विधं कल्पयिषि चाऽऽह—

परिसवणपतीणं, दूरपरमे य धेयमालागिहे ।
 इत्यसया आइन्ने, गहएँ परओ उ पदि कुट्टे ॥

परिविष्यते ततो भोजनं दीयते येभ्यस्ते परिवेषणा लुजानाः
 पुरुषाः, तेषां पाङ्कः अर्थः, तस्यां तत्र, यस्मिन् पर्यन्ते साधुसंघा-
 टको वर्तते, द्वितीयं तु द्वयं निष्ठति । तत्र च रूपशुद्धयुक्तव्यापारि-
 गन्तुं शक्यते । एवमुत्तरयोरेपि पदयोर्भावनीयम् । ततः परि-
 वेषणपहक्यम् । यद्वा—दूरप्रदेशे प्रलम्बगमनमार्गं त्रिदिकं दौ, यद्दि वा
 चक्षुशालाशुद्धे, दस्तशतादानीत्यु प्रहणमर्चाशी कल्प-
 त इत्यर्थः । परतस्त्वानीतस्व प्रहणं प्रतिशुद्ध-निराहृतं तैः शक-
 तदार्भिः ।

संप्रत्यस्यैवाचोर्णस्य जेदाह प्रहशयति—
 उक्तोसमज्जिमजह—न्नगं तु तिविहं तु होइ आइन्ने ।
 करपरियत् जहन्नें, सयमुक्तोस मज्जमे सेसं ॥

त्रिविधमावीर्यमभ्याहृतम् । तद्यथा-उत्कृष्टमभ्यसं, अश्रम्यं च । तत्र यथा ऊर्ध्वोच्चपरिहात् । कथमपि हस्तयोगेन मुष्टिगृहीतेन वा मरुतकादिना, यदि वा स्वपस्यादिपरिवेषणाद्यंमोदभूतशकारादिकयोगेनादितया व्यविभक्तते । अत्रान्तरं च कथमपि साधुपुराणकृतिभिर्भाव्यै, तस्यै च यदि करस्थं द्वातित तथा करप्रवेदनमात्रं जघन्यमभ्याहृतमावीर्यम् । इतश्शतादभ्याहृत-भुक्तकथम् । शृंगं तु इतश्शतमभ्यवर्ति मध्यमम् । इत्येवमुक्तमभ्याहृतम् । पि० ७०। आचा०। २। आ०। २००। सू०। २००। नि०। २००। "गिहिणो अभिहनं सेयं, हंजीश्रोण व भिक्खुणो" शृदिणो शूइस्थानां यदज्याहृतं तयतेनोक्तं श्रेयः श्रेयस्कर, न तु भिक्खुणां संबन्धीति (प्रश्नः) । अत्र तनुत्वं खास्या वाच एवं द्रष्टव्यम-यथा शूइस्थानाहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां नृक्रमदिदीपारहितमिति । सू० १ शू ३ अ० । " अत्र प्रायः स्वप्रायामिहं दे मास्लहं, परमाभिहं दे निष्कृत्वाप चउरुहं, सपञ्चवाए चउरुहं" । पि० ७० ।

अभिहृतवाध्वयाख्या-

जे जिक्खु गाहावकुडं पिंदवायपादिपए अणुपविद्धं समाणे परं तिघरंताओ असणं वा पाणं वा खाइंमं वा साइंमं वा आभिहं दे आहटु दिज्जमायं पडिगाहं दे, पडिगाहं दे वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

"जे भिक्खु गाहावनिकुडं असणं वा पाणं वा खाइंमं वा साइंमं वा परं तिघरंताओ" इत्यादि । तिषि गिहाणि तिघरं, तिघरंमय अंतरं तिघरंनरं । किमुत् नवति २-गृह त्रयुप-रत इत्यर्थः । अइथा तिषि दा अंतरावरत इत्यर्थः । आयारा शूहीत्वा किंचित् असणादी अभिहददोसेण जुत्तं आहटु सा-हुत्स देज्ज, जो अणाइमं तिघरंतरापरेणं, आइमं वा अणुव-उत्तो अहंनि, तस्स मास्लहं । किमु ३ उ०. (अन्यपुथिकैः सहाभिहृतग्रहणव्याख्या 'अएणउत्थिय' शब्दे ४६६ पृष्ठे उक्ता) ।

जे भिक्खु परं अरुक्कोजायणमेराओ सपञ्चवायंसि अभिहद-माहटु दिज्जमायं पडिगाहं दे, पडिगाहं दे वा साइज्जइ । ११ । अइजोयणाओ परओ सपञ्चवाएण पदेण अभिहनं-अभिरा-मिसुखे, इअ-हरणे, अभिसुखं इतम, आनीतमित्यर्थः । तं पडिगाहं नि जो जिक्खु, सो आणादी पावति, चउरुहं च से पाक्कं च । एतां वेव अर्थो इमे-

परमरुक्कोयणाओ, सपञ्चवायंसि अभिहटाणीयं । तं जे भिक्खु पायं, पडिक्कते आणामादीणि ॥ ११ ॥ कंजा । इमेहं वा साकायो पदे-

सावय तेणा जुविहा, सन्वाजजसा महानदी पुआ । वणहत्थिदुट्टसप्पा, पडिणीया वेव नु आवाया ॥ ११ ॥ सोहादिया सावया । तेणा जुविहा-सरीतोवगरणे । जले गाहम-गरादहं सन्वाला महागदी वा अगाथा पुआ, वणहत्थी वा जुटो पदे । कुर्माणसादिसप्पा वा पदे विज्जति, गिहीण वा वेरिया-द्विपरिणीया संति, यस्मादिआऽव्यापिं इमे दोसा ॥ ११ ॥ तेणादिसु जं पावति, विराहए अंतरा काया । बद्धहियमारिते वा, उड्ढापदीसवोच्येदो ॥ ११ ॥ सो गिहन्थो आणसो तेषणसमांजातो अं धातादि पावति । १४

आदिसहाणे सिहवग्गादियाण वा समीधातो जं पावति, सो वा गिहन्थो आणसो अं कमाइए तेणादिएवारे पावति, अंतरा वा पुदवादीए काए विराइसा, यदियादे तेणहिं वा बद्धो दिंभा वा जु-ज्जंता वा मारितो वा, तादे सयणादिजणो भासति-संजयाण वा-दे तेतो सावयो मारिणो ति । एवं उड्ढाहो । तस्स वा सयणिज्जा पदेासं गच्छेज्जा, नहव्यवस्स वा धोच्छेदं करेज्जा । सो वा पदेा-सं गच्छे वाच्छेदं वा करेज्जा, उम्हा एवमादि, तमहा आहंरुणो गेहेज्जा, अण्णया गवेसेज्जा । वितियपदेण गिहन्थाणीते पि गे-रहेज्जा ॥ ११ ॥

असिंवे ओमोपरिए, रायदुट्टे जए व गेअषे । सेहे चरित्तसावय-जए य जयया इमा तत्थ ॥ १२ ॥ सक्खे से पादाए असतीए दुड्ढेसेसु वा, असिवाहंते वा गंतुमस-मत्थो, अइथा पायनुमीए अंतरा वा असासं ओमं वा, एवं राय-उत्तवाहिगभयं वा, सयं गिज्ञाणं कावन्तं वा, सेइस्स वा तत्थ सा-गरियं मा सीदेज्जा । चरित्तसावा वा, तत्थ अण्णसणादिया दोसा, सावयमयं वा, तत्थ एवमादिकारोहं इमं जययं करेति ।

अप्पाहिंति पुराणा-दि पादस्त्येण आणयह पायं । तेहिं च सयमाणीए, गट्ठयं गीतेतरे जयण ॥ १२ ॥

अप्पाहणं संदेसो, पुराणस्स संदिंसति । आदिग्हाहणेणं गिही-ताणुव्वयसावयस्स वा, सम्मदिदिणो वा संदिंसति । पादस्त्ये-ण आणयथ, तेहिं वा अणीता जदि सुव्वं गीयत्था तो गेपहंति, इतरा अगीयत्था तेसु जयणं करंति, पुणं पडिसेदिहा जिंभे भावे तेहिं तेहिं य जदा अचट्टिया तदा गेहंति ।

एसेव कपो गियया, आहारे सेसए य उवकरणे । पुव्व अवरे य एए, सपज्जवा पत्तं लहुगा ॥ १२ ॥

जो पादे विही भणितो एसेव विधी आहारे, सेसोवगयणे य दट्ठ्यो । सपज्जवा ते, इतरे पुण निपज्जवा, ते अण्णसत्था च-उलहुगा । नि० ७० ११ उ० ।

अभिहणण-अभिहनन-० । वेदनीदरणे, प्रन० १ आअ० द्वा० । पादभ्यामामिसुखेण हनने, प्र० ८ श० ७ उ० । अजि-मुखमागच्छतो हनने, म० ५ श० ६ उ० । आचा० ।

अभिहनणमाण-अभिघ्नन्-वि० । पादभ्यामभिघातं कुर्वति, "खु रचलणचंचु पुनेहिं धरणिअलं अभिहणमायं" जं ३ बह० ।

अभिहय-अभिहत-वि० । आगिसुखेण हतोऽभिहतः । चरणेण घट्टिते, " चउरिंहिया अभिहया वधिंया व्हेंसिया " भाव० ४ अ० । ४० । आचा० ।

अभिहाण-अभिधान-० । अभिधीयते येन तदभिधानम् । नि० २० १ उ० । संहायाम, विशेष० । शब्दे, विशेष० । नामनि, वि-शे० । अर्थोऽभिधानप्रत्ययाश्च लोके सर्वत्र तुल्यनामधेयाः वि-शे० । भावे ल्युट् । उच्चारणे, सूत्र० १ शू० १६ अ० । इह त्रिविध-मभिधानं भवति-सत्तामसतां च । सतां यथा जीवाहीनाय, असतां यथा दाहाविषाणादीनाम् । आ० २० १ अ० ।

अभिहाणनेय-अभिधानजेद्-पुं० । काचकप्यनिभेद, विशेष० । अभिहाणहेउकुसल-अभिधानहेतुकुशल-पुं० । अभिधानेणु

शब्देषु हेतुसाध्यगमकेषु कुशलो वक्रोऽभिधानहेतुकुशलः । शब्द-
मार्गे वातीव सुष्ठु, ४०० ए उ० । ४०० ॥

अभिहित (य)-अभिहित-त्रि० । वक्रे, आचा० १ सु० =
अ० ५ उ० ।

अभिहित-अत्रिहित-त्रि० । भी-रक्तु । न० त० । शतसूत्राय, अ-
संकुचितप्रश्नात्तस्या अत्रिहितम् । आच० । सप्तप्रकारभय-
हिते, आचा० २ अ० १५ अ० १ उ० ३ सु० । सत्यसंपन्ने, आ० १० ।
वत्येव महत्येपि कार्येऽभिच्यति, ४०० १ उ० । अमीरुनीम कु-
सम्बिद्य स्तेनोद्ग्रामकादेर्विधिषां विभीषिकां दर्शयते न वि-
भेति । ४०० १ उ० । मध्यमाग्रमस्य सूत्रेणानेदे, ४०० ७ उ० ।

अभुजिर्जि-अभुज्ज्वा-अभ्य० । अननुभूयत्यर्थे, आ० ॥

अभुज्जंत-अभुज्जुयमान-त्रि० । अद्याप्यार्थमात्रे, ४०० २ उ० ।

अभुज्जजोग-अभुज्जजोग-त्रि० । न भुक्ता जोगा येन स अभुज्ज-
भोगः । ५०० व० १ द्रि० । अज्ञानगानहृत्स्वा प्रमाजिते कौमार-
कामाप्रतिबद्धे, नि० ४०० १ उ० ॥

अभुज्जजाव-अभुज्जजाव-पुं० । अभुज्जेभ्योऽभूतिभावः । असंप-
द्वार्ये, ४०० ६ अ० १ उ० ।

अभुज्जभाषण-अभुज्जभाषण-न० । अलीकनेदे, यथाऽऽमा इया-
माकननुहमात्रः । अथवा सर्वगत आरमेत्यादि । घ० २ अ० ५ ।
अभुज्जजिमंकेण-अभुज्जजिज्ञान-पुं० । न ज्ञानान्यमिश्रन्ते
विद्यते यस्मात्स तथा । प्रमात्सवाविनवभेदे, ४०० ७ उ० । ज० ।

अभुज्जजा-अभुज्जजा-त्रि० । मीघाः सूर्यादिना चर्मवत्, तन्निरे-
धाद्भेदे । म० २ श० ५ उ० । सूर्यादिना नेसुमशक्ये, " त-
स्यो अभुज्जजा पथका । तं जहा-समप पपसे परमाणु " ४००
३ अ० २ उ० ॥

अभुज्जकवय-अभुज्जकवय-पुं० । परप्रहरणाभेदावरणे, ज०
७ श० ए उ० ।

अभुज्जय-अभुज्जय-पुं० । सामान्ये अविशेषे, आ० म० द्रि० ॥

अभुज्जभोग-अभुज्जभोग-पुं० । अद्याप्यारणे संयमोपबृहणाधेस्वसत्ता-
याः स्थापने, ४०० १ उ० ॥

अभुज्जोत्तर-अभुज्जोत्तर-न० । अद्विपरुमीयकुत्रेण रजका-
दिसंबन्धिषु, ४०० १ उ० ॥

अभुज्जोत्तर-अभुज्जोत्तर-न० । अनन्यउत्तरं, वि० ॥

अभुज्जद्वय-अभुज्जद्वय-त्रि० । स्वच्छे निमित्ते, प्रथ० ७ आ० ३० द्रि० ।

अभुज्जमलानिभित्त-अभुज्जमलानिभित्त-त्रि० । अहस्तपुरणादिषु अमा-
कृत्तिकानिमित्तेषु, प्रथ० २ आ० ३० द्रि० ॥

अभुज्जमग-अभुज्जमग-पुं० । मिथ्यात्वकथायादौ, घ० ३ अ० ५ ।
" अभुज्जं परिधानामि, मग्ने उवसेपज्जामि " भाव० ५ अ० ॥
अभुज्जमलमग-अभुज्जमलमग-पुं० । पाश्चैत्यादिद्वितीयांमगप्रवाहप-
निते, सामान्यप्राणिनि च । दर्श० ॥

अभुज्जमया (माया) य-अभुज्जमया-पुं० । मा हृदमीः, सा च दे-
वाः-यनलक्ष्मीः प्राणलक्ष्मीश्च । तस्या घातो हननं, तस्याऽमा-
वाऽमावातः, ' अभुज्जमया सि ' प्राकृतत्वात् । अह्वय्यापहार,

अभुज्जमया, प्राणिघातनिवारणे च । पञ्चा० ए वि० ७ । उपा० ।
घ० । प्रथ० ॥

अभुज्ज-अभुज्ज-पुं० । सहजन्मानि मन्त्रिणि, कल्प० ३ द्रि० ।
संथा० । नि० ४० । राज्यचिन्तक, मध्य० ५ आ० ३० द्रि० । नि० ४००
राज्याधिष्ठायाके, औ० । ज० । द्रि० । अष्टादश्यानां प्रकृतीनां म-
हत्तं, ४०० ३ उ० ।

अभुज्जमयाह-

सज्जणवपुं पुरवरं, चिंततो अत्येई नरवति च ।
ववद्दरानैतिकुसलो-समथो एयारिसो अहवा ॥
योव्यवहारकुशलो, नीतिकुशलश्च सन् सजनपदं पुत्रवरं नरवति
च चिन्तयन्नवतिष्ठते, स एतदृशो नवति अभुज्जमयः । अथवा-यो
राह्मिणि शिक्षां प्रयच्छति स अभुज्जमयः ॥

तथा चैतदेव स्ववित्तं विभाषयिषुराह—
राया पुरोहितो वा, संधिष्ठा उ नगराम्भि दो वि जणा ।
अंतोउरं धारिसिया-उमथेई विंसिया दो वि ॥

राजा पुरोहितश्च । बाशब्दः समुच्चये । एतौ चाद्यपि जगौ
(संधिष्ठा उ वि) संघातवन्तौ, परस्परं मरुकावित्यर्थः । नगरे वने-
ते । तौ च तद्यथावर्तमानावन्तःपुराज्यां निजनिजकलत्रेण धर्षिनी,
अमात्येन-बद्धाद्यपि क्षिसितौ, निन्द्यपुरस्सरं दारिकृतावित्यर्थः ।
एव गाथाश्रयाः । ज्ञावार्थः कथामकादशसंभः । तच्छेदश्च—

" एयो राया, तस्स पुराहितो, तंसे दोएई वि जज्जाओ परो-
प्परं जगिणीओ । अथया तंसे समुज्जवां जातो । रायभज्जा
अणइ-मम वस्सो राबा । पुरोहितमज्जा जणइ-मम वस्सो
बंजणो । तो पच्छामो कययाप वस्सो पत्तो । ततो पुरोहितम-
ज्जाए जत्तं उवसाहिष्ठा रथो जज्जा जगिणी निमं-
तिया । रत्ति पुरोहितो भगिओ-नयए ओवाइयं कयं,
जइ मम बरो अमुगो समिज्जइ सि-म, ततो जगिणीए समं
तव सिरे प्रायण कां उमंमि । सो य मे वरो संपणो' स-
एयं तव मूलातो पसायं मग्गामि । पुरोहितो जणइ-अणुग्गमहो
मेय सि । रायमज्जाए राओ भगिओ-अज्ज रत्ति तव पिट्ठीए विल-
गितं पुरोहितयघरं वच्चासि । रया अणइ-अणुग्गमहो म, तांइ
सा राबं पछाणिष्ठा पिट्ठीए विलगिता पुरोहितयघरं गुंतुं पट्ठि-
या । पुरोहितो वाहणो सि कां उमंजे बवो । ताओ दो वि जणी-
ओ पुरोहितस्स उवरि मयए भायणं कां उं पुरोहितण धरिज्ज-
माण भायणं भुंजंति । राजा ओंजे बवो हयंइसियं करइ । ओ-
सुं गथा रायमज्जा । ततो रया पुरोहितण धरिसियासोमि सि
तस्स सिरे मुंजाविया । मग्गणं तं सव्वं नायं, वभाए राया पुरो-
हितो य क्षिसितो । "

अभुज्जमयाह-

छंदाद्युवचि तुन्नं, मज्जं मीमंसणा निवे खल्लिणं ।
निंसि गमण मरुग थालं, धरंति जुंजंति तो दो वि ॥
तव वा पतिमं म वा पतिभुज्ज्यानुवतीति न विमशोव्यनिरंकेण
जातुं शक्यते । ततो मीमांसापरा सा परीक्षां कर्तुमारब्धा ।
तत्र राजप्रायंया नृपे खलीनमारांयितं, ततो निंसि राओ पुरो-
हितयुद्धे गमनं, ततो मरुको ब्राह्मणः पुरोहितः शिरसा स्थालं
धरति । तत्र च इ प्रापि लुज्जाते । एषा गाथाश्रयाजना ।
भावार्थोऽनन्तरमेव कथितः ।

अथ कथममायां ज्ञापि नौ शिक्षितवान् १, तत आह—
पदिनेसियारापाणो, मोउमिणं परिज्जेण ह्मिहिं ति ।

धीनिजितो पयसो, नृचा रज्जं पि प्लेज्जा ॥

प्रातिवेशिका नाम स्त्रीयान्तर्वर्तिनः प्रत्यर्थिनो राजान इदं ध्रुवाः परिमन्त्रेण परिमन्त्रोपादनमुक्त्वा हसिष्यन्ति, न केचलं हसिष्यन्ति किंतु क्षीनिर्जितः प्रमत्त एव इति ज्ञात्वा राज्य-मपि प्रेरयिष्यन्ति, युद्धीयुरित्यर्थः ।

धिं तसि गामनगरा-ण जेसि इत्थीं पणायिगा ते थ ।

धिद्विक्रया य पुरिसा, जे इत्थीं वसं जाया ॥

धिद्विनिश्चयाम्, तेषां ग्रामनगराणां, येषां स्त्री प्रणायिका प्रकर्षेण स्वतन्त्रतया गायिका । अत्र धियोगे द्वितीया प्राप्ताऽपि बली, प्राकृतत्वात् । तथा तेऽपि पुरुषाः धिद्विक्रयाः धिद्विक्रयं प्राप्तवन्तो ये स्त्रीणां वशमायत्ततां जाताः ।

तथा-

इत्थींनो बलवं जत्थ, गामेषु नगरेषु वा ।

सो गामो नगरं वा वि, त्विष्येव विणससइ ॥

यत्र ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः स ग्रामो नगरं वा क्षि-ग्रमेव विनश्यति । बहुवचनेनोपसंहारो जातौ बहुवचनमेकवचनं प्रवर्तति ज्ञापनायः ।

पयसुके राजा पुरोध्या वा पयं मनसि संप्रधारयेत् । यथा-
'नत्सकं ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः' इति, तत्र आह-

स्युग तदाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति सामंतज्जेसु ॥

तस्यामात्यस्य पुरुषाः कृतवृत्तयः कृताजोविकाः, चतस्रसु दि-
ष्टु चरा ज्ञानार्थं सामन्तराज्येषु प्रातिवेशिकराज्येषु वसन्ति । त-
था-सूचकाः, अनुसूचकाः, प्रतिसूचकाः सर्वसूचकाश्च । सूचकाः-
सामन्तराज्येषु गत्वा अन्तःपुरपालकैः सह मैत्रीं कृत्वा यत्नत्र रहस्यं
तत्सर्वं जानन्ति । अनुसूचकाः-नगराध्यक्षतरे चारमुपसज्जन्ते ।
प्रतिसूचकाः-नगरद्वारसमीपे अल्पव्यापारा अवतिष्ठन्ते । सर्व-
सूचकाः-स्वनगरं पुनरागच्छन्ति, पुनर्यान्ति । तत्र ये सूच-
कास्ते ध्रुवं दृष्टं वा सर्वमनुसूचकैः कथयन्ति । अनुसूचकाः
सूचककथितं स्वयमुपसज्जं च प्रतिसूचकैः । प्रतिसूचका
अनुसूचककथितं स्वयमुपसज्जं च सर्वसूचकैः । सर्वसूचका
अमात्याय कथयन्ति । यथा तस्यामात्यस्य चतुर्विधाः पुरुषाः
सामन्तराज्येषु वसन्ति, तथा अत्रेहा अपि ।

तथा चाऽऽह-

स्युग तदाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

महिद्धा कयविचीया, वसंति सामंतज्जेसु ॥

अस्या व्याख्या प्राक्त्वत् । यथा च पुरुषाः स्त्रियश्च सामन्तराज्येषु
समस्तेषु वसन्ति तथा सामन्तनगरेष्वपि राजधानीरूपेषु ।

तथा चाऽऽह-

स्युग तदाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति सामंतनगरेसु ।

स्युग तदाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ॥

महिद्धा कयविचीया, वसंति सामंतनगरेसु ॥

इदं गद्याह्वयमपि पूर्ववत् । यथा च परराज्येषु परनगरेषु च
पुढयाः स्त्रियश्च वसन्ति, तथा मित्रराज्ये मित्रनगरे अन्तःपुरे ।

तथा चाऽऽह-

स्युग तदाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

स्युग तदाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

महिद्धा कयविचीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

स्युग तदाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

पुरिसा कयविचीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ॥

स्युग तदाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ॥

महिद्धा कयविचीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ।

स्युग तदाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ॥

पुरिसा कयविचीया, वसंति अंतेउरे रण्णो ॥

स्युग तदाऽणुस्युग, पदिस्सुग सव्वस्युगा चेव ।

महिद्धा कयविचीया, वसंति अंतेउरे रण्णो ॥

गद्याह्वयस्यापि व्याख्या पूर्ववत् । तत्र एवं मित्रराज्यपुरोध्याः
महिलाभ्यां राज्ञः पुरोधसस्य निशि वृत्तममास्यो ज्ञातवात् ।
तदेवं राज्ञोऽपि यः शिक्ताप्रदानधिकारी सोऽमात्य इति । उ-
कममात्यस्य स्वरूपश्च । व्य० १ उ० ।

अभ्युच्च-पुं० । देव, स्या० ।

अमच्छपुञ्ज-अभ्युच्चपुञ्ज-त्रि० । देवाराज्ये तीर्थहृद्गद्गद्, स्या० ।

अमच्छरि (ए)-अभ्युच्चसर्नि-त्रि० । परसंपद्विधेयिणि, दश० १

चू० । परगुणमादिणि, प्रथ० ४ आश्र० द्वि० ।

अमच्छरिपया-अभ्युच्चरिपया-स्त्री० । मत्सरिकाः परगुणाना-

मसोदा, तज्जावनिषेधोऽमत्सरिकता । भ० ष० १९ उ० ।

परगुणमादितायाम्, औ० ।

अभ्युच्चसर्सासि (ए)-अभ्युच्चसर्साशिन्-त्रि० । मद्यमालसन-

इति, सुत्र० २ सु० २ अ० । अभ्युच्च, अभ्यासाशिनि च ।

दश० २ चू० ।

अभ्युच्चद्वि-अभ्युच्चद्वि-पुं० । "मज्जाया स्त्रीमावस्था, न मज्जा-

या अभ्युच्चया, तीर्थ जो वहति सो अभ्युच्चरहो" नि० चू० १

उ० । मर्यादाया अवसारे प्रवर्तकं आचार्ये च । नि० चू० ४ उ० ।

अभ्युच्च-अभ्युच्च-त्रि० । न० ब० । विज्ञानाद्यर्थं कर्तृमशक्ये, "त-

ओ अभ्युच्चो पश्यत् । तं जहा-समय, परसत्, परमाणु" । स्या०

३ उ० ४ उ० । विषयसंख्यावयवाभावात् क्षेत्रपरमाहो, भ०

२० श० ६ उ० ।

अभ्युच्च-अभ्युच्च-न० । अविद्यमाने, अन्तःपरिच्छेदे च । स्या० ३

उ० ४ उ० ।

अभ्युच्च-न० । मनोविज्ञेयिष्यर्थे, "तिविद्मे अभ्येव पश्ये । तं

जहा-भोतम्येणोतवन्नमणे अभ्येण" । स्या० ३ उ० ३ उ० ।

अविद्यमानान्तःकरणे, दश० । "आयश्च सुणिष्पकम्यां, आयश्च

अभ्येणो जिणे होश्च" अयत्नविशेषात् अन्तःअभ्येणो अभ्येणो अभ्येणो

अभिद्यमानान्तःकरणो जितो भवति । आय० ४ ब० । ज० । अ-

संज्ञिनि च, क० प्र० ।

अभ्युच्च-अभ्युच्च-अव्य० । न मनागमनात् । नितरां शब्दार्थे,

सुत्र० २ सु० १ अ० ।

अमयाम

अमयाम-अमनत्राप-त्रि० । न जातुचिदपि भोज्यतया जन्तु-
नां मनांसि आश्रयति । जी० १ प्रति० । न मनसा आप्यते प्राप्य-
ते चिन्तया यत्तत्तथा । उपा० ८ अ० ।

अमनोऽम-त्रि० । न मनसा अम्यते गम्यते पुनःपुनः स्मरणतो
यत्तदमनोऽमम् । अत्यर्थं मनोऽनित्थे, भ० १ श० ५ व० ।

अवनाम-त्रि० । अवनामयतीति अवनामः । पीडाविशेषकारिणि,
“ अमणुकाशो अमणामशो दुष्काशो ” सूत्र० ७ अ० १ अ० ।

अमणुष-अमनोह-त्रि० । मनसाऽनुकूलं मनोहः । न मनोहःम-
मनोहः । आच० ४ अ० । न मनसा ह्यप्यते सुन्दरतया इत्यम-
नाहम् । भ० ६ श० ३३ व० । स्वकृपाऽऽशोभने, (कर्षणादां)
स्था० ३ डा० १ व० । मनःप्रतिकूलं, सूत्र० १ अ० ६ अ० । असु-
न्दरे, प्रश्न० ५ सम्ब० डा० । आनित्थे, म० १ अ० । स्था० ।
अशुभस्वभावं, स्था० ८ डा० । विपा० । अमनःप्रहासहेतौ विपा-
कना दुःखजनकं, जी० १ प्रति० । “ अमणुषऽकचमुत्तपूर्य-
पुरीसपुषा ” अमनोहाश्च ते दुःखपुत्रेण पुनिकपूरीषेण च पू-
र्णाश्रित विग्रहः । इह च दूरुप विरुपं, पृथिकं च कुथितम् ।
(कामयोगाः) भ० ६ श० ३३ व० । “ अमणुषसंप्रभासंप-
द्यते तस्स विष्णुभोगसदसमभागाय या विजवति ” अमनोहो-
ऽनित्थे यः शब्दादित्यस्य यः संप्रयोगो योगस्तेन संप्रयुक्तो यः
स तथा; स च तथाविधः सद्, तस्यामनोहस्य शब्दादाविश्रया-
शस्त्वनिस्सम्वागतश्चापि जवति । विश्रयांशाविन्नाऽनुगतः स्थातः ।
वापीत्युत्तराक्यापेक्षया समुच्चयार्थः । असावातंभ्यानं स्वादि-
ति शेषः, धर्मधर्मिणोरभेदादिति । भ० २५ श० ७ उ० । ग० ।
निष्कसात्माचारौचित्यं संक्षिपे, पं० ७० २ डा० । असास्नेगिकं,
हृ० ३ उ० । नि० वृ० ।

अमणुषतर-अमनोहतर-त्रि० । अकान्ततरे, अशीततरे च ।
विपा० १ हृ० १ अ० ।

अमणुषसमुप्याय-अमनोहसमुत्पाद-त्रि० । न मनोहःममनो-
हसत्समुत्पन्नम् । तस्मात्तुत्पादः प्राडुभावां यस्य दुःखस्य तद-
मनोहसमुत्पादम् । स्वकृतासदनुष्ठानाज्जाते दुःखे, सूत्र० १ हृ०
१ अ० ३ उ० ।

अमणुस्स-अमनुष्य-पुं० । देवादी, नं० । रक्षःपिशाचादौ,
(सिक्तान्तकौमुदी) । ननुसकं, नि० वृ० १ उ० ।

अमन्-अमत्र-न० । ज्ञानते, सूत्र० १ अ० ७ अ० ।

अमम-अमम-त्रि० । अमत्वरहिते, कल्प० ६ क० । उक्त० । पं०
सू० । दशा० । निज्ञोऽन्वाह- (श्री०) निरभिष्यङ्गाद् अविद्यमान-
नममेव्यभिलाषे, स्था० ६ डा० । युगविक्रममुपजातिनेदे, ज०
५ वृत्त० । उत्सापरिण्यां भविष्यति द्वादशे तीर्थंकरे, अन्त० ५
वर्गं । प्रव० । ति० । स० । अक्षसंपर्पण्यां जातो नचमो वासुदेवः
कृष्णो भारते वर्षे पुष्येऽपु जनपदेऽपु शतशतं नगरं द्वादशसतीर्थं-
करो भविष्यति । स्था० ८ डा० । ती० । पञ्चविंशतितमं दिवस-
सुरते च । चं० प्र० १० पाठु० । ज्यो० ।

अममत्सय-अममत्सय-त्रि० । न विद्यते ममत्वं मूर्खो यस्य स
अममत्सयः । “ दवाहा ” । ७ । ३ । ७५ । इति (हैम) खेचन कच प्रत्य-
यः । मूर्खोऽदिति, हृ० १ उ० । निममनाकं, “ अममता परिक्वमा,
वारिनिष्कमजोगपरिदीवा ” पं० ७० ४ डा० ।
अमयायागा-अमयीकुर्वति-त्रि० । अस्वीकुर्वति मनसाऽप्यनाद-
वानं, आचा० १ हृ० २ अ० ५ उ० ।

अममणा-अममना-स्त्री० । अनवरतवञ्जमानायां वाचि, उपा०
२ अ० । रा० ।

अम्य-अमृत-न० । सुभायाम, पञ्जा० ३ बिष० । क्षीरोदधि-
मयिते, आ० म० प्र० । “ अमयमदियेफणजुससिगासं ” अ-
मृतस्य क्षीरोदधिलस्य मयितस्य यः फेनपुञ्जा द्विण्कारपूरस्त्व-
स्वशिक्षाशं नत्सप्रमज्ज । रा० । न-सू-क्तं । न० त० । मोंक, होमाव-
शिष्टऽव्यं, जले, घृते, अयाचितं वस्तुनि च । परब्रह्मणि, न० ।
मरत्यश्च्युत्, त्रि० । विभीतके, स्त्री० । वाच० ।

अम्य-त्रि० । अविहृतौ, “ अमशो य होह जीवो, कार्णविवि-
हा जहेव आगासं । समयं च हो मतिचं, मिम्यघडतंनुमाई-
यं ” अमयश्च भवति जीवः । विशेष० । चन्द्रे, देना० १ वर्गं ।

अम्यकदास-अमृतकदाश-पुं० । अमृतपुण्यघटे, “ अमयकल-
सेन अभिसिसे । आ० म० प्र० ।

अम्यधीस-अमृतधोप-पुं० । काकन्या नगर्याः स्वनामस्थाने
राजनि, स च स्वपुत्रं राज्ये स्थापयित्वा धर्मेनशनं प्रतिपन्न
इति । संधा० ।

अम्यणिद्दि-अमृतनीधि-पुं० । काञ्चनबाहानके प्रतिष्ठिते भग-
वति, ती० ४५ कल्प ।

अम्यनरंगिणी-अमृततरङ्गिणी-स्त्री० । महोपाध्यायश्चीकल्या-
णविजयगणेशिष्य-सुख्यपण्डितश्चीलाभिविजयगणेशिष्यावतं-
स-पण्डितश्चीलाभिविजयगणेशनं ध्यानत्रकपरिगतश्चीलयवि-
जयगणेशचरणकमलसेविना पाण्डितश्चीलपञ्चविजयगणेशमहोद-
रणांवाध्याय-श्रीयशोविजयगणेशना विरचितायां नयोपदेशटी-
कायाम्, नयो० ।

अम्यनिगम-देशी-चर्कं, दे० ना० १ वर्गं ।

अम्यप(ण)-अमृतात्मन-पुं० । धर्ममेघसाम्भौ, डा० २० डा० ।

अम्यफल-अमृतफल-न० । अमृतोपमफले, डा० ९ अ० ।

अम्यवद्वी-अमृतवद्वी-स्त्री० । बलशिवशेषं, प्रव० ४ डा० ।
ध० । गुरुच्याय, वाच० ।

अम्यनृप-अमृतनृत्-त्रि० । मातुर्यादिभिर्गुणैः सुधासहोदरे,
हृ० २ उ० ।

अम्यरसायाणु-अमृतरसादाह-त्रि० । अमृतरसस्या-
स्वादात्सं जानाति इति अमृतरसास्वादाहः । अमृतरसास्वादा-
वेत्तदि, “ अमृतरसाऽऽस्वादाहः, कुजकरसलक्षितोऽपि बहु-
कालम् ” । पं० ३ विव० ।

अम्यवास-अमृतवध-पुं० । तीर्थेऽहञ्जमादौ देवैः कृतायाम-
मृतवृष्टौ, प्राचा० २ अ० १५ अ० ।

अम्यसाय-अमृतस्नाद-पुं० । अमृतवत् स्वाचाते इत्यमृतस्ना-
दम् । अमृततुल्यं, सम्म० ३ काण्ड ।

अम्यसार-अमृतसार-न० । न विद्यते मृतं मरणं याम्ममत्सा-
वस्तुनां मोक्षः । तं सारयति प्रापयतीति वा । मोंक्षप्रतिपादकं,
सम्म० ३ काण्ड ।

अमर-अमर-पुं० । देवे, कर्म० ५ कर्म० । आच० । को० । आ०
म० । त्रयोदशे अमरभेदेषु, कण्ठ० ७ क० । भविष्यत्स्त्रयो-
विंशत्यानन्तरीयतीर्थंकरस्य पूर्वमञ्जवी, ती० २१ कल्प । सि-

केषु च, तेषामायुषोऽभावात् । औ० ॥ " इमस्स वेव पडिबूह-
ण्णाय अमरायइ महासह्नी " (अमरायइ इत्यादि) अमरा-
यते-न मरः सत् इत्ययौवनमयुष्यरूपाऽवसक्तोऽमर इवा-
चरति अमरायते । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

अमरकेउ-अमरकेतु-पुं० । विजय (क्षेत्रे) तमालहतानामनगयी
रामः समरन्वन्स्य मन्दावरमज्ज्यां उद्वरसंभवे पुत्रे, वयो० ।

अमरचंद-अमरचन्द्र-पुं० । नागेन्द्रगच्छीये महेन्द्रसुरिशिष्य-
शाम्निपुरिशिष्ये, येन गुर्जरदेशाधिपतिसिद्धराजसकाशाह्
व्यामिशिशुक इति पृथ्वी लेभ, सिद्धान्तायंवनामा प्रत्यश्च
व्यरचि । इत्येकोऽमरचन्द्रसुरिः । (१)

(२) चायटीयगच्छीये जिनदत्तसुरिशिष्ये, येन चतुर्विंशति-
जिनचरित्रं पश्चान्दायुद्वयपरनामकं महाकाव्यं, बाहभारतं,
काव्यकल्पलता, काव्यकल्पलतापरिमलः, उन्दारनावली, का-
लाकलापरच्येयमाद्रये ग्रन्था विद्वच्छिस्तचमकृतिकृतो निर-
मायित्वा । पतस्य शीवकवित्शक्तंमुमुषुः शीललदेवो नाम
गुर्जरधरब्रीहवरोऽस्मै बहुमानमादात् । अयं च वैकर्मियसं-
वत्सराणां त्रयोदशशतकेऽवतत । ऊ० इ० ।

अमररा-अमररा-न० । म्यौरभान्वे, ध० १ अधि० ।

अमरराधम्म-अमरराधम्म-वि० । तीर्थकरे, पं० व० ४ द्वा० ।

अमरदत्त-अमरदत्त-पुं० । जयधोपशेष्टिपुत्रे, ध० २० ।

कथानकं पुनरंशु-
—

" विद्वडमसिरिपरकाम्रियं, अत्रिकियं बहुसमिद्धलोपरहिं ।
रथसायरमज्जं पि व, रथणपुरं अरिय वरनयव ॥ १ ॥
क्यसुगयमयपोसां, पुरसिठी अरिय तथ जयघोसां ।
जियमुणिविहियपभांसां, सुजसा नाभिम से भञ्जा ॥ २ ॥
अमरानिहाणकुलदे-चयापे दिन्नु सि तां अमरदत्तां ।
नागेण ताण पुत्तां, पसाञ्चिक्खो सदावेण ॥ ३ ॥
आजम्मं तर्थाअय-मथवा सिहियसिहिययइमववरकुत्तां ।
पियरेहिं पदमज्जुवण-मरम्म परिणविओ सो उ ॥ ४ ॥
अह महुसमयम्मि कया-वि अमरदत्तां समिपसंजुत्तां ।
पुक्ककरं कुञ्जाणं, कीसाहकप समलुपोत्तां ॥ ५ ॥
सां कीलता तदिहं, तस्स हिट्ठा निपइ मुणिममं ।
तस्स य पासे परं, रुयमाणं पहियपुरिसं व ॥ ६ ॥
तो कांसणेण अमरो, आससंभं तस्स हाउ पुच्छइ ।
किं जइ ॥ रायसि तुमं १, सगमयं सो वि इय भणइ ॥ ७ ॥
कणिपुत्तुरं सिचुर-सिहिसि वसुपुत्तुरं इइयाप ।
आवाइयलक्खेहिं, पयो पुत्तां अइं जाओ ॥ ८ ॥
सेणुं सि विहियनाम-स्स अइयथा जाव मज्जं उम्मासा ।
ता सयलविहवसइया, अम्मापियरो गया निहणं ॥ ९ ॥
तत्पमिइ पालिओऽइं, अहिं सयणेहिं गच्छकरोणेहिं ।
मम कुञ्जयज्जमविहया, पंचत्तं ते वि संपत्ता ॥ १० ॥
बहुलोयायं संता-वकारणं विसतह व्व कमसोऽइं ।
देइय तुज्जेरणं य, पयुक्किमां इभिरं काळं ॥ ११ ॥
संपइ पुण वड्ढोवरि, पिडगसमाणा अमायुक्कक्ककरा ।
मइ देइं जरपमुहा, रोमा बइवे ससुपत्ता ॥ १२ ॥
किं च पिसाओ भूओ, व कांवि मइ अंतरंतरा अंगं ।
पोइइ तइ अरिओ, अइं सं पुणुं पि न तरेमि ॥ १३ ॥
तो जीविथव्यभग्गो, मग्गोहत्तस्मि जाव भत्ताणं ।
अत्ताणं आंभवे-मि ताव पासो वि लहु तुहा ॥ १४ ॥

१५५

इहिं वेरग्गओ, पुरा मप किं कयं ति पुच्छेउं ।

मुणिणां इमस्स पासे, नो मइ ॥ इहं भइ पसां ॥ १५ ॥

जम्माउ वि निययुद्धं, सुमरिय रोपमि इय भणेणुण ।

तेणं पहियनरेणं, निययुत्तनं मुणी पुत्तां ॥ १६ ॥

अह विमह्वरसपुओ, किं तु कहिस्सइ इमां सुहासु हि ? ।

सो अमरदत्तपमुहो, एकम्मणो जणो जाओ ॥ १७ ॥

अइ वज्जायं मुणिणा, भो पहिय । तुमं इमां भवे तइय ।

मगहे गुव्वरगामे, वेधिननामाऽऽसि कुलपुत्तां ॥ १८ ॥

अयादिणं रायगिहं, तुह गच्छंत्तस्स कोवि मग्गमि ।

मिलिओ पधिआं कमसो, तप घणइत्तु सि सो नाओ ॥ १९ ॥

तं वीसंसिउं रयपोपे, हणिय गहिक्कणं तक्कं सव्वं ।

जा जासि तुमं पुरओ, इरिणा इहियणं ताव इओ ॥ २० ॥

पदमं नरप, असरिसिद्धक्कांहे इहियं बहुयाइं ।

तो उव्वट्ठिय इइयं, सो एसां सेण संजाओ ॥ २१ ॥

आं सेणं । तप सइया, पधिआं पधआं मग्गमि सो एसां ।

अणाय तवं काउं, असुरनिकाप सुरा जाओ ॥ २२ ॥

संभरिय पुय्ववइरे-ण तेण हणिया तुहेम्मपिउसयणा ।

निपयं पणं च एणियं, जणिया रंगा तुह सरीरे ॥ २३ ॥

जिआं तइव पासां, पसां सुत्तुरे तुहा इवेउं सि ।

सो कुणइ अंतरा अं-तरा य विवरं परमघोरं ॥ २४ ॥

तं सांभं भवभीओ, पधिओ ऽणसां गहिणुं मुणिपासे ।

सुमरंनो नवकारं, जाओ वेमाणियसु सुरो ॥ २५ ॥

इय सुणिय पहियचरियं, अमरो संवेगपरिगओ अइहियं ।

नमिउं विप्रवइ मुणिं, भययं ॥ मइ कइसु जिणधम्मं ॥ २६ ॥

ध० २० ।

इच्छामि समष्टिसिद्धिं, ति मणिय नमिउं च सुगुरुचलणवुगं ।

तत्तां समिज्जुत्तां, गइं पसां अमरदत्तां ॥ एव ॥

सो पिउणा संलसां, किं वच्छ । विराइयं तप तथ्य ।

तो मित्तेहिं कुत्तां, पुत्तां तस्स सयओ पि ॥ एए ॥

अइ कुविओ जयघोसां, भणइ उच्छुपु ॥ किं अरे ॥ तुमए ।

मृचु कुलागय सममं, धम्मं धम्मतरं गइयं ॥ १०० ॥

ता मूंच इमं धम्मं, सियभिक्षणं करेसु निक्कवृणं ।

अणइ तप सवमं मम, संभासां वि हु नुत्तुं सि ॥ १०१ ॥

जणइ य कुमरो हे ता-य । एस सुपरिक्खऊण विसुव्वो ।

धम्मा वरकणं पि व, न कुलागयसंभत्ताओ वेव ॥ १०२ ॥

पाणिबहासियचोरि-कुरिइपरजुवइवजणपइहाणो ।

पुवावरमविकको, धम्मो एसां कइसुत्तां ॥ १०३ ॥

अइ गिपइतो उत्ताम-पणिणं वणिओ जंवे ल वयणिओ ।

पडिक्कनुत्तमधम्मिणो, न हीसिण्णो जहाऽइं पि ॥ १०४ ॥

तं सुणिय अग्निणिविओ, सिद्धिं जंवेइ रे डुरायार ॥

अं रोयइ कणसु तवं, न इओ तं भासिउं उखिओ ॥ १०५ ॥

एयं निसामिक्कणं, ससुरेण भण्णविओ इमां एयं ।

अइ मइ सुयापे कज्ज, ता जिणधम्मं वयसु सिक्कं ॥ १०६ ॥

सुत्तुं जिणधम्ममिमं, ससं सव्वमवऽणुत्तां पसां ।

एयं चितिय अमरो, विसज्जप पिउगिह भज्जं ॥ १०७ ॥

अण्णदिणं जणणीय, भणिओ एसां अइा तुमं वच्छ ॥

ओ रोयइ तुह धम्मो, तं कुणसु वयं व विणवओ ॥ १०८ ॥

किं तु अमरासिंहिणो, कुववेहिं निक्कव्यं अण्णसुत्तां ।

एयपसायपजवो, तुह जम्मां तो इमां आह ॥ १०९ ॥

अव ! न संपइ कप्यइ, जिणसुणिवरिण्णवेधेसिण्णो ॥

देवगुरु षि मई मे, अष्टौ तद्द पणमण्यपुसा ॥ ११० ॥
 मो मइ तेषु पमोसो, मणयं पि न भिषिषिषमवि किनु ।
 देवगुरुगुणविभोगा, तेषु उदासत्तणं मं ॥ १११ ॥
 गयरागदासमोह-सणण देवस्स होइ देवत्तं ।
 तच्चरिधामपदिग्गा-णं दंसणा देवत्तं ॥ ११२ ॥
 सिषसाहगुणगणगत-व्वेण सत्थयत्तस्मग्गिणेण्णु ।
 इह गुरुणां वि गुरुत्तं, होइ जहत्तं पसत्तं च ॥ ११३ ॥
 ता अंच । पणमिष जिणं, ममिउज्जय तिहुवणे वि कह अणो ॥ ११४ ॥
 नहु रोयइ लवणजलं, पीय कीरोहियजलमि ॥ ११५ ॥
 इय तेषं पदिभणिया, जणणी मोणं अकासि सविसाया ।
 अह कुविया कुज्जधी, से दंसइ मीसण्यसायां ॥ ११६ ॥
 न य तस्स कि पि पदवइ, सत्थिक्कषण्यस्स धम्मनिरयस्स ।
 वइइ पमोसं अहिंयं, तो अमरा अमरदत्तमि ॥ ११७ ॥
 पच्चक्कीहोइ कया-वि तीरं सो निजुरं इमं अणियां ।
 रे कूइधम्मगव्विय !, न पणामं मज्ज वि करेसि ॥ ११७ ॥
 ता इविह हणेमि तुमं, दूढधम्मोत्तं जणेइ अमरो वि ।
 जइ अउयं पि बलत्तं-तो मारिउज्जइ न को वि तप ॥ ११८ ॥
 अइ कह विं तं पि तुइं, मरियब्बं इहरइा वि ता जाण्ण ।
 को सइंसणममत्तं, मरलइ नवकोत्थिसवतुलइं ॥ ११९ ॥
 तो अमरा सामरिसा, तस्स सरीरे विउव्वय पावा ।
 सीसत्थिउलवणउदरं-तमिसियाया वेयला तिब्बा ॥ १२० ॥
 आ इक्का वि ऊ ज्जो, इरेइ निमयेण इयरपुरिसस्स ।
 इवसत्तो तइ वि इमो, पयं चित्ते सिंत्थेइ ॥ १२१ ॥
 रे जीव ! तप पत्तो, सिवगुरवइपरिथप न सत्थाहो ।
 देवो सिरिअरिदतो, अयत्तपुत्तवो जवअमरे ॥ १२२ ॥
 ता इमिण च्चिय इयिय-ट्टियण मरणं पि तुज्जइ जइकरं ।
 अउज्जप्यंणु विमुक्के होसि जिंयतो वि तमणाहो ॥ १२३ ॥
 किच्छियमित्तं च इमं, उक्कत्तं तुह दंसणे अयत्तमि ।
 पाविष अणत्तपुग्गल-परियट्टुहुस्स नरएसु ॥ १२४ ॥

किञ्च—

पदिक्कूला हवठ सुरा, मायापियरो परंमुहा इंतु ।
 पीरंतु सरीरं वा-हिणे वि खिलंतु सयणा य ॥ १२५ ॥
 निवइतु अवायाओ, गच्छत्तं अत्थं वि केवत्तं इक्का ।
 मा जाठ जिणे अष्टौ, तनुत्तत्तत्तु तिच्छा य ॥ १२६ ॥
 इपनिच्छयप्पाहो, तच्छिंत्तं नाउ आहिणा अमरा ।
 तस्सत्त-रंजियमणा, अणेइ संहरिय उवसमो ॥ १२७ ॥
 धमोसि तं महासयं, तं चिय सत्थिउज्जसे तिहुवणम्म ।
 सिरिबीयरायवचणे-उत्तु अस्स तुह इय दइाअसत्ती ॥ १२८ ॥
 अउज्जप्यंनिई मज्ज वि, सुत्थिचय देवो गुरु वि सो चय ।
 तत्तं पि तं पमात्तं, अं पकिवत्तं तप धीरं ॥ १२९ ॥
 इय मणिरोय तीप, मुक्का अमरस्स उवरि तुचाय ।
 परिमहमिंशिय अशिसला, दसकववा कुरुमवुडी ॥ १३० ॥
 तं दइु महच्छरियं, तपियरो पुरज्जो सो सलुत्तवमो ।
 अमराय वयणेणं, जाओ जिण्यसणे जत्तो ॥ १३१ ॥
 अल्लुरेण पदिट्टेणं, तं धुवा पेसिया पवणहम्मि ।
 तपमिइ अमरदत्तो, सक्कत्तं वो कुणइ जिणधम्मं ॥ १३२ ॥
 सुखिंरि निम्महत्तं-सारां पालिय गिहत्थधम्ममिमो ।
 जाओ पाणयं अमरो, महाविदेहमि सिज्जिइइ ॥ १३३ ॥
 अमरदत्तचरिचमिदं मुदा,
 गतमत्तं परिभाषय विचकिनः ।

अजत वर्येणशुकिमुत्तरां,
 अजत येन महोदयशाशिनः ॥ १३४ ॥ ध० २० ।
 अमरपरिगहिय-अमरपरिगृहीत-त्रि० । देवैः स्वकीते, इ०३८०
 अमरप्यभ-अमरप्रभ-पुं० । विक्रमसंस्वराणां चतुर्दशरातके
 विद्यमाने प्रकाशरस्तोत्रटीकाकारके कन्याशुभन्धिरस्तोत्रटीका-
 कारकगुणसागर-गुरु-सामरचन्द्रस्य मुदी, जै० इ० ।
 अमरवद्-अमरपति-पुं० । देवेन्दे, " अमरवद् माणिजइ " अ०
 ३ श० ८ व० । प्रहा० । मल्लिनाथेनाहंता सहानुप्रमजिते हात-
 कुमारे, हा० ८ अ० ।
 अमरवर-अमरवर-पुं० । महाभरहिषिकदेवैः, तं० ।
 अमरसागर-अमरसागर-पुं० । अज्जलगच्छीये कन्याणसागर-
 सुरिशिष्ये, अयं च उदयपुरनगरे वैकुमीये १६६ वर्षे
 जन्म लब्ध्वा १७०५ वर्षे प्रव्रज्य १७१४ वर्षे अमृताननगरे
 आचार्यपदवीं प्राप्तः । ततः १७१८ वर्षे अमृतनगरे गच्छेत्तपदं देवेभः ।
 ततः सं० १७६२ मिते धवलकपुरे स्वर्गं गतः । जै० इ० ।
 अमरसुह-अमरसुस-न० । देवसुत्ते, आय० ४ अ० ।
 अमरसेण-अमरसेन-पुं० । मल्लिनाथेनाहंता सहानुप्रमजिते
 स्वनामभ्याते हातकुमारे, हा० ८ अ० । स्वनामभ्याते राजा-
 न्तरे च । दर्श० ।
 अमरिस-अमरि-पुं० । न-मृ-घञ् । " श्यंतेतसवज्ज वा " । ८ ।
 २ । ५ । इति संयुक्तव्यत्ययव्यञ्जनस्येकारः । प्रा० २ पाद ।
 मत्स्यविशेषे, आ० म० छि० । महाकदाप्रदे, उ० ० ३४ अ० ।
 कल्पे, प्रश्न० ३ आ० ४ छि० ।
 अमरिमण-अमरिण-त्रि० । अमराधाऽसुरिहृष्टौ, प्रश्न० ४
 आ० ४ छि० । अमराधिष्णकृतकमे, सं० ।
 अमसृण-पुं० । प्रयोजनेष्वनलसे, सं० ।
 अमरिसिय-अमरिपित-त्रि० । अमरपेः संज्ञातोऽस्यामरिपितः ।
 संज्ञातमन्सरविशेषे, आ० म० छि० ।
 अमल-अमल-पुं० । न विद्यते मल इव मल्लो निरसर्गनिर्मल-
 जीवमाश्रिन्यापादनेतुवाद्यप्रकारकं कर्म येषां ते अमलाः ।
 सिंकेतु, प्रव० ११४ द्वार । निमेलमात्रे, त्रि० । आ० म० प्र० ।
 अमनदेवस्य सत्तमे पुत्रे, कल्प० ७ हा० ।
 अमलत्तवेद-अमलत्तन्द-पुं० । वैकुमीये ११४ वषे वृगुकच्छे
 विहरति स्वनामभ्याते माणिज, जै० इ० ।
 अमलावाहण-अमलवाहण-पुं० । विमलवाहने महापद्मतीर्थ-
 करे, ती० ११ कल्प ।
 अमला-अमला-स्त्री० । स्वनामभ्यातायां शुकाश्रमहिष्याय,
 ज० १० श० ५ व० । ती० । स्या० । (' अम्याहिस्ती ' शब्देऽ-
 स्मिन्भव भागे १७३ पृष्ठे तपुत्र्यांपरजवावुक्तौ)
 अमरहृषय-अमरहृषिक-त्रि० । मदीनी अर्थावयस्य स महार्थः,
 महार्थं एव महार्थकः, न महार्थकोऽमहार्थकः । अमरहृष्ये,
 उ० ० २० अ० ।

अमहद्वय-अमहाधन-त्रि० । अमहद्वय, पञ्च ० १७ विव० ।

अमाइ (ष्)-अमायिन्-त्रि० । माया अस्यास्तीति मायी । न मायी अमायी । अयं १ उ० । शाब्दपरहिते, प्रथ० ६४ द्वार । कौटिल्यशुष्ये, दश० ७ अ० ३ उ० । सर्वत्र विश्वास्ये, स आलोचनान्तरहेः । आत्मा० १ अ० १ अ० १ उ० । " नो पलि-उच्येमाई " स्थाने १० डा० । अयं ० । " आब राया अयं रज्जं, न य बुभारियं कहे तदा माई " । अयं १६ विव० ।

अमाइरूप-अमायिरूप-त्रि० । अमायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपः । अशेषपञ्चपरहिते, सूत्र० १ अ० १ अ० ।

अमाइष्ठ-अमायाविन्-त्रि० । मायापरहिते, आत्मा० १ अ० १ अ० ५ उ० ।

अमाइया-अमायाविना-त्रि० । माइयो मायावैस्तदभाव-सत्ता । (मायात्यग्रे), निरस्तुक्तताया, स्थाने १० प्रा० ।

अमाणिय-अमान्य-त्रि० । अशुभ्यनाहाकरणादित्येकं, " जथा य माणियो होइ, पञ्च होइ अमाणियो । सिद्धी व कव्येइ लुटो, स पञ्च परितपई " । दश० १ अ० ।

अमाव (वा) सा-अमाव (वा) स्या-त्रि० । अमा-सह वसतश्चन्द्राकीं यत्र । वस-यत्, एयत् वा । कृष्णपक्षशुभदिने, तदिने चन्द्राकीं एकराशिन्तो जवनः । वाच० ।

एकस्मिन् वर्षे द्वादश अभावस्याः । तद् यथा-

वारस अभावमात्रो पञ्चत्ताओ । तं जहा-सावित्री, पोचव-ती, अस्सोती, कत्तिया, मगमिरी, पोमी, माट्टी, फ-गुणी, चेत्ती, विसाही, जेहामुली, आसाही ।

द्वादश एव अभावस्याः प्रकृताः । तद्यथा-आविष्ठी, प्रौष्ठप-दी इत्यादि । तत्र अविष्ठा अतिष्ठा, तस्यां भवा आविष्ठी-अव-षमासजाविनी । प्रौष्ठपदा अतिष्ठापदा, तस्यां जवा प्रौष्ठपदी-भाद्रपदमासजाविनी । अश्वयुजि भवा आश्वयुजी-अश्वयु-ष्मासजाविनी । एवं मासक्रमेण तत्तत्तमासकृपनक्षत्रयोगाद् शेषा अपि वक्तव्याः । चं प्र० १० पाठ० । सू० प्र० ।

सम्प्रानि (नक्षत्रयोगम्) अभावशरयवकव्यतायाह-

द्वुवात्मस अभाववाताओ पञ्चत्ताओ । तं जहा-सावडी पोचव-ती० जाव आसाही । ता सावडीं अभावसा कति एक्ख-त्ता जोएति । ता दोगिण एक्खत्ता जोएति । तं जहा-असिलेसा १, महा २ य । एवं एपरं अविष्ठावेणं णे-यव्वं । ता पोचिवतीं नोदोषि एक्खत्ता जोएति । तं जहा-पुव्वफगुणी १, उत्तरा २ य । असोतिं दोषि । तं जहा-हत्थो १, वित्ता २ य । कत्तियं दोषि । तं जहा-साति १, विमाहा २ य । मगमिरीं तिगिण । तं जहा-अशुरा-हा १, जेहा २, सुतो ३ य । पोमिं च दोमि । तं जहा-पुव्वासदा १, उत्तरासादा २ य । माहिं तिषि । तं जहा-अभिई १, समणो २, धणिट्टा ३ य । फगुणिं दोषि । तं जहा-सतजिमया १, पुव्वपोचवती २ य । चोणिं तिषि । तं जहा-उत्तरभद्वदा १, रेवती २, अस्सिती ३ य । वि-

साहिं दोषि । तं जहा-भरणी १, कत्तिया २ य । जेहामुलिं दोषि । तं जहा-रोहिणी १, मगमिरी २ य । ता आसा-दी णं अभावसां कति एक्खत्ता जोएति । ता तिषि न-क्खत्ता जोएति । तं जहा-अहा १, पुणव्वसू २, सुतो ३ य ।

(दुवात्मस्येयादि) द्वादश अभावस्याः प्रकृताः । तद्यथा-आविष्ठी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र मासपरिसमापकेन आविष्ठा-नक्षत्रेणोपलक्षितो यः अभावो मासः, सोऽप्युपकारार्थं अविष्ठा-तस्यां भवा आविष्ठी । किमुक्तं भवति ?-आविष्ठी नक्षत्रपरिस-माप्यमानभावमासमाविनी इति । प्रौष्ठपदी नक्षत्रपरिसमाप्य-मानभाद्रपदमासमाविनी । एवं सर्वेषां ऽपि वाक्याथो प्राधानी-यः (ता सावित्री यमित्यादि) ता इति पूर्णवत् । आविष्ठीम-मावास्यां कति नक्षत्राणि युज्यन्ति, कति नक्षत्राणि यथाभागं चन्द्रेण सह संयुज्य आविष्ठीममावास्यां परिसमापयन्ति ? । भगवानाह-(ता दोगिणमित्यादि) ता इति पूर्णवत् । द्वे नक्षत्रे यु-क्तः । तद्यथा-अश्लेषा, मघा च । इह व्यवहृत्यनक्षत्रेण यस्मिन् न-क्षत्रे पूर्णमासी प्रचलति तत्र आरभ्य अर्धरात्रेण पञ्चदशे नक्षत्रे अमावास्या । तत आरभ्य पञ्चदशे नक्षत्रे पूर्णमासी । ततः आविष्ठी पूर्णमासी किल अत्रेण अविष्ठायां चोक्ता । ततोऽमाव-स्यायामवस्थां आविष्ठाधामश्लेषा मघा चोक्ता । लोके च तिथिगणितानुसारतो नानामास्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि यस्मिन्नहोरात्रे प्रथमतोऽभावस्याऽप्युत् स सकृदो-ऽप्यहोरात्रोऽभावस्येति व्यवहितयत् । ततो मघानक्षत्रमप्येवं व्यव-हारतोऽभावस्यायां आरभ्य, इति नक्षत्रं विचरोः । परमार्थतः पुनरिमासमावास्यां आविष्ठीमिमामित्री नक्षत्राणि प्रथमतः परिस-मापयन्ति । तद्यथा-पुनर्वसु, पुष्योऽश्लेषा च । तथाहि-अमावास्या चन्द्रयोगपरिधानार्थं करणं प्राग्वेयम् । तत्र नक्षत्रानामा कियन्ते । कोऽपि पूज्यति-युगस्यादी प्रथमा आविष्ठाधामावास्या किल च-न्द्रयुक्तेन नक्षत्रेणोपेता सती समाप्तिमुपयाति । तत्र पूर्वाहित-स्वरूपोऽवधार्यराशिः पदपरिमुदूर्ताः, एकस्य च मुदूर्तस्य पञ्च द्वापरिभागः, एकस्य च द्वापरिभागस्य एकः सप्तपरिभाग इतिप्रमाणो भिद्यते । तत एकेन गुरुयने, प्रथमाया अ-मावास्यायाः स्पृष्टत्वात् । एकेन च शुभितं तदेव जवतीति रा-शिस्तावानेव जातः । तनस्तस्माद् द्वापरिभागदूर्ताः, एकस्य च मुदूर्-तस्य पद-व्यवधारिणोऽविष्ठाधामाः, इत्येवपरिमाणं पुनर्वसु-शोधनकं शोधते । ततः पदपरिमुदूर्ताः ततो द्वापरिभागदूर्ताः शुद्धाः, स्थिताः पञ्चात् चतुरश्रव्यारिश्वात् ४४ । तेभ्य एकं मुदूर्-तैमपकृत्य तस्य षापरिभागः कियन्ते, कृत्वा च ते द्वापरि-भागराशिभ्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तपरिः । तेभ्यः पद-व्यवधा-रिश्वात् शुद्धाः, शेषास्तिष्ठन्त्येकविंशतिः । त्रिंशत्वारिंशतो मु-दूर्तैभ्यः त्रिंशता मुदूर्तैः पुष्यः शुद्धः, स्थिताः पश्चात् त्रयोदश मुदूर्ताः । अश्लेषा नक्षत्रं चापार्कक्रमेण पञ्चदशमुदूर्तममाणं, तत इदमागतमश्लेषानक्षत्रमेकस्मिन् मुदूर्ते, एकस्य च मु-दूर्तस्य चत्वारिंशति षापरिभागेषु, एकस्य च द्वापरिभागस्य सप्तपरिधा त्रिभ्य पद-व्यवहितस्येभ्यु भागेषु शेषेषु प्रथमाऽमा-वास्या समाप्तिपणकृत्ति । तथा च वक्ष्यति-" ता एपरि णं पंचराहं संवत्कारणं पदमं अभावसां चदे केणं नक्षत्रेषणं जो-एह ? । ता असिलेसाहि असिलेसाणं एको मुदूर्तो चत्तारिंशत् च वाधद्विभाग, मुदूर्तस्य वाधद्विभागं च सप्तद्विधा वृत्ता सुवचि शुभिया भागा सेसा " इति । यदा तु द्वितीयाऽमावास्या

अभावस्त

चिन्त्यते, तदा सा युगाद्यविति आरभ्य त्रयोदशी । ततः स
 ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ त्रयोदशभिर्मुहूर्तये । जानानि मुहूर्ता-
 नामष्टौ शतानि अष्टादशधिकानि ५५५ । एकस्य च मुहू-
 र्तस्य पञ्चदशभिः २५ । एकस्य च द्व्यष्टि भागस्य ६२ स-
 काः त्रयोदश १३ सप्तष्टि ६७ प्राणाः । तत्र- "वसावि य वा-
 यान्ति, अहं सोऽजा उत्तरासादा" इति वचनात् । चतुर्भिर्हो-
 वत्यादिदधिकमुहूर्तैः शतैः पदव्यवहारात् । द्व्यष्टिभागस्य स-
 कादापर्यन्तानि नक्षत्राणि बुध्वाणि, स्थितानि पश्चात् मुहूर्ता-
 नां चत्वारि शतानि पारशोक्तानि, एकस्य च मुहूर्तस्य
 एकोनविंशतिपादप्रमाणम् । एकस्य च चाष्टिभागस्य स-
 कात्त्रयोदश सप्तष्टिभागाः । ४१६ १ ३ ३ ३ । तत एतस्मात्
 त्रिंशति शतानि नवनव्याधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च
 मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिपादप्रमाणम्, एकस्य च द्व्यष्टिभा-
 गस्य पदष्टिः सप्तष्टिभागा ३२९ ३ ३ ३ इति शोचनी-
 यम् । ततः पांडशोक्तैः चतुःशतैः त्रिंशि नवन-
 व्याधिकानि बुध्वाणि, स्थिताः पश्चात् सप्तदश मुहूर्ताः ।
 तस्य एक मुहूर्ते शहीत्वा द्व्यष्टिभागाः क्रियन्ते । इत्या च द्वा-
 ष्टिभागा राशी प्रतिच्यन्ते, जाता एकाशीति । तस्याश्चतुर्विंश-
 तिः शुद्धा, स्थिताः पश्चात् सप्तदशभागाः । तस्या रूपमेकमा-
 दाय सप्तष्टिभागाः क्रियन्ते, तस्यः पदष्टिः शुद्धा, पश्चादेको
 ऽर्धावित्तैः, सप्तष्टिभागराशी प्रतिच्यन्ते, जाताश्चतुर्विंशसप्त-
 ष्टिभागाः । आगतं पुन्यनक्षत्रम् । पांडशस्य मुहूर्तेष्वेकस्य च
 मुहूर्तस्य पदपञ्चाशति द्व्यष्टिभागेष्वेकस्य च द्व्यष्टिभागस्य
 चतुर्दशस्य सप्तष्टिभागेष्वित्तैः त्रयोदश द्व्यष्टिभागमावा-
 स्यात् परिस्मापयति ॥ यदा तु तृतीया अष्टिप्रथमावास्या चि-
 न्त्यते, तदा सा युगादिति आरभ्य पञ्चविंशतिमते स ध्रुवरा-
 शिः ६६ । ५ । १ पञ्चविंशत्या गृह्यते, जानानि पारशोक्त शतानि
 पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च-
 विंशदुत्तराते द्व्यष्टिभागः, एकस्य च चाष्टिभागस्य प-
 ञ्चविंशति सप्तष्टिभागाः १६५० १ ३ ३ ३ । तत्र चतु-
 र्भिर्होवत्यादिदधिकमुहूर्तैः शतैरेकस्य च मुहूर्तस्य पदव्यवहारात्
 शता द्व्यष्टिभागैः प्रथममुत्तरादापर्यन्तं शोचनकं शब्दम्,
 स्थितानि पश्चात्मुहूर्तानां द्वादशानाम्यष्टोत्तराणि १२०८;
 द्व्यष्टिभागस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशतिः ७५, एकस्य द्व्यष्टि-
 भागस्य पञ्चविंशतिसप्तष्टिभागाः ३३ । ततोऽष्टभिः सैत-
 र्कोनविंशत्यधिकैः ८१५ मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य
 चतुर्विंशत्या द्व्यष्टिभागैः, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य पदपञ्चा-
 सप्तष्टिभागैरेकं नक्षत्रपर्यायैः बुध्वाणि । स्थितानि पश्चात् त्रिं-
 शति शतानि नव्याष्ट्यधिकानि मुहूर्तानाम् ३८५ । एकस्य च
 मुहूर्तस्य चतुष्पञ्चाशद् द्व्यष्टिभागः ३३, एकस्य च द्व्यष्टि-
 भागस्य पञ्चविंशतिसप्तष्टिभागाः ३३ । ततो भूयास्त्रिभिर्नवा-
 षत्मुहूर्तैः शतैः । एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्व्यष्टिभागैः,
 एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य पदपञ्चासप्तष्टिभागैरेकं वि-
 जित्वा इति रोहिणिकापर्यन्तानि बुध्वाणि स्थितानि, पश्चात्
 मुहूर्ताश्चरति, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशद् द्व्यष्टिभा-
 गानि, एकस्य द्व्यष्टिभागस्य सप्तविंशति सप्तष्टिभागाः ६०
 ३ ३ ३ । ततोऽत्रशता मुहूर्तैः शतैः शुकं, स्थिताः पञ्चाशद्
 मुहूर्ताः ५० । ततः पञ्चदशानिर्दशौ बुध्वा, स्थिताः पञ्चविं-
 शत् ३५ । आगतं पुनर्वसु नक्षत्रम् । पञ्चविंशति मुहूर्तेष्वेक-

स्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशति द्व्यष्टिभागेष्वेकस्य च द्व्यष्टि-
 भागस्य सप्तविंशति सप्तष्टिभागेषु तृतीयां अष्टिप्रथमा-
 वास्यां परिस्मापयति ॥ एवं चतुर्थी अष्टिप्रथमावास्याम-
 शेषानक्षत्रं प्रथमस्य मुहूर्तस्य सप्तस्य द्व्यष्टिभागेष्वेकस्य च
 द्व्यष्टिभागस्य एकव्यवहारात् सप्तष्टिभागेषु गतेषु ३ । ४१ ।
 पञ्चमीं अष्टिप्रथमावास्यां पुन्यनक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु एकस्य
 च मुहूर्तस्य द्विव्यवहारात् द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टि-
 भागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तष्टिभागेषु गतेषु ३ । ४२ ।
 ४४ परिष्मापयति । एकमुहूर्त एकस्य पतेनामस्तरावित्तैर्नाभि-
 षापेन, शेषमप्यमावास्याजातं नेनव्यम् । विशेषमाह- (पांडु-
 वृत्तं द्वापि । तं जहा-पुष्पाफगुणी, उत्तराय यति) तत्रैव सूत्र-
 पाठः- "ता पादवयं न त्रयोवयसि क्व नक्षत्रा जायति ? ता
 दोषिण नक्षत्रा जायति । तं जहा-पुष्पाफगुणी, उत्तराफगुणी यः"
 इदमपि व्यवहारत उच्यते । परमार्थेन पुनस्त्रिंशति-नक्षत्राणि
 प्रौष्ठपदीममावास्यां परिस्मापयति । तथामा-मरा, पुष्पाफगु-
 नी, उत्तराफगुनी च । तत्र प्रथमं प्रौष्ठपदीममावास्यामुत्त-
 रफगुनीनक्षत्रं चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागेषु
 द्व्यष्टिभागेषु एकस्य द्व्यष्टिभागस्य द्वयोः सप्तष्टिभागयोः ।
 २६ । २ क्तिकाःतयोः, द्वितीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां पुष्पाफ-
 गुनीनक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य एकव्यष्टि-
 ष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य पञ्चदशस्य सप्तष्टिभागेषु
 ७ । ६ । १५ गतेषु; तृतीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां ममामक्षत्रम-
 कादशस्य मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशति द्व्यष्टिभा-
 गेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्याष्टविंशतौ सप्तष्टिभागेषु ११ ।
 ३४ । २ गतेषु; चतुर्थीं प्रौष्ठपदीममावास्यां पुष्पाफगुनीन-
 क्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वादशस्य द्व्यष्टि-
 भागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य द्व्यवहारात् सप्तष्टि-
 भागेषु २१ । १२ । ४२ गतेषु; पञ्चमीं प्रौष्ठपदीममावास्यां
 मघानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य सप्तव्यव-
 हारात् द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य पञ्चपञ्चाश-
 ति सप्तष्टिभागेष्वित्तैः त्रयोदश द्व्यष्टिभागेषु २४ । ४७ । १५ परिस्मापयति ।
 (आसौर्दो गणित । तं जहा-हत्या, चित्ता यति) । अत्रायं
 सूत्रपाठः- "ता आसौर्दो न त्रयोवयसि क्व नक्षत्रा जायति ? ।
 ता दोषिण नक्षत्रा जायति । तं जहा-हत्या, चित्ता यति " । एत-
 दपि व्यवहारतः निश्चयतः पुनराहवयुजीममावास्यां च नक्षत्रं
 परिस्मापयति । तथामा-उत्तरफगुनी, हन्यत्वा । तत्र प्रथम-
 मा-अव्युजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च
 मुहूर्तस्य एकविंशति द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य त्रिषु
 सप्तष्टिभागेषु २५ । ३१ । ३; द्वितीयां माहवयुजीममावास्यामुत्त-
 रफगुनीनक्षत्रं चतुष्पञ्चाशत् मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
 चतुर्षु द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य पारशोक्त सप्त-
 ष्टिभागेषु ४४ । ४ । १६ गतेषु; तृतीयां माहवयुजीमा-
 वास्यामुत्तरफगुनीनक्षत्रं सप्तदशमुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्-
 तस्य एकोनव्यवहारात् द्व्यष्टिभागेष्वेकस्य चाष्टिभागस्य ए-
 कोनविंशति सप्तष्टिभागेषु १७ । ३१ । २६; चतुर्थीं माहवयु-
 जीममावास्यां हस्तनक्षत्रं द्वादशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य
 सप्तदशस्य द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य त्रिव्यव-
 हारात् सप्तष्टिभागेषु १२ । १७ । ४३ गतेषु; पञ्चमीं माहवयुजी-
 ममावास्यामुत्तरफगुनीनक्षत्रं विंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्-
 तस्य द्विपञ्चाशत् द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य पद-

पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ३० । ५१ । ५६ गतेषु परिसमापयति ।
 (कश्चिन्नं दोग्धि । तं जहा-सार्द्रं, विसादा य स्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-
 "ता कश्चिन्नं च अमावासानं क्व नक्कत्ता जायेति ? ता दोग्धि नक्कत्ता जायेति । तं जहा-सार्द्रं, विसादा य स्ति" एतद्वि
 ष्यवहारजनयतेन । निश्चयतः पुनर्क्रीणि नक्कत्ताणि कार्ति
 कीममावास्यां परिसमापयति । तद्यथा-चित्रा, स्वातिविशाखा
 च । तत्र प्रथमां कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं पौषदशमसु
 तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य पदत्रिंशति द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टि
 भागस्य चतुर्षु सप्तषष्टिभागेषु १६ । ३६ । ४ गतेषु; द्वितीयां कार्
 तिकीममावास्यां स्वातिनक्षत्रं पञ्चसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य
 नवसु द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य सप्तदशसु षष्टिभा
 गेषु ५ । ९ । १७ गतेषु; तृतीयां कार्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्र
 मष्टसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य चतुरध्वारिंशति द्व्यष्टिभा
 गेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ८ । ४४ ।
 ३०; चतुर्थी कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रयोदशसु सुदूर्त
 णेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य
 चतुरध्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १३ । २२ । ४४ गतेषु; पञ्चमी
 कार्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रमेकादशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य
 सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागेषु २१ ।
 ११ । १७ गतेषु; षष्ठी सप्तषष्टिभागेषु १६ । ३६ । ४ गतेषु । तं जहा-
 सार्द्रादा, जेडा, सूशो य (चि) अत्रापि सूत्रालापक एवम्-
 "ता मग्नासिर्त्तं च अमावासानं क्व नक्कत्ता जायेति ? ता तस्मि
 नक्कत्ता जायेति । तं जहा-सार्द्रादा, जेडा, सूशो य" इति । एतद्वि
 ष्यवहारतः । निश्चयतः पुनर्क्रीणि त्रीणि नक्कत्ताणि मार्गशीर्षीममावास्यां
 परिसमापयति । तद्यथा-विशाखा, अतुराधा, ज्येष्ठा च । तत्र प्रथमां मार्गशीर्षीममावा
 स्यां ज्येष्ठानक्षत्रं सप्तसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्यैकचत्वारिंश
 ति द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य पञ्चसु सप्तषष्टिभागेषु
 ७ । ४१ । ५; द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रमे
 कादशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य चतुर्दशसु चाषष्टिभागेषु,
 एकस्य च द्व्यष्टिभागस्याष्टदशसु सप्तषष्टिभागेषु ११ । १४ । १८;
 तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रमेकानत्रिंशति सु
 दूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य एकानपञ्चाशति द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य
 च द्व्यष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागेषु २६ । ४९ । ११ गतेषु; चतुर्थी मार्ग
 शीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रं चतुर्विंशति सुदूर्तेषु, एकस्य च
 सुदूर्तस्य सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य पञ्चध्वारिंशति
 सप्तषष्टिभागेषु २७ । २७ । ४५ गतेषु; पञ्चमी मार्ग
 शीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रिचत्वारिंशति सुदूर्तेषु, एकस्य
 च सुदूर्तस्य सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य सप्तषष्टि
 भागेषु ४३ । ० । ५८ परिसमापयति । (पोसि च दोग्धि । तं जहा-
 पुष्पासादा य, उचरसादा य स्ति) तत्रैवं सूत्राला
 पकः-
 "ता पोसी च अमावासानं क्व नक्कत्ता जायेति ? ता दोग्धि
 नक्कत्ता जायेति । तं जहा-पुष्पासादा य, उचरसादा य स्ति" एतद्वि
 ष्यवहारतः उक्तम् । निश्चयतः पुनर्क्रीणि नक्कत्ताणि परिसमापयति ।
 तद्यथा-सूर्य, पूर्वाषाढा, उचरसादा च । तद्यथा-प्रथमां पौषीममावास्यां
 पूर्वाषाढानक्षत्रमष्टाविंशती सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्व्यष्टिभागेषु,
 एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिभागेषु २८ । ४६ । १० गतेषु;
 द्वितीयां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं द्वयोर्दशसु सुदूर्तेषु

कस्य च सुदूर्तस्य एकानत्रिंशती द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टि
 भागस्य एकानत्रिंशती सप्तषष्टिभागेषु २ । १६ । १७; तृती
 यां पौषीममावास्यां सूत्राषाढानक्षत्रमेकादशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य
 एकानपञ्चशति द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य त्र्यष्टिंशति सप्तषष्टिभागेषु
 ११ । ५६ । ३३ गतेषु; चतुर्थी पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं षट्चदशसु
 सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य षट्पञ्चाशति द्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च
 द्व्यष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १५ । ४६ । ४५;
 पञ्चमी पौषीममावास्यां सूत्रानक्षत्रमेकानत्रिंशती सुदूर्तेषु, एकस्य
 च सुदूर्तस्य पञ्चाशद्व्यष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य एकान
 पञ्चशति सप्तषष्टिभागेषु १६ । ५६ । ४६ अत्रिकान्तेषु परिसमापय
 ति । (माहि तिणिण । तं जहा-अग्निर्द्रं, सवषो, धनिजा य स्ति) अत्राप्येवं
 सूत्रालापकः-
 "ता माही च अमावासानं क्व नक्कत्ता जायेति । ता तिणिण नक्कत्ता जायेति । तं जहा-अग्निर्द्रं,
 सवषो, धनिजा य" । एतद्वि ष्यवहारतः । निश्चयतः पुनर्क्रीणि त्रीणि नक्कत्ताणि
 मार्गशीर्षीममावास्यां परिसमापयति । तद्यथा-उचरसादा, अग्निर्द्रं, अश्वि
 नक्षत्रं । तद्यथा-प्रथमां मार्गशीर्षीममावास्यां अश्विनानक्षत्रं दशसु सुदूर्तेषु,
 एकस्य च सुदूर्तस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य
 सप्तषष्टिभागेषु १० । १७ । १८ गतेषु; द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यां अश्विनानक्षत्रं त्रयो
 दशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य
 एकानत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ३३ । ३३ । ३३; चतुर्थी मार्गशीर्षीममावा
 स्यामभिजिन्नक्षत्रं षट्सु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य
 च द्व्यष्टिभागस्य सप्तषष्टिभागेषु ६ । ३७ । ४७ गतेषु; पञ्चमी मार्गशीर्षीममावास्यां
 सूत्राषाढानक्षत्रं पञ्चविंशती सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य दशसु द्व्यष्टिभागेषु,
 एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य षष्टी सप्तषष्टिभागेषु २५ । १० । १६ अत्रिकान्तेषु प
 रिसमापयति । (फल्गुणी दोग्धि । तं जहा-सवभिसया, पुनर्क्रीण्वया य स्ति) अत्राप्येवं सू
 त्रालापकः-
 "ता फल्गुणी च अमावासानं क्व नक्कत्ता जायेति ? ता दोग्धि नक्कत्ता जायेति । तं जहा-सवभिसया,
 पुनर्क्रीण्वया य स्ति" । एतद्वि ष्यवहारतः । निश्चयतः पुनर्क्रीणि त्रीणि नक्कत्ताणि
 फाल्गुनीममावास्यां परिसमापयति । तद्यथा-धनिष्ठा, शतभिषक, पूर्वाषाढा च । तत्र प्रथमां फाल्गुनीममा
 वास्यां पूर्वाषाढपदा एकस्मिन् सुदूर्तस्य, एकस्य च सुदूर्तस्य एकत्रिंशति द्व्यष्टिभागेषु,
 एकस्य च चाषष्टिभागस्य नवसु सप्तषष्टिभागेषु १ । ३१ । ६ गतेषु; द्वितीयां फाल्गुनीम
 मावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं विशती सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य चतुर्दशसु सप्तषष्टिभागेषु,
 एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य द्व्यष्टिंशति सप्तषष्टिभागेषु २० । ४ । २२; तृतीयां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वाषा
 ढानक्षत्रं चतुर्दशसु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य चतुरध्वारिंशति द्व्यष्टिभागेषु,
 एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु, १४ । ४४ । ३६; चतुर्थी फाल्गुनीममावास्यां शतभि
 षकनक्षत्रं त्रिषु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य सप्तषष्टिभागेषु, एकस्य च द्व्यष्टिभागस्य
 एकानपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ३ । १७ । ४७; पञ्चमी फाल्गुनीममावास्यां धनि
 ष्ठानक्षत्रं षट्सु सुदूर्तेषु, एकस्य च सुदूर्तस्य द्व्यष्टिंशति द्व्यष्टिभागेषु

अभावसा

वापिभागु, एकस्य च दापिभागस्य सत्केतुं द्वापि सप्तप-
 टिभागु ६ । ४२ । ६२ गंतपु परिस्मापयति । (चेत्सो-
 टिगिणु । तं जहा—उत्तरभद्रवाय, रेवर्षे, अस्सिणो य
 त्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः—“ ता विस्तीं पं अभावसां कइ
 नक्खत्ता जांपति ? । ता तियिणु नक्खत्ता जांपति । तं जहा-
 उत्तरभद्रवाय, रेवर्षे, अस्सिणो य त्ति” । एतदपि व्यवहारनयम-
 त् । निश्चयनयमतेन पुनरुक्तिं प्राणिं नक्षत्राणि वैश्रीममावा-
 स्यां समापयन्ति । तद्यथा—पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा, रवेली
 च । तत्र प्रथमां वैश्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानकृतं सप्तविं-
 शन्मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य पद्विंशतिं द्वापिभागुषु, एकस्य च
 दापिभागस्य दशसु सप्तपटिभागुषु, ३१ । ३६ । १० ;
 द्वितीयां वैश्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानकृतमकादशसु मुहूर्ते-
 षु, एकस्य च मुहूर्तेस्य नवसु द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापि-
 भागस्य त्रयोविंशतीं सप्तपटिभागुषु ११ । ६१ । २३ ; तृतीयां च-
 वैश्रीममावास्यां रवेलीं नक्षत्रं पञ्चसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्ते-
 स्य एकादशपञ्चाशतिं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य सप्तविं-
 शतिं सप्तपटिभागुषु ५ । ४६ । ३७ ; चतुर्थीं वैश्रीममावास्यामुत्-
 तरभाद्रपदा नक्षत्रं चतुर्विंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य द्वा-
 विंशतीं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य पञ्चाशतिं सप्त-
 पटिभागुषु २४ । २१ । ७० ; पञ्चमीं वैश्रीममावास्यां पूर्वभाद्रपदा
 नक्षत्रं सप्तविंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य सप्तपटिभागु-
 षु २१ । ४१ । ६३ अतिकान्तेषु परिस्मापयन्ति । (निस्साहिं भरणी
 कत्तिया इति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः—“ ता विस्तीं पं अभावसां
 कइ नक्खत्ता जांपति ? । ता दोहिणु नक्खत्ता जांपति । तं जहा-
 भरणी, कत्तिया य ” इति । एतच्च व्यवहारतः । नि-
 श्चयनः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि वैश्रीममावास्यां परिस्मापय-
 न्ति । तानि चामूनि । तद्यथा—रवेली, अश्विनी, भरणी च । तत्र
 प्रथमां वैशाखीममावास्यामश्विनीं नक्षत्रमश्विंशतीं मुहूर्तेषु, ए-
 कस्य च मुहूर्तेस्य चत्वारिंशतिं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापि-
 भागस्य एकादशसु सप्तपटिभागुषु १८ । ४० । ११ ; द्वि-
 तीयां वैशाखीममावास्यामश्विनीं नक्षत्रं त्रयोविंशतियोरकस्य च
 मुहूर्तेस्य एकादशपञ्चाशतिं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापि-
 भागस्य त्रयोविंशतीं सप्तपटिभागुषु २ । ३६ । २३ ; तृतीयां
 वैशाखीममावास्यां भरणीं नक्षत्रमकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च
 मुहूर्तेस्य चतुष्पञ्चाशत् द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य
 अष्टविंशतिं सप्तपटिभागुषु ११ । ५५ । ३० गंतपु; चतुर्थीं वै-
 शाखीममावास्यामश्विनीं नक्षत्रं पञ्चदशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्-
 तेस्य सप्तविंशतीं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य एक-
 पञ्चाशतिं सप्तपटिभागुषु १५ । २७ । ५१ ; पञ्चमीं वैशाखीममा-
 वास्यां रवेलीं नक्षत्रमैकोनविंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य सं-
 दशभिन्ने द्वापिभागस्य सत्केतुं चतुष्पटीं सप्तपटिभागुषु १६ । ०
 ६४ परिस्मापयति । (जहासूलीं रोहिणीं मिगंसिंरं कति) अत्रा-
 प्येवं सूत्रालापकः—“ ता जहासूलीं पं अभावसां कइ नक्ख-
 त्ता जांपति ? । ता दोहिणु नक्खत्ता जांपति । तं जहा—रोहिणी, मि-
 गंसिंरं च ” । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयनः पुनरिमे जे न-
 क्षत्रं ज्येष्ठासूलीममावास्यां परिस्मापयतः । तद्यथा—रोहिणी,
 कृत्तिका च । तत्र प्रथमां ज्येष्ठासूलीममावास्यां रोहिणीं नक्षत्र-
 मैकोनविंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य पञ्चपञ्चाशतिं द्वापि-
 भागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य द्वादशसु सप्तपटिभागुषु

१६ । ४६ । १२ गंतपु; द्वितीयां ज्येष्ठासूलीममावास्यां कृत्तिका
 नक्षत्रं त्रयोविंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्यैकोनविंशतीं
 द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य पञ्चविंशतीं सप्तपटिभा-
 गुषु २३ । १६ । १५ अतिकान्तेषु; तृतीयां ज्येष्ठासूलीममावास्यां
 रोहिणीं नक्षत्रं द्वाविंशतिं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्यैकोनपट्टीं
 द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य एकादशपञ्चाशतिं सप्तपटिभागुषु ३२ । ५५ । ३६ ; चतुर्थीं ज्येष्ठासूलीममावा-
 स्यां रोहिणीं नक्षत्रं पदसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य द्वाविंशतिं
 द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य द्विपञ्चाशतिं सप्तपटि-
 भागुषु ६ । ३२ । ५२ ; पञ्चमीं ज्येष्ठासूलीममावास्यां कृत्ति-
 का नक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य पञ्चसु द्वापि-
 भागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य सप्तपटिभागुषु १० । ५ । २५ गंतपु परिस्मापयति । (ता आसादीं णमित्था-
 दि) ता इति पूर्ववत् । आषाढी, णमिति वाप्यालद्वारे । कति
 नक्षत्राणि युज्जन्ति ? । जगवामाह— (ता इत्यादि) ता इति
 पूर्ववत् । प्राणिं युज्जन्ति । तद्यथा—आर्षादीं, पुनर्वसु, पुष्यश्च ।
 एतदपि व्यवहारतः उक्तम् । परमाधेतः पुनरस्मिन् प्राणिं नक्षत्राणि
 आषाढीममावास्यां परिस्मापयन्ति । तद्यथा—मृगशिरः, आर्षादीं, पुन-
 र्वसुश्च । तत्र प्रथमायाषाढीममावास्यामर्षां नक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु,
 एकस्य च मुहूर्तेस्य एकपञ्चाशतिं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापि-
 भागस्य त्रयोदशसु सप्तपटिभागुषु १० । १६ । ३१ ; द्वितीयायाषाढी-
 ममावास्यां मृगशिरः नक्षत्रं सप्तविंशतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्-
 तेस्य चतुर्विंशतीं द्वापिभागुषु, एकस्य च द्वापिभागस्य षट्-
 शतीं सप्तपटिभागुषु २७ । १४ । २६ ; तृतीयायाषाढीममावा-
 स्यां पुनर्वसु नक्षत्रं नवसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य द्वयोर्द्वापि-
 भागुषोर्योरकस्य च दापिभागस्य चत्वारिंशतिं सप्तपटिभागुषु ६ । २ । ४० ; चतुर्थीयायाषाढीममावास्यां मृगशिरः नक्षत्रं सप्तविं-
 शतीं मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य सप्तविंशतिं द्वापिभागुषु, ए-
 कस्य च द्वापिभागस्य त्रिपञ्चाशतिं सप्तपटिभागुषु १७ । ३७ ।
 ५३ गंतपु; पञ्चमीयायाषाढीममावास्यां पुनर्वसु नक्षत्रं द्वाविंशतीं
 मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तेस्य पौनश्चसु द्वापिभागुषु २१ । १६ । ०
 गंतपु परिस्मापयति इति । तदेवं द्वादशानामप्यमावास्यानां
 चन्द्रयोगेन नक्षत्रविधिकरः । सं ० प्र ० पाहु ० उयां ० ।
 संप्रत्येत्सामिं च कुलादिवंजनामाह—
 ता सावित्रीं ए अभावसां किं कुलं जांपति, उक्कुलं
 जांपति, कुडोवकुलं वा जांपति पुत्ता ? । ता कुलं वा जो
 पति, उक्कुलं वा जांपति, षो लज्ज कुलोक्कुलं, कुडं
 जोपमाणे महाएकवत्ते जांपति, उक्कुलं जोपमाणे अस्सि-
 ल्त्ता एकवत्ते जांपति । ता सावित्रीं ए अभावसां कुडं
 जांपति, उक्कुलं वा जांपति, कुलेण वा जुत्ता उक्कुलेण
 वा जुत्ता मारिद्धिं अभावसां जुत्तं चि वत्तवं सिया, एवं
 एणव्वं । मगसिरीए ? माहीए २ फग्गुणीए ३ आमा-
 हीए ४ कुलोवकुलं जाणियव्वं । सेसाणं कुडोवकुलाए-
 न्थियं जाव कुलोवकुलेण वा जुत्ता आमाही अभावसां
 जुत्तं चि वत्तवं सिया ॥
 (ता सावित्रीं समित्थादि) ता इति पूर्ववत् । आषाढीं आषण-
 मासजातिनीममावास्यां किं कुलं युनाकि, उक्कुलं युनाकि, कु-
 लोवकुलं वा युनाकि ? । जगवामाह— (ता कुलं वैष्यादि)

कुलमपि युगिकं, 'वाशश्रयोऽपिशश्रयोः' उपकूलं वा युनक्ति । न लभते योगमधिकृत्य कुलोपकुत्रम् । तत्र कूलं कुलसङ्घं नल्लभं भाविष्ठाममावास्यां युञ्जन्मघानकृत्रं युनक्ति । एतच्च व्यवहारत इत्येव । इयवहारयो द्वि गतायामप्यमावास्यायां वर्तमाना-
 धामपि च प्रतिपदि योऽश्रोत्रो मजे भ्रमावास्यायां संबन्धः स सकलोऽप्यश्रोत्रोऽमावास्यायै व्यवहित्यते । तत्र एव व्यवहारतः भाविष्ठधाममावास्यायां मघानल्लभसंज्ञबाहुकम्-कुलं युञ्जन् मघानकृत्रं युनक्तौति । परमाधेतः पुनः कुलं युञ्जन् पु-
 धनकृत्रं युनक्तौति प्रतिपत्तव्यम्, तस्यैव कुलप्रसिद्ध्या प्रसि-
 ष्य भाविष्ठधाममावास्यायां संज्ञवात् । एतच्च प्रागेव भावितम् । एवमुत्पन्नस्यमपि व्यवहारनयमनेन युनक्तोऽपि परिभाषनीयम् । उपकूलं युञ्जन् अश्लेषानकृत्रं घातुकि । संत्युपसंहारमाह-
 (ता सार्वावर्षी णमित्यादि) यत उक्तप्रकारेण द्वाभ्यां कुलोप-
 कुत्राभ्यां भाविष्ठधाममावास्यायां चन्द्रयोगः सम्मतिः, न कुलो-
 पकुले, न ततः भाविष्ठधाममावास्यायां कृत्रमपि 'वाशश्रयोऽपिश-
 श्रयोः' युनक्ति; उपकूलं वा युनक्ति इति वक्तव्यं स्यात् । य-
 दि वा कुलेन वा युक्ता, उपकुलेन वा युक्ता सती भाविष्ठध-
 मावास्या युकेति वक्तव्यं स्यात् । (एव नैयव्यमिति) एवमु-
 क्तेन प्रकारेण शेषमप्यमावास्यायाज्ज्ञानेनैवम् । नवरं मार्गशी-
 र्धा माध्यां फाल्गुणामाषाढ्यां च कुलोपकुलं जगत्तव्यम्, वा-
 षाढ्यां त्वमावास्यानां कुलोपकुलं नास्ति, ततो न वक्तव्यम् । सं-
 प्रति पाठकुमुद्रहाय वृत्तात्पाका दर्थ्यते- "ता पौट्टुर्धं एं अमा-
 वासं किं कुलं जोष्य, उवकुलं वा जोष्य, कुलोवकुलं वा जोष्य ? ।
 ता कुलं वा जोष्य, उवकुलं वा जोष्य, नो लभश्च कुलोवकुलं, कुलं
 जोष्यमाणं उवकुलमणी जोष्य, उवकुलं जोष्यमाणं पुनर्वाङ्मणी
 जोष्य । ता पौट्टुर्धं एं अमावासं कुलं वा जोष्य, उवकुलं
 वा जोष्य, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता पौट्टुवया अमा-
 वासा जुत्त सि वत्तव्यं सिया । ता आसोर्धं एं अमावासं किं
 कुलं जोष्य, उवकुलं जोष्य, कुलोवकुलं जोष्य ? । ता कृत्रं वा
 जोष्य, उवकुलं वा जोष्य, नो लभश्च कुलोवकुलं, कुलं जोष्य-
 णं विना नक्वत्तं जोष्य, उवकुलं जोष्यमाणं दृश्यनक्वत्तं जो-
 ष्य । ता आसोर्धं एं अमावासं कुलं वा जोष्य, उवकुलं वा जो-
 ष्य, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता आसोर्धं अमावासा
 जुत्त सि वत्तव्यं सिया । ता कथियं एं अमावासं किं कुलं जोष्य,
 उवकुलं वा जोष्य, कुलोवकुलं वा जोष्य ? । ता कुलं वा
 जोष्य, उवकुलं वा जोष्य, नो लभश्च कुलोवकुलं । कुलं जोष्य-
 णं विना नक्वत्तं जोष्य, उवकुलं जोष्यमाणं सातिनक्वत्तं
 जोष्य । ता कथियं एं अमावासं कुलं वा जोष्य, उवकुलं वा
 जोष्य, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कथिर्धं अमावा-
 सा जुत्त सि वत्तव्यं सिया । ता मग्गसिर्धं एं अमावासं किं
 कुलं जोष्य, उवकुलं वा जोष्य, कुलोवकुलं वा जोष्य ? । ता
 कृत्रं वा जोष्य, उवकुलं वा जोष्य, कुलोवकुलं वा जोष्य, कुलं
 जोष्यमाणं मूलनक्वत्तं जोष्य, उवकुलं जोष्यमाणं जेजानक्वत्तं
 जोष्य, कुलोवकुलं जोष्यमाणं भणुराहानक्वत्तं जोष्य । ता मग्-
 गसिर्धं एं अमावासं कुलं वा जोष्य, उवकुलं वा जोष्य, कुलो-
 वकुलं वा जोष्य, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कुलोवकु-
 लेण वा जुत्ता जुत्त सि वत्तव्यं सिया " इत्यादि । निश्चयतः पुनः
 कुहारादियोजना प्रागुक्तचन्द्रयोगयोगमधिकृत्य स्वयं परिज्ञानी-
 या । सं० प्र० १० पाठो । " पंच संवत्परिपणं युगे वावर्द्धिं अ-
 मावासाभो " युगे पञ्च संवत्सराः, तत्र त्रयञ्चान्द्राः, तेषु पद्विंशद्

अमावास्या भवन्ति, द्वौ वाजिर्वर्द्धितौ संवत्सरो, तत्र पद्विं-
 शतिर्नमावास्याः । सं० १३ सम० ।

अथैवंप्रकारेण युगे कियन्त्योऽमावास्याः कियन्त्यश्च पौर्णमास्याः ?-
 इति युगे तद्व्यवसर्गव्याप्ताह-

तस्य तल्लु इमाभो वावर्द्धि पुष्पिमाभो, वावर्द्धि अमावा-
 साभो पञ्चमाभो । एष कसिणो रागा वावर्द्धि, एष कसि-
 णो विरागो वावर्द्धि, एष चठ्वीसे पव्वसते, एवं चठ्वीसे
 कमिणोरागविरागसप । ता जावर्द्धया एं पंचवर्द्धे संवत्तराणं
 समयो एष एं चठ्वीसिणं सतेणं ऊणगा एवतिया एं
 परिमितो अमंसेज्जा देसरागविरागसमया जवंतीति जत्य
 चठ्वीसे समयसप तस्य वावर्द्धिसमप कमिणो रागो, वावर्द्धि-
 समप कसिणो विरागो, तव्वं उज्जपपक्खया ।

(तथा तल्लु इत्यादि) युगे युगे कसिणां एवंस्वरूपा द्वाव-
 ष्टिः पौर्णमास्याः, द्वावष्टिश्चामावास्याः प्रकृताः । तथा युगे चन्द्रम-
 स एते अनन्तरोदितस्वरूपाः कृत्स्नाः परिपूर्णा रागा द्वावष्टिः,
 अमायास्थानां युगे द्वावष्टिसंख्याप्रमाणत्वात्, तास्वैव चन्द्रमसः
 परिपूर्णरागसंभवात् । एते अनन्तरोदितस्वरूपा युगे चन्द्रमसः
 कृत्स्ना विरागा सर्वोत्पन्ना रागाजाया द्वावष्टिः, युगे पौर्णमासी-
 नां द्वावष्टिसंख्यात्मकत्वात्, तास्वैव चन्द्रमसः परिपूर्णविराग-
 संभवात् । तथा युगे सर्वसंख्यया एकं चतुर्विंशत्याधिकं पंचशत-
 म् ; अमावास्यापौर्णमासीनामेव पंचशतव्यस्य चाच्यत्तव्यम् ; तासां
 च पृथक् पृथक् द्वावष्टिसंख्यानामेकत्र भौल्लेन चतुर्विंशत्याधि-
 क्यतत्वात् । एवमेव युगमध्ये सर्वसंख्ययया चतुर्विंशत्याधिकं
 कृत्स्नरागविरागसुशब्दम् । (ता जावर्द्धयाणमित्यादि) यावन्नः
 पञ्चानां चन्द्राभिधर्द्धितरूपाणां संवत्सराणां समयो एकेन चतु-
 र्विंशत्याधिकेन समययानेन ऊनका एवावन्तः परिमिता असंख्या-
 ता देशरागविरागसमया भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि चन्द्रमशांतं, दे-
 शता रागविरागभावात् । यत्र चतुर्विंशत्याधिकं चन्द्रमशांतं, तत्र
 द्वावष्टिसमयेषु कृत्स्नो रागः ऽप्यष्टिसमयेषु कृत्स्नो विरागः,
 तेन तच्चैवमित्याख्यातम्, मयति गम्यते । जगद्वचनमेतत्सस्य-
 क् अच्येयम् । सं० प्र० १३ पाठो ।

सम्प्रत्यमावास्याविषयं चन्द्रक्षत्रयोगं सूर्यनक्षत्रयोगं च
 प्रतिपिपादयिषुः प्रथमामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतसि एं पंचवर्द्धे संवत्तराणां पदमं अमावासं चं दे
 केणं एक्वत्तरेणं जोएति ? ता असिलेसाहिं, असिलेसाणं ए-
 क्को मुहुत्तो, चचादांसं च वावर्द्धिभागा मुहुत्तस, वावर्द्धिजागं
 च सत्तद्धिदां द्वेषा द्वावर्द्धि बुधिण्या जागा सेसा । तं समयं
 च एं मूरे केणं णक्वत्तरेणं जोएति ? ता असिलेसाहिं चैव,
 असिलेसाणं एक्को मुहुत्तो, चचादांसं वावर्द्धिजागा मुहुत्तस,
 वावर्द्धिजागं च सत्तद्धिदां द्वेषा द्वावर्द्धि बुधिण्या जागा सेसा ।

" ता एतसि णं " इत्यादि सुगमम् । भगवानाह- (ता
 असिलेसाहिं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । ता अश्लेषाभिः सह सं-
 युक्तचन्द्रः प्रथमामावास्यां परिसमापयति, अश्लेषानकृत्रस्य
 च पदतारकत्वात् तदपेक्षया बहुवचनम् । तदानीं च प्रथमामा-
 वास्यापरिसमाप्तिबेलायामश्लेषानकृत्रस्य एको मुहुत्तः, चवार्ति-
 शब्द द्वावर्द्धिभागा मुहुत्तस्य, द्वावर्द्धिजागं च सप्तवर्द्धिभा
 द्विंशत् पद्विंशत्पूर्णाका भागाः शेषाः । तथाहि-स एव भुवराशिः

६६ । ५ । १ प्रथमाऽभावास्या किल संप्रति चिन्त्यमाना वर्तते, इत्येकेन गुणयते, एकं च गुणितं तदेव भवतीति तावन्निव जातः । तत एतस्मात्—“वाचीं स व मुहुत्सा, नवालीं स वि स चिभागा य । एवं युगपत्सुखस्य व, सांद्ध्यं हवश्च पुष्पं ॥१॥ इति वचनात् द्वैविध्यमित्युक्तं, एकस्य च मुहुत्सस्य वदन्त्या-रिहाद् द्वैविध्यमाणा इत्येवं प्रमाणं शोधनकं शोच्यते । तत्र वदन्-ष्टिमुहुत्संभ्यां द्वैविध्यमित्युक्तं: शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् ऋतुश-त्वारिहात् ४७ । तेभ्य एकं मुहुत्समाकृत्य तस्य द्वैविध्यमाणाः कृताः, ते द्वैविध्यमाणाश्चिन्त्यं प्रकल्प्यन्ते, जाताः सप्तपट्टिः । तेभ्यः वदन्त्यारिहात् शुद्धाः, शेषास्तिष्ठन्त्येकविंशतिः । त्रिच-त्वारिंशत्सु मुहुत्संभ्याश्चिन्त्यता पुन्यः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् त्रयो-दश मुहुत्साः, अन्तेष्वानकृत्रं चार्द्धेऽन्तेमिति पञ्चदशमुहुत्सं प्रमाण-म् । तत इदमागतम्—अन्तेष्वानकृत्रस्य एकस्मिन्मुहुत्से चत्वारिं-शत्सु मुहुत्सस्य द्वैविध्यमांगेषु, एकस्य च द्वैविध्यमांगस्य सप्तपट्टि-या निष्कस्य वदन्त्यामांगेषु शेषेषु प्रथमाभावास्यां परिसमा-सिसुपगच्छति । संप्रत्यस्यामेव प्रथमाभावाभावास्यायां स्यंन-कृत्रं पृच्छति—(तं समयं च परिमत्यादि) सुगमम् । प्रगवा-नाह—(ता असिलेसाहिं चैव इत्यादि) इह य एवामाभावास्या-चन्द्रनक्षत्रयोगविषयं भूधराशिः, वदेव शोधनकं, स एव स्यंनकृत्रयोगाभूधराशौः, तदेव शोधनकमिति । तदेव स्यंन-कृत्रयोगेऽपि नकृत्रं, तदेव च तस्य नकृत्रस्य नकृत्रशेषमिति । तदेवाह—अन्तेष्वानियुक्तं: स्येः प्रथमाभावास्यां परिसमापयति । तस्यां च परिसमासिवेलायां अन्तेष्वानांको मुहुत्सः, एकस्य च मुहुत्सस्य चत्वारिंशद् द्वैविध्यमाणाः, एकस्य च द्वैविध्यमांग-स्य सप्तपट्टिया क्रित्वा वदन्त्याश्चिन्त्यता भागाः शेषाः ।

द्वितीयामावास्याविषयं सूत्रमाह—

ता एतेसि यं पंचण्डे संवच्छराणं तेषं अभावानं चं-दे केणं एकस्येणं जोएति । ता उचरार्हिं फगुणी-दिं, उचरानं फगुणीं यं चत्तलीं स मुहुत्सा, पणतीं स च बावद्विजागा मुहुत्सस, बावद्विभागं च सचद्विहा ठेचा पणण्टि चुणिया जागा सेसा । तं समयं च यं सुरे के-णं एकस्येणं जोएद् पुच्छा ? । ता उचरार्हिं चैव फगुणीदिं, उचरानं फगुणीं चत्तलीं स मुहुत्सा तं चैव ० जाव पणण्टि चुणिया जागा सेसा ॥

(ता एतसि णिमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता उचरार्हि-मित्यादि) उचरान्यां फाल्गुनीय्यां युक्तम्पुत्रं द्वितीयामावास्यां परिसमापयति । तदानीं च द्वितीयामावास्यापरिसमासिवे-लायामुत्तरयोः फाल्गुन्योऽन्तेष्वारिहाद् मुहुत्साः, पञ्चदशद् द्वैवि-ध्यमाणा मुहुत्सस्य, द्वैविध्यमांगं च सप्तपट्टिया क्रित्वा तस्य सप्तः पञ्चपट्टिका भागाः शेषाः । तथादि—स एव भूध-राशिः ६६ । ५ । १ इत्यं गुणयते, जातं द्वैविध्यदधिकं मुहुत्सां-नं शतम् । एकस्य मुहुत्सस्य चापट्टिजागा दश, एकस्य च द्वैविध्यमांगस्य सप्तपट्टिया निष्कस्य श्रौं श्रौंकाजौ १३२ । १० । २ । तत्र प्रथमतः पुनर्वसुशोधनकं शोच्यते—द्वैविध्यदधि-कमुहुत्सतात् द्वैविध्यातिमुहुत्साः शुद्धाः, स्थितं पश्चात्शोचते शतम् । तेभ्याऽप्येकं मुहुत्सां गृहीत्वा द्वैविध्यामागीकियते, कृत्वा च ते द्वैविध्यमाणा द्वैविध्यमांगराशौ प्रकल्प्यन्ते, जाता द्विसप्ततद्वैविध्यमाणाः । तेभ्यः वदन्त्यारिहात् शुद्धाः । स्थिताः

पश्चात्पञ्चविंशतिः नवोत्तराद्य मुहुत्संशतात् त्रिंशता पुन्यः शुद्धाः, स्थिताः पश्चादेकोनाशतिः । ततोऽपि पञ्चदशभिर्मुहुत्सेऽन्तेषु शुद्धाः, स्थिताः पश्चात्तुःषष्टिः, ततोऽपि त्रिंशता मया शुद्धा, स्थि-ताऽभ्युत्तः त्रिंशत् । ततोऽपि त्रिंशता पूर्वाफाल्गुनी शुद्धा, स्थिताः पश्चात्चत्वारः, उत्तरफाल्गुनीनकृत्रं च चार्द्धेऽन्तेमिति पञ्च-त्वारिंशत् मुहुत्सं प्रमाणम् । तत इदमागतमुत्तरफाल्गुनीनकृत्रस्य चन्द्रयोगमुपागतस्य चत्वारिंशत्सु मुहुत्सेषु, एकस्य च मुहुत्सस्य पञ्चदशत्सु द्वैविध्यमांगेषु, एकस्य च द्वैविध्यमांगस्य सप्तपट्टिया-निष्कस्य पञ्चपट्टी श्रौंकाभांगेषु शेषेषु द्वितीयामावास्या-समाप्तिं याति । संप्रत्यस्याममावास्यायां स्यंनकृत्रं पृच्छति—(तं समयं च परिमत्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता उच-रार्हि इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । उचरान्यामिव फाल्गुनीय्यां युक्तः स्योः द्वितीयामावास्यायां परिसमापयति । तदानीं च द्वितीयामावास्यापरिसमासिवेलायामुत्तरयोः फाल्गुन्योऽन्तेष्व-रिहाद् मुहुत्साः । “ तं चैव जाव ति ” वचनादेकस्य च मुहुत्सस्य पञ्चदशद् द्वैविध्यमाणाः, एकस्य च द्वैविध्यमांगस्य (पण्टि-चु-णिया भागा सेस ति) एतच्छोभयोरपि चन्द्रस्यवेलेनक्षत्रयोग-परिहानदेतोः करणस्य समानतावसेषयम् ।

तृतीयामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एतेसि यं पंचण्डे संवच्छराणं तेषं अभावानं चंदे पुच्छा ? । ता इत्येणं, इत्यस्य चत्तारि मुहुत्सा, तीं स बाव-द्विभागामुहुत्सस, बावद्विजागं च सचद्विहा ठेचा चउसद्वि-चुणिया जागा सेसा । तं समयं च यं सुरे केणं एकस्येणं जोएति पुच्छा ? । ता इत्येणं चैव । इत्यस्य णं तं चैव चंदस्स । (ता एतसि णिमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता इत्येण-मित्यादि) इस्तेन युक्तम्पुत्रं तृतीयामावास्यां परिसमापयति । तदानीं च इस्तेनक्षत्रस्य चत्तारो मुहुत्साः, मिश्रश्च द्वैविध्यमाणा मुहुत्सस्य, द्वैविध्यमांगं चैकं सप्तपट्टिया क्रित्वा तस्य सत्काऽ-तुषष्टिचिन्त्यता भागाः शेषाः । तथादि—स एव भूधराशिः ६६ । ५ । १ । तृतीयस्या अभावस्यायाः संप्रति चिन्त्येति त्रि-निर्गुणयते, जातमहनक्षत्राधिकं मुहुत्सानां शतम् । एकस्य च मु-हुत्सस्य पञ्चदश द्वैविध्यमाणाः, एकस्य च द्वैविध्यमांगस्य त्रयः सप्तपट्टिभागाः । १७८ । १५ । ३ । तत एतस्माद्द्विसप्तत्यधि-केन मुहुत्सशतेन वदन्त्यारिहाता च मुहुत्सस्य द्वैविध्यमांगैः पुनर्व-त्वादीनुत्तरफाल्गुनीय्यां नक्षत्राणि कृत्वा, पश्चात् वति-हन्ते पञ्चदशतिमुहुत्साः, एकस्य च मुहुत्सस्य एकविंशद् द्वैविध्य-माणाः, एकस्य च द्वैविध्यमांगस्य त्रयः सप्तपट्टिभागाः २५ । ३ । ३ । तत प्रागतं इस्तेनकृत्रस्य चन्द्रेण सह योगमुपागतस्य चतुर्षु मुहुत्सेषु, एकस्य च मुहुत्सस्य त्रिंशत्सु द्वैविध्यमांगेषु, एक-स्य च द्वैविध्यमांगस्य चतुष्षष्टौ, सप्तपट्टिजागेषु शेषेषु तृतीय-मावास्यायां परिसमापयति । अथैव स्यंविषयं प्रश्नसूत्रमाह— (तं समयं च परिमत्यादि) सुगमम् । भगवानाह—(ता इत्ये-णं चैव ति) इस्तेनैव नकृत्रेण युक्तः स्योऽपि तृतीयामावास्यां परिसमापयति । एतच्छोभयोरपि करणस्य समानतावसा-ह—‘ इत्यस्य यं तं चैव चंदस्स ’ यथा चन्द्रस्य विषये शेषयुक्तं तदेव स्यंस्यापि विषये वक्तव्यम् । तथैव—‘ इत्यस्य चत्तारि मुहुत्सा, तीं स बावद्विभागामुहुत्सस, बावद्विजागं च सच-द्विहा ठेचा चउसद्वि चुणिया जागा सेसा ’ इति ।

संप्रति द्वादशमावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेसि एं पंचाहं संवच्छराणं दुबालसमं अभावान् चंदे केणं नक्खलेणं जेएति पुच्छा ? । ता अदाहिं, अदाणं चत्तारिं मुहुत्ता,दस च वावट्टिभागा मुहुत्तस,वावट्टिजागं च सत्तच्छिहा वेट्ता चउपणं चुणिया जागा सेसा । तं समयं च णं सरे केणं एकल्लेणं जेएति पुच्छा ? । ता अदाए चव । अदाए जं चव चंदस्म, तं चव ॥

(ता एतसि णमित्थादि) सुगमम् । जगवानाह-(ता अदाह-दिमित्यादि) आर्द्धयुक्तश्चन्द्रो द्वादशीममावास्यां परिसमापयति । तस्मात् आर्द्धायाश्चत्वारो मुहुर्ताः, दश च मुहुर्तस्य द्वापदिभागाः, द्वापदिभागं च सप्तपदिधा क्लिप्त्वा चतुष्पञ्चाशत्कृणिकामागाः शयाः । तस्मादि-स एव प्रचरणादिः ६६ । ४ । १ । इत्यथमावास्या चिन्त्यमाना वर्तते इति द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि सप्तपदिनां दिनव्यधिकानि मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य षड्विंशतिपदिभागाः, एकस्य च द्वापदिभागस्य द्वादश सप्तपदिभागाः ७६२ । ६० । १२ । एतस्माच्चतुर्भिः शतैश्चिक्त्वा रिंशदधिकैर्मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य षड्चत्वारिंशत्ता द्वापदिभागैः पुनर्वस्वादीन्सुरायादापयन्तानि नक्षत्राणि च्चत्वारिं, स्थितानि पञ्चात्तत्रिंशत्तानि पञ्चाशदधिकानि मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य चतुर्दश द्वापदिभागैः, एकस्य च द्वापदिभागस्य द्वादश सप्तपदिभागैः ३५० । १४ । १२ । ततस्त्विनिः शतैर्नवात्तरे मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापदिभागैः, एकस्य च द्वापदिभागस्य षट्षपञ्चा सप्तपदिभागे-रिजिज्जादादि नोद्विणीपदयानि शुच्चानि, स्थिताः पञ्चाधत्तवारिंशत्मुहुर्ताः, एकस्य च मुहुर्तस्य एकचत्वारिंशद् द्वापदिभागाः, एकस्य च द्वापदिभागस्य त्रयोदश सप्तपदिभागाः ४० । ५१ । १३ । तन्निक्षयता मुहुर्तैर्मूंगशर, शुद्धं, स्थिताः पञ्चादश मुहुर्ताः, शेषं तथैव १०४ ? । १३ । तत आगतमानानसप्तत्रयं चन्द्रेण सह संयुक्तस्य चतुर्षु मुहुर्तेषु, एकस्य च दशसु द्वापदिभागेषु, एकस्य च द्वापदिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तपदिभागेषु ४ । १० । ५४ द्वादशी अभावस्था परिसमाप्तिर्भयति । संप्रति सूर्यविषयं प्रश्नमाह-(तं समयं च णमित्थादि) सुगमम् । जगवानाह-(ता अदाए चव) आर्द्धयैव युक्तः सूर्योऽपि द्वादशीममावास्यां परिसमापयति । शेषपाठावधेयं अतिद्वादशाह- अदाए जं चव चंदस्म, तं चव ? चन्द्रस्य विषये आर्द्धायाः शेषवृत्तम्, तदेव सूर्यविषयेऽपि व्यकल्पम् । अदाए चत्तारिं मुहुत्ता, दशा वावट्टिभागा मुहुत्तस, वावट्टिजागं च सत्तच्छिहा वेट्ता चउपणं चुणिया भागा सेसा " इति ।

चरमचापदिनमावास्याविषयं प्रश्नमाह-

ता एतेसि एं पंचाहं संवच्छराणं चरिमं वावट्टि अभावान् चंदे केणं एकल्लेणं जेएति पुच्छा ? । ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस एं बावीसं मुहुत्ता, गायालीसं च वावट्टिभागा मुहुत्तस सेसा । तं समयं च णं सरे केणं एकल्लेणं जेएति पुच्छा ? । ता पुणव्वसुणा चरे, पुणव्वसुस एं बावीसं मुहुत्ता, गायालीसं च वावट्टिभागा मुहुत्तस सेसा ।

(ता एतसि णमित्थादि) सुगमम् । जगवानाह-(ता पुणव्वसु-

या इत्यादि) ता इति पूर्वेषु । पुनर्वसुना युक्तश्चन्द्रश्चरमां द्वापदिनमाममावास्यां परिसमापयति । तस्मात् च चरमद्वापदिनमावास्यापरिसमाप्तिवशायां पुनर्वसुनश्चन्द्रस्य द्वाविंशतिमुहुर्ताः, षड्चत्वारिंशत्ता द्वापदिभागाः मुहुर्तस्य शेषाः । तथा हि-स एव प्रचरणादिः ६६ । ५ । १ । इत्यथ शुक्यते, जातानि मुहुर्तानां चत्वारिंशत्तानि दिनव्यधिकानि, एकस्य च मुहुर्तस्य द्वापदिभागानां त्रिणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वापदिभागस्य द्वापदिसप्तपदिभागाः ४०६६ । ३१० । १३ तन एतस्माच्चतुर्भिः शतैश्चिक्त्वा रिंशदधिकैर्मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य षड्चत्वारिंशत्ता द्वापदिभागैः प्रथमाशतकं शुद्धम् ; जातानि षट्षिंशत्तशतानि पञ्चाशदधिकानि मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य द्वे शतं चतुष्पदिपधिकं द्वापदिभागानाम्, एकस्य च द्वापदिभागस्य द्वापदिसप्तपदिभागाः ३६४० । २६४ । ६२ । ततोऽजिज्जादात्तुरायादापयन्सकक्षत्रपण्याविषयं शोधनकम् । अष्टौ शतानि एकानिर्विशत्यधिकं मुहुर्तानाम्, एकस्य चतुर्विंशतिपदिभागाः, एकस्य च द्वापदिभागस्य षट्षपदि-सप्तपदिभागाः ०१०५ । २४ । ६६ इत्येवं प्रमाणं चतुर्निर्गुणयित्वा शोध्यते । स्थितानि पञ्चात्तत्रिंशत्तानि चतुःसप्तत्यधिकानि मुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य चतुष्पदिपधिकं शतं द्वापदिभागानाम्, एकस्य च द्वापदिभागस्य षट्षपदि-सप्तपदिभागाः ३७४ । १६४ । ६६ । ततो भूयस्त्विनिः शतैर्मुहुर्तानां नवात्तरे, एकस्य च मुहुर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वापदिभागैः, एकस्य च द्वापदिभागस्य षट्षपदिशा सप्तपदिभागैः ३०६ । २४ । ६६ अजिज्जादादि नोद्विणीपयन्तानि शुच्चानि, स्थितानि पञ्चात्तसप्तपदिमुहुर्तानाम्, एकस्य च मुहुर्तस्य षोडश-द्वापदिभागैः ६७ । १६ । ततस्त्विंशत्ता मुहुर्तैर्मूंगशर, पञ्चादश-भिराष्टौ शुद्धा, स्थिताः पञ्चात्त शेषा द्वाविंशतिमुहुर्ताः, एकस्य च मुहुर्तस्य षोडश द्वापदिभागाः २५ । १६ । तत आगतं चन्द्रेण सह संयुक्तं पुनर्वसुनश्चन्द्रं द्वाविंशतौ मुहुर्तेषु, एकस्य च मुहुर्तस्य षड्चत्वारिंशत्ता द्वापदिभागेषु, शेषेषु चरमां द्वापदिनममावास्यां परिसमापयति । सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रमाह-(तं समयं च णमित्थादि) सुगमम् । जगवानाह-(ता पुणव्वसुणा चवत्ति) सूर्यः पुनर्वसुना चैव सह योगमुपागतश्चरमां द्वापदिपदिनमावास्यां परिणमति । शेषे अतिद्वादशाह-(पुणव्वसुस एं बावीसं मुहुत्ता इत्यादि) एतच्च प्राग्ब्रह्मर्षीम् । चन्द्रमसः सूर्यस्य अभावस्थाविषये नक्षत्रयोगपरिज्ञानहेतोः करणस्य समानवादात् । अ० प्र० १० पादु० ।

संप्रति कियन्तु मुहुत्तेषु गतेषु अभावस्थातोऽनन्तरा गौर्णमासी, कियन्तु वा मुहुत्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरममावास्या ? इत्यादि निरूपयति-

ता अभावानाश्चो एं पुणिसमासिणी चत्तारिं वायाले मुहुत्तसते, गायालीसं वावट्टिजागं मुहुत्तस आहिताति वददेजा ; ता अभावानाश्चो एं अभावानाश्चो अद्दा पंचासति मुहुत्तसते, तीसं च वावट्टिजागं मुहुत्तस आहिताति वददेजा ; ता पुणिसमासिणीश्चो एं अभावाना चत्तारिं वायाले मुहुत्तसते तं चव, ता पुणिसमासिणीश्चो एं पुणिसमासिणीं अद्दा पंचासति मुहुत्तसते, तीसं च वावट्टिजागं मुहुत्तस आहितात् । एत एं एवए चंदे मासे ; एत एं एवए समदो जुगे ॥

(ता अमरावासाभ्रो शुभित्वादि) सुगमम् । नवरं अमरावा-
 स्यावा अनन्तरं चन्द्रमासस्यार्द्धेन पौर्णमासी, पौर्णमास्या अ-
 नन्तरमर्द्धमासेन चन्द्रमासस्यामावास्या, अमरावास्यायाश्च अ-
 मावास्या परिपूर्णेन चन्द्रमासेन, यौगमास्या अपि पौर्णमासी
 परिपूर्णेन चन्द्रमासेन भवति येषांका मूहृत्संख्या । उपसं-
 हारमाह—(एस गमित्यादि) एष ऋषी मूहृत्संख्यतानि पञ्चाशी-
 त्यधिकानि विशाख शार्पदिभामा मूहृत्संख्येति, एतावान् एता-
 वत्प्रमाणश्चन्द्रमासः । तत एतावत्प्रमाणं शकलं खपरुक्त्तं युगं ;
 चन्द्रमासप्रमितं युगं शकलमेतदित्यर्थः । अं ३० १३ पाहु० ।

पूर्णिमानक्षत्रात् अमरावास्यायाम्, अमरावास्यानक्षत्राच्च
 पूर्णिमायां नक्षत्रस्य नियमेन संक्षम्यमाह—

जया एं भेते । सावित्री पुषिमा जवइ तथा एं माह्री
 अमरावासा भवइ, जया एं भेते । माह्री पुषिमा जवइ तथा
 एं सावित्री अमरावासा जवइ ? । हुंता, गोयमा । जया
 एं सावित्री ० तं वेच वलत्तं । जया एं भेते । पोह्वई पुणिए-
 मा जवइ तथा एं फग्गुणी अमरावासा जवइ, जया एं
 फग्गुणी पुषिमा भवइ तथा एं पोह्वई अमरावासा जवइ ? ।
 हुंता, गोयमा । तं वेच एवं । एतेषां अजिल्लावेण्णं इमाओ
 पुषिमाओ अमरावासाओ णेअव्वाओ । अस्सिणी पुषिमा
 वेत्ती अमरावासा, कसिगी पुषिमा विसाही अमरावासा,
 मगसिरी पुषिमा जेह्मावली अमरावासा, पोसी पुषिमा
 आसाही अमरावासा ।

(जया एं भेते । इत्यादि) यदा भदन्त । आविष्टी अविष्टानक्षत्र-
 युका पूर्णिमा भवति तदा तस्या अर्धार्धकनी अमरावास्या मार्धा
 मघानक्षत्रयुका भवति । यदा तु मार्धा मघानक्षत्रयुका पूर्णिमा
 भवति तदा पाश्चात्या अमरावास्या आविष्टी अविष्टानक्षत्र-
 युका भवतीति काश्च प्रश्नः ? । भयवान्माह—(हुंतेति) जय-
 नि । तत्र गौतम । यदा आविष्टीत्यादि, तदेव वक्तव्यं, प्रश्नेन समा-
 नोत्तरत्वात् । अयमर्थो—इह व्यचहारनयमनेन यस्मिन्नक्षत्रे पौर्ण-
 मासी भवति तत आरज्य अर्धार्कने पञ्चदशं चतुरदशं वा नक्षत्रे
 नियमतोऽमरावास्या, ततो यदा आविष्टी अविष्टानक्षत्रयुका
 पौर्णमासी भवति तदा अर्धार्कनी अमरावास्या मार्धा मघानक्ष-
 त्रयुका जयति, अविष्टानक्षत्रादारज्यं मघानक्षत्रस्य पूर्वं चतुर्द-
 शत्वात् । अत्र सर्वप्रकृतिचन्द्रप्रकृतिवृत्तयस्तु मघानक्षत्रादारज्य
 अविष्टानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वादिति पाठः, तेनात्र विचार्यम् ।
 एतच्च आयुषामसमधिकृत्य भावनीयम् । यदा भदन्त । मा-
 र्धा मघानक्षत्रयुका पूर्णिमा भवति तदा आविष्टी अविष्टानक्ष-
 त्रयुका पाश्चात्या अमरावास्या भवति, मघानक्षत्रादारज्यं पूर्वं
 अविष्टानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । इदं च माघमासमधिकृत्य
 भावनीयम् । यदा भदन्त । श्रेष्ठप्रदी उत्तरभाद्रपदायुका पौर्ण-
 मासी भवति तदा पाश्चात्या अमरावास्या उत्तरफाल्गुनीनक्षत्र-
 युका जयति, उत्तरभाद्रपदादारज्यं पूर्वैमुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्य
 पञ्चदशत्वात् । एतच्च भाद्रपदमासमधिकृत्य अत्रसंयमः । यदा
 चोत्तरफाल्गुनीनक्षत्रयुका पौर्णमासी भवति तदा अमरावास्या
 श्रेष्ठप्रदी उत्तरभाद्रपदपदेना जयति, उत्तरफाल्गुनीमारज्यं पूर्वै-
 मुत्तरभाद्रपदानक्षत्रस्य चतुर्दशत्वात् । इदं च फाल्गुनमासमधि-
 कृतयोक्तम् । एवंभूतेनाजिल्लावेण्णं इमाः पूर्णिमा अमरावास्याश्च न-

तथ्याः । यदा आविष्टीपूर्णिमा अविष्टीनक्षत्रोपेता भवति तदा
 पाश्चात्यानन्तरा अमरावास्या चैत्री विष्टानक्षत्रयुका भवति, अ-
 विष्टया आरज्यं पूर्वं विष्टानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । एतच्च व्यच-
 हारनयमधिकृत्योक्तमवसेयम् ; निश्चयत एकस्यामप्याश्रयुग्मा-
 सभाविष्ट्याममरावास्यायां विष्टानक्षत्रासंभवात् । एतच्च प्रमेय
 दर्शितम् । यदा च चैत्री विष्टानक्षत्रोपेता पौर्णमासी भवति
 तदा पाश्चात्या अमरावास्या आविष्टीनी अविष्टीनक्षत्रयुका
 भवति, एतदपि व्यचहारतः । निश्चयत एकस्यामारि चैत्रमास-
 भाविष्ट्याममरावास्यायामविष्टीनक्षत्रस्यासंजवात् । एतदपि सूत्र-
 माश्विनचैत्रमासावधिकृत्य प्रवृत्तम् । यदा च कार्तिकी कृत्त-
 कानक्षत्रयुका पौर्णमासी भवति तदा वैशाकी विद्याखानक्षत्र-
 युका अमरावास्या भवति, कृत्तिकातोऽर्धार्कं विशाखायाः पञ्च-
 दशत्वात् । यदा वैशाकी विद्याखानक्षत्रयुका पौर्णमासी जव-
 ति तदा ततोऽनन्तरा पाश्चात्याऽमरावास्या कार्तिकी कृत्तकान-
 क्षत्रोपेता जयति, विद्याखानः पूर्वं कृत्तिकायाः चतुर्दशत्वात् ।
 एतच्च कार्तिकवैशाखमासावधिकृत्योक्तम् । यदा च मार्गशीर्षी
 मृगशिरांयुका पौर्णमासी भवति तदा ज्येष्ठाशुक्ली ज्येष्ठाशुक्लन-
 क्षत्रोपेता अमरावास्या, यदा ज्येष्ठाशुक्ली पौर्णमासी तदा मार्ग-
 शीर्षी अमरावास्या । एतच्च मार्गशीर्षज्येष्ठाशुक्लावधिकृत्य भाव-
 नीयम् । यदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुका पौर्णमासी तदा आषाढी
 पूर्वाषाढानक्षत्रयुका अमरावास्या जयति, यदा पूर्वाषाढानक्षत्रयुका
 पौर्णमासी भवति तदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुका अमरावास्या जय-
 ति । एतच्च पूर्वाषाढामासावधिकृत्योक्तमितं । अन्तर्नि मासा-
 देमासपरिसमापकानि नक्षत्राणि । अं ७ वक्त्वा० ।

अभि (मे) ज्ञ-अभेय-त्रि० । अभिताम्नेकवस्तुयोगात् क्रय-
 विक्रयनिषेधाद् वा (कल्प० ४ क्त्वा०) अविष्टामन्वदतथ्ये मगरा-
 हौ, अं ३ वक्त्वा० । अविष्टामानमात्ये, अं ११ हा० ११ उ० ।

अभि (मे) उज्ज-अभेय-न० । न० त० । अशुचिद्वयं, स्था०
 १० ग० । विष्टायाम्, तं० । " अभिज्जेण शिचोस्ति न जाणह
 कण विसिक्तो " । अं ३० द्वि० ।

अभि (मे) उभृपुष्प-अभेयपूर्वपुष्प-त्रि० । विष्टावृत्ते, तं० ।

अभि (मे) जगम्य-अभेयम्य-त्रि० । अभेयं प्रचुरमासिञ्चि-
 ति । गुणामके, तं० ।

अभि (मे) जगरस-अभेयपरस-पु० । विष्टारसे, तं० ।

अभि (मे) जगसंजय-अभेयसंभृत-त्रि० । विष्टासंभवे, तं० ।

अभि (मे) उज्जुकर-अभेय्योकर-पुं० । उच्चारानिकरकल्पे, षो०
 १ विष० ।

अभित्त-अभित्त-न० । महितसायके, स्था० ४ ग० ४ उ० ।
 आचा० । (' पुरिसजाय ' शब्देऽस्य अनुभेदो दृष्टव्यः)

अभिय-अभुत्त-त्रि० । अमरधर्मिणि, विभो० । मरणभावे, आ०
 म० द्वि० । तपस्ये, आ० ४ अ० । " वर्षास्तु लवणममृतं, शारदि
 जलं गोपयश्च हेमने । शिशिरं चामलकरसेना, पूतं वसन्ते
 शुद्धमान्ते " ॥ १ ॥ सू० १ कु० १ अ० १ उ० ।

अभित्त-त्रि० । परिमाणरहिते, अं ३ अक्षि० । अपरिदोषे, आ०
 चू० १ अ० । अनन्ते, असंख्येयं वनस्पतिवृत्तियर्वाजीवकृष्णार्दी च

“केवली पुरचिमेणं नियं पि जायह, अभियं पि जायह ” । म० ४ श० ४ उ० । केवलज्ञाने च । विशे० ।

अभियगङ्-अभितमति-पुं० । द्वाकिणायो विक्रुमारणे, प्र० ३ श० ७ उ० । स० । प्रज्ञा० । स्वनामक्यते मापुत्रसंघीये माघचसनाकार्यशिक्षे दिगम्बरजैनाचार्ये, स च वैश्वमीये १०५० वर्षे अजयत् । येन धर्मपरीक्षा-सुभाषितरत्नसंदोहना-मार्गां च मन्यौ निमित्तौ । जै० ६० ॥

अभियपद्-अमृतचन्द्र-पुं० । कुन्दकुन्दाचार्यकृतसमयसारप्र-
न्योपरि 'आत्मक्याति' नाम्न्याः टीकायाः, तथा प्रबन्धसार
टीका-पञ्चल्लिकायाः-तत्त्वाध्याय-पुरुषार्थसङ्गुपाय-स-
स्वश्रीपिकादिग्रन्थानां च कारकं वैश्वमीये द्वाषष्टपुत्ररत्नमरा-
तकं (६६२) विद्यमाने आचाये, जै० ६० ।

अभियणायि(ण)-अभितज्ञानिन्-पुं० । अभितं च तद् ज्ञानं
चाभितज्ञानम्, तद्यस्यास्ति सां० अभितज्ञानि० । आ० म० प्र० । सचंभ, स० ।
अपरिशोषज्ञानिनि, अनन्तज्ञानिनि च । आ० चू० १ अ० ।
केवलिनि, पं० चू० ।

अभियपणंते नाम्, तं तेसि अभियणाणियो तो ते ।

तं जेण ज्येयमाणं, तं चाणंते जज्जो नेयं ॥ १०५० ॥

अनन्तत्वाभिमानुमशक्यममितं केषज्ञानसङ्गणं ज्ञानं, तत्पद्यं
विद्यते, ततोऽभितज्ञानिनस्ते । कथं पुनः केवलज्ञानस्यानन्त्यम् ? ।
इत्याह-तत्केवलज्ञानं, येन कारणेन ज्येयमानं भवते, ज्ञानय-
ज्ञेयानुवर्तित्वात् । तच्च ज्ञेयं सर्वमपि यतोऽनन्तमतः केवज्ञ-
ज्ञानस्त्वानन्त्यमिति ॥ विशे० ॥

अभियतेयसूरि-अभितेजःसूरि-पुं० । स्वनामक्यते सूरिजेदे,
“ पर्यासि अभियतेयसूरिणं अंतिय सहजायय पव्वहजं दयं वि
सेसकारणं तेण भाणयं ” । दृशे० ।

अभियय्य-अमृतजृत्-न० । जृतशब्द उपमायैः । परमपदहेतु-
त्वाज्जराभरणविधिप्रोक्तत्वेनाऽमृतनुष्ये जितवचने, “जिण-
वयणसुभासियं अभियय्यं ” । आतु० ।

अभियमेह-अमृतमेय-पुं० । दुष्पददुष्पमाले बर्षिणि चतुर्थे
महाभेदे, जं० ।

चतुर्थमिधककल्पतामाह-

तसि च एं घयमेहुंसि सचरत्तं णिवातितांसि समाणं-
सि एत्थ एं अभियमेहे णामं महामेहे पाउज्जाविस्सह,
भरह्पमाणमिसे आयायेणं जाव वासं वासिस्सह, जे एं
भरहे वासे रुक्खगुच्छगुम्मलयवङ्घिततपण्बगदरितगओ-
सहिपवालंजुरमारुपं तण्णवणफइए जणइसह ॥

(तसि इत्यादि) तस्मिन् घृतमेघे सतराजं निपतति सति, अत्र
प्रस्तावेऽमृतमेघो नाम यथायेनाम महाभेदेः प्रादुर्भविष्यति
बर्षिष्यति इति पर्यन्तं पूर्ववत् । यो मेघो प्ररते वर्षे वृक्षगुच्छ-
गुहमलतावल्लयः, तुषानी प्रतीतानि, पर्वणा इषवाद्यः, हरि-
तगिनि दुर्वादीनि, शीघ्रपथः शात्याद्यः, प्रवासाः पक्षवाः, अहू-
राः शायादिर्वाजसूच्य इत्यादीनि तुषणवस्थितिकायिकान्
बाधवनस्थितिकायिकान् जनविष्यतीति । जं० ३ वङ्ग० ।

अभियसरसोवम-अमृतरसरसोपम-वि० । अमृतरसेन रसस्यो-
पमा यत्र तदमृतरसरसोपमम् । सुधाऽऽस्वाद्यमृते, “लेसाणं
(तीयेकत्ताम) अभियसरसोवमं आसि ” । आ० म० प्र० ।

अभियवाहण-अभितवाहन-पुं० । श्रीचाराहदिष्कुमारणे,
स्था० २ ग्रा० ३ उ० । म० । प्रज्ञा० । स० ।

अभियासणिय-अभितासनिक्-पुं० । अचञ्जालने, सुदुष्टेऽह-
स्थानात् स्थानान्तरं गच्छति, अनेकान्यासनानि संवमाने,
कटप० ६ श० ।

अभिल-अभिलि-न० । ऊर्णायके, ध० २ अधि० । दृश० । नि०
चू० । भावा० ।

अभिलकनु-अम्लेच्छ-पुं० । आये म्लेच्छभाषाऽनभिज्ञे, सूत्र० १
श्रु० १ अ० २ उ० ।

अभिला-अभिला-खी० । अनेमिनायस्य प्रथमशिष्यायाम,
स० । पत्निकायां द्रुस्वमहिष्यायाम्, श्रु० १ उ० ।

अभिक्षाण-अम्हान-वि० । अमक्षिने, भी० । नि० चू० ।

अभिलाय-अस्तान-वि० । न स्थायते शीघ्रं तदिति । चिर-
ममक्षिने, नि० चू० २ उ० ।

अभिक्षायमहदाय-अम्हानमाप्यदापन-न० । अम्हानपुष्प-
दामनि, म० १ श० १ उ० । विपा० ।

अभिक्षिय-अभिक्षित-वि० । असंसक्ते, विशे० । अनेकराख-
संबन्धीनि सूत्राययेकत्र मीलवित्वा यत्र पठति तन्मिलितम् ।
असदृशधाम्यमेलकवत् । अथवा परावर्तनात्मक्य यत्र एदादि-
विच्छेदां न प्रतीयते तन्मिलितम्, न तथा अभिलितम् । मिलित-
द्वेषविमुक्ते सूत्रयुते, अतु० । पं० चू० । ग० । आमीलितं यद् प्र-
थान्तरवर्तिभिः पदैरभिहितं, यथा-सामायिकसूत्रे दृशयैकालि-
कोत्तराध्ययनादिपदानि न द्विपिती । श्रु० १ उ० ।

अमुद्-अपोचिन्-वि० । अमोचनशक्ति, श्रु० ४ उ० । “ अमुद्
समुत्ते वि जोण सुए ” पं० भा० । पं० चू० ।

अमुक्कुरणाय-अमुक्कुर्यते-वि० । अमुक्का पूर्णता येन तत्र
अमुक्कुर्यते । पूर्णे, ध० २ अधि० ।

अमुग-अमुक्-वि० । अदृक्-अकच् । उत्त्वाम्ने कस्य गः ।
ग्रा० १ पाद० । अदृःशब्दार्थे अज्ञातनामकत्वे विवक्षितेऽर्थे,
“ अमुगंदि ओठं ” अमुकस्मिन् भवतु । प्रश्न० २ आश्च० ग्रा० ।
“ अमुयं गामं पञ्चामो, तद्य द्वां तिष्ठि वा विवसो अन्दिस्सामो-
मो ” । आ० म० द्वि० । प्रब० ।

अमुगम-अमुक्-वि० । अविद्यमानमुक्ते, अतु० ।

अमुक्चिय-अमूर्च्छित-वि० । न मूर्च्छितोऽमूर्च्छितः । सुत्र० १
श्रु० १ अ० । दृश० । आहारादौ मूर्च्छामकुर्वति, पं० व० २ द्वार ।
पिपरेण शब्दाविषु वा वृद्धे, दृश० ५ अ० १ उ० । आवा० ।

अमुगा-अहृद्-पुं० । अहं, मूलं च । श्रु० १ उ० ।

अमुणिय-अज्ञात-न० । नास्ति मुणितं ज्ञातं यत्र तदमुणित-
म् । ज्ञानविकले, महत् २ आश्च० ग्रा० ।

अमुक्-अमुक्-वि० । सांकेत्यापारप्रवृत्ते सकर्मणि, स्था० १० ज० ।
अमूर्त्त-वि० । अकपिणि, आव० ४ अ० ।

अमुत्त-अमूर्त्त-न० । मूर्त्तत्वाभायसमाभियतत्वे, क्तव्या० २
बन्धा० । “ मूर्त्तिं दधाति मूर्त्तत्वं-ममूर्त्तत्वं विपर्येद्यात् ” ।

अमुचत्

मर्षिः कपरसगन्धस्पर्शादिसन्निवेशता, तस्या धारणस्वभावात्
सूचत्वं, सूक्ष्मत्वनावाः, तस्माद्यदिपरीतं तदसूचत्वं, अमूर्त-
स्वभावः । इत्या० १३ अध्या० ।

अमुचि-अमुक्ति-स्त्री० । अमुक्तिमोक्षगतिः, न मुक्तिरमुक्तिः । संसार-
सुखाभिज्ञाये, आनु० । सन्नोभतायां बहिःश्रे गौणपरिग्रहे, प्रअ०
५ आ३० ज्ञा० ।

अमुचिपगम्—अमुक्तिमार्गं—न० । न विद्यते सुकरशेषकर्मप्रच्यु-
तिरङ्गणया मार्गः सम्यग्ज्ञानज्ञानचारित्र्यात्मको यस्मिस्तदमु-
क्तिमार्गम् । अथमंपके विभङ्गस्थाने, सूच० ३ सू० ३ अ० ।
अमुय-अस्मृत-त्रि० । मनोऽपेक्षया स्मृतिमनागतं, प्र० ३
हा० ६ उ० ।

अमुयग-अमुतक-त्रि० । अवाह्याभ्यन्तरपुल्लरचित्वावयवशरी-
रिणि जीवे, स्या० । "अमुयगा जीवेन" देवानां बाह्याभ्यन्तर-
पुल्लरज्ञानविरहेण वैकियवतां दर्शनात् बाह्याभ्यन्तरपुल्लर-
चित्वावयवशरीरो जीव इत्यभयवसायवत् पञ्चमं विभङ्गज्ञा-
नम् । स्या० ७ उ० ।

अमुसा-अमूषा-अव्य० । सत्ये, सूच० १ सू० १० अ० ।

अमुह-अमुस्त्र-त्रि० । निरुत्तरं, व्य० ९ उ० ।

अमुहरि (ण)—अमुस्वरिन्-त्रि० । अवाचाले, उचत् १ अ० ।

अमूढ-अमूढ-त्रि० । आविष्टुते, दश० १० अ० । सन्माम्ने,
सूच० १ सू० १४ अ० । तत्त्वज्ञानिनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

अमूढग्राण-अमूढज्ञान-त्रि० । यथास्थितकोने, आ० म० द्वि० ।

अमूढदृष्टि-अमूढदृष्टि-स्त्री० । अमूढा तपोविद्याविद्यादिकु-
त्तार्थिकदृष्टिर्दशनंऽयमोहमूढभावाद्विचलिता, सा च दृष्टिश्च
सम्यग्ज्ञानममूढदृष्टिः । प्रव० ६ उ० । बुद्धिमत्कृतार्थिकदृ-
ष्टेऽप्यावगतमेवासम्यग्ज्ञानमिति मोहविरहिततायां बुद्धेः, उचत् ०
२ अ० । अमूढबुद्धिसंपेक्षे, मूषाने स्र आस्माभिनि मूढः । न
मूढोऽमूढस्तस्य दृष्टिः । याथातथ्यदृष्टेः, नि० चू० १ उ० । बाल-
तपस्वितपोविद्याऽनित्यवदर्शनं मूढा स्वकपालं चलिता दृष्टिः
सम्यग्ज्ञानरूपेण यस्याऽस्ती अमूढदृष्टिः । ग० १ अवि० । अ० ।
पञ्चा० । दश० ।

इदानीं अमूढदृष्टि ति दारं—

मूषाने स्म मस्मिन्निति मूढः, न मूढोऽमूढः । अमूढदृष्टि,
याथातथ्यदृष्टिरित्यर्थः ॥

अहा सा भवति तदा जपणति-

योगविहा इह्मि०श्रो, पूयं परवादिणं च ददृशुं ।
जस्य यः सुखदं दिदौ, अमूढदृष्टिं तगं वैति ॥ २६ ॥

(योगविहं त्ति) साणव्यगारा, का ताः । (दक्षिं त्ति) इह्मि०श्रो-
दृष्टेर्न, तेषु विज्जामेत् तयोमेतं वा विचलन्तयाऽऽभासगमण-
विभंगमणसादि येभ्यश्च । (पूयं त्ति) असणपाणसादिमसादिमव-
त्थकंभसादी-जस्य वा जं पाठयां तेषु सं पाडितान्तरु पूया ।
केसि सा? (परवादिणं त्ति) जस्यसास्यवदरत्तापरा, ने य परि-
व्याययत्तपन्तियादीं पासन्त्या, चसदाश्रो मिदन्त्या धीवरादिः ।
अदवा चसदाश्रो ससामने वि जं इमे पासन्त्या, तेषु सासदाश्रा-
द्वि, च अनुकारिसण, पायपूरणे वा दृष्टव्ये । (ददृशुं त्ति) दृष्ट्वा
जहा तसि परवादिणं पूया सासदाश्रिद्विवसेसा श्रंतिण, तद्वा
अहं । माणुसप येय मां कम्भमो विंसिचतरो जयेऽज्जा अतो

जयति—(जस्य त्ति) जस्य पुरिसस्य, 'ण इति पडित्ते' मो-
दो विषणायाविवक्षासो, दिष्टिं दारिसण, स एवमुणाचिसिद्धो
अमूढदृष्टिः दारिसणं अरथति । जगादइत्स तगरंणं सिद्धसो
कारिणः (तगं त्ति) । (वैति) मुच्यति आचाचार्यः, कथयन्तीत्यर्थः ।
अमूढदृष्टि ति दारं गयं । नि० चू० १ उ० ।

इयार्थं दिष्टतो-

सुलसा अमूढदृष्टिः,

सुलसा साविगा अमूढदृष्टिसे उवाहरणं भवति-प्रगवं चंपाय
खपरिण समोसरिओ । भगवया य भविष्यिरीकरणत्थं अचढो
परिव्यावगो रायगिहं गच्छते भाणिओ-सुलसं मम वयणा सायं
पुच्छेज्जसि । सो चिनेति-पुच्छमंतिया सा, ज अरदा पुच्छति । तेषु
परिक्रमणसिधे जलं मंसित्त, अलमसायाण बहूय क्कामि
काऊण मंगिता । णं दिक्षं । जयति य-परं अणुक्कपाए वेमि, ण ते
पत्तबुक्कीए । तेण भणिंयं-अदि पत्तबुक्कीए वेहिं । सा भयति-य
वेमि । पुणे पडमासण विठवियं । सा अयति-अद वि सिक्का
भंमणं तदा वि ते ण वेमि पत्तबुक्कीए । तओ तेण उवसधारियं
सभावं च से कहियं । ण दिष्टिमाहं । सुलसाए जायं । पवं अ-
मूढदृष्टिणा होयव्वं" । नि०चू० १ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ११२
पृष्ठे 'अचढ' शब्देऽपि कथयम्)

अमूढलक्ष-अमूढलक्ष-त्रि० । अमूढः सुनिर्णयो लको बोध-
विशयो यस्य सोऽमूढलक्षः । पञ्चा० १४ विष० । अष्ट० । ब-
धावस्थितवस्तुवर्धनि, सू० १ उ० । समस्ततत्त्वाविपरीतवे-
न्दे, आ० म० द्वि० ।

अमत्तयाण-अमातज्ञान-न० । मात्रा मानं, तेन रहितममात्रम्,
अमात्रं च तज्ज्ञानं च अमात्रज्ञानम् । अप्रामिने कयलज्ञानिनि,
अष्ट० १३ अष्ट० ।

अमट्टा-अमेषा-स्त्री० । मेधोपपन्नं, नि० चू० १ उ० ।

अपीमलि-अशुशालि-न० । न मुशाली क्रिया यस्मिन् प्रत्युप-
ह्णं तदमुशालि । सुप्रत्युपह्णनेर्दे, श्राघ० ।

अणुधाविष अचलियं, अणुगुण्यं अपोसलि चेत ।
लपुुरिमा ण च खोदा, पाणी पाणे पमज्जणया ॥ २५ ॥

(अपोसलि त्ति) न मुशाली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपह्णं न-
वमुशालि प्रत्युपह्णयम् । यथा मुशले कुट्टने ऊर्ध्वं गयति,
अधोसनेयं च । एवं न प्रत्युपह्णणा कर्तव्या । किंतु यथा
प्रत्युपह्णणस्य ऊर्ध्वं परिष्ठुते न गयति, न च तिर्यक्तु येम
जूमो, तथा कर्त्तव्यम् । बोध० । अ० । स्या० । उचत् ० । नि० चू० ।

अमोह-अमोघ-त्रि० । अथेयज्ञाऽऽप्यातत्वेनाविफले, अमिथ्य-
क, विश० । अवन्ये, दश० ८ अ० । अमोहोऽमोहस्तसम-
योरादित्यकिरणकारजनितेषु आताम्रेषु कृष्णेषु इयामेषु वा
शकटाङ्गसंस्थितेषु (सूर्यविम्बस्याधःस्थेषु कदाचिदुपसन्न-
मानेषु रेखाकणेषु) दशेषु, म० ३ श० ६ उ० । जी० । अत्रु० ।

अमोह-त्रि० । मोहने मोहोऽवितथग्रहाः, न मोहोऽमोहः । अ-
वितथग्रहाः, विश० । मोहरहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० । जम्बुद्वीपस्व
रुचकपरे पर्वते कुट्टनेर्दे, स्या० ८ उ० । द्वि० । शोभाश्रय
नगर्थ्या उत्तरपौरुष्ये दिग्भागं चैत्यं पूष्यमाने यक्षे, विश० ॥

अमोहणाधारि (ण)—अमोहनाधारिन्-पुं० । अमोहनें मो-
हरहितं समस्तमा समन्तद् धारयतीत्येषशोऽमोहनाधारी ।
सुधादिर्नोमोहं धारक, व्य० १ उ० ।

अभोहृदंसि (ष)—अभोपदशित्तु-पुं० । अभोर्षं पश्यति यथावत्पश्यति, दृश० ६ अ० ।

अभोहृदवयव—अभोहृदवचन-न० । धर्मदेशनाकरूपेऽव्यर्थवचने, स्थानं ४ ग्रा० ३ उ० ।

अभोहृत्—अभोया—स्त्री० । जम्बवाः सुदर्शनाया नामिन्, (मोर्षं निष्कलम्) न मोषा अभोषा । अनिष्कला इत्यर्थः । तथादि-नाशवन्निष्ठाभावेन प्रतिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्यमुज्जयन्ति, तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामिनावस्यैवायोगात्, ततोऽनिष्कलेति । जी० ३ प्रति० । जं० । उच्यतेऽत्रनाकेद्वैक्षिणुद्वि-भ्यागवर्तिन्यां पुष्करिण्याम्, द्वी० । स्थानं० । जी० ।

अभ्रम्—आभ्र-पुं० । " तान्नाभ्रे भ्रः " । ८ । २ । १६ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य मयुक्तो 'भ्रः' । सूत्र-(आँष) वृक्ते, तत्फले च । प्रा० २ पाद ।

अभ्रम्भूतुगद्वयमय—आभ्रफलद्वयगत-वि० । स्वकीयतपस्तेजोऽजितहादोपशमनायैमासास्थिकं कृषति, ज० १५ श० १ उ० ।

अभ्रम्भ—अभ्रम्भ-पुं० । स्वनामभ्याते परिभाषके, भ० १४ श० ८ उ० । श्री० । स्थानं० । (तद्वचक्यता अनुस्वारप्रकारत्वे 'अं-ब (म) ड' शब्दऽस्मिन्नेव भागे ११० पृष्ठं निकृतिता)

अभ्रम्या—अभ्र्वा—स्त्री० । पुत्रमातरि, हा० १ अ० । प्रभ० । भ० । नि० ।

अभ्रम्भे—अभ्रम्भे—अव्य० । हर्षे, " अभ्रम्भे हर्षे " ८ । ४ । २८४ । इति शौरसेन्यम् ' अभ्रम्भे ' इति निपातो हर्षे प्रयोक्तव्यः । " अभ्रम्भे एत्राप्य सुमिन्नाप्य सुपक्षिगदित्ते भवं " । प्रा० ४ पाद ।

अभ्रमापित्तसमाण—अभ्र्वापित्तसमान-पुं० । मातापितृभ्यां समाने पितृषु मातापित्रोश्च व्यवहारार्थं च्चिष्यिष्यमर्शिनो, व्य० ३ उ० । उपचारं विनाऽपि साधुषु पकान्तेनैव घस्त्रेण भ्रमणोपासके, स्थानं ४ ग्रा० ३ उ० ।

अभ्रमापिपर—अभ्र्वापित्त-पुं० । द्वि० घ० । मातापित्रोः, स्थानं ३ ग्रा० १ उ० ।

अभ्रमापेऽय—अभ्र्वापित्तक-न० । मातापितृसम्बन्धिनि, भ० ।

अभ्रमापेऽय एं भंते ! सरौरए केवयं काळं संचिह्णइ ? । गोयमा । जावडयं काळं से जवधारणिके सरौरए अभ्र्वावणे जवइ, एवडयं काळं संचिह्णइ । अइ एं समए समए बोयसिजमाण चरियकालसमयंसि वोच्छिणएण जवइ ।

(अभ्रमापेऽय एं ति) अभ्र्वापित्तकं शरीरावयवेषु शरीरोपचारात्, उक्तकृत्यानि मातापित्रकृतान्तीत्यर्थः । (जावडयं ति) जाव-भनं काळं, (से सि) तलस्य वा जीवस्य, भवधारणीयं भवधारणप्रयोजनं, मनुष्यादिजन्तोपप्राहकमित्यर्थः । (अब्वावणेषु सि) अभिनयम्, (अइ एं ति) उपचर्यान्तिसमस्यादन्तरमेतत् अभ्र्वापित्तकं शरीरम् (बोयसिजमाणे सि) व्यवहृत्यमाणं हीयमानमिति । भ० १ श० ७ उ० ।

अभ्रमि—अभ्रम्—अस्मद्ः प्रथमेकवचनान्तस्य " अस्मदो मि अभ्रमि अभ्रिह् इं अहं अहयं सिमा " । ८ । ३ । १०५ । इत्यनेन 'अभ्रमि' इत्यादेशः । " उच्यते न अभ्रमि कुचिभ्रा " प्रा० ३ पाद ।

अभ्रमो-अव्य० । " अभ्रमो आभ्रम्ये " । ८ । २ । १०८ । इति सूत्रेण अभ्रमो इत्याभ्रम्ये प्रयोक्तव्यम् । " अभ्रमो कइ पाठिउजइ " ॥ प्रा० २ पाद ॥

अभ्रम्ह—अस्माकम्—अस्मद् आमा सहितस्य " ने णो मज्ज अम्ह अम्हं " । ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणाम्हादेशः प्रा० ३ पाद ॥ वयम्-अस्मदो जसा सहितस्य " अभ्रम्ह अम्हे अम्हो वो भयं भे जसा " । ८ । ३ । १०६ । इति सूत्रेण अभ्रम्हादेशः । प्रा० ३ पाद । " अभ्रम्ह चोक्त्वा चोक्त्वायारा " श्री० ॥

अभ्रम्हई—वयम्-अस्मान्—"अश्रसोरन्ते अभ्रम्हई" । ८ । ४ । ३७६ । इत्यपत्रोर्षो जशि शशि च प्रत्येकमम्हं अभ्रम्हं इत्यादेशौ । " अवस न सुअहिं सुअच्छमहिं, जिवैं अभ्रम्हं तिथैं वे वि " । " अभ्रम्हं वेक्त्वाह " प्रा० ४ पाद ।

अभ्रम्हं—अस्माकम्—"ने णो मज्ज अम्ह अम्हं" । ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणामा सहितस्वस्मदोऽम्हमदेशः । प्रा० ३ पाद । 'अम्हं धृया णो आढाह' विपा० १ भू० ६ उ० ।

अभ्रम्हकैर—अस्मदीय-वि० । " इदमर्थस्य केरः " । ८ । २ । १४७ । इति दमर्थस्य प्रत्ययस्य 'केर' इत्यादेशः । " सेवादी वा " । ८ । २ । ६५ । इति काठिन्यम् । अस्मत्सत्के, प्रा० ३ पाद ।

अभ्रम्हत्तो—अस्मज्जयम्—"ममाग्दी भ्यसि" । ८ । ३ । ११३ । इति सूत्रेण ज्यसि 'अम्ह' इत्यादेशः । प्रा० २ पाद ।

अभ्रम्हाण—अस्माकम्—अस्मद् आमा सहितस्य " ने णो मज्ज अम्हं " । ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेण अभ्रम्हादेशः । प्रा० ३ पाद ।

अभ्रम्हातिम—अस्मादृश-वि० । " यादृशादेर्दुःसितः " । ८ । ३ । ११७ । इति पैशाकर्ष्यं 'ह' इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । प्रा० ४ पाद ।

अभ्रम्हारि-मम-पैशाकर्ष्यं " वष्टयाः " । ८ । ३ । १५५ । इति सूत्रेण व-ष्टया सुक् । " संगर-सर्पाहं सुवधिअर, देक्खु अम्हारा कंतु " प्रा० ४ पाद ॥

अभ्रम्हारिसि-अस्मादृश-वि० । " दृशः क्तिप-टक्त्सकः " । ८ । १ । १४२ । इति सूत्रेण क्तिवाचनस्य श्रुतो रितादेशः । " पक्व-रम-प्प-रम-ह्मां इहः " । ८ । १७४ । इति संयुक्तस्य स्वभागास्य मकाराक्रान्तेः हकारः । प्रा० २ पाद । " अम्हारिसो " अस्मत्सदृशेषु, प्रा० १ पाद ।

अभ्रम्हासुन्तो-अम्हादित्तो-अस्मज्जयम्—"ममाग्दी भ्यसि" । ८ । ३ । ११३ । इत्यस्मदो भ्यसि अभ्रम्हादेशः । " ज्यसस्त्वं षो षो दु हि द्वित्तो सुन्तो " । ८ । ३ । ६ । इति सूत्रेण ज्यसस्त्वं 'सुन्तो, द्वि-न्तो' इत्यादेशौ । प्रा० ३ पाद ॥

अभ्रम्हि-अभ्रम्—"अस्मदो मि अभ्रमि अभ्रिह् इं अहं अहयं सि-मा " । ८ । ३ । १०५ । इति सूत्रेण सिमा सह 'अभ्रिह्' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ॥

अभ्रिह्या—अस्मिता-स्त्री० । अहङ्काराऽनुगमे, हा० २६ हा० । व-चान्तमुच्यतया प्रतिलोमतापरिणामेन प्रकृतिहीने चेतसि स-त्तामात्रमेव भाति सास्मित्वा । हा० २० हा० । अस्मित्वा इत्य-शैकता; इत्यर्थेनयोः पुरुषरजसमाभ्यामसूतात्त्विकपरिणा-

मयोः भोक्तृजोषयवेनावस्थितयोरेकता अस्मिता । तदुक्तम्-“ह-
भ्यदीनशक्तयोरेकास्मतेवासिताम्” ॥१० २५ ॥१०।

अग्नेर्ह-वयम्-अस्मान्-“जवशसोरग्ने अग्नेर्हं” ॥ ७ । ४ । ३७६।
इत्यपभ्रंशे अस्मदो जाति दासि च ‘अग्नेर्हं’ इत्यादेशः प्राकृतेऽप्य-
वम्-“अग्नेर्हं घोवा रिउ बहुभू,कायर एवम् भवति”। प्रा० ४ पाद ॥

अग्नेर्हवय-आस्माक-नि० । अस्माकमिदम् । “युष्मदस्मदोऽप्य
एवयः” ॥ २ । १७५६ । इत्यस्मदः परस्मैदमर्थस्यावः ‘एवय’
इत्यादेशः । अस्मदीयं, प्रा० ४ पाद ॥

अग्नेर्हो-अस्माकम्-“णे यो मज्ज अग्ने अग्ने अग्ने अग्ने”
॥ ३ । ११४ । इत्यामा सहितस्यास्मद् ‘अग्नेर्हो’ इत्यादेशः ।
प्रा० ३ पाद ।

अग्र-अग्र-पुं० । अग्रैकपादे, स च पूर्वाजान्प्रदानकृतस्य
देवता । ज्योः ६ पादु० । ‘दो अया’ स्था० २ ग्रा० ३ उ० ।
अनु० । सूर्यवंशीये रघुपुत्रे, बाच० ।

अग्र-पुं० । अग्रनमयः । इण् गतौ इति धातोः “एरञ्” ३ । ३ ।
। ५६ । इति [पाणि०] सूत्रेण अञ् प्रत्ययः, आ० म० छि० । वदने,
साम्भ,प्राप्ते च । विशे० । आ० म० । आवा० । इष्टकले,न० । स्था०
१ ग्रा० १ उ० । ब्रुभे, आ० १० ग्रा० ।

अग्रम्-न० । लोहं, नि० चू० ५ उ० । जी० । प्रञ्ज० । सत्त० ।

अग्रअगर-अग्रअकर-पुं० । लोहाऽऽकरे, यत्र लोहमुत्पद्यते ।
नि० चू० ५ उ० । यत्र वा लोहकारो लोहं आपयति । स्था० ७ ग्रा० ।

अग्र्यं-अग्र्यम्-पुं० । “पुंसिग्र्योर्नवाऽग्रिमिभ्रासौ” ॥ २ । ३ । ७३ ॥
इति इदमशब्दस्य सौ अग्रयोश्च अग्र्ये । प्रा० ३ पाद ॥ “अग्र्यं परमत्ते
संसे अग्रदत्” अग्रमिति प्राकृतम्वादिष्य । औ० ।

अग्र्यं-अग्र्यत्-नि० । आगच्छति प्रविशति, “जाव अग्र्यंते
निस्तीरिष्यं कुण्ड” आ० म० छि० ।

अग्र्यपुल-अग्र्यपुल-पुं० । अजोविभोपासके गोसाहकशिष्ये,
म० ८ श० ५ उ० ।

अग्र्यंभि-अग्र्यसन्धि-वि० । “अग्र्यं संधीति” अग्रमिति प्रत्य-
कृगोच्चारणः, आग्र्यंकेलसुकुलोत्पत्तौन्दिशनिर्घुलिअद्वासंभेग-
लक्षणः सन्धिः । आच्चा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ‘अग्र्यंस-
न्धीति’ सन्धानं (सन्धिः) सन्धीयते वाऽभाषाविति सन्धिः ।
अग्र्यं सन्धिष्यस्य साधोर्भावयंमन्धिः । छान्दस्यत्वाद् वि-
भक्त्युक्तं । यथाकालमनुष्ठानविधायनि, यो यस्य वृत्तं-
मानः कालः कर्तव्यतयोपस्थितस्तत्करणतया नमेय संधत्ते ।
एतदुक्तं जयति-सर्वाः क्रियाः प्रत्युपेक्षणोपयोगस्वाध्याय-
भिन्नाचर्याप्रतिक्रमणादिका अग्रसंपन्ना अग्र्योऽप्यावाधवाऽऽ-
त्मीयकर्तव्यकासे करानोत्तर्य इति आच्चा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

अग्र्यकृत-अग्र्यस्कान्त-पुं० । अग्रसां मध्ये कान्तः रमणीयः ।
कस्कादित्वात् सत्यम् । कान्तिर्लोह इति कथाने लोहभेदे,
वाच० । सन्धिभिर्मात्रेण लोहात्कथं, [सुम्बक] इति कथाने प्रस्-
रभेदे च । अग्रसां प्रियत्वात्सर्वात्वम् । आ० म० प्र० ।

अग्र्यककरनोड् (ण्)-अग्रककरैरौजिनन्-वि० । अग्रस्य ङा-
गादेः कर्कस्यतिष्ठर्धं यत्कणकवद् सूत्रयत्नं कर्करायते तन्मेदो-
हन्तुरं पक्षं शूद्राकृतं मांसं,नद् भुङ्क्ते इत्येवंशीलोऽजककरैरभोजी ।
अजादेः कर्करायितमांसुज, “अयककरभरं य, तुम्बि

विय संश्लिप । आद्यं नरप कर्के, अहा एत्वं व पलाय” ॥ ७ ॥
उत्त० ७ अ० ।

अग्र्यकदिशु-अग्र्यकदिशु-न० । अग्र्यो लोहं तन्मयं यत्कदिशुं
तत् । लोहकटाह, शोष० ।

अग्र्यकरय-अग्र्यकरक-पुं० । सप्तशे महाप्रभे,सू० प्र० २० पादु० ।
कल्प० । अं० प्र० । जं० । “दो अग्र्यकरया” स्था० २ ग्रा० २ उ० ।

अग्र्यकोट्टय-अग्र्यकोट्टक-न० । होहप्रतपनायं कुशले, म० १६
श० १ उ० । उपा० । जी० ।

अग्र्यकखंत-अग्र्यस्कान्त-पुं० । लोहाकर्पके सुम्बके मणौ, आ०
म० प्र० ।

अग्र्यगर-अग्र्यगर-पुं० । शयुःपर्याये, उरःपरिसरपेक्षिते, म०
१ भाष० ॥ महाकायस्यै, जं० २ वत्त० । “से किं तं अ-
यगरा ? अग्र्यगरा यगारा पञ्चता, सेत्तं अयगरा” । प्रज्ञा०
१ पद । जी० ।

अग्र्यगोशय-अग्र्यगोशक-पुं० । अग्र्यो लोहं, तस्य गोलः पिपकोऽ-
योगोलः । नि० चू० १ उ० । अग्र्यःपरिके, दशा० ७ अ० । सुत्र० ।

अग्र्यदृज-कृष्-धा०-विशेकन, “कृष्ः कृष्-सामञ्जाणाणकृष्णा-
यञ्जाहञ्जाः” ॥ ७ । ४ । १८१ । इति सूत्रेण कृष्ः अग्र्यञ्जादेशः ।
अग्र्यदृज-कृष्-इति । प्रा० ४ पाद ।

अग्र्यण-अग्र्यन-न० । गमने, आ० म० छि० । उत्त० । आ० । ज्ञा० ।
प्रापणे, अनु० । परिच्छेदे, नं० । श्रुतुप्रयमाने, कर्म० ४ कर्म० ।
परुमासात्मके काले, तं० । जं० । म० । अनु० । अग्रमानि वासमा-
सिकानि दक्षिणायनोत्तरायणलक्षणानि । कल्प० ५ कृ० ।

साप्रतमयनपरिमाणं वक्तुकाम आह- ४

उद्दिं मामेदं द्विणयरा, तेसौयं चरद् मंदम

अग्रयणम् उत्तरे दा-दिणे य एतो विद्दि होड

वर्हिममौसैर्दिनकरः सूर्यः स्वशीत्यधिकं मयदशतं

तथाहि-सर्वोऽन्यत्तरमन्नेरे द्वितीयमयदशं यदा सूर्यं उरस

चारं चरति तदा स नवस्य सूर्यसंबन्धरस्य प्रथमोऽहोर्

द्वितीयं चाहोरात्रेण सर्वोऽन्यन्तरात् तृतीयमयदशं चरति

वर्हिममौसैरुशशीत्यधिकं मयदशतं नृतीयं जयति । एष द्वि

णायनस्य एवमासप्रमाणस्य पर्यन्तः । ततः सर्वथाहोर्द्वयं मयद

शाद्वयान्तरे द्वितीयं मयदशं यदाहोरात्रेण चरति, एवं वर्हिममौ-

सैरुशशीत्यधिकं मयदशतं सर्वोऽन्यन्तरमयदशत्पर्यवसामय ।
एष दक्षिणैस्मिन् उत्तरैस्मिन् वा अग्रयने विधिः प्रकारो भवति ।
अत्रार्थे च करणं विधुषः प्रथमतः तदुपलयेपमाह-

तेसौयं दिवससयं, अग्रये सुरस्स होड पडिपुर्धं ।
सुण तस्स कारगविद्दिं, पुञ्जायरिओवयंयं ॥

सूर्यस्यायनं दक्षिणमुत्तरं वा भवति परिपुणे स्वशीत्यधिकं

दिवसज्ञानम् । कथंमनवदस्यते इति चेत् ? उच्यते-इह

युगमध्ये दश सूर्यस्यायनानि भवन्ति,युगे च द्विवसानामाद्य-
शरतानि त्रिशदधिकानि १८० । तत्तत्कारणिकमथनात्यति-
याद् दश,भिरवयैरद्वाशदिवसशतानि त्रिशदधिकानि ब्रह्मन्ते,

तत एकनाथेन किं लभ्यम् ? । आह-राशित्रयस्थापना १०+१८
३०+१ । अत्रान्येन राशिना एकत्र कृतेन मध्यमस्य राशेरगुणेन प-
केन च युजितं तदेव भवतीति, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधि-
कानि, तेनाप्यष्टेन राशिना दशकलषणेन भागा द्वितये, ऋष्यं व्य-
शीत्यधिकं द्विसप्तशतम् । एतावदेकस्य दक्षिणस्योत्तरस्य परि-
माणम् । सम्प्रति तस्य दक्षिणस्यैवायमस्य परिमाणविषये कार-
कविधिं करणरूपं प्रकारं पूर्वाचार्योद्देशेन प्रतिपाद्यमानं शृणु ।

तत्र करणमाह-

सूरस्स अयणकराणं, पवने पक्षरससंगुणं नियमा ।
तिद्विसंखितं संते, बावडीजागपरिहीणं ॥
तेसीयसयविभक्त-म्भ तम्भि लखं तु रूवमाएजा ।
जइ लखं होइ समं, नायचनें उत्तरं अयणं ॥
अहं हवइ जागलखं, विसमं नाणाहिं दक्खिणं अयणं ॥
जे अंसा ने दिवसा, होति पवचस्स अयणस्स ॥

सूर्यस्यायनपरिज्ञानविषये करणमिदं, बह्व्यमाणमिति शेषः ।
तदेवाह-पवने पवनेसंख्यां पञ्चदशगुणं नियमात् कल्पेभ्यम् । कि-
मुक्तं भवति?--युगमध्ये विचलितान्नात् प्राग् भानि पर्वाणि अ-
तिक्रान्तिनि तसंख्या पञ्चदशगुणा कल्पेभ्यति । ततः पर्वणा-
मुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्तास्तत्र संश्लिष्यन्ते । ततो (बाव-
डीभागपरिमाणमिति प्रत्यहोरात्रम्-एकेकेन द्वाषष्टिभागेन परि-
द्विभक्त्यानेन ये निष्पन्न अद्यमराशान्तेऽप्युपचारान् द्वाषष्टिभागा
इत्युच्यन्ते, ते परिहीने विधेयम् । ततस्त्विदं व्यशीत्यधिकेन शते-
न विभक्तं सन्ति यल्लब्धं रूपमेकद्व्यादिकं तत् आदेयात्, पुष्ट्यात्;
पुष्ट्युक्त्वात् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः । तत्र यदि ऋष्यं समं च्चिचतुरा-
दिकं प्रवर्तते, तथा उत्तरमयनमन्तरमन्तरीतं ज्ञातव्यम् । अद्य
भवति भागं ऋष्यं विषमं, तदा जानीहि दक्षिणमयनमन्तरम-
न्तरीतम् । ये तु शेषाः पञ्चाद्विचलिते तत्कालं प्रवृत्तस्या-
यनस्य दिवसस्य द्विसप्ता भवन्ति ज्ञातव्याः । तथाहि-युगमध्ये
नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां केनापि पृष्टम्-किमयनमन्तरमन्तरीतम् ?,
किं वा साम्प्रतमयनं वर्तते ?, इति । तत्र नवसु मासेषु अष्टादश
पर्वाणि, ततोऽष्टादश पञ्चदशानि गृह्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके
२५० । नवमासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्टमिति पञ्च तत्र प्रसि-
ष्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५, नवसु मासेषु ख-
स्वार्त्तुऽवमराशा जन्वन्ति, तथा ते चतुर्विहीनाः कियन्ते, जाते
द्वे शते एकसप्तत्यधिकं २७१ । अस्य राशेरस्यवशीत्यधिकेन श-
तेन भागा द्वितये, लक्ष्यमेक रूपम्, शोषास्तिष्ठत्याशीतिः ।
तत आगतमिदं किमयनमन्तरीतं, नववि च दक्षिणायनम् ।
साम्प्रतमुत्तरायणं वर्तते, तस्य चाष्टाशीत्यां दिवसो ब्रजतीति,
तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्टम्-
किमयनमन्तरीतं गतानि ?, किं वाऽमन्तरमयनमन्तरीतं ?, किं वा सा-
म्प्रतमयनं वर्तते ? इति । तत्र पञ्चविंशतिसप्तत्यु पञ्चाशत्यर्था-
णि, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तसप्तानि पञ्चादश-
त्यधिकानि ७५० । तत उपरितमा दश प्रकियन्ते, जातानि सप्त-
शतानि षष्ट्यधिकानि ७६० । पञ्चविंशतिसप्तत्यु वाऽ-
वमराशा अनवद् द्वाद्दश, ते ततोऽप्युच्यन्ते, जातानि
सप्तशतानि अष्टसप्तत्यधिकानि ७७५ । एतेषां व्य-
शीत्यधिकेन शतेन भागं द्वितये, लक्ष्याध्वत्वारः,
शेषास्तिष्ठन्ति षोडश, आगतानि लक्ष्याध्वमास्त्यतिक्रान्तानि,
चतुर्षु वाऽयनमन्तरमन्तरीतमुत्तरायणम् । सम्प्रति दक्षिणाय-

नस्यापवर्तमानस्य षोडशो दिवसो वर्तते इति । एवमन्य-
दपि भावनीयम् ।

साम्प्रतं चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वाऽयनस्य परिमाणमाह-
तेरस्य ये मंदलार्हं, चरुचत्ता सत्तत्तद्विभागा य ।

अप्येषां चरुं सांभो, नक्षत्रेषु अरूपासेणं ॥

इह नक्षत्रमासाकेपरिमाणं चन्द्रायणम् । तत आह-नक्षत्र-
विषये षोऽर्धमासस्तत्तावत्परिमाणेनायनेन सोमश्चरति
तत्र त्रयोदश मण्डलानि चतुर्ध्वत्वारिंशतं सप्तषष्टिभागम् । किमुक्तं
ज्वति?--त्रयोदश अहोरात्राः, एकस्य च अहोरात्रस्य सप्तका-
तुर्ध्वत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा दक्षिणस्योत्तरस्य वा चन्द्रायण-
स्य परिमाणमिति । कथंमत्तद्वस्यीत्ये इति चेत् ? । उच्यते-
इह नक्षत्रमासस्य परिमाणं सप्तविंशतिदिनानि, एकस्य च
दिनस्य सप्तका एकविंशतिः सप्तविंशतिभागाः । तत पक्षव्या-
ययोर् चन्द्रायणपरिमाणं ज्वति । मधवा-युगे चन्द्रायणानां
चतुस्त्रिंशदधिकं शतं भवति ; अहोरात्राणां च युगे अष्टादश
शतानि त्रिंशदधिकानि । ततोऽत्र त्रैराशिककर्मावकाशः । यदि
चतुस्त्रिंशतेन शतेन अहोरात्राणांमष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि
प्राप्यन्ते, तत एकेन चन्द्रायणेन किं प्राप्नुमः ? । राशित्रयस्थाप-
ना-१५४ + १८३० + १ । अत्र मध्यस्य राशेरन्त्येन राशिना
गुणेन, एकेन च युजितं तदेव भवतीति जातान्यष्टादशशतानि
त्रिंशदधिकानि १८३० । तेनाप्यष्टेन राशिना चतुस्त्रिंश-
दधिकशतकेषु भागो द्वितये, ऋष्याध्वयोदश, शेषास्तिष्ठन्त्य-
ष्टाशुतिः । तत आद्यस्य राशेरस्य अष्टाध्वत्वारिंशतानि गुणेन जातानि अ-
ष्टपञ्चाशत् पराणवत्यधिकानि ५८६६ । तेषां चतुस्त्रिंशतधिकेन
शतेन भागो द्वितये चन्द्रायणपरिमाणमिदं सप्तषष्टिभागाः ।

सम्प्रति चन्द्रायणपरिज्ञानमिति संकरणमाह-
चंद्रायणकराणं, पवने पक्षरससंगुणं नियमा ।

तिद्विसंखितं संते, बावडीभागपरिहीणं ॥

नखलखं अरूपासे-ण भागलखं तु रूवमाएजा ।
जइ लखं हवइ समं, नायचनें दक्खिणं अयणं ॥

अहं हवइ जागलखं, विसमं नाणाहिं उत्तरं अयणं
सेसाणं अंसाणं, आसिस्सइ सो भवे करणं ॥

सप्तर्होर्णि विजने, जे लखं तइ हवति दिवसाभो ।
अंसा य दिवसभागा, पवचमाणस्स अयणस्सो ॥

चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वा प्रथमस्य परिमाणाय कर-
णमिदम्-यानि युगमध्ये पर्वाएपतिक्रान्तानि तत्पूर्वसंख्यां प-
ञ्चदशभिर्गुण्यते, ततः पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्ता-
स्तत्र प्रकियन्ते, ततो द्वाषष्टिभागपरिहीनमवमरात्रपरिहीने
कियन्ते, ततो नक्षत्रव्याधौमासेन तस्मिन् अर्धे सति यद् लक्ष्य-
मेकद्व्यादिकं तत् आदेयात्, पुष्ट्युक्त्वात् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः ।
तत्र यदि ऋष्यं भवति समं तदा दक्षिणं चन्द्रायणमन्त-
रमन्तरीतमवसेयम् । अद्य भवति भागलक्ष्यं विषमं तदा उत्तरं
चन्द्रायणमन्तरमन्तरीतं जानीहि । इदं युगस्यार्धौ मधमः च-
न्द्रायणमुत्तरं, ततो दक्षिणायनमतोऽत्र समं भागं दक्षिणायनमन्-
तरमन्तरीतमवसेयम् । विषमं ऋष्यं उत्तरायणमिति शेषास्तु मध्या
ये उद्वरितास्तोषांशानां सप्तषष्ट्या विभक्तं सति यद् लक्ष्यं
तत् प्रथमैवमानस्यायनस्य ज्वति दिवसाः, तथाऽप्युच्यते कशा
दिवसभागा ज्ञातव्याः । तथाहि-युगमध्ये नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां

केनापि पृथक्-किं चन्दायणमनन्तरमतीते ? किं वा साप्रतमनन्तरं दक्षिणं वा वर्धते ? । तत्र नवसु मासेषु पर्वणि अष्टादश, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७०। नवार्नां च मासानामुपरि पञ्चम्यां पृथगिति पञ्च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके ७७७ । नवसु च मासेषु चत्वारोऽधमरात्राः, ते ततोऽपनीयन्ते, जाते द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१ । एतस्य राशेर्नक्षत्रे मासादेन जागहरणं, तत्र नक्षत्रादेमासां न परिपूर्णाः, किन्तु कतिपयसप्तपथिभागाधिकः, तत एव सर्वोऽप्यधमरात्रयुक्तः सप्तपथ्या गृह्यते, जातान्यष्टादशशतानि शतमेकं पञ्चाशदधिकम् १८१५०। नक्षत्रादेमासस्य च दिवसपरिमाणं त्रयोदशदिवसाः १३, एकस्य च दिवसस्य चतुश्चत्वारिंशत् सप्तपथिभागाः १११ । तत्र त्रयोदश दिनानि सप्तपथिद्विभागकरणाद्यैः सप्तपथ्या गृह्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि एकसप्तत्यधिकानि, तत्र सपरितनाभ्युत्थत्वारिंशत् सप्तपथिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि नवपञ्चदशधिकानि ६१५। नैतेः पूर्वराशेर्मार्गे ह्ये लब्धा एकान्विशतिः १६ । शेषमुत्तरति सप्तशतानि सप्तसप्तत्यधिकानि ७७७ । तेषां दिवसाऽऽनयनाय सप्तपथ्या भागो ह्यिते, लब्धा एकादश दिवसाः, शेषास्तिष्ठति पञ्चत्रिंशत् सप्तपथिभागाः आगतमेकान्विशतिश्चन्द्रायणान्यतिकाप्तानि, अनन्तरं चन्द्रायणमतिक्रान्तमुत्तरायणम्, दक्षिणस्य चन्दायणस्य सम्प्रति प्रवृत्तस्यैकादश दिवसाः गताः, प्रादशस्य च दिवसस्य पञ्चत्रिंशत्सप्तपथिभागाः, पञ्चम्यां समाप्तयोः नवित्यन्तीति ॥ तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासमितमेकं दशम्यां केनापि पृथक्-कियति चन्दायणान्यतिकाप्तानि ? किं वा साप्रतमनन्तरमतीते चन्दायणं, किं वा सम्प्रति वर्धते चन्द्रायणं, दक्षिणमुत्तरं वेति ? । तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पर्वणि पञ्चदाश, तानि पञ्चदशनिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि ७५०। तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चदशिकानि ७६०। पञ्चविंशतिमासेषु चाधमरात्रा अष्टादशदशदशते पूर्वराशेरपनीयन्ते, जातानि सप्तशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ७६८। तानि सपरितनाकरणाद्यैः सप्तपथ्या गृह्यन्ते, जातानि पञ्चाशत्सप्तपथ्याद्यैः सप्तपथ्याद्यैः ५००। एते, लब्धाभ्युत्थपञ्चाशत् । शेषमुत्तरत्येषां शतानि षडशीत्यधिकानि ८८६ । तेषां दिवसानयनाय सप्तपथ्या जागहरणं, लब्धासूक्त्यादश दिवसाः, शेषास्तिष्ठति पञ्चदश, आगतानि चतुष्पञ्चाशत् चन्दायणानि अतिक्रान्तानि । अनन्तरं चातिक्रान्ते चन्द्रायणं दक्षिणं, सम्प्रति वर्धते उत्तरं चन्दायणम्, एतस्य च त्रयोदश दिवसाभ्युत्थराशस्य च दिवसस्य पञ्चदश सप्तपथिभागा दशम्यां समाप्तयोः नवित्यन्तीति । एवमन्यदपि भायनीयमिति ॥ ज्यो० ११ पाठु० । च० प्र० । सू० प्र० ।

अथपादा (य) -अयःपात्र-न० । लोहपात्रे, " अथपादाणि वा तथपादाणि वा " आख्या० २ भु० ६ अ० ६ उ० ।

अथमग-अजमार्ग-पुं० । प्रथमार्गमेते यत्र वस्येनाजेन गम्यते । तद्यथा-सुवर्णभूयर्था चाखदुक्तं गतः ॥ सूत्र० १ भु० ११ अ० ॥

अथवीहि-अजवीहि-क्री० । हस्तविधास्वतीविशाखाऽजुतराधापञ्चकूपमहाप्रह्वारविशेषमार्गं, स्या० ७९ ज्ञा० ।

अयसी-अतसी-क्री० । माहकप्रसिद्धे धान्यविशेषे, (तीसी-अहसी) ह्यो० ५ अ० । प्रयो० । प्रज्ञा० । आ० म० । क्री० । अन्त० ।

अं० । रा० । उत्त० । को० । भङ्गधाम, ज० ६ शृ० ७ उ० । अयसीकुसुमपण्यास-अतसीकुसुमप्रकाश-वि० । नीले, ह्यो० १ अ० । अन्त० । उपा० । रा० ।

अयसीपुष्प-अतसीपुष्प-न० । धान्यविशेषस्य प्रसूने, उत्त० ३५ अ० ।

अयसी (सि) वाण-अतसीवर्ण-वि० । अतसीकुसुमवर्णे श्यामवर्णे, उत्त० १६ अ० ।

अयहारि (ष्) -अयोहारिन्-वि० । लोहस्याहर्तरि, स्य० १ शृ० ३ अ० ४ ठ० ।

अयाकिवाणिज-अजाकुषाणीय-न० । ममोपरि कृपायं पति-प्यतीत्यजा न वेत्ति, तथा सति अजागले कृपाणपतरुपे अ-तर्कितोपस्थिते, आख्या० १ शृ० १ अ० १ उ० ।

अयाकुञ्चि-अजाकुञ्चि-वि० । अजायाः कुञ्चिरिव कुञ्चिरस्य तदजाकुञ्चि । उपा० २ अ० ।

अयामर (न) -अय आकर-पुं० । मरुतत्वाद् अयसकल्पम् । लोहाकरे, येषु निरन्तरं महासूयास्त्वयोदलं प्रक्षिप्य्याऽय उपाद्यते । ज्ञो० ३ प्रति० ।

अयाणेत-अजानन्-वि० । अविदुषि, " पावस्स फजाविषाणं अयाणमाणा वर्हति " । प्रज्ञ० १ सम्भ० द्यो ।

अयावय-अजग्रज-पुं० । अजावाटकः, " कंह पुरिसे अयासय-स्स एगं महं अयावयं करेज्जा " । अ० १९७ श० ३ उ० ।

अयावयद्व-अयावद्वय-पुं० । न यावद्वयः । अपरिसमाप्तं, दशा० ५ अ० २ उ० ।

अय्य-अय्यै-पुं० । " न वा यो द्यः " । उ० । २६६ । इति 'यै' जागस्य स्यः । [अस्याप्यस्तु ' अज ' शब्देऽत्रैव भागं २०० पृष्ठ कल्प्यते] " अय्य ! एषो तु कुमारे भ्रम्येकेह " । अय्यं । एष खलु कुमारां मलयकतुः । प्रा० ४ पाद ।

अय्युत्त-अय्यपुत्र-पुं० । " न वा यो द्यः " । उ० । २६६ । इति शौरसेन्यां यैभ्य स्थानं स्यः । अथपुत्रे, माटकसंबोत्थे नाय-कादौ, " अय्युत्त ! पर्याकुलीकदादिह " आर्यपुत्र ! पर्याकुली-कृताऽस्मि । प्रा० ४ पाद ।

अय्युष्ण-अय्युष्ण-पुं० । " जघयां यः " । उ० । २६२ । इति मागध्यां जस्य स्थानं यः । (' अय्युष्ण ' शब्दे २२४ पृष्ठेऽत्रैवासाध्याः) प्रा० ४ पाद ।

अर-अर-पुं० । न० । अ-अ- । चकनानिभयोर्भिवस्ये कष्टे, श्रौत्रे च । वाच० । न० । सर्वोत्तमं महासत्व-कुलेय उपाजयते । तस्याभिवृत्तये वृद्धै-रसावर उदाहृतः ॥१॥ इति वचनाद्-अरः । तथा गजैस्त्वैरस्मद् जनन्या स्वधने स्वर्गत्तमयोऽरः इह इति अरः । अ० २ अथि० । जम्बूद्वीपे जरतसेत्रे वर्त्तमानायावसर्पि-र्यां जाते सप्तमे चक्रांतोनि, स० । अरदशो तार्थेकर, स० । आब० । ति० । अथा० । प्रब० ।

सुमिणो अरं महारिं, पासद जगणी अरो तम्हा ॥४६॥ । तस्य सव्ये वि सव्युत्तमे कुले सुविधिकरा एव जायति, विसंसा पुण्यां- (सुमिणो अरं महारिं) । माहापञ्चमः । गन्धर्वात्तं मानाए सुमिणे सव्यराजस्योऽरं अरसुंदरो अरपमाणो अम्हा अरो दिटो तदा अरो । तिस पाणं कतं ति गाथायाः ॥४६॥ आब० २ अ० । आ० नृ० ।

अरइपरि (री) सह

तससदनापायमेवाऽऽह-

अरइं पिडुधो किंवा, विरए आयरक्सिप ।

धम्मारामे निरारंभे, उवसंते सुणी चरं ॥ १५ ॥

अरतिं पृष्ठतः कृत्वा विरतो हिंसाद्यैः, आत्मा रक्षितो दुर्गति-
हेतोपपत्त्यादेरनेत्यात्मरक्षितः, आध्याय वा हानादिलाभा र-
क्षितोऽनेनेत्यायारक्षितः, धर्मे आरमते रतिमात्रं स्यात् इति ध-
र्मारायः । यद्वा-धर्मे पदानन्दहेतुतया पादयनया वाऽऽरामो ध-
र्मारायः, तत्र स्थितः, निरारम्भ उपशान्त एवधिषो मुनिभरेत्
संयथास्थि, न पुनरन्यभारतिरप्यनेच्छुः स्याद ॥ १५ ॥

अत्र पुरोहितराजपुत्रयोः कथा । यथा-अचक्षुरे जिनशत्रुपुत्रः
अपरजितनाभा रोहाचार्येपाठ्ये दीक्षितः, अन्यथा विद्वान्, तग-
रां नगरां गतः, तावता उरजयिन्या आर्योदाचार्यशिष्यास्तत्रा-
गताः । पृष्ठं साधुना तेन उज्जयिन्याः स्वकर्म-सर्वे तत्र
चरन्, परं नृपपुत्रात्पुत्रो साधुपुत्रेजयतः । ततो गुरुनापृच्छय
स्वप्राप्त्यर्थोपायं शशिप्रज्जयिन्यां गतः, तत्र भिक्षावशायां सोऽ-
र्थोपप्राप्त्येव वादस्वरूपं 'धर्मलाभ' इति पत्रं राजकुले प्र-
विष्टः, राजपुत्रात्पुत्राभ्यां सोपहासमाकारितः । अत्राग-
च्छत, वन्दते । ततः स गतः । ताभ्यां उक्तम्-वेत्सि नति-
तुम् ? । तेनोक्तम्-वाद्यम्, परं पुत्रां वाद्यतः, तौ तादृशं वाद-
यितुं न जानीतः ततस्तेन तथा तौ कण्ट्रीतो पृथक्कृत-
हस्तपादादिसन्धिबन्धनौ, यथा अत्यन्तदुःखं कृतः । तौ
तादृशावय मुक्त्वा साधुपुत्राभ्ये ममाशानः ततो राज्ञा सर्व-
हन्त तत्राऽऽयातः, तमुपपन्नय प्रसादान् य तस्य पादयोः पपात ।
उत्वा-स्वामिन् ! सापराधायि इमौ स्वसौकार्यौ, अतः परम-
पराधं न करिष्यतः । साधुनोक्तम्-यदांमौ प्रमज्जनस्तदा मुञ्चा-
मि । राज्ञोक्तम्- एवमव्यक्तम् । तस्मात् प्रथमं सोऽं कृत्वा प्रमा-
जितौ, तत्र राजपुत्रो निःशङ्कितो धर्मं करित, इतरस्तु अमयं
वदति, अहं बलेन प्रमाजित इति वेत्स्योद्वेगं वदति । परं पात्र-
दिव्या द्वायपि चारिभं शुद्धं मृत्वा तौ दिवं गतौ । अस्मिन्नवस्त्रे
कौशाभ्यां तापसश्रेष्ठं मृत्वा स्वगृहे शुकरो जातः, तत्र जातिस्मर-
णं प्राप्तवान्, सर्वे स्मृत्यादिदुःखं प्रत्यभिजानानि परं वक्तुं न
किञ्चित् शक्नोति स्म । अन्यदा सुनिर्णय शुकरो मारिनः, ततः स-
शुद् एव सर्पो जातः । तत्रापि जातिस्मरणमाप, पुनस्त्वेवं मारितः,
ततः पुत्रपुत्रो जातः । तत्रापि जातिस्मरणमाप । स एवं चिन्तयति-
कथमनो पूर्वेनधव्यमत्तस्मदहमुत्पामिः, कथं चेत्तं पुत्रवपुत्रपि-
तरमहमुत्पामिः, इति विचार्य मीनम्रांश्रतो मूकजतमाव जातः ।
अन्यदा कनाचिन्त चतुर्भोजिना तत्रोपं क्राव्या स्वाशिष्यामुत्पाम्
गाथा श्रित्वा-"तावस ! किमिहा मूख-व्यएण पडिबज्ज जाणिअं
धम्मो ! मरिउण सुमराररा-जार्भो पुत्रस्स पुत्र सि" ॥१॥" । ततो गाथां
भुत्वा प्रतिबुद्धो गुरुणां सुआवकोऽभूत् । पतस्मिन्नवयसरे सोऽ-
मायपुत्रज्जिवदेवा मदांवंदहे तीर्थेअरसमापं पुच्छति-जगयम् ।
किमहं सुलभयोधिउत्तं ज्ञांभिवो ? इति प्रश्ने प्राकं तं तीर्थेदरे-
ण-"त्वं दुर्लभं बोधिः कौशाभ्यां मूकज्ञाना भावी" इति लघोः स-
स हुरां गतो मूकपाठ्ये । तस्य बहु उच्यं दत्त्वा प्राकनवान्-यदाऽहं
वन्मातृदुदरे अयस्ये तदा तस्या आश्रयोहंदां भविष्यति, स
हंहदः साम्भनं महाशिवः सदापहास्यस्त्वस्यवा तदानीं
तस्याः पूर्णकार्यः । पुनस्त्वया तथाधिषेयं यथा तदानीं
मम धर्मप्राप्तिः स्यात्, एवमुक्त्वा गतो देवः । अन्यदा
देवशोकात् ऋदुरवा स देवस्तस्या गमं समुपनय, तस्या-

आप्रदोहदः समुपनये शुकं पूर्णोकरित्या पूरितः । पुत्रो जातः मू-
कस्तु तं बालं लघुमपि करे कृत्वा देवान् साधून् कृत्वा न्यायति,
परं स दुर्लभं बोधिं च तेन ताव दृष्ट्वा रटति । एवमाभासकाहावपि
भृशं प्रतिबोधिं तोऽपि स न बुध्यते । ततो मूकः प्रमाजितो गतः
स्वर्गम् । अथ देवीभूतंन मूकजीवेन स दुर्लभं बोधिं प्राप्तः प्रति-
बोधिं कृतं जज्ञादस्वधवात् कृतः वैधक्यं कृत्वा देवेन उक्तः-
अइं सर्वरोगोपशमं करोमि । जज्ञादरी वाकि-मम जज्ञादरोपशा-
न्तिं कुरु । वैद्यनोक्तम्-तवासाधुऽयं रोगः, तथाऽय्यइं प्रतीकारं
करोमि, यदि मम पृष्ठे औषधकांथशकं समुपाठ्य भवेव सहगाम-
मिष्यसि । तेनोक्तम्-एवं भवतु । ततो वैद्येन स जोहोरी सञ्जी-
कृतः समाधिभाग् जातः । ततस्त्वयोपादताय औषधकांथशक-
स्तेन दत्तः । स तपुष्टे प्रमदं तं कांथशकमुपादयति । देवमाय-
या स कांथकं प्रातिनारवान् जातः, ततस्त्रिजरां वहन् स
सिद्यति, परं तमुत्पुत्रय पञ्चाङ्गुतं न शक्नोति, मा दूयपञ्चाङ्ग-
स्य मे पुनर्जज्ञादरत्ययति विमर्शं कुर्वन् वैद्यस्यैव पृष्ठे कांथ-
शकं वहन् प्रमति । एकदा एकस्मिन् देशे स्वाध्यायं कुर्वन्तः सा-
धवो दद्याः । तत्र तौ गतौ । वैद्यनोक्तम्-त्वं दीक्षां वदतु गृहीष्यसि,
तदा त्वां मुञ्चामि । स प्रारजम्नो वक्षि-गृहीष्याम्येव । ततो वै-
द्येन अस्य दीक्षा दापिता । देवं च स्वस्मानं गते तेन दीक्षा
परित्यक्ता । देवेन पुनरपि तथैव जज्ञादरं कृत्वा वैधक्यपथेण पु-
नरसौ दीक्षां प्राहितः । पुनरीत च देवं तेन दीक्षा त्यक्ता । पु-
तीयवारं दीक्षां दापयित्वा वैधक्यो देवः सार्कं तिष्ठति सिर्वा-
करणायाः । एकदा तुभारं गृहीत्वा स देवः प्रज्जन्मकामे प्रवि-
शति । ततस्तेन साधुनोक्तम्-ज्जशति प्राप्तिं कथं प्रविशसि ? ।
देवनोक्तम्-त्वमपि कौषामनामापारोऽसि । प्रज्जन्तं गृह्णा-
से धार्यमाणोऽपि पुनः पुनः कथं प्रविशसि ? । वैधक्येण
देवेनैवमूकोऽपि स न बुध्यते । अन्यदा तौ अदृश्यां गतौ । देवः
कण्टकाकुले मार्गं वरति । स प्राह-कस्मादुत्सार्गेण यासि ? ।
देवनोक्तम्-एवमपि विशुद्धं निर्मलं संयममाणं परित्यज्य आधि-
व्याधिक्ये कण्टकाकारिणं संसारमार्गं कस्माद् यासि ? । एवं देवे-
नोकोऽपि स न बुध्यते । पुनरेकस्मिन् देवकुले गतौ । तत्र यज्ञ
इत्सितपूजापुत्रमार्गोऽपि पुनः पुनर्धोमुक्तः पतति । स कथयति-
अहो ! यक्षस्य अश्रमत्वं, यक्षपुत्रमार्गोऽप्ययमधोमुक्तः पतति । दे-
वेनोक्तम्-स्वमन्यतादृशोऽयम्, यद्गन्धमानः पूत्रमार्गोऽपि स्वत्वं पु-
नः पतसि । स साधुर्वाकि-कस्वमं ? । देवेनोक्तम्-कस्वत्वं दृ-
शितं, पूर्वंभवस्वत्वं कण्टकापिनः । स वति-अत्र कः प्रत्ययः ? ।
ततो वैताळ्यं त्वैववन्दनार्थं देवेनाऽसौ प्रापितः । तत्रैकस्मिन्
सिंहायतनकाणं दुष्प्रजाधिदेवं स्वधोपायं मूकविदितं स्व-
कुमारलयुगलं आप्नितमज्जत् । तत्सदानीं दर्शितं, ततस्तस्य
जातिस्मरणं जातः तेनाऽयं चारिणं दृष्टताऽस्तुत् । अस्य पुत्र-
मरितः, पञ्चाद् रतिः । उक्तं २ अ० ।

अरइपरि(री)सहविजय-अरतिपरि (री) सहविजय-पुं० अर-
तिपरिजनेन, पं० सं० । सुभोपदेशतो विहतरत्सिष्ठतो वा क-
दाचनपि यद्यतरित्युपघते तदाऽपि स्वाध्यायप्याननावनकप-
धर्मारमरत्वेन यदरतिपरिजनेन सोऽरतिपरिहविजयः ।
पं० सं० ४ हार ।

अरइमोहणिउज-अरतिमोहनीय-म० । नोकषायभेदे, यदुत्पा-
त्सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य बाह्यरूपत्वेन यदस्तुत्प्रती-
नेवति । कर्म० । कर्म० ।

भरद्वाह-अरतिरिति-स्त्री० । मांहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगोऽरतिः, रतिः मोहनीयोदयाच्चित्तप्रसासिः । इति वृहत् । कल्प० ६ कृ० । रत्यरत्योर्हृद्वे, “ वाण अरतिरत्तम् ” । अरतिश्च तन्मोहनीयोदयजम्बिचविकार उद्वेगसङ्कल्पः, रतिश्च तथाविधामन्वक्याः; अरतिरानि इत्येकमेव विधासितम्, यतः क्वचन विषये या रतिस्तामेव विषयाम्बरपोक्या अरतिं ध्यपदिशति, एवमरतिमेव रतिम्, इत्यौपचारिकमेकत्वमन्योरस्तीति । (समा० स० न०) । रत्यरत्योरेकतायाव, स्था० १ ग० १ उ० ।

भरद्वाहसह-अरतिरतिसह-पुं० । अरतिरती सहते इत्यरतिरतिसहः । रत्यरत्योर्ह्येविधादावकुर्वाणे, कल्प० ५ कृ० ।

भरद्वाहमावणुचिच-अरतिमापभाचिच-त्रि० । संयमे उद्वेगगताभिप्राये, दश० १ सू० ।

भरद्वाह-अरज्ज-न० । लज्जामिति प्रसिद्धे उद्वेगकुण्डे, स्था० ६ ग० ।

अरक्खरी-(अरज्ञापूरी)-स्त्री० । चन्द्रध्वजनुपपन्निते स्वनामक्याते प्रयन्तनगरे, “ततः प्रयन्तनगरे, अरक्खरीति नामनि । अस्ति मास्यलिकस्तत्र, जिनवन्द्यवजामिषः” ॥ १४ ॥ आ० क० । आ० सू० । आ० ।

अग्गाउत्त-अरकायुक्त-त्रि० । अरकैरभिधिघनाऽन्विते, म० ३ श० १ उ० ।

अग्गाउत्तसासिय-अरकौत्रासित-त्रि० । अरका उत्रासिता अस्फालिता यत्र । आस्फालिताऽरके, म० ३ श० १ उ० ।

अरज्जुपपास-अरज्जुकपाश-पुं० । रज्जुकं विना बन्धने, तं० ।

अरज्जिय-अरहित-त्रि० । निरन्तरे, “ अरज्जियमितावा नह बी तर्षिति ” अरहितो निरन्तरोऽजितापो दाहो येषां तेऽरहितमितापाः । सूत्र० १ श्रु० ५ आ० १ उ० ।

अरणि-अराणि-पुं० । अन्वर्थे निर्मेधनीयकाष्ठे, नि० ३ वर्ग । विघ्नो० । आ० । ज्ञा० । “ अरणि महिऊण आग्नि पादेह ” आ० म० द्वि० । “ अथि णं घणसहमया अरणिसहगया ” । अरणिर्मन्थर्थे निर्मेधनीयकाष्ठे तेन सह गतो यः स तथा । म० २५ श० ८ उ० ।

अरणिाया-अरणिाका-स्त्री० । स्कण्पबीजवनस्पतिभेदे, आ० १ श्रु० १ म० ५ उ० ।

अरस-अराय-न० । कान्तारे, स्था० १ ग० १ उ० । उच्य० । आ० । निर्जने, अष्ट० ४ अष्ट० । वने, उच्य० १५ म० ।

अरसवर्दिसग-अरायावर्तसक-न० । एकादशदेवसोकाविमानभेदे, स० ३२ सम० ।

अरत्त-अरत्त-त्रि० । रागरहिते, आ० १ श्रु० ३ म० २ उ० ।

अरत्तुद्ध-अरत्तुद्ध-न० । रागद्वेषरहिते, दश० । ध० २० ।

अरय-अरक-पुं० । अवसर्पिण्युसर्पिणीसङ्कणस्य कासकस्य सुषमसुषमाऽऽदिके दाहो ज्ञेयो, ति० । अरहाभ्यां, आ० म० द्वि० । अरकाणां परस्परसाहचर्यं यथा—“ कुचद्रुमि हरिर्मन्थयुति, हेमवदरवड्द्रुमि विदेहे । कमसो सयाऽवसर्पिणि, अरय-वड्द्रुमि समकाशे ” ॥ १०८ ॥ लघुहेमसमासमकरणे ।

अरज्ज-त्रि० । स्वामाधिकरजोरहिते, स० । कल्प० । प्रज्ञा० । रजोगुणकामक्रोधद्विशुष्ये, धृतीशुष्ये च । वाच० । त्रयःसप्ततितम महाप्रह, “ दा अरया ” स्था० २ ग० ३ उ० । च० प्र० । कल्प० । सू० प्र० । ब्रह्मलोकस्त्विमानप्रस्तभेदे, न० । स्था० ६ ग० । कुसुदाविजयस्वराजधाम्याय, “ कुसुदे विजये अरजा राजधानी ” । जं० ४ वक्त्र० । रजसोऽभावे (अथ० न०) उच्य० १८ म० ।

अरत्-त्रि० । आरम्भनिवृत्ते, निर्मित्वे च । आ० १ श्रु० ५ म० ३ उ० । सूत्र० ।

अरयंवरवत्थपर-अरजोऽम्बरवक्त्रपर-त्रि० । अरजोऽसि रजो-रहितानि च तानि अम्बरवक्त्राणि स्वच्छतयाऽऽकाशकल्पव-सनाभ्यरजोऽम्बरवक्त्राणि, तानि धारयतीति यः स तथा । तथाविधवक्त्रधारके देवादी, म० ६ श्रु० २ उ० । उच्य० । प्र-ज्ञा० । जं० ।

अरयण-अरणि-पुं० । वितताङ्गुलैः करे, स्था० ४ ग० ४ उ० ।

अरविन्द-अरविन्द-न० । पद्मविशेषे [कमले,] आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । “पुष्पेक्षु वा अरविन्दं पहायु” । सूत्र० १ श्रु० ६ म० स्था० ।

अरस-अरस-न० । अविद्यमानाहार्यरेसे दिक्स्वादिभिरसं-स्कृते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । अमातरसे, द० ५ म० २ उ० । ज्ञा० । म० । श्री० ।

अरसजीवि (ए)-अरसजीविन-पुं० । अरसेन जीवितुं शी-लमाजन्माऽपि यत्स तथा । अरसाऽऽहारे, स्था० ५ ग० १ उ० ।

अरसाल-अरसास-त्रि० । विरसे, ‘अरसासं पि मोयणं सुतं गंधसुतं’ । ति० सू० २ उ० ।

अरसाहार-अरसाहार-पुं० । अरसं दिक्स्वादिभिरसंस्कृतमाहा-रयन्तीति; अरसो वाऽऽहारे यस्यासावरसाहारः । तथाविधा-भिप्रहविशेषधारके, स्था० ५ द्वा० १ उ० । ज्ञा० । श्री० ।

अरह-अरहम्-पुं० । न विद्यते रह पकान्तो गोप्यमस्य, सकल-संनिहितव्यवाहितस्फुल्लसूचमपदाथैसाक्षात्कारत्वात्, इत्य-रहाः । स्था० ६ ग० १ उ० । न विद्यते रहां विजाने यस्य सर्व-ज्ञत्वात्सावरहाः । स्था० ६ द्वा० ।

अर्हत्-पुं० । अशोकाच्छमहामातिहार्यदिकुपं पूजामर्हतीत्य-हन् । पा० । कल्प० । आ० । उच्य० । अशोकादिमातिहार्यपूजा-योग्ये, कल्प० ६ स० । सूत्र० । इष्कादिभिः पुत्र्ये, उच्य० ६ म० । तीर्थकृति, सूत्र० १ श्रु० ६ म० । जिने, स्था० ३ द्वा० ४ उ० । “ तन्नो अरहा पश्यता । तं जहा-भांदिनाणअरहा, मणुपञ्च-पाणअरहा, कथलपाणुअरहा ” । स्था० ३ ग० ४ उ० ।

अरहंत-अर (र) हत्-पुं० । अर्हन्ति देवादिकृतं पूजा-मित्यहन्तः । अथवा मास्ति रहः प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यङ्गान्निव्वासेऽरहन्तः शेषं प्राभवत् । एते च सल्लसया अपि भवन्तीति । स्था० ३ ग० ४ उ० । अमरवचनिर्मिताऽशोकादि-महामातिहार्यकृपां पूजामर्हन्तीत्यहन्तः । अविद्यमानरहस्येषु, अनु० । दश० १ म० । पं० सू० ।

अरहंते सिद्धे अपारिष्व उवज्जाए साहवे जत्य । एप्सि
चेव गञ्जत्थसम्भावो इमो । तं जहा-तनराभ्यामुरस्स एं
अणस्सेव जगस्स अट्ठमहापादिहराप पूयाए समोवहाक्खियं
अण्णससिसमचित्तमाहणं केवलाह्णित्थियं पवकमपत्तं ॥

(अरहंते चि) अरहंता श्रवसकम्मकल्पणं भिद्दुञ्जवेकुर-
णाभो न पुणो हि जन्वति, जन्मंति, उववज्जति वा, अरहंता
वा गिम्माहियनिहयनिहयिनिहयिन्नियंतिवियिअजिनियसुपुज्जा-
या ॥ महा० ३ अ० । भा० । प्रव० । दश० । त्रिभुवनपूजा-
योग्येषु तीर्थकरेषु श्रवभाविषु, कल्प० १ स्म० । आर्जावि-
ककल्पनया गोशालकाऽप्यहं, अत एव तेऽहंहंताका इत्युच्य-
न्ते । "अरहंतदेवयामा" गोशालकस्य तत्कल्पनयाऽहंत्वात् ।
म० म२० ५ उ० । "जो जाणइ अरहंते, दब्बत्तणुणपज्जव-
णेहि । सो जाणइ अप्पाणं, सोहो अब्बु जाए तस्स लव" ॥ १ ॥ न० ।
अरहोऽन्तर-न० । अविद्यमान रह पकान्तरुपा देशोऽन्त-
रब्ध मध्यं गिरिगुहादीनां सर्वचेरितया समस्तवस्तुस्तीमगतम-
च्छन्दनस्वस्याभावेन येषां ते अरहोन्तरः । अहंत्सु जिनेषु,
म० २ श्च० ३ उ० ।

अरहान्त-पुं० । अविद्यमानो रथः स्थान्तः सकलपरिग्रहो-
पलक्षणभूतः, अन्तश्च विनाशो जरापुलकणभूतो येषां तेऽर-
धान्ताः । ज० १ श० १ उ० ।

अरहयत्-पुं० । कविद्वयासक्तिमगच्छत्सु क्षीणरागवान् प्रकृष्ट-
रागादिहेतुच्युतमनोछेतरावियस्यस्येऽपि वीतरागत्यादिक स्व-
भावावयवजत्सु जिनेषु, म० १ श० १ उ० ।

अरहंतमगमाभि (भू)-अहंन्यागमाभि-त्रि० । अहंउपदि-
ष्टेन मांशेण गमुं शीलं यस्य । जैन साधूः, "अरहंतमभागा-
मी, दिष्टेनो साहूणो वि समभित्ता । पागरपसु गिहांसुं, पसंते
अवहमाणा उ" ॥ १५१ ॥ दश० १ अ० ।

अरहंतज्ञादि-अहंज्ञादि-अ० । अविद्यते, यथाऽहंत्वं स-
म्भावेति । प्रव० २७० द्वार ।

अरहं-अरयत्-पुं० । षटीयज्ञे, "अम्मणमरणरहहे,
जिण्ण भवा विमुच्छिदिसि" । भात० । भाव० ॥

अरहस्य-अरहन्त-पुं० । अहंनिमज्जातरि, ग० ।

तद्वृत्तं चेत्यम-

खिमितिष्ठत्तं नाम, पुरं गौ तत्र सोदरै ।
अहंजतेऽहंनिमज्ज, ज्येष्ठभायं लवी रता ॥ १ ॥
लघुनिच्छति तां चाऽऽह, ज्ञातव मे न पश्यसि ।
पति ध्यापाद्य सा भूय-स्तभूचे न त्वयंस्त सः ॥ १ ॥
निवेदेनाऽथ तनैव, स लघुमेतमाह्वे ।
तद्रका साऽपि मृत्वाऽभूत्, प्राप्ते काप्यसितः शुनी ॥ ३ ॥
साचवोऽपि ययुस्तत्र, शुन्याऽदृति मुनिः स च ।
तद्वैवाऽऽगत्य सा त्रेय, मुहुभंतिरियाऽकरोत् ॥ ४ ॥
मधः सापुष्टेता साऽथ, आताऽऽप्यां च मकटी ।
तस्या एव च मध्येना-ऽऽव्या यातां कथञ्चन ॥ ५ ॥
अन्तमेनीनां तं वीर्य, प्रेयणा शिन्सेय मकटी ।
तां विमोचयाऽथ कथन, स कथञ्चिपत्सावितः ॥ ६ ॥
श्रुत्वा तत्रापि सा अञ्ज, यक्षी तं प्रेक्ष्य साऽवधेः ।

नैचम्मामेव मच्चिक्रा-णीकृते न त्वधिगत ॥ ७ ॥
समानवयसोऽयोचद, इत्यस्तसं च साधवः ।
त्वमहंनिमज्ज ! धन्याऽसि, यच्चनीमकटीऽमित्यः ॥ ८ ॥
अन्यदा क्रमणाश्चक्षुषं अहवाहं विलाङ्गित्युत्त ।
प्रमादाकलिनदेन, पदं प्रासारयम्मनिः ॥ ९ ॥
तस्य तच्चिक्रमासाद्य, सा चिच्छेदाकियुत्ततः ।
स मिष्याऽऽकृतं जल्प-नपतज्जहाद्द्विहिः ॥ १० ॥
सम्यग्दर्शः क्षुरी तां च, मिषात्थ्यं तं मुनेः क्रमम् ।
तथैवालगत्यद् भूयां, देवताऽतिसृश्ये च ॥ ११ ॥ ग० २ अचि० ।
आ० म० । आ० ष्च० ।

अरहञ्जक-पुं० । तारागणव्यामहंनिमज्जाचार्यपाश्चे प्रव्रजितया
दक्षयगिम्माभेया सह प्रव्रजिते पुत्र, तत्त० २ अ० । (स बोधणीपरी-
षहमसहमान चर्यामजित इति अरहपरीसह) शब्दे द्वितीयाभागे
७५४ पृष्ठे वदयते) चर्यामगरीवासिनि देवचण्डकृतसप्तपुगलं
मञ्जीनाथाय समर्थकं स्वनामख्याते सांयात्रिकवर्णिते, ज्ञा० ।

अरहञ्जकथा-

तस्य चंपाए लयरीए अरहस्यपामोक्त्वा बहवे संजला
णावावाणियाणा परिवर्तते अट्ठा जाव अपरिभूया । तए
थं मे अरहएणेण समणोवापमं यावति द्वान्था अजिमथ-
जीवाजीवे । वएणमो-तए णं तसि अरहस्यपामोक्त्वाणं
संजत्तानावावाणियगाणं अएणया कयाई एगअोसद्विया-
णं इमेया र्वे मिट्ठो कहांललावे समुण्णज्जेत्ता । सेयं त्वत्तु
अमहं गणियं च परिमं च मेज्जं च परिच्छेज्जं च जंरुमं
गहाय ज्ञवणममुदं पीयवहणए उवगाहितए चि कट्टु अण-
मएणस्स एयमहं पोयसुणेति, परिमुणेइत्ता गणियं च प
गिरहइइ, गिरहइत्ता सगही-सागमं सज्जेति, मज्जेतिता
गणियस्स प धंरुस्स सगही-सागदियं जरेति, भंरुत्ता
सोहणंमि तिद्विकरणएकलसमुहुत्तंसि विउळं अमणं पाणं
स्वाइमं साइमं उवकलकावेइ, उवकलकावेइत्ता मित्तणाइजो-
अणवेलाए जुजावति० जाव आपुच्छेति, आपुच्छेइत्ता ग-
णियस्स प जाव सगही-सागदियं जायेति, जायेतिता चं-
पाए लयरीए मज्जं मज्जेणं गिगण्णेतिति, गिगण्णेतिता
नेणेव गंजीरपोयपट्ठाणं, तेणव उवागच्छति, उवागच्छ-
इत्ता सगमी-सागदियं मोयंति, पोयवहणं सज्जेति, सज्जे-
इत्ता गणियस्स प जाव चउत्थिहस्स भंरुस्स जरेति, तं-
दुसाण ए समियस्य य तेज्जस्स य धयस्स य गुहस्स य
गोरसस्स य उदगस्स य भायणाणं य आमोहएणयं येसजा-
णं य तणस्स य कट्टस्स य आवरणाणं य पहरणाणं य
अएणेसि च बहूणं पोयवहणपाउगाणं दब्बानं पोयवहणं
भरोति, जरेइत्ता सोहणंमि तिद्विकरणएकलसमुहुत्तंसि वि-
उळं अमणं पाणं स्वाइमं साइमं उवकलकावेति, मित्तणाइं
आपुच्छति, जेणव पोयट्ठाए, तेणव उवागच्छति, उवाग-
च्छतिता तए थं तसि अरहस्यपामोक्त्वाणं वाणियगाणं

पिच्छोमेमि जेषं तुमं अहृत्तुहृदवसे अकाले चैव जीवि-
याओ बबरोविज्जसि । तए णं से अरहस्यए समणोवासए
तं देवं मणसा चैव एवं वयासी-अहं णं देवाण्णिया । अर-
हस्यए णामं समणोवासए अहियजिवाजीवे नो खलु अहं स-
का केणइ देवेण वा दाएवेण वा० जाव गिग्गंथाओ
पावयणाओ चात्तिए वा खोजिए वा विपरिणामिए वा
तुमजं जा सहा तं करोहिं ति कहु अनीए० जाव अ-
जिएणमुहरागनयणवएणे अदीणवियणमाणसे शिचल्ले
णिच्छेदे तुमिणीए धम्मञ्जाणोवगए विहरइ । तए णं से
दिब्बे पिसायरूवे अरहस्यं समणोवासं दोब्बं पि तच्चं
पि एवं वयासी-अहं अरहस्यगा ।० जाव धम्मञ्जाणोव-
गए विहरइ । तए णं से दिब्बे पिसायरूवे अरहस्यं सम-
णोवासं धम्मञ्जाणोवगए पासइ, पासइत्ता बलियतरां
आसुरचे तं पोयवहणं दोहिं अंगुलियाइं गिएहइ, गिएह-
इत्ता सत्तइत्तल० जाव अरहस्यं एवं वयासी-अहं अरह-
स्यगा । अपत्तियपत्तिया । नो खलु कप्पइ तवसीन्नवय गुण-
बेरमणं, तेव० जाव धम्मञ्जाणोवगए विहरइ । तए णं से पि-
सायरूवे अरहस्यं जाहे नो संचाएइ, निग्गंथाओ चात्ति-
ए वा तहं वंते० जाव शिचल्ले तं पोयवहणं साण्यं स-
णियं उवरि जंसे संजेइ । संजेइत्ता तं दिव्वं पिसायरूवं प-
त्तिसाहरइ । पत्तिसाहरित्ता दिव्वं देवरूवं विउव्वंति, अंतस्सि-
क्खपडिक्खे तस्सिखणियं० जाव परिहिए अरहएणं सम-
णोवासं एवं वयासी-अहं अरहएणगा । पणोमि णं तुमं
देवाण्णिया ।० जाव जीवियफत्ते जस्स णं तव निग्गये पाव-
यणे इमेयारूवे पत्तिवचीं ह्वात्ता पत्ता अजिसमसागाए, एवं
खलु देवाण्णिया । सके देविदे देवराया सोहम्मे कप्यं सोह-
म्मावत्तिसए वियाणे सजाए सुहुम्माए बहूणं देवाणं मज्जगए
महया सदेणं आइक्खइ भासइ पणवेइ अरहइ । एवं खलु
जंसेही देवीं जारदे भासे चंपाए णयरीए पक्खइए सम-
णोवासए अहियजिवाजीवे नो खलु सका केणइ देवेण वा०
जाव निग्गंथाओ पावयणाओ० जाव परिणामिए वा । तए
णं अहं देवा सकस्म देविदस्स एयमं नो सहामि नो पत्ति-
यामि नो रोचयामि । तए णं मम इमेयारूवे अब्भत्थिए०
जाव ममुप्पजित्ता गच्छामि णं अहं अरहस्यगस्स समणो-
वासयस्स अंतियं पाउन्नवामि जाणामि ताव अटं अरह-
स्यं किं पियधम्मं नो पियधम्मं ददधम्मं सीस्सन्नवयुणे किं
चात्तेति० जाव परिच्छइ नो परिचय ति कहु एवं मंपेहेमि
मंपेहिन्ता ओहिं पउंजेमि, देवाण्णिया । ओरिया आओ-
एमि उचरपुरच्छिंमं दिसींजागं उचरपुरच्छिंमं विउव्वियं म-
सुम्माति, ताए उक्किए० जाव जेषेव लवणसस्ये जेषेव
तुम्हे तेणेव उवागच्छामि, तुम्हाणं उवसमं करेमि । नो चैव

णं तुम्हे जीया वार्तं जसं सके देविदे देवराया एवं वयंति-
सखंणं एसमहे तं दिहेणं देवाण्णिया णं इही जुं जसे भले
वीरिए पुरिसकारे परिकमे लक्खे पचे अजिसमसागाए तं
खामेमि णं देवाण्णिया तुज्जां सुज्जो० जाव णो एवं करण-
याए ति कहु पंजसिउके पायवकियाए एयमं वियए-
णं सुज्जो सुज्जो खामेइ, खामेत्तित्ता अरहस्यगस्स पुवे कुं-
रुलजुयलं दलइ, दलइत्ता जामेव दिसि पाउन्नव यामेव
दिसि पटिगए । तए णं से अरहएणए समणोवासए
निरुवसग्गे ति कहु पटिंमं परोति । तए णं अरहएण-
गपामोक्खा० जाव बाणियगा दक्खिणाणुकुसेणं वा-
एणं जेषेव गंभीरपोयट्ठाणे तेणेव उवागच्छइ, उवा-
गच्छइत्ता पोयं उवेइ । पोयं उवेइत्ता सगदी-सागदं स-
ज्जेइ । सज्जेइत्ता गणियं च ४ सगदी संकामेइ,
सगदी सागदं जोवेति जेषेव मिहिला रायट्ठाणीं तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मिहिलाए रायट्ठाणीए बहि-
या अग्गुज्जाणं सगदी-सागदं जोएइ । तए णं अरह-
एणगे समणोवासए तं महत्तं विउव्वं० जाव रायणं
पाहुं कुंरुलजुयलं गिएइ, गिएइत्ता मिहिलाए रायट्ठा-
णीए अण्णियाविसइ । अण्णियाविसइत्ता जेषेव कुंजए राया
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव कहु तं
महत्तं रायारिहं पाहुं दिव्वं कुंरुलजुयलं च पुत्राओ उवे-
इ । तए णं से कुंभए राया तेमि संजसगाणं० जाव एदि-
च्छइ, पदिच्छइत्ता मग्गिं विदेहरायवकणए सहावेइ । सहा-
वेइत्ता तं दिव्वं कुंरुलजुयलं मग्गीए विदेहरायवकणगाए
पिणच्छइ । पिणच्छइत्ता पटिविमज्जेइ । तए णं से कुंजए
राया ते अरहस्यगपामोक्खे० जाव बाणियए विउव्वेणं
वत्तयंमग्गालंकारेणं जाव उस्तुकु विपरइ । रायमगे मोगा-
दे य आवासे वियरइ पटिविमज्जेइ । पत्तिसज्जेइत्ता तए
णं अरहएणमंजगा बाणियगा जेषेव रायमगे मोगा-
दे आवासे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता मंगववहर-
णं करोति पत्तिसंजे गिएइ । गिएइत्ता सगदी-सागदं भरे-
ति; जेषेव गंभीरपोयट्ठाणे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइ-
त्ता पोयवहणं सज्जेइ जंसे संकामेइ, दक्खिणाणुकुसेणं
वाएणं जेषेव चंपा णयरीं तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता
पोयपट्ठाणे तेणेव पोयलंवेइ । पोयलंवेइत्ता सगदी-सागदं
सज्जेइ । तं गणियं ४ सगदी संकामेइ० जाव महत्तं
पाहुं दिव्वं कुंरुलजुयलं गिएइ । गिएइत्ता जेषेव चं-
दच्छाए अंगराया तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता तं
महत्तं कुंरुलजुयलं च उवगेइ । तए णं चंदच्छाए अंग-
राया तं दिव्वं महत्तं च कुंरुलजुयलं पदिच्छइ । पदिच्छ-
इत्ता ते अरहस्यगपामोक्खे एवं वयासी-तुम्हे णं देवाण्ण-

पिया ! बहुणि गामगरं जाव आदिंरुह लवणसमुद्ं च
 आभिकलणं अभिकलणं पोयवहणेहि उगहेह, तं अत्थि-
 यादिं ते केइ काहिं वि अच्चेरदिदुधुत्तु । तए णं ते अरहस्य-
 गपामोक्त्वा चंदच्छायं अंगरायं एवं वयासी-एवं खलु
 सामी ! अम्हेइ इहेव चंपाए नयरीए अरहस्यगपामोक्त्वा
 बहुवे संनचानावावाणियगा परिवसामो, तए खं अम्हे
 अद्यया कयाइं गणिंमे च ४ तहेव अहीणं अतिरिचं
 जाव कुंजगसस रथो ठवणमां, तए णं से कुंभए राया
 मल्लीए विदेहरायवरकप्पाए तं दिव्वं कुंभसुयुत्तं पिण्हे-
 ङ । पिण्हेत्ता पवित्रिसज्जं । तए खं सामी ! अम्हेहिं
 कुंजगरायभवणंसि मल्लीए विदेहरायवरकप्पाए अच्चेरए
 दिडे एको खलु अद्या कावि तारिसिया देवकप्पागं
 जाव जारिसिया णं मल्ली विदेहकणाए, तए णं चंदञ्जाए
 राया अरहएणगपामोक्त्वे सकारेइ सम्माणेइ । सम्माणेइ
 ता उस्सुकं विपरइ पदित्रिसज्जेइ । तए णं चंदच्छाए राया
 वाणियगजणियहामे द्यं सदावेइ । सदावेइसां जाव जइ
 वि यं सासयं रज्जुमुक्त्वा तए णं से दूए दृच्छुत्ते पदि-
 षुण्णेइ, जेषेव सए गेइ जेषेव चाउपेते आसरहे दुस्सेउ
 जाव पट्टारत्थ्यगपप्पाए ॥

(संज्ञानामावाणिवर्ण) संज्ञता यात्रा देशान्तरगमनं
 संज्ञात्र, तत्प्रधाना नीवाणिजकाः पोतवणिकः, संज्ञात्रानीवाणि-
 जकाः । (अरहस्ये समणोवासो यो वि होरथ सि) न केवत्त-
 मन्नादिपुण्युकः, अण्णोपासकश्चाप्ययुत् । (गणिंमे चंपा-
 दि) गणिंमे-नालिकेरपुगकप्पाइ, यइत्थितं सव्ववहारे प्रविश-
 ति । अरिंमे-यत्तुलाभूते सव्ववहारेइ । मेयं- यत्सतिपक्खादिना
 मीयते । परिच्छेद्य-यदुण्णतः परिच्छुयते परीइयते वक्ख-
 मयथादि । (समियस्स य सि) कणियकायाश्च, (ओसइण य ति)
 त्रिकटुकादीनाम् । (मेसजाण य सि) पथ्यानामाहारविशेष-
 षण्णम् । अथवा शीयथानामेकद्वयरूपानां, अथजानां द्वयसंघा-
 गरूपानाम् । आवरणानामरत्नकारदीनां, बोधिस्यप्रकरणानां च
 (अज्जयादि) आर्ये !-इ पितामह !, हे तात !-हे पितः !, हे
 भ्रान्तः !, हे मातुल !, हे भागियेय ! अगवता समुत्तुष्णाभिरकृमा-
 णाभिरं द्यं जीवन्, अम्हे च भवतां, अरिवात्ति गम्भये । पुनएरि
 लब्धायांइ कृतकार्याइ, अनद्यममप्रा, अनद्ययं निर्दूषणतया,
 समन्यमभदीअनपरिवारतया, मिजकं वृद्धं, 'हव्थ' शीप्रमाणता-
 न् पहरामि इतिहृत्त्वन्विधाय, (सोमाहिं ति) निर्विकार-
 थाय । (निकाहिं ति) सञ्जहत्थाय । (बीहाहिं ति) दूरं या-
 वयवसोक्तानाम् । (सपिनासाहिं ति) सपिनासाभिः पुनर्वशी-
 नाकाङ्गावशीभिः, दर्शनात्सामिभिः । (पण्युयाहिं ति) प्रण्युता-
 निष्पृञ्जान्प्रीनिः, (समाणएसु सि) समाणितेषु इत्थेषु,
 नार्थीति गम्यते । सरसरकल्मन्स्य दर्दरेण चपेटाप्रकरणेण प-
 ञ्चाङ्गुलितेषु तलेषु, हस्तकल्पितार्थः । (अण्णुक्खिचंसीति) अ-
 न्णुत्तिते पश्चादुत्पादिते धूपे, पुत्रितेषु समुद्रवातेषु, नीसांवाभिक-
 काविकार्यायं समुद्राधिपवैश्यायेषु वा (संसारिआसु बह्वया-
 हासु सि) स्थानात्तराजुचितस्थाननिवेशितेषु दीयकाण्डसज्ज-
 षण्णेषु, आबहकंथिति संभाव्यते । तथा-उत्कृष्टवर्धीकृतेषु

सितेषु ध्वजामेषु पताकामेषु पट्टनिः पुरुषैः, पट्ट वा यथा भव-
 तीत्येवं प्रवादितेषु तृपेषु अथिकेषु जयावहेषु, सर्वशक्येषु वा-
 यसाविषु, गृहीतेषु राजवरशासनेषु आङ्गासु गृहकेषु वा, प्रखु-
 जितमहासमुद्रवृक्षत्वामि तदात्मकमित्येतद् प्रदेशांमिति गम्यते ।
 (तत्रो पुस्समाणवो वक्खं समुद्रादिं ति) ततोऽन्तरं भागधो म-
 ङ्गवचनं प्रथीति स्मैत्येषु । तदेवाह-सर्वेषामिमे प्रवतामप्यसि-
 खिमेषुत, उपास्थितानि कल्याणानि, प्रतिहतानि सर्वेषापानि,
 सर्वेविघ्नाः । (सुतो सि) युक्तः पुष्यो मत्स्यविशेषः चन्द्रप्रसा, इ-
 दावसरं इति स्मृत्यते । पुष्यमङ्गलं हि यायायां सिक्किरस्स । यदाहु-
 ' अपि द्वादशमे चन्द्रे, पुष्यः सर्वायेसायनः ' इति, मागधेन तदु-
 पन्यस्तम् । विजयो मुदुसंशिक्षितो मुदुत्तानां मयातु मयं देश-
 काश्चः एष प्रमायाः गमनस्येति गम्यते । (वक्खे वदाहिण सि)
 वाक्ये उदाहृतं, इष्टतुहाः, कर्णेधारा नियामकाः, कुलिधारा नौ
 पाभ्भिनियुक्ता आबिन्धकवाहकादयः, गर्भे भवा गमजाः ,
 मीमयं उचवावचककारिणः, संयात्रानांवाणिकजाः, भारद्-
 पतयः, एतेषां इन्द्रः । (वावसिं सु सि) ध्यावुत्तवन्तः स्वस्वव्या-
 पारिष्विति । तस्मात् नावं पूर्णोत्सङ्गां विविधभाण्डजुतमभ्यां,
 पुष्यमभ्यां वा, मध्यभागनिवेशितमङ्गवचस्वतुत्यात् । पूर्णमुक्तीं,
 पुष्यमुक्तीं वा । तथैव बन्धनेन्यां मुञ्चन्ति विसज्यन्ति पवनवल-
 समहाता वा वातन्वाभ्यांऽप्येतिराः । (कसियसिय सि) उच्छि-
 तसितपटाः, यानपथे हि वायुसंप्रदायं यथा माहाः समूहाः तस्यह-
 क्रियते । एवं वासाद्युपमैयत-विततपक्षेव गरुडसुचति । ग-
 ङ्गासलिलस्य तीक्ष्णं यं क्षोतोवेनाः प्रवाहवेगास्तैः संक्षुभ्ये-
 न्ती संक्षुभ्यन्ती प्रथेमाना प्रथेमाना, समुद्रं प्रतीति । कस्यो-
 महाकुक्षालाः, तच्छा हस्वकण्ठाः, तेषां माहाः समूहाः तस्यह-
 काणि, (समतिक्रमाणि सि) समतिक्रमन्ती । (भोगाह सि)
 प्रविष्टा । (तालजयसिखादि) तालोः वृद्धविशेषः, स च दीर्घ-
 स्कन्धो जयति । ततस्तालवच्छेदयस्य तत्तथा । (सिवं गयाहिं
 बाहाहिं ति) आकाशाप्रास्ताभ्यामित्दीर्घाभ्यां युजाभ्यां युक्ति-
 स्थयः । (मसिंमूसगमदिसकाहंम ति) मयो कज्जलं, मूषक उ-
 ङ्कारविशेषः अथवा मयोप्रधाना मूषा ताम्रादिधातुप्रलापनजाज-
 नं मयीमूषा, मदिहपक्व प्रतीत एव । तद्वत्कालकं यत्तत्तथा (अ-
 रियमेहवधं ति) जलजृतमेघवर्षमित्यर्थः । तथा अम्भोष्ठम्,
 [निमागमार्त्तं सि] निर्गतानि मुखादप्राणि येषां ते तथा, नि-
 गेतानां दिव्य वस्य तत्तथा । [निष्ठासियजमलजुयलजीहं ति]
 निर्लातिं वन्तुमुत्तमाक्षिसारितं यत्तलं ससं युगलं द्वयं जि-
 ह्वयोर्येन तत्तथा । [आऊसियवयणगंडडेसं ति] " आऊ-
 सिय सि , आासिय सि वा " प्रविष्टी चदने गण्डदेशी क-
 पोसज्जागी यस्य तत्तथा । [चीणचिचिदनासियं ति] चीना
 हस्ता, चिचिदा च निम्ना, नासिका यस्य तत्तथा । [विगय-
 पुग्गमजुहिं ति] विकृते विकारवत्यौ, युजे, ग्रमे इत्यर्थः । पा-
 ङात्तरेण-भुभज्जने भतीवचकं सुधी यस्य तत्तथा । [खउजोय-
 गदिचचक्खुरांमं ति] खद्योतको ज्योतिरिङ्गणः, तच्छादितश्चक्षु-
 रागो लोचनरक्तवं यस्य स तथा । उज्जानसकं अयङ्गलं । वि-
 शालवक्त्रो विस्तीर्णोः स्वस्वम्, विशालकुक्कि विस्तीर्णोऽरदेशम् ।
 एवं प्रसन्नवक्त्रुक्कि [विहासियपयलियविवाहियगत्तं ति] प्रहसिता-
 नि प्रहसितुमारपथानि, प्रवक्षितानि च स्वल्पदा, प्रवक्षितानि वा
 प्रजातवक्षीकानि, प्रप्रतितानि वा प्रकप्यं प्रहलीभूतानि, गा-
 भ्राणि यस्य तत्तथा । वाचनान्तरे- " विगयलुगामस्यपहासि-
 यपयलियपदिहयकुलिसगञ्जोयदिचचक्खुरांमं ति " पाठः । तत्र

अथरहस्य

विहते चुरेण सुवौ प्रदक्षिते प्रचक्षिते प्रपतिते च यस्य स्कु-
 लिक्रवत् ज्योतिरकवच्च द्वा। तन्मन्त्रागमश्च यस्य तत्तथा । " पशु-
 क्वमादि । इत्यादि विशेषणपञ्चकं प्रतीतम् । (नीलुपुलेत्या-
 दि) गजलं महिषशृङ्गम् । अतस्ते मासवकदेशाप्रसिद्धा धान्य-
 विशेषः । [खुट्टहारं ति] खुट्टयेव धारा यथैव स तथा तम-
 सि, अहं, चुरो ह्यतितीक्ष्णधारा भवति, अथयथा केशानाममु-
 यननादिति कुराणापमा अहधरायाः कृतेति । अग्निमुखमाप-
 तपरयन्ति । सर्वेऽपि सांयात्रिकाः, तथाईशकवज्रौ यत्कुर्वन्ति
 तद्दशैवितुमुकमधंपिशाचस्वरूपं सविशेषम् । तेषां तद्दर्शनेचानु-
 वदश्रिदमाह— [तप णमित्यादि] ततस्तत इहैशकवज्राः सां-
 यात्रिकाः पिशाचरूपं अक्षयमाणाविशेषणं पश्यन्ति, यद्वा च अह-
 नामिन्द्रादीनां अहनुपुष्याचिततानुपुष्याचिन्वन्तस्तेऽहनीति स-
 मुदायायै । अथवा— "तप खं ते अरदहस्यगमश्च" इत्यादि गमान्तर-
 वृत्त्यासं देवयाज्ञो मन्वन्ति । "तेऽहन्तरं रदहस्यम् । अत
 एव वाचनान्तरं नेदमुपलभ्यते । उपलभ्यते चैवम्— " अग्निमुहं
 आवपुश्यां पारसति, तप णं ते अरदहस्यगमश्च नावावाणियगा
 भौयः " इत्यादि । [तप तालापिसायं ति] तालवृक्षाकारोऽति-
 र्दृष्टयेन पिशाचस्तालापिशाचः, नम । विशेषणशृङ्गं प्राणिव ।
 [कुट्टसिरं ति] स्फुटितमदधनत्वेन विकीर्णो शिर इति शि-
 रोजातन्वाकशा यस्य स तथा तम् । अमरनिकरवत् वरमाच-
 राशिवत् महिषवच्च कालको वः स तथा तम्, भूतमेघघनम्,
 तेषु शूर्पावध धान्यशोधकनाजनिविशेषवक्षणा यस्य स शू-
 र्पावधनम् । काञ्चनदशजिह्वामिति— फलं त्रिजिह्वाशतपलप्रमा-
 णंशोभयते व्यस्यति, तच्च वृद्धिप्रतापिनमिह ब्राह्मण, तस्मा-
 धर्म्यं च इदं जिह्वाय वषण्ठि। सिद्धिर्धुर्वादिभिर्निरति । लम्बांशुं प्रती-
 तम् । धवज्ञानिर्वृत्तानिगदित्शुभानि विविशरत्वेन तीक्ष्णामिः, स्थि-
 राभिर्निष्ठस्त्रत्वेन, पीनाभिरुपचितत्वेन, कुट्टिज्ञानिश्च वक्रतया,
 द्वेषुभिर्नवगृहं व्याप्तं वन्दनं यस्य स तथा, तम् । विंशतिशतस्य-
 पीनीकाशकस्य, निगारवपुष्यां प्रकर्म निर्वाहोऽप्राधान्य-
 क्तयोर्यद् युगल द्वितयं तेन समसदृशावयन्तनुव्ये तनुके प्रत-
 लं, चञ्चलं, विमुक्तस्थेयं यथाभवत्यविभ्रममित्यर्थः । गलन्त्यौ
 रसानिर्नैल्यादौ शालां विमुक्त्यन्यौ रसलोहे ज्ञञ्चरसस्रग्भेदे
 चपसे चञ्चलं कुण्डुरायमाणं प्रकर्म निर्वाहोऽपि मुक्ताञ्जिक्राशिने
 अग्निजिह्वं जिह्वाभे इत्यर्थः, येन स तथा, तम् । (अथरिथयं
 ति) प्रसारितमित्येकं । इत्ये तु यकारस्वाहास्तत्वात् । 'अथरिथ-
 यं' प्रसारितनुक्त्वात्वेन दृष्टं दृश्यमानमित्येकः । (महच्छं ति) महद्
 विकृतं धीमत्सं लालामिः अगलत्वेन स तथा, तम् । कर्मयोग्येवैव
 स तथा तम् । तथा हिङ्गुलकेन वणकद्रव्यविशेषेण सगमकन्दर-
 लकणं विशं यथैव स तथा, तमिव । (अंजणमिरिस्स ति) विभ-
 क्तविपरिशाामादन्जणमिरि कृष्णवर्षेपवंतविशेषम् । अथवा
 'अवतिथय्यादि' 'हिंशुमुदत्यादि' च कर्मयोग्येवैव अथमा-
 णवदनपदस्य विशेषणं कार्यम् । यस्य तमित्येवंप्रकृष्य वाक्यशेषो
 कृष्यतः । तथा अग्निज्वाला उक्ता द्रवने यस्य स तथा तम् ।
 (आरहस्यं ति) संकुचानं यद् अकृमं जलापकषेणकोशस्तद्वत् ।
 (वहस्यं ति) अपकृष्टापकषेयवन्तौ संकुचिनौ गण इदंयौ यस्य स
 तथा, तम् । अन्ये त्वाः— 'आरुषीयानि संकुचितानि अक्षाली-
 निद्रायिण्यं कर्मं च आरुषीं च गलमंदरौ च यस्य स तथा तम् ।
 र्थं ना इदंवा (सिदिदं ति) सिदिदं निम्ना 'वंका' वक्ता मनेव
 प्रज्ञा, अघोचनकुट्टितेवैष्यं, नासिका यस्य स तथा, तम् ।
 वाधादागतः (धममरं ति) मध्वतया धममधेति शब्दं कुर्वाणो

माहते चाग्निमुहुरो निभेर, अरपरहोऽप्यन्तकेशः, ह्यु-
 र्योरन्धयोऽयत्र तत्तथा । तदेवविषयवद्गुणं च वक्तं नासिका-
 पुटं यस्य स तथा तम् । इह च पदानामन्यथानिर्वातः प्राकृत-
 त्वादिति । प्रताय पुरुषादिवधाप, घाटाभ्यां वा मस्तकावध-
 विशेयाभ्याम्, चञ्चलं विकरालं रचितं, अत एव भीषणं मुहं
 यस्य स तथा, तम् । ऊर्ध्वमुखं कर्णशृङ्गकुक्षौ कर्णावयवौ ययां-
 स्तौ तथा तौ च महाति द्वांघोषि । विकृतानि शोभानि यथास्ते
 तथा तौ च (संखालगं सि) शङ्खयन्तौ च शङ्खधारिप्रत्यास-
 नावधयाविशेषयोरालम्बो संबन्धावित्येकं, लम्बमानौ च प्रलम्बौ,
 चक्षितौ च चक्षन्तौ कर्णौ यस्य स तथा, तम् । पिङ्गले कपिसे
 दीप्यमाने प्रास्वरे शोचने यस्य स तथा तम् । शुकुटिः काप-
 कृतपुत्रिकारः, सैव तन्निद्रुपुष्यासिस्ततथा, तथाविधम् । पाञ्च-
 न्दरेण-शुकुटितं कृतपुत्रितं लहटं यस्य स तथा, तम् । नर-
 शिरोमांश्या परिच्छं वादितं विह्वं पिशाचकतुष्टयम् स तथा,
 तम् । अथवा-नरशिरोमांश्या यपरिच्छं परिणदं तदेव विह्वं
 यस्य स तथा तम् । विविचैर्बहुविधैर्गोऽन्तैः सतीसुपरिवेशैः
 सुबद्धः परिकुरः सन्नाहो येन स तथा तम् । (अवहोऽंतं ति)
 अवधोऽन्तयोः शोलायमानाः, [पुण्युतं ति] कृत्स्नवन्तं ये सर्पा
 वृद्धिका गोधा वःकुत्र नकुलाः मरुटाश्च तैर्विरचिता विविशा वि-
 विधरूपवन्तौ वैकृत्णोपरासङ्गेन प्रकटवन्धेन स्कन्धसम्भ्रमा-
 प्रतया वा मालिका माला यस्य स तथा तम् । ज्ञोणः फणः
 स कुरो रौद्रो यथास्ते, तथा तौ च कृष्णवर्णं च तौ च नीलधम-
 मायमानौ च तावैव लम्बमानौ कर्णपूरौ कर्णाभिरुणविशेषो य-
 स्य स तथा तम् । मार्जारशृगलोऽन्तौ भगितौ नियोजितौ स्कन्ध-
 योयनं स तथा तम् । द्वांशं हीनस्थं यथा भवत्येव (चुपुधयं
 ति) घृत्कारशब्दं कुर्वाणो यो घृत्कः कौशिकः स कृतेऽहं हितः
 (कुंजलं सि) शंखरकः शिरसि येन स तथा तम् । घण्टाटानं र-
 वः शब्दस्तेन भीमो यः स तथा स चासौ जयकरश्चेति, तं, का-
 तरजनानां इदंयं स्फोटयति यः स तथा, तम् । दीपमद्दृष्टानं
 घण्टारवेण भीमादिविशेषणविशेषं विमुञ्चन्तं वसार्ध-
 रपुयमांसमैर्मैलना (याञ्चलं सि) विलीना च तनुः शरारं य-
 स्य स तथा तम्; उक्तासनकं विशालचक्रं स प्रतीते । (पंचं
 ति) प्रेक्ष्यमाणो दृश्यमानाः, अग्निश्च अथवाऽनन्ताश्च मुखं च
 नयने च कर्णौ च यस्यां सा तथा, सा चासौ वरव्याघ्रस्य चित्रा
 कर्तुवा कृत्स्नश्च चर्मेति सा तथा, सैव निवसनं परिचायं-
 यस्य स तथा तम् । सरसे र्धधरप्रदं यत्रज्जन्मं तद्वित्तं वि-
 स्तारितं यत्र तत्तथा । तदेवैव (ऊसविधं ति) चण्डित्मूर्द्ध-
 कृतं बाहुयुगलं येन स तथा तम् । तामिश्च तथाविधाग्निः, अ-
 रपरुषा अतिकेशः, अस्तिश्या स्नेहादिदीनाः, दीता ज्वल-
 न्शुष्कोपतापठेनुत्वात् । ग्रन्थिश्च अग्निभाषाविषयभूता, अ-
 नुशुनाः स्फुटयः, अग्निश्च अग्नीतिकरत्वेन, अकृताताश्च विस्वर-
 त्येन या वाचस्ताग्निश्चस्ताद् कुर्वाणं प्रत्येतं तर्जयन्तं वा च-
 इयति स्म । पुण्यस्नापिशाचकपं (पञ्चमायं ति) नायं प्रत्यागच्छ-
 नं पश्यन्ति । (समनुरोगामार्णां) आग्निधन्तः-स्कन्धः कार्तिके-
 यः, रुद्रः प्रतीतः, शिवो महादेवः, वैश्वशयो यज्ञनायकः, नागो
 भवनपतिविशेषः, नृतयज्ञा व्यन्तरभेदाः, आर्वा प्रशालकप्याः,
 दुर्गा कौटुकियाः, सैव सिद्धिवाक्यदत्ता पूजाऽऽपुयगमपुष्पकाणि प्रा-
 धननाम उपयाचिनान्युपचित्वन्ते । उपयचिन्वन्तो विदधन्तिस्त-
 ति स्मैति । अईशकवज्रोनामियमितिकरत्वेत्योक्तं । अमुष्माइ-
 शकस्य तामाह— " तप णमित्यादि " । (अथरिथपरिथय

चि) अमायितं बन्केनापि न प्राप्यते तथापर्यायत स्म वाः स तथा, तदात्मन्यस्य । पात्रान्तेण-अप्रमितः सन् यः प्रस्थित इव मुमुक्षुरित्यर्थः । स तथाच्यते, तदात्मन्यस्य-डे अमस्थितमस्थित !, यावत्करणात् (तुरन्तपतलकक्षण चि) डुरन्तानि डुहयप्रेत्यानि प्रान्तात्म्यपसदानि हङ्गणानि बस्य स तथा, तस्यामन्त्रस्य । (ईशुपुष्पावहृती इति) हीना अस्मत्प्रभु पुण्या पवित्रा यन्तुर्देही तिथियैस्व जन्मानि स तथा । यन्तुर्देहीजातो हि किञ्चिन्नाम्यवान् भवतीति । आ-क्राशो तदाभाषो इतीति इति । [सिरिहिरिवाकिञ्चनङ्गण्येति] प्रतीतम् । (तबलीलभ्यव्यादि) तपः, हीलमताम्यङ्ग-मतामि, गुण्यः गुणमतामि, विरमणानि रागादिविरतिप्रकाराः, प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितदीनि, पोषधोयवासोऽष्टादि-कावित्तु, पर्वेदिनेपृथक्सनमाहारशरीरसत्काराभ्यापरिपरि-पञ्जेलनित्येः । एतेषां शब्दः [याम्नि च चि] नङ्कान्तर-गृहीतान्तरं भङ्गकान्तरेषु कर्तुं, सोमयित्तुमेतानेवं परिपालयामि । [सोमिचप] कोत्राविषयान् कर्तुं, आसयित्तुं देवताः, नङ्क-स-यानः, 'उक्ति' सर्वस्यादेश्विरतेस्त्यागेन परित्यक्तुं, सम्यक्त्व-स्यापि स्वागत इति । [दोहि अंगुलयार्थि ति] अङ्गुष्ठकान्तोर्ना-प्याय, अथवा-तज्जनीमध्यमाभ्यामिति । [सचउतलप्यमाणमे-त्तार्थं ति] ततो हस्ततलाजिघामो वाऽतिदीर्घो वृक्षाविशेषः, स एव प्रमाणं मानं तन्नप्रमाणं, सप्तश्रे वा सप्तशक्ति तन्नप्रमा-णानि परिमाणं येषां ते सप्तशक्तिसप्तप्रमाणानां, तान् गगनमा-गान् यावदिति गम्यते । [उरुं वेहासं ति] उरुं विद्यासि गगने । [उरुंवेहासं ति] नयामि, [जेषु तुमे ति] येन त्वं [अहदुहदवदद्वे ति] आतस्य ध्यानाविशेषस्य यो [बुहद्वे ति] बुधेः दुःस्वयां दुर्निर्वाथा, वशः पारतन्त्र्यं, तेन हतः पीडितः, आर्तबुधेयवशातः । किमञ्च नचाति ?-अस्माभिःप्रमाः [विषयोऽभि-ज्जसि ति] व्यपरोपयिष्यसे अपेतीभविष्यसीत्यर्थः । [चासिचप चि] इह चलनमन्यथावातरव, अचरति । [सोमिचप चि] कोमयित्तु संशयोत्पादनात्, तथा [विपरिणामिचप चि] विपरिणामयित्तु विपरीतायवशस्योत्पादनात् इति । 'स्ते' इति यावत्करणात् । 'तते परितेते' इति ब्रह्मस्य । तत्र भ्रान्तः शान्तो वा मनसा, तन्तः कायेन खेदवात्, परितान्तः सर्वतः सिंघः, निर्बिघ्नस्तस्मात्पुसर्गकरणवुपरति । [लजेत्यादि] तत्र लब्धो वपाज्जैतः, प्राज्ञा तत्प्रातेः, अनिसन्मन्वगत ता सन्यपासेवतः [आहङ्कृत्य इत्यादि] आश्चर्येति सामान्येण, ज्ञाते विधेयतः । एतदेव द्वयं क्रमेण पर्यायशब्दाभ्यामुच्यते-प्रज्ञापयति, प्रकथयति । 'देवण वा दानेण वा' इत्याद्याविद् ब्रह्मस्यम् । अप-रं " किनरेण वा किपुस्तेय वा महोरगण वा गंधर्वेण च चि " तत्र देवा वैमानिको, ज्योतिष्को वा । दानेयं अथपतिः, ग्रेहा व्यन्तरभेदाः । 'सो लहहामायादि' न अहधे प्रत्ययं न करांमि । [नो पत्सयामि ति] नम प्रीतिञ्च प्रीति न करांमि, [नो दोन्वयामि] अस्माकमप्येवंभूता गुणप्रतिज्ञेयत्वे न दक्षिणेषु-यीकरांमि । [पियधमे च] धर्मप्रियो, ब्रह्मधर्मो आपद्यापि ध-र्मोद्विचलः, यावत्करणात्पुञ्जादिपदानि इत्ययामि । तत्र [इक्षु-चि] गुण्यदिः, घुतिचमत्तरं तेजः, वशः क्वातिः, बसं शरीरं, बीर्यं जीवमभव, पुद्गयकारोऽग्निमागविशेषः, पराक्रमः स एव नि-व्यादितस्वविषयः, लब्धादिपदानि तथैव । [उच्छुक्तं विषयेर चि] शुक्लमाधमजानातीत्यर्थः । ज्ञा० न अ० । स्या० ।

अरहमित्त-अर्द्धमित्त-पुं० । अर्द्धमत्तलपुञ्जातिर, यस्मिन्नासक- १६१

या प्रावृत्तयायाऽहंज्ञतो मरितः । ग० २ अ० १० । [अर्य क- वा ' अरहस्य ' ह्यव्यपेक्ष] इत्येतत्प्रास्तम्ये कणायै वै- धोपविष्टं मंसं निबन्धेऽप्यकादितकथा अतुक्तयोः पठ्योः १०० १० ४ म० । प्राच० । [' अर्यसोऽसंहर ' शब्देऽस्मिन्नेव प्राये १०३ पुष्टेऽप्य कथा समुक्ता]

अरह्या-अर्हता-ज्ञी० । तीर्थकरत्वे, पञ्चा० = विष० ।

अरहस्सधारक-अरहस्यधारक-पुं० । नास्ति अपरं (रहस्यं)रह- स्यान्तरं यस्मात्तद्वरहस्यम् । अत एव रहस्यं वेदशास्त्रायैतत्त्व- मित्यर्थः । तयो धारयति अपायेन्त्यां न प्रयच्छति सोऽरहस्यधा- रकः । योग्यायैव वेदचतुर्दायके, हृ० ६ उ० ।

अरहस्यभाभि (ण्)-अरहस्यभाभिन्-पुं० । रहस्यस्य प्र- ष्णभस्याभावेऽरहस्यं, तद्वृ मज्जते इत्यरहस्यभाभि । अर्हति, स्या० ९ ज्ञा० । कण्व० ।

अरहस्सर-अरहःसर-णि० । अरहस्सरत्वे महाशयने, सूच० १ श्लो ५ अ० १ उ० । बुहदाकन्दाशब्दे, सूच० १ पु० ५ अ० २ उ० ।

अराद-अराति-पुं० । यथा०, प्रा० म० ङि० । प्राचा० । विशेषे । प्रा० क० । श्रौत०, वाच० ।

अरि-अरि-पुं० । द्विपत्रत्यर्थिरेरिपुपर्यायः । निर्देयं रिपौ, तं० । सामान्यतः शत्रौ, जं० २ वृक० । ज्ञा० । जी० । प्रा० म० । प्राच० । जन्मान्तरवैरिणि, सूच० १ श्लो ५ अ० २ उ० । रयाङ्के चक्रे, चिद्वक्त्रिरे, बटशु कामादिषु, वाच० ४ ।

अरिजय-अरिञ्जय-पुं० । श्रीञ्जयमदेवस्य ज्ञाशतितमे पुत्रे, कटप० ७ श्लो० ।

अरिऽप्वग-अरिष्वर्त्तुर्ग-पुं० । यथां वर्गः समुदायः बहूनां । अरीणां बहूनां । वाच० । कामकोधलोत्तमानामोदमदाथे आ- न्तरशुभ्रद्वे, सूच० १ श्लो १ अ० ४ उ० । तथा अरयः शत्रु- बन्धेष्वां बहूनां, अयुक्तिनः प्रमुक्ताः, कामकोधलोत्तमानामवहृषोः यतस्ते शिशुवृहस्थानामन्तरङ्कारिकार्थं कुर्वन्ति । तत्र परपरि- गृहीतास्वनुद्दासु वा स्त्रीषु दुर्गसिन्धिः कामः, अविचल्यं पर- स्याऽस्मनो वाऽप्यायैतुरन्तवैरिणां स्फुरत्याऽस्मदा क्रोधः, दानार्हेषु स्वधनाप्रदानम्-आकाणपरचनप्रहणं च सोमः, बुर्गसिन्धिः शरो- हो युक्तोकाशदणं वा मानः, कुलबलैश्वर्यविद्याकपादिनिरङ्कार- करणं, परप्रपन्ननिबन्धनं वा मयः, निर्गोभिसामन्यस्य दुःकोत्पाद- नेन स्वस्य पृतपापार्थोचनयसंश्लेषण वा मनःप्रमोदा इर्थः, ततोऽप्यारिषु कुर्षणीस्य त्यजन्मनासंवनम्, एतेषां च स्यजनीयत्त्व- मपयैदतुत्वात् । बदाह- रादकृष्यो नाम ज्ञोः कामाद् ब्राह्मणकन्यामजिमन्ममानः सचपुत्राष्टौ विननाथ, करालश्च श्री- देवः ॥१॥ क्रोधाङ्गनमन्त्रयो ब्राह्मणपुत्र विनातः, तांजङ्गश्च श्री- देवः ॥२॥ सोमदिशेभ्यस्तुर्गेषुमभ्याहारयमाणः, सौवरीश्याजविन्दुः ॥३॥ मानाद्रवणः परदारान् प्राथयद्, बुधोऽथनो राज्यादंशं चा॥४॥ मदाद्विभ्रमोऽथ चूतवामानी, हेहयभ्राजिनः ॥५॥ हर्षोऽहतापिरग- स्वयमभ्यासादयद्, बुध्मिन्सङ्गश्च हेहयानमित् ॥६॥ च० १ अ० १० ।

अरिऽ-अरिऽ-पुं० । रिऽ-हिंसायाम्-क० । न० । लङ्- णे, वाच० । पिबुमन्दे, प्रज्ञा० १ पद् । काके, फलविशेषे च । औ० । रुचकङ्गीपस्थे रुचकपरवतस्य पीरस्ये पञ्चमं कूटं, द्वी० । पञ्चदशस्य तीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स० । प्रशस्तं, प्रा०

५० ५ ५० । वृषत्रासुरे, कडुपक्षिणि, कडे [रीज] इति
 स्वाते फेनिलफलकपुके च । पुं० । अङ्गुले मरुष्विडे, तके,
 चतुर्भेदे, सुतिकगारे, मधे च । म० । बाब० । ल० प्र० ।
 अरिहकुमार-अरिहकुमार-पुं० । कौमार्ये चर्चमानेऽरिहनेमौ,
 "भृगुवर्षरिहकुमार । विचारय " कथय ७ इ० ।

अरिहनेमि-अरिहनेमि-पुं० । धर्मचक्रस्य नेमिष्वेमेभिः, गर्भ-
 स्थे माहाऽरिहरलमयमेतत्पतनदशानावरिहनेमिः । अथसर्वि-
 र्थां भरतहोत्रजे ह्यविशेषे तीर्थंकरे, अमु० । धर्मचक्रस्य नेमिष्व-
 वेमिः । 'सर्वे धर्मचक्रस्य नेमीत्यु चि सामर्क; विलेसो ग-
 भ्रमगते तस्स माथाय अरिहरवर्षमयो [मह ति] महाइयो नेमी
 छण्डिअमाणो सुमिणे विठो चि तेषं सोऽरिहनेमि चि' । आच०
 २ अ० । आ० चू० ॥

अथारिहनेमिचरितम्—

तेषं कालेषु तेषं सम्पूर्णं अरहा अरिहनेमी पंच विचे
 होत्वा । तं अहा—विचाहिं चुर, चइवा गर्भं वकंते, त-
 देव उक्तेवो० जाव चिचाहिं परिनिष्पुए ॥ १७० ॥

[तेषं कालेषु इत्यादि] तस्मिन्काले तस्मिन् समये अरिह-
 नेमिः पञ्च-कल्याणकानि चिन्नायामभवत् । तद्यथा-चिन्नायां
 च्युतः, च्युत्वा गर्भे ह्यपन्नः, तथैव चिन्नाभिज्ञापेन पूर्वोक्तायो
 वक्तव्य इत्यर्थः । यावत् चिन्नायां निजां प्राप्ते ॥ १७० ॥

अथारिहनेमिभ्यवनम्—

तेषं कालेषु तेषं सम्पूर्णं अरहा अरिहनेमी, जे से वा-
 साणं चउत्थे मासे सचमे पक्के कशिअपहुले, तस्स णं
 कत्तियवुल्लस्ये बारसीदिवसेणं अपराजिअमाओ महावि-
 भाणाओ बत्तीसं सागरोवमद्दिअमाओ अणुंतरं चयं चइ-
 चा इहेव जम्बूद्वीपे दांवि भारे वासे सोरियपुरे नयरे स-
 मुद्विजयस्स रभेः भारिआए सिवाए देवीए पुवरत्ता-
 बरत्ताकालसमयंसे जाव चिचाहिं गवन्त्ताए वकंते स-
 व्वं तरेव सुमिणदंसणदविण्यसेहरणाइं पत्य जाणि-
 यव्वं ॥ १७१ ॥

(तेषं कालेषु इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये अरिह
 अरिहनेमिः, योऽसौ वर्षोर्कालस्य चतुर्थो मासः सप्तमः पक्षः
 कर्तिकस्य चतुर्दशकः, तस्य कार्तिकचतुर्दशस्य ऋद्धादिवसे अ-
 पराजितनामकाद् महाविमानाद् आभिशातसागरोपरमाणि स्थि-
 त्तियत्र इहेशदश-अनन्तरं स्वयमेव कृत्वा अस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे
 द्वीपे भरतहोत्रे सौर्यपुरे नगरे समुद्रविजयस्य राज्ञः आर्यायाः
 सिधाया देव्याः कुक्षीं पूर्वापरत्रास्रसमये मध्यरात्री यावत्
 चिन्नायां गर्भतया उत्पन्नः सर्वं तथैव स्वल्पदशानकस्यसंहरणा-
 दिवर्षेणमत्र प्रजितव्यम् ॥ १७१ ॥

अथ भगवतो अन्न, अपरिणयनं च—

तेषं कालेषु तेषं सम्पूर्णं अरहा अरिहनेमी, जे से
 बासाणं पडेमे मासे दुक्के पक्के सावाणसुक्के, तस्स णं
 सावणसुद्धस्स पंचमीदिवसेणं नवअहे मासाणं बहुपादिपुष्पाणं
 जाव चिचाहिं नक्कसेणं चंदयोगमुवागणं आरोगेगाऽऽ-
 रोगं दारयं पयाया, अन्न्यां समुद्विजयाजिहायेणं नेपव्वं०

जाव तं होऊ णं कुमारे अरिहनेमी नामेणं ॥

(तेषु कालेषु इत्यादि) तस्मिन्काले तस्मिन्समये अरिह
 अरिहनेमिः, योऽसौ वर्षोर्कालस्य प्रथमो मासः, द्वितीयः पक्षः
 भावणशुक्ल, तस्य भावणशुक्लस्य पञ्चमिदिवसे नवतु मासेषु
 बहुपरिपूर्णेषु सत्सु नामविमानाङ्गे चन्द्रयोगानुपाकते सति अ-
 रोगा शिवा अरोमेण दारकं प्रजाता । अत्रोत्सवः समुद्रविजया-
 निधानेन ज्ञातव्यः, यावत् तस्माद्भवतु कुमारोऽरिहनेमिर्नामो
 कृत्वा, वस्माद् भगवति गर्भस्थे माताऽरिहरलमयं नेमि चक्र-
 चारं स्वनेऽदाह्वीत्, ततोऽरिहनेमिः, अकारस्य अमङ्गल-
 परिहाराद्यर्थेत्वाच्च अरिहनेमिरिति । रिहशब्दे हि अमङ्गलथा-
 विति । कुमारस्तु अपरिणीतत्वात् । कथय ७ इ० । उच० ॥

अपरिणयनं तु एवम्—एकदा यौवनाभिमुखं नेमि मिरिष्य
 शिवा देवी समवदत्—'वत्स ! अमुन्मथस्य पाणिग्रहणं, पूर्य
 चास्मन्मनोरथम् । स्वामी तु योग्यां कन्यां प्राप्य पारिण्यथाम् । तं
 प्रत्युत्तरं वदौ । ततः पुनरेकदा कौतुककारितोऽपि जगवान्
 मिश्रमेरितः संकीर्तमानः कृष्णापुच्छशाशायामुपागमत् । तत्र कौतु-
 कास्तु कैमिर्भ्रैविमोऽदुस्वप्य कुलासककथक्चकं आमितधान्, शा-
 न्ने धनुर्गुणालवक्रामितवान्, कौमोदकीं गर्दां पृथिव्युपाटि-
 तवाद्, पाञ्चजन्यं शङ्खं च मुने धृत्वा आपूरितवान् । तदा च—

"निर्भूत्वाऽऽनामनूले प्रजाति गजगणः अएअयत् वेधममालां,
 धावन्पुण्ड्रव्ये बन्धान् सपदि हरिदया मन्त्रुरायाः प्रणष्टः ।
 शम्भुद्वैतं समस्तं बधिरितमनवत् तत्पुंरं व्यग्रमुग्रं,
 श्रीनेमेवैक्वपप्रकण्डितपवनेः पूरिते पाञ्चजन्ये " ॥ १ ॥

तं तादृशं च शब्दं निशम्योऽपन्नः कोऽपि वैरीतिव्याकुलचित्तः
 केशवस्त्वितिमेषुधाराशालास्त, दृष्ट्वा च नेमिं कचित्तो
 निजजुज्वलतुलनाय 'आवाच्यां बलपरीक्षा क्रियते' इति
 नेमिं वदंस्तेन सह मद्भाकाटकं जगाम । श्रीनिमिराद—
 "अनुचितं ननु भूयुऽनादिकं, सपदि बान्धवयुक्तमिहायवोः ।
 बलपरीक्षणं कुरु भुजबासनं, भवतु नाथ्यरक्षः अह्य युज्यते " ॥ १ ॥

ज्ञान्यां तथैव स्वीकृतम्—

" कृष्णप्रसारितं बाहुं, नेमिर्नेत्रहतामिव ।

शृणालदएदवच्छीं, वाङ्मयायास लीहया " ॥ १ ॥

श्याकानि नेमित्तिजस्य बाहौ, ततः स श्याकासृगवक्षिन्नः ।
 चके निजं नाम हरियं धार्यै—सुघडिष्याद्विमुष्णसितास्यः " ॥ २ ॥
 ततो महताश्रपे पराक्रमेण नेमित्तुजेऽब्रवीत्ते सति विषहचित्तः
 कृष्णो मम राज्यमेव मुनेन पृहं पृथतीति चिन्ताऽऽनुरः स्वक्षिप्ते
 चिन्तायामास—

" किदयन्ते केवलं स्मृताः, सुघीस्तु फलमभ्युते ।
 ममन्व शङ्करः सिन्धुं, रत्नान्यपुदिर्वीकसः " ॥ १ ॥

अथवा—

" किदयन्ते केवलं स्मृताः, सुघीस्तु फलमभ्युते ।
 वन्ता वलन्ति कष्टेन, जिह्वा मिलति जीवाणा " ॥ १ ॥

ततो बलमकेण सहाऽऽप्लोचयानि-किं विधास्ये, नेमित्तु राज्य-
 विपुर्बलवाञ्छे ? तत आकाशवाणी प्राञ्जुरभूत्—अहो इरे ! पूर्य
 नेमिनाथेन कथितमानीद्—यद्यत् इतिविश्लोकीयैको नेमिनाया
 कुमार एव प्रमाजिष्यतीति कृत्वा निष्क्रान्तो निष्वाद्यर्थे नेमिना
 सह जलकीर्णं कर्तुमन्तःपुरीपरितः सरोऽन्तरे प्रविष्टः । तत्र
 च— " प्रणयतः पुरिश्च करे जिते, हरिरेवशयदाह सरोऽन्तरे ।

तदनु शीमलासिञ्जत मेमिन्, कनकगुण्डलजैषु सुधापाचिः ॥ १ ॥
 तथा इत्थिष्वीप्रमुखापापिका अपि हापितवाद् , यद्यं मेमिमि-
 शुकं कीदृश पाणिप्रदाभिसुकीकार्यैः । ततश्च ता अपि-
 "काश्चिद् केसरसारदीनरिक्तेरारण्योदयान्ति प्रभुं,
 काश्चिद् बन्धुपुत्र्यकन्दुकनरैर्निर्गन्तिल बह्वःस्थलः ।
 काश्चिद्वीषयकदाकृशयवशिखीर्यैःपुन्रित्त नमोऽस्मिन्,
 काश्चित्कामकाशाविसकुण्डला विश्वापयाञ्जकिरे ॥ १ ॥

ततश्च-

"तावन्व्यः प्रमदाः सुगन्धिपयस्य स्वर्णदिग्दर्शयुगं,
 न्यूया तज्जलमिर्करैः पूषुतरेः कर्तुं प्रभुं श्वाकुलम् ।
 प्राथसन्त मिथो इस्मित सततं कीदृशसन्मानसा-
 स्तायद्योमनि देवगीरिति समुद्रता भूता चार्कलैः ॥ १ ॥
 मृधाः ह्य प्रमदाः । यतोऽमरगीतो पीर्षाणोनाथैश्चतु-
 ष्षष्ट्या योजनमानवकण्डकुरैः कुम्भैः सहसाधिकैः ।
 बाल्येऽपि स्नपितो य एव भगवान्नाभूमनामकुलः,
 कर्तुं तस्य सुयज्ञानेऽपि किमहो ! गुप्ताभिरिशिष्यते ? ॥ २ ॥
 ततो मेमिरपि हरिं तावत् सर्वां जलैरारण्योदयति स्म, कनक-
 पुष्पकण्डुकैस्तावयति स्म, इत्यादि स्वविस्तरं जलकीडां कृत्वा
 तदमागत्य मेमि स्वर्णसने निवेश्य सर्वां अपि गोप्यः परिवे-
 द्य स्थिताः । तत्र कश्मिणी जयी-

"निवाहकातरतयोच्छेदसं न यस्ये,

कन्यां तदेतद्विचारितमेव मेमे ।

प्राता तवास्ति विवित्तः सुतारं समर्थो,

द्व्यभिशादुन्मिनसहस्रवधुर्विषोडा ॥ १ ॥

तथा सत्यमात्रोऽप्युवाच-

"श्वेनमुष्यजिनाः कारपीडनं,

विदधिरै दधिरै च महीशामय ।

बुधुजिरे विषयोश्च बहून् सुताद,

सुबुधिरै शिवप्रपद्य जेमिरे ॥ २ ॥

त्वमसि किन्तु नयोऽथ शिवंगमी,

नृशमरिष्टकुमार । विचारय ।

कलय देवर । चाकगृहस्थयां,

रचय बन्धुमनःसु च सुस्थताम् ॥ ३ ॥

अथ जगाद् च जाम्बवती जवात् ,

शुद्ध पुरा हरिवंशविनूयण्य ।

स मुनिमुत्प्रतीयेपतिष्ठत् ॥

शिवमगाविह जातसुतोऽपि हि ॥ ४ ॥

पञ्चावतीति समुवाच विना बधुटीं,

शोभा न काचन नरस्य भवत्यवश्यम् ।

नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,

चिम्बासमेव विट एव भवेदभायः ॥ ५ ॥

गांधारी जयी-

"सज्जन्धयात्राद्यजसकृत्कार्यै-

पर्वोत्सवा वैशमविवाहकृत्यम् ॥

व्यापिकापुंशुभपर्येदश्च ,

शोभन्त यतानि विनाऽङ्गानां नो ॥ ६ ॥

गौर्षुवाच-

"अज्ञानमाजः किन्तु पक्षिणोऽपि,

कृती परिभ्रम्य वसन्ति सायम् ।

मीने स्वकाम्नासहिताः सुखेन,

ततोऽपि किं देवर ! मूढबद्ध त्वम् ॥ ७ ॥

सहमाप्याव्यथोवाच-

"स्नानादिस्वर्वाङ्कपरिक्रियायां,

विचक्षणः प्रीतिरस्माभिरामः,

सुखमनात्र विभुरेः सहायः,

कोऽप्यो प्रवेष्टनमृतं प्रियायाः ॥ ८ ॥

सुनीमाऽप्यवतीर-
"विना प्रियां को गृहमागतानां,

प्रापुर्णकानां मुनिस्सत्समाग्य ॥

करोति पूजाप्रतिपत्तिमन्त्रः,

कथं च शोभां लभते मनुष्यः ॥ ९ ॥

एवमप्यास्तामपि गोपाङ्गानां बाष्पोपुष्या यदुनामप्राहाण
 मौनबलम्भितमपि स्मितनानं जिने निरीष्य, "भानिचिक्मनुम-
 तम्" इति न्यायात् मेमिना पाणिप्रहणं स्वीकृतमिति तामिवाह-
 मुद्घोपितम्, तथैव जनोक्तिरिति । ततः कृष्णोऽनुरागपुत्री रा-
 जीमती मर्गिता, लग्नं पृष्टं, कोष्टिकनामा ज्योतिर्विद्यं प्राह-
 "वर्षासु गुणकायोनि, नाभ्यान्वपि समाचरेत् ।
 गृहिणां सुखकार्यस्य, विवाहस्य तु का कथा ? ॥ १ ॥
 समुद्रस्ते बभाषेऽथ, कालक्षेपाऽत्र नादिति ।
 नेमिः कथञ्चित् कृष्णेन, विवाहाय वर्णसितः ॥ २ ॥
 मा भूत्विवाहप्रत्यहो, नेदीयस्तद्विने वदं ।
 आवणे मसि तेनोका, ततः पृथी समुज्जस्य ॥ ३ ॥
 बसितश्च भीमिकुमारः स्फारगुह्यारः प्रजाप्रमोहकरो रथा-
 कटो धृतऽसतप्रसरः श्रीसमुद्रविजयादिदृशाहंकेशयवसन्नप्रा-
 दिविशिष्टपरिवारः शिवादेवंप्रियुष्यममराजगीयमानधर्ममङ्गल-
 विस्तरः पाणिप्रदशाय भ्रमरतो गच्छेत् च वीषय सारार्थि प्रति-
 कस्येदं कृतमङ्गलमरं धवसमन्दिदम्, इति पुष्टवान् । ततः सोऽभू-
 द्ब्रह्मण्ये द्रयन्द इति जगाद्- 'अप्रमननूपस्य तव श्वशुरस्याय
 प्रासाद् इति, इमे च तव भाषायां राजीमत्याः सख्यौ चन्द्रान-
 ना-सुगलाञ्चननिधोने मिथो वात्सल्यः । तत्र सुगलाञ्चना वि-
 श्लोक्य चन्द्राननां प्राऽह-ह चन्द्राननः । श्रीवर्गे एका राजीमत्य-
 च वर्षानीया, यस्या प्रथमेताश्चो वरः पाणिं द्रष्टीप्यति । चन्द्र-
 वदनाऽपि सुगलाञ्चनामाह-

"राजीमतीमद्वुतकपरम्यां, निमोय धाताऽपि यदीहरोम ॥

चरेण नो योजयति प्रतिष्ठां, भ्रमेत विज्ञानविचक्षणः कायः ॥ १ ॥

इतश्च नृथेश्वर्यमाकर्ष्य तामुद्घाद् राजीमती सर्वात्म्ये प्राहा

हे सख्यौ ! अशतीभ्यामेव सामम्बरमागच्छापि वरो विश्लोक्य-
 तं, ब्रह्मपतिं विज्ञोऽपि कपितुं न लभेयमिति बलात्तदन्तरे स्थित्वा
 नेमिसालोक्य सास्वयं विन्तयति स्म-

"किं पातालकुमारः ? किं वा अकरञ्चलः सुरेन्द्रः किम् ? ॥

किं वा मम पुण्यानां, प्राभारो मूर्त्तिमानेवः ? ॥ २ ॥

तस्य विधातुः करयो-रात्मनां सुपुङ्गवं करोमि मुदा ।

येनैव वरो विदितः, सौभाग्यप्रभृतिगुणराशिः ॥ २ ॥

सुगलाञ्चना राजीमत्यभिरागं परिज्ञाय स्वपीतिहासं-
 हे सखि ! चन्द्रानने ! समप्रगुणसम्पुर्णपि अस्मिन् वरे एकं वृष्यं
 ब्रह्मस्येव, परं वधादिभ्यां राजीमत्यां श्रवणत्यां वक्तुं न शक्य-
 ते । चन्द्राननाऽपि-हे सखि ! सुगलाञ्चने ! मयाऽपि तद् इदं,
 परं साम्प्रतं मौनेवाचक्षरीयम् । राजीमत्यपि वृष्या मज्ज-
 तां दर्शयन्ती-हे सख्यौ ! यस्याः कस्या भवि सुवनादुत्तमा-
 भ्यधन्यायाः कन्याया इयं वरो व्रतु, परं सर्वैषुगुणद्वरेऽस्मि-

न वरं दूषणे तु दुग्धमप्यात् पूतरकर्षणप्रयामसम्भवाव्यमेव ।
नन्दु ताभ्यां सविनां कथितम्-भो राजीमति ! वरः प्रथमं
गौरा विनाप्येत, अपरं गुणरत्नु परिचये सति ज्ञायते । तस्मात्त्वे
तु कञ्जलानुकारामेवासिम्ह इत्यते । राजीमती सर्वे सख्यौ प्र-
त्याह-अथ यावत् युवांस्तुरे इति मम प्रभोऽप्यवत्, साम्प्रतं तु स
ममः । पत् सकलगुणकारणं इयामत्वं दूयसामपि दूयत्यनवा
प्रकृतितम्, गुणुत्तं तावत् सावधानीपूय भवत्यौ इयामत्वं इया-
मवस्वाभयणे न गुणान्, केवलगीरत्वे दोषाश्च । तथाहि-
“नू? चित्तवहिर अगुरु ३, कयुरी ४ घण ५ कर्णीविगाद केसा ७,
कसवट ८ मती ए रथी ९, कसिपा एप अणम्यफला ॥” १ ॥
इति कृष्णत्वं गुणाः ।

“कयूरं अंगारो १, चंदे चिषं ३ कर्णीविगाद कषण ३,
वृक्षं मरिय ४ चित्तं, रेहा ५ कसिपा वि गुणहेतु ॥” २ ॥
इति कृष्णवस्वाभयणे गुणाः ।

“आरं अवनं १ दहिणं, द्विमं २ अहगौरविगाहो रोगी ३ ।
परवसगुणो अशुभो, केवलगौरवत्त्वेऽवशुभो ॥” ४ ॥

एवं परस्परं तासां जल्पे जावमाने भीनेमिः पशुनामालंस्वर
भुवा साकेपम-दे सारथे । कोऽयं दारुणः स्वरः? सारथः प्राह-
युष्माकं विवादे भोजनहृते समुदायैरुतपशुनामत्वं स्वरः, इत्युक्तं
स्वामी चिन्तयति स्म । चिन्विवादाहेरवत्, यत्रानुसवोऽर्माप्रां जी-
वानाम् । इतश्च-“ इहो! सहिषो! कि मे दहिण चकसु
परिकुड्ड १ चि” बद्धसौ राजीमतीं प्रात सख्यौ प्रतिहतमम-
कूलम्, इत्युक्त्वा श्रुत्युक्तारं कुर्याः नेमिस्तु हे सारथे । रथिनेनो
निवर्षये । आश्रन्ते नेमि पश्यन्को दहिणः स्वप्रियाया हरिणो-
र्मापि पिपाया स्थितः । “ अत्र कविघटना ”-स्वामिने निरीक्ष्य
हरिणो हृते-

“ मा पहरसु मा पहरसु, तुयं मह हिययहगिर्गि हरिणि ।
सामी ! अहं अरणं, वि तुस्सहो पियतमाविरहा ” १ ॥
हरिणी नेमिमुखां निमाप्य हरिणं प्रति हृते-
“पसो वसन्नवयसो, तिदुयणसामी अकारणं बंधु ।
तथिषण्येषु बल्लहं, रक्षत्यं सव्यजीवाणं ॥” २ ॥

हरिणोऽपि पत्नीप्रेरितो नेमि हृते-
“ निरुद्धरणीरप्यां, अररगततणमकृष्णं च वणयासे ।
अम्हाणु निरवराहा-ण जीविषं रक्षस्व रक्ष पदेः ॥” ३ ॥

एवं सर्वेऽपि पशवः स्वामिने विरूपयन्ति । तावत्स्वामी वभाये-
भोः पशुकृकाः । मुञ्चन् मुञ्चन् इमान् पशून्, नाहं विवादां क-
रिष्ये । पशुकृकाः भीनेमेव वसा पशुमुञ्चन्ति स्म । सारथिरपि
इदं निवर्षयति स्म । अत्र कविः-

“ हेतुरिन्दोः कलङ्के यो, विरेदे रामसीतयोः ।
नेमे राजीमतीरयगे, कुरङ्कः सत्यमेव सः ॥” १ ॥ इति ।
समुद्रविजयशिषाचिजयशिषादेविसुभाजनास्तु शीघ्रमेव
इदं स्मलयति स्म । शिवा च सथाप्य हृते-

“ परथेमि जणपिबद्ध-वच्छु ! तुमे पदमपत्यं किपि ।
काऊख पाणिमहणं, मह वंसे निअवधुवययो ॥” १ ॥
नेमिराह-

“मुञ्चाग्रहसिमे मात !-मांतुषीषु न मे मनः ।
मुकिस्त्रीसङ्गोत्कण्ठ-मकुण्ठमवतिष्ठते ॥” १ ॥
यतः-

“था रागिणि विरागिण्य-स्ताः स्त्रियः को निवर्षते ? ।

अतोऽहं कामये मुक्तिं, या विरागिणि रागिणी ” १ ॥
हृषादि ।

राजीमती-हा देव ! किमुपस्थितमित्युक्त्वा मुक्तीं प्राप्ता, स-
खीभ्यां बन्धनक्षेत्राभ्यासिता कथमपि लक्ष्यसंज्ञा सखायं
गाढस्वरेण प्राह-

“ हा आयकुलदियणरं, हा निचवमणाए ! हा अगसरण ! ।
हा करुणावर ! सामी !, मं मुण्णं कहं बलिभो ? ” १ ॥
“ हा हिअय थिठ ! विट्टु !, अज्ज वि विलुअ ! जीविभं वहस्सि ।
अअथ बट्टारभो, जह माहो अलसो आओ ” २ ॥

पुनर्निःहवस्व स्तोपासन्नं जगाद-
“ जह सयलसिअच्छा-ह मुत्तिगणिप्राह सुच । रत्तोऽसि ।
-ता एवं परिणयणा-रंभेण विरंविआ किमदं ? ३ ॥

सप्यापै. मरोवध-

“ लोअपसिखी वधमी, सविप इक्क सुणुणंअ । ”
सरत्तं विरलं सामलं, सुक्किम विदो करिअज्ज ॥ १ ॥
पिमरहिअमिम पिअसहि ! पअमि वि किं करेसि पिअभावं ? ।
पिमपरं कि पि वरं, अअपरं ते करिस्सामो ” २ ॥
राजीमती कर्णी पिपाया हा ! अभायं किं भावयथ-
“ जह कह वि पच्छिमाय, उदयं पावठ दिणयरो तह वि ॥
मुण्ण नेमिनादं, करेमि नाहं वरं अअं ” १ ॥

पुनरपि नेमिने प्रति-
“मन्नुत्तिरुक्काधिकमेव दत्ते, त्वं थावकभ्यो गृहप्रागतेभ्यः ।
मयाऽथयम्या जयतामधीश, इहोऽपि इहोऽपि देव लक्ष्यः २ ।

अथ विरका राजीमतीं प्राह-

“ जह वि हु एअस्स करो, मज्ज करे नेो आस्सि परिणयसे ।
तह वि सिरे मह सुक्किअ, विक्कामसमप करो होहो ” ३ ॥
अथ नेमिने सपरिकरः समुद्रविजयो जगौ-
“ नानेबायाः हतोऽहोऽहो, सुक्तिं जन्मुज्जिनभ्याः ।
ततोऽप्युक्तेः पदं ते स्यात्, कुमारअक्षवारिणः ॥ १ ॥
नेमिराह-हे तात ! कीणभोगकामोऽहमस्मि । किञ्च-
“ पकळीसंभ्रदं उन्नत-जन्तुसंघातघातके ।
जवतां जवतातेऽस्मिन्, विवादे कोऽयमाग्रहः ? ” १ ॥

अत्र कविः-

“ मन्येऽङ्गनाविरकाः, परिणयनेभ्येण नेमिरागरय ।
राजीमतीं पूर्वमेव-प्रम्या समकेतयमुक्त्वा ” १ ॥

कुमारवस्थायास-

अरहा अरिष्टनेमि ! द्रस्तेऽं जाव तिसि वाससया-
ई कुमारे अगानवासमज्जे वसित्ता पुणरवि भोगंतिपहिं
सव्वं ते चेव भाणियव्वं जाव दाणं दाइयाणं परि-
भाइया ॥

अहं अरिष्टनेमिः दृष्टः, यावत् त्रीणि वर्षशतानि कुमारः सन्
गृहस्थावस्थामभ्ये उपात्वा पुनरपि लोकान्तिकिरित्यादि सर्वे
नदेव पुनोक्तं भणितव्यम् । लोकान्तिका देवा यथा-“ जय नि-
जितकन्दर्प !, जन्तुजातामयप्रद ! । नित्योत्सवावधारायै, माध !
तीर्थ प्रवर्षय ” १ ॥ इति स्वामिने प्रोच्य स्वामी धार्मि-
कदानानन्तरं त्रिसुवनमानन्दविष्यतीति सुमुद्रविजयादीन् प्रो-
त्साहयति स्म । ततः सर्वेऽपि सन्तुष्टाः दानविधिस्तु श्रीधो-
रवद्वं ह्यः । १२२ ॥ कल्प ७ अ. १० ।

अथ निष्कमणश्च-

जे से वासाणं पदमे मासे ङुषे पक्वले सावण्यमुष्के, तस्स णं सावण्यमुद्रस्स उट्ठीपिकलेणं पुण्यएहकासममयांसं उ-
त्तरकुराप सीयाए तदेवमणुआसुराप परिसाए समाणुग-
म्यमाणेजाव वारवईए पयजं पयजं पयजं । निगा-
च्छइत्ता जेषेव रेवपए उज्जाए तेणेव उवागच्छइ । उ-
वागच्छइत्ता असोणवरपायवस्स अइहे सीयं उवेइ । उवेइत्ता
सीयाओ पक्वोरुइइ । पक्वोरुइत्ता सयमेव आभरणमहालं-
कारं भोगुयइ । ओमुयइत्ता सपमेव पंचमुद्धियं झोयं करेइ । क-
रेइत्ता उइएणं जचेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्वत्तेणं जोग-
मुवागएणं एणं देवदसमादाय एणं पुरिससहस्सेणं स-
दिं मुंइ भविता आगाराओ आणगारियं पव्वइए ॥ १७३ ॥
(जे से वासाणं पदमे इत्यादि) योऽसौ बर्षाकालस्य प्रथमो मासो
द्वितीयः पक्षः-आवणस्य शुक्लः पक्षः तस्य आवणशुक्लस्य षष्ठीदि-
वसे पूर्वाह्नकालसमये उत्तरकुरायां शिविकायां स्थितो देवम-
नुष्यासुरसंहतिस्तथा पर्वदा समनुगम्यमानो यावद् द्वारवत्या
नगर्यां मन्थभागे निगच्छति । निगत्य यत्रैव देवतकमुधानं तथैव
उपागच्छति । उपागम्य अशोकनामवृक्षस्य अश्वस्तान् शिविकां
स्थापर्याताः संस्थाप्य शिविकातः प्रत्यवतरति । प्रत्यवतीत्यं स्थयमे-
व आभरणमालयाङ्गान् ग्रहन् अवमुञ्चति, अवमुञ्च्य स्थयमेव पञ्चमै-
ष्टिकं लोचं करोति । कृत्वा च पश्येन भंकेन अपानकेन जलरहितेन
चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति एकं देवदृष्यं शूरीत्वा
पकेन पुरुगणां सहस्रेण सार्द्धं मुमुषो ज्ञात्वा प्रहृत्पाराभिष्क-
म्य सायुतां प्रतिपन्नः ॥ १७३ ॥ कल्प० ७ क० । स० ।

अथ केवलशोपादः-

अरहा अरिष्टनेमी चउपपन्नं राइंदिययाइं निच्चं वोसइत्ताए
तं चेव सव्वंजाव पणपन्नसस राइंदियसस अंतरा वट्टमा-
णस्स जे से वासाणं तवे मासे पंचमे पक्वले आसांसयवहु-
ले, तस्स णं आसांसयवहुलस्स पन्नसीपक्वलेणं दिवसस्स
पच्चिमे ज्ञाप उइंजतसेजनिहंइं वेपसस्स पायवस्स अइहे
अइहेणं जचेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्वत्तेणं जोगमु-
वागएणं जाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते० जाव जाण-
माणे पासमाणे निहुरइ ॥ १७४ ॥

(अरहा अरिष्टनेमी इत्यादि) ग्रहंश्च अरिष्टनेमिः चतु-
ष्षण्डात्तान् अहोरात्रान् यावद् नित्यं व्युत्सृष्टकायः तदेव-पूर्वोक्तं
सर्वं वाच्यं यावत् पञ्चपञ्चाशत्समस्य अहोरात्रस्य अन्तरा
वर्तमानस्य योऽसौ बर्षाकालस्य द्वितीयो मासः, पक्षमः पक्षः-
आश्विनस्य कृष्णपक्षः, तस्य आश्विनवदुलस्य पञ्चदशे दि-
वसे दिवसस्य पश्चिमे भागे उज्जयन्तनामगौलस्य शिख-
रे वेतसनामवृक्षस्य अश्वस्ताइ अइयेन भंकेन अपानकेन ज-
लरहितेन चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति शुद्ध-
ध्यानस्य मन्थनागे वचैरामस्य प्रनोरनन्तं केवलज्ञानं ल-
भ्युपपन्नं यावत् सर्वज्ञावाद् जानन्न पश्यंश्च विहरति, तत्र
केवलज्ञानं देवतकस्यै सहस्राब्जवयस्य समुत्पद्ये, तत उद्यान-
पालको विष्णोर्भ्यजिह्वपत् । विष्णुपति महर्ष्यां जगव-

त्वं बन्दिनुमाययी । राजीमस्यपि तवागता । अथ प्रमोदंश-
नां निशम्य वरहचतुः सहस्राब्जवयस्युतो ब्रतमावह । इ-
रिणा च राजीमस्याः स्नेहकारणं पृष्ट प्रहृष्टधनवतीजवादा-
रम्य तथा सहस्रस्य नवभयसम्बन्धमाचोह । तथाहि-प्रथ-
मे भवेऽहं धननामा राजपुत्रः, तदेयं धनवती नाम्नी म-
त्यक्षी अमृत १ । ततो द्वितीये भवे प्रथमे देवलोकां प्राप्य
देवदेव्यी २ । ततस्तृतीये भवेऽहं विजयतिनामा विद्याधरः,
तदेयं रत्नवती मत्यक्षी ३ । ततश्चतुर्थे प्रथे चतुर्थे कटपे द्रा-
वापि देवौ ४ । पञ्चमे भवेऽहं अपराजितराजा, एषा भि-
यता राक्षी ५ । षष्ठे एकादशे कटपे द्रावापि देवौ ६ । स-
प्तमेऽहं शङ्खो नाम राजा, एषा तु यशोमती राक्षी ७ । अ-
ष्टमेऽपराजिते द्रावापि देवौ ८ । नवमेऽहमयम्, एषा राजीम-
ती ९ । ततः प्रहृष्टस्वयं विहृत्य क्रमात्पुनरपि देवतके सम-
वासरत् । अनेकराजकन्यापरिचिता राजीमती तदा रथनेमि-
श्च प्रहृष्टपार्थ्वी शोकां जहदतुः । अन्त्या च राजीमतीं प्रहृष्टं न-
स्तुं प्रतिमज्जतीं मार्गं वृष्टया बाधिता । एकां च मुहुं प्राविशत् ।
तस्यां च मुहुयां पृथे प्रविष्टे रथनेमिमज्जानती सा किलक्षानि
वक्ष्याणि शोषयितुं परितोक्ष्येण । ततश्च तामपहसितत्रिदश-
तरुणीरामणीयकां साक्षात् कामरमणीमिव रमणीयां तथा
विवसानां निरीक्ष्य श्रातुवैरादित्र मन्नेन मर्मैश्च हतः कुल-
ज्जासुसृज्य धीरतामवधीरं रथनेमस्तां जगाद-

“ अयि ! मुन्दरि ! किं देहः, शोष्यते तपसा त्वया ? ।
सर्वोङ्गसोपसंयोग-योग्यः सौभाग्यशोषिणः ॥ १ ॥
आगच्छ स्वच्छेद्यया भद्रे ! कुण्डेह सफसं जनुः ।
आवाप्तुभाषति प्राप्ते, आरप्यावसतपोवांशिवम् ॥ २ ॥
ततश्च महासती । तवाकपये तं दृष्ट्वा च भूतान्तर्धेयां तं प्रत्युवाच-
‘ महानुभाव ! कोऽयं ते-ऽजिलाणो नरकाश्वनि ।
सर्वे सायद्यमुसृज्य, पुनवाञ्छन्न लज्जसं ॥ १ ॥
अग्नयनकुले जाता-स्तिर्यङ्गो ये वृजङ्गमाः ।
तेऽपि ना यातमिच्छन्ति, त्वं नीचः किं ततोऽप्यसि ? ” ॥ २ ॥
इत्यादिवाच्यैः प्रतिबोधितः धीमेमिपात्रं तद्वदुक्षीर्षमाशोच्य
तपस्तप्या मुक्तिं जगाम । राजीमस्यपि शोकात्पारावप शिवश्च-
ध्यामाकृदा, धिरपार्थितं शास्त्रनिकं धीमेमिसंयोगवप । यदाह-
“ जगत्परा वस्त्रं स्थित्वा, गेहे वर्षचतुःशतीम् ।
पञ्चवर्षशतीं राजी, ययौ केवलिनी शिवम् ॥ १ ॥ १७४ ॥
(कृष्णप्रमहिषीप्रमाजन्मम् ‘ अग्नमहिषी ’ शब्देऽस्मिन्नेव जगो
१७४ पृष्ठे उक्तम्)

अथ गण्यदिसंपत्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स अट्टारस गणा
अट्टारस गणहरा हुत्वा ॥ १७५ ॥
(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स चि) अहंतोऽरिष्टनेमेः अरहत्त-
गणाः, अष्टादश गणधराश्च अमवद् ॥ १७५ ॥ कल्प० ७ क० ।

अथ अमणअमणीसंपत्-

अरहओ णं अरिष्टनेमिस्स वरदत्तपामुक्त्वाओ अट्टारस
समणसाहस्तीओ उक्कोमिया समणसंपया हुत्वा । १७६ ॥
(अरहओ णं अरिष्टनेमिस्सत्वादि) अहंतोऽरिष्टनेमेः अरहत्त-
मुक्त्वाणि अष्टादश अमणानां सत्त्वानि, सत्त्वदा पतावती अम-
णसम्पदा अमवद् ॥ १७६ ॥

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स अज्जजक्खिसणीयासुक्खत्वाओ वत्तालासं अज्जिजयासहस्तीभ्यो उक्कोसिया अज्जिजयासंपया हुत्वा ॥ १७७ ॥

(अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमिः, आर्ययक्षिणीप्रमुखाणि अत्थारिष्टात् आर्योसहस्राणि उत्कृष्टा एतावती आर्योसम्पदा अजयत् ॥ १७७ ॥ कल्प० ७ कृ० । अ० । स० ।

अथ भावकसंपत्-

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स नंदपासुक्खत्वाणं समणोवासंगाणं पगासयसाहस्तीं अ ऊणचरिं च सहस्सा ठक्कोसिया सपणोवासगार्णं संपया हुत्वा ॥ १७८ ॥

(अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्सत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमिः, नन्दप्रमुखाणं आषकाणामेको लक्ष एकानससतिश्च सहस्राः, उत्कृष्टा एतावती आषकाणां सम्पदा अजयत् ॥ १७८ ॥

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स महासुव्वयापासुक्खत्वाणं समणोवासियाणं तिष्णि सयसाहस्तीभ्यो उच्चोसं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासयाणं संपया हुत्वा ॥ १७९ ॥

(अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमिः महासुव्वताप्रमुखाणां आषिकाणां त्रयो वक्त्राः पदत्रिंशत्सहस्रा उत्कृष्टा एतावती आषिकाणां सम्पदा अजयत् ॥ १७९ ॥

अथ चतुर्दशपूर्विणाम्-

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स चचारि सया चउदससुव्वरीणं अज्जिणाराणं जिणसंकासाणं जाव संपया हुत्वा ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमिस्सत्यादि शतानि चतुर्दशपूर्विणाम्, अक्षयस्तिनामपि केवलितुल्यानां यावत् सम्पदा अजयत् । कल्प० ७ कृ० ।

अथार्थविज्ञानादि-

पन्नरससया ओहिनाणीणं पन्नरससया केवलनाणीणं पन्नरससया वेउव्वियाणं दससया विउलमईणं ॥
पञ्चदश शतानि अर्थविज्ञानिनां सम्पदा अजयत्, पञ्चदश शतानि केवलज्ञानिनां संपदा अजयत्, पञ्चदश शतानि वैकियसिधमतां संपदा अजयत्, दश शतानि विपुलमतां संपदा अजयत् । कल्प० ७ कृ० ।

" अरहो णं अरिष्टनेमिस्स अउत्तया बाईणं सदेवमणुपासुराय परिसाय चाप अपरजियाय उक्कोसिया वाइसंपया होरथा " । स्था० ८ ग्रा० । स० ।

अनुत्तरोपपातिकामम्-

सोलससया अणुत्तरोववाइयाणं, पन्नरस सणणसया मिद्धा, तीसं अज्जियासयाइं सिद्धां ॥ १८० ॥

योऽशशतानि अनुत्तरोपपातिको संपदा अजयत्, पञ्चदश अमणानां शतानि सिद्धानि, त्रिंशत् आर्योशतानि सिद्धानि ॥ १८० ॥ कल्प० ७ कृ० ।

अथान्तकृद्भूमिः-

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स दुविहा अंतगज्जूमी हुत्वा । तं जहा-जुतंतगहज्जूमी य, परियायंतगहज्जूमी य० जाव अहमभाओ पुरिसजुगाओ जुतंतगहज्जूमी, दुवासपरिआए अंतमकासी ॥ १८१ ॥

(अरहभ्यो अरिष्टनेमिस्सत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमिः त्रिविधा अन्तकृद्भूम्यां अजयत् । तथाथा-युगात्कृद्भूमिः, पर्यायान्तकृद्भूमिश्च । यावत्; इदमत्र योऽयम्-अहमं पुरुषयुगं पृथ्वरं युगात्कृद्भूमिरासीत्, त्रिविधैर्यथाये जाते कोऽपि अन्तमकार्योत् ॥ १८१ ॥ कल्प० ७ कृ० । स्था० ।

अथ भगवत् प्रायुः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरह्हा आरिष्टनेमी तिन्नि वाससयाइं कुमारवासमय्ठं वसित्ता, चउप्पन्नं राई-दियाइं उउमत्थपरिआयं पाउणिता, देसणाइं सत्तवाससयाइं केवलिपरिआयं पाउणिता, पईउण्णाइं सत्तवाससयाइं सामन्तपरिआयं पाउणिता, मयं वाससहस्सं सव्वा-उअं पालाइत्ता, खीणे वेयण्णिज्जा उपनामणुवे इपीसे आमण्णिणीए दसमयुसमाए वदुविउक्कंताए, जे से मिग्घाए चउत्थे मासे अउमे पक्खे आसाइउय्ठे, तस्स णं आसाइउय्ठस्स अहमीपक्खेणं उण्णि उडिजंतल्लविहरंसि पंचई उच्चोसिद्धिं अणुमारसएईं सत्थिं भासिणं जत्तं अयाण्णं चित्तानसत्तचंणं जोगमुवायाएणं पुव्वरत्तावत्तकाइसमयंसि नसजिए काइगए० जाव मत्तुदुक्खपईणे ॥ १८२ ॥

[तेषां कालेणं इत्यादि] तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्हन् अरिष्टनेमिः त्रिणि वयंशतानि कुमारवस्थायां स्थित्वा चतुष्पञ्चाशद्दंडगत्राद् अष्टवस्थायां पाशयित्वा, किञ्चिद्दानीं सप्तवयंशतानि केवलियथायां पाशयित्वा, प्रतिपूर्णाणि सप्तवयंशतानि चारिअथायां पाशयित्वा, एकं वयंसहस्रं सर्वायुः पाशयित्वा, त्रीणिपु सन्तु वेदनीयायुतानामात्रेषु कस्सु अस्यामेव अषसंप्रियसु दुष्पमसुधमनामके चतुर्षुऽरके बहुव्यतिक्रान्ते स्तनि, योऽसौ उष्णकालस्य चतुर्थो मासः अष्टमः पक्षः-आषाढशुक्लः, तस्य आषाढशुक्लस्य अष्टमीदिवसे उपरि उज्जयन्तनामरीशिशिरस्य पञ्चभिः पद्मैश्चायुर्वैरनमारशतैः सार्धं मासिकेन अनशनेन अपानकेन जलरहितेन, विआनकृत्रे चन्द्रयोगमुपागत-ते स्तनि पूर्वोपरारिषिसमये मध्यवार्त्रो निषद्यः सन् कालगतः, यावत् सयंयुःअमकीणः ॥ १८२ ॥ इति ॥ कल्प० ७ कृ० । स० ।

अथ नेमिनिर्वाणात् कियता कालेन (प्रवृत्त)

पुस्तकलिखनादि जातमित्यादि-

अरहभ्यो णं अरिष्टनेमिस्स कालगतस्य जाव सव्वदु-क्खत्तपीहणस्स चउरासीइं वाससहस्साइं विउक्कंताइं पंचासीइमस वाससयस्य नववाससयाइं विउक्कंताइं दसमसस य वाससयसस अयं असीइमे संवच्चरे काइे गच्छइ ॥ १८३ ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमिः कालगतस्य यावत् सर्वदुःखप्रकीणस्य चतुर्णांतिवयंसहस्राणि व्यतिक्रान्ताणि, पञ्चाशीतितमस्य वर्षसहस्रस्यापि नव वर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि, दशमस्य च वर्षशतस्य अयं अशीतितमः संवत्सरः कालो गच्छति ॥ १८३ ॥ अर्धनेमिनिर्वाणात् चतुष्पत्तिया वर्षसहस्रैः अर्धनेमिनिर्वाणमज्जत्, आषाढ-निर्वाणं तु वर्षाणां अशीत्या सहस्रैः सार्धैः सप्तसिद्धं शतैरभू-दिति सुधिया हेयम् । कल्प० ७ कृ० । ली० ।

“ उग्रजतसेलासिहदे, विष्णो नामं नितीहिषा जस्त ।
 तं धम्मचक्रवर्ति, अरिहतेनेमि नमंसाभि ॥१॥ ध० ३ अथि०
 (अरिहतेनेमिना राज्ञीमतीपरित्यागः, तथा प्रज्जिततया कामा-
 सेरधनेमिप्रतिबोधश्च । इहनेमि 'शुभे बधत्ते)
 अथहिलपद्धने पुत्र्यमाने भीमरिहतेनेमिदेव, ती० ।
 तत् कथा चयम्—

पणमिय अरिहतेनेमि, अणहिसिपुपुरपट्टणावयंसस ।
 षंजाणगच्छनिरिसय-अरिहतेनेमिस्स किंचिमां कप्पं ॥१॥

“पुत्रं किर सिरिकन्नरज्जमयंर जक्कसा नाम भद्रद्विसंपन्नो नेगमो
 हांत्था । सो अश्रया वाणिज्जकज्जे मइया बहल्लसत्थेण कयाण-
 गाणि गाणजण कन्नरज्जपडिच्चं कन्नरज्जाहिवसुआए महरि-
 षाय कंबुल्लआसांवाधरिंयं गुञ्जरुंसें पडिठ्ठो, आवासिभो अ ।
 कमेण लक्खन्नारिं सस्सेन्नेमइंयं पडिठ्ठि अणहिसिपुवाडयपट्ट-
 णनियेसट्टाण कारिंत्तं आसी । तथ सत्थं निवेसिंसा अत्थंतस्स
 तस्से नेगमस्से पत्तां वासारसो । वरिसिंत्तं पवसा जलहरा ।
 अश्रया भइययमांसे सो बहल्लसत्थो सत्थो विक्कथं विगमं, को
 वि न आणइ, सव्वत्थं गवेसाविश्रं न लद्धो । तन्नो सव्वस्से ना-
 से इव अत्थंत्थिताउरस्से तस्से रत्तीए आगया सुमिणंति
 भगवई अथा देवी । जणियं च तीए-वत्थं । जगसि, सुवसिंति वाः ।
 जक्खेण तुत्ते-अम्मो । कथां दे निहा, जस्से बहल्लसत्थां सव-
 वस्सेनूअो विण्णणे। देवीए साहंये-भइ । एयंमि लक्खारामं भं-
 थिलिआणस्से हिट्ठे पडिमातिं वट्टए । पुरिसतिंयं खणांवि-
 तां ते गइयव्वं । एया पडिमा अरिहतेनेमिसामिणं, अवर
 सिरिपासनाइस्से, अथा य अविद्यादेवीए । जक्खेण वायरिं-
 त्थ य अविंथिआपूणाणं बाहुल्लो सो पपसेा कइं नायथो ? दे-
 वीए जपिअं-धोउमयं मेरुल्लं पुण्कपयंर जत्थ पासिंत्तं चैव नां
 पडिमातिगस्से जाणिआसि । तस्मिं पडिमातिगे पयदीअं प-
 ड्ढंत्तं अनुज्ज बहल्ला सयमेव आगच्छिइहिंति । पहाए तण उट्ठु-
 षं किंविइहाणपुत्रं तहाकप पयदी । इत्थं आं तिथिं वि पडिमाअं ।
 पूहयाअं विडिपुत्रं । खणांमिसेण अत्थकिंयमेव आगया बहल्ला ।
 संतुठो नेगमो । कमेण कारिअो तथ पासाओ । गांविआअं
 पडिमाअं ॥ अश्रया अरिहतेनेमि वासारसे अगादारगामाओ
 अट्टारससयपट्टमासिघरअं कियेयां अं भंजाणत्थं मंडणसिरि-
 योत्तं भइत्तिरिंयां अं भाउतनयंरधरिं विहंत्ता तत्थं आगया । सो-
 गोहिं विअविअं-भगवं । तिउं उल्लेखिंत्तं गंतुं न कप्पइ । पुरओ
 तओ तेहिं सुंरिंइं तथ ताओ पडिमाअं भग्गासिरिपुमिमाए ध-
 यारोओ महल्लसवुवं कओ । अज्जथि एए वरिसें तस्मि चैव
 दिट्ठो धयारोओ कीर । सो य धयारोवमहुंस्सं विक्कमाइआओ
 पंचसु सणस्स दुउत्तरे (२०२) वरिसाणं अइकंतेसु संवुत्तं । तओ
 अइसएसु दुउत्तं सु विक्कमवासंतु (२०२) अणहिसिपुवाडय प-
 रिंक्कयपयसे लक्खन्नारामजां पट्ठं चारुत्तइंयसमुआहलेण
 वणरायराइया निवेसियं । तथ वणराया अमरायत्तअनय-
 रसीइयण्णइआसांमंतसीइनामाणो सल चारुत्तइंयसरायणो
 आआओ । तथेव पुए बाणुकुंसें सुंभरायचामुंभरायवज्जनायपु-
 ष्ठभरायतीमदेवकअजयसिहदेदेवकुमारपालदेवअयदेवबाल्मू-
 लारायभीमदेविआहाणा पगरस नरिंदा । तओ वाचलाअसए
 लुण्णत्थयावीरधमलधीसअदेवअज्जुण्णदेवसारंगदेवकसुदेवा न-
 रिंदा संजाया । ततो अण्णवदीणसुरकाराणं गुञ्जरुधरिंसीए
 आणा पयइ । सो अरिहतेनेमिसीमां काइंभीयपामिहारो अज्ज-
 वि तदेव पुरज्जर तिं ॥

अरिहतेनेमिकल्पेयं, लिखितः भवेत् ५स्तु वः ।
 मुखात् पुरा विदां भुत्वा, भीमजिनप्रजसुरिंमः ॥ १ ॥ ती० २६
 कल्प० । “दो तिथयरा नीहुण्णत्तसमा अणंणं पवसा । तं जहा-
 सुणिसुवधए चैव, अरिहतेनेमि चैव ॥ स्था० २ ज्ञा० ४ उ० ।

अरिहता-अरिहता-की० । कन्धविजयकृत्तवर्तिराजधानीपुराणे,
 जं० ४ बह्ण० । “दो अरिहताओ ॥ स्था० २ ज्ञा० ३ उ० ।

अरिहत्तारि-अरिहत्तारि-पुं० । अरिहत्तयवृषभासुरमर्देकं भी-
 रुये, “अथुत्तिं देवकीं वके, वृष्टारिहत्तारिणा कृणात् ॥ भा० क० ।

अरिहता-अरिहता-की० । सामान्यतः शत्रुनावे, जं० १ ए अ०
 ५ उ० ।

अरिहदण-अरिहदण-पुं० । सतिंत्तमे भीश्रुयजपुत्रे, कल्प० ७
 स्म० । वसन्तपुरराजनि, यव्य पत्न्याऽभयं देवा चौरौ मोक्षितः
 सुभ० १ श्रु० ६ अ० । (अथ कथा- ‘अभयप्यथाण’ इहं ५-
 स्मिंशेव भा० ७३० वृष्टे दर्शिता) भीमभनूपोपकावेकं नृपे,
 ध० २० ।

अरिहरो-अव्य० । पादपूजे, प्रा० २ पाद ।

अरिस-अश्रीमन्-० । ‘हरस’ इति लोकप्रसिद्धे गुदाङ्कुरे
 रोमे, तं० । जी० । जं० । हा० । विपा० । उपा० । यद्बलेन वायु-
 र्भूवं पुरीषं च प्रबल्येत तस्मां गुदप्रविष्टां शिराणां विघात-
 उश्रीं रोमो जयति । प्रव० ३५२ इति ।

अरिसिद्ध-अशीस-त्रि० । अशीरुणे, “ अरिसिद्धस्स व अरि-
 स, मा खुम्भं तेण बंधप कम्मणं । नि० खु० १ उ० । अशी-
 सतः पादतलद्वैवेद्यादर्शांसि मा लुम्भयंति हन्ति क्कमाणं
 असीं बध्नाति । वृ० ३ उ० ।

अरिह-अहं-धा०-पूजने, सक० । योग्येत्, अक० न्चावि०
 पर० सेट् । वाच० । “ हं-धी-ही-हस्से-क्रिया-दिष्टासिचत् ॥
 ङ । २ । १०४ । इति सूत्रेण संयुक्तस्यान्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः ।
 अरिह-अहं-इति । प्रा० २ पाद ।

अर्हु-त्रि० । योग्ये, सुत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । स्था० । लज्ज-
 णोपेततयाऽऽचार्यपदयोग्ये, व्य० १० उ० । पुत्र्ये, वि०० । प्रहा-
 स्ततया पुत्र्ये, स० ।

अरिहंत-अहंत-पुं० । अहंत्यशोकाद्यप्रकारां परमभक्तिरसु-
 रासुरविसेरविश्रंभितं जन्मतरसात्सालविक्रदानवधवास-
 नाजालाभिकपुत्रयमहातृकव्याणफलकल्यां महाप्रातिहार्य-
 रुपां मिलितमतीतपन्नप्रकाशा सिद्धिस्तीथिशिखाराहणं चय-
 ईत्सः । स्था० २ डा० १ उ० । आच० । जं० । सुत्र० । अनु० ।
 आ० म० । जी० । आ० चू० । वि०० । आच० । तीर्थकस्तु,
 आ० म० छि० ।

सम्प्रति प्राकृतशैल्या अनेकधा अहं च्छब्दविकृतसंज्ञ
 इति दर्शयन्नाह—

इंदियविसयकसाए, परीसहदेवणाए उवसगे ।
 एए अरिणो हुंता, अरिहंता तेण बुद्धंति ॥

इन्द्रियादयः प्रबन्धः । वेदना विधिवा-शरीरौ, मानसौ, उभ-
 यरूपा वा । ‘एए अरिणो हुंता’ इत्यत्र प्राकृतशैल्या क्कान्वयत्या-
 च्छ विभक्तिव्यत्यः । ततोऽवयवैः-पतेषामपीणां हन्तारोऽहं

इति पृथोदरादिव्यादिद्वैष्टरूपनिष्पत्तिः । स्यादेतत्, अनन्तरगाथा-
भांसेत एषोक्ताः, पुनरप्यमीषामेषहोपन्यासो न युक्तः । उच्यते-
अनन्तरगाथायां नमस्काराहंत्व्यहेतुत्वेनोक्ताः, इह पुनरभिधा-
निकल्पप्रतिपादनाय उपन्यासः ।

साम्प्रतं प्रकारान्तरतोऽप्य आश्यायन्ते, ते चाष्टौ ज्ञानावर-
णादिसंज्ञाः संवसत्वानामेव । तथाचाऽऽह-

अट्टविहं पि य कर्म, अरिचूर्णं होऽ सव्यजीवाणं ।
ते-कम्मपरीहंता, अरिहंता तेष बुच्चंति ॥

अष्टविचमष्टप्रकारम्, अपिशब्दानुत्तरप्रकृत्यपेक्षया अनेकप्र-
कारम् । चशब्दां भिन्नक्रमः, स चावधारयते । ज्ञानावरणादि कर्म-
व अरिभूतं शुकुभूतं भवति सव्यजीवानां सत्वानाम्, अनवस्थाधा-
दिदुःखहेतुत्वात् । तत्कर्मपरिहन्तारो यतः, तेनाहन्त उच्य-
न्ते । रूपानिष्पत्तिः प्राग्वत् ।

अथवा-

अरिहंति वंदनार्थं-सणाणिव अरिहंति पूयसाकारं ।
सिक्किगमयं च अरिहा, अरिहंता तेष वुच्चंति ॥

अहं-पूजायाव । अहंति चन्दननमस्करणे, तत्र चन्दं शिर-
सा, नमस्करणे वाचा । तथा-अहंति पूजासत्कारं, तत्र वस्त्र-
माल्यादिजप्या पूजा, अयुधानादिसंस्त्रमः सत्कारः । तथा-
सिधयन्ति निष्ठिनाथो भवन्मयस्यां प्राणिनः सिक्किः लोकात्तन्त्र-
लक्षणा । अथयति-“यह बोदि चक्षत्तायं, तथयन्तुण सिज्जह”
तत्क्रमं प्रति अहंन्तीत्यर्हाः योग्याः । “अञ्” । ५ । ४७ । इत्यञ् ।
तेन कारणेनाहंन्त उच्यन्ते । अहंन्तीत्यहन्तः ।

तथा-

देवासुरमणुपसुय, अरिहा पूया सुरुत्तमा जम्हा ।
अरिणो हंताऽरिहंता, अरिहंता तेष वुच्चंति ॥

देवासुरमनुजैः-“सूत्रे पञ्चम्यर्थे सप्तमो, प्राकृतत्वात्” पूजाम-
हंन्ति प्राप्नुवन्ति । कुत इति चेत् ? अत आह-यस्मात्सुरोत्त-
मो उपचितसकलजनासाधारणपुण्यप्राप्ताभारतया समस्तदेवा-
सुरमनुजोत्तमाः; ततः पूजामष्टमहाप्रतिहार्यालक्षणाहंन्तीत्य-
हंन्तः । इत्यमनेकथा स्वर्थमभिधाय पुनः सामान्यविशेषाभ्यामु-
पसंहारआह-(अरिणो हंता इत्यादि) यतोऽपीनां हन्तारः, तथा-
रजो बध्यमानेक कर्म, तस्य रजसो यतो हन्तारः, तेनाहंन्त उ-
च्यन्ते । “अरिहन्तारः” इति वा स्थितस्य अहंन्त इति निष्पत्तिः
प्राग्वत् । आ० २० । ४० । ४० । आ० । सू० २० । आवा०
अहंन्तेनानां परमपुत्र्यः । यो० वि० ।

“अस्वीये देसियत्तं, तहेव जिज्जाभया समुहम्मि ।
ज्जायस्सकण्णट्ठा, महगोवा तेष बुच्चन्ति” ॥ विद्यो० ।
रागादासकसाय, य देसियाणिय य पंचवि परीसाहं ।
उवसम्मो नामयंता, नमोऽरिहा तेष बुच्चंति” ॥ विद्ये० ।

अ० २० । ४० । “योमोकार” शब्देऽप्य व्याख्या यथास्थानं च)
“णमो अरिहंतानं प्रयवंतारो” । अहंन्तो नामादिजिदाधनेकजिदा,
“नाम-स्थापना-उच्य-भावतस्त्वान्यासः” इति वचनात् । तत्र
भावोपकारित्वेन भावाहंत्संपरिग्रहाद्येमाह-भगवद्भवः । ज्ञ०
प्र० । “अरिहंताणमवन्नं वदमाणे अरहंतपपणुत्तस्स च.
मत्तस्स अत्तन्नं वदमाणे” इत्यादि-अवध्याय” शब्देऽ-
प्यैव जागेऽपि बह्यते) (अहंदायातना “आसायाणा” शब्दे

द्वितीयजने ४४३ पुष्टे उच्यते) “अरिहंता सोयुत्तमा अ-
रिहंते सरथं पवज्जामि” । आवा० ४ अ० । (अहंन्तो
लोकासमा इति “बुद्धसरणगमण” शब्दे वक्ष्यते) (उ-
च्यतेऽपीन्द्रियमयं न जानाति, तमेवाहंन्ते जानातीति बह्यते
“उत्तमय” शब्दे) (अहंन्त एव सर्वज्ञा इति “सव्यपणु”
शब्दे निरूपयिष्यते)

जम्बूद्विपे दीपे जररेवरपसु वासेसु एगसमप एगजुणे दो
अरिहंतंसा उपपज्जिमु वा, उपपज्जिति, उपपज्जिस्संति वा ॥

पञ्चादिकः कावशिरोधोषो गुणं, तत्रैकस्मिन्, तस्याप्येकस्मिन्समयः;
“एगसमप एगजुणे” इत्येवंपाठेऽपि व्याक्योक्तकर्मणैव, इत्यमे-
वार्थसम्बन्धात्, अन्यथा वा जावन्थेति । अहंन्तेतां वंशो प्र-
वाही-एको अन्तप्रभवः, अन्य पंचवतप्रभव इति । इथा० ३
जो० ३ ७० ।

एकस्मिन् क्षेत्रे एकसमये चावहन्ती नोपयेते इति कपिल-
वासुदेवं प्रति मुनिसुवतांकिः । ज्ञा० १६ अ० । जम्बूद्वीपे मन्-
दरैरस्त्ये शीताया महागथा उत्तरे दक्षिणे च उत्तरपणे अष्टौ
अष्टौः जम्बूद्वीपे मन्दरपश्चिमेन शीतोदाया महागथा उत्तरे
दक्षिणे च उत्तरपणे अष्टपद्ये । प्रतिकच्छादिविजयलोमैकैक-
स्मिन् चाग्निशस्त्रीयंकरा इति । इथा० ७ जो० । (अहंन्त्युत्तममने-
लोकात्प्रकारोद्योतायिति “अंधयार” शब्देऽस्मिन्वद्ये जागे १०७
पुष्टे समुक्तम्, तथा “निरथय” शब्दे सर्वो वक्ष्यता उच्यते)
“सनिधवला अरिहंता” इति माध्यायामहंन्तीनां श्वेता-
धारोपः किहेतुः ? इति प्रश्ने, अहंन्तः पञ्चवर्णाः, सिद्धास्त्व-
वर्णाः शाल्लुषु व्यक्तयेवाकाः सन्ति, आचार्यादयोऽपि कवल-
पीनादिवर्णा एव भवन्ति, तेनेतेषु पूर्वाचार्यवैश्वक्येण ध्याय-
मानेषु श्वेतापंचकवर्णारोपणपूर्वकमेयां भ्यानं सिक्किदुत्तं प्र-
वर्तते, ते तु सर्वोत्थायि क्रियासु द्रव्यक्षेत्रकालावादिदाममप्रीयि-
भिन्नासु प्रवर्तन्ते इति न काऽप्यनुपपत्तिः । १५५ । सैन० २ उच्यते ॥

अरिहंतकर्मभोयभव-अहंत्काम्भोजभव-त्रि० । अहंतां श्री-
तीर्थकराणां क्रमाक्षरणाः त एवाम्भोजानि कर्मज्ञानि, तेभ्यो
भव उपपत्तिव्यस्य तद्दहंत्काम्भोजभवम् । जितेश्वरचरण-
पङ्कजसन्धेः, द्रव्या० ५ अथ्या० ।

अरिहंतकर्मभोयसमासिय-अहंत्काम्भोजमाश्रित-त्रि० ।
अहंतां वीतरागणां क्रमाक्षरणास्त एवाम्भोजानि कर्मज्ञानि तत्र
समाश्रितः । अहंत्काम्भोजमाश्रितपुत्र, द्रव्या० १३ अथ्या० ।

अरिहंतचेइय-अहंत्चैत्य-म० । अशोकाष्टमहाप्रतिहार्यादि-
रूपां पूजामहंन्तीनि अहंन्तः तीर्थकराः, तेषां चैत्यानि प्रति-
मालक्षणाणि अहंत्चैत्यानि । इहमत्र भावना-चित्तमन्तःकरणं,
तस्य भावे कर्मणि वा (“वर्णदहादित्रयच्छ्ण ५ च वा”
७ । १ । ५६ । इति हैमसूत्रेण उच्यते) ह्ये चैत्यम् ।
तत्राहंतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधिचित्तोत्पादकत्वाद् अहंत्चै-
त्यानि मण्यन्ते । अहंत्चित्तमासु, “अरिहंतचवर्णानां करमि
कात्तस्समग्” आवा० ४ अ० । आ० २० । प्रति० । ४० ।

अरिहंतताजिसिय-अहंन्ताजित-त्रि० । अहंन्तिः सम्प्रदायवा-
ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अरिहंतमणुष्ठाप-अहंन्तजुहात-त्रि० । अहंन्तिः कर्त्तव्यतवा-
ऽजुहाते, प्रहा० १२ पद ।

अरिहंतसक्सिय-अर्हत्साक्षिक-न० । अर्हन्तस्तीर्थकरास्ते
 साक्षिणः समकभाचवर्तिने यत्र तत् । " गेवात्रा " ७ । ३ ।
 १७५ । इति [हेम] सुत्रेण कप्रत्ययविधानार्हत्साक्षिकम् ।
 अर्हत्सिः कृतसाक्षिणः, पा० ।
 अरिहंतसमपासिजा-अर्हच्छ्रुपणशृत्या-खी० । अर्हतां भम-
 णानां च शय्याऽर्हन्मसृशशय्या । कैत्यात्तयोपाभ्यरूपासु श-
 द्यवासु, जीत० ।

अरिहंतसासन-अर्हच्छासन-न० । जिनागमे, प्रश्न० ५ सन्ध-
 ङा० ।

अरिहंतसिजा-अर्हच्छ्रया-खी० । कैत्वग्रहे, अ० २ अधि० ।
 अरिहृदच-अर्हदृत्-पु० । आर्षस्तुस्थित-सुप्रतिबुद्धयोः पञ्चमे
 शिष्ये, कल्प० ८ क० ।

अरिहृदिष-अर्हदृत्-पु० । सिंहगिरेभ्यतुर्धे शिष्ये, कल्प० ८ क० ।
 अरुउवसग-अरुगुपसर्ग-पु० । रोगरहिते उपसर्गे, तं० ।
 अरुगुपसर्ग-पु० । आर्येत्वाद् वकारलोपः । कपरहिते उत्या-
 ते, तं० ।

अरुग-अरुक-न० । अग्रे, " अरुगं इहारा कुप्यद् " । पु० ३ क० ।

अरुग-अरुग-पु० । नन्दीअरुगरसमुत्सव परतोऽरुगोत्स-
 मुद्रपरिवेष्टिते चीपभेदे, स च वृत्तचलयाकारसंस्थानसंलि-
 नः । तत्र अशोकशोभाशोकी देवी । सू० प्र० १६ पाठ० । अरु० ।
 खी० । जी० । प्रज्ञा० । नं० । स्या० । " रयगा ष समुद्राश्रय,
 दीवसमुद्रा भवे अर्संक्रान्त । गंगुण द्वा द्वे अरुगो, अरुगो द्वा
 तयो उदहं " । ६४ ॥ खी० । हरिवर्षनामाऽकर्मरुमिबुत्तैता-
 श्चर्यवैतस्याधिपता देवे, स्या० ४ प्र० ३ क० । अरुगोपापात-
 प्रथमप्रतिपाद्ये देवे, स्या० १० ग० । उपा० । सू० प्र० । वि-
 माननेदे, अरुगोदीने द्वा विमानानि- " अरुगे १ अरुगामे २
 खसु, अरुगप्यद् ३ अरुगकंत ४ सिद्धेय ५ । अरुगज्जय ५ छन्दे
 ६, सूय ७ वर्दिसे नं ६ कलि १० " ५ ॥ शिष्टादिनामा-
 न्यरुगपदपुर्याणि हृद्यानि । उपा० ६ अ० । अ-उनन । सूर्ये,
 सूर्येसारथी, शुद्धे, सन्ध्यारागे, निःशब्दे, दानवभेदे, कुष्ठनेदे,
 पुष्पागवृत्ते, अद्यकरागे, कृष्णमिश्रितरक्तवर्णे च । तद्धति, वि० ।
 कुकुमे, सिन्दूरं च । न० मन्त्रिप्रथायां, श्यामाकाश्याम्, अतिवि-
 धायां, नदीभेदे, कदम्बपुर्यायां च । खी० । वाच० ।

अरुगगंगा-अरुगगङ्गा-खी० । महाराष्ट्रजनपदद्रोमी वहति
 नदीभेदे, ती० ३८ कल्प० ।

अरुगपञ्ज-अरुगपञ्ज-पु० । अतुर्धेऽप्येत्लन्धरनागाराजे, तदा-
 वासपथेते च । जी० ३ प्रति० । स्या० । विमाननेदे, उपा० ६
 अ० । राहोऽर्हन्मुद्रतो दशमे कल्पपुत्रेते, चं प्र० २० पाठ० ।

अरुगपभा-अरुगपभा-खी० । नवमस्य तीर्थकरस्य निष्क-
 मणशिक्षिकायाम्, स० ।

अरुगवर-अरुगवर-पु० । स्वनामकथाते द्वीपे, समुद्रे च । तत्र
 अरुगवरे द्वीपे अरुगवरमद्रारुणवराभमद्री, अरुगवरे समुद्रे
 अरुगमद्रारुणमहानद्री द्वैवी । सू० प्र० १५ पाठ० । जी० ।
 अरु० । ४० पा० ।

अरुगवरोभास-अरुगवरावजास-पु० । स्वनामकथाते द्वीपवि-
 शेपे, समुद्रविशेषे च । तत्रारुणवरावभासे द्वीपे अरुगवराव-
 भासमद्रारुणवरावभासमहाभद्री, अरुगवरावभाससमुद्रे
 १६३

अरुगवरावभासवरावभासमहावरी देवी । सू० प्र०
 १६ पाठ० । जी० । चं प्र० ।

अरुगपाम-अरुगपाम-पु० । अरुगकान्ती, चन्द्रं शुद्धतो राहोर्दशमे
 कल्पपुत्रेते, सू० प्र० २० पाठ० । विमाननेदे, स० ५ सम० । खी० ।
 अरुगुत्तरविंसग-अरुगुत्तरावतंसक-न० । विमाननेदे, स०
 ८ सम० ।

अरुगोदग-अरुगोदक-पु० । अरुगद्वीपस्य परितः प्रवृत्ते
 समुक्ते, अरुगोदे समुक्ते सुभक्तमनोभद्री देवी । सू० प्र० १६
 पाठ० । चं प्र० । खी० । ज० ।

अरुगोववाय-अरुगोवपात-पु० । अरुगो नाम देवस्तस्त्वमव-
 निष्कते प्रथस्तदुपातहेतुररुगोवपातः । संक्षेपिकानां दशानां
 षष्ठऽप्ययने, स्या० ।

नन्धयनटीकायां चूर्णिकारो भावबति-
 जाहे तमज्जयतीं उवउते समापे अणुगारे परिवहृष्ट ताहे
 से अरुणे देवे समसयनिष्कत्तणओ चलिपासणे संभमु-
 भन्तमायणा पञ्चावहं । विष्णाय हृष्टपदङ्के चलचलकुं-
 फलधरे दिव्वाप गुईए दिव्वाप विजुईए दिव्वाप गईए
 जेणापेव से जगवे समपे निर्गधे अज्जयणं परिपेहमाणे
 अत्येइ तेणामेव उवागच्छइ । उवागच्छिता भक्तिभरोणयव-
 यणे विमुक्कवरकुसुमपथसे उवडे । उवयइता ताहे से सण-
 णस पुरतो त्रिता अंतदिप कयंजलीओ उवउते संवेम-
 विमुक्कभमाणउज्जयणापे तमज्जयणं गुणमाणे चिट्ठे । स-
 म्मत्ते अज्जयणे भण्ड-जयवं । सुसज्जादयं सुस-
 ज्जाइयं वरं वरेहि त्ति, ताहे से इहलॉयनिणियाते
 समताणमुणिसुभासुसहेडुकचणे सिक्खवरमाणुपनिष्कनि-
 ष्चाराणुगो समणे पणिज्जणइ-न मे भो । वरेयं अट्ठो त्ति ।
 ततो सं अरुणदेवे अह्निगयरजायमंवेगे पणाहिणं करेसा
 वंदइ, नमंसइ, वेदिंता नमंसिता पाणिगच्छइ ॥ नं० टी० ॥

यदा तद्व्ययनमुपकुः सन् धमणः परिवर्तेयति, तदाऽ-
 सावरुणे देवः स्वसमयनिषद्व्याचलिततासनः संभ्रमोक्ता-
 न्तलोचनः प्रयुक्तायिस्तत्रिधाया हृष्टपदङ्कलचपलकुसुमसौ-
 भरो दिव्यया पुन्या दिव्यया विभूत्या दिव्यया गत्या यथैवासी
 भगवान् धमणं प्रवर्तयति परिवर्तेयति तथैवागच्छति । उपा-
 गत्य च भक्तिजरावनतवदने विमुक्कवरकुसुमपुष्टिरवपतति ।
 अचपत्य च तदा तस्य भमणस्य पुरतः स्थित्वाऽन्तर्हितः कृता-
 ज्जलिक उच्युक्तः संवेगविह्वलमानाच्छवसानः तमभ्ययं
 शूण्यैस्तित्थति । समासे च अणति-सुस्वाभ्यायितं सुस्वाभ्यायित-
 मिति वरं वृषिति । ततोऽसाविहसो कनिपिपासः समनुमणनि-
 युक्तासोष्टकाज्जलः सिक्खरक्धुनिभंराजुगतचित्तः भमणः प्रति
 प्रणति-न मे वरेयार्थे इति । ततोऽसावरुणे देवोऽधिकतरजातसं-
 वेगः प्रदक्षिणां कृत्वा धन्वते, नमस्यति । धन्वित्वा नमंसित्वा प्र-
 तिधच्छति । एवं वरुणोवपातादिशेषि भणित्वयमिति । स्या०
 १० ग० । नं० । पा० । ह्रादशवधैपर्यायस्य भ्रमणस्य कल्पतेऽ-
 रुगोवपातः । इयं १ क० ।

अरुय-अरुय-न० । प्रये, " नातिकहृयं सेयं, अरुयस्सावरज्ज-
 ति " । अरुयो व्रणस्यातिकहृयितं नचैर्विह्वलं न भेधो न

शोभने भवति, अपि त्वपराधयति, तत्कण्ठयने प्रणस्ये ॥ ४
 वहति । सूत्र० १ भु० ३ अ० ३ अ० ।
 अरुज्-वि० । आधिष्ठाधिचकारहिते, ध० २ अधि० शरी
 रमनसोरनावाद् अविद्यमानयोगे सिद्धस्थाने, स० १ सम० ।
 जी० जी० । कल्प० ।

अरुह-अर्हुत्-पुं० । " उवाहति " । = । २ । १११ । इति
 सूत्रेण संयुक्तस्यास्यप्रयत्ननात् पूर्वं उद्, अर्हितौ च मयतः ।
 अरुहो, अरुहो, अर्हितो । प्रा० २ पाद् । योम्ये, तीर्थे-
 करे च । प्रब० १५५ ह्यार ।

अरुह-पुं० । न रोहति भूयः संसारे समुपघते इत्यरुहः संसा-
 रकारणानां कर्मणां निर्मूलकायं कथितत्वात् । अजन्मनि सिद्धे,
 प्रब० २५५ ह्यार । स्त्रीकर्मबीजत्वात् (अरुदः) । आह च-
 " दग्धे बीजे यथाऽप्यन्ते, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजं तथा दग्धे,
 न रोहति मवाङ्कुरः " ॥१॥ म० १ श० १ उ० । आब० दश० ।
 अरुव्-अरूप-वि० । न विद्यते रूपं स्वभावां यस्यासावकूपः ।
 अतस्त्वभावे, अने० ४ अधि० ।

अरुवकाय-अरूपकाय-पुं० । अमूर्त्तं धर्मास्तिकायादौ, ज०
 ७ श० १० उ० ।

अरुवि (ए)-अरुपिन-वि० । रूपं मूर्तिर्विर्णादिमवयवः तदस्या-
 स्तीति रूपी । न रूपी अरुपी । अमूर्त्ते, स्या० ६ दा० ३ उ० ।
 धर्मास्तिकायादौ, प्रज्ञा० १ पद् । म० । आब० ।

" धम्मन्थिकाए तद्वेसे, तत्पलेसे य आहिय ।
 अहम्मे तस्स देसे य, तत्पलेसे य आहिय ॥ ५ ॥
 आयासे तस्स देसे य, तत्पलेसे य आहिय ।
 अकारमयए च्च, अरुवी द्दसहा भवे" ॥ ६ ॥ उ० ३६ अ० ।
 (टीकाऽनयोः " अजीव " शब्दप्रसिद्धे भागे २०३ पृष्ठे दर्शिता)
 क्वास्ति अमूर्त्तं आत्मनि, म० १७ श० २ उ० । दश० । कर्मरहित
 सिद्धे, आ० म० द्वि० । मुक्ते, आ० २ गा० १ उ० । " अरुवीं
 सत्ता, अपयस्स पयं नदिथ, सेणं सदेण क्वेण गंधेण रसेण
 फासे ष्चेतावतिं चि वेमि " । (अरुवीं सत्तं चि) तेषां मुक्ता-
 स्मनां या सत्ता साऽरुविणि । अरुपित्वं च दार्घ्यादिप्रतिषेधेन
 प्रतिपादितम् । आच० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अरुवि अजीवपणवण-अरूप्यजीवप्रज्ञापान-स्त्री० । कप-
 ष्यन्तिरेकेणाकारिणे धर्मास्तिकायाद्यः, तं च त अजीवाश्च अरु-
 प्यजीवाः ; तेषां प्रज्ञापाना अरुप्यजीवप्रज्ञापाने । अजीवप्रज्ञा-
 पनाभेद, प्रज्ञा० १ पद् ।

अरे-अरे-अव्य० । रतिकलदे, " अरे । मप समं मा करेसु उव-
 हासं " । प्रा० २ पाद् । रोषाह्वाने, नीचसंबोधने, अपकृतौ, अ-
 सूयथां च । वाच० ।

अरोग-अरोग-वि० । निष्पीडे, म० १८ श० १ उ० । अशेष-
 ङ्करहिते सिद्धे, सूत्र० २ भु० १ अ० १ उ० ।

अल-अल-न० । अल-अल् । वृत्तिकपुच्छस्थं कष्टकाकारे
 पार्थ्व्ये, इरिताले च । वाच० । अर्थाकार्यसमर्थे, आचा० २
 भु० ५ अ० १ उ० । अलाद्वेद्याः सिद्धासने, आ० २ भु० ।

अल-अलपु-अव्य० । पर्याये, नि० च्च० १ उ० । आचा० । म० ।
 आ० । दश० । समर्थे, सूत्र० १ भु० ३ अ० । अव्यर्थे, श्रौ० ।
 प्रतिषेधे, सूत्र० २ भु० ७ अ० । ज्ञापणे, सामर्थ्ये, निवारणे, नि-
 षेधे, निरर्थक्ये, अस्यर्थे, अवधारणे च । वाच० ।

शेषमा-

अलंकरण-अलङ्करण-न० । शांभाकारके, कल्प० ३ श्रु० ।
 अलंकार-अलङ्कार-पुं० । अलङ्कारित्ये नृप्यतेऽनेनेत्यङ्कारः ।
 कृ-करणे कृत्कयूरादिके, सूत्र० १ भु० ३ अ० २ उ० । श्रौ० । प्रब० ।
 बध्देषमुणप्रतिषेधे । आभरणविशेषे । आ० म० । श्रु० । अलं-
 यन्मूषणे-उपमादौ च । कां प्रकाश्यात् । हारादीं ज्ञापणे, साहित्यवि-
 ज्ञां-कलासंस्कारे धर्मासंस्कारे मल्लादि-अनुभासादी, शब्दा-
 स्या० ४ दा० ४ उ० । आ० च्च० ॥
 अलंकारचूलांमशि-अलङ्कारचदमाणि-पुं० । लघ्वे, परणासंस्कारे । तं
 लङ्कारप्रथे, यस्य वृत्तिः प्रतिमाशुतक-नयोपदेशकृता ।
 नयो० । प्रति० ।

अलंकारिय-अलङ्कारिक-पुं० नापिते, आ० १३ अ० ।
 अलंकारिकम्-अलङ्कारिककर्मन्-न० । नलक्ष [म] यन्- ।
 नादी, आ० २ म० । चुरकर्मणि, विषा० १ भु० ४ अ० ।
 अलंकारियसहा-अलङ्कारिकसजा-स्त्री० । नापितकर्मशाला-
 याम, आ० १३ अ० । अलङ्कारिकसभा यस्यामलङ्कारित्ये । स्या०
 ५ गा० ३ उ० ।

अलंक्रिय-अलङ्कृत-वि० । मुकुटादिभिः [प्रज्ञा० ५ सत्र०
 द्वौ] विभूषिते, दश० १० अ० । श्रौ० । आ० । कृमाङ्कारे,
 ज० ६ श० ३३ उ० । उभेष्वादिनिरलङ्कारेर्विभूषिते, विश० ।
 अतु० । उपमादिभिः काव्यालङ्काररूपेण, आ० म० द्वि० । स्या० ।
 उत्त० । अमन्यस्फुटसुनस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् । स्या०
 ७ गा० । अतु० । अमन्यस्वरविशेषकरणालङ्कृतमित्ये गो-
 यमाने गीतमूषणं, जी० ३ प्रति० ।

अलंक्षपक्षमाहि (ए)-अलक्षपक्षमाहिन्-पुं० । " अलं-
 क्षपक्षमादी, परिसया क्वञ्जक्षमाशो " । न कस्यापि लक्षा-
 मुक्तां च शुद्धंति, नाप्यात्मियोऽप्यमिति कृत्वा पक्षं शुद्धंति, ते
 पतादशा अलक्षपक्षमाहिणः रूपेण मूर्त्यां यक्षा एव रूपयन्ताः,
 मूर्तिमन्तो धर्मैकनिष्ठा देवा इत्यर्थः । कृत्यं शुद्धित्वाऽस्मीयत्वेन
 पक्षपरिभादकेषु रूपयन्तेषु, इत्य० १ उ० ।

अलंभू-अलंभू-पुं० । प्रत्यन्तमिदं, अष्ट० ३ अष्ट० ।

अलंभुसा-अलंभुषा-स्त्री० । उत्तरद्विभागवत्सिद्धकवचासिन्धां
 दिक्कुमाय्यां, म० ५ वङ्ग० । आ० म० । द्वि० । आ० क० ।
 स्या० । आ० च्च० ।

अलंजोगसमत्थ-अलंजोगसमर्थ-वि० । प्रत्यर्थं भोगानुजननस-
 मर्थे, श्रौ० ।

अलङ्क-अलङ्क-पुं० । वाराणसीनयन्यां राजजने, अल० । तत्कथा-
 नकं तु अलङ्कृशानां षष्ठ्यगंशे षोडशस्थयेन प्रतिपादितम् ।
 तद्यथा-"तेषु काशने तेषु समर्थेण वाणारसोऽपि शयरीए काभम-
 हावणे चेतिय । तद्य नं वाणारसोऽपि शयरीए अलङ्के नामं राव
 हाथा । तेषु काशने तेषु समर्थेण समने अयथां महावीर० जाव
 विहरद, परिसा निमग्या । तेषु अलङ्के राया इमी से कहाए लब्ध०
 हनु०७ जहा कुणिय नगवभा महावीरस्स० जाव पञ्जुवासति,
 धम्मकहातं से अलङ्के राया समणस्स जहा उवाणने राथा तहा
 निक्खंतो, नवरं जेजुपुंरं रत्ते अनिसिचति० जाव एहए स अंगान्
 बहुदि वासां धरियातो० जाव विपुसे सिद्धे" । प्रस० ७३ वीं श्लो

स्वियेषपरिणीतानिरस्तुकस्य 'अलाभो मे परमं तपः' इत्येवमधिक-
कृपुणमलानं मन्यमानस्याऽज्ञानप्रीडासहनेन, पं० सं० ४ त्तर ।
स वैश्व-याचिनालाभे सति प्रसन्नचेनेनैवाविकृतवदनेन प्र-
वितित्तथा म् । आश० ४ अ० । तज्जुक्त-

“ परात्परायै स्वार्यथा, ज्ञमेताऽप्रादिनाऽपि वा ।
मायेन लामाद् नालामाद्, निन्देत्स्वमयथा परम् ” । ख० ३ खधि०
“ परकीं च परायै च, लज्येताऽप्रादिनेषु वा ।
लभे न मायेषु निन्देत् वा, स्वपराद् नाप्यज्ञातः ” ॥ २ ॥
आ० मं० छि० ।

प्रवृत्तश्च कदाचिद् ज्ञामान्तरायेद्योषतो न ज्ञमेतापीत्य-
लाभपरिवहमाह—

परेषु घासमेसेजा, भाष्येषु परिनिष्ठिए ।
अके पिंने अलके वा, आशुतपेज्ज संजए ॥ ? ॥
अजेवाहं न लज्जामि, अवि लामो मुए सिया ।
जो एवं पदिस्संचिकरे, अलाभो तं न तजए ॥ ५ ॥
आ० चू० ४ अ० ।

(परेषु इत्यादि) परेष्विति शूदस्थेषु प्राप्तं कथञ्चन, जनेन
च मयुकरशुक्तिमाह । पश्यप्रवेयेत्, जुज्यत इति भोजनमो-
दनादि, तस्मिंश्चरिनिष्ठिते सिद्धे मा ज्ञप्रथमगमनात्सर्वं पा-
कादिप्रशुक्तं, तन्मन्त्रं जन्मं शूदित्यः प्राप्तं, पिरंनं आहारेऽलक्षं
वाऽप्राप्तं नातुन्येत संयतः । तद्यथा-अहो ! ममाधर्यता, यदहं
न किञ्चिद्विद्धाम । उपलक्ष्णत्वात्-अथे वा लक्षिमानहमिति न
हृष्येत् । यद्वा-लभ्येऽप्यल्लेऽनिष्ठे वा संभवयैवानुताप इति सु-
श्रायः । किमाहमननालभ्यं नातुन्येत । इत्याह- (अज्ञेयेत्यादि) ।
अथैवास्मिन्नववाहस्यहं न लज्जे न प्राप्तामि । अर्था- संभा-
वने-न किञ्चिद्विद्धामः प्राप्तिश्चः आगामिदिने, स्वार्थं जनेत् । उपल-
क्ष्णत्वात् इव इत्यन्येषुपर्यन्तं चतुर्विंशो मां स्वार्थदियनास्यामाह । य
एवमुक्तप्रकारेण (पदिस्संचिकरे) प्रतिस्वमीकृते अहीनमनाः स-
अलाभमाश्रित्यालोक्यति, अलाभोऽज्ञानपरीषहः तं तर्जयति
नाभिजवति, अन्यथा ज्ञतस्वविज्जयत इति ज्ञावः ॥ उक्त० ३ अ० ॥
अथ * नाशुतपेज्ज संजये सि * सूत्रान्वयवधमथतः

स्यवानुदाहरणमाह—

जायणपरीसहर्मा, बसेदेवो द्दथ होइ आहुरखं ।
किसिपारासर देदी, अलाभए हो उदाहरणं ॥ ५० ॥
उक्त० नि० १ खए ।

याज्ञापरीषदे बसेदेवोऽत्र भवत्यारहणमुदाहरणम् । कृपिप्रधा-
मः पाराशरः कृषिपाराशरो, ऊमात्तर (देह इति) दण्डणकु-
मारोऽलाभकेऽज्ञानपरीषदे भवत्युदाहरणमिति गाथाऽङ्कार्थः ।
भावायैस्तु संप्रदायाद्वसेयः । उक्त० ३ अ० ।

अत्र अलाभपरिषदे कथात्रयम्-लौकिकं ? , लोकोत्तरं च २ ।
तत्र प्रथमं लौकिकं कथानकं कथ्यते-एकदा कृष्णः १, बलदेवः
२, सात्यकिः ३, दारुकः ४, एते चत्वारोऽप्यभ्यापृताऽऽनृतव्यां
बटवृक्षाभ्यो रात्रौ सुप्ताः, आद्ये प्रदरे दारुको याभिको जातः,
अन्ये नवः सुप्ताः; तदानीं कौचपिशाचः तत्रायतो दारुकं प्रत्या-
ह-अहमेतान् सुप्तां स्यात्तं भक्षयामि, यदि तेषां रक्तणे श-
क्तिरसितं तदा युक्तं कुडः । दारुकणोकम्-बाहम् । ततो लग्नं युक्तम् ।
यथा यथा दारुकस्तं पिशाचं हन्तुं न शक्नोति तथा तथा तस्य
क्रोधो वर्द्धते । तथा च दारुकस्य न युक्तज्ञानो जातः, पराभूतं पव
दाहकः सुप्तः । द्वितीये प्रदरे सात्यकस्यचितः । कौचपिशाचो ज्ञ-

तथैव जितः । तृतीये प्रदरे बलदेवः । सोऽपि तथैव जितः,
तुयं प्रदरे उचितं कृष्णं कौचपिशाचस्तथैव प्राक्तवान् । कृष्णः
प्राह-मां जित्वा मत्सहायम् भक्षय । तथा यथा कौच-
पिशाचो युयुति तथा तथा कृष्णः-अहो ! बलवान् एव म-
ह्यः इति तुष्यति । यथा यथा कृष्णस्तोषवाद् भवति तथा यथा
पिशाचः क्षीयते । एवं कृष्णेन पिशाचः सर्वथा क्षीयः स्ववक्त्र-
मभ्ये क्षिप्तः प्रभाते तद् कृष्णिं दृष्ट्वा कृष्णेनोकम्-किमेतज्जबतो जा-
तथ । ते सर्वेऽपि रात्रिभूतास्तं प्राहः । कृष्णेन स्ववक्त्रमभ्याह-
कृष्णं दक्षितः । एवं कृष्णवद् यस्तोषवाद् भवति सोऽज्ञानपरी-
षदे जेतुं शक्नोति ।

अथ द्वितीयं लोकोत्तरं दण्डणकुमारकथानकं कथ्यते-कस्मिं-
श्चिद् प्रामे कोऽपि कृष्णशरीरः कुम्भम् । (पाराशरो विप्रः) बसति
स्म । अन्येऽपि बहदसत्त कुम्भिनो बसति स्म । वारकेण ते राज-
वेष्टि कुम्भेति स्म । राजसत्पञ्चरातदहलानि वाहयति स्म । एक-
दा तस्य कृष्णशरीरिणः पञ्चरातदहलावनरकणः सस्यार्थतः तेन
च वादिता वृक्षजाः भक्षुपानं वलायामप्येकोऽधिकश्चाप्यो दायितः ।
तदाभ्रतरायं कर्म बद्धम्, ततो मृत्याऽसी बहुकालमितस्ततः संसा-
रे परिभ्रम्य कस्मिंश्चिद्भूवे कृतसुकृतवधेन श्रारिकायां कृष्णवा-
सुदेवस्य पुत्रत्वेन समुत्पन्नः दण्डण्येति तस्य नाम प्रतिष्ठितम् ।
स दण्डणकुमारः आनेमियाभ्यं अन्यदा प्रव्रजितः । लाजान्त-
रायवशात्सहदस्यापि श्रारिकायां द्विष्टमानो न किञ्चिद्वादि
जनेन, यदि कदाचिन्नते तदा सद्यथाऽसारं भव । ततस्तेन
स्वामी पुष्टः स्वामिना न सफलः सुर्वभक्तुस्तान्तः सस्यार्थतः ।
तेन चाऽयमज्ञिप्रदो शूरिः-परज्ञाभो मया न प्राहः । अन्यदा
बासुदेवेन स्वामिना इति पुष्टम्-भगवद् । एतावत्सु अग्रणस-
हृक्षुषु को दुष्करकारकः ? । स्वामिना दण्डण्येतिरिच दुष्करका-
रक इति उक्तम् । कृष्णेनोकम्-स इदानीं क्षातिः । स्वामी
प्राह-स्यं नगरं प्रविशतुं न कृत्यसि । इष्टः कृष्णः श्रीनेमिज्ञेन
प्रणय्य स्थित्यतः पुरद्वारे प्रविशतुं तं साधु दृष्टवान्, हस्तिस्क-
न्धात्सुक्षीं कृष्णस्तं वधन्ते । तेन वन्धनाप्तोऽयं साधुरेकैरेन्येन
दृष्टः । चिन्तितं च तेन-अहो ! एव महाहाम कृष्णेन वप्यते । एवं
चिन्तयत एव तस्य शूद दण्डण्येः प्रविष्टः तेन मोक्षकैः प्रति-
लाभितः । ततः स्वामिममपि गत्या पृच्छति- मम लाभान्तरायः
क्षीणः । स्वामिना उक्तम्-एव बासुदेवलाजः । मम परज्ञाभो न
कथ्यते इत्युक्त्वा नगराद् बाहिमेत्या उचितस्ययिगुले मोक्षकात्
विधिना परिष्ठापयत् वृक्षभ्यान्तरोहणं केवलो जातः । एवमभ्य-
रपि भ्रतानपरीषहः सोऽदृश्यः । अलाभाद् अनिष्टाहाराभात,
अन्याहारप्रत्यान्नाहारभोजनात् शरीरे रोगा उत्पन्नन्ते, अतो रा-
गपरीषहोऽपि सोऽदृश्यः ॥ उक्त० २ अ० ।

अलाय-अज्ञान-न० । उक्तुके, शू० ५ उ० । ज्ञा० । जी० ।
प्रज्ञा० । दश० । स्या० । अग्रभागे ज्वलत्काष्ठे, न० ।

अलायानिदसक-अज्ञानवैसक-न० । अलादेव्या यधने, ज्ञा० २ शू० ।

अलायु-अलायु-न० । “ वा वः ” ७ । २ । २३७ । इति सुत्रेण
बन्ध वः । प्रा० १ पाद् । तुभ्ये, जं ३ वक्त० । “ अलायुना ज
परिउजति ” नि० चू० १ उ० ।

अज्ञाहि-अप्य० । “ अज्ञाहि इति निवारणे ” ॥ २ । १७६ ।

अज्ञाहि इति निवारणं प्रयोक्तव्यम् । “ अज्ञाहि किं वापय्य
हे जेण ” प्रा० २ पाद् ।

अलाम्-अप्य० । पथ्यती, अलामस्यर्थे पर्याप्तः शुकः । अ० १ शू
श० १ श० ।

अलिउल

अलियवयण

अलिउल-अलिकुल-न० । अमरसूत्रे, “ क्लीबे अहशसारे ” । ८ । ४ । ३५३ । इति अहशसोः ‘ ई ’ इत्यादेशः “ कमलसं मह्लवि अलिवलसं, करि-गंढाई महति ” । प्रा० ४ पाद ।

अलिग-अलिङ्ग-न० । अथाने, (साङ्ख्यपरिकल्पितप्रकृतौ,) हा० २० हा० ।

अलिङ्ग-अलिङ्ग-न० । महड्डकभाजनविशेषे, उपा० ७ अ० । अक्ककुम्भे, स्था० ४ हा० २ उ० ।

अलिदग-अलिन्दक-पुं० । यथाहृदिहोराप्रवर्तिनरिडकायाम्, नृ० २ उ० । नि० अ० ।

अलिदुग-अलिन्दुक-न० । ज्यमत्से, अणु० ॥

अलिच-अलिप्त-त्रि० । अकृतलेपे, अलिसस्य तत्त्वसमाधिर्न-वति, पूर्णानन्दवृत्तिरपि । अणु० ११ अणु० ।

अलित्र-न० । नौकेपणकाष्टोपकरणभेदे, आचा० २ अणु० ३ अणु० १ उ० ।

अलिपच-अलिपत्र-न० । युद्धिकपुष्पाकृतौ, विपा० १ अणु० ६ अणु० ।

अलिय-अलीक-न० । पुं० । “ पानोवादिचित्त ” । ॥ १ । १० । १ ।

इति सूत्रेण ईकारस्य इत्वम् । प्रा० १ पाद । कयावशाम्बिभ्या-भाषणे, अकृतभाषणे, उक्त० १ अ० । मूपावादे, प्रथ० २३७ हा० । स्वा० । प्रथ० । दर्श० । द्विधा अलीकम्-अनृतो-द्धानेन, नृतनिहवम् । यथा-‘ ईश्वरकतैकं जगत् ’ इत्याद्यन्त-तोद्धानेनम् । नास्त्यात्मा ” इत्यादिस्तु नृतनिहवः । विश० । श्रा० ०० । नि० अ० । अणु० ॥ अ० । अलीकयादजनितकमाश्री, प्रथ० १ आश्र० हा० । “ अलियनियडिसागिजोयबहुल ” अलीकः श्रुतपलापेक्षया निष्कटो यो निकृन्तनचनप्रकाशान्ये-वचनस्य [सादृत्त] अविभ्रामस्य च अविभ्रामस्यचनस्य यो-गो व्यापारस्तेन बहजं प्रचुरं यत् तत्तथा । प्रथ० २ आश्र० हा० । “ अलियं न भासियत्वं, अतिथुं स्वर्णं पि जं न वत्तवं । स्वर्णं पि होह अलियं, जं परपीमाकरं वयणं ” ॥१॥ दर्श० ।

अलियणिमित्त-अलीकनिमित्त-न० । मूपावादप्रत्यये, अणु० २ उ० ।

अलियजीरु-अलीकजीरु-पुं० । सत्यवादिनि, अणु० ७ उ० ।

अलियवयण-अलीकवचन-न० । वितथभाषणे, प्रथ० ७११ हा० । यथा-किं विधा प्रचलायसि ? इत्यादिप्रश्ने-न प्रचलायाम्वादि-अणनेन, प्रथ० २३५ हा० । उक्त० । स्वा० । (पञ्चालीकानि) अथ चित्तौषमप्रप्राप्तं दर्शयति-

द्वितीयं कन्यागोचर्य-लोकानि न्यासनिहवः । कदासङ्घं चेति पञ्चा-सत्येज्यो विरतिर्भूतम् ॥ ३६ ॥

इत्यन्ते भूमयामाश्लोकशब्दस्य प्रत्येकं संयोजनात् कन्या-श्लोकं, गवाश्लोकं, सूत्रश्लोकं चेति, तानि । तथा-भ्यासनिहवः, कदासङ्घं चेति; पञ्च पञ्चसंख्याकानि, अथौत् क्रियाशयसमु-त्थाव स्तुत्यासत्यानि, नभ्यो विरतिर्विरमश्च, द्वितीयं अधिकारा-व प्रप्राप्तं भवेत्, जितैरिति शेषः । तत्र कन्याविषयमश्लोकं कन्याश्लो-कं शेषादिभिरविषयकन्यां विषयकन्यां, विषयकन्यामविषयकन्यां वा, सुधीनां वा दुःशीलां, दुःशीलां वा सुशीलां, इत्यादि वचनो-भयति । एवं च सर्वस्य कुमारादिद्विपदविषयस्याश्लोककस्यापञ्च-क्षणम् १ । गवाश्लोकम्-अवयवश्लोकं बहुश्लोकं, बहुश्लोकं वा अणु- १६४

रामित्यादि वदतः । इदमपि सर्वेषु चतुष्वविषयश्लोककस्यापञ्च-क्षणम् २ । सूत्रश्लोकं परस्वकामप्यात्म्यादिसकाम्, आत्मादिस-कम् वा परस्वकामं, कथं वा तत्रमन्वयम्, अन्वयं योरभिमत्या-दि वदतः । इदं चाशेषऽपदद्वयविषयाश्लोककस्यापञ्चक्षणम् । यथाह-“ कथागहं च पुत्रया-सुसुभं चवपाया शोचयत । अपयाणं इच्छायं, सव्याणं सूमिवयणं तु ” ॥ १ ॥ ननु य-थायं तर्हि द्विपदचतुष्वपदप्रत्ययं सर्वसंसाहकं कृतो न कृ-तम् ? । सत्यम् । कन्याश्लोकानां लोकेऽतिगर्हितत्वेन उद-त्याद्विशेषणं वजनार्थमुपादातम् । कन्याऽश्लोकादौ च भोगान्-तराथद्वयवृद्धादयो दोषाः स्फुटा एव । यत् आवश्यककर्णौ-“ मुसावापे कं दोसा, अकज्जते वा क गुणा ? । तस्य दोसा कथां जेव अकथां भणते भोगंतराः यदोसा; पट्टा घा वा शा-तघातं करेज्ज, कारवेज्ज वा; पेपे सेसितु माणिअग्घा ” इत्या-दि । तथाऽन्यस्य ते रक्षणायान्यस्मि समप्येते इति ३ । न्यासः सुवर्णादिः, तस्य निहवोऽपसापस्तत्त्वचनं स्पृहामूपावाद्वाः । इदं चानेव विशेषेण पूर्वोक्तोच्ये । जेदोपात्तम् । अस्य चा-स्तादाने सत्यपि च तस्यैव प्राधान्यविवक्षणांमूपावाद्वात्स्वम् ४ । कूटसाङ्घं ज्ञापयेदयिष्ये प्रमाणोद्भूतस्य लज्जामसरदिना कटं वदतः । यथा-“ अदमत्र सात्ति ” अस्य च परकीयपापसमर्थ-कत्वक्षणविशेषमाश्रित्य पूर्वज्यो भेदोपा-यासः ५ इति । अ-श्रायं भावार्थः-मूपावाद्ः कथंभमानयालौभमिविधारागद्वेष-हास्यभयदीनाकांडारस्वतित्वाङ्गिण्यमाःस्यविधावादिभिः सं-भयति । पीडादेतुश्च सत्यवादाऽपि मूपावाद्ः । सङ्घो हितं स-त्यमिति स्पृहस्या परपीमाकरसत्यमेव । यतः-“ अलिशं न त्रा-सिअयं, अतिथुं स्वर्णं पि जं न वत्तवं । स्वर्णं पि तं न स्वर्णं, जं परपीमाकरं वयणं ” ॥ १ ॥ ए च द्विविधः-स्पृहः, स्पृहमथ । तत्र परस्पृहस्तुविषयोऽतिवृत्त्युत्साहसमूहस्य स्पृहः, त-द्विपरीतः स्पृहः । आहृदि-“ तुर्वादे अमुसायुज्ज, सुहुमं धूलो अतथ इद सुहुमं । परिहासादणभयो, धूलो पुण तिव्यसकेसा ” ॥ १ ॥ आवकस्य स्पृहममूपावाद् यतना, स्पृहस्तु परिहार्य एव । तथाऽऽप्येकस्य-“ पुलगमुसावाद् संमाणं शसयो पथक्खाद, सं अमुसावापे पंचावहे परणत्तं । तं जहा-कषालिपे १, गवालिपे २, जेमागलिपे ३, नासावद्वारे ४, कूरुसफं अ ५ इति । तच्चतुर्णांवि-“ जेण भासिएण अण्योना परस्व वा अ-तीय याव । अहंसं किल्लो य जायते, तं अट्टापे वाऽणुणाव वा श एपज्ज ति ” । एतच्चासत्यं चतुर्ण-नृतनिहवः १, अभूतोद्भवने २, अर्थान्तरे ३, गर्हा च ४ । तत्र भूतनिहवो यथा नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापमित्यादि १ । अभू-तोद्धानेन यथा-आत्मा इत्यामाकतद्भुलमात्रं, अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि २ । अर्थान्तरे यथा-गामभ्रमभिवदतः ३ । गर्हा तु त्रिधा-एका सावदभ्यापारवर्धातेनि, यथा-क्रेणं ह्वय्यादि १ । द्वितीया अग्रिया-कारुं कारुं वदतः २ । तृतीया आको-शाकृपा, यथा-अरे ? आचकित्तये ? ३ इत्यादि । च० २ अवि० । दर्श० । पञ्चा० । श्रा० ।

अलीकवचनप्रकरणम्-

जे निवस्सुं तदुत्तयं मुमं वयद, वदंते वा साइज्ज ॥ १ ॥ ॥ मुसं अलियं, लहुसयं अण्यं, ते वदंते भासल्लु । तं पुण मुसं चरन्दि- दध्वे सेवे काले, जावे लहुसगं मुसं होति ।

एतेसि णाणसं, वोच्छ्रमि अहाणुपुन्वीए । ६० ।

माणसो विस्सेतो, आणुपुन्वीए दग्धादिउवआसकमेण ष-
क्काणं ।

इमे दग्धादि उवहरणा—

दब्बे बत्थपयादिमु, खेचे संघारवसट्ठिमादीमु ।

कालेअतीतमणामा, जावे भेदा इमे हांति ॥ ६१ ॥

पढमपादस्स वक्काणं—

मज्ज पुणो एोस तुठं,णयावि सो तस्स दब्बतो अलियं ।

गोरस्सं च जणेतं, दब्बंजुते व जं भणति ॥ ६२ ॥

वत्थं पायं च सहसा भयेज्जा-मज्ज एसण तुज्जं, सहसा
गोरद्वं झूते, द्रव्यज्ञतो वा अनुपपुक्क इत्यर्थः ।

अहवा दग्धालियं इमं—

वत्थं वा पायं वा, अस्सेणुपाइयं तु सो पुट्ठो ।

भणति मए उपाइय, दग्धा अलियं जवे अट्ठवा ॥६३॥

वत्थपासादि अस्सेणु उपायिया, अस्सो जणइ-मए उपाइया ।
द्वयस्रो अलियं गयं ।

खेत्तसो (संघारवसतिमादीसु इत्यादि) अस्स व्वाक्या-

णिसिमादीसंमूढो, परसंधारं भणति मज्जे खं ।

सो खेचनमइं व अस्से-उणुगमिया वेति तु मए चि । ६४ ।

(णिसि चि) राएए अंधकारसंमूढो परसंधारज्जमि अ-
प्यणो भणइ । मासकपपाउग्गं वा वासावासापउग्गं वा खि-
सं वसही रिउअमा अस्सेउणुगमिया भणति-मए चि । खिचअ
वा मुसावाओ गभो ।

'कालातीतमणामए चि' अस्स व्वाक्या-

केणुवसमितो सट्ठो, मए चि उवसामितो उणयाउतीए ।

को ए हु तं उवसमि, अण्णातिसत्तो अइ एस ॥६५॥

एको अभिग्गहिच्छो एणेण सामिणा ववसामिअो । अओ साहु
पुच्छिअो-केणस सट्ठो उवसामिअो ? अओया विहरंतेण मए
चि । अयंतीए एणो अभिग्गहिच्छो अरिहत्तसाहुपडिओअो ।
साहुण य समुज्जावो-को एण तं उवसामेज्ज ? तत्थ एणो साहु
अण्णातिसत्तो भणति-सो य अवस्सं मया उवसामियव्वं । एव
दत्थकालं प्रति म्हावावः ।

अधवा कालं पडुक्क इमो मुसावावो-

तीतस्मि य अट्ठम्मो, पच्छुप्पमे य उणागतं चेव ।

विधिसुत्ते जं जणितं, भण्णाति णिस्संकिंतं जावे ॥६६॥

तीतमणामतपहुप्पेसु कालेसु जं अपरिआयं तं निस्संकिंतं
भासेनस्स मुसावाओ भवति । विधिसुत्तं इसंचयालियं, तत्थ वि
वक्कुसुकी । तत्थ ये कालं पडुक्क मुसावावसुरए त इह इट्ठवा ॥
प्राये मेओ इमो चि । नि० न्हु० २ उ० ।

तेवां च वणणामपि यथाकममिथं प्रकपणा, तामेव प्रकपणां
चिकापुंरलीकवचनविषयं द्वारणामात्मा-

वत्था वपण्णो जा, जेसु य उणेसु जा विसोही य ।

जे य जणओ अवाया, सपनीपक्खा उ एयेव्वा ॥

यो वक्ता अलीकवचनप्रापकः, यच्च वचनीयः-अलीकवचनं
यमुद्दिश्य अयतेत, येषु च स्थानिष्वलीकं संजयति, यादृशी च
तत्र शोषिः प्रायश्चित्तम्, ये चाऽलीकं भणन्ते अवाया दोषाः, ते
सप्रतिपत्ताः सापवादा अत्र भवन्तीत्यतया ज्ञातव्याः । इति ज्ञा-
रवाथासमासार्थः ।

साम्प्रतं तामेव विधुणोति-

अयारिए अजिसेगे, जिक्खुम्मि य थेएए य सुट्ठे य ।

गुरुगा लहुगा गुरुलहु-जिएणे पन्निस्सोम विइएणं ॥

इडाचार्यादिवेका, वचनीयोऽपि एकैकतरः । तत इदमुच्यतं-
आचार्यमलीकं भणति चतुर्गु, अभिषेकं भणति चतुर्लघु,
भिष्णुं भणति मासगुरु,स्थविरं भणति मासलघु, कुल्लं जगति
जिग्गसासः । (पांडिलोम विहरणं) द्वितीयदाशेनैतवच
प्रायश्चित्तं प्रतिस्सोमं वक्तव्यम् । तद्यथा-आचार्यमलीकं भणति
भिग्गसासः, अभिषेकं जगति मासलघु, एवं यावत् कुल्लं
जगतअनुत्तुं, एवमभिषेकादीनामप्यलीकं भणतां स्वस्थाने
परस्थाने च प्रायश्चित्तमिदंमेव मन्तव्यम् । अभिष्णापश्चेत्थं
कलंध्यः-अभिषेकमाचार्यं अलीकं जगति चतुर्लघु इत्यादि ॥

तत्पत्नीकवचनं येषु स्थानेषु संभवति, तानि सप्रायश्चित्त-
ानि दर्शयितुकामो द्वारगाथाद्वयमाह-

पयला उट्ठे मए, पच्छक्खाणा य गमण परियाए ।

समुदेसंसंमओ, खुडुगपरिट्ठागियमट्ठोओ ।

आवस्समगणं दिसा-सु एगकुत्ते चेव एगदब्बे य ॥

परियासिचिचामणं, पारियासिचिवायुंजणयं ॥

प्रचलापदमार्कपदं मरुकपदं प्रत्याख्यानपदं गमनपदं पथोय-
पदं समदंशपदं संखडोपदं क्षुल्लकपदं परिदारिकपदं [मुही-
ओ चि] पदैकदेशा पदसमुदायापचारम् । घोटकसूक्ष्मपदम्, अ-
वश्यं गमनपदं दिग्गमपयपदं, एककुल्लगमनपदं, एकद्रव्यप्रदण-
पदं, प्रत्याख्याय गमनपदं, प्रत्याख्याय भोजनपदं चति द्वारगा-
थाद्वयसमासायः ।

अथेतद्वेव प्रतिद्वारं विधुणोति-

पयलासि किं दिवा ? ण य,पयस्सामि लहु दुइ णिएहेवु गुरुगा ।

अन्नदरसितनेहएव, लहुगा गुरुगा बहुतराणं ।

कोऽपि साधुर्दिव प्रचलायते, स चान्येन साधुना जणित-
कामेवं दिवा प्रचलायसे ? । स प्रत्याह-न प्रचलायः; एवं प्रथम-
वारं निह्वानयन् मासलघु, ततो भूयोऽप्यसौ प्रचलायितुं
प्रवृत्तः । तेन साधुना जणितः-मा प्रचलायिष्ठाः । स प्रत्याह-
न प्रचलायं । एवं द्वितीयवारं निह्वं मासगुरु । ततस्त्वैथेव
प्रचलायितुं प्रवृत्तः; तेन च साधुना अन्यस्य साधोर्दणितः-
यथेवं प्रचलायते, परं न मन्थेन ततस्तेनामन्येन साधुना भणितो-
ऽपि यदि निह्वं तदा चतुर्लघु । अथ तेन साधुना बहुतराणं
द्विध्यादीनां साधूनां दर्शितः, तैश्च भाणितोऽपि यदि निह्वं तदा
चतुर्गुह ।

निएहवणे निपहवणे, पच्छिच्चं बहए उ जा सपयं ।

लघुगुरुमासो लघुगो, लघुगदादी बापरे हुंति ॥

एवं निह्वने निह्वने प्रायश्चित्तं चरते यावत् स्वपदम्; पारा-
श्रिकं तत्राश्रिकम् । तथायाः पञ्चमं चारं निह्वानस्य परुषधु, षष्ठं
चारं परुशु, सप्तमं मूलम् , नवममनवस्थाप्यं, दशमं चारं
निह्वानस्य पाराश्रिकम् । अथ च प्रखलादिषु सर्वेष्वपि
द्वारेषु यत्र यत्र लघुमासो वा प्रथितं तत्र तत्र सूदमो मृषाबा-
हः, यत्र तु चतुर्लघुकारिकं भवति तत्र बाहोरो मृषाबादो भवति ।
गतं प्रचलद्धारम् ।

अथाहंद्धारमाह—

किं षीमि वासमाह, य षींति ण्णु वासविद्वो एए ।
भुंजति हीण मरुगा, कर्हि ति नणु ससंगेइडु ॥

कोऽपि साधुर्धैर्यं पतति प्रथितः, स चापरेण भणितः—किं 'वा
समाणे' धैर्यंति निर्गच्छामि ? एवं जणित्वा तथैव प्रथितः । तत
इतरेण साधुना भणितम्—कथं न निर्गच्छामीति जणित्वा निर्ग-
च्छामि ? स प्राह—वायु-शब्दे इति धातुपाठाद् वासति श-
ब्दप्रमाणेन वा गच्छति स वासति निर्गच्छामीत्यभिधीयते ।
अथ तु न कश्चिद् वासति, किन्तु धैर्येभिर्यत्र एते, तेषु गच्छा-
मि । एवं जलवादनं प्रत्युत्तरं द्दानस्य तथैव प्रथमवारिदिषु
मासलघुकारिकं प्रायश्चित्तम् ॥ अथ मरुकद्धारम् । कोऽपि सा-
धुः कारणे विनिर्गते उपाश्रयमागत्य साधुन् भणति—साध-
वो यान, हृज्जेत मरुकाः । पयमुके ते साधव उद्गाहितभा-
जना भणन्ति—(कर्हि ति सि) क ते मरुका हृज्जेत ? । इतरः
प्राह—ननु सर्वे आत्मीयगुरुषु, एवं हृज्जेतोत्तरं प्रयच्छति ॥

अथ प्रत्याख्यानद्धारमाह—

हृज्जमु पवकसातं, मए चि तक्खण पत्तुंनओ पुट्ठो ।
किं व ण मे पंचविट्ठा, पक्खवाया अविरेड्ढो ॥

कोऽपि साधुना भोजनयत्नायां जणितः—भुक्त्वा समुद्रिय । स
प्राह—प्रत्याख्यातं मयति । एवमुक्त्वा मयद्वय्यां तत्कृणादेव
प्रहृत्को-नेकु प्रहृत्तः । ततो जित्वायेन साधुना पृष्टः—आर्ये ! त्व-
येधे भणितम्—मया प्रत्याख्यातम् । स प्राह—किं वा मया प्रा-
णातिपातादिका पञ्चविधा भविरतिथं प्रत्याख्याता, येन प्रत्या-
ख्यातं न घटते ? ।

अथ गमनद्धारमाह—

वचसि नाहं वचं, तक्खण वचंए पुच्छिओ भणइ ।
सिच्छंतं न वि जाणसि, नणु गम्मइ गम्ममाणं तु ॥

केनापि साधुना चैत्यबन्दादिप्रयोजने व्रजता कोऽपि साधु-
रुक्तः—किं त्वमपि व्रजसि ? गच्छसीत्यर्थः । स प्राह—नाहं व्रजा-
मि । एवमुक्त्वा तत्कृणादेव व्रजितुं प्रहृत्तः—तेन पूर्वेप्रस्थितसा-
धुना पृष्टः—कथं न व्रजामीति भणित्वा व्रजसि ? स भणति—सि-
च्छंतं न जानीमि त्वम् । नत्विद्याक्लेशे । ओ गुरुध ! गम्यमान-
मेव गम्यते, नागम्यमानम्, यस्मिन्न समये त्वयाऽहं पृष्टस्मिन्नाहं
गच्छामि ? इति ॥

अथ पर्योयद्धारमाह—

दस एयस्स य मरुक्क य, पुच्छिय परिपाय वेइ उ क्खेण ।
मम नवप वेदि अम्मि, प्रणाइ वे पंचगा दसओ ॥
कोऽपि साधुरात्मज्ञिनीयः केनापि साधुना बन्दिनुकामेन पृ-

ष्टः—कति वर्षाणि भवतां वर्षीयाः ? इति । स एवं पृष्टो भणति-
एतस्य साधोर्मम इ वद्वा वर्षाणि वर्षीय इति । एवं क्लृप्तं ने-
नोके, स प्रच्छकः साधु-मम म वर्षाणि पर्याय इत्युक्त्वा प्रबन्धि-
तो बन्दिनु लम्नः । इतरज्जलवादी भणति—उपविशत, भवन्तः
स्वयमेव चन्दनीया इति । कथं पुनरहं चन्दनीया ? इति तेनोक्ते, उ-
ल्लावादी भणति—मम पञ्च वर्षाणि पर्यायः, एतस्पर्णापि साधोः
पञ्च । एवं द्वे पञ्चके मीक्षिते दश भवति । ततो मृषामयायंजन-
योरपि चन्दनीया इति भणति ।

अथ समुद्रेशद्धारमाह—

वट्ठइ उ समुद्रेसो, किं अत्तए क्कत्थ एस गणणम्मि ।
वट्ठोते संखन्दीओ, परेसु नणु आठखंडणया ॥

कोऽपि साधुः कायादिभ्यो निर्गम्य आदिश्यं राहुणा प्रथममा-
नामं वट्ठु साधुन् खल्लकं मौनान् जगति—आर्य्यः ! समुद्रेशो
वर्तते किमेवमुपविष्टास्तिद्वय ? ततस्ते साधवो मायमहीकं भूते
इति कृत्वा वट्ठो तत्राजमनुपस्थिताः पृच्छन्ति । कुत्रस्यो समुद्र-
शो भवति ? स प्राह—नन्वेव गगनमार्गे सूर्यस्य राहुणा समुद्रेशः
प्रयत्नमेव इत्यते ॥ अथ संखन्दीद्धारम् । कोऽपि साधुः प्रथमाश्रि-
कापानकादिनिमित्तं विनिर्गतेः प्रत्यागतो भणति—प्रकुराः संख-
डयो वर्तन्ते, किमेवं तिष्ठथ ? ततस्ते साधवो मनुकामाः पृच्छन्ति-
भूत ताः संखरुधः । स क्लृप्तवादी भणति—तेषु तेषु वट्ठेसु संखडयो
वर्तन्त एव । साधवो भणन्ति—कथं ता अप्रसंसदाः संखडव व-
च्यन्ते ? क्लृप्तवादी भणति—नणु आठखन्डणय [सि] नत्विद्या-
क्लेशे । पृथग्यादिजीवानामार्युषि वट्ठे वट्ठे रज्जवादिमिरा-
र्यैः संखरुधन्ते, ताः कथं न संखडयो भवन्ति ? ।

अथ कुल्लकाद्धारमाह—

खुट्ठुगु ! जणणी ते मिया, खए जं वइ ति अस्स भणित्तम्मि ।
माइसा सव्वजिया, जनेसु तेणेतं ते माता ॥

कोऽपि साधुरुपाश्रयसमीपे मृतां शुभ्रीं वट्ठु कुल्लकमपि भ-
णति—कुल्लक ! जननी तव मृता । ततः कुल्लकः प्ररुदितो—रं-
दितुं सम्मः तमेवं वदन्तं वट्ठु स साधुराह—मा खविहि, जीवति
ते जननी । एवमुक्ते कुल्लकोऽपरे च साधवो जणन्ति—कथं पू-
र्यं मृतेत्युक्त्वा सप्रति जीवतीति जणन्ति ? स प्राह—एषा या
शुनी मृता सा तव माता भवति । कुल्लको भूते—कथमया मम
माता ? मृषावादी साधुराह—सर्वेऽपि जीवा भतीते काले तव
मातृत्वेन बभूवुः । तथा च प्रजासिद्धम्—“एगमेगस्स णं जीस्स
सव्वजिया माइसाए पिह्साए भायसाए पुत्तसाए धुयसाए
भूतपुत्तवा ” । हंता गोयथा ! एगमेगस्स जीवस्स जीवा तथा
चूतपुत्तवा ” । तेनैव कारणेनेषा शुनी त्वरीया मातेति ॥

अथ परिहारिकाद्धारमाह—

उज्जाणे दहूणं, दिट्ठा परिहारिग चि झडु करणे ।
कट्ठयुज्जाणे गुरुपं, वर्यति दिट्ठेसु लहुगुम्मा ॥
उल्लहणा ग णि उठ्ठे, आत्तोइए तम्मि उग्गुरू होंति ।
परिहरमाणा वि कदं, अप्परिहारि जीवे खेदो ॥ २ ॥
किं परिहरति खणु था-णुकेटए मूल तुज्ज सव्वे य ।
अहभेगो अणवर्कं, वरिं पवपवसात् पारंवी ॥ ३ ॥

कोऽपि साधुरुपाश्रयं स्थितानवसन्नात् वट्ठु प्रतिश्रयमागत्य
भवति—मया परिहारिका इष्टा इति । साधवो जानते, यथा-

पुष्परिहारिकाः समागताः । एवं जलाभिप्रायेण कथयत एव मासज्ञानम् । न्युस्ते साधवः परिहारिकसाधुशोभोत्सुकाः पुष्प-
नि-कुञ्ज तः दद्याः ? । स प्राह-उद्याने, एवं भगवतो मासगुरुः ।
ततः साधवः परिहारिकदर्शनायै चलिताः, यजन्तो यावत्प-
श्यन्ति तावत्तस्य कथयतश्चतुर्भुजः । तत्र गतैर्दृष्टव्यवसन्तु क-
थयतश्चतुर्भुजः । प्रवसन्ना भर्मा इति कृत्वा निवृत्तुषु कथयतः
बद्धसाधवः । ते साधव ईश्वरचित्तं प्रतिरुच्य गुरुणामालोच-
यन्ति-विप्रतारिता वयमनेन साधुनेति, एवं भुवाणेषु तस्य
परगुरुः । आचार्यैरुक्तम्-किमेवं विप्रतारयसि ? । स चोद्योत्तरं
दातुमारब्धः-परिहरन्तोऽपि कथमपरिहारिणो भवन्ति ?, एवं
भुवतश्चेहः । साधवो भवन्ति-किं ते परिहरन्ति येन प-
रिहारिका उच्यन्ते ? । इतरः प्राह-स्थाणुकपटकादिकं तेषु
परिहरन्ति, एवमुक्तं ददतो मूलम् । ततस्तेः सर्वैरपि सा-
धुनिरुक्तो दृष्टोऽस्ति यद्वैश्वानरोऽप्युत्तरं दद्यात्सीति । ततः स
प्राह-सर्वेषु अपि सूयमेकीभूताः, अहं पुनरेकोऽसहायोऽन-
पराजयि, न परिफल्यु मदीयं जयितव्यम्, एवं भगवतोऽनवस्था-
प्यम् । अथ ज्ञानमदायितसि एवं प्रवीति-सर्वेषु अपि सूयं प्रवचन-
स्य बाह्याः, एवं सर्वानधिकल्पितः पाराञ्चिकं भवति ।

इदमेवान्वयपदं व्याचष्ट-

किं गणलेण जंपह, किं मं कोपह एवऽजाणंते ।

बहुपर्दौ को विरोहो, सलभेद्विं न नागपायसस्य ? ॥

किमेवं गणलेन म्यायेन जल्पय, शोकद्वयमुक्तंया कियेवमेवं
प्रलयप्रेरयते । किञ्च-मामिषाज्ञानतोऽपि (कोपह) गले धृत्वा
प्रेरयथ । अथवा-एवमपि बहुनिः सद्य को विरोधः ?, शत्रुभे-
रिच नागपायस्यति ।

अथ चोटकमुक्तीद्वारमाह-

जण्ड य द्विद्व नियचे, अलांए आमंति योऽनगमुह्रीओ ।

पुरुस सन्वे परं, सन्वे बाह्वं वयणुस्स ॥

मासां सहुओ गुरुओ, चउरो माओ हवंति सहुगुरुगा ।

उम्मासा लहुगुरुगा, उओ मूलं तह तुगं च ॥ १ ॥

एकः साधुर्विचारभूमौ गतः, उद्यानोद्देशे वरुवाभरन्तीरवलो-
क्य प्रतिभ्रयमागतः, साधून् विस्मितमुखः कथयति-श्रुत्वा, य-
व्य भया पादशमाश्रयं दृष्टम् । साधव-पुष्पनि-कीदृशम् । स
प्राह-चोटकमुख्यः स्त्रियः दद्याः ? एवं भणतो मासगुरुः । ते सा-
धवः श्रुत्वासायाश्चित्तयन्ति-यथा चोटकाकारमुखमनुष्यस्त्रि-
योऽनेन दद्या इति । ततस्ते पुष्पनि-कुञ्ज तावत्पथा दद्याः ? ।
स प्राह-उद्याने, एवं भुवतो मासगुरुः । साधवो दृष्टव्यास्ता इ-
त्यभिप्रायेण प्रजन्ति, तदानीं कथयतश्चतुर्भुजः । दृष्टानु वरुवास्तु
चतुर्भुजः । प्रतिनिवृत्तुषु साधुषु बद्धसु । गुरुणामालोचयिते वरु-
गुः । ततोः गुरुभिः पृष्टो यदि जगति भामं, चोटकमुख्य एवैता यतो
दीर्घमधोमुखं प्रयुक्तं यद्वचानां मयान्त्येवं प्रवीति तथा श्रेष्ठः ।
ततः साधुनिर्मिता-कथं ताः स्त्रिय उच्यन्ते ? । इतरः प्रत्याह-
यदि न स्त्रियस्तीर्हि किं पुरुषाः ?, एवं भुवाणस्य सूयम् । सर्वे य-
यमेकत्र भिक्षिता अहं पुनरेक एव, एवं जगतोऽनवस्थाप्यम् ।
सर्वेषु अपि प्रवचनस्य बाह्या इति भणतः पाराञ्चिकम् ।

अथान्यत्रप्रायश्चित्तं प्रकारान्तरेण प्राह-

सन्वेगत्या मूं, अहंरं एकद्वामो य अणवेद्वं ।

सन्वे बह्विभावा पव-वणस्स वयणया चरिमं तु ॥

सूयं सर्वेष्वेकत्र मिलिता इति भणतो सूयम् । अहमेकाकी किं
करामीति भणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेषु अपि सूयं प्रवचनस्य
बाह्या इति वदति पाराञ्चिकम् ।

इदमेवान्वयपदं व्याख्यायति-

किं गणलेण जंपह, किं मं कुपेह एव जाणंता ।

बहुपर्दौ को विरोहो, सलभेद्विं न नागपायसस्य ? ॥

गतायां ।

अथवचनंमनद्वारमाह-

गच्छसि ए ताव गच्छं, किं तु ए जासि सि पुच्छितो भणति ।

वेला ए ताव जायति, परतोमं वा वि मोक्सं वा ॥

कोऽपि साधुः केनापि साधुना पृष्टः-आयं गच्छसि जिज्ञाचर्या-
म् । स प्राह-अवश्यं गमिष्यामि । इतरं साधुना भणितम्-यद्ये-
वं तत उच्छिष्ट, ब्रजामः स प्राह-न तावद्वर्षापि गच्छामि । इतरं-
ण भणितम्-किं लुरिति विनकीं न यार्षि गच्छसि, त्वया हि ज-
णितम्-अवश्यं गमिष्यामि ?, एवं पृष्टो भणति-न तावद्वर्षापि प-
रलोकां गन्तुं वेला जायते, अना न गच्छामि । यद्वा-मोक्षं गन्तुं
नाद्यापि वेला, अना न गच्छामि । अयिः संभावेन । किं संभा-
वयति-अवश्यं परलोकां मोक्षं वा गमिष्यामीति ।

अथ 'दिसासु' सि' पदं व्याख्यायति-

कतरि दिसि गमिस्समि, पुञ्चं अवरं गतो जणिति पुञ्चे ।

किं वा ए हांति पुञ्चा, द्वा दिसा अवरगमिस्स ॥

एकः साधुरेकेन साधुना पृष्टः-आयं कतरि दिशि भिक्षाचर्या
गमिष्यामि ? । स एवं पृष्टो प्रवीति-पूर्वां गमिष्यामि । ततः प्रच्छकः
साधुः पात्रकालयुद्धाहोऽपरं दिशं गतः । इतरोऽपि पूर्वदिग्गमना-
प्रतिज्ञानां नामिवापरं दिशं गतः । तेन साधुना पृष्टम्-पूर्वां गमि-
ष्यामीति भणत्या कश्चात्पराभाष्यति ? । स प्राह-किं वा अत्र-
रस्य प्रामस्येयं दिक् पूर्वा न भवति, येन मदीयं वचन निरुध्यते ।

अथैककुलद्वारमाह-

अहमेगकुलं गच्छं, वचद बहुकुलपमेणो पुष्टो ।

जणिति कदं दोमि कुलं, एगमरीरेण पविमिस्सं ॥

कश्चिकनचित्तज्ज्ञाकीं समपुष्पां तनोकम्-आयं ! गद्वि ब्रजवो
भिक्षाम् । स प्राह-ब्रजन सूयमहमेकमेव कुलं गच्छामि । एवम्-
कत्वा बद्ध कुलेषु प्रवेष्टुं लभनः ततोऽपरं साधुना पृष्टः-कथ-
मेकं कुलं गमिष्यामीति जणित्या बहूनि कुलानि प्रविशामि ? ।
स एवं पृष्टो भणति-हे कुले एकं एकं शरीरंण युगपत् कथं प्रवे-
क्ष्यामि ? । एकमेव कुलमेकस्मिन् काले प्रवेष्टुं शक्यम्, न बहु-
नीति भावः ॥

अथैकद्वयप्रहरद्वारमाह-

वच्छद परं दवं, पेर्यं पोगगहं पुच्छितो जणति ।

गहणं तु सक्खणं पो-गलाण गेहंमं मेणुद्वं परं ॥

कोऽपि साधुनिर्भार्य गच्छन् कमपि साधुं भणति-ब्रजामो
निजायाम् । स प्राह-ब्रजत सूयमहमेकं उच्यं प्रवीष्यामि । एव-
मुक्त्वा जिज्ञां पर्यटनेकनामानोदनिर्दिष्टायाः शरीराणां बहूनां इ-
व्याणां प्रहणं कुर्वन् साधुभिः पृष्टं जणति-गहणं तु इत्यादि)
गतिस्सणयो धर्मास्तिक्वय, स्थितिस्सङ्गोऽधर्मास्तिक्वय,

अथवाहलक्षण आकाशास्तिकायः, उपयोगलक्षणो जीवा-
स्तिकायः, प्रहृषलक्षणः पुत्रलक्षणिकायः । एषां च पञ्चा-
नीं उच्यते। प्रत्यामुक्त्वा नामैव प्रणयणं लक्षणं, नाम्नायां
धर्मास्तिकायादीनाम्, तेन इदमकमेव उच्यं गृह्णामि न बह-
नीति व्याख्यातं द्वितीयद्वारमाध्यायाः पूर्वार्कम् । अथ “ प-
रियाइकिताय भुञ्जस्य सि ” पञ्चार्कं व्याख्यायते-प्रत्यामथा-
य “माह गच्छामांति प्रमिषिष्व” गमनं करोति । प्रत्याकथाय
च “माह लुञ्जे इति भणित्वा” भुञ्जे । अपरणं च साधुना पृथो
ब्रवीति-गम्यमानं गम्यते नागम्यमानम् ; भुञ्जमानमेव लुञ्जते
नाभुञ्जमानम् । अनेन पञ्चार्कं गमनद्वारप्रत्याकथानद्वारे व्या-
ख्यातं इति प्रतिपत्तव्यम् । इह सर्वत्रापि प्रथमवारं जणतो
मासस्यु । अथाभिनयेन वदन् निकाचयति तदा पूर्वार्कनीत्या
पाराञ्चिकं यावद्ब्रह्मणम् । तद्वं येयु स्थानेष्वलीकं संभवति या-
दृश्यां च यत्र शीघ्रः तदभिहितम् । सप्रति ये अप्रत्यायस्ते सापवा-
दा इति द्वारम् । नत्रात्मनरोक्त्याम् । कानि जणतो द्वितीयसाधुना
सहामं च आशुत्पतिः संयमात्मविराधनाकृपा सप्रपञ्चं सुखिया
वक्तव्या । अपवादापदं तु पुत्रस्ताद् नपिष्यते । ७०६ उ० जीत० ।

अलीकवचनार्थधर्महास्यस्य व्याख्या-

जंबू । विनियं च अश्लियवयणो ह्यनुसंगहृषचलजणियं
जयपरवृद्धकरअयमकरैवेकरगं अरतिरतिरागदोमणमंकि-
लेसवियरणं आज्ञापनयिदिसाहजोयवृद्धं एणियजणुणिसं-
वियं निमसे अप्पवयकारं परमसाहुगरहणिजं परंपीला-
कारकं परमकाहसेससहियं दुग्गमिणिलिणायवहणं जवपुण-
नवकरं चिपरिरीचतमणुणियं वुरंतं किचियं चियिं अह-
म्मदरं । ।

‘जम्बू’ इति शिष्यामन्त्रणवचनम् । द्वितीयं च-द्वितीयं पुनरा-
श्वद्वारम्, अलीकवचनं मृगवादाः । इदमपि पञ्चजियादशका-
दिज्ञाः प्रकल्पन् । नत्र यादृशमिति द्वारमाश्रयालीकवचनस्य
स्वरूपमाह-अधुगुणगौरवार्हतः, स्व आत्मा येषां ते लघुस्व-
काः, तेभ्योऽपि यं लघवस्ते लघुस्वकलघवः, ते च ते चपलाश्च,
कायादिभिरिति कर्मधारयः । तेरेव अणितं यत्तत्तथा । तथा-
भयकरं दुःखकरमयशःकरं वैरकरं च यत्तत्तथा । अरतिरति-
रागद्वयलक्षणं मनःसंज्ञं विनियं यत्तत्तथा । अलीकः ह्यभ-
कापेक्षया निष्फलो यो निरुत्तरेणप्रच्यदानार्थवचनस्य, (सा
द ति) अविधर्मस्य च अविधर्मवचनस्य योनां व्यापारस्तेन
बहून् प्रभुरं यत्तत्तथा । नौबैर्जाययादिहैः प्राय इदं निषेचितं
तत्तथा । नृणंसं सुकावर्जिनं, भिःशंसं वा इत्याधारहितम्, अ-
प्रत्ययकारकं विहवासाविनाशकम् । इतः पदचतुष्टयं कलत्रम् ।
तथा-भवे संसारं पुनर्नवे पुनःपुनर्जन्म करोतीति, नच पुनर्भवे-
करम्, विपरिचितमनादि संसारेऽप्यस्तम्, अनुगतमव्यवच्छे-
देनाशुभ्रुतं, दुर्गतं विपाकदारुणं, द्वितीयधर्मद्वारं कर्तितम् ।
यनेन यादृश इत्युक्तम् ।

अथ यज्ञमित्यभिधातुकाम आह-

तस्स प षामाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा-अलि-
यं ? सत् १ अणज्जं ३ मायामोसो ४ असंतं ५ कू-
कवदमवर्थुं ६ निरत्थयमवत्थं च ७ बिदेसगरहणिजं
८ आणुत्तं ९ ककतकारणा य १० वंचणा व ?? मिच्छा-
१६५

पञ्चाकरं च ? ११ माती ? १ उच्छवं ? १४ उक्कूलं च १५
अट्टं ? १६ अज्जववाणं च ? १७ किंत्विंसं ? १८ वलयं ? १९
गहणं च २० मम्मणं च ? २१ नुं २१ नियतीं २२ अ-
पच्चओ २३ असमओ २४ असत्त्वमधत्तं २५ विव-
क्खो २६ अवहीयं २७ उवहिसुअयुत्तं २८ अवलतोवो
त्ति अत्रिय ३० ; तस्स एयाणि एवमाईणि षामपेज्जाणि
हुंति तीसं सावज्जस्स अश्लियस्स वड्जोमस्स अपणेगाइ ।

“तस्स” इत्यादि सुगमं यावत्तद्यथा । अलीकं १, शः, शः
मायिनः कर्तृत्वात् २, अनार्यवचनत्वाद्नार्यः ३, मायालक्षण-
षायानुगतत्वात्, मृगारूपत्वाच्च मायामृगो ४, (असंतं गं ति)
असत्प्रतिनिधानरूपत्वाद्सत्यम् ५, (कूककवमवर्थुं ति) कूटं
परवञ्चनार्थं न्यूनाधिकभाषणं, कपटं भाषाविपर्ययकरणम्, अ-
विधमानवस्तुविधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तुः पदत्रयस्याप्येतस्य
कथाश्रित्य समानार्थत्वेनकनमस्यैव गणनादिदिकं नाम ६, (नि-
रत्थयमवत्थं चेति) निरर्थकं सायाधीनिकागतम्, अपार्थक्य-
अपगतसत्यार्थम्, इहापि द्वयोः समानार्थतया एकतरस्यैव ग-
णनादिकत्वम् ७, (विदेसगरहणिजं ति) विद्वेषो मत्सरस्त-
स्साद् गहति निन्दति येन, अधवा-तमेव विद्वेषाद् गहति साधु-
नियत्तद्विद्वेषगर्हणीयमिति ८, अनुत्तुलं वक्तव्यमर्थः ९, कप-
कपां माथा वा, तत्कारणं कदकं माथा पापं च १०, वचनवाच ११,
(मिच्छापञ्चाकरं च ति) मिष्येति कृत्वा पञ्चाकरं निरुद्धं न्या-
यवादिनिषत्तथा १२, (सानी नि) अविधर्मः १३, (उक्कूलं
ति) अपसवं विक्रपं उचं स्वदोषाणां परमुखाणां चाऽऽपराधमप-
च्छुद्रम्, उच्छवं च यान्त्वचम् १४, (उक्कूलं च ति) उक्कूलयति
सम्भोगादप्येस्यति, कुलाह्ला न्यायसहितप्रवाहत्वाद्दृक्त्वं यत्तु-
क्तम् । पात्रान्तरं-उत्कूलं-ऊर्ध्वं धर्मकलाया यत्तत्तथा १५,
आर्तम्-श्रुतस्य पंडितस्येदं वचनमिति कृत्वा १६, अज्याकथा-
नं चोद्घाटनम्-असतो दोषाणामित्यर्थः १७, किंत्विंसं-वि-
षयस्य पापस्य हेतुत्वात् १८, वलयमिव वलयं, वक्तव्यात् १९,
गहनमिव गहनं, दुर्लभत्वात्तस्त्वात् २०, मम्मनमिध मम्मं
च, असुकुटत्वात् २१, (नूत्ं ति) प्रच्छादनम् २२, निष्कृतिर्मा-
यायाः प्रच्छादनार्थं वचनम् २३, (अस्तयः प्रत्यायाजः २४,
असमयोऽसम्यगवाचः २५, असत्यमलीकं संदधाति करो-
तीति असत्यमन्धस्तज्ञावोऽसत्यमन्धत्वम् २६, विपत्तः-स-
त्यस्य, सुकृतस्य चेति भावः २७, (अवहीयं ति) अपसदा
निष्ठा धीरेर्दिग्गन्तव्यधीरकम् । पात्रान्तरं-‘ अणामाण-’
आज्ञां जिनादेशमतिगच्छत्यतिक्रामति यत्तदाज्ञापितम् २८ ।
(उवहिसुअयुत्तं ति) उपधिना माथया अद्भुतं सावधमुपपद्यु-
द्धम् २९, अवलोपो वस्तुसज्ञावच्छादनम्, इयंयंप्रकारणः ।
अपि चेति समुच्चयार्थः ३० । (अस्तय एयाणि एवमाईणि
नामपेज्जाणि हुंति तीसं सावज्जस्स अश्लियस्स वड्जोमस्स
अपणेगाइ ति) इह वाक्ये एवमकृत्तटना कार्या-तत्पत्त्या-
कस्य सावधस्व धार्योगस्य पतायनन्तरोदितानि भिदात् य-
मादीन्येयंप्रकाराणि आमेकानि नामधेयानि नामानि भवन्ती-
ति । यज्ञमिति द्वारं प्रतिपादितम् ।

अथ ये यथा वार्त्तिकं वदन्ति तस्तेत्या वाऽऽह-

तं च पुण वदंति केइ अत्रियं पावा असंजया अत्रियया
कवदकुंनिलकडुयचइलजावा कुष्ठा लुष्ठा जया-य हस्स-

स्तिया य सक्त्वीचोरा चारभमा खंडरक्त्वा जियपुङ्करा
य गदित्तगदहणा ककगुरुगकारिका कुलिंगा उवहिया वा-
णियया य कूटनुला कूटमाणा कूटकाहावणोवजीवी पद-
कारककज्ञायकारहृजा वंचणपर चारियचटुयारनगर-
गुणियपरिचारकदुडुवाडसूयकअणवल्लभणिया य पुव्व-
कालियवयणदच्छा सहस्रिका लहुत्तमा असवा गार-
विया अमन्त्थावणादिचिचा उवचंद्रा अणिग्गाह अणि-
यया उदेण मुकवादी भवति । अभियाहिं जे अवरिया
अवरे एत्थिकवादिणो वामलोकावदी भवति ॥

(तं केत्वादि) तत्पुन्यधन्यश्लोकम् । (कश्चि) के-
चिच्च सर्वेऽपि, सुसाधूनामश्लोकवन्निवृत्तत्वात् । किंवि-
शिष्टाः ?; पापाः पापालमानः, असंयता असंयमवन्तः, अवि-
रता अविद्वृत्ताः । तथा—(कवचकुम्भिलकइयचटुवभावसि)
कपटन हेतुना कुटिलो वक्रः कटुकाञ्च विपाकदारुणत्वात्,
बटुलञ्च विविधवस्तुषु कृण कृण्य अकाङ्क्षादिप्रवृत्तेः, भावञ्चि-
त्त येषां ते तथा । 'कुञ्जा, सुञ्जा' इति सुगमम् । (भया-य सि)
परेषां भयान्पादनाय, अथवा-नयाञ्च (हस्तस्थिया-य सि)
हासाधिकञ्च हासार्थिनः । पात्रन्तरेण-हासायैव (सञ्चि
सि) साङ्गिनः सौराः चारभमाश्च प्रतीनाः । (खंडरक्त्वा सि)
गुण्यपालाः । (जियपुङ्करा य सि) जित्वाञ्च ते पूनिकारश्चेति
समाप्तः । (गदित्तगदहण सि) गृहीतानि प्रहणकानि यैस्ते
तथा । (ककगुरुगकारा सि) ककगुरुकं माया, तत्कारकाः ।
(कुलिग सि) कुलिङ्गणः कुलीयिकाः । (उवहिया वाणियग
सि) उपधिंका मायाचारिणः, वाणिजका वणिजः । किंनु-
ताः ? कूटनुलाः, कूटमानिनः, कूटकार्याणोपजीवन इति पदत्रयं
व्यपन्नः नवरं कार्याणो ऽस्मयः । (पटकारकलायकारहृज
सि) पटकारकास्तन्नुवायाः, कलादाः सुवर्णकाराः, कार-
केषु बटुदक्षिण्यकारिषु भवाः कारकाः । किंविचा एते अ-
श्लोक वदन्ति?, इत्याह-चञ्चनपराः, तथा-चारिका हरिकाः, बटु-
काराः सुखमङ्गलकाराः, नगरगुप्तिकाः काष्ठपालाः, परिचारका
ये परिचारकां मथुमानिचकृद्गन्ति, कामुका इत्यर्थः । दुष्टवा-
दिनोऽण्यपुङ्गादिणः, सूचकाः पिशुनाः, (अणयलभणियाय
सि) प्रकृष्टतथ्यं बलं यस्याश्च अण्यबलाः-बलवाचुत्तम-
श्लः, तेन जगिता अस्मद् द्रव्यं वेहीत्येवमाभेदिता ये अद्यम-
णीस्ते तथा । नतञ्चारकादीनां द्रव्यः । (पुव्वकाणियवय-
णदच्छ सि) वक्तुकामस्य वचनाद् यत्पूर्वतरमभिधीयते परा-
दिनां वक्तव्यत्वात्, तत्पूर्वकासिकं वचनं, तत्र वक्तव्ये दृक्तास्ते
तथा, अथवा पूर्वकाङ्गिकानामर्थानां वचने वदङ्का निरतिशय-
निरागमास्ते तथा । सहसा अचित्तर्क्याण्ये ये वर्तन्ते ते
स्वाहिलिकाः, लघुस्वकाः सपुकामानः, असत्याः सज्ञयोऽहिताः,
गौरविकाः श्लथ्यादिगौरवत्रयण चरन्ति ये असत्यानामसज्ञना-
नामर्थानां स्थापनं प्रतिगुण्यभिनिर्वर्षं येषां ते असत्यस्थापना-
चिन्मिनाः । सर्वान् महानामोत्कर्षणप्रणयः गन्दोऽतिप्रायो येषां
ते उक्ताऽङ्गुदाः । अनिग्रहाः स्वैराः । अनिया अभियमवन्तोऽ-
नवस्थिता इत्यर्थः । अनिजका वा अविद्यमानस्यजनाः, अलीकं
वदन्तीति प्रहृणम् । तथा गन्देन स्वाभिप्रायेण मुकवाचः प्रयुक्त-
बचनाः, अथवा गन्देन मुकवादिनः सिद्धवादिनस्ते जयन्ति ।
क । इत्याह-अलीकाद्ये अवरिताः, तथाऽपर उकेम्पाऽये ना-

स्तिकवादिनो श्लोकयातिकाः, वामं प्रतीपं लोकं वदन्ति ये स्तां
लोकवन्तुनामस्तस्य प्रतिपादनात् वामलोकावादिनः, प्रयान्ति
प्रकृपयन्ति । प्र० २ आ० ७ ॥

तथा किमन्यद्वन्तीत्याह-

तन्हा दाणवयपमहाएणं तवसंयमवंचजेरकङ्गाणमादि-
याणं नत्थि फलं, न वि य पाणवद्वहअभिलियवयणं, न चैव
चोरक्करणं, परदारसिचयं वा, सपरिगहपावकम्माऽकर-
णं पि नत्थि किंचि, न नेरइयतिरक्त्तमणुयजोणी, न
देवज्ञोको वा अत्थि, न य अत्थि सिद्धिगण्यं, अम्मपि-
यरो वि नत्थि, न वि य अत्थि पुरिसकारो, पक्कत्वाण-
मवि नत्थि, न वि यऽत्थि कासमच्च, अरिहंतक्कवट्ठी वल-
देवा वामुदेवा नत्थि, नेवऽत्थि केऽ रिसञ्चो, धम्माधम्मफले
वि न अत्थि किंचि बहुयं व धोवं व; तन्हा एवं जा-
णिअणं जहा सुवहुऽदियाएकुलेसु सव्वविनपेसु बट्टः
नत्थि काऽ किरिया वा, एवं जणंति नत्थिकवादिणो; इमं
पि वित्थियं कुदंसणं असञ्जानं वादिणो पण्वेति म्हा,
संजुअो अंनकाओ लोको, सयंजुणा सयं च निम्मिअो,
एवं एतं अत्थियं, पयावहणा इस्सरेण य कय चि केऽ,
एवं विगट्टुमं जयाण सयं च निम्मिअो कसिणमेव य
जगदिति केऽ, एवमेके वदंति मोसं-एको आया, अकारको
वेदको य मुकयस्स य दुक्कयस्स य करणानि कारणाणि य
सव्वहा मव्वदिं च, णिावो य, णिाकिओ, निग्गुणो य, अणुवले-
वओ चि अत्रि य । एवमाहंभु असञ्चानं जं पि एहिं किंचि जी-
वञ्चोके दं मंति मुकयं वा दुक्कयं वा-एयं जदिच्छा ए वा, महावि-
ण वा पि, दयिवपपपत्रावओ वा वि भवति, नऽत्थि तत्थ किंचि
कयके तत्ते, सक्त्वाणवाहिणां नियताकिरिया एवं केऽ जंपंति,
इद्धिरसमायगारवपरा बहवे करणाञ्जसा पृच्छेति धम्मवी-
मंमएण मोसं, अवरं अहम्माओ रायदुद्धं अञ्जक्त्वाणं ज-
णंति अत्थियं, चोरो ति अचोरियं करंते । कपराओ चि
वि य एमं व उदासीणं, दुमीलो चि य परदारं गच्छंति चि
मदलंति सीजकलियं अयं पि गुरुत्पपओ चि अत्थणे ए-
वमेव जणंति, उवहणंति, मिचकलत्ताइं सेवंति अयं पि
लुत्तधम्मा, इमो वि वीमंजयायओ पात्रकम्मकारी, अकम्म-
कारी अगम्ममापी अयं दुरपा बहूपएु य पातंगसु जुचो
ति एवं जणंति मच्छरी जहके वा गुणाकिचिनेद्वपरलोगनि-
प्पिवापा; एवं एते अभिलियवणदक्त्वा परदोत्पपायणसं-
सा वेदंति, अक्त्वावियवीएणं अप्पाणं कम्मबंधणेण सुहुरि
असमिक्खियपपलावी निक्खेवे अवदरंति, परस्स अ-
त्थम्मि गदिपागिहा, अजिजुंजंति य परं अमंतएहिं
लुद्धा य करंति कूटसक्त्वाचणं, असवा अत्थालियं च,
कसालियं च, जेमासियं च, तथा गवासियं च, गयं थ-

एषति, अहरगतियमर्णं, अणं पि य जाइरूवकुलसीन्नप-
 र्चवमायानिगुणं, चवन्ना पिसुणं परमउजेदकपसंतकं वि-
 हेसमपरथकारकं पावकम्ममूत्रं दुइदं दुसुयं अमुणियं
 निलजं लोगगरहण्डिजं वदंभपरिकित्तेसचहुलं जराम-
 रणउत्तखसोगेनं अमुक्कपरिणामसंकिद्धं भयति ॥

यस्मात्परिरे सादिकमियादि, तस्माहानमनवौषधानां वितर-
 णनियमपयोपवासानां, तथा-तपोऽनदानादि, स्वयमः ह-
 स्यादिरक्ता, ब्रह्मचर्यं प्रतीतम् । एतान्येव कल्याणं कल्याणहेतु-
 त्वात्सादादियेषां ते ज्ञानश्रद्धादीनां तानि तथा, तेषां, नास्ति फल-
 मन्तं ह्ययस्मृतागतमनादिक, नापि च प्राणिव्यक्तीश्रीकचवनमशु-
 भफलसाधनतयति नश्यम् । तथैव नैव च चौरीकरणं, परदार-
 सेवनं वाऽऽप्यशुभफलसाधनम्, तथैव सह परिग्रहणं यद्वसंते
 तत्सपरिग्रहं, तच्च तत्प्रायश्चित्तकरणं च पातकक्रियासंबन्धं तदपि
 नास्ति किञ्चित्, कोषमनादासेवनरुपा नारकादिका च जगतो
 विशिन्नता स्वभावादेव न कमेजितता । तदुक्तम्-“ कण्टकस्य
 च तीक्ष्णस्य, मयूरस्य च चित्रता । घर्णाक्ष तास्रचूतानां, स्व-
 प्रावेने भवन्ति हि ” ॥१॥ इति । मृषावादिता चैवमेतेषाम्-स्वभावो
 हि जीवाद्यनर्थान्तरभूतः, तदा प्राणातिपात्यादिजनितकर्मैक-
 कचकारोऽसायनधाम्तरभूतः, ततो जीव एवासौ, तदव्यतिरेका-
 सात्स्वरूपवत् ; ततो निर्हेतुका नारकादिविशिन्नता स्यात् । नच
 निर्हेतुकं किमपि भवति, अतिप्रसङ्गादिति । तथा-न नैरयिकति-
 यं ह्यनुष्यमानां योनिदण्डित्वात् न पापदण्डकर्मफलताऽऽस्तीति
 प्रकृतम् । न द्वेषोको वाऽस्तीति पुण्यकर्मफलतः, नैवास्ति सि-
 ङ्गियमेतः (सिद्धः, सिद्धस्य वाऽऽज्ञावात्) । अस्मादिपिनार्यापि न तत्,
 उच्यते । अत्रानिबन्धनवादात् प्रातिपत्त्यस्य । नचोर्णसमात्रनिबन्ध-
 नस्यैव प्रातिपत्त्युत्था विशिष्यो युक्तः ; यतः कुतोऽपि किञ्चिदु-
 त्पयन एव । यथा-सचेतनाच्चेतनं यूकामकुण्डादि, अचेतनं च
 मूत्रपुरीषादि । अचेतनाच्च चेतनं, यथा-काष्ठाद् घुणकी-
 टकादि, अचेतनं च चूर्णादि । तस्माज्जन्तजनकजावमात्रमर्था-
 नामस्ति नान्यो मातापितृवादिशेषो युक्तः । तद्वामात्रज्जोग-
 विनाशापमाननादिषु न दोष इति भावः । मृषावादिता चैषां-
 ब्रह्मस्तरस्य विशेषः स्वजनकस्य समानेऽपि तयोरल्पमहिततया
 विशेषवाचने सत्त्वात् । इतिवत् च तयोः प्रतीतमेव । आह च-
 नुषप्रतीकारावित्यादि । नापस्ति पुष्यकारः, न विषेव नियतितः
 सर्वयोगजनानां सिद्धः । उच्यते च-“ प्रातश्चो नियनिब्रह्मधयेण
 सोऽर्थः, संऽवश्यं भवति नृणां गुणऽशुभो वा । भूतानां महति कृते-
 ऽपि हि प्रथमे, नामार्थं ज्ञातिं न भाविनाऽस्ति नाशः ” ॥ १ ॥
 मृषाभाषिता चैवमयाम्-सकल लोकप्रतीतपुष्यकारापलापेन
 प्रमाणातीत्यतिमताऽभ्युपगमादिति । तथा-प्रत्याख्यानमपि नास्ति,
 धर्मसाधनतया धर्मस्यैषामाभावादिति । अस्य च सर्वज्ञस-
 च्चप्रामाण्येनास्तित्वात् तद्विदित्वात्सत्यता । तथा-नैवास्ति
 काश्चमस्य, तत्र काशो नास्ति, अनुपलभ्यमात् । यच्च वनस्यति-
 कुलुमादिकालसङ्गमाचक्रं, तत्सयामेव स्वकपामिति अल्पवयम् ।
 असत्यं तथापि-स्वकपस्य वस्तुतोऽनतिरेकात् कुसुमादिकर-
 मस्यस्यं तर्णानां स्यात् । तथा-मृत्यु-परलोकप्रवाणसङ्गः,
 असावपि नास्ति, जीवात्रावेन परलोकगमनाज्जावात् । अथवा
 कालक्रमेण विभक्तियापुष्कमेवः सामस्यगतिजैराऽवस्तरं मृत्युः
 कालमृत्युः, तदभावश्च; भाष्य एषामाभावात् । तथा-भ्रष्टाद्वयोऽपि

[नपि स्ति] न सति, प्रमाणाविषयत्वात् । [नेवऽपि केद रि-
 सन्नो स्ति] नैव सति केचिदपि श्रेयसो गौतमादिमुनयः, प्रमा-
 णाविषयवादेव, वतमानकाले वा श्रेयित्वस्य साध्यनुष्ठानस्या-
 सत्त्वात्, सतोऽपि वा निष्कलस्यादिति । अत्र च शिक्षाऽऽदि-
 बाहानुमेयत्वाद्देहाद्यसत्त्वस्यानन्तरोक्तमादिनामसत्यता ; श्रे-
 यित्वस्यापि सर्वज्ञवचनप्रामाण्येन सर्वथा भावादिश्रेयसमाहासा-
 ह्यार्थोऽपलापिनां सर्वत्रासत्यवादिता भावनीयति । तथा-धर्मा-
 धर्मफलमापि नास्ति किञ्चिद् बहुकं वा स्तोत्रं वा, धर्मधर्मयो-
 रदृष्टत्वेन नास्तिनास्तीति । “ नपि फलो सुकपः ” इत्यादि यदुक्तं
 प्राक् तत्सामान्यजीवापेक्षया, यच्च “धर्मधाम्धर्म” इत्यादि, तद्व-
 विशेषापेक्षेयति न पुनरुक्तनेति । [तद्व स्ति] यस्मादेवं तस्माद्-
 वसुकप्रकारं वस्तु विज्ञाय [जदा सुबहुदंदिपाकुलसु स्ति]
 यथा यत्रकारा सुबहुया अयर्थमिन्द्रियानुकुला ये त तथा, तेषु
 सर्वेषु विशेषेषु धातिव्ययम् । नास्ति काचित् क्रिया वा-अनि-
 प्यक्रिया वा वापक्रिया वा, उभयक्रिययोरास्तिकल्पितत्वेना-
 परमाधिष्ठातृत्वात् । अर्थात् च-

“ पिब स्वाद् च चारुलोचने । यदतीतं वरगात्रि ! तच्च ते ।
 नहि ज्रीर । गते निवर्तते, सुमद्युमात्रमिदं कलेश्वरम् ” ॥१॥

एवमित्यादिनिगमनम् । तथा-इदमपि द्वितीयं नास्ति कद्-
 शंनोपलया कुदशंनं कुदशमसदावं वादिनः प्रहापयति
 मूढाः न्यामोहवशः । कुदशंनता च वक्ष्यमाणस्यार्थस्याप्रा-
 माणिकत्वाद् वादिप्रोक्तमाणस्य प्रमाणाभासत्वाद् प्राव-
 नीया । किमुतं कुदशंनम् ? इत्याह-सम्भूतो जातोऽहकदाद्
 जन्तुयोनिविशवाद् लोकः कितिजलानलानिलनरनारकिनाकि-
 नित्यमृगः । तथा स्वयंमुवा प्रक्षणा स्वयं चात्मना निर्मितो
 विदितः । तत्राहकप्रनृतलुवनवादिनो मतमित्यमाचक्षते-

“ पुत्रं आसि जगमिणं, पंचमहभूयवजिय गमीरं ।
 पगसवं जलेण, महप्पमारणं तदि अंढं ॥ १ ॥
 वाईरंपरेणं, घोसंतं अथि उ सुरकरासं ।
 कुदं दुभागजायं अजां लूमिं य संसुंत्तं ॥ २ ॥
 तथं सुरासुरनारग-समणुय सचत्पयं जगं सवं ।
 सत्पयं भणियमिणं, बंभंइपुराणसत्पयिम् ” ॥ ३ ॥

तथा स्वयंनिर्मितजगद्वादिनो जन्तुः-

“आसीद्विदं तमोज्ज-मप्रज्ञतमलक्षणम् ।
 अविदत्थंमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
 तस्मिन्नेकार्णवीभूतं, नष्टं स्थायज्जम् ।
 नशमरन्तं चैव, प्रनष्टेरनाराकृतं ॥ २ ॥
 केवसं गह्वरीरुं, महारुतविवाजितं ।
 अचिन्त्यामा विभुस्तर, शयानस्तत्पत्ने तपः ॥ ३ ॥
 तत्र तस्य शयानस्य, नाजेः पक्षं विनिर्गमम् ।
 तत्पुत्रपिमण्डलनिर्णं, ह्रवं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
 तस्मिन् पक्षे स जगवात्, दृष्टदी यक्षोपवीतसंयुक्तः ।
 ब्रह्मा तत्रोत्पन्न-स्तेन जगमन्तः सृष्टाः ॥ ५ ॥
 अदितिः सुरसंघानां, दिगिरसुराणां भुजुमंनुष्वाणाम् ।
 विनता विहङ्गमानां, माता सर्वप्रकाराणाम् ” ॥ ६ ॥

नकुलाद्नामित्यर्थः ।

“कद्ः सरीसृपाणां, सुहसा माता च नागजातीनाम् ।
 सुरनिश्चतुष्पदाना-मिला पुनः सर्वबीजानाम् ” ॥ ७ ॥ इति ।

एषमुक्तमेव पतनन्तरं विंति वस्तु श्रुतीकं, भ्रान्तहानिभिः प्रकृतिवत्त्वात् । तथा-भ्रान्तपतिना लोकप्रयुषा ईद्वरेण च भद्र-
 श्वरेण कृतं विहितमिति केवलद्विदिना, वदन्तीति प्रकृतम् । भ्रान-
 तिति बह्वर्थादिनाः-“बुद्धिभ्र-कारणपूर्वकं जनात्, संस्थावाशि-
 योक्तुवाद् घटादिवादिनि । कुशरोनता चास्य-वस्मीकबुद्धिदुर्गादि-
 भिर्दोषोत्पन्नैकान्तिकत्वात् । कृष्णादिदिव्यस्य बुद्धिमत्कारणस्य
 साधनेन बह्विधाव्यावृत्त्यादिति । तथा-एवं यथोभ्यर्कन तथा
 विष्णुमयं विष्णुधामकं कृष्णमेव च जगति, केचिदन्वन्तीति
 प्रकृतम् । भ्रान्तित्वं च पतनमातवलम्बिनः-

“ जज्ञे विष्णुः स्वप्ने विष्णुः, विष्णुः पर्वतमस्तके ।
 ज्याश्रमात्माकुले विष्णुः, सर्वे विष्णुमयं जगत् ॥ १ ॥
 तथा-“ शरं च पृथिवी पार्थं, वातवनिजलमप्यहम् ।
 धनस्पतिगतव्याह, सर्वभूतगतोऽप्यहम् ॥ २ ॥
 “सो किल जज्ञेयसमुत्थ-पुद्गलणगायत्रिमं लागमिमि ।
 बीहपरंपरं, घोषंता उदयमज्जमिमि ॥ ३ ॥

स किञ्च मार्केण्डेय ऋषिः-
 “ मिच्छह सो तसमाधत्-पण्डितुरनन्तरिरेकज्योषीयं ।
 पार्थिवं जगमिञ्च, महद्वयविवाहियं गहर् ॥ २ ॥
 एवोद्ये जगम्मी, पिच्छह नमोहापयञ्च ॥ २ ॥
 मंदरगिरिं च तं, महासमुद्रं चऽविच्छिञ्च ॥ ३ ॥
 चंयमि तस्स सयणं, मरुच्छह तह बालोम मणुभिगमो ॥
 संविद्यो सुहृदिभ्यो, मित्रकोमलकुचियुक्तैःसोऽभिष्णुगुरुरिष्यथः ॥
 इत्यो पसारिभ्यो से, महरिसियो पहि वच्छुः । त्रिषिभ्यो य ।
 चंयं भवं मिलज्जसु, मामरिहिसि उद्वयुद्धिप ॥ ५ ॥
 तेण य घेणुं हत्ये, मिलिभ्यो सो रिस्ती तत्रो तस्स ।
 पिच्छह उदरमि जये, सस्सेववकाणेषुं सव्यं ॥ ६ ॥ ति ॥
 पुनः सुष्टिकावे विष्णुना सुष्टम् । कुशरोनता चास्य प्रतीतिवाच-
 यत्वात् । तथा-एवं बह्व्यमाणयानि एव केचन आग्राहेतवा-
 द्वाद्यो वदन्ति-मृषा श्रुतीकं, वदत एव क्त्वात्मा । नदुकम्-

“ एक एव हि ज्ञेयतात्मा, भूते षुते इव्यस्थितः । एकधा बहुधा
 चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥ तथा-“ पुरुष एवेदं सर्वं
 एव भूतं यच्च भाव्यम् ॥ इत्यादि । कुशरोनता चास्य सकललो-
 कविशोष्यमानेनर्दानिबन्धनव्यवहारोच्छेदप्रकृष्टात् । तथा-अ-
 कारकः हुक्कदेनूनां पुष्यपापकामाणकानोऽऽमिस्वत्ये वदन्ति,
 असूतित्वमित्यन्वाभ्यं कर्तृत्वानुपपन्निरिति । कुशरोनता चास्य
 संस्थाव्यासनां सूर्तत्वेन परिणामित्वेन च कर्तृत्वोपपत्तौ, अक-
 र्तृत्वे वाहताभ्यागमप्रसङ्गात् । तथा-वेदकश्च प्रकृतजनितस्य
 सुतनुदुष्कृतस्य च प्रतिविम्बोदकत्वात्वेन भोक्ता । असूर्तत्वे हि
 कदाचिदपि वेदकता न युक्ता, आकाशस्थेयति कुशरोनता चा-
 स्योपाना सुकृतदुष्कृतस्य च कर्मणः करणानोन्वियानि कारणा-
 नि हेतवः सर्वेषां सर्वप्रकारैः सर्वत्र च देशे काले च, न वस्तु-
 तन्त्रे कारणमिति भावः । करणाभ्यांकादश-त्रयं तत्रकापाणिपाद-
 पात्युपस्थलक्षणाणि पञ्च कर्मनिष्ठायां, स्थानोद्दीनि तु पञ्च
 बुद्धिप्रियाणि, एकदशो च मन इति । एषां चांचेतनावस्थाया-
 मकारकत्वापुरुषस्यैव कारकत्वेन कुशरोनत्वमस्य । तथा-नि-
 रव्याश्रुती । यदाह-“ नैनं गिन्वन्ति शक्राणि, नैनं वहन्ति भुवङ्कः ।
 नचैनं कृशयन्त्यापो, न शोषयति माकनः ॥ १ ॥ अच्योऽथमभे-
 योऽप-अमूर्तोऽथ सनातनः ॥ इति । असच्चैत, एकान्तानियं
 हि सुखः-अच्योऽथोऽथमाप्रसङ्गात् । तथा-निष्कयः सर्व-
 व्यापित्वेनावकाशाभावाद् गमनागमनादिक्रियावाञ्छितः । अस-
 चैतत्-देहमात्रोपशब्दमयानुपस्थेन तन्मित्यन्वात् । तथा-नि-

गुणश्च, स्वस्वरजसामोदकृष्णगुणैर्बध्यातिरेकत्वात् ; प्रकृतेरेव
 भेदे गुणा इति । यदाह-“ अकर्तो निर्गुणो भोक्ता,भ्रामा कपि-
 लक्ष्मणेन ॥ इति । प्रसिद्धता चास्य सर्वव्यापिगुणत्वे, चैतन्यं पुरु-
 षस्य स्वकर्मित्यनुपगमनात् । तथा-“अपुष्ट्येवेषो ि) अमुपने-
 पकः कर्मबन्धनरहितः । प्रायं च-“ अक्षयश्च बध्प्यते नापि,पुष्ट्य-
 ते नापि संसरत् ॥ “ संसरति बध्प्यते सु-च्यते च नापि,अध्या
 प्रकृतिः ” इति । असच्चैतत्-मुक्तामुक्तयोरयमविशेषप्रसङ्गा-
 त् । पागान्तरम्-“अश्रायंश्वेषो भो ि) अश्च अन्व्याध्यापरो ज्ञेयनः,
 कर्मबन्धनरहितः । एतदप्यसत्-कथञ्चिदितिशाब्दानुपादानात् ।
 इत्यपि च-इती रूपप्रदर्शने, अविचेति-अलीकवादान्तरसमुष्ण-
 यायोः । तथा-एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण (आहंस्तु ि) उच्यते
 स्म असत्त्वमसन्तमर्थे, यदुत यदपि यदेव सामान्यं, सर्व-
 मित्यर्थः ; इहामिदम्, किञ्चिद्विचिञ्चितमित्यर्थ, जंविद्योके अर्थ-
 लोके, दृश्यते सुकृतं वा आस्तिककर्मतेन सुकृतफलं, सुख-
 मित्यर्थः । दुष्कृतं वा दुष्कृतफलं, दुःखमित्यर्थः । पतन्-
 (जहच्छापर व ि) यदच्छया वा, स्वभावान् वऽऽपि,द्वैवकप्रजा-
 वतां वाऽपि विधिसामर्थ्येनां वाऽपि जगति,न पुरुषकारः कर्म वा
 हिताहितनिमित्तमिति भावः।तत्र-अभिनिर्साधपुष्पाकाऽप्येमासिः
 यदच्छा । एतन्तं च-“ अनर्कितोपस्थिनमेव सर्वं, चिञ्चं ज-
 नानां सुखदुःखजातम् । काकस्य तांभेन यथार्थमिधातो,न कुञ्चि-
 पूर्वोऽत्र वृथाऽनिमानः ॥ १ ॥ तथा-“ सत्यं पिशाचस्य वने
 वसामो, भेरीं करोरपिरेन न स्पृशामः।यदच्छया सिद्धानि लोका-
 यात्रा,भेरीं पिशाचाः परितारयन्ति ॥१॥ निःस्वभावः पुनर्वस्तु-
 नः स्वत एव तथा परिणमन्ति इति भावः।तं च-“क.कण्ट-
 कानां प्रकरोति तैर्बल्यं,विचित्रभायं मृगपक्षिणां च । स्वभावतः
 सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुनः प्रवृत्तः ॥ २ ॥ इति ।
 दैवं तु विधिरिति लौकिकी भाषा । नभोक्त्वा-“प्रायश्चित्तं लभने
 मनुष्याः, किं कारणं दैवमश्नुमीत्यम् । तस्मात्प्रशोचामि न वि-
 सस्यो मे, यदसदीयं नहि तत्परयाम् ॥१॥ तथा-“द्वेषादप्यस्मा-
 दपि,मभ्यादपि ज्ञानियेद्रीशोऽप्यनाना । आनीय कटिनि घट-
 याति, विधिरभिमन्तमामुखीभूतः ॥१॥ इति । असद्भूतावा चात्र
 प्रायकमेषां जिनमनप्रतिबुद्धयत्वात् । तथाहि-“कालो भूतव नि-
 यदं, पुष्यकयं पुरिसकारणेयता । मिच्छत नै चैव उ, समासभो
 हुति समस्तः ॥१॥ इति । तथा-नास्ति न विद्यते तं लोके, कि-
 ञ्चिच्छुभ्रमशुभ्रं वा, हुतं कथं पुरुषकारनिष्पन्नं च कार्यं, प्रयो-
 जनमित्यर्थः । पागान्तरम्-“ नरिषु किञ्चि कथय तत् ॥ ” तत्र
 तस्य वस्तुत्वकर्मपाति । तथा-लक्षणानि वस्तुत्वकर्मपाणि विवि-
 धाश्च भेदा षड्गुणधियास्तासां सत्प्राणविधानां,नियतित्वं स्वभाव-
 विशेषक्य कारिका कर्त्री, सा च सत्प्रयानामभवत्तथा । तथा-
 भवने प्रयोऽविधौ, जिवितव्यतेत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः-यतः मुञ्चा-
 दीनां राक्षिस्वभावत्वमिरकातत्ववाच्यत्वम् । यच्च इन्द्रविधि
 निवतसत्यं, न शाल्यादिऽसता,सा विधिरिति । “नहि जवति
 यन भाव्यं, भवति च भाव्येविनाऽपि यत्नतः । करतश्चगद्यमपि
 नद्यपि-वैद्यं तु भवेतव्यता नास्ति ॥ १ ॥ असत्यता चास्य
 पूर्ववत् । एवामयुक्तप्रकारेण, केचिन्नास्तिकाद्यो जगन्तः ।
 ऋदिरससानगौरवपराः, ऋचुवादिषु गौरवमादरतत्प्रधाना
 इत्यर्थः । बहवः प्रयुताः करणासत्ताभ्यान्नालसा धर्मं प्रत्यु-
 षमाः, स्वस्य परेषां च चित्ताभ्यासनिमित्तमिति भावः ; तथा
 प्रकृत्यानि । धर्माभिमतशेकेण धर्मविचारणेन, (मोक्षं ति) कृषा
 पारमार्थिकधर्ममपि स्वबुद्धिदुर्बलसितेनाधर्मं दधापयन्ति ।

पतत्रिष्येयं चेति भावः । इह च संसारमेव काव्यो निर्देशन-
मिति । तथा-अपरे केचन, अथमेतोऽभेदमङ्गलकृत्य राजपुत्रं वृ-
षविक्रम-अभिमतोऽयमित्यदिक्म-अभ्याख्याने परस्याजिमुसं
वृषणवचनं, भणति भवति, अर्थात्कमसत्यम् । अभ्याख्यानेव द्वा-
यितुमाह-सौर इति जगन्तीति प्रकृतम् । के प्रति?, इत्याह-अचौर्य-
कुण्ठनं चौरनामकुण्ठाणमित्यर्थः । तथा-डामरिकां विग्रहकार-
रिति । अविचेति समुच्चये । जलन्तीति प्रकृतमेव । (पमेव सि)
पमेव चौरादिकं प्रयाजनं विभेद, कथंभूतं पुरुषं प्रति?, इत्याह-
उदासीनं डामरादीनामकारणम् । तथा दुःशील इति च हेतोः पर-
दागन् गच्छन्तीत्येवमभ्याख्यानेन मलिनयन्ति नाशयन्ति, शील-
कलितं सुतोऽसत्या परिहारविरतम्, तथा-अयमपि न केवलं स एव
गुरुनष्टक इति दुर्बिनीत इति; अन्त्ये केचन, मृषावादिनः, एवमेव
निष्पद्यन्तीति भणन्ति; उपपत्तम्: विधुचित्तमताः तद्दृष्टिकीर्त्या-
दिकमिति गम्यन्ते । तथार्थमत्रकलत्राणि सेवते सुहृदारान् भ-
जते; अयमपि न केवलमनी, पुनर्लुप्तयमां विगतधर्म इति ।
(हमेव वि सि) अयमपि विश्रम्भघातकः पापकर्मकारोति
यकस्यम् । अकर्मकारी स्वयुमिकाऽनुचितकर्मकारी, अगम्यमा-
मी भगिन्याद्याजिगन्ता, अयं डुरात्मा (बहुपसु य वातेशु
सि) बहुभिन्न पानकैयुक्त इत्येवं जल्पन्ति, असन्निव इति
व्यक्तम् । अद्रकं वा निर्दोषं विनयादिगुणयुक्तं पुरुषं वा,
शुद्धद्रकं वा, एवं जल्पन्तीति प्रकृतम् । किभूतास्ते ?,
इत्याह-गुण उपकारः, कीर्तिः प्रसिद्धा, स्नेहः प्रीतिः, परलोको
जन्मान्तर, एतेषु निष्पयास्ता निराकाङ्क्षा एते । तथा-एवम-
कर्मणः, एतेऽलीकवचनद्वयोः, परदोषोपवादनप्रसक्तः, बेष्टय-
न्तीति परत्रयं व्यक्तम् । अकृतिक्वीञ्चन अकृत्येण डःबहुनेने-
त्यर्थः । आत्मानं स्वैःकर्मैश्चयेन प्रतीतेन, [सुहरि सि] मुसमेव
अरिः शत्रुनर्धकारित्राद्योपांते तं सुखारोपोऽस्तमीकृतिप्रवापिनः
अपयोमोक्षतानर्धकवादिनः, नित्यात्मापयकानपहर्ततः परस्य
संबन्धिनो अर्थे द्रव्यं प्रथितशुद्धाः अत्यन्तशुद्धिमन्तः । तथा-
अभियोजयन्ति च परमसद्भिः, दूषणैरिति गम्यम् । तथा-
सुधाश्व कुण्ठेन कूटस्वाक्षिभमिति व्यक्तम् । तथा-जीवानाम-
हितकारिणः अर्थान्तोके च उच्चाधर्मसत्यं, भणन्तीति योगः ।
कन्याश्लोकं च कुमारीविययमसत्यं, द्रव्यश्लोकं च प्रतीतम् ।
तथा-मवालीकं च प्रतीते, गुरुकं बादरं स्वस्य जिह्वाच्छेदाद्यन-
र्थकरं परेवाञ्च गाढोपतापादिहेतु, भणन्ति भाषन्ते । इह कन्याऽऽ-
दिभिः पदैर्द्विधापदवचनपुष्पद्वजात्य उल्लङ्घनत्वेन संयुद्धीता
द्रष्टव्याः । कथंभूते तत?, इत्याह-अधरगतितगमन-अधोगतिग-
मनकारणम्, अयदपि चोक्तव्यतिरिक्तं, जातिकपुङ्गवशालानि
प्रत्ययकारणं यस्य तत्तथा, तच्च मायया निगुणं निहतगुणं
इति समासः । तत्र जातिकुलं यतोऽमातिपुङ्गवः, तजेतुं
च प्रायोऽलीकं संनचति, यतो जात्यादिदोषांकेचिद्दोषी-
कवादिनो भवन्ति । रूपमाकृतिः, शीलं स्वजायः, तत्रययस्तु जव-
त्येव, प्रशंसानिन्दाविषयत्वेन वा जात्यादीनामस्त्रीकप्रत्ययना ज्ञा-
नीयेति । कथंभूतास्ते?, चणशाः अमहत्वापय्यादिना । किभूतं तथ?,
पिबुने परदोषाविष्करणरूपम्, परमाभेदकं मोक्षप्रतिघातकम् ।
[असेतमं ति] असत्कमविद्यमानाथेव, असत्यमित्यर्थः । असत्त्व-
कं वा स्वयद्दीनं, विद्वेषमप्रियस्व, अनर्धकारकं पुत्रवायोपघातकं,
पापकर्मणं क्रिष्टक्षानावरणादिअर्थजं, दुष्टसमस्यक इहं द्रव्यं यत्र
तद् दुष्टैश्च, दुष्टं भूतं अथवा यत्र तद् दुःभूतं, मास्ति सुमितं ज्ञानं यत्र
तदसुमितम्, निलसं जलज्जार्हितं, लोकगर्हणीयं प्रतीतम्, बध-

बन्धपरिक्रेश्वावहृत्तं, तत्र-बधो यद्यथादिनिस्ताडनं, बन्धः संघ-
मनं, पारकभेदयमुत्पायः, ते बहुलाः प्रचुरा यत्र तत्तथा । भ-
वन्ति चेत असत्यवादिनामिति । जरामरणदुःखशोकानेवम-जरा-
दीनां मूलमित्यर्थः । अयुद्धपर्यायमेव संक्षिप्तं संक्षिप्तशवत्त-
त्वा भणति ।

के ते भणन्ति? :-

अक्षियाहसिंधिनिविद्धा असंगुणुदीरगा य संतगुण-
नासका य द्विसाचूतोवधातिर्यं अक्षियसंपुञ्जा वययं
सावज्जपकुसुमं साहृगरहणिजं अथम्मजणणं जणंति
अणजिगहियपुल्लावा पुणो य अडिक्करणकिरियावत्तका
बहुविहं अनत्यं अवमेव अप्पो परस्स य करंति एवमेव
जंपमाण, महिसं सूकरं य साहंति धायकां, ससपसेरो-
हिए य साहंति वागुरीणं, तिथिरवष्टकलावके य कविज-
लकावके य साहंति सजणीणं, जममगरकच्छुजे य सा-
हंति मच्छियाणं, संत्वके लुल्लप य साहंति मकराणं,
अयगरगोणसर्मिलिद्वीकरमउली य साहंति बालि-
पाणं, गोहा सेहा य सल्लगसरुके य साहंति लुक्का-
णं, गयकुलवानरकुले य साहंति पासियाणं, सुक-
ब्रह्मिण्यणसालकोइइहंसकुसे सारसे य साहंति पोस-
गाणं, वधवधजायाणं च साहंति गोम्मियाणं, धणधन्ना-
ग्वेलए य साहंति तकराणं, गाये नगरपट्टे य साहंति
चौरियाणं, पारयातिपपंचयातिथाभो साहंति गंधिसेया-
णं, कयं च चौरियं अगमरगुत्थायणं साहंति, सेवणानि-
ल्लंछणधमणवृष्टणपोसणएणणुदुवणवाहणादियाइं साहं-
ति बहुणि गोमियाणं, धाउमणितिलपवाअरयणगरे य
साहंति आगरीणं, पुप्फाविहं च फलाविहं च साहंति
माक्षियाणं, अत्यमहुकोमए य साहंति वणचराणं, जेताइं,
विसाइं, मुल्लकम्मआहेवणआभिओगजणणाणि चौरियाए
परदारगणएस्स बहुपावकम्मकरणो अवकंदेए गावया-
तिए वणदहएततागभेयणए बुच्चिसिए वसीकरणो
भयमणकिसेयुवेगजणिआइं जावबहुसंकिलिहपसि-
णाणि चूययाओवयाइयाइं सच्चाणि वि ताइं हिंसकाइं
वयणाइं उदाहरंति पुट्टा वा अणुट्टा वा, परतचिवाववा य
असमिक्खियवासिणो उवदिसेति-सहसा उट्टा गोणा ग-
या दभंतु, परिणयथया अस्सा हत्थीगवेइयकुक्का य कि-
जंतु, किणावेध य, बिकेह, पचहं, सयणस्स देह, पीयह
दासंदासजयकभाइल्लगा य मिससा य पेसकजणो कम्म-
करा किक्का य एए सयणपरिजणे य कीस अत्थेति भारि-
या जे कंतेउ कम्मं, गहणाइं वणाइं विचखिल्लुभिवल्लसाराइं
उत्तणणसंक्रमंदाइं उज्जंतु य मूढिजंतु य रुक्खा भिजंतु
जेतं जंदाइयस्स उवहिस्स काराणाए, बहुविहस्स य अट्टाए
उच्छु उज्जंतु, पीलियतु य तिसा, पचावेह इड्काओ मप

परदृष्ट्याप, खेचा य कसत, कसावेह वा, झट्टं गामनगरखे-
रुकव्वर्न संनिवेशेह अरुदीदेसेसु विपुलसिर्मा, पुष्पाणि
कंदमूलाई कालपचाई गिरह, करेह सचयं परिजणस्सऽड-
धंत य, लाह्लोवीहींजवा य लुचंचंतु मज्झिंजंतु उण्ण-
यंतु य, सत्तं य पविंसंतु कोट्टागारं, अप्पमहक्का-
समा य इणंतु पोतसत्था, सेणा थिज्जाउ, जाउ रुमरं,
पोरा वटंतु, जयंतु य संगामा, पवइंतु य सगरुवाहणाई.
उवणयणं चोलंगं विवाहां जम्भो अमगम्मि होउ दिवसे
सुकरणे सुमुमुके च सुनक्खचे सुतिहिंमि य थज्ज होउ एह-
वणं, मुदिनं बहुलज्जपेउज्जकलियं कोउकविण्टावणमांतक-
म्माणि कुण्ट, ससिरविगहोवरामाविसमेणु, सज्जस्स
परिजणस्स य निययस्स य निययस्स परिक्खण्टयाप
परिसीसकाई च देह, देह य सीसोवहरे विहिंहांसहंभज-
मंसजक्खअम्मापाएणम्माण्णुत्तेवणपर्दोवजलिउअडा सुगंभ-
भूवांवायारपुष्पकलसमिक्के, पायच्छिचे करेह, पाणातिवाय-
करणेन बहुविहेण विवरीउण्याउत्तुविणपावमउणअसो-
मगहचरियअमंगलानिमिचपफियापधेउं चित्तिच्चेयं करेह
या देह किंचिं दारणं, सुट्टु हण ष, सुट्टु उिष्ठां भिष्ठां ति उव-
दिंसंता, एवविंहे करंतु अभिलिंयंणो वायाए कम्मणा य ।

अश्लोके यां उजिस्सिधरिअप्रायस्तरत्त मिच्छिधा अश्लोकाजिस्सिध-
रिच्छिधाः, असदुगुणंदारिकाशब्दं चित्तं व्यक्कम् । सद्दुगुणाशशक्यं,
तत्पलापका इत्यर्थः । तथा—हिंसया नूनोपघातो यथास्ति
तद् हिंसाभूतोपघातिकं, घचनं ज्ञानन्तीति शोचः । अश्लो-
कप्रमुखाः संप्रयुक्तालौकाः, कथंचंतु वचनम्, सावचं गहिं-
दं गहिंनकर्मयुक्तम् । अकुशलं, जीवानामकुशलकारिन्वात्,
अकुशलनप्रयुक्तत्वात् । प्रतएव साधुगृहणीयम्, अयमंजननं,
अणन्तीति पदत्रयं प्रतीतम् । कथंचंतुः, इत्याह—अनधिगत-
पुण्यपापाः—अविदितपुण्यपापकर्मदेव इत्यर्थः । तदधिगतं हि
नार्लोकवाचे प्रवृत्तिः संभवति । पुनश्च—अज्ञानोत्तरकालम्, अधि-
करणविषया या क्रिया व्यापारस्तःप्रवृत्तिकाः । तयाधिकरणक्रि-
या द्विविधा—नियन्ताधिकरणाक्रिया, संयोजनाधिकरणक्रिया
च । तथाचा—अङ्गदीर्घानां तन्मुद्रुवर्गानां तन्मन्त्रनलक्षणं, र्त्तिया
तु तेषामेव निदानां संयोगजनलक्षणंति । अथवा—दुर्गनां यकाभि-
रधिक्रियते प्राणी, ताः सर्वाः अधिकरणक्रिया इति; बहुविधम-
नर्थमनर्थहेतुत्वाद् अपमर्दसुपवर्तनम्, आत्मनः परस्य च कुर्व-
न्ति, एवमेव अनुद्विपूर्वकं, जल्पतोऽभाषमाणाम् । एतद्वाह-महि-
पान् शुकरांश्च प्रतीताद, साधयन्ति प्रतिपाद्यन्ति, घातकानां
तद्धिंसनात्, शशप्रशयोरोदिताश्च साधयन्ति वारुणिकानां, श-
शाद्यं अटव्याश्चतुष्पदविशेषाः; वागुरा मृगबन्धनं, सा एषाम-
स्ति ते वागुरियः । तिसिरवत्कलावकांश्च कपिउज्जकपोतकांश्च
पक्षिविशेषान् साधयन्ति, शकुनेन द्येनादिना मृगयां कुर्वन्तीति
शाकुनिकास्तेषाम्, सउणीषां इति च प्राकृतत्वात् । भयमकरान्
कचउपांश्च अजच्छरविशेषान् सारथिनां, मत्स्याः परस्य येषां ते
मांसिकास्तेषाम्, (संखं क ति) शकशाः प्रतीताः, अक्काश्च रु-
दिगम्याः, अतस्ताव, सुल्लोकांश्च कपर्दकान्, साधयन्ति मकरा इव
मकरा जलविहारित्वाकीयताः, तेषाम् । पात्रान्तरं—भगिययणं

मर्गयतां तत्रैषियाम् । अजगरगोनसमपइडिष्वीकंरमुकुलिन-
श्च साधयन्ति, तत्र अजगराद्यः अरगविशेषाः, श्वीकराः कणा-
नूताः, मुकुलिनस्तदितरे, व्याघ्रात् कुल्लज्जं पान्तीति व्यालपा-
स्ते विद्यन्ते येषां ते व्याघ्रपिनः, तेषाम् । अथवा—व्यालपानामत्र
प्राकृतत्वेन “वालयोति” प्रतिपादितम् । वाघनान्तरं—वागिययणं
ति इत्यन्ते । तत्र व्यालेश्वरन्तीति; वैश्यालिकानामिति । तेषा-
नोषाः सहाश्च शल्यकशरटकांश्च साधयन्तीति लुब्धकानां,
गोधाद्यो लुजपरिस्वविशेषाः, शरटकाः कृकक्षासाः । गजकु-
ब्यानरकलानि च साधयन्ति पासिकानां कुल्ल कुट्टम्, यूपमित्य-
र्थः । पाशेन बन्धनविशेषेण चरन्तीति पाशिकास्तेषाम् । तथा-
शुकाः कीराः, बहिणो मयूराः, मदनशालाः शूरिकाः, काकिलाः
परनूतः, ईसाः प्रतीताः, तेषां यानि कुलानि कृद्दन्ति तानि, तथा-
सारसांश्च साधयन्ति, पोषकाणां पक्षपोषकाणामित्यर्थः । तथा-
वधन्तारान्, वन्यः संयथानं, याननं च कथयन्मिति समाहारद्वयः ।
तच्च साधयन्ति गौत्मिकानां सुतिपाक्षानाम् । तथा—अन्यान्व्यग-
वेषकांश्च साधयन्ति, तत्कारणाभिति प्रतीतम् । किं तु नावां बहो-
बईसुरभयः, एलकाः अरुन्नाः । तथा—आमनगरपत्तनानि साधय-
न्ति चौरिकाणां, नकरं करवजितम्; पत्तनं द्विविधम्—जलपत्तनं,
स्थलपत्तनं च । यत्र जलपत्तने भाएरुनाभामगस्तदाद्यम्, यत्र च
स्थलपत्तने तदिति । चौरिकाणां प्रणिधिगुरुष्वाणाम् । तथा पारं
पथेनं मामं घातिका गन्तुणां हननं पारघातिकाः (पंथाद्याय-
ति) पथि मार्गं, अद्वेषेण इत्यर्थः । घातिका गन्तुणां वननं, प-
थिघातिकाः, अनयोद्वेष्टोऽनस्ते साधयन्ति च प्रमथियदानीं चौरि-
विशेषाणां, कृतां च चौरिकां चोत्रेण, नगरगुप्तिकानां नगर-
क्रिकाणां, साधयन्तीति वचन्ते । तथा—लाड्यनं कर्णादिकसंता-
ङ्कनादिभिः, निशान्छनं यद्वित्करणं, (धमय ति) आन
वायुपूरणं, दाहनं प्रतीति मदिध्यादितम्, पोषणं यस्सदादितः
पुष्टीकरणं, वननं वनस्था-यमातरि योजनं, (दुयण ति) दुःख-
नमुत्पापनमित्यर्थः । वाहनं शुकटाद्याकरिणम्, एतद्दिक्कानि
अनुष्ठानानि साधयन्ति बह्वनि, गौमिकानां गोमनाम् । तथा—धानु-
गैरिकं, धानवो रोहाद्यन्तः, मणयन्त्कान्नाद्याः, शिला हृदपः,
प्रवालानि विष्टमणि, रत्नानि कर्कतनादीनि, तेषामाकराः खन-
यस्ताः साधयन्ति, आकरिणाम् आकरवनाम् । पुण्यत्यादिवाक्यं
प्रतीतम्, नवरं विधिः प्रकारे तत्र । अर्थश्च मृत्युवनां, मधुकोटा-
काश्च कोट्टावपत्तनयानम्—अधमधुकाशकाः, तान् साधयन्ति,
वनवनाद्यं पुलित्तराम् । तथा—यन्त्राणि तच्छाटनार्थं प्रकले-
नपकारान्, जलशरमात्रियन्त्राणि वा, उदाहरन्तीति शोचः ।
विषाणि स्थावरजङ्गमदेधानि हाहाहलानि, मूलकर्म मूलादि-
प्रयोगानां मरिचापानादि (आहियेण ति) आहियेषं पुरकोभादि-
करणम् । पाटान्तरं—(आहियेषं ति) आहियेषं आहिनत्वं शू-
त्रायम्, पाटान्तरं (अधियेण ति) अध्यायनं मन्त्रादेशनमित्य-
र्थः । आभियेयं वशीकरणं, तच्च इत्यन्ते इत्यन्तं योगज-
नितं, ज्ञानो विद्यामन्त्रादिजनितं, बलाकारो वा मनोविषयि-
प्रयोगान्नाप्रयोगेण तु तद्व्यापारानां ति इच्छः, नात् । तथा—चो-
रिकायाः परदारगमनस्य बहुपापस्य च कर्मणां व्यापारस्य
यस्करणं तत्तथा; अवस्कन्दनाः कुलेन परब्रह्मदर्शनि, प्राम-
ञ्जातिकाः प्रतीताः, वनदहनतडागमेद्वानि च प्रतीताम्येव,
कुट्टनियस्य च यानि च तानि । तथा—वशीकरणं विद्वानि
प्रतीतानि, जयमरणद्वयोऽंगजनितानि, कर्तुरिति मय्यन् । भा-
वेनाप्यवसायेन बहुसंक्रियेन मयिनाति कलुषानि यानि, तथा—भू-
तानां प्राणिनां घातश्च हननम्, उपघातश्च परपरघातः, तौ विघते

अश्लेषवयण

भौमार्थिकविशेषिणुभयणगुरुक्षेत्रवसयणमित्तववत्स्वाराणाऽऽ
 दियाई अन्धकवाणाई बहुविहाई पार्वति अग्रपारमाई हि-
 ययमएद्वयगाई जावनीव हुदुच्छाई अणित्स्वररुसवयण-
 तज्जर्णाएरुनत्यादाई वयणविमणा कुञ्जीया कुवास-
 सा कुवसईमु किशिरंसा नैव सुदं नैव निवृद्धं लवसजं-
 ति, अचंचंनविपुत्रदुखमयसंपलिना, एसां सां अश्लेषवय-
 णस्स फलविवाभ्रो इन्द्रोईभ्रा परःशोईभ्रो अप्सुहां ब-
 हुदुखलो महन्भ्रो बहुपगादो रूणो ककभो असाओ
 वामसदस्तेई मुच्चतो ण य अवेदयिता अयि ह्यु मां-
 कलो चि, एवयाईपु नायकुसुन्दणो महया जिणो उ वी-
 रवरनामयेज्जो कहेसां अश्लेषवयणस्स फलविवागं; एयं
 नं वितिये वि अश्लेषवयणं लहुदुखलुचयलभणियं भ-
 यकरदुइकरअपयकरवेकरणं अगतितरिशावदोसमणसांकि-
 षेमवियरणं अश्लेषनियमिसातिजोगबहुलं नीयजणमिने-
 वियं निसंसं अप्पण्यकारकं परमनाहुगरहाभिजं परपी-
 णाकारकं परमाकिइइसेसमईयं दुग्गतिविशियवयवृहणं
 जवपुणुअजवकरं चिरपरिचियमणुगयवुत्तं ति वेमि ॥

अकुराला वक्रव्याचकव्यविभागीनियुता अनार्याः पापकर्मणो
 दुरमयाताः [अश्लेषसि] अलीका आङ्गा आगमां येषां
 न तथा, त एवालीकधर्मनिरताः, अलीकासु कथास्वयि-
 रममाणः । तथा- [तुहा अश्लियं करेउ हुति य बहुपगायं ति]
 अत्र-तुष्ट भवति चालोकं बहुपकारं कृत्वा उरुत्तममज्जघटना
 कार्थिनि । तथा उरीकथियाकप्रतिपादनावाह- [तस्स सि] द्वि-
 तीयाऽऽअवयनोच्यते-तस्यावलीकस्य फलस्य कर्मणा वि-
 पाक उदय, साप्यमित्यर्थः । तत्रजानन्तो वदन्ति महाजयम-
 विभ्रामवेदन्तं, दीर्घकाशबहुतुःखसंकटा, नरकतिथ्यैर्नि, तत्रो-
 त्पादनामित्यर्थः । तेन चालीकन, तपोर्जानकर्मणोच्यर्थः ।
 समनुषक अविरहिताः, आदिषा आशिक्षिताः, पुननेवा-त्रकारं
 श्राम्यन्ति, भीमे दुर्गेतिवसन्तिमुपगतास्ते च दृश्यन्ते इह जी-
 यशोकं किन्ताः ? इत्याह-तुर्गता दुःस्था, दुरस्ताः दुष्पयं-
 वसनाः, परवशा अस्वतःशाः, अर्थभोगपापवर्जिताः इत्येण
 भौगैश्च रहिताः । [असुदियसि] असुखिताः, अविद्यमान-
 सुहृदाः वा, स्फुटितच्छब्दः विधाकाविचरिचिकादिभिः विवृ-
 त्तवचः, धीजसा विवृतकपाः, विषणो विकृपवर्णा इति पद्त्रय-
 स्य कर्मधारयः । तथा-अपश्यवा अतिकेशरुशशाः, विरक्त
 रति क्विद्विप्यमाशाः, ध्यामा अनुज्ज्वलच्छायाः, कुबिरा असा-
 रकाया इति पद्चत्वारस्य कर्मधारयः । तिग्गयाः विशाजा,
 लज्जा अश्वका विक्रशा फलासावनी सायेयां न तथा । [अस-
 कथमसजयसि] न विद्यत सस्कृते संस्कारो येषां ते असं-
 स्कृता एतादृशा असंस्कृता अविद्यमानसंस्काराः, ततः कर्मधा-
 रयः । मकारश्च साहायिकः । अयन्तं वा असंस्कृताः । अत एवा-
 गन्धाः, अस्वतनाः, विशिष्टैश्चत्प्राजावाह । दुर्गमा अविद्याः, अ-
 कान्ता अकर्मनीयाः, काकस्वैव स्वरो येषां ते काकस्वराः,
 हांनो इहसोनिअश्च स्फुटितो घोषो येषां न तथा । (विहसि) वि-
 हिंसाः, जराश्च मूलाः, वधिराश्वका ये ते तथा । पागान्ते-
 ष-अनश्चधिरा मूकाश्च, ममना अभ्यतवाचः, अकान्तानि अक-

मनीयानि विवृतानि च करणानोन्निषाणि कृत्यानि वा येषां
 ते तथा । वाचनान्ते-अकृतानि न कृतानि विवृतानि च
 विरूपतया कृतानि कृतानि वैस्ते तथा । नीचा ज्ञान्या-
 दिभिः, नीचजननिषेविणो, लोकगर्हणीया इति पद्वयं व्य-
 क्तम् । भृत्वा भर्त्सया पयः । तथा-असदृशजन्स्य अस-
 मानशीललोकस्य त्रेष्या त्रेषस्थानं, प्रेष्या वा आदेश्याः, दुर्मेष-
 सो दुर्बुद्धयः [लोकेत्यादि] बुनशब्दस्य प्रत्येकं संभषात-सां-
 कभूतिः लोकामितं शास्त्रं नाराताइ; वेदभूतिः श्रुकसामादि
 वेदशास्त्रम्; अच्यतभूतिः चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रं;
 समयभूतिः आहृतबौद्धादिसिक्तान्तशास्त्रं, तामिर्वाजिता ये ते
 तथा । क पते एवजुताः ? इत्याह-नरा मानवाः, धर्मशुद्धि-
 कक्षाः प्रतीतम् । अलीकेन च अलीकवाद्यनितकर्मोभिनो, तेन
 कालान्तरकृतेन, दृष्टयानाः [अश्रांतपणं ति] अश्रांतकमा-
 पशान्ते असता वा अशान्तयेन रागादिप्रवर्तनेत्यर्थः । अप-
 माननादि प्राप्नुवन्तीति सम्बन्धः । तत्रापमानं च मानहरणं,
 पुष्टमांसं च पराङ्मुख्य दृष्ट्याविष्करणम् । इयिक्केष्वेक मिन्दा-
 विशेषः, श्लेतेनदं च-परस्परं प्रमत्सख्ययोः प्रेमच्छेदनं, गु-
 षाद्यधस्यजनमिश्रणां सत्कमपकारणं च अग्रगद्दं हाराय-
 माणं वञ्चनपरानिजुतस्य वा एषामपकारणं, सानिध्याकरण-
 मित्यर्थः । एतानि आदिषोषं तानि तदाहिकानि । तथा-अ-
 भ्याख्यानानि असद्वृत्तपणानिधानानि बहुविधानि, प्राध्वानि
 लभन्ते इति । अनुपमानि । पागान्तरेण-अमानंमाणं, इहदयस्य
 उरसो, मनसश्च चेतसो, [दुग्गा इति] दावकास्त्युपात्ताकानि
 तानि तथा । यावज्जीवं दुष्टराशं भाजनाप्यनुद्वर्णयानि,
 अनिष्टेन अरपरणेण चानिककारेण वचनेन वसज्जनम्-रे ! दा-
 सपुरुषस्य भावितव्यमित्यादि । निमंसंमन-अंरं दुष्टकर्मकारिणं !
 अपसर श्टिमाणदित्यादिक्रयं, नाश्यां दीनं वदन्, [विमणसि]
 विगतं मनो येषां न तथा । कुमानाः, कुवाससः, कुवसन्तिषु
 क्रिश्यन्तो, नैव सुखं शारीरं, नैव निर्दुष्टं मनःस्वास्थ्यम्, उ-
 पलभन्ते प्राप्नुयन्ति; अन्यन्तेविपुलदुःखशतसं प्रदीप्ताः, तदि-
 वा अलीकस्य फलमुक्तम् । 'एसां' इत्यादिना स्वधिकृतचार-
 निगमनमिति । व्याख्या त्वस्य प्रथमाप्यथनपञ्चमद्वारादिनिगम-
 नयत् । (एय ते वितिये पि) इत्यादिनाऽप्यथननिगमनम् ।
 प्रअंश आअं हां अयवपदे-“पदम विगिणचण्टा” आधम-
 अलीकवचनम्, अयोभ्येशकस्य विधेयतायै चदं ॥ ६० ७ ० ।
 अशुक्तिव (ण)-अशुक्तिन्-त्रि० । अकृत्तस्यसदृभावादक-
 कि । स्मिपश्चसंशोचति, प्र० ११ भा० ४ उ० ।
 अशुक्त-अशुक्त-त्रि० । अशुक्तं लोभरहितं, प्रअं ५ सख०
 हां । “ आरादुकोसं जो, सदुपुणं तयं न अस्ते । एस अशु-
 क्तो दारं, ” ॥ १० भा० । पञ्चा० ।
 अशं-अरे-अव्य० । नीचसंघोषणं, “ अले कि एशे महेइ क-
 सशले ” प्रा० ४ पा० ।
 अशेष-अशेष-पु० । अश्लेषनायाच, प्रअं ४ द्वार । अशेषमप्ये
 मोक्षणा नी राटी आकारादिकं कथंते नवेति प्रअं-बहुपु भयंषु
 अशेषपश्येन वल्लजणकादिकं व्याख्यातमास्ति, वृहत्कल्पमाश्व-
 सितमध्यं तु-“ मंगलादिरोटीकाराकरासाधुउआडु ” इत्यादि-
 कर्मसमेपमध्यं कथंते इति व्याख्यातमस्ति ४६ । सन०२ ब्रह्मा० ।
 अश्लेषकट-अश्लेषकट-न० । वल्लजणकादावपिच्छिजे छप्ये,
 पि० । पञ्चा० ।

तत्रालेपकृतानि तावदाह—

कंजुसिणचाउदोदे, संसद्वापामकड्मूत्ररसे ।
कंजियकटिप ह्योणे, कुट्टा पिज्जा य निरुप्पा ॥
कंजियउदगविलेनी, ओदणकुम्माससपुए पिट्टो ।
धंढगसामिपोतिणे, कंजियपचे अलोवकन ॥

काञ्चिकमारनाम्रम्, उण्णोदकमुत्तुय् निवृद्धयम्, (चाउदोदंनं ति) तन्मुत्रधावनयम्, संसृष्टं नाम गोरससंसृष्टे भाजने प्रसिद्धं सवृ यदु-
बकं गोरसेन परिणामितम्, आयासममवधायनम्, (कट्टुमुत्तरसे सि) काष्ठमूत्रं अणुकचक्रुद्वादिद्विदलं, तदीयेन रसेन यत्परिणामितं नत्काष्ठमूत्रं नाम पानकम् । तथा-यत्काञ्चिककथितं, [शोणे सि] स भवणं यावत् । कुट्टाः सिद्धिञ्जिका, पेया च प्रतीता, निरुप्पा-
अन्वोपहा अन्नधारिता वा । तथा-विद्वेषिका द्विविधा—एका काञ्चिकविद्वेषिका, द्वितीया उरुक्विद्वेषिका । ओदनस्तन्दुला-
दिभक्तम्, कुसुमाया उददाः, राजमाया वा । सक्वो भूषणयज्ञोद्-
कयाः, पिष्टं मुक्कादिचूर्णैः, मयङ्काः सक्थिकामयाः, समित्तम्-अद्द-
कः, उन्निस्वन्नं मुक्करादि, काञ्चिकपत्रं काञ्चिकेन वाष्पितम्-अराणि-
कादिशकम्, पनाजि काञ्चिकादीन्मूत्रेपकृतानि मन्तव्यानि । ७० १
उ० । ४० । अश्वेपकृतनाम्रस्य त्वयश्चर्मं कल्पये दातव्यः । ४० ३ अधि० ।

अश्लोसी—अश्लोशियन्-पुं० । श्लेश्यारहिते अयोगिनि, सिद्धे च ।
स्या० ३ ज० ४ उ० ।

अश्लोम (य)—अश्लोक-पुं० । न० त० । धर्मादीनां अश्लोमाणां
वृत्तिर्भवति यत्र तत्, ताशश्चेन्नमिह लोकः; तद्विपरीतं श्लो-
काव्यं क्षेत्रम् । अश्व० ५ अ० । श्लोकविक्रमे अनन्ताकाशास्तिक-
कायाम्, सुत्र० १ ४० २ अ० । अश्लोम० प्रथ० । यत्र लोक
समवगाढौ धर्मास्तिकार्याधर्मास्तिकार्यौ, तावत्प्रमाणां श्लोकः,
श्लेषस्वश्लोकः । जी० १ प्रति० । “पणे अश्लोए” एकोऽश्लोकोऽनन्त-
प्रदेशोऽपि द्रव्याधेनया । स० १ सम० । सु० प्र० ।

लोगस्सऽप्यिव विक्वलो, मुच्छत्तणओ धरुस्स अयदो व्व ।
स यमाडि चैव मई, न निसेहाओ तदुक्कुरो ॥

अस्ति लोकस्य विपक्वः, न्युदयपिमककुत्तपदाभिधेयत्वात् । इ-
ह यद् व्युत्पत्तिता श्लेषपदनाभिधीयते तस्य विपक्वो ह्यः, यथा-
घटस्याघटः । यच्च लोकस्य विपक्वः सोऽश्लोकः । अथ स्थानमतिर्न
श्लोकोऽश्लोक इति । योऽश्लोकस्य विपक्वः स यथादिपदाधानामन्यतम
एव अभिव्यति, किमिह वस्त्वन्तरपरिकल्पनया ? तत्रैतत् । पर्यु-
दासव्याज्या निषकारिष्यस्थीशानुक्वोऽथ विपक्वोऽभिवेषीयः । न-
श्लोकोऽश्लोक इत्यत्र च श्लोको निषेप्यः, स चाकाशविशेषः, प्रनोऽ-
श्लोकनापि तदनुक्वेषु अभितत्त्वम् । यथाहपिउडत इत्युक्ते विशि-
ष्टकालविक्रमभवेन एव पुरुषविशेषो गम्यते, नाचेतनो घटादिः,
एवमिहापि श्लोकानुक्व एवाऽश्लोको मन्तव्यः । उक्तं च—“नन्यु-
कमित्ययुक्तं, वा, यत्किं विधीयते । तुय्वाधिकरणेऽप्यस्मिन्-
श्लोकोऽप्यर्थगतितया” ॥ १ ॥ “नञ्चियुक्तमन्यसदृशधिकरणे
तथा धर्मेति” । तल्लोकविपक्वत्वात्स्यत्वात् इति । विशे० । प्रे-
रकः प्राह—“स घटाई चैव मती, ” युक्वः प्राह—“न निसेहाओ
तदनुक्वो” । एथा० १ ज० । उ० । “सिद्धा निगोयसीवा, वणस्सई
कालपुगला चैव । सव्वमलोगागालं, उण्णोपणतवा जेवा” प्रब०
२ ४६ आह । (अश्लोके अश्लोकाकालनावाः सन्ति नचेति ‘अपुक्वोना’
१९७

शब्देऽस्मिन्नेव ज्ञाने ३४३ पृष्ठे दशमधिकारे समुक्तम् । कि-
यानश्लोक इति तु ‘श्लोम’ शब्दे बध्वते)

अश्लोभया—अश्लोभवा—स्त्री० । श्लोमत्यागकृतेऽष्टमे योगसंप्रदे,
स० ३१ सम० । प्रथ० । अश्व० ।

अश्लोभतामाह—

साएए पुंढरिपे, कंढरिपे चैव देवि जसज्जा ।
सावत्थि अजिअसोणे, किमिहं तुमुग्गुमारो ॥ १ ॥
जसज्जे सिरिकंता, जयसिपो चैव कण्णामे अ ।
नट्टविहीपरिअसे, दाणं पुच्छाइ पव्वज्जा ॥ २ ॥
सुहु वाइअं सुहु गाइअं, सुहु नत्थिअं सामसुंदरि ! ।
अयुयात्थिअं दं ह्राइया—ओ सुप्पिणं मे मा पयाएए ॥ ३ ॥

अर्थः कथातो ज्ञेयः—

“ साकेतं नाम नगरं, पुरन्दरीको नरेश्वरः ।
युधराजः कथरुदीको, यशोमन्ना च तत्पिया ॥ १ ॥
रक्ततो वीह्य दृत्योचै, सा नैच्छद् मारितोऽनुजः ।
नृपा साधेन तपन्वी, आचरन्ती नगरी यवी ॥ २ ॥
तथाऽऽवापोऽजितसन्, कर्तिमती भद्रस्यरा ।
तत्र साऽपि प्रवव्राज, धारिणीवसुधन्तिक ॥ ३ ॥
परं न साऽप्यजसुत्र, किन्तु धुञ्जमवीकरत् ।
स वयःस्थो व्रतं कर्तुं-महामां जननीं जगी ॥ ४ ॥
यार्थीति स्थापितो भाश्रो-परपोय द्वादशाष्टिकाय ।
एवं भद्रस्यराऽऽवापो—पायाधेरपि स वज्रव ॥ ४ ॥
स्थापितोऽस्यादितेः सुहोतो-ऽष्टाचत्वारिंशद्विंशिकाय ॥
तथाऽप्यतिष्ठन् प्रैवि मा-जोचं त्वं माऽप्यतो नामः ॥ ६ ॥
साकेते पुरन्दरीकस्ते, पितृव्याऽस्ति नृपस्ततः ॥
मुक्तां कम्बलरत्नं वा-ऽऽदाय तत्र व्रजः सुत ! ॥ ७ ॥
ततोऽस्याद् यानशलायां, राक्षः श्वो नृपमीकितुस् ।
प्रेषथाभ्यतत्प्रायां स, प्रैकृत प्रेसुणं मिशि ॥ ८ ॥
नसेको तत्र नतित्वा, रक्षेण सकलां निशाम ।
विभातायां विभाभयां, निनिद्रासुरचुस्ततः ॥ ९ ॥
तन्मानाऽचिन्तयत्यर्थ-चोपिता तद्धनं बहु ।
वेप्रमादोऽस्या मुष्टाः स्म-स्ततो गतिनिमगं जगी ॥ १० ॥
“ सुहु वायं सुहु गाइअं, सुहु नत्थिअं सामसुंदरि ! ” इत्यादि ।
अत्रान्तरे स च कुल्ल-कुमारो रत्नकम्बलम् ।
युधराजो यशोऽनन्त, निमगं रत्नकुराडकम् ॥ ११ ॥
साधेवाडो निजं हारं, राजेमाऽऽरोहकोऽकुशयम् ।
मन्त्री च कटकं लस-भूत्स्यानि मिशिलायपि ॥ १२ ॥
त्यागं यस्तत्र वृत्ते स्म, स समस्तोऽप्यतिक्रयत ।
ज्ञावाया प्रागे क्लेते राक्ष-स्तोषो रोपोऽप्यथा पुनः ॥ १३ ॥
सवैऽपि स्थागतस्ततः, धुञ्जः पूष्टाऽजवीदिदम् ।
यावत्सन्मूलमायातो, राज्यलक्ष्मीसमीहया ॥ १४ ॥
पृष्टाए राज्यं राक्षोच, स नैच्छदिदसुचिवात् ।
व्रतं निचोदविध्यामि, बुको गीत्याऽनयाऽस्त्वहम् ॥ १५ ॥
युधराजोऽवदद्वाजा, बुको राज्यं वदति न ।
मारथित्वा तदाहासे, इनि चिन्ताऽवचन्तम् ॥ १६ ॥
क्वच राजाऽयुनाऽप्येतद्, वृष्टान्तं सोऽपि नैहत् ।
सायंवाडो जगी पत्यु-गतस्य द्वादशाष्टकम् ॥ १७ ॥

अश्लोभया

ततोऽप्याऽऽनयनेच्छताः । भ्रुवा भीतिमिमां स्थिता ।
 मन्पूर्वेष्वनूपैः सार्धं, घटनतः स्थितोऽधुना ॥ १८ ॥
 प्रत्यन्तराजमिषयः, मोको इक्षितमानय ।
 यद्वा मारय तन्मेने, निवृत्तं गीतिकान्तः ॥ १९ ॥
 अस्मत्कृतेऽनवा मां, किञ्चिदपि प्रतिबोधतः ।
 वृत्तोऽस्मानिः प्रजोः त्याग-स्तुष्टेः सर्वेषु रूपतिः ॥ २० ॥
 सर्वे बुद्धकुमारस्य, मार्गलक्षाः प्रवचतः ।
 अज्ञोतैव कस्येवा, सर्वैरपि महामात्रिभिः ॥ २१ ॥ आ० क० ।
 असोल-अज्ञोभि-वि० । अज्ञुवै, नि० चू० १० ७० । अत्रास-
 प्रायेनाऽनत्परं, दृश० १० ७० ।
 अश्लोत्रुप-अश्लोत्रुप-सुं० । सरलाहारदिलाम्ब्यरहिते, वच०
 ३ अ० ।
 अश्ल-आर्ध-त्रि० । अश्लसंपूके, "अश्लं वम्मं दुकृद्द" । आर्द्रि
 कर्मोधिरोहति । ज्ञा० १२ अ० ।
 अश्लसंपूके-अश्लसंपूके-न० । पीतवर्णे लोकप्रसिद्धे
 शुच्छविशेषपुष्पे, प्रज्ञा० १ पद । अं० १ रा० ।
 अश्लकचूर-आर्द्रिकचूर-सुं० । तिकच्छयविशेषे, प्रच० ७ द्वार ।
 अश्लग-आर्द्रक-न० । श्लक्ष्णे, (आद्रा इति क्यते) घ० २
 अधि० । प्रच० । अं० ।
 अश्लत्य-उत्-क्षिप्-धा० । ऊर्ध्वदेहे, " अतिक्रमेणुलशुद्धोऽप्यङ्गा-
 ङ्गयोन्मृष्टोऽस्मिन्न-हस्तुवाः" । उ० । ४ । १७३ । अश्लत्य-उत्-
 क्षिपति । प्रा० ५ पाद ।
 अश्लुमत्यां-आर्द्धमुस्ता-ञ्जी० । (नागरमोधा इति क्यते)
 आर्द्धोऽवश्यं गन्धप्रधानं बन्धनसिद्धे, प्रच० ४ द्वार । घ० ।
 अश्लवपुर-न० । अश्लवुदीननिवासिते श्लेच्छदृश्यस्ये नगरभेदे,
 यत्र गत्वा भीतिमप्रभूरिभिम्लेच्छाः प्रतिबोधिताः । " पत्ता
 रावभूमिमंडणं सिंहरिअश्लवपुरदुग्ग" । ती० ४५ कदप ।
 अश्लवुदीणसुरपाण-अश्लवुदीनमुस्तान-पर० घा० । वैक-
 भवस्तराणां श्लवृशगतकादीं शुर्जंरधिर्युत्पावकं तत्कामिक-
 राजजेतवि घचनराजं, ती० २६ कदप ।
 अश्लिअ-उप-स्य-धा० । समोपगमने, " उपसर्पैरश्लिअः" ।
 उ० । ४ । १३६ । उपपूर्वस्य स्येः कृतशुण्यस्य ' अश्लिअ ' इत्यादे-
 शः । अश्लिअ-उपसर्पति । प्रा० ५ पाद । " तस्स सरणमश्लि-
 अह" । व्हा० १ उ० ।
 अश्लियावगबंध-आलायनवन्दन-सुं० । द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण
 श्लेषादिनाऽऽसीनकरणरूपे बन्धे, " से किं तं अश्लियावगबंधे ? ।
 अश्लियावगबंधे चबन्धिवद् पद्ये" । तं जहा-सेसणाबंधे, उच्य-
 बंधे, समुच्यबंधे, साहसृणाबंधे" । अ० ८ हा० ५७ ।
 (चतुर्णामिषं व्याख्या स्वस्वस्थाने प्रदर्शयिष्यते)
 अश्लियावगबंधाय-आलायनवन्दनक-न० । आचार्यादीनामा-
 अणयाय प्रतिक्रमणान्ते श्लेषात्रुकमणं बन्धने, आध० ५ अ० ।
 अश्लिव-अर्पि-श्व-भिन्-पुक् । प्रदाने, " अर्पेऽश्लिवचक्षुष्प-
 यणामाः" । ८ । ४ । ३५ । इत्यर्थेऽन्तस्य अश्लिवादेशः । अ-
 श्लिव-अर्पयति । प्रा० ४ पाद ।
 अश्ली-आ-ली-धा० । आश० य० । आशयस्य, " आश्लीकोऽ-

श्ली" । उ० । ४ । ३५ । इत्यालीयतेऽश्लीत्यादेशः । अश्लीभर-
 आश्रियते । प्रा० ५ पाद ।
 अश्लीवं-आश्लीतुम्-अव्य० । आश्रयितुमित्यर्थे, वृ० ६ क० ।
 अश्लीण-आलीन-वि० । आ-ईवद् श्लोमः । अति० । आश्रिते,
 आतु० । कदप० । प्रिति० ज्ञा० । शुकप्रमाश्रिते संश्लोने, आ सप्र-
 न्तात्सर्वांसु क्रियासु श्लोको गुप्तः । अनुत्पन्नच्छेदकारिणि, अ० ३
 प्रति । तं० । शुकजनमाश्रितेऽनुवासासनेऽपि न शुक्यु द्वेषमापद्यमा-
 ने, अं० २ वक्त्र० । ज्ञा० । ज्ञानादिध्यासमस्ताश्लीन, अ्य० १० अ० ।
 अश्लीणपलीणशुभ-आलीनमलिनगुप्त-वि० । अश्लीपाङ्गानि
 सम्यक्संयमयति, दृश० ८ अ० ।
 अश्व-अश्व-अव्य० । आश्रयिष्ये, स० १ स० । अश्वःशुश्रूष्ये,
 प्रच० २१६ द्वार । विशे० । आ० म० । प्रज्ञा० । नं० । अवनमयः
 " तुवादिभ्यां न क्व" इत्यधिकारे " अकितो वा" (उणा०) इत्य-
 नेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः । गमने वेदने, आ० म० प्र० ।
 विशे० । इथा० ।
 अश्वअश्व-दृश-धा० । प्रकृषे, " दृशो निभच्छ-पेच्छवयच्छा-
 वयच्छ-वच्छ-सव्यव-वेकशौभक्यायक्त्वाऽश्वाक्त्वा-पुलांश-पु-
 लथ-निशाऽव्यआस-पासाः" । उ० । ४ । १८१ । इतिस्त्रेण दृशः
 ' अश्वक्त्वा' आदेशः । अश्वक्त्वा-पश्यति । प्रा० ५ पाद ।
 अश्वअश्वअ-देशी-निवापितमुक्ते, दे० मा० १ वर्ग ।
 अश्वअच्छ-देशी-कलावले, दे० ना० १ वर्ग ।
 अश्वअच्छ-हादि-धा० । आहादोत्पादने, " आदोवअच्छः" ८ ।
 ४ । १२२ । आदोत्पादनेऽस्यायन्तस्य च " अश्वअच्छ" इत्यादे-
 शः । अश्वअच्छ-हावयति । प्रा० ५ पाद ।
 अश्वअच्छअ-देशी-निवापितमुक्ते, दे० ना० १ वर्ग ।
 अश्वअच्छअ-देशी-असंघाटिते, दे० ना० १ वर्ग ।
 अश्वआस-दृश-धा० । " दृशो निभच्छ" ८ । ४ । १८१ ।
 इत्यादिना स्त्रेण दृशोः ' अश्वआस ' इत्यादेशः । अश्वआसद-
 पश्यति । प्रा० ५ पाद ।
 अश्व-अश्वत्तिन्-सुं० । अश्वितसम्पद्यते, वृ० १ क० ।
 अश्वउज्जिय-अश्वकुड्य-अव्य० । अश्वोऽवनत्येवर्थे, आचा० २
 अ० १ अ० उ उ० ।
 अश्वउज्जिकुण-अपोक्ष-अव्य० । परिवर्त्येवर्थे, " अश्वउज्जि-
 कण इह्वी" । वृ० ३ क० ।
 अश्वउरगा-अश्वकोटक-न० । कुकाटिकाया अश्वोमयने, विपा०
 १ वृ० २ अ० । प्रज्ञा० ।
 अश्वउरगाबंध-अश्वकोटकबन्धन-वि० । अश्वकोटेन कुका-
 टिकाया अश्वोमयनेन बन्धने यस्य स तथा । प्रीवायाः पश्चाद्ग-
 गानयनेन बद्धे, विपा० १ वृ० २ अ० । आशुगिरसां वृष्टदेशे ब-
 न्धने, प्रज्ञा० १ आश० ज्ञा० ।
 अश्वउरगाण-अश्वपसनक-अश्वशोधक-न० । तपोविशेषसे-
 वायाम्, पञ्चा० १६ विष० ।
 अश्वक-अश्वक-सुं० । वक्रोऽसंयतः, न वक्रोऽवक्रः । संयते विर-
 ते, अ्य० १ क० । सवोपाधिद्वये श्रुजौ, आचा० १ वृ० ३ अ० १ क० ।

अर्थवंग-अपाङ्ग-पुं० । नयमेवापान्ते, अं० १ वक्त्र० ॥१०॥ आच्चा० ।
 अर्थवंगुयत्तुवार-अपावुत्तुवार-त्रि० । कपाटादिभिरस्थगितगृह-
 द्वारैः, "अर्थवंगुयत्तुवार" सद्देशीनस्त्रानि कुतोऽपि पाष्णदिकृदावृ-
 च्छिद्यति शोऽननमार्गपरिग्रहेणोद्गाढोरसस्तिष्ठतीति प्राञ्च
 इति वृद्धस्याप्या । अर्थमेव्याहु-जिह्वुकामेशाधर्मौदार्यवस्थ-
 गितलवृद्धा इत्यर्थः । अ० २ शो० ५ उ० । दृशा० । मी० ।
 उच्चादितद्वारैः, न० । वृ० । १० । १० ।

अर्थवचक-अर्थवचक-त्रि० । पराश्रयसमन्वैतौ, " अर्थवचिगा कि-
 रिया" । अर्थवचिका पराश्रयसमन्वैतुः कियामनेवाक्कायव्यापार-
 कपति द्वितीयशुभ्युत्पन्नहारलक्षणम् । ध० १० । ध० ।

अर्थवचकयोग-अर्थवचकयोग-पुं० । अर्थवचकत्वविकले योगे,
 यो० । अर्थवचकयोगाश्च त्रयः । तद्यथा-सद्योगाऽर्थवचकः, क्रिया-
 ऽर्थवचकः, फलावचकः । तदर्थवचकं चेत्तुम् ।
 "सङ्गः कृत्याणसंपन्ने-देशेनादृषि पाठ्येन ।
 तद्यदर्शतनो योगः, आद्योऽर्थवचक उच्यते ॥ १ ॥
 तेयामेव प्रणामादि-क्रिया नियम इत्यलस ।
 क्रियाऽर्थवचकयोगः स्या-स्महापापकृत्याद्यवः ॥ २ ॥
 फलावचकयोगस्तु, सङ्गव पथ निरवतः ।
 सातुव्यधफलावाप्ति-धर्मसिद्धौ सतां मता ॥ ३ ॥ यो०
 ८ विव० ।

अर्थवज्जग जाय-अर्थवज्जनजात-त्रि० । व्यज्जनागमुपस्थरोमा-
 णि जातानि वस्य स तथा । अजातापस्थरोमणि, व्य०
 १० ३० ।

अर्थवज्जगिज्ज-अर्थवज्ज-त्रि० । निष्कारणे वन्दनार्हं, यथा-
 " पासन्धो भ्रासन्नो, होह कुसिलो तदेव संसल० । अहंभो वि
 थ पद, अर्थवज्जगिज्जा जिगमयसिम् " । ध० २ अर्थ० ।

अर्थवतरसामण-अर्थवान्तरसामान्य-न० । उच्यत्वकमन्वैतौ-स-
 चाघटकापरसत्तायास, ध्रा० म० ३० ॥

अर्थवन्तिवृद्धण-अर्थवन्तिवर्कन-पुं० । अवन्तिराजप्रद्योतात्मजपाह-
 काजस्य पुत्रे, श्राव० ४ ध्र० । भा० क० । ध्रा० ५० ।

अर्थवन्तिवृद्धमात्र-अर्थवन्तिवृद्धमात्र-पुं० । प्रजाभेदनीपुत्रे, दृशो० ।
 " उज्जणीया मयरीप जीवन्तमाभिदिमिमाव अज्जुत्तुदृष्टिणामेण
 स्वरिवरा पज्जुवाससुत्थं उज्जाणे समोसदे । भणिया व
 साहुणो-जहा बसहिं अगह । ततो साहुणो विहरमाणा गया
 भद्दाय केद्विशीर धरे । तीप वि वेदिकण पुच्छिया-जहा कम्मो
 भयवन्ताण आरुण्णं ॥ तेषि सिद्धं-इसेतरासं अज्जुत्तुदृष्टिस्-
 रिसिन्धिया वसाहिं जायसो । ताप वि हट्टुत्तुदृष्टि जाणुसाला वरि-
 सिया । अज्या आयादिया म्भुरवाणीय मांसिगुम्मं नास अज्ज-
 यणं परिचरंति । तीस पुत्तोऽवन्तिवृद्धमात्रो नाम । सो वि दे-
 वकुमारोवसो सत्तत्ते पासायवकगो वल्लोसाय भज्जाहिं समं
 दोगुत्तुगो व्व देवो लसह । तेण वि मुत्तियिच्छेण निस्सुत्थं । अिति-
 वं च-न एवं नाडयस्सरत्तं सि सत्तभं उपरिभूमिं भूमिं संप-
 हारं, कथमन्थे गप परिस्स सुयमणुभूयवुत्थं । एवं हेहापोह-
 मगोव्णं म्भवेसणं कुणानस्स मायिधव्वयावसंण तथाऽऽवरयिज्ज-
 कम्मकम्मभोवसमंणं जाहसरणं संपत्तो । तभो य आयादियाणं
 पावसूहं वेदिकण अणियं-अयधं । एवं सव्वं अज्ज वरियं-अहं
 ण्यव देवो आसि, ता संपयं देहि वयं, उस्सुगोसं हि तिषि वास-

स्स । स्त्रीहिं अमह-वेधे ताव जाव पमाय मारवं तेपुच्छामो ।
 ततो तेषु सयमेव शोभं काठं पयहो । स्त्रीहिं अिति-वन्-आ पस
 सयं गिह्ठीयसिगो होउ सि कश्चिंसे से समप्यिन्नो वसो, विज्ञा
 दिक्का । ततो विषमिक्कण वलणसु भणितो-असमथाऽहं दे-
 ष्ठपञ्चापरियापरियासणस्स, ता संपयं वेव व्रणसणं का-
 उण इमिणि करेमि । ततो एत्थ अणुत्ताणुभो नोहरिउ
 सद्यामां पसां कंयारिकुर्नगिसमिं, इमियं वरा काउण
 ठिभो काउस्समेणं । अहसुत्तुमारयाय सरीरस्स धराणतल-
 फाससंजायवहरिप्पवाहेसु समागया सियाही सह सत्ताहिं
 पिल्लयाहिं । ततो यं अयं सियाहीय काश्चं; वीयं पिल्लयाहिं
 पढमजामं, एवं ऊरु विहयजामं, तदयजामं पेहं, एवं सो जय-
 वं तं वयणं सममाहियासिउत्थ तदयजामं समाहीय कालं
 काउण गतो तम्मि व्व धिमाणं । ततो समागया पच्छासन्नि-
 देया, सुक्कं संघोरं कुत्तुमवरिलं, आहयासं देवहुत्तुदीभो,
 उम्पुत्तं व हरिसभयविन्नोरहिं-अहो ! एस महाकालो । धरे व
 सं अज्जाणं परापरं समातोभो जाभा, तेषि विदं-उत्तो काय
 वि माओ । ततो व से प्रहा पुच्छिया । तीप वि समासलमणाए
 स्त्रीहिं सव्वं साहिं । ततो पमायाए रवणोए सविट्ठीए नीह-
 रिया अहा, सह सव्वसुत्तुमाहिं सुलाणं वसा । हिं व कुर्नगो
 नेरयाहेसाए आसकठिं कसवरे । ततो शोषभरविउरिया उ-
 म्मुककंते अनेणपत्तावगेणं तहा रोहं जहा वसीणं वि य तुज्जं-
 ति हिबयाह । ततो क्कम्मवि संडविथा सत्थववभेणं, गया व
 सिप्पाय भईए नेरे, कवं सत्थ संकुत्तरणं, पच्चालोहयाकिस्साणि,
 आचयस्साणिय व काराविउण अहाए अइ संवेगामो सह सुरहाहिं
 गहिवा वव्वज्जा । एता व्व गुत्थिणि सि काउण उयासे । आतो
 पुत्तो । तेण पिडमरणजाणे काराविया पिउपमिमा, समुत्तोसि-
 वं महाकाओ सि नामेण आचयणं । तं व संपयं सोहयाहिं प-
 रिग्गाहिं महाकालो सि विक्काणं । अवनिसुत्तुमारकयानकं
 समासमिति ॥ वरं० ॥ संधा० ॥

अर्थवन्तिसेण-अर्थवन्तिसेन-पुं० । चारुप्रद्योतपैत्रे पाहकस्य राहः
 पुत्रे, भा० क० । (' असायवा ' शब्देऽस्तिमत्तव भागे ४५४
 वृष्टस्य कथोका)

अर्थवन्ती-अर्थवन्ती-स्त्री० । उज्जयिनीनगरीप्रतिवद्धे जनप-
 वंशव, ध्रा० म० ३० ॥

अर्थवतीगंगा-अर्थवतीगङ्गा-स्त्री० । गोरालकमतप्रसिद्धे कार्लवि-
 शेप, " एता अर्थवतीगंगा सत्त अर्थवतीगंगाभो, सा एता परमाऽर्थ-
 तीगंगा " । अ० २४ श० १ ३० ।

अर्थवदिय-अर्थवदिय-त्रि० । वन्दनार्हं, " पच्चा होह अर्थ-
 वदिसो " । वरं० १ ५० ।

अर्थवकलमाण-अर्थवकल्लुव-त्रि० । पच्चादमागमत्वोक्तयति,
 ध्रा० ६ म० ।

अर्थवकला-अर्थवकला-स्त्री० । अमिताये, आच्चा १ ५० ३५०
 २ ३० । सूत्र० । मौलुक्ये, स्या० ४ ज० ३ ३० ।

अर्थवकारि (व्)-अर्थवकारिन्-त्रि० । अर्थवकारकप्रणालि, हा०
 २६ अर्थ० ।

अर्थवकिरण-अर्थवकिरण-न० । वससं, श्राव० ५ ध्र० ।

अर्थवकिरियव्व-अर्थवकिरणीय-न० । विक्षेपणीयं त्याजे, प्रश्न०
 ५ श्राव० ३० ।

अवकृत-अपक्रान्त-त्रि० । सर्वज्ञांशुभोवच्योऽपगतं चष्टे, तद-
न्येन्याऽतिनिहृष्टे अपक्रमणीये, " जंशुर्वीये द्विषे मंदरस्स पव-
वस्स दाहिण्ये । इमीस्स रथपज्जाप पुडवीपे उ अवकंतमहादि-
रथा पण्यत्ता । तं जहा-भांते, लाडुप, उद्धे, निहद्धे, अरप, प-
अरप । अउत्थीपे मं पंकप्यमप पुडवीपे उ अवकंतमहादि-
रथा पण्यत्ता । तं जहा-भांते, धारं, मारं, रारं, रारप, काडण्णुं " ।
स्था० ६ गा० ।

अभ्युत्क्रान्त-त्रि० । न व्युत्क्रान्तमव्युत्क्रान्तम् । संचेतने, मिश्र
च । ति० वृ० १७ उ० ।

अवकीर्ति-अपक्रान्ति-स्त्री० । गमने, आवा० १ सु० ८ अ० ६
ब० । परित्यागे, हा० ८ अ० ।

अवकर्मण-अपक्रमण-न० । विनिर्गमे, स्था० ७ गा० आवा०
अपसर्पणे, दश० १ अ० । अपसरणे, अ० १५ श० १ उ० । हा० ।
" निगमयमवकर्मणं, निस्सरण पलायणं य पगात् " । द्य०
१० उ० ।

अवकामिता-अवकाम्य-अव्य० । गत्वैत्यर्थे, दश० ५ अ० १ उ० ।

अवकम्म-अवकम्य-अव्य० । विनिर्गतेत्यर्थे, द्य० १ उ० । वृ०

अवकय-अवकय-पुं० । भाटकप्रदाने, वृ० १ उ० ।

अवकाश-अप (व) कर्षे-पुं० । अपकर्षणमवकर्षणं वा अप-
[व] कर्षे । अभिमानादात्मनः परस्व वा क्रियारम्भात्कुतोऽ-
पि व्यावर्त्तने, ज० १२ श० ५ उ० ।

अप्रकाश-पुं० । अभिमानादात्म्ये, अ० १२ श० ५ उ० । त-
दात्मक मोहनीयकर्मणो, स० १२ सम० ।

अवकर्वद-अवकर्वद-पुं० । अवन-कर्व-आधारे घञ् । त्रिगीपृ-
थां सैन्यनिवेशस्थाने शिबारे, आक्रमणे, भावे घञ् । शच० ।
" कर्कयानांश्चि " । म० । ४ । इति कर्कस्य खः । प्रा० २ पाद०

अवकलकण-अवप्नरकण-न० । पञ्चाव् गमने, प्रथ० २ अ० १ उ० ।

अवकसारण-अपद्वारण-न० । अपशब्दकारणे, प्रथ० २ अ० १ उ० ।
अपसरण-न० । साञ्जिष्यकरणे, प्रथ० २ अ० १ उ० ।

अवकलेवण-अवज्ञेपण-न० । अच-ज्ञिप-धा०-ल्युट् । अद्यःस्थान-
संयोगेनैतौ, भिःयाविशेषे अधःपातने च । आ० म० १८० ।

अवगमसुक-अपगारसुक-त्रि० । अपगतं गण्डमपद्रव्यं यस्य
तदपगतगण्डम्, तद्रञ्जुक्तम् । निर्दोषानुसुयसंयुक्तम्, यदि
चा गण्डमुदकफेनसं, तद्रञ्जुक्तम् । उदकफेनतुल्यमुद्रं, सुव्र०
१ सु० ६ अ० ॥

अवगमिजवदं-अपकथितजवदं-त्रि० । अचधोरितसं-
सारप्रये, जीवा० १ अ० ।

अवगप-अपगप-पुं० । विनाशे, विशे० ।
अवगप-पुं० । विनिहृत्तये, विशे० ।

अवगप-अवगत-त्रि० । " अवापाने च " । ८ । १ । १७२ । इत्य-
स्य कश्चिदप्रवृत्तौ भ्रातृ । प्रा० १ पाद० । अचधारिते, आवा०
१ सु० १ अ० १ उ० । सत्यगवपुके, " अवगपपलसकवे " ।
अवगतं सत्यगवपुके पात्रस्य आचणीयस्य प्राणिनः स्वरूपमात्रं
येन सांश्वगतपात्रस्वरूपः । ध० २० ।

अवगपयेव-अपगतयेद-त्रि० । क्षितिष्वेव, प्रथ० २६१ अ० ।

अवगाढ-अवगाढ-त्रि० । आश्रिते, स्था० १ गा० १ उ० ।

अवगाढगाढ-गाढावगाढ-त्रि० । अशोभ्यते, " अचगाढगाढसि-
रीप असीव उवसंजिमाणा उवसंजिमाणा चिर्चिते " । गाढं
वाढमगाढास्त्रैरेव सकलक्रीडास्थानपरिभोगनिहितमतोभि-
रथाऽपि व्यासाः, गाढावगाढा शति वाक्ये, प्राकृतस्वाध्वगाढगा-
ढाः । इह च देवत्वयोग्यस्य जीवस्याभिधानेन तदयोग्यः साम-
र्थ्यादवसीयत पवेति । ज० १ श० १ उ० ।

अवगार-अपकार-पुं० । विरुपाचरणे, " अपकारसमेन कर्मणा, न
नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमात्रं । अशिकां कुठेते हि यातर्नां, द्विषतां
यातमशेषमुद्धरेत् " । १ ॥ सु० १ ४ उ० ८ अ० ।

अवगास-अवकाश-पुं० । गमनादिविष्टास्थाने, आवा० ६ अ० ।
" ततो लकावासां सयं बुद्धो मण्ड " । आ० म० प्र० । अ-
ह्यस्थाने, स्था० ४ गा० ३ उ० । उपपत्तस्थाने, सु० २ ४ उ० ३ अ० ।

अवगाढ-अवगाढ पु० अवकाशे, उच्य० २ अ० ४ ।

अवगाहणा-अवगाहना-स्त्री० । जीवादीमाश्रये, देहे च ।
स्था० ४ गा० ३ उ० । (कस्य कीदृशवगाहनेति ' आगाहना ' शब्द-
व्यं सुनीवभागे ७६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

अवगाहणगुण-अवगाहनागुण-पुं० । अवगाहना जीवादीना-
माश्रयो गुणः कार्य यस्य सः । तस्या वा गुण उपकारो यस्यात्
सांश्वगाहनागुणः । स्था० ५ गा० ३ उ० । जीवादीनामवकाशा-
हेतो बदरणां कुवद् इवाकाशास्तिकायं, अ० २ श० १ उ० ।

अवगाह्य-अवगाह्य-अव्य० । उद्दिश्यत्यर्थे, कल्य० ५ क० ।

अवगुण-अवगुण-पुं० । उगुणे, " अवगुण कवण मुण्ण " । प्रा०
४ पाद० मू० ३७५ ॥

अवगुण-अवगुण-त्रि० । अपावृणवति, अ० १५ श० १ उ० ।

अवगृह-अवगृह-त्रि० । व्याप्ते, हा० ८ अ० ।

अवगवोद-अपप्रवोद-पुं० । समापगतवोदो सुखमवोदो, प्रति० ।

अवगह-अवग्रह-त्रि० । अवग्रहणमवग्रहः । इन्द्रियाभिन्दि-
य-निश्चयेन सांश्ववहारेकप्रत्यक्षकारचतुष्टयान्तमे, रत्ना० ।

विषयविषयिणसिन्धिपातानन्तरसमुद्भूतमत्तामात्रगोचरद-
शीनां ज्ञातमात्रमवान्तरसामान्याकारविशिशुष्टप्रदणमव-
ग्रहः ॥ ७ ॥

विषयः सामान्याविशेषात्मकोऽर्थः, विषयी चक्रुषादिः, तयोः
समीचीनो ज्ञानाद्यजनकत्वेनानुकूलो निपातो योग्यदेशाद्य-
वस्थाने, तस्माद्वानन्तरं समुद्भूतमुत्पन्नं यत्सामान्यागोचरं
निःशेषविशेषवैयुक्त्येन सन्मात्रविषयं इतीति निराकारं बोधः,
तस्माज्ज्ञातमात्रं सत्यसामान्याद्व्याप्तरेः सामान्याकारमनु-
ष्यत्वादिनिर्जातिविशेषविशिष्टस्य वस्तुनो यद् ग्रहणं ज्ञानं त-
द्व्यपह इति नास्ति गीयते । रत्ना० २ परि० । आवा० । प्रहा० ।
स्था० । योग्यज्ञारे, प्रथ० ३ उ० । अवगृह्णाति इति अवग्रहः ।
उपधौ, बोध० । (अवग्रहभेदादिः ' अग्रह ' शब्दे द्वितीयज्ञाने
६५८ पृष्ठे वक्ष्यते)

अथचय-अपचय-पुं० । अपचये, अयु० । दश० । दृष० । देशतो-
ऽपगमे, म० ११ श० ११ इ० । कृयापगमे, सूत्र० १, सु० २ अ०
३ इ० ।

अथचित्त-अपचित्त-त्रि० । शोषिते, इत्त० २४ अ० । जीवप्रदेशै-
र्विरहिते, अयु० ।

अथचिपमससोषिय-अपचित्तमांसशोषित-न० । शोषितमां-
सकषिरे, इत्त० २५ अ० ।

अथचुष्ठी-अवचुष्ठी-स्त्री० । चुष्ण्या अवपक्वाद् अवचुष्ठी ।
राजदन्तादित्वाद्दशरथस्य पूर्वनिपातः । अवहृक्, पि० ।

अवच्य-अपच्य-न० । न पतन्ति यस्मिन्पुत्रे दुर्गती अवशः-
पक्षे वा पुत्रे जास्तदपयमा । पुत्रादौ, कल्प० ८ स० । पुत्रे, पुत्र्यां
५ । आब० १ अ० । संयन्त्रा अपच्ये जानिने आजन्वन्पवहारः
व्य० ।

सांप्रतमन्व्ये व्यवहारमुपदर्शयति-

अहवा अग्रामकुला, पदिभजितुकाम समणसपाणीओ ।
अणुमट्टा पर ण त्रिया, केणि वार्यति-ववहारं ॥

अथचेति व्यवहारस्य प्रकारानुरूपदर्शने । अथयाः अमणी
चेति ऋषयःप्यान्यकुलैः, अन्यकुलः अमणः, अम्यकुला अमणी,
प्रतिभक्तुकामौ प्रतिपत्तितुकामौ, स्वस्वासांषण च तौ प्रभूतम-
नुशिष्टौ, परं न स्थिनी स्वस्वकुलमन्वयेन यागान्मिकव्यवहारं
वांगयान्तिः परिमत्तावर्तमानः, तत्र तथा वागान्तिकः, स चासी
व्यवहारश्च, तं कुरुतः । तथा-यानि अस्माकमपर्यायिनि जनि-
ष्यन्ते तथा मध्ये ये पुरुषास्ते सर्वे मम, याः स्त्रियस्ताः सर्वा-
स्त्वव । अथयाऽअमणीभूते ये पुरुषास्ते सर्वे मम, स्त्रियः सर्वा-
स्त्वव । यदि चेद् अणुनि-सर्वाण्यपर्यायिनि तव, प्रथया-सर्वाण्यप-
र्यायिनि ममेति, तथाः संसारे स्थिष्या पुनः प्रव्रज्यां प्रमुपस्थिनयो-
र्यदेव वागान्तिकेन व्यवहारेण निश्चितं तदेव तथाः भंजयति ।

अह न कतो तो पच्छा, तेभिं अन्नुत्तियाण ववहारे ।

गोणीं अणुञ्जागिग-कुहुंवि खरए ये खरिया ये ॥

अथ न कृतः पूर्वं वागान्तिको व्यवहारः, पक्षास्तयोः प्रव्रज्या-
यामप्यर्थितयोः स्वस्वकुलमन्वयेन व्यवहारो जगद्वनमभूत् । तत्र
संबन्तीकुलसत्काः गोदृष्टान्तमुद्गामिकादृष्टान्तं करकक्षारकाद-
ृष्टान्तं चातनऽनन्तरेपत्यस्यन्ति । संयतकुलसत्काः-अभ्वदृष्टान्तं,
कौटुम्बिकदृष्टान्तं च ।

अथ संयतमन्या दृष्टान्तपरियाटी-

गोणीं संगिह्णे, उञ्जापत्ता ये नीयपरदेसं ।

ततो खेत्ते देवी, रघो अभिसंयेयो वेव ॥

संयतीसमानकुलकाः गवां संगिह्णं समुदायं दृष्टान्तीकुर्वन्ति ।
तद्वन्तश्च संयतसकुलकाः या उञ्जाभिन्ना परदेश नीया नोदृष्टान्त-
नीकुर्वन्ति । ततः पुनरपि संयतीसकुलकाः क्षेत्रे बीजम् । ततः
संयतकुलकाः देवीं राक्षोऽभिषेचनं चैवेति ।

तत्र अणुने जात यथा संयतीसकुलका गोदृष्टान्तं कुर्वन्ति
तथा प्रतिपादयति-

संजइत्त जणैती, संसे अणसस जं तु गोणीए ।

जायति तं गोणिवद्-स्स होति एवइत्त एयाइं ॥

(संजइत्ता) संयतीसत्काः समानकुलकाः भुवने-अन्यस्य सरकेन
१५८

पाठेन यद् गोजायितेऽप्यस्यं तत् सर्वं गोपतेगोस्वामिनो भवति,
न पाठस्वामिनः । एवमेतेनैव दृष्टान्तेनास्माकमप्येतान्यपर्यायाः-
भवति, न युष्माकमिति ।

एवमुक्ते-

वैतियरे अम्हं तु, जह वदवाए अ अणुआसेणं ।

जं जायति मोह्णं ना, दिणं तं अस्सियस्सेव ॥

इतरे संयतसमानकुलका भुवने-अस्माकमता-न्यपर्यायिनि अव-
न्ति, यथा-मूल्ये प्रक्षत् यदन्वेना-यस्येकनाहंवेन वदवाया जावते-
ऽप्यस्यं तद् अभिकस्यैव-अहवस्वामिन एव, भ्यावहारिकैरेवमेव
व्यवहारनिष्वात् । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते-

जस्स माहिन्नाए जायति, उञ्जापत्ताए तस्स तं होइ ।

संजइत्त जणैती, इयरा वंती इमं सुणसु ॥

यस्य महेशया जार्यायाः, उदुष्णामिलायाः स्त्रैरिषयाः, जायते
सुतः परतश्च तस्य तत्सर्वमाभवति; एवमस्माकमपि, इति
(संजइत्ता) संयतीसत्काः समानकुलका भवन्ति । इतरे
भुवने-इहं वक्ष्यमाणमुदुष्णामिककौटुम्बिककृतं शृणुत-
तेषां कुटुंबिषणं, उञ्जापत्तौए दोग्द वी देवो ।
दिन्ना सा वि ये तस्सा, जाया एवइत्त एयाइं ॥

येन स्त्रैरिष्या अपर्यायिनि जनिमानि तेन कौटुम्बिकेन उदुष्णामि-
नेन राजकुले गत्या कथितय-यथाऽहं हेव ! तस्याः सर्वं भोगभरं
बहामि स्म, सोऽपि च तपयित्मद्वैयेन भोगनरेण निर्युद्धवात्,
तस्मात्प्रसादं कृत्वा मदीयान्यपर्यायिनि दापयतेति । तत एवमुक्ते
राजा कुपितः, तथा-भोगभरसंसाददर्शनं तेषामिवावपत्याय कार-
णाविति ऋषिपि सर्वस्वापहरणतो दृग्दृढवात् । तथा चाह-
इयारपि इदमां दक्षी, दापित इयाइं । सा चाप्यापहरणतोऽ-
नन्यगतिका सती तस्य जाता । एवमस्माकमता-न्यपरि ।

पुणरवि ये भंजइत्ता, वैति खरियाए अणुखरएण ।

जं जायति खरियाहिव-तस्स ह्वाति एवइत्त एयाइं ॥

पुनरपि संयतीसत्का भुवने-अरिकायां गदेष्वात्मन्यकरकक्ष
अन्यसत्केन गदेनेन, यद् जायते तत्सर्वं अरिकाधिपतेनेवति, एव-
मस्माकमप्येतान्ती । तद्वच्च प्रथमदृष्टान्तपरियाटी ज्ञाविता ॥
संप्रति चितीयां विभाषयिषुः प्रथमतो गोवर्ग-
दृष्टान्तं भाषयति-

गोणीं संगिह्णा, नह्ण अदवीए अणुगोणेणं ।

जायाइं वच्चागाइं, गोणादिवितीओ गेरहंति ॥

गवां स्त्रीगवानां संगिह्णः समुदायो नष्टोऽट्यवां पतिनः, तत्र च
तस्यान्यगवैनामन्यसत्केन पुत्रवन्, ज्ञानानि वत्सकानि वत्सकपाणि
तानि, गवेणुनः कथमपि गवां लाभे गवाधिपतयः स्त्रीगवां-
स्वामिनो शुद्धान्ति, न पुत्रवत्स्वामिनः । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते संयतसत्का उदुष्णामिकादृष्टान्तं पूर्वेकमु-

पत्यस्यन्ति, तथा चाऽऽइ-

उञ्जापि पुव्वुत्ता, अहवा नीया ज जा परविदेसं ।

तस्सेव मा अणभवती, एवं अम्हं तु अणभवति ॥

उदुष्णामिका पूर्वमुक्ता । यथा-सापत्या तस्य जाता । अथवा या

परं विदेशं नीता सा तस्यैवानवति, पश्चादपि नान्यस्य । एवमे-
तान्यपवात्येषा चाऽस्माकमानवतीति ।

एवमुक्ते-

इयरे जणति बीयं, तुभं तं नीयमभवेत्वं तु ।
तं होइ खेत्तियस्सा, एवं अम्हं तु एयाइं ॥

इतरे संयतीसत्का भग्ननि-बीजं युष्मदीयं तत्कालक्रेत्रसादृश्य-
विप्रसन्नतः कथमपि चापेक्षस्यत् क्षेत्रं नीतम्; अन्यत्र क्षेत्रे उत-
मित्यर्थः । तद् लोके क्षेत्रिकस्य भवति; एवमेतान्यपत्यान्यस्मा-
कमिति ।

संयतसत्का अत्र प्रत्युत्तरमाह-

रामो धृयाओ खलु, न माउउंदाउ ताउ दिज्जंति ।
न वि पुत्तो अजिसिज्जइ, तासिं व्हेण एवऽम्हं ॥

न खलु, या राहो दुदितः, ता मातृच्छुद्धनो मातृणामिन्द्रायेण,
दीयन्ते, नापि पुत्रोऽभिपच्यते तासं मातृणां उन्वेतानिप्रायेण ।
किन्तु राहः स्वामिन्द्रायेण । ततो यथा-राजा प्रधानमिति सर्वे
राह मायसम्, एवमत्रापि पुरुषः प्रधानमिति सर्वे पुरुषस्याय-
समनः सर्वमस्माकमानवति ।

एवं एकैकस्यै वसंताने श्रुतधर आचार्यो व्यवहारं

एमादिष्ठचरोचर-दिष्ट्वा बहुविहा न उ पमाणं ।
पुरिसोत्तरिओ भम्मो, होइ पमाणं पवयणं तु ॥

एवमाद्य उच्यते सरहृद्याना बहुविधा अभिधीयमाना न प्रमा-
णम्, किन्तु प्रवचने पुरुषोचरिको धर्म इति पुरुषः प्रमाणम् ।
अतः सर्वे पुरुषा भगवन्ते, नेतरं इति । व्य० ४ उ० ।

अवबामेभिय-अन्यत्याभ्रंभित-न० । एकस्मिन्नेव शास्त्रेऽन्या-
न्यस्यानिबद्धाभ्येकार्थो मूत्रायथेकः सन्तः समानीय पठनो
व्यत्याभ्रंभितम् । अथवा-आचारादिस्मृत्यभ्ये मतिचिंतितानि न-
त्सदृशानि सूत्राणि कृत्वा प्रलिपतो व्यत्याभ्रंभितम् । अस्थान-
बिरतिकं वा व्यत्याभ्रंभितं, न तथाऽन्यत्याभ्रंभितम् । व्यत्याभ्रं-
भितोचरंदिहे सूत्रगुणे, अतु० १० । वि० १० । प० चू० ।

अवच्छलत्-अवत्सलत्-न० अवात्सल्यकरणे, व्य० १ उ० ।

अवच्छेय-अवच्छेद-पुं० । विभा० २ श्रे, स्या० ३ टा० ३ उ० ।

अवजाणमाण-अवजानान-वि० । अपलपति, सूत्र० १ श्रु०
४ अ० ४ उ० ।

अवजाय-अपजा-पुं० । अप इत्यपस्यो हीनः पितुः सम्पदो
जातोऽपजातः । पितुः सत्काशादीवहीनगुणे पुत्रनेदं, यथाऽऽदि-
त्ययशाः, भरतापेक्षया तस्य हीनस्यातः । स्या० ४ टा० १ उ० ॥

अवजुय-अवजुत-वि० । पृथग्भूते, व्य० ७ उ० पृथग्भावे, वि०
चू० ११ उ० ।

अवज्ज-अवध-न० "अवधपण्य०" । ३१ । १०१ । इत्यादिना
(पाणि०) सूत्रेण निपातः "अवधयोः" । २ । २६ । इति धस्य
उजः प्रा० ३ पाद । पापे, आ० म० द्वि० । आ० चू० ।
सुत्र० । वि० १० । आचार्यो निर्दोष, उल० ६ उ० । १० । मंथा० ।
मिथ्यात्कथायत्तच्छे, आ० म० । गाँ, सूत्र० १ श्रु० १ अ०

२ उ० । वि० १० । "कम्ममवज्जं जं गर-हियं ति कोहाइणो व ख-
चारि" । कम्मोऽनुष्ठानमवधं जयत्ये । किमाविशेषणं ? । नेत्याह-यद्
गदितं निन्द्यम्, अथवा कोषाद्यव्यञ्जितोऽर्थः, तेषां सर्वोच-
यहेतुतया कारणे कार्षोपचारात् । आ० म० द्वि० । अ० ॥

अवज्जकर-अवधकर-पुं० । अवधं पापं तत्करणाद्यैः । पापि-
नि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अवज्जभीक्ष-अवज्जभीक्ष-वि० । पापनीरो, शोच० । पापाच्छकि-
ते, श्रु० ३ उ० ।

अवज्जमाण-अपध्यान-न० । अप्रथस्तं न्ययनपध्यानम् । आ-
र्त्तादिध्यानं, औ० । पापकर्मोपदेशे हिंसकार्पणं, ध० २ अधि० । इह
देवदभ्रायककोऽप्यसाऽपुत्रभृत्य उदाहरणानि । आव० ६ अ०
अवज्जमाणया-अपध्यानता-स्त्री० । भार्त्तरीद्रादिध्यायित्वे,
स्या० ३ टा० ३ उ० ॥

अवज्जमाणायारिय-अपध्यानाचरित-पुं० । अपध्यानमार्षोर्वाश्र-
रूपं तेनाचरित आर्त्ताद्येन योऽप्रथदृष्टः स तथा । अनर्थदृष्ट-
भेद, उल० ३ अ० । ध० ।

अवज्जाय-अपध्यात-वि० । दुर्भानविषयिकृते, उल० ६ अ०
उद्यच्चिन्तावति, आ० १४ अ० ॥

अवटु-अवटु-पुं० । कृकाटिकायाम्, अ० १४ श० १ उ० । विपा०

अवट्टेभ-अवट्टम्-पुं० । स्तम्भाचवलने, ध० ३ अधि० ।

इदानीमवष्टम्भारं प्रातिपादयिष्याह-

अन्वोच्छिन्ना तसा पाणा, पकिवेहा न मुज्जइ ।
तम्हा इहसमत्यस्स, अवष्टम्भो न कपइ ॥ १०७ ॥

अवष्टम्भः स्तम्भादौ न कर्त्तव्यः, यस्मान्प्रत्युत्पन्नोऽपि तन्मिम्
पश्चादपि अन्यवच्छिन्ना अनवरतं त्रसः प्राणा प्राणवति, न तत्र नत्र
प्रत्युपज्ञाना न श्रुयति । [तम्हा इहसमत्यस्सति] तस्माद् इष्टं
निर्वाणः, समर्थस्तरुणः, तस्य एवविद्यस्य, साधोवरष्टम्भो न क-
ल्पते नोक्तः ।

इदानीं के ते त्रसाः प्राणिनः ? इत्येतत् प्रदर्शनायाह-
संचरकुंयुंदिहिय-लुआ वा होइ दाली य ।

एवं परकोइलिया, सप्ये वीसंजरे सररे ॥ १०८ ॥

तत्रावष्टम्भे स्तम्भादौ, संचरति प्रसर्पतिः के ते ? कुन्युस्तथाः
उददिकाकृत्वा कालियकः, तत्कृतो नेदः अलसं भवति,
तथा च दाली रात्रिर्भवति, तस्यां च वृक्षिकादंशकाभयो भवति,
तथा च-यूहकोलिया घरोलिका, इत्यमुपरिस्था मूत्रयति,
नमूत्रेण चोपघातच्छुभो भवति । सर्पो वा तत्राभिर्तो भ-
वति, वीसप्ररो जीर्वावेशेयः, उन्तुरो वा भवेत्, सरटः कृ-
कलासः, स वा दशनदि करीति ।

इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानवशाह-

संचारगा चउदिमि, पुवं पामिहोहिए वि अल्लेति ।
उदेहो मूल पुणा, विराइणा तडुअप भेओ ॥ १०९ ॥

संचारकाः कुप्याद्यः पूर्वोक्तान्तस्त्वपि दिक्षु तस्मिन्ववष्टम्भे
परिभ्रमन्ति, पूर्वप्रत्युत्पन्नोऽपि तस्मिन् स्तम्भाचवष्टम्भे अन्ये
आगच्छन्ति । [उदेहो] कदाचिद्वृक्षो स्तम्भादिचष्टम्भः मूलं

वहिकविज्ञासतः, ततश्च भवद्वैभं कुर्वत उपरि पतति, पु-
नश्च विराधना तदुन्नयं भवति, आत्मनि संयमं च भवति, अ-
क्षयं पञ्चकक्ष भवति ॥

लूआइ य भद्रणे सं-जमसि आयाइ विचुगुमाईया ।

एवं धरकोइलिया-अट्टिउंदसरदमाइसु ॥ ५१० ॥

लूआदी च मद्रने भवने संयमाविषया विराधना भवति, आत्म-
विराधना च बुद्धिकादिभिः क्रियते, एवं गृहकांकिकादिदि-
उत्तरसरादिविषया संयमाविराधना, आत्मविराधना च भव-
तीत्युक्तं उत्तरमः ॥

इदानीमपवाद उच्यते-

अतरंतस च पासा, गादं लुक्खंति तेण-उवद्वंभो ।

संजयपिठे धंजे, सेलुवुहाडुडुवेटीए ॥ ५११ ॥

अतरन्तस्य च तिष्ठणे ग्लानादिः पाश्चान्ति गादमत्यर्थं दुःख-
न्ति, तेन कारणेन अवष्टमं कुर्वति । क १, अत आद-संयत-
पृष्ठे स्वयमे वा [सेल चि] पाषाणमयं स्तम्भे, सुधाडिजिते कुक्षे
एव अवष्टमं कुर्वति । अवधिकार्यां वेष्टिकार्यां वा कुष्पादी
हृत्वा ततोऽवष्टमं करोति । उक्तमवष्टमं चारम् । आंघ ० । घ ० ।

अवष्टम-अपार्थक-त्रि० । अपगतपरमार्थप्रयोजने, द्र० १६ द्वार ।

अवष्टगा-अवस्थान-न० । व्यवस्थायाम्, व्यवस्था संस्थितिः
स्थितिव्यवस्थानमवस्था चैताम्येकार्थिकानि पदानि । इ० ५
उ० । स्थिति, आव० ४ अ० । (तत्र साधोः किमवस्थानं भेदः
सतादभिमिति ' आवस्थिसया ' शब्दे द्वितीयभागे ४६३ पृष्ठे
वक्तव्ये; अवधिधानस्याऽवस्थानं प्रथमविभ्रतनिश्चिमिति ' अप-
ठियाइ (ए) ' शब्दे अथैव जागे ५५६ पृष्ठे, ' ओदि ' शब्दे
तृतीयभागे १५१ पृष्ठे च छठमः ॥

अवष्टिइ-अवस्थिति-स्त्री० । मयंदायाम्, स्या० ३ गा० ४
उ० । अवस्थाने निष्पकप्रत्यया वृत्तौ, आव० ४ अ० ।

अवष्टिय-अवस्थित-त्रि० । शाभ्येन, स्या० ३ गा० ३ उ० ।
नित्ये, हा० ५ अ० । [तिज्ञायपरिधे य १, चाउज्जाने य २
पुरिसंज्ञेय य ३ । किरकमस्स य करणे ४, चसारी अवष्टिया
कपा] ॥ १ । स्या० २ गा० । निश्चले, स्या० ५ गा० ३ उ० ।
अवधिप्रती, जी० ३ प्रति० । यन् हीयमानं न वा वर्धमानम् ।
तं । स० । [' अवष्टियसुविमत्तविचिषमम् '] । अवस्थितायव-
रिष्णुनि सुविमत्तानि विचिकानि विचिषाणि अतिरम्यतया-
ऽसुनुतानि इमथुणि कुवैकशा येमां तेऽवस्थितवसुनुतानिचि-
षममभवः । जी० ३ प्रति० । अनन्तपर्यायात्मके वस्तुनि, तत्र
पर्यायागामान्त्येन सविरहात् उच्यवस्थितत्वत् । ज० २ श०
१ उ० । स्वप्रमाणे स्थिते, जी० ३ प्रति० । अनवस्थितविलक्षणं
आनुयोगदानयोम्यं स्वविलक्षणवस्थिते, संविभ्रविरहावस्थिते च ।
इ० १ उ० । [' असुपट्टिय ' शब्देऽथैव भागे ३०१ पृष्ठे स्या-
क्यात एवः] स्थिया रक्षिते, [' अवष्टिय भाण्य आराइय
याचि प्रवइ ' । भाआ० २ धु० १५ अ० ३ वृ० ।

अवष्टियवत्-अवस्थितवत्-पुं० । यदा तु याषतोः प्रथमसम-
ये वत्त्वाद् तावतीरेव द्वितीयादिष्वपि समयेषु बध्नाति, तदा
स बन्धोऽवस्थितवत्त्वस्य स्थितवत् इति ० पुं० सं० ५ द्वार । प्रकृ-
तित्त्वधर्मे, क० प्र० । यथाऽष्टौ बध्नाति सप्त बध्नाति सप्त वा बध्ना-
वत् वत् बध्ना एकां बध्नाति तथा स एव रूपस्कारोऽप्यततो वा

द्वितीयादिसमयेषु तन्मात्रस्तावन्मात्रतया प्रवर्त्तमानोऽवस्थि-
तवन्धो भवति । कर्म० ५ क० ० ।

अवद-अवट-पुं० । कूपे, स्या० २ गा० ४ उ० । वनु० । प्रहा० ।
आ० म० ।

अवद्व-अवट-न० । अपगतमर्कं यस्य तदपार्थक्यं । अर्द्धमात्रे,
सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । अर्द्धदिवसे, अ० १६ श० ३ उ० ।

अवद्वृत्त-अपार्थक्य-न० । अपगतमर्कं यस्य तदपार्थक्य-
र्द्धमात्रम् । अपार्थक्यमर्द्धमात्रं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं येषां चन्द्रयोग-
स्यादिसिद्धयस्तान्यपार्थक्यत्रयि । चं० प्र० १० पाहु० । सू०
प्र० । समयक्षेत्राण्येकया पञ्चदशमुहूर्तेषु, स्या० ६ गा० ।

अवद्वृत्तगोलच्छाया-अपार्थक्यगोलगोलच्छाया-स्त्री० । गो-
लेष्वृत्तधैर्मिलित्वा यो निष्पादित एको गोलः स गोलगोलस्य
छाया गोलगोलच्छाया, अपार्थक्यमात्रस्य गोलगोलस्य छाया
अपार्थक्यगोलगोलच्छाया । अर्द्धमात्रमिलितानेकगोलच्छायाया-
म, चं० प्र० ० पाहु० ।

अवद्वृत्तगोलच्छाया-अपार्थक्यगोलगोलच्छाया-स्त्री० । अपार्थक्यमात्रस्य
गोलस्य ज्ञाययाम्, स० प्र० ० पाहु० । चं० प्र० ।

अवद्वृत्तगोलपुञ्जच्छाया-अपार्थक्यगोलपुञ्जच्छाया-स्त्री० । गो-
लानां पुञ्जां गोलोत्कर इत्यर्थः । तस्य ज्ञया गोलपुञ्जच्छाया;
अपार्थक्यस्य गोलपुञ्जस्य छाया अपार्थक्यगोलपुञ्जच्छाया । अपार्-
थक्यमात्रगोलपुञ्जच्छायायाम्, चं० प्र० ० पाहु० । सू० प्र० ।

अवद्वृत्तगोलार्धच्छाया-अपार्थक्यगोलार्धच्छाया-स्त्री० । गोला-
न्मावलिगोलावलिस्तस्याभाया गोलार्धच्छाया; अपार्थक्यं या
गोलार्धच्छाया अपार्थक्यगोलार्धच्छाया । अपार्थक्यमात्रगोला-
वलिच्छायायाम्, चं० प्र० ० पाहु० । स्या० ॥

अवद्वृत्तदंसाण-अपार्थक्यदंसाण-न० । अपकृष्टमर्कं चन्द्र-
स्यपार्थक्यचन्द्रः, तस्य यत्संस्थानमाकारः । गजदन्ताकृता,
स्या० २ गा० ३ उ० ।

अवद्वृत्तभाग-अपार्थक्यभाग-पुं० । अतुर्थभागे, आवा० २ हु० १
अ० १ उ० ।

अवधौयोरिय-अपार्थक्यवधौदरिका-स्त्री० । अवमस्योनस्यो-
रस्य करणमस्यवधौदरिका, अपकृष्टं किञ्चिदनुमर्कं यस्यां स्यात्पार्थ-
क्यत्रिस्तत्कवलापञ्चया इवशास्त्रापार्थक्यवत्त्वात् । अपार्थक्यं च
स्याऽवधौदरिका चेति । अवधौदरिकाजने, [' तुधाइस कुकुडिभं-
रुगपपमानमेके कवले आहारमाहारमाणे अवधौमायिया '] । हा-
दशकुक्कुटाएकप्रमाणमात्राः कवलाहारमाहारयति अपार्थक्यऽ-
वधौदरिका उक्तावधौर्था भवतीत्येवं सप्तम्यन्तव्याक्यानं नेयम् ।
प्रथमाः तव्याक्यानं तु धर्मधर्मिणोरभेदादपार्थक्यवधौदरिका सा-
धुर्भवतीत्येवं नेतव्यम् । ज० ७ श० १ उ० । व्य० ।

अवण-अवन-न० । गमने, वेदने च । न० ॥

अवणं-अवनयत्-त्रि० । अशकनुवति, नि० वृ० १ उ० ।

अवणपंत-अवनयत्-त्रि० । नीचीभवति, रा० ॥

अवणय-अवनय-पुं० । पुजासंस्कारादवणयने, स्या० ० गा० ।
दोषजापये, निम्नार्थां च । प्रव० १४३ द्वार । आ० म० ।

अवनत-त्रि० । ऊच्यते नीचकाये, भावतोऽर्धने, दश० ५ अ० ।

अवयवयय-अपनयन-न० । निषेधने, विशे० ।

अवर्णीयवयवीयवयय-अपनीतापनीतवचन-न० । अकृपवनी
स्त्री कृति लक्ष्मणस्यैव चोदशवचनानां द्वादेशं, आवा० २
बु० ६ अ० १ उ० ३ प्र० ३० ।

अवर्णीयवयव्य-अपनीतवचर-पुं० । अपनीतं वैश्वरूपमप्याह-
पसारितम्, अन्वयः स्थानगतमित्यर्थः । तदर्थमभिमतहृत्कारित
तद्वगर्थेचप्याह गच्छतीति अपनीतवचरः । अजिप्रहविशेषभा-
रके, शी० ।

अवर्णीयवयव्य-अपनीतवचन-न० । कृपया स्त्रीतिचवनभेदे,
प्रथ० १५० द्वार ।

अवर्ण-अवर्ण-त्रि० । न विद्यते वर्णः पञ्चविधःसितारिख्येत्स्व-
वर्णम् । वर्णरहिते अमूल्यवर्णं, चो० ११ वि० ० । अस्त्राधायाम्, पं०
ब० ६ द्वार । स्थान० । अथशक्ति अकतीर्णं, नि० बृ० १० उ० ० । वर्ण-
नाया अकरणे, शी० । एकदिव्याप्यसाधुवाद्वाहै, ग० २ अ० ३० ।

अवर्णवन्त-अवर्णवन्त-त्रि० । अस्त्राधकारिण, स० ३० सम० ।

अवर्णवाह (वृ)-अवर्णवादिन्-पुं० । अवर्णं वदितुं शीलम-
स्यत्वर्यवर्णवाहः । अकारिंकर, " नागस्व केशलोष्ण, अन्मा-
वरिषाद्य सवसाहृणं । माहं अवर्णवाहै, किंत्विसिचं भावयं
कुण्डहः " १ ॥ ग० २ अ० ३० । इ० ।

अवर्णवाय-अवर्णवाद्-पुं० । अस्त्राधायाम्, च० २ अ० ३० । अ-
स्त्राधवादे, इश० । " अवर्णवायं च परमुहस्व, पञ्चकम्बो " (मासिज्ज) अवर्णवाद् वास्त्राधवाद् पञ्चकम्बुस्य पृष्ठतः प्रत्य-
सप्तम्बः, न भाषत इत्यर्थः । इश० ९९ अ० ३ उ० ।

अहंकारिप्रकावर्णं वदन्, दुर्लभभाषि-

पंचाहं उपाहं जीवा ह्युद्धमोहद्वियत्ताए कम्मं पकरेति ।
तं जह्वा-अरहंताणमवन्नं वदमाणं, अरहंतपद्यत्तस्स ध-
म्मस्स अवन्नं वदमाणे, आयरियत्तज्जायाणमवन्नं वदमा-
णे, चाउवन्नमंयस्स अवन्नं वयमाणे, विविकतवन्नंभेराणं
देवाणं अवन्नं वदमाणे ।

"पंचाहं" इत्यादि सुगमम्, नवरं दुर्लभं वा बोधिसिद्धिमो यस्य स
तथा, तद्वत्परस्ता । तथा दुर्लभभाषिकमन्य, तस्त्वयं वा कर्म मो-
हनीयाद्, प्रकृतेति वदन्ति, अहंताणममस्त्राधां वदन् । यथा-
"नथा" अरहंतं श्री, ज्ञानं कां स भुज्ज ज्ञापे । पाहुंइय उवज्जि-
वह, स समवसरणं दकपार । एमहं जिणाय अवधे" । न च ते
नाहुवद्, तद्वृणतप्रवचनेपलक्ष्येः नापि भोगानुभवानुभवः, अव-
हव्यवधायान् । तस्य । तेषुकरनामदिकमिच्छन्ति निजशोपाय-
त्वालस्य । तथा-वीतरागत्वेन समवसरणादिषु प्रतिबन्धाभावा-
दिति । तथा-अहं प्रकृतस्य धर्मस्व भुज्जचारिण्युपस्य । प्रकृत-
भाषानिबन्धनेन, तथा-निकारिणेण, नानमव श्रेय इत्यादिकमव-
णं वदन् । अन्तरं चात्र-प्रकृतभाषायां भुज्जस्य न बुद्धे, कालादीनां
सुखाश्रेयस्वेनोपकारित्वात् । तथा-चारिणमव श्रेया, निवारण्युत्पा-
नन्तरं नृत्वादिति । आवायोपायानामपणं वदन् । यथा-वा-
सोऽयमित्यादि । न च वासत्वादि वा, बुद्ध्यादिभिर्बुद्ध्यादिति ।
तथा-अन्वयो वर्णोः प्रकारः अन्वयायां निर्दिश्य स तथा । स एव
स्वाधिकारऽधिधानाद्यानुवर्णः, तस्य संयमाद्येणं वदन् । यथा-

कोऽयं संभः?, वः समवाचकत्वेन पदस्यैव इव अमार्गमपि मार्गी-
करोतीति । न चैतत्, साधुज्ञानादिशुभसमुदायत्वात्कथात्कथानेन
च मार्गस्यैव मार्गीकरणं दिति । तथा-विषयक सुपरिशीलन, प्रक-
र्येण्यन्तमुपगतमित्यर्थः । तपश्च ब्रह्मचर्यं च अशान्ते वैश्याम्, वि-
पक्ष वा उद्यागते तपो ब्रह्मचर्यं तदनुकं हेवायुधकारि कर्म बेभां
ते तथा; तेषामवर्णं वदन् । न सन्त्येव इवाः, कथावनाप्यनुपयन्-
मानत्वात् । किञ्च-तेषुद्विदिव कामासनमनेत्रिबिरतेस्त्वथा नि-
र्मिपैरकेहैहिक प्रियमाणैरिव प्रवचनकार्यानुपयोगीमित्येव्यादि-
कम् । इहोत्तरम्-स्वति इवाः, तत्कृताऽनुभवेपश्चात्तार्हर्क-
नाम् । कामसत्कता च मोहसातकर्मोद्वाहः । इत्यादि । स्थान० ४
उ० ४ ० ।

अथ (ज्ञानादीनां) व्यासार्थमाह-
काया वया य ते चिच्य, य ते चैव पमाय अम्पमाया य ।
मोक्त्वाहं गारियाणं, जोऽसजोणीहं किंच पुणे ।

इह कांचहं विदधः प्रवचनाशातनापातकमगणयन् इयं बु-
ख्यायणं भुवन् । यथा-परुजोवनिकायामपि बहूनाः प्रकल्पन्ते, शा-
स्त्रार्थैः ज्ञायामपि न एव, अन्वेष्यव्ययनेषु बहुशुश्रूस्त एषोपवर्णने ।
एव व्रतान्यपि पुनः पुनस्तान्येव प्रतिपाद्यन्ते । तथा-न एव
प्रमादप्रमादाः पुनः पुनर्ब्रूयन्ते । यथोत्तराध्वयने आचारोक्ते
च । एवं च पुनस्ततोपः । किञ्च-यदि केवलस्यैव मोक्षस्य सा-
धनार्थं य प्रयासकर्मि मांकायिकारिणां साधूनां सूर्यप्रहोत्सा-
हिनो ज्ञानिः शोभेण, योनिभूतेन वा किं पुनः कर्मोऽन किञ्चि-
द्विषयेऽपि तेषामित्यं भ्रूवाणानामिदमुत्तरम्-इह प्रवचने यत् न एव
कायादया भूयो ज्ञेय, प्रकल्पन्ते, तस्यहा प्रयत्नार्था परिपा-
लनीयाः, इदमेव धर्मरहस्यामिदयादरातिशयकथापानोपेत्वाच्च पु-
नरुक्तम् । " अनुवादाऽऽरजीवस्य-नृशाश्विनिसोमोपे च्युत्साहः ।
इत्यंस्तुमविक्रम्य-गणनास्मर्येष्वपुनरुक्तम् " १ ॥ १ ॥ ज्ञानिः
शास्त्रैरेव विषयप्रमाजानादिषु शुभकार्योपयोगकत्वात्परम्प-
रया मुक्तिफलमेवेति न कांचहोपः । गतो ज्ञानावधेषुवाद् ।

अथ केवलस्यवर्णोवाहमाह-
एगंतमुष्पाए, अन्नोन्नावरणया दुवेहं इ पि ।
केवलदमणणायं, एगे काले त एगत्तं ॥

इह केवलानामवर्णोवाहः यथा-किंमत्तं ज्ञानदर्शनापेयोती कमेक
भवतः, उत युगपदादी । यथायः पक्कः-नमेव च समय ज्ञानाति ते स-
मयं न एवयति, च समयं परयति ते अन्तर् न जानातीत्येवमेका-
नरिते ज्ञान्यादे उयोरापि केवलज्ञानदर्शनयोरेकान्यवर्णना जनेभू;
ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः समसकालं कथितत्वात् । अत्रएव्य वा-
धारकस्याभावात्परस्परवारकत्वात्तथायोः प्राप्तेतीति भाषः । अथ
सुगर्वादि द्वितीयः पक्षः कर्त्तव्यत्वे, सोऽपि न चाहकम्पः । कुतः?,
इत्याह-एककाले युगपदुपयोग्यं अङ्गीक्रियमाणः वाशब्दः पक्का-
त्तरांतनायोः । इयोरापि साकारानाकारोपयोग्योपयोग्यं प्राप्ति,
तुल्यकालभावितादिति । अत्रोत्तरम्-इह यथा जीवत्वाभावादेः
सर्वस्यापि केवलज्ञान एकैकमेव समयं पश्यत एषोपयोगी प्रव-
ति, न ह्यैः " सर्वस्यैव केवलस्येसा, ज्ञानेव ही मथिय उवधोमा " इति
वचनत्वात् । यथा चाभेदैकसमये उपयोग्यं अत्रपद्यन्, तथा
विशेषावधकार्यादिषु भीजानामनुकूलोऽभ्यस्यकार्यादितिः पूर्वसुरितिः
संप्रकृत्युपदर्शित इति नेदोपदर्शितः, प्रथमैरभ्यस्यता । त्रि-
तीयपक्षाणुपपत्तिनोदना त्वसम्भुवगतोपासकत्वात्कारांतरित्यन्-
ममिद केवलं भवतः प्रयासकारिणीति ।

अथ धर्माचार्याऽवर्णवादाद्-

जबर्द्धिर्द्धिं अथर्षं, भासद् वदद् न यावि उववाए ।

आहितो द्विद्वेषी, पगासवादी अणुणुकुले ॥

जात्या, भादिशब्दात् कुलादिभिश्च द्वैवैरवर्णो भावते । यथा-नैते विद्युच्चानिकुलोत्पन्नाः, न वा श्लोकस्थवहादकुशुभ्राः, नाप्येते श्री-चित्तं विवर्तन्तीत्यादि । यथापि वधते उपपत्तेः गुरुणा संवाचुषी, अहितोऽनुचितविचार्या, निद्रप्रवृत्ती-मस्तरितया गुरोर्दोषस्थाननि-दीकरणशोभः, प्रकाशवादी-सर्वसमग्रं गुरुदोषभावी, अननुकुलो-गुरुणामेव प्रत्यानीकी, क्रूरबालकवत् । एष धर्माचार्यावर्णवादाः ॥

अथ सर्वसाधुनामर्थवादमाद्-

अविसेहणाऽनुरियर्गद्, अणुणाणुवन्ती य अवि गुरुणं पि ।
खणामिच्छपीयरांसा, गिहिवच्छन्नकाऽऽसंत्तद् ॥

अहो ! अमी साधवोऽविषहणा न कस्यापि पराभवं सहन्ते, अपि तु स्वपक्षपरपक्षपानने संज्ञाने सति देशान्तरं गच्छन्ति । (तुरियर्गदं ल) अकारप्रदेशाद्विपरितगतया मायया लोकाय-जैनाय सर्वव्याप्तमाने । अननुवर्तिनः प्रकृत्येव निद्रया, गुरुणामपि महतामपि, आत्मानं सामान्यलोकस्थेषुपिशादयैः । त्रितीयोऽपि-शब्दः संज्ञावनायाम् । संभाव्यन्त एवंबिधा अपि साधव इति । क्रणमात्रप्रतिरोधाः-तदैव कथाः तदैव च तुष्टा, अनवस्थितचि-त्ता इत्यर्थः । गृहिवत्सन्नाः-नैद्वैतब्राह्मणवर्तिनास्मान् गृहस्थस्य र्गचयति । अनिसंवायिनः-सुखदुःखकमश्चादिसंप्रदशांसा, शोभयन्त्या इति भावः ॥ अत्र निवृत्तमानि-द्वे साधवः स्वसाध-यपमाने यद्देशान्तरं गच्छन्ति तदप्रीतिकरांपोतापाविभक्तिया, न पराजनासहिष्णुतया । अत्रविद्वेगतयोऽपि स्वाधारसजन्तु-पोडापरिहायै, न तु लोकरज्जनायैम् । अननुवर्तिनोऽपि संयम-भाचारिवाधिरतया अनुवर्तैनाया अररणात्, न प्रकृतिनिष्ठत-या । क्षणमात्रप्रतिरोधा अपि प्रत्युत्क्रपायतया न निर्वर्षस्थित-चित्ततया । गृहवत्सन्ना अपि कथं नु नामामो धर्मदेशनादिना यथायुक्तोपायिन धर्मं प्रतिपद्येरन्ति बुद्ध्या, न पुनश्चात्का-रितया । संव्यवन्तोऽपि मा भूदुत्करणात्मेव संयमाऽऽत्मवि-राधनेतिबुद्ध्या, न तु लोचनबलसत्येत्सुत्तरम् ॥ ७० १ ७० ।

(अहंतामर्थं वदन्, अहंत्प्रकृतस्य धर्मस्यावर्णं वदन्, भाचा-र्याणांवाधानामर्थं वदन्, वायुवर्णस्य सङ्गस्य चाऽवर्णं वदन् इत्यादि प्रत्युपादिति ' उन्माद' शब्धे त्रितीयाभागे षष्ठं पृष्ठे षड्यने) इत्यावर्णवादेन ज्ञानावरण्योऽयं कर्म बध्यते । कर्म० १ कर्म० ।

अथ आयश्चित्तमाद्-

ने भिक्वर्षं धर्मस्य अवर्षं वदद्, अवर्षं वदंतं वा साऽ-
ज्जाऽ ॥ १ १ २ ॥

धूस् धारणे, धारयतीति धर्मः । एष वषो अवर्षो षाम-अयसो, अकारान्तिरित्यर्थः । वद व्यक्त्यायं वाचि ।

दुविहो य द्दोऽ धर्मो, सुयधर्मो समणधर्मो य ।
सुयधर्मो खलु दुविहो, सुते अत्ये य होति णावव्वा ॥१३॥
दुविहो य चरणधर्मो, अगारमणगारियं चैव ।
दुविहो तस्स अवर्षो, देसे सव्वे य द्दोति नायव्वा ॥२४॥
मूलगुणुत्तरगुणे, देसे सव्वे य चरणधर्मो उ ।

१६६

अहं देस एत्थ लहुगा, सुते अत्येम्मि गुरुमादी ॥१३॥

सव्वम्मि तु सुयणाणे, नृपा वा ते य निचसुणो मूलं ।

गणि आयरिए सपदं, उ दाणमावज्जणा चरिमं ॥१६॥

गिहियं मूलगुणेऽ, देमे गुम्मा तु सव्वहिं मूलं ।

उत्तरगुणु सु देसे, लहुगा गुम्मा तु सव्वंमि ॥१७॥

मूलगुणुत्तरगुणे, गुरुगा देसम्मि द्दोति साहूणं ।

सुयणिवतो देमे, ते सेवतंस आणादी ॥१८॥

सामादियमादी उं, सुयधम्मो जाव पुव्वगतं ।

सामादियरोई प-कारममा उ जाव अंगा तो ॥२६॥

पंचविहो सज्जाभो सुयधम्मो । सो पुणा दुविहो-सुते, प्राये य । चरिचधम्मो दुविहा-अगारधम्मो, अणुणाधम्मो य । पक्केको दुविहो-सुत्तरगुणु सु देसे सव्वे वा सुयधम्मो अ-वर्षं वदति । एवं चरिसे दुविहो अवर्षो । सुत्तस्स देसे च-उलहुगा, आयस्स देसे चउगुरुगा; सव्वसुयस्स भयसं नि-कसुणो मूलं; भमिसेयस्स अणुयः; गुरुणा चरिमं । एवं द्वाणपच्छिणे । प्रावज्जणाए निवह वि सव्वे सुते अण्ये वा पर-विद्ये । गिही मूलगुणु सु अद् देसे अवर्षं वदति तो चउगुरुं, सव्वहिं मूलं, गिही उत्तरगुणु सु अद् देसे अवर्षं वदति तो चउलहुगा । गिहीणं सव्वुत्तरगुणु सु गुम्मा । साहूणं मूलगुणु सु वा अद् देसे अवर्षं वयति तो चउगुरुगा । दो सु वि सव्वे सु मूलं । एत्थ अयस्स देसे गिहीण य मूलगुणुदेसे । साहूण य उत्तरगुणुदेसे सुत्ताणिवतो भवति । एवं अवर्षव्यं सेव-तस्स आणादिया दोसा ज्वति । पुव्वकं गणावत्ताकं, सु-यस्स सामादियादि जाव पक्कारस्स अंगा ताव देसे, एव चैव सह पुव्वगणए सव्वसुणं ॥

कहं पुण वदंतो आसादिते ?-

जीव विरट्टिए पेद्दा, जीवात्तल्लुगुगदंरता मायं ।

दोसो य परकनेसु, चरखे एमादिया देसे ॥३०॥

काया वया य ते ब्बिय, ते चैव पमायअणुमाया य ।

जातिमज्जाइणामिचे-दिहं कि व वेरणपवणायां ॥३१॥

(जीवविरट्टिए वि) जीववि विरहिते जाव पमिहेहणा कज्जति, सा विरट्ठिया, जीवात्तल्ले वा लोणे चकमणादिकिनियं करंतो कहं निहोसो ? परिसेगिदिवाण य संघट्ठेण मासल्लु, द्वाणे एवं, अणुवरादे उगमदंरता अनुत्ता । जं च वितियपदेण माया यमयं मणियं, ते पि अनुत्ते, माहाकम्मादिपसु परकंडसु को दो-सो ? एवमादि चरणस्य देसे अवर्षो । सव्वे यमनियमात्मकं चारिं कुशलपरिकल्पितमा । एष सर्वावर्णवादाः । हेमरिससुते अवर्षं वदति-(काया वया) अनुत्ते पुणा कायचयाण वचनं, पमा-यापमादाण य, कि वा वेरणपवणाणं जातिसेण, जेणगीपाहुनेण वा, णिमिसेण वा सव्वे वा वदेत त्रासाणियंक्कं । एवमादिसु वा आसायणा । एवं अवर्षं वदंतो आणादिया य दोसा, सुयदेवया वा ज्जिआदिविचिंतं करेज्ज; अजेण वा साहूणा सह संखं भवे-की-स अवर्षं भाससि ति । जग्गद् । एते दोसा तद्गद् णो अवर्षं वदं ।

कारणे वदेज्जा वि-

वितियपदमणुपज्जे, वपज्ज आवि कांविते व अणुपज्जे ।

जाणंते वा वि पुणां, जयऽवत्तव्वादिसु चैव ॥३२॥

अगुण्यजो वा अवि कवितो, सो वा बपञ्ज अवत्तव्यदितु वि, जो अवत्तवावपञ्जगद्वयं करेति, सो य जे रायदिवसवन्तो त-
म्भवा बधेरेज, जो दोसा । नि० सू० ११ उ० । (मधमस्यावर्णवाधः
'अधम' शब्दे अत्रैव भागरेष बधते । रात्रिजोनस्यावर्णवाधो
'राह भोग्य' शब्दे प्रेक्षणीयः)

अवध्या-अवज्ञा-आ० । आशदरे, श्री० । यो० ॥

अवदहवण-अपहवन-० । शूबादपडे, आचा० १ सु० ५
अ० १ उ० ।

अवदहाण-अपज्ञान-० । तथाविधसंस्कृतजलेन स्नाने, वि-
पा० १ सु० १ अ० । ब्रह्मापनयनहेतुः कल्पसंस्कृतजलेन स्नाने, आ०
१ उ० ॥

अवतह-अवतष्ट-दि० । तनुकृते, सूत्र० १ सु० ५ अ० २ उ० ।

अवत्त-अव्यक्त-पुं० । अद्याप्यपरिणतवयसि, इ० १ उ० । श-
ब्दोऽयं रूपादिवो श्यादिना प्रकारेणानिर्देश्ये, विशेषे । उगण-
क्षिप्तनादिना संस्कृते, अ० ३ अथि० । स्था० । अवत्ता नाम
बसति-उगणमूसिकाभ्यां जलेन चोपलितभूमितला अत्यकल्या-
नयुक्ता वा, निर्वाना वा । ग० १ अथि० । नि० सू० । अगीतायै,
नि० सू० २ उ० ।

अवत्तव-अवत्कल्प-त्रि० । अनुष्कारधीये, दश० ७ अ० । आ-
नुपूर्वनानुपूर्वीप्रकाराचार्यां वलुमशक्ये च्यते, अनु० । द्विमदेशि-
ककम्भोऽयकल्पमित्याख्यायते । अनु० ॥

अवत्तव्यगोसिचिप-अवत्कल्पकसिञ्चित-त्रि० । यः परिणामविशेषो
न कति नात्यकतीति शक्यते बहुकुं सोऽवत्कल्पकः, स चैक इति,
तत्सञ्ज्ञिता अवत्कल्पकसञ्ज्ञिताः । समये समये एकतयोत्पन्नेषु
त्रैविकारिषु, उत्पद्यन्ते हि नारका एकसमये एकद्वयोऽसं-
ख्येवान्ताः । उक्तं च-"यद्ये व दो व तित्ति व, संख्यमसंज्ञा य
एगसमापणं । उववञ्जते च्छया, उव्वंहुता वि एमेव" ॥ १ ॥
स्था० ३ इा० १ उ० ।

अवत्तवर्ष-अवत्कल्पवर्ष-पुं० । बन्धभेदे, यत्र तु सर्वथाऽ.
बन्धको चूत्या पुनः प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमये अव-
कल्पवर्षः, अयं पुनरुत्तरप्रकृतीनामैव भवति न मूलप्रकृतीनाम,
तासां सर्वथाऽबन्धकस्याभ्योगिकेवलिनः सिक्त्य वा प्रतिपाता-
भावेन पुनर्बन्धानावात् । कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० ।

अवत्तव्या-अवत्कल्या-श्री० । अनुभ स्थिता पञ्ज्ञाति कौशिक-
भाषावत्-सावधत्वेनानुष्कारणीयायां भाषायाम्, दश० ७ अ० ।
अवत्तवत्यकोटि-अवाप्तसाख्यकोटि-पुं० । अवासा लब्धा
साख्यकोटिरनावाधताप्रकरोपर्यन्तो यैस्ते तथा । सिद्धेषु, हा०
३१ अ० ।

अवत्तासद्य-अवत्तान्त-० । बाहुज्यां त्रिबा निष्पीडने कामा-
ङ्गे, नि० सू० १ उ० ।

अवत्तयन्त-अवस्थान्तर-० । दशाविशेषे, हा० ११ द्वार ।
पठ्योपान्तर, पञ्जा० १ इ० वि० ।

अवद्वयग-अपार्थक्य-० । पौर्वापर्ययोगाद्द्वयप्रतिषेधकार्ये सूत्रदोषे,
बध्या-दश द्वानिमित्त, परंपूजा, कुण्डं बद्धराशि । आ० म० द्वि० ।
प्रज्ञ० । विशेषे । बस्यावयवेष्वर्थो विधत्ते न समुदाये; असंबद्ध-

मित्यर्थः । यथा-शब्दः कदम्बा; कन्दली भेर्याव । अथवा-"बहु-
सपुष्पुम्मीसा, उंबरकदकुसुममालिवा सुतरां । वरतुरमस्त-
वि रायद, मोलइया अग्निसिंहेसु ॥ १ ॥ सु० १ उ० ।

अवत्थव-अवास्तव-त्रि० । वस्तु पदार्थः; तस्येवं वास्तव्य । न
वास्तवमवास्तवम् । परस्वसंगोद्वमेष, अष्ट० १ अष्ट० ।

अवत्या-अवस्था-श्री० । भूमिकावाम, हा० २६ अष्ट० ।

अवत्यातिग-अवस्थान्त्रिक-० । दशाविशेषत्रये-कृद्व्यवस्थाव-
वस्थाकवन्ववस्थासिद्धावस्थास्वभावे जिनानां सुष्टयकेवञ्जि-
सिक्त्ये, दश० ।

अवत्यापरिणाम-अवस्थापरिणाम-पुं० । घटस्य प्रथमद्विती-
ययोः कृणयोः सहदायोरन्वयित्वेनेव परिणामे, हा० १५ हा० ।

अवत्याभरण-अवस्थाभरण-० । अवस्थान्वित्त आभरणे,
स्था० ८ अ० ।

अवत्यिय-अवमनुत्-त्रि० । प्रसारिते, हा० ८ अ० ।

अवत्यु-अवस्तु-० । असति, आ० म० द्वि० । अविद्यमानं व-
स्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु । अनर्थक, प्रज्ञ० २ आश्र० हा० ॥

अवत्योचिप-अवस्थोचित-त्रि० । भूमिकाऽनुकूपे, पञ्जा० १८ वि० ।

अवदग-अवदग्र-० । पर्यन्ते, सूत्र० २ सु० २ अ० । अवसाने,
सूत्र० २ सु० ५ अ० ॥

अवदज्ञ-अप वदज्ञ-पुं० । अपवलमपसवं द्रव्यं कारणभूतं मृ-
त्तिकादि यस्याऽसौ अपदज्ञः । अवदलति वा द्योते इत्यव-
दज्ञः । आभयकतया असरि, स्था० ४ हा० ५ अ० ।

अवदाय-अवदात-पुं० । गौरि, प्रज्ञ० ४ आश्र० हा० ।

अवदाक्षिय-अवदारि(स्त्रि) त-त्रि० । विकारिणे विवृतीकृते, उपा०
२ अ० । "अवदाक्षियपुंरीयवयणा (नयणा) "अवदारितं रवि-
किरणैर्विकारिणं यत्पुणरीकं सितपद्मं तद्वद्वदं मुखं, नयने
वा येषां ते तथा । ज० २ वक्र० ।

अवदार-अपदार-० । द्वारिकायास, हा० २ अ० । "तेषा अव-
दारणं, सो अगितो असो गवणियाय " । आ० म० द्वि० ॥

अवदाहण-अपदाहन-० । तथाविधदम्भने, विपा० १ सु० १ अ० ।

अवदंस-अपधंस-पुं० । अपधंसनमपधंसः चारित्र्यस्य तत्क-
स्य चाऽसुरादिभावनाजनिते निवासे, स्था० ।

चउन्विदे अवदंसं पद्यसे । तं जहा-आसुरे, अग्निथाने,
संमोहे, देवकिल्बिसे ॥

तत्रासुरजानावजनित आसरां येषु वानुष्ठानेषु वर्त्तमानोऽसुरत्व-
मर्जयति तैरात्मनो वासनमासुरभाषता । एषं भाषनाऽन्तर्यामि ।
अनियोगभावनाजनितः अत्रियोगः, संमोहभावनाजनितः
संमोहः, देवकिल्बिषभावनाजनितो देवकिल्बिष इति । इह च
कन्दर्पभावनाजनितः कन्दर्पोऽपधंसः पञ्जामोऽस्ति, स च सन्नधि
नोकः, चतुःस्थानकानुरोधान् । भाषना हि पञ्जाऽऽग्नेऽग्निदिताः ।
आह च-"कन्दर्पे देवकिल्बिसे ३, अत्रियोगा ३ आसुरा य ५
संमोहा ५ । एसा व संकलिता, पंचविधा आवक्षा अविधा " ॥
१ ॥ आसां च मध्ये यो यस्यां भाषनायां वर्त्तते, स तद्विष-
येव देवेषु गच्छति, चारित्र्यलोभाप्रभावात् । उक्तं च-"जो संजभो

वि पया-सु अल्पसत्यासु वृद्धे कर्हि चि । सो तन्विहंस्तु गच्छे,
सुरेसु भवन्ना चरन्तीनां ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ज्ञा० ४ स्० ।

अवधारियन्-अवधारयितव्य-न० । संप्रधारणीये, पञ्चा० ३
विब० ।

अवधीरिय-अवधीरित-त्रि० । अपमानिते, वृ० ४ उ० ।

अवधूय-अवधूत-पुं० । अव-धू-क । अनिदृते, निवर्तिते,
आसिते, घनाहते च । "यो विलङ्घ्याऽऽधमाद् धर्णाव्, आत्मन्वेष
स्थितः पुमान् । अतिवर्णांशमी धांगी, अवधूतः स उच्यते ॥ १ ॥
इत्युक्तवृत्तं परमहंसै, वाच० । स्वनामधेयते लौकिके अध्या-
त्मचिन्तके आचार्ये, यदाहावधूताचार्ये-न प्रत्ययानुप्रदमन्त-
रेण तव्यवृत्तयाद्याः, उक्ते पयाऽभूतकल्पहानाजनकत्यात् ।
ल० । विक्रिते, भाव० ४ स्० ।

अवप्यद्भाग-अवप्ययोग-पुं० । विरुद्धौषधियोगे, वृ० १ उ० ।

अवबद्ध-अवबद्ध-त्रि० । अर्थप्रहणपूर्वकं विद्याऽऽदिप्रदणनि-
मित्तं विचक्रितकालपरायत्ते, ध० ३ अचि० । ग० ।

अवबुद्ध-अवबुद्ध-त्रि० । अवगते, अने० २ अधि० ।

अवबोध-अवबोध-पुं० । निष्कारिहरारे, ध० २ अचि० । ज्ञानि-
त्ये, विशेषे० । संज्ञायाम्, स्मृती, संज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्था-
न्तरम् । भावा० १ भू० १ अ० १ उ० ।

अवबोधण-अवबोधन-न० । प्रतारणे, अज्ञाने, शिक्षणे च ।
रूपा० ८ अध्या० ।

अवबोधि-अवबोधि-पुं० । निश्चयार्थप्रतिपत्तौ, आ० चू० १ अ०

अवबन्धेस-अवबन्धा-पुं० । अपबन्धयते इत्यपबन्धः । संस्कृतभाषा-
विह्वलौ, "पद्येऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपबन्धः" तत्परिज्ञान-
मेकान्विशः कलाभेदः । कल्प० ७ स्० ।

अवज्ञास-अवज्ञास-पुं० । तेजसां ज्ञानस्य च प्रतिभासे, सू० प्र०
३ पाद० ।

अवभासिय-अवभासित-त्रि० । प्रकाशिते, विशेषे० ।

अपभाषित-त्रि० । उद्यमयिते, ध्य० १ उ० ॥

अवमस्यंत-अवमन्यमान-त्रि० । परिहरति, "मा एयं अवमकंता,
अप्येण लुपहा बद्धुं" । सूत्र० १ भू० ३ अ० ४ उ० ।

अवमह-अवमह-पुं० । अपवसने, "अवमहं अप्यगो परस्व य
करंति" । अ० २ अ० ४ द्वार ।

अवमाण-अवमान-न० । अनानदे, उच० १ ए० अ० । विनयज्ञेसे,
प्र० ४ अ० ४ द्वार ।

अवमान-न० । हस्तादौ उच्यप्रमाणे, स्था० ४ ज्ञा० १ उ० ।

अवमाणण-अवमानन-न० । व्युत्पत्त्यादिवाच्ये स्वमित्यादिक-
रे अप्युजाचचने, प्र० ४ स्वर० द्वार । अनभ्युत्थानादिनिः-
अपूजने, धी० । प्र० ४ ।

अवमाणिय-अवमानित-त्रि० । अपमानं प्राहिते, "अवमा-
णिनो नरिव्यं" । ध्य० १ उ० । वृ० ॥

अवमाणियदोहला-अवमानितदोहला-स्त्री० । सणमपि ले-
क्षणापि च अनापुममनोरथायाच, न० ११ हा० ११ उ० ।

अवमार-अपस्मार-पुं० । चित्तविकृतिज्ञे गदे, स च वातपित्त-
भेप्रसंतिगाजजन्वाच्यतुर्था । तदुक्तम्-"अत्रमाऽऽशेषः ससं-
रम्भो-इषांकेको हतस्मृतः । अपस्मार इति ज्ञेयो, गदां घोरध-
तुर्विधः" ॥ १ ॥ भावा० १ भू० ६ अ० १ उ० ।

अवमारिय-अपस्मारित-त्रि० । अपस्मारः संज्ञातोऽप्य । अप-
स्माररोगघाते-अपगतसदसांज्ञेयकसम्पूजादिकाभवस्थामनु-
भवति, आचा० १ भू० ६ अ० १ उ० ॥

अवमिय-अवमित-त्रि० । अस्थिते, वृ० ३ उ० ॥

अवय-अवय-न० । वृक्षादौ, सूत्र० १ भू० ११ अ० । गोशीर्षचन्-
नप्रभृती, सूत्र० १ भू० ८ अ० । आ० चू० । पदहीने, वाच० ।
अवज-न० पक्षे, प्र० १ पद ।

अवच-त्रि० । अनुच्ये, उच० ३ अ० । जघन्ये, सूत्र० १ भू०
१० अ० ।

अवयकवत-अवयेकमाण-त्रि० । वृष्टतोऽभिमुखं निरूपयति, भोष० ।

अवयकवमाण-अयेकमाण-त्रि० । अपेकमाणे, अवकाङ्क्षति च ।

"मगो क्वाइ अवयकवमाणस्त" अवकाङ्क्षतोऽपेकमाणस्य
वा । भ० १० श० २ उ० ।

अवयग-देशी-न० । पर्यन्ते, स्था० २ ज्ञा० १ उ० । "अवयगम्"
इति देशीवचनोऽन्तवाचकः । भ० १ श० १ उ० ।

अवयगभ-दृङ्-धा० । "देशो निअञ्च० ८ । ४ । १२१ । इत्यादिना
दृशवयञ्जदेशः । अवयगभ-पठयति । प्रा० ४ पाद ।

अवयण-अवचन-न० । नमः कुस्थाथेत्वात् कुरितेते वचने,
स्था० ६ ज्ञा० ।

अवचनानि-

नो कल्पे निगम्याण वा निगम्यीण वा इमां उ अवयणा-
इं वृत्तप । तं जहा-अलियवयणे, हीलियवयणे, सिमिय-
वयणे, फरसवयणे, गारलियवयणे, विउवसमियं वा पुणो
उदीरित्तप ॥

[नो कल्पे सि] वचनव्यथायाद् नो कल्पते निर्ग्रथानां नि-
ग्रथानां वा इमानि प्रत्यक्षासजानि, षडिति षट्संख्याकानि,
अवचनानि-नमः कुस्थाथेत्वात्प्रशस्तानि वचनानि, षडितुं भा-
षितुम् । तद्यथा-अलीकवचनं, हीलितवचनं, सिंलितवचनं, प-
ठवचनन, अगारस्थिता शुद्धिलक्ष्णानां वचनं, व्यवशमितं वा
उपशमितकणं, पुनः भूयोऽपि, उदीरयितुं न कल्पत इति क्रमः ।
अनेन व्यवशमितस्य पुनरुदीरणवचनं नाम षष्ठमवचनमुक्तमिति
सुखसंक्षेपाधः ।

अथ भाष्यकारो वित्तरार्थमभित्तराह-

उच्येव अवचन्वा, अस्मिगे हीलीय-सिस-फरसे य ।

गारत्य-वि ज्ञोसमिप, तेसि च परवृणा एणमो ॥

षडेवावचनान्यवचनानि साधुनां वक्तुमयोग्यानि । तद्यथा-अ-
लीकवचनं, हीलितवचनं, सिंलितवचनं, पठवचनं, शुद्धवचन-
वचनं, व्यवशमितोदीरणवचनन, तेषां च षडामपि यथाक्रमनि-
यं प्रकृष्या ॥ वृ० ६ उ० । (अलीकवचनस्याख्याऽसिसंशेष भागे
'अस्मिगवयण' शब्दे ७७४ पृष्ठे निरूपिता)

अत्र प्रायश्चित्तम्-

एमेव य हीलाप, सिंसा फरुसवयणं च वद्मणो ।
गारुत्य-वि ओममिप, इमं च जं तेभि गण्यत् ॥
पवमेव हीलितवचनं, सिंसावचनं, पुरुषवचनमगारुत्यवचनं,
व्यग्रमिमितोदीरणवचनं च वदतः प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् । यथै-
तयो नानातरं तद्विद् भवति-
आदिद्वन्द्वं चउमुं, विसोहि गुरुगदि जिन्नमासता ।
पणुवीसत्रो विज्ञात्रो, विनेसितो वितिय परिलोमं ॥

आदिभेषु चतुर्भेदि हीलितकिसितपरुषगृहश्चवचनेषु शोधि-
अतुगुरुकादिका जिन्नमासता आचार्यादीनां प्राश्वद् मन्तव्या ।
तद्यथा-आचार्य आचार्य हीलयति चतुर्षु १, उपाध्यायं हीलयति
चतुर्षु २, भिक्षु हीलयति मासगुं ३, स्थविरं हीलयति
मासलपु ४, कुलुकं हीलयति निम्नमासः ५। एतन्म्याचार्यस्य त-
पःकालाभ्यां गुरुकणि भवति-न, एते आचार्यस्य पञ्च संयोगा उ-
काः । उपाध्यायादीनामपि चतुर्णामिवमेव पञ्च पञ्च संयोगा भव-
न्ति । सवसङ्ख्याया त पञ्चविंशतिभ्यन्ति । अत एवाह-पञ्चविंश-
तिकः पञ्चविंशमङ्कपांस्मणो विभामोऽत्र भवति । स च तप-
कात्राभ्यां विशेषितः कर्तव्यः । द्वितीयादेशेन चैतदेव प्रायश्चि-
त्तं प्रतिशालं विभेद्यः, जिन्नमासाश्च चतुर्गुरुकाःतमित्यर्थः ।
एवं किसितपरुषगृहश्चवचनेभ्यश्चि शोधिमन्तव्या । ६० ६ उ० ।

अथ द्वितीयपदमाह-

पदमं विमिचणह्ता, उत्रलेनविमिचणया य दोमु जवे ।
अणुमासणाय य देमी, छष्टे य विमिचणा जगिता ॥
प्रथममलाकवचनमयोग्यदीक्ष्य विवेचनार्थं वदत्, द्वयोस्तु
हीलितकिसितवचनयोश्चाक्षरममुपास्रभमधिबचने कारणे भव-
त्-शिक्षात्प्रथम, अयोग्यशिक्षाकारुत्यगच्छत्यर्थः । पुरुषवचनं
तु पराशक्तव्यानुद्यासनं कुर्वन्, गृहश्चवचनं पुनर्देशीं दशभा-
षामाश्रित्य भवेत् । षष्ठं च व्यवशिमितोदीरणवचनं, दौसस्य
विवचनं कारणं भणितम् । गाथार्थं स्वीत्यनिवेशः प्राकृतस्वात् ।
इति द्वारगाथासमाप्तार्थः ।

अर्थानं विचरीपुराह-

कारणिए दिक्वंता, नरियमि कजे जहंति अणले तु ।
संनमनमरकवह्ता, होट्टं दाऊण य पझाई ॥

कारणे अशिवादावनत्रोऽयोग्यः शैको दीक्षितः, तस्मिन्ने स-
मापिते तस्मिन् कार्ये तमजं जहति । कथम् ? इत्याह-संयमय-
शोरकृष्ण-संयमस्य, प्रवचनयशःप्रवाशस्य च रक्षणार्थं । 'होट्टं'
गाढमलाक दम्बा पलायनं; शोभमन्यत्र गच्छन्तीत्यर्थः ।

यः पुनर्नचायैः समाचार्यी, साराणादिप्रदाने वा सीदति तमु-
द्दिश्येथं हीलितवचनं वदन्-

केस स गणि चि कतो, अहोःगणो जगति या गणिए अगणिए ।
एव तु सीयमाण-सस कुणति गणियो उवालोमं ॥
केसामसीकितकारिणाऽयं गणोक्तः । यथा-अहो ! अय गणी,
अथवा गणिनमय्यजिनं भवति । एवं गणिनः सामाचार्या शि-
क्षादाने वा विधीवन् उपालम्भं करीति ।

अगणिए व जगति गणि, जदि नाम पेजेज गारवेण वितं ।
एवेव सेसपसु वि, बायगमादीमु जोएजा ॥
एदि कोऽपि बहुशोऽपि मय्यमानो न पठति तस्तमगणिन-

मपि गणिनं भणति; यदि नाम गौरवेणपि पठेत् । एवमेव शेषे-
ष्वपि धाचकादिषु पठेत् । द्वितीयपदं योजयेद्-योजनं कुर्यात् ।
सिंसावयणविहाणा, जे श्विय जार्तकुन्नादिया वुत्ता ।
कारणियदिकिस्ययाणं, तं श्वे विमिचणोवाया ॥

सिंसावचनविधानानि बान्धेव जातिकुन्नादीनि पूर्वमुक्तानि, त
एव कारणिकुन्नादीनामभिमत्यानां कारणप्रज्ञितामां विवेचने
परिष्ठापने उपाया मन्तव्याः ।

खरसज्जं मउपयवं, अगणोमाणं जणति फरुसं च ।
दव्वओ फरुमवयणं, वयति देमि समासज्ज ॥

इह यः कजेरवचनमणनमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपठते स अर-
साध्य उच्यते । तं अरसाध्यं म्रुदुवाचमगणयन्तं परुषमपि भण-
न्ति । देशीं देशानायां समासाद्य उच्यतेः पुरुषवचनमपि वदंति;
उच्यते नाम न ह्यभावनाया परुषं भणन्ति, किन्तु नरुषात्राव्याप्तं,
यथा-मालवास्त्रीमणिः, अथवा यथा यथा लोका भवन्ति, तथा
तथा देशी देशभाषामाश्रित्य साध्याऽपि जगन्ति ।

खामियदोमवियादं, उपाएऊण दव्वतो रुटो ।
कारणदिकिस्य अन्नदं, असंखदोओ चि धाकेति ॥

यः कारणे अन्नलो दीक्षितस्तेन समं समापिते कार्ये पुनः क्षामि-
नच्युत्प्राथम्यधिकारणानुत्पयाद्य उच्यते । उपाएभावं विना रुटो कु-
पिता यदिः कृत्रिमान् कार्याकारान् दर्शयन्त्यर्थः । असंखदो-
काऽयमिति दोषमुत्पद्य तमज्ज शीलं धाटयति-गच्छाक्षिप्तस-
यति । ६० ६ उ० ।

अवयव-अवयव-पुं० । अवयवित एकदेशे, अणु० । अनुमितिवा-
क्येकदेशेषु, ते च पञ्च-प्रतिहोहेतुसाहचरणेषुविनिगमनान्प्रय-
यथाः । दश० १ अ० । सूत्र० । दशावयवा वा-प्रान्तप्रतिज्ञा-
विद्युक्तिः; हेतुहेतुविद्युक्तिः, दृष्टान्तुविद्युक्तिः, उपसंहार
उपसंहारविद्युक्तिः, निगमनं विनिगमनविद्युक्तिः । दश० १ अ० ।

मे किं तं अवयवेषां ? । अवयवेषां-
मिगी सिहो विमाणी, दादी पक्खी खरी नही बाली ।
दुपय चउपय बहुपप, लंगली केमगी कउही ॥?॥
परिअरबंधणभरु जा-णिज्जा मडिलिअं निवसेणेणं ।
सित्येण दोणवायं, कविं च एकाएँ गाहाए ॥ ३ ॥
संतं अवयवेषां ।

(सं किं तं अवयवेषामित्यादि) अवयवोऽवयवनि एकदेशस्ते-
न नाम यथा-मिगी सिहियादि-गाथा । अङ्कमस्यास्तांति शुद्धि-
त्यादीन्प्रययप्रधानानि सर्वोपयोगि मुगमानि, नवरं त्रिपदं इत्या-
दि, चतुष्पदं गवादि, बहुपदं कर्णशुद्ध्यादि । अथापि बहुपदकृपा-
वयवप्रधानता भावनीया । [कउही] [नि] कउकउ इकन्याऽऽसलाअन-
देहावयवत्रकणमस्यास्तीति कउकुरा वृत्तं इति । 'परिअर' गाथा ।
पारिकर-भयेन विशिष्टमपथयचनाङ्कणेन, भद्रे शूरपुत्रं, जानी-
याङ्कणयन्ताना-निवसेनन विशिष्टरचनारचितपरिहृतेपरिधान-
लङ्कणं माहिला स्त्रीत्वं, जानीयादिति सर्वत्र संबध्यते । धान्यानां
कोणम्य पाकः सिन्ननाकयः, ते च तन्मध्यद्दु गृहीत्या निरीक्षिते-
नेकेन सिक्थेन जानीयात् । एकया च गाथया लातित्यादिका-
व्यधमोपेनया मुनया कवि जानीयात् । एवमत्राभिप्रायः-यथा स
नेपथयपुराणपद्यवकपरिकरन्वन्धादिदर्शनेन द्वारिण भद्रमदिसा-

पाकविशेषप्रयोगं करोति तदा मट्वाढ्यवि नामान्यवयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वाद्भवयवनामानुच्यन्ते इति इह तदुपन्यास इति । इदं चावयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वात्सामान्यरूपतया प्रवृत्तान्नानाम्ना निघत इति ॥ अत्रु० ॥

अवयवि (घृ)-अवयविन्-त्रि० । प्रदेशिग्रन्थे, स्था० रखा० । नन्ववयविच्छब्दमेव नास्ति, विकल्पग्रन्थे न स्याद्युच्यमानत्वात्, चरविधाणवत् । तथाहि-अवयविद्वयमवयवयज्यो मिश्रम्, अत्रिनं वा स्यात् ? । न तावद्विन्मिष । मनेदे हि अवयविद्वयवदवयवनामेकत्वं स्यात्, अवयववद्वाऽवयविद्वयव्यव्ययनेकत्वं स्यात्, अन्यथा जद् एव स्यात्, विरुद्धधर्माभासस्य भेदनिबन्धनत्वादिति । निन्ने चेत् तत् न भव्य, तदा किमवयविद्वयं प्रत्येकमवयवेषु सर्वात्मना समवेति, देशतो वेति ? । यदि सर्वात्मना तदाऽवयवसंभयमवयविद्वयं स्यात्, कथमेकत्वं तस्य ? । अथ देशोः समवेति, ततो येदेशोरवयवेषु तदुच्यते तेष्वपि देशेषु तदकथं प्रवर्तते-देशान्, सर्वतो वा ? । सर्वतो भेदे, तदेव द्युपमा । देशान्नेष्वेतेष्वपि देशेषु कथम्, इत्यादिरेवमस्या स्यादिति । अत्रोच्यते-यदुक्तं विकल्पग्रन्थे न स्याद्युच्यमानत्वादिति । तद्युक्तम् । एकात्तेन भेदाभेदयोरन्युपगमात् । अवयवा एव हि तथोविधैकपरिणामतया अवयविच्छब्दतया स्वपदिहयन्ते; त एव च तथोविधौचप्रतिष्ठापनापेक्षया अवयवा इति । अवयविच्छब्दाभावे तु धने घटावयवा एते च घटावयवा इत्येवमसङ्कोचोविषयव्यवस्था न स्यात् । तथा च प्रतिनियतकार्याणि प्रतिनियतवस्तुपादानं न स्यात्, अथ सर्वमसमसमापनोपघतं । सर्वनिवेशिशोषादटावयवयवानां प्रतिनियतना भवियतीति चेत् ? । नान्यम्, केवलं स एव सर्वनिवेशिशोषोऽवयविच्छब्दमिति । यस्कोच्यते-विरुद्धधर्माभासो निबन्धनत्वात् । तदपि न सूक्तम् । अन्यहृत्संवेदनस्य परमार्थोपेक्षया भ्रान्तत्वेन संशयवहारापेक्षया त्वभ्रान्तत्वेनाऽनुपगमादिति । यदि नाम भ्रान्तत्वमभ्रान्तत्वं कथमिति, एवमत्रापि वक्तुं शक्यत्वादिति । किञ्च-विद्येने अवयविद्वयम्, अवयविच्चारितया तथैव प्रतिभासमानत्वात्, अवयववन्नीलवद्वा । न चायमसंकोच हेतुः, तथाप्रतिज्ञासस्यानुनयमानत्वात् । नाप्यनेकानि कत्वाविरुक्तत्वं, सर्वेषुस्तुत्यवस्थायाः प्रतिभासाशङ्कित्वात् । ग्रन्थया न किञ्चानपि वक्तुं सिद्धेदिति । स्था० १ डा० १ उ० । रत्ना० । आषा० । सम्म० ।

अवयामण-अवयानस-न० । वृक्षादीनां प्रभावेन चालने, पं० व० ४ द्वार ।

श्लेषण-न० । वृक्षादीनामालिङ्गापने, वृ० १ स० ।

अवयामाविव-आश्लेषित-त्रि० आलिङ्गिते, विपा० १ बु० ४ अ० ।

अवयामेक्षण-अवकार्य-प्रब० । प्रकाश्य प्रकटीकर्येत्यर्थे, तं० ।

अवर-अपर-त्रि० । अन्यस्मिन्, सूत्र० २ सू० २ अ० प्रअ० नि० ७० । सू० प्र० हा० । "अवरं वाक्छ" अपरमिति उक्तान्यद् वक्ष्यामि । सूत्र० १ बु० ३ अ० २ उ० । द्वितीयस्मिन्, सं० प्र० ३ पाठु० । पश्चात्कालभाविनि, आषा० १ बु० ३ अ० ३ उ० । आषा० म० । पश्चिमे, "अवरं पत्रसं ताहे सिन्धुदेवि बोधेर" । आ० म० प्र० । न परोऽपरः । स्वस्मिन्, वृ० ३ उ० ।

अवरकंका-अपरकंका-स्त्री० । पातकिल्लज्जभरतकैवराजधान्याद्य, हा० १ अ० । (तत्र हृताया द्वैपथा आनयनाय हृणस्य २००

गमने 'दुवर्धे' इत्येव वक्ष्यते) एतद्व्यप्रतिपादकं ज्ञानाधर्मकथायाः बांकोऽध्ययने, स० १८ सम० । प्रअ० । हा० । भाव० । स्था० । "कहस्यऽवरकंका" हृणस्य नवमबासुदेवस्य द्वौ-पदीनिमित्तमपरककंकागमनाभ्येयम् । कल्प० २ ल० ॥

अवरच्छ-अपरोक्ष-न० । अविद्यमानानि परेयामकीणि द्रष्टव्यतया यत्र तदपरोक्षम् । असमकं, विद्यमानं गीणकौषेयं च । प्रअ० ३ अ० ३ द्वार ।

अवरज्ज-अपराधत-नि० । दोषमाघहति, सूत्र० १ बु० ३ अ० ३ उ० । रजसा श्लिष्यमाणे, सूत्र० १ बु० ३ अ० ३ उ० । नश्यति, उक्तं ७ अ० ।

अवररुद्र-अपराह-पुं० । दिनस्य चरमग्रहे, स्था० ४ डा० २ उ० । "पुष्पावररुद्रकालसमयसि" । पाश्चात्यापराहकालसमयो दिनस्य चतुर्थग्रहरलक्षणः । नि० ३ वगे ॥

अवररुद्रकाल-अपराहकाल-पुं० । सूर्यस्य गतिपरिणतस्य पश्चिमे न गमने, आ० सू० १ अ० ।

अवरत्त-अपररात्र-पुं० । रात्ररपरे प्रागे, स्था० ४ डा० २ उ० । "पुष्पावरसकालसमयसि" । विपा० १ बु० ३ अ० ।

अवरदारिय-अपरदारिक-न० । पश्चिमद्वारिकेषु नक्षत्रेषु, स० ७ सम० । "पुस्साइया संसत् शकसका अवरदारिया पक्षता । ते जहा-पुस्सा, अमिहेसा, मधा, पुष्पाफगुणी, उतराफगुणी, हत्या, चिला" । स्था० ४ डा० ४ उ० ।

अवरदाहिण-अपरदक्षिण-पुं० । अपरदक्षिणदिग्भागे, पश्चा० २ विव० ।

अवरदाहिणा-अपरदक्षिणा-स्त्री० । नैऋत्यां दिशि, श्य० ७ उ० ।

अवरद्व-अपरद्व-न० । अपराधनमपराधम् । पीडाजनकतायाय, पि० । विनाशिते, वि० । हा० १ अ० ।

अवरद्वि-अपरद्वि-पुं० । अपराधनमपराधम्-पीडाजनकता; तदस्यास्तीति अपराद्विकः । लूतास्फोटः, सर्पादिदेवो च । पि० । अवरपाण-अपरपाण्यी-स्त्री० । पाणकथायाम्, श्य० ८ उ० ।

अवरधम्मवेहित-अपरधम्मवेधित्व-न० । परमानुवृत्तदहनस्वरूपत्वे विशातितमे सत्यवचनार्तिशय, स० ३३ सम० ।

अवरराय-अपररात्र-पुं० । रात्रेः पाश्चात्ये यामग्रहे, आषा० १ बु० ४ अ० ३ उ० ।

अवरविदेह-अपरविदेह-पुं० । अपरश्चात्तौ विदेहश्च । स्था० २ डा० ३ उ० । जम्बुद्वीपे पश्चिमतो महाविदेहराजो, स्था० १० डा० । तत्र सदा दुष्पनस्तुपेमातपदिः । स्था० २ डा० ३ उ० । जं० । "दो अवरविदेहर्हि" स्था० २ डा० ३ उ० ।

अवरविदेहकूट-अपरविदेहकूट-न० । निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य नालयवर्षधरपर्वतस्य च स्वनामक्याते कूटे, जं० ४ वक्र० । स्था० ॥

अवरसामण-अपरसामान्य-न० । उच्यतादी-सामान्यव्याप्यसामान्ये, स्था० ।

अवरहा-अपरथा-अन्य० । अन्यथाऽप्ये, पश्चा० २ विव० ॥

अवराड्या-अपरजिता-स्त्री० । महावसतिजयकेस्य रा-

अवराह्या

अथानीयुगले, जं० ४ वक्ष० । स्थान० । शङ्खविजयकेतयुगले राजधानीयुगले, स्थान० २ ग्रा० ३ इ० । जं० । उक्त० ।

अवराह—अपराध—पुं० । शुक्रविजयलङ्घने, भाव० १ श्र० ।

“एतयं अवराहं मरिचइ” । आ० म० द्वि० । (अपराधमार्गेण वधुष्टहान्तोऽप्यत्र) “अवराहसहस्रघण्टीनां” । अपराधसहस्रघृहणरूपाः (अपराधः), अहदसमात्सुव्रतानिवत् । त० ।

अवराहपय—अपराधपद—न० । मोक्षमार्गं प्रत्यपराधस्थानं, वश० ।

अपराधपदमाह-

इन्द्रियविषयकसाया, पराहोहा वेद्यया य उच्यममा ।
एष अवराहपथा, जस्य त्रिसोपति दुम्हहा ॥१८१॥

इन्द्रियाणि स्पर्शतादीनि, विषयाः स्पर्शादयः, कयायाः क्रोधादयः इन्द्रियाणां चेत्यादि इन्द्रः । परावहाः कृतिपथासादयः, वेदना अथागतुभवलङ्घनाः, उपसर्गो दिव्यादयः । एतान्यपराधपदानि मोक्षमार्गं प्रत्यपराधस्थानानि । यत्र येषांन्द्रियादिषु सन्सु विषादिति आश्चयन्ते । किं सर्वं एव ? नेत्याह—दुर्मेषसः, श्रुल्लकवत् । हृदिनस्तु एभिरेव कारणं नूनं सस्तराकान्तारं तन्मूर्तिगथाः । दुर्दमकरतु पदे पदे विषादितुं संकल्पस्य वशः गतः । कोऽसी लुलकः ? । कथानकम—“कुंकणमो जहा एगो खेतो सपुत्रमो पवइमो” । सो य खल्लमो तस्स अइव इहा सोयमाणो य भणइ—खता ! ण सक्केमि अणुवाहणे हिंइउत्तं । अणुरूपं एव संतेण दिग्गामो उवाहणमो । ताइं भणइ उवरिनला सीएण कुं—इति । काल्हाता सं कयाओ । पुणो भणइस्तीमं नं अइव रुज्जइ । ताहं सीमुत्तुवादि सं अणुवायो । ताहं भणइ—न सक्कमि भिक्खं हिंइउत्तं । तो मे पांडुसए त्रिअस आसोइ । एवं ण तरा—इति खत । भूमिए सुविउत्तं । ताहं संधारो सं अणुणमो । एणो भणइ—या तरामि खंत । लोय काउत्तं । तो खुत्तए पांडुउत्तं । ताहं भणति—अहहाणयं न सक्कमि । तमो सं फासुयपाणएण कयां दिअइ । आयरियपाउमं च सुवलं छिपति । एवं जं जं भणति तं तं सो खंतो गेहपभिवडो तस्स अणुजाणति । एवं कावे गच्छमाणं पमणिमो—न तरामि आविरइयाए विणा आच्छत्तं खंत । सि । ताहं खंतो नसुइ—सदो अजोमो सि काऊण पमिसयाओ गिलक्केइओ । कम्मं काउत्तं ण यासुइ । अयणंतो लुणसंखडीए धणि काउत्तं अजिणंण मओ । विसयविसहो मरिउ मइमे अयाओ याहिअ । सो व खंतो सामएणोपायं पालेऊण आउक्कएण काइमओ द्धेषु उववमो, भाइं उवजइ । आंहाणा आभाएऊण ते च्लनयं तेण पुव्वगेहंणं तेसि गाहाणं हथमो किणह । वेउवियभेडीए जोएए वाइइ य गरमं तं । अतरतो घोडु तोत्तएण विधेउं भणइ—ण तरामि खंत । निक्खं हिंइउत्तं । एवं भूमिए सयणं भोयं काउत्तं । एव ताणं वयणाणि सव्वाणं उचचारति, जाव आविरइयाए विणा न तरामि खंत । सि । ताहं एवं भणत्तस्स तस्स महिसस्स इमं चित्तं जायं—कइं परिंसे वक्कं सुंभं ति ? ताहं इहापुहमग्गणवधेसणं करइ । एव चित्तयं—तस्स तस्स जातिस्सएण समुपपन्नं । देवए आंहां पउत्ता । संबुद्धो पच्छा भत्तं पच्चक्खइत्ता देवलयां गमो । “एवं एए एए विसीदंतो संक्कएस्स वसं गच्छति । जम्हा एसों हांसो तमहा अट्टारससोहेगसइस्साणं सारणाणिसिंत्तं एए अवराहपए यउत्तज्ज ” । तथात्वाइ-

अट्टारस उ सदस्सा, सीलाणं जिणेहिं पन्नया ।

तेमि पदिक्कलणद्धा, अवराहपए ल वजेजा ॥१८२॥

अट्टाइश सहजाणिः तुत्तधारेणः अट्टाइशैव, शीलं भावसमाधिलक्षणं, तस्याङ्गानि जेदाः, करणानि वा शीलाङ्गानि, जेपां जिनेः प्राङ्गिकयित्तवाद्धार्यैः प्रहसतानि प्रकृपितानि । तेषां शीलाङ्गानां, परिक्कसाधं परिस्सणानिमित्तं, अपराधपदानि प्रागाभेदितस्वरूपाणि, वजंयं दु जहादिति गाथायैः । इश० २ अ० । आ० चू० । अवराहसल्लपजव—अपराधशब्दयप्रजव—त्रि० । पृथ्वीसंघट्टाद्यतिचाररूपशल्यानिमित्तं, पञ्च० १९ विव० ।

अवराहुत्त—अपराधुत्त—पुं० । पश्चात्सुक्ते, “अवराहुत्तो जायति” । भाव० ४ अ० ।

अवरिं—उपरि—अव्य० । “वोपरो” । उ । १ । १०८ । इति उतोऽत्यम् । “वक्रादावत्यः” । ॥ २ । ११६ । इत्यनुस्वारगामः । प्रा० १ पाद । प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तयोश्चुत्कर्षशब्दस्यार्थे, वाच० ।

अवरिन्न—(न०) उपरि—अव्य० । प्रावरणे, “उपरः संव्याने” । ॥ २ । ११६ । इति संव्यानेऽर्थे वतमानाऽपपरिाभ्यात् स्वावेषो विधात्वात् । प्रा० २ पाद ।

अवरिमण—अवर्षण—न० । अपानीयपाते, दर्श० ।

अवरुत्तर—अपरोत्तर—पुं० । अपरोत्तरस्यां दिशि, पञ्च० २ विव० ।

अवरुत्तरा—अपरोत्तरा—स्त्री० । वायव्यं दिशि, व्य० ७ उ० ।

अवरोपर—अपरस्पर—न० । “परस्परस्यादिरः” । ॥ २ । ४ । ४०६ । इति अपभ्रंश परस्परशब्दस्यादिकारः । अत्रोऽप्यशब्दार्थे, “अवरोपर जोहंतोहं, सामिउ गंजिउ जाहं” । प्रा० ४ पाद ।

अवरोट—अवरोध—पुं० । अन्तःपुरे, औ० । परचक्रंणाघेचनं, नि० चू० ८ उ० । (तत्र भित्तात्तनाऽऽदिव्यवस्था ‘उवरोट’ शब्दे चिन्तायनागं ७०७ पृष्ठे उच्यते)

अवलंब—अवलम्ब—त्रि० । अधोमुखतयाऽवलम्बयन्ते, औ० ।

अवलंबवग—अवलम्बक—न० । दृगडके, व्य० ४ उ० ।

अवलंबवण—अवलम्बन्—न० । अवलम्बयन् इति अवलम्बयन् । इदृ-बहुलमिति वचनात्कर्मण्यन्त । विशेषसामान्याध्यायवद्, न० । कथं विशेषसामान्याध्यायवद्भाष्येऽवलम्बयन् । इति चेत् । उच्यते । इहा शब्दाऽऽयमित्यापे प्राणं विशेषावगमकण्यव्यायव्यायव्याय । तथाहि—शब्दाऽर्थं, नाशब्दाः क्वादिर्निजं शब्दस्वरूपावधारणं विशेषावगमः, ततोऽस्माद् यत्पूर्वमनिर्देश्य सामान्यमात्रमवग्रहणमेकसामाधिकं स पारमिथिकोऽध्यायवद् । तत ऊर्ध्वं तु यतिक-मिदृमिति विशेषेण सा इहा, तदन्तरं तु शब्दस्वरूपावधारणं शब्दाऽऽयमिति तद्व्यायव्यायम् । तत्रापि यदा उक्तधर्मजिहासा भवति—किमयं शब्दः शाब्दः किं वा शब्दः ? इति; तदा पाश्चात् शब्द इति ज्ञानमुत्तरविशेषावगमव्यायव्याय सामान्यमात्रमवग्रहणमित्यवग्रह इत्युपचयते । स च परमार्थतः सामान्यविशेषावधारणत्वम् इति विशेषसामान्याध्यायवद् इत्युच्यते । इहमेव च शब्द इति ज्ञानमालम्ब्य किमयं शाब्दः, किं वा शब्दः ? इति ज्ञानमुच्यते । ततो विशेषसामान्याध्यायवद्भाष्येऽवलम्बयन् । अथलम्बयन् इत्यवलम्बयन् । अवलम्बयन्तुत्तरतो वायलम्बयन्तुभ्यं अवलम्बयन्वादानो विनिर्गतव्ययर्थे, ज० १ वक्ष० । रा० । जी० ।

अवलंबण

आ० म० । अवलम्बयते इत्यवलम्बनम् । वेदिकायाम्, मस्तकाधलम्बे च । नि० चू० ।

अवलंबणं तु दुविदं, नृपीप संक्रमे य एण्यत्वं ।
तुडतो व एगतो वा, विवेदिया सा तु एण्यत्वा ॥

अवलंबणं दुविदं-भूमि एषा, संक्रमे वा जवति । भूमि एषा विसर्ग लक्षणम् । एण्यत्वं कञ्जति । संक्रमे वि लक्षण एण्यत्वं कञ्जति । एण्यत्वं तुडतो एगशो य भवति । सा तु एषा (वेदयन्ति) अतावलंबो, नि० चू० १ उ० । भावे ह्युदु, करणे बाह्वादि शृहीत्या धारणे, "सम्बन्धि तु गहर्णे, करणे अवलंबने तु देसाम्" (स । स्थः०५ उ० २ उ० । (पर्वतद्वौ पतन्त्या निरन्ध्या अवलम्बने ' गहर्णे ' शब्दे वक्ष्यते)

अवलंबणया-अवलम्बनता-स्त्री० । अवलम्बनस्य भावोऽवलम्बनता, अवग्रहे, सं० ।

अवलंबणवादा-अवलम्बनवादा-स्त्री० । उभयोः पारस्पर्येत्त्व-लम्बनानामाश्रयभूतार्थां भिन्नौ, आ० म० प्र० । जं० जी० ॥

अवलंबि कृष्ण-अवलम्ब्य-अभ्य० । आश्रित्येत्यर्थे, पं० व० १ द्वार । ग० । विपथीकृत्येत्यर्थे, आ० ५ अ० ।

अवलंबित्प-अवलम्बित्तुम्-अभ्य० । आकर्षित्तुमित्यर्थे, दशा० ७ अ० ।

अवलंबित्य-अवलम्बित-त्रि० । अतिक्रमे, ज्ञा० १ अ० ।

अवलम्ब्य-अभ्य० । लग्न्येत्यर्थे, "यो गाहावतिकुलस्य दुवारसादं अवलंबिय अवलंबिय चिद्विज्ञा" । आ० १२शु० अ० ५ उ० ।

अवलम्ब-अपलम्ब-त्रि० । म्यकारपूर्वतया लम्बे, स्था० ए उ० । " परमन्पवेसे लदावलम्बाहं " । अस्त० ५ वर्ग ।

अवलम्ब-अपलम्ब-पुं० । निह्वये, नि० चू० । यथा कस्य सकाशोऽधीतम ? इति प्रश्ने अभ्यसकाशोऽधीतमस्यस्यै कथयति । नि० चू० १ उ० । आ० ५ ।

अवलम्ब-अवलम्बित-पुं० । देशविशेषे, स्था० २ उ० ५ उ० ।

अवलम्बणिया-अवलेखनिका-स्त्री० । अवलिख्यमानस्य घंश-शलाकादेशां प्रतन्त्यां त्वाच, स्था० ४ उ० २ उ० । वर्षावास-कर्मस्फटनिकायां पादलम्बनिकायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अवलम्बिणिया-अवलम्बिका-स्त्री० । तदुद्भूतचूर्णकसिद्धे दुग्धे, सिक्के श्लेषविशेषे, प्रय० ४ द्वार ।

अवलम्बिण-अवलम्बिन-न० । दशने, रक्षाधिकादौ मृते कृपणमन्वाध्यायक कार्यः । ततोऽप्यदिने परिहानावावलम्बिन-कार्यम् । आ० ४ अ० ।

अवलम्बिणसिहरमिदा-अवलम्बिनशिखरशिला-स्त्री० । उ-ज्जयन्तपर्वतशिलाविशेषः, उज्जयन्ते- "अवलम्बिणसिहरशिला, अवन्ते तस्य वरसो सवश्च । सुअपकम्बसिरसवसो, करश्च सुख्वरहं " ॥१७॥ ती० ४ कल्प ।

अवलम्ब-अवलम्ब-पुं० । वस्तुसज्जाधमच्छादने विशिष्टमे गौणाश्रीक, प्रश्न० २ आ० ४ द्वार ।

अवलम्ब-अवलम्ब-न० । मौकल्लेपणोपकरणभेदे, भाषा० १ शू० ३ अ० १ उ० ।

अवन्-अवन्-न० । सङ्ख्याविशेषे, चतुरशीतिरवन्सहस्रशतसहस्राणि एकमवन्वयम् । जी० ३ प्रति० । अ० कर्म० जं० । अतु० । स्था० ।

अवन्ग-अवन्ग-न० । संख्याविशेषे, चतुरशीतिरवन्सहस्राणि एकमवन्वाङ्गम् । जी० ३ प्रति० । कर्म० । अतु० । स्था० ।

अवन्का-अवन्का-स्त्री० । तापिकायाम्, अ० ११ श० ११ उ० ।

अवन्ग-अवन्ग-पुं० । मौके, आ० म० द्वि० ।

अवन्टणा-अवन्तन-न० । कर्मपरमाणुतां दीर्घस्थितिकालता-मपगम्य इत्यस्थितिकालतया व्यवस्थापने, पं० सं० ५ द्वार ।

अवन्टणा-अवन्तना-स्त्री० । अपवर्त्यते ह्यस्वीकृत्येते स्थित्यादि यथा साऽपवर्तना । स्थित्यनुज्ञायाहंस्वीकरणे, क० प्र० ।

तत्र तावत् स्थितिविषयाऽपवर्तनामाह-

ओवर्तते य विदं, उदयावलिवाहिरा उद्विसेसा ।
निकलवद् से तिनगो, समयाद्विप्रे सेमवर्दे य ॥११॥
वद्धं ततो अतित्या-वणा य जावाणिग इवद् पुषा ।
तन्निकलवो समया-दिगाग्निगुणकम्भिउजाणा ॥११॥

स्थितिमपवर्तयन् उदयावलिवाहान् स्थितिविशेषात् स्थितिनेनाद् अपवर्तयति । के ते स्थितिविशेषाः ? इति चेत् । उच्यते-उदयावलिवाहो उपरि समयमात्रा स्थितिः द्विसमयमात्रा स्थितिः, एवं तावद्भवत्त्वं यावद् अन्धकारादुदयाऽवसिका हीना सर्वा कर्मस्थितिः । एते स्थितिविशेषाः । उदयावलिवाहो ना च स्थितिः सकलकरणयोग्येति ह्येषा तां नापवर्तयति । तत्र उक्तम्-उदयावलिवाहान् । कुत्र निम्नपतीति चेत् ? उच्यते । अत आह-निकृपति-आवलिवाहोऽस्मिन्नामे तुर्तौये जागे समयधिके शोपे समयं न मुञ्चन्पुपरितनं त्रिभागद्वयमतिरुच्यते । इयमत्र भावना-उदयावलिवाहो उपरितनौ वा स्थितिस्तस्या दक्षिणमपवर्तयन् उदयावलिवाहो उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ समयोनावानिर्गम्यधस्तने समयधिके नृगीये जागे निकृपति; एष जघन्ते निकृपा, जघन्ता चातिस्थापना । यदा उदयावलिवाहो उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ द्वितीया स्थितिरपवर्तयते तदा अतिस्थापना प्रागुक्तप्रमाणे द्विसमयाधिका भवति । निकृपस्तु नावन्मात्र एव । एवमतिस्थापना प्रति समयं तावद्दृष्टि-मुपनन्त्या यावदावलिवाहो परिपूर्णो भवति । ततः परमतिस्थापना सर्वेप्रापि तावन्मात्रैश्च भवति; निकृपस्तु वर्द्धते । स च तावद् यावद् अन्धकाराऽतिस्थापनाऽऽवलिवाहोऽतिस्थापि कर्मस्थितिः उक्तं च-"समयादि अदध्वना, बंधावलिवा य मोक्षु निष्कन्धो । कम्मन्दि बंधोदय-अवलिखं मुचु ओवद्धं" ॥१॥ कर्मस्थितिबन्धावलिवाऽमुदयावलिवा च मुक्त्वा शेषां सर्वांमपि अपवर्तयति इत्यर्थः । तद्वसुदयावलिवाहो उपरितने समय-मात्रे स्थितिर्यत्ने प्रतीय-वर्त्तमानामपवर्तनायां समयाधिके आवलिवाहो त्रिजागो निकृपः प्राप्यते । स च सर्वजघन्त्यः सर्वोपरितने च स्थितिस्थापने प्रतीय प्रवर्त्तमानायामपवर्त्तनायां यथांकरूप उक्तो निकृपः । वक्तं च-"उदयावलि उपरिस्थं, ठाणं अदधिकं होइ अदहीयो । निष्कन्धो सर्वोपरि, उद्विजाणवसा मधे परमो" ॥ १ ॥ एष निष्वाधिते अपवर्तनाऽऽवलिवाहोऽतिस्थापनाः ।

अववट्टणा

संप्रति व्याघाते तमाह-

वापाए समकृष्णं, कंदगमुक्त्रिसभा अइश्यवणा ।

कायिउं किचुणा, उिइ कंडुकस्सगपमाणं ॥ २२० ॥

अथ व्याघातो नाम स्थितिघातः तस्मिन् सति तं कुर्वंत इत्यर्थः । समयानं कथं कथमात्रमुक्त्वा अतिस्थापना । कथं समयानंमिति चेत् ? उच्यते-उपरितनेन समयमात्रेण स्थितिस्थापनापवर्तमानेन सह अथस्तावत् कण्डकमतिक्रम्यते । ततस्तेन विना कण्डकं समयानंभव जयति । कण्डकमामाह-" डाय-उिइ इत्यादि " । यथाः स्थितेरारभ्य तस्या एव प्रकृतेरुक्ते स्थितिक्रमभाषते, ततः प्रकृति सर्वो साऽपि स्थितिर्वापि स्थितिर्वाति उच्यते । उक्तं च पञ्चमकूटमग्रीकायाग्र-वस्था यस्याः स्थितेरारभ्य उक्ते स्थितिवर्धं विषते निर्मापयति तस्या आरभ्य उपरितनानि सर्वापयति स्थितिस्थापानेन कायस्थितिसङ्गानं जयति, सा कायस्थातिः किञ्चिदनादिनस्थित्याः प्रमाणम् । पञ्चमकूट पुनरेवं मूलटीकाव्याख्यायुक्तम्-"सा कायस्थितिरुच्यतेः किञ्चिदनादिनस्थितिकर्मस्थितिप्रमाणा वेदितव्या । तथाहि-अतःकटीकाटीप्रमाणं स्थितिवर्धमापाय पर्याप्तसंज्ञिपञ्चम्य उक्तेसंज्ञादावाऽऽकृष्टं स्थिति विषये इति सा इत्यस्थितिरुच्यतेः किञ्चिदुक्तमप्रमाण-स्थितिप्रमायेति, सा चोक्ते कण्डकमुच्यते । इयमुक्तेव्याघातः, स्थितिस्थापना । एतच्चोक्ते कण्डकं समयमात्रेणापि न्यूनं कण्डकमुच्यते । एवं समयद्वयन, समयवशेषेण, एवं तावद् न्यूनं वाच्यं यावद् तत्परोपयोगसंख्येयानामात्रं प्रमाणं त्रयति, तच्च जघन्य कण्डकम्, इयं च समयानंजघन्या व्याघातऽतिस्थापना । संप्रत्य-दसद्व्युत्पद्यते-तत्रापवर्तनानां जघन्यां निक्षेपः सर्वस्तोकां, तस्य समययाधिकावशिकाभिगममात्रत्वात् । ततोऽपि जघन्यातिस्थापना द्विगुणा त्रिसमयोना, कथं त्रिसमयेन द्विगुणवर्मानि चेत् ? उच्यते-व्याघातमन्तर्गतं जघन्या अतिस्थापना आवाशिका त्रिभागद्वयं समयानं जयति, आवाशिका साऽस्तत्कल्पनया नवसमयप्रमाणा कल्प्यते, तत्रस्त्रिभागद्वयं समयानं पञ्चसमयप्रमाण-मवगतव्यम् । निक्षेपोऽपि जघन्यः समययाधिकावशिकात्रिभाग-रूपोऽस्तत्कल्पनया चतुःसमयप्रमाणा द्विगुणीकृतास्त्रिसमयोनाः सन् तानावन् भवतीति । ततोऽपि व्याघातं विना उक्त्वा अतिस्थापना विशेषाधिका, तस्याः परिपूर्णावशिकाप्रमाणात्वात् । ततो व्याघाते उक्त्वा अतिस्थापना असंबन्धगुणा, तस्या उक्तेऽप्यस्थितिप्रमाणत्वात् । ततोऽप्युक्तेषु निक्षेपो विशेषाधिका, तस्य समययाधिका द्विकोनसकलकर्मस्थितिप्रमाणत्वात्, ततः सर्वा कर्मस्थितिर्विशेषाधिका । संप्रत्युक्तसैनापवर्तनयोः संयोगनालप-बहुत्वमुच्यते-तत्रोक्तसैन्यां व्याघातं जघन्यावर्तनास्थापनानि क्षे-पो सर्वस्तोकां, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यै, आवाशिकासंबन्धेय-भागमात्रत्वान् । ततोऽपवर्तनानां जघन्यां निक्षेपोऽसंबन्धगुणात्, तस्य समययाधिकावशिकात्रिभागमात्रत्वात् । ततोऽपवर्तनानां जघन्यातिस्थापना द्विगुणा त्रिसमयोना । अत्र भावना प्रागेव कृता । ततोऽप्यपवर्तनानां व्याघातं विना उक्त्वा अतिस्थापना विशेषाधिका, तस्याः परिपूर्णावशिकाप्रमाणात्वात् । तत उक्तसैना-यामुक्त्वातिस्थापना संबन्धगुणा, तस्या उक्तेश्चाशकल्पनत्वात् । ततोऽपवर्तनानां व्याघाते उक्तेश्चा अतिस्थापना असंबन्धगुणा, तस्या उक्तेश्चास्थितिप्रमाणत्वात् । तत उक्तसैन्या उक्तेषु निक्षेपो विशेषाधिकाः ; ततोऽपवर्तनानामुक्तेषु निक्षेपो विशेषाधिकाः ; ततोऽपि सर्वा स्थितिर्विशेषाधिका । कण्डकोऽपि सं ।

संप्रत्यमुभागापवर्तनानामतिदेशोनाह-

..... एवं ओवट्टणा उं ॥ ११? ॥

एवमुक्तसैनाप्रकारेणापवर्तनोऽप्युत्पत्त्याविषया वक्तव्या, केव-लमादि त आरभ्य स्थित्यपवर्तनावत् । तद्यथा-प्रथमं स्वर्धकं न्यापवर्तयेत्, नापि द्वितीयं, नापि तृतीयं, एवं तावत्कथं याव-त्वालिकामात्रस्थितिगतानि स्वर्धकानि भवति । तेच्य उप-रितनानि तु स्वर्धकान्यपवर्तयेत् । तत्र यदा उद्यावशिकाया उपरि समयमात्रास्थितिगतानि स्वर्धकानि अपवर्तयति तदा समयानावशिकात्रिभागद्वयगर्तानि स्वर्धकानि अनिक्रम्यपस्तेषु आवाशिकास्तत्कसमयाधिकात्रिभागगतेषु स्वर्धकेषु निक्षेप्यते । यदा त्पद्यावशिकाया उपरि न द्वितीयसमयमात्रास्थितिगतानि स्वर्धकान्यपवर्तयति, तदा प्रायुक्ता अतिस्थापना समयानावशिकात्रिभागद्वयप्रमाणा समयमात्रस्थितिगतैः स्वर्धकेर-नायवशिकात्रिभागद्वयप्रमाणा समयमात्रस्थितिगतैः स्वर्धकेर-धिकाऽवगतव्या । निक्षेपस्तु तावन्मात्र एव, एवं समय-रुद्धा अतिस्थापना तावच्चक्षुसुपतंतव्या यावदावशिका प-रिपूर्णं भवति, ततः परमतिस्थापना सर्वत्रापि तावन्मात्रेण नि-क्षेपस्तु वक्तव्यं, एवं निर्व्याघाते सति उच्यते । व्याघाते पुनरनुजा-गकारकं समयमात्रस्थितिगतस्वर्धकान्युत्पत्तिरस्थापना इष्टव्या । कण्डकमानं समयमात्रन्यूनत्वं च यथा प्राक् स्थित्यपवर्तनानामु-क्तं तथाऽत्रापि उच्यते । अत्रापवर्तनमुच्यते-सर्वस्तोकां ज-घन्यानिक्षेपः, ततो जघन्यातिस्थापना अनन्तगुणाः ततो व्याघाते अतिस्थापना अनन्तगुणा, तत उक्तेप्रमुत्पत्त्याऽऽकं विशेषा-धिकम्, तस्य एकसमयगतैः स्वर्धकेरतिस्थापनानांऽपि कत्वा-त् । तत उच्यते निक्षेपो विशेषाधिका, ततोऽपि सर्वोऽप्युभापो विशेषाधिकाः कः प्रोः पं सं ।

अववट्टणापंक्रम-अपवर्तनानांक्रम-पुं । प्रमृतस्य सतो रम-स्य स्तोकीकरण, पं सं । अपवर्तनासंक्रमस्तु बन्धोऽस्येय या प्रवर्तते । " सवर्थाऽववट्टणा उिइराणं " इति वक्ष्यमाण-वचनात् । पं सं २ इतर । अववट्टणा-अपवत्त-त्रि० । मृषावाद्मकुर्वति, आचा० १ अ० ४ अ० २ उ० ।

अववर्षाविचा-अवव्यरोपयिता-की० । अत्रशक्तयाम्, " जि-न्मामात्रो लोकस्त्रात्रो अववर्षाविचा अयत् " । स्था० ६ ग० । अववाय-अपवाद-पुं० । परद्वयणाभिधानं, प्रश्न० २ सख-० इतर । द्वितीयपदाश्रयणं, दर्श० ४० । विशेषाधिका, यथा-"पु-ढवास्तु आसेवा, उपपन्नं कारणमि जयणाए । मिश्राहियस्स त्रियस्सा, अववायो होइ नायव्ये " ॥१॥ दर्श० ५० । पञ्चा० प्रति० नि० चू० । उत्सर्गस्य प्रतिषेधे, सु० १ उ० । विशेषवकल्प-ना " सुत्त " शब्दे धीऽप्या । तथाविद्यद्व्यङ्ग्येऽत्रालभावाप्युत्तु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पञ्चकारिण्यतयाऽनेपर्यायादिप्रहणं, स्या० । अनुहायाम्, नि० चू० १ उ० । निक्षेपकथायाम्, नि० चू० ५ उ० ॥

अववायकारि(ण्)-अववातकारिन्-पुं० । आहाकारिणि, पं सं १ इतर ।

अववायपुत्र-अववादिस्त्र-न० । अपवाशिकाधैरुपके सूच-येद, वृ० १ उ० (' सुच ' शब्दे विवृतिरस्य उच्यते) । अवविद्-अवविध-पुं० । स्वाम्यस्याते आशिकीको-गोशाङ्क-कमता-) पास्तकं, स० ८ श० ३ उ० ।

अवशाल-अवसर-पुं० । मागध्याय "रसोलंशौ" ॥८॥१२००॥
इत्यनेन रूपनिर्घण्टः । प्रस्तावे, "णं अवशालोपसम्पर्णया ला-
भाणो" । प्रा० ४ पाद २०३ सूत्र ।

अवस-अवश-पुं० । कर्मपरशय, लसत् ०६ अ० । परवशो, सूत्र० १
श्रु० ३ अ० १ उ० । उल० । प्रञ्ज० ।

अवश्यम्-अव्य० । "अवश्यमो वै-नै" । ८ । ४ । ४२७ । इत्य-
पञ्चसं स्वार्थे ङः निश्चय, अवश्यनिधारणे च । "अवस न सु-
अहि सुअच्छिअहि" । प्रा० ४ पाद ।

अवसतण-अवशकुन-न० । अशुजसूक्तं निमित्तभेदे, वृ० ।
तानि च—

मलिणकुचैले अन्ने-गियक्षप मागःसुजवधये य ।

एए तु अप्पसत्था, इवंति खिचाउ ग्गितस्स ॥

मलिनः शरीरेण वस्त्रैर्वा मल्लोमलः कुचलो जीर्णोद्विषम्यपरि-
धानः अशक्नोतः स्नेहाभ्यक्तशरीरः, श्वः वामपाश्वर्द्धक्षिणपा-
श्वेयामो, कुञ्जो यक्षशरीरः । वरुमो वामनः । एते मलिनान्द-
योऽप्रशस्ता जयन्ति तत्राभ्रिगच्छतः ॥

तथा—

रत्तपदचरगतावम-रोगियविमत्ता य आउए विउजा ।

कावायवत्तयउ-द्वियाय य जत्ते न साहंति ॥

रक्तपदाः सौगता, चरकाः काणादाः, घाटोवाहकावाः तापसा
स्वरजस्काः रोगिणः कुष्ठार्दरेगाकान्ताः, विकलाः पाणिवादाद्य-
चपव्याङ्गनाः, आनुरा विचिषदुःखापदुताः, वैद्याः प्रसिद्धाः,
कापयवश्राः कापयवश्रपरिधानाः, उद्भूतला प्रस्मेदभ्रित-
गालाः धूलिधूमरा वा । एते क्लेशाभ्रिगच्छन्तिऽऽः सन्तो यात्रा
गमने, तत्रप्रवर्त्तकं कार्यमप्युपचारात् यात्रा, तां न साधयन्ति ।
उक्ता अपशकुनाः । वृ० १ उ० ।

अवसकृण-अवपदकृण-न० । साध्वर्थायावसर्पणे, पञ्च० १३
विव० । आचा० । पश्चाद्गमने, प्रव० २ द्वार ।

अवमकि (ण)-अवप-ङ्कन-त्रि० । अवसर्पणशीले, सूत्र० २
श्रु० ६ अ० २ उ० । दूरगमनशीले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ॥

अवसज्ज-गम्-धा० । " गमेरङ्-अश्वाणुवज्जावसज्जसोक्तु०
। ८ । ४ । १६२ । इत्यादिना गमेरवसज्जाऽऽदेशः । अवसज्ज-
गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसर्पि [ण] अवसर्पित्-त्रि० । परिहारिणि, सूत्र० १ श्रु० २
अ० २ उ० ॥

अवसय-अपसद्-त्रि० । तुच्छे, स्या० ४ उ० ४ उ० ॥

अवसर-अवसर-पुं० । प्रस्ताव, विज्ञाने च । दश० १ अ० ।
"अहुणावससो णिसींश्चुलाए" । नि० चू० १ उ० ।

अवसराण-अवसराण-न० । समवसरणे, प्रव० ६२ द्वार । अ० ।

अवसवस-अपस्ववश-त्रि० । अपगतामतन्त्रत्वे, ङा० १६ अ० ।

अवसव-अवसप-पुं० । युधे, लस० ३२ अ० ॥

अवसावण-अवशावण-न० । काञ्जिके, " अवसावणं लाडाणं
कञ्जिअं भज्ज " ति । इह लाटदेवोऽवशावणकं काञ्जिकं भ-
स्यते । वृ० १ उ० ।

अवसिकृत-अपसिक्तान्त-पुं० । सिकान्तादपकान्ते, " संसार-
कारणाद् घोरा-वृत्सिकान्तदेशनात् " । स्या० १० उ० ॥

अवसे-अवश्यम्-अव्य० । " अवश्यमो नै-डौ" । ८ । ४ । ४२७ ।
इत्यपञ्चोऽवश्यमः स्वार्थे 'नै' प्रत्ययः । " अवसे सुकदि पणई"
प्रा० ४ पाद ॥

अवसेस-अवशोप-पुं० । अवशिष्ट, स्या० ७ उ० । आनु० । तद्-
तिरिक्ते, उपा० १ अ० ॥

अवसेह-गम्-धा० । " गमेरङ्-अश्वाणुवज्जा०" । ८ । ४ । १६२
इति सूत्रेण गमेरवसेहादेशः । अवसेहङ-गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसेह-नज-धा० । अर्द्धेन, " नशोणिरपास-णिवहावसे-
ह " । ८ । ४ । १७८ । इत्यादिसूत्रेणयसेहादेशः । अवसेहङ-
नश्चति । प्रा० ४ पाद ।

अवसोग-अपशोक-पुं० । वीतराजे, जम्बूद्वीपापेक्षया द्वादश-
होपाधिपतौ देवे, द्वीप० ।

अवस्स-अवश्य-त्रि० । अवश्यं पर्यायोऽवश्यशब्दोऽकारा-
न्तोऽप्यस्ति । अ० म० द्वि० । अत्रो । नियते, आद्य० ४ उ० ।

अवस्मकम्-अवश्यकर्पुन-न० । अवश्यक्रियायाम्, आ०
चू० १ अ० ॥

अवस्सकरिण-अवश्यकरणीय-न० । मुमुक्षुभिरवश्यं
क्रियते इति अवश्यं करणीयम् । विशेष० । अवश्यके,
मुमुक्षुनिर्णयमानुष्ठयवत्त्वत् । अत्रु० । अवश्यकरणमिति
प्रश्न प्रश्नर्थे—अवश्यं वादवश्यकणसंज्ञायाः, भास्करव-
त्, अवश्यकरणीयत्वाद्भवश्यकर्णं कुर्वतीति । कथमिदमव-
श्यकण, कथमियमवश्यंति । दृश्यते-द्रष्टव्यमनुगता या संज्ञा
साऽवर्था; अर्थमङ्गीकृत्य प्रवर्त्तते इत्यर्थः । कथमिह? यथा-भा-
स्करमंज्ञा अव्यर्था; कथमव्यर्था? जासं करोतीति प्रास्कर इति
यं भासनार्थे; तमङ्गीकृत्य प्रवर्त्तते इत्यव्यर्था । तथाऽवश्यकरण-
मिति इयं संज्ञा अव्यर्था । कथमिति चेत्? सम्यह-अवश्यं क्रियते
इत्यवश्यकरणमिति योऽवश्यकरणोऽवश्यकर्तव्यतया तमङ्गी-
कृत्य प्रवर्त्तते यस्मान्मस्मात्सर्वेकालिभिः सिद्धाद्भिरवश्यंक्रि-
यमाणत्वाद्भवश्यकर्णमित्यव्यर्थसंज्ञासिक्तेः । आ० चू० २ अ० ।

अवस्मकिरिया-अवश्यक्रिया-स्त्री० । पापकर्मनिषेधे, " अ-
वस्सकम्मं ति वा अवस्सकिरियं ति वा पण्डा " । आ० चू०
१ अ० ।

अवह-कृप्-धा० । सामर्थ्ये, " कृतोऽवहो णिः" । ८ । ४ । १५१ ।
इति कृतः 'अवह' इत्यादेशो एतन्तो भवति । अवहवङ्-कल्पते ।
प्रा० ४ पाद ।

अवह-रच्-धा०-सुरा० । प्रतिपत्ते, " रचवग्माहावह-वडविशः"
। ८ । ४ । १५४ । इति स्वर्धतोः 'अवह' आदेशः । अवहर्-रच-
यति । प्रा० ४ पाद ।

अवहङ्-अपहति-स्त्री० । विनाशे, विशेष० । आ० म० ।

अवहङ्-अपहृत्य-अव्य० । परिहृत्य, (सौ०) परिहृत्य,
(सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । दश० । दश०) निष्कृष्येत्यर्थे,
आचा० २ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अवहृद-अवहृत्-त्रि० । " प्रत्यादौ हः " । ८ । १ । २०६ । इति
लहव ङः । प्रा० १ पाद । परिहृते, नि० चू० १० उ० । आच० ।

अवहृन्

"बालम् अवहाय० अवहमे विसृष्टं भवह" । निःशेषबालामले-
पायद्वारान् । म० ६ श० ७ उ० । नि० चू० । आ० । देशान्तरं
नति, प्रथ० १ श्व ।

अवहृन्विय-अपहृन्वित-त्रि० । निराकृते, न० ॥

अवहृद्दृमंजम-अपहृत्संयम-पुं० । अवधिनांभारारोनां परि-
ष्ठापनतः क्रियमाणं, स० १७ सप्त० ।

अवहृन्ना-अवहृन्नन-न० । उद्बले, इ० १ उ० ।

अवहृत्प्रमाण-अप्रत-त्रि० । न इत् न अप्रत । आरम्भाऽकरणेन पी-
नामकुर्वति, " एतन् अवहृत्प्रमाण उ " । दश० १ अ० ॥

अवहृत्-गम्-धा० । "गमेरुऽअच्छा०" = । ४ । १६२ । इत्यादिना
गमेरुवहरादेशः । अवहृत्-गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

नक्ष-धा-दिवा० । अदर्शनं, "नशेषिरेणाम-निगहोवसेह-प-
डिस्वा-वमेहावहराः " । १४ । १७८ । इति नोऽवहरादेशः ।
अवहृत्-नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अप-हृ-धा० । चोरणे, स्या० ५ श्र० १ उ० । स्वीकरणे, मूत्र०
१ श्रु० ६ अ० । प्रभ० । उपा० । मूत्रे तु- अवहृत्सु । अपहृ-
त्तवार । स्या० १० उ० ।

अवहाय-अपहाय-अव्य० । त्यक्तव्यर्थे, म० १५ श० १
उ० । मूत्र० ॥

अवहार-अपहार-पुं० । अपहरणमपहारः । आ० म० द्वि० ॥
गन्तव्यविहङ्करणे, नि० चू० ।

वमणविरगादीर्हि, अन्तेतरपोगलाण अवहारो ।
तेल्लुवट्टणजलपु-एच्छुणामादिर्हि वडभारो ॥

अनामनाग वृषिय संनिर्वायत्सहरादिषाण वमणविरवणादी-
र्हि अवहारो भारोः स्वरागतो पूयसोऽणथसिञ्जणमलावृणन-
मसादि तेल्लुवट्टणादिर्हि अस्मि अवहरति । नि० चू० ७ उ० ।
चौथे, उल्ला० ४ अ० । प्रथ० । जडचरविशेषे, प्रथ० २ आशुऽहार ।

अवहार्य-अवधारयत्-पुं० । अवधारणावति, स्या० १० उ० ।

अवहि-अवधि-पुं० । अवश्याऽप्राप्तार्थः । अव अथो वि-
स्तृते वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः । यद्वा-अवधिर्म-
यादा रूपेष्वव धस्तुषु इत्येव परिच्छेदकतया प्रवृत्तरूपतया,
तदुत्पत्तिक्रितं होनमवधायः । प्रथ० कथोऽनभेदे, प्रका० २८ २६ ।
("आहि" शब्दे तुऽवधामो १३० पृष्ठ व्याकथयत्ये)

अवहेह-मुञ्च-धा० । मोचने, " मुचश्शुभ्रव्यहेह-महोऽस्मिन्न-
अद-गिच्छुड-धंसाडः " । ४ । ४ । ६१ । इति मुञ्चन्तरवहेद्वादे-
शः । अवहेह-मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

अवधेद्विय-अवाधकृत-अवधोदित-त्रि० । प्राकृत्यात्तया-
कृतम् । अवस्तादात्मोदितं, " अवधेद्वियपाट्टिसत्तममे " । उल्ला०
१५ अ० ।

अवद्वोल्लेख-अवदोल्लेख-त्रि० । दोषायमाने, इ० ८ अ० ।

अवाहसंसगवा-अवाद्यमङ्गना-स्त्री० । जगदिनाऽप्रतिकृता-
याम्, इ० ।

" समानस्य जवादासो-दानस्यावाद्यसङ्ख्या " । उदानस्य

कृत्वाकादेशाद्देशिरोबुसंज्ञयादितरेषां धातूनां निरोधाद्-
ध्वगतिस्यद्धरवादिना जगदिनाऽस्यमाऽप्रतिकृता । जि-
तोदानो हि योगी जले महानद्यादौ महति वा कदम्बे त्रीक्षणेषु
वा कण्ठकेषु न सजति, किन्तु लघुयात्सपिण्डवज्जलादाय-
निमज्जनुपरि तेन गच्छन्तीत्यर्थः । लङ्कृतं- " उदानजयाज्जलप-
ङ्कण्ठकादिष्वसङ्ग उक्तान्निब " । इ० २६ इ० ।

अवाहण-अवातीन-त्रि० । धानीनानि धानोपहतानि, न वाती-
नानि अवानीनानि । वानेनापतिनेषु, रा० । ज० । इ० ।

अवाहण-अप्राप्तुन-त्रि० । प्रावरणरहिते, इशा० ३ अ० । प्राव-
रणाभावे, न० । न० १ श० १ उ० ।

अवागिद्ध-अवागिम्बु-त्रि० । अवाचासै, इय० ७ उ० ।

अवागिज्ज-अवापनीय-न० । संसर्गजं शुणं देये वा संसर्गा-
न्तरणाऽवमिति इत्ये, स्या० १० उ० ।

अवाय-अपा(वा)य-पुं० । अप-अ-अच् । गगादिजनिनेषु प्राणिना-
मैहिकामुष्मिकेष्वनपेषु, स्या० १ श्र० १ उ० । अपायाऽनर्थः स यत्र
द्रव्यादिषु अमिधायने यथा-पनेषु द्रव्यादिविशेषेषु अस्यपायः,
विवक्तिद्वय्यादिर्विपर्ययव्य, हेयता चाऽस्य यथाभिधायने नदा-
हरणमपाय इति । उदाहरणभेदे, स्या० ४ श्र० ३ उ० । विना-
शे, य० १ श्र० १ । चिह्नैः, न० । तत्रापायश्चातुःप्रकारः । तत्र-
धा-इत्यापायः, क्षेत्रापायः, कालापायः, भावापायश्चेति । तत्र
इत्यापायो इत्यापायः । अपायेऽतिप्रधानि । इत्य-
मेव वाऽपायो इत्यापायः, अपायेहेतुत्वादित्यर्थः । एव क्षेत्रा-
दिर्थाय साधनीयम् ।

साधनं द्रव्य पायप्रतिपादनायाऽऽह—

दन्वापे दाधि उ, द्राणयमा जागो धगानिभिं० ।
वडपरिणएकमेकं, दहामि मच्छेण निवेओ ॥ ५५ ॥

द्रव्यापाये उदाहरणम-द्धी तु (तथाऽदान्यानि च) वणिजो प्रा-
तरी धननिमित्तं धनार्थं यत्रपरिणतो एकैकमर्थेभ्यं द्दं मर्ये-
न निवेदं इति गाथाऽहाराथः । प्रावार्यरुतु कथानकाद्वयंयः ।
तच्छेद- " एगमित् संनिर्वसे दो मायरो द्वाहृत्पायाःतेहि सोऽरुं
गेणुण साहसिंसो गल्लसो कवयाण विद्विओ । ते अ मथ
गाम सपरिथया, डेता ने णडुयं वारणण वडति । जहा परामस
हथे तदा इयरो चित्तेह- " मारिमे णवरमेए कवया ममं हेतु ।
एयं बीओ चित्तिह- " जहाऽऽ एयं मारिमे । ते पराएये वहर-
णिथा अज्जस्सवति । तओ जाहं समगामसमोवे पत्ता, तथ नरे-
तडे तिंअरस्स पुणगवत्ती जाया । धिरय्मु ममे, जेण मएह-
वस्स कए मावणिणासो चित्तिओ । परओ म इयरोण पुच्छुओ ।
कहिए णणह-मम एप एयरिस्स चित्तं हेतु । ताह एयस्स द्रोम-
ण अमेहे एयं चित्तिय ति क, उं तेहि भो नउत्तरो वहे कुट्ठा ।
तेथ घरं मया । सो अ णउल्लओ तथ पदेत्तो मच्छएण गिल्लो ।
सो अ मच्छुओ मेणण मारिओ, वीहाए ओयाारिओ । तेसि च
भाउणो मंगिणी मायाए वीहि पडविणा, जहा-मच्छुओ अण्ण ।
जे ताउगाणं निउओ ति । ताए असमावर्णीए सो वेव मच्छुओ
आणीओ । केरिण कालिणीए णउल्लओ दिट्ठु । वेहीए चित्तिय-
एस्स गउत्तओ मम वेव भविस्सए ति चच्छेण कओ । ठावजने
यधेरीए विदो, णाओ अ । तीए णाणय-कमय तुम चच्छेण कयो ।
साधिव लोह गया ण साहह । ताओ दो वि पोएरं पहरतो । स्य

धेरी ताए जेहीए, तारिले मम्मपपयले आद्याए, जेण तक्कणमेव
जावियाओ वधरोविया । तेहि दु क्पाएहिं सो कइहवइयरो
पाओ । स खउलओ विट्ठो । धेरी गाढपहारा पाणविमुक्का गि-
स्सधु धरिणिअओ पडिया विट्ठो । चिनिंयं ख पेहिं—इमो सो
अभावइहओ आथो अगथो सि । एवं दव्वे अवायइहं सि ।
लौकिका अण्णाणुः—

“अथाणामजेम दुःख-मज्झिणानां व रक्षणे ।
आथं दुःखं व्ययं दुःखं, धिस्सुं ह्ययं दुःखवर्द्धनम् ॥ १ ॥
अपायचट्ठसं पापं, यं पारित्यज्य संसृताः ।
तपोवनं महासत्त्वा-स्तेन धन्यास्ते मनस्विनः ” ॥ १ ॥ इत्यादि ।
पातावप्रकृतोपायोगि ॥ “तयो तेमि तमयायं पिच्छऊण गिच्छे-
ओ जाओ । तओ ते दारिये कस्सइ द्वाऊण निविसकामओओ
पवइय सि” गाथार्थः ।

इदानीं क्षेत्राद्यप्राथम्यप्रतिपादनायाऽऽह—

येनामि अयकमाणं, दमारवगससं होइ अवेरेणं ।
दोवायणो अ कासे, जाये मंडुकियाववओ ॥६६॥

तत्र क्षेत्र इति शारवामशः । ततश्च क्षेत्राद्यपयः, क्षेत्रमेव वा, त-
त्कारणत्वादिति । तत्रोदाहरणम्-अप्रकमणमपमेयेणं दशारवगं-
स्य दशारवमुदायस्य भवति । अयेरेणाऽपरत इत्यर्थः । प्रावार्थः
कथानतद्व्यवस्येयः । तच्च चक्यामः । त्रैपायनश्च कासे । त्रैपायन
श्रुतिः काल इत्यत्रापि कालाद्यपयः, काल एव वा, तत्कारण-
त्वादिति । अत्रापि प्रावार्थः कथानकगम्य एव । तच्च चक्यामः
भावे मण्डुकिकाकृतक इति । अत्रापि भावाद्यपयो भावप्रायः, स-
एव वा, तत्कारणत्वादिति । अत्रापि च भावार्थः कथानकद्वये-
यः । तच्च वक्ष्यामि इति गाथार्थः । जावये उच्यते—“खिसा-
या योडाहरणं—दमार इरियेसरयाणो । पथ्य महइ कडा-इहा
हरिचम उवओआयं चैव जण-कंमामि विणिवाएय स्वायं
वेकमेण नि काऊण जरायंअगयमएण दमारवगसं मडुराओ अ-
वाकनऊण बारवइ गअओ सि ॥” प्रकृतानुजानं पुनानेयुलिकार
एव कारिण्यति किमकारम एव नः प्रयासेन ? “कात्रायए उदाहर-
ण पुण-कगहपुच्छेणण भगवयाऽरिदुणंमिणा धामपरियं-वारसहिं
सयच्छुंरिं देवायणओ वारवदनयरोविणोसो । उज्जात-
रायणगरो ए परपरएण सुणिऊण देवायणपरिस्वायओ मा ग-
गरि विणोसंहामि सि कालावाधिमअओ गोमेमि सि उत्तरावहं
गओ । समं कालमाहमपाणिऊण य बारसं चैव संवच्छे
आगओ । कुमारिंहिं खलीऊण कयणीयाणो कोवो उवओषो । त-
ओ य णगरीए अओओ जाओ सि; णऽमहा जिन जासयं ति” ।
“भाववावाए उदाहरणं अमओ-पयो अमओ वेदलएण समं भि-
क्यापरियं गओ । तेण तथं मंडुकियाय मारिता । चेल्ल-
एण जणिये-मंडुकलिया धएण आहूओ । अमओ जणतिरे दुट्ट-
सेह विरमइयो चैव एसा । तं गओ । पच्छा रसिं स्वावसेअ आ-
लोऽन्तान अमगेण सा मंडुकियाय नाओइया । ताहं चेल्लएण
भणियं-अमओ ! तं मंडुकियं अओइयति । अमओ रुठो तस्स
चेत्तयस्सं खलमइधं धएण उटाइओ । असायलए अंभ
आवडिओ वेगेण । इतो अओ य जोइसएसु उवओषो । तओ
चइसा दिट्ठिविसाणं कुले दिट्ठिविसो सण्यो जाओ । तथं पयो-
ण परिदिट्ठेण नगरे रायपुत्तो सण्येण अइओ । आहिणुड-
एण विउजाओ सव्वे सण्यो आवाहिया मइधे पयेसिआ भ-
णिया-ओष सव्वे गच्छं, जेण पुण रायपुत्तो अइओ सो अ-
रथउ । सव्वे गता । पयो उओषो । सो भणिओ-अइया विसं आ-

विषय,अइया परध भग्निग्मि णिवडिइहि । सो अ अग्नेयो । स-
प्याणं किं दो जाओओ-यंथणा, अण्णयाया । ते अग्नेयणा माणि-
णो । ताहं सो अग्निग्मि पविट्ठो, ण य तेण सं वंथं पञ्चाविइयं ।
रायपुत्तो वि मओ । पच्छा एथा रुडेण धोसाविणं-उज्जो जो मम
सण्यसिं अण्णं तस्साहं दीणारं देमि । पच्छा लोओ दीणार-
लोणेण सण्यं मारंइ आइओ । तं व कुं, जय्य सो अमओ
उपओ, तं जाइस्ते रसिं हिइइ, रिषवओ न हिइइ, मा जीव
इहहामि (सि काउं) । अथया आहिंदिग्मिहं सण्यं मग्गेहिं रसिं च-
रेण परिमणेण तस्स अमगसण्यं चिंइं दिट्ठि सि । वरं स उओओ
ओसदिओ आवाहंइ । सो चित्ते-दिट्ठो मे कोवस्स विवाओ ।
तो जइ अइ अमिमुहो णिग्मण्णामि तो इहिहामि, ताहं पुच्छेण
आइओ णिक्किडिं अजिय णिक्केइ तावइयमेव आहिं-
दिग्मि अदिंति, जाव सोसं डिग्मिं । मओ य सो सण्यो देवया-
परिग्मिओ । देवयाए रओ सुमिणए इरिसणं दिखं । जहा-
मा सण्यं मारंइ, पुत्तो ते नामकुलाओ उववट्ठिऊण भविस्सइ;
तस्स दारयस्स नागदत्तनामं करंआहि । सो य अमगसण्यो
मारिआ तेण पाणपरिआएण तस्सव रओ पुत्तो जाओ, जाए
दारए णामं कयं खागदओ । खुदलओ चैव सो पवइओ । सो
अ किर तेण तिरियाणुभावणेण अनीव दुहाइओ दोसंणवेलाए
चैव भादवेइ हंजजं जाय सुत्थमणवेइ उववंतो धम्मसाइओ य
। तस्मि अ गच्छं चत्तारि अमया तं वाउममासिओ तमांसिओ
दोमामिओ परामामिओ सि । रसिं च देवया वंदिं अगया ।
वाउममासिओ पदमदिओ । तस्स पुरओ तमांसिओ । तस्स पुर-
ओ दोमामिओ । तस्स पुरओ परामामिओ । ताण व पुरओ खु-
ओ । सव्वे अमगं अतिक्रिया ताए देवयाए खुओओ वंदिओ,
पच्छा ते अमया रुटा निग्मण्णुति य गइया वाउममासिअअ-
मएण पांसे भणिया व अग्णेण-कउपयणि । अइहे तवसिणोण
वंदिं, एयं कुरमायणं वंदिं सि । सा देवया जणइ-अइं भा-
वअमयं वदामिण पुवामअगरपरे माणिणो अ वंदामि । पच्छा ते
चेल्लयं तेण अमरिसं वंदिं । देवया चित्ते-मा पांते चेल्लयं करि-
टेहि ति, तां साहिइया चैव अथामि, ताऽइ पडिवोहहामि । वि-
तियदिवसे अ चेल्लओ सांइसावेऊण गओ । दोसोणस्स पडि-
आगओ आओइसा वाउममासियअमग णिमंतेइ । तेण पडिगहं
सं अंभे णिच्छूदं । चेल्लओ भणइ-मिच्छा मे पुच्छइ, जं तुभं मए
अंभेल्लमओ ण पणामिसि. त तेण उपरराओ चैव फरिसां अंभम-
लए दूदं । एवं जाव तिमामिणं जाव पणामिसिणं णिच्छूदं ।
तं तेण तदा चैव फेदियं अहुवायिणसालंबणे गिगहामि सि काउं
अमएण चेल्लओ बाहं गइओ । तं तेण तस्स चेल्लगस्स अरीय-
मणसस्स विसुद्धपरिणामस्स हेस्साहिं विसुज्जामाणिं तदाऽऽ-
वरणिऊणं कमणं अएण केवलनाणं समुपपंओ । ताहं सा देव-
ता भणति-किहं तुभं वंदिअओ ? जेणं कोहाभिभूया अथ-
इ । ताहं ते अमया संवेगमावओ मिच्छा मे तुक्कं ति, अओ ?
बालो उवसतचिओ अइहिं पाउकम्मोइ आसाइओ । एवं
तेमि पि सुइउक्कवसाणेणं केवलनाणं समुपपंओ । एवं पसंगओ
काइयं कहाणयं । उवओषो पुण-काहाइदाओ अण्यसत्तरभा-
वाओ दुमोइए अवाओ सि” ॥

परलोकाचित्तार्थं प्रकृतोपयोगितां दर्शयन्नाह-

सिक्खगमसिक्खमाणं, संवेगथिरुट्ठायं दोएदं पि ।
दव्वाइया एवं, दंसिज्जे अवावाओ ॥ ६१ ॥

अवयव

शिक्षकशिक्षकयोः-अभिनवप्रजाजितचित्तप्रजाजितयोः, अभिनव-
 प्रजाजितयुद्धस्थयोर्वा, संवेगस्थेयोर्वा द्वयोर्वा च्छ्वयाप्याः, पञ्चसूक्तेन
 प्रकारेण, बह्व्यमाणेन वा दृश्यन्ते अत्राया इति । तत्र संवेगो
 मांक्षुष्माभिहायः; स्थेयं पुनरप्युपगतपरित्यागः । ततश्च कथं
 तु नाम दुःखनिवृत्तयन्त्रव्याघवगमास्थयोः संवेगस्थेयैः स्थातां,
 च्छ्वयादिषु वा प्रतिबन्ध इति गाथायाः । तथा चाऽऽहु-
 दविषं कारणगद्विषं, विमिषिअव्यवसिवाप्त्येवं च ।
 वासद्वि पक्षकाशो, कोहादिविषेगभावस्मि ॥१५८॥

होहास्वर्गतो मुमुक्षुणा च्छ्वयेव-अधिकं यत्प्रयात्रादि, अन्वया कन-
 कदि, न प्राहम् । शिक्कादिहसंद्धार्यकारणयुद्धे। तमपि तपस्विस्-
 मासौ परित्याज्यम् । अत एवाह-द्रव्यं कारणयुद्धे। तं विकिञ्चित्तव्यं
 परित्याज्यम्, अनेकेहिकाभूमिकापायहेतुत्वात् । दुःखनाप्रहाद्य-
 पायहेतुत्वात्; दुःखनाप्रहाद्यपायहेतुता च मध्यस्थेः साधया भाव-
 नीयेति । एवमशिवोदिते च, परिस्वाप्त्यमिति वतते । अशिव-
 दिवधानं क्षेत्रप्रशिक्षादिक्रमः । आदिशब्दान्त-ऊनोदरता-राजोद्दि-
 छादिपरिग्रहः । परित्याज्यं चेदम्, अनेकेहिकाभूमिकापायसंजया-
 दिति । तथा-शुद्धशक्तिर्धैर्यव्यक्तकालः, परिस्वाप्त्य इति वचंते ।
 तत एवापायसंजयादिति भावना । एतदुक्तं भवति-अशिवोदिते । सु-
 चर्यं कृत्वंता, अतिसयमादिह नाकणं ॥१॥ इत्यादि । तथा-क्रो-
 धादिविषेकाभाव इति । क्रोधाद्योऽप्रशस्तता जायाः, तेषां वि-
 वेकः नरकपातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्यागः । भाव इति जायापाय
 कार्य इत्ययं गाथाधेः । एवं नावद्विस्तुतश्चरणकरणयोगमाधि-
 कृत्यायाः प्रदशितः । दशाः १ अ० । (छव्यायोगमन्वयव्यपा-
 यस्तु ' अता ' शब्दे द्वितीययोगे १८८ पृष्ठे समुक्तः)

अयप्रदोतस्य इति तस्य चाधर्म्य निर्वैयर्थ्ये अप्यवसाय-शाङ्क-
 वयाय शाङ्क एवायमित्यादिकरुपे अवधाम्नात्मके मानेनैदकरुपे
 प्रत्ययं, अ० म० प्र० । प्रकान्तकाजावना। स्तित्वनिश्चयसत्त्वात् । अयं ० ४ ता०
 ४ उ० । व्य० । ग० । दशा० । म० । इति तस्यैव वस्तुनः स्थाणु-
 रवयमित्यादिनिष्ठायात्मके बोधविशेषे, प्रथ० २१६ द्वार । न० ।
 सम्म० । विश० ।

ईहितविशेषनिर्णयोऽवयवः ॥ ११ ॥

ईहितस्य ईहया विषयीकृतस्य विशेषस्य कर्णाटशब्दादेर्नि-
 र्णयो याथाव्येनावधारणमवयव इति । तस्मिन् २ परि० ।

अय मतिज्ञानवृत्तीयभेदस्वापायस्य स्ववकमात्र—

महुराऽगुणत्तण्त्वात्, संस्वस्मैवेति जं न मगसम् ।
 विमार्गां मांस्वात्रो, अगुणमवस्वर्गजावात्रो ॥१२८०॥
 मधुरस्मिन्पाद्विगुणत्वात् शस्त्रस्वैयर्थ्यायं शब्दे न शृङ्गस्यव्यादि
 यद् विशेषार्थज्ञानं सोऽवायो निश्चयज्ञानरूपः । कुनः, इत्याह-गु-
 दावय्येधर्ममाणमनुगमजावात्-अस्तित्वनिश्चयसत्त्वात् । तथाऽ-
 विद्यमानार्थधर्माणं तु श्र्यनैरेकाजावना। स्तित्वनिश्चयसत्त्वात् । अयं च
 व्यवहारार्थोऽवप्रदानन्तरभावो अत्राय उक्तः । निश्चया-
 द्यवप्रदानन्तरजावो तु स्वव्यपच च्छ्वयः । तद् यथा-भोतुर्माह-
 स्वाहियुष्मत्ता शब्द एवायं, न कर्णादिति ईहापायविषयाश्च
 विप्रतिपत्तयः प्राग्प्रतिपत्ता इति नेहोकाः । इति गाथाधेः
 ॥२८०॥ शि० । "वचसायमि अवात्रो," म० । विशिष्टोऽवसायो
 व्यवसायः निर्णयो निश्चयोऽवगम इत्यवधानोत्तरम् । तं व्यव-
 सायम्, अर्थोनामिति वतते, अत्रायं भुवत इति संसर्गः । एत-

दुक्तं प्रवृत्ति-शास्त्रस्य एवाऽयं शाङ्क एवायमित्याद्यवधारणात्मकः
 प्रत्ययोऽवयव इति । व्यवसायमेवायं भुवत इति । आ० म० प्र० ।
 भेदात्तस्य—

से किं तं अत्राप । अत्राप उच्चिदे एएएत्ते । तं जहा-सो-
 इन्द्रियअत्राप, चकिंत्वादिअत्राप, धारिण्दिअत्राप, जि-
 ष्ठिभादिअत्राप, फामिदिअत्राप, नोदिअत्राप । तस्स
 यं इमे एगद्विद्या नाणायोसा नाणावज्जहा पंच नामभिज्जा
 जनेति । तं जहा-आउट्टएया एवाउट्टएया अत्राप बुद्धी
 विस्साणं । सेचं अत्राप ।

'से किं नम्रियादि' । अत्र भोत्रेन्द्रियणावायः भोत्रेन्द्रियावायः भोत्रे-
 न्द्रियनिमित्तमर्थावग्रहमाश्रित्य यः प्रवृत्तोऽवयवः स भोत्रेन्द्रिया-
 वाय इत्ययोः एव बोधा अर्थ जावनीयाः । तस्स गमित्यादि 'भावत्वा-
 त् अत्रापि सामान्येन एकार्थिकानि, विशेषविन्यायो पुनर्नानार्थानि ।
 तत्र आवर्तन-ईहाता निवृत्त्याऽवयवजावप्रतिपत्तिविषयो वचनेते येन
 बोधपरिणामेन स आवर्तनं, तत्राप आवर्तनता । तथा-भावर्तनं
 प्रति ये गता अर्थविशेषवृत्तौ चरेषु विचिन्विताऽवयवप्रत्यासन्नतरा
 बोधविशेषास्ते प्रत्यावर्तनाः, तत्रापः प्रत्यावर्तनता । तथा-अवा-
 यो निश्चयः सर्वथा ईहाभावोद्दिष्टनिवृत्तस्य धारणाऽवधारित-
 मर्थमवगच्छते । बोधविशेषः सांऽवयव इत्यर्थः । ततस्तेमेवादधा-
 रितमर्थे क्षणोपशमविशेषान् स्मिरतया पुनः पुनः स्पष्टतरमव-
 बुध्यमानस्य या बोधपरिणतिः सा बुक्तिः । तथा-गिरासो हाने
 विज्ञानं तपोपशमविशेषादेवावधारितविषय एव तौ वचनार्थ-
 रणहेतुर्बोधिबोधः । " सत्तं अत्राप " इति निगमनम् । न० ।

अत्रापदा-अत्राप्युक्ता-अ० । सम्भोत्रेन्द्रियावायं, अविभा-
 वितार्थत्वात् अयत्कात्सर्ग्यकार्या वा जायायाम्, घ० २ अत्रि० ।

अत्रापि एज्ज-अत्रावनीय-पुं० । वाचनाया अत्रयोः, स्था० १
 ता० ४ उ० । "प्रकान्तकाजावना। स्तित्वनिश्चयसत्त्वात् । वि-
 गद्वपदिबद्धे, अत्रिउसविषयाद्, मर्ध" । स्था० ४ यि० । ३ उ० ।

अत्रापदसि (ण)-अत्रापदशिन्-पुं० । अत्रापान् दुर्मिहदुर्बल-
 त्यादिकान् एहिकाननर्थान् परथयति । अथवा-दुर्लभबोधिकत्या-
 दिकान् सान्तिचारणान् तान् दर्शयन्त्येवहीलसावयवर्शोः । घ० २
 अत्रि० । अत्रापाननर्थान् निश्चनक्तुं निश्चयवदोत्तुं दुर्मिहदुर्ब-
 ल्यादिकान् परथयन्त्येवशीलः । सस्यवालोकनायां च दुर्लभ-
 बोधिचत्वारो नपायान् शिष्यस्य दर्शयन्ति अत्रापदसि । स्था०
 न ता० । इहलोकावयवदर्शनदोषे आशोचनार्हनेदं, व्य० १
 उ० । यः सस्यवालोकयति कुञ्जं च अमरमार्गादिकं स्वया प्रभूतम-
 नुभविष्यं, दुर्लभबोधिता च तेषां प्रविष्यतीत्येवं पर-
 लोकापायाश्च दर्शयति, सांऽवयवदर्शति भावः । व्य० १
 उ० । " दुर्मिहदुर्बलः, इहलोकावयव अत्रापि ।
 दर्शय य परलोप, दुर्लभदर्शित संसारे " ॥ १ ॥ स्था० ४
 ता० । दर्शो । पञ्जा० ।

अत्रापविजय-अत्रापविच (ज) य-न० । अत्रापारागि-
 अनितः प्राणित्मिहिकाभूमिका अत्रार्थः । (विधीयते निर्णय-

अत्रायविजय

अग्निधानराजेन्द्रः ।

अविकार

ने पर्याप्तोक्तयन्ते वा यस्मिंस्तद्वायविक्रयम्) प्राकृतत्वेन विजयमिति । अत्रायवा वा विजयत्वेन अधिगमद्वारेण परिविनी- क्रियन्ते यस्मिन्नियवायविक्रयम् ॥ २५० ० ४ टा ० ३ उ ० । ग ० । सम्म ० । रागद्वेषकषायाध्रवादिक्रियासु प्रवर्त्तमानानामि- दपरश्लोकधारपायानां ध्यान, ४० २ अधि ० । दुष्टमनेया- ह्ययथापारविशेषाणामपारयः कथं तु मे न स्यादित्येषंभूते संक- लवप्रसङ्गं, दीवपरिवर्त्तनस्य कुशलप्रवृत्तिस्यात् । सम्म ० १ काण्ड । धर्मध्यानस्य प्रथमं भेदं, अत्राय ४ अ ० । आ ० चू ० । (विस्तर- तोऽस्य स्वरूपं ' धम्मज्झाण ' शब्दं वक्ष्यते)

अत्रायसत्त्वामित्तिसु-अपायशक्तिमाहित्य-न० । नरकाद्यपाय- शक्तिमलिनत्वे, आ ० २ २ आ ० ।

अत्रायदेउत्तदेमणा-अपायदेनुत्त्वदेशाना-स्त्री० । असदाचारान- र्थमज्ञतादेशनायाम्, ध ० । अपायदेनुत्त्वदेशनेति । अत्रायाना- मनर्थोनाम् इहलोकपरश्लोकगोचराणां देतुयं प्रस्तावादसदा- चारस्य यो हेतुनावनवस्य देशना विधेया । यथा-" यत्र प्रयाति पुरुषाः, स्वर्गं यच्च प्रयान्ति विनिपातम् । तत्र निमित्त- मनार्यः प्रमाद इति निश्चितमिदं मे " ॥१॥ प्रमादश्चासदाचार इति । ध ० १ अधि ० ।

अत्रायान-अपादान-न० । अपादायिते विद्युज्यते यस्मात्सिद्धि- युज्यमानावधिचूचम्-अपादानम् । अणु ० । दाऽवखरुमने । दाने खण्डनम् । अपस्तृय आ मर्यादया दानं खण्डने विर्याजत यस्मात्तद्वादानम् । विशं ० । आ ० चू ० । अपादायिते अपा- यतां विकल्पनः आ मर्यादया दीयते दाऽवखण्डने इति वच- नान् खण्डनेन भिद्यते, अपादायिते वा गृह्यते यस्मात्तद्वापा- दानम् । अव्यभिचारे तत्र प्रार्थना भवति । यथा-अपयय गृ- हाद् धान्यम्, इतो वा कुशुलाद् गृहाणति ॥ २५० ० ट टा ० ।

अत्रायानुपे (वे) हा-अत्रायानुपेक्षा-स्त्री० । अत्रायानां प्रा- णानिपातदाश्रयचारजन्यानर्थानामनुपेक्षाऽनुचिन्तनमपायानु- प्रेक्षा । ग ० १ अधि ० । अ ० । शुक्लध्यानऽनुपेक्षाभेदं, यथा-"कोदां य माणां य अणामाहीया, माया य लोभां य पयद्दुमाणा । चकारि पते कसिणा कसाया, सिञ्चिन्ति मूलाईं पृणुभयस्स " ॥२॥ इह माथा-" आसवद्वारावाप, तह संसारो सुहाण्णभावं च । भवसंताणमनंतं, वरयण विपरिणामं च " ॥१॥ इति । २५० ० ४ टा ० १ उ ० ।

अत्रारिय-अत्रारित-त्रि० । अनिवारिते, अकृत्यं कुर्वति तत्प्र- वर्तकमानिपिडे, निरकुशं, "अजा अत्रारियाश्चो, इधोरज्जं न तं गच्छं " । ग ० २ अधि ० ।

अत्रात्तर्य-अव्य० । मद्य उत्तार्यैवर्थे, दशा ० ५ अ ० २ उ ० ।

अत्राविकहा-अत्रापकटा-स्त्री० । शाकयुनादीन्यातावति नस्यां रसवत्यामुपयुज्यन्ते इत्येवंकषायां कषायाम्, २५० ० ४ टा ० २ उ ० ।

अत्रि-अपि-अव्य० । सम्भावने, उत्तं ० ३ अ ० । २५० ० । आचा ० । मूत्रं ० । व्यं ० । नि ० चू ० । दृशं ० । आ ० मं । द्वि ० । पदाईसंज्ञावने, नि ० चू ० ४ उ ० । समुच्चये, अ ० १ हा ० ३ उ ० । अष्ट ० । दृशं ० । अत्रधारणायाम्, नि ० चू ० १ उ ० । आचा ० । वाक्योगस्यासं, आचा ० १ श्रु ० ६ अ ० १ उ ० । प्रेरणा- याम्, निर्णयभवनेहेतौ च । इशं ० । जल्पयं, व्यं ० १ उ ० । **अत्रिअ-अपिच-अव्य०** । समुच्चये, अ ० ४ वत्तं ० ।

अविअकसंत-अवीक्षमाण-त्रि० । पृष्टतो निरुपयति, ध ० ३ अधि ० । **अविश्य-अद्वितीय-त्रि०** । द्वितीयरहिते, द्वितीयनिश्चे च । अ ० ३ हा ० २ उ ० ।

अविउट्टमाण-अविउट्टयमान-त्रि० । पीडयमाने, सूत्रं ० २ श्रु ० २ अ ० ।

अविउत्पगदा-अव्युत्पकटा-स्त्री० । न विशेषतः उत्पाद्यत्य- तश्च प्रकटा अव्युत्पकटा । विशेषतोऽप्रकटायाम्, अ ० ७ श ० १ उ ० ।

अविद्वम्प्रकृता-स्त्री० । अविद्वद्भिरजानद्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । अ ० १ ट हा ० ७ उ ० । अविद्वत्प्रकृतायाम्, प्र ० १ श ० १ उ ० । "अहं इमा कदा अविउत्पकटा" । न ० १ ट श्रु ० ७ उ ० । " अविउत्पकडे सि " अविशब्दः सम्भावनार्थः । उत्पाद्यत्येन प्रस्तुता प्रकटा वारम्भतोऽप्रकटा वा, अथवा "अविद्वद्भिरजान- द्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । न ० १ ट हा ० ७ उ ० ।

अविउसरणया-अव्युत्सर्जना-स्त्री० । अत्यागं, अ ० १ श ० ५ उ ० ।

अविउत्सग्ग-अव्युत्सर्ग-पुं० । अमुक्त्वात्वे, व्यं ० १ उ ० ।

अविभोग-अविभोग-पुं० । पुत्रमित्राद्यविरहे, त ० ।

अविओसिय-अव्यवसित-त्रि० । अनुपशान्ते, वृ ० ४ उ ० । अ- नुपशान्ते इदं, " अविओसिए वासति पायकम्मी " सूत्रं १ श्रु ० ३ उ ० ।

अविओसियपाहुद्द-अव्यवसितप्राभृत-त्रि० । अव्यवसितमनु- पशान्ते प्राभृतमिव प्राभृते (नरकपालकौरादिकं) तीव्रक्रोधल- क्षणं यस्यास्तावदव्यवसितप्राभृतः । वृ ० ४ उ ० । अनुपशान्तको- पे, २५० ० ४ टा ० ३ उ ० । "अप्ये वि पाग्मार्णि, अवरादं वयह खा- मियन च । बहुमां उदारियताः अविओसियपाहुद्दा । स खद्दु " ॥ १ ॥ पारमार्णि परमक्रोधसमद्धानं व्रजनीति भावः । २५० ० ३ टा ० ४ उ ० । ('वायसा' शब्देऽस्याऽवाचनीयत्वम्)

अविदंमाण-अविन्दमान-त्रि० । अवभमाने, विपा ० १ श्रु ० २ अ ० ।

अविकेप-अविकम्प-त्रि० । मनःशरीराभ्यामचले, पक्खा ० २ विच ० । निःस्पन्दे. पक्खा ० १ २ विच ० ॥

अविकेपमाण-अविकेपमान-त्रि० । कोपकार्यस्य कम्पनस्या- ऽकृतेरि, " विगिच कोदं अविकेपमाणे " । क्रुराध्यवसायः क्रो- धस्तं त्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिपेधं दर्शयत्यविकेपनः । आचा ० १ श्रु ० ४ अ ० ३ उ ० ।

अविकत्पण-अविकत्थन-पुं० । नातिबहुभाषिणि, स्वल्पेऽपि केनचिद्वरखे पुनः पुनस्तदुक्तीनेन रहिते गुणवस्तुने, प्रथं ० ६ धार । ग ० । हितामनभाषिणि, आचा ० १ श्रु ० १ अ ० १ उ ० ।

अविकरण-अविकरण-न० । पुर्वगृहीतवस्तुनां यथास्थानम- प्रक्षेपे, "संधारय आयाप, अविकरण कनुय संयव्वहात्ताप" । अवि- करणं कृत्वा, अविकरणं नाम यस्याधुना करणं कृतं स्थानां प्र- स्तरण, कर्मिकानां बन्धनं, फलकस्य स्थापनं तदपनोय सम्प्र- जित्तु विद्वैतम् । आचा ० १ श्रु ० ३ उ ० ।

अविकार-अविकार-त्रि० । गीतादिविकाररहिते, वृ ० १ उ ० ।

अधिकारि (गु)-अधिकारिन्-पुं० । अनुद्वन्द्वये, अकन्दर्प-
श्लोच । ३० ३ उ० ।

अधिकारिवपपरमर्थ-अधिकारोपितपरमार्थ-त्रि० । अविज्ञापित-
नमयस्त्वाव, पं० व० १ द्वा० ।

अविगद्य-अविकृतिक-त्रि० । निर्विकृतिके घृताविकृतित्या-
गिनि, लृष० २ अ० ७ अ० ।

अविगमिय-अविकटित-त्रि० । अनालोचिते, व्य० १ उ० ।

अविगप्प-अविकल्प-पुं० । निश्चय, आ० म० द्वि० । निभेदे च ।
सम्म० १ काण्ड ।

अविगय-अविगत-त्रि० । अग्रद, १०० ।

अविगल-अविकल-त्रि० । परिपूर्णं, पं० १ विव० । पञ्चा० ।
अकण्ठं, पं० १ विव० ।

अविगलकुल-अविकलकुल-त्रि० । अविपरिपूर्णकुले, त्र० ८
श० ३३ उ० ।

अविगिट-अविकृष्ट-त्रि० । विहृष्टजिह्वे अविहृष्टपःकर्मका-
रिण-पश्चान्तपःकारिणि, पञ्चा० १२ विव० ।

अविगियवयण-अविकृतवचन-त्रि० । अनल्पनिर्वाहन्तमुक्ते,
आध० ।

अविगीय-अविगीत-पुं० । विशिष्टगीताथंरहिते, व्य० ३ उ० ।
निर्धेयनि, व्य० १ उ० ।

अविगद्-अविग्रद-पुं० । वक्ररहिते, धौ० ।

अविगद्गडसमावण-अविग्रदगतसमापण-पुं० । कल्पलिके-
भ्रांपणे, अ० १४ श० ४ उ० । अविग्रहगतनिषेधाद् अहृत्गत-
तिके अवस्थिते, अ० २४ श० ३ उ० ।

अविग्य-अविघ्न-न० । विघ्नभावे, कल्प० ५ क० । औ० । नि-
घ्नस्य, वृ० १ उ० । इ० । कारण एवाहृष्टसामर्थ्यावपाया-
नाव, द्वा० २३ द्वा० ।

अविघृष्ट-अविघुष्ट-म० । विक्रोशनमिथ वद्विस्वरं न भवति
तदविघुष्टम्, अनु० । विक्रोशन इवाविस्वरं, ग० । स्या० जी० ।

अविचित-अविचित्र-त्रि० । रोहिते, "अविचितो लोहद्विमि-
त्यर्थः । नि० वृ० १६ उ० ।

अविचुष्ट-अविच्युति-स्त्री० । तदुपयोगाद्बिच्यवनमविच्यु-
तिः । धारणांन्दे, न० । आ० म० ।

अविचिह्नण-अविचिह्नण-त्रि० । विच्छेदानुबन्धे, स्या० ४
ग० १ उ० ।

अविजाण-अजानत्-त्रि० । हुतप्रभे, अपगतार्थाविवेके,
"जसो गुहाय जल्लग्नितुष्टे, अविजाणभ्रो उम्हइ हुत्तपथो ।
सृष्टे ? सु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० ।

अविजमाणजाव-अविद्यमानजाव-पुं० । नास्तिजाव, "असं-
पञ्चयत्ति क्षा क्षीयन्जावोत्ति वा अविजमाणजावोत्ति वा पग-
त्ता " आ० वृ० १ उ० ।

अविज्जा-अविद्या-स्त्री० । कर्मणि, "अथं तमः प्रविजान्ति येऽ-
विद्यामुगासते विद्यया " इति तत्त्वा विद्ययाऽऽमृतमन्वते " न० ।

अनवमने, अग्रहणे, अतत्त्वग्रहणे च । सम्म० २ काण्ड । अविद्या
वदानिमां क्रेश् । द्वा० १६ द्वा० । योगशास्त्रासिद्धे क्रेशभेदे, द्वा०
१५ द्वा० । "नित्यशुच्यायततास्यानि-रनित्याशुच्यायततासु । अ-
विद्या " । अ० १४ अ० । अविद्योपप्लुवाद्बिद्यमानमपि द-
इयते । यत उक्तम्-"कामस्यजन्मयोन्मावे-रविद्योपप्लुवात्सा ।
पश्यत्यसन्नमप्यथे जनः कोशोऽनुकारिवत् " इति । विशोः ।

अविद्याय-अविनय-पुं० । कुशास्त्रे, उक्तं ३४ अ० । विशोः न-
यो विनयः प्रतिपत्तिविशेषः, तत्प्रतिपत्तोऽविनयः मप्रतिपत्तिवि-
शेष, स्यात् ।

अविद्युत्तिविहे पञ्चे । तं जहा-देमर्षाई, शिरा-
ज्ञेवण्या, णाणपेम्मदोसे ॥

(अन्येषां सर्वेषां शब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या) नवरमियमत्र
भावना-आराध्यविषयमारारथ्यसम्मतविषयं वा प्रेम, तथाऽऽ-
राध्यसम्मतविषयं द्वेष इत्येव नियतावर्तौ विनयः स्यात् । उक्तं
च-"सर्वापि नित्यनुतिवचन, तद्भिन्ने प्रेम तद्वाङ्मि द्वेषः ।
दानमुपकारक्रीतेन-ममन्वमूलं वशीकरुषम् " ॥ १ ॥ इति
नानाप्रकारो च तावाऽप्य तन्मन्वतेनरत्नरूपविशेषानपेक्षवे-
नानियतावप्यावविनय इति । स्यात् ३ ग० ३ उ० ।

अविद्यामि (ष)-अविनाशिन-त्रि० । कृष्णोपप्लुवाऽपि अनि-
रन्ययताशयमिणि, दृश० ४ अ० । पा० ।

अविद्याच्छय-अविनिश्चय-पुं० । प्रमाणभावे, पं० व०४ द्वा० ।
प्रति० ।

अविणीय-अविनीत-त्रि० । अविनयवति, उक्तं १ अ० । विनय-
विरहिते, उक्तं ११ अ० । अविनीतलक्षणमाह-

अह चउदमग्राणिहं, वृत्तमाणे सं जने ।

अविणीएणं वृष्टं मोउ, निष्वाएचं च न गच्छइ ॥

अदेव्यावि सूत्राएकम् । अद्योति प्राक्चत्तुनिरिधका दश चतु-
र्दशःतेषु चतुर्दशसंख्येषु स्थानेषु सूत्रे तु सुबन्धव्यत्येन सप्तम्यर्थे
तृतीया । वर्तमानस्तद्वृत्तः पूरणः स्यतस्तपसा । अविनीतं च-
च्यते । स तु इति । अविनीतः । पुनः किम् १, इत्याह-नियोगं च योगं,
चशब्दाद्देवैः ज्ञानादीन् च गच्छति न प्राप्नोति । उक्तं ११ अ० ।

कानि पुनश्चतुर्दश स्थानानि १, इत्याह-

अजिक्खणं कोही इवइ, पबंभं च पकुव्वइ ।

मित्तज्जमाणो वमइ, सुयं द्वाक्खण मज्जइ ॥ ७ ॥

अवि पावपरिक्खवो, अवि मिन्नेसु कुप्पइ ।

सुपियस्मावि मित्तम, रट्ठे ज्ञासइ पावगं ॥ ८ ॥

पट्ठवार्दं दुट्ठिइ, थक्के लुक्के अण्णिगइ ।

अमविजामो अविद्यत्ते, अविणीए ति बुद्धइ ॥ ११ ॥

अजिक्खणं पुनः पुनः, यथा-कृष्णं कृष्णमपि अमिक्खणमनवर्तते, क्रा-
धी क्राधेना जयति-नमित्तमत्तमित्तमि च कुप्यक्केशक्ते; प्रवर्धं
च प्राकृतत्वात् कोपस्येवाविच्छेदात्मकं (पकुव्वइ इति) प्रकल्पेन
कुर्वते, कुपितः सन् सान्त्वयेनैरनेकेरपि नोपशाम्यति; विक्रधादिषु
वा अविच्छेदेन प्रवर्तते प्रवन्धः, त च प्रकुरेत् । तथा-(मित्तज्जमा-
णो इति) मित्राद्यमाणोऽपि मित्रं ममायमस्त्विति दृश्यमाणोऽपि,
अपेशाद्वयसुखनिर्दिष्टत्वात्, यमिति त्यजति, प्रस्तावाद् (मित्रीयि-

तारं मेवौ वा । किमुक्तं भवति? यदि कश्चिद्व्याप्तिकतया वक्ति, यथा-
 त्स्वं न वेत्सीत्येवं तव पात्रं ज्ञेयमिति । ततोऽप्यौ प्रत्युपकारभीकृतया
 प्रातर्वाक्त-ममाज्ञमेतन्न । कृतमपि वा कृतप्रत्ययान् मन्थत इति वम-
 नोऽप्युच्यते । तथा (सुयति) अयं प्रथमस्यात्तन्वात्, भुनक्ति आगममापि,
 संस्थाप्राप्य आद्यति वृषे पाति । किमुक्तं भवति? भुनक्ति मदाप-
 हारहेतुः, स तु नेनापि हस्यति । तथा-अपि : स भावनायाम् । संभा-
 स्यत एतन्-अथा-असौ पापि : कथञ्चित्समित्यादिषु स्वाज्ञतत्त्व-
 लैः परिकल्पति तिरस्कृत इत्येवंशांसि : पापपारंशुः, आचार्याशु-
 नामिति गम्यते । तथा-आपिनिश्चयः, नतां मित्रभ्यांसि सुहृद्व्या-
 ऽपि, आस्नानभ्येभ्यः कुप्यति कुपयति । सुत्रे चतुर्विधे मत्समी ।
 "कृष्यद्रेष्पासुयाधानां यं प्रातःकापः । १।४।३७। इत्यनेन (पाणि०)
 सुश्रणह चतुर्थाविधानात् । तथा-सुप्रस्यत्प्रातिवहन्नस्यापि
 मित्रस्य, रहस्यकान्तं, भाषते बालं, पापमेव पापकम् । किमुक्तं
 भवति?-अग्रतः प्रियं वाक्, वृत्तस्तु प्रतिस्ववकोऽयमिभ्यादि-
 कमनाच्चारंस्वाविष्करोतान् । तथा-प्रकीर्णमनस्त्वतां विक्रिय, अ-
 समंश्चक्षिम्यर्थः । वदति जलनान्भ्येवशीरः प्रकीर्णवाद् । व-
 स्तुनन्वविचारऽपि यत्किञ्चनवाशीर्यते । अथवा-यः पात्र-
 भिदमपात्रमिति चाऽपरीहृथैव कथाऽन्वेषिगतं भुनक्ते इत्येवं वद-
 तीत्येवंशांसिः प्रकीर्णवादीनि । प्रातिज्ञया वदतीमन्मथंमेव्येकाम्नाभ्यु-
 पगमरूपया वदनशीलः प्रसिद्धावादी । तथा-दुर्हल त्ति) द्रौण्य-
 शोले) द्रौण्या, न मित्रमप्यनभिद्रुशास्ते । तथा-स्तेभ्याः तपस्व्य-
 हामिष्याद्यहंकृत्मान् । तथा-सुभ्याऽभ्यान्वाङ्काम्नावाद् । तथा-
 मानिप्रहः प्राग्बन् । तथा-असंविभजनशीलांस्त्वभिभागो, नाह-
 रदिकमन्वाप्यानिगोर्त्तनांऽयस्यै स्ववत्समापि यच्चति, किन्वात्मा-
 नमेव पोषयति । तथा-अविद्यत त्ति) अद्वितीकरा, हृद्यमानः सं-
 ज्ञाप्यमाणो वा स्वव्येष्पीनिर्मगोपादयति । एवमिष्यद्वात्वाविता-
 ऽपिनीन उच्युत्तत इति निगमनम् । उच ३०? अ) ('विणय' शब्दं
 सर्वमधिकारं व्याख्यास्यामि । स्वार्थानुवेन्दनाशिवनयरादिते,
 वृ० ४ उ० । अविनीना नाम ये बहुशांऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमा-
 दान्ति । वृ० १ उ० । स्वार्थेदानुवेन्दनाशिवनयरादिते, स्या० १
 जा० ४ उ० । (अस्यावाचनार्थवत् 'वायणा' शब्दे वक्ष्यते)

अविषीयत् (ण)-अविनं तात्पत्न-पुं० । विनयराहिते अना-

त्मज्ञं, प्रज्ञा० ३ पद । दृश० ।

अविष्ठा-अविष्ठा-स्त्री० । प्रावक्षानमविष्ठा । अनाभोगकृते, सूत्र०

वृ० १ अ० १ उ० ।

अविष्ठाप-अविष्ठात-त्रि० । अविदिते, आचा० १ वृ० १ अ०

१ उ० ॥

अविष्ठापकम्म (ण)-अविष्ठातकर्त्तृ-न० । अविष्ठातमविदि-

तं कर्म क्रिया व्यापारो मनावाक्यविलक्षणो यस्य । अज्ञानमन

आदिव्यापारः, आचा० १ वृ० १ अ० १ उ० ।

अविष्ठापधम्म-अविष्ठातधर्म-त्रि० । पापादिवृत्ते प्रज्ञातध-

र्मणि, अविरतमन्वष्टौ च । ज० ८ श० १० उ० ।

अविष्ठावदय-अविष्ठापचित-न० । अविज्ञानमविष्ठा, तथोपचि-

तम् । अनाभोगकृतं कर्मणि, सूत्र० । तन्न भाषते शाक्यसमये ।

यथा-मातुः स्तनाद्याकर्मणेन पुत्रयापत्तौ अव्यनाभोगाच्च कर्मो-

पचितेति । सूत्र० १ वृ० १ अ० १ उ० । केवलकामक्रियाच्छेदं क-

र्मणि, सूत्र० १ वृ० १ अ० १ उ० ।

अविनक्त-अविनक्तं-पुं० । न विद्यते वितक्तोऽभ्रधनक्रियाफलं

देहकपो यस्य (निष्कोः) सोऽविनक्तः । कुतकरहिते, "सुसमाह-

तलस्वस्स अविनक्तस्स निष्कुणो" । दशा० ४ अध्या० ।

अविनक्त-अविनक्त-त्रि० । न वितधमवितधम्-स्त्वम् । आवा० ४ अ० ।
 अर्थविचारिणि, पञ्चा० १५ वि० । "पणमंथं पावधंथं अविनक्त-
 मंथं" । पूर्वमजितप्रकाररुत्तमपि सद्गन्धदा (विगतभिमत-
 प्रकारमपि) किञ्चित्स्थानं । अत उच्यते-अविनक्तमेतत्, न
 काशान्तेरेऽपि विगताभिमतप्रकारमिति । अ० १० श० ५ उ० ।
 प्रज्ञ० । आचा० । तथेय, आ० सू० ४ अ० । यथावद्यते, कल्प०
 १ क० । याथातथेन व्यवस्थिते, सूत्र० १ वृ० १३ अ० । य-
 थावदननुष्ठिते, सूत्र० १ वृ० ३ अ० २ उ० । यथाऽवस्थितपि-
 षिडताथेवचने, सूत्र० १ वृ० १६ अ० । सद्गन्धतो, श्लो०

अविदिष्ठा-अवितीर्ण-त्रि० । तितीर्थो पारमगतो, सूत्र० १ वृ० २

अ० १ उ० ।

अविदिष्ठा-अवितीर्ण-त्रि० । अदत्ते, वृ० ३ उ० । आ० म० नि० चू० ।

अविदिष्ट-अविदिष्ट-त्रि० । न विदितमविदितम् । वस्तुतोऽव-
 र्जिते, "संवेदनमात्रमविदितं त्वन्यत् ।" संवेदनमात्रं वस्तु-
 स्वरूपपरमेशकृत्यमविदितं त्वन्यत्, कथाऽन्वेषस्तुप्राहित्वेऽपि न
 (विदितं वस्तु तादित्यविदितमुच्यते । शो० १२ वि० ।)

अविद्वेष-अविद्वेष-त्रि० । उपद्रवराहिते अनुपसमे, यो० १२ वि० ।

अविद्वेष्ट्य-अविद्वेष्ट-त्रि० । अत्युत्कान्ते, अपरिणते, आचा०
 १ वृ० १ अ० ७ उ० । अप्राप्तुके, आचा० १ वृ० १ अ० ७ उ० ।
 प्ररोहसमर्थे शोकादी, दृश० ४ अ० ।

अविधि-अविधि-पुं० । असमाचार्याम्, वृ० ३ उ० ॥

अविधिपरिहारि (ण)-अविधिपरिहारिर्न-पुं० । संवमार्थं आ-
 युक्तं, "संजमदुपति वा आउते ति वा अविधिपरिहारि ति वा
 पगद्ता" । आ० चू० १ अ० ।

अविष्योग्य-अविप्रयोग-पुं० । रक्षायाम्, "सुक्कायां अविष्य-
 षांगेण" स्या० ४ जा० ४ उ० ।

अविष्यक-अविष्यक-त्रि० । न विष्यकं दूरम् । आस्ते, आ०
 १ अ० ।

अविष्योग्य-अविष्योग्य-पुं० । शाश्वतत्वं, विष्टे० ।

अविष्युक्त-अविष्युक्त-त्रि० । भावसुप्ते, व्य० ३ उ० ।

अविष्यज-अविजाज्य-त्रि० । विनक्तमशक्ये, स्या० ३ जा०
 २ उ० । ज्ये० ।

अविभक्त-अविभक्त-त्रि० । अकृतविभागं, वृ० । तत्र यावाद्
 सगारिकदीनां साधारणवैज्ञक्य उपस्कन्तवान्साध्यकयमः
 पुत्रज एव अथस्तनाजामादिवैवञ्जा कृता सा आशिका अवि-
 जनेत्युच्यन्ते । वृ० २ उ० ।

अविभाक्ति-अविजाक्ति-स्त्री० । विभागभावे, वृ० ३ उ० ।

अविजन्त-अविजन्त-पुं० । अदारिद्र्ये, व्य० ६ उ० ।

अविजाङ्ग-अविजाङ्गि-त्रि० । अविभागेन निर्भृतोऽविभागि-
 मः । एककृषे, अ० १० श० ५ उ० । विभागेन निर्भृतो वि-
 जाङ्गिः, तन्निष्पाद्यविभागिः । ज्ञानशून्ये, स्या० ३ जा० २ उ० ।

अविजाड्य

अविजाड्य-अविजाड्य-त्रि० । विभक्तुमशक्ये, " तन्नो अवि-
भाड्या पण्णत्तात्तं जडा-समप, पप्ले, परमाणु " । स्या० ३
टा० २ उ० ।

अविभाग-अविजाग-पुं० । संबद्धो विभागो नैरन्तर्थाभाव,
तदज्ञायाऽविभागः । नैरन्त्ये, पि० ॥

अविभागपलिक्रये-अविभागपरिक्रये-पुं० । परिक्रियन्त
इति परिक्रया शशाः, ते च सविभागा भवस्यतां विशेष्यन्ते । अ-
विभागाश्च ते परिक्रयार्थेऽविभागपरिक्रयेः । निरदेषु अशे-
षु, न० ८ श० १ उ० । कपालिप्रकृत्या लिख्यमानो यः परम-
निकृष्टाऽनुभावांशोऽभिन्नुमनयाऽर्कं न दृष्टान् संऽविजागप-
रिक्रये उच्यते । उरू च " बुद्धिं चिज्जगामो, अणुजागं संं
न देहं जेा अरू । अविजागपांरुच्छेसा, संं इह अणुभागबंध-
मि " ॥ १ ॥ कर्म० ५ कर्म० ५ उ० ।

अविभाशुत्तरिय-अविभागोत्तर-त्रि० । एकैकस्नेहाविजागेषु,
क० प्र० ।

अविभाव-अविजाव्य-त्रि० । अविभावनीयरूपे, प्रश्न० १
आश्र० द्वार ।

अविभूतिय-अविभूतिय-त्रि० । विभूतियारहिते, वृ० १ उ० ।

अविभूतियप (ए)-अविभूतियान्मन्-त्रि० । विभूतियारि-
हितदेह, प्रव० ७२ द्वार । भाव० ।

अविमण-अविमनस-त्रि० । अविगतचेतसि, अनु० । अशुभ्यचि-
त्त, अन्त० ७ वर्गे । प्रश्न० । असाभादिदोषात् अविमनमानसे,
प्रश्न० १ सव्य० द्वार ।

अविमुच्य-अविमुक्तता-स्त्री० । सपरिग्रहात्प्रायम्, स्या० ४
गा० ४ उ० ।

अविमुक्ति-अविमुक्ति-स्त्री० । सलोजनात्प्रायम्, पञ्चा० १७ विव०
शुद्धी, नि० चू० २ उ० ।

अविमुक्तिद्वारमाह-

दृढे भावेऽविमुच्ये, दृढे वीरद्वारेऽहाउच्येणता ।
सउलगादहणे कर्णे, पदञ्च मुषो वि आणेऽ ॥

अविमुक्तिर्हिधा-उच्यते, भावश्च । कृष्याविमुक्तौ- 'वीरद्वारो'
शायकः यदी दृष्टान्तः स च स्नायुस्तान्तावधयन्त पादे बद्धौ यत्र
निस्तरिप्रशुक्तः पक्षी इत्यने तत्र मुच्यते, ततस्तेन यदा तस्य
शक्तस्य प्रहर्षं कृतं स्यात्तदा भूयाऽपि तथैव तं शर्यातस्य
कर्षणं क्रियते, तत आगतस्य हस्तनालमांसं हीयते ततो मांसं
प्रमुञ्च आसक्तः सन् मुक्तोऽपि स्नायुधनमन्तरणापिशकुनिमा-
नयाति, आनीय च तत्रैवावतिष्ठते । एषा द्रव्याविमुक्तिः ।

अथ जावविमुक्तमाह-

जावे उक्कोमपणी-यगिफिता तं कुलं न उठ्ठेति ।
एहाणादीकजेमु व, गते वि दूरं पुष्यां एति ॥

आशो भावाविमुक्तिः पुनरयम्-उरूदृष्टं शाल्योदनादि, प्रणीतं
घृतादि, तयोर्वा शुकुलौघं नतस्तकृषं शय्यातसंबन्धि, न परि-
त्यजति । अथवा-अमानस्ययात्रादौ पर्वणि कार्येषु च गणसङ्घ-
प्रयोजनेषु, दूरमथि गता भूयस्तत्रैव समागच्छति । वृ० २ उ० ।

अविमोयणया-अविमोचनता-स्त्री० । बह्वादीनामत्यायम्, भ०
६ श० ३३ उ० ।

अविय-अपिच-अथ० । अन्वुषये, तं० । भ० ।

अविक-पुं० । मये, आचा० १ श्रु० १ श्रु० ६ उ० ।

अवियत्त-अव्यक्त-त्रि० । अपरिस्तुटे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २

उ० । सुष्ये, सहजविकथिकले च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अवियत्त-देशी-न० । अप्रतिक्, आ० प्र० १ स्या० । ग० ।

अप्रतीकारणि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० । प्रति० ।
दश० । स्या० ।

अवियत्तर्जजग-अव्यक्तजृम्भक-त्रि० । अज्ञाद्यविभोगेन जृम्भ-
के, भ० १४ श० ८ उ० ।

अवियत्तविशोधि-अवियत्तविशोधि-पुं० । अवियत्तस्थाप्रति-
कस्याविशोधि, तत्रियत्ततादीवियत्तविशोधिः । विशोधिभेदे,
स्या० १० गा० ।

अवियत्तोवधया-अवियत्तोपपात-पुं० । अप्रतीकतेन धिनयादे-
रुपघाते, स्या० १० गा० ।

अवियाठरी-अविजनित्री-स्त्री० । अपत्यानामविजननशील-
यो स्त्रियाप, ज्ञा० २ अ० । " तस्स बंधुमहे जज्ञा, आवया-
उर्या " । आ० प्र० १० ।

अवियाणय-अविज्ञायक-त्रि० । विशोषावबोधरहिते, आचा०
१ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अवियार-अविचार-न० । न विद्यतेन विचारोऽर्थव्यजनयोर्निर-
रम्भादितरत्र, तथा-मनःप्रभूर्नाममन्यतरम्भादित्यत्र, यस्य तद-
विचार इति । ग० १ अ० ३० । अर्थव्यजनयोर्नामनरताऽसकमणे,
आव० ४ अ० । भ० १० । " एषावचिनके अवियारः " शुद्धध्यान-
भेदे, स्या० ६ गा० १ उ० ।

अवियारमाणवयणकायवक्त्र-अविचारमनोवचनकायवाक्य-
त्रि० । अविचारणयविवारितरमणीयानि परमाधिविचारगुणतया
युक्त्या वा विघटमानानि मनेवाकायवाक्यानि यस्य स तथा ।
अविचारणयविवारणीयानि श्रोताभनतया निरूपणीयानि अय-
यालोचनीयानि मनेवाकायवाक्यानि यस्य स तथा । अविचा-
रयुगलःकरणवाग्देहवाक्ये, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

अवियारसोदण्ट-अविचारशोषनाथ-पुं० । सयमस्त्वलित-
विशुक्तिनिमित्त, प० व० २ द्वार ।

अविरट्-अविरति-स्त्री० । सावधयोग्येऽनिवृत्त्यजावे, कर्म० । ह्य-
दशप्रकाशाऽविरतिः । कथम् १, इत्याह-मनः स्वान्तं, कृष्णानीन्द्रि-
याणि पञ्च, तेषां स्वस्वविषये प्रवृत्तमानानामनियमाऽनियन्त्र-
णोः तथा घण्टां पुंथिव्यजोवायुचक्षुरातिप्रसक्तृपाणां जायानां
यथो हिंसीत । कर्म० ४ कर्म० । प्राणातिपातादीनामानियंथे, जी-
न० । अत्राह्ये, स्या ६ टा० । " अविटं परुषा बाले आदिउज्जं "
यमविरतिरसंयमरूपा सम्यक्प्राजावाद् मिथ्याकृष्टेऽत्यतोऽ-
विरतिरप्यविरतिरेव, तौ प्रादीत्याश्रिय बालवद् बालोऽहः ।
" तस्य जं जा सा सवनेन अविरट् एसद्वारेण आरं-
प्रज्ञां " तत्र पूर्वांकोपु येयं सत्योमना सर्वस्माद् अविर-
तिविरतिपरिणामाभावः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । " अविदो
विषयांशदाद्, अपेदवितिः किल " विषयांशदाद् बाहोन्द्रि-
याथंज्यांक्षेपलक्षणादभेदोऽनुपपत्सत्त्वणः क्लिष्टाविरतिभेदवत् ।

द्वा०१६ द्वा०। अविरतमेव, प्रश्न०५ सम्बन्धे द्वार। अग्रप्रत्याख्याने, स्था० १० ना०। "जद्वि अ न जाड सव्य-रथ कोर देहेण माणयां पथ्य । अविरह् अव्ययबंधां, तदा वि निष्ठा भव तस्त" ॥१॥ ध० २ अधि०।

अविरह् (य) वाय-अविरति (क) वाद-पुं० अविरतिरब्रह्म, त-द्वादो धार्त्वा । मैथुनचर्चां वाय, स्था० ६ डा०।

अविरह्या-अविरतिका-स्त्री०। न विद्यते विरतिर्यस्याः सा अविरतिका । स्थियाम्, स्था० ६ डा०। इ०।

अविरत्-अविरक्त-त्रि०। अनुरक्त, स्त्री०।

अविरय-अविरत-त्रि०। अविरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो नियते स्मृति । पं० सं० १ द्वार । सावद्यादविरते, स्था०२ डा० १ उ०। उत्त०। च० प्र०। पापस्थानभ्योऽनिवृत्ते, दृश०१० अ०। प्रश्न०। ध०। प्राणातिपातादविरतरिते विशेषेण तपस्वरत. भ० १ श० २ उ०। गृहस्थे, सूत्र० १ अ० १ उ०। मिथ्याहृष्टो च । श्राव ४ अ०।

अविरयवाइ (ण) -अविरतवादिन्-पुं०। घनशलो वादी; अविरतस्य वाद्यविरतयादां। पारिग्रहवति, आच्० १ ध्रु०४ अ० १ उ०। अविरयसम्पत्त-अविरतसम्पत्त-पुं०। अविरतसम्पत्तधृष्टे, कर्म० ५ कर्म० ॥

अविरयममहद्दिष्टि-अविरतमयगृहृष्टि-पुं०। विरतिविरतम; क्लृप्ते कप्रत्ययः। तपुनः सावद्ययोग प्रत्याख्याने, तन्न जानातीति नाद्रयुपगच्छति, न तत्पाननाय च यतत दति त्रयाणां पदानाम्-मष्टौ भङ्गाः। स्थापना—

5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5
5	5	5

नत्र प्रथमेषु चतुषु भङ्गेषु मिथ्याहृष्टि, अहानि-त्वात् । शेषेषु सस्यगृष्टि, ज्ञानित्याम् । सप्तसु भङ्गेषु नास्य विरतमस्तः। यविरतः । " अन्नादि-भ्यः " । १ । २ । ७६ । इति अप्रत्ययः । चरमभङ्गेषु विरतिरस्तीति । यद्वा-विरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो (नयनेन स्मेति विरतः । " गत्यर्थाकर्मक-पिबलुजेः " । ४ । १ । ११ । इति कर्त्तरि कप्रत्यये विरतः । न विरतोऽविरतः, स चास्ती सस्य-गृष्टिश्चाविरतसस्यगृष्टिः । इदमुक्तं भवति-यः पूर्ववर्णि-तोपशांमिकसस्यगृष्टिः गुरुदशानसस्यः वा सायिकसस्यगृष्टि-यो परमयुनिप्रणीनां सावद्ययोगविरति (सिद्धन्वीधाधारो-हणनिष्पत्तिकर्ता जानयप्रत्याख्यानाकार्यादयान्तिनत्याः प्रा-द्रुपगत्यते, न च तत्पाननाय यतत इत्यस्मादविरतसस्यगृ-ष्टिरुच्यते ॥ कर्म० २ कर्म० । देशविरते आचके, सं० १४ सम० । आच० । प्रश्न० । पं० सं० । दश० ।

अविरयसम्पद्दिष्टिगुणद्वान-अविरतसस्यगृष्टिगुणस्थान-न०। अविरतसस्यगृष्टेः गुणस्थानमविरतसस्यगृष्टिगुणस्था-नम् । चतुर्थे गुणस्थाने, कर्म० ।

उक्तं च—

" संधे अविरहृष्टे, जालनेो रागदोऽसुक्ष्मं च । विरहसुदं इच्छन्तो, विरहे काउं च अस्मत्पदा ॥ १ ॥ एस अस्तजय सम्भो, निन्दतो पावकम्मकरणं च । आदीरयजोधाजोयो, अवालियदिष्टो बलियमोदो ॥ २ ॥ कर्म० २ कर्म० । पं० सं० ।

अविरल-अविरल-त्रि०। घने, स्त्री०। "अविरलसमसाद्य-चंद्रमंडलसमपभेदि" । अविरलानि घनशलाकावनेन समानि तुल्यशलाकातया सहितानि संहतानि अनिम्नाऽनुब्रतशला-कायोगान् चन्द्रमण्डलसमप्रमाणं च शशिधरविश्वधत् प्रमा-न्ति वृत्ततया शोभन्ते यानि तानि तथा तैः (छ्त्रैः) ॥ प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अविरलदत्त-अविरलदन्त-त्रि०। अविरला दन्ता यस्य। घन-रदने, स्त्री०। यस्य हि यथा घनेकदन्ता अपि सन्त एका-कारदन्तपङ्क्तय इव लक्ष्यन्ते । तं० ।

अविरलपत्त-अविरलपत्र-त्रि०। घनपत्र, "अविरलपत्ता भविहपत्ता" । अत्र हेतो प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यतोऽविरलपत्रा अतोऽपिच्छपत्राः । जी० ६ प्रति० । रा० ।

अविरह-अविरह-पुं०। विरहागोच, ध्व० १ उ० । सातत्ये-नावस्थाने, आच्० १ ध्रु० १ अ० ६ उ० ।

अविरहिय-अविरहित-त्रि०। सन्तते, पञ्चा० १० चि० ।

अविराहिकण-अविराह्य-अव्य०। अक्षरमनुप्राप्त्येत्ये, पा०। सस्यकृपालावत्येत्यर्थे, ध० ३ अधि० ।

अविराहिय-अविराहित-त्रि०। न विराहितोऽविराहितः । दशभक्ते, ल०। अपराद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अविराहियसंयम-अविराहितसंयम-पुं०। प्रमज्याकालादा-रभ्याऽभन्नात्त्रिपरिणामे संवलनकषायसामर्थ्यात् प्रसक्त-गुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वतन्मायाऽऽदिष्टांपसम्भवंऽप्यनाच-रितचरणेषघाते, भ० १ श० २ उ० ।

अविराहियसामाण-अविराहितश्रापाय-त्रि०। आराधि-तचरणे, भ० १४ श० १ उ०। अत्यगिदन्तकसस्यतिसमाचारे, दश० । (अस्योपपातः 'बववाय' शब्दे द्वितीयभाग ए०१ पृष्ठे लुप्तः)

अविरिक-अविरिक-त्रि०। अविभक्तीकृते, ध्व० ११ उ० ।

अविरिकृष-त्रि०। अविभक्तारिकथे, ध्व० २ उ० ।

अविरिय-अवीरिय-त्रि०। वीर्यरहिते, विपा० १ ध्रु० ३ अ०।

अविरुद्ध-अविरुद्ध-त्रि०। सङ्गते, पञ्चा० ६ वि००। युक्ते, पञ्चा० १७ वि००। पूर्वयुक्तमर्थ्यादाऽपतिक्रमेणाऽविरोधभाजि, ध्व० १ उ०। वैनायिके, उक्तं च-"अविरुद्धो विषयकारो, देवीरंशं प-रार्थं भसीय । जह वेत्सियायणसुभ्रो, एवं अन्न वि नायवा" ॥ १ ॥ भा० १४ अ०। श्री०। धर्माद्यप्रतिपत्तिनिधे, "अविरुद्धकु-लाचार-पातने मितभाषिता" । (अविरुद्धस्येति) धर्माद्यप्रतिप-त्तिनिधेः कुलाचारस्य पालनमनुवसनम् । द्वा० ११ द्वा०। विरु-द्धाऽविरहिते प्रामादी, ध्रु० १ उ० ।

अविरुद्धवेगद्वय-अविरुद्धवैनायिक-पुं०। चिन्तिशमतापितृ-गुरुणामविरोधेन विनयकारिण, अनु०।

अविरावय-अविरावय-त्रि०। नातिमथ्यदे, भ० १ श० ७ उ०। कटप० ।

अविरा-अवी-स्त्री०। ऊरुस्थाम, पि० ।

अविवृत्त-अविवृत्त-त्रि०। संसृतराज्ये, ध्व० ७ उ० ।

अविषज्जय

अविषज्जय—अविषयेय—पुं० । अतस्मिंस्तद्वृत्तिर्विषयेयः, न विषयेयोऽविषयेयः । तत्राप्यवसाये सम्यक्त्वे, विशेषे ।

अविषेग—अविषेक—पुं० । अस्यदुपयोगे, अष्ट० १५ अष्ट० ।

अविषेगपरिच्छाग—अविषेकपरित्याग—पुं० । प्रायतोऽज्ञानपरित्यागे, पं० ष० १ द्वार ।

अविषेति—अविसन्धि—पुं० । अव्ययच्छिन्ने, आच० ५ अ० । आ० चू० । ध० ।

अविषेवाइ (ण्)—अविषेवादिन्—त्रि० । श्लेषाऽविरोधिनि, पा० ।

अविषेवाइय—अविषेवादिन्—त्रि० । सद्ब्रूतप्रमाणभाषिते, पा० ।

अविषेवाइ—अविषेवाइ—पुं० । संवाइ, स च प्रातिनिमित्तं प्रवृत्तिहेतुभूतार्थोक्त्याप्रसाधकापेक्षप्रदर्शनम् । सम्म १ काण्ड ।

अविषेवायाण (ण्) जोग—अविषेवादिन् (नम) योग—पुं० । विसंवादनमन्यथाप्रतिपत्तस्यान्यथाकरणे, तद्दोषो योगो व्यापारः, तेन वा योगः संबन्धो विसंवादनयोगः, तत्रिप्रोऽविषेवादनयोगः । भ० ५ श० ६ उ० । अनाभोगादिना गवादिकमश्वार्थिक यत्पदति, कस्मैचित् किञ्चिदनुपगम्य वा यत्र क्रान्ति सा विसंवादाना, तत्रिप्रोक्तो योगः सम्बन्धोऽविषेवादानायागः । संवादानासंबन्धे, स्या० ४ उ० १ उ० ।

अविषम—अविषम—त्रि० । समतले, तं० ।

अविषमय—अविषय—न० । बाह्यार्थाभावेन निर्गोचरं, पञ्चा० ५ विष० ।

अविमहण—अविमहन—त्रि० । कस्यापि पराजवाऽसादरि, वृ० १ उ० ।

अविमाइ (ण्)—अविषादिन्—त्रि० । विषादवर्जिते, अणु० ३ वगं । ध० । अदीने, प्रश्न० १ सम्भ० द्वार । खेदरहिते, ध० ३ अत्रि० । किं मे जीवितेनेत्यादिचित्तादिरहिते, अन्त० ७ वगं । परीपहायमितृत्वेन कायभरं कृणादौ दैन्यमनुपुयाते, पं० न० १ द्वार ।

अविमारय—अविशारद—त्रि० । अचतुर्द, उच० १८ अ० ।

अविमुक्त—अविशुद्ध—त्रि० । विद्युत्तवणादिरहिते, स्या० ३ ग० ४ उ० ।

अविमुक्तेस्तेस—अविशुक्तेस्तेस्य—त्रि० । कृष्णादिलेहये, जी० ३ प्रति० । चित्रकृष्णानि, भ० ६ श० ६ उ० । (तत्र अविशुक्तेस्तेस्यो देवो विमुक्तेस्तेस्यो देवः पश्यतीति ' विभ्रग' शब्दे वक्ष्यते)

अविसेस—अविशेष—त्रि० । निविशेषे, पञ्चा० १३ विष० । नगनगरनाद्यादिभूतविशेषरहिते अविशेषलक्षणे जुनामादौ, स्या० २ उ० ३ उ० ।

अविसेसिय—अविशेषित—त्रि० । विभागरहिते, वृ० ३ उ० । अनापिने, स्या० १० उ० ।

अविसेसियरसपगड—अविशेषितरसप्रकृति—स्त्री० । रसः स्नेहोऽनुभाग इत्येकार्यः; नस्य प्रकृतिः स्वभावः । अविशेषिता अविबक्षिता रसप्रकृतिः, उपलक्षणत्वात् स्थिन्याद्यो यस्मिन्नसत्त्वाविशेषितरसप्रकृतिः । अविबक्षितानुभावे, क० प्र० ।

अविमोहि—अविशोधि—पुं० । उपयाते, शबलोकरणे च । श्लेषः । अविशारे, आ० चू० १ अ० ।

अविमोहि—अविशोधि—स्त्री० । आयाकर्माविगुणेऽविशुक्चर्गे, ताम्ब पदिमाः—स्वतो हन्ति घातयति भ्रन्तमनुजानोते । तथा—पचन्ति, पाचयति, पचन्तमनुजानोते इति । आचा० १ धृ० १ अ० १ उ० ।

अविस्स—अविश्र—न० । मांसचधिरे, प्रथ० ४० द्वार ।

अविस्ससिजिज—अविश्वसनी—त्रि० । विश्वासकतुंमयोग्ये, तं० ।

अविस्सामवेयणा—अविश्रामवेदना—स्त्री० । विश्वात्तरहितात्वाभसातवेदनायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

अविहृडा—देशी—पुं० । बालकं, "सांहा पालेइ गुहा, अविहर्नं तेष सा महङ्गु य" । वृ० १ उ० ।

अविहृष्माण—अविहृष्माण—त्रि० । न विहृष्माणोऽविहृष्णमानः । विविधपरिप्रेषणसंयुक्तमन्यमाने, "अविहृष्माणो फलगततः" । विघातमक्रियमाणे, आचा० १ धृ० ६ अ० ५ उ० ।

अविहृषवद्—अविधवद्—स्त्री० । जीवपतिकन्यायाम्, भ० १२ श० २ उ० ।

अविहृषा—अविघाट—स्त्री० । अविघाटवर्ते, व्य० ७ उ० ।

अविहिंस—अविहिंस—त्रि० । न विघते विहिंसा येयां तेऽविहिंसाः । विविधेरुपायैरहिंसकेतु, भाष्वा० १ धृ० ६ अ० ४ उ० ।

अविहिंसा—अविहिंसा—स्त्री० । विविधा हिंसा विहिंसा न विहिंसा अविहिंसा । विविधप्रणालिपतयर्जने, "अविहिंसामिव पश्य, अणुप्रममां मुणिणा पवेदिने" । सूत्र० १ अ० २ अ० १ उ० ।

अविहृषिक्—अविधिक्कुत्—त्रि० । अविधिना कृतमविधिक्कुत् । अशक्यादिना न्यूनधिककरणे, दर्श० ।

अविहिण्य—अविधिक्कुत्—त्रि० । न्यायमार्गाऽप्रवेदिनि, दर्श० १ अ० ।

अविहिंजायण—अविधिनाजन—न० । "कागमियालयल्लुत्तं ददियरसं सव्वशो परामुत्तं । पसोऽ उहवे अविही" । इत्युत्तलक्षणकाकलुटादिभोजने, आश्र० ।

अविहिंसेवा—अविधिसेवा—स्त्री० । अविधोर्विधिपियस्य सेवासेवनम्—अविधिसेवा । निविस्तवर्णे, पं० ५ विष० ।

अविहेहय—अविहेहक—पुं० । न कांविश्वुत्थिते आदरस्ये, "अविहेहय जो स भिच्छ" । दर्श० १० अ० ।

अवीइद्व्य—अवीचिद्व्य—न० । नवीचिद्व्यमवीचिद्व्यम् । स्मृणुं आहारद्रव्यं, सर्वोत्कृष्टायामाहारवर्णायां च । ज० १३ श० ६ उ० । ('वीइद्व्य' शब्देऽस्य व्याख्या)

अवीइमंत—अवीचिमत्—त्रि० । अकपायसंबन्धवति, ज० १० श० २ उ० ।

अवीइय—अविचिद्व्य—अव्य० । अपृथग्युत्येव्ये, भ० १० श० २ उ० ।

अविचिद्व्य—अव्य० । अविचिद्व्येव्ये, ज० १० श० २ उ० ।

अवीय—अद्वितीय—त्रि० । न० ष० । एकाकिनि, कटप० ६ अ० । असहाय्ये, विषा० १ धृ० २ अ० ।

अवीरिय—अवीर्य—पुं० । मानसशक्तियर्जिते, भ० ७ श० ६ उ० ।

अथीसंभ-अविश्रम्भ-पुं० । अविश्रम्भसे, गौणे नृतीये प्राणालिपाते च । प्रश्न० । प्राणवधप्रपुत्रो हि जीवानाभिव्रम्भर्णयोः प्रवर्तते । प्राणवधस्याविश्रम्भकारणत्वाद्विश्रम्भस्यपदेशः । प्रश्न० १ । आश्र० द्वार ॥

अवीसत्य-अविश्रस्त-त्रि० । विश्र्वासरहिते, ग० १ अत्रि० ।

अबुगमहाद्य-अविग्रहस्थान-न० । कलहादाभयै, स्था० । 'आयरियउवज्जायस्स खं गणुंसि पंच अबुगमहादुया पणसा । तं जडा-आयरियउवज्जायणं गणुंसि आणं वा धारुं वा सम्मं पउज्जिता भवइ १, एवं महाराजणियाय सम्म० २, आयरियउवज्जायणं गणुंसि जसु य पञ्चवजाय धारुं ते कालं सम्म० ३, एवं गिलाणसेहयेयावच्चं सम्म० ४, आयरियउवज्जायणं गणुंसि आपुण्डियचारं यांश्च भवइ, यो अण्णापुण्डियचारो ।" स्था० ५ ग० १ स० ।

अवुत्त-अनुक्त-वि० । केनात्येति, स्था० ८ टा० ।

अबुसराइय-अबसुराज-पुं० । रत्नश्रेष्ठे, तद्वह्नीसिमति पदाधेयमाने, नि० बू० ।

बसुराजमबसुराजं भणति-

जे भिक्खु बुसराइयं अनुसराइयं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

वसूणं रयणाणं, तेसु रामो बसुगमो । अथवा-गदं द्रीसिमाद्, राजते शोभत इत्यर्थः । ते विवरीये जां जणति, तस्स चउत्तइ ।

इमा णिउत्तुत्ती-

वसुमं ति वा वि वसिमं, वसतिरातिणिओ पज्जया चरणे ।
तेसु रतो बुसराइ, अबुमिमि ततो अबुसराइ ॥ १३० ॥

ते दुविधा-द्वये, प्राये य । द्वयं मणिरयणादिद्या, भावे साणादिद्या । इह भाववपुहिं अत्रिकारो । ताणि जस्स अर्थिं सो वसुमं ति जस्यति । अहवा-ईदियाणि जस्स वसे वट्टंति, सो वसिमं भणति । अहवा-णाणंदेसणुवरिसेसु जो वसति णिक्काल सो वसतिरातिणिओ जस्यति । अहवा-व्युत्सुजति पापम-अयपदायाक्यान, चारित्र वा वसुमं ति बुधति । वसति वा चारित्रे वसुरातो-भणति । अहवा- (पज्जयाचरणं ति) एते चारित्रिद्यस्स पज्जया, पण्डिया इत्यर्थः । एसु बुसराइ जस्यति । पतिपक्खे अबुसराइ ।

अहवा-

बुसि संविगो भणितो, अनुसि अरंसंविगो ते तु बोद्धंत्यं ।
जे भिक्खु उ वण्णा, सो पावति आणमादीणि ॥ १३१ ॥
कंठा । ' बोद्धंत्यं ति ' बुसराइयं अबुसिराइयं, अबुसिराइयं बुसिराइयं भणति ।

पद्य पदमं बुसिराइयं अबुसिराइयं जस्यति इमोहिं कारणेहिं-

नेसेण पण्डियसे-ण वा वि अक्रयंत मिच्छभावेणं ।

संतग पोच्छाएत्ता, भासति अणुणेषाणं ते उ ॥ १३३ ॥

कोह कस्स वि कारणे अकारणे वा रुठो पण्डियिसेसु 'सं पृ-हज्जति, अहंण पुज्जामि' । एवमादिविभासा अकयपुयाए । 'एतेण तस्स उवधारां कथो, ताहो मा पयस्स पड्डिउवधारां कायव्वो हांहि' णि मिच्छभावेणं मिच्छसेणं उविधेणं । सेसं कंठे ।

असंविग्गा संविग्गज्जं इमेण अरंसंभणेण हींसति-

धीरपुरिसपरिहाए, नाऊणं मंदथमिया केइ ।

हींसति विहरमाणं, संविग्गज्जं असंविगो ॥ १३१ ॥

कंठा । के पुण धीरपुरिसा ? इमे-

केवल्लयादि हि चोइस, एवबुव्वीहिं विरहिए परिहइ ।

सुद्धमसुद्धं चरणं, को जाणति कस्स भावं च ? ॥ १३२ ॥

बाहिरकरणेण समं, अग्नितरयं करेति अमुणे च ।

एगंतंतेण च जवे, विवज्जिओ दिस्सते जेष ॥ १३३ ॥

एते संपदं ण्ण्णि, जदि एते हीता तो जायंता, अस्सिंताणं चरणं सुद्धं, इयरेसिं अस्सुं । केवल्लयादिणो पाणं पण्डियायता पण्डित्तं च जडारुहं देतो वित्तिं, अग्नितरगो वि एरिसो चैव भावं । न य एगंतरेण बाहिरकरणजुत्तो अग्नेतरकरणुत्तो जवति । कहं ? । उच्यते-जेण विवज्जितो दीसति-जहा-उदाहरणस्स पसखच्छेदस्स य बाहिरं अबिसुत्तो, प्ररदो विसुत्तो चैव ।

जइ दाणि णिरतिचारा, हवेज्ज तव्वज्जिओ व सुहिज्जजा ।

न य हुंति निरतिचारा, संपयणधित्तीणं दाम्भज्जा ॥ १३४ ॥

संपयकाहं जदि णिरतिचारा हवेज्ज, अहवा-तव्वज्जियाणाम आदिणाणादिवाज्जिया जइ चरिसुत्तो हवेज्ज, तो जुत्तं वसु-इमे अबिसुत्तचरणा संशयणाधित्तीण बुद्धमत्तणो य पण्डित्तं करेति । संशयणाधित्तुद्धमत्तणो चैव इमं च आसंसा भणति-को हा ! तद्दा समत्थो, जं तेहिं कयं तु धीरपुरिसेहिं । जहसची पुण कीरति, ददा पइणाण हवइ एवं ॥ १३५ ॥ धीरपुरिसा तित्थकपादीं जडासत्तिप कीरति एवं अणुणाण ददा पइणाण भवति जो एवं भणति, जो पुण अपणहा वदति, अणुहा य करेति, तस्स सत्था पइणाण भवति ।

आयरिओ जण्णति-

सत्त्वेसिं एव चरणं, पुण्णो य मयावयुं दुइसयाणं ।

मा रामदोसवसमा, अप्पण सरणं पत्तीवइ ॥ १३६ ॥

सत्त्वेसिं भवसिद्धियाणं, चरणं-सरीरमाणसाणं दुक्खण विमोक्खणकरं, ते तुज्जेसं सयं वीरयाणो अप्पणो चरिसते रामा-णुगता उअण्यचरणणं दोसमावसा मा भणइ-चरणं णत्थि, मा तंथेव वसइ, तं वेव सरणं पत्तीवइ, जो सहेत्थयं ।

किंच-

संतगुणामया खलु, परपरिवाओ व होति अलियं वा ।

धम्मं य अबहुमाणा, साहुपदेसि य संसारो ॥ १३७ ॥

चरणं णत्थि ण्ण्णि एवं भणेतहिं साधुणं संतगुणसां कतो भवति; पश्यणस्स य परिज्जो कतो भवति; अलियवयणं च भवति । चरणधम्मं पत्तोचिज्जेतं, चरणधम्मं य अणुहमाणो कतो जवति, साधुणं य पदांसा कतो भवति, साधुपदांसण य संसारो वट्ठितो जवति ।

किंच-

सय-उवसम-भीसं पि अजिणकासे वि तिचिदं भवे चरणं ।

मिस्सातो चिप पावति, खयउवसमं च णाणत्ता ॥ १३८ ॥

तित्यकरकात्रे वि निविहं चारिभं-आइयं, उवसमिषं, लाइश्राव-
क्षामियं च । तस्मि वि तित्यकरकात्रे मिस्साभो चैव चारिसाभो
क्षामियं उवसामियं वा चारित् पावति, नात्यस्मात् । बहुतरा य
चारित्तियेसा अश्रावसमभावे भवति ।

किंच तीर्थकरकात्रे वि—

अइयारो वि हु चरणे, त्रितस्स भिस्सेण दोस इतरेमु ।
वच्छानुरदिद्विता, पच्छित्तणं स तु विमुञ्जो ॥ ३३६ ॥

(इयरेत्तु स्ति) लाइए उवसमिषं वा । जहा-वच्छं सारादीहिं
सुज्जति, आतुरस्स वा रोगो वमणविरयेणश्रोसहपत्रांगोहिं सो-
दिज्जति, तथा सापुस्स चरणोद्दुःखारो पच्छित्तणं सुज्जति ।
जे च भाणियं-आतिसयरेदरिहाहिं सुजासुक्कवरण ण सुज्जति-
दुविहं चैव पमाणं, पक्कवं चैव तद्द परोक्कवं च ।
चउ वा निविह्ता पदमं, आगुमाणं पम्पामुत्तरं ॥३३७॥

आहिं-मणपजव-केवलं च-पयं तिविषं पक्कवं, धुमादिमिहान-
मनुमानम्, यथा गौः तथा गवय औपम्यं, सुत्तमित् आगमः,
इयरे ति पयं तिविषं परोक्कवं ।

सुक्कमुद्धं चरणं, जहा उ जाणंति ओदिहाणीभो ।

आगारेदि मणं पि व, जाणंति तदेतराभावं ॥३३८॥

पुव्यदं कंठे । जहा परम्प सुद्वेणे ति बाहिरागारेहिं अंतर-
गतो मणे णज्जति, तथा इयरे स्ति परोक्कवाणी आलोयणाविहाणं
सोदं पुडावरबाडियाहिं गिराहिं आचरणेहिं य जाणंति चारित्त
भावं च सुद्धं, सुद्धेतरं च ।

चादग आह-जइ आगारेण भावो सज्जति तो उवाइमर-
गादाणं किं ण भावो ? आचाव्ये आह-

कामं जिणपक्कवा, गुदावाराण दुम्मणो जावो ।

तद्द वि य परोक्कमुद्धं, जुत्तम्मं प सव्वीमाणं ॥३३९॥

काममित् अनुमनाये । जइ वि जे उदासारादिगुदायारा,
तेसि छुउमयेणं दुक्कं उवल्लभति, भावो सां जिणाण पुण
पक्कवो, तद्द वि परोक्कवाणी आगामाणुसारंण चरित्तसुक्क
करेति चैव । कइ ? उच्यते-(जुत्तस्स वात्) जहा सुत्ताव-
उत्ता मीसजायउत्तोरो रागो स्ति पणस्स उगमदोसा, दुम्म पम्प-
णा दोसा, एतं पणवीसं जहा सुत्ताणुसारंण सोहेत्तां चरणं सोहिं-
ति, तद्द सुत्ताणुसारंण पच्छित्तं देतां करेत्तां य चरित्तं सोधेति ।

आज्जतचरणो इमेहिं कओहिं होजा-

होज्ज हु वसणुप्पात्तां, सररीदोवन्नप्राणं असमरया ।

चरणकरणे अमुच्छेत्, सुद्धं ममं परूवेजा ॥३४०॥

व्यसन्तं आवती, मउजगीनादियं वा, तस्मि उउजमति, अद्व-
सरीरदुवन्नल्लणभो असमरयां सउज्जवयादिलहगादि किरिय
कात्, अकपिय्यादियसिंहणं च । अथवा-सररीदोवन्नोत्तां, अस-
मरयां व, अददधम्मा, पवमादिकारणेहिं चरणकरणं मे अवि-
सुद्धं । तथा वि अणुपणं गरिहेत्तां सुद्धं सट्टुममं परूवेत्ता आ-
राधयो चैव भवति ।

इमे चैव अरथो भणति-

ओसएणादिनिहारे, कम्मं सिदिलेति मुलजबोदीए ।

चरणकरणं णिगुहति, न य बोहिं सुद्धं जाणं ॥३४१॥

कट्ठ्या । जो पुण ओसत्थो होउं ओसत्थं ममं उववूहव, सुद्धं

चरणममं गदति, इमेहिं कारणोहिं इमं चसे छुद्धभवोदी (अरथं)
फलं । अदववा-

गुणसयसहस्सकलियं, गुणंतेरं वा अभिलसंताणं ।

चरणकरणजिहासो, गुणुत्तरं तु सो लहइ ॥३४२॥

गुणां सयं गुणसयं, गुणसवाणं साहस्सं, उदोऽजगभवा सकार-
स्स हस्सता कता, ते य अट्टारस्स सीसंगसहस्सा, तेहिं कवियं जु-
त्तं संखियं वा । किं न ?, चारित्तं, ते जो य पसंसति । किंच-गुणभा-
सी उत्तरं च गुणोत्तरम् । अथवा-अयेऽपि गुणाः सन्ति क्षमाव-
यः, तथा गुणुत्तरं च गुणुत्तरं साराचारित्तं । गुणुत्तरं पुण अह-
क्कवायचारित्तं भवति, तं च जे अभिलसंति ते च उज्जतचरणया
इत्यर्थः । ते य उववूहेते जो आसणो अणुपणा य उज्जयचरणो
होइ ति चरणकरकाभिलासो भवति, स एवंवादी गुणुत्तरं
भवति, अहक्कवायचारित्तमित्यर्थः । अथवा-गुणुत्तरं पुण
मोक्कसुद्धं भरणति, तं लभति ।

जो पुण ओसएणो-

जिणवयणजावितेण तु, गुणुत्तरं सो वि जाणत्ता ।

चरणकरणजिहासी, गुणुत्तरं तु मो हएणि ॥३४३॥

गुणुत्तरं चारित्तं, साधु वाःअणुपणा य चरणकरणवघातं वट्ट-
ति, अहवा-चरणकरणम्मु जुत्त, ण वा निदा परोवघातं करइ, स
एवंवादी गुणुत्तरं-चारित्त, मोक्कसुद्धं वा, इणंति ण लभतिऽज्ज
सो दीहसंमारित्तमं णिवत्तंति ।

जो ओसमं ओसणममं वा उववूहेति-

सो होतो परिणतीता, पंचागदं अणुपणा अट्टित्तो य ।

सुयमीलितियत्ताणं, नाणे चरणे य मोक्कवे य ॥३४४॥

पंचपामन्यादिम्यमीलो विहारलगाओ चाउओ कामा, अ-
वियत्ता अगंयथा णाणचरणमोक्कस्स य एतंस मव्योसं परि-
णतो जयति ।

इमेहिं पुण कारणेहिं ओसमं ओसणममं वा उववूहेज्जा-
वितियपदमणुप्पज्जो, वणुत्त अतिकोपिते व अणुपज्जो ।

जाणंते वा वि पुणो, जययातव्वादिगच्छत्ता ॥३४५॥

रावासि य ओसणणुव्यवित्तो भया भरणज्जात्तव्वाट्ठ स्ति ।
कथिद्वाद्वा इय्यात्-तपरिवन्मनपरिवेधन वयतः पापं भवतीति नः
प्रतिज्ञा । तत्रप्रतिघातकरणं वुत्सरइय अनुसराइय मंगउज,
दुभिअक्कविदिसु वा ओसणणवविपसु स्वत्तसु अर्थतो आस-
णाणुवत्तींओ गच्छुवरिपालणत्ता भणउज ॥

जे जिक्खु अनुसराइयं तुमराइयं वदइ, वदंते वा साइ-

उजइ ॥ ३४६ ॥

एमेव वितियमुत्ते, तुमराइयं अनुसराइ व ।

जो पुण वणउज भिक्खु, अनुसिमिगं तु उमिराइ ॥३४७॥

कणुपणा ।

ऐगचारियं जणंता, सयं व तेसु य पदेसु वदंते ॥

सगदोमश्रायणत्ता, केउ पसंमंति गिक्कम्मे ॥ ३४८ ॥

कोइ पालस्यदीणं एगचारियं भवति-पस सुदुरं, पयस्स व-
गाणिणो ण केणइ सह रागदोसा उणुज्जति । सो वि अणुपणा
गणुपंजउभयो तस्मि चैव णणं वट्टति । सां य अणुपणुज्जदोसे
नादिकामो ते पाउत्थादियं एगचारि जिद्धम्मं पसंसति ।

इमं च भणति-

कुक्कयं खु जहुत्ता, चाइडिया विसीदंति ।

एसो निविउयमगां, जस्त जवतो व चरणमुष्ठी ३५? ॥

एवं जयने इमे दोसा-

अभकखानं गिस्मं-कयाइ असंसजपस्य व थिरचं ।

अप्या उम्मागतिओ, अनएणवादो व तिरयस्म ॥ ३५३ ॥

असंजतभाहुउम्मावं अउन्नकखानं अणुसिरातिथं भणति । सो ए पसंसिअमाणो गिस्मंको भवति । मंधुअमाण वि अमेजम (यिरिकरुणं) करोति । अथं च उम्मागपसंसणए अणपया व उम्माग-ट्टियो, ततो तिरयस्स व अण्यपदाथेन अयण्वाद्-कृतो जवति ।

किंच-

जो जत्य होइ मणो, ओयासं सो परस्स भविदो ।

गंतुं तत्य वणंते, इमं पढाणं ति घोसंति ॥ ३५३ ॥

अकाणिगदिट्टेणेण आस्सपणो उवसथारयअं । सेसं कंठं ।

किंच-

पुव्वगयकालियसुय-सेवासेतंदि केइ खोअंति ।

ओस्साणचरणकरणा, इमं पढाणं ति घोसंति ॥ ३५४ ॥

पुव्वगयकालियसुयणिबंधपण्यतो दीसंति । तथ कालियसुये अमोरसो आलावगो-“बहुमाहो वि यणं पुव्वं षिइरिस्ता पच्छा-सुवे कालं करजा कि आराइए, थिराइए ? गोयमा! आराहय, सो थिराइए” । एवं पुव्वगदिए वि जे के वि आलावगते उअ-रिस्ता परं आंमिनि; अणपया वा खुअंति । सीदंतीत्यर्थः । ते य ओसणचरणकरणा इमं ति अप्पणां चरियं पहणं घोसंति ।

इमंति पुरतो-

अबहुस्सुण अगीयत्थे, तरुणे मंदपम्मिणो ।

परियारपूःयाहेउं, संमोहेउ निरंजाति ॥ ३५५ ॥

जेण आयापगणो सण्णाइतो एस अबहुस्सुतो; जेण आव-समादियाणं अथो वा सुअो सो अगीयथो, सोअसवरिसाण आदवेणु जाव चत्ताश्रीसवरिसो एस तरुणो, असंवेगी मंधपम्मो । एते पुंसिं विपरिसामिनि अप्पणां परिचारहेउं, एतेदि थ परि-चारितो सोगस्म पुयाणज्जा होउं, कालियं दिट्टियाथे भणितेहि अहवा अर्माणतोइ वा समोहेउ अप्पणां पासं गिरंभति, ध-रतीत्यर्थः । अहवा-अं एवं पणभवति एतं अबहुस्सुओ अगीयथो तरुणो वा मंधपम्मो वा । सेसं कंठं ।

जत्यांचिओ विहारो, तं च व परमए मूलजबोही ।

ओमसाविहारं पुण, पसंसए दीहुमंसारो ॥ ३५६ ॥

जो संबिभाविहाराओ जुओ तं पसंसति जो सो मुअमबोही । जो पुण ओससाविहारं पसंसति सो असुअमबोही दीहसंस-सारो भवति ॥

वितियपदमणप्पओ, वएज अत्रिकोविए व अण्यओ ॥

जो जाणंता वि पुणो, जयसातव्वादिगच्छडा ॥ ३६७ ॥

पूर्ववव ।

जे जिकवु सुवराइयाओ गणाओ अबुसराइयं गणं सं-कपड, सकमंतं वा साइज्ज ॥ १ ॥

सुसिराइयाणाओ, जे थिकवु संकमे अबुसिराइ ।

पदमवितियचउत्थे, सो पावति आणमादीणि ॥ ३५८ ॥

तो वुसिरातिवं चउओ कयव्वो । चउत्थमेण अवथुं, त-तियमेण अणुणे, पदमवितियलु संकमो पडिसिको । पदमे सं-कमंतस्स मासलहु, वितिण चउअहु । चोदगाइ-उत्थ वितिण प-डिसो, पदममेण कि पडिसो ? । आचार्योइ-तथ थिकार-णे पडिसो, कारणे पुण पदममेण उवसंपदं करोति ।

सा ए उवसंपया कासं पणुअ तिविहा इमा-

उम्मासे उवसंपद, जएण वारसममा उ मज्जिमिया ।

आवकइ उकोसा, पदिच्छसीसे तु आजीवं ॥ ३५९ ॥

उवसंपदा तिंविहा-जहया, मउअमा, उकोसा वा । जहया उ-म्मासे, मज्जिमा वारसवरिसे, उकोसा जावउजीवं । एवं पदि-च्छगस्स एगविहा च व जावउजीवं आयरिओ ण मोसव्वो ।

अम्मासेपूरतो, सुवगा वारससपमा चउलट्टमा ।

तेण पर मासियसे, भणितं पुण आरेते कजे ॥ ३६० ॥

जेण पदिच्छगणं अम्मासिआ उवसंपया कया, सो जदि उम्मासे अपुरिसा जाति, तस्स वसुवगाजिण वारस धरिसा कया, ते अ-पुरिसा जाओ तो चउअहु । जेण जावउजीवं उवसंपदा कता, तस्स मासलहु । अम्मासासं परेण थिकारणे मच्छुतस्स मासलहु । जेण वारससमा उवसंपया कया, तस्स वि उम्मासे अपूरतस्स चउ-मुग्गा वेध, तस्सेव वारससमाओ अपूरतस्स चउअहुगा । एस साह । मच्छुतो गितस्स जगिता ॥ नि० खू० १६ उ० ॥

अवेकत्वमाण-अपेक्षमाण-वि० । निर्गकमाण, हा० ३ अ० ।

अवेज्ज-अवेध-वि० । स्वसमानाधिकरणसमानकाश्रीनसाहा-काराऽविषये, हा० ३० हा० ।

अवेज्जसेवेज्जपय-अवेधमेवेधपद-न० । महाभिध्यात्वनिबन्धने पशुवादिशब्दवाच्ये, हा० २३ हा० ।

अवेध-अवेद-पु० । पुरुषवेदादिवेदरहिते, प्रहा० २ पद । सि-द्धार्थे, स्थाने २ शान् १ उ० ।

अवेयदत्ता-अवेदयित्वा-अव्य० । वेदनमकत्वत्यर्थे, प्रश्न० १ आध० द्वार ।

अवेयल-अवेदन-वि० । न विद्यते वेदना यस्य स अवेदनः । अदपवेदने वेदनारहित, उक्त० १६ अ० । सातापसातवेदनामा-वात् सिक् च । प्रहा० २ पद ।

अवेपवच-अपेतवाच्य-वि० । वचनीयतारहिते, वृ० १ उ० ।

अवेरमाणजाण-अवेरमाणध्यान-न० । न विग्मणमविरमणम; तस्य ध्यानमे । वा जूत्तु पुत्रयोर्वित्तुकिरित्यस्यैकनामपि देश-विरतिं परित्यज्य प्राप्नोषामसमाभिनयः । एते साधवो मांसा-शिने राक्षसाः इत्यतस्तथाश्रं न गन्मन्मिति तनयविदित्विप्र-तारणयोर्भूशुपुत्रयोर्विव, जयवेनेन प्रतिबोद्धमानस्यापि मुहुर्मुहु-र्विगतिं त्यजतस्तत्कानुरिव, मेतार्थस्येव वा दुर्धन्येन, आनुत्तु ।

अवोग्रा-अव्याकृता-स्त्री० । अतिभन्नीरशब्दाद्योयास-अव्य-काकप्रत्युकार्या वा अविभाषिताभेत्वाद् जाषायास, प्रश्न० १ सख् ० द्वार । “अवोच्छिन्नप्र अवोग्राइए” । स० ६ ससम० । अव्य-कृता, यथा-वालकादीनां धर्षानका । दश० ७ अ० ।

अत्रोच्छिन्नम्-अव्युच्छिन्नम्-वि० । उत्तरात्तरानुवृत्त्या व्यवच्छेद-
यन्त्ये, आचा० १ श्रु० ४ आ० ४ उ० ।

अत्रोच्छिन्नित्णय-अव्यवच्छिन्नित्णय-पुं० । अतस्य कालान्तरप्रा-
पण्ये, स्था० ५ टा० ३ उ० । अव्यवच्छिन्नप्रतिपादपरं नयो-
ऽव्यवच्छिन्नितयः । उच्यवस्तिकनये, न० ।

अत्रोच्छिन्नित्णयद्व-अव्यवच्छिन्नित्णयार्थ-पुं० । ६ न० । उच्ये, न० ।

अत्रोच्छिन्नित्णयद्वया-अव्यवच्छिन्नित्णयार्थान्-स्त्री० । अव्यवच्छि-
न्नित्णयार्थस्य भावोऽव्यवच्छिन्नित्णयार्थता । द्रव्यपङ्क्यायाम्, न० ।

अत्रोत्तराण-अव्युत्सर्जन-न० । अपरित्याग, दशा० १० अध्या० ।

अत्रोह-अपोह-पुं० । अपोहनमपोहः । निश्चये, न० । आ० म० ।

प्रासार्थे " ततो अत्रोहय वा " ततः पर्यालोचनात्परम-
पोहने । आ० म० प्र० । अपोहान्ते स्वाकारात्पर्यायत आकारा-
ऽननेत्यने । स्वाकारविपरिगताकारान्मूलकं, रत्ना० ४ पवि० ।
अभ्यापोदपदार्थाधिगणितस्वात्पोह इत्युच्यते । सम० १ का-
राड । (अपोहः शब्दार्थः प्रसिद्ध इति 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे
६४ पृष्ठे द्रष्टव्यः) अप्रगत ऊर्दा वादिस्मृदुनाविनसकां य-
स्मान् 'अबहु० । वादिस्मृदुनाविनतर्कान्साधयं प्रतिवादिस्मृ-
दुनाविने तद्विच्छेदे तर्कभेदे, वाच० । ('अपोह' शब्दोऽस्मिन्नेव
भागं ६३२ पृष्ठे संक्षेपतोऽर्थं निरूपितः, विस्तरतस्तु 'सहृद्य'
शब्दे वदयते)

अत्रोद्गिरिगुल-अव्यवहरणीय-वि० । जाले, नि० चू० १ उ० ।

अत्रोद्गिजाव-अव्ययीजाव-पुं० । अनव्ययमव्ययं भवत्यनेन ।
अव्यय-विच-भू-करणे घञ् । व्यकरणप्रसिद्धे समासभेदे,
वाच० । अनु० ।

स किं न अत्रोद्गिजावे ? अत्रोद्गिभावे आगुमाभा, आगुण-
इया, आगुफरिडा, आगुचरिगा । संचं अत्रोद्गिजावे समासे ॥
पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, तत्र प्रामस्य यन् नमोरेण मध्येन
वाऽशानिर्निगता अनुग्रामम् । एवं नद्याः समीपेन मध्येन वा नि-
र्गता अनुनदि, इत्याद्यापि जावनीयम् । अनु० ।

अत्रोर्ग-अत्रोर्ग-न० । अङ्गने, यस्य ङ्गने ङ्गने न विद्यते । व्य०-
७ उ० ।

अत्रोर्विलत्त-अत्रोर्वासिप्त-वि० । स्थिते, 'अत्रोर्विलत्तय चेतसा'
अव्याङ्गितेन स्थितेण चेतसा । उक्त० २० अ० । कल्पयोगोऽयम-
मगच्छतेत्यर्थः । दशा० ५ आ० १ उ० । पं० १० । व्याङ्गमेव कुर्वन्ति,
प्रतीच्छन्नुपायोभ्ये, " वक्त्रेवणा दुसच्छु, दिवसएषु लीलाज्ञे ।
दुग्मार्द । जो य पठे-तो न करंते विक्त्रेव ॥ १ ॥ अत्रोर्विलत्तो
पसा, आउत्सां कणरहमणस्तो उ ॥ " पं० भा० ।

अत्रोर्गमण-अव्युत्पन्नम्-वि० । अव्यवचनात्कृतमममज्जस-
च्चित्तोपरमनो मनश्चित्तमस्येव्यव्यवममनः । अनुकूलचित्तं, वच०
१५ अ० ।

अत्रोत्त-अव्युत्त-न० । न व्यक्तमव्यक्तम् । अनिर्दिश्ये स्वस्व-
रूपमाज्ञात्यादिकद्वयानादिहेतुं । न० । सर्वप्रकृतौ साङ्ख्यपरिक-
ल्पिते प्रथाने, आ० म० प्र० । अव्यक्तमव्यक्तं प्रथयति,
ततः पश्चित्तं ज्ञानम् । आ० म० प्र० । ध्रुनवयोर्यां लघौ,
भावा० २ श्रु० ४ अ० ३ उ० । वयसा लघौ ध्रुनोत्पणरथश्चेत्, जित० ।
व्य० । यावत्कङ्गादिषु रोमसमभयो न भवति तावदव्यक्तो भव-

ति । नि० चू० १ उ० । व्य० । अव्यक्तोऽष्टानां वर्णानां मध्ये
वास्तः । आ० ५ । अशीनाथं, नि० चू० २ उ० । अनवयानप्रे-
द्वन्प्रहरहस्ये, घ० २ अ० ५ । अव्यक्तोऽगतांशेन स्वाऽव्यक्तस्य
गुरोः पुरतो यदपराशांत्वात्च न तदव्यक्तम् । आलोचनादिषु, व्य० १
उ० । स्था० । " जो य अशीयन्त्यस्सा, आशोप तं तु हांइ
अव्यक्तं " सत्या सत्यत्रामतिदव्यक्तवादी । सयताऽभ्युपगमे
संदिग्धवृत्तौ निहये, आ० म० द्वि० ।

अव्यक्तगम-अव्यक्तगम-वि० । गमनाभावे, नेष्टुमसमर्थं च । सूत्र०
१ श्रु० १४ अ० ।

अव्यक्तवत्त्वगम-अव्यक्तव्यक्तमचित्त-पुं० । द्वादिः संख्या-
व्यवहायतः शीघ्रमेहेलिकायाः परतोऽसंख्यायाश्च संख्यायैनासं-
ख्यात्वेन च वक्तुं न शक्यते असाव्यक्तव्यः स च एककस्तेनाऽव्यक्त-
व्येन एककते एकव्यक्तादिन संख्यां अव्यक्तव्यक्तमित्याः ।
कतिपयेनाऽकतिपयेन चानिर्वचनीयोर्योत्यादिषु, नि० २ श० १ उ० ।
(अत्र दशक 'अवधाय' शब्दे द्वितीयभागे ६२१ पृष्ठे वदयते)

अव्यक्तदर्शन-अव्यक्तदर्शन-पुं० । अव्यक्तमव्यक्तं दर्शनमनुभ-
वः स्वभावेन यत्र साव्यक्तदर्शनः । स्वप्रदर्शनभेदे, म० १६
शा० ६ उ० ।

अव्यक्तमय-अव्यक्तमय-पुं० । न हाप्येतेऽत्र कोऽपि संयतः को-
ऽव्यस्यत इत्यव्यक्तस्यैव सर्वस्याभ्युपगमाच्च व्यक्तमस्फुटमव्यक्तं
मने येयां तेऽव्यक्तमताः । संयताद्यवगमे संदिग्धवृत्तियु निह-
येत्, विश० । आ० म० । आ० चू० ।

अव्यक्तस्वरूप-अव्यक्तस्वरूप-वि० । अमूर्तेनाऽव्यक्तं रूपमस्याऽ-
साव्यक्तस्वरूपः । तथा-कश्चरुणुशिरोध्रीवाद्यनवययनया स्वतोऽ-
व्यस्थानाज्जाये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अव्यक्तिय-अव्यक्तिय-पुं० । अव्यक्तमस्फुटं वस्तु अभ्युप-
गमतो विद्यते येभ्योऽव्यक्तिकाः । संयताद्यवगमे संदिग्धवृत्तियु-
त्तु, स्था० ७ टा० । वच० । अं० ।

तदुत्पत्तिमते वेधम्-तुर्नाथनिहववक्तव्यनामाह-

चोदा दो वामभया, तया सिद्धि गयसम वीरसस ।
तो अव्यक्तियदिद्री, मेयवियाप समुपन्ना ॥

चतुर्दशांशकं वषेणशयं तथा श्रीमन्महाशौरस्य सिद्धि गत-
स्याऽऽसीत्, ततोऽव्यक्तानात्पाननिहवतानां हाट्टदर्शनकया श्वेतवि-
कायां नगर्था समुपपन्नं ।

कथय ? इत्याह-

मेयवियपोलमादे, जोगं तदिद्वसहिययमूठे य ।
सोदृम्भिनलिगिगुम्भे, रायागिडे मुगियवज्ञाने ॥

इह श्वेतविकारायां नगर्थापोलापादभैरवे आयां पादनामान आचा-
याः स्थिताः । तेषां च वदवः शिष्या आगच्छयां प्रपन्नाः अपरवा-
चनाचार्यासंख्ये च त एवाऽऽचार्यापादसुरयस्तेषां वाचनाचा-
येष्वं प्रतिपन्नाः । तथाविधकर्मविपाकतश्च ते तेष्व दिवसे रज-
नोऽहं हृदयश्लेने काशं हृत्वा सौधमे देवकोके नान्निगुत्तिलमध्रामि
देवधेवतोऽप्यक्षाः । स च विज्ञानाः कृतापि गच्छमर्थे । नतोऽवधिना
माकनव्यतिकरं विहाय स्वाध्यायकर्मण्या समागत्य तदेव शरीरम-
प्रिष्टायोत्थाय च प्रांतास्तेन साधयः । यथा-धराशिककाला यु-
द्धातः । ततः कृतं स/धुभिस्संधय, ध्रुनस्येहाहासमुद्देशानुज्ञाश्च तद-

प्रतः कृताः । एष दिव्यप्रभासतस्तेन द्येन तेषां साधूनां कालभङ्गादिभिर्घन रक्ता शीघ्रमेव विस्तरान्ता यागाः । ततोऽनेन तच्छरीरं मुक्त्वा विवे गच्छता प्रोक्ताः साधवः । यथा-
 'कर्मयोगे भद्रं ते यद्व्यसंयतन सता मया आत्मनो वन्दनादौ न वारिताः । चारित्रिणां युयम् । अह ह्यमुकदिन कालं कृत्वा दिव्यं गतो युष्मद्भुक्तस्यवाऽप्रागतः । निस्कारिताश्च भवतामागदायैः । इत्यामुक्त्वा क्रमधित्वा च स्वस्थानं गतः । ततस्ते साधवस्तच्छरीरकं परिस्थाप्य चिन्तयन्ति-अहो ! असंयतो बहुकालं चन्दितः तद्विद्यमन्यथापि शङ्का-को जानाति कोऽपि संयतः, कोऽप्यसंयतो देव इति ? ततः सर्वस्याप्यवन्दनमेव श्रेयः, अन्यथा ह्यसंयतवन्दनं, मृषावाद्बन्ध स्यात् । इत्यथ तथाविचगुरुकर्मोद्घासात्परिणामतयः साधवोऽप्यक्तवाद् प्रतिपन्नाः परस्परं न वन्दन्त । ततः स्थायिरेस्तऽजिदिनाः-यदि परस्मिन् सर्वे च त्रयानां संदेहस्तां देवकं देवाऽहमिति' तत्रापि भयतां कथं न संदेहः, किं स देवा वाऽदेवो वाः, इति । अथ तेन स्वयमेव कथितम्-अहं देवः, तथा देवकं च प्रत्यक्ष एव हृष्टमिति न तत्र संदेहः । हन्त ! यद्येवं तर्हि य एव कथयन्ति वयं साधवः, तथा साधुरूपं प्रत्यक्षत एव हृश्यन्ते, नेषु कः साधुरवसंदेहः, येन परस्परं यूयं न वन्दन्ते ? नच देववचनादेव वचन सत्यमिति शक्यते वक्तुम्, देववचनं हि श्रीमहाद्ययमेवमथाऽपि संभाव्यते । नच तथा साधुवचन, नद्विरतन्यासे-पामिति । एवं च युगं कनियोवन्न प्रहाप्यते तावदुक्त्वा बहयाः कृताः पर्यटनञ्च राजसुहृदं नगरं गताः । तत्र च मौर्ध्वंशसभूतो बलजन्तु नाम राजा, स च आदः । ततः तेन विहाता यथा-अयं कर्वादिनां निद्ववा इह समायाता गुणशिशुर्कवेत्ये तिष्ठन्ति, ततः स्वपुर्याव प्रथम राजकुल आनायिताः । ततः ते कटकर्मनेन मारणार्थं आह्वानाः । ततो हस्तनिर्कटेषु च तस्मैर्दानार्थं मानीनेषु तैः प्रोक्तम्-राजन् ! वयं जानामः-आयकस्व, तत्कथं श्रमणानस्मान्तिथ्य भावयामि ? ततो राजा प्रोक्तम्-युष्मत्सिद्धान्तेनैव का जानाति आयकंऽहं, न वा ? भवतोऽपि किं वीरास्वहिकारक आत्मनरा वन्यापि का वेषि ? तैः प्रोक्तम्-साधवो वयम् । यद्येवमव्यक्तवाद्दतया किमिति परस्परमपि यथाऽप्येष्टं वन्दनादिकं न कुरुषु ? इत्यादिनिर्गुरेष्टुदुभिश्च वचनैः प्रोक्तस्ते नरपतिना । ततः संबुद्धा लज्जिताश्च निःशङ्कताः सम्मार्गं प्रतिपन्नाः । ततो राजा प्रोक्तम्-भवतां सर्वधनार्थमिदं मया सर्वमपि विदहतिमिति क्रमणोपरिमितम् ।

अनुभवार्थं भाष्यकारः प्राह—

गुरुणा देवोर्नृप, समाणरूपेण वाऽया सीसा ।

सन्नावपरो कदित्रो, अध्वत्तियदिष्टिणां जाया ॥

गतार्थम् ।

कथमव्यक्तदृष्टयो ज्ञाताः, इत्याह—

को जाणतु किं साह, देवो वा तं वंदिषिजो चि ।

होञ्जाऽवजयनमण, होञ्जा मुसावायममुगो चि ॥

को जानाति किमयं साधुवेषधारी साधुर्देवो वा ? नास्त्येवात्र निश्चय इति । अत्र नच वक्तव्यं साधुरवयं तत्रैव समाचारदर्शनाद्भवाविविधः आर्योपाद्वेष्टेषुपि साधुवेषसमाचारदर्शनेनानैकान्निकत्वात् । तस्मात्त्र कोऽपि वन्दनीयः संशयविषयत्वात् । यदि पुनर्वन्देत्, तदा आर्योपाद्वेष्टवन्दन इवासंयतवन्दनं स्यात्, अनुको प्रवीतीति भाषणं च मृषावाद्ः स्यादिति ।

अथ प्रतिविधानमाह—

धरवयणं जइ परं, संदेहो किं मुरो ति साहू चि ? ।

देवं कहे न संका, किं सो देवो न देवो चि ? ॥

तेण कहियं ति च मई, देवोऽहं रूवदरिसणाओ य ।

साहू चि अहं कदिए, समाणरूवमि किं संका ? ॥

देवस्स च किं वयणं, सत्त्वं ति न साहूरूवधारिसम ।

न परोप्परं पि वंदेह, जं जाणंता वि साहू चि ॥

तिस्रोऽणुक्तार्थः ।

किञ्च-यदि प्रायक्रेष्वपि यतिषु भवतां शङ्का, तर्हि परोक्षेण जीवादिषु सुतरामसौ प्राप्सिति, ततः सम्यक्त्वस्याप्यभाष इति दर्शयन्माह—

जो वाऽपयत्थेसुं सुहु-मव्ववद्विपविगिह्ठरूवेसुं ।

अचंतपरोक्खेसुं य, किह न जिणैऽसुं जे संका ? ॥

गतार्थम् ।

अथ जिनवचनाजीवादिषु न शङ्का, तद्वैतदिहापि मानमित्याह—

नव्वयाणाओ व मई, नणु त्ठवथे सुमाहुवित्तो ति ।

आलायविहारमिअओ, समणोऽयं वंदणिज्जां चि ॥

अथ तद्वचनाजिनवचनाजीवाद्येषु न शङ्का । ननु स्येषं, तद्वचनं इदमप्यस्ति-यदुत शोभनं साधुवृत्तं श्रमणशीलं यस्यासौ सुमाधुवुत्त इति हेतोः श्रमणोऽयमिति निश्चयाद्वन्दनीयः । सुसाधुवृत्तोऽपि स कथं ज्ञायते ? इत्याह-आशयविहारमिति इति कृत्वा । उक्तं च— "अप्रलयं विहारंण, जणा चकमण्ण ण य । सक्का सुविहियं नां, प्रासा वणइएणयं" ॥ १ ॥

उपपत्त्यन्तरमाह—

जह वा जिणिदपनिमं, जिणमुगारहिप नि जाणमाणा वि ।

परिणामविमुक्तत्वं, वंदेह तह किं न साहूं पि ? ।

होञ्जं न वा साहूत्तं, जइरूवे नत्थि चैव पदिमार्ण ।

सा कोस वंदणिज्जा, जइरूवे कोस पदिमेहो ? ॥

सुगमे । नवरं प्रथममाधार्थां प्रतिमात्याः साधुरूपेण सह वन्दनीयं साम्यमुक्तम् । द्वितीयमाधार्थां तु साधुरूपं विशेषं दर्शयति-यतिरूपं प्राणिनि साधुवेषं जवेदु न वेति संदिग्धमेव, प्रतिमायां तु जिनवेषं नास्त्येवंति निश्चयः । ततः किमिति स वन्दनीयः, यतिरूपं च किमिति वन्दनप्रतिषेधः ? ।

अत्रोत्तरमाह—

अस्संजइरूवे, पावाणुमई मई न पदिमार्ण ।

नणु देवाणुगयाए, पदिमार्ण वि होञ्जो सो दोसो ॥

अथैवंज्ञाना मतिः परस्य जनेन-असंयतेऽधिष्ठितयतिरूपे वन्दमाने तद्गतसंयमरूपपापाऽनुमानंभवति, न स्वसौ प्रतिमाया-म् । अत्रोच्यते-ननु देवताऽधिष्ठितप्रतिमायामप्ययमनुमित-लक्षणां दोषो भवदिति ।

अथैवं मृषात्परः- किमिति—

अह पदिमार्णं न दोसो, जिणुक्कीए नमिउ विमुक्कस्स ।

तो जइरूवे नमिउं, जइरूक्कीए कइं दोसो ? ॥

अथ प्रतिमायां तानुमितिलक्षणे दोषः, किं कुर्वतः ?, नमस्यतः,

कयाः, जिनमुद्धा, कथंभूतस्य, विद्युत्काव्यवसायस्य । बधेवं ततो यातिकुद्धा यतिकपं विद्युत्कस्य नमस्यतः को दोषो येन भवत्यः परस्परं न चन्दते ? । अत्रपरः कश्चिदाह—बधेवं, सिद्धमात्रधारिणं पार्थिव्यादिकमपि बन्तिबुद्ध्याऽविद्युत्कस्य नमस्यतो न दोषः । तद्व्युक्तम्; पार्थिव्यादीनां सम्प्रत्यतिक्रमस्याप्यत्रावत् । तदज्ञाबधे 'आलयास्तु विहारयेण' इत्यादिर्व्यतिङ्गित्यनुपलम्भात् । ततः प्रत्यङ्गादेवतः पार्थिव्यादीन्वदमानस्य तत्सावधानुद्धानलक्षणो दोष एव । उक्तं च—'जह चलेवगलिगे, जाणतस्स नमित्तं ह्वस्य दोसां । निवंधसे पि नाउं, ए वंदमाणं पुवो दोसां' ॥१॥ इत्यादि । प्रतियोग्यस्तु दोषाभावात्तद्वन्दने सावधानुद्धानावतो न दोष इति ।

अत्र पुनरापि पराजिमायमाशङ्क्य परिहरन्नाह—

अहं पदिमं पि न बंधहं, देवसंकापै तो न येतव्वा ।

आहारोवाहिसेजा—आो दूकया भवे जं नु ॥

अथ प्रतिमामपि न चन्दते व्युत्प । इति । यथैव शङ्काचारो प्रवान्, तर्हि—मा देवकृता भवेत्पुरित्याहारोपधिष्यशब्दाद्योऽपि न प्राप्ता इति ।

किञ्चेत्यमतिशङ्कालुतायां स्वस्तव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः, कुतः ? , इत्याह—

को जाणइ किं भत्तं, किमत्रो किं पाणयं ज्ञं पवजं ।

किमलावुं गाणिकं, किं सपपा चीवरं हारो ? ॥

को जाणइ किं सुच्छं, किममुद्धं किं सजीवनिजीवं ।

किं जकस्सं किमनवस्सं, पत्तमभकस्सं तथो सव्वं ? ॥

को जानाति किमिदं अत्तं, कुमया वन्यायाशङ्कायां जकादावपि क्रम्यादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमभकमेव प्राप्ते भवतः । तथा-श्रुतावुचीवरादौ माणमाणिक्यसंपादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमनेम्यं च प्राप्तिमिति ।

तथा—

जइणा वि न संवापो, सेओ पपया-कुमंतिस्संका वा ।

होज गिट्ठी व जइ ति य, तस्माऽऽसीमा न दायव्वा ॥

न य सो दिक्खयस्सं, भव्वंऽऽभव्वो ति जेण को मुणइ ? ।

चोरो ति चारिओ ति य, होज्ज य परदारगामि ति ॥

को जाणइ को सीमां, को वा गुरुओ न तव्विसंमां वि ।

गज्जा न वोवणमा, को जाणइ मव्वमलियं पि ॥

किं बहणा सव्वं चिय, संदिच्छं जियमयं जिणिद्रा य ।

परत्तोयसग्गमोक्खा, दिच्छाण किमत्य आरंभो ? ॥

अहं संति जिण्वारंदा, तव्वयाणाओ य सव्वपन्निवत्तं ।

तव्वयणाओ चिय जइ—वंदणयं वि ते कहं न मनं ? ॥

सर्वा अपि प्रकटार्थाः । नवर " जइणा वि न संवासां " इत्यादिनाऽऽनुपगमविरोधो दर्शितः । (अहं सर्वाभ्यादि) अथ सन्ति जिनवरच्छाः, तद्वचनसिद्धत्वात् नैयाय । तद्वचनार्थे च सर्वस्यापि परलोकास्त्यमोक्षादेः प्राप्तपत्तिर्भवेति । एवं तर्हि तद्वचनार्थे यतिवन्दनमपि कस्मात् सममिति ? ।

अपि च—

जइ जियमयं पमाणं, मुणि ति तो वज्जकरणपरियुच्छं ।

देवं पि वंदमाणो, विमुद्धजावो विमुक्तो ति ॥

यदि जिनमतं नवतो प्रमाणं तर्हि मुनिरित्यनया बुद्ध्या आनयविहारोदिबाह्यकरणपरियुच्छं देवमप्यभरमपि वन्दमानो विद्युत्कभाधो भवेदोपरहोने विद्युत्क एव । उक्तं चागमं—' परग-रहस्समिसीणं, संमत्तगणियसराभसाराणं । परिणामिंश्च प-माणं, निच्छयमवलंबमाणणं " ॥ १ ॥ इत्यादि ।

जइ वा मो जइरुथो, दिट्ठो तह केत्थिया सुरा अणे ।

तुणेहेहिं, दिट्ठपुव्वा, सव्ववत्यापच्चओ जं जे ॥

चा इति अथवा, यथा आर्याणाददेवो यतिरूपधरोऽत्र दृष्टः, तथा किञ्चतः सुरास्ततोऽन्ये भवन्तिरेष्टपूर्वाः, यथातानु-भाषणा-पि सर्वत्राप्रत्ययो (भे) भवतो नहि कदाचित्कथञ्चित् क्विदाभ-येकत्वे कस्मिंश्चित्थाभावाशङ्का युज्यत इति भावः तस्मात्प्रव-हारनयमाश्रित्य युक्तं भवतिसामान्यवन्दनविकारम् । उक्तं च—' निच्छयउ तुञ्चिकं, आवि काम्म वट्ठए समणो । सव्वहारको य जुज्झइ, जे पुव्वविओ चरितमि " ॥१॥ इत्यादि ।

पदद्वय समर्थथाह—

उउमत्यसमयवजा, ववहारनयाणुसारिणी सव्वा ।

तं तह समायरंतां, सुउभइ सव्वो विमुक्क.सणो ॥

संववदहारो वि वट्ठी, जममुच्छं पि गहिंयं मुयविहंए ।

कांवेइ न सव्वमाणु, वंदइयस्स जाइ उउमथं ॥

निच्छयववट्ठानओ—वणीयामिह सामणं जिणिदाणां ।

एगयररिच्छाओ, मिच्छं संकाटओ जे य ॥

जइ जिणमयं पवज्जह, तां मा ववट्ठाननययं मुयइ ।

ववट्ठारपरिच्छाए, तिच्छुओओ जवेऽवम्मं ॥

चनच्छोऽपि सुगमाः । नवर (कांवेइ इत्यादि) न कोपयति-सा-माणिकरानि न परिहरति, त्रुहं इत्यर्थः । (संकाटओ इत्यादि)

येऽपि शङ्काह्लादयस्ते हि मिथ्यास्वप्निति संशयः ।

एतावन्तुके तत् किं तत्र संजातम् ? , इत्याह—

इय ते नामग्गाहं, मुयंति जाहे बहं पि जण्ठाता ।

ता संयपरिच्छाता, रायगिहे निवइणा नाउं ।

वलनदेण पपाया, भण्णति सावयं तवस्सि चि ।

मा कुक्क संकसंका-रुंदसु जणिणए भणइ राया ॥

को जाणइ के तुप्पे, किं चोगा चागिया आभिमेवं व ति ? ।

संजयस्सवज्जता, अज्जमहं भे वि वाएमि ॥

नाएचरियाहिं नज्जइ, समणोऽसमणो व कीस जाणंते ।

तं सावयमंदेहं, करेमि भणिण निवो जणइ ॥

तुज्जे चिय न परापर-वसिंसां साहसो चि किह मज्जे ।

नाणचरियाहिं ता जइ, चोराण व किं न ता संति ॥

उवठ्ठलिओ भयाउ य, पन्निवत्ता उ ते समयसग्गाहं ।

निवव्वाभियाऽजिणंत्तं, गुच्छंत्तं ते पक्कंता ॥

सर्वेऽनुकार्याः सुगमाश्च, नवरं नृपतिना बलभरुण 'ते आग-ताः' इति ज्ञान्या आश्रयाः आहूताः, किं 'युयम्', इति पृष्टाश्च भ-णन्ति—'दे आवके' इत्यादि । (नाणचरियाहिं ति) हानिकार्याभ्यां यो जयतामपि साधव इति विश्रम्भः परस्परं नास्ति, स ताभ्यां कथं

मे जायते । अपि च किं ते ह्यत्रिमे ज्ञानक्रिये चोराणामपि न स्तः, न भवतः इति अत्रिभिरुपस्थाप्यैः ॥३५१॥ इति तृतीयोऽव्यवसियः अनिधाननिष्कवः समाप्तः । विंशो । श्रा० म० । श्रा० सू० ॥

अव्यवसिय-अव्यवसिय-पुं० । न० । अक्षरकने, कथमव्यात्मनोऽव्यवसियत् ॥ श्रा० ५ श्रा० कियतामप्यव्यवसियत् ५ अभावात् ॥ श्रा० ५ अ० सदाऽवस्थापिनि, विंशो । श्या० । सूत्र० ॥ "सुवे णियय सासए अक्षयए अव्यव" अव्यवः तत्रप्रदेशानामव्यवत्वात् । म० २ श० १ उ० । द्वादशाक्षं प्रवचनमव्यव, मानुषोत्तरदा बहिः-समुद्रव्यवस्थादेष । न० । ननु 'यत्काकिलः किल मयी' इत्यत्र यच्छब्दात्प्रोक्ता विभक्तिः; तथा कश्चुतकलिका' इत्यत्र तच्छब्दात्प्रोक्ता विभक्तिः ? अत्र यत्तच्छब्दावव्यवयो वा, अव्यवयो वेति प्रश्न-यच्छब्दात्प्रोक्ता क्रियाविशेषणत्वं द्वितीया विभक्तिः वाक्यार्थमादाय, अव्यवस्ये तु प्रथमाऽपि संभवेति । तच्छब्दात्प्रोक्ता तु तस्य पूर्वपराभिहितं प्रथमा विभक्तिः; व्याख्यातान्तरणं सप्तम्यपीति यत्तच्छब्दावव्यवस्येवत्येव वतेते इति सर्वं सुस्थमिति । सन० २ उल्ला० १५३ प्रत्यय० ।

अव्यवसिय-अव्यवसित-त्रि० । अनिश्चयवति, पराक्रमयति च । श्या० ।

तत्रोत्तराणा अव्यवसिप्रसन्न इति याए अमुहाए अकलमाए अत्रिस्मेसाए अणानुगाभियत्ताए जवति । तं जहा-मे एं मुंने भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिगमंथे पावयणे संकिए कंसिए वितिगिच्छए भेदसमापने कट्टुमसमापनेथे णिगमंथं पावयणं णो सदहइ, णो पत्तियए, णो रोपइ; तं परीमहा अजिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवति । नो से परीमहा अजिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवइ । सो एं मुंने जविता अगाराओ अणगारियं पव्वइए पंचइ महव्वएहिं संकिए० जाव कट्टुमसमापने; पंच महव्वयाइं णो सदहइ० जाव नो से परीमहा अजिजुंजिय अभिजुंजिय अजिजवइ । से एं मुंने भविता अगाराओ अणगारियं पव्वइए इहिं जीविकिएहिं० जाव अजिजवइ ॥

त्रिंशो स्थानानि प्रवचनमहाव्रतजीविकियायलक्षणानि अव्यवसितस्थानिश्चयनोऽपराक्रमयतो वाऽद्वितीयाऽपव्याय, अमुखाय उ-च्छ्रयाय, अस्तमाय असंगतत्वाय, अविश्रयसाय अमोहाय, अननुगाभिकत्वाय-अधुनाउच्छ्रयाय भवन्ति । (सं पं ति) यस्य त्रिंशो स्थानानि अहितान्दित्वाय भवन्ति, स शङ्किरो-देशतः स्वर्गो वा संशयवान्, काङ्क्षन्ः तथैव मतात्तरस्यापि साधुत्वेन मते । विचित्राकस्तिः फलमप्रति शङ्कोपेतः, अत एव भेदसमापनो द्वैतीभावमापन्नः-परामिदं न वैधर्मिप्रति शक्यः कलुषसमापन्नो जैनदेशमितिप्रतिपात्तकः । ततश्च निप्रश्नानामिदं वैश्रैष्ठिकं प्रशस्तं प्रगतं प्रथमं वा यत्नमिति प्रवचनम्-आगमः । द्वैशैव्यं प्राकृतत्वात् । न अश्च से सामान्यतः, न प्रत्येति न प्रीति-विषयोकोक्तिः; न रोचयति न चिकीर्षोविषयीकोक्तिः । तस्मिन्ति, य एवमभूतस्तं प्रवृत्तित्वाभास्तं, परिपहन्ते इति परीषदाः बुधादयः, अनियुज्य अनियुज्य सम्भ्रष्टपागव्य प्रतिस्पृश्यं वा अजिमवन्ति न्यक् कुर्वन्ति इति । शेषं सुगमम् । श्या० ३ उल्ला० ५ उ० ।

अव्यवसय-अव्यवसय-पुं० । लोकोत्तररीत्या द्वादशे दिवसे, जं० ५ वक्र० ।

अव्यवह-अव्यवह-न० । देवायुषसर्जनितं जयं चक्रनं वा व्यथा, तदज्ञावाऽव्यथा । व्यथाऽभावे शुक्रध्यानाभ्रवने, जं० २५ श० ५ उ० । श्या० । ग० । श्रौ० ॥

अव्यवहिय-अव्यवहिय-त्रि० । परेणामादिननु-क्रे, जी०३प्रति० । पं० सू० । अनामिति, जं० ३ श० ३ उ० । अदीनमनासि, दश० ५ अ० । अपाङ्गिते, पञ्चो० ५ विव० । निष्ककम्पमाने धीरे, नृ० १ उ० ।

अव्यवहिय-अव्यवहिय-न० । सूत्रगुणभेदे, अव्यवहियं यत्स्य सूत्रस्याप्यस्तमपद्रुमुपरितमम्, उपरितममथो न क्रियते । नृ० १ उ० ।

अव्यवहिय-अव्यवहिय-न० । विपर्यस्तनन्माला-गनरत्नानि इव व्याविकानि विपर्यस्तानि अकराणि यत्र तद् व्याविकाकृतं न तथाऽव्याविद्धात्तरष । व्याविकाकृतवदोपरहिते सूत्रगुणं, ग०२ अत्रि० । श्रा० म० । अत्रु० ॥

अव्यवहिय-अव्यवहिय-त्रि० । अव्यवहियपरिच्छेद, आचा १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अव्यावाह-अव्यावाह-न० । न विद्यते व्यावाधा यत्र तदव्यावाधम । द्रव्यतः खड्गाद्यभिघातकृत्या, मायतो मिथ्यात्वादि-कृत्या, छिद्ररूपयाऽपि व्यावाधया रहिते चन्द्रे, प्रव०२ द्वार । "अव्यावाहं द्रुविहं-दव्ये, भावे य" उच्यते, खड्गाद्यभिघातव्यावाधानकारणविकले, भावतः सस्यगृहोत्तरिचयनो यन्त्रे, श्रा०५ श्रु० । शरीरव्याधानामभावे, "किं न जनं अव्यावाहं ? सोमिला ! जं मे बाधित्यपिपत्यमिमयसांघवाद्यप्यविहोरोगायंका सरीरगया दोसा उपसना णा उदरिति । सन्तं अव्यावाहं" । म० १८ श०१० उ० । विधिषा आवाधा व्यावाधा; तन्निषेधात् । श्रौ० । व्यावाधावर्जितसुखं, श्रौ० । "अव्यावाहमुचयणम्" । श्रा० म० टि० । "अव्यावाहमव्यावाहणम्" । अव्यावाधमव्यावाधेन, सुखं सुखेनेत्यर्थः । जं० ५ श० ५ उ० । कल्प० । अमूल्यत्वात् (रा०) अकर्मकत्वात् (ध० २ अत्रि०) परेणामीडाकारित्वात् (जं० १ श० १ उ०) केनापि व्यावाधायितुमशक्यत्वात् (जी०३ प्रति०) व्यावाधापरहिते सिद्धस्थाने, रागादयो हि न तद् बाधितुं प्रमथिष्यन्तः प्रहो० ३६ पद । कल्प० । रा० । बुधादिवाधापरहितत्वात् (प्रह्लव्येम्) प्रश्र० ४ सम्भ० द्वार । गन्धर्वादिभक्त्याभावव्यावाधाविकला (प्यानदेशः) अव्यावाधाशब्देन विधिष्यते । श्राव० ५ अ० । व्य.वाधन्ते परं पीडयन्तीति व्यावाधाः; तन्निषेधाद्द्व्यावाधाः । त्रि० म०१४ श्रा० ८ उ० । उत्तरयोः कृष्णराज्योरुत्तंगंतुप्रतिष्ठाभावमानवामिदोकात्मिकदेवेषु, श्या० ८ टा० । म० । "अव्यावाहाद्देवाणां नव देवा नव देवसया पयश्वत्वाः एव अगिच्छा वि, एवं रिद्धा वि ।" श्या० ८ टा० ।

अत्यि एं जंते ! अव्यावाहा देवा ? । हंता अत्यि । से केणइएणं जंते ! एवं बुद्धं अव्यावाहा देवा ? । अव्यावाहा देवा गोयमा ! पत्तूणं एगमंम अव्यावाहा देवे एगमं-सम पुरिससन् एगमंमंसि अच्चिद्धपत्तंसि दिव्वं देवकिं दिव्वं देवजुंति दिव्वं देवाणुजावं दिव्वं बत्तीमइविं नइविंदिं उ, वदंमत्तए णो चेव एं तस्स पुरिससस किंचि अवाहां वा

पवाहं वा वावाहं वा उप्पाएऽ, ऋविच्छेदं वा कोऽ, ए सुहुमं च णं उवदंसजाः; से तेणट्टेणं जाव अव्यावाहा ॥१॥

(अक्षिपुषोमि लि) अक्षिपेते अक्षिपमक्षि (आवाहं च लि) हेपद्वाधां (पवाहं व लि) प्रकृषवाधां (वावाहं लि) क्यचित्, तत्र तु व्यावाधां विगणशामाधां (क्विच्छेये नि) शरीरच्छेदं (ए सुहुमं च णं ति) सुप्रममेव सुभमं यथा भवत्येवमुपदेशयेत्; नाट्याविधिमिति प्रकृतम् । ज० १४ श० ८ उ० ।

अव्यावाह-अव्यापृत-त्रि० । व्यापारवर्जितं, "सद्विषयपट्टयं न कीरह, जहियं अव्यागमं तयं वन्धु" । यन् शब्दितपतिते यत्र व्यापारः कोऽपि न क्रियते तद्वास्तु अव्यापृतमुच्यते । इति लक्षित-स्वरूपे वास्तुभेदे, वृ० ३ उ० ।

अव्यावक्ष-अव्यापुक्ष-त्रि० । अविभिक्षे, व्य० १ उ० । अविनष्टे, भ० १ श० ७ उ० ।

अव्यावारपोमह-अव्यावारपौष-पुं० । व्यापारप्रत्याख्यान-पूर्वकं क्रियमाणं पोषधोषवासव्रतं, "अव्यावारपोसहं दुर्बिहा-हेले, सखे य । देसे अमुमे वावारं करंम, सव्वे ववहारं से बल-सगडधरपरिकम्मादायां न कीरह" । आच० ६ अ० ।

अव्यावारसुद्धिय-अव्यावारसुखित-त्रि० । तथाविधव्यापार-हिततया सुखिति, वृ० ३ उ० ।

अव्याहय-अव्याहृत-त्रि० । अप्रपहते, पो० १४ विव० । स्वरा-विरोधनि, व्य० १ श० । अव्याधिते, न० ।

अव्याहयपुत्रवाररत्त-अव्याहयपूर्वापरस्व-न० । पूर्वापरवा-क्याऽविरोधरूपे सत्यवचनातिशये, रा० । स० ॥

अव्याहिय-अव्याहाकृ तु-त्रि० । अनाहृते, जी० ३ प्रति० । अ-कथिते, "अव्याहिते कसाहिया" आचा० १ श्रु० ए अ० २ उ० । अव्युक्तं-अव्युक्तान्त-त्रि० । अपारिणतविध्वंसनास्तुके, ग० । २ अधि० ।

अव्यो-अव्यो-अव्य० । संबोधनादौ, व्य० ७ उ० ।

अव्यो मचना-दुःख-संभाषागपराध-विस्मयानन्दादर-जय-खेद-विषाद-पश्चात्तापे ट, १ । १०४ ॥

"अव्यो" इति सूचनादिषु प्रयोजकम् । सूचनायाम्- "अव्यो हुकरयारअ" । दुःख- "अव्यो दलेति हिअअ" । संभाषण- "अव्यो किमिणं किमिणं ?" । अपराधविस्मययोः-

"अव्यो इरति हिअअ, तइ वि न बेसा हवति जुवईण । अव्यो किं पि रहस्से, मुण्णंति घुत्ता जण्णमहिआ" ॥ १ ॥

आनन्दादरनेयप-

"अव्यो सुपहायमिणं, अव्यो अजजम्ह सण्णत्तं जीअं ।

अव्यो अरअम्मि तुमे, नवरं जइ सा न जुविदिइ" ॥

खेद- "अव्यो न जाति छेत्तं" । विषाद-

"अव्यो नासंति दिदि, पुअयं वहुंति देति रणरणयं ।

परिह तस्सेव मुण्ण, मे णिअ अव्यो कह णु पअं ?" ॥ १ ॥

पश्चात्तापे-"अव्यो तइ तेण कवा,अअअं जइ कस्से साहेमि?" ।

प्रा० २ पाद ।

अव्योगह-अव्याकृत-त्रि० । अविशेषिते, वृ० २ उ० । "अव्यो-वाहमविनक्तं" । अव्याकृतं नाम यदायादैरविनक्तमिति वास्तुने-

दे; वृ० ३ उ० । (अथ हृद्यन्तः ' उग्गह ' शब्दे द्वितीय-भागे ७०९ पृष्ठे छन्दः) अविशंसुत्, दशा० ३ अ० ।

अव्योच्छिन्न-अव्यवच्छिन्न-त्रि० । स्वर्णशय परम्परया समा-गतः, व्य० ७ उ० ।

अव्योच्छिन्न-अव्यवच्छिन्न-त्रि० । "अमानोताः प्रतिषेधे" न व्युच्छित्तिव्युच्छित्तः । प्रतिषेधो, यः स्वयं कृताधोऽनुत्तममवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति । पं० सू० । अव्यवच्छिन्ना अन्त वाच्येते, भूतस्य शिष्यप्रशिष्यपरम्परागततयाऽव्यवच्छिन्नसूत्र्यादिति प-ञ्चममव्यवच्छिन्नः कारणम् । आ० म० प्र० ॥

अव्योच्छिन्निगुण-अव्यवच्छिन्नितनपार्य-पुं० । अव्यवच्छि-न्निप्रधानं नयाऽव्यवच्छिन्नचयनः, तस्याधः । कल्पे, भ० ७ श० ३ उ० ।

अव्योपका-अव्याकृता-स्त्री० । गम्भीरशब्दाध्यायां मन्वना-क्षरप्रयुक्त्यायां वा अभाषिताध्यायां वा प्राणायाम, भ० १० श० ४ उ० ।

असद-असृति-स्त्री० । असृते तत्रभवेन समस्तध्यायमानानि व्याप्रीति इत्यसृतिः । अथाहमुषहस्यतलकपे, तत्परिच्छिन्ने ध्याये च । असृ० । प्रसृतेरई, ज्ञा० ७ अ० । "दा असईस्रा पमई" । आध० ।

असृति-स्त्री० । असृणने, घ० २ अधि० ।

असई-असकृत्-अव्य० । अमेकश इत्यर्थे, पञ्जा० १० विव० । आचा० । भ० । "असई तु मणुस्सेहि, मिच्छादको पजुजअ" अ-सकृत् इति वारंवार । उता० ९, अ० । प० व० । जी० । पा० । "असई वासकृत्तत्तेदो" । न सकृत्सकृत्, सत्येदर्थेऽर्थः । दश० १० अ० ।

असई-असर्त-स्त्री० । दुःशीलायाम्, घ० २ आध० । दास्याम्, भ० ट श० ६ उ० । प्रव० ।

असई नणपोमणया- (स्त्री०) असर्तजनपोषण-न० । असनीज-नस्य दासीजनस्य पोषणं तद्गाइकापजीवनाथे यत् तक्षया । एवमन्यदिप कूरकमेकारिणः प्राणिनः पोषणमसर्तजनपोषण-मेवेति । दासीजनस्य कूरकमेकारिणो वा पोषणे, उपा० १ अ० ।

असईपास-असर्तीपाप-पुं० । असर्तो दुःशीलास्तासां दासी-सारिकादीनां पोषणं पोषोऽसर्तीपापः । तत्र लिङ्गसन्तभ्रम्, नेन शुकभवादीनामपि पुंसां पोषणमसर्तीपापः । यववाचि- "मञ्जार-भोरमकड-हुकरुमारीयहुकरुदरणं । कुट्टिन्धिनपुंसाई-ण पोसणं असईपासणयं" ॥ १ ॥ प्रव० ६ शार । दुःशी-लाणां शुकसारिकामयूरमार्जारिमकटकुकरुदकुकरुयकृकादिति-रक्षां पोषणं, भाटीप्रहणार्थं दास्याः ऋ पोष, गोक्षदो प्रसिद्धो-ऽयं व्यवहारः । पयां च दुःशीलाणां पोषणं पापइतुरेवति दोषः । पञ्जदोः कर्मादानमेतत् । घ० २ अधि० । आ० । भ० । घ० १० । (असर्तीपापयं तु ह्युजानेन साधुना कर्मकथां न देयमिति ' ज्ञेयण ' शब्दे बह्यते)

असटण-अशकृत्-पुं० । न० त० । आकृन्ध्वनिप्रतिषेधवच-नप्रत्यूनी शकुनिविपरीते अभिधार्थसंस्वके, पञ्जा० ७ विव० । पं० घ० । घ० ।

असक-अशकृ-न० । न विद्यते शक्यं यस्य मनसस्तदशक्यम् । निःशक्यं, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

असंकपियञ्ज-अशङ्कनीय-त्रि० । कूटपाशादिरहिते अशङ्काहे
श्वाने, सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

असंकपिय-असङ्कल्पित-त्रि० । स्वार्थे संस्कृतात् साधयेत्या
मन्साऽप्यकल्पिते, भ० ७ श० १ उ० ।

असंकपय-असंकपय-पुं० । परस्परममीलेने, अष्ट० १४ अष्ट० ।

असंकपय-अशङ्कमानस्-त्रि० । अशङ्कं मनो यस्यासौ अशङ्क-
मनाः । नपोदमनियमफलत्वाऽशङ्कादिरहिते आस्तिक्यमन्युप-
पेते, आचा० १ भु० २ अ० ३ उ० ।

असंकिं (ष)-अशङ्कित्-त्रि० । शङ्कामकुर्यापे, सूत्र० १ भु०
१ अ० २ उ० ।

असंकिय-अशङ्कित्-त्रि० । अशङ्कनीये, " असंकियाइ संक-
नि, संकियाइ असंकिणो । " सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० ।

असंकिलिङ्ग-असंक्रिष्ट-त्रि० । विशुद्धावयवसाये, आनु० ।
निर्दोषणे, " असंकिलिङ्गाय ध्यायै " । औ० । विशुध्यमान-
पारिणामयति, प्रथ० १ सप्त० द्वार ।

असंकिलिङ्गाय-असंक्रिष्टाचार-पुं० । असंक्रिष्ट इहपर-
लोकाश्यात्मकसंक्राष्टाविप्रमुक्त आचारो यस्य सोऽसंक्रिष्टाचा-
रः । व्य० ३ उ० । सकलदावपरिहारिण्ये, व्य० ३ उ० ।

असंकिलोस-असंक्रेश-पुं० । विशुद्धमानपरिणामहेतुके सं-
क्रेशभावे, " तिदिहे असंकिलेसे-पाणसंकिलेसे, द्रवणसं-
किलेसे, चरितसंकिलेसे " । स्थ० २ उ० ४ उ० । "दसविहे असं-
किलेसे परणसे । तं जडा-उवहिअसंकिलेसे जाव चरितसं-
किलेसे " स्थ० १० उ० । (अस्य संकिलेसं शब्दे व्याख्या)

असंख-असङ्ख्य-त्रि० । भविष्यमानसङ्ख्ये, उक्त० ४ अ० । भवि-
ष्यमानपरिमाणे च । हा० २६ अष्ट० ।

असंखगुणावीरिय-असंखगुणावीर्य-त्रि० । असंख्यातगुणयो-
ग, कर्म० ४ कर्म० । अष्ट० ।

असंखन-असंखन-न० । वाचिके कलहे, नि० पू० १ उ० ।
ग० १ उ० ।

असंखनिय-असंखनिक-पुं० । कलहशीले, भृ० १ उ० ।

असंखय-असंस्कृत-त्रि० । उत्तरकरणेनानुदिते पटादिवत्सं-
घातुमशक्ये, उक्त० ।

असंस्कृतं जीवितमित्युक्तमततद्व्याचिख्यासुराह नियुक्तिहत्-
उत्तरकरणेण कर्तव्यं, जं किं वी संखयं तु छायाव्वं ।

तेमं असंखयं खनु, असंखयस्सेस गिञ्जुवी ॥
उक्त० नि० १ खरु० ।

भूलतः स्वहेतुत उत्पन्नस्य पुनरुत्तरकालं विशेषध्यानात्मकं
कालमुत्तरकरणं, तेन कृतं निर्धारितं यत् किञ्चिदित्यविवक्षितप-
टादि, (यत्तद्विहित्यमसिंशब्धध्यात्) तत् संस्कृतम् । तुरवधा-
रणं । सचैवं योजयते-यत्तत्तरकरणकृतं तदेव संस्कृतं ज्ञातव्यम् ।
शेषमतोऽप्यतः संस्कारानुचितं विधीयन्मुक्ताफलापरमसंस्कृत-
मेव, ललुताद्यस्यैवकारणान्तरम् । असंस्कृतमित्यस्य सूत्रा-
वयवस्यैवा बहुयामाजलकणा नियुक्तिरिति निक्षेपनियुक्तिः । बहुव-
कस्यतया च प्रतिज्ञातम् । अथवा-अथाऽऽचारपञ्चमाध्ययनस्य

'भावेति' इत्यादिना पदेन नाम, तथाऽऽप्यप्यसंस्कृतमिति नाम ।
ततश्चासंस्कृतनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्यैवा नामनिष्पन्नानिक्लिपनियु-
क्तिः, तस्यैवावयव व्याख्यातव्यंति साधाऽप्यः । उक्त० ४ अ० ।

येन करणेनात्र प्रकृतं तदाह-
कम्मगमरीकरणं, आशुयकरणं असंखयं तं तु ।

तेषांउद्दिगारो तस्मा, उ अण्यमादो इह चरिचमि ॥
कर्मकारोत्तरकरणं कार्मण्येदहनिसंवेनं, तस्यि ज्ञानावधारणादि-
नेदतोऽनेकविधमित्याह-आयुष्करणमिति । आयुषः पञ्चमक-
र्मप्रकृत्यात्मकस्य करणं निर्वर्तनमायुष्करणम् । तत्किम् ? इत्याह ।

(असंखयं तं तु षि) तत्पुनरायुष्करणमसंस्कृतमुत्तरकरणेन नु-
दितमपि पटादिवत्संघातुं न शक्यम् । यतः- "फटा तुष्टा च इह,
पडमादी संघतिं नयतिउणा । सा का वि नपि नती, संघिञ्जइ
जीवियं जीए " ॥१॥ एवं च स्वरूपतो हेतुनो विषयतश्च व्याख्य-
यति । स्वकृताइ हेतुतश्च "उत्तरकरणं कर्म" इत्यादिना प्रत्येन
व्याख्यातम् । अनेन त्वायुष्करणस्यासंस्कृतानुधावपदशेनेन विष-
यतः । इदानीं तुपसंहारमाह- (तेण उद्दिगारो षि) तंनेत्यायु-
ष्कर्मणा संस्कृतेनाधिकारः । (तस्मा उ षि) तस्मात् । तुशब्दोऽ-
वधारणार्थः, तस्य च ध्यायैतत् (ततोऽधमथा) ततोऽधमथा-यस्मा-
दसंस्कृतमायुष्कर्म तस्मादप्रमाद एव-प्रमादाभाव एव, चरिषे
इति चरिषविषयः कस्यैव्य इति साधारणः । उक्त० ४ अ० ॥

संप्रति सूत्रालापकानिष्पन्निक्रयवसरः स च सुत्रे सति
भवति । तच्छब्दम्-

असंखयं जीविय मा पभापप, नतोवणीयस्स हु नुत्थि ताणं ।
एवं विद्याणाहि जणो पयसे, कस्यं विद्दिंसा अजया मिदिंति ॥

संस्कृत्यत इति संस्कृतं, न तथा असंस्कृतम् । शक्यशैर-
पि लतो वर्यतिपुं नुदितस्य वा कर्णेणाशुवदस्य संघातुमस-
क्यत्वात् । किं तत् ? जीविते प्राणधारणरूपम् । ततः किमि-
त्याह-सा प्रमादीः । किमुक्तं भवति ?-यदीदं कथञ्चित् संस्क-
र्तुं शक्यं स्यात्तत्तु प्रकृतात् धर्मेऽपि प्रमादो दोषावैव स्यात् ;
यदा त्विदमसंस्कृतं तदत्परिष्कार्य प्रमादिमस्तदात्तद्विधमिति
प्रमादं मा कृथाः । कुतः पुनरसंस्कृतम् ? जरया वयोहानिक-
रणा, उपनीतस्य प्रकृतात्पुनरुत्तमपि प्रापितस्य, यथा जराऽन-
रमेव मृत्युरित्येवमुपदिश्यते । हुवेतो, वस्मात्प्राप्तं न विद्यते
प्राणं शरणं, येन मृत्युरजा स्यात् । उक्तं च वाचकैः-"मङ्गलैः
कौतुकेयीनै-विद्यानामस्यैस्तयोपेभः न शक्ता मरणत्वात्, आनु, सन्ना
देवगाणा अत्रि" ॥ १ ॥ यद्वा-स्यादेतत् । वार्धक्ये धर्मे विधा-
स्यामीत्याशकक्याह-उत्तरापूर्वतः प्रापितो गम्यमानत्वात्स-
कर्मनिर्जोषोपनीतः, तस्य नास्ति प्राणं, पुत्रादयोऽपि हि न तदा
पालयन्ति, तथा चात्यन्तवधोपरि स्यात्-अस्य न धर्मे इति
शक्तिः, अन्धा वा भवान् । यद्वा-प्राणं येनासावपनीयते पुनर्यी-
वमानीयते न तादृक्करणमास्ति, ततो यावदसौ नास्मान्तरात्स-
वक्ष्ये मा प्रमादीः । उक्तं हि-"तथावदिक्रयवसं, जरया रोगेन
बाध्यते प्रसम्भम् । तावच्छरीरमुच्छेद्यं विदप्य धर्मे कुरुष्व मात-
म् ॥१॥ उक्त० ४ अ० । (उत्तरपनीतस्य च प्राणं नास्तीत्येव दृष्टा-
न्तोऽहममङ्गलं, तत्कथा च 'अष्टवृ' शब्दे त्रैवे भोगे ३३० पृष्ठ
उक्ता) उत्तराऽप्ययनेषु चतुर्थेऽध्ययने, तत्र प्रमादाप्रमादाऽभि-
धायकमप्यादानपदेनासंस्कृतमित्युच्यते । सूत्र० १ भु० १ अ० ।

असंखलोगसप्त-असंखलोकिसप्तम् । असंखयलोकाऽऽ-
काशप्रदेशप्रमाणे, कर्म० ४ कर्म० ।

असंखेज्ज-असंखयेय-वि०। संख्यास्ताते, अ० १ श० ५ उ० । गणनामतिक्रान्ति, आ० ७० १ अ० ।

असंखेज्जकालसमयाड्डिइ-अमत्थेयकालसमपरिचित-पुं० । पत्न्योपमाससंखेयभागादिभित्तिथु नैरिक्कादिषु एकंन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जं दैमानिकपर्यवेत्तय, स्या० । " बुविहा णेरप्या पएणत्ता । तं जहा-संखेज्जकालसमपट्टिया चेव, असंखेज्जकालसमपट्टिया चेव । एवं एगंदिद्यविगत्तेदिषवज्जा० जाव वाएमंनरा" । स्या० २ उ० २ उ० ॥

असंखेज्जगुणपरिहीण-असंखेरुत्था, गुण०-वि० । असंख्यातगुणेन परिहीणो यः स तथा । असंखेयभागमात्रे, औ० । असंखेज्जजीविय-असंखेरुत्थातज्जित-पुं० । असंखेयजीवात्मकेषु बुद्धेषु, अ० । " सं किं तं असंखज्जजीविया ० । असंखज्जजीविया बुविहा पएणत्ता । तं जहा-एगट्ठिया, षडुट्टिया य ०" । अ० ८ श० ३ उ० ।

असंखेज्जय-असंखयेयक-..० । गणनासंख्याभेदे, अनु० ।

से किं तं असंखेज्जए ? । असंखेज्जए ति विहे पणत्ते । तं जहा-परिचासंखेज्जए, जुत्तासंखेज्जए, अमंखेज्जासंखेज्जए । से किं तं परिचासंखेज्जए ? । परिचासंखेज्जए ति विहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उक्कोसए, अनहणमणुक्कोसए । से किं तं जुत्तासंखेज्जए ? । जुत्तासंखेज्जए ति विहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उक्कोसए, अनहणमणुक्कोसए । से किं तं अमंखेज्जासंखेज्जए ? । अमंखेज्जासंखेज्जए ति विहे पणत्ते । तं जहा-जहणए, उक्कोसए, अनहणमणुक्कोसए ॥

असंखेयकं तु-परीतासंखेयकं, युक्तासंखेयकं, असंखेयासंखेयकम् । पुनरंकेक जघन्यादिभदान् प्राविधमिति सर्वमपि नवविधम् ॥

अथ नवविधमसंखेयकं प्रागुद्धिं निरूपयितुमाह-
एवामेव उक्कोसए संखेज्जए रूवे पविखत्ते जहणयं परिचासंखेज्जयं भवइ । तेण परं अजहणमणुक्कोमयाइं उाण्णइं जाव उक्कोमयं परिचासंखेज्जयं न पावइ । उक्कोसयं परिचासंखेज्जयं केवइअं होइ । जहणयं परिनासंखेज्जयं, जहणयंपरिचासंखेज्जयंत्ताणं रासीणं अन्नमणुब्भासो रूवूणां उक्कोमं परिचासंखेज्जयं होइ ।

(एवामेव चि) असंखेयकंऽपि निरूप्यमाणे पर्यमेवानवस्थितपट्यादिनिरूपणा क्रियन् इत्यर्थः । तावथावतुक्कएसंखेयकमाननीतं, तस्मिंश्च यावदेकं रूपं पूर्वमधिकं दृशिन् तद्यदा तत्रैव राशीं प्रकृष्यते तदा जघन्यं परीतासंखेयकं भवति । (तेण परमित्यादि) ततः परं परीतासंखेयकस्यैवाजघन्योत्कृष्टानि स्थानानि भवन्ति यावदुत्कृष्टं परीतासंखेयकं न प्राप्नोति । शिष्यः पृच्छन्ति-कियत्तुनरुक्कए परीतासंखेयकं भवति ? । अत्रोत्तरम्- (जहणयं परिचासंखेज्जयं ति) जघन्यपरीतासंखेयकं यावत्प्रमाणं भवतीति शेषः, तावत्प्रमाणानां जघन्यपरीतासंखेयकमात्राणां, जघन्यपरीतासंखेयकगतरूप-

संख्यानामित्यर्थः । राशीनामन्योन्यमन्यासः परस्परं गुणनास्वरूप एकन रूपेणोऽन उक्कए परीतासंखेयकं भवतीति । इदमत्र इत्यम-प्रत्येकं जघन्यपरीतासंखेयस्वरूपा जघन्यपरीतासंखेयका एव यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावन्तः पुञ्जा व्यवस्थाप्यन्ते । तेभ्य परस्परं गुणितयों राशिर्भवति स एकन रूपेण हीनमुक्कए परीतासंखेयकं मन्तव्यम् । अथ सुखप्रति-पसधमुवाहरणं दृश्यते-जघन्यपरीतासंखेयकं किलासकल्पनया पञ्च रूपाणि संप्रधार्यन्ते । ततः पञ्चैव धाराः पञ्च पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते । तथादि-५ । ५ । ५ । ५ । ५ । अत्र पञ्चानिः पञ्च गुणिताः पञ्चविंशतिः । सा च पञ्चमिराहता जातं पञ्चविंशतमित्यादिकमंशामीषां राशीनां परस्परान्यासे जातानि पञ्चविंशत्यधिकान्यं क्रियाद्यतानि । एतत्प्रकल्पनया एतावन्मानः । सजावतस्वसंखेयरूपां राशिरेकन रूपेण गुणहीन उक्कए परीतासंखेयमित्याद्यनन्तरात्क्रियुक्तासंखेयकादिकमिदं रूपं समाकर्षिते उक्कए परीतासंखेयकं निष्पद्यते इति प्रतीयत एव । इत्युक्तं जघन्यादिभ्रमंश्चि विविधं परीतासंखेयकम् ॥
अथ तावद्भेदभ्रमस्यैव युक्तासंखेयकस्य निरूपणाधमाह-

जहणयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहणयं जुत्तासंखेज्जयं जहणयंपरिचासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अन्नमणुब्भासो पान्पुष्पो जहणयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा उक्कोसए परिचासंखेज्जए रूवं पविखत्ते जहणयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । आवडिअ वि त्ति च आ चेव । तेण परं अनहणमणुक्कोसयाइं उाण्णइं जाव उक्कोमयं जुत्तासंखेज्जयं न पावइ । उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहणएणं जुत्तासंखेज्जएणं आवडिअ गुणिअ अन्नमणुब्भासो रूवूणां उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा जहणयं असंखेज्जनामंखेज्जयं रूवूणं उक्कोमयं जुत्तासंखेज्जयं होइ ॥

(जहणयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअमित्यादि) । अत्रोत्तरम्- (जहणयं परिचासंखेज्जमित्यादि) व्याख्या पूर्ववदेव । नवर- (अन्नमणुब्भासो पान्पुष्पो चि) अन्त्याभ्यस्तः स परिणयं एव राशिदि गृह्यते, नतु रूपं पात्यत इति ज्ञायः । (अहवा उक्कोसए परिचासंखेज्जए इत्यादि) प्राविधमथैव । (आर्वीयया तत्ति-या चेव चि) यावन्ति जघन्ययुक्तासंखेयके सर्वपरुपाणि प्राप्यन्ते प्रावृत्तिकापामपि तावन्तः समया जघनीत्यर्थः । ततः एते वथावत्तिका गृह्यते तत्र जघन्ययुक्तासंखेयकेतुल्यसमय-राशिमाना सा रुद्धया । (तेण परमित्यादि) ततो जघन्ययुक्तासंखेयकात्परत एकोत्तरया वृद्ध्या असंखेयायजघन्योत्कृष्टानि युक्तासंखेयस्थानानि भवन्ति, यावदुत्कृष्टं युक्तासंखेयकं न प्राप्नोति । अत्र शिष्यः पृच्छति- (उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयमित्यादि) अत्र प्रतिवचनम्- (जहणएणमित्यादि) जघन्यन युक्तासंखेयकेनापि तिका समथराशिमुत्थयते । किमुक्तं भवति- अन्त्याभ्यमन्यासः क्रियन्, जघन्ययुक्तासंखेयराशिस्तेनैव राशिना गणयत इति तापयेयम् । एवं न कृते यो राशिर्भवति स एव एकन रूपेणोऽन उक्कएयुक्तासंखेयकं भवति । यदि पुनस्तद्वत् तद्वत् एव भवते तदा जघन्यनसंखेयासंखेयकं जायते । अत एवाह- (अहवा जहणयं असंखेज्जासंखेज्जयं रूवूणमित्यादि) गताधमं । उक्तं युक्तासंखेयकं विविधम् ॥

इदानीमसंखेयासंख्येयकं त्रिविधं विभिनपुराह-

जहन्नयं असंखेज्जासंखेज्जयं केवद्वयं होइ ? । जहन्नयं एणं ठाणाइं जुत्तासंखेज्जयणं आवलिअ गण्णिअ अस्सममा-
वभासो पडिपुष्ठां जुहणयं अमसंखेज्जासंखेज्जयं होइ ।
अइवा उक्कोसप उक्कोसप उक्कोसप रुवं पडिक्खितं जहणयं अ-
संखेज्जासंखेज्जयं होइ । तेण परं अजहणमपुक्कोसयाइं०
जाव उक्कोसयं अमसंखेज्जासंखेज्जयं ण एवाइं । उक्कोसयं
अमसंखेजासंखेज्जयं केवद्वयं होइ ? । जहणयअसंखेज्जासं-
खेज्जयपेचाणं रासाणं अण्णमण्णवभासो रुवुणां उक्कोसयं
अमसंखेजासंखेज्जयं होइ ॥

(जहणयं असंखेज्जासंखेज्जयमित्यादि) इदं तु सूत्रं भा-
वितार्थमेव । नवरं (परिपुष्ठां लि) परिपुष्ठां रूपं न पा-
रयत् इत्यर्थः । 'अहवा' इत्याद्यादि गताद्यर्थः । (तेण परमादि-
ततः परं (असंखेज्जासंखेज्जकं केषियमित्यादि) अत्रो-
त्तरम्—(जहणयं असंखेज्जासंखेज्जयमित्यादि) जघन्यमसंखेय-
यं यावद्भवतीति शेषः । तावत्प्रमाणानां जघन्यासंखेयकरु-
पं संस्थानमित्यर्थः । राशानामन्योन्यमन्यासः परस्परं गु-
णानस्वरूपः, एकं रूपं तं उच्छृणुमसंखेयासंखेयकं भवति ।
अयमत्र त्रयाथो-प्रत्येकं जघन्यासंखेयासंखेयकरुपा जघन्या-
संखेयाऽसंखेयका एव यावन्ति रूपानि भवन्ति तावन्ती रा-
शयो व्यवस्थाप्यन्ते । तेषु परस्परगुणितेभ्यो राशिभवनि स
एकं रूपं हीन उच्छृणुमसंखेयासंखेयकं प्रतिपत्तव्यम् ।
उदाहरणं चात्राप्युच्छृणुमसंखेयकं तासुसारेण वाच्यम् ।
अनु० ॥

साम्प्रतमसंखेयानान्तकस्वरूपमाह—

इय मुत्तुत्तं अणे, वगियमेकंनि चउत्थयमसंसं ।
होइ असंभामंवे, लहु रुजुयं तु तं मउभं ॥ ८० ॥

(अणे वगियमित्यादि) रूपे अत्रायं एकं सूत्र्य एवमाहुः-चथा-
चतुर्थकमसंसं जघ-युक्तासंखेयातरूपं, वगितं नायैतव राशिना
गुणितं सव, (एकमिति) एकवारं, भवति जायते संपद्यतेऽसं-
ख्यासंख्ये, त्रयु जघन्यं, जघन्यासंख्यातासंख्यातकं भवतीत्यर्थः ।
आपि न तं उल्लेख्यतकमुद्दिश्य मध्मासंखेयप्रकारणुणा पूर्वाकै-
र्वातं दर्शयन्नाह— (रुजुयं तु तं मउभं ति) रूपेण संपपल-
त्तनं युते रूपयुतम् । तुरवधारणे, इववहितसम्बन्धश्च । त-
द्विहित-तद्वयान्तरामिहित जघन्यासंखेयासंखेयादिकम् । किं
भवतीत्याह—मथ्यं मध्यमासंखेयासंखेयादिकं भवति ॥ ८० ॥
रुजुवृणामाइं गुरु, त्रिविगिठं तं इमं दसकसेवे ।

शोणामामपपसा, धम्माधम्मगेज्जिवदेसा य ॥ ८१ ॥

तदेव जघन्यासंखेयासंखेयादिकं रूपानभेकेन रूपेण रहितं
सत्, आदिमं तदपेक्षयाऽऽश्वस्य राशेः संबन्धि गुरु उच्छृणुं प्रव-
सीति । अयमत्राशय-जघन्यासंखेयासंखेयकं रूपानं सद् युक्ता-
संख्यातकमुच्छृणुं भवति, जघन्यपरीतानन्तकं रूपानमसंखेया-
संखेयकमुच्छृणुं भवति, जघन्ययुक्तानन्तकं तु रूपानमुच्छृणुं प-
रीतानन्तकं प्रवति, जघन्यप्रतानन्तकं तु रूपानमुच्छृणुं युक्ता-
न्नकं भवतीति । अपुना जघन्यपरीतानन्तकं प्रतानन्तरेण
प्ररूपयन्नाह—(त्रिविगिठं तं इत्यादि) तद्विहितं प्रागभिहितं ज-

घन्यासंखेयासंखेयकं त्रिवर्गयित्वा सदशादिराशी, परस्परं
श्रीद्वं वारानन्त्यस्येत्यर्थः । अयमत्राशय-जघन्यासंखेयासं-
खेयकराशेः सदशादिराशिगुणनलक्षणो वर्गो विधीयते, तस्या-
पि वरीराशेः पुनर्वर्गः क्रियते, तस्यापि वरीराशेः पुनर्वर्गं वर्गो
निष्पाद्यते इति । ततः किमित्याह—इमान् वक्ष्यमाणस्वरूपान्,
(वसति) दशासंखेयान् क्रियन्ते इति । "कर्मणि घञि" लोपाः-प्र-
कृतेणोपरान्तस्येति क्रियस्व निधेहीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः ।
तथाहि-शोकाकाशस्य प्रवेशाः, धर्मश्चाप्यधेकजोवत्तु धर्मोऽध-
र्मैकजोवत्तु; तेषां देशाः प्रदेशाः । अयमत्राशय-धर्मैकजाकाय-
प्रदेशाः, अधर्मास्ति कायप्रदेशाः, एकजीवप्रदेशश्च ॥ ८१ ॥

तथा-

टिक्वेषज्जवसाया, अणुभागा जोग्गेषपडिअणाम् ।

जुएहय समाणसमया, पचेयनिगोयए खिसमु ॥ ८२ ॥

स्थितिवचस्य कारणभूतान्धव्यवसायस्थानानि कार्याद्य-
रूपावध्वस्यशब्देनोच्यन्ते, तान्यसंखेयावध्व- । तथाहि-
ज्ञानावरणस्य जघन्यान्मुहुत्तंप्रमाणः स्थितिवचः, उच्छृणु-
स्तु विश्वासागरोपमकोटाकाटिप्रमाणः, मध्यमपदं त्वेकद्वित्रि-
चतुरादिसमयाधिकतमुद्गादिकांऽसंखेयजदः । एषां स्थि-
तिवचनानां निर्वाहकान्यध्ववसायस्थानानि प्रत्येकमसंखेयलो-
काकाशप्रदेशप्रमाणानि विभाष्यते । एवं च सत्यैकस्मिन्नपि
ज्ञानावरणऽसंखेयानि स्थितिवचःप्रध्ववसायस्थानानि लभ्य-
न्ते । एवं दशानावरणादिवध्वपि वाच्यम् । (अणुभागा इति)
अनुभूयमाना ज्ञानावरणादिकमणो जघन्यमध्यमादिभेदाभिन्ना रस-
विशयाः, एतेषां चानुभावाविशयाणां निर्वैकान्यसंखेयलोका-
काशप्रदेशप्रमाणान्यध्ववसायस्थानानि भवन्त्यतोऽनुभावाधि-
शेषा अथेतावन्त एव द्रष्टव्याः, कारणजद्विधितवाक्योभेदा-
नाम् । (जोग्गेषपडिअणाम्) योमां मनोवाक्कायचित्पय धी-
र्ये, तस्य केवंप्राज्ञाच्छेदेन प्रतिविश्यादिति निर्वाचनाना भागा यो-
गच्छृणुदपरिमयाः । ते च निर्वादाद्विनां संक्षिपञ्चैन्द्रियपर्यन्तानां
जीवानामभिन्ना जघन्यादिद्विभक्ता असंखेया मन्तव्याः ।
(दुरुह य समाणसमय इति) इत्येव समयोदसपिणवस-
पिणोकाऽस्वरूपयोः समया असंखेयस्वरूपाः । (पचेयनि-
गोयए इति) अनन्तकार्यात्कारु वज्रियिवा श्रुवाः पृथिव्यपुनजो-
वायुवन्स्पतित्रयाः प्रत्येकशरीरिणः, सर्वेऽप जीवा इत्यर्थः, ते
चासंखेया प्रवन्ति । निर्वादाः मूढभाषां चात्राणां चान्तकता-
यिकवन्स्पतिजीवानां शरीराणीत्यर्थः, ते चासंख्याताः । एव-
मेते प्रत्येकमसंखेयस्वरूपा दशा ज्ञेयास्ताद क्रियस्व ॥ ८२ ॥

अथ राशिदशकप्रसेपानन्तरं तस्यैव राशयोस्त्व विहिते
यज्जवति तदाह—

पुणरपि तस्मि त्रिविगिणं, परिउसणं लहु तस्स रासीणं ।

अन्नामं हहु भुत्ता-णंते अणुभवाजिअमाणं ॥ ८३ ॥

पुनरपि (तस्मि इति) तस्मिन्ननन्तरादिते प्रकृतेमन्त्रेप-
दशके, त्रिविगितं श्रीद्वं वाराद्वं वर्गितं सति, परीतानन्तं लघु
जघन्यं जवति । इदमुक्तं भवति—जघन्यासंखेयासंखेयक-
स्वरूपं वारत्रयं वर्गितं राशौ ते कुपोः सित्यन्ते । तत इत्थं
पिथितेते यो राशिः संपद्यते स जघन्यपि वारत्रयं वर्गितं ।
ततो जघन्यं परीतानन्तकं भवतीति । इदमिदानीं जघन्ययुक्तान-
न्तकनिर्कणमाह—(तस्स रासीण्यथादि) तस्य जघन्यपरी-

तानन्तकस्य, संबन्धिनो राश्रीनाम्न्येन्यमन्यासे सति, सधु अ-
 धन्यं युक्तानन्तकमध्यजीवमानं भवति । इयमत्र भावना-अध-
 न्यपरीतानन्तके ये राशयः सर्वपरुषाः, ते पृथक् पृथक् व्यव-
 स्थाप्यन्ते, तेषां तथाव्यवस्थागतानां अधन्यपरीतानन्तकमा-
 नामां राश्रीनाम्न्येऽन्याऽन्यासे सति युक्तानन्तकं जघयं प्र-
 वृत्ति । तथा अधन्ययुक्तानन्तके यावन्ति रूपानि वर्तन्ते, अभ-
 व्यसिद्धिः काः अपि जीवाः केशलिना तावन्त एव दृष्टा इति ॥८३॥

अथ प्रसङ्गो जघन्यनान्तककप्रकरणमप्याह-

तवगमे पुण जायद, णंताणंत्तं ब्रह्म ते च तिकरुत्तुत्तु ।
 वग्गमु तद वि न तं हो-इ णंत्तंवेच विववुत्तु इमं ॥८४॥

तस्य अधन्ययुक्तानन्तकराशेयं सद्ब्रह्मन्यासे-तद्वर्गे कृते स-
 ति, पुनर्भूयाऽपि, जायते संपद्यतेऽनन्तानन्तं सधु अधन्यं, अध-
 न्यानन्तकं जवतीत्यर्थः । उक्तुणानान्तककप्रकरणयाह- (तं-
 च तिकरुत्तुत्तु इत्यादि) तच्च तत्पुनर्जघन्यमनन्तानन्तं त्रिकुटाया
 श्रीं चारान् वर्गस्य-तावतैव राशिनो गुणय । अथमत्राथः-
 अघन्यान्तानन्तकराशेस्तावतैव राशिनो गुणनस्यरूपे वर्गः
 कियते, ततस्त्वस्य वर्गितराशेः पुनर्वर्गः, तस्यापि वर्गितराशेर्भू-
 योऽपि वर्ग इति । तथाऽपि-एवमपि, वात्रत्रयं वर्गं कृतेऽपिः त-
 दुक्तुणमनन्तानन्तकं, न भवति न जायते । नतः किं कायम् ? इ-
 त्याह-अनन्तज्ञेयानिमाह वक्ष्यमाणस्वरूपान् परं परं संख्यान्
 क्रियस्व निधेदिति ॥ ८४ ॥

तानव चरन्तक्रेपानाह-

सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई काल पुग्गज्ञा चैव ।
 सच्चमसोगनहं पुण, तिवग्गिउं केवसमुग्गम्मि ॥ ८५ ॥

सर्व एव सिद्धा निष्ठितनिःशेषकराणां, निगोदजीवाः सम-
 स्ता अपि सुखवादादेभेदभिन्ना अनन्तकायिकसत्त्वाः, वनस्पतयः
 प्रत्येकानन्ताः सर्वेऽपि वनस्पतिजीवाः । काल इति-सर्वोऽप्य-
 दीप्तानागतवसैमानकालसमयराशिः, पुक्कताः समस्तपुद्गलरा-
 शेः परमाणवः । सर्वे समस्तम्, अलोक्तमोऽल्लोकाकाशमितिः
 उपसन्नतात्वात् सर्वोऽपि लोकालोकप्रदेशराशिः, इत्येतदाशि-
 ष्टुमक्षेपानन्तरं यस्मिन् कृते यद्भवति तदाह-पुनः पुनरपि त्रिव्यं-
 गैवित्था श्रीं चारोस्तावतैव राशिनो गुणयित्वा, केवलसिद्धिके-
 षल्लज्ञानकेवलदर्शनमुग्गे क्लिप्ते सति ॥ ८५ ॥

सिन्हेऽणंताणंत्तं, इवई जिहं तु ववहरद मज्जं ।
 इय सुहमत्थवियारो, लिहिअो देविदसूरीहिं ॥ ८६ ॥

क्लिप्ते न्यस्ते सति, अनन्तानन्तकं भवति जायते, ज्येष्ठमुक्तुणम् ।
 तुः पुनरप्येव, व्यवहितसम्बन्धश्च । व्यवहरति व्यवहारकारि मध्यं
 तुः मध्यं पुनः । इयमत्र भावना-इह केवलज्ञानकेवलदर्शनश-
 ध्दं तत्पर्याया उच्यन्ते, ततः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः पर्या-
 येऽप्यनन्तेषु क्लिप्तेषु सन्निवृत्तिं दृष्टव्यम् । नवरं क्लिप्योऽयाणां
 मानान्याङ्कानपर्यायाणां प्रमथ्यानन्त्यं वेदितव्यम् । एवमनन्तानन्तं
 ज्येष्ठं भवति, सर्वस्यैव चरन्तुजातस्यात्र संसृष्टीन्त्वात् । अतः प-
 रं चरन्तुसर्वस्यैव संख्यान्वेषस्याज्ञावादिव्यभिप्रायः । सुभाभि-
 प्रायतस्त्रिव्यमन्यनान्तानन्तकमुक्तुणं न मथ्यन्ते, अनन्तकस्यापि-
 वृत्तस्यैव तत्र प्रतिपादितत्वात् । तथाचोक्तमुक्तुणमुक्तुणं-
 " एवमुक्तेःसयं अणानागतयं नत्थि " । तदत्र तस्यं केशलिना
 विदन्ति । सूत्रे तु यत्र केशविदन्तानन्तकं शृणोते तत्र सर्वत्रापि-

अधन्योक्तुणस्यैव वाक्यमनन्तानन्तकं द्रष्टव्यम् । कर्म०४ कर्म० ।
 (यद्यपीदं पूर्वं 'अणुतंग' शब्देऽस्मिन्केच भागे १६१ श्लोके प्रावि-
 तं, तथापि मनातन्तरेणोपपत्त्यस्तम्)

असंख्येज्जित्थद-असंख्येयविस्तृत-वि० । असंख्येयानि यो-
 जनसहस्राणि ब्रह्मायमविष्कन्देण, असंख्येयानि योजनसहस्राणि
 परिक्रमेण च विस्तृतं, जी० ३ प्रति० ।

असंग-असङ्ग-वि० । बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहिते, प्रहा० १ पद ।
 आच० । प्रव० । न विद्यते सङ्गोऽसुखत्वाद् व्यस्य स तथा ।
 आच० १ श्रु० ५ अ० ९ उ० । आत्मनि सङ्गविकले, षो० ८
 विव० । अभिष्वङ्गाभाषयति, षो० १५ विव० । मोज्जि, प० १०
 ३ द्वार । सकसल्लेशाऽनाषात् (औ०) सिद्धे, तन्मुक्त्यावक्षे,
 च । " अथे च ह्येवं च मनरेविाक्रिया, सुखेऽपि दुःखेऽपि च नि-
 विकारता । स्तुनौ च निन्द्यासु च तुल्यशीलता, वर्धन्ति तां त-
 त्वविदाऽऽसङ्गताम् " ॥ १ ॥ षो० ११ विव० ।

असंगह-असंग्रह-पुं० । असंग्रहशीले, व्य० ४ उ० ।

असंग्रहदृ-असंग्रहश्चि-पुं० । न विद्यते संग्रहे रुचिरस्य सः ।
 गच्छेद्योग्यहकरस्य पीडादिकस्योपकरणस्यैवणादावविमुक्तस्य
 लज्यमानस्यात्मभरत्वेन संग्रहे रुचिमनाद्धानि, प्रश्न० ३
 सम्ब० द्वार ।

असंग्रहिय-असंग्रहिक-पुं० । व्यवहारनयमतानुसारिणं वि-
 शेषवादिनि नैगमे, विश० ।

असंग्रहीत-वि० । अनाश्रितं, स्था० ८ ग० ।

असंगाणुद्वाण-असङ्गानुष्ठान-न० । निर्विकल्पस्वरसबाहि-
 प्रवृत्तौ, घ० १ अचि० । अष्ट० ।

ध्यानं च विभले बोधे, सदैव हि महात्मनाम् ।
 सदा प्रसृमरोऽनन्ते, प्रकाशो गगने विभोः ॥ १ ॥

(ध्यानं चेति) विभले बोधे च सति प्राधान्यं सदैव हि
 ध्यानं भवति, तस्य तत्राप्यन्त्वात् । दृष्टान्तमाह-अनन्तेऽभ्रगर्हते
 गगने विभोःकदितस्य प्रकाशः सदा प्रसृमरो जवति, तथाऽ-
 वस्थास्याज्ञात्वात् ॥ २० ॥

सत्प्रवृत्तिपदं चेत्ता-मङ्गानुष्ठानसंज्ञितम् ।
 संस्कारतः स्वरसनः, मष्टया भोज्यकारणम् ॥ १ ॥

(सविति) सत्प्रवृत्तिपदं चेद् प्रमायामसङ्गानुष्ठानसंज्ञितं
 भवति, संस्कारतः प्राच्यप्रत्यक्षज्ञानं, स्वरसन इच्छानैरपेक्षेण,
 प्रवृत्त्या प्रकृतवृत्त्या, मोक्षकारणम् । यथा-दृढदरमनोदनादन्-
 न्तरमुत्तरश्च, प्रतिसेतानस्तरसंस्कारानुबोधोऽव भवति, तथा
 प्रथमाभ्यासाद् ध्यानानन्तरं तत्संस्कारानुबोधोऽव तत्सत्-
 शर्पणामप्रवाहोऽसङ्गानुष्ठानसंज्ञां लभत इति प्राचार्यैः ॥ २१ ॥

प्रशान्तवादिनासंज्ञं, विसर्गागपरिहृत्यः ।
 शिववर्त्ते भ्रुवाञ्चेति, योगिर्जगिर्गते षट् ॥ १ ॥ २१ ॥

(प्रशान्तेति) प्रशान्तवादिनासंज्ञं साक्षर्यानां, विसर्गागपरिहृ-
 यो बौकानाम्, शिववर्त्ते शैवानां, भ्रुवाञ्चेत् महाप्रतिनामानाम्, द्यं-
 चेति योगिभिरसङ्गानुष्ठानं शीले ॥ २१ ॥ द्वा० ४ ५ द्वा० १०
 असंघयण-असंहनन-न० । अर्थात्तानिः सहननैवोचितं, वि०
 सू० २० उ० ।

असंवाद्यम्-असंप्राप्तिसं-वि० । त्रिकाधिककणेषु कपाटवदसं-
घातेन निर्मुक्तेषु, नि० सू० २ उ० ।

असंसृष्टय-असांशयिक-पु० । बहुकालं रक्षितुमशक्ये दुग्ध-
धिषकाभादी, कल्प० ९, ल० ।

असंसृष्टयत-वि० । असंजातसंस्थे, मसि कश्चासि कश्चातुर्मासि-
क्याश्रमासिकपाण्मासिक वा प्रायश्चित्तं वर्तमाने, व्य० १ उ० ।

असंसृष्ट-असंसृतौ-स्त्री० । अविरति कात्याय, वृ० १ उ० ।

असंसृष्ट-असंसृजन्-न० । असंज्ञे, अगुचौ च । नि० सू० १ उ० ।

असंजय-असंसय-पुं० । न संयमेऽसंसयः । प्रतिषिद्धकरणे,
आ० सू० ४ अ० । पं० सं० । सावधानुष्ठाने, सूत्र० १ श्लो३ अ० ।

प्राणानिवातादौ, "असंजयं परिणयामि, संजयं त्वसंप्रज्ञामि"
ध० ३ अधि० प्रश्न० आ० सू० । बालमात्रं, आचा० १ ब० २ अ० ५
उ० २ उ० । "असंजयमघाणं, निष्कृत्तं सत्वमेव य ममत्" असं-
यमे विराधनास्वजावमेकविधम् । आतु० सूत्र० । "पिमिदियाणं
जावा समारंभमाणस्त पंचविदे असंजयं कज्जइ । तं जहा-
पुदविकाइयअसंजमे० जाव वणस्सइकाइयअसंजमे० । स्या० ५
उ० २ उ० । असंजयमाः- " तेइदियाणं जीवा समारंभमाणस्त
उविदे असंजमे कज्जइ । तं जहा-घाणामाओ सोक्खाओ ध-
वरोवत्ता प्रवइ, घाणामएणं दुक्खेणं संजोपत्ता भवइ० जाय
फालसमयेणं दुक्खेणं संजोपत्ता भवइ " इह चाव्यपरोपण-
मयोजेनं च संयमेऽनाश्रयकृपादितरदसंयम इति । स्या० ६
उ० १ । " चउरिदियाणं जावा समारंभमाणस्त अचविदे
असंजमे कज्जइ । तं जहा-चक्रनुपामो सोक्खाओ धवरोवत्ता
प्रवइ, चक्रनुपएणं दुक्खेणं संजोपत्ता भवइ " । स्या० ८
उ० १ । " पंचिदियाणं जावा समारंभमाणस्त पंचविदे असं-
जमे कज्जइ । तं जहा-सोइदियअसंजमे० जाव फालसिदियअसं-
जमे० । स्या० १ । " सववणभूयजीवसत्ता णं समारंभमाणस्त
पंचविदे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एपेदियअसंजमे० जाव पं-
चैदियअसंजमे० । स्या० ५ उ० २ उ० । पं० सं० । " सत्तावेइ
असंजमे पणत्ते । तं जहा-पुदविकाइयअसंजमे० जाव तस-
काइयअसंजमे अजीवकाइयअसंजमे० । स्या० ७ उ० १ । " दस-
विदे अमजमे पणत्ते । तं जहा-पुदविकाइयअसंजमे० अजी-
वकाइयअसंजमे० । स्या० १० उ० १ ।

सत्तरसविदे असंजमे पणत्ते । तं जहा-पुदविकाइयअसंजमे,
आउकाइयअसंजमे, तेउकाइयअसंजमे, वाउकाइयअसंजमे, व-
णस्सइकाइयअसंजमे, वेइदियअसंजमे, तंइदियअसंजमे, च-
उरिदियअसंजमे, पंचिदियअसंजमे, अजीवकायअसंजमे,
पेहाअसंजमे, उपेहाअसंजमे, अवट्टुअसंजमे अप्पमज-
णाअसंजमे, मणअसंजमे, वइअसंजमे, कायअसंजमे ।

अजीवकायासंयमे विकटसुषणं बहुसुष्यवस्त्रपात्रे पुस्तकादि-
प्रहणम् । प्रेक्षायासंयमे यः स तथा । स च स्थानोपकरण-
ादिनि अग्रयुपकृणमविधिप्रयुपेकं वा । उपेक्षाऽसंयमयोगेषु
व्यापारणं, संयमयोगेष्वव्यापारणं वा । तथाऽप्रहृत्यसंयमः-अ-
विधिनांभारगदीनां परिष्ठापनमे यः । तथा-अग्रमार्जनाऽसंयमः
पात्रद्वैरमार्जनाय चिति । मनोवाक्कायाऽसंयमोस्त्वामकुशला-
नामुदीरगानीति । स० १७ सम० ४० प्रश्न० पं० भा० आ०
सू० । (मैथुनं संवमानस्य कौटशाऽसंयम इति 'मैथुण' शब्दे)

असंजयकर-असंयमकर-त्रि० । साधुनिमित्तसंयमकरणश्रीभि, पि० ।

असंजयमहाए-असंसयमस्थान-न० । असमाधिस्थानादिषु, व्य० ।

असमाहिद्वयाए खलु, सवला य परीमहा य मोहम्मि ।
पत्ति आवयसागोरोवम-परमाय ततो असंसेज्जा ॥

एष प्रायश्चित्तराशिः । कुतः ? उच्यते-यानि खल्वसमाधि-
स्थानानि विश्रान्तिः । खलुशब्दः संज्ञावचः । स चैतानसंवाद्ययति-
असंस्थातानि देशकाशपुरुषजैदतोऽसमाधिस्थानानि; एवमेक-
विश्रान्तिः श्वलानि; द्वैविश्रान्तिः परोपदाः । तथा-मोहं मोहनीये
कर्मणि ये अष्टाविश्रान्तिभेदाः, अथवा मोहविषयानि त्रिशव-
स्थानानि, परोपदाऽसंयमस्थानेभ्य एष प्रायश्चित्तराशिरुप-
पत्ते । व्य० १ उ० ।

असंयमस्थानभेदाः—

से जयवं ! केवइए असंजयमहाए पएणत्ते ? गोयमा !
अएणे असंजयमहाए पएणत्ते० जाव एं कायामंजयमहाए ।
से जयवं ! कयरे कायामंजयमहाए ? गोयमा ! काया-
संजयमहाए अएणेगदा पएणत्ते । तं जहा—

"पुदवदगामणिवाठ, वणप्फनी तह तसएण विविहाणं ।
इत्येण वि फारिसणयं, वज्जउजा जावर्जिं वे पि ॥

साउएणस्वारत्थिने, अग्गं दोणुमअंविसेणाहे ।
पुदवीदीएणं परोप्पर, स्वयंकरे वज्जसत्थेए ॥

एहाएणुम्मदएल्लोभण-इत्यंगुलिअक्खिसायकरणेणं ।
आवीपंते अणत्ते, आऊर्जिं वे स्वयं गति ॥

संधुकगालाएणाहिं, एवं उज्जोयकरएणापीदीहिं ।
वीणएणुमएणउज्जा-वणेहिं मिहिजीवसंयमं ॥

जाइ स्वयं अणे वि य, उज्जीवानिकायपइएणं ।
जीवे जल्लणां सुट्टु इ-उ वि हु संभक्खइ दस दिमाएणं च ॥

ओवीएणगतास्त्रियं-टयचामरओक्खेहत्थतास्त्रेहिं ।
धोवणमेवणल्लयएण-ऊसाईहिं च वाऊणं ॥

अंकुरकुहरकिसंयय-एववालुप्पफलकंदलाट्ठं ।
इत्थफरिसेण बहवे, जांते स्वयं वणप्फई जीवे ॥

गमणागमणनिसीयए-एयएणुएणअणुवउत्तययमत्तो ।
वियल्लेदियवितांउत्तए-वेदियाण गोयम ! स्वयं नियमा ॥

पाणाइशयविरई, सेयफत्तया गिरिइठएण ता धीमं ! ।
मरणावयम्मि पत्ते, मेरेज्ज विरई न त्वादिज्जा ॥

अक्षियवयणस्त विरई, सावज्जं सन्वमवि न ज्ञासिज्जा ।
परदव्वहुरएविरई, करेज्ज दिसे वि मा लोर्जं ॥

धरणं दुक्खरत्तं-व्वयसस काउं परिग्गहन्वायं ।
राईजोयणविरई, पंचिदियनिग्गहं विट्ठिया ॥ "

महा० ७ अ० ।

असंजयपक-असंसयपक-पुं० । पृथिव्याचपमईकरमे, इ० १ उ० ।

असं जय-असंसयत-वि० । न विरतोऽसंसयतः अविरते, आच० ४

असंजय

अ० । स्था० । भिव्याहृष्टपादौ, म० ६ श० ३ उ० । अविरत-
स्यवाहृष्टियस्येत, आतु० । न० । कुनश्चिद्व्यनित्त्वे, सूत्र० १
शु० १० अ० । दश० । गृहस्थे, आचा० २ शु० २ अ० १ उ० ।
नि० चू० । स च आचकः, प्रकृतिमदका वा स्यात् । आचा० २
शु० २ अ० २ उ० । गृहकर्मकारिण प्रव्रजिते, सूत्र० १ शु० ५
अ० । असाधो सयमरहिते, म० १ श० १ उ० । अ० । प्रश्न० ।
हा० । असंयमवति आश्रमभरिप्रदप्रमत्त अश्रमचारिण, स्या०
१० ग्रा० । पाश्चैत्यादौ, ध० २ अधि० । (असंयतानां कृत्तिकर्म
न कर्त्तव्यमिति 'किरकम्म' शब्दे वक्ष्यते) (असंयतानां
पञ्च जागराः 'जागर' शब्दे वक्ष्यते)

असंजयपुया-असंयतपूजा-स्त्री० । असंयमवतामारम्भपरिप्रद-
प्रस्तकानां ब्राह्मणादीनां पूजायाम्, कल्प० १ सू० । स्या० ।
(सा च नवमदशमजिनयोगान्तरं प्रवृत्ततेति 'अरुञ्जर' शब्द-
उत्सिम्बेव भागे २०० पुष्टे उक्तं) जिनामतन्तरेषु साधुषु वि-
च्छेद्रे सति प्रत्येकबुद्धादिः केषुलो ज्वलति, न वा ? । यदि भ-
वति, तर्हि अन्येषां धर्म कथयति, नवेति ? प्रश्न, उत्तरमती-
थोच्छेद प्रत्येकबुद्धादिः केवलित्वजनने साक्षादङ्गराणि प्रवच-
नसाराङ्कारबुद्ध्यादौ दृश्यते, परं परेषां धर्मकथने च निषेधा-
ङ्गराणि ग्रन्थे दृष्टानि न स्मर्यन्ते । सेन० १ वल्ल० २९, प्र० ॥

असंजज्ञ-असंज्वल-पुं० । अननजिनममकालीने परवर्ताजिने,
" भरहे अग्रतर्पे जिगो, परवर्पे असंजले जिगवरीदं " ।
ति० । स० ।

असंजोएचा-असंयोगाधितु-त्रि० । संयोगमकारयति, " सं-
यामएणं उक्कसेण असंजोएत्ता भवइ " । स्या० १० ग्रा० ।

असंजोगि (ण)-असंयोगिन्-पुं० । संयोगरहिते, सिक्के च ।
स्या० २ ग्रा० १ उ० ॥

असंजविय-असंस्थापित-त्रि० । असंस्कृते, न० ।

असंणि (संनि) हिसंचय-अमञ्जिधिसंचय-पुं० । न विद्येत
संनिभेमादिकोदकखञ्जरैरोरनक्यादेः पर्युपितस्य संचयो धारणं
यत्रसायसञ्जिधिसंचयः । सञ्जिधिसंचयः, "इमस्स धम्मस्स०
पंचमहवय्यजुत्तस्स असञ्जिहसंचयस्स" । पा० ।

असंत-अमत-त्रि० । अविद्यमाने, नि० चू० १ उ० । अशोभने,
सूत्र० १ शु० ९ अ० । प्रश्न० ।

अशान्त-त्रि० । अनुपशान्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असंतह-असन्ताति-स्त्री० । शिष्यप्रार्थनादिस्तान्तानुपजने,
शु० १ उ० ।

असंतग-अमत्क-न० । असदर्थानिधानकृष्यात् पञ्चमे गौणगद्दी-
क, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अविद्यमानार्थक असत्यं, प्रश्न० २
आश्र० द्वार । असदभूते वचने अशोभने, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार ।
अशान्तक-न० । अनुपशामप्रधाने, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार ।

असंतय-असान्त-न० । रागादिप्रवर्त्तने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असंताचेल-असदचेल-पुं० । अविद्यमानेषु चेलेषु, अवास्तसि
तीर्थेकरे, देवदृष्यापगमनान्तरं तथाभावात् । पञ्जा० १७ विव० ।

असंति-अशान्ति-स्त्री० । शान्त्यभावे, अनिर्वाणे, संस्तुती च ।
सूत्र० १ ध्रु० ६ अ० ।

असंथर-असंस्तुत-त्रि० । शकट इव विशरारक्तया संचरितुम्-
शक्यत्वति, व्य० ७ उ० । शू० । असमर्थे, आचा० २ शु० १ अ० ।

तवगेद्वन्नदृष्टाणा, तिविहो तु असंथदो तिहे तिविहो ।
नवसंथर्याससना, मासादारोवणा इणमो ॥

असंस्तुते नाम षष्ठाष्टमदिना तपसा क्लृप्ते ग्लानत्वेन असम-
र्थे ईसांध्यानि वा गच्छन्तु पर्याप्तं न सन्तं, एव त्रिविधाऽसंस्तु-
तः । (तिहे तिविहो) त्रिविधे अप्वनि योऽसंस्तुतः स त्रिविधः ।
तद्यथा-अप्वप्रवेश, अप्वमधे, आभांसारं च । तत्र तपोऽसंस्तु-
तस्य निर्विवाकतस्य मासांश्च इह समाहारोऽपणा जव-
ति । शू० ५ उ० ।

असंथरण-असंस्तरण-न० । अनिवाहे, शू० १ उ० । बुद्धिक्लेश-
नाद्यवस्थायाम्, ध्रु० ३ अधि० । अपयामलाभे, पं० व० ३ द्वार ।
" संथरामि मथुं, तुगंधे पि गिहंतदिनयाणु हियं । आउर-
दिछेणेणं, तं चेव हियं असंथरणे " । नि० चू० १ उ० ।

असंथरमाण-(असंथरंत)-असंस्तरतु-त्रि० । गवेषणामयकुर्वन्-
ति, व्य० ४ उ० ।

असंयुय-असंस्तुत-त्रि० । असंबन्धे, सूत्र० १ शु० २ अ० १ उ० ।

असंदिद्ध-असंदिग्ध-त्रि० । संदेहवर्जिते, दशा० ४ अ० । कल्प० ।
निश्चिने सकलमदयादिदोषरहिते, स्या० ६ ग्रा० ।

असंदिग्ध-असंदिग्ध-न० । असंशयकारितायाम्, षष्ठांशे
सत्यवचनानि शेषे च । स० ३५ सम० । स्त्री० । रा० । सैषध्वशब्दव-
ल्लवणवसनुरागपुत्राद्यनेकांशंशयकारित्वादीदमत्तं । सूत्रशुभं,
विश० । अमु० । आ० म० ।

असंदिग्धवयणया-असंदिग्धवचनना-स्त्री० । परिस्फुटवचन-
नारूप वचनसम्प्रेदं, उत्त० १ अ० । स्या० ।

असंदिग्धवचनमाह-

अव्वं चं अफुद्धं, अययहुत्ता व हंतिसंदिद्धं ।
विर्वरियमसंदिद्धं, वयणे सा संपया चउट्ठा ॥

अय्यन्तं-वाचा व्यक्तताया अभावः, अस्फुटार्थमत्तराणां स-
ञ्चिदाशयिभावः, विवर्तनायैवदुह्याद्वा भवति संदिग्धम् । त-
द्विपरीतमसंदिग्धम्, तद्वचने यस्यासावसंदिग्धवचनम् । एषा
वचने संपच्यनुद्धां चतुष्पकारा ॥ श्य० १ उ० ।

असंदीण-असंदीनि-त्रि० । पत्तमासाहुदकेनाप्लाव्यमाने सि-
हलङ्कापादौ, आचा० १ शु० ६ अ० ३ उ० ।

असंधिम-असन्धिम-त्रि० । अपातराले सन्धिग्रहिते, शू०
५ उ० ।

असंपउत्त-असंययुक्त-त्रि० । अयुक्ते, नि० चू० १ उ० ।

असंपओग-असंपयोग-पुं० । विप्रयोगे, ध० ३ अधि० । अयोगे,
म० २५ हा० ५ उ० ॥

असंपगहियप (ण)-असंपगृहीतात्पन्-त्रि० । असंपगृही-
ताऽनुत्सिम्कवातात्सा यस्य साऽसंपगृहीतात्सा । निरभिमाने, अ-
हमाचायां बहुश्रुतः तपस्वी सामाचार्यकुशलो जात्वादिमाद्
वा इत्यादिमदरहिते, दशा० ३ अ० ॥

असंपगहियया-असंपगृहीतता-खी० । संप्रहरहितताक्ये भा-
व्यायैत्यर्थभेदे, व्य० । असंपग्रहीतता नाम जात्यादिमदैरनु-
त्सिकता । तथाह-

आयिरत्रो बहुस्तुत्रो, तवसि अहं जाहृदि मयपहिं ।

जो होइ अणुसित्ता, असंपगहियां वि सो भवइ ॥

आचार्योऽहं बहुभूतोऽहं तपस्थहमित्तमैः; जात्यादिनिर्वा म-
दर्थो नवत्यनुत्सिकः स भवत्यसंपग्रहीतः, मदसंप्रग्रहित-
त्वात् । ध्य० १० व० ।

असंपगहृ-असंपग्रहृ-पुं० । समन्तात् प्रकषेण जात्यादिप्रकृत-
लक्षणं प्रहणमारमनाऽवधारणं संप्रग्रहः । तद्भावाऽसंप्रग्रहः ।
उत्त० १ अ० आत्मना जात्याद्युत्सिकरूपप्रहवजनं, वाचनानसंप-
द्वन्द्वे, रथा० ८ अ० ।

असंपत्त-असंप्राप्त-त्रि० । असंलभ्ये, रा० ।

असंपत्ति-असंपात्त-खी० । प्रायश्चित्तजारवहनासामर्थ्ये,
" असंपत्तये मासलहु, संपत्तये मासगुरु " नि० चू० १ व० ।
" असंपत्तिपत्तान रथहरणं पक्षुपेहिउज्जा " । महा० ७ अ० ।

असंपदिष्ट-असंप्रहृष्ट-त्रि० । अहमिते, सत्त० १५ अ० । "प्रव-
गमणे असंपदिष्टा जे से भिक्व् " । उत्त० १५ अ० ।

असंपुष्ट-असंपुष्ट-त्रि० । अन्वयुते, " मुहं वा असंपुष्टं वा-
नाऽऽरभंदांसिण अच्येउज " नि० चू० २० व० ।

असंपफुर-असंपसफुर-त्रि० । असंपुते, वृ० ३ व० ।

असंपवृद्ध-असंपवृद्ध-त्रि० । असंपिष्टे, " असंबद्धो हविउजा ज-
गतिस्मिप " । पश्चिमीपत्रोदकद्वयं गृहस्थैः । दश० ८ अ० ।

संप्रत्यसंबद्ध इति पञ्चदशे जेदं निरूपयितुमाह-

जावेतो अगवरये, स्वामंगुरये समन्यवत्पूणं ।

मेवंधो वि धणाइमु, वज्जइ पमिद्वंधेपंधे ॥ ७४ ॥

जावयन पर्यालोचयन्न, अनयरते प्रतिक्षणं, कृणनहूरतां
सततं विनश्चरतां, समस्तवस्तुतां ननुनस्वजनयोर्विनजी-
विनप्रभृतिस्वभावानां, संघडोऽपि बाह्यवृथया प्रतिपालनवर्द्ध-
नाऽप्येवा युक्तोऽपि, धनादिषु धनस्वजनकारिहरिप्रभृतिषु,
वर्जयति न करानि वन्धो मूर्च्छां नदपं सवन्धं संयोगं, नरसु-
न्दरनश्चर इव, यतो जावतो भावयत्येवं जावथावकः- " वि-
ला दुपयं च उउपयं च, खिसं गिह धणयन्न च सव्वं । क-
म्मपवीओ अस्सो पयाइ, पर भवे सुंदरपावण व " ॥ १ ॥ इ-
त्यादि । ध० २० । (नरसुन्दरनरेभ्यःकथा " गारसुंदर " शब्दे
वक्ष्यते)

असंपबुद्ध-असंपबुद्ध-त्रि० । अनवगततत्त्वे, उत्त० १ अ० ।

असंभंत-असंभ्रान्त-त्रि० । अनयचित्ते, पं० व० १ इार । यथा-
वदुपयोगादि कृत्वाऽनाकुले, दश० १ अ० । भ्रमरहिते, विषा० १
श्रु० १ अ० । रा० । अनुत्सुके, भ० ११ श० ११ उ० ।

असंज्ञम-असंभ्रम-पुं० । भयाऽकरणं, श्लो० ।

असंभाविद्ध-असंजावित-त्रि० । " तां होऽनादीं शौरसेन्यामयु-
क्तस्य " । मा० १६० । इति तस्य दुः संभवमकारिते, प्रा० ७ पाद ।

असंमोह-असंमोह-पुं० । देवादिद्विगतमायाजितित्यस्य, सुप्रमपवा-
र्धविषयस्य च संमोहस्य मृदताया निषेधे, श्रौ० । ग० रथा० ।
असंमोह्य-असंमोह्य-त्रि० । संलीपनुमशक्येषु प्रतिबहुषु, अनु० ।

असंसोय-असंसोक्त-पुं० । अग्रकाशे, भावा० । असंसोक्तवति,
त्रि० । अनापातेऽसंसोक्तं स्थितिद्वये सुसुम्नैव । असंसोक्तं गर्वा-
चारं प्रखणवं वा कुर्यात् । भावा० २ श्रु० १० अ० । ध० ।

असंसवर-असंसवर-पुं० । संबरणं संबरः, न संबरोऽसंसवरः ।
पा० । भाष्ये, रथा० । " पेक्षविहे असंसवरे पक्षसे । तं जहा-
सोर्द्वियअसंसवरे० जाव फासिद्वियअसंसवरे " । रथा० ५ ग्रा०
२ उ० । " उर्विहे असंसवरे पक्षसे । तं जहा-सोर्द्वियअसंस-
वरे० जाव फासिद्वियअसंसवरे सोर्द्वियअसंसवरे " । रथा० ५
ग्रा० । "अट्टुर्विहे असंसरे पक्षसे-तं जहा-सोर्द्वियअसंसवरे० जाव
कायअसंसवरे " रथा० । " दसविहे असंसवरे पक्षसे । तं जहा-
सोर्द्वियअसंसवरे जाव सुत्कुसुमगअसंसवरे " । रथा० ८ ग्रा० ।

असंसंक्षिप-असंसंक्षिप-त्रि० । अश्वचिते, तं० ।

असंसिग्ग-असंसिग्ग-त्रि० । न संविग्गोऽसंसिग्गः । पार्ष्णस्थादौ,
नि० चू० १ व० । शीतलविहारिणि, पं० व० २२ इार । व्य० ।
असंसिग्ग अपि त्रिविधा-संसिग्गपाक्षिकाः, असंसिग्गपाक्षिका-
श्च । संविग्गपाक्षिका निजानुष्ठाननिर्दिना यथोक्तसुसाधुसमा-
चारप्ररूपका, असंसिग्गपाक्षिका निर्धर्मोः सुसाधुनुष्ठानकाः-

वक्तव्य-

" तन्धावायं दुविहं, सपकस्वरपकस्त्रयो य नायव्यं ।
दुविहं होऽ सपकस्त्रं, संजय तद संजदंथे च ॥ १ ॥
सविमामसंविग्ग, संविमामगुण पयरा नेव ।
असंसिग्गा वि य दुविहा, तपार्कस्त्रय पयरा नेव " ॥ २ ॥
प्रय० ११ इार ।

असंसिग्गपविस्वय-असंसिग्गपाक्षिक-पुं० । निर्धर्मणि सुसाधुनु-
ष्ठानक, प्रव० ११ इार ।

असंसिग्गाग-असंसिग्गाग-पुं० । संविमामाभावे, दश० ९ अ० ।

असंसिग्गागि (ण)-असंसिग्गागि-पुं० । संविमजति भानी-
ताहारमन्येऽप्य; साधुभ्यः प्रापयतीत्येवशीलः संविमामी, न सं-
विमामी असंसिग्गामी । आहारेण स्वकीयमेव उदरं विमतिं ह्यव-
र्धः । अन्यस्मै न ददाति । उत्त० ३३ अ० । आचार्यगणानादीनामप-
णागुणविशुद्धिलक्ष्यमभिव्रजमानो, प्रश्न० ३ संव० इार । यत्र क-
चन लाभोऽसंसिग्गागवति, " असंसिग्गामी न दु तस्स मोक्खो " ।
दश० ६ अ० ।

असंसिग्ग-असंसिग्ग-त्रि० । इन्द्रियनोऽन्द्रियैरसंयते, स्व० १ श्रु० १
अ० ३ व० । हिंसतिस्थानत्रयो निवृत्ते असंयतेन्द्रिये, स्व० १
श्रु० २ अ० १ उ० । अनिरुद्धाभवतां, भ० १ श० १ उ० । प्र-
मत्ते, भ० ७ श० ३ उ० । (असंसिग्गस्थानगरस्य वल्लयता
' असुगार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७३ पृष्ठे ममुक्ता) (स्वप्रश्न
' सुविण ' शब्दे वक्ष्यते)

असंसिग्ग-असंसिग्ग-त्रि० । निःसंशयिते, स्व० २ श्रु० २ अ० ।

असंसिग्ग-असंसिग्ग-त्रि० । अन्वयदीपियैः साहाऽमीलिते,
वृ० २ उ० । अस्वरिण्यते, श्रौ० ।

असंसृष्टचरय—असंसृष्टचरक—पुं० । असंसृष्टेन इत्यादिना ही-
यमानस्य प्राद्वे, स्त्री० ॥

असंसृष्टा—असंसृष्टा—स्त्री० । असंसृष्टेन इत्येनाऽसंसृष्टेन च
पात्रकेण[सावशयं चरयं] जिज्ञां शुद्धतः साधोः प्रथमायां विपडै-
षणायाश्च, प्रथ० ६६ द्वाार । स्या० । आ० चू० । नि० चू० ॥ अश्व० ।
आवा० चू० । घ० पञ्चा० ('लिप्त' शब्देऽसंसृष्टायाः प्रकृपणस्य)
असंसृष्ट—असंसृष्ट—वि० । असंसृष्टिते, उक्त० २ अ० । विशेषे ।
अप्रतिबद्धे, दृश० ८ अ० । असंसृष्टे, उक्त० ३ अ० ।

असंसृष्टय—असंसृष्टय—न० । निमित्ते, द्वा० २० द्वा० । निःसंदेहे,
दृ० १ उ० ।

असंसृष्टार—असंसृष्टार—पुं० । न संसारोऽसंसृष्टारः । संसारप्रति-
पत्तचतुर्ते भागे, जी० १ प्रति० । संसारजाये, द्वा० ११ द्वा० ।

असंसृष्टारमावृष—असंसृष्टारमावृष—पुं० । न संसारोऽसंसृष्टारो
मोक्षस्तं समावृषः असंसृष्टारमावृषः । मुक्ते, प्रश्ना० १ यद ।
सिद्धे, स्या० ३ डा० १ उ० । जी० ॥

असंसृष्ट—असंसृष्ट—वि० । कर्तुमपार्यमाणे, घ० । अशक्ये भाव-
प्रतिपत्तिरिति । अशक्ये ज्ञानाचार्यादिविशेष एव कर्तुमपार्यमाणे
कुतोऽपि धृतिमहनकालबलादिवैकल्याद्भावप्रतिपत्तिः—अवि-
मान्तःकरणेन प्रतिपत्तिरनुभवः । न पुनस्तत्र प्रवृत्तिरपि; अ-
कालौत्सुक्यस्य तावत् आतेभ्यान्त्यादिति । घ० १ अधि० ।

असंसृष्टय—असंसृष्टय—वि० । न विद्येन संस्कृतं संस्कारो यस्य
सांऽसंसृष्टतः । अविद्यमानसंस्कारे, प्रश्न० १ आ० द्वाार ।

असंसृष्टयमकस्य—असंसृष्टयामंसंसृष्टय—वि० । कर्मधारयः । सका-
रोऽत्रालाङ्गणिकः । अत्यन्तमसंसृष्टते, प्रश्न० ४ आ० द्वाार ।

असंसृष्टहा—असंसृष्टहा—स्त्री० । अशोभनकथायाम्, तर्श० ।

असंसृष्टिक्रिया—असंसृष्टिक्रिया—स्त्री० । अशोभनायां चेष्टायाम्, प-
ञ्चा० ६ विव० ।

असंसृष्टिरियाद्विद्य—असंसृष्टिरियाद्विद्य—वि० । अज्ञानविद्येतादि-
द्वारेण जीवोपमैरुपाप्रशस्तव्यापाररहिते, पञ्चा० १३ विव० ।

असंसृष्टा—असंसृष्टा—स्त्री० । शक्यैरुपयं नीतव्यात्स्वनामभ्या-
ने आजीरकनारत्ने, दृश० ३ अ० । (तद्वृत्तं ' उवहाण ' शब्दे
क्षितिीयभागे १०४६ श्रुंठे उवहाद्विस्थितं)

असंसृष्टा—असंसृष्टा—पुं० । अशोभनाभिविद्येयो भाववचनबाधि-
तायेकृपाते, पञ्चा० १ विव० । आरिज्वतोऽपि असंसृष्टः संभव-
ति, मतिमोहमाहात्म्यादिति । घ० २० ।

असंसृष्ट—असंसृष्ट—न० । सत्यविपरीते, नास्ति जीव एकांतसद्व्यो-
वेत्यादिकुविकल्पनपरे, यं सं० १ द्वाार । उक्त० । अलोके, प्रश्न० २
आ० द्वाार । असत्यं च महत्तमं पालकं यतो योगशास्त्रान्तर-
रुद्धंके—' एकत्राऽसत्यं च पापं, पापं निःश्रेयसम्वतः । द्वयोस्तनु-
त्ताविधृतयो—राद्यमेवातिरिच्यते' ॥१॥ इति । घ० २ अधि० ।
प्रश्न० । आ० चू० ।

असंसृष्टयजोग—असंसृष्टयजोग—पुं० । कर्म० सं० । नास्ति जी-
व एकांतसद्वृत्तेो विश्वव्यापित्यादिकुविकल्पव्यन्तिनपरे म-
नोयोगे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असंसृष्टयजोग—असंसृष्टयजोग—पुं० । न विद्यते
सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते श्रुया यत्र सोऽसृष्टः । अस-
त्यञ्चाली असृष्टश्च; " कं नवादिभिः " ॥ ३ ॥ १ । १०५ । इति
कर्मधारयः । असंसृष्टयजोगो मनोयोगश्चासत्ययुग्मनोयो-
गः । मनोयोगभेदे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असंसृष्ट—असंसृष्ट—वि० । असत्ये श्रुयाभाषणे असत्येमे वा
वचियंस्याऽसत्यसत्यवधिः । असत्यं रोचयमाने; ध्य० ३ उ० ।
असंसृष्टयजोग—असंसृष्टयजोग—पुं० । धात्व्योगभेदे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असंसृष्टयचरय—असंसृष्टयचरय—न० । असत्यमलंकिं संस्था-
ति करोतीति असत्यसन्धः; तद्वृत्तवाऽसत्यसन्धत्वम् । वद्वि-
शे गौणालोके, प्रश्न० २ आ० द्वाार ॥

असंसृष्टयोमा—असंसृष्टयोमा—स्त्री० । यत्र सत्यं नापि श्रुया, तत्र
असत्यश्रुया । वस्तुप्रतिपद्यमन्तरेण स्वकृपयान्तरपर्यालोचनपरे-
' अहो देवदत्त ! अदमानय, मां देहि मयाव ' इत्यादिचित्तनपरे भा-
षाभेदे, इदं हि स्वकृपयान्तरपर्यालोचनपरत्वाद्यथोक्तकृष्णसत्यं
नापि श्रुया । पं० सं० १ द्वाार । " अं णेव सत्त्वं, येव मोक्षं, णेव
सत्त्वमांसं—असत्त्वमांसं णाम, तं चरुत्वं भासज्जातं " खनु-
र्थी ज्ञाषा—योच्यमाना न सत्या, नापि श्रुया, नापि असत्यश्रुया
आमन्त्रणाऽऽज्ञापनादिका साऽत्रासत्यश्रुयति । आवा० २ अ०
४ अ० १ उ० ।

सामंनसत्याश्रुयामाह—

आमंनसि आणवर्णा, जायति तद् पुत्र्यणी अ पन्नवर्णा ।
पञ्चकवाणि जासा, जासा इच्छाश्रुयोमा य ॥ ४५ ॥

आमन्त्रणी, यथा—देवदत्त ! इत्यादि । एषा किलाप्रयत्नकवात्
सत्यादिभाषात्रयसङ्घातविद्योतसत्याविधेयज्ञोत्पत्तेरसत्यश्रुय-
ति । एषमाज्ञापनी, यथा—इदं कुरु । इयमपि तस्य करणाकरण-
भावः परमापेक्षकजात्यनियमात्ताम्रनीतिः श्रुतुष्टिविज्ञानम-
तत्त्वात्सत्याश्रुयति । एवं स्ववृत्ताऽन्यत्रापि जायना कार्यानि । याच-
वनी, यथा—भिक्षां प्रयच्छति । तथा प्रच्छन्ती, यथा—कथमेतादि-
ति ? प्रश्नापनी, यथा—हिसादिप्रवृत्तं दुःखितान्दिज्ञेवति । प्रत्या-
ख्यानी भाषा, यथा—अदिसंति । भाषा इच्छानुज्ञोमा च, यथा—
केनाचित् कश्चिदुक्तः—साधुसकारां गच्छाम इति । स प्राह—यो-
पन्नमिदमिति साक्षात्तः ॥ ४२ ॥

आणजिगद्दिआ जासा, भासा अ अजिगद्दिग्मि बोधयन्वा ।
संसयकरणी जासा, वायन अन्वयायमा चेव ॥ ४३ ॥

अनभिष्टुहीता भाषा—अर्थमनभिष्टुक्ष बोध्यते, इत्यादिवत् ।
भाषा चाभिष्टुदे बोधयना—अर्थमनभिष्टुक्ष बोध्यते, घटादिवत् ।
तथा संशयकरणी च भाषा—अनेकार्थसाधारणा बोध्यते, सैन्यव-
मित्यादिवत् । व्याकृता—रुष्टा प्रकटायां—देवदत्तस्येव आतेत्यादि-
वत् । अन्वयाहता चेव अन्वयऽप्रकाराद्यो—शालकादीनां यथानि-
कत्यादिवदिति साक्षात्तः । उक्ताऽसत्याश्रुया । दृश० ३ अ० ।

असंसृष्टोवाहिसञ्च—असंसृष्टोवाधिमत्य—न० । सशब्दार्थेनानास-
त्या उपाचयो विशेषा वलयादुक्तीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्व-
ज्ञेदानुवायिनः सुवर्णोदिसाम्यात्साम्यस्तत् स्वयमसत्योवाधि-
शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमभिधेयम् । सविशेषे सामान्ये, अन्वये त्याभु-
यदसत्योवाधिसत्यं स शब्दार्थः इति । सम्प० १ काण्डे ।

असज्जं—असज्जत्—वि० । सङ्गमकुर्वति, “ असज्जमित्थीसु वपञ्च पुण्यं ” आत्वा० १ सु० ५ अ० ४ अ० ।

असज्जमाण—असज्जह—वि० । सङ्गमकुर्वति, वच० १४ अ० । “ ते कामजेसु असज्जमाणाय, मायुस्सपसुं जे यावि दिव्वा ” ॥१४॥ वच० १४ अ० । “ असज्जमाणो य परिउपज्जा ” असज्जमाणः सङ्गमकुर्वन् एहपुत्रकहम्रादिषु परिउजेतुपुत्रविहारी । सुत्र० १ सु० १ अ० ।

असज्जक—असाध्य—वि० । अशक्ये, वि० । अनिवचनीयस्वप्नार्थे, आ० म० द्वि० ।

असज्जाइय—अस्वाध्यायिक—न० । आ मर्यादाया सिद्धान्तोक्तग्यायेन पठनम-आध्यायः, सुष्ठु शोभन आध्यायः स्वाध्यायः; स एव स्वाध्यायिकम् । नास्ति स्वाध्याया यत्र तदस्वाध्यायिकम् । रुचिरादौ स्वाध्यायकारणदेतौ, प्रथ० २६८ द्वार । न स्वाध्यायिकमस्वाध्यायिकम् । कारणं कार्यावधारार्थं रुचिरादौ, अ० ३ अर्थि० ।

अस्वाध्याये स्वाध्यायो न कर्तव्यः—

एो कपपइ निगंयाणं वा निगंयीणं वा असज्जाइए सज्जायं करित्तए; कपपइ निगंयाणं वा निगंयीणं वा सज्जाइए सज्जायं करित्तए ॥

अस्य स्वाध्यायान् कल्पते निग्रन्थानां निग्रन्थीनां वा अस्वाध्यायिकं स्वाध्यायं कर्तुंय; कल्पते निग्रन्थानां वा निग्रन्थीनां वा स्वाध्यायिकं स्वाध्यायं कर्तुमिति सूत्राकरसंस्कारः ॥

अधुना भाष्यप्रपञ्चः—

असज्जाइयं च द्रुविदं, आयसमुत्थं परसमुत्थं च ।
जं तद्य परसमुत्थं, तं पंचविदं तु नायव्वं ॥
द्रिविधं श्वस्वस्वाध्यायिकम् । तद् यथा—आयसमुत्थं, परसमुत्थम् । च शब्दश्चास्वाध्यायिकतया तुद्व्यक्ततासंस्मृक् । तत्र यत् परसमुत्थं तत् पञ्चविधं ज्ञातव्यम् ।

तानि व पञ्च प्रकारानुह—

संज्ञमयाउपपाए, सदेव वृग्गइ य सारिरे ।
एएसु करेमाणे, आणाण्य मो उ दिठ्ठेत्तो ॥

संयमघाति संयमोपघानिकम्, औत्पतिकमुत्पातनिमित्तं, सदैवं देवताप्रयुक्तं, अयुद्मह, शरीर वा । पतंतु पञ्चस्यस्वाध्यायिकेषु स्वाध्यायं कुर्वन्त्याह्वयः आह्माभिलाषयो शोभा; तथाऽऽहां तीर्थकराणां चो अज्जति, तस्य प्रायश्चित्तं चतुमुह । अनवस्थयाऽप्येऽपि तथा किरिस्थनीति, तत्रापि प्रायश्चित्तं चतुमुह, यथा वादी तथा कारी न जवर्तीति मिथ्यात्वं, तत्राप्यप्यत्रापि प्रायश्चित्तं चतुमुह । विराधना द्विधा—संयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र संयमविराधना ज्ञानाचारविराधना । आत्मविराधनायामेवमुदाहरणम् ।

तदेवाह—

मेच्छजय घोसण निवे, दुग्गाणि अतीह मा विणस्सहिहा ।
फिदिपा जे उ अतिगया, इयरा इय सेस निव्वंको ॥
“ कस्स वि रथो मेच्छजंधावारो विसयं भागंतु इण्णिकामो, तं अयं आणिसा रथा सविषय सक्के वि घोसाविणियंयं-मेच्छजंधावारो भागंतु विसयं इण्णिकामो वट्टति, तुज्जे दुग्गाणि अतीह । तद्य जेहि रथो आथा कया, ते मेच्छजंधातो फि-

द्विभा, जेहि न कया आथा, ते मेच्छेहि कुसिमा मारिया व, जे वि तय केर परिमुक्का ते वि रथा इंदिया ” ।

अकारयोजना स्वयम-म्लेच्छजनयमाकार्ये नृपेण (गाथायां सप्तमीं तृतीयायां) घोषणा कारिता । यथा-दुर्गापयतिगच्छय, मा विमङ्गलय, तत्र ये अतिगतस्ते म्लेच्छजन्मायाद हिंसिताः; इतरं हताः, कृतसर्वस्वापहाग्राहक हताः । येऽपि श्रेयाः कथमपि म्लेच्छजन्मायप्रमुक्तास्तेषामाह्माभङ्गकरणतो नृपेण द्वाकः हतः । अ० ७ उ० ।

“ क्षितिप्रतिष्ठित्तेन, जितशत्रुनेराधिपः ।
स्वदेशे घोषितं तेषा-गच्छति म्लेच्छदुर्भूषणैः ॥ १ ॥
त्यक्त्वा प्रामपुरादीनि, दुर्गेषु स्थीयतां जनेः ।
ये राजवचसा दुर्ग-माकृष्टास्ते सुखं स्थिताः ॥ २ ॥
नाकृष्टा ये पुनर्दुर्गैः, म्लेच्छदुष्टैस्ते शिल्पिपिताः ।
आह्मजान्मनुष्यापि, गतशेषं च हृषिकृताः ॥ ३ ॥
भस्वाध्यायैऽपि स्वाध्यायाद्, वपञ्चः स्यादभयादपि ।
देवतापञ्चसत्येकः, प्रायश्चित्तागमाऽपरः ॥ ४ ॥
इहलोकं परस्मिन्न, ज्ञानाद्यकमता भवेत् ॥ ५ ॥ ० ॥ ” ।

एव दृष्टान्मोऽयमर्थोपनयः—

राया इव तित्थपरो, जाणवया साहु घोसणं सुत्तं ।
येच्छा व अमज्जाअओ, रयएणएाई व नाएादी ॥
अत्र राजा इव तीर्थकरः, जानपदा इव साधवः, घोषणामिव सुत्रं, म्लेच्छा इव अस्वाध्यायः, रक्षधनानी च ज्ञानादीनि । तत्र ये साधवो जानपदव्यानीया राजस्थानीयस्य तीर्थकरस्याहां नातुपालयन्ति, ते प्राप्तदेवतया उरुन्यते, प्रायश्चित्तदृष्टेन च इत्युच्यते । अ० ७ उ० । आ० ० ॥

केन पुनः कारणेनाऽस्वाध्यायिकं स्वाध्यायं करोमि?, तत्र आह—

योवावमेमपोरिसि, अऊणयणं वा वि जो कुणए सोरं ।
एाणाइमरादीण-स्स तस्स उल्लना उ संसारे ॥
लोकावशेषायामपि पौरुष्याभ्ययनं पात्र उदेशांवाऽद्यापि समाप्ति न नीत इति कृत्वा उदाटायाामपि पौरुष्यामस्तमिते वा सुये, अथवा अस्वाध्यायिकमिति कुत्वाऽपि योऽभ्ययनं पात्रम्, अयि-शब्दायुद्देशनं च करोति, तस्य आनादित्रिकं तस्यतोऽप्ययत्, तीर्थकराऽह्माभङ्गकरणादिति । ज्ञानादित्रिकसारहीनस्य संसारे न-रकादित्रिकमलक्षणं उल्लना जघति; अपारधोरसंसार निपतनं प्रवर्तीति प्रायः ।

अथैव दृष्टान्तातरं समभिधित्सुराह—

अइवा दिठ्ठेतियरो, जइ रथो पंच केइ पुरिसा उ ।
दुग्गादी परितोमिउ, तेहि अ राया अइ कयाई ॥
तां देति तस्स राया, नमरम्पी इच्चियं पयां तु ।
गहिए य देइ मोल्ले, जणस्स अहारवत्तयादी ॥
एणेण तोसितयरो, गिहेऽगिहे तस्स सव्वहिं वि परे ।
रत्थाइसुं चणइए, एविह सज्जाए उवमा ॥
अथवेति दृष्टान्तस्य प्रकारान्तरसूचनम् । इतरो दृष्टान्तः । यथा-राजः केषिचपञ्च पुत्रयाः स्वकास्तीर्थ कदाचिद्दुर्गा राजा दुर्गादिषु पतितो निस्तरान्; तत्रापि तेषां पञ्चानां मध्ये एकं केनाचित्परससाध्वसमवलम्ब्य नृपस्तरं साहायिककमादित, ततस्तेषां

तेकेन जितानां चतुर्णां राजा परिचुष्टः सन् नगरे रथ्यादिषु शूद्रचर्यादिषु प्रचारमाप्सितं ददाति । यथा-यत्किमपि रथ्यामा-पणादिषु, शिकचतुष्कचक्रवादिषु वा यदेव बह्महायादिकं प्राप्नुयात् युष्माकमेव । एवं प्रसादे कृते वस्त्राहारादीं नगरादितः स्वेच्छ्याय शूद्राति, राजा यस्व सत्कं यद् शूद्राति, तस्य सूक्ष्मं ददाति । येन चैकेन पुरुषेण भूयस्वरसादायिकं कृत्वा राजा तापिततरः, तस्य राजा शूद्रेऽग्रे वा सर्वत्र नगरमध्ये प्रचारमाप्सितं विर-त्यन्तराऽनुजानाति । तत्रापि यस्य सत्कं तद् शूद्राति यस्मात्सादा-रादि, तस्य सूक्ष्मं राक्षा दीयते । इतरेषां चतुर्णां रथ्याऽऽदिष्वेव प्रचारमनुकृतवान्, न शूद्रेषु । एवमुक्तेन प्रकारेण इह प्रस्तुतं अस्वाध्यायिके उपमाहृष्टान्तः । तद्वचमुक्तां हृष्टान्तः ।

सम्प्रति दार्शनिकयाज्ञानमाह -

पदमभि सन्वेष्टा, सज्जात्रां वा जि वारितो नियमा ।
सेमसु य सज्जात्रो, चेद्वा न निवारिआ त्रयणा ॥
प्रथमस्वाध्यायिके संयमोपघानिकृषे, सर्वा कायिका वा-
चिका चेष्टा, स्वाध्यायश्च नियमाद्वारितः, नोपकतरपुरुषस्त्री-
स्तथा तस्य सर्वत्र साधुव्यापारेषु प्रबुधेः । शेषेषु पुनः चतुर्णां-
स्वाध्यायिकेषु, स्वाध्यायः, स्वाध्याय एव केशवो निवारितो, ना-
स्या कायिका वाचिका वा प्रतिलक्षणादिका चेष्टा वारिता, तेषां शेषपुरुषचतुष्टयस्थानीयानां बहिः रथ्यादाविच स्वध्यायमात्र
एव व्यापारनावात् । तत्रैव पञ्चस्वस्थास्वाध्यायिकेषु सामान्यतो
विशेषतश्चादाहरणमुक्तम् ।

इदानीं प्रथमस्वाध्यायिके संयमोपघानि प्रकृषयति—

मदिया य भिन्नवानो, सच्चित्तए य संजोय निविहे ।
द्वन्द्वे खेचं काद्रे, जायंति वा जविरं सन्दे ॥
महिका गर्भमात्रे पनतो प्रसिद्धा, नस्यतः तथा शूद्रादौ यप-
नति वयं तीदृशवर्षे, तस्मिन्, तथा सच्चित्तज्जास्य च, एवंविधे
त्रिप्रकारे सयमे-पदेकदेशे पदमनुदायोपचारान् संयमोपघा-
निति अस्वाध्यायिके निपतति, द्रव्यतः कृत्रतः कालतो भावत-
श्च वर्जने जवति । तत्र द्रव्यतः-पतन्व च त्रिविधमस्वाध्यायिके
रूपम् । कृत्रतः-(जहियंति) यार्थान् कृत्र तन्पतति तावन् कृ-
त्रस्य । कालतो-(यच्चिचरंति) यावन्तं कालं पतति तावन्तं काल-
म् । प्रायतः-सर्ष कायिक्यादिचेष्टादिकं वच्यते ।

एनामेव गाथां व्याख्यानयति—

मदिया उ गन्नमामे, त्रामे पुण ह्यौति तिभि उ पगारा ।
बुव्वुं तव फुनीए, सच्चित्तरो य त्रायंते ॥
महिका गर्भमासं प्रतीना । गर्भमासां नाम कार्तिकादिर्वायव
माघमासः । वर्षे पुनश्चतः प्रकारा भवन्ति । तानेवाह-(बुव्वुए
त्ति) यत्र वर्षे निपतति पानीयमाधु बुव्वुदस्तोयशलाकाकापाः
उत्तिष्ठन्त, ततो वर्षमप्युपचाराद् बुव्वुदं मित्युच्यते । तद्वज्जुव्वु-
वज्जितीयं वर्षस्य, तुनीयं (फुनीए ति) जलस्यशिकनिपतस्यः,
तत्र बुव्वुदं वार्थनिपतति यामाष्टकाद्ध्वये । अयं तु व्याख्येकते-
त्रयार्थां दिनानां परतः, तद्वज्जु पञ्चानां दिनानां जलस्यशिका-
रूपे सप्तानां परतः स्वमेवमुपायस्युष्टं जयति । ततस्तरणं च्यतः
कृत्रतः काज्ञतो जायन्तश्च वर्जने प्रायश्चायनोपम, यावत्स्वाध्याय-
कार्यं न भवति, यावद्वापश्चयो निर्गमस्तत्र सर्वे स्वाध्यायप्रति-
क्षेयनादि क्रियन्ते, बहिस्तु निर्गम्यन्ते इति 'सच्चित्तरो' नाम-
व्यवहारसमाप्तिवता वातायता श्रद्धणुपूतिः, तत्र च सच्चित्तरो

वच्यते, ततोऽस्यां गाथायां पुंस्यं प्राकृतत्वात् । तत्र च दिग्गन्तरेषु
हृद्यते, तदपि निरन्तरयाते त्रयाणां दिनानां परतः सर्वेषु-
धिवीकायामांशितं करोति, तत्रापि पतितद्रव्यादितो वर्जने
प्राश्नुत् ।

तत्रैव व्याख्यातुमाह—

द्वन्द्वे तं चिय दव्वं, खेचं जहियं तु जच्चिरं काद्रे ।

गणादि जास जायं, मोचुं ऊमासठम्येसं ॥

रूपे द्रव्यतः-तदेवास्वाध्यायिकं महिकं भिन्नवर्षे सच्चित्तरो
वा वच्यते । कृत्रतः-यत्र कृत्रे निपतति, कालतो-यायाश्चरं काद्रे
पतति, भावतो-मुक्त्वा उच्छ्वासमुपगतं च, तद्वज्जने जीवितव्या-
घातसंभवात् । शेषां स्थानादिका, आदिशब्दाद् गमनागमनप्र-
तिलक्षणादिपरिग्रहः । कायिकां चेष्टां भाषां च वर्जयति ॥

वासचाणाऽऽवरिया, निक्कारण उवांतं कज्ज जयणाए ।

इत्थगुलिसभाए, पोत्तावरिया व जासति ॥

निष्कारणे कारणाभावे वर्णत्रयाणां कश्चलमयः कष्टः, तेन सौ-
त्रिककष्टपत्सरितेन सर्वोत्पन्ना आबुनास्तिष्ठन्त, न कामपि कृश-
तोऽपि चेष्टां कुर्वन्ति । काये तु समपतिने पतनया इतस्संज्ञया
ब्रह्मसंज्ञया च व्याहरन्ति । पोत्ताऽऽवरिया वा ज्ञानमे स्थाना-
दिप्रयोजनं वर्षाकल्पऽऽबुत्ता गच्छन्ति । गत संयमोपघातऽ-
स्वाध्यायिकम् ।

इदानींमौपतिक्माह—

पंशुपंमस्यसिहरिं-केसमिसावुद्धे तह रओपाण ।

मंससुहिरं उहरत्तं, अरवमेसं जविरं सुचं ॥

अत्र वृष्टिशब्दः प्रयत्नकर्मसंबन्धये । पंशुवृष्टी, रधिरवृष्टी
केशवृष्टी, शिलावृष्टी च । तत्र पंशुवृष्टीनाम यद्विरजो निपतति,
मंससुह्रीमंससुह्रीमिति पतति, रधिरवृष्टीः-रधिरवृष्टिर्व पत-
ति । केशवृष्टिद्वारा केशाः पतन्ति, शिलावृष्टिः-पापारु-
निपतन्ते, करकादिशिलावर्षाम्यर्थः । तथा-रजउघातं र-
जस्वलासु दिक्षु सूत्र न पञ्चतः शेषाः सर्वा अपि चेष्टाः
क्रियन्ते । तत्र मांसं रधिरं च पतितं अदांरत्र वच्यते, अर-
वो पंशुवृष्ट्यादौ यावाश्चरं पंशुवृष्टिपतनकामं, तावन् सूत्रं
नच्छादितं पञ्चतः, शेषकालं तु पञ्चतः ।

सम्प्रति पांशुजउघातार्थाख्याणमाह—

पंशु अ अच्चित्तरो, रथोमलाओ दिसा रउम्याते ।

तस्य सवाते निव्वा-यए य सुचं परिहरंति ॥

पांशो नाम भूमाकासमापागदुस्तरमिच्छं रजः । रजउद्-
घातो रजस्वला दिशः, यासु सर्वाषु समन्तोऽन्वकार इव
हृद्यते, तत्र पांशुवृष्टी, रजउद्घातं वा सवाते निर्धातं च
पतति यावत्पतनं तावत्सूत्रं परिहरन्ति ॥

अत्रैवापायामाह—

साभाविं तिभि दिणा, सुगिमट्टए निक्खिवंति जइ जोगं ।

गो तिम्मि पदंतम्मि, कुण्णिं संवच्छर उज्जायं ॥

यदि सुगोष्मकाग्रपाम्भ उपागाम्ये, चैत्ररूपके कथ्यते । इ-
शम्याः परतो यावत् पौष्णमासी, अग्रपाम्भे निरन्तरं त्रीणि दिनानि
यावत् यदि योगं निक्खिपन्ति एकादश्यादिषु ऋषोद्देशपर्यन्तेषु,
यदि वा त्रयोदश्यादिषु पौष्णमासीपर्यन्तेषु अच्चित्तरोऽवहृद-

मार्थं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति, तदा तस्मिन् पशुवर्षे राज्ञोऽवशाते वा स्वा-
भाधिके पतति, स्ववत्सरे यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति, इतरथा नेति ।
४७० ७ ३० । "द्वसविद् भोरालिप असञ्जाइय पद्यते । तं जहा-
दभट्टो मन्त्रे सोमिप इत्सुइसामेनं मसायासामेनं चंदेवराप स्रो-
बराप पदभ्ये रायकुमाइ इवस्वयस्स भंसां भोरालिप सरांरे" ।
(स्था०) " द्वसविद् भंतं द्विभिरप सञ्जाइय पद्यते । तं
जहा-उक्तावाप दिस्तिदाहे गञ्जिए वञ्जिए निग्घाप ज्यप
जक्खालिपप धूमिप मरिहा रज्जुध्याप ।" स्था० १० ६१० ।
भा० सू० । ४७० ।

इदानीं सदेवमाह-

गंधर्वदिमात्रिज्जुक-गञ्जितप जूतजक्खदिचे य ।

एक्कपोरिसि ग-ज्जियं तु दो पोरिसि हणति ॥

गन्धर्वनगरं नाम यच्चकवर्षादिनगरं प्रायान्तुत्सुनाव संस्था-
स्य तस्य नाभस्थोपरि द्वितीयं नगरं प्राकाराष्टालकादि-
स्थितं दृश्यते (द्विस चि) दिग्माहः, विद्युत्प्रतीता, उक्का संरखा,
प्रकाशयुक्ता वा, गञ्जितं प्रतीतं, यूपकां वयमयाणलक्षणं, यत्-
दीर्घं नाम एकस्यां दिशि अनगाऽनरा यद् दृश्यते विद्युत्सदृशः
प्रकाशः । एतेषु मध्ये गन्धर्वनगरादिकमेकैकामिकां पौरुषीं च
हन्ति, गञ्जितं पुनर्द्वै पौरुषीं हन्ति ।

गंधर्वनगरं नियमा, सदेवयं सेमगाणि भजिणीओ ।

जेण न नर्जति फुद्धं, तेण ये तेषि तु परिहारा ॥

आश्विगन्धर्वनगरादियु मध्ये गन्धर्वनगरं नियमात्सदेवकाम, अ-
न्यथा तस्याजावात् । शपकाणि तु दिग्दारादीनि भक्तानि विकल्पि-
तानि, कदाचित् स्वाभाविकानि भवन्ति, कदाचित् देवकृतानि ।
तत्र स्वाभाविकेषु स्वाध्यायो न परिह्रियते किन्तु देवकृतेषु परम् ।
येन कारणात् स्फुटं वैभक्त्यन्तं तानि न ज्ञायन्तं, नतं तेषामविदोष-
परिहारः ।

सम्प्रति दिग्दारादिव्याख्यानमाह-

दिसि दाद्दि अभिमुलो, उक्क सरेद्दा पगासजुत्ता वा ।

संज्जच्छेयाऽऽवरणां, उ जूवओ सुक्कदिण विषि ॥

दिसि पूर्वादिक्कां जिम्भुओ दाहः प्रज्वलनं दिग्दाहः ।
किमुकं जवति ?—अन्यतमस्यां दिशि महानगरप्रदं।मि-
वोपरि प्रकाशोऽधस्तादन्धकार इति दिग्दाहः । उक्का पृष्ठतः
संरखा, प्रकाशयुक्ता वा । यूपकां नाम बहुलं शुक्लपके ऋणि
दिनाति यावत् द्वितीयस्यां नृतीयस्यां चतुर्थी चेत्यर्थः ।
सध्याच्छेदः सध्यादिभागः, स आश्रित्ये येन स सध्याच्छे-
दावरणभङ्गः । इयमत्र भावना-शुक्लपकद्वितीयातृतीयाचतुर्थी-
रूपेषु त्रिषु दिनेषु संभ्यागतभङ्ग इति क्त्वा संस्था न विभाव्य-
ते, ततस्तानि शुक्लपके ऋणि दिनाति यावत् चन्द्रः सध्या-
च्छेदावरणः स यूपक इति । एतेषु च त्रिषु दिवसेषु प्रद्वीपि-
की पौरुवी नास्ति, सध्याच्छेदादिभवनादाति ।

अथैव मलात्तरमाह--

केमिचि हौति भोद्धा, उ जूवओ ते तु हौति आइसा ।

केसि च अणाइसा, तसि खल्लु पोरिसि दोष्णि ॥

केवाञ्जिदाचार्याणां मनने ये भवन्ति शुक्लपके प्रतिपदा-
दियु दिवसेषु भोग्याः शुभाशुभसूचनमिभिसा वितघोत्पादा
आदित्यकिणविकारजातना आदित्यस्योदयसमये अस्तमय-
समये वा आताम्राः, कृष्णश्यामा वा 'यूपक इति' ते भवन्ति

वर्तन्ते आर्क्षीणाः, नैतेषु स्वाध्यायः परिह्रियते इत्यर्थः । येषां
स्वाध्यायाणामनाचोणोऽस्तेषां मंत्रेषु यूपको द्वे पौरुषी हन्ति ।

न कथलममूणि सदेवामि, किन्त्वस्युप्यपि, तान्मेवाह-

चंदिमसूरपरगा, निग्घाप ग्गुजिते अहोरत्तं ।

चंदं जट्ठेषणऽट्ट उ, उक्कोसा पोरिसि विठ्ठकं ॥

सुरां जट्ठेष वारस, उक्कोसं पोरिसिउ सोइसओ ।

समग्ग निच्चुक्क एणं, मूरादी जेणऽहोरत्ता ॥

चन्द्रोपरगं सूर्योपरगं च, तद्दिनापगते इति वाक्यशेषः । तथा-
साञ्ज निग्घे वा न तानि व्यन्तरकृता महागञ्जितसमा ध्वनिर्निर्घो-
तः । गञ्जितस्यैव विकारो गुञ्जजावत् गुञ्जमानो महाध्वनिर्गु-
ञ्जित, तस्मिन् निर्घाते गुऽञ्जत च, प्रत्येकमहारात्रं यावत् स्वा-
ध्यायपरिहारः । अत्र जघ्र-यत् उत्कर्षतश्च चन्द्रोपरगं सूर्यो-
परगं वाऽधिभूय स्वाध्यायचित्तकालमानमाह-चन्द्रो जघ्र-यं
माष्टौ पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतः पौरुषीद्विवरकभः द्वादश पौरुषी-
रित्यर्थः । कथमिति चेत् ? उच्यते-उत्कर्षत्तं चन्द्रमा गृह्णा गृ-
हीतस्ततश्चतस्रः पौरुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य,
एवमष्टौ । चन्द्राय पुनरेवम्-प्रभातकाले चन्द्रमा, सप्रह एवास्त-
मुपगतः-ततश्चतस्रः पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति, चतस्र आगामिन्येण
रात्रिः, चतस्रो दितीयास्य दिवसस्य । अथवा-भौतयानिकप्रदुरेण्येण
सर्वरात्रिकं प्रदणं जानम्-सप्रह एव निग्घमः, ततः संसृपितरात्रे-
श्चतस्र, पौरुषी-अथवा-आगमः । अथवा-अप्रच्छन्नया विशेष-
परिज्ञानाभावाच्च न ज्ञानं-कस्यां वलायां प्रहणं, प्रमानं च प्रहो-
निमज्जन् दृष्टः, ततः समप्रातिः परिहृता, अन्यथाहाराश्रमिति ज्ञा-
दश । सूर्यो जन्म्येन द्वादश पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतः षोडश । कथ-
मिति चेत् ? उच्यते-सस्यः सप्रह एवास्तमुपगतश्चतस्रः पौ-
रुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य, चतस्रततः पर-
स्या रात्रिः, एवं द्वादश । पौरुश पुनरेवम्-सूर्य उक्कञ्जन् राहणा गृही-
तः सकसं च दिने समुपातयशाःसप्रहः खिस्वा सप्रह एवास्त-
मुपगतः ततश्चतस्रः पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति, चतस्र आगामिन्य
रात्रिः, ततश्चतस्रः परदिवसस्य, ततोऽपि चतस्रः परतरावा रात्रिः,
एवं षोडश पौरुषीर्हन्ति, सप्रहनिममनः, सप्रह एवास्तमितः ।
तथा चोक्तम्-"एष उगमच्छेषं गहिप सग्गहनिच्चुव्हे इट्ठय-
मिति" । (सूरादी जेणऽहोरत्तं चि) सूर्योदयो येनाहारात्राः ।

ततः किमित्याह-

आइष्णं दिणमुक्के, सो खिय दिवसो य राती य ।

निग्घापगुंजएम्, सो खिय वेला उ जा पत्ता ॥

ततः सूर्यादिरहोरात्रः, ततो दिनमुक्ते सूर्ये-स एव दिवसः, सैव च
रात्रिः स्वाध्यायिकतया परिह्रियते । चन्द्रे तु तस्यामेव रात्रौ
मुक्ते यावत्परभङ्को नोर्दति, तावत्स्वाध्यायः, इति सैव
रात्रिः, अपरं च दिनामिति, एवमहोरात्रमस्वाध्यायः । अत्रे
पुनराहोरात्राणिमिदम्-चन्द्रो रात्रौ गृहीतो रात्रावेव मुक्तः,
तस्या एव रात्रिः शेषं वर्जनीयं यस्मादागामिसूर्योदये समाप्त-
होरात्रस्य जाता । सूर्योऽपि यदि दिवा गृहीतो दिवैव मुक्त-
स्तस्यैव दिवसस्य द्यौः, रात्रिश्च वर्जनीया इति । तथा-निर्घो-
तगुञ्जितयोः प्रत्येकभः, यस्यां वलायां निर्घाते गुञ्जितं वाऽधि-
कृतं दिने भवेत्, द्वितीयेऽपि दिने यादस्यैव षड्धा प्राप्ता भवति
तायद्स्वाध्याय एव । तयोत्पत्त्याध्यायसाहोरात्रप्रमाणात्पत्ता ।

उक्तं च-निर्घोतो गुञ्जितं च लोकप्रतातो, "एए अदोरंत् उ-
बहयंति सि" ।

तथा-

चउसंजासु न कीरर, पाकिवपसु मेहेव चउसुं पि ।

जो जत्र्य पूजतीं तं, सर्वेहि सुगिम्हृतो नियमा ॥

चतस्रः सन्धाः, तिष्ठो राशौ । तद्यथा-प्रस्थिते स्ये, अघेराशे,
प्रभाते च; चतुर्थी दिवसस्य मध्यभागे । एतासु चतसृष्वपि स्वा-
ध्यायो न क्रियते । शोषक्रियायां तु प्रतिहस्त्रनाऽऽदीनां न प्रति-
बंधः । स्वाध्यायकरणे चास्माभ्युदयोर्वा दोषाः । तथा-चतस्रः प्रति-
पदः । तद्यथा-आषाढपूर्णिमासं प्रतिपदं, आश्वयुक्तपूर्णिमासं प्र-
तिपदं, कार्तिकपूर्णिमासं प्रतिपदं, सुभाष्यप्रतिपदं, चैत्रमासपूर्-
णिमासं प्रतिपदित्यर्थः ४ । एतासुचि चतसृष्वपि प्रतिपत्सु तथै-
व-स्वाध्याय एव न क्रियते, न शोषक्रियायां प्रतिबंधः । ४६ प्रति-
पदप्रदशेन प्रतिपदयन्तान् आश्वत्थी महाः सुचिन्ता इति; एषां चतुर्षु
महानां मध्ये यो महो यस्मिन् देशे यतो दिवसादारभ्य
याचनं काशं पृथेते तस्मिन् देशे ततो दिवसादारभ्य तावन्तं
काशं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति यत्सुतः सर्वेषां पर्यन्तः "सर्वेषां जाय
पाकियतो" इति वचनात् । सुभाष्यकश्चैत्रमासजायो पुनर्महा-
महः सर्वेषु देशेषु शुक्लपक्षप्रतिपद आरभ्य चैत्रपूर्णिमासं प्र-
तिपदयन्तौ योऽप्यवश्यमनागादौ योगो निकृष्यते, शेषेषु आगाडा-
दिकेषु योगो न निकृष्यते, केवलं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । गते
सदेवमस्वाध्यायिककृद् । २०० उ ७ ३ । १० ।

"जो कण्ठे गिण्गंथासु वा गिण्गंथीसु वा चउहो महापादि-
वयर्हि सज्जायं करेत्सप । ते जडा-आसादापाडिवय, इवपाडिवय,
कसिअपादिबय, सुगिम्हापादिबय । एा कण्ठे गिण्गंथासु वा
गिण्गंथासु वा चउहो संजाहि सज्जायं करेत्सप । ते जडा-पद-
माए पच्चिमाए प्रज्जपेह अज्जरेत् । कण्ठे गिण्गंथासु वा गि-
ण्गंथासु वा चउक्काल सज्जायं करेत्सप । पुव्वएहे अवरपहे
पमोसें पच्चूसे ।" २५० उ ७ उ ३ ० ।

इदानीं श्युद्रग्रहजमाह-

गुमाह दंकिपमादी, संखोभे दंहेप य कालगते ।

अणरापय य सजप, जभिरमनिदोहऽदोरंत् ॥

श्युद्रग्रहे परस्परविग्रहे इति काशार्दीनाम, प्रादिशुश्रांसेनापन्या-
दीनां च परस्परं विग्रहे अस्वाध्यायः इयमत्र भावना-श्री इति कौ-
सरकथावारी परस्परं सप्रामं कर्तुं कामी यावन्नोपशाम्यत-
स्तावत्स्वाध्यायः कर्तुं न कल्पते । किं कारणमिति चेत् ? , च-
रुयते-तत्र वायुमन्तराः कौतुकं स्वस्वपक्षेण समागच्छन्ति, ते
उलयन्तु, भूयसां च लोकानामप्रतिनिः-वयमेव भूता वर्तमाने,
कामप्यापदं प्राप्सवामः, एते च अग्रमणां निर्दुःखं पठन्ति ।

आश्राऽऽदिशुश्रांसेनापन्यादीनां गायामाह-

सेपाहिबभोऽयमह-परंयुसिथीए मल्लजुक्त् वा ।

सोडादिचंरुणे वा, गुडभगवड्वाह अविद्यंत् ॥

इयोः सेनाधिपयोर्दोषयोर्वा तथाधिपप्रसिद्धिप्राप्तयोः , तथाः
परस्परं श्युद्रग्रहे वर्तमाने, अथवा मल्लजुक्त्, तथा-इयोः प्रामयोः

परस्परं सकलुपमाव बहवस्मरणाः परस्परं लोडिदुष्यन्ते, ततो
यदिभिर्वा लोष्टादिभिर्वा परस्परं भयंते कश्चिद् यावन्नोपशामो
भवति सेनाधिपयोर्दोषयोर्वा तथाधिपप्रसिद्धिप्राप्तयोः । अथ कार-
णमाह-(गुञ्जनाड्वाह अविद्यंत्) गुञ्जकाः कौतुकं मेघमणो-
भ्रूलयंयुः, तथा बहुजनो निर्दुःखा एते" इति मन्वसागोऽप्रीत्यो-
भ्रुदं कुर्यात्-लोकोपचाराच्छा एते" इति । तथा-दुष्टिकं काश-
गते (अणरापय सि) यावदभ्यो राजा नाभिषिक्तो भवति तावत्प्र-
जानां महान् संक्रामो भवति, तस्मिन्संक्रामे सति स्वाध्यायो न
कल्पते । किमुक्तं भवति? यावत्सलोभलावदस्वाध्यायः । अत्रापि
पुत्रांका दोषाः । सभयं श्लेष्वादिभयाकुलं, तस्मिन्नापि स्वाध्यायो न
कतेव्यः । एतेषु श्युद्रग्रहादिविष्वस्वाध्यायविधिमाह-(जम्बि-
रमनिदोहोरंत्) श्युद्रग्रहादिषु वाचंरं याचनं काशमृत्, (अनिदोह
ति) अनिद्रेयमस्मत्संमार्थः । तावन्तं काशमस्वाध्यायः । स्वध्म-
वनान्तरमप्येकमाहारात्रं परिहरन्त स्वाध्यायः कतेव्यः ।

उक्तं च-

"निर्हासीभूते वि अ-दोरंसमो परिहरिच्छ उ ।

सञ्जाश्रा कीरर इह, सर्वेषां दंहेप य कालगए" ॥

अननैतदपि सूचितमस्ति ततस्तदधिष्ठितः "संखोभे

दंहेप कालगयममं, जा संखोभो न कीरते ताव ।

तदिवस भोऽमहतर-वारुगपातिमेज्जयरपादं ॥

दुष्टिकं कालगतं सति यावत्संखोभसत्त्वाध्यायो न क्रियते,
अप्यस्मिन्सु सुरादि स्वाध्यायदोषात्प्रतिक्रियं क्रियते, एवं स्पर्-
भवनात् । तथा-भोजिके प्रामस्यामिनि, महस्तरिके प्रामप्रधाने, वा-
दकपती वस्यंयनुरते वाटकैकस्वार्थानि, तथा-शुश्रावते, आदि-
शुश्रावदन्त्यस्मिन्वा शरयत्तरसंश्लिथिनि मातुषे कालगते, तद्वि-
समस्वाध्यायः, एकमाहारात्रं यावत्स्वाध्यायपारिहार इत्यर्थः ।

तथा--

पगपं बहुपकिवए वा, सत्परंतरं मने च तदिवसं ।

निदुक्त्व सि य गिरिदं, न पठन्ति सण्णियं वा वि ॥

अन्योऽपि यो नाम ग्रामे प्रकृन्धेऽधिकृतो महामनुष्यः । तस्मिन्,
यदि वा-बहुपाकिं बहुस्वजनं कालगते, अन्यस्मिन्वा शुकृतं
स्वधसत्यपत्तया सत्सृष्टान्तरं कालगते तद्विषममेकमाहारा-
त्रमस्वाध्यायः । किं कारणमत्र आह-"निदुःखा आरमं" इत्यप्याय
गदंसेभवात्, ततो न पठन्ति । अथवा-तथा पठन्ति तथा न
कोऽपि शुण्णोति । मदिशाश्रितस्योऽपि यावत् भूयते ता-
वन्न पठन्ति ॥

हृत्पमयमहाहृष्मी, जड सारियमादितो विगिचिज्जा ।

तो सुक्त् अविदिचे, अन्नं वमहिं वि यमंति ॥

कोऽप्यज्ञायां हस्मशतान्तरं मृतः, तस्मिन्नायो हस्तशताभ्य-
न्तरे काशगते स्वाध्यायो न क्रियते । तत्रत्ये यतना-शरयत्तरस्य
वा, तथाविधस्य अथकस्य वा भद्रकस्य वासां कथयेत्-यथा
स्वाध्यायान्तरायमस्मत्समाधुनकन कृतमस्ति, ततः सुश्वरं
भवति यद्दिदं जम्भते । एवमन्योऽपि यदि शश्वानरादिर्विगिञ्ज-
येत् परिष्ठापयेत्, ततः शुक्तं भवतीति स्वाध्यायः कार्यः । अथ च
शश्वानरादिं न कोऽपि परिष्ठापयितुमिच्छन्ति तत्रा तस्मिन्नायो
मृतके आधिविके अपरिष्ठापिते अन्यां वसति ऋगंधति ।

अभयसहीरै असती, ताहे रत्ति वसभा विवेचति ।

विक्रिन्ने व समता, जं दिङ्ग अराएद सुष्का ॥

अस्यस्या वसनेरभावो यदि, ततो रात्रि सागरिकासंशोके वृष-
प्रासदनाद्यमुक्तं विविचन्ति, अन्वयं प्रकृष्यति । अथ तत्कल-
खरं च शुभाश्रादिभिः समन्ततो विकीर्णो, ततो विकीर्णं तस्मिन्स-
मन्ततो निभालयन्ति, तत्र यद् दृष्टं तस्यैवमपि विविचन्ति । इतर-
स्मिन्सु प्रयत्नं हतेऽप्यदृष्टं 'अराठा' इति कृत्वा शुकः स्वाध्यायं
कुर्वन्तोऽपि न प्रार्थयिष्यन् भागिन इति भावः । गते व्युद्ग्रहजपः ।

इदानीं शारीरकमाह-

सारीरं पि य लुचिहं, माणुसतेरिच्छियं समासेण ।

तेरिच्छं तथ तद्वा, जलयलसहजं पुणो चउद्वा ॥

शरीरं जवं शारीरं, नदपि समासेन संकेपतो द्विविधं जलप्र-
कारम् । नद्यथा-मानुषं तैरक्षं च । तत्र तैरक्षं विधा-जलजं जलम-
स्यादिनिर्गमनम्, एवं गवादीनां स्थलजं, खजं मयूरादी-
नाम् । पुनरकैकं चतुर्द्धा-चतुःप्रकाराः ।

तानेव प्रकारानाह--

चम्म रहिरं च मंसं, अद्रिं पि य होइ चउविगपं तु ।

अहवा दव्वाईयं, चउचिहं होइ नायव्वं ॥

चर्मं शोणितं रुधिरं मांसमांश्च इत्येतेषां प्रतीकानि । एवमे-
कैकं जलजादि चतुर्विकल्पं प्रजातं । अथवा-जलजादिकं प्रत्ये-
कं चर्ममादिनेदनञ्चतुर्विकल्पं सत्पुनरुत्पादिकं इत्यादिनन्द-
ञ्चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यम् ।

तानेव प्रत्येकं उच्यतेऽत्र चतुरो भेदानाह-

पंचिदियाण दव्वे, विवे सउद्दह्य पोगलाकिण्ये ।

तिक्कुरयंतरिणं वा, नयो व्वाहं तु गाप्तस ॥

द्वये-द्वयतः पञ्चेन्द्रियाणां जलजादीनां चतुष्टयमस्वाध्या-
यिकम् । विक्रमिन्द्रियाणाम् । कृत्र-लेखनः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे परिह-
रणांयं न परतः । अथ नस्थानं तैरक्षेण पौकलेन मांसेन समन्ततः
काककुक्कुराऽऽदिजिन्व्यास्तिनाऽऽकांषी व्यामं, तदा यदि संग्रा-
मस्तर्हि तस्मिन् तिच्छुनिः कुरध्याभिरन्तरिते विकीर्णं पुद्गले
स्वाध्यायः कियते । अथवा-नगरे, तदा तत्र यस्यां राजा सबल-
वाहेनो गच्छन्ति, देवयानं, रथो वा, विविधानि वा संवाहनानि ग-
च्छन्ति तत्र महत्याऽप्येकया रथया अन्तरिते स्वाध्यायः कार्यः ।
अथ स ग्रामः समस्तोऽपि विकीर्णो पौद्गलेनाकीर्णो विद्यते, न
तिच्छुनिः कुरध्याभिरन्तरितं तत् पौद्गलमनायते, तदा ग्रामस्थ
बहिः स्वाध्यायो विधेयः । गता क्रेत्रतो मार्गणा ।

संप्रति काशतो भावन्श्च तामाह--

काशे तित्पारिसि अह्व व, जावे सुचं तु नदिमादीयं ।

बहिधोयरच्छपके, वूदे वा होति मुद्धं तु ॥

तत एकैकं जलजादि वर्तं चर्मादि कालतस्निष्णः पौकरीहेति ।
(अह्व वति) यत्र महाकायपञ्चेन्द्रियस्य मूर्धिकादेशाननेन तथा-
ष्टौ पौकरीयांश्चस्वाध्यायविद्यते । गता काशतोऽपि मार्गणा ।
भावत आह-भावतो न-ध्यादिकं सुचं न पउति (बहिधोयस्यादि)
बहि षष्टिहस्तेभ्यः परतो बहिः प्रकृष्य मांसमानीनं, यदि वा
रक्षा व्याधौ पाकन, तदा तस्मिन् बहिर्धौ बहो राखे बहिः पके
वा तजानोते शुद्धम्, अस्वाध्यायिकं न भवतीति भावः । अथवा-

यत्र षष्टिहस्तान्यन्तरे पतितमस्वाध्यायिकं रुधिरं, तेनावकाशेन
पानीयप्रवाह आगतः, तेन व्युद्धं, तदा पौकरीयाभ्यन्तरेऽपि
द्वुक्तमस्वाध्यायिकमिति स्वाध्यायः कार्यः ।

अंतो पुण सट्ठीणं, धोयम्मी अययवा तद्धं होति ।

तो तिच्छ पुारिसिओ, परिहुरियव्वा तर्हि हुंति ॥

यदि पुनः षष्टिहस्तानामभ्यन्तरे मांसं प्रकृष्यति तदा तस्मिन्
धौते यतस्तत्र निधमाद्ययवः पतितः भवति, तस्मिन्तः पौ-
कः स्वाध्यायमधिकृत्य तत्र परिहृतव्या भवति ।

'अह वा' इति यदुक्तं तद्विदानीं भावयति-

महकाये ऽहोरत्तं, मेजारादीण मूसगादि दते ।

अविभिच्छे गिच्छे वा, पउंति एगे जइ पजाति ॥

महाकाये मूर्धिकाशौ मार्जारादिना हते मारिते अहोरात्रमष्टौ
पौकरीयांश्च ऽस्वाध्यायः । अथैव मत्तान्तरमाह-(अविभिच्छे इ-
त्यादि) एके प्रादुः-यौर् मार्जारादिना मूर्धिकादिर्बिभ्रिभ्रि एव
सन् मारितो मारयिन्वा च गृहीत्वा, अथवा मिलित्वा ततः स्था-
नात्पलायते, तदा पठति सायवः सुचं, न कश्चिदोषः श्रान्त्यं ने-
च्छन्ति-यतः कस्ते जानाति अविभिन्नो भिन्नो वा मारित इति ।
अपरे एवमाहुः-यत्र मार्जारादिः स्वयं मृतोऽन्येन वा कृताप्यवि-
भिन्न एव सन् मारितस्तत्र यावत्कलेवरं न भिद्यते तावदाऽ-
स्वाध्यायिकम्, विभिन्नं अस्वाध्यायिकमिति । तदेतद्वसमीचीन-
म् । यतश्च कर्मादिभूतञ्चतुर्विधमस्वाध्यायिकं, तस्माद्विभि-
न्नाऽप्यस्वाध्यायिकम्-तस्माद्विभिन्नोऽप्यस्वाध्याय एव ।

अंतो बहिं च भिन्ने, अंरुपविंद् तदा विघाताए ।

रायपरहृदमुद्धे, परवयणे साणपारीणि ॥

अन्तरुपाध्यमभ्यं, बहि घोषाअथात्त बहिः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे
अएडके पतितं यदि तदएडकमभिमघाष्यति, तदा तस्मिन्तु-
गिभने स्वाध्यायः कल्पते । अथवा-पतितं सत् तदएडकं जि-
भं-तस्य वाऽएडकस्य कललावि-तुर्भूयो पतितं, तदा निष्ण अ-
एडकं, चिन्दौ च भूमौ पतितं न कल्पते स्वाध्यायः अथ कललं
पतितं सदएडकं जिभं कलिलार्वाऽऽवो तत्र लग्नः, तदा तस्मि-
न् षष्टिहस्तेभ्यः परतो बहिर्धौ धौते कल्पते । तथा-विजाता-
यां प्रसूनार्यां तैरक्षामस्वाध्यायः पौकरीयांश्च यथाच ॥ तथा-
ये राजपथे अस्वाध्यायिकचिन्दौ गच्छितास्ते न गयेयन्ते । तथा-
ऽप्यत्र प्रतिपतित एवास्वाध्यायिकम्, ततो वर्षादकप्रवादेण त-
स्मिन् व्युद्धं कल्पते । अत्र श्रादिकमाभित्य परस्य वचनं, तद्वे
भाविष्यते । इति माघासंज्ञापारः ।

साम्प्रतमेनामंश्च विवरौपुर्दिमाह-

अंयद्यमुज्जयकप्ये, न य त्प्राप्ति खणंति इहहटा तिच्छि ।

असत्ताइयपरिमाणं, पाञ्चियपाया जहं हुपे ॥

यथाएडकमिज्जमेव पतितं, तदा तस्मिन्तुगिभने स्वाध्या-
यः कल्पते, अथ जिभं तदा न कल्पते । न च भूमिं खन-
न्ति, इतरथा भूमिखननेन यदि तदस्वाध्यायिकमपनयति त-
थाऽपि तिच्छः पौकरीयांश्चस्वाध्यायः । अएडकचिन्दुस्वाध्या-
यिकस्य प्रमाणं, यत्र मङ्गिकापादा निमज्जन्ति । (कमुक्तं भव-
ति?)-याम्नामं मङ्गिकापादा दुरुन्ति तावन्मात्रेऽप्यएडकवि-
न्दौ भूमौ पतति सति अस्वाध्यायः ।

अधुना 'विधाताय' इति व्याख्यानाधेमाह-

अजराउ तिष्ठि पारिसि, जराउपणं जरे पारिणं तिष्ठि ।
निजंतुवस्सपुरतो, गलियज्जाति निगमलं होज्जा ॥

अजरायुप्रस्तावित्तः पीरवीः स्वाध्यायं हन्ति अहोरात्र-
च्येदं मुक्त्वा, महोरात्रे तु ङिने आसन्नायामपि प्रस्तायां
कल्पते स्वाध्यायः, अजरायुजानां यावत्प्रयुक्तं तेषां तावदस्वा-
ध्यायः, जरायौ प्रतितेऽपि सति तदनन्तरं तिष्ठः पीरुपीयोव-
दस्वाध्यायः । तथा-उपाध्यस्य पुरतो नीयमानं तदस्वाध्यायिकं
गमिनं भवति, तदा पीरुपीयवदस्वाध्यायः । यदि पुनर्निर्गमं
भवेत्तदा तस्मिन्नीते स्वाध्यायः ।

"रायपठे बूढे" इति व्याख्यानाधेमाह-

रायपठे न गलियज्जाति, अह पुण आमप्य पारिसी तिष्ठि ।
अह पुण वूढे हूस्मा, वासोदेणं ततो मुच्छं ॥

राजपथे बधस्वाध्यायिकविन्द्वो गलितास्तदा तदस्वाध्यायि-
कं न गणयते । किं कारणमिति चेद ? उच्यते-यतस्ततः स्वयो-
ग्यत आगच्छन्तां गच्छन्तां च मनुष्यनिरन्ध्रां पदनिपातरंघोरिक्रमे
भवति । जिनाश्चात्र प्रमाणमता न दोषः । अतः पुनस्तदस्वा-
ध्यायिकं तैरन्ध्रं राजपथाद्यत्र पठित्तस्तान्यन्तरे पतति तदा
निरः पीरुपीयोवदस्वाध्यायः । अथ तदपि यथोदकेन व्यूढं भ-
वेत्, उच्यते तस्मात्प्रतिपत्त-प्रदोपनकेन च दर्शयं, तदा मुच्छं तस्मान-
मिति कल्पते स्वाध्यायः । ।

संप्रति " परचयणे साणमादीए " इति व्याख्यानयति-
चोदति समुद्दिशितं, मा जो जइ पांगमलं तु पज्जाहि ।
उदरगतं चिट्ठं, जा ताव उ हां असज्जाभो ।

अत्र परच्छोदयति-श्वा यदि पौल्लं तैरन्ध्रं मांसं बहिः समुद्दि-
श्य (निगमय) तत्रागच्छन्, तर्हि यावत्स तत्र तिष्ठति तावत्स-
नोदरगतं पौल्लं न अस्वाध्यायः कस्माच्च भवति ? ।

सुरिहाह-

भणति जइ ते एवं, मज्जाभो एव तो उ नतिय तुहं ।
असंभाइयसम जेणं, पुणोसि तुमं मयाकालं ॥

प्रलयन-अत्रासत्तं दायित-यदि ते एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मतिः,
ततस्तव स्वाध्यायः कदाचनोपि नास्त्येव । एवकारो निजक्रमः,
स च यथास्थानं योजितः कस्माच्च स्वाध्यायः कदाचनोपि ?,
अन आह-येन कारणेन स्वदाकालं सर्वकारं त्वमस्वाध्यायि-
कस्य पुणः, शरीरस्य चिरादिवत्प्रवृत्त्यात्मकत्वात् ।

जइ कुसति तर्हि तुमं, जइ वा लेदिरिणए सीचिहे ।

इहारा न होति चोयग, वंते तं परिणयं जम्हा ॥

यदि इथा अरपदेन मुखेन तत्रागत्यऽऽप्युत्थं तुगदं क्वापि स्फु-
शनि । यदि वा अरपदेनैव मुखेन स्निग्धं, तदा भवत्स्वा-
ध्यायः, इतरथा यदि पुनर्बहिरेव मुखं लोका समागच्छति तदा
न भवति । तथा-यद्यप्यागन्वा वमति, तथापि चोदक ! ना-
स्वाध्यायिकम्, यस्मात्तद् वान्तं पारेणम् । एवं माजोरदिकम-
प्यधिष्ठय भावनीयम् । गतं तैरन्ध्रम् ।

अधुना मानुषमाह-

माणुससगं चउक्त्वा, अहिं मुच्छं सयमहोरं चं ।
परियावएणविषाया, सेसे तिग सच वड्ढे वा ॥ '

मानुष्यकं मानुषमस्वाध्यायिकं चतुर्धा । तद् यथा-सर्ग, रक्षिरे,
मांसमस्थि च । एतेष्वस्ति मुक्त्वा शेषेषु सत्सु केव्रतो हस्तहाता-
इत्यन्तरं न कल्पते स्वाध्यायः । कालतोऽहोरात्रम् । (परिवायश्वा-
विवक्ष्यति) मानुषं तैरन्ध्रं वा बद्दु रक्षिरे तद् यदि पर्योपन्नं तेन
स्वभाववर्षाद्विषयीयुतं भवति त्वादिस्वस्वमांससारादिकं-
ह्यं, तदा स्वाध्यायिकं भवतीति क्रियते, तस्मिन् पतिनेऽपि स्वा-
ध्यायः । (सिंस स्ति) पर्योपन्नं विषयी मुक्त्वा शेषे स्वाध्यायिकं
प्रवति । (तिग स्ति) यत् अस्मिन्तया मासे मासे आतेवमस्वा-
ध्यायिकमागच्छति तस्वभाववत्स्वाधि दिनानि यावदस्वा-
ध्यायः । त्रयाणां दिवसानां परतोऽपि कस्याश्चित् गमति, परे
तदानं वं न भवति, किं तु तन्महारकं नियमारयोपन्नं विषयी
भवतीति नाऽस्वाध्यायिकं गणयते । तथा-यदि प्रस्ताया दारकां
जागस्ता सप्त दिनान्यस्वाध्यायिकम्, अद्यमे च दिवंसं स्वा-
ध्यायः कल्प्यः । अथ दारिका जाता तर्हि सारकोत्कटं, तस्य
नत्यां जानायामशौ दिनान्यस्वाध्यायः, नद्यमे दिने स्वा-
ध्यायः कल्पते ।

पतमेव गाथाऽवयवं व्याख्येयानुगाह-

रत्तुकुपए इत्थी, अह्ठ दिणा तेण सत्त मुक्कऽइए ।
तिएह्ठ दिणण परंणं, अणायउयंते महरत्तं ॥

नियककाले यदि रकोत्कटना, तदा स्त्री इति, तस्यां जानायं
दिनान्यष्टवस्वाध्यायः । दारकः शुक्राधिकः, तेन तस्मिन् जाते
सप्त दिनान्यस्वाध्यायः । तथा-स्त्रीणां त्रयाणां दिनानां परतस्त-
न्महा । कमनानवं प्रवति, ततो न गणनीयम् ।

दंतं दिट्ठे विगिंचण, सेमऽड्ठिम वारसे न वासाइ ।
जामित वूढे सीया-ण पाणमादीए रुद्धेण ॥

यत्र हस्तशताभ्यन्तरे दारकादीनां हस्तः पतितो भवति तत्र नि-
भालनीयं, यदि हृश्यते तदा परिष्ठायाः । अथ सप्तमस्य मयासीरेण
न हृष्टस्तदा शुक्रमिति कल्पते स्वाध्यायः । अथ्ये तु सुवेत-तस्य
अवहेरुनाथं कार्यासंगेः करणीयः । दन्तं मुक्त्वा शेषाङ्गाङ्गा-
दिसंबन्धिग्न्यस्थिति हस्तशताभ्यन्तरे पतिते ह्यद्वा वर्षाणि न
कल्पते स्वाध्यायः । अथ तस्त्वानमाङ्गिकायनं ध्यामिते, पानीयेन
वा व्युदं, तदा शुक्रमिति, ध्यामिने व्युदे वा स्वाध्यायः कल्पते ।
तथा-(सीयाण स्ति) इमंशानं यानि कलेवराणि क्वापि तान्य-
स्वाध्यायिकानि न भवन्ति, यानि पुनस्तत्र अनाद्यकभेवराणि न
दर्शयानि, निष्कारोक्तानि वा तानि ह्यद्वा वर्षाणि स्वाध्याय-
ध्यामि । यद्यपि च नाम इमंशानं यथोदकेन प्रवृद्धं, तथापि तत्र
न कल्पते स्वाध्यायः, मानुषास्थिबद्धत्वात् । (पाणमादीए स्ति)
पाणनामाऽऽनम्भरे नाम यत्ना हिरामकपाणनामा वैद्यते, तस्या-
ऽऽयतनस्याधस्ताद् मानुषास्थ्यस्तीनि निक्षिप्यन्ते-ततस्तत्र,
तथा-मानुष्येह बानुएहायतने, रुद्धं ह्येह बाऽधस्ताद् मानुषं क-
पांसं निक्षिप्यते । ततस्ततोपरि ह्यद्वा वर्षाण्यस्वाध्यायः ।

अमुमेव गाथाऽवयवं व्याख्येयानुगाह-

सीयाणे जं दहं, न तं तु पुणुएऽणाहनिडयाइं ।
आइंवर रुद्धादी-परेसु हेड्डऽड्ठिया वारा ॥

इमंशाने यत् दग्धमस्थिजातं तदस्वाध्यायिकं न प्रवति । तस्य-
क्या, शेषाणि यानि न दर्शयानि, निष्कारानि वा, तानि ह्यद्वा वर्षा-
णाणि स्वाध्यायं प्रति । तथा-आइंवरं आरुम्भरेऽयत्नयतने, कले

इन्द्रायतेन मानुष्येभु आदम्बरादीनामधस्तादस्थानि सन्ति, तेन कारणेन तत्र इन्द्राय वर्षाण्युत्पन्नाः प्रायः ।

असिबोमयाणेषु, वारस अवबोदियम्मि न करैति ।
जायिय वूडे करिइ, आवासियसोहिण्ण चेव ॥

यत्र ग्रामे समुत्पन्नेनाशितेन भूयान् जनः कालगतः, न च निष्काशितः, यदि वा-अथमौदयेण प्रयुतो जनां मृतो, न च निष्काशितः, अथवा-आघातस्थानेषु नृप्यान् जनो मारयित्वा निहितो यस्तैः । एतेष्वशिवावधमौदययतनस्थानेषु पूर्वे विशेषेण कियते, विशेषेण च कियमाणं वदुं हए तपरियउत्थे । अदृष्टविषये च हेतुतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा पठान्तं । अथ न कियते विशेषेण, ततस्तिस्मिन्निशोषिते इन्द्राद्वा वर्षाणि यावत् स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । अथ तत् अशिवादिस्नानमाम्बिकायेन ध्यायित्वा, वर्षोदकेन वा ध्यायित्वा, तथा कियते तत्र स्वाध्यायः (आवासियसो-हिण्ण चेव चि) प्रमशानं यदि नृयोऽनैवगास्ति ततस्तिस्मिन्नावास्ति शोषेण कियते, यदु हउयते तत् विविचयन्ते । एवं शोषिते तस्मिन् अदृष्टापुषपाताय देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति ।

रुहरगामयम्मयी, न करैती जा न नीसियं होति ।
पुरगामे च महंते, वारुअसादिं परिहरंति ॥

इदं कं लुब्धकं ग्रामे कोऽपि मृतः, तस्मिन् मृते तावत्स्वाध्यायो न कियते यावत् कळेभरं न निष्काशितं भवति । एवं पस्तेन महति वा ग्रामे घाटके साहां वा यदि मृतो ज्वलति तदा तं घाटके स्यादिति वा परिहरन्ति । किमुक्तं भवति ?, तत्र न कुर्वन्ति स्वाध्यायं यावत्सद्वृत्तकालं स्यादिति वा निष्काशितं नवति, घाटकालं स्यादितिऽप्यत्र मृते नास्वाध्यायः ।

जड य उवसयपुरतो, नीइज्जुं तं मडहणं ताहे ।
हत्थसयतो जावउ, तावउ न करैति सज्जाड्यं ॥

यदि तत् कळेभरं मृतकं नीयमानं संयतानामुपाभयस्य पुरतो इत्सशतान्यन्तरेण नीयते, ततो यावत् हस्तशतान्तो इत्सशतं व्यतिक्रम्यते, तावच्च कुर्वन्ति स्वाध्यायम्, हस्तशतं व्युत्क्रान्ते पठन्ति ।

अत्र पर आह-

कोवी तत्थ भणंजा, पुष्पादी जाव तत्थ परिमार्ही ।
जा दीमंतं तावउ, न काए तत्थ सज्जाड्यो ॥

कोऽपि तत्र कृपान्-या तत्र मूलकं नीयमाने पुष्पादीनाम, प्रादिश-न्दाद् जीर्णवीवरक्षवकादीनामुपाभयस्य पुरतो इत्सशतान्यन्तरे परिश्रांतिः सा यावत् इत्यनेन तावत्सत्रं न कियते स्वाध्यायः ।

अत्र सूरिराह-

भसइ न य तं तु तदिं, निज्जतो मोसुं हो असज्जाड्यं ।
जम्हा चउप्यारिं, सारिंरमयो न जम्हांति ॥

प्रत्येत-अत्रोत्तरं हीयते-तत्र नीयमानं मूलकं मुक्त्वा अन्यत् क-नकपुष्पादिकं पतितमस्वाध्यायिकं न भवति, यस्मात् घटीरमस्वाध्यायिकं चतुःप्रकारं कथिरादिभेत्तत्तत्तुर्विधम् । पुष्पादिकं च तद्वितरिक्तम्, अत्रानं न स्वाध्यायिकतया तत्र वज्रयन्ति । आत्स-सुत्तं त्वेत्तन्मसूत्रं व्याख्यास्यते । १५०७ उ० । ईदं दिनेऽस्वाध्यायः ॥ यथा-महाहिंसावधेनाऽऽभिनवैरिदिनि सिक्कान्तवाचना-
२०६

दिवि अस्वाध्यायदिनानीति कृत्वा त्यज्यन्ते, तद्वत् 'ईदं दिनमपि, तेन हेतुना कथं न त्यज्यते ?, किञ्चित् यान्तस्तदिनं त्यजन्ति, आ-त्मनां का मर्यादा ?, इति प्रश्ने, अचरत्- 'ईदं' दिनास्वाध्यायविषये बुद्ध्याऽनाचरणमेव निमित्तमवसीयते । ही० ३ प्रका० ११ प्र० ।

जे भिक्खु असज्जाए सज्जायं करेइ, करंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ११ ॥

जम्मि जम्मि कारणे सज्जाशोषेण कीरितं तं सव्वं असज्जायं, ते च बहुदिहं वक्खमाणं; तथ जा करइ, तस्स चउल्लइ, आणाभं-
गो, अणवत्था, भिच्छुत्तं, आयसंजमभिराइया य । नि० सू० १६ उ० । (स्वाध्याये एव स्वाध्यायः कर्तव्य इति 'सज्जाय' शब्दे चतुर्थमागे वक्ष्यते)

णो कप्पइ गिग्गंयाणुं वा गिग्गंयाणुं वा अण्णो आ-
सज्जाए सज्जायं करित्तए, कप्पति णं अण्णमसस न वा-
यणं दिलिइत्तए ॥

न कल्पने निग्रन्थानां निग्रन्थानां वाऽभिनः समुत्पेऽस्वाध्यायिके न स्वाध्याय कर्तुं, किन्तु कल्पने परस्परस्य वाचनार्थादायित्युत्पन्न । यदि वा प्रकृष्टानान्तरेण गाढबन्धे प्रक्षेपे सति तत्रापि स्वयम-
पि वाचनार्थादात् कल्पते इति वाक्यशेषः ।

एतदेव भाष्यकारः सप्रपञ्चमाह-

आयसमुत्पमसज्जा-इयं तु एगविहं होइ दुविहं नो ।
एगविहं ममणाणं, दुविहं पुण होइ समणीणं ॥

आत्मनः शरीरात्समुत्पन्नं संयुतमात्मसमुत्पन्नास्वाध्यायिकमक-
विधमानवति, द्विविधं वा । तत्र यत् एकविधम्-अशो भगवद्वा-
द्विविधम्, तत् अग्रमानां भवति । अग्रणीनां पुनर्भवति द्विवि-
धम्-अशो प्रगवद्वादिस्मृत्यम्, अनुत्पन्नमेवं च ।

तत्र यतनामाह--

धोयम्मि य नित्पमले, बंधा तिथेव होति उक्कोसा ।
परिगलपयो जयणा, दुविहम्मि होइ कायन्ना ॥

त्रणावौ निग्रन्थे धौनं वपरि सान्प्रकूपपुरस्करं त्रयो बन्धा इ-
त्कथेता भवन्ति । तथाऽपि परिगलति द्विविधे व्यथादावासौधे
च यतना वक्ष्यमाणा कर्तव्या ।

एतदेव सप्रपञ्चं प्रावयति-

समणो उ वणं च जगं-दरे व बंधेकमो व वाएति ।
तद्द गालंते ठारं, होइ दो तिणिण बंधाओ ॥

अग्रणो व्ये वा, जगन्-दरे वा परिगलति हस्तशतान्दा बहिर्गत्वा नि-
ग्रन्थं प्रकृष्टाय वीचरं कारं क्लिप्त्वा अपरि अन्यत् वीचरं कृत्वा
व्रणं प्रगवद्वा वा बध्नाति, तत पथमेकं बन्धं कृत्वा वाचयति ।
यदि तथापि परिगलत्यऽस्वाध्यायिकं, तत वपरि कारं निक्लिप्य
द्वितीयं बन्धं इहाति, ततो वाचयति । तथाऽप्यतच्छ्रितं तुना-
यमाप बन्धप्रत्ययवतारं इहा वाचयति ।

जाहे तिथिण विजिन्ना, ताहे हत्थसययाहिरा धोउं ।
बंधिउ पुणो वि वाए, गुंतुं अएणत्थ व पठंति ॥

यदा त्रयोऽपि बन्धास्तेनास्वाध्यायिकेन विजिन्ना भवन्ति,
तदा हस्तशतान्दा बहिर्गत्वा निग्रन्थं प्रकृष्टाय, पुनः कारं निक्लिप्या-

परि वीधरेण बध्ना पुनरपि याचयति, अन्यत्र वा गन्तुं पठन्ति ।

एषेव च समाणीणं, वणम्मि इयरम्मि सच वंधा उ ।
तह वि य अइयमाणे, धोळणं अइव अइत्थे ॥
एवंमेव भ्रमणीनामपि व्रथाविवये यतना कर्मव्या भवति । इतर-
स्मिन्नास्ये सस बन्धाः पूर्वप्रकारेण भवन्ति । तथापि व्रथे इतर-
स्मिन् वाऽपिष्ठति इत्यंशानाद् बधिः प्रकृत्य तथैव बन्धाव इत्या-
वाच्यवति, अन्यत्र वा गत्वा पठन्ति ।

एतेसामन्नयरे, अमज्जाए अण्यणो उ सज्जायं ।
सो कुणइ अजयाणाए, सो पावइ आणमादीणि ॥
एतेषामन्तरोदितानामन्तरेस्मिन्नास्योऽस्वाध्यायिके स्तनि-
कः स्वाध्यायं करोति, तत्राप्यवतनत्वात्, स प्रामोद्याकाङ्क्षिनि तीर्थ-
कराङ्गाभ्यादीनि वृत्तानि, आदिशब्दादवतनव्याद्यादिपारम्भः ।

न केवलमिमे शोभाः किं त्विमे-

सुयनाणम्मि अजर्षी, लोगविकुं पमत्तल्लखा ए ।
विज्जा माहणवेणु-सधम्मया एव मा कुणमु ॥

अस्वाध्यायिके पठने भुक्तानस्वाध्यायिकीर्विराधना कृता जयति,
तद्विराधनायां ध्यानविराधना, चारित्रविराधना च, तद्भावे मो-
क्षाभावः । तथा-लोकविकृतिर्भूत्वात्मनोऽस्वाध्यायिके पठ-
नम् । तथा हि-लौकिका अपि व्रथे आन्ते च परिगलति
परिवेषणं देवताध्वेनादिकं वा न कुर्वन्ति । तथा-प्रसर्त्तान्तरस्य
प्रान्तदेवतायां कृतना स्यात् । तथा-बधा विधा अपचारमन्त्रेण
साधुसाधनैरुपलभ्यन्ततथा न सिध्यति, तथा कुतङ्कानमपि ।
तस्माद् भैवं कारीः ।

अत्र परवकाशमाह—

चोयइ जइ एवं सो-णियमादीहि ढोइ सज्जाओ ।
तो जरितो च्चिय देहो, एएम्मि किणहु कायवं ॥
परच्छोदयनि-यद्येबमुकप्रकारेणास्वाध्यायो जयति । तत्र पतेषां
शोणित्वादीनां देहो भूत इति तत्र कथं स्वध्यायः ? ।

अत्र सूत्रिणाह—

कामं भरितो तेस्मिं, दंतादीं अत्रयुथा तह वि वज्जा ।
अणववज्जा उ अत्रवज्जा, लोए तह उत्तरे चेव ॥
कामं मन्थमदे पतन्-तेषां शोणित्वादीनां भूतो देहः, तथापि ये
दन्तान्योऽत्रयुताः पृथग्जन्ताः, ते बन्धां वर्जनीयाः ये त्वनवयुताः
अपृथग्जन्ता लोके बन्धे च अत्रय्यां अपरिहर्त्तव्याः ।

पतदेव भावयति—

अन्नंतरमल्लिप्तो, कुणामी देवाणमच्चणं लोए ।
बाहिरमल्लिप्तो ङण, ण कुणइ अत्रणइ व ततो णं ॥
आभ्यन्तरेमल्लिप्तोऽपि देवानामच्येनं लोकं करोति; बाह्यमल-
लिप्तः पुनर्न करोति । अपनयति वा महं ततः शरीरात् । एषमत्रापि
प्रायनीयम् ।

आउट्टियावरारो, सभाइया न कत्वमेइ जहु पदिमा ।
इय परलोए दंको, पमत्तल्लखा इह सिया उ ॥

उपेय कृतमपराधं सन्निहितसन्निहितप्रतिहायेप्रतिमा बधा न
क्लाम्यति, इति एषममुना प्रकारेण भुक्तानमपि कृतमपराधं
न कल्पते । नत्र परलोकेषु गतिप्रपातो वयदः, इह लोके प्रान्तदेव-
ताकृतना स्यात् ।

रागो दोसो मोहो, अससम्भाए जो करेइ सज्जायं ।
आसायणा व का सा, को वा जणितो अणयायोरो ? ॥
रागात् दोषात् मोहाद्वा बोऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति त-
स्य का कीदृशी फलन आशानता ?, को वा कीदृशः फलद्वारंण
मणिनोऽनाचारः ? ।

तत्र रागद्वेषमोहाद् व्याख्यानयति—

गणिसदमाइमहितो, रागे दोसम्मि न सहते सरं ।
सत्त्वमसज्जायणयं, पमादी होइ मोहो उ ॥

गणो आचार्यः, आदिशब्दाद्युपाध्यायां गणाबन्धेऽहं इत्यादिपरि-
ग्रहः । एषमविधिः शब्दैर्महित उन्कर्तृनां बोऽस्वाध्याये स्वाध्यायं
करोति, स रागे द्रष्टव्यः । यस्यन्यस्य गणिशब्दमुपाध्यायशब्दं वा
न सदने-अदमपि पाठत्वा गणो उपाध्यायो ज्ञविध्यायि इति वि-
चिन्त्य बन्धादपररोऽस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायं विदधानि, स द्वेषेऽ-
वसातव्यः । यस्तु स्वयमस्वाध्यायमयमित्येवमादि विचिन्त्या-
स्वाध्यायं करोति, एष भवति मोह इति ।

सम्प्रत्याचार्यः फलद्वारंणाऽऽशानतामाह—

लम्पायं व ज्ञेज्जा, रोगायकं व पाउणे दीहं ।
तित्यपरभासिआओ, भस्मइ सो संजमाओ वा ॥
इहकोए फलमेयं, परलोए फलं न देति विज्जाओ ।
अमायणा सुयस्स य, कुब्बइ दीहं तु मंसारं ॥
अन्माहं वा लनेन, रोगाऽऽनङ्गं वा ह्येव प्राप्नुयात्, तीर्थकरमा-
चिनाद्वा संयमाद् भूयति, इहलोकं विधा नङ्गभुक्कः चारित्र-
क्षणः फलं, परलोके च मोक्षलक्षणं न इति न प्रय-
च्छन्ति । न केषलं फलद्वानान्नायः, किं तु सुतस्याऽऽशानता हीनं
संसारं करोति । तद्वेन फलन आशानताऽभिहितः ।

आप्रत्येनान्चारं फलत आह—

नाणायार विराडिपं, दंसणयारो वि तह चरिचं च ।
चरणविराहणयाए, मुक्खाभाभो मुखेयव्वो ॥
अस्वाध्यायं स्वाध्यायं कुर्वता ज्ञानाचारो विराधितः, तद्विराध-
नायां ध्यानचारचारित्र्यं च विराधितम् । चरणविराधनतायां
मांक्षाभावः ।

अत्रैवापवादमाह—

वितियागादे मागा-रियादि काणयय असति वुत्थेए ।
एएहि कारणेहिं, जयणाए कणए काउं ॥
अस्य वयाक्या प्राग्वत् । एव० उ० । ध० ।
जे जिक्खु अण्यणो असससम्भाइए सज्जायं करेइ, करंतं
वा माइज्जइ ॥ १६ ॥
अण्यणो सरिरे समुधे अससम्भाइए ति सज्जाओ अण्यणो ण
कायव्वो । परस्स पुण ण वायणा हायव्वो महंतेसु गण्ठेसु ।
अन्वात्तलाण खिण्वो-दयाण व होज्जं ति सज्जाओ ।
अरिसाभगंदलाहं, इति वायणमुत्तसंबंधो ॥ १३६ ॥

अथाहस्रणश्री समग्रिये (शिवोद्युहस्यसंज्ञो नाम सज्जाओ प्रो भविस्सति, तेण यावामसुखे विहं भवति ॥ नि० ५०० १४ उ० । अस्वाध्यायदिनत्रयान्तःकृत उपवास श्राद्धोचना तपसि पति, न वा १ति पण्डितवर्यसागरगणितप्रअस्य ह्रीरविजयसुरि-
कृतमुत्तर—अस्वाध्यायदिनत्रयान्तःकृत उपवास आलो-
चना तपोसि नाशति ॥ १० २ प्रक० ॥ चैत्राश्विनमासचतु-
र्मासकृत्तिकसत्का अस्वाध्यायाः पञ्चमीचतुर्दशीयामद्वयाजन्तरं
सद्युगन्ति तद्यामद्वयं तिथ्येताप्येक्या, किं वा औदधिक्यापे-
क्येति प्रश्ने, चैत्राश्विनमासयोः पञ्चमितिथेरद्विस्वाध्याया
लग्नि, न तु सूर्योदयाद्यः एवं चतुर्मासकस्याऽस्वाध्यायोऽपि
चतुर्दशीतिथेरद्वौल्लग्नानां बृहस्पतया इति (१५६) । तथा-
तिरभ्योदस्य सरसं भवति, तस्यास्वाध्यायिकं कियतः प्रह-
राब्धे यावद्भवतीति प्रश्ने, तिथेयस्य अग्रदरानामुपरि याव-
न्तरस तावद्ऽस्वाध्यायिकं ज्ञतंतीति ज्ञापने (२३३) । तथा-
ऽऽश्विनमासऽस्वाध्यायदिनेषु सिद्धातमायापञ्चकं पठन्ति,
तस्य तपसोसं कल्पने नवतीति प्रश्ने, अस्वाध्यायदिनेषु सिद्धात-
संबन्धेकथायापाठोऽपि न शुद्धान्तीति (२३५) । तथा-सूर्येप्रह-
णं यद्भवति तदस्वाध्यायिकं कुन आरच्य कियद्यावद्भवति १,
तथा-योगिकानां कियार्थं प्रवेदनानं न शुद्धान्तीति प्रश्ने, यस्त्य-
प्रहणं भवति तत्र आरभ्याऽदोराब्धे यावद्ऽस्वाध्यायिकं, तदनु-
सारेणैकं प्रवेदनमद्युक्तं ज्ञायन इति (२३०) । (सेन० ३ ब्रह्म०)
तथा ऽऽश्विनमासस्वाध्यायिकदिनत्रयमुपरेशमालादिने गण्यते,
तथा चतुर्मासकस्यास्वाध्यायिकं तद्व्यपत्तं भवेति प्रश्ने, त-
दस्वाध्यायिकं दिनत्रयमुपधानमप्येकं, न तथा चतुर्मासकत्रये,
तस्माच्चतुर्मासकस्यास्वाध्यायिकं उपदेशमालादि गण्यते
(५५) । सेन० ४ ब्रह्म० ।

असज्जाडय (यिज्जुत्ति—अस्वाध्यायिकनिर्णयि—श्री० । अस्वा-
ध्यायिकप्रतिपाद् काऽऽवश्यकान्तगतप्रतिक्रमणायवचनमध्यते
अन्वाहुर्यमिच्छते नियुक्तिप्रश्ने, अथ० ।
“असक्काहअनिज्जुत्ति, बुद्धाम्मी धीरपुरिसपक्कां ।
अ नाळण सुविहिआ, पवयणसारं उवहांति” ॥ १ ॥
“असक्काहअनिज्जुत्ती, कहिआ ये धीरपुरिसपक्का ।
संजमनवचगार्ण, निग्गयाणं महरिसीणं ॥ २० ॥
असक्काहअनिज्जुत्ति, जुत्तं जं तथा चरणकरुणमाउत्ता ।
साह अवंति कम्म, अणमवसंसिअमणत्तं” ॥ १३ ॥
गाथाद्वयं निगदंस्त्रिद्वयं । प्रथ० ४ अ० ।

असद—अशुट—३० । शतमावरति, श्राध० । रागद्वेषरहिते
कालिकाचार्यादिवप्रमाणस्ये, ५० ३ उ० । अन्नान्ते, द्वा० २
द्वा० । अमायाविनि, जीत० । सरलात्मनि, जीत० । आ० म० ।
पराऽवञ्चकं, घ० १ आधि० । घ० २० । अनुष्ठानं प्रति अनाल-
स्वर्वात्, द्वा० १ । इत्क्यायिपयनिग्रहकारिणं, नि० ५०० १० उ० ।
सप्तमशुणवत्साधो, शठो हि वञ्चनप्रपञ्चवृत्तरथा सयस्याव्य-
विहस्यनीचा भवति । प्रथ० ३३६ द्वार ।

साम्प्रतमशुट इति सप्तमं स्पष्टवाहाह—
असदो परं न वंचदं, बीससपिण्डो पसेसपिण्डो य ।
उज्जयद जावसारं, उचिओ धम्मस तेषोसो ॥ १४ ॥
शुणे प्रावाची) तद्विपरीतोऽशुटः परम्यं न वञ्चति नामि-
संप्रथमः एष विञ्चसनीचः, प्रत्यवधानं ज्ञवति । इतरः पुनः पुनः
वञ्चवञ्चवि न विञ्चसाकारणम् । यदुक्तम्—“मावाशीलः पुरुषो,

वधापि न करोति किञ्चिदपरधम् । सर्पं इवाऽविञ्चसास्यं, ज्ञवति
तथाऽऽप्यमर्षादभयः” ॥ १ ॥ तथा-प्रशस्तनीचः क्वाजनीयञ्च स्वात्,
अशुट इति प्रकमः यद्ऽजाचि—“यथा चिचं तथा वाचो, यथा वा-
चस्व तथा क्रियाः । धम्मान्ते भित्ते येयो, चिंसवादो न विद्य-
ते” ॥ १ ॥ तद्योद्युच्छ्रितं प्रवर्तते, धर्मानुष्ठाने इति शेषः । भावसा-
रं सद्भावसुसुत्तरं स्वस्वितरञ्जनामुत्तरं, न पुनः परऽज्जाजावति; दु-
ध्यायं च स्वस्वितरञ्जयम् । तथाचोक्तम्—“ भूवासो मूरिहो-
कस्य, चमत्कारकरा नराः । रज्जयन्ति स्वस्वितरं यं, भूतसं
तेऽथ पञ्चयाः” ॥ १ ॥ तथा—“ कृमिभेदेऽम्बरीक्षिभिः, शक्य-
स्तेषामयितुं परः । आत्मा तु मास्तवैरव, हतकः परितुष्य-
ति” ॥ १ ॥ इति । अजितो योग्यो, धर्मस्य पृथेय्यावर्णितस्वकप-
स्य, तेन कारणेनैवोऽशुटः; सार्यवाहपुत्रकद्वेषव्य ।

अकद्वेषवर्तितं स्वेषव—
अथि विदेहे चंपा—ऽऽयासपुं पउरपउरपरिकलियं ।
तत्थाऽऽसि सत्थवादो, अरुदो कइदेषु ति ॥ १ ॥
तरस य नञ्जा सोमा, सहावसोमा कयाह गिहियम्मं ।
सा पत्थिअह गण्णिणी—ये बालचंदायं पास्सम्मि ॥ २ ॥
तं किञ्चि विसयविमुदं, ददु पउठो मखेह से मत्ता ।
मुंच पिय । धम्ममिंमं, भांमिं पिय व प्रोअणियकरं ॥ ३ ॥
सा साहइ जोगेहि, रोगेहि व मह कयं, इमां प्राह ।
किं अइयं विडुमिं—इकप्यं कुणसि तं सुद ॥ ४ ॥
सा अणइ इमं बिसबा, पणुगणसादारणा वि पक्कन्ना ।
आणिसस्सिरेवाहकतो, विणिज्जाम्भो समण्णो ते ॥ ५ ॥
उत्तरद्वानअसतो, बिलक्कच्चित्तो अइच स विररो ।
आलवणाहविरत्तो, सोयं समं वयइ सत्त्वतो ॥ ६ ॥
मज्जं मगइ कळे, सोमा अणिय ति इहइ न य तोसो ।
त्तम्मारणहेउमहि, उवहं पिअंनो मइ विअवेउं ॥ ७ ॥
अणइ पिय । अरुमगड्डा—इ वाममाणेसु सा वि सरलमहा ।
जा विवइ कुम्भो, तता इक्का कसियणुवगेण ॥ ८ ॥
इक्का अइं ति पारणे, सा साहइ सो वि गाहइसडवाय ।
गासंभया गासडिया, इच्चाइ करेइ इलवाठं ॥ ९ ॥
सिन्ध से उड्डिचिं, वियरेहि निअचिं व दंसणहि ।
विसभीयहि व पाणे—हि इरवुरेण ओसत्थिं ॥ १० ॥
अवइय सोमा सांइ—मकप्यलीलावयंससुवमाणे ।
पल्लिमोचमिहिया, सोमा सुउरुद्री जाथा ॥ ११ ॥
वडो स इदंवेतो, नागसिंरि नागदत्तसिद्धियं ।
परिणीय नीहवाहा—इ षुंजिउं पंचविहइविसप ॥ १२ ॥
कइज्ज्जाणोयगामो, नरथावासिम्मि परमपुदुवोय ।
आदक्कडामिहाणु, पलियाक नारनो जाभं ॥ १३ ॥
अइ सोमाजीचो, अविं सोइम्मओ विदेइम्मि ।
सेसम्मि सुंजुमार, जाभो वंती धवलकंती ॥ १४ ॥
इयरो वि त्थान्वाव्हिय, जाभो कीरो नहिं विअ गिरिम्मि ।
कीरीयं सह रमंतो, नरत्तासावासिरो अयइ ॥ १५ ॥
कडवा वि तं गइदं, करेणुयानियरपरियं ददुं ।
पुण्यत्रयमासासो, बहुलीबहुलो विच्छियं ॥ १६ ॥
विसयसुहाइ इमाओ, किहं थु मय पंचियव्वमो एस ।
एवं उवाचचित्तण—पथणो पत्तो सत्प नीदो ॥ १७ ॥
सा तथं वदंसेहा—मिहाणअययिं हरिणु संपत्तो ।
डोलाइइ इति अयरो, अयनीओ जणइ तं कीरं ॥ १८ ॥
ओ ! इय गिरिनिज्जेउं, चिअमेओ इहागमी अयरो ।

न भु से कदियवयोऽहं, गत्रोऽयमस्यो कहवयो ॥ १६ ॥
 तो कीर ! कीरमहुमहुर-बस्य ! मइ परमसुवक्यं तुमप ।
 तुज्ज वि अइं अचस्सं, करिस्समकुवकुवववारं ॥ २० ॥
 अइं आगभो स जयरो, अइं दुइं हीताइं पडिअण्यो ।
 कदियं सुएण एयं, इमस्स सो हरिसिअो दिअए ॥ २१ ॥
 इयंतरेमि तथा-गयं गयं तं जहिदिअ्या भिरं ।
 पासिनु वित्तइ सुओ, अइं अइं ! सुंदरोऽवसरो ॥ २२ ॥
 तो निवडिअियदिअिअो, ठां कं करिसंनिहिमि प्रणइ पिअं ।
 भणियं वसिअरिसिणा, कामियतिअं इमं क्खिं ॥ २३ ॥
 जो इअ्य भिगुनिवाअं, करइ सो लइइ कामियं खु फलं ।
 इय भणिय पिआयं समं, तदि वि पओं मित्तुको य ॥ २४ ॥
 तवयएणपेरिको पुण, बीतारत्तवरो पियासहिअो ।
 वल्लवअकुलधरो, उएअओ मयणममामि ॥ २५ ॥
 तं वट्ठ वित्तइ करी, कामियतिअं इमं खु जं इइयं ।
 खेरमिअणं जायं, पअियं किर कीरमिअणं पि ॥ २६ ॥
 तो किं इमिया तिरिय-त्तणेण मज्जे तिं चित्तिय नगाओ ।
 जंपावइ सो तदियं, अइं अइं किरमिअणं तं ॥ २७ ॥
 संखुनिअंमुअं, इअ्यी गइइअिअो वि वियशाए ।
 कुरिय सुइअक्यसाअो, जाओ वंतरसुरो पवरो ॥ २८ ॥
 अइंसयकिअिअिअिअं, विसयपसओ सुओ वि संपओ ।
 रयणाइलोअिअयअं, नएअ अअित्तअइइअअं ॥ २९ ॥

इतअ-

अरिअि अिअेहिं सिरिअ-अ्यासनयगमि सअ्यवाइअरो ।
 अएअिअइअकअसो, सुमंसा अणइअो तअस ॥ ३० ॥
 अइं सो करिदुअीअ, अविअणं ताए नएणो जाओ ।
 नमिअ चअदयो, सया वि गुरुअणविअियंसवो ॥ ३१ ॥
 उअंअिअ इअरो वि दु, जाओ तअथेअ जअदुअ लि ।
 सोमपुरोअियपुओ, दुअं वि तअणत्तमएअुत्त ॥ ३२ ॥
 सभ्वाअकअयवदिं, जाया मिसीअं तंसमलोअं ।
 पुअकयअम्मदोसा, कया वि चित्तइ पुरोअियसुओ ॥ ३३ ॥
 कइ एअ चअदयो, इमाअ अतुअअलअविअरअो ।
 पाविअिअि अइं अंसं, दुं नयं अरिअ इइं अवाअो ॥ ३४ ॥
 अंधणसअ्याअहिअं, मुअिसं अविअं खविअु एयगिअं,
 कइअं निअस्स पुअओ, अंसिअस्स सपअया इम ॥ ३५ ॥
 काअं तअथेअ स प्रणअ, अयंस ! गोअसुअअं अविअणं ।
 निअयंअं सो तअओ, अथं अिअ कुअइं सअत्तमओ ॥ ३६ ॥
 वत्ता पुरे पवत्ता, मुअं अंधणअं ति तो पुट्टे ।
 सअ्याअसुएणसो, अविअणं कअस्स ओ मित्तं ? ॥ ३७ ॥
 सों अाह अअंअं अवं, ताअभया गोअिय तुअ गइअमि ।
 अंसंका न मणाअवि, कायअा अअकअं तए ॥ ३८ ॥
 इओ य अंधणं, अमुअं अमुअं अं मइं अयं अवं ।
 कदियं निअस्स तणं, नयं अोसाअिअं एवं ॥ ३९ ॥
 अंधणअं अमुअं, जेअं कण वि कइअं सों मअइ ।
 अगिअं न तस्स अंडो, पअ्या सारीअिअो अंओ ॥ ४० ॥
 अइं अिअणअमिअ गए, पुरोअिअुत्तं निअं अणइं अं !
 जअ वि न लुअइं विअिअ-त्तदोसकुअियअणं काअं ॥ ४१ ॥
 परअअविअकअयं, ति अरिअं तारअं न अियअयं ।
 अंधणअं अअस्सं, अरिअि अिअं अअंअस्स ॥ ४२ ॥
 (राजा) नए सो अरिअुअुरिअं, रायंअिअं इमं कइ करिअी
 (अंधंअः) गअया वि सोअमोअिय-अरओ अइंति अाल अअंअं

(राजा) सो संतोससुअारस-पाणएअयो सुअिअणए सअयं ।
 (अंधंअः) अरिअ तअणा अविअणं, पाविय पाअइं पअरंअिअंअ
 (राजा) नए सो महाकुलोणो,
 (अंधंअः) को दोओ इइं कुलस्स विअअस्स ? ।
 अअइअपरिमलेसु वि,
 कुतुमिअु न अइंति किं अिअओ ? ॥ ४५ ॥
 (राजा) अइं एवं ता किअअ, सअंतओ गइंओअणं तस्स ।
 (अंधंअः) एव किं अंअस्स वि, पुअओ अिअणं अए अरिअयअं ।
 तो निअइणा तलारां, अंधणंअरिअण सअ भणिओ ।
 ओ ! अअंअंअंअं, नइं अवं अंअंअंअं ॥ ४७ ॥
 सो अिअइं अरअइणा, अइंअं ! अंसंभाअिअजमाअं ।
 किं कअया पाविअइ, अविअं अिअरिअंअंअं ॥ ४८ ॥
 अइंअ पाइओ अणं, कअंअं अंअं अंअं अिअं तस्स ।
 पअणइ अंधणअंअं, नअं जाणंसि ओ अइं ! ॥ ४९ ॥
 (अंधंअः) नइं नइं मुअणं किं अिअं अं,
 (तलवरः) तो ओ ! तुमए न कुणियअं अं ।
 जं रायसाअणं, तुअं अइं किं अाअस्सं ॥ ५० ॥
 (अंधंअः) कोअस्स को सुअंअं,
 सया पयापालणअंअंअं अंओ ।

नयकुलअरअस्स अंअ-स्स एअ सयलो वि अंअंओ ॥ ५१ ॥
 तो तअअरं अिअंओ, पविअिय अा निअणं अिअलअं ।
 तो अंधणअंअंअं, अंधणनामंअंअं अंअं ॥ ५२ ॥
 तो अणइं सअुअअमिअं, कुओ तए अंधंअं ! पअमिअं ।
 किअं अिअंअंअंअंअं, एअंअंअं अिअं तिं सों अणइं ॥ ५३ ॥

तलवरः-

कइ अंधणनामंअं, (अंधंअं) नामविअासअओ कइ वि जायं ।

तअअरः-

अइं एवं ता किअिय-अिअं अइं अासणे कअणं ॥ ५४ ॥

अंधंअः-

अिअं गोअियं ति न तहा, सुअंअंअं अइं सयंअिय निअए ।

तलवरः-

अंअरिय ! किंसंअं, अणअंअं सो अाह अअुअयंअं ॥ ५५ ॥

तो अंअंअंअंअं अंअं, अिअं अिअं अंअं अं अिअंअं ।

अणइं पुअंअं अिअंअंअं, ओ अइं ! कुअअस्सं अइंअु ॥ ५६ ॥

अइं अासणं अइंअं, सुअंअंअं अिअंअं अंअंअंअं ।

अिअं अंअंअं अइंअं, तो अंधंअंअं पुणअइं अिअं ॥ ५७ ॥

तलवरः-

किअियअिअंअं अंअंअंअं अंअं अंअं अिअंअं अिअंअं ।

अंधंअः-

अिअंअं अिअं अिअंअं, अंअंअं अंअं अंअंअंअं ॥ ५८ ॥

तो तअअरंअं अंअं, अिअं अिअंअं अंअं अंअं ।

कुअिअण अंधंअंअं, अइंअं अंअं अिअंअंअंअं ॥ ५९ ॥

अंअं अंअंअं अंअं, अंअंअंअं अंअंअंअंअंअंअं ।

नइं अंअंअंअं अंअं, कइअु को अंअं अंअंअंअं ॥ ६० ॥

अंअंअंअंअंअंअंअंअं, न किंअं अंअं अंअंअंअंअं ।

अइंअं अंअंअंअंअं, अिअंअंअंअं अंअंअंअंअं ।

अंअंअं अंअंअंअंअंअं, अंअंअंअंअंअंअंअंअं ।

अंअंअं अंअंअंअंअंअं, अंअंअंअंअंअंअंअंअं ।

अंअंअं अंअंअंअंअंअं, अंअंअंअंअंअंअंअंअं ।

अंअंअं अंअंअंअंअंअं, अंअंअंअंअंअंअंअंअं ।

अंअंअं अंअंअंअंअंअं, अंअंअंअंअंअंअंअंअं ।

अंअंअं अंअंअंअंअंअं, अंअंअंअंअंअंअंअंअं ।

इय कितिय पुरबार्हे, बद्धविभक्तिं जाव बंधय अप्ये ।
 ता तमगुणगण्डरजिय-दियया पुरदेवया भक्ति ॥ ६४ ॥
 जाउं निबजणियमुद्दे, निबवुभ्भा तं कइइ बुत्तं ।
 उब्बंधयपरंतं, सो दुहिभो कितय राया ॥ ६५ ॥
 "उपकारिण विश्वाप्तं, आर्यजनं यः समाचरति पापय ।
 तं जनमसत्यबंधं, प्रणवति बन्धुः । कथं बहासि ?" ॥ ६६ ॥
 इय परिजाविष रखा, पुरोहिपुत्रं चराविउं तुरियं ।
 तत्थ गयणं दिओ, सत्थावस्तुभो तह कुण्योतं ॥ ६७ ॥
 छिदिपुं उजि पासं, सो गयमारोअकथं डिट्टेण ।
 मइया वि वित्थंनेणं, पवेसिभो नयरत्तमम्मि ॥ ६८ ॥
 भणियो य भो महापास !, नुज्ज कुलीणस्स जुत्तमेव इमं ।
 सह पुत्तिकुरस्स वि ममं, अं परदोसो न ते कहिभो ॥ ६९ ॥
 रिकं तु नुहं कामवरत्तं, भ्रमणपमायसो इहइअहेदिं ।
 तं क्षमिपुण्वं सव्वं, क्षमापहणां सु सत्पुत्तिसा ॥ ७० ॥
 इत्थंतरे भनेदिं, बंधिय तथाऽऽशिश्रो पुरोहितुभो ।
 रोसासकनयणणं, रखा वज्जो क्षमायुत्तां ॥ ७१ ॥
 तो भाणइ चक्रदेवो, वड्डुक्कहिययण पयाइसरत्तेण ।
 मइमित्तेण इमेणं, किं नाम विदुक्कमावरियं ? ॥ ७२ ॥
 पुरदेवयार्यं कहियं, कइइ भियो दुट्टुत्तिट्ठियं तस्स ।
 भन्नुज्जरत्तियसिओ, तो कितइ सत्थवइपुत्तो ॥ ७३ ॥
 अमयरत्ताउं विसं पि व, ससहरविबाउं अग्गिणुत्ति व्व ।
 परिसमित्ताउं इमं, किमसममसमंजसं जायं ? ॥ ७४ ॥
 एयं सो परिभाविष, गाढं निबडिपुं निबडिचअत्थसु ।
 मोयावइ निर्यामित्तं, तो इह्दो अणइ नरनादो ॥ ७५ ॥
 "उपकारिणि वीतमरत्तया, सत्तद्वत्तो यदि तत्र कोऽतिरेकः ?
 अहिते सहसाऽपराधलब्धे, सद्युत्थे यस्य मनः सतां स सुव्ये ॥ ७६ ॥
 अइ सत्थवाइपुत्तो, सयवत्तसुपणनिमस्रकरित्तो ।
 जइवडगपरीयरित्तो, नियेइदो पेत्तसो रखा ॥ ७७ ॥
 देयावि जअंदेवो, आरिअत्तिओ पणयसावययणहिं ।
 सक्कारिय संमाणिय, पट्टुविभो निययजवणम्मि ॥ ७८ ॥
 जाओ जणप्यवाओ, धओ पत्तेव सत्थवाइसुभो ।
 अवयारपरं वि नेरं, इय उत्तस मई परिप्फुक्कइ ॥ ७९ ॥
 बरग्गममगल्लो, कयावि सिरिअग्गिमुइरुपपासं ।
 गिणहेइ चक्रदेवो, दिक्खं दुइक्कसइइरणसमं ॥ ८० ॥
 बडुक्कालं परिपालिय, सामधं सो अणसत्तामधं ।
 जाओ अग्गिअमभंभो, नवअयराउं सुरो बंभो ॥ ८१ ॥
 तत्तो चाविष विदेदे, आरिअत्तिए मंगल्लावविजय ।
 बडुरयसो रयणउरं, सत्थण्णइरयणसरत्तस ॥ ८२ ॥
 सिरिमइपियायं जाओ, चंद्रणसाठ पि नदणां तस्स ।
 कंता य चंद्रकंता, दुवे वि जिणधम्मपरिकलिया ॥ ८३ ॥
 मारिउं स जअन्देवो, वि उब्बधुवुधोयं नारओ जाओ ।
 पुण आहेइवत्तुणभो, मरिउं तथेव उववओ ॥ ८४ ॥
 तत्तो त्रिभय बडुजं, जाओ सो रयणसारदासिस्तुभो ।
 अइणगनामा पीई, पुणुत्था तेसि संजाया ॥ ८५ ॥
 अभादिये रयणउरं, दिसि जत्ताण गयम्मि निवइम्मि ।
 सवरचइ विज्जकेउं, र्भजिय गिणहेइ बडुं थं ॥ ८६ ॥
 हरिया य चंद्रकंता, सेसजणो को वि कथं वि य नट्टो ।
 आवासिओ य थसिउं, सवरवई जिणकूयनडे ॥ ८७ ॥
 खोहीणो सयसक्तिं, निमावत्तेसे पयाणकालम्मि ।
 अइइसथसपुरकण्ठउं-नियनियकिंभसु जिंभसु ॥ ८८ ॥

उत्तालकाहस्रातर-सवइइसरवसरमदिवनइद्विचरे ।
 अग्गाणीयसि थई-तययिम्मि क्षिणे षं बंदिजणे ॥ ८९ ॥
 सा चंद्रयपाणपिया, खोहीणियसिखंडणमयण ।
 पंचनमुक्कारपरा, जंयावइ तम्मि कूयम्मि ॥ ९० ॥
 जवियव्वयानिभोगा, पयिया नीरम्मि खीविया तेण ।
 पडिक्कययम्मि जाउं, गमेइ सा जअसरे कइ व ॥ ९१ ॥
 इत्तो य गवा धानि-नि चंदयो नियपुरो समणुत्तो ।
 इरुया इइ पि नाई, जाओ अइवइरइडुइडिओ ॥ ९२ ॥
 तो तीरं मोयणत्थं, संबहयं दियेणउठहयं गदियं ।
 अइणगवीओ चत्तिभो, वारेण बहति तं मारं ॥ ९३ ॥
 पत्ता कमणुं तं जि-अक्कवदंसं तया पुणं अत्थिय ।
 धयजायं पासे दा-सयस्स इयरस्स पाडेयं ॥ ९४ ॥
 तो पुण्णवज्जसा, दासो कितइ सुभुइअग्गिणं ।
 अत्थमिभो गयणमणी, ओल्लसिभो गइयतिमिरभरो ॥ ९५ ॥
 ता इत्थं क्वकुहरे, सिंविउणं सत्थवाइसुभेयं ।
 धणजापण इमेणं, भवामि भोगाण आभागी ॥ ९६ ॥
 तो जण्णं निविडिययो, जिंसं तिसा वाएइ ममं सामि !
 सोवि हु सहावसरओ, जा कूषे नियइ तत्थ जसं ॥ ९७ ॥
 ता तेण पावपत्ता-रपिक्खिणस पिण्णिओ अचंदं ।
 तत्तो वि परत्ताओ, पाविओ अइणगो णटो ॥ ९८ ॥
 अइ चंदयां जलतो, सिरिउयपय्यपुट्टसो पाडिओ ।
 पदिक्कूषे अडु अग्गो, य चंद्रकंता कह वि छित्ता ॥ ९९ ॥
 भयाविहत्ता अणइ ममो, आरिइताणं ति तं सरण पुइइं ॥ १०० ॥
 उवसक्खिय अइ इमो, जिणधम्मणं अनयमजयं ॥ १०१ ॥
 तं सुत्तिय सुत्तिय इइय, वरेण रोएइ तारत्तरमिमा ।
 तो भन्नुअ सुइहुइ-वत्ताइ गमेति त रयणि ॥ १०२ ॥
 उइए सइस्सकरिणं, तं पाडेयं दुवे वि अुजंति ।
 कइवयदिणेषु एयं, पक्खीणं संबहं सव्वं ॥ १०३ ॥
 अइ चंदयो पयंयव. इइए । एयाउं वियउअवडो ।
 गंजीराउं जयाउं व, उत्तारो उउरं नूणं ॥ १०४ ॥
 तम्हा कुण्णिमेऽणत्तं, मा मणुयजवं निरत्थयं नेमो ।
 इय जा कइइ ता स, दाहिणनययं विक्कुुरियं ॥ १०५ ॥
 इयरीए वांमणं, सो आइ पिण्ण अंगकुण्णहिं ।
 पस किंत्तंसां न चिरे, होहिं अइदं ति तक्कम्मि ॥ १०६ ॥
 इयंउत्तरम्मि पत्तो, सत्थवई नंदिवइणो तत्थ ।
 रयणउरंनयरमाओ, उदयत्थं पेसप पुट्टिसं ॥ १०७ ॥
 ते जा नियतिं कूयं, ता चंद्रयचंद्रकंतमजिइहुं ।
 सादिपु सत्थवइणो, कइति य मंचियार्यं लहुं ॥ १०८ ॥
 पुट्टो य सत्थवइणा, बुत्तं कइइ चंदयो सव्वं ।
 संचत्तिओ नियनयरा-भिमुदं वूटो य दिणपणुं ॥ १०९ ॥
 दिट्ठा तेण निवपरे, सुट्टुदिणो हरिंविदिरिओ पुट्टिसो ।
 नाउं धणोवइण्णा, इइ ! वराओ अइणगुं पि ॥ १०९ ॥
 तं दव्वं गदिउणं, पकामसुत्तियसुअमारापरिणामो ।
 रयणउरं संपत्तो, पत्ते सुत्तिसंजं उद्वं ॥ ११० ॥
 गिक्खिपुं विजयवक्कण-सुरिसीयेऽण्णउअयत्तजं ।
 जाओ य सुक्ककव्वं, सोलसअयरटिं अमरो ॥ १११ ॥
 तो चविउं इइ अरेइ, इइवीरपुत्ताभिणानवरम्मि ।
 गेइवइरंदिक्कण-सुवियपुत्तो इमो जाओ ॥ ११२ ॥
 नामेण्णुण्णदेवो, अण्णदेहुं इव बहलक्कणेण ।
 सिरिदिवसेणुगुणो, पासे पदिबअग्गिहाइयम्मो ॥ ११३ ॥

अह अहस्यो वि हरिणा, हाणंभ्रां सेलाहनारथो जाभो ।
 सीहो भविष्य तर्हिचिप, पुत्रो वि पत्नो बसुहाचिषो ॥ ११४ ॥
 तो हिंदिप भूरिभवे, तत्थेय य सोमसत्थयाहस्त ।
 नंदिमइनारियाए, जाभो धनदेवनामसुभो ॥ ११५ ॥
 असदसदमाणसायं, तेसि वीरै परकुरं जाया ।
 ते दक्षिणक्षणमणसे, कया वि पत्नो रथनरोवे ॥ ११६ ॥
 कइवयविशुहि बलिया, सपुत्रामिसुहं विदत्तबहुविता ।
 अह धणुदेवो जाभो, निर्यमित्तपवेषणपवषणो ॥ ११७ ॥
 कम्मि वि गामं इहं, करारविया मोयगा पुत्रे तेषं ।
 इयकम्मि विसं लिचं, एयं मित्तस्स दाहं ति ॥ ११८ ॥
 अउलमणस्स जाभो, मग्गे इंतस्स तस्स बघासां ।
 सुवो सविणो दिणो, सयं नु विसमोययो वृत्तो ॥ ११९ ॥
 अइससमविसि/विसिपिर-गुहवेयणपसरपरिगभो क्कत्ति ।
 धणदेवोपरि चत्तो, धम्मंण व जीविणयावि ॥ १२० ॥
 बहु सोइरण तस्स य, मय/किञ्च काउणंगदेवो वि ।
 पत्तो कमेण सपुत्रे, तल्लिगामं कइह सत्थं ॥ १२१ ॥
 तेसि पभूयद्वयं, दाउं पुत्तिउणु पिपरपुमइज्जणं ।
 स्तो पुत्रवगुरुसमोवे, गिणहइ वयमुमयलोयहियं ॥ १२२ ॥
 तुक्करनवचरणपरो, परोवधारिकमाणसां मरिउ ।
 गुणवीससागराऊ, पायणकयं सुरो जाभो ॥ १२३ ॥
 कालेण तभ्रो वि चभो, जयुहीवम्मि परवयवसां ।
 गयपुननयरे इरिनं-दिसंत्तिणो पामसहुस्स ॥ १२४ ॥
 लिच्छमइणइणोए, जाभो पुत्रो य वीरद्वेनु सि ।
 सिरिमायभंगसुदुगु-समीयकयगिहाइवउचवरो ॥ १२५ ॥
 धणदेवो वि हु तथया, उक्कविसववेगपपचत्तो ।
 नवसागरोवमाऊ, उववओ पंकुपुट्टवीए ॥ १२६ ॥
 पुणुरवि भविष्य सुयोगं, दारुणयणदावददुसत्थंगो ।
 जाभो तर्हि वि किञ्च-नअयत्तसमाने नरेइभो ॥ १२७ ॥
 निरिपसु जमिय सो ते-रथ गयपुरे इन्नागसिद्धिस्स ।
 नंदिमइभजाए, दोगणनामा सुभो जाभो ॥ १२८ ॥
 पुत्रुलपरोजोगा, इगहइ ववहरंति ते वंवि ।
 चित्त बहु विदत्तं, तो चित्तइ दोगुणो पायो ॥ १२९ ॥
 कइ एसो अंसइरो, इत्थियथो हुं करारविउं इशिह ।
 नवधवलहरं उच्च-सणेण महमण्णुलिहंनं व ॥ १३० ॥
 तथुवारिं वृवि अन्नोय-कीलगाजाभानियंतिगवक्कं ।
 भोगणकए निमित्तं-सु वीरदेवं कुडुवजुणु ॥ १३१ ॥
 तो स न्दिस्सिमिं, मण्णोयत्ता सयं स अराहहिहो ।
 खइइडिक्कण निवडिही, पाणेहि वि जत्ति मुच्चिवाहिहो ॥ १३२ ॥
 अइ नित्थिवायमेसो, विहवन्नरो मज्जं चैव किर होही ।
 नय काइ जणचवाभ्रो, इय चित्ति य काइ तहव ॥ १३३ ॥
 जा मुसुत्तरमेप, बुवे वि धवलहरसिहरमाकटा ।
 ससमइरहिंशो दोगं, अणुपसंकवपरियमणो ॥ १३४ ॥
 भो मित्त ! एहि इहयं, निज्जुहे विससु जीपरो तथ ।
 सयमाकटो इक्को, पाडिभो सुक्को य एण्णहि ॥ १३५ ॥
 हाहाएवमुहलमुहां, सुरियं उत्तरिय वीरदेवो वि ।
 जा नियइ ता पाडिहो, मित्तो पंचसमपुणो ॥ १३६ ॥
 हा मित्त ! मित्तवच्छल !, उइसुत्तराहिय ! रहियनयमज्जो ।
 इय बहुविहं पलिविउं, मयकिच्चं कुणइ सो तस्स ॥ १३७ ॥
 जललधत्तरंते जीप, विज्जुलयावंचलमिंम तरुणसे ।
 को नाम वेहवासां, पदिबधं कुणइ सविदेवो ॥ १३८ ॥

इव चित्तिक्कण सत्थ-सदाइसुगुणसपसलामणो ।
 वचचन्तो गेविउं, सो तइए भासुरो अमरो ॥ १३९ ॥
 अग्निइ विदेइवासे, वासवदेहं व सज्जवइहरं ।
 अययसदस्सकणियं, चंगावासं ति वरनरो ॥ १४० ॥
 तत्थाऽऽसिं माणिण्ही, जइयउज्जणणो सया सिट्ठी ।
 जिणुधम्मरम्मकमा, तस्स पिया हरिमां नामा ॥ १४१ ॥
 सो वीरदेवजीवो, नत्तो गेविउज्जाउ वविकणु ।
 नामेण पुनमइहं, तायं पुत्रो ससुपण्णो ॥ १४२ ॥
 तेणं च पदणसमए, घोसं पदममाव उच्चरंतिण ।
 अमरु ति ससुपुणियं, बुबइ अमरो वि तेणेसे ॥ १४३ ॥
 दोणो वि मभो भूमा-यं अरअयराउ मारुओ जाभो ।
 मइओ सयंत्तरमण, जविउं तत्थेय उधधन्तो ॥ १४४ ॥
 भविय भवे तथ पुरे, नंदावसऽमिइसिद्धिइयाए ।
 सिरिंदाए धूया, संजाया नंदावीति सि ॥ १४५ ॥
 भवियव्याववसणं, परिणीया सा उ पुनजहेण ।
 सा पुत्रकम्मवसभो, जाया पइवविज्जिणमा ॥ १४६ ॥
 से परिणयेण कर्हिंयं, बसुत्तकडकवइनिवडिकुदी ।
 सामिय ! पिया तुइसा, न य सइहियं पुणो तेण ॥ १४७ ॥
 कइया वि सज्जवासे, कुंरुइजुलसे सयं अवरहिस्ता ।
 आउलहियं च्च इमा, साहइ पशो पणं ति ॥ १४८ ॥
 तेण वि नेहयसेणं, घन्नाविउं नवयमपियं तं से ।
 इय इरियमम्मन्तं, तीए दिन्नं गुण इमेण ॥ १४९ ॥
 न्हाणवासरे कइया, सुदारयणं समपियं तीसं ।
 संक्राणं मग्गियं पुण, सा आह कर्हि वि नणु पाडियं ॥ १५० ॥
 तत्तो अइसंनंतो, निउणं पत्तो निहालइ विइते ।
 मज्जाभरणसमुग्गे, नउं दवं निवइ सत्थे ॥ १५१ ॥
 किं कुंरुहाइ इव्वे, गयं पि लक्कं मभीपं न मयं वा ।
 करकलियइविणुजाभो, पत्तो चित्तइ सवियकं ॥ १५२ ॥
 इयो य सा तीहि चिय, पत्ता इयरो य क्कत्ति मीहरिभो ।
 जाइइ नंदथी, पुव्वीर्मिणया जाणिया म्हायं ॥ १५३ ॥
 जा सयणण वि मज्जे, नो उपाएइ लाघयं मज्जे ।
 सउजो संजोइयक-म्मणेण मारोमि ताइ इमं ॥ १५४ ॥
 काउं तयं सयंचिय, अणोगमरणवाइहि द्धव्हेहि ।
 तमिसम्मि संठघटी, रक्का दुट्टेण सपण्ण ॥ १५५ ॥
 पमिया भस ति धरणि, जाभो हाइरायो अइवहतो ।
 तयागभो परं से, अइहया पवरणाकइया ॥ १५६ ॥
 सत्थेसिं नियंताण वि, अणेण निइणं गया गया पाया ।
 उट्ठीए पुट्टवीए, पुत्रभो जमिही अणुत्तमं ॥ १५७ ॥
 तं दइ पुत्रमइहं, सोयजुओ तीह का मयकिच्चं ।
 वेरग्गाभाविणमणो, जाभो समणो विज्जियकरणो ॥ १५८ ॥
 सुक्कज्जाणनइ-दुसयलकम्मिययो पुणियणयो ।
 सो जयवं संपत्तो, लोयमासुसंठियट्टाणं ॥ १५९ ॥
 निरुत्थिव्यनिमित्तं, पकितिया पुरिमपच्छिमिक्कमवा ।
 इहयं असददणुग्गी, पणयं पुण चकइवेण ॥ १६० ॥
 इनिं फलमनिरयं चकइयस्य सय्यक, प्रतिभवमापि श्रायं भवभाओ विमिणुत्तं ।
 भवत भविकलोकाः स्पष्टसंतोषणोपाः, कथमपि हि परेषां वचननाचवचनो मा ॥ १६१ ॥

॥ इति चक्रदेवचरितं समाप्तम् ॥

असदकरण-असदकरण-पुं- । मायामवविमुक्तो भूया व-

धोकाविहातुछानकारके, ६० ६ ३० । " असदकरणो नाम स्वस्वध्यादानतो अर्पणं मायाय उति असतो होऊणं कलियं करोति । (न धाञे यस्मादिति विग्रहविभ्रमण) नि० १०० २० ३० ।

असदजाव-अशुतजाव-पुं० । अमायाविनि, ११० ४ ७० । शु-
द्विचोके, आब० ६ ३० । स्वधीव्यं प्रति मान्यं कुवाणे, नि० १०० २० ३० ।

असण-अशुन-न० । अहा भोजने, ११० ४ ७० । भोजने, नि० १०० २० ३० । अहा भोजने इत्यशुनम् । अहा भोजने इत्यस्मात् ११० २० ३० । एवमेव, लोकाकारिके तु आहूयुर्धां शुभ-
यति इति "वीरलयादिकलायि वा" आ० १०० ६ ३० । आ-
नादिभके, प्रब० ४ ३० । दशा० आह० । आब० । उच० । दश० ।

तत्र अशानमाह-

असणं ओअणसलुग-मुगजगाराइ लखजविद्विं य ।
खोराइ सुरखारि, मंगमपरिहं उ विभेयं ॥

आदिशब्दः स्वगतानेकैरनुसूचकः सर्वत्र संघर्षते । तत ओ-
दनादि, सक्तवादि, मुद्रादि, जगायादि, जगारीशब्देन समयाभा-
षया "रज्या" भाष्यते । तथा सज्जकविधिश्च-मायक-मण्डि-
का-मोदक-सुकुमारिका-पूतपूर-लपनश्री-स्वयंयुताप्रभृति-
पञ्चाशद्विधः । तथा-कीरादि, आदिशब्दादि-पूत-तक-
नामिन-रसाभादिपरिग्रहः । तथा-सृष्ट्यादि, आदिशब्दादौ-
कादिस्तकलनस्पतिविकाराद्यजगत्प्रभृतिः । मप्रेकप्रभृति च-
मरुकाः प्रभृतिर्यस्य त्रोटिका-कुम्भिका-च्यूरिका-रुदुरिका-
प्रयुक्तवस्तुजातस्य तन्माहकप्रभृति, विहंयं हातव्यमरणम् ।
प्रय० ४ ३० । " असणायि च पञ्चमः" स० ।

असणं शोयल सलुग, मंगम पवत्र विद्वं जगाराइ ।
कंदवजाई सन्वा, सजसघिर्दा सच विगारं य ॥ ३५ ॥
असणमि सच विगारं, साहम गुल मद्रु सुरा य पाणमि ।
खारम पकत्र फल-य उहेणय सववअसणममी ॥ ४० ॥
चण ओद मसुर तुबर्दा, कुसग्य निष्पाय मुग्य मासा य ।
चवल कजाया राई, पमुहं डदं व निशिह ॥ ४१ ॥
नित्र अयसि सिभिद कंगू, कुद्व अणुयादवं सिणेइजं ।
भाघति केह दुदलं, पायं धानु व्य तं सव्वं ॥ ४२ ॥
कदुदलं पकत्रं, लकर दहि तुसपाय मीसं जं ।
जमणंतकायजायं, पच फलं पुण्ण वीयं च ॥ ४३ ॥
पुदपिकाक सन्वा, बल्लिक्रमपमिह सव्वजिण्णवत् ।
हिगुलवयो ठंठं-पमिहं असणं वधुविहं इं" ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥
नीसणं बीजकानिधाने वृत्तविशेषे, आवा० २ १० ० १० ४० ।
प्रज्ञा० । रा० । ही० ।

असणग-अशुनक-पुं० । बीजकानिधाने वनस्पतिभेदे, श्री० ।

असणदान-अशानदान-न० । अशयत इत्यशनमोदनादि, तस्य
दायमशानदानम् । तस्मिन्शानदाने अशानशब्दः पानापुपल्ल-
वाद्यः । आहारदानं, पं० व० २ ३० । आब० ।

असणार्द्रिणमंतण-अशानादिनिमन्त्रण-न० । शुचोराहारानि-
मन्त्रेण, ध० । अशानादिनिमन्त्रणमिति । अशानादिभिरन्धान-पान-आ-
दिम-स्वादिम-वल्ग-पात्र-कम्प्य-पादुकोमन्त्र-मातिहाःरिक्की-
उफल-शय्यासंस्कारकौषधमैषव्यादिभिः निमन्त्रणं, प्रस्तावाद्

शुचोरेव । तत्र शुचोः पादुकोल्लिग्लम् "इच्छुकारि भगवन् । पसा-
शरीर फालुप्यं पल्लिच्छेण असणपाणसाइमसाम्रेणं दय-
पञ्चिग्गहकन्वलयपयुच्छेणं पमिहारिअपीदकलगाइआसंधा-
रणं अंसदभेसजेण य भयवं । अणुगहा कायव्वो वि" पात्रपू-
र्यं भक्त्या कार्यम् । एतच्चोपलक्ष्यं शेषकृत्यप्रअस्थापि । यतो दि-
नकृत्ये "पञ्चकलायं च काउण्यं,पुच्छुयं सेसकिचयं । कायवं म-
णसा काउं,आभणं च करं इमं" ति । "पुच्छुयं" इत्यादिना पुच्छुनि
साधुधर्मिनाहोशरीरनिराधाषवासांशेषोपकृत्यम् । यथा-निव-
हति पुष्पाकं संयमयात्रा,सुखं रात्रिगता भवतां,निराधाषाः श-
रीरेण यूर्यं,नधायत वः कश्चिद्याधिः, न प्रयोजनं किञ्चिद्व्याधि-
दिना, नायंः कश्चित् पथ्यादिनेत्यादि । एवंप्र अक्षभ महानिजंरा-
हेतुःयद्गुह्यम् "अभिगमणवेद्वणनं-सणेणं पमिपुच्छुणेण साह-
यं । विरसीचंअं पि कम्मं,खणेण विरल्लसणमुहं" । प्राग्बन्धना-
वसरे च सामान्यतः "सुहराईसुइतपसरीरनिराधाष" इत्यादिप्र-
अकरणेऽपि,विशेषेणान्प्रअः सत्यप्रवचक्यपठिक्कानायं,तदुप-
यकरणार्थेभेति प्रअपूर्वे निमन्त्रणं युक्तिभेदेति । संप्रति वि-
निमन्त्रणं गुण्णं बुहद्वन्वदानानन्तरं आधाः कुर्वन्ति, ये
च प्रतिकर्मणं गुण्णिः सह कृतं,स स्योदयादनु यदा स्वगुहाप-
यति, तदा तत्करोति; येन च प्रतिकर्मणं बुहद्वन्वकं चेत्गुण्ण-
मपि न कृतं,तेनापि बन्वनायवसरे एव निमन्त्रणं क्रियते; ततश्च
यथाविधि तत्कालमिति । एव बहिर्दृष्टस्य विधिः । कारकविशेषे
तु तत्र्यतिशयैऽपि गम्यते, तत्राप्येव एव विधिः, अमृततोर्षय च ।

कारणान्याह-

परिआय-परिस-पुरिसं, खेचं कालं च आगमं नष्ठा ।

कारणजाए जाए, जहारिहं जससं च ओगं ॥ ४४ ॥

पर्यायो मन्त्रार्थः,तत् प्रभूतकालं येन पाठितं,परिवृत्तं विन्तीता सा-
धुसंहतिः, तत्र्यतिवकं पुत्रवं ह्यावः; कथमः कुलशुणसकृकार्या-
व्यस्याऽऽवस्थानाति;एवं तय धीनं क्लेशमितिःकालममप्रतिजाग-
रणमस्य शुण इति,आगमं सूत्रार्थोऽन्यरूपमस्यास्तेति ज्ञात्येति ।

साप्रतमेतदकरणे दोयमाह-

एआइ अकुण्वंतो, जहारिहं अरिहृदेसिए मगो ।

ए भवइ पवयणजर्चा, अभंतिमंताइआ दोसा ॥ ५ ॥

तथा-

उपपन्नकारणममी, किइकम्मं जो न कुञ्ज दुविहं पि ।

पासत्थाई पीति, उग्याया तसस चचारि ॥ ६ ॥

(दुविहं पीति) अन्वयुन्यनवन्वन्नक्षत्रम्, इत्यन्तं प्रसक्तम् ।

ध० २ ३० ।

असणि-अशुनि-पुं० । पविरित्यस्य पर्यायः । है० । आकाशे
पतयन्नियमे कण्ठे, प्रज्ञा० १ पद । विशेषे, स० २० २० पाठु० ।
तं० । विपुच्छजे, वाच० ।

असणिभेद-अशनिभेय-पुं० । करकादिनिपातवति पर्वतादिदा-
रणसमर्थजस्तनेन वा वज्रभेदे, भ० ७ श० ६ ३० ।

असणी-अशानी-स्त्री० । बलेः सोमस्य महाराजस्याग्रमहिष्या-
म, भ० १० हा० ४ ३० । स्वा० ।

अससि (कृ)-असंज्ञिन-पुं० । संक्षिपिपरीतोऽसंज्ञः । विशि-
ष्टसंख्यादिकुपप्रधानविज्ञानविकले, कर्म० ४ कर्म० । "शैरइया कु-
विहा पयसा । तं जहा-सासि जेव, अससि जेव । एवं पंचविद्या

अससि (ण)

सव्ये विगामिद्वयकाः जाव वेमाणिवा" स्थः २ उ० २ उ० ।
० सं० । नं० । "अससि कुविहा-अणागादमिच्छादिद्वी, आ-
गादमिच्छादिद्वी च" नि० चू० ५ उ० ।

अससिआउय-असंश्यायुपु-न० । असंक्षिना सता बन्धे परत्रय-
प्रायोप्ये आयुषि, म० १ उ० २ उ० । ("आउ" शब्दे द्वितीय-
प्रागं १५ पृष्ठे १३ प्रथिकारे चैतद् व्याख्यास्वते)
अससिचूय-असंज्ञितु-पु० । मिथ्याघट्टो, म० १ उ० २ उ० ।

अससिमुय-असंज्ञिश्रुत-न० । मिथ्यावृद्धिभूते, तच्च कालिको-
पदेशेन हेतुपदेशेन दृष्टिवाङ्मोपदेशेन च त्रिविधम् । नं० । आ०
च० ('सांख्यस्य' शब्दे चैतत् वचयते) ।

अससिहिसंचय-असंनिविसंचय-पु० । न विद्यते संनिधेः प-
रुषितभावाद्यैः सञ्चये धारणं वेधां ते तथा । संनिधिस्थेयुग-
लिकमनुष्ये, ज० २ वक्र० । तं० । जी० ।

असती-असती-स्त्री० । असंमती, नि० चू० १२ उ० । " प-
माएण वा असती युक्तलक्षणिया वा " महा० ५ अ० ।
असत्त-अशुक्त-वि० । असमर्थे, दृश्य० । पि० ।

असक्त-वि० । अपाकृतमदनतया समनृणमणिलिपुकाञ्चने समता-
पत्ने, आचा० । "जे असता पावेहि कम्मदि" य अपाकृतमदनतया
समनृणमणिलिपुकाञ्चनः सधनापन्नाः पापेषु कर्मस्वसक्ताः
पापादानानुष्ठानरताः । आचा० १, पु० ५ अ० २ उ० ।
असन्-न० । नास्तित्वे, स्या० । परकल्पेणाविद्यमानत्वे, नं० ।

असत्ति-अशक्ति-स्त्री० । असंयोगे, असंपर्के, षो० ५ विव० ।

असत्य-अशश-न० । निरचयाउष्ठानरूपे संपत्ते, " से असत्य-
स्स खेयं, जे असत्यस्स खेयं से पञ्चजातस्स खेयं "।
आचा० १, पु० ३ अ० १ उ० ।

असत्यपरिणय-अशस्त्रपरिणत-वि० । अशस्त्रोपहते, आचा०
२, पु० १ अ० ५ उ० । ('अपरिणय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे
६०? पृष्ठेऽस्य सूत्रायुक्तानि)

असदाचार-असदाचार-पुं० । सदाचारविलक्षणं हिंसाऽनु-
त्तरी, ध० । असदाचारः सदाचारविलक्षणो हिंसाऽभूतादिवेश-
निधः पापहेतुर्भेदरूपः । यथोक्तम्- " हिंसाऽभूताद्यः पञ्च,
तस्याश्चानेयम् च । क्रोधाद्यव्यक्तत्वात्, इति पापस्य हे-
तवः " । १ । तस्य गहो यथा-

" न मिथ्यात्वसमः शत्रु-नै मिथ्यात्वसमं विषयम् ।
न मिथ्यात्वसमो रागो, न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ १ ॥
द्विपद्विपतमोरोत्तुःखमकश्च द्वायते ।
मिथ्यात्वेन दुस्सन्ते, उन्तोऽस्मिन् उन्मानि ॥ २ ॥
वरं ज्वालाकुलं क्षिप्तो, दहेहिनाऽस्मा दुताशनं ।
न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं, जीवितवयं कदाचन ॥ ३ ॥

इति तत्त्वाभ्यां गहोः, एवं हिंसाद्विधिषु गहोयोजना कार्या ।
तथा-तस्याऽसदाचारस्य हिंसादेः स्वकथनं यथा-प्रमत्तयो-
गात्प्रानिष्यपरोपण हिंसा, असदनिधानं सूधा, अदृष्टादानं
स्तेयं, अशुभमन्त्र, मूर्खो परिग्रह इत्यादि । तथा-स्वयमाचार-
कथनं परिहारोऽसदाचारस्य संपादनियः ; यतः स्वयम-
सदाचारमपरिहरतो धर्मकथनं नद्वैराग्यकथनमिवाभाव्येयम् ।

स्यात्, न तु साध्यसिद्धिकरमिति । तथा-अनुभावस्य कौडि-
व्यत्यागरूपस्यासत्त्वमनुष्ठानं देशकैनेव कार्यम् । एवं हि त-
स्मिन्नाविप्रतारणकारिणि संभाविते सति शिष्यस्तुपदेशात् कु-
तोऽपि दूरवर्ती स्यादिति । ध० १ अधि० ।

असदारजन-असदारजन-पुं० । प्राणवधादौ, षं० व० ३ द्वार ।
"बाभ्रो ह्यसदारम्भः" बाभ्रो हि पूर्वोक्तः, असन् अनुसृन्त आरम्भो-
ऽस्येयसदारम्भः, अविद्यमानं वा यदागमं व्यथित्पुत्रं, तदारभते
इत्यसदारम्भः । न सदा सर्वथा स्वस्तिकालाद्यपेक्ष आरम्भोऽ-
स्यति वा । " वृत्तं चारिषं च-स्वसदारम्भनिवृत्तिसमसक्तम् ।
सदनुष्ठानम् " असदारम्भोऽशोभनारम्भः प्राणार्तिपाताथाश्व-
पञ्चकल्पः, ततो विनिवृत्तिम् । हिंसादिनिवृत्तिकल्पमहिंसा धात्व-
कम् । षो० १ विव० । पञ्च० ।

असह-अशब्द-पुं० । अद्वैतश्याप्यसाधुवादे, ग० २ अधि० ।
च० स० । शब्दवाजैते, च० ३ उ० ।

असदहंत-अश्रद्ध-वि० । अकामकुर्वन्ति, "मरुश्रद्धे वाणि-
श्रो असदहंतो उज्जगिण्य" बृ० ३ उ० । "पक्षां देवो असदहंतो"
नि० चू० १ उ० ।

असदहृत्-अश्रद्धधान-न० । निगोदादिविचारविप्रत्यये, ध० ।
३ अधि० ।

असप्पाविचे-असत्प्रवृत्ति-स्त्री० । असुन्दरमवृत्तौ, षो०? ६ विव० ।

असप्पलावि (ण)-असत्प्रदाविन्-वि० । असदभावप्रलावि-
नि, नि० चू० १६ उ० ।

असवल-अशवल-पुं० । मालिन्यमाश्रयन्ति, प्रश्न० १ संव०
द्वार । शवलेस्थानदूरवर्तिनि, आनु० । निरतिकारे, स्या० ५
ग० ३ उ० । अतिचारपङ्कामावात् एकान्तविशुद्धचरण, म०
२५ हा० ७ उ० ।

असवलाचार-अशवलाचार-पुं० । विद्युत्कारे, अशवलः सिता-
सितवर्णोपेतवर्णवद् इवाकतुर आचारो विमयशिक्षाज्ञावायो-
वरादिको यस्य सोऽशवलाचारः । त्य० ३ उ० ।

असञ्ज-असञ्चय-वि० । सजोपवेशनाऽग्नये क्लृते, श्रौ० । आ-
व० । स्या० । अजोर्न असञ्जज्ञावप्ररूपकऽस्येय, यथा-इवाभा-
कतगडमयोऽप्यमात्मा' इतिवदन्तः परिद्वानाः नि० चू० १, १३० ।
अमकथयया-असञ्चयचन-वि० । अरककशादिकं दुष्यन्ते,
"असञ्चययाणं हि य कलुषा विषयन्त्या" द्वा० ३ उ० ।

असञ्जाव-असञ्जाव-वि० । अविद्यमानार्थे, म० १० प्रश्न० ।
हा० । अतथ्यभावे, आव० ५ अ० । सज्ञावस्याभावे, पि० । अ-
विद्यमानाः, सन्तः-परमाथसन्तः, भावा जीवाद्योऽनिधेयभूता
यस्मिंस्तदसञ्जावम् । सर्वव्याप्यादिकृपात्मादिप्रतिपादकं कु-
प्रवचने, उच० ३ अ० ।

असम्भावदृवणा-असदभावस्थापना-स्त्री० । अज्ञादिषु मुन्या-
कारधयोः स्थापनाय, साध्याकारस्य तत्रासदभावात् । अनु० ।
असञ्जावपट्टवणा-असञ्जावप्रस्थापना-स्त्री० । असदभूताथ-
कल्पनायाम्, ज० ११ श० १० उ० । जी० ।

असम्भाकुञ्जाव-असदज्ञावोद्भावना-स्त्री० । ६ त० । अवि-
द्यमानार्थानामुपेक्षये, श्रौ० । यथाऽस्त्यात्मा सर्वगतः, इत्यात्मा-

कनएदुहमात्रो वेत्यादि (दश० ४ ब्र०) अचौरऽपि चौरऽप्यमि-
त्यादि या । म० ५ श० ६ ब्र० ।

असन् नूय-असद् नूत-न० । न सद्भूतमसद्भूतम् । अनुते,
भाव० ४ ब्र० ।

असमंजस-असमञ्जस-त्रि० । अघटमानके, " असमंजसं केह
जंपंति" । आ० । आचा० ।

असमं नमचंद्रिय-असमञ्जसचेति-न० । शास्त्रोक्तार्णभाषित-
करणे (दश० १० ब्र०) प्राणिवधादी, पञ्चा० २ वि० ।

असमप-अश्रमप-पुं० । आमएयादविच्युते, " गंतुं ताय पुणो
गच्छे, एय तेणायसमणां सिया ।" सुत्र० १ श्रु० ३ ब्र० ५ उ० ।

असमपाया उमा-अश्रमपुप्रायोग्य-त्रि० । साधूनामनाचरणीय,
ध० ३ ब्रवि० ।

असमपात्र-असमनोहा-त्रि० । अनिष्टे, स्या० ४ ग्रा० १ उ० ।
शाक्यादी, आचा० १ श्रु० ८ ब्र० १ उ० । त्रिपत्न्याधिके प्राक्क-
शतत्रये, आचा० १ श्रु० ८ ब्र० १ उ० । असमनोहंन्यस्तु दान-
प्रदणं प्रति सर्वेतिषेय इति । आचा० १ श्रु० ८ ब्र० २ उ० ।

असमपाणुय-असमनुज्ञान-त्रि० । 'यदि भवान् कस्मैचिद्ददा-
ति तदा ददातु' इत्येवमननुज्ञाने, आचा० १ श्रु० ८ ब्र० ८ उ० ।
"असमपाणुयानस्स भद्रेतस्स" (नि० चू० १ उ०) ।

असमपत्त-असमाप्त-त्रि० । अपूर्णं, नि० चू० २ उ० । असमाप्तक-
ल्पे, व्य० ४ उ० ।

असमपत्तप-असमाप्तकल्प-पुं० । असमाप्तप्राप्तपुण्येभ्य क-
ल्पः । अत्रिपुण्येसहाये विपरीते, ध० ३ अधि० । "अनुबद्धे वा-
सासु उ-सससमसा-नदुग्गो इत्यरो । असमसां जायानं, ओ-
हण क णिचि आदस्व" ॥१॥ पञ्चा० ११ वि० । पं० व० ।

असमपत्तसि (ए)-असम्यक्त्वदर्शिन-पुं० । न सम्यगस-
म्यक्, तस्य भावाऽसम्यक्त्वम्, तद् द्रष्टुं शीलमस्य स तथा ।
(मध्याह्ने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०) ।

असमपत्य-असमर्थ-त्रि० । अशक्ते, पं० व० १ द्वार । अज्ञेपना-
जनीरी, सूत्र० १ श्रु० ४ ब्र० १ उ० । हेतुरांशे, यथाऽयं हेतुने स्व-
साध्यगमक इत्यर्थेनासां स्वसाध्यघातक इति । रत्ना० ७ परि० ।

असम्य-असम्य-पुं० । असम्यगाचारं पञ्चविंशे गौणालोक,
प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दुष्टकाले, अयोम्यकाले च । वाच० ।

असमिदसवेगमहृण-असहशवेपग्रहण-न० । आर्योदेनार्योदि-
नेपथ्यकरणे, पं० व० ४ द्वार । स्वयमार्यः सन् अनार्येभ्यं करो-
ति; पुरुषां वा स्वकर्ममन्तर्हितः सन् स्त्रीकं विधार्तात्यादि ।
तंतं तदसहशं वेपग्रहणम् । वृ० २ उ० ।

असमवाहारण-असमवायिकारण-न० । न समथैति, सम-
अव-इण-णिनि । न० तं । समवायिकारणवर्तिनि कार-
णभेदे, वाच० । यथा-ननुसंयोगाः कारणरूपद्रव्यान्तरस्य
नूत्वंनिस्वाद्समवायिनः, त एव कारणमसमवायिकारणम् ।
आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

असमाण-असमान-पुं० । न विद्यते समानो यस्य सोऽसमानःपृह-
स्यायती । धिकस्यः सर्वोच्छेदे, "असमाणे चरे जिष्णुः" ब्र० ।
न विद्यते समानोऽस्य नृदिष्टाभयामुद्धितत्वेनान्यती । धिकेषु
३११

वा नियतविहारादिनाऽन्यसममानोऽसदृशः । यथा-समानः
साहङ्गारो, न तथैत्यसमानः । अथवा- 'समाणो सि' प्राकृतत्वाद्-
सन्निय यथाऽऽस्ते तथाप्यसन्निति इति । इद्वत्सन्नितो
हि सर्वेः स्वाभ्यस्तोऽतमावहति, अये तु न तथेति; एवंविधाः
स चरदप्रतिषेधविदारितया विहरद्, भिक्षुर्धतिः । उक्त० ३ ब्र० ।

असमारंज-असमारंज-पुं० । समारम्भाऽभाव, "सत्तविहे
असमारंभे पथ्ये । तं जहा पुदविकाइय असमारंभे० जाव अ-
जीवकाय असमारंभे ।" स्या० ७ उ० ।

असमारंभाण-असमारंभमाण-त्रि० । अव्यापादयति, स्या०
६ ग्रा० । असमारंभमाणानां पञ्चविचार्दसंयमः-

एगिंदिया णं जीवा असमारंजमाणस्स पंचविहे संजमे
कज्जइ । तं जहा-पुदविकाइयसंजमे जाव वणस्सइकाइयसं-
जमे । एगिंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स पंचविहे अमंजमे
कज्जइ । तं जहा-पुदविकाइय असंजमे० जाव वणस्सइकाइ-
य असंजमे । पंचिंदिया णं जीवा णं असमारंभमाणस्स पंच-
विहे संजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदियमंजमे० जाव फा-
सिंदियसंजमे । पंचिंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स पंच-
विहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदिय असंजमे० जाव
फामिंदिय असंजमे । सवपाणभूयजीवसत्ताणं असमारं-
जमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय-
संजमे पंचेदियसंजमे । सवपाणभूयजीवसत्ताणं समारं-
जमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय अ-
संजमे० जाव पंचेदिय असंजमे ।

एगिंदिया णं जीव ति) एकैन्द्रियान्, समिति वाक्याल-

द्वार । जीवान्, असमारंभमाणस्य संघट्टाद्दानामविषयोर्कुर्वतः,
सनदशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्यवपमानोऽ-
नाश्रयः, कियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः
संघट्टाद्युपरमः-पृथिवीकायिकसंयमः । पृथमव्याप्यपि पृथानि ।
असंयमसुबे संयमसूत्रं शक्तिपण्येयमिति । (पंचिंदियाण-
मित्यादि) इह सनदशप्रकारसंयममंशदस्य पञ्चिंदियसंयमल-
क्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविषयकृत्वात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रिया-
नारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्यापारप्रारंभजन-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं
चक्षुरिन्द्रियसंयमाद्याऽपि वाच्यता । असंयमसूत्रमन्तिपूर्यो-
सन बोध्यमिति । (सऽवपारिण्यादि) पूर्वमैकेन्द्रियपञ्चिं-
द्यजीवाश्रयेण संयमासंयमाहुक्तौ, इह तु सर्वजीवाश्रयेण; अत
एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणार्हानां चार्यं विशेषः-"प्राण
श्चिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तत्रः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया
भ्याः, शेषाः अस्मा हतीरतिः" ॥ १ ॥ स्या० ५ ग्रा० २ उ० ।

तेंदिया णं जीवा अपमारंभाणस्स ठन्विहे संजमे क-
ज्जइ । तं जहा-पाणामाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ,
पाणामपणं दुक्खेणं असंयोएत्ता अन्नइ, जिन्वामयाओ
सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, एणं एव फामामयाओ वि ।
तेंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स ढन्विहे असंयमे कज्जइ ।
तं जहा-पाणामाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, पाणाम-

असमारंजमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय-
संजमे पंचेदियसंजमे । सवपाणभूयजीवसत्ताणं समारं-
जमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय अ-
संजमे० जाव पंचेदिय असंजमे ।

(एगिंदिया णं जीव ति) एकैन्द्रियान्, समिति वाक्याल-

द्वार । जीवान्, असमारंभमाणस्य संघट्टाद्दानामविषयोर्कुर्वतः,
सनदशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्यवपमानोऽ-
नाश्रयः, कियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः
संघट्टाद्युपरमः-पृथिवीकायिकसंयमः । पृथमव्याप्यपि पृथानि ।
असंयमसुबे संयमसूत्रं शक्तिपण्येयमिति । (पंचिंदियाण-
मित्यादि) इह सनदशप्रकारसंयममंशदस्य पञ्चिंदियसंयमल-
क्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविषयकृत्वात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रिया-
नारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्यापारप्रारंभजन-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं
चक्षुरिन्द्रियसंयमाद्याऽपि वाच्यता । असंयमसूत्रमन्तिपूर्यो-
सन बोध्यमिति । (सऽवपारिण्यादि) पूर्वमैकेन्द्रियपञ्चिं-
द्यजीवाश्रयेण संयमासंयमाहुक्तौ, इह तु सर्वजीवाश्रयेण; अत
एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणार्हानां चार्यं विशेषः-"प्राण
श्चिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तत्रः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया
भ्याः, शेषाः अस्मा हतीरतिः" ॥ १ ॥ स्या० ५ ग्रा० २ उ० ।

तेंदिया णं जीवा अपमारंभाणस्स ठन्विहे संजमे क-
ज्जइ । तं जहा-पाणामाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ,
पाणामपणं दुक्खेणं असंयोएत्ता अन्नइ, जिन्वामयाओ
सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, एणं एव फामामयाओ वि ।
तेंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स ढन्विहे असंयमे कज्जइ ।
तं जहा-पाणामाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, पाणाम-

असमारंजमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय-
संजमे पंचेदियसंजमे । सवपाणभूयजीवसत्ताणं समारं-
जमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय अ-
संजमे० जाव पंचेदिय असंजमे ।

(एगिंदिया णं जीव ति) एकैन्द्रियान्, समिति वाक्याल-

द्वार । जीवान्, असमारंभमाणस्य संघट्टाद्दानामविषयोर्कुर्वतः,
सनदशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्यवपमानोऽ-
नाश्रयः, कियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः
संघट्टाद्युपरमः-पृथिवीकायिकसंयमः । पृथमव्याप्यपि पृथानि ।
असंयमसुबे संयमसूत्रं शक्तिपण्येयमिति । (पंचिंदियाण-
मित्यादि) इह सनदशप्रकारसंयममंशदस्य पञ्चिंदियसंयमल-
क्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविषयकृत्वात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रिया-
नारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्यापारप्रारंभजन-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं
चक्षुरिन्द्रियसंयमाद्याऽपि वाच्यता । असंयमसूत्रमन्तिपूर्यो-
सन बोध्यमिति । (सऽवपारिण्यादि) पूर्वमैकेन्द्रियपञ्चिं-
द्यजीवाश्रयेण संयमासंयमाहुक्तौ, इह तु सर्वजीवाश्रयेण; अत
एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणार्हानां चार्यं विशेषः-"प्राण
श्चिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तत्रः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया
भ्याः, शेषाः अस्मा हतीरतिः" ॥ १ ॥ स्या० ५ ग्रा० २ उ० ।

तेंदिया णं जीवा अपमारंभाणस्स ठन्विहे संजमे क-
ज्जइ । तं जहा-पाणामाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ,
पाणामपणं दुक्खेणं असंयोएत्ता अन्नइ, जिन्वामयाओ
सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, एणं एव फामामयाओ वि ।
तेंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स ढन्विहे असंयमे कज्जइ ।
तं जहा-पाणामाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, पाणाम-

असमारंजमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय-
संजमे पंचेदियसंजमे । सवपाणभूयजीवसत्ताणं समारं-
जमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय अ-
संजमे० जाव पंचेदिय असंजमे ।

(एगिंदिया णं जीव ति) एकैन्द्रियान्, समिति वाक्याल-

द्वार । जीवान्, असमारंभमाणस्य संघट्टाद्दानामविषयोर्कुर्वतः,
सनदशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्यवपमानोऽ-
नाश्रयः, कियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः
संघट्टाद्युपरमः-पृथिवीकायिकसंयमः । पृथमव्याप्यपि पृथानि ।
असंयमसुबे संयमसूत्रं शक्तिपण्येयमिति । (पंचिंदियाण-
मित्यादि) इह सनदशप्रकारसंयममंशदस्य पञ्चिंदियसंयमल-
क्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविषयकृत्वात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रिया-
नारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्यापारप्रारंभजन-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं
चक्षुरिन्द्रियसंयमाद्याऽपि वाच्यता । असंयमसूत्रमन्तिपूर्यो-
सन बोध्यमिति । (सऽवपारिण्यादि) पूर्वमैकेन्द्रियपञ्चिं-
द्यजीवाश्रयेण संयमासंयमाहुक्तौ, इह तु सर्वजीवाश्रयेण; अत
एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणार्हानां चार्यं विशेषः-"प्राण
श्चिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तत्रः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया
भ्याः, शेषाः अस्मा हतीरतिः" ॥ १ ॥ स्या० ५ ग्रा० २ उ० ।

तेंदिया णं जीवा अपमारंभाणस्स ठन्विहे संजमे क-
ज्जइ । तं जहा-पाणामाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ,
पाणामपणं दुक्खेणं असंयोएत्ता अन्नइ, जिन्वामयाओ
सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, एणं एव फामामयाओ वि ।
तेंदिया णं जीवा समारंजमाणस्स ढन्विहे असंयमे कज्जइ ।
तं जहा-पाणामाओ सोत्तत्ताओ अन्नरोवेत्ता अन्नइ, पाणाम-

असमारंजमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय-
संजमे पंचेदियसंजमे । सवपाणभूयजीवसत्ताणं समारं-
जमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगेंदिय अ-
संजमे० जाव पंचेदिय असंजमे ।

(एगिंदिया णं जीव ति) एकैन्द्रियान्, समिति वाक्याल-

एषं दुक्खेणं संजोयेत्ता जव६०, जाव फासमएणं दुक्खेणं संजोएत्ता जव६ ।

(तरेविणएणमियादि) कण्ठ्यं, नवरं (असमारंभमाणस्स सि) अस्वपादयत्तः । (घाणामाओ सि)आणमयात् सौक्खाद् गण्णोपादानकपात् अण्यपरंपयिता अण्णकता प्राणम्येन गण्णोपालम्भाभावकूपेण दुःखेनास्योऽजियेना भवति । इह चाण्यपराणमसपंजानं च संयमः, अनाभवकपत्त्वात्, इतरदसंयम इति । स्या० ६ उ० ॥

“चउरिदिवा णं जीवा असमारंभमाणस्स अउविहे संजमे कउजइ । त जहा-वक्खुमाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, वक्खुमएणं दुक्खणं असंजोएत्ता जवइ, एवं जाव फासामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामएणं दुक्खणं असंजोएत्ता भवइ । चउरिदिवा णं जीवा समारंभमाणस्स अउविहे असंजमे कउजइ । तं जहा-वक्खुमाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, वक्खुमएणं दुक्खेणं अंजोएत्ता भवइ । एवं जाव फासामाओ सोक्खाओ ” ॥ स्या० ८ उ० ॥ “पचिदिवा णं जीवा णं असमारंभमाणस्स इसविहे संजमे कउजइ । तं जहा-सोयामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, सोयामएणं दुक्खेणं असंजोइत्ता जवइ । एवं जाव फासामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ । एवं असंजमे वि भाणयन्ते” ॥ स्या० १० उ० ॥

अममाहड-असमाहूत-त्रि० । अशुकं, “ वितिगिच्छसमावेषेणं अण्णोणेणं असमाहडए अेसाए ” अशुक्या लेखयणंमादि-दोपडुअमिदमित्येवं चिचविण्युत्वा । आचा० २ धु० १ अ०३३ उ० ।

असमाहडमुकुञ्जसे-अमपाहउकुलेस्य-त्रि० । असमाहडानुअङ्कना शुद्धा शोभना हेतुया इत्येव येन तत्ता । आसंध्यानां-पहततयाऽशाननेलेषे, सूत्र० २ धु० ३ अ० ।

असमाहि-अमपाधि-पुं० । अपभ्याते, सूत्र० १ धु० २ अ०२ उ० । समाधानं समाधिः-स्वास्थ्यं, न समाधिरसमाधिः । अस्वास्थ्यनिष्पन्नायां कायादिच्छायां, आ० म० हि० । स्या० । “दसविहा असमाहो पयत्ता । पाणाइवाए० जाव परिमाहेरिया असमिहं जाव उचारपासवणखंअस्सिहागणपरिहावणिया असमिहं । हानादिभाष्यतेपेअप्रशस्ते जाव, इथा० १० उ० ॥

असमाहिकर-असमाधिकर-त्रि० । असमाधिकरएणोलोऽसमाधिकरः । आ० म० हि० । चित्ताऽस्वास्थ्यकर्त्तार, प्रअ० ३ संव० द्वार । स्या० चू० । असमाधिरमणे च, एव० ४ उ० ।

असमाहिद्वाण-असमाधिस्मान-न० । समाधिश्चेत्यतः स्वास्थ्यं, भोक्त्रामोऽवस्थितिरित्यर्थः । न समाधिरसमाधिः, तस्य स्थान्याश्रयाः । अ०३आ० । असमाधिर्ज्ञानादिभाष्यतेपेअप्रशस्ते भाव इत्यर्थः । तस्य स्थानानि पदानि असमाधिस्मानानि । स्या० १० उ० । चित्ताऽस्वास्थ्यश्रयण, प्रअ०३संव० द्वार । धेहिं आसन्वितैरात्मपरमोभयानामिह परंअभयं वाऽसमाधिकरुपयते । स्या० १० उ० ॥

सुयं मे आठसंतंणं जगवया एवमक्खयां-इह खलु धेरेहिं भगवंतोहिं वीसं असमाहिद्वाणा पयत्ता । कपरे खलु धेरेहिं भगवंतोहिं वीसं असमाहिद्वाणा पएणत्ता । इमे खलु धेरेहिं भगवंतोहिं वीसं असमाहिद्वाणा पएणत्ता । तं जहा-

द्वदवचारिया वि जवति १, अपमज्जियचारिया वि भवइ ३, दुपमाज्जिनयचारिया वि भवति ३, अतिरिच्छेज्जासणिए ४, रायणियपरिभासी ए, धेरोक्वातिए ६, जूतोवेधा-तिए ७, संजलेणे ८, कोहणे ९, पिड्ढांमंसए यावि भवति १०, अतिरिक्खणं अतिरिक्खणं भोऽदिए ११, एवाइं अधिकरणाइं अण्णुपएणाइं उप्पाइ वा जवति १२, पोराणाइं अधिकरणाइं खामिचविडसमित्ताइं उदीरिखा जवति १३, अकाले सउजयाकारिया वि जवति १४, ससरक्ख-पायिणाए १५ मइकरे १६ भेदकरे ऊंजकरे १७ कल-इकरे असमाहिकरे १८ मूरप्पमाणभोसए १९ एसणाए अपमिये यावि जवति २० । एवं खलु धेरेहिं भगवंतोहिं वीसं असमाहिद्वाणा पएणत्ता चि वेमि पदमा दसा सम्पत्ता ॥

ननु यथाकथञ्चिच्च शुकीवनयमीत्या गुरुपंडुत्पिठेच्यो वा सकाशात्, यथोच्यते—“ परिखुट्टियाणं पासं सुणेइ, सो विण्यपरिभासि सि ” । यत्तुक्तं स्वधिरैः विशति-रसमाधिस्थानानि प्रवृत्तानि । तत्र किं स्वधिरैः अत्यतः पुरुष-विशेषात्, सर्पादिनेयामात, स्वतोऽप्रांतिप्रोच्यते-अगतः सका-शाद्वावागम्य तैरिचयस्य प्रवृत्तः, धेरेहिं ति' कधनाद् ज्ञान-स्वधिरैरित्यावेदितं भवति, न तु जातिपर्यायस्वधिरैः । जाति-पर्यायस्वधिरस्येऽपि धूनस्वधिरा एव प्रवृत्तयितुं समर्था प्रव-न्ति, इति कृते प्रसक्तान् । इत्युक्त उद्देशः । पृच्छामाह-(कथरे इत्यादि) कतराणि किमभिधानानि तान्मनन्तस्त्वर्हिद्वाणः, खलु-वांक्खालङ्कारे । शेषं प्रावर्द्धति । निर्देशमाह-इमानि अनन्तर-वक्ष्यमाणेष्वाम्हाद् ह्यदि परिचक्षेमानतया प्रत्यक्षाणि ताति इति, यानि न्वया पृष्ठानि शेषं पुत्रवत् । तद्यथेयुद्वाहरणोपन्यासार्थः । (द्वदवचारिया वि जवति) दुर्गती यां हि इतं हुतं त्वं समात्म-धिराधनानिरपेक्षो ब्रजति-आत्मानं प्रपन्ननादिरसमाधौ योज-यति; अन्त्यांश्च स्वान्तं नसमाधौ योजयति, सत्ववधजानेन च कर्मणा परत्रोक्तोऽप्यात्मनसमाधौ योजयति, अतो हुतं त्वं समात्म-त्वसमाकुलतया चलाधिकरणेष्वाम्हादसमाधिस्थानम्, एवमन्य-त्रापि यथायोगमनसम् । चशब्दाद् बुधानां ज्ञापमाणः प्रतिस्खनां च कुर्वन् आत्मविधानां संयमविधानां च प्रा-प्नोति । अपिब्रह्मणात् तिष्ठद् आहुञ्जद्भ्रमराणादिं क्तं वा हुतं हुतं कुर्वन् पुनः पुनस्त्वलांकरभ्रमराजंयद् आत्मविधानां च प्राप्नोति । शब्दाद्येस्तु भावित एव । ननु स्वानुशयनादिद् हुतत्व-निपेक्षे सति किमयं गमनमेवोपन्यस्तस्य? उच्यते-यतः पूर्वमेवो-समितिस्त्वानुश्रया, इति हेतोः पूर्व गमनमेव मुष्णत्वेनापानुसमि-ति १ । तथा- (अपमज्जिय सि) अपमज्जिते अस्वस्थान-निपदिन-श्रवणोपकरण-निकोपचारार्थप्रतिष्ठानं च करोति २ । तथा- दुष्पमाज्जितं तारु ३ । तथा- (अतिरिच्छेज्जासणिए सि) अतिरिक्का-अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च वीउकर्त्तानि यस्य सति सोऽतिरिक्कशय्यासनिःकः स च-अतिरिक्कार्थं शय्यायं बह्ण्वाहा-दिरुपायामन्येऽपि कार्पटिकाद् व आवासचर्याति तैः सहाधिकर-णसंबादात्मपरावरासमाधौ योजयतीति । एवमासनाधिक्येऽपि बाध्यमिति ४ । तथा- (रायणियपरिभासि सि) धालिकपरि-भाषी आचार्यातिपुण्यगुरुपरिभक्कारी, अन्त्यां वा महान् कश्चि-ज्जातिधुनपर्यायाद्वा शिञ्जयति, तं परिभवति अस्वमन्यते, आत्यदि-

मिमेद्वस्मिन्ः अथ वा-“महरो अकुलीणो (सि य, ड्रम्मेह) इमम-
दुष्कुं सि । अथि अप्पझामलकी, सीसो परिजवनि आरियं” १।
इति । एवं च कुंहे परिभवन् आहोपपानं वा कुंवेत्, अस्मानमन्या-
भाःसमाधी योजयत्येव । तथा-(परोववाधे (सि) आन्वरा आ-
चाप्यादिगुरुवः, तान् आन्वरादीयेण शो श्रोदोपेयाऽप्रज्ञादिभियोप-
घातोप्यं शीलः, स एषं चेति स्वधिरापघातकः ६। तथा-(पुलो-
वधधायि (सि) भूताम्येकान्द्रयादीनि तानि उपरहितं भूताप-
घातकः; प्रयोजनमन्तरेण, अत्रिहसातगौरवैर्वा, विभूषानिमित्तं
वा, आधाकामादिकं वा, पुद्यालम्बनेऽपि समादानः; अन्यथा ता-
दृशं किञ्चित् ज्ञापते वा करोति, येन भूतेपघातो भवति । (।
(संज्ञरणे (सि) संज्वलतीति संज्वलनः-प्रतिकृणं रोपणः, अ
ख तेन क्रोधनास्त्रीयं आरिचं सम्यक्चं वा इन्नि, दृडति वा
ज्वलनवन् २। तथा-(काहणे (सि) काधनः सकृन्कुड्वाप्र्यन्त-
क्रुको भवति, अनुपशाम्यवैरपरिखाम इतिभावः ९। तथा-(पि-
ड्ढोसिप (सि) पीड्यामीशिकः, पराङ्मुख्य परस्वाधीषाङ्का-
री, अगुणजापांति भावः, सचैव कुंवेत् आत्मपरोजनेयं च इह
प्रेर्य चासमाधी योजयत्येव । अपिशादाद् साङ्गाद् वा वक्ति इति
श्लेयम् १०। तथा-(अग्निक्लपं २ ओह्तिरि (सि) अग्नीक्लं अग्नीहं
अवधारयिता शङ्किन्स्याप्यर्थस्य निःशाङ्कनस्येव-एवमेवायमि-
त्येवं वक्ता । अथ वा-अवहारयिता परगुणानामपहारकारी यथा
तथा । हासादिकमपि पर प्रति तथा जगति दासञ्चोरस्त्वमित्या-
दि ११ । तथा-(एवाहं इत्यादि) नयानामनुपग्रामभधिकर-
णानां कलहानामुपादयिता, ताञ्छोपादयन् आत्मानं परं वाऽ-
समाधी योजयति । अथा-

“वादो भेदो अथयो, हाणी वस चरित्तणारणाणं ।
साधुपदोमां संसा-रयद्धणो साधित्तणारणस ॥ १ ॥
अनिमणिणं अमणिय वा, तावो भेदो चरित्तज्जाणानं ।
रुयसरिसं ण सीलं, जिज्झं ति य सो चरति लोए ॥ २ ॥
ज अज्झियं समीख-ल्लपहि तवजियमवममइपहि ।
मा दु तयं जिज्झदिइ, वहुत्तसासागपसहि ॥ ३ ॥

अथवा नयानि अधिकरणानि यन्त्रादीनि नेषाम्-“नवा वल-
कलहो विण, पढानि अवच्छलसत्संखे हीणो । जह कोयाहि वि-
वुद्धो, तह हाणी हाति चरणे वि ” ॥ १ ॥ नवोपादयिता १२ ।
(पाराणादि) पुरातनानां कलहानां क्रमिदव्यवशामितानां
मतिरतिवेनापघातानां पुनश्चनानां भवति १३ । तथा-(अ-
काले सक्रमयित्वादि) अकालं स्वाध्यायकारकः । तत्र
कालः-उत्कातिकल्पस्य दशैकालिकादिकस्य संस्थात्तुष्टयं
त्येकाऽनवरतं भवन्म, कालिकस्य पुनरात्राङ्गादिक-
स्योद्घाताधौर्णी भवन्प्रणवम् । अचसाध्यायं च दिवसिक,
निशावाभाध्यायं च त्यक्त्वा अपरस्वकाल एव । अकाल-
स्वाध्यायकरणदृषयानि तु बुद्धकल्पचित्तोऽवसेयानि नेह
विस्तरादुच्यन्ति १४ । तथा-(ससरक्खपाणीत्यादि)
सरज्जकपाणिपादो-यः सचेतनादिरजोगुण्डितेन दीयमानो
मिक्को युक्ताति । तथा-यो हि स्थण्डिलादीं संकाम्द न पादौ
प्रमादि । अथ वा-यस्तथाविधिकारणे सच्चित्तादिपृथग्यं
कलादिनाऽनस्तरितायामसनादि करोति स सरज्जक-
पाणिपाद् इति । स चैवं कुंवेत् संयमे असमाधिना आ-
त्मानं संयोजयति १५ । तथा-(सद्धको (सि) शब्दकरः
सुतेइ प्रहरमात्राद्गुं रानी महता शब्देनोह्रापस्थाध्याया-
दिकरानो घृहस्थभावाभावयो वा धैर्याधिकं वा कालमह-

यं कुंवेत् महता शब्देनोह्रायते; दोषाभ्योहोसराध्ययनकु-
रवसंथाः १६ । तथा-(भेदकरे (सि) येन कृतेन गच्छ-
येदो प्रवति तत्तदातिष्ठेने (अक्करे वा) तत्करोति येन
गणय सनोऽक्षमुपघाते, नञ्कारे वा १७ । तथा-(कलह-
करे (सि) आक्रोशादिना येन कलहो भवति तत्करोति; स चैवं
गुण्युक्तो हि असमाधिस्थानं भवति इति वाच्यशेषः १८ ।
तथा-(सूर्यप्राणशोर्) सूरप्रमाणशोर्जी सूर्योदाद्यस्तसम-
ये यावद्गणपानाद्यन्यवहारी; उचितकालं स्वाध्यायादि न क-
रोति, प्रतिभोरतो रूप्यति, अज्ञोणे च बह्नाहारेऽसमाधिः संजाय-
त इति शेषः १९ । तथा-(एषणासमिप असमिप यावि
भवति (सि) एषणार्थं समित्तभापि संयुक्तोऽपि नलिषणां परि-
हरति, प्रतिभोरतोऽसौ ससुखोऽसि कलहायते । अनेपणी-
यं मां परिहरन् जीवोपरोधि वृत्तेन । एवं चात्मपरयोरस-
माधिकरणादसमाधिस्थानमिदं विशातितममिति २० । (एवं
खत्तित्यादि) एवमित्यनन्तरोक्तं विधियानि, सधुसुतोऽस-
लक्ष्णोः । शेषं व्याख्यातार्थम् । (इति वेमि (सि) इति परिसमा-
प्तावेवमर्थो वा । एतानि असमाधिस्थानानि अनेन वा प्रकारेण
प्रवीर्माति गणधरादिगुरुपदेशतो, ननु स्वोत्संख्येत्युक्तोऽनुगमः;
न्यप्रस्तारस्त्वत्यतोऽवसेयः । दशा० १ ख० । स० । आ०
चू० । आव० ॥

असमाहिमरण-असमाधिमरण-न० । बालमरणे, आनु० ।

असमाधिमरणे दोषाः-

जे पुण अट्टमईया, पयलियसभा य वक्कभाया ।

असमाहिणा भरंति उन हु ते आराह्णा भणिया ॥ १० ॥
ये पुनर्जीवाः; अष्टौ मरुस्थानानि येयां तऽप्रमादिकाः । ‘अत्तमई-
आ’ इति पाठे आते आत्तध्यानं मतिरयेयां त आत्तमतिकः। स्वा-
दि इकप्रत्ययः, प्रचलिता विषयकवायादिभिः सन्मार्गात्-
रिप्रश्रया संभा बुद्धियेयां त प्रचलितसंज्ञा । प्रगलितसंज्ञा वा,
चः समुच्चये; वक्ष्यते संवहयते आमाः परं वा ऐहिकपारत्रिक-
लाजायेन स वक्रः, कुटिलो वा भावो येयां त तथा, यन एवंवि-
धा शत एवाऽसमाधिना चित्तास्वास्थ्यरुणेण भ्रियन्ते । नहुं नैव,
हुरेवार्थे, ते आराधका उत्तमार्थसाधका भवन्तीत्यर्थः । आनु० ।

असमाहिमरणज्जाण-असमाधिमरणध्यान-न० । ‘असमाधिना
एव भ्रियताम्’ इति विन्तनमसमाधिमरणध्यानम् । रकन्वकाव्यधि
प्रतिकुर्षं प्रथमं, यत्ने पालयतो मय्यपात्कस्येवं दुष्प्रेतं, आनु० ।

असमाहिय-असमाहित-त्रि० । अशोभने बीजसे हृष्टे च ।
सूत्र० १ श्लो० ३ अ० १ उ० । सत्तायुग्मं प्रित्वात् शुभाश्वसा-
यर्हितं, सूत्र० १ श्लो० ३ अ० ३ उ० । मोकामागंथाद् भावस-
माधेरसंब्रुतयानां दूरेण वर्तमानं, सूत्र० १ श्लो० ११ अ० ।

असमिक्खियकारि (ण)-असमिक्खितकारि-त्रि० । अना-
शोचिनकारिणि, दशा० ६ अ० ।

असमिक्खियपप्पवादि (ण)-असमिक्खितप्रसापिन्-पुं० ।
अपयोशोचितान्येकवादिनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । “ अणु-
हितं पुण्यावरं इहपरलोगगुण्येदांसं वा जो सहसा भणइ, सो
असमिक्खियपप्पलायी ” । नि० सू० ८ उ० । (‘चंचल’ शब्दे
एतत्सक्यं बह्व्यते)

असमिक्खियजासि (ण)-असमिक्खितभापिन्-पुं० । अपर्या-
लोचितवक्त्रिक, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असमिध-असमित्त-पुं० । समित्तित्तु प्रमत्ते, पञ्चा० १६ वि० ।
 ईर्ष्यादिषु समित्तित्तु अनुपयुक्ते, कप० ६ कृ० । "एते समिधो
 भण्णिभ्रा, असो पुण असमित्तो इमां होह । सो कार्थभेमादी,
 एकं नवर्त्त पडिंतेह ॥१॥ नव तित्ति तित्ति पदे, वेति किमर्थं
 निविट्ठाहं ।" भाष० ४ अ० ।

असम्यक्-त्रि० । असङ्गते, आचा० ।

असम्यंति ति मध्माणस्स एगदा ममिया होइ, समियं
 ति मध्माणस्स एगदा असमिया होइ ।

कस्याचिन्मिथ्यात्वलेखानुविद्यस्व-कथं पौल्लिकः शब्दः ?
 इत्यादिकमसम्यगिति ग्रन्थमानस्येकवेति मिथ्यात्वपरिमाणु-
 श्चामतया शब्दाविकारिस्ताऽऽद्यान्वयं शुभासुपदेशतः सम्यगिति
 भवति । आचा० १ शु० ५ अ० १ उ० ।

असमोद्ग-असमवह-त्रि० । दृष्टानुपरते, अकृतसमुद्घाते
 च । ज० १९ श० ३ उ० ।

असम्मत्त-असम्यक्त्व-न० । दर्शनादुत्तरे, भाष० ४ अ० ।

असम्मत्तपरीसह-असम्यक्त्वपरीसह-पुं० । असम्यक्त्वसहनका-
 रिण, सर्वपापस्थानयो विरतः प्रकृत्यपोऽनुग्रहाय निरुमङ्गाहं,
 नयास्य धर्माधर्माभेदेनारकादनावंनेह, प्रतो मृषा समस्तमेत-
 दिति असम्यक्त्वपरीसहः । तत्रेवमाज्ञाप्य-धर्माधर्मापुष्टयपापत्र-
 क्तयो यदि कमकरो पुत्रज्ञात्मको, तत्सत्यां कार्यशेनादनुमानस-
 माधियाभ्यस्य । अथ ज्ञमाकाधादिकी धर्माधर्मा, ततः स्यानुव-
 त्वाद्गाम्यपरिणामरूपत्वात्प्रत्यक्षविरोधः देवास्त्वयन्तसुखासकृ-
 त्वाद्गाम्यशोके च कार्यानाथाद्गम्यत्वात्वाञ्च न दर्शनगोचरमा-
 यान्ति । नायकान्तु नोपेदनास्तः पूर्येकतर्कमार्थविगडबन्धनव-
 शीकृत्यादस्यत्वाः कथमायान्तीत्यमालोचयतेऽसम्यक्त्वप-
 रीषहजयो भवति । भाष० ४ अ० ।

असम्य-असव्यम्-अव्य० । परत इत्यर्थे, ज० १ श० ३२ उ० ।

असरण-अशरण-त्रि० । अत्राणे, स्या० ४ ज० १ उ० ।
 स्वार्थप्रापकवर्जितं, प्र० १ अश्र० द्वार । शरणम्—
 नास्त्वभ्यां, आचा० शरणं शुद्धं, नात्र शरणमस्तीति अशरणः ।
 संयमे, "सोमं अदकम्प एतदे साउल्लादे मङ्कति पायपुसं
 असरणाए" आचा० १ शु० ८ अ० १ उ० ।

असराणभावणा-अशरणभावना-त्री० । आत्मनोऽशरणत्व-
 पर्यालोचनायाम्, प्र० १ सा च अशरणभावना-
 "पितृमातुः प्रानुस्तेनसव्यत्वादेव पुरतः,
 प्रभूताऽऽधियाधिमजनिर्माडताः कर्मचरतेः ।
 रटन्तः क्षिप्यन्ते धममुक्कशुहान्स्तेनमुभूतः,
 हहा ! कष्टे लोकः शरणरहितः स्वास्थिन कथय ? ॥ १ ॥
 ये जानन्ति विचित्रशास्त्रविस्तरं ये मन्त्रभाषिया-
 प्रायैर्यं प्रथयन्ति ये च इधनि उर्वाणिः कलाकौशलम् ।
 तेऽपि प्रेतपतरुमुष्य सकलशैलोः कथंविधेसन्-
 व्यप्रस्य प्रतिकारकर्मणि न हि प्रागस्त्यमाभिस्रति ॥ २ ॥
 नानाशास्त्रपरिभ्रमोऽतैरपिधियाः सर्वतो,
 गत्युहाममदाध्यासिभ्युश्रुतैः केनाप्यगम्यः क्वचित् ।
 शुकभीपतिवक्रिणाऽपि सहसा कीनायार्थसंभला-
 बाकृष्टा यमवेशम यान्ति हह हा ! निष्ठाण्णा प्राणिनाम् ॥ ३ ॥
 उद्दणं ननु एदस्तासुरगिरिं दृष्ट्वां पृथुच्छत्रसात् ,

ये कर्तुं प्रनविष्णवः कृशार्माप क्लेशं विवैवात्मनः ।
 निःसामान्यकसमप्रज्ञचतुरास्मीयेकरास्तेऽप्यहो !,
 नैवाशेषजनीयचक्षरमापाकर्तुं कृतातं क्रमाः ॥ ४ ॥
 कलत्रमित्रपुत्रादि-क्षोभहनिवृत्तये ।
 इति बुद्धमतिः कुर्यान्शरणययवभायनाम् ॥३॥ प्र० ६५ उ० ।

अशरणभावना वैचर्म-
 "इन्द्रोपेष्ठादयोऽप्येते, यन्मृत्योर्वापि गोचरम् ।
 अहो ! तद्वनकान्ते, कः शरणयः शरीरिणाम् ?" ॥ १ ॥
 शरणं साधुः शरणयः । तथा-
 "पितृमातुः स्वसुप्राति-स्तेनयानां च पश्यताम् ।
 अथाप्यो नीयते जतुः, कर्मभयंमसथांनि ॥ २ ॥
 शोचन्ति स्वजनान्स्वतं, नीयमानान् स्वकर्मजिनः ।
 नश्यमानं न शोचन्ति, नामानं मृदुबुधयः ॥ ३ ॥
 संसारे दुःखदावाग्नि-ज्वलद्वासाकारालिन ।
 वने मृगामेकस्यैव, शरणं नास्ति वेदिनः" ॥४॥ घ० ३ अथि० ।

असराणापुण्डेहा-अशरणापुण्डेहा-त्री० । जन्मजरामरणभ-
 यैरभिनतं व्याधियेदनाप्रसन्ते जिनवरवचनाद्व्यभारित शरयुं
 क्विच्छोके इत्यमशरणस्य (अत्रापस्य) अनुप्रज्ञायाम्, स्या०
 ४ ज० १ उ० ।

असरिम्-असहश-त्रि० । विसरते, "असति सजणठ्ठावा न-
 तु सदियत्वा" भाष० ४ अ० ।

अस्रिसनेगमगटण-असहशनेगमगटण-न० । आर्यायेदनाप्यादि-
 नेपथ्यकरणे, पं० घ० ५ ड्वार ।

असरीर-अशरीर-त्रि० । अविद्यमानशरीरोऽशरीरः । औहा-
 रिकप्रतिष्ठाविशशरीररहिते, आ० म० उ० । सिके, "असरीरा
 जीवघणा वसणनाशोवउत्ता" श्री० । स्या० ।

असरीरपरिवन्द-अशरीरप्रानवन्द-त्रि० । त्यक्तसर्वशरीरे, भ०
 १८ ज० ३ उ० ।

असहाहा-अरलाया-त्री० । अकारिंसाधने असायुवादे,
 य० २ अथि० ।

असलिलप्पत्ताव-असलिलप्पत्ताव-पुं० । अजस्रप्राथे, जलं वि-
 ना रेक्षणित्यर्थः । न० ।

असलिलप्पत्ताव-अमल्लिप्पत्ताव-पुं० । अजलप्रवाहे, तं० ।
 अम्वणया-अश्रवणता-त्री० । अनाकर्णने, "इमस्स धम्मस्स
 असवणयाए" घ० ३ अथि० ।

असव्वट्टकण्ण-असद्व्ययोज्जम-न० । पुरुषार्थानुपयोगिधि-
 सन्धानयोग्यात्म, न सद्व्ययऽसद्व्ययस्तत्र धनोऽकल्लव ।
 उ० १२ उ० ।

असव्वग्घ-असर्वेद्र-न० । निघते सर्वेद्रय तद्वसर्वेद्रम् । के-
 वलज्ञानावरणकेशवशेनाशरणरहिते आवरणे, पं०सं०५ द्वार ।
 अमव्वणयु-असर्वेद्र-त्रि० । कृष्यस्थे अर्वाग्दर्शिनं, "सर्वेद्राऽ
 साविनि छावत, तत्कालेऽपि बुभुक्षुभिः । नज्जानेक्यविज्ञान-
 रहितैर्मग्यते कथम् ?" ॥ १ ॥ सु० १ कु० १ अ० २ उ० ।

असव्वदरिसि(ण्)-असर्वेद्रशिन्-त्रि० । कृष्यस्थे, ज्ञ० २३ उ० ।
 असव्यय-अमद्वत्त-न० । असत्यं, "मिच्छंति वा, वित्तं चि

वा, असन्धं ति वा, असन्धयं ति वा, अकरणीयं ति वा एगदा”
आ० चू० १ अ० ।

असन्धासि (ष्)—असन्धाशिन्—त्रि० । अल्पप्रोक्तिनि, व्य०
१ उ० ।

असह—असह—त्रि० । असमर्थे, व्य० १ उ० । जीत० ।

असहाय—असहाय—त्रि० । एकाकिनि, व्य० ४ उ० । आ० अ० ।
अविद्यमानसहाये, यः कुतार्थिकप्रतिरोधिपि सम्यक्त्वादिबिचलनं
प्रति परसाहाय्यमनपेक्षमाणस्तस्मिन्, दशा० २ अ० । आ० ।

असहजिज्ञ—असहाय्य—त्रि० । न विद्यते साहाय्योऽस्य । साहा-
य्यमनपेक्षमाणं, उपा० १ अ० (‘आणद्’ शब्दे द्वितीयप्रागे
११० पृष्ठेऽस्य सूत्रं वक्ष्यते)

असहानि—असहानि—त्रि० । अस्वयशः, “असहानिर्हि सारही-
चउत्तरगेहि” । दश० ८ अ० ।

असहृ—असह—त्रि० । चरणकरणे अशक्ते, पं० आ० । सुकुमारो
राजपुत्रादौ प्रमजिते, स्या० ३ टा० ३ उ० । असमर्थे, श्लो० ।
ग्लानि, नि० चू० १ उ० ।

असहिष्णु—त्रि० । राजादिदोषिते सुकुमारपदे, सू० ३ उ० ।

असहृवग—असहृवर्ग—पुं० । असमर्थे राजपुत्रादौ, घ० २ अ-
धि० । पं० चू० ।

असहृज्ज—असाहाय्य—पुं० । अविद्यमानं साहाय्यं परसाहायिक-
मन्यन्समर्थत्वाद् येषां तेषासाहाय्याः । अपर्यापि देवादिसाहा-
य्यकानपेक्षेषु स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्येवमनमनोवृ-
त्तिषु, अ० २ श० ५ उ० । ये पाक्षरिकाभिः प्राक्शब्दः सम्य-
कत्वाद् विचलनं प्रति, किन्तु न परसाहायिकमपेक्षन्ते स्वयमेव
तत्प्रतिष्ठातसमर्थत्वाजिनशासनात्यन्तजावितन्वात् तेषु तथा-
विधेषु श्रावकेषु, अ० २ श० ५ उ० ।

असामारिय—असामारिक—त्रि० । सागरिकसंपातरहिते प्रदेशा-
दौ, व्य० ३ उ० । शुद्धस्थानादृश्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

असाधा (हा) राण—असाधारण—त्रि० । अनन्यसदृशे, दश० ।
उपादानहेतौ, अन० २ अधि० ।

असाधारणयोग्येति—असाधारणनैकान्तिक—पुं० । नित्यः श-
ब्दः, श्रावणत्वात् इत्यादिसंपर्कविपक्ष्यावृत्तत्वेन संशयजनके
हेतव्यानासं, रत्ना० ६ परि० ।

असाय (त)—असात—न० । न० । दुःखे, सूत्र० २ श्ल० १ अ०
१५ उ० । असुखे, आचा० १ श्ल० २ अ० ३ उ० । आ० । असात-
वेषकर्मणि-सविपाकजे, आचा० १ श्ल० ५ अ० ६ उ० । मनःप्रतिकूलं
दुःखे, आचा० १ श्ल० ५ अ० २ उ० । अप्रतिपुन्यादिकं, अनु० । असा-
तवेषकर्मनिर्णयः, प्रअ० १ आ० द्वार । “अप्यिह असाय पच-
त्सत् जहा—सांश्चिद्विअसाय० जाव नोर्द्वियअसाय” । स्या० ६
उ० । असातवैदनीये कर्मणि, उक्त० ३ ३ अ० । असातात्थवैदनीये
वैदनीयकर्मज्ञदप्रभवत्वात् (प्रअ० १ आ० द्वार) दुःखरूपा-
यां वैदनीयाय, स्त्री० । प्रहा० ३ ५ पृ० ।

असायज्जण—अस्वादन—न० । अननुमनने, व्य० २ उ० ।

असा (ससा) यण—असायन—पुं० । अभाषितसन्ताने, जं० ७
वक्त्र० ।

असायवहुता—असातवहुता—त्रि० । दुःखप्रसूते, संथा० । “हृज्जो
३१२

असायवहुता मणुस्सा” । दश० १ चू० । (एतच्च तृतीयं स्थानम्
‘अद्वादसद्गण’ शब्देऽप्यैव भागे २५१ पृष्ठे व्याख्यातम्)

असाय (या) वेपणिज्ज—असातवैदनीय—न० । असातं दुः-
खं, तद्रूपेण यद् वेद्यते, तदसातवैदनीयम् । कर्म० ६ कर्म० । पं०
सं० । प्रहा० । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । स० ३ ७ सम० । वैदनीयक-
र्मभेदे, स्या० ७ उ० ।

असार—असार—त्रि० । साररहिते तं० । “ उगमापुयाणसुखं,
एसणादोसवज्जियं । साहारणं अयाणतो, साहू होह असार-
ओ” ॥१॥ आ० ।

असारंभ—असारंभ—पुं० । प्राणिवधार्थमसंकल्पे, “ सप्तविहे
असारंभे पक्षसे । तं जहा—पुढविकाश्यअसारंजे० जाव अजी-
वकाश्यअसारंभे” । स्या० ७ उ० ।

असावगपाउग—अश्रावकप्रायोग्य—त्रि० । न० तं० । श्रावकानु-
चिते, घ० २ अधि० ।

असावज्ज—असावद्य—त्रि० । अपापे, “ असावज्जमककसं”
दश० ७ अ० । “अद्वा जिण्हे असावज्जा, विचो साहण वेसि-
या” । दश० ५ अ० । चौर्थादिगार्हितकमानालम्बने प्रशस्तमनोवि-
नयनेदे, स्या० ७ उ० ।

असासय—असाश्वत्—त्रि० । तेन तेन रूपेणोदकधारावच्छब्द-
भवतीति शाश्वते, ततोऽप्यश्वत्शाश्वतम् । आचा० १ श्ल० ५ अ०
२ उ० । अश्वज्जवनस्वजाव, रा० । प्रतिक्षणं विशारणे, प्रअ० ५
आश० द्वार । कृण कृण प्रति विनश्वरं, न० । आ० म० । आ० आचा० ।
अपराऽपरपयोधमापिते, स्या० १० उ० । उक्त० । स्वप्नदुःखाल-
सदृशे अनित्ये, सूत्र० १ श्ल० १ अ० ३ उ० । संसारिणः, स्या० २
टा० १ उ० । “ अश्रावज्जमानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि वेह व ।
देवानुरमण्य्याणा—मृच्छयश्च सुखानि च” ॥ ११॥ सूत्र० १ श्ल० ८
अ० । जन्ममरणानिहासितत्वात् संसारिणः, स्या० ४ टा० ४ उ० ।
(नावप्राधान्येन तु) विनाशः, प्रअ० ३ आ० द्वार । अविद्यमानं
शाश्वतमस्मांश्रयशाश्वतः संसारः । अशाश्वतं हि सकल-
मिह राज्यदि । तथा हारिलवाचकः—

“ चत्त्रं राज्येभ्यं घनकनकसारः परिज्जणे,
नृपत्वाद् यद्युभं चलमरसीर्थं च विपुलम् ।
चलं रूपारोग्यं चलमिह चलं जीवितमिदं,
जनाः दृष्टो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः” ॥१॥ उक्त० ५ अ० ।

असाहीण—अस्वाधीन—त्रि० । परायणे, आचा० १ श्ल० २
अ० १ उ० ।

असाहृ—असायु—त्रि० । अमङ्गले, वृ० १ उ० । अशोभने, सूत्र० १
श्ल० ५ अ० २ उ० । असद्वृत्ते, सूत्र० २ श्ल० २ अ० । अनर्थो-
दपहेतौ, सूत्र० १ श्ल० २ अ० २ उ० । निर्वाणसाधकयोग्यापे-
क्षया (दश० ७ अ०) आजीविकादौ कुश्लोनिनि, नि० ३ वर्गे ।
असंयते, स्या० ७ उ० । यद्मृजीवनविकारवधाजनसुखं श्रीहेशि-
कादिप्रोक्तिनि अग्रहृत्कारिणि, स्या० १० उ० । अविशिष्टकर्म-
कारिणि, सूत्र० १ श्ल० १२ अ० ।

असाहृकर्म—असायुकर्म—न० । कूरकर्मणि, सूत्र० १ श्ल० ५
अ० १ उ० । जन्मान्तरकृताऽप्युभापुष्टानि, सूत्र० १ श्ल० ५
अ० २ उ० ।

असाहृदिदि—अमापुट्टि—पुं० । परतीर्थिकदृष्टौ, व्य० ४ उ० ।

असाह्यधम्म-असाधुधर्म-पुं० । वस्तुदानस्नानतर्पणादिके असंयतधर्मे, सूत्र० १ श्लो० १४ श्ल० ।

असाह्यया-असाधुता-स्त्री० । कुगतिमनादिकरूपायाश्च, सूत्र० १ श्लो० ४ अ० २ उ० । कोहस्वभाषतायाश्च, उक्त० ३ अ० ।

असाह्युर्व-असाधुवृत्त-स्वयं० । असाधुमर्दति येषां च सुकुटिम-क्रादियुक्तं तस्मिन्, असाधुना नुरुहं वर्तते, उक्त० ३ अ० ।

असि-असि-पुं० । अङ्गे, उपा० २ अ० । नि० चू० । जी० । रा० । श्य० । विपा० । सं० । श्री० । "असिमोग्गरसिक्कुतहत्था" । असिमुद्गरशक्तिकुन्ता हस्ते येषां ते असिमुद्गरशक्तिकुन्तहस्ताः । "प्रहरणात्" ॥३१११५॥ इति सतम्भन्तस्य पालिकः परनिपातः जी० ३ प्रति० । अस्युपपलिके सेवकपुरुषे, "असिमयीकृपी-वाणियज्यविकिताः" तथासिनापलिकताः सेवकाः पुरुषाः असंयमाः मप्युपलिकिता लेखनञ्चिन्ः मययः कृपिरिति-कृपिकर्मोपजीविनः, वाणियमिति-वाणिजनोविनवाणियज्यकर्मोपजीविनः । तं० । असिना यो देवो नारकात् क्षिन्वति सोऽसिरेव । परमाधार्मिकनिकायं, अ० ३ श्लो० ६ अ० ।

हृत्ये पाए ऊरू, बाहु मिरा पाय अंगमंगाणि ।

त्रिदंति पगामं तू, असि ऐरङ्ग निरयपाला ॥ ७८ ॥

(हृत्यादि) असिनामानो नरकपाला अशुभकर्मोदयवर्तितो नारकानेव कथ्येयन्ति । तथा-इत्सपादात्वाद्वाशिरः-पाशोदीन्यङ्गप्रत्यङ्गानि क्षिन्वन्ति प्रकाममत्सर्गं मरुदयन्ति, तु-शब्देऽपरत्-कोत्यादन्विशेषणार्थं इति ॥ सूत्र० १ श्लो० ४ अ० १ उ० । नारायणस्य सरिद्रेजे, ती० ३८ कल्प० ।

असिक्कुतित्य-असिक्कुतार्थि-न० । स्वनामथयते मथुरास्ये तीर्थं, ती० ९ कल्प० ।

अमिकलग-अशिक्षक-त्रि० । चिरप्रजज्ञेते, दश० १ अ० ।

असिखुरघार-अमिखुरघार-पुं० । कुरस्येव घारा यस्य अस्तेः अमिखुरके खड्गे, उपा० २ अ० ।

असिखेसग-असिखेसक-न० । असिना सह फलके, प्रश्न० १ ब्राह्म० द्वार ।

असिचम्मपाय-असिचर्मपात्र-न० । स्फुरके, अ० । "असिचम्मपायं गदाय" । असिचर्मपात्रं स्फुरकः । अथवा-असिख खड्गः, चर्मपात्रं च स्फुरकः, खड्गकोशकं वा असिचर्मपात्रं, तद् शुद्धीत्या । "असिचम्मपायहृत्किष्वापरणं अर्पाण्येति" । असिचर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा, कृत्यं संघादिप्रयोजनं गतः आश्रितः कृत्यगतः, ततः कर्मधारयः, अतस्तेन आगमना । अथवा-असिचर्मपात्रं कृत्वा हस्तं कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्त-कृत्वाकृतः, तेन । प्राहृत्याक्षेवं समासः । अथवा-असिचर्मपात्रस्य इस्तकृत्यं हस्तकरणं गतः प्राप्ते यः स तथा, तेन । अ० ३ श्लो० ५ उ० ।

असिद्ध-अशिद्ध-त्रि० । अनाक्याते, नि० चू० २ उ० । अकथिते, श्लो० २ उ० । आ० अ० ।

असिखाण-अस्नान-त्रि० । अविद्यमानकान्ते, पंचा० १० वि-श्लो० । "असिखाणविद्यमोर्दे" अस्नानोऽरात्रिभोजी चेत्यर्थः । छपा० १ अ० । आवा० ।

"तद्वा तेण सिगायति, सीएण उसिणोए वा ।

आज्जीवं वयं घोरे, असिखाणमहिदिचा" ॥ ६३ ॥

दश० ६ अ० । अ० ।

असित्य-असिद्ध-न० । सिद्धयश्चिते पानकाहारे, पञ्जा० ४ विव० ।

असिद्ध-असिद्ध-पुं० संसारिणि, नं० जी० । रथा० । सूत्र० । हेत्वाभासजने, रत्ना० ।

तत्रासिद्धमनिर्दधीत-

यस्यान्याथाऽनुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः ॥ ४८ ॥

अन्याथाऽनुपपत्तेर्विपरीतया अभिहितयाश्च विरुद्धनैकान्ति-कत्वेन कीर्तयिष्यमाणत्वादिद् हेतुस्वरूपा प्रतीतिविरुद्धेनान्यथाऽनुपपत्त्यप्रतीतिरवशिष्टा छद्म्याः हेतुस्वरूपा प्रतीतिश्रेयम-ज्ञानात्, सम्बद्हाद्, विषयेषाद् वा विज्ञेया ॥ ४८ ॥

अयानु भेदतो दर्शयति-

स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

उभयस्य यदिप्रतिवादिः असुदयस्यासिद्धः । अन्यतरस्य वादि-नः प्रतिवादिनो वाऽसिद्धः ॥ ४९ ॥

तत्राद्यनेदं वदन्ति-

उजयामिद्धो यथा-परिणामी शब्दश्चास्तुपन्वात् ॥ ५० ॥

चक्षुषा गृह्यते इति चास्तुपः तस्य भावश्चास्तुपत्वं, तस्मात् । अयं च वादिप्रतिवादिनोऽन्यतरासिद्धः, आद्यन्याथाऽन्यस्य ॥ ५० ॥

द्वितीयं भेदं वदन्ति-

अन्यतरासिद्धो यथा-अचेतनास्तरशो, विज्ञानेन्द्रियायु-निरोधप्रक्षुद्राणपरणरद्वितन्वात् ॥ ५१ ॥

ताधागतो हि तत्कामाभेतस्य साधयन् विज्ञानेन्द्रियायुर्नि-रोधलक्षणमरणरहितस्यादिनि हेतुपन्थासं कृतवान् । स च जैनामां तरुवैतन्यवादिनामसिद्धः । तद्गामे द्मेष्वपि विज्ञानेन्द्रियायुषां प्रमाणतः प्रतिष्ठितत्वात् । इवं च प्रतिवाद्यसिद्धोप-लयादाहरणक । वाद्यसिद्धोपलया तु-अचेतनाः सुखादयः, उ-त्पत्तिमत्त्वादिनि । अत्र हि वादिनः साक्ष्यस्वभावात्प्रतिमत्त्वमप्र-सिद्धमः तेनाविर्भावमात्रस्थेव सर्वत्र स्वीकृतत्वात् ।

मन्विन्धमसिद्धप्रकारप्रकाशनं परैश्वर्ये-स्वरूपेणासिद्धः, स्वरु-पंशाऽसिद्धं यस्य सोऽयं स्वरूपासिद्धः, यथा-अनित्यः शब्दः, चास्तुपत्वारिति । ननु चास्तुपत्वं रूपादावस्ति, तेनास्य व्यधिकर-णासिद्धत्वं युक्तम् । न । रूपादाधिकरणत्वेनाप्रतिपादितत्वात् । शब्दधर्मिणि चोपादिष्टं चास्तुपत्वं न स्वरूपत्वेऽस्तीति स्वरूपासिद्धम् । विरुद्धमधिकरणं यस्य, स चासावांसिद्धोऽति व्यधि-करणासिद्धः । यथा-अनित्यः शब्दः, परस्य ह्यकत्वादिति । ननु शब्देऽपि कृतकत्वमस्ति, सत्यं, न तु तथा प्रतिपादितम् । ननुमन्यत्र प्रतिपादितमन्यत्र सिद्धं भवति । श्रीमोक्षस्य वा कुर्वतो व्यधिकरणासिद्धम् । २ । विशेष्यमसिद्धं यस्यासौ विशेष-प्यासिद्धः । यथा-अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति चास्तुपत्वात् । ३ । विशेषणासिद्धः । यथा-अनित्यः शब्दः, चास्तुपत्वं सति सामान्यवत्त्वात् । ४ । पक्षेऽसिद्धासिद्धयोः पक्षभागेऽसिद्धत्वात् भागासिद्धः । यथा-अनित्यः शब्दः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । ननु च वायादिसमुद्यत्वात्नामपि श्वरयत्नपूर्वकत्वात् कथं भागासिद्धत्वम् ? नैतत् । प्रयत्नस्य तीव्रमद्विद्वान्नामन्तरं श-

धरूप तथाभावा हि प्रथमान्तरनिरूपकत्वं विवाङ्मनः । नञ्ध्व-
 प्रप्रयत्नस्य तीव्रादिनाभेऽस्ति, तिर्यक्त्वात् । धनभ्युपगमनेभ्यश्च
 प्रति वा प्राणासिद्धत्वं ॥॥ आश्रयासिद्धः यथा-आसि प्रधा-
 नं, सिम्बन्धस्य परिणाभिकारणत्वात् । ६ । आश्रयैकदेशासिद्धः
 यथा-नित्याः प्रधानपुरुषधराः, अकृतकत्वात् । अथ जिनस्य
 पुरुषः सिद्धो, न प्रधानपुरुषः । ७ । सिद्धिधाश्रयासिद्धः यथा-
 गोत्वेन संदिग्धमाने गवये आरएयकोऽयं गौः, जनदृशीनांपक्ष-
 प्रासत्वात् । ८ । सिद्धिधाश्रयैकदेशासिद्धः यथा-गोत्वेन संदि-
 ग्धमाने गवये गवि च आरएयकावैतौ गौवा, जनदृशीनांपक्षप्रा-
 सत्वात् । ९ । आश्रयसिद्धिपुरुषसिद्धः यथा-आश्रयदेवताः
 स्वकृपनिश्चये आश्रये हेतुवृत्तिसंशये मयूरयानयं प्रदेशः, के-
 कयित्वापेतत्वात् । १० । आश्रयैकदेशसिद्धिपुरुषासिद्धः यथा-
 आश्रयहेतवः स्वकृपनिश्चयं सत्यथाऽऽश्रयैकदेशो हेतुवृत्तिसंशये
 मयूरयानावैतौ सहकारकणिकारौ, तन एव । ११ । व्यधि-
 शेषणासिद्धः यथा-अनित्यः शब्दः, सामान्यवचने सति कृतक-
 तत्वात् । १२ । व्यधिदेशेष्वासिद्धः यथा-अनित्यः शब्दः, कृत-
 कत्वे सति सामान्यवचनत् । १३ । सिद्धिधासिद्धः यथा-धू-
 मवापादिदिविचैकानिश्चये कश्चिद्वाह-वह्निमानयं प्रदेशः, धूमव-
 त्वात् । १४ । सिद्धिधेशेषेष्वासिद्धः यथा-अघ्रापि रागादियु-
 क्तः कपिलः, पुरुषत्वे सत्यथाप्यनुत्पन्नतन्वह्नान्नत्वात् । १५ ।
 सिद्धिधाशेषेष्वासिद्धः यथा-अघ्रापि रागादियुक्तः कपिलः,
 भवेदा तत्त्वज्ञानगहितत्वे सति पुरुषत्वात् । १६ । एकदेशा-
 सिद्धः यथा-प्रागभावां यन्तु, विनाशाप्यादयमेकत्वात् । १७ ।
 विशेषणैकदेशासिद्धः यथा-तिमिरमभावस्वभावम, ऊच्यगुण-
 कर्मातिरिक्तत्वे सति कार्यत्वात् । अथ जनाय प्रति तिमिरं क-
 व्यातिरेको न सिद्धः । १८ । विशेषैकदेशासिद्धः यथा-ति-
 मिरमभावस्वभावाय, कार्यत्वे सति द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तत्वात् ।
 १९ । सिद्धिधैकदेशासिद्धः यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, रागव-
 क्तृत्वापेतत्वात् । अत्र लिङ्गद्वानिश्चिते रागिण्ये संदेहः । २० ।
 सिद्धिधविशेषैकदेशासिद्धः यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, रा-
 गवक्तृत्वापेतत्वे सति पुरुषत्वात् । २१ । सिद्धिधविशेषैकदेश-
 शासिद्धः यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, पुरुषस्य सति रागवक्तृ-
 त्वापेतत्वात् । २२ । व्यधिैकदेशासिद्धः यथा-अग्निमानयं पर्यंत-
 प्रदेशः, प्रकाशधूमोपेतत्वात् । २३ । व्यधिविशेषैकदेशासिद्धः
 यथा-गुणः शब्दः, प्रमेयत्वसामान्यवचने सति बाह्यैकैन्द्रियप्रा-
 हत्यात् । अथ बाह्यैकैन्द्रियमाश्रयासिद्धि रूपत्वादि सामान्यस्य
 गुणत्वाभावाद्यभिचारपरिहाराय सामान्यवचने सतीति साधे-
 कम्; प्रमेयत्वं तु व्यर्थम् । २४ । व्यधिदेशैकदेशासिद्धः यथा-
 गुणः शब्दः, बाह्यैकैन्द्रियप्राप्तये सति प्रमेयत्वसामान्यवचनत्वात् ।
 २५ । पदभन्धेऽय्यैकदेशासिद्ध्यादिहारणं नृत्वाऽसिद्धिने-
 दाः स्वयमभ्युक्तं वाच्यता । उदाहरणेषु चैतेषु द्वयान्तरस्य स-
 मभवाऽप्यप्रकृतत्वात्पुद्गलपदार्थानम् । त एतं भेदा भवतिः कथं
 नाभिहितः ताः ॥

उच्यते—यतेषु ये हेतवान्तरसतां प्रजन्ते, ते यदेानयथाद्य-
 उचितत्वे विषयव्यन्ते, तदेानयसिद्धेऽन्तर्भवन्ति । यदा त्वय-
 तरासिद्धत्वेन तदाऽप्यन्तरासिद्ध इति । व्यधिकरणासिद्धरतु
 हेतवाभासा न भवत्येव । व्यधिकरणासिद्धि पित्रात्राह्लाषया-
 त्त्वं आश्रयाणुमानवशीनाय, नटनटार्थानामपि आश्रयस्य क-
 र्माश्रयस्य साध्यताति चेत् ? । पक्षधर्मोऽपि पवनद्वयत्वात्; तत्र
 विषयानु किंमिति नानुमापयति ? , इति समानम्; व्यजिन्वात्-

स्वत्, तदपि तुल्यम् । तन्पित्रात्राह्लाषयं हि तद्वचनम् । एवं
 तर्हि प्रयोजकसम्बन्धेन तस्यसम्बन्धो हेतुः कथं व्यधिकरणः ? इति
 चेत् । ननु यदि साध्याधिगमप्रयोजकसम्बन्धानावाद् वैयर्थि-
 करणमुच्यते, तदानीं समतमेवैतदस्माकं श्रेयः, किन्तु प्रमेय-
 त्वाद्योऽपि व्यधिकरणा एव वाच्यः स्तुने व्यभिचारयोर्दयः ।
 तस्मात्प्राप्त्यधर्मत्वाभिधानादेव व्यधिकरणा हेतवाभासत्वे
 सम्मतः, न चागमक इति नियमं प्रत्याचरामहे । अथ प्रतिभो-
 हशकस्याऽन्यथाभिधानेऽपि आश्रणजन्यत्वादित्येवं हेत्वर्थं प्रति-
 पद्य साध्यं प्रतिपद्यते इति चेत्, एवं तर्हि प्रतिभोहशकस्यैव पदस्य
 कृतकत्वादित्यभिधानेऽपि पदस्य कृतकत्वादिनित्यत्वं दृष्टम् । एवं
 शब्दस्यापि तत एव तद्व्यतिरिक्तं प्रतिपत्तौ नायमपि व्यधि-
 करणः स्यात्; तस्माद्यथोपात्तो हेतुसत्यैव तद्वचनत्वं चि-
 न्तनीयम् । नच स्व्यापदस्य कृतकत्वं तस्मात्पदव्यनाप्य-
 नित्येन भवितव्यमित्यस्ति व्याप्तिः । अतोऽसौ व्यजिन्वारा-
 देवागमकः । एवं काककाणयोद्विरपि । कथं वा व्यधिकर-
 णोऽपि जलचन्दो नञ्बन्धस्य, कृत्तिकाद्यो वा शकटाद-
 यस्य गमकः स्यात् ? , इति यास्ति व्यधिकरणो हेतवान्तरः ।
 आश्रयासिद्धताऽपि न युक्ता । अस्ति स्वयंज्ञः, चन्दोपरागादि-
 ज्ञानान्यथाऽनुपपत्तिरित्यादिपरि गमकत्वनिर्णयात् । कथमत्र
 सर्वज्ञधर्मणः सिद्धिः ? इति चेत्, आसिद्धिरपि कथमिति
 कथ्यताम् । प्रमाणयोग्यत्वात्सिद्धत्वं चेत्, एवं तर्हि त्वयापि
 तसिद्धिः कथं स्यात् ? । ननु को नाम सर्वज्ञधर्मणमन्यधात्,
 यैवैप पर्यनुयोगः सोऽप्यनः स्यादिति चेत् ? । नेहम् । प्रमाणा-
 योग्यत्वात्सिद्धयः सर्वज्ञो धर्मो न भवतीति सिध्यापिप्रत्येत्वात् ।
 अन्यधर्मव्यम्भरं प्रति निश्चितत-तरव्यादिव्यापारप्रायं भवेत् ।
 एवं च-

“ आश्रयासिद्धताऽनुमाने न चेत्;
 साऽनुमाने भद्रीयं तदा किं भवेत् ? ।
 आश्रयासिद्धताऽनुमानेऽस्ति चेत्,
 साऽनुमाने भद्रीयं, तदा किं भवेत् ? ” ॥
 यदि त्वदीयानुमानेनाश्रयासिद्धिरस्ति, तदा प्रकृतेऽप्यसौ मा
 नुदुः धर्मिण उच्यतेऽप्यस्यानुः अन्यस्यास्य प्रसूताप्योगि-
 त्वात् । अथास्ति तत्राश्रयासिद्धिः, तदा बाधकाभावात् एषा
 कथं भद्रीयंऽनुमाने स्यादिति भावः ।

तथा च--

“ विकल्पार्थमिणः सिद्धिः; श्रियेऽपि निधिपथेते ।
 त्रिधाऽपि धर्मिणः सिद्धि-विकल्पास्य समागता ” ॥ १ ॥
 ह्यमपि नास्मि करामोत्यप्यनधिष्ययम्, विधिप्रातिषेधप्रयोग-
 पत्रिधानस्य प्रतिषेधस्य चासंभवात् । यदि च ह्यमपि न करारि
 तदा व्यक्तमकल्पकथी कथं नोपहासाय जायसं; तथातयाभाश्र-
 यासिद्धिपुङ्गवनाऽद्यतनात् । ननु यदि विकल्पसिद्धेऽपि धर्मिण
 प्रमाणमन्येपणीयम्, तदा प्रमाणमिच्छेऽपि प्रमाणान्तरमन्येप-
 तात् । अन्वयात् तु विकल्पसिद्धेऽपि पर्यायं प्रमाणान्वेषणेन, अ-
 हम्भदिकथा प्रमाणलक्षणपरीक्षणं परीक्षणागमकक्षीकरणीयं
 च स्यात्; तावन्मात्रेणैव सर्वस्यापि सिद्धिः । तथा च चाकृत्पुत्रा-
 दिरपि शब्दानित्यत्वे साध्यं सत्यगहुरेव भवेदिति चेत् । तद-
 सत्यम् । विकल्पासिद्धि सत्त्वात्सत्त्वापारणं धर्मिमात्रं प्रतीयते,
 न तु तावन्मात्रेणैव तद्व्यतिरिक्त्यापि प्रतीतिरस्ति; यतोऽनुमाना-
 न्यधर्मो भवेत् । अन्वयात् पुत्रिधीरसात्कारं कृशानुसम्माना-
 धनमन्यपार्थक्यं भवेत् । तस्यासिद्धताऽनसिद्धता वा प्रत्यक्षैणैव प्रे-

ज्ञातात् । अग्निमस्ताऽग्निमन्सविशेषपुण्यस्य शैलमात्रस्य प्रत्य-
 क्रेष्य परिच्छेदाद् नानुमानानर्थक्यमिति चेत्; तर्ह्यस्तित्यना-
 स्तित्वविशेषपुण्यस्य सर्वज्ञमात्रस्य विकल्पेनाऽऽकलनात् क-
 थमत्राप्यनुमानानर्थक्यं स्यात् ? । अस्तित्वनास्तित्वव्यतिरेकेण
 कीदृशीं सर्वज्ञमात्रासिद्धिरिति चेत् ? ; आग्नेस्तान्निमित्तव्यव-
 दितरेकेण ज्ञेयाधिपरासत्त्वसिद्धिरिति कीदृशी ? इति वाच्यम् । ज्ञो-
 शीचराऽऽप्तमित्यायामात्राङ्गत्विरेवात्तं चेत्, इतरत्रापि सर्वज्ञ इ-
 त्येवान्वयमात्रसिद्धिरिव साऽऽस्तु; केवलमेव का प्रमाणत्वं ज्ञेयपपक्ष-
 त्वात् प्रामाणिकी, तद्व्याप्तुं तु तद्विषयव्यतिरेकविषयकमिति । ननु कि-
 मनेन दुर्मेनाऽभरणभारायमाणं विकल्पेन प्रामाणिकः कुर्वी-
 दिति चेत् ? । तदुच्यते । यतः प्रामाणिकोऽपि पदतर्कीपारत-
 कर्कशोऽप्यविशेषसङ्ख्यावाधित्वाजराजसभायां अरविषाण-
 मस्ति नास्ति वेति केनापि प्रसङ्गेह्येदुर्गन्धरेण सापेक्षं प्र-
 त्त्यानेऽवश्यं पुरुषार्थमिनां किञ्चिद् द्रव्यात्, न तुष्णीवस्य पु-
 ष्णीयात्; अप्रकृतं च किमपि प्रकृतं सानकारं निस्सायेत; प्र-
 कृतमाप्ये तु विकल्पसिद्धं धर्मिणं विधाय काऽप्या गतिरास्तेऽ-
 अप्रामाण्येणैकं वस्तुनि मूकवाचदुर्मेयोः कतरः भव्यनिति स्वय-
 मेव विधेयवस्तु तादृशिकाः ? इति चेत् । ननु अत्रानु स्वोक्तमेव
 तादात्म्यकचपत्तु, मूकमेव भ्रम्यतीति च पूर्वकरोति निष्प्रमाणके
 वस्तुनोति विकल्पसिद्धं धर्मिणं विधाय मूकताधर्मं च विद्धा-
 तीत्यनामदृशोऽक्षरः । तस्मात्प्रामाणिकेनापि स्वोक्तस्यैव क्वापि
 विकल्पसिद्धिः । न च सैव सर्वत्रास्तु, कृतं प्रमाणेति वाच्यम् ।
 तदन्तराणं नियतव्यवस्थाऽप्योगात् । एको विकल्पस्यति अस्ति स-
 र्वज्ञः; अन्यस्तु नास्तीति किमत्र प्रतिपद्यताम् ? । प्रमाणमु-
 द्वायवस्थायिने त्वन्तरसिद्धं धर्मं दुर्मेरोऽपि कः किं
 कुर्यात् ? । प्रमाणसिद्ध्यानेह तु धर्मिणं सर्वज्ञवपुष्पादी
 विकल्पसिद्धिरपि सावायसो; तादृशकचक्रवर्ति-
 नामपि तथाप्यपरादृशोऽनात् । एवं शब्दे चाकृण्वन्मपि
 सिद्ध्यादिति चेत् ? । सत्यम् । तद्विकल्पसिद्धे विधाय यदि त-
 आस्तिस्य प्रमाणेन प्रसाधयितुं शक्यतं, तदानामस्तु नाम तस्मि-
 न्निः । न चैवम्; तत्र प्रवर्तमानस्य सर्वस्य हेतोः प्रत्यक्षप्रति-
 क्षिप्तपुरुषत्वेनाकृतीकाराहेत्वात्; ततः कथमस्तिन्याप्रसक्तौ
 शब्दे चाकृण्वन्सिद्धिरस्तु ? । एवं च तत्रायामिदो हेत्वाभासः
 समन्तीति स्थितम् । न चैवं विश्वस्य परिणामिकारणत्वाद्-
 त्यस्यापि गमकता प्रामोति; अस्य स्वरूपसिद्धत्वात् प्रधा-
 नासिद्धौ विश्वस्य तत्परिणामसिद्धौ । एवमायकधेद्वेशसि-
 द्धोऽपि न हेत्वाभासः । तर्हि प्रधानाभासो नित्यवकृतकत्वा-
 दित्ययमप्यामनोचं प्रधानंऽपि नित्यत्वं गमयेत् । तदसत्यम् ? ।
 नित्यत्वं अल्पाद्यन्तराण्यसद्वृत्तयम्, आद्यतत्त्वविरहमात्रं वा वि-
 च्युक्तम् ? । आद्येऽप्यन्तमात्रेण व्यभिचारः, तस्याकृतकस्या-
 प्यतद्वृत्तयत् । द्वितीये सिद्धसाध्यात्; अन्यताभावकृतयत्
 प्रधानस्याद्यन्तरहितत्वेन तदभाववादादितरेपि स्वोकारात् ।
 तर्हि देवदत्तधर्मयोग्यं वक्तव्येति, वस्तुत्वादिदित्यं हेतुरस्तु ।
 नैवम् । न बान्धेयं य वक्तव्यात्, असत्साद्व्यनेन तद्वाचनात् ।
 तदसत्यं च साधकप्रमाणान्नाप्यात् सुप्रसिद्धम् । सदिग्धा-
 श्रयासिद्धिरपि न हेतुः प्रोच्यते; हेतोः साधेयनाऽविनाशवसंभवात् ।
 धर्म्यामिदस्तु पक्षद्वाराः स्यात् । साध्यपर्यायविशिष्टतया प्रसिद्धौ
 हि धर्मो पक्षः प्रोच्यते, न च संज्ञेहाप्रदीभूतस्यास्य प्रसि-
 द्धिरसिद्धिं पक्षद्वेषणाय गमनान्न हेतव्योऽपि वाच्यः । सं-
 दिग्धाश्रयैकदेशासिद्धोऽपि नैव । आश्रयसंदिग्धवृत्त्यास-

कोऽपि न साध्युः यतो यदि पक्षधर्मत्वं गमकत्वाङ्गमिदं हेतुं
 स्यात् तदा स्यादयं दोग, न चैवम् । तस्मात्तद्वृत्तिसिद्धयैऽपि
 केकापितान्नियतदेशाधिकरणमप्युपलक्षितं भवतु ? । नैवम् । के-
 कापितमात्रं हि मत्पुत्राश्रयैवापिनाभूत् न निश्चितमिति तदेव ग-
 मयति । देशविशेषविशिष्टमप्यसिद्धौ तु देशविशेषविशिष्टस्यै-
 व केकापितस्याविनाशाभाववसाय इति केकापितमात्राभावसत्य-
 मिचारसंभवाद्वागमकत्वम् । एवमाश्रयैकदेशसंदिग्धवृत्ति-
 रप्यसिद्धो न प्रवर्तते । व्यधिविशेषाणां विशिष्टासिद्धा अपि न्य-
 त्तसिद्धौ; वक्तुकौशलाप्रवादावचनवैयर्थ्येणोपस्य । एवं न्य-
 थैकदेशासिद्धायाऽपि वाच्यः । ततः स्थितमेतद्-पतेष्वसि-
 द्धं भेदेषु सनवन्तं उच्यतेसिद्धान्तरासिद्धयोरन्तर्भवन्ति । न-
 चन्यन्यरासिद्धा हेत्वाजास एव नास्ति । तथाहि-परेणासिद्ध
 इत्युच्चायति यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमा-
 णाभावात्तु न पर्यायसिद्धः । अथाचक्षीत, तदा प्रमाणपक्व-
 पातित्वाद्युभयोरप्यसौ सिद्धः । अथवा-यावत् न पर प्रति प्रमा-
 णेन प्रसाधयेत तावत् प्रतिपत्सिद्ध इति चेत्; गौणं तर्ह्यसिद्धव्य-
 न्दि रत्नादिपदाद्यैस्तत्पतोऽप्रतीयमानस्तावन्मपि कालं मु-
 ख्यतस्तदाभासः । किञ्च-अन्यतरासिद्धो यदा हेत्वाभास-
 स्तदा वादी निरुद्धोऽस्ति स्यात्, न च निरुद्धीतस्य पक्षादिप्रवृ-
 द्धेति युक्तम्, नापि हेतुमयमर्थं पक्षाद् युक्तम्; निप्रदान्मात्राद्वा-
 स्थेति । अत्रोच्यते-यदा वादी सत्यशहेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि
 तत्समर्थनन्यायविरमणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राक्षिकात् वा
 प्रतिवाचयितुं न शक्नोत्यसिद्धकार्मापि नाभुमयत्, तदाऽ-
 न्यतरासिद्धत्वेनैव निरुद्धोऽस्ति । तथा-स्वयमनभ्युपगतोऽपि प-
 रस्य सिद्ध इत्येतान्येवोपपत्त्यतो हेतुस्यतरासिद्धौ निर-
 हाधिकरणम् । यथा-साध्यस्य स त्रेन प्रत्ययेनानाः सुधादयः,
 उत्पत्तिमत्त्वादिवादिनि । ननु कथं तर्हि प्रसङ्गसाधनं सुप-
 पाद् स्यात् ? ; तथा च प्रमाणप्रसिद्ध्यापिकेन वाक्येन पर-
 स्यानिष्ठावापदानाय प्रसज्जन प्रसङ्गः । यथा-यत्सर्वथैकं तत्रा-
 नेकत्र वर्तते, यथाः परमाऽस्तया च सामान्यमिति कथमने-
 कत्रयवर्ति स्यात् ? ; अनेकव्यक्तिवर्तिनाभावो व्यापकमन्तरस्य
 सर्वथैकस्य व्यापकस्यनुपपत्तेः । अत्र हि वादिनः स्यादादिनाः
 सर्वथैकस्यमासिद्धमिति चेत् धर्मान्तरस्यानेकव्यक्तिवर्तिनाभा-
 वस्य गमकं स्यादिति चेत् ? तदुच्यते । एकधर्ममेव ध-
 र्मान्तरपरमसंश्लेषेणमात्रवत्परवन्तस्य वस्तुनिश्चयकत्वभा-
 वात्, प्रसङ्गविरथैकपक्षस्यैव मौलहेतेऽस्तिश्चावकत्वात् । प्र-
 सङ्गः खरुद्रस्य व्यापकस्योपपत्तिसिद्धौ । अनेकव्यक्तिवर्ति-
 त्वस्य हि व्यापकमेकत्वम्, पक्षात्केकरूपस्यानेकव्यक्तिवर्ति-
 त्वविरोधेऽप्यात् । एकात्केकरूपस्य सामान्यस्य प्रतिनियतपदाधी-
 त्वस्यत्वसावावपरस्य स्वजावस्याऽभावेनाऽप्यपदाधीधेय-
 त्वासंभवात् तद्भावेत्ये तदावस्य तदाभ्यन्तरपरिहासिद्धतत्त्व-
 ज्ञानत्वेन विरोधादिति सिद्धमेकत्र वृत्तरेकत्वं व्यापकस्य;
 तद्विद्धं च सर्वथैकस्य सामान्ये संभवं तेषां ताऽऽकृतवृत्त-
 त्वं स्याद्विरोधैक्यसङ्गायेन व्यापकस्यानेकत्वस्य निवृत्त्या व्या-
 प्यस्यानेकवृत्तिसामान्यस्य निवृत्तेः । न च तत्रिहासिद्धस्यनु-
 गतेनि लक्षणावसरः प्रसङ्गविरथैकयो विकृतयोऽपेक्षित-
 कृपाऽत्र मौलो हेतुः यथा-यदनेकवृत्तं तदनेकम् । यथा-
 ननेकजाजनगं तालफलम्, अनेकवृत्तं च सामान्यमिति एक-
 त्वस्य विरुद्धमेकत्वम् । तेन व्यासनेकवृत्तित्वस्य तस्याप-
 विरहितं मौल्यस्य चास्यैतदपक्षेयं प्रसङ्गोपपत्त्याभात् । न चा-

यमुमयोरपि न सिद्धः; सामान्ये जैनयोग्यान् तदभ्युपगमात् ।
 लताऽयमेव मौलौ हेतुरयमेव च वस्तुनिश्चायकः । ननु य-
 धायाय बह्वुनिश्चायकः कर्त्तव्यमिति, तर्हि किं प्रसङ्गोपस्थानेन ?
 प्रागेवाचमेवोपपन्नताम् । निश्चायकमेव हि श्रुषाणो बाधो बाधि-
 नामवधेयवचनो भवतीति चेत् । मैवमा मौलहेतुपरिकरत्वात् ।
 अययमेव हि प्रसङ्गं कुर्वतोऽर्थः कश्चिन्निश्चाययितुमिष्टो, निश्चा-
 यकस्य सिद्धहेतुनिमित्तं इति यस्तत्र सिद्धं हेतुनिश्चायकस्य व्या-
 व्यापकत्वावसाधने प्रकारान्तरमेवेतत् । यत्सर्वैकं तद्वानेकत्र
 वर्तते इति ध्यासिदर्शनमात्रमपि हि बाधकं विद्वद्बर्माप्यास्-
 माङ्कित्वात्यन्वोऽयं साधनप्रकारः । एवं च ज्ञान्यतरासिद्धस्य
 कस्यापि गमकत्वमिति ॥ ५१ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

असिध्पद्मग-असिध्कार्ग-न० । न विद्यते सिद्धेर्भौद्धस्य चिन्ति-
 ष्ठान्तोपलक्षितस्य माणो यस्मिन्सिद्धसिद्धिर्मात्रम् । सिद्धहेतौ,
 सूत्र० २ सू० २ अ० ।

असिध्धारव्य-असिध्धारव्रत-न० । असिध्धारवां संवरणीय-
 मित्येवं रूपे नियमे, ज्ञा० १ अ० ।

असिध्धारग-असिध्धारक-न० । असिध्धारो यस्मिन् व्रते आक्रम-
 णीयताया, तदसिध्धारकम् । असिध्धारवदनाक्रमणीये, अ० ।
 “ असिध्धारगं वयं चरिष्वयं ” अस्मिन् व्रते आक्रम-
 णीयताया तदसिध्धारकं, व्रतं नियमः, चरितव्यमासिध्धिव्ययम् ;
 तद्व्रतप्रवचनानुयायनं तद्व्रतं दुष्करमित्यर्थः । अ० ६ श० ३३३० ।
 असिध्धारगमय-असिध्धारगमन-न० । ७ त० । अङ्गधारयां
 चमनं । उच० १६ अ० ।

असिध्पंजर-असिध्पञ्जर-न० । अङ्गशक्तिपञ्जरे, प्रअ० २ संव० द्वार ।

असिध्पंजरमय-असिध्पंजरगत-त्रि० । असिध्पंजरे शक्तिपञ्जरे
 गतः । अङ्गशक्तिव्यप्रकरितपुण्यवर्षिते, प्रअ० २ संव० द्वार ।
 असिध्पत्त-असिध्पत्त-न० । असिः अङ्गः, स एव पत्तम् । स्या० ४
 ज्ञा० ४ त० । असिः अङ्गस्तस्य पत्तमसिध्पत्तम् । जी० ३ प्रति० ।
 अस्याकारपत्रे, अ० ३ श० ६ उ० । अङ्गं, ज्ञा० १६ अ० । स० ।
 असिः अङ्गस्तदाकारपत्रवद्भवं विकृत्यै वस्तुसमाभितनारकान-
 सिध्पत्रघातनेन तिलशक्तिवन्ति स्या० असिध्पत्रः । पुं० । स० १५
 स० ० । ज० । नवमे परमाध्यात्मिकं, प्रव० १८ द्वार ।

अत्र निरूपितः-

कसोष्ठोपसकरचर-दमपट्टणफुगमऊरुवाहृणं ।
 जेयण जेयण सादण, असिध्पत्तुण्णिहि पामति ॥ ७७ ॥

(कसोष्ठ इत्यादि) असिध्प्रधानाः पत्रघनुर्नमानो नरकपाला
 असिध्पत्रघनं बीभत्सं कृत्वा तत्र क्षुद्याऽर्धिनः समागतान् मारका-
 र् चराकार् अस्यादिभिः पाटयन्ति, तथा-कसोष्ठोपासकाकर-
 चरणदशनस्तनस्फिगुर्यवाह्रान् छेदन्मेधनशातनाहीनि विकुर्वि-
 ततावाहृतचालितरुपातिसिध्पत्रादिना कुर्वन्तीति । तदुक्त-
 म्- “ त्रिषपाद्दृजस्कन्धा-रिण्जककौष्ठोपासिकाः । भिन्तानु-
 शिरोमेद्गाः, जिन्नाकिह्वद्वयोर्दराः ” ॥ १ ॥ सूत्र० १ सू० १ क० अ० १
 उ० । आ० सू० ।

असिध्पज्जीवि (ष्)-असिध्पज्जीविन्-पुं० । न शिष्यज्जीवी
 अशिष्यज्जीवी । चित्रकरणादिविज्ञानेनाऽऽजीविकात्मकुर्वति,
 उच० १५ अ० । “असिध्पज्जीवे अगिहे अमेते” उच० १५ अ० ।
 २१३

असिध्पसिसारिच-असिध्पसिद्ध-त्रि० । करवालकजलनु-
 स्ये, तं० ।

असिध्प (त्त) असिध्प-त्रि० । कृष्णे, प्रअ० ३ आश्र० द्वार ।
 आ० अ० । इयामं, अ० १ वृत्त० । अश्रुमे, विशेषे । अश्रु-
 वधे मूर्च्छामकृवाणे पङ्कधारपङ्कजवत्कर्मणा दिद्यमाने, त्रि०
 सूत्र० १ सू० २ अ० १ उ० । अस्तङ्गं कुर्वति, आचा० १ सु० ५
 अ० ४ उ० ।

असिध्पकेस-असिध्पकेश-त्रि० । असिध्पताः कृष्णाः केशाः
 येषां ते असिध्पकेशाः । कृष्णकेशे (युगलिके), जी० ३ प्रति० ।

असिध्पग-असिध्पक-न० । दात्रे, अ० १४ श० ७ उ० । आ-
 चा० ।

असिध्पगिरि-असिध्पगिरि-पुं० । स्वनामक्यते पर्वते, “ स-
 व्याजि वि असिध्पगिरिस्मि तावस्ता समं तस्य गया ” आच० ४
 अ० । आ० सू० ।

असिध्परय-असिध्परन्-न० । चक्रवर्तिनां रत्नोत्कृष्टे अङ्गे,
 स्या० ७ ज्ञा० । स० ।

असिध्पवधि-असिध्पवननम-असिध्पवनि-असिध्पवननसम्-त्रि० ।
 असिध्पवनि कृष्णवननमवननमव, अश्रुद्वयप्रसिद्धत्वात्,
 तेन समम् । अविबलितफले, वा० १० विष० ।

असिध्पकत्व-असिध्पकत्व-न० । अङ्गलक्षणपरिभाषे, अ० ।
 तच्चैवम्-

“अङ्गशतोर्ध्वमुत्तम कनः स्यात् पञ्चविंशतेः सङ्गः ॥
 अङ्गलमानाद् द्वैतयोः, अणोऽशुभो विषयपञ्चस्थः ॥ १ ॥
 अङ्गलशतोर्ध्वमुत्तमः अङ्गः पञ्चविंशत्यङ्गसंज्ञकः, अनयोः प्र-
 माणयोर्मध्यस्थतः । प्रथमन्तुनीयपञ्चमसमादिष्यङ्गलेषु यः
 स्थितो प्रणः स अङ्गः, अयोर्द्वय समाङ्गलेषु द्वितीयचतुर्थप-
 ष्ठाष्टमादिषु यः स्थितः स अङ्गः, मिश्रेषु समविषयान्गुलेषु
 मध्यम इत्यादि । अ० ३ वृत्त० । ज्ञा० । जी० । असिध्पकत्वप्रति-
 पादकं शास्त्रं, सूत्र० १ सू० १ उ० ।

असिध्पट्टि-असिध्पट्टि-त्री० । अङ्गलक्षणायां, विषा० १ सू० ३
 अ० । ज्ञा० । जी० ।

असिध्पल्ला-असिध्पल्ला-त्री० । असिध्पयोर्द्वयने, स्या० ४ अ०
 १ उ० ।

असिध्पली-असिध्पली-न० । अमङ्गलशुभान्नाहीनायुजके दोष-
 विशेषे, यथा-नोदनाये चकारादिपद्यम् । रत्ना० ७ परि० ।

असिध्पलेस-असिध्पलेस-त्री० । स्तपेदधतां क नक्षत्रजदे, अयोः
 ६ पाठ० । सू० प्र० । “ असिध्पलेसायुजकेषु क्षुत्रां पयसे ” ।
 स्या० ७ डा० ।

असिध्पली-असिध्पली-पुं० । अर्कतीर्त्तं, स० ७ स० ० । अयधसि,
 आच० ४ अ० । अश्रुशंसायां, आच० १ अ० । अश्रुषे, अ० ६ उ० ।

असिध्पलोगजय-असिध्पलोगजय-न० । अश्रुकोऽश्रुधाऽश्रुकिं-
 रित्यनर्थान्तरम् । स एव जयमश्रुकोऽयमयम् । अर्कसिमेधे, यथा
 केनचिदादिना शशाधोपाजिता, पञ्चावपि तद्विनाशमाप्सुऽका-
 म एव दानादेः भवसैत इति । अश्रुः । एवं हि क्षियमाणे
 महदशरो भवतीति तद्वयात्र प्रवर्षत इति । स्या० ७
 ज्ञा० । आच० । स्या० ।

असिन्-अज्ञान-० । सुप्रवेद्यताऽतस्तत्प्राप्तये, व्य० २ अ० ।
अ० ४ । व्यन्तरुते व्यसने, आव० ४ अ० । नि० वू० । मारी,
व्य० ४ अ० ।

असिवाण-असिन्-० । सद्वाकारपत्रबन्धे, प्रअ० २ आश्र०द्वार ।

असिबन्धमपसी-अशिचमज्ञानी-स्त्री० । कृष्णवासुदेवस्य मे-
श्याम, " सा तस्य तस्मिन् जस्य जन्मासे सत्वरोगा पसमं-
ति जा तं सद् सुणति । " वृ० १ उ० ।

असिवाइस्वेत्-अशिवादिसेत्र-० । अशिवादिप्रधानकेत्रे,
" विगिचिष्यमसिवाइस्वेत् च । " दश० १ अ० ।

असिवावण-अशिवापन-० । विनाशामौ, व्य० ७ उ० ।

असिह-अज्ञान-पुं० । यः शिरसो मुषटनमात्रं कारयति न च
रजोहृत्पदशकपात्रादिकं धारयति तस्मिन् गृहस्थभेदे,
व्य० ४ उ० ।

असीइ-अशीति-स्त्री० । विशत्यूनशतसंख्यायाम्, प्रह्ला० २
पद । तं० ।

असीभरक-असीभरक-पुं० । सीभरो नाम बहूपत्न परं बाल-
या सिञ्चति, तत्रतिपत्रादसीभरः । प्राकृतत्वात्साधिक्प्रत्ययवि-
धानत्सीभरकः । लाहया परमसिञ्चति, व्य० ३ उ० ।

असीज्ञया-अज्ञाज्ञता-स्त्री० । चारित्र्यजित्त्वे, प्रअ० २ आश्र०द्वार ।

असीतपत्-अशीलवत्-वि० । सावययोगाविरते, अविरतमात्रे
च । सूत्र० १ वृ० ७ अ० ।

अमुञ्च-अमुत्-वि० । अमुञ्चे, वृत्त० २ अ० ।

अमुआगिड-अस्वाकृति-स्त्री० । न्यमोपपरिमण्डलादिषु अम-
शस्तसंस्थानेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

अमुइ-अशुचि-वि० । न० तं० । अपवित्रे, आ० म० प्र० । प्रह्ला० ।
अस्युर्यत्वात् (ज्ञा० ६ पद) आशीचवति, स्त्री० । विष्ठाऽसुकृद्दे-
प्रधाने, सूत्र० २ ध्रु० २ उ० । दशा० । स्नानब्रह्मचर्याद्विजितत्वात्सा-
धाविधे साधौ, अ० ७ श० ६ अ० । सद्वाऽसिच्युक्, तं० । विष्ठायाय,
दश० । पि० । अमेधे, स्था० ९ उ० । जी० । " जयं अम्ह किञ्चि
असुई भवति, तयं उदपण्य य मद्दिश्र अ पक्कालिभं सुरे भ-
वति, पवं खसु अम्ह चोक्त्वा चोक्त्वायारा सुरसुसमायारा न-
वेत्ता अमिसेत्रजलपुत्रापायो अविग्धेण सगं गमिसमागो" ।

अशुः । तं० । "असुइविलीपावगयवी भञ्जादरिस्मिञ्चि" ।
अशुचिषु विलीनो मनसः कश्चि मलपरिणामहेतुः । (विगयं इति)
विगयते तद्विमिश्रतया प्राणिनां गनं गमनं यस्मिन् स तद्यः,
वीमत्सया निन्द्याऽदृशीयो धीजन्त्वाऽदृशीनीयः । तनो विशेणय-
समासः । अशुः । विलीनवियतवीजन्त्वाऽदृशीनीयः । जी० ३ प्रति० ।

आहाराद्यभोग्यवहारिणि, व्य० ।

तमेवाशुचि इत्यत्राभेदः प्रकृत्यति-

दन्वे जावे अमुई, जावं आहारवन्दणादादिं ।

कप्यं कुण्ड अकप्यं, विविहेहिं रागदोमहिं ॥

अशुचिद्विधा-इत्यनो भावतत्त्व । तत्र योऽशुचिना शिसवात्रो यो
वा पुत्रीपुत्रोच्य पुत्री न तिलेपयति स इत्यनोऽशुचिः । भाव
भावतः पुनरशुचिगहाव्यननादिभिर्विधेयो रागत्रयेः कल्प्य-
मकल्प्यं करीति । किमुक् भवति ? आहाराप्यशुच्यादिनिमित्तं

बन्धन्नीचिर्बुध्यादिना वा तोपिनः; यदि वा एव प्रम स्वगच्छ-
संक्लेशं स्वकुलसंक्लेशी स्वगणसंबन्धीति रागतः, अथवा-न
मात्रेण कन्ते, विरूपं वा भावितवान्तिवद्विषयतोऽयं बुधोपदेशे-
नाभाव्यमनाभाव्यं करोति, अनात्राव्यमप्यभाव्यम्, साऽव्यव-
हारी भावतोऽशुचिः ।

पतवेव सुव्यक्तमाह-

दन्वे जावे अमुई, दन्वमी विदुभादीन्निपो उ ।

पाणऽतिवायादीहिं, भावम्मी होइ अमुईआं ॥

अशुचिद्विधा-इत्ये भावे च । तत्र इत्ये-विष्ठादिना लिप्तः,
आदिशब्दान्बन्धेऽप्यादिविरहः । प्राधे-प्राणतिपातादादिभ-
भेद्यशुचिः । व्य० ३ उ० ।

अशुचि-वि० । शास्त्रवर्जिते, म० ७ श० ६ उ० । प्रअ० ।

अमुइकुण्डिम-अशुचिकुण्डिम-० । अपवित्रमंसे, तं० ।

अमुइजायकम्मकरण-अशुचिजातकर्मकरण-० । अशुचीनां
जातकर्मणां करणे, अ० ११ श० ११ उ० । रा० । नालच्चेदादि-
करणे, कल्प० ५ कृ० ।

अमुइट्टाण-अशुचिस्थान-० । विदुप्रधाने स्थाने, भाव० ३
अ० । विष्ठास्थाने, दश० ।

अमुइचनानागा-अशुचित्वभावना-स्त्री० । देहस्याऽशुचित्वप-
र्याहोचननायाम्, ध० ।

अशुचित्वभावनाऽपीत्यय-

रमास्यगर्भासमेदाऽस्थि-पञ्जाशुक्रान्त्रवर्चसाय् ।

अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कृतः ? ॥१॥

नवस्रोतःस्रवच्छस-रसनिःस्पन्दपिच्छिले ।

देहेऽपि शुचिसंकेतयो, महम्मोहाविभुजिततम् ॥१॥

नवज्यो नेत्र २ श्रोत्र २ नासा २ मुख १ पायुस्थेज्यः ? स्त्रो-
तेभ्यो निर्गमश्रोत्रेभ्यः स्रवद् विस्त्र आमगन्धियों रसः, तस्य निस्प-
न्दो निर्यासः, नेत्रे पिच्छिले विच्छिले । शेषे सुगमम् । ध० ३ अ० ।

अशुचित्वभावना-

" लवणाकरे पदार्थाः, पतिता लवणं यथा भवन्तीह ।
कायं तथा यथाः स्तु-स्त्रेसावज्जितः सदा कायः ॥ १ ॥
कायः शोणितशुक्रमौलिनभयो गर्भं आचरति, ततो,
मात्राऽऽस्वादिताऽक्षायपरसकैर्दुर्बिः कृमाम्प्रापति ।
कित्तद्यक्तानुसमाकुतः कृमिदण्डगायकृपदायात्पदं,
कैर्मन्येत् सुवृत्तिभिः शुचित्वा सर्वमैलेः संकुलः ? ॥ ३ ॥
सुस्वादं शुभमन्धि मोदकधिर्हीरेणुशास्त्रोद्व-
दाऽक्षापर्यटिकाऽमृतानुपूरुस्वर्गक्युताऽऽस्त्रादिकम् ।
धुक् यस्वहसैव यत्र मलसत्त्वपद्यते सवेतः,
ते कायं सकलाशुचि शुचिभहो ! मोहाधिभता मन्वते । ३ ॥
अमःकुम्भशरीरेषुपुन सुदिभुग्धाः शुचित्वं कियत्-
कालं लम्नयोऽसं परिमलं कस्त्रिकचापैस्तथा ।
विष्ठाकृष्णकमेतद्दृक्कमहो ! मन्वे तु शरीरं कयं-
कारं नेष्यध मुञ्चियस्य कथंकारं च तत्सौरजम् ? ॥ ४ ॥
दिव्याऽऽमोदससुखिआसितदिशुः श्रीशुक्लकस्त्रिका-
कपूर्वाभ्रुकुङ्कुमभ्रुमनयो भावा यथाऽक्षेपतः ।
द्वैगन्धं इत्यत लोपुन मलतां चाविधत्त साऽप्यहा !

वेदः कैश्चन मन्यते शुचितया वैशेष्यतां पश्यत ॥ ५ ॥
 इत्याशौचं शरीरस्थं, विभाष्य परमाधेतः ।
 सुमतिर्ममतां तत्र, न कुर्वति कदाचन ॥ ६ ॥ प्रश्नः ६७ द्वार ।
 असुहृत्विज्ञ-असुहृत्विज्ञ-न० । परमाऽपवित्रविचरे, तं० ।
 असुरय-असुरयिक-त्रि० । अपवित्रस्वरूपे, तं० । हा० । स्या० ।
 अमन्ये सूचपुरीपादौ, स्या० १० जा० ।
 असुहृत्संकिलिह-असुहृत्संकिलिह-न० । न० त० । अमन्येन उष्टे,
 म ६ श० ३३ उ० ।
 असुहृत्समुत्पन्न-असुहृत्समुत्पन्न-त्रि० । अपवित्रोत्पन्ने, तं० ।
 असुहृत्सामन्त-असुहृत्सामन्त-न० । अमन्यानां सूचपुरीपादीनां
 समीपं, स्या० १० जा० ।
 असुहृत्सगद्-असुहृत्सगद्-स्त्री० । अमनास्तविहायोगतौ, कर्म० ५
 कर्म० ।
 असुहृत्सजाति-असुहृत्सजाति-स्त्री० । एकद्वित्रिचतुरिंशदपिजातिलक्षण-
 सु अमनास्तपतिषु, कर्म० ५ कर्म० ।
 असुहृत्समाण-असुहृत्समाण-त्रि० । अनपचकृति, “ असुहृत्समाणे
 क्लृपयिसिंसा विसोहंति ” पञ्चा० १६ वि० ७ । नि० च० ।
 असुहृत्-असुहृत्-त्रि० । साधेत्, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अपि-
 शुककारिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । “असुकपरिणामसंकिलिहं
 भयंति” । असुकपरिणामेन संकिलिहं संकेशशवत्तत् तथा अग-
 न्ति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
 असुहृत्सजाव-असुहृत्सजाव-पुं० । अगन्तानुदन्त्यादिसङ्गतमात्-
 स्थानरूपे अमनास्ताऽप्यवसायं, पञ्चा० १८ वि० ० ।
 असुहृत्सभाव-असुहृत्सभाव-पुं० । औपाधिके-व्यापिजनि-
 तर्थादिजावपरिखमनयोप्ये, इत्या० १२ अथा० ।
 असुभ (ह)-असुभ-त्रि० । अशोभने, दर्श० । असुभरसगन्धस्व-
 शैत्यके, जी० १ प्रति० । असुभकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १
 उ० । पापप्रकृतिरूपे कर्मणि, स्या० ४ जा० ४ उ० । आच० ।
 असुभयबन्धे, स्या० ४ जा० १ उ० । अशोभने, दशा० ८ अ० ।
 असुभ (ह) कम्मवहुत्स-असुभकर्मवहुत्स-त्रि० । कलुष-
 कर्मप्रचुरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
 असुभज (ह) किरियादिरहित्य-असुभक्रियादिरहित्य-त्रि० ।
 अमरास्तकायवेष्टाप्रभृतिविके, आदिशब्दादधकाहुष्टमनोयो-
 गविकलतापरिग्रहः । पञ्चा० १३ वि० ० ।
 असुभज (ह) ऊजवमाण-असुभजाऽधवसान-न० । क्रिष्टप-
 रिणामे, पञ्चा० १६ वि० ० ।
 असुभज (ह) एाम-असुभभानम-न० । असुभजानुषिषि नामकर्मभे-
 दे, उच्य० ३३ अ० । यदुदयाञ्जानेरेषः पादादीनामवययानामसुभ-
 मता भवति, तदसुभभानम् । पादादिना इति शब्दः परो रुच्यतीति ते-
 षामसुभत्वम् । कामिनीव्ययहारेण व्यभिचार इति शब्दः । नैषम् ।
 तस्य मोहनिष्पन्नत्वत्वात् । वस्तुस्थितिः किञ्चिन्मन्यते इति ततोऽ-
 शौचः । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । असुभनामकर्मणाः प्रकृतयो मध्यम-
 भेदविवक्षया चतुर्भिरज्जेदा भवति । तद्यथा-नरकगति १ ति-
 स्थ्यन्ताति २ एकैन्दिय ३ द्वीन्द्रिय ४ श्रीन्द्रिय ५ चतुर्न्द्रियज्ञा-
 ति ६ असुभनाराच ७ नाराच ८ अर्हन्नाराच ९ कालिका १०

सेवार्तकसंहितायि ११ न्यप्रोचमण्डलसंस्थान १३ साधि १३
 वामन १४ कुञ्ज १५ हृण्डक १६ अमरास्तबर्ण १७ अमरास्त-
 गन्ध १८ अमरास्तस्तर १९ अमरास्तस्पर्श २० नरकातुपूर्वी २१
 निर्देयानुपूर्वी २२ उपजात २३ अमरास्तविहायोपति २४ स्या-
 वर २५ सूत्रम २६ साधारण २७ अपर्याप्त २८ अक्षिर २९
 अश्रम ३० तुमर्ग ३१ दुःस्वर ३२ अश्रवण ३३ अश्रवणोऽङ्कति-
 ३४ इति । उच्य० ३३ अ० । प्रश्न० । असुभमनादेयत्वादि । अपूर्ये
 च कर्मभेदे, स्या० २ जा० ४ उ० ।
 असुभ (ह) तरङ्गतरणुपाय-असुभ (असुभ) तरणदो-
 तरणुपाय-त्रि० । असुभमशोभने, कण्टकादियोगाद्बलुत्वं वा, तत
 एव दुःखहेतुत्वात् तच्च तरणं च काष्ठादि, तेन यदुत्तरणं
 पारगमनं, तत्राप्यस्तकल्पयो यः स तथा । पञ्चा० ६ वि० ० ।
 कण्टकातुगत्यात्मलोत्तराङ्गोत्तरणुत्पद्ये, “ असुभतरङ्गुत्तर-
 णुपायो दन्वन्धुश्चो असमथा । ” प्रति० ।
 असुभ (ह) च-असुभजत्-न० । अमहलतायाम्, म० ६
 श० ३ उ० ।
 असुभ (ह) दुःखभागि (ण)-असुभदुःखभागिन्-त्रि० ।
 असुभजानुषिषि यद् दुःखं, तदज्ञानिनः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।
 दुःखानुषिषिदुःखभागिषु, म० ७ श० ६ उ० ।
 असुभ (ह) विवाग-असुभजिपाक-न० । असतादित्येनो-
 दयवति कर्मणि, स्या० ४ जा० ४ उ० ।
 असुभजा (हा)-असुभजा-स्त्री० । न विद्यते शुभो विपाको या-
 सां ता असुभाः । पं० सं० ३ द्वार । विपाकदारुणकटुकर-
 सासु पापकर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार । (सचांशैताः ‘कम्म’
 शब्दे तृतीयभागे २९२२ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)
 असुभ (हा) गुणपेहा-असुभजानुषिषि-स्त्री० । संसाराऽसुभ-
 त्वातुचिन्तने, म० २५ श० ७ उ० । गौ० । “कोहो य माणो य अपि-
 गहाया, माया य लोभो य पवहुमाणा । जसारा एते कसिणा
 कसाया, सिचंति मूलात्तुणम्मवस्स” ॥ स्या० ४ जा० १ उ० ।
 असुभ-असुभ-त्रि० । अनाकारिते, स्या० ८ जा० । अचा० ।
 प्रवचनहारेणानुपलक्ष्ये, म० २ श० ८ उ० ।
 असुभयिस्सिय-असुभनिभ्रत-न० । सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहि-
 तस्य तथाश्चाशिवेद्युपायानायात पञ्चमे यथास्थितव-
 स्तुसंस्पर्शमतिज्ञानरूपे बुद्धिचतुर्के, न० । (‘अभिनिवेशादियणा-
 ण’ शब्दे द्वितीयभागे २९६ पृष्ठस्थे व्याख्या वक्ष्यते)
 असुभ-असुभ-पुं० । भवतपतिव्यन्तरङ्गज्ञेय देवनेवद्वये, स्या०
 ३ जा० १ उ० । पदैकदेशे पदसमुदायात्पञ्चारात्सुकुमारं, प्रश्न०
 १६४ द्वार । न० । प्रश्न० म० । औ० । आ० । म० । सुत्र० । स्या० ।
 असुरस्यानोपलक्ष्ये नामकुमारादियु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।
 दानवे, असुभ ।
 असुरकुमार-असुरकुमार-पुं० । असुराश्च ते नववीचनतया कु-
 मारास्तेषुसुकुमाराः । स्या० १ जा० १ उ० । प्रवचनपतिनेद्वेपु,
 प्रज्ञा० १ पदं । स्या० (‘तण्ण’ शब्दे तद्वासाः वक्ष्यन्ते)
 नथरमिद-
 जगवं गोपमे समणं भगवं महावीरं वेदं नमसद्, नम-
 सद्वा एवं वयासी-अप्रिय एं भते । इमिंसे रयण्यपञ्जाए

पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति? एो इण्हे समहे, एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए सोहम्मस्स कप्पस्स अहे जाव । अत्थि णं भंते! इंसिप्पजाए पुढवीए असुरकुमारा देवा परिवसंति? एो इण्हे समहे! से काहिं खाइ णं भंते! असुरकुमारा देवा परिवसंति? गोयमा! इमीसे रयणप्पमाए पुढवीए असुरकुमारा देवा परिवसंति? असुरदेववत्तव्याए० जाव दिव्वाइ जोगभोगाई जुंजमाणा विहरंति। अत्थि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविसए? । हंता अत्थि । केवइयाणं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविमए पप्पचे? । गोयमा! जाव अहे सत्तमाए पुढवीए, तच्चं पुण पुढविं गया य गमिस्संति य । किं पत्तिं णं भंते! असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य? । गोयमा! पुव्ववेरियस्स वा वेयाणउदीरणायाए पुव्वसंगइयस्स वेदणउवसागमयाए एवं खलु असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य । अत्थि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियगातिविमए पप्पचे । हंता अत्थि । केवइयाणं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियगइविसए पप्पचे? । गोयमा! जाव असंखेज्जा दीवसमुदा नंदिस्सरवरं पुण दीवं गया य गमिस्संति य । किं पत्तिं णं भंते! असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य? । गोयमा! जे इमे अरहंता जगवंतो एएसि णं जेणपमहेसु वा निक्खमणमहेसु वा णाणुप्पायमहिमासु वा परिनिवाणमहिमासु वा एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य । अत्थि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं उहुगइविसए? । हंता अत्थि । केवइयं च णं भंते! असुरकुमारा देवा णं उहुं गतिविसए? । गोयमा! जाव अच्चुए कप्पे सोहम्मं पुण कप्पं गया य गमिस्संति य । किं पत्तिं णं भंते! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य? । गोयमा! तेसिं देवाणं जवपवइवेरा-णुव्वंथे तेणं देवा विकुब्बेमाणा वा परिवारेमाणा वा आयरत्थे देवे विचामंति, अहालहुस्सगाई रयाणां गदाय आयाए एगंमवंतं अवक्कंमंति । अत्थि णं जंते! तेसिं देवाणं अहालहुस्सगाई रयाणां? । हंता अत्थि । से कहुभिदाणिं पक्कंरंति, तत्रो से पक्खा कायं पव्वहंति । पजू! णं भंते! तेमिं असुरकुमारा देवा तत्थ गया वेव समाणं ताहिं अच्चेराहिं सक्किं दिव्वाइ जोगभोगाई जुंजमाणा विहरिचए? । एो इण्हे समहे, तेणं तत्रां पक्कनिष्पत्ति, पडि-नियत्तिचा इहमागच्छइ, इहमागच्छत्ता जइ णं तात्रो अच्चेरात्रो आहायांति परियाणांति । पजू! णं भंते! असुरकुमारा देवा ताहिं अच्चेराहिं सक्किं दिव्वाइ भोगभोगाई

जुंजमाणा विहरिचए, अहं णं तात्रो अच्चेरात्रो नो आहायांति नो परियाणांति, एो णं पजू! ते असुरकुमारा देवा ताहिं अच्चेराहिं सक्किं दिव्वाइ जोगभोगाई जुंजमाणा विहरिचए । एवं खलु गोयमा! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य । केवइकालस्स णं भंते! असुरकुमारा देवा उहुं उप्पयांति० जाव सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य? । गोयमा! अणंताहिं असोसिप्पीहिं अणं-ताहिं अवसप्पिणीहिं सपइकंताहिं अत्थि णं पत्तचंवे लो-यच्चेरयजए समुप्पजइ । जसं असुरकुमारा देवा उहुं उप्पयांति० जाव सोहम्मं कप्पे ।

(एवं खलु असुरकुमारंत्थादि) एयमेनेन सूत्रक्रमणेतो । स वैश्वम-
“अकारं एयं जोयणसहस्स आगाइत्ता इहा वेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्जे अहुइ चरं जोयणसयसहस्सं, पत्थं णं असुरकु-
माराणं देवाणं चासदि जयणावाससयसहस्सा भवंतीति अक्खायमित्थादि” । (विउत्थेमाणा व ति) संरंभेण महडैक्किय-
शरीरं कुण्ठः । (परियारेमाणा व ति) परिचारयन्तः परकीयं देवी-
नां भोगं कर्तुकामा इत्यर्थः । (अहालहुस्सगाई ति) यथेति यथोचितानि लघुस्वकानि अमहास्वकपाणि, महानां हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा शक्यन्वादिदि यथादाणुस्वकानि । अथवा-लघुनां महान्ति धरिष्ठाभीति च वृक्षाः । (आयाए ति) आग्मना, स्वयमित्थयः (एगंति ति) विज्जनं (अंतं ति) देवां (से कहुमियाणिं पक्कंरंति ति) अथ किमिदानीं स्तनप्रदणान्तरमेकान्तायक्रम-
णकाले प्रकुञ्चति वैमानिकाः, रत्नादाणुणांति । (मत्रो से पक्खा कायं पव्वहंति ति) ततो रत्नादानात् (पक्खं ति) अन्त-
न्तरं (से ति) एषां रत्नादाणुणामसुराणां कायं देहं प्रव्यथन्ते प्रदरिः प्रज्जति वैमानिका देवाः, तेषां च प्रव्यथतानां येदना भवति जघन्येनान्तमुहुत्तंम, उक्कटतः पयमासाय वायव । ज० ३
ज्ञ० २ उ० ।

किं निस्साए णं जंते! असुरकुमारा देवा उहुं उप्पयांति० जाव सोहम्मं कप्पे? । गोयमा! से जहा नामए इहं सवराइ वा ववराइ वा टंकागाइ वा जूचुयाइ वा पएहायाइ वा पुत्तिं-
दाइ वा एगं महं वणं वा गइं वा दुग्गं वा दरिं वा विसमं वा पव्वयं वा एंसाए सुमहम्मपि अस्सवलं वा इत्थिवइं वा जोहुवलं वा अण्णवइं वा आगिंठोति, एवाभेव असुरकु-
मारा देवा णत्थए अरहंते वा अरहंतचेइयाणां वा अण्ण-
गारे भावियप्पणो निस्साए उहुं उप्पयांति० जाव सोहम्मं कप्पे । सत्थे वि य णं भंते! असुरकुमारा देवा उहुं उप्पयांति० जाव सोहम्मं कप्पे । गोयमा! एो इण्हे समहे । महिद्धियाणं असुरकुमारा देवा उहुं उप्पयांति० जाव सोह-
म्मं कप्पे ।

‘सवराय वा’ इत्यादौ शब्दादयोऽन्याद्विशेषाः । [गहुं व ति] गत्तोः, [दुग्गं व ति] जलजुगोदि, [दरिं व ति] दरीं पथेतकन्वरं, [विसमं व ति] विषमं गनेतयोऽप्युक्तम् । भिक्खपण । [निस्साए ति] निश्चयाऽऽश्रित्य । [अण्णवइं व ति] अणुत्तरवत् । [आगिंठोति ति] आकलयन्ति-जेष्पामा इत्यव्ययस्वन्तीति । [नत्थए ति] ननु

निश्चितमत्र इहलोकं, अथवा (अरिहते वा निस्सार उद्ध उ-
प्ययंति) नायत्र-तसिभ्या अयत्र न, तां विनेत्यर्थः ॥ न० ३
श० २ उ० ।

किंपनिषं णं अंते । असुरकुमारा देवा उद्ध उप्ययंति०
जाव सोहृम्मे कप्ये । गोपया । तोषि णं देवाणं अद्भुषावव-
ष्ठागाण वा चरियजवत्याण वा इमेया रूपे अन्नत्सिएण जाव
समुपज्झइ, अहो णं अम्हेहि दिव्वा देविहो इष्ठा पत्ता अत्ति-
समष्ठागाया जारिमियाणं अम्हेहि दिव्वा देविहो ।
० जाव अभिसमष्ठागाया तारिसियाणं सकेणं देविदेणं दे-
वस्सा दिव्वा देविहो० जाव अत्तिसमष्ठागाया, जारिनि-
याणं सकेणं देविदेणं० जाव अत्तिसमष्ठागाय तारिमियाणं
अम्हेहि नि जाव अभिसमष्ठागाय, तं गच्छामो णं सकस्स
देविदस्स देवस्सो अत्तियं पाठञ्जवापो पासामो, ताव सक-
स्स देविदस्स देवस्सो दिव्वं देविहो जाव अत्तिसमष्ठा-
गायं पामनु, ताव अम्हेहि वि सकं देविदे देवराया दिव्वं
देविहो जाव अत्तिसमष्ठागाय तं जाणामो, ताव सकस्स दे-
विदस्स देवस्सो दिव्वं देविहो जाव अभिसमष्ठागायं जा-
णामो, ताव अम्हे वि सकं देविदे देवराया दिव्वं देविहो
आभिसमष्ठागायं । एवं खलु गोपया । असुरकुमारा देवा
उद्ध उप्ययंति० जाव सोहृम्मे कप्ये ॥

(किंपनिषं ति) कः प्रत्ययो यत्र तत् किंप्रत्ययम् । (अद्भु-
षाववष्ठागाणं ति) अयप्रमात्राणां (चरियजवत्याणं व ति)
अन्नवचनभावास्थानं, चयवनावस्थं इत्यर्थः । अ० ३ श० ३ उ० ।
असुरदार-असुरदार-न० । सिकुरवतनानां दक्षिणद्वारेषु, यत्रा-
सुरा वसन्ति । स्या० ४ धा० २ उ० ।

असुरसुर-असुरसुर-त्रि० । सुरसुरेत्यनुकुरशब्देऽप्यम् । न०
७ श० १ उ० । न० ब० । सुरसुरेत्येवंचूतशब्दवर्जितं, प्रश्न०
१ सव० शर ।

असुरिदं-असुरेन्द्र-पुं० । चमरे, बलिनि च । स० । ('इव' शब्दे
द्वितीयत्रये ५३४ पृष्ठेऽस्य व्याख्याऽवसेया)
आप्यपवायस्स णं पुव्वस्स मांभा वत्थू पप्पात्ता । चपर-
बलां उवारियालेण सोलस जोणयमहस्साइं आया-
मविकखंभेणं पप्पात्ता ।

चमरवहयोर्दक्षिणोत्तरयोरसुरकुमारराजयोः (उवारियाले-
ण ति) चमरवज्रावलीचक्राऽभिधानराजधाम्योर्मध्यांश्रता-
ऽवतरणार्थात्पुरुषेऽवतारिकल्पेन योऽश योजनसहस्राप्या-
यामविक्रमभ्याम्बु वृत्तान्तयोरिति । स० १६ सप्त० ।

असुरिदंजिय-असुरेन्द्रजित-त्रि० । चमरवहिवर्जितं, न०
१४ श० १ उ० । अष्ट० ।

असुरलज-असुरभ-त्रि० । दुल्लजे, पो० ५ विव० ।

असुरवण-अस्वपन-न० । निष्ठाऽऽलस्यघाते, वृ० १ उ० ।

असुरवष्-असुरवर्ण-त्रि० । न सुवर्णमसुवर्णम् । अग्रशस्त्रवर्ण-
ग्रन्थस्त्रपशेषे, कर्म० ५ कर्म० ।
२१५

असुरि-अस्वापिन-त्रि० । अनिष्ठासौ, नि० चू० १० उ० ॥
असुरसंघयण-असुमंहुन-न० । अयभनाराचादिषु अग्रशस्त-
संहनेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुर-असुर-न० । दुःखे, स्या० ३ उ० ३ उ० ।

असुर-असुरि-त्रि० । असुरतीति तच्छ्रौंलोऽसुरी । असुरधा-
तंःस्ताच्छ्रांलिकणकप्रासावपि बाहुलकाद् गिन । असुराऽस्य-
स्येति असुरी । मन्वर्षीय इति । गुणेषु दोषाऽऽविष्कारिणि,
स्या० १७ श्लो० ।

असुर-असुरि-त्रि० । व्यञ्जनादिरहिते, अकथयित्वा वा
दत्तं जोजनादौ, दश० ५ अ० २ उ० ।

असुर-असुरि-त्रि० । मस्सरिणि, 'अहो । सुहृद्वत्सूयुवदम्'
इतिपाठेन किञ्चिद्वचनम् । असुरशब्दस्योद्गतस्योपपत्तौऽप्य-
तात्पर्यपरिच्छेदादी मस्सरिणि प्रयोगादिति । स्या० १७ श्लो० ।

असुर-असुरि-त्रि० । अवलवति, सूत्र० १ श्रु० ७ श्रु० ।

असुरा-असुरा-स्त्री० । न० तः० परस्य दांप्रतिपक्षेनात्मन-
स्तादृशोपभाषणे, "अप्यसो दांसं मासति ए परस्स, एसा अ-
सुरा । यथा-" अम्हे मो षण्णीणा, आसि आगारम्म इद्धिमे
तुम्मो । एस असुरा स्या, णवरं परवत्तुणिहसा " ॥ १ ॥ नि०
चू० १० उ० । (इत्यादि 'आगाहवयण' शब्दे द्वितीयभागे
६२ पृष्ठे वचयते)

असुरा-स्त्री० । गुणेषु दोषाविष्कारे, "गुणेष्वसुर्यां दधतः प-
रेऽमी, मा शिष्यवत्तम जवन्तमीशम ।" स्या० ३ श्लो० ।

असुराविय-असुरावचन-न० । अक्षमावचसि, दश० ।

असुरि-असुरि-पुं० । न विद्यते सुखं यस्मिन् सोऽसुर्यः ।
बहुलाधिकारे कुम्भीपाकादृशौ, सर्वस्मिन् वा नरकावासे, "अ-
सुरियं नाम महाभितावं, अश्वेतमं दुष्पतरं मर्दतं " । सूत्र० १
श्रु० ५ श्रु० १ उ० ।

असुरवाय-असुरपाद-त्रि० । दुर्घटे, "अतोऽन्यथा सत्त्वमसुर-
पादम् ।" स्या० २२ श्लो० ।

असेजायर-अश्रय्यतर-पुं० । वसतित्यागादिहेतुभिः शय्या-
तरव्येनाव्यवहार्यं वसतिदातरि, नि० चू० २ उ० । (तष्कार-
णानि 'सगारियपिडं' शब्दे वक्ष्यन्ते)

असेय-अश्रेयस्-न० । अकल्याण, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

असेसेसिपिकवचन-अश्रेयशीप्रतिपन्नक-पुं० । शैलेशाना-
माऽदांभवस्था, तां प्रतिपत्ताः शैलेशीप्रतिपत्ताः । स्वार्थिकः
कप्रत्ययः । तदुच्यतिरिक्ताः अश्रेयशीप्रतिपत्तकाः । अयोभ्य-
वस्थामनापन्ने स्योमिनि संसारिणि, प्रश्न० २३ पद ।

असेम-अशेष-त्रि० । शेषरहिते कृस्ते, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।
सकत्र, प्रश्न० १५ विव० । सर्वस्मिन्, प्रश्न० १० विव० आवा० ।
असेससत्तिहिय-अशेषसत्त्वहितं न० । समस्तप्रासुरपकारके,
"जिणदवयण असंससत्तदिय " । प्रश्न० १६ विव० ।

असेहिय-असैष्टिक-न० । न० तः० । सासारिके, क्पियासिद्धौ
अज्ञाते आकस्मिके, सूत्र० ।

सुहं वा जइ वा तुवरवं, सेहियं वा असेहियं ॥

सुखं सैद्धिकं-सौकी मोक्ष भवं सैद्धिकं, यदि वा दुःखमसैद्धिकं सासारिकम् । अथवा-सौद्धिकमसैद्धिकं च सुखम् । यथा-सुकुच-
न्दनाङ्गनायुगेगोक्रियासिद्धी भवं सैद्धिकम्, आनन्दं सुखमान-
वृत्तमसैद्धिकम् । तथा-सैद्धिकमसैद्धिकं च दुःखम् । यथा-कशा-
ताद्वन्नाङ्गनायुगेगोक्रिया-सिद्धी भवं सैद्धिकम्; उन्वाशरोऽतिशयता-
दिक्रयमङ्गनायुगमसैद्धिकं दुःखम् । सुखं १ सु० १ अ० १ उ० ।
असोसंग-अशोक-पुं० । कङ्कलीनामकं एकसाध्यकवृक्षभेदः, श्री० ।

प्रज्ञा० । कल्प० । श्या० । अशोकः पञ्च वर्णा भवन्ति ततो
विशेषणम्- "किमहासोपद वा" रा० आवा० । अनु० । मल्लि-
जिनस्य वैयवृक्षोऽप्राकः । स० । चम्पार्यां स्वनामक्याते पाम्भ-
नाये, ती० १० कल्पः । पूर्वनेत्रे चतुर्थे लक्ष्मणे च, स० । ति० । चतुः-
सप्ततितमे महाभूते, "द्वा असोसा" । श्या० २ उ० ३ उ० च० प्र०
मू० प्र० । कल्पः । अशोककवने च, ज० ३ प्रति० । वीतशोकं,
श्री० । वाच० ।

अमोगवन्द-अशोकवन्द-पुं० । अणिकपुत्रे कृणिके, स च पितुः
अणिकस्य पूर्ववैरति द्वास्या अशोकवाटिकायामुज्जित इत्यशो-
कचन्द्रनामाऽभवत् । आ० चू० ७ अ० । भाव० । ती० । 'कृणि-
य' शब्दे 'अ' इत् दीर्घिष्यते । "राया तप असंगवन्देप वेसाङ्गि
नगरि गहेत्थि" आ० म० प्र० । आ० चू० । 'गारिणामिया'
'कुलबाबुलु' शब्दयोश्चोदाहरिष्यते)

असोसंगजस्य-अशोकवन्द-पुं० । विजयपुरे नगरे नन्दनवने उद्या-
ने स्वनामक्याते यक्षे, विपा० १ अ० ३ अ० ।

असोसगदत्त-अशोकदत्त-पुं० । साकेतनगरे स्वनामक्याने इभ्ये, य-
स्य समुदत्तसंगारदत्तनामानौ भ्रातरौ । इश० ।

असोसगारा-अशोकराज-पुं० । चम्पार्यां वासुपुत्राजनेरुपुत्रम-
घवन्पतिपुत्रीलक्ष्मीकृतिजानरांदिणीनाम्नया अष्टप्रातृभूमिन्याः
स्वयंसेरे वृते पत्यौ, ती० ३५ कल्पः ।

असोसगद्वया-अशोकलता-स्त्री० । तिर्यक्शाभाप्रसरामावा-
ह्यताकृतिष्वशोकवृक्षे, जं० १ चक्र० ।

असोसगवन्देसंग-अशोकावन्देसंग-न० । सौधमोदिविमानानां
पूर्वस्थां दिश्यवन्सकः, रा० । प्रज्ञा० । जी० ।

असोसगवण-अशोकवण-न० । अशोकप्रधाने वने, अनु० ।

असोसगवणिया-अशोकवणिका-स्त्री० । अशोकप्रधाने लघुवने,
आ० म० द्वि० ।

असोसगवर्षापयव-अशोकवर्षापादप-पुं० । अत्युच्छेदे अशोकवृक्षे,
" ईसि असोसगवर्षापयवसमुवट्टिवा उ " जी० ३ प्रति० । रा० ।
असोसगसिरि-अशोकर्थ-पुं० । ६ ७० । चन्द्रगुप्तस्य पौत्रे विन्दुसा-
रस्य पुत्रे, पाटलिपुत्रे नगरे वीरमोक्षानन्दे चन्द्रगुप्तो-विन्दुसा-
रोऽशोकर्थः-सम्प्रति, राजानकेते उद्योगेसरं सख्युक्तभाजो महा-
राजा भवन्वत् । कल्प० ८ क० । " च' । युषपपुत्रो उ, बिन्दुसा-
रस्त नचुभ्रां । असोसगसिरिणो पुत्रो, अथो जायह कार्गणि " ।
॥ ८६३ ॥ विशे० । वृ० । नि० चू० ।

असोसगा-अशोका-स्त्री० । धरुणनागकुमारंरुसककाङ्गमहा-
राजस्याऽप्रमहिष्याम्, श्या० ४ उ० १ उ० । श्रीशतलस्य
शासनदेष्याम्, सा च नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाश-
युक्तदक्षिणपाणिश्रया फलाङ्गशुकवामपाणिश्रया च । प्र१० २७

धार । मलिनविजयकेचपुरीयुगते, मलिनो विजयश्च दशोका
पुः । जं० ४ वृक्ष० । " द्वा असोसाभ्रां । श्या० २ उ० ३ उ० ।
असौबा-अभ्रभुवा-अभ्य० । प्राकृतधर्मांशुरागादेव धर्मफलादि-
प्रतिपाद्यकवचनमनाकवयैत्यर्थे, म० ।

अथाभ्रुवा केवलपर्यन्तं हन्ते न वा ? -

रायगिद्वे० जाव एवं वयासी-असौबा एं भंते । केवलिस्स
वा केवलिस्तावगस्य वा केवलिस्तावियाए वा केवलिस्ताव-
गस्य वा केवलिस्ताविसियाए वा तप्पक्खियस्य वा तप्पक्खि-
यस्तावगस्य वा तप्पक्खियस्ताविसियाए वा तप्पक्खियउ-
वागस्य वा तप्पक्खियउवाविसियाए वा केवलिपस्यं
धम्मं लभेज्ज सवणयाए ? गोयमा ! असौबा एं केवलिस्स
वा० जाव तप्पक्खियउवाविसियाए वा अत्येगए केवलिपस्यं
धम्मं लजेज्ज सवणयाए, अत्येगए केवलिपस्यं धम्मं
नो लजेज्ज सवणयाए । मे केणहंते भंते ! एवं बुद्ध
असौबा एं० जाव नो हजेज्ज सवणयाए ? । गो-
यमा ! जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे
कमे भवइ । से एं असौच्चा केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खि-
यउवाविसियाए वा केवलिपस्यं धम्मं हभेज्ज सवणया
। जस्स एं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो
कमे जवइ, से एं असौच्चा केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खिय-
उवाविसियाए वा केवलिपएणत्तं धम्मं नो हजेज्ज सवण-
याए । से तेणहंते गोयमा ! एवं बुद्धे, नं चैव० जाव नो हभे-
ज्ज सवणयाए । असौबा एं जंते । केवलिस्स वा० जाव
तप्पक्खियउवाविसियाए वा केवलं बोदिं बुज्जेज्जा ? । गो-
यमा ! असौबा एं केवलिस्स वा० जाव अत्येगए केवलं
बोदिं बुज्जेज्जा, अत्येगए केवलं बोदिं नो बुज्जेज्जा, से
केणहंते भंते । जाव नो बुज्जेज्जा । गोयमा ! जस्स एं
दरिसिणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे जवइ, से एं
असौच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं बोदिं बुज्जेज्जा, जस्स
एं दरिसिणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे ज-
वइ, से एं असौच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं बोदिं नो
बुज्जेज्जा, से तेणहंते० जाव नो बुज्जेज्जा । असौच्चा एं
जंते । केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवाविसियाए वा केव-
लं मुंदे भविता आगाराभ्रो अणगारियं पव्वएज्जा ? ।
गोयमा ! असौच्चा णं केवलिस्स वा० जाव उवाविसियाए
वा अत्येगए केवलं मुंदे जविता आगाराभ्रो अणगा-
रियं पव्वएज्जा, अत्येगए केवलं मुंदे जविता आगारा-
भ्रो अणगारियं नो पव्वएज्जा । से केणहंते० जाव नो पव्व-
एज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं धम्मतरायाणं कम्माणं ख-
ओवसमे कमे भवइ, से एं असौच्चा केवलिस्स वा० जाव
केवलं मुंदे भविता आगाराभ्रो अणगारियं पव्वएज्जा ।

जस्स एं धम्मंतरादयाणं कम्माणं स्वभावसमे नो कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव मुंके भविष्ठा० जाव नो पव्वएज्जा, से तेणुएणं गोयमा । ० जाव नो पव्वएज्जा । असोष्ठा णं भंते ! केवलिस्स० जाव उवासियाए वा केवलं बंधवेरवासं भावसेज्जा ? । गोयमा ! अत्येगए केवलं बंधवेरवासं भावसेज्जा, अत्येगए नो भावसेज्जा । से केणुट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव नो भावसेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव नो भावसेज्जा, से तेणुट्टेणं जाव नो भावसेज्जा । असोष्ठा एं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवल्लेणं संजमेणं संजमेज्जा ? । गोयमा ! असोष्ठा णं केवलिस्स वा जाव० उवासियाए वा अत्येगए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्येगए केवल्लेणं संजमेणं नो संजमेज्जा । से केणुट्टेणं जाव नो संजमेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव नो संजमेज्जा, से तेणुट्टेणं गोयमा ! ० जाव अत्येगए नो संजमेज्जा । असोष्ठा एं भंते ! केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा ? । गोयमा ! असोष्ठा एं केवलिस्स वा० जाव अत्येगए केवल्लेणं संवरेणं संवरेज्जा, अत्येगए केवलेणं० जाव नो संवरेज्जा । से केणुट्टेणं० जाव नो संवरेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं अज्जकवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव नो संवरेज्जा, से तेणुट्टेणं० जाव नो संवरेज्जा । असोष्ठा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवल्लं आभिणिवोदियनाणं उप्पादेज्जा ? । गोयमा ! असोष्ठा एं केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्येगए केवलं आभिणिवोदियनाणं उप्पादेज्जा, अत्येगए केवलं आभिनिवोदियनाणं नो उप्पादेज्जा । से केणुट्टेणं० जाव नो उप्पादेज्जा ? । गोयमा ! जस्स एं आभिणिवोदियनाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे कमे जवइ, से एं असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव केवलं आभिणिवोदियनाणं उप्पादेज्जा, जस्स एं आभिणिवोदियनाणावरणिज्जा एं कम्माणं स्वभावसमे नो कमे जवइ, से एं

असोष्ठा केवलिस्स वा० जाव केवलं आभिणिवोदियनाणं नो उप्पादेज्जा, से तेणुट्टेणं० जाव नो उप्पादेज्जा । असोष्ठा एं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवलं सुयणाणं उप्पादेज्जा ? । एवं जहा आभिणिवोदियनाणस्स वचन्वया भणिया, तद्वा सुयणाणस्स चि भाणियव्वा, नवरं सुयनाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे भाणियव्वो । एवं चैव केवलं ओदिनाणं जाणियव्वं, नवरं ओदिनाणावरणिज्जाणं स्वभावसमे भाणियव्वो । एवं केवलं मणपज्जवणाणं उप्पादेज्जा, नवरं मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्वभावसमे भाणियव्वं, असोष्ठा एं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तपक्खियउवासियाए वा केवलनाणं उप्पादेज्जा एवं चैव, नवरं केवलणाणावरणिज्जाणं कम्माणं स्व भाणियव्वं, तेसं तं चैव । से तेणुट्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव केवल्लेणं नो उप्पादेज्जा ॥

बुद्धत्तोदेगइ इति उक्त्वाध्यायोः केवलधर्माज्जायन्ते, त-
 आइअत्थाइय कोइय लभत इत्याद्यर्थप्रतिपादनार्थमाह—(रा-
 यगिदेत्यादि) तत्र च (असोष्ठा चि) अशुद्धा धर्मफलादिप्र-
 तिपादकवचनमनाकार्येण, प्राकृतधर्मानुरागव्यर्थः (क-
 वलिस्स वा चि) केवल्लो जिनस्स । (केवल्लिस्सावगमस्स) के-
 वल्लो येव स्वयमेव पुट्ठ, अन्ते वा येन तत्तन्ममसो केवल्लिभा-
 वः, तस्य (केवल्लि उवासगस्स वा चि) । केवल्लि उवासनं
 विदधानं केवल्लिवा-यस्य कथयमानं भूतं येनासो के-
 वल्लुपासकः । (तपक्खियस्स चि) केवल्लिपासिकस्स स्वयं
 बुद्धस्व (धम्मं ति) बुद्धचारित्रकथप (भग्गेज्ज चि) प्राप्नु-
 यात् । (स्ववणयाए चि) भवणतया भवणकृतया, भोतुमि-
 त्यर्थः । (माणावरणिज्जाणं ति) बद्धवचनं हानावरणीयस्य
 मतिहानावरणादिभेदेनावप्रमहत्यावरणादिभेदेन च बद्धत्वात् ।
 इह च कथोपशमप्रहृष्टाव् प्रत्यावरणाद्येव तद् प्राधानं, न तु
 केवलावरणस्य, तत्र कथयस्वैव भावात्, कानावरणीयस्य कथोपश-
 मस्य गिरिसरित्पुल्लयोहान्यायानापि कस्यचित्त्वात्, तस्स ज्ञे-
 या चाशुक्लापि धर्मं लभेत, भोतुं कथोपशमस्यैव तद्भावेन-
 त्त्वरकारणत्वादिति । (केवल्लं बोइं ति) बुद्धं सत्यमर्थं (बु-
 ज्जेज्ज चि) बुद्धतातुमवधित्वर्थः । यथा प्रत्येकबुद्धादिरेवमुत्प-
 राप्युदाहर्त्तव्यम् । (हरिसजावपरिज्जाणं ति) इह इत्येनावर-
 णीयं इत्येनामाइनीधर्ममिच्छत बोधः, सत्यमर्थं लभयित्वा-
 त् । तद्भावेन च तत्कथोपशमकथयत्वादिति । (केवल्लं मुंके
 भविष्ठा आगारानां आशुगारियं ति) केवलं बुद्धं सत्य-
 यो वाऽनगरतमिति बोधः । (धम्मंतरादयाणं ति) अ-
 न्तर्गतयो विप्र, सोऽस्ति येषु तान्यन्तरादिकाणि धर्मस्य
 चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणस्यान्तरादिकाणि धर्मान्तरादिकारिण्ये,
 तेषां, श्रीयोन्तरादिकारित्रमाइनीधर्मभेदानामित्यर्थः । (चरि-
 तावरणिज्जाणं ति) इह वेदलक्षणानि चारित्रावरणीयानि
 विशेषतः आशुगारि, मैथुनविरतिलक्षणस्य ब्रह्मचर्यवासस्य
 विशेषतस्तोषावाचारकत्वात् । (केवल्लं संजमेणं संजमे-
 उज्ज चि) इह संजमः प्रतिपन्नचारित्रस्य तद्विचारपरिहरारथ
 वतनाविशेषः । (जयणावरणिज्जाणं ति) इह तु यतनावरणी-

यानि चारित्र्यविशेषविषययोस्तन्तरायज्ञप्तानि मन्तव्यानि ।
(अञ्जवसाणावरणिजाणं ति) संवरशब्देन श्रुताप्यवसायवृत्ते-
र्विज्ञप्तित्वात्सप्तम्याश्च प्राञ्चचारित्र्यरूपत्वेन तदावरणकृत्योपश-
मन्नभ्यत्याद्यवसायानावर्णयशब्देनेह भावचारित्र्यावरणीयान्यु-
क्तानीति ।

पूर्वोक्तान्वार्थान् पुनः समुदायेनाह-

असोच्चा णं जंते । केवलस्सिस्स वा० जाव तपक्खिस्यज्जवासि-
याए वा केवलपिन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सबणयाए, केवलं बो-
हिं बुज्जेज्जा, केवलं मुंढं भविचा आगाराओ अणगागारि-
यं पव्वएज्जा, केवलं वंजचेरं वासं आवसेज्जा, केवलेणं
संजमेणं मंजमेज्जा, केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, केवलं आ-
भिणिवाहिंयनाणं उप्पादेज्जा० जाव केवलं मणपज्जवनाणं
उप्पादेज्जा० जाव केवलनाणं उप्पादेज्जा ।। गोयमा । अ-
सोच्चा णं केवलस्सिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्येगइए
केवलपिन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सबणयाए, अत्येगइए केवलपि-
न्नत्तं धम्मं नो लजेज्ज सबणयाए, अत्येगइए केवलं बोहिं
बुज्जेज्जा, अत्येगइए केवलं बोहिं नो बुज्जेज्जा, अत्येगइए
केवलं मुंढं जविचा आगाराओ अणगागारियं पव्वए-
ज्जा, अत्येगइए० जाव नो पव्वएज्जा, अत्येगइए केव-
लं वंजचेरवासं आवसेज्जा, अत्येगइए केवलं० जाव नो
आवसेज्जा, अत्येगइए केवलेणं संजमेणं मंजमेज्जा,
अत्येगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा, एवं संव-
रेणं वि अत्येगइए केवलं आभिणिवाहिंयनाणं उप्पा-
देज्जा, अत्येगइए० जाव नो उप्पादेज्जा, एवं० जाव
मणपज्जवनाणं अत्येगइए केवलनाणं उप्पादेज्जा, अ-
त्येगइए केवलनाणं नो उप्पादेज्जा ।। से कण्ठेणं जंते !
एवं बुद्ध असोच्चा णं तं चेव० जाव अत्येगइए केव-
लनाणं नो उप्पादेज्जा ।। गोयमा ! जस्स नाणावराणिज्जाणं
कम्माणं खओवसमे नो कडे जवइ, जस्स णं देसणावराणि-
ज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे जवइ, जस्स णं धम्मं-
तराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, एवं चरि-
त्तावराणिज्जाणं जयाणावराणिज्जाणं अञ्जवसाणावराणि-
ज्जाणं आभिणिवाहिंयनाणावराणिज्जाणं० जाव मणपज्जव-
नाणावराणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे जवइ,
जस्स णं केवलनाणावराणिज्जाणं० जाव खए नो कडे
जवइ, से णं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव केवलपिन्नत्तं
धम्मं नो लभेज्ज सबणयाए, केवलं बोहिं नो बुज्जेज्जा०
जाव केवलनाणं नो उप्पादेज्जा, जस्स णं नाणावराणि-
ज्जाणं खओवसमे कडे जवइ, जस्स णं दरिसणावराणि-
ज्जाणं खओवसमे कडे जवइ, जस्स णं धम्मंतराइयाणं
एवं० जाव जस्स णं केवलनाणावराणिज्जाणं कम्माणं
खए कडे जवइ, से णं असोच्चा केवलस्सिस्स वा० जाव केव-

द्विपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सबणयाए, केवलं बोहिं बुज्जेज्जा
केवलनाणं उप्पादेज्जा ।।

(असोच्च्चा णं जंते ! इत्यादि) अथाश्रुत्वेव केवद्वयादिवचनं
यथा कश्चिन्केवलज्ञानमुत्पादयत् तथा द्वाभ्योपुमाह-

तस्स णं जंते ! उटं छेदुं अणिकिस्सचेणं तनोकम्मेणं
उटं बाहाओ पणिज्जिय पणिज्जिय द्वाराभिसुइस्स अया-
वणचूर्मीए आयावेमाएस्स पगइभइयाए पगइवसंतयाए
पगइपयणुकोहमाएमायालोभायाए मिजमइवसंपन्नायाए अ-
ट्टीणयाए भइयाए विणीययाए अन्नया कयाइ सुभेणं
अञ्जवसाणाणं सुभेणं परिणांमेणं देसाहिं विमुज्जमाणां हिं
विमुज्जमाणीं हिं अट्टीणयाए तथावरणिज्जाणं कम्माणं
खओवसमेणं ईहापोहमणगवेसणं करेयाएस्स विजंजे
नामं अन्नाणं समुत्पज्जइ, से णं तेणं विजंजनाणममुत्प-
न्नेणं जइन्नाणं अंगुलस्स असंखेज्जज्जनां उट्ठोभेणं असं-
खेजाइं जेयणसहस्साइं जाणए पामइ, मे णं तणं विजंज-
नाणाणं समुत्पन्नेणं जीवे वि जाणइ, अजीवे वि जाणइ, पा-
मइत्ये सारंजे सपरिग्गेह संकिस्ससमाणे वि जाणइ, विमु-
ज्जमाणे वि जाणइ, से णं पुत्तामेव सम्मत्तं पहिवज्जइ,
समाणधम्मं रोणइ २ चरित्तं पहिवज्जइ, सिंणं पहिवज्जइ,
तस्स णं तेहिं मिच्छत्तपज्जोहेहिं परिहायमाणां हिं सम्भरंण-
पज्जवेहि वट्ठमाणां हिं, से विजंजे अन्नाणं सम्मत्तपरिग्ग-
हिंए खिप्पांमव आही परावत्तइ ।।

(तस्स चि) योऽश्रुत्वेव केवलज्ञानमुत्पादयत् तस्य कस्या-
पि “ उटं उट्ठणमित्यादि ” च यत्कम्प, तस्याः पद्यतप-
श्चरणवता बालतपस्वनेना विभङ्गज्ञानविशेष उत्पद्यत इति
ज्ञापनार्थमिति । (पणिज्जिय चि) प्रशुद्ध, घृत्वेत्यर्थः । “ पगइ-
भइयाए ” इत्यादीनि तु प्राग्वत् । (तथावराणं जाणं ति) वि-
ज्जज्ञानावरणीयानां (ईहापोहमणगवेसणं करेमाणस्स चि)
इहेहा स्वर्धाभिमुखा ज्ञानचेष्टा, अपांइस्तु विपक्वनिरासो,
मणिणं चाऽवश्यधर्मात्ताचनं, गयवणं तु व्यतिरिक्तधर्मात्ताच-
नमिति (सेसं ति) असौ बाह्यतपस्वी (जीवे वि जाणइ चि)
कथञ्चिद्वच न तु साक्षात्, मूर्तेर्गोचरत्वात्तस्य । (पासंइह्यं ति)
व्रतस्थानं (सारंजसपरिग्गं हिं चि) सारम्भान् सपरिग्रहान्वसतः ।
किंचिधान् जानातीत्याह— (संकिस्ससमाणे वि जाणए चि)
महत्या संकिश्यमानतया संकिश्यमानानां वि जानाति (विमु-
ज्जमाणे वि जाणइ चि) अट्टीयवसा विमुज्जमानतया विमुज्ज-
मानानां वि जानाति, आरम्भादिमतामवंबेस्वरूपत्वात् । (सेसं ति)
असौ विज्जज्ञानी जीवाजीवस्वरूपत्वात्तस्य संकिश्यमान-
तादिज्ञापकः सन् (पुत्तामेव चि) चारित्र्यप्रतिपत्तेः पूर्वमेव,
(सम्मत्तं चि) सम्यग्भावं (समाणधम्मं ति) साशुद्धधर्मं (रोण-
इ चि) अरुचे चिकीर्षति वा । (ओहीपरावत्तइ चि) अवधि-
र्भवतीत्यर्थः । इह च यथापि चारित्र्यप्रतिपत्तिमादावितिषाय
सम्यक्त्वं परिग्रहीतं, विज्जज्ञानमवधिर्भवतीति पश्चादुक्तं,
तथापि चारित्र्यप्रतिपत्तेः पूर्वं सम्यक्त्वं प्रतिपत्तिकाल एव भव-

हृत्तानस्याधिमात्रो हृदयः; सम्यक्त्वचारित्रभावे विभङ्गहान-
स्वाजावाहिति ।

अथमेव खरयादिनिर्निकल्पकाह-

से एवं भंते ! कद्दु लोत्सामु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु
विमुक्कल्लेस्सामु होज्जा ! नं जहा-तेउल्लेस्साए प्पहल्लेस्साए
सुक्कल्लेस्साए । से एं जंते ! कद्दु नाणेसु होज्जा ? । गो-
यमा ! तिसु आधिणिकोदियनाएसुयनाएआंहीनाणेसु
होज्जा । से एवं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ? ।
गोयमा ! सजोगी होज्जा, नो अजोगी होज्जा । जदि
सजोगी होज्जा, किं यणजोगी होज्जा, बद्द जोगी कायजोगी
वा होज्जा ? । गोयमा ! यणजोगी होज्जा, बजोगी होज्जा,
कायजोगी वा होज्जा । से एवं जंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा,
अण्णगारोवउत्ते वा होज्जा ? । गोयमा ! सागारोवउत्ते
वा होज्जा, अण्णगारोवउत्ते वा होज्जा । से एवं जंते !
कयरम्मि संघयेणं होज्जा ? । गोयमा ! बहरंसहनासायसंघय-
णं होज्जा । से एवं भंते ! कयरम्मि संठाणे होज्जा ? । गोयमा !
अहंए संठाणाणं अक्षयरे संठाणे होज्जा । से एवं भंते !
कयरम्मि उच्चं होज्जा ? । जहंअणं सचरण्णिए उक्का-
मेणं पंचयणुमए होज्जा । से एवं जंते ! कयरम्मि आ-
नए होज्जा ? । गोयमा ! जहंअणं साहंरगइत्तासाउए उक्का-
सेणं पुव्वकोट्ठाअण्णए होज्जा । से एवं भंते ! किं सवेदए
होज्जा, अवेदए होज्जा ? । गोयमा ! सवेदए होज्जा, नो
अवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा, किं इत्थिवेदए
होज्जा, पुरिसवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए होज्जा, नपुंस-
गवेदए होज्जा ? । गोयमा ! नो इत्थिवेदए होज्जा, पुरिस-
वेदए वा होज्जा, नो नपुंसगवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए
वा होज्जा । से एवं जंते ! किं सकसाई होज्जा, अकसाई
होज्जा ? । गोयमा ! सकसाई होज्जा, नो अकसाई होज्जा ? ।
जइ सकसाई होज्जा से एवं जंते ! कद्दु कसाएसु होज्जा ? ।
गोयमा ! चउसु संजइणकोहमाएमायालोनेसु होज्जा । तस्स
एवं भंते ! कद्दव्वा अउज्जवमाणा पक्खा ? । गोयमा ! असंखेज्जा
अउज्जवसाणा पक्खा । ते एवं भंते ! किं पसत्था, अप्पमत्था ? ।
गोयमा ! पसत्था, नो अप्पमत्था । से एवं जंते ! तेहिं पसत्थे-
हिं अउज्जवसाणेहिं बह्ममाणेहिं अणंतेहिं नेरइयजवगहणे-
हिंतो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं तिरिकलजोणियं
जाव विसंजोएइ, अणंतेहिं मणुस्सभवगहणंहीतो अप्पाणं
विसंजोएइ, अणंतेहिं देवजवगहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ,
जाओ वि य मे इमाओ नेरइयतिरिक्कवओ । णयमणुस्सेदवग-
नामाओ चत्तारि उचरण्णमाओ य, तासिं च एं उवगण्णि
अणंताणुबंधी कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइचा अपक्कवा-
एकनाए कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइचा पक्कवाणा-

वरणे कोहमाणमायालोभं खवेइ, खवेइचा संजलणे कोह-
माणमायालोभे खवेइ, खवेइचा पंचविहं नाणावरण्णजं
नचविहं दरिमणावरण्णजं पंचविहं अंतसारयं तालमत्था-
कदं च एवं मोहण्णिजं कद्दु कम्मरयविं कएणकरं अणुक्कवर-
णं पविट्ठस्स अण्णंते अणुक्कंर निन्वाघाए निरावरणे कसिणे
पंचिपुएणे केवल्लवरनाण्णदसणे समुपपजइ ॥

[स एवं भंते ! इत्यादि] तत्र [स एवं ति] एवो विभङ्गहानी मूत्वा-
प्रवर्धनानं चारित्रं च प्रतिपन्नः [तिसु विमुक्कल्लेस्सामु होज्जा ति]
यतो भावलेइयासु प्रशस्तास्येव सम्यक्त्वादि प्रतिपद्यते, नावि-
शुद्धास्त्विति । [तिसु आधिणिकांदिइयत्यादि] सम्यक्त्वमरित-
भूताधिष्णानानां विभङ्गविभवसैनकाले तस्य युगपद्भवादा-
ये हानत्रय एवास्ती तदा वसंत इति । [आं अजोगी होज्जा ति]
अवधिष्णानकाले अयं गिन्ध्याभावाद् [अजोगी] इत्यादि च
एकतरयोगप्रधान्यपेक्षयाऽन्यत्त्वम् [सागारोवउत्ते वेत्त्यादि]
तस्य हि विभङ्गहानान्निवर्तमानस्योपयोगद्वयेऽपि वर्त्तमानस्य
सम्यक्त्वावधिष्णानप्रतिपत्तिरस्तीति । ननु-“सव्वाभ्रा लकीभ्रो
सागारोवअंगोवउत्तस्स भवंति” इत्यामाम्नाकारोपयोगे स-
म्यक्त्वावधिष्णानविरोधः ? नैवम् । प्रवर्त्तमानपरिणामजीवित्य-
वत्यात्सव्यागमस्यावस्थितपरिणामापेक्षया खानाकारोपयोगेऽपि
कथिधलान्नस्य सम्भवाद्दिति । [बहरोसहनासायसंघयेणं होज्जा
ति] प्रासव्येकवृत्तान्तत्वात्सस्य, केषुहलान्प्रतिषिद्धे प्रथमसंज्ञ-
न एव जवन्तीति । एवमुत्तरभाषीति । ननु- [संघयेणं होज्जा ति] विज-
ङ्गस्यावधिज्ञाचक्राने न येदु क्रयोऽस्तौत्यसी सं । इ एव । [नो इत्थि-
वेदए होज्जा ति] स्त्रिया एवविषयस्य व्यतिकरस्य स्त्रान्वत न-
वाभावात् । [पुरिसनपुंसगवेदए व ति] बहिंतकत्वादिद्वेन न-
पुंसकः पुरुषसंपुंसकः । [सकसाई होज्जा ति] विभङ्गवधिष्णकाले
कषायक्षयस्याभावात् । [च उसु संजइणकोहमाणमायालोनेसु
होज्जा ति] स ह्यवधिष्णानतापरिणतविभङ्गहानभरयं प्रतिपन्नं
उक्तः, तस्य च तत्काले चरणुपुन्यत्वात्, संघयदना एव कोधादयो
भवन्तीति [पसत्य ति] विभङ्गस्यावधिज्ञावे हि नाप्रशस्ताभ्य-
वसानस्य भवतीत्यत उक्तम्-प्रशस्ताभ्यध्वंससायस्थानानांति ।
[अण्णतेहिं ति] मननैररत्नतानागतकालभाविभिः । [विसं-
जोएइ ति] विसंजोयति, तस्यांसिधायिताऽप्यनेन्द्रादिदिति ।
(जाओ वि य ति) या अपि च । (नेरइयतिरिक्कजोणिय-
मणुस्सेदवगनामाओ ति) एवमधिष्ठानाः । (उचरण्णय-
ओ य ति) नामकर्मोधिष्ठानाया सुप्रकृतेरुत्तरभेदवृ-
त्तीनाः । (तासिं च एं ति) तासां वि वैरिक्कमायासुत्तप्रह-
सीनां, अणुच्चारण्यासां च, (उवगण्णि ति) औप्रादिकान्
उपपन्नप्रयोजनान् अनन्तानुबन्धिनः कोधमामनायालोभान् कृ-
पयति । तथा प्रत्यक्ष्यानादींश्च तथाविधानं च क्षयतीति । (पंच-
विहं नाणावरण्णजं ति) मतिज्ञानावरणादिभेदान् (नचविहं दुरि-
साणावरण्णजं ति) चणुदौशान्नावरणुचतुष्कस्य, निद्राप्रज्ञक-
स्य च मीलनाश्रयविधत्वमस्य । (पंचविहमतारायं ति) हान-
ल्लानभोगोपयोगवीर्येविशयितव्यात्, प्रज्ञाविधत्वमन्तराश्रयस्य, त-
त्कृपयतीति संबन्धः । किं कृत्स्नस्यत आह- (तालमत्थाकदं च एवं
मोहण्णिजं कद्दु ति) मस्तकं मस्तकत्वं कृत्स्नं छिन्नं यस्यास्ती मस्तक-
कृतस्तालमत्तास्ती मस्तकस्य तालमस्तककृतः । अन्वदसत्यास्यं नि-
दंशः । तालमस्तककृत इत्यत तालमस्तककृतस्य भ. अयमर्थः- छिन्न-
मस्तकतालमस्तकत्वं मोहनीयं हृत्वा । यथा हि- छिन्नमस्तकस्तालः

कीर्णो भवति, एवं मोहनीयं च कृत्वा कीर्णकृत्येति भावः । इदं कर्ममोहनीयभेदोपापसंज्ञा इत्युच्यते । अथ कस्माद्गन्तव्यमनुभव्यद्विस्वप्नश्च तत्र स्तित्वे सति ज्ञानावधारणादिति कृपयस्ये-
 वस्तुन आह— तालमस्तकस्यादि तालमस्तकस्यैव इतं क्रिया
 यस्य तसालमस्तककृतं, तदेवंविधं च मोहनीयम् । (कट्ट लि)
 इति शब्दस्यैव गम्यमानत्वात्, इतिकृत्वा इति हेतोः, तत्र कृपिते
 ज्ञानावधारणादिति कृपयस्येति, तालमस्तकमोहनीययाञ्च क्रि-
 यासाधयेत्येव । यथा— तालमस्तकविनाशक्रियाऽप्यवश्यं भाविशेषक-
 र्मविनाशेति । आह च— “ मस्तकसूचि विनाशो, तालस्य यथा
 ध्रुवो भवति नाशः । तद्वत्कर्मविनाशोऽपि मोहनीयस्यैव नित्यम्”
 ॥ १ ॥ ततश्च कर्मरजोविचिरेण कर्त्तुं तद्विष्णुपदमप्येव कर्णप-अस-
 दशापवदसायविशेषमनुभविष्येत्याऽनन्तम्, विषयानन्त्यातः अनु-
 चरं सर्वोत्तमत्वात्, निष्पाद्यते कृत्वादिनिर्माणद्वन्द्वान्, निरा-
 वारणं सर्वथा स्वावगणन्यात्, इत्यन्तं सकलार्थप्राहकत्वात्, प्र-
 तियेषु सकलस्थानां कृत्याप्यवश्यात्, केवलस्वरकृतदशान् के-
 वलमभिधानतोऽवद्वानन्तर्यायिण्या, शानं च दर्शनं च ह्यानदशान-
 नम् । समाहारद्वन्द्वः । ततः केवलादीनां कर्मपरयः । इह च
 कृपणकामः “अथमिच्छमीससम्, अद्भु नपुंसिन्धियेऽर्कं च ।
 पुमन्वेयं च खरैर्, कोहारेण च मंजुस्रणम्” ॥१॥ इत्यादिप्रधान्तर-
 प्रसिद्धो नवायमिहाश्रितः; यथा कथञ्चित्कृपणासाधनस्यैव वि-
 चकित्तत्वादिति ।

से एणं भंते ! केवलपिप्लसत्तं धर्मं आयेवज्ज वा पन्नवेज्ज
 वा पन्नवेज्ज वा ?। पो इण्डे समट्ठे । नस्यत्त एगणाएण
 वा एगवागरेणोणं । से एणं भंते ! पन्वावेज्ज वा मुंदावेज्ज
 वा ?। नो इण्डे समट्ठे, उवदेसं पुण करेज्जा । मे एणं जंते !
 किं सिञ्चन् ० जाव अन्नं करेइ ?। इंता मिञ्चन् ० जाव करेइ ।
 से एणं जंते ! किं उहुं होज्जा, अहे होज्जा, तिरियं होज्जा ?।
 गोयमा ! उहुं वा होज्जा, अहे वा होज्जा, तिरियं वा
 होज्जा, उहुं होज्जमाणं सत्तावड विपडावड गीवाड माद्ववं-
 तपरियाएसु वट्टेवेषुपव्वएसु होज्जा, साहरणं पदुञ्च सां-
 मणसवणे वा पंगवणे वा होज्जा, अहे होज्जमाणं गड्डए
 वा दरिं वा होज्जा, साहरणं पदुञ्च पायासे वा भवणे वा
 होज्जा, तिरियं होज्जमाणं पणससु कम्मवृत्तीसु होज्जा,
 माद्वरणं पदुञ्च अदादज्जीवससुत्तदेकं देसभाए होज्जा ।
 ते एणं भंते ! एगसमएणं केवडया होज्जा ?। गोयमा !
 जट्ठेणं एको वा दो वा तिमिि वा उकोसेणं दस, से तेण-
 ङ्गं गोयमा ! एवं बुद्धे, असोबां एणं केवलसिस्स वा० जाव
 अत्येगए केवलपिप्लसत्तं धर्मं जभेज्ज सवणयाए, अत्येग-
 डए केवलिं ० जाव नो लजेज्ज मवणयाए० जाव अत्येगए
 केवलनाणं उपाडेज्जा, अत्येगए केवलनाणं नो उपाडेज्जा ।
 [आद्यवेज्ज लि] आसाहयं चिच्छयानार्थापयेद्वा, प्रतिपादनतः
 पुत्रां प्रापयेत् । [पन्नवेज्ज लि] प्रहोपयेत् अदभ्रमनतो बोधये-
 द्वा । [पदुञ्च लि] उपार्णसकधनतः [णऽमन्थयणमाणसु व
 लि] न इति यांस्य निषेधः, सांऽमन्थ एकज्ञानादिकमुदाहरणं
 यज्ञिपार्यवेत्यर्थः; तथाविधप्रकल्पव्यादस्येति । [एगवागरेणोणं व

लि] एकव्याकरण्यादेकोत्तरादित्यर्थः [पन्वावेज्ज व लि] प्रमाज-
 येत् रजोहरणादिकल्पितज्ञानतः । [मुंदावेज्ज व लि] सुवृत्तयेव
 शिरोस्तुञ्जनतः [उवपल्लं पुण करेज्ज लि] अमुप्ये वार्षे प्रमेज्जत्या-
 दिकमुपदेशं कुर्यात् । “ सहायैव्यादि” शब्दापातिप्रज्ञतो
 यथाक्रमं जम्बुद्वीपप्रह्वयभिरायेण हैमवतहरिवरपर्यकेरपय-
 बन्धु, क्षेत्रसमासाभिप्रायेण तु हैमवतैरपयवतहरिवरपर्यकसु
 जवन्ति, तेषु च तस्य भाव आकाशगमनवैधिसंपन्नस्य तत्र गा-
 तस्य कश्चिद्गन्तव्यादिषु सजायं सति [साहरणं पदुञ्च] द्वेषेन
 नयनं प्रतीय [सोमणसवणे लि] सौमनसवयं मेरी तृतीयं
 [पङ्कवणे लि] मेरी अतुर्थं (गड्डए व लि) गर्ते निक्षे भूजयं
 आधोश्लोकप्रामादीं (दरीप व लि) तथैव निम्नतरप्रदेशे (पा-
 यावे व लि) महापातालकलशे वसयामुसादी (अन्वेषे व लि)
 जयनयासिद्धेयनिवासं (पणससु कम्मवृत्तःसु लि) पञ्चभर-
 तानि पञ्चैवतानि पञ्च महाविद्वा इत्येवञ्जगणसु कर्माणि
 इत्यधिगणित्यादीनि तत्प्रधानाभूयस्य कर्मभूयस्यस्तासु (आह
 इत्यादि) अर्कं तृतीयं येयां नऽपुंत्तृतीयाः, ते च ते द्वीपांश्विति
 समासः, अर्धतृतीयद्वीपाञ्च समुद्री च तत्परिनिवासेतृतीयद्वी-
 पसमुद्राः, तेषां, स बासी विचक्षितो देशकपो भागोऽशांसेत्-
 तीयद्वीपसमुद्रतः केवलशमागः, तत्र ।

अनन्तर केवल्यादिचिन्नाश्रवणे यस्यात्, तदुक्तम्, अथ
 नच्छ्रवणे यस्यात्सादाह-

सोबाणं जंते ! केवलसिस्स वा० जाव तपक्खिवउवाभियाए
 वा केवलपिप्लसत्तं धर्मं लभेज्ज सवणयाए ?। गोयमा ! सोबा
 णं केवलसिस्स वा० जाव अत्येगए केवलपिप्लसत्तं धर्मं
 एवं जा चेव असोबाए वचवया, मा चेव सोबाए वि भा-
 णियव्वा, नवरं अग्निश्रोतो सोसत्ति, सेसं ते चेव णिरवसेसं ०
 जाव जसएणं मणपज्जवणाणारवणज्जाणं कम्माएणं खओ-
 वसेमं कमे भवइ, जसएणं केवलपाणावगणज्जाणं कम्मा-
 णं खए कमे जवड, से एणं सांच्चा केवलसिस्स वा० जाव उवा-
 भियाए वा केवलपिप्लसत्तं धर्मं जनेज्ज मवणयाए, केवलं
 बाहिं बुजेज्ज ० जाव केवलज्जाणं उपाडेज्जा, तसएणं अट्ठ-
 मं अट्ठमेणं अग्निक्खिल्लो तरोकम्मएणं अण्णायं जाव-
 माणसस पगडभयाए तहव ० जाव गंसेणं करमाणसस ओ-
 दिणाणं समुपपज्जइ, से एणं तेणं ओहिणाणं समुपपएणं
 अंगुल्लस असेखेज्जऽभागं उकोसेणं अयंखेज्जाइ अहोए
 सोअप्यमाणमेचाइ खेवाइ जाणइ पासइ । से एणं जंते ! क-
 इसु देस्सासु होज्जा ?। गोयमा ! छुमु जेस्सासु होज्जा ।
 तं जट्ठा-कएहल्लेस्साए ० जाव मुक्कल्लेस्साए । से एणं जंते !
 कऽसु णाणेसु होज्जा ?। गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा,
 तिसु होज्जमाणं तिसु आभिणिवांहायणासुअण्णआ-
 दिणाणंसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे आभिणिवांहायिणाए-
 सुअण्णआदिणाणामपज्जवणायिसु होज्जा । से एणं जंते !
 किं सजागी होज्जा ?। एवं, जोगोवआगो संययासंजाणं
 उच्चचं आउयं व, एयाणं सव्वाणि न्हा असोक्खाए तहव

असोच्चा

भाणियवशाधि । से एं जंते ! किं सवेदए पुच्छा ? । गोयमा ! सवेदए वा होजा, अवेदए वा होज्जा । जइ अवेदए वा होजा, किं उयसंनवेदए, खीणवेदए होजा ? । गोयमा ! एो उवसंतवेदए होज्जा खीणवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा पुच्छा ? । गोयमा ! इत्थीवेदए वा होज्जा, पुरिसवेदए वा होज्जा, पुरिसएणुंसगवेदए वा होज्जा । से एं भंते ! सकसाई होज्जा, अकसाई होज्जा ? । गोयमा ! सकसाई वा होज्जा, अकसाई वा होज्जा । जइ अकसाई होज्जा, किं उवसंतकसाई होज्जा, खीणकसाई होज्जा ? । गोयमा ! एो उवसंतकसाई होज्जा, खीणकसाई होज्जा । जइ सकसाई होज्जा से एं भंते ! कइसु कनाएसु होज्जा ? । गोयमा ! चउसु वा तिसु वा दोसु वा एकम्मि वा होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु संजलणकौट्टमाणपायालोजेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु संजलणमाणपायालोजेसु होज्जा, दोसु होज्जमाणे दोसु संजलणमाणपायालोजेसु होज्जा, एकम्मि होज्जमाणे एकम्मि संजलणलोजे होज्जा । तस्म णं जंते ! केवइया अज्जवमाण पमत्ता ? । गोयमा ! । असंसवेज्जा, एवं जइ। असंचाए तहव० जाव केवलणाणं समुप्पज्जइ । से एं जंते ! केवलपमत्तं धम्मं अप्रावेज्ज वा पमवेज्ज वा परुवेज्ज वा ? । इंता गोयमा ! अप्रावेज्ज वा पमवेज्ज वा परुवेज्ज वा । से एं जंते ! परुवेज्ज वा पुंकावेज्ज वा ? । इंता पकावेज्ज वा मुंकावेज्ज वा । से एं जंते ! मिज्जइ बुज्झइ० जाव अंतं करइ । तस्म णं जंते ! सिस्सा वि सिज्जंति० जाव अंतं करंति ? । इंता सिज्जंति० जाव अंतं करंति । एवं जंते ! पसिस्सा वि मिज्जंति ? । एवं चव० जाव अंतं करंति । से एं जंते ! किं उडं होज्जा, अहं वा ? । जइा असोच्चाए० जाव तदेकदेसभाए होज्जा । से णं जंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ? । गोयमा ! जहसएणं एक्कां वा दो वा तिसिं वा, उकोमिणं अट्टसए, से तएण्टेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, सोच्चा णं केवलिसस वा० जाव केवलिसवासियाए वा० जाव अत्रयेगइया केवलणाणं उण्णामेज्जा, अत्रयेगइया केवलणाणं णो उण्णामेज्जा ॥

(सोच्चाणमित्यादि) अथ यथैव केवलयादिवचनभाष्यपावात-
 बोधार्थः केवलज्ञानमुपपद्यते. न तथैव तन्पुण्यपावातव्यादेः कि-
 न्तु प्रकारान्तरेणैति दशोयितुमाह— "तस्म णमित्यादि" [तस्स
 लि] यः सुत्वा केवलज्ञानमुत्पादयेत्तस्य कस्यापि, अथात्मविप्र-
 लम्बयत्तान्कारित्तिसिद्धस्य "अहमं अहमेणं" इत्यादि च यदु-
 क्तं, तत्रार्थो विकृष्टतन्मकारणतः स्याद्योच्यधिकज्ञानमुपपद्यत इति
 ज्ञापनार्थमिति [लोचयपमाणमंसाई ति] लोकादय यत्रमाणं प्रा-
 भा, तद्वच परिमाणं यथां तानि तथा। अथेनमेव वेदयादिर्निर्दि-

पयकाह—[से णं भंते ! इत्यादि] नत्र [से णं ति] सोऽनन्तर-
 कथिशेषणोऽर्थावधानी। छुसु तेसासु होज्ज [लि] यद्यपि भाव-
 सेदयासु प्रशस्त्यास्येव तिसुधवधिज्ञानं ज्ञमते, तथापि द्रव्यसं-
 द्रया- प्रतीत्ये वदत्स्यवि श्रयासु ज्ञमते, सत्यकथ्यतवत् । यदाह—
 "सम्मत्तसुं संख्यासु लजइ [लि] तज्ज्ञाने चासौ वदत्स्यपि जय-
 तीत्युच्यत इति । [तिसु व [लि] अथधिकानस्याऽऽप्यज्ञानस्योपाधि-
 नाचूतत्वाद्वाधिकृतार्थावधानी त्रिसु ज्ञानेषु भवेदिति । [चउसु वा
 होज्जा [लि] इतिभूतमनःपर्यवधानिनोऽवधिज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानचतु-
 द्ययजावाच्चतुषु ज्ञानैस्त्वधिकृतार्थावधानी जयति । [सवेयए वे-
 त्यादि] अक्षाणवदस्यावधिज्ञानोत्पत्तौ संबद्कः ससवधिज्ञा-
 नी भवेत्, क्तीयावदस्य वाऽवधिज्ञानोत्पत्तावयद्कः ससव्यं स्या-
 त् [नो उवसंतवेदए होज्ज [लि] उवसंतवेदोऽयमवधिज्ञानी
 न भवति, प्रासव्यकेशज्ञानस्यास्य विषयित्तत्वादिति । [सकसाई
 वेत्यादि] यः कथायक्येव सत्यवधिं लजते स सकपायी ससवधि-
 ज्ञानी भवेत्, यस्तु कथायक्येऽसावकपायीति [चउसु वेत्या-
 दि] यत्तल्लोकपायः ससवधिं ज्ञते तदाऽयं चात्रियकृत्वाच्च-
 तुषु संजलनकथायेषु जयति । यदा तु क्षपकभेणिवकिंनेन सं-
 जलनकोधिं कीणं ऽपि ज्ञमते, तदा त्रिसु संजलनमामादिषु,
 यदा तु तथैव संजलनकोधमनयोः कीणोपत्सदा द्वयोः, एवम-
 कत्रेति । म० ए० श० ३१, ३० ।

भगवतीनवमशतकोत्प्रेऽशुवाकेशसौ धर्मोपदेशं दत्ते न वे-
 त्यत्र एकं ज्ञानं एकं प्रश्नं च मुक्त्वा धर्मोपदेशं न दत्ते इति
 तत्रैवोक्तमस्तीति । ही० २ प्रका० ।

असोखिय—अशोणित—वि० । अकथिरप्राते, पञ्चा० १६ वि० ।

असोम्मगहचरिय—असोम्यग्रहचरित—न० । हूरग्रहचारे, प्र-
 भ० २ आश्र० द्वार ।

असोपशया—अशोचनता—स्त्री० । शोकानुत्पादने, पा० धा० ज० ।

असोद्विष्टाण—अशोषित्याण—न० । कुशीलसंस्क्रम्योम, श्राव० ।

अस्स—अश्व—पुं० । घोटके, दश० १ अ० । तं० । प्रक्षा० । अश्विनी-
 नक्षत्रेवतायाव, ज्यो० १५ पाठु० । सु० प्र० । " द्वा अस्सा "
 स्या० १ डा० १ उ० ।

अस्व—पुं० । न विद्यते स्वं उव्यमस्य सोऽयमस्वः । निग्रंथे,
 प्राचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अस्मकस्य—अस्वकस्य—पुं० । अश्वमुजस्य परतोऽन्तर्हीय, नं० ।

अस्सकस्यी—अस्वकस्यी—स्त्री० । कन्दभेदे, भ० उ श० २ उ० ।
 जी० । प्रक्षा० ।

अस्सकरण—अश्वकरण—न० । यथाऽश्वानुद्विश्य किञ्चित् क्रियते
 तस्मिन् स्थाने, प्राचा० २ श्रु० १० अ० ।

अस्सचोरग—अश्वचोरक—पुं० । घोटकचौरं, प्रभ० ३ आश्र० द्वार ।

अस्सतर—अश्वतर—पुं० । एकसुर [लच्छर] भेदे, प्रक्षा० १ पद ।

अस्समुह—अश्वमुत्त—पुं० । आदशमुजस्य परतोऽन्तर्हीय, प्रक्षा०
 १ पद । नं० । (' अंतरहीय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२ पुं० ऽ-
 स्य वर्णक उक्तः) अश्वकारमुत्तं पुत्रवाकारोऽप्याहं च कि-
 षंते, वाच० ।

अस्तमेह—अत्रवमेध—पुं० । अशो मेष्यते हिंस्यते ऽत्र । मेध—घञ् । पञ्चमेधे, बाच० । "वद् सद्दृष्टानि युज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनाद्, न्यूनानि पशुमिच्छिभिः" ॥ १ ॥ अत्रु० । विशे० । स्या० ॥

अस्तसेण—अश्वसेन—पुं० । पार्श्वनाथस्य जिनस्य पितरि, प्रथ० ११ द्वारा । आच० । चतुर्थेऽथ महाहमे, सं० प्र० २० पाठु० । वृ० प्र० । स्या० ।

अस्ताउदिसु—असादीदीर्य—त्रि० । असादनेन कर्मणोदीरिते, प्रथ० ३ आश० द्वार ।

अस्ताएमाण—अस्तादपत्—त्रि० । ईषत्स्वादपति इष्टुजयडादे-रिव बहु त्यजति, भ० १२ शृ० १ उ० । आवा० ।

अस्तात—अस्ताद—पुं० । रत्ननाऽऽह्लादके स्वादे, वृ० १ उ० ।

अस्तामित्त—अस्तामित्त्न—न० । निःसङ्कतायाम्, पं० ब० ७ द्वारा

अस्तावोदितित्य—अस्तावोदित्यतीर्थ—न० । स्वनामक्यते तीर्थे, ती० ।

नमिऊण मुव्वयजिणं, परोवयायिक्करिसिअमसिअकं ।

अस्तावोदितित्य-स्त कप्पमपं भणामि अहं ॥ १ ॥

सिन्धुपुराणो पयथाए ढाणगरवाथिए सत्तिआअणानि त्रिथिअ पार-रुअस्तमेह जणेषु जियसकुआआ निअसेणा-तुरगमं सव्व-लत्थणसयणं होमिउं मुआकुओ । इमो अइअणआओ तुगइं जादि चि पडिवाहंउं लाइदंसमइणं नमय्यायइअंअंअणिए अ-रुअअनये कोरिटवणं पत्ता । सअसरणे पया ओआा वंदिउं, राया वि गयाकडा आगम्म भगवते पणामिओ । इयथेउं सो हरी सिआय विहरेतो नियसपुरिसंहि समं तथयाओ साभिणो क-थमप्वडिऊवं पासितो निअओ संजाओ । सुआ य धम्मदंसणा । तेण जाणिअं अ सों पुव्वजयो भगवया । जहा पुव्वभवे इहेव जुबु-हीवं अवराविदेह पुक्खअविजए वंपाए नयरीए सुरासिओ नाम राया अहमासि, मअपरमसिअं तुम मइसारो नाम मंती बुटया । अइं नइयुगुठपायमूडे दिक्खं पडिअजिय पत्ता पाणय-कणं । तथ वीसं सागरोवमाइं आउं परिपणिसत्ता तओं सुओ इ तिअथरो जाओ । तुम क ववउिअअ नराओ आइहे वासे पडमि-जिउंसनयरे सागरदसो तुम सयववाहो अइंसि मिअइवि-डु । विणोओ अ । अथया तुमप सत्थयणं त्थवायणं, तपुपयण-थं व आरामो रोविओ । आयओ अ योो तस्स चित्तकरणे निअओ, गुडआए सं णं सयओ वि किरिआओ सव्वावि-नें तुम कालं गमेसि, जिणअमनामयणं सावरणं सउकु अया पयमा मिअं, तेण सत्थिं पयया गओ तुम साहुसगासं । तेहिं दे-सणंउं भणिंयं-"जा कारवेइ पदिमं, जिणण अंगुटुपव्वमिस-सिम् । तिरिनरयगइउवारे, नूणं नेणुअमला दिआ" । एवं सोऊण तुम गिहेमाणं नू गु कारिआ इममरें जिणंदयकिमा, पइडुविऊण तसंके पुइउमाठसो । तं अणइअइसंपसे माहमासे लिंगपूर-णपवं आराहेउं तुमं सिआवयण पत्ता । तओ जडाधारीहिं वि रसं विअ घयं कुंभीओ उत्तरीओ लिंगपूरखयं । तेण लम्भाओ धयापयणिलियाओ, जअपहिं निअं यपारिहिं माइअणआओ इ-दूख निरं धूणिअत्ता सारिउं लम्भो तुमं । अओ ! एयसिं देसणीण वि निइयया । अइरारिसा निहिणो वराया कइं जीवदं य पाइर-

स्तंति ? तओ निअवेणं वलाहिं ताओ पडमजिया कओ तुमं तेहिं निऊणियवरे धम्मसंकरकारयअरदेतपासंरीहि व चिअंविअसि लि । तओ सों सव्वधम्ममाविहो जाओ, परमांकावयो अयमर-सिअं लोअं इंसंतो मायारं तेहिं तिरिआओ अर्धांधिता अवं म-मिऊण जाओ तुमं रायवाइणं तुगंजा । तुऊं वेष परिआहणयं अइयाण वि मिआणुगमणं ति । साभिणो घयणं सुआ तस्स आयं आइस्सरणं । गहिआ य सअस्यमूलदेसविअ, पक्खआयं सविअं फासुअं तेण नीरे क गिएइइ, कुआसे निआहिअ सि अ सों मरिऊण सोहमो मरिहिआं सुरो जाओ । सों अहिआ मुणिअ पुव्वजयं सामिसमोसरणठाणे रयणयं वंअअकफाले । तथ सुव्वयसाभिणा पडिमं अण्णायं अ अस्तसकं उअिअ गओ सुराअयं । तथो अस्तावयोहित्यं तं पालिं । सो देवो उअिअसं-घयिअइयणं तित्थं पनाविता कालेण नरनेध निअइइइ । काइंनरेण सउंअिआविहाइ त्ति तं तित्थं पालिं । कइ ? इहेव अ-बुहिं सिअइदीवं रयणदेसं सिरिपुननयरे वंदगुलो राया । तस्स वंदवेडा मरिआ । तीसं सत्तए पुणायं उअरं नररत्ता देवी आगइणं सुदेसणा नाम धूआ जाया; अइ । अस्तकलविजजा पत्ता सुव्वणं । अथया अथ्याणु ए उअंगरायाए तीसं धणंसरो नाम नेगमो जरुअअकुओ भागते । विउअपासत्तिअनियउ अयं व वा-णिअ य ह्यीयं । तेण नमो अरहेताणं ति पदिअं सोउं मुअिआ सा, बुडिओ अ अथयिअ, पत्त वेणयाए य जाइस्सरणमुअया ए-सा इदूख धम्मबंधुं त्ति मोअओ । रआ मुअ्हाकारणं पुअिअयाए तीए भणिअं-अइ । इदं पुव्वअवं जरुअअने नमयातीरे कोरिटव-यं वरुपायवे सवलिआ आसो । पाउसे अ सत्तरसे महाडुइ जा-या । अइमहिणं वहाकिंसेता पुए जमंतो इदं बाहस्सपंअणा-ओ आसमं चित्तु उअ्णीण, वरुसोहे निविअ य, अलुपयमाग-एण वादिण संयणं विआ, मुआओ पडिअं पत्तं, सरं क गिएसिना गओ सोअइट्टायो । तथ कणं रसंती उव्वसणपरिअअणपरा दिडु-पासेण सुंरिणा, सया य अलपत्तअणं, विओ पंचनमुआो स-हिओ अ मए । मरिऊण अइ तुअ धूआ जायं ति । तओ सा विस्-यविरत्ता महाअनिअणु पिअर आपुअिअ तणेव संजातपण स-हिं पडिआ वाइणाणं सत्तसएहिं अइअइ, तथ पोअसवं व-त्थायं पोअसय इव्वनिअयायं, एव वंदणागसइहाअ अअसिअ-णाणं नागाविइ पअअकफलां, पहरणाणं एवं कुसया पोअणं प-आसं, सयधराणं पआसं पाहुआयं, एवं सत्तसयवाइण-जुत्ता पत्ता समुइतीरे । तओ रआ तं वाइणवुं सिदेसे-सअअकवंदसलया मअिआए सेणुए पुररुआमिआ-रणायंतुं पाहुउं वंदाओ सुइंसणा आगमणेणं विअत्तो राया तेण सजासेपण । तओ सो पओणीए निआओ । पाहुइ-हाइण पणमिओ । कआए यवेसयहुसवो अ जाओ । विउं तं व-इअं, विहिआ वंदिअं पूअसं अ, तित्थोववासो अ कओ, रआ दि-अ पासा पडिअं आ रायणा य अइ वलाउताइं अइसया माआणं अइसया वण्णायं अइसया पुरायं विणण, एयादिने अ अजिअं भूमिं तुगंजा अइ, तसिअं पुव्वविअए, अत्तिसव इ हिउं तं अ, तसिआ पडिअमाए दिअण । उवरोहेण सव्वं पमिअणं । अथया तस्सवायपरियस अस्से निअपुव्वअयं पुव्वइ । जहा-अयवं ! केण कम्मणा अइं सउत्तिआ जाया, कइ व तेण थाइण अइं निइय-सि ? आयरिणिहिं भाणअं-भं ! वअपुअयए उअरसेओ इअइअमा नाम नयरी । तथ विजआहरिं संओ नाम राया तम्म विअजया-भिहाया तुमं धूआ आसिं । य अलया वादिणसेहुंए माइसाम

वर्षतीयं तुमय नईतडे कुकुकुडसण्या दिठो । सोय रोसवसेणं तप सारिओ । तथ नईय तीरे जिणावयणं द्दुल्लु वंदिअ भयवओ विंषे परमत्तपिपरवसाय तुमय । जाओ परमाणंदो । तओ वंदेइयाओ निगच्छुतीयं तुमय दिट्ठा पया पिरस्समखिआ साहुणी । तीय पाय वंदिता धम्मओहिआ अज्जाय तुमं । तुमय विंसीसे विस्सायणाईहि सुस्ससा कया, चिरे गिहमागया । काणेण कालधम्मं पवथा अट्टअकणपराइया कोरंयवणे सउणी जायतुमं । सो अ द्दुकुडसण्या मरिक्खु बाहो संजाओ । तेण पुववरेणं सवणीभवे तुम वायेणं पइया । पुव्यभवकयाप जिणअनीय, गिलाणसुस्ससाय अ भंते बोहि पत्तास तुमं । संपयं पि कुणसु जिणप्यथीं भं दानाएधम्मं ति । पये तुकणं वययं सुखा सव्ये ते द्दवं सत्तजिणीयं वि वेह । चइअस्स उकारं करइ । चउवीसं च देवकुणयाओ पोसइसाआ-दानासाआ-अज्जयणसाआओ कोरइ । अओ ते नित्यं पुववभवनामेणं सउडिअविहाक ति मइइ । अंतो य संसेहणं द्दवमभावपिअं कोरं कयाणसा सा वरसाहे सुदपंचमीय ईसायं देवलोमं पत्ता । सिरिसुववयसामिंसिदिगमणाणंतरे इकरसेहि लक्खेहि चुलसीसइदस्सेहि चउसयसलरेहि च वासायं अइपीहि धिक्खसाहिय खं सवच्छरो पइहा । जीवंतसुवयसामिअविक्रपाए पुण पयारसलक्खेहि अइवादीसुणपंचयवइसहस्सेहि च वासायं धिक्खे मायी । एसा सउडिअवावहारस्स उणपी । लोइअतिथाण अणेगाणि मइअथं वट्ठंति । कमेण उदयपुअं वाहमद्वेवणं सित्तंजय-पासायउच्चार कारिय, तदसुजेण अंबडेण पुणइय सउडिअविहारस्स उड्डाणं कारिओ । मिच्छदिठायं सिधवादिवांए अंबडस्स पासायसिहरे नचंतस्स उवसग्गो कओ । सो उ निगाओ विउजायलेण सिरिइमचंदसुरीहि । "अस्सायवोहितित्थ-स्स एम कणो समासओ रइओ । सिरिजिणपइसुरीहि, अनियाई पडिउज तिकाळं" ॥ १ ॥ अस्सायवोचकल्पः समाप्तः ॥ १० ॥ कइय ।

अस्सावि (ण) -आसाविण्-त्रिं० आ समनतां स्रवति तच्छील आस्रावी । सच्छिन्न, सूत्र० । "जहा अस्साविणि नायं, जाइ अंधो दुक्कइए ।" सूत्र० १ सु० १ अ० २ उ० ।

अस्मि-अस्मि-पुं० । चतुर्द्विग्विभागोपलक्षितासु कोटिषु, इथा० ६ ठा० ।

अस्मिन्-पुं० । अस्मिन्वया देवतायाम्, इथा० १ ठा० १ उ० ।

अस्मिणी-अस्मिनी-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्र० । इथा० । अजु० । मखिवन्धा अरवो देवता । सू० प्र० १० पाहु० । "अस्मिणी नक्षत्रंते नितारे पणत्त ।" स० ३ सस० ।

अस्सेमा-अस्सेया-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्र० । विंश० ।

अस्सोकंता-अश्वोकान्ता-स्त्री० । मध्यमप्रासस्य पञ्चम्यो मूर्च्छनायाम्, इथा० ७ ठा० ।

अस्सोती-आश्वयुज्जी-स्त्री० । अश्वयुजि अवाऽऽश्वयु जी । अश्वयुक्कमासजाविन्ध्याममायां, पैणमास्यां च । खं० प्र० १० पइ० । सू० प्र० ।

अस्तवदि-अथेपति-पुं० । "अथेपतिः स्तः" । १ । २९१ । इति श्वेतः । "पे वः । ८ । १ । २३१ । इति पथ्य वः । धनिनि, प्रा० ४ पाद् । कुं० ।

अह-अय-अव्य० । आनन्तर्यं, प्रा० सू० ४ अ० । सूत्र० । नि० सू० । दश० । प्रनु० । क्र० प्र० । उपप्यासं, नं० । वक्तव्यान्तरापप्यासे, उक्त० ३ अ० । अयसानमङ्कलायं, सूत्र० १ सु० १६ अ० । वाक्योपपत्यासे, आवा० १ सु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । उपप्रदर्शने, आवा० १ सु० ८ अ० १ उ० । उक्त० । पदान्तरयोत्तमे, ज० ५ श० ६ उ० । विकल्पे, जी० १ प्रति० । विशेषे, इथा० ७ ठा० । प्रकियादिचयैषु, यत उक्तम्-अथ प्रकिया प्रज्ञानन्तर्यमङ्कलापस्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु । सू० १ उ० । जी० । आ० प्र० । दश० । अजु० । इथा० । प्रअ० । यथार्थे, आ० म० प्र० । वाक्यालङ्कार, सूत्र० १ सु० ७ अ० । पादपूर्णे, पञ्चा० १ ए वि० ।

अयत्-न० । अथतदनुद्वायं, आवा० १ सु० १ अ० ५ उ० । इथा० । सू० प्र० । जीवा० । अथगतौ, "अहा चित्तु" प्रअ० ३ आअ० । अथालोके, इथा० ३ ठा० ४ उ० । दिग्भेदे, इथा० ६ ठा० ।

अदं-अदस्य-असदः । सिता सहाऽऽमादेशः । प्रा० । "णे ण मि अमिं०" ॥ ८ । ३ । १०७ ॥ इत्यादिसुत्रेण अस्मदोऽस्मा सहाइ-मादेशः । प्रा० ३ पाद् । आत्मनिदेशे, आ० म० प्र० । आवा० ।

अदकार-अदङ्कार-पुं० । अहोऽह, नमो मह्यमित्येवमदङ्करणमदङ्कारः । निश्छिन्नेषु वहुमाने, विशेष० । ऐश्वर्यव्याप्त्यादिमदजनिते अस्मिमाने, सूत्र० १ सु० ८ अ० । सुकहं न दुःखान्त्येव-मात्मनः प्रथय, सूत्र० १ सु० २ अ० । अ० म० । अहमित्ति स्वभावेनोन्मादपरे परमावकरणे कर्तुनाकूपे, अष्ट० ४ अष्ट० । सूत्र० । अहं शब्देऽह शब्दोऽहं गणेऽह रूपऽह रूपेऽह स्था-मी अहमीश्वरोऽस्मी मया हतः, मसत्याऽसु हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपे, इथा० ५ अ० । अस्मिमाने, आवा० ३ अ० । यथात्-करणप्र-हमित्युक्ते खनविषयं वेदयते । अ० २ ठा० । बुद्धिरेवदङ्कारव्यापारे जनयन्ती अदङ्कार इत्यन्वये । अ० ११ ठा० ।

अदकम्-यथाकम्-अव्य० । यथापरिपाटी इत्यर्थे, दश० ४ अ० ।

अदकलाय-अथा(यथा)क्यात्-न० । अथशब्दो यथार्थे, आह अर्थावयौ, याथातथ्येन, अनिनिधिपना च यत् आक्याने, कथितमकथायं चारिप्रमिति । तदथाक्यातम् । यथा सर्वस्विन्न जीवलोकेश्याते प्रसिद्धमकथायं भवति चारिप्रमिति तथैव यत् तद्व यथाक्याते प्रसिद्धम् । अ० म० प्र० । आर्थे यकारलोपः । प्रा० २ पाद् । अकथायं चारिरे, आ० सू० १ अ० । पञ्चा० । पं० सं० । विशेष० ।

अथ यथाक्याते विवृणुवन्नाह-

अदसरो जादत्ये, आर्कोऽनिविहीर्णे कट्टियमकलायं । चरणमकनायमुदितं, तमहकलायं नदकलायं ॥ ११७७ ॥ अन्त्येत्ययं याथातथ्यायै, आह अनिनिधौ, तन्नञ्च याथातथ्येना-जिधिपना वाऽऽक्याते कथितं यदकथायं च चरणं तदथाक्या-तम्, यथाक्याते वा उदितमिति ॥ १२७७ ॥

एतच्च कतिविधिमियाह-
तं दुवियापं ल्छुम-त्येकवलिविहाणो भुणेकेकं । स्वयसपज-मजोगाजो-मिकेवलिविहाणो भुणेकेकं । तच्च यथाक्यातचारिरे अथाकवलिसामिनेदत्त द्विविधम् । लुप-स्वसंघेय पुनरपि द्विविधम्-कोहकृपसमुत्थं तदुपशमप्रत्ये च ।

केवलिसंबन्धयपि सयोग्ययोगिकवशिनैवेतो द्विविधमेवेति । १२२०।
विद्यो । पञ्च । उच्च । आ० म० । अ० । तद्वि द्विविध-
सुपधमककयकअंगिमेदात् । शेषं तथैवेति । ज० २ श० २ उ० ।

अहम्कलायसंजम-अथाख्यातसंजम-पुं० । अथशब्दो यथाधं-
यथाऽऽक्यायतस्येयः । अथात्तमिहितमथाक्यात् । तदेव
संयमोऽथाक्यातसंयमः । अयं च लुप्तशब्दोपशान्तमोहस्य क्षी-
णमाहस्य च स्यात् कवलिनः, सयोगस्याऽयंगस्य च स्या-
दिति । अक्यायसंयमः, स्या० ५ ग० २ उ० । कर्म० ।

अहम्कलायसंजय-अथाख्यातसंजत-पुं० । अक्यायचार्त्तिजिणि,
"अहम्कलायसंजय पुच्छा गीयमा । दुःखिहे पणसे । ते जटा-उड-
मथं य केवली य " । ज० २५ श० ७ उ० ।

अहट्टाण-यथास्थान-न० । स्थानमनतिक्रम्यत्यर्थे, ज्ञा० १ ज्ञा० ।

अहत (य)-अहत-त्रि० । अकृते, अन्यथानीते च । चं० प्र०
१९ पाहु० । म्० प्र० ।

अहत-अधस्त्व-न० । जघयतायाम्, भ० ६ श० ३ उ० ।

अहत्य-यथास्थ-त्रि० । यथावस्थिते, स्या० ५ ग० ३ उ० ।

यथाथ-त्रि० । यथाप्रयोजने, यथाहृत्ये च । " अहृत्ये वा जाये
जाणिस्सामि " । स्या० ५ ग० ३ उ० ।

अहत्यच्छिन्न-अहस्तच्छिन्न-त्रि० । हस्तौ अच्छिन्नौ यस्य स
तथा । अकृतकरे, नि० चू० १४ उ० ।

अहत्यवाय-यथाथवाद्-पुं० । यथाऽविविधतवस्तुतत्त्वप्रख्यापने,
स्या० १ श्लो० ।

अहत्याप-यथास्थाम्-न० । प्राकृतलक्षणं यकारस्य होपे केव-
लं स्वरः । यथावत्ते, नि० चू० १ उ० ।

अहत्पदाण-यथाप्रधान-अव्य० । प्रधानमनुकल्प्यर्थे, यो वः
प्रधानो जन इत्यर्थः । भ० १५ श० १ उ० ।

अहम-अधम-त्रि० । अधये, अध० ४ अ० । निन्दे, उक्त० १३
अ० । निरुद्धे, "नरेदजार्ह अहमा नराणो" उक्त० १३ अ० । सुप्र० ।
सुद्धे, स्या० ४ डा० ४ उ० । (अधमपुरुषाणां मानस 'अंगुष्ठ'
शब्देऽत्रैव भागे ४४ पुष्टे उरुम्)

अहमिति-अहमन्, जित्-पुं० । अहमेव ज्ञात्यादिभिरुक्तमत्या प-
येन्नवर्नीत्यभिमानवति, स्या० ।

दमहिं ज्ञाणेहिं अहमतीति धेजेजा । ते जहा-जाहमएण
वा कुलमएण वा० जाव इममियमएण वा नागमुवन्ना वा
मे अतित्रं हृव्वपागउत्तेनि पुरिसधम्माओ वा मे उचरिण
अहोवहिण नाणदंसण ममुएण ।

(दसहीनार्दि) स्पष्ट, नवरं (अहमतीति) अहम, अम्नी इति ।
अम्नो जात्यादिप्रकल्पयेन्नोऽस्यास्तीत्यन्ती । अहमेव जात्यादि-
निरुक्तमत्या पर्येतवती । अधवाऽनुस्वारः ऽकृततयेति । अहम-
अति भतिशयचानिति । एवंविधोऽङ्गोत्तरे (धमेजति) स्तजनीयान्
स्तनभो भवेत्, माद्यदित्यर्थः । यावत्कारणात् 'बलमएण रूपमए-
ण सुयमएण तथमएण लाममएण' इति हृदयम् । तथा (नागमु-
वन्ना वा) नागकुमाराः सुयुक्तामात्राः । वा (वि कदपार्थे) । मे मम
अतिनेकं समीप ' हृद्वं ' शीघ्रमागच्छतीति । पुरपाणां प्राकृतनु-

कषाणां धर्मो ज्ञानपर्यायलक्षणस्तस्माद्वा सकशाशुत्तरः प्रधा-
नः स पवोत्तरिकः । (अहोवाहिण्ये चि) नियतकृत्वविषयोऽयधि-
स्त्वन्पूर्व ज्ञानवर्तने प्रतीतमिति । स्या० १० डा० ।

अहमहिमित्दिप्ये-अहमहिमित्तिर्द्विर्द्वि-त्रि० । अहमहित्येवं
द्वेषति, मश० ३ आश० द्वार ।

अहम्-अधर्म-पुं० । पापे, सूत्र० १ भु० १ अ० २ उ० । दशा०
सावधानुष्ठाने, दशा० ६ अ० । अधर्मस्य वयो वदति, नि० चू० ।
जे जिकस्व् अधम्मसत्त वधं वदद्, वदंते वा साइउजद् । १ १ ३ ।

हह अहम्नो नारहरामायणादि पावसुत्तं, चरगादियाण्य या-
जपचमिगतवादिद्या यथाविसंसा, अहवा-पाणादिद्या मिच्छाद्-
सण्यपञ्चवसाणा अकारस पावधणा, एतेसि वन्मं वदतीत्यर्थः ।

एमेव गोमो नियमा, वोच्चत्ये टोति त अहम्मे वि ।
देसे सज्वे य तहा, पुब्जे अवराम्म य पदम्मि । ३ ३ ॥

वोच्चत्यो, विपक्खे वन्नवायं वदतीत्यर्थः । सेसं कटं ।

इहरह वि ताव होए, मिच्छत्तं दिप्ये सहावेणं ।

किं पुण जइ उव्वहति, माहू अजयाएण मञ्जम्मि । ३ ३ ॥

(इहरह वि चि) सहावेण प्रदीप्यते प्रज्वलते । किमिति निर्दोष,
पुनर्विशेषणे । किं विशेषयति ? सुतरां दीप्यते इत्यर्थः । यदीप्यन्मु-
पगमे । "अजया अग्गोने उव्वहति, ताहे थिरत्तरं तेसि मिच्छत्तं
भवतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् । नि० चू० ११ उ० । धर्मरहितं,
विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अहम्मओ-अधर्मत्स-अव्य० । अधर्ममहोक्त्यर्थे, प्रअ० २
आश० द्वार ।

अहम्मकेउ-अधर्मकेतु-पुं० । केतुर्ग्रहविशेषः, स इव यः स तथा ।
पापप्रधानं, हा० १८ अ० ।

अहम्मकराइ-अधर्मक्यायिन्-पुं० । न धर्ममाख्यातीत्येवं शोत्रो-
ऽधर्माख्यायी । अथवान धर्माख्यायी अथमार्माख्यायी । धर्मकथ-
नार्थि, दशा० ६ अ० ।

अधर्माख्याति-पुं० । अधर्मोवाख्यातिर्यस्य स अधर्मोवायातिः ।
पापकर्मतया प्रसिद्धे, दशा० ६ अ० ।

अहम्मर्जो(विण्)-अधर्मो(विन्)-पुं० । अधर्मेण जीवति प्राणाद्
धारयतीति अधर्मोर्जायि । अधर्मेण प्राणधारके, दशा० ६ अ० ।

अहम्महाण-अधर्मस्थान-न० । पापस्थाने, सूत्र० २ भु० २
अ० । त्रयोदशसु क्रियास्थानेषु, सूत्र० २ भु० २ अ० । धर्मोदयेते
स्थाने, सूत्र० २ भु० २ अ० ।

अहम्महिण्(ण्)-अधर्मो(विन्)-पुं० । अयोऽस्यास्तीत्यर्थी, अध-
र्मोपार्थी अधमार्थी । अधर्मोपार्थो जने, आवा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अहम्मदाण-अधर्मदान-न० । अधर्मोपार्थकं दानमधर्मदानम् ।
अधर्मप्रतिपादकत्वाद् वाऽअधर्म एव । वीरार्त्तियो दाने,
स्या० १० ग० ।

अहम्मसेवि(ण्)-अधर्मो(विन्)-पुं० । कलबादिनिमित्तपटकयो-
पमर्देकारिण, "सुअसत्तं धम्माउ अहम्मसेविणो" । दशा० १ चू० ।

अहम्महिण्(ण्)-अहम्मनिन्-पुं० । अहमेव विज्ञानिति माने
गर्बोऽस्येति अहम्मान्नी । अहद्धारिण, आ० म० द्वि० ।

अह्वय-अह्वत-नि० । अह्वते अह्वयद्ने, आ० म० प्र० । जी० ।
नव, म० २ श० ६ उ० । रा० । अह्वयविक्रिषे, कल्प० १ कृ० ।
आह्वयिष्ठते, सूत्र० २ भु० २ अ० । मलमूपादिनिरनुपदृते प्राय-
मे, हा० १ अ० ।

अह्वर-अह्वर-पुं० । अह्वस्तलाक्ये, आ० ३ अ० । अह्वस्तन-
दन्तच्छेदे, औ० । प्रहा० । तं ।

अह्वरगद्गमण-अह्वरगतिगमन-न० । अह्वेगतिगमनकारणे,
प्रअ० २ आ० ३ अ० ।

अह्वरायाण्य-यथावर्तनाधिक-अव्य० । यथाज्येष्ठ्यायत्येत्पर्यं,
पं० व० २ अ० ।

अह्वर-अह्वर-स्त्री० । पेपणशिलायाम्, उ० ० ।

अह्वरौह-अह्वरौह-पुं० । "ह्रस्वः संयोगे" ॥ ८ । १ । उ० ॥
इति द्वाँघ्र्ये ह्रस्वः । प्रा० १ पाद । द्विष्टिकायाम्, कल्प १ कृ० ।

अह्व-अथवा-अव्य० । " वाऽथयथास्वतादावदतः " ।
८ । १ । ६७ । इत्यातोऽन्वभः । अह्व अहवा । विकल्पे, प्रा० १
पाद । स० ।

अह्ववा-अथवा-अव्य० । "अथयत्ति" अथपडमध्ययपद-
म् । अथयत्वस्यार्थे, वृ० १ उ० । विकल्पप्रदर्शने, नि० चू० १
उ० । वाक्यालङ्कारे, अनु० ।

अह्ववा-अथवा-अव्य० । सन्धस्य प्रकारान्तरतोपदर्शने, व्य० १
०० । पूर्वोक्तप्रकारपङ्क्त्या प्रकारान्तरतोद्योतने, पञ्जा० ३ वि० ।
नि० चू० । घ० । पं० सं० । ग० । म० । पञ्जान्तरे, सूत्र० १ ध्रु०
१ ३ अ० । वाक्योप-न्यासे, सूत्र० २ अ० २ अ० ।

अह्ववण-अथवन्-पुं० । ऋग्वेदादीनां चतुर्थे षेदे, म० २ श०
१ उ० । अनु० । औ० ।

अह्वस-अहास्य-न० । हास्यप्रतिशयो, आ० ३ अ० ।

अह्व-अह्व-अव्य० । अह्वं जहाति, अह्वम+हा-क-पु० । स-
न्धः । अन्, आ० ३ अ० । खं, क्लेशः, प्रकपे च । वाच० प्रा० २ पाद ।

अह्व-अथस्-अव्य० । दिग्भेदे, स्या० ६ उ० ।

अथ-अथ-न० । याथातथ्ये, विशे० । मानन्तये, "अथा पंडुरल्प-
भाप" । रजनविघातानन्तरम् । द्वाँघ्र्यमार्पणात् । कल्प० ३ कृ० ।

अहाअथ-यथाथ-अव्य० । निरुक्त्यादिद्व्यारथानातिक्रमे,
स्या० ७ उ० ।

अहाउओवक्प्रकाश-यथायुक्तोपक्रमकाश-पुं० । यथा बह्वस्था-
युक्तस्थापकमणं द्वाँघ्रकालभोग्यस्थोपक्रमण यथायुक्तोपक्रमः
स चासां कालश्च यथायुक्तोपक्रमकाशः । कालभेदे, विशे० ।

अहाउण्वक्तिकाश-यथायुक्तिक्तिकाश-पुं० । कालभेदे,
स्या० । यथा यन्प्रकारं नारकादिभेदेनायुः कर्मविशेषो यथाऽऽ-
युः । तथे रौद्रादिधामादिनां निरुक्तिर्बन्धनं, तस्याः सकाशात्
युः काशो नारकादिव्येन स्थितिर्जीवानां स यथायुर्निर्मुक्तिका-
लः । अथवा-यथाऽऽयुषो निर्मुक्तिस्तथा यः कालो नारकादिन-
ऽऽवस्थानं, स तथेति । अयमप्यकाशकाल यथायुक्तकर्मालुभव-
विशेषः सत्यंसारजीवानां वर्तनान्तरूप इति । उक्तं च-
" अहाउमिचित्तिसो, स एव जीवाण वसणाऽऽदिमभो ।

भग्नः अहाउकाशो, यत्तद् जो जे चिर तेण " ॥ १ ॥ स्या० ७
उ० । "स किं अहाउण्वक्तिकाले?, अहाउण्वक्तिकाल-
काले जे णेरहएण वा तिरिक्खल्लोणएण वा मणुस्सेण वा
द्वेषेण वा अहाउण्वक्तिसंय सेत्तं पालमाणे अहाउण्वक्तिका-
ले " ॥ म० १ १ श० १ १ उ० ।

अहाउय-यथायुक्त-न० । देवायुक्तकाले कालभेदे, आ० म०
उ० । ('काल' शब्दे तुर्नायमगो चैतद्वाक्यास्यते) यथावदे
आयुषि च । स्या० ।

दो अहाउयं पालेद । ते जहा-देवच्छेव नेगएयच्छेव ॥
(दो इत्यादि) यथावक्त्यायुर्धायुः, पाश्र्वमयननवर्जान् नापक-
म्यने तदानीं यथावर्तिनः । "देवा नरद्वया वि य, अमखवासाउ-
या निरियमणुया । उक्तपुर्वेत्ता य तहा, चरममरंरानि तिर्यक-
मनी" ॥ १ ॥ इति वचने सत्यपि देवनारकायोरिवेह भगने, द्वि-
स्थानकानुरोधादिति । स्या० २ उ० ३ उ० ।

अहाउ (ग) इ-यथायुक्त-त्रि० । आत्मार्थमभिवर्धिते अहा-
राशे, "अहागमेत्सुरीयति, पुण्येत्तु जमरो जहा" दश० १ अ० ।
नि० चू० । वृ० ।

अहाकल्प-यथाकल्प-अव्य० । यथाऽऽतोक्तं तथाकरणे कटोऽ-
न्यथा त्वकलर इति यथाकल्पम् । कल्प० १ कृ० । प्रतिमाकल्पान-
तिक्रमे तत्कल्पयस्वनतिक्रमे, दश० ७ अ० । स्या० । हा० । क-
ल्पानतिक्रान्ते, स्थानिकत्वाच्चिन्ते कल्पनाय च । न० । पा० । घ० ।
अहाकल्प-यथाकर्म-अव्य० । कर्मानतिक्रमे, हा० १ ६ हा० ।

अहापडिगहिय-यथाप्रतिगृहीत-त्रि० । यथाप्रतिपक्षे पुनर्होस-
मनीत, म० २ श० ५ उ० ।

अहाउन्द-यथाउन्द-पुं० । यथा उन्देऽभिप्राय इच्छा, तथेवाऽऽ-
गमनिरपेक्षं यो वतने स यथाउन्दः । व्य० १ उ० । प्रव० । घ० ।
नि० चू० । यथाकथञ्चित्नागमपरतन्त्रनाया उन्देऽभिप्रायो बोधः
प्रवचनार्थेषु यस्य स यथाउन्दः । म० १ श० ७ उ० । स्वच्छन्द-
मतिविकल्पिते, भाव० ३ अ० ।

जे निरुक्त गद्यांशे अवकम् अहाहंद् विहारं विहरेज्जा,
से य इच्छेया दोषं पि तंय गणं उवमंपजिजा णं विह-
रत्तिए इच्छेया इच्छा से पुणो आतोपज्जा, पुणो पदि-
क्कमेजा, पुणो लेयपरिहारस्स उवडाइआ ॥

यः भिच्छुर्गाणादपक्रम्य यथाउन्दविहारेण विहरेत्स इच्छे
द्वितीयमपि वारं तंय गणमुपलपय विहन्नुम, तत्र स पुनरा-
लोचयेत्, पुनः प्रतिक्रामेत्, पुनश्चेदपरिहारस्यालोचयेत् ।
व्य० अ० २ उ० ।

इदानीं यथाउन्दःस्वरूपमुपवर्णयति-
उत्सुत्तमायरोतो, उत्सुत्तं चैव पन्नममाणा ।
एसां य अहाउन्दो, इच्छा छंदो य एगहा ॥

सत्रादूर्द्ध्वं-उत्तीर्णम् (परिच्छेदमित्यर्थः) उत्सुत्तं, तदाचरन् प्रति-
सेवमानः, तदेव यः परेज्यः प्रज्ञापयन् वसन्ते, एव यथाउन्देऽऽ-
भिधीयते । सम्प्राते उन्दःशब्दाथं पर्योषण व्याचष्टे-इच्छा उन्द
इत्येकार्थः किमुक्तं भवति?-उन्दो नाम इच्छेति । व्युत्पत्तिश्च यथा-
उन्दःशब्दस्य प्रागेवापदर्शितः ।

उत्सुत्तमित्युक्तम उत्सुत्तं व्याख्यानयति-
उत्सुत्तमापवर्दिह, सच्छेदोवापिपिं अणुणुपाती ।

परातिथिपपाविच, मतितागुऽयं अष्टाहंढं ॥

उत्सृं नाम यस्मांथे हरादिभिरनुपदिष्टम्, तत्र या स्त्रिपरम्परा-
गता सामान्यारि, यथा-नागिंशः राजाहरणमुष्टमुं कृत्वा कायो-
त्सर्गं कुर्वति । चारणानां वन्दनं कथमतीत्युच्यते इत्यादि,
साऽप्युक्त्याऽपि नोपदिष्टेष्वनुपदिष्टम् । सङ्केतानुपदिष्टमाह-
स्वच्छन्दं न स्वाभिप्रायणं विकल्पितं, स्वच्छाकल्पितमित्यर्थः ।
अत एवानुपति । सिद्धान्तं सहाघटनाकम् । न केवलमुत्सृ-
त्रमात्रं प्रहापयंश्च यथाच्छन्दः, किन्तु यः परतुष्टिपु गृहस्थ-
प्रयाजंनुप करणकारणानुमतिभिः प्रकृतः परतुष्टिपुः । तथा
‘ममतिगो’ नाम यः स्वन्वऽपि केन चित्सत्पुनाऽपराकेऽनधरतं
पुनरतं रूपश्चास्ते, अथमेवेकेषु यथाच्छन्दः ।

तथा-

सच्छन्दमतिविगणिय, किंचि सुखसायविगइपादिबद्धो ॥
तिदि गारं वदि भजन्द, तं जाणुहो अष्टाहंढं ॥

स्वच्छन्दमतिविकल्पितं किञ्चिच्छन्दं तस्माकाय प्रहापयति, ततः
प्रहापनगुणेन लोकाद्रिकृतीलेनेन, ताश्च विकृतीः परिच्छानः
स्वसुखमासादयति । नेन च सुखासादानेन तत्रैव रतिमातिष्ठति ।
तथाचाह-सुखासादे सुखासादानविकृतौ च प्रतिबद्धः ।
तथा-नेन स्वच्छन्दमतिविकल्पितप्रहापनेन लोकपुत्र्या जयति,
अमीपरन्तश्चाहारान प्रनिलभने, वसन्त्यादिर्कं च विशिष्टमतः
सन्नेय्यां बहु मन्यते । तथाचाह-त्रिजिः गौर्यैश्चिखिससा-
तलकृणैर्मांयति य एषंभूतः न यथाच्छन्दो जानीहि ।

इह उम्सृं प्रकृपयन् यथाच्छन्द उच्यते, तत उम्सृत्र-
रूपगणिव भेदतः प्रकृपयति-

अष्टहंढं प्रकृवण, उम्सुचा दुविह ढंइ नायन्वा ॥
चरणेषु गर्हसु जा, तस्य च चरणे इमा होति ॥

यथाच्छन्दसः प्रकृपणा उम्सृत्रा सूत्रादुक्तानि त्रिधा भवन्ति ज्ञा-
तव्या । तद्यथा-चरणेषु चरणविषया, गतिषु गतिविषया, तत्र
या चरणविषया, सा इयं वक्ष्यमाणा भवति ।

तस्मात्वाह-

परिलेहणं मुहपात्तिय, रयहरणं निसेज्ज पायमत्तए पट्टे ।
पदलाइ चाल उप्पा-दसिया पादिभेइयापोत्ते ॥

या मुखपोत्तिका मुखवस्त्रिका, सैष प्रतिबन्धनी-पात्रप्रत्युपेक्षया
पात्रक सारिका, किं द्वयोः परिभ्रंजति, अतिरिक्तोपाधप्रहणेन सं-
जवात् । तथा-(रयहरणंनिसेज्ज णि) किं राजाहरणस्य ज्ञाय्यां
नियथाभ्यां कलस्यम्, एका नियथाऽस्तु । (पायमत्तए णि) यदेव
पात्रं तदेव मात्रकं क्रियतां, मात्रकं वा पात्रमार्कं किं द्वयोः परिभ्रंजते ?
तथा-(पट्टे णि) य एव पट्टेचोन्नतः स एव राशौ संस्कारकसो-
त्तरपट्टः क्रियतां, किं पृथगुत्तरपट्टपरिभ्रंजणे ? । तथा-(पदलां
चाल णि) पट्टज्ञानि किंमिति पृथक् क्रियते, चालपट्ट एव सि-
क्षाये हि एवमानेन त्रिगुणास्त्रिगुणां वा कृत्वा पटलकृत्वा न नियेय-
ताम् । (उप्पादसिय णि) राजाहरणस्य दशाः किंभिर्युष्माभ्यः
क्रियन्ते ?, सौंज्ञिकाः क्रियन्तां, ता हृष्माभ्योभ्यो वृत्तुतरा भव-
न्ति । तथा-(परिलेहणापोत्ते णि) प्रतिबन्धनात्पलायमेकं पातं
प्रस्तायं तस्योपरि समस्तवस्तुपे हणं कृत्वा तदनन्तरमुपाश्रया-
त् तद् बहिः प्रत्युपेक्षणीयम् । एवं हि महती जीयवशा कृता इति ।
दंतच्छिन्नममिञ्चं, हरियद्विय पमज्जया य णित्तसम् ।

अणुवाइ-अणुवाइ, परकृवा चरणमांसुं ॥

इस्तगताः पादगता वा नखाः प्रकृवाः दूतैश्छेत्तव्याः, न नख-
रदनं । नखरदनं हि त्रियमाणमधिकारणं जयति । तथा-
(अभिमतिति) पात्रमभिसं कतेव्यम्, न पात्रं लेपनीयमिति प्रायः ।
पात्रलेपने बहुसंयमदोषस्तज्यावत् । (हरियद्विय णि) हरितप्र-
तिष्ठितं भक्तपानादि प्राज्ञं, तदुपहणे हि तेषां इरितकायजीवा-
नां भारपदारः कृता भवति । (पमज्जया य नित्तस्स णि) यदि
कृष्णं जीवदवापरिपालनरूपस्य निमित्तस्योभयत्रापि संभवत् ।
अक्षरघटना त्वेवम्-‘नित्तस्स’ निर्गच्छतः प्रमाजना भवतु,
यथा वसंतरत्तरिति । एवं यथाच्छन्दं चरणेषु च प्रकृप-
याऽनुपातिनी अनुसारिणी, अनुपातिनी च क्रियते ।

अथ किंस्वरूपाऽनुपातिनी ?, इत्यनुपातिन्यननुपातिन्योः
स्वरूपमाह-

अणुवाइ ची नज्जइ, सुत्तीरठियं खु जासए एसो ।
जं पुण सुचावेयं, तं हाति अणुणुवाति णि ॥

यज्ञप्रमाणः सन् यथाच्छन्दो ज्ञायते-यथा ‘खु’ निश्चितं यु-
क्तिसङ्गतमेव भाषेत, तदनुपातिप्रकृपणम् । यथा-यैव सुखपोत्तिका-
सैव प्रतिबन्धनिका इत्यादि । यत्तु पुनर्नाप्यमाणं सूत्रापंतं
सूत्रपरिभ्रंजं तद्वदन्त्यनुपाति । यथा-चालपट्टः पदलानि कि-
यताम् ; यद्युपात्तिकापतनसंभवतो युक्त्वसङ्गतताया प्रतिमास-
मानत्वात् । तत्र चरणं प्रकृपणमनुपात्यननुपाति चोक्तमिदं
वाच्यं च उच्यते ।

तदेवाह-

सागारियादिपलियं-कनिससेज्जसासेवणा य गिदिमत्ते ।
निर्गोधिचेहणुणाए, सेहो वा मा मकृपम्म ॥

सागारिकः शय्यातस्तेन्द्रियेषु भूत-वशा शय्यातरपिषेते शु-
द्धमाणे नास्ति दोषः, प्रत्युत गुणः, धर्मानदानतो भक्तपानादि-
दानतद्वच प्रयुतननिर्जारासंभवात्, आदिशब्दादस्मात्पानकूल-
ष्वपि प्रविशतो नास्ति दोषः । (पलियं कं णि) पर्येह्यादिषु प-
रिच्छिज्यमानेषु न काऽपि दोषः, कथलं ज्ञामुपपश्यते शाधवा-
द्यां बहुतरा द्यावा । (निसिज्जसासेवण णि) गृहीतनियथायामा-
स्यमानायां, गृहेषु नियथाऽभ्येते इत्यर्थः का नाम द्यावः, अ-
पि-त्वितिप्रभूतो गुणः, ते हि जननयो धमेकथाभयवतः संबोध-
मात्पुवन्ति (गिदिमत्ते णि) गृहीतमार्कं भोजनेन कस्मात् क्रियते ?,
एवं हि प्रवचनोपघातः परिहृतो भवति । तथा-(निर्गोधिचे-
हणुणादि णि) निर्गोधिनामुपाश्रये षष्ठ्यस्यानादौ का दोषः ?, स-
च्छिद्यमनोनिरोधेन हस्तसङ्कटं तु मा विहारकम् कारुणिरि ।

चारे वेरज्जे वा, पदमसमांसरणं तद्दु व नितिपसु ।
सुणं अकपपे वा, अश्राउंजे य संतो ॥

चारः, चरणं, गमनमित्यकाऽर्थः । तद्विषये व्रतार्थे, तद्यथा-अनुत्तुं
मांसेषु मध्ये बहूषे गतति ताक्षन्ता विदारकम् कारीः, यद्वा तु न
पतति वर्षे, ताका दोषो हिणकमानस्त्विति ? तथा वेराज्येऽपि स्त्रे-
यथा वेराज्येऽपि साधवा विहारकम् कुर्वन्तु, परित्यक्तं हि सा-
धुभिः परमाथतः शरीरं, तथाहि तं गृहीत्वान्ति किं कृष्णं साधू-
नाम्, सांढव्याः अतु साधुभिरुपसर्गाः । ततो यद्वक्तम्-“ना क-
प्यइ निमोधा-णं वेरज्जविहककरज्जं । सज्जं गमणं सज्जमा-
गमणं ति” । तदयुक्तिमिति । (पदमसमांसरणं णि) प्रथमं स-

मवसरणे नाम प्रथमवर्षीकालः, तत्र ब्रह्म-यथा प्रथमसमवसरणे उक्त्वादिदोषपरिशुद्धं चर्कं पात्रं वा किं न कश्चन गृहीतुम् । द्वितीयसमवसरणेऽपि इषुक्रमादिदोषपरिशुद्धमित् कृत्वा गृह्यते ; सा च दोषशुद्धिर्मध्यमाप्यंविशुध्यति । (तद् य नितिपसु चित्तथा-नित्येषु नित्यमासेषु प्रकल्पयति-यथा-नित्यवासोऽपि यषुक्रमात्या-द्वैतेशुक्राद्युक्तं ग्रथयते नकपानादि, ततः को द्योः ? प्रत्युत काश्चं क्षीयेककश्चं वसतां सूत्राधदैवः प्रभूता भयन्ति । तथा- (सुख-त्त) यषुप्रकरणं न केनापि ह्यितं, ततः शून्यायां वसतो क्रिय-माणार्थां को द्योः ? । अर्थासंचद्वन्द्वनापह्नयत, तत्र चैतस्यैप-रिचक उपघातः (तथा अकल्पिय (त्त) अकल्पिका नामागीतार्यः; तद् विषये द्वेते-यथा-प्रकल्पिकं प्रथमशैःककल्पेण शुकमहा-तोऽम्बुं चक्षयात्राद्यानीतं किं न परिशुध्यते ? ; तस्य ज्ञातोऽप्रत-या विश्रयतः परिभोगाहर्हत्वात् । (संभोग इति) तथा संभोगे द्वेते-यथा-सर्वे पञ्च महाभूतधारिणः साधवः; सांभोगिका एव युक्त-सासांभोगिका इति ।

साप्रतमकल्पिकाचितं विवृणोति-

किंवा अकल्पिपणं, गार्ह्यं फालुषं तु हांइ उ अर्भोजं ।
अथाठंठं को वा, हांइ गुणो कल्पिण गार्ह्ये ? ॥

किं वा केन वा करणेन अकल्पिकेन अर्गातोर्थेन गृहीतं प्रासु-कमहातोऽम्बुमपि अर्भोज्यमपरिभोज्यं जयति । को वा कल्पि-कंन (अत्र गाथार्थां समसं । नृनीयाऽर्थे) गृहीतो गुणो जयति; उजयत्रापि शुद्धत्वाविशेषात् ।

अनुना (संभोग) इति व्याख्यायति -

पंचमद्वन्द्वयधारी, समणा सन्नेसि किं न जंजति ।

इय चरण-वितद्ववादी, एतो वोचं गतोऽतुं तु ॥

पञ्चमद्वन्द्वयधारीणः सर्वे अमणाः किं नैकत्र युजते ?, किं ना-विशेषेण सर्वे सांभोगिका जयन्ति ? येनैक सांभोगिकाः, अपरे असांभोगिकाः कियन्ते इति । इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेण यथा-चन्द्रोऽनाश्रोचित्तगुणद्वयः, चरणं चरणविषये वितथयादी । अत ऊर्ध्वं तु गतिषु वितथवादिनं वक्ष्यामि ।

यथाप्रतिज्ञातमेव क्रमेति—

मेवं गतो य अर्हति, एको भविद्यए तर्हि चैव ।

तित्यगरो चि य पियरो, रेवंतं पुण भावतो मिच्छं ॥

स यथाचन्द्रन्दो गतिषु विषये एवं प्रकृपायां करोति—“यसो गह-घवी, तस्स तिसि पुत्ता, ते सव्वे छेत्तकम्मोवज्जीविणो पिय-रेण चित्तकम्मं नियांजया । तय्यो वा चित्तकम्मं जहाणत्तं करंइ । एसो अर्हति गतो; देवं देवणे हिंइइ इत्ययं । एसो जिमत्ता जिमत्ता देवकुलादिषु अर्हति । कालंतेरण तेसि पिया मतो । तेर्हि इत्थं पितिसिन्ने ति कां सव्वं सव्वं विरिद्धं । एवं तेसि जं प्येण उवज्जियं तं सव्वेसिं सामंथं जावं । एवं अम्हं पिया तित्ययरो, तस्स वयोवदेवणे तं सव्वे समणा कायकिल्लं कु-ञ्जंति । अम्हे न करेमो, जं तुम्हंइ कयं । अम्हं सामंथं जहा तु-ष्मं देवलोत्तं कुलपव्वयां वा सिद्धिं वा गच्छइ, तहा अम्हं इ गच्छिस्सामो” । एय गाथाभावाद्यः । अक्षरयोजना त्रियध-पकः पुनः कृतं गतः । एकाऽप्यर्थः, देशात्परि-परिच्रमनीत्यर्थः । अपर एकस्तत्रैव संनिहतः । पितरि च मृते धनं सर्वेषामपि स-मानम् । एवमत्रापि पित्त (पितृस्वामीपत्यर्थः) । क्षेत्रफलं धनं पुनर्विभागतः परमार्थतः सिद्धिः, तां द्यामिव धुम्भदुपार्जनं

वयमपि गमिष्यामः । उक्तं गतिष्वपि यथाचन्द्रस्य वितथ-प्रकृपायां ।

संप्रति तेषां यथाचन्द्रानामेवंवदतां द्योमुपदर्शयति—

जिणवयणं सव्वसारं, मूलं संसारदुक्कलमुक्कलस्सं ।

सम्मचं मल्लेत्ता, ते दोग्गइवक्का हुंति ।

ते यथाचन्द्रान्धारणेण गतिषु वैवंशुयाणाः सम्मकथं सम्यग्दर्श-नम् । कथं नूनमित्याह-जिनानां सर्वज्ञानां वचनं जिनवचनं द्वाद-शाहं, तस्य सारं प्रभावं, प्रधानवचोऽभ्य तदनन्तरेण धृतस्य पवि-तस्याप्यनुगतत्वात् । पुनः किं विशिष्टमित्याह-भूतं प्रथमं कारणं, सं-सारदुःखमोक्षस्य समस्तसांसारिकदुःखावभाज्जमाक्षय, तदेवं-जुतं सम्यकथं मन्त्रिनयित्वा अत्रामो दुर्गतिवर्द्धका प्रवन्ति । दुर्गतिस्त्रयामेवंवदनां फलमित्यभावः । इदं पुवंसत्संचतुस्त-व वा गृहीतस्य पार्थस्थ्यस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

तत्र उत्सवप्रकृपायाम्हाह—

सकपट्टादीया पुण, पासत्थे ऊमवा सुणेयव्वा ।

अहउंठे ऊमवा पुण, जीए परिसाएँ उ कहेइ ॥

पार्थस्थ्ये पार्थस्थ्यस्य, उत्सवा ज्ञातव्याः शकमहादयः इन्द्र-महादयः । आदिशब्दान् स्वरुद्रमहादिपरिग्रहः । यथाचन्द्र-क-म-स्य पुनरुक्तमथो यस्याः पदं पुरतो यथाचन्द्रः स्वच्छन्दविक-ल्पितं प्रकृपायति सा परं ज्ञातव्या । एतदपि च उक्तव्युत्ते-यः पदं द्वि स्वकीयकुमतप्रकृपां चतुर्मासपरमासवर्षेषु कदा-चिच्चा करोति, अर्भोद्वय वा, तत एतेषु वक्तव्यम्, तत्र पार्थ-स्थोऽऽगमानुसारं हेयम् ।

अत आह—

जिहँं अहगुतो तर्हिं अहगा, जिहँं अहगा चउगुरु तर्हिं ठाणे ।

जिहँं ठाणे चउगुरुगा, अम्मासं तत्थ ऊ जाणे ॥

जिहँं पुण छम्मासा तर्हिं, वेयं पुण छेयठाणए मूलं ।

पासत्थे जं जिणयं, अहउंठे विवहियं जाणे ॥

यत्र पार्थस्थ्यस्य मासस्य प्रायश्चित्तमुक्तं तत्र यथाचन्द्र (स चत्वारो अनुकृताः) यत्र चत्वारो अनुकृताः, तत्र स्थाने च चत्वारो गुरवः । यत्र च-त्वारो गुरुकास्त्र परमासांनं गुरुत्वं जानीहि । यत्र पुनः परमासा-स्त्र ज्ञातव्यः देवः, च्छेदस्थाने च मूलम् । तथा-यसुस्तथावाये क-दाचिन्कथयति तत्र चत्वारो अनुकृता मासाः; अथापीवर्णं कथयति तत्र चत्वारो गुरुकाः; अथासव कदाचिद् द्वेते तत्र चत्वारो गुरु-काः; अजीवणकथने परमासाः गुरवः परमासा यावद्जीवणक-थने मूलम् । अत्रोत्सवात्सवविशेषोऽर्हति तथा सामान्यतोऽभि-धानमुक्तमोघेन प्रायश्चित्तम् । अनुना विभागत उच्यते-चतुरो मा-साद् यावत्कदाचिदुत्सवाभावे प्रकृपायां चत्वारो लघुमासाः । परमासाद् यावच्चत्वारो गुरवः; वर्षे यावत्परमासा गुरवः । तथा-चतुरो गुरुमासाद् यावदुत्सवाभावेऽभीवणप्रकृपायाः चत्वारो गुरुकाः । परमासाद् यावत्सवमोवणप्रकृपायां परमासा गुर-वः; वर्षे यावद्बं प्रकृपायां द्वेदः । चत्वारो मासाद् यावदुत्सवे क-दाचिदप्रकृपायात् चत्वारो मासा गुरवः । परमासाद् यावद्बं प्रकृ-पायां परमासा गुरवः । वर्षे यावदप्रकृपायां देवः । तथा-च-तुरो मासाद् यावदुत्सवेऽभीवणं प्रकृपायां चतुरो गुरुकाः द्वेदः । वर्षे यावद्बं प्रकृपायां मूलमिति । एतदेव सामान्यतो प्रहणम् । (पास्तथेत्वादि) पार्थस्थ्ये यत्र स्थाने यद् भणितं प्रायश्चित्तं त-

स्मिन् स्थाने यथाच्छब्दो विवर्तित-विशेषेण वर्तितः, जानीहि । तच्च तथैवानन्तरमुपदर्शितम् । कस्मात् विवर्तितं जानीहि इति चेत् १, उच्यते-भ्रान्तिसंज्ञानात् प्रकृपणया बहुदोषत्वात्, इह पार्श्वस्थं यथा-प्राप्तमपि संभवति । तथा-त्रिकोणीयापच्छेदिनः, आचार्यस्य च । यथाच्छब्दस्य पुनरिहोच्यते । ततः पार्श्वस्थविषयं सूत्रं त्रिसुभ्रा-त्मकं यथाच्छब्दविषयं त्यक्त्वाव्यभिचिन्तितम् ।

सम्पत्ति कुसीशादीनां प्रायाश्चत्वारिधिमितदेशत आह-
पासस्ये आरोवेण, श्रोहविज्ञानेण वक्ष्याया पुर्वं ।
सन्धे वि निरवसंसा, कुसीलादीण नापन्वा ॥

यैव पूर्व पार्श्वस्थे प्रायाश्चित्स्थाने, विज्ञाने वाऽऽनेपप्रवृत्-
तमुपदर्शिता, सैव निरवशेषा श्रोत्रेण, विज्ञानेन च ज्ञातव्या । यत्र
तु विशेषः स तत्र तु वक्ष्यते । गतं यथाच्छब्दस्यैव । श्य० १
उ० । अ० ।

जे भिक्खु अहाउंदं पसंसह, पसंसंतं वा साइज्जद ॥? ८८॥
जे त्रिकखु अहाउंदं वंदद, वंदंतं वा साइज्जद ॥? ८९॥

अहच्छब्दं चित्तकाररूपव्यञ्जकलोकैरुत्पन्नं, स्वरे ध्वयस्थिते च प्र-
वर्तते । उन्मादभिप्रायः, यथाऽऽस्याभिप्रेतं तथा प्रज्ञापयन् अ-
हाउन्दो जवति । तं जो पसंसति, वंदति वा तस्मिन् चउगुम्भं,
आणार्थिया य दोसा । (नि०चू०) (इतोऽत्रे ध्वयहारणे गतार्थः)

कारणे पुण पसंसति वंदति वा-

वितियपदमणपपजे, पसंस अविक्कोविते व अण्पज्जो ।
जोऽण्णं वावि पुणो, भयमा तत्त्वादि गच्छद्वा ॥१? ९॥
अहाच्छब्दो कोह रादस्सिआ, तन्मया तं पसंसति, वंदति वा
(त्व्यादि) कश्चिदेवं वादी । प्रमाणं कुर्यात्-अहाउन्दो न जयो,
नापि प्रशंस्य, इति प्रसिद्धा कस्मात्कृतोः । उच्यते-कर्मवध-
कारणत्वात् । को ह्यन्तः १, अचिरतरमिष्यावबन्धनप्रशंसनवत् ।
ईदृशममाणस्य दूषणत दोषमात्रहति प्रशंसनवन्दनप्रकृपणं कुर्वन्
(गच्छति) कोह अहाउंदो आमाइखु गच्छरक्खणं करति,
तं वंदति पसंसति वा, ण दोसा । नि० चू० ११ उ० । आचार्ये
यथाच्छब्दे जातेऽप्यत्रापसंपत् । श्य० ४ उ० ।

अहाउंदविहारि (ण)-यथाउन्दविहारिन्-पुं० । आज्जमापि
यथाउन्दे, ज० १० श० ४ उ० ।

अहाजाय-यथाजात-न० । यथाजातं नाम यथा प्रथमतो जन-
नं । जउरवर्गिणो, यथा च अमणो जातस्यैव जातत्वकमेण हीय-
माने वन्दनके, श्य० ३ उ० । यथाजातं जन्म अमणत्वमाश्रित्य, योगि-
निक्रमणं च; तत्र रजोहरणमुख्यादिकोत्पत्तौ पट्टकमात्रया अम-
णो जातः; रचितकरपुट्टरुत्तु यान्या निगंतः; एवमूत एव वन्दति,
तच्छान्तिरकाश्च यथाजातं भगवते कृतिकर्मवन्दनम् । श्राव० ३ अ० ।
यथाजातं-जातं जन्म, तच्च देहा-प्रसवः प्रमज्जाग्रहणं च ।
तत्र प्रसवकाले रचितकरसंपुटो जायते, प्रमज्जाकान्तं च शुद्धी-
तरजोहरणमुख्यात्क इति । अत एव रजोहरखादीनां पञ्चानां
शास्त्रे यथाजातत्वमुक्तम् । तथा च तथातः-“ पंच अहाजायाहं,
सोऽग्रपट्टो हं तहेव रयहरणं २ । उडिअ दे सोमिअअ धनिस्सिन्-ज्ज-
वुअअं तह य मुहंपोत्ती ॥” १ । यथा जातमस्य स यथाजातः; त-
थायुत्त एव वन्दते, इति वन्दनमपि यथाजातम् । ष० २ अ० ।

अहाउणुवुव्वं-यथानुपूर्वी-स्त्री० । यथाक्रमे, उयो० २ पाठु० ।
“अहाउणुवुव्वेण स पत्थिया” । रा० ।

अहातन्व-यथातन्व-न० । अभिधानार्थानतिक्रमे, अन्वयस्थस्य-
पत्ते च । स्था० ४ डा० १ उ० । दशा० । शब्दाधीनतिक्रमे तत्साम-
तिक्रमे च । अ० २ श० १ उ० । स्था० ।

यथातन्व-न० । सत्ये, कल्प० १ श्र० १ । एकांततः यथा
येन प्रकारेण तथ्यं सत्यं, ‘तस्यं वा’ तेन यो वर्ततेऽस्ती यथा-
तथ्या ‘ यथातस्यं ’ वा । दृष्टार्थोचित्वादिनि, फलाविशेषादिनि-
च स्वप्नदे, अ० । तत्र दृष्टार्थोचित्वादी स्वप्नः, किल को-
ऽपि स्वप्नं पश्यति-यथा-महां फलं हस्ते दत्तं, जागरितस्तस्य-
धैव पश्यतीति । फलाविशेषवारी तु किल कोऽपि गोवृषकुञ्ज-
राद्याकडमात्मानं पश्यति, बुद्ध्या कालान्तरे सम्पदं लभत इ-
ति । अ० १६ श० ६ उ० ।

अहापज्जच-यथापार्था-त्रि० । यथास्तथ्ये, अणु० ३ वर्ग० ।

अहापठिरुव-यथापतिरूप-त्रि० । उचिते, शी० । नि० चू० ।
येन प्रतिरूपेण साधुचितस्वरूपं तस्मिन्, विपा० १ श्र० १ अ० ।
अहापण्हिय-यथामणिहृति-त्रि० । यथाऽव्यक्तं, ‘अहाप-
ण्हिपहिं गापहिं ॥’ अ० ३ श० २ उ० ।

अहापरिग्गहि-यथापरिगृह्णति-त्रि० । परिग्रहणानुरूपेण
स्वीकृते, ‘अहापरिग्गहियाहं वथाहं आरज्जा’ । आचा० १ श्रु०
८ अ० ४ उ० ।

अहापरिष्ठाप-यथापरिज्ञात-त्रि० । परिज्ञानानुरूपेणाभ्युपग-
तं, आचा० २ श्रु० ३ उ० । “ अहापरिष्ठातं वसामो ”
यथापरिज्ञातं यावन्मात्रं कृतमनुजानीतं भवान् तावत्क्रेत्रम् ।
आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अहापवत्त-यथाप्रवृत्त-न० । येनैव प्रकारेणानादिकोऽप्यभूत्
तेनैव प्रवृत्तवद् नामाप्रत्ययव्यभवांतरमात्रं, पञ्च० ३ विध० ।

अहापवित्तिकरणा-यथाप्रवृत्तिकरणा-न० । यथाप्रवृत्तस्य क-
रणे सम्यक्कारणगुणे कारणभेदे, कर्म० ४ कर्म० । अष्ट० ।

अहापवित्तिकर्मक-यथाप्रवृत्तिकर्मक-पुं० । यथा यथा जन्तव्य-
मध्यमाकृष्टानां योगानां प्रवृत्तिसत्ता तथा सक्रमणे, पं० सं०
५ द्वार । क० प्र० । ‘सकम’ शब्दं विचरिष्यते)

अहावायर-यथावाद्-त्रि० । असारे, अ० ३ श० १ उ० । शू-
त्रप्रकारं, ‘अहावायराहं कम्माइ ॥’ अ० ६ श० १ उ० । क-
ल्प० । यथाचित्तवाद्दे आहारपुक्कं, प्रति० ।

अहावीय-यथावीज-न० । यद् यस्यां पातकारणं, तस्मिन्, सूत्र०
२ श्रु० ३ अ० ।

अहावोह-यथावोय-श्रु० । बोधानतिक्रमे, ष० १ अ० ।

अहाभदग-यथाभदक-पुं० । साप्यनुकूलं श्रावके, श्य० १ उ० ।
अत्रि० । शासनबहुमानवृत्ति, शू० १ उ० ।

अहाभाग-यथाजाग-अव्य० । यथाविषये, श्य० ५ अ० ।

अहाज्जय-यथाजात्-पुं० । तात्त्विके, स्था० १ डा० १ उ० ।

अहाभग-यथाभग-अव्य० । आनादिमालामागीनतिक्रमेण कुर्यो-
पशमतावानतिक्रमे, दशा० ७ अ० । स्था० । औद्देशिकभा-
वापगमे, स्था० ७ डा० १ उ० । कल्प० । अ० ।

अहारायणिय-यथाराजिक-अव्य० यथा यथा सैरधिको न-
बेखननतिक्रमे, ५० ३ उ० । "अहारायणियं गामाण्युगमं दु-
रञ्जना" अत्राचारं २ श्लो ३ श्लो ३ उ० ।

अहारि (ष) -अहारिन्-वि० । मनसोऽनिष्टे, आचा० १ श्लु०
६ श्लो २ उ० ।

अहारिय-पयुजु-अव्य० श्रुतुनाऽनतिक्रमे, "अहारियं रिपञ्जा"
यथा श्रुतु भवति तथा गच्छेद्, नार्दिवेर्द, विकारं वा कुर्वेद्
गच्छेत् । आचा० २ श्लो ३ श्लो २ उ० ।

यथारीत-अव्य० । रीतं रीतिः, स्वभाव इत्यर्थः । तद्वनतिक्रमे-
ण यथारीतम् । स्वभावानतिक्रमे, "अहारीयं गीयह" यथारीतं
रीयते गच्छति, यथा स्वानाजिविकीटारिकशरीरगत्या गच्छतीत्य-
र्थः । म० ४ श्लो २ उ० ।

यथार्ह-वि० । यथोचिते, स्या० २ टा० १ उ० । यथार्हो या य-
स्योचितता लोकयात्रा-लोकौचितानुवृत्तिकरूपं व्यवहारः, सा
विशेषा । यथार्हलोकयात्राऽनतिक्रमे हि लोकचित्तवाधानेन तेषां
मात्मान्यनादियतया परिणामापादानेन स्वलाघयमेवात्पादितं
भवति । एवं चान्यस्यापि स्वगतस्य सम्प्रयोगाच्चरस्य अनुवृत्त-
मेवापनीतं स्यादिति । उक्तं च- "लोकः स्वदवाधाराः, सर्वेषां
धर्मचारिणां यस्मात् । तस्मान्नैकविक्रमं, धर्मविक्रमं च संत्या-
ज्यम्" ॥ ३२ ॥ अ० १ अ० १ । औचित्ये, पौ० १० वि० ० ।

अहलंद-अण (यथा) लृट्-उ० । यावन्मात्रे काले, आचा०
२ श्लु० ७ अ० १ अ० । अथेत्यव्ययम्, अन्तराधनेन काल उच्यते ।
तत्र यावता कालेनोदकारैः करः श्रुयति, जघ-यस्तत्तावति काले,
कल्प० ८ क० ।

भेदाः-

द्वंदं तु होइ कासो, सो पुण उकोसमग्भिज्जमज्जो ।
उदउल्ल करो जाविह, सुकइ सो होइ उ जहो ॥ ६१ ॥
अन्वं तु भवति कारः । समयपरिजापया इन्द्रशब्देन कालो भ-
षयत इत्यर्थः । स पुनः कालस्त्रिधा-उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च ।
तत्र उदकारैः करो यावता कांशन इह सामान्येन लोकेषु श्रु-
यति, तावान् कालविशेषो जवति जघन्यः । अस्य च जघन्यस्य
प्रत्याख्याननिमित्तविशेषादिषु विशेषतः उपदेशगन्वात्, अन्यथाऽ-
नित्यसंज्ञानस्यापि समयादिक्रमणस्य सिद्धान्तात्कस्य कालस्य
संज्ञानात् ।

उकोस पुव्वकोमि, मज्जे पुण हुंति ऐगताणां ।

इत्यु पुण पंचरत्तं, उकोमं होइ अहलंद ॥ ६२ ॥

उत्कृष्टः पूर्वंकोटीप्रमाणः; अथमापि चारित्रकाशनमाभित्य
उत्कृष्टः कः, अन्यथा पद्योपमादिकरूपस्यापि कालस्य समवात् ।
मध्य पुननेवन्धनकानि स्थानानि वर्षादिभूतं कालस्य । अत्र
पुनयेथालन्दकस्य प्रक्रमे पञ्चरात्रं यथेयगामानातिक्रमेण इन्दं
काल उत्कृष्टं भवति; तेनैवाधोपयोगात् ।

जम्हा उ पंचरत्तं, चरंति तम्हा उ हुंति अहलंदं ।

पंचव होइ गच्छो, तेमिं उकोसपरियाणं ॥ ६२ ॥

यस्मात्पञ्चरात्रं चरन्ति पेटाकं, पेटाद्यन्वयमायां ऋष्यां भूकृति-
मित्तं पञ्च रात्रिदिवान्दमित्तं, मन्माज्जवति यथालम्बिनः; विव-
क्तिथथालन्दभावात् । तथा पञ्चवं पुरुषा भवन्ति गच्छे गण,

तेषां यथालम्बिकानां पञ्चको हि गणोऽप्यु कल्पं प्रतिपद्यते ।
इति उत्कृष्टमैककस्य गणस्य पुरुषपरिमाणमेतदिति ।

अथ बहुवक्तव्यत्वाच्चरित्रशेषाभिधानं अन्तर्भावप्रसक्त्या
यथालम्बिककल्पस्यातिदेशमाह-

जा चेव य जिणुकुणं, भेरा सा चेव इंदियाणं पि ।

नाएत्तं पुण सुत्ते, भिक्खापरि मासकणं य ॥ ६३ ॥

यैव च जिनकल्पे जिनकल्पविषया "मेरा" मर्यादा पञ्चवि-
धनुलनादिरूपा, सैव च यथालम्बिकानामपि प्रायशः, नानासं-
भेदाः पुनजिनकल्पिकेषु यथालम्बिकानां सुत्रे त्त्राविषये,
तथा जिज्ञासार्थायां, मासकल्पे च । चकाराप्रमाणविषये चेति ।
अथातिदेशपूर्वकमल्पवक्तव्यत्वात्तद्यमं मासकल्पनात्तमेवाह-

अहलंदंदिपाण गच्छे, अप्पन्निचद्धाण जह जिणाणं तु ।

नवरं कासविसेसो, उउतासे पाणगचउपमां ॥ ६३ ॥

यथाश्रमिका द्विधा-गच्छे प्रतिषेधः अप्रतिषेधकाश्च गच्छे च प्रति-
षेधोऽस्मीनां कारणतः; किञ्चिदभुनक्तव्यस्य ध्वषाधामिति म-
तव्यम् । ततो यथाश्रमिकानां गच्छे अप्रतिषेधनाम, उपलक्षण-
त्वात्प्रतिषेधानां च; तथेण सत्संख्यं इत्यादिज्ञानाकरुपा सर्वोऽपि
सामान्यरी यथा जिनकल्पिकानां पूर्वमुक्ता, तथैव समवसेयः ।
"नवरं" केवलं त्रिष्विधानामपि यथाश्रमिकानां जिनकल्पिकस्यः
काले कालविषये विशेषो भेदा ज्ञातव्यः । तमेवाह- (उउतासे
पणगचउपमां ति) श्रुतेः श्रुतुषुक्ताने, वर्षे वर्षीकाले च, य-
थासंख्यं दिवसपञ्चकं मासचतुष्टयं चैकभावस्थानं भवति । इयम-
त्र भावना-श्रुतुषुक्ते काले यथालम्बिकत्वाध्वो यदि विस्तीर्णो
प्रामादिभवेति, तदा तं शुद्धपञ्चकानिः पञ्चभिर्वाभिः परिक-
ल्प्य एकैकस्यां रीत्यां पञ्च दिवसानि जिज्ञामटन्ति, तथैव च
भवन्ति । एवं पञ्चभिर्वाभिः परिकल्पितं मासं प्रायः परिपूर्यो जव-
ति । तथाविधविस्तीर्णप्रामाभावे तु निरकृतमेषु पञ्च प्रायसु
पञ्चपञ्चदिवसं भवन्ति । उक्तं च कल्पनायं-

एकैके पंचदिणं, पाण पण उ निट्ठो मासो । पंजा०
पतच्छुण्णिक- "जह एमां च्च मासो सविथारो ति विरुद्धो,
तो उव्वीहीओ काउं एकैकोपं पंच एव दिवसाणि हिंडति । विइ-
याए वि पंचदिवसे० जाव उव्वीए वि पंचदिवसे । एवं पणमां
मासो भवइ । अह नत्थि एमां गामो सविथारो, तो हवं जहाइ दि-
वाण उगामासि लसस परिपरेत्ते नेमि पक्ककं पंचदिवसाणि
अरथंति । एवं मासो विरिज्जमाणो पण पण निट्ठो मां होइ ति" ।

अथ यथाश्रमिकानामेव परस्परं जेममाह-

गच्छे पद्विचक्षाणं, अहलंदंति तु अह पुण विसेसो ।

ओगह्ठ जो तेमिं तु, सो आयरियाण आयवइ ॥

गच्छप्रतिषेधकानां पुनयेथालम्बिकानां गच्छप्रतिषेधकस्य; सका-
शाद् विशेषो भेदा भवति । तमेवाह-नेयां गच्छप्रतिषेधकध्याश्र-
मिकानां यत्केश्यपञ्चकलस्योत्तरावग्रहः, स आचार्याणामेव भ-
वति । यस्याऽऽचार्यस्य निश्रया तं विहरन्ति तस्मैव स क्षेत्रावग्र-
हो जवतीति भावः । गच्छप्रतिषेधकानां तु जिनकल्पिकत्वं क्ष-
त्रावग्रहो नास्तीति ।

अथ द्विविधानामपि यथालम्बिकानां जिज्ञासार्थानानासं
विषयभूता-

एगवसदीरें पएणं, उव्वीहीओ य गामि कुवन्ति ।

दिवसे दिवसे अन्नं, अन्नंति वीहीसु नियमेण ॥६२५॥

अनुसूचे काले एकस्यां वसती पञ्चक पञ्च दिवसानि यावद्-
वर्तित्यन्ते । वर्षीसु पुनश्चतुरां मासद् यावदेकस्यां वसती ति-
ष्ठति । अग्रे चर् वीहीः कुर्वन्ति । अयमर्थः-यथासिद्धासु गुरुप-
ञ्जिकृपाभिः वरुजिर्वीहीनिर्ग्रामं परिकल्पयन्ति । एकैकस्यां च
वीथ्यां पञ्च पञ्च दिवसानि भिक्षां पर्यटन्ति । तथैव च वसन्ति
विद्ययति । उक्तं च पञ्चकल्पसूचीं-“अभ्यागे गामो फीरह, एगेगो
एचदिवसं भिक्षं हिंडति, तत्थेव वसन्ति वासासु एगत्थे चड-
ममासो लि” । तासु च वीधीषु दिवसे दिवसे नियमतोऽन्यामन्यां
भिक्षामर्हति; उट्टुणादिनिष्ठापञ्चकमथादेकस्मिन् दिवसे यां
निष्ठास्यति न पुनर्हितीयेऽपि विने तामवाटन्ति, किन्त्वन्यामन्या-
मिति भावः । इत्थं तावद्स्मान्निर्व्याप्यते, सुधिषया तु समया-
विरांभनामथाऽपि व्याख्येयमिति ।

अथ सूत्रनामात्वं निर्दिदिशुषेयालान्दिकजेदानेवाह-

पदिचन्दा इयरे वि य, इकिक्का ते जिणाय य थेरा य ।

अत्यस्त उ देनम्मि य, अममचे तेसि पदिचन्धो ॥६२६॥

यथालान्दिका द्विविधाः-गच्छप्रतिषकाः, इतरे च गच्छा-
प्रतिषकाः । ते पुनरेकेशो छिभेदाः-जिनकल्पिकाः स्थवि-
रकल्पिकाश्च । तत्र यथालान्दिककल्पपरिसमाप्त्यनन्तरं ये जि-
नकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनकल्पिकाः । तेषु यो स्थविरकल्पमेवाध-
रित्यन्ति ते स्थविरकल्पिकाः । इह च ये गच्छ प्रतिषक्कास्तैर्यं
प्रतिषन्धो अनेन कारणेन भयनि-अग्रथस्सेत्यादि । अर्थस्यैव, न
सुख्य, देश एकदेशोऽद्याप्यसमाप्तो, न शुद्धसमीपं परिपूर्णां शू-
हीत इति तदुद्गहणाय गच्छ प्रतिषन्धः, तेषां तस्यावश्यं गुरुसमी-
पे ग्रहीष्यमाणत्वादिति ।

अथ परिपूर्णे सूत्राय गुरुसमीपे शूहीत्येव कथं कल्पं न
प्रतिषद्यन्त इत्याह-

लग्गासु भरते, तो पदिचञ्जिषु खंचवाहिउत्ति आ ।

गिहहंति जं अगहिचं, तत्थे य गंतुण आयरिओ ॥६२७॥

तेमिं तयं पयच्छइ, खेचं इंताण तेमिमे दांसा ।

वंदंनमवंदंते, लोगम्मो होइ परिवाओ ॥ ६२८ ॥

न तरेज्ज जइं गंतुं, आयरिओ ताहिं एइ सो चेव ।

अंतरपडिं पंदचम-जगामपसहिं य ससहिं वा ॥६२९॥

तीए य अपपरिजोगे, ते चंदंते न वंदइ सो उ ।

ते घेसुपपदिचन्दा, ताहिं जहिच्छापं विहरंति ॥६३०॥

सन्नादिषु त्वरमाणेषु शुभेषु सन्नयांगव्यवसाहिसिद्धौ ऊगित्यागंतु
स्तसु अन्येषु च लग्गासु दूरकालवर्तिषु न तथा भयंशु वा
शूहीतपरिपूर्णसूत्रार्थां अपि सन्नादिजन्मनया कल्पं प्रतिषद्यन्ते ।
ततः प्रतिषद्य तं कल्पं गच्छाभिमयं गुर्वेष्टाष्टानां क्षेत्रग्रामनग-
राश्चंदिदूरदेशे स्थिता विशिष्टतरनिपुर्नमिन्नसिन्नाजानुष्ठाननि-
रता गृह्णन्ति यद्गृहीतमनथोत्तममर्जतं तत्र चायं विधि-यदुत्त-
भावायः स्थां तत्र गत्वा तेषां सन्नादिजन्मनया कल्पं प्रतिषद्यन्ते । तम-
र्थं शेषं प्रयच्छति ददाति । अथ त एवाचार्यसमीपमागत्य किमि-
ति तमर्थशेषं न गृह्णन्तीत्याह-“सत्वं इतांतेत्यादि” क्षेत्रमर्थं स-
मागच्छन्तां तेषां यथासिद्धकानाम्, एते वक्ष्यमाणे शेषाः। तथाहि-
वन्दमानेषु गच्छयासिषु सासुषु, अयन्तेषु च कल्पयन्तेषु स्ना-
कमर्थं परिवादाः निन्दा जयति । तथाहि-यथालान्दिकानां कल्प-

स्थित्यैव आचार्यं मुक्तया अन्यस्य साधोः प्रणामं कर्तुं न
कल्पते; गच्छसाधवश्च महास्ताऽपि तान् वन्दन्ते, ततो लोकां
वन्द-यथा दुष्टशीला निगुणाश्च एते, येन अन्त्याद् साधुं वन्द-
मानानपि न व्याहरन्ति, न वन्दन्ति वा । गच्छसंबन्धिसाधूनां वा
अपरि अष्टयाऽऽज्ञा भवेत्-अन्त्येयमेतु दुःशीला निगुणाश्च, ये
न सन्त्यन्ते, आत्मारथिका वा एते, येन अतिवन्दमानानपि
वन्दन्ते इति । अथ यदि जङ्गलक्षणीयता तत्सकारां गन्तुं (न स-
रेज्ज सि) न शक्युयात् । आचार्यस्तदा पति आगच्छन्ति । केत्याह-
अन्तरपडिं मूलसेत्रात् सार्द्धेद्विगव्युत्तिसर्थं ग्रामविशेषं, यद्वा,
प्रतिषुवभ्रामाद् मूलक्षेत्राद् द्विगव्युत्तिसत्वा भिक्षाचार्याभ्रा-
मात्, अथ वा बहिर्मूलसेत्राद् मूलक्षेत्र एव वा अन्त्यवसति,
वाशब्दाद् मूलवसतिथि । इयमत्र जावना-यथाचार्यां य-
थाधान्दिकसमीपं गन्तुं न शक्यन्ते तदा यस्तेषां यथालान्दि-
कानां मर्थे धारणकुसलोः, साअन्तरपडिमागच्छन्ति, आचार्य-
स्तु तत्र गत्वा अर्थं कथयति । अथ पुनः साचुत्संघातको मूल-
क्षेत्राद्गच्छं पानं शूहीत्या आचार्याय दृशानि, स्वयमाचार्यः सं-
न्यासमर्थे मूलक्षेत्रमायाति । अथान्तरपडिमागन्तुं न शक्यन्ते
तदा अन्तरपडिप्रतिषुवभ्रामार्थान्तरालं गत्वा अर्थं कथय-
ति । तत्रापि गन्तुं शक्यमर्थं प्रतिषुवभ्रामार्थं, तत्रापि गन्तुमशक्यं
प्रतिषुवभ्रामार्थं मूलक्षेत्रात् द्विगव्युत्तिसत्वा भिक्षाचार्याभ्रा-
मात्, अथ वा बहिर्मूलसेत्राद् मूलक्षेत्र एव वा अन्त्यवसति
मूलक्षेत्रमाय एवाचार्यस्यां वसती गत्वा; तत्रापि गन्तुमशक्यमर्थं
मूलवसतितो प्रच्छन्नाचार्यास्तस्यै यथालान्दिकाचार्यांशेषं प्रय-
च्छन्तीति । उक्तं च कल्पसूचीं-“आचार्ये सुगपोरसिं सत्थपो-
रसिं य गच्छं निथाय दाउ अहासंदिपयाणं सत्तं गंतुं, अर्थं सा-
रेह । अह न तरह, द्वां वि पोरसिंआ दावं गंतुं तो सुसपोरसिं
दावं चक्कह, अर्थपोरसिं सांसेण द्वावेवह । अर्थसुसपोरसिं
पि दातुं गंतुं न तरह, तो द्वां वि पोरसिंआ स्तिसंय वा-
यावह अल्पणा अहासंदिपे वापइ । जइ न सकेइ आयरिआं
केसबहिं अथासंदिपसंगासं गंतुं, ताहं जं तेसि अहासंदि-
याणं धारणाकुसलो सो अंतरपडिअसन्ने खेचवसहिं पति,
आयरियो तस्सं गंतुं अर्थं कइति । एथ पुणं सत्तंमां अन्त-
पाणं गहाय आयरियस्स नेह, गुरु वेयालिय पडिअ इति । एवं
पि असमर्थं गुरु अंतरपडिपाणं पडिअवसभगामस्स य अंतर-
यावइ स्ति । असति पडिअवसं द्याए, असति पडिअवसमस्स
वासगामस्स य अंतरा वापसि, असति वसभगामस्स बहिंयाए
वापति । अतरंते सगामं अश्राए वसहीए, अतरंते एगवसही-
ए चेव अपरिभोगं उवासं वापति इत्यादि” ॥ (नीए य अपरभो-
गो लि) तस्यां च मूलवसतावपरिभोगं तथाविद्यजनाकीणं
स्थानं, तेभ्योऽर्थशेषं प्रयच्छन्तीति योगः । तत्र च ये ग-
च्छसाधवां महास्ताऽपि यथालान्दिकं वन्दन्ते, स पुनर्दथाल-
न्दिकस्ताव वन्दन्त इति । एवं तमर्थशेषं शूहीत्या पारिनिष्ठितन-
योजनत्वाद् गच्छं अपरिताब्धाः सन्तो यथासंदिक्का स्वच्छया
स्वकल्पानुरूपं विहरन्त निजकल्पं परिपालयन्ति इति । परब०
७० द्वार । ४० । ५० । वि१० ।

अथ जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकभेद्विधानां परस्परं
विशेषमाह-

जिणकपिपया य तद्धियं, किंवि तगच्छं पि ते न कारिंति ।
निपुण्दिकम्मपरिंरा, अवि अच्छिपडं पि नऽवगोति । ६३१ ।
जिनकल्पिकाश्च यथासंदिक्काः, तदा कल्पकाश्च मारणात्मिकः-

प्यानके समुद्रपत्रे, न कामपि विक्रिन्तां ते कारयन्ति, तथाक-
ल्पस्थितेः । अपि च-निष्प्रतिभ्रमेशरीराः प्रतिकर्मरहितदेहास्त-
जगवन्तस्तन आस्नां तावदन्वय, भङ्गमलमपि नापनयन्ति, अ-
प्रमादाविशयादिति ।

थेराणं नापचं, अतन्तरं अपिग्यांति गच्छन्तः ।
ते वि य स फासुपणं, करिंति सचवं पि पदिक्कम्मं ॥६३॥

स्वार्कलिपकयथाहिनिकानां जिनकलिपकयथालान्दिकयो ना-
नात्वं भवेत्, यथा अशकपुत्रवन् ध्याधिवाधिने सन्तं स्वमाधु-
मर्थयन्ति गच्छस्य गच्छयासिसाधुसमुहस्य स्वकायं पञ्चकग-
णपरिपूरणार्थं च तस्य स्थाने विंशतिपुत्रसंज्ञननादिसमन्वित-
मभ्यं मुनिं स्वकल्पे प्रवेशयन्ति । तस्यै च गच्छवासिनः साध-
वः (स ति) तस्य अशकपुत्रानः प्राशुकन निरवधेनाश्रवाणा-
दिना कुर्वन्ति सर्वेर्मापं पारंकर्म प्रतिजगारणांमिति ।

किञ्च—

एकेकपरिगहगा, सपाउरणा हवन्ति थेराओ ।
जे पुणं सि जिणकूपे, जावं नि वयपायाणि ॥६३॥

स्वार्कलिपका यथालान्दिका अवश्यमेव एकैकपदग्रहकाः
प्रत्येककैकपदग्रहधारिणः, तथा सप्तावरणश्च जयन्ति । ये
पुनर्वा यथालान्दिकानां जिनकल्पे अभिष्यन्ति, जिनकलिपक-
यथालान्दिका इत्यर्थः । जावं तेषां वस्त्राणां सप्तावरणाः प्राव-
रणपदग्रहधारिणाणिवाग्भेदमिज्जमाविजितकल्याणतया के-
वाचिद्वस्त्रावभक्षणमुपकरणं जयन्ति, केषां च नैत्यर्थः । प्रव०
७० द्वार । वृ० ।

अथ सामान्येन यथालान्दिकप्रमाणमाह—

गणमाणओ जहन्ना, तिभि गण मयगसो य उक्कोमा ।
पुरिसपाणो पनरम, सहस्समां चव उक्कोमा ॥ ६३४ ॥
गणमानतो गणमाधियं जघन्त्यत्तखयो गणाः प्रतिपद्यमान-
का जयन्ति । शताप्रदाश्व शतपुत्रकवमुकृष्टतां गणमानं, पुरुष-
प्रमाणं त्वेतेषां प्रतिपद्यमानकानां जघन्त्यतः पञ्चदश, पञ्चको
हि गणांऽमुं कल्पे प्रतिपद्यन्ते । गणश्च जघन्त्यत्तखयः, ततः
पञ्चमिंशुतिनाः पञ्चदश, वरुहणतः पुनः पुरुषप्रमाणं सहस्रशः
सहस्रपुत्रकवच ।

पुरुषप्रमाणमेवाधियं पुनर्विशेषमाह—

पडिव ज्ञमाणगा वा, इकाइ हनेज ऊणपक्खे वि ।
होति नहन्ना एए, सयगसो चव उक्कोमा ॥ ६३४ ॥
पुत्रपदिक्कवग्गाणं वि, उक्कोसजह्मसो परीमाणं ।
कोरिपहुत्तं जणियं, होइ अह्हाइंदिपाणं तु ॥६३५॥

प्रतिपद्यमानका यत् जघन्त्यत एकादशो वा जघन्युन्मप्रक्षेपे स-
ति, यथालान्दिककल्पे हि पञ्चमुभिसयं गच्छः, तत्र च यदा ग्मान-
त्वाधिकारणवशात्तां गच्छसमपेणादिना तेषां न्यूनाता भवति त-
दैवादिः साधुस्तं कल्पे प्रवेशयन्ते, येन पञ्चको गच्छो भवति, एवं
जघन्त्यतः प्रतिपद्यमानकस्तथा शताप्रश उक्कथाः प्रतिपद्य-
मानका एवेति ॥६३४॥ पूर्वप्रतिपद्यानामपि सामान्येनोत्कृष्टतां ज-
घन्त्यत्तत्त परिमाणं कान्दिपुत्रकवचं जणितं भवति यथालान्दिकानां वा
उक्तं च कल्पपूर्वैः "पडिवज्जमाणगा जह्मणे" तिभि गणा, उक्को-
सणं सयपुहसं गणाए पुरिसपमाणं पविद्वज्जमाणगा, जह्मणं
२१७

पन्नरस पुरिसा उक्कोसणं सहस्सपुहसं पुत्रपदिक्कवग्गाणं जह-
भेणं कोरिपुहसं, उक्कोसयि वि कोरिपुहसमिति" । केवत्वं जघ-
न्यापुत्कृष्टे विशिष्टतरं ह्यभिमिति । प्रव० ७० द्वार । वृ० ।

अथ गच्छप्रतिषथयथालान्दिकद्वारमाह—

पडिवक्के को दोसां, अगमणेगागिण्यस वामासु ।
सुयसंयपणादोओ, सो चव गमो निरवसेमा ॥

प्रतिषथन प्रतिषथय, गच्छप्रतिषथ इत्यर्थः । तत्र कारणे यथा-
लान्दिकानां च वक्तव्यं (को दोसंति) को नाम दोषो भवति य-
त् यथालान्दिका आचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे न तिष्ठन्ति । (अगमणेगा-
गिण्यससंति) यथाचार्याः स्वयं क्षेत्रबाहिर्गन्तुं न शक्नुवन्ति तत
एकानिमे यथालान्दिकस्यागमन भवति (वासास्तु) (सि) यथासु
उपयोगं दश्या यदि ज्ञानानि वषे न पतिष्यन्ति तत्र आगच्छतिः प्र-
न्यथा तु नति । भुनसहननादिकस्तु गमः स एव निरवस्थायां व-
क्तव्या यो जिनकलिपकानाम् । यस्तु विदोषः स प्रागेषोक्तः ।

अथ प्रतिषथपद व्याख्याति—

सुत्तरयमावसेमां, पदिबंधो तसिमो जने कप्पो ।
आयरिं किड्कम्मं, अंतरं बहिया य वसहीए ॥

सुवार्धेस्तीरुहतिः परमथापि सावशेषो न संपूर्णः, एव तेषां ग-
च्छविषयप्रतिषथः । तेषां चायं वक्ष्यमाणः कल्पः, यथा-आचार्य-
स्यैव कृतिकर्म बन्दनक दातव्यं, तथा-यथाचार्या न शक्नोति
गन्तुं ततोऽन्तरा वा प्रामस्य, बहियां वसती, यथालान्दिकस्य
वाचनां द्वाति । यत्पुत्ररज भावविषयतः ।

अथ को दोष इति द्वारं शिष्यः पृच्छति । यथाऽद्याचार्योधि-
ष्ठिते क्षेत्रे ते तिष्ठयुस्ततः को दोषः स्यात् ? उच्यते—
नमणं पुत्रवभासा, अणमण दुस्सीलधपपासांका ।
आपच कुकुदत्ति य दादो द्वोगे उडिं चव ॥

यथालान्दिकानां न वसन्ते आचार्ये मुक्या अन्यस्य साधोः
प्रणामं कर्तुं, तथाकल्पेवात् । ननरन्तं क्षेत्रान्तांस्तद्वन्तः पूर्वोन्त्या-
साक्षमन् प्रणामं साधुनां कुर्वे, गच्छवासिनश्च यथालान्दिकाश्च
बन्धने ते पुनर्थाथालान्दिकानाम् भूयां न प्रतिष्यन्तं, ततस्तेषा-
मनमे द्वोको भ्रयात्-दुःशीला अशीलाः स्तम्भकल्पा अमी, य-
तोऽन्येथामिन्वन्दमानानामपि न प्रतिष्यन्तं प्रवच्छन्ति, न वा
कल्प्यालापं कुर्वन्ति । गच्छवासिषु वा लोकस्य स्वयंयुक्तानां
भवति-अवश्यं स्थाप्या दुःशीलत्वाद्बन्धनीयाः कृता अमी,
अन्यथा कथं न प्रतिष्यन्ते । आमायथेका वा अमी यदाप्रतिष्य-
मानानां पबन्तं, कौकुडका वा माहस्थानकारिणांऽमी कोर-
पङ्क्तिनिस्समिन्वं बन्धन्ते । एवं लोकं वाप उपजायन्त, शारोः
क्षेत्रबाहिस्तिष्ठन्ति । अपि च स्थितिरैव कल्पे एवायममीयां, यत्
क्षत्रान्यन्तरे न तिष्ठन्ति ।

अमीयामेव कल्पमाह—

दोषि वि दांं धाणं, धाणकुसलसस देस्स बहि देइ ।
कड्कम्मं चोत्तपट्ठे, ओवग्गहिया निंसज्जा य ॥

आचार्यः सुवार्धेपौकथ्यो द्वे अपि गच्छवासिनां द्वावा यथालान्द-
िकानां समीप गमनं करोति, गत्वा च तत्र तेषामर्थे कथयति । अ-
थाचार्या न शक्नोति तत्र गन्तुं ततो यस्तेषां यथालान्दिकानां मध्ये
धारणाकुशलोऽप्रवर्णारणास्तिमानः, क्षेत्रबाहिस्तिष्ठन्तः पक्षिकायाः प्र-
त्यासक्तं भूतानां समायाति, तत्र च गत्वा आचार्यस्तस्यार्थे द्वा-

लि । स च भुजभक्तिहेतोरार्चायाणां कृतिकर्म चन्द्रक दस्या चोत्प-
पट्टकाल्पयौ भौषणप्रोदक्यां निषद्यायानुपविष्टायां शृणोति ।

अथ "होषं चि हाउं गमण्" इत्येव द्वितीयसाह-

अर्थेयं हो च अदाउं, वषड् वायावए व अक्षेणं ।

एवं ता उउक्के वापानु य काउमुत्रओगं ॥

गद्याचार्यो हे आपो चौरुष्यो इत्या गन्तु न शक्नोति ततोऽधो-
मदस्वा, तथाऽप्यदाकां हावपि सूत्रायावदस्या व्रजति, अप्येन
वा शिष्येण स्वशिष्यान् वाचयति वाचनान् दापयति । अद्याचार्य-
स्वत्र गन्तुमशकस्ततो यथाशक्तिः सूत्रसमीपमायाति, एव ता-
वत् श्रुतुवन्दे उद्यम्यम् । वर्षासु, उग्रश, पुनरर्थे । वर्षासु पुनरर्थे वि-
शेषः-उपयोगं कृत्वा किं चपे पतिष्यान् नवेति निरुद्ध्य यदि
जानाति पतिष्याति ततो न आचार्याणां समीपमायाति ।

अथ गुरुवस्त्र गताः कथं समुद्दिशन्तीयाड-

संधाको मगणें, जचं पाणें च नैड उ गुरुणें ।

अरुचुएहं थेरा वा, तो अंतरपक्षिण एड ॥

गुरुणां यथालादिकसमीपमुपगतानां योग्यं नक्तं पानं च गु-
होऽपि स्यादको मागणं पृष्ठतो गन्वा गन्वा तत्र नयति । अथ या-
वत् कालेन यथालादिकानामुपश्रद्धं गुरुणां व्रजति तावत्, अ-
स्त्युत्तमाने वा नपश्चरन्ति, स्वधिग वा वादिकवयः प्रास्तास्ते
आचार्यान्ततोऽन्तरपक्षिकायामेकं यथालादिको धारणासं-
पन्नः समायाति, तत्र गुरुयोऽपि गन्वा तस्य वाचनान् दत्त्वा
संधाटकनाऽऽजीत भक्त्यान् समुद्दिश्य संधासमये मूलक्रे-
ममायाति ।

अथान्तरपक्षिमपि गन्तुमसमर्थां गुरवः, ततः किमित्याह-

अंतरपक्षिव्रजे वा, विदयेतर वाहि वमजगामस ।

अन्नाए वसहं, अपरीतोमाम्मि वाए ॥

अन्तरपक्षिकाप्रतिवृत्तप्रामाण्येनरत्नं गन्वा यथालादिकं वा-
चयति, तत्र गन्तुमशको प्रतिवृत्तप्रामाण्येन, अथ उष्णं गन्तुं च श-
क्नोति ततो (विदयेतरं ति) द्वितीयं प्रतिवृत्तमूलक्रेमयारपान-
राजलक्षणं यदन्तरं तत्र गन्वा वाचनान् प्रयच्छति, तथापि गमना-
शक्तौ वृत्तप्रामाण्ये मूलक्रेमस्य बहिर्विजितं प्रदेशे गन्वा वाच-
यति, यदि तथापि गन्तुं न प्रमथिष्युः ततो मूलक्रेम पवान्यस्यां
वसती, तथापि गन्तुमशको तस्यामेव मूलवसतो अपरिभागे
अवकाशे वाचयति ।

तत्र चयं सामाचारी-

तस्म जई किडकम्मं, करिंति सो पुण न तेसि पकरेड् ।

जा पड्डे ताव गुरुणें, करेडं न करेड उ परेणें ॥

तस्य यथालादिकस्य यतयो गच्छयामिनः साधवः कृतिकर्म
कुर्वन्ति स पुनर्यथालादिकसत्त्वां गच्छयामिनानां कृतिकर्म न
करोति, यावच्च पठति अर्थतोपमधीने गुणेरपि तावदेव क-
रोति, परतस्तु न करोति, तथाकल्पत्वात् ।

अर्धामायेव मासकल्पविधिमाह-

एको मासवियारो, इवेतऽडाडोदियाण कुग्गामा ।

मासो विभज्जमाणो, पणगण उ निडिओ होइ ॥

यदि मूलक्रेमस्य बहिरेको प्रायः सविचारः सविस्मरेण वतने,
आह च कृणिकृत्- सविचारो चि विस्तुतः ततस्तस्मिन्

प्राये षट् वीथीः परिकल्प्य यथालादिका एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च
पञ्च दिवसात् भिक्षाप्रदानं तस्यामेव च वीथ्यां वसतिर्माप नृ-
हन्ति । एव प्रतिवीथ्यां 'पणगणं' रात्रिदिवसपक्षकं मासं
विभज्यमानः सन् वाङ्महाराजपञ्चकैर्निहितः सप्रभो भवति ।
अथ नास्ति विस्तीर्णो प्रायस्ततो (इवेतऽडाडोदियाण उग्गामा
इति) मूलक्रेमपश्चेतो ये लघुतरा वदं प्राप्ता भवन्ति, तेषु प्रत्येक
पञ्च पञ्च दिवसात्, पर्यन्तं यथालादिकानां तथैव वस्तिरहा-
राजपञ्चकैर्मासः परिपूर्णो नवतीति । ५० १ उ ० ।

अहलालहुरस्य-यथालादिकपुस्तकं-न० । यद्यति यथोचितानि लघु-
स्वकानि अमहास्वरूपाणि, महानि हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा वा-
च्यन्त्यादिति यथालादिकपुस्तकानि । अथवा लघूनि महानि बरि-
ष्ठानीति च बुद्ध्याः । अमहास्वरूपेण, भ० । 'इवाणं अहलालहुर-
सादं रथणाइ' इति अर्थः । भ० १ श० २ उ ० । अनेकान्तलघुके
वीथ्याग्रहाप्रारब्ध, ५० ० ७ उ ० । स्तोत्रं, ५० ० ।

यथालादिकपुस्तकादिव्यवहारप्रणाल्यामाह-

गुरुको गुरुस्ततरागो, अहलालहुरस्यो य होड ववहारो ।

लहूमां लहूस्ततरागो, अहलालहुरस्यो य होड ववहारो ॥

एपमि पच्छिचं, वृत्तामि अहलालहुरस्ये ।

व्यवहारविधिः । तद्यथा-गुरुको गुरुस्ततरको यथागुरुस्वक-
श्च । तत्र यो गुरुकः स त्रिबिधः । तद्यथा-लघुगुणो लघुस्ततरको
यथालादिकश्च । एतेषां व्यवहाराणां, यथालुगुणां यथाकपरि-
पाठ्या, प्रायश्चित्तं यज्यामि । किमुक्तं नवति ? एतेषु व्यवहारेषु
समुपास्वनेषु यथापरिपाठ्या प्रायश्चित्तपरिमाणं अनिधात्ये ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

गुरुमां य होड मासो, गुरुस्ततरागो चठमामो ।

अहलालहुरस्यो ऋम्मासो, गुग्गायपक्खम्मि पदिचत्ती ॥

गुरुको नाम व्यवहारो मासः मासपरिणामः, गुरुकं व्यवहारो
समापिते मास एतः प्रायश्चित्तं इत्युक्तं इति ज्ञेयः । एवं गुरु-
तरको भवति चतुर्मासपरिमाणः । यथागुरुकः परमासः, पर-
मासपरिमाणः । एषा गुरुकपक्षे गुरुकव्यवहारं त्रिविधं यथा-
क्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपात्तः ।

सम्प्रति लघुस्वकव्यवहारविषयं प्रायश्चित्तपरिमाणमाह-

तोसा य पणवीमा, पत्तरसे पणवीसा य ।

दस पेच य दिवसां, लहूमगपक्खम्मि पदिचत्ती ॥

लघुको व्यवहारविशेषतः त्रिंशद्विषयपरिमाणः । एवं लघुतरकः
पञ्चविंशतिदिनमानः । एषः लघुस्वकव्यवहारं त्रिविधं यथाक्रमं
प्रायश्चित्तप्रतिपात्तः । यथालघुको व्यवहारः पञ्चदशपञ्चविं-
शतिदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः । एवं लघुस्वक-तरको द्वादशदि-
वसमानः । यथालघुस्वकः पञ्च दिवसानि पञ्चद्विषयप्रायश्चित्तानि
परिमाणः । एषा लघुस्वकव्यवहारवक्षे प्रायश्चित्तपरिमाणप्र-
तिपात्तः । ५० २ उ ० ।

सम्प्रति भाष्यकम् यथाशुच्यकप्रहणं, तुनीयसुत्र-
गतमभ्यतरप्रहणं च व्याख्यानयति-

दुविहो य अहलालहुरस्ये, जहमओ मडिअमो य उवहीओ ।

अन्नपरमगट्ठणण उ, पेण्डि तिदिहो उ उवहीओ ॥

यथाप्रसुप्तस्य उपधाद्विधिवो भवति—अथयो मध्यमश्च । अथ्वतरग्रहणेन तु त्रिविधोऽप्युपाधः परिरुह्यते । तदेवं कृता त्रिविधमप्यथाख्या भाष्यकृता । अथ० ६ उ० ।

अहावासास-यथावकाश-अव्य०। यो यस्यावकाशः यद्यस्योप-
सिस्थानद-अथवा भूयम्बुकात्तऽऽकाशीयजसंयोगः, तदनति-
क्रमे, सूत्र० । "नेति च यो अहावापेण अहावामासेण इथोप" ।
यथावकाशेनेति । यो यस्यावकाशो मानुहदरकुलयादिक-
स्तत्रापि किल वामा स्थियः, दक्षिणा कुक्कः पुरुषस्याभया-
श्रितः परह इति । अत्र चाविध्वस्ता यानिरविध्वस्तं बीज-
मिति स्ववारां नङ्गाः । तत्राप्याद्य एव भङ्गक उत्पत्तरवकाशां,
न शेषेषु त्रिष्विति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

अहावच-यथापर्य-पुं० । अहावच-यथापर्य-पुं० । यथापर्य-पुं० । यथापर्य-पुं० ।
पुत्रस्थानियेषु, भ० ३ श० ६ उ० । कल्प० ।

अहावचचापिष्ठाप-यथापत्यानिष्ठात-त्रि० । यथाऽपत्यमेव-
मभिज्ञाता भवगता यथापत्यानिष्ठाताः । अथवा-यथापत्याश्च
तेऽनिष्ठाताश्चेति कर्मधारयः । पुत्रस्थानियेषामिज्ञातेषु, भ० ३
श० ६ उ० ।

अहाविह-यथाविध-अव्य०। शास्त्रीयन्यायानतिक्रमे, हा० ७ हा०।

अहासंयव-यथासंस्तुत-न० । निष्कम्पं पढादौ, नि० चू० २ उ० ।

अहासंयव-यथासंस्तुत-न० । शयनयोग्ये, आचा० २ प्र० २
अ० ३ उ० ।

यथामंस्कृत-न०। यत तुणादि यद्योपमोगाई भवति तथैव ल-
ज्यते तस्मिन्, अथा० ३ हा० ४ उ० । आचा० ।

अहासंविभाग-यथा (आधा) संविज्ञाग-पुं० । यथा सिद्धस्य
स्वार्थं निर्वाचनस्थेयर्थः, अहासादः समितिसङ्गतत्वेन पञ्चाक-
मदिदंयपरिदारेण विभजन साधये दानद्वारेण विज्ञागकरण
यथासंविभागः । अनिधिसंविज्ञागमेन, उपा० १ श्रु० १ अ० ।
"अहासंविभागो णाम जाद अहाकम्मं देति तो सायुमहे नज-
ति इट्टिद्विद्वि सज्जमहाणेहि उत्तारंति, तेण आहाकम्मण सो
अहासंविभागो जयति । जे अहापयस्ताणं अणुपाणवत्थओ-
सहसंजपपिदकलणंमजासपरायणाणां सविज्ञागो मो अ-
हासंविभागो भवति । फासु एससिञ्ज संविभागो सि भणियं
हाः " । आ० चू० ६ अ० । आधासंविभाग इत्यनुवर्तितव्यः ।
अस्यानिवाराः—"तयाऽणत्तरे च णं अहासंविभागस्स एव
अहारा जाणियव्या, न समायरियत्ता ! तं जहा-संविच-
निकम्बेयणया ? संविचत्तपटणया १ काजाडकमदांणं ३ पराव-
देशं मच्चुत्तरा ४ " । उपा० १ अ० । ("अहसंविभाग" शब्द-
ऽस्मिन्नैव भागे ३४ पृष्ठे उक्तोऽस्य विस्तरः)

अहासिच-यथासत्य-न० । याथातथ्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ०
२ उ० ।

अहासत्ति-यथाशक्ति-अव्य०। स्वशक्त्याचिन्त्ये, हा० २२ हा०।
शक्त्यनुकूपे, पं० श्रु० ४ श्रु० । शक्त्यनुकारे, पं० श्रु० ३ अ० ।

अहासुच-यथासुत्र-अव्य० । सामान्यतः सूत्रानतिक्रमे, दशा०
७ अ० । अथा० । उपा० । हा० । सूत्रासुत्रांरणादादित्तस्यताके,
व्य० ए उ० । सूत्राधिकरे, कल्प० ६ उ० ॥

अहासुह-यथासुसुह-अव्य० । सुखानतिक्रमे, हा० १ अ० ।

अहासुह-यथासुसुह-त्रि० । सारं, भ० ३ श० १ उ० । "अहा-
सायरे भुमाले परिसासेह" । कल्प० २ क० ।

अहाह-अहाह-अव्य० । शब्दे, सभाधने, आश्चर्ये, क्लेशे, प्र-
कथे च । वाच० । प्रा० ।

अहि-अहि-पुं० । उरःपरिसर्पभेदे, उक्त० ३६ अ० । सर्पे, उक्त०
३४ अ० । हा० । सूत्र० ।

अस्य भेदाः—

से किं तं अहि ? । अहिं दुविहा पणणा । तं जहा-
दन्वीकरा य, भउलियां य ॥

अथ के ते अहयः ? । गुरुराह—अहयो द्विविधाः प्रकृताः । त-
द्यथा-दूर्ध्वोकराश्च मुकुलिनश्च । तत्र दूर्ध्वो व दूर्ध्वो कृता, तत्क-
रणशीला दूर्ध्वोकराः, मुकुल फणाविरटोयमा शरीरावयव-
विशेषाकृतिः, सा विद्यते येषां ते मुकुलिनः, फणाकरणशार्त्तव-
कृता इत्यर्थः । अथाऽपिचशब्देः स्वगतानिकभेदसूचको । प्रहा० १
पद । आचा० । (दूर्ध्वोकरमुकुलिनोदा स्वस्यस्थाने दृष्टव्याः)

अहिअ-अहित-त्रि० । हिताऽकारिणं, स० ३० सप्त० ।

अहिअणियहि-अहितनिर्दृष्टि-स्त्री० । प्राणानिपातात्करणे,
पं० व० १ हा० ।

अ (आ) हिआऽ-अभिजाति-स्त्री०-पुं० । " अद्यधमं० " ।
हा० १ । १२७ । इति अस्य हः "कगञ्ज०" । हा० ११७१ इत्यादि-
ना तजयोर्लुक् । " अतः समुदाहोर्वा वा " । हा० १ । ४४ । इति
अकारस्य दीर्घः । सत्कुलांतपत्तो, प्रा० १ पाद । पुं० १ पाद ।
अहिआहिअसंपत्ति-अधिकाधिकसंप्राप्ति-स्त्री० । वृद्धौ, पं०
व० ४ चार ।

अहिउल-दृह-धा०-अस्मीकरणे, सक० "दृहेरहिउलालुद्धौ"
। ८ । ४ । २०० । इति दृहधातोर्दिक्रमादेशः । अहिउलह, उहह,
दहत । प्रा० ४ पाद ।

अहिंसण-अहिंसक-त्रि० । अथपके, प्रअ० १ संव० हा० ।

अहिंसण-अहिंसन-न० । अव्यापाने, ध० १ अधि० ।

अहिंसा-अहिंसा-स्त्री० । न हिंसाऽहिंसा । नि० चू० २ उ० ।
प्राणविधेयग्राह्यजनव्यापाराभावे, हा० २१ हा० । प्राणिधातव-
जने, प० व० १ हा० ।

- (१) अहिंसास्वरूपनिर्वचनम् ।
- (२) अहिंसाप्रलक्षणम् ।
- (३) अहिंसास्वसंवरणस्वाशेषा वक्तव्यता ।
- (४) धैर्यमुपलब्धा संविना च तत्रिकपणम् ।
- (५) अहिंसापालनेघटस्य यद् विधेयं तत्रिकपणम् ।
- (६) प्रथमत्रयस्य पञ्च भावताः ।
- (७) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः ।
- (८) धैर्यकहिंसाविचारः ।
- (९) किमर्थं सन्वान् न हिंसादिति प्रतिपादनम् ।
- (१०) अहिंसाप्रतिद्वेषनिकपणम् ।
- (११) भगवन्तरेऽहिंसा न तादृशी ।
- (१२) सर्वे प्राणादुका अहिंसां मोक्षाङ्गभूनां प्रतिपाद्यन्ते, न
प्राधान्येन ।

- (१३) अहिंसाविषेचनम् ।
 (१४) एकात्मनित्यानित्यात्मनि हिंसा इ. एतद इति निरूपणम् ।
 (१५) आत्मनः परिष्कारमित्ये हिंसाया अविरोधनिरूपणम् ।
 (१६) स्वगोदयो हि यदि स्वकृतकर्मोनापादिना एव स्मरिति तदा कर्मोन्मुपगमो निरर्थक इति हिंसाऽपि असंभवा जनानामिति विचारः ।
 (१७) आत्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहादिप्रभाभिन्नत्वस्य च साधने प्रमाणोपदर्शनम् ।
 (१८) आत्मनोऽसर्वगतत्वं गुणवर्णनम् ।

(१) अस्य निष्ठा-

हिंसायै पटिवक्तो, होइ अहिंसा चतुर्विधा सा उ ।

दन्वं जावे य तद्वा, अहिंम उजीवाऽवाउ चि । ४५॥ दश० नि० ।

तत्र प्रत्यक्षयोगानुप्राणव्यपरोपणं हिंसा । अस्या हिंसायाः किम्, प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः, अग्रमक्षतया गुणयोऽप्येकं प्राणाऽव्यपरोपणमित्यर्थः । किम्, अन्वयव्यतिरेकः । तत्र चतुर्विधा चतुष्पकारा अहिंसा । (दृष्ये भावे य स्ति) दृश्यतो भावतश्चेत्येका भङ्गाः तथा-दृश्यतो नो जायते । भावतो न दृश्यतः । तथा-न दृश्यतो न भावत इति । तथाहात्मसमुच्चितो भङ्गत्रयोपन्यासः, अनुक्तसमुच्चयाप्यं कत्वादस्येति । स्वच्छ- "तथा समुच्चयनिर्देशावधारणसाहचर्यप्रसंगेषु" इत्यादि । तथाचायं भङ्गकमावायः प्रत्यतो भावतश्चेति- "जहा केह पुरिस्वे मियवदपरिणामपरिणए मियं पासिसा आयस्साइयिकोदरुजीवे सरं णिसिरिञ्जा, से य मिए तंए संरंए विंके मए; सिया एसा इव्वओ हिंसा, भावओ वि । या पुनरेव्वतो न भावतः, सा जल्लीयोविंसमित्तस्य साधोः कारणे गच्छत इति । उक्ते च-

" उच्चाश्रियमि पाप, इरियासमिअस्स सत्तमद्वाए ।

बावेजेज कुलिगी, मरिज्ज तं योगमासज्जा ॥ १ ॥

न य तस्स तं निमित्तो, यथो सुमुमां वि देसिओ समप ।

अज्जा नो अपमसो, सा उ पमाअ (ति निहिद्वा" ॥२॥ इत्यादि । या पुनर्भावतो, न द्रव्यतः स्वयम्- "जहा के वि पुरिस्वे मेदंमदप्य- गालव्यदेसे संतिवे ईस्विन्नलक्रकार्यं रज्जुं पासिसा एस अहिंस्ति तव्वहपरिणामए णिकइयाऽसिपते दुअं दुअं मिदिज्जा । एसा भावओ हिंसा, न दृव्वओ । चरमभङ्गस्तु शून्यः । इत्येवम्भूताया हिंसायाः प्रतिपक्षोऽहिंसाति । एकाधिकानिधिसयाऽऽह- (अहिंसज्जावाइवाओ स्ति) न हिंसा अहिंसा, न जीवांत- निपातः अजीवातिपातः । तथा च तद्वतः स्वकर्मोतिपातो अन्वयंवाऽजीवत्वा कर्मोति भावनीयमितान् । उपलक्षणत्वाच्च प्राणानिपातविरत्यादिप्रवृत्तिर्नाशयति । दश० १ अ० । अस्यथावर- ज्ञावज्ञायाम, स्या० । प्रमादयोगात्सस्वव्यपरोपणविरितिरूपे प्रथमे व्रत, ध० ।

(२) प्रथममहिंसातत्त्वतन्नामह-

प्रमादयोगाद्यत्सर्वे-जीवास्वव्यपरोपणम् ।

सर्वथा यावज्जीवं च, प्रांचे तत् प्रथम व्रतम् ॥ ४॥

प्रमादो ज्ञानसंशयविपर्ययरागद्वेषस्मृतिभ्रंशयोगदुष्प्राणधान- धर्मोनादभेदादप्रविष्यति। तद्योगात् तत्संन्यातु सर्वेषां सूक्ष्माभेद- भेदभिन्नानां, जीवानां प्राणिनां, येऽस्यः प्राणाः पञ्चेन्द्रियबलप्र- योक्त्यासायुर्लक्षणा दृशः, तेषां यथासंभवेनाप्यपरोपणमविना- शनम्। तद्देशतोऽपि स्वादित्यत आह-सर्वेति। सर्वप्रकारेण वि-

विधाविषेधेन भङ्गेन । तच्चैतन्मपि स्वादित्यत आह-यावज्जीवं- प्राणधारणं यावत् । तत्किमित्याह-प्रथमं व्रतम्-अहिंसाव्रतं, प्रांचे जिनैरति शयः । प्रथमस्य चास्य शशाधारत्वात् सूक्ष्म- प्रामाण्याच्चावसेयम् । द्वितीयो हेतुश्च द्वितियमतादिवर्षाप भास्य इत्युक्तं प्रथमं व्रतम् । ध० ३ अधि० । " तथियं पदमं ठाणं, महावीरेण देसियं । अहिंसा निऊणा विट्ठा, सव्वभूयसु संय- म्" ॥१॥ दश० १ अ० । (आद्यदशाविषयानुपगमस्य, व्रत- तदनुदीनां च व्याख्या ' अद्वारसदृष्टा' शब्देऽस्मिन्नेव प्राये १५० पृष्ठे, स्वस्वस्थाने च दृष्टव्या)

(३) अहिंसास्यसंवरद्वारस्यैवाऽशेषा वक्तव्यता-

तस्य पदमं अहिंसा, तस्यथावरसम्बन्धयत्वेमकरी ।

तंसि सभावाणए, उ किंचि वोच्चं गुणुपे ॥

(तस्य स्ति) तत्र नेपु पञ्चतु मध्ये प्रथमं सम्बरद्वारमहिंसा (तस्यथावरसम्बन्धयत्वेमकरि स्ति) अस्यस्थावराणां सर्वेषां भू- तानां क्रमकणशीला । तस्या आहसायाः सभावाणानुप भाव- नापञ्चकोपेताया एव (किंचि स्ति) किञ्चानास्यं, वक्ष्ये गुणो- देसं गुणलेशामिति । प्रश्न० ।

अथ प्रथमसम्बरनिरूपणार्थाह-

तस्य पदमं अहिंसा जा सा सदेवमनुयासुरस्स लोगस्स जवाति दीवो, ताणं, सरणगीतां, पट्टा, निव्वानं, निव्वुड, समाही, मंती, किची, कंती, रट्य विरइय सुयंम तिची, दया, विमुची, खंती, सम्मत्ताराहणा, महंती, बोही, बुद्धी, थिती, समिद्धी, रिद्धी, विद्धी, उिती, पुद्धी, नंती, जहा, विसुक्की, लच्छी, विमिद्धिद्धी, कट्ठापं, मंगत्तं, पमोत्तं, विचूति, सिक्कावासो, रक्त्वा, अणायसो, केवकीणं ठाणं, मिब सपियां, सीझ मंजयां स्ति य, सीलपणे, संवरो य, गुची, ववसाओ, उस्ततो य, नज्जा, अपावणं, जयण- पणमाओ, अमासो, विसासो, अजओ, सव्वस्म वि अमायाओ, चोकत्तपिचं, सुती, पूया, विमलपभासा य, निम्मलतर ति । एवमादीण नियमुत्तांस्समापे पज्ज- वनामाणं हूति अहिंसाए जगवतीए ।

(तद्येत्यादि) तत्र नेपु पञ्चतु सम्बरद्वारेषु मध्ये प्रथममापं स- म्बरद्वारमहिंसा । किंभूता ? या सा संवेवमनुजासुरस्य लोकस्य अवाति (दीवस्ति) दीपो वा । यथाप्रायजज्ञाधिप्रथमज्ञाना- नां स्वैरभ्यापदकदम्बकदधानानां महार्मिमालामध्यमज्जमान- गात्राणां प्राण भवाति ह्यैः प्राणिनाः । एवमयमहिंसा संसा- रसागरप्रवृत्तगतानां व्यसनशतश्रवापदप्रप्रीतिनां संयोगवि- योमावीचिविधुराणां प्राण भवान्, तस्याः संसारसागरसागर- हेतुत्वाच्च, इति अहिंसा चीप उक्ता । यथा वा-दीया-यकारनि- राकृतहकप्रसराणां हेतयोपादेयाथेदीनापादान्मूढमनसां नि- मिरनिकरनिराकरणेन प्रवृत्त्यादिकारणं जवाति; एवमहिंसा ज्ञा- नावरणादिकर्मतामन्त्रसंनेन विद्युत्प्रकिप्रभापटलप्रयत्नेन प्रवृत्त्यादिकारणत्वादीप उक्ता । तथा-प्राणं, स्वपरैवमापदः सं- रक्षणात् । तथा-शरणम् । तथैव-सम्पदः, सम्पदाकत्वात् । सम्प- ते श्रेयोऽर्थेभिराश्रीयते इति गतिः । प्रतिष्ठन्ने आसने सर्वे गुणाः सुखानि वा यस्यां सा प्रतिष्ठ । तथा-निर्वाणं मोक्षः, तदनुत्वा-

शिवोपायः । तथा-निर्मुक्तिः स्वास्वयम्, समाधिः समता, शक्तिः, शक्तिहेतुत्वात् । शक्तिः कोहविरतिः, कौटिः, च्यातिहेतुत्वात् । कान्तिः, कर्मनीयताकारणत्वात् । इतिश्च रतिहेतुत्वात् । विरतिश्च निर्मुक्तिः पापात् । अत्र श्रुतज्ञानमङ्गं कार्यं यस्याः सा मुक्ताश्च । आह च- "पठनं मायं तपो द्या " इत्यादि । श्रुतिहेतुत्वात् तृतिः । ततः कर्मधारयः । तथा-दया वेदिरक्तः । तथा-विमुक्तयतं प्राण्यं सकलबन्धनद्वयो यथा सा विमुक्तिः । तथा-शान्तिः कोधनिग्रहः, तजजन्मत्वादाहिंसाऽपि शान्तिरुक्ता । सम्प्रकथं सम्प्रत्योपक्रमाराध्यते यथा सा सम्प्रकथाराधना । (मदंति षि) मदती सर्वधर्मानुष्ठानानां वृद्धी । आह च- " एकं चिय एकवयं, निहिदं जियचरेहिं सउवेहि । पाणाश्वायविरमण-सव्याससत्तस रक्खजा " ॥ १ ॥ आदिः सवङ्गधर्मेप्राप्तिः, अहिंसासकृपाश्च तस्या बोधिसा-बोधिरुक्ता । अथवाऽहिंसा सातुकरुणा, सा च बोधिकारण-मित्तं बोधिरेवाव्यते । बोधिकारणत्वं चातुकरुणायाः- "अणुकं-पा कामनिन्द-आगतवं द्वाण्यिययविभंमं । सज्जेताविष्यंतांते, सव्वससुव्वहंहुसक्कां " ॥ १ ॥ इति वचनादिति । तथा-शुद्धिः, साफल्यकारणत्वात् शुक्तिः । यथाह- "वाहचारकलकुसहा, प-रियपूरिताः श्रवणिया चैव । सव्वकलणां पवरं जे धम्मकहा न जाणुंति " ॥ १ ॥ धर्मआहिंसेव । धुतिश्चिन्तनादौ, तत्परिपाल-नीश्रव्यादस्या धुतिरेवाच्यते । समुद्धितुं न समुक्तिरेवो-च्यते । एवं श्रुतिशुद्धी । तथा-साधार्यंयतिनमुक्तिस्थि-रनुत्वात् स्थितिः । तथा-पुष्टिः, पुष्टयेपच्यकारणत्वात् । आह च- "पुष्टिः पुष्टयेपचयनम् " । नन्दयति समुद्धि नयतीति नन्दा । अन्दत् कल्याणीकरोति देहिनामिति अन्दा । विद्युद्धिः पापक्षयेण जावनिर्मलता । तथा-केवलज्ञानाद्विज्ञाननिमित्तत्वात्पुष्टिः । विशुद्धिः प्रधानव्यभिचयनिवर्धनः, तद्व्य-दशेनस्युपायान्यात् । आह च- "किं ती ए पटियाए, पयकोदी ए पलासपुयाए । ज्ञोसियं न नायं, परस्स पोडा न कायञ्जा " १ । कल्याणं, कल्याणप्रापकत्वात् । मङ्गलं, दुःखनिरोपशान्ति-हेतुत्वात् । प्रमेदः, प्रमादात्पादकत्वात् । विभूतिः, सर्व-विद्युतिनिबन्धनत्वात् । रक्षा, जीवरक्षणस्याभावात्वात् । सि-कायासः, मोक्षावासनिबन्धनत्वात् । अनाभव, कर्मबन्ध-निरोधपापत्वात् । केवलज्ञानं स्थानं, केवलिनामहिंसायां ध्ययन्वितत्वात् । (सियसमातिस्सिलसज्जमो षि य) शिवहेतुत्वे-न शिवसमितिः सम्प्रकृपप्रवृत्तौ, तद्व्यपन्नहिंसा शिवसमि-तिः शक्तिं समाधानं, तद्व्यावच्छेदितम् । संयमोऽहिंसात् उप-रमः । इति रूपप्रदेशेनः च समुत्पत्तेः । स्तौघरां षि) शी-रुद्धं चारित्र्यस्थानम् । सम्बरश्च प्रतीतः । श्रुतिरनुष्ठानां मनःप्रभुतीनां निरोधः । विशुद्धाऽवस्थायां निश्चयो व्यव-सायः । उच्छ्वयः स्वभावेत्तत्त्वम् । यज्ञो ज्ञातव्यो देव-पूजा । आद्यतनं दुष्प्राणान्धध्वः । यजनमभयस्य हानं, यतनं वा प्राणिरुक्त्यं प्रति यतनः । अग्रप्रायः प्रमादवज्रनम् । आहवास आहवासनं प्राणिनामेव । विश्वासा विश्वस्यः । (अममो षि) अमयं सर्वव्यापीति प्राणिगणस्य । अ-भावात् अमारिः । चाक्रुण्यवित्रा, एकार्यगृह्ययोपादानात् कतिशोपायविधा । श्रुतिभोवशीलकत्वात् आह च- "सत्यं शीघ्रं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूतदया शौचं, ज-ज्ञशौचं च पञ्चमम् " ॥ १ ॥ इति । (पूय षि) पायिञ्जा,

पूजा वा भावतो देवताया अर्चनम् । विभ्रमप्रभासा, त-न्निबन्धनत्वात् । (निम्सलतर षि) निम्बं जीवं करोति वा सा तथा, अतिशयनं वा निर्मशा निर्मलतरा । इति नाम्नं समाप्ती । एषप्रमाद्व्येवंप्रकाराणि निजकगुणमितितानि, यथा-धीनीत्यर्थः । अत एवाह-पर्यायनामानं तत्तज्जनाभिधाना-मानि भवन्त्याहिंसायाः । भगवत्या इति पुत्रावचनम् । एसा भगवती अहिंसा, जा मा जियाणं पिब सरणं, प-रुत्तीणं पिब गायणं, तिसियाणं पिब सल्लिजं, सुदिहाणं पिब असरणं, समुहमज्जे व पोतवदणं, चउपपायं च आसमपयं, दुदुद्वियाणं च अ्रोसदिलवणं, अदवमिज्जे च सत्यगमणं, एतो विसिद्धतरिका अहिंसा जा सा पुदधी-जल-भ्रगाणि-मारुप-नणुफ्फती-वीज-हरिय-जलवर-थलचर-त्तुइ-र-त-स-धाव-प-सव्वचयुस्येकवणं । एसा सा भगवत्याहिंसा या सा प्रीतानामिष शरणमित्यथा-श्यामिका, देहिनामितिगम्यम् । पक्कणोणं पिब गवयं षि) प-क्षिणामिष गगनं, हिता, देहिनामिति गम्यम् । एयमन्यान्याप-रीतं प्रोक्षावासिरति । तथा- 'वासा इत्यादि, यस्मै, पुष्टिव्याही-नि च पञ्च प्रतीगानि, वीजहरिनामि च वनस्पतिविशेषा आ-हारायत्वेन प्रधानतया शेषवनस्पतिभेदेनाकाः, जलस्यार्दीनि च प्रावीनि, त्रसस्थावराणि सर्वभूतानि, तेषां क्रमकरि वा सा तथा, एषा एषेव, भगवनां अहिंसा, नाम्ना । यथा लौकिकैः क-ल्पिता- "कुलानि तारयन्त मत्त, यत्र शीघ्रं भवेत् " । स्वस्था सर्वयनेन, भूमिष्ठमुत्तकं कुट " ॥ १ ॥ इह गोविषय य दया सा किल तन्मतेनाऽहिंसाऽस्यां च श्रुतयुद्धकपूतरकादीनां हिं-साऽस्तीत्येवंकृपा न सगमहिंसेति । (५) अय वैरियमुत्पन्ना सविता च तानाह- एसा जगवती अहिंसा जा सा अपरिमियणादंसण-परेहिं सीलगुणविगुपतसंजमनापकोहिं तिरथकरेहिं सव्वजगवच्छेदेहिं तिसोणपदेहिं तिसोचदेहिं सुधुदिंदा अहिंसाणेहिं विष्णाया उज्जुमतीं हिं वि दिद्धा विपुलतीं हिं विदिता पुव्वपरेहिं अशिया विउन्वां हिं पतिष्ठा आजिखि-बोहिंयनाणां हिं सुयनाणां हिं मणुपज्जवाणां हिं केवल-णाणीहिं आमोसहिपचेहिं खेयोमहिपचेहिं जण्णोसहिपचे-हिं विण्योसहिपचेहिं सव्वोसहिपचेहिं वज्जुकीएहिं को-डुपुकीहिं पयाणुसारीहिं संभसोमोहिं सुयपरेहिं मण-हसुपेहिं वयवत्तपेहिं कायवल्लपेहिं नागवल्लपेहिं दंसण-वत्तपेहिं चरित्तवत्तपेहिं खीरासवेहिं महुआसवेहिं साण्ठि-यासवेहिं अस्सोणयहाणसिपेहिं चारणेहिं विज्जाहरेहिं च-उत्थभचिपेहिं उट्टनचिपेहिं अट्टमभचिपेहिं दसमभचि-पेहिं एवं दुवांससचउदत्तसोत्तसअक्रमासमासदोमा-सनिमासचउमासचंभामउमासजाचिपेहिं उर्विसत्तचर-

एहिं एवं निक्वित्चत्तरएहिं अंतत्तरएहिं पंतत्तरएहिं लूह-
 चरएहिं सधुदाणिचएहिं असागिलाइएहिं मोणत्तरएहिं
 संसड्कणिएहिं तज्जायसंसड्कणिएहिं उवनिइएहिं सुक्के-
 सणिएहिं मंखादातिएहिं दिइडासाएहिं अदिइल्लाजिएहिं
 पुइल्लाजिएहिं आयंभत्तएहिं एरुमहिंएहिं एकासणिए-
 हिं मित्रिणिएहिं मिमपिंनवातिएहिं परमिपिंनवातिएहिं
 अंताहारेहिं पंताहारेहिं अरसाहारेहिं विरमाहारेहिं तु-
 च्छाहारेहिं लुहाहारेहिं अंतजंवीहिं पंतजीवीहिं लूहजीवी-
 हिं तुच्छजीवीहिं उवसंतजीवीहिं पमंतजीवीहिं विविभ-
 जीवीहिं अलीरमधुसणिएहिं अज्जमसांसिएहिं ठाणाइ-
 एहिं पमिमाइएहिं ठाणुकुएहिं विरामणिएहिं पोस-
 ङ्गिएहिं कंदायएहिं अगकसांतिएहिं एगपासाएहिं आया-
 चएहिं अथाअएहिं अणिहुम्भएहिं अकंहुएहिं धृतकेस-
 मंतुलोभनखेहिं मध्वागपपिकिम्मविपमकंहेहिं सपणुचि-
 भासुयपरविदित्तक्यायकुदीहिं धीरमातिमुक्कियो य ज ते
 आसांविमत्तगतेयकप्पा णिच्छयववसायपज्जत्तकयमतीया
 णिच्छं सज्जायज्जभाणं अणुअंधयम्मज्जभाणा पंचमइव्व-
 यचरित्तजुत्ता समिया समित्तु समितपावा उव्वहजगव-
 च्छला णिच्छमपपत्ता एयहिं य अणेहिं य जा सा अ-
 णुपाल्लिया जगवती ॥

(पदार्थानाम् : स्वस्वस्थाने प्रष्टव्यः) नवरं (एतेहिं य ति) ये
 ते एवोरुगुणा एतेभ्यश्चानुसुकूलकालेगुणवक्रियाऽस्वावगुणा-
 भिन्ना भगवन्तं अहिंसा, प्रथमं सम्भरत्तारादिदधथ ।

(६) अथाहिंसापालनोद्यत्स्य यद्द्विधं यं तदुच्यते-

इमं च पुद्वो-दग-अगणि-मारुय-तसणाए-तस-धावर-
 सवन्नयसंजयद्वययाए सुद्धं उंळं गधेभियव्भं अकयम-
 कारियमणाहुयमणुदिहं अकयकमं नवकोमीहिं एरिसुक्कं
 दवहिं य दोसेहिं विप्पमुक्कं उगमपउपायणेसणासुक्कववगय-
 चुयचइयचत्तेदं च फामुयं च न निमिज्ज कदा एषोयण-
 णफामुउवणीयं न तिगिण्ढाभंतमूसजेसज्जकज्जेहं न
 लक्खणुपायमुणिएजेऽसनिमित्तकइइइकपआचं न वि-
 कंमणाए न विरक्खणाए न वि सासणाए न विदंजण-
 रक्खणामासणाए भिक्खं गवेसियव्वं, न विवेदणाए न वि-
 मालणाए न वि पूयणाए न वि वेदमाराण्यपुयणाए भि-
 क्खं गवेसियव्वं, न वि हौलणाए न वि नेट्टणाए न वि ग-
 रट्टणाए न वि हौलणादिदणागरहणाए जिक्खं गवेसि-
 यव्वं, न वि भेसणाए न वि तज्जणाए न वि तालणाए न वि
 जेसणत्तज्जणत्ताइणाए भिक्खं गवेसियव्वं, न वि गारयेणं
 न वि कुट्टणाए न वि धंणिमाए न वि गारक्कुइण-
 चाणिमणाए जिक्खं गवेसियव्वं, न वि पिचयाए न वि प-
 त्तयाए न वि सेवणाए न वि पिचयपत्तयासेवणाए जिक्खं

गवेसियव्वं, असाए अगणिए अदुडे अदीण अविपयो अ-
 कल्लुणे अविमार्ता अपरितंतजोगी जयणपणकरणच-
 रियविनयगुणजोगसंपउचो भिक्खु जिक्खेससाए णिए ए इमं
 च सम्भजगजीवरक्खणद्वययाए पावयण भगवया सुक-
 हियं अज्जेहिंयं पंचा भावियं आगमेसि जहं सुक्कं नेया-
 उयं अकुट्ठिअं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावणा विट्टिससयं ॥

(इमं चेत्यादि) अयं च बहुयमाणशेषे च उक्त्वा गन्धर्वाय
 इति सम्बन्धः । प्रअ० स०म्ब०कार । (उक्त्वाद्यर्थोऽयम्बाऽयम्ब)
 अय यदुक्त्वां तीसे रुभाभवाए, उ किंवि बोधुं गुणुइसं ”
 इति, तत्र का भावना । अस्यां जिह्वासायामाह-

(६) प्रथममतस्य (अहिंसाकथस्य) पञ्च भावनाः-

तस्म इमा पंच भावणाओ पदमस्य वयस्य हुंति, पाणा-
 इवायवेरमणं परिकखण्डयाए पदमं ठाणयणयणुणजो-
 गजुंजणलुगंतरनिवतिपाए दिट्ठीए इरियव्वं कीरुपयंगत-
 सधावरदवावरं णिच्चं पुण्फकलतपवालाकंदंमुददगमाह-
 यवीयहरियपरिवज्जणय समं, एवं खु सव्वे पाणा ख हीं-
 श्रियव्वा न निंदियव्वा न गरहियव्वा न हिंसियव्वा न
 डिंदियव्वा न डिंदियव्वा न वहेयव्वा न मयं तुक्खं च
 किंवि लब्धा पावेज्जे एवं इरियासमिइजेणिए जाविओ
 जवाति अंतरप्पा असवत्तमसंकिण्हिणिव्वयचरित्तजाव-
 याए अहिंसए संजए सुसाहु ? ॥

(तस्सेत्यादि) तस्य प्रथमस्य कृतस्य, भवन्तीति घटना,
 इमा बहुयमाणप्रत्यक्षाः पञ्च भावनाः; आभ्यन्ते वास्त्येते त्रेते-
 नाम्ना यकाभित्ता प्रावना इयोऽसंमित्यादयः । किमर्था प्रवर्त्त-
 न्त्याह-(पाणा इत्यादि) प्रथममतस्य यत्प्राणतिपात्रवरमल-
 लक्षणस्य परिरक्षणस्यकपं, तस्य परिरक्षणार्थोऽयं (पदमं ति)
 प्रथमभावनायास्मित्तिर्गम्यते, स्थाने गमने च गुणयोर्गं च स्वर-
 प्रवचनोपप्रातवर्जनलक्षणगुणसम्बन्धं योजयति करोति या
 सा । तथा-युगान्तरे युगप्रमाणजुभागेनिततया सा युगान्त-
 रनिपातिका, ततः कर्मधारयः । ततस्तथा, एतथा चणुया (इरिय-
 व्वं ति) ईरित्येवं गतमव्ययं । केनेत्याह-कीटपनह्लादव्यञ्ज
 स्यावत्तं कीटपनह्लादसंस्थावराः, तेषु स्वयानो यस्तेन, नित्यं
 पुण्फकत्वकप्रवासाकन-मूसवकन्तुशिकावोशहृत्तपरिवर्त्तकेन,
 सत्यमिति प्रतीतं, मधुरं प्रवातः पड्डाबाहुुरः, दकुसुवकमिति ।
 अर्थेयोसमित्या प्रथमेमानस्य यत् स्व्यात्तवह-(एवं खु ति) एवं
 च इयांसांभित्या वर्त्तमानस्येयर्थेः, सर्वेप्राणाः सर्वेजीवा न ही-
 लयितव्या अचक्रातव्या ज्वभित्त, संरक्खणप्रयतव्या च तानवच्चाधि-
 पयीकरोतीत्यर्थः । तथा-न मिन्वित्तव्याः, न गहिंत्तव्या भवन्ति, स-
 धंथा पीडावर्जनेनाद्यत्वेन शौरव्याणामिच दर्शनाए । निष्ठा च ल-
 ससमक्षा, गर्हा वा परसमक्षा । तथा-न हिंसित्तव्याः पादाकमपेने
 शारणाः, एवं च क्खेत्तव्या विद्याकरत्तलः, न जेतव्याः श्कोदजताः,
 (न बहुयव्व ति) न अयधर्माः परतापमात्र, न अयं धर्मिताः, कुत्तं
 वा शरीरदि किण्हिण्यमपि, शब्दा योव्या प्रापयित्तुक्त्वा, अ इति
 निपातो वाच्यताल्लहारेः, पद्यमनेन स्वायन्तेयोसमित्तयोमेव ईकं-
 क्षमित्तव्यापारेच, प्राचितो वर्त्तसतो नवत्तपट्टारामा जीव्यः कि-

विषय इत्याह—असायलेन मालिन्धमात्रहितेन, असीकृष्टेन विकृत्यमानपरिणामवशतो, निर्मलेनाहनेनाशयनेनैति वाच्यम् । चारित्र्येण साम्याधिकारिणा आत्मना वासना यस्य सोऽशयसा- किञ्चिदपि मूल्येण चारित्र्यमात्मनाकः । अथ तथा-असत्ताकिञ्चिदनि- म्लेण चारित्र्यमात्मना हेतुयुतया अहिंसकोऽवधकः, संयतो मू- बावादापुत्रमाह् मांससाधक इति । प्रश्न० १ स्रम्ब० द्वार ।

अजिह्वेणञ्ज वा वचेज्ज वा परिव्राजेज्ज वा क्षेमेज्ज वा उ- ह्वेज्ज वा इरियासमिपे से णिमग्गे एो इरियाअसमिपे ति पदमा जावणा ॥

ईदं गमनमीयां, तस्यां समितो द्वावघालनं, पुरतो युगमाश- पूभाग्म्यस्तादृष्टिगामीत्यर्थः। जत्वसमितो भवत् । किमिति, यतः केयलां भूयात् कर्मोपादानमेतत्, गमनक्रियायामसमितो हि प्राणि- नाभिहृत्प्रायः पाद्वेन तारुवन्, तथा-वचंयदव्यञ्ज पात्रेषु, तथा- परितापयस्वीशामुत्यादयत्, अयत्राप्येवञ्चा जीविनाह् स्वपरोप- यदित्यत इयोसामितेन भवितव्यमितेन प्रथमा भावना । आचा० ३ श्रु० ३ चू० ।

वितिमं च मणोण पावण पावकं अहम्मिकदरूणं नि- संसं बहुबंधपरिक्लेशबहुलं जराभरणपरिक्लेशसंसंकिण्डं न कया वि मणोणं पावणं पावमं किंचि वि जायस्वं, एवं मण समितिजोगेण जावितो जवति अंतरप्पा असवन्नममंकि- लिहिनन्वणचरिचजावणाए अहिंसए संजए सुसाहु २ ॥

श्रितोयं पुनर्जावनावस्तु मनःसमितिल्लत्र मनसा पापे न भ्यातव्य- म् । पनदंवाच-मनसा पापकेन पापकिमिति कला ध्येयम् । ततश्च पापकेन दुष्टेन सता मनसा यत्पापकमशुभं तत्र कदाचिन्मन- सा पापक किञ्चित्प्राप्तव्यमिति बहुधर्मासाधक्येन सम्बन्धः। पुनः किन्तु न पापकमित्याह-अधर्मिकाणादिमदमाधर्मिकं, तत्र तदकारणं चेति आधर्मिकदरूणं, नृशंसं शुकावर्जिनं, वधेन हन- नेन, बन्धेन संयमेन, परिक्लेशेन च परितापनेन हिंसागतेन बहुलं प्रसूरं यत्तथा । जराभरणपरिक्लेशैः फलभूतैः, वाच- नान्तरे-‘अयमरणपरिक्लेशैः’ संक्लेशमशुभं यत्तथा । न कदा- चिच्च कञ्चनपि कात्रे (मणोण पावणं ति) पापकेन मनसा (पावमं ति)प्राणानिपातादिकं पापं किञ्चिदहयमपि भ्यातव्यमेका- प्रनया च। तन्नीयोः । एवमेतेन प्रकारेण मनःसमितियोगेन चि- त्तसंस्पर्शनसंशयप्रापेण भाग्यतो भासितो भवत्यन्तरात्मा जीवः । किंचिद इत्याह-असत्तासंक्लेशनिम्लेण चारित्रजा- वनाकः, असत्तासंक्लेशनिम्लेण चारित्रमात्मना वा अहिंसकः, संयतः सुसाधुरिति प्राग्वत् । प्रश्न० १ स्रम्ब० द्वार ।

अहावरा दोच्चा जावणा मणं परिजाणइ, से णिमग्गे जे य मणे पावए सावजे साकिरिए अएहयकरे ह्येयकरे भेय- करे अधिकरणिए पाउसिए परिताविते पाणाइइयाए जू- त्तवयातिए तहपगारं मणं णोयपधारंउज्जा, मणं परिजाणति, से णिमग्गे जे य माणे अप्रावते ति दोच्चा भावणा ॥

श्रितोयं भावनायां तु मनसा दुष्प्रवृत्तिहेतु नो भाव्यम् । त- ह्येयंति-व्यमनः पापकं सावधं स्थायकं (अहयकरं ति) क्लेशैरभ्रकारि, तथा-नेदमभेदमकरं, अधिकरवकरं क्लेश-

हकरं, प्रकृष्टदां प्रदोषिकं, तथा-प्राणिनां परितापकारीत्यादि न विधेयमिति । आचा० १ श्रु० ३ चू० ।

तद्यं च वइए पावए पावणं अहम्मिकदरूणं निसंसं बहुबंधपरिक्लेशबहुलं जराभरणपरिक्लेशसंसंकिण्डं न कयावि वइए पावियाए आ पावमं किंचि वि भासियस्वं, एवं वइसमितिजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असवन्नमसंकि- लिहिनन्वणचरिचजावणाए अहिंसअओ संजओ सुसाहु ३ ॥

(तद्यं च ति) तृतीयं पुनर्जावनावस्तु चयनसमितियं च वाचा पापे न भवितव्यम् । इत्येतद्वाह-(वइए पावियाए इति) क्लेश भवतव्यम् । एतत्क व्याख्यानं च प्राग्वत् । प्रश्न० १ स्रम्ब० द्वार ।

अहावरा तच्चा भावणा वइ परिजाणति, से णिमग्गेओ जाव वाइपाविया सावज्जा साकिरियाओ जाव नूतोयवाइया तहपगारं वइ णो उच्चारेज्जा वइ परिजाणइ, से णिमग्गे जाव वइ अपाविय ति तच्चा भावणा ॥

आधारा तृतीया भावना, तत्र निर्मयेन साधुना समितेन न- व्यतव्यमिति । आचा० ३ श्रु० ३ चू० ।

च उत्थं आहारपमणाए सुत्थं उत्थं गवेशियस्वं, अन्नाए अकडिए असिद्धे अदीणे अकलुणे अविशानी अपरितंत- जोगी जयणपहणकरणचारिचविनयगुणजोगमपउत्ते जि- क्खं जिकत्तसणाए जुत्ते समुदाणिऊण जिकत्तचरियं उं- ठं धेणूणं आणए गुरुजणस्स पायं मपपागमणातिचारप- णिकमणापदिक्कंते आहोयणदायणं च दाऊण गुरुजणस्स जहोवणं नरइयारं अप्पमत्तो पुणरवि अणेसणाए प- यत्तो पाकिमिचा पसंत-आसीण-सुहनिस्सो मुटुत्तमत्तं च ऊणसुहजोगनाणस्सआयागोविचयमणे धम्ममणे अवि- मणं सुटुमणे अविगमणमणे समाहितियमणे सप्पासंवेगनिज्जर- मणे पवयणवच्छल्लजाविचयमणे उठ्ठेऊण य पट्ठो जहराइणि- यं निमंतइचा य साह्वे जावओ य विइये य गुरुजणेणं उ- पविट्ठ संपमज्जऊण ससीसं कायं तह्हा करपत्तं अमुच्छिइ अगिच्छे अगडिए अगारहिए अणज्जात्तवमो अणाइओ अ- लुच्छे अणत्तडिए अमुरमुरं अन्नवत्तं अणत्तुयमविद्वं विचय- परिसादि आहोयणजायणे जयमपमत्तोणं ववगयसंजोगम- णिगाइं च विगयधूमं अक्खोवज्जणवणाणुलेवणचूयसंजम- जायामायानिमित्तं संजमभारावाहणहट्टयाए त्ठेजेज्जा पाय- धारणहट्टयाए संजएणं समियं एवमाहारासमितियोगेण जा- वितो भवति अंतरप्पा असवन्नममंकिलिहिनन्वणच- रिचजावणाए अहिंसए संजए सुसाहु ४ ॥

(चत्थं ति) अतुर्थं भावनावस्तु आहारसमितिरिति । तामेका- ह-(आहारपसणाए सुत्थं उत्थं गवेशियस्वं ति) व्यकत् । इ- दमेव प्राचीयतुमाह-अज्ञानः श्रीमत्प्रमाजितादित्तेन हायकजनाऽ नवगतः, अकथितः स्वयमेव यथाइं श्रीमत्प्रमाजितादिरिति, अशुद्धोऽप्रतिपादितः परेषु । वाक्यान्तरं- १ अन्नाए अकडि-

ए ऋदुष्टे ' इत्यने । 'अशीने' इत्यादि तु पूर्ववत् । जिष्ठाभि-
 शेषणया युक्तः (समुवायेणञ्च सि) अटित्वा जिष्ठाच्चर्चो गोचर-
 मिकोऽन्यदप्यप्युद्गीर्तं शेषं युद्गीत्वा आगतोऽनु गुरुजनस्य
 पार्श्वे स्त्रीपुं गमनागमनातिचारणानि प्रतिक्रमणेन ईर्ष्यापिदि-
 काएककेनेत्यर्थः । प्रतिफलं तेन स तथा (आलोच्येण णि)
 आलोचनं यथायुद्गीत्तमकपामनिवेदनं तयोरेयोपदर्शनं च (दा-
 क्रण णि) कृत्वा (गुरुजनस्य णि) गुरुदोषसंदिश्य वा वृषम-
 स्ये (अहोवरसंति) उपदेशान्तिक्रमेण, निरतिचारं च दोष-
 क्षयेन अग्रमस्यः, पुनरपि च अनेपणाया अपरिहातानालोचि-
 तदोषकपायाः, प्रयत्ना यज्ञवाह, प्रतिक्रम्य कायोःसंगकरणेनेति
 भावः । प्रशांत उपशान्ताऽनुगुत्सुकः, आसीन उपविष्टः । स एव
 विशेषेणैतं सुखनिषण्णः अनाथापवृत्त्योपविष्टः । नतः पदत्रयस्य क-
 र्मधारयः मुष्टसमात्रकं च काश्रं ध्यानेन धर्मादीना, युभयोरेण सं-
 यमत्वापारयं गुरुवित्तकरोत्वादिना, ज्ञानेन प्रथामुपक्रमणेन,
 स्वार्थायाने वाऽऽतगुणनकरणेण, गोपितं विषयान्तरगमनेन निर-
 क्तं मना येन स तथा । अत एव अथ भूतकारित्रके मना यस्य
 स तथा । अत एवाविमना अश्रुपवित्तः, शुभमनाः प्रसंकिष्ट-
 चेताः, (अधिग्रहणं णि) अधिग्रहणमनाः असंकिष्टफलहृत्वेनाः ।
 अमुद्रहमना वा अधिग्रहणमनासङ्घिनित्येयः, (समादिशयणे णि)
 समं तुदयं रागद्वेषानाकलितं आदिदुत्तुमनोतमामभिन मनो येन स
 समाहितमनाः, शमेन चोपशमेन अधिर्कं मनो यस्य स शमाधि-
 कमनाः समाहितं वा स्वधर्मं मनो यस्य स समाहितमनाः अथा
 च तत्त्वश्रद्धां, संयमयोगाविषयो वा निजाजिज्ञासां, स्ववेग्य मो-
 क्षमार्गोभिज्ञायः संसारजयं वा, निजरा च कर्मकरणं मनसि य-
 स्य स अथासंयमनिजराजानाः । प्रवचनवास्तवभाविनमना इति
 कण्ठयम् । उर्याय च प्रहृष्टयुष्टोऽतिशयप्रमुदिनो, यथागजिकं
 यथाप्युष्टं, निमन्य च साधून् सार्थिकान् गायत्र्या च अन्त्या
 (विदक्षय णि) इताने च हृष्टस्त्व स्वमिदमशनादीन्विषमनुज्ञाते
 च सांत नकादीं गुरुजनं मुञ्चान, उपविष्ट उच्चानासने संप्रसुष्य
 मुखयन्निक्वाटोऽह्णणाभ्यां सर्वाथे कार्ये समस्तकं शरीरं, तथा-
 कृतलं हस्तनल च, अमुच्यते आहारविषये न मुदिमगमनम् ।
 अष्टुः अमासत्संज्ञाकङ्कान्वाङ्, अग्रधितः रसानुगतमनुभिरसं-
 धितः, अगर्हितः आहारविषये अक्रन्दगर्ह इत्यर्थः । अन्धुपप-
 शो न रसेषु पकाप्रमना, अनायिलोऽकुरुप, अमुक्ष्यः सोऽनविर-
 दितः, (अणुच्छिप णि) नागार्थे एव अर्थो व्यस्यस्यसाधना-
 र्थार्थिकः, परमार्थकारिण्यर्थः । (असुरसुरंति) एवं नृनशब्दव-
 जितः (अवचं णि) वचचोतिशब्दवदितम्, अन्तस्तमनुत्सुकम् ।
 अज्ञितम्भितम् अनतिप्रमम् । अपरिशादि परिशादीवर्जितं, 'मुं-
 जेज' इति क्रियाया विशेषणनामानि । (आलोचनायणे णि)
 प्रकाशमुने धयवाऽऽत्तां प्रकाशनाऽप्यकारे पिपीलिकावाला-
 दीनामुपसम्भाद, तथा भाजेने पात्र, पात्रे विना जज्ञादि सम्पत्ति-
 तसत्त्वादीनादिति, यतो मनेवाक्षायसंयतेन प्रत्येनानिदरेण
 ध्ययगनसत्त्वादिति, यतो मनेवाक्षायसंयतेन प्रत्येनानिदरेण
 ध्ययगनसत्त्वादिति, (विशयधूमंति) द्वेषवदितम् । प्राद च "रागेण स
 इगास, हायेण म धूममं विषयीहिंति" । अक्रम्य चुर षाजुनम्
 अक्रोपाजने, तच्च प्रानुनलेपेन च ते भूते प्राते यत्तथा, तन्क-
 ह्यमित्यर्थः । संयमयात्रा समयप्रवृत्तः, सैव संयमयात्रा नाथा
 तस्मिन्ने हेतुषु तत्संयमयात्रासामर्थिसम् । कियुक्तं प्रवर्ति-
 संयममारब्धनायेंतया इयं जावेनह-यथाऽऽक्रुस्योपाजने जारव-
 हनार्यैव विधीयते न प्रयोजनान्तरे, एवं संयमनारवहनायैव

साधु मुञ्जोत न बलकृपनिमित्तं, विषयलौक्येन वा । अतिक्रान्ते
 हि भोजनसंयमसाधने शरीरं धारयतु समर्थं भवतीति
 (भुञ्जिज णि) श्रुज्जीत भोजनं कुर्वीत । तथा भोजने कारणात्स-
 रामाह-प्राणधारणार्थेतया उचितस्य संरक्षणार्थेयः । संवतः
 साधुः णमित्ति वाक्यायद्वाहः । (समिथं नि) सम्यक् । निगमयद्वाह-
 एवमाहारसामिनेयेन आहितः सन् जन्मस्यन्तरात्मा नशयन्ना हेतु-
 क्रिष्टिनिर्लेपकारित्रजननाकः, अशशशांसंक्रुष्टभावयना हेतु-
 भूत्या वा अहिंसकः जायतेः सुसाधुवृत्तिः । प्रश्न १ सखम् द्वार ।

अहावरा चउत्या चावणा आयाएजंनदिकलेवणापम-
 मिप से णिमंथे खो अयायाणभंदणिकलेवणासमिप
 णिमंथे केवलं । इया आयाएभंदणिकलेवणाअसमिप णि-
 मंथे पाणाई च्याई जांवाई सत्ताई अभिहण्णं वा जाव
 उव्वेज्ज वा आयाएभंदणिकलेवणासमिप, से णिमंथे णो
 आयाएजंनदणिकलेवणा असमिप णि चउत्या चावणा ॥

तथा चतुर्थी भावना आदानमाक्रमानिलेपणासमितिः, तत्र
 निरन्धेन साधुना समितेन भवितव्यमिति । आक्रा ० ३ सु ०
 ३ चू ०

पंचमगं पीढकमगभेजनाभयारगवत्यपत्तकंमदंढकरप-
 हरणचोलपट्टगमुषोत्तियपायपुंछुणादि एयं पि संजमसम्
 उव्वूहण्ट्टयाए वातातपदंममगमोयपरिरक्त्तण्ट्टयाए उ-
 वरणो रागदोसरहितं परिहरियन्वं संजपणं निचं पटिसे-
 हणपफोदसपपज्जाएए अंटां य राओ य अपपमेवेण
 होइ मययं निक्खियपवं च गिणैहपवं च जायणभंदोवदि
 उवकरणं, एवं आयाणजंणिकलेवणासमिदं जोगेण जा-
 वितो जवति अंतरेप्या अस्सदमसंकिष्टिद्विनिव्वणचरित्त-
 भावणाए अहिंसए संजए सुमाहु ५ ।

(पंचमगं ति) पञ्चमभाववाच्यत्वा आदानसमितिनिक्के-
 पसमितिलक्षणम् । पतदेवाह-पीडादिद्वयशयधमुकरणं प्र-
 सिद्धम् । (एवं पीणि) एतन्पि अन्तर्तादित्तमुपकरणम्, अपिश-
 ष्टादित्यमपि संयमस्योपहुंणार्थेनया संयमोपायाय, तथा-
 चातातपदंशमशकशीतपरिहरणार्थतया उपकरणस्युपकारक-
 उपधिः, रागद्वेषवदितं क्रियाविशेषोपादिम् । (परिहरियव्व ति)
 परिभोक्तव्यं, न विभूषादिनिमित्तमित्ति भावना, संयतेन साधुना
 नित्यं सदा, तथा-प्रत्युपेक्षणप्रसफोटनार्थं सदा वा प्रमाज्जना
 सा तथा तथा, तत्र प्रत्युपेक्षणया चक्रुष्यापारेण, प्रसफोटनया
 आस्फोटनेन, प्रमाज्जनेनया च रजोहरणद्विध्यापारकपाया (महां
 य राओ णि) अहिं च रात्री च, अग्रमत्तेन भवति सततं निक्के-
 तस्यं च भोक्तव्यं, तच्च-प्रत्युपेक्षणप्रसफोटनार्थं सदा वा प्रमाज्जना
 इत्याह-भाजने पार्थ, भागने तदेव मृगमयं, उर्गोष्य चव्वा-
 दि, एतत् त्रयलक्षणस्युपकरणस्युपकारकारि वस्तिवति कर्म-
 धारवः । निगमयद्वाह-एवमादानेत्यादि पूर्ववत्, नवरं इह-
 प्रान्तशैष्योऽन्त्याधो पुवोपरपद्विपातः, तेन भायडस्योपकरण-
 स्यादनेन च प्रहणं, निक्षेपणा च मोचनं, तत्र समितिर्भायमावा-
 निलेपणासमितिरेति वाच्यं, आदानमभारब्धिकेक्षणयासमिति-
 रित्युक्तम् । प्रश्न १ सखम् द्वार ।

अहावरा पंचमा भावणा आज्ञोऽयपापभाई, से णिमंथे

यो अणालोडयपाणभोषणयोर्दे केवमी वृया अणालोडय-
पाणभोषणयोर्दे से णिमग्गे पाणासिवां ४ अजिण्णेज्ज
वा० जाव उदयेज्ज वा तस्सा अणालोडयपाणभोषणयोर्दे से
णिग्गेयो खो अणालोडयपाणभोड चि पंचमा जाववा ॥

तथा परा पञ्चमी भावना आहोकिंते प्रत्युपेक्षितमशनादि भो-
कणम्, तद्वकरणे दोषसंभवत् । आत्वा० १ सु० ३ सू० ।

अथास्यन्यायं निगमयन्नाह-

एवमियं संबरस्स दारं संये संचरियं हुंति, सुप्पाणिरियं, इ-
मेहिं पंचाहिं वि कारणाहिं मणयकापपरिरिक्खएहिं, नि-
चं आमरएतं च एस जोगो नियच्चो धितिमत्ता मतिमत्ता
अणालासो अकलुसो अचिद्धो अपरिस्साली असंकिस्सिद्धो
सुद्धो सव्याजिमणुस्सालो, एवं पदमं संबरदारं फालियं पा-
सियं सोहियं तिरियं किट्ठियं आराहियं आणएण अण-
पासियं जवति, एवं नायसुप्पाणा जगवया पचसियं परू-
वियं पसिद्धं सिक्खं सिक्खवमासणमिणं आणवियं सुदेसिद्धं
पत्तयं पदमं संबरदारं सम्मत्तं ति वेमि ॥

एवमिति उल्लेखेण, इदमहिंसा लक्षणं, संबरस्थानाश्रयस्थ, द्वार-
सुपायः, सम्यक् संवृतम् आसंघितं भवति, किंचिदं सविद्या-
सुप्रविद्धिं सुप्रणिधानवत्, सुसंक्रामयः । कैः किंचिधैरि-
रथाह-एभिः पञ्चभिः कार्याः भावनाः(विशेषैः अहिंसापासनइ-
तुभिः, मनोवाक्कायपरिरिक्केतिरिति । तथा-जित्यं सदा आमरणो-
त्त च मरणकाम्यमं भावत्, मरणोपरतोऽप्यसम्भवात्, एष यो-
नो अनन्तरादिनभाषमाणश्लोकयो व्यापारो, नेतव्यो बोधव्य इति
भावः । केन ?-सुतिमता स्वस्थचित्तेन, प्रतिमता बुद्धिमता, कि-
भूतंऽयं योगः ?-अनाश्रयः नवकर्मोनुपादानकः, यतोऽकलु-
षाऽपापकवचनः, अिक्रमिय अिद्धं कर्म जलप्रवेशात्तन्निषेधना-
चिद्धं, अचिक्रकृत्यादेवचरिणाभिः न परिक्रमयति कर्म अ-
सप्रवशतः, असंक्रुष्टो न विचसंक्लेशकः, सुखो निर्दोषः,
सर्वजिज्ञेसुःकृतः सर्वोदितामनुमत्तः । एवमित्यासमित्यादि-
भावनापरक्ययोगेन, प्रथमं सम्बरद्वारमहिंसा लक्षणं, (फालियं-
ति) स्पृष्टमुच्यते काले विधिना प्रतिपन्नं, पालितं सतत स-
इयमुपयोगेन प्रतिचरितं, (सोहियं ति) शोभितमन्येवामपि
न दुःखितामं शानादित्वात्तद्वेज्जना, शोभितं वा निरतिवार् कृतं,
तीरितं तीरं पारं प्रापितं, कीर्तितमन्येवामुपदिष्टं, आराधितम-
भिरेव प्रकारनिष्ठं शीतम्, आहूया लथेवचननानुपालितं भ-
वति पूर्वकालसाधुभिः पालितस्वादिशिक्षितकालसाधुभिश्चानु-
पछात्त्याजितमिति । केनैवं प्रकृतिप्रतिमत्पदा-एवामनुकुरूपं, शा-
तमन्या सुत्रियविशेषकरणे यतिना, अहिंसितमन्येवामुपदिष्टं, आराधितम-
भिरेवत्तैरवर्थादिज्ञगयुक्तेन, प्रकाशिते सामान्यतोऽवनेय्यः कथितं,
प्रकृतिप्रतिमं अनुभूयकथनम्, आसिद्धं प्रवर्ततं, सिद्धं समाणप्रतिष्ठितं,
सिद्धानां निर्दिष्टार्थानां वर्यासु न प्रथानाहा सिक्खवरशासनम्,
इदंयत्तत् (आश्रयियं ति) अर्थः पूजा तस्य आसितः प्रासिजोता
वस्थ तदशोपितम्, अर्थं वा आसितं प्रापितं यत्तदर्थोपितं, सु-
दृष्टितं सुखु दृष्टितं, सर्वेभ्यमनुजसुरार्यां पर्येदि नाताविधनय-
प्रमाथैरभिवृत्तं सुवेद्यं, प्रशस्तं मङ्गलमिति, प्रथमं संबरद्वारं
समाप्तमिति । सव्यं १ द्वार ।

पंचमा भावणा एतावया च महत्स्यै सम्मं काएण का-
सिए पासिए तीरिए किट्ठि अजवडिजे आणएण आहो-
रिए याचि जवति, पदमे जंते महत्स्ये पायाह्वायाभो वेरमाणं ।
इति इत्येवं पञ्चनिर्माणानिः प्रथमं व्रतं स्फुटितं पाठितं तौष-
कीर्तितमवस्थितमाह्वयाऽऽराधितं भवतीति । आत्वा०२ सू० ३ सू० ।

(७) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः-

सर्वेभि जे य अतीता जे य पटुपपळा जे य आगमिस्सा
अरहता जगवतो ते सव्वे एवमाऽकवन्ति एवं नासंति
एवं पण्येति एवं परूवेति सव्वे पाणा सव्वे चूया सव्वे
जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्या ण आणवेतव्या ण परि-
पेत्तव्या ण परितोयेव्या उ उदयेव्या ॥

येऽनीता अतिक्रान्ताः, ये च प्रत्युत्पन्ना बन्धमानकामाभिनः, ये
चोऽमानिनः, त एवं प्रकृष्यन्तीति सव्यमर्थः । तथातिक्रान्ताऽनी-
र्यकृतः कालस्यानादिविधिति यत्तमतिक्रान्ताः, अनागता अ-
प्यनन्ताः आणामिकालस्यानन्तत्वादिति । बन्धमानतीर्थकृतां प्र-
हाणकपायकृत्याऽनवस्थितव्ये सत्यप्युत्पल्लवजन्मपदिन एव क-
थ्यन्ते, तत्राऽसंयतः समग्रव्यसन्नभावमं मसःपुत्तराशतं पञ्च-
स्वपि विदेहेषु प्रत्येकं चाशिशुत् क्रोधाःमकराःदकैकस्मिन् द्वाभि-
शात्, पञ्चस्वपि भरतेषु पञ्च, एवमेवापतेष्वपि गति, तत्र द्वात्रिंशत् प-
ञ्चभिर्गुणैः पटुपुत्तरं शतं श्रैतरेत्ततदशपञ्चपि ससत्ताविक-
शतमिति, जन्मन्तसु विशंगिः, सा वैव पञ्चस्वपि मदविदेहेषु
विदेहात्तमेहानुगतनटसद्भावोऽप्येकृतां प्रत्येकं कथ्यन्तः, ३५-
पि पञ्चभिर्गुणैः चाशिशुभैरेतरावशोऽप्येकैकान्तसुखमावाव-
भाह एतेषु । अन्ये तु श्याचक्षुतेऽनैः पूर्वोपर्येतेऽकैकसत्तावा-
ग्महाविधं हृद्वाधेव पञ्चस्वपि दर्शयति । तथा ते आहुः-“सत्तरस्य-
मुक्तां, इतरे वृत्ससमयके सजिणमारुं । जोऽसि पदमद्वे, अ-
णतरद्वे वयुक् सि” । क इमे अहं-तः, अहंति पूजासत्कारादि-
कमिति । तथा-दिग्धयोऽपुपाना भगवन्तः, ते सर्वे एव परमज्ञावसरे
एवमाचक्षते, यत्पुत्तरं बह्यते, वर्त्तमाननिर्देशशयोपलक्षणार्थ-
त्वादिदमपि द्रष्टव्यमेवमाचक्षतेः एवमास्थाऽप्यिति, एवं सामा-
न्यतः सर्वेषामनुजायां पर्येकैकमागम्या सर्वसत्त्वव्यवभानुगा-
मिभ्या प्राचया आपन्ते, एवं परकण्ठे संश्लेषत्पानोद्धानोऽवास्ति-
नो जीवाजांजाधवसम्बरकः अजिज्ञेसोऽनुपदार्थोऽनु ह्यापयन्ति,
प्रहाणयन्ति । एवं सम्यग्दर्शनज्ञानकारिणा एव मोक्षमार्गोऽभिप्रा-
यत्ति । अहिंसितप्रमाद्वेषाद्ययोगा बन्धवदेव । स्वपरभावेन स्वसत्तां
तस्यं सामान्यविशेषात्तमकमित्यादिना प्रकारेण प्रकृष्यन्ति, ए-
कार्थानि चैतानि । किं तद्व्यवसायकृत इति वरीयति-यथा सर्वे
प्राणाः सर्वे एव पृथिव्यप्लेतेऽवावुवन्नपतयः श्रिष्टितुष्य-
ञ्छिन्द्रियाभ्येति यत्तन्तुः सति श्रित्सायुक्कृतसुक्ष्माणवभारणात्सा-
धाः, तथा-सर्वाणि भवन्ति जवियन्त्यवधुविति अनुदेश-
नृतप्रामातपार्थिति, एवं सर्वे एव जीवन्ति जीविथन्त्यजी-
विबुधिति जीवाः नारकतिथेनरारहन्नकृष्णानुगैतिकाः, तथा-
सर्वे एव स्वकृतसातासातोयसुखलुःकभावाः सत्ता यत्कार्यो-
क्तेन शब्दास्तस्यैवैदृपार्थीः प्रतिपादयन्ति निवृत्त्येति यत्तं च
सर्वेऽपि प्राणिनः पर्योष्याद्वाधिदिना न हन्तव्ये इत्यदकथाऽऽ-
दिभिः, नाहापतिव्यः प्रसन्नानिजगद्गतः, न परिप्राह-
युः वदासदस्याऽदिमसत्परिद्वष्टां, न प्रक्रियापितव्यः श्राद्धा-

मानसपीडोत्पादनतो, वाऽऽपुत्रावहितव्याः प्रायश्चरोपपत्तः ।
आका० १ सु० ४ अ० १ उ० ।

(७) वैदिकहिंसाविचारः—

अप्रमत्तस्य योगनिबन्धनप्रायश्चरोपपत्तस्य अहिंसात्वप्रतिपा-
दनाय 'हिंसातो धर्मः' इति वचनं रागद्वेषमाह । योगनिबन्धनस्य
प्रायश्चरोपपत्तस्य दुःखसंवेदनीयकालनिवर्तकत्वेन हिंसात्वोप-
पत्तेः, प्रत एव वैदिकहिंसाया अपि तन्निमित्तत्वेऽप्यायहेतुत्वमप्य-
हिंसात्वसकनम्, नच तस्या अतोयमित्यन्व. 'चित्रया यजेत प्र-
कृतायाम्' इति तृष्णानिमित्तभ्रवणान् । न चैवंविधस्य वाक्यस्य प्र-
माणत्वाऽप्युपपत्तिमती, तन्मात्रानिमित्तसत्कृत्सोपदेशकत्वात्, गु-
ण्णादिदृष्टिनिमित्ततद्व्यतिश्रितोपदेशावाक्यत्वम् । न चापीठयेयं
प्रामाण्यम्, तस्य निषिद्धत्वात् । न च पुरुषप्रणीतस्य हिंसावि-
धायकस्य तस्य प्रामाण्यम्, ब्राह्मणो इत्यस्य इति वाक्यत्वेत् । न
च वेद्विहितत्वासाहिसाया अहिंसात्वम्, प्रकृतहिंसाया अपि त-
थोपपत्तेः । न च ब्राह्मणो न इत्यन्वः, इति तत्राक्षय्याधिनत्वाच्च प्र-
कृतहिंसायास्तद्गतित्वम्, 'न च हिंसो नोवत्' इति वेदवाक्यथाय-
तिब्राह्मिद्यजनवाक्याविहितहिंसायात् प्रकृतहिंसायाः तादृशित-
व्योपपत्तेः । अथ ब्राह्मणो इत्यस्य इति वाक्यं न कश्चिद्वेदे भूयते । न
उच्यतेऽप्येकशास्त्रानां तत्राऽप्युपपत्तः । तथा च 'सहस्रवर्त्म
सामवेदः' इत्यादिभ्युतिः । अथ यज्ञादप्यत्र हिंसाप्रतिषेधः, तत्र च
तद्विधानम् । यथा चाप्यत्र हिंसायहेतुरित्यगमात् सिद्धं तथा
तत एव तत्र स्वर्गहेतुरित्यापि सिद्धम् । न च यद्वैदिककृत्वापायहे-
तुत्वेन सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धं तेषुऽपि निमित्तत्वं च प्रकृतहिंसेति
प्रतिपादितत्वात् । न यन्निमित्तत्वेन यत्प्रसिद्धं तत्काला—
न्तराधिक्येन विद्योयमानमौत्सर्गिकं दोषं न निर्वर्तयति । य-
थाऽऽप्युपदेशप्रसिद्धं तादृशिकं रोगनाशार्थं तथा विद्योयमानं निमित्त-
तुः कुण्डलिणसंकेततया च मन्त्रविधानादप्यत्र हिंसादिकं
शास्त्रं प्रसिद्धमिति, सप्तमनाथयति तादृशोऽपि तन्नाम कायमानकश-
स्त्रवेदोपदेशकमिति तत्र कर्तव्यम् । न च हिंसातः स्वर्गादिसुख-
प्राप्ता वस्तुनिवर्तकान्कृष्टकर्महेतुताऽसंगता, नरेद्वराऽऽऽधर्मानिमि-
त्तब्राह्मणादिवचानन्तरावाप्तप्राप्त्याऽपि तत्राजनितसुखसंप्राप्ता तद्-
द्वेषापि तथात्वोपपत्तेः । अथ प्रामादिवर्मा ब्राह्मणस्यैव निव-
र्तितान्कृतनिमित्तो न प्रयति, तर्हि स्वर्गादिप्राप्तिरप्यध्वरविहितहिं-
सानिवर्तितानां अत्र नीति समानम् । अथाश्वमेधादाव्यत्नस्य-
मानानां गंगादीनां स्वर्गप्राप्तेर्न तादृशेति, तर्हि असंमोत्कविर-
चित्ताऽपि न एव हिंसा स्यात्, वेदनांशतो म्लेच्छादिविर-
चित्ता च ब्राह्मणगवार्दिहिंसा च न हिंसा स्यात् । अथ तदागम-
स्यामानप्यत्राह तदुपदेशाज्जितानां हिंसा अहिंसा । ननु वेदस्य कुतः
प्रामाण्यसिद्धिः, न तुदत्तपुरुषप्रणीतत्वात्, परैस्तस्य तथाऽननुप-
गमात् । नापीठयेयत्वात्, तस्याऽसंगतत्वात् । तत्र प्रदीप्तानिमायायां
हिं न हिंसातो धर्मोवासिमुक्ता, परममकथायश्च ज्ञानवाग्नात्मकमु-
क्तिमार्गस्य हीक्षादप्येनाभिधाने द्वास्तातो मुक्तिरुपपन्नैव, अवि-
कलकारणस्य कारयेनेवैकत्वात्, अथवा कारुण्ययोग्यात् । तत्र
सर्वमभयपादानार्थं चैवमभिधानादादावात् । न हि तत्रमभयमात्रे
उपादेयकलपानिमित्तसत्यग्नानादिपृथगनिमित्तसदाकाप्रभृति-
प्रवणो जनेत् ; तन्नामपरत्वं प्रदीप्तवचसामनुपगमस्तथ्यम् ।
तथाऽप्युपगमे वाऽनासत्त्वं वेदानां प्रसंगेन, तत्र पूर्वोक्तदोषान-
निवृत्तेः ॥ सम्म० ३ कायम्, गाथा १५७ ।

“ न हिंसासर्ववृत्तानि, स्वाध्यायस्य चत्वारि च ।

आत्मवत्सर्ववृत्तानि, यः पश्यति स धार्मिकः ” ॥१॥ अनु० ।

उपदेशमाह—

उरालं जगतो जोगं, विवजासं पल्लित य ।

सर्वे अकृतदुःखता य, अत्रो सर्वे अहिंसिता ॥ १॥

(उरालमिति) स्वयम्भुवद्वारं, जगत औदारिकअनुप्राप्तस्य, योगं
व्यापारं, वेदान्तव्यावशिशोयमित्यर्थः । औदारिकशारीरमया हि अ-
न्तवः प्राक्कननद्वारव्यावशिशोयामकलकलसुदुःकपाद् विपर्यासभूतं
बाह्यकौमार्यौवनशिकमुद्वारं योयं परि समस्ताद्वयन्ते गच्छन्ति
पर्यन्तम् । एतदुक्तं भवति—औदारिकशारीरिणां हि मनुष्यादेर्कौ-
लकीमार्यादिकः कालाविकृतोऽवस्थाविशेषोऽन्यथा चाऽन्यथा-
मयत् प्रत्यणेष्व् अन्वये, न पुनयोऽहं प्राक् तादृगैव सवर्धेति ।
एवं सर्वेषां स्थावरजङ्गमानामन्यथाऽन्यथा च भवनं द्रष्टव्यमि-
ति । अपि च—सर्वे अन्तवः, आकाशाः अभिमृताः, दुःखेन शारी-
रमानसेनाऽस्तातोवन्दे दुःखाकान्ताः सन्तोऽप्यथाऽवस्थाभाजो
लभ्यन्ते, अतः सर्वेऽपि न यथाऽहिंसिता भवन्ति तथा विषेयम् ।
यदि वा सर्वेऽपि अन्तवःऽऽकृतमननितम् दुःखं येषां तेषका-
न्तदुःखाः, अश्रुदाव प्रियसुखाश्च तैः, ताद् सचाहं न हिंसादि-
त्यनेन वाऽन्यथाऽवदृष्टान्तो द्वाशितो जयस्युपदेशश्च दृष्ट इति ॥ १॥

(६) किमपि सन्तवन् न हिंसादिदृष्टाद्—

एवं शु नाथिणो सारं, जश् हिंसद किंच य ।

अहिंसासमया चेव, एतावंतं वियाणिया ॥ १० ॥

(एवं शु इत्यादि) खुरवधारणे । एतदेव, ज्ञानिनो विशिष्टवि-
शेषकवतः, सार न्यायं, यत्किञ्चन प्राणिजातं स्थावरं जङ्गमं वा, न
हिनस्ति न परितापयति । उपद्रवणं चैतत्—नेन न श्रुया श्रुया-
प्रादं स गृहीत्याह्लाऽऽह्लाऽऽसेवतः, न परिग्रहं परितुः शिवाज
नक्तं श्रुजतियेवं ज्ञानिनः सारं यश्च कर्मभावेषु वस्तुं इति ।
अपि च—अहिंसाया समता अहिंसासमता, ताचैतावाह्लाज्ञानोया-
त् । यथा मम मरणं दुःखं वाऽपि मयम्, एवमन्यस्यस्यपि प्राणिनां क-
स्येति । एवकारोऽप्यवधारणो । इत्येवं साधुता ज्ञानवत्या, प्राणिनां
परितापनाऽप्यवधारणार्थं वा न विषेयमेवेति ॥ १० ॥ सुख० १ सु०
१ अ० ४ उ० ।

(१०) तत्राहिंसाप्रसिद्धार्थमाह—

पुद्वीभ्रातणयिवाज, तयुरकलसर्वयगा ।

अंरुया पायजराज, रससंयेगश्चिन्ना य ॥ ७ ॥

(पुद्वी) भ्रात इत्यादि । तत्र शूषिबीकायिकाः सुधमवाद्दरपर्या-
कताऽपयोसकनेदभिष्ठाः, तथाऽप्यकायिका अक्षिकायिकाः वायु-
कायिकाश्चैवभूता एव । यन्स्वयत्तिकायिकाद् संशतः सन्भ्रमाह-
रुणानि कुशवचकादीनि, वृक्षाः सूताशोकादिकाः, सह बीजैर्वैलेन-
तृति, सर्वाऽजानि तु शाश्वताश्चयवादीनि, एते एकैकिकायाः पञ्जा-
पि कायाः । यद्ब्रह्मसयानिकरुणयाह-अथरजाः शकुनिशूहको-
किन्नकसरीमृपादयः । तथा—पोता एव पोतजा इतिशरजाऽयः ।
तथा—अरुपुजा ये जम्बाश्वेधिताः समुत्पद्यन्ते गोमनुष्यादयः—तथा
रस्ता इतिशिबीरकादेजोता रस्ताः । तथा—सर्वेदजाः सन्-
स्वेदजा युक्तमनुपुजादयः । उज्जिजाः अज्जरीटकदुर्दुरादय
इति । अह्लातभेदा हि दुःखेन रचयन्त इत्यतो जेदोनाप्यास इति ।
एतेहिं अर्पेहिं काएहिं, सं विजं परियाणिया ।

यपसा कायवकेणं, धारंजी ए परिमाही ॥ १॥

यमिः पूर्वोक्तैः, वन्दितोपि कायैस्सस्वावकैः, स्वमवाद्दरप-

यांसि काऽप्यासकमेवमिभैर्नारंजीनाऽपि परिग्रही स्वयदिति सं-
बन्धः । तदेतन्निराजन्त सशुभिको जपरिहृया परिहृया प्रत्यावधान-
परिहृया मनोवाक्कायकर्मभिर्जीवापमर्षकारिणामारम्भं परिग्र-
हं च परिहरेदिति ॥ ६ ॥ सूत्रं १ सु० ७० ॥

सच्चाहिं अणुचूर्णीहिं, मतिमे पकितेहिया ।
सत्वे अकतेतदुत्सवा य, अतो सत्वे अहिंसया ॥ ६ ॥

सर्वा यः काश्चनानुक्ताः पृथिव्यादिजीविकायसाचनत्वेना-
नुकृता यु कथः साधनाणि । यदि वा-ऽसिक्विचकनैकान्तिकपरि-
हारण पक्षमेवस्यपक्षसर्वविषयकृत्वावृत्तिकपतया युक्तिसङ्गता
युक्त्यस्तामितिमान् सञ्चिक्वी, पृथिव्यादिजीविकायाप्रत्यु-
पेक्ष्य पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य, तथा सर्वेऽपि प्राणिनो ऽका-
शतुःका दुःखादिषुः सुखान्निष्पन्नक मत्वाऽतो मतिमान् सर्वान-
पि प्राणिनो न हिंस्यादिति । युक्तयश्च तत्रसाधिकाः सङ्क्षेपणे-
मा इति-सात्त्विका युथितौ, तद्व्यमनं विहृप्रलक्षणेपसादीनां
समानकालीनाङ्कसङ्गावाद्दोषकाराङ्कुरवत् । तथा-सञ्चतन-
ममभो, भूमिस्वननादाविकृतस्त्वभावसंज्ञावाद्दुर्बलम् । तथा-सारा-
त्मकं तेजः, तथोत्पाहारावुत्पा वृष्युपग्रहयोस्त्वकवत् । तथा-सारा-
त्मको वायुः, अणुपरिनिगिनयनरञ्चिनिगतिसत्वाद्भवोवत् ।
तथा-सञ्चतना वनस्पतयोः, जम्भज्जामरकुसुमादीनां समुदितानां
सङ्गावान्, स्त्रोवत् । तथा-कृतसरोहणाहारोपादानवैर्हिंसङ्गा-
वस्वयोर्कोचसायाङ्कस्वाप्रयोर्वाभयोवसर्पयोःदिष्टयोः इतुभ्यां
वनस्पतेभ्यस्तन्यासिक्विः । श्रीःद्रव्यादीनां तु पुनः कृष्णादीनां स्पष्ट-
मेव नैतयम्, तद्भूतान्शोकात्मिकाः स्वाभ्यांशकाश्च सैतुपलत्र-
माना मनोवाक्कायैः कृतकारिणानुमतिभिश्च नवकन भेदेन तत्पि-
डाकारिण उपमर्शाश्चार्तिन्यमिति ॥ ६ ॥

एतदेव (पुनः) संमर्थयन्नाह—

एवं शु णाणियो सारं, जं न हिंसति कंचण ।
अहिंसासमयं चैव, एतान्तं तद्विचारिण्य । १० ॥

(एवं शु इत्यादि) कृशयो वाक्पालहारेऽवधारणे वा । एत-
देवाननराकं प्राणानिपाननिवर्तनं, ज्ञानिनो जीवस्वरूपतद्ग्रह-
कर्मबन्धवदेतिनः, सारं परमाधंप्रधानम् । पुनरप्याद्भवापनार्थमे-
तद्वाह-यत्कञ्चन प्राणिनमनिष्टदुःखं सुखीयनं न हिनास्ति, प्र-
भूतवदेतिनेऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतरं ज्ञानं, यस्मात्प्राणिपाननि-
वर्तनमिति । ज्ञानमपि तदेव परमाधेता, यद्यीद्रातो निवर्तनम् ।
यद्योक्तम्—किं ताप पदियाप, पयकोदीप पयात्सूयाए ॥ जयि-
शयं श्च जायं, परस्स पीडा न कायश्या ॥ १ ॥ तदेवमहिंसा-
प्रधानः सत्ये आगमः संकेतो वाऽपदेवकपः, तदेवभूतमहिंसा-
समयमेतावन्तमेव विज्ञाय, किमप्येन बहुना परिकृतेतावतेव
परिज्ञानेन मुमुक्षोर्बिबकृतकार्यपरिसमाप्तेरतो न दिष्टयाक-
म्बनेति ॥ १० ॥ सूत्रं १ सु० ११ अ० ॥

(११) अतान्तेरेऽहिंसा न तद्विधा—

आहुः-कथमेते प्रावातुका मिथ्यावादिनो भवन्ति । अत्रोच्यते-
यत्सत्याहिंसां प्रतिपादयन्ति, न च तां प्रधानमेकाङ्गभूतां सम्य-
गनुतिष्ठन्ति । कथम ? साङ्गध्यानां तावत्कृतादेव धर्मो न तेषामहिं-
सा प्रा श्रव्येन व्यवस्थिता, किंतु पञ्च यमा इत्यादिको विशेष इति ।
तथा-वाक्कारानामपि यथा कृत्वा धर्मया अहिंसाऽपि तयोका, न
तु सिच गरीयसी धर्मसाधनत्वेन तैराभिता । वैशेषिकाणाम-
र्षि-प्रतिबंधनोपाससम्राज्यधेष्टुभक्तुवशासापनप्रथदायकादि-

नक्षत्रमन्त्रकाश्चिनियमा दृष्टाः, तेषु धामिषेचमादिषु पर्यालोच्यमा-
नेषु हिंसैव संघटते, येदिक्तानां हिंसैव गरीयसी धर्मसाधनं, य-
होपदेश्यात् । तस्य च तथा विनाऽभावादिद्विभ्रमप्रथः । उक्तं च—
“ भुवः प्राणिवधो यहे ” ॥ ७६ ॥

(१२) तदेवं सर्वे प्रावातुका मोक्षानुभूतामहिंसां न प्राधान्येन
प्रतिपद्यन्त इति दर्शयितुमाह—

ते सत्वे पावातया आदिकरा धर्मायं णापापभा णा-
णाठंदा णाणासीसा णाणादिद्वी णाणाई णाणांरंजा
णाणाकृजवसाणसंजुला एणं बहं मंदक्षिबंधं किच्चा सत्वे
एगयाउ चिद्वृति ॥ ७० ॥

(ते सत्वे इत्यादि) प्रबधनशीलाः प्रावातुकाः सर्वेऽपि त्रिष-
ष्ट्युत्तरात्रशतपरिमाणे ऋषि, आदिकरा यथास्वं धर्माणाम्, ये-
ऽपि च तद्विद्वेष्यास्तेऽपि सर्वे; नानाभिन्ना प्रज्ञा ज्ञानं येषां ते नाना-
प्रज्ञाः । आदिकरा इत्यनेन्दम्-इ-स्वर्वाभिवर्चितास्ते न-
त्वावादिप्रवादायाताः । ननु साहैतानामपि आदिद्विषोचशुभ-
स्येव । सत्यमस्ति । किंतु अनारिर्हेतुपरंपरेत्यनादित्येव, तेषां
च सर्वेऽप्रणीतानमानाभययाश्चिन्धानाम्नायः, तदनायश्च नि-
श्रपरिज्ञानमत एव नानाछन्दाः; उन्वाऽभिप्रायः; जिन्नाभिप्रा-
या इत्यर्थः । तथादि-उत्पादव्ययश्रीव्यात्मकं वस्तुनि साङ्ख्यै-
रेकातेनाविर्भावितरोभावाभयखादान्वयनिर्गम्य पदार्थे सत्य-
त्वेनाभिय निरत्ययकं समाभिन्नाः । तथा-शाखाः, तदनायश्च नि-
केषु पूर्वोत्तरात्रेभ्यु पदार्थेषु सत्यु स एवायमिति प्रथममिह-
प्रथयः सद्युत्तरापरारोपसर्विन्धानां भवतीत्येतत्पक्षसमाभ्य-
खादित्यपकं समाभिन्ना इति । तथा-नैयाधिकवैशेषिकाः-केषा-
श्चिदाशापत्तमापवादीनामेकान्तेन निरत्ययमेव, काश्चिद्रव्याणां
च घटपटादीनामेकान्तेनानित्यस्वमेवाभिन्नाः । एवमनयाऽदिष्टा-
श्रयेऽपि भ्रामासिका तापसाद्योऽनुष्ठा इति । तथा-ते तीर्थिका-
नानाशीलं येषां ते तथा, शीलं व्रतविशेषः, स च निश्चनेषामनु-
भवीसज्ज एव । तथा-नाना इष्टिदेशं येषां ते । तथा-नाना रुचि-
रेषां ते नानारुचयः । तथा-नानारूपमध्यवसानमनःकरणप्रवृत्ति-
येषां ते तथा । इदमुक्तं जयति-अहिंसा परमं धर्माङ्गप । सा च
तेषां नानाभिप्रायस्वाधिकलत्वेन व्यवस्थिता । तस्या एव सूत्र-
कारः प्राधान्यं दर्शयितुमाह— ते सर्वेऽपि प्रावातुका यथास्वपक्ष-
माभिन्ना एकत्र भवेद्रे संयुता मरुत्सिचधर्माधाय तिष्ठन्ति ॥ ७० ॥

(१३) अहिंसाप्रसिधये विवेचनमाह—

पुरिसेयं सागणियाणं ईंगलाखणं पादं बहुपदिपुभं गहाय अ-
ठमएणं संदासएणं गहाय ते सत्वे पावाउए आङ्गरा धर्मा-
यं णाणापन्नां जाव णाणाङ्कनवसाणसंजुते एणं वयासी-
हंजो पावाइया । आङ्गरा धर्मायं साणापन्नां आणं वाणा-
अङ्कनवसाणसंजुला ! इमं ताव तुह्म सागणियाणं ईंगला-
णं पादं बहुपदिपुभं गहाय मुहुत्तयं पाणिणा धरेह, णो
बहु संदासणं संसारियं कुजा, णो बहु अग्निथंजणियं
कुजा, णो बहु साट्ठमियं वेयावादिने कुजा, णो बहु पर-
ध-
मियं वेयावादिने कुजा, उज्जया णियाणपरिवन्ना अणायं
कुम्भमाणा पाणं परसारेह, इति वुत्था से पुरिसे तेसिं पावा-
दुयाए तं सानाभियाणं ईंगलाखणं पादं बहुपदिपुभं अ-

बभूवण सदासएणं गहाव पाणिष्ठु षिसिरिति, तए णं ते पावाडुपा आइगरा बम्माणं थाणापपावां जाव थाणाप-
 क्कवसाएणसंजुचा पाणिं पत्तिसाहरंतं । तए णं से पु रि-
 से ते सन्ने पावाडव आदिगरे धम्माणं० जाव थाणाप-
 क्कवसाएणसंजुचा एवं वयासी-हंभो पावाडुपा! आइगरा ध-
 म्माणं थाणापपावां जाव थाणाप-
 क्कवसाएणसंजुचा कम्मा णं तुम्भे पाणिं पत्तिसाहरह, पाणिं नो कइज्जा, वड्ढे किं ज-
 विस्सइ, दुक्खंति मक्कमाणा पत्तिसाहरह, एस तुज्जा एस प्प-
 माणे एस समोसरणे पचेयं तुज्जा पचेयं पमाणे पचेयं स-
 मोमरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहुणा एवमाइक्खंति०
 जाव पक्खंति-सन्ने पाणां जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावप-
 प्पा परिपेतव्वा परितोवेयव्वा किलापेतव्वा उदवेतव्वा
 ते आगंतुं जेयाए ते आगंतुं जेयाए० जाव ते आगंतुं जाइ-
 जरा मरणं जोणं जम्मणसंसारपुण्येवमवगन्नावास जवपवंच-
 कळंकली भागिणो भविस्संति ॥ ८१ ॥

तेषां चैवंव्यवस्थितानामेकः कश्चित्पुरुषः, तेषां संविश्वर्थं ज्व-
 लतामङ्गारानां प्रतिपूर्णां पात्राभयोर्मयं भाजनमयोर्मयैव सद्-
 शकनं पुरोहिता तेषां दौर्गतताद्युक्तं तत्र-यथा आः प्रावादुकाः।
 सर्वोक्तविशेषणविशिष्टः। इदमङ्गारभृतं भाजनमेकं मुहुर्त्सं प्र-
 कृतं सांसारिकाणां मित्राभिनन्दनस्य भवति, नापि च स्वाध-
 मिकाऽप्यधिकाणां मित्राहोपशमनादिनोपकारं कुरुत इति,
 अत्रैवोपायमाहुः। पाणिं प्रसारयन्तः तऽपि च त्रयं कुर्यात्।
 ततोऽसौ पुरुषः तज्जाजनं पाणी समोसयति । तऽपि च दाहशु-
 द्धया हस्तं संकोचयेयुः। ततोऽसौ तानुवाच-कमिति पाणिं
 प्रतिहस्तं दयुमः। एवमभिहितस्तं ऊचुः-वाहशुभादिति । एत-
 दुक्तं भवति-अवश्यमग्निदाहभयात् कश्चिदन्वयिमसुं पाणिं द-
 दात्। तस्योत्तराऽप्यहन्तः। पाणिना दृश्येतापि किं जलतां भविष्य-
 ति? दुःखमिति चेत्, यद्यद्यं जलतां दाहापादित्तुःकुञ्जरेवः सुख-
 त्विपसवस्तद्वं सति सर्वेऽपि जन्तवः सांसारोदरविषयवर्तिन एव-
 न्मूता एवेत्येवमात्मतुलयाऽप्येवमयं यथा मम नाजितं तुःख-
 मित्येवं सर्वजन्तूनामित्येवमप्याऽऽदृश्येव प्राधान्येनाश्रयणीया।
 तद्वैतप्रमाणम्। एषा युक्तिः-“आरामस्यैव नृतामि, यः पश्यति स
 पश्यति” । तद्वै सप्तमस्यस्य, स पथं धर्मविचारो यत्रा-
 हिंसा संपूर्णा तत्रैव परमार्थतो धर्म इत्येवंव्यवस्थितं तत्र
 ये केचनां विहितप्रमाणोः अत्रणमङ्गारणाश्च एव बभूवमासुमा-
 चहन्ते, परेषामस्मदाहोपादनायैवं भावन्ते, तथैवमेवं धर्म प्र-
 काशयन्ति व्यवस्थापयन्ति, तथाऽप्येवम प्राणयुस्तापकारिणां प्रका-
 रेण परं धर्मं प्रकृपयन्ति व्याचक्रुतः। तद्यथा-सर्वे प्राणा
 इत्यादि वायव्यतन्वया वृद्धादिभिः परित्रापयितव्या धर्माधेमर-
 ध्दादिवहर्नादिभिः परित्राह्ला विशिष्टकाले आकादी रोहितम-
 त्स्या इव, तथाऽप्यद्रावयितव्या देवतायैव गादिनिमित्तं वस्ताया
 इवत्येवं ये धर्मगान्दयः प्राणिनानुपतापकारिणीं भाषां जावन्ते,
 आर्गामानि कालेऽनकरो बहुर्यः स्वशरीरोक्कद्वयं च भाव-
 न्ते, तथा ते सायधर्मापेक्षां भविष्यन्ति, काले जातित्रामरणानि
 बहूनि प्राप्नुवन्ति । येषां जन्म योनिजन्म तन्मं कथो बहुर्यो
 गर्भं व्युत्थान्तं जाइवस्थायां प्राप्नुवन्ति, तथा-संसारप्रपञ्चान्तं-

तास्तेजोवायुपृथैर्गोबोद्धकनेन कलंकक्षीजावभातो भवति, ब-
 हुर्यो जविष्यन्ति ॥ ८१ ॥

ते बहूणं दंदणाणं बहूणं सुदणाणं तज्जाणाणं तात्तणाणं
 अदु बंधणाणं० जाव पोलाणां माइमरणाणं पितामरणाणं
 जाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुवभूतसुहृदामरणाणं
 दारिहाणं दोहम्णाणं अप्पियसंवासाणं पिपविष्णुमोगाणं
 बहूणं दुक्खलोम्यएस्ताणं आभागिणां जविस्संति अजा-
 दियं च णं अणवधमं दीहपदं वाउतंसंसारकंठारं तुज्जो
 तुज्जो अणुपरिवाहिसंति, ते णो सिज्जिस्संति, णो तु-
 जिस्संति० जाव णां सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एम
 तुज्जा एस पमाणे एस समोसरणे पचेयं तुज्जा पचेयं
 पमाणे पचेयं समोसरणे ॥ ८२ ॥

तथा-ते बहूनां वृषदादीनां शरीराणां दुःखानामात्मानं भाजनं
 कुर्वन्ति, तथा-ते निर्विधिका मानवधादीनां मानुषाणां दुःखानां,
 तथाऽप्येवामासिपसंवासाणां यथाशादिभिः दुःखदीनस्थानामाजा-
 गिनो भविष्यन्ति। किं बहूनांकोमोपसंसारव्याजनं शुक्तर-
 मधेसंबन्धं दशयितुमाह-(अणादियं इत्यादि) नास्पादिरस्ती-
 त्यनादिः संसारः। तदनेनदुक्तं भवति-यत्कीञ्चिद्विनदितं-यथा
 ऽवमाराकादीकमेनेत्यादित् इति। एतद्व्यास्तम्। न विद्यतेऽप्यद-
 र्भयन्तो यस्य साऽप्यमनवद्वर्षऽप्येवं इत्यर्थः। तदनेनदुक्तं
 विद्यते-यत्तुं केचिद्व्याप्य प्रत्यक्षात् ऽप्येवसायजलजलान्वितं, द-
 वशादित्योक्तेन वायव्यतदाहः, इत्यादिकं सर्वं भिष्यति। इदं
 मित्यन्तनुकूलपरावसरूपं कालावस्थानम्, तथा-व्यापारोऽप्येव
 गतयो यस्य स तथा, वातुगौनिक इत्यर्थः। तस्मिन्परा एव का-
 न्तारः संसारकान्तारो निज्जलः सत्यस्यात्पराहोतऽप्येवप्रदेशः
 कान्तार इति। तद्वेभूतं भूयो ज्ञेयः पीनः पुण्यनानुपरिवर्त्तित्यन्ते
 अरहहृष्टदीन्यायेन तत्रैव प्रमत्तः सत्यस्यात्पिनात्। अत्र एवाह-यत-
 स्ते प्राणिनां हन्तारः कुन तद्विदिति चेत्, सावधोऽपदेशान्। एतद्वै-
 कथमिति चेदत् औद्दिशिकादिपरिभोगानुबन्धेनैवमवगन्तव्य-
 मित्यन्तस्ते कुप्रावचनिका नैव सत्यमिति केषु ते लोकावस्थासा-
 कम्पिष्यन्ति। तथा-न ते सर्वेपदाधार्थं केषुल्लानावप्या ज्ञो-
 स्थ्यन्ते; अनेन ज्ञानातिशयनामगाहः। तथा-ने तऽप्यकारण
 कर्मणा मोक्षयन्ते। अनेनाप्यसिद्धेरैकैवस्थायांसिद्ध कारणमाह।
 तथा-परिनिर्मुक्तिः परिनिर्वाणानाम्मुक्खावाप्तिः, तां ते नैव प्रा-
 प्यन्ते, तेषामपि सुखानिश्चयाभावः प्रदर्शितो भवतीति। तथा-
 नैने शारीरमानसतां दुःखानामप्यन्तिकमन्तं कम्पिष्यन्ति। तन्-
 नाप्यप्यातिशयभावः प्रदर्शितो भवति। एषा तुज्जा, तदंतदु-
 पमानं, यथा सावधानुज्ञानपरायणाः सावधानिष्ठाश्च कुप्राव-
 चनिका न सिध्यन्त्येवं स्वयवृथा। अप्यौद्दिशिकादिपरिभोगो
 न सिध्यन्तीति। तदंतप्रमाणं प्रत्यक्षानुमानादिकम्। तथाहि-
 प्रत्येक्यैव जीवषु। शकारि चौर्यादिबन्धनाच्च मुच्यन्ते। एवमप्ये-
 ऽपीत्यनुमानादिकमप्यप्योऽप्यम्। तथा-तदंतस्समसंसारव्यनाम-
 भविचाररूपमितं प्रत्येकं च प्रतिमाधि प्रतिप्रावदुकमंतमुत्सा-
 दिकं प्रवृष्यमिति ॥ ८२ ॥

तत्थ णं जे ते समणा माहुणा एवमाइक्खंति० जाव पक्-
 खंति सन्ने पाणा सन्ने ज्ञया सन्ने जीवा सन्ने सत्ता ण
 हंतव्वा, ए अज्जावपपप्या, ण परिपेतव्वा, उ उदवेतव्वा,

ते षो आगंतुं ज्ञेयाए त षो आगंतुं ज्ञेयाए० जाव जाइजरा-
 मरणजोगिण्मणसंसारपुण्यवगनवासभवपवंचकलंक-
 भीभागिणो जविस्संति, ते षो बहूणं दंढणाणं० जाव
 षो बहूणं मुंढणाणं० जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्ताणं
 षो भागिणो जविस्संति, अणादिपं च षं अणवयमयं दी-
 द्दमक्कं चाउरंतमंमारकंतारे बुज्जो बुज्जो षो अणुपरिय-
 द्दिसंति तेसि सिज्जंति० जाव सब्बदुक्खाणं अंतं करि-
 र्स्संति ॥ ८३ ॥

ये पुनर्विदिततत्त्वा आत्मौपम्येनात्मतुलया सर्वजीवेभ्यहिंसां
 कुर्वाणा एवमाहकृते । तथाचा-सर्वेषां जीवा दुःखनिष्ठः सुख-
 लिप्सश्चक्रेते न हन्तव्या इत्यादि । तद्वयं पूर्वोक्तं दृग्दर्शनादिकं स-
 प्रतिपेक्षं भ्रमनीयं यावत्संसारकान्तामचिच्छरणैव न व्यक्तिक-
 मित्यन्वतीति ॥ ८३ ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

“ अविहिंसामेव पव्येव, अणुधम्मो मुणिशा एवेदिञ्चो । ”
 सूत्र० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(१४) यद्यकान्तेन नियेषनियेषे आत्मनि हिंसाद्यो न घटन्ते,
 तर्हि क घटन्त इत्यत आह-

नित्यानित्ये तथा देहा-क्रियाभिभे च तत्त्वतः ।

घटन्ते चात्मानं न्याया-द्विमादीन्यविराधतः ॥ १ ॥

नित्यञ्चासावनित्यञ्चेति नियोगिन्ये, तत्र नित्यानित्ये आत्मन्य-
 च्युपगम्यमानेन हिंसादीनि, घटन्ते इति संबन्धः । न ह्यकान्तेन
 नित्यमनित्यं वा वस्तु किमपि कस्यापि कार्यस्य कारणकर्मम् । तथा-
 हि-मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, एककणपेवेनातिक्रान्तमृ-
 त्पिण्डजनाभवत्वात्, मृत्पिण्डयत् । मृत्पिण्डव्यतिक्रमे चानित्यत्व-
 प्राप्तेः । तथा-मृत्पिण्डश्च कार्यं घटो न भवति, सर्वेष्वनुगमा-
 भावेनाऽनतिक्रान्तमृत्पिण्डश्चल कृणपर्यायत्वान्, पटवत् । मृत्पि-
 ण्डश्चलक्षणपर्यायव्यतिक्रमाभ्युपगमे वाऽनुपायित्वेन नित्यत्वं व-
 स्तुनः स्यादिति । आह च-घटः कार्यं न,पिण्डजनाधानतिक्रमात्,पि-
 ण्डयत्, घटवच्चानि । स्यात् कृत्यित्वादिरेवमथा । तद्वयं नित्यानित्य-
 मेव वस्तु कार्यकरणसमाप्तौ, ननु नित्यानित्यत्वधर्मयोर्विद-
 क्तत्वात् । धर्मैकाधिकरणत्वमपि । अत्रोच्यते-यथा हानस्य प्रान्ता-
 द्वापत्वे परतमार्धसंप्रत्ययान्वापत्तया न विरुद्धे, एवं च्यवते
 नित्यत्वं, पर्यायतश्चानित्यत्वं न विक्रमः । न च द्रव्यपर्याययोः
 परस्परं जेदः, यतो यदेव वस्तुनपक्वितविशिष्टकणं च्यवमिति
 व्यपदिश्यते, तदेवापक्वितविशिष्टकणं पर्याय इति । तथेति वाक्या-
 न्तराण्युक्ताः । देहाच्छरीरात् । किमिवाह-निष्ठा न्यतिरिक्तः, स
 चासावज्जिनश्च व्यतिरेकी भिन्नाज्जिनः, तत्र भिन्नाभिन्न एव
 च जीवः, शरीरात्तर्ह्येवंपलव्यमानत्वात् । तथाहि-जीवस्या-
 मूर्तत्वाद्देहस्य च मूर्तत्वानुमूर्तयोश्चात्यन्तविलक्षणत्वा-
 ज्जदः । तयोर्देहस्यशरीरं च जीवस्य वेदनात्परस्परभेदोति । आह च-
 “जीवशरीराण पि दु, भेवानेज्जो तहोचलंजाओ । मुत्तामुत्त-
 त्तण्णो,किंकिम्मि ष वयखाओ य” ॥१॥ सर्वथा जेदे हि शरीर-
 त्तकर्मणो जयान्तोऽनुभवानुपपत्तः स्यात् । अमेदेव परलोकाहा-
 निः, शरीरानो जीवनाशादिति । अजान्पुण्डकसमुच्चये । ततश्च
 स्ववसनीत्याद्यपि छद्मत्वम् । आह च-“संतस्स स्वकण्यं, तदा
 चिक्खे अन्नेनस्स । हंदि विसिच्छण्णो, हंति विसिच्छा सुहा-
 द्दंआ” ॥१॥ या विशिष्टाः प्रतिप्रणिवेषाः । तस्य इति परमार्थ-
 २२१

तः, नित्यानित्यादौ, न पुनः कल्पनया, पारमार्थिकत्वं च नित्या-
 नित्यत्वादीनां दृशितमेव । घटनेन मुख्यत्वं, आत्मनि जीवे, न्या-
 यात् परिणामिस्वकपस्यात्मनोऽपरापरपर्यायसंपुपपत्तिलक्ष-
 णया मीत्या, हिंसादीन्याभ्यवसंबन्धधर्मोत्सुखादीनि । अथमि-
 त्याह-आविराधनः अविरोधेन, एकान्तकथं य हिंसादिष्वनुप-
 गम्यमानेषु विरोधाः दक्षिणतः, तत्पारिहारंणेति भाव इति ॥ १ ॥

(१४) आत्मनः परिणामित्वे हिंसाया आविराधंशनायाह-

पीडाकर्तृत्वयोगेन, देहव्यापपयपेक्षया ।

तथा ह्यन्यीति संश्लेशा-द्विसैषा सनिबन्धना ॥ २ ॥

पीडा दुःखवेदना, तस्याः कर्ता विधाता, तज्जावः पीडाकर्तृत्वं,
 तस्य तेन वा योगः संबन्धः, तेन पीडाकर्तृत्वयोगेन । तथा-देहस्य
 शरीरस्य, व्यापत्तित्वात्तो देहव्यापत्तिः, तस्या अंशका निष्ठा
 देहव्यापपयपेक्षा, तथा । तथैतं नित्यत्वमानससमुच्चये । हर्मि मार-
 यामि, प्राणिनमित्येवंकाम्पान्सेशान्चित्तकालुष्यात्, हिंसा प्राणस्य-
 परोपणा, या परिणामव्यादिभिभ्युपगतिं मम्ययः । एषा इत्यं पी-
 सा, सनिबन्धना सनिर्मिता । परिणामवादे हि पीडाकस्य पीकनीय
 स्य च परिणामित्वात् पीडाकर्तृत्वमुपपद्यते । देहविनासंश्लेषौ
 च एकान्तवादे तु पीडाकर्तृत्वादीनां पुर्वोक्तत्वायनाऽपुन्यमानत्वा-
 त् हिंसा निर्निबन्धनं । यद्येव्यत-नाशहेतुना देहाज्जिणो नाशः
 क्रियतेऽजिणो वाः । यदि जिणः, तदा देहस्य नाशवत्त्वं हिंसाया । अ-
 ध्याजिणः, तदा देह एव कृते जयतीति । तदयुक्तम् । अजिणनाशकर-
 णे हि बन्तु नाशितमेव भयति, न कृते, यथा जिणोपादकण्यं तस्या-
 दिनमेव भवतीति, अनेन च शोकंन स्थानान्तरप्रसन्नस्त्रिषिविषो
 वषो निर्हिष्टः तथा च-“तपपञ्जायविणो, तुक्कण्णप्याओ य संकिंसे-
 सो । एस वहो ज्जिणमशिभो, वज्जेयव्वा पयसे” ॥१॥ नन्वस्माद्
 घातकाद् मरणानेन देहिना प्रायत्तमान्मवकंरात् स्मृतकर्मणो
 वश्राद् हिंसा भवत्यन्यथा वाः । यथाचः पनः । तदा हिंसकस्याहिं-
 सकत्वमेव, स्वकर्मफलत्वात् हिंसायाः । पुराणात्स्वकृतहिंसाया-
 मिव तथा कर्मनिर्जराहेतुत्वेन हिंसकस्य वैद्यावृत्तपरस्येव
 कर्मणयाथासिन्नकृपां गुणः स्यात् । अथाप्यर्थतः पक्षः, तदा नि-
 विशेणत्वात्सर्वे हिंसनीयं स्यात् ॥ २ ॥

(१६) तथा स्वर्गलुभाव्याऽपि स्वहृत्कर्मनापादिता एव
 स्फुरिति कर्माभ्युपगमेऽनर्थक इत्येवमाह तानामपि हिंसाया
 अस्मभव पवत्याशङ्क्याया-

हिंस्यकर्मविपाकेऽपि, निमित्तत्वनिर्वागतः ।

हिंसकस्य भवेदेवा, छुष्टाऽदुष्टाऽनुबन्धतः ॥ ३ ॥

हिंस्यते मार्यते इति हिंस्यः, तस्य यत्कर्म, तस्य विपाक उद्बो
 हिंस्यकर्मविपाकः, तत्रापि हिंस्यकर्मविपाककारणमेव हिंसायाः, आ-
 स्तां हिंस्यकर्मविपाकाभावकल्पनायां, निमित्तत्वस्य निमित्त-
 कारणत्वस्य नियोगोऽप्येवमांशं निमित्तत्वनिर्वागतः, हिं-
 सकस्य व्यापादकस्य, भवेत् ज्ञानेन । एषा हिंसा । अयमभिप्रायः-
 यथापि प्रधानहेतुभावेन कर्मोद्भावेऽप्यस्य हिंसा भवति, तथा-
 ऽपि हिंसकस्य तस्यो निमित्ताभावितोऽप्यस्यमात्तत्वात्सात्त्विको
 जयतीत्युच्यते । न च वाक्यं हिंस्यकर्मणैव हिंसकस्य हिंसायां
 प्रेरितत्वात्स्य न दोष इति । अस्मिन्मार्गेः परंप्रेरितस्यापि लो-
 के दोषवर्शनादीति । ननु यदि निमित्तभावेऽपि हिंसा स्यादिति ।
 प्यते । तथा वैधादीनामपि तत्प्रसङ्गः । सत्यम् । केवलं सा तेन न,

दुष्टादुष्टाभिसाधित्वात् । एतदेव व्यतिरेकेणाह-दुष्टा दोषवती कर्मव्यभिचयनतवाद् दुष्टानुबन्धतो दुष्टवित्तामिसंघर्षेयति । यदाह-“ जा उ पमत्ता पुरिलो, तस्स उ जोगं पडुच्च जे सत्ता । भाषाळ्ळनां निममा, तसिं सों हिससो होइ” ॥१॥ ननु दुष्ठा भिसंघेः, यदाह-“ जा जयमाणस्स जेवे, विराहणा सुखविहिस-मग्गस्सा । सों होइ निज्जाफला, अग्गम्याविसोहिं दुत्तस्स” ॥१॥ परतेन च यदुक्तं वैशाद्युक्तकस्य हिंसकस्य कर्मनिजैरस्यसहा-यत्वाभिर्जारात्तान इति । तर्थाय परिहृतम् । यत् न हिंसाकां वै-यावृत्त्यकरवचनाभिसन्धिः । शेषं त्वननुपगमाभिस्तमितं । अघिकृतत्रैकार्थसंवादिना । अयं गाथा-“ नियकयकम्मुवभो-गे, विसंकिंसेलो धुवं वहतस्स । तत्तां बंधो तं ऋतु, तविउर-ईए विउउर (स) ” ॥

एवं परिणामिन्यात्मनि हिंसायाः संभवमाविर्भवाद्हिंसाया-स्तमा-
स्तमा-

ततः सद्गुपदेशादेः, क्रिष्टकर्मवियोगतः ।
शुभजावानु, न्येन, हन्तास्या विरातिर्भवेत् ॥ ४ ॥

यतः परिणामिन्यात्मनि हिंसा घटते ततस्तस्मात्किंसाघटनात्, अस्या विरतिर्नैवेदिति योगः । सतां ज्ञानमुकुराणं जिनादीनानुपदे-शां हिंसाहिंसयोः स्वरूपकलादिप्रतिपादनं सद्गुपदेशः, सतां वा प्रावानानुपदेशः, सन् या शोभन उपदेशः, स आदिर्यस्य स तथा, तस्मात्, आदिशब्दात् ज्ञानभ्रज्जानपरिग्रहोऽभ्युत्थानादिपरिग्रहो वा । माह च-“ अम्भुट्टाणे विणए, परक्कं साट्ठसवणया या सम्मई-सणुसंनं, विरयाविरई य विरई ” ॥१॥ तथा-क्रिष्टकर्मणां द्वांघिष्-निक ज्ञानावरणादीनां, वियोगः क्लृप्तमनः, तस्मात् क्रिष्टकर्मवि-योगात् । आह च-“ ससए षयड्ढाणे, अग्गिजतरायां य कांमिको-रुए । काऊण सागराण, जइ लहकं च उरहाअणयं ” ॥१॥ शुभभा-षानुबन्धनं प्रकान्ताभ्यवसायाभ्यवस्वत्वेन, हत्येवंकारणपरम्परया हन्तेति प्रत्यधारणाथैः, कामलाभ्युत्थायोः वा । अस्याः परिणा-म्यातमहिंसायाः, विरतिर्नैवृत्तिसंज्ञेत् जायत, घटत इत्यर्थः ॥४॥

ततः किं जातमित्याह-

अहिंसैषा मता मुक्त्वा, स्वगमोक्त्वापसानी ।
एतत्संरक्षणार्थं च, न्यायं सत्यादिप्राप्तनम् ॥ ५ ॥

अहिंसा अस्यापादनम्, एषा अनन्यलोकोपपत्सिका हिंसाविर-तिः, सता इष्टा विदुषां, मुक्त्वा निरुपचरिता । यत् च प्रासङ्गिकप्र-धानफलार्थं क्रया कमेण स्वगमोक्त्वापसानी देवलोकाविर्वाण-देतुयुता । अथेतस्या एव स्वर्गादिपानधन्तात्किं सत्यादिप्राप्तने-नेत्याशङ्कयाह-एतत्संरक्षणार्थं मनसो दिताऽहिंसायतनपरिधा-णार्थम्, अशब्दः पुनरर्थोऽवधारणाथो वा । न्यायं न्यायादनपन-म् उपपन्नमित्यर्थः । सत्यादिपानधनं मृषावादादिनिवृत्तिनिर्वाहस्य-थः, अहिंसासत्यसंरक्षणे कृत्स्नकल्पव्यवस्थयादिप्रवृत्तानामाति ॥

(१७) अथ पूर्वोक्तस्यात्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहाजि-
ज्ञानिन्नवस्य च सायने प्रमाणोपदेशानायाऽह-

स्मरणप्रत्यभिज्ञान-देहमस्पर्शवेदनात् ।
अस्य नित्यादिऽसिद्धिश्च, तथा लोकप्रसिद्धिः ॥ ६ ॥

स्मरणं पूर्वोपलब्धाधानुस्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानं सोऽप्यमित्येवंरूपः प्रत्ययमशोः, तथा-देहस्य शरीरस्य सत्संशयं वस्तुसंशयं स्पर्शोः, तस्य वेदनमनुभवेन, देहसंस्पर्शेन वा वेदनं स्पर्शानीयवस्तुपरि-

ज्ञानं देहसंस्पर्शवेदनमिति । पदत्रयस्यास्य समाहारद्वयः, तस्मा-द्स्यात्मनो, नित्यादिसिद्धिः नित्यानित्यत्वदेहाजिज्ञासिद्धयव-तिष्ठा, अशब्दः पुनःशब्दायैः नित्यानित्यत्वादिबिंशोपणे आत्मन्य-हिंसादिसिद्धिः, नित्यानित्यत्वादिस्मृत्युक्तस्य स्वरूपान्तरादिः साधः । प्रयोगश्चात्र-नित्यानित्य आत्मा, स्वयनिहितद्वयत्वादिंसंस्मरण-न्यायानुपपत्तः । तथाहि-न तादेवकाम्पानित्यं स्मरणस्थानः, तस्यैकरूपतयाऽनुभवस्यैव स्पर्शरूपेणानुभवताव, इतरथा नित-यताहासैः, नित्यानित्यस्य स्मरणसंज्ञानुभवकालान्तरकाल एव कर्तृविनष्टत्वात्कस्य स्मरणमस्तु ? ; ननु-नित्यानानुभूतमन्यः स्मरति । अथानुभवकृष्णसंस्कारात्साधिषः स्मरणकृष्णः समुत्पद्यते । नैवम् । यतोऽनुगमलेशोनायि चर्कितानामत्यतवि-लक्षणानामसंख्येयकृष्णानामातिक्रमे जायमानस्य स्मरणकृष्णस्य पूर्वकालीनानुभवकृष्णसंस्कारो यदि परं भ्रज्जनगम्यो न युक्ति-प्रत्ययः, प्राक्तनानुभवकृष्णस्य चिरनरनष्टत्वात्, अथानुभव-कृष्णेषु च संस्कारलेशस्याप्यनुपपत्त्येः सद्देवान्तरकृष्णस्य विलक्षणस्मरणकृष्णोत्पादोपलब्धेरिति । परिणामपक्षे तु प्राक-तानुभवकृष्णेनाऽऽहितसंस्कारानुभवत् तत्कृष्णप्रवाहकृष्णा-माविधधमेसमुदयस्वभाववादात्मनः सकाशात् स्मरणकृष्णो-त्पादो युक्तियुक्त इति । न च वाच्यमपान्तरकृष्णेष्वनुभव-संस्कारां नोपलभ्यत इति कथं तत्संकेति निर्वाहप्रवेन स्मरा-णस्यानुपपत्तप्रसङ्गादिति । तथा-नित्यानित्य आत्मा, प्रत्यभिज्ञा-नायथानुपपत्तः । तथाहि-यकामानित्यत्वेऽनुभवस्यैव सत्कालानु-भूत्तं प्रत्यभिज्ञानसंभवः । अनित्यत्वे तु अनित्यत्वादेव पूर्वदृष्टः पूर्वदृष्टवस्तुनञ्च नष्टत्वात् पूर्ववच्छेषोपपत्त्येव प्रत्यभिज्ञानसंभ-वः । नचाद्यद्यतोऽदृष्टे प्रत्यभिज्ञानमस्ति, तथा अन्तर्निर्गतिः अथ कृष्ण-लूनतुनतैतदकृशादिष्वपि प्रत्यभिज्ञानमस्तीति प्राञ्च इति तस्य व्यतिचारित्वेनाऽऽप्रमाणतया सर्वत्राप्रामाण्यम् । नैवम् । प्रत्यक्-स्थापि क्वचिन्नानिचारात् सत्येवाप्रामाण्यप्रसङ्गादिति । तथा-दे-हाजिज्ञासिद्धि आत्मा, स्पर्शवेदनाऽभ्ययाऽनुपपत्तः । तथाहि-यद्यसौ देहाजिज्ञासा भवेत्, तद् देहं स्पर्शस्य वस्तुनां न संवेदनं स्याद्, देव-दत्तस्पर्शवस्तुन इव यद्गदत्तस्य न । अथाभिज्ञो, देहमात्रत्वेन तस्य परलोकाजायमसङ्कादवयवान्तरहासि चैन्यहानिमज्जाश्चिनि । तथेति समुच्चये । लोकाप्रदिक्रितो जनप्रतीतिर्नित्यानित्यमासादि-धस्त्विति गम्यते । यतस्त्वेनं वस्तुत्वेनं परिणतमिति वदन् वस्तुत्वा-दिच्छिन्निमवस्थात्प्रापत्तं च प्रतिपद्यमानो जनो सख्यते । न च लोकप्रतीतिविरुद्धमर्थमुपकल्पयन्प्रमाणं प्रमाणतासादावयती-ति ॥ ६ ॥

(१८) आत्मनो विदुषेः पूर्वं दोष उक्तोऽथासर्वगतत्वेऽस्य
गुणमाह-

देहमात्रे च सत्यस्मिन्, स्यात् संकोचादिर्भिमिच्छि ।
धर्मादेरुर्ध्वगत्यादि, यथायै सर्वेष्वेव तु ॥ ७ ॥

देह एव शरीरमेव मात्रं परिमाणं यस्य स देहमात्रः, तस्मिन् दे-हमात्रे । देहमात्रता चास्य देह एव तद्गुणोपलब्धेः । अशब्दः पुनर-र्थः । नित्यानित्यदिधर्मसंके आत्मनि हिंसादिरूपपद्यते, देहमात्रे पुनःसति भवति । अस्मिन्नस्मरणे, स्यात्कृत्यं, सर्वे यथायैमिति संब-न्धः । किंभूते तत्र ? संकोचादिः संकोचमादिः, अदिशब्दात् प्रस-रणं, धर्मः स्वजाशो यस्य स तथा, तस्मिन् ; संकोचादिधर्मकत्वं चास्य सूक्ष्मभेदशरीरवशात् । किं तस्मादिदंशरीर-धर्मोदेवत्व-स्यादि ? धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्तात्प्रवत्यधर्मोय । ज्ञानेन वा-

पवर्षीः" इत्यादिकं वचनमिति गम्यते । यथार्थं निरूपयन्तः, सर्वमेव निरवशेषमेव, तुशब्दः पूरण इति ॥ ७ ॥

उपसहरकाह-

विचार्यैतत्सहृदुका, मध्यस्थेनान्तरात्मना ।

प्रतिपक्षव्यभेदेति, न खल्वन्यः सतां नयः ॥ ८ ॥

विचार्ये विचारणायम, एतद्यदनन्तरमहिंसादि विचारितं, सवु-
षुशां शोभनप्रकृया, मध्यस्थेनाऽपेक्षपतिनेन, अन्तरात्मना ज्ञायेन,
मनसा वा न केवलं विचार्ये, तथा प्रतिपक्षव्यभेदेन तु न स्वीक-
रन्त्यम । इतिशब्दो विचरिताद्येपारसमासी । अथ कस्मात्प्रति-
पक्षव्यभेदेत्याह- न खलु वैव, अन्य उक्तनयविलक्षणः, सतां स-
पुरुषाणां, नयो न्याय इति ॥८॥ हारि० १६ अष्ट० । द्वा० वि० ० ।

अहिंसालक्षण-अहिंसालक्षण-पुं० । अहिंसा प्राणिसंरक्ष-
णं, लक्षणं चिह्नं यस्य स अहिंसालक्षणः । सत्त्वानुकम्पानुमेय-
संभवे, पा० । द्याचिह्ने, ष० ३ अधि० ।

अहिंसासमय-अहिंसासमय-पुं० । अहिंसाप्रधाने आगमं, सं-
कते चोपदेशरूपे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अहिंसिय-अहितसित-त्रि० । अमारिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४४३० ।

अहिंसेत-अजिकाकृत-त्रि० । अमिदंभति, " अहिकसंत-
हिं सुभासियाह " । १० व० ४ द्वार ।

अधिकरण-अधिकरण-न० । नरकतिर्यग्गतित्वा, आत्मनो-
ऽधिकरणं वा तुल्यसत्त्वे इत्यर्थः कलत्रे, नि० चू० ४ उ० ।

अधिकरण-अधिकरण-त्रि० । सुवर्णकारोपकरणं, भा० ८८० ।

अधिकृत्-अधिकृत्य-अप्य० । प्रतोत्येवार्थे, " पठुषु लि वा
पप्य लि वा अदिकिञ्च लि या पठात् " । आ० चू० १ अ० ।

अदिग-अधिक-त्रि० । विशिष्टे, पञ्चा० ३ विव० ।

अदिगुणतय-अधिकगुणतय-त्रि० । अधिकगुणवर्तिनि, शो०
७ विव० ।

अदिगत-अधिकत्व-न० । विशिष्टेनत्वे, पञ्चा० ३ विव० ।

अदिगम-अधिगम-पुं० । विशिष्टपरिहाने, प्रव० १४१ द्वार ।
भवबोधे, स्था० ७ डा० । " शासंति वा संवेदंति वा अदिगम-
नो लि वा वेयवति " । आ० चू० १ अ० ।

अधिगम-पुं० । उपचारे, " अभिगमेणं अभिगच्छति " । श्रौ० ।
(" अभिगम " शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७११ पृष्ठेऽस्य जेदा उक्ताः)

अदिगमण-अधिगमन-न० । पारिच्छेदने, वि० ० ।

अदिगमरुह-अधिगमरुहि-पुं० । स्त्री० । समयकवनेदे, तद्वति
च । प्रव० १४५ द्वार । (५६८ पृष्ठे तथा ७११ पृष्ठे चास्मिन्नेव
भागे आ० ४० अदिग प्रकरणे च्छेद्यम)

अदिगमास-अधिकमास-पुं० । अभिबर्द्धितमासे, उद्यो० १ पाठ० ।

अदिगय-अधिकृत-त्रि० । प्रस्तुते, वि० ० । पञ्चा० । भावे क्तः,
अधिकारे, न० । वि० ० ।

अधिगत-त्रि० । परिहृते, प्रस्तु० । गीतां, भ्य० १ उ० । शीका-
दिप्रतिपत्त्याऽङ्गीकृते प्राप्ते, पञ्चा० २ विव० ।

अदिगयगुणवृद्धि-अधिकृतगुणवृद्धि-स्त्री० । समयकवादिगुण-
वर्द्धने, पञ्चा० २ विव० ।

अदिगयजीव-अधिकृतजीव-पुं० । प्रस्तुतसत्त्वे, यथा शीकाधि-
कारे शीकाधीय इति । पञ्चा० २ विव० ।

अदिगयजीवाजीव-अधिगतजीवाजीव-त्रि० । अधिगतौ
सम्यग्बिहारी जीवाजीवो येन स तथा । जीवाऽजीवयोः पर-
माथेनो विहानवति, रा० ।

अदिगयद्रु-अधिगतार्थ-पुं० । अधिगतोऽर्थो येन स तथा, अ-
धिगतार्थो वाऽर्थार्थधारणात् । तत्त्वज्ञ, दशा० १० अ० ।

अदिगयतिथ्यदिद्याया-अधिकृततीर्थविधातृ-पुं० । वसंताम्र-
वचनकर्तारि भगवति महावीरे, पञ्चा० १९ विव० ।

अदिगयतरगुण-अधिकतरगुण-पुं० । प्रकृष्टतरगुणे, पञ्चा० १८
विव० ।

अदिगयविसिधभाव-अधिगतविशिष्टज्ञाव-पुं० । प्रस्तुतमकृ-
ष्टज्ञाप्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

अदिगयसुंदरभाव-अधिकृतसुंदरभाव-पुं० । प्रस्तुतशोभनप-
रिणाम, पञ्चा० १८ विव० ।

अदिग्ररण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽधिकारोक्रियते
दुर्गताधामा येन तदधिकरणम् । बाहो वस्तुनि, स्था० २ डा०
१ उ० । आ० १ । पापोपनिष्ठधाने, आतु० । कुरतुष्ठाने,
प्र० ३ सत्यं द्वार । स्वयंक्रयप्रक्रियविषयं विभवे, स्था०
७ डा० । राटौ, तत्करवचने च । कल्प० ९ क० । कलत्रे, ग० ३
अधि० । खड्गनिपत्तनादौ, ज्ञा० ५ अ० । श्रौ० । सूत्र० ।
कथायाद्याभ्यचूते हलशकटादौ, भ० ७ श० १ उ० । (अधि-
करणास्य कर्त्तव्यता ज्ञामणा च 'अधिगरण' शब्देऽस्मिन्नेव
प्रागे ५७२ पृष्ठे ५७१ पृष्ठे च उक्ता, नवर चातुर्मास्ये)

वासावासे पञ्जासवियाणि नो कपपेड निगमथाण वा नि-
गमथाण वा परं पञ्जासवलाओ अधिगरणं वदत्त, जे एं
निगमथा वा निगमथा वा परं पञ्जासवलाओ अधिगरणं
वयद, से एं "अकपेएणं अज्जो वयमि" ति वत्तवे सिया,
जे एं निगमथाण वा निगमथाण वा परं पञ्जासवलाओ
अधिगरणं वयद, से एं निज्जुहिण्यवे सिया ॥ ९८ ॥

(वासावासे पञ्जासवियाणमित्यादि) अनुमासकं स्थितानां
नो कल्पते साधुनो साध्वीनां च पूर्वपणातः परम, अधि-
करणं राटि, तत्करं वचनमपि अधिकरण, तत् वक्तुं न
कल्पते । अथ यः कोऽपि साधुर्वा साध्वी वा परं पूर्वपणातः
अधिकरणं क्लेशकारि वचनं वदति, स एव वक्तव्यः स्यात्-यद
हे आर्ये ! त्वमकल्पेन अनाचारं वदसि, यतः पूर्वपणादिनतो-
ऽवाक्, तदिने एव वा अधिकरणमप्यत्र तत्पूर्वपणायां क्षामिति,
यच्च त्वं पूर्वपणातः परमपि अधिकरणं वदसि, सोऽयमकल्प
इति भावः । यथेव निवारितोऽपि साधुर्वा साध्वी वा पूर्व-
पणातः परम, अधिकरणं वदति स निर्वृद्धिनव्यः।ताम्बूलिकप्र-
दृष्टानेन सहार्द्धं बहिः कर्त्तव्यः । यथा-ताम्बूलिकेन विबद्धं पत्र-
मन्यपत्रविनाशनमथाद् बहिः कियतः, तद्वयमन्यमन्यनाशनाद्यन्-
क्षापाविधौ विनष्टं पश्येत्यतो बहिः कर्त्तव्य इति भावः तथा-

उप्येऽपि द्विजवृक्षान्तः । यथा-लेटावास्तव्यां रुद्रनामा द्विजो
 वर्णाकालं कन्दारान् कर्पुं हतं लात्वा क्षेत्रं गतः । इत्थं बाहय-
 तस्तस्य गलीं बलीवर्दे उपविष्टः । तोषेय ताव्यमानोऽपि या-
 क्मनोसिष्ठति तदा कुन्देन तेन कन्दारव्यमूलवदेरेखादन्मनो
 मूलव्यारुस्थांगनमुक्तः आसरोधान्मनूः । पश्चात्स पञ्चाक्षर्यं वि-
 दधानो महास्थाने गत्वा स्वहृत्सालं कथयन्तुपशान्तो न वेति
 भैः पृष्टो, नाचापि ममोपशान्तिरिति वदन् द्विजैरप्राकृत्यक्षकैः ।
 पथमनुपशान्तकोपतया धार्यिकपूर्वाणं अकृतज्ञामणः साध्या-
 दिरपि उपशान्तोपस्थितस्वैव मूलं दातव्यम् ॥ १८ ॥

बासानासं पञ्जोसवियाणं० इह क्नुयु निगमंयाण वा नि-
 गंयीण वा अञ्जेव फक्खेव क्नुयु विग्गहे समुपज्जि-
 त्या, सेहे राधियेयं स्वाभिज्जा, राधियेण वि सेहं स्वाभिज्जा,
 स्वमियव्वं स्वभावियव्वं उवसामियव्वं उवसामियव्वं मुमइसं-
 पुच्छणावहुत्तणं होयव्वं, जो उवममइ तस्म अत्थि
 आराहणा, जो न उवसमइ तस्म नात्थि आराहणा; त-
 म्हा अपणा चेव उवसमियव्वं । से किमाहु भंत !, उव-
 समसारं खु सामंजे ॥ १९ ॥

चतुर्मासकं स्थितनामिह लघु निश्चयेन साधुसाध्विनां च
 (अञ्जेव ति) अथैव पर्युपानदिन पथ च 'कक्खेवं' उ-
 ष्ठैःशुद्धरूपः कटुको अकारमकारादरूपो विग्रहः कसदः स-
 मुपपद्यते, तदा (सेहं ति) शैलैः लघुः रात्मिकं ज्येष्ठं ज्ञा-
 मयति । यद्यपि ज्येष्ठः सायराधस्तथापि लघुना ज्येष्ठं ज्ञम-
 गीयः, इवधदादात् । अथापरिणतमर्थमेवाद्भ्युप्येष्टं न ज्ञमयति
 तदा कि कलव्यमित्याह- (राधियेण वि सेहं स्वाभिज्ज ति)
 ज्येष्ठोऽपि शैलं ज्ञमयति । ततः क्रतव्यं स्वयमेवं ज्ञमयितव्यः
 परः, उपाश्रितव्यं स्वयमुपशमयितव्यः परः (सुमइ ति) शो-
 भनः ततः सुमनो रागद्वेषरहितना, तत्पूर्वं वा संपृच्छना स्वार्थ-
 विषया समाधिः प्रश्नो वा तद्बहुलन ज्ञवितव्यं; येन सहाधि-
 कणमुपज्ञमासीत्तन सद निमलमनसा आलापदि कार्यमि-
 ति भावः । अथ द्वयोरभ्ये यद्येकः ज्ञमयति नापरस्तदा का ग-
 तिरित्याह-(जो उधसमइ ह्यादि) य उपशास्यति, अस्ति तस्या-
 ऽऽराधना, यो नोपशास्यति नास्ति तस्याऽऽराधना । तस्मान्
 आत्मना उपशासितव्यम् । (से किमाहु ति) तत्कृतं इति प्रश्न-
 शुरुदाह-(उवसमव्यादि) उपसमसारमुपशमप्रधानम्, खु नि-
 श्चये, आमण्यं भ्रमणत्वम् । कथं० ए ॥ १० ॥

साधिकरणस्य प्रतिक्रिया-

साधिकरणं जिक्खुं गिलायमाणं नो कण्ठं तस्म गणा-
 ब्धत्तेवसेन निज्जूहितेण अगिलाए करिण्णं वेयावदि-
 यं जाव रोगायकातो विण्णमुक्के ततो पच्छा महालहुस्सगे
 नामं ववहारे पट्टविण्णे सिया इति ।
 अथास्व सुखस्य कः सखं० ? इति संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-
 अजिजयमाणो सम गी, परिग्गहो वा भं वारितो कल्लो ।
 उवमामियव्वो उ ततो, अइ कुञ्जा दुविहजेयं तु ॥
 अमनं साधुमभिवन्तं गृहस्थो यदि, वा (से) तस्य गृह-
 स्थस्य, परिग्रहः परिजनः वारितः सन् कलहं कुर्वान्, ततः स
 कलहं उपशमयितव्यम् । एतत्प्रदर्शनार्थमधिकृतसुखारम्भः अस्व

व्याख्या प्रावत् । अथ सोऽनुपशान्तः सन् कुर्वाद्भिनेदं द्विभ-
 कारं, संयमभेदं जीवितभेदं ज्ञेयधेः ।

तत आह-

संयमजीवियभेदे, संरस्सण साहुणो य कायव्वं ।
 पदिक्खनिराकरणं, तस्स ससत्तीएँ कायव्वं ॥

संयमभेदं जीवितभेदे वा तेन क्रियमाणं संरक्षणं साधोः क-
 र्तव्यम् । तथा-तस्य साधोऽर्थः प्रतिपन्नः, तस्य निराकरणं स्व-
 शक्यता कर्तव्यम् ॥

कथं कर्तव्यमित्यत आह-

अणुसासणभेसणया, जा इहदी जस्स तं न हावेज्जा ।
 किं वा सति सत्तीए, हाइ सपक्खे उवेक्खाए ? ॥

तस्य प्रथमतः कोमलयचमैरनुशासनं कर्तव्यम् । तत्राप्यतिष्ठति
 प्रीणमुत्पादनोपमं । तथाऽप्यतिष्ठति यस्य वा लार्थः स तं
 न हावयेव, प्रयुजीतेत्यर्थः । एतदेव विपक्वे फलाभावापवर्तने
 रुदयति-किं वा सत्यां शक्तौ जयति स्वपक्षे स्वपक्षस्य उपेक्षा ?,
 भैव किञ्चिदिति ज्ञावः । केवलं स्वशक्तियैफल्यमुपेक्षानिमित्तं, प्रा-
 यश्चिसापक्षिञ्च भवति । तस्मादवश्यं स्वशक्तिः परिस्फारणीय-
 नि । इयं ३ उ० । स्यात् ॥ "अधिकरणं प्रायः कञ्चिकिच कलहं
 ऊक्तं रुमरं वा करेणा गच्छुवग्भो" महा० ७ अ० । "अधि-
 करणं पबट्टइ, ताहे न करेइ" आश० ६ अ० । आश्रये, यो ३
 विव० । साध्यानि आधारं, स च देशकालादौ; यथा चक्रम-
 स्तकादौ स्वप्रस्तावेषु च निष्पद्यते घट इति; एवं पटादावपि भा-
 व्यम् । आ० सू० १ अ० आ० म० । स चतुर्भेदः । तद्यथा-व्या-
 पक औपदेशिकः, सामीप्यको, विषयिकश्च । यथा चक्रम-
 तिशेषु तैलम्, औपदेशिको यथा-कटं आस्ते, सामीप्यको यथा-
 नङ्गायां घोषः, विषयिको यथा-रूपे चक्षुः । आ० म० द्वि० नि०
 सू० वि० ० । स्वपरिणामं च सामायिकमव्यवच्छिन्न धरतीस्व-
 धिकरणम् । अधिकरणपरिणामाऽन्ये सामायिककर्तारं सा-
 ध्यादौ, विशेषं ।

अधिकरणकर (क)-अधिकरणकर-त्रि० अधिकरणं कल-
 हस्मन्करंति नच्छीलक्षेत्र्याधिकरणकरः । कलहकरं, "अधि-
 करणकडस्स भिक्खुणो" सूत्र० १ सु० ३ अ० ३ उ० । भाषा० ।
 अधिकरणज्जाए-अधिकराध्या-न० अधिकरणं यापाप्य-
 सिहनुत्थानं, तस्य ध्यानमधिकरणध्यानम्; धापीध्यानतत्पर-
 स्य नन्विमर्शनकारणत्वेव । बुध्दानं, आतु० ।

अधिकरणसास-अधिकरणशाल-न० । साधपरिकर्मपृष्ठे, अ०
 १६ श० १ उ० ।

अधिकरणसिद्धन्त-अधिकरणसिद्धान्त-पुं० । यत्सिद्धाव-
 न्यस्वार्थस्यानुपकरणं सिद्धिः, तस्मिन् सिद्धान्तभेदे, सूत्र० १ सु०
 १३ अ० । "स चासौ अधिकरणो, जहियं सिद्धे सेसं अणु-
 लमवि सिग्गे, जह तिक्खं सिद्धे अन्नत्तामुत्तसंसिद्धी " यस्मिन्
 सिद्धे शेषमनुकमपि सिध्यति, यथाऽऽत्मनो नित्यत्वे
 सिद्धे, शरीरादन्वयत्वसत्सिद्धिरुत्सवेसंसिद्धिश्च । योऽधिकर-
 णसिद्धान्तः । सूत्र० ।

अधिकरणि-अधिकराणि-स्त्री० । अधिकृत्येते कुहनार्थं लोहा-
 दि यस्यां साऽधिकराणिः । लोहकारसुवर्णकारापुराणकरे,
 म० १६ श० १ उ० । स्यात् ॥

अहिमरगिखोदि-अधिकरणखोदि-आं० अधिकरणनिव-
 शनकाष्ठे, यत्र काष्ठेऽधिकरणी निवेश्यते । अ० १६ श० १ उ० ।
 अहिमरगिष्या-अधिकरगिष्की-की० अधिकरणविषये व्या-
 पारे, प्रश्न० । सा च द्विविधा-निवर्तनाधिकरणक्रिया, संवोजनानि-
 करणक्रिया च । तत्राद्या च द्वारदीनां तन्मुखादीनां निवर्तनसङ्गता ।
 इति याया तु-तेषामेव सिद्धान्तं संवोजनसङ्गणति । बुगंती
 कर्त्ताभिराधिक्रियते प्राणी तावत्, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । प्रति० ।
 आश्र० । "अहिमरगिष्या णं भेते । किरिया कानिबिहा पशुत्वा ? ।
 गोयमा । बुबिहा पशुत्वा । तं अहा-संजोपणादिमरगिष्या य,
 निव्यस्यणादिमरगिष्या य " । प्रहा० ३२ पद ।

अहिमा (या न-अधिकार-पुं०) प्रयोजने, प्रस्तावे च । विशेष० ।
 आं० अ० । दश० । नि० क० । व्यापारे, आचा० १ श्रु० २ अ० १
 उ० । संघा० । अधिक्रियन्ते समाधिष्यन्ते इत्यधिकाराः । प्रस्ताव-
 विशेषेषु, प्रथ० १ द्वार ।

अहिमारि-(ण्) अधिकारिन-त्रि० । तोद्योयं, प्रथ० २ द्वार ।
 आलम्बनापरपर्यायं योग्यं, संघा० । पञ्च० । दश० ।

अहिच्छत्ता-अहिच्छत्रा-खी० । जङ्गलदेशप्रतिबन्धे पुरीभेदे,
 "अहिच्छत्ता जंगलो चव " अदिच्छत्रा नगरी, जङ्गलो देशः,
 प्रायैशेषाणि । प्रथ० १४८ द्वार । सूत्र० । "वेपाय नयरी च नर-
 पुरिच्छ्रमं विसि भाए अदिच्छत्ता नाम नयरी हीत्या " शा०
 १६ अ० । तत्कल्पश्च-

" निवृत्तनभारुं तिजय, पयडं नामिजुं पयडं पयडिणचवंदि ।
 अदिच्छत्ताए कल्पं, जगानुदं किंपि जर्षामि " ॥ १ ॥

" इहव जेवुदीवे दीवे प्राहरे चामे मत्कमखेडे कुकजं-
 गलजणवय संस्कार्ये नाम नयरी रिंकिस्समिक्का दुत्था ।
 तथ जयथे पाससामी उरमथावहारणे विहरंते काठ-
 सग्ग विञ्चो पुव्वनिवज्जरंण कमउत्तुएण अविच्छि-
 क्कथाराए वावहिं वेरंसेतो अणुदरो विउत्थिञ्चो । तेण सयल्ले
 मदींमहेल्ले पगअवीवृए आकंठममं भगवेनं आहिष्ठा
 आभोएअणुं पंखंगिसाहज्जयं कमउत्तुणिं आणाविअ कक्का
 काःदी अंतरमज्जेतसप्यमभवययारं सुमरण धरंनंपण
 नागरायण अग्गमहिस्सीहिं सह आगंतुए मणिरयणविचइ-
 षं सहस्ससंक्कणामइल्लज्जे संसिमिंता उवरिं करेऊण
 हिंटे कुंडीकयडोयथं संगपइअ सो उवसग्गो निवारिआं ।
 तथो परं तंसे नयरी अहिच्छत्त नि नाम संजाये । तथ
 पायारपरिं जहा जहा पुरेआं विञ्चो उरमकवं । धरखिरो कुडि-
 ल्लमईए सप्यइ तदा तहा इहंनिसेसो कामं । अज्ज षिं तहैव
 प यारे रयणा दासह । तिरिपाससामिणो वेर्यं संघेण कारियं,
 वेअग्गोआं पुव्वदिंस अइमहुरपसकांद्दगाणि कमउजलइरी-
 जिवज्जइवुष्साणि सच कुंदाण विटंति । तज्जाले सुविहिअपदा-
 उवाओ मदिष्ठा विरवत्थाओ धवति । तेसि कुंदाण महियार पा-
 उवाओ आउसिक्किं भणिति, प्राणलत्तियुटिअ महासिज्-
 रसक्विआ य इर्यं दीसइ । तथ निच्छुरायणस्स अण्ये
 अग्गिदाणाइरग्गामिणोपकामा निष्कणीइआ । तेसि पुरीय
 अंतो वहिं पत्तयं कुवायं घीहियाणं च सयायं लक्कलं अर्यइ
 अइरोदणमां । जसनाययणमां पाससामिभेइव रुदवयं कुण-
 नायं अज्जिये कमठो अरपवररुहियशुटिगज्जिअविज्जुमाइ
 इरिसेइ । सुल्लंखंअओ नाइरुं । सल्लंखंसेसिमि पाससा-
 मिणो धरणइपउमावर्सेवावसस्स वेअपायारसमीयं सि-

रिनमिमुसिसिद्दिया सिक्कुरकलिया अयधुविहरथा सिंह-
 वाइणा अंधा देवी चिइडं । ससिकरिममलसल्लसपडि-
 पुष्पा उरुपमिहाणा धावी । तथ मज्जेण कय तयं महि-
 आलेवे अ कुट्टिंयं कुहुरोगोयसमे हयइ । धंभनीरक्वस्स
 य पिअरवधाए महिआए शुक्कपला कंठणं उयजइ । अं-
 भकुंनरुयकटाए मंडुकवंतीए दससुधेण पगसुल्लेण खी-
 रणं समं पीएण पक्कामदानपक्को निरागो कितरस्सरो अ हो-
 इ । तथ य पाएण उवयणसु सस्वमहोरहाणं वेदया उव-
 सज्जेत, ताणं ताणि अ कज्जाणि साहेति । तहा जयतां-नाग-
 दमणी-सहदेवो-अपराज्जना-सक्कणा-तिचपी-नउती-स-
 उलो-सपक्को-सुवधासिला-मोहली-सामली-रचमणा-न-
 ज्जिपी-मारसहा-सल्ला-यिसद्दावनेहो महोसहो एरथ
 घट्टंति । सोइआणं अ अण्येमाणि हरिइरोइरुअणमन-
 डिआनवणुवंपकुंरहिंणि तिथायां । हा एसा नयरी अ-
 हातवसिस्स सुगिदीयनामअयस्स कणहरिसिणो जम्मभू-
 मि सि, तप्ययकयपरागकानिकएण पविस्सोकथाए य चउव-
 स्स पाससामिस्स संभरणं प्राहिवाइसप्यविमहरिकार-
 ण चोरज्जअणुरायउट्टुगहमारि उअप्रअसांणीपमुइसुहो-
 वत्तान हवतिं भविआणं नि " ।

" इअ एस अहिच्छत्ता-कपो उवचसिओ समासेयं ।
 सिरिजिणुपहस्सीदि, पउमावर्धरणकमउत्तिया " ॥ १ ॥
 इति अहिच्छत्राकल्पः समाप्तः । तं० ७ कल्प० आचा० ।

अहिजाय-अजिजात-त्रि० । कुलांभे, "अहिजायं महकखमं" अ-
 भिजातं कुलांभे महीना । कमा यत्र तथा पुत्र्यं क्रमे सम्यत्वं यस्स-
 चथा । ततः कमेचारपः अथ वा-अभिजातानां मध्ये महत्तु पूत्र्यं
 क्रमे समर्थं च यस्स चथा । अ० ए श० ३३ उ० ।
 अहिजाण-अर्थ० । यान-त्रि० । प्रकृति-प्रत्यय-लोपा-ऽऽगम-ध-
 धिका-काल-कारकादिवेदिनि, दश० ५ अ० ।

अहिज्जमाय-अर्थ० । यमान-त्रि० । पठति, इय० ४ उ० । सूत्र० ।
 अहिज्जितं-अर्थ० । तुष्टु-अर्थ० । पठितुमित्यर्थः, दश० ४ अ० ।
 अहिजिज्ञा-अर्थ० । तथ-अर्थ० । अथयनं कृतेत्यर्थः, उरु० १ अ० ।
 पठित्वेत्यर्थः, उरु० १ अ० ।

अहिजिज्यता-अभिधित्यता-खी० । मिध्या लोचः, सा संजा-
 त यत्र सं निधितः । न निधित्योऽजिधित्यतः । तद्भावस्तथा ।
 अलांभे, अ० ६ श० ३ उ० ।

अहिट्टाण-अभिष्टान-ण० । सत्प्रवधावेदिने पषोपवेगाने, नि०
 क० ५ उ० । भाव सुदुर-आश्रयणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।
 "अहिट्टाणं काठण जित्तं" आन० हिं० । पठित्वं, स्वामित्वं च ।
 आचा० २ धु० ४ अ० १ उ० ।

अहिट्टिज्जमाण-अभिष्टुं । यमान-त्रि० । समाकल्पमाणं, इया० ४
 उ० १ उ० ।

अहिट्टाए-अभिष्टातुम्-अण्य० । निवद्वादिना परिभोक्तुमि-
 र्यते, वृ० ३ उ० ।

अहिट्टिय-अभिष्टित-त्रि० । अथ्यासिने, ज्ञा० १४ अ० । "सं-
 खो जुजमदिट्टिंति" । आं० अ० । आचिटे, आं० ५ उ० २ उ० ।
 वर्यनां गते, " राजादिट्टिया " राजाभिष्टितः राजाधीनाः ।
 ज्ञा० १४ अ० ।

अह्विय उल्लमयमयाह्वियमुह—अग्निनकुलमृगमृगाधिपमुल्ल—
णि० । ह्यजगत्सुहृदिरासिंहप्रभृतिके, प्रमुक्तप्रह्लादश्चमहि-
ष्याद्विपरिग्रहः । पञ्चा० २ वि०० ।

अग्निहोत्रं—अग्निनन्दन्—पुं० । अस्यामवसारिपयां जाते भर-
तक्षेत्राय चतुर्थे तार्क्षिके, ख० २ अ० ।

“ अग्निहोत्रं प्रसिद्धस्य, सिद्धस्यैवतयायेते ।
अग्निनन्दन्देवस्य, कल्पं जल्पामि श्रेयतः ” ॥ १ ॥

इह कुक्षे इष्याकुर्वन्शुक्रनामनेः श्रीलंबवराजमुनोः सिद्धा-
युक्तिकिरस्तीराजसूतोः सिद्धायुक्तिकिरस्तीराजहंसस्य क-
पिलाभ्रनस्य चामोकरक्षः स्वजन्मपारिधितश्रीकोशाशापुरस्य
सार्द्धेभूःशतत्रिनयोद्धवकायस्य चतुर्थयोःश्वरस्य श्रीमद्-
भिनन्दन्देवस्य मेद्वे मालवदेशात्तर्ष्यसिंहसलपुरमत्यासन्नायां
महादृष्टानतायां मेद्वेपुत्र्यामासीत् । तस्मिन्निषिद्धिन्वपयकर्म-
वनाध्यायमार्तानिर्वेदा मेदाः प्रातवसन्ति स्म । अन्यथा तुपुत्र्येच्छ-
सैव्येन तत्रोपेत्य भद्रं तजिज्जायतनव, नवखण्डीकृत च । प्रमदोऽह
तया दुरधिष्ठायकानोकाशिकासतुर्बलितानामकसनीयतया प्रनि-
दतप्रणतजनविषयमाप तक्षैत्यालङ्कारजुनां भगवतःअग्निनन्दन्देव-
स्य विम्बकविन्मखरगडातीत्याहः । तानि च शकलानि संजात-
मन्ःखेदेभेदेः संमील्य एकत्र प्रदेष्टुं धारितानि । पद्यं बेटीयसि
गन्धवन्देनदसि हरहर्षान्गुणप्रभाभिरामाद् धारादुपेत्य निर्यं
वाणिगकः क्यकलाच्छ्लोकैः वहाजामिबन्धस्तथ क्रयक्रयिककपं
वाणिज्यमकार्पायत् । स च परमाहंत । ततः परमाहं शूभभाग्यं दे-
वमपुजत । मन्थकृतया देवपूजायां न जातु बुभुजे । ततः
एतेःपुष्पीमुपेयित्यानेकदाऽनेकदाणकर्मभित्तैरामिदं च श्राव्त् ।
किमर्थं त्वमिहरेयाहोराकुर्वन्न अस्यामेव प्रकल्पाम्, वाणिग-
तभोग्यपुण्यकल्पवद्व्यां वदन्त्यां किं न जूहे । ततश्च ज्ञातितं
वाणिजा भो राजस्याः।यावद्दमहन्ते देवाधिदेवं (त्रितुवनकृतसेववं
न पद्यामि न पूजयामि चेत्तावन्न वदन्त्यां प्रगल्भे । किरातेजगद्-
यद्यं देवं प्राति तय निश्चयस्तदा तुच्यं दशोयामस्त्वदनिमतं दे-
वतम्।वाणिजा भोवे-तथाऽस्तु। ततस्तेस्तानि नवापि वा सप्तपि वा
अरुडानि यथावयमन्यासं संयोग्य दक्षिणं भगवतोऽग्निनन्दन्स्य
विम्बं, तद्वसुसुचितरम्यमाणपापाण्णचितं विज्ञोष्य प्रमुदितमुदि-
तवासांनिशयन नेन वाणिगस्य श्रुजुमनसा नमस्कृतोस्तर-
स्कृतदुरनदुरितो जगवान्, पूजितकश्च पुषपादिभिर्भोग्यवदना च
विगमिताः। ततः स तत्रैव भोजनमकरात् । मुकुरताभिप्रह इत्थंकारं
प्रदिनं विनपूजार्नीगामनुनिष्ठानि शंति नार्थमन्व । अथ च अपर-
पुरुषद्विंबकानिरकश्चद्वैवेनोहोहैस्सात्किमपि द्रव्यं धनार्थिज्जि-
स्तद्विम्बशकभानि युक्तकीकृत्य कविदपि संगोपितानि, वृक्षे या-
व्युजावसरं नो प्रतिमामनाशोक्या नासौ बुभुजे, नतस्तेन विषम-
मनसा विहितं भयानकमुषुपा सत्यमम् । अथ स मेहैरपुष्पं कर्मयं
नाऽश्राप्सि । न यथातथ्यमेवाकथयत् । इतः किरातमतिरवशिष्ट-
यक्षस्यं गुहं ददांसि नदाः तुच्यं दशोयामस्ते देवयं । वाणिजा बसा-
णे-विनरिष्मयशययामितातनस्तेस्तसकस्रमपि शकलानां नवक-
स्तकं वा प्राग्वत् संयोग्य प्रकटीकृतम् । इदं च तेन संयोग्यमतेन
तद् विम्बं सुतरां निषादसंस्पर्शविषादकलुषितद्वयः समजनि
स श्राकचुरीणस्तद्वपु सांनिष्यकतयाऽभिप्रहममहादेव-याधादिदं
विष्यमखण्डं न विलोक्येन त तावदोदनमश्रामि। नत्येत्थमनुवि-
समुपस्तस्त्वेद्विम्बाधिष्ठायकीः रथंभि निजगद्—पद्यस्य विम्ब-
स्य नवखण्डसंयथक्षन्दनत्रेवेन पूरणीयाः। तत इदमखण्डतमने-

प्यतीति प्रबुद्धेन प्रातर्जातप्रभवेन तथैव चक्रे । समगदि
भगवानलण्डवपुः, सन्धयश्च मिश्रिताभ्रनस्येयमानि कश्चप्रा-
भे । भगवतं विशुद्धस्यया संपुत्र्य मुक्तवान् । पययाजीवः
पीषरां सुवसुधवद्वेदी च गुहादि मेदेच्यः । तदनन्तरं तेन
वणिजा मणिजातमिव प्राप्य प्रहृष्टेन शून्यस्रकं पिप्लतरो-
स्तक्षे वदिकाकण्यं विषाय सा प्रतिमा मपिदता । ततः प्रभृति
आयकसंघात्प्रातुर्वयंलाकाश्चतुर्विंशताप्राग्यया यानोत्सवं सुव-
यितुं प्रवृत्ताः । तत्र अजयकीर्त्तिभानुकीर्त्तिभ्रम्याचजकुलास्तत्र
मउपत्यात्वायंक्षैत्यचिन्तां कुर्वते स्म । अथ प्रागुवाटेशवावतेसे-
नथाइडामजेन सायुहाशाकेन निरपत्येन पुश्रायिना विरचितमु-
पयचितकम्—यदि मम तजुषो जातिता तदाऽत्र सैव्यं कारयि-
ष्यामीति । क्रमेणाधिष्ठायकविद्वासांश्रयतः पुषस्तस्योद्वेष-
त कर्मदेवाच्यः । ततश्चैत्यमुक्षैरतिशारिखरवांकस्थापुद्ग-
लाकः । कामासाधुनावडस्य दुरितेरं परिणयिनः कामदेवः।
पित्राऽपि महाप्रामादाह्वय मलयसिहावयो देवाशिकाः स्था-
यिनाः । महणियाभिषयां मेद्वेः स्वाकुलीं नमचतुर्दशेन कृत्स्वाद्-
किलादमस्य भगवतोऽङ्गुलीवाकिन्तः सेवक इति । भगवद्विलेप-
नचःदमगलानाश्च तस्याङ्गुलीः पुनर्नवींषभूव । तमतिशयमाशिशा-
यिनं निशम्य श्रीजयसिंहदेवो मालवश्वरः स्फुरज्ज्जिप्रगभा-
रमास्तरातःकरणः स्वामिनं स्वयमपुजयत् । द्वपूजायै चतुर्विं-
शातिहलकृत्यां भूमिमदं च मउपनिष्यः । इदंशहश्रवाशां चावनें
देवाशिकेभ्यः प्रदद्यावर्षानपतिः । अथापि (दमरमल्लयापिप्रजाव-
हेजवो भगवान्।अग्निनन्दन्देवस्तत्र तथैव पूजयमानोऽस्ति ।

“ अग्निनन्दन्देवस्य, कल्प ए यथाशुभय ।
अल्पीयान् रथायंश्चक्रेः श्रीजनप्रजस्रामिः ” ॥ १ ॥
इति सकलनूतलयनिघांसलोकाग्निनन्दन्स्य श्रीअग्निनन्दन्-
देवस्य कल्पः । ती० ३१ कल्पः ।

अग्निहोत्रं—अग्निहोत्रं—पुं० । नूनविशिष्टवर्णादिशुणोपते, रा० ।

अग्निहोत्रसह—अग्निहोत्राच्छ—पुं० । द्युपुण्यश्रावकं, पि० ।

अग्निहोत्रोह—अग्निनिबोधं—पुं० । अयोनिमुक्तं नियतः प्र-
तिस्वरूपकं बोधविशेषोऽभिनिबोधः । मतिज्ञानं, अग्निनिबु-
ध्यतेऽस्मादस्मिन् वेति अग्निनिबोधः । मत्वावगण्यज्ञोपपशमे,
प्रहो २६ वि० ।

अग्निहोत्रं—अग्निहोत्रं—पुं० । संयोगाज्जस्य ह्युक्त मस्य पावद्वित्वे,
“हो गत्वोऽग्निहोत्रौ” । ८। १ । ५६ । इति नकारादुक्तस्वर्यात सः
अग्निहोत्र । प्रा० १ पाद् । “हो अः” । ८। २ । ७३ । इति प्रस्व
लुक्, अदिज्ञो । प्रा० २ पाद् । प्राक्, वाच० ।

अग्निहोत्रं—अग्निहोत्रं—पुं० । अत्यन्तरीकिते, उक्त० २ अ० ।

अग्निहोत्रं—अग्निहोत्रं—पुं० । पठित्वेत्यर्थे, “ अहुंगमेयं बहवे अ-
ग्निहोत्रा, हांगंसि जाणति अणागतार्थे ” । सु० ११ हु० १२ अ० ।
अग्निहोत्रं—अग्निहोत्रं—पुं० । संपदशने, पञ्च० १० वि०० ।

अग्निहोत्रं—अग्निहोत्रं—पुं० । संपदशनेप्रभृतौ, “अग्निहोत्राह
क्षुवाव लक्षयतीह तद् सेसं” । पञ्चा० १० वि०० ।

अग्निहोत्रं—अग्निहोत्रं—पुं० । प्रस्विक्तो यद्वाहिरवतिष्ठते
जातगमनमगं तस्मिन्, आवा० १ अ० १ अ० ७ अ० ।

अग्निहोत्रं—अग्निहोत्रं—पुं० । “महो वन-गेरह-हर-पद्म-निष्काराः”

धिपञ्चुआः" । ८ । ४ । २०६ । इति अहिरधिपञ्चुअ आदेशः । अधिपञ्चुअ-एवञ्चि । प्रा० ४ पाद ।

अधिपञ्चु-अभिपञ्चु-पुं० । "स्यधयकञ्चो अञः" । ८ । ४ । २६३ । इति किकञो अञः । प्रा० ४ पाद । "अभिपञ्चो जञ्चो वा" ८ । २ । २५ । इति अभास्ये अञो अञञ्च । पञ्जे- 'अधिपञ्चु' । प्रा० २ पाद ।

अधिप-अधिपुत-पुं० । सूत्रादिदेहे, जी० ३ प्रति० । सर्पकञ्जे-वरे, विपा० १ सु० १ अ० ।

अधिप-अभिप-पुं० । अभिमुक्ताः परं मारयन्ति ये तेऽभि-मराः । प्रअ० ३ सव० द्वार । इदरेचौरेषु अञ्चहरेषु, नि० सू० १ उ० ।

अधिपाय-अधादि-पुं० । अरःपरिसर्पदौ, उच० ३६ अ० ।

अधिपास-अधिपास-पुं० । अनिर्वर्तितमासे, प्राय० १ अ० ।

अधिप-अधिक-वि० । आधिक्यविशिष्टे, "आकटो सोहह अधिप सिरे वूडामणि जहा" उच० २२ अ० । जं० । औ० । अक्षरपदादिभिरनिमात्रमधिके, अनु० । हेनोर्हैष्टान्तस्य चाधिक्यं सन्ति, अधिकं यथा-अनियः शब्दः, कृत्तकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्याम्, घटपटवदित्यादि । एकस्मिन् साधे एकएव हेतुर्हैष्टान्तश्च वक्तव्यः । अत्र च प्रत्येकं त्रयाजिधानाधिक्यमिति भावः । अनु० । वि० । सु० । अधिकं यत्पञ्चानामवयवानामन्तरेण समधिकम् । सु० १ उ० । आ० अ० द्वि० । "अधिसस्तिरसो" अधिकरूपेण स्वभ्रीकः शोभनोयः स तथा तमः कल्प० ३ क० । अधिकमपि द्विधा-रूपेण भावे च । तत्र द्रव्याधिकं तथैव हेऽविरतिके हेष्टान्त औषधैः पीहकेन च (एवं तावन्नरपदादिभिरधिकं सूधे शोभा मासलघुप्रायाञ्छलादयः "हृणकस्वर" शब्दे च-व्यन्ते) सम्प्रति भावाधिक एवोदाहरणमाह-

"पारल्लेऽसंग कृपाले, उज्जणी श्रेहलिहय सयमेव ।
अदिय सवत्सामसा-ऽहिएण सयमेव वायणया ॥
मुरियाण अप्पिड्दया, आणा सयमेज्जुं निवे पाणं ।
गामग सुयस्स जम्मं, गधऽवाउट्टणा कंइ ॥
चंदमुत्तपुत्तो य, विदुसारस्स नत्तुआ ।
असंगसिारणां पुत्ता, अघो जायइ कायणि" ॥ सु० १ उ० । विशेषे० ।

अहित-वि० । अपत्यं; अ० ७ श० ६ उ० । स्थानं । अपाये, स्थानं ५ उ० । १ उ० । भावप्रधानोऽयं निर्देशः । परिणामास्तुत्तरत्वे, इत्था० ६ अ० ।

अधिपदिण-अधिकदिन-न० । दिनवृद्धौ, स्थानं ६ उ० ।

अधिपपारिसीय-अधिकपौरुषीक-वि० । पुरुषप्रमाणाधिके, "कुम्भिमहंताहिपपारिसीया, समुसिता सोहियपुयपुषा" । सुत्र० १ सु० ५ अ० १ उ० ।

अधिपपण्ण-अहितप्रधान-वि० । अहितं प्रधानं बोधो वक्ष्य संऽहितप्रधानः । अहितबोधे, सुत्र० १ सु० १ अ० २ उ० ।

अधिपकूपसिम्परीय-अधिककूपसर्षक-वि० । अतिशोभिने, कल्प० ३ स० ।

अधिपहिय-अदितहित-वि० । अतिबहुकादिषु तथाविधे भोजने, पिं० ।

साम्प्रतमदितहितस्यकमाह-

दहितेह्य समाजोगा, अहिभो खीरदहिकिजायाणं च ।
परयं पुण रोगहरं, न य हेऊ होइ रोगस्त ॥ ६१० ॥

इधितैल्लयः तथा-कीरदहिकाजिकानां च यः समायोगः सोऽहिते, विरुद्ध इत्यर्थः । तथा बोक्कम-"शाकसूत्रकस्यपि-एयाकपियत्थलवैल्ले सह । करीरदधिमस्यैश्च, प्रायः स्त्रीरं विरुध्यते" ॥ १ ॥ इत्यादि । अविच्छेदकस्यमलनं पुनः पथ्यं, तच्च रोगहरं प्रादुर्भूतरोगविनाशकरम् । न च भाविशं रोगस्य हेतुः करणम् । उक्तञ्च-"अदितान्नसंपर्कां-त्सर्वरोगांज्जवा यतः । तस्मान्मदहितं त्याज्यं, स्यात्थं पथ्यनिवेणम" ॥ १ ॥ पिं० ।

अधियास-अध्यास-पुं० । परीवहादीनां सम्प्रकृतिनिष्ठापाय, आचा० १ सु० ६ अ० ६ उ० । सूत्र० । वतनं पात्रने, सुत्र० १ सु० ७ अ० ।

"ज्ञानं न क्रमया शुद्धचित्तमुक्तं त्यक्तं न सन्तोषतः, सांढा दुःसहतापीशीतपचनाः क्रूरशत्रु तप्तं तपः ।
ध्यानं वित्तमदनिर्गुणं नियमितं त्रुहिनं तत्सं परं, यद्यत्कर्म कृतं सुकार्याभिरहं । नैसैः फलैर्विज्ञितः" ॥ १ ॥ सुत्र० १ सु० २ अ० १ उ० । आचा० । उक्त० । स्थानं । अवि-चलकायनया (ज्ञानं १ अ०) सांष्टवार्तरकेण सहने, स्थानं ४ उ० ३ उ० ।

अधियासपाया-अहिताऽऽसनाता-स्त्री० । अहितमनुकूलं टो-लपायाणाद्यासनं यस्य स तथा, तज्जवस्तथा । अननुकूलानेन, स्थानं ६ उ० ।

अध्यशन्ता-स्त्री० । अध्यशनमेवाध्यशन्ता । दीर्घत्वं तु प्राकृ-तत्वात् । अज्जोणं भोजने, "अज्जोणं भुज्यते यत्तु, तदध्यशनमु-च्यते" इतिवचनात् । स्थानं ६ उ० ।

अधियासित्त-अध्यासयित्तु-अभ्य० । अधिसोदुभिर्यत्, आचा० १ सु० ८ अ० ४ उ० ।

अधियासिता-अधिसङ्घ-अभ्य० । सोद्वैयर्थे, सुत्र० १ सु० ३ अ० ४ उ० ।

अधियासिय-अध्यासित-वि० । भावे कः । कृतेऽधिसहने, "द-वियाण पासअधियासियं" । आचा० १ सु० ६ अ० ३ उ० ।

अधियासेतु-अध्यासङ्घ-अभ्य० । अधिकमालङ्घ । अत्यर्थे सोद्वै-त्यर्थे, आचा० १ सु० ६ अ० १ उ० ।

अधियासेमाण-अध्यासयत्-वि० । सत्यकृतिनिष्ठाणे, आचा० १ सु० ६ अ० १ उ० ।

अहिरसोमवसिय-अहिरस्यसौवर्णिक-पुं० । हिरण्यं रजतं, सुवर्णं च हेम, ते विद्येते यस्य स हिरण्यसौवर्णिकः । तथा न । प्रअ० ३ संव० द्वार । हिरण्यं रजतं सौवर्णिकं सुवर्णमयं कनककलशाद्, न विद्येते हिरण्यसौवर्णिके यत्राऽसौ अहिरस्यसौवर्णिकः उप-लक्षणात् । सर्वपरिग्रहरहिते, पा० । रजतसुवर्णमयकलशा-दिरहिते, च० ३ अधि० ।

अहिराय-अधिराय-पुं० । नैल्लघुविधीपतौ, सु० ३ उ० ।

अह्निरियया-अप्तीकता-खी० । निष्कलतायाय, उच्य० ३४ अ० । सि० ।

अह्निरिषण्य-अप्तीमनस्-त्रि० । सजाकारिणि षीतोष्णादौ परीचदे, आका० १ कु० ६ अ० २ उ० ।

अह्निरिम्-पूरि-आ० । पूरणे ॥ पूरण्यात्मोम्बोमुमागुम्माहिरि-रेमाः ॥ ७ । ४ । १६६ । आहरेमाह पूर, पूरयते । प्रा० ४ पा० ।

अह्निलिख्य (स्व)-कारुक्-आ० । अभिलाषे, " काङ्क्षेराहाहिल-ङ्गाहिलसङ्ख्यम् ॥ १ । ४ । १६१ । इत्यादिसूत्रेण काङ्क्षेतेराहिल-याहिलसङ्गादेशः । अहिलसङ्गाह, अहिलसङ्गाह । प्रा० ४ पा० ।

अह्निसाण-अह्निसान-न० । मुकषन्धनविशेषे, हा० १७ अ० मु-कषसमने, अ० ३ वक्र० । आ० । कविक्, हा० ४ अ० ।

अह्निसाविस्वी-अभिज्ञापस्त्री-खी० । अभिलष्यत इत्यजिहाप-त्, स पच खी । खीतिज्ञाभिधाने शब्दे, यथा-शालामाहाखि-द्विरिति । सूत्र० २ कु० ४ अ० १ उ० ।

अह्निसोपण्य-अभिज्ञोक्त-न० । अभिलोक्षयते अबलोक्षयते यत्र तदाभिलोक्तम् । उद्यतस्थाने, प्रश्न ४ संव० द्वार ।

अह्निसद्-अधिपति-पुं० । नायक, स्या० ५ जा० १ उ० । रक्षक, अ० १ वक्ष० । नरेन्द्रे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अह्निसद्-अधिपति-पुं० । राजादिनायकविषये कृ-म्यके, अ० १४ श० ७ उ० ।

अहि-वर्धन-अधिपति-त्रि० । आगच्छति, श्लोच० ।

अह्निसामण्य-अधिवासान-न० । शुक्तिविशेषापावनेन विम्बप्रति-ष्ठापेभ्यस्तत्करणे, पञ्जा० ८ विष० ।

अह्निसकण्य-अभिषेक-न० । विषकृतकालस्थ संवर्द्धने प-रतः करणे, सू० १ उ० । अ० ।

अह्निसरिय-अभिषृत्-त्रि० । प्रविष्टे, आ० म० द्वि० ।

अह्निसहण-अभिषट्टन-न० । तितिक्रमे, स्या० ६ जा० ।

अह्निकरण-अधीकरण-न० । अधीरवृत्तमान पुरुषः, स तं क-रतीत्यधीकरणम् । कलह, लि० चू० १ उ० ।

अह्निय-अधीन-त्रि० । स्वायत्ते, प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

अहीन-त्रि० । अमृत्ये, "अहीनपतिपुष्टपदिदियसरीरा" अ-हीनमृत्यूनानि स्वकपतः प्रतिपुणानि लङ्गणतः पञ्जापीन्द्र-याणि यस्मिन् तत् तथाविधे शरीरं यग्नाः सा तथा । औ० । हा० । विषा० । अ० । अहीनमङ्गापाङ्कप्रमाणतः परिपुष्टपञ्ज-मिन्द्रं, प्रतिपुष्टयपञ्जमृत्यं वा शरीरं यस्य साऽहीनपरिपुष्ट-पञ्जमृत्यशरीरोऽहीनप्रतिपुष्टयपञ्जमिन्द्रयशरीरो वा । स्या० ६ हा० । कल्प० ।

अह्नियन्त्र-अहीनाक्षर-न० । एकनव्यहरेणाहीने, म० २ आध० । सूत्र० । गुण, अत्रु० । ग० विशेष० । संधा० । ('हीन-कक्षर' शब्दे कथा बह्व्यन)

अह्नियदेह-अह्नी नदेह-त्रि० । परिपुष्टदेहावयवे, व्य० ३ उ० ।

अह्निय-अधीत-त्रि० । आगमने, "उच्यतेरासि वा अह्नितं ति वा आगमियं ति वा पण्डुं" नि० चू० १ उ० । स्या० ।

अह्नियसुत्र-अधीतसुत्र-त्रि० । गृहीतव्ये, "सम्यं अहीतसु-त्रां ततः विमलवरबोहजोगामो" पं० व० १ द्वार ।

अह्निरग-अह्निरक-न० । विद्यमानस्थेव न विद्यते हरिकाल-मुलकया मध्ये यस्य तदह्निरकम् । तनुहीने, प्रश्न० ४ द्वार ।

अहुण्योप्यो-अधुनाधीत-त्रि० । अचिरधीते, अपरिणते च । वश० ४ अ० ।

अहुण्योप्यो-अधुनोद्वासित-त्रि० । अचिरोद्वासिते, आच० । साम्यतोद्वासिते, व्य० ४ उ० ।

अहुण्योवलिप्त-अधुनोपक्षिप्त-त्रि० । साम्यतोपक्षिप्ते, इश० ५ अ० ।

अहुण्योववसग-अधुनोपपन्नक-त्रि० । अचिरोपपन्ने, स्या० । अधुनोपपन्नो देवो देवलोचं-

निदिं गणोहि अहुण्योववने देवे देवलोगेमु इच्छेजा मा-ण्यं लोगं हन्वमागच्छित्तए, यो चैव एं संचाएइ इव-मागच्छित्तए । तं नहा-अहुण्योववने देवे देवलोगेमु दिव्येसु कामनोगेसु मुच्छिए गिच्छे गदिए अज्जोववने से एं मा-ण्यस्सए कामजागे णो आदाइ, णो परियाणाइ, एो अह्णं वंधइ, एो एियाणां पगरइ, एो ठिइप्पकप्पे पकरइ, अहुण्यो-ववने देवे देवलोगेसु दिव्येसु कामनोगेसु मुच्छिए गिच्छे गदिए अज्जोववने, तस्स एं माण्यस्सए पेम वोच्छिजे वि-च्छिजे दिव्ये संकेते जवइ इ अहुण्योववने देवे देवलोगेसु दिव्येसु कामनोगेसु मुच्छिए० जाव अज्जोववने, तस्स ए-मेवं भवइ इयएहिं गच्छं मुट्ठुं गच्छं, तेणं कासेणयप्पा-उया माण्यस्सा कालभम्भुणा संजुवा जवइ । इषेएहिं तिहिं ठाणोहिं अहुण्योववने देवे देवलोगेसु इच्छेजा माण्यस्सं लोगं हन्वमागच्छित्तए, नो चैव एं संचाएइ इवमागच्छि-त्तए, अहुण्योववने देवे देवलोगेसु दिव्येसु कामनोगेसु अमुच्छिए अगिच्छे अगदिए अणुज्जोववने तस्स ए-मेवं जवइ, अत्थि एं मम माण्यस्सए भवे आपरिणइ वा उवज्जाएइ वा पचवेइ वा खेरेइ वा गणांइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेएइ वा जेसि पनावेणं मए इया एयाक्खा दिव्वा देवहं । दिव्वा देवसुइ दिव्ये देवाणुभावे ह्मके पत्ते अ-ज्जिमसाणगए तं गच्छामि एं तं जगवं वेदामि एणंसापि सकारोमि सम्माणोमि कट्ठाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवा-सेमि ॥ १ ॥ अहुण्योववने देवे देवलोगेसु दिव्येसु काम-भोगेसु अमुच्छिए० जाव अणुज्जोववने तस्स एं एवं भव-इ, एस ए माण्यस्सए तं जग्गे पाणांइ वा तवस्सइ वा अइ-दुकरदुकरकारो तं गच्छामि एं जगवं वेदामि एणंसापि० जाव पज्जुवासापि । २ ॥ अहुण्योववने देवे देवलोगेसु० जाव अणुज्जोववने तस्स एणंवे जवइ, अत्थि एं मम मा-ण्यस्सए जवे मायाइ वा० जाव मुएहाइ वा तं गच्छामि एं तेसिमतियं पाउज्जवापि, पासंतु ता मे इयं एयाक्खं दिव्यं

देवर्हि दिव्यं देवजुष्टं दिव्यं देवाणुभावं इच्छं एत्तं अजिस-
मष्ठागमं ; इषेर्हि तिर्हि ठाणेर्हि अहुणोववन्ने देवे देव-
होगेसु इच्छेज्ज माणुसं होगं हव्वमागच्छित्तए संचारिच-
ए हव्वमागच्छित्तए ॥ ३ ॥

अहुणोववन्नो देवः, कल्याण- (देवल्लोनेतु षि) इह च बहु-
वचनमेकवचनप्रकारेण कल्पनादात्मभवादि कार्यं इष्टवम्, वच-
नव्यवस्थादिबलाकानेकवचनपदश्लेषार्थे वा; देवशोकपु मये क-
श्चिद्बलोक इति, इच्छेज्जमित्यत्र पूर्वसङ्घट्टिकदर्शनाद्यर्थे मा-
नुषाणामयं माणुष्यमम् । (इच्छं षि) शीघ्रम् (संवाप षि)
शुक्रोक्ति । दिवि देवशोकं भवा दिव्यान्नेतु कामी च शब्दकृत्-
लक्षणी भोगाश्च गन्धर्वसस्पर्शाः कामभोगाः तेषु । अथवा-का-
म्यन्त इति कामा मनोहाराः, ते च इति लुप्यन्त इति भोगाः
शब्दादर्थः, ते च कामभोगान्नेतु, मूर्च्छित इव मूर्च्छित्तानां मूढः, त-
त्स्वरूपस्यानित्यवर्थादेवैवाद्यत्तमत्वात् सूक्ष्मः, तदाकाङ्क्षावानन्-
स इत्यर्थः । अथैत इव अर्थतत्सङ्घट्टयत् इह इच्छेज्जमित्यत्र संघट्टित
इत्यर्थः । अहुणुपपन्न आधिक्येनासक्तोऽन्यस्तत्तन्मना इत्यर्थः । नो
आर्हादिते-न तेष्वद्रव्यान् भवति, नो परिजातानि-यत्तेऽपि च व-
स्तु नूना इत्येव न मन्यते । तथा तेष्विति गम्यते । नो शर्ये भवति-
पेरिर्दृष्टं प्रयोजनमिति न निश्चयं करोति । तथा-तेषु नो निदानं
प्रकरोति-यत्ते मे अहुणुशिर्येवामिति । तथा-तेष्वेव नो स्थितिप्र-
कल्पमस्त्वान् (विकल्पनव-एतत्पदार्थं तिष्ठेयमिति, एतं वा मम तिष्ठ
न्नु विचारोभवन्निश्चयसंकेपे स्थित्या वा मयादेवा विधिप्रकल्प-
ए आचार आसंकेत्यर्थः) ते प्रकरोति कर्तुंभारभवे, प्रशब्दस्या-
दिकर्मार्थवत्त्वादिना । एवं दिव्यविषयप्रहासिदित्येककारणमा । तथा
यत्तेऽसाक्युनोपपन्नो देवा दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छित्तदिदि-
वापयो मयं भवति, अतस्त्वेव माणुष्यकं अणुध्याविषयं, प्रेम सन्धिं,
येन मनुष्यशोके आगम्यते तद्गुणान्नेतु, दिवि भवं दिव्यं स्वर्ग-
गतवस्तुविषयं सक्तात् तत्र देवे प्रविष्टं भवतीति दिव्यंभ्रमसंका-
रित्तरिति द्वितीयम् ॥२॥ तथाऽसौ देवो यतो दिव्यकामभोगेषु मूर्-
च्छित्तनादिविशेषणं भवति तत्तस्तत्प्रतिबन्धात् (तस्स पं ति)
तस्य देवस्य (एवं ति) एवंप्रकारं चित्तं जवति, यथा (इय-
र्हि ति) इदानीं गच्छामि (मुहुर्त्तं ति) मुहुर्त्तं गच्छामि, कृत्य-
समाप्तवाचित्यर्थः । (तेण कालेणं ति) येन तत्त्वं समाप्यते स च
हृत्कल्पव्यवहारागमनशक्तो भवति, तेन कालेन, येनैति शो-
पः । तस्मिन्ना काले गतं, ' णं ' शब्दो वाक्याद्भङ्गरे । अल्या-
येनः स्वनायादेव मनुष्यमात्राद्यां यदशोनाथमाजिगामिति या-
तेन कालभ्रमेण मरणेन संयुक्तो भवति । कस्यासौ दर्शनाथंमा-
यज्जाति अस्मासक्तस्यैता नाम त्नीयमिति (इच्छेज्ज) नि-
गमनम् ॥३॥ देवः कामेषु फाश्चिद्विद्विज्ञानादिविशेषणो भवति ।
तस्य च मन इति गम्यते । एवंयूतं भवति आचार्यप्रतिबन्धाक-
प्रभाजकारादरनुयोगाचार्यो वा । इह एवंप्रकारार्थो, वाश-
ब्दां विवक्ष्यार्थः । प्रयोगस्वैवमेव-मनुष्यजनेषु ममाचार्योऽस्ती-
ति याः अपाध्यायः सभद्रता, सांऽस्तीति वा । एवं सर्वत्र, नवरं
प्रवर्त्तयति सायुनाचार्योपदिष्टेषु धैयावृत्त्यादिविधिति प्रवर्त्तौ ।
उक्तं च- " तवसंयमयोगेत्तु, जो जोगो तथं तं पय्हेइ । अहुणोव-
वा नियेत्ते, गणन्तिष्ठो, पवसोभो " ॥ १ ॥ प्रवर्त्तय्यापा-
रिनात् साधुत्वं संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः ।
उक्तञ्च- " थिरकरणा पुण धरो, पवसि वावारिपसु अण्यसु ।
जो जय सीयइ जइ, संतबलानं थिरं कुणइ " ॥ १ ॥ ग-
२२३

णोऽस्यास्तीति गणी गणाचार्यः गणधरो जिनशिव्यविशेषः ।
आचार्यकामप्रतिज्ञागर्को वा साधुविशेषः । उक्तञ्च- " पिपथ-
मे वृधधमे, संविमो लउत्तमे व तयेसी । संगहुवभवाहकुसरो,
सुखार्थोवृत्त गणाहवर्हे " ॥ १ ॥ गणस्यावच्छेदां विज्ञानोऽसा-
ऽस्यास्तीति । यो हि गणः संयुष्टिवा गच्छोपष्टम्भयैवो-
पथिमागंणादिनिमित्तं विहरति स गणावच्छेदिकः । आह च-
" आहावणापहाचण-अतोवहिरप्रमाणसु अविताइ । सुस-
त्थातुज्जमिचिक, गणकथो परिमो होइ " ॥ २ ॥ (इम षि)
इयं प्रत्यक्षास्तना, एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरे कपाल-
रभाक सा एतइया, दिव्या स्वर्गसम्भवा प्रधाना वा देवा-
नां सुराणास्तुः श्रीविमानरन्नादिसंपदेवधिः, एवं सर्वत्र, नवरं
पुतिर्दीप्तिः शरीराभरणादिसम्भवा, युतितो युक्तिरपट्टिबा-
रादिसंयोगलक्षणाऽनुभावाऽचिन्त्या वैक्यकरणादिका शक्ति-
लक्ष्ये तप्राजितो जन्मान्तरे प्राप्त इदानीमुपगतः, आजिसम्भवा-
गतो भोगार्थं गतः । तदिति तस्मात्तत्र भगवतः पुत्रमया-
नात् यत् स्तुतिभिर्मेमस्यामि प्रणामेन स्तकराभ्यव्यादृक्कर-
णेन वत्तादिना वा समामयाभ्युचिनप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं
दैवत चैवामिति बुद्ध्या पणुपासं संप इत्येकम् । (एत्तं पं नि)
एषोऽवध्यादं प्रत्यक्षीकृतः माणुष्यक भवे, वसमान इतिशेषः ।
मनुष्य इत्यर्थः । इदानीं वा कृत्वा तपस्वीति वा कृत्वा, किमि-
ति दुष्कारणां सिद्धिमुहाकार्यारंभेकरणादीनां मध्ये दुष्कर-
म-नुरक्त्योपलुक्त्याऽप्यनापरतदधीमन्दिवासात्प्रसङ्गव्यति-
पासनादिक करानांति अतिदुष्करकारकः, स्थूलभद्रवत्,
तस्मात् । (गच्छामि षि) पूर्वमेकवचनानिदर्शोऽपि पुत्र्य-
विवक्षया बहुवचनमिति । तान् दुष्करकारकान् जगवतो
वन्दे इति द्वितीयम् । तथा- " मायाइ वा पिवाइ वा अभाइ वा
प्रहृष्टीइ वा पुलाइ वा धूयाइ वा " इति । शयच्छब्दाद्भेदः
स्तुवा पुञ्जायाः । तदिति तस्मात्तेषामतिक्रमोपे प्राडुनेवायि
प्रकटीज्यामि । (ता मे षि) तावत् मे ममेतं कृतीयम् ॥ स्यात्
३ ठा ३ ० ।

चउर्हि ठाणेर्हि अहुणोववन्ने पेरइए गिरयलोगंसि इ-
च्छेज्जा माणुसं लोमं हव्वमागच्छित्तए नो चेव णं संवा-
एइ हव्वमागच्छित्तए ॥१॥ अहुणोववन्ने पेरइए गिरयलो-
गंसि समुच्चयं वेणमं वेवमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोमं इ-
व्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संवाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥२॥
अहुणोववन्ने पेरइए गिरयलोगंसि गिरयलादेर्हि शुज्जो
शुज्जो अग्निर्हिज्जमाणो इच्छेज्जा माणुसं लोमं हव्वमाग-
च्छित्तए, नो चेव णं संवाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥३॥ अहु-
णोववन्ने पेरइए गिरयवेणमंसि इच्छेज्जा माणुसं लोमं इ-
व्वमागच्छित्तए, नो चेव णं संवाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥४॥
इषेर्हि चउर्हि ठा-
णेर्हि अहुणोववन्ने पेरइए जाव नो चेव णं संवाएइ
हव्वमागच्छित्तए ॥५॥

अहुना जीवत्सधर्म्यन्तारकजीवानाभित्य तदाह- (चउही-
त्यादं) सुगमं, कवल (उगोर्हि ति) कारणैः । (अहुणोवव-
त्तं षि) अणुनोपपन्नोऽचिद्वारोपपन्नो निर्गताऽयः सुभसंवादिवा

निरयो नरकाः, तत्र भयो वैरयिकः । तस्य वाऽऽन्योत्पत्तिस्थानतां दर्शयितुमाह-निरयसोके तस्मादिच्छेद्विद्यमानुवागामयं मानुषसन्तं लोकं कृपावशोप (हृद्वं) शोभमान्गणुं (नो केष सि) नैव, 'णं' वा-कपालहारे । (संचाएइ) सम्यक् शक्नोति भ्रगन्तुं (समुद्रजुयं ति) समुद्रभूता प्रतिप्रवल्गलयांत्पशा । पाठान्तरेण-संमुखं नृतामिहं-सोपन्नाम् । पाठान्तरेण-अमहानो महानो भयनं महद्भूतं तेन सह या सा । समहद्भूता, तं समहद्भूतां वा ध्वनंत्-ऽऽकथयं वेद्ययमा-नोऽनुभवद् इच्छेदिति मनुष्यलोकागमनेच्छायाः कारणभेदेय वाऽऽशक्यत्वं, तीव्रवेद्यमाभिमृत्वा हि न शक्यं आगन्तुमिति । तथा-निरयपालैरेवंवादिभिः भूयोभूयः पुनःपुनरधिष्णियमानः समाक-र्यमाणे भ्रगन्तुमिच्छेदित्यागमनेच्छाकारणभेदेव वाऽऽमना-शक्तिकारणं, तैरल्पताकान्तस्वागन्तुमशक्तत्वादिति । तथा-निर-ये येषांत अनुभूयते यद् निरययोमं वा यद्भूतनीयसु अन्यन्तानु-जनामकर्मोद्भिः, प्रसालवधनीयं वा, तत्र कर्मणि आक्षेपे स्थिरया अवेदिनेऽनुभूतानुभागतयाऽनित्येण जीवमदेशेऽप्येति-शब्देन इच्छेत्मानुषं लोकमागतुं, न च शक्नोति अश्वयषेद्य-कर्मिणाम्प्रतिप्रवल्गलयांत्पशा एव कारणीमिति । तथा- (एवमिति) "अह्नृणोववन्नग " इत्यादिभिलासपदसंभूतनाथः । नि-रयायुष्कं कर्मणं अह्नृणो, यावत्कारणात् "अवेइ" इत्यादि ह-इयमिति निगमयशाह- (इत्यर्थेइ ति) । इति पदंप्रकटितैः प्र-त्यक्षैरनन्तराकत्वादिति । अनन्तरं नारकस्वकपमुक्त्यांति चास्य-भोएष्टनकपरिप्रददुःखपवन्त इति ॥ स्थानं ४ ग ० ३ उ ० ॥

अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु-

चउर्हिं गणोर्णि अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं भोगं हृद्वमागच्छत्तए णो चैव संचाएइ हृद्वमा-गच्छितए । तं जहा-अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु दिव्येसु कामनोगेसु मुच्चिए गिच्छे गटिए अज्जोववन्नग से णं मा-णुस्सए कामभोगे णो अदाइ, णो परियाणाइ, णो अह्-र्बन्ध, णो णियाणं पररेइ, णो तिइप्पगणं पररेइ ॥१॥ अह्नृ-णोववन्नग देवे देवलोएसु दिव्येसु कामभोगेसु मुच्चिए ० ४ तस्स णं माणुस्सए पेये वांच्छिसे दिव्ये संकंते जवइ ॥२॥ अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु दिव्येसु कामभोगेसु मुच्चिए ० ४ तस्स णं एवं भवइ इयएहिं गच्छे मुहुत्तणं गच्छंतेणं कालेणमपाठअ मणुस्सा कालभम्मूला संजुत्ता भवं-ति ॥३॥ अह्नृणोववन्नग देवे देवलोएसु दिव्येसु कामभोगे-सु मुच्चिए ० ४ तस्स णं माणुस्सए गंधे पदिक्कंते पदि-क्षोमे यावि जवइ, उह्ं पि यं माणुस्सएणं गंधं चत्तारि पंच ज्ञोयणसयाइं हृद्वमागच्छइ ॥४॥ इधेएहिं चउर्हिं ठा-खोर्हिं अह्नृणोववन्नग देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं भोगं हृद्वमागच्छितए, णो चैव णं संचाएइ हृद्वमागच्छितए । विघ्नानकं तुनीयोहेक्षके प्रायो व्याख्यातमंवेइ तथापि किञ्चि-दुच्यते- (चउर्हिं गणोर्णि नो संचाए सि) संख्यः । तथा-देव

लोकेषु, देवभवे इत्यर्थः । (इध्वं) इति (संचाएइ) शक्नोति । कामनोगेषु भोगेऽप्यह्नादिषु मुच्छित इव भूतिनो ब्रूहस्तस्य-रूपस्यानित्यत्वादेर्यथाकाकभावात् पृथः, तदाकाकावृत्तं अतुल इत्यर्थः । प्राद्यत इव प्राद्यिनः, तद्विषयवह्नरज्जुभिः संश्रितं इत्यर्थः । अणुपपन्नोऽस्मत्तन्मना इत्यर्थः । नाह्नृयते-न तेषां-वरबाद् भवति । न परिजानाति एतेऽपि वस्तुनृता इत्येवं न म-यंत-तथा तथैति गम्यते । कौशं प्रतिबन्धाति-तैरेदिप्रयो-जनमिति निश्चयं करोति । तथा-नो तेषु निदानं प्रकरोति-एते मे नृयासुरित्येवमिति । तथा-नो तेषु स्थितिप्रकल्पमवस्थाशब्-दकल्पन-यन्त्रेणै तिष्ठामि, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरा भयनि-र-येवरूप स्थिरया वा मयाइया प्रकृष्टः कल्प आचारः स्थिति-प्रकल्पः, तं प्रकरोति कर्तुमारजते, प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वाद्धिति । एवं दिव्यविषयमसक्तिरं कारणं, तथा-यतोऽसावधुनोपपन्नो देवः कामेषु मुच्छित्वादिविशेषणोऽतस्तस्मात्प्रानुष्कामित्वादि दिव्यमस्तस्मात्तान्द्वैतं प्रथमं । तथाऽलो देवो यतो भोगेषु मुच्छि-त्वादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् । (तस्स यामित्यन्व-ति) देवकर्मार्थत्वात्तया मनुष्यकार्योनायसत्वं नृतांयम् । तथा-दि-व्यभोगसूच्छित्वादिविशेषणत्वात्तस्य मनुष्याणामयं मनुष्यः, स एव मनुष्यकर्म गन्धः प्रतिबुद्धो दिव्यगन्धधरिपरीतस्तुतिः प्रति-बोधोऽपि इन्द्रियमनोरतनात्वात्कर्मार्थो चैतावत्त्वान्मनो-ब्रताप्रतिपादनयोक्तव्यमिति । यावदिति परिमाणार्थः । (चत्तारि पंचति) विकल्पद्वैतार्थं कदाचिद्वैतार्थं दिव्यकामसुषमादौ च-त्वार्येव, अन्यथा तु पञ्चापि मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिसंख्यां बहुतेनौ-दारिकशरीराणां तदवयवतन्मनानां च बहुतेनौ-दारिकसंख्य-प्राचुर्यादिति । आगच्छति मनुष्यलोकादाजगमिषुं देवं प्रतीति । इह्द्वं मनुष्यलोकादाशुभस्वकपवमंवाक्यं । न च देवाऽप्यं वा नश्रयो योजनेऽप्ये परत आगतं गन्धं जानातीति । प्राद्यवा भन एव चचनात् यदिन्द्रियविषयमाणुसुक्त तदीदारिककाररं-रि-यापेक्षयैव संजाव्यते, कथमन्यथा विमानेषु योजनलक्षादिप्र-माणेषु दूरस्थिता देवा घटाशब्दशुशुपुः, यदि परं प्रति शब्द-हारेणान्यथा वेति नरअवाहुभवं चतुर्थमनागमनकारणमिति । शयं निगमनम् । श्लो ४ ग ० ३ उ ० ।

चउर्हिं गणोर्णि अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा मा-णुसं भोगं हृद्वमागच्छत्तए संचाएइ हृद्वमागच्छितए । तं जहा-अह्नृणोववन्नग देवे देवलोएसु कामभोगेसु अमुच्चि-ए-० जाव अणज्जोववन्नग से णं एवं जवइ-अत्थि सल्ल मम माणुस्सए भवे अयारिएइ वा उवज्जाएइ वा पाविचोइ वा धरेइ वा मणीइ वा मणहरेइ वा गणावच्छेइ वा जेत्ति पजावेणं मए इमा एयाकवा दिक्का देवह्ं दिव्वा देव-जुई लक्का पत्ता अज्जिममछागया तं गच्छामि णं, ते भ-गवंते संदामि ० जाव पज्जुवासामि । अह्नृणोववन्नग देवे देव-लोएसु ० जाव अणज्जोववन्नग से णं एवं जवइ, एस णं माणुस्सए जवे एयाइ वा तवस्सीइ वा अह्नृणकारए तं गच्छामि णं ते जगवंते वदामि ० जाव पज्जुवासामि ॥२॥ अह्नृणोववन्नग देवे देवलोगेसु जाव अणज्जोववन्नग से तस्स

पथेवं जवड, अत्थि एं मम माणुस्सए जवे मायाइ वा० जाव सुएहाइ वा तं गच्छामि एं, वेसिमतिथं पाउञ्जवामि, पांमेतु ता मे इमपेयाकुरं दिव्वं देवहिं दिव्वं देवजुइं सक्कं पत्तं अमिसमसागयं ॥३॥ अहुधोवचमो देवे देवलोपसु० जाव अणउक्कोवचमो तस्स पामेवं भवड, अत्थि एं मम माणुस्सए जवे मिषेइ वा सुह्रीइ वा सहाएइ वा संगइइ वा तेसिं च एं अग्गे अणमसस्स संगारं पदिमुए जवड, जो मे पुब्बिं चयइ से संबोहियवेइ ष्वेएहिं० जाव संचाएइ इ- चवमागच्छिउए ॥ ४ ॥

आगमनकारणानि प्रायः प्राग्भव, तथापि किञ्चिदुच्यते-कामयोगेष्वनुच्छिन्नादिविशेषणो यो देवस्तस्यैव (एवमिति) एवं जूतं मनो जवति-यदुत अस्मिन्मैत्रिकं तद्वित्वाह-आचार्ये इति वाऽऽचार्ये एत- द्वाऽस्ति; इति रूपप्रदर्शने; वा विकल्पे। एवमुत्तरत्रापि। किञ्चिदिति- शब्दां न दृश्यते, तत्र सूत्रं सुगममेवेति। इह आचार्यः प्रतिबोधप्रदा- जकादिरनुयोगाचार्यो वा, उपाध्यायः सूत्रदाता, प्रवर्षयात् सा- भूनाचार्योपदिष्टेषु वैवाङ्मत्यादिष्विति प्रवर्षी, प्रवर्षित्त्यापारित्या- न्नाहं संसमायंगुप्तुसूदनः। स्मरिं करोतीति स्मरिं, गणुं। अस्या- स्तीति गणी, गणाचार्यो गणुषरो वा जिनशिष्यविशेष आर्थिका- प्रतिज्ञारको वा साधुविशेषः, समयसिद्धान्तो गणस्याद्यच्छेदोऽ- प्यास्तीति गणावच्छेदकः। यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टममयैवै- ष्यधर्मान्मादिनिमित्तं विहरति (इमं षि) इयं प्रत्यक्षसन्ना एतद्वय रूप यस्या न कालान्तरादार्षि रूपान्तरजाक सा, तथा दिव्या स्वर्गसंभवा प्रधाना वा देवार्थिर्द्विमानरनादिका धुनिः। शरीरादिसम्भवा युतिर्वा युक्तिरिष्टारवारादिसंयोग- शश्रवणा अथवा उपाजिता जन्मात्तरे प्रासदानीमुपगत, अभि- समन्वागतो ज्ञापयार्वर्या गता (तं) तस्मानान्न जगवतः पु- उयान्न वन्दे स्तुतिभिर्मन्त्र्यानि प्रणामेन सारकरांमि, आदरकरणे- न वक्ष्यामीना वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कथयामि मङ्गलं देवतं चैत्वमिति वुक्त्वा पुण्युपास्यं सेवामित्येकम् । तथा-हाने भुनक्तानादिनेत्यादि द्वितीयम्। तथा-(मायाइ वा अङ्गइ वा भ- हणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वेति) यावत् शब्दोऽङ्गः, स्तुषा पु- ज्ञार्थ्याय (तं) तस्मान्त्सपामितिकं सम्यक् प्रादुर्भवाय प्रकटो- भवामि (ता) तावन् (मे) मम इति पाठान्तरमिति तृतीय- म् । तथा-मित्रं पञ्चानुं संहृवन् सखां कात्रपयस्यः सुहृत्सज्जनो हितेयो सहायः सहचरस्तदेककार्येप्रवृत्तो वा, संगतं विद्यते अ- स्यात्सौ साङ्गतिकः परिचितस्तैतपो (अग्गे) अस्माभिः (अ- ष्यमसस्स षि) अग्योमं (संगारं) सि) सक्कतः प्रतिश्रुतोऽप्युप- गतो भवति स्मेति । (जो मे ति) योऽस्माकं एवं कथ्यते देव- लोकात्स संबोध्यतियव इति चतुर्थम्। इदं च मनुष्यनेव कृतसं- केतयोरकस्य पुषंल्लगादिजीविषु भवनाप्यादिपुष्य च्युप्य च नरतयोपपन्नस्यान्वः पुषंल्लगादि जीविषा सौधर्मादिपुष्य संबोधनार्थं यद्विहागच्छति तद्वत्सयमिति । इत्येतैरित्यादि नि- गमनामिति ॥ १५० ४ ३ ३ ० ॥

अहे-आधु-दिग्भेदे, तिं च्चु० १७ ७० । भ० ।
अधु-अधो०। अधार्थे, भ० १ श० ६ ३० । 'अधे ये से अस्मापियरं'

अथ चैतन्, नमिति वाक्यालङ्कारोऽस्था० रेता० १३० । आचा० ।
तेपे, मियागे च । स० ।

अहेठ-अहेतु-पुं० । यथोक्तहेतुप्रतिपत्ते, स० । अनुमानानु-
त्थापके हेत्वाभासे, स्था० ।

पंच अहेठ पञ्चा । तं जहा-अहेउं ए जाणइ० जाव
अहेउठमत्थमरणं मरइ ॥ ६ ॥ पंच अहेठ पञ्चा । तं
जहा-अहेउणा न जाणइ० जाव अहेउणा ठमत्थमरणं
मरइ ॥ ७ ॥ पंच अहेठ पञ्चा । तं जहा-अहेउं जाणइ
० जाव अहेउकेवलमरणं मरइ ॥ ८ ॥

तथा पञ्चाऽहेतवो यः प्रत्यक्कानादितयाऽनुमानानेकैः स धु-
मादिकमदंतुनाऽयं हेतुमैमानुमानोत्थापक इत्येवं जानानी-
त्यतो हेतुभूतं तं जानकहेतुं वा साबुच्यते । एवं दर्शनबो-
धाभिसमागामपिक्रयाऽपि तदवयवहेतुत्वमुच्यते। छुप्रस्थमाश्रय
देशनिषेधत आइ-(अहेतुमिति) धुमादिकं हेतुमहेतु-
भावेन न जानाति न स्वयंथाऽवयवचरति, कथाश्चिदेवावयवचरती-
त्यर्थः । नञो देशनिषेधाथेत्वात्, ज्ञानुत्थापथादिकवर्तित्वेनानु-
मानावयवहेतुत्वादित्येकोऽवयवहेतुदेशप्रतिषेधत उक्तः । एवमहेतु
कृत्वा धूमादिकं न पश्यतीति द्वितीयः । न बुध्यते न अरुचते
इति तृतीयः । नाभिसमागच्छतीति चतुर्थः । तथा-अहेतुमध्य-
वसानादिहेतुतिरेपेण निरुपक्रमतया अस्वस्थमरणमनुमानावयव-
हेतुत्वेऽप्येकवर्तित्वात्सत्यायं च स्वल्पेन एव पञ्चमां हेतुकतः ।
तथा-पञ्चाहेतवो योऽहेतुना हेत्वजानेनावध्यादिकवर्तित्वाद्
जानात्यसावेहेतुरेवेत्येवं पश्यतीत्यादयोऽपि । एवं च अस्वस्थमा-
श्रित्य एवमुच्यतेनहेतुत्वमुच्यते दर्शप्रतिषेधत आइ ।
हेतुनोपक्रमाभावेन छुप्रस्थमरणं श्रियत इति पञ्चमांहेतुः
स्वकपत एव उक्तः ६। तथा-पञ्चाहेतवोऽहेतुं न हेतुभावेन विक-
ल्पितं धूमादिकं जानाति कवर्तितया योऽनुमानावयवहारित्वा-
त्सोऽहेतुरेव । एवं यः पश्यतीत्यादि । तथा अहेतुं निर्देतुकमनु-
पक्रमत्वात् कवर्तिमरणमनुमानावयवहारित्वाद् श्रियते यास्व-
साचहेतुः पञ्चमः । एते पञ्चापीड स्वकपत उक्ताः ।७। एवं तृतीयान-
तस्यमप्यनुसर्तव्यमिति । ८। गमनिकामाश्रमेतत्, तस्य तु बहूभुता
विदन्तीति ॥ १५० ४ ३ ० ॥ न विद्यते हेतुरस्येति; अना-
द्यपर्यवसिते नित्ये, सूत्रं १ श्रु० १ अ० १ उ० । स० ।

अहेउवाय-अहेतुवाद-पुं० । हिनेति गमयत्यर्थेमिति हेतुः, त-
त्परिच्छिन्नोऽयंोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः से हेतुत्वाः ।
यस्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादकत्वपि तद्विपरितोऽसावदहेतुत्वाः ।
दृष्टिवादाद्यस्मिन्, स० ।

(दुविहो धम्मनाश्रो, अहेउवाओ य हेउवाओ य) ।
तत्प उ अहेउवाओ, जविथापविदाओ जावा ॥ १५० ॥
अध्यात्मव्यस्वकप्रतिपादक आगमः, तद्विभागप्रतिपादने अध्य-
क्षादेः प्रमाणांतरस्याप्रवृत्तेः । नह्ययं भव्योऽयमभव्य इत्यप्रागम-
प्रमाणेन प्रमाणांतरमर्थुसंज्ञैः। असदाद्यप्येक्या न तु तद्विभाग-
प्रतिपादकं वक्तो यथार्थमहेतुचनत्वात्, अनेकान्तात्तमकस्तुप्रतिपा-
दकवचोऽवित्यनुमानात् तद्विजागप्रतिपत्तौ कथं न तस्यानुमानवि-
षयता । न । एवमप्यागमादेव तद्विभागप्रतिपत्तेस्तद्विपरितेकण प्र-
माणांतरस्य तत्रतिपत्तिनिषाधनस्याजावात् । अहंदागमस्य च प्रा-

काव्याधेसंकाव्यनिबन्धनतत्पणीतस्य त्विच्छयेऽनुसामतोऽतीगिन्वा-
र्यविषये प्रामाण्यं विधीयते इत्यमुपपगम्यत एव । अत्रमभिरुचयेत्
व्युत्पन्नात्तरस्यास्त्वदावेस्तत्र प्रवृत्तिर्न विद्यत इत्येतावता
अहेतुवादमेव विषयागमस्योच्यत इति वचनव्यापारं केवल-
मपहृष्टयत् क्रमः । यदा तु ज्ञानदेशमचारिचरिततये बन्धा तद्दु-
ष्टानुब्रजनस्तद्विकल्पकं पुनः प्रतीयते, तदाऽनुसामकस्याऽपि त-
द्विज्ञानो भवति । यथा अर्थोऽभ्युत्पन्नः वाऽयं पुरुषः, सम्प्रवृत्तान्ना-
द्विपरिपुण्यंवाच्यम्, शोकप्रसिद्धं भव्याऽभ्युत्पन्नं पुनश्च । अहेतुवा-
दागमावगमे धर्मिणि भव्याऽभ्युत्पन्नं तद्विपरितोषित्येवकला
हेतुवादः, प्रवृत्ते योऽयमगमं जन्वादिरेभिहितः स तथैव, य-
थोक्तं तु सज्जायति । आह-

यविभ्रां सम्मर्दसख-एणचारिचपनिर्वृत्तसंपन्नो ।

णिपया दुक्तं त्वक्तो, चि लक्षणां हेतुवायस ॥१४०॥

अर्थोऽयं सम्प्रवृत्तौ न चारित्रप्रतिपत्तिः संपूर्णत्वात्, उच्यते पुरुषवत्,
तद्विपरिपुण्यत्वादेव नियमासंसारदुःखान्तरं कारिष्यति, कर्मयोग्य-
त्वात्प्रति कविनाशमनुनिविष्यति, तन्निबन्धनमिच्छात्वादिप्रतिप-
त्तौ सत्तामीनावात्, व्याधिनिदानप्रतिकृतावरणप्रवृत्ततया-
विधाऽऽनुरवत्, यः पुनर्न तद्विप्रतिपत्तौ सत्तामव्याघातो दु-
ःखान्तकत प्रविष्यति, तन्निदानानुष्ठानवृत्ततया विधाऽऽनुरवत्
इति हेतुवायस लक्षणम् । हेतुवादः प्रायो दृष्टिवादः तस्य द्रव्या-
नुयोगत्वात्, 'सम्प्रवृत्तौ न ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादेर-
नुमानादिगमस्याधेस्य तत्र प्रतिपादानात् । यथाऽऽनुमानादिग-
म्यता तथा गन्तव्यस्ति प्रवृत्तिर्भविष्यतीति नेह प्रदृश्यते, प्र-
वृत्तिलक्षणायां च । सम्प्र ३ काण्ड ।

अद्वैक्यम्-अधःकर्मन्-न० । विशुद्धलक्ष्यमस्थानिष्ठः प्रतिप-
त्त्वाऽऽप्तानामविशुद्धलक्ष्यमस्थानेषु तद्विधोऽधः कर्तव्यं तद्विध-
कर्म । श्रु ४ उ० । अधो नरकादेयं भक्तेन त्वेकवाऽप्तम क्रियते
तद्विधकर्म । दश ७ अ० । अन्तर्विशुद्धयः संवसादिस्थान-
ऽधोऽधस्तारामागमे, पि० । आधाकर्मणि, पि० । ('अधेक्यम्'
शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५११ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अद्वैकाय-अधःकाय-पुं० । ऊर्वादि, स्व० १ सु० ४ अ०
१ उ० ।

अद्वैतारवपरिणाम-अधो गौरवपरिणाम-पुं० । येनायुःस्वभावेन
औषध्याद्यो दिशि गमनशक्तिरूपपरिणामो भवति, तस्मिन्
गौरवपरिणामनेये, स्वा० १७ उ० ।

अद्वैतर-अधःवर-पुं० । विलयात्स्वत्वात् सर्पादौ, आवा० १ सु०
८ अ० ८ उ० ।

अद्वैतारण-अधस्तारक-पुं० । पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अद्वैतपन्नकरूप-अधःपन्नगार्किकरूप-त्रि० । अधोऽधस्तलं, यत्
पन्नगस्य सर्पस्यार्कं तस्यैव रूपमाकारो येषां नेऽधःपन्नगार्क-
पाः । अधःपन्नगार्कं यदनि, सरलेषु र्द्विषु च । जी० ३ प्रति० रा० ।

अद्वैतमिच्छ-यथैपणी-त्रि० । उत्कर्षणप्रकर्षणरहिते, अप-
रिक्तमणि, 'अद्वैतमिच्छां वर्यादं जायते' । आवा० १ सु० ८
अ० ४ उ० ।

अद्वैतसत्त्वा-अधःसत्त्वो-त्री० । तमस्त्वमस्यं पृथिव्याय, अधो-
प्रदणं विना सत्त्वो उपरिष्ठास्त्विमामाना रत्नप्रज्ञाऽपि स्वादित्य-
धोप्रदणम् । "अद्वैतसत्त्वाय पुद्वर्षाय" स्वा० २ डा० ४ उ० ।

अद्वै-अद्वै-अध्व० । न हा-नो । शोके, विमर्शे, विधादे, दया-
याम्, सम्बोधने, प्रशंसायाम्, वितर्के, अस्वार्थां च । आवा० ।
विस्मये, वा० प्र० दश० । अ० स्वा० । उच्य० । सुच० । आ-
अर्थे, अद्व० १ अ० अद्व० प्रति० । आवा० । विधा० । दैव्ये, काम-
क्रमे च । ग० २ अधि० । अतु० । सूत्र० ।

अद्वैतरण-अधःकरण-न० । अधोऽधस्तादात्मनः करणम् ।
कलह, नि० सु० १० उ० ।

अद्वैकाय-अधःकाय-पुं० । अधस्तात्कायोऽधः कायः । पादे,
आवा० ३ अ० ।

अद्वैगिम्-अद्वैनिश-न० । अद्वैराधे, " गिरये ऐरवराय अद्वै-
गिस्ते पञ्चमणार्थं" सूत्र० १ सु० ५ अ० १ उ० ।

अद्वैतरण-अधस्तारण-न० । अधोऽधस्ताद्वत्तारणम् । अद्वैत-
भेदया इव करणमधःकरणम् । कलह, नि० सु० १० उ० ।

अद्वैदाय-अद्वैदान-न० । विस्मयनीये दाने, " अद्वैदायं च-
पुष्टं" अद्वै इति विस्मये, विस्मयनीयमिदं दानं कोऽप्यो दाता ? ।
उच्य० २ अ० । कदप० । आ० म० । अद्वैदानस्यायमर्थः-एवं
दायते एवं हि दत्तं भवतीति । आवा० १ अ० ।

अद्वैदिसिद्धय-अधोदिग्मत-न० । दिवधोऽधोदिक्, तत्संबन्धि,
तस्या वा ज्ञानधोदिग्मतम् । एतावतो दिग्ध इत्कृपाद्यवतार-
वादवगाहनानां न परत इत्येवैकं दिग्धमेतदे, आवा० १ अ० ।

अद्वैतजागि (च्)-अधोभागिन्-वि० । अधस्ताद् भागिनि,
सुच० २ सु० ३ अ० ।

अद्वैतरत्-अद्वैतरत्-पुं० । त्रिशन्मुहूर्तात्मकं, ज्यो० २ पादु० । जं ।
कर्म० । अ० । दिवसराशुययामकं, सु० प्र० १० पादु० । सुच० ।
विशे० । अनु० । आ० म० । उच्य० । स्वा० । कामेदे, न० ।
"तिविदे अद्वैतं तीत, पृष्टयन्ने, अशाणम्" । स्वा० ३ डा०
४ उ० । अद्वैराधे, आ० सु० १ अ० । आ० म० । (पौक्यीकालः
'काल' शब्दं तृतीयभागि वक्ष्यते)

अद्वैतारण्य-अद्वैतारणिक-त्री० । त्रिभिर्दिवसैर्भाति प्रति-
न० । अद्वैतारण्यन्ते षष्ठमकरणात् प्रतिमामेदे, पञ्चा० १७
वि० । "अद्वैतारण्येण नरकं कुचमं नचमं अवाणन्तं अदि-
यागमस्त वा० जाव रावहाणीयं यार्हणिं हांवि पादं अन्धारित-
पाणिस्त द्वाणं ग्राह तप, सेत तं चैव जाव अष्टपालिया
भवद" आ० सु० ४ अ० ।

अद्वैतलोक-अधोद्वैक-पुं० । लोकयेन केवसिद्धया परिच्छिद्य-
ते इति लोकः । अधोऽध्वयस्थितो लोकोऽधोद्वैकः । अधवा-
ऽधःशब्दोऽऽनुरपस्थायः, तत्र च हेतुवाज्जावाद् बाहुद्वयेणाद्वा
न एव परिणामो द्रव्याणां जायतेऽऽऽनुरपरिष्ठाऽमवद्वय-
याणादधोऽऽनुरेवे लोकोऽधोद्वैकः ।

अद्वैतारण्यो परिष्ठाभो, तेचापुनावेण नेष्ट उच्ये

असुभो अहो चि भक्षिभ्यो, दन्वाञ्चं तेषऽहो लोभो ॥१॥
इति । (सूत्र-१०३+) अत्रु० ।

शोकभेद, अत्रु० । अस्यां रत्नप्रभायां बहुसमभूभाये मेदमप्ये
नमःप्रतरह्ययञ्च प्रदशो रुचकः, समस्ति, तस्य च प्रतरह्ययस्य
मध्ये एकसाद्यस्लमप्रतराशरध्याऽभिमुञ्चं नवव्योजनश-
स्तानि परिहृत्य परतः सानिरेकसतरऽञ्चायतोऽधोलोकः ।
अनु० । नमरादिभवनं, अत्रु० १ अ० । स्था० । प्रज्ञा० ।
आ० म० । अधोलोकिकेषु ग्रामेषु, सं० ।

अहोलोचं खं चचारि विसरीरा पष्यता, तं जहा-पुदवि-
काहवा आउकाह्या वखस्सहकाहया उराला तसा पाष्या ।
(सूत्र-३२६+) (स्था० ४४० ३३०) अहोलोचं खं सच पुद-
वीभ्यो पष्यताभ्यो, सच घषोदहीभ्यो पष्यताभ्यो, सच घष-
वाया पष्यताभ्यो, सच तखुवाया पष्यताभ्यो, सच उवासं-
तरा पष्यता, एएसु खं सचसु उवासंतरेसु सच तखुवाया
पहृद्विया, एएसु खं सचसु तखुवाएसु सच घषवाया प-
हृद्विया, एएसु सचसु घषवाएसु सच घषोदही पहृद्विया, ए-
एसु खं सचसु घषोदहीसु पिंदसगपिंदुलसंठास्यसंठियाभ्यो
सच पुदवीभ्यो पष्यताभ्यो । तं जहा-पदमा०जाव सचमा ।
(सूत्र-४४६×) स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

अहोवाच-अधोवात-पुं० । अधो गच्छन् यो वाणि वातः सो-
ऽधोवातः । प्रज्ञा० १ पद । अधोनिमज्जति वायुभेदं, प्रज्ञा० १

पद । अपानत्रे वाचौ च । जीत० । आ० म० । "अहोवाते"
(सूत्र-४४७ ×) सप्तविधवाद्वायुकायिकमधमपदे चह-
वायुकाये, स्था० ७ ठा० ३ उ० ।

अहोद्विपद-अधोविकट-त्रि० । अधः कुक्कादिरहिते, कुक्के
इपुपरि तदभावे च । आचा० १ ध्रु० ६ अ० २ उ० ।

अहोविहार-अहोविहार-पुं० । अहो इत्याद्यर्थे, विहरणं वि-
हारः । आस्ययभूतो विहारः अहोविहारः । यथाहसंयमा-
नुष्ठानं, " सनुद्विर अहोविहाराय" (सूत्र-६४×) आचा० १
ध्रु० २ अ० १ उ० ।

अहोसिर-अधःशिरस्-त्रि० । अधोमुक्ते, "अहोसिरा कंदया
जायंति" (सूत्र-३४×) अधोमुक्ताः कण्टकाः भवन्तीति अतुर्व-
शस्तीर्थकारातिशयः । सं० ३४ सम० । अधोमस्तके, उच्य० २ ३
अ० । "उहं जाखु अहोसिरः" (सूत्र-४+) अधोमुक्तो नासं ति-
यंथा विंक्तसदृष्टिः किन्तु नियतभूभागनिमित्तदृष्टिः । आ०
१ ध्रु० १ अ० । विपा० । जं० । सू० प्र० । अ० । शी० । सं०
प्र० । नि० ।

अहोहि-अधोऽधधि-त्रि० । परमाधधेरोधधेर्व्यधधियंस्य सो-
धोऽधधिः । परमाऽधधेरोधधेर्व्यधधियुक्ते, रा० । स्था० ।

अहोद्विध-यथाधधि-त्रि० । यत्प्रकारोऽधधिरस्येति यथा-
धधिः । नियतज्ञत्रविषयाऽधधिविधानि, स्था० २ ठा० १ उ० ।



इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्सपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञरूप-

श्रीमद्भारक-जैन श्वेताम्बराऽऽचार्य श्रीश्री १००८ श्री-

मद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते 'श्री अभिधानराजेन्द्रे'

हस्ताऽकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

तत्समाप्तौ च समाप्तोऽयं प्रथमो भागः ।



॥ श्रीपञ्चपरमेश्वर्यो नमः ॥

॥ श्रीः ॥

इति श्रीमस्तौधर्मबृहत्तपागच्छीय-

कलिकास-सर्वज्ञकल्प-श्रीमद्भ-

ट्टारक-जैनश्वेताम्बराऽऽचार्य-

श्री श्री १००८ श्रीमद्विजय-

राजेन्द्रसूरीश्वरविरचिते

‘अज्ञिधानराजेन्दे’

प्रथमो भागः समाप्तः ।



वीर सेवा मन्दिर

पुस्तकालय

काम नं० 020.7

लेखक विजयराज-प्रसूरीखर.

शीर्षक आमियाल राजेन्द्र.

क्रम संख्या 4514